हिंदी विश्वकोश

आंतरगुही (विविध)

आंतरगुहिया प्राणी हैं न कि वनस्पति, परंतु उनके शरीर के भीतर केवल पोल होती है, कोई अवयव नहीं होता (देखें पृष्ठ ३२८)।
१ एडवर्डसिया क्लापरेडी २ पीचिया हस्ताता ३ ज़ोऐंथस पलिडा, ४ गार्गोनिया वर्वालिनि की एक शाखा, ५ अनमोनिया सुल्काटा ६ फीलिया लिमिकोला, ७ लेप्टोसामिया प्रुवोती, ८ आर्गेलिआना रीगालिस, ९ बैलैनोफीलिया रीजिया, १० ड्रेफीलिया कार्निगेरा, ११ टैक्टलिक्टिस आर्मेटा का डिंभ, १२ सीरिऐंथस मौलिटर्यिस १३ सीरिऐंथस मेंब्रानाम।

हिंदी विश्वकोश

खंड १

अंक से इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

मूल्य
६० रुपए

प्रथम संस्करण
शकाब्द १८८२ सं० २०१७ वि० १९६० ई०
नवीन संशोधित परिवर्धित संस्करण
शकाब्द १८९५ सं० २०३० वि० १९७३ ईसवी

नागरी मुद्रण, वाराणसी, में मुद्रित

स्वतंत्र भारत

के

प्रथम राष्ट्रपति

डा० राजेंद्रप्रसाद

को

उनकी अनुमति

से

सादर समर्पित

मूल संपादकसमिति

परामर्शमंडल के सदस्य

नवीन संस्करण का प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का कार्य सं० २०१३ विक्रमी (सन् १९५६ ई०) से आरंभ हुआ और इसका १२ खंडों में प्रकाशन का कार्य सं० २०२७ विक्रमी (सन् १९७० ई०) में समाप्त हो गया। तत्पश्चात् सभा अपने बल पर यह कार्य चलाती रही और अततोगत्वा भारत सरकार ने इसमें पुन. सहायता की। विश्वकोश के सारे निर्माणकार्य पर १५,८१,३४५ ४२ रुपए व्यय हुए थे और बिक्री की आय केंद्रीय सरकार ले लेती है। इस प्रकार कोई ऐसा धन सभा के पास नहीं था जिससे वह इसका पुन प्रकाशन करती। सन् १९७० ई० से ही विश्वकोश के आरंभिक तीन खंड अनुपलब्ध हो गए और उनकी माँग बराबर बनी रही। विश्वकोश के रचनाकार्य की एक सनातन प्रक्रिया है और इसी के माध्यम से इसे अद्यतन तथा उपयोगी रखा जा सकता है।

भारत सरकार ने सभा की इस कठिनाई को समझा और उसे आरंभ के तीन भागों के प्रकाशन के लिये १,३९,२०० रु० का अनुदान देना स्वीकार किया। कार्य आरम्भ करने पर ज्ञात हुआ कि मानव ज्ञान की जो राशि बढ़ गई है उसके परिप्रेक्ष्य में विश्वकोश को अद्यतन करने के लिये यह आवश्यक है कि इसका सर्वथा नवीन, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया जाए ताकि इसकी उपयोगिता बनी रहे और ज्ञान के क्षेत्र में इसका अवदान अपना प्रतिमान सुस्थित रख सके। एतदर्थ इसमें व्यापक संशोधन और परिवर्धन किया गया है।

प्रथम संस्करण में विश्वकोश का प्रत्येक खंड लगभग ५०० पृष्ठों का प्रकाशित हुआ था। अब इसके प्रत्येक खंड की पृष्ठसंख्या लगभग ६०० है और इसमें यथासंभव नई सामग्री का समावेश किया गया है। पहले खंड के पुराने संस्करण में कुल ४७० निबंध थे। नवीन संस्करण में इस खंड के निबंधों की कुल संख्या ७१० हो गई है जिनमें १९३ निबंध बिलकुल नए हैं और ४७ संकेतित निबंधों का परिचय भी दिया गया है। सब मिलाकर लगभग २४० निबंध प्रस्तुत संस्करण में और मिलेंगे। इस प्रकार लगभग एक तिहाई नई सामग्री का इसमें संयोजन किया गया है।

नए संस्करण में निबंधों के संयोजन में जो पद्धतियाँ अपनाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं

हिंदी विश्वकोश के प्रथम खंड का प्रथम संस्करण लगभग १३ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक विज्ञान में काफी प्रगति हुई है। अनेक नवीन तथ्यों की खोज हुई और कई पुराने सिद्धांत अपने प्रतिष्ठित स्थान से विचलित हो गए। अतएव नवीन तथ्यों के प्रकाश में विज्ञान के अधिकांश लेखों में व्यापक संशोधन तथा परिवर्तन किए गए हैं। कई लेख तो पुन लिखे गए हैं, जैसे 'आनुवंशिकता', 'आनुवंशिकी' आदि। इस प्रकार के सभी लेखों को अधुनातन करने का प्रयास किया गया है।

प्रथम संस्करण की अनेक भूलों एवं त्रुटियों का इस संस्करण में परिमार्जन किया गया है। विज्ञान के सभी लेखों की शब्दावली, भारत सरकार के विज्ञान तथा तकनीकी शब्दावली के स्थायी आयोग द्वारा प्रकाशित विज्ञान शब्दावली के अनुसार रखने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से कुछ लेखों के नाम भी बदल गए हैं, जैसे 'अनिर्धार्यता' को अब 'अनिश्चितता' सिद्धांत के नाम से जाना जाता है। कुछ लेखों को, जो अब कम महत्व के हो गए हैं, संक्षिप्त कर दिया गया है, कुछ को अन्य संबद्ध लेखों में अंतर्भुक्त कर दिया गया है, जैसे 'अस्त्रशस्त्र' को 'आयुध' में और 'अंतर्दहन इंजन' को 'इंजन' में।

विज्ञान के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर कई नवीन लेख प्रस्तुत संस्करण में समाविष्ट किए गए हैं। सभी लेख मानक पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के आधार पर तैयार हुए हैं। आवश्यकतानुरूप अनेक विद्वानों से परामर्श भी लिया गया है।

मानविकी का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। इतिहास, पुरातत्व, राजनीतिशास्त्र, साहित्य, भाषाविज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज-कार्य-विभाजन आदि अनेक विषय मानविकी के अंतर्गत परिगणित किए जाते हैं। हिंदी विश्वकोश के प्रथम संस्करण में मानविकी को विज्ञान की अपेक्षा कम स्थान दिया गया था, अर्थात् विज्ञान संबंधी लेखों को लगभग ६५ प्रति शत और मानविकी के लेखों को लगभग ३५ प्रति शत। प्रस्तुत संस्करण में प्रयत्न किया गया है कि दोनों ज्ञानखंडों का उपर्युक्त विषम अनुपात यथासंभव समान बनाया जा सके। इस दृष्टि से 'अगद', 'अधक', 'अब-रीष', 'अजातशत्रु', 'अथर्ववेद', 'अधिकार' आदि अनेक निबंधों में आवश्यकतानुसार परिवर्धन किया गया है। 'अक्कादी', 'अजमेरी' आदि भाषाओं, 'अजटेक', 'आरमेइक' आदि लिपियों, 'मुहम्मद अकबर', 'अट्टहमाण', 'अखाभगत', आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों, 'अंटार्कटिक महासागर', 'इबेरिया', आदि भौगोलिक स्थलों तथा 'अनिर्देशात्मक चिकित्सा', 'आनुभविक मनोविज्ञान', 'आत्मरति' आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर नए निबंध संयोजित किए गए हैं।

प्रथम खंड के अक्षरानुक्रम की सीमा में पड़नेवाले देशों और नगरों की जनसंख्या तथा उत्पादन संबंधी उपलब्ध नवीनतम आँकड़े जुटाने के अतिरिक्त आस्ट्रिया, आस्ट्रेलिया, इंग्लैंड, इजरायल आदि देशों का अद्यतन इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है। सन् १९६० ई० के बाद गठित देशीय तथा अंतरराष्ट्रीय विभिन्न संघों एवं संगठनों का परिचय भी अब इस खंड में मिल सकेगा। 'अंग्रेजी साहित्य', 'अमरीकी साहित्य', 'आयकर' आदि निबंध भी अद्यतन कर दिए गए हैं। इस प्रकार नए संस्करण को प्रत्येक दृष्टि से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

सभा ने आकर ग्रंथों द्वारा हिंदी के भांडार की समृद्धि का जो मंगलमय संकल्प लिया है, ज्ञान की उस दीप-शिखा की चेतना के चरण निरंतर गतिमान होते रहें, हमारा यह प्रयत्न है। विश्वकोश का यह रूप उसी संकल्प का परिणाम है।

हिंदी विश्वकोश के सभी कार्यकर्ताओं, पदाधिकारियों तथा भारत सरकार ने नागरीप्रचारिणी सभा के इस स्वप्न को मूर्त करने में जो सराहनीय योगदान किया है, उसके निमित्त हम उन सब के प्रति हृदय से आभारी हैं।

विश्वकोश के आगामी खंड प्रत्येक छह मास में प्रकाशित करते रहने का हमारा संकल्प है। इससे शीघ्र विश्वकोश के वे खंड उपलब्ध हो जाएँगे जो वर्षों से अप्राप्त थे। इनकी अप्राप्ति से लोगों को जो कष्ट हुआ, उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं।

मुझे विश्वास है, अपने गुणधर्म के कारण हिंदी विश्वकोश के नए संस्करण का उपयोग करने में लोग प्रसन्नता तथा संतोष का अनुभव करेंगे।

दीपावली
सं० २०३०

सुधाकर पांडेय
संपादक
प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

भारतीय वाङमय मे संदर्भग्रंथो; जैसे कोश, अनुक्रमणिका, निबंध, ज्ञानसंकलन आदि की परंपरा बहुत पुरानी है। किंतु भारतीय भाषाओं मे संभवत पहला आधुनिक विश्वकोश श्री नगेंद्रनाथ वसु द्वारा संपादित बंगला विश्वकोश था जो २२ खंडो मे प्रस्तुत हुआ और जिसका प्रकाशन १९११ मे पूर्ण हुआ था। अनेक हिंदी विद्वानो के सहयोग से श्री वसु ने १९१६-३२ के बीच २५ भागो मे हिंदी विश्वकोश का भी प्रणयन किया जिसका मूलाधार उनका बंगला विश्वकोश था। प्रथम खंड की भूमिका मे इस प्रयास के उद्देश्य तथा उपयोगिता के संबंध मे उन्होने लिखा था कि, "जिस हिंदी भाषा का प्रचार और विस्तार भारतवर्ष मे उत्तरोत्तर बढता और जिसे राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग होता—ईश्वर यह प्रयास सफल करे—उसी भारत की भावी राष्ट्रभाषा मे ऐसे ग्रंथ का न होना बडे दुःख और लज्जा का विषय है। यद्यपि बहुत दिन से हमारी प्रबल इच्छा थी कि हिंदी विश्वकोश के प्रकाशन मे हाथ लगाने, परंतु कई कारण से वह सफल न हुई—हम हिंदीरसिको की आज्ञा पालन न कर सके। अब बार बार हिंदीप्रेमियो से अनुरुद्ध होने पर हमने इस बहुपरिश्रम और विपुल-व्यय-साध्य कार्य को चलाया है।"

मराठी विश्वकोश की रचना २३ खंडो मे श्रीधर व्यंकटेश केतकर द्वारा हुई और उसका प्रकाशन महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश मंडल लिमिटेड, पूना ने किया। इसके प्रारंभिक पाँच खंड एक प्रकार से गेजटियर स्वरूप है। खंड ६ से २२ तक की सामग्री अकारादि क्रम में नियोजित है। खंड २३ मे संपूर्ण खंड की अनुक्रमणिका है। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश का एक गुजराती रूपातर भी डा० केतकर की देखरेख मे ही तैयार होकर प्रकाशित हुआ। इस कोश का हिंदी रूपांतर भी डा० केतकर प्रकाशित करना चाहते थे, किंतु इसके एक या दो खंड ही निकल सके। ये साहित्यिक एवं शास्त्रीय प्रयास वस्तुत १९वीं सदी मे प्रवर्तित सास्कृतिक पुनरुत्थान के प्रवाह मे हुए।

१९४७ मे स्वराज्यप्राप्ति के अनंतर भारतीय विद्वानो का ध्यान पुन आधुनिक भाषाओं के साहित्यो के समस्त अंगो को पूर्ण करने की ओर गया और परिणामस्वरूप आधुनिकतम विश्वकोशो की रचना के लिये कई भारतीय भाषाओं मे योजनाएं निर्मित हुई। उदाहरण के लिये, १९४७ मे ही एक तेलुगू भाषासमिति संगठित की गई जिसका प्रमुख उद्देश्य तेलुगू भाषा के विश्वकोश का प्रकाशन था। इसके लिये एक हजार पृष्ठो के १२ खंडो की योजना बनाई गई। तेलुगू विश्वकोश के प्रत्येक खंड का संबंध एक विशिष्ट विषय अथवा विषयसमूह से है। १९५९ तक, अर्थात् गत १२ वर्षो मे, इसके चार खंड प्रकाशित हुए है। तेलुगू विश्वकोश के साथ ही साथ एक तमिल विश्वकोश की भी योजना बनी थी। अब तक इसके पाँच खंड निकल चुके है।

राष्ट्रभाषा हिंदी में भी विश्वकोशप्रणयन की आवश्यकता प्रतीत हुई। हिंदी मे एक मौलिक तथा प्रामाणिक विश्वकोश के प्रकाशन की योजना नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ने १९५४ मे प्रस्तुत कर भारत सरकार के विचारार्थ तथा आर्थिक सहायता के लिये भेजी। सभा की योजना संपूर्ण कृति को लगभग एक एक हजार पृष्ठों के ३० खंडो मे प्रकाशित करने की थी। प्रस्तावित विश्वकोश के निर्माण तथा प्रकाशन मे दस वर्ष का समय तथा २२ लाख रुपया व्यय कूता गया था।

सभा के प्रस्ताव मे हिंदी विश्वकोश के निर्माण के उद्देश्य निम्नलिखित शब्दो मे बताए गए थे—"कला और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो मे ज्ञान और वाङमय की सीमाएँ अब अत्यंत विस्तृत हो गई है। नए अनुसंधानो, वैज्ञानिक आविष्कारो तथा दूरगामी चिंतनो ने मानवज्ञान के क्षेत्र का विस्तार बहुत बढा दिया है। जीवन के विविध अंगो मे व्यावहारिक एवं साहसपूर्ण प्रयोगो द्वारा विचारो और मान्यताओं मे असाधारण परिवर्तन हुए है। इस महती और वर्धनशील ज्ञानराशि को देश की शिक्षित तथा जिज्ञासु जनता के सामने राष्ट्रभाषा के माध्यम से संक्षिप्त एवं सुबोध रूप मे रखने का हमारा विचार पुराना है। प्रस्तावित विश्वकोश का यही ध्येय है।"

इस प्रश्न पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की जिसकी पहली बैठक ११ फरवरी, १९५६ को हुई। पर्याप्त विचारविनिमय के उपरांत विशेषज्ञ समिति ने यह सुझाव दिया कि हिंदी विश्वकोश अभी १० खंडो मे प्रकाशित किया जाय तथा प्रत्येक खंड मे केवल ५०० पृष्ठ हो। संपूर्ण कार्य पाँच से सात वर्षो के भीतर संपन्न करने का अनुमान किया गया। विशेषज्ञ समिति ने यह भी प्रस्ताव किया कि एक परामर्शमंडल नियुक्त किया जाय जिसके तत्वावधान मे समस्त कार्य संपन्न हो, परामर्शमंडल के निरीक्षण मे पाँच सदस्यों की संपादकसमिति

विश्वकोश के कार्य का संचालन करें तथा भिन्न भिन्न विषयों के संबंध में सहायता प्रदान करने के लिये लगभग ५० वर्गीय संपादक भी नियुक्त किए जायें।

विशेषज्ञ समिति की उपर्युक्त संस्तुति के परिणामस्वरूप केंद्रीय शिक्षामंत्रालय ने नागरीप्रचारिणी सभा को २४ अगस्त, १९५६ को सूचना भेजी जिसका सार नीचे दिया जाता है

भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिंदी विश्वकोश की योजना को कार्यान्वित किया जाय। योजना वही रहेगी जो विशेषज्ञ समिति द्वारा निश्चित की गई है, किंतु इसमें निम्नलिखित परिवर्तन अपेक्षित हैं

१ यह कृति भारत सरकार का प्रकाशन होगी। २ इस योजना के लिये सभा को ६॥ लाख रुपए की सहायता दी जायगी। ३ पच्चीस सदस्यों के परामर्शमंडल की रचना विशेषज्ञ समिति की संस्तुति के अनुसार होगी। ४ संपादकसमिति विश्वकोश के संपादन के लिये उत्तरदायी होगी। इस समिति के सदस्य प्रधान संपादक, दोनों संपादक, परामर्शमंडल के अध्यक्ष तथा मंत्री होंगे। ५. सभा इस विश्वकोश में साधारणतया उस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करेगी जो भारत सरकार द्वारा स्वीकृत हो चुकी है।

फलस्वरूप नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी में हिंदी विश्वकोश के निर्माणकार्य का प्रारंभ जनवरी, १९५७ में हुआ। प्रथम वर्ष में कार्यालय संगठित हुआ, एक निर्देशपुस्तकालय बना तथा समस्त उपलब्ध विश्वकोशों एवं अन्य प्रमुख संदर्भग्रंथों की सहायता से कार्डों पर शब्दसूची तैयार की गई। १९५८ में शब्दसूची तैयार करने का कार्य समाप्त हुआ। प्रारंभिक शब्दसूची में लगभग ७०,००० शब्द थे। इसकी सम्यक् परीक्षा करने के उपरांत इनमें से केवल ३०,००० शब्दों का विचारार्थ रखा गया। साल भर केवल एक संपादक डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा यह सारा कार्य संपन्न हुआ। वर्षांत में दूसरे संपादक डा० गोरखप्रसाद की नियुक्ति हुई और उन्होंने विज्ञान तथा भूगोल के अनुभाग का कार्यभार सँभाला। १९५९ के मार्च में प्रधान संपादक डा० धीरेंद्र वर्मा की नियुक्ति हुई जिन्होंने अपने मुख्य कार्य के अतिरिक्त भाषा और साहित्य अनुभाग के कार्य को भी सँभाला। इस प्रकार अत्यंत थोड़े समय में, वस्तुत. डेढ़ साल में, कर्मचारियों की लघुतम संख्या द्वारा विश्वकोश का यह पहला खंड प्रस्तुत हुआ है। इस काल के लगभग अंत में संपादकों के तीन सहायक भी नियुक्त हुए। कार्यालय में संपादकों और उनके तीन सहायकों के अतिरिक्त चार लिपिक भी हैं।

१९५९ के प्रारंभ में यह निश्चय किया गया कि पहले प्रथम खंड की पूरी तैयारी की जाय, अत स्वरों से प्रारंभ होनेवाले १,८०० लेखों के शीर्षकों को चुन लिया गया। ये समस्त शीर्षक लेखकों को वितरित हो चुके थे। इनमें से अधिकांश लेख हिंदी में प्राप्त हुए, किंतु कुछ अत्यधिक प्राविधिक (टकनिकल) विषयों से संबंधित लेख अंग्रेजी में भी आए जिनका हिंदी रूपांतर करना आवश्यक हुआ। विश्वकोश का संग्रथन हिंदी वर्णमाला के अक्षरक्रम से हुआ है। विदेशी नामों में जहाँ भ्रम की आशंका है वहाँ उन्हें कोष्ठक में रोमन में भी दे दिया गया है। विदेशी व्यक्तियों और कृतियों के नाम यथासंभव संबंधित विदेशों में उच्चरित विधि से लिखे गए हैं। उस दिशा में प्रमाण वेब्स्टर शब्दकोश को माना गया है। जो नाम इस देश में व्यवहृत होते रहे हैं उनका व्यवहृत उच्चारण ही रखा गया है। वर्तनी साधारणत नागरीप्रचारिणी सभा की स्वीकृत वर्तनी के अनुकूल है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित होगा कि प्रस्तुत विश्वकोश के सामने एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का आदर्श रहा है। अन्य विश्वकोशों से भी हम लोगों को सहायता मिली है। ब्रिटैनिका का प्रथम संस्करण केवल तीन भागों में १७६८ में प्रकाशित हुआ था। गत २०० वर्षों में धीरे धीरे इसने बृहत् रूप धारण कर लिया है। इसके वर्तमान संस्करण में २४ भाग हैं जिनमें से प्रत्येक में लगभग १००० पृष्ठ हैं। इसकी तुलना में हिंदी विश्वकोश अभी एक प्रारंभिक प्रयास है। वास्तव में विश्वकोश एक संस्था बन जाता है और इसके समुचित विकास के लिये समय तथा स्थायी साधन अपेक्षित हैं। तो भी एक अर्थ में यह विश्वकोश एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका से अपने प्रयत्न में अधिक आस्थावान् सिद्ध होगा। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में प्राच्य ज्ञान उपेक्षित है, व्यास जैसे महापुरुषों के नाम तक उसमें नहीं हैं। इसका यथासंभव निराकरण नई सामग्री द्वारा कर दिया गया है। उस महाकोश की अनेक भ्रांतियाँ भी शुद्ध कर दी गई हैं। उदाहरणार्थ कराची के प्राय. आठ वर्षों तक नवराष्ट्र पाकिस्तान की राजधानी बने रहने पर भी उस महाकोश में उसे 'भारतीय पश्चिमी तट का नगर' बताया गया है।

संक्षिप्त आकार के कारण हमारी कठिनाई बहुत बढ़ गई है। विषयों के चुनाव का प्रश्न बड़ा विकट था। इस परिस्थिति में प्रमुख विषय ही विश्वकोश के इस संस्करण के लिये चुने जा सके। यद्यपि प्रथम खंड का प्रारंभिक अंश मई, १९५९ में ही प्रेस भेज दिया गया था, किंतु गणित और भौतिकी के विशेष टाइप तथा कागज आदि की अनेक कठिनाइयों के कारण प्रारंभ में मुद्रण का कार्य तीव्र गति से नहीं चल सका। १९६० के प्रारंभ से मुद्रणकार्य में प्रगति हुई और हिंदी विश्वकोश का प्रथम खंड अब प्रकाशित हो रहा है। साथ ही, शेष खंडों की सामग्री के चयन और

संपादन का कार्य भी चल रहा है। आशा है, प्रथम खंड की तैयारी और मुद्रण के अनुभवों के बाद आगे के खंडों के प्रकाशन का कार्य अधिक शीघ्रता से हो सकेगा।

प्रारंभ से ही नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति और विश्वकोश की संपादकसमिति तथा परामर्शमंडल के भी अध्यक्ष महामाननीय पं० गोविंदवल्लभ पंत का इस योजना में व्यक्तिगत रूप से अत्यंत अनुराग रहा है तथा उनसे निरंतर प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहा है। भारत सरकार के शिक्षामंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली ने भी योजना में बराबर रुचि रखी है तथा सुझाव दिए हैं। शिक्षामंत्रालय ने योजना की प्रगति से अपने को निरंतर अवगत रखा है और यथासमय सहायता दी है। नागरीप्रचारिणी सभा के पदाधिकारी, विशेष रूप से इसके अवैतनिक मंत्री डा० राजबली पांडेय इस योजना की प्रगति में सक्रिय योग देते रहे हैं। भिन्न भिन्न विषयों के विद्वानों ने अपने अपने कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी हमारे अनुरोध से समय निकालकर हिंदी विश्वकोश के लिये लेख लिखने की कृपा की। इन सबके प्रति हम आभारी हैं। प्रथम खंड के मुद्रण में भार्गव भूषण प्रेस ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिसके लिये हम उसके संचालक श्री पृथ्वीनाथ भार्गव के विशेष कृतज्ञ हैं।

अनेक अधिकारियों तथा संस्थाओं के माध्यम से होनेवाले विश्वकोश जैसे कार्य से संबंधित कठिनाइयों का अनुभव हम लोगों को गत तीन वर्षों में हुआ। हमें संतोष है कि ये कठिनाइयाँ सफलतापूर्वक पार की जा सकीं और विश्वकोश का मुद्रण और प्रकाशन प्रारंभ हो गया है। राष्ट्रभाषा हिंदी के इस शालीन प्रयास का प्रथम खंड पाठकों को प्रदान करने में हमें अतीव प्रसन्नता है। इस प्रथम प्रयास की त्रुटियों का ज्ञान हम लोगों को सबसे अधिक है। यह सब होते हुए भी हमारा विश्वास है कि हिंदी भाषा और साहित्य के एक विशेष अभाव की पूर्ति इस ग्रंथ से हो सकेगी। इसके आगे के संस्करण निरंतर अधिक पूर्ण और संतोषजनक होते जायँगे, ऐसी हमारी आशा और कामना है।

संपादकगण

संकेताक्षर

अ०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश
ई०	ईसवी
ई० प०	ईसा पश्चात्
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उप०	उपनिषद्
किलो०	किलोग्राम
कि० मी०	किलोमीटर
जि०	जिला
द०	दक्षिण
दे०	देशांतर
द्र०	द्रष्टव्य
प०	पश्चात्, पश्चिम
पू०	पूर्व
फा०	फारेनहाइट
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
मू०	मूलक
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
सं०	संस्कृत
सं०ग्रं०	संदर्भग्रंथ
सेंटी०	सेंटीग्रेड
सें०मी०	सेंटीमीटर
हिं०	हिंदी
हि०	हिजरी

प्रथम खंड के लेखक

अ० अ०	डा० **अब्दुल अलीम** डाइरेक्टर अरेबिक ऐंड इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़। (अनलहक)
अ० अ०	डा० **अमजद अली**, एम०ए०, डी०फिल०, लेक्चरर, अरबी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़। (अरबी संस्कृति)
अ० कि० ना०	डा० **अवधकिशोर नारायण**, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
अ० कु० वि०	श्री **अवनींद्रकुमार विद्यालंकार**, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली--१।
अ० जु० डि० को०	श्री **अलेक्स जवेनल डि कोस्टा**, बी०ई०, सेक्रेटरी इंडियन रोड्स कांग्रेस, जामनगर हाउस, मानसिंह रोड, नई दिल्ली।
अ० ना० अ०	डा० **अमरनारायण अग्रवाल**, एम० ए०, डी० लिट०, डीन, फैकल्टी ऑव कॉमर्स, प्रयाग विश्वविद्यालय।
अ० नि० शु०	श्री **अलखनिरंजन शुक्ल**, शोध छात्र, वनस्पति विज्ञान विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी।
अ० मो०	डा० **अरविंदमोहन**, एम०एस-सी०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
अ० ला० लु०	श्री **अर्जुनलाल लुंबा**, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय।
अ० श० आ०	श्री **अनंतशयनम् आयंगार**, अध्यक्ष, लोकसभा, नई दिल्ली।
आ० प्र० दी०	डा० आनंदप्रकाश दीक्षित, एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।
आर० आर० शे०	श्री **रियाजुर्रहमान शेरवानी**, एम०ए०, लेक्चरर, डिपार्टमेंट ऑव इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
ऑ० वे०	श्री **ऑस्कर वेरक्रूसे**, एस० जे०, एल० एम० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अल्बर्ट्स सेमिनरी, राँची (बिहार)।
आ० सि० स०	मेजर **आनंदसिंह सजवान**, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, सैन्यविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
आ० स्व० जौ०	श्री **आनंदस्वरूप जौहरी**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
इं० सिं०	**इंद्रदेव सिंह**, शोध छात्र, वनस्पति विज्ञान विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी।
इ० हु० अ०	डा० **इशरत हसन अनवर**, एम०ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, दर्शन विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
उ० ना० सिं०	डा० **उदितनारायण सिंह**, एम०ए०, डी०फिल०, डी०एस-सी० (पेरिस), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा।
उ० शं० पां०	श्री **उमाशंकर पांडेय**, अस्सी, वाराणसी।
उ० शं० प्र०	मेजर डा० **उमाशंकरप्रसाद**, ए० एम० सी० (आर०), एम०बी०बी०एस०, डी०एम०आर०डी० (इंग्लैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
उ० शं० श्री०	डा० **उमाशंकर श्रीवास्तव**, एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
उ० सिं०	डा० **उजागर सिंह**, एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
ए० हु०	द्र० **सै० ए० हु०**।
ओ० ना० उ०	श्री **ओंकारनाथ उपाध्याय**, एम०ए०, द्वारा डा० भगवतशरण उपाध्याय, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
क० और स०	**श्रीमती कमला सद्गोपाल, और डा० सद्गोपाल,** डी०एस-सी०, एफ०आर०आई०सी०, एफ० आई०सी०, डेप्युटी डायरेक्टर (केमिकल्स), इंडियन स्टैंडर्ड्स इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली।
क० गु०	डा० **कुमारी कमला गुप्त**, एम०बी०बी०एस०, एम०एस०, रीडर, ऑब्स्टेट्रिक्स तथा गाइनकॉलोजी, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
क० न० उ०	डा० **कटील नरसिंह उडुप्प**, एम०एस०, एफ० आर०सी०एस०, एफ०ए०सी०एस०, सर्जन तथा सुपरिंटेंडेंट, सर सुंदरलाल हास्पिटल, सर्जरी प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
का० ख० सो०, का० सो०	श्री **कांतिचंद्र सौनरेक्सा**, बी०ए०, भूतपूर्व पी० सी०एस०, लेखक, चित्रकार तथा पत्रकार, सी० ४१२, रिवरबैंक कालोनी, लखनऊ।
का० ना० सिं०	श्री **काशीनाथ सिंह**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
का० प्र०	श्री **कालिकाप्रसाद**, बी०एस-सी०, सी०ई०, सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, पी०डब्ल्यू०डी० (उत्तर प्रदेश), मेरठ।
का० बु०	रेवरेंड **कामिल बुल्के**, एस०जे०, एम०ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची।
कु० पु० अ०	**कुमारी पुष्पा अग्रवाल**, शोध छात्रा, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
कृ० द० भा०	श्री **कृष्णदयाल भार्गव**, एम० ए०, डायरेक्टर ऑव आर्काइव्ज, भारत सरकार, नई दिल्ली।
कृ० ना० मा०	डा० **कृष्णनारायण माथुर**, प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, आगरा।
कृ० ब०	डा० **कृष्णबहादुर**, एम०एस-सी०, डी०फिल०, डी०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
कै० चं० श०	डा० **कैलासचंद्र शर्मा**, सहायक संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

कें० जॉ० डॉ० **डा० केंडमाड कैंजॉन डॉमिनिक,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

कै० ना० सिं० **श्री कैलाशनाथ सिंह,** अध्यक्ष, भौतिकशास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, वाराणसी (अंतरिक्ष संधि)।

कै० ना० सिं० **श्री कैलाशनाथ सिंह,** प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

खा० अ० नि० **श्री खालिक अहमद निजामी,** एम०ए०, एल-एल०बी०, रीडर, इतिहास विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

गं० प्र० उ० **श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय,** एम० ए०, कला प्रेस, इलाहाबाद।

ग० प्र० श्री० **डॉ० गणेशप्रसाद श्रीवास्तव,** एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

गि० श० मि० **डा० गिरिजाशंकर मिश्र,** एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

गी० रा० गु० **कु० गीतारानी गुप्त,** शोधछात्रा, वनस्पति विज्ञान विभाग का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

गो० क० **महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज,** एम० ए० डी०लिट० (भूतपूर्व अध्यक्ष, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, वाराणसी), सिगरा, वाराणसी।

गो० ति० द्र० **श्री० गो० ति०।**

गो० ना० ध० **डा० गोपीनाथ धवन,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

गो० प्र० **डा० गोरखप्रसाद,** डी० एस-सी० (एडिन०), (अवकाशप्राप्त रीडर, गणित तथा ज्योतिष, प्रयाग विश्वविद्यालय), संपादक, हिंदी विश्वकोश।

चं० अ० **श्री चंद्रभान अग्रवाला,** एम० ए०, एल-एल० बी०, भूतपूर्व जज इलाहाबाद हाईकोर्ट, सीनियर एडवोकेट सुप्रीम कोर्ट, नई दिल्ली।

चं० प्र० **डा० चंद्रिकाप्रसाद,** डी० फिल० (आक्सफोर्ड) अध्यक्ष गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय।

चं० ब० सिं० **श्री चंद्रबली सिंह,** एम०ए०, प्राध्यापक उदयप्रताप कालेज, वाराणसी, ८०१ ए०, रामापुरा, वाराणसी।

चं० भा० सिं० **डा० चंद्रभान सिंह,** एम बी०, एफ० आर०सी० एस० (इंग्लैंड), पी०एम०एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सर्जरी विभाग वरिष्ठ अधीक्षक, संबद्ध अस्पताल तथा प्रिंसिपल, जी०एस०वी० एम० मेडिकल कालेज, कानपुर, डीन, फैकल्टी ऑव मेडिसिन, लखनऊ विश्वविद्यालय।

चं० भू० मि० **श्री चंद्रभूषण मिश्र,** प्रोफेसर, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नालाजी मेसरा, राँची।

चं० म० **श्री चंद्रचूड़ मणि,** एम० ए०, लेखक एवं पुराविद्, साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

ज० कृ० **डाक्टर जयकिशन,** बी० एस-सी०, सी०ई० (ऑनर्स), पी-एच० डी० (लंदन), एम० आई० ई० (इंडिया), मेंबर साइज्मोलॉजिकल सोसायटी (संयुक्त राज्य, अमरीका), फेलो, अमेरिकन सोसायटी ऑव सिविल इंजीनियर्स, प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय।

ज० चं० जै० **डा० जगदीशचंद्र जैन,** एम०ए०, पी-एच० डी०, (प्रधान आचार्य, हिंदी विभाग, रामनारायण रूइया कालेज, बंबई), २८ शिवाजी पार्क, बंबई-२८।

ज० चं० मा० **श्री जगदीशचंद्र माथुर,** आई०सी० एस०, डाइरेक्टर जनरल, आल इंडिया रेडियो, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली।

ज० ना० रा० **डा० जगदीशनारायण राय,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, वनस्पति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

ज० बि० ला० **डा० जगराजबिहारी लाल,** एम० एस-सी०, डी०फिल०, लेक्चरर, हारकोर्ट बटलर टेक्नॉलाजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

ज० रा० सिं० **डा० जयराम सिंह,** एम०एस-सी० (ए-जी०), पी-एच०डी०, लेक्चरर कृषि विद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

झ० ला० श० **डा० झम्मनलाल शर्मा,** एम०ए०, डी०एस-सी०, (भूतपूर्व प्रिंसिपल, नालंदा कालेज, बिहार शरीफ), प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)।

ता० चं० **डा० ताराचंद,** एम०ए०, डी०फिल० (आक्सफोर्ड), सदस्य, राज्य सभा, नई दिल्ली।

ता० म० **श्रीमती तारा मदन,** एम०ए०, अध्यक्षा, राजनीतिशास्त्र विभाग, सावित्री गर्ल्स कालेज, अजमेर।

तु० ना० सिं० **डा० तुलसीनारायण सिंह** एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

त्रि० पं० **श्री त्रिलोचन पंत,** एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

द० मा० **श्री दलसुख डी० मालवणिया,** न्यायतीर्थ, डाइरेक्टर एल० डी० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, पांजरा पोल, अहमदाबाद।

द० श० दु० **श्री दयाशंकर दुबे,** एम०ए०, एल-एल० बी० (भूतपूर्व लेक्चरर अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय), श्रीदुबे निवास, ८७३, दारागंज इलाहाबाद।

द० शं० मि० **श्री दयाशंकर मिश्र,** वाणिज्य विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

द० स्व० **डा० दयास्वरूप,** पी-एच०डी० (शफील्ड), एम० आइ०एम० एम०आर० ऐंड एम० आइ०, एफ० आर०एस०, प्रिंसिपल, कालेज ऑव माइनिंग ऐंड मेटलर्जी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

दा० वि० गो० **डा० दामोदर विनायक गोगटे,** एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), एफ०इन्स्ट०पी० (लंदन), एफ०ए०एस-सी०, वाइस प्रेसिडेंट, इंडियन फिजिकल सोसायटी, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

दी० चं० **डा० दीवानचंद,** एम०ए०, डी०लिट० (भूतपूर्व वाइसचांसलर, आगरा विश्वविद्यालय), ६३, छावनी, कानपुर।

दी० द० गु० — **डा० दीनदयाल गुप्त,** एम०ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, ५१७, नया हैदराबाद, लखनऊ।

दे० र० भ० — **डा० देवीदास रघुनाथराव भवालकर,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

दे० रा० — **डा० नंदकिशोर देवराज,** एम०ए०, डी०फिल०, डी०लिट०, प्रोफेसर, दर्शन विभाग, का० हिं० वि० वि० वाराणसी।

दे० श० — **डा० देवेंद्र शर्मा,** एम०एस-सी०, डी०फिल०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

दे० सिं० — **डा० देवेंद्र सिंह,** बी०एस-सी०, एम०बी०बी०एस०, एम०डी० (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी मेडिकल कालेज तथा चिकित्सक, हमीदिया हॉस्पिटल, भोपाल।

धी० ना० म० — **स्व० डा० धीरेंद्रनाथ मजूमदार,** भूतपूर्व अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

नं० ला० सिं० — **डा० नंदलाल सिंह,** डी०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, वनस्पतिशास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० कि० प्र० सिं० — **श्री नवलकिशोरप्रसाद सिंह,** एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० प्र० — **श्री नर्मदेश्वरप्रसाद,** एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० ल०, न० ला० — **श्री नन्हेलाल,** एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० ला० गु० — **श्री नरेंद्रलाल गुप्त,** बी०एस-सी० (इंजीनियरिंग), एम०एस०एम०ई० (पर्ड्यू, संयुक्त राज्य, अमरीका), ए०एम०आई०एम०ई०, ए०एम० आइ०ई०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष यांत्रिक इंजीनियरी विभाग, थापर इंजीनियरिंग कालेज, पटियाला।

ना० गो० श० — **डा० नारायण गोविंद शब्दे,** डी०एस-सी० (नागपुर), डी०एस-सी० (एडिन०), एफ० आर०एस-सी०, एफ०आइ०ए०एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर, विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायंस कालेज, नागपुर), चेयरमैन, एस०एस०सी०, परीक्षा बोर्ड बंबई राज्य।

ना० ना० उ० — **डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय,** लेक्चरर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ना० सिं० — **डा० नामवर सिंह,** एम०ए०, पी-एच०डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ना० सिं० प० — **श्री नारायणसिंह परिहार,** एम०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

नि० गु० — **डा० नित्यानंद गुप्त,** एम०डी० (मेडिसिन), एम० डी० (पैथालाजी), बातुमल स्कालर, संयुक्त-राज्य (अमरीका), रॉकफेलर फेलो, संयुक्त-राज्य (अमरीका) तथा यूनाइटेड किंगडम, रीडर, मेडिसिन तथा फिजीशियन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

नि० सिं० — **श्री निरंकार सिंह,** सहायक संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

नृ० कु० सिं० — **श्री नृपेंद्रकुमार सिंह,** एम०एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

पं० म० — **डा० पंचानन महेश्वरी,** डी०एस-सी०, एफ०एन० आइ०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

प० उ० — **कुमारी पद्मा उपाध्याय,** एम०ए०, प्रिंसिपल, ए०के०पी० इंटर कालेज, खुर्जा।

प० च० — **श्री परशुराम चतुर्वेदी,** एम०ए०, एल-एल०बी०, वकील, बलिया (उत्तर प्रदेश)।

प० व० — **श्री परिपूर्णानंद वर्मा,** शास्त्री, अध्यक्ष, अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति, बिहारी निवास, कानपुर।

प० श० — **डा० परमात्माशरण,** एम०ए०, पी-एच०डी० एफ०आर०ए०एस०, सहायक प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय।

पि० सिं० गि० — **डा० पियारासिंह गिल,** एम०एस०, पी-एच० डी०, एफ०एन०आइ०, एफ०एन०ए०एस-सी०, फेलो, अमेरिकन फिजिकल सोसायटी, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय तथा डायरेक्टर, गुलमर्ग रिसर्च ऑब्जर्वेटरी।

प्र० कु० स० — **डा० प्रमोदकुमार सक्सेना,** एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ, विश्वविद्यालय।

प्र० चं० गु० — **श्री प्रकाशचंद्र गुप्त,** एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

प्र० मा० — **डा० प्रभाकर बलवंत माचवे,** एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक मंत्री, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

प्री० दा० — **डा० प्रीतम दास,** प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।

प्रे० ना० शु० — **प्रो० प्रेमनारायण शुक्ल,** अध्यक्ष हिंदी विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

फ़ी० ई० द० — **डा० फ़ीरोज़ ईदुलजी दस्तूर,** डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, फारसी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली-८।

फू० स० व० — **श्री फूलदेव सहाय वर्मा,** एम०एस-सी०, ए०आइ० आइ०एस-सी०, (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलाजी काशी हिंदू विश्वविद्यालय), बोरिंग रोड, पटना।

ब० उ० — **श्री बलदेव उपाध्याय,** एम०ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत-पालि-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र० — **डा० बद्रीनारायण प्रसाद,** एफ० आर०एम०ई०, पी-एच०डी० (एडिन०), एम०एस-सी०, एम० बी०, डी०टी०एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर फार्माकोलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निदेशक, औषध अनुसंधान प्रतिष्ठान, पटना), अस्पताल रोड, पटना।

ब० पु० — द्र० बैं० पु०।

ब० बि० ला० स० — डा० **बलदेवबिहारीलाल सक्सेना**, एम० एस-सी०, डी०फिल०, एफ०एन०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

ब० ला० कु० — डा० **बनारसीलाल कुलश्रेष्ठ**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, विज्ञान विशारद, एसोशिएट प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान, बलवंत राजपूत कालेज, आगरा।

ब० सिं० स्या० — श्री **बलवंतसिंह स्याल**, एम०एस-सी०, एल०टी०, ज्वाइंट डायरेक्टर, एजुकेशन (उ०प्र०), इलाहाबाद।

बा० कृ० शे० — श्री **बालकृष्ण शेषाद्रि**, बी० एस-सी०, ए० आइ० आइ०एस-सी०, डी०आइ०सी०, एम०एस-सी० (इंग्लैड), एम०आइ०ई०, सेक्रेटरी, इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया), कलकत्ता।

बा० ना० — श्री **बालेश्वरनाथ**, बी०एस-सी०, सी०ई० (आनर्स), एम०आई०ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।

बा० रा० स० — डा० **बाबूराम सक्सेना**, एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भाषाविज्ञान तथा हिंद ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

बृ० मो० — श्री **बृजमोहनलाल साहनी**, एम० ए०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), प्रोफेसर, अंग्रेजी, आर्यमहिला विद्यालय, वाराणसी।

बैं० पु० — डा० **बैजनाथ पुरी**, एम० ए०, बी०लिट०, डी० फिल०, प्राच्य भारतीय इतिहास और पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

ब्र० दा० — श्री **ब्रजरत्नदास**, बी०ए०, एल-एल० बी०, वकील, सी-के० १५।८ बी०, सुडिया, वाराणसी।

ब्र० मो० — डा० **ब्रजमोहन**, एम०ए०, एल-एल० बी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

भ० दा० व० — श्री **भगवानदास वर्मा**, बी० एस-सी०, एल०टी०, [भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रॉनिकल] विज्ञान सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

भ० शं० या० — डा० **भवानीशंकर याज्ञिक**, ८ शाह नजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० उ० — डा० **भगवतशरण उपाध्याय**, एम०ए०, डी० फिल०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भि० ज० का० — **भिक्षु जगदीश काश्यप**, एम० ए०, त्रिपिटकाचार्य, प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, अवैतनिक संचालक नवनालंद महाविहार एवं प्रधान संपादक, पालि प्रकाशन, बिहार सरकार, ४३, विष्णु भवन, लंका, वाराणसी।

भी० ला० आ० — डा० **भीखनलाल आत्रेय**, एम० ए०, डी०लिट०, दर्शनाचार्य (भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), लंका, वाराणसी।

भृ० ना० प्र० — डा० **भृगुनाथप्रसाद**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान, सेंट्रल हिंदू कालेज, वाराणसी।

भो० ना० श० — श्री **भोलानाथ शर्मा**, एम० ए०, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।

म० कु० गो० — डा० **महेंद्रकुमार गोयल** एम०एस०, रीडर, आर्थोपीडिक सर्जरी, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

म० गं० भा० — डा० **मधुकर गंगाधर भाटवडेकर**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, राजस्थान कालेज, जयपुर।

म० त्रि० — श्री **महेश त्रिवेदी** वैज्ञानिक अधिकारी, भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, बंबई—८५।

म० ना० मे० — श्री **महाराजनारायण मेहरोत्रा**, एम०एस-सी०, एफ०जी०एम०एस०, लेक्चरर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

म० प्र० मि० — श्री **महंतप्रसाद मिश्र**, शोधछात्र, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० प्र० श्री० — स्वर्गीय श्री **महावीरप्रसाद श्रीवास्तव**, बी०एस-सी०, एल०टी०, विशारद, सूर्यसिद्धांत के विज्ञानभाष्य पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता।

म० म० गो० — डा० **मदनमोहन मनोहरलाल गोयल**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (बंबई), एफ० जेड०एस० (लंदन), एफ०आर०एम०एस०, प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान, बरेली कालेज।

म० ला० श० — डा० **मथुरालाल शर्मा**, एम०ए०, डी०लिट० प्रोफेसर, इतिहास, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर।

म०सु०म०श० — डा० **महादेव सु० मणि शर्मा**, एम०ए०, डी० एस-सी०, एफ०आर०ई०एस०, एफ०एल० एस०, डेप्युटी डायरेक्टर, जूऑलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, कलकत्ता।

मा० जा० — श्रीमती **माधुरी जायसवाल**, बी०ए०, भूतपूर्व संयोजिका, सेंट्रल वेलफेयर बोर्ड, मध्यप्रदेश सरकार।

मु० अ० अ० — डा० **मुहम्मद अजहर असगर अंसारी**, एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मु० न० — **मुनिश्री नथमल जी**, द्वारा, अणुव्रत समिति, ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता।

मु० ला० श्री० — डा० **मुरलीधरलाल श्रीवास्तव**, डी०एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मु० सु० — **मुनिश्री सुमेरमल जी**, द्वारा अणुव्रत समिति, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता।

मु० स्व० व० — डा० **मुकुंदस्वरूप वर्मा**, बी०एस-सी०, एम०बी० बी०एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

मु० ह० — डा० **मुहम्मद हबीब**, बी०ए०, डी०लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ़।

मो० अ० अं० — द्र० मु० अ० अ०।

मो० ला० गु० — डा० **मोहनलाल गुजराल**, एम०बी०बी०एस० (पंजाब), एम०आर०सी०पी० (लंदन), डायरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्माकोलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

मो० ला० ति० — डा० मोहनलाल तिवारी, डी० ५२।३६, लक्ष्मीकुंड, वाराणसी।

य० उ० — श्री यदुनंदन उपाध्याय, बी०ए०, ए०एम०एस०, वामनजी खीमजी चेयर के प्रोफेसर (चरक), रीडर, आयुर्वेद तथा आयुर्विज्ञान, वरिष्ठ चिकित्सक, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

यू० वा० भ० — डा० यू० वामन भट्ट, पी-एच०डी० (शेफील्ड), एम०आइ० एँड एस०आइ०, एम०आइ०एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग), परीक्षा नियंत्रक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

यू० हु० खाँ० — डा० युसुफ हुसेन खाँ, डी० लिट० (पेरिस), प्रो-वाइसचांसलर, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

र० — श्री रवींद्र, संपादक, पुरोधा तथा अग्निशिखा, श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी–२।

र० च० क० — डा० रमेशचंद्र कपूर, डीएस-सी०, डीफिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

र० चं० गु० — श्री रमेशचंद्र गुप्त, शोधछात्र, वनस्पति विज्ञान विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

र० चं० मि० — डा० रमेशचंद्र मिश्र, एम०एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा प्रधान अध्यापक भूविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

र० च० — द्र० रा० च०।

र० ज० — द्र० र० स० ज०।

र० जै० — श्री रवींद्र जैन, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

र० ना० दे० — श्री रवींद्रनाथ देव, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय, हालैंड हाल, इलाहाबाद।

र० प्र० गि० — श्री रघुनाथप्रसाद गिनोडिया, एडवोकेट, इनकम-टैक्स-सेल्सटैक्स, रामकटोरा रोड, वाराणसी।

र० म० — द्र० रु० म०।

र० स० ज० — श्रीमती रज़िया सज्जाद ज़हीर, एम०ए० (भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) वज़ीर मंज़िल, वज़ीर हसन रोड, लखनऊ।

रा० अ० — डा० राजेंद्र अवस्थी, एम० ए०, पी-एच०डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रा० कु० — डा० रामकुमार, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय।

रा० गो० स० — डा० रामगोपाल सरीन, एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, गवर्नमेंट कालेज, अजमेर।

रा० चं० स० — श्री रामचंद्र सक्सेना, एम०एस-सी० (भूतपूर्व लेक्चरर, जीवविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय); अस्सी, वाराणसी।

रा० च० — डा० रामाचरण, बी०एस-सी० टेक० (शेफ़ील्ड, इंग्लैंड), डा० टेकनीक० (प्राहा, चेकोस्लोवेकिया), संयुक्त राज्य (अमरीका) के फुल-ब्राइट-यात्रा-अनुदान-प्राप्तकर्ता (भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्लास टेकनॉलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय)।

रा० च० मे० — डा० रामचरण मेहरोत्रा, एम०एस-सी०, डी० फिल० (इलाहाबाद), पी-एच०डी० (लंदन), एफ०आर०आई०सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

रा० दा० ति० — डा० रामदास तिवारी, एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

रा० ना० — डा० राजनाथ, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०आइ०सी०, एफ०एन०आई०, एफ०एन०ए०एस-सी०, एफ०जी०एम०एस०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (अतिनूतन युग, अवर प्रवालादि युग।)

रा० ना० — डा० राजाराम नागर, एम०ए०, पी-एच०डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय। (अफजल खाँ, अभार्ग्स, अमीचंद, अर्माडा, अहिल्याबाई होल्कर, आईन-ए-अकबरी, आगा खाँ, आल्बुकर्क, आल्फांजोंघ, आल्मेइदा थोम फासिस्कोथ।)

रा० ना० मा० — डा० राधिकानारायण माथुर, एम०ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० ना० व० — श्री रामनाथ वर्मा, संवाददाता, आकाशवाणी, सी० के० ६५/१६०, बड़ी पियरी, वाराणसी।

रा० पां० — डा० रामचंद्र पांडेय, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, बौद्ध दर्शन और धर्म विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रा० प्र० त्रि० — डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी० (लंदन), भूतपूर्व वाइसचांसलर, सागर विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, परामर्शदात्री समिति, जिला गजेटियर तथा हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश।

रा० प्र० श० — डा० राजेंद्रप्रसाद शर्मा, प्रशासन एवं प्रशिक्षण शोध अधिकारी, राजकीय हिंदी संस्थान, उ० प्र०, वाराणसी।

रा० ब० पां० — डा० राजबली पांडेय, एम०ए०, डी०लिट०, प्रिंसिपल, भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

रा० बि० — डा० रामबिहारी, डी०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रा० लू० — श्री राममूर्ति लूंबा, एम०ए०, एल-एल०बी०, सहायक प्रोफेसर, मनोविज्ञान तथा दर्शन विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय।

रा० लो० सिं० — डाक्टर रामलोचन सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० सिं० तो० — डा० रामसिंह तोमर, एम०ए०, डी० फिल०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन।

रा० स्व० च० — डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, एम०ए०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

रि० र० शे० — डा० रियाजुर्रहमान शेरवानी, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

रु० म० — सर रुस्तम पेस्तनजी मसानी, भूतपूर्व म्युनिसिपल कमिश्नर, बंबई तथा वाइसचांसलर, बंबई विश्वविद्यालय, ४६ मेयरवेदर रोड, बंबई–१।

ल०कि०सि०चौ०	श्री ललितकिशोर सिंह चौधरी, एम०ए०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष भूगोल विभाग, सनातनधर्म कालेज कानपुर।
ल० शं० व्या०	श्री लक्ष्मीशंकर व्यास, वरिष्ठ संपादक, आज दैनिक, वाराणसी।
ला० ब० पां०	श्री लालबहादुर पांडेय, भूतपूर्व परसनल आफिसर इंडस्ट्रियल इस्टेट मैन्यु० ऐसोसिएशन, वाराणसी एवं भूतपूर्व जनरल मैनेजर, हेम इलेक्ट्रिक क०, सराय गोवर्धन, वाराणसी।
ला० रा० शु०	श्री लालजीराम शुक्ल, काशी मनोविज्ञानशाला, वाराणसी।
ले० रा० सिं०, ले०रा०सि०क०	डा० लेखराज सिंह, एम० ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
वा०	डा० वाचस्पति, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।
वा० मु०	जस्टिस वासुदेव मुखर्जी, २४, जार्जटाउन, इलाहाबाद।
वा० श० अ०	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी०लिट०, अध्यक्ष, ललितकला तथा वास्तु विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
विं० वा० प्र०	डा० विंध्यवासिनी प्रसाद, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
वि० कु० ति०	श्री विनोदकुमार तिवारी, वनस्पति विज्ञान, विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी।
वि० त्रि०	श्री विश्वनाथ त्रिपाठी, सहायक संपादक, हिंदी शब्दसागर, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
वि० न० प्र०	डा० विद्यानंद प्रसाद, क्लिनिकल रजिस्ट्रार शल्य-शालाक्य-विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वि० ना० गौ०	डा० विश्वनाथ गौड़, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।
वि० ना० चौ०	श्री विजयनारायण चौबे, एम० ए०, एम० एड०, सहायक अध्यापक, राजकीय जुबिली इंटर कालेज, लखनऊ।
वि०ना०पां०	श्री विश्वंभरनाथ पांडेय, मेयर, कारपोरेशन, इलाहाबाद।
वि० प्र० सिं०	डा० विजयप्रताप सिंह, एम०एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, वनस्पति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
वि० मु०	श्रीमती विभा मुखर्जी, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वि० रा०	डा० विक्रमादित्य राय, अवकाशप्राप्त अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वि० श० पा०	डा० विश्वंभरशरण पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।
वि० श्री० न०	डा० वी० एस० नरवणे, एम०ए०, डी० लिट०, सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
वि० सा० दु०	डा० विद्यासागर दुबे, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०आई०सी०, प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वी० भा० भा०	डा० वीरभानु भाटिया, एम० डी०, एफ० आर० सी०पी० (लंदन), एम०एल०सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मेडिसिन विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।
शं० ना० उ०	डा० शंभुनाथ उपाध्याय, एम० ए०, एम० एड०, एड०डी०, सीनियर रिसर्च साइकोलॉजिस्ट, ब्यूरो ऑव साइकोलाजी, इलाहाबाद।
श० ध० च०	श्री शशधर चटर्जी, एम० एम-सी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
श० ब० स०	डा० शमशेरबहादुर समदी, एम०ए०, पी-एच०डी० (अरबी), डी०लिट० (फारसी), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अरबी, एवं संयोजक, बोर्ड ऑव ओरिएंटल स्टडीज, अरेबिक ऐंड पर्शियन, लखनऊ विश्वविद्यालय, अख्तर मंजिल, बारो रोड, लखनऊ।
शां० म० शा०	द्र० स्व० मो० शा०।
शि० क० पां०	डा० शिवकंठ पांडेय, अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
शि० ना० ख०	डा० शिवनाथ खन्ना, एम० बी०बी०एस०, डी०पी० एच०, आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मं० सि०	श्री शिवमंगल सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मू० पा०	डा० शिवमूर्ति पांडेय, बी०।१ जोधपुर कालनी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० श० मि०	डा० शिवशरण मिश्र, एम०डी० (आनर्स), एफ० आर०सी०पी० (लंदन), प्रोफेसर ऑव क्लिनि-कल मेडिसिन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।
श्या० दु०	डा० श्यामाचरण दुबे, एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, नृतत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।
श्या० ना० मे०	डा० श्यामनारायण मेहरोत्रा, एम०ए०, बी० एड०, डी०फिल०, उपसंचालक, शिक्षा, मेरठ।
श्या० सु० श०	श्री श्यामसुंदर शर्मा, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
श्री० अ०	श्री श्रीकृष्ण अग्रवाल, बी०ए०, एल-एल०बी०, साहित्यरत्न, एडवोकेट, हाईकोर्ट, इलाहाबाद, ४ बी०, थानहिल रोड, इलाहाबाद।
श्री० अ० डां०	श्री श्रीपाद अमृत डांगे, संसद्सदस्य, जनरल सेक्रे-टरी, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, ४, अशोक रोड, नई दिल्ली।
श्री० गो० ति०	लेफ्टिनेंट कर्नल श्रीगोविंद तिवारी, एम०ए०, एफ०एन०ए०एस-सी०, अध्यक्ष, सैन्यविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
श्री० ध० अ०	डा० श्रीधर अग्रवाल, एम०बी०बी०एस०, एम०, एस-सी० (पैथालाजी), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
श्री० स०	डा० श्रीकृष्ण सक्सेना, एम०ए०, पी-एच०डी० अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय।
स०	डा० सद्गोपाल, डी०एस-सी०, एफ०आर०आई० सी०, एफ०आर०सी०, उपनिदेशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ९९ मथुरा रोड, नई दिल्ली।
स०	श्री सर्वदानंद, बी० १।५ गुलाब बाग, वाराणसी–२।
स० कु० रो०	डा० सतीशकुमार रोहरा, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सं० च० — **श्रीमती सरोजिनी चतुर्वेदी**, एम०ए०, द्वारा श्री सुभापचंद्र चतुर्वेदी, पी०सी०एस०, डिप्टी कलेक्टर, एटा।

स० ना० प्र० — **डा० सत्यनारायणप्रसाद**, एम०एस-सी०, डी० फिल०, एफ०एन०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

स० पा० गु० — **डा० सत्यपाल गुप्त**, एम०बी०बी०एस०, एफ० आर०सी०एस० (एडिन०), डी०ओ०एम०एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ऑफ्थैल्मॉलोजी विभाग, चीफ आई सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० — **डा० सत्यप्रकाश**, डी०एस-सी०, एफ०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। (आवर्त नियम तथा आसवन)

स० प्र० — **डा० सरयूप्रसाद**, एम०ए०, एम०एस-सी०, डी० एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, एफ०आइ० सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (आस्मियम तथा इरिडियम)

स० प्र० गु० — **डा० सत्यप्रकाश गुप्त**, प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० चौ० — **डा० सरयूप्रसाद चौबे**, एम०ए० एम०एड०, सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सि० रा० गु० — **श्री सियाराम गुप्त**, बी०एस-सी०, डेप्युटी सुपरिंटेंडेंट ऑव पुलिस, अंगुलिचिह्न तथा वैज्ञानिक शाखा, सी०आई०डी०, उ०प्र०, लखनऊ।

सी० च० — **श्री सीताराम चतुर्वेदी**, एम०ए०, बी०टी०, एल-एल०बी०, साहित्याचार्य, प्रिंसिपल, टाउन डिग्री कालेज, बलिया।

सी० रा० जा० — **डा० सीताराम जायसवाल**, एम०ए०, एम०एड०, पी-एच०डी०, रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सी० बा० जो० — **श्री सीताराम बालकृष्ण जोशी**, इंजीनियर, जोशी बाड़ी, मनमाला टैंक रोड, माहिम, बंबई।

सुं० ला० — **श्री० सुंदरलाल**, सक्रेटरी, हिंदुस्तानी कल्चर सोसाइटी, ४०ए, हनुमान लेन, नई दिल्ली।

सु० कां० मि० — **डा० सुधाकांत मिश्र**, प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी–२।

सै० ए० हु० — **सैयद एहतेशाम हुसैन**, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, फारसी और उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सै० ब० ह० आ० — **सैयद बदरुल हसन आबिदी**, प्राध्यापक, अरबी (भाषा), काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

स्कं० गु० — **श्री स्कंदगुप्त**, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

स्व० मो० शा० — **डा० स्वरूपचंद्र मोहनलाल शाह**, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी० लिट० (लंदन), एफ०एन०आई०, एफ०ए०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय।

ह० च० गु० — **डा० हरिश्चंद्र गुप्त**, पी-एच०डी० (मैनचेस्टर), पी-एच०डी० (आगरा), रीडर, गणितीय सांख्यिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

ह० ब० — **डा० हरिवंश राय बच्चन**, एम०ए०, पी-एच०डी० (कैंटब), हिंदी विशेषज्ञ, विदेशमंत्रालय, नई दिल्ली।

ह० बा० मा० — **डा० हरिबाबू माहेश्वरी**, एम०बी०बी०एस०, एम० डी०, पैथॉलाजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

ह० ह० सि० — **श्री हरिहर सिंह**, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

हा० गु० मु० — **श्री हाफिज गुलाम मुस्तफा**, एम०ए० (अरबी, फारसी, उर्दू), फाजिल और कामिल, लेक्चरर, अरबी और इस्लामी अध्ययन विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

हृ० के० त्रि० — **डा० हृषिकेश त्रिवेदी**, डी०एस-सी०, डी० आर०ई०, डी०मेट०, प्रिंसिपल, हारकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

हे० जो० — **डा० हेमचंद्र जोशी**, डी०लिट०, लेखक, भूतपूर्व निरीक्षक संपादक, हिंदी शब्दसागर, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

——:o——

तत्वों की संकेतसूची

संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम
अ	Am	अमरीशियम	ट$_{\text{क}}$	Tc	टक्नीशियम	मै	Mn	मैंगनीज़
आ$_{\text{इ}}$	En	आइस्टीनियम	टे$_{\text{ल}}$	Te	टेल्यूरियम	मै$_{\text{ग}}$	Mg	मैग्नीशियम
ऑ	O	ऑक्सीजन	टै	Ta	टैंटेलम	मो	Mo	मोलिब्डेनम
आ	I	आयोडीन	डि	Dy	डिस्प्रोशियम	य	Zn	जिंक, यशद या जस्ता
आ$_{\text{र}}$	A	आर्गन	ता	Cu	कापर (ताम्र)	यू	U	यूरेनियम
आ$_{\text{र}}$	As	आर्सेनिक	थ	Tm	थूलियम	यू$_{\text{र}}$	Eu	यूरोपियम
आ$_{\text{स}}$	Os	ऑस्मियम	थै	Tl	थैलियम	र	Ag	सिलवर (रजत)
इ$_{\text{ड}}$	In	इंडियम	थो	Th	थोरियम	रु$_{\text{थ}}$	Ru	रुथेनियम
इ$_{\text{ब}}$	Yb	इटर्बियम	ना	N	नाइट्रोजन	रु$_{\text{ब}}$	Rb	रुबिडियम
इ$_{\text{ट}}$	Y	इट्रियम	नि$_{\text{ब}}$	Nb	नियोबियम	रे$_{\text{ड}}$	Rn	रेडॉन
इ	Ir	इरीडियम	नि	Ni	निकल	र	Ra	रेडियम
ए$_{\text{ब}}$	Eb	एर्बियम	नी	Ne	नीऑन	रे$_{\text{न}}$	Re	रेनियम
ऐ$_{\text{ट}}$	Sb	ऐंटिमनी	ने$_{\text{प}}$	Np	नेप्च्यूनियम	रो	Rh	रोडियम
ऐ$_{\text{क}}$	Ac	ऐक्टिनियम	नो	No	नोबेलियम	ला	Lw	लारसियम
ऐ	Al	ऐलुमिनियम	न्यो	Nd	न्योडियम	लि	Li	लिथियम
ऐ$_{\text{स}}$	At	ऐस्टैटीन	पा	Hg	मरकरी (पारद)	लै	La	लैंथनम
का	C	कार्बन	पै	Pd	पैलेडियम	लो	Fe	आयरन (लोहा)
कु	Ku	कुर्चाटोवियम	पो	K	पोटैशियम	ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
कै	Ca	कैल्सियम	पो$_{\text{ल}}$	Po	पोलोनियम	व	Sn	टिन (बंग)
कै$_{\text{ड}}$	Cd	कैडमियम	प्रे	Pr	प्रेजिओडिमियम	वै	V	वैनेडियम
कै$_{\text{ल}}$	Cf	कैलिफोर्नियम	प्रो$_{\text{ट}}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	स	Sm	समरियम
को	Co	कोबाल्ट	प्रो$_{\text{म}}$	Pm	प्रोमीथियम	सि	Si	सिलिकन
क्यू	Cm	क्यूरियम	प्लु	Pu	प्लूटोनियम	सि$_{\text{ल}}$	Se	सिलीनियम
क्रि	Kr	क्रिप्टॉन	प्लै	Pt	प्लैटिनम	सी$_{\text{ज}}$	Cs	सीज़ियम
क्रो	Cr	क्रोमियम	फ	Fm	फर्मीयम	सी$_{\text{र}}$	Ce	सीरियम
क्लो	Cl	क्लोरीन	फा	P	फॉस्फोरस	सी	Pb	लेड (सीस)
ग	S	सल्फर (गंधक)	फ्रा	Fr	फ्रांसियम	स	Ct	सेंटियम
गै$_{\text{ड}}$	Gd	गैडोलिनियम	फ्लो	F	फ्लोरीन	सो	Na	सोडियम
गै	Ga	गैलियम	ब	Bk	बर्केलियम	स्कै	Sc	स्कैंडियम
ज$_{\text{क}}$	Zr	जर्कोनियम	बि	Bf	बिस्मथ	स्ट्रा	Sr	स्ट्रोंशियम
ज$_{\text{म}}$	Ge	जर्मेनियम	बे	Ba	बेरियम	स्व	Au	गोल्ड (स्वर्ण)
ज़ी	Xe	ज़ीनान	बे$_{\text{र}}$	Be	बेरीलियम	हा	H	हाइड्रोजन
ट	W	टंग्स्टन	बो	B	बोरन	ही	He	हीलियम
ट$_{\text{र}}$	Tb	टर्बियम	ब्रो	Br	ब्रोमीन	है	Hf	हैफ्नियम
टा$_{\text{इ}}$	Ti	टाइटेनियम	मे	Md	मेंडेलीवियम	है$_{\text{ह}}$	—	हैहनियम
						हो	Ho	होल्मियम

फलकसूची

मानचित्र

हिंदी विश्वकोश

अंक १ उन चिह्नो को कहते हैं जिनमे गिनतियाँ सूचित की जाती है, जैसे १, २, ३, . । स्वय गिनतिया को सख्या कहते है । यह निर्विवाद है कि आदिम सभ्यता मे पहले वाणी का विकास हुआ और उसके बहुत काल पश्चात् लेखनकला का प्रादुर्भाव हुआ । इसी प्रकार गिनना सीखने के बहुत समय बाद ही सख्याओं को अकित करने का ढग निकाला गया होगा । वर्तमान समय तक बचे हुए अभिलेखो मे सबसे प्राचीन अक मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया के माने जाते है । इनका रचनाकाल ३,००० ई० पू० के आसपास रहा होगा । ये अक चित्रलिपि (हाइरोग्लिफिक्स) के रूप मे है । इनमे किसी अक के लिये चिड़िया, किसी के लिय फूल, किसी के लिये कुदाल आदि बनाए जाते थे । केवल अक ही नही, शब्द भी चित्रलिपि मे लिखे जाते थे ।

कुछ देशो मे अको के निरूपण के लिय खपच्चियो पर खाँचे बनाई जाती थी, कही खड़िया से बिदियाँ बनाई जाती थी, कही खडी अथवा पडी लकीरो से काम लिया जाता था । प्राचीन मेसोपोटेमिया मे खडी रेखाओं का प्रयोग होता था, जो सभवत खडी अगुलियो की द्योतक है

| || |||
१   २   ३

ब्राह्मी लिपि मे, जो प्राचीन भारत मे प्रचलित थी, इन्ही सख्याओं के लिये बेडी रेखाएँ प्रयुक्त होती थी ।

पडित सुधाकर द्विवेदी का विचार था कि हमारे अधिकाश नागरी अको की आकृतियाँ पुष्पो से ली गई है । 'गणित का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक मे उन्होने इन अको का उदभव इस प्रकार बताया है जैसा पार्श्व के चित्र मे है ।

कुद (एक माघी फूल की कली) — १
मुकुद (एक फूल जिसमे दो कलियाँ होती है) — २
नील (तीन कलियावाला फूल) — ३
कच्छप (कछुआ) — ४
मगर — ५
खर्व (छोटा कमल) — ६
पद्म (कुछ बडा कमल) — ७
महापद्म (सबसे बडा कमल) — ८
शख — ९

पडित सुधाकर द्विवेदी के अनुसार अको की उत्पत्ति

परतु शिलालेखो मे ये रूप कही भी नही मिले है । इसलिये अको का यह उत्पत्ति केवल कल्पना ही जान पडती है । आगामी पृष्ठ की सामग्री मे अको के व रूप दिखाए गए है जो भारत के विविध शिलालेखो मे मिलते है । यूनानियो मे १ से ६ तक के लिये पहले खडी रेखाएँ प्रयुक्त होती थी । पीछे पाँच, दस आदि गिनतियो के लिये प्रयुक्त शब्दो के प्रथम अक्षर लिखे जाने लगे । तृतीय शताब्दी ई० पू० के लेखो मे यह प्रणाली मिलती है । तदनतर वर्णमाला के क्रम से लिए गए अक्षर ९ तक की क्रमागत सख्याओं के लिये प्रयुक्त होते थे, और १०, २० आदि ९० तक, और फिर १००, २०० आदि ९०० तक के लिये शेष अक्षर प्रयुक्त होते थे ।

रोमन पद्धति, जिसमे १, २, के लिये I, II, III, IV, V, VI,... लिखे जाते थे, आज तक भी थोडी बहुत प्रचलित है । सन् २६० ई० पू० मे यह पद्धति (कुछ हेरफेर के साथ) प्रचलित अवश्य थी, क्योकि उस समय के शिलालेखो मे यह वर्तमान है । रोम का साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ था और इतने समय तक शक्तिमान् बना रहा कि उसकी लेखन-पद्धति का प्रभुत्व आश्चर्यजनक नही है । अपने समय की अन्य अकपद्धतियो से रोमन अकपद्धति अच्छी भी थी, क्योकि इसमे चार अक्षर V, X, L, और C तथा एक खडी रेखा से प्रतिदिन के व्यवहार की सभी सख्याएँ लिखी जा सकती थी । पीछे D तथा M के उपयोग से पर्याप्त बडी सख्याओं का लिखना भी सभव हो गया । एक, दो और तीन के लिये इतनी ही खडी रेखाएँ खीची जाती थी । V से पाँच का बोध होता था । मामसेन ने १८५० मे बताया कि V वस्तुत खुले पजे का चित्रीय प्रतीक है और एक उलटा तथा एक सीधा V मिलाने से दो पाँच अर्थात् दस (X) बना । इस सिद्धात से अधिकाश विद्वान् सहमत है । C सौ के लिये रोमन शब्द सेंटम का पहला अक्षर है और M हजार के लिये रोमन शब्द मिलि का पहला अक्षर है । बडी सख्या के बाईं ओर छोटी सख्या लिखकर दोनो का अतर सूचित किया जाता था, जैसे IV = ४ । रोमन अंको से बहुत बडी सख्याएँ नही लिखी जा सकती थी । आवश्यकता पडने पर (I) मे १,०००, ((I)) से १०,०००, (((I))) से १ लाख सूचित कर लिया जाता था, परतु जब उन्होने २६० ई० पू० मे कार्थेजीय लोगो पर अपनी विजय के लिये कीर्तिस्तभ बनाया और उसपर २३,००,००० लिखना पडा तो उन्हे (((I))) को २३ बार लिखना पडा ।

युकाटान (मेक्सिको और मध्य अमरीका के प्रायद्वीप) मे प्राचीन मय सभ्यता अत्यत विकसित अवस्था मे थी । वहाँ एक, दो, तीन इत्यादि बिदियो से १, २, ३, सूचित किए जाते थे, बेडी रेखा से ५, चक्र से २०, इत्यादि । इस प्रणाली मे लिखी गई कुछ सख्याएँ नीचे दिखाई गई हैं :

मय सभ्यता में अंको का रूप

चीन मे प्राचीन काल से ही अको के लिये विशेष चिह्न थे ।

यूरोप मे प्रचलित अको 1, 2, 3, की उत्पत्ति के लिये कई सिद्धात बने, परतु अब पाश्चात्य विद्वान् भी मानते है कि उनका मूल प्राचीन भारतीय पद्धति ब्राह्मी है, यद्यपि देशकाल की विभिन्नता से कई अको के रूप मे कुछ विभिन्नता आ गई है । 2 और 3 स्पष्ट रूप से ब्राह्मी के दो और तीन, अर्थात् = और ≡, के घसीटकर लिखे गए रूप है । इसके अतिरिक्त कई अन्य यूरोपीय अको के रूप ब्राह्मी अको से मिलते है । उदाहरणत 1, 4 और 6 अशोक के शिलालेखो के १, ४ और ६ से मिलते जुलते है, 2, 4, 6, 7 और 9 नानाघाट के अको से बहुत कुछ मिलते है, 2, 3, 4, 5, 6, 7 और 9 नासिक की गुफाओं के अको के सदृश है । परतु यूरोपीय लोगो ने इन अको को सीधे भारतीयो से नही पाया । उन्होने इन्हे अरबवालो से सीखा । इसीलिये ये अक यूरोप मे अरबी (अरेबिक) अक कहे जाते हैं । पूर्वोक्त प्रमाणो के आधार पर वैज्ञानिक अब उन्हे हिंदू-अरेबिक अक कहते है ।

अशोक के शिलालेख तीसरी शताब्दी ई० पू० के हैं और नानाघाट के शिलालेख लगभग १०० वर्ष बाद के है । इनमे हमारे अको के प्राचीन रूप अब भी देखे जा सकते है । इनमे शून्य का प्रयोग नही मिलता । आठवी शताब्दी से भारत मे शून्य के प्रयोग का पक्का प्रमाण मिलता है ।

आज ससार की अधिकाश भाषाओं मे १ से ९ तक के अको के लिये स्वतत्र अक है । फिर १ मे ० लगाकर १० बनाया जाता है । बाद के समस्त अक दस को आधार मानकर बनाए जाते है, जैसे

१३ = १० + ३, १७ = १० + ७,

इसी तथ्य को हम गणित की भाषा मे इस प्रकार कहते हैं कि हमारी सख्यापद्धति दशाशिक है।

हम ऊपर देख चुके है कि गिनने की आदिम पद्धति योगात्मक थी। दो लकीरो का अर्थ दो होता था और तीन लकीरो का तीन। किंतु आधुनिक सख्यापद्धति योगात्मक भी है और गुणनात्मक भी। देखिए,

४५ = ४ × १० + ५,
६८ = ६ × १० + ८,
९१ = ९ × १० + १।

स्पष्ट है कि ४५ मे ४ का सख्यात्मक मान तो ४ ही है, किंतु अपनी स्थिति के कारण उसका मान ४० है। इस प्रकार ४० मे ५ जोडने से ४५ प्राप्त होता है। स्थानो के मान इकाई, दहाई, सैकडा आदि प्रसिद्ध हैं। जब किसी स्थान मे कोई अंक नही रहता तब वहाँ शून्य (०) लिख दिया जाता है। जब तक शून्य का आविष्कार नही हुआ था तब तक स्थानिक मानो का प्रयोग भली भाँति नही हो पाता था। शून्य का आविष्कार प्राचीन भारतीयो ने ही किया था।

	तीसरी शताब्दी ई० पू०	दूसरी शताब्दी ई० पू०	पहली तथा दूसरी शताब्दी ई०	दूसरी शताब्दी ई०	दूसरी से चौथी शताब्दी ई० तक	चौथी शताब्दी ई०
	अशोक के अभिलेख	नानाघाट अभिलेख	कुषाण अभिलेख	क्षत्रप तथा आंध्र अभिलेख	क्षत्रप मुद्राएँ	जगय्यपेट अभिलेख तथा शिवस्कंद वर्मन ताम्रपत्र
१				— —	—	[illegible]
२		-		=	=	[illegible]
३			≡ —	≡	≡	[illegible]
४	+	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५			[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
६	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
७		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
८			[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
९		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	

ब्राह्मी लिपि में अंक

विविध अभिलेखों मे आए अंको का सच्चा स्वरूप यहाँ दिखाया गया है।

शून्यरहित प्रणालियो मे (जैसे रोमन पद्धति मे) बडी सख्याओ का लिखना बहुत कठिन होता है, और बडी सख्याओ को बडी सख्याओ मे गुणा करना तो प्राय असभव हो जाता है।

सं०ग्रं०—विभूतिभूषण दत्त और अवधेशनारायण सिंह हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग १ (लाहौर, १९३५) (इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ मे छपा है), डी० ई० स्मिथ और एल० सी० कारपिन्स्की दि हिंदू अरेबिक न्यूमरल्स (बोस्टन, १९११), डी० ई० स्मिथ हिस्ट्री ऑव मैथिमैटिक्स, भाग १, २ (बोस्टन, १९२३, १९५५)। (व्र० मो०)

अंक २ द्र० 'नाटक', 'रूपक'।

अंकगणित

अंकगणित (अँग्रेजी मे अरिथमेटिक) गणित की वह शाखा है जिसमे केवल अको और सख्याओ से गणना की जाती है। इसमे न सकेताक्षरो का प्रयोग होता है और न ऋण सख्याओ का ही, किंतु अकगणित के नियमो की व्याख्या मे सकेताक्षरो का प्रयोग होने लगा है। बहुधा ऐसा माना गया है कि अकगणित का विषयविस्तार अभिगणना (कम्प्युटेशन) तक सीमित है और विषय के प्रतिपादन मे तर्क की विशेष महत्ता नही होती। अकगणित का तर्कयुक्त विवेचन एक अलग विषय है जिसे सख्यासिद्धात (थ्यारी ऑव नवर्स) कहते है। कुछ गणितज्ञ अब अकगणित और सख्यासिद्धात को समानार्थक मानने लगे है।

दो समूहो मे वस्तुओ की सख्या तब समान कही जाती है जब एक समूह की प्रत्येक वस्तु के लिये दूसरे समूह मे एक जोडीदार वस्तु मिल सके। इस प्रकार यदि अनुक्रम १, २, ३, , **म** की प्रत्येक सख्या की जोडी किसी समूह की एक एक वस्तु से बनाई जा सके तो उस समूह मे वस्तुओ की सख्या **म** है। इस सख्या का ज्ञान प्राप्त करना वस्तुओ की गणना करना, अर्थात् गिनना, कहा जाता है। गिनने की विधि से जो सख्याएँ मिलती है उन्हें **प्राकृतिक** सख्याएँ अथवा पूर्ण सख्याएँ कहते है।

धन पूर्ण संख्या संबंधी मूल नियम—यदि एक समूह मे **क** वस्तुएँ और दूसरे समूह मे **ख** वस्तुएँ है तो दोनो समूहों मे मिलकर **क + ख** वस्तुएँ हैं। **क + ख** को **क** और **ख** का योगफल, अथवा योग, कहते है। योगफल ज्ञात करने को जोडना कहते है। चिह्न + को धन कहते है। गिनने की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि योग के लिये निम्नलिखित मूल नियम ठीक है

१ योग का क्रमविनिमेय (कम्यूटेटिव) नियम **क + ख = ख + क**।

२ योग का साहचर्य (ऐसोसिएटिव) नियम **क + (ख + ग) = (क + ख) + ग**।

यदि **च** कोई ऐसी धन पूर्ण सख्या है कि **क = ख + च**, तो कहा जाता है कि **क**, **ख** से बडी है (और इसे **क > ख** लिखते है), साथ ही **ख**, **क** से कम है (और इसे **ख < क** लिखते है)। इस प्रकार यदि **क** और **ख** कोई दो धन पूर्ण सख्याएँ है तो या तो क = ख, या **क > ख** या क < ख।

धन पूर्ण सख्याओ से यह गुण है कि किन्हीं दो या दो से अधिक ऐसी सख्याओ का योग धन पूर्ण सख्या ही होता है, परंतु यदि **क** और ख दो धन पूर्ण सख्याएँ है तो एक ऐसी धन पूर्ण सख्या **ग** अवश्य है कि क + ख = ग। स्पष्ट है कि **ग > क**।

यदि **क + ख = ग**, और सख्याएँ **क** और **ग** दी हुई है तो **ख** का मान **ग** मे **क** को घटाकर ज्ञात किया जाता है। इस क्रिया को व्यवकलन कहते है और लिखते है **ख = ग − क**। चिह्न − को ऋण पढा जाता है।

पूर्वोक्त नियमों से स्पष्ट है कि एक से अधिक सख्याएँ चाहे जिस क्रम से जोडी जायँ, उनके योगफल मे कोई अतर नही पडता। अतएव ४ + ४ + ४ के समान पुनरागत योग को ४ × ३ लिख सकते है, जहाँ सख्या ३ यह बताती है कि ४ कितनी बार लिया गया है। इसे ४ गुणित ३ कहते है और इस क्रिया को गुणन, अर्थात् गुणा करना, कहते है। ४ × ३ के परिणाम को गुणनफल कहते है। इसम सख्या ४, जो बार बार जोडी गई सख्या है, गुण्य है, और सख्या ३, अर्थात् जितनी बार ४ जोडा गया है, गुणक है।

यदि हम सख्याओ को सकेताक्षरो से प्रकट करे तो गुणनफल **क × ख** को प्राय. **क ख** या केवल **कख** लिखा जाता है।

योग की भाँति ही गुणन क्रिया के लिये निम्नलिखित नियम ठीक हैं :

१ गुणन का क्रमविनिमय नियम : $क \times ख = ख \times क$,

२ गुणन का साहचर्य नियम : $क(ख \times ग) = (क \times ख) ग$ ।

पहले नियम की सत्यता की जाँच के लिये क पंक्तियों में से प्रत्येक में ख गोलियाँ इस प्रकार रखें कि सब पंक्तियों की पहली गोलियाँ एक सीध में रहें, दूसरी गोलियाँ एक सीध में, इत्यादि । इस प्रकार ख स्तंभ मिलेंगे, जिनमें से प्रत्येक में क गोलियाँ हैं । स्तंभों के हिसाब से कुल गोलियों की संख्या $क \times ख$ है और पंक्तियों के हिसाब से $ख \times क$, किंतु गोलियाँ कुल मिलकर दोनों बार उतनी ही हैं, इसलिये $क \times ख = ख \times क$ ।

दूसरे नियम की सत्यता की जाँच के लिये ख समूहों में से प्रत्येक में ग स्तंभ रहें और प्रत्येक स्तंभ में क गोलियाँ । ये समूह एक के नीचे एक रखे जायँ । इस प्रकार ग स्तंभ बनेंगे और प्रत्येक में $क \times ख$ गोलियाँ रहेंगी । इसमें प्रत्यक्ष है कि कुल गोलियों की संख्या $(क \times ख) \times ग$ है । अब ये समूह इस प्रकार रखे जायँ कि इनकी पहली पंक्तियाँ सब एक साथ में रहें, उनके नीचे सब समूहों की दूसरी पंक्तियाँ एक साथ में रहें, इत्यादि । इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति में सब समूहों को मिलाकर $ख \times ग$ गोलियाँ रहेंगी और उन गोलियों की ऐसी पंक्तियाँ क होंगी । इसलिये अब गोलियों की संख्या $= क \times (ख \times ग)$ । गोलियों की संख्या वही रहती है, इसलिये $क \times (ख \times ग) = (क \times ख) \times ग$ ।

इन दो नियमों के अतिरिक्त गुणन क्रिया के लिये निम्नांकित नियम भी है :

३. वितरण नियम $(क + ख) ग = कग + खग$,

इसकी सत्यता की जाँच गोलियों से पूर्ववत् की जा सकती है । अन्य नियम घात संबंधी है । जिस प्रकार च बार पुनरागत योग $क + क + \dots + क$ को चक लिखा जाता है, उसी प्रकार च बार पुनरागत गुणनफल $क \times क \times \dots \times क$ को $क^च$ लिखा जाता है । च को घातांक या केवल घात और क को आधार कहते हैं । परिभाषा से घात संबंधी निम्नलिखित नियमों की सत्यता स्पष्ट है :

४. $क^म \times क^न = क^{म+न}$,

५. $(क^म)^न = क^{मन}$,

६. $क^न ख^न = (कख)^न$ ।

यदि क और ख कोई दो धन पूर्ण संख्याएँ हैं तो $क \times ख$ भी कोई धन पूर्ण संख्या ग होगी । यदि ग ऐसी संख्या दी हुई है जो दो संख्याओं के गुणनफल के बराबर है और उनमें से एक संख्या क ऐसी ज्ञात है जो शून्य से भिन्न है, तो दूसरी संख्या ख का मान ग को क से विभाजित करने पर प्राप्त होता है । हम लिखते हैं

$$ख = ग \div क \quad \text{अथवा} \quad \frac{ग}{क}, \quad \text{अथवा} \quad ग|क ।$$

चिह्न ÷ को भाग का चिह्न कहते हैं और भाजित पढ़ते हैं । चिह्न / को बटा या बटे पढ़ते हैं । उदाहरणतः, ८ भाजित ४ (अर्थात् $८ \div ४$) $= २$, अथवा ८ बटे ४ (अर्थात् $८/४$) $= २$ ।

विभाजन के लिये घात संबंधी नियम यह है :

७ $क^म \div क^न = क^{म-न}$, जहाँ $म > न$ ।

परिभाषा से इसकी सत्यता की जाँच करना सरल है ।

भाजक सिद्धांत—यदि तीन धन पूर्ण संख्याओं क, ख, ग में संबंध $कख = ग$ है, तो क और ख को ग के भाजक अथवा गुणनखंड कहते हैं । कभी कभी इतना कहना पर्याप्त समझा जाता है कि क, ग को विभाजित करता है । ग, क का अपवर्त्य अथवा गुणज कहलाता है, और क, ग का अपवर्तक । संख्या १ एकक कहलाती है और स्पष्ट है कि यह प्रत्येक पूर्ण संख्या का भाजक है तथा प्रत्येक संख्या स्वयं अपना भाजक है । यदि $ग = कख$, और क तथा ख में से प्रत्येक १ से बड़ी है, तो ग को संयुक्त संख्या कहते हैं, अन्यथा अभाज्य संख्या । उदाहरणतः, २, ३, ५, ७, ११, १३, अभाज्य संख्याएँ हैं । यूक्लिड ने एलिमेंट्स, खंड ६, साध्य २०, में सिद्ध कर दिया है कि अभाज्य संख्याएँ गिनती में अनंत हैं । उसने यह भी सिद्ध किया था कि प्रत्येक संयुक्त संख्या को अभाज्य संख्याओं के गुणनफल के रूप में प्रदर्शित करने की, उनके क्रम में हेर फेर को छोड़कर, केवल एक ही विधि है ।

धन पूर्ण संख्याओं $क_1, क_2, \dots, क_n$ के समान प्रत्येक परिमित संघ के लिये एक ऐसी सबसे बड़ी पूर्ण संख्या म रहती है जिससे संघ की प्रत्येक संख्या पूरी पूरी विभाजित हो सकती है । इस संख्या को महत्तम समापवर्तक (म० स०) कहते हैं । यदि $म = १$, तो संख्याएँ एक दूसरे के सापेक्ष अभाज्य कहलाती हैं । प्रत्येक संख्यासंघ के लिये सबसे छोटी एक ऐसी संख्या भी होती है जो संघ की प्रत्येक संख्या से विभाज्य होती है । इस संख्या को लघुतम समापवर्त्य (ल०स०) कहते हैं । म० स० और ल०स० ज्ञात करने की एक विधि में संख्याओं को अभाज्य संख्याओं के गुणनफलों के रूप में प्रकट करना होता है (विधि का वर्णन अंकगणित की प्रायः सभी पुस्तकों में मिल जायगा) । उदाहरण के लिये यदि संख्याएँ २५२, ४२०, ११७६ हों, तो $२५२ = २^२ \cdot ३^२ \cdot ७$, $४२० = २^२ \cdot ३ \cdot ५ \cdot ७$, $११७६ = २^३ \cdot ३ \cdot ७^२$ । इसलिये इनका $म०स० = २^२ \cdot ३ \cdot ७ = ८४$ है और $ल०स० = २^३ \cdot ३^२ \cdot ५ \cdot ७^२ = १७,६४०$ । दो संख्याओं का, बिना उनके गुणनखंड किए, म०स० ज्ञात करने की एक विधि विभाजन की है । इसमें पहले छोटी संख्या से बड़ी संख्या को भाग दिया जाता है, फिर शेष से छोटी को, अर्थात् पूर्वगामी भाजक को, यही क्रम तब तक चलता रहता है जब तक शेष शून्य न आ जाय । अंतिम भाजक अभीष्ट म०स० है । इस विधि का आविष्कार भी यूक्लिड ने किया था । उदाहरणार्थ, २५२, ४२० के लिये क्रिया यह होगी :

```
२५२)४२०(१      १६८)२५२(१      ८४)१६८(२
    २५२            १६८           १६८
    ---            ---           ---
    १६८             ८४             ०
```

इस प्रकार अभीष्ट म०स० ८४ है । संक्षिप्त रूप में इसे इस प्रकार लिख सकते हैं :

```
२५२ | ४२० | १
१६८ | २५२ | १
 ८४ | १६८ | २
    | १६८ |
       ×
```

अंतिम और प्रथम स्तंभों में क्रमानुसार भागफल और भाजक हैं ।

दो संख्याओं का गुणनफल उनके म०स० और ल०स० के गुणनफल के बराबर होता है । म०स० ज्ञात होने पर, इस नियम से, उन संख्याओं का बिना गुणनखंड किए ल०स० ज्ञात किया जा सकता है ।

साधारण भिन्न—भिन्न $\frac{१}{क}$ का अर्थ है वह संख्या जिसको क से गुणा करने पर १ प्राप्त होता है । यहाँ क कोई धन पूर्ण संख्या है । $ग \times \frac{१}{क}$ को $\frac{ग}{क}$ अथवा ग/क भी लिखते हैं । ग/क को साधारण भिन्न कहते हैं । इसे वह भागफल माना जा सकता है जो ग को क से भाग देने पर मिलता है । ग और क भिन्न के दो अवयव हैं । ग को अंश (न्यूमरेटर) और क को हर (डिनॉमिनेटर) कहते हैं । जब $ग < क$, तो ग/क को उचित भिन्न कहते हैं, अन्यथा अनुचित भिन्न । जब ग और क परस्पर अभाज्य हों, अर्थात् ऐसी कोई संख्या न हो जो दोनों को विभाजित कर सके, तो भिन्न ग/क का रूप लघुतम पदोंवाला कहा जाता है । भिन्नों के योग, व्यवकलन, गुणन, भाजन, आदि के लिये **भिन्न** शीर्षक लेख देखें ।

अपरिमेय संख्याएँ—पूर्ण संख्याओं और साधारण भिन्नों को परिमेय संख्या कहते हैं । जो संख्या पूर्ण न हो और साधारण भिन्न के रूप में प्रकट न की जा सके वह अपरिमेय संख्या कहलाती है, जैसे $\sqrt{२}$, π । इनका विवेचन **संख्या** नामक लेख में मिलेगा ।

दशमलव पद्धति—प्रचलित संख्यापद्धति को, जिसमें एक सौ तेईस को १२३ लिखा जाता है, दशमलवपद्धति कहते हैं । CXXIII दशमलव

पद्धति मे नही है, रोमनपद्धति में है। दशमलवपद्धति अपनाने पर ही अंकगणित की चारो क्रियाओ की सरल विधियाँ प्रयोग मे आने लगी। (इस पद्धति का, तथा अन्य पद्धतियो का, विवरण **संख्यांक पद्धतियाँ** शीर्षक लेख मे मिलेगा।) दशमलवपद्धति मे सख्या को वस्तुत १० के घातो की सहायता से व्यजित किया जाता है। उदाहरणत,

$$३४६७ = ३\,१०^{३} + ४\,१०^{२} + ६\,१० + ७।$$

प्रत्येक घात का गुणाक ० से ९ तक (इन दस सख्याओ) मे से कोई भी हो सकता है। बडी सख्याओ को एकक स्थान के अक से आरभ कर तीन तीन अको के आवर्तको मे बाँटने की प्रथा पाश्चात्य है। भारतीय प्रथा मे एकक अक से आरभ कर पहले तीन अको का एक आवर्तक और बाद मे दो दो अको के आवर्तक बनाए जाते है। उदाहरणत, २३०६४७२ को पाश्चात्य प्रथा के अनुसार २,३०६, ४७२ लिखते है, भारतीय प्रथा मे २३,०६,४७२। ऐसा करने का कारण स्पष्ट है। भारतीय गणना मे सौ हजार का एक लाख, सौ लाख का १ करोड, इत्यादि होता है। पाश्चात्य प्रथा मे १० लाख को एक मिलियन कहते है।

अमरीका और फ्रास मे हजार मिलियन (एक अरब) को बिलियन कहते है, परन्तु इग्लैंड मे मिलियन मिलियन (= दस खरब) को बिलियन कहते हैं।

इस दशमलवपद्धति के प्रयोग द्वारा वे भिन्न भी लिखी जा सकती है जिनका हर १० का कोई घात हो, यथा

$$\frac{३५७०६४}{१००००} = ३५\ ७०६४$$

$$= ३५ + ७ \times १०^{-१} + ० \times १०^{-२} + ६ \times १०^{-३} + ४ \times १०^{-४},$$

अर्थात् दशमलव बिंदु के दाईं ओर के पहले अक को $१०^{-१}$ से गुणा करके दशमलव के बाईं ओर की पूर्ण सख्या मे जोडना होता है। दूसरे को $१०^{-२}$ से गुणा कर पहले के योग मे जोडते है और इसी प्रकार अन्य अको को भी गुणा करके जोडना पडता है।

दशमलव मे योग और व्यवकलन—दशमलवपद्धति मे योग ज्ञात करने की निम्नाकित पद्धति अब प्राय सर्वमान्य है। सख्याओ को एक के नीचे एक इस प्रकार लिखना चाहिए कि दशमलव बिंदु सब एक स्तभ मे अर्थात् एक के नीचे एक रहे। इस प्रकार एकक के सभी अक एक स्तभ मे पडेगे, दहाई के स्थानवाले अक एक अन्य स्तभ मे, इत्यादि, उदाहरणत ५३ ७६, २३६ ०८१, ४०८ ३४६ का योग यो निकलेगा

```
 ५३ ७६
२३६ ०८१
४०८ ३४६
-------
६९८ १८७
-------
```

स्पष्ट है कि दशमलवो का योग साधारण जोड के समान ही है। ऊपर की क्रिया वस्तुत निम्नलिखित का सक्षिप्त रूप है

$$५ \times १० + ३ + ७ \times १०^{-१} + ६ \times १०^{-२}$$

$$२ \times १०^{२} + ३ \times १० + ६ + ० \times १०^{-१} + ८ \times १०^{-२} + १ \times १०^{-३}$$

$$४ \times १०^{२} + ० \times १० + ८ + ३ \times १०^{-१} + ४ \times १०^{-२} + ६ \times १०^{-३}$$

$$= ६ \times १०^{२} + ८ \times १० + १७ + १० \times १०^{-१} + १८ \times १०^{-२} + ७ \times १०^{-३}$$

$$= ६ \times १०^{२} + ९ \times १० + ८ + १ \times १०^{-१} + ८ \times १०^{-२} + ७ \times १०^{-३}$$

व्यवकलन के लिये पूर्वोक्त क्रिया को उलटना होता है। बडी सख्या को ऊपर और छोटी को नीचे इस प्रकार लिखना चाहिए जिसमे दशमलव बिंदु एक दूसरे के नीचे रहे, फिर साधारण रीति से घटाना चाहिए। शेष मे दशमलव बिंदु को ऊपर लिखी सख्याओ के दशमलव बिंदुओ के ठीक नीचे रखना चाहिए, जैसा बगल मे दिखाया गया है।

```
३२७ १०
 ८० २४
------
२४६ ८६
```

गुणा करने की विधि वितरण नियम पर आधारित है और अकगणित की अधिकाश पुस्तको मे इसका वर्णन मिल जायगा।

यदि दो दशमलव सख्याओ का सनिकट गुणनफल, मान ले २ दशमलव स्थानो तक शुद्ध, ज्ञात करना है, तो सुगमता इसमे है कि इनमे से एक सख्या का (जिसे गुणक कहेगे) दशमलव बाईं ओर या दाहिनी ओर हटाकर उस सख्या को १ और १० के बीच मे लाया जाय, फिर उतने ही स्थान विपरीत दिशा मे दूसरी सख्या का (जिसे गुण्य कहेगे) दशमलव भी हटाया जाय तब गुण्य के तीसरे दशमलव स्थान मे गुणक के एककवाले अक का गुणा आरभ करना चाहिए। गुणक के दशमाशवाले अक से गुण्य के दशमलव के दूसरे स्थान से गुणा आरभ करना चाहिए, इत्यादि। जिस अक से गुणा करना आरभ किया जाय उसके दाहिनी ओरवाले अक से गुणा करके हाथ लगनेवाली सख्या ले लेनी चाहिए। यह क्रिया निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी

$$४२४\ ३३६४३ \times १२\ ७३२ = ४२४३\ ३६४३ \times १\ २७३२$$

```
४२४३ ३६४३    गुण्य
   १ २७३२    गुणक
---------
४२४३ ३६४
 ८४८ ६७३
 २९७० ३५
  १२ ७३०
     ८४९
---------
५४०२ ६५
---------
```

दशमलव बिंदु के बाद आनेवाले स्थान मे १ हो तो वह वस्तुत १/१० के बराबर है, उसके बादवाले स्थान मे १ हो तो वह वस्तुत १/१०० के बराबर है, इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि दशमलव अक के बाद बहुत से अको के स्थान की आवश्यकता व्यवहार मे नही पडती, क्योकि अको का मान उत्तरोत्तर शीघ्रता से घटता जाता है। इसीलिये बहुधा दशमलव के पश्चात् दूसरे, तीसरे या चौथे स्थान के बाद के सब अक छोड दिए जाते है, परन्तु यदि छोडे हुए अको मे से पहला अक ५ या ५ से बडा हो तो रखे गए अको मे से अतिम अक मे १ जोड दिया जाता है, क्योकि तब उत्तर अधिक शुद्ध हो जाता है।

एक पंक्ति मे गुणन—जो व्यक्ति मौखिक योग मे प्रवीण हो, वह एक पक्ति मे दो सख्याओ का गुणनफल निकाल सकता है। मान ले दशमलव पर ध्यान न देते हुए गुण्य मे एकक के स्थान मे अक $क_{१}$ है, दहाई (दशम) के स्थान मे $क_{२}$, इत्यादि, और गुणक मे इन स्थानो के अक क्रमानुसार $ख_{१}$, $ख_{२}$, इत्यादि है। मान ले

$$क_{१}ख_{१} = १०ह_{१} + ग_{१},$$

$$क_{१}ख_{२} + क_{२}ख_{१} + ह_{१} = १०ह_{२} + ग_{२},$$

$$क_{१}ख_{३} + क_{२}ख_{२} + क_{३}ख_{१} + ह_{२} = १०ह_{३} + ग_{३},$$

इत्यादि, जहाँ $ग_{१}, ग_{२}, \ldots$ प्रत्येक १० से कम है, तो गुणनफल के एकक के स्थान मे $ग_{१}$, दहाई के स्थान मे $ग_{२}$, सैकडे के स्थान मे $ग_{३}$ होगे। वास्तविक प्रक्रिया मे सुगमता इसमे होती है कि गुणक को उलटकर लिख लिया जाय। तब समातर रेखाओ मे स्थित अको के मौखिक गुणनफलो का योग ज्ञात करना होता है

उदाहरणत ३४६०८ को ५३८७ से गुणा करने मे क्रिया इतनी लिखी जायगी:

```
  ३४६०८
 ७,८,३,५
---------
१८६४३३२९६
```

यहाँ गुणनफल का अक २ योग ७ × ६ + ८ × ० + ३ × ८ + हासिल के ६ का एककवाला अंक है। अत मे गुणनफल मे दशमलव इस प्रकार

लगाया जाता है कि उसके दाहिनी ओर उतने ही अंक रहें जितने गुणक और गुण्य में मिलकर हों।

एक दशमलव संख्या में दूसरी संख्या का भाग देने में सुविधा इसमें होती है कि भाजक में दशमलव हटा दिया जाय और भाज्य में दशमलव को भी उतने ही स्थान तक दाईं ओर हटा दिया जाय। इसके बाद साधारण रीति से भाग की क्रिया की जाती है। भागफल में दशमलव उस अंक के बाद लगेगा जो भाज्य में एककवाले स्थान के अंक को उतारकर भाग देने पर मिलता है।

क्रिया निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी

६३८.०२ ÷ ७.३१ = ६३८०.२ ÷ ७३.१

स्पष्ट है कि शेष में दशमलव बिंदु को एकक स्थान से उतने ही स्थान बाईं ओर हटकर लगाना चाहिए जितने दशमलव स्थान पर अंतिम उतारा हुआ अंक मूल भाज्य में था। यहाँ अंतिम उतारा हुआ अंक २ मूल भाज्य में दूसरे दशमलव स्थान पर था। अतएव शेष २.०५ है।

```
७३१)६३८०२(८७
    ५८४८
     ५३२२
     ५११७
      २०५
```

उपर्युक्त क्रिया में भाज्य में २ के आगे इच्छानुसार शून्य बढ़ाकर भागफल इच्छानुसार दशमलवों तक ज्ञात किया जा सकता है।

वर्गमूल—वर्गमूल ज्ञात करने की क्रिया निम्नलिखित सूत्र पर आधारित है

$$(क + ख)^2 = (क + 2ख)क + ख^2$$

दी हुई संख्या के दशमलव स्थान से आरंभ कर बाईं ओर और दाहिनी ओर दो दो अंकों के जोड़े बना लें। अब संख्या के बाएँ सिरे पर प्रथम खंड या तो एक पूरा जोड़ा होगा या केवल एक अंक। १ से ९ तक के वर्गों की सारणी से देखें कि यह खंड किन संख्याओं के वर्गों के बीच में है। छोटी संख्या को वर्गमूल में लिखें। इसके वर्ग को खंड से घटाएँ और शेष के आगे दूसरा खंड उतारें, यह दूसरा भाज्य है। भाजक के लिये अब तक प्राप्त वर्गमूल का दूना लिखें और देखें कि उसके आगे दीर्घतम कौन सा अंक ब बढ़ाया जाय कि बढ़ाने पर प्राप्त भाज्य का ब गुना दूसरे भाज्य से कम रहे। इस प्रकार वर्गमूल का दूसरा अंक ब हुआ। इसी प्रकार अन्य अंक ज्ञात करें। यह क्रिया ऊपर बगल में दिखाए गए उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी जिसमें ३२५.६४९ का वर्गमूल ज्ञात किया गया है।

```
१)    ३२५.६४९० (१८.०४
      १
२८)   २२५
      २२४
३६०)    १६४
          ०
३६०४)   १६४९०
        १४४१६
         २०७४
```

इसके बाद हम २०७४०० को ३६०८ से भाग दे सकते हैं।

वर्गमूल निकालने की रीति से मिलती जुलती रीति द्वारा घनमूल भी ज्ञात किया जा सकता है, किंतु लघुगणकों (लॉगैरिद्म्स) के प्रयोग से सभी मूल सरलता से ज्ञात हो जाते हैं (नीचे देखें)। लघुगणक सारणी उपलब्ध न होने पर हॉर्नर या न्यूटन की विधि से भी मूल ज्ञात किए जा सकते हैं (द्र० **समीकरण सिद्धांत**)।

लघुगणक—यदि क तथा अ धन संख्याएँ हैं और $अ^{ल} = क$, तो ल को आधार अ के सापेक्ष क का लघुगणक कहते हैं, और क को ल का प्रतिलघुगणक। लिखते हैं ल = $लघु_{अ}$ क। जब अ = १० तब साधारण लघुगणक प्राप्त होते हैं, और यदि अ = ई (= २.७१८२८) तो नेपियरीय लघुगणक मिलते हैं। साधारण लघुगणकों की मुद्रित सारणियाँ बिकती हैं। सूत्र लघु (क × ख) = लघु क + लघु ख के प्रयोग से गुणनक्रिया योगक्रिया में परिवर्तित हो जाती है, क्योंकि यदि गुणनफल कख ज्ञात करना है तो लघु क और लघु ख के योग से लघु (कख) प्राप्त होता है और इसका प्रतिलघुगणक अभीष्ट गुणनफल कख है। यहाँ सब लघुगणकों का आधार १० है। विशेष जानकारी के लिये **लघुगणक** शीर्षक लेख देखें।

ऐकिक नियम—यदि किसी प्रकार की एक वस्तु के लिये कोई राशि (तौल, मूल्य, आदि) ख हो, तो उसी प्रकार की क वस्तुओं के लिये यह राशि ख को क से गुणा करने पर प्राप्त होती है। विलोमत, इसी नियम से यदि क समान वस्तुओं के लिये सम्मिलित राशि स हो तो प्रत्येक के लिये वह राशि स/क होगी। इन नियमों के आधार पर क वस्तुओं का मूल्य आदि ज्ञात रहने पर हम ख वस्तुओं का मूल्य आदि ज्ञात कर सकते हैं। इस क्रिया में लगनेवाले नियमों को ऐकिक नियम कहते हैं। यह नाम इसलिये पड़ा कि इस रीति में पहले एक वस्तु के लिये उपयुक्त राशि ज्ञात करनी होती है।

त्रैराशिक—यदि क वस्तुओं का मूल्य ख है तो ग वस्तुओं का मूल्य कितना होगा, ऐसे प्रश्नों को त्रैराशिक के नियम से भी हल किया जा सकता है। नियम का नाम त्रैराशिक इसलिये पड़ा कि इसमें क, ख, ग, ये तीन राशियाँ आती हैं। त्रैराशिक नियम का आविष्कार भारतीयों ने किया। ब्रह्मगुप्त तथा भास्कर ने ही वस्तुतः इसको त्रैराशिक नाम दिया। शताब्दियों तक व्यापारियों के लिये यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण नियम रहा। अंकगणित के यूरोपीय लेखक पहले पर्याप्त विस्तार से इस नियम की व्याख्या करते थे। यह नियम समानुपात के सिद्धांत पर आश्रित है। इसे विस्तारपूर्वक समझाने के लिये यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। केवल भास्कर की लीलावती से एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

यदि ढाई पल केशर का मूल्य ३/७ निष्क है तो ९ निष्क कितनी केशर का मूल्य होगा? त्रैराशिक नियम से उत्तर = ९ × $\frac{५}{२}$/$\frac{३}{७}$ = ५२$\frac{१}{२}$ पल।

भास्कर ने पंचराशिक, सप्तराशिक आदि नियम भी बनाए हैं।

अनुपात—भिन्न क/ख को क और ख का अनुपात, अथवा क का ख से अनुपात भी कह सकते हैं और अनुपात को क : ख के रूप में भी लिखते हैं। चार संख्याएँ क, ख, ग, घ तब समानुपात में कही जाती हैं जब क : ख = ग : घ। समानुपात को क : ख :: ग : घ भी लिखते हैं। क, घ समानुपात के अंतिम पद और ख, ग मध्य पद हैं। स्पष्ट है कि क × घ = ख × ग। तीन संख्याएँ क, ख, ग तब गुणोत्तर अनुपात में कही जाती हैं जब क : ख :: ख : ग, अर्थात् कग = $ख^2$।

गणनायंत्र—अंकगणितीय अभिगणना के लिये अब भाँति भाँति के गणनायंत्र बन गए हैं जिनसे जटिल अभिगणनाएँ भी शीघ्र हो जाती हैं। इनका विस्तृत विवरण **गणनायंत्र** नामक लेख में मिलेगा।

सं० ग्रं०—निकोमैकस ऑव गेरेसा : इंट्रोडक्शन टु अरिथमेटिक, अनुवादक एम० एल० डी'ओग और एफ० ई० रॉबिंस, एल० सी० कार्पिंस्की : स्टडीज इन ग्रीक अरिथमेटिक (यूनिवर्सिटी ऑव मिशिगन प्रेस) १९३८, डी० ई० स्मिथ : ए सोर्स-बुक इन मैथमैटिक्स, विभूतिभूषण दत्त और अवधेशनारायण सिंह : हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, एच० डी० लार्सेन : अरिथमेटिक फॉर कॉलिजेज। (ह० च० गु०)

अंकन अंकन को गुदना या पछना भी कहते हैं। शरीर की त्वचा पर रंगीन आकृतियाँ उत्कीर्ण करने के लिये अंगविशेष पर घाव करके, चीरा लगाकर अथवा सतही छेद करके उनके अंदर लकड़ी के कोयले का चूर्ण, राख या फिर रंगने के मसाले भर दिए जाते हैं। घाव भर जाने पर खाल के ऊपर स्थायी रंगीन आकृतिविशेष बन जाती है। गुदनों का रंग प्रायः गहरा नीला, काला या हल्का लाल रहता है। अंकन की एक विधि और भी है जिसमें बननेवाले व्रणरोपण को क्षतचिह्न या क्षतांक कहा जाता है। इसमें किसी एक ही स्थान की त्वचा को बार बार काटते हैं और घाव के ठीक हो जाने के बाद उक्त स्थान पर एक अर्बुद या उभरा हुआ चकत्ता बन जाता है जो देखने में रेशेदार लगता है।

कुछ देशों या जातियों में रंगीन गुदने गुदवाने की प्रथा है तो कुछ में केवल क्षतचिह्नों की। परंतु कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें दोनों प्रकार के अंकन प्रचलित हैं यथा, दक्षिण सागर द्वीप के निवासी। ऐडमिरैल्टी द्वीप में रहनेवालों, फिजी निवासियों, भारत के गोंड एवं टोडों, ल्यू क्यू द्वीप के बाशिंदों और अन्य कई जातियों में रंगीन गुदने गुदवाने की प्रथा केवल स्त्रियों तक सीमित है या थी। मिस्र में नील नदी की ऊर्ध्व उपत्यका में बसनेवाले लटूका लोग केवल स्त्रियों के शरीरों पर क्षतचिह्न बनवाते हैं। रंगीन

गुदनों के पीछे प्राय: अलंकरण की प्रवृत्ति होती है जब कि क्षतचिह्नों का महत्व अधिकतर कबीलों की पहचान के लिये रहता है। अफ्रीका के अनेक आदिम कबीले क्षतचिह्नों को पसंद करते हैं और मध्य कांगो के बंगल शरीर अलंकरण हेतु पूरे शरीर पर क्षतांक बनवाते हैं। कहीं कहीं विवाह और गुदनों में परस्पर गहरा संबंध रहता है। सालोमन द्वीप में लड़कियों का विवाह तब तक नहीं हो पाता जब तक कि उनके चेहरों और वक्षस्थलों पर घने गुदने न गुदवा दिए जाएँ। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में विवाह से पूर्व लड़कियों की पीठ पर क्षतचिह्नों का होना अनिवार्य है। फारमोसा निवासियों में विवाह से पहले लड़कियों के चेहरों पर गुदने गुदवाए जाते हैं और न्यू गिनी के पापुअन विवाह से पूर्व लड़कियों के पूरे शरीर पर—मुँह को छोड़कर—गुदने गुदवाते हैं। न्यूजीलैंड के माओरिस लोगों तथा जापानियों ने रंगीन गुदनों का विकास उच्च कलात्मक रूप में किया था किंतु अन्य कई जातियों की तरह इन दोनों ने भी सभ्यता के प्रकाश में गुदनाप्रथा का अधिकतर त्याग दिया है। मलय जाति में गुदना का पुरस्कारस्वरूप ग्रहण किया जाता है और केवल सफल तथा प्रमुख शिकारी ही गुदने गुदवाने के अधिकारी होते हैं। सभ्य देशों के नाविक भी बहुधा किसी एक रंग के गुदने अपने हाथों और छातियों पर गुदवाते हैं जिनकी आकृति प्राय: 'तारे' या 'ध्वज' की होती है।

भारत में स्त्रियाँ ही गुदनों की शौकीन होती हैं लेकिन पुरुषों में वैष्णव लोग शंख, चक्र, गदा, पद्म विष्णु के चार आयुधों के चिह्न छपवाते हैं और दक्षिण के शैव लोग त्रिशूल या शिवलिंग के। रामानुज संप्रदाय के सदस्यों में इसका चलन अधिक है। द्वारिका इसके लिये प्रसिद्ध स्थान है। 'ॐ' का चिह्न भी लोग हाथों पर बनवाते हैं और बहुत सी स्त्रियाँ पति के नाम बाँहों पर गुदवा लेती हैं।

उत्पत्ति और विकास—नृतत्वशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने अंकन या गुदना की उत्पत्ति को लेकर कई परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं किंतु उपयुक्त साक्ष्यों के अभाव में अभी तक इनमें से किसी को भी अंतिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सका है। विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार आदिम मानव को अंकन की कला अकस्मात् मालूम हुई होगी, यह ऐसे कि आग जलाते समय अधजली लकड़ी से उसकी अंगुली जल गई होगी या काँटा लगने पर उसने खून को रोकने के लिये राख का प्रयोग किया होगा और घाव ठीक होने पर एक बार गुदना बन जाने के उपरांत इसका प्रयोग अलंकरण के लिये होने लगा होगा। आज भी कल कारखानों में दुर्घटनाओं से श्रमिकों के शरीरों पर, उनके न चाहने पर भी गुदने बन जाते हैं। एम० न्यूबर्गर के अनुसार गुदना का प्रारंभ आदिम चिकित्सापद्धति में खोजा जा सकता है जिसके अंतर्गत जख्मों को भरने के लिये राख, कोयले के चूर्ण तथा रंगों का प्रयोग किया जाता था। कुछ अन्य रोगों में चीरा लगाकर खून निकाला जाता था और विश्वास किया जाता था कि इससे रोग दूर हो जाएगा। आज भी चीन में विशेष प्रकार की सुइयों से शरीर के कुछ निश्चित भागों को छेदकर रोगों का उपचार करने की पद्धति वर्तमान है जिसे 'एक्यू पंक्चरिंग' संज्ञा से जाना जाता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार आदिमकालीन मानव ने कपड़ों के अभाव में शरीर को विभिन्न आकृतियों में रँगना शुरू किया और बाद में इसे स्थायी रूप देने के लिये गुदना का विकास हुआ। कुछ विद्वान् गुदना का संबंध जादू टोने संबंधी अभिचारों से मानते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर के विचार से गुदना प्रथा का आरंभ मृतात्माओं को रक्त चढ़ाने के अभिचार से हुआ। माओ या माओरी जाति में फैले आदिम विश्वास के अनुसार उनके पूर्वजों ने युद्ध में पहचान के लिये मुख पर लकड़ी के कोयले को रंग के रूप में इस्तेमाल किया और जख्म आदि लगने पर उनके चेहरों के ऊपर गुदने बन गए। बाद में इसने प्रथा का रूप ले लिया और अनेक जातियों या कबीलों में आकृतिविशेष के गुदनों को गणचिह्न के रूप में स्वीकार कर लिया गया। किंतु डब्ल्यू० एलिस ने वर्षों पालिनीसिया द्वीपसमूह में वहाँ के आदिवासियों के बीच रहकर खोज की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस संबंध में किसी एक निश्चित सिद्धांत पर पहुँचना असंभव है।

(कं० च० श०)

अंकन (लिपि) इसे क्यूनिफार्म लिपि या कीलाक्षर भी कहते हैं। छठी सातवीं सदी ई० पू० में लगभग एक हजार वर्षों तक ईरान में किसी न किसी रूप में इसका प्रचलन रहा। प्राचीन फारसी या अवेस्ता के अलावा मध्ययुगीन फारसी या ईरानी (३०० ई० पू०–८०० ई०) भी इसमें लिखी जाती थी। सिकंदर के आक्रमण के समय के प्रसिद्ध बादशाह दारा के अनेक अभिलेख एवं प्रसिद्ध शिलालेख इसी लिपि में अंकित हैं। इन्हें दारा के कीलाक्षर लेख भी कहते हैं। इस लिपि का विकास मेसोपोटामिया एवं बेबीलोनिया की प्राचीन सभ्य जातियों ने किया था। भावाभिव्यक्ति चित्रों द्वारा होती थी। ये चित्र मेसोपोटामिया में कीलों से नरम ईंटों पर अंकित किए जाते थे। तिरछी सीधी रेखाएँ खींचने में सरलता होती थी, किंतु गोलाकार चित्रांकन में कठिनाई। साम देश के लोगों ने इन्हीं से अक्षरात्मक लिपि का विकास किया जिससे आज की अरबी लिपि विकसित हुई। मेसोपोटामिया और साम से ही ईरानवालों ने इसे लिया। कतिपय स्रोत इस लिपि को फिनीश (फोनीशियन) लिपि से विकसित मानते हैं। दारा प्रथम (ई० पू० ५२१–४८५) के खुदवाए कीलाक्षरों के ४०० शब्दों में प्राचीन फारसी के रूप सुरक्षित हैं। क्यूनिफार्म लिपि या कीलाक्षर नामकरण आधुनिक है। इसे प्रेसिपोलिटेन (Pre-apolitain) भी कहते हैं। यह अर्धवर्णात्मक लिपि थी। इसमें ४१ वर्ण थे जिनमें ४ परमावश्यक एवं ३७ ध्वन्यात्मक संकेत थे। (मा० ला० ति०)

अंकयंत्र एक वर्ग के विभिन्न खानों में व्यवस्थित संख्याओं के उस समूह को कहते हैं जिसमें प्रत्येक पंक्ति, उर्ध्वाधर स्तंभ और विकर्णों में आनेवाली संख्याओं का योग समान होता है। पंक्तियों और स्तंभों में खानों की संख्या सदैव समान होती है। एक पंक्ति या स्तंभ में विद्यमान खानों की संख्या उस वर्ग का पद कहलाती है। जैसे एक वर्ग को ९ छोटे खानों में इस प्रकार बाँटा जाए कि प्रत्येक पंक्ति तथा स्तंभ में तीन तीन खाने हों तो यह तीन पद का वर्ग कहलाएगा। तीन पद के वर्ग में जो अंकयंत्र बनाया जा सकता है वह नीचे दिखाया गया है (चित्र–१)।

४	९	२
३	५	७
८	१	६

(चित्र १)

चीन में इस यंत्र को 'लोशु' कहते हैं। भारत, चीन और एशिया के ही कुछ अन्य देशों में इसका प्रयोग ताबीज के रूप में होता है। व्यापारी इसे अपनी दुकानों की दीवारों पर लाल रंग से लिखते हैं। शायद वे इसे शुभ मानते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण तीन पद के अंकयंत्र का है। चार पद का भी अंकयंत्र होता है। इसका आविष्कार भारत के प्राचीन गणितज्ञों ने किया था। खजुराहो के मंदिरों में इसे खुदा हुआ पाया गया है। इसे पैशाचिक जाति का यंत्र कहते हैं। मद्रास के प्रोफेसर वेंकटरमन द्वारा बनाया हुआ एक यंत्र यहाँ दिखाया (चित्र २) गया है। यह समरूप जाति का है। इसकी प्रथम पंक्ति भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ और अंकों के जादूगर, श्रीनिवास रामानुज की जन्मतिथि है २२–१२–१८८७। (नि० सिं०)

२२	१२	१८	८७
२१	१६	३२	२
९२	१६	७	२८
८	२७	८२	२६

(चित्र २)

अंकारा तुर्की (टर्की) की राजधानी, स्थिति ३९° ५७' उ० अ० और ३२° ५३' पू० दे०। अंकारा नगर तुर्की के मध्यवर्ती पठार के उत्तरी भाग के मध्य में, निकटवर्ती क्षेत्र से ५०० फुट ऊँची पहाड़ी पर, स्थित है। इस नगर का धरातल समुद्रतल से २,८५४ फुट की ऊँचाई पर है। यह

सकारया नदी की सहायक अकारा नदी के बाएँ किनारे पर इस्तंबूल से ३५२ कि० मी० पूर्व की ओर है। प्राचीन काल में यह मध्य पठार के उत्तरी क्षेत्र की राजधानी था। सन् १९२२ में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में एक क्रांति हुई और राजधानी इस्तंबूल से अंकारा लाई गई जो तुर्की के मध्य में पड़ता है और सुरक्षा की दृष्टि से अपेक्षाकृत उत्तम स्थिति में है। यह तुर्की का दूसरा बड़ा शहर है, १९७० की जनगणना के अनुसार इस नगर की जनसंख्या २२,०८,७९१ थी। बगदाद-संधि-संगठनवाले देशों का प्रमुख कार्यालय भी अब यहाँ आ गया है।

अंकारा रेलों का केंद्र है। रेल द्वारा यह तुर्की के अन्य प्रमुख नगरों से, उदाहरणतः जान गुलडक, केसरी, सदाना, इस्तंबूल तथा इजमिर से, मिला है। हवाई मार्ग इसे तेहरान, बेरूत और लंदन से मिलाते हैं।

अंकारा के आसपास के क्षेत्रों में चाँदी, ताँबा, नियनाइट, कोयला तथा नमक पाया जाता है। यह समीपस्थ जंगलों, चरागाहों और खेतों की उपजों के व्यापार का प्रमुख केंद्र है। यहाँ के पठार का अंगोरा बकरा जगत्प्रसिद्ध है। देश के औद्योगिक विकास के साथ साथ यहाँ भी कई नए कारखाने खुले हैं, जिनमें कपड़े की मिलें, ऊनी कालीन, इंजीनियरिंग के सामान, हथियार, तंबाकू तथा सिगरेट के कारखाने मुख्य हैं। अंकारा एक बड़ा बाजार है। यहाँ ऊन, मोहेअर (अंगोरा बकरे का ऊन), अनाज, फल, शहद, चमड़ा तथा कालीन का व्यापार होता है। (रा० कि० सिं० चौ०)

अंकुशकृमि (हुकवर्म) बेलनाकार छोटे छोटे भूरे रंग के कृमि होते हैं। ये अधिकतर मनुष्य के क्षुद्र अंत्र (स्माल इंटेस्टाइन) के पहले भाग में रहते हैं। इनके मुँह के पास एक काँटिया सा अवयव होता है, इसी कारण ये अंकुशकृमि कहलाते हैं। इनकी दो जातियाँ होती हैं, नेकटर अमेरिकानस और एन्क्लोस्टोम डुओडिनेल। दोनों ही प्रकार के कृमि सब जगह पाए जाते हैं। नाप में मादा कृमि १० से लेकर १३ मिलीमीटर तक लंबी और लगभग ०.६ मिलीमीटर व्यास की होती है। नर (चित्र ६) थोड़ा छोटा और पतला होता है। मनुष्य के अंत्र में पड़ी मादा कृमि (चित्र ७) अंडे देती है जो विष्ठा के साथ बाहर निकलते हैं। भूमि पर विष्ठा में पड़े हुए अंडे (चित्र १) डिंभों (लार्वी) में परिणत हो जाते हैं (चित्र २), जो केंचुल बदलकर छोटे छोटे कीड़े बन जाते हैं। किसी व्यक्ति का पैर पड़ते ही ये कीड़े उसके पैर की अँगुलियों के बीच की नरम त्वचा को या बाल के सूक्ष्म छिद्र को छेदकर शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। वहाँ रुधिर या लसीका की धारा में पड़कर वे हृदय, फेफड़े और वायु-प्रणाली में पहुँचते हैं और फिर ग्रासनलिका तथा आमाशय में होकर अँतड़ियों में पहुँच जाते हैं (चित्र ४–५)। गंदा जल पीने अथवा संक्रमित भोजन करने से भी ये कृमि अंत्र में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर तीन या चार सप्ताह के पश्चात् मादा अंडे देने लगती है। ये कृमि अपने अंकुश से अंत्र की भित्ति पर अटके रहते हैं और रक्त चूसकर अपना भोजन प्राप्त करते हैं। ये कई महीने तक जीवित रह सकते हैं। परंतु साधारणतः एक व्यक्ति में बार बार नए कृमियों का प्रवेश होता रहता है और इस प्रकार कृमियों का जीवनचक्र और व्यक्ति का रोग दोनों ही चलते रहते हैं।

अंकुशकृमि का जीवनचक्र

१. मनुष्य की विष्ठा में अंडे, २ प्रत्येक अंडे से छोटा कीड़ा निकलता है, ३ कुछ कीड़े किसी मनुष्य के पैर की अँगुलियों के बीच की कोमल त्वचा को छेदकर उसके शरीर में घुसते हैं, ४-५, रुधिर या लसीका की धारा में पड़कर वे फेफड़े में पहुँचते हैं, और वहाँ से आमाशय में, ६–७ नर और मादा अंकुशकृमि, ८ अंडे विष्ठा के साथ बाहर निकलते हैं। क, ड रीढ़, ख ग्रासनली, ग, झ : फुपफुस; छ. आमाशय, ज हृदय, ट, ठ धमनी।

इस रोग का विशेष लक्षण रक्ताल्पता (ऐनीमिया) होता है। रक्त के नाश से रोगी पीला दिखाई पड़ता है। रक्ताल्पता के कारण रोगी दुर्बल हो जाता है। मुँह पर कुछ सूजन भी आ जाती है। थोड़े परिश्रम से ही वह थक जाता और हाँफने लगता है। यदि कृमियों की संख्या कम होती है तो लक्षण भी हलके होते हैं। रोग बढ़ जाने पर हाथ पैर में भी सूजन आ जाती है। यह सब रक्ताल्पता का परिणाम होता है। रोग का निदान ऊपर लिखित लक्षणों से होता है। रोगी के मल की जाँच करने पर मल में कृमि के अंडे मिलते हैं जिससे निदान का निश्चय हो जाता है।

अंकुशा चौबीस जैन देवियों में से एक। जैन पुराणों एवं धर्मग्रंथों से पता चलता है कि यह चौदहवें तीर्थंकर श्री अनंतनाथ की शासनदेवी का नाम है। (कै० च० श०)

अंकोल नामक पौधा अंकोट कुल का एक सदस्य है। वनस्पति शास्त्र की भाषा में इसे एलैंजियम सैल्वीफोलियम या एलैंजियम लामार्की भी कहते हैं। वैसे विभिन्न भाषाओं में इसके विभिन्न नाम हैं जो निम्नलिखित हैं—संस्कृत—अंकोल, अंकोट, दीर्घकील। हिंदी ढेरा, ढेरा, थेल, अंकुल। बँगला—आंकोड। सहारनपुर क्षेत्र—विसमार। मराठी—आंकुल। गुजराती–ओवला। कोल–अंकोल एवं संथाली–ढेला।

यह बड़े क्षुप (Shrub) या छोटे वृक्ष ३ से ६ मीटर लंबे के रूप में पाया जाता है। इसके तने की मोटाई ०.५ फुट होती है। तथा यह भूरे रंग की छाल से ढका रहता है। पुराने वृक्षों के तने तीक्ष्णाग्र होने से काँटेदार या कंटकीभूत (Spinescent) होते हैं।

इनकी पत्तियाँ तीन से छह इंच लंबी अपलक, दीर्घवृत्ताया लंबगोल, नुकीली या हल्की नोकवाली, आधार की तरफ पतली या विभिन्न गोलाई लिए हुए होती हैं। इनका ऊपरी तल चिकना एवं निचला तल मुलायम रोमों से युक्त होता है। मुख्य शिरा से पाँच से लेकर आठ की संख्या में छोटी शिराएँ निकलकर पूरे पत्रदल में फैल जाती हैं। ये पत्तियाँ एकांतर क्रम में लगभग आधे इंच लंबे पर्णवृंत (Petiole) द्वारा पौधे की शाखाओं से लगी रहती हैं।

पुष्प श्वेत एवं मीठी गंध से युक्त होते हैं। फरवरी से अप्रैल तक इस पौधे में फल लगते हैं। बाह्यदल रोमयुक्त एवं परस्पर एक दूसरे से मिलकर एक नलिकाकार रचना बनाते हैं जिसका ऊपरी किनारा बहुत छोटे छोटे भागों में कटा रहता है। इन्हें बाह्यदलपुंज दंत (Calyx teeth) कहते हैं।

फल बेरी कहलाता है जो ५/८ इंच लंबा, ३/८ इंच चौड़ा काला अंडाकार तथा बाह्यदलपुंज के बढ़े हुए हिस्से से ढका रहता है। प्रारंभ में फल मुलायम

रोमों से ढका रहता है परंतु रोमों के झड़ जाने के बाद चिकना हो जाता है। गुठली या अंत:भित्ति (Endocarp) कठोर होती है। बीज का गूदा काली आभा लिए लाल रंग का होता है। बीज लंबोतरा या दीर्घवत् एवं भारी पदार्थों से भरा रहता है। बीजपत्र सिकुड़े होते हैं।

इस पौधे की जड़ में ० ८ प्रतिशत अंकोटीन नामक पदार्थ पाया जाता है। इसके तेल में भी ० २ प्रतिशत यह पदार्थ पाया जाता है। अपने रोगनाशक गुणों के कारण यह पौधा चिकित्सा शास्त्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रक्तचाप को कम करने में इसका चूर्ण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

हिमालय की तराई, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, राजस्थान, दक्षिण भारत एवं बर्मा आदि क्षेत्रों में यह पौधा सरलता से प्राप्य है। (वि०कु०नि०)

अंग १ एक प्राचीन जनपद जो बिहार राज्य के वर्तमान भागलपुर और मुंगेर जिलों का समवर्ती था। अंग की राजधानी चंपा थी। आज भी भागलपुर के एक मुहल्ले का नाम चंपानगर है। महाभारत की परंपरा के अनुसार अंग के बृहद्रथ और अन्य राजाओं ने मगध को जीता था, पीछे बिंबिसार और मगध की बढ़ती हुई साम्राज्यलिप्सा का वह स्वयं शिकार हुआ। राजा दशरथ के मित्र लोमपाद और महाभारत के अंगराज कर्ण ने वहाँ राज किया था। बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तरनिकाय' में भारत के बुद्धपूर्व सोलह जनपदों में अंग की गणना हुई है। (भ० श० उ०)

२ व्युत्पत्ति के अनुसार 'अंग' शब्द का अर्थ उपकारक होता है। अत: जिसके द्वारा किसी वस्तु का स्वरूप जानने में सहायता प्राप्त होती है, उसे भी 'अंग' कहते हैं। इसीलिये वेद के उच्चारण, अर्थ तथा प्रतिपाद्य कर्मकांड के ज्ञान में सहायक तथा उपयोगी शास्त्रों को वेदांग कहते हैं। इनकी संख्या छह है। १. शब्दमय मंत्रों के यथावत् उच्चारण की शिक्षा देनेवाला अंग 'शिक्षा' कहलाता है, २. यज्ञों के कर्मकांड का प्रयोजक शास्त्र 'कल्प' माना जाता है जो श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र के भेद से तीन प्रकार का होता है; ३. पद के स्वरूप का निर्देशक 'व्याकरण', ४ पदों की व्युत्पत्ति बतलाकर उनका अर्थनिर्णायक 'निरुक्त'; ५ छंदों का परिचायक 'छंद', तथा ६ यज्ञ के उचित काल का समर्थक 'ज्योतिष'। (ब० उ०)

३. साहित्य, दर्शन एवं साधन में क्रमश प्रकरणों, तत्वों और विभागों अथवा अवस्थाओं का विभाजन 'अंग' रूप में मिलता है। बौद्ध धार्मिक साहित्य में धर्म के नौ अंग बतलाए गए हैं—सुत्त, गेय्य, वैय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, अब्भुतधम्म तथा वेदल्ल। वेदांग की तरह बौद्ध प्रवचनों के ये अंग स्वीकृत हैं। इसी प्रकार जैनागमों के अंगों की संख्या ११ है—आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरणानि, विपाकश्रुत। अंगों का एक अर्थ प्रकरण भी है। विभिन्न साधनात्मक क्रियाओं एवं अवस्थाओं अथवा तत्वों का अंग रूप में विभाजन मिलता है, जैसे बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग, पतंजलि का अष्टांगयोग। इस प्रकार का विभाजन परवर्ती साधनात्मक साहित्य में भी देखने को मिलता है जैसे संत रज्जब के 'अंगवधू' और 'सर्वंगी' नामक संग्रह ग्रंथ।

४ वीरशैव सिद्धांत मत के अनुसार परम शिव के दो रूपों की उत्पत्ति लिंग (शिव) और अंग (जीव) के रूप में बतलाई गई है। प्रथम तो उपास्य है और दूसरा उपासक। यह उत्पत्ति शक्ति के क्षोभमात्र से होती है। इस अंग की शक्ति निवृत्ति उत्पन्न करनेवाली भक्ति है। इस अंग के तीन प्रकार बताए गए हैं —योगांग, भोगांग और त्यागांग। अंग के मलों का निराकरण भक्ति से हो संभव है जिसकी प्राप्ति परमशिव के अनुग्रह से होती है। (ना० ना० उ०)

अंगज (अलंकार) सात्विक अलंकारों का एक भेद। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। अंगज अलंकारों में नायिकाओं के उन आंगिक विकारों या क्रियाव्यापारों को परिगणित किया जाता है जिनसे तारुण्य प्राप्त करने पर उनके मन में उद्भूत एवं विकसित कामभाव का पता चलता है। नाट्यशास्त्र (२४।६) में भाव, हाव तथा हेला को एक दूसरे से उद्भूत एवं सत्व के विभिन्न रूप कहा गया है और इसीलिये इन्हें शरीर से संबद्ध माना गया है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए नाट्यशास्त्र (२४।७) में भरत ने कहा है 'सत्व' शरीर से संबद्ध है, 'भाव' सत्व से उत्पन्न होता है, 'हाव' की उत्पत्ति 'भाव' से और 'हेला' की 'हाव' से है।'

अंगज अलंकार के संस्कृत काव्यशास्त्र में उपर्युक्त आधार पर तीन भेद निश्चित किए गए हैं—

१ **भाव अलंकार**—धनंजय ने भरत को आधार मानते हुए कहा है, 'निर्विकारात्मकात्सत्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया' (दशरूपक, २।३३) अर्थात् निर्विकार चित्त में यौवनोद्गम के समय आरंभ होनेवाला विकार रूप आदि स्पंद ही भाव है। जिस प्रकार बीज का आदि विकार अंकुर के रूप में फूटने के पहिले स्थूलता आदि के रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार यौवनोद्गम के साथ मन में जिस कामविकार का वपन होता है वही 'भाव' कहलाता है।

२. **हाव अलंकार**—भरत ने (ना० २४।६) कहा है, 'सत्व भाव के उद्रेक के साथ अन्य व्यक्ति के प्रति व्यंजित होता है और इसी की विभिन्न स्थितियों से संबद्ध 'हाव' देखे जा सकते हैं। धनंजय के अनुसार 'हेलादय शृंगारोहावोऽक्षिभ्रूविकारकृत' (दशरूपक २।३४) अर्थात् भाव की वह विकसित अवस्था जिसमें भोगेच्छा प्रकाशक कटाक्षपात आदि विकार प्रकट होने लगते हैं, 'हाव' कहलाती है। मन में अवस्थित भाव ही हाव रूप में विशेष व्यक्त हो जाता है। संस्कृत के पंडित भानुदत्त ने लीलाविलासादि दस अलंकारों को 'हाव' कहा है। नारी की स्वाभाविक चेष्टा को वह 'हाव' मानते हैं। पुरुषों में भी लक्षित होनेवाले बिब्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम केवल उपाधि स्वरूप ही उनमें होते हैं। यद्यपि संस्कृत में 'हाव' को अंगज अलंकार का भेद कहा है तथापि हिंदी में 'हाव' शब्द का प्रयोग पूरे सात्विक अलंकारों के लिये होता है।

३ **हेला अलंकार**—भरत (ना० २४।११) ने, "ललित अभिनय द्वारा अभिव्यक्त शृंगार रस पर आधारित प्रत्येक व्यक्ति के 'भाव' को 'हेला' की संज्ञा दी है।" धनंजय ने हेला का लक्षण इस प्रकार दिया है, 'स एव हेला सुव्यक्तशृंगाररसूचिका' (दशरूपक २।३४), अर्थात् शृंगार की सहज संकेतक अभिव्यक्ति। हिंदी में 'हेला' का 'हाव' के अंतर्गत माना गया है। (कै० च० श०)

अंगद किष्किंधा के वानरराज बालि और तारा का पुत्र जो रामायण के परंपरानुसार वानर था और राम की ओर से रावण से लड़ा था। उसने रावण की सभा में चरण रोपकर प्रतिज्ञा की थी कि यदि रावण का कोई योद्धा मेरा चरण हटा देगा तो मैं सीता को हार जाऊँगा। बहुत प्रयत्न करने पर भी रावण के योद्धा उसका चरण न हटा सके। इसी कथा से 'अंगद का चरण', न डिगनेवाली प्रतिज्ञा के अर्थ में, मुहावरा बन गया। (भ० श० उ०)

लक्ष्मण के दो पुत्रों में से एक का नाम अंगद था और महाभारत युद्ध में कौरव पक्ष के एक योद्धा का नाम भी यही था। (कै० चं० श०)

अंगप्रतिरोपण चिकित्सा विज्ञान की वह शल्यक्रिया है जिसके अंतर्गत मनुष्य के विकृत अथवा रोगग्रस्त अंगों को बदल दिया जाता है। इससे मनुष्य स्वस्थ हो जाता है और उसकी कार्यक्षमता में कोई कमी भी नहीं आती है। रोगग्रस्त अंगों का प्रतिरोपण रोगी के किसी निकट संबंधी अथवा किसी मृतक द्वारा किए गए अंगदान पर निर्भर करता है। मनुष्य के १८ अंगों एवं ऊतकों का प्रतिरोपण किया जा चुका है। कुछ अंग तो ऐसे हैं जिनके उपचार की मानक विधि अब अंगप्रतिरोपण ही है। भारतीयों को इसका ज्ञान पहले से ही था। ६००० वर्ष पूर्व वेदों में अंगप्रतिरोपण का वर्णन 'मधुविद्या' के नाम से हुआ है।

अमेरिकन कालेज आफ सर्जंस तथा अमेरिका के ही नैशनल इंस्टिट्यूट्स आफ हेल्थ के अंगप्रतिरोपण रजिस्ट्री (आर्गन ट्रांसप्लांट रजिस्ट्री) के प्रमुख डा० जान जे० बर्गन सारे संसार में होनेवाले अंग प्रतिरोपणों का लेखा

जोखा रखते हैं। डा० वर्गीन का कहना है कि सन् १९५३ से लेकर १ जनवरी, १९७२ तक संसार भर में ८२५६ गुर्दे (वृक्क) के प्रतिरोपण हुए और इनमें से लगभग ४००० अब भी काम कर रहे हैं।

प्रथम प्रतिरोपण (रुधिर आधान) : पहला सफल प्रतिरोपण १५ जून, १६६७ को हुआ था जब कि फ्रांस के शाह लुई चौदहवें के चिकित्सक तथा पेरिस में दर्शन और गणित के प्रोफेसर ज्याँ बाप्तिस्त देनिस ने पहली बार मानव में भेड़ के बच्चे के रुधिर का आधान किया। रुधिराधान के बाद रोगी जीवित रहा। देनिस ने दो और रोगियों में रुधिराधान किया लेकिन कड़ी आलोचना के कारण बाद में उन्होंने इसे दोहराया नहीं। रुधिराधान किए जाने पर रुधिर का कभी कभी बहिष्कार होता है। यदि रुधिरसमूह सही न हो अथवा अन्य किसी कारण से दाता और ग्राहक के रुधिर में विसंगति हो तो भी रुधिराधान के उपरांत उसका बहिष्कार हो जाएगा।

रुधिर की तरह कई और भी ऊतक हैं जिनका आधान किया जा सकता है, जैसे कार्निया। किसी मृतक की कार्निया (आँख का एक भाग) उसके मरने के कई घंटे बाद भी निकाली और लगाई जा सकती है, यहाँ तक कि यह काफी दूर दूर तक भेजी भी जा सकती है। चक्षु बैंक कोई तीस वर्ष पूर्व प्रारंभ हुए थे। अब तो जनता और चिकित्सक वर्ग, दोनों में यह सर्वथा मान्य है।

कान बैंक और अस्थि प्रतिरोपण : जो लोग ठीक सुन नहीं पाते, प्रतिरोपण से उनकी श्रवणेंद्रियाँ भी ठीक की जा सकती हैं। आँख बैंकों के समान कान बैंक भी बन चुके हैं। मृत व्यक्तियों से लिए गए कान के पर्दों, यहाँ तक कि मध्य कान की अति लघु हड्डियों तक का प्रतिरोपण हो चुका है। ह्यूस्टन (अमेरिका) के एम० डी० ऐंडरसन हास्पिटल ऐंड ट्यूमर इंस्टिट्यूट में दस वर्षीय अस्थि प्रतिरोपण कार्यक्रम शुरू किया गया है। इसके दौरान उपर्युक्त प्रतिरोपण सफल रहे हैं। कहीं कहीं तो कैंसर से पीड़ित लोगों की हड्डियों के बड़े भाग को काटकर निकाल देना पड़ा। ऐसे लोगों में मुर्दों की अस्थियाँ प्रतिरोपित की गईं जिनका शरीर ने बहिष्कार नहीं किया।

दोहरा प्रतिरोपण : १९७१ में ही हुआ है जिसमें लंबे समय से मधुमेह से पीड़ित एक स्त्री का गुर्दा और अग्न्याशय (पैंक्रियाज) बदलकर उसे अंधा और अपंग होने से बचा लिया गया। इस तरह के प्रतिरोपण मधुमेह पीड़ितों के लिये वरदान हैं। १ जनवरी, १९७२ तक अग्न्याशय के केवल २४ प्रतिरोपण हो चुके थे।

फुप्फुस (फेफड़ा) प्रतिरोपण : अग्न्याशय के प्रतिरोपण से भी अधिक महत्व फेफड़े के प्रतिरोपण का है। फेफड़े का पहला प्रतिरोपण ११ जून, १९६३ को डा० जेम्स हार्डी के शल्यचिकित्सा दल ने जैक्सन (मिसौरी, सं० रा० अमरीका) में किया।

यकृत (जिगर) प्रतिरोपण : जिगर शरीर का सबसे पेचीदा और बड़ा अंग है। इसके अधिकांश विकारों का उपचार एक मात्र प्रतिरोपण ही है।

१९६३ में डेनवर के डा० थामस ई० स्टार्ल्ज ने सर्वप्रथम एक मृतक व्यक्ति का जिगर निकालकर एक अन्य रोगी में प्रतिरोपित किया था। १ जनवरी, १९७२ तक जिगर के कुल १५५ प्रतिरोपण हो चुके हैं।

थाइमस और अस्थिमज्जा : इसके प्रतिरोपण कई दृष्टि से एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। इन दोनों के प्रतिरोपण में इनके ऊतकों के टुकड़ों का रोगी में इंजेक्शन दिया जाता है।

आंत्र प्रतिरोपण : जब किसी को अँतड़ियों का कैंसर हो जाता है तो आँतों के टुकड़े निकालना जरूरी हो जाता है। ऐसी दशा में प्रतिरोपण ही इसका एक मात्र इलाज रह जाता है। अनेक विफलताओं के बावजूद छोटी आँतों के प्रतिरोपण को सफल बनाने के यत्न किए जा रहे हैं।

स्वरयंत्र (लैरिंक्स) बेल्जियम में इसका प्रतिरोपण किया जा चुका है। प्रतिरोपण के बाद रोगी खाने और बोलने लगा था लेकिन कुछ ही समय बाद उसकी मृत्यु हो गई।

विलक्षण प्रतिरोपण : इटली के एक प्रसूतिविज्ञानी ने एक स्त्री के शरीर से आधा अंडाशय निकाल एक अन्य स्त्री के शरीर में प्रतिरोपित किया। इटली के स्वास्थ्य मंत्रालय ने ऐसे प्रतिरोपणों पर रोक लगा दी है क्योंकि इस तरह के प्रतिरोपण के बाद स्त्री द्वारा उत्पन्न की गई संतान के माता पिता के अनिश्चय को लेकर मुकदमे शुरू हो सकते हैं।

केश प्रतिरोपण : मनुष्य के गंजेपन को दूर करने के लिये शरीर के अधिक बालोंवाले हिस्सों से बाल लेकर गंजे स्थलों पर लगाए जा सकते हैं।

हृदय प्रतिरोपण : केपटाउन (दक्षिण अफ्रीका) में ३ दिसंबर, १९६७ को डा० क्रिश्चियन बर्नार्ड ने फिलिप ब्लैबर्ग के एक रोगी के हृदय को निकाला और उसके स्थान पर एक मृत नीग्रो महिला का हृदय लगाकर हृदय प्रतिरोपण का सिलसिला प्रारंभ किया। अब तो ऐसे प्रतिरोपणों की बाढ़ सी आ गई है। १ जनवरी, १९७० तक १५० प्रतिरोपण हुए थे जिनमें से उस दिन सिर्फ २३ व्यक्ति जीवित थे। १९७० के आसपास बंबई के कुछ डाक्टरों ने भी हृदय प्रतिरोपण किया था पर वे सफल नहीं हो सके। (नि० सिं०)

अंगराग शरीर के विभिन्न अंगों का सौंदर्य अथवा मोहकता बढ़ाने के लिये या उनको स्वच्छ रखने के लिये शरीर पर लगाई जानेवाली वस्तुओं को अंगराग (कास्मेटिक) कहते हैं, परंतु साबुन की गणना अंगरागों में नहीं की जाती।

इतिहास—सभ्यता के प्रादुर्भाव से ही मनुष्य स्वभावतः अपने शरीर के अंगों को शुद्ध, स्वस्थ, सुडौल और सुंदर तथा त्वचा को सुकोमल, मृदु, दीप्तिमान् और कांतियुक्त रखने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शारीरिक स्वास्थ्य और सौंदर्य प्रायः मनुष्य के आंतरिक स्वास्थ्य और मानसिक शुद्धि पर निर्भर हैं। तथापि यह सत्य है कि किसी के व्यक्तित्व को आकर्षक और सर्वप्रिय बनाने में अंगराग और सुगंध विशेष रूप से सहायक होते हैं। संसार के विविध देशों के साहित्य और सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि भिन्न भिन्न अवसरों पर प्रगतिशील नागरिकों द्वारा अंगराग और गंधशास्त्र संबंधी कलाओं का उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य और त्वचा की सौंदर्यवृद्धि के लिये किया जाता रहा है।

भारत युगयुगांतर से धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिये अंगराग और सुगंध की रचना और उपयोग को मनुष्य की तामसिक वासनाओं का उत्तेजक न मानकर समाजकल्याण और धर्मप्रेरणा का साधन समझा जाता रहा। आर्य संस्कृति में अंगराग और गंधशास्त्र का महत्व प्रत्येक सद्गृहस्थ के दैनिक जीवन में उतना ही आवश्यक रहा है जितना पंचमहायज्ञ और वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का पालन। वैदिक साहित्य, महाभारत, बृहत्संहिता, निघंटु, सुश्रुत, अग्निपुराण, मार्कंडेयपुराण, शुक्रनीति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शार्ङ्गधरपद्धति, वात्स्यायन कामसूत्र, ललितविस्तर, भरत नाट्यशास्त्र, अमरकोश इत्यादि में नानाविध अंगरागों और गंधद्रव्यों का रचनात्मक और प्रयोगात्मक वर्णन पाया जाता है। सद्गोपाल और पी० के० गोडे के अनुसंधानों के अनुसार इन ग्रंथों में शरीर के विविध प्रसाधनों में से विशेषतया दर्पण की निर्माणकला, अनेक प्रकार के उद्वर्तन, विलेप, धूलन, चूर्ण, पराग, तैल, दीपवर्ति, धूपवर्ति, गंधोदक, स्नानीय चूर्णवास, मुखवास इत्यादि का विस्तृत विधान किया गया है। गंगाधरकृत 'गंधसार' नामक ग्रंथ के अनुसार तत्कालीन भारत में अंगरागों के निर्माण में मुख्यतया निम्नलिखित छह प्रकार की विधियों का प्रयोग किया जाता था

१ भावन क्रिया—चूर्ण किए हुए पदार्थों को तरल द्रव्यों से अनुविद्ध करना।

२ पाचन क्रिया—क्वथन द्वारा विविध पदार्थों को पकाकर संयुक्त करना।

३ बोध क्रिया—गुणवर्धक पदार्थों के संयोग से पुनरुत्तेजित करना।

४. वेध क्रिया—स्वास्थ्यवर्धक और त्वचोपकारक पदार्थों के संयोग से अंगरागों को चिरोपयोगी बनाना।

५. धूपन क्रिया—सौगंधिक द्रव्यों के धुओं से सुवासित करना।

६ वासन क्रिया—सौगंधिक तैलों और तत्सदृश अन्य द्रव्यों के संयोग से सुवासित करना।

रघुवंश, ऋतुसंहार, मालतीमाधव, कुमारसंभव, कादंबरी, हर्षचरित और पालि ग्रंथों में वर्णित विविध अंगरागों में निम्नलिखित द्रव्यों का विस्तृत विधान पाया जाता है :

मुखप्रसाधन के लिये विलेपन और अनुलेपन, उद्वर्तन, रंजकवर्तिका, दीपवर्ति इत्यादि, सिर के बालों के लिये विविध प्रकार के तैल, धूप और केशपटवास इत्यादि, आँखों के लिये काजल, सुरमा और प्रसाधन-शलाकाएँ इत्यादि, ओष्ठों के लिये रंजकशलाकाएँ, हाथ और पाँव के लिये मेहदी और आलता, शरीर के लिये चंदन, देवदारु और अगरु इत्यादि के विविध लेप, स्नानीय चूर्णवास और फेनक इत्यादि तथा मुखवास, कक्षवास और गृहवास इत्यादि। इन अंगरागों और सुगंधों की रचना के लिये अनुभवी शास्त्रज्ञों तथा प्रयोगादि के लिये प्रसाधकों तथा प्रसाधिकाओं को विशेष रूप से शिक्षित और अभ्यस्त करना आवश्यक समझा जाता था।

अंगरागशास्त्र की वैज्ञानिक कला द्वारा उन सभी प्रसाधन द्रव्यों का रचनात्मक और प्रयोगात्मक विधान किया जाता है जिनके उपयोग से मनुष्यशरीर के विविध अंगोपांगों और त्वचा को स्वस्थ, निर्दोष, निर्विकार, कांतिमान् और सुंदर रखकर लोककल्याण सिद्ध किया जा सके। भारत में पुरातन काल से अंगराग संबंधी विविध प्रसाधन द्रव्यों का निर्माण प्राकृतिक और मुख्यतया वानस्पतिक समाधनों द्वारा होता रहा है। किंतु वर्तमान युग में आधुनिक विज्ञान की उन्नति से अंगरागों की रचना और प्रयोग में आनेवाले समाधनों की संख्या का विस्तार इतना बढ़ गया है कि अन्य वैज्ञानिक विषयों की तरह इस विषय का ज्ञानार्जन भी विशेष प्रयत्न द्वारा ही संभव है।

आधुनिक काल में अंगराग—आधुनिक काल में विशेष प्रकार के साबुनों तथा अंगरागों का विस्तार और प्रचार शारीरिक सौंदर्यवृद्धि के लिये ही नहीं अपितु शारीरिक दोषोपचार के लिये भी बढ़ रहा है। अतः अंगराग के ऐसे औपचारिक प्रसाधनों को औषधियों से अलग रखने की दृष्टि से अमरीका तथा अन्य विदेशों में इन पदार्थों की रचना और बिक्री पर सरकारी कानूनों द्वारा कड़ा नियंत्रण किया जा रहा है। आजकल के सर्वसंमत सिद्धांत के अनुसार निम्नलिखित पदार्थ ही अंगराग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं :

१ वे पदार्थ जिनका उपयोग शरीर की सौंदर्यवृद्धि के लिये हो, न कि इन प्रसाधनों के उपकरण। इस दृष्टि से कंघी, उस्तरा, दाँतों और बालों के ब्रुश इत्यादि अंगराग नहीं कहे जा सकते।

२ अंगराग के प्रसाधनों में बाल धोने के तरल फेनक (शैंपू), दाढ़ी बनाने का साबुन, विलेपन (क्रीम) और लोशन इत्यादि तो रखे जा सकते हैं, किंतु नहाने के साबुन नहीं।

३ अंगराग के प्रसाधनों में ऐसे औपचारिक पदार्थों को भी रखा जाता है जो औषध के समान गुणकारक होते हुए भी मुख्यतः शरीरशुद्धि के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे पसीना कम करनेवाले प्रसाधन आदि।

४ वे पदार्थ जो अनिवार्य रूप से मनुष्य के शरीर पर ही प्रयुक्त होते हैं, वासगृह और आमोद प्रमोद के स्थानों इत्यादि को सुगंधित रखने के लिये नहीं।

वर्गीकरण—ऊपर लिखे आधुनिक सिद्धांत के अनुसार मनुष्यशरीर के अंगोपांग पर प्रयोग की दृष्टि से विविध प्रसाधनों का शास्त्रीय वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिए :

१ त्वचासंबंधी प्रसाधन—चूर्ण (पाउडर), विलेपन (क्रीम), सांद्र और तरल लोशन, गंधहर (डिओडोरैंट); स्नानीय प्रसाधन (बाथ प्रिपरेशन्स), शृंगार प्रसाधन (मेक-अप) जैसे आकुकुम (रूज़), काजल, ओष्ठरंजक शलाका (लिपस्टिक) तथा सूर्यसंस्कारक प्रसाधन (सन-टैन प्रिपरेशन्स) इत्यादि।

२ बालों के प्रसाधन—शैंपू, केशबल्य (हेयर टॉनिक), केशसंभारक (हेयरड्रेसिंग्स) और शुभ्रक (ब्रिलियंटाइन), क्षौरप्रसाधन (शेविंग प्रिपेरेशन्स); विलोमक (डिपिलेटरी) इत्यादि।

३ नखप्रसाधन—नखप्रमार्जक (नेल पॉलिश) और प्रमार्ज अपनयक (पॉलिश रिमूवर), नख-रंजक-प्रसाधन (मैनिक्योर प्रिपेरेशन्स) इत्यादि।

४ मुखप्रसाधन—मुखधावक (माउथ वाश), दंतशाण (डेंटिफ्रिस), दंतलेपी (टूथपेस्ट) इत्यादि।

५ सुवासित प्रसाधन—सुगंध, गंधोदक (टॉयलेट वाटर और कोलोन वाटर), गंधशलाका (कोलोन स्टिक) इत्यादि।

६ विविध प्रसाधन—हाथ और पाँव के लिये मेहदी और आलता इत्यादि, कीट प्रत्यपसारी (इन्सेक्ट रिपेलेंट) इत्यादि।

अंगरागों के निर्माण के लिये कुटीर उद्योग और बड़े बड़े कारखानों, दोनों रूपों में निर्माणशाला संगठित की जा सकती है। इस शास्त्र को विविध विरचनाओं को लोकप्रियता और सफलता के लिये निर्माणकर्ता को न केवल रसायन का पंडित होना चाहिए बल्कि शरीरविज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, कीट और कृमिविज्ञान इत्यादि विषयों का भी गहरा अध्ययन होना आवश्यक है।

त्वचा पर अंगरागों का प्रभाव—मनुष्य की त्वचा से एक विशेष प्रकार का स्निग्ध तरल पदार्थ निकला करता है। दिन रात के २४ घंटों में निकले इस स्निग्ध तरल पदार्थ की मात्रा दो ग्राम के लगभग होती है। इसमें वसा, जल, लवण और नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ रहते हैं। इसी वसा के प्रभाव से बाल और त्वचा स्निग्ध, मृदु और कांतिवान् रहते हैं। यदि त्वग्वसा ग्रंथियों में से पर्याप्त मात्रा में वसा निकलती रहे तो त्वचा स्वस्थ और कोमल प्रतीत होती है। इस वसा के अभाव में त्वचा रूखी सूखी और प्रचुर मात्रा में निकलने से अति स्निग्ध प्रतीत होती है। साधारणतया शीतप्रधान और समशीतोष्ण स्थलों के निवासियों की त्वचाएँ सूखी तथा अयनवृत्त (ट्रॉपिक्स) स्थित निवासियों की त्वचाएँ स्निग्ध पाई जाती हैं। शारीरिक त्वचा को स्वच्छ, स्वस्थ, सुंदर, मुलायम और कांतियुक्त बनाए रखने के लिये शारीरिक व्यायाम और स्वास्थ्य परम सहायक है। तथापि इस स्वास्थ्य को स्थिर रखने में विविध अंगरागों का सदुपयोग विशेष रूप से लाभप्रद होता है। शारीरिक त्वचा की स्वच्छता और मृत कोशिकाओं का उत्सर्जन, स्वेदग्रंथियों को खुला और दुर्गंधरहित करना, धूप, सर्दी और गर्मी से शरीर का प्रतिरक्षण, त्वचा के स्वास्थ्य के लिए परमावश्यक वसा को पहुँचाना, उसे मुहाँसे, झुर्रियों और काले तिल जैसे दागों से बचाना, त्वचा को मुलायम और कांतियुक्त बनाए रखना, उसे बुढ़ापे के आक्रमणों से बचाना और बालों के सौंदर्य को बनाए रखना इत्यादि अंगरागों के प्रभाव से ही संभव है। शास्त्रीय विधि से निर्मित अंगरागों का सदुपयोग मनुष्यजीवन को सुखी बनाने में अत्यंत लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

वैनिशिंग क्रीम—अर्वाचीन अंगरागों में से वैनिशिंग क्रीम नामक मुखराग का व्यवहार बहुत लोकप्रिय हो गया है। मुँह की त्वचा पर थोड़ा सा ही मलने से इस विलेपन (क्रीम) का अंतर्धान होकर लोप हो जाना ही इसके नामकरण का मूल कारण जान पड़ता है (वैनिशिंग =लुप्त होनेवाला)। यह वास्तव में स्टीयरिक ऐसिड अथवा किसी उपयुक्त स्टीयरेट और जल द्वारा प्रस्तुत पायस (इमलशन) है। सोडियम हाइड्रॉक्साइड, सोडियम कार्बोनेट और सुहागे के योग से जो विलेपन बनता है, वह कड़ा और फीका सा होता है। इसके विपरीत पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड और पोटैसियम कार्बोनेट के योग से बने विलेपन नरम और दीप्तिमान् होते हैं। अमोनिया के योग के कारण विलेपन की विशिष्ट गंध और रंग के बिगड़ने की आशंका रहती है। मोनोग्लिसराइडों और ग्लाइकोल स्टीयरेटों के योग से अच्छे विलेपन बनाए जा सकते हैं। एक भाग सोडियम और नौ भाग पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड मिश्रित साबुनों की अपेक्षा सोडियम और पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड के संमिश्रण में ट्राई-इथेनोलेमाइन के यौगिक भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कार्बोनेटों के उपयोग के समय अधिक ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि कार्बन डाइआक्साइड नामक गैस निकलने से योगरचना के लिये दुगुना बड़ा बर्तन रखना और गैस को पूरी तरह निकाल देना परमावश्यक है। वैनिशिंग क्रीम की आधारभूत रचना में विशुद्ध स्टीयरिक ऐसिड, क्षार, जल और

ग्लिसरीन का ही मुख्यतया प्रयोग किया जाता है। दृष्टांत के लिये दो योग-रचनाएँ नीचे दी जाती हैं

यौगिक पदार्थ	सूत्र १ (भाग)	सूत्र २ (भाग)
१ स्टीयरिक ऐसिड (विशुद्ध)	२०	२५
२ पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड (विशुद्ध)	१ (पोटै० कार्बोनेट विशुद्ध)	१२
३ ग्लिसरीन	५	१०
४ जल	७४	६३८
५ सुगंध (१०० किलो० क्रीम के लिये)	२५०-४०० ग्राम तक	

योगविधि—(क) यौगिक सं० १ को पिघला लीजिए और (ख) यौगिक सं० २ और ३ को ४ में घोलकर ८५० सेंटीग्रेड तक गरम कर लीजिए। फिर धीरे धीरे लगातार हिलाते हुए (ख) घोल को (क) में छोड़ते जाइए। इस कार्य के लिये काँच, ऐल्युमिनियम, इनैमल अथवा स्टेनलेस स्टील के बरतनों और करछुलों का ही उपयोग करना चाहिए। दूसरी योगरचना में गैस को पूरी तरह निकालना आवश्यक है। जब कुल पानी का घोल इस प्रकार स्टीयरिक ऐसिड में मिल जाय तो इस पायस को ठंढा होने के लिये एक दिन तक अलग रख दीजिए। तब इसमें उपयुक्त सुगंध उचित मात्रा में छोड़कर आठ दस दिन तक मिश्रण को परिपक्व होने दिया जाय। फिर एक बार खूब हिलाकर शीशियों में भरकर रख दिया जाय। साधारण जल के स्थान पर विशुद्ध गुलाबजल अथवा अन्य सौगंधिक जलों के उपयोग से और उत्तम क्रीम बनती है।

कोल्ड क्रीम—लोकप्रिय मुखरागों में से कोल्ड क्रीम का उपयोग मुँह की त्वचा को कोमल तथा कांतिवान् रखने के लिये किया जाता है। यह वास्तव में तेल-में-जल का पायस होने से त्वचा में वैनिशिंग क्रीम की तरह अंतर्धान नहीं हो पाता। समांग, कांतिमय, न बहुत मुलायम और न बहुत कड़ा होने के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि किसी भी ठीक बने कोल्ड क्रीम में से जलीय और तैलीय पदार्थ विलग न हों और क्रीम फटने न पाए, न सिकुड़ने ही पाए। शीतप्रधान और समशीतोष्ण देशों में उपयोग के लिये नरम कोल्ड क्रीम और उष्णप्रधान देशों में उपयोग के लिये कड़े क्रीम बनाए जाते हैं। दृष्टांत के लिये एक योगरचना निम्नलिखित है

मधुमक्खी का मोम (विशुद्ध)	१५ भाग
बादाम का तेल अथवा मिनरल आयल (६५/७५)	५५ भाग
जल	२९ भाग
सुहागा	१ भाग

साधारणतया मोम की मात्रा १५-२० प्रतिशत रहती है। अन्य मोम को उपयोग में लाते समय मधुमक्खी के मोम का अंश उतना ही कम करना आवश्यक है। कड़ा क्रीम बनाने के लिये सिरसीन और स्पर्मेसेटी के मोम बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। क्रीम बनाते समय सर्वप्रथम तेल में मोम को गरम करके इसे पिघला लिया जाता है। फिर उबलते हुए जल में सुहागे का घोल बनाकर तेल मोम के गरम मिश्रण में धीरे धीरे हिलाकर मिलाया जाता है। इस समय मिश्रण का ताप लगभग ७०° सेंटी० रहना चाहिए। कुल पदार्थ मिल जाने पर इस पायस को एक दिन तक अलग रख दिया जाता है और फिर लगभग ½ प्रतिशत सुगंध मिलाकर श्लेषाभ पेषणी (कोलायड मिल) में दो एक बार पीसकर शीशियों में भर दिया जाता है।

फेस पाउडर का नुसखा—मुखप्रसाधनों में फेस पाउडर, सर्वाधिक लोकप्रिय और सुविधाजनक होने के कारण, अत्यंत महत्वपूर्ण अंगराग हो गया है। अच्छे फेस पाउडर में मनमोहक रंग, अच्छी संरचना, मुखप्रसाधन के लिये सुगमता, सलागिता (चिपकने की क्षमता), सर्पण (स्लिप), विस्तार (बल्क), अवशोषण, मृदुलक (ब्लूम), त्वग्दोष-पूरक-क्षमता और सुगंध इत्यादि गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के पूरक मुख्य पदार्थ निम्नलिखित हैं.

१. अवशोषक तथा त्वग्दोषपूरक पदार्थ—जिंक आक्साइड, टाइटेनियम डाइआक्साइड, मैगनीशियम आक्साइड, मैगनीशियम कार्बोनेट, कोलायडल केओलिन, अवक्षिप्त चॉक और स्टार्च इत्यादि।

२ सलागी (चिपकनेवाले)—जिंक, मैगनीशियम और ऐल्युमीनियम के स्टीयरेट।

३ सृप्र (फिसलानेवाले) पदार्थ—टैल्कम।

४ मृदुलक (त्वग्विकासक) पदार्थ—अवक्षिप्त चॉक और बढ़िया स्टार्च।

५ रंग—अविलेय पिगमेंट और लेक रंग। ओकर, कास्मेटिक यलो, कास्मेटिक ब्राउन और अंबर इत्यादि।

६ सुगंध—इसके लिये साधारणतः एक भाग टैल्कम को कृत्रिम ऐंबर्ग्रिस के एक भाग के साथ उचित घोलक द्रव्य, जैसे बेंज़िल बेंज़ोएट, के तीन भाग में मिलाना आवश्यक है। घोलक के मिश्रण को गरम करके ७० भाग हलकी अवक्षिप्त (लाइट प्रेसिपिटेटेड) चॉक मिला दी जाय और फिर टैल्कम मिलाकर कुल तौल १००० भाग कर लिया जाए। इस क्रिया को पूर्वसंस्कार कहते हैं और इस प्रकार से बनाए टैल्कम को साधारण टैल्कम की तरह ही उपयोग में ला सकते हैं।

योगरचना के नुसखे और विधि—फेस पाउडर विभिन्न अवसरों और पसंदों के लिये हलके, साधारण और भारी, कई प्रकार के बनाए जाते हैं। अपेक्षित सभी यौगिक द्रव्यों को खूब अच्छी प्रकार से मिलाकर इन्हें १०० छेदवाली चलनी में से छान लेते हैं और अंत में रंग और सुगंध डालकर, फिर अच्छी तरह मिलाकर डिब्बा बंद कर दिया जाता है। दृष्टांत के लिये कुछ नुसखे नीचे दिए जाते हैं.

यौगिक पदार्थ	हलके पाउडर भाग			साधारण पाउडर भाग			भारी पाउडर भाग		
१ जिंक आक्साइड	१५	—	७½	२०	—	१०	३०	—	१५
२ टाइटेनियम डाई-आक्साइड	—	५	२½	—	७	३½	—	९	५
३ टैल्कम	७५	८०	७५	६५	७८	७१½	५६	७५	६४
४. जिंक स्टीयरेट	५	७	७	५	७	७	४	६	६
५ अवक्षिप्त चॉक	५	८	८	१०	८	८	१०	१०	१०

लिपस्टिक—किसी सांद्रित और स्निग्ध आधार (पदार्थ) में थोड़े से घुले हुए और मुख्यतया आलंबित (सस्पेंडेड) रंजक द्रव्य की ओष्ठ-रंजक-शलाका का नाम लिपस्टिक है। एक बार प्रयोग में लाने से इसके रंग और स्निग्धता का प्रभाव ६ से ८ घंटे तक बना रहता है। रंग का असमान मिश्रण, शलाका का टूटना या पसीजना इत्यादि दोषों से इसका रहित होना अत्यंत आवश्यक है। लगभग २ ग्राम की एक शलाका २५० से ४०० बार प्रयोग में लाई जा सकती है। साधारणतः लिपस्टिकों की रचना में ब्रोमो ऐसिड २ प्रतिशत और रंगीन लेक १० प्रतिशत को किसी उपयुक्त आधारक द्रव्य में मिलाया जाता है। घोलकों में से एरंड का तेल और ब्यूटिल स्टीयरेट, सलागियों में से मधुमक्खी का मोम, दीप्ति के लिये २०० श्यानता का मिनरल आयल, कड़ा करने के लिये ओज़ोकेराइट ७६°/८०° सेंटी०, सिरेसीन मोम और कारनौबा मोम, सांद्रित आधारक द्रव्य के तौर पर ककाओ बटर और उत्तम आकृति के लिये ओलिओसाल्सिलिक ऐसिड इत्यादि द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। दो योग (नुसखे) निम्नलिखित हैं.

		भाग
(क)	ट्रफ पेट्रोलेटम	२५
	सिरेसीन ६४°	२५
	मिनरल आयल २१०/२२०	१५
	मधुमक्खी का मोम	१५
	लैनोलीन (अजल)	५
	ब्रोमो ऐसिड	२
	रंगीन लेक	१०
	कारनौबा मोम	३

(ख)	अवशोषण आधारक द्रव्य	२८
	सिरेसीन ६४°	२५
	मिनरल आयल २१०/२२०	१५
	कारनौबा मोम	५
	मधुमक्खी का मोम	१५
	ब्रोमो ऐसिड	२
	रंगीन लेक	१०

रचनाविधि—सर्वप्रथम ब्रोमो ऐसिड को घोलक द्रव्यों में मिला लिया जाता है और सभी मोमों को भली भाँति पिघलाकर गरम कर लिया जाता है। बाकी वसायुक्त पदार्थों को पतला करके उत्तम रंगीन लेक और पिगमेंट मिलाकर श्लेषाभ पेषणी (कोलायड मिल) से पीसकर एकरस कर लिया जाता है। तब ब्रोमो ऐसिड के घोल में सभी पदार्थ धीरे धीरे छोड़कर खूब हिलाया जाता है ताकि वे आपस में ठीक ठीक मिल जायें। जब जमने के ताप से ५°-१०° सेंटी० ऊँचा ताप रहे तभी इस मिश्रण को मिल में से निकालकर लिपस्टिक के साँचों में ढाल लिया जाता है। इन साँचों को एकदम ठंढा कर लेना आवश्यक है।

दिन-प्रति-दिन परिवर्धमान वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अंगरागों की निर्माणपद्धति और यौगिक पदार्थों में परिवर्तन होते रहते हैं। ऊपर कुछ रचनाविधियों और उनमें व्यवहृत यौगिक पदार्थों का विवरण दिया गया है।

अंगरागों का व्यापार—भारत में प्रति वर्ष कितने का माल बनता है और कितने का विदेशों से आता है, इस संबंध के आँकड़े प्राप्त करना संभव नहीं है। अभी तक अंगरागों के संबंध में इस प्रकार के आँकड़े एकत्र नहीं किए जा रहे हैं। पिछले दो वर्षों (१९५७, १९५८) में लगाए गए आयात संबंधी बंधनों के कारण लगभग सभी प्रकार के अंगरागों का विदेशों से आना बंद सा है। इसलिये स्वदेशी अंगरागों का निर्माण और उनकी खपत कई गुना बढ़ गई है।

इंग्लैंड और अमरीका में अंगरागों का व्यापार और उद्योग कितने महत्व का है, यह जानना लाभप्रद होगा। इंग्लैंड में सभी प्रकार के अंगरागों के निर्माण और बिक्री के विस्तृत आँकड़े सुलभ हैं। १९५१ में सभी प्रकार के अंगरागों की कुल बिक्री ३,०६,०१,००० पाउंड की हुई और इसका मूल्य १९५४ में बढ़कर ३,७८,१३,००० पाउंड हो गया। इसी प्रकार अमरीका में अंगरागों की बिक्री के आँकड़े निम्नलिखित हैं

अंगरागों के प्रकार	१९४७ में	१९५४ में
	(अमरीकी डालरों में मूल्य)	
१. केशराग	६,२२,६८,०००	२२,०४,२२,०००
२. दंत प्रसाधन	९,३०,८३,०००	१३,०७,८६,०००
३. सौगंधिक जल और स्नानीय वास	५,०३,२२,०००	७,७०,४१,०००
४. विविध अंगराग	२२,६८,४१,०००	३१,६२,२९,०००
सर्वयोग	४६,५५,६४,०००	७४,४४,८१,०००

ऊपर के विदेशी आँकड़ों में यह स्पष्ट है कि अंगरागों के उद्योग का क्षेत्र भारत में विशाल है और इसका भविष्य अत्यंत उज्वल है।

सं० ग्रं०—एडवर्ड सैगेरिन द्वारा संपादित कॉस्मेटिक्स सायंस ऐंड टेक्नॉलॉजी, न्यूयार्क, १९५७, मेसन जी० डी० नवर्रे दि केमिस्ट्री ऐंड मैन्युफैक्चर ऑव कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, १९४६, ई० जी० टॉमसन, मॉडर्न कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, १९४७, डब्ल्यू० ए० पोशे परफ्यूम्स, कॉस्मेटिक्स ऐंड सोप्स, ३ भाग, लंदन, १९४१, राल्फ जी० हैरी मॉडर्न कॉस्मेटिकॉलॉजी, दो भाग, लंदन, १९४४, ए० ई० हैकल दि ब्यूटी-कल्चर हैंडबुक, १९३५; एवरेट जी० मैकडनफ ट्रुथ अबाउट कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क; गिल्बर्ट बेल : ए हिस्ट्री ऑव कॉस्मेटिक्स इन अमरीका, न्यूयार्क, १९४७, अज्ञात : टेकनीक ऑव ब्यूटी प्रॉडक्ट्स, लंदन, १९४६, हेयर ड्रेसिंग ऐंड ब्यूटी कल्चर, लंदन, १९४८। (क० और स०)

अंगवाक् भारत के नागालैंड में बोली जानेवाली चीनी भाषा परिवार के असमी-बर्मी-उपवर्ग की पूर्वी शाखा की भाषाओं या बोलियों (अंगवाक्, तम्लू, बनपरा, मुतोनिया, मोहोंगिया, नमसंगिया, चांग, अम्मिरिंगिया, मोशांग, शांगो) में से एक प्रमुख बोली है जिसके बोलनेवालों की (इसमें 'तम्लू' बोलनेवालों को भी शामिल किया जाता है) संख्या अनुमानतः सात हजार है। इसे पूर्वी नागा भाषा भी कहते हैं। इस भाषा को रोमन या नागरी लिपि में अभी लिखित रूप नहीं दिया जा सका है। (मो० ला० ति०)

अंगामी यह नागालैंड (राज्य) की सोलह बोलियों में से एक बोली तथा राज्य की प्रमुख भाषा है। राज्य के निवासियों के बीच यह संपर्क भाषा के रूप में विकसित हो चुकी है। देश की १६५२ भाषाओं एवं बोलियों में से एक है। इसके बोलनेवालों की संख्या अनुमानतः एक लाख है। यह चीनी परिवार की असमी-बर्मी-शाखा की एक तानिम (Tonemic) प्रधान भाषा है, जिसमें तान के चढ़ाव उतार से किसी किसी शब्द में आठ अर्थों तक का बोध होता है। इसे रोमन लिपि में लिखा जाने लगा है। नागरी लिपि में भी भाषा और साहित्य को लिखित रूप देने का प्रयास हो रहा है। (मो० ला० ति०)

अंगारा प्रदेश भूविज्ञान के अनुसार एशिया के उत्तरी भाग के प्राचीनतम स्थलखंड को अंगारा प्रदेश कहते हैं। इसका राजनीतिक महत्व नहीं है, परंतु भौगोलिक दृष्टि से इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है। इस प्रदेश की भूवैज्ञानिक खोज अभी अपेक्षाकृत कम हुई है। रूसी भूविज्ञानिकों ने अपने अन्वेषणात्मक कार्यों द्वारा इसे बहुत अंशों में नॉरशिया तथा बाल्टिक प्रदेश के सदृश बताया है। इस प्रदेश की पृष्ठवर्तीय चट्टानें (फाउंडेशन राक्स) कैंब्रियनपूर्व की हैं जिनमें अति प्राचीन गिरि-निर्माण-संरचना प्राप्य है और इनमें प्रचुर मात्रा में परिवर्तन हुआ है। इन तलीय चट्टानों के ऊपर कैंब्रियन युग से लेकर अनर्युगीन (पैलिओज़ोइक, मेसोज़ोइक और केनोज़ोइक) चट्टानों का जमाव मिलता है।

कायर ने रूसी विद्वानों के सदृश ही इसे यनीसी नदी के मुहाने से कामनोयार्स्क को मिलाती हुई रेखा द्वारा दो प्रमुख भागों में बाँटा है। यनीसी नदी का पश्चिमवर्ती भाग निम्नस्तरीय मैदान है जिसपर अशन तृतीय कल्पिक अवसाद (टर्शियरी सेडिमेंट्स) मिलते हैं और जो उत्तरी महासागर तल में मिल जाता है। यूराल पर्वत की ओर समुद्री जुरासिक, क्रिटेशस एवं पूर्वतालिक तृतीय कल्पिक (टर्शियरी) चट्टानें मिलती हैं। यनीसी नदी का पूर्वी भाग बहुत अंशों में भिन्न है। इस भाग में पुराकल्पयुगीन (पैलियोज़ोइक) चट्टानों का विकास महाद्वीपीय स्तर पर हुआ है। ये चट्टानें प्रायः क्षैतिज हैं तथा इनमें दो प्राचीन उद्वर्ग (हॉर्स्ट), अनाबर और येनीसे, प्रमुख हैं।

इस प्रदेश की पश्चिमी सीमा का निर्धारण कठिन है, परंतु इसका बृहत्तम फैलाव यूराल पर्वतश्रेणियों तक मिलता है। तमिर अंतरीप का बिरंगा नामक पहाड़ इसकी उत्तरी सीमा निर्धारित करता है और इन पहाड़ों में समित भंजित (नार्मल फ़ोल्ड) संरचना मिलती है। संभवतः ये कैलिडोनियन युग के हैं। लीना नदी के पूर्व स्थित बरखोयान्स्क पहाड़ से इसकी पूर्वी सीमा और कामनोयार्स्क से बैकाल झील तथा यार्कुत्स्क को मिलानेवाली रेखा द्वारा इसकी दक्षिणी सीमा निर्धारित होती है। मध्य (मेसोज़ोइक) तथा तृतीय कल्पिक (टर्शियरी) चट्टानों से आच्छादित होने के कारण दक्षिण-पश्चिम में इसका सीमानिर्धारण कठिन है।

बैकाल झील के पास चतुर्दिक् पर्वतश्रेणियों से घिरा हुआ इरकुटस्क एक बृहत् रंगमंडल (ऐम्फीथिएटर) सा जान पड़ता है। इसके पश्चिम में सयान पर्वत और पूरब में बैकाल झील की श्रेणियाँ फैली हुई हैं। इस क्षेत्र के विकास के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। स्वेस के अनुसार यह क्षेत्र साइबेरियन शील्ड का प्राचीनतम स्थल भाग है जिसके चारों ओर

अंतरकालीन विकास हुआ। रूसी विद्वानों के नए अन्वेषणों ने इस विचार से असहमति प्रकट की है। नाल्जो के अनुसार तुरीय युग के प्रारंभिक काल में स्वेस का यह तथाकथित प्राचीनतम स्थल क्षेत्र केवल निम्नस्तरीय परतु वृद्ध भाग था जिसमें चौड़ी उथली घाटियाँ और अगणित झीलें थी। अत नाल्जो ने इस क्षेत्र को नवनिर्मित स्थलीय भाग माना है और वह इसका उद्भवकाल मानवकाल के पूर्व नही मानता। देलाने के विचार से भी कुछ विद्वान् सहमत है। इसके अनुसार यह प्राचीन भाग कैलिडोनियन युग का पुनरुत्थित क्षेत्र है जिसमे कैंब्रियन एव साइलूरियन युगों की भंजित चट्टानें मिलती है।

साइबेरिया के पूर्वी मैदानी भाग मे परमियन युग की बैसाल्ट चट्टाने पाई जाती है। प्रस्तुत लावाप्रवाह तथा पुराकल्पोय एव अतरयुगोन चट्टानो का अवसाद (सेडिमेंटेशन) इस प्रदेश के पृष्ठतलीय चट्टानों को ढके हुए है, इस कारण यह प्रदेश स्वजातीय बाल्टिक तथा कनाडियन प्रदेशों से भिन्न प्रतीत होता है। यहाँ अन्य स्वजातीय प्रदेशों के सदृश चारो ओर भंजित (फोल्टेड) श्रेणियाँ फैली हुई है। (नू० कु० सि०)

अंगिरस या अंगिरा वज्रकुलोत्पन्न एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि है जिनका उल्लेख मनु, ययाति, दध्यच्, प्रियमेध, कण्व, अत्रि, भृगु आदि के साथ मिलता है। इनकी गणना सप्तर्षियों तथा दस प्रजापतियो मे भी की जाती है। कालातर मे अंगिरा नाम के एक प्रख्यात ज्योतिर्विद् तथा स्मृतिकार भी हो गए है। नक्षत्रों मे बृहस्पति यही है और देवताओं के पुरोहित भी यही हैं। लगता है, इस नाम के पीछे कई व्यक्तित्व छिपे हुए है। 'अंगिरस' शब्द का निर्माण उसी धातु से हुआ है जिससे 'अग्नि' का और एक मत से इनकी उत्पत्ति भी आग्नेयी (अग्नि की कन्या) के गर्भ से मानी जाती है। मतातर से इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से मानी जाती है। श्रद्धा, शिवा, सुरूपा मारीची एव दक्ष की स्मृति, स्वधा तथा सती नामक कन्याएँ इनकी पत्नियाँ मानी जाती है परंतु ब्रह्मांड एव वायु पुराणों में सुरूपा मारीची, स्वराट् कार्दमी और पथ्या मानवी को अथर्वन् की पत्नियाँ कहा गया है। अथर्ववेद के प्रारंभकर्ता होने के कारण इनको अथर्वा भी कहते है। अथर्ववेद का प्राचीन नाम अथर्वांगिरस है। इनके पुत्रों के नाम हविष्मत्, उतथ्य, बृहस्पति, बृहत्कीर्ति, बृहज्ज्योति, बृहद्ब्रह्मन् बृहन्मत्र, बृहद्भास, मार्कंडेय और संवर्त बताए गए है और भानुमती, रागा (राका), सिनीवाली, अर्चिष्मती (हविष्मती), महिष्मती, महामती तथा एकानेका (कुहू) इनकी सात कन्याओं के भी उल्लेख मिलते है। नीलकंठ के मत से उपर्युक्त बृहत्कीर्त्यादि सब बृहस्पति के विशेषण है। आत्मा, आयु, ऋत्, गविष्ठ, दक्ष, दमन, प्राण, सद, सत्य तथा हविष्मान् इत्यादि को अंगिरस के देवपुत्रों की संज्ञा से अभिहित किया गया है। भागवत के अनुसार रथीतर नामक किसी निस्संतान क्षत्रिय की पत्नी से इन्होंने ब्राह्मणोपम पुत्र उत्पन्न किए थे। याज्ञवल्क्य स्मृति मे अंगिरस्कृत धर्मशास्त्र का भी उल्लेख है। अंगिरा की बनाई 'आंगिरसी श्रुति' का महाभारत मे उल्लेख हुआ है (महा० ८, ६९–८५)। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के ऋषि अंगिरा है।

अंगिरस नाम के एक ऋषि और भी थे जिन्हें घोर आंगिरस कहा जाता है और जो कृष्ण के गुरु भी कहे जाते हैं। (कै० च० श०)

अंगुइला (द्वीपसमूह) ब्रिटिश वेस्ट इंडीज मे है, स्थिति १८° १२' उत्तर अक्षाश तथा ६३° पश्चिम देशांतर। यह द्वीपसमूह वेस्ट इंडीज के छोटे ऐंटलीज ग्रुप में लीवर्ड द्वीपसमूह के अतर्गत और ब्रिटेन के अधिकार में है। ये द्वीप मूँगों की चट्टानों से बने है। इस समूह का सबसे बड़ा द्वीप अंगुइला है। इसका क्षेत्रफल ३५ वर्गमील है। शेष द्वीप बहुत ही छोटे है। अंगुइला द्वीप में न समुद्रतट के मैदान है और न कोई उल्लेखनीय नदी है। कम ढालू तथा चपटे भाग मे खेती होती है जिसमें गन्ना, कपास तथा फल पैदा होते है। समुद्र के किनारे नारियल के बाग हैं। इस द्वीपसमूह का शासनप्रबंध सेंट क्रिस्टोफर प्रेसीडेंसी के अतर्गत होता है। १९६६ की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या ५,३९५ थी।

(ल० कि० सि० चौ०)

अंगुत्तरनिकाय बौद्ध पालित्रिपिटक के अतर्गत सुत्तपिटक का चौथा ग्रंथ है। इसमे ११ निपात है, जैसे एककनिपात, दुककनिपात इत्यादि। एक एक बात के विषय मे उपदेश दिए गए सुत्तो का सग्रह एककनिपात मे, दो दो बातो के विषय मे उपदेश दिए गए सुत्तों का सग्रह दुकनिपात मे, इसी प्रकार ग्यारह ग्यारह बातों के विषय मे उपदेश दिए गए सुत्तो का संग्रह एकादसनिपात मे है।

(भि० ज० का०)

अंगुलि छाप हल चलाए खेत की भाँति मनुष्य के हाथो तथा पैरो के तलवो मे उभरी तथा गहरी महीन रेखाएँ दृष्टिगत होती है। वैसे तो ये रेखाएँ इतनी सूक्ष्म होती है कि सामान्यत इनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, किंतु इनके विशेष अध्ययन ने एक विज्ञान को जन्म दिया है जिसे अंगुलि-छाप-विज्ञान कहते है। इस विज्ञान मे अंगुलियों के ऊपरी पोरों की उक्त रेखाओं का विशेष महत्व है। कुछ सामान्य लक्षणों के आधार पर किए गए विश्लेषण के फलस्वरूप, इनसे बननेवाले आकार चार प्रकार के माने गए है (१) शंख (लूप), (२) चक्र (व्होर्ल), (३) शुक्ति या चाप (आर्च) तथा (४) मिश्रित (कंपाजिट)। इनकी विशेषताएँ नीचे के चित्रों से प्रकट होगी।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि अंगुलि-छाप-विज्ञान का जन्म अत्यत प्राचीन काल मे एशिया मे हुआ। भारतीय सामुद्रिक ने उपर्युक्त शंख, चक्र तथा शुक्तियों का विचार भविष्यगणना मे किया है। दो हजार वर्ष से भी पहले चीन में अंगुलि छापों का प्रयोग व्यक्ति की पहचान के लिये होता था। किंतु आधुनिक अंगुलि-छाप-विज्ञान का जन्म हम १८२३ ई० से मान सकते है, जब ब्रेसला (जर्मनी) विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री पर्किजे ने अंगुलिरेखाओं के स्थायित्व को स्वीकार किया। वर्तमान अंगुलि-छाप-प्रणाली का प्रारंभ १८५८ ई० में इंडियन सिविल सर्विस के सर विलियम हर्शेल ने बगाल के हुगली जिले मे किया। १८९२ ई० में प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक सर फ्रांसिस गाल्टन ने अंगुलि छापों पर अपनी एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने हुगली के सब-रजिस्ट्रार श्री रामगति बंद्योपाध्याय द्वारा दी गई सहायता के लिये कृतज्ञता प्रकट की। उन्होंने उक्त रेखाओं का स्थायित्व सिद्ध करते हुए अंगुलि छापों के वर्गीकरण तथा उनका अभिलेख रखने की एक प्रणाली बनाई जिसमें संदिग्ध व्यक्तियों की ठीक से पहचान हो सके। किंतु यह प्रणाली कुछ कठिन थी। दक्षिण प्रात (बगाल) के पुलिस इस्पेक्टर जनरल सर ई० आर० हेनरी ने उक्त प्रणाली में सुधार करके अंगुलि छापों के वर्गीकरण की सरल प्रणाली निर्धारित की। इसका वास्तविक श्रेय श्री अजीजुल हक, पुलिस सब-इंस्पेक्टर, को है, जिन्हें सरकार ने ५००० रु० का पुरस्कार भी दिया था। इस प्रणाली की अचूकता देखकर भारत सरकार ने १८९७ ई० में अंगुलि छापों द्वारा पूर्वदंडित व्यक्तियों की पहचान के लिये विश्व का प्रथम अंगुलि-छाप-कार्यालय कलकत्ता मे स्थापित किया।

शुक्ति या चाप

शंख

अंगुलि छाप द्वारा पहचान दो सिद्धांतों पर आश्रित है, एक तो यह कि दो भिन्न अंगुलियों की छापें कभी एक सी नहीं हो सकतीं, और दूसरा यह

चक्र मिश्रित
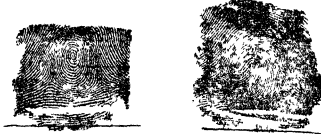
पूर्वोक्त शंख (लूप) का विस्तृत फोटो

रेखाओं का ध्यान से निरीक्षण करने पर उनमें निजी विशेषताएँ रेखांतों (एंडिंग) तथा द्विशाखाओं (बाइफर्केशन) के रूप में दिखाई देती हैं।

कि व्यक्तियों की अंगुलि छापें जीवन भर ही नहीं अपितु जीवनोपरांत भी नहीं बदलतीं। अतः किसी भी विचारणीय अंगुलि छाप का किसी व्यक्ति की अंगुलि छाप से तुलना करके यह निश्चित किया जा सकता है कि विचारणीय अंगुलि छाप उसकी है या नहीं। अंगुलि छाप के अभाव में व्यक्ति की पहचान करना कितना कठिन है, यह प्रसिद्ध भवाल संन्यासी वाद (केस) के अनुशीलन से स्पष्ट हो जायगा।

अंगुलि-छाप-विज्ञान तीन कार्यों के लिये विशेष उपयोगी है, यथा

१. विवादग्रस्त लेखों पर की अंगुलि छापों की तुलना व्यक्तिविशेष की अंगुलि छापों से करके यह निश्चित करना कि विवादग्रस्त अंगुलि छाप उस व्यक्ति की है या नहीं,

२. ठीक नाम और पता न बतानेवाले अभियुक्त की अंगुलि छापों की तुलना दंडित व्यक्तियों की अंगुलि छापों से करके यह निश्चित करना कि वह पूर्वदंडित है अथवा नहीं, और

३. घटनास्थल की विभिन्न वस्तुओं पर अपराधी की अंकित अंगुलि छापों की तुलना संदिग्ध व्यक्ति की अंगुलि छापों से करके यह निश्चित करना कि अपराध किसने किया है।

अनेक अपराधी ऐसे होते हैं जो स्वेच्छा से अपनी अंगुलि छाप नहीं देना चाहते। अतः कैदी पहचान अधिनियम (आइडेंटिफिकेशन ऑव प्रिज़नर्स ऐक्ट, १९२०) द्वारा भारतीय पुलिस को बंदियों की अंगुलियों की छाप लेने का अधिकार दिया गया है। भारत के प्रत्येक राज्य में एक सरकारी अंगुलि-छाप-कार्यालय है जिसमें दंडित व्यक्तियों की अंगुलि छापों के अभिलेख रखे जाते हैं तथा अपेक्षित तुलना के उपरांत आवश्यक सूचना दी जाती है। इलाहाबाद स्थित उत्तर प्रदेश के कार्यालय में ही लगभग तीन लाख ऐसे अभिलेख हैं। १९२६ ई० में कलकत्ता में एक केंद्रीय अंगुलि-छाप-कार्यालय की भी स्थापना की गई है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे विशेषज्ञ हैं जो अंगुलि छापों के विवादग्रस्त मामलों में अपनी सम्मतियाँ देने का व्यवसाय करते हैं।

अंगुलि छापों का प्रयोग पुलिस विभाग तक ही सीमित नहीं है, अपितु अनेक सार्वजनिक कार्यों में यह अचूक पहचान के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। नवजात बच्चों की अदला बदली रोकने के लिये विदेशों के अस्पतालों में प्रारंभ में ही बालकों की पद छाप तथा उनकी माताओं की अंगुलि छाप ले ली जाती है। कोई भी नागरिक समाजसेवा तथा अपनी रक्षा एवं पहचान के लिये अपनी अंगुलि छाप की लिखित रजिस्ट्री कराकर दुर्घटनावश या अन्यथा क्षतविक्षत होने या पागल हो जाने की दशा में अपनी तथा खोए हुए बालकों की पहचान सुनिश्चित कर सकता है। अमरीका में तो यह प्रथा सर्वसाधारण तक में प्रचलित हो रही है। (नि० रा० गु०)

अंगुलि छाप पाउडर फोटोग्राफी द्वारा घटनास्थल पर मिली अंगुलियों की छाप का अध्ययन जिस पाउडर द्वारा किया जाता है उसे अंगुलि छाप पाउडर कहते हैं। इनका प्रयोग फोटोग्राफ में अधिक वैषम्य बढ़ाने के लिये किया जाता है। पाउडर द्वारा अंगुलियों के निशानों को प्रदर्शित करने के लिये पाउडर के रंग का चयन करना बहुत आवश्यक है। पाउडर का चयन बहुत से कारणों पर आधारित है। भूरे रंग की पृष्ठभूमि पर गहरे काले रंग का फोटो तैयार करके अध्ययन करने में सुविधा होती है। पर कहीं कहीं श्वेत पृष्ठभूमि पर काले रंग के निशान का अध्ययन करना सरल होता है। इस दशा में सफेद रंग के पाउडर से धूलन करने के उपरांत फोटो लेकर उसकी स्लाइड तैयार की जाती है। साधारणतया श्वेत पृष्ठभूमि पर काले पाउडर तथा काली पृष्ठभूमि पर सफेद पाउडर का ही प्रयोग किया जाता है। लेकिन यदि किसी वस्तु पर अंगुली का निशान है तब रंग चयन में असुविधा होती है। जैसे अंगुली का निशान सफेद तथा लाल रंग की पृष्ठभूमि पर पड़ा है तो वैषम्य बढ़ाने के लिये नारंगी रंग के पाउडर का प्रयोग करना अच्छा होता है।

प्रत्येक रंग के पाउडर की अपनी विशेषता होती है जो स्थान स्थान पर, वस्तु वस्तु पर निर्भर करती है। नीचे कुछ पाउडर सूत्र दिए गए हैं जिनका भिन्न भिन्न दशाओं में प्रयोग करके अंगुलियों की छाप का अध्ययन किया जाता है

(१)	लैंप ब्लैक	५० भाग
	ग्रैफाइट	२० भाग
	अरबिया चूर्ण	१० भाग
(२)	चारकोल	७४ भाग
	ऐल्यूमीनियम	२४ भाग
	ड्रैगन रक्त	२ भाग
(३)	लेड आक्साइड (भूरा)	६० भाग
	चारकोल	३८ भाग
	फुलर मिट्टी	१ भाग
	ऐल्यूमीनियम	१ भाग
(४)	ऐल्यूमीनियम	७५ भाग
	चारकोल	२० भाग
	ड्रैगन रक्त	५ भाग
(५)	लिकोपोडियम	९० भाग
	साउडन रेड	१० भाग
(६)	काला मैंगनीज डाइऑक्साइड	८५% भार
	ग्रैफाइट (चूर्ण)	१४·७५% भार
	ऐल्यूमीनियम लाइनिंग पाउडर	०·२५% भार
(७)	प्रतिदीप्त—ऐंथ्रासीन, बारीक पिसा चूर्ण।	

बहुरंगी सतहों पर की अंगुलि छाप के फोटो साधारण पाउडर से तैयार नहीं होते। ऐसी स्थिति में एंथ्रासीन पाउडर से उस छाप का धूलीकरण किया जाता है और अँधेरे में पराबैंगनी प्रकाश में पाउडर के प्रतिदीप्त गुणों के कारण फोटो लिए जा सकते हैं। (नि० सि०)

अंगुलिमाल बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार एक सहस्र मनुष्यों को मारकर अपना व्रत पूरा करनेवाला वह ब्राह्मणपुत्र दस्यु था जिसका उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक में आता है। वह जिसे मारता उसकी अँगुली काटकर माला में पिरो लेता था, इसीलिये उसका नाम अंगुलिमाल पड़ा। उसका पूर्वनाम 'अहिंसक' था। बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश दिया जिससे उसे धर्मचक्षु प्राप्त हो गया। उसने बुद्ध से भिक्षु की दीक्षा ग्रहण की। वह क्षीणास्रव अर्हता से युक्त हुआ ऐसा बौद्ध विश्वास है। (भि० ज० का०)

अंगूर (अंग्रेजी नाम ग्रेप, वानस्पतिक नाम वाइटिस विनीफेरा, प्रजाति वाइटिस, जाति विनिफेरा, कुल वाइटेसी) एक लता का फल है। इस कुल में लगभग ४० जातियाँ हैं जो उत्तरी समशीतोष्ण कटिबंध में पाई जाती हैं। अंगूर का परंपरागत इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य का। बाइबिल से ज्ञात होता है कि नोआ ने अंगूर का उद्यान लगाया था। होमर के समय में अंगूरी मदिरा यूनानियों के दैनिक प्रयोग की वस्तु थी। इसका उत्पत्तिस्थान कॉकेशिया तथा कैस्पियन सागरीय क्षेत्र से लेकर पश्चिमी भारतवर्ष तक था। यहाँ से एशिया माइनर, यूनान तथा सिसिली की ओर इसका प्रसार हुआ। ई० पू० ६०० में यह फ्रांस पहुँचा।

अंगूर बहुत स्वादिष्ट फल है। इसे लोग बहुधा ताजा ही खाते हैं। सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। रोगियों के लिये ताजा फल अत्यंत लाभदायक है। किशमिश तथा मुनक्के

अंगूर

का प्रयोग अनेक प्रकार के पकवान, जैसे खीर, हलवा, चटनी इत्यादि, तथा ओषधियों में भी होता है। अंगूर में चीनी की मात्रा लगभग २२ प्रतिशत होती है। इसमें विटामिन बहुत कम होता है, परंतु लोहा आदि खनिज पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। भारतवर्ष में इसकी खेती नहीं के बराबर है। यहाँ इसकी सबसे उत्तम खेती बंबई राज्य में होती है। अंगूर उपजानेवाले मुख्य देश फ्रांस, इटली, स्पेन, संयुक्त राज्य अमरीका, तुर्की, ग्रीस ईरान तथा अफगानिस्तान हैं। संसार में अंगूर की जितनी उपज होती है उसका ८० प्रतिशत मदिरा बनाने में प्रयोग किया जाता है।

अंगूर प्रधानतः समशीतोष्ण कटिबंध का पौधा है, परंतु उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में भी इसकी सफल खेती की जाती है। इसके लिये अधिक दिनों तक मध्यम से लेकर उच्च ताप तक का ताप और शुष्क जलवायु अत्यन्त आवश्यक है। ग्रीष्म ऋतु गरम तथा शीतकाल पर्याप्त ठंढा होना चाहिए। फूलने तथा फल पकने के समय वायुमंडल शुष्क तथा गरम रहना चाहिए। इस बीच वर्षा होने से हानि होती है। बलूचिस्तान में ग्रीष्म ऋतु में ताप ११०° से ११५° फा० तक पहुँचता है, जो अंगूर के लिये लाभप्रद सिद्ध हुआ है। बंबई में अंगूर जाड़े में होता है। दोनों स्थानों में भिन्न भिन्न जलवायु होते हुए भी फल के समय ऋतु गरम तथा शुष्क रहती है। यही कारण है कि अंगूर की खेती दोनों स्थानों में सफल हुई है, यद्यपि जलवायु में बहुत भिन्नता है। बलूचिस्तान में पाले से अंगूर की लता को कोई हानि नहीं होती, परंतु जब फल लगनेवाली डालें बढ़ने लगती हैं उस समय पाला पड़ने से हानि होती है। पौधे के इन जलवायु संबंधी गुणों में अंगूर की किस्मों के अनुसार स्वल्प परिवर्तन हो जाता है। अंगूर की सफल खेती के लिये वह मिट्टी आवश्यक है जिसमें जल निकास (ड्रेनेज) का पूर्ण प्रबंध हो। रेतीली दुमट इसके लिये सबसे उत्तम मिट्टी है।

अंगूर की अनेक किस्में हैं। विभिन्न देशों में सब मिलाकर लगभग [illegible] किस्में होंगी। व्यावसायिक अभिप्राय के अनुसार इन सबका वर्गीकरण किया गया है। इस आधार पर इन्हें चार भागों में विभाजित करते हैं। (१) सुरा अंगूर — इसमें मध्यम मात्रा में चीनी तथा अधिक अम्ल होता है। इस वर्ग के अंगूर मदिरा बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं। (२) भोज्य अंगूर — इसमें चीनी की मात्रा अधिक तथा अम्ल कम होते हैं। इस भाग के अंगूरों के पके फल खाए जाते हैं, इसलिये इनका रंग, रूप तथा आकार चित्ताकर्षक होना आवश्यक है। यदि फल बीजरहित (बेदाना) हो तो और उत्तम है। (३) शुष्क अंगूर — इनमें चीनी की मात्रा अधिक तथा अम्ल कम होता है। इनका बीजरहित होना विशेष गुण है। इन्हें सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का बनाते हैं। (४) सरस अंगूर — इनमें मध्यम चीनी, अधिक अम्ल तथा सुगंध होती है। इनसे पेय पदार्थ बनाए जाते हैं। भारतवर्ष में कृषि योग्य किस्में अधोलिखित हैं : 'भोकरी' [illegible] तथा [illegible] मद्रास में, 'बंगलोर ब्लू' तथा 'औरंगाबाद' [illegible] में और 'सहारनपुर नंबर १' या 'बेदाना', 'सहारनपुर नंबर २', [illegible] 'राज ऑव पेन' इत्यादि जो सहारनपुर सरकारी उद्यान में उगाई जाती हैं।

अंगूर से तैयार होनेवाली वस्तुएँ ये हैं : किशमिश, मुनक्का, सुरक्षित रस, मदिरा, सिरका तथा जेली। प्रथम दोनों वस्तुओं की माँग भारतवर्ष में अधिक है। पके फल अधिक समय तक साधारण ताप पर नहीं रखे जा सकते, परंतु ३२° फा० ताप पर शीत भंडागार (कोल्ड स्टोरेज) में अधिक समय तक ताजा रखे जा सकते हैं।

सं० ग्रं० — पी० विआला एंड वी० वर्मोरे : त्रेते जनराल द विटिकुल्तूर आम्पेलोग्राफी (१९०९), कार्ल स्नाइडर : वाइनबाउ-लेक्सिकन (१९३०)।
(ज० रा० सि०)

रासायनिक विश्लेषण — रासायनिक विश्लेषण के अनुसार अंगूर में ०.८% प्रोटीन, ०.१% वसा, १०.२% कार्बोहाइड्रेट, ०.०२% कैल्सियम, ०.०२% फॉस्फोरस, १.३ से १.५ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्राम लोहा होता है। इनके अतिरिक्त इसमें अनेक विटामिन भी होते हैं जिनकी मात्रा प्रति १०० ग्राम अंगूर में इस प्रकार होती है — विटामिन ए, १५ यूनिट, विटामिन सी, १० मि० ग्रा०। अंगूर की प्रति १०० ग्राम मात्रा के सेवन से ४५ कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न होती है। अंगूर में यौगिक टार्टरिक तथा रेसीमिक अम्ल होते हैं। अंगूर में ग्लूकोज शर्करा पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होती है। विभिन्न किस्मों के अंगूरों में शर्करा की मात्रा ११ से २२ प्रतिशत तक पाई

जाती है तथा किन्हीं खास जातियों के अंगूरों में तो यह पचास प्रतिशत तक पाई जाती है। अंगूर में जल तथा पोटैशियम लवण को समुचित मात्रा होती है। एल्ब्युमिन तथा सोडियम क्लोराइड भी अल्प मात्रा में होता है।

गुण—भारतीय चिकित्सा शास्त्र के प्राचीन आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार अंगूर का रस आँतों तथा गुर्दों की कार्यक्षमता बढ़ाता है। इसलिये कोष्ठबद्धता एवं मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है। सुश्रुत संहिता में इसे बहुत पुष्टिकर माना गया है तथा क्षय रोग का निवारण करनेवाला बताया गया है। अतिसार के रोगियों के लिये भी यह बहुत लाभदायक है। अंगूर के अधिकांश विटामिन और खनिज लवण इसके ऊपरी छिलके में होते हैं अत: इसके छिलके समेत सेवन से आँतों को बल एवं सक्रियता प्राप्त होती है। यह कब्ज को दूर करने में सहायक होता है। रक्तनिर्माण में अंगूर का रस महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कुछ वर्ष पहले शिकागो के तीन डाक्टरों ने बताया कि दस औंस अंगूर के रस का सेवन किया जाय तो इससे रक्ताल्पता (एनीमिया) रोग कुछ दिनों में दूर हो जाता है। अंगूर के सेवन से चेहरे पर लालिमा, कांति और ओज आ जाता है। अंगूर की शर्करा (ग्लूकोज) पचापचाया भोजन है इसलिये इसके सेवन के थोड़ी ही देर बाद शरीर को शक्ति, स्फूर्ति मिल जाती है। (नि० सिं०)

अंगोला पश्चिमी अफ्रीका के उस भाग में स्थित कुछ प्रदेशों को कहते हैं जो भूमध्यरेखा के दक्षिण में है और पहले पुर्तगाल के अधीन थे। स्थिति ६° ३०' द० अ० से १७° द० अ०, ११° ३०' पू० दे० से २३° पू० दे०, क्षेत्रफल ४,८१,३५१ वर्गमील, जनसंख्या लगभग ५० लाख है जिनमें लगभग ३ लाख गोरे हैं। सीमा उत्तर में बेल्जियम कांगो, पश्चिम में दक्षिणी अंधमहासागर, दक्षिण में दक्षिणी अफ्रीका संघ तथा पूर्व में रोडेशिया। अंगोला पहले पुर्तगाल के अधीन था, पर अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में है। अंगोला का अधिकांश भाग पठारी है, जिसकी सागरतल से औसत ऊँचाई ५,००० फुट है। यहाँ केवल सागरतट पर ही मैदान हैं। इनकी चौड़ाई ३० से लेकर १०० मील तक है। यहाँ की मुख्य नदी कोयंजा है। पठारी भाग की जलवायु शीतोष्ण है। सितंबर से लेकर अप्रैल तक के बीच ५० इंच से ६० इंच तक वर्षा होती है। उष्णकटिबंधीय वनस्पतियाँ यहाँ अपने पूर्ण वैभव में उत्पन्न होती हैं जिनमें से मुख्य नारियल, केला और अनेक अंतर-उष्ण-कटिबंधीय लताएँ हैं। उष्णकटिबंधीय पशुओं के साथ साथ यहाँ पर आयात किए हुए घोड़े, भेड़ें तथा गाएँ भी पर्याप्त संख्या में हैं। हीरा, कोयला, ताँबा, सोना, चाँदी, गंधक आदि खनिज यहाँ मिलते हैं। मुख्य कृषीय उपज चीनी, कहवा, सन, मक्का, चावल तथा नारियल है। मांस, तंबाकू, लकड़ी तथा मछली संबंधी उद्योग यहाँ उन्नति पर है। चूना, कागज तथा रबर संबंधी उद्योगों का भविष्य उज्वल है। इस उपनिवेश में सन् १९६६ ई० तक ३१५६ कि० मी० लंबे रेलमार्गों तथा ७२२६१ कि० मी० लंबी सड़कों का निर्माण हो चुका था। २० अक्टूबर, १९५४ को इसे १३ जनपदों में बाँट दिया गया था।

यहाँ के निवासियों में से अधिकतर बंतू नीग्रो जाति के हैं जो कांगो जनपद में शुद्ध नीग्रो लोगों से सम्मिश्रित हैं। (शि० मं० सिं०)

अंकोरथोम, अंकोरवात प्राचीन कंबुज की राजधानी और उसके मंदिरों के भग्नावशेष का विस्तार। अंकोरथोम और अंकोरवात सुदूर पूर्व के हिंदचीन में प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशेष हैं। ईसवी सदियों के पहले से ही सुदूर पूर्व के देशों में प्रवासी भारतीयों के अनेक उपनिवेश बस चले थे। हिंदचीन, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप, मलाया आदि में भारतीयों ने कालांतर में अनेक राज्यों की स्थापना की। वर्तमान कंबोडिया के उत्तरी भाग में स्थित कंबुज राज्य ऐसा ही उपनिवेश था जिसको संभवत: पूर्व सागरवर्ती प्रवासी भारतीयों ने बसाया था। परंतु जैसा 'कंबुज' शब्द से व्यक्त होता है, कुछ विद्वान् भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर बसनेवाले कंबोजों का संबंध भी इस प्राचीन भारतीय उपनिवेश से बताते हैं। अनुश्रुति के अनुसार इस राज्य का संस्थापक कौंडिन्य ब्राह्मण था जिसका नाम वहाँ के एक संस्कृत अभिलेख में मिला है। नवीं शताब्दी ईसवी में जयवर्मा तृतीय कंबुज का राजा हुआ और उसी ने लगभग ८६० ईसवी में अंकोरथोम (थोम का अर्थ राजधानी है) नामक अपनी राजधानी की नींव डाली। राजधानी प्राय: ४० वर्षों तक बनती रही और ९०० ई० के लगभग तैयार हुई। उसके निर्माण के संबंध में कंबुज के साहित्य में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं।

पश्चिम के समीपवर्ती थाई लोग पहले कंबुज के ख्मेर साम्राज्य के अधीन थे परंतु १४वीं सदी के मध्य उन्होंने कंबुज पर आक्रमण करना आरंभ किया और अंकोरथोम को बारबार जीता और लूटा। तब लाचार होकर ख्मेरों को अपनी वह राजधानी छोड़ देनी पड़ी। फिर धीरे धीरे बाँस के वनों की बाढ़ ने नगर को मध्य जगत् से सर्वथा पृथक् कर दिया और उसकी सत्ता अंधकार में विलीन हो गई। नगर भी अधिकतर टूटकर खंडहर हो गया। १९वीं सदी के अंत में एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने पाँच दिनों की नौकायात्रा के बाद उस नगर और उसके खंडहरों का पुनरुद्धार किया। नगर तोन्ले साप नामक महान् सरोवर के किनारे उत्तर की ओर सदियों से सोया पड़ा था जहाँ पास ही, दूसरे तट पर, विशाल मंदिरों के भग्नावशेष खड़े थे।

आज का अंकोरथोम एक विशाल नगर का खंडहर है। उसके चारों ओर ३३० फुट चौड़ी खाईं है जो सदा जल से भरी रहती थी। नगर और खाईं के बीच एक विशाल वर्गाकार प्राचीर नगर की रक्षा करती है। प्राचीर में अनेक भव्य और विशाल महाद्वार बने हैं। महाद्वारों के ऊँचे शिखरों को त्रिशीर्ष दिग्गज अपने मस्तक पर उठाए खड़े हैं। विभिन्न द्वारों से पाँच विभिन्न राजपथ नगर के मध्य तक पहुँचते हैं। विभिन्न आकृतियोंवाले सरोवरों के खंडहर आज अपनी जीर्णावस्था में भी निर्माणकर्ता की प्रशस्ति गाते हैं। नगर के ठीक बीचोंबीच शिव का एक विशाल मंदिर है जिसके तीन भाग हैं। प्रत्येक भाग में एक ऊँचा शिखर है। मध्य शिखर की ऊँचाई लगभग १५० फुट है। इन ऊँचे शिखरों के चारों ओर अनेक छोटे छोटे शिखर बने हैं जो संख्या में लगभग ५० हैं। इन शिखरों के चारों ओर समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मंदिर की विशालता और निर्माणकला आश्चर्यजनक है। उसकी दीवारों को पशु, पक्षी, पुष्प एवं नृत्यांगनाओं जैसी विभिन्न आकृतियों से अलंकृत किया गया है। यह मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से विश्व का एक आश्चर्यजनक वस्तु है और भारत के प्राचीन पौराणिक मंदिरों के अवशेषों में तो एकाकी है। अंकोरथोम के मंदिर और भवन, उसके प्राचीन राजपथ और सरोवर सभी उस नगर की समृद्धि के सूचक हैं।

१२वीं शताब्दी के लगभग सूर्यवर्मा द्वितीय ने अंकोरवात में विष्णु का एक विशाल मंदिर बनवाया। इस मंदिर की रक्षा भी एक चतुर्दिक् खाई करती है जिसकी चौड़ाई लगभग ७०० फुट है। दूर से यह खाई झील के समान दृष्टिगोचर होती है। मंदिर के पश्चिम की ओर इस खाई को पार करने के लिये एक पुल बना हुआ है। पुल के पार मंदिर में प्रवेश के लिये एक विशाल द्वार निर्मित है जो लगभग १,००० फुट चौड़ा है। मंदिर बहुत विशाल है। इसकी दीवारों पर समस्त रामायण मूर्तियों में अंकित है। इस मंदिर को देखने से ज्ञात होता है कि विदेशों में जाकर भी प्रवासी कलाकारों ने भारतीय कला को जीवित रखा था। इनसे प्रकट है कि अंकोरथोम जिस कंबुज देश की राजधानी था उसमें विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इन मंदिरों के निर्माण में जिस कला का अनुकरण हुआ है वह भारतीय गुप्त कला से प्रभावित जान पड़ती है। अंकोरवात के मंदिरों, तोरणद्वारों और शिखरों के अलंकरण में गुप्त कला प्रतिबिंबित है। इनमें भारतीय सांस्कृतिक परंपरा जीवित रखी गई थी। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यशोधरपुर (अंकोरथोम का पूर्वनाम) का संस्थापक नरेश यशोवर्मा 'अर्जुन और भीम जैसा वीर, सुश्रुत जैसा विद्वान् तथा शिल्प, भाषा, लिपि एवं नृत्यकला में पारंगत था।' उसने अंकोरथोम और अंकोरवात के अतिरिक्त कंबुज के अनेक अन्य स्थानों में भी आश्रम स्थापित किए जहाँ रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य भारतीय ग्रंथों का अध्ययन अध्यापन होता था। अंकोरवात के हिंदू मंदिरों पर बाद में बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा और कालांतर में उनमें बौद्ध भिक्षुओं ने निवास भी किया।

अंकोरथोम और अंकोरवात में २०वीं सदी के आरंभ में जो पुरातात्विक खुदाइयाँ हुई हैं उनसे ख्मेरों के धार्मिक विश्वासों, कलाकृतियों और

भारतीय परंपराओं की प्रवासगत परिस्थितियों पर बहुत प्रकाश पड़ा है। कला की दृष्टि से अंगकोरथोम और अंगकोरवात अपने महलों और भवनों तथा मंदिरों और देवालयों के खंडहरों के कारण संसार के उस दिशा के शीर्षस्थ क्षेत्र बन गए हैं। जगत् के विविध भागों से हजारों पर्यटक उस प्राचीन हिंदू-बौद्ध-केंद्र के दर्शनों के लिये वहाँ प्रति वर्ष जाते हैं।

सं० ग्रं०—ई० अमोन्ये : ल कंबोज, ए० एच० मुहोन : ट्रैवेल्स इन इंडोचाइना। (प० उ०)

अंग्रेज इंग्लैंड अथवा ब्रिटेन में बसनेवाली जाति साधारणतः अंग्रेज कहलाती है। जातिशास्त्रीय दृष्टि से इंग्लैंड की वर्तमान जनसंख्या में पर्याप्त विभिन्नता मिलती है। इस जनसंख्या की संरचना एक दूसरे से पृथक् दूरस्थ क्षेत्रों से आए प्रजातीय तत्वों के मिश्रण से हुई है। किंतु इनमें नार्डिक (उत्तरीय जाति) तत्व की प्रधानता है। इंग्लैंड की जनता के प्रमुख शारीरिक लक्षणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं :

उनके रंगारण प्रधानतः हल्के और मिश्रित हैं। उनकी त्वचा गौरवर्ण है और वाहिनीयुक्त (वास्क्यूलर) होने के कारण प्रकाश और वायु के प्रभाव से शीघ्र रक्तिम हो जाती है। बालों का रंग हल्का भूरा है और आँखें नीली या हल्की भूरी हैं। औसत कद १७२ सें० मी० के लगभग है। जनसंख्या में दीर्घकपाल अधिक हैं और इस लक्षण में अंग्रेजों की तुलना केवल स्कैंडिनेविया के निवासियों से की जा सकती है। इनकी औसत कापालिक देशना (सेफैलिक इंडेक्स) ७७ और ७९ के बीच है जिसकी निम्न और उच्च सीमाएँ क्रमशः ६६ और ८१ हैं। मुख की चौड़ाई सामान्य कही जायगी, यद्यपि लंबाई औसत यूरोपीय चेहरे से अधिक है। ललाट और जबड़े का व्यास अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण मुखाकृति समांतरभुजीय प्रतीत होती है। सब मिलाकर चेहरे का नक्शा नार्डिक ही कहा जायगा।

ब्रिटिश द्वीपसमूह का प्रजातीय इतिहास उतना सरल नहीं है जितना साधारणतः समझा जाता है। जनसंख्या की संरचना में श्वेत प्रजाति की प्रायः सभी शाखाओं का योगदान हुआ है। इनमें पुरापाषाणकालीन मानव के एक या अधिक अपरिवर्तित प्रकार, पिंगल भूमध्यसागरीय (ब्रूनेट) प्रजाति के दो प्रकार, लौहयुगीन नार्डिक प्रजाति के दो प्रमुख प्रकार, आद्रियानिक (दिनारिक) अथवा अर्मनी पृथुकपाल (ब्रैकीसेफल) प्रकार तथा प्रागैतिहासिक बीकर (बीकर-प्ररूप मिट्टी के बर्तनों के निर्माता) प्रजातीय प्रकार मुख्य हैं। वर्तमान ब्रिटिश जनसंख्या की शारीरिक संरचना पर अन्य आक्रमणकारियों की अपेक्षा नार्डिक जाति के उन केल्टों का प्रभाव अधिक है जो लौहयुग में बड़ी संख्या में इंग्लैंड में आकर बस गए थे। ब्रिटेन पर रोमन आधिपत्य के कारण वहाँ की प्रजातीय संरचना पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अनुवर्ती ऐंग्ल या सैक्सन, जूट, डेन और नार्वेई आक्रमणकारी मिश्रित जाति के थे, यद्यपि इन सभी में नार्डिक प्रजातीय स्कंध का प्राधान्य था। नार्मन विजय के कारण इंग्लैंड की जनसंख्या में स्कैंडिनेवियाई अभिजात तत्वों का सम्मिश्रण हुआ। फ्लेमिंग, वालून, जर्मन, ह्यूगनो (Huguenot), यहूदी आदि छोटे समूहों के अभियानों का प्रभाव ब्रिटिश जनसंख्या के शारीरिक लक्षणों की अपेक्षा मुख्यतः इस द्वीपसमूह की संस्कृति पर अधिक स्पष्ट हुआ है। (धी० ना० म०)

अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी का इतिहास एक ऐसी भाषा का इतिहास है जिसका आदि अकिंचन है, पर जो विकसित होते होते संसार की किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा विश्वभाषा बन जाने के समीप आ पहुँची है। भारत यूरोपीय (इंडो-यूरोपियन) भाषा-परिवार की जर्मन शाखा की बोलियों के एक समूह के रूप में इसका जन्म हुआ। आधुनिक डच तथा फ्रीजियाई भाषाओं के अनेक रूपों से इसका घनिष्ट संबंध था। डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन में बोली जानेवाली भाषाओं के प्रारंभिक रूप इसके निकट के नातेदार थे और आधुनिक जर्मन के पूर्वरूप से भी इसका दूर का संबंध था। ऐंग्ल, सैक्सन तथा जूट नामक जर्मन कबीलों के आक्रमण के साथ यह भाषा ईसा की पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में ब्रिटेन पहुँची। इन कबीलों ने ब्रिटेन के आदिवासियों को भगा दिया या गुलाम बना लिया, और वे स्वयं देश में बस गए। मूल ब्रिटेनवासियों की केल्टी बोली को हटाकर विजेताओं की इंग्लिश भाषा स्थानापन्न हुई और उसी के नाम से देश का नाम भी बदलकर इंग्लैंड पड़ गया।

विजेताओं की तीन प्रमुख बोलियों में से पश्चिमी सैक्सन नामक बोली की कालांतर में प्रधानता हो गई। उस युग की अंग्रेजी को हम आज प्राचीन अंग्रेजी (ओल्ड इंग्लिश) अथवा ऐंग्लो-सैक्सन कहते हैं। प्राचीन अंग्रेजी की सभी बोलियाँ आज की अंग्रेजी से दो तीन महत्वपूर्ण बातों में भिन्न थीं। आधुनिक अंग्रेजी की अपेक्षा प्राचीन अंग्रेजी का व्याकरण संबंधी गठन कहीं अधिक जटिल था। संज्ञा के अनेक रूप बनते थे और कारक भी अनेक होते थे जिनका एक दूसरे से भेद विविध संयोगात्मक रूपों से जाना जाता था। निस्संदेह यह संस्कृत भाषा के रूपविधान की भाँति जटिल नहीं था, फिर भी पर्याप्त क्लिष्ट था। इसके विपरीत आधुनिक अंग्रेजी में रूपात्मक जटिलता बहुत कम पाई जाती है और उसका गठन फारसी की सरलता के समीप है।

प्राचीन और अर्वाचीन अंग्रेजी के रूपों में एक और अंतर है जो भारत यूरोपीय परिवार की भाषाओं में समानतः प्रतिबिंबित है। भारत यूरोपीय परिवार की अनेक भाषाओं में आज भी आधुनिक अंग्रेजी के प्राकृतिक लिंगभेद के विपरीत व्याकरणीय लिंगभेद वर्तमान हैं। यह व्याकरणीय लिंगभेद प्राचीन अंग्रेजी में भी विद्यमान था। उदाहरणार्थ प्राचीन अंग्रेजी में लिंग का निर्धारण पुरुषवाचक या स्त्रीवाचक शब्द के आधार पर नहीं किया जाता था, जैसा आज की अंग्रेजी में किया जाता है, बल्कि शब्द के रूप अथवा रूपात्मक प्रत्यय के आधार पर होता था, जैसे आधुनिक अंग्रेजी शब्द 'वाइफ' (पत्नी) का प्राचीन अंग्रेजी रूप 'विफ' (wif) नपुंसकलिंग था, जब कि इसी शब्द का पूर्ण रूप 'विफमन' (wifman), जिसका आधुनिक अंग्रेजी रूप 'वुमन' (स्त्री) है, पुल्लिंग माना जाता था। इसी प्रकार 'मोना' (mona), आधुनिक 'मून' (चंद्रमा), पुल्लिंग था, लेकिन 'सन्न' (sunne), आधुनिक 'सन' (सूर्य), स्त्रीलिंग था।

प्राचीन अंग्रेजी और उसकी वंशज आधुनिक अंग्रेजी में तीसरा भेद शब्दावली की प्रकृति का है। प्राचीन अंग्रेजी का शब्दभांडार अपेक्षाकृत अमिश्रित था, जब कि आधुनिक का अतिमिश्रित है। यह सच है कि प्राचीन अंग्रेजी में जर्मन शब्दों के अतिरिक्त अन्य उद्गमों के भी कुछ शब्द थे। उदाहरणार्थ ऐंग्लो-सैक्सन जातियों के पूर्वजों ने अपने यूरोपीय निवासकाल में कतिपय लातीनी शब्द ले लिए थे। तदुपरांत ब्रिटेन में बसने पर कुछ और लातीनी शब्द अपना लिए गए थे, क्योंकि चार शताब्दियों तक ब्रिटेन रोमन साम्राज्य के अधीन रह चुका था। ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के बाद तो लातीनी शब्दों की संख्या और भी अधिक बढ़ गई। आदिवासी ब्रिटेनों की बोली के भी लगभग एक दर्जन केल्टी शब्द प्राचीन अंग्रेजी में प्रविष्ट हो गए थे। आठवीं शताब्दी के बाद से ब्रिटेन में स्कैंडिनेवियाइयों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि होती रहने के कारण प्राचीन अंग्रेजी के इतिहास के उत्तरार्ध में डेनी तथा नार्वेई भाषाओं के शब्द भी आ मिले थे।

आठवीं शताब्दी के बाद से अंग्रेजों के ही भाई बंधु डेनमार्क तथा नार्वे के निवासियों ने उनकी मातृभूमि इंग्लैंड पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया और अंत में सन् १०१७ से १०४२ ई० तक उन्होंने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया। फिर भी प्राचीन अंग्रेजी के संपूर्ण शब्दकोश में सब मिलाकर भी विशेष योग इन ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नहीं हुआ, क्योंकि आज के जर्मनों की भाँति ऐंग्लो-सैक्सन भी अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने के प्रतिकूल थे, और अपने आज के वंशजों की अपेक्षा वे कहीं अधिक अपनी भाषा के मूल स्रोतों पर निर्भर रहते थे। जब कभी कोई नवीन विचार अथवा अभिनव अनुभव अभिव्यक्ति की अपेक्षा करता था, तब वे विदेशी शब्द उधार लेने के स्थान पर अधिकतर अपनी ही मूल भाषा की सामग्री के आधार पर शब्द गढ़ लेते थे। इसके विपरीत आधुनिक अंग्रेजी अपने शब्दकोश में विदेशी शब्दों का स्वागत करती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इसके फलस्वरूप आज अंग्रेजी के शब्दकोश

मे प्रति चार शब्दो मे लगभग तीन शब्द विदेशी उद्गम के हैं। गणना करने से विदित हुआ है कि आज की अंग्रेजी मे लगभग १५ प्रतिशत शब्द ही प्राचीन अंग्रेजी के रह गए है।

जिस प्राचीन अंग्रेजी की चर्चा हम करते आए है, उसका काल लगभग सन् ४५० से ११०० ई० तक रहा, क्योकि १०६६ मे इग्लैंड मे नार्मन विजयी हुए। इसके फलस्वरूप भाषा के गठन और शब्दभाडार दोनो मे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विलक्षण परिवर्तन हुए। इस भाषा के इतिहास ने अब एक नए युग मे प्रवेश किया। यह स्थिति प्राय १५०० ई० तक रही। सुविधानुसार इसे मध्य अंग्रेजी (मिडिल इग्लिश) काल कहा जाता है। इसी काल मे भाषा मे वे विशेषताएँ विकसित हुई जिनसे अब वह प्राचीन अंग्रेजी से स्पष्ट रूप से भिन्न हो गई।

नार्मन विजय के फलस्वरूप इग्लैंड पर फ्रास के राजनीतिक, सास्कृतिक तथा भाषा सबधी प्रभुत्व के एक सुदीर्घ युग का सूत्रपात हुआ। इग्लिश चैनल पार के विदेशियो द्वारा इग्लैंड के राजदरबार, गिरजाघर, स्कूल, न्यायालय आदि सभी दीर्घ काल तक शासित रहे। इस विजय का भाषा सबधी तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी सैक्सन को हटाकर फ्रेंच ही शासन और सभ्यता की भाषा बन बैठी। पराजित तथा तिरस्कृत ऐंग्लो-सैक्सन जाति की मातृभाषा अपनी समस्त बोलियो के साथ इस प्रकार अपदस्थ होकर जनसाधारण की 'वर्नाक्युलर' मानी जाने लगी। बहुत समय तक इसका उपयोग न तो फ्रासीसी शासको ने किया और न उनके घनिष्ठ सपर्क मे रहनेवाले इग्लैंड निवासियो ने। शासक और शासकीय वर्ग केवल फ्रेंच बोलते थे, फ्रेंच लिखते थे, अथवा इसके उस रूप का प्रयोग करते थे जिसे ऐंग्लो-फ्रेंच अथवा ऐंग्लो-नार्मन कहते है। पराजित होने के कारण अंग्रेजी मे लिखना पूर्ण रूप से बद नही हुआ, किंतु यह अकिचन स्वदेशवासियो तक ही सीमित रहा। उनके पाठक भी लेखको के समान ही अकिचन थे। इसके अतिरिक्त यह लिखना प्रधानतया पश्चिमी सैक्सन मे नही होता था, बल्कि प्रत्येक लेखक अपने अपने क्षेत्र की बोली मे लिखता था।

किंतु शासकीय अल्पवर्ग की भाषा पर शासित बहुसंख्यक लोगो की स्वदेशी भाषा की विजय देर सबेर अवश्यभावी थी। १३वी शताब्दी के प्रारभ (१२०६) मे इग्लैंड के फ्रासीसी प्रभु नार्मडी हार गए, और सन् १२४४ ई० मे फ्रासीसियो की इग्लैंड स्थित कुल जागीर और सपत्ति जब्त कर ली गई। इन राजनीतिक घटनाओ के फलस्वरूप देश के स्वदेशी एव विदेशी दोनो ही वर्ग मिलकर एक हो गए। शीघ्र ही वह समय आ गया जब अंग्रेजी न बोल सकनेवाले हीन और घृणित समझे जाने लगे। यह सही है कि बहुत समय तक फ्रेंच न जाननेवाले को गँवार समझा जाता रहा और फ्रेंच ही संस्कृति की भाषा बनी रही। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि १४वी शताब्दी के मध्य तक यह स्थिति आ पहुँची कि अनेक सामत भी फ्रेंच नही जानते थे, किंतु अंग्रेजी सभी जानते थे। लहर धीरे धीरे पलट रही थी। इस शताब्दी के अत तक, अंग्रेजी फिर से विद्यालयो मे अधिकाश शिक्षा का माध्यम बन गई और सभ्रात कुलो के बच्चो ने भी फ्रेंच पढना छोड दिया। जब यह सब हो रहा था उसी समय एक महान् प्रतिभा ने अंग्रेजी मे साहित्य-सृजन आरभ किया जिसका प्रभाव उसके समकालीन लेखको पर ही नही बल्कि भावी साहित्यकारो पर भी एक शताब्दी तक रहा। इस महान् लेखक का नाम ज्योफे चॉसर था, जो 'कैंटरबरी टेल्स' के अमर कवि के रूप मे सुविख्यात हुआ। यह अमर काव्य अंग्रेजी की पूर्वी मध्यदेशी बोली मे लिखा गया जिससे सहज ही इस बोली और अंग्रेजी को अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ और इसकी प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई।

जिस पूर्वी मध्यदेशी (मिडलैंड) बोली मे चॉसर ने अपने काव्य की सृष्टि की, वही लदन, आक्सफर्ड और कैंब्रिज मे भी बोली जाती थी। आक्सफर्ड और कैंब्रिज मे ही उस समय इग्लैंड के मात्र दो विश्वविद्यालय थे। अत कालातर मे यही बोली साहित्यिक अभिव्यक्ति की मान्य भाषा हुई। यह सत्य है कि अगली कई शताब्दियो तक अंग्रेज जनसाधारण अपनी-अपनी स्थानीय बोलियाँ बोलते रहे, और वे इसकी चिंता नही करते थे कि उनकी बोली भाषा के किसी मान्य आदर्श के अनुरूप है अथवा नही। किंतु १६वीं शताब्दी तक यह मान्यता प्रतिष्ठित हो गई थी कि जो बोली लदन और उसके पडोस मे बोली जाती है, वही समस्त साहित्यिक रचना के लिए टकसाली भाषा है। तब से अब तक बहुत थोडे से हेरफेर के बाद यही बोली अंग्रेजी भाषा का सर्वाधिक प्राजल रूप मानी जाती है। किंतु १४वी शताब्दी की चॉसर की अंग्रेजी नवी शताब्दी के राजा अल्फ्रेड की अंग्रेजी से बहुत भिन्न थी। आधुनिक अंग्रेजी से वह जितनी भिन्न है, उससे कही अधिक वह प्राचीन अंग्रेजी से भिन्न थी। निस्सदेह उसका गठन शेक्सपियर अथवा शा की भाषा की तुलना मे अधिक सयोगात्मक था, किंतु अल्फ्रेड, एल्फ्रिक अथवा प्राचीन अंग्रेजी के अन्य लेखको की तुलना मे कम सयोगात्मक था। उसका शब्दभाडार नार्मन विजय से पूर्व की अंग्रेजी के प्राय विशुद्ध शब्दभाडार की अपेक्षा आज के ही बहुमिश्रित शब्दकोश की ओर झुका हुआ था।

अंग्रेजी भाषा के शब्दकोश और गठन के इन परिवर्तनो पर नार्मन विजय का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव विस्तृत रूप से पडा। सयोगात्मक गठन के ह्रास मे यह परोक्ष रूप से सहायक हुई और आगे चलकर अधिकाश सयोगात्मक रूपो का लोप हो गया। सयोगात्मक गठन का अतत विग्रह अवश्यभावी था, और वास्तव मे वह प्राचीन अंग्रेजी के उत्तरार्धकाल मे ही प्रारभ हो चुका था। परतु यदि नार्मन विजयी न होते तो यह विग्रह न इतना अधिक होता और न इतना शीघ्र। पश्चिमी सैक्सन की सुप्रतिष्ठित साहित्यिक परपरा का नाश और अंग्रेजी को अपदस्थ कर इस विजय ने उन सभी रूढियो का उन्मूलन कर दिया जो भाषा को उसके प्राचीन रूप के निकट रखती है। भाषा मे सरलता तथा एकरूपता लानेवाली प्रवृत्तियो को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर मिल गया। विजय के फलस्वरूप जो अतर्जातीय मिश्रण हुआ, उसने भी सयोगात्मक रूपो के उच्छेदन मे योग दिया क्योकि एक ओर तो विजयी विदेशियो द्वारा नई भाषा के प्रयोग मे उसके रूप और व्यवहार की पकड और समझ मे कमी हुई और दूसरी ओर देशवासियो की ओर से प्रयत्न हुआ कि उन्हें अपनी बात समझाने के लिये अपनी भाषा को सरल करें, किंतु केवल इतनी सरल कि उसका अर्थ लुप्त न हो जाय। फलस्वरूप सयोगात्मक रूपो की जटिलता का अधिक से अधिक परित्याग किया गया। उपर्युक्त दोनो कारणो से सयोगात्मक रूप घटते गए, और व्याकरण भी सरल होता गया।

नार्मन विजय ने [illegible] पूर्वक अंग्रेजी भाषा के सयोगात्मक रूपो को कम करके उसके गठन को सरल बनाया। साथ ही, इस विजय के बिना भाषा के शब्दकोश मे भी क्रांतिकारी परिवर्तन न होता। लगभग दो शताब्दियो तक निरतर फ्रेंच प्रभुत्व के कारण ही मूल अंग्रेजी के सैकडो प्रचलित शब्द निकाल फेंके गए, साथ ही हजारो फ्रेंच शब्द नवीन विचारो की अभिव्यक्ति करने और नई वस्तुओ तथा वस्तुस्थितियो का नामकरण करने के लिये प्रचलित कर दिए गए। आज अंग्रेजी के भाषाभाडार मे न्याय, शासन तथा सेना, धर्म-ज्ञान, उच्चवर्ग तथा फैशन, कला एव साहित्य सबधी जो अनेक प्रचलित शब्द है, उनमे से अधिकतर फ्रेंच भाषा से ही आए है। प्रतिदिन के व्यवहार मे आनेवाले सबधबोधक तथा अन्य शब्द, जैसे मैडम, मास्टर, सर्जेंट, [illegible], पेपर, सेकंड आदि भी फ्रेंच है। गणना के अनुसार ऐसे फ्रासीसी शब्दो की सख्या लगभग दस हजार है जिनमे साढे सात हजार शब्द आज इस प्रकार प्रचलित हो गए है कि उनका विदेशी होना बिलकुल नही पहचाना जाता, क्योकि अंग्रेजो ने उन्हें अपनी [illegible] और उच्चारण के अनुसार आत्मसात् कर लिया है।

विदेशी शब्दो का यह प्रवेश इतना गहरा और विस्तृत है कि फ्रेंच उद्गम के शब्दो का प्रयोग किए बिना अधिकतर विषयो पर अभिव्यक्ति प्राय असभव हो गई है। यही नही, अन्य भाषाओ से शब्द ग्रहण करना अंग्रेजी का विशेष गुण हो गया। क्योकि फ्रासीसी प्रभुत्व काल मे गृहीत अधिकाश फ्रेंच शब्दो का मूल लातीनी था, इसलिये सीधे लातीनी से शब्द लेने का द्वार प्रशस्त हो गया। 'ज्ञान के पुनर्जागरण काल' (रिवाइवल आव लर्निंग) मे अनेक लातीनी तथा यूनानी शब्द अंग्रेजी भाषा मे प्रविष्ट हुए। सन् १६६० ई० मे इग्लैंड मे राजतत्र के पुनःस्थापन (दि रेस्टोरेशन) के पश्चात् फ्रेंच शब्दो की दूसरी बाढ़ चार्ल्स द्वितीय के फ्रेंच प्रवास से स्वदेश

पुनरागमन के साथ आई, क्योंकि उसने अपने राजदरबार को फ्रांसीसी रंग में रँग दिया। १६वीं शताब्दी में फिर फ्रांसीसी, लातीनी और यूनानी शब्दों के बड़े बड़े समूह अंग्रेजी में आकर मिले। किंतु आधुनिक अंग्रेजी के शब्दभांडार में वृद्धि करनेवाली केवल ये ही भाषाएँ नहीं हैं। यूरोपीय भाषाओं में से शब्द देनेवाली अन्य उल्लेखनीय भाषाएँ डच, जर्मन, इटालीय, स्पेनी और पुर्तगाली हैं। एशिया की भाषाओं में चीनी, जापानी, फारसी, अरबी, मलयालम, संस्कृत तथा उसकी वंशज आधुनिक भारतीय भाषाओं, द्रविड़ तथा पालीनेशियाई भाषाओं को भी यह गौरव प्राप्त है।

इस बृहत् शब्दकोश से भाषा के मुहावरे की शुद्धता दूषित होने लगी जिसके कारण कितने ही वर्गों की ओर से स्वाभाविक विरोध उठ खड़ा हुआ। पुनर्जागरण काल में (१५वीं शताब्दी के यूरोप में वह युग जिसमें कला तथा साहित्य का पुनर्जन्म हुआ और जिसमें मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का अंत तथा आधुनिक सभ्यता का आरंभ हुआ) ऐसे भी विशुद्धतावादी थे जो लातीनी शब्दों को भारी संख्या में ग्रहण करने के विरोधी थे। १७वीं सदी के उत्तरार्ध तथा १८वीं शताब्दी में निरंतर अनेक आलोचकों तथा साहित्यकारों को शिकायत थी कि शब्दों और भाषा के मुहावरों के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। वास्तव में १८वीं शताब्दी में ही भाषा को प्रांजल तथा परिमार्जित करके उसे अपरिवर्तनशील और टकसाली बनाने के सतत प्रयत्न किए गए। कतिपय सम्मानित लेखकों ने तो भाषा के विकास पर नजर रखने और उसको नियंत्रित करने के लिये फ्रेंच अकादमी की ही भाँति एक अकादमी स्थापित करने के पक्ष में आवाज उठाई। इस काल में प्रथम बार यथेष्ट संख्या में जो शब्दकोश और व्याकरण प्रकाशित हुए, वे भाषा को नियंत्रित करने में बहुत कुछ सहायक हुए, किंतु उसे अपरिवर्तनशील बनाने के सभी प्रयत्न विफल हुए।

विशेष रूप से १९वीं शताब्दी में ब्रिटिश शक्ति तथा प्रभाव के फलस्वरूप सभी भाषाओं से न केवल अनेक शब्द ही अंग्रेजी में प्रविष्ट हुए, वरन् संसार के विभिन्न भागों में अंग्रेजी के नवीन रूपों का प्रादुर्भाव भी होने लगा। फलस्वरूप आज अंग्रेजी भाषा के इंग्लिश रूप के अतिरिक्त अमरीकी, आस्ट्रेलियाई तथा भारतीय आदि रूप भी हैं।

समस्त संसार की भाषाओं से शब्द लेकर बनी अंग्रेजी की मिश्रित शब्दराशि ने सम्यक् रूप से इस भाषा को अत्यंत संपन्न बना दिया है और इसे वह लोच और शक्ति प्रदान की है जो अन्यथा उपलब्ध न होती। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में आज अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं जिनके परस्पर अर्थों में बारीक भेद है, यथा ब्रदरली और फ्रैटरनल, हार्टी और कार्डियल, लोनली और सॉलिटरी। अनेक उदाहरण वर्णसंकर शब्दों के भी हैं जिनका एक अंग अंग्रेजी है तो दूसरा लातीनी या फ्रांसीसी, जैसे श्रिंकेज (shrinkage) जिनमें मूल शब्द देशी है, और प्रत्यय विदेशी। इसके विपरीत ब्यूटीफुल या कोर्टली जैसे शब्दों में मूल शब्द विदेशी है और प्रत्यय देशी। विशुद्धतावादियों ने समय समय पर इस प्रकार के शब्दनिर्माण का और देशी शब्दों के स्थान पर विदेशी शब्दों का ग्रहण करने की प्रवृत्ति का भी विरोध किया, जैसे हैंडबुक के स्थान पर मैनुअल अथवा लीचक्राफ्ट (leechcraft) के स्थान पर मेडिसिन का प्रयोग करना। यद्यपि यह अवश्य सच है कि अंग्रेजी भाषा ने समस्त पद बनाने एवं धातु से शब्द निर्माण करने की अपनी उस सहजता को बहुत कुछ खो दिया जो जर्मन वंशज होने के नाते इसका एक विशेष गुण रहा, तथापि विविध स्रोतों से अपना शब्दकोश संपन्न करने के फलस्वरूप इसे अत्यधिक लाभ भी हुआ है।

चीनी भाषा के बाद आज अंग्रेजी ही दूसरी ऐसी भाषा है जो सर्वाधिक व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। विगत डेढ़ सौ वर्षों में ही इसका प्रयोग दस गुना बढ़ गया है, और विस्तार की दृष्टि से यह संसार में चीनी से भी अधिक भूभागों में बोली जाती है। इस प्रकार अंग्रेजी किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा अंतरराष्ट्रीय भाषा होने के निकट है। इसका साहित्य संसार में सर्वाधिक संपन्न है, और यह निश्चय ही प्रथम श्रेणी का है। इसका व्याकरण अत्यंत सरल है। इसकी विपुल शब्दराशि विश्वव्यापी है।

साथ ही इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि कोई विदेशी इस भाषा में पारंगत होना चाहता है तो इसके शब्दों का अराजक वर्णविन्यास, जिसके संबंध में उच्चारण पर कम से कम भरोसा किया जा सकता है, और इसके मुहावरों की बारीकी उसके मार्ग में रोड़े बनकर सामने आती है। फिर भी अंतरराष्ट्रीय सहयोग और संपर्क के निमित्त सार्वभौमिक माध्यम के रूप में अधिक से अधिक लोग अंग्रेजी भाषा सीखने के लिये आकर्षित हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

सं० ग्रं०—एच० ब्रैडले : दि मेकिंग ऑव इंग्लिश (लंदन, १९०४), ओ० जेस्पर्सन : ग्रोथ ऐंड स्ट्रक्चर ऑव दि इंग्लिश लैंग्वेज (लाइपज़िग, १९१९), एस० पॉटर : आवर लैंग्वेज (पेंग्विन बुक्स), ए० सी० बो : ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर (न्यूयार्क, १९३५), ई० क्लैसेन : आउट-लाइन ऑव दि हिस्ट्री ऑव दि इंग्लिश लैंग्वेज (मैंचेस्टर, १९१९), एच० सी० वील्ड : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इंग्लिश (लंदन, १९१४), एच० सी० वाइल्ड : दि ग्रोथ ऑव इंग्लिश (लंदन, १९३४), सी० एल० रेन : दि इंग्लिश लैंग्वेज (लंदन, १९४९), जी० एच० मैक्नाइट : इंग्लिश इन दि मेकिंग (न्यूयार्क, १९२८), एस० राबर्टसन ऐंड एफ० जी० कैसिडी : दि डेवलपमेंट ऑव माडर्न इंग्लिश (न्यूजर्सी, द्वितीय संस्करण, १९५७), बी० ग्रूम : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इंग्लिश वर्ड्स (लंदन, १९२६), मेरी सरजाण्टसन : ए हिस्ट्री ऑव दि फारेन वर्ड्स इन इंग्लिश (लंदन, १९३५), जे० ए० शीयर्ड : दि वर्ड्स वी यूज (लंदन, १९५४)
(फी० ई० द०)

अंग्रेजी विधि प्राचीनतम अंग्रेजी कानून केंट के राजा एथेलबर्ट के हैं जो सन् ६०० ई० के लगभग प्रकाशित हुए। ऐसा अनुमान है कि एथेलबर्ट के कानून केवल अंग्रेजी में ही नहीं वरन् समस्त ट्यूटनी भाषाओं में लिपिबद्ध किए जानेवाले सर्वप्रथम कानून थे। बेडा के मतानुसार एथेलबर्ट ने अपने कानूनों को रोम के आदर्शों पर ही लिपिबद्ध किया था। धर्म संबंधी प्रनियम ही संभवत उपर्युक्त कानून के आधार थे। सन् ६८० ई० में ह्लाथर और ईड्रिक ने तथा सन् ७०० ई० के लगभग विहट्राड ने उनमें वृद्धि की। सन् ६९० ई० में राजा आइन ने विज्ञजनों की मंत्रणा से कुछ कानून प्रकाशित किए। तदुपरांत दो शताब्दियों तक कोई नया कानून नहीं बना। इस दीर्घ अंतराल के पश्चात् सन् ८९० ई० में अल्फ्रेड के कानून का सृजन हुआ। इस समय से कानून की अविच्छिन्न शृंखला का प्रारंभ हुआ जो ११वीं शताब्दी तक बनी रही तथा जिसमें एडवर्ड दि एल्डर, एथेल्स्टन, एडमंड, एडगर और एथेलरेड ने योग दिया। कानून की इस परंपरा की इति डेनी राजा कैन्यूट के काल में हुई जिसको कानून का विशद एवं विस्तृत संग्रह प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है।

ऐंग्लो-सेक्सन कानून निरंतर कई शताब्दियों तक पांडुलिपि के आँचल में छिपे पड़े रहे। १६वीं शताब्दी में उनकी खोज निकाली गई और सन् १५६८ ई० में लैंबर्ड ने उनको 'आरकायोनामिया' नाम से प्रकाशित किया। सन् १८४० में उनका आधुनिक अंग्रेजी भाषा में अनुवाद 'एंशेंट लाज ऐंड इंस्टिट्यूट्स ऑव इंग्लैंड' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

नार्मन विजय अंग्रेजी कानून के इतिहास में सर्वोपरि महत्व की घटना है। १२वीं शताब्दी में अंग्रेजी कानून तीन विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गया—वेस्ट-सैक्सन, अमरीकी तथा डेनी। नार्मन लोगों के पास अपनी कोई सुव्यवस्थित विधिप्रणाली नहीं थी और जो कुछ उनका अपना कहने को था भी वह अंग्रेजी विधिप्रणाली के समक्ष नगण्य था। अतएव नार्मन कानून अंग्रेजी कानून को अतिक्रमित न कर सका। फलस्वरूप अंग्रेजी विधिप्रणाली के स्वरूप एवं क्रियाशीलता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। विजयी विलियम ने अंग्रेजी कानून की पुष्टि की, यही सन् ११०० ई० में हेनरी प्रथम ने किया। विधिज्ञों ने एडवर्ड के कानूनों की समालोचना की जिसके फलस्वरूप कानून के तीन संकलन प्रकाशित हुए। इनमें 'लेगिस हेनरिसाइ प्राइमी' अत्यंत महत्वपूर्ण है। दूसरी महत्व की बात यह थी कि नार्मन विजेताओं ने भूमि के संबंध में उन्हीं विधि-नियमों को अपनाया जिनका प्रयोग अंग्रेज भूस्वामी किया करते थे। इसका प्रमाण प्रसिद्ध ग्रंथ 'डूम्सडे बुक' तथा नार्मन सम्राटों के घोषणापत्रों में मिलता है। फिर भी नार्मन विचारधारा का समुचित प्रभाव अंग्रेजी कानून

पर पड़ा। न्यायालयों में फ्रेंच भाषा का प्रयोग होने लगा। कानूनी पुस्तकों की रचना तथा विधिप्रतिवेदन भी कई शताब्दियों तक फ्रेंच में ही होता रहा। हेनरी द्वितीय को अंग्रेजी कानून के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वह महान् शासक और विधानिर्माता था। उसके कई विधिनियम तथा समयादेश प्राप्त हुए हैं।

ऐंग्लो-सैक्सन कानून में धर्म संबंधी मामलों को छोड़कर अन्य किसी दिशा में रोमन न्यायशास्त्र का प्रभाव देखने में नहीं आता। निस्संदेह रोम न्यायप्रणाली ब्रिटेन में जड़ नहीं पकड़ सकी परंतु रोमन परंपराओं का समुचित प्रभाव उसपर पड़ा। कानून के विकास में जिस प्रमुख शक्ति ने कार्य किया वह चर्च (धर्म) कैथॉलिक मतावलंबी होने के नाते रोमन प्रभाव से आच्छादित था। उदाहरणार्थ इच्छापत्र रोम की देन था जिसका प्रचलन चर्च (धर्म) के प्रभाव से हुआ। इसके अतिरिक्त, धर्म संबंधी न्यायालय केवल धार्मिक मामलों में ही हस्तक्षेप नहीं करते थे वरन् उनका क्षेत्राधिकार विवाह, रिक्थपत्र आदि जीवन के अन्य महत्वपूर्ण अंगों पर भी था।

११वीं शताब्दी में लोगों का ध्यान एक बार पुन: विधिग्रंथों की ओर आकृष्ट हुआ। सन् ११४३ ई० में आर्चबिशप थियोबाल्ड की छत्रछाया में वकेरियस नाम के एक वकील ने इंग्लैंड में रोमन विधिप्रणाली पर व्याख्यान दिए जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हेनरी के सुधारों में मिलता है। हेनरी के शासनकाल से न्यायाधिकरण का महत्व उत्तरोत्तर क्षीण होता गया और सम्राट् का निजी न्यायालय सभी व्यक्तियों एवं वादों के लिये प्रथम न्यायालय बन गया। इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य-विधि-प्रणाली का विकास हुआ।

सन् ११६४ ई० में क्लेरेंडन के निषेधादेश द्वारा, जो कुछ समय बाद संशोधनों सहित पुन: प्रकाशित हुआ, हेनरी ने दंड-प्रक्रिया-प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किए तथा न्यायसभ्य द्वारा अन्वेषण प्रणाली का सूत्रपात किया। सन् ११८१ ई० में आयुधनिषेधादेश द्वारा प्राचीन सैनिक शक्ति को मान्यता दी गई। सन् ११८४ ई० में एक अन्य निषेधादेश द्वारा राजा के वन संबंधी अधिकारों को परिभाषा की गई। तदनंतर एक व्यवस्थित करप्रणाली चालू की गई।

हेनरी के काल की विधिनिर्माणशीलता के दृष्टांत दो प्रमुख ग्रंथों में मिलते हैं। प्रथम ग्रंथ का नाम है 'दायालॉगस दि स्केकेरियो' जिसकी रचना रिचर्ड फिट्ज नील द्वारा हुई। दूसरा ग्रंथ, जिसकी रचना रैनल्फ ग्लानविल ने की, अंग्रेजी न्यायप्रणाली का प्रथम प्राचीन ग्रंथ है जिसमें राजकीय न्यायालय की कार्रवाई का सही विवरण किया गया।

हेनरी के पश्चात्, रिचर्ड के काल में भी न्याय प्रशासन का कार्य मुख्यतया राजा के निजी न्यायालय द्वारा होता रहा। परंतु राजा की अनुपस्थिति में प्रशासन कार्य न्यायाधीशों द्वारा संपन्न होने लगा और समस्त कार्रवाई के शासकीय अभिलेख रखे जाने लगे। हेनरी तृतीय के समय में महाधिकारपत्र प्रकाशित हुआ जिससे अंग्रेजी अनुविधि प्रणाली का सूत्रपात हुआ। सन् १२२५ ई० के महाधिकारपत्र (मैग्ना कार्टा) को अनुविधि पुस्तक में प्रथम स्थान मिला और हेनरी चतुर्थ के काल तक उसकी निरंतर पुष्टि होती रही।

हेनरी तृतीय के राज्यकाल में सामान्य विधिप्रणाली को निश्चित रूपरेखा मिली और संपूर्ण साम्राज्य में उसका विस्तार हुआ। न्यायाधीशों के समक्ष विभिन्न प्रकार के वाद प्रस्तुत होते थे और उनके निर्णय के लिये नए नए उपायों की खोज होती थी। इस प्रकार वादजनित विधि का सूत्रपात हुआ। न्यायाधीश निर्मित कानूनों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ब्रैक्टन की पुस्तक में, जिसकी रचना सन् १२५०-१२६० ई० के मध्य हुई, प्राय: पाँच सौ निर्णयों का उल्लेख है।

अंग्रेजी कानून के इतिहास में एडवर्ड प्रथम के राज्यकाल (१२७२-१३०७) का अद्वितीय स्थान है। उसके समय में सार्वजनिक कानून में तो अनेक महत्वपूर्ण नियमों का समावेश हुआ ही, साथ साथ निजी कानूनों में भी महान् परिवर्तन हुए। एडवर्ड की दो अनुविधियाँ आज भी भूमि संबंधी कानून का स्तंभ बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त, उसके राज्यकाल में कानूनी व्यवसाय ने भी निश्चित रूप ग्रहण किया और विधिनिर्माण पर उसका शक्तिशाली प्रभाव पड़ने लगा। १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में अंग्रेजी अनुविधि प्रणाली की प्रगति धीमी पड़ गई, परंतु विधिप्रतिवेदन का कार्य निरंतर होता रहा। 'इयर बुक' तथा 'इन्स आव कोर्ट' इस काल की प्रमुख देन हैं।

साधारण वादों के निमित्त न्यायालयों के होते हुए भी अवशेष न्यायप्रशासन की शक्ति राजा में निहित रही। उसके अंतर्गत राजा के विचारपति (चांसरी) न्यायप्रार्थी के मामलों का असाधारण रीति से निर्णय करने लगे। विचारपति के समक्ष प्रक्रिया संक्षिप्त होती थी और वह किसी विधि नियम का पालन करने के लिये बाध्य नहीं था, उसका निर्णय केवल आत्मप्रेरणा के आधार पर होता था। (श्री० अ०)

अंग्रेजी साहित्य के प्राचीन एवं अर्वाचीन काल कई आयामों में विभक्त किए जा सकते हैं। यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिये किया जाता है, इससे अंग्रेजी साहित्यप्रवाह की अक्षुण्णता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। प्राचीन युग के अंग्रेजी साहित्य के तीन स्पष्ट आयाम हैं ऐंग्लो-सैक्सन, नार्मन विजय से चॉसर तक, चॉसर से पुनर्जागरण काल तक।

ऐंग्लो सैक्सन—इंग्लैंड में बसने के समय ऐंग्लो-सैक्सन कबीले बर्बरता और सभ्यता के बीच की स्थिति में थे। आखेट, समुद्र और युद्ध के अतिरिक्त उन्हें कृषिजीवन का भी अनुभव था। अपने साथ वे अपने वीरों की कथाएँ भी लेते आए। ट्यूटन जाति के सारे कबीलों में ये कथाएँ सामान्य रूप में प्रचलित थीं। वे देश की सीमाओं में नहीं बँधी थीं। इन्हीं गाथाओं से सातवीं शताब्दी में कविता के रूप में अंग्रेजी साहित्य का प्रारंभ हुआ। उपन्यास डब्ल्यू० पी० कर के शब्दों में "ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य पुरानी दुनिया का साहित्य है।" लेकिन इस समय तक ऐंग्लो-सैक्सन लोग ईसाई बन चुके थे। इन गाथाओं के रचयिता भी आम तौर से पुरोहित हुआ करते थे। इसलिये इन गाथाओं में वर्णित शौर्य और पराक्रम पर धार्मिक रहस्य, विनय, करुणा, सेवा इत्यादि के भाव भी आरोपित हुए। ऐंग्लो-सैक्सन कविता का शुद्ध धर्मविषयक अंग भी इन गाथाओं के रूप में प्रभावित है।

इन गाथाओं में शौर्य के साथ शैली का भी अतिरेक है। ऐंग्लो-सैक्सन भाषा काफी अनगढ़ थी। गाथाओं में कवि उसे अत्यंत कृत्रिम बना देते थे। छंद के आनुप्रासिक आधार के कारण भरती के शब्दों का आ जाना अनिवार्य था। मुखर व्यंजनों की प्रचुरता से संगीत या लय में कठोरता है। विषयों और शैली की संकीर्णता के बीच अंग्रेजी कविता का विकास असंभव था। नार्मन विजय के बाद इसका ऐसा कायाकल्प हुआ कि अनेक विद्वानों ने इसमें और बाद की कविता में वंशगत संबंध जोड़ना अनुचित कहा है।

दूसरी ओर अंग्रेजी गद्य में, जिसका उदय कविता के बाद हुआ, विकास की क्रमिक और अटूट परंपरा है। ईसाई समाज की भाषा लातीनी थी और इस काल का प्रसिद्ध गद्यलेखक बीड इसी भाषा में लिखता था। ऐंग्लो-सैक्सन में गद्य का प्रारंभ अलफ्रेड के जमाने में लातीनी के अनुवादों तथा उपदेशों और वार्ताओं की रचना से हुआ। गद्य की रचना शिक्षा और ज्ञान के लिये हुई थी। इसलिये इसमें ऐंग्लो-सैक्सन कविता की कृत्रिमता और अन्य शैलीगत दोष नहीं हैं। उनकी भाषा लोकभाषा के अधिक समीप थी। ऐंग्लो-सैक्सन कविता की तरह बादवाले युगों में उसका संबंधविच्छेद करना असंभव है। लेकिन इस युग के पूरे साहित्य में लालित्य का अभाव है।

नार्मन विजय से चॉसर तक—चॉसर पूर्व का मध्यदेशीय अंग्रेजी काल न केवल इंग्लैंड में ही बल्कि यूरोप के अन्य देशों में भी फ्रांस के साहित्यिक नेतृत्व का काल है। १२वीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक फ्रांस ने इन देशों को विचार, संस्कृति, कल्पना, कथाएँ और कविता के रूप दिए। धर्मयुद्धों के इस युग में सारे ईसाई देशों की बौद्धिक एकता स्थापित हुई। यह सामंती व्यवस्था तथा शौर्य और औदार्य की केंद्रीय मान्यताओं के विकास का युग है। नारी के प्रति प्रेम और पूजाभाव, साहस और पराक्रम, धर्म के लिये प्राणोत्सर्ग, असहायों के प्रति करुणा, विनय आदि ईसाई नाइटों (सूरमाओं) के जीवन के अभिन्न अंग माने गए। इसी

समय फ्रांस के चारणो ने प्राचीन कालीन पराक्रमगाथाश्रो (chansons de geste) और प्रेमगीतो की रचना की, तथा लातीनो, ट्यूटनो, केल्टो, अायरा, कार्नो और फ्रेंच गाथाश्रो का व्यापक उपयोग हुआ। फास की गाथाश्रो मे कर्म की, ब्रिटेन की गाथाश्रो मे भावुकता और शृगार की और लातीनी गाथाश्रो मे इन सभी तत्वो की प्रधानता थी। साहित्य मे कोमलता, माधुर्य और गीतो पर जोर दिया जाने लगा।

इस युग मे अंग्रेजी भाषा ने अपना रूप सँवारा। उसमे रोमास भाषाश्रो, विशेषत फ्रेंच के शब्द आए, उसने कविता मे कर्णकटु आनुप्रासिक छद-रचना की जगह तुको को अपनाया, उसके विषय व्यापक हुए—सक्षेप मे, उसने चॉसर युग की पूर्वपीठिका तैयार की।

गद्य के लिये भाषा के मँजे मँजाए और स्थिर रूप की आवश्यकता होती है। पुरानी अंग्रेजी के रूप मे विघटन के कारण इस युग का गद्य पुराने गद्य जैसा सतुलित और स्वस्थ नही है। लेकिन रूपगत अस्थिरता के बावजूद इस युग के धार्मिक और रोमानी गद्य ने विचारो की दृष्टि से ऐंग्लो-सैक्सन गद्य की परपरा को विकसित किया।

चॉसर से पुनर्जागरण तक—चॉसर ने इस युग की काव्यपरम्परा को आधुनिक युग से समन्वित किया। उसने फ्रेंच कविता मे लालित्य और इटली की समकालीन कविता से 'आधुनिक बोध' लिया। कविता मे यथार्थवाद को जन्म देकर उसने अंग्रेजी कविता को यूरोप की कविता से भी आगे कर दिया। इसलिये उसे समझने के लिये पुरानी ऐंग्लो-सैक्सन दुनिया और उसकी कविता की जगह मध्ययुगीन फ्रास और आधुनिक इटली की साहित्यिक हलचल को जान लेना जरूरी है। उसके बाद और एलिजाबेथ युग से पहले कोई बडा कवि नही हुआ।

इस युग मे लातीनी और फ्रेंच साहित्य के अनुवादो और मौलिक रचनाश्रो के माध्यम से गद्य का रूप निखर चला। लेखको ने लातीनी और फ्रेंच गद्य की वाक्यरचना और लय को अंग्रेजी गद्य मे उतारा। १३५० मे अंग्रेजी को राजभाषा का सम्मान मिला और धर्म के घेरे को तोडकर गद्य का रुख आम लोगो की ओर हुआ। गद्य ने विज्ञान, दर्शन, धर्म, इतिहास, राजनीति, कथा और यात्रावर्णन के द्वारा विविधता प्राप्त की। १५वी शताब्दी के अत तक आते आते मैंडेविल, चॉसर, विकलिफ, फार्टेस्क्यू, कैक्स्टन और मैलोरी जैसे प्रसिद्ध गद्यनिर्माताश्रो ने अंग्रेजी गद्य की नीव मजबूत बना दी।

१५वी शताब्दी अंग्रेजी नाटक का शैशव काल है। धर्मोपदेश और सदाचारशिक्षा की आवश्यकता, नगरो के विकास और शक्तिशाली श्रेणियो (गिल्ड) के उदय के साथ नाटक गिरजाघर के प्राचीरो से निकलकर जनपथ पर आ खडा हुआ। इन नाटको का सबध बाइबिल की कथाश्रो (मिस्ट्रीज), कुमारी मेरी और सतो की जीवनियो (मिरैकिल्स), सदाचार (मोरैलिटीज) और मनोरजक प्रहसनो (इटरल्यूड्स) से है। धर्म के सकुचित क्षेत्र म रहनेवाले और रूप मे अनगढ इन नाटको को एलिजाबेथ युग के महान् नाटको का पूर्वज कहा जा सकता है।

पुनर्जागरण—विचारो और कल्पना के अविराम मथन, विधाश्रो मे प्रयोगो की विविधता और कृतित्व की प्रौढता की दृष्टि से पुनर्जागरण काल अंग्रेजी साहित्य का स्वर्ण युग है। सास्कृतिक दृष्टि से यह युग आधिभौतिकता के विरुद्ध भौतिकता, मध्ययुगीन सामतो अकुशो के विरुद्ध मननशील व्यक्तिवाद, अधविश्वास के विरुद्ध विज्ञान के सघर्ष का युग है। पुनर्जागरण ने इग्लैड को इटली, फास, स्पेन और जर्मनी के काफी बाद आदोलित किया। १५०० से १५८० तक का समय मानवतावाद के विकास और प्राचीन यूनान तथा इटली के साहित्यिक आदर्शो को आत्मसात् करने का है। लेकिन १५८० और १६६० के बीच कविता, नाटक और गद्य मे अद्भुत उत्कर्ष हुआ। १५८० के पूर्व महान् व्यक्तित्व केवल चॉसर का है। १५८० के बाद स्पेसर, शेक्सपियर, बेकन और मिल्टन की महान् प्रतिभाश्रो से कुछ ही नीचे स्तर पर नाटक मे मार्लो, बेन जॉन्सन और वेब्स्टर, गद्य मे हूकर, बर्टन और टॉमस ब्राउन, कविता मे बेन जॉन्सन और डन है। शैली और वस्तु मे चित्रविचित्रता की दृष्टि से नाटको मे लिली, पील और ग्रीन की 'दरबारी कामेडी', शेक्सपियर की 'रोमानी कामेडी,' बोमांट और फ्लेचर की 'ट्रैजीकामेडी' और बेन जॉन्सन की 'यथार्थवादी कामेडी', कविता मे अनेक कवियों के प्रेम सबधो कथाबद्ध सॉनेट, स्पेसर का रोमानी कविता, डन और अन्य 'आध्यात्मिक' (मेटाफिजिकल) कवियों की दुरूह कल्पनापूर्ण कविताएँ, बेन जॉन्सन और दरबारी कवियो के प्राजल गीत तथा मिल्टन के भव्य और उदात्त महाकाव्य, गद्य मे इटली और स्पेन से प्रभावित लिली और सिडनी की अलकृत शैली की रोमानी कथाएँ तथा नैश और डेलोनी के साहसिकतापूर्ण यथार्थवादी उपन्यास, बेकन के निबध (एसे), बाइबिल का महान् अनुवाद, बर्टन का मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म किंतु सुहृद सा अतरग गद्य, सिडनी और बेन जॉन्सन की गद्य आलोचनाएँ, मिल्टन का ओजपूर्ण और आक्रोशपूर्ण प्रलबित वाक्यो का भव्य गद्य, टॉमस ब्राउन का चितनपूर्ण किंतु सगीततरल गद्य इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ है। मानव-बुद्धि और कल्पना की तरह ही यह युग अभिव्यक्ति के महत्वाकाक्षी प्रसार का युग है।

१६६० और १७०० ई० के अत के बीचवाले वर्ष बुद्धिवाद के अकुरण के हैं। परतु पुनर्जागरण का प्रभाव शेष रहता है, उसके अंतिम और महान् कवि मिल्टन क महाकाव्य १६६० के बाद ही लिखे गए, स्वय ड्राइडन मे मानवतावादी प्रवृत्तियाँ हैं। लेकिन एक नया मोड सामने है। बुद्धिवाद के अतिरिक्त यह चार्ल्स द्वितीय के पुनर्राज्यारोहण के बाद फ्रेंच रीतिवाद के उदय का युग है। फ्रेंच रीतिवाद तथा 'प्रेम' और 'सम्मान' (लव ऐंड ऑनर) के दरबारी मूल्यो से प्रभावित इस युग का नाटक अनुभूति और अभिव्यक्ति मे निर्जीव है। दूसरी ओर मध्यवर्गीय यथार्थवाद से प्रभावित विकर्ली और कांग्रीव के सामाजिक प्रहसन अपनी सजीवता, परिष्कृत किंतु पैनी भाषा और तीखे व्यग्य मे अद्वितीय है। ऊँचे मध्यवर्ग के यात्रिक बुद्धिवाद और अनैतिकता के विरुद्ध निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता और आदर्श का प्रतीक जॉन बन्यन का रूपक उपन्यास 'दि पिल्ग्रिम्स प्राग्रेस' है। आलोचना मे रीतिवाद का प्रभाव शेक्सपियर के रोमानी नाटको के विरुद्ध राइमर की आलोचना से स्पष्ट है। उस युग की सबसे महत्वपूर्ण आलोचनाकृति मानवतावादी स्वच्छता और रीतिवाद के समन्वय पर आधारित ड्राइडन का नाटक-काव्य-सबधी निबध है। वर्णन मे यथार्थवादी गद्य के विकास मे सैमुएल पेपीज़ की डायरी की भूमिका भी स्मरणीय है। सक्षेप मे, १७वी शताब्दी के इन अंतिम वर्षों के गद्य और पद्य मे स्वच्छता और सतुलन है, लेकिन कुल मिलाकर यह महत्ता-विरल-युग है।

१८वीं शताब्दी : रीतिवादी युग—यह शताब्दी तर्क और रीति का उत्कर्षकाल है। लायबनोज, दकार्त और न्यूटन ने कार्य कारण की पद्धति द्वारा तर्कवाद और यात्रिक भौतिकवाद का विकास किया था। उनके अनुसार सृष्टि और मनुष्य नियमानुशासित थे। इस दृष्टिकोण मे व्यक्तिगत रुचि के प्रदर्शन के लिये कम जगह थी। इस युग पर हावी फ्रेंच रीतिकारो ने भी साहित्यिक प्रक्रिया को रीतिबद्ध कर दिया था।

इस युग ने धर्म को धर्म की जगह रखा और मनुष्य के साधारण सामाजिक जीवन, राजनीति, व्यावहारिक नैतिकता इत्यादि पर जोर दिया। इसलिये इसका साहित्य काम की बात का साहित्य है। इस युग ने बात को साफ सुथरे, सीधे, नपे तुले, पैने शब्दो मे कहना अधिक पसद किया। कविता मे यह पोप और प्रायर के व्यग्य का युग है।

तर्क की प्रधानता के कारण १८वी शताब्दी को गद्ययुग कहा जाता है। सचमुच यह आधुनिक गद्य के विकास का युग है। दलगत सघर्षों, कॉफी-हाउसो और क्लबो मे अपनी शक्ति के प्रति जागरूक मध्यवर्ग की नैतिकता ने इस युग मे पत्रकारिता को जन्म दिया। साहित्य और पत्रकारिता के समन्वय ने एडिसन, स्टील, डिफो, स्विफ्ट, फील्डिंग, स्मॉलेट, जॉनसन और गोल्डस्मिथ की शैली का निर्माण किया। इससे कविता के व्यामोह से मुक्त, रचना के नियमो मे दृढ, बातचीत की आत्मीयता लिए हुए छोटे छोटे वाक्यों के प्रवाहमय गद्य का जन्म हुआ। जहर मे बुझे तीर की तरह स्विफ्ट के गद्य को छोडकर अधिकाश लेखको में व्यग्य की उदार शैली है।

आलोचना में पहली बार चॉसर, स्पेसर, शेक्सपियर, मिल्टन इत्यादि को विवेक की कसौटी पर कसा गया। रीति और तर्क की पद्धति रोमैंटिक साहित्यकारो के प्रति अनुदार हो जाया करती थी, लेकिन आज भी एडिसन,

पोप और जॉन्सन की आलोचनाओं का महत्व है। गद्य में शैली की अनेकरूपता की दृष्टि से इस युग ने ललित पत्रलेखन में चेस्टरफील्ड और वालपोल, मस्मरणों में गिबन, फैनी बर्नी और बॉजवेल, इतिहास में गिबन, दर्शन में बर्कले और ह्यूम, राजनीति में बर्क और धर्म में बटलर जैसे प्रसिद्ध शैलीकार पैदा किए।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास ने आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासों को चार प्रसिद्ध धुरियाँ दीं—डिफो, रिचर्ड्सन, फील्डिंग और स्मॉलेट। उपन्यास में यही युग स्विफ्ट, स्टर्न और गोल्डस्मिथ का भी है। अंग्रेजी कथासाहित्य का यथार्थवाद ने ही, गोल्डस्मिथ और शेरिडन के माध्यम से, कृत्रिम भावुकता के दलदल से उबारा। किंतु यह युग मध्यवर्गीय भावुक नैतिकता से भी अछूता न था। इसके स्पष्ट लक्षण भावुक कामेडी और स्टर्न, रिचर्ड्सन इत्यादि के उपन्यासों में मौजूद हैं। शताब्दी के अंतिम वर्षों में रोमैंटिक कविता की जमीन तैयार थी। ब्लेक और बर्न्स इस युग की स्थिरता में आँधी की तरह आए।

१९वीं शताब्दी : रोमैंटिक युग—पुनर्जागरण के बाद रोमैंटिक युग में फिर व्यक्ति की आत्मा का उन्मेषपूर्ण और उल्लसित स्वर सुन पड़ता है। प्राय: रोमैंटिक साहित्य को रीतियुग (क्लासिसिज्म) की प्रतिक्रिया कहा जाता है और उसकी विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख किया जाता है—तर्क की जगह सहज गीतिमय अनुभूति और कल्पना, अभिव्यक्ति में साधारणीकरण की जगह व्यक्तिनिष्ठता, नगरों के कृत्रिम जीवन से प्रकृति और एकांत की ओर मुड़ना, स्थूलता की जगह सूक्ष्म आदर्श और स्वप्न, मध्ययुग और प्राचीन इतिहास का आकर्षण, मनुष्य में आस्था, ललित भाषा की जगह साधारण भाषा का प्रयोग, इत्यादि। निश्चय ही इनमें से अनेक तत्व रोमानी कवियों में मिलते हैं, लेकिन उनकी महान सांस्कृतिक भूमिका को समझने के लिये आवश्यक है कि १९वीं शताब्दी में जर्मनी, फ्रांस, स्पेन इटली, इंग्लैंड, रूस और पोलैंड में जनवादी विचारों के उभार को ध्यान में रखा जाय। इस उभार ने सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध व्यक्तिस्वातंत्र्य का नारा लगाया। रूसो और फ्रांसीसी क्रांति उसकी केंद्रीय प्रेरणा थे। इंग्लैंड में १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कवि—वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज, शेली, कीट्स, और बायरन—इसी नए उन्मेष के कवि हैं। लैंब, हंट और हैजलिट के निबंधों, कीट्स के प्रेमपत्रों, स्कॉट के उपन्यासों, डी क्विंसी के 'कन्फेशंस ऑव ऐन ओपियम ईटर' में गद्य का भी अनुभूति, कल्पना और अभिव्यक्ति का वही उल्लास प्राप्त हुआ। आलोचना में कोलरिज, लैंब, हैजलिट और डी क्विंसी ने रीति से मुक्त होकर शेक्सपियर और उसके चरित्रों की आत्मा का उद्घाटन किया। लेकिन व्यक्तित्व आरोपित करने के स्वभाव ने नाटक के विकास में बाधा पहुँचाई।

विक्टोरिया के युग में जहाँ एक ओर जनवादी विचारों और विज्ञान का अटूट विकास हो रहा था, वहाँ अभिजात वर्ग क्रांतिभीरु भी हो उठा। इसलिये इस युग में कुछ साहित्यकारों में यदि स्वस्थ सामाजिक चेतना है तो कुछ में निराशा, संशय, अनास्था, समन्वय, कलावाद, वायवी आशावाद की प्रवृत्तियाँ भी हैं। व्यक्तिवाद शताब्दी के अंतिम दशक तक पहुँचते पहुँचते कैथोलिक धर्म, रहस्यवाद, आत्मरति या आत्मपीडन में इस तरह लिप्त हो गया कि इस दशक को 'खल' दशक भी कहते हैं। जनवादी, यथार्थवादी और वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व मॉरिस ने कविता में, रस्किन ने गद्य में और आर्टे वहनो, थैकरे, डिकेन्स, किंग्सली, रीड, जॉर्ज इलियट, टॉमस हार्डी, बटलर आदि ने उपन्यास में किया। निराशा और पीड़ा के बीच भी इनमें मानव के प्रति गहरी सहानुभूति और विश्वास है। शताब्दी के अंतिम वर्षों में विक्टोरिया युग के रिक्त आदर्शों के विरुद्ध अनेक स्वर उठने लगे थे।

२०वीं शताब्दी—१९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद के उभरते हुए अंतर्विरोध २०वीं शताब्दी में संकट की स्थिति में पहुँच गए। यह इस शताब्दी के साहित्य का केंद्रीय तथ्य है। इस शताब्दी के साहित्य को समझने के लिये उसके विचारों, भावों और रूपों को प्रभावित करनेवाली शक्तियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। वे शक्तियाँ हैं नीत्शे, शॉपेनआवर, स्पिनोजा, कर्कगार्ड, फ्रायड और मार्क्स, इब्सन, चेखव, फ्रेंच अभिव्यंजनावादी और प्रतीकवादी, गोर्की, सार्त्र और इलियट, दो हो चुके युद्ध और तीसरे की आशंका, फासिज्म, रूस की समाजवादी क्रांति, नए देशों में समाजवाद की स्थापना और पराधीन देशों के स्वातंत्र्य संग्राम, प्रकृति पर विज्ञान की विजय से सामाजिक विकास की असीम संभावनाएँ और उनके साथ व्यक्ति की संगति की समस्या।

२०वीं शताब्दी में व्यक्तिवादी आदर्श का विघटन तेजी से हुआ है। शॉ, वेल्स और गाल्सवर्दी ने शताब्दी के प्रारंभ में विक्टोरिया युग के व्यक्तिवादी आदर्शों के प्रति संदेह प्रकट किया और सामाजिक समाधानों पर जोर दिया। हार्डी की कविता में भी उसके विघटन का चित्र है। लेकिन किसी तरह पहले युद्ध के पहले कविता ने विक्टोरिया युग के पैस्टरल आदर्शों को जीवित रखा। दो युद्धों में व्यक्तिवाद समाज से बिल्कुल टूटकर अलग हो गया। अपनी ही सीमाओं में सर्वोचित साहित्यिक नए प्रयोगों का सहारा लिया। टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' में व्यक्ति की कुंठा और दीक्षागम्य कविता का जन्म हुआ और आज भी व्यक्तिवाद से प्रभावित अंग्रेजी कवि उसका नेतृत्व स्वीकार करते हैं। १९३० के बाद मार्क्सवादी विचारधारा और स्पेन के गृहयुद्ध ने अंग्रेजी कविता को नई स्फूर्ति दी। लेकिन दूसरे युद्ध के बाद तीव्र सामाजिक संघर्षों के बीच इस काल के अनेक कवि फिर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के उपासक हो गए। साथ ही, ऐसे कवियों का भी उदय हुआ जो अपनी व्यक्तिगत मानसिक उलझनों के बावजूद युग की मानव आस्था को व्यक्त करते रहे।

आदर्शवाद के टूटने के साथ ही उपन्यासों में व्यक्ति की मानसिक गुत्थियों, विशेषत: यौन कुंठाओं के विरुद्ध भी आवाज उठी। लारेंस, जेम्स ज्वॉयस और वर्जीनिया वुल्फ इसी धारा के प्रतिनिधि हैं। नाटकों के क्षेत्र में भी यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। नाटकों में काव्य और रोमानी क्रांतिकारी विचारों को व्यक्त करने में सबसे अधिक सफलता अंग्रेजी में लिखनेवाले आयरलैंड के नाटककारों को मिली है। आलोचना में शोध से लेकर व्याख्या तक का बहुत बड़ा काम हुआ। प्रयोगवादी साहित्यधारा के प्रधान शिक्षक टी० एस० इलियट, रिचर्ड्स, एम्पसन और लीविस हैं। इन्होंने जीवन के मूल्यों से अधिक महत्व कविता की रचनाप्रक्रिया को दिया है। साधारणतया कहा जा सकता है कि २०वीं शताब्दी के साहित्य में कला की दृष्टि से विकास, पर और दिशाहीनता की ओर रूप की दृष्टि से विघटन की प्रधानता है। उसमें स्वस्थ तत्व भी हैं और उन्हीं पर उसके भावी विकास निर्भर है।

सं० ग्रं०—कैंब्रिज हिस्ट्री आव इंग्लिश लिटरेचर, लेगुई एंड कजामिया, हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर। (च० व० सिं०)

गद्य

अंग्रेजी गद्य ने अंग्रेजी कविता, नाटक और उपन्यास के समान ही अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध किया है। बाइबिल के अनेक वाक्य अंग्रेजी राष्ट्र के मानस पर सदा के लिये गहरे अंकित हो गए हैं। इसी प्रकार शेक्सपियर, मिल्टन, गिबन, जॉन्सन, न्यूमैन, कार्लाइल और रस्किन के वाक्य अंग्रेज जाति की स्मृति में गूँजते हैं। अंग्रेजी गद्य अनेक साहित्यिक विधाओं द्वारा समृद्ध हुआ है। इनमें उपन्यास, कहानी और नाटक के अतिरिक्त निबंध, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना, इतिहास, दर्शन और विज्ञान भी सम्मिलित हैं।

अंग्रेजी गद्य का संगीत अनेक शताब्दियों से पाठकों को मोहता रहा है। यह संगीत बहुधा रोमांसवादी और भावनाप्रधान रहा है। इस गद्य में काव्य का गुण प्रचुर मात्रा में मिलता है। अंग्रेजी गद्य की तुलना में फ्रेंच गद्य की गति अधिक संतुलित और संयत रही है। एक आलोचक का कहना है कि कविता भावना को भाषा देती है, किंतु गद्य विवेक और बुद्धि की वाणी है।

अंग्रेजी गद्य ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य की परंपरा का ही विकास है। मध्य युग के बीड (६७३-७३५) अंग्रेजी गद्य के पितामह कहे जा सकते हैं। बीड की 'एक्लेजिएस्टिकल हिस्ट्री' जूलियस सीजर के आक्रमण से लेकर ७३१ ई० तक के इंग्लैंड का प्राय: आठ सौ वर्षों का इतिहास प्रस्तुत करती है। **अंग्रेजी गद्य का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ सर जॉन मैंडेविल की यात्राएँ है। यात्रावर्णन के रूप में यह पुस्तक वास्तव में काल्पनिक गाथा है।**

सन् १३७७ में मूल फ्रांसीसी से अनूदित होकर यह अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। अंग्रेजी कविता के जनक चॉसर (१३४०–१४००) का गद्यसाहित्य भी परिमाण में काफी है। उनकी 'कैंटरबरी टेल्स' में दो कहानियाँ गद्य में लिखी हैं।

अंग्रेजी गद्य को विक्लिफ (१३२४-१३८४) की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली। विक्लिफ अंधविश्वासों पर कठोर आघात करता है। उसने सर्वप्रथम बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी में किया। इसी के आधार पर बाद में बाइबिल का सन् १६११ का विख्यात संस्करण तैयार हुआ। विक्लिफ धर्म के क्षेत्र में स्वतंत्र विचारक था। उसके गद्य में बड़ी शक्ति है।

१५वीं शताब्दी तक इंग्लैंड के लेखक लातीनी गद्य में ही लिखना पसंद करते थे और शक्ति तथा प्रतिभा से संपन्न कम गद्य अंग्रेजी में लिखा गया। ऐसे लेखकों में सर जॉन फॉर्टेस्क्यू (१३९४–१४७६) का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अंग्रेजी विधान की प्रशंसा में एक पुस्तक 'दि गवर्नेन्स ऑव इंग्लैंड' लिखी। अंग्रेजी गद्य के इतिहास में कैक्स्टन (१४२१-९१) का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। उन्होंने १४७८ में मुद्रण कार्य आरंभ किया और अंग्रेजी गद्य को स्थानीय बोलियों के प्रभाव से मुक्त करके एक निश्चित रूप देने में बड़ी मदद की। कैक्स्टन ने मध्य युग के अनेक रोमांस अंग्रेजी गद्य में अनुवाद करके प्रकाशित किए। उन्होंने फ्रेंच गद्य को अपना आदर्श बनाया और अंग्रेजी गद्य के विकास में बड़ा हिस्सा लिया। कैक्स्टन के महत्वपूर्ण प्रकाशनों में सर टामस मैलोरी का 'मार्ते द आर्थर' भी था। मैलोरी की पुस्तक अंग्रेजी गद्य के इतिहास में एक स्मरणीय मील स्तंभ है।

अंग्रेजी पुनर्जागरण के पहले बड़े लेखक सर टॉमस मोर (१४७८-१५३५) हैं। उनकी पुस्तक 'यूटोपिया' विश्वविख्यात है, किंतु दुर्भाग्य से इस पुस्तक को उन्होंने लातीनी में लिखा। अंग्रेजी में उनकी केवल कुछ मामूली रचनाएँ हैं। उन्हीं के बाद ईलियट, चीक, ऐस्कम और विल्सन ने अपनी शिक्षा संबंधी पुस्तकें लिखीं।

विलियम टिंडेल (१४८४–१५३६) ने सन् १५२५ में बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी में करना शुरू किया। इस प्रशंसनीय कार्य के बदले टिंडेल को निर्वासन और मृत्युदंड मिला।

एलिजाबेथ के युग का गद्य कविता के स्तर का ही है। इसके उदाहरण लिली (१५[illegible]) और सर फिलिप सिडनी (१५५४-८६) की रचनाओं में हम पाते हैं। लिली की 'यूफ्यूज' और सिडनी की 'आर्केडिया' काव्य के गुणों से समन्वित रचनाएँ हैं। सिडनी की 'डिफेंस ऑव पोएजी' अंग्रेजी आलोचना की पहली महत्वपूर्ण पुस्तक है।

अंग्रेजी गद्य के विकास में अगला कदम ग्रीन, लॉज, नैश, डैलनी आदि के उपन्यासों का प्रकाशन है। इन लेखकों ने आत्मकथाएँ और अनेक विवादपूर्ण पुस्तकें भी लिखीं। उदाहरण के लिये ग्रीन के 'कन्फेशन' का उल्लेख हो सकता है। ओवरबरी और अर्ल नाम के लेखकों ने चारित्रिक स्केच लिखे, जिनकी प्रेरणा उन्हें ग्रीक लेखक थियोफ्रास्टस से मिली।

अंग्रेजी गद्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंश हमें एलिजाबेथकालीन नाटकों में मिलता है। भावना के गहरे क्षणों में शेक्सपियर के पात्र गद्य में बोलने लगते हैं। बेन जॉन्सन, मार्लो आदि के नाम भी अंग्रेजी गद्य के इतिहास में महत्वपूर्ण हैं।

अंग्रेजी गद्य के महान् लेखकों में पहला बड़ा नाम रिचर्ड हूकर (१५५४-१६००) का है। उनकी पुस्तक 'दि लॉज ऑव एक्लेजिआस्टिकल पॉलिटी' अंग्रेजी गद्य की उपलब्धि है। इसी समय (१६११) बाइबिल का सुप्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। बाइबिल की भाषा अंग्रेजी गद्य को अनुपम साँचे में ढालती है। वास्तव में यह गद्य काव्य के संगीत से अनुप्राणित है। फ्रांसिस बेकन (१५६१–१६२६) अंग्रेजी निबंध के जनक तथा इतिहास और दर्शन के गंभीर लेखक थे। उनकी रचनाओं में 'दि ऐडवांसमेंट ऑव लर्निंग', 'दि न्यू ऐटलैंटिस', 'हेनरी सेवेंथ', 'दि एसेज नावम् ऑर्गानम' आदि सुप्रसिद्ध हैं। बेकन की भाषा ठोस, गंभीर और सूत्र शैली की है।

रिचर्ड बर्टन (१५७६-१६४०) की पुस्तक 'दि एनाटॉमी ऑव मेलैंकली' अंग्रेजी गद्य के इतिहास में एक विख्यात रचना है। इसका पांडित्य अपूर्व है और एक गहरी उदासी पुस्तक भर में छाई रहती है। इस युग के एक महान् गद्य लेखक सर टॉमस ब्राउन (१६०५-८२) हैं। इनके गद्य का संगीत पाठकों को शताब्दियों से मुग्ध करता रहा है। इनकी महत्वपूर्ण रचनाओं में 'रिलीजिओ मेडिसी' और 'हाइड्रोटैफिया' उल्लेखनीय हैं। जेरेमी टेलर (१६१३-६७) प्रसिद्ध धर्मशिक्षक और वक्ता थे। उनकी उपमाएँ बहुत सुंदर होती थीं, उनका गद्य कल्पना और भावना से अनुरंजित है। उनकी पुस्तकों में 'होली लिविंग' और 'होली डाइंग' प्रसिद्ध हैं।

इस काल के लेखकों में मिल्टन का नाम अग्रगण्य है। तीस से लेकर पचास वर्ष की आयु तक मिल्टन ने केवल गद्य लिखा और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विवादों में जमकर भाग लिया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एरोपाजिटिका' में वे विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रश्न को ऊँचे धरातल पर उठाते हैं और आज भी उनके विचारों में सत्य की गूंज है। मिल्टन के गद्य में शक्ति और ओज का अद्भुत संयोग है। १७वीं शताब्दी के गद्यलेखकों में अन्य उल्लेखनीय नाम फुलर (१६०८-६१) और वाल्टन (१५९३-१६८३) के हैं। फुलर धार्मिक विषयों पर लिखते थे। उनकी पुस्तक, 'दि वर्दीज ऑव इंग्लैंड' प्रसिद्ध है। वाल्टन की पुस्तक, 'दि कम्प्लीट ऐंग्लर' अंग्रेजी साहित्य की अमर रचनाओं में से है।

ड्राइडन (१६३१-१७००) अंग्रेजी के प्रमुख गद्यकारों में थे। उनकी आलोचना शैली सुलझी हुई और सुव्यवस्थित थी। उनकी गद्य शैली भी फ्रेंच परंपरा के निकट है। वह चिंतन को सहज और तर्कसंगत अभिव्यक्ति देते हैं। ड्राइडन की भूमिकाओं के अतिरिक्त उनकी पुस्तक, 'एसे ऑन ड्रैमेटिक पोएज़ी' सुप्रसिद्ध है। हॉब्स (१५८८-१६७९) के राजनीतिक विचारों का ऐतिहासिक महत्व है और उनकी पुस्तक 'दि लेवायथान' अंग्रेजी भाषा की एक सुप्रसिद्ध रचना है। पेपीज (१६३२–१७०४) और एवलिन (१६२०-१७०६) की डायरियाँ अंग्रेजी साहित्य की निधि हैं। हॉब्स के समान ही लाक (१६३२-१७०४) के राजनीतिक विचारों का भी ऐतिहासिक महत्व बहुत है।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेजी गद्य जीवन की गति के सबसे अधिक निकट आया। इसका कारण फ्रेंच साहित्य का बढ़ता हुआ प्रभाव था। स्विफ्ट (१६६७-१७४५) अपनी अमर कृति 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' में अपने समय के मानवीय व्यापारों पर कठोर व्यंग करते हैं। उनके गद्य में बड़ा ओज और बल है। उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में 'ए टेल ऑव ए टब' और 'दि बैटिल ऑव दि बुक्स' भी उल्लेखनीय हैं। १८वीं शताब्दी का साहित्य उठते हुए मध्यवर्ग की भावनाओं को व्यक्त करता है और इसके गद्य की शैली भी इस वर्ग की आवश्यकताओं के अनुरूप सरल और स्पष्ट है। इस युग के सफल गद्यकारों में डिफो, एडिसन और स्टील हैं। डिफो (१६६०-१७३१) का उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' अंग्रेजी भाषा की विशेष लोकप्रिय रचनाओं में से है। उनके अन्य उपन्यास 'मॉल फ्लैंडर्स', 'ए जर्नल ऑव दि प्लेग ईयर' आदि यथार्थवादी शैली में ढले हैं। एडिसन (१६७२-१७१९) और स्टील (१६७२-१७२९) मुख्यतः निबंधकार हैं। उन्होंने 'दि टैटलर' और 'दि स्पेक्टेटर' नाम के पत्र निकालकर अंग्रेजी साहित्य में उच्च कोटि की पत्रकारिता की भी नींव रखी।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में डा० जॉन्सन (१७०९-८४) का नाम अविस्मरणीय रहेगा। वे इतिहासकार, निबंधकार, आलोचक, कवि और उपन्यासकार थे। उन्होंने एक कोश की भी रचना की। इनकी गद्य कृतियों में 'लाइव्ज ऑव दि पोएट्स', 'रासेलस' और 'प्रीफेसेज टु शेक्सपियर' अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जॉन्सन की बातचीत भी, जो बॉज़वेल लिखित जीवनी में संकलित है, उनके लेखन से कम महत्व की नहीं होती थी।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेजी उपन्यास का अपूर्व विकास हुआ। इस काल के उपन्यासकारों में गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) भी थे जिन्होंने जल के समान तरल गति का गद्य लिखा और अनेक सुंदर निबंधों की रचना की। इनकी रचनाओं में 'दि सिटिज़न ऑव दि वर्ल्ड', 'दि विकार ऑव वेकफील्ड' आदि सुविख्यात हैं। इतिहासकारों में ह्यूम, रॉबर्टसन और गिबन के नाम महत्वपूर्ण हैं। गिबन (१७३७-१७८४) अंग्रेजी गद्य के

इतिहास मे अमर है। शैली और निर्माण शक्ति की दृष्टि से उनका ग्रंथ 'डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव दि रोमन एम्पायर' एक स्मरणीय कृति है। इसी श्रेणी मे प्रसिद्ध विचारक और वक्ता बर्क (१७२६-१७६७) का नाम भी आता है। उनके गद्य मे बड़ी प्रवहमान शक्ति थी। उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लेक्शस ऑन दि फ्रेंच रिवल्यूशन' है।

फ्रासीसी क्राति से प्रभावित रोमैंटिक साहित्य मे मूलत कविता प्रमुख है। रोमैंटिक कवियो ने अपने कृतित्व के बचाव में भूमिकाएं आदि लिखी। उनमे सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य वर्ड् सवर्थ का 'प्रीफेस टु दि लिरिकल बैलड्स', कोलरिज की 'बायाग्रैफिया लिटरेरिया' और शैली की पुस्तक 'ए डिफेंस ऑव पोएट्री' है। रोमैंटिक युग का गद्य भावना और कल्पना मे अनुरजित है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर जेरेमी बेंथम, रिकार्डो और ऐडम स्मिथ ने ग्रंथ लिखे। १९वीं शताब्दी मे 'एडिनबरा रिव्यू', 'क्वार्टर्ली' और 'ब्लैकवुड' के समान पत्रिकाओं का जन्म हुआ जिन्होंने गद्य साहित्य के बहुमुखी विकास मे मदद की। १९वी शताब्दी के प्रमुख निबधकारो और आलोचकों में लैंब, हैज्लिट, ली हट और डी क्विसी के नाम अग्रगण्य हैं। लैंब (१७७५-१८३४) अंग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ निबधकार है। उनके निबंध 'एसेज ऑव इलिया' के नाम से प्रकाशित हुए। हैज्लिट (१७७८-१८३०) उच्च कोटि के निबधकार और आलोचक थे। डी क्विसी (१७८५-१८५९) की पुस्तक 'कन्फेशस ऑव ऐन ओपियम ईटर' अंग्रेजी साहित्य का अनुपम रत्न है।

विक्टोरिया युग के प्रारभ से अंग्रेजी साहित्य अधिक सतुलन और संयम की ओर अग्रसर होता है और गद्य की शैली भी अधिक सयत हो जाती है, यद्यपि कार्लाइल और रस्किन के से गद्यकारो की रचना मे हम रोमाटिक शैली का प्रभाव फिर देखते है।

मिल (१८०६-१८७३) ने अनेक ग्रथ लिखकर दार्शनिक गद्य को समृद्ध किया। इतिहासकारो मे मैकाले (१८००-१८५९) का गद्य बहुरगी और सबल था। उनके ऐतिहासिक निबध बहुत ही लोकप्रिय है। साहित्यालोचन के क्षेत्र मे मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) का कार्य विशेष महत्व का है। आर्नल्ड का चिन्तन सुस्पष्ट था और यही स्पष्टता उनकी गद्य शैली की भी विशेषता है। विचारो के क्षेत्र मे भी डारविन, हक्सले और हर्बर्ट स्पेंसर की कृतियाँ अंग्रेजी गद्य को महत्वपूर्ण देन है।

१९वी शताब्दी के गद्यकारो मे कार्लाइल, न्यूमैन और रस्किन का उल्लेख अनिवार्य है। इनके लेखन मे हमे अंग्रेजी गद्य की सर्वोच्च उड़ाने मिलती है। कार्लाइल (१७९५-१८८१) इतिहासकार और विचारक थे। उनके ग्रथ 'दि फ्रेंच रिवल्यूशन', 'पास्ट ऐंड प्रेजेंट', 'हिरोज ऐंड हिरो वर्शिप' अंग्रेजी साहित्य के उत्कृष्ट नमूने है। उनकी आत्मकथा अंग्रेजी गद्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। रस्किन कलात्मक और सामाजिक प्रश्नो पर विचार करते है। उनकी कृतियों में 'मॉडर्न पेटर्स', 'दि सेविन लैम्प्स ऑव आर्किटेक्चर', 'दि स्टोन्स ऑव वेनिस' 'अटू दिस लास्ट', आदि विख्यात है।

सन् १८९० के लगभग अंग्रेजी साहित्य एक नया मोड लेता है। इस युग के पितामह पेटर (१८३९-९४) थे। उनके शिष्य ऑस्कर वाइल्ड (१८५६-१९००) ने कलावाद के सिद्धात को विकसित किया। उनका गद्य सुदर और भड़कीला था और उनके अनेक वाक्य अविस्मरणीय होते थे। इस युग के लेखक इतिहास मे ह्रासवादी कहे जाते हैं।

आयरिश गद्य के जनक येट्स (१८६५-१९३९) थे। उनका गद्य अनुपम साँचो मे ढला है। उनके अनुगामी सिज की देन भी महत्वपूर्ण है। नाटक के क्षेत्र मे इन दोनो का बड़ा महत्व है। येट्स उच्च कोटि के कवि और चिंतक भी थे।

२०वी शताब्दी युद्ध, आर्थिक सकट और विद्रोही विचारधाराओ की शताब्दी है। विद्रोही स्वरो मे सबसे सशक्त स्वर इस युग के प्रमुख नाटककार बर्नार्ड शा (१८५६-१९५०) का था। शा और वेल्स (१८६६-१९४६) दोनो को ही समाजवादी कहा गया है। इनके विपरीत चेस्टरटन (१८७४-१९३६) और बेलॉक (१८७०-१९५३) वैज्ञानिक दर्शन के विरुद्ध खड़े हुए। ये दोनो ही उच्च कोटि के निबधकार और आलोचक थे।

आधुनिक अंग्रेजी गद्य अनेक दिशाओ मे विकसित हो रहा है। उपन्यास, नाटक, आलोचना, निबंध, जीवनी, विविध साहित्य, विज्ञान और दर्शन सभी क्षेत्रो मे हम जागृति और प्रगति के लक्षण देखते है। लिटन स्ट्रैची (१८८०-१९३२) के समान जीवनीलेखक और टी० एस० इलियट (१८८८-१९६५) के समान आलोचक और चितक आज अंग्रेजी गद्य को नई तेजस्विता और शक्ति प्रदान कर रहे है। आज के प्रमुख निबधकारो मे ए० जी० गार्डिनर, ई० वी० ल्यूकस और रॉबर्ट लिंड विशेष उल्लेखनीय हैं। अनेक कहानीकार भी आधुनिक अंग्रेजी गद्य को भरा पूरा बना रहे है। अंग्रेजी का आधुनिक गद्य सुस्पष्ट, निर्मल और सुगठित है।

सं० ग्रं०—लेगुई ऐंड कजामिया ए हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, क्रैक इग्लिश प्रोज राइटर्स, सेट्सबरी इंग्लिश प्रोज रिद्म। (प्र० च० गु०)

उपन्यास

अंग्रेजी उपन्यास विश्व के महान् साहित्य का विशिष्ट अग है। फील्डिंग, जेन ऑस्टिन, जार्ज इलियट, मेरेडिथ, टॉमस हार्डी, हेनरी जेम्स, जॉन गाल्सवर्दी और जेम्स ज्वॉयस के समान उत्कृष्ट कलाकारो की कृतियो ने उसे समृद्ध किया है। अंग्रेजी उपन्यास जीवन पर मर्मभेदी दृष्टि डालता है, उसकी समुचित व्याख्या करता है, सामाजिक अनाचारो पर कठोर आघात करता है और जीवन के मर्म को ग्रहण करने का अनतिम प्रयास करता है। अंग्रेजी उपन्यास ने अमर पात्रो की एक लबी पक्ति भी विश्वसाहित्य को दी है। वह इग्लैड के सामाजिक इतिहास की एक अपूर्व झाँकी प्रस्तुत करता है।

अंग्रेजी उपन्यास की प्रेरणा के स्रोत मध्यकालीन ऐंग्लो-सैक्सन रोमास थे, जिनकी अद्भुत घटनाओ और कथाओ ने परवर्ती कथाकारो की कल्पना को उड़ने के लिये पख दिए। यह रोमास जीवन की वास्तविकताओ के अतिरजित चित्र थे और अलेक्सादर अथवा ट्रॉय आदि के युद्धो से सबद्ध होते थे। ऐसे प्राचीन रोमास आगे चलकर गद्य रूप मे भी प्रस्तुत हुए। इनमे सर टॉमस मैलरी का 'मौर्त द'आर्थर' (१४८५) विशेष उल्लेखनीय है। गद्य मे कथा कहने का इग्लैंड मे यह पहला प्रयास था। अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास मे इसी प्रकार की अन्य कृतियाँ सर टॉमस मोर की 'यूटोपिया' (१५१६) और सर फिलिप सिडनी की 'आर्केडिया' (१५९०) थी।

कुछ इतिहासकार जॉन लिली (१५५४-१६०६) के उपन्यास 'यूफुइस' (१५८०) को पहला अंग्रेजी उपन्यास कहते है। किस रचना को पहला अंग्रेजी उपन्यास कहा जाय, इस सबध मे बहुत कुछ मतभेद सभव है, किंतु अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास मे 'यूफुइस' का उल्लेख अनायास ही आता है। इस उपन्यास की भाषा बहुत कुछ कृत्रिम और आलकारिक है तथा अंग्रेजी गद्य के विकास पर इस शैली का बहुत प्रभाव पड़ा था। अंग्रेजी दरबारी जीवन का इस उपन्यास मे सजीव और यथार्थ चित्रण है।

एलिज़ाबेथ के युग मे शेक्सपियर के पूर्ववर्ती लेखको ने अनेक उपन्यास लिखे, जिनमे से कुछ ने शेक्सपियर को उनके नाटको के कथानक भी प्रदान किए। ऐसी रचनाओ मे रॉबर्ट ग्रीन (१५६२-९२) की 'पैंडोस्टो' और टॉमस लॉज (१५५८-१६२५) की 'रोज़ेलिंड' उल्लेखनीय है। टॉमस नैश (१५६७-१६०१) पहले अंग्रेजी कथाकार थे जिन्हाने यथार्थवाद और व्यग को अपनाया। उनके उपन्यास 'दि अन्फार्चुनेट ट्रैवेलर ऑर दि लाइफ ऑव जैक विल्टन' मे जीवन के बहुरगी चित्र है। कथा का नायक विल्टन देश विदेशो मे घूमता फिरता है और कथानक घटनाओ के विचित्र जाल मे गुँथा है। एलिज़ाबेथयुगीन लेखको मे टॉमस डेलानी (१५४३-१६००) को भी उपन्यासकार कहा गया है। उनके उपन्यास 'जैक आव न्यूबरी' मे एक तरुण जुलाहे का वर्णन है जो अपने स्वामी की विधवा से विवाह करके समृद्ध जीवन बिताता है।

१७वी शताब्दी में रोमास का पुनरुत्थान हुआ, ऐसी कथाओ का जिनका उपहास 'डॉन क्विग्ज़ोट' मे किया गया है। अंग्रेजी उपन्यास को इन रचनाओ का कोई विशेष महत्व नही है। अंग्रेजी उपन्यास में एक महत्वपूर्ण

कदम जॉन बन्यन (१६२८-१६८८) का उपन्यास 'दि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' था। यह कथारूपक है जिसमें कथानायक क्रिश्चियन अनेक बाधाओं का सामना करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

डिफो (१६६१-१७३१) की रचनाओं का अंग्रेजी उपन्यास के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने यथार्थवादी शैली को अपनाया, और जीवन की गति की भाँति ही उनके उपन्यासों की गति थी। उनका उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण रचनाओं की सृष्टि की।

स्विफ्ट (१६६७-१७४५) अपने उपन्यास 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' में मानव जाति पर कठोर व्यंग्यप्रहार करते हैं, यद्यपि उस व्यंग्य को अनदेखा करके अनेक पीढ़ियों के पाठकों ने उनकी कथाओं का रस लिया है।

१८वीं शताब्दी में इंग्लैंड में चार उपन्यासकारों ने अंग्रेजी उपन्यास को प्रगति का मार्ग दिखाया। रिचर्ड्सन (१६८९-१७६१) ने अपने उपन्यासों से मध्यम वर्ग के नए पाठकों को परितोष प्रदान किया। इनके तीन उपन्यासों के नाम हैं—'पैमेला', 'क्लैरिसा हार्लो' और 'सर चार्ल्स ग्रांडीसन'। रिचर्ड्सन की रचनाएँ भावुकता से भरी थीं और उनकी नैतिकता संदिग्ध थी। इन त्रुटियों की आलोचना के लिये फील्डिंग (१७०७-१७५४) ने अपने उपन्यास, 'जोज़ेफ ऐंड्र्ज़', 'टाम जोन्स', 'एमिलिया' और 'जोनैथन वाइल्ड' लिखे। इन रचनाओं ने अंग्रेजी उपन्यास को दृढ़ धरातल और विकास के लिये ठोस परंपरा प्रदान की। १८वीं शताब्दी में जिन चार उपन्यासकारों ने अंग्रेजी उपन्यास को विशेष समृद्ध किया उनमें दो अन्य नाम स्मॉलेट (१७२१-१७७१) और स्टर्न (१७१३-१७६८) के हैं। इस शताब्दी का एक और महत्वपूर्ण उपन्यास था गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) का 'दि विकार ऑव वेकफील्ड'।

सर वाल्टर स्कॉट (१७७१-१८३२) और जेन ऑस्टिन (१७७५-१८१७) की कृतियाँ अंग्रेजी उपन्यास की निधि हैं। स्कॉट ने अंग्रेजी इतिहास का कल्पनारंजित और रोमानी चित्रण अपने उपन्यासों में किया। स्काटलैंड के जनजीवन का अनुपम अंकन भी हमें उनकी कृतियों में मिलता है। स्कॉट इंग्लैंड के सबसे सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनकी रचनाओं में 'आइवनहो', 'केनिलवर्थ' और 'दि टैलिसमान' की बहुत ख्याति है। जेन ऑस्टिन मध्यवर्गीय नारीजीवन की कुशल कलाकार हैं। वे व्यंग्य और निर्ममता से पात्रों को प्रस्तुत करती हैं। बाह्य जीवन का इतना सजीव अंकन साहित्य में दुर्लभ है। जेन ऑस्टिन की रचनाओं में 'प्राइड ऐंड प्रेजुडिस', 'एमा' और 'पर्सुएशन' की विशेष ख्याति है।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अंग्रेजी उपन्यास प्रगति के शिखर पर पहुँचा। यह डिकेन्स (१८१२-१८७०) और थैकरे (१८११-१८६३) का युग है। इस युग के अन्य महान् उपन्यासकार जॉर्ज इलियट, जॉर्ज मेरेडिथ, ट्रोलोप, हेनरी जेम्स आदि हैं। डिकेन्स इंग्लैंड के सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। उन्होंने पिकविक के समान अमर पात्रों की सृष्टि की जो अंग्रेजी के पाठकों की स्मृति में सदा के लिये घर कर चुके हैं। डिकेन्स ने अपने काल की कुरीतियों पर भी अपने साहित्य में कठोर प्रहार किया। उन्होंने बच्चों की वेदना को अपनी कृतियों में मार्मिक अभिव्यक्ति दी। कानून की उलझनों, सरकारी दफ्तरों के चक्र, फैक्टरियों में मजदूरों के कष्ट आदि विषयों का भी डिकेन्स की कृतियों में सशक्त अंकन है। उनके उपन्यासों में 'पिकविक पेपर्स', 'ऑलिवर ट्विस्ट', 'ओल्ड क्यूरिऑसिटी शॉप', 'डेविड कॉपरफील्ड', 'ए टेल ऑव टू सिटीज़', 'ग्रेट एक्सपेक्टेशन्स', आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं।

डिकेन्स के समकालीन थैकरे ने अपने युग के महत्वाकांक्षी और पाखंडी लोगों पर अपनी कृतियों में कठोर प्रहार किए। थैकरे का साहित्य परिमाण में अपेक्षाकृत कम है, किंतु आधे दर्जन स्मरणीय उपन्यासों में उन्होंने बेकी शार्प और बिट्रिक्स जैसे पात्रों की विफलता का मार्मिक अंकन किया। थैकरे के उपन्यासों में गहरी वेदना छिपी है। संसार उन्हें एक विराट् मेला प्रतीत होता था। उनके उपन्यासों में 'वैनिटी फेयर', 'हेनरी एस्मंड', 'पेन्डेनिस' तथा 'दि न्यूकम्स' विशेष महत्व के हैं।

विक्टोरिया युग में अनेक महत्वपूर्ण कलाकारों ने अंग्रेजी उपन्यास को समृद्ध किया। डिज़रेली (१८०४-१८८१) ने राजनीतिक उपन्यास लिखे, बुलवर लिटन (१८०३-१८७३) ने 'दि लास्ट डेज़ ऑव पांपेई' के से सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। चार्ल्स किंग्सली (१८१९-१८७५) ने 'वेस्टवर्ड हो' और 'हिपेशिया' के से उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी को दिए। इसी प्रकार चार्ल्स रीड (१८१४-१८८४), चार्लेट ब्रौन्टे (१८१६-१८५५), ऐमिली ब्रौन्टे (१८१८-१८४८), मिसेज़ गैस्केल (१८१०-१८६५), विल्की कॉलिन्स (१८२४-१८८९) आदि के नाम अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास में स्मरणीय हैं।

जार्ज इलियट (१८१९-१८८०) की गणना इंग्लैंड के महान् उपन्यासकारों में है, यद्यपि काल के प्रवाह ने आज उनकी कला का मूल्य कम कर दिया है। उनके विशेष सफल उपन्यासों में 'साइलस मार्नर', 'ऐडम बीड', 'दि मिल ऑन दि फ्लास' और 'रामोला' के नाम हैं। ऐंटनी ट्रौलोप (१८१५-८२) ने बारसेट नाम के क्षेत्र का अंतरंग चित्रण अपने उपन्यासों में किया और स्थानीय रंग का महत्व उपन्यास साहित्य में प्रतिष्ठित किया। मेरेडिथ (१८२८-१९०९) ने अपने पात्रों की मानसिक उलझनों की विशद व्याख्या अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की। इनमें 'इगोइस्ट' की बहुत ख्याति हुई। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) की कला में उपन्यास को अंतर्मुखी रूप देता है। टॉमस हार्डी (१८४०-१९२८) विश्व के विधान पर कठोर आघात करते हैं और मनुष्य को जीवनशक्तियों के असहाय शिकार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हार्डी ने अंग्रेजी उपन्यास को गाढ़े क्षेत्रीय रंग में भी रँगा। उनके उपन्यासों में 'दि रिटर्न ऑव दि नेटिव', 'दि मेयर ऑव कैस्टरब्रिज', 'टेस', और 'ज्यूड दि आब्स्क्योर' महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक काल में एक ओर तो मनोविश्लेषणवाद का महत्व बढ़ा जिसके कारण अंग्रेजी उपन्यास में 'चेतना के प्रवाह' नाम की प्रवृत्ति का उदय हुआ, दूसरी ओर जीवन के सूक्ष्म किंतु व्यापक रूप को समझने के प्रयास, का भी विकास हुआ। जेम्स ज्वॉयस (१८८२-१९४२) रचित 'यूलिसीज़' उपन्यास मन के सूक्ष्म और गहन व्यापारों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। उन्हीं के समान वर्जीनिया वुल्फ (१८८२-१९४१) और डॉरोथी रिचर्ड्सन भी 'चेतना के प्रवाह' की शैली को अपनाती हैं। एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६), आर्नल्ड बेनेट (१८६७-१९३१) और जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३) की कृतियाँ अंग्रेजी उपन्यास की आधुनिक शक्ति का अनुभव पाठक को कराती हैं। वेल्स सामाजिक और वैज्ञानिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में उठाते हैं। आर्नल्ड बेनेट यथार्थवादी दृष्टि से इंग्लैंड के 'पाँच नगर' शीर्षक क्षेत्र का सूक्ष्म चित्रण करते हैं। गाल्सवर्दी इंग्लैंड के उच्च मध्यवर्गीय जीवन की व्यापक झाँकी फोर्साइट नाम के परिवार के माध्यम से देते हैं। डी० एच० लॉरेन्स (१८८५-१९३०) और आल्डस हक्सले (१८९४-१९६३) आज के प्रमुख अंग्रेजी उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं। इसी श्रेणी में ई० एम० फॉर्स्टर (१८७९-१९७०), ह्यू वालपोल (१८८४-१९४१), जे० बी० प्रीस्टले (१८९४-) और सॉमरसेट मॉम (१८७४-१९५८) भी हैं।

सं० ग्रं०—सेट्सबरी : दि इंग्लिश नॉवेल; क्रास : डेवेलपमेंट ऑव दि इंग्लिश नॉवेल। (प्र० चं० गु०)

कहानी

कहानी की जड़ें हजारों वर्ष पूर्व धार्मिक गाथाओं और प्राचीन दंतकथाओं तक जाती हैं, किंतु आज के अर्थ में कहानी का आरंभ कुछ ही समय पूर्व हुआ। अंग्रेजी साहित्य में चॉसर की कहानियाँ अथवा जुलाहों के जीवन से संबंधित डेलानी की कहानियाँ पहले भी मिलती हैं, किंतु वास्तव में कहानी की लोकप्रियता १९वीं शताब्दी में बढ़ी। पत्रपत्रिकाओं की स्थापना और आधुनिक जीवन की भाग दौड़ के साथ कहानी का विकास हुआ। १८वीं शताब्दी में निबंध के साथ हमें कहानी के तत्व लिपटे हुए मिलते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में सर रॉजर डि कवर्ली से संबद्ध स्केच उल्लेखनीय हैं। १९वीं शताब्दी में हमें पूर्णत: विकसित कहानी मिलती है।

कहानी जीवन की एक झाँकी मात्र हमें देती है। उपन्यास से सर्वथा अलग इसका रूप है। कहानी की सबसे सफल परिभाषा 'जीवन का एक

प्रश' है। स्कॉट और डिकेन्स ने कहानियाँ लिखी थी। डिकेन्स ने अपना साहित्यिक जीवन ही 'स्केचेज बाइ बौज' नाम की रचना से शुरू किया था, यद्यपि इनकी वास्तविक देन उपन्यास के क्षेत्र मे है। ट्रोलोप और मिसेज गैस्केल ने भी कहानियाँ लिखी थी, किंतु कहानी के सर्वप्रथम बड़े लेखक वाशिंगटन अरविंग, हॉथॉर्न, ब्रेट हार्ट और पो अमरीका मे हमे मिलते हैं। अरविंग (१७८३–१८५९) की 'स्केच बुक' अपूर्व कहानियो का भांडार है। इनमे सबसे सफल 'रिप वान विंकिल' है। हाथार्न (१८०४-६४) की कहानियाँ हमे परीलोक के स्वप्न दिखाती है। ब्रेट हार्ट (१८३६-१६०२) की कहानियो मे अमरीका की पश्चिम की बस्तियो के अव्यवस्थित जीवन का दिग्दर्शन है। पो (१८०६-१८४६) विश्व के सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक कहे जाते हैं। उनकी कहानियाँ भय, आतंक और आश्चर्य से पाठक को अभिभूत कर डालती है।

इग्लैंड मे स्टीवेन्सन (१८५०–१८६४) ने कहानी को प्रौढता प्रदान की। उनकी 'मार्खेइम', 'विल ओ' दि मिल' और 'दि बाटल इम्प' आदि कहानियाँ सुप्रसिद्ध हैं। हेनरी जेम्स (१८४३-१६१६) उपन्यासो के अतिरिक्त कहानी लिखने मे भी बहुत कुशल थे। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे उनकी सफलता अपूर्व थी। ऐंब्रोज बीयर्स (१८४२-१६१३) कोमल और सश्लिष्ट भावनाओ को व्यक्त करने में अत्यंत कुशल थे। कैथरीन मैन्सफील्ड (१८८८-१६२३) सुकुमार क्षणो का चित्रण ब्रुश के हल्के आघातो के समान करती हैं।

२०वी शताब्दी के सभी बडे उपन्यासकारो ने कहानी को अपनाया। यह १६वी सदी की परंपरा मे ही एक आगे बढा हुआ कदम था। टॉमस हार्डी की 'वेसेक्स टेल्स' के समान एच० जी० वेल्स, कॉनरड, आर्नल्ड बेनेट, जॉन गाल्सवर्दी, डी०एच० लॉरेन्स, आल्डस हक्स्ले, जेम्स ज्वॉयस, सॉमरसेट मॉम आदि ने अनेक सफल कहानियाँ लिखी।

एच० जी० वेल्स (१८६६-१६४६) वैज्ञानिक विषयो पर कहानी लिखने मे सिद्धहस्त थे। उनकी 'स्टोरीज ऑव टाइम ऐंड स्पेस' बहुत ख्याति पा चुकी है। कॉनरड (१८५६–१६२४) पोलैंड निवासी थे, किंतु अंग्रेजी कथासाहित्य को उनकी अद्भुत देन है। आर्नल्ड बेनेट (१८६७-१६३१) पाँच कस्बो के क्षेत्रीय जीवन से सबंधित कहानियाँ, जैसे 'टेल्स ऑव दि फ़ाइव टाउन्स', लिखते थे। जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१६३३) की कहानियाँ गहरी मानवीय सवेदना मे डूबी हैं। उनका कहानी सग्रह, 'दि कैरवन' अंग्रेजी मे कहानी के अत्यंत उच्च स्तर का हमे परिचय देता है। डी० एच० लॉरेन्स (१८८५-१६३०) की कहानियो का प्रवाह धीमा है और वे उलझी मानसिक गुत्थियो के अध्ययन प्रस्तुत करती है। उनका कहानी सग्रह 'दि वूमन हू रोड अवे' सुप्रसिद्ध है। आल्डस हक्स्ले (१८६४-१६६३) अपनी कहानियो मे मनुष्य के चरित्र पर व्यंगभरे आघात करते है। उन्हे जीवन मे मानो श्रद्धा के योग्य कुछ भी नही मिलता। जेम्स ज्वॉयस (१८८२-१६४१) अपनी कहानियाँ 'डब्लिनर्स' मे डब्लिन के नागरिक जीवन की यथार्थवादी झाँकियाँ पाठक को देते है। सॉमरसेट मॉम (१८७४–१६५८) अपनी कहानियो मे ब्रिटिश साम्राज्य के दूरस्थ उपनिवेशो का जीवन व्यक्त करते हैं। आज की अंग्रेजी कहानी मानव चरित्र के निकृष्टतम रूपो पर ध्यान केंद्रित करती है। इसके कारण युद्ध का सकट, पाश्चात्य जीवन की विशृंखलता, और मानवीय मूल्यो का विघटन है। शिल्प की दृष्टि से आज कहानी का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका है, किंतु साथ ही उसके भीतर निहित मूल्यो का ह्रास भी हुआ है।

सं० ग्रं०—लेगुई ऐंड कजामिया . ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर, बार्कर : दि शार्ट स्टोरी। (प्र० च० गु०)

कविता

प्राचीन काल (६५०-१३५० ई०)—बहुत समय तक १४वी सदी के कवि चॉसर को ही अंग्रेजी कविता का जनक माना जाता था। अंग्रेजी कविता की केंद्रीय परपरा की दृष्टि से यह धारणा सर्वथा निर्मूल भी नही है। लेकिन वशानुगतिकता के आधार पर अब चॉसर के पूर्व की सारी कविता का अध्ययन प्राचीन काल के अंतर्गत किया जाने लगा है।

नार्मन विजय ने इग्लैंड की प्राचीन ऐंग्लो-सैक्सन संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला और उसे नई दिशा दी। इसलिये प्राचीनकाल के भी दो स्पष्ट विभाजन किए जा सकते हैं—उद्भव से नार्मन विजय तक (६५०–१०६६ ई०), और नार्मन विजय से चॉसर के उदय तक (१०६६-१३५० ई०)। भाषा की दृष्टि से हम इन्हे क्रमश ऐंग्लो सैक्सन या प्राचीन अंग्रेजी काल और प्रारंभिक मध्यदेशीय अंग्रेजी (मिडिल इंग्लिश) काल भी कह सकते हैं।

प्राचीन अंग्रेजी कविता—लगभग ५०० वर्षों तक प्राचीन अंग्रेजी मे कविताएँ लिखी जाती रही लेकिन आज उनका अधिकाश केवल चार हस्तलिखित प्रतियो मे प्राप्त है। उस काल की सारी कविता का ज्ञान इनके अतिरिक्त दो चार और रचनाओ तक ही सीमित है।

ऐंग्लो-सैक्सन कबीले ट्यूटन जाति के थे जो प्रकृति और प्राकृतिक देवी देवताओ के पूजक थे। वे अपने साथ साहसिक जीवन और युद्धो के बीच पैदा हुई कविता की मौखिक परपरा भी इग्लैंड ले आए। छठी शताब्दी के अंतिम वर्षों मे उन्होने व्यापक पैमाने पर ईसाई धर्म की दीक्षा ली। इस प्रकार प्राचीन अंग्रेजी कविता सांस्कृतिक दृष्टि से बर्बर सभ्यता और ईसाइयत का सगम है। एक ओर 'विडसिथ', 'वान्डियर', 'बेवुल्फ', 'दि फाइट ऐट फिन्सबर्ग', 'ब्रूननबर्ग' और 'दि बैटिल ऑव माल्डॉन' जैसी, पराक्रमपूर्ण अभियानो और युद्धो की गाथाओ मे ईसाई धर्म की सदाशयता, करुणा, रहस्यात्मकता, आध्यात्मिक निराशा और नैतिकता की छाया है तो दूसरी ओर सातवी शताब्दी के कैडमन और आठवी नवी के सिनउल्फ की बाइबिल की कथाओ और सतो की जीवनियो पर लिखी कविताओ मे पुरानी वीरगाथाओ का रूप अपनाया गया है। उपदेश की प्रवृत्ति के कारण प्राचीन अंग्रेजी कविता मे गीतिकाव्य 'डियार्स लेमेंट' जैसे नाटकीय गीतो और 'दि वाडरर', 'दि सीफेयरर', 'दि रुइन', 'दि वाइफ्स कप्लेंट' जैसे शोकगीतो तक सीमित है। एक छोटा सा अंश पहेलियो और हास्यपूर्ण कथोपकथनो का भी है।

प्राचीन अंग्रेजी कविताएँ अत्यंत अलकृत और अस्वाभाविक भाषा मे लिखी गई है। शब्दक्रीडा इन कवियो का स्वभाव है और एक एक शब्द के कई पर्याय देने मे उन्हे बडा आनंद आता है।

प्राचीन अंग्रेजी कविता मे पद्यरचना का आधारभूत सिद्धात अनुप्रास है। यह व्यंजनमुखर भाषा है और व्यजनो के अनुप्रास पर ही पक्तिया की रचना होती है। प्रत्येक पक्ति के दो भाग होते है जिनमे से पहले मे दो और दूसरे म एक निकटतम वर्णों मे यह स्वराघातपूर्ण अनुप्रास रहता है। इन कविताओ म तुको का सर्वथा अभाव है।

प्रारंभिक मध्यदेशीय अंग्रेजी काल—नार्मन विजय इग्लैंड पर फ्रांस की सांस्कृतिक विजय भी थी। इसके बाद लगभग २०० वर्षों तक फ्रेंच भाषा अभिजातो की भाषा बनी रही। पुरानी आनुप्रासिक कविता की परपरा लगभग समाप्त हो गई। दूसरे शब्दो मे, यह पुरानी गाथाओ पर रोमानियत की विजय थी। साथ ही अनुप्रासो की जगह अब तुको ने ले ली। १२वी शताब्दी मे इस प्रकार की नई कविता का अद्भुत विकास फ्रांस और स्पेन म हुआ। यह युग इस्लाम के विरुद्ध ईसाइयो के धर्मयुद्धो (क्रुसेड) का था और प्रत्येक ईसाई सरदार अपने को नाइट (सूरमा) के रूप मे चित्रित देखना चाहता था। फ्रांस के वैतालिको और चारणो ने गाथाओ का निर्माण किया। इनके प्रधान तत्व शौर्य, प्रेम, ईश्वरभक्ति, अज्ञात के प्रति आकर्षण और कभी कभी कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियो की अभिव्यक्ति थे। फ्रांस के गीतों और इग्लैंड के आर्थर की गाथाओ तथा केल्टी दंतकथाओ के अतिरिक्त लातीनी प्रेमगाथाओ ने भी इस काल की कविता को समृद्ध किया। इस तरह १३वी शताब्दी मे लौकिक और धार्मिक दोनो तरह की गीतिप्रधान कविताओ के कुछ उत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत हुए। यूरोपीय सगीत, फ्रेंच छद और पदरचना तथा वैतालिको और चारणो की उदात्त कल्पना ने मिलकर इस युग की कविता को सँवारा। १२वी और १३वी सदी की कुछ प्रसिद्ध रचनाओ मे 'द आउल ऐंड दि नाइटिंगेल', 'आरम्यूलम', 'कर्सर मडाइ', 'हैवेलाक दि डेन', 'आर्थर ऐंड मर्लिन', 'ग्रिक ऑव कान्शस', 'डेम सिरिथ', 'ब्रूट' इत्यादि है। लेकिन इसमे सदेह नही कि इस युग की अधिकाश कविता उच्च

कोटि की नहीं है। १४वीं सदी के उत्तरार्ध ने पहले पहल चॉसर और उनके अतिरिक्त कुछ और महत्वपूर्ण कवियों का उदय देखा। इस प्रकार मध्यदेशीय अंग्रेजी (मिडिल इंग्लिश) का प्रारंभिक काल उपलब्धियों से अधिक प्रयत्नों का था।

चॉसर से पुनर्जागरण तक—चॉसर (१३४० ?–१४०० ई०) ने मध्यदेशीय अंग्रेजी कविता के अनेक तत्व ग्रहण किए। लेकिन उसने उसके रूप और वस्तु में क्रांति कर बाद के अंग्रेजी कवियों के लिये एक नई परंपरा स्थापित की। उसकी समृद्ध भाषा और शैली को स्पेंसर ने "अंग्रेजी का पावन स्रोत" कहा और उसमें काव्य और जीवन की विविधता की ओर संकेत करते हुए ड्राइडन ने कहा : "यहाँ पर ईशसुलभ प्रचुरता है।"

चॉसर की कविता रस और अनुभवसिद्ध उदारचेता व्यक्ति की कविता है। उसे दरबार, राजनीति, कूटनीति, युद्ध, धर्म, समाज और इटली तथा फ्रांस जैसे सांस्कृतिक केंद्रों का व्यापक ज्ञान था। उसने अंग्रेजी कविता को ऐकांतिकता और संकुचित दृष्टिकोण से मुक्त किया। मध्ययुगीन यूरोप की सामंती संस्कृति के दो प्रमुख रोमानी तत्वों, दाक्षिण्य (कर्टसी) और माधुर्य (प्रेम) का आदर्श फ्रेंच, जर्मन और स्पेनी भाषाओं में प्रस्तुत हो चुका था। इंग्लैंड में चॉसर और उसके समसामयिक कवि गॉवर (१३३०-१४०८) ने उस आदर्श को समान सफलता के साथ अंग्रेजी कविता में प्रतिष्ठित किया।

मध्यदेशीय अंग्रेजी को फ्रेंच कविता के उदात्त भाव और उसकी अभिव्यक्ति की स्वच्छता, सुघरता और सरसता देने के कारण प्राय: चॉसर को 'अंग्रेजी में लिखनेवाला फ्रेंच कवि' कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि चॉसर ने प्रसिद्ध प्रेमगाथा 'दि रोमांस ऑव् दि रोज़' और अपने पूर्ववर्ती या समकालीन फ्रेंच कवियों, माशो (Machaut), देशां, (Deschamps) फ्वासार (Froissart), और ग्रांज़ा (Granson) से बहुत कुछ सीखा। 'दि बुक ऑव डचेस', 'दि पार्लियामेंट ऑव फाउल्स', 'दि हाउस ऑव फ़ेम' आदि उसकी प्रारंभिक रचनाओं और 'दि लीजेंड ऑव गुड विमन' की प्रस्तावना में यह प्रभाव देखा जा सकता है। इनमें प्रतीक योजना या रूपक (अलेगरी), स्वप्न, आदर्श प्रेम, मधु प्रात, कलरवमग्न पक्षी इत्यादि फ्रेंच कविता की अनेक विशेषताओं का समावेश है। चॉसर की छंदरचना पर भी उसका व्यापक प्रभाव है।

१३७२ ई० में चॉसर की प्रथम इटली यात्रा के बाद उसकी कविता में एक और नया तत्व आता है। दांते, पेत्रार्क और बोक्काच्चो ने उसे न केवल नए विषय दिए बल्कि नई दृष्टि भी दी। इनमें से अंतिम कवि ने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया। बोक्काच्चो से अनेक कथाएँ लेने के अतिरिक्त चॉसर ने वर्णन की निपुणता, आकर्षक चित्रयोजना और आवेगपूर्ण अभिव्यक्ति की कला सीखी। उसकी प्रसिद्ध रचना 'ट्रायलस ऐंड क्रेसिड' पर यह नया प्रभाव स्पष्ट है। लेकिन चॉसर की प्रतिभा केवल ऋण पर जीवित रहनेवाली नहीं थी, उसने अनेक प्राचीन कथाओं को यथार्थ और नाटकीय चरित्रचित्रण, विनोद और व्यंग्य और उत्साहपूर्ण वर्णन से अत्यंत सजीव कर दिया।

चॉसर की अंतिम और महान् कृति 'दि कैंटरबरी टेल्स' में उसकी प्रतिभा अपनी सारी शक्ति के साथ प्रकट हुई। यह रचना उसके समाज का चित्र है और अपने यथार्थवाद के कारण इसने फ्रांस और इटली की तत्कालीन कविता को बहुत पीछे छोड़ दिया। इस रचना में चॉसर ने अपना सारा ज्ञान और मानव जीवन का अध्ययन उँडेल दिया। इसमें यथार्थ चरित्रचित्रण और चरित्रों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा चॉसर ने नाटक और उपन्यास के भावी विकास को भी प्रभावित किया। उदार व्यंग्य और विद्रूप की परंपरा भी इसी कृति से प्रारंभ हुई।

चॉसर में छंदों के प्रयोग की अद्भुत क्षमता थी। 'ट्रायलस ऐंड क्रेसिड' में प्रयुक्त सात पंक्तियों का 'राइम रायल' और 'दि कैंटरबरी टेल्स' में प्रयुक्त दशवर्णी तुकांत द्विपदी का व्यापक प्रयोग आगे की अंग्रेजी कविता में हुआ।

चॉसर के समसामयिकों में गॉवर का स्थान भी ऊँचा है। उसकी रचना 'कन्फ़ेसियो अमांटिस' की प्रेम कहानियों पर नैतिकता का गहरा पुट है। इसलिये उसे 'सदाचारी गॉवर' भी कहा गया। उसमें चॉसर की यथार्थवादिता और विनोदप्रियता नहीं है। वह प्रतिभा से अधिक स्वच्छ शिल्प का कवि है।

विलियम लैंगलैंड १४वीं शताब्दी की अत्यंत प्रसिद्ध रचना 'पियर्स प्लाउमन' का कवि है। उसने अंग्रेजी की सानुप्रासिक शैली का व्यवहार किया। लेकिन उसकी कविता उस युग के सामाजिक और धार्मिक पाखंडों को विरुद्ध चुनौती है। उसमें जीवन के लिये धर्म और उसकी रहस्यभावना के महत्व की स्थापना है। पूरी रचना रूपक है और उसके अर्थ के कई स्तर हैं। लेकिन लैंगलैंड ने कथा के अंशों को सफलता के साथ एकान्वित किया है। लैंगलैंड में चॉसर और गॉवर का माधुर्य नहीं, वह आक्रोश और ओज का कवि है।

इसी युग में कुछ और भी सानुप्रासिक रचनाएँ हुई जिनमें 'सर ग्वाइन ऐंड दि ग्रीन नाइट' और 'पर्ल' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये क्रमश: आर्थर की गाथा और 'दि रोमांस ऑव दि रोज़' पर आधारित हैं। पहली में चरित्रचित्रण की सूक्ष्म दृष्टि और प्रकृति के असाधारण रूपों और स्थितियों के प्रति मोह व्यक्त होता है और दूसरी रचना अवसादपूर्ण कोमल भावनाओं और रहस्यानुभूति से ओतप्रोत है।

चॉसर की मृत्यु और पुनर्जागरण के बीच का समय अर्थात् पूरी १५वीं शताब्दी कविता की दृष्टि से अनुर्वर है। चॉसर के अनेक और लैंगलैंड के कुछ अनुयायी इंग्लैंड और स्कॉटलैंड में हुए। लेकिन उनमें से अधिकांश की कविता निर्जीव है। ऑक्लीव, लिडगेट, हॉज, बार्कले और स्केल्टन जैसे अंग्रेज अनुयायियों से कहीं अधिक शक्तिशाली स्कॉटलैंड के अनुयायी राबर्ट हेनरीसन, विलियम डनबर और जेम्स प्रथम थे, क्योंकि उन्होंने अपनी बोली, अपनी भूमि के प्राकृतिक सौंदर्य और अनुभूतियों की सच्चाई का अधिक ध्यान रखा।

इस शताब्दी की महत्वपूर्ण रचनाओं में धर्म, प्रेम तथा पराक्रम संबंधी गीतों और बैलडों का उल्लेख किया जा सकता है। व्यंग्य और विनोदपूर्ण कविताएँ भी लिखी गईं।

पुनर्जागरण युग—मध्ययुगीन संस्कृति के अवशेषों के बावजूद १६वीं शताब्दी इंग्लैंड में पुनर्जागरण के मानवतावाद का उत्कर्ष काल है। यह मानवतावाद सामंती व्यवस्था के धर्म, समाज, नैतिकता और दर्शन के विरुद्ध व्यापारी पूँजीपतियों के नए वर्ग की विचारधारा था। इसी वर्ग की प्रेरणा से धर्म-सुधार-आंदोलन (रिफार्मेशन) हुआ, ज्योतिष और विज्ञान में क्रांतिकारी अनुसंधान हुए, धन और नए देशों की खोज में साहसिक सामुद्रिक यात्राएँ हुईं। मानवतावाद ने व्यक्ति के ज्ञान और कर्म की अमित संभावनाओं के साथ साथ साहित्य में प्रयोगों और कल्पना की मुक्ति की घोषणा की।

१६वीं शताब्दी—इंग्लैंड में इटली, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के काफी बाद आने के कारण यहाँ का पुनर्जागरण इन देशों, विशेषत: इटली, से अत्यधिक प्रभावित हुआ। पुनर्जागरण के प्रथम दो कवियों में सर टॉमस वायट (१५०३–४२) और अर्ल ऑव सरे (१५१७-४७) हैं। वायट ने पेत्रार्क के आधार पर अंग्रेजी में सॉनेट लिखे और इटली से अनेक छंद उधार लिए। सरे ने सॉनेट के अतिरिक्त इटली से अतुकांत छंद लिया। इन कवियों ने प्राचीन यूनानी साहित्य और पेत्रार्क इत्यादि की पैस्टरल कविता की रूढ़ियों को अंग्रेजी में आत्मसात् किया तथा अनेक सुंदर और तरल गीत लिखे।

इस तरह उन्होंने एलिज़ाबेथ के शासनकाल के अनेक बड़े कवियों के लिये जमीन तैयार की। इनमें सबसे पहले एडमंड स्पेंसर (१५५२-९९) और सर फिलिप सिडनी उल्लेखनीय हैं। मृत्यु के बाद प्रकाशित सिडनी की रचना 'ऐस्ट्रोफ़ेल ऐंड स्टेला' (१५९१) ने कथाबद्ध सॉनेट की परंपरा को जन्म दिया। इसके पश्चात् तो ऐसे सॉनेटों की एक परंपरा चल निकली और डेनियल, लॉज, ड्रेटन, स्पेंसर, शेक्सपियर और अन्य कवियों ने इसे अपनाया। इनमें रूढ़ियों के कारण वास्तविक और काल्पनिक प्रेमी प्रेमिकाओं का भेद करना आसान नहीं, लेकिन सिडनी और कई अन्य कवियों, जैसे ड्रेटन, स्पेंसर और शेक्सपियर का प्रेम केवल वायवी प्रेम नहीं है। सिडनी ने लिखा : 'फूल', सेड माइ म्यूज़ टु मी, 'लुक इन दाइ हार्ट ऐंड राइट।'

विचारों में संस्कार तथा चारुता और काव्य में व्यापकता और विविधता की दृष्टि से स्पेंसर को इंग्लैंड में पुनर्जागरण का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। उसने प्राचीन यूनान से लेकर आधुनिक यूरोप की साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा को अपने युग के सांस्कृतिक और साहित्यिक जागरण से समन्वित किया। उदाहरण के लिये, उसकी प्रसिद्ध रचना 'दि फेयरी क्वीन' का कथानक मध्ययुगीन है, लेकिन उसकी आत्मा मानवतावाद की है। गोपगीत (पैस्टरल), मर्सिया (एलेजी), व्यंग्य और विद्रूप, सॉनेट, रूपक, प्रेमकाव्य, महाकाव्य जैसे अनेक रूपों से उसने अंग्रेजी कविता की सीमाओं का विस्तार किया। उसने भाषा को इंद्रियबोध, संगीत और चित्रमयता दी। छंदों के प्रयोग में भी वह अद्वितीय है। इसीलिये उसे 'कवियों का कवि' कहा जाता है।

एलिजाबेथ के शासनकाल में गीति की परंपरा और भी विकसित हुई। एक ओर ओविद के अनुकरण पर शृंगारपूर्ण गीतों, जैसे मार्लो के 'हीरो ऐंड लियंडर' और शेक्सपियर के 'वीनस ऐंड अडोनिस' और 'रेप ऑव लुक्रीस' की रचना हुई, तो दूसरी ओर बैलडों और लोकगीतों की परंपरा में ऐसे गीतों की जिनमें उस काल के अनेक पक्ष—युद्ध और प्रेम से लेकर तंबाकू तक—प्रतिबिंबित हुए। इनपर इटली के संगीत का प्रभाव स्पष्ट है। ऐसे मस्ती भरे, सरल, मधुर और सुघर गीत लिली, पील, ग्रीन, डेकर और शेक्सपियर के नाटकों के अतिरिक्त विलियम बर्ड, टॉमस मार्लो, टॉमस कैंपियन, लॉज, रॉली, ब्रेटन, वाट्सन, नैश, डन और कांस्टेबिल की रचनाओं में बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। इन कवियों ने अंग्रेजी कविता में 'वैतालिक पखेरुओं का घोंसला' बनाया।

१६वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में अतुकांत छंद का विकास भी है। मार्लो और शेक्सपियर ने अरुद्धचरणांत वाक्यों द्वारा इसमें आर्केस्ट्रा के संगीत अनुच्छेद की शैली का विकास किया। मार्लो ने यदि इसे प्रपात का वेग और उच्चस्वरता दी तो शेक्सपियर ने यतियों की विविधता से इसे सूक्ष्म चिंतन से लेकर साधारण वार्तालाप तक की क्षमता दी। संक्षेप में १६वीं सदी के कवियों में आत्मविश्वास का स्वर है। उनकी कविता निसर्ग ('नेचर') की तरह नियमबद्ध किंतु उन्मेषपूर्ण, शब्दों और चित्रों में उदार और अलंकृत, संगीत, लय और ध्वनि में मुखर, तुकों और छंदों में व्यवस्थित और स्पर्श, रूप, रस और गंध में प्रबुद्ध है।

१७वीं सदी पूर्वार्ध—एलिजाबेथ के बाद का समय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में संघर्ष और संशय का था। कवि अपने परिवेश की अतिशय बौद्धिकता और अनुदारता से त्रस्त जान पड़ते हैं। स्पेंसर के शिष्य ड्रमंड, डैनियल, चैपमन और ग्रेविल भी इससे अछूते नहीं हैं। इस सदी के पूर्वार्ध में कविता का नेतृत्व बेन जॉन्सन (१५७२-१६३७) और जॉन डन (१५७२-१६३१) ने किया। उनकी काव्यधाराओं को क्रमशः 'कैवेलियर' (दरबारी) और 'मेटाफिजिकल' (अध्यात्मवादी) कहा जाता है। इस विभाजन के बावजूद उनमें बौद्धिकता, कविताओं और गीतों की लघुता, रति और शृंगार, ईश्वर के प्रति भक्ति और उसमें भय इत्यादि समान गुण हैं। एलिजाबेथ युग की कविता के औदार्य के स्थान पर उनमें घनत्व है।

बेन जॉन्सन इंग्लैंड का प्रथम आचार्य कवि है। उसने कविता को यूनानी और लातीनी काव्यशास्त्र के साँचे में ढाला। उसकी कविता में बुद्धि और अनुभूति के संयम के अनुरूप नागरता, रचनासंतुलन और प्रांजलता है। इसी प्रवृत्ति से बेन जॉन्सन की संतुलित, न्यायनिष्ठ और सूक्तिप्रधान दशवर्णी द्विपदों (हिरोइक कपलेट) का जन्म हुआ, जो चॉसर की द्विपदी से बिलकुल भिन्न प्रकार की है और जो १८वीं शताब्दी की कविता पर छा गई। उसके प्रसिद्ध 'आत्मजों' में रॉबर्ट हेरिक, टॉमस केरी, जॉन सकलिंग और रिचर्ड लवलस हैं। इनकी कला और अनुभूति में भी मूलतः वही आदर्शवादी और व्यक्तिवाद से पराङ्मुखी स्वर है।

मेटाफिजिकल कविता की प्रवृत्ति व्यक्तिगत अनुभव और अभिव्यक्ति के अन्वेषण की है। डन के शब्दों में यह 'नग्न चिंतनशील हृदय' की कविता है। डा० जॉन्सन के शब्दों में इसकी विशेषताएँ परस्पर विरोधी विचारों और बिंबों का सायास संयोग और बौद्धिक सूक्ष्मता, मौलिकता, व्यक्तीकरण और दीक्षागम्य ज्ञान हैं। लेकिन आधुनिक युग ने उसका अधिक सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन करते हुए उनकी इन विशेषताओं पर अधिक जोर दिया है—गंभीर चिंतन के साथ कटाक्ष और व्यंग्यपूर्ण कल्पना, विचार और अनुभूति की अन्विति, आंतरिक तनाव और संघर्ष, अलंकृत बिंबों के स्थान पर अनुभूति या विचारप्रसूत मार्मिक बिंबों की योजना और ललित अभिव्यक्ति के स्थान पर यथार्थवादी अभिव्यक्ति।

१७वीं शताब्दी के कवियों में जॉन मिल्टन (१६०८-७४) का व्यक्तित्व ऊँचे शिखर की तरह है। उसके लिये चिंतन और कर्म, कवि और नागरिक अभिन्न थे। पूर्ववर्ती पुनर्जागरण और परवर्ती १८वीं शताब्दी की राजनीतिक और दार्शनिक स्थिरता से वंचित, संक्रांति काल का कवि होते हुए भी मिल्टन ने मानव के प्रति असीम आस्था व्यक्त की। इस तरह वह ईसाई मानवतावादियों में सबसे अंतिम और सबसे बड़ा कवि है। मध्ययुगीन अंकुशों के विरुद्ध नई मान्यताओं के लिये उसने कविता के अतिरिक्त केवल गद्य में लगातार बीस वर्षों तक संघर्ष किया और अपनी आँखें भी खा दीं।

मिल्टन के अनुसार कविता को 'सरल, सरस और आवेगपूर्ण' होना चाहिए। अपनी प्रारंभिक रचनाओं—'ऑन दि मॉर्निंग ऑव क्राइस्ट्स नेटिविटी', 'ल एलग्रो', 'पेन्सेरोसो', 'कोमस' और 'लिसिडास'—में वह बेन जॉन्सन और मुख्य रूप से स्पेंसर से प्रभावित रहा, किंतु लंबे विराम के बाद लिखी हुई तीन अंतिम रचनाओं, 'पैराडाइज लॉस्ट', 'पैराडाइज रीगेंड' और 'सैम्सन एगनाइस्टीज' में उसकी चिंतनशक्ति और काव्यप्रतिभा का उत्कर्ष है। अपनी महान् कृति 'पैराडाइज लॉस्ट' में उसने अंग्रेजी कविता को होमर, वर्जिल और दांते का उदात्त स्वर दिया। उसमें उसने अंग्रेजी कविता में पहली बार महाकाव्य के लिये अतुकांत छंद का प्रयोग किया और भाषा, लय और उपमा को नई भंगिमा दी।

१६६० ई० से लेकर शताब्दी के अंत तक की अवधि का सबसे बड़ा कवि जॉन ड्राइडन (१६३१–१७००) है। यह अंग्रेजी कविता में प्रखर कल्पना और अनुभूति की जगह काव्यशास्त्रीय चेतना, तर्क और व्यवहारकुशल सामाजिकता के उदय का युग है। इस नए मोड़ के पीछे काम करनेवाली शक्तियों में उस युग के राजनीतिक दलों के संघर्ष, फ्रांस के रंग में रँगे हुए चार्ल्स द्वितीय का दरबार, फ्रांस के नए रीतिकारों के आदर्श, कॉफी हाउसों और मनोरंजनगृहों का उदय और नागरिक जीवन का महत्व इत्यादि हैं। स्वभावतः, इस युग की कविता का आदर्श सरल, स्पष्ट, संतुलित, सूक्तिप्रधान, फलयुक्त अभिव्यक्ति है। ड्राइडन की व्यंग्यपूर्ण कविताओं—'ऐबसेलम ऐंड आर्कीटोफेल', 'मेडल' और 'मैक्फ्लेक्नो' में ये गुण प्रचुरता से हैं। नीति की कविता में वह अद्वितीय है। ड्राइडन में गीतिकाव्य की परंपरा के भी तत्व हैं। लेकिन कुल मिलाकर उसकी कविता बुद्धिवादी युग की पूर्वपीठिका ही है। ड्राइडन को छोड़कर यह युग छोटे कवियों का है जिनमें सबसे उल्लेखनीय, प्रसिद्ध और लोकप्रिय व्यंग्यकृति 'हुडिब्राज' का कवि सैमुएल बटलर है।

१८वीं शताब्दी : तर्क या रीतिप्रधान युग—१८वीं शताब्दी अपेक्षाकृत राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता का काल है। इसमें इंग्लैंड के साम्राज्य, वैभव और आंतरिक सुव्यवस्था का विस्तार हुआ। इस युग के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के अनुसार यंत्र की तरह नियमित सृष्टि तर्क और गणितगम्य है और धर्म की 'डीइस्ट' (प्रकृति देववादी) विचारधारा के अनुसार धर्म श्रुतिसंमत न होकर नैसर्गिक और बुद्धिगम्य है। साहित्य में यह तर्कवाद रीति के आग्रह के रूप में प्रकट हुआ। कवियों ने अपने ढंग से यूनान और रोम के कवियों का अनुकरण करना अनिवार्य समझा। इसका अर्थ था कविता में तर्क, नीर-क्षीर-विवेक और संतुलित बुद्धि की स्थापना। काव्य में शुद्धता को उन्होंने अपना मूलमंत्र बनाया। इस शुद्धता की अभिव्यक्ति विषयवस्तु में सार्वजनीनता (ह्वाट ऑफ्ट वाज़ थॉट बट नेवर सो वेल एक्सप्रेस्ड), भाषा में पदलालित्य, छंद में दशवर्णी द्विपदी में अत्यधिक संतुलन और यतियों में अनुशासन के रूप में हुई।

इस कविता का पौरोहित्य अलेक्जैंडर पोप (१६८८-१७४४) ने किया। उसके आदर्श रोम के जुवेनाल और होरेस, फ्रांस के ब्वालो (Boileau) और इंग्लैंड के ड्राइडन थे। काव्यसिद्धांतों पर लिखी हुई अपनी पद्यरचना

'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' में उसने प्रतिभा और रुचि तथा इन दोनों को अनुशासित रखने की आवश्यकता बतलाई। उसकी अधिकांश कृतियाँ व्यंग्य और विद्रूपप्रधान हैं और उनमें सबसे प्रसिद्ध 'दि रेप ऑव दि लॉक' और 'डंसियड' हैं जिनमें उसने कृत्रिम उदात्त (मॉक हिरोइक) शैली का अनुसरण किया। उसके काव्यों की ममता बरछी की नोक से की जाती है। उसका रचना 'एसे ऑन मैन' मानव जीवन के नियमों का अध्ययन है। इसपर उसके बुद्धिवादी युग की छाप स्पष्ट है।

उसके युग के अन्य व्यंग्यकारों में प्रायर, गे, स्विफ्ट और पारनेल हैं। इस बुद्धिवादी और व्यंग्यप्रधान युग में ही ऑलिवर गोल्डस्मिथ, लेडी विंचेल्सिया, जेम्स टाम्सन, टॉमस ग्रे, विलियम कॉलिंस, विलियम कूपर, एडवर्ड यंग आदि प्रसिद्ध कवि हुए जिनमें से अनेक ने स्पेंसर और मिल्टन की परंपरा को कायम रखा और प्रकृति, एकांत जीवन, भग्नावशेषों और समाधिस्थलों के संबंध में अवसाद और चिंतनपूर्ण अनुभूति के साथ लिखा। इन्हें १९वीं शताब्दी की रोमानी कविता का अग्रदूत कहा जाता है। रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक और किसान कवि रॉबर्ट बर्न्स में भी प्रधान तत्व रोमानी प्रवृत्तियाँ और गीति है। इन दोनों का स्वर विद्रोह और मुक्ति का है।

रोमैंटिक युग—१८वीं शताब्दी के कुछ कवियों में अनेक रोमानी तत्वों के अंकुरों के बावजूद रोमैंटिक युग का प्रारंभ १७९८ में विलियम वर्ड्स्वर्थ (१७७०-१८५०) और सैमुएल टेलर कोलरिज (१७७२-१८३४) के संयुक्त संग्रह 'लिरिकल बैलड्स' के प्रकाशन से माना जाता है। अंग्रेजी कविता के इस सबसे महान् युग के साथ पर्सी बिशी शेली (१७९२-१८२२), जॉन कीट्स (१७९५-१८२१), जॉर्ज गॉर्डन बायरन (१७८८-१८२४), अलफ्रेड टेनिसन (१८०९-९२), रॉबर्ट ब्राउनिंग (१८१२-८९) और मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) के नाम भी जुड़े हुए हैं।

पूर्वार्ध—१९वीं सदी के पूर्वार्ध की कविता उस युग की चेतना की उपज है और उसपर फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो और फ्रांसीसी क्रांति का गहरा असर है। इसलिये इस कविता की विशेषताएँ मानव में आस्था, प्रकृति से प्रेम और सहज प्रेरणा के महत्व की स्वीकृति है। इस युग ने रीति के स्थान पर व्यक्तिगत प्रतिभा, विश्वजनीनता के स्थान पर व्यक्तिगत रुचि तथा अनुभव, तर्क और विकल्प के स्थान पर संकल्पात्मक कल्पना और स्वप्न, अभिव्यक्ति में स्पष्टता के स्थान पर लाक्षणिक वक्रता पर अधिक जोर दिया। इस युग की कविता में ग्लानि का स्वर प्रधान है।

वर्ड्स्वर्थ प्रकृति का कवि है और इस क्षेत्र में वह बेजोड़ है। उसने बड़ी सफलता के साथ साधारण भाषा में साधारण जीवन के चित्र प्रस्तुत किए। प्रकृति के प्रति उसका सर्वात्मवादी दृष्टिकोण अंग्रेजी कविता के लिये नई चीज है। उसके साथी कालरिज ने प्रकृति के असाधारण पक्षों का चित्र खींचा। वह चिंतनप्रधान, संशय और अवसाद से भरे मन के दिवास्वप्नों का कवि है। शेली मानव जीवन की व्यथा और उसके उज्वल भविष्य का क्रांतिकारी स्वप्नद्रष्टा कवि है। वह अपने संगीत और सूक्ष्म किंतु प्रखर कल्पना के लिये प्रसिद्ध है। कीट्स इस युग का सबसे जागरूक कवि है। उसमें इंद्रियबोध की अद्भुत क्षमता है। इसलिये वह सौंदर्य का कवि माना जाता है और उसके भाव चित्रों के माध्यम से व्यक्त होते हैं। बायरन रोमानी कविता की अवसादपूर्ण और नाटकीय आत्मरति का कवि है। इस प्रवृत्ति से जुड़कर उसके आकर्षक विद्रोही व्यक्तित्व ने यूरोप के अनेक कवियों को प्रभावित किया। किंतु आज उसकी प्रसिद्धि १८वीं शताब्दी से प्रभावित उसके व्यंग्यकाव्य पर टिकी है।

इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवियों में रॉबर्ट सदी, टॉमस मूर, टॉमस कैंबेल, टॉमस हुड, लैंडर, बेडोज, ली हंट इत्यादि हैं।

विक्टोरिया युग—रोमैंटिक कविता का उत्तरार्ध विक्टोरिया के शासनकाल के अंतर्गत आता है। विक्टोरिया के युग में मध्यवर्गीय प्रभुत्व की असंगतियाँ उभरने लगी थीं और उसकी शोषणव्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन भी होने लगे। वैज्ञानिक समाजवाद के उदय के अतिरिक्त यह काल डार्विन के विकासवाद का भी है जिसने धर्म की भीतें हिला दीं। इन विषमताओं से बचने के लिये ही मध्यवर्गीय उपयोगितावाद, उदारतावाद और समन्वयवाद का जन्म हुआ। समन्वयवादी टेनिसन इस युग का प्रतिनिधि कवि है। उसकी कविता में अतिरंजित कलावाद है। ब्राउनिंग ने आशावाद की शरण ली। अपनी कविता के अनगढ़पन में वह आज की कविता के समीप है। आर्नल्ड और क्लफ़ संशय और अनास्थाजन्य विषाद के कवि हैं।

इस तरह विक्टोरिया युग के कवियों में पूर्ववर्ती रोमैंटिक कवियों की क्रांतिकारी चेतना, अदम्य उत्साह और प्रखर कल्पना नहीं मिलती। इस युग में समय बीतने के साथ 'कला कला के लिये' का सिद्धांत जोर पकड़ता गया और कवि अपने अपने घोसले बनाने लगे। कुछ ने मध्ययुग तथा कीट्स के इंद्रियबोध और अलस संगीत का आश्रय लिया। ऐसे कवियों का दल प्री-रैफेलाइट नाम से पुकारा जाता है। उनमें प्रमुख कवि डी० जी० रोजेटी, स्विनबर्न, क्रिश्चियाना रोजेटी और फिट्जेराल्ड हैं। विलियम मोरिस (१८३४-९६) का नाम भी उन्हीं के साथ लिया जाता है, किंतु वास्तव में वह पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना करनेवाला इंग्लैंड का प्रथम साम्यवादी कवि है। धर्म की रहस्यवादी कल्पना में पलायन करनेवालों में प्रमुख कावेंट्री पैटमोर, एलिस मेनेल और जेरार्ड मैनली हॉप्किंस (१८४४-८९) हैं। हॉप्किंस अत्यंत प्रतिभाशाली कवि है और छंद में 'स्प्रंग रिद्म' का जन्मदाता है। मेरेडिथ (१८२८-१९०९) प्रकृति का सूक्ष्मदर्शी कवि है। शताब्दी के अंतिम दशक में ह्रासशील प्रवृत्तियाँ पराकाष्ठा पर पहुँच गईं। इनमें आत्मरति, आत्मपीड़न और सतही भावुकता है। ऐसे कवियों में डेविडसन, डाउसन, जेम्स टाम्सन, साइमस, ऑस्टिन डॉब्सन, हेनली इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। इसी प्रकार किपलिंग की अंध राष्ट्रवादिता और ऊँचे स्वरों के बावजूद १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग की कविता व्यक्तिवाद के संकट की कविता है। २०वीं शताब्दी में वह संकट और भी गहरा होता गया।

२०वीं शताब्दी—२०वीं शताब्दी का प्रारंभ प्रश्नचिह्नों से हुआ, लेकिन उसकी प्रारंभिक कविता में, जिसे जार्जियन कविता कहते हैं, १९वीं शताब्दी के आदर्शों का ही प्रक्षेपण है। जॉर्जियन कविता में प्रकृतिप्रेम, अनुभवों की सामान्यता और अभिव्यक्ति में स्वच्छता और कोमलता पर अधिक जोर है। इसीलिये उसपर अंतर्हीनता का आक्षेप किया जाता है। इस शैली के महत्वपूर्ण कवियों में रॉबर्ट ब्रिजेज (१८४४-१९३०), मेसफील्ड (१८७८) वाल्टर डी ला मेयर, डेवीज़, डी० एच० लारेंस, लारेंस बिन्यन, हॉजसन, रॉबर्ट ग्रेव, रुपर्ट ब्रुक, सैसून, एडमंड ब्लंडन, रॉबर्ट ग्रेव्स, अबरक्रूंबी इत्यादि उल्लेखनीय हैं। निश्चय ही, इनमें से अनेक में विशिष्ट प्रतिभा है, सभी उथले भावों के कवि नहीं हैं।

इस शताब्दी के कवियों में येट्स (१८६५-१९३९), हार्डी (१८४०-१९२८) और हाउसमन (१८५९-१९३६) का स्थान बहुत ऊँचा है। येट्स में रहस्यभावना, प्रतीकयोजना और संगीत की प्रधानता है। हार्डी में स्वरों की रुक्षता और नियति की दारुण चेतना उसे जॉर्जियन युग से अलग करती है। हाउसमन हार्डी की कोटि का कवि नहीं, उससे मिलता जुलता कवि है। वह अपनी रचना 'ए श्रॉपशायर लैंड' के लिये प्रसिद्ध है।

आधुनिकता के रंग में रँगी कविता का प्रारंभ १९१३ में इमेजिस्ट (बिंबवादी) आंदोलन से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व भी इस तरह की कविताएँ लिखी गई थीं, किंतु १९१३ में एफ०एस०फ्लिंट और एज़रा पाउंड (१८८५-) ने उसके सिद्धांतों की स्थापना की। इनके अनुसार कविता का लक्ष्य था 'वस्तु' को कविता में सीधे उतारना, अभिव्यक्ति में अधिक से अधिक संक्षिप्ति और संगीत अनुशासित वाक्यरचना। पाउंड के अनुसार "बिंब वह है जो बौद्धिक और भावात्मक संश्लिष्टता को उसकी क्षणिकता में प्रस्तुत करता है।" बिंबवादी कविता कठोर और पारदर्शी अभिव्यक्ति पसंद करती है। इसी के साथ मुक्त छंद की लोकप्रियता भी बढ़ी। इसी शैली के कवियों में सबसे प्रसिद्ध एज़रा पाउंड और एडिथ सिटवेल (१८८७-१९६४) हैं।

प्रथम युद्ध के बाद टी० एस० इलियट (१८८८-१९६५) की प्रसिद्ध रचना 'वेस्ट लैंड' ने आधुनिक अंग्रेजी कविता पर गहरा असर डाला। इस रचना में पूँजीवादी सभ्यता की ऊसर भूमि में पथहीन और प्यासे व्यक्ति का चित्र है। इसमें कवि ने रोमानी परंपरा को छोड़कर डन कवि का अनुगमन शुरू किया। इसमें फ्रेंच प्रतीकवादियों का प्रभाव भी स्पष्ट है। १९२८ के बाद इलियट के काव्य में धार्मिक भावना का प्रवेश होता है जो 'ऐश वेड्नेसडे'-

से होता हुआ 'फोर क्वार्टेट्स' के रहस्यवादी काव्यपुंजों में पराकाष्ठा पर पहुँचता है। इस अंतर्मुखी क्षेत्र से अंग्रेजी कविता को निकालने का प्रयास १९३० के बाद मार्क्सवाद से प्रभावित आडेन (१९०७–), लिविस, स्पेंडर, सेसिल डे और मेकनीस ने किया। परंतु कालांतर में उनकी काव्यधारा भी अंतर्मुखी हो गई।

आडेन के बाद सबसे महत्वपूर्ण कवि डीलन टामस (१९१४-५३) हैं जो अत्यंत नवीन होते हुए भी अत्यंत मानवीय हैं। उसमें यौन प्रतीकों, धार्मिकता तथा जीवन और मृत्यु संबंधी चिंतन का विचित्र योग है। उसकी कविता गीति और बिंबप्रधान है और बहुत अंशों में उसने अंग्रेजी कविता की रोमानी परंपरा का भी निर्वाह किया है।

२०वीं शताब्दी के अन्य उल्लेखनीय कवियों में हर्बर्ट रीड, जॉर्ज बार्कर, एडविन म्योर, कैज, अलन लिविस, कीथ डगलस, लॉरेंस ड्यूरेल, रॉय फुलर, डेविड गैसक्वायन, राइडलर, राजर्स, बर्नर्ड स्पेंसर, टरेंस टिलर, डी० जे० एनराइट, टॉम गन, किंग्सले आमिस, जॉन वेन और अलबैरीज हैं।

आधुनिक युग को पश्चिम के बुद्धिजीवी चिंता और भय का युग कहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भाषा, बिंब और छंद में इस युग ने अनेक प्रयोग किए हैं, किंतु ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश कवियों में जीवन और उसके यथार्थ को समझने की क्षमता नहीं है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी कविता में परिवर्तन हुआ है। आज के नए कवि पूर्ववर्ती कवियों की पांडित्यपूर्ण एवं जटिल शैली को छोड़कर काव्य में परंपरागत सरलता एवं छंदबद्ध शिल्प का समावेश करके दैनिक जीवन संबंधी काव्य का निर्माण कर रहे हैं। वे प्रयोगवादी कविता के विरुद्ध हैं।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० जे० कोर्टहोप : हिस्ट्री ऑव इंग्लिश पोएट्री, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर, लेगुइ ऐंड कजामिया : ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर, डब्ल्यू० पी० कर : इंग्लिश लिटरेचर, मेडीवल, बी० डी० सालापटा : दि इंग्लिश रेनेसाँ, १५१०–१६८८, एस०जे०सी० ग्रियर्सन : क्रास करंट्स इन इंग्लिश लिटरेचर ऑव दि सेवन्टीन्थ सेंचुरी, एडमंड गॉस : हिस्ट्री ऑव एट्टीन्थ सेंचुरी लिटरेचर, सी०एच० हरफर्ड : दि एज ऑव वर्ड्सवर्थ, बी० आइफर इवन्स : इंग्लिश पोएट्री इन दि लेटर नाइन्टीन्थ सेंचुरी, एफ० आर० लिविस : न्यू बेयरिंग्स इन इंग्लिश पोएट्री।
(च० ब० सिं०, वि० रा०)

नाटक

उदय—यूनान की तरह इंग्लैंड में भी नाटक धार्मिक कर्मकांडों से अंकुरित हुआ। मध्ययुग में चर्च (धर्म) की भाषा लातीनी थी और पादरियों के उपदेश भी इसी भाषा में होते थे। इस भाषा से अनभिज्ञ साधारण लोगों को बाइबिल और ईसा के जीवन की कथाएँ उपदेशों के साथ अभिनय का भी उपयोग कर समझाने में सुविधा होती थी। बड़े दिन और ईस्टर के पर्वों पर ऐसे अभिनयों का विशेष महत्व था। इससे धर्मशिक्षा के साथ मनोरंजन भी होता था। पहले ये अभिनय मूक हुआ करते थे, लेकिन नवीं शताब्दी में लातीनी भाषा में कथोपकथन होने के भी प्रमाण मिलते हैं। कालांतर में बीच बीच में लोकभाषा का भी प्रयोग किया जाने लगा। अंग्रेजी भाषा १३५० में राजभाषा के रूप में स्वीकृत हुई। इसलिये आगे चलकर केवल लोकभाषा ही प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार आरंभ से ही नाटक का संबंध जनजीवन से था और समय के साथ वह और भी गहरा होता गया। ये सारे अभिनय गिरजाघरों के भीतर ही होते थे और उनमें उनसे संबद्ध साधु, पादरी और गायक ही भाग ले सकते थे। नाटक के विकास के लिये जरूरी था कि उसे कुछ खुली हवा मिले। परिस्थितियों ने इसमें उसकी सहायता की।

१४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक : मिस्ट्री और मिरैकिल नाटक—विशेष मनोरंजक होने के कारण इन अभिनयों को देखने के लिये लोग गिरजाघरों के भीतर उमड़ने लगे। विवश होकर चर्च के अधिकारियों ने इनका प्रबंध गिरजाघरों के मैदानों में किया। लेकिन सड़कों पर या बाजार में इन अभिनयों के लिये अनुमति न थी। प्रार्थनाभवन से बाहर आते ही अभिनयों का रूप बदलने लगा और उनमें स्वच्छंदता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस स्वच्छंदता ने गिरजाघर के भीतर के अभिनयों को भी प्रभावित करना आरंभ किया। इसलिये ईसा के सदेह स्वर्गारोहण के दृश्य के अतिरिक्त प्रार्थनाभवन में और अभिनय नियम बनाकर रोक दिए गए। बाजारों में और सड़कों पर ऐसे अभिनय करना 'पाप' घोषित कर दिया गया। पादरियों और चर्च के अन्य सेवकों पर लगे इस नियंत्रण ने अभिनय को गिरजाघरों की चहारदीवारियों से बाहर ला खड़ा किया। नगरों की श्रेणियों (गिल्ड्स) ने इस काम को अपने हाथ में लिया। यहीं से मिस्ट्री और मिरैकिल नाटकों का उदय और विकास हुआ।

मिस्ट्री नाटकों में बाइबिल की कथाओं से विषय चुने जाते थे और मिरैकिल नाटकों में संतों की जीवनियाँ होती थीं। फ्रांस में यह भेद स्पष्ट था, लेकिन इंग्लैंड में दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं था। १४वीं शताब्दी के प्रारंभ में नाटक मंडलियाँ अपना सामान बैलगाड़ियों पर लादकर अभिनय दिखाने के लिये देश भर में भ्रमण करने लगीं। स्पष्ट है कि ऐसे अभिनयों में दृश्यों का प्रबंध नहीं के बराबर होता था। लेकिन वेशभूषा का काफी ध्यान रखा जाता था। अभिनेता प्राय: अस्थायी होते थे और कुछ समय के लिये अपने स्थायी काम धंधों से छुट्टी लेकर इन नाटकों में अभिनय करके पुण्य और पैसा दोनों ही कमाते थे। धीरे धीरे जनरुचि को ध्यान में रखकर गंभीरता के बीच प्रहसनखंड भी अभिनीत होने लगे। यही नहीं, हजरत नूह की पत्नी, शैतान और क्रूर हेरोद के चरित्रों को हास्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। विभिन्न नगरों की नाटक मंडलियों ने अपनी अपनी विशिष्टताएँ भी विकसित कीं—धार्मिक शिक्षा, प्रहसन, तीव्र अनुभूति और यथार्थवाद विभिन्न अनुपातों में मिश्रित किए जाने लगे। इसमें संदेह नहीं कि इन नाटकों में विषय और रूपगत अनेक दोष थे, लेकिन अंग्रेजी नाटक के भावी विकास की नींव इन्होंने ही रखी।

मोरैलिटी नाटक—इस विकास का अगला कदम था मिस्ट्री और मिरैकिल नाटकों के स्थान पर मोरैलिटी (नैतिक) नाटकों का उदय। ये नाटक सदाचारशिक्षा के लिये लिखे जाते थे। इन नाटकों पर मध्ययुगीन साहित्य के भाववाद और प्रतीक या रूपक की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें उपदेश के अतिरिक्त पात्रों के नाम तक गुणों या दुर्गुणों से लिए जाते थे, जैसे सिन (पाप), ग्रेस (प्रभुदया), फेलोशिप (सौहार्द), एन्वी (ईर्ष्या), आइडिलनेस (प्रमाद), रिपेंटेंस (पश्चात्ताप) इत्यादि। इन नाटकों की केंद्रीय कथावस्तु थी मानव (एव्रीमैन) का पापों द्वारा पीछा तथा आत्मा और ज्ञान द्वारा उसका उद्धार। इस प्रकार इन नाटकों ने मनुष्य के आंतरिक संघर्षों के चित्रण की महत्वपूर्ण परंपरा को जन्म दिया। ऐसे नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'एव्रीमैन' है जिसकी रचना १५वीं शताब्दी के अंत में हुई।

मोरैलिटी नाटक पहलेवाले नाटकों से ज्यादा लंबे होते थे और पुनर्जागरण के प्रभाव के कारण उनमें से कुछ का विभाजन सेनेका के नाटकों के अनुकरण पर अंकों और दृश्यों में भी होता था। कुछ नाटक सामंतों की हवेलियों में खेले जाने के लिये भी लिखे जाते थे। इनमें से अधिकांश का अभिनय पेशेवर अभिनेताओं द्वारा होने लगा। इनमें व्यक्तिगत रचना के लक्षण भी दिखाई पड़ने लगे।

इंटरल्यूड—प्रारंभ में मोरैलिटी और इंटरल्यूड नाटकों की विभाजक रेखा बहुत धुँधली थी। बहुत से मोरैलिटी नाटकों को इंटरल्यूड शीर्षक से प्रकाशित किया जाता था। कोरे उपदेश से पैदा हुई ऊब को दूर करने के लिये मोरैलिटी नाटकों में प्रहसन के तत्वों का भी समावेश कर दिया जाता था। ऐसे ही खंडों को इंटरल्यूड कहते थे। बाद में ये मोरैलिटी नाटकों से स्वतंत्र हो गए। ऐसे नाटकों में सबसे प्रसिद्ध हेवुड का 'फ़ोर पीज' है। इन नाटकों में आधुनिक भांड (फार्स) और प्रहसन के तत्व थे। इनमें से कुछ ने बेन जॉन्सन की यथार्थवादी कॉमिडी के लिये भी जमीन तैयार की। प्रसिद्ध मानवतावादी चिंतक सर टॉमस मोर ने भी ऐसे नाटक लिखे।

इसी युग में आगे आनेवाली प्रहसन और प्रेमयुक्त दरबारी रोमैंटिक कॉमिडी के तत्व मेडवाल की कृतियों 'फुल्जेंस ऐंड लूक्रीस' और

'कैलिस्टो ऐंड मेलेबिया' में और रोमानी प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त कॉमिडी के तत्व यूडाल की रचना 'राल्फ र्वायस्टर डवायस्टर' और मिस्टर एस की रचना 'गामर गर्टस नीडिल' में प्रकट हुए। ऐतिहासिक नाटकों का भी प्रणयन तभी हुआ।

१६वीं शताब्दी के मध्य तक आते आते पुनर्जागरण के मानवतावाद ने अंग्रेजी नाटक को स्पष्ट रूप से प्रभावित करना शुरू किया। १५८१ तक सेनेका अंग्रेजी में अनूदित हो गया। सैकविल और नॉर्टन कृत अंग्रेजी की पहली ट्रैजेडी 'गॉरबोडक' का अभिनय एलिजाबेथ के सामने १५६२ में हुआ। कामेडी पर प्लाटस और टेरेंस का सबसे गहरा असर पड़ा। लातीनी भाषा के इन नाटककारों के अध्ययन से अंग्रेजी नाटकों के रचना-विधान में पाँच अंकों, घटनाओं की इकाई और चरित्रचित्रण में संगति-पूर्ण विकास का प्रयोग हुआ।

इस विकास की दो दिशाएँ स्पष्ट हैं। एक ओर कुछ नाटककार देशज परंपरा के आधार पर ऐसे नाटकों की रचना कर रहे थे जिनमें नैतिकता, हास्य, रोमांस इत्यादि के विविध तत्व मिले जुले होते थे। दूसरी ओर लातीनी नाट्यशास्त्र के प्रभाव में विद्वद्वर्ग के नाटककार कॉमेडी और ट्रैजेडी में शुद्धतावाद की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। अंग्रेजी नाटक के स्वर्णयुग के पहले ही अनेक नाटककारों ने इन दोनों तत्वों को मिला दिया और उन्हीं के समन्वय से शेक्सपियर और उसके अनेक समकालीनों के महान् नाटकों की रचना हुई।

इस स्वर्णयुग की यवनिका उठने के पहले की तैयारी में एक बात की कमी थी। वह १५७६ में शोरडिच में प्रथम सार्वजनिक (पब्लिक) रंगशाला की स्थापना से पूरी हुई। उस युग की प्रसिद्ध रंगशालाओं में थिएटर, रोज, ग्लोब, फार्चुन और स्वॉन हैं। सार्वजनिक रंगशालाएँ लंदन नगर के बाहर ही बनाई जा सकती थीं। १६वीं शताब्दी के अंत तक केवल एक रंगशाला ब्लैकफ्रायर्स में स्थित थी और वह व्यक्तिगत (प्राइवेट) कहलाती थी। सार्वजनिक रंगशालाओं में नाटकों का अभिनय खुले आसमान के नीचे, दिन में, भिन्न भिन्न वर्गों के सामाजिकों द्वारा घिरे हुए प्रायः नग्न रंगमंच पर होता था। एलिजाबेथ और स्टुअर्ट युग के नाटकों में वर्णनात्मक अंशों, कविता के आधिक्य, स्वगत, कभी कभी फूहड़ मजाक या भँड़ैती, रक्तपात, समसामयिक पुट, यथार्थवाद इत्यादि तत्वों को समझने के लिये इन रंगशालाओं की रचना और उनके सामाजिकों का ध्यान रखना आवश्यक है। व्यक्तिगत रंगशालाओं में रंगमंच कक्ष के भीतर होता था जहाँ प्रकाश, दृश्य आदि का अच्छा प्रबंध रहता था और उसके सामाजिक अभिजात होते थे। इन्होंने भी १७वीं शताब्दी में अंग्रेजी नाटक के रूप को प्रभावित किया। इन रंगशालाओं ने नाटकों के लिये केवल व्यापक रुचि ही नहीं पैदा की बल्कि नाटकों की कथावस्तु और रचनाविधान को भी प्रभावित किया, क्योंकि इस युग के नाटककारों का रंगमंच से जीवित संबंध था और वे उसकी संभावनाओं और सीमाओं को दृष्टि में रखकर ही नाटक लिखते थे।

एलिजाबेथ और जेम्स प्रथम का युग—एलिजाबेथ का युग अंग्रेजों के इतिहास में राष्ट्रीय एकता, अदम्य उत्साह, मानवतावादी जागरूकता के उत्कर्ष और महान् प्रयत्नों का था। इसका प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं की तरह नाटक पर भी पड़ा। शेक्सपियर संसार का उस युग की सबसे बड़ी साहित्यिक देन है, लेकिन उसके अतिरिक्त यह अनेक बड़ी प्रतिभाओं का कृतित्वकाल है। उस महान् युग की भूमिका तैयार करने में विश्वविद्यालयों में शिक्षित होने और लेखन को व्यवसाय बनाने के कारण 'यूनिवर्सिटी विट्स' कहलानेवाले रॉबर्ट ग्रीन (१५५८-९२), जॉन लिली (१५४२-१६०६), टॉमस किड (१५५८-९४) और टॉमस मार्लो (१५६४-९३) का विशेषतः बहुत बड़ा हाथ है। ग्रीन और लिली ने गीतिमय प्रेम और उदार प्रहसन, किड ने प्रतिहिंसात्मक ट्रैजेडी और मार्लो ने महत्वाकांक्षा और नैतिकता के संघर्ष से पैदा हुई विषमता की ट्रैजेडी को जन्म दिया। लातीनी और देशज परंपराओं के मिश्रण से उन्होंने नाटक को कलात्मकता दी। जॉर्ज पील (१५५७-१५९६) और ग्रीन ने नाटकीय अतुकांत कविता का विकास किया और मार्लो ने उनसे आगे बढ़कर उसे उच्चकंठ और वेगवान बनाया। मार्लो के नाटकों में कथासूत्र शिथिल है लेकिन वह भयंकर अंतर्द्वंद्वों की गीतिमय अकृत्रिम अभिव्यक्ति और भव्य चित्रयोजना में शेक्सपियर का योग्य गुरु है। मार्लो कृत 'टैंबरलेन', 'डाक्टर फास्टस्' और 'दि ज्यू ऑव माल्टा' के नायक अपने अबाध व्यक्तिवाद के कारण आध्यात्मिक मूल्यों से टकराते और टूट जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष को चित्रित कर मार्लो पहले पहल पुनर्जागरण की वह केंद्रीय समस्या प्रस्तुत करता है जो शेक्स-पियर और अन्य नाटककारों को भी आंदोलित करती रही। मार्लो ने अंग्रेजी नाटक को स्वर्णयुग के द्वार पर खड़ा कर दिया।

विलियम शेक्सपियर (१५६४-१६१६) का प्रारंभिक विकास इन्हीं परंपराओं की सीमाओं में हुआ। उसके प्रारंभिक नाटकों में कला में सिद्धहस्तता प्राप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रारंभिक प्रयत्न के माध्यम से उसने अपने नाटककार के व्यक्तित्व को पुष्ट किया। कथानक, चरित्रचित्रण, भाषा, छंद, चित्रयोजना और जीवन की पकड़ में उसका विकास उस युग के अन्य नाटककारों की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य था, लेकिन १६वीं शताब्दी के अंतिम और १७वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में उसकी प्रतिभा का असाधारण उत्कर्ष हुआ। इस काल के नाटकों में पुनर्जागरण की सारी सांस्कृतिक और रचनात्मक क्षमता प्रतिबिंबित हो उठी। इस तरह शेक्सपियर ने हाल और हॉलिनशेड के इतिहास ग्रंथों से इंग्लैंड और स्कॉटलैंड के राजाओं की और प्लूटार्क से रोम के शासकों की कथाएँ लीं, लेकिन उनमें उसने मानवतावादी युग का बोध भर दिया। प्रारंभिक सुखांत नाटकों में उसने लिली और ग्रीन का अनुकरण किया, लेकिन 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' (१५९६) और उसके बाद की चार ऐसी ही रचनाओं 'दि मरचेंट ऑव वेनिस', 'मच ऐडो अबाउट नथिंग', 'ट्वेल्फ्थ नाइट' और 'ऐज यू लाइक इट' में उसने अंग्रेजी साहित्य में रोमैंटिक कॉमेडी को नया रूप दिया। इनका वातावरण दरबारी कॉमेडी से भिन्न है। वहाँ एक ऐसा लोक है जहाँ स्वप्न और यथार्थ का भेद मिट जाता है और जहाँ हास्य की बौद्धिकता भी हृदय की उदारता से आर्द्र है। 'मेजर फॉर मेजर' और 'आल्ज वेल दैट एंड्स वेल' में, जो उसके अंतिम सुखांत नाटक हैं, वाता-वरण घने बादलों के बीच छिपते और उनसे निकलते हुए सूरज का सा है। दुःखांत नाटकों में प्रारंभिक काल की रचना 'रोमियो ऐंड जूलियट' में नायक नायिका की मृत्यु के बावजूद पराजय का स्वर नहीं है। लेकिन १६वीं शताब्दी के बाद लिखे गए 'हैमलेट', 'लियर', 'आथेलो', 'मैकबेथ', 'ऐंटनी ऐंड क्लियोपेट्रा' और 'कोरियोलेनस' में उस युग के षड्यंत्रपूर्ण दूषित वातावरण में मानवतावाद की पराजय का चित्र है। लेकिन उसके बीच भी शेक्सपियर की अप्रतिहत आस्था का स्वर उठता है। अंत में अनुभूतियों से मुक्ति पाने के लिये उसने 'पेरिक्लीज', 'सिंबेलीन', 'दि विंटर्स टेल' और 'टेंपेस्ट' लिखे जिनमें प्रारंभिक दुर्घटनाओं के बावजूद अंत सुखद होते हैं। जीवन के विशद ज्ञान और काव्य एवं नाट्यसौंदर्य में शेक्सपियर संसार की इनी गिनी प्रतिभाओं में है।

बेन जॉन्सन (१५७२-१६३७) अंग्रेजी नाटक में 'विकृत' प्रहसन (कामेडी ऑव 'ह्यूमर्स') का जन्मदाता है। उसके दीक्षागुरु प्लाटस और होरेस थे, इसलिये वह आचार्य नाटककार है और उसने शेक्सपियर इत्यादि की रोमैंटिक कॉमिडी में विरोधी तत्वों के समन्वय का विरोध किया। उसकी 'विकृति' का अर्थ था किसी चरित्र के दोषविशेष को अतिरंजित रूप में चित्रित करना। उसकी प्राथमिक रचनाओं 'एवोमैन इन हिज ह्यूमर' और 'एवोमैन आउट आव हिज ह्यूमर' में इसी तरह का प्रहसन है। जॉन्सन के अनुसार कॉमेडी का कर्तव्य 'अपने युग का चित्र प्रस्तुत करना' और मानव चरित्र की मूर्खताओं से 'क्रीडा' करना था। इस तरह उसने विद्रूपपूर्ण यथार्थवादी प्रहसन नाटक को भी जन्म दिया जिसमें उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'वॉलपोन' और 'आल्केमिस्ट' हैं। जॉन्सन का प्रहसन गुदगुदाता नहीं, डंक मारता है।

जेम्स प्रथम के शासनकाल में समाज में बढ़ती हुई अस्थिरता और निराशा तथा दरबार में बढ़ती हुई कृत्रिमता ने नाटक को प्रभावित किया। शेक्सपियर के परवर्ती वेब्स्टर, टर्नर, मिडिलटन, मार्स्टन, चैपमैन, मैसिंजर

और फोर्ड के दुःखान्त नाटकों में व्यक्तिवाद अस्वाभाविक महत्त्वाकांक्षाओं, भयंकर रक्तपात और क्रूरता, आत्मपीडा और निराशा में प्रकट हुआ। वेब्स्टर के शब्दों में, इनका केंद्रीय दर्शन 'फूल के पौधों के मूल में नरमुंड' की अनिवार्यता है।

कॉमिडी में मिडिलटन (१५८०-१६२७) और मैसिंजर (१५८३-१६३९) जॉन्सन की परंपरा में थे, लेकिन उनमें स्थूल प्रहसन और अश्लीलता की भी वृद्धि हुई। जॉन फ्लेचर (१५७९-१६२५) और फ्रांसिस बोमांट (१५८४।५-१६१६) में कॉमिडी का पतन स्वस्थ रोमांस या प्रहसन की जगह दुःखपूर्ण घटनाओं, नायक नायिकाओं के काल्पनिक जीवन, अत्यधिक अलंकृत और रूढ़िप्रिय भाषा तथा अस्वाभाविक घटनाओं के रूप में दीख पड़ा। दरबार की प्रेरणा से ही इसी युग में मास्क (Masque) का भी जन्म हुआ जिसमें भव्य दृश्यों और साजसज्जा तथा संगीत की प्रधानता थी। इसी समय भावी विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण पारिवारिक समस्यामूलक दुःखांत नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'आर्डेन ऑव फ़ीवरशैम' (१५९२) है, जो लिखा पहले गया था पर प्रकाशित पीछे हुआ।

इस तरह दरबार के प्रभाव में नाटक जनता से दूर हो रहा था। वास्तव में बोमांट और फ्लेचर की ट्रैजी-कॉमिडी का अभिनय 'प्राइवेट' रंगशालाओं में मुख्यतः अभिजातवर्गीय सामाजिकों के सामने होता था। अगर नाटक का जनता से जीवित संबंध था तो जॉन्सन की शिष्यपरंपरा के नाटकों के द्वारा या शेक्सपियर के परवर्ती दुःखांत नाटकों के द्वारा जिनका अभिनय 'पब्लिक' रंगशालाओं में होता था।

अंग्रेजी नाटक के विकास की शृंखला सहसा १६४२ में टूट गई जब कामनवेल्थ युग में प्यूरिटन संप्रदाय के दबाव से सारी रंगशालाएँ बंद कर दी गईं। उसका पुनर्जन्म १६६० में चार्ल्स द्वितीय के पुनर्राज्यारोहण के साथ हुआ।

पुनर्राज्यारोहण काल—फ्रांस में लुई चतुर्दश के दरबार में शरणार्थी की तरह रह चुके चार्ल्स द्वितीय के लिये संस्कृति का आदर्श फ्रांस का दरबार था। उसके साथ यह आदर्श भी इंग्लैंड आया। फ्रेंच गीतिकार और नाटककार अंग्रेजी नाटककारों के आदर्श बने। चार्ल्स के लौटने पर ड्रूरी लेन और डॉर्सेट गार्डेन की रंगशालाओं की स्थापना हुई। रंगशालाओं पर स्वयं चार्ल्स और ड्यूक ऑव यॉर्क का नियंत्रण था। इन रंगशालाओं के सामाजिक मुख्यतः दरबारी, उनकी प्रेमिकाएँ, छैल छबीले और कुछ आवारागर्द होते थे। अब नाटक बहुसंख्यकों की जगह अल्पसंख्यकों का था, इसलिये इस युग में दो तरह के नाटकों का उदय और विकास हुआ—एक, ऐसे नाटक जिनकी 'हिरोइक' दुःखांत कथावस्तु दरबारियों की रुचि के अनुकूल 'प्रेम' और 'आत्मसमान' थी, दूसरे, ऐसे प्रहसन जिनमें चरित्रहीन किंतु कुशाग्रबुद्धि व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहारों का चित्रण होता था (कॉमिडी ऑव मैनर्स)। रंगशालाओं में दृश्यों, प्रकाश इत्यादि के प्रबंध के कारण कानों से ज्यादा आँखों के माध्यम से काम लिया जाने लगा, जिसमें एलिजाबेथ युग के नाटकों की शुद्ध कविता की अनिवार्यता जाती रही। स्त्रियों ने भी रंगमंच पर आना शुरू किया जिसकी वजह से कथानकों में कई कई स्त्री पात्रों को रखना संभव हुआ।

'हिरोइक' ट्रैजेडी का नेतृत्व ड्राइडन (१६३१-१७००) ने किया। ऐसे नाटकों की विशेषताएँ थीं—असाधारण क्षमता और आदर्शवाले नायक, प्रेम में असाधारण रूप से दृढ़ और अत्यंत सुंदर नायिका, प्रेम और आत्मसमान के बीच आंतरिक संघर्ष, शौर्य, तुकांत कविता, ऊहात्मक भाव एवं अभिव्यक्ति तथा तीव्र और सूक्ष्म अनुभूति की कमी। ड्राइडन का अनुकरण औरों ने भी किया, लेकिन उनको नगण्य सफलता मिली।

इस काल में अतुकांत छंदों में भी दुःखांत नाटक लिखे गए और उनमें हिरोइक ट्रैजेडी की अपेक्षा नाटककारों को अधिक सफलता मिली। ये भी आम तौर पर प्रेम के विषय में थे। लेकिन इनकी दुनिया एलिजाबेथ युग के नाटकों के भीषण अंतर्द्वंद्वों से भिन्न थी। यहाँ भी प्रधानता ऊहात्मक भावुकता की ही थी। ड्राइडन के अतिरिक्त ऐसे नाटककारों में केवल टॉमस ऑट्वे ही उल्लेखनीय हैं।

इस युग ने नाटक के रूप को एक नई देन 'ऑपेरा' के रूप में दी, जिसमें कथोपकथन के अतिरिक्त संगीत भी रहता था।

'कॉमिडी ऑव मैनर्स' के विकास ने अंग्रेजी प्रहसन नाटक का पुनरुद्धार किया। इसके प्रसिद्ध लेखकों में विलियम विकर्ली (१६४०-१७१६), विलियम कांग्रीव (१६७०-१७२९), जॉर्ज इथरेज (१६३४-१६९०), जॉन व्हॉनब्रुग (१६६६-१७४६) और जॉर्ज फर्क्हार (१६७८-१७०७) हैं। इन्होंने जॉन्सन के यथार्थवादी ढंग से चार्ल्स द्वितीय के दरबारियों जैसे आमोदप्रिय, प्रमद, प्रेम के लिये अनेक दुरभिसंधियों के रचयिता, नैतिकता और सदाचार के प्रति उदासीन और साफ सुथरी किंतु पैनी बोलीवाले व्यक्तियों का नग्न चित्र तटस्थता के साथ खींचा। उपदेश या समाज-सुधार उनका लक्ष्य नहीं था। इसके कारण इन लेखकों पर अश्लीलता का आरोप भी किया जाता है। इन नाटकों में जॉन्सन के चरित्रों की मानसिक विविधता के स्थान पर घटनाओं की विविधता है। इन्होंने जॉन्सन की तरह चरित्रों को अतिरंजन की शैली में एक एक दुर्गुण का प्रतीक न बनाकर उन्हें उनके सामाजिक परिवेश में देखा। उनका सबसे बड़ा काम यह था कि उन्होंने अंग्रेजी कॉमिडी को बोमांट और फ्लेचर की कृत्रिम रोमानी भावुकता से मुक्त कर उसे सच्चे अर्थों में प्रहसन बनाया। साथ ही जॉन्सन की परंपरा भी शैडवेल और हॉवर्ड ने कायम रखी।

१८वीं शताब्दी—यह शताब्दी गैरिक और श्रीमती सिडंस जैसे अभिनेता और अभिनेत्री की शताब्दी थी, लेकिन नाटकरचना की दृष्टि से इस युग में केवल दो बड़े नाटककार हुए रिचर्ड ब्रिंसले शेरिडन (१७५१-१८१६) और ऑलिवर गोल्डस्मिथ (१७२८-७४)। इस शताब्दी की मध्यवर्गीय नैतिकता ने इस युग में भावुक (सेंटिमेंटल) कॉमेडी को जन्म दिया, जिसमें प्रहसन से अधिक जोर सदाचार पर था। पारिवारिक सुख, आदर्श प्रेम और हृदय की पवित्रता की स्थापना के लिये अक्सर मध्यवर्गीय चरित्रों को ही चुना जाता था। ऐसे नाटककारों में सबसे प्रसिद्ध सिबर, स्टील, केली, और कंबरलैंड हैं। शेरिडन और गोल्डस्मिथ ने ऐसे अश्रुसिंचित सुखांत नाटकों के स्थान पर शुद्ध प्रहसन को अपना लक्ष्य बनाया। इन्होंने रोमानी तत्वों के स्थान पर जॉन्सन और कांग्रीव के यथार्थवाद, हास्य, चुभती हुई भाषा और चरित्रचित्रण में अतिरंजन का अनुसरण किया। गोल्डस्मिथ कृत 'शी स्टूप्स टु कांकर' और शेरिडन कृत 'दि स्कूल फॉर स्कैंडल' अंग्रेजी प्रहसन नाट्य की सर्वोत्तम कृतियों में गिने जाते हैं।

इस शताब्दी में कई लेखकों ने दुःखांत नाटक लिखे, लेकिन उनमें एडिसन का 'कैटो' ही उल्लेखनीय है। पैंटोमाइम, जो एक तरह से शुद्ध भँडैती था, और बैलड-ऑपेरा (गीतिनाट्य) भी इस युग में काफी लोकप्रिय थे। गे का गीतिनाट्य 'दि बेगर्स ऑपेरा' तो योरप के कई देशों में अभिनीत हुआ। एडवर्ड मूर का पारिवारिक समस्यामूलक नाटक 'गेम्सटर' ऐसे नाटकों में सबसे अच्छा है।

१९वीं शताब्दी—रोमैंटिक युग का पूर्वार्ध नाटक की दृष्टि से प्रायः शून्य है। स्कॉट, कोलरिज, वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, लैंडर और ब्राउनिंग ने नाटक लिखे, लेकिन अधिकतर वे केवल पढ़ने लायक हैं। शताब्दी के उत्तरार्ध में इब्सन के प्रभाव से अंग्रेजी नाटक को नई प्रेरणा मिली। पारिवारिक जीवन को लेकर रॉबर्टसन, जोन्स और पिनरो ने इब्सन की यथार्थवादी शैली के अनुकरण पर नाटक लिखे। उनमें इब्सन की प्रतिभा नहीं थी, लेकिन नाटकीयता और आधुनिक शैली के द्वारा उन्होंने आगे का मार्ग सरल कर दिया।

२०वीं शताब्दी—इब्सन के प्रचार ने अंग्रेजी नाटक को नई दिशा दी। उसके नाटकों की कुछ विशेषताएँ ये थीं—समाज और व्यक्ति की साधारण समस्याएँ, पुरानी नैतिकता की आलोचना, बाहरी संघर्षों के स्थान पर आंतरिक संघर्ष, रंगमंच पर यथार्थवाद, विवरणात्मक साजसज्जा, स्वगत का बहिष्कार, बोलचाल की भाषा से निकटता, प्रतीकवाद। इब्सन के नाटक समस्या नाटक हैं। २०वीं शताब्दी के प्रारंभिक नाटककारों पर इब्सन के अतिरिक्त चेखव का भी गहरा असर पड़ा। ऐसे नाटककारों में सबसे प्रमुख शॉ और गाल्सवर्दी के अतिरिक्त ग्रैनविल बार्कर, सेंट जॉन हैंकिन, जॉन मेसफ़ील्ड, सेंट जॉन अर्विन, आर्नल्ड बेनेट इत्यादि हैं।

इस युग में कॉमेडी ऑव मैनर्स की परंपरा भी विकसित हुई है। १६वीं शताब्दी के अंत में ऑस्कर वाइल्ड ने इसको पुनरुज्जीवित किया था। २०वीं शताब्दी में इसके प्रमुख लेखकों में शॉ, मॉम, लासडेल, सेंट अर्विन, मुनरो, नोएल कावर्ड, ट्रैवर्स, रैटिगन इत्यादि हैं।

समस्या नाटकों की परंपरा भी आगे बढ़ी है। उनके लेखकों में सबसे प्रसिद्ध शॉ कैसी के अतिरिक्त शेरिफ, मिल्न, प्रीस्टले और जॉन व्हॉन ड्रूटेन हैं।

इस युग के ऐतिहासिक नाटककारों में सबसे प्रसिद्ध ड्रिंकवाटर, बैक्स और जेम्स ब्रिडी हैं।

काव्य नाटकों का विकास भी अनेक लेखकों ने किया है। उनमें स्टीफेन फिलिप्स, येट्स, मेसफील्ड, ड्रिंकवाटर, बाटम्ली, फ्लेकर, अबरक्रंबी, टी० एस० इलियट, ऑडेन, ईशरवुड, क्रिस्टोफर फ्राई, डंकन, स्पेंडर इत्यादि हैं।

आधुनिक अंग्रेजी नाटक में आयरलैंड के तीन प्रसिद्ध नाटककारों, येट्स, लेडी ग्रेगरी और सिंज की बहुत बड़ी देन है। यथार्थवादी शैली के युग में उन्होंने नाटक में रोमानी और गीतिमय कल्पना तथा अनुभूति को कायम रखा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि २०वीं शताब्दी में अंग्रेजी नाटक का बहुमुखी विकास हुआ है। रंगमंच के विकास के साथ साथ रूपों में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। समसामयिकता के कारण मूल्यांकन में अतिरंजन हो सकता है, लेकिन जिस युग में शॉ, गाल्सवर्दी, ओ' कैसी, येट्स, इलियट, और सिंज जैसे नाटककार हुए हैं उसकी उपलब्धियों का स्थायी महत्व है।

सं० ग्रं०—अलरडाइस निकल : दि थियरी ऑव ड्रामा, ब्रिटिश ड्रामा, और दि डेवेलपमेंट ऑव दि थियेटर, ई० के० चेंबर्स : दि एलिजाबेथन स्टेज, ए० एच० थार्नडाइक : इंग्लिश कॉमेडी, जे० सी० ट्रेविन : दि थियेटर सिंस १६००, और ड्रैमेटिस्ट्स ऑव टुडे, एलिस फर्मर : आयरिश ड्रामा।
(च० ब० सि०)

अंजन नेत्रों को रोगों से रक्षा अथवा उन्हें सुंदर श्यामल करने के लिये चूर्णद्रव्य, नारियों के सोलह सिंगारों में से एक। प्रोषितपतिका विरहिणियों के लिये इसका उपयोग वर्जित है। 'मेघदूत' में कालिदास ने विरहिणी यक्षी और अन्य प्रोषितपतिकाओं को अंजन से शून्य नेत्रवाली कहा है। अंजन को शलाका या सलाई से लगाते हैं। इसका उपयोग आज भी प्राचीन काल की ही भाँति भारत की नारियों में प्रचलित है। पंजाब, पाकिस्तान के कबोलाई इलाका, अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान में मर्द भी अंजन का प्रयोग करते हैं। प्राचीन वेदिका स्तंभों (रेलिंगों) पर बनी नारी मूर्तियाँ अनेक बार शलाका से नेत्र में अंजन लगाते हुए उभारी गई हैं।

अंजना हनूमान की माता (द्र० हनूमान)।

अंजार एक छोटा नगर है जो कच्छ में महाराष्ट्र राज्य के अंतर्गत अपने ही नाम के ताल्लुके का प्रधान कार्यालय है (स्थिति २३° १०' उ० अ० और ७०° ४' पू० दे०)। यह कच्छ की खाड़ी से १० मील दूर है। निकटवर्ती क्षेत्र मरुस्थल और सूखा है। पानी की समस्या कुओं से पूरी होती है। पास के क्षेत्र में बाजरा, गेहूँ, जौ और कपास पैदा होते हैं। बाँधों और कुओं से सिंचाई का अच्छा प्रबंध है।

१६ जून, १८१९ को यह नगर भयंकर भूचाल से बुरी तरह ध्वस्त हो गया था। धन जन की भी पर्याप्त हानि हुई थी। यह नगर भारत के भूकंप के 'बी' ज़ोन में पड़ता है। यहाँ हल्के भूचाल कई बार आ चुके हैं।

अंजार पहले रेल द्वारा टूना, भुज तथा काडला से मिला था। अक्टूबर, १९५२ में राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने काडला दीसा मीटर गेज रेलवे लाइन का उद्घाटन किया। इस प्रकार अब इस नगर का सीधा संबंध उत्तरी गुजरात तथा दक्षिणी पश्चिमी राजपूताना से हो गया है। यह निकटवर्ती क्षेत्र का भौगोलिक केंद्र भी है। (ल० कि० सिं० चौ०)

अंजीर (अंग्रेजी नाम : फिग, वानस्पतिक नाम : फिकस कैरिका, प्रजाति : फिकस, जाति : कैरिका, कुल : मोरेसी) एक वृक्ष का फल है जो पक जाने पर गिर जाता है। पके फल को लोग खाते हैं। सुखाया फल बिकता है। सूखे फल को टुकड़े टुकड़े करके या पीसकर दूध और चीनी के साथ खाते हैं। इसका स्वादिष्ट जैम (फल के टुकड़ों का मुरब्बा) भी बनाया जाता है। सूखे फल में चीनी की मात्रा लगभग ६२ प्रतिशत तथा ताजे पके फल में २२ प्रतिशत होती है। इसमें कैलसियम तथा विटामिन 'ए' और 'बी' काफी मात्रा में पाए जाते हैं। इसके खाने से कोष्ठबद्धता (कब्जियत) दूर होती है।

अंजीर
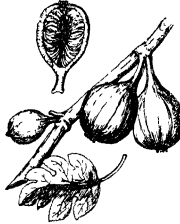
अंजीर का वृक्ष छोटा तथा पर्णपाती (पतझड़ी) प्रकृति का होता है। तुर्किस्तान तथा उत्तरी भारत के बीच का भूखंड इसका उत्पत्तिस्थान माना जाता है। भूमध्यसागरीय तटवाले देश तथा वहाँ की जलवायु में यह अच्छा फलता फूलता है। निस्संदेह यह आदिकाल के वृक्षों में से एक है और प्राचीन समय के लोग भी इसे खूब पसंद करते थे। ग्रीसवासियों ने इसे कैरिया (एशिया माइनर का एक प्रदेश) से प्राप्त किया, इसलिये इसकी जाति का नाम कैरिका पड़ा। रोमवासी इस वृक्ष को भविष्य की समृद्धि का चिह्न मानकर इसका आदर करते थे। स्पेन, अल्जीरिया, इटली, तुर्की, पुर्तगाल तथा ग्रीस में इसकी खेती व्यावसायिक स्तर पर की जाती है।

अंजीर की खेती भिन्न भिन्न जलवायुवाले स्थानों में की जाती है, परंतु भूमध्यसागरीय जलवायु इसके लिये अत्यंत उपयुक्त है। फल के विकास तथा परिपक्वता के समय वायुमंडल का शुष्क रहना अत्यंत आवश्यक है। पर्णपाती वृक्ष होने के कारण पाले का प्रभाव इसपर कम पड़ता है। यों तो सभी प्रकार की मिट्टी में इसका वृक्ष उपजाया जा सकता है, परंतु दोमट अथवा मटियार दोमट, जिसमें उत्तम जलनिकास (ड्रेनेज) हो, इसके लिये सबसे श्रेष्ठ मिट्टी है। इसमें प्रायः खाद नहीं दी जाती, तो भी अच्छी फसल के लिये प्रति वर्ष प्रति वृक्ष २०-३० सेर सड़े हुए गोबर की खाद या कंपोस्ट जनवरी फरवरी में देना लाभदायक है। इसे अधिक सिंचाई की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ग्रीष्म ऋतु में फल की पूर्ण वृद्धि के लिये एक या दो सिंचाई कर देना अत्यंत लाभप्रद है।

अंजीर कई प्रकार का होता है, परंतु मुख्य प्रकार चार हैं : (१) कैप्री फिग, जो सबसे प्राचीन है और जिसमें अन्य अंजीरों की उत्पत्ति हुई है, (२) स्माइर्ना, (३) सफेद सैनपेड्रो, और (४) साधारण अंजीर। भारत में मार्सेलीज, ब्लैक इस्चिया, पूना, बैंगलोर तथा ब्राउन टर्की नाम की किस्में प्रसिद्ध हैं। अंजीर के नए पौधे मुख्यतः कलमों (कटिंग) द्वारा प्राप्त होते हैं। एक वर्ष की अवस्था की डाल का इस कार्य के लिये प्रयोग किया जाता है। कलमें जनवरी में लगाए जाते हैं और एक वर्ष बाद इस प्रकार तैयार हुए पौधों को स्थायी स्थान पर पंद्रह पंद्रह फुट की दूरी पर रोपते हैं। प्रति वर्ष सुषुप्ति काल में इसकी कटाई छँटाई करनी चाहिए क्योंकि अच्छे फल पर्याप्त मात्रा में नई डालियों पर ही आते हैं। फल अप्रैल से जून तक प्राप्त होते हैं। लगाने के तीन वर्ष बाद वृक्ष फल देने लगता है और एक स्वस्थ, प्रौढ़ वृक्ष से लगभग ४०० फल मिलते हैं। पत्तियों के निचले भाग में एक प्रकार का रोग लगता है जिसे गेरुई (रस्ट) कहते हैं, परंतु यह रोग विशेष हानिकारक नहीं है।

सं० ग्रं०—आइमन गुस्टाव : दि फिग (यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट ऑव ऐग्रिकल्चर, १६०१)। (ज० रा० सि०)

अंटार्कटिक महाद्वीप दक्षिणी ध्रुवप्रदेश में स्थित विशाल भूभाग को अंटार्कटिक महाद्वीप अथवा अंटार्कटिका कहते हैं। इसे अधमहाद्वीप भी कहते हैं। भ.कावातों, हिमशिलाओं तथा ऐल्बैट्रास नामक पक्षीवाले भयानक सागरों से घिरा हुआ यह एकांत प्रदेश उत्साही मानव के लिये भी रहस्यमय रहा है। इसी कारण बहुत दिनों तक लोग संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा के सम्मिलित क्षेत्रफल की बराबरी करनेवाले इस भूभाग को महाद्वीप मानने से भी इनकार करते रहे।

खोजों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—१७वीं शताब्दी में ही नाविकों ने इसकी खोज के प्रयत्न प्रारंभ किए। १७६६ ई० से १७७३ ई० तक कप्तान कुक ७१° १०' दक्षिण अक्षांश, १०६° ५४' प० देशांतर तक जा सके। १८१६ ई० में स्मिथ शेटलैंड तथा १८३३ ई० में केंप ने केंपलैंड का पता लगाया। १८४१–४२ ई० में रॉस ने उच्च सागरतट, उगलते ज्वालामुखी इरेबस तथा शांत माउंट टेरर का पता पाया। तत्पश्चात् गरशेल ने १०० द्वीपों का पता लगाया। १६१० ई० में पाँच शोधक दल काम में लगे थे जिनमें कप्तान स्काट तथा अमुंडसेन के दल मुख्य थे। १४ दिसंबर को ३ बजे अमुंडसेन दक्षिणी ध्रुव पर पहुँचा और उस भूभाग का नाम उसने सम्राट् हक्कन सप्तम पठार रखा। ३५ दिनों बाद स्काट भी वहाँ पहुँचा और लौटते समय मार्ग में वीरगति पाई। इसके पश्चात् माउसन शैकल्टन और बियर्ड ने शोधयात्राएँ कीं। १६५० ई० में ब्रिटेन, नार्वे और स्वीडन के शोधक दलों ने मिलकर तथा १६५०–५२ में फ्रांसीसी दल ने अकेले शोधकार्य किया। नवंबर, १६५८ ई० में रूसी वैज्ञानिकों ने यहाँ पर लोहे तथा कोयले की खानों का पता लगाया। दक्षिणी ध्रुव १०,००० फुट ऊँचे पठार पर स्थित है जिसका क्षेत्रफल ५०,००,००० वर्ग मील है। इसके अधिकांश भाग पर बर्फ की मोटाई २,००० फुट है और केवल १०० वर्ग मील को छोड़कर शेष भाग वर्ष भर बर्फ से ढका रहता है। समतल शिखरवाली हिमशिलाएँ इस प्रदेश की विशेषता है।

यह प्रदेश 'पर्मोकार्बोनिफेरस' समय की प्राचीन चट्टानों से बना है। यहाँ की चट्टानों के समान चट्टानें भारत, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका में मिलती हैं। यहाँ की उठी हुई बीचियाँ क्वाटरनरी समय में धरती का उभाड़ सिद्ध करती हैं। यहाँ हिमयुग के भी चिह्न मिलते हैं। ऐंडीज एवं अंटार्कटिक महाद्वीप में एक सी पाई जानेवाली चट्टानें इनके सुदूर प्राचीन काल के संबंध को सिद्ध करती हैं। यहाँ पर 'ग्रेनाइट' तथा 'नीस' नामक शैलों की एक ११०० मील लंबी पर्वतश्रेणी है जिसका धरातल बलुआ पत्थर तथा चूने के पत्थर से बना है। इसकी ऊँचाई ८,००० से लेकर १५,००० फुट तक है।

जलवायु—ग्रीष्म में ६०° दक्षिण अक्षांश से ७८° द० अ० तक ताप २८° फारेनहाइट रहता है। जाड़े में ७१° ३०' द० अ० में ४५° ताप रहता है और अत्यंत कठोर शीत पड़ती है। ध्रुवीय प्रदेश के ऊपर उच्च वायुभार का क्षेत्र रहता है। यहाँ पर दक्षिणपूर्व बहनेवाली वायु का प्रतिचक्रवात उत्पन्न होता है। महाद्वीप के मध्यभाग का ताप १००° फा० से भी नीचे चला जाता है। इस महाद्वीप पर अधिकतर बर्फ की वर्षा होती है।

वनस्पति तथा पशु—दक्षिणी ध्रुव महासागर में पौधों तथा छोटी वनस्पतियों की भरमार है। लगभग १५ प्रकार के पौधे इस महाद्वीप में पाए गए हैं जिनमें से तीन मीठे पानी के पौधे हैं, शेष धरती पर होनेवाले पौधे, जैसे काई आदि।

अध महाद्वीप का सबसे बड़ा दुग्धपायी जीव ह्वेल है। यहाँ तेरह प्रकार के सील नामक जीव भी पाए जाते हैं। उनमें से चार तो उत्तरी प्रशांत महासागर में होनेवाले सीलों के ही समान हैं। ये फर-सील हैं तथा इन्हें सागरीय सिंह अथवा सागरीय गज भी कहते हैं। बड़े आकार के किंग पेंगुइन नामक पक्षी भी यहाँ मिलते हैं। यहाँ पर विश्व में अन्यत्र अप्राप्य ११ प्रकार की मछलियाँ होती हैं। दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेश में धरती पर रहनेवाले पशु नहीं पाए जाते।

उत्पादन—धरती पर रहनेवाले पशुओं अथवा पुष्पोंवाले पौधों के न होने के कारण इस प्रदेश का आयस्रोत एक प्रकार से नगण्य है। परंतु पेंगुइन पक्षियों, सील, ह्वेल तथा हाल में मिली लोहे एवं कोयले की खानों से यह प्रदेश भविष्य में संपत्तिशाली हो जायगा, इसमें संदेह नहीं। यहाँ की ह्वेल मछलियों के व्यापार से काफी धन अर्जित किया जाता है। वायुयानों के वर्तमान युग में यह महाद्वीप विशेष महत्व का होता जा रहा है। यहाँ पर मनुष्य नहीं रहते। अंतरराष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष में संयुक्त राष्ट्र (अमरीका), रूस और ब्रिटेन तीनों की इस महाद्वीप के प्रति विशेष रुचि परिलक्षित हुई है और तीनों ने दक्षिणी ध्रुव पर अपने झंडे गाड़ दिए हैं। [शि० मं० सिं०]

अंटार्कटिक महासागर अंटार्कटिक महाद्वीप के चारों ओर फैला है। कतिपय भूगोलवेत्ताओं के अनुसार यह स्वतंत्र महासागर न होकर अंध (अटलांटिक) महासागर, प्रशांत महासागर तथा हिंद महासागर का दक्षिणी विस्तार मात्र है।

अंटार्कटिक महासागर की गहराई हार्न अंतरीप के पास ६०० मील है तो अफ्रीका के दक्षिण स्थित अगुलहस अंतरीप के समीप २,८०० मील।

अंटार्कटिक महासागर में अनेक प्लावी हिमशैल (आइसबर्ग) तैरते रहते हैं। कुछ हिमशैल तैरते तैरते समशीतोष्ण अन्य महासागरों में भी चले जाते हैं। समुद्री खोजकर्ताओं ने इस सागर में एकाधिक ऐसे प्लावी हिमशैल भी देखे हैं जिनका क्षेत्रफल एक सौ वर्ग मील से अधिक था। इनमें से कुछ हिमशैलों की मोटाई एक हजार फीट से भी अधिक थी। अंटार्कटिक महासागर के जल का सतह पर औसत तापमान २६.८° फारेनहाइट रहता है और तल पर यह तापमान ३२° से ३५° फारेनहाइट तक होता है।

दक्षिण अमरीका तक पहुँचते पहुँचते इस सागर की मुख्य धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक धारा अमरीका महाद्वीप के पूर्वी तट के साथ साथ उत्तर की ओर चली जाती है तो दूसरी पूरब की ओर हार्न अंतरीप से आगे बढ़ जाती है।

इस क्षेत्र में छोटे छोटे पौधे, पक्षी तथा अन्य जीव जंतु पाए जाते हैं। ह्वेल मछली के शिकार के लिये भी यह महासागर महत्वपूर्ण माना जाता है और यहाँ से ह्वेल का काफी व्यापार होता है। (कै० चं० श०)

अंडमान द्वीपसमूह बंगाल की खाड़ी के बीच उत्तर दक्षिण (१०° १३' उ० अ० से १३° २०' उ० अ० तक) फैला हुआ कुछ द्वीपों का पुंज है जो भारत सरकार के अंतर्गत है। भारत सरकार इनका शासन केंद्र द्वारा करती है। अंडमान में छोटे बड़े मिलाकर कुल २०४ द्वीप हैं। हुगली नदी के मुहाने से लगभग ५६० मील और बर्मा के नग्राइस अंतरीप से यह १२० मील की दूरी पर है। इस द्वीपपुंज की पूरी लंबाई २१६ मील है, तथा अधिकतम चौड़ाई ३२ मील और कुल भूभाग का क्षेत्रफल २,५०८ वर्ग मील है। निकोबार द्वीपपुंज अंडमान के दक्षिण में ७५ मील की दूरी पर स्थित है। इसके द्वीपों की संख्या १६ और कुल भूमि का क्षेत्रफल ७३५ वर्ग मील है।

अंडमान का मुख्य भूभाग पाँच प्रधान द्वीपों से बना है जो एक दूसरे के सन्निकट स्थित हैं। इन द्वीपसमूहों को 'बृहत् अंडमान' कहते हैं। बृहत् अंडमान के दक्षिण में लघु अंडमान और पूर्व में रिची द्वीपपुंज स्थित है। दक्षिण के द्वीपों में मैनर्स स्ट्रेट है जो अंडमान के समुद्री व्यवसाय का मुख्य मार्ग है। इसके पूर्व भाग में पोर्ट ब्लेयर नामक नगर स्थित है जो अंडमान की राजधानी और प्रधान बंदरगाह है। अंडमान का समुद्रतट बहुत ही कटा हुआ है जिसके कारण भूभाग के भीतर कई मील तक ज्वारभाटा आता है। इसलिये यहाँ कई प्राकृतिक बंदरगाह हैं। इनमें से पोर्ट ब्लेयर, पोर्ट कार्नवालिस और स्टिवार्ट प्रसिद्ध हैं।

कहा जाता है कि इन द्वीपों की माला बर्मा की आराकान योमा नामक पर्वतश्रेणी का ही विस्तार है जो ईयोसीन युग में बनी थी। इनमें छोटे छोटे सर्पेंटाइन तथा चूना पत्थर के भाग दिखाई देते हैं। संभवत: ये माइओसिन युग की देन हैं। इन द्वीपमालाओं के पूर्वी भाग में स्थित मर्तबान की खाड़ी के भीतर छोटे छोटे आग्नेय द्वीप भी दिखाई देते हैं। इन्हें नारकोनडाम और बैरन द्वीपपुंज कहते हैं। अंडमान के सभी समुद्रतटों पर मूँगे (प्रवाल) की प्राचीरमाला दिखाई देती है।

बृहत् अंडमान का भूभाग कुछ पहाड़ियों से बना है जो अत्यंत संकीर्ण उपत्यकाओं का निर्माण करती हैं। ये पहाड़ियाँ, विशेषकर पूर्वी भाग में, काफी ऊपर तक उठी हुई हैं और पूर्वी ढाल पश्चिमी ढाल की अपेक्षा अधिक खड़ी है। अंडमान की पहाड़ियों का सर्वोच्च शिखर उत्तरी अंडमान में है जो २,४०० फुट ऊँचा है। इसे सैडल पीक कहते हैं। छोटा अंडमान प्राय समतल है। इन द्वीपों में कहीं भी नदियाँ नहीं है, केवल छोटे मौसमी नाले दिखाई देते हैं। अंडमान का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही रमणीक है।

अंडमान की जलवायु भारतवर्ष की दक्षिण पश्चिम मानसूनी जलवायु और पूर्वी द्वीपसमूह की विषुवतरेखीय जलवायु के बीच की है। यहाँ का ताप साल भर लगभग बराबर रहता है जिसका औसत मान ८५° फा० है। पर्याप्त वर्षा होती है जिसकी औसत मात्रा १००" के ऊपर है। जून से सितंबर तक वर्षा अधिक होती है और शेष महीने शुष्क होते हैं। बंगाल की खाड़ी तथा हिंद महासागर की ऋतु का पूर्वानुमान करने के लिये अंडमान की स्थिति बहुत ही लाभदायक है। इस कारण पोर्ट ब्लेयर में १८६८ में एक बड़ा ऋतुकेंद्र खोला गया था। यह केंद्र आज भी इन समुद्रों में चलनेवाले जहाजों को तूफानों की दिशा तथा तीव्रता का ठीक संवाद देता रहता है।

अंडमान के कुछ घने आबाद स्थानों को छोड़कर शेष भाग अधिकतर उष्णप्रदेशीय जंगलों से ढका है। भारत सरकार के निरंतर प्रयत्न से जंगलों को साफ करके आबादी के योग्य काफी स्थान बना लिया गया है जिसमें १९६७ ई० तक लगभग चार हजार विस्थापितों को बसाया गया है। ये विस्थापित अधिकतर पूर्वी पाकिस्तान (जो अब स्वतंत्र एवं प्रभुसत्तासंपन्न बँगला देश है) से आए हैं।

अंडमान की प्रधान उपज यहाँ की जंगली लकड़ियाँ हैं जिनमें अंडमान की लाल लकड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त नारियल तथा रबर के पेड़ भी अच्छी तरह उगते हैं। आजकल यहाँ मैनिला हेंप तथा सायल हेंप नामक सूत्रोत्पादक पौधों को उगाने की चेष्टा की जा रही है। आयात सामग्री में चाय, कहवा, कोको, सन, माल आदि प्रमुख हैं। यहाँ सुंदर पत्तोंवाले दलदल अधिक हैं। ये पेड़ ईंधन के काम में आते हैं। अंडमान में जंतु अपेक्षाकृत कम हैं। दुग्धपायी जंतुओं की जातियाँ भी बहुत कम हैं। बड़े जंतुओं में सूअर और बनबिलार मुख्य हैं।

अंडमान के प्राचीन निवासी असभ्य थे, जिसके फलस्वरूप यहाँ की सभ्यता बहुत ही पिछड़ी हुई है। सन् ८५१ के अरबी लेखों में इन लोगों को नरभक्षक बताया गया है, जो जहाजों को ध्वस्त किया करते थे। परंतु यह पूर्णरूपेण सत्य नहीं है। यहाँ के आदिवासी हँसमुख, उत्साही तथा क्रीडाप्रिय प्रकृति के हैं। परंतु क्रुद्ध हो जाने पर भयंकर रूप धारण कर लेते हैं और सब प्रकार के कुकृत्य करने पर उतारू हो जाते हैं। इसलिये इनपर विश्वास करना बहुत ही कठिन है। वैज्ञानिकों का मत है कि ये संभवत वामन (पिगमी) जाति के वंशज हैं जो कभी एशिया के दक्षिणी पूर्वी भागों तथा उसके बाहरी टापुओं में बसी थी। यद्यपि अंडमान के आदिवासी सब एक ही वंश के हैं, तथापि इनमें कई जातियाँ तथा उपजातियाँ पाई जाती हैं जिनकी भाषाएँ, रहन सहन, निवासस्थान तथा आदतें भिन्न भिन्न हैं। भूत प्रेत आदि पर इनका विश्वास है और इनकी धारणा है कि मनुष्य मरने के पश्चात् भूत हो जाते हैं। इनका प्रधान अस्त्र तीर धनुष है। ये अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते। नक्षत्रादि से दिशा निर्णय करने का ज्ञान संभवत. इनमें नहीं है। इनके बाल चमकदार, काले तथा घुँघराले होते हैं। पुरुषों का शरीर सुंदर, सुगठित तथा बलिष्ठ होता है, परंतु नारियाँ उतनी सुंदर नहीं होतीं। विवाहादि भी इनमें निर्धारित नियमों के अनुसार संपन्न होते हैं।

अंडमान अंग्रेजों के समय में भारतीय कैदियों के आजीवन या दीर्घकालीन कारावास का स्थान था। भारतीय दंडविधान के अनुसार इन कैदियों के देशनिष्कासन की आज्ञा रहती थी। सन् १८५७ में भारत के स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम प्रयास के बाद से अंडमान भेजे जानेवाले कैदियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। सन् १८७२ में वाइसराय लार्ड मेयो का, जब वे अंडमान देखने गए हुए थे, निधन हुआ। इस घटना से अंग्रेजों के हृदय में एक गहरी छाप पड़ गई। अंग्रेजों के समय में यहाँ कैदियों के बसाने की पर्याप्त व्यवस्था की गई थी। यहाँ की रक्षा के हेतु सेनाएँ भी रखी जाती थी। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व यहाँ की समस्त व्यवस्था अंग्रेज अफसरों द्वारा होती थी। जिन कैदियों का जीवन उचित ढंग का प्रतीत होता था उन्हें २०-२५ वर्ष बाद छोड़ भी दिया जाता था। १९२१ से आजीवन कारावास का दंड उठा दिया गया है। तब से यहाँ के कैदियों की संख्या घटती गई। द्वितीय महायुद्ध में यह जापान द्वारा अधिकृत हो गया था (१९४२) और युद्ध समाप्त होने तक उसी के अधिकार में रहा।

१९७१ ई० में अंडमान नीकोबार द्वीपसमूह की अनुमित जनसंख्या १,१५,०९० थी। सारे द्वीपों में सबसे घनी आबादी पोर्ट ब्लेयर में है। इसका कारण यह है कि पुराने समय में ही पोर्ट ब्लेयर को केंद्र मानकर अंडमान की नई आबादी बसनी शुरू हुई थी। भारत के साथ अंडमान का संबंध यहाँ की साप्ताहिक डाक तथा बेतार द्वारा भली भाँति स्थापित है।

(रा० लो० सिं०)

अंडलूशिया स्पेन का एक प्रदेश है। क्षेत्रफल ३३,७११ वर्ग मील। अंडलूशिया अत्यंत उपजाऊ, प्राकृतिक सौंदर्य से आतप्रोत, मूर संस्कृति के स्मारकों से भरा, दक्षिणी स्पेन का एक विभाग है।

इसके उत्तरी भाग में लोहे, ताँबे, सीसे, कार्बन की खानोंवाली सियरा मोरेना पर्वत तथा दक्षिण में हिमाच्छादित सियरा नेवादा है। मध्य के उपजाऊ मैदान में गेहूँ, जौ, शहतूत, नारंगी, अंगूर और मधु प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते हैं। यहाँ घोड़े, गाय तथा भेड़ पाली जाती है और ऊन, रेशम तथा चमड़े का काम होता है। यहाँ मस्जिदों की प्रचुर संख्या प्राचीन काल के व्यापक अरब प्रभाव की द्योतक है। अरबों ने सन् ७११ में सर्वप्रथम इस प्रदेश में पदार्पण किया था। यहाँ की भाषा, संस्कृति एवं जनता पर प्रचुर अरब प्रभाव है।　　(शि० म० सिं०)

अंडा उस गोलाभ वस्तु को कहते हैं जिसमें से पक्षी, जलचर और सरीसृप आदि अनेक जीवों के बच्चे फूटकर निकलते हैं। पक्षियों के अंडों में, मादा के शरीर से निकलने के तुरंत बाद, भीतर केंद्र पर एक पीला और बहुत गाढ़ा खाद्य पदार्थ होता है जो गोलाकार होता है। इसे 'योक' कहते हैं। योक पर एक वृत्ताकार, चिपटा, छोटा, बटन सरीखा भाग होता है जो विकसित होकर बच्चा बन जाता है। इन दोनों के ऊपर सफेद अर्धतरल भाग होता है जो ऐल्बुमिन कहलाता है। यह भी विकसित हो रहे जीव के लिये आहार है। सबके ऊपर एक कड़ा खोल होता है जिसका अधिकांश भाग खड़िया मिट्टी का होता है। यह खोल रध्रमय होता है जिससे भीतर विकसित होनेवाले जीव को वायु से आक्सिजन मिलता रहता है। बाहरी खोल सफेद, चित्तीदार या रंगीन होता है जिससे अंडा दूर से स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता और अंडा खानेवाले जंतुओं से उसकी बहुत कुछ रक्षा हो जाती है।

आरंभ में अंडा एक प्रकार की कोशिका (सेल) होता है और अन्य कोशिकाओं की तरह यह भी कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) और केंद्रक (न्यूक्लियस) का बना होता है, परंतु उसमें एक विशेषता होती है जो और किसी प्रकार की कोशिका में नहीं होती, और वह है प्रजनन की शक्ति। संसेचन के पश्चात्, जिसमें मादा के डिंब और नर के शुक्राणु कोशिका का संमेलन होता है, और कुछ जंतुओं में बिना संसेचन के ही, डिंब विभाजित होता है, बढ़ता है और अंत में जिस जंतुविशेष का वह अंडा रहता है उसी के रूप, गुण और आकार का एक नया प्राणी बन जाता है।

अंडे में प्रजनन की क्षमता से संबद्ध कुछ विशेष गुण होते हैं। अधिकांश जंतु अपने अंडों को शरीर से बाहर निकालने के पश्चात् किसी उपयुक्त स्थान पर रख छोड़ते हैं, जहाँ अंडों का विकास होता है। ऐसे अंडों के कोशिकाद्रव्य योक (पोषक) खाद्य पदार्थ से भरे होते हैं। यह साधारणत पीला होता है। योक के अतिरिक्त और भी बहुत से पदार्थ अंडे में होते हैं, जैसे वसा (फैट), विटामिन, एनजाइम इत्यादि। जिन जंतुओं के अंडों में योक की मात्रा कम होती है उनमें भ्रूणविकास को क्रिया अंतिम श्रेणी तक नहीं पहुँचती। भ्रूण विकास के लिये आवश्यक शक्ति अंडे में निस्सादित (डिपॉज़िटेड) योक की रासायनिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है और इस कारण जब अंडे में योक पर्याप्त मात्रा में नहीं

होता तो शरीर निर्माण की क्रिया बीच ही मे रुक जाती है। कुछ प्राणियो के अडो मे ऐसी ही अवस्था होती है तथा इनका अडा बढ़कर डिंभ (लारवा) बनता है। डिंभ अपना खाद्य स्वयं खोजता और खाता है जिससे इसके शरीर का पोषण तथा वर्धन होता है और अत मे डिंभ का रूपातरण होता है। परतु जिन जतुओ के अडो मे योक पर्याप्त मात्रा मे उपस्थित होता है उनमे रूपातरण नही होता। कुछ ऐसे भी जतु होते हैं जिनमे अडविकास शरीर के बाहर नही बल्कि मादा के शरीर के भीतर होता है। ऐसे जतुओं के अडो मे योक नही होता।

अडा प्रोटोजोआ से उच्चवर्गीय शारीरिक सगठनवाले सब जतुसमूहो मे पाया जाता है। निम्न श्रेणी के जतुओ के अडो मे भी योक होता है और अधिकाश मे कडा खोल भी, जिसे कवच कहते है। किरीटिन (रोटिफेरा) के अडो मे एक विचित्रता पाई जाती है। अडे सब एक समान नही, प्रत्युत तीन प्रकार के होते है। ग्रीष्म ऋतु के अडे दो प्रकार के होते है, छोटे तथा बडे। इन अडो का विकास बिना ससेचन के ही होता है। बडे अडो के विकास से मादा उत्पन्न होती है और छोटो से नर। हेमत काल के अडे मोटे कवच से घिरे होते हैं और इनके विकास के लिये ससेचन आवश्यक होता है। ये अडे हेमत ऋतु के अत मे विकसित होते है।

केचुआ वर्ग (ओलिगोकीटा) मे केचुओं के ससेचित अडे कुछ ऐल्ब्युमेन के साथ (कोकून कोश मे) बद रहते है। ये भूमि मे दिए जाते है और मिट्टी मे ही इनका विकास होता है।

जोको मे भी अडे योक तथा शुक्रपुटी (स्पर्माटोफोर्स) के साथ कोकून कोश में बद रहते है। ये कोकून कोश गीली मिट्टी मे दिए जाते है।

कीटो के अडो मे भी योक एवं वसा अधिक मात्रा में होती है। अडे कई झिल्लियो से घिरे होते है। अधिकाश कीटो के अडे बेलनाकार होते है, परतु किसी किसी के गोलाकार भी होते है।

कठिनवर्ग (क्रस्टेशिया) मे से किसी किसी के अडे एकात पीती (एक ओर योकवाले, टीलोलेसिथाल) होते हैं और कुछ केंद्रपीती (बीच मे योकवाले, सेंट्रोलेसिथाल)। कुछ क्लोमपादा (ब्रैकिओपोडा) तथा अखंडिताग अनुवर्ग (ऑस्ट्राकोडा) मे अडे बिना ससेचन के विकसित होते है। जलपिशु प्रजाति (डैफ्निआ) मे ग्रीष्म ऋतु के अडे बिना ससेचन के ही विकसित हो जाते है, परतु हेमत काल मे दिए हुए अडो के लिये ससेचन आवश्यक होता है। बिच्छुओ के अडे गोलाकार होते हैं और इनमे पीतक पर्याप्त मात्रा मे होता है। मकडियो के अडे भी गोलाकार होते हैं और इनमे भी पीतक होता है। ये कोकून कोश के भीतर दिए जाते हैं और वही विकसित होते हैं।

उदरपाद चूर्णप्रावार (शख-वर्ग, गैस्ट्रोपोडा मोलस्क) ढेरियो मे अडे देते है जो श्लेष्मक (जेली) मे लिपटे रहते हैं। इन ढेरियो के भाँति भाँति के आकार होते हैं। अधिकाश लंबे, बेलनाकार अथवा पट्टी की तरह के या रस्सी के रूप के होते हैं। इस प्रकार की कई रस्सियाँ आपस में मिलकर एक बडी रस्सी भी बन जाती है। अग्रक्लोम गण (प्रॉसोब्रैंकिआ) मे अडे श्वेत द्रव के साथ एक सपुट (कैप्सूल) मे बद होते हैं। इस प्रकार के बहुत से सपुट इकट्ठा किसी चट्टान अथवा समुद्री घास से सटे पाए जाते हैं।

ऐसा भी होता है कि सपुट के भीतर के भ्रूणो मे से केवल एक ही विकसित होता है और शेष भ्रूण उसके लिये खाद्य पदार्थ बन जाते हैं। स्थलचर फुप्फुस-श्वसनकर-गण (पल्मोनेटा प्राणी) मे प्रत्येक अडा एक चिपचिपे पदार्थ से ढका रहता है और कई अडे एक दूसरे से मिलकर एक शृखला बनाते है जो पृथ्वी पर छिद्रो मे रखे जाते है। निकचुक (वैजिन्युला) मे उस ऐल्ब्युमिनी ढेर का, जिसके भीतर अडा रहता है, ऊपरी तल कुछ समय मे कडा हो जाता है और चूने के कवच के समान प्रतीत होता है।

शीर्षपादा (सेफालोपोडा) के अडे बडी नाप के होते है और इनमे पीतक की मात्रा भी अधिक होती है। प्रत्येक अडा एक अडवेष्ट कला (झिल्ली) से युक्त होता है। अनेक अडे एक श्लेषी पदार्थ अथवा चर्म सदृश पदार्थ मे समावृत होते है और या तो एक शृखला मे क्रम से लगे होते है या एक समूह मे एकत्रित रहते हैं।

समुद्रतारा (स्टार फिश) के अडो का ऊपरी भाग स्वच्छ काँच के समान होता है और केंद्र में पीला अथवा नारगी रग का योक होता है।

हस्तक्लोम वर्ग (एलास्मोब्राकिआइ) के ससेचित अडे एक आवरण के भीतर बद रहते है जो किरेटिन का बना होता है। ऐसा अडावरण कुठतुड वर्ग (हॉलोसेफालि) मे भी पाया जाता है। सूत्रतुड प्रजाति (कैलोरिकस) मे इनकी लबाई लगभग २५ सेंटीमीटर होती है। रश्मि-पक्षा (ऐक्टिनॉप्टेरिगिआइ) के अडे इन मछलियों के अडो से छोटे होते है और विरले ही कभी आवरण मे बद होते है। मछलियाँ लाखो की सख्या मे अडे देती है। कुछ के अडे पानी के ऊपर तैरते है, जैसे स्नेह-मीनिका (हैडक), कटपृथा (टर्बट), चिपिटा (साल) तथा स्नेहमीन (कॉड) के। कुछ के अडे पानी मे डूबकर पेंदो पर पहुँच जाते है, जैसे बहुला (हेरिंग), मृदुपक्षा (सैमन) तथा कर्बुरी (ट्राउट) के। कभी कभी अडे चट्टानो के ऊपर सटा दिए जाते है। फुप्फुस-मत्स्या (डिप्नोइ) के अडे एक श्लेषीय आवरण मे रहते है जो पानी के सपर्क से फूल उठते है।

कुछ पक्षियों के अंडे
क्रमानुसार ये निम्नलिखित पक्षियो के अडे हैं: तीतर, बाज, कौआ, बगुला, रॉबिन, अंग्रेजी गौरैया और इग्लैंड की घरेलू रेन।

विपुच्छ गण (ऐन्यूरा) ढेरियो मे अडे देते है। प्रत्येक अडे का ऊपरी भाग काला और नीचे का श्वेत होता है और वह एक ऐल्ब्युमिनी आवरण मे बद रहता है। एक बार दिए गए समस्त अडे एक ऐल्ब्युमिनी ढेर मे लिपटे रहते हैं। अडे एक ओर योकवाले (टीलोलेसिथाल) होते हैं।
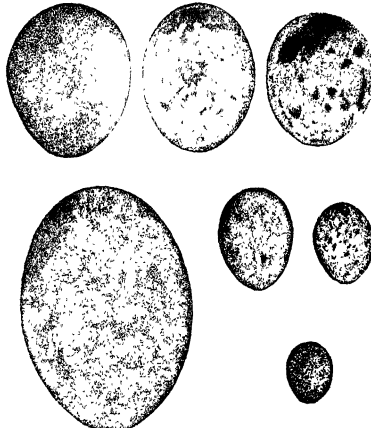
अधिकांश सरीसृप (रेप्टाइल्स) अडे देते हैं, यद्यपि कुछ बच्चे भी जनते हैं। अडे का कवच चर्मपत्र सदृश अथवा कैल्सियममय होता है। अंडे अधिकांश भूपृष्ठ के छिद्रों में रखे जाते हैं और सूर्य के

ताप से विकसित होते हैं। मादा घड़ियाल अपने अंडो के समीप ही रहती और उनकी रक्षा करती है।

पक्षियो के अंडे बड़े होते है और पीतक मे भरे रहते है। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज़्म) पीतक के ऊपर एक छोटे से अगोल बिंब (जरमिनल डिस्क) के रूप मे होता है। अंडे का सबसे बाहरी भाग एक कैल्सियममय कवच होता है। इसके भीतर एक चर्मपत्र सदृश कवचकला होती है। यह कला द्विगुण होती है। बाह्य और आंतरिक पर्दो के बीच, अंडे के चौड़े अंत पर, एक रिक्त स्थान होता है जिसे वायुकोष्ठ कहते है। कवचकला अंडे के आंतरिक तरल भाग को चारो ओर से घेरे रहती है। तरल पदार्थ का बाहरी भाग ऐल्ब्युमेनमय होता है जिसके स्वयं दो भाग होते है। इसका बाह्य भाग स्थूल तथा श्यान (विस्कस) होता है और इसके दोनो सिरे रस्सी के समान बटे होते है जिन्हे श्वेतक रज्जु (कालजा) कहते है। भीतरी ऐल्ब्युमेन अधिक तरल होता है। जैसा पहले बताया गया है, अंडे का केंद्रीय भाग योक कहलाता है।

कवच तीन स्तरो का बना होता है। इसके बाहरी तल पर एक स्तर होता है जिसे उच्चर्म कहते है। कवच अनेक छिद्रो तथा कुल्यिकाओ से बिद्ध होता है। इन छिद्रो मे एक प्रोटीन पदार्थ होता है जो किरैटिन से अधिक कोलाजेन के सदृश होता है। (कोलाजेन सरेस के समान एक पदार्थ है जो शरीर के तंतुओं मे पाया जाता है।)

सबसे छोटे अंडे भ्रमज पक्षी (हमिंग बर्ड) के होते है और सबसे बडे विधावी (माग्र.) तथा तुर्गविहग प्रजाति (ईपिओर्निस) के।

ऊपर कहा जा चुका है कि अंडे के ऐल्ब्युमेन के तीन स्तर होते है। इनकी रासायनिक संरचना भिन्न भिन्न होती है जैसा निम्नलिखित सारणी से प्रतीत होता है

अंडे के ऐल्ब्युमेन के प्रोटीन

	आंतरिक सूक्ष्म स्तर	मध्य स्थूल स्तर	बाह्य सूक्ष्म स्तर
अंडश्लेष्म (ओवाम्यूसिन)	१ १०	५ ११	१ ८१
अंडावर्तुलि (ओवोग्लाबुलिन)	६ ५६	५ ५६	३ ६६
अंड ऐल्ब्युमेन (ओवोऐल्ब्युमेन)	८९ २९	८६ १९	६४ ४३

इन तीनो स्तरो के जल की मात्रा मे कोई विभिन्नता नही होती। श्यानता मे अवश्य विभिन्नता होती है, परतु यह एक कलिलीय (कलायडल) घटना समझी जाती है। अंड ऐल्ब्युमेन मे चार प्रकार के प्रोटीनो का होना तो निश्चित रहता है—अंडश्वेति (अंड ऐल्ब्युमेन), समश्वेति (कोनाल्ब्युमेन), अंडश्लेष्माभ (ओवोम्यूकॉइड) तथा अंडश्लेष्मि, परतु अंडावर्तुलि का होना अनिश्चित है। अंडश्वेति मे प्रस्तुत भिन्न भिन्न प्रोटीनो की मात्रा निम्नलिखित सारणी मे दी गई है

अंडश्वेति	७७ प्रतिशत
समश्वेति	३ ,,
अंडश्लेष्माभ	१३ ,,
अंडश्लेष्मि	७ ,,
अंडावर्तुलि	लेशमात्र

कहा जाता है कि अंडश्वेति का कार्बोहाइड्रेट वर्ग क्षीरीधु (मैनोज) है। अन्य अनुसधान के अनुसार यह एक बहुशर्करिल (पॉलीसैकाराइड) है जिसमे २ अणु (मॉलेक्यूल) मधुम-तिक्ती (ग्लुकोसामाइन) के है, ४ अणु क्षीरीधु के और १ अणु किसी अनिर्धारित नाइट्रोजनमय संघटक का है। अंडश्लेष्माभ मे कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होती है (लगभग १०%)। संयुक्त बहुशर्करिल मधुम-तिक्ती तथा क्षीरीधु का समाण्विक (इक्विमॉलेक्यूलर) मिश्रण होता है। किस हद तक ये प्रोटीन जीवित अवस्था मे वर्तमान रहते है, यह कहना अति कठिन है।

मुर्गी के अंडे का केंद्रीय भाग पीला होता है, उसपर एक पीला स्तर विभिन्न रचना का होता है। इन दोनो पीले भागो के ऊपर श्वेत स्तर होता है जो मुख्यत ऐल्ब्युमेन होता है। इसके ऊपर कड़ा छिलका होता है। योक का मुख्य प्रोटीन अंडपीति (विटेलिन) है जो एक प्रकार का फास्फोप्रोटीन है। दूसरी श्रेणी का प्रोटीन लिवेटिन है जो एक कूट-आवर्तुलि (स्युडोग्लोबुलिन) है जिसमे ० ०६७% फासफोरस होता है। तीसरा प्रोटीन अंडपीति श्लेष्माभ (विटेलाम्युकॉइड) है जिसमे १०% कार्बोहाइड्रेट होता है। योक मे क्लीब वसा, भास्वीय, तथा साद्रव (स्टेरोल) भी पर्याप्त मात्रा मे होते है। ५५ ग्राम के एक अंडे मे ५ ५८ ग्राम क्लीब वसा तथा १ २८ ग्राम फास्फेट होता है, जिसमे ० ६८ ग्राम अंडपीति (लेसिथिन) होता है। अंडपीति के वसाम्ल (फैटी ऐसिड) अधिकांश समतालिक (आइसोपामिटिक), अम्लिक (ओलेइक), आलसिक (लिनोलेइक), अद्रासोनिक (अराकिडोनिक) तथा ६ १०-षाडशोन्य (हेक्साडेकानोइक) अम्ल है। तालिक तथा वसा अम्ल कम मात्रा मे होते है। अंडे मे मास्तिष्कि (सेफालिन) भी होती है, तथा १ ७५% पित्तसाद्रव (कोलेस्टेरोल)।

अंडे के पीले तथा श्वेत दोनो ही भागो मे विटामिन पाए जाते है, किंतु पीले भाग मे अधिक मात्रा मे, जैसा इस सारणी मे दिया गया है—
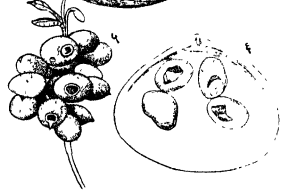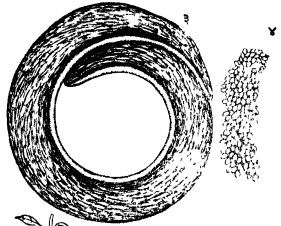
एक साथ दिए जानेवाले अंडो का समूह

१ बुक्सीनम अंडेटम के अंडप्रावर (एग-कैप्स्यूल्स), २ नेप्चूनिया ऐंटीका के अंडप्रावर, ३ नैटिका का अंडौघ (स्पॉन), ४ सामान्य अष्टबाहु (ऑक्टोपस वलगैरिस) के अंडप्रावर, ५ सीपिया एलिगैन्स के अंडप्रावर; ६. वोल्युटा म्यूज़िका का अंडौघ।

विटामिन	पीले भाग में	श्वेत भाग में
ए	+	–
बी१	+	–
बी२	+	+
पी-पी	+	–
सी	–	–
डी	+	–
ई	+	–

आहार में अंडे—पक्षियों के अंडे, विशेषकर मुर्गी के अंडे, प्राचीन काल से ही विभिन्न देशों में बड़े चाव से खाए जा रहे हैं। भारत में अंडों की खपत कम है क्योंकि अधिकांश हिंदू अंडा खाना धर्मविरुद्ध समझते हैं। अंडों में उत्तम आहार के अधिकांश अवयव सुपच रूप में विद्यमान रहते हैं, उदाहरणतः कैल्सियम और फास्फोरस, जिनकी आवश्यकता शरीर की हड्डियों के पोषण में पड़ती है, लोहा, जो रुधिर के लिये आवश्यक है, अन्य
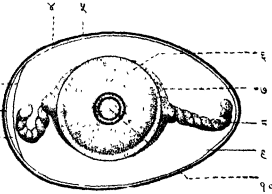
मुर्गी के अंडे की रचना

१ वायुकोष्ठ; २ और ४ चिमड़ी झिल्ली, ३ और ९ श्वेति (ऐल्ब्युमेन), ५ बाहरी कड़ा खोल, ६ पीतक, ७ और ८. निभाग (कालेजा), १० किरणक (सिकाट्रिकिल), जो बढ़कर भ्रूण बनता है।

खनिज, प्रोटीन, वसा इत्यादि, अंडे में ये सभी रहते हैं। कार्बोहाइड्रेट अंडे में नहीं रहता, इसलिये चावल, दाल, रोटी के आहार के साथ अंडों की विशेष उपयोगिता है, क्योंकि चावल आदि में प्रोटीन की बड़ी कमी रहती है। अंडा पूर्ण रूप से पच जाता है—कुछ सिट्ठी नहीं बचती। इसलिये आहार में अधिक अंडा रहने से कोष्ठबद्धता (कब्ज) उत्पन्न होने का डर रहता है। विदेशों में अधिकांश प्रकार के भोजनों में अंडा डाला जाता है। सूप, जेली, चीनी आदि को स्वच्छ करने में, कुरकुरी आहार वस्तुओं के ऊपर चित्ताकर्षक तह चढ़ाने के लिये, टिकियां आदि को खस्ता बनाने के लिये, मोयन के रूप में, केक बनाने में, आइसक्रीम में, पुआ और गुलगुला बनाने में अंडों का बहुत प्रयोग होता है। रोग के बाद दुर्बल व्यक्तियों के लिये कच्चे अंडे या अंडे के पेय का प्रयोग होता है। देर तक उबाले कड़े अंडे सब्जियों में पड़ते हैं। भारत में उबले अंडे, घी या मक्खन में आधे तले हुए (हाफ फ़ाइड) अंडे और अंडे के आमलेट का अधिक चलन है।

(मु० ला० श्री०)

अंतपाल कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' से हमें अंतपाल नामक राजकर्मचारियों का पता चलता है जो सीमान्त के रक्षक होते थे और जिनका वेतन कुमार, पौर, व्यावहारिक, मंत्री तथा राष्ट्रपाल के बराबर होता था। अशोक के समय अंतपाल ही अंतमहामात्र (देखिए प्रथम स्तंभलेख) कहलाने लगे। गुप्तकाल में अंतपाल 'गोप्ता' कहलाने लगे थे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में वीरसेन तथा एक अन्य अंतपाल का उल्लेख हुआ है। वीरसेन नर्मदा के किनारे स्थित अंतपाल दुर्ग का अधिपति था। अंतपालों का कार्य महत्वपूर्ण था, ग्रीक कर्मचारी 'स्त्रातेगस' से इन पदाधिकारियों की तुलना करना सहज है। अंतपाल शब्द साधारणतया सीमांत प्रदेश के शासक या गवर्नर को निर्दिष्ट करता है। यह शासक सैनिक, असैनिक दोनों ही प्रकार का होता था।

(च० म०)

अंतरतारकीय गैस तारों के बीच रिक्त स्थानों में धूलिकणों के अतिरिक्त गैस के अणु भी होते हैं। गैस के अणु तारों के प्रकाश से विशेष रंगों को सोख लेते हैं और इस प्रकार उनके कारण तारों के वर्णपटों में काली धारियाँ बन जाती हैं। परंतु ऐसी काली धारियाँ तारे के निजी प्रकाश में भी बन सकती हैं। काली रेखाएँ अंतरतारकीय धूलि से ही बनी हैं, इसका प्रमाण उन युग्मतारों में मिलता है जो एक दूसरे के चारों ओर नाचते रहते हैं, अर्थात् दोनों अपने सम्मिलित गुरुत्व केंद्र के चारों ओर नाचते रहते हैं। इसलिये इन तारों में से जब एक हमारी ओर आता रहता है तब दूसरा हमसे दूर जाता रहता है। परिणाम यह होता है कि डॉप्लर नियम के अनुसार वर्णपट में एक तारे से आई प्रकाश की काली रेखाएँ कुछ दाहिने हट जाती हैं और दूसरे तारे के प्रकाश से बनी रेखाएँ दोहरी हो जाती हैं। परंतु अंतरतारकीय गैसों से उत्पन्न काली रेखाएँ इकहरी होती हैं, इसलिये वे तीक्ष्ण रह जाती हैं। अंतरतारकीय गैस में कैल्सियम, पोटैसियम, सोडियम, टाइटेनियम और लोहे के अस्तित्व का पता इन्हीं तीक्ष्ण रेखाओं के आधार पर चला है।

इन मौलिक धातुतत्वों के अतिरिक्त ऑक्सीजन और कार्बन, हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन के विशेष यौगिकों का पता लगा है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अंतरतारकीय गैस में प्रायः वे सभी तत्व होंगे जो पृथ्वी या सूर्य में हैं।

(नि० सि०)

अंतरपणन (आर्बिट्रेज) किसी प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी विनिमय को सस्ते बाजार में खरीदना और साथ ही साथ तेज बाजार में बेचना अंतरपणन कहलाता है। इसका उद्देश्य विभिन्न व्यापारिक केंद्रों में प्रचलित मूल्यों के अंतर से लाभ उठाना होता है। अंतरपणन इस कारण संभव होता है कि एक ही समय विभिन्न बाजारों में उसी प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी चलन के विभिन्न मूल्य होते हैं, और इसका परिणाम समस्त बाजारों के मूल्यों में समानता स्थापित करना होता है। अंतरपणन के लिये यह आवश्यक है कि संदेशवहन के शीघ्र साधन विद्यमान हों और संबंधित बाजारों में तुरत ही आदेशपालन कराने का समुचित प्रबंध हो। अंतरपणनकर्ता चाहे तो प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी चलन भेज दे और बदले में आवश्यक धनराशि मँगा ले, चाहे वह उस राशि को बाजार में जमा रहने दे जिससे भविष्य में उस बाजार में ऋण होने पर वह काम आ सके।

सोने का अंतरपणन करने के लिये यह आवश्यक होता है कि विभिन्न देशों के बाजारों में सोने के मूल्य की बराबर जानकारी रखी जाय जिससे वह जहाँ भी सस्ता मिले वहाँ से खरीदकर अधिक मूल्यवाले बाजार में बेच दिया जाय। सोना खरीदते समय क्रयमूल्य में निम्नलिखित व्यय जोड़े जाते हैं (१) क्रय का कमीशन, (२) सोना विदेश भेजने का किराया, (३) बीमा का किस्त, (४) पैकिंग व्यय, (५) कासुली बीजक (कासुलर इनवायस) लेने का व्यय, तथा (६) भुगतान पाने तक का ब्याज। साथ में, सोना बेचकर जो मूल्य मिले उसमें से निम्नलिखित मद घटाए जाते हैं (१) सोना गलाने का व्यय (यदि आवश्यक हो), (२) आयात कर और आयात संबंधी अन्य व्यय तथा (३) बैंक कमीशन। इन समायोजनों के पश्चात् यदि विक्रयराशि क्रयराशि से अधिक हुई, तभी लाभ होगा। सामान्यतः लाभ की दर बहुत कम होती है, और उपर्युक्त अनुमानों तथा गणनाओं में तनिक भी त्रुटि होने से लाभ हानि में परिवर्तित हो सकता है। इसके अतिरिक्त दो देशों के चलनपरिवर्तन की दर में, जिसे विनिमय दर कहते हैं, घटबढ़ होती रहती है, और उसमें तनिक भी प्रतिकूल घटबढ़ हानि का कारण बन सकती है। अतः अंतरपणनकर्ता को उपर्युक्त समस्त बातों का ज्ञान होना चाहिए, उसमें तुरत निर्णय करने की योग्यता और भविष्य का यथार्थ अनुमान लगाने की सामर्थ्य भी होनी चाहिए। इतना होने पर भी कभी कभी जोखिम का सामना करना पड़ता है।

विदेशी चलन तथा प्रतिभूतियों में भी अंतरपणन इसी प्रकार किया जाता है। विदेशी चलन मे अंतरपणन बहुधा दो से अधिक बाजारो को सम्मिलित करके होता है जिसमे मूल्यों के अंतर से पर्याप्त लाभ उठाया जा सके। हाल में ही विभिन्न देशों मे विनिमय-समकरण-कोश स्थापित कर दिए गए है और उनके अधिकारी विनिमय दरों को स्थिर कर देते हैं। फलस्वरूप अंतरपणन से लाभ उपार्जित करने के अवसर प्राय समाप्त हो जाते है। प्रतिभूतियो मे अंतरपणन बहुधा विषम होता है और उसमे जोखिम भी अधिक होती है।

अंतरपणन के द्वारा प्रतिभूतियों, वस्तुओं या विदेशी विनिमय के मूल्य ससार भर मे लगभग समान हो जाते है। अनेक अंतरपणनकर्ताओं की क्रियाओ के फलस्वरूप अंतरराष्ट्रीय बाजार स्थापित हो जाते है, और बने रहते है जिससे क्रेताओ तथा विक्रेताओं को बहुत सुविधा होती है। जहां तक वस्तुओ का सबध है, अंतरपणन के द्वारा वस्तुओ का निर्यात अधिपूर्ति के देश से अभाव के देशो मे होता रहता है जिससे आवश्यक वस्तुओ का यथोचित वितरण ससारव्यापी आधार पर हो जाता है।

(अ० ना० अ०)

अंतरराष्ट्रीय ताप मापक्रम का निर्धारण सन् १९२७ ई० मे एक अंतरराष्ट्रीय कमेटी ने ऊष्मागतिकीय मापक्रम को क्रियात्मक रूप देने के लिये किया। गैस तापमापन मे अनेक प्रयोगवर्ती कठिनाइयों के कारण ऐसे मापक्रम को निर्धारित करने की आवश्यकता हुई। यह हमारे वर्तमान ज्ञान की सीमा तक ऊष्मागतिकीय मापक्रम से एकदम मिलता है और साथ ही सरलता से और बारीकी से पुनर्स्थापनीय भी है। इसके आधार अनेक पुनर्स्थापनीय बिंदु है जिन्हे साख्यिक मान दे दिए गए है और उनके बीच के तापो के लिये यह तय कर लिया गया है कि निम्नलिखित प्रकार से विभिन्न तापमापियों के पाठो को मानक रूप मे स्वीकृति दी जाएगी।

(१) ०° से० से ६६०° से०—मानक प्लैटिनम प्रतिरोध तापमापी, जिसे ०°, १००°, और गधक के क्वथनाक पर अंशित किया गया हो।

(२) १९०° से० से ०° से०—प्लैटिनम प्रतिरोध तापमापी जिसके द्वारा ताप इस सूत्र से प्राप्त किया जाए—

$R_t = R_0 \{1 + t + \beta^2 + \gamma(t-100)^{+3}\}$

जिसके नियताक बर्फ भाप, गधक और आक्सीजन बिंदुओ पर अंशन द्वारा प्राप्त किए गए हो।

(३) ६६०° से० से १०६३° से०—प्लैटिनम, प्लैटिनम रेडियम युग्म जिससे ताप के लिये सूत्र होगा—

$E = a + bt + ct^2$,

जिसके नियताक ऐंटीमनी के हिमाक तथा चाँदी और सोने के बिंदुओ से प्राप्त होगे।

(४) १०६३° से० से ऊपर—प्रकाश उत्तापमापी (optical pyrometer) जिसे सोने के बिंदु पर अंशित किया जाए।

यह अंतरराष्ट्रीय मापक्रम ऊष्मागतिकीय मापक्रम के मानो को स्थानांतरित नहीं करता अपितु व्यावहारिक क्षेत्र में अधिकाश कार्यों के लिये उसका पर्याप्त यथार्थता से प्रतिनिधित्व करता है। (नि० सि०)

अंतरराष्ट्रीय दूरसचार सघ की स्थापना १९३२ ई० के मैड्रिड सम्मेलन मे उस समय हुई जब १८६५ ई० के दौरान पेरिस में स्थापित अंतरराष्ट्रीय तारप्रेषण सघ और १९०६ के दौरान बर्लिन मे स्थापित अंतरराष्ट्रीय रेडियो तारप्रेषण सघ का परस्पर विलय हो गया। लेकिन उक्त सघ का कार्य सही अर्थों मे १ जनवरी, १९३४ ई० से ही प्रारभ हुआ। २ अक्टूबर, १९४७ ई० के दिन आयोजित सघ के अधिवेशन मे इसका पुनर्गठन हुआ और १ जनवरी, १९४९ ई० से नवगठित अंतरराष्ट्रीय दूरसचार सघ ने विधिवत् अपना कार्य शुरू कर दिया।

उक्त सघ के कार्य हैं—

१ रेडियो आवृत्तियो (फ्रिक्वेंसीज) को निश्चित करना तथा निर्दिष्ट रेडियो आवृत्तियो का आलेखन करना।

२ सुचारु सेवा के साथ साथ दूरसचार की यथासंभव न्यूनतम दरें बनाए रखने की कोशिश करना और दूरसचार सघ के आर्थिक प्रशासन को स्वतत्र एव सुस्पष्ट आधार प्रदान करना।

३. दूरसचार के दौरान जीवन को किसी प्रकार से क्षति न पहुँचे, इस दृष्टि से विभिन्न उपाय खोजना तथा उन उपायों को लागू करने के उपरांत उनका विस्तार करना।

४ दूरसचार प्रणाली सबधी विभिन्न अध्ययन करके उपयुक्त सिफारिशें करना तथा इनसे सबधित विभिन्न सूचनाओं को इकट्ठा करके प्रकाशित करना ताकि सदस्य देश उक्त सूचनाओं से लाभ उठा सकें।

गठन—अंतरराष्ट्रीय दूरसचार के अतर्गत कई इकाइयाँ हैं, यथा—सदस्य राष्ट्रों के पूर्णाधिकार प्राप्त दूतो की परिषद्, प्रशासन की देखभाल करनेवाली परिषद्, २५ सदस्यो की एक प्रशासनिक परिषद्, महासचिवालय, अंतरराष्ट्रीय आवृत्ति आलेखन बोर्ड तथा रेडियो, दूरभाष एव तारप्रेषण से सबद्ध तीन अंतरराष्ट्रीय परामर्शदात्री समितियाँ।

सन् १९७१ ई० का सघ का बजट ८२ लाख डालर था। इसके उपमहासचिव ट्यूनिशिया के मुहम्मद मिली है और इसके मुख्यालय का पता है—प्लेस डेस नेशन्स, जेनेवा, स्विट्जरलैंड। (कै० च० श०)

अंतरराष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन सयुक्त राष्ट्रसघ से सबद्ध है। इसका गठन ४ अप्रैल, १९४७ ई० को हुआ था, यद्यपि इसी नाम और उद्देश्य से एक कामचलाऊ सगठन १९४५ ई० से ही काम कर रहा था। शिकागो मे नवबर, दिसबर, १९४४ ई० मे हुए अंतरराष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सम्मेलन मे ही इसके निर्माण का विचार कर लिया गया था। इसके प्रमुख कार्यों मे नागरिक उड्डयन की सुरक्षा और कुशलता के लिये विशिष्ट मापदड स्थिर करना, राष्ट्रो की सीमाओं पर निर्दिष्ट बधनो का सरलीकरण, अंतरराष्ट्रीय उड्डयन के लिये नौकरियों का क्षेत्र विस्तृत करना, हवाई यातायात की सांख्यिकी और उड्डयन के आर्थिक पक्ष का अध्ययन प्रस्तुत करना तथा यातायात सबधी नियमों में विकास आदि हैं। यह विभिन्न राष्ट्रों को उनके नागरिक उड्डयन कार्यक्रमों के लिये तत्सबधी विशेषज्ञों की समितियाँ भी उपलब्ध कराता है। सगठन का प्रमुख अंग एक असेंबली है जिसमे सगठन के सभी सदस्य राष्ट्र है तथा एक परिषद् है जिसम तीन वर्षों के लिये असेंबली द्वारा चुने २७ राष्ट्र है।

इसका प्रधान कार्यालय कनाडा मे है और इस समय इसके महासचिव डॉ० असद कोटेट है। (स०)

अंतरराष्ट्रीय न्यायालय सयुक्त राष्ट्रसघ का न्याय सबधी प्रमुख अंग है जिसकी स्थापना सयुक्त राष्ट्रसघ के घोषणापत्र के अंतर्गत हुई है। इसका उद्घाटन अधिवेशन १८ अप्रैल, १९४६ ई० को हुआ था। इसके निमित्त एक विशेष सविधि—'स्टैच्यूट ऑव इटरनैशनल कोर्ट ऑव जस्टिस'—बनाई गई और इस न्यायालय का कार्यसचालन उसी सविधि के नियमो के अनुसार होता है।

इतिहास—स्थायी अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना उतनी ही सनातन है जितनी अंतरराष्ट्रीय विधि, परतु कल्पना के फलीभूत होने का काल वर्तमान शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं है। सन् १८९९ ई० मे, हेग मे, प्रथम शांतिसम्मेलन हुआ और उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थायी विवाचन न्यायालय की स्थापना हुई। सन् १९०७ ई० मे द्वितीय शांतिसम्मेलन हुआ और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार न्यायालय (इटरनैशनल प्राइज कोर्ट) का सृजन हुआ जिससे अंतरराष्ट्रीय न्यायप्रशासन की कार्यप्रणाली तथा गतिविधि मे विशेष प्रगति हुई। तदुपरात ३० जनवरी, १९२२ ई० को लीग ऑव नेशस के अभिसमय के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय न्यायालय का विधिवत् उद्घाटन हुआ जिसका कार्यकाल राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशस) के जीवनकाल तक रहा। अत मे वर्तमान अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना सयुक्त राष्ट्रसघ की अंतरराष्ट्रीय न्यायालयसविधि के अंतर्गत हुई।

साधारण—अंतरराष्ट्रीय न्यायालय मे न्यायाधीशो की कुल सख्या १५ है, गणपूर्ति सख्या नौ है। न्यायाधीशों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा

होती है। पद धारण करने की कालावधि नौ वर्ष है। न्यायालय द्वारा सभापति तथा उपसभापति का निर्वाचन और रजिस्ट्रार की नियुक्ति होती है। न्यायालय का स्थान हेग में है और इसका अधिवेशन छुट्टियों को छोड़ सदा चालू रहता है। न्यायालय के प्रशासनव्यय का भार संयुक्त राष्ट्रसंघ पर है। (देखिए, अंतरराष्ट्रीय न्यायालयसंविधि—अनुच्छेद २—३३)।

क्षेत्राधिकार—अंतरराष्ट्रीय न्यायालयसंविधि में सम्मिलित समस्त राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में वाद प्रस्तुत कर सकते हैं। इसका क्षेत्राधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र अथवा विभिन्न संधियों तथा अभिसमयों में परिगणित समस्त मामलों पर है। अंतरराष्ट्रीय न्यायालय-संविधि में सम्मिलित कोई राष्ट्र किसी भी समय बिना किसी विशेष प्रसंविदा के किसी ऐसे अन्य राष्ट्र के संबंध में, जो इसके लिये सहमत हो, यह घोषित कर सकता है कि वह न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है। उसके क्षेत्राधिकार का विस्तार उन समस्त विवादों पर है जिनका संबंध संधिनिर्वचन, अंतरराष्ट्रीय विधिप्रश्न, अंतरराष्ट्रीय आभार का उल्लंघन तथा उसकी क्षतिपूर्ति के प्रकार एवं सीमा से है। (अंतरराष्ट्रीय न्यायालयसंविधि, अनुच्छेद ३४—३८)।

अंतरराष्ट्रीय न्यायालय को परामर्श देने का क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। वह किसी ऐसे पक्ष की प्रार्थना पर, जो इसका अधिकारी है, किसी भी विधिक प्रश्न पर अपनी सम्मति दे सकता है। (अंतरराष्ट्रीय न्यायालय-संविधि, अनुच्छेद ६५—६८)।

प्रक्रिया—अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की प्राधिकृत भाषाएँ फ्रेंच तथा अंग्रेजी हैं। विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व अभिकर्ता द्वारा होता है, वकीलों की भी सहायता ली जा सकती है। न्यायालय में मामलों की सुनवाई सार्वजनिक रूप से तब तक होती है जब तक न्यायालय का आदेश अन्यथा न हो। सभी प्रश्नों का निर्णय न्यायाधीशों के बहुमत से होता है। सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार है। न्यायालय का निर्णय अंतिम होता है, उसकी अपील नहीं हो सकती किंतु कुछ मामलों में पुनर्विचार हो सकता है। (अंतरराष्ट्रीय न्यायालयसंविधि, अनुच्छेद ३९—६४)।

सं० ग्रं० —जे० डब्ल्यू० गारनर : टैगोर लॉ लेक्चर्स, के० आर० आर० शास्त्री : स्टडीज इन इंटरनैशनल लॉ, स्टैच्यूट ऑव इंटरनैशनल कोर्ट ऑव जस्टिस। (श्री० अ०)

अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा अभिकरण (स्थापना २९ जुलाई, सन् १९५७ ई०।) न्यूयार्क स्थित राष्ट्रसंघ के मुख्यालय में २६ अक्टूबर, १९५७ को आयोजित एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में इसकी संविधि स्वीकृत की गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ से इसका संबंध एक समझौते के माध्यम से जोड़ा गया है।

उक्त अभिकरण के कार्य हैं —

१ सार्वभौमिक स्तर पर शांति, स्वास्थ्य तथा समृद्धि को त्वरान्वित एवं परिवर्धित करने की दिशा में परमाणु ऊर्जा का उपयोग।

२ इस तथ्य के प्रति सजग रहना कि अभिकरण द्वारा इनकी संस्तुति पर तथा इसका देखभाल अथवा नियंत्रण में दी जानेवाली सहायता का उपयोग कहीं सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये तो नहीं किया जा रहा है।

अभिकरण सदस्य राष्ट्रों को (जनवरी १९७० ई० तक इनकी संख्या १०३ थी) पारमाणविक शक्ति के विकास (जिसमें जल के अपखारीकरण में पारमाणविक शक्ति का उपयोग भी सम्मिलित है), स्वास्थ्य एवं सुरक्षा तथा रेडियोधर्मिता को नष्ट करने की व्यवस्था इत्यादि के संबंध में परामर्श और तकनीकी सहायता भी देता है। कायचिकित्सा, कृषि उद्योग तथा जलविज्ञान प्रभृति क्षेत्रों में विकिरण रेडिएशन एवं रेडियो विकिरण समस्थानिकों (रेडियो आइसोटोप्स) के उपयोग को उक्त अभिकरण विशेषज्ञों की सेवा जुटाकर, प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की व्यवस्था करके, शिक्षावृत्ति (फेलोशिप) देकर, अनुसंधान संबंधी अनुबंध करके, विज्ञान गोष्ठियाँ आयोजित करके तथा तत्संबंधी साहित्य का प्रकाशन करके प्रोत्साहित करता है।

सन् १९५८ ई० से अब तक इस अभिकरण के माध्यम से लगभग एक हजार विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ विश्व के विभिन्न देश उठा चुके हैं। तीन हजार शिक्षावृत्तियाँ दी गई हैं, ४० लाख डालर से अधिक के उपकरण जुटाए गए हैं और ६० लाख डालर व्यय के अनुसंधान संबंधी अनुबंध हुए हैं। आस्ट्रिया और मानाको में इस अभिकरण की अनुसंधान प्रयोगशालाएँ हैं। सन् १९६४ ई० के दौरान ट्रीस्ट में सैद्धांतिक भौतिकी का अंतरराष्ट्रीय केंद्र स्थापित किया गया जिसका संचालन अब यूनेस्को तथा अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा अभिकरण दोनों संयुक्त रूप से कर रहे हैं। परमाणु ऊर्जा का प्रयोग सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये न होने देने की दृष्टि से उक्त अभिकरण ने जिस रक्षोपाय पद्धति का आश्रय लिया है उसके अंतर्गत ३२ राष्ट्रों में १० पारमाणविक शक्तिकेंद्रों, ६८ परमाणु भट्ठियाँ, चार रूपांतरकारी संयंत्रों, निर्माण संयंत्रों एवं ईंधन को पुनः उपयोग लायक बनानेवाले संयंत्रों की देखभाल तथा ७४ प्रकार के अन्य कार्यकलाप सम्मिलित हैं।

उक्त अभिकरण का १९७० ई० का बजट १,४८,३७,००० डालर था और १९७१ के खर्च के लिये १,७०,२८,००० डालर का अनुमान लगाया गया था।

इस संस्था का एक महानिदेशक होता है। २५ गवर्नरों का बोर्ड इसका कार्य संचालन करता है तथा महाधिवेशन वर्ष में एक बार बुलाया जाता है।

इसके महानिदेशक स्वीडन के नागरिक सिगवर्ड एकलुंड हैं और मुख्यालय का पता कार्टनैरिंग ११–१३, पो० १०१०, वियना—१, आस्ट्रिया है। (कै० ना० श०)

अंतरराष्ट्रीय बैंक (पुनर्निर्माण और विकास से संबद्ध) संयुक्त राष्ट्रसंघ से संबद्ध यह संस्था जून, १९४६ में अस्तित्व में आई। इसका उद्देश्य उत्पादनवृद्धि, जीवनस्तर के विकास और विश्व के व्यापारक्षेत्र में अधिक अच्छा संतुलन लाने के लिये अंतरराष्ट्रीय पूँजी विनियोजन और विनियोग है। बैंक का कोष सदस्य राष्ट्रों द्वारा लगाई गई निधि से, बांडों के विक्रय से, ऋणपत्रों के कुछ अंशों के विक्रय तथा ऋणों की वापसी को धनराशि से संचित होता रहता है। विकास कार्यों के लिये धनराशि प्रदान करने में सुविधा हो, इस दृष्टि से बैंक ने सहायता प्राप्त करनेवाले राष्ट्रों को परामर्शदात्री समितियाँ बना दी हैं जो कोलंबिया, भारत, कोरिया, मलयेशिया, मोरक्को, नाइजीरिया, पाकिस्तान, पेरू, सूडान, थाइलैंड, ट्युनीशिया और पूर्वी अफ्रीका के राष्ट्रों को सहायता के लिये [illegible] देता है। आवश्यकता होने पर यह विशेषज्ञों की सहायता भी देता है। पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीका में इसने कृषि तथा यातायात कार्यों की योजना प्रस्तुत करने में सहायता देने के लिये स्थायी कमीशन नियुक्त कर रखे हैं। सदस्य राष्ट्रों की कृषि और शिक्षा योजनाओं में भी यह सहायता देता है।

विदेशी मुद्रा परिस्थिति के कारण जो राष्ट्र ऋण लेने में अपेक्षाकृत कम सक्षम हैं, उनकी सहायता के लिए बैंक के सदस्य राष्ट्रों ने १९६० ई० में अंतरराष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना की जो लंबी अवधि के लिये ब्याज-मुक्त विकासऋण स्वीकृत करता है। इस विकास संघ को विश्वबैंक से अनुदान प्राप्त होता है।

इस विकास संघ का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है तथा इसके अध्यक्ष रॉबर्ट एस० मैकनमारा हैं। (स०)

अंतरराष्ट्रीय मुद्रानिधि की स्थापना २७ दिसंबर, १९४५ को एक स्वतंत्र संगठन के रूप में हुई थी और १५ नवंबर, १९४७ को लागू हुए एक सहमति पत्रक में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों ने संघ से इसके संबंधों की व्याख्या कर दी। सन् १९६२ में फंड ने एक ऐसी व्यवस्था की जिसके अनुसार बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, जापान, नीदरलैंड, स्वीडेन, ब्रिटेन तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका अंतरराष्ट्रीय भुगतान व्यवस्था की गड़बड़ी की स्थिति में फंड को धनराशि प्रदान करेंगे। १९७५ तक यह व्यवस्था रहेगी।

अंतरराष्ट्रीय आर्थिक सहकार तथा विनिमय की स्थिरता, मुद्राविनिमय की कठिनाइयों के दूरीकरण और बहुपार्श्वीय भुगतान की व्यवस्था में सहयोग देना, रोजगार और आय के उच्च स्तर कायम करने के लिये विश्वव्यापार के विस्तार में सहायक होना तथा सदस्य राष्ट्रों के उत्पादन के साधनों में विकास करना इस मुद्रानिधि के उद्देश्य हैं। सदस्य राष्ट्र अपनी विदेशी मुद्रा नीतियों में परिवर्तन के समय इससे राय लेते हैं और निधि द्वारा, समुचित सुरक्षा के विश्वास के बाद, सदस्य राष्ट्रों को भुगतान की अल्पकालिक तथा मध्यकालिक व्यवस्था के लिये विदेशी मुद्रा विनिमय के उपलब्ध स्रोतों से सहायता की जाती है।

निधि की सर्वोच्च सत्ता बोर्ड ऑव गवर्नर्स के हाथ में है जिसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। इसकी बैठक वर्ष में एक बार होती है। अधिशासी संचालक (संप्रति ६ नियुक्त और १४ अप्रतिनिधित्ववाले देशों से) विधि का सामान्य कार्यसंचालन करते हैं। ये लोग मिलकर एक प्रबंध संचालक का चयन करते हैं जो सामान्यत पाँच वर्षों तक पदासीन रहता है। उसके अधीन इस समय ११७६ कर्मचारी हैं।

इसका मुख्य कार्यालय वाशिंगटन में है। प्रबंध संचालक हैं श्री पियरे पॉल श्वीजर (फ्रांस)। (स०)

अंतरराष्ट्रीय वित्त निगम (स्थापना जुलाई, १९५६ ई०) यह विश्वबैंक से संबद्ध है। इसके लिये ९२ देशों ने धन जुटाया है और १९६९ ई० के अंत तक इसके खाते में १० करोड़ ७० लाख डालर जमा हो चुके थे। इसके अतिरिक्त इसके खाते में ५ करोड़ ४० लाख डालर आरक्षित धन के रूप में संचित है। अंतरराष्ट्रीय वित्त निगम विश्वबैंक के क्रियाकलापों में सहयोग देता है ताकि कम विकसित सदस्य देशों में उत्पादनशील निजी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा सके। उक्त निगम निजी कंपनियों के पूँजीभाग के लिये अभिदान देता अथवा दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करता है। कभी कभी अभिदान और ऋण दोनों ही रूपों में यह सहायता करता है। नवस्थापित उद्योगों की सहायता के विस्तार, विकास आदि में भी धन देकर मदद करता है।

३१ दिसंबर, १९६९ को अंतरराष्ट्रीय वित्त निगम ने ४० देशों को ३७ करोड़ ७० लाख डालर की सहायता का वचन दिया था। इसी तिथि तक निगम अन्य लागतदारों को ६ करोड़ ६५ लाख डालर के ऋण या बिना ब्याज के हिस्से बेचने के लिये सहमत हो गया था। आपाती तथा हामीदारी की वह रकम जिसके लिये निगम वचनबद्ध था, २ करोड़ ६१ लाख डालर थी। निगम ने १९६९-७० में ५३ लाख ६० हजार डालर प्रशासन संबंधी कार्यों पर व्यय किए। इसके अध्यक्ष राबर्ट एस० मैकनमारा हैं, जो अमरीकी हैं। (कै० च० श०)

अंतरराष्ट्रीय विधि, निजी **परिभाषा**—निजी अंतरराष्ट्रीय कानून से तात्पर्य उन नियमों से है जो किसी राज्य द्वारा ऐसे वादों का निर्णय करने के लिये चुने जाते हैं जिनमें कोई विदेशी तत्व होता है। इन नियमों का प्रयोग इस प्रकार के वादविषयों के निर्णय में होता है जिनका प्रभाव किसी ऐसे तथ्य, घटना अथवा सव्यवहार पर पड़ता है जो किसी अन्यदेशीय विधिप्रणाली से इस प्रकार संबद्ध है कि उस प्रणाली का अवलंबन आवश्यक हो जाता है।

अंतरराष्ट्रीय कानून, निजी एवं सार्वजनिक—"निजी अंतरराष्ट्रीय कानून" नाम से ऐसा बोध होता है कि यह विषय अंतरराष्ट्रीय कानून की ही शाखा है। परन्तु वस्तुत ऐसा है नहीं। निजी और सार्वजनिक अंतरराष्ट्रीय कानून में किसी प्रकार की पारस्परिकता नहीं है।

इतिहास—रोमन साम्राज्य में वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिनमें अंतरराष्ट्रीय कानून की आवश्यकता पड़ती है। परंतु पुस्तकों से इस बात का पूरा आभास नहीं मिलता कि रोम-विधि-प्रणाली में उनका किस प्रकार निर्वाह हुआ। रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् स्वीय विधि (पर्सनल लॉ) का युग आया जो प्राय. १०वीं शताब्दी के अंत तक रहा। तदुपरांत पृथक् प्रादेशिक विधिप्रणाली का जन्म हुआ। १३वीं शताब्दी में निजी अंतरराष्ट्रीय कानून की निश्चित रूपरेखा देने के लिये आवश्यक नियम बनाने का भरपूर प्रयत्न इटली में हुआ। १६वीं शताब्दी के फ्रांसीसी न्यायज्ञों ने संविधि सिद्धांत (स्टैच्यूट-थ्योरी) का प्रतिपादन किया और प्रत्येक विधिनियम में उसका प्रयोग किया। वर्तमान युग में निजी अंतरराष्ट्रीय कानून तीन प्रमुख प्रणालियों में विभक्त हो गया—(१) संविधि प्रणाली, (२) अंतरराष्ट्रीय प्रणाली, तथा (३) प्रादेशिक प्रणाली।

साधारण—निजी अंतरराष्ट्रीय कानून इस तत्व पर आधारित है कि संसार में अलग अलग अनेक विधिप्रणालियाँ हैं जो जीवन के विभिन्न विधिसंबंधों को विनियमित करनेवाले नियमों के विषय में एक दूसरे से अधिकांशत भिन्न हैं। यद्यपि यह ठीक है कि अपने निजी देश में प्रत्येक शासक संपूर्ण-प्रभुत्व-संपन्न है और देश के प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तु पर उसका अनन्य क्षेत्राधिकार है, फिर भी सभ्यता के वर्तमान युग में व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव नहीं है कि अन्यदेशीय कानूनों की अवहेलना की जा सके। बहुधा ऐसे अवसर आते हैं जब एक क्षेत्राधिकार के न्यायालय को दूसरे देश की न्यायप्रणाली का अवलंबन करना अनिवार्य हो जाता है, जिसमें अन्याय न होने पाए तथा निहित अधिकारों की रक्षा हो सके।

अन्यदेशीय कानून तथा विदेशी तत्व—निजी अंतरराष्ट्रीय कानून के प्रयोजन के लिये अन्यदेशीय कानून से तात्पर्य किसी भी ऐसे भौगोलिक क्षेत्र की न्यायप्रणाली से है जिसकी सीमा के बाहर उस क्षेत्र का स्थानीय कानून प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। यह स्पष्ट है कि अन्यदेशीय कानून की उपेक्षा से न्याय का उद्देश्य अपूर्ण रह जायगा। उदाहरणार्थ, जब किसी देश में विधि द्वारा प्राप्त अधिकार का विवाद दूसरे देश के न्यायालय में प्रस्तुत होता है तब वादी को रक्षाप्रदान करने के पूर्व न्यायालय के लिये यह जानना नितांत आवश्यक होता है कि अमुक अधिकार किस प्रकार का है। यह तभी जाना जा सकता है जब न्यायालय उस देश की न्यायप्रणाली का परीक्षण करे जिसके अंतर्गत वह अधिकार प्राप्त हुआ है।

विवादों में विदेशी तत्व अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। कुछ दृष्टांत इस प्रकार हैं (१) जब विभिन्न पक्षों में से कोई पक्ष अन्य राष्ट्र का हो अथवा उसकी नागरिकता विदेशी हो, (२) जब कोई व्यवसायी किसी एक देश में दिवालिया करार दिया जाय और उसके ऋणदाता अन्यान्य देशों में हों, (३) जब वाद किसी ऐसी संपत्ति के विषय में हो जो उस न्यायालय के प्रदेशीय क्षेत्राधिकार में न होकर अन्यान्य देशों में स्थित हो।

एकीकरण—निजी अंतरराष्ट्रीय कानून प्रत्येक देश में अलग अलग होता है। उदाहरणार्थ फ्रांस और इंग्लैंड के निजी अंतरराष्ट्रीय कानूनों में अनेक स्थलों पर विरोध मिलता है। इसी प्रकार अंग्रेजी और अमरीकी नियम बहुत कुछ समान होते हुए भी अनेक विषयों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त विवाह संबंधी प्रश्नों में प्रयोज्य विभिन्न न्यायप्रणालियों के सिद्धांतों में इतनी अधिक विषमता है कि जो स्त्री पुरुष एक प्रदेश में विवाहित समझे जाते हैं, वही दूसरे प्रदेश में अविवाहित।

इस विषमता को दो प्रकार से दूर किया जा सकता है। पहला उपाय यह है कि विभिन्न देशों की विधिप्रणालियों में यथासंभव समरूपता स्थापित की जाय, दूसरा यह कि निजी अंतरराष्ट्रीय कानून का एकीकरण हो। इस दिशा में अनेक प्रयत्न हुए परंतु विशेष सफलता नहीं मिल सकी। सन् १८९३, १८९४, १९०० और १९०४ ई० में हेग नगर में इसके निमित्त कई संमेलन हुए और छह विभिन्न अभिसमयों द्वारा विवाह, विवाहविच्छेद, अभिभावक, निषेध, व्यवहारप्रक्रिया आदि के संबंध में नियम बनाए गए। इसी प्रयोजनपूर्ति के लिये विभिन्न राज्यों में व्यक्तिगत अभिसमय भी संपादित हुए। निजी अंतरराष्ट्रीय कानून के एकीकरण की दिशा में अंतरराष्ट्रीय न्यायालय का योग विशेष महत्वपूर्ण है।

सं० ग्रं०—चेशायर प्राइवेट इंटरनैशनल लॉ, जॉन वेस्टलेक : ए ट्रीटिज ऑन प्राइवेट इंटरनैशनल लॉ। (श्री० अ०)

अंतरराष्ट्रीय विधि, सार्वजनिक **परिभाषा**—अंतरराष्ट्रीय कानून उन विधिनियमों का समूह है जो विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों के विषय में प्रयुक्त होते हैं। यह एक विधिप्रणाली है जिसका संबंध व्यक्तियों के समाज से न होकर राज्यों के समाज से है।

इतिहास—अंतरराष्ट्रीय कानून (विधि) के उद्भव तथा विकास का इतिहास निश्चित कालसीमाओं में नहीं बाँटा जा सकता। प्रोफेसर हालैंड के मतानुसार पुरातन काल में भी स्वतंत्र राज्यों से मान्यताप्राप्त ऐसे नियम थे जो दूतों के विशेषाधिकार, संधि, युद्ध की घोषणा तथा युद्धसंचालन से संबंध रखते थे (देखिए–लेक्चर्स ऑन इंटरनैशनल लॉ: हालैंड)। प्राचीन भारत में भी ऐसे नियमों का उल्लेख मिलता है (रामायण तथा महाभारत)। यहूदी, यूनानी तथा रोम के लोगों में भी ऐसे नियमों का होना पाया जाता है। १४वीं, १३वीं सदी ई० पू० में खत्ती रानी ने मिस्री फराऊन को दोनों राज्यों में परस्पर शांति और सौजन्य बनाए रखने के लिये जो पत्र लिखे थे वे अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से इतिहास के पहले आदर्श माने जाते हैं। वे पत्र खत्ती और फराऊनी दोनों अभिलेखागारों में सुरक्षित रखे गए जो आज तक सुरक्षित हैं। मध्य युग में शायद किसी प्रकार के अंतरराष्ट्रीय कानून की आवश्यकता ही न थी क्योंकि समुद्री दस्यु समस्त सागरों पर छाए हुए थे, व्यापार प्रायः लुप्त हो चुका था और युद्ध में किसी प्रकार के नियम का पालन नहीं होता था। बाद में जब पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार का युग आया तब अंतरराष्ट्रीय कानून के विकास में कुछ प्रगति हुई। कालांतर में मानव सभ्यता के विकास के साथ आचार तथा रीति की परंपराएँ बनीं जिनके आधार पर अंतरराष्ट्रीय कानून आगे बढ़ा और पनपा। १९वीं शताब्दी में उसकी प्रगति विशेष रूप से विभिन्न राष्ट्रों के मध्य होनेवाली संधियों तथा अभिसमयों द्वारा हुई। सन् १८९९ तथा १९०७ ई० में हेग में होनेवाले शांतिसम्मेलनों ने अंतरराष्ट्रीय कानून के रूप को मुखरित किया और अंतरराष्ट्रीय विवाचन न्यायालय की स्थापना हुई।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशन्स) ने जन्म लिया। उसके मुख्य उद्देश्य थे शांति तथा सुरक्षा बनाए रखना और अंतरराष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करना। परंतु १९३७ ई० में जापान तथा इटली ने राष्ट्रसंघ के अस्तित्व को भारी धक्का पहुँचाया और अंत में १९ अप्रैल, सन् १९४६ ई० को संघ का अस्तित्व ही मिट गया।

द्वितीय महायुद्ध के विजेता राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका तथा सोवियत रूस का अधिवेशन मास्को नगर में हुआ और एक छोटा सा घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। तदनंतर अनेक स्थानों में अधिवेशन होते रहे और एक अंतरराष्ट्रीय संगठन के विषय में विचारविनिमय होता रहा। सन् १९४५ ई० में २५ अप्रैल से २६ जून तक, सैन फ्रांसिस्को नगर में एक सम्मेलन हुआ जिसमें पचास राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। २६ जून, १९४५ ई० को संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अंतरराष्ट्रीय न्यायालय का घोषणापत्र सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, जिसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों की घोषणा की गई:

(१) अंतरराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखना,

(२) राष्ट्रों में पारस्परिक मैत्री बढ़ाना,

(३) सभी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का हल करने में अंतरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना,

(४) सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रों के कार्यकलापों में सामंजस्य स्थापित करना।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ और विशेषतया अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से अंतरराष्ट्रीय कानून को यथार्थ रूप में विधि (कानून) का पद प्राप्त हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अंतरराष्ट्रीय-विधि-आयोग की स्थापना की जिसका प्रमुख कार्य अंतरराष्ट्रीय विधि का विकास करना है।

अंतरराष्ट्रीय विधि का संहिताकरण—कानून के संहिताकरण से तात्पर्य है समस्त नियमों को एकत्र करना, उनको एक सूत्र में क्रमानुसार बाँधना तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करना। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में इस ओर प्रयास किया गया। 'इंस्टिट्यूट ऑव इंटरनैशनल लॉ' ने भी इसमें समुचित योग दिया। हेग सम्मेलनों ने भी इस कार्य को अपने हाथ में लिया। सन् १९२० ई० में राष्ट्रसंघ ने इसके लिये समिति बनाई। इस प्रकार पिछली तीन शताब्दियों में इस कठिन कार्य को पूरा करने का निरंतर प्रयास होता रहा। अंत में, २१ नवंबर, १९४७ ई० को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस कार्य के निमित्त संविधि द्वारा अंतरराष्ट्रीय-विधि-आयोग स्थापित किया।

अंतरराष्ट्रीय विधि के विषय—अंतरराष्ट्रीय कानून का विस्तार असीम तथा इसके विषय निरंतर प्रगतिशील हैं। मानव सभ्यता तथा विज्ञान के विकास के साथ इसका भी विकास उत्तरोत्तर हुआ और होता रहेगा। इसके विस्तार को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। अंतरराष्ट्रीय विधि के प्रमुख विषय इस प्रकार हैं :

(१) राज्यों की मान्यता, उनके मूल अधिकार तथा कर्तव्य, (२) राज्य तथा शासन का उत्तराधिकार, (३) विदेशी राज्यों पर क्षेत्राधिकार तथा राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर किए गए अपराधों के संबंध में क्षेत्राधिकार, (४) महासागर एवं जलप्रांगण की सीमाएँ, (५) राष्ट्रीयता तथा विदेशियों के प्रति व्यवहार, (६) शरणागत अधिकार तथा संधि के नियम, (७) राजकीय एवं वाणिज्यदूतीय समागम तथा उन्मुक्ति के नियम, (८) राज्यों के उत्तरदायित्व संबंधी नियम, तथा (९) विवाचनप्रक्रिया के नियम।

अंतरराष्ट्रीय विधि के आधार—अंतरराष्ट्रीय कानून के नियमों का सूत्रपात विचारकों की कल्पना तथा राष्ट्रों के व्यवहारों से हुआ। व्यवहार ने धीरे धीरे प्रथा का रूप धारण किया और फिर वे प्रथाएँ परंपराएँ बन गईं। अतः अंतरराष्ट्रीय कानून का मुख्य आधार परंपराएँ ही हैं। अन्य आधारों में प्रथम स्थान विभिन्न राष्ट्रों में होनेवाली संधियों का है जो परंपराओं से किसी भी अर्थ में कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त राज्यपत्र, प्रदेशीय संसद द्वारा स्वीकृत संविधि तथा प्रदेशीय न्यायालय के निर्णय अंतरराष्ट्रीय कानून की अन्य आधारशिलाएँ हैं। बाद में विभिन्न अभिसमयों ने तथा निर्वाचन न्यायालय, अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार न्यायालय एवं अंतरराष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों ने अंतरराष्ट्रीय कानून को उसका वर्तमान रूप दिया।

अंतरराष्ट्रीय विधि के काल्पनिक तत्व—अंतरराष्ट्रीय विधि कतिपय काल्पनिक तत्वों पर आधारित है जिनमें प्रमुख ये हैं :

(क) प्रत्येक राज्य का निश्चित राज्यक्षेत्र है और निजी राज्यक्षेत्र में उसको निजी मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है।

(ख) प्रत्येक राज्य को कानूनी समतुल्यता प्राप्त है।

(ग) अंतरराष्ट्रीय विधि के अंतर्गत सभी राज्यों का समान दृष्टिकोण है।

(घ) अंतरराष्ट्रीय विधि की मान्यता राज्यों की सम्मति पर निर्भर है और उसके समक्ष सभी राज्य एक समान हैं।

अंतरराष्ट्रीय विधि का उल्लंघन—अंतरराष्ट्रीय विधि की मान्यता सदैव राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर रही है। कोई ऐसी व्यवस्था या शक्ति नहीं थी जो राज्यों को अंतरराष्ट्रीय नियमों का पालन करने के लिये बाध्य कर सके अथवा नियमभंजन के लिये दंड दे सके। राष्ट्रसंघ की असफलता का प्रमुख कारण यही था। संसार के राजनीतिज्ञ इसके प्रति पूर्णतया सजग थे। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि कालांतर में अंतरराष्ट्रीय कानून को राज्यों की ओर से ठीक वैसा ही सम्मान प्राप्त हो जैसा किसी देश की विधिप्रणाली को अपने देश में शासकवर्ग अथवा न्यायालयों से प्राप्त है। संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने समस्त सहायक अंगों के साथ इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करने में प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा समिति को कार्यपालिका शक्ति भी दी गई है।

सं० ग्रं०—जे० डब्ल्यू० गारनर : टैगोर लॉ लेक्चर्स, १९२२, रॉस : ए टेक्स्ट बुक ऑव इंटरनैशनल लॉ, डब्ल्यू० ई० हाल : इंटरनैशनल लॉ, के० आर० आर० शास्त्री : स्टडीज इन इंटरनैशनल लॉ। (श्री० अ०)

अंतरराष्ट्रीय विवाचन जब किन्हीं दो राज्यों के विवादग्रस्त मामलों का निपटारा पंचनिर्णय द्वारा होता है तब उसको अंतरराष्ट्रीय विवाचन कहते हैं। अंतरराष्ट्रीय विवाद तीन अन्य प्रकार से भी निपटाया जा सकता है—(१) आपसी समझौते से, (२) किसी तीसरे व्यक्ति की सहायता से, तथा (३) मध्यस्थता द्वारा।

इतिहास—प्राचीन यूनान के नगरराज्यों के आपसी संबंधों में मध्यस्थ-निर्णय का विशेष महत्व था। हमें ज्ञात है कि वहाँ सात शताब्दियों के भीतर इस प्रकार अस्सी से अधिक महत्वपूर्ण पंचनिर्णय हुए। मध्ययुग में भी विवाचन के उदाहरण हमें बराबर मिलते हैं। परंतु विवाचन का प्रचलन विशेषतः १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। सन् १७९४ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के मध्य एक संधि हुई जो 'जे' संधि के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय से शांतिपूर्वक निपटारे की भावना निरंतर प्रगति करती गई, यद्यपि अनेक बाधाएँ भी आईं। सन् १७९४ तथा १९१३ ई० के बीच दो सौ से अधिक पंचाट हुए जिनमें सन् १८७२ का 'अलबामा पंचाट' मुख्यतः उल्लेखनीय है।

प्रारंभ में विवाचन पक्षों की इच्छा पर निर्भर करता था। किसी विवादग्रस्त मामले में विभिन्न पक्षों द्वारा स्वेच्छापूर्वक किए गए प्रसंविदों पर ही विवाचन आधारित होता था। बाद में यह प्रयास हुआ कि विवाचन अनिवार्य कर दिया जाय और प्रसंविदा इस प्रकार की हो जिसके अंतर्गत विभिन्न पक्ष भविष्य में होनेवाले विवादों का निपटारा विवाचन द्वारा कराने के लिये बाध्य हों। साथ ही यह भी प्रयत्न हुआ कि पहले की अनेक व्यक्तिगत संधियों को हटाकर एक व्यापक सामूहिक संधि हो जो सभी व्यक्तिगत संधियों का स्थान ग्रहण कर ले। सन् १८९९ तथा १९०७ ई० के हेग सम्मेलनों में इस दिशा में प्रयत्न हुए। सन् १८९९ ई० के अभिसमय का प्रयोजन था कि समस्त अंतरराष्ट्रीय विवादों का निपटारा मैत्रीपूर्ण ढंग से हो और इस कार्य के निमित्त विवाचन न्यायालय की एक स्थायी संस्था स्थापित की जाय जो सभी की पहुँच के भीतर हो। इस अभिसमय में ६१ अनुच्छेदों द्वारा मध्यस्थता, अंतरराष्ट्रीय परिपृच्छा आयोग, स्थायी विवाचन न्यायालय तथा विवाचनप्रक्रिया की व्यवस्था की गई। सन् १९०७ ई० में प्रथम अभिसमय पर पुनर्विचार हुआ और अनुच्छेदों की संख्या ६१ से बढ़कर ९६ हो गई। किंतु अनिवार्य विवाचन की योजना असफल रही और प्रथम महायुद्ध ने इस योजना का अंत कर दिया। फिर भी, व्यक्तिगत संधियों द्वारा विवाचन की परंपरा में विकास हुआ और सन् १९०२ से १९३२ ई० तक हेग विवाचन न्यायालय ने बीस पंचाट दिए।

राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशंस) के अभिसमय में ऐसा कोई नियम नहीं था जिससे सदस्य राज्य अनिवार्य विवाचन के लिये बाध्य हों। अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से अनिवार्य क्षेत्राधिकार की संभावना का मार्ग प्रशस्त हुआ परंतु वास्तविक रूप में विवाचन से इसका प्रयोजन न था। सन् १९२८ ई० में लीग ऑव नेशंस की जेनरल असेंबली ने अंतरराष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्वक निपटारा करने के लिये जो संविधि बनाई उसमें केवल राजनीतिक विवादों का विवाचन द्वारा निपटारा अनिवार्य था। सन् १९२९ में अमरीकी राज्यों की एक सामूहिक संधि हुई जिसके द्वारा सर्वांगपूर्ण अमरीकी विवाचन की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त विवाचन की संस्था व्यक्तिगत संधियों पर ही आधारित रही।

मध्यस्थ न्यायाधिकरण—प्रारंभ में बहुधा किसी अन्यदेशीय राज्य के प्रमुख को विवाचक चुन लिया जाता था। नियमानुसार राज्यप्रमुख को यह अधिकार था कि वह विवाचन कार्य अन्य किसी के सुपुर्द कर दे। परिणाम यह हुआ कि विवाचन कार्य राज्य के अधिकारीगण करने थे और विवाचन में निर्णय वस्तुतः कानूनी आधार पर न होकर राजनीति के रंग में रँगी हुई मध्यस्थता का रूप ग्रहण करने लगा। अतएव प्रक्रिया के इस रूप का अंत हो गया।

वर्तमान पद्धति में एक न्यायाधिकरण बना दिया जाता है जिसमें प्रत्येक पक्ष द्वारा चुने गए विचारकों की संख्या बराबर होती है। विवाचकगण मुख्य विवाचक का निर्वाचन करते हैं। न्यायाधिकरण की कारंवाई मुख्य विवाचक की अध्यक्षता में होती है। मुख्य विवाचक के निर्वाचन में यदि विवाचकों में मतभेद हो जाता है तो निर्वाचन की कारंवाई विशेष नियमों के अनुसार होती है।

विवाचकों, विशेषकर मुख्य विवाचक, के निर्वाचन में प्रायः कठिनाई होती है जिसके कारण विवाचन के निर्देशन में विलंब हो जाता है और कभी कभी तो निर्देशन हो ही नहीं पाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिये सन् १८९९ ई० में स्थायी विवाचन न्यायालय (पर्मानेंट कोर्ट ऑव इंटरनैशनल जस्टिस) की स्थापना हुई। यह न्यायालय वास्तव में उन व्यक्तियों की सूची मात्र है जो विवाचन कार्य के योग्य हैं तथा उसके लिये सहमत हैं। साथ में कुछ नियम बने हुए हैं जिनके अनुसार विभिन्न पक्ष व्यक्तिगत मामलों में उपर्युक्त सूची से विवाचक चुनकर मध्यस्थ न्यायाधिकरण की रचना कर सकते हैं। प्रशासन कार्य के लिये न्यायालय से संलग्न एक कार्यालय तथा स्थायी समिति है। सन् १९२० ई० में स्थायी अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई परंतु विवाचन न्यायालय बना रहा।

विवाचन प्रक्रिया—जब कोई दो राज्य किसी विवाद का विवाचन के निमित्त निर्देशन करते हैं तब निर्देशन का प्रविषय तथा शर्तें संधिपत्र अथवा तदनुरूप अन्य लेखपत्र द्वारा निश्चित हो जाती हैं। यदि संधिपत्र में किसी नियम या सिद्धांत का उल्लेख नहीं होता तो विवाचन की कारंवाई व्यवहार विधि-नियमों के अनुसार होती है। सन् १८९९ ई० में प्रक्रिया संबंधी बहुत से नियम बना दिए गए थे परंतु उनका प्रयोग तभी होता है जब संधिपत्र में आवश्यक नियम न लिखे हों। इस प्रकार प्रक्रिया संबंधी सभी बातें पक्षों द्वारा स्वयं निश्चित की जा सकती हैं।

प्रक्रिया के नियम—(क) विवाचन प्रक्रिया दो भागों में विभाजित है—लिखित परिप्रश्न तथा मौखिक कारंवाई, (ख) परकामण की कारंवाई नियमित रूप से गुप्त रखी जाती है, (ग) निजी क्षमता संबंधी प्रश्नों का निर्णय करने की शक्ति न्यायाधिकरण को प्राप्त है, (घ) न्यायाधिकरण के विमर्श गोपनीय होते हैं, (ङ) निर्णय बहुमत से होता है, (च) पंचाट का उद्देश्यपूर्ण होना आवश्यक है, (छ) पंचाट अंतिम निर्णय है परंतु उससे केवल विवादवाले पक्ष ही बाध्य होते हैं।

विवाचन तथा कानूनी निर्णय—मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय प्रायः कानून के प्रति सम्मान की भावना से प्रेरित नहीं होते जिस प्रकार न्यायालय के निर्णय होते हैं। मध्यस्थ न्यायाधिकरण बहुधा पक्षों को संतुष्ट करने की इच्छा से प्रभावित होते हैं, न कि वस्तुतः कानूनी नियमों का पालन करने की उद्भावना से। न्यायाधिकरण के निर्णय में प्रायः उन युक्तियों का उल्लेख नहीं होता जिनपर उनके निर्णय आधारित होते हैं और न वे अपने को पूर्ववर्ती दृष्टांत (नजीर) मानने के लिये बाध्य समझते हैं।

दोषपूर्ण विवाचन—जब न्यायाधिकरण निर्देशन में दी गई अधिकार-सीमा का उल्लंघन करता है या प्रत्यक्ष रूप से न्याय के विपरीत कार्य करता है अथवा यह सिद्ध हो जाता है कि अमुक पंचाट छल, कपट या भ्रष्टाचार द्वारा प्राप्त किया गया है या पंचाट के निबंध अस्पष्ट हैं, तब विवाचन निर्णय दोषपूर्ण समझा जाता है और उस दिशा में विभिन्न पक्ष उसको मान्यता देने के लिये बाध्य नहीं होते। सन् १८३१ ई० में हालैंड के सम्राट् का पंचाट इस आधार पर अमान्य ठहराया गया था कि उसमें अधिकारसीमा का उल्लंघन हुआ था। इसी प्रकार सन् १९०९ में बोलीविया ने आरजेंटीना के राष्ट्रपति का पंचाट अमान्य ठहराया था।

सं० ग्रं०—जे० डब्ल्यू० गारनर : टॅगार लॉ लेक्सस, १९२२, रॉस ए टेक्स्ट बुक ऑव इंटरनैशनल लॉ, डब्ल्यू० ई० हाल : इंटरनैशनल लॉ।

(श्री० प्र०)

अंतरराष्ट्रीय श्रम संघ (इंटरनैशनल लेबर आर्गनाइज़ेशन, आई० एल० ओ०, अ० श्र० सं०) एक त्रिदलीय अंतरराष्ट्रीय संस्था है जिसकी स्थापना १९१९ ई० की शांतिसंधियों द्वारा हुई और जिसका लक्ष्य संसार के श्रमिक वर्ग की श्रम और आवास संबंधी अवस्थाओं में सुधार करना है। यद्यपि अ० श्र० सं० की स्थापना १९१९ ई० में हुई, तथापि उसका इतिहास औद्योगिक क्रांति के प्रारंभिक दिनों से ही आरंभ हो गया था, जब नवोत्थित औद्योगिक सर्वहारा वर्ग (प्रोलेतेरियत) ने समाज की उत्क्रांतिमूलक शक्तिमान् संस्था के रूप में तत्कालीन समाज एवं अर्थशास्त्रियों के लिये एक समस्या उत्पन्न कर दी थी। यह औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के कारण न केवल तरह तरह के उद्योग धंधों के विकास में अतीव मूल्यवान सिद्ध हो रहा था, बल्कि श्रम की व्यवस्थाओं और व्यवसायों के तीव्रगतिक केंद्रीकरण के कारण असाधारण शक्तिसंपन्न होता जा रहा

था। फ्रांसीसी राज्यक्रांति, साम्यवादी घोषणा (कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो) के प्रकाशन, प्रथम और द्वितीय 'इंटरनैशनल' की स्थापना और एक नए संघर्षनिरत वर्ग के अभ्युदय ने विरोधी शक्तियों को इस सामाजिक चेतना से लोहा लेने के लिये संगठित प्रयत्न करने को विवश किया। इसके अतिरिक्त कुछ औपनिवेशिक शक्तियों ने, जिन्हें दास श्रमिकों की बड़ी संख्या उपलब्ध थी, अन्य राष्ट्रों में औद्योगिक विकास में बढ़ जाने के संकल्प से उनमें अंदेशा उत्पन्न कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि संसार के बाजार पर उनका एकाधिकार हो जायगा। ऐसी स्थिति में अंतरराष्ट्रीय श्रम के विधान की आवश्यकता स्पष्ट हो गई और इस दिशा में तरह तरह के समझौतों के प्रयत्न समूची १९वीं शताब्दी भर होते रहे। १८८९ ई० में जर्मनी के सम्राट् ने बर्लिन-श्रम-सम्मेलन का आयोजन किया। फिर १९०० में पेरिस में श्रम के विधान के लिये एक अंतरराष्ट्रीय संघ की स्थापना हुई। इसके तत्वावधान में बर्न में १९०५ एवं १९०६ में आयोजित सम्मेलनों ने श्रम संबंधी प्रथम नियम बनाए। ये नियम स्त्रियों के रात में काम करने के और दियासलाई के उद्योग में श्वेत फास्फोरस के प्रयोग के विरोध में बनाए गए थे, यद्यपि प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने से १९१३ ई० में बने सम्मेलन की मान्यताएँ जोर न पकड़ सकीं।

शक्तिशाली ट्रेड यूनियनों के उदय, यूरोप के व्यावसायिक केंद्रों में होनेवाली बड़ी हड़तालों और १९१७ की बाल्शेविक क्रांति ने श्रम की समस्याओं को विस्फोट की स्थिति तक पहुँचने से रोकने और उन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता सिद्ध कर दी। इस सुझाव के परिणामस्वरूप १९१९ के शांतिसम्मेलन ने अंतरराष्ट्रीय श्रमविधान के लिये एक ऐसा जाँच कमीशन बैठाया जो अंतरराष्ट्रीय श्रमसंघ तथा विश्व-श्रम-चार्टर का निर्माण संभव कर सके। कमीशन के सुझाव कुछ परिवर्तनों के साथ मान लिए गए और पूँजीवादी जगत् में श्रम के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए झगड़ों को ध्यान में रखकर इस संघ को शीघ्रातिशीघ्र अपना कार्य आरंभ कर देने का निर्णय कर लिया गया। शीघ्रता यहाँ तक की गई कि अक्टूबर, १९१९ में ही वाशिंगटन डी० सी० में प्रथम श्रमसम्मेलन की बैठक हो गई जब कि अभी संधि की शर्तें भी सर्वथा मान्य नहीं हो पाई थी।

भारत अ० श्र० सं० के संस्थापक सदस्य राष्ट्रों में है और १९२२ से उसकी कार्यकारिणी में संसार की आठवीं औद्योगिक शक्ति के रूप में वह अवस्थित रहता आ रहा है। १९५९ में अ० श्र० सं० के बजट में भारत का योगदान ३.२२ प्रतिशत है जो संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस, जर्मनी के प्रजातंत्र संघ तथा कनाडा के बाद सातवें स्थान पर है।

द्वितीय महायुद्ध के परवर्ती काल में अ० श्र० सं० संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशिष्ट संस्था बन गई है—उसकी आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के अंतर्गत प्रायः स्वतंत्र।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संघ में तीन संस्थाएँ हैं—साधारण सम्मेलन (जेनरल कानफरेंस), शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) और अंतरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय। साधारण सम्मेलन अंतरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के नाम से अधिक विख्यात है। शासी निकाय संघ की कार्यकारिणी के रूप में काम करता है। अंतरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय उसका स्थायी सचिवालय है।

अ० श्र० सं० के वर्तमान विधान के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई भी सदस्य अ० श्र० सं० का सदस्य बन सकता है, उसे केवल सदस्यता के साधारण नियमों का पालन स्वीकार करना होगा। यदि सार्वजनिक सम्मेलन चाहे तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की परिधि से बाहर के देश भी इसके सदस्य बन सकते हैं। आज अ० श्र० सं० के सदस्य राष्ट्रों की संख्या ७९ है जिनकी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ विभिन्न प्रकार की हैं।

अ० श्र० सं० की समूची शक्ति अंतरराष्ट्रीय श्रमसम्मेलन के हाथों में है। उसकी बैठक प्रति वर्ष होती है। इस सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र चार प्रतिनिधि भेजता है। परंतु इन प्रतिनिधियों में दो राजकीय प्रतिनिधि सदस्य राष्ट्रों की सरकारों द्वारा नियुक्त होते हैं, तीसरा उद्योगपतियों का और चौथा श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता है। इनकी नियुक्ति भी सदस्य सरकारें ही करती हैं। सिद्धांततः ये प्रतिनिधि उद्योगपतियों और श्रमिकों की प्रधान प्रतिनिधि संस्थाओं से चुन लिए जाते हैं। उन संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का निर्णय भी उनके देश की सरकारें ही करती हैं। परंतु प्रत्येक प्रतिनिधि को व्यक्तिगत मतदान का अधिकार होता है।

सम्मेलन का काम अंतरराष्ट्रीय श्रम नियम एवं सुझाव संबंधी मसविदा बनाना है जिसमें अंतरराष्ट्रीय सामाजिक और श्रम संबंधी निम्नतम मान आ जायँ। इस प्रकार यह एक ऐसे अंतरराष्ट्रीय मंच का काम करता है जिसपर आधुनिक औद्योगिक समाज के तीनों प्रमुख अंगों—राज्य, संगठन (व्यवस्था, मैनेजमेंट) और श्रम—के प्रतिनिधि औद्योगिक संबंधों की महत्वपूर्ण समस्याओं पर परस्पर विचारविनिमय करते हैं। दो तिहाई बहुमत द्वारा नियम और बहुमत द्वारा सिफारिश स्वीकृत होती है परंतु स्वीकृत नियमों या सिफारिशों को मान लेना सदस्य राष्ट्रों के लिये आवश्यक नहीं। हाँ, उनसे ऐसी आशा अवश्य की जाती है कि वे अपने देशों की राष्ट्रीय संसदों के समक्ष १८ महीने के भीतर उन विषयों को विचारार्थ प्रस्तुत कर दें। सुझावों के स्वीकरण पर विचार इतना आवश्यक नहीं है जितना नियमों को कानून का रूप देना। संघ राज्यों के विषय में ये नियम सुझाव के रूप में ही ग्रहण करने होते हैं, विधान के रूप में नहीं। जब कोई सरकार नियम को मान लेती है और उसका व्यवहार करना चाहती है तो उसे अंतरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय में इस संबंध का एक वार्षिक विवरण भेजना पड़ता है।

शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) भी एक तीन अंगोंवाली संस्था है। यह ३२ सदस्यों से निर्मित है जिनमें १६ सरकारी तथा आठ आठ उद्योगपतियों और श्रमिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इन १६ सरकारी स्थानों में से आठ उन देशों के लिये हैं जो प्रधान औद्योगिक देश मान लिए गए हैं। शेष आठ प्रति तीसरे वर्ष सरकारी प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित होते हैं जिनके निर्वाचन का अधिकार कार्यकारिणी में सम्मिलित उन आठ देशों को भी प्राप्त होता है जो प्रधान औद्योगिक देश होने के कारण उसके पहले से ही सदस्य हैं। इसका निर्णय भी कार्यकारिणी परिषद् द्वारा ही होता है कि आठ प्रधान औद्योगिक देश कौन से हों। कार्यकारिणी नीति और कार्यक्रम निर्धारित करती है, अंतरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय का संचालन और सम्मेलन द्वारा नियुक्त अनेक समितियों और आयोगों (कमीशनों) के कार्यों का निरीक्षण करती है। कार्यालय के प्रमुख संचालक (डाइरेक्टर जनरल) का निर्वाचन कार्यकारिणी ही करती है और वही सम्मेलन का कार्यक्रम (एजेंडा) भी प्रस्तुत करती है।

अंतरराष्ट्रीय श्रम कार्यालय सम्मेलन तथा कार्यकारिणी का स्थायी सचिवालय है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के कर्मचारियों की ही भाँति श्रम कार्यालय के कर्मचारी भी अंतरराष्ट्रीय सिविल सर्विस के कर्मचारी होते हैं जो उस अंतरराष्ट्रीय संस्था के प्रति उत्तरदायी होते हैं। श्रमकार्यालय का काम अ० श्र० सं० के विविध अंगों के लिये कार्यविवरण, कागज पत्र आदि प्रस्तुत करना है। सचिवालय के इन कार्यों के साथ ही वह कार्यालय अंतरराष्ट्रीय श्रम अनुसंधान का भी केंद्र है जो जीवन और श्रम की परिस्थितियों को अंतरराष्ट्रीय ढंग से मान्यता प्रदान करने के लिये उनसे संबंधित सभी विषयों पर मूल्यवान् सामग्री एकत्र करता तथा उनका विश्लेषण और वितरण करता है। सदस्य देशों की सरकारों और श्रमिकों से वह निरंतर संपर्क रखता है। अपने सामयिक पत्रों और प्रकाशनों द्वारा वह श्रम विषयक सूचनाएँ देता रहता है। श्रम कार्यालय बराबर विवरण, सावधि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन, प्रधान साधारण सम्मेलन के अधिवेशनों तथा विविध समितियों और तकनीकी सम्मेलनों के विवरण, संदर्भ ग्रंथ, श्रम के आँकड़ों की वार्षिक पुस्तकें, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने उपस्थित किए गए अ० श्र० सं० के विवरण तथा विशेष पुस्तिकाएँ प्रकाशित करता रहता है। प्रकाशित पत्रों में 'दि इंटरनैशनल लेबर रिव्यू' संघ विषयक सामान्य व्याख्यात्मक निबंधों और आँकड़ों का मासिक पत्र है, 'इंडस्ट्री ऐंड लेबर' श्रम अनुसंधान का विवरण प्रकाशित करनेवाला पाक्षिक है, 'लेजिस्लेटिव सीरीज' विभिन्न देशों के श्रम कानूनों का विवरण प्रस्तुत करनेवाला द्विमासिक है; 'ऑक्यूपेशनल सेफ्टी ऐंड हेल्थ' तथा 'दि

बिब्लियोग्रैफी ऑव इंडस्ट्रियल हाइजिन' त्रैमासिक है। इनमें से अधिकांश पत्र विभिन्न भाषाओं में छपते हैं।

तीन प्रमुख अंगों अर्थात् सम्मेलन, कार्यकारिणी और कार्यालय के अतिरिक्त अ० श्र० सं० के अन्य कई अंग हैं, जैसे प्रादेशिक सम्मेलन, औद्योगिक समितियाँ तथा विशेष आयोग (कमीशन), जो प्रदेश विशेष अथवा उद्योग विशेष की विशिष्ट समस्याओं पर विचार करते हैं।

अंतरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन द्वारा कुल स्वीकृत नियम (कन्वेंशन) १९५८ के अंत तक १०९ रहे हैं और विधान के रूप में स्वीकृत विभिन्न देशीय विधानों की संख्या, जो श्रम कार्यालय द्वारा प्राप्त हो चुके थे, १८०८ है। १९५८ के अंत तक भारत ने २३ नियम माने हैं। कुछ देशों ने शर्तों के साथ नियम स्वीकार किए हैं, अधिकांश ने अनेक महत्व के नियम स्वीकृत नहीं किए हैं। नियमों को स्वीकार करने की गति मंद है। यद्यपि अधिकतर देशों ने अनेक महत्व के नियम स्वीकृत नहीं किए हैं, तथापि अल्पतम मान स्थापित करने का नैतिक वातावरण अंतरराष्ट्रीय श्रम संघ ने उत्पन्न कर दिया है। उसी का यह परिणाम है कि एक ऐसे अंतरराष्ट्रीय श्रम कानून का विकास हो चला है जिसमें उसके स्वीकृत अनेक नियमों एवं सुझावों का समावेश है। इनमें काम के घंटों, विश्रामकाल, वेतन सहित वार्षिक छुट्टियों, मजदूरी का भाव, उसकी रक्षा, अल्पतम मजदूरी की व्यवस्था, समान कामों का समान पारिश्रमिक, नौकरी पाने की अल्पतम आयु, नौकरों के लिये आवश्यक डाक्टरी परीक्षा, रात के समय स्त्रियों, बच्चों एवं अल्पायु युवक तथा युवतियों की नियुक्ति, जच्चा की रक्षा, औद्योगिक सुरक्षा एवं स्वास्थ्य, औद्योगिक कल्याण, बेकारी का बीमा, कार्यकालिक चोट की क्षतिपूर्ति, चिकित्सा की व्यवस्था, संगठित होने और सामूहिक माँग करने का अधिकार आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न सुलझाए गए हैं और इनके लिये सामान्य अंतरराष्ट्रीय न्यूनतम मान निर्धारित हो गए हैं। इन अंतरराष्ट्रीय न्यूनतम मानों का प्रभाव प्रत्यक्ष नियमस्वीकरण द्वारा अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नैतिकता के प्रभाव से विभिन्न देशों के श्रमविधान पर पड़ा है, क्योंकि उनमें सतत परिवर्तनशील समय की आवश्यकताएँ प्रतिबिंबित होती रही हैं। (श्री० अ० डा०)

अंतराबंध (स्किज़ोफ्रीनीया) कई मानसिक रोगों का समूह है जिनमें बाह्य परिस्थितियों से व्यक्ति का संबंध असाधारण हो जाता है। कुछ समय पूर्व लक्षणों के थोड़ा बहुत विभिन्न होते हुए भी रोग का मौलिक कारण एक ही माना जाता था। किंतु अब प्रायः सभी सहमत हैं कि अंतराबंध जीवन की दशाओं की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुए कई प्रकार के मानसिक विकारों का समूह है। अंतराबंध को अंग्रेजी में डिमेंशिया प्रीकॉक्स भी कहते हैं।

इस रोग के प्रायः चार रूप पाए जाते हैं (१) सामान्य रूप में व्यक्ति अपनी चारों ओर की परिस्थितियों से अपने को धीरे धीरे खींच लेता है, अर्थात् अपने सुहृदों, मित्रों तथा व्यवसाय से, जिनसे वह पहले प्रेम करता था, उदासीन हो जाता है। (२) दूसरे रूप में, जिसको यौवनमनस्कता (हीबेफ्रीनिक) कहते हैं, रोगी के विचार तथा कर्म भ्रम पर आधारित होते हैं। यह रोग साधारणतः यौवनावस्था में होता है। (३) तीसरे रूप में उसके मस्तिष्क का अंग-संचालक-मंडल विकृत हो जाता है। या तो उसके अंगों की गति अत्यंत शिथिल हो जाती है, यहाँ तक कि वह मूढ़ और निश्चेष्ट सा पड़ा रहता है, या वह अति प्रचंड हो जाता है और भागने, दौड़ने, लड़ने, आक्रमण करने या हिंसात्मक क्रियाएँ करने लगता है। (४) चौथा रूप अधिक आयु में प्रकट होता है और विचार संबंधी होता है। रोगी अपने को बहुत बड़ा व्यक्ति मानता है, या समझता है कि वह किसी के द्वारा सताया जा रहा है। कितनी ही बार रोगी में एक से अधिक रूप मिले हुए पाए जाते हैं। न केवल यही, प्रत्युत अन्य मानसिक रोगों के लक्षण भी अंतराबंध के लक्षणों के साथ प्रकट हो जाते हैं।

अंतराबंध की गणना बड़े मनोविकारों में की जाती है। मानसिक रोगों के अस्पतालों में ५५ प्रतिशत इस रोग के रोगी पाए जाते हैं और प्रथम बार आनेवालों में ऐसे रोगी २५ प्रतिशत से कम नहीं होते। इस रोग की चिकित्सा में बहुत समय लगने से इस रोग के रोगियों की संख्या अस्पतालों में उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यह अनुमान लगाया गया है कि साधारण जनता में दो से तीन प्रतिशत व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त होते हैं। पुरुषों में २० से २४ वर्ष तक और स्त्रियों में ३५ से ३९ वर्ष तक की आयु में यह रोग सबसे अधिक होता है। अस्पतालों में भर्ती हुए रोगियों में से ४० प्रतिशत शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं। शेष ६० को जीवनपर्यंत या बहुत वर्षों तक अस्पताल ही में रहना पड़ता है।

रोग के कारण के संबंध में बहुत प्रकार के सिद्धांत बनाए गए जो शारीरिक रचना, जीवरसायन अथवा मानसिक विकृतियों पर आश्रित थे। किंतु अब यह सर्वमान्य मत है कि इस रोग का कारण व्यक्ति की अपने को सांसारिक दशाओं तथा चारों ओर की परिस्थितियों के समानुकूल बनाने की असमर्थता है। व्यक्ति में शैशव काल से ही कोई हीनता या दीनता का भाव इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि फिर जीवन भर उसको वह दूर नहीं कर पाता। इसके कारण शारीरिक अथवा मानसिक दोनों होते हैं। बहुतेरे विद्वान् यह मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन के प्रारंभिक वर्षों में पारिवारिक संबंध इस दशा का कारण होते हैं, विशेषकर माता का शिशु के साथ कैसा व्यवहार होता है उसी के अनुसार या तो यह रोग होता है या नहीं होता। शिशु की ऐसी धारणा बनना कि कोई उससे प्रेम नहीं करता या वह अवांछित शिशु है, रोगोत्पत्ति का विशेष कारण होता है। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि शरीर में उत्पन्न हुए जीवविष (टॉक्सिन) मनोविकार उत्पन्न करने के बहुत बड़े कारण होते हैं। वे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कारणों को मौलिक कारण समझते हैं।

पहले रोग की चिकित्सा आशाजनक नहीं समझी जाती थी। किंतु अब मनोविश्लेषण से चिकित्सा में सफलता की आशा होने लगी है। ऐसे रोगियों के लिये विशेष चिकित्सालयों और मनोवैज्ञानिकों की आवश्यकता होती है। ओषधियों का भी प्रयोग होता है। इंस्युलिन तथा विद्युत् द्वारा आक्षेप उत्पन्न करना भी उपयोगी पाया गया है। विशेष आवश्यकता इसकी रहती है कि रोगी को पुरानी परिस्थितियों से हटा दिया जाय। विशेष व्यायाम तथा ऐसे काम धंधों का भी, जिनमें मन लगा रहे, उपयोग किया जाता है। रोग जितने ही कम समय का और हलका होगा उतने ही शीघ्र रोग से मुक्ति की आशा की जा सकती है। चिरकालीन रोगों में रोगमुक्ति कठिन होती है। (मु० स्व० व०)

अंतरा बिन शद्दाद का संबंध कबील अबस से था। इसकी माता हब्शी दासी थी इसीलिये यह दास के रूप में अपने पिता के ऊँटों को चराया करता था। इसने दाहिस के युद्ध में विशेष ख्याति पाई। यह अपनी चचेरी बहिन अब्ल से प्रेम करता था, जिससे विवाह करने की इसने प्रार्थना की। अरबों के प्रथानुसार सबसे अधिक स्वत्व अब्ल पर इसी का था, परंतु इसके दासीपुत्र होने के कारण यह स्वीकार नहीं किया गया। इसके अनंतर इसके पिता ने इसे स्वतंत्र कर दिया। ९० वर्ष की लंबी आयु पाकर यह अपने पड़ोसी कबीले तैई से हुए एक झगड़े में मारा गया। अंतरा भी उसी अज्ञानयुग के कवियों में है जो असहाब मुअल्लकात कहलाते हैं। उसके दीवान में डेढ़ सहस्र के लगभग शेर हैं। यह बैरूत में कई बार प्रकाशित हो चुका है। इसमें अधिकतर दर्प, वीरता तथा प्रेम के शेर हैं। कुछ शेर प्रशंसा तथा शोक के भी हैं। इसकी कविता बहुत मार्मिक है पर उसमें गंभीरता नहीं है। उसका वातावरण युद्धस्थल का है और युद्धस्थल के ही गीतों का उसपर प्रभाव भी है। इसकी मृत्यु सन् ५१५ हि० तथा सन् ५२५ हि० के बीच हुई। (आर० आर० शे०)

अंतरिक्ष में समस्त भौतिक पिंड, ग्रह, नक्षत्र, नीहारिकाएँ आदि अवस्थित हैं। अंतरिक्ष के जितने भाग का पता चला है उसमें लगभग १९ अरब नीहारिकाएँ होने का अनुमान है। हर नीहारिका में लगभग १० अरब तारे हैं और एक नीहारिका का व्यास लगभग एक लाख प्रकाशवर्ष है। आपेक्षिकता के सिद्धांत के पूर्व की भौतिकी में अंतरिक्ष को निरपेक्ष (एब्सॉल्यूट) माना गया था। लेकिन आपेक्षिकता के सिद्धांत ने यह सिद्ध

कर दिया कि निरपेक्ष अंतरिक्ष का कोई भौतिक अर्थ नहीं होता; इसलिये कि भौतिक वास्तविकता अंतरिक्ष के किसी बिंदु में नहीं होती। अंतरिक्ष की
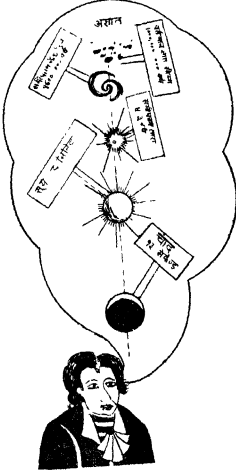
पृथ्वी से अंतरिक्ष पिंडो की दूरी

अधिक जानकारी के लिये दिक्काल तथा आपेक्षिकता का सिद्धान्त देखा जा सकता है। (नि० मि०)

अंतरिक्ष अनुसंधान समिति की स्थापना १९६२ ई० मे भारत सरकार के परमाणु ऊर्जा विभाग के तत्वावधान मे हुई। इसके लिये केरल मे थुंबा नामक स्थान पर विषुवतरेखीय राकेट केंद्र स्थापित किया गया। थुंबा पृथ्वी की उसी चुबकीय विषुवत रेखा पर स्थित है जिसपर केरल राज्य की राजधानी त्रिवेंद्रम। अत पृथ्वी के विषुवतरेखीय तल मे स्थित ऊर्ध्वाकाश के विद्युत स्तरो की गतिविधियो का राकेट द्वारा अध्ययन करने के लिये यह उपयुक्त केंद्र है। इस अतरिक्ष अनुसधान समिति को अमेरिका, फ्रास, रूस तथा जापान के वैज्ञानिको का सहयोग प्राप्त है।

उक्त समिति ने अपने कार्यक्रमो मे सचार उपग्रह सबधी तकनीकी जानकारी प्राप्त करानेवाले प्रयोगो और परीक्षणो को भी सम्मिलित किया है और अहमदाबाद मे एक उपग्रह सचार स्टेशन की स्थापना की है। इसके लिये इस समिति को सयुक्त राष्ट्रसघ से सहायता मिली है।

अतरिक्ष अनुसधान के रचनात्मक पहलुओ को व्यावहारिक रूप देने के लिये इस समिति के थुंबा केंद्र से प्रथम अनुसधान राकेट २१ नवबर, १९६३ को छोड़ा गया था जिसने वायुमडल के सबध मे कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ भेजी।

१९६४-६५ मे कई ऋतु अनुसधानवाले राकेट थुंबा केंद्र से छोड़े गए। यह कार्यक्रम अतरराष्ट्रीय शात-सूर्य-वर्ष योजना का अंग था। भारतीय अनुसधान कार्यक्रम को संयुक्तराष्ट्र के अतरराष्ट्रीय अनुसंधान का सहयोग प्राप्त है।

अतरिक्ष अनुसधान समिति के तत्वावधान मे हैदराबाद की भौतिकी प्रयोगशाला मे एक उपग्रहीय टेलीमीट्रिक स्टेशन भी स्थापित किया गया जिसमे भू उपग्रह द्वारा प्रसारित किए जानेवाले रेडियो सकेत नियमित रूप से अभिग्राही (रिसीवर) यत्र पर ग्रहण किए जाते है। यह केंद्र बादलो के निर्माण, तूफान की उत्पत्ति तथा ऊर्ध्वाकाश की हवाओ के प्रवाह के वेग आदि विषयो पर अनुसधान करता है। (नि० मि०)

अतरिक्ष काल, द्र० दिक्काल।

अतरिक्ष किरणे पृथ्वी के वायुमडल के बाहर (अतरिक्ष) से आती है। इन किरणो के अधिकाश भागो मे अत्यधिक ऊर्जावाले प्रोटॉन होते है। इसके अतिरिक्त कुछ अल्फाकण होते है। उक्त किरणें अतरिक्ष मे उत्पन्न होती है इसलिये इनका नाम 'अतरिक्ष किरण' रख दिया गया। अतरिक्ष किरणे पृथ्वी के वायुमडल मे विभिन्न गैसो के नाभिको (न्यूक्लियस) से टकराती है जिससे अन्य आवेशित कणिकाएँ (बाउंड पार्टिकल्स) तथा बहुत अधिक ऊर्जावाली 'गामा किरणें' उत्पन्न होती है। इस प्रकार अतरिक्ष किरणे दो भागो मे बाँटी जा सकती है

१ प्राथमिक अतरिक्ष किरणें
२ द्वितीयक अतरिक्ष किरणें

प्राथमिक अतरिक्ष किरणें बाहर से पृथ्वी के वायुमडल तक आती है। जैसा पहले बताया गया है, ये किरणें प्रोटॉन और अल्फाकण होती है।

द्वितीयक अतरिक्ष किरणें प्राथमिक अतरिक्ष किरणें पृथ्वी के वायुमडल मे गैसो के नाभिको से टकराती है तो उक्त नाभिको का विघटन हो जाता है। इनके विघटन से बहुत से प्रोटॉन, न्यूट्रान तथा गामा किरणें निकलती है। इसके अतिरिक्त कुछ कणिकाएँ भी उत्पन्न होती है जिन्हे 'मेसान' कहा जाता है।

अतरिक्ष किरणो की उत्पत्ति के सबध मे अभी कोई निश्चित सिद्धान्त नही दिया जा सका है। वैज्ञानिको का विचार है कि ये आवेशित कण आकाशगगा मे ही उत्पन्न होते है। इनकी ऊर्जा इतनी अधिक कैसे हो जाती है, इसके बारे मे अभी बहुत मतभेद है। कुछ वैज्ञानिको की राय है कि सूर्य के चारो ओर चुबकीय क्षेत्र है जिसमे परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्ती चुबकीय क्षेत्र मे आवेशित कण बीटाट्रॉन के सिद्धान्त के अनुसार त्वरित हो जाते हैं। अन्य वैज्ञानिक मानते है कि परिवर्ती चुबकीय क्षेत्र पूरी आकाशगगा मे व्याप्त है जहाँ कणो का त्वरण होता है।

प्रारभ मे ऐसी धारणा थी कि अतरिक्ष किरणें बहुत छोटी तरग-दैर्घ्यवाली केवल गामा किरणें ही है जिनकी छेदन शक्ति अत्यधिक है। छेदन शक्ति मे इन नई किरणो की तुलना दूसरे ज्ञात विकिरणों से निम्नाकित प्रकार से की जा सकती है

साधारण प्रकाश अपारदर्शी पदार्थो की केवल महीन चादर का, जैसे कागज के वर्क का, अथवा उससे कही अधिक महीन धातु के आवरण का, छेदन कर सकता है। इसकी अपेक्षा एक्स रश्मियो की छेदन शक्ति इतनी अधिक होती है कि वे हमारे हाथ अथवा सारे शरीर मे भी होकर निकल सकती है, जिसके फलस्वरूप शल्यचिकित्सक हमारी हड्डियो का फोटो ले सकता है। किंतु कुछ ही मिलीमीटर मोटी धातु इन एक्स रश्मियो को पूर्णतया रोक सकती है। गामा किरणें कुछ सेंटीमीटर मोटी धातु का छेदन कर सकती है। किंतु यह नया विकिरण कई मीटर मोटे सीस (धातु) का छेदन कर सकता है और पानी की एक हजार मीटर गहराई तक घुस सकता है।

मिलिकन के अनुसार अतरिक्ष किरणो की उत्पत्ति का कारण अतस्तारकीय आकाश मे द्रव्य का नष्ट होना है। मिलिकन की इस कल्पना ने अतरिक्ष किरणो के अध्ययन को और अधिक प्रोत्साहन दिया।

अतरिक्ष किरणो की प्रकृति के बारे मे जानकारी अक्षाशप्रभाव से प्राप्त हुई। इसका आविष्कार क्ले ने १९२७ ई० मे और उसके बाद और अधिक गहनता से कांपटन ने किया था। अक्षाशप्रभाव की व्याख्या हम इस तरह कर सकते हैं कि अतरिक्ष किरणो के प्राथमिक कण आवेशयुक्त कण है जो कई हजार मील तक आकाश में फैले हुए पृथ्वी के चुंबकत्व क्षेत्र

से प्रभावित हुए हैं। जितनी कम इन कणों की ऊर्जा होती है उतना ही अधिक उनके पथ चाप के रूप में झुक जाते हैं। अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता भूमध्यरेखा पर सबसे कम है और ध्रुवों की ओर बढ़ती जाती है। समुद्रतल की अपेक्षा अक्षांशप्रभाव ऊँचाई पर बहुत अधिक होता है।

अंतरिक्ष किरणों के बारे में और अधिक जानकारी १९२७ ई० में स्कोबेल्टज़ाइन ने की जब उसने एक मेघकक्ष में उच्च ऊर्जावाले आवेश-कणों के उर्ध्वाधर पथचिह्न देखे। १९२८ में बोटे और कोल-होयर्स्टर ने अंतरिक्ष किरणों के अनुसंधान की एक नई रीति अपनाई, जिसमें कई गाइगर-म्युलर-गणक एक साथ संबद्ध रहते थे। इस प्रयोग द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि अंतरिक्ष किरणें आवेशयुक्त कण हैं।

जैसे ही अंतरिक्ष किरणों के कण पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते हैं, वैसे ही हवा के नाभिकों के साथ उनकी पारस्परिक क्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के मूल कण पैदा हो जाते हैं। इनमें से कुछ कण ऐसे होते हैं जो अन्य किसी रीति से प्रकृति में उत्पन्न नहीं होते। ये कण रेडियमधर्मी होते हैं, जिनमें से कुछ $१०^{-६}$ सेकेंड में समाप्त हो जाते हैं और कुछ $१०^{-९}$ अथवा $१०^{-१४}$ सेकेंड में।

वायुमंडल में अंतरिक्ष किरणों के प्रवेश करने पर जो क्रियाएँ होती हैं उनका सामान्य रूप स्पष्ट है। वायुमंडल की ऊपरी तहों में प्राथमिक अंतरिक्ष किरणों के प्रोटॉन और अधिक भारी नाभिकों का अवशोषण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप द्वितीयक प्रोटॉन और न्यूट्रॉन, पाई-मेसान और अधिक भारी मेसान बनते हैं। आवेशरहित पाई-मेसान के विघटन (डिसीटिग्रेशन) से प्रकाश के दो क्वांटम बनते हैं, जिनसे धनात्मक और ऋणात्मक इलेक्ट्रान पैदा होते हैं। जैसे ही ये इलेक्ट्रान नाभिकों के पास पहुँचते हैं, ये फोटान बन जाते हैं और इस प्रकार यह क्रिया बढ़ती जाती है। इलेक्ट्रानों और फोटानों के कोमल घटक (कॉम्पोनेंट) की तीव्रता पहले वायुमंडल में गहराई के साथ तेजी से बढ़ती है और फिर, जैसे जैसे इन बौछार पैदा करनेवाले कणों का अवशोषण होता है, घटती है। समुद्रतल के पास कोमल घटक के इस अंश की तीव्रता बहुत कम हो जाती है।

आवेशयुक्त पाई-मेसानों के विघटन से म्यू-मेसान बनते हैं। म्यू-मेसान की नाभिकों के साथ अधिक क्रिया प्रतिक्रिया नहीं होती। नाभिकों के साथ अत्यंत दुर्बल क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उनमें बहुत अधिक भेदनशक्ति दिखाई पड़ती है। वे पृथ्वी में बड़ी गहराई तक प्रवेश कर सकते हैं। अतः वे अंतरिक्ष किरणों के तीव्र घटक होते हैं। म्यू-मेसान नष्ट होने पर इलेक्ट्रान उत्पन्न करते हैं। टकराने से भी इलेक्ट्रान पैदा होते हैं। समुद्रतल के पास ये इलेक्ट्रान तथा इनके द्वारा उत्पन्न हुई इलेक्ट्रान-फोटान की बौछारें से कोमल घटक का मुख्य अंश बनता है।

पाई-मेसान के कारण नाभिक विघटन होते हैं, जिन्हें तारक (स्टार) कहते हैं। लघु-ऊर्जा-प्रदेश में तारक न्यूट्रान के कारण उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक ऊर्जावाले कण बड़ी 'वायुबौछारें' पैदा करते हैं। एक एक वायुबौछार में दस करोड़ से भी अधिक कण मिले हैं। कणों के बीच की दूरी एक ही वायुबौछार में हजार मीटर से भी अधिक पाई गई है।

अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में प्रेक्षणस्थल पर की परिस्थितियों से परिवर्तन होता है। उनकी तीव्रता वायु की दाब, ताप एवं पृथ्वी के चुबकत्व-क्षेत्र के साथ बदलती है। प्रेक्षणस्थल के ऊपर हवा की मोटाई और उसकी अवशोषणशक्ति में परिवर्तन को इसका कारण बताया जा सकता है। अंतरिक्ष किरणों में सामयिक परिवर्तन भी होते हैं। जैसे, लंबे समयवाले परिवर्तन, २७ दिनवाले परिवर्तन, सौर समय के अनुसार होनेवाले परिवर्तन, और बहुत कम मात्रा में नाक्षत्र समय के अनुसार होनेवाले परिवर्तन।

ये सामयिक परिवर्तन बहुत कम मात्रा में होते हैं, प्रतिशत के केवल दो-चार-दसवें भाग तक। पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता और सामयिक परिवर्तनों के बीच संबंध जोड़ने के लिये प्रेक्षणों को ताप और दाब के लिये सही करना पड़ता है। सौर समय के अनुसार तीव्रता में दैनिक परिवर्तन होने की खोज बहुतेरे अनुसंधानकर्ताओं ने की है। उनके विश्वविस्तृत स्वरूप को फोरबुश ने सिद्ध किया। परिवर्तन की मात्रा, पश्चात् मध्याह्न दो बजे के आसपास, जो अधिकतम तीव्रता का समय है, लगभग ०.२ प्रतिशत होती है।

तीव्रता में सामयिक परिवर्तनों के अतिरिक्त असामयिक प्रभाव भी होते हैं। सबसे अधिक महत्ववाला प्रभाव चुंबकीय तूफानों से संबंधित है, जिसके विश्वविस्तृत रूप को फोरबुश ने अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता का अध्ययन करके दिखाया है। ये विश्वविस्तृत परिवर्तन इस मत का एक और प्रमाण हैं कि अंतरिक्ष किरणों का उत्पत्तिस्थान पृथ्वी के बाहर है।

समुद्र की सतह पर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता के पृथ्वी के चुंबकत्व पर निर्भर होने का अर्थ यह है कि पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में परिवर्तनों के साथ अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में परिवर्तन होते हैं। अंतरिक्ष किरणों और पृथ्वी के साधारण चुंबकीय विचरण (घट बढ़) में कोई घनिष्ठ संबंध नहीं मिलता, अर्थात् शांत दिनों में पृथ्वी के साधारण चुंबकीय प्रभाव का अंतरिक्ष किरणों से कोई सार्थक संबंध नहीं है। यह देखा गया है कि विश्वविस्तृत अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता का पृथ्वी के चुंबकत्व क्षेत्र के क्षैतिज घटक के परिवर्तनों से घनिष्ठ संबंध है। चुंबकीय तूफानों के समय अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में बहुत स्पष्ट परिवर्तन होता है। कुछ चुंबकीय तूफानों का प्रभाव अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता पर नहीं देखा जाता, किंतु जब क्षैतिज चुंबकबल एक प्रतिशत कम होता है तो अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में साधारणतः पाँच प्रतिशत से अधिक कमी हो जाती है।

अंतरिक्ष किरणों के अध्ययन से कई मौलिक कणों (द्र०, कण मौलिक) का पता चला है। इन्हीं किरणों के अध्ययन से नाभिकीय बलों के विषय में भी जानकारी मिली है। (पि० सि० गि० तथा नि० सि०)

अंतरिक्ष यात्रा के अभियान में सबसे पहले ४ अक्टूबर, १९५७ को रूस द्वारा प्रथम स्पुतनिक अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया गया। हर ९६ मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा लगानेवाले इस स्पुतनिक ने दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया। इसी के एक मास बाद स्पुतनिक-२ छोड़ा गया जिसमें लाइका नामक कुतिया थी। स्पुतनिक-२ से दो मास पूर्व अमरीकी वैनगार्ड की उड़ान का प्रयास असफल रहा। इस प्रकार स्पुतनिक ने संसार के दो बड़े राष्ट्रों—रूस और अमरीका—के बीच अंतरिक्ष विजय की होड़ प्रारंभ कर दी।

स्पुतनिक के अतिरिक्त वैनगार्ड, एक्सप्लोरर, डिस्कवरर, कॉस्मास आदि नामों से अनेक उपग्रह अंतरिक्ष के रहस्यों का अध्ययन करने के लिये छोड़े गए। चंद्रमा के अध्ययन के लिये छोड़े जानेवाले यानों की शृंखला में ल्यूनिक, पायोनियर, रेंजर, ल्यूना तथा सर्वेयर विशेष महत्व रखते हैं। रूस ने सबसे पहले १९५७ में ल्यूनिक नाम का प्रथम चंद्रयान भेजा। पर यह चंद्रमा की कक्षा में न जाकर सूर्य की कक्षा में जा पहुँचा। इसके दो मास बाद अमरीकी कृत्रिम उपग्रह पायोनियर-४ चंद्रकक्षा में भेजा गया पर यह भी सूर्य की कक्षा में चला गया। अंततः १२ सितंबर, १९६६ को रूस का ल्यूना-९ चंद्रमा पर उतरा।

मानवरहित अंतरिक्ष यान भेजने के बाद मानव को प्रथम बार अंतरिक्ष में भेजने का श्रेय रूस को है। यूरी गागारिन प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने १२ अप्रैल, १९६१ को मानव की अंतरिक्ष यात्रा का श्रीगणेश किया। उन्होंने अपने वोस्तोक प्रथम में १०८ मिनट के दौरान पृथ्वी का एक चक्कर लगाया और सकुशल धरती पर वापस आ गए। उसके बाद अमरीका और रूस दोनों ने अनेक अंतरिक्षयान छोड़े। इनका क्रमबद्ध विवरण इस प्रकार है—

१९५७—मानवनिर्मित पहला उपग्रह स्पुतनिक प्रथम (रूस) ५६० मील ऊँचा गया।

—स्पुतनिक द्वितीय, कुतिया लाइका के साथ, छोड़ा गया। १,०५६ मील की ऊँचाई तक गया।

१९५८—प्रथम अमरीकी भू उपग्रह एक्सप्लोरर प्रथम ३ जून को १,५८७ मील ऊपर गया।

—वैनगार्ड प्रथम (अमरीकी) और एक्सप्लोरर तृतीय (अमरीका) छोड़े गए।

—ल्यूनिक-२ (रूस) ने १३ सितंबर को ३५ घंटे बाद चंद्रमा को स्पर्श किया।

—स्पुतनिक तृतीय, एक्सप्लोरर चतुर्थ छोड़े गए।
—पायोनियर प्रथम (अमरीका) ६१,३०० मील तक ऊपर गया।
—पायोनियर द्वितीय छोड़ा गया।
—पायोनियर तृतीय तथा ऐटलस प्रथम (अमरीका) छोड़े गए।

१९५९—रूसी ल्यूनिक प्रथम पहला मानवनिर्मित उपग्रह था, जो सूर्य के चारो ओर ग्रहपथ पर गया।
—ल्यूनिक तृतीय ने चद्रमा के अदृश्य भाग के रेडियो फोटो पृथ्वी पर भेजे।
—वैनगार्ड द्वितीय (अमरीका) छोड़ा गया।
—डिसकवरर प्रथम (अमरीका) ध्रुवों की परिक्रमा करने के लिये भेजा गया।
—पायोनियर चतुर्थ (अमरीका) छोड़ा गया।
—रूस ने १२ सितबर को ल्यूनिक द्वितीय भेजा।

१९६०—अमरीका ने एक छोटा ग्रह ११ मार्च को शुक्र के पास भेजा।
—रूस ने १५ मई को पहला अतरिक्षयान नकली अतरिक्ष यात्री के साथ छोड़ा।
—अमरीका ने मीदास द्वितीय छोड़ा। अतरिक्ष से जासूसी का पहला परीक्षण हुआ।
—रूस ने १९ अगस्त को दूसरा अतरिक्ष यान जानवरों सहित भेजा।
—तीसरा अतरिक्ष यान (रूस) दो कुत्ता के साथ भेजा।

१९६१—रूस ने स्पुतनिक-७ उपग्रह छोड़ा।

१९६२—मैरीनर द्वितीय राकेट (अमरीका) भेजा गया।

१९६३—ल्यूनिक -४ (रूस ने) भेजा।

१९६५—दो यात्रियोवाला अतरिक्ष यान 'वोस्खोद-२' (रूस) छोड़ा गया। अतरिक्ष मे एक यात्री अलेक्सी लिग्रोनोव यान से बाहर निकलकर २० मिनट तक भारहीनता की स्थिति मे रहा।

१९६६—ल्यूना-९ (रूस) चद्रमा पर उतरा (३ फरवरी)।
—ल्यूना १० चद्रमा पर उतरा (३ अप्रैल)।

१९६७—'अपोलो' (अमरीका) छोड़ा गया।

१९६८—अपोलो-७ (अमरीका) छोड़ा गया।
—सोयूज—२ व ३ (रूस) यात्री अपने यान से निकलकर दूसरे यान मे गया।
—अपोलो-८ (अमरीका) दिसबर मे भेजा गया।

१९६९—सोयूज-४ व ५ (रूस) १६ जनवरी को अतरिक्ष मे एक दूसरे से जुड गए।
—सोयूज-५ के दो यात्रियो ने सोयूज-४ मे प्रवेश किया।
—अपोलो-९ (अमरीका) ३ मार्च को भेजा गया।
—मेरिनर-७ (अमरीका) २७ मार्च को मगल ग्रह की परिक्रमा के लिये छोड़ा गया।
—वीनस-५ (रूस) १६ मई को शुक्र ग्रह पर उतरा।
—वीनस-६ (रूस) १७ मई को शुक्र ग्रह पर उतरा।
—अपोलो-१० (अमरीका) १० मई को छोड़ा गया।
—ल्यूना-१५ (रूस) १३ जुलाई को भेजा गया।
—अपोलो-११ (अमेरिका) २१ जुलाई को चद्रमा पर उतरा।
—जोंद—७ (रूस) ६ अगस्त को छोड़ा गया।
—सोयूज-६ (रूस) ११ अक्तूबर को दो यात्रियो सहित छोड़ा गया।
—सोयूज-७ (रूस) १२ अक्तूबर को तीन यात्रियो सहित छोड़ा गया।
—सोयूज-८ (रूस) १३ अक्तूबर को दो यात्रियो सहित भेजा गया।
—अपोलो-१२ (अमरीका) १९ नवबर को चद्रमा पर उतरा। यह मानव की दूसरी चद्रयात्रा थी।
—अपोलो-१३ चाँद तक नही पहुँच सका।

१९७१—अपोलो-१४ (अमरीका) ५ फरवरी को चद्रमा पर उतरा, यह मानव की तीसरी चद्रयात्रा थी।

१९७२—अपोलो १५, १६ और १७ का विवरण इसी लेख मे आगे अपोलो योजना के अतर्गत दिया गया है।

अंतरिक्ष में मानव की उडानें

यूरी गागारिन (रूस)—१२ अप्रैल, १९६१, एक चक्कर ग्रहपथ, १ घ० ४८ मि०, २५,००० मील।

टीटोव (रूस)—६-७ अगस्त, १९६१, ग्रहपथ मे १७ चक्कर, २५ घ० १८ मि०, ४,३७,००० मील।

जान ग्लेन व कार्पेटर (अमरीका)—२० फरवरी, १९६२, ग्रहपथ के तीन चक्कर, ४ घ० ५६ मि०, ८१,००० मील।

नीकोलेयेव (रूस)—११-१५ अगस्त, १९६२, २४ चक्कर, ९४ घ० ३५ मि०, १६,२५,००० मील।

पोपोविच (रूस)—१२-१५ अगस्त, १९६२, ४८ चक्कर, ७२ घ० ५७ मि०, १२,४२,५०० मील।

वाल्टर शीर्रा (अमरीका)—३ अक्तूबर, १९६२, ६ चक्कर, ९ घ० १३ मि०।

गोर्डन कूपर (अमरीका)—१६ मई, १९६३, २२ चक्कर, ३४ घ० १३ मि०।

वालेरी बाईकोव्स्की (रूस)—१४-१९ जून, १९६३, ८२ चक्कर, ११९ घ०, २०,६०,००० मील।

वालेंटीना तेरेश्कोवा (स्त्री, रूस)—१६-१९ जून, १९६३, ४९ चक्कर, ७१ घ०, १२,५०,००० मील।

ब्लादीमीर कामारोव, कास्टैटिन फिग्रोक्टिस्टोव और येगोरोव (प्रथम रूसी सामूहिक उडान)—१२ अक्तूबर, १९६४, १६ चक्कर।

अलेक्सी लियोनाव, पावेल बेलायेव (रूस)—१८ मार्च, १९६५, पहली बार २० मिनट तक अतरिक्ष म विचरण किया।

फ्रैंक बोरमैन, जेम्स लोवेल (अमरीका)—८ दिसबर, १९६५, जेमिनी-७ मे दो सप्ताह की अतरिक्ष यात्रा। वर्जिल, ग्रिसिम, एडवर्ड ह्वाइट व रोजर चैफी २९ जनवरी, १९६७ को 'अपोलो' यान मे आग लगने से मरे।

कर्नल ब्लादीमीर कोमारोव (रूस)—२५ अप्रैल, १९६७, सोयूज—१ पृथ्वी की ओर लौटते समय टकरा गया। कोमारोव मारे गए।

वाल्टर इस्किरा, डान इस्ले और वाल्टर कनिंघम (अमरीका)—अपोलो-७ मे ११ अक्तूबर, १९६८ को ११ दिनो तक यात्रा की। पहला अमरीकी अतरिक्ष अभियान जिसमे ३ यात्रियो ने भाग लिया।

ज्यार्जी बेरेगोवोय (रूस)—क्रमश २५ और २६ अक्तूबर, १९६८ को सोयूज-२ और सोयूज-३ छोड़े गए। दोनो यानो की अतरिक्ष मे भेंट हुई तथा सोयूज-३ मे बाहर निकलकर कर्नल बेरेगोवोय देर तक घूमे तथा ३० अक्तूबर को ४ दिनों की यात्रा के बाद धरती पर लौटे।

जेम्स ए० मैकडीविट, डेविड आर० स्काट और रसल एल० शवीकार्ट (अमरीका)—३ मार्च, १९६९, अपोलो-९।

ब्लादीमीर शतालोव (रूस)—१६ जनवरी, १९६९, सोयूज-४ पहली बार दो समानव यानो का मिलन।

बोरिस वोलयनोव, येवगेनी ख्रुनोव और एलेक्सी येलीसेयेव (रूस)—सोयूज ५।

नील आर्मस्ट्राग, एडविन एल्ड्रिन और माइकेल कोलिंस (अमरीका)—२० जुलाई, १९६९ को अपोलो—११ चद्रमा पर प्रशात सागर मे उतरा। आर्मस्ट्राग और एल्ड्रिन चद्र धरातल पर चले। मानव की चद्रमा पर विजय।

चार्ल्स कोनराड और एलेन एल० बीन—१९ नवबर, १९६९, चद्रमा पर उतरे। रिचार्ड एफ० गोर्डन मुख्य यान अपोलो १२ मे बैठा रहा।

ऐलेन शेपर्ड और एडगर मिशेल ५ फरवरी, १९७१ को चद्रमा पर उतरे। स्टुअर्ट रूजा मुख्य यान मे बैठा रहा। ९ फरवरी को चद्रयात्रियो ने ह्यूस्टन स्थित अनुसधान केंद्र के माध्यम से पत्रकार समेलन किया। अतरिक्ष यात्री चद्ररिक्शा चद्रमा पर छोड़ आए।

अपोलो योजना सयुक्त राज्य अमरीका ने मनुष्य को चाँद पर उतारने और चाँद के विभिन्न भागों के सर्वेक्षण करने के
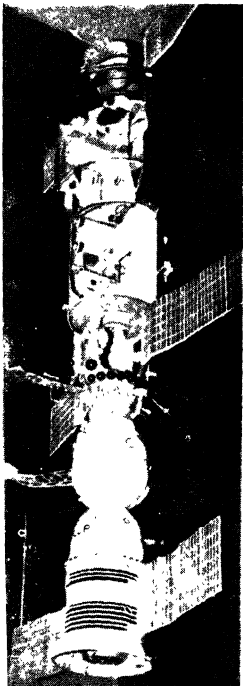
संल्यूत सोयूज अंतरिक्ष स्टेशन (द्र० पृष्ठ ५१)

अपोलो ११ (चंद्रविजय हेतु प्रस्थान)

एल्ड्रिन चंद्रतल पर

अंतरिक्ष यात्रा (द्र० पृष्ठ ४७)

अंतरिक्ष यात्रा

चंद्रमा से प्रस्थान

पृथ्वी की ओर यात्रा

(चंद्रकक्ष से बाहर आने के लिए अपोलो रॉकेट का विस्फोट)

लिये बनाई है। इस योजना से पूर्व मरकरी और जेमिनी योजनाएँ कार्यान्वित की जा चुकी थी। मरकरी योजना ने मनुष्य की अंतरिक्ष यात्रा संबंधी आवश्यक तकनीकी जानकारी में वृद्धि की और उसकी अंतरिक्ष उड़ान संबंधी क्षमता की सूचना भी प्रदान की। जेमिनी योजना ने मरकरी योजना से प्राप्त अनुभव और तकनीकी ज्ञान में वृद्धि की। इन दोनों योजनाओं से प्राप्त जानकारी का उपयोग अपोलो योजना के अंतर्गत किया गया।

अब तक अपोलो योजना के अंतर्गत ११ यान भेजे जा चुके है और हर यान में तीन तीन मनुष्य थे। अपोलो योजना के अंतर्गत मनुष्य छह बार चाँद पर उतरा जिसका विवरण निम्नलिखित है—

अपोलो-११, २१ जुलाई, १९६९ ई० को मनुष्य पहली बार चाँद पर उतरा। इस यान के चंद्रयात्री नील आर्मस्ट्राग ने चाँद पर अपना पहला कदम ९ बजकर २६ मिनट पर रखा था। चंद्रधरातल पर नील आर्मस्ट्राग के उतरने के कुछ ही समय बाद एडविन एलड्रिन भी चंद्रधरातल पर उतरे। मूल अंतरिक्षयान का संचालन माईकेल कौलिंस कर रहे थे।

नील आर्मस्ट्राग ने चाँद पर एक पट्ट का अनावरण किया जिसपर लिखा था—'यहाँ पृथ्वी के मनुष्य ने जुलाई, १९६९ में पहली बार अपने कदम रखे, हम यहाँ समस्त मानवता की शांति के लिये आए।' इसके बाद इन लोगों ने राष्ट्रसंघ का झंडा फहराया। इसके कुछ समय बाद चंद्रयात्रियों से बेतार के तार से बात करते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने कहा—"दुनिया के इतिहास में, इस अभूतपूर्व अनमोल घड़ी में सब एक हो गए है, सबको आपकी विजय पर गर्व है।" इसके बाद चंद्रयात्रियों ने चंद्रशैलखंड इकट्ठे किए।

अपोलो ११ के तीनों यात्री चंद्रशैलखंडों के साथ २४ जुलाई, १९६९ ई० को सकुशल पृथ्वी पर लौट आए।

अपोलो १२ का प्रक्षेपण १४ नवंबर, १९६९ को हुआ जो १९ नवंबर को चाँद पर उतरा। इसके चंद्रयात्री कोनराड तथा बीन चाँद के पश्चिम गोलार्ध में तूफानों के महासागर में वहाँ उतरे जहाँ १९ अप्रैल, १९६७ को सर्वेयर-३ नामक अमानव अमरीकी चंद्र अंतरिक्ष यान उतरा था। मूल यान का संचालन गार्डन ने किया।

२४ नवंबर, १९६९ को अपोलो १२ के चंद्रयात्री ५० कि० ग्रा० से अधिक वजन के पत्थर, रेत और धूल लेकर पृथ्वी पर लौट आए। अपोलो १२ के चंद्रयात्रियों ने चाँद पर एक स्वचालित प्रयोगशाला भी स्थापित की जो आज भी काम कर रही है।

अपोलो १३ का प्रक्षेपण १२ अप्रैल, १९७० को किया गया। लेकिन इसके सेवाकक्ष में भयंकर खराबी आ जाने के कारण यात्रियों को चंद्रमा पर उतरने के प्रयासों को रद्द करना पड़ा और वापस आ जाना पड़ा।

अपोलो १४ का प्रक्षेपण १ फरवरी, १९७१ को किया गया। यह ५ फरवरी को चंद्रमा के फ्रामारो क्षेत्र पर उतरा। एलन शेपर्ड और एडगर मिशेल चंद्रधरातल पर उतरे। लेकिन मूल यान के संचालक रूजा ने ११२ किलोमीटर दूर चंद्रमा की कक्षा में घूमते हुए कुछ प्रयोग किए। भविष्य के चंद्रावतरणों के लिये उपयुक्त स्थलों का चित्र लेने के साथ साथ उन्होंने चंद्रमा के पर्वतों और खाइयों को मापा।

चंद्रावतरण करनेवाले अंतरिक्ष यात्रियों ने चाँद की बाहरी सतह का अध्ययन किया। उन्होंने वहाँ 'थंपर' नामक उपकरण से २१ हलके विस्फोट किए। इन विस्फोटों का उद्देश्य चंद्रमा में जल की उपस्थिति या अनुपस्थिति का पता लगाना था। चंद्रमा के फ्रामारो क्षेत्र की सतह और उसके अन्य भौतिक गुणों की सूचना भेजने के साथ साथ उन्होंने वहाँ के चंद्रखंड भी इकट्ठे किए।

अपोलो १४ के अंतरिक्ष यात्री अपने साथ एक छोटा उपकरणवाहक 'रिक्शा' भी ले गए थे जिसपर अनेक छोटे औजार, कैमरे और चुंबकत्वमापी जैसे उपकरण थे। अनेक उपकरणों को चंद्रधरातल पर स्थापित कर यह यान चंद्रशैलखंडों के साथ सकुशल पृथ्वी पर वापस आ गया।

अपोलो १५ का प्रक्षेपण २६ जुलाई, १९७१ की शाम को हुआ। इसके चंद्रयात्री थे—अभियान नेता डेविड आर० स्काट, मुख्य यान चालक अलफ्रेड मेरिल वार्डेन और चंद्रयान चालक जेम्स बेंसन इर्विन। यह ३१ जुलाई को प्रातः ३ बजकर ४५ मिनट पर, एपेनाइन पर्वतमाला और उस १०० किलोमीटर लंबी हेडली घाटी के लगभग मध्य में उतरा, जो एक शुष्क नदी के समान फैली हुई है और ८०० मीटर चौड़ी तथा ३६० मीटर गहरी है। अपोलो १५ के साथ चंद्रभ्रमण वाहन (रोवर प्रथम) भी था। वैज्ञानिक यंत्रों से सुसज्जित यह वाहन अपने दुगने वजन को अर्थात् दोनों अंतरिक्ष यात्रियों, उनके द्वारा एकत्रित चंद्र चट्टानों के नमूनों और वैज्ञानिक उपकरणों को १६ कि० मी० प्रति घंटे की गति से खींच सकता था। चंद्रयात्रियों ने इसे केवल १२ कि० मी० प्रति घंटे की गति से चलाया। चंद्रयात्रियों ने चंद्रधरातल पर अनेक प्रयोग किए।

अपोलो १५, ८ अगस्त, १९७१ को पृथ्वी पर वापस आ गया। इस चंद्रयात्रा पर लगभग ४५.५ करोड़ डालर खर्च हुए, जबकि अपोलो ११ की यात्रा में लगभग ३५.५ करोड़ डालर का व्यय हुआ था।

अपोलो १६ का प्रक्षेपण १६ अप्रैल, १९७२ को किया गया। २० अप्रैल को यह चाँद की 'केटर डेस्कार्टिस' नामक खाई में उतरा। यह खाई चाँद के, धरती की ओरवाले अर्धभाग में, सबसे ऊँचे क्षेत्र में है। अपोलो १६ का उद्देश्य चाँद के ऊँचे भागों के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करना था। चंद्रयात्रियों ने ७३ घंटे की अवधि में चंद्रधरातल पर विभिन्न प्रयोग किए। इसके अतिरिक्त अपोलो १६ के मुख्य यान पर दो तरह के जीववैज्ञानिक प्रयोग किए गए। पहला प्रयोग सूक्ष्म जीवों और दूसरा प्रकृति में पाए जानेवाले चार तरह के जीवनतत्वों (जैसे बीज, बीजाणु इत्यादि) से संबंधित था।

अपोलो १७ का प्रक्षेपण ६ दिसंबर, १९७२ को किया गया। इसके चंद्रयात्रियों के नाम है—यूजीन ए० सर्नन, हैरिसन एच० शिमट और रोनाल्ड ई० इवांस। डा० हैरिसन एच० शिमट, जो भूवेत्ता है, चंद्रयान के चालक नियुक्त किए गए थे। यह चंद्रतल पर ११ दिसंबर को उतरा।

अंतरिक्ष किरणों का जीवों पर प्रभाव जानने के लिये अंतरिक्ष यात्रियों के साथ छह चूहे भी गए थे। अपोलो १५ और १६ की तरह १७ के साथ भी एक बैटरीचालित चंद्ररिक्शा गया था। पहले के अपोलो यानों के साथ गए यंत्रों के अतिरिक्त इसके साथ सात नए यंत्र भी रखे गए थे। इन यंत्रों में से लूनर सर्फेस ग्रेविमीटर से पृथ्वी और दूसरे आकाशीय पिंडों द्वारा चाँद पर पड़नेवाले गुरुत्वाकर्षण के स्वरूप का विश्लेषण किया गया। अन्य यंत्रों के द्वारा चाँद के भौतिक एवं रासायनिक गुणों का विश्लेषण, चाँद की सतह के क्षरण का निश्चय और चंद्र सतह के स्तर से संबंधित कई परीक्षण किए गए। यह अपोलो योजना का अंतिम यान था जो २० दिसंबर को लगभग २०० पौंड चंद्रशैलखंडों एवं चंद्रधूलि के साथ लौट आया।

नासा, नैशनल एयरोनाटिक्स ऐंड स्पेस ऐडमिनिस्ट्रेशन का संक्षिप्त नाम है। १९५८ में अमरीकी सरकार ने एक स्वतंत्र विभाग के रूप में इसका गठन किया और जर्मनी (पीनमुंडी) के वैज्ञानिक फान ब्रान को इसका संचालक नियुक्त किया गया। जिस जिस भूमि पर राकेट आदि के परीक्षण और प्रक्षेपण होते थे तथा जो राकेट आदि इस काम के लिये प्रयुक्त किए जा चुके थे वे सब नासा विभाग को दे दिए गए। लगभग ५००० फर्मे तथा संस्थाएँ, तीन लाख वैज्ञानिक इंजीनियर और तकनीशियन तथा दूसरे कर्मचारी नासा द्वारा अंतरिक्ष अन्वेषण संबंधी कार्य करने के लिये नियुक्त किए गए। पाँच अरब डालर का बजट इस योजना के लिये स्वीकार किया गया।

अपने गठन के छह मास के भीतर ही नासा ने घोषणा कर दी थी कि ११ वर्ष के अंदर (अर्थात् १९६९ ई० तक) अमरीका चंद्रमा पर मनुष्य को उतार देगा। तत्कालीन प्रेसीडेंट जान एफ० केनेडी ने कहा था कि चंद्रमा पर मनुष्य को उतारना अमरीका का राष्ट्रीय लक्ष्य है। अतः इसमें जितना भी धन लगेगा वह सब उपलब्ध किया जाएगा।

नासा ने दिसंबर, १९५८ में चंद्रमा तक पहुँचने की योजना प्रकाशित की, जिसमें तीन चरणों के अंतर्गत मनुष्य को चंद्रमा पर भेजने का लक्ष्य था।

पहला चरण मरक्यूरी योजना, दूसरा जेमिनी योजना और तीसरा चरण अपोलो योजना का था।

चंद्रमा संबंधी जानकारी चंद्रयात्रियों द्वारा लाए गए चंद्रशैलखंडों का कई देशों के वैज्ञानिकों ने अध्ययन कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं

१ चंद्रशैलखंडों की रासायनिक संरचना उल्कापिंडों अथवा पृथ्वी के तल से काफी भिन्न है। इनमें टाइटेनियम, जिर्कोनियम, कैल्सियम, स्ट्रॉशियम आदि अनुमान से अधिक मात्रा में पाए गए हैं। लेकिन उनमें लोहा, कोबाल्ट, निकेल, सीसा, बिसमथ और पानी जैसे पदार्थ नहीं मिले हैं। चंद्रमा पर तीन नए खनिजों पायरोक्सफेराइट, क्रोमियम-टाइटेनियम स्पाइनल तथा फेरोस्यूडो-ब्रुकाइट का पता चला है। पृथ्वी पर अब तक ये खनिज नहीं पाए गए हैं।

२ चंद्रशैलखंड बहुत पुराने हैं। संभवत: चंद्रमा की चट्टानें, सौरमंडल की सृष्टि के समय ही अस्तित्व में आई होंगी। इतना पुराना होने के कारण चंद्रमा पर रेडियोसक्रियता रहित प्लूटोनियम प्राप्त होने के भी संकेत मिले हैं। रेडियो सक्रिय क्षय के कारण भी कई पदार्थ मिले हैं।

पृथ्वी से चंद्रमा पर दिखनेवाले कलंक रूपी धब्बे अथवा जो कुछ भी पहाड़ या खाइयाँ दिखती हैं, वे इन्हीं आघातों द्वारा बन गई हैं। यह भी मालूम हुआ कि पृथ्वी पर प्राप्त लगभग २००० उल्कापिंडों में से बहुत ही कम चंद्रमा से आए हैं।

३ चंद्रशैलखंडों के अंतरिक्ष में अवस्थित कणिकामय विकिरण के संबंध में यथेष्ट जानकारी प्राप्त हुई है। पिछले एक करोड़ वर्षों के बीच सूर्य से आनेवाली अंतरिक्ष किरणों के कण एक ही गति से त्वरित होते रहे हैं अर्थात् सौर सक्रियता में पिछले कई लाख वर्षों में विशेष अंतर नहीं आया है। यह भी पता चला है कि चंद्रतल का द्रव्य उल्कापिंडों के आघातों के कारण ऊपर नीचे होता रहता है।

४. चंद्रशैलखंडों से प्रारंभिक अनुसंधानों से निष्कर्ष निकला कि चंद्रमा पर जीवन नहीं है। लेकिन बाद में किए गए अनुसंधानों में प्राप्त तथ्यों के अनुसार चंद्रमा की मिट्टी के स्पर्श से कुछ विशेष किस्मों के जीवाणुओं की मृत्यु हो गई। इससे चंद्रमा की मिट्टी में किसी प्रकार की सक्रियता का अनुमान नहीं लगाया जा सका। संभवत: चंद्रशैलखंडों में ऐसे रसायन हो सकते हैं जिनसे जीवाणुओं की मृत्यु हो जाती हो।

चंद्रशैलखंडों पर अनुसंधान कार्य अभी चल रहा है। उसकी अंतिम रिपोर्ट प्रकाशित होने पर कई नवीन तथ्यों की जानकारी मिलने की संभावना है।

ल्यूना अभियान रूस ने चंद्र-अन्वेषण-कार्यक्रम के अंतर्गत ३१ जनवरी, १९६६ को ल्यूना ९ का प्रक्षेपण किया जो ३ फरवरी, १९६६ को चंद्रमा पर सफलतापूर्वक उतरा। ल्यूना ९ ने चंद्रधरातल के अनेक चित्र पृथ्वी पर भेजे। ३१ मार्च, १९६६ को विविध इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों से सुसज्जित ल्यूना १० का प्रक्षेपण किया गया और ३ अप्रैल को यह चंद्रमा की कक्षा में स्थापित हो गया। ल्यूना १० के अनुसंधानयंत्र मुख्यत: चंद्रमा के वास्तविक आकार के बारे में खोज, चंद्रमा के गुरुत्वाकर्षण की नाप जोख, तथा उस प्रदेश में आनेवाली अंतरिक्ष किरणों आदि के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रेषित करने के लिये व्यवस्थित किए गए थे। इसने कुल २१९ प्रसारण पृथ्वी को प्रेषित किए।

२४ दिसंबर, १९६६ को ल्यूना १३ चंद्रधरातल पर उतरा। इसके द्वारा प्रेषित चित्रों से चंद्रधरातल पर धूलि के अभाव का पता चला। अपोलो ११ (अमरीकी) के प्रक्षेपण से कुछ दिन पूर्व रूस ने ल्यूना १५ का प्रक्षेपण किया था। अत: अपोलो ११ से तीन दिन पूर्व ही यह चंद्रकक्षा में स्थापित हो गया था। जब अपोलो ११ चंद्रकक्षा से चंद्रमा की ओर बढ़ रहा था तब ल्यूना १५ चंद्रधरातल से १५ किलोमीटर दूर था। अनुमान है कि ल्यूना का प्रक्षेपण अपोलो ११ की गतिविधियों का निरीक्षण करने के लिये ही किया गया था। जब अपोलो ११ का चंद्रयान ईगल अपने मुख्य यान से जुड़ने के लिये चंद्रधरातल से चला तभी ल्यूना १५ वहाँ से ८०० किलोमीटर दूर चंद्रमा से टकराकर नष्ट हो गया।

१२ सितंबर, १९७० को ल्यूना १६ का प्रक्षेपण किया गया जो २० सितंबर, १९७० को चंद्रधरातल पर उतरा। ल्यूना १६ ने बाह्य अंतरिक्ष में जटिल यांत्रिक कार्यप्रणाली की संभावनाओं का प्रदर्शन किया। ल्यूना १६ ने अपने स्वचालित यंत्रों द्वारा चंद्रधरातल का ३५० मिमी० तक भेदन किया और चंद्रशैलखंडों का संचयन कर यान की पेटी में रखा। नाप, विकिरण और ताप की माप, टेलिविज़न प्रसारण जैसे अनेक जाँच कार्य भी स्वचालित उपकरणों के द्वारा किए गए। २४ सितंबर, १९७० को चंद्रशैलखंडों को लेकर यह सकुशल पृथ्वी पर वापस आ गया।

११ नवंबर, १९७० को ल्यूना १७ का प्रक्षेपण किया गया। इसके साथ एक चंद्रगाड़ी 'ल्यूनाखोद' भी थी जो १७ नवंबर को चंद्र-धरातल पर उतरी। सौर ऊर्जा (सोलर एनर्जी) से चलनेवाली टब के आकार की इस स्वचालित चंद्रगाड़ी का संचालन रूस के वैज्ञानिक पृथ्वी पर से ही कर रहे थे। इस चंद्रगाड़ी ने चंद्रतल पर घूम घूमकर अनेक प्रयोग किए और उसकी सूचना पृथ्वी पर प्रेषित की। इसके द्वारा भेजे गए टेलिविज़न चित्रों से मालूम हुआ कि उसके पास की २० से ३० से०मी० बड़ी चंद्रशिलाएँ बड़ी महत्व की हैं। प्राकृतिक एक्स किरणों की उत्पत्ति के संबंध में भी इस गाड़ी ने कुछ जानकारी दी। इसके अनुसार एक्स किरणें सुदूर स्थित तारों से निकलकर आती हैं।

२ सितंबर, १९७१ को ल्यूना १८ का प्रक्षेपण किया गया जो ११ सितंबर को चंद्रमा से टकराकर नष्ट हो गया। १४ फरवरी, १९७२ को ल्यूना २० का प्रक्षेपण किया गया। ल्यूना २० के स्वचालित यंत्रों ने सफलतापूर्वक चंद्रशैलखंडों को एकत्रित किया। यह चंद्रशैलखंडों के साथ सकुशल पृथ्वी पर लौट आया।

मंगल अभियान चाँद पर विजय प्राप्त करने के बाद मंगल पर विजय प्राप्त करने के अभियान में काफी तेज़ी आ गई है। अमरीका और रूस ने मंगल की ओर अनेक यान प्रक्षेपित किए हैं। रूस ने जांड कार्यक्रम के अंतर्गत कुछ यान मंगल की ओर भेजे। किंतु संचारव्यवस्था की कठिनाइयों के कारण विशेष सफलता न मिल सकी थी। १९६९ में 'नासा' ने दो यान मेरिनर ६ और मेरिनर ७ मंगल की ओर भेजे जिनसे मंगल संबंधी महत्वपूर्ण जानकारी मिली। मेरिनर ६ और ७ का उद्देश्य मंगल की सतह और उसके वायुमंडल का विस्तृत अध्ययन करना था। मेरिनर ६ ने १७ मिनट तक मंगल का निरीक्षण किया जिसमें से ७ मिनट अंधेरे भाग में प्रयोग करने में व्यय हुए। बाद में यह यान सूर्य के गुरुत्वाकर्षण में आ गया और उसकी ओर खिंचकर सूर्य की ज्वाला में भस्म हो गया। मेरिनर ७ से भी पूरे सात घंटे तक संपर्क स्थापित नहीं किया जा सका।

मंगल संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिये नासा द्वारा अब तक मेरिनर श्रेणी के नौ यान छोड़े जा चुके हैं। मंगल संबंधी अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये १ मई, १९७१ को मेरिनर ९ छोड़ा गया और लगभग छह मास पश्चात् नवंबर के मध्य में यह लक्ष्य ग्रह के समीप पहुँचकर एक कक्षा में स्थापित हो गया था। इसने मंगल की सतह संबंधी महत्वपूर्ण सूचनाएँ पृथ्वी पर भेजीं। इससे पहले रूस ने १९ मई और २८ मई, १९७१ को क्रमश: मार्स २ तथा ३ मंगल की ओर भेजे थे। अमरीका ने मेरिनर ९ का पूरा कार्यक्रम घोषित कर दिया है लेकिन रूस ने मार्स २ और ३ के संबंध में विशेष कोई जानकारी नहीं दी है। अमरीकी सूचना के अनुसार मेरिनर ९ के साथ एक प्रयोगशाला भी है जिसने तीन मास में मंगल के लगभग ५००० चित्र भेजे हैं। सूचना में यह भी बताया गया है कि मेरिनर ९ कम से कम ७५ वर्ष तक मंगल के चक्कर लगाता रहेगा।

अमरीका ने मंगल पर पहुँचने का एक कार्यक्रम बनाया है जिसके अनुसार १९८६-८७ में मनुष्य मंगल पर उतर जाएगा। १९८१ में केवल मंगल की परिक्रमा की जाएगी। मंगलयात्रा के लिये १ मई, १९८६ का दिन चुना गया है। इस कल्पना को साकार करने के लिये बहुत सी तकनीकी और इंजीनियरी संबंधी समस्याओं का हल खोजना पड़ेगा। इस अभियान में लगभग ७५० अरब डालर खर्च होने का अनुमान है। (नि० सि०)

अंतरिक्ष संधि २७ जनवरी, १९६७ को संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन ने बाह्य अंतरिक्ष में परमाणु शस्त्रास्त्र को निषिद्ध घोषित करनेवाले समझौते पर हस्ताक्षर किए। दिसंबर, १९६६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा अनुमोदित संधि की शर्तों के अनुसार बाह्य अंतरिक्ष पर किसी भी देश की प्रभुसत्ता नहीं है और सभी देशों को अंतरिक्ष अनुसंधान की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। इस संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले सभी देश बाह्य अंतरिक्ष का केवल शांतिमय उपयोग के लिये प्रयोग कर सकते हैं और चाँद तथा दूसरे ग्रहों पर किसी भी तरह के सैनिक केंद्रों की स्थापना निषिद्ध है। चाँद तथा दूसरे ग्रहों पर किसी भी तरह के प्रतिष्ठान स्थापित करनेवाले देश समुचित समय की सूचना के बाद दूसरे देशों को उनका निरीक्षण करने देंगे।

१९६३ की आंशिक परमाणु परीक्षण निषेध संधि के बाद की इस दूसरी निर्णायक संधि की शर्तों के अनुसार अंतरिक्ष में परमाणु शस्त्रास्त्र और सामूहिक विनाश के दूसरे साधनों से सुसज्जित उपग्रहों, अंतरिक्ष यानों आदि के छोड़ने पर प्रतिबंध है। यह संधि इस बात की भी व्यवस्था करती है कि त्रुटिवश किसी दूसरे देश के सीमाक्षेत्र में उतर जानेवाले अंतरिक्ष-यात्री उस देश को सौंप दिए जाएँगे जिसके कि वे होंगे।

(कै० ना० सिं०)

अंतरिक्ष स्टेशन अंतरिक्ष में मानवनिर्मित ऐसे स्टेशन होते हैं जिनसे पृथ्वी से कोई अंतरिक्ष यान जाकर मिल सकता है। ये स्टेशन एक प्रकार के मंच हैं, जहाँ से पृथ्वी का सर्वेक्षण किया जा सकता है, आकाश के रहस्य मालूम किए जा सकते हैं और भविष्य में इन्हीं मंचों से ग्रहों की समानव यात्राएँ की जा सकेंगी। अंतरिक्ष स्टेशन अपने कार्य के अनुरूप वैज्ञानिक शोध स्टेशन, संचार स्टेशन, अंतरिक्ष-नौकानयन-स्टेशन, मौसम स्टेशन आदि कहलाते हैं। अगर स्टेशन पृथ्वी का उपग्रह होता है तब साधारणतया वैज्ञानिक इसे भू उपग्रह कहते हैं। अंतरिक्ष स्टेशनों का एक नाम 'कक्षीय स्टेशन' भी है।

अप्रैल, १९७१ में सोवियत रूस ने १७.७५ टन भारी सैल्यूत यान छोड़ा था। इसमें कोई यात्री नहीं था लेकिन यह अनेक यंत्रों से युक्त था। रूसियों ने यह चाहा कि इस मानवरहित यान के साथ एक मानवयुक्त यान जोड़ा जाए और फिर से यात्री अनेक प्रकार के परीक्षण करें। परंतु ऐसा करने में रूस असफल रहा जिससे उसके यात्रियों को पृथ्वी पर वापस आना पड़ा।

जून, १९७१ में दूसरी बार रूसियों ने अंतरिक्ष स्टेशन को मानवयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सायूज ११ छोड़ा जिसका वजन लगभग सात टन था। यह २४ घंटे बाद सैल्यूत से मिल गया। इसमें विशेष डॉकिंग (मिलान) प्रणाली प्रयोग की गई थी। परीक्षक इंजीनियर पात्सायेव तीन सदस्यीय दल के नेता थे। इन लोगों को सैल्यूत में प्रवेश करने के बाद हैरानी हुई। इसमें रहने का कमरा बहुत बड़ा था जिसमें यंत्र लगे हुए थे। रसोई साहित घर के रख रखाव का सारा सामान और छोटा मोटा एक पुस्तकालय भी था।

इस समानव अंतरिक्ष स्टेशन की स्थापना होते ही अंतरिक्ष यात्रियों ने अपना काम प्रारंभ कर दिया। उन्होंने सैल्यूत की प्रणालियों की जाँच की, कुछ शारीरिक परीक्षण किए और एक टेलीविजन कैमरे से पृथ्वी के चित्र लिए। यात्रियों ने दो बार इंजन चलाकर सैल्यूत की कक्षा को और ऊँचा कर दिया। इससे अंतरिक्ष स्टेशन एक मास और पृथ्वी की परिक्रमा कर सकता था और अन्य सायूज यान इससे जाकर मिल सकते थे।

सोवियत वैज्ञानिकों का कहना है कि सैल्यूत सोयूज अंतरिक्ष स्टेशन अनेक भावी स्टेशनों की शुरुआत है। उनका यह भी कहना है कि भविष्य में अंतरिक्ष नगर बसेंगे और वहाँ फल, सब्जी आदि भी पैदा की जाएँगी।

अमरीका ने अंतरिक्ष स्टेशन १९७३ में छोड़ने की योजना बनाई है, जिसका नाम 'स्काई लैब' रखा गया है। (नि० सिं०)

अंतर्दर्शन (इंट्रास्पेक्शन) अंतर्दर्शन का तात्पर्य अंदर देखने से है। इसे आत्मनिरीक्षण या आत्मचेतनता भी कहा जाता है। मनोविज्ञान की यह एक पद्धति है। इसका उद्देश्य मानसिक प्रक्रियाओं का स्वयं अध्ययन कर उनकी व्याख्या करना है। इस पद्धति के सहारे हम अपनी अनुभूतियों के रूप को समझना चाहते हैं। केवल आत्मविचार (सेल्फ-रिफ्लेक्शन) ही अंतर्दर्शन नहीं है। अंतर्दर्शन तो प्रत्यक्ष आत्मचेतनता का एक विकसित रूप है। अंतर्दर्शन के विकास में तीन सीढ़ियों का होना आवश्यक है—(१) किसी बाह्य वस्तु के निरीक्षण-क्रम में अपनी ही मानसिक क्रिया पर विचार करना, (२) अपनी ही मानसिक क्रियाओं के कारणों पर विचार करना, और (३) अपनी मानसिक क्रियाओं के सुधार के बारे में सोचना।

इस पद्धति के अनुसार एक ही मानसिक प्रक्रिया के बारे में लोग विभिन्न मत दे सकते हैं। अतः यह पद्धति अवैज्ञानिक है। वैयक्तिक होने के कारण इससे केवल एक ही व्यक्ति की मानसिक दशा का पता चल सकता है।

अंतर्दर्शन की सहायता के लिये बहिर्दर्शन पद्धति आवश्यक है। अंतर्दर्शन पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें निरीक्षण की वस्तु सदा हमारे साथ रहती है और हम अपनी सुविधानुसार जब चाहें तब अंतर्दर्शन कर सकते हैं। (स० प्र० चौ०)

अंतर्दहन इंजन द्र० इंजन।

अंतर्वेद से अभिप्राय गंगा और यमुना के बीच के उस विस्तृत भूखंड से था जो हरद्वार से प्रयाग तक फैला हुआ है। इस दोआब में वैदिक काल से बहुत पीछे तक निरंतर यज्ञादि होते आए हैं। वैदिक काल में वहाँ उशीनर, पंचाल तथा वत्स अथवा वंश बसते थे। इसी से पूर्व की ओर लगे कोसल तथा काशी जनपद थे। अंतर्वेद की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमाओं पर कुरु, शूरसेन, चेदि आदि का आवास था। ऐतिहासिक युग में इस प्रदेश में कई अश्वमेध यज्ञ हुए जिनमें समुद्रगुप्त का यज्ञ बड़े महत्व का था।

गुप्तकालीन शासनव्यवस्था के अनुसार अंतर्वेद साम्राज्य का 'विषय' या जिला था। स्कंदगुप्त के समय उसका विषयपति शर्वनाग स्वयं सम्राट् द्वारा नियुक्त किया गया था। (च० म०)

अंतर्वेदी उन व्यक्तियों को कहा जाता है जो गंगा यमुना के दोआब के निवासी हैं क्योंकि गंगा यमुना के बीच का देश अंतर्वेद या ब्रह्मावर्त कहलाता है। सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, अलीगढ़, आगरा, एटा, इटावा, फर्रुखाबाद, फतेहपुर तथा इलाहाबाद इत्यादि उत्तर प्रदेश के जिले इस क्षेत्र में परिगणित होते हैं। विश्वास किया जाता है कि बिहारी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की तीन प्रधान श्रेणियों में एक, जिसे 'अंतर्वेदी' संज्ञा प्राप्त है, गंगा यमुना के दोआब से ही बिहार पहुँची थी। (कै० च० श०)

अंतर्वेशन (इंटरपोलेशन) का अर्थ है किसी गणितीय सारणी में दिए हुए मानों के बीचवाले मानों को ज्ञात करना। अंग्रेजी शब्द 'इंटरपोलेशन' का शाब्दिक अर्थ है 'बीच में शब्द बढ़ाना'।

मान लीजिए, निम्नलिखित सारणी दी हुई है :

य	लघु य	य	लघु य
७०	०·८४५०९८	७४	०·८६९२३२
७१	०·८५१२५८	७५	०·८७५०६१
७२	०·८५७३३२	७६	०·८८०८१४
७३	०·८६३३२३	७७	०·८८६४९१

प्रश्न यह है कि य के सारणीबद्ध मानों के बीच के किसी मान के लिये (जैसे य = ७·१५२ के लिये) लघु य का मान किस प्रकार निकाला जाय। इस प्रश्न का उत्तर अंतर्वेशन सिद्धांत द्वारा मिलता है। अंतर्वेशन के विकसित सिद्धांत से किसी सारणी द्वारा निर्दिष्ट फलन का अवकल गुणांक (डिफरेंशियल कोइफिशेंट) अथवा दो सीमाओं के बीच का अनुकल (इनटेग्रल) निकालना भी संभव है। अंतर्वेशन के लिये एक महत्वपूर्ण सूत्र यह है

$$\text{र} = \text{फ}(\text{क}) + \text{य}\,\text{अ}\,\text{फ}(\text{क}) + \text{य}(\text{य}-१)\text{अ}^{२}\text{फ}(\text{क}) + \ldots + \frac{\text{य}(\text{य}-१)\ldots(\text{य}-\text{स}+१)}{\text{स}!}\text{अ}^{\text{स}}\,\text{फ}(\text{क})$$

जिसमें अ फ(क) = फ (क + कि) − फ(क) प्रथम अंतर है, $\text{अ}^{२}$ फ(क) = अ फ (क + कि) − अ फ (क) द्वितीय अंतर है ... ।

इस सूत्र को ग्रेगरी-न्यूटन-सूत्र कहते हैं।

अंतर्वेशन का एक अन्य महत्वपूर्ण सूत्र लैंग्राज सूत्र है

$$\text{फ}(\text{य}) = \frac{\text{फ}(\text{क}_०)(\text{य}-\text{क}_१)(\text{य}-\text{क}_२)\ldots(\text{य}-\text{क}_\text{न})}{(\text{क}_०-\text{क}_१)(\text{क}_०-\text{क}_२)\ldots(\text{क}_०-\text{क}_\text{न})} + \frac{\text{फ}(\text{क}_१)(\text{य}-\text{क}_०)(\text{य}-\text{क}_२)\ldots(\text{य}-\text{क}_\text{न})}{(\text{क}_१-\text{क}_०)(\text{क}_१-\text{क}_२)\cdots(\text{क}_१-\text{क}_\text{न})} + \ldots + \frac{\text{फ}(\text{क}_\text{न})(\text{य}-\text{क}_०)(\text{य}-\text{क}_१)\ldots(\text{य}-\text{क}_{\text{न}-१})}{(\text{क}_\text{न}-\text{क}_०)(\text{क}_\text{न}-\text{क}_१)\ldots(\text{य}_\text{न}-\text{क}_{\text{न}-१})}।$$

स्पष्ट है कि इस सूत्र में फ(य) घात अ के बहुपद से निरूपित है जिसके मान य = $\text{क}_०$, $\text{क}_१$, $\text{क}_२$, ... $\text{क}_\text{न}$ के लिये क्रमश: फ($\text{क}_०$), फ ($\text{क}_१$), ... फ ($\text{क}_\text{न}$) हैं।

एक प्रकार का प्रश्न यह है

मान लीजिए निम्नलिखित सारणी दी है

य	१४	१७	३१	३५
फ(य)	६८७	६८०	८८०	३६१

यदि य = २७ तो फ(य) का मान निकालो।

उत्तर फ(२७) = लगभग ४९.३१७।

सं॰ग्रं॰—व्हिटकर और राबिन्सन : कैलक्युलस ऑव आबजर्वेशन्स। (ना॰ गो॰ श॰)

अंतलिखित (अनलिकिद, अंतिअल्किदस्) तक्षशिला का हिंदू-ग्रीक राजा। बेसनगर (मध्य प्रदेश) के स्तंभलेख के अनुसार इस राजा ने अपने दूत दिय-के-पुत्र हेलियोदोरस को शुंगवंश के राजा अथवा भागभद्र के दरबार में भेजा था। यह भागभद्र शुंगराज ओद्रक अथवा भागवत में से कोई हो सकता है। इस अभिलेख में अंतलिखित को तक्षशिला का राजा और उसके ग्रीक दूत को विष्णुभक्त 'भागवत' कहा गया है। अंतलिखित के सिक्के भी अन्य हिंदू ग्रीक राजाओं की भाँति ही ग्रीक और भारतीय दोनों भाषाओं में खुदे मिलते हैं। उसकी मुद्राएँ उसे विजेता भी प्रमाणित करती हैं। अंतलिखित का शासनकाल निश्चित रूप से तो नहीं बताया जा सकता, पर संभवत: वह ईसवी सन् की प्रथम शती में हुआ। वह बाख्त्री के राजा युक्रातिद के राजकुल का अफगानिस्तान और पश्चिमी पंजाब का राजा था। (भ॰ श॰ उ॰)

अंतश्चेतना शब्द अंग्रेजी के 'इनर कांशसनेस' का पर्यायवाची है। कभी कभी यह सहज ज्ञान या प्रमा (इंट्यूशन) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। संत जन या गांधी जी प्राय: अपनी 'भीतरी आवाज' या 'आत्मा की आवाज' का हवाला देते थे। कई रहस्यवादियों में यह अंतश्चेतना अधिक विकसित होती है। परंतु सर्वसाधारण में भी 'मन की आँखें' तो होती ही हैं। यही मनुष्य का नीति अनीति से परे सदसद्विवेक कहलाता है। दार्शनिकों का एक संप्रदाय यह मानता है कि जीव स्वभावत: 'शिव' है और इस कारण किसी अशिक्षित या असंस्कृत कहलानेवाले व्यक्ति में भी अच्छे बुरे को पहचानने की अंतश्चेतना पशु से अधिक विद्यमान रहती है। भौतिकवादी अंतश्चेतना को जन्मत: उपस्थित जैविक गुण नहीं मानते बल्कि सभ्यता के इतिहास से उत्पन्न, चेतना का बाह्य आवरण मानते हैं, जैसे फ्रायड उसे 'सुपर ईगो' कहता है। अरविंद के दर्शन में यह शब्द उभरकर आया है। यदि मौलिक जड़ जगत् और मानवी चैतन्य के भीतर एक ही विकासरेखा खोजनी हो, या मृण्मय में चिन्मय बनने की संभावनाएँ हों तो इस अंतश्चेतना का किसी न किसी रूप में पूर्व अस्तित्व मनुष्य में मानना ही होगा। योग इसी को आत्मिक उन्नति भी कहता है। योगी अरविंद की परिभाषा में यही चैत्य पुरुष या 'साइकिक बीइंग' कहा गया है। (प्र॰ मा॰)

अंतिओक पश्चिमी एशिया में इस नाम के अनेक नगर लघु एशिया तक बसते चले गए थे। इनमें सबसे महत्व का नगर सीरिया में था जो लेबनान और तोरस पर्वतमालाओं के बीच, सागर से प्राय: २० मील दूर ओरोंतीज नदी के बाएँ तीर पर बसा। लघु एशिया, फरात की उपरली घाटी, मिस्र और फिलिस्तीन से आनेवाली सारी राहें यहीं मिलती थीं और यही उन सबके व्यापार का केंद्र था। यह सिकंदर के साम्राज्य की सेल्यूकस के हिस्से की राजधानी था। सेल्यूकस ने ही इस नगर को वस्तुत: बसाया भी था जिसके निर्माण का आरंभ उसी के शत्रु अंतिगोनस ने किया था। धीरे धीरे नगर का विस्तार होता गया था और चौथी सदी ईसवी में इसकी जनसंख्या प्राय: ढाई लाख हो गई थी। बाद में रोमनों ने उसे जीत लिया। इसका वर्तमान नाम अन्ताक्या है। आज के इस तुर्की नगर की भाषा भी तुर्की है। (भ॰ श॰ उ॰)

अंत:करण (कांशेंस) यह पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य उस मानसिक शक्ति से है जिससे व्यक्ति उचित और अनुचित का निर्णय करता है। सामान्यत: लोगों की यह धारणा होती है कि व्यक्ति का अंत:करण किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय करने में उसी प्रकार सहायता कर सकता है जैसे उसके कान सुनने में अथवा नेत्र देखने में सहायता करते हैं। व्यक्ति में अंत:करण का निर्माण उसके नैतिक नियमों के आधार पर होता है। अत: अंत:करण व्यक्ति की आत्मा का वह क्रियात्मक सिद्धांत माना जा सकता है जिसकी सहायता से व्यक्ति द्वंद्वों की उपस्थिति में किसी निर्णय पर पहुँचता है। 'शाकुंतल' (१,१९) में कालिदास कहते हैं

> सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
>
> प्रमाणमन्त:करणप्रवृत्तय:। (म॰ प्र॰ चा॰)

अंत:पुर प्राचीन काल में हिंदू राजाओं का रनिवास अंत:पुर कहलाता था। यही मुगलों के जमाने में जनानखाना या हरम कहलाया। अंत:पुर के अन्य नाम भी थे जो साधारणत: उसके पर्याय की तरह प्रयुक्त होते थे, यथा—'शुद्धांत' और 'अवरोध'। 'शुद्धांत' शब्द से प्रकट है कि राजप्रासाद के उस भाग को, जिसमें नारियाँ रहती थीं, बड़ा पवित्र माना जाता था। दांपत्य वातावरण को आचरण की दृष्टि से नितांत शुद्ध रखने की परंपरा ने ही नि:संदेह अंत:पुर को यह विशिष्ट संज्ञा दी थी। उसके शुद्धांत नाम को सार्थक करने के लिये ही महल के उस भाग को बाहरी लोगों के प्रवेश से मुक्त रखते थे। उस भाग के अवरुद्ध होने के कारण अंत:पुर का यह तीसरा नाम 'अवरोध' पड़ा था। अवरोध के अनेक रक्षक होते थे जिन्हें प्रतीहारी या प्रतीहाररक्षक कहते थे। नाटकों में राजा के अवरोध का अधिकारी अधिकतर वृद्ध ही होता था जिससे अंत:पुर शुद्धांत बना रहे और उसकी पवित्रता में कोई विकार न आने पाए। मुगल और चीनी सम्राटों के हरम या अंत:पुर में मर्द नहीं जा सकते थे और उनकी जगह खोजे या क्लीब रखे जाते थे। इन खोजों की शक्ति चीनी महलों में इतनी बढ़ गई थी कि वे रोमन सम्राटों के प्रीतोरियन शरीररक्षकों और तुर्की जनीसरी शरीररक्षकों की तरह ही चीनी सम्राटों को बनाने बिगाड़ने में समर्थ हो गए थे। वे ही चीनी महलों के सारे षड्यंत्रों के मूल में होते थे। चीनी सम्राटों के समूचे महल को 'अवरोध' अथवा 'अवरुद्ध नगर' कहते थे और उसमें रात में सिवा सम्राट् के कोई पुरुष नहीं सो सकता था। क्लीबों की सत्ता गुप्त राजप्रासादों में भी पर्याप्त थी।

जैसा संस्कृत नाटकों से प्रकट होता है, राजप्रासाद के अंत:पुरवाले भाग में एक नजरबाग भी होता था जिसे प्रमदवन कहते थे और जहाँ राजा अपनी अनेक पत्नियों के साथ विहार करता था। संगीतशाला, चित्रशाला आदि भी वहाँ होती थीं जहाँ राजकुल की नारियाँ ललित कलाएँ सीखती

थी। वही उनके लिये क्रीडास्थल भी होता था। संस्कृत नाटकों में वर्णित अधिकतर प्रणयषड्यन्त्र अंत:पुर में ही चलते थे।

सं० ग्रं०—शार्ङ्गधरपद्धति, उपवनविनोद, भगवतशरण उपाध्याय इंडिया इन कालिदास। (भ० श० उ०)

अंत:स्राव विद्या (एंडोक्राइनॉलोजी) आयुर्विज्ञान की वह शाखा है जिसमें शरीर में अंत:स्राव या हारमोन उत्पन्न करनेवाली ग्रंथियों का अध्ययन किया जाता है। उत्पन्न होनेवाले हारमोन का अध्ययन भी इसी विद्या का एक अंश है। हारमोन विशिष्ट रासायनिक वस्तुएँ हैं जो शरीर की कई ग्रंथियों में उत्पन्न होती हैं। ये हारमोन अपनी ग्रंथियों से निकलकर रक्त में या अन्य शारीरिक द्रवों में, जैसे लसीका आदि में, मिल जाते हैं और अंगों में पहुँचकर उनमें विशिष्ट क्रियाएँ करवाते हैं। हारमोन शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है। सबसे पहले सन् १९०२ में बेलिस और स्टार्लिंग ने इस शब्द का प्रयोग किया था। सभी अंत:स्रावी ग्रंथियाँ हारमोन उत्पन्न करती हैं।

इतिहास—सबसे पहले कुछ ग्रीक विद्वानों ने शरीर की कई ग्रंथियों का वर्णन किया था। तभी से इस विद्या के विकास का इतिहास प्रारंभ होता है। १६वीं और १७वीं शताब्दी में इटली के शारीरवेत्ता वेजेलियस और आक्सफोर्ड के टामस वेजेलियस, टामस व्हार्टन और लोवर नामक विद्वानों ने इस विद्या की अभिवृद्धि की। सूक्ष्मदर्शी द्वारा इन ग्रंथियों की रचना का ज्ञान प्राप्त होने से १९वीं शताब्दी में इस विद्या की असीम उन्नति हुई। अब भी अध्ययन जारी है और अन्य कई विधियों द्वारा अन्वेषण हो रहे हैं।

यकृत और अंडग्रंथियों का ज्ञान प्राचीन काल से था। अरस्तू ने डिंबग्रंथि का वर्णन 'कार्प्रियाका' नाम से किया था। अवटुका (थाइरायड) का पहले पहल वर्णन गैलेन ने किया था। टामस व्हार्टन (१६१४–१६४५) ने उसका विस्तार किया और प्रथम बार इसे थाइरायड नाम दिया। इसकी सूक्ष्म रचना का पूर्ण ज्ञान १९वीं शताब्दी में हो सका। पीयूषिका (पिट्यूटरी) ग्रंथि का वर्णन पहले गैलेन और फिर वेजेलियस ने किया। तत्पश्चात् व्हार्टन और टामस विली (१६२१–१६७५) ने इसका पूरा अध्ययन किया। उसकी सूक्ष्म रचना हेनोवर ने १८१४ में ज्ञात की।

अधिवृक्क ग्रंथियों का वर्णन पहले पहल गैलेन ने और फिर सूक्ष्म रूप में बार्थोलियम यूस्टेशियस (१६१४–१६६४) ने किया। सुप्रारीनल कॅप्स्यूल शब्द का प्रयोग प्रथम बार जान रियोलान (१५८०–१६५७) ने किया। इसकी सूक्ष्म रचना का अध्ययन ऐकर (१८१६–१८८४) और आर्नाल्ड (१८६६) ने प्रारंभ किया।

पिनियल ग्रंथि का वर्णन गैलेन ने किया और टामस व्हार्टन ने इसकी रचना का अध्ययन किया। थाइमस ग्रंथि का वर्णन प्रथम शताब्दी में रूफास द्वारा मिलता है। अग्न्याशय के अंत:स्रावी भाग का वर्णन लैंगरहैंस ने १८६८ में किया जो उसी के नाम से लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहलाती हैं। विक्टर सैंडस्टॉर्म ने १८८० में परा-अवटुका (पैराथाइरॉयड) का वर्णन किया। अब उसकी सूक्ष्म रचना और क्रियाओं का अध्ययन हो रहा है।

यद्यपि इन ग्रंथियों की स्थिति और रचना का पता लग गया था, फिर भी इनकी क्रिया का ज्ञान बहुत पीछे हुआ। हिप्पोक्रेटीज और अरस्तू अंडग्रंथियों का पुरुषत्व के साथ संबंध समझते थे और अरस्तू ने डिंबग्रंथियों के छेदन के प्रभाव का उल्लेख भी किया है, किंतु पूर्वोक्त ग्रंथियों की क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं हो सका था। इस क्रिया का कुछ अनुमान कर सकनेवाला प्रथम व्यक्ति टामस विली था। इसी प्रकार पीयूषिका ग्रंथि का स्राव सीधे रक्त में चले जाने की बात रिचार्ड लोवर ने सर्वप्रथम कही थी। अवटुका के संबंध में इसी प्रकार का मत टामस रूयश ने प्रगट किया।

इस संबंध में जान हंटर (१७२३–९३) के समय से नया युग आरंभ हुआ। अन्वेषणविधि का उसने रूप ही पलट दिया। ग्रंथि की रचना, उसकी क्रिया (फिजियोलॉजी), उसपर प्रयोगों से फल तथा उससे संबद्ध रोगलक्षणों का समन्वय करके विचार करने के पश्चात् परिणाम पर पहुँचने की विधि का उसने अनुसरण किया। श्री हंटर प्रथम अन्वेषणकर्ता थे जिन्होंने प्रयोग प्रारंभ किए और प्रजनन ग्रंथियों तथा यौन संबंधी लक्षणों—पुरुषों में छाती पर बाल उगना, दाढ़ी मूँछ निकलना, स्वर की मंद्रता आदि—का घनिष्ठ संबंध प्रदर्शित किया। सन् १८२७ में ऐस्ले कूपर ने प्रथम अवटुका-छेदन किया। इसके पश्चात् अंत:स्राव के मत को विद्वानों ने स्वीकार कर लिया, और सन् १८५५ में क्लाडबार्ड, टॉमस ऐडिसन और ब्राउन सीकर्ड के प्रयोगों से अंत:स्राव का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया। ब्राउन सीकर्ड ने जो प्रयोग यकृत पर किए थे उनके आधार पर उसने यह मत प्रकाशित किया कि शरीर की अनेक ग्रंथियाँ, जैसे यकृत, प्लीहा, लसीका ग्रंथियाँ, पीयूषिका, थाइमस, अवटुका, अधिवृक्क, ये सब दो प्रकार के स्राव बनाती हैं। एक अंत:स्राव, जो सीधा वहीं से शरीर में शोषित हो जाता है, और दूसरा बहि:स्राव, जो ग्रंथि से एक नलिका द्वारा बाहर निकलता है तथा शरीर की आंतरिक दशाओं और क्रियाओं का नियंत्रण करता है। उसने यह भी समझ लिया कि ये ग्रंथियाँ तंत्रिकातंत्र (नर्वस सिस्टम) के अधीन हैं। एक वर्ष के पश्चात् उसने प्रथम अधिवृक्कछेदन (ऐड्रिनेलैक्टामी) किया। इसी वर्ष टामस ऐडिसन ने 'अधिवृक्कसंपुट के रोग' नामक लेख प्रकाशित किया जिससे अंत:स्राव के सिद्धांत भली भाँति प्रमाणित हो गए।

यद्यपि हिप्पाक्रेटीज के समय से विद्वानों ने इन ग्रंथियों के विकारों से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन किया है, तथापि 'एडिसन का रोग' प्रथम अंत:स्रावी रोग था जिसकी खोज और विवेचना पूर्णतया की गई। अवटुका के रोगों का वर्णन चार्ल्स हिल्टन, फाग, विलियम गल आदि ने किया। प्रयोगशालाओं में ग्रंथियों से उनका सत्व तथा हारमोन पृथक् किए गए और उनको मुँह से खिलाकर तथा इंजेक्शन द्वारा देकर उनका प्रभाव देखा गया। सन् १९०१ में अधिवृक्क से ऐड्रिनैलिन पृथक् किया गया। कैंडल ने अवटुका से थाइराक्सिन और बैंटिंग तथा बेस्ट ने पक्वाशय से इंस्यूलिन पृथक् किया। ऐलेन ने ईस्ट्रिन और काक ने टेस्टोस्टेरोन पृथक् किए। इन रासायनिक प्रयोगों में इन वस्तुओं के रासायनिक संघटन का भी अध्ययन किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि रसायनज्ञों ने इन वस्तुओं को प्रयोगशालाओं में तैयार कर लिया। इन कृत्रिम प्रकार से बनाए हुए पदार्थों को 'हारमोनॉएड' नाम दिया गया है। आजकल इन्हीं का बहुत प्रयोग होता है।

अंत:स्रावी ग्रंथियाँ

१ पिनियल, २ पिट्यूइटैरी, ३ पैराथाइरॉयड, ४. थाइरॉयड, ५. थाइमस, ६ अधिवृक्क (ऐड्रिनल), ७ अग्न्याशय (पैनक्रियस), ८ (केवल स्त्रियों में) डिंबाशय (ओवैरी), ९ (केवल पुरुषों में) वृषण (टेस्टीज)।

इन अंत:स्रावी ग्रंथियों को पहले एक दूसरे से पृथक् समझा जाता था, किंतु अब ज्ञात हुआ है कि ये सब एक दूसरे से संबद्ध हैं और पीयूषिका ग्रंथि तथा मस्तिष्क का हैपोथैलेमस भाग उनका संबंध स्थापित करते हैं। अत: मस्तिष्क ही अंत:स्रावी तंत्र का केंद्र है।

शरीर में निम्नलिखित मुख्य अंत:स्रावी ग्रंथियाँ हैं: पीयूषिका (पिट्यूटैरी), अधिवृक्क (ऐड्रीनल), अवटुका (थाइरॉयड), उपावटुका (पैराथाइरायड), अंडग्रंथि (टेस्टीज), डिंबग्रंथि (ओवैरी), पिनियल, लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ और थाइमस।

पीयूषिका—मनुष्य के शरीर में यह एक मटर के समान ग्रंथि मस्तिष्क के अग्र भाग के तल से एक वृंत (डंठल) सरीखे भाग द्वारा लगी और नीचे को लटकती रहती है। इसमें तीन भाग हैं—अग्रिम, मध्य और पश्च खंडिकाएँ (लोब)। अग्रिम खंडिका में बननेवाले हारमोनों के नाम ये हैं (१) बीज-पुटक-उत्तेजक (एफ० एस० एच०), (२) ल्यूटीनिकारक (एल० एच०), (३) अधिवृक्क-प्रांतस्था-पोषक (ए० सी० टी० एच०), (४) अवटुकापोषक (टी० एस० एच०), (५) वर्धक (ग्रोथ हारमोन)। मध्यखंडिका मध्यनी (इंटरमिडिन) हारमोन बनाती है। पश्चखंडिका पिट्यूटरीन हारमोन बनाती है। इसमें दो हारमोन होते हैं।

एक गर्भाशय का संकोच बढ़ाता है और दूसरे से रक्तवाहिनियाँ संकुचित होती हैं। यदि इस ग्रंथि की क्रिया बढ़ जाती है तो प्रजनन अंगों की अत्यंत वृद्धि होती है और यदि शरीर का वृद्धिकाल समाप्त नहीं हो चुका रहता है तो दीर्घकायता उत्पन्न हो जाती है जिसमें शरीर की अतिवृद्धि होती है। परंतु यदि वृद्धिकाल समाप्त हो चुका रहता है तो पीयूषिका की अतिशय क्रियाशीलता का परिणाम ऐक्रोमेगैली नामक दशा होती है, जिसमें मुख अँगुलियों, कंठ आदि में सूजन आ जाती है।

अग्रिम खंडिका के अर्बुद (ट्यूमर) से कशिंग का रोग उत्पन्न होता है। पीयूषिका के क्रियाह्रास से मैथुनी असमर्थता, शिशुता (इनफैंटाइलिज्म), शरीर में वसा की अतिवृद्धि तथा मूत्रबाहुल्य, ये सब दशाएँ उत्पन्न होती हैं। पूर्वखंडिका की क्रिया के अत्यंत ह्रास से रोगी कृश हो जाता है और मैथुनशक्ति नष्ट हो जाती है। इसे साइमंड का रोग कहते हैं।

अधिवृक्क (ऐड्रिनल्स)—ये दो त्रिकोणाकार ग्रंथियाँ हैं जो उदर के भीतर दाहिनी और या बाएँ वृक्क के ऊपरी गोल सिरे पर मुर्गे की कलगी की भाँति स्थित रहती हैं। ग्रंथि में दो भाग होते हैं, एक बाहर का भाग, जो बहिस्था (कॉर्टेक्स) कहलाता है और दूसरा इसके भीतर का अंतस्था (मैडुला)। बहिस्था भाग जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है। लगभग दो दर्जन रासायनिक पदार्थ (रवेदार स्टिरायड्स), इस भाग से पृथक् किए जा चुके हैं। उनमें से कुछ ही शारीरिक क्रियाओं से संबद्ध पाए गए हैं। बहिस्था भाग का विद्युद्विश्लेष्यों (इलेक्ट्रोलाइट्स) के चयापचय और कारबोहाइड्रेट के चयापचय से घनिष्ठ संबंध है। वृक्कों की क्रिया, शारीरिक वृद्धि, सहनशक्ति, रक्तचाप और पेशियों का संकोच, ये सब बहुत कुछ बहिस्था भाग पर निर्भर हैं। इस भाग में जो हार्मोन बनते हैं उनमें कार्टिसोन, हाइड्रोकार्टिसोन, प्रेडनीसोन और प्रेडनीसोलोन का प्रयोग चिकित्सा में बहुत किया जाता है। बहुत से रोगों में उनका अद्भुत प्रभाव पाया गया है और रोगियों की जीवनरक्षा हुई है। विशेष बात यह है कि ये हार्मोन अंतःस्रावी ग्रंथियों के रोगों के अतिरिक्त कई अन्य रोगों में भी अत्यंत उपयोगी पाए गए हैं। कहा जाता है कि यदि क्षयजन्य मस्तिष्कावरणार्ति (ट्यूबर्क्युलर मेनिन्जाइटिस) की चिकित्सा में अन्य ओषधियों के साथ कार्टिसोन का भी प्रयोग किया जाए तो लाभ या रोगमुक्ति निश्चित है।

मध्यस्था भाग जीवन के लिये अनिवार्य नहीं है। उसमें ऐड्रिनैलिन तथा नौर ऐड्रिनैलिन नामक हारमोन बनते हैं।

बहिस्था की अतिक्रिया से पुरुषों में स्त्रीत्व के से लक्षण प्रगट हो जाते हैं। उसकी क्रिया के ह्रास का परिणाम ऐडीसन का रोग होता है जिसमें रक्तदाब का कम हो जाना, दुर्बलता, दस्त आना और त्वचा में रंग के कणों का एकत्र होना विशेष लक्षण होते हैं।

अवटुका ग्रंथि (थाइरॉयड)—यह ग्रंथि गले में श्वासनाल पर टेंटुवे से नीचे घोड़े की काठी के समान स्थित है। इसके दोनों खंड नाल के दोनों ओर रहते हैं और बीच का, उन दोनों का जोड़नेवाला, भाग नाल के सामने रहता है। इस ग्रंथि में थाइरॉक्सीन नामक हारमोन बनता है। इसको प्रयोगशालाओं में भी तैयार किया गया है। इसका स्राव पीयूषिका के अवटुकापोषक हारमोन द्वारा नियंत्रित रहता है। यह वस्तु मौलिक चयापचय गति (बेसल मेटाबोलिक रेट, बी०एम०आर०), नाड़ीगति तथा रक्तदाब को बढ़ाती है। इस ग्रंथि की अतिक्रिया से मौलिक चयापचय गति तथा नाड़ी की गति बढ़ जाती है। हृदय की धड़कन भी बढ़ जाती है। नेत्र बाहर निकलते हुए से दिखाई पड़ते हैं। ग्रंथि में रक्त का संचार अधिक हो जाता है। ग्रंथि की क्रिया के कम होने से बालकों में वामनता (क्रेटिनिज्म) की और अधिक आयुवालों में मिक्सोडीमा की दशा उत्पन्न हो जाती है। वामनता में शरीर की वृद्धि नहीं होती। १८–२० वर्ष का व्यक्ति सात आठ वर्ष का सा दिखाई पड़ता है। बुद्धि का विकास भी नहीं होता। पेट आगे को बढ़ा हुआ, मुख खुला हुआ और उसमें से लार चूती हुई तथा बुद्धि मंद रहती है। मिक्सोडीमा में हाथ तथा मुख पर वसा (चर्बी) एकत्र हो जाती है, आकृति भारी या मोटी दिखाई देती है। ग्रंथि के सत्व (एक्सट्रैक्ट) खिलाने से ये दशाएँ दूर हो जाती हैं।

उपावटुका (पैराथाइरॉयड)—ये चार छोटी छोटी ग्रंथियाँ होती हैं। अवटुकाग्रंथि के प्रत्येक खंड के पृष्ठ पर ऊपर और नीचे के ध्रुवों के पास एक एक ग्रंथि स्थित रहती है और उससे उसका निकट संबंध रहता है। इन ग्रंथियों का हारमोन कैल्सियम के चयापचय का नियंत्रण करता है। कैल्सियम के स्वांगीकरण के लिये यह हारमोन आवश्यक है। इसकी अतिक्रिया से कैल्सियम, फास्फेट के रूप में, मूत्र द्वारा अधिक मात्रा में निकलने लगता है जिससे अस्थियाँ विकृत हो जाती हैं और ऑस्टिआइटिस फाइब्रोसा नामक रोग हो जाता है। इसकी क्रिया कम होने पर टेटैनी रोग होता है।

प्रजनन ग्रंथियाँ—प्रजनन ग्रंथियाँ दो हैं, अंडग्रंथि (टेस्टीज) और डिंबग्रंथि (ओवेरी)। पहली ग्रंथि पुरुष में होती है और दूसरी स्त्री में।

अंडग्रंथि—अंडकोष में दोनों ओर एक एक ग्रंथि होती है। इस ग्रंथि की मुख्य क्रिया शुक्राणु उत्पन्न करना है जिससे संतानोत्पत्ति हो और वंश की रक्षा हो। ये वीर्य के साथ एक वाहिनी नलिका द्वारा ग्रंथि से बाहर निकलकर और स्त्री के डिंब से मिलकर गर्भोत्पत्ति करते हैं। इसी ग्रंथि में एक दूसरा अंतःस्राव बनता है जो टेस्टॉस्टेरोन कहलाता है। यह स्राव सीधा शरीर में व्याप्त हो जाता है, बाहर नहीं आता। यह शुक्राणु की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। पुरुष में पुरुषत्व के लक्षण यही उत्पन्न करता है। पुरुष की जननेंद्रियों की वृद्धि इसी पर निर्भर रहती है। पीयूषिका के अग्रखंड में का स्राव इस हारमोन की उत्पत्ति को बढ़ाता है।

डिंबग्रंथि—डिंबग्रंथियाँ स्त्रियों के उदर के निचले भाग में, जिसे श्रोणि कहते हैं, होती हैं। प्रत्येक ओर एक ग्रंथि होती है। उनका मुख्य कार्य डिंब उत्पन्न करना है। डिंब और शुक्राणु के संयोग से गर्भ की स्थापना होती है। इसमें से जो अंतःस्राव बनता है वह स्त्रियों में स्त्रीत्व के लक्षण उत्पन्न करता है। स्त्रियों के रजोधर्म का भी यही कारण होता है। किंतु यह क्रिया निश्चित कालांतर में होती है, समय आने पर ग्रंथि तथा अन्य जननेंद्रियों के रूप में तथा उनकी क्रिया में भी अंतर आ जाता है।

लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ—अग्न्याशय ग्रंथि में कोशिकाओं के समूह कई स्थानों में पाए जाते हैं। इन समूहों का वर्णन सबसे पहले लैंगरहैंस ने किया था। इसी कारण ये समूह लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहलाते हैं। यद्यपि इनकी कोशिकाएँ अग्न्याशय ग्रंथि में स्थित होती हैं तो भी स्वयं ग्रंथि की कोशिकाओं से ये आकार तथा रचना में भिन्न होती हैं। इनके द्वारा उत्पन्न हारमोन इंस्यूलीन कहलाता है जो कारबोहाइड्रेट के चयापचय का नियंत्रण करता है। इस हारमोन की कमी से मधुमेह रोग (डायाबिटीज) हो जाता है।

इसी प्रकार अंड तथा अग्न्याशय और कुछ अन्य ग्रंथियों में भी अंतः तथा बहिः दोनों प्रकार के स्राव बनते हैं।

थाइमस—यह ग्रंथि वक्ष के अग्र अंतराल में स्थित है। युवावस्था के प्रारंभ तक यह ग्रंथि बढ़ती रहती है। उसके पश्चात् इसका ह्रास होने लगता है। इस ग्रंथि की क्रिया अभी तक नहीं ज्ञात हो सकी है। (विशेष द्र० 'हारमोन')। (शि० श० मि०)

अंत्यज 'अंत्य' का मूल भौगोलिक अर्थ सीमापरवर्ती (दिशामन्त = दिशा का अंत, बृहदारण्यक उप० १।३।१०) था। सीमा के बाहर रहनेवाला को 'अंत्यज' कहा जाता था। इसका अंत्यावसायी, बाह्य तथा निर्वसित भी कहते थे। अंत्यज का सामान्य अर्थ है ऐसे लोग अथवा जनसमूह जो आर्य बस्तियों की सीमा के बाहर रहते थे और संस्कृति अथवा जाति में भी भिन्न होते थे। अधिकांश में जंगली और पर्वतीय जातियाँ इनमें सम्मिलित थीं। जब धीरे धीरे वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना हो गई तब बहुत सी ऐसी जातियाँ जो इस व्यवस्था के अंतर्गत नहीं आईं, वे चतुर्थ और अंतिम वर्ण शूद्र के भी परे अंत्यज मानी जाने लगीं। इनमें पड़ोसी विदेशियों (म्लेच्छ), चांडाल, पौल्कस, विदलकार, आदि की गणना थी। कुछ शास्त्रकारों ने इनमें क्षत्ति, वैदेहिक, मागध और आयोगव आदि वर्णसंकर जातियों को भी समाविष्ट किया है (अंगिरस्, याज्ञ० ३।२६५ पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत)। कहीं कहीं उनको पंचम वर्ण भी माना गया है। परंतु कुछ स्मृतियों ने दृढ़ता के साथ कहा है कि पंचम वर्ण हो ही नहीं सकता (चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति पंचमः। मनु० १०।४), अंत्यज के समाजीकरण का क्रम था अतिशूद्र, शूद्र और सच्छूद्र। अंत्यजों के साथ सवर्णों के भोजन, विवाह आदि सामाजिक संबंध निषिद्ध थे। वास्तव में अंत्यज की परिगणना

विभिन्न स्तर की जातियों और समूहों के संमिश्रण की प्राथमिक अवस्था थी। परस्पर संपर्क, व्यवहार एवं संबंध से यह अवस्था प्रायः लुप्त हो रही है। शिक्षा, व्यवसाय तथा उन्नयन की समान सुविधा एवं विधिक मान्यता से इस अवस्था का अंत निश्चित है। अन्त्यज की कल्पना केवल भारत में ही नहीं पाई जाती। आज भी यह अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में अपने उग्र रूप में वर्तमान है, यद्यपि इसके विरुद्ध वहाँ भी आंदोलन चल रहे हैं (द्र० 'अस्पृश्य')। (रा० ब० पा०)

अंत्याक्षरी प्राचीन काल से चला आता स्मरणशक्ति का परिचायक एक खेल जिसमें कहे हुए श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर को लेकर दूसरा व्यक्ति उसी अक्षर से आरंभ होनेवाला श्लोक या पद्य कहता है, जिसके उत्तर में फिर पहला व्यक्ति दूसरे के कहे श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला श्लोक या पद्य कहता है। इसी प्रकार यह खेल चलता है और जब अपेक्षित व्यक्ति की स्मरणशक्ति जवाब दे जाती है और उससे पद्यमय उत्तर नहीं बन पाता तब उसकी हार मान ली जाती है। यह खेल दो से अधिक व्यक्तियों के बीच भी वृत्ताकार रूप में खेला जाता है। विद्यार्थियों में यह आज भी प्रचलित है और अनेक संस्थाओं में तो इसकी प्रतियोगिता का आयोजन भी होता है। अंत्याक्षरी के उदाहरणार्थ 'रामचरितमानस' से तीन चौपाइयाँ नीचे दी जाती हैं जिनमें अगली चौपाई पिछली के अंत्याक्षर से आरंभ होती है :

बोले गर्महि देइ निहोरा। बचौ बिचारि बंधु लघु तोरा॥
रामचरितमानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइअ बिश्रामा॥
मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समय समुझि मन माहीं॥

(भ० श० उ०)

अंत्याधार (अबटमेंट) पुल के छोरों पर ईंट, सीमेंट आदि की बनी उन भारी संरचनाओं को कहते हैं जो पुलों की दाब या प्रतिक्रिया सहन करती हैं। बहुधा चारों ओर दीवारें बनाकर बीच में मिट्टी भर दी जाती है। ऊर्ध्वाधर भार सहन के अतिरिक्त अंत्याधार पुल को आगे पीछे खिसकने से और एक बगल बोझ पड़ने पर पुल को ऐंठने की प्रवृत्ति को भी रोकते हैं। ईंटें चुनकर, या सादे कंक्रीट से, या इस्पात की छड़ों से सुदृढ़ किए (रिइन्फोर्स्ड) कंक्रीट से ये बनते हैं। अंत्याधार कई प्रकार के होते हैं, जैसे सादे अंत्याधार, सुदृढ़ की गई कंक्रीट की दीवारें, सुदृढ़ किए गए सीमेंट के पुश्ते (काउंटरफोर्ट रिटेनिंग वाल्स) और सुदृढ़ किए गए सीमेंट के कोष्ठमय खोखले अंत्याधार (सेलुलर हालो अबटमेंट)। बगली दीवारें (विंग वाल्स) और जवाबी दीवारें (रिटर्न वाल्स) कभी अलग बना दी जाती हैं, कभी अंत्याधार से जुड़ी हुई बनाई जाती हैं। संरचना को इतना भारी और दृढ़ होना चाहिए कि पुल की दाब से वह उलट न जाय और ऐसा न हो कि वह अपनी नींव पर या बीच के किसी रद्दे पर खिसक जाय। ध्यान रखना चाहिए कि संरचना अथवा नींव के किसी भी स्थान पर महत्तम स्वीकृत बल से अधिक बल न पड़े। दाब आदि की गणना करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पुल पर आती जाती गाड़ियों के कारण बल कितना अधिक बढ़ जायगा। जहाँ अगल बगल पक्की दीवारें बनाकर बीच में मिट्टी भरी जाती है, वहाँ ऐसा विश्वास किया जाता है कि लगभग १० फुट लंबी सुदृढ़ किए कंक्रीट की पाटन (स्लैब) डाल देने से मिट्टी के खिसकने का डर नहीं रहता। अगल बगल की दीवारों पर सूराख (छेद) छोड़ देने चाहिए जिससे मिट्टी में घुसे पानी को बहने का मार्ग मिल जाय और इस प्रकार मिट्टी की दाब के साथ पानी की अतिरिक्त दाब दीवारों पर न पड़े। साधारणतः समझा जाता है कि दीवार के किसी बिंदु पर तनाव नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि वे केवल संपीडनजनित बल ही संभाल सकती हैं, परंतु यदि सुदृढ़ीकृत कंक्रीट से तनाव सह सकनेवाली ऐसी दीवार बनाई जाय जिसमें संपीडनजनित बल को केवल कंक्रीट (न कि उसमें पड़ा इस्पात) अपनी पूरी सीमा तक सहन करता है, तो खर्च कम पड़ता है।

अंत्याधार की दीवारों की परिकल्पना (डिजाइन) में या तो यह माना जाता है कि ऊपर उनका पुल का पाट सँभाले हुए है और नीचे नींव, या यह माना जाता है कि वे तोड़ा (कैंटिलीवर) हैं। बड़े पुलों के भारी अंत्याधारों की परिकल्पना स्थिर करने के पहले वहाँ की मिट्टी की जाँच सावधानी से करनी चाहिए। यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो खूँटे (पाइल) या कूप (खोखले खंभे) गाड़कर उनपर नींव रखनी चाहिए।

पुल बनाने में अंत्याधारों पर भी बहुत खर्च हो जाता है। इस खर्च को कम करने के लिये निम्नलिखित उपायों का उपयोग किया जा सकता है :

(क) पुल पर आनेवाली सड़क की मिट्टी पुल के इतने पास तक डाली जाय कि पुल का अंतिम पाया मिट्टी में डूब जाय और फिर वहाँ से भराव ढालू होता हुआ नदीतल तक पहुँचे। ढालू भराव ढोंके या गिट्टी का हो, या कम से कम ढोंके और गिट्टी की तह से सुरक्षित हो और भूमि के पास नाटी दीवार (टो वाल) बनाई जाय।

(ख) पुल के अंतिम बयाँग (स्पैन) बहुत छोटे हों, जिससे उनको सँभालने के लिये छिछले अंत्याधारों की आवश्यकता पड़े।

यहाँ उन अंत्याधारों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा जो पुलों के तोड़ेदार छोरों (कैंटिलीवर एंड्स) को स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होते हैं, या झूला पुलों को दृढ़ करनेवाले गर्डरों के सिरों को स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होते हैं।

पुलों के पायों में से बीच में पड़नेवाले उन पायों को अंत्याधार पाया कहते हैं जो आसपास के बयाँगों के भारों को सँभाल सकने के अतिरिक्त केवल एक ओर के बयाँग के कुल अचल बोझ को पूर्णतया सँभाल सकते हैं। मेहराबों से बने पुलों में साधारणतः प्रत्येक चौथा या पाँचवाँ पाया अंत्याधार पाया मानकर अधिक दृढ़ बनाया जाता है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि एक बयाँग के टूटने पर सारा पुल ही न टूट जाय। (सी० बा० जो०)

अंत्येष्टि द्र० 'संस्कार'।

अंदाल का जन्म विक्रम सं० ७७० में हुआ था। अपने समय की यह प्रसिद्ध आलवार संत थीं। इनकी भक्ति की तुलना राजस्थान की प्रख्यात कृष्णभक्त कवयित्री मीरा से की जाती है। प्रसिद्धि है कि वयस्क होने पर भगवान् श्रीरंगनाथ के लिये जो माला यह गूँथतीं, भगवान् को पहनाने के पूर्व उसे स्वयं पहन लेतीं और दर्पण के सामने जाकर भगवान् से पूछतीं, 'प्रभु, मेरे इस शृंगार को ग्रहण कर लोगे ?' तत्पश्चात् उक्त उच्छिष्ट माला भगवान् को पहनाया करतीं। विश्वास है कि इन्होंने अपना विवाह श्रीरंगनाथ के साथ रचाया और उसे बड़ी धूमधाम से संपन्न किया। विवाह संस्कार के उपरांत यह मतवाली होकर श्रीरंगनाथ जी की शय्या पर चढ़ गईं और इनके ऐसा करते ही मंदिर में सर्वत्र एक आलोक व्याप्त हो गया। इतना ही नहीं, तत्काल इनके शरीर से भी विद्युत् के समान एक ज्योतिकिरण फूटी और अनेक दर्शकों के देखते देखते यह भगवान् के विग्रह में विलीन हो गईं। इस घटना से संबद्ध विवाहोत्सव अब भी प्रति वर्ष दक्षिण के मंदिरों में मनाया जाता है। (कै० चं० श०)

अंधक (१) कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य, जो पौराणिक कथाओं के अनुसार हजार सिर, हजार भुजाओंवाला, दो हजार आँखों और दो हजार पैरोंवाला था। शक्ति के मद में चूर वह आँख रहते अंधे की भाँति चलता था, इसी कारण उसका नाम अंधक पड़ गया था। स्वर्ग से जब वह पारिजात वृक्ष ला रहा था तब शिव द्वारा वह मारा गया, ऐसी पौराणिक अनुश्रुति है।

(२) क्रोष्टी नामक यादव का पौत्र और युधाजित का पुत्र जो यादवों की अंधक शाखा का पूर्वज तथा प्रतिष्ठाता माना जाता है। जैसे अंधक से अंधकों की शाखा हुई, वैसे ही उसके भाई वृष्णि से वृष्णियों की शाखा चली। इन्हीं वृष्णियों में कालांतर में वार्ष्णेय कृष्ण हुए। महाभारत की परंपरा के अनुसार अंधकों और वृष्णियों के अलग अलग गणराज्य भी थे, फिर दोनों ने मिलकर अपना एक संघराज्य (अंधक-वृष्णि-संघ) स्थापित कर लिया था। (भ० श० उ०)

(३) **अंधक** (अंध्र अथवा आंध्र देश का) ई० पू० तृतीय शताब्दी से ई० पू० प्रथम शताब्दी के बीच प्राचीन आंध्र देश में विकसित होनेवाले १८ बौद्ध निकायों में से एक निकाय है। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उत्तरी भारत से बौद्ध धर्म के लोपोन्मुख होने पर दक्षिण से सद्धर्म का उद्धार होगा। उस समय के निकायों में अंधक निकाय का विशेष प्रामुख्य था।

इसके प्रामुख्य के कारण ही इस सामूहिक नाम में सम्मिलित होनेवाले अन्य निकायों का नाम भी अंधक पड़ गया प्रतीत होता है। वैसे इसके अंतर्गत निम्नलिखित निकायों की गणना की जाती है ---अंधक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक। विनय में शिथिल रहनेवाले तथा अर्हतों की आलोचना करनेवाले भिक्षुओं का महासांघिक कहा गया था। इसमें चैत्यवादियों, स्तूपवादियों और समितीयों का विशेष प्रामुख्य था। इनके प्रभाव में विकसित होनेवाले अंधकों और वैपुल्यवादियों का विकास हुआ। इन दोनों के बहुत से विचार एवं सिद्धांत समान थे। कथावत्थु नामक बौद्ध ग्रंथ में महावंश में वर्णित उपर्युक्त अंधक निकायों और वैपुल्यवादियों की आलोचना की गई है। इन्हीं निकायों के सामंजस्य से आगे चलकर प्रथम ईस्वी शताब्दी के आसपास बौद्ध महायान संप्रदाय का विकास हुआ। अंधक निकायों का मुख्य केंद्र आधुनिक गुंटूर जिले का वर्तमान धरणीकोट नामक स्थान था। विनयपिटक के एक स्थल पर वर्णन मिलता है कि पिलिंदवच्छ की इच्छाशक्ति के प्रभाव से राजा का महल सोने का हो गया। इस प्रकार के चमत्कार को देखकर अंधकगणों ने यह विश्वास किया कि इच्छामात्र से सदैव और सब जगह ऋद्धियों की उपलब्धि एवं प्रकाश संभव है। ऋद्धियों में विश्वास करनेवाले अंधकगण बुद्ध को लोकोत्तर मानते थे और यह भी विश्वास करते थे कि बुद्ध मनुष्य लोक में आकर नहीं ठहरे और न बुद्ध ने धर्म का उपदेश ही किया। वैपुल्यवादियों से अंधकों के बहुत से विचार मिलते थे जैसे किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन की अनुज्ञा। इसमें अंधक और वैपुल्य निकायों का महायान और परवर्ती विकासों की दृष्टि से महत्व आंका जा सकता है। (ना० ना० उ०)

अंधता या अंधापन देख न सकने की दशा का नाम है। जो बालक अपनी पुस्तक के अक्षर नहीं देख सकता, वह इस दशा से ग्रस्त कहा जा सकता है। दृष्टिहीनता भी इसी का नाम है। प्रकाश का अनुभव कर सकने की अशक्यता से लेकर ऐसे कार्य करने तक की अशक्यता जो देखे बिना नहीं किए जा सकते, अंधता कही जाती है।

कारण---इस दशा के निम्नलिखित विशेष कारण होते हैं (१) पलकों में रोहे या कुकरे (ट्रैकोमा), (२) चेचक या माता, (३) पोषणहीनता (न्यूट्रिशनल डेफीशिएन्सी), (४) गुप्त रोग, जैसे प्रमेह (गोनोरिया) और उपदंश (सिफिलिस), (५) समलबाई (ग्लॉकोमा), (६) मोतियाबिंद, और (७) कुष्ठ रोग।

हमारे देश के उत्तरी भागों में, जहाँ धूल की अधिकता के कारण रोहे बहुत होते हैं, यह रोग अधिक पाया जाता है। देशवासियों की आर्थिक दशा भी, बहुत बड़ी सीमा तक, इस रोग के लिये उत्तरदायी है। उपयुक्त और पर्याप्त भोजन न मिलने से नेत्रों में रोग हो जाते हैं जिनका परिणाम अंधता होती है।

(१) **रोहे या कुकरे** (ट्रैकोमा)---यह रोग अति प्राचीन काल से अंधता का विशेष कारण रहा है। हमारे देश के अस्पतालों के नेत्र विभागों में आनेवाले ३२ प्रतिशत अंधता के रोगियों में अंधता का यही कारण पाया जाता है। यह रोग उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार तथा बंगाल में अधिक होता है। विशेषकर गाँवों में स्कूल जानेवाले तथा उनमें भी पूर्व की आयु के बच्चों में यह रोग बहुत रहता है। इसका प्रारंभ बचपन में भी हो जाता है। गरीब व्यक्तियों के रहने की अस्वास्थ्यकर गंदगीयुक्त परिस्थितियाँ रोग उत्पन्न करने में विशेष सहायक होती हैं। इस रोग के उपद्रव रूप में कार्निया (नेत्रगोलक के ऊपरी स्तर) में व्रण (घाव) हो जाता है जो उचित चिकित्सा न होने पर विदार (छेद, पर्फोरेशन) उत्पन्न कर देता है, जिससे आगे चलकर अंधता हो सकती है।

इस रोग का कारण एक वाइरस है जो रोहों से पृथक् किया जा चुका है।

लक्षण और चिह्न---रोहे पलकों के भीतरी पृष्ठों पर हो जाते हैं। प्रत्येक रोहा एक उभरे हुए दाने के समान, लाल, चमकता हुआ, किंतु जीर्ण हो जाने पर कुछ धूसर या श्वेत रंग का होता है। ये गोल या चपटे और छोटे बड़े कई प्रकार के होते हैं। इनका कोई क्रम नहीं होता। इनसे पैनस (अपारदर्शक तंतु) उत्पन्न होकर कार्निया के मध्य की ओर फैलते हैं। इसका कारण रोगोत्पादक वाइरस का प्रसार है। यह दशा प्राय कार्निया के ऊपरी अर्धभाग में अधिक उत्पन्न होती है।

रोग के सामान्य लक्षण---पलकों के भीतर खुजली और दाह होना, नेत्रों से पानी निकलते रहना, प्रकाशासह्यता और पीड़ा इसके साधारण लक्षण हैं। संभव है, आरंभ में कोई भी लक्षण न हो, किंतु कुछ समय पश्चात् उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पलक मोटे पड़ जाते हैं। पलकों को उलटकर देखने से उनपर रोहे दिखाई देते हैं।

अवस्थाएँ---इस रोग की चार अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में श्लेष्मिक कला (कंजक्टाइवा) एक समान शोथयुक्त और लाल मखमल के समान दिखाई पड़ती है, दूसरी अवस्था में रोहे बन जाते हैं। तीसरी अवस्था में रोहों के अंकुर जाते रहते हैं और उनके स्थान में तांत्विक धातु बनकर कला में सिकुड़न पड़ जाती है। चौथी और अंतिम अवस्था में उपद्रव (काम्प्लिकेशन) उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका कारण कार्निया में वाइरस का प्रसार और पलकों की कला का सिकुड़ जाना होता है। अन्य रोगों के संक्रमण (सेकंडरी इनफेक्शन) का प्रवेश बहुत सरल है और प्राय सदा ही हो जाता है।

इन रोगों के परिणामस्वरूप श्लेष्मकला (कंजक्टाइवा), कार्निया तथा पलकों में निम्नलिखित दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं (१) परवाल (एंट्रॉपियन, ट्रिकिएसिस)---इसमें ऊपरी पलक का उपास्थिपट्ट (टार्सस) भीतर को मुड़ जाता है, इससे पलकों के बाल भीतर की ओर मुड़कर नेत्रगोलक तथा कार्निया को रगड़ने लगते हैं जिससे कार्निया पर व्रण बन जाते हैं, (२) एक्ट्रोपियन---इसमें पलक की छोर बाहर मुड़ जाती है। यह प्राय नीचे की पलक में होता है (३) कार्निया के व्रणों के अच्छे होने में बने तंतु तथा पैनस के कारण कार्निया अपारदर्शी (अपेक) हो जाती है, (४) कार्निया के व्रणों का विदार, (५) स्टैफीलोमा हो जा सकती है, जिसमें कार्निया बाहर उभड़ आती है, इसमें आंशिक या पूर्ण अंधता उत्पन्न हो सकती है, (६) जीरोसिस, जिसमें श्लेष्मकला संकुचित और शुष्क हो जाती है एवं उसपर शल्क से बनने लगते हैं, (७) पक्ष्मपात (टासिस), जिसमें पेशीसूत्रों के आक्रांत होने से ऊपर की पलक नीचे झुक आती है और ऊपर नहीं उठ पाती, जिससे नेत्र बंद सा दिखाई पड़ता है।

हेतुकी (ईटियोलॉजी)---रोहे का संक्रमण रोगग्रस्त बालक या व्यक्ति से अँगुली, अथवा तौलिया, रूमाल आदि वस्त्रों द्वारा स्वस्थ व्यक्ति में पहुँचकर उसको रोगग्रस्त कर देता है। अस्वच्छता, अस्वस्थ परिस्थितियों तथा बलवर्धक भोजन के अभाव से रोगोत्पत्ति में सहायता मिलती है। रोग फैलाने में धूल विशेष सहायक मानी जाती है। इस कारण गाँवों में यह रोग अधिक होता है। उपयुक्त चिकित्सा का अभाव रोग के भयंकर परिणामों का बहुत कुछ उत्तरदायी है।

चिकित्सा---ओषधियों और शस्त्रकर्म दोनों प्रकार से चिकित्सा की जाती है। ओषधियों में ये मुख्य हैं (१) सल्फोनेमाइड की ६ से ८ टिकिया प्रति दिन खाने को। प्रतिजीवी (ऐंटिबायॉटिक्स) ओषधियों का नेत्र में प्रयोग, नेत्र में डालने के लिये बूँदों के रूप में तथा लगाने के लिये मरहम के रूप में, जिसकी क्रिया अधिक समय तक होती रहती है।

पेनिसिलीन से इस रोग में कोई लाभ नहीं होता, हाँ, अन्य संक्रमण उससे अवश्य नष्ट हो जाते हैं। इस रोग के लिये ऑरियोमायसीन, टेरामायसीन, क्लोरमायसिटीन आदि का बहुत प्रयोग होता है। हमारे अनुभव में सल्फासिटेमाइड और नियोमायसीन दोनों को मिलाकर प्रयोग करने से संतोषजनक परिणाम होते हैं। आईमाइड-मायसिटीन को, जो इन दोनों का योग है, दिन में चार बार, छह से आठ सप्ताह तक, लगाना चाहिए। साथ ही जल में बोरिक एसिड, जिंक और एड्रिनेलीन के घोल की बूँदें नेत्र में डालते रहना चाहिए। यदि कार्निया का व्रण भी हो तो इनके साथ ऐट्रोपीन की बूँदें भी दिन में दो बार डालना और बोरिक घोल से नेत्र को धोना तथा ऊष्म सेंक करना उचित है।

शस्त्रोपचार---शस्त्रोपचार केवल उस अवस्था में करना होता है जब उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ नहीं होता।

श्लेष्मकला को एनीथीन से चेतनाहीन करके प्रत्येक रोहे को एक चिमटी (फॉरसेप्स) से दबाकर फोड़ा जाता है। इस विधि का बहुत समय से प्रयोग होता आ रहा है और यह उपयोगी भी है। श्लेष्मकला का छेदन

केवल दीर्घकालीन रोग में कभी कभी किया जाता है। एंट्रोपियन, एक्ट्रोपियन और कार्निया की श्वेताकता की चिकित्सा भी शस्त्र कर्म द्वारा की जाती है। श्वेताक जब मध्यस्थ या इतना विस्तृत होता है कि उसके कारण दृष्टि रुक जाती है तो कार्निया में एक ओर छेदन करके उसमें से आइरिस के भाग को बाहर खींचकर काट दिया जाता है, जिससे प्रकाश के भीतर जाने का मार्ग बन जाता है। इस कर्म को ऑप्टिकल आइरिडेक्टामी कहते है।

पैनस के लिये विटामिन-बी$_2$ (राइबोफ्लेवीन) १० मिलीग्राम अंत-पेशीय मार्ग से छह या सात दिन तक नित्यप्रति देना चाहिए। नेत्र को प्रक्षालन द्वारा स्वच्छ रखना आवश्यक है।

(२) **नवजात शिशु का अक्षिकोप** (ऑफ्थैल्मिया नियोनाटोरम)—इस रोग का कारण यह है कि जन्म के अवसर पर माता के संक्रमित जनन-मार्ग द्वारा शिशु का सिर निकलते समय उसके नेत्रों में संक्रमण पहुँच जाता है और तब जीवाणु श्लेष्मकला में शोथ उत्पन्न कर देते है। इस रोग के कारण हमारे देशवासियों की बहुत बड़ी संख्या जन्म भर के लिये आँखो से हाथ धो बैठती है। यह अनुमान लगाया गया है कि २० प्रतिशत व्यक्तियों में गोनोकोक्कस, ३० प्रतिशत में स्टैफिलो या स्ट्रेप्टोकोक्कस और शेष में बैसिलस तथा वाइरस के संक्रमण से रोग उत्पन्न होता है। पिछले दस वर्षों में यह रोग पेनिसिलीन और सल्फानमाइडों के प्रयोग के कारण बहुत कम हो गया है।

लक्षण—जन्म के तीन दिन के भीतर नेत्र सूज जाते है और पलकों के बीच से श्वेत मटमैले रंग का गाढ़ा स्राव निकलने लगता है। यदि यह स्राव चौथे दिन के पश्चात् निकले तो समझना चाहिए कि संक्रमण जन्म के पश्चात् हुआ है। पलकों के भीतर की ओर से होनेवाले स्राव की एक बूंद शुद्ध की हुई काँच की शलाका से लेकर काँच की स्लाइड पर फैलाकर रंजित करने के पश्चात् सूक्ष्मदर्शी द्वारा उसकी परीक्षा करवानी चाहिए। किंतु परीक्षा का परिणाम जानने तक चिकित्सा को रोकना उचित नहीं है। चिकित्सा तुरंत प्रारंभ कर देनी चाहिए।

प्रतिषेध तथा चिकित्सा—रोग को रोकने के लिये जन्म के पश्चात् ही बाह्य लोचन से नेत्रों को स्वच्छ करके उनमें पेनिसिलीन के एक सी० सी० में २,५०० एककों (यूनिटों) के घोल की बूंदें डाली जाती है। यह चिकित्सा इतनी सफल हुई है कि सिल्वर नाइट्रेट का दो प्रतिशत घोल डालने की पुरानी प्रथा अब बिलकुल उठ गई है। पेनिसिलीन की क्रिया सल्फा-नमाइडों से भी तीव्र होती है।

चिकित्सा भी पेनिसिलीन से ही की जाती है। पेनिसिलीन के उपर्युक्त शक्ति के घोल की बूंदें प्रति चार या पाँच मिनट पर नेत्रों में तब तक डाली जाती है जब तक स्राव निकलना बंद नहीं हो जाता। एक से तीन घंटे में स्राव बंद हो जाता है। दूसरी विधि यह है कि १५ मिनट तक एक एक मिनट पर बूंदें डाली जाय और फिर दो दो मिनट पर, तो आधे घंटे में स्राव निकलना रुक जाता है। फिर दो तीन दिनों तक अधिक अंतर से बूंदें डालते रहते है। यदि कार्निया में व्रण हो जाय तो एट्रोपीन का भी प्रयोग आवश्यक है।

(३) **चेचक** (बड़ी माता, स्मॉल पॉक्स) इस रोग में कार्निया पर चेचक के दाने उभर आते है, जिससे वहाँ व्रण बन जाता है। फिर वे दाने फूट जाते है जिससे अनेक उपद्रव उत्पन्न हो सकते है। इनका परिणाम अंधता होता है।

दो बार चेचक का टीका लगवाना रोग से बचने का प्रायः निश्चित उपाय है। कितनी ही चिकित्सा की जाय, इतना लाभ नहीं हो सकता।

(४) **किरेटोमैलेशिया**—यह रोग विटामिन ए की कमी से उत्पन्न होता है। इस कारण निर्धन और अस्वच्छ वातावरण में रहनेवाले व्यक्तियों को यह अधिक होता है। हमारे देश में यह रोग भी अंधता का विशेष कारण है।

यह रोग बच्चों को प्रथम दो वर्षों तक अधिक होता है। नेत्र की श्लेष्मकला (कंजक्टाइवा) शुष्क हो जाती है। दोनों पलकों के बीच का भाग धुंधला सा हो जाता है और उसपर श्वेत रंग के धब्बे बन जाते है जिन्हें बिटौट के धब्बे कहते है। कार्निया में व्रण हो जाता है जो आगे चलकर विदार में परिवर्तित हो जाता है। इन उपद्रवों के कारण बच्चा अंधा हो जाता है।

ऐसे बच्चों का पालन पोषण प्रायः उत्तमतापूर्वक नहीं होता, जिसके कारण वे अन्य रोगों के भी शिकार हो जाते है और बहुत अधिक संख्या में अपनी जीवनलीला शीघ्र समाप्त कर देते है।

चिकित्सा—नेत्र में विटैमिन ए या पेरोलीन डालकर श्लेष्मिका को स्निग्ध रखना चाहिए। कार्निया में व्रण हो जाने पर एट्रोपीन डालना आवश्यक है।

रोगी की साधारण चिकित्सा अत्यंत आवश्यक है। दूध, मक्खन, फल, शार्क-लिवर या कॉड-लिवर तैल द्वारा रोगी को विटामिन ए प्रचुर मात्रा में देना तथा रोग की तीव्र अवस्थाओं में इंजेक्शन द्वारा विटामिन ए के ५०,००० एकक रोगी के शरीर में प्रति दिन या प्रति दूसरे दिन पहुँचाना इसकी मुख्य चिकित्सा है। रोग के आरंभ में ही यदि पूर्ण चिकित्सा प्रारंभ कर दी जाय तो रोगी के रोगमुक्त होने की अत्यधिक संभावना रहती है।

(५) **कुष्ठ**—हमारे देश में कुष्ठ (लेप्रोसी) उत्तर प्रदेश, बंगाल और मद्रास में अधिक होता है और अभी तक यह भी अंधता का एक विशेष कारण था। किंतु इधर सरकार द्वारा रोग के निदान और चिकित्सा के विशेष आयोजनों के कारण इस रोग में अब बहुत कमी हो गई है और इस प्रकार कुष्ठ के कारण हुए अंधे व्यक्तियों की संख्या घट गई है।

कुष्ठ रोग दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें तंत्रिकाएँ (नर्व) आक्रांत होती है। दूसरा वह जिसमें चर्म के नीचे गुलिकाएँ या छोटी छोटी गाँठें बन जाती है। दोनों प्रकार का रोग अंधता उत्पन्न कर सकता है। पहले प्रकार के रोग में सातवीं या नवीं नाड़ी के आक्रांत होने से ऊपरी पलक की पेशियों की क्रिया नष्ट हो जाती है और पलक बंद नहीं होता। इससे श्लेष्मिका तथा कार्निया का शोथ उत्पन्न होता है, फिर व्रण बनते है। उनके उपद्रवों से अंधता हो जाती है। दूसरे प्रकार के रोग में श्लेष्मिका और श्वेतपटल (स्क्लीरा) में शोथ के लक्षण दिखाई देते है। भौंह के बाल गिर जाते है और उसमें गाँठें सी बन जाती है। कार्निया पर श्वेत चूने के समान बिंदु दिखाई देने लगते है। पैनस भी बन सकता है। कार्निया में भी शोथ (इंटर्स्टिशियल किरैटाइटिस) हो जाता है और आयरिस भी आक्रांत हो जाता है (जिसे आयराइटिस कहते है)। इसके कारण वह अपने सामने तथा पीछे के अवयवों में जुड़ जाता है।

चिकित्सा—कुष्ठ के लिये सल्फोन समूह की विशिष्ट ओषधियाँ है। शारीरिक रोग की चिकित्सा के लिये इनको पूर्ण मात्रा में देना आवश्यक है। साथ ही नेत्ररोग की स्थानिक चिकित्सा भी आवश्यक है। जहाँ भी कार्निया या आयरिस आक्रांत हो वहाँ एट्रोपीन की बूंदों या मरहम का प्रयोग करना अत्यंत आवश्यक है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म भी करना पड़ता है।

(६) **उपदंश** (सिफिलिस)—इस रोग के कारण नेत्रों में अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न हो जाते है, जिनका परिणाम अंधता होती है। निम्नलिखित मुख्य दशाएँ है

क. इंटर्स्टिशियल किरैटाइटिस,
ख. स्क्लीरोज़िंग किरैटाइटिस,
ग. आयराइटिस और आइरोडोसिक्लाइटिस,
घ. सिफिलिटिक कॉरोइडाइटिस,
ङ. सिफिलिटिक रेटिनाइटिस,
च. दृष्टितंत्रिका (ऑप्टिक नर्व) की सिफिलिस। यह दशा निम्न-लिखित रूप ले सकती है
   १. दृष्टिनाड़ी का शोथ (ऑप्टिक न्यूराइटिस)
   २. पपिलो-ईडिमा
   ३. गमा
   ४. प्राथमिक दृष्टिनाडी का क्षय (प्राइमरी ऑप्टिक ऐट्रोफी)

चिकित्सा—सिफिलिस की साधारण चिकित्सा विशेष महत्व की है। (१) पेनिसिलीन इसके लिये विशेष उपयोगी प्रमाणित हुई है। अंतर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा १० लाख एकक प्रति दिन १० दिन तक दी जाती है। (२) इसके पश्चात् आर्सेनिक का योग (एन० ए० बी०) के साप्ताहिक अंत-र्पेशीय इंजेक्शन आठ सप्ताह तक और उनके बीच बीच में बिस्मथ-सोडियम-टारटरेट (बिस्मथ कीम) के साप्ताहिक अंतर्पेशीय इंजेक्शन।

अधो की ब्रेल लिपि मे हिंदी पुस्तक और उसे पढ़ने का ढग

ये अक्षर उभरे बिंदुओ मे बनते है (द्र० पृष्ठ ५६)। चित्र मे साकेत नामक पुस्तक के एक पृष्ठ का एक अंश दिखाया गया है। अगुली के ऊपर की पक्ति मे लिखा है 'क ल प भ ए द ह् र इ च र इ त स उ ह आ य ए। भ आ त इ अ न ए क म उ न ई स न ग आ य ए'', अर्थात् कल्प भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीमन गाये।

अहमदाबाद

दरियाखाँ का मकबरा (पृष्ठ ३१८)।

आम की मजरी जायसवाल स्टूडियो
(द्र० पृष्ठ ३६०)।

आतिशबाजी
(द्र० पृष्ठ ३६३)।

नासीय तथा नेत्र पूर्वी विशल्क होते हैं। इनकी देह पर तीन ग्रंथियाँ बनी होती है।

टिफ्लॉप्स पेड़ों की नीची जगहों में यह अक्सर पाया जाता है इसी से जंतु विज्ञान में इसका नाम 'टिफ्लॉप्स ब्रैमिनस' पड़ा। यह साँप उष्ण कटिबंधीय तथा उपोष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में भी पाया जाता है।

(नि० सि०)

अंधों का प्रशिक्षण और कल्याण जिन व्यक्तियों की दृष्टि बिलकुल नष्ट हो जाती है, या इतनी क्षीण हो जाती है कि वे दृष्टि की सहायता से किए जानेवाले कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं, उनको अंधा कहा जाता है।

संसार के सब देशों की अपेक्षा, केवल मिस्र देश को छोड़, हमारे देश में अधिक अंधे हैं। किंतु शिक्षा, चिकित्सा के साधन तथा स्वच्छता के प्रचार से इस संख्या में कमी हो रही है। जैसा अन्यत्र वर्णित अंधता के कारणों से ज्ञात होगा (द्र० 'अंधता'), ९० प्रतिशत अंधता रोकी जा सकती है। जीवन के स्तर की उन्नति, शिक्षाप्रचार, पौष्टिक आहार, रोहे (कुकरे) नामक रोग की रोकथाम और टीका द्वारा चेचक के उन्मूलन से यह संख्या शीघ्र ही बहुत कम हो सकती है (द्र० 'रोहे')। अंधता कम करने के लिए सरकार की ओर से विशेष आयोजनाएँ की गई हैं। मोतियाबिंद के जो अंधता का सबसे बड़ा कारण है, शस्त्रकर्म के लिये विशेष केंद्र खोले गए हैं। नवीन प्रतिजीवी ओषधियों (ऐंटीबायोटिक्स) के प्रयोग से नेत्रसंरोपण का कार्य भी अब सरल हो गया है। इस प्रकार आशा की जाती है कि शीघ्र ही दृष्टिहीनता की दशा में बहुत कुछ कमी हो जायगी।

अंधों की देखभाल करने तथा उनके जीवन को कष्टरहित और समाज के लिए उपयोगी बनाने का उत्तरदायित्व सरकार पर है। यह दृष्टिहीनों का अधिकार है कि सरकार या समाज की ओर से उनकी देखभाल की जाय, उनको शिक्षित किया जाय, उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी की जायँ और उनको समाज में उपयुक्त स्थान प्राप्त हो, न कि वे समाज की दया के पात्र बने रहें।

पढ़ने और लिखने के लिये केवल ब्रेल विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि को ब्रेल नाम के एक फ्रांसनिवासी ने निकाला और उसी के नाम से यह विधि संसार के सभी देशों में प्रचलित हो गई है। इसमें कागज पर उभरे हुए बिंदु बने रहते हैं जिनको उँगलियों से छूकर बालक पढ़ना सीख जाता है। प्रत्येक अक्षर के लिये बिंदुओं की संख्या अथवा उनका क्रम भिन्न होता है। संसार की सभी भाषाओं में इस प्रकार की पुस्तकें छापी गई हैं जिनके द्वारा अंधे बालकों को शिक्षा दी जाती है। जितना ही शीघ्र शिक्षा का आरंभ किया जा सके, उतना ही उत्तम है। शीघ्र ही बालक उँगलियों से पुस्तक के पृष्ठ पर उभरे हुए बिंदुओं का स्पर्श करके उसी प्रकार पढ़ने लगता है जैसे अन्य बालक नेत्रों से देखकर पढ़ते हैं। ग्रामोफोन के रेकार्डों तथा टेप रेकार्डरों में भी ऐसी पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनका उपयोग अंधे बालकों की शिक्षा के लिये किया जा सकता है।

दृष्टिहीन बालक के लिये औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। उसको स्वावलंबी बनने, अपने पाँवों पर खड़े होने तथा स्वाभिमान उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि उसे किसी ऐसे व्यवसाय की शिक्षा दी जाए जिससे वह अपना जीविकोपार्जन करने में समर्थ हो। अंध संस्थाओं में ऐसी शिक्षा का, विशेषकर बुनने, जाल बनाने, हाथ करघे (हैंडलूम) पर कपड़ा बुनने, चटाई बुनने, दरी बनने, तथा ब्रुश बनाने आदि व्यवसायों की शिक्षा का विशेष प्रबंध रहता है। अंधे टाइपिस्ट का काम भी अच्छा कर लेते हैं, मैनेजर चिट्ठी आदि का टेप रेकार्डर में बोल देता है और तब अंधा टेप रेकार्डर को सुनता चलता और टाइप करता जाता है। विशेष प्रतिभाशाली बालक, शिक्षा में जिनकी विशेष रुचि होती है, कालेज की उच्च शिक्षा प्राप्त करके बड़ी बड़ी डिग्री ले सकते हैं और शिक्षक अथवा वकील बनकर इन व्यवसायों को जीविकोपार्जन का साधन बना सकते हैं। हमारे देश में संगीत दृष्टिहीनों का एक अति प्रिय व्यवसाय है। गायन तथा वाद्य संगीत की उत्तम शिक्षा प्राप्त करके वे संगीतज्ञ बन जाते हैं और यश तथा अर्थ दोनों के भाजन बनते हैं।

व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अंधों को काम पर लगाने का प्रश्न आता है। यह समाजसेवी संस्थाओं का क्षेत्र है। ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिए जो दृष्टिहीन शिक्षित व्यक्तियों को काम पर लगाने में सहायता कर सकें और उनकी बनाई हुई वस्तुओं को बाजार में बिकवाने का प्रबंध कर सकें। जहाँ बड़ी बड़ी मशीनें, भट्टियाँ, खराद या चक्के चलते हों वहाँ तनिक सी भूल से अंधे का जीवन संकट में पड़ सकता है। परंतु खुले हुए कारखानों में, जहाँ चलने फिरने की अधिक स्वतंत्रता रहती है, वे अच्छी प्रकार काम कर सकते हैं। कुछ दृष्टिहीन बड़े मेधावी होते हैं और शिक्षकों, वकीलों, संगीतज्ञों तथा व्यवसायियों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने में सफल होते हैं। किंतु उनको उनके व्यवसाय स्थान तक ले जाने और वहाँ से लाने के लिये किसी सहायक की आवश्यकता होती है। यह काम कुत्तों से लिया जा सकता है। विदेशों में कुत्तों को इस काम के लिये विशेष रूप से तैयार किया जाता है। वे अपने मालिक को नगर के किसी भी भाग में ले जा सकते और निर्विघ्न लौटा ला सकते हैं।

जो व्यक्ति युवा या प्रौढ़ावस्था में अपने नेत्र गँवा देते हैं उनका प्रश्न कुछ भिन्न होता है। प्रथम तो उनको इतना मानसिक क्षोभ होता है कि उससे उबरने और चारों ओर की परिस्थितियों के अनुकूल बनने में बहुत समय लगता है। उनको समाजसेवी संस्थाएँ बहुत सहायता पहुँचा सकती हैं। अंधों को स्वावलंबी बनाने में ये संस्थाएँ बहुत कुछ कर सकती हैं।

जो वृद्धावस्था में नेत्रों से वंचित हो जाते हैं उनका प्रश्न सबसे टेढ़ा है। इस अवस्था में अपने को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाना उनके लिये दुष्कर हो जाता है। जिनके लिये अपने घर पर ही अच्छा प्रबंध नहीं हो सकता उनके लिये समाज और सरकार की ओर से ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिए जहाँ इन वृद्धों को सम्मान और प्रेमसहित, शारीरिक अपूर्णता-जनित कठिनाइयों से मुक्त करके रखा जा सके और अपने जीवन के अंत तक वे संतोष और आत्मीयता का अनुभव कर सकें। जाति, समाज और सरकार सबका यह कर्तव्य है।

(कृ० ना० मा०)

अंध्र, अंध्रभृत्य दक्षिण भारत का प्रसिद्ध राजवंश, जिसका उल्लेख पुराणों—ब्रह्मांड, मत्स्य, विष्णु, वायु, तथा श्रीमद्भागवत—में मिलता है। संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी कहीं कहीं पर अंध्रों का विवरण उपलब्ध है। प्राचीन भौगोलिक तालेमी ने भी पैतनसाई और उसके राज्य का उल्लेख किया है। शिलालेखों और मुद्राओं में सातवाहन और सातकर्णि नाम के राजाओं के नाम मिलते हैं जो पुराणों की अंध्रवंशजों की तालिका से मिलते जुलते हैं। इस आधार पर विद्वानों ने अंध्र, आंध्र, सातकर्णि, शातकर्णि तथा सातवाहन, शातवाहन और शालिवाहन को एक ही वंश के भिन्न भिन्न नाम माने हैं। पुराणों ने इस वंश को अंध्र अथवा अंध्रभृत्य संज्ञा देकर विद्वानों के सम्मुख एक समस्या रख दी है। बार्नेट के मतानुसार इनका आदिस्थान वर्तमान तेलंगाना जिला था। सुकथंकर ने सातवाहनों का मूल स्थान सातहनिहार (बेल्लारी जिला, मैसूर राज्य) माना है। रायचौधरी का कथन है कि सातवाहन सम्राटों के लिये अंध्र वंश का प्रयोग उस समय हुआ जब उत्तरी और पश्चिमी भाग से उनका आधिपत्य जाता रहा।

ऐतरेय ब्राह्मण ने अंध्र, पुंड्र, शबर तथा पुलिंद जातियों को दस्यु श्रेणी में रखा है और उनको विश्वामित्र के परित्यक्त पुत्रों की संतान माना है। दंडी ने 'दशकुमारचरित' में शबरों को विंध्य के जंगलों का निवासी बताया है। अशोक ने अपने १३वें शिलालेख में अंध्रों तथा पुलिंदों का उल्लेख किया है। कलिंग के सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में सातकर्णि द्वारा पश्चिम दिशा में स्थित सातकर्णि के विरुद्ध सेना भेजने का उल्लेख है। इन प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि इस वंश का नाम कृष्णा, गोदावरी के आधार पर नहीं हुआ और न इसका मूल स्थान अंध्र देश या कृष्णा और गोदावरी के मुहाने पर की निम्नभूमि (डेल्टा) था।

पुराणों के मतानुसार अंध्रवंश के सिमुक अथवा शिशुक ने अंतिम काण्व सम्राट् सुशर्मन् का वध कर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इस प्रकार मौर्यों के बाद क्रम से शुंग, काण्व तथा अंध्र राजाओं ने राज किया। इनमें से कोई भी वंश दूसरे का समकालीन नहीं था। मौर्यवंश का अंत ई० पू० १८५ के लगभग हुआ। फिर अन्य दो वंशों ने क्रमश: ११२ और ४५ (योग १५७) वर्षों तक राज किया। इस आधार पर अंध्रवंश के

प्रथम नरेश की तिथि ई० पू० २८ मानी गई है। अन्य विद्वानों ने इसके विपरीत आंध्र वंश के प्रारंभिक राजाओं को अंतिम मौर्य तथा शुंग राजाओं का समकालीन माना है। बारनेट के मतानुसार अशोक की मृत्यु के बाद साम्राज्य में अराजकता फैली और निकटवर्ती राजाओं ने अपने अपने राज्यों की सीमाएँ बढ़ाने का प्रयास किया। उनमें से सिमुक भी एक था और इसने ई० पू० तृतीय शताब्दी के अंतिम भाग में शातवाहन अथवा शातकर्णि वंश की स्थापना की और तेलुगु देश में लगभग पाँच शताब्दियों तक इस वंश ने राज किया। पुराणों के अनुसार इस वंश में ३० राजा हुए और उन्होंने ४५० वर्षों तक राज किया। अभिलेखों में प्रारंभिक सम्राट् सिमुक अथवा शिशुक, उसके भाई कृष्ण तथा पुत्र शातकर्णि और गौतमीपुत्र शातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमायि तथा यज्ञश्री के नाम मिलते हैं। इनके सिक्के भी मिले हैं। खारवेल के हाथीगुफा तथा नानाघाट के लेखों और उनकी लिखावट से प्रतीत होता है कि प्रारंभिक सम्राट् मौर्यकाल के अंतिम समय में रहे होंगे। तीसरा सम्राट् शातकर्णि खारवेल का समकालीन था जिसकी तिथि कुछ विद्वानों ने लगभग ई० पू० १७० रखी है। बाद के तीन सम्राटों की तिथि उषवदात तथा शकक्षत्रप चष्टन और उसके पौत्र रुद्रदामन् के लेखों से ज्ञात होती है। नासिक, कार्ले तथा जूनागढ़ के लेखों से ज्ञात होता है कि ये आंध्र शातवाहन सम्राट् इन क्षत्रपों के केवल समकालीन ही नहीं थे वरन् इनमें संघर्ष भी होता रहा। गौतमीपुत्र ने शक, यवन तथा पह्लवों को हराया और क्षहरातवंश का नाश किया। रुद्रदामन् ने पुलुमायि को हराया। यज्ञश्री ने अपने वंश की खोई प्रतिष्ठा पुन: प्राप्त की। रुद्रदामन् की तिथि ईसवी सन् १५० है। अत: इन तीन सम्राटों को ईसवी सन् ११० से १६० तक के अंतर्गत रख सकते हैं।

इस आंध्रवंश के राजाओं का उल्लेख करते हुए पुराणों में लिखा है कि आंध्रवंश के राज्यकाल में ही उनके भृत्य या कर्मचारीवंश के सात राजा राज करेंगे। ('अंध्राणां संस्थिते वंशे तेषां भृत्यान्वये पुन:, सप्तैवांध्रा भविष्यन्ति दशभीरास्ततो नृपा:।—ब्रह्मांड)। मत्स्य में 'वंशे' के स्थान पर 'राज्ये' पाठ है। कुछ विद्वानों ने आंध्रवंश और आंध्रभृत्यवंश को एक दूसरे से भिन्न माना है। रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के मतानुसार पहले इस वंश के कुमार पाटलिपुत्र सम्राट् के अधीन रहे होंगे, इसीलिये उन्हें 'भृत्य' कहकर संबोधित किया गया। इसके बाद वे स्वतंत्र हो गए। स्मिथ ने अपने इतिहास में आंध्रभृत्य शब्द का प्रयोग ही नहीं किया। रैप्सन ने भी स्पष्ट रूप से अपना मत नहीं प्रगट किया। उनका कथन है कि आंध्रवंश को आंध्रभृत्य और सातवाहन कहकर भी संबोधित किया गया है और चोलनद्रग में मिले सिक्के कदाचित् उनके अधीन राजाओं द्वारा चलाए गए होंगे जिन्होंने यज्ञश्री के बाद पश्चिम और दक्षिण के प्रांतों पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। भंडारकर ने आंध्रभृत्य को कर्मधारय समास मानकर संपूर्ण आंध्र राजाओं को भृत्य श्रेणी में रखा, किंतु अन्य विद्वानों ने इसे तत्पुरुष समझकर आंध्र राजाओं के दो वंश माने—एक आंध्रों का वंश दूसरा उनके भृत्यों का। वास्तव में समस्त आंध्र सम्राटों को भृत्य की श्रेणी में रखना उचित नहीं। पुराणों में काण्ववंश को शुंगभृत्य कहकर संबोधित किया गया है (चत्वार: शुंगभृत्यास्ते काण्वायना द्विजा:—ब्रह्मांड)।

ऐसी परिस्थिति में आंध्रसम्राटों को न तो मौर्य अथवा शुंग सम्राटों का भृत्य ही मान सकते हैं और न इन दोनों वंशों का पृथक् अस्तित्व ही दिखा सकते हैं। पुराणों में आंध्रभृत्य सम्राटों का नाम नहीं मिलता। कृष्णराव के मतानुसार आंध्र राजवंश के पतन के पश्चात् दक्षिणापथ में आभीरों और चुटु कुल के राजाओं ने अपना आधिपत्य जमाया और यह चुटु सम्राट् ही पुराणों में उल्लिखित आंध्रभृत्य हैं (देखिए 'सातवाहन')।

सं० ग्रं०—बारनेट, एल० डी० : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया, खंड १ (दक्षिण भारत का इतिहास संबंधी अध्याय); बारनेट : सातवाहन और शातकर्णि (बी० एस० ओ० एस०, खंड ६, भाग २); बोस, जी० एम० : रिकान्स्ट्रक्टिंग ऑव् आंध्र क्रानालोजी (जे० आर० ए० एस० बी० लेटर्स, खंड ५, १९३९); कृष्णराव : ए हिस्ट्री ऑव दि अर्ली डाइनेस्टीज ऑव आंध्र देश; श्रीनिवास आयंगर, पी० टी० : मिसकसेप्शंस एबाउट दि आंध्राज, आई० ए०, १९१३; सुकथंकर, वी० एस० : होम ऑव् दि आंध्र किंग्स, ऐनल्स ऑव भं० ओ० रि० इं०, खंड १। (बै० पु०)

अंबपाली बुद्धकालीन वैशाली की लिच्छवि गणिका जो बुद्ध के प्रभाव से उनकी शिष्या हुई और जिसने बौद्ध संघ का अनेक प्रकार के दानों से महत् उपकार किया। महात्मा बुद्ध राजगृह जाते या लौटते समय वैशाली में रुके थे जहाँ एक बार उन्होंने अंबपाली का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध के जीवनचरित पर प्रकाश डालनेवाली घटनाओं का जो वर्णन मिलता है उन्हीं में से अंबपाली के संबंध की एक प्रसिद्ध और रुचिकर घटना है। कहते हैं, जब तथागत एक बार वैशाली में ठहरे थे तब जहाँ उन्होंने देवताओं की तरह दीप्यमान लिच्छवि राजपुत्रों की भोजन के लिये प्रार्थना अस्वीकार कर दी वहाँ उन्होंने गणिका अंबपाली की भिक्षा से प्रसन्न होकर उसका आतिथ्य स्वीकार किया। इससे गर्विणी अंबपाली ने उन राजपुत्रों को लज्जित करते हुए अपने रथ को उनके रथ के बराबर हाँका। उसने संघ को अपना आम्रवन अथवा बगीचा भी दान कर दिया था जिसमें रहकर भिक्षु चौमासा बिता सकें।

इसमें संदेह नहीं कि अंबपाली ऐतिहासिक व्यक्ति थी, यद्यपि कथा के चमत्कारों ने उसे असाधारण बना दिया है। संभवत: वह अभिजातकुलीना थी और इतनी सुंदरी थी कि लिच्छवियों की परंपरा के अनुसार उसके पिता को उसे सर्वभोग्या बनाना पड़ा। संभवत: उसने गणिका जीवन भी बिताया था और उसके कृपापात्रों में शायद मगध का राजा बिंबिसार भी था। बिंबिसार का उससे एक पुत्र होना भी बताया जाता है। जो भी हो, बाद में अंबपाली बुद्ध और उनके संघ की अनन्य उपासिका हो गई थी और उसने अपने पाप के जीवन से मुख मोड़कर अर्हत् का जीवन बिताना स्वीकार किया। (ओ० ना० उ०)

अंबर (वर्तमान आमेर) राजस्थान की एक प्राचीन विध्वस्त नगरी है जो १७२८ ई० तक अंबर राज्य की राजधानी थी। यह राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर के उत्तर लगभग पाँच मील की दूरी पर स्थित है। इसके पुराने इतिहास का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कहा जाता है, इस नगरी की स्थापना मीनाओं द्वारा हुई थी। ९६७ ई० में यह बहुत समृद्धिशाली थी। मीनाओं ने सुरक्षा की दृष्टि से इस स्थान को उन विपत्तियों के दिनों में बड़ी बुद्धिमानी से चुना था। यह नगरी अरावली की एक घाटी में बसी है जो लगभग चारों ओर से पर्वतों द्वारा घिरी हुई है। कई दिनों की लड़ाई के पश्चात् राजपूतों ने इसे १०३७ ई० में मीनाओं के राजा से जीत लिया और अपनी शक्ति का यहाँ केंद्रित किया। तभी से यह राजपूतों की राजधानी बनी और राज्य का नाम भी अंबर राज्य पड़ा। १७२८ में जब इस राज्य की सत्ता सवाई जयसिंह द्वितीय के हाथ में गई, तो उन्होंने राजधानी को जयपुर में स्थानांतरित किया और इस कारण तब से अंबर की प्रसिद्धि घटती गई।

अंबर का प्राकृतिक सौंदर्य बहुत ही उच्च कोटि का है। दर्शनीय स्थानों में राजमहलों का प्रासाद सुविख्यात है। इस प्रासाद को १६०० ई० में राजा मानसिंह ने बनवाया था। इसकी ऊँची मंजिल से चारों ओर का दृश्य अवर्णनीय रम्य चित्र उपस्थित करता है। यहाँ का दीवानआम भी दर्शनीय भवन है। इसे मिर्जा राजा जयसिंह ने बनवाया था। इसके खंभों की शिल्पकला इतिहासप्रसिद्ध है।

वर्तमान अंबर नगरी में कुछ पुराने आकर्षक ऐतिहासिक खंडहरों के अतिरिक्त और कुछ उल्लेखनीय नहीं है। यह नगरी इस समय लगभग उजाड़ हो चुकी है। बड़ी बड़ी इमारतें ध्वंसोन्मुख हैं और काल के कराल ग्रास में इतिहासप्रसिद्ध अंबर अब प्राय: एक स्मृति मात्र रह गई है। अंबर में नगरपालिका है। (पि० गु०)

अंबरनाथ (अथवा अमरनाथ) महाराष्ट्र राज्य के थाना जिले के कल्याण तालुका का एक नगर है (१९° १२' ३० उ० अ० तथा ७३° १०' पू० दे०) जो बंबई नगर से ३८ मील की दूरी पर स्थित है। यह मध्य रेलवे का एक स्टेशन भी है जो नगर से लगभग एक मील पूर्व दिशा में स्थित है। यहाँ से एक मील से भी कम की दूरी पर पूर्व की ओर एक प्राचीन हिंदू देवालय है जो प्राचीन हिंदू शिल्पविद्या का एक ज्वलंत उदाहरण है। परंतु अब यह खंडहर सा हो गया है। इसके अंतर्गत १०६० ई० का एक प्राचीन शिलालेख पाया गया है। यहाँ की मुख्य मूर्तियों में एक त्रिमस्तकी

मूर्ति, जिसके घुटनों पर एक नारी भी उपविष्ट है, मुख्य है। संभवत यह मूर्ति शिव पार्वती को निरूपित करने के हेतु निर्मित की गई थी। यहाँ पर माघ मास (फरवरी-मार्च) में शिवरात्रि के पर्व पर एक मेला लगता है। यहाँ पर दियासलाई का एक कारखाना भी है। क्षेत्रफल २६ वर्ग मील है। (न० ला०)

अंबरीष इक्ष्वाकु से २८वीं पीढ़ी में हुआ अयोध्या का सूर्यवंशी राजा। वह प्रशुश्रक का पुत्र था। पुराणों में उसे परमवैष्णव कहा गया है। इसी के कारण विष्णु के चक्र ने दुर्वासा का पीछा किया था। 'महाभारत', 'भागवत' और 'हरिवंश' में अंबरीष को नाभाग का पुत्र माना गया है। 'रामायण' की परंपरा उसके विपरीत है। उस कथा के अनुसार जब अंबरीष यज्ञ कर रहे थे तब इंद्र ने बलिपशु चुरा लिया। पुरोहित ने तब बताया कि अब उस प्रनष्ट यज्ञ का प्रायश्चित्त केवल मनुष्यबलि से किया जा सकता है। फिर राजा ने ऋषि ऋचीक को बहुत धन देकर बलि के लिये उसके कनिष्ठ पुत्र शुन शेप को खरीद लिया। 'ऋग्वेद' में उस बालक की विनती पर विश्वामित्र द्वारा उसके बंधनमोक्ष की कथा सूक्तबद्ध है। (भ० श० उ०)

अंबरीष की कन्या सुंदरी लक्ष्मी का अवतार थी जिसे देखकर पर्वत और देवर्षि नारद दोनों आसक्त हो गए। दोनों ने विष्णु से एक दूसरे का मुख बंदर का सा बना देने की प्रार्थना की। विष्णु ने यही किया। सुंदरी उन्हें देखकर भयभीत हो गई और उसने विष्णु के गले में वरमाला डाल दी। ऋषियों ने अंबरीष को अंधकारावृत होने का शाप दिया किंतु विष्णु के सुदर्शन चक्र ने अंधकार का विनाश कर दिया। लिंगपुराण (२५६) तथा वाल्मीकि रामायण (बालकांड) के अनुसार अंबरीष और हरिश्चंद्र एक ही व्यक्ति के नाम थे। (कैं० चं० श०)

अंबष्ठ संस्कृत और पालि साहित्य में अंबष्ठ जाति तथा देश का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। इनके अतिरिक्त सिकंदर के इतिहास से संबंधित कतिपय ग्रीक और रोमन लेखकों की रचनाओं में भी अंबष्ठ जाति का वर्णन हुआ है। दिओदोरस, कुर्तियस, जुस्तिन तथा तालेमी ने विभिन्न उच्चारणों के साथ इस शब्द का प्रयोग किया है। प्रारंभ में अंबष्ठ जाति युद्धजीवी थी। सिकंदर के समय (३२७ ई० पू०) उसका एक गणतंत्र था और वह सिंधु नदी के दक्षिणी तट पर निवास करती थी। आगे चलकर अंबष्ठों ने संभवत चिकित्साशास्त्र को अपना लिया, जिसका परिज्ञान हमें मनुस्मृति से होता है (मनु० १०, १५)। द्र० 'कायस्थ'। (च० म०)

अंबा काशिराज इंद्रद्युम्न की तीन कन्याओं में सबसे बड़ी, जिसकी छोटी बहिनें अंबिका और अंबालिका थीं। महाभारत की कथा के अनुसार भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिये स्वयंवर में तीनों को जीत लिया। अंबा राजा शाल्व से विवाह करना चाहती थी इससे भीष्म ने उसे राजा के पास भेज दिया, परंतु शाल्व ने उसे ग्रहण नहीं किया। तब भीष्म से बदला लेने के लिये वह तप करने लगी। शिव को तप द्वारा प्रसन्न कर उसने चितारोहण किया। शिव के वरदान से, उस कथा के अनुसार अगले जन्म में वह शिखंडी हुई जिसने भीष्म का महाभारतयुद्ध में वध किया। (भ० श० उ०)

अंबाला भारत के हरियाणा राज्य का एक जिला तथा उसके प्रधान नगर का नाम है। अंबाला जिला अक्षांश २९° ४९' उ० से ३१° १२' उ० तक तथा देशांतर ७६° २२' पू० से ७७° ३६' पू० तक स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३८३२ वर्ग कि०मी० और जनसंख्या १०,८६,५६४ (१९७१ ई०) है। इसके उत्तरपूर्व में हिमालय, उत्तर में सतलज नदी, पश्चिम में पटियाला और लुधियाना जिले तथा दक्षिण में कर्नाल जिला और यमुना नदी है।

अंबाला नगर समुद्रतट से १,०४० फुट की ऊँचाई पर, एक खुले मैदान में, घग्घर नदी से तीन मील दूर, अक्षांश ३०° २१' २५" उ०, देशांतर ७६° ५२' १४" पू० पर स्थित है। यह शहर लगभग १४वीं शताब्दी में अंबा राजपूतों द्वारा बसाया गया था। अंग्रेजी अधिकार के पहले इसका कोई विशेष महत्व नहीं था। १८२३ में राजा गुरुबख्शसिंह की पत्नी दयाकौर के देहांत के बाद यह नगर अंग्रेजों के कब्जे में आया तथा सतलज के उस पारवाले राज्य का प्रबंध करने के लिये पोलिटिकल एजेंट की नियुक्ति हुई। सन् १८४३ में नगर के दक्षिण की ओर सैनिक छावनी बनी और १८४९ में, जब पंजाब अंग्रेजों के राज्य में सम्मिलित हो गया, यह जिले का केंद्रीय नगर बना।

आधुनिक अंबाला नगर तथा पुराने दो भागों में बँटा है। पुराने भाग के रास्ते बहुत ही पतले, टेढ़े मेढ़े और अंधकारमय हैं। नया भाग सैनिक छावनी के आसपास निर्मित हुआ है। इसकी सड़कें चौड़ी तथा स्वच्छ हैं और मकान भी अच्छे ढंग से बने हैं।

व्यापार की दृष्टि से अंबाला की स्थिति महत्वपूर्ण है। इसके एक ओर यमुना और दूसरी ओर सतलज बहती है। पंजाब से दिल्ली जानेवाले रेलमार्ग यहाँ से होकर जाते हैं और ग्रैंड ट्रंक रोड भी इस नगर से होकर जाती है। भारत सरकार की ग्रीष्मकालीन राजधानी शिमला के पास होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ गया है। शिमला पहाड़ यहाँ से ८० मील दूर है। पहाड़ी अंचल के लिये यह एक प्रधान व्यवसाय केंद्र है। इस जिले में उत्पन्न अनाजों के व्यवसाय के लिये यहाँ एक बड़ा बाजार है। यहाँ रुई, मसाले तथा इमारती लकड़ी का व्यवसाय होता है। उद्योगों में दरियाँ बनाना, आटा पीसना, खाद्य पदार्थ तैयार करना, वस्त्रों की सिलाई और लकड़ी तथा बाँस की वस्तुएँ बनाना उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त काँच, वैज्ञानिक यंत्र तथा कलपुर्जे तैयार करने के कुछ कारखाने भी हैं। कालीन बनाना यहाँ का प्रधान उद्योग है और यह पर्याप्त मात्रा में बाहर भेजा जाता है।

अंबाला छावनी की जनसंख्या १०,२५,१९ है (१९७१ ई०) और अंबाला नगर की १,०५,५०३ (१९६१)। (वि० मु०)

अंबालिका काशिराज इंद्रद्युम्न की सबसे छोटी कन्या और अंबा तथा अंबिका की भगिनी। भीष्म ने स्वयंवर में इसे जीतकर अपने भाई विचित्रवीर्य से ब्याह दिया था। विधवा होने पर व्यास ने नियोग द्वारा उससे पांडवों के पिता पांडु को उत्पन्न किया। (भ० श० उ०)

अंबासमुद्रम् तमिलनाडु राज्य के तिरुनेलवेली जिले का एक तालुका तथा नगर है (स्थिति ८° ४२' उ० अ० तथा ७७° २७' पू० दे०) जो ताम्रपर्णी नदी के बाएँ किनारे पर तिरुनेलवेली नगर से २० मील की दूरी पर स्थित है। यह दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन भी है। यहाँ के स्थानीय कार्यों का प्रबंध पंचायत संघ द्वारा होता है। यहाँ पर एक हाई स्कूल है। (न० ला०)

अंबिका काशिराज की तीन कन्याओं में मँझली जिसे जीतकर भीष्म ने विचित्रवीर्य से ब्याह दिया था। पति के मरने पर उस विधवा से व्यास ने नियोग द्वारा कौरवों के पिता धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया। (भ० श० उ०)

अमीटर द्र० 'विद्युत मापी'।

अंशशोधन यदि थर्मामीटर की नली का भीतरी व्यास सर्वत्र समान न हो तो बराबर बराबर दूरी पर डिग्री के चिह्न लगाने से त्रुटियाँ उत्पन्न होंगी। फलत ताप की सच्ची माप के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि प्रत्येक चिह्न पर कितनी त्रुटि है। इसी प्रकार प्रत्येक मापक यंत्र के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक चिह्न (अंश) पर कितनी त्रुटि है। इसी को अंशशोधन (कैलिब्रेशन) कहते हैं। यंत्र चाहे कितनी भी सावधानी से क्यों न बनाए जायँ बनने पर सूक्ष्म जाँच से अवश्य ही कहीं न कहीं कुछ त्रुटि पाई जाती है। फिर, समय बचाने के लिये यंत्रनिर्माता बहुधा पूर्ण शुद्धता लाने की चेष्टा भी नहीं करते। इसलिये सूक्ष्म नापों में अंशशोधन अत्यावश्यक होता है।

अंतरराष्ट्रीय विज्ञान संघ ने मौलिक तथा उद्भूत राशियों की परिभाषाएँ दे रखी हैं और उनकी इकाइयाँ भी निश्चित कर दी हैं। इनके मापन के लिये प्रामाणिक उपकरण बनाए गए हैं। यदि कोई नवीन मापक यंत्र बनाया जाता है तो उसका अंशशोधन उन्हीं प्रामाणिक यंत्रों के अंशों की तुलना से किया जाता है।

उदाहरण—सेंटीग्रेड तापमापक का अधोबिंदु शुद्ध जल का हिमांक माना गया है और ऊर्ध्वबिंदु क्वथनांक। हिमांक और क्वथनांक जल

अ स्वर की रचना के बारे में 'वर्णोद्धारतंत्र' में उल्लेख है। एक मात्रा से दो रेखाएँ मिलती हैं। एक रेखा दक्षिण ओर से घूमकर ऊपर संकुचित हो जाती है, दूसरी बाईं ओर से आकर दाहिनी ओर होती हुई मात्रा से मिल जाती है। इसका आकार प्राय इस प्रकार संगठित हो सकता है।

चौथी शती ई० पू० की ब्राह्मी से लेकर नवीं शती ई० की देवनागरी तक इसके निम्नांकित रूप मिलते हैं

३ शती ई० पू०	१श०प०	१-२श०प०	२-३श०प०
मौर्य	शक	आंध्र	कुषाण

२-३श०प०	४श०प०	६श०प०	७-६ श०
जग्गयपेट	आदिगुप्त	उत्तर गुप्त	मध्ययुग

अ का प्रयोग अव्यय के रूप में भी होता है। नञ् तत्पुरुष समास में नकार का लोप होकर केवल अकार रह जाता है, 'अऋणी' को छोड़कर स्वर के पूर्व अ का अन् हो जाता है। नञ् तत्पुरुष में अ का प्रयोग निम्नलिखित छह विभिन्न अर्थों में होता है

(१) सादृश्य– अब्राह्मण। इसका अर्थ है ब्राह्मण को छोड़कर उसके सदृश दूसरा वर्ण, क्षत्रिय, वैश्य आदि।
(२) अभाव– अपाप। पाप का अभाव।
(३) अन्यत्व– अघट। घट छोड़कर दूसरा पदार्थ, पट, पीठ आदि।
(४) अल्पता– अनुदरी। छोटे पेटवाली।
(५) अप्राशस्त्य– अकाल। बुरा काल, विपत्काल आदि।
(६) विरोध– असुर। सुर का विरोधी, राक्षस आदि।

इसी तरह अ का प्रयोग संबोधन (अ!), विस्मय (अ), अधिक्षेप (तिरस्कार) आदि में होता है।

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

अ (पु० सं०) अर्थ में विष्णु के लिये प्रयुक्त होता है। कहीं कहीं अकार से ब्रह्मा का भी बोध होता है। तंत्रशास्त्र के अनुसार अ में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा उनकी शक्तियाँ वर्तमान हैं। तंत्र में अ के पर्याय सृष्टि, श्रीकंठ, मेध, कीर्ति, निवृत्ति, ब्रह्मा, वामाद्यज, सारस्वत, अमृत, हर, नरकारि, ललाट, एकमातृक, कंठ, ब्राह्मण वागीश तथा प्रणवादि भी पाए जाते हैं। प्रणव के (अ + उ + म) तीन अक्षरों में अ प्रथम है। योगसाधना में प्रणव (ओ३म) और विशेषतः उसके प्रथम अक्षर अ का विशेष महत्व है। चित्त एकाग्र करने के लिये पहले पूरे ओ३म् का उच्चारण न कर उसके बीजाक्षर अ का ही जप किया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके जप से शरीर के भीतरी तत्व कफ, वायु, पित्त, रक्त तथा शुक्र शुद्ध हो जाते हैं और इससे समाधि की पूर्णावस्था की प्राप्ति होती है। (रा० ब० पा०)

अइयास यूनानी योद्धा। यह सलामिस (ग्रीस) के राजा तालमान का पुत्र था। यूनान के पौराणिक साहित्य में यह अपने विक्रम के लिये प्रसिद्ध है। त्रोजनों को युद्ध में हराकर इसने एकिलीज का शरीर प्राप्त किया था। सारे सलामिस देश में इसकी पूजा होती थी और 'ऐंतिया' नामक उत्सव इसकी अभ्यर्थना के लिये मनाया जाता था। (चं० म०)

अकबर, जलालुद्दीन मुहम्मद (प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर) का जन्म अमरकोट (सिंध) के किले में १५ अक्टूबर, सन् १५४२ को हुआ। उसकी माता हमीदाबानू बेगम और पिता हुमायूँ था। कंधार तक तो हुमायूँ उसे ले जा सका किंतु वहीं छोड़कर उसे फारस भागना पड़ा। अकबर काबुल के किले में अपने चाचा कामरान की देखरेख में रहा। हुमायूँ ने फारस से लौटकर कंधार और काबुल जीत लिए। उस समय अकबर तीन वर्ष का था। अकबर को पढ़ने लिखने का तो नहीं, किंतु सवारी, अस्त्र शस्त्र चलाने और युद्धकला सीखने का शौक था।

जब हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया तब अकबर उसके साथ था। पिता की आज्ञा से उसने दो युद्धों में भाग भी लिया। दिल्ली जीतने के छह महीने के पश्चात् हुमायूँ अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिरकर मर गया (जनवरी २०, सन् १५५६)। अकबर की आयु केवल तेरह वर्ष चार महीने की थी जब वह अपने शिक्षक बैरम खाँ की सहायता से कलानौर के फौजी पड़ाव में सिंहासन पर बिठाया गया। बैरम खाँ अभिभावक और वकील बनकर अकबर के नाम से शासन करने लगा।

मुगलों को अफगान सेना के नेता हेमू (हेमराज) से भय था। अपने स्वामी आदिलशाह के लिये अनेक युद्ध जीतता हुआ हेमू आगरा पहुँचा। पानीपत के मैदान में उसका मुगलों से युद्ध हुआ। उसके दुर्भाग्य से सहसा उसकी आँख में तीर लगा जिससे वह मूर्छित हो गया। फलत हारती हुई मुगल सेना को विजय प्राप्त हुई (५ नवंबर, १५५६)।

अकबर के सरदार प्रबल थे और शासन की बागडोर बैरम खाँ ने मजबूती से पकड़ रखी थी जिससे वह सर्वेसर्वा हो गया था। अकबर को नाम मात्र के लिये सम्राट् कहलाने से संतोष न हुआ। बैरम खाँ से छुटकारा पाने के लिये आगरा से वह देहली चला गया और वहाँ से उसने उसको पदच्युत कर दिया। बैरम ने युद्ध की ठानी किंतु कैद कर लिया गया। अकबर ने उसको क्षमा करके मक्का जाने की अनुमति दे दी।

अकबर के सामने दो विकट समस्याएँ थीं। एक तो उद्दंड सरदारों का दमन, दूसरी राज्य का संवर्धन। पहली समस्या के हल करने में उसे लगभग सात वर्ष लगे। उसने अदहम खाँ को, जिसने अकबर के वजीर की हत्या की थी, प्राणदंड दिया (१५६२)। इसके बाद उसने सीस्तानी सरदारों का दमन कर उनके नेता खानजमाँ और अब्दुल्ला खाँ को युद्ध में परास्त किया। खानजमाँ तो खेत रहा और अब्दुल्ला का वध कर दिया गया (१५६७)। प्रबल और उद्दंड सरदारों की दुर्दशा देखकर फिर अकबर का सामना करने का साहस किसी को न हुआ।

यद्यपि सरदारों के दमन में अकबर दत्तचित्त था, फिर भी उसकी सेना राजपूताना और मालवा में कुछ सफलता प्राप्त करती रहा। सन् १५६१ में मालवा, १५६२ में आमेर, १५६४ में जोधपुर तक उसकी सेनाएँ बढ़ गई थीं और राजपूताने में आतंक फैल गया। अकबर की नीति राजपूतों को हराकर केवल अपना राज्य बढ़ाना मात्र न था। वह उनसे मित्रता बढ़ाकर उन्हें अपना तथा साम्राज्य का हितैषी भी बनाना चाहता था। उनको उसने वचन दिया कि यदि वे उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लें, साम्राज्य को निश्चित सैनिक सहायता के रूप में उपहार दें, बिना सम्राट् की आज्ञा के आपस में न लड़ें और सम्राट् की आज्ञा लेकर राजगद्दी पर बैठें तो उनके धर्म, राज्य, शासनविधान, सामाजिक जीवन आदि में वह हस्तक्षेप न करेगा। अपनी उदार नीति के प्रमाणस्वरूप अकबर ने युद्ध के कैदियों को गुलाम बनाने की प्रथा (१५६२ ई०), तीर्थों पर यात्रियों से कर लेना और हिंदुओं से जिजिया लेना गैरकानूनी घोषित कर दिया (१५६३–६४ ई०)।

जयपुर और जोधपुर के राज्यों ने अकबर की शर्तें मान लीं। उन्होंने सम्राट् तथा राजकुमारों से अपने घराने की लड़कियाँ देकर वैवाहिक संबंध भी जोड़ लिए। किंतु अधिकांश राजा इस प्रतीक्षा में थे कि मेवाड़ के महाराणा की, जिनका राजपूताने में सबसे अधिक सम्मान था, क्या नीति होती है। महाराणा उदयसिंह ने अकबर की ओर रुख करना तो दूर रहा, उसके अफगान शत्रुओं पर वरद कर रख दिया और सम्राट् की अवहेलना की। ऐतिहासिक महत्व के कारण चित्तौड़ के महाराणा राजपूताने पर आधिपत्य अपना जन्मजात अधिकार समझते थे। वे महाराणा कुंभा तथा राणा साँगा के उत्तराधिकारी थे। अकबर भी बाबर का पौत्र होने के कारण अपने को महाराणा या किसी अन्य राज्याधिपति से कम नहीं समझता था। दोनों की लागडाँट बिना युद्ध द्वारा निर्णय के शांत होती न दिखाई दी। अतः सन् १५६७ में अकबर ने चित्तौड़ तथा रणथंभौर के

किलों को घेर लिया। कई महीनों की मारकाट के बाद अकबर ने चित्तौड़ और रणथंभौर के किले सर कर लिए। अकबर का महत्व स्पष्ट हो गया जिससे कालिंजर, मारवाड़ और बीकानेर के राज्यों ने भी उसका प्रभुत्व मान लिया। बंगाल के अफगान सुल्तान सुलेमान करानी ने भी उसका नाम खुतबा और सिक्के में रख दिया।

चित्तौड़ पर अधिकार जमने से मालवा पर भी अकबर का पंजा कस गया और गुजरात जाने का रास्ता, जो राजनीतिक और व्यापारिक महत्व रखता था, खुल गया। अकबर के पिता हुमायूँ ने मालवा, गुजरात और बंगाल पर अपना प्रभुत्व एक बार स्थापित किया था। उसी नाते तथा साम्राज्यविस्तार के आदर्श से प्रेरित होकर अकबर ने गुजरात के सरदारों के एक नेता का वहाँ शांतिस्थापन करने का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और गुजरात पर चढ़ाई कर दी। बंगाल और बिहार के अफगान शासक ने जब मुगल सीमा पर आक्रमण किया तब उनपर प्रत्याक्रमण करके उन प्रांतों को भी उसने जीत लिया (१५७२-७६)।

साम्राज्य अब इतना बड़ा हो गया था कि उसके संगठन में अकबर को सात आठ वर्ष लगे। सारे साम्राज्य की दस वर्षों की उपज से पैमाइश कराके तथा भूमि की उपज का ध्यान रखकर पैदावार का एक तिहाई लगान निश्चित किया गया। देश के प्रचलित शासन में बहुत कुछ सुधार किए गए। निष्पक्ष और उदार धार्मिक नीति तथा सामाजिक सुधार के लिये देश के प्रमुख धर्मों का अध्ययन किया गया। विविध धर्मों के विद्वानों को 'इबादतखाने' में एकत्रित कर अकबर उनके शास्त्रार्थ सुनता। जहाँ तक संभव हो सका, सब धर्मों को सहानुभूति अथवा सहायता दी गई। अंत में उसने 'दीन इलाही' नाम की एक संस्था स्थापित की जिसका किसी भी मत का व्यक्ति सदस्य बनाया जा सकता था। उस संस्था के मुख्य सिद्धांत थे (१) ईश्वर में दृढ़ विश्वास, (२) सम्राट् की भक्ति, (३) यथासंभव हत्या या मांसभोजन का त्याग, (४) स्त्रीप्रसंग में संयम और शुद्धता, (५) समय समय पर भोज और दान। दीक्षित किए हुए सदस्य सम्राट् का एक छोटा चित्र अपनी पगड़ी में रखते और आपस में जब मिलते तो 'अल्लाहो अकबर' और उत्तर में 'जल्ले जलालहू' कहकर अभिवादन करते। अकबर की धारणा संभवतः यह थी कि उसके मत मानने में किसी धर्मावलंबी को आपत्ति न होनी चाहिए। उसके धार्मिक मत के संबंध में लोगों के विभिन्न विचार थे। कोई उसको नया धर्मप्रवर्तक समझता और उसकी नीयत पर संदेह करता और कोई उसे आदर्श एकता के लिये उत्सुक समझता। सदस्यों को सम्राट् स्वयं चुनता और दीक्षित करता। सदस्य बनाने के लिये लोभ, बलप्रयोग, आग्रह अथवा पदाधिकार का प्रयोग सम्राट् ने कभी नहीं किया।

अकबर ने अरबी और संस्कृत ग्रंथों के, जैसे कुरान, मजमउलबल्दान, भगवद्गीता, महाभारत, अथर्ववेद आदि के सरल फारसी में अनुवाद कराए जिससे हिंदू मुसलमान लोग एक दूसरे के धर्म, इतिहास और संस्कृति को समझ सकें। हिंदी को उच्च स्थान देने के लिये उसने 'कविराज' का पद दरबार में प्रचलित किया था। विवाह की आयु अनिवार्यतः लड़कियों की १४ वर्ष तथा लड़कों की १६ वर्ष कर दी। जबर्दस्ती तथा डर से सती हो जाने का निषेध करके विधवाविवाह को कानून के अनुकूल घोषित कर दिया।

अकबर की धार्मिक नीति से हिंदू, सिक्ख और उदार मुसलमान तो प्रसन्न थे किंतु कट्टर मुसलमानों में असंतोष और रोष फैला। सेना के संगठन से सैनिकों और जागीरदारों में विरोध की भावना फैली। फलतः बंगाल, बिहार और मालवा में विद्रोह की आग भड़क उठी। विद्रोहियों ने अकबर के भाई हकीम को, जो अफगानिस्तान में शासन कर रहा था, सारे साम्राज्य लेने के लिये बुलाया। अकबर ने सब कठिनाइयों का धैर्य और वीरता से सामना किया और उनपर पूर्ण विजय पाई। यद्यपि उसे अपने सुधारों में कुछ हेरफेर तथा उनकी तीव्र गति को कुछ धीमा करना पड़ा, तथापि उसने अपने आदर्शों, नीति और विधानों को कार्यान्वित करने से मुँह नहीं मोड़ा।

अपने भाई मिर्जा हकीम की गतिविधि तथा मध्य एशिया के शासक अब्दुल्ला खाँ उजबक की साम्राज्यविस्तार की नीति के कारण अकबर ने भारत की पश्चिमी सीमाओं को सुदृढ़ बनाने का संकल्प किया। धीरे धीरे उसने काश्मीर, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा सिंध पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अंत में मुगल साम्राज्य की सीमा हिंदुकुश की पर्वतमाला निश्चित हो गई।

दक्षिण में भी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। पुर्तगालियों का अरब सागर पर प्रभुत्व होने से व्यापार तथा हजयात्रा में भारतवासियों के लिये अनेक असुविधाएँ पैदा हो गईं। उन्होंने एक बार सम्राट् की बेगमों की यात्रा में भी अड़चन डाली। इस विदेशी समुद्री शक्ति का तभी दमन हो सकता था जब दक्षिण के राज्य सम्राट् का नेतृत्व स्वीकार कर पूरा सहयोग देते। इसके सिवा वे राज्य आपस में लड़ते और धार्मिक झगड़ों में दिलचस्पी लेते, जिससे धार्मिक वातावरण दूषित होता था। अकबर ने उनको समझाने और मिलाने के निष्फल प्रयत्न किए। अंत में युद्ध छिड़ गया जिससे खानदेश और अहमदनगर पर भी कुछ अधिकार स्थापित हो गया।

अकबर जब दक्षिण के युद्ध में लगा हुआ था तब उसे समाचार मिला कि उसका सबसे बड़ा पुत्र सलीम लोगों के बहकाने से विद्रोह कर इलाहाबाद में डटकर राज्य करने लगा है। अकबर दक्षिण से लौटा और संभव था कि बाप बेटे से युद्ध हो जाता, किंतु सलीम का साहस छूट गया और आगरा आकर उसने क्षमा माँग ली (१६०३)। लगभग ५० वर्ष राज करने के अनंतर १६ अक्टूबर, सन् १६०५ को उदररोग से अकबर की मृत्यु हो गई। अकबर भारत के मुसलमान सम्राटों में सबसे प्रतापी, उदार, गंभीर और दूरदर्शी राज्यनिर्माता था।

अकबर का शरीर गठीला और सुडौल था। उसे सवारी, शिकार तथा अस्त्र-शस्त्र-संचालन का शौक था। पहले वह बड़े पैमाने पर सामूहिक शिकार करता जिसमें हजारों शिकारी जानवरों को घेरकर सैकड़ों की संख्या में मार डालते थे। आगे चलकर उसने उस हत्याकांड का परित्याग कर दिया। यद्यपि वह स्वस्थ और बलिष्ठ था तथापि उसके पेट में कभी कभी शूल उठा करता था। संभव है, अपने विचारों के परिवर्तन के अलावा उदररोग के कारण भी उसने सुरापान, अफीम सेवन और मांसाहार विहार को परिमित और नियंत्रित कर दिया हो। दिन में एक ही बार वह स्वल्प भोजन करता और, जहाँ तक हो सकता था, मांस खाने से बचता था।

सेनासंचालन और किलों पर घेरा डालकर उन्हें जीतने की कला में वह दक्ष था। कठिन से कठिन समस्या उपस्थित होने पर भी वह घबराता न था और उसके समाधान का ढंग निकाल लेता था। किसी काम में तब तक हाथ न लगाता था जब तक उसकी पूरी तैयारी न कर लेता। आवश्यकता पड़ने पर लंबी लंबी यात्रा वह थोड़े दिनों में ही समाप्त कर लेता था। इसी कारण उसका आतंक दूर तक फैला रहता था। वह कला और उद्योग के निर्माण में वह असाधारण रुचि रखता जिससे उस काल में उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी।

अकबर की स्मरणशक्ति जैसी जबर्दस्त थी वैसी ही उसकी बुद्धि भी सूक्ष्म एवं कुशाग्र थी। इसीलिये स्वयं पढ़ने लिखने का काम न करने पर भी केवल सुनकर ही उसने आश्चर्यजनक ज्ञानराशि संचित कर ली थी जिसके बल पर शासन ही नहीं, काव्य, दर्शन, इतिहास आदि के सूक्ष्म तत्वों को भी समझने की शक्ति उसने प्राप्त कर ली थी। मितभाषी होने के कारण उसके वाक्य और विचार सारगर्भित होते थे। उसकी मुद्रा गंभीर, रोबीली, आदरणीय तथा प्रभावशालिनी थी।

सं० ग्रं०—वी० ए० स्मिथ अकबर (संशोधित संस्करण), आक्सफोर्ड, १९१९, त्रिपाठी सम ऐस्पेक्ट्स ऑव मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन।

(रा० प्र० त्रि०)

अकबर, मुहम्मद (१६५३-१७०४ ई०) औरंगजेब का पुत्र था और अकबर द्वितीय के नाम से इतिहास में जाना जाता है। सन् १६७८ में पश्चिमोत्तर भारत के अंतर्गत जमरूद नामक स्थान पर जोधपुर के महाराजा यशवंतसिंह की मृत्यु हो गई। औरंगजेब ने तत्काल महाराजा के राज्य पर कब्जा किया और उनके बालक पुत्र अजीतसिंह को उसकी माँ के साथ शाही हरम में कैद कर लिया। स्वयं औरंगजेब अजमेर पहुँचा और 'जिजिया' लागू कर दिया। इसी बीच दुर्गादास राठौर लड़ भिड़कर

अजीतसिंह और महारानी को दिल्ली से निकाल लाया। उधर अपनी सशयालु प्रकृति के कारण औरगजेब ने अकबर को चित्तौड की सूबेदारी से हटाकर मारवाड भेज दिया। इससे क्षुब्ध अकबर ने महाराणा जयसिंह और दुर्गादास से मिलकर स्वय को मुगल सम्राट् घोषित किया और मुगल साम्राज्य पर कब्जा करने के इरादे से अजमेर की तरफ बढा। औरगजेब तत्काल इस स्थिति मे नही था कि वह अकबर की ७० हजार सेना स टक्कर ले सकता। अत उसने धोखा धडी भरा एक पत्र अकबर के नाम लिखा और योजनानुसार उसे राजपूतो के हाथो पड जाने दिया। पत्र पाकर राजपूत शकित हो उठे और उन्होने अकबर का साथ छोड दिया। विवश अकबर को युद्धविरत होना पड़ा। कुछ समय उपरात पत्र का रहस्य खुल जाने पर दुर्गादास स्वय अकबर से मिला और मई, १६८१ मे सुरक्षित उसे दक्षिण भारत पहुँचा दिया, जहाँ वह एक वर्ष से अधिक शिवाजी के पुत्र सभाजी (शभुजी) के दरबार मे रहा। पश्चात् अकबर फारस चला गया। वहाँ सन् १७०४ मे उसकी मृत्यु हो गई। (कै० च० श०)

अकबर, सैयद अकबर हुसेन (१८४६-१९२१ ई०) इलाहाबाद (उ० प्र०) के वर्तमान काल के सुप्रसिद्ध उर्दू कवि। थोडी शिक्षा प्राप्त करने के बाद १८६७ मे मुख्तारी की परीक्षा पास की, १८६६ ई० मे नायब तहसीलदार हुए। कुछ समय बाद हाई कोर्ट की वकालत पास की और मुन्सिफ हो गए, फिर क्रमश उन्नति करते करते सेशन जज हुए जहाँ से १९२० ई० मे उन्होने अवकाश प्राप्त किया। १९२१ ई० म प्रयाग मे उनका देहात हुआ।

अकबर ने १८६० ई० के लगभग काव्यरचना आरभ की। अधिकतर गजल लिखते थे पर जब लखनऊ से 'अवध पच' निकला तो अकबर ने भी हास्यरस को अपनाया और थोडे ही समय मे इस रग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने लगे। इस क्षेत्र मे कोई उनसे ऊँचा न उठ सका। अकबर के काव्य मे व्यग्य भी है और वह व्यग्य अधिकतर पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण के विरुद्ध है जो भारत और विशेष रूप से मुसलमानो की शिक्षा, सस्कृति और जीवन को बदल रही थी। व्यग्य और हास्य की आड मे वह विदेशी राज्य पर कडी चोटें करते थे। वे समाज मे हर ऐसे अच्छे बुरे परिवर्तन के विरुद्ध थे जो अग्रेजी प्रभाव से प्रेरित था। उनकी विशेष रचनाएँ ये है 'कुल्लियाते अकबर' ४ भाग, 'गाधीनामा', पत्रो का सग्रह।

स० ग्र०—अकबर तालिब इलाहाबादी, अकबरनामा अब्दुल मजीद दरियाबादी। (मै० ग० हु०)

अकलक जैन न्यायशास्त्र के अनेक मौलिक ग्रथो के लेखक आचार्य अकलक का समय ई० ७२०–७८० है। अकलक ने भर्तृहरि, कुमारिल्ल, धर्मकीर्ति और उनके अनेक टीकाकारो के मतो की समालोचना करके जैन न्याय का सुप्रतिष्ठित किया है। उनके बाद होनेवाले जैन आचार्यों ने अकलक का ही अनुगमन किया है। उनके ग्रथ निम्नलिखित है १ उमास्वाति तत्वार्थसूत्र की टीका तत्वार्थवार्तिक जो राजवार्तिक के नाम से प्रसिद्ध है। इस वार्तिक के भाष्य की रचना भी स्वय अकलक ने की है। २ आप्तमीमासा की टीका अष्टशती। ३ प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के सग्रहरूप लघीयस्त्रय। ४ न्यायविनिश्चय और उसकी वृत्ति। ५ सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति। ६ प्रमाण सग्रह। इन सभी ग्रथो मे जैनसम्मत अनेकातवाद के आधार पर प्रमाण और प्रमेय की विवेचना की गई है और जैनो के अनेकातवाद को सुदृढ भूमि पर सुस्थित किया गया है। विशेष विवरण के लिये देखिए, 'सिद्धिविनिश्चय टीका' की प्रस्तावना। (द० मा०)

अकलुष इस्पात द्र० 'इस्पात'।

अकशक उत्तरी सुमेर (अब दक्षिण पूर्वी ईराक) का उत्तरतम नगर (३४° उत्तरी अ० तथा ४४° पू० दे०)। अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल मे यह नगर दजला के तीर अधेम नदी के मुहाने पर बसा था। इसे साधारणत जेनोफन द्वारा उल्लिखित ओपिस माना जाता है, यद्यपि रॉलिन्सन ने बगदाद के निकट दियाला के दक्षिण एक स्थान को ओपिस माना है। (भ० श० उ०)

अकादमी मूलत प्राचीन यूनान के एथेस नगर मे स्थित एक स्थानीय वीर अकादेमस के व्यक्तिगत उद्यान का नाम था। कालातर मे यह वहा के नागरिको को जनोद्यान के रूप मे भेट कर दिया गया था और उनके लिये खेल, व्यायाम शिक्षा और चिकित्सा का केंद्र बन गया था। प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) ने इसी जनोद्यान मे एथेस के प्रथम दर्शन विद्यापीठ की स्थापना की। आगे चलकर इस विद्यापीठ को ही अकादमी कहा जाने लगा। एथेस की यह एक ही ऐसी सस्था थी जिसमे नगरवासियो के अतिरिक्त बाहर के लोग भी समिलित हो सकते थे। इसमे विद्यादेवियो (म्यूजेज) का एक मदिर था। प्रति मास यहाँ एक सहभोज हुआ करता था। इसमे सगमरमर की एक अर्धवृत्ताकार शिला थी। कदाचित् इसी पर से अफलातून और उनके उत्तराधिकारी अपने सिद्धातो और विचारो का प्रचार किया करते थे। गभीर सवाद एव विचारविनिमय की शैली से यहा दर्शन, गणित, नीति, शिक्षा और धर्म की मूल धारणाओ का निरूपण होता था। एक, अनेक, सख्या, असीमता, सीमाबद्धता, प्रत्यक्ष, बुद्धि, ज्ञान, सशय, ज्ञेय, अज्ञेय, शुभ, कल्याण, सुख, आनद, ईश्वर, अमरत्व, मोक्ष सद्गुण, निस्सरण, सत्य और सभाव्य, ये उदाहरणत कुछ प्रमुख विषय है जिनकी यहाँ व्याख्या होती थी। यह सस्था नौ सौ वर्षों तक जीवित रही और पहले धारणावाद का, फिर सशयवाद का और उसके पश्चात् समन्वयवाद का सदेश देती रही। इसका क्षेत्र भी धीरे धीरे विस्तृत होता गया और इतिहास, राजनीति आदि सभी विद्याओ और सभी कलाओ का पारण इसमे होने लगा। परतु साहसपूर्ण मौलिक रचनात्मक चिंतन का प्रवाह लुप्त सा होता गया। ५२९ ई० मे सम्राट् जुस्तिनियन ने अकादमी को बद कर दिया और इसकी सपत्ति जब्त कर ली।

फिर भी कुछ काल पहले से ही यूरोप मे इसी के नमूने पर दूसरी अकादमियाँ बनने लग गई थी। इनमे कुछ नवीनता थी, ये विद्वानो के सघो अथवा सगठनो के रूप मे बनी। इनका उद्देश्य साहित्य, दर्शन, विज्ञान अथवा कला की शुद्ध हेतुरहित अभिवृद्धि था। इनकी सदस्यता थोडे से चुने हुए विद्वानो तक सीमित होती थी। ये विद्वान् बडे पैमाने पर ज्ञान अथवा कला के किसी सपूर्ण क्षेत्र पर, अर्थात् सपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान, सपूर्ण साहित्य, सपूर्ण दर्शन, सपूर्ण इतिहास, सपूर्ण कला क्षेत्र आदि पर दृष्टि रखते थे। प्राय यह भी समझा जाने लगा कि प्रत्येक अकादमी को राज्य की ओर से यथासभव सस्थापन, पूर्ण अथवा आशिक आर्थिक सहायता, एव सरक्षण के रूप मे मान्यता प्राप्त होनी ही चाहिए। कुछ यह भी विश्वास रहा है कि विद्या के क्षेत्रो मे उच्च स्तर की योग्यता बहुत थोडे व्यक्तियो मे हो सकती है, और इसका समाज के धनी और वैभवशाली अगो से मेल बना रहना स्वाभाविक तथा आवश्यक भी है। पिछले दो सहस्र वर्षों मे बहुत से देशो मे इन नवीन विचारो के अनुसार बनी हुई कई कई अकादमियाँ रही है। अधिकाश अकादमियाँ विज्ञान, साहित्य, दर्शन, इतिहास, चिकित्सा अथवा ललित कला मे से किसी एक विशेष क्षेत्र मे सेवा करती रही है। कुछ की सेवाएँ इनमे से कई क्षेत्रो मे फैली रही है।

लोकतत्रवादी विचारो और भावनाओ की प्रगति से अकादमी की इस धारणा मे वर्तमान काल मे एक नया परिवर्तन आरभ हुआ है। आज की कुछ अकादमियाँ जनजीवन के निकट रहने का प्रयत्न करने लगी है, जनता की रुचियो, विचारधाराओ और कलाओ को अपनाने लगी है और अन्य प्रकार से जनप्रिय बनने का प्रयास करने लगी है। भारत मे राष्ट्रीय सस्कृति ट्रस्ट द्वारा स्थापित ललित कला अकादमी, सगीत नाटक अकादमी और साहित्य अकादमी इस परिवर्तन की प्रतीक है। (रा० लु०)

अकादमी, रायल लदन की द रॉयल अकैडमी ऑव् आर्ट्‌स जार्ज तृतीय के राजाश्रय मे सन् १७६८ मे स्थापित हुई। इसके द्वारा समकालीन चित्रकारो की कलाकृतियो की प्रदर्शनियाँ प्रति वर्ष की जाती है। ललित कला का एक विद्यालय भी २ जनवरी, १७६९ को इस सस्था द्वारा स्थापित किया गया। पहली बार महिला छात्राएँ १८६० मे भरती की गई। उनके द्वारा चित्रकला, शिल्पकला और स्थापत्य की उन्नति इस सस्था का प्रधान उद्देश्य था। पहली चित्रकला की प्रदर्शनी २६ अप्रैल, १७६९ को हुई। सर जोशुआ रेनाल्ड्स इसके १७६८ से १७९२ ई० तक प्रथम अध्यक्ष

(प्रेसिडेंट) थे। आजकल १९४४ से सर अल्फ्रेड मनिंग्ज प्रेसिडेंट हैं। इस संस्था में ११,००० ग्रंथों का संग्रहालय है। इनमें कई ग्रंथ बहुत दुर्लभ हैं। इस संस्था द्वारा कई ट्रस्ट फंड चलाए जाते है, यथा दि टर्नर फंड, दि क्रेस्विक फंड, लैंडसियर फंड, आर्मिटेज फंड, एडवर्ड स्काट फंड। पहले यह संस्था सामरसेट हाउस में थी, बाद में नैशनल गैलरी में और अब १८६९ ई० से बर्लिंग्टन हाउस में है। इस अकादमी के सदस्यों की संख्या चालीस होती है। अकादमी द्वारा कष्टपीड़ित कलाकारों को आर्थिक सहायता भी दी जाती है। (प्र० मा०)

अकालकोट महाराष्ट्र राज्य के शोलापुर जिले का एक नगर है जो १७° ३१′ उ० अ० तथा ७६° १५′ पू० दे० पर स्थित है। इसके समीप खुला तथा वनरहित प्रदेश है। यहाँ की मिट्टी काली, जलवायु ठंढी तथा वर्षा साल में लगभग ३० इंच होती है। मई में ताप ४२.०° सें०, जनवरी में २२.२° सें० तथा औसत ताप २६.८° सें० रहता है। यहाँ की मुख्य उपज बाजरा, ज्वार, चावल, चना, गेहूँ, कपास तथा गन्ना है। यहाँ का मुख्य उद्योग सूती कपड़े तथा साड़ियाँ बुनना है। (न० ला०)

अकाली अकाल शब्द का शब्दार्थ है कालरहित। भूत, भविष्य तथा वर्तमान से परे, पूर्ण अमरज्योति ईश्वर, जो जन्ममरण के बंधन से मुक्त है और सदा सच्चिदानंद स्वरूप रहता है, उसी का अकाल शब्द द्वारा बोध कराया गया है। उसी परमेश्वर में सदा रमण करनेवाला अकाली कहलाया। कुछ लोग इसका अर्थ काल से भी न डरनेवाला लेते हैं। परंतु तत्वतः दोनों भावों में कोई भेद नहीं है। सिक्ख धर्म में इस शब्द का विशेष महत्व है। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक देव ने परमपुरुष परमात्मा की आराधना इसी अकालपुरुष की उपासना के रूप में प्रसारित की। उन्होंने उपदेश दिया कि हमें संकीर्ण जातिगत, धर्मगत तथा देशगत भावों से ऊपर उठकर विश्व के समस्त धर्मों के माननेवालों से प्रेम करना चाहिए। उनसे विरोध न करके मैत्रीभाव का आचरण करना चाहिए, क्योंकि हम सब उसी अकालपुरुष की संतान हैं। सिक्ख गुरुओं की वाणियों से यह स्पष्ट है कि सभी सिक्ख संतों ने अकालपुरुष की महत्ता को और दृढ़ किया और उसी के प्रति पूर्ण उत्सर्ग की भावना जागृत की। प्रत्येक अकाली के लिये जीवननिर्वाह का एक बलिदानपूर्ण दर्शन बना जिसके कारण वे अन्य सिक्खों से पृथक् दिखाई देने लगे।

इसी परंपरा में सिक्खों के छठे गुरु हरगोविंद ने अकाल बुंगे की स्थापना की। बुंगे का अर्थ है एक बड़ा भवन जिसके ऊपर गुंबज हो। इसके भीतर अकाल तख्त (अमृतसर में स्वर्णमंदिर के सम्मुख) की रचना की गई और इसी भवन में अकालियों की गुप्त मंत्रणाएँ और गोष्ठियाँ होने लगीं। इनमें जो निर्णय होते थे उन्हें 'गुरुमता' अर्थात् गुरु का आदेश नाम दिया गया। धार्मिक समारोह के रूप में ये सम्मेलन होते थे। मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित जनता की रक्षा ही इस धार्मिक संगठन का गुप्त उद्देश्य था। यही कारण था कि अकाली आंदोलन को राजनीतिक गतिविधि मिली। बुंगे से ही 'गुरुमता' को आदेश रूप से सब ओर प्रसारित किया जाता था और वे आदर्श कार्यरूप में परिणत किए जाते थे। अकाल बुंगे का अकाली वही हो सकता था जो नामवाणी का प्रेमी हो और पूर्ण त्याग और विराग का परिचय दे। ये लोग बड़े शूर वीर, निर्भय, पवित्र और स्वतंत्र होते थे। निर्बलों, बूढ़ों, बच्चों और अबलाओं की रक्षा करना ये अपना धर्म समझते थे। सबके प्रति इनका मैत्रीभाव रहता था। मनुष्य मात्र की सेवा करना इनका कर्तव्य था। अपने सिर को हमेशा ये हथेली पर लिए रहते थे।

३० मार्च, सन् १६९९ को गुरु गोविंदसिंह ने खालसा पंथ की स्थापना की। इस पंथ के अनुयायी अकाली ही थे। औरंगजेब के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिये अकाली खालसा सेना के रूप में सामने आए। गुरु ने उन्हें नीले वस्त्र पहनने का आदेश दिया और पाँच ककार (कच्छ, कड़ा, कृपाण, केश तथा कंघा) धारण करना भी उनके लिये अनिवार्य हुआ। अकाली सेना की एक शाखा सरदार मानसिंह के नेतृत्व में निहंग सिंहों के नाम से प्रसिद्ध हुई। फारसी भाषा में निहंग का अर्थ मगरमच्छ है जिसका तात्पर्य उस निर्भय व्यक्ति से है जो किसी अत्याचार के समक्ष नहीं झुकता। इसका संस्कृत अर्थ निसर्ग है अर्थात् पूर्ण रूप से अपरिग्रही, पुत्र, कलत्र और संसार से विरक्त पूरा पूरा अनिकेतन। निहंग लोग विवाह नहीं करते थे और साधुओं की वृत्ति धारण करते थे। इनके जत्थे होते थे और उनका एक अगुआ जत्थेदार होता था। पीड़ितों, आर्तों और निर्बलों की रक्षा के साथ साथ सिक्ख धर्म का प्रचार करना इनका पुनीत कर्तव्य था। जहाँ भी ये ठहरते थे, जनता इनका आदर करती थी। जिस घर में ये प्रवेश पाते थे वह अपने को परम सौभाग्यशाली समझता था। ये केवल अपने खाने भर को ही लिया करते थे और यदि न मिला तो उपवास करते थे। ये एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। कुछ लोग इनकी पक्षीवृत्ति देखकर इन्हें विहंगम भी कहते थे। सचमुच ही इनका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। वीर ये इतने थे कि प्रत्येक अकाली अपने को सवा लाख के बराबर समझता था। किसी की मृत्यु की सूचना भी यह कहकर दिया करते थे कि 'वह चढ़ाई कर गया', जैसे मृत्यु लोक में भी मृत प्राणी कहीं युद्ध के लिये गया हो। सूखे चने को ये लोग बदाम कहते थे और रुपए और सोने को ठीकरा कहकर अपनी असंग भावना का परिचय देते थे। पश्चिम से होनेवाले अफगानों के आक्रमणों का मुकाबला करना और हिंदू कन्याओं और तरुणियों को पापी आततायियों के हाथों से उबारना इनका दैनिक कार्य था।

महाराज रणजीतसिंह के समय अकाली सेना अपने चरम उत्कर्ष पर थी। इसमें देश भर के चुने सिपाही होते थे। मुसलमान गाजियों का ये डटकर सामना करते थे। मुल्तान, कश्मीर, अटक, नौशेरा, जमरोद, अफगानिस्तान आदि तक इन्हीं के सहारे रणजीतसिंह ने अपना साम्राज्य बढ़ाया। अकाल सेना के पतन का कारण कायरों और पापियों का छद्म वेश में सेना के निहंगों में प्रवेश पाना था। इससे इस पंथ को बहुत धक्का लगा।

अंग्रेजों ने भी अकालियों की वीरता से भयभीत होकर हमेशा उन्हें दबाने का प्रयास किया। इधर अकाली इतिहास में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। जो गुरुद्वारे और धर्मशालाएँ दसों सिक्ख गुरुओं ने धर्म-प्रचार और जनता की सेवा के लिये स्थापित की थीं और जिन्हें सुदृढ़ रखने के लिये महाराज रणजीतसिंह ने बड़ी बड़ी जागीरें लगवा दी थीं वे अंग्रेजी राज्य के समय अनेक नीच आचरणवाले महंतों और पुजारियों के अधिकार में पहुँच गई थीं। उनमें सब प्रकार के दुराचरण होने लगे थे। उनके विरोध में कुछ सिक्ख तरुणों ने गुरुद्वारों के उद्धार के लिये अक्टूबर, सन् १९२० में अकालियों की एक नई सेना एकत्रित की। इसका उद्देश्य अकालियों की पूर्वपरंपरा के अनुसार त्याग और पवित्रता का व्रत लेना था। इन्होंने कई नगरों में अत्याचारी महंतों को हटाकर मठों पर अधिकार कर लिया। इस समय गुरुनानक की जन्मभूमि ननकाना साहब (जिला शेखूपुरा, वर्तमान पाकिस्तान में) के गुरुद्वारे पर महंत नारायण-दास का अधिकार था। उससे मुक्त करने के लिये भी गुरुमता (प्रस्ताव) पास किया गया। सरदार लक्ष्मणसिंह ने २०० अकालियों के साथ चढ़ाई की, परंतु उनका तथा उनके साथियों का बड़ी निर्दयता के साथ वध कर दिया गया और उन्हें नाना प्रकार की क्रूर यातनाएँ दी गईं। और भी बहुत से मठों को छीनने में अकालियों को अनेक बलिदान करने पड़े। ब्रिटिश सरकार ने पहले महंतों की भरपूर सहायता की परंतु अंत में अकालियों की जीत हुई। सन् १९२५ तक समस्त गुरुद्वारे, शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी के अंतर्गत धारा १९५ के अनुसार आ गए। अकालियों की सहायता में महात्मा गांधी ने बड़ा योग दिया और भारतीय कांग्रेस ने अकाली आंदोलन को पूरा पूरा सहयोग दिया।

सन् १९२५ से गुरुद्वारा ऐक्ट बनने के पश्चात् इसी के अनुसार गुरुद्वारा प्रबंधक समिति का पहला निर्वाचन २ अक्टूबर, १९२६ को हुआ। अब शिरोमणि गुरुद्वारा समिति का निर्वाचन प्रति पाँचवें वर्ष होता है। इस समिति का प्रमुख कार्य गुरुद्वारों की देखभाल, धर्मप्रचार, विद्या का प्रसार इत्यादि है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक समिति के अतिरिक्त एक केंद्रीय शिरोमणि अकाली दल भी अमृतसर में स्थापित है। इसके जत्थे हर जिले में यथाशक्ति गुरुद्वारों का प्रबंध और जनता की सेवा करते हैं। (ब० सि० स्या०)

अकीबा (सन् ५०–१३२ ई०)। फिलस्तीन का यहूदी रब्बी और जाफा के रब्बानी विद्यालय का मुख्य अध्यापक। कहा जाता है, उसके २४ हजार शिष्य थे जिनमे प्रमुख रब्बी मेअर था। सन् १३२ ई० मे फिलस्तीन के यहूदियों ने अपने धर्म और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये जो तोड़ प्रयत्न किया। इस संग्राम का नेता बरकोकबा था। धर्माचार्य अकीबा ने बरकोकबा को यहूदियों का मसीहा घोषित किया। तीन वर्ष के संग्राम के बाद रोमन सेना विजयी हुई। जेरूसलम के एक एक बच्चे का कत्ल हुआ और शहर की समस्त भूमि पर हल चलवाकर उसे बराबर करवा दिया गया। अकीबा की जीवित खाल खिचवा ली गई किंतु उसने हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन किया। यहूदी जिन दस शहीदों को अब तक प्रार्थना के समय याद करते हैं उनमे से एक शहीद अकीबा भी है। (वि० ना० पा०)

अकेलास ठोस (एमोर्फस सॉलिड) उन पदार्थों को कहते है जो गरम करने पर क्रमश नरम हो जाते है और फिर धीरे धीरे उनकी श्यानता (विस्कोसिटी) इतनी कम हो जाती है कि वे चल्य (मोबाइल) बनकर द्रव मे परिवर्तित हो जाते है। इन पदार्थों का कोई निश्चित गलनांक नही होता। ये पदार्थ ठीक ठीक ठोस की परिभाषा के अंतर्गत नही आते। इसलिये इनको अत्यधिक श्यानतावाले अतिशीतलित (सुपरकूल्ड) द्रव भी कहा जाता है। कॉच, मोम, वसा, अलकतरा (डामर) आदि अकेलास ठोस मे से हैं। (नि० सि०)

अकोट महाराष्ट्र राज्य के अकोला जिले मे अकोट ताल्लुके का प्रमुख नगर है (स्थिति २१° ६' उ० अ० एवं ७७° ६' पू० दे०)। इस नगर की स्थिति बागो के बीच होने के कारण अत्यंत सुरम्य है। यह नगर कपास का बडा बाजार है जो शेगाँव, अकोला आदि को भेजी जाती है। यहाँ की सूती दरियाँ बहुत प्रसिद्ध है और यहाँ कपास से बिनौले निकालने एवं स्वच्छ करने के कई कारखाने है। रस्सी बनाने का उद्योग भी यहाँ महत्वपूर्ण है। यहाँ से इमारती लकडी का भी व्यापार होता है। इस नगर के निकटवर्ती क्षेत्रों मे कृषि अधिक होती है और नगर के ५८% से भी अधिक लोग कृषि कार्यों मे लगे हैं। (का० ना० सि०)

अकोला विदर्भ प्रदेश (महाराष्ट्र राज्य) का एक जिला तथा नगर है। यह नगर पुरना की सहायक मुरना नदी के पश्चिमी किनारे पर २०° ४२' उ० अ० तथा ७७° २' पू० दे० पर स्थित है। यह बबई से ६५३ कि० मी० तथा नागपुर से २५१ कि० मी० दूर है और रुई के व्यापार का मुख्य केंद्र है। यहाँ पर इसकी गाँठे तैयार करने के कई कारखाने है। नगर मे एक राजकीय कालेज तथा औद्योगिक संस्था भी है। नगर की जनसंख्या १,१५,७६० (१९६१) है।

अकोला जिला १९° ५०' उ० अ० से २१° १६' उ० अ० तथा ७६° ४५' पू० दे० से ७७° ५२' पू० दे० रेखाओ के बीच स्थित एक समतल प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल १०,५६७ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या १५,००,९९८ (१९७१ ई०) है। यहाँ पर पुरना (ताप्ती की सहायक) नदी अपनी सहायक नदियों के साथ बहती है। इसके उत्तर मे सतपुडा की पहाड़ियाँ फैली हुई है। यहाँ का औसत ताप ३५° से० है तथा वर्षा साल मे लगभग ३० इंच होती है। पुरना घाटी मे सब जगह काली चिकनी मिट्टी पाई जाती है। यहाँ के लगभग पूरे भूभाग मे खेती होती है और मुख्य फसले ज्वार, कपास, दाल तथा गेहूँ हैं। २२ लाख एकड भूमि मे कृषि होती है जिसके ½ भाग मे कपास तथा ¼ भाग मे खरीफ की फसलें बोई जाती हैं। (न० ला०)

अकोस्ता, जोज़ेद (ल० १५३९–१६००) स्पेनी लेखक, जन्म मेदीना देल कांपो में। बड़ी छोटी उम्र मे अकोस्ता जेसुइत पादरी हो गया और १५७१ मे मिशन की सेवा के लिये पेरू गया। १५८२ मे लिमा की परिषद् का वह धार्मिक सलाहकार चुना गया। अगले साल जो पुस्तक उसने प्रकाशित की वह पेरू में छपनेवाली पहली पुस्तक थी। सालामांका के जेसुइत कालेज का वह १५९८ में रेक्टर बना, पर इसके दो साल बाद ही मर गया। (ओं० ना० उ०)

अक्काद ईरान का प्राचीन प्रदेश और नगर, उत्तरी बाबुल (बेबीलोनिया) से अभिन्न; निचले मेसोपोतामिया का वह भाग जो प्राचीन काल मे सुमेर और अक्काद कहलाता था। सुमेर अक्काद सम्मिलित भूप्रसार का अक्काद वह प्रदेश था जहाँ दजला और फरात नदियाँ अपने मुहानो पर एक दूसरे के अत्यंत समीप आ गई है। इसी प्रदेश मे बेबीलोनिया के प्राचीन नगर कीश, बाबुल, सिप्पर, बोर्सिप्पा, कुथा और ओपिस बसे थे।

अक्काद के भग्नावशेषो की सही पहचान मे विद्वानो मे मतभेद है। सर ई० ए० वालिस बज ने १८९१ मे तेल-एल-दोर को खोदकर उसके खडहरो को अक्काद माना। उधर लैंगडन ने सिप्पर याखुरू को अक्काद घोषित किया है। उत्तरी बाबुल मे अक्काद चाहे जहाँ भी रहा हो, यह प्राचीन काल (ल० २५००–२४०० ई० पू०) का अति ऐश्वर्यशाली नगर था जो अपने नाम के विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बन गया। पुराविदों की राय मे इतिहास का पहला साम्राज्य इसी अक्काद के राजाओ ने स्थापित किया। पहले वहाँ अशेमी सुमेरियों का राज था, बाद को कीश के एक शेमी परिवार के विजेता सारगोन ने सुमेरी शक्ति नष्ट कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसने अक्काद को अपनी राजधानी बनाया जिससे बाइबिल की पुरानी पोथी और प्राचीन इतिहास मे उसकी 'अक्काद का सारगोन' (अक्कादीय सारगोन) संज्ञा प्रसिद्ध हुई। (भ० श० उ०)

अक्कादी सुमेर और अक्काद, बेबीलोनिया (पश्चिमी एशिया के कतिपय क्षेत्र का प्राचीन नाम जिसपर रोमन साम्राज्यवादियों का अधिकार था) के दो प्रमुख क्षेत्र थे। इन दोनों की जनता की भाषाई एवं नृवंशशास्त्रीय विभिन्नता को व्यक्त करने एवं दोनों की भाषा एवं नृवंशवर्गों के प्रतिनिधित्व के लिये कालांतर मे सुमेरियन एवं अकादियन (अकूदी या अक्कादी) भाषाओं का प्रचलन हो गया। मसोपोटामिया क्षेत्र मे ३००० ई० पू० से ई० स० तक अक्कादी भाषा बोली जाती थी, कालांतर मे नवीन भाषा का विकास होने लगा। मध्यकाल मे अरब साम्राज्यवाद के विस्तार एवं धर्मांतरण के कारण अक्कादी भाषा भाषी समुदाय का मूलोच्छेदन हो गया, अत यह अब एक मृतभाषा हो गई है। यहाँ के निवासी सामी भाषा परिवार की बोलियाँ बोलते है, जो वास्तव मे अरबी (उत्तरी अरबी) की बोलियाँ है। अक्कादी भाषा कीलाक्षरों (क्यूनिफार्म लिपि) मे लिखी जाती थी। (मो० ला० ति०)

अक्कोराबोनी, वित्तोरिया (१५५७-१५८५) अपने सौदर्य, गुणों और करुण इतिहास के लिये प्रसिद्ध इटालियन महिला। १५७३ मे फ्रांसेस्को पेरेत्ती से विवाह। रोम के अनेक गण्यमान्य पुरुष उसके प्रशंसक थे जिनमे ब्रासियानो का ड्यूक भी था। ड्यूक ने वित्तोरिया के भाई मार्सेलो के साथ मिलकर पेरेत्ती की हत्या कर दी। शीघ्र ही विधवा वित्तोरिया और ड्यूक का विवाह हो गया। ड्यूक पर हत्या का संदेह हुआ। बचने के लिये नवदंपति वेनिस भाग गए। वहीं १५८५ मे ड्यूक की मृत्यु हो गई। उसकी अपार संपत्ति की स्वामिनी बनी वित्तोरिया। दुखिनी विधवा पादुआ मे अपना जीवन बिताने लगी पर शीघ्र ही लुदविको ओरसिनो ने धन के लालच मे उसका वध कर दिया। (स० च०)

अक्याब बर्मा मे अराकान प्रदेश का एक जिला है जो १९° ४७' उ० अ० से २०° २७' उ० अ० तथा ९२° ११' पू० दे० से ९३° ५८' पू० दे० मे फैला है। यह बंगाल की खाडी के उत्तर पूर्वी तट पर स्थित है और इसका क्षेत्रफल ५,१३६ वर्ग मील है। इस जिले का मुख्य नगर अक्याब (स्थिति . २०° ८' उ० अ०, ९२° ५८' पू० दे०) मियू, कालादान तथा लेमरो नदियों के संगम पर स्थित है। यहाँ का अधिकतम ताप ८६° फा० तथा न्यूनतम ७४° फा० है। वार्षिक वर्षा प्राय. १०० इंच से भी अधिक होती है। तटीय प्रदेश मे चावल पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न होता है तथा बाहर भेजा जाता है। मुख्य उद्योग सूती तथा रेशमी कपड़े बुनना, बरतन बनाना, सोने चाँदी का काम तथा जूता तैयार करना है। (न० ला०)

अक्रा गिनी की खाड़ी के तट पर ५° ३१' उ० अ० तथा ०° १२' प० दे० पर स्थित एक मुख्य बंदरगाह तथा घाना की राजधानी है। १९७० की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या ६,६३,८८० थी। जलवायु प्राय.

शुष्क है तथा वर्षा साल में लगभग २६ इंच होती है। यहाँ के मुख्य मार्ग, बैंक तथा व्यापारिक केंद्र होली ट्रिनिटी गिरजाघर से आरंभ होकर एक सीधी पंक्ति में चले गए हैं। विक्टोरियाबर्ग में मुख्य अफसरों के निवासस्थान हैं। यहाँ पर घुड़दौड़ का एक मैदान है। मत्स्य विभाग का प्रधान कार्यालय भी यहाँ है। नारियल यहाँ का मुख्य निर्यात है। (न० ला०)

अक्रिय गैस उन गैसों को कहते हैं जो साधारणतया रासायनिक अभिक्रियाओं में भाग नहीं लेतीं और सदा मुक्त अवस्था में प्राप्य हैं। इनमें हीलियम, निऑन, आर्गान, जीनॉन और रेडॉन सम्मिलित हैं। ये उत्कृष्ट गैसों (Noble gases) के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। समस्त अक्रिय गैसें रंगहीन, गंधहीन तथा स्वादहीन होती हैं। स्थिर दाब और स्थिर आयतन पर प्रत्येक गैस की विशिष्ट उष्माओं का अनुपात १.६७ के बराबर होता है जिससे पता चलता है कि ये सब एक परमाणुक गैसें हैं। उक्त गैसों के उपयोग निम्नलिखित हैं

हीलियम, यह गुब्बारों और वायुपोतों में भरने के काम में आती है। गहरे समुद्र में गोता लगानेवाले साँस लेने के लिये वायु के स्थान पर हीलियम और आक्सीजन का मिश्रण काम में लाते हैं। धातुकर्म में जहाँ अक्रिय वायुमंडल की आवश्यकता होती है, हीलियम का प्रयोग किया जाता है। वायु से यह बहुत हल्की होती है अतः बड़े बड़े हवाई जहाजों के टायरों में इसी गैस को भरा जाता है।

नीऑन, बहुत कम दाब पर नीऑन से भरी ट्यूबों में से विद्युत् गुजारने पर नारंगी रंग की चमक पैदा होती है जिसका विद्युत् संकेतों में उपयोग किया जाता है।

आर्गान २६ प्रतिशत नाइट्रोजन के साथ मिलाकर आर्गान विद्युत् के बल्बों में तथा रेडियो वाल्वों और ट्यूबों में प्रयुक्त होती है।

क्रिप्टान और जीनॉन इनका उपयोग किसी काम में नहीं होता।

रेडान यह घातक फोड़ों और ठीक न होनेवाले घावों के इलाज में काम आती है। (नि० मि०)

अक्रियावाद बुद्ध के समय का एक प्रख्यात दार्शनिक मतवाद। महावीर तथा बुद्ध से पूर्व के युग में भी इस मत का बड़ा बोलबाला था। इसके अनुसार न तो कोई कर्म है, न कोई क्रिया और न कोई प्रयत्न। इसका खंडन जैन तथा बौद्ध धर्म ने किया, क्योंकि ये दोनों प्रयत्न, कार्य, बल तथा वीर्य की सत्ता में विश्वास रखते हैं। इसी कारण इन्हें कर्मवाद या क्रियावाद कहते हैं। बुद्ध के समय पूर्णकश्यप नामक आचार्य इस मत के प्रख्यात अनुयायी बतलाए गए हैं (द्र० 'ब्रह्मजालसुत्त')। (ब० उ०)

अक्रूर यादववंशी कृष्णकालीन एक मान्य व्यक्ति। ये सात्वतवंश में उत्पन्न वृष्णि के पौत्र थे। इनके पिता का नाम श्वफल्क था जिनके साथ काशी के राजा ने अपनी पुत्री गांदिनी का विवाह किया था। इन्हीं दोनों की संतान होने से अक्रूर 'श्वाफल्कि' तथा 'गांदिनीनंदन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। मथुरा के राजा कंस की सलाह पर बलराम तथा कृष्ण को वृंदावन से मथुरा लाए (भागवत १०।४०)। स्यमंतक मणि से भी इनका बहुत संबंध था। अक्रूर तथा कृतवर्मा द्वारा प्रोत्साहित होने पर शतधन्वा ने कृष्ण के श्वसुर तथा सत्यभामा के पिता सत्राजित् का वध कर दिया, फलतः क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मिथिला तक पीछा कर मार डाला, पर मणि उसके पास नहीं निकली। वह मणि अक्रूर के ही पास थी जो डरकर द्वारिका से बाहर चले गए थे। उन्हें मनाकर कृष्ण मथुरा लाए तथा अपने बंधुवर्गों में बढ़नेवाले कलह को उन्होंने शांत किया (भागवत १०।५७)। (ब० उ०)

अक्रे ब्राजील की एक नदी है जो बोलिविया तक ब्राजील को अलग करती है। ८° ४५' द० अ० पर यह पुरुस नदी में जाकर मिल जाती है। अक्रे ब्राजील का एक प्रदेश भी है जो उत्तरी बोलिविया तथा दक्षिण पूर्वी पेरू के बीच में पड़ता है। पहले यह बोलिविया के अधीन था तथा यहाँ पर ५९,१३९ वर्ग मील क्षेत्र में रबर के वृक्षों का बाहुल्य था। बाद में ब्राजील सरकार ने इसपर आक्रमण किया और अनेक वर्षों तक दोनों देशों में झगड़ा चलता रहा। १८९९ ई० में अक्रे ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। १९०३ ई० में ब्राजील ने बोलिविया को १,००,००,००० डालर की क्षतिपूर्ति देकर अक्रे को अपने में सम्मिलित कर लिया। अक्रे की राजधानी रिओ ब्राको है, जिसकी जनसंख्या २,०३,९०० (१९७०) है। (न० ला०)

अक्रोन ओहायो (संयुक्त राज्य, अमरीका) का एक नगर है, जो छोटी कुयाहिगो नदी पर स्थित है। इसकी स्थापना पहले पहल सन् १८१८ में हुई, १८६५ में यह नगर हो गया। इसका क्षेत्रफल ५४.३ वर्ग मील तथा जनसंख्या २,९९,३४१ (१९६७) है। रबर टायर बनाने का यह बहुत बड़ा केंद्र है। यहाँ पर रासायनिक पदार्थ, पत्थर के सामान, चीनी मिट्टी के बरतन, संगमरमर के खिलौने, जहाज और मछली फँसाने के उपकरण तैयार किए जाते हैं। यहाँ का विश्वविद्यालय १९१३ में बना। लगभग ४७५ एकड़ भूमि में यहाँ पर २६ प्रमोदवन (पार्क) हैं। (न० ला०)

अक्रोपोलिस इसका शाब्दिक अर्थ 'नगर का ऊर्ध्व भाग' है। प्राचीन यूनानियों ने रक्षा की दृष्टि से नगरों की रचना अधिकतर ऊँची खड़ी पहाड़ियों पर की थी। कालांतर में ये ही स्थल बड़े नगरों के केंद्र बन गए। नगरों का विस्तार उन्हीं के चारों ओर और नीचे होता चला गया। पहले इस शब्द का प्रयोग केवल एथेंस, अरगोस, थीब्ज, कोरिंथ आदि के लिये होता था, पर बाद में ऐसे सभी नगरों के लिये होने लगा। इनमें सबसे अधिक ख्याति एथेंस के अक्रोपोलिस की है (द्र० 'एथेंस')। (ग्रा० ना० उ०)

अक्लूज महाराष्ट्र राज्य के शोलापुर जिले के मलसिरा ताल्लुका का एक प्रसिद्ध नगर है जो नीरा नदी पर मलसिरा से छह मील उत्तर पूर्व दिशा में स्थित है। पहले यह नगर सूत के व्यापार के लिये बहुत प्रसिद्ध था, परंतु अब यह व्यापार कम हो गया है। यहाँ पर एक डाकघर तथा एक जीर्ण दुर्ग है। प्रति सोमवार को यहाँ साप्ताहिक हाट लगती है। क्षेत्रफल २.५२ वर्ग मील है। (न० ला०)

अक्षकुमार रावण और मंदोदरी का पुत्र। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार हनुमान द्वारा अशोकवाटिका के विध्वंस को रोकने के लिये पाँच सेनापति रावण द्वारा भेजे गए किंतु वे सब हनुमान द्वारा हत हुए। तब रावण ने अक्ष को भेजा। आठ घोड़ों से जुती गाड़ी पर सवार यह अशोकवन पहुँचा और हनुमान से युद्ध करते करते मारा गया। प्रचलन में इसे अक्षयकुमार भी कहा जाता है। (म०)

अक्षक्रीडा जुए का खेल अक्षक्रीडा या अक्षद्यूत के नाम से विख्यात है। वेद के समय से लेकर आज तक यह भारतीयों का अत्यंत लोकप्रिय खेल रहा है। ऋग्वेद के एक प्रख्यात सूक्त (१०।३४) में कितव (जुआड़ी) अपनी दुर्दशा का रोचक चित्र खींचता है कि जुए में हार जाने के कारण उसकी भार्या तक उसे नहीं पूछती, दूसरों की बात ही क्या? वह स्वयं शिक्षा देता है—अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व (ऋ० १०।३४।१३)। महाभारत जैसा प्रलयकारी युद्ध भी अक्षक्रीडा के परिणामस्वरूप ही हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा काशिका के अनुशीलन से अक्षक्रीडा के स्वरूप का पूरा परिचय मिलता है। पाणिनि उसे 'आक्षिक' कहते हैं। (अष्टा० ४।४।२)। पतंजलि ने सिद्धहस्त द्यूतकर के लिये 'अक्षकितव' या 'अक्षधूर्त' शब्दों का प्रयोग किया है।

वैदिक काल में द्यूत की साधन सामग्री का निश्चित परिचय नहीं मिलता, परंतु पाणिनि के समय (पंचम शती ई० पू०) में यह खेल 'अक्ष' तथा 'शलाका' से खेला जाता था। अर्थशास्त्र का कथन है कि द्यूताध्यक्ष का यह काम है कि वह जुआड़ियों को राज्य की ओर से खेलने के लिये अक्ष और शलाका दिया करे (३।२०)। किसी प्राचीन काल में अक्ष से तात्पर्य बहेड़ा (बिभीतक) के बीज से था। परंतु पाणिनि काल में अक्ष चौकोनी गोटी और शलाका आयताकार गोटी होती थी। इन गोटियों की संख्या पाँच होती थी, ऐसा अनुमान तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१०) तथा अष्टाध्यायी से भली भाँति लगाया जा सकता है। ब्राह्मणों के ग्रंथों में इनके नाम भी पाँच थे—अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि।

काशिका इसी कारण इस खेल को 'पंचिका द्यूत' के नाम से पुकारती है (अष्टा० २।१।१० पर वृत्ति)। पाणिनि के 'अक्षशलाका संख्या परिणा' (२।१।१०) सूत्र में उन दशाओं का उल्लेख है जिनमें गोटी फेंकनेवाले की हार होती थी और इस स्थिति की सूचना के लिये अक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि तथा चतुष्परि पदों का प्रयोग संस्कृत में किया जाता था।

काशिका के वर्णन से स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त पाँचों गोटियाँ चित्त गिरें या पट्ट गिरें, तो दोनों अवस्थाओं में गोटी फेंकनेवाले की जीत होती थी (यत्र यदा सर्वे उत्तान पतन्ति अवाच्यो वा, तदा पातयिता जयति। तस्यैवास्य विद्यातोऽन्यथा पाते जायते—काशिका २।१।१० पर)। अर्थात् यदि एक गोटी अन्य गोटियों की अवस्था से भिन्न होकर चित्त या पट्ट पड़े, तो हार होती थी और इसके लिये एकपरि शब्द प्रयुक्त होता था। 'अक्षपरि' तथा 'शलाकापरि' एकपरि के लिये ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार दो गोटियों से होनेवाली हार को 'द्विपरि' तीन से 'त्रिपरि' तथा चार की हार को 'चतुष्परि' कहते थे। जीतने का दावँ 'कृत' और हारने का दावँ 'कलि' कहलाता था। बौद्ध ग्रंथों में भी कृत तथा कलि का यह विरोध संकेतित किया गया है (कलि हि धीरान, कट मुगान)।

जूए में बाजी भी लगाई जाती है और इस द्रव्य के लिये पाणिनि ने 'ग्लह' शब्द को सिद्धि मानी है (अक्षेषु ग्लह, अष्टा० ३।३।७०)। महाभारत के प्रख्यात जुआड़ी शकुनि का यह कहना ठीक ही है कि बाजी लगाने के कारण ही जुआ लोगों में इतना बदनाम है। महाभारत, अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों से पता चलता है कि जुआ 'सभा' में खेला जाता था। स्मृति ग्रंथों में जुआ खेलने के नियमों का पूरा परिचय दिया गया है। अर्थशास्त्र के अनुसार जुआड़ी को अपने खेल के लिये राज्य का द्रव्य देना पड़ता था। बाजी लगाए गए धन का पाँच प्रतिशत राज्य को कर के रूप में प्राप्त होता था। पंचम शती में उज्जयिनी में इसके विपुल प्रचार की सूचना मृच्छकटिक नाटक से हमें उपलब्ध होती है।

सं० ग्रं०—वैदिक इंडेक्स, भाग १, १९५८, वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनिकालीन भारत, काशी, १९५६। (ब० उ०)

अक्षपाद न्यायसूत्र के रचयिता आचार्य। प्रख्यात न्यायसूत्रों के निर्माता का नाम पद्मपुराण (उत्तर खंड, अध्याय २६३), स्कंदपुराण (कालिका खंड, अ० १७), गांधर्वतंत्र, नैषधचरित (सर्ग १७) तथा विश्वनाथ की न्यायवृत्ति में महर्षि गोतम (या गौतम) ठहराया गया है। इसके विपरीत न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका तथा न्यायमंजरी आदि विख्यात न्यायशास्त्रीय ग्रंथों में 'अक्षपाद' इन सूत्रों के लेखक माने गए है। महाकवि भास के अनुसार न्यायशास्त्र के रचयिता का नाम 'मेधातिथि' है (प्रतिमा नाटक, पंचम अंक)। इन विभिन्न मतों की एकवाक्यता सिद्ध की जा सकती है। महाभारत (शांतिपर्व, अ० २६५) के अनुसार 'गौतम मेधातिथि' दो विभिन्न व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति है (मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थित)। 'गोतम' (या गौतम) स्पष्टत वंशबोधक आख्या है तथा 'मेधातिथि' व्यक्तिबोधक संज्ञा है। 'अक्षपाद' का शब्दार्थ है 'पैरों में आँखवाला'। फलत. इस नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये अनेक कहानियाँ गढ़ ली गई हैं जो सर्वथा कल्पित, निराधार और प्रमाणशून्य है।

न्यायसूत्रों में पाँच अध्याय है और ये ही न्यायदर्शन (या आन्वीक्षिकी) के मूल आधार ग्रंथ हैं। इनकी समीक्षा से पता चलता है कि न्यायदर्शन आरंभ में 'अध्यात्मप्रधान' था अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना ही इसका उद्देश्य था। तर्क तथा युक्ति का यह सहारा अवश्य लेता था, परंतु आत्मा के स्वरूप का परिचय इन साधनों के द्वारा कराना ही इसका मुख्य तात्पर्य था। उस युग का सिद्धांत था कि जो प्रक्रिया आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करा सकती है वही ठीक तथा मान्य है। उससे वितरीप मान्य नहीं होती :

> यया यया भवेत् प्रसा व्युत्पत्ति· प्रत्यगात्मनि।
> सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा॥

परंतु आगे चलकर न्यायदर्शन में उस तर्कप्रणाली की विशेषत: उद्‌भावना की गई जिसके द्वारा अनात्मा से आत्मा का पृथक् रूप भली भाँति समझा जा सकता है और जिसमें वाद, जल्प, वितंडा, छल, जाति आदि साधनों का प्रयोग होता है। इन तर्कप्रधान न्यायसूत्रों के रचयिता 'अक्षपाद' प्रतीत होते है। वर्तमान न्यायसूत्रों में दोनों युगों के चिंतनों की उपलब्धि का स्पष्ट निर्देश है। न्यायदर्शन के मूल रचयिता गौतम मेधातिथि है और उसके प्रतिसंस्कर्ता—नवीन विषयों का समावेश कर मूल ग्रंथ के संशोधक—अक्षपाद है। आयुर्वेद का प्रख्यात ग्रंथ 'चरकसंहिता' भी इसी 'संस्कारपद्धति' का परिणत आदर्श है। मूल ग्रंथ के प्रणेता महर्षि अग्निवेश है, परंतु इसके प्रतिसंस्कर्ता चरक माने जाते है। न्यायसूत्र भी इसी प्रकार अक्षपाद द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रंथ है।

सं० ग्रं०—डॉ० विद्याभूषण हिस्ट्री ऑव् इंडियन लॉजिक, कलकत्ता, तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या और भूमिका), काशी, सं० २०१०। (ब० उ०)

अक्षयकुमार देवसेनानी स्कंद अथवा कार्तिकेय का नाम है। वे महादेव के पुत्र थे, कृत्तिका ने उनका पालन किया था। कालिदास ने 'कुमारसंभव' में पार्वतीपरिणय तथा कुमारोत्पत्ति का विशद वर्णन किया है। (च० म०)

अक्षयतृतीया वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया अक्षयतृतीया कहलाती है। हिंदुओं के अनेक धार्मिक पर्वों की तरह इस तिथि का भी स्नान, दान संबंधी माहात्म्य है, परंतु कृषकों के लिये यह एक बड़ा पर्व इसलिये है कि इसी दिन वे विधिपूर्वक बीजारोपण का काम प्रारंभ करते हैं। (च० म०)

अक्षयनवमी कार्तिक शुक्लपक्ष की नवमी अक्षयनवमी कहलाती है। यों सारे कार्तिक मास में स्नान का माहात्म्य है, परंतु नवमी का स्नान करने से अक्षय पुण्य होता है, ऐसा हिंदुओं का विश्वास है। इस दिन अनेक लोग व्रत भी करते है और कथा वार्ता में दिन बिताते हैं। (च० म०)

अक्षयवट पुराणों में वर्णन आता है कि कल्पांत या प्रलय में जब समस्त पृथ्वी जल में डूब जाती है उस समय भी वट का एक वृक्ष बच जाता है जिसके एक पत्ते पर ईश्वर बालरूप में विद्यमान रहकर सृष्टि के अनादि रहस्य का अवलोकन करते है। यह वट का वृक्ष प्रयाग में त्रिवेणी के तट पर आज भी अवस्थित कहा जाता है। अक्षयवट के संदर्भ कालिदास के 'रघुवंश' तथा चीनी यात्री युवान् च्वांग के यात्रा विवरण में मिलते है। (च० म०)

अक्षर शब्द का अर्थ अनश्वर है अर्थात् जो न घट सके, न नष्ट हो सके। इसका प्रयोग पहले वाणी या वाक् के लिये एवं शब्दांश के लिये होता था। वर्ण के लिये भी अक्षर का प्रयोग किया जाता रहा। यही कारण है, लिपिसंकेतों द्वारा व्यक्त वर्णों के लिये भी आज अक्षर शब्द का प्रयोग सामान्य जन करते है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन ने अक्षर को अंग्रेजी सिलेबल का अर्थ प्रदान कर दिया है, जिसमें स्वर, स्वर तथा व्यंजन, अनुस्वार सहित स्वर या व्यंजन ध्वनियाँ सम्मिलित मानी जाती है। एक ही आघात या बल में बोली जानेवाली ध्वनि या ध्वनि समुदाय की इकाई को अक्षर कहा जाता है। इकाई की पृथकता का आधार स्वर या स्वरवत् (वोकॉयड्) व्यंजन होता है। व्यंजनध्वनि किसी उच्चारण में स्वर का पूर्व या पर अंग बनकर ही आती है। अस्तु, अक्षर में स्वर ही मेरुदंड है। अक्षर से स्वर को न तो पृथक् ही किया जा सकता है और न बिना स्वर या स्वरवत् व्यंजन के अक्षर का निर्माण ही संभव है। उच्चारण में यदि व्यंजन मोती की तरह है तो स्वर धागे की तरह। यदि स्वर सशक्त सम्राट् है तो व्यंजन अशक्त राजा। इसी आधार पर प्राय अक्षर को स्वर का पर्याय मान लिया जाता है, किंतु ऐसा है नहीं, फिर भी अक्षरनिर्माण में स्वर का अत्यधिक महत्व होता है। कतिपय भाषाओं में व्यंजन ध्वनियाँ भी अक्षरनिर्माण में सहायक सिद्ध होती है। अंग्रेजी भाषा में न्, र्, ल् जैसी व्यंजन ध्वनियाँ स्वरवत् भी उच्चरित होती है एवं स्वरध्वनि के समान अक्षरनिर्माण में सहायक सिद्ध होती हैं। अंग्रेजी सिलेबल के लिये हिंदी में अक्षर शब्द का प्रयोग किया जाता है। डा० रामविलास शर्मा ने सिलेबल के लिये 'स्वरिक' शब्द का प्रयोग किया है (भाषा और समाज, पृ० ५९)। चूँकि अक्षर शब्द का भाषा और व्याकरण के इतिहास में अनेक अर्थच्छाया के लिये

प्रयोग किया गया है, इसलिये सिलेबल के अर्थ मे इसके प्रयोग से भ्रम-सृजन की आशंका रहती है।

शब्द के उच्चारण में जिस ध्वनि पर शिखरता या उच्चता होती है वही अक्षर या सिलेबल होता है, जैसे 'हाथ' मे 'आ' ध्वनि पर। 'इस' शब्द मे एक अक्षर है। 'अकल्पित' शब्द मे तीन अक्षर हैं यथा अ + कल् + पित्, 'आजादी' मे तीन यथा आ + जा + दी, अर्थात् शब्द मे जहाँ जहाँ स्वर के उच्चारण की पृथकता पाई जाए वहाँ वहाँ अक्षर की पृथकता होती है।

ध्वनि उत्पादन की दृष्टि से विचार करने पर फुफ्फुस संचलन की इकाई को अक्षर या स्वरिक (सिलेबल) कहते है, जिसमें एक ही शीर्षध्वनि होती है। शरीररचना की दृष्टि से अक्षर या स्वरिक को फुफ्फुस स्पंदन भी कह सकते है, जिसका उच्चारण ध्वनितंत्र मे अवरोधन होता है। जब ध्वनिखंड या अल्पतम ध्वनिसमूह के उच्चारण के समय अवयवसंचलन अक्षर में उच्चतम हो तो वह ध्वनि अक्षरवत् होती है। स्वर ध्वनियाँ बहुधा अक्षरवत् उच्चरित होती है एवं व्यंजन ध्वनियाँ क्वचित्। शब्दगत उच्चारण की नितांत पृथक् इकाई को अक्षर कहा जाता है, यथा (१) एक अक्षर के शब्द 'आ', 'स्वास्थ्य', (२) दो अक्षर के शब्द 'भारतीय', 'उर्दू', (३) तीन अक्षर के शब्द 'बालिए', 'जमानत', (४) चार अक्षर के शब्द 'अधुनातन', 'कठिनाई', (५) पाँच अक्षर के शब्द 'अव्यावहारिकता', 'अमानुषिकता'। किसी शब्द में अक्षरों की संख्या इस बात पर कतई निर्भर नहीं करती कि उसमें कितनी ध्वनियाँ है, बल्कि इस बात पर कि शब्द का उच्चारण कितने आघात या झटके में होता है अर्थात् शब्द में कितनी अव्यवहित ध्वनि इकाइयाँ है। अक्षर में प्रयुक्त शीर्षध्वनि के अतिरिक्त शेष ध्वनियों को अक्षरांग या गह्वर ध्वनि कहा जाता है। 'चार' में एक अक्षर (सिलेबल) है जिसमें 'आ' शीर्षध्वनि तथा 'च' एवं 'र' गह्वर ध्वनियाँ है।

(भो० ला० ति०)

अक्षर अनन्य के विषय मे प्रसिद्ध है कि ये सेनुहरा (दतिया) के महाराज पृथ्वीचंद के दीवान थे। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों के अनुसार इनका जन्म सं० १७१० वि० (१६५३ ई०) मे सेनुहरा के एक कायस्थ परिवार में हुआ। विरक्ति के कारण इन्होंने दीवान का पद त्याग दिया और पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध महाराजा छत्रसाल इनके शिष्य बन गए थे। ज्ञानयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, विवेकदीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश, राजयोग, सिद्धांतबोध आदि ग्रंथों के ये प्रणेता माने जाते है। इनमें अद्वैत वेदांत के गूढ़ रहस्यों का सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। दुर्गा सप्तशती का हिंदी पद्यानुवाद भी इन्होंने किया है। ये संत कवि माने जाते हैं लेकिन संतों की सभी प्रवृत्तियाँ इनमें नहीं मिलती। इनके ग्रंथों में वैष्णव धर्म के साधारण देवताओं के प्रति आस्था के साथ साथ कर्मकांड के प्रति झुकाव भी मिलता है। इनके काव्य ग्रंथों में दोहा, चौपाई, पद्धरि इत्यादि छंदों का प्रयोग हुआ है।

(कै० च० श०)

अक्षांश भूमध्यरेखा से किसी भी स्थान की उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की ओर की कोणीय दूरी का नाम है। भूमध्यरेखा को ०° का अक्षांश रेखा मान लिया गया है। भूमध्यरेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर की सभी दूरियाँ उत्तरी अक्षांश और दक्षिणी ध्रुव की ओर की सभी दूरियाँ दक्षिणी अक्षांश में मापी जाती है। ध्रुवों की ओर बढ़ने पर भूमध्यरेखा से अक्षांशों की दूरी बढ़ने लगती है। इसके अतिरिक्त सभी अक्षांश रेखाएँ परस्पर समानांतर और पूर्ण वृत्त होती है। ध्रुवों की ओर जाने से वृत्त छोटे होने लगते है। ९०° का अक्षांश ध्रुव पर एक बिंदु में परिवर्तित हो जाता है।

पृथ्वी के किसी स्थान से सूर्य की ऊँचाई उस स्थान के अक्षांश पर निर्भर करती है। न्यून अक्षांशों पर दोपहर के समय सूर्य ठीक सिर के ऊपर रहता है। इस प्रकार पृथ्वी के तल पर पड़नेवाली सूर्य की किरणों की गरमी विभिन्न अक्षांशों पर भिन्न भिन्न होती है। पृथ्वी के तल पर के किसी भी देश अथवा नगर की स्थिति का निर्धारण उस स्थान के अक्षांश और देशांतर (द्र० 'देशांतर') के द्वारा ही किया जाता है।

किसी स्थान के अक्षांश को मापने के लिये अब तक खगोलकीय अथवा त्रिभुजीकरण नाम की दो विधियाँ प्रयोग में लाई जाती रही हैं। किंतु इसकी ठीक ठीक माप के लिये १९७१ में श्री निरंकार सिंह ने भूघूर्णनमापी नामक यंत्र का आविष्कार किया है जिससे किसी स्थान के अक्षांश की माप केवल अंश (डिग्री) में ही नहीं अपितु कला (मिनट) में भी प्राप्त की जा सकती है। (नि० सिं०)

अक्षोभ्य (१) तंत्रोक्त द्वितीय विद्या के उपासक एक ऋषि का नाम है जो उक्त विद्या के देवता के सिर पर नागरूप में स्थित है।

(२) अक्षोभ्य भगवान् बुद्ध का भी एक नाम है तथा पंचध्यानी बुद्धों में से एक बुद्ध को भी अक्षोभ्य संज्ञा से अभिहित किया जाता है। विशेष द्र० 'भारतीय देवी देवता'। (कै० च० श०)

अक्षौहिणी भारतीय गणना के अनुसार सेना की सबसे बड़ी इकाई। 'अक्षौहिणी' शब्द का अर्थ है रथों के समूह से युक्त सेना (अक्ष = रथ, ऊहिनी = समूह से युक्त)। परंपरा के अनुसार भारतवर्ष में सेना के चार विभाग या अंग माने जाते थे—रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल (पदाति)। इस चतुरंगिणी सेना की सबसे छोटी इकाई का नाम था पत्ति, जिसमें एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े तथा पाँच पैदल सैनिक सम्मिलित माने जाते थे। पत्ति, सेनामुख, गुल्म, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी सेना के ये ही क्रमशः बढ़नेवाले स्कंध थे जिनमें अंतिम को छोड़कर शेष अपने पूर्व की संख्या से तिगुने होते थे। अर्थात् पत्ति से तिगुना होता था सेनामुख, तीन सेनामुख मिलकर एक गुल्म होता था। तीन गुल्मों को एक वाहिनी, तीन वाहिनियों की एक पृतना, तीन पृतनाओं का एक चमू और तीन चमू की एक अनीकिनी होती थी। १० अनीकिनी की एक अक्षौहिणी होती थी जिसमें २१, ८७० रथ तथा इतने ही (२१,८७०) हाथी होते थे, रथ में जुते घोड़ों के अतिरिक्त घोड़ों की संख्या रथों से तिगुनी (६५, ६१०) होती थी, और पैदल सैनिकों की संख्या रथ से पंचगुना (१,०९,३५०)। इस प्रकार अक्षौहिणी की पूरी संख्या दो लाख, अठारह हजार, सात सौ (२,१८,७००) होती थी। इस गणना का निर्देश महाभारत के आदिपर्व में हुआ है। (ब० उ०)

अक्सकोव, सर्जी तिमोफियेविच सुप्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार और संस्मरणकार। अक्सकोव का जन्म ऊफा (ओरन्वर्ग) में २० सितंबर, १७९१ को हुआ था और प्रारंभ से ही उसे प्राकृतिक दृश्यों के प्रति सहज आकर्षण था। वह कजान विश्वविद्यालय का स्नातक था। साहित्य के क्षेत्र में उसे गोगोल से अधिक सहायता मिली जिसके विषय में उसने संस्मरण लिखे है। अक्सकोव के कुछ वर्ष यूराल के चरागाह (स्टेपीज) में भी बीते थे जहाँ दस वर्ष तक उसने कृषि कार्य अपना रखा था, किंतु उस क्षेत्र में उसे सफलता न मिली और आगे चलकर वह मास्को चला आया जहाँ गोगोल से मिलकर (१८२२ ई०) उसने एक साहित्यिक संस्था का संगठन किया। अक्सकोव रूसी जीवन का अभिचित्रण करने में बड़ा सफल हुआ है। उसके विषय में एक लेखक ने यहाँ तक लिखा है कि टॉलस्टाय के 'युद्ध और शांति' (वार ऐंड पीस) में जिस तरह का सुंदर चित्रण पाया जाता है उससे किसी प्रकार कम सफलता अक्सकोव को उसकी रचनाओं में नहीं मिली है। अक्सकोव की कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ है—क्रानिकिल्स ऑव ए रशियन फेमिली (१८५६, एम० सी० बेवर्ली का अंग्रेजी रूपांतर), रिकलेक्शंस ऑव गोगोल। (च० म०)

अक्सब्रिज इंग्लैंड के मिडिलसेक्स जनपद का एक नगर है जो लंदन से १५½ मील दूर है। यहाँ लकड़ी के सामान बनाने के बहुत से कारखाने है। आटा पीसने की मिलें तथा इंजीनियरिंग के सामान बनाने के भी बड़े बड़े कारखाने है। यह व्यवसायी नगर है। यहाँ दो प्रसिद्ध मेले भी लगते हैं।

अक्सब्रिज (अमरीका)—संयुक्त राज्य, अमरीका, के मासाचूसेट्स राज्य का एक नगर है। यह नगर २५६ फुट की ऊँचाई पर ब्लैकस्टोन नदी के किनारे वरसेस्टर से १५ मील दक्षिण पूर्व की ओर स्थित है। रेलवे लाइनों से यह देश के सभी प्रमुख भागों से संबद्ध है। जलविद्युत् के विकास से नगर में पर्याप्त औद्योगिक उन्नति हुई है। (इ० इ० सिं०)

अखरोट गंधयुक्त विशाल सुंदर पतझड़ीय वृक्ष है जिसकी सुगंध अपने ढंग की निराली होती है। इसकी ऊँचाई १३–३३ मीटर और तने की परिधि ३–६ मीटर तक होती है। इसका छत्र फैला हुआ होता है। बड़े वृक्ष की छाल भूरी, खुरदुरी तथा लंबी लंबी दरारों से युक्त होती है। जाड़ों में पेड़ पत्रहीन हो जाता है और नई पत्तियाँ फरवरी में आती हैं। इसकी संयुक्त पत्तियाँ १५ से ३० सेंटीमीटर तक लंबी होती हैं और तने पर एकांतरत लगी रहती हैं। अखरोट फरवरी से अप्रैल तक फूलता है। इसके फूल हरे रंग के तथा एकलिंगी होते हैं, लेकिन उसी वृक्ष पर नर और मादा दोनों प्रकार के फूल आते हैं। कई नर फूल एक लटकती हुई मंजरी (कैटकिन) में और मादा फूल शाखाओं के सिरों पर १ से ३ तक लगे रहते हैं। इसके फल जुलाई से सितंबर तक पकते हैं। इसका गुठलीदार फल (ड्रूप) अंडाकार और पाँच सेंटीमीटर तक लंबा होता है। इसमें एक हरा, मोटा, मांसल छिलका होता है जिसके अंदर कड़ा कठफल (नट) रहता है। फल में केवल एक बीज होता है। बीज का भक्ष्य भाग या गिरी दो झुर्रीदार बीजपत्रों का बना होता है।

वनस्पतिशास्त्री अखरोट को जुगलैंस रीजिया कहते हैं और इसका समावेश इसी वृक्ष को आदर्श मानकर इसी के नाम पर "अक्षोट कुल" या "जुगलैंडेसी" में करते हैं। अंग्रेजी में इसे वालनट, हिंदी एवं बँगला में अखरोट, और संस्कृत में अक्षोट या अक्षोड कहते हैं। इंग्लैंड में बाजार में बिकनेवाले अखरोट को फारसी अखरोट (पर्शियन वालनट) कहते हैं। उसी को अमरीकावाले कभी फारसी अखरोट और कभी अंग्रेजी अखरोट कहते हैं। अखरोट का मूलस्थान हिमालय, हिंदूकुश, उत्तरी ईरान और कार्केशिया है। इसके वृक्ष भारत में हिमालय के उच्च पर्वतीय क्षेत्रों, जैसे काश्मीर, कुमायूँ, नेपाल, भूटान, सिक्किम इत्यादि में समुद्रतल से २,१३५ से ३,०५० मीटर तक की ऊँचाई पर जंगली रूप में उगे हुए पाए जाते हैं, परंतु ९१५ से २,१३५ मीटर तक ये उत्तम लकड़ी तथा फलों के लिये उगाए जाते हैं।

अखरोट

अखरोट के वृक्ष को प्रकाश की अधिक आवश्यकता होती है और खाद युक्त दोमट मिट्टी इसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। अमरीका में वृक्षों को प्रति वर्ष हरी खाद दी जाती है और कई बार सींचा भी जाता है। सामान्यतः अखरोट के पौधे बीजों से उगाए जाते हैं। पौद तैयार करने के लिये बीजों को पकने के मौसम में ताजे पके फलों से एकत्रकर तुरत बो देना चाहिए, क्योंकि बीजों को अधिक दिन रखने पर उनकी अंकुरण शक्ति घटती जाती है। एक वर्ष तक गमलों में लगाकर बाद में पौधों को निश्चित स्थानों पर लगभग पचास पचास फुट के अंतर पर रोपना चाहिए। अमरीका में अब अच्छी जातियों की कलमें लगाई जाती हैं या चश्मे (बड) बाँधे जाते हैं।

अखरोट के पेड़ की महत्ता उसके बीजों, पत्तियों तथा लकड़ी के कारण है। इसकी लकड़ी हलकी परंतु मजबूत होती है। यह कलापूर्ण साजसज्जा की सामग्री (फर्नीचर) बनाने, लकड़ी पर नक्काशी करने और बंदूक तथा राइफल के कुंदों (गन स्टॉक) के लिये सर्वोत्तम समझी जाती है। इसका औसत भार २०.५३ किलोग्राम प्रति वर्ग फुट है। इसके फल के बाहरी छिलके से एक प्रकार का रंग तैयार किया जाता है जो लकड़ी रँगने और कच्चा चमड़ा सिझाने के काम में आता है। बीज की स्वादिष्ट गिरी बड़े चाव से खाई जाती है। गिरी से तेल भी निकाला जाता है जो खाया, जलाया तथा चित्रकारों द्वारा काम में लाया जाता है। अखरोट के वृक्ष की छाल, पत्तियाँ, गिरी, फल के छिलके इत्यादि चिकित्सा में भी काम आते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इसकी गिरी में कामोद्दीपक गुण होते हैं और यह अम्लपित्त (हार्ट बर्न), उदरशूल (कॉलिक), पेचिश इत्यादि में लाभकर समझी जाती है। गिरी का तेल रेचक, पित्त के लिये गुणकारी तथा पेट से कृमि निकालने में भी उत्तम समझा जाता है। पेड़ की छाल में कृमिनाशक, स्तंभक तथा शोधक गुण होते हैं। पत्ती एवं छाल का क्वाथ त्वचा की अनेक बीमारियों, जैसे अगियासन (हरपीज), उकवत (एक्जीमा), गंडमाला तथा व्रणों में लाभ पहुँचाता है। इसकी पत्तियाँ उत्तम चारे का काम देती हैं।

कैलिफोर्निया (अमरीका) में अखरोट बहुत अधिक मात्रा में उगाया जाता है। (ना० मि० प०)

अखा भगत गुजराती कवि थे जिनका समय १५९१–१६५६ ई० माना जाता है। ये अहमदाबाद के निवासी थे और बाद में वहीं की टकसाल में मुख्य अधिकारी हो गए थे। संसार से मन के विरक्त होने पर घर द्वार छोड़कर ये तीर्थयात्रा के लिये निकले और गुरु की खोज करते हुए काशी पहुँचे। ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर पुनः अहमदाबाद आए। इन्होंने पंचीकरण, गुरुशिष्यसंवाद, अनुभवबिंदु, चित्तविचारसंवाद, आदि ग्रंथों की रचना की। मिथ्याचार, दंभ, दुराग्रह, सामाजिक दुर्गुणों आदि पर भी इन्होंने कठोर प्रहार किया है। (ना० ना० उ०)

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान की स्थापना नई दिल्ली में २ जून, १९५६ को भारत सरकार द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर की गई थी :

१. स्नातकपूर्व और स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान शिक्षा की सभी शाखाओं में अध्यापन के ऐसे आदर्शों को विकसित करना जिससे वे भारतवर्ष के लिये आयुर्विज्ञान शिक्षा के उच्च स्तर का प्रदर्शन कर सकें।

२. स्वास्थ्य प्रक्रिया की सभी महत्वपूर्ण शाखाओं में कर्मचारियों के उच्चतम प्रशिक्षणों के लिये एक ही स्थान पर सभी शिक्षण सुविधाओं को उपलब्ध, करना तथा

३. स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान शिक्षा में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये इस संस्थान द्वारा जो महत्वपूर्ण कार्य किए गए हैं उनमें से कुष्ठ, सिरोसिस, कैंसर जैसे रोगों पर किए गए कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं जिनके कारण देश विदेश में इस संस्थान की विशेष प्रसिद्धि हुई है। इस संस्थान में इन रोगों की चिकित्सा के लिये बहुत दूर दूर से रोगी आते हैं। (नि० मि०)

अगर एक कोलिलीय (कोलायडल) पदार्थ है जिसे विभिन्न प्रकार के लाल शैवालों से प्राप्त किया जाता है। इसमें गैलक्टोस और सल्फेट होता है। यह विभिन्न प्रकार से प्रयोगों में लाया जाता है। आरेचक (लैक्जेटिव) के रूप में इसका उपयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रयोगशाला में इसका उपयोग सूक्ष्म जीवों के भोज्य पदार्थों (माइक्रोबियल कल्चर मीडिया) को ठोस बनाने के लिये किया जाता है। मिष्ठान्नशाला में तथा मांस संवेष्ठन उद्योगों (मीट पैकिंग इंडस्ट्रीज) में भी अगर का उपयोग होता है। भेषजीय उत्पादन में यह प्रतिलंबक अभिकर्ता (इमल्सीफाइंग एजेंट) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

अगर के पौधों को इकट्ठा करके तुरंत सुखाया जाता है। इसके बाद कारखाने में भेज दिया जाता है, जहाँ पर ये धोए जाते हैं। विशेष प्रयोग में लाए जानेवाले अगर की उपलब्धि के लिये उक्त पौधों को विरंजित (ब्लीच्ड) करके पुन शुद्ध किया जाता है। तत्पश्चात् म्यूसीलेज को कुछ घंटों के लिये उबाला जाता है और अनेकों छननो से छानते हुए विभिन्न फ्रेमों में जेली के रूप में प्रवाहित किया जाता है। तत्पश्चात् ठंढा करके जमा दिया जाता है। पानी को फेककर जेली सुखाई जाती है और अंत में इसे चूर्ण का रूप दिया जाता है। इसका उपयोग भिन्न भिन्न प्रकार से किया जाता है। इससे अगरबत्तियाँ भी बनाई जाती है। (ह० मि०)

अगरतला २३° ५१′ उ० अ० तथा ९१° २१′ पू० दे० रेखाओं पर स्थित त्रिपुरा की राजधानी है। यहाँ का प्राचीन नगर हाओरा नदी के बाएँ तथा नवीन नगर दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। प्राचीन नगर में राजभवन के समीप एक छोटा देवालय है जिसे त्रिपुरानिवासी अत्यंत संमान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। इसमें स्वर्ण तथा अन्य धातुजटित चतुर्दश देवों की मूर्तियाँ है जो यहाँ के निवासियों के सरक्षक माने जाते हैं। १८७४-७५ ई० में यहाँ नगरपालिका की स्थापना हुई। यहाँ के आर्ट्स कालेज, शिल्प सस्थान, औषधालय तथा बंदीगृह प्रसिद्ध है। यहाँ के विभिन्न वर्षों की जनगणना देखने से पता चलता है कि यह उन्नतिशील नगर है। जनसख्या १९०१ में ६,४१५, १९३१ में ६,५८०, १९४१ में १७,६९३, १९५१ में ४२,५९५ और १९६१ में ५४,८७८ थी। इस नगर का क्षेत्रफल लगभग चार वर्ग मील है।

(न० ला०)

अगस्तिन, संत (३५४-४३० ई०)। उत्तरी अफ्रिका के हिप्पो नामक बंदरगाह के बिशप तथा ईसाई गिरजे के महान् आचार्य। इनका पर्व २८ अगस्त को मनाया जाता है। माता पिता में से इनकी माता मोनिका ही ईसाई थी, उन्होने अपने पुत्र को यद्यपि कुछ धार्मिक शिक्षा दी थी, फिर भी अगस्तिन ३३ साल की उम्र तक गैर ईसाई बने रहे। अगस्तिन की आत्मकथा से पता चलता है कि साहित्यशास्त्र का अध्ययन करने के उद्देश्य से कार्थेज पहुँचकर भी इन्होने काफी समय भोग-विलास में बिताया। २० वर्ष की अवस्था के पूर्व ही इनको रखैलो से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। कार्थेज में ये नौ वर्ष तक गैर-ईसाई मनि सप्रदाय के सदस्य रहे किंतु इन्हे उसके सिद्धातो से सतोष नही हुआ और ये पूर्णतया अज्ञेयवादी बन गए। ३८३ ई० मे अगस्तिन रोम आए और एक वर्ष बाद उत्तरी इटली के मिलान शहर में साहित्यशास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। इसी समय इनकी माता विधवा होकर इनके यहाँ चली आई। मिलान में अगस्तिन वहाँ के बिशप अब्रोस के सपर्क में आए, इससे इनके मन में धार्मिक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी, यद्यपि अभी तक इनकी विषयवासना प्रबल थी। इन्होने अपनी आत्मकथा में उस समय के आत्मसघर्ष का मार्मिक वर्णन किया है। अततोगत्वा इन्होने ३८७ ई० में बपतिस्मा (ईसाई दीक्षा) ग्रहण किया और नवीन जीवन प्रारभ करने के उद्देश्य से अपनी माता मोनिका, अपने पुत्र और कुछ घनिष्ठ मित्रों के साथ अफ्रिका लौटने का सकल्प किया। इस यात्रा म इनकी माता का देहात हो गया।

अपने जन्मस्थान पहुँचकर अगस्तिन अध्ययन और साधना में अपना समय बिताने लगे। एक वर्ष बाद इनका पुत्र १७ वर्ष की आयु मे चल बसा। अगस्तिन के तपोमय जीवन तथा उनकी विद्वत्ता की ख्याति धीरे धीरे बढने लगी। ३९१ ई० में ये पुरोहित बन गए, चार साल बाद इनका बिशप के रूप मे अभिषेक हुआ और ३९६ ई० मे ये हिप्पो के बिशप नियुक्त हुए। मरण पर्यंत इसी छोटे से नगर में रहते हुए भी इन्होंने अपने समय के समस्त ईसाई ससार पर गहरा प्रभाव डाला। इनके २२० पत्र, २३० रचनाएँ तथा बहुत से प्रवचन सुरक्षित है। ये लातिनी भाषा के महत्तम लेखकों में से है। इनकी सूक्तियों में समाहार शैली की पराकाष्ठा है। मानव हृदय को स्पर्श करने तथा उसमे धार्मिक भाव जागृत करने की जो शक्ति सत अगस्तिन में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ये दार्शनिक भी थे और धर्मतत्वज्ञ भी। वास्तव में इन्होने नव अफलातूनवाद तथा ईसाई धर्मविश्वास का समन्वय करने का प्रयास किया।

इनकी आत्मकथा 'कन्फेशंस' (स्वीकारोक्ति) का विश्वसाहित्य में अपना स्थान है। उसमें इन्होने अपनी युवावस्था तथा धर्मपरिवर्तन का वर्णन किया है। इनकी दो अन्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ है। एक का शीर्षक दे त्रिनिताते (त्रित्व) है, इसमें ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन है। दूसरी दे सिविताते देई (ईश्वर का राज्य) में सत अगस्तिन ने विश्व इतिहास के रहस्य तथा कैथलिक गिरजे के स्वरूप के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। इसके लिखने में १३ वर्ष लगे थे।

स० ग्रं०—जे० जी० पिलकिंगटन: कनफेशंस ऑव सेंट ऑगस्टिन, न्यूयार्क, १९२७; यू० माटगामरी सेंट ऑगस्टिन, लदन, १९१४, ओ० बार्डी सेंट ऑगस्टिन। (का० बु०)

अगस्तिन, संत कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप तथा दक्षिण इग्लैंड में ईसाई धर्म के सस्थापक। अगस्तिन या आगस्तिन बेनेदिक्तिन सघ के सदस्य थे। ५९५ ई० में पोप ग्रेगोरी प्रथम ने उनको अपने सघ के चालीस मठवासियों के साथ इग्लैंड भेज दिया। केंट के राजा इथलबेर्ट ने उनका ५९७ ई० में स्वागत किया तथा उनको धर्मप्रचार करने की आज्ञा दी। राजा स्वय ईसाई बन गए जिससे अगस्तिन के धर्मप्रचार की सफलता और बढ गई। ६०१ ई० में वह कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप नियुक्त हुए। उनका देहात सभवत ६०४ ई० में हुआ। (का० बु०)

अगस्त्य १. प्रख्यात ऋषि। वैदिक साहित्य तथा पुराणों में इनके जीवन की विशिष्ट रूपरेखा अंकित की गई है। मित्रवरुण ने अपना तेज कुंभ (घडे) के भीतर डाल रखा था जिससे इनका जन्म हुआ और इसीलिये ये मैत्रावरुणि तथा कुंभयोनि के नाम से भी अभिहित है। वसिष्ठ ऋषि इनके अनुज थे। अगस्त्य ने विदर्भ देश की राजकुमारी लोपामुद्रा के साथ विवाह किया था जिनसे इन्हे दो पुत्र उत्पन्न हुए—दृढस्यु और दृढास्य। अगस्त्य के अलौकिक कार्यों में तीन विशेष महत्व रखते है—वातापि राक्षस का सहार, समुद्र का पी जाना तथा विध्याचल की बाढ को रोक देना। दक्षिण भारत में आर्य सभ्यता के विस्तार का श्रेय ऋषि अगस्त्य को ही दिया जाता है। बृहत्तर भारत में भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रसार का महनीय कार्य अगस्त्य के ही नेतृत्व में सपन्न हुआ था। इसीलिये जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में अगस्त्य की अर्चना मूर्ति के रूप में आज भी की जाती है।

२ तमिल भाषा का आद्य वैयाकरण। यह कवि शूद्र जाति मे उत्पन्न हुए थे इसलिये यह शूद्र वैयाकरण के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह ऋषि अगस्त्य के ही अवतार माने जाते है। ग्रथकार के नाम पर यह व्याकरण 'अगस्त्य व्याकरण' के नाम से प्रख्यात है। तमिल विद्वानों का कहना है कि यह ग्रथ पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान ही मान्य, प्राचीन तथा स्वतंत्र कृति है जिसमें ग्रथकार की शास्त्रीय विद्वत्ता का पूर्ण परिचय उपलब्ध होता है। (ब० उ०)

अगायोक्लीज यह सिराकूज का निरंकुश शासक था। पहले यह ३२५ ई० पू० के गृहयुद्धों के बाद एक जननायक नेता बना। ३१७ ई० पू० में निरकुश हो इसने गरीबों को मिलाने और सेना को मजबूत करने की कोशिश की। अपनी शक्तिसमृद्धि के सिलसिले में इसका सघर्ष सिसली के यूनानियों और कार्थेज से हुआ। प्रारभ में कुछ सफलता मिली, पर अंतत कार्थेज के लोगो ने इसे मार भगाया और वह सिराकूज में बंद हो गया। बाद में इसने अपनी हार का बदला अफ्रिका में कार्थेज को हराकर लेना चाहा पर उसमें भी इसे विशेष सफलता नहीं मिली। इटली में भी इसने कई लडाइयाँ लडी। इसके जीवन का अंतिम काल भयानक पारिवारिक अशांति में बीता। इसने अपनी वसीयत में वंशगत उत्तराधिकार की निंदा कर सिराकूज को पुन स्वतंत्रता दी। पश्चिमी यूनानियों में यही अकेला हेलेनिक राजा था। (भ० कि० ना०)

अगामेम्नान होमरीय वीर जो संभवत ऐतिहासिक व्यक्ति था। 'इलियद' में उसे यूनान के एकियाई और मिकीनी राज्यो का स्वामी कहा गया है। स्पार्ता में उसकी पूजा ज्यूस अगामेम्नान के नाम से होती थी। यह अत्रियस और इरोप का पुत्र और मेनेलास का भाई था। पिता की हत्या

के बाद भाइयों ने स्पार्ता के राजा की शरण ली, फिर वहाँ के राजा की सहायता से अगामेम्नान ने पिता का राज्य पुन: प्राप्त कर उसे बढ़ाया और ग्रीस के राजाओं में प्रधान बन गया। स्पार्ता के राजा तिंदेरस की कन्याएँ इन दोनों भाइयों से ब्याही थी। पश्चात् मेनेलास तिंदेरस का उत्तराधिकारी हुआ और यह उसका सहायक। भाई की पत्नी हेलेन के त्राय के पेरिस द्वारा अपहरण के प्रतिकार में यूनानी राजाओं को निमंत्रित कर अगामेम्नान ने त्राय के युद्ध का नेतृत्व किया। त्राय विजय के बाद स्वदेश लौटने पर उसकी पत्नी के प्रेमी आगस्तस ने इसकी हत्या कर दी। उसकी कब्र मिकीनी के खंडहरों में दिखाई जाती है, जिसे त्राय का पुनरुद्धार करनेवाले पुराविद् श्लीमान ने खोद निकाली थी। पर उस कब्र की सत्यता प्रमाणित नहीं। (ओ० ना० उ०)

अगेसिलास द्वितीय स्पार्ता का राजा। यह यूरिपोनिद परिवार का, आर्किदामस् का पुत्र और अगीस का सौतेला भाई था। अगीस को औरस संतान न होने से ४०१ ई० पू० में यह गद्दी पर बैठा। इसका जीवन यूनानी राज्यों और फारस के साथ युद्ध में बीता। ३६६ ई० पू० में इसने पारसीक आक्रमण के विरुद्ध ८,००० संमिलित सेना का नेतृत्व किया। फ्रीगिया और लीदिया पर उसने हमले किए, पर इसी बीच गृहयुद्ध की सूचना पा वह वापस लौटा। जलयुद्ध में पारसीकों से उसकी हार हुई पर कोरिंथ का युद्ध जीतकर वह स्पार्ता लौट गया। ई० पू० ३८६ की संधि के बाद आर्केडिया पर उसने आक्रमण किया, पर हार गया। ई० पू० ३६१ में मिस्र के विद्रोही क्षत्रप की फारस के विरुद्ध उसने सहायता की। वहाँ से लौटते समय ८४ वर्ष की अवस्था में मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई। (ओ० ना० उ०)

अगेस्सो, हेनरी फ्रांस्वा, द फ्रांस के चांसलर जो लीमोगोज में २७ नवंबर, १६६८ को पैदा हुए। फ्रांस्वा ने कानून की शिक्षा जाँ दोमा से ली। १७०० से १७१७ तक प्रधान मजिस्ट्रेट (प्रोकूरातों) रहे। इसी पद पर रहकर उन्होंने गैलीकन गिरजा के अधिकार की रोम के गिरजाघर के विरुद्ध सहायता की।

१७१७ में उन्हें चांसलर बनाया गया। परंतु एक वर्ष पश्चात् जाला की आर्थिक नीति का विरोध करने के दंड में उन्हें इस्तीफा देना पड़ा। १७२० में उनको फिर उसी पद पर बिठाया गया। उन्होंने फ्रांस के लिये एक कानून संग्रह तैयार करने का प्रयत्न भी किया। कुछ सुधार करने के कारण उनको फ्रांस के प्रशासकों में सर्वप्रथम स्थान मिला।

फ्रांस्वा के लेखों का एक संग्रह १६ जिल्दों में १८१८ में प्रकाशित हुआ। उन्होंने अपने पिता की जीवनी भी लिखी है जिसमें शिक्षा के संबंध में भी बातें लिखी है। (मो० अ० अ०)

अगोरा का शाब्दिक अर्थ है 'एकत्रित होना' या 'आपस में मिलना'। इसका प्रयोग विशेषकर युद्ध या अन्य महत्वपूर्ण कार्य के लिये लोगों को एकत्रित करने के अर्थ में होता है। क्लीस्थेनीज ने एथेंस की पूरी आबादी को जिन दस जातियों में बाँटा था उनमें से प्रत्येक जाति पुन: कुछ दीमिजों में बँटी थी। 'अगोरा' से तात्पर्य विभिन्न दीमिजों के बाजार से था। यूनान में नागरिकों का आपस में मिलना सदैव अनिवार्य समझा जाता था। ऐसे संमेलन के लिये एक सार्वजनिक स्थान की आवश्यकता थी, इस दृष्टि से नगर का बाजार या अगोरा सबसे उपयुक्त था। बाजार केवल क्रय विक्रय का ही स्थान नहीं था वरन् वह ऐसा मिलनस्थल भी था जहाँ लोग घूमने जाते, नगर के नवीन समाचार प्राप्त करते तथा राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते। यहीं जनमत का रूप निर्धारित होता था। इस प्रकार 'अगोरा' सरकार के निर्णयों पर विचार करने के लिये जनता की सर्वांगीण सभा (असेंब्ली) का उपयुक्त स्थल बन गया। ऐसे संमेलनों का नाम भी अगोरा पड़ा, यहाँ तक कि सैन्य शिविरों में भी अगोरा की आवश्यकता रहती थी। त्रोजन युद्ध के समय ऐसा ही एक अगोरा था जहाँ से एकियन युद्धनेता अपनी घोषणाएँ तथा न्याय की व्यवस्था करते थे। अगोरा इतना आवश्यक समझा जाता था कि होमर ने अगोरा का न होना ही कीक्लोप दैत्यों की बर्बरता का प्रमुख लक्षण बताया तथा हेरोदोतस् ने यूनानियों और ईरानियों में सबसे बड़ा अंतर इसी बात में देखा कि ईरानियों के यहाँ कोई अगोरा नहीं था।

सैकड़ों नगरोंवाले यूनान में इस संस्था के विभिन्न स्वरूप थे। थिसाली के जनतंत्रीय नगरों में अगोरा को 'स्वतंत्रता का स्थान' कहते थे। इन नगरों में अगोरा की सदस्यता सभी के लिये न होकर केवल विशिष्ट लोगों के लिये ही थी। जनतंत्रीय नगरों में प्राचीन अगोरा जब जनसंख्या के बढ़ने के कारण सार्वजनिक सभा की बढ़ती हुई सदस्यता के लिये छोटा पड़ने लगा तब लोग अन्य स्थान पर एकत्रित होने लगे। उदाहरणार्थ ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में एथेंस वासियों की सभा प्निक्स की पहाड़ी पर होती थी और केवल कुछ विशिष्ट अवसरों के अतिरिक्त अगोरा या बाजार में एकत्रित होना बंद हो गया। इस स्थानांतरित सभा का नाम भी अगोरा न होकर एक्लेसिया पड़ा। त्राय में अगोरा का अधिवेशन राजभवन और अपोलो तथा एथिनी के मंदिरों के निकट एक्रोपोलिस में होता था। समुद्रतट पर बसे नगरों, यथा पीलोम, स्केरिया आदि में उसका स्थान पोसिदोन के किसी मंदिर के संमुख बंदरगाह के निकट वृत्ताकार होता था।

चुनाव संबंधी कार्य के अतिरिक्त दीमिज के प्रशासन संबंधी सभी महत्वपूर्ण निर्णय अगोरा में ही होते थे।

सं० ग्रं०—ग्लॉज, जी० द ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इन्स्टिट्यूशंस, लंदन, १९५०, ग्रीनिज, ए० एच० जे० ए हैंडबुक ऑव ग्रीक कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री, लंदन, १९२०, मायर्स, जे० एल० . द पोलिटिकल आइडियाज ऑव द ग्रीक्स, लंदन, १९२७। (रा० अ०)

अगोरानोमी नामक मंडियों के अध्यक्षों के पद ग्रीक नगरों में १२० से भी अधिक विद्यमान थे। सामान्यतया इनका चुनाव पत्रक या गुटिका द्वारा हुआ करता था। एथेंस में इन अध्यक्षों की संख्या १० थी जिनमें से पाँच मुख्य नगर के लिये और पाँच पिरेयस् नामक एथेंस के बंदरगाह के लिये चुने जाते थे। इनका कर्तव्य हाट बाजार में व्यवस्था रखना, नापतौल और पण्य वस्तुओं के गुणावगुण की देखभाल और हाटशुल्क संचय करना था। सामान्य नियमों का उल्लंघन करनेवाले अर्थदंड के भागी होते थे तथा इस धन से हाट के भवनों का विस्तार एवं जीर्णोद्धार हुआ करता था। अधिक गंभीर अपराधों के मामलों को यह न्यायालयों में भेज दिया करते थे और इन अभियोगों की अध्यक्षता भी यही करते थे। (भो० ना० श०)

अग्नि रासायनिक दृष्टि से अग्नि जीवजनित पदार्थों के कार्बन तथा अन्य तत्वों का आक्सीजन से इस प्रकार का संयोग है कि गरमी और प्रकाश उत्पन्न हो। अग्नि की बड़ी उपयोगिता है जाड़े में हाथ पैर सेंकने से लेकर परमाणु बम द्वारा नगर का नगर भस्म कर देना, सब अग्नि का ही काम है। इसी से हमारा भोजन पकता है, इसी के द्वारा खनिज पदार्थों से धातुएँ निकाली जाती हैं और इसी से शक्ति उत्पादक इंजन चलते है। भूमि में दबे अवशेषों से पता चलता है कि प्राय: पृथ्वी पर मनुष्य के प्रादुर्भाव काल से ही उसे अग्नि का ज्ञान था। आज भी पृथ्वी पर बहुत सी जंगली जातियाँ है जिनकी सभ्यता एकदम प्रारंभिक है, परंतु ऐसी कोई जाति नहीं है जिसे अग्नि का ज्ञान न हो।

आदिम मनुष्य ने पत्थरों के टकराने से उत्पन्न चिनगारियों को देखा होगा। अधिकांश विद्वानों का मत है कि मनुष्य ने सर्वप्रथम कड़े पत्थरों को एक दूसरे पर मारकर अग्नि उत्पन्न की होगी।

घर्षण (रगड़ने की) विधि से अग्नि बाद में निकली होगी। पत्थरों के हथियार बन चुकने के बाद उन्हें सुडौल, चमकीला और तीव्र करने के लिये रगड़ा गया होगा। रगड़ने पर जो चिनगारियाँ उत्पन्न हुई होंगी उसी से मनुष्य ने अग्नि उत्पन्न करने की घर्षणविधि निकाली होगी।

घर्षण तथा टक्कर इन दोनों विधियों से अग्नि उत्पन्न करने का ढंग आजकल भी देखने में आता है। अब भी आवश्यकता पड़ने पर इस्पात और चकमक पत्थर के प्रयोग से अग्नि उत्पन्न की जाती है। एक विशेष प्रकार की सूखी घास या रुई को चकमक के साथ सटाकर पकड़ लेते हैं और इस्पात के टुकड़े से चकमक पर तीव्र प्रहार करते है। टक्कर से उत्पन्न चिनगारी घास या रुई को पकड़ लेती है और उसी को फूँक फूँककर और

फिर पतली लकड़ी तथा सूखी पत्तियों के मध्य रखकर अग्नि का विस्तार कर लिया जाता है।

घर्षणविधि से अग्नि उत्पन्न करने की सबसे सरल और प्रचलित विधि लकड़ी के पटरे पर लकड़ी की छड़ रगड़ने की है।

एक दूसरी विधि में लकड़ी के तख्ते में एक छिछला छेद रहता है। इस छेद पर लकड़ी की छड़ी को मथनी की तरह वेग से नचाया जाता है। प्राचीन भारत में भी इस विधि का प्रचलन था। इस यंत्र को "अरणी" कहते थे। छड़ी के टुकड़े को "उत्तरा" और तख्ते को "अधरा" कहा जाता था। इस विधि से अग्नि उत्पन्न करना भारत के अतिरिक्त लंका, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में भी प्रचलित था। उत्तरी अमरीका के इंडियन तथा मध्य अमरीका के निवासी भी यह विधि काम में लाते थे। एक बार चार्ल्स डारविन ने टाहिटी (दक्षिणी प्रशांत महासागर का एक द्वीप जहाँ स्थानीय आदिवासी ही बसते हैं) में देखा कि वहाँ के निवासी इस प्रकार कुछ ही सेकेंड में अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं, यद्यपि स्वयं उसे इस काम में सफलता बहुत समय तक परिश्रम करने पर मिली। फारस के प्रसिद्ध ग्रंथ शाहनामा के अनुसार हुसेन ने एक भयंकर सर्पाकार राक्षसी से युद्ध किया और उसे मारने के लिये उन्होंने एक बड़ा पत्थर फेंका। वह पत्थर उस राक्षस को न लगकर एक चट्टान में टकराकर चूर हो गया और इस प्रकार सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुई।

उत्तरी अमरीका की एक दंतकथा के अनुसार एक विशाल भैंसे के दौड़ने पर उसके खुरों में जो टकराकर पत्थरों पर लगी उससे चिनगारियाँ निकलीं। इन चिनगारियों से भयंकर दावानल भड़क उठा और इसी से मनुष्य ने सर्वप्रथम अग्नि ली।

अग्नि का मनुष्य की सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक उन्नति में बहुत बड़ा भाग रहा है। लैटिन में अग्नि को प्यूरस अर्थात् 'पवित्र' कहा जाता है। संस्कृत में अग्नि का एक पर्याय 'पावक' भी है जिसका शब्दार्थ है 'पवित्र करनेवाला'। अग्नि को पवित्र मानकर उसकी उपासना का प्रचलन कई जातियों में हुआ और अब भी है।

सतत अग्नि—अग्नि उत्पन्न करने में पहले साधारणतः इतनी कठिनाई पड़ती थी कि आदिकालीन मनुष्य एक बार उत्पन्न की हुई अग्नि को निरंतर प्रज्वलित रखने की चेष्टा करता था। यूनान और फारस के लोग अपने प्रत्येक नगर और गाँव में एक निरंतर प्रज्वलित अग्नि रखते थे। रोम के एक पवित्र मंदिर में अग्नि निरंतर प्रज्वलित रखी जाती थी। यदि कभी किसी कारणवश मंदिर की अग्नि बुझ जाती थी तो बड़ा अपशकुन माना जाता था। तब पुजारी लोग प्राचीन विधि के अनुसार पुनः अग्नि प्रज्वलित करते थे। सन् १८३० के बाद से दियासलाई का आविष्कार हो जाने के कारण अग्नि प्रज्वलित रखने की प्रथा में शिथिलता आ गई। दियासलाइयों का उपयोग भी घर्षणविधि का ही उदाहरण है, अंतर इतना ही है कि उसमें फास्फोरस, शोरा आदि के शीघ्र जलनेवाले मिश्रण का उपयोग होता है।

प्राचीन मनुष्य जंगली जानवरों को भगाने, या उनसे सुरक्षित रहने के लिये अग्नि का उपयोग बराबर करता रहा होगा। वह जाड़े में अपने को अग्नि से गरम भी रखता था। वस्तुतः जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ी, लोग अग्नि के ही सहारे अधिकाधिक ठंडे देशों में जा बसे। अग्नि, गरम कपड़ा और मकानों के कारण मनुष्य ऐसे ठंढे देशों में रह सकता है जहाँ शीत ऋतु में उसे सरदी से कष्ट नहीं होता और जलवायु अधिक स्वास्थ्यप्रद रहती है।

विद्युत्काल में अग्नि—मोटरकार के इंजनों में पेट्रोल जलाने के लिये बिजली की चिनगारी का उपयोग होता है, क्योंकि ऐसी चिनगारी अभीष्ट क्षणों पर उत्पन्न की जा सकती है। मकानों में कभी कभी बिजली के तार में खराबी आ जाने से आग लग जाती है। ताल (लेन्ज़) तथा अवतल (कॉनकेव) दर्पण से सूर्य की रश्मियों को एकत्रित करके भी अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। ग्रीस तथा चीन के इतिहास में इन विधियों का उल्लेख है।

आग बुझाना—आग बुझाने के लिये साधारणतः सबसे अच्छी रीति पानी उड़ेलना है। बालू या मिट्टी डालने से भी छोटी आग बुझ सकती है। दूर से अग्नि पर पानी डालने के लिये रकाबदार पंप अच्छा होता है। छोटी मोटी आग को थाली या परात से ढककर भी बुझाया जा सकता है।

आरंभ में आग बुझाना सरल रहता है। आग बढ़ जाने पर उसे बुझाना कठिन हो जाता है। प्रारंभिक आग को बुझाने के लिये यंत्र मिलते हैं। ये लोहे की चादर के बरतन होते हैं, जिनमें सोडे (सोडियम कारबोनेट) का घोल रहता है। एक शीशी में अम्ल रहता है। बरतन में एक घुंडी रहती है। ठोकने पर वह भीतर घुसकर अम्ल की शीशी को तोड़ देती है। तब अम्ल सोडे के घोल में पहुँचकर कार्बन डाइग्राक्साइड गैस उत्पन्न करता है। इसकी दाब से घोल की धार बाहर वेग से निकलती है और आग पर डाली जा सकती है।

अधिक अच्छे आग बुझानेवाले यंत्रों से साबुन के झाग (फेन) की तरह झाग निकलता है जिसमें कारबन डाइग्राक्साइड गैस के बुलबुले रहते हैं। यह जलती हुई वस्तु पर पहुँचकर उसे इस प्रकार छा लेता है कि आग बुझ जाती है।
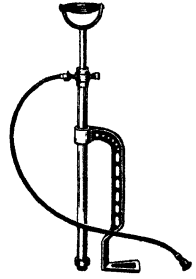
अग्निशामक

ऊपर की घुंडी को ठोकने से भीतर अम्ल (तेजाब) की शीशी फट जाती है जो बरतन के भीतर भरे सोडा के घोल से प्रतिक्रिया करके कार्बन डाइग्राक्साइड गैस बनाती है। इस गैस की दाब से घोल की वेगवती धार निकलती है।

रकाबदार पंप

इसके मुँह को पानी भरी बाल्टी में डालकर और रकाब को पैर से दबाकर हैंडल चलाने पर तुंड (टोंटी) से पानी की धार निकलती है जो दूर से ही आग पर डाली जा सकती है।

गोदाम, दूकान आदि में स्वयंचल सावधानक (ऑटोमैटिक अलार्म) लगा देना उत्तम होता है। आग लगने पर घंटी बजने लगती है। जहाँ टेलीफोन रहता है वहाँ ऐसा प्रबंध हो सकता है कि आग लगते ही अपने आप अग्निदल (फायर ब्रिगेड) को सूचना मिल जाय। इससे भी अच्छा वह यंत्र होता है जिससे, आग लगने पर, पानी की फुहार अपने आप छूटने लगती है।

प्रत्येक बड़े शहर में सरकार या म्युनिसिपैलिटी की ओर से एक अग्निदल रहता है। इसमें वैतनिक कर्मचारी नियुक्त रहते हैं जिनका कर्तव्य ही आग बुझाना होता है। सूचना मिलते ही ये लोग मोटर से अग्निस्थान पर पहुँच जाते हैं और अपना कार्य करते हैं। साधारणतः आग बुझाने का सारा सामान उनकी गाड़ी पर ही रहता है, उदाहरणतः पानी से भरी टंकी, पंप, कैनवस का पाइप (होज़), इस पाइप के मुँह पर लगनेवाली टोंटी (नॉज़ल), सीढ़ी (जो बिना दीवार का सहारा लिए ही तिरछी खड़ी रह

सकती है और इच्छानुसार ऊँची, नीची या तिरछी की तथा घुमाई जा सकती है), बिजली की तेज रोशनी और लाउडस्पीकर आदि। जहाँ पानी का पाइप नहीं रहता वहाँ एक अन्य लारी पर केवल पानी की बड़ी टंकी रहती है। कई विदेशी शहरों में सरकारी प्रबंध के अतिरिक्त बीमा कंपनियाँ आग बुझाने का अपना निजी प्रबंध भी रखती हैं। जहाँ सरकारी अग्निदल नहीं रहता वहाँ बहुधा स्वयंसेवकों का दल रहता है जो वचनबद्ध रहते हैं कि मुहल्ले में आग लगने पर तुरत उपस्थित होंगे और उपचार करेंगे। बहुधा सरकार की ओर से उन्हें शिक्षा मिलती रहती है और आवश्यक सामान भी उन्हें सरकार से उपलब्ध होता है।

आग लगने पर तुरत अग्निदल को सूचना भेजनी चाहिए (हो सके तो टेलीफोन से), और तुरत स्पष्ट शब्दों में बताना चाहिए कि आग कहाँ लगी है।

सं० ग्रं०—रार्बट एस० मोल्टन (संपादक) हैंडबुक ऑव फायर प्रोटेक्शन, नैशनल फायर ऐसोसिएशन (१९४८, इंग्लैंड), जे० डेविडसन फायर इंश्योरेंस (१९२३)। (ग्रा० मि० स०)

अग्निकुमार द्र० 'कार्तिकेय'।

अग्निकुल क्षत्रियों का एक कुल या वंश विशेष। कथा मिलती है कि ऋषियों के तप में जब दैत्य विघ्न डालने और यज्ञ विध्वंस करने लगे तो वसिष्ठ की अध्यक्षता में ऋषियों ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ का आयोजन किया ताकि उससे रक्षक पुरुष की उत्पत्ति की जा सके। यज्ञकुंड से एक-एक करके चार पुरुष प्रकट हुए जिनसे चार वंश चले अर्थात् परमार (द्र०), परिहार (द्र०), चालुक्य (द्र०) या सोलंकी तथा चाहान (द्र०)। इन चार क्षत्रियों के कुल अग्निकुल के अंतर्गत परिगणित होते हैं।
(कै० च० श०)

अग्निदेवता संसार के मान्य धर्मों में अग्नि की उपासना प्रतिष्ठित देवता के रूप में अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। यूनान तथा रोम में भी अग्नि की पूजा राष्ट्रदेवी के रूप में होती थी। रोम में अग्नि 'वेस्ता' देवी के रूप में उपासना का विषय थी। उसकी प्रतिकृति नहीं बनाई जाती थी, क्योंकि रोमन कवि 'ओविद' के कथनानुसार अग्नि इतना सूक्ष्म तथा उदात्त देवता है कि उसकी प्रतिकृति के द्वारा कथमपि बाह्य अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती थी। पवित्र मंदिर में अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती थी और उसकी उपासना का अधिकार पावनचरित श्वेतांगी कुमारियों का ही था। जरथुस्त्री धर्म में भी अग्नि का पूजन प्रत्येक ईरानी आर्य का मुख्य कर्तव्य था। अवेस्ता में अग्नि दृढ़ तथा विकसित अनुष्ठान का मुख्य केंद्र थी और अग्निपूजक ऋत्विज् 'अथर्वन्' वैदिक अथर्वगण के समान उस धर्म में श्रद्धा और प्रतिष्ठा के पात्र थे। अवेस्ता में अग्निपूजा के प्रकार तथा प्रयुक्त मंत्रों का रूप ऋग्वेद से बहुत अधिक साम्य रखता है। पारसी धर्म में अग्नि इतना पवित्र, विशुद्ध तथा उदात्त देवता माना जाता है कि कोई अशुद्ध वस्तु अग्नि में नहीं डाली जाती। इस प्रकार वैदिक आर्यों के समान पारसी लोग शवदाह के लिये अग्नि का उपयोग नहीं करते, मरी हुई अशुद्ध वस्तु को वे अग्नि में डालने की कल्पना तक नहीं कर सकते। अवेस्ता में अग्नि पाँच प्रकार का माना जाता है।

परंतु अग्नि की जितनी उदात्त तथा विशद कल्पना भारतीय वैदिक धर्म में है उतनी अन्यत्र नहीं है। वैदिक कर्मकांड का—श्रौत भाग और गृह्य का—मुख्य केंद्र अग्निपूजन ही है। वैदिक देवमंडल में इंद्र के अनंतर अग्नि का ही दूसरा स्थान है जिसकी स्तुति लगभग दो सौ सूक्तों में वर्णित है। अग्नि के वर्णन में उसका पार्थिव रूप ज्वाला, प्रकाश आदि वैदिक ऋषियों के सामने सदा विद्यमान रहता है। अग्नि की तुलना अनेक पशुओं से की गई है। प्रज्वलित अग्नि गर्जनशील वृषभ के समान है। उसकी ज्वाला सौर किरणों के तुल्य, उषा की प्रभा तथा विद्युत् की चमक के समान है। उसकी आवाज आकाश के गर्जन जैसी गंभीर है। 'अग्नि' के लिये विशेष गुणों को लक्ष्य कर अनेक अभिधान प्रयुक्त किए जाते हैं। 'अग्नि' शब्द का संबंध लातीनी 'इग्निस्' और लिथुएनियाई 'उग्निस्' के साथ कुछ अनिश्चित सा है, यद्यपि प्रेरणार्थक अज् धातु के साथ भाषाशास्त्रीय दृष्टि से असंभव नहीं है। प्रज्वलित होने पर धूमशिखा के निकलने के कारण 'धूमकेतु' इस विशिष्टता का द्योतक एक प्रख्यात अभिधान है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी है और वह उत्पन्न होनेवाले समस्त प्राणियों को जानता है। इसलिये वह 'जातवेदा' के नाम से विख्यात है। अग्नि कभी द्यावापृथिवी का पुत्र और कभी द्यौ का सूनु (पुत्र) कहा गया है। उसके तीन जन्मों का वर्णन वेदों में मिलता है जिनके स्थान हैं—स्वर्ग, पृथ्वी तथा जल; स्वर्ग, वायु तथा पृथ्वी। अग्नि के तीन सिर, तीन जीभ तथा तीन स्थानों का बहुल निर्देश वेद में उपलब्ध होता है। अग्नि के दो जन्मों का भी उल्लेख मिलता है—भूमि तथा स्वर्ग।

अग्नि के आनयन को एक प्रख्यात वैदिक कथा ग्रीक कहानी से साम्य रखती है। अग्नि का जन्म स्वर्ग में ही मुख्यतः हुआ जहाँ से मातरिश्वा ने मनुष्यों के कल्याणार्थ उसका इस भूतल पर आनयन किया। अग्नि प्रसंगतः अन्य समस्त वैदिक देवों में प्रमुख माना गया है। अग्नि का पूजन भारतीय आर्य संस्कृति का प्रमुख चिह्न है और वह गृहदेवता के रूप में उपासना और पूजा का प्रधान विषय है। इसीलिये अग्नि 'गृह्य', 'गृहपति' (घर का स्वामी) तथा 'विश्पति' (जन का रक्षक) कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१०) में गोतम राहूगण तथा विदेघ माथव के नेतृत्व में अग्नि का सारस्वत मंडल से पूरब की ओर जाने का वर्णन मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो आर्य संस्कृति संहिता काल में सरस्वती के तीरस्थ प्रदेशों तक सीमित रही, वह ब्राह्मणयुग में पूरबी प्रांतों में भी फैल गई। इस प्रकार अग्नि की उपासना वैदिक धर्म का नितांत आवश्यक अंग है। पुराणों में अग्नि के उदय तथा कार्य विषयक अनेक कथाएँ मिलती हैं। अग्नि की स्त्री का नाम 'स्वाहा' है तथा उसके तीन पुत्रों के नाम 'पावक', 'पवमान' और 'शुचि' हैं। अश्वमेध, वाजपेय आदि श्रौत यागों में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण नामक तीन श्रौताग्नियों का आधान होता है। इन अग्नियों में अधिश्रयण, प्रतपन, हविश्रयण आदि यज्ञक्रियाएँ संपन्न की जाती हैं। इनका विस्तृत विवरण कात्यायन श्रौत सूत्र में है।

सं०ग्रं०—मैकडॉनेल वैदिक माइथालाजी (स्ट्रासबर्ग), कीथ: रिलीजन ऐंड फिलासफी ऑव वेद ऐंड उपनिषद् (हारवर्ड), दो भाग, अरविंद हिम्स टु द मिस्टिक फायर (पांडीचेरी), बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और संस्कृति (काशी), मराठी ज्ञानकोश (दूसरा खंड, पूना)। (ब० उ०)

अग्निपरीक्षा भारत तथा भारतेतर देशों में अग्नि द्वारा स्त्रियों के सतीत्व की तथा अपराधियों के निर्दोष होने की परीक्षा अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। इसे ही 'अग्निपरीक्षा' कहा जाता है। परीक्षा का मूल हेतु यह है कि अग्नि जैसे तेजस्वी पदार्थ के संपर्क में आने पर जो वस्तु या व्यक्ति किसी प्रकार का विकार नहीं प्राप्त करता, वह वस्तुतः विशुद्ध, दोषरहित तथा पवित्र होता है। भारतवर्ष में भगवती सीता की अग्निपरीक्षा इस विषय का नितांत प्रख्यात दृष्टांत है। स्त्रियों के सतीत्व की अग्निपरीक्षा का प्रकार यह है कि संदिग्ध चरित्रवाली स्त्री को हलका लोहे का फार आग में खूब गरमकर जीभ से चाटने के लिये दिया जाता था। यदि उसका मुँह जल जाता, तो वह असती, दुष्टा तथा हीनचरित्र मानी जाती थी। यदि उसका मुँह नहीं जलता, तो वह सती समझी जाती थी। प्राचीन भारत के समान यूरोप में भी चोरों के दोषादोष की परीक्षा आग के द्वारा की जाती थी। अंग्रेजी में इसे 'आर्डियल' कहते हैं, जो संस्कृत में 'दिव्य'।

स्मृतियों में दिव्यों के अनेक प्रकार निर्दिष्ट किए गए हैं जिनमें अग्निपरीक्षा अन्यतम प्रकार है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—पश्चिम से पूरब की ओर गाय के गोबर से नौ मंडल बनाना चाहिए जो अग्नि, वरुण, वायु, यम, इंद्र, कुबेर, सोम, सविता तथा विश्वदेव के निमित्त होते हैं। प्रत्येक चक्र १६ अंगुल के अर्धव्यास का होना चाहिए और दो चक्रों का अंतर १६ अंगुल का होना चाहिए। प्रत्येक चक्र को कुश से ढकना चाहिए जिसपर शोध्य व्यक्ति अपना पैर रखे। तब एक लोहार ५० पल वजनवाले तथा आठ अंगुल लंबे लोहे के पिंड को आग में खूब गरम करे। परीक्षक न्यायाधीश शोध्य व्यक्ति के हाथ पर पीपल के सात पत्ते रखे और उनके ऊपर अक्षत तथा दही डोरे से बाँध दे। तदनंतर उसके दोनों हाथों पर तप्त लौह पिंड सँड़सी से रखे जाएँ और प्रथम मंडल से लेकर अष्टम मंडल

तक धीरे धीरे चलने के बाद वह उन्हें नवम मंडल के ऊपर फेंक दे। यदि उसके हाथों पर किसी प्रकार की न तो जलन हो और न फफोला उठे, तो वह निर्दोष घोषित किया जाता था। अग्निपरीक्षा की यही प्रक्रिया सामान्य रूप से स्मृति ग्रंथों में दी गई है। (ब० उ०)

अग्निपुराण पुराण साहित्य में अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञानभांडार के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। साधारण रीति से पुराण को 'पचलक्षण' कहते है, क्योंकि इसमे सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (सहार), वश, मन्वतर तथा वशानुचरित का वर्णन अवश्यमेव रहता है, चाहे परिमाण मे थोडा न्यून ही क्यों न हो। परतु अग्निपुराण इसका अपवाद है। प्राचीन भारत की परा और अपरा विद्याओं का तथा नाना भौतिक शास्त्रो का इतना व्यवस्थित वर्णन यहाँ किया गया है कि इसे वर्तमान दृष्टि से हम एक विशाल विश्वकोश कह सकते है। आनदाश्रम से प्रकाशित अग्निपुराण मे ३८३ अध्याय तथा ११,४५७ श्लोक है परतु नारदपुराण के अनुसार इसमे १५ हजार श्लोको तथा मत्स्यपुराण के अनुसार १६ हजार श्लोको का संग्रह बतलाया गया है। बल्लाल सेन द्वारा 'दानसागर' मे इस पुराण के दिए गए उद्धरण प्रकाशित प्रति मे उपलब्ध नही है। इस कारण इसके कुछ अंशो के लुप्त और अप्राप्त होने की बात अनुमानत. सिद्ध मानी जा सकती है।

अग्निपुराण मे वर्ण्य विषयो पर सामान्य दृष्टि डालने पर भी उनकी विशालता और विविधता पर आश्चर्य हुए बिना नही रहता। आरभ मे दशावतार (अ० १–१६) तथा सृष्टि की उत्पत्ति (अ० १७-२०) के अनतर मत्रशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र का सूक्ष्म विवेचन है (अ० २१-१०६) जिसमे मदिर के निर्माण से लेकर देवता की प्रतिष्ठा तथा उपासना का पुखानुपुख विवेचन है। भूगोल (अ० १०७-१२०), ज्योति शास्त्र तथा वैद्यक (अ० १२१-१४६) के विवरण के बाद राजनीति का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमे अभिषेक, साहाय्य, सपत्ति, सेवक, दुर्ग, राजधर्म आदि आवश्यक विषय निर्णीत है (अ० २१६-२४५)। धनुर्वेद का विवरण बडा ही ज्ञानवर्धक है जिसमे प्राचीन अस्त्रशस्त्रो तथा सैनिक शिक्षापद्धति का विवेचन विशेष उपादेय तथा प्रामाणिक है (अ० २४६-२५८)। अतिम भाग मे आयुर्वेद का विशिष्ट वर्णन अनेक अध्यायो मे मिलता है (अ० २७६-३०५)। छद शास्त्र, अलकारशास्त्र, व्याकरण तथा कोश विषयक विवरणो के लिये अनेक अध्याय लिखे गए हैं। (ब० उ०)

अग्निमित्र शुगवश का दूसरा प्रतापी सम्राट् जो सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था और उसके पश्चात् १५५ ई० पू० मे राजसिहासन पर बैठा। पुष्यमित्र के राजत्वकाल मे ही यह विदिशा का गोप्ता बनाया गया था और वहाँ के शासन का सारा कार्य यही देखता था।

अग्निमित्र के विषय मे जो कुछ ऐतिहासिक तथ्य सामने आए है उनका आधार पुराण तथा कालिदास की सुप्रसिद्ध रचना मालविकाग्निमित्र और उत्तरी पचाल (रुहेलखड) तथा उत्तरकोशल आदि से प्राप्त मुद्राएँ हैं। मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि विदर्भ की राजकुमारी मालविका से अग्निमित्र ने विवाह किया था। यह उसकी तीसरी पत्नी थी। उसकी पहली दो पत्नियाँ धारिणी और इरावती थी। इस नाटक से यवन शासको के साथ एक युद्ध का भी पता चलता है जिसका नायकत्व अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने किया था।

पुराणो मे अग्निमित्र का राज्यकाल आठ वर्ष दिया हुआ है। यह सम्राट् साहित्यप्रेमी एव कलाविलासी था। कुछ विद्वानो ने कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन माना है, यद्यपि यह मत ग्राह्य नही है। अग्निमित्र ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाया था और इसमे सदेह नही कि उसने अपने समय मे अधिक से अधिक ललित कलाओ को प्रश्रय दिया।

जिन मुद्राओ मे अग्निमित्र का उल्लेख हुआ है वे प्रारभ मे केवल उत्तरी पचाल मे पाई गई थी जिससे रैप्सन और कनिघम आदि विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला था कि वे मुद्राएँ शुगकालीन किसी सामत नरेश की होगी, परतु उत्तर कोशल मे भी काफी मात्रा मे इन मुद्राओ की प्राप्ति ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये मुद्राएँ वस्तुत: अग्निमित्र की ही हैं।

सं० ग्रं०—पार्जिटर : डायनैस्टीज ऑव द कलि एज; कनिंघम एशेंट इंडियन क्वाइंस; रैप्सन क्वाइंस ऑव एशेंट इंडिया, कालिदास . मालविकाग्निमित्रम्, तथा पुराण साहित्य। (च० म०)

अग्निष्टोम यजुष् और अथर्वन् की यज्ञपद्धति मे 'अग्निष्टोम' का 'अग्न्याधान', 'वाजपेय' आदि की तरह ही महत्व है। इसे 'ज्योतिष्टोम' भी कहते है। यह पाँच दिनो तक मनाया जाता है। प्राय राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञो के कर्ता इस यज्ञ का प्रतिपादन आवश्यक समझते थे। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन अभिलेखो (आध्र) मे भी हमे इस यज्ञ का उल्लेख मिलता है। (च० म०)

अग्निसह ईट (फायर ब्रिक अथवा रिफ्रैक्टरी ब्रिक) ऐसी ईंट को कहते है जो तेज आँच मे न तो पिघलती है, न चटकती या विकृत होती है। ऐसी ईंटे अग्निसह मिट्टियो से बनाई जाती हैं (दे० 'अग्निसह मिट्टी')। अग्निसह ईंट उसी प्रकार साँचे मे डालकर बनाई जाती है जैसे साधारण ईंट। अग्निसह मिट्टी खोदकर बेलनो (रोलरो) द्वारा खूब बारीक पीस ली जाती है, फिर पानी मे सानकर साँचे द्वारा उचित रूप मे लाकर सुखाने के बाद, भट्ठी मे पका ली जाती है। अग्निसह ईंट चिमनी, अँगीठी, भट्ठी इत्यादि के निर्माण मे काम आती है।

अच्छी अग्निसह ईंट करीब २,५०० से ३,००० डिगरी सेटीग्रेड तक की गर्मी सह सकती है, अत कारखानो मे बडी बडी भट्ठियों की भीतरी सतह को गर्मी के कारण गलने से बचाने के लिये भट्ठी के भीतर इसकी चुनाई कर दी जाती है। उदाहरण के लिये लोहा बनाने की धमन भट्ठी (ब्लास्ट फर्नेस) की भीतरी सतह इत्यादि पर इसका प्रयोग किया जाता है।

मामूली ईट तथा पलस्तर अधिक गरमी अथवा ताप से चिटक जाते है, अत अँगीठिया इत्यादि की रचना मे भी, जहाँ आग जलाई जाती है, अग्निसह ईट अथवा अग्निसह मिट्टी के लेप (पलस्तर) का प्रयोग किया जाता है। (का० प्र०)

अग्निसह भवन ऐसे भवन को कहते है जिसके भीतर रखे या आसपास बाहर रखे सामान मे आग लगने पर भवन स्वय जलने नही पाता। सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष मे अधिकाश घरो की दीवारे अग्निसह होती है, कही कही केवल छत, जब तक विशेष प्रबध न किया जाय, अग्निसह नही होती, परतु यूरोप आदि ठढे देशो मे, ठढ से बचने के लिये, फर्श, छत और दीवारे भी बहुधा लकडी की बनती है या उनपर लकडी की तह चढी रहती है। इसलिये वहाँ आग से बहुधा भारी क्षति हो जाती है। जिन भवनो को वे लोग पहले अदह्य (फायरप्रूफ) कहते थे, उनमे भी आग लग जाने पर गहरी हानि हुई। उदाहरणत सन् १६४२ मे अमरीका के एक नाइटक्लब (मदिरा-पान-गृह) मे आग लग जाने पर ४६१ व्यक्तियो की मृत्यु हो गई, यद्यपि भवन अदह्य श्रेणी मे गिना जाता था। इसलिये अब अदह्य के बदले अग्निसह (फायर रेजिस्टैंट) शब्द का अधिक प्रयोग होता है।

किसी भवन को अग्निसह बनाने के लिये उसके निर्माण मे ऐसी वस्तुओ का ही प्रयोग करना चाहिए जो अग्निसह हो। वैसे तो ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसपर ताप का घातक प्रभाव न पडता हो, तो भी साधारणत ऐसी वस्तुओ को, जो अग्नि अथवा ताप के प्रभाव से सुगमता तथा शीघ्रता से नष्ट नही होती, हम अग्निसह कहते हैं। देखा गया है कि मकान मे आग लगने पर आग का ताप ७००° सेंटीग्रेड से ६००° सें० तक रहता है। अत भवननिर्माण मे यदि ऐसी वस्तुएँ प्रयोग मे लाई जायँ जिनपर इस ताप का घातक प्रभाव न पड़े, तो भवन को हम अग्निसह कह सकते है। इस प्रकार ईंट, कक्रीट तथा पकाई अथवा कच्ची मिट्टी तथा ऐस्बेस्टस इत्यादि अग्निसह पदार्थों की सूची मे आती है।

जलते भवनो मे लोहा पिघलता तो नहीं पर फैलता और नरम हो जाता है। अत्यधिक विस्तार (एक्सपैंशन) अथवा नरमी के कारण वह झुक जाता है। इसलिये वह अग्निसह पदार्थों की सूची मे नही रखा जा सकता, परतु यदि वह कक्रीट के भीतर दबा हो, जैसा रिइन्फोर्स्ड कक्रीट में होता है, तब वह पर्याप्त अग्निसह हो जाता है। अत. अग्निसह भवन के निर्माण के लिये मिट्टी, ईंट तथा कुछ मात्रा मे कक्रीट और रिइन्फोर्स्ड कक्रीट उपयुक्त हैं।

लकडी लगभग २५०° सें० के ताप पर सुगमता से आग पकड लेती है। अत अग्निसह भवन के लिये लकडी उपयुक्त नही है। कुछ विशेष रासायनिक द्रव्यो के लेप से लकडी भी एक सीमा तक अग्निसह बनाई जा सकती है। इसकी कुछ विधियाँ इस प्रकार है

(१) १०० किलोग्राम अमोनियम फास्फेट, १० किलोग्राम बोरिक ऐसिड और १,००० लिटर पानी के घोल मे लकडी डुबोने से वह बहुत कुछ अग्निसह हो जाती है।

(२) द्रव सोडियम सिलिकेट (लिक्विड सोडियम सिलिकेट) १,००० भाग, सफेदा (व्हाइट लेड) ५०० भाग, सरेस १,००० भाग को मिलाने से जो लेप तैयार होता है उसे लकडी पर लगाने से वह बहुत कुछ अग्निसह हो जाती है।

(३) क—ऐल्युमिनियम सल्फेट २० भाग, पानी १,००० भाग,
ख—सोडियम सिलिकेट ५० भाग, पानी १,००० भाग। इन दोनो घोलो को मिलाएँ तथा लकडी पर लगाएँ।

(४) सोडियम सल्फेट ३५० भाग, बारीक ऐस्बेस्टस ३५० भाग, पानी १,००० भाग। इन सबको मिलाकर लकडी पर कई बार लेप करना चाहिए।

(५) लकडी पर चूने की सफेदी कई बार करने से भी वह एक सीमा तक अग्निसह हो जाती है।

लकडी की दीवारो पर निम्नलिखित अग्निसह घोल भी लगाया जा सकता है

खडिया ६० भाग, सफेद डेक्स्ट्रीन ११ भाग, प्लास्टर ऑव पेरिस ११ भाग, फिटकिरी ४ भाग, खानेवाला सोडा २ भाग। सबको बारीक पीसकर अच्छी तरह मिलाना चाहिए। फिर इसके चार भाग को ३ भाग खौलते पानी मे मिलाने पर लेप तैयार होगा जिसको दीवार पर पोतना चाहिए। यह लेप पानी तथा आग दोनो के प्रभाव को कम करता है।

इसी प्रकार छतो पर पातने (पेंट करने) के लिये निम्नलिखित अग्निसह योग उपयोगी है

महीन बालू १ भाग, छानी हुई लकडी की राख २ भाग तथा चूना ३ भाग। सबको तेल मे फेटकर बुरुश से पेंट करे। यह योग सस्ता है और लकडी की छतो को पर्याप्त सीमा तक अग्निसह बना देता है।

भवनो म जहाँ आग जलाई जानेवाली हो, जैसे अँगीठी, चूल्हे या भट्ठी-वाले स्थानो म, वहाँ अग्निसह मिट्टी या अग्निसह ईंट ही लगानी चाहिए। इसी प्रकार छत और फर्श मे मिट्टी या पकी मिट्टी की टाइलो का प्रयोग उपयोगी होता है। फूस, लकडी, कपडा, कैनवस तथा अन्यान्य ऐसी वस्तुओ का प्रयोग नही करना चाहिए जो सुगमता से आग पकड लेती है। लोहे के गर्डर के बदले रिइन्फोर्स्ड कक्रीट, अथवा उससे भी अच्छा रिइन्फोर्स्ड ब्रिकवर्क, ईंट या ईंट की डाट का प्रयोग करना चाहिए। पत्थर काफी मात्रा तक अग्निसह है, पर उतना नही जितनी ईंटे। अधिक गरम होने के बाद शीघ्रता से ठढा किए जाने पर पत्थर चिटक जाता है। (का० प्र०)

अग्निसह मिट्टी एक विशेष प्रकार की मिट्टी को, जो बिना पिघले अथवा कोमल हुए अत्यधिक ताप सहन कर सकती है, अग्निसह मिट्टी कहते है।

भिन्न भिन्न स्थानो मे पाई जानेवाली अग्निसह मिट्टी की रचना एक दूसरी से थोडी बहुत भिन्न होती है, पर मुख्यत इनकी रासायनिक रचना इस प्रकार की होती है:

सिलिका	५९ से ९६	प्रतिशत
ऐल्युमिना	२ से ३६	प्रतिशत
लौह आक्साइड	२ से ५	प्रतिशत

इनके अतिरिक्त सूक्ष्म मात्रा मे चूना, मैगनीशिया, पोटाश तथा सोडा भी पाया जाता है। ऐल्युमिनियम आक्साइड (ऐल्युमिना) और बालू (सिलिका) अनुपात मे जितनी अधिक मात्रा मे रहेंगे उतनी ही मिश्रण में अग्नि सहन की शक्ति अधिक होगी।

यदि लोहे के आक्साइड अथवा चूना, मैगनीशिया, पोटाश या अन्य क्षारीय पदार्थ की मात्रा अधिक होगी तो ये गरमी पाने पर मिट्टी के पिघलने में सहायता करेंगे, अतः जब ये वस्तुएँ मिट्टी मे अधिक मात्रा में रहती हैं तो मिट्टी अग्निसह नही होती। परंतु जब ये वस्तुएँ एक सीमा से कम मात्रा मे रहती है तो वे मिट्टी के कणो को आपस मे बाँध नही पाती। इसलिये मिट्टी कमजोर हो जाती है।

इसी प्रकार मिट्टी के कणो की मापें भी उसके अग्नि सहने के गुण पर प्रभाव डालती हैं। एक सीमा तक मोटे कणोवाली मिट्टी अधिक अग्निसह होती है।

अच्छी अग्निसह मिट्टी महीन तथा चिकनी होती है और उसका रग सफेद होता है। यह कोयले की खानो के पास पाई जाती है।

उपयोग—अग्निसह मिट्टी अँगीठी, भट्ठी तथा चिमनी इत्यादि के भीतर, जहाँ आग की गरमी अत्यधिक होने से साधारण मिट्टी की ईंटें अथवा पलस्तर के चटक जाने की आशका रहती है, ईंट अथवा लेप के रूप मे काम मे लाई जाती है। (का० प्र०)

अग्निहोत्र वैदिक काल मे अग्निहोत्र का बडा महत्व था। प्रात कालीन और सायकालीन सध्याओ के उपरात अग्निहोत्र करके पूजा से उठने का विधान है। वैदिक समय मे यज्ञ के लिये जगल से समिधा लाकर शुल्वसूत्र (ज्यामिति) के अनुसार यज्ञ की वेदी का निर्माण कर अग्निहोत्र करने की प्रथा थी जो अद्यावधि चली आ रही है। (च० म०)

अग्न्याशय (पैनक्रिऐस) शरीर की एक बडे आकार की ग्रंथि है जो उदर मे आमाशय के निम्न भाग के पीछे की ओर रहती है। इस कारण स्वाभाविक अवस्था मे यह आमाशय और वपा (ओमेंटम) से ढकी रहती है। इसका दाहिना बडा भाग, जो सिर कहलाता है, पक्वाशय की मोड के भीतर रहता है। इस ग्रंथि का दूसरा लबा भाग, जो गात्र कहलाता है, सिर मे आरभ होकर पृष्ठवश (रीढ) के सामने से होता हुआ दाहिनी ओर से बाईं ओर चला जाता है। वहाँ वह पतला हो जाता है
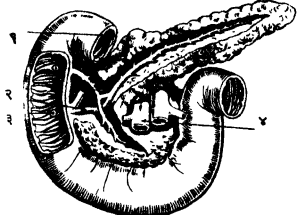
अग्न्याशय

१ पित्ताशय धमनी, २ अग्न्याशय नलिका, ३ पक्वाशय के भीतर नलिकाओ के मुख; ४. आंत्र की धमनी और शिरा।

और पुच्छ कहलाता है। बाईं ओर वह प्लीहा तक पहुँच जाता है और उससे लगा रहता है।

इस ग्रंथि का रग धूसर या मटमैला होता है। उसपर शहतूत के दानो के समान दाने से उठे रहते हैं। इस ग्रंथि मे रक्तसचार अधिक होता है। प्लीहा की धमनी की बहुत सी शाखाएँ इसमे रक्त पहुँचाती है। यदि इसका व्यवच्छेदन किया जाय तो इससे एक मोटी श्वेत रग की नलिका पुच्छ से आरभ होकर सिर के दाहिने किनारे तक जाती दिखाई देगी। ग्रंथि के भिन्न भिन्न भागो से अनेक सूक्ष्म नलिकाएँ आकर इस बड़ी नलिका में मिल जाती है और वहाँ उत्पन्न अग्न्याशयिक रस को नलिका मे पहुँचाती हैं। यह नलिका सारी ग्रंथि मे होती हुई दाहिने किनारे पर पहुँचती है। फिर यह वहाँ की नलिका से मिल जाती है, जिससे सयुक्त पित्तनलिका बनती है। यह नलिका पक्वाशय की भित्ति को भेदकर उसके भीतर एक छिद्र द्वारा खुलती है। इस छिद्र से होता हुआ, समस्त ग्रंथि

में बना हुआ, अग्न्याशयिक रस पक्वाशय में पहुँचता है, वहाँ यह रस आमाशय से आए हुए आहार के साथ मिल जाता है और उसके अवयवों पर प्रबल पाचक क्रिया करता है।

इस ग्रंथि में दो भाग होते हैं। एक भाग पाचक रस बनाता है जो नलिका में होकर पक्वाशय में पहुँच जाता है। दूसरे सूक्ष्म भाग की कोशिकाओं के द्वीप प्रथम भाग की कोशिकाओं के ही बीच में स्थित रहते हैं। ये द्वीप एक वस्तु उत्पन्न करते हैं जिसको इन्स्यूलीन कहते हैं। यह एक रासायनिक पदार्थ अथवा हारमोन है जो सीधा रक्त में चला जाता है, किसी नलिका द्वारा बाहर नहीं निकलता। यह हारमोन कार्बोहाइड्रेट के चयापचय का नियंत्रण करता है। इसकी उत्पत्ति बंद हो जाने या कम हो जाने से मधुमेह (डायाबिटीज़, वस्तुत डायाबिटीज़ मेलिटस) उत्पन्न हो जाता है। इन द्वीपों को लैंगरहैंस ने १८७० के लगभग खोज निकाला था। इस कारण ये लैंगरहैंस के द्वीप कहलाते हैं। पशुओं के अग्न्याशय से सन् १९२१ में प्रथम बार बैंटिंग तथा बेस्ट ने इन्स्युलीन तैयार की थी, जो मधुमेह की विशिष्ट ओषधि है और जिससे असंख्य व्यक्तियों की प्राणरक्षा होती है। (मु० स्व० व०)

अग्न्याशय के रोग अन्य अंगों की भाँति अग्न्याशय में भी दो प्रकार के रोग होते हैं। एक बीजाणुओं के प्रवेश या संक्रमण से उत्पन्न होनेवाले और दूसरे स्वयं ग्रंथि में बाह्य कारणों के बिना ही उत्पन्न होनेवाले। प्रथम प्रकार के रोगों में कई प्रकार की अग्न्याशयार्तियाँ होती हैं। दूसरे प्रकार के रोगों में अश्मरी, पुटी (सिस्ट), अर्बुद और नाडीव्रण या फिस्चुला है।

अग्न्याशयार्ति (पैनक्रिएटाइटिस) दो प्रकार की होती है, एक उग्र और दूसरी जीर्ण। उग्र अग्न्याशयार्ति प्राय पित्ताशय के रोगों या आमाशय के व्रण से उत्पन्न होती है, इसमें सारी ग्रंथि या उसके कुछ भागों में गलन होने लगती है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है और इसका आरंभ साधारणत २० और ४० वर्ष के बीच की आयु में होता है। अकस्मात् उदर के ऊपरी भाग में उग्र पीड़ा, अवसाद (उत्साहहीनता) के से लक्षण, नाड़ी का क्षीण हो जाना, ताप अत्यधिक या अति न्यून, ये प्रारंभिक लक्षण होते हैं। उदर फूल आता है, उदरभित्ति स्थिर हो जाती है, रोगी की दशा विषम हो जाती है। जीर्ण रोग के लक्षण उपर्युक्त के ही समान होते हैं किंतु वे तीव्र नहीं होते। अंतर काल से आक्रमण होते रहते हैं। इसके उपचार में बहुधा शस्त्रकर्म आवश्यक होता है। जीर्ण रूप में ओषध्युपचार से लाभ हो सकता है। अश्मरी, पुटी, अर्बुद और नाडीव्रणों में केवल शस्त्रकर्म ही चिकित्सा का साधन है। अर्बुदों में कैंसर अधिक होता है। (मु० स्व० व०)

अग्रवाल यह वैश्य वर्ग के अंतर्गत एक बृहत् समुदाय या जातिविशेष की संज्ञा है। लोक में इस शब्द का उच्चारण अगरवाल भी किया जाता है। अग्रवाल जाति का घना संनिवेश दक्षिणपूर्वी पंजाब, उत्तरी राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भौगोलिक क्षेत्रों में पाया जाता है। व्यापार वाणिज्य या अन्य कारणों से देश के दूसरे भागों में भी इस जाति का प्रसार हुआ है, किंतु प्रसार के इतिहासगत सूत्रों को पीछे की ओर टटोलने से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से ही इस जाति के विशिष्ट परिवार पिछले एक सहस्र वर्षों में अन्यत्र फैलते गए हैं।

अग्रवालों की जातीय अनुश्रुति भी ऊपर के तथ्य की ओर संकेत करती है। इनके चारण विवाह के अवसर पर जो शाखोच्चार करते हैं एवं उनके पास जो जातीय परंपरा के अनुश्रुतिगत तथ्य सुरक्षित हैं उनसे विदित होता है कि अग्रवाल जाति के मूल पुरुष राजा अग्रसेन थे। उन अग्रसेन के १८ पुत्र थे। उनसे १८ गोत्रों का आरंभ हुआ। अग्रसेन की राजधानी अगरोहा नगरी थी। इस अनुश्रुति के मूल में ऐतिहासिक तत्व आंशिक रूप से ही खोजा जा सकता है और पुरातत्व के अर्वाचीन उत्खनन से इस इतिहास का समर्थन प्राप्त हुआ है। इस इतिहास का निर्विवाद अंश यह है कि अग्रवाल जाति का मूलस्थान अग्रोदक नगर में था जिसे इस समय अगरोहा कहा जाता है। दक्षिणपूर्वी पंजाब के हिसार जिले में फतेहाबाद से सिरसा (शैरीषक) को जानेवाली सड़क पर अगरोहा की बस्ती है जिसके पास ही दूर तक पुराने टीले फैले हुए हैं। भारतीय पुरातत्व विभाग ने वहाँ खुदाई कराई थी। उसमें कुछ पुराने ताँबे के सिक्के मिले थे। उनपर यह लेख पढ़ा गया है—'अगोदके अगाच जनपदस'- अर्थात् अगोदक स्थान में अगाच जनपद की मुद्राएँ। अगोदक स्पष्ट ही संस्कृत अग्रोदक का प्राकृत रूप है। जैसे पंजाब के ही दूसरे स्थान पृथूदक का लोकप्रचलित रूप पीहोवा हो गया, वैसे ही अग्रोदक अब अगरोहा कहलाता है। अग्रोदक राजधानी था और उसके चारों ओर एक जनपद राज्य था। सिक्कों पर इस जनपद का नाम अगाच दिया हुआ है। इसका संस्कृत रूप अग्रेय या अग्र होना चाहिए। अग्र जनपद और अग्रोदक में जो जन निवास करता था उसका राजनीतिक संगठन जनपद के युग में पनपनेवाले अन्य जनपदों के समान ही रहा होगा।

अग्रवाल जाति के मूल पुरुष अग्रसेन के संबंध में निश्चित ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं है। यह जनपद युग की सामान्य प्रथा थी कि प्रत्येक जाति अपने नाम के अनुरूप मूल पुरुष की कल्पना कर लेती थी। इन जातियों के राजनीतिक संगठन को श्रेणी कहते थे। श्रेणियों में केवल शस्त्रोपजीवी जातियाँ थीं। अग्र जनपद की श्रेणी भी इसी प्रकार के राजनीतिक संविधान को माननेवाली थी। श्रेणी के संगठन की इकाई कुल था। प्रत्येक कुल में उसका वृद्ध पुरुष सभासद होता था। अग्रश्रेणी के परमश्रेष्ठ कुलपुरुष अग्रसेन के रूप में प्रसिद्ध हुए। शासन की दृष्टि से यह श्रेणी और जनपद में उसी प्रकार [illegible] अंकित थी जैसे पाणिनिकालीन अन्य संघराज्य थे। अग्र जनपद के अंकलक्षण और मुद्रा उसके निजी प्रभुत्व के द्योतक थे। अनुश्रुति राजा अग्रसेन को क्षत्रिय मानती है। इसकी संगति यह है कि मूलतः यह श्रेणी शस्त्रोपजीवी थी। कालक्रम से कितनी ही श्रेणियाँ या जातियाँ कृषि, वाणिज्य आदि वृत्तियों में लग गई। इस कारण उन्हें वार्ताशस्त्रोपजीवी गण या श्रेणी कहा जाने लगा था। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के संघों का उल्लेख आया है। यह अनुमान संगत जान पड़ता है कि अग्रवाल जाति ने अपने इतिहास के आरंभ में ही वार्ता प्रधान होकर, पशुपालन और वाणिज्य को प्रधान रूप में अपना लिया था। भारतीय इतिहास में अग्रवाल जाति का उल्लेख लगभग १३वीं शताब्दी में मिलने लगता है। इनमें इन्हें अग्रोतकान्वय अर्थात् अग्रोतकवंशी कहा गया है। अग्रोतक नाम भी प्राचीन अग्रोदक का सूचक है। अग्रोदक से बाहर फैलते हुए जो अग्रवाल राजस्थान की ओर गए वे मारवाड़ी कहलाए और जो मध्यदेश की ओर गए वे देशी कहलाए।

सं० ग्रं०—सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास। (वा० श० अ०)

अग्रिकोला, ग्नायस यूलियस (३७–९३ ई०) रोमन जेनरल, इतिहासकार तासितस का श्वसुर। सिनेटर पिता की हत्या हो जाने पर मस्सीलिया में माता के संरक्षण में रहा। पहले सेना में नियुक्त हो ब्रिटेन गया। [illegible]१ ई० में स्वदेश लौटकर एक संभ्रांत महिला से विवाह किया। इसके बाद के काल में उसने ६३ ई० से ७० ई० तक, एशिया में क्वेस्टर, ट्रिब्यून प्लीबिस, और ब्रिटेन में २०वीं सेना के सेनापति पद तक उन्नति की। सात वर्ष तक वह ब्रिटेन का शासक रहा। इसी बीच उसने अपने प्रदेश का [illegible] भी किया जो संदेह की दृष्टि से देखा गया और वापस बुलाकर उसे प्रोकौंसल का पद दिया गया, पर उसने उसे लेने से इनकार कर अवकाश ग्रहण कर लिया। ९३ ई० में उसकी मृत्यु संभवत विषपान द्वारा हुई। (ओ० ना० उ०)

अग्रिकोला, जार्ज जर्मन वैज्ञानिक, का जन्म २४ मार्च, १४९० को सैक्सनी में ग्लाउखाउ स्थान में हुआ। आपकी उच्च शिक्षा लाइपज़िग विश्वविद्यालय में हुई। १५१७ में आपने यहाँ से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात् आप ज़्विकाउ में म्युनिसिपल स्कूल में कार्य करने लगे। १५२४ में आपने ओषधि विज्ञान का अध्ययन आरंभ किया और इटली के विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त की। सन् १५२७ में आपकी नियुक्ति जोआकिमस्थल (बोहेमिया) में नगर डाक्टर के पद पर हो गई। १५३० में आप केम्नित्स चले आए।

प्रारंभ से ही आपकी रुचि खनिज विज्ञान के अध्ययन की ओर थी। केम्नित्स (जर्मनी) जैसे खनन केंद्र में पहुँचने पर आपको और भी प्रोत्साहन

मिला। आपके ग्रंथो में 'दे रि मैतालिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह १२ भागो मे है। इस ग्रथ के अंतर्गत भौमिकी, खनन तथा धात्वकी तीनों विषय आ जाते है। यह ग्रथ मूलतः लातीनी मे प्रकाशित हुआ था, पर इसका अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन तथा इटालियन भाषाओं मे भी हुआ।

आपकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है 'दे नातूरा फासिलियम'। दस भागो मे प्रकाशित इस ग्रथ मे खनिजों तथा उनके वर्गीकरण का वर्णन है। १५४६ मे आपका भौमिक विषयक ग्रथ 'दे ओर्तु एत कोसिस सबते-रानिओरम' प्रकाशित हुआ। भौतिक भौमिकी पर यह पहला वैज्ञानिक ग्रथ है। इनके अतिरिक्त आपकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित है 'बरमैनस' तथा 'दोमिनातोरिम साक्सोनिकी आ प्रिमा ओरिजिने अद हाउक ईतात्यूर'। केम्नित्स मे ही आपकी मृत्यु २१ नवबर, १५५५ को हुई। (म० ना० मे०)

अग्रिपा सदेहवादी ग्रीक दार्शनिक। इसका समय ठीक प्रकार से ज्ञात नही है, पर सभवत यह इनेसिदेमस् के पश्चात् हुआ था। इसने निर्भ्रात सुनिश्चित ज्ञान की सभाव्यता के विरुद्ध उसके विषय में सदेह करने के पाँच आधार या हेतु बतलाए है जो (१) वैमत्य, (२) अनत विस्तार, (३) सापेक्षिकता, (४) उपकल्पना (हाइपाथेसिस) और (५) परस्पराश्रित अनुमान है। अग्रिपा का उद्देश्य यह था कि उसके ये पाँच हेतु इनेसिदेमस् इत्यादि प्राचीन सदेहवादियों के दस हेतुओं का स्थान ग्रहण कर लें। (भो० ना० श०)

अग्रिपा, मार्कस विप्सानिअस (६३–१२ ई० पू०) यह प्रसिद्ध रोमन सम्राट् आगस्तस का परम मित्र और सेनापति था तथा उसका प्रिय सलाहकार था। इन दोनो का उल्लेख मिस्र की रानी क्लियोपात्रा के सबध मे हुआ है। उससे ओगुस्तस की बेटी भी ब्याही थी, यद्यपि उसकी उम्र सम्राट् के बराबर ही थी और दोनों ने एक साथ ही यूनान मे अध्ययन किया था। अग्रिपा अत तक अपने मित्र सम्राट् के साथ रहा था और निरतर उसने उसके कार्य सपन्न किए। ३७ ई० पू० मे वह रोम का कौसल हुआ। रोम की नागरिकता का अध्यक्ष होने के नाते उसने उस महान् नगर के बदरगाह का सुदर प्रबध किया और नौसेना का नए ढग से सगठन किया। रोम नगर की प्रधान इमारतो का जीर्णोद्धार कराया और नई इमारते, नालियाँ, स्नानगृह, उद्यान आदि बनवाए। उसने ललित कलाओं को अपना सरक्षण दिया और जो यह कहा जाता है कि 'ओगुस्तस ने पाया रोम नगर जो ईंट का था पर छोड़ा उसे सगमरमर का बनाकर' वस्तुत सम्राट् के पक्ष मे उतना सही नहीं है जितना अग्रिपा के पक्ष मे और उस दिशा मे जो कुछ भी सम्राट् कर सका वह अग्रिपा की कार्यशीलता से। मार्क आतोनी के विरुद्ध आक्तियम की लड़ाई सम्राट के लिये अग्रिपा ने ही जीती थी और परिणामस्वरूप अपनी भतीजी मार्सेला का विवाह उसने अग्रिपा से कर दिया था। २३ ई० पू० मे अग्रिपा पूर्व का गवर्नर बनाकर भेजा गया। वहा से लौटने पर सम्राट् ने अपनी मित्रता उसके साथ दृढ करने के लिये उससे पत्नी का तलाक दिलाकर उसे अपनी बेटी ब्याह दी। कुछ काल बाद उसे फिर पूर्व जाना पड़ा और वहाँ उसने अपनी न्यायप्रियता और सुशासन से लोगो का हृदय जीत लिया। पन्नोनिया का विद्रोह बिना रक्तपात के दबाकर उसने और भी लोकप्रियता अर्जित की। ५१ वर्ष की उम्र मे अग्रिपा की कपानिया मे मृत्यु हुई। वह लेखक भी था। उसने भूगोल पर काफी लिखा है। उसने अपनी आत्मकथा भी लिखी थी जो अब नही मिलती। (ओ० ना० उ०)

अग्रिपा, हेरोद प्रथम (१० ई० पू०–४४ ई०) अरिस्तिबोलुस का पुत्र और हेरोद महान् का पौत्र, लगभग १० ई० पू० मे पैदा हुआ। उसका वास्तविक नाम मार्कस यूलिअस अग्रिपा था। अपने शैशव और युवा काल म वह रोम के सम्राट् तिबेरियस के दरबार मे रहा। वहाँ उसके ऊपर काफी ऋण हो गया तो उसके चचा ने उसे 'एगोरानोमस' अर्थात् मडियों का ओवरसियर बनवा दिया और उपहार म उसे बहुत सा द्रव्य दिया। सन् ३७ ई० में रोम के सम्राट् कैलीगुला ने प्रसन्न होकर उसे बतानी और कोनितिस का शासक बनाया। सन् ४१ ईस्वी में जब क्लादियस रोम का सम्राट् बना तो अग्रिपा हेरोद जूदा का शासक बना दिया गया। यहूदी उसके शासन से बहुत संतुष्ट थे। उसने जेरूसलम की चहारदीवारियो को मजबूत बनाया और अपने सामत शासकों को अनुशासन मे रखा। सन् ४४ ई० मे उसकी हत्या कर दी गई। उसकी हत्या के पश्चात् रोम के सम्राट् ने जूदा के राजपद को समाप्त कर दिया। (वि० ना० पा०)

अघोरपंथ अघोर मत या अघोरियो का संप्रदाय जिसके प्रवर्तक स्वयं अघोरनाथ शिव माने जाते हैं। रुद्र की मूर्ति का श्वेताश्वतरोपनिषद् (३–५) मे 'अघोरा' वा मगलमयी कहा गया है और उनका 'अघोर मत्र' भी प्रसिद्ध है। विदेशो मे, विशेषकर ईरान मे, भी ऐसे पुराने मतो का पता चलता है तथा पश्चिम के कुछ विद्वानो ने उनकी चर्चा भी की है। हेनरी बालफोर की खोजो से विदित हुआ है कि इस पथ के अनुयायी अपने मत को गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित मानते हैं, किंतु इसके प्रमुख प्रचारक मोतीनाथ हुए जिनके विषय मे अभी तक अधिक पता नही चल सका है। इसकी तीन शाखाएँ (१) औघड, (२) सरभगी एवं (३) घुरे नामो से प्रसिद्ध है जिनमे से पहली मे कल्लूसिह वा कालूराम हुए जो बाबा किनाराम के गुरु थे। कुछ लोग इस पथ को गुरु गोरखनाथ के भी पहले से प्रचलित बतलाते है और इसका सबध शैव मत के पाशुपत अथवा कालामुख सप्रदाय के साथ जोड़ते है। बाबा किनाराम अघोरी वर्तमान बनारस जिले के ससगढ गावँ मे उत्पन्न हुए थे और बाल्यकाल मे ही विरक्त भाव मे रहते थे। इन्होंने पहले बाबा शिवाराम वैष्णव से दीक्षा ली थी, किंतु वे फिर गिरनार के किसी महात्मा द्वारा भी प्रभावित हो गए। उस महात्मा को प्राय गुरु दत्तात्रेय समझा जाता है जिनकी ओर इन्होंने स्वय भी कुछ सकेत किए है। अत मे ये काशी के बाबा कालूराम के शिष्य हो गए और उनके अनतर 'कृमिकुड' पर रहकर इस पथ के प्रचार मे समय देने लगे। बाबा किनाराम ने 'विवेकसार', 'गीतावली', 'रामगीता' आदि की रचना की। इनमे से प्रथम को इन्होंने उज्जैन मे शिप्रा के किनारे बैठकर लिखा था। इनका देहात स० १८२६ मे हुआ।

'विवेकसार' इस पथ का एक प्रमुख ग्रथ है जिसमे बाबा किनाराम ने 'आत्माराम' की वदना और अपने आत्मानुभव की चर्चा की है। उसके अनुसार सत्य पुरुष वा निरजन है जो सर्वत्र व्यापक और व्याप्य रूपो मे वर्तमान है और जिसका अस्तित्व सहज रूप है। ग्रथ मे उन अगो का भी वर्णन है जिनमे से प्रथम तीन मे सृष्टिरहस्य, कायापरिचय, पिडब्रह्माड, अनाहतनाद एव निरजन का विवरण है, अगले तीन म योगसाधना, निरालब की स्थिति, आत्मविचार, सहज समाधि आदि की चर्चा की गई है तथा शेष दो मे सपूर्ण विश्व के ही आत्मस्वरूप होने और आत्मस्थिति के लिये दया, विवेक आदि के अनुसार चलने के विषय म कहा गया है। बाबा किनाराम ने इस पथ के प्रचारार्थ रामगढ, देवल, हरिहरपुर तथा कृमिकुड पर क्रमश चार मठों की स्थापना की जिनम से चौथा प्रधान केंद्र है। इस पथ को साधारणत 'औघडपथ' भी कहते है। इसके अनुयायियो मे सभी जाति के लोग, मुसलमान तक, है। विलियम क्रुक ने अघोर-पथ के सर्वप्रथम प्रचलित होने का स्थान राजपूताने के आबू पर्वत को बतलाया है, किंतु इसके प्रचार का पता नेपाल, गुजरात एव समरकद जैसे दूर स्थानो तक भी चलता है और इसके अनुयायियो की सख्या भी कम नही है। जो लोग अपने को अघोरी वा औघड़ बतलाकर इस पथ से अपना सबध जोडते है उनमे अधिकतर शवसाधना करना, मुर्दे का मास खाना, उसकी खोपडी मे मदिरा पान करना तथा घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करना भी दीख पडता है जो कदाचित् कापालिकों का प्रभाव हो। इनके मदिरादि सेवन का सबध गुरु दत्तात्रेय के साथ भी जोडा जाता है जिनका मदकलश के साथ उत्पन्न होना भी कहा गया है। अघोरी कुछ बातों मे उन कनफटे जोगी 'औघडो' से भी मिलते जुलते है जो नाथपथ के प्रारभिक साधको मे गिने जाते है और जिनका अघोर पथ के साथ कोई भी सबध नही है। इनमे निर्वाणी और गृहस्थ दोनो ही होते है और इनकी वेशभूषा मे भी सादे अथवा रगीन कपडे होने का कोई कड़ा नियम नही है। अघोरियो के सिर पर जटा, गले मे स्फटिक की माला तथा कमर मे घाँघरा और हाथ मे त्रिशूल रहता है जिससे दर्शकों को भय लगता है।

इसकी 'घुरे' नाम की शाखा के प्रचारक्षेत्र का पता नही चलता किंतु सरभंगी शाखा का अस्तित्व विशेषकर चपारन जिले में दीखता है जहाँ पर

भिनकराम, टेकमनराम, भीखनराम, सदानंद बाबा एवं बालखंडी बाबा जैसे अनेक आचार्य हो चुके हैं। इनमें से कई की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और उनसे इस शाखा की विचारधारा पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है।

सं० ग्रं०—ब्रिग्स . गोरखनाथ ऐंड द कनफटा योगीज (१९३८ ई०), रामदास गौड़ 'हिंदुत्व' (स० १९९५), परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की संतपरंपरा (स० २००८), डा० कल्याणी मल्लिक सप्रदायेर इतिहास, दर्शन आर साधन प्रणाली (१९५० ई०)। (प० च०)

अचलपुर महाराष्ट्र में अमरावती जिले की एक तहसील तथा प्रसिद्ध नगर। तीन वर्ग मील क्षत्रफलवाला यह नगर २१° १६' उ० अ० तथा ७७° ३३' पू० दे० पर समुद्रतट से लगभग १२०० फुट की ऊँचाई पर अमरावती से लगभग ३० मील उ० प० दिशा में स्थित है। १८६९ ई० में यहाँ नगरपालिका बनी। सूत के व्यापार के लिये यह स्थान प्रसिद्ध है। (न० ला०)

अचेतन द्र० 'मनोविकार विज्ञान'।

अच्युत (१) विष्णु एव उनके अवतारो की संज्ञा है। इसीलिये वासुदेव कृष्ण को भी इसी नाम से अभिहित किया जाता है।

(२) जैनियो के चार श्रेणी के देवताओ मे चौथी अर्थात् वैमानिक श्रेणी के कल्पभव नामक देवताओ के एक भेद को भी अच्युत कहा जाता है।

(३) एक पौधे का नाम।

(४) एक प्रकार की पद्यरचना जिसमे १२ बध होते है। (कै० च० श०)

अजंता इटारसी से बबई जानेवाली रेल लाइन पर जलगाँव स्टेशन से फरदापुर गाँव होकर अजता जाने का मार्ग है। यहाँ सह्याद्रि पर्वत के उत्सग मे २९ गुफाएँ उत्कीर्ण हैं। नीचे वागुरा नदी की पारिजात वृक्षो से भरी हुई द्रोणी है। ये गुफाएँ अपनी शिल्पसपत्ति और, विशेषत', चित्रकला के लिये विख्यात हैं। १–१८ सख्यक गुफाएँ दक्षिणमुखी और शेष पूर्वमुखी है। गुफा ९,१०,१९ तथा २६ चैत्यमदिर, शेष विहार हैं। चैत्यगुहा १० और उसके साथ की विहार गुहा १२,१३ सबसे प्राचीन, लगभग दूसरी शती ई० पू० की हैं। उसी वर्ग मे चैत्यगुहाएँ और विहारगुहा ८ आध्र-सातवाहन-युग की हैं। इसके बाद लगभग दो शती तक अजता मे निर्माण कार्य स्थगित रहकर गुप्त-वाकाटक-युग मे यह केंद्र महायान प्रभाव मे पुन वैभव को प्राप्त हुआ। पहली गुफाएँ हीनयान प्रभाव की द्योतक है। इस बार बुद्धमूर्ति को केंद्र मे रखकर शिल्प और चित्रो का ताना बाना पूरा गया। विहारगुहा ११, ७, ६ का उत्खनन पाँचवी शती के पूर्वार्ध मे हुआ। पाँचवी शती के अतिम भाग मे विहारगुहा १५, १६, १७, १८, २० और चैत्यगुहा १९ का निर्माण हुआ। विहारगुहा १६ वाकाटक नरेश हरिषेण (४७५–५०० ई०) के सचिव वराहदेव ने बनवाई। उसके लेख मे गुहा के भीतर यतींद्र बुद्ध के चैत्यमदिर, एव गवाक्ष, निर्यूह, वीथि, वेदिका और अप्सराओ के अलकरणो का वर्णन है। विहारगुहा १७ भी हरिषेण के समय की है। उसके लेख मे उसे एकाश्मक मडपरत्न और गुहा १९ को गधकुटी कहा गया है। तदनतर विहारगुहा २१–२५ और चैत्यगुहा २६ का निर्माण छठी शती के उत्तरार्ध मे और विहारगुहा १–२ का निर्माण सप्तम शती के पूर्वार्ध मे हुआ ज्ञात होता है। नरसिंहवर्मन पल्लव द्वारा पुलिकेशी द्वितीय की पराजय (६४२ ई०) के बाद चैत्य और विहारो का काम रुक गया और कुछ अधूरे ही रह गए।

चैत्यगुहा १० और ९ का आकार वृत्तायत है, अर्थात् पिछला भाग अर्धवृत्ताकार और अगला आयताकार है। उनके बीच मे मडप और दो ओर प्रदक्षिणा मार्ग है। महायान युग के चैत्यमदिरो—गुहा १९, २६—का स्थापत्य विन्यास ऐसा ही है, पर उनमे अनेक बुद्धमूर्तियाँ और बुद्ध के जीवन की घटनाएँ उत्कीर्ण है। गुहा १९ का मुखपद अति भव्य है। उसका कीर्तिमुख (चैत्यवातायन) अति विशाल और अलकृत है। गवाक्षजालो से झाँकते हुए स्त्रीपुरुषो के मस्तको की शोभापट्टियाँ चारो ओर फैली हैं। विहारगुहाएँ बौद्ध भिक्षुओ के निवास के लिये सघाराम थे। उनके बीच मे विशाल मडप और चारों ओर कोठरियाँ बनी हुई हैं। गुफाओ की छतें विविध अलकरणों से विभूषित स्तभो पर टिकी हुई है।

अजता गुफाओ की कीर्ति उनके चित्रो की विशिष्ट समृद्धि और सुदरता पर आश्रित है। ये भित्तिचित्र खुरदुरे पत्थर पर धवलित भूमि तैयार करके धातुराग या गेरू की वर्तिका या लेखनी से आकारजनिका रेखा खींचकर लिखे गए थे। तत्पश्चात् रक्त, पीत, नील, हरित और कृष्ण वर्णों से इनके रग भरे गए। गुफा १० मे छदत की कथा चित्रित है। स्त्रीपुरुषो की आकृतियाँ और सज्जा भरहुत और साँची के शिल्पाकन के सदृश है। चित्रो का रेखासौष्ठव उनके आलेखनकौशल का प्रमाण देता है। गुहा की भित्तिया पर अनेक पुरुषो के चित्र लिखे है। वास्तविक चित्रसमृद्धि गुप्त-वाकाटक-युग की चैत्यगुहा १९ और विहारगुहा १६, १७ की भित्तियो पर पाई जाती है। इन गुफाओ के विशाल मडप, जो ५० फुट से अधिक लबे चौडे हैं, की छतें स्तभभित्तियाँ आदि सर्वांग मे चित्रो मे मडित थी। छतो मे शतपत्र और सहस्रपत्र कमलो के बडे बडे फुल्ले शोभा के विशिष्ट उदाहरण है। कमलो के चारो ओर फुल्लावली रत्न तथा और भी अलकरण है, जैसे गुहा २ की छत मे फुल्लावली, मणिरत्नखचित वक्तव्य, माया मेघमाला एव पत्रपुष्प की महावल्ली दर्शनीय है। कमल की उडती हुई लतर, हसों के शावक या उडते हुए जोडे, किल्लोल करती हुई समुद्रधेनु, जलतुरग, जलहस्ती, मालाधारी विद्याधारी, क्रीडा करते हुए माणवक एव भाँति भाँति की पत्रावली, अलकरण के अनेक विधान उपलब्ध होते है। अजता के भित्तिचित्र स्वर्णयुग के सास्कृतिक जीवन के प्रतिनिधि चित्र है। बुद्ध का महान् धम उनका मध्यवर्ती प्रेरक बिंदु है जिसके लिये राजकीय अत पुरो के जीवन एव लोक-जीवन की विविध साधनाएँ समर्पित है। अनुत्तरज्ञानावाप्ति, सर्वसत्वो का हितसुख एव करुणात्मक कर्मजनित ध्रुवशाति का वातावरण इन चित्रो का विशेष गुण है। भारतीय स्वर्णयुग के सास्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन की अक्षय्य सामग्री इन भित्तिचित्रो मे प्राप्त है।

विहारगुहा १६ मे बुद्ध के जीवनदृश्य, नदसुदरी कथानक एव छदत कथानक के दृश्य लिखित है। गुहा १७ की भित्तियो पर सप्तमानुषी बुद्ध, भवचक्र, सिंहावलोकन और बुद्ध के कपिलवस्तु के प्रत्यावर्तन के दृश्यो के अतिरिक्त कही जातककथाओ के भी चित्र अकित है। इनमे विश्वतर-जातक, शिविजातक, छदतजातक और हसजातक के चित्र अपनी अगाध करुणा और अविचल धर्मनिष्ठा की अभिव्यक्ति के कारण स्थायी आकर्षण की वस्तु है। इस गुहा मे मानव आकृतियाँ अपेक्षाकृत छोटे परिमाण की है। चैत्यगुहा १९ मे बुद्ध का कपिलवस्तु प्रत्यावर्तन एव अनेक बुद्धमूर्तिया के चित्र है। विहारगुहा १ की भित्तिया पर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर के महान् चित्र है जिन्हे एशिया महाद्वीप की कला मे सबसे अधिक ख्याति प्राप्त है। इनके अतिरिक्त बुद्ध के मारधर्षण का भी एक अत्यत ओजस्वी चित्र यहाँ है जिससे उस युग की धार्मिक साधना की दुर्धर्ष शक्ति का परिचय मिलता है। इसी गुहा मे महाजनक जातक और शिविजातक के विशाल कथात्मक अकन भी उल्लेखनीय है। वर्णों की आढ्यता और नतोन्नत सपुजन या वर्तना की दृष्टि से विहारगुहा २ के चित्र अतिश्रेष्ठ है। उनमे क्षातिवादी जातक और मैत्रीबल जातक के दृश्यो का आलेखन एव श्रावस्ती मे बुद्ध के सहस्रात्मक स्वरूप के दर्शन का चित्रण भी श्लाघनीय है। वास्तु, शिल्प और चित्र इन तीनो कलाओ का सतुलित विकास अजता की शिल्पकृतियो मे उपलब्ध होता है। यहाँ के चित्रशिल्पी लगभग चौथी से सातवीं सदी तक अत्यत आकर्षक और प्रभविष्णु रूपसत्व का निर्माण करते रहे।

सं० ग्रं०—जे० ग्रिफिथ्स अजता के बौद्ध गुहामदिरो के चित्र, दो भाग, लदन, १८९६–९७, श्रीमती हैरिंघम अजता भित्तिचित्र (अजता फ्रेस्कोज), लदन, १९१५, गुलाम यजदानी अजता, ४ भाग, टेक्स्ट और प्लेट, बालासाहब पतप्रतिनिधि अजता, १९३२। (वा० श० अ०)

अज उत्तर कोशल के इक्ष्वाकुवशी काकुत्स्थ राजाओ मे रघु के पुत्र अज बडे प्रतापी थे। उनकी पत्नी का नाम इदुमती तथा पुत्र का दशरथ था। ऐक्ष्वाकु परपरा के अनुसार उन्होंने मगध, अंग, अनूप, मथुरा आदि के राजाओं को युद्ध मे परास्त किया था। कालिदास ने अपने

अजंता
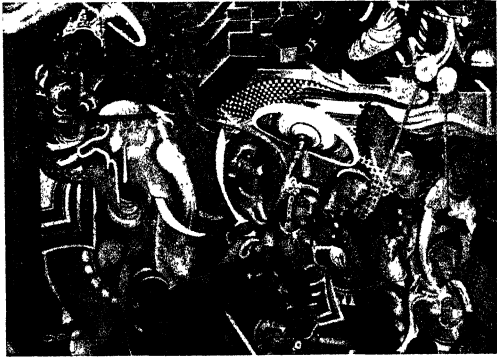
ऊपर—अजंता की गुफाओं का विहंगम दृश्य (भारत सरकार, पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से)।
नीचे—राजकीय जुलूस का भित्तिचित्र, द्र० पृष्ठ ८० (भारत सरकार के
पब्लिकेशंस डिवीजन के सौजन्य से)।
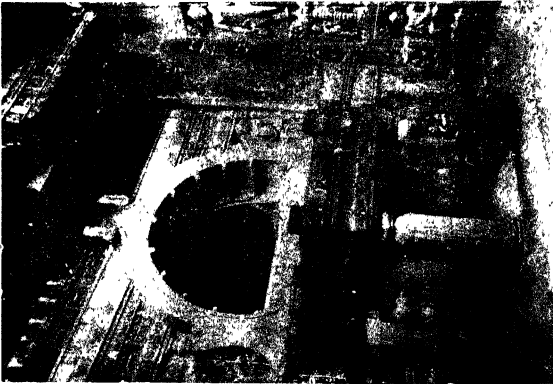
अजन्ता

बाईं ओर : अजन्ता गुफा सं० १९ का प्रवेशद्वार; दाहिनी ओर : प्रसाधन का भित्तिचित्र (द्र० पृष्ठ [illegible]) (भारत सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीजन के सौजन्य से)।

अजन्ता

बाईं ओर : पत्राधरा का भित्तिचित्र   दाहिनी ओर : पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का भित्तिचित्र द्र० पृष्ठ ८७ (भारत सरकार के पब्लिकेशंस डिवीजन के सौजन्य से)।

अजन्ता

आकाशगामी विद्याधर-विद्याधरियां का रेखांकन द० पृष्ठ ८० (भारत सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीजन के सौजन्य से)।

अप्सरा के एक प्रश्न की भाँकी (द० पृष्ठ १८६)।
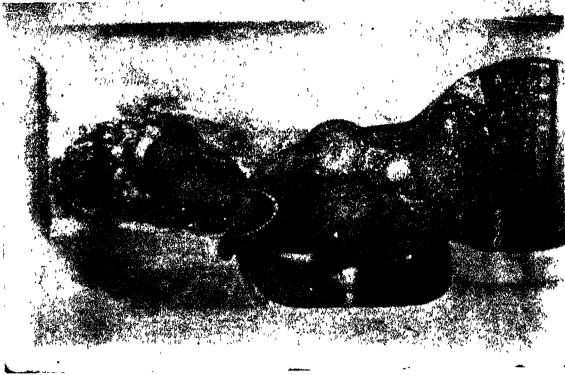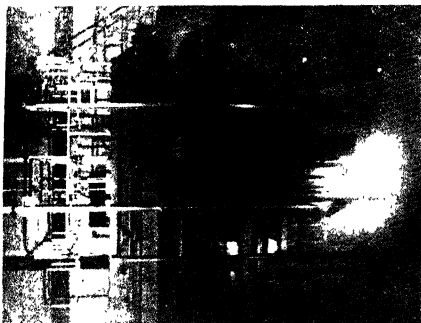
सुप्रसिद्ध काव्य 'रघुवश' मे 'इंदुमती स्वयंवर' तथा 'अजविलाप' प्रसगो का बडा मार्मिक और विशद चित्रण किया है। (च० म०)

उपर्युक्त के अतिरिक्त कश्यप ऋषि और उत्तम मनु के पुत्रो का नाम भी अज ही था। उक्त नाम के एक ऋषि भी थे जिनके कुल मे धनजय, कपर्दय, परिकूट तथा पाणिनि ऋषि उत्पन्न हुए। इसी नाम के एक वीर ने महाभारत मे पाडव पक्ष से युद्ध किया था। (स०)

अजगर (पाइथॉन) एक साँप है जो बहुत बडा होता है और गरम देशो मे पाया जाता है। प्राचीन यूनानी ग्रथो मे एक विशालकाय साँप का उल्लेख मिलता है जिसका वध अपोलो (यवन सूर्यदेवता) ने डेल्फी मे किया था। आधुनिक प्राणिविज्ञान मे यह साँप बोइडी वश एव पाइथॉनिनी उपवश के अतर्गत परिगणित होता है। इसकी विभिन्न जातियाँ पुरातन जगत् के समस्त उष्णकटिबध प्रदेशो मे पाई जाती है। सर्पों के इस वर्ग मे कुछ तो तीस फुट या इससे भी अधिक लबे मिलते है। अधिकाश अजगर वृक्षो पर रहते है, परतु कुछ जल के आसपास पाए जाते है, जहाँ वे जल मे डूबे या उतराए पडे रहते है।

अजगरो मे पश्चपादो के अवशेष मिलते हैं। इनकी श्रोणिमेखला (पेलविक गर्डिल) की सरचना जटिल होती है तथा वह कछुओ की श्रोणिमेखला के समान पसलियो के भीतर एक विचित्र स्थिति मे रहती है। पश्चपाद एक छोटी हड्डी के रूप मे दिखाई पडता है जिसे उरु-अस्थि कहते है। पश्चपाद के बाहरी भाग, उरु-अस्थि के अत मे स्थित एक या दो अस्थिग्रथिकाओ एव अवस्कर (क्लोएका) के दोनो ओर शल्क (स्केल) मे बाहर निकले हुए नखर (क्लॉ) के रूप मे, दिखाई पडते है। ये नखर लैंगिक भिन्नता के भी सूचक हैं, क्योकि नर मे मादा की अपेक्षा ये अधिक बडे होते है। ये पर्याप्त चलिष्णु होते है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि मैथुन के समय ये मादा को उत्तेजित करते है।

अफ्रीका का राज अजगर

अजगर पेडो पर चुपचाप पडा रहता है और शिकार के पास आते ही उसपर कूद पडता है तथा गला घोटकर उसे निगल जाता है।

समस्त पृष्ठवशी प्राणियों में कशेरुको (वर्टिब्रे) की सर्वाधिक सख्या अजगरो मे ही पाई जाती है, यहाँ तक कि एक जाति के अजगर मे तो इनकी सख्या ४३५ तक बताई गई है। इनके जबडो के पार्श्ववर्ती शल्को मे सवेदक कोशो (सेसरी पिट्स) की शृखला रहती है। ये कोश तापग्राही माने जाते है, क्योकि रात के समय उष्ण रुधिरवाले जतुओ पर प्रहार करने मे ये सहायक होते है। अजगर विषरहित होते है। अपने शिकार पर वे वृक्षो पर से गिरकर उसे अपने शरीर के एक या अधिक कुडलो से जकड लेते है और फिर अपनी सशक्त मासपेशियो की दाब डालकर उसे कसना आरभ कर देते हैं तथा साथ साथ सिर का प्रहार भी करते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि शिकार श्वासरोध से मर जाता है। उसे निगलते समय इसके मुँह से बहुत सी लार निकलती है। अपना मुख काफी फैला सकने के कारण ये शिकार को समूचा ही निगल जाते है, परतु मुख का फैलाव इतना नही होता कि सामान्य सुअर से अधिक बडे जतु समूचे निगले जा सकें।

भारतीय अजगर के नखर (पश्चपाद अवशेष)
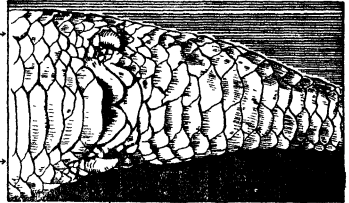
दोनो नखरो की स्थिति तीरो से बताई गई है। पेडो पर चढने मे ये नखर अजगर को सहायता पहुँचाते है।

ये अपने अडो की देखभाल बहुत सावधानी से करते है। मादा अजगर एक समय मे सौ या इससे अधिक अडे देती है और बडी सावधानी से उनकी रक्षा करती है। वह उनके चारो ओर कुडली मारकर बैठ जाती है तथा उन्हे सेती रहती है। यह क्रिया कभी कभी चार महीने या इससे भी अधिक समय तक चलती रहती है जिसके मध्य इसके शरीर का ताप सामान्य ताप से कई अश अधिक हो जाता है।

इसकी सबसे बडी जाति मलय प्रदेश मे पाई जाती है जिसे जालवत् अजगर (पाइथन रेटिक्युलेटस) कहते हैं। यह अजगर कभी कभी तैंतीस फुट से भी अधिक लबा और लगभग सवा दो मन तक भारी होता है। अपने देश मे पाया जानेवाला अजगर (पाइथन मोलूरस) तीस फुट तक लबा होता है। अफ्रीका महाद्वीप का चट्टानी अजगर (पा० सेबी) लगभग पचीस फुट और ऑस्ट्रेलिया का हीरक अजगर (पा० स्पाइलॉटिस) बीस फुट

राज अजगर का सिर

अजगर के दाँतो मे विष नही होता।

लंबा होता है। अजगर की दो जातियाँ अमरीका में भी मिलती हैं, किंतु केवल पश्चिमी मेक्सिको में ही। इतिहास में एक पचहत्तर फुट लंबे रोमन तथा दो सौ फुट लंबे ट्यूनीसियाई अजगरों का उल्लेख मिलता है जो केवल बतकथाओं पर ही आधारित प्रतीत होता है।

अजगर कुछ छोटे जानवरों की अत्यधिक वृद्धि रोकने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। पकड़कर बंदी बनाए जाने पर वे कभी कभी आहार का त्याग भी करते देखे गए हैं। इनका सामान्य जीवनमान लगभग २३ वर्ष का होता है। (म० म० गो०)

भारतीय अजगर भूरे रंग का होता है और इसकी देह पर गहरे धूसर सीमांतवाले तिर्यगागत (बर्फीनुमा) चकत्ते बने होते हैं। सिर पर बर्छी की आकृति का एक भूरा चिह्न होता है तथा शीर्ष के पार्श्वों पर धीरे धीरे सँकरी होती हुई गुलाबी भूरी पट्टियाँ होती हैं जो नेत्रों के आगे तक भी पहुँच जाती हैं। अजगर का निचला भाग पीले और भूरे धब्बों से युक्त हलके धूसर रंग का होता है।

अजगर भारत का सबसे बड़ा और मोटा साँप है। यह वजन में २५० पौंड तक का पाया गया है। भारतीय अजगर की अधिकतम लंबाई ७,००० मि० मी० तक और स्थूलतम स्थान पर मोटाई ६०० मि० मी० तक पाई गई है। (नि० सिं०)

अजटेक लिपि मेक्सिको के उत्तर पश्चिम एनिमास नदी की घाटी में स्थित रेड इंडियन आदिवासियों की भाषा और लिपि है। अजटेक भाषा और लिपि को स्थानीय भाषा में नहुआ या नहुअतल् कहा जाता है। अंग्रेजी और स्पेनी भाषा के माध्यम से इस भाषा के कतिपय शब्द अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त कर चुके हैं, यथा टोमाटो, चाकलेट, ऑसेलाट आदि। मेक्सिको में इस समय अजटेक (नहुआ) बोलनेवालों की संख्या दस लाख के लगभग है। यह अमरीका परिवार (उटो-अजटेक वर्ग) की एक भाषा है। ये भाषाएँ छह उपवर्गों में बाँटी गई हैं, यथा— १ नहुअतल्, २. पिपिल, ३. निकरओ, ४. टलस्कलटेक, ५ सिगुआ, ६. कजकन। रोमन लिपि के आधिपत्य से पूर्व ये भाषाएँ जिस लिपि में लिखी जाती थीं उसे अजटेक लिपि कहा जाता है। यह चित्रलिपि ही है। यह अमरीका की मायालिपि का एक विकसित रूप है। इस लिपि के सभी संकेत चिह्न चित्र ही होते हैं। (मो० ला० ति०)

अजपाजप द्र० 'जप'।

अजमल खाँ, हकीम राष्ट्रीय मुस्लिम विचारधारा के समर्थक थे तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सन् १८६३ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। फारसी अरबी के बाद हकीमी पढ़ी। १८९२ ई० में रामपुर राज्य में खास हकीम नियुक्त हुए। यहाँ दस साल तक रहने और हकीमी करने से इनकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई। सन् १९०२ ई० में वहाँ से नौकरी छोड़कर ये इराक गए। वापसी पर दिल्ली में रहकर मदरसे तिब्बिया की नींव डाली जो अब तिब्बिया कालेज हो गया है। फिर कांग्रेस में शामिल हुए। सन् १९२० में 'जामिया मिलिया' नामक संस्था स्थापित करने में हिस्सा लिया। कांग्रेस के ३३वें अधिवेशन (१९१८ ई०) की स्वागतकारिणी के वे अध्यक्ष थे। १९२१ ई० में कांग्रेस के अहमदाबादवाले अधिवेशन के सभापति हुए। इसी साल खिलाफत कानफरेंस की भी अध्यक्षता की। १९२४ ई० में ये अरब गए। १९२७ ई० में यूरोप से दिल्ली वापस आए। २९ दिसंबर, १९२७ को इनकी मृत्यु हुई। हकीम साहब का आजीवन प्रयत्न यह रहा कि हिंदू मुसलमानों में मेल रहे। (र० ज०)

अजमेर राजस्थान के अजमेर जिले का मुख्य नगर है, जो अरावली पर्वतश्रेणी की तारागढ़ पहाड़ी की ढाल पर स्थित है। यह नगर १४५ ई० में अजयपाल नामक एक चौहान राजा द्वारा बसाया गया था जिसने चौहान वंश की स्थापना की। सन् १३६५ में मेवाड़ के शासक, १५५६ में अकबर और १७७० से १८८० तक मेवाड़ तथा मारवाड़ के अनेक शासकों द्वारा शासित होकर अंत में १८८१ में यह अंग्रेजों के आधिपत्य में चला गया।

नगर के उत्तर में अनासागर तथा कुछ आगे फ्वायसागर नामक कृत्रिम झीलें हैं। मुख्य आकर्षक वस्तु प्रसिद्ध मुसलमान फकीर मुइनुद्दीन चिश्ती का मकबरा है जो तारागढ़ पहाड़ी की तलहटी में बना है। यह लोगों में दरगाह के नाम से प्रसिद्ध है। एक प्राचीन जैन मंदिर, जो १२०० ई० में मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया था, तारागढ़ पहाड़ी की निचली ढाल पर स्थित है। इसके खंडहर अब भी प्राचीन हिंदू कला की प्रगति का स्मरण दिलाते हैं। इसमें कुल ४० स्तंभ हैं और सब में नए नए प्रकार की नक्काशी है, कोई भी दो स्तंभ नक्काशी में समान नहीं हैं। तारागढ़ पहाड़ी की चोटी पर एक दुर्ग भी है।

आधुनिक नगर (जनसंख्या १९६१ में २,३१,२४०) एक प्रसिद्ध रेलवे केंद्र भी है। यहाँ पर नमक का व्यापार होता है जो साँभर झील से लाया जाता है। यहाँ खाद्य, वस्त्र तथा रेलवे के कारखाने हैं। तेल तैयार करना भी यहाँ का एक प्रमुख व्यापार है। (न० ला०)

अजमेर मेरवाड़ा राजस्थान का एक छोटा जिला था जो ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत था। वस्तुत: अजमेर और मेरवाड़ा अलग अलग थे और उनके बीच कुछ देशी राज्य पड़ते थे, परंतु शासन की सुविधा के लिये उनको एक में माना जाता था (स्थिति २५° २४' उ० अ०–२६° ४२' उ० अ० तथा ७३° ४५' पू० दे०–७५° २४' पू० दे०)। १ नवंबर, १९५६ को यह भारत में मिला लिया गया। यह अजमेर तथा मेरवाड़ा (क्षेत्रफल २,५९९ वर्ग मील) दो जिलों को मिलाकर बना था। अरावली पर्वतश्रेणी यहाँ की मुख्य भौगोलिक विशेषता है, जो अजमेर तथा नासिराबाद के बीच फैली हुई प्रमुख जलविभाजक है। इसके एक ओर होनेवाली वर्षा चंबल नदी में होकर बंगाल की खाड़ी में तथा दूसरी ओर लूनी नदी में होकर अरब सागर में चली जाती है। अजमेर एक मैदानी भाग तथा मेरवाड़ा पहाड़ियों का समूह है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। गरमी में बहुत गरमी तथा शुष्कता एवं जाड़े में बहुत ठंढ रहती है। अधिकतम ताप ३७.७° सेंटीग्रेड तथा न्यूनतम ४.४° सेंटीग्रेड है। वर्षा साल भर में लगभग २० इंच होती है। यहाँ की भूमि में चट्टानों की तहें पाई जाती हैं। उपजाऊ भूमि तालाबों के किनारे मिलती है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, कपास, मक्का (भुट्टा), जौ, गेहूँ तथा तेलहन हैं। कृत्रिम तालाबों से सिंचाई काफी मात्रा में होती है। अभी तक हिंदुओं में राजपूत यहाँ के भूमिस्वामी तथा जाट और गूजर कृषक थे। जैन यहाँ के व्यापारी तथा महाजन हैं। रुई तैयार करने के कई कारखाने यहाँ हैं। बीवर और केकरी यहाँ के मुख्य व्यापारिक केंद्र हैं। (न० ला०)

अजमेरी हिंदी की पश्चिमी शाखा की एक बोली मारवाड़ी का ही एक विभेद है। प्राचीन रियासत अजमेर मेरवाड़ा के पूर्वी भाग की बोली को ढुढारी भी कहा जाता है। सन् १९५० ई० तक एक पृथक् (ग) वर्ग का राज्य होने के कारण अजमेर की राजनीतिक पृथकता से एक पृथक् भाषा की कल्पना की जाती थी। इसकी पृथकता के जनक जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन थे। वास्तव में अजमेरी बोली मारवाड़ी से पृथक् कुछ नहीं है। १९६१ की जनगणना के अनुसार यहाँ की आबादी २,३१,२४० थी। आधुनिक औद्योगीकरण के प्रभाव में यह बोली खड़ीबोली से अत्यधिक प्रभावित होती जा रही है। (मो० ला० ति०)

अजमोद अजवायन (कैरम कॉप्टिकम) की जाति का एक पौधा है जो तीन फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते संयुत और प्रत्येक भाग कँगरेदार तथा कटे हुए किनारेवाला होता है। इसमें सफेद रंग के छोटे छोटे फूल लगते हैं और इन्हीं में दाने मिलते हैं जिन्हें अजमोद कहते हैं। भारतवर्ष में इसका पौधा प्राय: सभी प्रदेशों में होता है। बंगाल, बिहार इत्यादि में इसकी खेती की जाती है तथा बीज शीतकाल के प्रारंभ में बोए जाते हैं। इसके बीज तरकारी तथा आहार की अन्य वस्तुओं में मसाले के काम आते हैं।

इसकी जड़ तथा बीज दोनों का आयुर्वेदिक ओषधि में प्रयोग होता है। दोनों अत्यधिक लार तथा पाचक रस उत्पन्न करनेवाले होते हैं और पाचन संबंधी रोगों में लाभकारी हैं। इसके तेल और अर्क में एक ग्लूकोसाइड पदार्थ

होता है। अत्यधिक खाने से गर्भस्रावक हो सकता है, इसलिये गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियों के लिये हानिकारक समझा जाता है। अजीर्ण, सग्रहणी, शरीर की पीड़ा इत्यादि को दूर करने मे इसका प्रयोग किया जाता है। (भ० दा० व०)

अजयगढ़ मध्य प्रदेश के पन्ना जिले की एक तहसील तथा नगर है, जो २४° ५४' उ० अ० तथा ८०° १८' पू० दे० पर पुराने किले के पास स्थित है। पहले यह एक देशी राज्य था जो दो अलग अलग प्रांतो मे बँटा था—एक अजयगढ़ तथा दूसरा मैहर के आसपास। यह विध्याचल पर्वत की मध्यश्रेणियों के बीच पड़ता है। इसके आसपास सागौन तथा तेंदू के वृक्षों के घने जंगल हैं। यहाँ की मुख्य नदियाँ केन तथा उसकी सहायक बैरमा है। सामान्य वार्षिक वर्षा ४५ इंच है। यहाँ की लगभग ८० प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है। गेहूँ, चावल, जो, चना, कोदा, ज्वार तथा कपास मुख्य उपज हैं। परिवहन के साधनों की कमी तथा भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ पर कोई व्यापार नहीं हो पाता। मुख्य बोली बुंदेलखंडी है तथा निवासियों की जातियाँ बुंदेला राजपूत, ब्राह्मण, काछी, चमार, लोधा, अहीर तथा गोंड है। यहाँ का किला (जयपुर दुर्ग) समुद्रतल से १,७४४ फुट की ऊँचाई पर केदार पर्वत के ऊपर स्थित है। यह नवीं शताब्दी में बनाया गया था। इसमें अब केवल सुंदर नक्काशी के मंदिरों के कुछ अंश बच गए है। इस पहाड़ की चोटी पर स्वच्छ पानी के कई तालाब भी हैं। (न० ला०)

अजयराज यह शाकंभरी (साँभर) के अग्निकुलीय चौहानवंश के प्रारंभिक नरेशों में से था। राज्यविस्तार के लिये तो अजयराज विशेष प्रसिद्ध नहीं है, पर उसकी ख्याति अजमेर के निर्माण के कारण काफी है। १२वीं सदी के आरंभ में अपने नाम पर उसने अजयमेरु का विशाल नगर निर्मित कराया और उसे सुंदर महलो और मंदिरों से भर दिया। तभी से चौहान राजा साँभर और अजमेर दोनों के अधिपति माने जाने लगे। उसी आधार से उठकर बाद में उन्होंने गहड़वालों से दिल्ली छीन ली थी। (ओ० ना० उ०)

अजरबैजान एक प्रदेश है जिसका कुछ भाग ईरान में और कुछ रूस में है। दोनों भाग एक ही नाम से जाने जाते है। ईरान का यह उत्तरपश्चिमी प्रांत है जिसे रूसी भाग से आरस नदी अलग करती है। यह पठारी प्रदेश है जिसकी ऊँचाई ८,००० फुट से कुछ अधिक और क्षेत्रफल लगभग ३०,००० वर्ग मील है। इसकी घाटियाँ बहुत उपजाऊ है और इन्हीं में इस प्रदेश की मुख्य बस्तियाँ पाई जाती है। गेहूँ, जौ, कपास, फल तथा तबाकू यहाँ की मुख्य फसलें है और जस्ता, गंधक, ताँबा, मिट्टी का तेल, विभिन्न रंग के संगमरमर इत्यादि खनिज पदार्थ मिलते है।

ईरानी प्रांत की आबादी लगभग ३६ लाख है जिसमें ईरानी, तुर्क, कुर्द, असीरी और अर्मीनी मुख्य जातियाँ है। तुर्की भाषा साधारणतया बोली जाती है। यहाँ के निवासी अच्छे सैनिक होते है। इस प्रदेश का मुख्य नगर तेब्रिज है। १८,००० फुट ऊँचा ज्वालामुखी पर्वत अराराट इसी प्रदेश में है। इसी प्रदेश में ऊरुमिया की खारे पानी की झील की द्रोणी (बेसिन) भी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अजरबैजान में विशेष राजनीतिक उथल पुथल हुई। सन् १९४५ में रूसी सेनाओं ने इस ईरानी प्रदेश पर अधिकार कर लिया था, किंतु बाद में फिर ईरान का अधिकार हो गया।

रूसी अजरबैजान आरस नदी के उत्तर तथा आर्मीनिया और जार्जिया के पूर्व में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ८७,००० वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या ५१ लाख (१९७०) है। यहाँ का जनतंत्रीय शासन रूस के जनतंत्र के अधीन है। (हृ० हृ० सि०)

अजवायन तीन भिन्न प्रकार की वनस्पतियों को कहते है। एक केवल अजवायन (कैरम कॉप्टिकम), दूसरी खुरासानी अजवायन तथा तीसरी जंगली अजवायन (सेसेली इंडिका) कहलाती है।

अजवायन—इसकी खेती समस्त भारतवर्ष में, विशेषकर बंगाल मे होती है। मिस्र, ईरान तथा अफगानिस्तान में भी यह पौधा होता है। अक्तूबर, नवंबर में यह बोया जाता है और डेढ़ हाथ तक ऊँचा होता है। इसका बीज अजवायन के नाम से बाजार में बिकता है।

अजवायन का पौधा

कुछ पत्तियाँ स्पष्टता के लिये बड़ी दिखाई गई है तथा नीचे बाईं ओर इसका बीज चौगुना बड़ा दिखाया गया है।

अजवायन को पानी मे भिगोकर आसवन करने पर एक प्रकार का आसुत (अर्क, डिस्टिलेट) तेल मिलता है। अर्क को अंग्रेजी मे ओमम वाटर कहते है जो ओषधियों मे काम आता है। तेल मे एक सुगंधयुक्त, उड़नशील पदार्थ, जिसे अजवायन का सत (अंग्रेजी मे थाइमोल) कहते हैं, होता है।

आयुर्वेद के अनुसार अजवायन पाचक, तीक्ष्ण, गरम, हलकी, पित्तवर्धक और चरपरी होती है। यह शूल, वात, कफ, कृमि, वमन, गुल्म, प्लीहा और बवासीर इत्यादि रोगों में लाभदायक है। इसमें कटु, वायुनाशक और अग्निदीपक तीनों गुण है। पेट के दर्द, वायुगोला और अफरा में यह बहुत लाभदायक है।

पिपरमेंट का सत और अजवायन का सत समान मात्रा मे तथा असली कपूर की दूनी मात्रा मिलाकर शीशी मे काग (कार्क) बंद कर रख देने पर सब द्रव हो जाता है। वैद्यों के अनुसार इससे अनेक व्याधियों में लाभ होता है, जैसे हैजा, शूल तथा सिर, डाढ़, पसली, छाती और कमर के दर्द तथा संधिवात में। इस द्रव को बिच्छू, बर्रे, भौंरा, मधुमक्खी आदि के दंश पर रगड़ने से पीड़ा कम हो जाती है।

अजवायन खुरासानी—इसके वृक्ष काश्मीर से गढ़वाल तथा कुमायूँ तक और पश्चिमी तिब्बत मे ८,००० से ११,००० फुट तक की ऊँचाई पर होते है। यह अजवायन वर्ग का न होकर क्षुप जाति या सोलेनेसई वर्ग का वृक्ष है जिसमें बेलाडोना, धतूरा आदि है। इसमे तीव्र सुगंध होती है। पत्ते कटे और कँगूरेदार तथा फूल पीलापन लिए, कहीं कहीं बैंगनी रंग की धारियोंवाले, होते है।

इसके बीज काम मे आते है। बीज श्वेत, काले और लाल तीन प्रकार के होते है जिनमे श्वेत उत्तम माना जाता है। यह अजवायन उपशामक, विरेचक, पेट के अफरे को दूर करनेवाली तथा निद्राकारक मानी जाती है। श्वास के रोगों में भी यह लाभदायक है। इसके पत्ते कफ निकालनेवाले होते है तथा इनके जल से कुल्ला करने पर दाँत के दर्द और मसूड़ों से खून जाने मे लाभ होता है।

अजवायन जंगली—इसके पौधे देहरादून से गोरखपुर तक हिमालय की तराई में तथा बिहार, बंगाल, आसाम इत्यादि मे पाए जाते है। पौधा सीधा, झाड़ी के समान, बारहमासी होता है। शाखाएँ एक फुट तक लंबी, फैली और घनी तथा पत्ते तीन भागों में विभक्त होते है। प्रत्येक भाग कटा और नोकदार होता है। फूल छत्तेदार, श्वेत तथा हलके गुलाबी रंग के तथा फल गोल, बारीक, हल्के पीले रंग के होते है। इसके बीज विशेषकर चौपायों के रोगों मे काम आते है। आयुर्वेद के अनुसार यह उत्तेजक, आँतों की कृमियों को नष्ट करनेवाला है। मात्रा एक माशे से चार माशे तक है। इस अजवायन के फूल इत्यादि से सैंटोनिन नाम का पदार्थ एक रूसी वैज्ञानिक ने निकाला था जो पेट के कीड़े मारने के लिये दिया जाता है। (भ० दा० व०)

अजातशत्रु (१) (प्राय. ४६५ ई० पू०) मगध का एक प्रतापी सम्राट् और बिंबिसार का पुत्र जिसने बौद्ध परंपरा के अनुसार पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया। उसने अंग, लिच्छवि, वज्जी, कोसल तथा काशी जनपदों को अपने राज्य में मिलाकर एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की।

पालि ग्रंथों में अजातशत्रु का नाम अनेक स्थलों पर आया है, क्योंकि वह बुद्ध का समकालीन था और तत्कालीन राजनीति में उसका बड़ा हाथ था। गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र की स्थापना उसी ने की थी। उसका मंत्री वस्सकार कुशल राजनीतिज्ञ था जिसने लिच्छवियों में फूट डालकर साम्राज्य का विस्तार किया था। कोसल के राजा प्रसेनजित् को हराकर अजातशत्रु ने राजकुमारी वजिरा से विवाह किया था जिससे काशी जनपद स्वतः यौतुक रूप में उसे प्राप्त हो गया था। इस प्रकार उसकी इस 'विजिगीषु नीति' से मगध शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। परंतु पिता की हत्या करने के कारण इतिहास में वह सदा अभिशप्त रहा। प्रसेनजित् का राज्य कोसल के राजकुमार विडूडभ ने छीन लिया था। उसके राजत्वकाल में ही विडूडभ ने शाक्य प्रजातंत्र का ध्वंस किया था।

अजातशत्रु के समय की सबसे महान् घटना बुद्ध का 'महापरिनिर्वाण' थी (४६४ ई० पू०)। उस घटना के अवसर पर बुद्ध की अस्थि प्राप्त करने के लिये अजातशत्रु ने भी प्रयत्न किया था और अपना अंश प्राप्त कर उसने राजगृह की पहाड़ी पर स्तूप बनवाया। आगे चलकर राजगृह में ही वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा से बौद्ध संघ की प्रथम संगीति हुई जिसमें सुत्तपिटक और विनयपिटक का संपादन हुआ। यह कार्य भी इसी नरेश के समय में संपादित हुआ। (द्र० 'जनक विदेह')।

सं० ग्रं०—त्रिपिटक (दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्तंत, संयुत्तनिकाय), जातक, सुमंगल विलासिनी, आर्य मंजुश्री मूलकल्प, ए डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स (मलालसेकर)। (चं० म०)

अजातशत्रु (२) बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार काशी का एक अत्यंत प्राचीन राजा जिसे अजातशत्रु काश्य अथवा अजातरिपु भी कहते हैं। इसने गार्ग्य बालाकि ऋषि को वादविवाद में पराजित कर ज्ञानोपदेश दिया था। (म०)

अजातिवाद गौड़पादाचार्य ने माडूक्यकारिका में सिद्ध किया है कि कोई भी वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकती। अनुत्पत्ति के इसी सिद्धांत को अजातिवाद कहते हैं। गौड़पादाचार्य के पहले उपनिषदों में भी इस सिद्धांत की ध्वनि मिलती है। माध्यमिक दर्शन में तो इस सिद्धांत का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

उत्पन्न वस्तु उत्पत्ति के पूर्व यदि नहीं है तो उस अभावात्मक वस्तु की सत्ता किसी प्रकार संभव नहीं है क्योंकि अभाव से किसी की उत्पत्ति नहीं होती। यदि उत्पत्ति के पहले वस्तु विद्यमान है तो उत्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं। जो वस्तु अजात है वह अनंत काल से अजात रही है अतः उसका स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं हो सकता। अजात वस्तु अमृत है अतः वह जात होकर मृत नहीं हो सकती। इन्हीं कारणों से कार्य-कारण-भाव को भी असिद्ध किया गया है। यदि कार्य और कारण एक है तो कार्य के उत्पन्न होने पर कारण को भी उत्पन्न होना होगा, अतः सांख्यानुमोदित नित्य-कारण-भाव सिद्ध नहीं होता। असत्कारण से असत्कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, न तो सत्कार्यज असत्कार्य को उत्पन्न कर सकता है। सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव कार्य न तो अपने आप उत्पन्न होता है और न किसी कारण द्वारा उत्पन्न होता है।

सं० ग्रं०—गौडपाद माडूक्यकारिका, नागार्जुन मूल माध्यमिक कारिका। (रा० पा०)

अजामिल कान्यकुब्ज का एक ब्राह्मण जो अपनी पापलिप्सा के लिये कुख्यात था। ऐसी पौराणिक कहानी है कि उसने अपने अंतिम समय में अपने पुत्र नारायण को, समीप बुलाया जिससे नामस्मरण मात्र से उसे सद्गति प्राप्त हो गई। (चं० म०)

अजाव (एजॉव) दक्षिणी यूरोपीय रूस में अजाव जनपद का एक नगर है जो रास्टोव के दक्षिणपश्चिम डैन्यूब नदी के मुहाने से सात मील पहले स्थित है। पहले यह एक छोटा बंदरगाह था, किंतु नदी में बालू के अधिक अवसाद से यह बंदरगाह नहीं रह सका। अब यह मछली पकड़ने का एक प्रसिद्ध स्थान है। शहर की स्थापना ई० पू० तीसरी शताब्दी में हुई मानी जाती है। तुर्कों ने कुछ काल के लिये यहाँ अपना अधिकार जमा लिया था, किंतु अब यह प्रदेश सोवियत संघ का एक स्वतंत्र जनपद है। इस नगर में सड़कों तथा रेलों का जंक्शन है।

अजावसागर—यह कृष्ण सागर (ब्लैक सी) का एक बाहर की ओर निकला हुआ भाग है जो क्रीमिया, पूर्वी यूक्रेन तट तथा उत्तरी काकेशस पहाड़ से घिरा हुआ है। यह सागर पूर्व से पश्चिम २२६ मील लंबा तथा उत्तर से दक्षिण ११० मील चौड़ा है, इसका क्षेत्रफल १४,५२० वर्ग मील है। सागर छिछला तथा चौरस तलहटी का है। यहाँ प्रति वर्ग मील की गणना में मछलियाँ संसार में सबसे अधिक पाई जाती हैं। यह रूस का दूसरा सबसे प्रसिद्ध मछली पकड़ने का केंद्र है। इस सागर की प्रधान व्यापारिक वस्तुएँ कोयला, लोहा, नमक, इमारती सामान तथा मछलियाँ हैं। जनवरी फरवरी के महीने में न्यून ताप होने के कारण सागर जम जाता है। कभी कभी तूफान भी आ जाते हैं। इस सागर में कुछ मछलियाँ कैस्पियन सागर की जाति की हैं, अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि पूर्व-ऐतिहासिक काल में यह कैस्पियन सागर से जुटा हुआ था। (ह० ह० सिं०)

अजित केशकंबली भगवान् बुद्ध के समकालीन एवं तरह तरह के मतों का प्रतिपादन करनेवाले जो कई धर्माचार्य मंडलियों के साथ घूमा करते थे उनमें अजित केशकंबली भी एक प्रधान आचार्य थे। इनका नाम था अजित और केश का बना कंबल धारण करने के कारण वह केशकंबली नाम से विख्यात हुए। उनका सिद्धांत घोर उच्छेदवाद का था। भौतिक सत्ता के परे वह किसी तत्व में विश्वास नहीं करते थे। उनके मत में न तो कोई कर्म पुण्य था और न पाप। मृत्यु के बाद शरीर जला दिए जाने पर उसका कुछ शेष नहीं रहता, चार महाभूत अपने तत्व में मिल जाते हैं और उसका सर्वथा अंत हो जाता है—यही उनकी शिक्षा थी। (भि० ज० का०)

अजीगर्त एक ऋषि, जिन्होंने अपने द्वितीय पुत्र शुनःशेप को यज्ञ में बलि के लिये दे डाला था। शुनःशेप की कहानी ब्राह्मण ग्रंथों में दी हुई है, जिसका रामायण में थोड़ा अवांतर पाया जाता है। कहते हैं, शुनःशेप ने विश्वामित्र के बतलाए कुछ मंत्र सुनाकर यज्ञ में उपस्थित इंद्र और वरुण को प्रसन्न कर अपने को मुक्त कर लिया था। (चं० म०)

अजोर्स उत्तरी अटलांटिक महासागर में लिस्बन से ७५० मील पश्चिम स्थित टापुओं का एक समुदाय है। विस्तार ३६° ५०' उ० अ० से ३९° ४४' उ० अ० तक तथा २५° १०' प० दे० से ३१° १६' प० दे० के बीच में, क्षेत्रफल संपूर्ण द्वीपसमूह का ८६० वर्ग मील, जनसंख्या ३,३५,१०० (१९६६)। यहाँ की अधिकांश जनता पुर्तगाली है। यहाँ की राजकीय भाषा पुर्तगाली है। पूरा द्वीपसमूह तीन जनपदों में बँटा हुआ है। इनकी राजधानियाँ द्वीपसमूह के तीन प्रसिद्ध बंदरगाह हैं। इनके नाम पाँटा देलगादा (जनसंख्या १८,६००), हॉर्टा (४८,३००) तथा अंग्राडो हिरोइसमो (१,०४,८००) हैं।

शीतोष्ण जलवायु तथा उपजाऊ भूमि होने के कारण यहाँ गेहूँ, मक्का, गन्ना, आलू तथा फल पर्याप्त पैदा होते हैं। मांस, दूध, पनीर, अंडे तथा शराब पर्याप्त तैयार होती है। यहाँ कपड़े बनाने की मिलें तथा अन्य छोटे-मोटे बहुत से उद्योग धंधे भी होते हैं। इन टापुओं पर १४३२ ई० में पुर्तगालवालों का अधिकार हुआ, किंतु कुछ टापुओं पर अब अमरीकन लोगों का भी अधिकार है। (ह० ह० सिं०)

अज्ञातवास पांडवों के जीवन में अज्ञातवास का समय बड़े महत्व का था। 'अज्ञातवास' का अर्थ है बिना किसी के द्वारा जाने गए किसी अपरिचित स्थान में रहना। द्यूत में पराजित होने पर पांडवों को बारह वर्ष जंगल में तथा तेरहवाँ वर्ष अज्ञातवास में बिताना था। अपने असली

वेश मेंरहने पर पांडवों के पहचाने जाने की आशंका थी, इसीलिये उन लोगों ने अपना नाम बदलकर मत्स्य जनपद की राजधानी विराटनगर (आधुनिक बैराट) में विराटनरेश की सेवा करना उचित समझा। युधिष्ठिर ने कंक नामधारी ब्राह्मण बनकर राजा की सभा में द्यूत आदि खेल खिलाने (सभास्तार) का काम स्वीकार किया। भीम ने बल्लव नामधारी रसोइए का, अर्जुन ने बृहन्नला नामधारी नृत्यशिक्षक का, नकुल ने ग्रंथिक नाम से अश्वाध्यक्ष का तथा सहदेव ने तंतिपाल नाम से गोसख्यक का काम अंगीकार किया। द्रौपदी ने रानी सुदेष्णा की सैरंध्री बनकर केशसंस्कार का काम अपने जिम्मे लिया। पांडवों ने यह अज्ञातवास बड़ी सफलता से बिताया। राजा का श्यालक कीचक द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण भीम के द्वारा एक सुंदर युक्ति से मार डाला गया (महाभारत, विराटपर्व)। (ब० उ०)

अज्ञान वस्तु के ज्ञान का अभाव। अज्ञान दो प्रकार का हो सकता है—एक वस्तु के ज्ञान का अत्यंत अभाव, जैसे सामने रखी वस्तु को न देखना, दूसरा वस्तु के वास्तविक स्वरूप के स्थान पर दूसरी वस्तु का ज्ञान। प्रथम अभावात्मक और दूसरा भावात्मक ज्ञान है। इंद्रियदोष, प्रकाशादि उपकरण, अनवधानता आदि के कारण अज्ञान उत्पन्न होता है।

न्यायदर्शन में अज्ञान आत्मा का धर्म माना गया है। सौत्रांतिक वस्तु के ऊपर ज्ञानाकार के आरोपण को अज्ञान कहते हैं। माध्यमिक दर्शन में ज्ञान मात्र अज्ञानजनित है।

भावात्मक अज्ञान सत्य नहीं है क्योंकि उसका बोध हो जाता है। यह असत्य नहीं भी है क्योंकि रज्जु में सर्पादि ज्ञान से सत्य भय उत्पन्न होता है। अतएव वेदांत में अज्ञान अनिर्वचनीय कहा गया है।

सामाजिक जीवन के अज्ञान के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में अज्ञान को सृष्टि का आदिकारण भी माना गया है। यह अज्ञान प्रपंच का मूल कारण है। उपनिषदों में प्रपंच को 'इंद्र' की 'माया' का नाना 'रूप' माना गया है। माया के आवरण को भेदकर आत्मा या ब्रह्म का सद्ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। बौद्धदर्शन में भी अविद्या अथवा अज्ञान से 'प्रतीत्य समुत्पन्न' संसार की उत्पत्ति बतलाई गई है। अद्वैत-वेदांत में अज्ञान को आत्मा के प्रकाश का बाधक माना गया है। यह अज्ञान जान बूझकर नहीं उत्पन्न होता, अपितु बुद्धि का स्वाभाविक रूप है। दिक्, काल और कारण की सीमा में संचरण करनेवाली बुद्धि अज्ञानजनित है, अतः बुद्धि के द्वारा उत्पन्न ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है। इस दृष्टि से अज्ञान न केवल वैयक्तिक सत्ता है अपितु यह एक व्यक्तिनिरपेक्ष शक्ति है, जो नामरूपात्मक जगत् तथा सुखदुःखादि प्रपंच को उत्पन्न करती है। बुद्धि से परे होकर तत्साक्षात्कार करने पर इस अज्ञान का विनाश संभव है।

सं० ग्रं०—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, भूमिका। (रा० पा०)

अज्ञेयवाद (एग्नॉस्टिसिज्म) ज्ञानमीमांसा का विषय है, यद्यपि उसकी कई पद्धतियों में तत्वदर्शन से भी संबंध जोड़ दिया गया है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि जहाँ विश्व की कुछ वस्तुओं का निश्चयात्मक ज्ञान संभव है, वहाँ कुछ ऐसे तत्व या पदार्थ भी हैं जो अज्ञेय है, अर्थात् जिनका निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं है। अज्ञेयवाद संदेहवाद से भिन्न है, संदेहवाद या संशयवाद के अनुसार विश्व के किसी भी पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं है।

भारतीय दर्शन के संभवतः किसी भी संप्रदाय को अज्ञेयवादी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः भारत में कभी भी संदेहवाद एवं अज्ञेयवाद का व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं हुआ। नैयायिक सर्वज्ञेयवादी है, और नागार्जुन तथा श्रीहर्ष जैसे युक्तिवादी भी पारिभाषिक अर्थ में संशयवादी अथवा अज्ञेयवादी नहीं कहे जा सकते।

यूरोपीय दर्शन में जहाँ संशयवाद का जन्म यूनान में ही हो चुका था, वहाँ अज्ञेयवाद आधुनिक युग की विशेषता है। अज्ञेयवादियों में पहला नाम जर्मन दार्शनिक कांट (१७२४-१८०४) का है। कांट की मान्यता है कि जहाँ व्यवहार जगत् (फिनामिनल वर्ल्ड) बुद्धि या प्रज्ञा की धारणाओं (कैटेगोरीज ऑव अंडरस्टैंडिंग) द्वारा निर्धार्य, अतएव ज्ञेय है, वहाँ परमार्थ जगत्, ईश्वर, आत्मा, अमरता, उस प्रकार ज्ञेय नहीं हैं। तत्वदर्शन द्वारा अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है। फ्रेंच विचारक काम्ट (१७९८-१८५७) का भी, जिसने भाववाद (पाजिटिविज्म) का प्रवर्तन किया, यह मत है कि मानव ज्ञान का विषय केवल गोचर जगत् है, अतींद्रिय पदार्थ नहीं। सर विलियम हैमिल्टन (१७८८-१८५६) तथा उनके शिष्य हेनरी लान्यूविल मैंसेल (१८२०-१८७१) का मत है कि हम केवल सकारण अर्थात् कारणों द्वारा उत्पादित अथवा सोमित एवं सापेक्ष पदार्थों का ही ज्ञान सकते हैं, असीम, निरपेक्ष एवं कारणहीन (अनकंडिशंड) सत्ता का नहीं। तात्पर्य यह कि हमारा ज्ञान सापेक्ष है, मानवीय अनुभव द्वारा सीमित है, और इसीलिये निरपेक्ष असीम का पकड़ना में असमर्थ है। ऐसा ही मत हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३) ने भी प्रतिपादित किया है। सब प्रकार का ज्ञान संबंधमूलक अथवा सापेक्ष होता है, ज्ञान का विषय भी संबंधवाली वस्तुएँ है। किसी पदार्थ को जानने का अर्थ है उसे दूसरी वस्तुओं से तथा अपने से संबंधित करना, अथवा उन स्थितियों का निर्देश करना जो उसमें परिवर्तन पैदा करती है। ज्ञान सीमित वस्तुओं का ही हो सकता है। चूंकि असीम तत्व संबंधहीन एवं निरपेक्ष है, इसलिये वह अज्ञेय है। तथापि स्पेंसर का एक ऐसी असीम शक्ति में विश्वास है जो गोचर जगत् को हमारे सामने उत्क्षिप्त करती है। सीमा की चेतना ही असीम की सत्ता का प्रमाण है। यद्यपि स्पेंसर असीम तत्व को अज्ञेय घोषित करता है, फिर भी उसे उसकी सत्ता में कोई संदेह नहीं है। वह यहाँ तक कहता है कि बाह्य वस्तुओं के रूप में कोई अज्ञात सत्ता हमारे सम्मुख अपनी शक्ति को अभिव्यंजना कर रही है। 'एग्नास्टिसिज्म' शब्द का सर्वप्रथम आविष्कार और प्रयोग सन् १८७० में टॉमस हेनरी हक्सले (१८२५-१८९५) द्वारा हुआ।

सं० ग्रं०—जेम्स वार्ड नेचुरैलिज्म ऐंड एग्नास्टिसिज्म, आर० फिलट एग्नास्टिसिज्म, हर्बर्ट स्पेंसर फर्स्ट प्रिंसिपल्स। (दे० रा०)

अटक पाकिस्तान में पेशावर से ४७ मील दक्षिणपूर्व स्थित एक नगर है जो अपनी सामरिक स्थिति तथा ऐतिहासिक दुर्ग के लिये प्रसिद्ध है। इस प्राचीन दुर्ग को अकबर महान् ने १५८१ ई० में बनवाया था। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अनुपम है। यहाँ पर १८८३ ई० में नदी पर एक लोह पुल बना दिया गया, जिसपर से उत्तर-पश्चिमी रेलवे पेशावर तक जाती है। अफगानिस्तान तथा अन्य प्रदेशों से व्यापार के मार्ग में स्थित यह नगर अवश्य ही निकट भविष्य में उन्नति करेगा। (ह० ह० सिं०)

अटलस पर्वत (अंग्रेजी में ऐटलैस) पर्वत कई पहाड़ों का समूह है जो उत्तरपश्चिम तथा उत्तर अफ्रीका में है। अटलस नाम यूनान के एक पौराणिक देवता के आधार पर पड़ा जिनका निवासस्थान अनुमानतः इसी पर्वत पर था। यह पर्वत बर्बर जाति के लोगों का वासस्थान है। इसके अगम्य भागों के निवासियों का जीवन सदा स्वतंत्र रहा है।

अटलस पर्वत के अंतर्गत शृंखलाओं की दिशा उत्तरपश्चिमी अफ्रीका के समुद्रतट के लगभग समानांतर है। ये शृंखलाएँ १,५०० मील लंबी हैं जो पश्चिम में जूबो अंतरीप से आरंभ होकर पूर्व में गेब्स की खाड़ी तक मोरक्को, अलजीरिया और ट्यूनीशिया में फैली है। इनकी उत्तरी और दक्षिणी सीमाएँ क्रमशः रूमसागर और सहारा मरुस्थल है। इनके दो मुख्य उपविभाग है (१) समुद्रतटीय श्रेणी—स्यूटा से बोन अंतरीप तक, (२) अंतरस्थ श्रेणी, जो गिर अंतरीप से आरंभ होती है और समुद्रतटीय श्रेणी के दक्षिण ओर फैली हुई है। इन दोनों के बीच शाट्स का उच्च पठारी प्रदेश है।

अटलस पर्वत की अंतरस्थ श्रेणी, जिसे महान् अटलस भी कहते हैं, मोरक्को में स्थित है। यह सबसे लंबा और ऊँचा श्रेणी है। इसकी औसत ऊँचाई ११,००० फुट है। इसकी उत्तरी ढाल पर जलसिंचित उपजाऊ घाटियाँ है जिनमें छोटे छोटे खेतों में बर्बर लोग खेती करते है। यहाँ बाँझ (ओक), चीड, कार्क, सीडार इत्यादि के घने वन पाए जाते है।

भूगर्भविज्ञान—अटलस पर्वत का निर्माण ऐल्प्स पर्वत के लगभग साथ ही हुआ। भूपर्पटी की उन गतियों का आरंभ, जिनसे अटलस पर्वत बना, महाशरट (जुरैसिक) युग के अंत में हुआ। ये गतियाँ उत्तरखटी (अपर

क्रिटेशस) युग मे पुन क्रियाशील हुई और इनका क्रम मध्यनूतन (माइ-ओसीन) युग तक चलता रहा। यहाँ पूर्वकाल मे भी भजनक्रिया के प्रमाण मिलते हैं। (रा० ना० मा०)

अटलांटा संयुक्त राज्य अमरीका मे जार्जिया प्रात का सबसे बडा नगर है, जो फुल्टन तथा डीकाल्ब विभाग मे बर्मिघम से १६८ मील पूर्व स्थित है। प्रारभ मे नगर का नाम मार्थ्मविल था, किंतु १८४५ ई० मे इसका नाम बदलकर अटलाटा हो गया। यह नगर रलवे का बहुत बडा जकशन है तथा दक्षिणपूर्वी सयुक्त राज्य अमरीका, का सबसे बडा व्यापारिक केंद्र है। १८६८ ई० मे यह जार्जिया की राजधानी हो गया। सडका से यह देश के प्राय सभी मुख्य स्थानो से सबद्ध है। यहाँ एक बहुत बडा हवाई अड्डा भी है। अब यह नगर एक व्यापारिक, व्यावसायिक तथा सास्कृतिक केंद्र भी हो गया है। १८५० ई० मे यहाँ की जनसख्या केवल २,५७२ थी, किंतु १९६० मे यहाँ ४,८७,४५५ लोग रहते थे। (ह० ह० सि०)

अटलांटिक महासागर अथवा अध महासागर, उस विशाल जल-राशि का नाम है जो यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीपो को नई दुनिया के महाद्वीपो से पृथक् करती है।

इस महासागर का आकार लगभग अंग्रेजी अक्षर S के समान है। लबाई की अपेक्षा उसकी चौड़ाई बहुत कम है। आर्कटिक सागर, जो बेरिंग जलडमरूमध्य से उत्तरी ध्रुव होता हुआ स्पिट्सबर्जेन और ग्रीनलैंड तक फैला है, मुख्यत अधमहासागर का ही अग है। इस प्रकार उत्तर मे बेरिंग जल-डमरूमध्य से लेकर दक्षिण मे काट्सलैंड तक इसकी लबाई १२,८१० मील है। इसी प्रकार दक्षिण मे दक्षिणी जार्जिया के दक्षिण स्थित वेडल सागर भी इसी महासागर का अग है। इसका क्षेत्रफल (अंतर्गत समुद्रो को लेकर) ४,१०,८१,०४० वर्ग मील है। अतर्गत समुद्रो को छोडकर इसका क्षेत्रफल ३,१८,१४,६४० वर्ग मील है। विशालतम महासागर न होते हुए भी इसके अधीन विश्व का सबसे बडा जलप्रवाह क्षेत्र है।

नितल की सरचना—अटलाटिक महासागर के नितल के प्रारंभिक अध्ययन मे जलपोत "चैलेंजर" (१८७३-७६) के अन्वेषण अभियान के ही समान अनेक अन्य वैज्ञानिक महासागरीय अन्वेषणो ने योग दिया था। अटलाटिक महासागरीय विद्युत् केबुलो की स्थापना के हेतु आवश्यक जानकारी की प्राप्ति ने इस प्रकार के अध्ययनो को विशेष प्रोत्साहन दिया।

इसका नितल इस महासागर के एक कूट द्वारा पूर्वी और पश्चिमी द्रोणियो मे विभक्त है। इन द्रोणियो मे अधिकतम गहराई १६,५०० फुट से भी अधिक है। पूर्वोक्त समुद्रातर कूट काफी ऊँचा उठा हुआ है और आइसलैंड के समीप से आरभ होकर ५५° दक्षिण अक्षाश के लगभग स्थित बोवे द्वीप तक फैला है। इस महासागर के उत्तरी भाग मे इस कूट को डाल्फिन कूट और दक्षिण मे चैलेंजर कूट कहते है। इस कूट का विस्तार लगभग १०,००० फुट की गहराई पर अटूट है और कई स्थानो पर कूट सागर की सतह के भी ऊपर उठा हुआ है। अजोर्स, सेंट पॉल, असेशन, ट्रिस्टॉ द कुन्हा, और बोवे द्वीप इसी कूट पर स्थित है। निम्न कूटो मे दक्षिणी अटलाटिक महासागर का वालफिश कूट और रियो ग्रैंड कूट, तथा उत्तरी अटलाटिक महासागर का वाइविल टामसन कूट उल्लेखनीय है। ये तीनो निम्न कूट मुख्य कूट से लब दिशा मे फैले है।

ई० कोसना (१९२१) के अनुसार इस महासागर की औसत गहराई, अतर्गत समुद्रो को छोडकर, ३,९२६ मीटर, अर्थात् १२,८३९ फुट है। इसकी अधिकतम गहराई, जो अभी तक ज्ञात हो सकी है, ८,७५० मीटर अर्थात् २८,६१४ फुट है और यह गिनी स्थली की पोर्टोरिको द्रोणी मे स्थित है।

नितल के निक्षेप—(अनर्गत समुद्रो सहित) अटलाटिक महासागर की मुख्य स्थलो का ७४% भाग तलप्लावी निक्षेपो (पेलाजिक डिपाजिट्स) से ढका है, जिसमे नन्हे नन्हे जीवो के शल्क (जैसे ग्लोबिजराइना, टेरोपॉड, डायाटम आदि के शल्क) है। २६ प्रतिशत भाग पर भूमि पर उत्पन्न हुए **अवसादो (सेडिमेंट्स) का निक्षेप है जो मोटे कणो द्वारा निर्मित है।**

पृष्ठधाराएँ—अध महासागर की पृष्ठधाराएँ नियतवाही पवनो के अनुरूप बहती है। परतु स्थलखड की आकृति के प्रभाव से धाराओ के इस क्रम मे कुछ अतर अवश्य आ जाता है। उत्तरी अटलाटिक महासागर की धाराओ मे उत्तरी विषुवतीय धारा, गल्फ स्ट्रीम, उत्तरी अटलाटिक प्रवाह, कैनैरी धारा और लैब्रोडोर धाराएँ मुख्य है। दक्षिणी अटलाटिक महासागर की धाराओ मे दक्षिणी विषुवतीय धारा, ब्राजील धारा, फाकलैंड धारा, पछवाँ प्रवाह और बेंगुला धाराएँ मुख्य है।

लवणता—उत्तरी अटलाटिक महासागर के पृष्ठतल की लवणता अन्य समुद्रो की तुलना मे पर्याप्त अधिक है। इसकी अधिकतम मात्रा ३.७ प्रतिशत है जो २०°–३०° उत्तर अक्षाशो के बीच विद्यमान है। अन्य भागो मे लवणता अपेक्षाकृत कम है। (रा० ना० मा०)

अट्टालक (टॉवर, मीनार) ऐसी सरचना को कहते है जिसकी ऊँचाई उसकी लबाई तथा चौडाई के अनुपात मे कई गुनी हो, अर्थात् ऊँचाई ही उसकी विशेषता हो। प्राचीन काल मे अट्टालका का निर्माण नगर अथवा गढ की सुरक्षा के विचार से किया जाता था, जहाँ से प्रहरी आते हुए शत्रु को दूर से ही देख सकता था। अट्टालका का निर्माण वास्तुकला की भव्यता तथा प्रदर्शन के विचार से भी किया जाता था। अत इस प्रकार के अट्टालक अधिकतर मदिरो तथा महलो के मुखद्वार पर बनाए जाते थे। मुखद्वार पर बने अट्टालक 'गोपुर' कहे जाते है।

मैसोपोटेमिया मे ईसा से २,७७० वर्ष पूर्व सैनिक आवश्यकताओ के लिये अट्टालको के निर्माण के चिह्न मिलते है। मिस्र मे भी ऐसे अट्टालको का आभास मिलता है, परतु ग्रीस म इसका प्रचलन बहुत कम था। इसके विपरीत रोम मे अट्टालको का निर्माण प्रचुर मात्रा म किया जाता था, जैसा पौंपेई, औरेलियन तथा कुस्तुनतुनिया के ध्वस्त अवशेषो से पता चलता है।

भारतवर्ष मे भी अट्टालको का प्रचलन प्राचीन काल से था। गुप्त-कालीन मदिरो के ऊँचे ऊँचे शिखर एक प्रकार के अट्टालक ही है। देवगढ के दशावतार मदिर का शिखर ४० फुट ऊँचा है। नरसिह गुप्त बालादित्य ने नालदा मे एक बडा विशाल तथा सुदर मदिर बनवाया जो ३०० फुट ऊँचा था।

चीन मे भी ईट अथवा पत्थर के ऊँचे ऊँचे अट्टालक नगर सीमा के द्वारो पर शोभा तथा सौदर्य के लिये बनाए जाते थे, जैसे चीन की बृहद्-भित्ति (ग्रेट वाल ऑव चाइना) पर अब भी स्थित है। इसके अतिरिक्त वहाँ के अट्टालक "पैगोडा" के रूप मे भी बनते थे।

गॉथिक काल मे जो अट्टालक या मीनारे बनी वे पहले से भिन्न थी। पुराने अट्टालको मे एक छोटा सा द्वार होता था और वे कई मजिल के बनते थ। इनमे छोटी छोटी खिडकियाँ रहती थीं। गाथिक काल की मीनारो मे खिडकियाँ लबी कर दी गई और साथ मे कोने पर के पुश्ते (बटरेस वाल्स) भी खूब ऊँचे अथवा लबे बनाए जाने लगे, जिनमे छोटे छोटे बहुत से खसके डाल दिए जाते थे। अधिकाश अट्टालको के ऊपर नुकीले शिखर रखे जाते थे, पर कुछ मे ऊपर की छत चिपटी ही रखी जाती थी तथा कुछ का आकार अठपहला भी रख दिया जाता था।

इग्लैंड का सबसे सुदर गॉथिक नमूने का अट्टालक कैंटरबरी गिरजा है, जो सन् १४६५ मे बना था।

अट्टालको का निर्माण केवल सैनिक उपयोग अथवा धार्मिक भवनो तक ही नही सीमित है। बहुत से नगरो मे घडी लगाने के लिये भी अट्टालक बनाए जाते है, जैसा भारत के भी बहुत से नगरो मे देखा जा सकता है। दिल्ली के प्रसिद्ध चाँदनी चौक के घटाघर का अट्टालक अभी हाल मे, बनने के लगभग १०० वर्ष बाद, अचानक गिर पडा था। एक अन्य प्रसिद्ध मीनार इटली देश मे पीसा नगर की झुकी हुई मीनार है जो १२वी शताब्दी मे बनी थी। यह १७९ फुट ऊँची है और एक ओर १६ फुट झुकी हुई है।

मध्यकालीन युग मे, अर्थात् १०वी शताब्दी के लगभग, सैनिक उपयोग के लिये ऊँचे ऊँचे अट्टालको के बनाने की प्रथा बहुत फैल गई थी, जैसे ११वी सदी का लदन टावर। जैसे जैसे बदूक तथा तोप के गोले का प्रचार बढता गया वैसे वैसे सैनिक काम के लिये अट्टालको का प्रयोग कम होता गया।

राजपूत तथा मुगलो के समय में भारतवर्ष में ऊँची ऊँची मीनारें बनाने की प्रथा थी। दिल्ली की प्रसिद्ध कुतुबमीनार को १३वी सदी मे कुतुबुद्दीन ने अपने राज्यकाल मे बनवाना आरंभ किया था जिसे इल्तुतमिश ने पूरा किया। आगरे के प्रसिद्ध ताजमहल के चारो कोनो पर चार बडी बडी मीनारे भी बनी हैं जो उसकी शोभा बढाती है। इन मीनारो के भीतर ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ भी बनी है। राजपूती वास्तुकला का एक सुदर नमूना चित्तौड का विजयस्तभ है। इसमे खूबी यह है कि जैसे जैसे ऊँचाई बढती जाती है उसी अनुपात मे अट्टालक के खडो की लबाई चौड़ाई भी बढ़ती जाती है, परिणामस्वरूप नीचे से देखने पर उसके भागो का आकार छोटा नही जान पडता।

अधिकाश हिंदू मदिरो अथवा अन्य अट्टालको मे बहुत सुदर मूर्तियाँ तथा नक्काशियाँ खुदी है। मदुरा (१७वी शताब्दी) तथा काजीवरम् के मदिर इस प्रकार के काम के बहुत सुदर उदाहरण है। विजयस्तभो मे भी मूर्तियाँ खुदी है, परतु इतनी बहुतायत से नही जितनी दक्षिण के मदिरो मे।

आधुनिक काल के अट्टालको मे पेरिस का ईफेल टावर है जिसे गस्टोव ईफेल नामक इजीनियर ने सन् १८८९ मे निर्मित किया था। यह लोहे का अट्टालक है और ९८४ फुट ऊँचा है। इसपर लोग बिजली के लिफ्ट द्वारा ऊपर जाते है। पर्यटको की सुविधा के लिये ऊपर जलपानगृह (रेस्तराँ) का भी प्रबध है।

लदन स्थित वेस्टमिन्स्टर गिरजे का शिखर २८३ फुट ऊँचा है और ससार के प्रसिद्ध अट्टालको मे से है। यह सन् १८९५-१९०३ मे बना था।

रिइन्फोर्स्ड कक्रीट का बना हुआ नोटरडेम का अट्टालक भी काफी प्रसिद्ध है। यह सन् १९२४ मे बना था।

अन्य आधुनिक अट्टालक निम्नलिखित हैं जर्मनी का आइस्टाइन टावर, पोट्सडाम वेधशाला, अमरीका का क्लीवलैंड मेमोरियल टावर, प्रिस्टन विश्वविद्यालय टावर (१९१३) तथा येल विश्वविद्यालय का हार्कनेस मेमोरियल टावर, स्वीडन मे स्कॉटहोम नामक शहर के हाल का अट्टालक, इत्यादि।

किसी महान् व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति मे अट्टालक बनाने की प्रथा भी प्रचलित रही है और बहुत से अट्टालक इसी उद्देश्य से बने हैं। आधुनिक स्थापत्यकला मे बडे बडे भवनो के निर्माण मे इमारत की भव्यता बढाने के विचार से बहुत से स्थानो पर छोटे बडे अट्टालक लोगो ने बनवा दिए है, उदाहरणार्थ हरिद्वार का राजा बिडला टावर।

अट्टालको के निर्माण मे नीव को पर्याप्त चौडा रखना पडता है, जिससे वहाँ की भूमि अट्टालक के पूरे भार को सहन कर सके। इस प्रकार के काम के लिये या तो रिइन्फोर्स्ड कक्रीट की बेडानुमा नीव (रफ्ट फाउडेशन) दी जा सकती है या जालीदार नीव (ग्रिलेज फाउडेशन)।

अट्टालक के ऊँचा होने के कारण इसपर वायु की दाब बहुत पडती है, इसलिये अट्टालको की आकल्पना (डिजाइन) मे आँधी से पडनेवाली दाब का ध्यान अवश्य रखा जाता है। (का० प्र०)

अट्ठकथा अट्ठकथा (अर्थकथा) पालि ग्रथो पर लिखे गए भाष्य है। मूल पाठ की व्याख्या साफ करने के लिये पहले उससे सबद्ध कथा का उल्लेख कर दिया जाता है, फिर उसके शब्दो के अर्थ बताए जाते है। त्रिपिटक के प्रत्येक ग्रथ पर ऐसी अट्ठकथा प्राप्त होती है। अट्ठकथा की परपरा मूलत कदाचित् लका मे सिहल भाषा मे प्रचलित हुई थी। आगे चलकर जब भारतवर्ष मे बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा तब लका मे अट्ठकथा लाने की आवश्यकता हुई। इसके लिये चौथी शताब्दी मे आचार्य रेवत ने अपने प्रतिभाशाली शिष्य बुद्धघोष को लका भेजा। बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग जैसा प्रौढ ग्रथ लिखकर लका के स्थविरो को सतुष्ट किया और सिहली ग्रथो के पालि अनुवाद करने मे उनका सहयोग प्राप्त किया। आचार्य बुद्धदत्त और धम्मपाल ने भी इसी परपरा मे कतिपय ग्रथो पर अट्ठकथाएँ लिखी। (भि० ज० का०)

अडिलेड नगर दक्षिणी आस्ट्रेलिया की राजधानी है जो टोरेस नदी पर समुद्रतट से १४० फुट की ऊँचाई पर अडिलेड बदरगाह से सात मील दक्षिणपूर्व तथा मेलबोर्न से उत्तरपश्चिम दिशा मे ५०६ मील की दूरी पर स्थित है। यह १८३६ ई० मे बसाया गया था। इसके पूर्व एव दक्षिण की ओर माउट लॉफ्टी की पहाडियाँ समुद्रतट तक फैली हुई है, परतु उत्तर की ओर समुद्रतट से होता हुआ उपजाऊ, समतल मैदान इसके पृष्ठप्रदेश मे बहुत दूर तक फैला हुआ है। पास की उपजाऊ भूमि, उद्यान, खनिज पदार्थों के बाहुल्य एव सुहावनी जलवायु के कारण यह नगर अत्यत उन्नतिशील हो गया है। इसका स्थान अब ससार के सुदरतम नगरो मे है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा २१ २२ इच, गर्मी का औसत ताप ७२ ९° फारेनहाइट तथा जाडे का औसत ताप ५३ १° फारेनहाइट है। यहाँ की जनसख्या ८,२५,४०० (३० जून, १९७०) है।

अडिलेड नगर उत्तर और दक्षिण दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। उत्तरी भाग मे निवासस्थानो का बाहुल्य तथा दक्षिण मे औद्योगिक आवासो की अधिकता है। परिवहन की सुलभता के लिये टोरेस नदी पर पुल बना दिया गया है। यहाँ के दर्शनीय स्थल ससद भवन, प्रादेशिक राज्य विभाग, अजायबघर, वनस्पति उद्यान (बॉटैनिकल गार्डेन) तथा अडिलेड विश्वविद्यालय है।

यहाँ के मुख्य उत्पादन मिट्टी के बरतन, लोहे, चमडे तथा लकडी के सामान एव धातु उद्योग है। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ मक्खन, ताँबा, आटा, फल एव कच्चा सीसा है। चमडा, चाँदी, शराब एव ऊन का भी यह एक वितरण केंद्र है। (वि० मु०)

अडूसा (वासक) के पौधे भारतवर्ष मे सर्वत्र होते है। ये पौधे ४,००० फुट की ऊँचाई तक पाए जाते है और चार से आठ फुट तक ऊँचे होते है। पूर्वी भारत मे अधिक तथा अन्य भागो मे कुछ कम मिलते हैं। कही कही इनसे वन भरे पडे है और कही खाद के काम में लाने के लिये इनकी खेती भी होती है। इनके पत्ते लबे, अमरूद के पत्तों के सदृश होते है। ये पौधे दो प्रकार के, काले और सफेद, होते है। श्वेत अडूसे के पत्ते हरे और श्वेत धब्बेवाले होते हैं। फूल दोनो के श्वेत होते है, जिनमे लाल या बैगनी धारियाँ होती है।

इसकी जड, पत्ते और फूल तीनो ही ओषधि के काम आते है। प्रामाणिक आयुर्वेद ग्रथो मे खाँसी, श्वास, कफ और क्षय रोग की इसे अनुभूत ओषधि कहा गया है। इसके पत्तो की सिगरेट बनाकर पीने से दमा शात होता है। रासायनिक विश्लेषण से इसमे वासिसिन नामक ऐल्कालाएड (क्षार) तथा ऐड्टोडिक नामक अम्ल पाए गए है। (भ० दा० व०)

अडूसे का पौधा

अणु द्रव्य के उस सूक्ष्मतम कण को, जो स्वतत्र अवस्था मे रह सकता है और जिसमे द्रव्य के सब गुण विद्यमान रहते है, अणु (मॉलिक्यूल) कहते है। अणु मे साधारणत दो या अधिक परमाणु (ऐटम) रहते है। अणु की परिकल्पना के पूर्व परमाणु को ही तत्वो तथा यौगिको दोनो का सूक्ष्मतम कण माना जाता था। डाल्टन और बर्जीलियस ने तब यह कल्पना की थी कि समान ताप तथा दाब पर सब गैसो के एक निश्चित आयतन मे उपस्थित परमाणुओ की सख्या समान होती है। इस कल्पना से जब गे-लूसाक के गैस आयतन सबधी नियम को समझाने का प्रयत्न किया गया तब कठिनाई उपस्थित हुई। इसी कठिनाई को हल करने के लिये इटली के वैज्ञानिक अमेडिओ आवोगाड्रो (१७७६–१८५६) ने अणुओ की कल्पना की। (रा० च० मे०)

प्रत्येक पदार्थ छोटे छोटे अणुओ से मिलकर बना है। इन अणुओ के बीच खाली स्थान रहता है जिसमे अणु तीव्र गति से भ्रमण करते रहते है। अणुओ के बीच की खाली स्थानवाली यह दूरी भिन्न पदार्थों मे भिन्न होती है। एक ही पदार्थ की तीन अवस्थाओ मे अतर इस बीच की दूरी के कारण

ही पाया जाता है। अर्थात् ठोस अवस्था मे अणु पास पास रहते हैं। द्रवो मे अणुओं के बीच की दूरी ठोस की अपेक्षा अधिक होती है। दूरी बढने से अणुओं के पारस्परिक आकर्षण मे कमी आ जाती है और अणुओं को गतिशील होने की अधिक स्वतत्रता मिल जाती है। गैस हो जाने पर अणुओं के बीच की दूरी बहुत अधिक हो जाती है और उनके बीच आकर्षण बल नहीं के बराबर रह जाता है। इससे वे लगभग पूर्णत स्वतत्र होकर प्रत्येक दिशा में निरतर स्वच्छद गति की स्थिति मे आ जाते हैं।

अणुओं का परिमाण जानने के लिये यदि हम उनको छोटी छोटी गेदे मानकर पास पास सटाकर रख दे तो १ से० मी० लबे स्थान मे लगभग १० करोड़ अणु आ जाएगे।

अणु एक या एक से अधिक परमाणुओ से मिलकर बने होते है। तत्वो के अणु समान परमाणुओं से मिलकर और यौगिकों के अणु असमान परमाणुओ से मिलकर बने होते है। विभिन्न पदार्थों के अणु विभिन्न प्रकार के होते है।

अणु सूत्र किसी तत्व अथवा यौगिक का वह सूत्र है जो उसके एक अणु के परमाणु की पूर्णसख्या का द्योतक है। जैसे आक्सीजन (तत्व) और सोडियम क्लोराइड (यौगिक) के अणुसूत्र क्रमश O_2 तथा NaCl है।

अणुभार अणुओं के भार व्यक्त करने के लिये कार्बन (C^{12} समस्थानिक) के एक परमाणु के भार के बारहवे भाग को भार की इकाई मान लिया गया है। किसी पदार्थ का अणुभार उसके एक अणु का सापेक्ष भार है जबकि तुलना के लिये कार्बन के एक परमाणु का भार १२ माना जाए। यह केवल एक अक मात्र है। उदाहरण के लिए मैगनिशियम कार्बोनेट का अणुभार ८४ है जिसका अर्थ यह है कि मैगनिशियम कार्बोनेट का एक अणु कार्बन के एक परमाणु से सातगुना या कार्बन के एक परमाणु के बारहवें भाग से ८४ गुना भारी है।

यह अणु मे उपस्थित परमाणुओ के परमाणुभारो को जोडने से भी निकल जाता है। जैसे—

Na Cl का अणुभार = Na का परमाणु भार + Cl का परमाणु भार
= २३ + ३५.५ = ५८.५
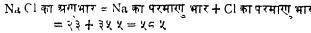
(नि० सि०)

अणुवाद दर्शन मे प्रकृति के अल्पतम अश को अणु या परमाणु कहते है। अणुवाद का दावा है कि प्रत्येक प्राकृत पदार्थ अणुओ से बना है और पदार्थों का बनना तथा टूटना अणुओ के सयोग वियोग का ही दूसरा नाम है। प्राचीन काल मे अणुवाद दार्शनिक विवेचन का एक प्रमुख विषय था, परतु वैज्ञानिकों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत, आधुनिक काल मे दार्शनिक इसकी ओर से उदासीन रहे है, परतु भौतिकी के लिये अणु की बनावट और प्रक्रिया अध्ययन का प्रमुख विषय बन गई है (देखे अणु, परमाणु)। भारत मे वैशेषिक दर्शन ने अणु पर विशेष विचार किया है।

प्राचीन दार्शनिक विचार—प्रकृति के विभाजन मे अणु परम या अत है, विभाजन इससे आगे जा नहीं सकता। दिमाक्रीतस के अनुसार प्रत्येक अणु परिमाण और आकृति रखता है, परतु इनमें किसी प्रकार का जातिभेद नहीं। यही ल्युसिपस का भी मत था। एपिदोक्लीज ने पृथिवी, जल और अग्नि के अणुओ मे जातिभेद देखा। अणुओं का सयोग वियोग गति पर निर्भर है, और गति शून्य मे ही हो सकती है। अभाज्य अणुओ के साथ प्राचीन अणुवाद ने शून्य के अस्तित्व को भी स्वीकार किया।

आधुनिक विज्ञान और अणु—१९वी शताब्दी के आरभ मे जॉन डाल्टन ने अणुवाद का सबल समर्थन किया। उसे उचित रूप से आधुनिक अणुवाद का पिता कहा जाता है। अणुवाद की पुष्टि मे कई हेतु दिए जाते है जिनमें दो ये है (१) प्रत्येक पदार्थ दबाव के नीचे सिकुड जाता है और दबाव दूर होने पर फैल जाता है। गैसो की हालत मे यह सकोच और फैलाव स्पष्ट दीखता है। किसी वस्तु का सकोच उसके अणुओ का एक दूसरे के निकट आना है उसका फैलाव अणुओं के अतर का अधिक होना ही है। (२) गुणित अनुपात का नियम (लॉ ऑव मल्टिपुल प्रोपोर्शस) अणुवाद की पुष्टि करता है। जब दो भिन्न अणु रासायनिक सयोग मे आते हैं, तो उनमे एक के अचल मात्रा में रहने पर, दूसरा अणु २,३,४. इकाइयो मे ही उसमे मिलता है, २½, ३½ आदि मात्राओं में नहीं मिलता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अणु का ½ या ⅓ अश कहीं विद्यमान ही नहीं।

वैशेषिक का अणुवाद—वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य मौलिक 'पदार्थों' या परम जातियों का अध्ययन है। इन पदार्थों में प्रथम स्थान 'द्रव्य' को दिया गया है। नौ द्रव्यों मे पहले पाँच द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी प्राकृत अणु सजातीय नहीं, अपितु उनमे जातिभेद है। इस विचार में वैशेषिक दिमाक्रीतस से नहीं अपितु एपिदोक्लीज से मिलता है। अणुओं मे जातिभेद प्रत्यक्ष का विषय तो है नहीं, अनुमान ही हो सकता है। ऐसे अनुमान का आधार क्या है? वैशेषिक के अनुसार, कारण के भाव से ही कार्य का भाव होता है। हमारे सवेदना (सेन्सस) में मौलिक जातिभेद है—देखना, सुनना, सूँघना, चखना, छूना, एक दूसरे मे बदल नहीं सकते। इस भेद का कारण यह है कि इन बोधो के साधक अणुओं में भी जातिभेद है।

अणुओं का सयोग वियोग निरतर होता रहता है। समता की हालत मे सयोग का आरभ 'सृष्टि' है, पूर्ण वियोग 'प्रलय' है। अणु नित्य है, इसलिये सृष्टि, प्रलय का क्रम भी नित्य है। (विशेष द्र० 'वैशेषिक दर्शन'।) (दी० च०)

अणुव्रत अणुव्रत का अर्थ है लघुव्रत। जैनधर्म के अनुसार श्रावक अणुव्रतों का पालन करते है। महाव्रत साधुओं के लिये बनाए जाते है। यही अणुव्रत और महाव्रत में अतर है, अन्यथा दोनों समान है। अणुव्रत इसलिये कहे जाते है कि साधुओ के महाव्रतों की अपेक्षा वे लघु होते है। महाव्रतो मे सर्वत्याग की अपेक्षा रखते हुए सूक्ष्मता के साथ व्रतों का पालन होता है, जबकि अणुव्रतो मे उन्हीं व्रतों का स्थूलता से पालन किया जाता है।

अणुव्रत पाँच होते है—(१) अहिसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। (१) जीवों की स्थूल हिसा के त्याग को अहिसा कहते है। (२) राग-द्वेष-युक्त स्थूल असत्य भाषण के त्याग को सत्य कहते है। (३) बुरे इरादे से स्थूल रूप से दूसरे की वस्तु अपहरण करने के त्याग को अस्तेय कहते है। (४) परस्त्री का त्याग कर अपनी स्त्री मे सतोषभाव रखने को ब्रह्मचर्य कहते है। (५) धन, धान्य आदि वस्तुओ मे इच्छा का परिमाण रखते हुए परिग्रह के त्याग को अपरिग्रह कहते है।

स० ग्र०—उवासगदसाओ, तत्वार्थसूत्र मूल और टीकाएँ, समतभद्र रत्नकरड श्रावकाचार, अभिधानराजेंद्र कोश, १ (१९१३)। (ज०च०जै०)

अतिचालकता कुछ विशिष्ट दशाओं मे धातुओ की वैद्युत् चालकता (द्र० 'विद्युत्चालन') इतनी अधिक बढ जाती है कि वह सामान्य विद्युतीय नियमो का पालन नहीं करती। इस चालकता को अतिचालकता (सुपर कडक्टिविटी) कहते है।

जब कोई धातु किसी उपयुक्त आकार मे, जैसे बेलन अथवा तार के रूप मे, ली जाती है, तब वह विद्युत् के प्रवाह मे कुछ न कुछ प्रतिरोध अवश्य उत्पन्न करती है। किंतु सर्वप्रथम सन् १९११ मे केमरलिंग ओन्स ने एक सनसनीपूर्ण खोज की कि यदि पारे को ४° (परम ताप) के नीचे ठढा कर दिया जाय तो उसका विद्युतीय प्रतिरोध अकस्मात् नष्ट होकर वह पूर्ण सुचालक बन जाता है। लगभग २० धातुओ मे, जिनमें रांगा, पारा, सीसा इत्यादि प्रमुख है, यह गुण पाया जाता है। जिस ताप के नीचे यह दशा प्राप्त होती है उस ताप को सक्रमण ताप (ट्रैजिशन टेंपरेचर) कहते है और इस दशा को चालकता को अतिचालकता। सक्रमण ताप न केवल भिन्न भिन्न धातुओ के लिये पृथक् पृथक् होते है, अपितु एक ही धातु के विभिन्न समस्थानिको के लिये भी विभिन्न होते है। पैलेडियम ऐंटीमनी जैसे कई मिश्र धातुओं मे भी अतिचालकता गुण पाया जाता है। सक्रमण ताप को साधारणत ताप से सूचित किया जाता है।

परमाणु मे इलेक्ट्रान अडाकार पथ मे परिक्रमा करते है और इस दृष्टि से वे चुबक जैसा कार्य करते है। बाहरी चुबकीय क्षेत्र से इन चुबको का आघूर्ण (मोमेंट) कम हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, परमाणु विषम चुबकीय प्रभाव दिखाते है। यदि ताप ताप पर किसी पदार्थ को उपयुक्त चुबकीय क्षेत्र में

रखा जाय तो उस सुचालक का आंतरिक चुबकीय क्षेत्र नष्ट हो जाता है, अर्थात् वह एक विषम चुबकीय पदार्थ जैसा कार्य करने लगता है। तलपृष्ठ पर बहनेवाली विद्युद्धाराओं के कारण आंतरिक क्षेत्र का मान शून्य हो रहता है। इसे माइसनर का प्रभाव कहते है। यदि अतिचालक पदार्थ को धीरे धीरे बढनेवाले चुबकीय क्षेत्र मे रखा जाय तो क्षेत्र के एक विशेष मान पर, जिसे देहली मान (थ्रेशोल्ड वैल्यू) कहते है, इसका प्रतिरोध पुन अपने पूर्व मान के बराबर हो जाता है।

धातु को एक बद कुडली के रूप मे लेकर और उसे पहले चुबकीय क्षेत्र मे रखकर तथा बाद मे ताप को ताम से कम करके और फिर क्षेत्र को बदलने से, उसमे एक प्रेरित विद्युद्धारा का प्रवाह होता है। इस विद्युद्धारा धा का मान सर्वसाधारण नियम धा = धा$_0$ ई$^{-र स/ल}$ के अनुसार घटते जाना चाहिए। किंतु जब तक ताप ताम से कम रहता है तब तक यह धारा घटती नही, निरतर बढती ही रहती है। यह तभी हो सकता है जब **र**, अर्थात् प्रतिरोध, शून्य के बराबर हो। विद्युत की यह अक्षय धारा उस धातु के गुणो पर निर्भर न होकर चुबकीय क्षेत्र के परिवर्तन पर निर्भर रहती है।

अतिचालक पदार्थ चुबकीय परिरक्षण का भी प्रभाव प्रदर्शित करते है। इन सबका ताप-वैद्युत्-बल शून्य होता है और टामसन-गुणाक बराबर होता है। सक्रमण ताप पर इनकी विशिष्ट उष्मा मे भी अकस्मात् परिवर्तन हो जाता है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि जिन परमाणुओ मे बाह्य इलेक्ट्रानो की सख्या ५ अथवा ७ है उनमे सक्रमण ताप उच्चतम होता है और अतिचालकता का गुण भी उत्कृष्ट होता है।

अतिचालकता के सिद्धात को समझाने के लिये कई सुझाव दिए गए है। किंतु उनमे से अधिकाश को केवल आशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। वर्तमान काल मे बार्डीन, कूपर तथा श्रीफर द्वारा दिया गया सिद्धात पर्याप्त सतोषप्रद है। इसका सक्षिप्त नाम बी० सी० एस० सिद्धात है। इसके अनुसार अतिचालकता चालक इलेक्ट्रानो के युग्मन से उत्पन्न होती है। यह युग्मन इलेक्ट्रानो के बीच आकर्षक बल उत्पन्न हो जाने से पैदा होता है। आकर्षक बल उत्पन्न होने का मुख्य कारण फोनानो या जालक कपनो (लैटिस वाइब्रेशन) का आभासी विनिमय (वरचुअल एक्सचेंज) है। (भ० ग० भा०)

अतिथि अतिथि के प्रति पूज्य भावना की सत्ता वैदिक आर्यो मे अत्यत प्राचीन काल से है। ऋग्वेद मे अनेक मत्रो मे अग्नि से अतिथि की उपमा दी गई है (८।८४।१-६)। अतिथि वैश्वानर का रूप माना जाता था (कठ० १।१।७)। इसीलिये जल के द्वारा उसकी शाति करने का आदेश दिया गया है। **अतिथिनमस्य** (अतिथि पूज्य है)—भारतीय धर्म का आधारपीठ है जिसका पल्लवन स्मृति ग्रथो मे बडे विस्तार से किया गया है। उनमे अतिथि के लिये आसन अर्घ तथा मधुपर्क का विधान हुआ है। महाभारत का कथन है कि जिस घर से अतिथि भग्नमनोरथ होकर लौटता है उसे वह अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है। अतिथि-सत्कार को पचमहायज्ञो मे स्थान दिया गया है। (ब० उ०)

अग्नि का भी और दाशरथी राम के पौत्र अर्थात् कुश के पुत्र का भी एक नाम अतिथि था। कुशपुत्र अतिथि के विषय मे कहा जाता है कि उसने दस हजार वर्षो तक राज्य किया। इनके अतिरिक्त शिव को भी उक्त सज्ञा प्राप्त है। (म०)

अतिनूतन युग (प्लायोसीन इपोक) प्लायोसीन शब्द की उत्पत्ति ग्रीक धातुओ (प्लाइअन = अधिक, काइनास = नूतन) से हुई है जिसका तात्पर्य यह है कि मध्यनूतन की अपेक्षा, इस युग मे पाए जानेवाले जीवो की जातियाँ और प्रजातियाँ आज भी अधिक सख्या मे जीवित है। सन् १८३३ ई० मे प्रसिद्ध भूवैज्ञानिक लायल महोदय ने इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

यूरोप मे इस युग के शैल इग्लैड, फ्रास, बेल्जियम, इटली आदि देशो मे पाए जाते है। अफ्रिका मे इस युग के शैल कम मिलते है और जो मिलते है वे समुद्रतट पर पाए जाते है। आस्ट्रेलिया मे इस युग के स्तरो का निर्माण मुख्यत नदियो और झीलो मे हुआ। अमरीका मे भी इस युग के शैल पाए जाते है।

इस युग मे कई स्थानो पर की भूमि समुद्र से बाहर निकली। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका, जो इस युग के पहले अलग अलग थे, बीच में भूमि उठ आने के कारण जुट गए। इस युग मे उत्तरी अमरीका यूरोप से जुडा था। इस युग के आरभ मे भूमध्यसागर (मेडिटरेनियन समुद्र) यूरोप के निचले भागो मे चढ आया था, परतु युग के अत मे वह फिर हट गया और भूमि की रूपरेखा बहुत कुछ वैसी हो गई जैसी अब है। आरभ मे लदन के पडोस की भूमि समुद्र के भीतर थी, परतु इस युग के अत मे समुद्र हट गया। कई अन्य स्थानो मे भी थोडी बहुत उथल पुथल हुई। इन सबका ब्योरा यहाँ देना सभव नही है। कई स्थानो मे समुद्र का पेंदा धँस गया, जिससे पानी खिच गया और किनारे की भूमि से समुद्र हट गया।

तृतीयक युग मे जो दूसरी मुख्य घटना घटित हुई, वह भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका और दक्षिण अमरीका का पृथक्करण है। मध्य कल्प (मेसोज़ोइक एरा) तक ये सारे देश एक दूसरे से जुडे हुए थे, परतु जिस समय हिमालय का उत्थान प्रारभ हुआ उसी समय भूगतियो ने इन देशो को एक दूसरे से पृथक् कर दिया।

भारतवर्ष मे अतिनूतन युग का प्रतीक सिवालिक तत्र (सिस्टम) मे मिलता है। उच्च सिवालिक तत्र के टैटाट और पिजर नामक भाग ही अतिनूतन के अधिकाश भाग के समकालिक है। हरिद्वार के समीप प्रसिद्ध सिवालिक पर्वतमाला के ही आधार पर इस तत्र का नाम सिवालिक तत्र पडा है। अतिनूतन युग के शैल सिंध तथा बलूचिस्तान मे, पजाब, कुमाऊँ तथा असम के हिमालय की पादमालाओ मे और बर्मा मे पाए जाते है।

शैल निर्माण की दृष्टि से हमारे देश मे अतिनूतन युग के शैल अधिकाशत: बालुकाश्म है जिनकी मोटाई लगभग ६,००० और ६,००० फुट के बीच मे है। इन शैलो के देखने से यह पता लग जाता है कि ये ऐसे प्रकार के जलोढ (अलूवियल) अवसाद हैं जिनका निर्माण पर्वतो के अपक्षरण से हुआ। ये अवसाद हिमालय से निकलनेवाली अनेक नदियो द्वारा आकर उसके पाद पर निक्षेपित हुए।

हमारे देश के अतिनूतन युग के शैलो मे पृष्ठवशियो, विशेषत स्तनधारियो के जीवाश्म प्रचुरता से मिलते है। यही कारण है कि वे समस्त विश्व मे प्रसिद्ध हो गए है। इस युग मे बसनेवाले जीव, जिनके जीवाश्म हमको इस युग के शैलो मे मिलते है, उन जगलो और सहायको मे रहते थे जो तत्कालीन हिमालय पर्वत की बाहरी ढाल मे थे। इन जीवो की करोटियाँ (खोपडियाँ) और जबडे जैसे अति टिकाऊ भाग पर्वतो से नीचे बहकर आनेवाली नदियो द्वारा बहा लाए गए और अततोगत्वा अति शीघ्र सचित होनेवाले अवसादो मे समाधिस्थ हो गए। इस प्रकार प्रतिरक्षित जीवाश्मो के आधार पर उस समय मे रहनेवाले अनेक प्रकार के जीवो के विषय मे हमको सुगमता से पता लग जाता है। इनमे से कुछ प्रकार के हाथी, जिराफ, दरियाई घोडा, गैंडा आदि उल्लेखनीय है।

स० ग्र०—डी० एन० वाडिया रिपोर्ट, एट्टीथ इटरनैशनल जिओलॉजिकल कांग्रेस (१६५१), डी० एन० वाडिया जिऑलोजी ऑव इडिया। अन्य सामग्री के लिये द्र० 'भूविज्ञान' शीर्षक लेख। (रा०ना०)

अतियथार्थवाद (सर्रियलिज्म), कला और साहित्य के क्षेत्र मे प्रथम महायुद्ध के लगभग प्रवर्तित होनेवाली शैली और आदोलन। चित्रण और साहित्य मे तथा (चित्रपट के क्षेत्र मे भी) यह आधुनिकतम शैली मानी जाती है। इसके प्रचारको और कलाकारो मे प्रधान चिरिको, दाली, मारो, आद्रे ब्रेतो, मासो आदि है। कला मे इस दृष्टि का दार्शनिक निरूपण १६२४ मे आद्रे ब्रेतो ने अपनी 'अतियथार्थवादी घोषणा' (सर्रियलिस्ट मैनिफेस्टो) मे किया।

अतियथार्थवाद का सिद्धात इसके प्रवर्तको द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ। अतियथार्थ यथार्थ से, दृश्य-श्रव्य-जगत् से परे है। यह वह परम यथार्थ है जो अवचेतन मे निहित होता है, सुषुप्त, तद्रित, स्वप्निल अवस्था मे असाधारण कल्पित, अकल्पित, अप्रत्याशित अनुभूतियो के रूप मे अनायास आवेगो द्वारा मानस के चित्रपट पर चढता उतरता रहता है। जो विषय अथवा दृश्य साधारणत तर्कत परस्पर असबद्ध लगते है वास्तव मे उनमे अलक्षित सबध है जिसे मात्र अतियथार्थवाद प्रकाशित कर सकता है। अतियथार्थ-

वादियों की प्रतिज्ञा है कि हमारे सारे कार्यों का उद्गम अवचेतन अंतर है। वही हमारे कार्यों को गति और दिशा भी देता है और उस उद्गम से प्रस्फुटित होनेवाले मनोभावों को दृष्टिगम्य, स्थूल, रससिक्त आकृति दी जा सकती है।

अतियथार्थवाद के प्रतीक और मान दैनंदिन जीवन के परिमाण, प्रतिबोधों से सर्वथा भिन्न होते हैं। अतियथार्थवादियों की अभिरुचि अलौकिक, अद्भुत, अकल्पित और असगत स्थितियों की अभिव्यक्ति में है। ऐसा नहीं कि उस अवचेतन का साहित्य अथवा कला में अस्तित्व पहले न रहा हो। परियों की कहानियाँ, असाधारण की कल्पना, जैसे 'एलिस इन द वंडरलैंड' अथवा सिदवाद की कहानियाँ, बच्चों अथवा अर्धविक्षिप्त व्यक्तियों के चित्राकन साहित्य और कला दोनों क्षेत्रों में अतियथार्थवाद की इकाइयाँ प्रस्तुत करते हैं। अतियथार्थवादियों की स्थापना है कि हम पार्थिव दृश्य जगत् को भेदकर, उसके तथोक्त यथार्थ का अतिक्रमण करके वास्तविक परमयथार्थ के जगत् में प्रवेश कर सकते हैं। अकन को आकृतियों के प्रतिनिधान की आवश्यकता नहीं, उसे जीवन के गहन तत्वों को समझना और समझाना है, जीवन के प्रति मानव प्रतिक्रियाओं का आकलन करना है, और ये तथ्य निःसंदेह दृश्य जगत् के परे के हैं। अकन को मनोरंजन अथवा आनंद का साधन मानना अनुचित है। स्थूल नेत्रों की सीमाएँ और प्रत्यक्ष की रिक्तता तो घनवादी कला ने ही प्रमाणित कर दी थी, इससे आवश्यकता प्रतीत हुई दृष्टि से अतीत परोक्ष में साक्षात्कार की, जो अवचेतन है, युक्तिसंगत यथार्थ के परे का अयुक्तियुक्त अतियथार्थ।

इस प्रकार अतियथार्थवाद मानस के अंतराल को, अवचेतन के तमाविष्ट गह्वरों को आलोकित करता है। घनवाद से भी एक पग आगे दादावाद गया और दादावाद से भी आगे अतियथार्थवाद। अतियथार्थवाद की जड़ें दादावाद की जमीन में ही लगी हैं। स्वयं दादावाद ने क्रियात्मक कल्पना की भूमि छोड़ निर्बंध अवचेतन की आराधना की थी, अब उसके उत्तरवर्ती अतियथार्थवाद ने अवचेतन और दृश्य जगत् को परस्पर सर्वथा स्वतंत्र और पृथक् माना। मानवीय चेतनता और पार्थिव यथार्थ अथवा कायिक अनुभूति में उसके विचार से कोई संबंध नहीं। उन्होंने आत्माध्ययन, जीवन के परम तथ्य की खोज और दृश्य से भिन्न एक अंतर्जगत् की पहचान को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने कहा कि सावयवीय संपूर्णता के भीतर स्थूलतः लक्षित होनेवाले परस्पर विरोधी पर वस्तुतः अनुकूल तथ्यों, जैसे 'जीवन और मृत्यु, भूत और भविष्य, सत्य और काल्पनिक' को एकत्र करना होगा। अतियथार्थवादी घोषणाकार आन्द्रे ब्रेतों ने लिखा 'मेरा विश्वास है कि भविष्य में दोनों परस्पर विरोधी लगनेवाली स्वप्न और सत्य की स्थितियाँ परम यथार्थ, अतियथार्थ में लय हो जायँगी।'

चित्रण की प्रगति में अतियथार्थवाद ने परंपरागत कलाशैली को तिलांजलि दे दी। उसके आकलन और अभिप्रायों ने, चित्रादर्शों न सर्वथा नया मोड़ लिया, परवर्ती से अंतर्वर्ती की ओर। अवचेतन की स्वप्निल स्थितियों [illegible]वस्था तक, को उसने 'शुद्ध प्रज्ञा' का स्वच्छंद रूप माना। साधारणतः अतियथार्थवाद के दो भेद किए जाते हैं (१) स्वप्नाभिव्यक्ति और (२) आवेगांकन। उसमें पहली शैली का विशिष्ट कलाकार सात्वादोर दाली है और दूसरी का जोआन मीरो। दोनों स्पेन के हैं। अवचेतन के उपासक अतियथार्थवाद का फिर भी आकलन के क्षेत्र में राग और रेखा की दृष्टि से सर्वथा उच्छृंखल भी नहीं समझना चाहिए। यह सही है कि अभिप्राय अथवा अंकित विषय के संबंध में अतियथार्थवाद अप्रत्याशित का आकलन करता है, पर जहाँ तक अंकन की तकनीक की बात है उसके आयाम-परिमाण सर्वथा संयत, स्पष्ट और श्रमसिद्ध होते हैं। दाली [illegible] इस दिशा में उच्च चित्राचार्यों की कला से होड़ करते हैं। [illegible] यथार्थ का उदाहरण ऐसे चित्र से दिया जा सकता है जिसका [illegible] चिकित्सालय के शल्यकक्ष (आपरेशन थियेटर) [illegible] आपरेशन [illegible] पर जहाँ मरीज के हान की आशा की जा सकती [illegible] [illegible] सिलाई की मशीन ! या नारी का [illegible] [illegible] से मुक्त होने की अपेक्षा की जाती है वहाँ [illegible] मेज [illegible] रहती है। अतियथार्थवाद कला को, सामाजिक [illegible]वाद के अतिरिक्त, नवीनतम शैली है और इधर, मनोविज्ञान की प्रगति से प्रभावित, प्रभूत लोकप्रिय हुई है।

सं० ग्रं०--आन्द्रे ब्रेतो सरियलिस्ट मैनिफेस्टो, १९२४, स्कीरा माडर्न पेंटिंग। (भ०श०उ०)

अतिवृद्धि किसी भी अंग या आशय की रोगयुक्त वृद्धि को अतिवृद्धि कहा जाता है। जब किसी अवरोध के कारण आशय अपने भीतर की वस्तु को पूर्णतया बाहर नहीं निकाल पाता तो उसकी भित्तियों की वृद्धि हो जाती है। हृदय एक खोखला अंग है। जब कपाटिकाओं के रुग्ण हो जाने से वह रक्त को पूर्णतया बाहर नहीं निकाल पाता तो उसकी अतिवृद्धि होकर उसका आकार बढ़ जाता है और उसके पश्चात् प्रसार होता है। जब किसी अंग को दूसरे अंग का भी कार्य करना पड़ता है (जैसे वृक्क या फुप्फुस को), या एक भाग को दूसरे भाग का, तो उसकी सदा अतिवृद्धि हो जाती है। (मु० स्व० व०)

अतिशीतन और अतितापन (सूपरकूलिंग ऐंड सूपरहीटिंग) अधिकांश द्रव यदि पूर्णत स्वच्छ बर्तन में बहुत धीरे धीरे ठंढे किए जायँ तो अपने सामान्य हिमांक से नीचे तक बिना सपिंड हुए पहुँच जाते हैं। यह क्रिया अतिशीतन कहलाती है। पानी –१०° सें० से भी नीचे तक अतिशीतित किया जा सकता है। डीउफ् ने क्लोरोफार्म और मीठे बादाम के तेल के एक मिश्रण में, जिसका घनत्व पानी के घनत्व के बराबर था, एक छोटी सी पानी की बूँद लटका दी, और बिना सपीडन के –२०° सें० तक उसे शीतित कर दिया।

वास्तव में अतिशीतन एक अस्थायी क्रिया है। अतिशीतित द्रव में तत्संगत पिंड का एक अति अल्प कण भी डाल देने से या बर्तन को हिला देने से सपीडन चालू हो जाता है और जब तक निकली हुई गुप्त ऊष्मा उसके ताप को सामान्य हिमांक तक न ले आए तब तक चलता रहता है। हवा की अनुपस्थिति अतिशीतन में सहायक होती है।

अतितापन भी ऐसी ही एक अस्थायी क्रिया है। विलीन वायु से स्वतंत्र पानी को एक स्वच्छ बर्तन में सावधानी से गरम करने से ताप १००° सें० से कई डिग्री ऊपर तक पहुँच सकता है और पानी खौलता नहीं। लेकिन इस स्थिति में यदि उसे हिला दिया जाय तो वह एक दम से खौलने लगता है और गुप्त ऊष्मा व्यय होने से ताप भी १००° सें० आ जाता है।

(नि० सि०)

अतिसार अतिसार (डायरिया) उस दशा का नाम है जिसमें आहार का पक्वावशेष आंत्रनाल में होकर असामान्य द्रुतगति से प्रवाहित होता है। परिणामस्वरूप पतले दस्त, जिनमें जल का भाग अधिक होता है, थोड़े थोड़े समय के अंतर से आते रहते हैं। यह दशा उग्र तथा जीर्ण दोनों प्रकार की पाई जाती है।

उग्र--उग्र (ऐक्यूट) अतिसार का कारण प्रायः आहारजन्य विष, खाद्यविशेष के प्रति असहिष्णुता या संक्रमण होता है। कुछ विषों से भी, जैसे संखिया या पारद के लवण से, दस्त होने लगते हैं।

जीर्ण--जीर्ण (क्रॉनिक) अतिसार बहुत कारणों से हो सकता है। आमाशय अथवा अग्न्याशय ग्रंथि के विकास से पाचन विकृत होकर अतिसार उत्पन्न कर सकता है। आंत [illegible] रचनात्मक रोग, [illegible] (ट्यूमर) आदि, [illegible] हो सकते हैं। [illegible] (विटामिन) [illegible] से भी अतिसार उत्पन्न हो जाता है। इन [illegible] के उदाहरण हैं रक्ताविपाल्पता (मोर्टीमीनिया) तथा रक्तपूरिता (पेलाग्रा)। कुछ निस्रावी (एंडोक्राइन) विकार भी अतिसार के रूप में प्रकट होते हैं, जैसे ऐडीसन के रोग और [illegible] (हाइपर थाइरायडिज्म)। भय, चिंता तथा मानसिक व्यथाएँ [illegible] दशा को उत्पन्न कर सकती हैं। तब यह मानसिक अतिसार कहा जाता है।

अतिसार का मुख्य लक्षण, और कभी कभी अकेला [illegible] दस्तों का बार बार आना होता है। तीव्र दशाओं में उदर के [illegible] भाग में पीड़ा तथा बेचैनी प्रतीत होती है अथवा मलत्याग के कुछ समय पूर्व मालूम होती है। धीमे अतिसार के बहुत समय तक बने रहने से, या उग्र

दशा में आने के समय में, रोगी का शरीर कृश हो जाता है और जलह्रास (डिहाइड्रेशन) की भयंकर दशा उत्पन्न हो सकती है। खनिज लवणों के तीव्र ह्रास से रक्तपूरिता तथा मूर्छा (कोमा) उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है।

चिकित्सा के लिये रोगी के मल की परीक्षा करके रोग के कारण का निश्चय कर लेना अत्यावश्यक है, क्योंकि चिकित्सा उसी पर निर्भर है। कारण को जानकर उसी के अनुसार विशिष्ट चिकित्सा करने से लाभ हो सकता है। रोगी को पूर्ण विश्राम देना तथा क्षोभक आहार बिलकुल रोक देना आवश्यक है। उपयुक्त चिकित्सा के लिये किसी विशेषज्ञ चिकित्सक का परामर्श उचित है। (शि० श० मि०)

अतिसूक्ष्मदर्शी (अल्ट्रा-माइक्रॉस्कोप) एक ऐसा उपकरण है जिसकी सहायता से बहुत छोटे छोटे कण, जो लगभग अणु के आकार के होते हैं और साधारण सूक्ष्मदर्शी से नहीं दिखाई देते, देखे जा सकते हैं। वास्तव में यह कोई नवीन उपकरण नहीं है, केवल एक अच्छा सूक्ष्मदर्शी ही है, जिसको विशेष रीति से काम में लाया जाता है। जब साधारण सूक्ष्मदर्शी साधकर पारगमित (ट्रैंसमिटेड) प्रकाश से वस्तुओं को हम देखते हैं, तो वे प्रकाश के मार्ग में पड़कर प्रकाश को रोक देती हैं, जिससे वे प्रकाशित पृष्ठभूमि पर काले चिह्नों के रूप में दिखाई देती हैं। परंतु बहुत छोटे कणों का पारगमित प्रकाश द्वारा देखना असंभव है, क्योंकि जितना प्रकाश एक छोटा कण रोकता है उससे बहुत अधिक प्रकाश उस कण के चारों ओर के बिंदुओं से आँख में पहुँच जाता है। इससे उत्पन्न चकाचौंध के कारण कण अदृश्य हो जाता है। यदि सूक्ष्मदर्शी का प्रबंध इस प्रकार किया जाय कि कणों को किसी पारदर्शक द्रव में डाल दिया जाय, जिसमें वे घुलें नहीं, और फिर इन कणों पर बगल से प्रकाश डाला जाय तो प्रकाश कणों से टकराकर ऊपर रखे हुए एक सूक्ष्मदर्शी में प्रवेश कर सकता है। यदि इस स्थिति में रखे हुए सूक्ष्मदर्शी से कणों को अब देखा जाय तो वे पूर्णतः काली पृष्ठभूमि पर चमकते हुए बिंदुओं के रूप में दिखाई देने लगते हैं, क्योंकि द्रव के कण पारदर्शी होने के कारण प्रकाशित नहीं हो पाते। यही अतिसूक्ष्मदर्शी का सिद्धांत है।

नीचे दिए हुए चित्रों में साधारण सूक्ष्मदर्शी और अतिसूक्ष्मदर्शी दोनों की रीतियाँ दिखाई गई हैं.
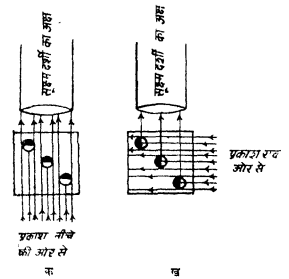
साधारण सूक्ष्मदर्शी और अतिसूक्ष्मदर्शी में अंतर

अतिसूक्ष्मदर्शी में कणों को किसी पारदर्शक द्रव में डालकर और प्रकाश को बगल से आने देकर देखा जाता है। (क) साधारण सूक्ष्मदर्शी, (ख) अतिसूक्ष्मदर्शी।

चित्र (क) में प्रकाश की किरणें किसी द्रव में आलंबित (सस्पेंडेड) कणों पर नीचे से पड़ रही हैं और प्रकाश सीधा सूक्ष्मदर्शी में प्रवेश कर रहा है, जिससे द्रष्टा उन कणों को प्रकाशित पृष्ठभूमि पर काले काले बिंदुओं के रूप में देख रहा है। चित्र (ख) में प्रकाश दाहिनी ओर से आकर कणों पर पड़ रहा है और कणों से बिखरकर सूक्ष्मदर्शी में पहुँच रहा है, जिससे द्रष्टा उन कणों को पूर्णतः काली पृष्ठभूमि पर चमकदार बिंदुओं के रूप में देख रहा है।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा कणों को देखने की जो रीति प्रारंभ में (सन् १९०० के लगभग) काम में लाई गई थी वह नीचे के चित्र में दी हुई है.
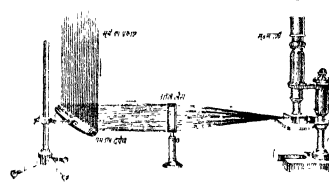
सूर्य से आनेवाला तीव्र प्रकाश एक समतल दर्पण पर पड़ रहा है। वहाँ से परावर्तित होकर प्रकाश की किरणें एक उत्तल ताल (लेंज) पर पड़ती हैं जो उनको एकत्रित करके उन कणों पर डाल देता है जिनकी परीक्षा सूक्ष्मदर्शी से की जा रही है।

आर० जिगमॉडी और एच० सीडेंटौफ ने अतिसूक्ष्मदर्शी की रीति में बहुत सुधार किए जिससे अत्यंत सूक्ष्म कणों का देखना संभव हो गया है। अब सूर्य के प्रकाश के स्थान पर साधारणतः पॉइंटोलाइट लैंप का तीव्र प्रकाश काम में लाया जाता है। इस लैंप में धातु का एक सूक्ष्म गोला अति तप्त होकर श्वेत प्रकाश देता है।

प्रकाश की किरणें सघनक (कंडेंसर) स द्वारा एकत्र करके बर्तन ब में भरे हुए द्रव पर डाली जाती हैं और सूक्ष्मदर्शी से उसे देखा जाता है (चित्र देखें)।

सघनक

ब   स   प्रकाश

सूक्ष्मदर्शी के सिद्धांत के अनुसार सूक्ष्मदर्शी की विभेदन क्षमता (रिज़ॉल्विंग पावर) की भी एक सीमा है, अर्थात् यदि कणों का आकार हम छोटा करते चले जायँ तो एक ऐसी अवस्था आ जायगी जिससे अधिक छोटा होने पर कण अपने वास्तविक रूप में पृथक् दिखाई नहीं देगा। सूक्ष्मदर्शी के अभिदृश्य ताल (ऑब्जेक्टिव) का मुखव्यास (अपर्चर) जितना ही अधिक होगा और जितने ही कम तरंगदैर्घ्य का प्रकाश कणों को देखने के लिये प्रयुक्त किया जायगा, उतनी ही अधिक विभेदन क्षमता प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि किसी सूक्ष्मदर्शी की विभेदन क्षमता उसके अभिदृश्य ताल के मुखव्यास की समानुपाती और प्रयुक्त प्रकाश के तरंगदैर्घ्य की प्रतिलोमानुपाती होती है। साधारण सूक्ष्मदर्शी चाहे कितना ही बढ़िया बना हो, वह कभी किसी ऐसी वस्तु को वास्तविक रूप में नहीं दिखा सकता जिसका व्यास प्रयुक्त प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के लगभग आधे से कम हो। परंतु अतिसूक्ष्मदर्शी की सहायता से, अनुकूल परिस्थितियों में, इतने छोटे छोटे कण देखे जा सकते हैं जिनका व्यास प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के १/१०० भाग के बराबर हो। इन कणों को अतिसूक्ष्मदर्शीय कण कहते हैं। यदि इन कणों को साधारण रीति से सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने का प्रयत्न किया जाय तो वे दिखाई नहीं देते, जिसका कारण पहले बताया जा चुका है। दिन के समय आकाश में तारे न दिखाई देने का भी कारण यही है।
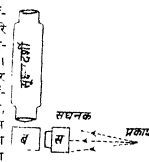
यदि पहले बताई गई रीति से अति सूक्ष्म कणों पर एक दिशा से तीव्र प्रकाश डाला जाय और सूक्ष्मदर्शी के अक्ष को उससे लंब रखकर

उन कणों को देखा जाय तो अति सूक्ष्म होने के कारण प्रत्येक कण प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) द्वारा प्रकाश को आँख में भेज देगा। तब वह चमकते हुए वृत्ताकार विवर्तन बैंडों (डिफ्रैक्शन बैंड्स) से घिरा हुआ होने के कारण प्रकाशित गोल चकती की भाँति दिखाई देने लगेगा। इन चकतियों का आभासी व्यास कणों के वास्तविक व्यास से बहुत बड़ा होता है। इसलिये इन चकतियों के व्यास से हम कणों के आकार के विषय में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, परंतु फिर भी उनसे कणों के अस्तित्व को समझ सकते हैं, उनकी संख्या गिन सकते हैं और उनके द्रव्यमान तथा गतियों का पता लगा सकते हैं।

अतिसूक्ष्मदर्शी जिस सिद्धांत पर काम करता है उसका उदाहरण हम अपने दैनिक जीवन में उस समय देखते हैं जब सूर्य प्रकाश की किरणें किसी छिद्र से कमरे में प्रवेश करती हैं और हवा में उड़ते हुए असंख्य अतिसूक्ष्म कणों के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं। यदि आनेवाली किरणों की ओर आँख करके हम देखें तो ये अतिसूक्ष्म कण दिखाई नहीं देंगे।

सन् १८९९ ई० में लॉर्ड रैले ने गणना से सिद्ध कर दिया कि जो कण अच्छे से अच्छे सूक्ष्मदर्शी द्वारा साधारण रीति से पृथक् पृथक् नहीं देखे जा सकते उनको अधिक तीव्र प्रकाश से प्रकाशित करके अतिसूक्ष्मदर्शी की रीति से हम देख सकते हैं, यद्यपि इस रीति से हम उनके वास्तविक आकार का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा बहुत से विलयनों (सोल्यूशंस) की परीक्षा से पता चलता है कि उन विलयनों के भीतर या तो ठोस के छोटे छोटे कण कलिलीय अवस्था (कलॉयडल स्टेट) में तैरते रहते हैं या ठोस पूर्ण रूप से विलयन में मिला रहता है। उसकी सहायता से कलिलीय विलयनों में ब्राउनियन गति का भी अध्ययन किया जाता है।

यदि काँच की पट्टी पर थोड़ा सा काबोज (गैंबूज) रगड़कर उसपर पानी की दो बूँदें डाल दी जायँ और तब अतिसूक्ष्मदर्शी से पानी की परीक्षा की जाय तो असंख्य छोटे छोटे कण बड़ी शीघ्रता से भिन्न भिन्न दिशाओं में इधर उधर दौड़ते हुए दिखाई देंगे। इस गति को सबसे पहले सन् १८२७ ई० में आर० ब्राउन ने देखा था, इसलिये उनके नाम पर इसे ब्राउनियन गति कहते हैं।

यदि बिजली से हवा में चाँदी का आर्क जलाया जाय तो उसमें भी चाँदी के कलिलीय कण प्राप्त होते हैं, जिनको पानी में डालकर ब्राउनियन गति देखी जा सकती है। इस गति में कण आश्चर्यजनक वेग से इधर उधर भागते हुए दिखाई देते हैं जिनकी तुलना धूप में भनभनाते हुए एक मच्छर समुदाय से की जा सकती है।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई देनेवाले कणों की सूक्ष्मता प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। प्रकाश की तीव्रता जितनी अधिक होगी उतने ही अधिक सूक्ष्म कण दिखाई देने लगेंगे।

सं० ग्रं०—आर० जिग्मौंडी : कलॉएड्स ऐंड दि अल्ट्रामाइक्रोस्कोप, जे० अलेक्जैंडर द्वारा अनुवादित (विली), ई० एफ० बर्टन : फिजिकल प्रॉपर्टीज आव कलॉएडल सोल्यूशन्स, लॉगमैन्स ग्रीन ऐंड कं०।

(ब० ला० कु०)

अतिसूक्ष्म रसायन (अल्ट्रा-माइक्रोकेमिस्ट्री) उन रासायनिक विधियों को कहते हैं जिनके द्वारा रासायनिक विश्लेषण तथा अन्य क्रियाएँ पदार्थों की अतिसूक्ष्म मात्रा से संपन्न की जा सकती हैं। साधारण रासायनिक विश्लेषण में १/१० ग्राम मात्रा पर्याप्त मानी जाती थी, सूक्ष्म रसायन में द्रव्य के १/१००० ग्राम से काम चल जाता है और अतिसूक्ष्म रसायन का अवलंबन तब करना पड़ता है जब पदार्थ का केवल माइक्रोग्राम (१/१०,००,००० ग्राम) उपलब्ध रहता है।

अतिसूक्ष्म रसायन का प्रारंभ सन् १९३० में कोपेनहेगेन की कार्ल्सबर्ग प्रयोगशाला में हुआ, वहाँ के० लिडरस्ट्रॉम-लैंग तथा सहयोगियों ने इसका उपयोग एनजाइमों, जीवप्रेरकों और पौधों तथा पशुओं से प्राप्त पदार्थों की अति सूक्ष्म मात्रा के विश्लेषण में किया। सन् १९३३ में कैलिफोर्निया में पॉल एल० कर्क ने इन विश्लेषण विधियों को अधिक उन्नत किया और साथ ही साथ उन्होंने अन्य सब प्रकार की भौतिक तथा रासायनिक क्रियाओं का अध्ययन भी अतिसूक्ष्म मात्राओं में आरंभ किया। जीव तथा वनस्पति रसायन के अतिरिक्त तीव्र रेडियोसक्रिय पदार्थों के अध्ययन में ये विधियाँ विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इन रेडियोसक्रिय पदार्थों के अध्ययन में साधारणतया अतिसूक्ष्म मात्राओं का ही उपयोग किया जाता है। इसका कारण इनकी कम मात्रा में उपलब्धि के अतिरिक्त यह भी है कि कम मात्रा से निकलनेवाली हानिकारक रेडियो किरणों की तीव्रता कम रहती है, जिससे कार्य संपन्न करने में सुविधा रहती है।

अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यत: निम्नलिखित विधियों का उपयोग किया जाता है :

(क) **द्रवों की अनुमापन विधि**—अतिसूक्ष्म रसायन में सर्वप्रथम आयतनों के मापन पर आधारित विधियों का ही उपयोग हुआ। इन क्रियाओं में प्रयुक्त सभी उपकरण, जैसे परीक्षण नलियाँ, बीकर, पिपेट तथा ब्यूरेट, केशनलिकाओं (कैपिलरीज) से ही बनाए जाते हैं और इनकी सहायता से $१०^{-४}$ से $१०^{-८}$ लीटर तक के आयतन सुगमता से नापे जा सकते हैं। इन विधियों का सर्वप्रथम उपयोग जीवरसायन में हुआ। उदाहरणार्थ, प्राय: रोगग्रस्त बालकों के रक्त की परीक्षा एक सूक्ष्म बूँद से ही करनी पड़ती है। इसके लिये रक्त के सूक्ष्म आयतन को नापने, उससे प्रोटीन पृथक् करके उदासीन तथा प्रकार्बनिक तत्वों को पृथक् करने की समस्त पद्धतियों को अतिसूक्ष्म परिमाण में ही करना होता है।

(ख) **गैसमितीय विधियाँ**—इन विधियों का उपयोग अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यत: जीवकोषों या सूक्ष्म जीवों की श्वासगति या उससे संबंधित क्रियाओं के अध्ययन में होता है। कर्क और कोनवेस के बाद द्वितीय महायुद्ध के समय शोलेंदर तथा उसके सहयोगियों ने इस विधि को इतना उन्नत किया कि अब गैसीय मिश्रणों के माइक्रोलीटर आयतनों का भी पूर्णतया विश्लेषित करना संभव हो गया है।

(ग) **भारमापन विधियाँ**—यद्यपि २०वीं शताब्दी में बहुत अच्छी भार-तुलाओं का निर्माण हुआ है, तथापि १९४० में कर्क, राइनिक क्रैग तथा गुलबर्ग नामक वैज्ञानिकों द्वारा क्वार्ट्ज तुला की खोज से इस ओर विशेष प्रगति हुई है। इस नई तुला की सहायता से .००५ माइक्रोग्राम के अंतर सुगमता से नापे जा सकते हैं।

(घ) **अन्य विविध विधियाँ**—अतिन्यून मात्राओं के साथ कार्य करने के लिये अन्य सभी कार्यविधियों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ छानने के स्थान पर अपकेंद्रण (सेंट्रीफ्यूगेशन) विधि का उपयोग किया जाता है। प्राय: संपूर्ण रासायनिक क्रिया सूक्ष्मदर्शी के ही नीचे संपन्न की जाती है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन भी देखा जा सके। इन सूक्ष्म मात्राओं के लिये उपयोगी विश्लेषणपद्धतियों में वर्णक्रमीय (स्पेक्ट्रोस्कोपिक) पद्धतियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं और आधुनिक रेडियो रसायन की पद्धतियों ने तो विश्लेषण की इस चरम सीमा को सहस्रों गुना सूक्ष्म कर दिया है। आज प्रयोगशाला में संश्लेषित नवीन तत्वों के कुछ इने गिने परमाणुओं को इनके द्वारा पहचानना ही नहीं वरन् उनके तथा उनके यौगिकों के गुणों का अध्ययन भी इन सूक्ष्म मात्राओं में, चाहे कुल उपलब्ध मात्रा लगभग $१०^{-२०}$ ग्राम ही हो, संभव हो रहा है।

(रा० च० स०)

अतीस रैननकुलेसी परिवार का एक पौधा है। इसका वानस्पतिक नाम एकोनिटम हेटेरोफिलम है। यह पौधा आल्प्स, पाइरेनीज तथा यूरोप और एशिया के अन्य पर्वतीय प्रदेशों में पाया जाता है। समशीतोष्ण प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। अतीस हिमालय के पश्चिमी समशीतोष्ण प्रदेशों में घास के रूप में उगता है। इसकी सात नस्लें या जातियाँ पाई जाती हैं।

यह एक सीधा, वर्षानुवर्षी शाक है। इसका तना पत्तियों से भरा हुआ एक से तीन फुट तक ऊँचा तथा आधार पर से ही शाखान्वित होता है। इसकी नोक की सतह चिकनी होती है। पत्तियों की लंबाई दो से चार इंच तक, पत्रदल का आकार अंडे के समान या लगभग गोल होता है। इसके पत्रदल का किनारा दाँत के समान कटा हुआ तथा आगे का भाग कुछ नुकीला या गोल होता है।

इसमें कई पुष्प एक ही स्थान से निकलते हैं और गुच्छों के रूप में लटके रहते हैं। यह पौधा अत्यंत विषैला होता है तथा इसकी ट्यूबरस जड़ों में

कुछ ऐल्केलॉइडस भी पाए जाते है जिनमे एकोनिटिन मुख्य है। इसी से एकोनाइट नामक दवा बनाई जाती है। इस ओषधि का प्रयोग ज्वर तथा शरीर का दर्द दूर करने मे किया जाता है। इसके अतिरिक्त बलकारक ओषधि के रूप मे, शरीर की लाल सूजन दूर करने आदि मे भी इसका प्रयोग किया जाता है। होमियोपैथी मे जुकाम, बुखार, गठिया, ट्यूमर आदि मे इसका प्रयोग किया जाता है।

अतीस, कगरासिघी, नागरमोथा तथा पीपल को एक साथ मिलाकर चौहड्डी नामक ओषधि बनाई जाती है जिसको शहद के साथ मिलाकर खाने से खाँसी दूर हो जाती है।

शरीर के बाहरी हिस्सा मे इसका प्रयोग मुख और सिर की नसो का दर्द दूर करने के लिये किया जाता है। (कु० पु० अ०)

अत्तार, फरीदुद्दीन अबू हामिद, शेख, कुछ मतो के अनुसार फरीदुद्दीन अत्तार का जन्म फारस के निशापुर के एक गाँव मे ११११ ई० मे हुआ। यद्यपि ये व्यवसाय मे इत्रफरोश और हकीम थे तथापि अपनी आध्यात्मिक और साहित्यिक उपलब्धियो के कारण इनकी गणना फारसी के तीन प्रमुखतम कवियो (सनाई, अत्तार और रूमी) तथा सूफियो मे की जाती है। इन्होंने दमिश्क, मिस्र, तुर्किस्तान, भारतवर्ष आदि का विस्तृत भ्रमण किया था। इनकी मृत्यु चगेज खाँ के फारस पर आक्रमण के समय १२२९ ई० मे एक सैनिक के हाथो हुई जो इनकी सूफियाना प्रकृति से चिढ गया था। इनकी रचनाओं मे चतुष्पदियाँ, चतुर्दशपदियाँ और द्विपदियाँ की अधिकता है। कहा जाता है, इन्होंने एक लाख बीस हजार पद (कप्लेट्स) लिखे। इनकी रचनाएँ है—तज़किरातुल-औलिया, पदनामा, मन्तिकुत्तैर, इलाहीनामा, दीवान-ए-अत्तार, कुल्लियात-ए-अत्तार आदि। मन्तिकुत्तैर मे पक्षियो की सभा का आध्यात्मिक रूपकात्मक वर्णन मिलता है जिसमे साधनात्मक एव आध्यात्मिक रहस्यो का उद्घाटन किया गया है। काव्य, अध्यात्म और दर्शन (सूफी) का उच्च कोटि का समन्वय इनके काव्य मे मिलता है। सरल, सुबोध, मधुर एव स्पष्ट शैली के साथ विरोधाभास कथन की प्रकृति इनकी अपनी विशेषता है। (ना० ना० उ०)

अत्तिला (ल० ४०६–४५३ ई०), इतिहासप्रसिद्ध विध्वसक हूण राजा जिसे पश्चात्कालीन इतिहासकारो ने 'भगवान् का कोडा' कहा। उसके पिता का नाम मुदजुक था। उसके जन्म से कुछ पहले ही कास्पियन सागर के उत्तरवर्ती प्रदेशो के हूण दानूब नद की घाटी मे जा बसे थे। अत्तिला के पिता का परिवार भी उन्ही हूणो मे से था। चाचा रुआस के मरने पर अपने भाई ब्लेदा के साथ अत्तिला दानूबतटीय हूणो का सयुक्त राजा बना। रुआस का शासनकाल हूणो के यूरोप मे विशेष उत्कर्ष का था। उसने जर्मन और स्लाव जातियो पर आधिपत्य कर लिया था और उसका दबदबा कुछ ऐसा बढा कि पूर्वी रोमन सम्राट् उसे वार्षिक कर देने लगा। चाचा के ऐश्वर्य का अत्तिला ने प्रभूत प्रसार किया और आठ वर्षों मे वह कास्पियन और बाल्टिक सागर के बीच के समूचे राज्यो का, राइन नदी तक, स्वामी बन गया।

४५० ई० के पश्चात् अत्तिला पूर्वी साम्राज्य को छोड पश्चिमी साम्राज्य की ओर बढा। पश्चिमी साम्राज्य का सम्राट् तब वालेंतीनियन तृतीय था। सम्राट् की भगिनी जुस्ताग्राता होनोरिया ने अपने भाई के विरुद्ध सहायता के अर्थ अत्तिला को अपनी अँगूठी भेजी थी। इसे विवाह का प्रस्ताव मान हूणराज ने सम्राट् से भगिनी के यौतुक मे आधा राज्य माँगा और अपनी सेना लिए वह गाल को रौदता, मेत्स को लूटता, लवार नदी के तट पर बसे औलियाँ जा पहुँचा, पर रोमन सेना ने पश्चिमी गोथो और नगरवासियो की सहायता से हूणो को नगर का घेरा उठा लेने को मजबूर किया। फिर दो महीने बाद जून, ४५१ मे इतिहास की सबसे भयकर खूनी लडाइयो मे से एक लडी गई, जब दोनो सेनाएँ सेन नदी के तट पर त्रॉय के निकट परस्पर मिली। भीषण युद्ध हुआ और जीवन मे बस एक बार हारकर अत्तिला को भागना पड़ा।

पर अत्तिला चुप बैठनेवाला आदमी न था। अगले साल सेना लेकर शक्ति के केंद्र स्वय इटली पर उसने धावा बोल दिया और देखते देखते उसका उत्तरी लोंबार्दी का प्रात उजाड़ डाला। उखड़े, भागे हुए लोगो ने आद्रियातिक सागर पहुँच वहाँ के प्रसिद्ध नगर वेनिस की नीव डाली। सम्राट् वालेंतीनियन ने भागकर रावेना मे शरण ली। पर पोप लिओ प्रथम ने रोम की रक्षा के लिये मिचिओ नदी के तीर पडाव डाले अत्तिला से प्रार्थना की। कुछ पोप के अनुनय से, कुछ हूणो के बीच प्लेग फूट पडने से अत्तिला ने इटली छोड देना स्वीकार किया। इटली से लौटकर उसने बर्गंडी की राजकुमारी इल्दिको को ब्याहा पर अपनी सुहागरात को ही वह रक्तचाप से मस्तिष्क की नली फट जाने के कारण पानोनिया मे मर गया।

अत्तिला ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य की रीढ तोड दी। उसके और हूणो के नाम से यूरोपीय जनता थरथर कापने लगी। हगरी मे बसकर तो उन्होंने उस देश को अपना नाम दिया ही, उनका शासन नार्वे और स्वीडेन तक चला। चीन के उत्तरपूर्वी प्रात कासू मे उनका निकास हुआ था और वहाँ से यूरोप तक हूणो ने अपना खूनी आधिपत्य कायम किया। उन्हो की धाराओ पर धाराओ ने दक्षिण बहकर भारत के गुप्त साम्राज्य की भी कमर तोड दी।

स० ग्र०—ब्रिओन, एम० अत्तिला, दि स्कोर्ज ऑव गॉड, न्यूयार्क, १९२९, टाम्सन, ई० ए० हिस्ट्री ऑव अत्तिला ऐंड द हूस, न्यूयार्क, १९४८। (भ० श० उ०)

अत्तुर तमिलनाडु राज्य के सलेम जिले का एक ताल्लुका तथा नगर है। नगर ११° ३५' उ० अ० तथा ७८° ३७' पू० दे० रेखाओ पर वसिष्ठ नदी के किनारे स्थित है। नगर के उत्तर प्राचीन दुर्ग है जहाँ पर ब्रिटिश सेनाएँ रखी गई थी। सन् १७६८ ई० मे अग्रेजो का इसपर पूरा अधिकार हो गया था। यहाँ पर पहले नील तैयार की जाती थी। यह नगर यहाँ के बने हुए छकडो (बैलगाडियो) के लिये भी प्रसिद्ध है। (न० ला०)

अत्रि दस प्रजापतियो एव सप्तर्षियो मे गिने गए है। वे वैदिक मत्रो के भी रचयिता थे। उनकी बनाई हुई अत्रिसहिता प्रसिद्ध है। उत्तर वैदिक काल मे राम के समय मे एक अत्रि का उल्लेख हुआ है जो अनसूया के पति थे और जिन्होने चित्रकूट के दक्षिण म आश्रम बना रखा था। पुराणों के अनुसार अत्रि सोम (चद्रमा), दत्तात्रेय और दुर्वासा के पिता थे। (च० म०)

अथर्वन् निरुक्त (११।२।१७) के अनुसार 'अथर्वन्' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है चित्तवृत्ति के निरोधरूप समाधि से सपन्न व्यक्ति (थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध)। ऋग्वेद मे अथर्वन् शब्द का प्रयोग अनेक मत्रो मे उपलब्ध होता है। भृगु तथा अगिरा के साथ अथर्वन् वैदिक आर्यों के प्राचीन पूर्वपुरुषो की सज्ञा है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तो (१।८३।५, ६।१५।१७, १०।२१।५) मे कहा गया है कि अथर्वन् लोगो ने अग्नि का मथन कर सर्वप्रथम यज्ञमार्ग का प्रवर्तन किया। इस प्रकार अथर्वन् ऋत्विज् शब्द का ही पर्यायवाची है। अवेस्ता मे भी अथर्वन् 'अथ्रवन्' के रूप मे व्यवहृत होकर यज्ञकर्ता ऋत्विज् का ही अर्थ व्यक्त करता है और इस प्रकार यह शब्द भारत-पारसीक-धर्म का एक द्युतिमान् प्रतीक है। अगिरस् ऋषियो के द्वारा दृष्ट मत्रो के साथ समुच्चित होकर अथर्वदृष्ट मत्रो का महनीय समुदाय 'अथर्वसहिता' मे उपलब्ध होता है। अथर्वण मत्रो की प्रमुखता के कारण यह चतुर्थ वेद 'अथर्ववेद' के नाम से प्रख्यात है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार अथर्वन् उन मत्रो के लिये प्रयुक्त होता है जो सुख उत्पन्न करनेवाले शोभन यातु (जादू टोना) के उत्पादक होते है। और इसके विपरीत 'आगिरस' से उन अभिचार मत्रो की ओर सकेत है जिनका प्रयोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अशोभन कृत्यो की सिद्धि के लिये किया जाता है। परतु इस प्रकार का स्पष्ट पार्थक्य 'अथर्ववेद' की अतरग परीक्षा से नही सिद्ध होता। (ब० उ०)

अथर्ववेद अथर्ववेद चारो वेदो मे से अतिम है। इस वेद का प्राचीनतम नाम 'अथर्वांगिरस' है जो स्वय अथर्ववेद के पाठ मे प्राप्य है और जो हस्तलिपियो के आरभ मे भी लिखा मिला है। इस शब्द मे अथर्वन् और अंगिरस् दो प्राचीन ऋषिकुलो के नाम समाविष्ट है। इससे कुछ पडितो का मत है कि इनमे से पहला शब्द अथर्वन् पवित्र दैवी मत्रो से सबध रखता है और दूसरा टोना टोटका आदि मोहन मत्रो से। बहुत दिनो तक वेदो के संबंध में केवल 'त्रयी' शब्द का उपयोग होता रहा और चारो

संस्कृति अपना ली गई है, परतु अन्य संस्कृतियों के स्वीकरण के बाद भी उनकी अपनी भाषा के स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। अथाबस्कन परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले इंडियन समूहों में भाषा के अतिरिक्त संस्कृति के अन्य पक्षों में बडा अंतर है।

सं० ग्रं०—मेंडलबाम, डेविड जी० (संपादक) सेलेक्टेड राइटिंग्ज ऑव एडवर्ड सेपिर इन लैंग्वेज, कल्चर ऐंड पर्सनालिटी, बर्कले, युनिवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया प्रेस, १९४९, पृष्ठ १६९-१७८। [श्या० दु०]

अथीना (अथवा अथाना, अथेने या अथेना)—यह अत्तिका प्रदेश एवं बियोनिया प्रदेश में स्थित एथेंस नामक नगरों की अधिष्ठात्री देवी थी। इसकी माता मेतिस् (सं० मति) ज्यूस् की प्रथम पत्नी थी। मेतिस् के गर्भवती होने पर ज्यूस् को यह भय हुआ कि मेतिस् का पुत्र मुझसे अधिक बलवान् होगा और मुझे मेरे पद से च्युत कर देगा, अतएव वह अपनी गर्भवती पत्नी को निगल गया। इसके उपरांत प्रामेथियस ने कुल्हाडी से उसकी खोपडी को चीर डाला और उसमें से अथीना पूर्ण या शस्त्रास्त्र और कवच से सुसज्जित सुपुष्ट अंगांगों सहित निकल पडी। अथीना और पोसेइदॉन में अत्तिका प्रदेश की सत्ता प्राप्त करने के लिये द्वंद्व छिड गया। देवताओं ने यह निर्णय किया कि उन दोनों में से जनता के लिये जो भी अधिक उपयोगी वस्तु प्रदान करेगा उसको ही इस प्रदेश की सत्ता मिलेगी। पोसेइदॉन् ने अपने त्रिशूल से पृथ्वी पर प्रहार किया और पृथ्वी से घोडे की उत्पत्ति हुई। दूसरे लोगों का यह कहना है कि भूविवर से खारे जल का स्रोत फूट निकला। अथीना ने जैतून के पेड को उत्पन्न किया जिसको देवताओं ने अधिक मूल्यवान् आँका। तभी से एथेंस् में अथीना की पूजा चल पडी। इसका नाम पल्लास् अथीने और अथाना पार्थेनॉस् (कुमारी) भी है। एक बार हिफाइस्तस् ने इसके साथ बलात्कार करना चाहा, पर उसको निराश होना पडा। उसके स्खलित हुए वीर्य से एरैक्थियस् का जन्म हुआ और उसको अथीना ने पाला।

अथीना को आधुनिक आलोचक प्राक्-हेलेनिक देवी मानते हैं, जिसका संबंध क्रीत और मिकीनी की पुरानी सभ्यता से था। एथेंस में उसका मंदिर अक्रोपालिस् में था। अन्य स्थानों पर भी उसके मंदिर और मूर्तियाँ थीं। यद्यपि अथीना को युद्ध की देवी माना जाता है एवं उसके शिरस्त्राण, कवच, ढाल और भाले इत्यादि को भी देखकर यही धारणा पुष्ट होती है, तथापि वह युद्ध में भी क्रूरता नहीं प्रदर्शित करती। इसके अतिरिक्त वह सुमति और सद्बुद्धि की भी देवी है। ग्रीक लोग उसको अनेक कला कौशल की भी अधिष्ठात्री मानते थे। अथीना के संबंध में अनेक उत्सव भी मनाए जाते थे। इनमें से पानाथिनाइया सबसे महान् उत्सव होता था, जो देवी का जन्ममहोत्सव था। यह जुलाई अगस्त मास में हुआ करता था। प्रत्येक चौथे वर्ष यह उत्सव अत्यधिक ठाठ बाट के साथ मनाया जाता था। अथीना स्वयं कुमारी थी और उसकी पूजा तथा उत्सवों में कुमारियों का महत्वपूर्ण भाग रहता था। उसके वस्त्र भी कुमारियाँ ही बुना करती थीं। ई० पू० ४३८ में एथेंस के श्रेष्ठ मूर्तिकार फिदियास् ने अथीना की एक विशाल मूर्ति बनाई। यह मूर्ति स्वर्ण और हाथीदाँत की थी और ४० फुट ऊँची थी। यह मूर्ति मूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन थी। इसी मूर्तिकार ने अथीना की एक कांस्यमूर्ति भी बनाई जो ३० फुट ऊँची थी।

सं० ग्रं०—फार्नेल : कल्ट्स ऑव दि ग्रीक स्टेट्स, १९२१, एडिथ हैमिल्टन : माइथॉलॉजी, १९५४, रॉबर्ट ग्रेव्ज : द ग्रीक मिथ्स, १९५५। (भो० ना० श०)

अदन यमन गणराज्य का एक बंदरगाह है (स्थिति १२° ४५' उ० अ०, ४५° ४' पू० दे०), जो बाबुलमंदेब जलप्रणाली से १०० मील पूर्व एक शांत ज्वालामुखी के मुखद्वार पर बसा हुआ है। यह करमुक्त बंदरगाह (फ्री पोर्ट) है। जलवायु गरम (औसत वार्षिक ताप १००° फा०) तथा औसत वर्षा दो इंच मात्र है। यहाँ पर दो बंदरगाह हैं—एक बाह्य, जो नगर की ओर सर्वोत्तम और विस्तृत क्षेत्र में सुरक्षित है तथा दूसरा आंतरिक, जो 'अदन बैक बे' या अरबों द्वारा 'बंदर तवाहह' कहलाता है। १८६९ में स्वेज नहर के बन जाने से यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र बन गया है। यह जहाजों के कोयला तथा तेल लेने के लिये ठहरने का प्रमुख स्थान भी है। अदन सिगरेट तथा नमक उत्पन्न करता है। जनसंख्या एक लाख (विशेष द्र० 'यमन गणराज्य') है। (न० ला०)

यहूदी, ईसाई और मुसलमान मत के अनुसार अदन स्वर्ग का वह उपवन है जहाँ ईश्वर ने आदम को बनाकर रखा था। (कै० च० श०)

अदरक जिंजीबरेसी कुल का पौधा है। इस कुल में लगभग ४७ जेनरा और १,१५० जातियाँ (स्पीशीज) पाई जाती हैं। इसका पौधा अधिकतर उष्णकटिबंध (ट्रॉपिकल्स) और शीतोष्ण कटिबंध (सबट्रापिकल) भागों में पाया जाता है। अदरक इन्डोमलाया, चीन, जापान, मसकराइन और प्रशांत महासागर के द्वीपों में भी मिलता है। इसका पौधा शाकीय बर्षानुवर्षी होता है। इसके पौधे में सिमपोडियल राइजोम पाया जाता है। इसमें गाँठ होती है।

इसका पुष्प एक युग्मसमित या असमित इपिगाइनस होता है। यह ओषधियों में प्रयुक्त होता है। इसका भूमिगत तना खाने के काम आता है। इसकी प्रकृति गरम होती है अतः खाँसी, जुकाम जैसे रोगों में इसे चाय में डालकर प्रयोग किया जाता है। अदरक को सुखाकर सोंठ बनती है। यह पेट की बीमारियों को भी दूर करता है। अदरक से जिंजर बनाया जाता है इसलिये इसको जिंजर भी कहते हैं। सरदर्द में भी यह लाभकर सिद्ध होता है। इसे पीसकर मस्तक पर लगाने से सरदर्द लगभग ठीक हो जाता है। इसके राइजोम पर सड़न (फंजाइ) की बीमारी पाई जाती है जिसे ड्राइ रॉट कहते हैं। (रा० रा० गु०)

अदह (ऐस्बेस्टस) कई प्रकार के खनिज सिलीकेटों के समूह को, जो रेशेदार तथा अदह्य होते हैं, कहते हैं। इसके रेशे चमकदार होते हैं। इकट्ठा रहने पर उनका रंग सफेद, हरा, भूरा या नीला दिखाई पडता है, परंतु प्रत्येक अलग रेशे का रंग चमकीला सफेद ही होता है। इस पदार्थ में अनेक गुण हैं, जैसे रेशेदार बनावट, आतनन बल, कडापन, विद्युत् के प्रति असीम रोधशक्ति, अम्ल में न घुलना और अदह्यता। इन गुणों के कारण यह बहुत से उद्योगों में काम आता है।

रासायनिक गुण तथा प्राप्तिस्थान—अदह को साधारण रूप से निम्नलिखित दो जातियों में बाँटा जा सकता है :

(१) रेशेदार सर्पेंटाइन या क्राइसोटाइल,

(२) ऐंफीबोल समूह के रेशेदार खनिज पदार्थ, जैसे क्रासिडोलाइट, ट्रेमोलाइट, ऐक्टीनोलाइट तथा ऐंथोफिलाइट आदि।

अदह की सबसे अधिक उपयोग होनेवाली जाति क्राइसोटाइल है। यह पदार्थ सर्पेंटाइन की शिलाओं की पतली धमनियों में पाया जाता है और रासायनिक दृष्टि से साधारण मैगनीशियम सिलिकेट होता है। इन धमनियों में सफेद या हरे रंग का सघन रेशमी रेशा पाया जाता है। इस प्रकार के अदह का ७० प्रतिशत भाग कैनाडा की क्विबेक खदानों से निकाला जाता है। क्राइसोटाइल-युक्त चट्टान में क्राइसोटाइल-अदह की मात्रा भारानुसार ५ से १० प्रतिशत होती है। इस मल के रेशे बहुत अच्छे, मजबूत, लचीले और आतनन बलवाले होते हैं। इनको धागों में सूत की तरह कपडे के रूप में बुना जा सकता है। ऐंफीबोल समूह की अपेक्षा इनकी (क्रासिडोलाइट को छोडकर) ऊष्मारोधी शक्ति कम होती है तथा अम्ल में घुलनशीलता अधिक। भारतवर्ष में उपर्युक्त दोनों अदह हिमाचल प्रदेश (शिमला के पास शाली की पहाडियों में), मध्य प्रदेश (नरसिंहपुर), आंध्र प्रदेश (कडप्पा तथा कर्नूल) और मैसूर (शिमोगा) में पाए जाते हैं।

रेशों को खदान में से खोदकर और अदहयुक्त पत्थर को मशीन ड्रिलों के द्वारा निकाला जाता है, तत्पश्चात् यांत्रिक विधियों से रेशों को अलग कर लिया जाता है। इसके लिए पत्थर को पहले तोडा तथा सुखाया जाता है, फिर क्रमानुसार घूमनेवाली चक्कियों (क्रशर), बेलनों (रोलर्स), कुट्टकों (फाइब्राइजर) पर तथा अपवाती कक्षों (सेटलिंग चेंबर्स) में पहुँचाया जाता है और अंत में रेशों को इकट्ठा कर लिया जाता है।

ऐंफीबोल अदह—इस प्रकार का अदह रेशों के पुंज के रूप में पाया जाता है, परंतु रेशे बहुधा अनियमित क्रम के होते हैं।

इन धमनियों की लंबाई कभी कभी कई फुट तक होती है। इस प्रकार के अदह निम्नलिखित उपजातियों के पाए जाते हैं

(१) ऐंथोफिलाइट—जो लोहे और मैगनीशियम का सिलिकेट होता है। इसमें आतनन बल कम होता है, परंतु यह क्राइसोटाइल की अपेक्षा अम्ल में कम घुलता है और इसकी उष्मारोधक शक्ति अधिक होती है। यह बहुत भंजनशील होता है और इसलिये इसको कातना बहुत कठिन होता है।

(२) क्रोसीडोलाइट—जो लोहे और सोडियम का सिलीकेट है। यह हल्के नीले रंग का और रेशम की तरह चमकीला होता है। इसमें आतनन बल पर्याप्त होता है।

(३) ट्रेमोलाइट—जो कैलसियम मैगनीशियम सिलीकेट होता है।

(४) एक्टिनोलाइट—जो मैगनीशियम, कैलसियम और लोहे का मिला हुआ सिलीकेट है।

पिछली दोनों उपजातियों के अदह का रंग सफेद से हल्का हरा तक होता है। रंग का गाढ़ापन लोहे की मात्रा के ऊपर निर्भर है। इनके रेशों में अधिक लोच नहीं होती, अत ये बुनने के काम में नहीं आ सकते। ये कठिनता से पिघलते और अम्ल में बहुत कम घुलते हैं। इनको अम्ल छानने और विद्युत् उपकरण बनाने के काम में लाया जाता है।

भारतवर्ष में अदह की ऐक्टिनोलाइट तथा ट्रेमोलाइट उपजातियाँ ही बहुतायत से पाई जाती हैं। इनके मिलने की जगहें निम्नलिखित हैं

उत्तर प्रदेश (कुमाऊँ तथा गढ़वाल), मध्य प्रदेश (सागर तथा भंडारा), बिहार (मुंगेर, बरवाना तथा भानपुर), उड़ीसा (मयूरभंज, सरायकेला), मद्रास (नीलगिरि तथा कोयंबटूर) और मैसूर (बंगलोर, मैसूर तथा हसान)।

खान से निकालना—अदह की खानें मिट्टी की सतह के नीचे मिलती हैं। ५०० से ६०० फुट नीचे तक पाए जानेवाले अदह को खुली खदान विधि से निकाला जाता है। इससे और अधिक गहराई में पाए जानेवाले अदह के निकालने में वे ही विधियाँ प्रयुक्त होती हैं जो अन्य धातुओं के लिये अपनाई जाती हैं। भारतवर्ष में अदह हाथ-बरमों से छेदकर और विस्फोटक पदार्थ तथा हथौड़ों द्वारा फोड़कर निकाले जाते हैं, परंतु दूसरे देशों, जैसे दक्षिणी अमरीका और संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) में, वायुचालित बरमों का प्रयोग किया जाता है। अदह को छेदते समय जल का प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि पानी के साथ मिलने पर स्पंजी (बहुछिद्रमय) मिश्रण बन जाता है, जिसमें से इसको अलग निकालना कठिन हो जाता है। कच्चे अदह को छानने के पश्चात् हथौड़ा से खूब पीटा जाता है। इससे अदह के रेशों में लगे हुए पत्थर के टुकड़े तथा अन्य वस्तुएँ दूर हो जाती हैं। इसके बाद इसे कुचलनेवाली चक्की में डाला जाता है। बाद में रेशों को हवा के झोंके से अलग कर लिया जाता है। अंत में हिलते हुए छनने पर डालकर उनके द्वारा शोषक पंपों से हवा चूसकर धूलि पूर्णतया खींच ली जाती है। इसके उपरांत अदह का मूल्यांकन होता है। अदह के निम्नलिखित चार मेल बाजार में भेजे जाते हैं

(१) एकहरा माल (शिंगिल स्टाक)
(२) महीन माल (पेपर स्टॉक)
(३) सीमेंट में मिलाने योग्य (सीमेंट स्टाक)
(४) चूरा (शॉर्ट्स)

अदह का मूल्यांकन इसको जलाने के बाद बची हुई राख के आधार पर किया जाता है।

अदह की उपजाति	**जलने के बाद बची हुई राख, प्रतिशत**
क्रासिडोलाइट	३ ८
ट्रेमोलाइट	२ ३
ऐंथोफिलाइट	२ २३
ऐक्टिनोलाइट	१ ९९
क्राइसोटाइल	१८५

क्षेत्र परीक्षण—यदि अच्छे अदह को उँगलियों के बीच रगड़ा जाय तो उसमें रेशमी डोर जैसा वस्तु बन जाती है जो खींचने पर शीघ्र टूटती नहीं। घटिया में तो अदह के छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं, वह कठोर भी होता है।

अच्छे अदह के पतले पुंज को यदि अँगूठे के नख से धीरे धीरे खींचा जाय तो लचीले तथा अच्छे आतननवाले रेशे मिलते हैं अथवा वे महीन रेशों में विभाजित हो जाते हैं, परंतु निम्न कोटि के अदह के रेशे बिलकुल टूट जाते हैं। उत्तम कोटि के अदह के रेशों को मसलने से कोमल गोलियाँ बनाई जा सकती हैं, परंतु घटिया अदह के रेशे टूट जाते हैं।

अदह के उपयोग—अदह को सभी प्रकार के विद्युतरोधक अथवा उष्मारोधक (इंस्युलेटर) बनाने के काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें अम्ल छानने, रासायनिक उद्योग तथा रंग बनाने के कारखानों में इस्तेमाल किया जाता है। लंबे रेशों को बुन या बटकर कपड़ा तथा रस्सी आदि बनाई जाती है। इनसे अग्निरक्षक परदे, वस्त्र और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

भारत में अदह का मुख्य उपयोग अदहयुक्त सीमेंट तथा तत्संबंधी वस्तुएँ, जैसे स्लेट, टाइल, पाइप और चादरें बनाने में किया जाता है। १९५२ तथा १९५३ में भारत में अदह का उत्पादन क्रमानुसार ८६५ तथा ७१८ टन था। इस अदह को केवल अवरोधक उपकरण बनाने के काम में ही लाया जा सका, क्योंकि यह भंजनशील तथा दुर्बल था। भारत को अन्य वस्तुएँ बनाने के लिये अदह का आयात करना पड़ता है। १९५५, १९५६ तथा १९५७ में क्रमानुसार १३,००० टन, १५,१६० टन और १३,६२२ टन अदह बाहर से आया था। भारत को इसके लिये प्रति वर्ष लगभग दो करोड़ रुपया देना पड़ता है। (ज० बि० ला०)

अदाद बाबुली-असूरी-देवपरिवार का तूफान का देवता रमान। 'रमान' नाम इस देवता का बाबुल में प्रचलित था और 'अदाद' असूरिया में। अनुकूल रहने पर वह जल बरसाकर भूमि उर्वर करता है पर साथ ही क्रुद्ध होने पर वह तूफान चलाकर विध्वंस भी करता है। मूर्तियों में उसके हाथ में वज्र या बिजली होती है। अदाद का उल्लेख अभिलेखों में प्राय सूर्यदेवता शमाश के साथ ही हुआ है। अदाद की पत्नी का नाम शाला है। (भ० श० उ०)

अदालत अरबी भाषा का शब्द जिसका समानार्थवाची हिंदी शब्द 'न्यायालय' है। सामान्यतया अदालत का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर न्याय-प्रशासन-कार्य होता है, परंतु बहुधा इसका प्रयोग न्यायाधीश के अर्थ में भी होता है। बोलचाल की भाषा में अदालत या कचहरी भी कहते हैं।

भारतीय न्यायालयों की वर्तमान प्रणाली किसी विशेष प्राचीन परंपरा से संबद्ध नहीं है। मुगल काल में दो प्रमुख न्यायालयों का उल्लेख मिलता है 'सदर दीवानी अदालत' तथा 'सदर निजाम-ए-अदालत', जहाँ क्रमश व्यवहारवाद तथा आपराधिक मामलों की सुनवाई होती थी। सन् १८५७ ई० के असफल स्वातंत्र्ययुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी न्याय-प्रशासन-प्रणाली के आधार पर विभिन्न न्यायालयों की सृष्टि हुई। इंग्लैंड में स्थित 'प्रिवी काउंसिल' भारत की सर्वोच्च न्यायालय थी। सन् १९४७ ई० में देश स्वतंत्र हुआ और तत्पश्चात् भारतीय संविधान के अंतर्गत संपूर्ण-प्रभुत्व-संपन्न गणराज्य की स्थापना हुई। उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) देश का सर्वोच्च न्यायालय बना।

न्यायालयों को उनके भेदानुसार विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है, जैसे उच्च तथा निम्न न्यायालय, अभिलेख न्यायालय तथा वे जो अभिलेख न्यायालय नहीं हैं, व्यावहारिक, राजस्व तथा दंड न्यायालय, प्रथम न्यायालय तथा अपील न्यायालय और सैनिक तथा असैनिक न्यायालय।

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च अभिलेख न्यायालय है। प्रत्येक राज्य में एक अभिलेख उच्च न्यायालय है। राज्य के समस्त न्यायालय उसके अधीन हैं। राजस्व परिषद् (बोर्ड ऑव रेवेन्यू) राजस्व संबंधी मामलों का प्रादेशिक सर्वोच्च अभिलेख न्यायालय है। कतिपय मामलों को छोड़कर उपर्युक्त न्यायालयों को अपील संबंधी क्षेत्राधिकार है।

जिले में प्रधान न्यायालय जिला न्यायाधीश का है। अन्य न्यायालय कार्यक्षेत्रानुसार इस प्रकार हैं (१) व्यावहारिक न्यायालय, जैसे सिविल जज तथा मुंसिफ के न्यायालय और लघुवाद न्यायालय (कोर्ट ऑव स्माल काजेज), (२) दंड न्यायालय, जैसे जिला दंडाधिकारी (डिस्ट्रिक्ट मैजि-

स्टेट), अन्य दंडाधिकारियों के न्यायालय तथा सत्रन्यायालय (कोर्ट ऑव सेशंस), (३) राजस्वन्यायालय, जैसे जिलाधीश (कलक्टर) तथा आयुक्त (कमिश्नर) के न्यायालय।

पंचायती अदालतें—ये सीमित क्षेत्राधिकारवाले ग्रामन्यायालय हैं। (श्री० अ०)

अदिति ऋग्वेद की मातृदेवी, जिसकी स्तुति में उस वेद में बीसों मंत्र कहे गए हैं। यह मित्रावरुण, अर्यमन्, रुद्रों, आदित्यों, इंद्र आदि की माता है। इंद्र और आदित्यों को शक्ति अदिति से ही प्राप्त होती है। उसके मातृत्व की ओर संकेत अथर्ववेद (७, ६, २) और वाजसनेयिसंहिता (२१, ५) में भी हुआ है। इस प्रकार उसका स्वाभाविक स्वत्व शिशुओं पर है और ऋग्वैदिक ऋषि अपने देवताओं सहित बार बार उसकी शरण जाता है एवं कठिनाइयों में उससे रक्षा की अपेक्षा करता है (ऋ० १०, १००, १, ६८, १५)।

अदिति अपने शाब्दिक अर्थ में बंधनहीनता और स्वतंत्रता की द्योतक है। 'दिति' का अर्थ 'बँधकर' और 'दा' का 'बाँधना' होता है। इसी से पाप के बंधन से रहित होना भी अदिति के संपर्क में ही संभव माना गया है। ऋग्वेद (१, १६२, २२) में उससे पापों से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है। कुछ अर्थों में उसे 'गो' का भी पर्याय माना गया है। ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध मंत्र (८, १०१, १५)—"मा गा अनागा अदितिं वधिष्ट"—गाय रूपी अदिति को न मारो!—जिसमें गोहत्या का निषेध माना जाता है—इसी अदिति से संबंध रखता है। इसी मातृदेवी की उपासना के लिये किसी न किसी रूप में बनाई मृण्मूर्तियाँ प्राचीन काल में सिंधुनद से भूमध्यसागर तक बनी थीं। (भ० श० उ०)

अदीस अबाबा (ऐडिस अबाबा) समुद्रतल से ८,००० फुट की ऊँचाई पर (९° १' उत्तर अ०, ३८° ५६' पूर्व दे०) स्थित इथिओपिया की राजधानी है। यहाँ पर अधिकतम तथा न्यूनतम ताप का औसत अंतर ७३° फा० तथा औसत वार्षिक वर्षा ५० इंच है। यह रेल (लंबाई ४८६.५ मील) द्वारा जीबूती से संबद्ध है। यहाँ की अनुमानित जनसंख्या ६,४४,२०० (१९६७ ई०) है।

इसकी मुख्य दूकानें, कार्यालय तथा कारखाने नगर के मध्य में स्थित हैं। यहाँ का राजप्रासाद 'गेबी' नाम से प्रसिद्ध है। इस नगर की स्थापना मेनेलिक द्वितीय द्वारा १८८७ में अबिसीनिया की नई राजधानी के रूप में हुई, जिसका अदीस अबाबा (अर्थ 'नया फूल') नामकरण उसकी पत्नी ने किया। इटली देश के अधिकारकाल (१९३६-४१) में यहाँ पर अनेक मोटर मार्ग बनाए गए।

अनेक शैक्षणिक विद्यालयों, औद्योगिक, व्यावसायिक शिल्प संस्थाओं, इंजीनियरिंग एवं सैनिक कालेजों के अतिरिक्त यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है जिसकी स्थापना १९५० ई० में हुई थी।

यहाँ पर आटा, रुई, बर्फ तथा मशीनें तैयार करने के कारखाने हैं। (न० ला०)

अदोनी आंध्र प्रदेश के कर्नूल जिले का एक ताल्लुका तथा नगर है। नगर १५° ३८' उ० अक्षांश तथा ७७° १७' पूर्वी देशांतर पर, मद्रास से ३०७ मील दूर बैंगलोर से सिकंदराबाद जानेवाले राजमार्ग पर स्थित है तथा गुटकल जंक्शन से रेलमार्ग द्वारा संबद्ध है। यहाँ पर १४वीं शताब्दी के विजयनगर नरेशों का एक प्रसिद्ध दुर्ग चट्टानी पहाड़ों के ऊपर स्थित है। १५६८ ई० में बीजापुर के सुल्तान ने इसको अपने अधीन कर लिया। तब से यह मुसलमानों के आधिपत्य में रहा तथा सन् १८०० ई० में अंग्रेजों के अधिकार में चला गया। इस प्रसिद्ध दुर्ग के अवशेष पाँच पहाड़ियों पर स्थित हैं तथा पर्याप्त क्षेत्रफल घेरे हुए हैं। इन पाँच में से दो पहाड़ियों के नाम क्रमश: बारांखिला तथा तालीबंदा हैं। बारांखिला के शिखर पर प्राचीन शस्त्रों के रखने का स्थान तथा एक अद्भुत शिलातोप है। इस दुर्ग के नीचे अदोनी नगर बसा हुआ है। यह एक औद्योगिक केंद्र है। कपास व्यापार, रुई से सूत तैयार करने के एवं रेशम बुनाई के कारखानों का यहाँ आधिक्य है। रंग और टिकाऊपन की दृष्टि से यहाँ के सूती कालीन प्रसिद्ध हैं। १८६७ ई० में यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई। (न० ला०)

अदृष्ट नैयायिकों के अनुसार कर्मों द्वारा उत्पन्न फल दो प्रकार का होता है। अच्छे कार्यों के करने से एक प्रकार की शोभन योग्यता उत्पन्न होती है जिसे 'पुण्य' कहते हैं। बुरे कामों के करने से एक प्रकार की अशोभन योग्यता उत्पन्न होती है जिसे 'पाप' कहते हैं। पुण्य और पाप को ही 'अदृष्ट' कहते हैं, क्योंकि यह इंद्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता। इसी अदृष्ट के माध्यम से कर्मफल का उदय होता है। जड़ अदृष्ट का प्रेरक होने से न्यायमत में ईश्वर की सिद्धि मानी जाती है। [ब० उ०]

अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने 'संदेश रासक' नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की है। इनकी जन्मतिथि का अभी तक अंतिम रूप से निर्णय नहीं हो सका है। किंतु संदेश रासक के अंत:साक्ष्य के आधार पर मुनि जिनविजय ने कवि अब्दुल रहमान को अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है और इनका जन्म १२वीं शताब्दी में माना है।

साहित्य के एक अन्य इतिहासलेखक केशवराम काशीराम शास्त्री (कविचरित, भाग १, पृ० १६-१७) के अनुसार अब्दुल रहमान का जन्म १५वीं शताब्दी में हुआ। पर शास्त्री जी ने अपने मत की पुष्टि में कोई साक्ष्य नहीं दिया है। संदेश रासक के छंद संख्या तीन और चार के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारत के पश्चिम भाग में स्थित म्लेच्छ देश के अंतर्गत मीरहुसेन के पुत्र के रूप में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जो प्राकृत काव्य में निपुण था। केशवराम काशीराम शास्त्री का अनुमान है कि पश्चिम में भरुच के पास चैमूर नगर था जहाँ मुसलमानों का राज्य स्थापित होने पर अब्दुल रहमान के पूर्वज ने किसी हिंदू बालिका से विवाह कर लिया और उसी वंश में अब्दुल रहमान उत्पन्न हुआ जिसने प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन किया और अपने ग्रंथ की रचना ग्राम्य अपभ्रंश में की।

अब्दुल रहमान की केवल एक ही कृति है—संदेश रासक, और इसकी हस्तलिखित प्रति पाटण के जैन भांडार में मिली है। अत: समझा जाता है कि कवि, किन्हीं कारणों से, पाटण में आ बसा होगा और हिंदुओं तथा जैनों के संपर्क में रहने के कारण उसने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश सीख ली होगी। इससे अधिक अब्दुल रहमान के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। (कै० च० श०)

अद्भुत रामायण संस्कृत भाषा में रचित २७ सर्गों का काव्यविशेष। कहा जाता है, इस ग्रंथ के प्रणेता वाल्मीकि थे। किंतु इसकी भाषा और रचना से लगता है, किसी बहुत परवर्ती कवि ने इसका प्रणयन किया है। कथानक इसका सचमुच अद्भुत है। राज्याभिषेक होने के उपरांत मुनिगण राम के शौर्य की प्रशस्ति गाने लगे तो सीता जी मुस्कुरा उठीं। हँसने का कारण पूछने पर उन्होंने राम को बताया कि आपने केवल दशानन का वध किया है, लेकिन उसी का भाई सहस्रानन अभी जीवित है। उसके पराभव के बाद ही आपकी शौर्यगाथा का औचित्य सिद्ध हो सकेगा। राम ने, इसपर, चतुरंग सेना सजाई और विभीषण, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदि के साथ समुद्र पार करके सहस्रस्कंध पर चढ़ाई की। सीता भी साथ थीं। परन्तु युद्धस्थल में सहस्रानन ने मात्र एक बाण से राम की समस्त सेना एवं वीरों को अयोध्या में फेंक दिया। रणभूमि में केवल राम और सीता रह गए। राम अचेत थे, सीता ने असिता अर्थात् काली का रूप धारण कर सहस्रमुख का वध किया।

हिंदी में भी इस कथानक को लेकर कई काव्यग्रंथों की रचना हुई है जिनका नाम या तो 'अद्भुत रामायण' है या 'जानकीविजय'। १७७३ ई० में पं० शिवप्रसाद ने, १७८६ ई० में राम जी भट्ट ने, १८वीं शताब्दी में बेनीराम ने, १८०० ई० में भवानीलाल ने तथा १८३४ ई० में नवलसिंह ने अलग अलग अद्भुत रामायण की रचना की। १७५६ ई० में प्रसिद्ध कवि और १८३४ ई० में बलदेवदास ने जानकीविजय नाम से इस कथानक को अपनी अपनी रचना का आधार बनाया। (कै० च० श०)

अद्वय द्वित्व भाव से रहित। महायान बौद्ध दर्शन में भाव और अभाव की दृष्टि से परे ज्ञान को 'अद्वय' कहते हैं। इसमे अभेद का स्थान नही होता। इसके विपरीत अद्वैत भेदरहित सत्ता का बोध कराता है। 'अद्वैत' में ज्ञान सत्ता की प्रधानता होती है और 'अद्वय' मे 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' ज्ञान की प्रधानता मानी जाती है। माध्यमिक दर्शन अद्वयवादी और शाकर वेदात तथा विज्ञानवाद अद्वैतवादी दर्शन माने जाते है।

सं०ग्रं०—भट्टाचार्य, विधुशेखर आगमशास्त्र, मूर्ति, टी० आर० वी० सेंट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म। (रा० पा०)

अद्वयवज्र तात्रिक बौद्ध सिद्ध, आचार्य और टीकाकार थे। इनके अन्य नाम है अवधूतिपा, मैत्रिपा। इनका पूर्वनाम दामोदर था। ये जन्म से ब्राह्मण थे। कुछ लोग इनको रामपाल प्रथम का समकालीन मानते है और कुछ लोग इनका समय १०वी शती का पूर्वार्ध मानते है। कुछ सूत्रों के अनुसार इन्हे पूर्वी बगाल का निवासी क्षत्रिय कहा गया है। विशेषकर इनका महत्व इसलिये है कि इन्होने तिब्बत मे बौद्ध धर्म का प्रचार एव प्रसार करनेवाले एव असख्य भारतीय बौद्ध ग्रथो के तिब्बती मे अनुवादक सिद्धाचार्य अतिश दीपकर श्रीज्ञान को दीक्षा दी, साधनाओ मे प्रवृत्त किया और विद्या प्रदान की। इनके शिष्यो मे बोधिभद्र (नालदा महाविहार के प्रधान) का विशेष स्थान है जिन्होने दीपकर श्रीज्ञान को आचार्य अद्वयवज्र के समक्ष राजगृह मे प्रस्तुत किया था। कहा जाता है, अद्वयवज्र भी भोट देश गए थे और बहुत से ग्रथो का भोटिया मे अनुवाद करने के बाद तीन सौ तोले सोने के साथ भारत लौटे थे। इनके गुरु के सबध मे कई व्यक्तियो के नाम लिए जाते है—शवरिपा, नागार्जुन, आचार्य हुकार अथवा बोधिज्ञान, विरूपा आदि। इन्होने शवरिपा से दीक्षा लेने के लिये तत्कालीन प्रसिद्ध तात्रिक पीठ श्रीपर्वत की यात्रा की और महामुद्रा की साधना की। दूसरे स्रोतो से इनकी छह वाराहियो की साधना की सूचना मिलती है। इनके शिष्यो मे दीपकर श्रीज्ञान का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अन्य शिष्य कहे जाते हैं—सौरिपा, कमरिपा, चैलुकपा, बोधिभद्र, सहजवज्र, दिवाकरचद्र, रामपाल, वज्रपाणि, मारिपा, ललितगुप्त अथवा ललितवज्र आदि। इनके समकालीन सिद्धो मे प्रमुख हैं—कालपा, शवर, नागार्जुन, राहुलगुप्त, शीलरक्षित, धर्मरक्षित, धर्मकीर्ति, शातिपा, नारोपा, डोबीपा आदि। तँजूर मे इनकी निम्नलिखित रचनाएँ तिब्बती मे अनूदित रूप मे मिलती है—अबोधबोधक, गुरुमैत्रीगीतिका, चतुर्मुखोपदेश, चित्तमात्रदृष्टि, दोहानिधितत्वोपदेश, वज्रगीतिका। इन्होने आदिसिद्ध सरह अथवा सरोरुहवज्रपाद के दोहाकोष की सस्कृत टीका भी लिखी है। इनकी सस्कृत रचनाओ का एक सग्रह 'अद्वयवज्रसग्रह' नाम से बडौदा से प्रकाशित है जिससे वज्रयान एव सहजयान के सिद्धात एव साधना पर अच्छा प्रकाश पडता है। विभिन्न स्रोतो से यह ज्ञात होता है कि इन्होने अपने प्रिय शिष्य दीपकर श्रीज्ञान को माध्यमिक दर्शन, तात्रिक साधना और विशेषकर डाकिनी साधना की शिक्षा दी थी। अधिकाश विद्वानो ने इनका समय १०वी ईस्वी शताब्दी का उत्तरार्ध और ११वी शताब्दी का पूर्वार्ध माना है। (ना० ना० उ०)

अद्वैतवाद (ऐब्सोल्यूटिज्म) दर्शन की वह धारा जिसमे एक तत्व का ही मूल माना जाता है। वेद तथा उपनिषदो मे एक पुरुष या एक ब्रह्म का सर्वप्रथम प्रतिपादन मिलता है। गीता तथा पुराणो मे इस सिद्धात का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र मे भी कुछ व्याख्याताओ के अनुसार अद्वैतवाद प्रतिपादित है। बौद्ध दर्शन का महायान प्रस्थान यद्यपि अद्वयवादी कहा जाता है, तथापि अद्वयवाद और अद्वैतवाद मे भेद नगण्य है। गौडपाद (७वी शताब्दी) अद्वैतवाद के सर्वप्रथम ज्ञातप्रतिपादक है, जिन्होने तार्किक दृष्टि से अद्वैतसिद्धात का प्रतिपादन किया। भर्तृहरि तथा मडन मिश्र ने भी गौडपाद का अनुसरण किया। अद्वैतवाद के इतिहास मे शकराचार्य का नाम सर्वोच्च माना जाता है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर आचार्य शकर ने अद्वैतवाद को अत्यत दृढ भूमिका प्रदान की। शकर के बाद वार्तिककार सुरेश्वर, भामतीकार वाचस्पति, पद्मपाद, अप्पय्य दीक्षित, श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती आदि ने शांकर अद्वैतवाद की अनेक कारिकाएँ प्रस्तुत की। केवल वैदिक परपरा मे ही नही, अवैदिक परपरा मे भी अद्वैतवाद का विकास हुआ। शैव और शाक्त तत्रो मे से अनेक तत्र अद्वैतवादी है। महायान दर्शन को आधार मानकर चलनेवाले सिद्ध योगी सरहपाद आदि अद्वैतवादी ही है।

पश्चिम मे अद्वैतवाद का आभास सर्वप्रथम सुकरात के दर्शन मे मिलता है। अफलातून (प्लेटो) के दर्शन मे अद्वैतवाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। मध्ययुगीन नव्य अफलातूनी दर्शन तथा ईसाई सता के विचारो से परिपुष्ट होता हुआ अद्वैतवाद इमानुएल काट के दर्शन के रूप मे विकसित होता है। काट ने ही अद्वैतदर्शन को वैज्ञानिक तर्क से पुष्ट किया और हीगेल ने काट द्वारा निर्मित भूमिका पर अद्वैतवाद का सुदृढ भवन खडा किया। हीगेल के बाद ब्रैडले, बोसाके, ग्रीन आदि ने अद्वैत को अनेक दृष्टियो से परखा। अब भी पश्चिम मे अद्वैतवादी विचारक विद्यमान है।

वर्तमान युग के भारतीय विचारको मे स्वामी विवेकानद, श्री अरविंद घोष प्रभृति चिंतको ने अद्वैतवाद का ही परिपोषण किया है।

यद्यपि देश काल के भेद से तथा मनोवैज्ञानिक कारणो से अद्वैतवाद के नाना रूप मिलते है, तथापि उनमे प्राय गौण विवरणो के सिवाय बाकी सारी बाते समान है। यहाँ विभिन्न अद्वैतवादो मे पाई जानेवाली समान विशेषताओ का ही उल्लेख सभव है।

अनुभव से हम नाना रूपात्मक जगत् का ज्ञान करते हैं। हमारा अनुभव सर्वदा सत्य नही होता। उसमे भ्रम की सभावना बनी रहती है। भ्रम सर्वदा दोष से उत्पन्न होता है। यह दोष ज्ञाता और ज्ञेय दोनो मे से किसी मे रह सकता है। ज्ञातागत दोष या अज्ञान विषय के वास्तविक ज्ञान का बाधक है। हमारे अनुभव का प्रसार दिक्काल की परिधि मे ही होता है। दिक्काल से परे वस्तु का ज्ञान सभव नही है। अत ज्ञाता वस्तु को दिक्कालसापेक्ष देखता है, वस्तु को अपने आपमे (थिग-इन-इटसेल्फ) वह नही देख पाता। इस दृष्टि से सारा ज्ञान अपूर्ण है। ज्ञेय वस्तु भी सर्वदा स्वतत्र रूप से नही रह सकती। एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आधारित है, अत वस्तु की निरपेक्ष सत्ता सभव नही। सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती है, अत वे अपनी सत्ता के लिये अपने कारणो पर निर्भर करती है और वे कारण अपने उत्पादको पर निर्भर है। इसलिये वस्तु का ज्ञान भी ज्ञेय की दृष्टि से अधूरा है।

सापेक्ष तत्व एक दूसरे के सहारे नही रह सकते। उनकी स्थिति के लिये एक निरपेक्ष आधार की आवश्यकता है। ज्ञाता की दृष्टि से यह आधार दिक्काल की परिधि से परे हो और ज्ञेय की दृष्टि से कारणातीत हो। यदि ऐसा कोई आधार सभव है तो उसे हम जान नही सकते, क्योकि हमारा ज्ञान दिक्काल तक ही सीमित है। साथ ही वह आधार कारणातीत है, वह स्वय वस्तु का कारण बनकर कार्यसापेक्ष नही हो सकता। अत उससे किसी कार्य की उत्पत्ति भी नही होगी। ऐसे निरपेक्ष तत्व अनेक नही हो सकते, क्योकि अनेकता भी एकसापेक्ष है, अत अनेकता मानने पर निरपेक्षता नष्ट हो जायगी।

यदि हम तर्क के द्वारा ऐसे तत्व की कल्पना तक पहुँचते है जो अज्ञेय और कारणातीत है तो उस तत्व का इस ससार से कोई सबध न होना चाहिए। किंतु कारणातीत होते हुए भी उस तत्व को ससार का मूल इसलिये माना गया है कि वही तो एक निरपेक्ष आधार है जिसपर सापेक्ष ससार की सृष्टि होती है। उस आधार के बिना ससार का अस्तित्व असभव है। ज्ञाता और ज्ञेय उस एक तत्व के ही सीमित से दिखलाई देनेवाले रूप है। इनमे यदि ससीमता हटा दी जाय तो ये परस्पर भेदरहित होकर एकाकार हो जायँगे। इनकी ससीमता ही इनके उत्पादन और विनाश का कारण है। सीमा का यह आवरण भी कोई सत्य आवरण नही है। यह 'अधो के हाथ' की तरह एकदेशीय और असत् है। इस सीमा मे आग्रह का विनाश होना ही तत्व के आवरण का नाश होना है।

आवरण का नाश सत्कर्मों के अनुष्ठान से, योग द्वारा चित्तशुद्धि से अथवा ज्ञानमात्र से होता है। इस दृष्टि से अनेक मार्ग प्रचलित होते हैं। इन मार्गों का उद्देश्य एक है और वह है वस्तु की ससीमता मे आग्रह का

विनाश। आग्रह के नाश के बाद वस्तु वस्तु के रूप में नहीं रहेगी और ज्ञाता ज्ञाता के रूप में नहीं होगा। सब एक तत्व होगा जिसमें ज्ञाता ज्ञेय, स्व पर का भेद किसी प्रकार संभव नहीं है। इस अभेद के कारण ही उस अवस्था को वाणी और मन से परे कहा गया है। 'नेति नेति' कहने से केवल ससीम वस्तुओं की ससीमता का अभावप्रख्यापन मात्र संभव है।

इस तत्व को सत्ता, ज्ञान या आनंद की दृष्टि से देखने के कारण सत्, चित् या आनंदात्मक ब्रह्म या शिव कहते हैं। सकल प्रपंच की आधारभूता शक्ति को दृष्टि से देखने पर यही शिवा या शक्ति नाम से अभिहित है। मन वाणी से परे होने के कारण शून्य, ज्ञान का चरम आधार होने के कारण विज्ञप्ति, वाक् और अर्थ का प्रतिष्ठापक होने के कारण स्फोट या शब्दतत्व, समग्र प्रपंच में अनुस्यूत होकर निवास करने के कारण पूर्ण (ऐब्सोल्यूट) इसी एक तत्व के दृष्टिभेद से अनेक नाम हैं। यह भी विडंबना ही है कि नाम-रूप-जाति से परे वर्तमान तत्व को भी नाम दिया जाता है। किंतु यह नाम भी शब्दव्यवहार का सहायक होने के कारण सापेक्ष अत मिथ्या है। अद्वैतवाद का चरम दर्शन मौन है।

सं० ग्रं०—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, नागार्जुन मूलमाध्यमिक कारिका, भर्तृहरि वाक्यपदीय, अभिनवगुप्त परमार्थसार, प्लेटो पारमेनाइडीज, कांट क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, हीगेल : कम्प्लीट वर्क्स ऑव हीगेल, ब्रैडले अपियरेंस ऐंड रियलिटी, डा० राधाकृष्णन् वेदांत ऑव शंकर ऐंड रामानुज, अरविंद लाइफ डिवाइन। (रा० पा०)

अध शैल पृथ्वी का अभ्यंतर पिघले हुए पाषाणों का आगार है। ताप एवं ऊर्जा का संकेद्रण कभी कभी इतना उग्र हो उठता है कि पिघला हुआ पदार्थ (मैग्मा) पृथ्वी की पपड़ी फाड़कर दरारों के मार्ग से बाहर निकल आता है। दरारों में जमे मैग्मा के इन शैलपिंडों को 'निवुत्र शैल' (इट्रूसिव) कहते हैं। उन विराट् पर्वताकार निवुत्र शैलों को, जिनका आकार गहराई के साथ साथ बढ़ता चला जाता है और जिनके आधार का पता हो नहीं चल पाता है, अध शैल (बैथोलिथ) कहते हैं।

पर्वतनिर्माण की घटनाओं से अध शैलों का गंभीर संबंध है। विशाल पर्वतशृंखलाओं के मध्यवर्ती अक्षीय भाग में अध शैल ही अवस्थित होते हैं। हिमालय की केंद्रीय उच्चतम श्रेणियाँ ग्रेनाइट के अध शैलों से ही निर्मित हैं।

अध शैलों का विकास दो प्रकार से होता है। ये पूर्वस्थित शैलों के पूर्ण रासायनिक प्रतिस्थापन (रिप्लेसमेंट) एवं पुन स्फाटन (री-क्रिस्टैलाइजेशन) से निर्मित होते हैं और इसके अतिरिक्त अधिकांश छोटे मोटे निवुत्र शैल पृथ्वी की पपड़ी फाड़कर मैग्मा के जमने से बनते हैं।

अध शैलों की उत्पत्ति के विषय में स्थान का प्रश्न अति महत्वपूर्ण है। क्लूस, डाइग्स आदि विशेषज्ञों का मत है कि पूर्वस्थित शैल आरोही मैग्मा द्वारा ऊपर एवं पार्श्व की ओर विस्थापित कर दिए गए हैं, परंतु डेली, कोल एवं बैरल जैसे विद्वानों का मत है कि आरोही मैग्मा ने पूर्वस्थित शैलों को सशरीर घोलकर आत्मसात् कर लिया या क्रमश कुतर कुतरकर सरदन (कोरोज़न) द्वारा अपने लिये मार्ग बनाया। (र० च० मि०)

अधिकमास द्र० 'कालक्रम विज्ञान', 'ज्योतिष : भारतीय' तथा 'पचांग और पचांगपद्धति'।

अधिकार (१) किसी वस्तु को प्राप्त करने या किसी कार्य को संपादित करने के लिये उपलब्ध कराया गया किसी व्यक्ति की कानूनसंमत या संविदासंमत सुविधा, दावा या विशेषाधिकार है। कानून द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ अधिकारों की रक्षा करती हैं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के बिना संभव नहीं। जहाँ कानून अधिकारों को मान्यता देता है वहाँ इन्हें लागू करने या इनकी अवहेलना पर नियंत्रण स्थापित करने की व्यवस्था भी करता है। राजनीतिक और संवैधानिक दृष्टि से अधिकार मानव इतिहास के समान शाश्वत है। प्राचीन काल में परिवार और संपत्ति पर मातृसत्ताक समाज में माँ का तथा पितृसत्ताक समाज में पिता का अधिकार होता था। राजतंत्र के विकास के साथ राजा दैवी अधिकार के सिद्धांतों की सहायता से प्रजा को समस्त अधिकारों से निरस्त कर राष्ट्रविशेष में संप्रभु बन जाने लगा। प्रजा या धार्मिक समूहों के हस्तक्षेप से राजा के सीमित अधिकार की मान्यता प्रचलित हुई। भारत और यूनान के प्राचीन गणराज्यों में जनतंत्र या गणतंत्र की कल्पना की गई, जिससे राजा के अधिकार प्रजा के हाथों में जा पहुँचे एवं कहीं प्रत्यक्ष जनतंत्र से, तो कहीं निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन होने लगा। प्लेटो ने आदर्श नगरराज्यों की जनसंख्या १०५० तो अरस्तू ने १० हजार निश्चित की। अरस्तू ने अप्रत्यक्ष जनतंत्र की भी व्यवस्था दी। उत्तरी भारत में गणतंत्रों का विशेष प्रचलन हुआ, खासकर बौद्ध युग में। कुरु, लिच्छवि, मल्ल, मगध जैसे अनेक गणतंत्रों का इतिहास में उल्लेख मिलता है। हिंदू राजशास्त्रों ने प्रजा के अधिकारों को संरक्षण प्रदान करने के लिये राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा का रंजन और रक्षण बताया। प्राचीन काल में शासकों और सामंतों ने जनता के अधिकारों का अपहरण कर दास प्रथा का भी प्रचलन किया जिसके अंतर्गत स्त्री पुरुषों के क्रय विक्रय का क्रम शुरू हुआ और बलात् शासकेतर व्यक्तियों एवं समूहों को दास बनाया जाने लगा। भारत में दास प्रथा के विरुद्ध मानवीय अधिकारों के लिये सबसे पहले गौतमबुद्ध ने आवाज उठाई और भिक्षु बनाकर दासों को मुक्ति देने का क्रम चलाया।

आधुनिक जनतांत्रिक अधिकारों की प्राप्ति का संघर्ष इंग्लैंड में १३वीं शती से आरंभ हुआ जिसमें राजा के निरंकुश अधिकारों के विरुद्ध विजय हासिल हुई। १२१५ ई० में प्रसिद्ध मैग्ना कार्टा की घोषणा से ब्रिटिश संसद् को राजा पर नियंत्रण करने का अधिकार मिला। १६०३ से जेम्स प्रथम ने दैवी अधिकार के लिये फिर संघर्ष शुरू किया, किंतु १६८८ ई० में गौरवपूर्ण क्रांति ने समस्या को सदा के लिये सुलझा दिया, जिसके पश्चात् इंग्लैंड में संसदीय शासन की स्थापना कर दी गई। १६ दिसंबर, १६८९ को ब्रिटिश संसद् की 'अधिकार घोषणा' को राजा विलियम तथा रानी मेरी ने स्वीकार कर शासन में जनता के अधिकार को मान्यता दी, तबसे ब्रिटिश संसद् के अधिकार बढ़ते ही गए। विश्व में मानव अधिकार की व्यापक गरिमा फ्रांसीसी क्रांति (१७८९ ई०) में स्थापित हुई। जाँ जैक रूसो के संविदासिद्धांत से प्रेरित क्रांति के समय संविधान सभा ने यह घोषणा की थी कि संविधान निर्मित होने पर सर्वप्रथम मानव अधिकारों का उल्लेख किया जायगा। यह घोषणा वास्तव में जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में अमरीका (संयुक्त राज्य) की स्वतंत्रता की घोषणा (सन् १७७८ ई०) के सिद्धांतों से प्रेरित थी। मानव अधिकार की घोषणा के आधार पर समता, स्वतंत्रता एवं बंधुता का कानूनी अधिकार प्राप्त हुआ।

इंग्लैंड के राजनीतिक संघर्ष एवं फ्रांस की क्रांति ने दुनिया में पूँजीवादी जनतंत्रों का रास्ता साफ किया, जिसके फलस्वरूप साम्राज्यवाद एवं नव साम्राज्यवाद के विस्तार से अनेक राष्ट्रों के मानवीय अधिकारों को छीनकर यूरोप के अलावा सारी दुनिया को गुलाम बनाया गया। विश्व के दो महायुद्ध (१९१४–१८ एवं १९३९–४५) भी इसी के परिणाम हैं। १८४८ ई० में जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स तथा ब्रिटिश दार्शनिक फ्रेडरिक ऐंगेल्स ने 'मैनिफेस्टो ऑव द कम्युनिस्ट पार्टी' लिखकर श्रमिक एवं शोषित वर्ग के अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष की एक नई दिशा दी, जिसके लिये शोषणविहीन तथा वर्गहीन समाज की स्थापना एवं मनुष्य के समान आर्थिक अधिकार मुख्य लक्ष्य निर्धारित किए गए। इन्हीं लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर १९१७ ई० में रूस में नई क्रांति हुई जिसने राजसत्ता पर श्रमिकों एवं मेहनतकशों के अधिकार के सिद्धांत को मूर्त स्वरूप प्रदान किया, जब कि इस क्रांति ने एक साथ ही समस्त शोषक वर्ग को सदा के लिये सत्ता के अधिकार से च्युत कर दिया। इस क्रांति के पश्चात् संविधान द्वारा नागरिकों को वे अधिकार दिए गए जिनके बारे में मानव इतिहास में कभी सुना भी नहीं गया था। १९३६ ई० के संविधान के अनुसार सोवियत संघ में जनता को स्वतंत्रता, समता और बंधुता के अतिरिक्त कार्य प्राप्त करने, कार्य करने के निश्चित और सीमित समय के साथ अवकाश का आनंद प्राप्त करने, बेकारी, वृद्धावस्था, रोग, अयोग्यता का भत्ता तथा बीमा की सुविधा प्राप्त करने, नि शुल्क एवं अनिवार्य प्रारंभिक तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने, ट्रेड यूनियन, सहकारिता संघ, युवक संघटन स्थापित करने, समस्त स्त्रियों को सवेतन चौदह महीने का प्रसूति अवकाश प्राप्त करने और अपनी माँगों की पूर्ति के लिये आंदोलन करने के अधिकार प्रदान किए गए। समाजवादी देशों को छोड़-

कर ऐसे अधिकार अन्य देशों मे नही मिल सके है। १९४७ ई० मे राजनीतिक दासता से मुक्ति मिलने पर २६ जनवरी, १९५० ई० से लागू भारतीय संविधान ने भी कतिपय मौलिक अधिकार जनता को दिए है किंतु संपत्ति के अधिकार पर आधारित होने के कारण ये उतने व्यापक नही हो सके है जितने सोवियत संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार। भारतीय संविधान ने धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग के भेदभाव को मिटाकर कानून के समक्ष समता का अधिकार प्रदान किया है। अस्पृश्यता तथा बेगारी का अंत कर दिया है। सरकार की ओर से मिलनेवाली उपाधियों का अंत कर दिया है। भाषण, सभा, संगठन, आवागमन की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। शोषण से संरक्षण का अधिकार दिया गया है। दैहिक स्वतंत्रता (हैबिअस कार्पस्) का अधिकार दिया गया है जिसके अंतर्गत बिना कारण बताए कोई नागरिक गिरफ्तार नही किया जा सकता। गिरफ्तार व्यक्ति को न्यायालय से न्याय पाने का अधिकार होगा। विश्वास के आधार पर धर्म को मानने, प्रचार करने का अधिकार दिया गया है। धर्म, संप्रदाय अथवा भाषा के आधार पर अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक वर्ग को अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने तथा उनकी व्यवस्था करने का अधिकार होगा। संपत्ति रखने, बेचने और खरीदने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को दिया गया है। अधिकारो की रक्षा के लिये संवैधानिक उपचार का भी अधिकार दिया गया है। समाजवाद एवं आर्थिक स्वतंत्रता की प्रगति के लिये भारतीय संसद् ने १९७१-७२ में संविधान में २४वाँ, २५वाँ और २६वाँ संशोधन कर संपत्ति के अधिकार को सीमित कर दिया है।

विश्व के समस्त देशों के नागरिकों को अभी पूर्ण मानव अधिकार नही मिला है। अफ्रीका के अनेक देशों एवं संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी राज्यो मे अभी भी किसी न किसी रूप में दासप्रथा, रंगभेद तथा बेगारी मौजूद है। भारत मे हरिजनो तथा अनेक परिगणित जातियो को व्यवहार मे समता और संपत्ति के अधिकार नही मिल सके है। दो तिहाई मानव जाति का अभी भी आर्थिक शोषण होता चला आ रहा है। उपनिवेशवाद के कारण एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के अनेक अविकसित राष्ट्रों का बड़े साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा आर्थिक शोषण हो रहा है। इसी दिशा मे मुक्ति तथा राष्ट्रों और नागरिकों के अधिकारो की सुरक्षा के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ सचेष्ट है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से प्रति वर्ष १० दिसंबर को मानव-अधिकार-दिवस मनाया जाता है। सन् १९४५ मे अपनी स्थापना के समय से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ ने मानव अधिकारो की अभिवृद्धि एवं संरक्षण के लिये प्रयास आरंभ किया है। इस निमित्त मानव-अधिकार-आयोग ने अधिकारो की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की जिसे संयुक्त राष्ट्र महासभा ने १० दिसंबर, १९४८ को स्वीकार किया। तीस अध्यायों के 'मानव-अधिकार-घोषणापत्र' मे उन अधिकारो का उल्लेख है जिन्हे विश्व भर के स्त्री पुरुष बिना भेदभाव के पाने के अधिकारी है। इन अधिकारो मे व्यक्ति के जीवन, दैहिक स्वतंत्रता, सुरक्षा एवं स्वाधीनता, दासता से मुक्ति, स्वैच्छिक गिरफ्तारी एवं नजरबंदी से मुक्ति, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायाधिकरण के सामने सुनवाई का अधिकार, अपराध प्रमाणित न होने तक निरपराध माने जाने का अधिकार, आवागमन एवं आवास की स्वतंत्रता, किसी देश की राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार, विवाह करने का और परिवार बसाने का अधिकार, संपत्ति रखने का अधिकार, विचार, धर्म, उपासना की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, शांतिपूर्ण सभा करने की स्वतंत्रता, मतदान करने और सरकार मे शामिल होने का अधिकार, सामाजिक स्वतंत्रता का अधिकार, काम पाने का अधिकार, समुचित जीवनस्तर का अधिकार, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, समाज के सांस्कृतिक जीवन मे सहभागी बनने का अधिकार इत्यादि शामिल है। वैकल्पिक रूप मे संयुक्त राष्ट्रसंघ अनेक संगठनों एवं संस्थाओं का निर्माण कर धरती पर इन अधिकारो को चरितार्थ करने के लिये प्रयत्नशील है। (सो० ला० ति०)

अधिकार (२) तंत्रशास्त्र की दृष्टि से अधिकार शब्द का मूल्य साधनात्मक है। साधना मे प्रवेश पाने के लिये जिस योग्यता, क्षमता की प्राप्ति आवश्यक होती है, उसे अधिकार कहते है। इनसे तत्वज्ञान आदि मोक्ष का अधिकार मिलता है। सार्वजनीन और सार्वदेशिक शास्त्रतंत्र विभिन्न साधनक्रमो, अंतर्याग, बहिर्याग, षट्कर्म, ध्यानयोग आदि के अधिकारो का विधान मानवकल्याण के लिये ही करते है। तांत्रिक साधक पशु, वीर, दिव्य भावो के द्वारा महाशक्ति की अर्चना करता हुआ सकल ब्रह्म के शक्तिस्वरूप को अनादि चेतन और आनंदरूप समझकर आत्मविवेक की उपलब्धि करता है। वामकेश्वरतंत्र के अनुसार जन्म से १६ वर्ष तक पशुभाव, ५० वर्ष तक वीरभाव और आगे का समय दिव्य भाव का होता है। अधिकारार्थ दीक्षाग्रहण, अभिषेक आदि संस्कार शिष्य के लिये अपरिहार्य है। लोकधर्मी और शिवधर्मी, बुभुक्षु और मुमुक्षु, शैक्ष और अशैक्ष (बौद्ध) आदि के अधिकारवैचित्र्य एवं शक्तिपात की तीव्रता के अनुसार दीक्षा के भी विभिन्न भेद होते है। अधिकार के २१ संस्कारों के उपरांत शाक्ताभिषेक, पूर्णाभिषेक, महासाम्राज्याभिषेक आदि की विधि संपन्न होती है। अंत मे सर्वांगीण अधिकार के लिये आचार्याभिषेक होता है जिसके बिना दीक्षा देने का अधिकार नहीं मिलता। विकृति के लिये स्वच्छंदतंत्र देखा जा सकता है। अधिकार और साधकभेद से पंचमकारों मे भी अर्थभेद मिलता है। बौद्ध तंत्रों मे भी इस अधिकारभेद का विस्तार मिलता है। अधिकारनिर्णय मे शैथिल्य के कारण तांत्रिक साधनाओं को कालांतर मे आपातत: निंदित होना पड़ता है। (उ० श० पा०)

अधिकार अधिनियम, अधिकारपत्र अंग्रेजी संविधान के विकास मे 'मैग्ना कार्टा' के बाद सबसे अधिक महत्व की मंजिल है। यह अधिनियम ब्रिटिश पार्लमेंट (संसद्) द्वारा १६ दिसंबर, १६८९ को पारित हुआ और विलियम तथा मेरी ने तत्काल इस अपनी राजकीय स्वीकृति देकर संविधान का अधिनियम बना दिया। इस अधिनियम का पूरा शीर्षक मूल मे इस प्रकार दिया हुआ है—'प्रजा के अधिकारों और स्वतंत्रता की घोषणा तथा सिंहासन का उत्तराधिकार व्यवस्थित करनेवाला अधिनियम'। ब्रिटिश लोकसभा द्वारा नियुक्त एक समिति ने 'अधिकार की घोषणा' नामक जो पत्रक प्रस्तुत किया था और जिस राजदंपति ने १६ फरवरी, १६८९ को अपनी स्वीकृति दी थी वही घोषणा इस अधिनियम की पूर्ववर्ती थी और इसकी धाराएँ प्राय: पूर्णत: उसके अनुरूप थीं। 'अधिकार की घोषणा' में उन शर्तों का भी परिगणन था जिनके अनुसार राजदंपति को उत्तराधिकार मिला था और जिनका पालन करने की उन्होंने शपथ ली थी। इन दोनों अधिनियमों का प्रधान महत्व अंग्रेजी संविधान मे राजकीय उत्तराधिकार निश्चित करने मे है।

अधिकार अधिनियम वस्तुत: उन अधिकारों का परिगणन करता है जिनकी अभिप्राप्ति के लिये अंग्रेज जनता मैग्ना कार्टा (१२१५ ई०) की घोषणा के पहले से ही संघर्ष करती आई थी। इस अधिनियम की धाराएँ इस प्रकार है

पार्लमेंट (संसद्) की अनुमति के बिना विधिनियमों या कानून का निलंबन अथवा अनुपयोग अवैध होगा।

पार्लमेंट की अनुमति के बिना आयोग न्यायालयों का निर्माण, परपराधिकार अथवा राजा की आवश्यकता के नाम पर कर लगाना और शांतिकाल मे स्थायी सेना की भरती के कार्य अवैध होंगे।

प्रजा को राजा के यहाँ आवेदन करने और, यदि वह प्रोटेस्टेंट हुई तो स्वरक्षा के लिये, उसे हथियार बाँधने का अधिकार होगा।

पार्लमेंट के सदस्यों का निर्वाचन निर्बाध होगा तथा संसद् मे उन्हे भाषण की स्वतंत्रता होगी और उस भाषण के संबंध मे पार्लमेंट के बाहर कोई प्रश्न नही उठाया जा सकेगा, न वक्ता पर किसी प्रकार का मुकदमा चलाया जा सकेगा।

इस अधिनियम ने जमानत और जुर्माने के बोझ को कम किया और इस संबंध की अत्यधिक रकम को अनुचित ठहराया। साथ ही, इसने क्रूर दंडों की निंदा की और घोषित किया कि प्रस्तुत सूची मे दर्ज नामवाले जूरर ही जूरी के सदस्य हो सकेंगे और देशद्रोह के निर्णय में भाग लेनेवाले सदस्यों के लिये तो भूमि का 'कापीराइट' (स्वामित्व) होना भी अनिवार्य होगा।

इस अधिनियम ने अपराध सिद्ध होने के पूर्व जुर्माने की रीति को अवैध करार दिया और कानून की रक्षा तथा राजनीतिक कष्टों के निवारण के लिये पार्लमेंट के त्वरित अधिवेशन की व्यवस्था की।

अधिकार अधिनियम अथवा अधिकारपत्र शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य, अमरीका के संविधान मे भी हुआ है। यह उन नियमों की ओर

संकेत करता है जिनका संबंध जनता के आधारभूत अधिकारों से है और जो व्यक्तिराज्य तथा संघ दोनों को समान रूप से प्रतिबंधित करते है।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० स्टब्स ' दि कांस्टिटयूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैड, १९२६, जी० एन० क्लार्क दि लेटर स्टुअर्ट्स, १६६०-१७१४, १९३४, डी० एल० कीर ' कांस्टिटयूशनल हिस्ट्री ऑव माडर्न ब्रिटेन, १८८५–१९३७, १९५०। (भ० श० उ०)

अधिरथ अंग का राजा था जिसने कर्ण का पालन किया था, उसके जाति का सूत (रथकार) होने के कारण कर्ण भी अपने को सूत-पुत्र समझता था। महाभारत के एक संस्करण के अनुसार वह धृतराष्ट्र का सारथि था। ऐसा अनुमान होता है कि वह धृतराष्ट्र का सामंत था। (च० म०)

अधिराजेंद्र चोड यह चोड राजा वीरराजेंद्र चोड का पुत्र था जो लगभग १०७० ई० में उसके मरने पर चोडमंडल का राजा हुआ। तीन वर्ष वह युवराज के पद पर रहा था और युवराज का पद चोडों में बडी कार्यशीलता का था। वह राजा का निजी सचिव भी होता था और सर्वत्र उसका प्रतिनिधान करता था। अधिराजेंद्र चोड का शासनकाल बहुत थोडा रहा। राज्य में काफी उथल पुथल थी और अपने संबंधी (बहनोई) विक्रमादित्य षष्ठ की सहायता के बावजूद वह राज्य की स्थिति न सँभाल सका और मारा गया। (भ० श० उ०)

अधिवक्ता (ऐडवोकेट)—ऐडवोकेट के अनेक अर्थ है, परतु हिंदी में उसका प्रयोग 'अधिवक्ता' के लिये होता है। ऐडवोकेट का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसको न्यायालय में किसी अन्य व्यक्ति की ओर से उसके हेतु या वाद का प्रतिपादन करने का अधिकार प्राप्त हो। भारतीय न्यायप्रणाली में ऐसे व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ है (१) ऐडवोकेट तथा (२) वकील। ऐडवोकेट के नामांकन के लिये भारतीय 'बार काउंसिल' अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक प्रादेशिक उच्च न्यायालय के अपने अपने नियम है। उच्चतम न्यायालय में नामांकित ऐडवोकेट देश के किसी भी न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन कर सकता है। वकील उच्चतम या उच्च न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन नहीं कर सकता। ऐडवोकेट जेनरल अर्थात् महाधिवक्ता शासकीय पक्ष का प्रतिपादन करने के लिये प्रमुखतम अधिकारी है। (श्री० अ०)

अधिहृषता (ऐलर्जी) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वान पिरकेट ने बाह्य पदार्थ में शरीर की प्रतिक्रिया करने की शक्ति में हुए परिवर्तन के लिये किया था। कुछ लेखक इस पारिभाषिक शब्द को हर प्रकार की अधिहृषता से संबंधित करते है, किंतु दूसरे लेखक इसका प्रयोग केवल संक्रामक रोगों से संबंधित अधिहृषता के लिये ही करते है। प्रत्येक अधिहृषता का मूलभूत आधार एक ही है, इसलिये अधिहृषता शब्द का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र में ही करना चाहिए।

यदि किसी गिनीपिग की अधस्त्वचा में घोडे का सीरम (रुधिर का द्रव भाग, जो जमनेवाले भागों के जम जाने पर अलग हो जाता है) प्रविष्ट किया जाय और दस दिन बाद उसी गिनीपिग को उसी सीरम की पहले से बडी मात्रा दी जाय तो उसके अंगों में कंपन उत्पन्न हो जाता है। (अर्थात् उसे पेशी-तंतु-संकुचन की बीमारी अकस्मात् हो जाती है)। यह साधारण प्रयोग यह सिद्ध करता है कि गिनीपिग की ऊतियों (टिशू) में पहले इंजेक्शन के बाद घोडे के सीरम के लिये अधिहृषता उत्पन्न हो जाती है। सीरम उतनी ही मात्रा में यदि एक अहर्षित गिनीपिग को दिया जाय तो उसपर कुछ भी कुप्रभाव नहीं पडेगा। संक्रामक जीवाणुओं के प्रति विशेष अधिहृषता अनेक रोगों का लक्षण है। प्रतिक्रिया की तीव्रता के अनुसार मनुष्यों की अधिहृषता तात्कालिक और विलंबित दो प्रकार की होती है। तात्कालिक प्रकार में उद्दीप्त करनेवाले कारकों (फैक्टर्स) के संपर्क में आने के कुछ ही क्षणों बाद प्रतिक्रिया होने लगती है। सीरम में बहते हुए प्रतिजीव (ऐंटीबॉडीज) दर्शाए भी जा सकते है। यह क्रिया संभवत हिस्टैमाइन नामक पदार्थ के बनने से होती है।

विलंबित प्रकार में प्रतिक्रियाएँ विलंब से होती है। प्रतिजीव सीरम में दर्शाए नहीं जा सकते। इन प्रतिक्रियाओं में कोशिकाओं को हानि पहुँचती है और हिस्टैमाइन उत्पन्न होने से उसका संबंध नहीं होता। विलंबित प्रकार की अधिहृषता सम्पर्ण त्वचार्ति (छूत से उत्पन्न त्वक्प्रदाह) और तपेदिक जैसे रोगों में होती है।

कुछ व्यक्तियों में संभवत जननिक कारकों (जेनेटिक फैक्टर्स) के फलस्वरूप कई प्राटीन पदार्थों के प्रति अधिहृषता हो जाती है। इस प्रकार की अधिहृषता ऐटापी कहलाती है। उसके कारण परागज ज्वर (हे फीवर) और दमा जैसे रोग होते है (द्र० 'दमा')। (श्री० ध० अ०)

अधौरी एक विशाल वृक्ष होता है जिसकी छाल भूरे रंग की और चिकनी होती है। यह लिथ्रेसी परिवार का सदस्य है। इसका वानस्पतिक नाम लागेरस्टोमिया पारवीफ्लोरा है। विभिन्न स्थानों पर इसके स्थानीय नाम वाक्ली, धौरा, असाध, सीदा और शोज है। पत्तियाँ छोटी छोटी और एक दूसरे के विपरीत लगी होती है। इनका आकार अंडाकार होता है तथा पर्णाग्र नुकीले होते है। पत्ती की दोनों सतहों पर महीन रोम होते है तथा इनकी निचली सतह जालिकावत् रहती है। इनके फूल अप्रैल से जून तक निकलते है तथा फल वर्षा ऋतु में पकते है। फल छोटे, सफेद और वृक्ष के ऊपर संयुक्त रेसीम (पैनीकल) में लगे रहते हैं जिनकी गंध मीठी होती है।

अधौरी की छाल से गोंद निकलता है जो मीठा एवं स्वादिष्ट होता है। इसकी भीतरी छाल से रेशे निकाले जाते है। छाल तथा पत्तियों का उपयोग चमडा सिझाने के काम में किया जाता है। इस वृक्ष की लकडी मजबूत होती है अत इससे हल, नाव आदि बनाई जाती है। यह हिमालय की तराई के जंगलों में जम्मू से लेकर सिक्किम तक तथा असम, मध्यप्रदेश, मैसूर और महाराष्ट्र में अधिकता से पाया जाता है। (अ० नि० शु०)

अध्यक्ष आधुनिक रूप में अध्यक्ष (स्पीकर) के पद का प्रादुर्भाव मध्य युग (१३वीं और १४वीं शताब्दी) में इंग्लैंड में हुआ था। उन दिनों अध्यक्ष राजा के अधीन हुआ करते थे। सम्राट् के मुकाबले में अपने पद की स्वतंत्र सत्ता का प्रयोग तो उन्होंने धीरे धीरे १७वीं शताब्दी के बाद ही आरंभ किया और तब से ब्रिटिश लोकसभा (हाउस ऑव कामन्स) के मुख्य प्रतिनिधि और प्रवक्ता के रूप में इस पद की प्रतिष्ठा और गरिमा बढने लगी। इस प्रकार ब्रिटिश संसद् में अध्यक्ष के मुख्य कृत्य (क) सभा की बैठकों का सभापतित्व करना, (ख) सम्राट् और लार्ड सभा (हाउस ऑव लार्ड्स) इत्यादि के प्रति इसके प्रवक्ता और प्रतिनिधि का काम करना और (ग) इसके अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करना है।

अन्य देशों ने भी ग्रेट ब्रिटेन के नमूने पर संसदीय प्रणाली अपनाई और उन सबमें थोडा बहुत ब्रिटिश अध्यक्ष के ढंग पर ही अध्यक्ष पद कायम किया गया। भारत ने भी स्वतंत्र होने पर संसदीय शासनपद्धति अपनाई और अपने संविधान में अध्यक्षपद की व्यवस्था की। किंतु भारत में अध्यक्ष का पद वस्तुत बहुत पुराना है और यह १९२१ से चला आ रहा है। उस समय अधिष्ठाता (प्रिसाइडिंग आफिसर) विधानसभा का 'प्रधान' (प्रेसिडेंट) कहलाता था। १९१९ के संविधान के अंतर्गत पुरानी केंद्रीय विधानसभा का सबसे पहला प्रधान सर फ्रेडरिक ह्वाइट को, संसदीय प्रक्रिया और पद्धति में उनके विशेष ज्ञान के कारण, मनोनीत किया गया था, किंतु उसके बाद श्री विट्ठलभाई पटेल और उनके बाद के सब 'प्रधान' सभा द्वारा निर्वाचित किए गए थे। इन अधिष्ठाताओं ने भारत में संसदीय प्रक्रिया और कार्यसंचालन की नींव डाली, जो अनुभव के अनुसार बढती गई और जिसे वर्तमान संसद् ने अपनाया।

लोकसभा (भारतीय संसद् का अवर सदन अर्थात् 'लोअर हाउस') का अध्यक्ष सामान्य निर्वाचनों के बाद प्रत्येक नई संसद् के आरंभ में सदस्यों द्वारा अपने में से निर्वाचित किया जाता है। वह दुबारा निर्वाचन के लिये खडा हो सकता है। सभा के अधिष्ठाता के रूप में उसकी स्थिति बहुत ही अधिकारपूर्ण, गौरवमयी और निष्पक्ष होती है। वह सभा की कार्रवाई को विनियमित करता है और प्रक्रिया संबंधी नियमों के अनुसार इसके विचार-विमर्श को आगे बढाता है। वह उन सदस्यों के नाम पुकारता है जो बोलना चाहते हो और भाषणों का क्रम निश्चित करता है। वह औचित्य प्रश्नों

(पाइट्स ऑव आर्डर) का निर्णय करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनके सारे विनिर्णय (रूलिंग्स) देता है। ये निर्णय अंतिम होते हैं और कोई भी सदस्य उनको चुनौती नहीं दे सकता। वह प्रश्नों, प्रस्तावों और संकल्पों, वस्तुतः उन सभी विषयों की अनुमति का भी निर्णय करता है जो सदस्यों द्वारा सभा के सम्मुख लाए जाते हैं। उसे वादविवाद में असंगत और अवांछनीय बातों को रोकने की शक्ति है और वह अध्यवसायपूर्ण आचरण के लिये किसी सदस्य का 'नाम' ले सकता है। वह सभा और उसके सदस्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का भी रक्षक है और उसे इनके विशेषाधिकारों का भंग करनेवाले किसी भी व्यक्ति को दंड देने की शक्ति है। वह विभिन्न संसदीय समितियों के कार्य की देखभाल करता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निर्देश देता है। सभा की शक्ति, कारवाई और गरिमा के संबंध में वह सभा का प्रतिनिधि होता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह सब प्रकार की दलबंदी और राजनीति से अलग रहे। सभा में अध्यक्ष सर्वोच्च अधिकारी होता है। किंतु उसे लोकसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।

राज्यसभा (उत्तर सदन, अपर हाउस) के अधिष्ठाता को सभापति कहते हैं, किंतु वह उसका सदस्य नहीं होता। अध्यक्ष और सभापति के कार्य में उनकी सहायता करने के लिये क्रमशः उपाध्यक्ष और उपसभापति होते हैं। भारत में राज्य-विधान-मंडल भी थोड़े बहुत इसी ढंग पर बनाए गए हैं, उनमें अंतर केवल यह है कि उत्तर सदन के सभापति उनके सदस्यों में से निर्वाचित किए जाते हैं। (अ० श० आ०)

अध्यात्मरामायण वेदांत दर्शन पर आधारित रामभक्ति का प्रतिपादन करनेवाला रामचरितविषयक संस्कृत ग्रंथ। इसे 'अध्यात्मरामचरित' (१-२-८) तथा 'आध्यात्मिक रामसंहिता' (६-१६-३३) भी कहा गया है। यह उमा-महेश्वर-संवाद के रूप में है और इसमें सात कांड एवं ६५ अध्याय हैं जिन्हें प्रायः व्यासरचित और 'ब्रह्मांडपुराण' के 'उत्तरखंड' का एक अंश भी बतलाया जाता है, किंतु यह उसके किसी भी उपलब्ध संस्करण में नहीं पाया जाता। भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग पर्व) के अनुसार इसे किसी शिवोपासक राम शर्मन् ने रचा जिसे कुछ लोग स्वामी रामानंद भी समझते हैं, किंतु यह मत सर्वसम्मत नहीं है। इसका रचनाकाल ईस्वी १४वीं सदी के पहले का नहीं माना जाता और साधारणतः यह १५वीं सदी ठहराया जाता है। इसपर अद्वैत मत के अतिरिक्त योगसाधना एवं तंत्रों का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसे रामभक्तों के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण कहा गया है। इसमें राम, विष्णु के अवतार होने के साथ ही, परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म भी माने गए हैं और सीता को योगमाया कहा गया है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इससे बहुत प्रभावित है। (प० च०)

अध्यात्मवाद उस विचारधारा का नाम है जिसमें आत्मा को ही सबका मूल माना जाता है। उपनिषदों तथा महाभारत में अध्यात्म शब्द का प्रयोग 'शरीर' के अर्थ में हुआ है, किंतु कालांतर में चैतन्य आत्मतत्व के अर्थ में यह शब्द रूढ़ हो गया। पश्चिम में ग्रीक दार्शनिक अफलातून ने सर्वप्रथम इस विषय पर विचार किया। उसने संसार के मूल में अभौतिक तत्व की स्थिति मानी और उसे 'ईदिया' (आइडिया) नाम दिया। उसके बाद उन सभी दर्शनों के लिये आइडियालिज्म शब्द का व्यवहार होने लगा जिनके अनुसार भौतिक जगत् का मूल अभौतिक तत्व है। अध्यात्मवाद और आइडियलिज्म समानार्थक शब्द हैं।

ज्ञान जीव को जड़ से पृथक् करता है। ज्ञान के लिये ज्ञान का विषय, ज्ञाता और विषय तथा ज्ञाता का संबंध (ज्ञान) होना आवश्यक है। इनमें से एक के भी अभाव में ज्ञान संभव नहीं है। फिर भी तीनों में से ज्ञाता का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञाता के अभाव में विषय और संबंध का कोई अर्थ नहीं। यथार्थवादी दार्शनिक ज्ञान को विषय और ज्ञाता के संबंध से उत्पन्न गुण मानते हैं। किंतु जब विषय जड़ है और ज्ञाता (आत्मा) चेतन है तब इन दोनों में स्वभावभेद होने के कारण कार्य-कारण-भाव संबंध कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ दार्शनिक आत्मा को भी पृथ्वी, जल आदि की तरह द्रव्य मान लेते हैं और कुछ आत्मा की चेतनता की रक्षा करने के लिये विषय को आत्मा से अभिन्न मानते हैं। किंतु ज्ञाता यदि पृथ्वी आदि की तरह एक पदार्थ है तथा ज्ञान उसका गुण मात्र है तो वह ज्ञाता अपने आपमें पत्थर की तरह चेतनाशून्य तत्व होगा। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि ज्ञाता स्वयं ज्ञान का विषय होता है या नहीं। ज्ञाता को भी ज्ञान का विषय मान लेने पर ज्ञाता को जाननेवाले एक अलग ज्ञाता की स्थिति माननी पड़ेगी। इस तरह अलग ज्ञाता मानने का कोई अंत न होगा। यदि ज्ञाता स्वयं को नहीं जानता तो 'मैं जानता हूँ', इस अनुभव का क्या होगा? इसलिये ज्ञाता को चेतनस्वरूप मानना चाहिए, चेतना और ज्ञाता में गुण-गुणी-संबंध तर्क की दृष्टि से असंगत है।

चेतन आत्मा सभी ज्ञान का मूलाधार है। पर इस आत्मा का जड़ विषय के साथ संबंध कैसे संभव है? अध्यात्मवाद में इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये विषय को ज्ञाता से अपृथक् माना गया है। ज्ञान में प्रतिभासित विषय सर्वदा बौद्धिक होता है, पदार्थ अपने भौतिक रूप में ज्ञान के विषय नहीं होते। मानो एक ही आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में द्विधा विभक्त होकर ज्ञान की उत्पत्ति करती है।

विषय और ज्ञाता को एक तत्व के ही दो रूप मान लेने पर स्वभावतः बाह्य जगत् का अस्तित्व स्वप्नवत् मानना पड़ेगा। किंतु स्वप्न और जाग्रत् का अंतर सर्वानुभवसिद्ध है। योगाचार बौद्ध दर्शन तथा गौडवाद के मत में स्वप्न और जगत् के अनुभव में वास्तविक भेद नहीं है। अतएव अध्यात्मवाद के मूल सिद्धांतों में सत्ता के दो या तीन स्तर स्वीकार किए गए हैं। व्यावहारिक रूप से हम जाग्रत् अवस्था के अनुभवों को स्वप्नावस्था से पृथक् मानते हैं। इस भेद का मूल कारण है स्वप्न का मिथ्यात्व। वस्तु का जो रूप अनुभूत होता है, कालांतर में उसका अपलाप हो जाता है इसलिये उसका अनुभवगम्य रूप ही मिलता है। स्वप्न में अनुभूत विषय इसी कारण जाग्रत् अवस्था में मिथ्या कहे जाते हैं। अतएव स्वप्न के विषयों को पारमार्थिक दृष्टि से 'स्वभावशून्य' कहा जा सकता है। मिथ्यात्व के इस लक्षण को जाग्रत् अनुभव में आनेवाले विषयों पर भी लागू किया गया है। इसीलिये माध्यमिक दर्शन तथा परवर्ती अद्वैत वेदांत में विशद रूप से जाग्रत् अनुभव के विषयों को उनकी नश्वरता के कारण स्वप्न के विषयों की तरह मिथ्या माना गया है।

मिथ्यात्व के इस लक्षण के आधार पर यह भी कहा गया है कि जो तत्व अपने आपमें पूर्ण होगा, जिसे अपनी स्थिति के लिये दूसरे की आवश्यकता न होगी, वही तत्व सत्य है। अनुभवगम्य विषय सापेक्ष होते हैं अतः वे पूर्ण सत्य की परिभाषा में नहीं आ सकते। साथ ही, पूर्णता और असीमता पर्यायवाची शब्द हैं। सापेक्षता या द्वैत भावना पूर्णता का विनाश करती है। अतः चरम तत्व नित्य, अनंत और द्वितीयरहित अद्वय तत्व ही हो सकता है। यह अद्वय तत्व चेतन है, क्योंकि चेतन के बिना जड़ की स्थिति, संसार का निर्माण, असंभव है। अतः अध्यात्मवाद में आत्मा को ही परात्पर एक तत्व माना गया है।

यदि आत्मा ही तत्व है तो उसका इस जगत् से कैसा संबंध हो सकता है? अध्यात्मवाद में इसी प्रश्न को लेकर कई अवांतर वाद उत्पन्न हुए हैं। अद्वैत वेदांत में 'माया' को आत्मा और जगत् के बीच की कड़ी माना गया है। माया के कारण ही एक आत्मा जड़ और चेतन के रूप में प्रकट होती है अतः संसार मायानिर्मित एवं आत्मा की दृष्टि से असत् कहा जाता है। किंतु आत्मा इस संसार के मूल में है, इसलिये यह आत्मा से अलग भी नहीं है। इस दृष्टि से यद्यपि संसार की वस्तुएँ पृथक् पृथक् आत्मा का वास्तविक रूप प्रकट नहीं कर पातीं, फिर भी वे किसी हद तक आत्मा का अपूर्ण प्रतीक हैं। ब्रैडले और हीगेल जैसे पाश्चात्य दार्शनिक तत्व के समग्र रूप में स्तर का भेद मानते हैं।

यदि वस्तु आत्मा का अपूर्ण रूप और सापेक्ष सत्ता है तो वस्तु को अपने आपमें नहीं जाना जा सकता। चूँकि असत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, अतः संसार के मूल में किसी सत्ता की स्थिति भी आवश्यक है। इन दोनों दृष्टियों को मिलाने पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यद्यपि वस्तु अपने आपमें क्या है, यह नहीं कहा जा सकता (अनिर्वचनीयतावाद), तथापि वस्तु का मूल सत्य में निहित है। ज्ञान की सीमाओं (कैटेगरीज) के भीतर पड़ने-

वाली सापेक्ष, अनित्य, दिक्कालावच्छिन्न वस्तुओं का परिशीलन करनेवाली प्रज्ञा विषयनिरपेक्ष, दिक्कालातीत तत्व का साक्षात्कार करने में असमर्थ है अत उस तत्व का आभास मात्र होता है। तत्व का वास्तविक ज्ञान साक्षात्कार के बिना संभव नहीं। और साक्षात्कार ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की 'त्रिपुटी' से परे होने पर भी संभव है, अत सत्य के साक्षात्कार का अर्थ है सत्यमय हो जाना।

सं० ग्रं०—(भारतीय) उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, भामती, वेदांतपरिभाषा, खंडन-खंड-खाद्य (श्रीहर्ष), चित्सुखी, विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि, मूल माध्यमिक कारिका, बौद्ध दर्शन और वेदांत (डा० चंद्रधर शर्मा)। (पाश्चात्य), प्लेटो के ग्रंथ ए क्रिटीक आव प्योर रीज़न, कांट, हीगेल के ग्रंथ अपियरेंस ऐंड रियालिटी (ब्रैडले), आइडियलिज़्म ए क्रिटिकल सर्वे (ईविंग), कंटेंपरेरी आइडियलिज़्म इन अमरीका (रैंट), प्लेटोनिक ट्रैडिशन इन इंग्लो सैक्सन फिलासफी (मुरहेड)। (रा० पा०)

अध्यादेश द्र० 'संविधान'।

अध्यारोपापवाद अद्वैत वेदांत में आत्मतत्व के उपदेश की वैज्ञानिक विधि। ब्रह्म के यथार्थ रूप का उपदेश देना अद्वैत मत के आचार्य का प्रधान लक्ष्य है। ब्रह्म है स्वयं निष्प्रपंच और इसका ज्ञान बिना प्रपंच की सहायता के किसी प्रकार भी नहीं कराया जा सकता। इसलिये आत्मा के ऊपर देहधर्मों का आरोप प्रथमत करना चाहिए अर्थात् आत्मा ही मन, बुद्धि, इंद्रिय आदि समस्त पदार्थ है। यह प्राथमिक विधि **अध्यारोप** के नाम से प्रसिद्ध है। अत युक्ति तथा तर्क के सहारे यह दिखलाना पड़ता है कि आत्मा न तो बुद्धि है, न संकल्प विकल्परूप मन है, न बाहरी विषयों को ग्रहण करनेवाली इंद्रिय है और न भोग का आयतन यह शरीर है। इस प्रकार आरोपित धर्मों को एक एक कर आत्मा से हटाते जाने पर अंतिम कोटि में उसका जो शुद्ध सच्चिदानंद रूप बच जाता है वही उसका सच्चा रूप होता है। इसका नाम है **अपवाद** विधि (अपवाद = दूर हटाना)। ये दोनों एक ही पद्धति के दो अंश हैं। किसी अज्ञात तत्व के मूल्य और रूप जानने के लिये इस पद्धति का उपयोग आज का बीजगणित भी निश्चित रूप से करता है। उदाहरणार्थ यदि $\text{क}^2 + २\text{क} = २४$ इस समीकरण में अज्ञात **क** का मूल्य जानना होगा, तो प्रथमत दोनों ओर संख्या १ जोड़ देते हैं (अध्यारोप) जिससे दोनों पक्ष पूर्ण वर्ग का रूप धारण कर लेते हैं और अंत में आरोपित संख्या को दोनों ओर से निकाल देना पड़ता है, तब अज्ञात **क** का मूल्य ४ निकल आता है।

समीकरण की पूरी प्रक्रिया इस प्रकार होगी

$$\text{क}^2 + २\,\text{क} = २४$$

इसलिये $\text{क}^2 + २\,\text{क} + १ = २४ + १$ (अध्यारोप)

अर्थात् $(\text{क} + १)^2 = (५)^2$

अत $(\text{क} + १) = ५$

अतएव $(\text{क} + १) - १ = (५) - १$ (अपवाद)

इसलिये $\text{क} = ४$ (ब० उ०)

अध्यास अद्वैत वेदांत का पारिभाषिक शब्द है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान अध्यास कहलाता है। रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान इसका उदाहरण है। यहाँ पर रस्सी सत्य है, किंतु उसमें सर्प का ज्ञान मिथ्या है। मिथ्या ज्ञान बिना सत्य आधार के संभव नहीं है, अत अध्यास के दो पक्ष माने जाते हैं। सत्य और अनृत या मिथ्या का 'मिथुनीकरण' अध्यास का मूल कारण है।

इस मिथुनीकरण में एक के धर्मों का दूसरे में आरोप होता है। रस्सी की वक्रता का सर्प में आरोप होता है, अत सर्प का ज्ञान संभव है। साथ ही यह धर्मारोप कोई व्यक्ति जान बूझकर नहीं करता, वस्तुत अनजाने में ही यह आरोप हो जाता है, इसलिये सत्य और अनृत में अध्यासावस्था में परस्पर विवेक नहीं हो पाता। विवेक होते ही अध्यास का नाश हो जाता है। जिन दो वस्तुओं के धर्मों का परस्पर अध्यास होता है वे वस्तुत एक दूसरी से अत्यंत भिन्न होती हैं। उनमें तात्विक साम्य नहीं होता, किंतु औपचारिक धर्मसाम्य के आधार पर यथाकथंचित् दोनों का मिथुनीकरण होता है।

शांकर भाष्य में अध्यास का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि एक वस्तु में तत्सदृश किसी पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण होता है। यह स्मृतिरूप ज्ञान ही अध्यास कहलाता है। परंतु पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण मिथ्या नहीं होता। किसी को देखकर, 'यह वही व्यक्ति है', ऐसा उत्पन्न ज्ञान सत्य है। इसलिये 'स्मृतिरूप' शब्द का विशेष अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। स्मृत वस्तु के रूप का तरह जिसका रूप हो, उस वस्तु का उससे भिन्न स्थान पर ज्ञान होना अध्यास का सर्वमान्य लक्षण माना गया है। रस्सी को देखकर सर्प का स्मरण होता है और तदनंतर सर्प का ज्ञान होता है। यह सर्पज्ञानस्मृति सर्प से भिन्न वस्तु है। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में कहा है—'सर्पादिभाव से रस्सी आदि का अथवा रक्तादि गुण से युक्त स्फटिक आदि का ज्ञान न हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु उस ज्ञान से रस्सी आदि सर्प हो जाते हैं या उसमें सर्प का गुण उत्पन्न होता है, यह भी असंगत है। यदि ऐसा होता तो मरुप्रदेश में किरणों को देखकर "उछलती तरंगों की माला से सुशोभित मंदाकिनी आ गई है" ऐसा ज्ञान होना और लोग उसके जल से अपनी पिपासा शांत करते। इसलिये अध्यास में यद्यपि वस्तु सत् जैसी लगती है, फिर भी उसमें वास्तविक सत्यत्व की स्थिति मानना असंगत है।

यह अध्यास यदि सत्यता से रहित हो तो वंध्यापुत्र आदि की तरह इसका ज्ञान नहीं होना चाहिए। किंतु सर्पज्ञान होता है, अत यह अत्यंत असत् नहीं है। साथ ही अध्यास ज्ञान को सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्प का ज्ञान यथार्थतः सत्य नहीं है। सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं अत अध्यास सदसत् भी नहीं है। अतएव अध्यास को सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा गया है। "इस क्रम से उपस्थित जल वास्तविक जल की तरह है, इसीलिये वह पूर्वदृष्ट है। यह तो मिथ्याभूत अनिर्वचनीय (शब्दव्यापार से परे) है।"

अध्यास दो प्रकार का होता है। **अर्थाध्यास** में एक वस्तु का दूसरी वस्तु में ज्ञान होता है—जैसे, मैं मनुष्य हूँ। यहाँ 'मैं' आत्मतत्व है और 'मनुष्यत्व' जाति है। इन दोनों का 'मिथुनीकरण' हुआ है। **ज्ञानाध्यास** अर्थाध्यास से प्रेरित अभिमान का नाम है।

सं० ग्रं०—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (अध्यासभाष्य), वाचस्पति, भामती, १,१,१। (रा० पा०)

अध्वर्यु वैदिक कर्मकांड के चार मुख्य ऋत्विजों में अन्यतम ऋत्विज्। 'अध्वर्यु' का अर्थ ही है 'यज्ञ करनेवाला'। वह अपने मुख से तो यज्ञ-मंत्रों का उच्चारण करता जाता है और अपने हाथ से यज्ञ की सब विधियों का संपादन भी करता चलता है। अध्वर्यु का अपना वेद 'यजुर्वेद' है, जिसमें गद्यात्मक मंत्रों का विशेष संग्रह किया गया है और यज्ञ के विधानक्रम को दृष्टि में रखकर उन मंत्रों का वही क्रम निर्दिष्ट किया गया है।

(ब० उ०)

अध्वा जगत् या सृष्टि की तांत्रिकी संज्ञा। तंत्रों के अनुसार अध्वा दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध अध्वा से सात्विक जगत् का तात्पर्य है, जिसका उपादान कारण महामाया है। शिव की परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी मानी जाती है। वही 'बिंदु' कहलाती है। शुद्ध बिंदु का नाम 'महामाया' है जो सत्वमय जगत् की उत्पत्ति में उपादान कारण बनती है। अशुद्ध बिंदु का नाम 'माया' है जो प्राकृत जगत् का उपादान कारण होती है। महामाया के क्षोभ से शुद्ध जगत् (शुद्धाध्वा) की सृष्टि होती है और माया के क्षोभ से अशुद्ध प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। (ब० उ०)

अनंग द्र० 'कामदेव'।

अनंत शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'इनफिनिटी' लैटिन भाषा के इन् (अन्) और फिनिस (अंत) की संधि है। यह शब्द उन राशियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनकी माप अथवा गणना उनके परिमित न रहने के कारण असंभव है। अपरिमित सरल रेखा की लंबाई सीमाविहीन और इसलिये अनंत होती है।

गणितीय विश्लेषण में प्रचलित 'अनंत', जिसे ∞ द्वारा निरूपित करते हैं, इस प्रकार व्यक्त किया गया है

यदि **य** कोई चर है और **फ** (**य**) कोई **य** का फलन है, और यदि जब चर **य** किसी संख्या **क** की ओर अग्रसर होता है तब **फ** (**य**) इस प्रकार बढ़ता ही चला जाता है कि वह प्रत्येक दी हुई संख्या **ग** से बड़ा हो जाता है और बड़ा ही बना रहता है, चाहे **ग** कितना भी बड़ा हो, तो कहा जाता है कि **य**=**क** के लिये **फ**(**य**) की सीमा अनंत है।

भिन्नों की परिभाषा से (द्र० **संख्या**) स्पष्ट है कि भिन्न **ब**/**स** वह संख्या है जो **स** से गुणा करने पर गुणनफल **ब** देती है। यदि **ब**, **स** में से कोई भी शून्य न हो तो **ब**/**स** एक अद्वितीय राशि का निरूपण करता है। फिर स्पष्ट है कि ०/**स** सदैव समान रहता है, चाहे **स** कोई भी सांत संख्या हो। इसे परिमेय (रैशनल) संख्याओं का शून्य कहा जाता है और गणनात्मक (कार्डिनल) संख्या ० के समान है। विपरीततः, **ब**/० एक अर्थहीन पद है। इसे अनंत समझना भूल है। यदि **क**/**य** में **क** अचर रहता है, और **य** घटता जाता है, और **क**, **य** दोनों धनात्मक है, तो **क**/**य** का मान बढ़ता जायगा। यदि **य** शून्य की ओर अग्रसर होता है तो अंततोगत्वा **क**/**य** किसी बड़ी से बड़ी संख्या से भी बड़ा हो जायगा। हम इस बात को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त करते हैं

$$\text{सीमा}_{\text{य}\to 0} \frac{\text{क}}{\text{य}} = \infty$$

इसी परिणाम के आधार पर अवैज्ञानिक रीति से लोग कहते हैं कि **क**/०=∞।

कैंटर (१८४५-१९१८) ने अनंत की समस्या को दूसरे ढंग से व्यक्त किया है। कैंटरीय संख्याएँ, जो अनंत और सांत के विपरीत होने के कारण कभी कभी अतीत (ट्रैंसफाइनाइट) संख्याएँ कही जाती है, ज्यामिति और सीमासिद्धांत में प्रचलित अनंत की परिभाषा से भिन्न प्रकार की है। कैंटर ने लघुतम अतीत गणनात्मक संख्या (ट्रैंसफाइनाइट कार्डिनल नंबर) (एक, दो, तीन इत्यादि कार्डिनल संख्याएँ हैं, प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि ऑर्डिनल संख्याएँ हैं।) अ_0 (अकार शून्य, अलिफ-ज़ीरो) की व्याख्या प्राकृतिक संख्याओं १, २, ३, ... के संघ (सेट) की गणनात्मक संख्या से की है। यह सिद्ध हो चुका है कि $\text{अ}_0 + \text{स} = \text{अ}_0$, जिसमें **स** कोई सांत पूर्ण संख्या है। कैंटर ने केवल अकार शून्य के ही नहीं, अनेक अकार संख्याओं, अ_0, अ_1, ... के सिद्धांत को भी विकसित किया है। हार्डी ने गणनात्मक संख्या **अ**, वाले बिंदुओं के संघ की रचना करने की विधि बताई है। संख्या **स** ($=2^{\text{अ}_0}$) प्रतान (कंटिनुअम) की, अर्थात् वास्तविक संख्याओं के संघ की, गणनात्मक संख्या है। एकैकी रूपांतर (वन टु वन ट्रैंसफॉर्मेशन) द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि अंतराल (इंटरवल) (०, १) में भी बिंदुओं के संघ की गणनात्मक संख्या **स** होती है।

वास्तविक संख्याओं १, २, ३, ... के संघ से संबद्ध अतीत क्रमिक संख्या को **औ** (ओमिगा, ω) लिखते हैं और इसे प्रथम अतीत क्रमिक संख्या (ट्रैंसफाइनाइट ऑर्डिनल नंबर) कहते हैं। किसी दिए हुए अंतराल **का खा** में बा_1, बा_2, बा_3, ... बिंदुओं के एक अनुक्रम पर, जो वृद्धिमय

```
                    बा      बा           बा         बा
                    औ     औ+१        औ+२        औ२
क| |    |    |    |    |    |    |    |    |    |खा
  बा१ बा२  बा३  बान
```
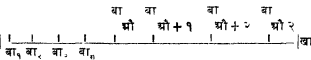
संख्याओं क_1, क_2, क_3, ... के अनुक्रम को व्यक्त करता है, विचार करें। इस अनुक्रम का एक सीमाबिंदु (लिमिटिंग पॉइंट) होगा जो इन समस्त बिंदुओं के दाहिनी ओर होगा, इसे हम $\text{बा}_{\text{औ}}$ द्वारा निरूपित कर सकते हैं। अब कल्पना करें कि बिंदु $\text{बा}_{\text{औ}}$ के उपरांत अन्य बिंदु ऐसे भी है जिन्हें हम बा_1, बा_2, बा_3, ...$\text{बा}_{\text{औ}}$ वाले संघ से संबद्ध मानना चाहेंगे, तब इन बिंदुओं को हम $\text{बा}_{\text{औ}+1}$, $\text{बा}_{\text{औ}+2}$, ... द्वारा व्यक्त करेंगे। यदि $\text{बा}_{\text{औ}1}$, $\text{बा}_{\text{औ}+1}$, $\text{बा}_{\text{औ}+2}$, ... नामक बिंदुओं के संघ का कोई अंतिम बिंदु न हो और ये सब **का खा** के अंतर्गत स्थित हों तो इस संघ का एक सीमाबिंदु होगा जिसे हम $\text{बा}_{\text{औ}+\text{औ}}$ या $\text{बा}_{\text{औ}2}$ द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, इत्यादि। अतः हमें क्रम संख्याएँ १, २, ३, ..., **औ**, **औ**+१, **औ**+२ ... **औ**२, **औ**२+१, ..., **औ**३, ... औ^2, ... प्राप्त होती हैं।

गणितीय विश्लेषण में हम बहुधा अनंत की ओर अग्रसर होनेवाले अनुक्रमों (या फलनों) की वृद्धि की तुलना करते हैं। लांडाऊ ने O, o, ~ नामक संकेतलिपि प्रचलित की है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है. यदि **फ**(**य**) और **फा**(**य**) अऋणात्मक हों और यदि समस्त **य**>य_0 के लिये **फ**(**य**)/**फा**(**य**)<एक अचल राशि **त** हो, तो **य** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर **फ**(**य**)=O{**फा** (**य**)} होता है। यदि समस्त **य**>य_0 के लिये **फा** (**य**)/**फा**(**य**)<**ट** हो, जिसमें **ट** कोई इच्छानुसार छोटी संख्या है, तो **य** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर **फ** (**य**) = o{**फा** (**य**)} होता है, और यदि **य** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर **फ** (**य**)/**फा** (**य**)→१ अथवा कोई अन्य सांत संख्या, तो हम **य**→∞ पर **फ** (**य**)~**फा**(**य**) लिखते हैं। अतः जब **स**→∞ तो $\text{स}^2+20\text{स}+1000 \sim \text{स}^2$। सामान्यतया दोनों अनुक्रम अनंत की ओर अग्रसर होते हैं और उनकी वृद्धि लगभग समान रहती है। पॉल दु बोइस-रैमो और जी० एच० हार्डी ने फलनों के अनुक्रमों की वृद्धि में तुलना करने के लिये 'अनंत मापनियों' (स्केल्स ऑव इनफिनिटी) की व्याख्या की है।

सं०ग्रं०—ए० एन० ह्वाइटहेड प्रिंसिपल्स ऑव नैचुरल नॉलिज, भाग ३ (१९१९), बर्ट्रैंड रसेल इंट्रोडक्शन टु मैथेमैटिकल फिलॉसफी (१९१९), ई० डब्ल्यू० हॉब्सन थ्योरी ऑव फंकशंस ऑव ए रियल वेरिएबिल, खंड १ (१९२७), जी० एच० हार्डी आर्डर्स ऑव इनफिनिटी (१९२४)। (शा० म० शा०)

अनंत गुणनफल फ_1, फ_2, फ_3, ... को एक विशेष क्रम में गुणा करने पर जो व्यंजक $\text{फ}_1 \text{फ}_2 \text{फ}_3$ ... बनता है उसे अनंत गुणनफल (इनफिनिट प्रॉडक्ट) कहते हैं। यदि फ_1, फ_2, फ_3, ... इन खंडों में से कोई खंड, मान लें **फ**, शून्य हो तो गुणनफल का मान शून्य होगा। अतः हम मान लेंगे कि कोई भी खंड शून्य नहीं है। अब हम $\text{फ}_1 \text{फ}_2 \text{फ}_3$ ... $\text{फ}_{\text{स}}$ के लिये $\text{गु}_{\text{स}}$ लिखा करेंगे। यदि जब **स**→∞, तब $\text{गु}_{\text{स}}$ किसी ऐसी सीमा के लिये अग्रसर होता है जो न तो अनंत (∞) है और न शून्य तो कहा जाता है कि अनंत गुणनफल फ_1, फ_2 फ_3, ... अभिसारी (कॉनवर्जेंट) है, अन्यथा उसे अनभिसारी (नॉनकानवर्जेंट) अथवा अपसारी (डाइवर्जेंट) कहा जाता है। उदाहरणार्थ,

$$\left(1+\frac{1}{2}\right)\left(1+\frac{1}{2^2}\right)\left(1+\frac{1}{2^3}\right)\text{...अनंत तक}$$

एक अभिसारी गुणनफल है, क्योंकि यहाँ $\text{गु}_{\text{स}}$ की सीमा न अनंत है और न शून्य, परंतु गुणनफल

$$\left(\frac{1}{2^2}\right)\left(\frac{2^2}{3^2}\right)\left(\frac{3^2}{4^2}\right)\left(\frac{4^2}{5^2}\right)\text{...अनंत तक}$$

एक अपसारी गुणनफल है, क्योंकि यहाँ प्रथम **स** खंडों का गुणनफल $1/(\text{स}+1)^2$ है, जो **स** के अनंत की ओर अग्रसर होने पर शून्य की ओर अग्रसर होता है। कोशी के अभिसरण नियम के अनुसार, गुणनफल के अभिसरण के लिये यह आवश्यक और पर्याप्त है कि किसी इच्छानुसार छोटी संख्या **इ** के दिए रहने पर, हम सदा ऐसी संख्या स_0 (**इ**) पा सकें कि **स**>स_0 (**इ**) के लिये और **श** = १, २, ३, ... के लिये,

$$|\text{फ}_{\text{स}+1}\,\text{फ}_{\text{स}+2} \ldots \text{फ}_{\text{स}+\text{श}} - 1| < \text{इ}।$$

विशेषतः, यह आवश्यक है कि $\text{सीमा}_{\text{स}\to\infty}\, \text{फ}_{\text{स}} = 1$

अतः, यदि हम $\text{फ}_{\text{स}}$ के बदले $1+\text{क}_{\text{स}}$ लिखा करें तो अनंत गुणनफल का सामान्य रूप

$$(1+\text{क}_1)\;(1+\text{क}_2)\;(1+\text{क}_3)\;\ldots$$

होगा, और यदि गुणनफल अभिसारी हो तो

$$\text{सीमा}_{\text{स}\to\infty}\, \text{क}_{\text{स}} = 0$$

अभिसरण की जाँच—अनंत गुणनफल के अभिसरण की जाँच की दो सरल विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(क) यदि प्रत्येक स के लिये $क_स \geqslant ०$ तो गुणनफल

$$\prod \left(१ + क_स \right)$$

तभी अभिसारी होगा जब श्रेणी $\sum क_स$ अभिसारी होगी, क्योंकि अनुक्रम (सीक्वेन्स)

$$\prod_{१}^{स} \left(१ + क_ट \right)$$

एकस्विनी वृद्धिमय (मोनोटोनिक इनक्रीज़िंग) है और

$$\sum_{ट=१}^{स} क_ट < \prod_{ट=१}^{स} \left(१ + क_ट \right)$$
$$= \prod_{ट=१}^{स} \text{घात लघु}\left(१ + क_ट\right)$$
$$= \text{घात} \prod_{ट=१}^{स} \text{लघु}\left(१ + क_ट\right)$$
$$< \text{घात} \sum_{ट=१}^{स} क_ट ।$$

अत, यदि अ > ० तो अनत गुणनफल

$$\prod_{१}^{\infty} \left(१ + \frac{१}{स^अ} \right)$$

अभिसारी होगा, यदि अ ≤ १, तो पूर्वोक्त गुणनफल अपसारी होगा।

(ख) यदि प्रत्येक स के लिये $० \leqslant क_स < १$, तो गुणनफल

$$\prod_{१}^{\infty} \left(१ - क_स \right)$$

तभी अभिसारी होगा जब अनत श्रेणी

$$\sum_{१}^{\infty} क_स$$

अभिसारी होगी।

निरपेक्ष अभिसरण—गुणनफल $\Pi(१ + क_स)$ को निरपेक्षत अभिसारी (ऐब्सोल्यूटली कॉनवर्जेंट) तब कहा जाता है जब गुणनफल $\Pi(१ + |क_स|)$ अभिसारी होता है। अत उपरिलिखित नियम (क) से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुणनफल $\Pi(१ + क_स)$ तभी निरपेक्षत. अभिसारी होगा जब $\sum क_स$ निरपेक्षत अभिसारी होगा।

यदि कोई श्रेणी $\sum क_स$ निरपेक्षत अभिसारी हो तो अवश्य ही वह अभिसारी भी होगी, और ऐसी श्रेणी का अभिसरण अपने पदो के क्रम पर निर्भर नही रहेगा। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि यदि $\Pi(१ + क_स)$ निरपेक्षत अभिसारी हो, तो गुणनफल अभिसारी होगा और गुणनफल एक ऐसे मान की ओर अभिसारी होगा जो गुणनखडो के क्रम पर निर्भर नही है। फिर, यदि कोई श्रेणी अनिरपेक्षत अभिसारी हो तो हम जानते हैं कि उपयुक्त पुनर्विन्यास (रिअरेंजमेंट) द्वारा वह किसी भी योग की ओर अभिसारी होनेवाली अथवा अपसारी अथवा प्रदोली (ऑसिलेटिंग) बनाई जा सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक अनिरपेक्षत अभिसारी अनत गुणनफल भी, खडो के क्रम मे परिवर्तन करने से, किसी निश्चित मान की ओर अभिसारी या अपसारी या प्रदोली बनाया जा सकता है।

अभिसरण संबंधी अन्य नियम—अब हम $\Pi(१ + क_स)$ की ससृति पर विचार करेंगे, जिसमे $क_स$ कोई वास्तविक सख्या है। अनत गुणनफल के अभिसरण के निमित्त $क_स$ को, स के अनत की ओर अग्रसर होने पर, शून्य की ओर प्रवृत्त होना चाहिए, अत. हम कल्पना कर सकते हैं कि आवश्यकतानुकूल खडो की एक परिमित सख्या को छोड़कर, $स \geqslant १$ के लिये, $|क_स| < १$ है। अब यदि ब धनात्मक है तो

$$० < ब - \text{लघु}\,(१ + ब) < \tfrac{१}{२}ब^२,$$

और यदि $० > ब > -१$, तो

$$० < ब - \text{लघु}\,(१ + ब) < \tfrac{१}{२}ब^२/(१ + ब)$$

अत हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते है :

(ग) यदि श्रेणी $\sum क_स$ अभिसारी हो तो अनत गुणनफल $(१ + क_स)$ तभी अभिसारी होगा, जब श्रेणी $\sum क_स^२$ अभिसारी होगी, अथवा अनत की ओर अपसारी होगा, जब $\sum क_स$ अनत की ओर अपसारी होगी, अथवा शून्य की ओर अपसारी होगा, जब $\sum क_स$ ऋण अनत की ओर अपसारी होगी, अथवा दोलित होगा, जब $\sum क_स$ दोलित होगी।

यदि $\sum क_स^२$ अपसारी हो और $\sum क_स$ अभिसारी हो या परिमित रूप से दोलित हो, तो गुणनफल $\Pi(१ + क_स)$ शून्य की ओर अपसारी होगा।

इस उपयोगी नियम का अपवाद तब उत्पन्न होता है, जब $\sum क_स^२$ अपसारी रहता है और $\sum क_स$ भी अपसारी रहता है, या अनत रूप से दोलित रहता है। ऐसी दशा मे गुणनफल अपसारी अथवा अभिसारी हो सकता है।

सामान्यत अनत गुणनफल की अभिसरणसमस्या सदैव अनत श्रेणी की अभिसरणसमस्या से निम्नलिखित साध्य द्वारा सबद्ध की जा सकती है :

(घ) अनत गुणनफल $\Pi(१ + क_स)$ तभी अभिसारी होगा जब श्रेणी $\sum \text{लघु}\,(१ + क_स)$ अभिसारी होगी। यदि हम समस्त लघुगणको के मुख्य मानो (प्रिंसिपल वैल्यूज़) को ही ले तो यह साध्य सकर (कॉम्प्लेक्स) $क_स$ के लिये भी ठीक है।

फलनो के गुणनफल—अनत गुणनफल

$$\prod_{स=१}^{\infty} \left\{ १ + क_स\,(ल) \right\}$$

के एकरूप (यूनीफ़ार्म) अभिसरण की व्याख्या, जब इसके पद वास्तविक चलराशि के या सकर चलराशि ल के फलन हो, श्रेणी $\sum क_स\,(ल)$ की भाँति की जा सकती है। ऐसे गुणनफल का एकरूप अभिसरण तभी सभव है जब

$$\prod_{स=१}^{न} \left\{ १ + क_स\,(ल) \right\},$$

ल के मानो के किसी क्षेत्रविशेष मे, एकरूपत ऐसी सीमा की ओर अभिसारी हो जो कभी शून्य नही होती।

कुछ विशेष गुणनफल—हम ज्या π ल को निम्नलिखित गुणनफल से व्यक्त कर सकते है।

$$\left\{ \left(१ - \frac{ल}{\pi}\right) ई^{ल/\pi} \right\} \left\{ \left(१ + \frac{ल}{\pi}\right) ई^{-ल/\pi} \right\} \left\{ \left(१ - \frac{ल}{२\pi}\right) ई^{ल/२\pi} \right\} \times \left\{ \left(१ + \frac{ल}{\pi}\right) ई^{-ल/२\pi} \right\} \ldots$$

विशेषत, यदि $ल = \tfrac{१}{२}$, तो हमे वलिस का सूत्र प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है :

$$\tfrac{१}{२}\pi = \frac{२ \times २ \times ४ \times ४ \times ६ \times ६ \times \ldots}{१ \times ३ \times ३ \times ५ \times ५ \times ७ \times ७ \times \ldots}$$

गामा फलन Γ (ल) भी एक ऐसा फलन है जो सरलता से अनत गुणनफल द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि स कोई धनात्मक पूर्ण सख्या हो तो स! का अर्थ सभी जानते है। परतु यदि स धनात्मक पूर्ण सख्या न हो तो स! की परिभाषा हम यह दे सकते है कि

$$स! = \Gamma(स + १)$$

ल = ०,−१,−२, .. को छोड ल के समस्त मानो के लिये Γ(ल) को हम निम्नलिखित सूत्र से परिभाषित कर सकते हैं :

$$\Gamma(\text{ल}) = \frac{\text{ई}^{-\text{गल}}}{\text{ल}\prod_{1}^{\infty}\left\{\left(1+\frac{\text{ल}}{\text{स}}\right)\text{ई}^{-\text{ल}/\text{स}}\right\}}$$

जिसमे गा एक अचर है जिसे आयलर अचर (ऑयलर कॉन्स्टैंट) कहते हैं। इस सूत्र द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि

$$\Gamma(\text{ल}+1) = \text{ल}\Gamma(\text{ल}),\ \Gamma(1) = 1,$$
$$\Gamma(\text{ल})\ \Gamma(1-\text{ल}) = \text{π व्युज्या π ल}।$$

सख्या-विभाजन-सिद्धात के अतर्गत हमे निम्नलिखित प्रकार के गुणनफल मिलते हैं

$$\left(1-\text{य}^{\text{स}_1}\right)\left(1-\text{य}^{\text{स}_2}\right)\left(1-\text{य}^{\text{स}_3}\right)\ldots,$$
$$\left(1+\text{य}^{\text{स}_1}\right)\left(1+\text{य}^{\text{स}_2}\right)\left(1+\text{य}^{\text{स}_3}\right)\ldots,$$

जिनमे $\text{स}_1<\text{स}_2<\text{स}_3<\ldots$। यदि स की विभाजन सख्या गु (स) से निरूपित की जाय तो गु (स) का जनक फलन, आयलर के अनुसार, फा (य) होगा, जहाँ

$$\text{फा}(\text{य}) = \frac{1}{(1-\text{य})(1-\text{य}^2)(1-\text{य}^3)\ldots}$$
$$= 1+\sum_{1}^{\infty}\text{गु}_{\text{न}}\text{य}^{\text{न}}।$$

यदि फी (स) उन धनात्मक पूर्ण सख्याओ की सख्या को व्यक्त करे जो स से कम और स के प्रति रूढ़ (प्राइम) है तो

$$\text{फी}(\text{स}) = \text{स}\prod_{\text{ग}/\text{स}}\left(1-\frac{1}{\text{ग}}\right)$$

जिसमे ग|स का अर्थ है स के रूढ खडो से बना गुणनफल।

यदि जी(ष) रीमान का ज़ीटा फलन है तो ष>१ के लिये

$$\text{जी}(\text{ष}) = \prod_{\text{ग}}\left(1-\text{ग}^{-\text{ष}}\right)^{-1},$$

जिसमे ग समस्त रूढ सख्याओ पर व्याप्त है।

सं०ग्र०—टी० जे० ब्रॉमविच ऐन इट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफिनिट सीरीज (१९२६), के० क्नोप थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव इनफिनिट सीरीज (१९२८), वायर्स्ट्रास के खड-साध्य, गामा फलन, रीमान के ज़ीटा फलन, सख्या-विभाजन-सिद्धात और अकगणितीय फलनो के लिये ई० सी० टिशमार्श थ्योरी ऑव फकशस (१९३९) देखे, ई० टी० कॉप्सन थ्योरी ऑव फकशस ऑव ए कप्लेक्स वेरिएबल (१९३५) और हार्डी तथा राइट थ्योरी ऑव नबर्स (१९४५) भी द्रष्टव्य है।

(स्व० मो० शा०)

अनंतचतुर्दशी भादो शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी अनतचतुर्दशी कहलाती है। इसमे अनत (विष्णु) की पूजा का विधान है। कट्टर वैष्णवो के लिये इससे बडा अन्य पर्व नही है। व्रत तथा स्नान के अतिरिक्त इस दिन विष्णुपुराण और भागवत का पाठ किया जाता है तथा हल्दी मे रँगकर कच्चे सूत का अनत पहनते है।

(च० म०)

अनतदास (१) भक्तमाल के रचयिता नाभादास के गुरुभाई विनोदी जी के शिष्य अनतदास का समय उनके द्वारा रचित नामदेव की परचई के आधार पर वि० स० १६४५ है। इन्होने पीपा की परचई मे अपनी गुरुपरपरा को रामानद से आरभ माना है और उसका क्रम इस प्रकार दिया है—रामानद—अनतानद—कृष्णदास—अग्रदास—विनोदी—अनतदास। इन्होने कबीरदास, नामदेव, पीपा, त्रिलोचन, रैदास जैसे सतो की परचइयाँ लिखी है जिनमे इन सतो के जीवन की बहुत सी महत्वपूर्ण बाते ज्ञात होती है और वे लेखक के लगभग समकालीन होने के कारण प्रमाण के रूप मे भी स्वीकार की जा सकती है।

(२) उत्कल प्रात के पचसखा वैष्णव भक्तो के सप्रदाय मे पचसखाओं अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के पाँच प्रधान भक्तो मे बलरामदास, यशोवतदास, अनतदास (जन्म स० १५५०) तथा अच्युतानददास की गणना की जाती है। ये हिंदी के अनतदास मे भिन्न व्यक्ति है। इनके आराध्य पूर्णतया निर्गुण शून्यवत् श्रीकृष्ण है।

(ना० ना० उ०)

अनंतपुर भारतीय सघ मे स्थित तमिलनाड् प्रात के अनतपुर जनपद का एक नगर है। यह नगर बेलारी से ६२ मील दक्षिणपूर्व दिशा मे स्थित है। अनतपुर जिले का क्षेत्रफल ६,७३४ वर्ग मील है। इसका दक्षिणी भाग पर्वतीय तथा शेष पठारी है। नगर मे दाल, चावल तथा आटा की मिले, कपास के गट्ठे बनाने के कारखाने एव तेल तथा चमडे के व्यवसाय मुख्य हैं। अनतपुर दक्षिण रेलवे का स्टेशन है तथा सडको द्वारा अन्य स्थानो से सबद्ध है।

(ह० ह० मि०)

अनतमूल को सस्कृत मे सारिवा, गुजराती मे उपलसरि, कावरवेल इत्यादि, हिंदी, बँगला और मराठी मे अनतमूल तथा अग्रेजी मे इडियन सार्सापरिला कहते है।

यह एक बेल है जो लगभग सारे भारतवर्ष मे पाई जाती है। लता का रंग कालामिश्रित लाल तथा इसके पत्ते तीन चार अगुल लबे, जामुन के पत्तो के आकार के, पर श्वेत लकीरोवाले होते है। इनके तोडने पर एक प्रकार का दूध जैसा द्रव निकलता है। फूल छोटे और श्वेत होते है। इनपर फलियाँ लगती है। इसकी जड गहरी लाल तथा सुगधवाली होती है। यह सुगध एक उडनशील सुगधित द्रव्य के कारण होती है, जिसपर इस औषधि के समस्त गुण अवलबित प्रतीत होत है। औषधि के काम मे जड ही आती है।

आयुर्वेदिक रक्तशोधक औषधियो मे इसी का प्रयोग किया जाता है। काढे या पाक के रूप मे अनतमूल दिया जाता है। आयुर्वेद के मतानुसार यह सूजन कम करती है, मूत्ररेचक है, अग्निमाद्य, ज्वर, रक्तदोष, उपदश, कुष्ठ, गठिया, सर्पदश, वृश्चिकदश इत्यादि मे उपयोगी है।

(भ० दा० व०)

अनंतवर्मन चोड गग कलिंग के गग राजकुल का प्रधान नरेश था। उसने अपने कुल का यश दूर दूर तक फैलाया। उसकी माता राजसुदरी चोडनरेश राजेंद्र चोड की कन्या थी। अनतवर्मन् ने सभवत १०७७ से ११४७ ई० तक, लगभग ७० वर्ष, राज्य किया। उसने उत्कला को जीतकर गोदावरी और गगा के बीच के देशो से कर वसूल किया, परंतु पालनरेश रामपाल के सामने सभवत उसे एक बार झुकना पडा। अनतवर्मन् ने ही पुरी के विख्यात जगन्नाथ जी के मदिर का निर्माण कराया था, जो, यद्यपि कला की दृष्टि से तो विशेष महत्वपूर्ण नही है, तथापि भारत के आज के समृद्धतम मदिरो मे से है। सेनराज विजयसेन ने उसके पुत्रो के समय कलिंग पर आक्रमण किया था।

(भ० श० उ०)

अनत श्रेणियाँ एक ऐसी श्रेणी, जिसके पदो की सख्या परिमित न हो, **अनत श्रेणी** (इनफिनिट सीरीज) कहलाती है। जैसे—

$$1-\tfrac{1}{2}+\tfrac{1}{3}-\tfrac{1}{4}\ldots$$

एक अनत श्रेणी है। अनत श्रेणियाँ परिमित सख्याओ के बराबर होती है कि नही, और यदि होती है तो अनत श्रेणियो के साथ जोडने, घटाने, गुणन तथा विभाजन आदि की क्रियाएँ किस प्रकार की जा सकती है और अनत श्रेणियो का क्या महत्व एव उपयोग है, इन प्रश्नो के समुचित उत्तर देने के लिये हमे गणित के कुछ संकेतो तथा विशेष धारणाओं की आवश्यकता होगी। इनका पहले उल्लेख कर देना ठीक है।

अनुक्रम—गिनती गिनने के क्रम मे जो सख्याएँ आती है, जैसे १, २, ३, . . , उनको **प्राकृतिक सख्याएँ** कहते है। प्राकृतिक सख्याओ के समुदाय मे कोई अतिम अथवा सबसे बडी सख्या नही है, क्योकि किसी भी प्राकृतिक सख्या मे १ जोडने से पहली से बडी एक दूसरी प्राकृतिक सख्या प्राप्त की जा सकती है। अत प्राकृतिक सख्याओ की सख्या परिमित नहीं है, दूसरे शब्दो मे, उनकी सख्या **अनत** है। गिनने के क्रम मे क्रमागत सख्याओ का परिमाण भी पूर्वागत सख्याओ के परिमाण से अधिक होता जाता है और उनके परिमाण के इस प्रकार बढने के प्रक्रम का कही अत नहीं

है। इस परिस्थिति को यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि 'प्राकृतिक संख्याओं का परिमाण अनंत की ओर बढ़ता जाता है।' अनंत का प्रतीक ∞ है। एक अनिर्धारित प्राकृतिक संख्या को हम अक्षर **प** से व्यक्त करेंगे। यदि **प** का मान इस तरह परिवर्तित हो रहा हो कि वह किसी भी प्राकृतिक संख्या से अधिक हो सकता है तो हम कहते है कि '**प** अनंत की ओर अग्रसर है।' प्रतीकों में इसे $प \to \infty$ से व्यक्त करते है (द्र० **सीमा** तथा **अनंत**)। $|प|$ से किसी भी संख्या **प** का निरपेक्ष मान व्यक्त किया जाता है जैसे $|-२| = |२| = २$। यदि **प** का मान इस तरह परिवर्तित हो रहा हो कि वह किसी भी ऋण संख्या से कम हो सकता है तो हम कहते है कि $प \to -\infty$। $-\infty < ल < \infty$ का अर्थ है कि **ल** एक परिमित संख्या है।

यदि संख्याओं (वास्तविक या सकर) का एक समूह इस प्रकार नियोजित हो कि प्रत्येक प्राकृतिक संख्या उस समूह की एक, और एक ही, संख्या की संगति में लगाई जा सके तो संख्याओं के उस समूह को **संख्या-अनुक्रम** या केवल **अनुक्रम** (सीक्वेंस) कहते है। जैसे, $१, \frac{१}{२}, \frac{१}{३}, \ldots, १/प, \ldots$ एक अनुक्रम है। इस अनुक्रम का **पवाँ** पद $१/प$ है। $क_१, क_२, क_३, \ldots, क_प, \ldots$ एक सामान्य अनुक्रम है जिसका **पवाँ** पद $क_प$ है। संक्षेप में, इसको संकेत $\{क_प\}_१^\infty$ अथवा $\{क_प\}$ या केवल $क_प$ से व्यक्त करते है। अनुक्रम के लिये यह आवश्यक नही है कि उसका **पवाँ** पद सूत्र रूप मे लिखा जा सके, पर यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक पद ज्ञेय हो। अभाज्य संख्याओं से एक अनुक्रम बनता है, किंतु **पवीं** अभाज्य संख्या को सूत्र रूप मे नहीं लिखा जा सकता। अनुक्रम मे एक ही संख्या बार बार भी आ सकती है, जैसे, १, २, १, २, १, २, ... एक अनुक्रम है। $क_प \to ०$ का अर्थ है कि $क_प$ ह्रासमान है, तथा जब $प \to \infty$ तो इसकी सीमा ० है।

अनंत श्रेणियाँ, उनका अभिसरण तथा अपसरण---यदि $क_१, क_२, \ldots, क_प, \ldots$ कोई अनुक्रम हो तो, जैसा ऊपर बताया गया है, $क_१ + क_२ + \ldots + क_प + \ldots$ को अनंत श्रेणी कहते है। इस अनंत श्रेणी का सामान्य पद अथवा **पवाँ** पद $क_प$ है। संक्षेप मे इस श्रेणी को इस प्रकार लिखते है

$$\sum_{प=१}^{\infty} क_प \text{ या } \sum क_प$$

यदि कुछ दी हुई संख्याओं की संख्या परिमित हो तो उनका योगफल भी एक परिमित संख्या होती है, पर अनंत श्रेणियो के योगफल का क्या अर्थ है? कुछ अनंत श्रेणियों का भी योगफल अवश्य होता है और उनके योगफल निकालने की विधि इस प्रकार है। यदि किसी अनंत श्रेणी के प्रथम **प** पदों का योगफल $ज_प$ से व्यक्त करे, अर्थात्

$$ज_प = क_१ + क_२ + \ldots + क_प \equiv \sum_{र=१}^{प} क_र$$

तो $ज_१, ज_२, \ldots, ज_प, \ldots$ एक अनुक्रम बन जाता है। यदि **प** के ∞ की ओर अग्रसर होने पर अनुक्रम $ज_प$ की सीमा एक परिमित संख्या **ज** है, अर्थात् यदि

$$\underset{प \to \infty}{\text{सीमा}}\ ज_प = ज,$$

तो ऐसी अनंत श्रेणी को **अभिसारी श्रेणी** (कॉनवर्जेंट सीरीज) कहते है और उसका योगफल संख्या **ज** के बराबर माना जाता है। ऐसी श्रेणियाँ जो अभिसारी नही होती **अनभिसारी** अथवा **अपसारी** (नॉन-कॉनवर्जेंट) होती है। जैसे

$$\frac{१}{२} + \frac{१}{२^२} + \frac{१}{२^३} + \ldots$$

अभिसारी है और इसका योगफल १ है, क्योंकि

$$ज_प = \frac{१}{२} + \frac{१}{२^२} + \frac{१}{२^३} + \ldots + \frac{१}{२^प} = \frac{१/२ - १/२^{प}}{१/२} \to १$$

फिर,

$$१ + २ + २^२ + \ldots$$

अपसारी है, क्योंकि $ज_प = \frac{२^प - १}{१} \to \infty$

अपसारी श्रेणियाँ दो प्रकार की होती हैं। यदि $ज_प \to \pm \infty$, तो श्रेणी **पूर्ण अपसारी** होती है और यदि $ज_प$ का मान दो संख्याओं (परिमित अथवा अनंत) के बीच दोलित होता रहता है तो श्रेणी **प्रदोली** (ऑसिलेटरी) कहलाती है। $१ - १ + १ - १ + १ - \ldots$ प्रदोली श्रेणी है।

जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अभिसारी श्रेणियो के साथ ही गणित की प्रधान क्रियाएँ संभव है। अत किसी दी हुई अनंत श्रेणी के संबंध मे सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह अभिसारी है या नहीं। इसके लिये एक आवश्यक और पर्याप्त प्रतिबंध यह है कि सीमा $(ज_प - ज_फ) = ०$, जब एक दूसरे से स्वतंत्र रहकर $प \to \infty$, $फ \to \infty$। यह प्रतिबंध व्यवहार मे बहुत लाभकर नहीं सिद्ध होता, किंतु इसके आधार पर कई उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते है, जैसे प्रत्येक अभिसारी श्रेणी के लिये यह आवश्यक है कि $क_प \to ०$। इस परीक्षा के अनुसार $\sum$ कोज्या $(१/प)$ अभिसारी श्रेणी नहीं है।

धन श्रेणियाँ---ऐसी श्रेणी जिसके सभी पद धन संख्याएँ हो **धन श्रेणी** कहलाती है। यदि **न** एक से बड़ी कोई संख्या है तो श्रेणी

$$१ + \frac{१}{२^न} + \frac{१}{३^न} + \ldots \frac{१}{प^न} + \ldots$$

अभिसारी होती है और यदि $न \leqslant १$ तो श्रेणी अपसारी होती है। इस प्रकार श्रेणी $१ + \frac{१}{४} + \frac{१}{९} + \frac{१}{१६} + \ldots$ अभिसारी है। इसका योगफल $= \frac{१}{६}\pi^२$, जहाँ $\pi = ३.१४\ldots$। $१ + \frac{१}{२} + \frac{१}{३} + \ldots$ अपसारी है। धन श्रेणियो के अभिसरण तथा अपसरण की कुछ परीक्षाएँ नीचे दी जाती है। जिन श्रेणियो का उल्लेख यहाँ होगा वे सभी धन श्रेणियाँ है।

१ यदि $क_प \leqslant ग_प$ और $\sum ग_प$ अभिसारी है, तो $\sum क_प$ भी अभिसारी है। यदि $क_प \geqslant ग_प$ और $\sum ग_प$ अपसारी है तो $\sum क_प$ भी अपसारी है।

२ **तुलना परीक्षा**---यदि सीमा $क_प/ग_प = ल$, $० < ल < \infty$, तो $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ साथ साथ ही अभिसारी अथवा अपसारी होगी।

३ **अनुपात परीक्षा** (दलांबेर की)---मान ले कि सीमा $क_प/क_{प+१} = ल$। यदि $ल > १$ तो $\sum क_प$ अभिसारी होगी और यदि $ल < १$ तो अपसारी होगी। यदि $ल = १$ तो कुछ नहीं कहा जा सकता और नीचे की परीक्षा का प्रयोग करना चाहिए।

४. **राबे की परीक्षा**---यदि सीमा $प\,(क_प/क_{प+१} - १) = ल$ और $ल > १$, तो श्रेणी अभिसारी है और यदि $ल < १$ तो अपसारी है। यदि $ल = १$ तो नीचे की परीक्षा का उपयोग करना चाहिए।

५ मान ले, जब $प \to \infty$, तब

$$\text{लघु} \left\{ प \left(\frac{क_प}{क_{प+१}} - १ \right) - १ \right\} \to ल$$

यदि $ल > १$, तो श्रेणी अभिसारी होगी और यदि $ल < १$, तो अपसारी होगी।

६ **कोशी की मूल परीक्षा**---मान ले $(क_प)^{१/प} \to ल$। यदि $ल < १$, तो श्रेणी अभिसारी होगी और यदि $ल > १$ तो, अपसारी होगी। मूल परीक्षा सिद्धांतत अनुपातपरीक्षा से अधिक शक्तिपूर्ण है, किंतु व्यवहार मे अनुपात परीक्षा अधिक उपयोगी है।

७ **समाकल परीक्षा** (मैक्लारिन की)---यदि $म_प$ ह्रासमान हो और $क_प \equiv फ(प)$, तो

$$ज_प - \int_१^प फ(य)\,तय$$

की सीमा एक परिमित संख्या होती है और परिणामस्वरूप समाकल

$$\int_१^\infty फ(य)\,तय \text{ तथा श्रेणी } \sum क_प$$

एक साथ ही अभिसारी तथा अपसारी होती है। इस परीक्षा से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि $(१ + \frac{१}{२} + \frac{१}{३} + \ldots + १/प - \text{लघु}\ प)$ की सीमा एक परिमित संख्या है। **इस संख्या को ऑयलर का अचर कहते हैं और इसका मान ०.५७७२१५६६... है।**

इनके अतिरिक्त कोशी की सघननपरीक्षा तथा गाउस की परीक्षा आदि भी हैं। स्थानाभाव से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है (द्र० संदर्भ ग्रंथ)।

सामान्य श्रेणियाँ और परम अभिसरण—ऐसी श्रेणी, जिसके कोई दो क्रमिक पद भिन्न चिह्नों के हों (एक + और दूसरा −), **एकांतर श्रेणी** कहलाती है। यदि $\text{क}_\text{प} \to ०$, तो श्रेणी $\text{क}_१ - \text{क}_२ + \text{क}_३ - \text{क}_४ + \dots$ अभिसारी होती है। जैसे $१ - \frac{१}{२} + \frac{१}{३} - \frac{१}{४} + \dots$ अभिसारी है, इसका योग लघु २ है।

यदि धन और ऋण दोनों प्रकार के पदोंवाली श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}$ ऐसी हो कि श्रेणी $\sum |\text{क}_\text{प}|$ अभिसारी है, तो यह कहा जाता है कि श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}$ **परम अभिसारी** है। जैसे, $१ - \frac{१}{४} + \frac{१}{९} - \frac{१}{१६} + \dots$ परम अभिसारी है, किंतु $१ - \frac{१}{२} + \frac{१}{३} - \frac{१}{४} + \dots$ परम अभिसारी नहीं है। प्रत्येक परम अभिसारी श्रेणी अवश्यमेव अभिसारी होती है, किंतु प्रत्येक अभिसारी श्रेणी परम अभिसारी नहीं होती। $१ - \frac{१}{२} + \frac{१}{३} - \frac{१}{४} + \dots$ अभिसारी है, किंतु परम अभिसारी नहीं है। ऐसी श्रेणी को **सप्रतिबंध अभिसारी** (कंडिशनली कॉनवर्जेंट) कहते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक अभिसारी धन श्रेणी परम अभिसारी होती है। परम अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने से श्रेणी के योगफल में अंतर नहीं पड़ता और वह परम अभिसारी बनी रहती है। इसके विपरीत, सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में हेर फेर करने से श्रेणी के आचरण और उसके योग दोनों में अंतर पड़ सकता है। जैसे $१ - \frac{१}{२} + \frac{१}{३} - \frac{१}{४} + \dots =$ लघु २, किंतु $१ + \frac{१}{३} - \frac{१}{२} + \frac{१}{५} + \frac{१}{७} - \frac{१}{४} + \dots = \frac{३}{२}$ लघु २।

जर्मन गणितज्ञ रीमान (१८२६-१८६६) ने यह सिद्ध किया है कि किसी सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में उचित हेर फेर करके उसका योग किसी भी संख्या के बराबर किया जा सकता है अथवा उसका हर प्रकार की अपसारी श्रेणी का रूप दिया जा सकता है। परम अभिसारी श्रेणियों तथा सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणियों के आचरण के इस मौलिक अंतर का मूल कारण यह है कि परम अभिसारी श्रेणी के धन पदों और ऋण पदों द्वारा अलग अलग दो अभिसारी श्रेणियाँ बनती हैं तथा इसके विपरीत सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के धनपदों और ऋणपदों द्वारा अलग अलग दो अपसारी श्रेणियाँ बनती हैं।

अनंत श्रेणियाँ और प्रधान क्रियाएँ—यदि $\text{क} = \sum \text{क}_\text{प}$ और $\text{ग} = \sum \text{ग}_\text{प}$ दो अभिसारी श्रेणियाँ हों, तो $\sum (\text{क}_\text{प} \pm \text{ग}_\text{प})$ भी अभिसारी होती है और इसका योग $= \text{क} \pm \text{ग}$, अर्थात् दो अभिसारी श्रेणियों के संगत पद जोड़ने और घटाने से बनी श्रेणियाँ भी अभिसारी होती हैं, किंतु गुणनफल के संबंध में यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। दो श्रेणियों $\sum \text{क}_\text{प}$ और $\sum \text{ग}_\text{प}$ का गुणनफल श्रेणी

$$\sum \text{क}_\text{प}\text{ग}_\text{र}, \quad \text{प} = १, २, ३, \dots \quad \text{र} = १, २, ३, \dots$$

से व्यक्त किया जाता है। परम अभिसरण की धारणा का महत्व दो श्रेणियों के गुणनफल के संबंध में अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। यदि $\text{क} = \sum \text{क}_\text{प}$ और $\text{ग} = \sum \text{ग}_\text{प}$ परम अभिसारी हों, तो $\sum \text{क}_\text{प}\text{ग}_\text{र}$ प्रत्येक दशा में परम अभिसारी होती है तथा इसका योग **कग** होता है। श्रेणियों $\sum \text{क}_\text{प}$ और $\sum \text{ग}_\text{प}$ का एक विशेष गुणनफल, जिसको कोशी गुणनफल कहते हैं, श्रेणी $\sum \text{ख}_\text{प}$ से व्यक्त किया जाता है, जिसमें $\text{ख}_\text{प} = \text{क}_१\text{ग}_\text{प} + \text{क}_२\text{ग}_{\text{प}-१} + \dots + \text{क}_\text{प}\text{ग}_१$। कोशी गुणनफल के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण प्रमेय निम्नलिखित हैं :

१. **कोशी प्रमेय**—यदि $\text{क} = \sum \text{क}_\text{प}$ तथा $\text{ग} = \sum \text{ग}_\text{प}$ दो परम अभिसारी श्रेणियाँ हों तो श्रेणी $\sum \text{ख}_\text{प}$ भी परम अभिसारी होगी और इसका योग **कग** होगा।

२. **मर्टन प्रमेय**—यदि $\text{क} = \sum \text{क}_\text{प}$ परम अभिसारी हो तथा $\text{ग} = \sum \text{ग}_\text{प}$ केवल अभिसारी हो, तो $\sum \text{ख}_\text{प}$ भी अभिसारी होगी और इसका योग **कग** होगा।

३. **आबेल प्रमेय**—यदि $\text{क} = \sum \text{क}_\text{प}$ और $\text{ग} = \sum \text{ग}_\text{प}$ ये दोनों श्रेणियाँ केवल अभिसारी हों और $\sum \text{ख}_\text{प}$ भी अभिसारी हो, तो $\sum \text{ख}_\text{प} = \text{कग}$।

एक समान अभिसरण—अभी तक हमने अचर पदोंवाली श्रेणियों की ही चर्चा की है। मान लीजिए कि श्रेणी

$$\sum_{\text{प}=१}^{\infty} \text{क}_\text{प}(\text{य}),$$

जिसका प्रत्येक पद $\text{क}_\text{प}(\text{य})$ अंतराल (त, थ) में चर **य** का फलन है, **य** के प्रत्येक मान के लिये अभिसारी है। श्रेणी का योगफल **क (य)** भी **य** का एक फलन होगा। यदि **घ** कोई स्वेच्छ धन अचर हो और $\text{य}_१, \text{य}_२, \text{य}_३ \dots$ अंतराल (त, थ) की संख्याएँ हों, तो इनसे संगत क्रमश $\text{प}_१, \text{प}_२, \text{प}_३$ ऐसी प्राकृतिक संख्याएँ होंगी कि $|\text{क}_\text{प}(\text{य}_१) - \text{क}(\text{य}_१)| < \text{घ}$, जहाँ $\text{प} > \text{प}_१$, $|\text{क}_\text{प}(\text{य}_२) - \text{क}(\text{य}_२)| < \text{घ}$, जहाँ $\text{प} > \text{प}_२$, आदि। यदि **य** के सभी मानों के लिये एक ही प्राकृतिक संख्या **म** ऐसी हो कि $|\text{क}_\text{प}(\text{य}) - \text{क}(\text{य})| < \text{घ}$ जब $\text{प} \geqslant \text{म}$, तो हम कहते हैं कि श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}(\text{य})$ अंतराल (त, थ) में एकसमानत अभिसारी (यूनिफॉर्मली कॉनवर्जेंट) है। स्पष्ट है कि **एकसमानतः अभिसारी** श्रेणी अवश्यमेव अभिसारी होती है।

एकसमान अभिसरण के लिये कई परीक्षाएँ हैं, किंतु उनमें सबसे सरल और अत्यंत उपयोगी परीक्षा, जिसको जर्मन गणितज्ञ वायर्स्ट्रास ने सिद्ध किया था, इस प्रकार है : यदि $\sum \text{म}_\text{प}$ धन अचर पदों की एक ऐसी अभिसारी श्रेणी हो कि **य** के सभी मानों के लिये $|\text{क}_\text{प}(\text{य})| \leqslant \text{म}_\text{प}$, $\text{प} = १, २, \dots$, तो श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}(\text{य})$ एकसमानत अभिसारी होगी। जैसे, श्रेणी $१ + \text{य} + \text{य}^२ + \dots$ अंतराल (०, ग), $० < \text{ग} < १$, में एकसमानत अभिसारी है। श्रेणी

$$\text{ज्या}(\text{य}) + \frac{\text{ज्या}(२\text{य})}{४} + \frac{\text{ज्या}(३\text{य})}{९} + \dots$$

य के सभी मानों के लिये एकसमानत अभिसारी है। एकसमान अभिसरण का महत्व नीचे के प्रमेयों से स्पष्ट हो जाता है :

१. यदि किसी एकसमानत अभिसारी श्रेणी का प्रत्येक पद **य** का सतत फलन हो, तो एकसमान अभिसरण के अंतराल में उस श्रेणी का योगफल भी य का सतत फलन होगा।

२. यदि $\sum \text{क}_\text{प}(\text{य})$ अंतराल (त, थ) में एकसमानत अभिसारी हो तथा उसका योग **ज (य)** हो, तो

$$\int_\text{त}^\text{थ} \text{ज}(\text{य})\,\text{तय} = \sum \int_\text{त}^\text{थ} \text{क}_\text{प}(\text{य})\,\text{तय}$$

३. यदि $\text{ज}(\text{य}) = \sum \text{क}_\text{प}(\text{य})$ एकसमानत अभिसारी हो और अवकलित श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}'(\text{य})$ भी सतत पदों की एकसमानत अभिसारी श्रेणी हो, तो $\text{ज}'(\text{य}) = \sum \text{क}_\text{प}'(\text{य})$। यहाँ प्राम अवकलन का द्योतक है।

संमिश्रण श्रेणियाँ—ऐसी श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}$ जिसका प्रत्येक पद $\text{क}_\text{प} = \text{ग}_\text{प} + \text{श्र}\text{ब}_\text{प}$, $\text{श्र} = \sqrt{(-१)}$ (द्र० **संमिश्र संख्याएँ**), एक संमिश्र संख्या हो, **संमिश्र श्रेणी** कहलाती है। श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}$ तब, और केवल तब, अभिसारी कही जाती है जब दोनों श्रेणियाँ $\text{ग} = \sum \text{ग}_\text{प}$ और $\text{ब} = \sum \text{ब}_\text{प}$ अभिसारी हों। $\sum \text{क}_\text{प}$ का योग **ग + श्रब** माना जाता है। यदि

$$\sum \text{क}_\text{प} = \sum \sqrt{(\text{ग}_\text{प}^२ + \text{ब}_\text{प}^२)}$$

भी अभिसारी हो, तो कहा जाता है कि $\sum \text{क}_\text{प}$ परम अभिसारी है। $\sum \text{क}_\text{प}$ के परम अभिसरण के लिये यह आवश्यक और पर्याप्त है कि प्रत्येक श्रेणी $\sum \text{ग}_\text{प}$ और $\sum \text{ब}_\text{प}$ परम अभिसारी हो। इस प्रकार संमिश्र श्रेणियों का अध्ययन वास्तविक श्रेणियों के अध्ययन में रूपांतरित किया जा सकता है, किंतु स्वतंत्र रूप में उनका अध्ययन पर्याप्त सरल और शिक्षाप्रद होता है।

घात श्रेणियाँ—श्रेणी

$$\sum_{\text{प}=१}^{\infty} \text{क}_\text{प}(\text{य} - \text{त})^\text{प},$$

जिसमें $\text{क}_\text{प}$ तथा **त** अचर हैं, और **य** चर (वास्तविक अथवा संमिश्र), **घात श्रेणी** कहलाती है। यदि **त** को शून्य मान लें तो श्रेणी का रूप होगा $\sum \text{क}_\text{प}\text{य}^\text{प}$। घात श्रेणियों से परम अभिसरण तथा एकसमान अभिसरण के बहुत सुंदर उदाहरण मिल सकते हैं। प्रत्येक घात श्रेणी $\sum \text{क}_\text{प}\text{य}^\text{प}$ के लिये एक ऐसी अद्वितीय वास्तविक धनसंख्या **ब** होती है, $० \leqslant \text{ब} \leqslant \infty$, कि **य** के ऐसे सभी मानों के लिये जिनके लिये $|\text{य}| < \text{ब}$, **श्रेणी अभिसारी होती है; और उन मानों के लिये श्रेणी**

अपसारी होती है जिनके लिये $|य| > त्र$। त्र को श्रेणी की **अभिसरण-त्रिज्या** कहते हैं और वृत्त (अथवा अंतराल) $|य| < त्र$ को श्रेणी का **अभिसरण वृत्त** (अथवा अंतराल) कहते हैं।

प्रत्येक घात श्रेणी के लिये

$$त्र = (सीमा\ |क_प|^{1/प})^{-1}।$$

यदि सीमा $|क_प|/|क_{प+1}|$ एक निश्चित संख्या है तो त्र का मान उसके बराबर होता है। श्रेणियों

$$1 + य + 2^2 य^2 + 3^3 य^3 + \dots,\quad 1 + य + य^2 + \dots,$$

तथा

$$1 + य + \frac{य^2}{2!} + \frac{य^3}{3!} + \dots$$

की अभिसरण त्रिज्याएँ क्रमश ०, १ और ∞ है। प्रत्येक घात श्रेणी अभिसरण वृत्त के भीतर परम अभिसारी तथा एकसमानत अभिसारी होती है, और उसका योग अभिसरण वृत्त के भीतर एक वैश्लेषिक फलन होता है (द्र० **फलन तथा टेलर श्रेणी**)।

अनंत श्रेणियों की संकलनीयता—कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिनकी सहायता से कतिपय अपसारी श्रेणियों के साथ भी योगफल की धारणा का संनिवेश किया जा सकता है। १८वीं शताब्दी के जर्मन गणितज्ञ ऑयलर ने अपसारी श्रेणी १ − १ + १ − १ + ... का योग ½ माना था और इसका सफलतापूर्वक उपयोग भी किया था। किंतु अपसारी श्रेणियों के उपयोग से प्राय परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकलने लगे। इसलिये कोशी, आबेल आदि ने उपपत्तियों में अपसारी श्रेणियों के प्रयोग को अनुचित बताया। १९वीं शताब्दी में चेज़ारो, बोरेल आदि ने संकलन की ऐसी विधियाँ निकाली जिनके द्वारा संकलनीय अपसारी श्रेणियों को भी वही प्रतिष्ठा मिली जो अभिसारी श्रेणियों को मिली थी। स्थानाभाव से यहाँ केवल चेज़ारो की एक विधि का उल्लेख किया जाता है। यदि $ज_प$ श्रेणी $\sum क_प$ के प पदों का जोड़ हो तो मान लें

$$स_प = \frac{ज_1 + ज_2 + \dots + ज_प}{प}$$

यदि सीमा $स_प$ एक निश्चित परिमित संख्या स के बराबर है तो यह कहा जाता है कि श्रेणी $\sum क_प$ चेज़ारो की विधि से संकलनीय है और उसका योगफल स है। इस प्रकार १ − १ + १ − १ + ... संकलनीय है और इसका योगफल ½ है। प्रत्येक अभिसारी श्रेणी इस विधि से संकलनीय होती है और उसका योगफल बदलता नहीं।

सं० ग्रं०—ब्रॉमविच . ऐन इंट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफिनिट सीरीज़, क्नॉप . थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव इनफिनिट सीरीज़, हार्डी . डाइवर्जेंट सीरीज़। (उ० ना० सिं०)

अनईकट्टू अंग्रेजी शब्द 'ऐनीकट' तमिल भाषा के मूल शब्द 'अनई-कट्टू' का अपभ्रंश है। इसका मूल अर्थ बाँध है। ऐसे बाँध नदी के मार्ग के अनुप्रस्थ (आरपार) बना दिए जाते है, जिससे बाँध के पूर्व नदी तल ऊँचा हो जाता है। तब इसकी बगल में बनी नहरों में पानी भेजा जा सकता है। उत्तर भारत में 'अनईकट्टू' या 'ऐनीकट' शब्द का प्रयोग नहीं होता (द्र० 'उद्रोध')। कभी कभी जलाशयों के ऊपर, अतिरिक्त जल की निकासी के लिये, जो बाँध या पक्की दीवार बनाई जाती है उसे भी अनईकट्टू कहते हैं। अनईकट्टू बहुधा पत्थर या ईंट की पक्की
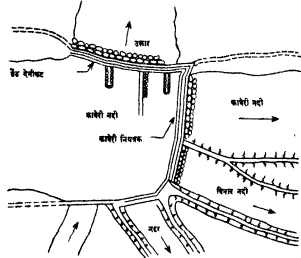
कावेरी नदी पर बना ग्रैंड ऐनीकट

चुनाई में बनाए जाते हैं और इसकी मोटाई की गणना इंजीनियरी के सिद्धांतों पर की जाती है, क्योंकि दुर्बल अनईकट्टू पानी के अधिक वेग अथवा बाढ़ से टूट जाते हैं और आवश्यकता से अधिक दृढ़ बनाने में व्यर्थ अधिक धन लगता है। सबसे महत्वपूर्ण अनईकट्टू दक्षिण भारत में "ग्रैंड ऐनीकट" है जो कावेरी नदी पर शताब्दियों पूर्व चोल राजाओं के समय का बना हुआ है। इससे कई नहरें निकाली गई है। (बा० ना०)

छोटा अनईकट्टू (उद्रोध)

नदी नालों में जल के मार्ग को बाँध से छोटा कर देने पर बाँध के पूर्व जल का स्तर ऊँचा हो जाता है, जिससे कई प्रकार की सुविधाएँ होती है।

अनकापल्लि आंध्र प्रदेश के विशाखपत्तनम जिले का एक नगर है, जो १७° ४२' उ० अ० तथा ८३° २' पू० दे० रेखाओं पर शारदा नदी के किनारे विशाखपत्तनम से लगभग २० मील पश्चिम, एक उपजाऊ क्षेत्र में स्थित है। यह एक उन्नतिशील कृषिकेंद्र है तथा ताँबे और लोहे के पात्रों के लिये प्रसिद्ध है। १८७८ ई० में यहाँ नगरपालिका बनी। मद्रास से यह स्थान ४८४ मील दूर है। यहाँ एक रेलवे स्टेशन भी है। (न० ला०)

अनक्सागोरस एक यूनानी दार्शनिक जो एशिया-माइनर के क्लेज़ोमिनिया नामक स्थान में ५०० ई० पू० में पैदा हुआ, किंतु जिसकी ज्ञानपिपासा उसे यूनान खींच लाई। वह प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिज्ञ पेरीक्लीज़ तथा कवि यूरिपिडिज़ का अन्यतम मित्र था। कुछ विद्वान् उसे सुकरात का शिक्षक बताते है, किंतु यह कथन पर्याप्त प्रामाणिक नहीं है।

इयोनिया से दर्शन और प्राकृतिक विज्ञान को यूनान लाने का श्रेय अनक्सागोरस को ही है। वह स्वयं अनक्ज़ामिनस, इम्पिडाक्लीज़ तथा यूनानी अणुवादियों से प्रभावित था, अत उसके दर्शन की प्रमुख विशेषता विश्व की यांत्रिक भौतिकवादी व्याख्या है। उसने इस तत्कालीन यूनानी आस्था का कि सूर्य चंद्रादि देवगण है, खंडन कर यह प्रस्थापित किया कि सूर्य एक तप्त लौह द्रव्य एवं चंद्र तारागण पाषाणसमूह हैं जो पृथ्वी की तेज गति के कारण उससे छिटककर दूर जा पड़े है। वह इस विचारधारा का भी विरोधी था कि वस्तुएँ 'उत्पन्न' तथा 'विनष्ट' होती है। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रागैतिहासिक अति सूक्ष्म द्रव्यों के—जिन्हें वह 'बीज' कहता है और जो मूलत अगणित एवं स्वविभाजित थे—'संयोग' तथा 'विभाजन' का परिणाम है। वस्तुओं की परस्पर भिन्नता 'बीजों' के विभिन्न परिमाण में 'संयोग' के फलस्वरूप है। अनक्सागोरस के अनुसार इन मूल 'बीजों'

का ज्ञान तभी संभव है जब उन्हें जटिल संयुक्त समूहों से 'बुद्धि' की क्रिया द्वारा पृथक् किया जाय। 'बुद्धि' स्वयं सर्वत्र सम, स्वतंत्र एवं विशुद्ध है।

तत्कालीन यूनानी धार्मिक दृष्टिकोण से मतभेद तथा पेराक्लीज की मित्रता अनक्सागोरस को महँगी पड़ी। पेराक्लीज के प्रतिद्वंद्वियों ने उसपर 'अधार्मिकता' और 'असत्य प्रचार' का आरोप लगाया, जिसके कारण उसे केवल ३० वर्ष बाद ही एथेंस छोड़कर एशिया माइनर लौट जाना पड़ा, जहाँ ७२ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

सं०ग्रं०—अनक्सागोरस के बिखरे विचारों का संकलन शोबाक् तथा शोर्न द्वारा (क्रमशः लाइपजिग, १८२७ एवं बान, १८२९ में), गोमपर्ज ग्रीक थिंकर्स, जिल्द १, विडलबेड हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी, बरनेट ईर्ली ग्रीक फिलॉसफी, स्टेस क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसफी।

(श्री० स०)

अनग्रदंत (ईडेंटेटा), जैसा नाम से ही स्पष्ट है, वे जंतु हैं जिनके अग्रदंत नहीं होते। हिंदी का 'अनग्रदंत' शब्द अंग्रेजी के ईडेंटेटा का समानार्थक माना गया है। अंग्रेजी के 'ईडेंटेटा' शब्द का अर्थ है 'जंतु जिनको दाँत होते ही नहीं'। अंग्रेजी का ईडेंटेटा नाम कुवियर ने उन जरायुज, स्तनधारी जंतुओं के समुदाय को दिया था जिनके सामने के दाँत (कर्तनक दंत) अथवा जबड़े के दाँत नहीं होते। इस समुदाय के अंतर्गत दक्षिण अमरीका के चींटीखोर (ऐंटईटर्स), शाखालंबी (स्लॉथ), वर्मी (आर्माडिलोज) और पुरानी दुनिया के आर्डवार्क तथा वज्रकीट (पैंगोलिन) आते हैं। इनमें वज्रकीट तथा चींटीखोर बिलकुल दंतविहीन होते हैं। अन्यों में केवल सामने के कर्तनक दंत नहीं होते, परंतु शेष दाँत ह्रास की अवस्था में, बिना दंतवल्क (इनैमल) तथा मूल (रूट) के, होते हैं और किसी किसी में दाँतों के पतनशील पूर्वज पाए जाते हैं।

स्तनधारी प्राणियों के वर्गीकरण में पहले अनग्रदंतों का एक वर्ग (ऑर्डर) माना गया था और इसके तीन उपवर्ग थे (क) जिनार्थ्रा, (ख) फोलिडोटा तथा (ग) ट्यूबुलीडेंटेटा, किंतु अब ये तीनों उपवर्ग स्वयं अलग अलग वर्ग बन गए हैं। इस प्रकार ईडेंटेटा वर्ग का पृथक् अस्तित्व विलीन होकर उपर्युक्त तीन वर्गों में समाहित हो गया है।

जिनार्थ्रा—यह प्रायः दक्षिण तथा मध्य अमरीकी प्राणियों का समुदाय है, यद्यपि इसके कुछ सदस्य उत्तरी अमरीका में भी प्रवेश कर गए हैं। प्रारूपिक (टिपिकल) अमरीकी अनग्रदंत अथवा जिनार्थ्रा की विशेषता यह है कि अंतिम पृष्ठीय तथा सभी कटिकशेरुकाओं में अतिरिक्त संधिमुखिकाएँ (फ़ैसेट) अथवा असामान्य संधियाँ पाई जाती हैं। इनमें दाँत हो भी सकते हैं और नहीं भी। जब होते हैं तब सभी दाँत बराबर होते हैं अथवा एक सीमा तक विभिन्न होते हैं। शरीर का आवरण मोटे बालों अथवा अस्थिल पट्टियों का रूप ले लेता है अथवा छोटे या बड़े बालों का समिश्रण होता है।

यह वर्ग तीन कुलों में विभक्त है। इनमें पहला है ब्रैडीपोडिडी, जिसके उदाहरण त्रिअंगुलक शाखालंबी (स्लॉथ) तथा द्विअंगुलक शाखालंबी हैं। दूसरा है मिरमेकोफेजिडी, जिसके उदाहरण हैं बृहत्काय चींटीखोर (जाएंट ऐंटईटर्स) तथा त्रिअंगुलक चींटीखोर (ट्री टाड ऐंटईटर्स)। तीसरा है डेसीपोडाइडी, जिसके उदाहरण हैं टेक्सास के वर्मी (आर्माडिलोज) तथा बृहत्काय वर्मी (जाएंट आर्माडिलोज)।

शाखालंबी—शाखालंबी का सिर गोल और लघु, कान का लोर छोटा, पाँव लंबे एवं पतले होते हैं। स्तनपायी जानवरों में अन्य किसी भी समुदाय के अंग वृक्षवासी जीवन के इतने अनुकूल नहीं हैं जितने शाखालंबियों में। इनमें अग्रपाद पश्चपादों की अपेक्षा अधिक बड़े होते हैं। अँगुलियाँ लंबी, भीतर की ओर मुड़ी हुई और अंकुश सदृश होती हैं, जिनसे उनका वृक्षों पर चढ़ने तथा उनकी शाखाओं को पकड़कर लटके रहने में सुविधा होती है। त्रिअंगुलक शाखालंबी के अग्र तथा पश्च दोनों ही पादों में तीन तीन अँगुलियाँ होती हैं, किंतु द्विअंगुलक शाखालंबी के अग्रपाद में दो और पश्चपाद में तीन अँगुलियाँ होती हैं। इनकी पूँछ प्रारंभिक अवस्था में अथवा अल्पविकसित होती है। इनका शरीर लंबे तथा मोटे बालों से आच्छादित रहता है। आर्द्र जलवायु के कारण इनके बालों पर एक प्रकार की हरी काई जैसी वस्तु 'एल्जी' उत्पन्न होती है जिससे इन जानवरों के रोम हरे प्रतीत होते हैं। इसी से जब ये जानवर हरी हरी डालियों पर लटके रहते हैं तब ऐसा भ्रम होता है कि ये उस वृक्ष की शाखा ही हैं। उस समय ध्यान से देखने पर ही इन जंतुओं का अलग अस्तित्व ज्ञात होता है।

शाखालंबी

यह जंतु वृक्षों की शाखाओं से लटका हुआ चलता है। मंदगामी होने के कारण इसे अंग्रेजी में स्लॉथ कहते हैं (स्लॉथ = आलस्य)।

शाखालंबियों के शरीर की लंबाई २० इंच से २८ इंच तक और पूँछ लगभग दो इंच लंबी होती है। ये अपना जीवन वृक्षों पर बिताते हैं, भूमि पर उतरते नहीं, यदि कभी उतरते भी हैं तो अग्रपाद तथा पश्चपादों की लंबाई की असमता के कारण बड़ी कठिनाई से चल पाते हैं। ये बंदर की भाँति उछलकर एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर नहीं जाते, बल्कि हवा के झोंकों से झुकी डालियों को पकड़कर जाते हैं। ये अपना जीवननिर्वाह पत्तियों, कोमल टहनियों तथा फलों पर करते हैं। इनके अग्रपाद डालियों को खींचकर मुख की पहुँच के भीतर लाने में सहायक होते हैं, किंतु पत्तियों को मुख में ले जाने का काम नहीं करते। सोते समय शाखालंबी अपने शरीर को गेंद की भाँति लपेट लेते हैं। ये निशिचर, शांत प्रकृति के, अनाक्रामक एवं एकांतवासी होते हैं। इनकी मादा एक बार में प्रायः एक ही बच्चा जनती है।

चींटीखोर (ऐंटईटर)—यह मिरमेकोफेजिडी कुल का सदस्य है। इसका थूथन नुकीला होता है, जिसके छोर पर छिद्र के समान एक मुखद्वार होता है। आँखें छोटी तथा कान का लोर किसी में छोटा और किसी में बड़ा होता है। प्रत्येक अग्रपाद में पाँच अँगुलियाँ होती हैं। इनमें तीसरी अँगुली में प्रायः बड़ा, मुड़ा हुआ और नुकीला नख होता है, जिससे हाथ कार्यक्षम तथा निपुण खोदनेवाला अवयव सिद्ध होता है। पश्चपादों में चार पाँच छोटी बड़ी अँगुलियाँ होती हैं, जिनमें साधारण आकार के नख होते हैं। अग्रपाद की अँगुलियाँ भीतर की ओर मुड़ी होती हैं, जिससे चलते समय शरीर का भार अग्रपाद की दूसरी, तीसरी तथा चौथी अँगुलियों की ऊपरी सतह पर तथा पाँचवीं की छोर की एक गद्दी पर और पश्चपादों के पूरे पंजों पर पड़ता है। सभी चींटीखोरों में पूँछ बहुत लंबी होती है। किसी किसी की पूँछ परिग्राही होती है। शरीर लंबे बालों से आच्छादित होता है। द्विअंगुलक चींटीखोर (साइक्लोटुरस) में थूथन छोटा होता है और अग्रपाद में चार अँगुलियाँ होती हैं जिनमें केवल दूसरी तथा तीसरी में ही नख होते हैं। तीसरी का नख बड़ा होता है। पश्चपाद में चार असम नखयुक्त अँगुलियाँ होती हैं जो शाखालंबी के पैर की भाँति अंकुश सदृश होती हैं।

बृहत्काय चींटीखोर

इसका मुख्य भोजन दीमक है।

चींटीखोर चूहे की नाप से लेकर दो फुट की ऊँचाई तक के होते हैं और दक्षिण तथा मध्य अमरीका में नदी किनारे तथा नम स्थानों में पाए जाते हैं। इनका मुख्य भोजन दीमक है। ये वर्मी (आर्माडिलोज) की भाँति

मांद बनाकर नही रहते। ये स्वयं किसी पर आक्रमण नही करते, किंतु आक्रमण किए जाने पर अपनी रक्षा नखों द्वारा करते हैं। मादा एक बार मे एक ही बच्चा देती है।

वर्मी (आर्मांडिलोज)—यह डेसीपोडाइडी कुल का सदस्य है। इसका सिर छोटा, चौड़ा तथा दबा हुआ होता है। प्रत्यक अग्रपाद में तीन से पाँच तक अँगुलियाँ होती है और इनमें पुष्ट नख होते है, जो एक प्रकार के खोदनेवाले हथियार का काम देते है। पश्चपाद मे सदा पाँच छोटी छोटी नखयुक्त अँगुलियाँ होती हैं। पूँछ प्राय भली भाँति विकसित होती है। वर्मी का शरीर अस्थिल त्वचीय पट्टियों से ढका रहता है। ये पट्टियाँ शरीर
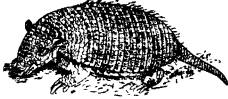
वर्मी (आर्मांडिलो)

इसका सारा शरीर हड्डी की छोटी पट्टियों से ढका रहता है। इसी से इसे वर्मी कहते है (वर्म = कवच)।

के लिये कवच का काम करती है। वर्मी (आर्मांडिलोज) मे असफलकीय ढाल (स्कैपुलर शील्ड) घनी सयुक्त पट्टियों की बनी होती है और शरीर का अग्रभाग पट्टियों से ढका होता है। इसके बाद अनुप्रस्थ धारियाँ होती है, जिनके बीच बीच मे रोमयुक्त त्वचा होती हैं। पिछले भाग मे एक पश्चश्रोणि ढाल (पेल्विक शील्ड) होती है। टोलीप्यूटम जीनस मे ये धारियाँ चलायमान होती हैं, जिससे यह जानवर अपने शरीर को लपेटकर गेद जैसा बना लेता है। पूँछ भी अस्थिल पट्टियों के छल्लों से ढकी होती है और इसी प्रकार की पट्टियाँ सिर की भी रक्षा करती है।

वर्मी लबाई मे छह इच से लेकर तीन फुट तक होते हैं। ये सर्वभक्षी होते है। जड, मूल, कीडे, पतग, छिपकलियाँ तथा मृत पशुओं का मास इत्यादि सब कुछ इनका भोज्य है। यह जीव अधिकतर निशिचर होता है। कभी कभी दिन मे भी दिखाई पडता है। यह अनाक्रामक होता है और अन्य जतुओं को हानि नहीं पहुँचाता, यहाँ तक कि यदि पकड लिया जाय तो स्वतत्र होने के लिये प्रयत्न भी नहीं करता। इसकी रक्षा का एकमात्र साधन भूमि खोदकर छिप जाना है। पैर छोटे होते है, फिर भी यह बडी तेजी से दौड़ता है। यह खुले मैदानों या जगलो मे रहता है।

वर्ग फोलिडोटा—इस वर्ग के अतर्गत आनेवाले प्राणियो की प्रमुख विशेषता यह है कि उनके सिर, धड तथा पूँछ शृगशल्को (सीग जैसी पट्टिया) से ढके होते है। शल्कों के बीच बीच मे यत्र तत्र बाल पाए जाते हैं। दाँत बिलकुल ही नहीं होते। जूगल चाप (जूगुलर आर्च) तथा अक्षक (क्लैविकल) भी नहीं होते। खोपडी लबी और बेलनाकार होती है। नेत्रगुहीय तथा शखक खाता (टेपारल फोसा) के बीच कुछ विभाजन नही होता। जीभ बहुत लबी होती है।

इस वर्ग के उदाहरण एशिया तथा अफ्रीका के वज्रकीट अथवा पैंगोलिन है। इस वर्ग मे केवल एक जाति (जीनस) मेनीस है। इस जाति के अतर्गत सात उपजातियाँ (स्पीशीज) है, जिनमे से तीन उपजातियाँ बनरोहू (मेनीस पेटाडेक्टाइला), पहाडी वज्रकीट अथवा लोमधारी वज्रकीट (मेनीस आरिटा) तथा मलायी वज्रकीट (मेनीस जावानिका) भारत मे पाए जाते हैं।

बनरोहू हिमालय प्रदेश को छोडकर शेष भारत तथा लका मे पाया जाता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में इसके विभिन्न नाम है वज्रकीट, वज्रकपटा, सालसालू, कौली मा, बनरोहू, खेतमाछ, इत्यादि। लोमधारी वज्रकीट (मेनीस) सिक्किम और नेपाल के पूर्व हिमालय की साधारण ऊँचाई मे, आसाम और उत्तरी भागो की पहाडियो मे लेकर करेशी, दक्षिण चीन, हैनान तथा फारमोसा मे पाया जाता है। मलाया का वज्रकीट मलाया के पूर्ववर्ती देशों से लेकर सिलेबीज तक, कोचीन चीन, कंबोडिया के दक्षिण, सिलहट और टिपरा के पश्चिम मे पाया जाता है।

सभी वज्रकीट दतविहीन होते हैं और अन्य स्तनधारियो से भिन्न, बडी छिपकली की भाँति दिखाई देते है। लगभग ये सभी बिना कानवाले तथा लबी पूँछवाले होते है। पूँछ जड मे मोटी होती है। केवल पेट तथा शाखागो (हाथ, पाँव, कान, नाक इत्यादि) के अतिरिक्त सपूर्ण शरीर शल्को से आच्छादित होता है। शल्को के बीच बीच मे कुछ मोटे बाल भी होते है। पूँछ का तल भाग भी शल्को से ढका होता है। जिन स्थानो पर शल्क नहीं होते उन स्थानो पर अल्प बाल होते है। सिर छोटा और नुकीला, थूथुन सकीर्ण तथा मुखविवर छोटा होता है। जिह्वा लबी, दूर तक बाहर निकलनेवाली तथा कृमि सदृश होती है। आमाशय चिडियो के पेषणी (गिजर्ड) की भाँति पेणीय होता है। शाखाग छोटे तथा पुष्ट होते है। प्रत्येक पैर मे पाँच अँगुलियाँ होती है, जिनमे पुष्ट नख लगे होते है। अग्रपादो के नख पश्चपादो की अपेक्षा बडे होते है। सभी पादो के मध्यनख बहुत बडे होते है। अग्रपादो के नख विशेष रूप से मिट्टी खोदने के उपयुक्त बने होते है। चलने से उनकी नोक कुठित न हो जाय, इसलिये वे भीतर की ओर मुडे होते है। उनकी ऊपरी सतह ही धरातल को स्पर्श करती है, क्योंकि ये जतु हथेली के बल नही चलते, बल्कि चलते समय शरीर का भार चौथी तथा पाँचवी अँगुलियो की वाह्य तथा ऊपरी सतह पर डालते है। पश्चपाद साधारणत पजे के बल चलनेवाले होते है। चलते समय ये जानवर तलवे के बल पग रखते है और उस समय इनकी पीठ धनुषाकार हो जाती है।

जब कभी वज्रकीट (पैंगोलिन) पर किसी प्रकार का आक्रमण होता है तो वह अपने शरीर को लपेटकर गेद के आकार का हो जाता है और शरीर पर लगे, एक के ऊपर एक चढे शल्को के कोर आक्रमण से रक्षा करने तथा स्वय प्रहार करने के काम आते है। यह जीव मद गति से किंतु परिपुष्ट माँद निर्मित करता है। चीटियो तथा दीमको के घरो को खोदकर यह अपनी लार से तर, चिकनी, लसीली और बडी जीभ की सहायता से उन क्षुद्र जतुओं को खा जाता है। वज्रकीट के आमाशयो मे प्राय पत्थर के टुकडे पाए गए है। ये पत्थर या तो चिड़ियों की भाँति पाचन के हेतु निगले जाते

वज्रकीट

शरीर के ऊपर लगे, एक के ऊपर एक चढे, कडे शल्को के कारण यह वज्रकीट कहलाता है। यह भारत के प्राय सभी स्थानो मे पाया जाता है और इसके विविध स्थानीय नाम है, यथा वज्रकीट, वज्रकपटा, सालसालू, कौली मा, बनरोहू, खेतमाछ, इत्यादि।

हैं अथवा कीटभोजन के साथ सयोगवश निगल लिए जाते है। नियमत. वज्रकीट निशिचर होता है और दिन मे या तो चट्टानो की दरारो मे अथवा स्वयनिर्मित माँदो मे छिपा रहता है। यह एकपत्नीधारी होता है और इसकी मादा एक बार मे केवल एक या दो बच्चे ही पैदा करती है।

वज्रकीट को कारावास (बदी अवस्था) मे भी पाला जा सकता है और यह शीघ्र पालतू भी हो जाता है, किंतु इसे भोजन खिलाना कठिन होता है। इसमे अपने शरीर को झुका रखकर पिछले पैरो पर खडे होने की विचित्र आदत होती है।

वर्ग ट्यूबुलीडेंटाटा—इस वर्ग के अतर्गत दक्षिण अफ्रीका का भूशूकर (आर्डवार्क या ऑरिक्टिरोपस) आता है। भूशूकर का शरीर मोटी खाल से ढका होता है और उसपर यत्र तत्र बाल होते हैं। इसके सिर के आगे थूथन होता है, परतु सिर और थूथन इस प्रकार मिले होते है कि पता नही चलता, कहाँ सिर का अत और थूथन का आरभ है। मुख छोटा और जीभ लबी होती है। मुख मे खूँटी के समान चार या पाँच दाँत होते हैं, जिनकी

बनावट विचित्र होती है। दाँतों मे दंतवल्क नही होता, सोर्वडेंटीन होता है, जिसपर एक प्रकार के सीमेंट का आवरण होता है। वैसोडेंटीन की मज्जागुहा (पल्प कैविटी) नलिकाओं द्वारा छिद्रित होती है, जिसके कारण इस वर्ग का नाम नलीदार दंतधारी (ट्यूबुलीडेंटाटा) पड़ा है।

भूशूकर के अग्रपाद छोटे तथा मजबूत होते हैं और प्रत्येक मे चार अँगुलियाँ होती हैं। चलते समय इनकी हथेलियाँ और पैर के तलवे पृथ्वी को स्पर्श करते है। पश्चपादों मे पाँच पाँच अँगुलियाँ होती है। लबाई मे ये जीव छह फुट तक पहुँच जाते है।

भूशूकर का जीवननिर्वाह दीमकों से होता है।

भूशूकर (आर्डवार्क)

अफ्रीका मे पाया जानेवाला जतु जो पूँछ लेकर पाँच फुट तक लबा होता है और दीमक खाकर जीवननिर्वाह करता है।

सं० ग्रं०—आर० ए० स्टर्नडेल नैचुरल हिस्ट्री ऑव इंडियन मैमेलिया (१८८४), फैकफिन स्टर्नडेल्स मैमेलिया ऑव इंडिया (१९२९); पार्कर ऐंड हैसवेल टेक्स्टबुक ऑव जूलाजी (१९५१), फैकाइ बोर लिरे. दि नैचुरल हिस्ट्री ऑव मैमल्स (१९५५)। (भू० ना० प्र०)

अनन्नास अनन्नास का अंग्रेजी नाम पाइनऐप्ल, वानस्पतिक नाम अनानास कॉस्मॉस, प्रजाति अनानास, जाति कॉस्मॉस और कुल ब्रोमेलिएसी है। इसका उत्पत्तिस्थान दक्षिणी अमेरिका का ब्राजील प्रांत है। यह एक-बीजपत्री कुल का पौधा है तथा स्वादिष्ट फलो मे इसका विशेष

अनन्नास
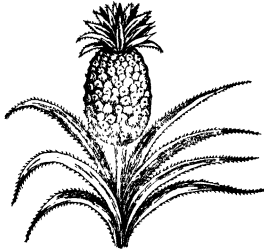
फल अति स्वादिष्ट, सुगंधमय और कुछ खट्टापन लिए हुए मीठा होता है।

स्थान है। इसकी खेती के लिये हवाई द्वीप, क्वीसलैंड तथा मलाया विशेष प्रसिद्ध है। भारत मे इसकी खेती मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, आसाम, बगाल तथा उत्तर प्रदेश के तराईवाले भागों मे होती है। इस फल मे चीनी १२ प्रतिशत तथा अम्लत्व ० ६ प्रतिशत होता है। विटामिन ए, बी तथा सी भी इसमे अच्छी मात्रा मे पाए जाते है। इसमे कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा इत्यादि पर्याप्त मात्रा मे रहता है तथा ब्रोमेलीन नामक किण्वज (एनजाइम) भी होता है जो प्रोटीन को पचाता है। इसका शरबत, कैंडी तथा मार्मलेड बनता है। इसे डिब्बो मे बंद करके सरक्षित भी करते हैं।

अनन्नास उष्ण कटिबधीय पौधा है। इसकी सफल खेती उस स्थान में हो सकती है जहाँ ताप ६०° और ९०° फा० के बीच हो। इसके लिये आर्द्र वातावरण चाहिए। तीक्ष्ण धूप तथा घनी छाया हानिप्रद है। बलुई दोमट मिट्टी मे यह सुखी रहता है। जलोत्सारण का प्रबध अच्छा होना अनिवार्य है। यह आम्लिक मिट्टी मे अच्छा पनपता है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं, पर क्वीन मारीशस तथा स्मूथकेयेन प्रमुख है। इसका प्रसारण वानस्पतिक विधियो (क्राउन, डिस्क तथा स्लिप्स) द्वारा होता है, परतु मुख्य साधन भूस्तारी (सकर्स) है, अर्थात् पुराने पौधों की जडो से निकले छोटे छोटे पौधो को अलग कर अन्यत्र रोपने से नए पौधे तैयार किए जाते हैं। वर्षा ऋतु मे पेडो पर २ × ५ फुट की दूरी पर भूस्तारी लगाते है। एक बार का लगाया पौधा २०–२५ वर्ष तक फल देता है, परतु तीन या चार फसल लेने के बाद नए पौधे लगाना ही अच्छा होता है। प्रति वर्ष लगभग ४०० मन प्रति एकड सडे गोबर की खाद या कपोस्ट अवश्य देना चाहिए। जाडे मे तीन चार बार तथा ग्रीष्म ऋतु मे प्रति सप्ताह सिंचाई करनी चाहिए। एक एकड मे लगभग १०० से २०० मन तक फल पैदा होता है। (ज० रा० सिं०)

अनल (१) का पर्याय है अग्नि या आग। अष्टवसुओं मे से पचम वसु को अनल की सज्ञा प्राप्त है।

(२) अनल माली नामक राक्षस का पुत्र और विभीषण का मत्री था। (विशेष द्र० 'अग्नि' एव 'अग्निदेवता')। (कै० च० श०)

अनलहक यह सूफियो की एक इस्तला (सूचना) है जिसके द्वारा वे आत्मा को परमात्मा की स्थिति मे लय कर देते है। सूफियो के यहाँ खुदा तक पहुँचने के चार दर्जे हैं। जो व्यक्ति सूफियो के विचार को मानता है उसे पहले दर्जे मे क्रमश चलना पडता है—शरीयत, तरीकत मारफत और हकीकत। पहले सोपान मे नमाज, रोजा और दूसरे कामो पर अमल करना होता है। दूसरे सोपान मे उसे एक पीर की जरूरत पडती है—पीर से प्यार करने की और पीर का कहा मानने की। फिर तरीकत की राह मे उसका मस्तिष्क आलोकित हो जाता है और उसका ज्ञान बढ जाता है, मनुष्य ज्ञानी हो जाता है (मारफत)। अतिम सोपान पर वह सत्य की प्राप्ति कर लेता है और खुद को खुदा मे फना कर देता है। फिर 'दुई' का भाव मिट जाता है, 'मैं' और 'तुम' मे अतर नही रह जाता। जो अपने को नही सँभाल पाते वे 'अनलहक' अर्थात् 'मैं खुदा हूँ' पुकार उठते है। इस प्रकार का पहला व्यक्ति जिसने 'अनलहक' का नारा दिया वह मसूर बिन हल्लाज था। इस अधीरता का परिणाम प्राणदड हुआ। मुल्लाओं ने उसे खुदाई का दावेदार समझा और सूली पर लटका दिया। [अ० अ०]

अनवरी, औहदुद्दीन अबीवर्दी का जन्म खुरासान के अतर्गत खावराँ जगल के पास अबीवर्द स्थान मे हुआ था। इसने तूस के जाम मसूरिय मे शिक्षा प्राप्त की और अपने समय की बहुत सी विद्याओं मे पारगत हो गया। शिक्षा पूरी होने पर यह कविता करने लगा और इसे सेलजुकी सुलतान सजर के दरबार मे प्रश्रय मिल गया। आरभ मे खावराँ के सबध से पहले इसने 'खावरी' उपनाम रखा, फिर 'अनवरी'। जीवन का अतिम समय इसने एकात मे विद्याध्ययन करने मे बलख मे व्यतीत किया। इसकी मृत्यु के सन् के सबध मे विभिन्न मत पाए जाते है, पर रूसी विद्वान् जुकोव्स्की की खोज से इसका प्रामाणिक मृत्युकाल सन् ५८५ हि० तथा सन् ५८७ हि० (सन् ११८९ ई० तथा सन् ११९१ ई०) के बीच जान पडता है।

अनवरी की प्रसिद्धि विशेषकर इसके कसीदों ही पर है, पर इसने दूसरे प्रकार की कविताएँ, जैसे गजल, रुबाई, हजो आदि की भी रचना की है। इसकी काव्यशैली बहुत क्लिष्ट समझी जाती है। इसकी कुछ कविताओं का अंग्रेजी मे अनुवाद भी हुआ है। (आर० आर० शे०)

अनसूया दक्ष की कन्या तथा अत्रि की पत्नी, जिन्होंने राम, सीता और लक्ष्मण का अपने आश्रम में स्वागत किया था। उन्होंने सीता

को उपदेश दिया था और उन्हें अखंड सौंदर्य की एक ओषधि भी दी थी। सतियों में उनकी गणना सबसे पहले होती है। कालिदास के 'शाकुंतलम्' में अनसूया नाम की शकुंतला की एक सखी भी कही गई है। (च० म०)

अनाक्रिओन (जन्म, लगभग ५६० ई० पू०), एशिया माइनर के तिओस नगर का निवासी। ईरानी सम्राट् कुरुष् के आक्रमण से अन्य नगरवासियों के साथ थ्रेस भागा। फिर वह सामोस के राजा पोलिक्रातिज़ का अध्यापक बना। वह प्राचीन ग्रीक भाषा का महान् गेय (लिरिक) कवि था। उसने अपने इस सामोस के संरक्षक पर अनेक कविताएँ लिखीं। अपने संरक्षक की मृत्यु के बाद एथेंस के राजा हिपार्चस् के आवाहन पर वह वहाँ पहुँचा। वहाँ अपने संरक्षक की हत्या के बाद वह मित्रकवि सिमोनीदिज़ के साथ नगर नगर घूमता अपने जन्म के नगर जिओस पहुँचा जहाँ प्रायः ८५ वर्ष की आयु में वह मरा। वह लोकप्रिय जनकवि था और एथेंस् में उसकी मूर्ति स्थापित हुई। हाथ में तंत्री लिए सिंहासन पर बैठी उसकी संगमरमर की एक मूर्ति १८३५ ई० में पाई गई थी। तिओस नगर के अनेक सिक्कों पर उसकी तंत्रीधारिणी आकृति ढली मिली है।

अनाक्रिओन मधुर गायक था, ऐसा लिरिक कवि जिसे प्रसिद्ध लातीनी कवि हारेस ने अपना आदर्श माना है। अनाक्रिओन की अनेक पूर्ण अपूर्ण कविताएँ संकलित हुईं जिनकी सत्यता की संदिग्धता उसके गौरव को बढ़ा देती है। उसने अधिकतर कविताएँ सुरा, दियोनिसस् आदि पर लिखी। (भ० श० उ०)

अनागामी निर्वाण के पथ पर अर्हत् पद के पहले की भूमि अनागामी की होती है। जब योगी समाधि में सत्ता के अनित्य-अनात्म-दुःखस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तब उसके भवबंधन एक एक कर टूटने लगते हैं। जब सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपराभास, कामछंद और व्यापाद—ये पाँच बंधन नष्ट हो जाते हैं तब वह अनागामी हो जाता है। मरने के बाद वह ऊपर की भूमि में उत्पन्न होता है। वहीं उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए अविद्या का नाश कर अर्हत् पद का लाभ करता है। वह इस लोक में फिर जन्म नहीं ग्रहण करता। इसीलिये वह अनागामी कहा जाता है। (भि० ज० का०)

अनागारिक धर्मपाल प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु। जन्म लंका में १७ सितंबर, १८६४ को हुआ। पिता का नाम डान करोलिस हेवावितारण तथा माता का मल्लिका था। इनका नाम डान डेविड रखा गया। शिक्षाकाल में ही उन्हें ईसाई स्कूलों में पढ़ने, यूरोपीय रहन सहन और विदेशी शासन से घृणा हो गई थी। शिक्षासमाप्ति पर प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् भदंत हिक्कडुवे श्रीसुमंगल नामक महास्थविर से पालि भाषा की शिक्षा और बौद्ध धर्म की दीक्षा ली तथा अपना नाम बदलकर अनागारिक (सन्यासी) धर्मपाल रखा और सार्वजनिक प्रचार कार्य के लिये एक मोटर बस को घर बनाया और उसका नाम 'शोभन मालिगाँव' रखकर गाँव गाँव घूमते विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा बौद्ध धर्म का संदेश देने लगे। प्रथम महायुद्ध के समय ये पाँच वर्षों के लिये कलकत्ता में नजरबंद कर दिए गए। महाबोधि सभा (महाबोधि सोसायटी) इनके ही प्रयत्न से स्थापित हुई। मेरी फास्टर नामक एक विदेशी महिला ने इनसे प्रभावित होकर महाबोधि सोसायटी के लिये लगभग पाँच लाख रुपए दिए थे।

धर्मपाल के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप उनके निधनोपरांत राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद के हाथों बौद्ध गया वैशाख पूर्णिमा, सं० २०१२ अर्थात् ६ मई, सन् १९५५ को बौद्धों को दे दी गई।

१३ जुलाई, १९३१ को उन्होंने प्रव्रज्या ली और उनका नाम देवमित धर्मपाल हुआ। १९३३ की १६ जनवरी को प्रव्रज्या पूर्ण हुई और उन्होंने उपसंपदा ग्रहण की, नाम पड़ा भिक्षु श्री देवमित धर्मपाल। २९ अप्रैल, १९३३ को ६९ वर्ष की आयु में इहलीला संवरण की।

उनकी अस्थियाँ पत्थर के एक छोटे से स्तूप में मूलगंध कुटी विहार के पार्श्व में रख दी गईं। (स०)

अनात्मवाद दर्शन में दो विचारधाराएँ होती हैं (१) आत्मवाद, जो आत्मा का अस्तित्व मानती है (२) अनात्मवाद, जो आत्मा का अस्तित्व नहीं मानती। एक तीसरी विचारधारा नैरात्मवाद की भी है, जो आत्म अनात्म से परे नैरात्मा को देवता की तरह मानती है। कुछ दर्शनों में आत्मवाद और अनात्मवाद का समन्वय भी पाया जाता है, यथा जैन दर्शन में। आत्मवाद ब्राह्मणपरंपरा या श्रौतदर्शन माना जाता है, अनात्मवाद के अंतर्गत चार्वाक के लोकायत और श्रमणपरंपरा के बौद्ध दर्शन का समावेश होता है। पुद्गल प्रतिषेधवाद और पुद्गल नैरात्मवाद भी इसके निकटतम दर्शनाम्नाय हैं।

चार्वाक दर्शन में परमात्म तथा आत्म दोनों तत्वों का निषेध है। वह विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन है। किंतु समन्वयार्थी बुद्ध ने कहा कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये पाँच स्कंध आत्मा नहीं हैं। पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम की स्थिति प्रायः इसी प्रकार की है, वहाँ कार्य-कारण-पद्धति का प्रतिबंध है और अंततः सब क्षणिक संवेदनाओं का समन्वय ही अनुभव का आधार माना गया है। आत्मा स्कंधों से भिन्न होकर भी आत्मा के ये सब अंग कैसे होते हैं, यह सिद्ध करने में बुद्ध और परवर्ती बौद्ध नैयायिकों ने बहुत से तर्क प्रस्तुत किए हैं। बुद्ध कई अंतिम प्रश्नों पर मौन रहे। उनके शिष्यों ने उस मौन के कई प्रकार के अर्थ लगाए। थेरवादी नागसेन के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात मात्र आत्मा है। उसका उपयोग प्रज्ञप्ति के लिये किया जाता है। अन्यथा वह अवस्तु है। आत्मा चूँकि नित्य परिवर्तनशील स्कंध है, अतः आत्मा इन स्कंधों की संतानमात्र है। दूसरी ओर वात्सीपुत्रीय बौद्ध पुद्गलवादी हैं, इन्होंने आत्मा को पुद्गल या द्रव्य का पर्याय माना है। वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोश' में इस तर्क का खंडन किया और यह प्रमाण दिया कि पुद्गलवाद अंततः पुनः शाश्वतवाद की ओर हमें घसीट ले जाता है, जो एक दोष है। केवल हेतु प्रत्यय से जनित धर्म हैं, स्कंध, आयतन और धातु हैं, आत्मा नहीं है। सर्वास्तिवादी बौद्ध संतानवाद को मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा एक क्षण-क्षण-परिवर्ती वस्तु है। हेराक्लीतस के अग्नितत्व की भाँति यह निरंतर नवीन होती जाती है। विज्ञानवादी बौद्धों ने आत्मा को आत्मविज्ञान माना। उनके अनुसार बुद्ध ने, एक ओर आत्मा की चिर स्थिरता और दूसरी ओर उसका सर्वथा उच्छेद, इन दो अतिरेकी स्थितियों में भिन्न मध्य का मार्ग माना। योगाचारियों के मत में आत्मा केवल विज्ञान है। यह आत्मविज्ञान विज्ञप्ति मात्रता को मानकर वेदांत की स्थिति तक पहुँच जाता है। सौत्रांतिकों ने—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने—आत्मविज्ञान को ही सत् और ध्रुव माना, किंतु नित्य नहीं।

पाश्चात्य दार्शनिकों में अनात्मवाद का अधिक तटस्थता से विचार हुआ, क्योंकि दर्शन और धर्म वहाँ भिन्न वस्तुएँ थीं। लॉक के संवेदनावाद से शुरू करके कांट और हेगेल के आदर्शवादी परा-कोटि-वाद तक कई रूप अनात्मवादी दर्शन ने लिए। परंतु हेगेल के बाद मार्क्स, रोगेतस आदि ने भौतिकवादी दृष्टिकोण से अनात्मवाद की नई व्याख्या प्रस्तुत की। परमात्म या अंशी आत्मतत्व के अस्तित्व को न मानने पर भी जीवजगत् की समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता है।

सं० ग्रं०—राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, आचार्य नरेंद्रदेव : बौद्धधर्म दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डा० देवराज : भारतीय दर्शन, बर्ट्रेंड रसेल : हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलासफी, एम० एन० राय : हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न मैटीरियालिज्म। (प्र० मा०)

अनादिर रूस राज्य के सुदूर प्राच्य प्रदेश की एक नदी, पहाड़, बंदरगाह तथा खाड़ी का नाम है। अनादिर खाड़ी उत्तर के चूकची अंतरीप से दक्षिण के नावारिन अंतरीप तक विस्तृत है। यह लगभग २५० मील चौड़ी है और बेरिंग सागर का एक भाग है। अनादिर नदी कोलाइमा, अनादिर तथा कमचटका पर्वतश्रेणियों के मध्य से लगभग ६७° उ० अ० तथा १७३° पू० दे० से निकली है। यहाँ पर इसे इवाश्की अथवा इवाणना नाम से पुकारते हैं। आगे चलकर यह चूकची प्रदेश में पहुँचती है तथा पहले दक्षिण पश्चिम की ओर और फिर पूर्व की ओर मुड़कर लगभग ५०० मील आगे चलकर अनादिर की खाड़ी में गिरती है।

चूकची प्रदेश टुंड्रा के अंचल में है, अत यहाँ गर्मी में दलदल हो जाता है।

बेरिंग जलडमरूमध्य (स्ट्रेट) के पास एस्किमो जाति के लोग बसते हैं, परतु इनके अलावा चूकची जाति के लोग भी यहाँ पाए जाते है। चूकची जाति के लोग रेनडियर नामक हरिण पालते हैं और गर्मी के दिनो मे इन्हे साथ लेकर समुद्र उपकूल के पास चले जाते हैं। इन स्थानो मे रेनडियर के चमडे का व्यवसाय प्रमुख है। यह कहा जाता है कि कमचटका तथा अनादिर खाडी के सलग्न प्रदेशो मे पाए जानेवाले हरिणो की सख्या सोवियत राज्य के कुल हरिणो की सख्या की आधी है। जाड़े के दिनो मे अनादिर खाड़ी का पानी जम जाता है जिसके कारण समुद्री मार्ग पूर्णतया बद हो जाता है। गर्मी के दिनो मे बर्फ के पिघलने से खाडियाँ खुल जाती है और जहाज आयात की भिन्न भिन्न वस्तुओं को लेकर यहाँ आते हैं तथा हरिण के चमडे यहाँ से ले जाते हैं। चूकची जाति मे से कुछ लोग घर बनाकर भी बसते है तथा जाडे के दिनो मे शिकार करके और गर्मी के दिनो मे मछली पकडकर जीवननिर्वाह करते है। यहाँ पर सामन मछली प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। इन लोगो मे कुत्ते भारवाही पशु के रूप मे काम आते है।

बेरिंग जलडमरूमध्य के पास सोना, चाँदी, जस्ता, सीसा तथा कृष्ण सीस (ग्रैफाइट) की खाने हैं। अनादिर नदी की घाटी मे तथा अनादिर बदरगाह के दक्षिण मे कोयला भी निकाला जाता है जो उत्तरी सागर मे आने जानेवाले जहाजो के काम मे आता है। (वि० मु०)

अनाम (अनैम, ऐनैम) दक्षिण पूर्वी एशिया मे फ्रेंच इडोचीन प्रोटेक्टरेट के भीतर एक देश था। इसके उत्तर मे टॉनकिन, पूर्व तथा दक्षिण पूर्व मे चीन सागर, दक्षिण पश्चिम मे कोचीन चीन और पश्चिम मे कबोडिया एव लाओस प्रदेश हैं। अनाम की लबाई लगभग ७५०-८०० मील तथा क्षेत्रफल लगभग ५६,००० वर्ग मील है।

यहाँ के आदिवासी अनामी टांगकिंग तथा दक्षिणी चीन की गायोची जाति को अपना पूर्वपुरुष मानते हैं। कुछ औरो के विचार से ये अनामी आदिवासी चीन राजवश के उत्तराधिकारी हैं। इनके राज्य के बाद एक दूसरा वंश यहाँ आकर जमा जिसके समय मे चीन राज्य ने अनाम पर आक्रमण किया। बाद मे डिन-बो-ल्लान्ह के वशधरो ने यहाँ राज्य किया। उनके समय मे चाम नामक एक जाति बहुत बडी सख्या मे यहाँ आ पहुँची। ये लोग हिंदू थे और इनके द्वारा बनी कई अट्टालिकाएँ आज भी इसका प्रमाण हैं। सन् १४०७ ई० मे अनाम पर चीनी लोगो का पुन आक्रमण हुआ, परतु १४२८ मे लीलोयी नामक एक अनामी सेनाध्यक्ष ने इसे चीनियो के हाथ से मुक्त किया। लीलोयी के बाद गुयेन नामक एक परिवार ने इसपर १८वी शताब्दी तक राज्य किया। इसके पश्चात् अनाम फासीसियो के अधिकार मे चला गया। वे पिनो द बहें नामक एक पादरी (विशप) की सहायता से इस देश मे आए थे। गुयेन परिवार के गियालग नामक एक विद्रोही ने इस पादरी के साथ मिलकर फासीसी सेना को अनाम मे बुलाया था। सन् १७८७ ई० मे गियालग ने फ्रांस के राजा १६वे लुई के साथ सधि कर ली और उसके वशज कुछ समय तक राज्य करते रहे। टु डघू अनाम का अतिम स्वाधीन राजा था। १८५६ मे फ्रांस तथा स्पेन ने अनाम पर आक्रमण किए। अनाम के राजा ने चीन सम्राट् के पास सहायता के लिये प्रार्थना की परतु चीन के साथ फासीसियो ने समझौता कर लिया। सन् १८८४ मे अनाम फ्रेंच प्रोटेक्टरेट हो गया और एक रेजिडेट सुपीरियर अनाम के राजकार्य-परिदर्शन के लिये रखे गए। इस सबध मे बाओ दाई यहाँ के अतिम राजा रहे।

द्वितीय महायुद्ध के समय १९४१ मे विची सरकार पर जापानी सेना ने आक्रमण किया और १९४५ मे फासीसी अफसरो को पदच्युत करके बाओ दाई को वियतनाम (अर्थात् टॉनकिन, अनाम, कोचीन चीन) का शासनकर्ता बनाया। इसके बाद से वियतनाम की राजनीतिक परिस्थिति बहुत दिनो तक डाँवाँडोल रही। १९५१ के आसपास साम्यवादी प्रभाव प्रबल हो उठा और झगडा उत्तरोत्तर बढता गया। अत मे यह देश १७° अक्षाश रेखा के द्वारा दो भागो मे विभाजित किया गया—उत्तरी भाग 'उत्तरी वियतनाम' तथा दक्षिणी भाग 'दक्षिणी वियतनाम' प्रसिद्ध हुआ। प्रधान मत्री गो डिन डियेम ने बाओ दाई को पदच्युत करके दक्षिणी वियतनाम जनतत्र स्थापित किया तथा स्वय इसका पहला राष्ट्रपति बना।

अनाम के उत्तर से दक्षिण तक अनामीज कारडिलेरा पर्वतश्रेणी फैली हुई है। यह श्रेणी लाओस के पार्वत्य भाग से दक्षिण की ओर आकर पूर्व की ओर ठीक वैसे ही मुड जाती है जैसे बर्मा का पहाड पश्चिम की ओर मुडता है। इन दोनो पहाडो ने अपने बीच मे कबोडिया के पठार को घेर रखा है। इस पार्वत्य प्रदेश की रीढ प्रधानत ग्रैनाइट शिला से बनी हुई है जिसके आसपास अपक्षरण से पुरानी शिलाएँ निकल पडी है। कहा कहा पर अपेक्षाकृत बाद मे बनी हुई शिलाएँ, जैसे कार्बोनिफेरस युग के चूने के पत्थर, भी दिखाई पडते है। ये शिलाएँ विशेषकर पूर्वी किनारो पर ही मिलती है। यह रीढ नदियो द्वारा कटी फटी है, इसलिये किनारे के पास पहाड तथा घाटी एक के बाद एक पड़ते है। इस क्षेत्र का उत्तरी भाग पहाडी तथा दक्षिणी भाग पठारी है और पहाडो मे पूहक (६,५६० फुट), पूअटवट (८,२०० फुट), मदर ऐड चाइल्ड (६,८८८ फुट) आदि पर्वतशिखर है। पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की ओर को ढाल अधिक खडी है। कई दर्रा द्वारा उपकूल भाग देश के भीतरी भाग से मिला हुआ है, जिनमे से उत्तर का आसाम गेट (३९० फुट), बीच का का द तुआग (१,५४० फुट) तथा दक्षिण का डियोका (१,३१० फुट) विशेष महत्व के है। इस उपकूल भाग मे टूरेन की खाडी सबसे अच्छा और एकमात्र पोताश्रय (बदरगाह) है।

यहाँ की जलवायु मानसूनी है। दक्षिण पश्चिम मानसून मध्य अप्रैल से अगस्त के अत तक चला करता है, परतु यह स्थल के ऊपर से होकर चलने के कारण शुष्क रहता है। इस समय का ताप ८२°-८६° फा० रहता है। यहाँ की वर्षा सितबर से अप्रैल तक चलनेवाली उत्तर पूर्वी मानसूनी वायु द्वारा होती है, जो चीन सागर के ऊपर से बहती है। इस समय का ताप लगभग ७३° फा० रहता है। समुद्री तूफान यहाँ प्राय आते रहते है।

चावल यहाँ की मुख्य उपज है जो उपकूल प्रदेश मे तथा छोटी छोटी नदियो के मुहानो पर पर्याप्त परिमाण मे पैदा होता है। चावल के अतिरिक्त मक्का, चाय, तबाकू, रुई, मसाले और गन्ना आदि यहाँ उपजाए जाते हैं। दक्षिण की ओर कुछ भूभाग मे रबड की खेती होती है और पहाडी क्षेत्रो मे शहतूत के पेडो पर रेशम के कीडे पाले जाते हैं। रेशम तैयार करना यहाँ का पुराना कारबार है और पुराने ढग से ही चलता है। अनाम पर्याप्त परिमाण मे रेशम बाहर भेजता है। अन्य पुराने व्यवसायो मे नमक बनाना तथा मछली पकडना यहाँ बहुत प्रचलित है। बगालियो की भाँति मछली और चावल इनके मुख्य खाद्य है। परिवहन (यातायात) की असुविधा के कारण इस देश का आभ्यतरीय व्यवसाय नही के बराबर है। उपकूल भाग का १,२०० किलोमीटर लबा रास्ता यहाँ के यातायात का मुख्य साधन है जो बडे बडे शहरो को मिलाता है। रेल की लाइन इसी सडक के समातर है और अनाम की सारी लबाई पार करती है। यह पहाडो को छोडती हुई बहुधा समुद्रतट के पास से जाती है।

टूरेन यहाँ का सबसे बडा शहर तथा सबसे बडा बदरगाह है। यह बदरगाह सूत, चाय, खनिज तेल तथा तबाकू आयात करता है। इसका निर्यात चीनी, चावल, रुई, रेशम तथा दारचीनी है। टूरेन के पास नगसन नामक स्थान पर कोयले की खान है। पहाडी इलाके मे सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता, सीसा, लोहा तथा दूसरे खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। (विशेष द्र० 'वियतनाम')। (वि० मु०)

अनामलाई पहाड़ियाँ दक्षिण भारत के मद्रास प्रात के कोयबटूर जिले तथा केरल राज्य मे स्थित एक पर्वतश्रेणी है जो अक्षाश १०° १३' उ० से १०° ३१' उ० तथा देशातर ७६° ५२' पू० से ७७° २३' पू० तक फैली है। 'अनामलाई' शब्द का अर्थ है 'हाथियो का पहाड', क्योकि यहाँ पर पर्याप्त सख्या मे जगली हाथी पाए जाते है। पर्वतो की यह श्रेणी पालघाट दर्रे के दक्षिण से पश्चिमी घाट का ही एक भाग है। अनाईमुडी इसका सर्वोच्च भाग है (८,८५० फुट)। इसके शिखरो मे तगाची (८,१४७ फुट), काठुमलाई (८,४०० फुट), कुमारिकल (८,२०० फुट) और करिनकोला (८,४८० फुट) उल्लेखनीय है। इन शिखरो को छोडकर इस पर्वतमाला को ऊँचाई की दृष्टि से हम दो भागो मे बाँट सकते है—उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणी। उच्च श्रेणी की पहाड़ियाँ ६,००० से लेकर

८,००० फुट तक ऊँची है और अधिकतर घासों से ढकी है। निम्न श्रेणी की पहाड़ियाँ लगभग २,००० फुट ऊँची हैं जिनपर मूल्यवान् इमारती लकड़ियाँ, जैसे सागौन (टीक), काली लकड़ी (आबनूस, डलबर्गिया लैटिफालिया) और बाँस पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। इमारती लकड़ियों का सरकारी जंगल ८० वर्ग मील में है। इन लकड़ियों को हाथी तथा नदी के सहारे मैदान पर लाया जाता है। कोयंबटूर तथा पोतनूर जंकशनों से रेलमार्ग द्वारा काफी मात्रा में ये लकड़ियाँ अन्यत्र भेजी जाती हैं। अनामलाई शहर में भी इसका एक बड़ा बाजार है। इन लकड़ियों को ढोने के लिये इन पहाड़ों पर पाए जानेवाले हाथी तथा पालघाट के रहनेवाले मलयाली महावत बड़े काम के हैं। इन हाथियों को बड़ी चतुरता से ये लोग इस कार्य के लिये शिक्षित करते हैं। इस पर्वतश्रेणी से बहनेवाली तीन नदियाँ—खुनडाली, ताराकदावु और कानालार भी लकड़ी नीचे लाने के लिये बड़ी उपयोगी हैं। लकड़ियों के अतिरिक्त इन पर्वतों से प्राप्त पत्थर मकान बनाने में काम आते हैं।

यहाँ की जलवायु अच्छी है और पाश्चात्य लोगों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। यहाँ की जलवायु तथा मिट्टी में उगनेवाले असंख्य पौधों का प्राकृतिक सौंदर्य विश्वविख्यात है।

भूगर्भ शास्त्र की दृष्टि से अनामलाई पर्वत नीलगिरि पर्वत से मिलता जुलता है। ये परिवर्तित नाइस चट्टानों से बने हैं जिनमें फेल्स्पार और स्फटिक (क्वार्ट्‌ज) की पतली धारियाँ यत्रतत्र मिलती हैं और बीच बीच में लाल पॉरफोराइट दिखाई पड़ते हैं।

इन पहाड़ियों में आबादी नाममात्र की है। उत्तर तथा दक्षिण में कादर तथा मालासर लोगों की बस्ती है। इसके अंचल के कई स्थानों पर पुलियार और मारावार लोग मिलते हैं। इनमें से कादर जाति के लोगों को पहाड़ों का मालिक कहा जाता है। ये लोग नीच काम नहीं करते और बड़े विश्वासी तथा विनीत स्वभाव के हैं। अन्य पहाड़ी जातियों पर इनका प्रभाव भी बहुत है। मालासर जाति के लोग कुछ सभ्य हैं और कृषि कार्य करके अपना जीवननिर्वाह करते हैं। मारावार जाति अभी भी घूमने-फिरनेवाली जातियों में परिगणित होती है। ये सभी लोग अच्छे शिकारी हैं और जंगल की वस्तुओं को बेचकर कुछ न कुछ अर्थलाभ कर लेते हैं। पिछले दिनों यहाँ पर कहवा (कॉफी) की खेती शुरू हुई है। (वि० मु०)

अनामलाई विश्वविद्यालय तमिलनाडु राज्य में अनामलाई नगर (दक्षिण अर्काट) में स्थित है। इसकी स्थापना १९२८ ई० में हुई थी। यह केवल आवासिक (रेजीडेंशियल) तथा शैक्षणिक (टीचिंग) विश्वविद्यालय है। इसमें कुल २९ विभाग हैं जिनमें से सभी अनामलाई नगर में ही स्थित हैं। प्रांतीय स्तर का विश्वविद्यालय होने के कारण इसके कुलपति तमिलनाडु के राज्यपाल हैं। उपकुलपति डॉ० एस० पी० आदिनारायण हैं। 'अनामलाई यूनिवर्सिटी रिसर्च जरनल' तथा 'अनामलाई यूनिवर्सिटी मैगजीन' इस विश्वविद्यालय से प्रकाशित होते हैं। (कै० च० श०)

अनामी द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व हिंद चीन के पाँच प्रांतों—लाओस, कंबोडिया, अनाम, कोचीन चीन तथा टोंकिंग) में से एक प्रांत अनाम की भाषा। अब यह प्रांत नहीं रह गया है, किंतु भाषा है। इस बोलनेवालों की संख्या अनुमानतः एक करोड़ से कम है। यह चीनी भाषापरिवार की तिब्बती-बर्मी-वर्ग की पूर्वी शाखा (अनामी-मुआंग) की एक भाषा है। इसके बोलनेवाले कंबोडिया, स्याम और बर्मा तक पाए जाते हैं। इसकी प्रमुख बोली टोंकिनी है। पिछले तीस वर्षों के युद्ध के कारण इसकी जनसंख्या एवं शब्दभांडार में कल्पनातीत परिवर्तन हो गया है। चीनी भाषा की भाँति यह भी एकाक्षर (चित्रलिपि), अयोगात्मक और वाक्य में स्थानप्रधान है। अर्थप्रेषण के लिये लगभग छह सुरों का प्रयोग होता है। इसमें ऋण चीनी शब्दों की संख्या सर्वाधिक है। चीनी की भाँति अनामी ने भी रोमन लिपि को अपना लिया है। (मो० ला० ति०)

अनार का अंग्रेजी नाम पॉमग्रैनिट, वानस्पतिक नाम प्यूनिका ग्रेनेटम, प्रजाति प्यूनिका, जाति ग्रेनेटम और कुल प्यूनिकेसी है।

इसका उत्पत्ति-स्थान ईरान है। यह भारतवर्ष के प्रत्येक राज्य में पैदा होता है। बंबई प्रांत में इसकी खेती सबसे अधिक होती है। इसमें चीनी की मात्रा १२ से १५ प्रतिशत तक होती है। इसलिये यह प्रायः मीठा होता है। इसका रस संरक्षण विधि से सुरक्षित रखा जा सकता है। पौधे के लिये जाड़े में विशेष सर्दी तथा ग्रीष्म ऋतु में विशेष गर्मी चाहिए। अधिक वर्षा हानिकारक है। शुष्क वातावरण में यह अधिक प्रफुल्लित तथा स्वस्थ रहता है। अच्छी उपज तथा वृद्धि के लिये दोमट मिट्टी सर्वोत्तम है। क्षारीय मिट्टी भी उपयुक्त होती है। प्रत्येक जाति के वृक्षों में कुछ न कुछ नपुंसक पुष्प लगा ही करते हैं। मस्कट रेड, कंधारी, स्पैनिश रूबी, ढोलका तथा पपरशेल भारत में प्रचलित किस्में हैं। प्रसारण कृंतन (कटिंग) द्वारा होता है। गूटी तथा दाब कलम (लेयरिंग) से भी पौधे तैयार होते हैं। ये १० से १२ फुट तक की दूरी पर लगाए जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में तीन तथा जाड़े में एक सिंचाई कर देना पर्याप्त है। एक मन खाद (सड़ा गोबर), एक सेर अमोनियम सल्फेट, चार सेर राख तथा एक सेर चूना मिलाकर प्रति वर्ष, प्रति वृक्ष के हिसाब से जनवरी या फरवरी मास में देना चाहिए। एक वृक्ष से ६० से ८० तक फल मिलते हैं। (ज० रा० सि०)

अनार
यह एक प्रसिद्ध मीठा फल है। इसके दानों से दाँतों की उपमा दी जाती है।

अनार
कली, फूल और फल

अनार्तव उस दशा का नाम है जिसमें स्त्रियों को उनके प्रजनन काल में, अर्थात् १४-१५ और ४५ या ४८ वर्ष के बीच की आयु में, आर्तव या मासिक स्राव नहीं होता। यह दशा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कारणों से उत्पन्न हो सकती है। अंतःस्रावी ग्रंथियाँ तथा प्रजनन अंगों के विकार और अन्य शारीरिक रोग भी इस दशा को उत्पन्न कर सकते हैं। चिकित्सा से यह दशा सुधर सकती है, परंतु इसके लिये इस दशा के कारण का पूर्ण अन्वेषण आवश्यक है। (विशेष द्र० 'आर्तव')। (मु० स्व० ब०)

अनार्य इसका प्रयोग प्रजातीय और नैतिक दोनों अर्थों में होता है। ऐसा व्यक्ति जो आर्य प्रजाति का न हो, अनार्य कहलाता है। आर्येतर अर्थात् किरात (मंगोल), हबशी (निग्रो), सामी, हामी, आग्नेय (ऑस्ट्रिक) आदि किसी मानव प्रजाति का व्यक्ति। ऐसे प्रदेश को भी अनार्य कहते हैं जहाँ आर्य न बसते हों। इसलिये म्लेच्छ को भी कभी कभी अनार्य कहा

जाता है। अनार्य प्रजाति की भाँति अनार्य भाषा, अनार्य धर्म अथवा अनार्य संस्कृति का प्रयोग भी मिलता है। नैतिक अर्थ में अनार्य का प्रयोग असमान्य, ग्राम्य, नीच, आर्य के लिये अयोग्य, अनार्य के लिये ही अनुरूप आदि के अर्थ में होता है। (अनार्य के विलोम के लिये द्र० 'आर्य')।

(रा० ब० पा०)

अनाहत (१) हठयोग के अनुसार शरीर के भीतर रीढ़ में अवस्थित षट्चक्रों में से एक चक्र का नाम अनाहत है। इसका स्थान हृदय-प्रदेश है। यह लाल पीले मिश्रित रंगवाले द्वादश दलों के कमल जैसा वर्तमान है और उनपर 'क' से लेकर 'ठ' तक अक्षर है। इसके देवता रुद्र हैं। (२) वह शब्दब्रह्म जो व्यापक नाद के रूप में सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है और जिसकी ध्वनि मधुर संगीत जैसी है। यूरोप के प्राचीन दार्शनिकों का भी इसके अस्तित्व में विश्वास था और यह वहाँ 'म्यूजिक आव दि स्फियर्स' (विश्व का मधुर संगीत) कहलाता था। (३) वह शब्द वा नाद जो दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को बंद करके ध्यान करने से सुनाई देता है। अनहद शब्द वा सबद। (४) जो बिना किसी आघात के ही उत्पन्न हुआ हो।

विशेष--नाद के लिये कहा गया है कि वह अव्यक्त परमतत्व के व्यक्तीकरण का सूचक आदि शब्द है जो पहले 'परा' शब्द के सूक्ष्म रूप में रहा करता है और फिर क्रमशः 'अपरा' शब्द बनकर अनुभवगम्य हो जाता है। वही ब्रह्मांड वा सृष्टि का मूल तत्व प्रणव अथवा ॐकार है जिसका मानव शरीर में अथवा पिंड में अवस्थित शब्द प्रतिनिधित्व करता है और जिसे, मन की वृत्ति बहिर्मुख रहने के कारण, हम कभी सुन नहीं पाते। इसका अनुभव केवल वही कर पाता है जिसकी कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है और प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाता है। सुषुम्ना के मार्गवाले छहों चक्र नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा के नामों से अभिहित किए गए हैं और उनके स्थान भी क्रमशः गुदा के पास, मेरु के पास, नाभिदेश, हृदयदेश, कंठदेश एवं भ्रूमध्य माने गए हैं। ये क्रमशः चार, छह, दस, बारह, सोलह एवं दो दलोंवाले कमलपुष्पों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और उन्हीं में से अनाहत में 'ब्रह्मग्रंथि', विशुद्ध में 'विष्णुग्रंथि' तथा आज्ञा में 'रुद्रग्रंथि' के अवस्थान भी स्थिर किए गए हैं। प्राणायाम द्वारा इन चक्रों का भेदन कर प्राणवायु का ऊर्ध्वगमन करते समय जब अनाहत चक्र की ब्रह्मग्रंथि तक पहुँचते हैं तब नाद की आरंभावस्था ही रहती है, किंतु योगी का हृदय उससे पूर्ण हो जाता है और साधक में रूप, लावण्य एवं तेजोवृद्धि आ जाती है और वह 'नानाविध भूषण ध्वनि' सुनता है। फिर जब आगे प्राणवायु के साथ अपान वायु एवं नादबिंदु के अभिमिलन की दशा आ जाती है तब विष्णुग्रंथि में ब्रह्मानंद की भेरी सुनाई पड़ने लगती है और नाद की वह स्थिति हो जाती है जिसे 'घटावस्था' कहते हैं। इसी प्रकार तीसरे क्रमानुसार आज्ञाचक्र की रुद्रग्रंथि में जाने तक, मर्दल की ध्वनि का अनुभव होने लगता है, अष्टसिद्धियों की उपलब्धि हो जाती है और 'परिचयावस्था' की दशा प्राप्त होती है। अंत में ब्रह्मरंध्र तक प्राणवायु के पहुँचने पर चतुर्थ अवस्था 'निष्पत्ति' आती है और वंशी या वीणा की मधुर ध्वनि का अनुभव होता है। नाद की यही 'लयावस्था' है जिसमें सारी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और आत्मा का अवस्थान निज स्वरूप में हो जाता है।

(प० च०)

ऐसे वर्णन हठयोग एवं तंत्र के ग्रंथों में न्यूनाधिक विस्तार से मिलते हैं। परंतु गोरखनाथ एवं संत कबीर की कुछ बानियों में किंचित् भिन्न रूप में इसका वर्णन मिलता है जिसके अनुसार सहस्रारमध्य में स्थित चंद्राकार बिंदु से स्रवित होनेवाले 'अमृत' नामक द्रव को सूर्याकार स्थान तक आते आते सूखने से बचाकर उसका रसास्वादन करने में अमरत्व का लाभ होता है। सूर्य एवं चंद्र अथवा नाद एवं बिंदु के मिलन से अनाहत तुरही बजने लगती है (गोरखबानी, सबदी ५४ तथा क० ग्रं०)। यह मिलन ही शिव-शक्ति-मिलन है जो परमस्थिति का सूचक है। अनाहतनाद के श्रवण की एक प्रक्रिया 'सुरत शब्द योग' में भी अनुभूत है जिसमें सुरति वा शब्दोन्मुख चित्त अपने को क्रमशः नाद में लीनकर आत्मस्वरूप बन जाता है। एक ही नाद प्रणव के रूप में जहाँ निरुपाधि समझा जाता है वहाँ उपाधियुक्त होकर वही सात स्वरों में विभाजित भी हो जाया करता है।

सं० ग्रं०--शिवसंहिता, हठयोग प्रदीपिका, नादबिंदूपनिषत्, हंसोपनिषत्, योगतारावलि, गोरक्षसिद्धांतसंग्रह, शारदातिलक, आदि।

(ना० ना० उ०)

अनिद्रा या उन्निद्र रोग (इनसॉम्निया) में रोगी को पर्याप्त और अटूट नींद नहीं आती, जिससे रोगी को आवश्यकतानुसार विश्राम नहीं मिल पाता और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बहुधा थोड़ी सी अनिद्रा से रोगी के मन में चिंता उत्पन्न हो जाती है, जिससे रोग और भी बढ़ जाता है। अनिद्रा चार प्रकार की होती है (१) बहुत देर तक नींद न आना, (२) सोते समय बार बार निद्राभंग होना और फिर कुछ देर तक न सो पाना, (३) थोड़ा सोने के पश्चात् शीघ्र ही नींद उचट जाना और फिर न आना, तथा (४) बिल्कुल ही नींद न आना।

अनिद्रा रोग के कारण दो वर्गों के हो सकते हैं शारीरिक और मानसिक। पहले में आसपास के वातावरण का कोलाहल, बहुमूत्रता, खुजलाहट, खाँसी तथा कुछ अन्य शारीरिक व्याधियाँ, शारीरिक पीड़ा और प्रतिकूल ऋतु (अत्यंत गरमी, अत्यंत शीत, इत्यादि) हैं। दूसरे प्रकार के कारणों में आवेग, जैसे क्रोध, मनस्ताप, अवसाद, उत्सुकता, निराशा, परीक्षा, नूतन प्रेम, अतिहर्ष और अतिखेद आदि हैं। ये अवस्थाएँ अल्पकालिक होती हैं और साधारणतः इनके लिये चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। घोर संताप या खिन्नता का उन्माद, मनोवैकल्य, संभ्रमात्मक विक्षिप्तता तथा उन्मत्तता भी अनिद्रा उत्पन्न करती है। वृद्धावस्था या अधेड़ अवस्था में मानसिक अवसाद के अवसरों पर, कुछ लोगों की, नींद बहुत पहले टूट जाती है और फिर नहीं आती, जिससे व्यक्ति चिंतित और अधीर हो जाता है। ऐसी अवस्थाओं में विद्युत् झटकों (इलेक्ट्रोशाक) की चिकित्सा बहुत उपयोगी होती है। इसमें किसी प्रकार की हानि होने की कोई आशंका नहीं रहती। पीड़ा अथवा किसी रोग से उत्पन्न अनिद्रा के लिये अवश्य ही मूल कारण को ठीक करना आवश्यक है। अन्य प्रकार की अनिद्रा का चिकित्सा समाहक और शामक (सेडेटिव) ओषधियों से अथवा मनोवैज्ञानिक और शारीरिक सुविधाओं के अनुसार की जाती है।

विकृत चेतना और उन्माद के रोगियों में एक विशेष लक्षण यह होता है कि अकारण ही उन्हें चिंता बनी रहती है। बुढ़ापे तथा अन्य कारणों से मस्तिष्क-अवनति में, अच्छी नींद आने पर भी लोग बहुधा शिकायत करते हैं कि नींद आई ही नहीं।

(दे० सि०)

अनिरुद्ध वृष्णिवंशीय कृष्ण के नाती और प्रद्युम्न के पुत्र। इनके रूप पर मोहित होकर असुरों की राजकुमारी उषा, जो बाण की कन्या थी, इन्हें अपनी राजधानी शोणितपुर उठा ले गई। कृष्ण और बलराम बाण को युद्ध में परास्त कर अनिरुद्ध को उषा सहित द्वारका ले आए।

(च० म०)

अनिर्देशात्मक चिकित्सा (नॉन-डायरेक्टिव थेरेपी) मानसिक उपचार की एक विधि है जिसमें रोगी को लगातार सक्रिय रखा जाता है और बिना कोई निर्देश दिए उसे नीरोग बनाने का प्रयत्न किया जाता है। प्रकारांतर से यह स्वसंरक्षण है जिसमें न तो रोगी को चिकित्सक पर निर्भर रखा जाता है और न ही उसके समक्ष परिस्थितियों की व्याख्या की जाती है। इसके विपरीत रोगी को परोक्ष रूप से सहायता देकर उसके ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक क्षेत्र को परिपक्व बनाने की चेष्टा की जाती है ताकि वह अपने को वर्तमान तथा भविष्य की परिस्थितियों से समायोजित कर सके। इसमें चिकित्सक का दायित्व मात्र इतना होता है कि वह रोगी के लिये 'स्वसंरक्षण' की व्यवस्था का उचित प्रबंध करता रहे क्योंकि रोगी के संवेगात्मक क्षेत्र में समायोजन लाने के लिये चिकित्सक का सहयोग वांछित ही नहीं, आवश्यक भी है।

अनिर्देशात्मक चिकित्साविधि मनोविश्लेषण से काफी मिलती जुलती है। दोनों में ही चेतन-अवचेतन स्तर पर प्रस्तुत भावना इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिये पूरी आजादी रहती है। अंतर केवल यह है कि अनिर्देशात्मक उपचार में रोगी को वर्तमान की समस्याओं से परिचित रखा जाता है, जबकि

मनोविश्लेषण मे उसे अतीत की स्मृतियो अनुभूतियो की ओर ले जाया जाता है। मानसिक उपचार की यह विधि सफल रही है क्योंकि जैसे ही रोगी में एक विशिष्ट सूझ पैदा होती है, वह स्वस्थ हो जाता है।

निर्देशात्मक चिकित्सा मे कतिपय दोष भी है

१ कुछ व्यक्तियो और रोगो पर इसका प्रभाव नही होता।

२ उच्च बौद्धिक स्तर वालो पर ही यह विधि सफल होती है।

३ वतमान परिस्थितियो से सबद्ध समस्याएँ ही इससे सुलझ सकती है, अतीत म विकसित मनोग्रथियो पर इसका प्रभाव नही होता।

(कै० च० श०)

अनिर्धार्यता द्र० 'अनिश्चितता सिद्धात'।

अनिवार्य भरती राष्ट्र के एक विशेष आयुवर्ग के व्यक्तियो को किसी भी निश्चित सख्या में विधान के बल पर सैनिक बनाने के लिये बाध्य करना अनिवार्य भरती (अग्रेजी मे कान्सक्रिप्शन) कहलाता है। जब किसी राष्ट्र को युद्ध की आशका या इच्छा होती है तो उसे शीघ्रातिशीघ्र अपनी सैन्य शक्ति बढानी होती है। यदि स्वेच्छा से लोग पर्याप्त मात्रा मे भरती न हुए तो विशेष राजकीय आज्ञा से राष्ट्र के युवावर्ग को भरती के लिये बाध्य किया जाता है। साधारणत ऐसी परिस्थिति कम जनसख्यावाले राष्ट्रो मे ही उत्पन्न होती है। अधिक जनसख्यावाले राष्ट्रो मे स्वेच्छा से ही अधिक सख्या मे लोग भरती हो जाते है और अनिवार्य भरती के साधन का प्रयोग नही करना पडता।

अनिवार्य भरती का सिद्धात अति प्राचीन है। भारतवर्ष मे क्षत्रिय वर्ग अवसर पडने पर अस्त्रशस्त्र धारण करने के लिये धर्मबद्ध था। यूनान तथा रोम के सभी स्वस्थ व्यक्ति युद्ध के लिये कर्तव्यबद्ध समझे जाते थे। 'अनिवार्य भरती' की प्रथा सर्वप्रथम फ्रास मे सन् १७९८ ई० मे चली। इसी वर्ष फ्रास मे अनिवार्य भरती का सिद्धात विधान के बल पर स्थायी रूप से लागू हुआ। इसका श्रेय जनरल कोनारडिन को है। इस कानून के प्रचलित होने से फ्रासीसी राज्य के पास एक ऐसी शक्ति आ गई जिससे वह इच्छानुसार अपनी सैन्य शक्ति को बढा सकता था। नेपोलियन की विजयो का अधिकाश श्रेय इसी नीति को है। फ्रास की इस क्षमता से प्रेरित होकर उसने सन् १८०५ ई० म गर्व से कहा था 'मै तीस हजार नवीन सैनिको को प्रति मास युद्धक्षेत्र म झोक सकता हूँ।' आवश्यकतावश और फ्रास की क्षमता से प्रभावित होकर पश्चिम के सभी राष्ट्रो ने धीरे धीरे इस नीति को अपना लिया।

अनिवार्य भरती का प्रचलन फ्रास में सर्वप्रथम अधिकाश लोगो की इच्छा के विरुद्ध हुआ था। फिर भी यह सफल रहा और धीरे धीरे कानून के रूप मे परिगणित हो गया, क्योकि परिस्थिति और वातावरण इसके अनुकूल थे। अनिवार्य भरती सबधी विधान बनने के पहले सैनिक जीवन के लिये आकर्षण कम था और सन् १७८९ की फ्रासीसी क्राति के समय तक पश्चिमी देशो की सेनाओ का काफी पतन हो चुका था। इस क्राति मे राजकीय सेनाएँ कट पिट गई और प्रश्न उठा कि राष्ट्र की रक्षा कैसे हो। इस क्राति का सिद्धात था कि राष्ट्र के सभी व्यक्ति बराबर है, इसलिये नियम बनाया गया कि जो स्वेच्छा से सेना मे भरती होगे वे तो होगे ही, उनके अतिरिक्त १८ और ४० वर्ष के बीच की आयु के सभी अविवाहित पुरुष सेना मे अनिवार्य रूप से भरती किए जा सकेंगे। शेष व्यक्ति सेना मे तो नही भरती किए जायँगे, परन्तु वे अपने अपने नगरो की रक्षा के लिये राष्ट्रीय सरक्षक का कार्य करेगे। प्रारभ मे अधिकाश जनमत के विरुद्ध होने के कारण इसमे किसी प्रकार की सख्ती नही की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने सैनिक अपेक्षित थे उतने भरती नही किए जा सके। इसलिये जुलाई, सन् १७९२ मे 'फ्रास खतरे में' का नारा उठाए जाने पर प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिये सेना मे भरती होना अनिवार्य हो गया। किंतु यह केवल सैद्धातिक विचार ही बना रहा, क्योकि तब तक इस कानून को लागू करने की कोई सुचारु व्यवस्था नही बन सकी थी। जितने सैनिको की आवश्यकता थी उनके आधे ही भरती हुए।

तब फ्रास के युद्धमत्री कारनो ने अनिवार्य भरती की एक व्यवस्था बनाई जिसके अनुसार १८ वर्ष से २५ वर्ष की आयु तक के युवा व्यक्ति ही भरती किए गए। यह व्यवस्था उसी वर्ष कानून बना दी गई। इससे अत्यधिक सफलता मिली। इस सफलता का मुख्य कारण यह था कि इस आयुवर्ग के युवक न तो अधिक थे और न वे राजनीतिक वा सामाजिक क्षेत्र मे इतने प्रभावशाली ही थे कि कानून के विरुद्ध कुछ कर सकते। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियाँ और भी थी जिनसे सैनिक जीवन महत्व पा गया था। देश मे अकाल पडा हुआ था, राजनीतिक अत्याचार और हत्याएँ बढ रही थी। इनसे बचने का सरल उपाय सेना मे भरती हो जाना ही था। फलतः सन् १७९४ ई० मे फ्रास की सैनिक सख्या ७,७०,००० से भी ऊपर हो गई। नेपोलियन की सन् १७९६ की सफलता का प्रमुख कारण यही कानून था।

क्राति और बाह्य आक्रमण का भय, दोनो ऐसी परिस्थितियाँ थी जिन्होने फ्रास के उत्साह को बनाए रखा। किंतु नेपोलियन के इटलीवाले सफल युद्धो के बाद शाति का कुछ अवसर मिला और तब लोगो को अनिवार्य भरती की कठोरता का आभास होने लगा। इस प्रथा के विरुद्ध युक्तिसगत आलोचनाएँ प्रारभ होने लगी। कुछ लोगो का कहना था कि इस प्रथा द्वारा मानवशक्ति का, जो राष्ट्र को धनवृद्धि का प्रमुख साधन है, दुरुपयोग होता है। कुछ लोगो का कहना था कि किसी मनुष्य की प्रकृति तथा रुचि के अनुसार ही उसका व्यवसाय होना चाहिए। अनिवार्य भरती से रुचि और प्रकृति के विरुद्ध होते हुए भी मनुष्य सैनिक कार्य के लिये बाध्य किया जाता है। दूसरो का कहना था कि कानून की सहायता से सेना की वृद्धि तो की जा सकती है, पर सैनिको को पूर्ण मनोयोग और शक्ति से लडने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। इन सब विरोधपूर्ण बातो के होते हुए भी, सन् १७९८ म अनिवार्य भरती का कानून स्थायी रूप से मान लिया गया और 'अनिवार्य भरती' शब्द का प्रथम बार निर्माण हुआ। जनमत को देखते हुए कानून मे कुछ सशोधन कर दिए गए, जिसके फलस्वरूप पहले से कम सख्ती से काम लेना प्रारभ हुआ। धन देकर, या अपने स्थान पर दूसरे व्यक्ति को नियुक्त कर देने से, अनिवार्य भरती से छुटकारा पाया जा सकता था।

नेपोलियन के हारने के बाद प्रशिया (जरमनी) मे अनिवार्य भरती का नियम अधिक दृढता से लागू किया गया। सबके लिये तीन वर्षों तक सैनिक शिक्षा लेना अनिवार्य हो गया। इनमे से कुशाग्र बुद्धिवाले व्यक्ति अफसर बनते थे। इस प्रकार वहाँ साधारण सैनिक और कुशल नायको तथा सेनापतियो का अतुलित भाडार सदा तयार रहता था। परतु पीछे सभी देशो मे अनिवार्य भरती का मूल्य घटने लगा, क्योकि युद्ध के नए नए यत्र निकलने लगे और बडी सेनाओ के बदले यत्रो से सुसज्जित छोटी सेनाएँ अधिक वाछनीय हो गई।

१९१४-१८ के प्रथम विश्वयुद्ध म दोनो ओर अनिवार्य भरती चल रही थी। इस युद्ध मे एक करोड से अधिक व्यक्ति मारे गए। सबने अनुभव किया कि कुशल कारीगरो अथवा बुद्धिमान वैज्ञानिको को साधारण सैनिको के समान युद्ध मे झोक देना मूर्खता है। वे कारखानो और प्रयोगशालाओ मे रहकर विजयप्राप्ति म अधिक सहायता पहुँचा सकते थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध मे तो यह अनुभव हुआ कि बच्चे, बूढे सभी पर बम पड सकते है, और प्राय सभी किसी न किसी रूप मे युद्ध को अनुकूल प्रगति मे हाथ बँटा सकते है। इस युद्ध के पहले से ही इग्लैंड मे सब युवकों को छह महीने की अनिवार्य सैनिक शिक्षा लेनी पडती थी। इस युद्ध मे अपने यात्रिक बल से जर्मनी ने पोलैंड को तीन सप्ताह मे, नारवे को प्राय दो दिन मे, हालैंड को पाँच दिन मे, बेल्जियम को १८ दिन मे और क्रीट को १० दिन मे जीता। यह सब टैंक, वायुयान, मोटर लारी आदि के कारण सभव हो सका। अत मे इग्लैंड तथा उसके मित्रराष्ट्रो की विजय का श्रेय सेना मे अनिवार्य भरती को मिलना चाहिए।

अमरीका मे १७७२ मे और फिर १८१२ मे अनिवार्य भरती आरभ की गई, परतु विशेष सफलता नही मिली। उन दिनो इसकी बहुत आवश्यकता भी नही थी। १८६२ के घरेलू युद्ध म भी अनिवार्य भरती सफल ही रही। प्रथम विश्वयुद्ध म अनिवार्य भरती के लिये १९१७ मे विधान बना, जिससे २१ से लेकर ३० वर्ष तक के पुरुषो म से कोई भी अनिवार्य रूप से भरती किया जा सकता था। इस प्रकार लगभग १३ लाख व्यक्ति भरती किए गए। उन्ही लोगो को छूट थी जो विधान सभा के सदस्य या प्रांतों तथा जिलों

आदि के अधिशासक या न्यायाधीश अथवा गिरजाघरों के पुरोहित थे। जिन लोगों का अपने अंत:करण के कारण आपत्ति थी, उनको लड़ाई पर न भेजकर युद्ध संबंधी कोई अन्य काम दिया जाता था। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी लगभग इसी प्रकार की अनिवार्य भरती हुई थी और १९४२ के अंत तक चार पाँच लाख व्यक्ति हर महीने भरती किए जाते थे।

सं०ग्रं०—एफ० एन० मॉड वालंटरी वर्सस कंपल्सरी सर्विस (१८९१), ई० एम० अर्ल इत्यादि (संपादक) मेकर्स ऑव माडर्न स्ट्रैटेजी (१९४३), अमेरिकन अकेडेमी ऑव पालिटिक्स ऐंड सायंस यूनिवर्सल मिलिटरी ट्रेनिंग ऐंड नैशनल सिक्योरिटी (१९४५)। (भ्रा० सि० स०)

अनिश्चितता सिद्धांत

की व्युत्पत्ति हाइजनबर्ग ने क्वांटम यांत्रिकी के व्यापक नियमों से सन् १९२७ ई० में दी थी। इस सिद्धांत के अनुसार किसी गतिमान कण की स्थिति और संवेग को एक साथ एकदम ठीक ठीक नहीं मापा जा सकता। यदि एक राशि अधिक शुद्धता से मापी जाएगी तो दूसरी के मापन में उतनी ही अशुद्धता बढ़ जाएगी, चाहे इसे मापने में कितनी ही कुशलता क्यों न बरती जाए। इन राशियों की अशुद्धियों का गुणनफल प्लांक नियतांक (h) से कम नहीं हो सकता।

यदि किसी गतिमान कण के स्थिति निर्देशांक x के मापन में Δx की त्रुटि (या अनिश्चितता) और x अक्ष की दिशा में उसके संवेग p के मापन में Δp की त्रुटि हो तो इस सिद्धांत के अनुसार—

$$\Delta x \times \Delta p \geqslant h$$

इसमें h प्लांक का नियतांक है और चिह्न $\geqslant$ का तात्पर्य यह है कि अनिश्चितताओं का गुणनफल दाहिनी ओर की राशि h से कम नहीं हो सकता। इससे प्रकट होता है कि किसी कण का कोई निर्देशांक और उसके संवेग का तत्संगत संघटक दोनों एक साथ यथार्थतापूर्वक नहीं जाने जा सकते और यदि इन दोनों संयुग्मी राशियों में से एक की अनिश्चितता बहुत कम हो तो दूसरी की बहुत अधिक होती है।

अनिश्चितता के संबंध एक ओर तो कण की स्थिति को किसी तरंग से संगति स्थापित करने की संभावना के नियमों के तथा दूसरी ओर प्रायिकतामूलक निर्वचन (इंटरप्रिटेशन प्राबाबिलिस्टिक) के व्यापक नियमों के अनिवार्य परिणाम हैं। हाइजनबर्ग और बोहर ने नापने की प्रक्रिया का सूक्ष्म और गहन विश्लेषण करके यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी माप के परिणाम अनिश्चितता सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं निकल सकते। यदि हम किसी कण का स्थिति x एकदम शुद्ध माप लें तो इसकी स्थिति की अनिश्चितता Δx शून्य के बराबर होगी। तब उस कण के संवेग की अनिश्चितता गणित के नियमों के अनुसार

$$\Delta p \geqslant \frac{h}{\Delta x} = \frac{h}{0} = \infty$$

अर्थात् अपरिमित हो जाएगी। अत: हम इस सरल निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये बाध्य हो जाते हैं कि जिस क्षणकाल पर हम कण की स्थिति को यथार्थ माप प्राप्त करते हैं उस काल पर उसका वेग अनिर्णीत हो जाता है। अगर किसी क्षणकाल पर कण का वेग परम यथार्थता से मापा जाता है तो उस क्षणकाल पर कण की स्थिति क्या थी, यह पता लगाने का हमारे पास विकल्प नहीं रहता। ऐसी अवस्था में स्थिति और संवेग दोनों की माप कुछ अनिश्चितताओं (या त्रुटियों) के भीतर ही संभव है। इस प्रकार हाइजनबर्ग ने सिद्ध कर दिया कि सूक्ष्म कणों के विश्व में मापक उपकरणों की उपयोगिता सीमित होती है। ये उपकरण कणों की गति को यथार्थ रूप में मापने में अक्षम होते हैं।

विज्ञान और तकनीकी के अनेक क्षेत्रों में सूक्ष्म मापों को मापने का स्तर काफी ऊँचाई पर है और इस दिशा में निरंतर प्रगति हो रही है लेकिन अनिश्चितता सिद्धांत मापों की शुद्धता के लिये एक नियत सीमा निर्धारित कर देता है। उपकरणों की शुद्धता इस सीमा से अधिक नहीं हो सकती। आज तो लगभग सभी भौतिकज्ञ ऐसे मापन यंत्र के आविष्कार की असंभावना को स्वीकार करते हैं जो इस सिद्धांत में निहित सीमाओं का उल्लंघन कर सके।

सं० ग्रं०—हाइजनबर्ग द फिजिकल प्रिंसिपल ऑव द क्वांटम थ्योरी, रिर्डानिक ए० बी० सी० ऑव क्वांटम मिकैनिक्स। (शि० शि०)

अनिषेक जनन

अधिकांश जंतुओं में प्रजनन की क्रिया के लिये संसेचन (वीर्य का अंड से मिलना) अनिवार्य है, परंतु कुछ ऐसे भी जंतु हैं जिनमें बिना संसेचन के प्रजनन हो जाता है, इसको अनिषेक जनन कहते हैं। कुछ मछलियों को छोड़कर किसी भी पृष्ठवंशी में अनिषेक जनन नहीं पाया जाता और न कुछ बड़े बड़े कीटगण, जैसे व्याधपतंगगण (ओडोनेटा) तथा भिन्नपक्षानुगण (हेटराप्टरा) में। कुछ ऐसे भी जंतु हैं जिनमें प्रजनन सर्वथा (अथवा लगभग सर्वथा) अनिषेक जनन द्वारा ही होता है, जैसे द्विजननिक विद्धपत्रा (डाइजेनेटिक ट्रेमैडाड्स), किराटवंग (रॉटिफर्स), जलपिशु (वाटर फ्ली) तथा द्रुयूका (ऐफिड) में। शल्किपक्षा (लेपिडोप्टेरा) में अनिषेक जनन बिरले ही मिलता है, किंतु स्यूनशलभवंश (सिकिड्स) की कई एक जातियों में पाया जाता है। घुनों के कुछ अनुवंशों में भी अनिषेक जनन प्राय: पाया जाता है।

प्रजनन, लिंगनिश्चयन, तथा कोशिकातत्व (साइटॉलोजी) की दृष्टि से कई प्रकार के अनिषेक जननतंत्र पहचाने जा सकते हैं। प्रजनन की दृष्टि से अनिषेक जनन का निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है

अ. आकस्मिक अनिषेक जनन में असंसिक्त अंडा कभी कभी विकसित हो जाता है।

आ. सामान्य अनिषेक जनन निम्नलिखित प्रकारों का होता है

१. अनिवार्य अनिषेक जनन में अंडा सर्वदा बिना संसेचन के विकसित होता है.
   - क. पूर्ण अनिषेक जनन में सब पीढ़ी के व्यक्तियों में अनिषेक जनन पाया जाता है।
   - ख. चक्रिक अनिषेक जनन में एक अथवा अधिक अनिषेक जनित पीढ़ियों के बाद एक द्विलिंग पीढ़ी आती रहती है।

२. वैकल्पिक अनिषेक जनन में अंडा या तो संसिक्त होकर विकसित होता है या अनिषेक जनन द्वारा।

लिंगनिश्चय के विचार से अनिषेक जनन तीन प्रकार के होते हैं

- क. पुंजनन (ऐरिनाटोकी) में असंसिक्त अंडे अनिषेक जनन द्वारा विकसित होकर नर जंतु बनते हैं। संसिक्त अंडे मादा जंतु बनते हैं।
- ख. स्त्रीजनन (थेलिओटोकी) में असंसिक्त अंडे विकसित होकर मादा जंतु बनते हैं।
- ग. उभयजनन (डेटेरोटोकी, ऐंफिटोकी) में असंसिक्त अंडे विकसित होकर कुछ नर और कुछ मादा बनते हैं।

कोशिकातत्व की दृष्टि से अनिषेक जनन कई प्रकार का होता है

- क. अर्धक अनिषेक जनन में अनिषेकजनन द्वारा उत्पन्न जंतु उन अंडों से विकसित होते हैं जिनमें केंद्रक सूत्रों (क्रोमोसोमों) का ह्रास होता है और केंद्रक सूत्रों की मात्रा आधी हो जाती है।
- ख. तनु अनिषेक जनन में अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न जंतुओं में केंद्रकसूत्रों की संख्या द्विगुण अथवा बहुगुण होती है। यह दो विधि से होता है.

(१) स्वतस्संसेचक (ऑटोमिक्टिक) अनिषेक जनन में नियमित रूप से केंद्रक सूत्रों का युग्मानुबंध (सिनैप्सिस) तथा ह्रास होता है और केंद्रक सूत्रों की संख्या अंडों में आधी हो जाती है। परंतु केंद्रक सूत्रों की मात्रा, दो अर्धकेंद्रकों (न्यूक्लिआई) के समेकन (फ्यूज़न) से, पुन: स्थापित (रेस्टिट्यूटेड) केंद्रक के निर्माण अथवा अंतर्भोजन (एंडोमाइटोसिस) द्वारा, पुन: बढ़ जाती है।

(२) अमैथुनी (एपोमिक्टिक) अनिषेक जनन में न तो केंद्रक सूत्रों की मात्रा में ह्रास होता है और न अर्धक अनिषेक जनन में अंडों में केंद्रक सूत्रों का युग्मानुबंध और ह्रास होता है। ऐसे अंडों का यदि संसेचन होता है तो वे विकसित होकर मादा बन जाते हैं और यदि संसेचन नहीं होता तो वे नर बनते हैं। इस कारण एक ही मादा के अंडे विकसित होकर नर भी बन सकते हैं और मादा भी। अर्धक अनिषेक जनन का फल इस कारण सदा ही वैकल्पिक एवं पुंजनन (ऐरिनॉटोकस) होता है। (मु० सा० मो०)

अनीश्वरवाद दर्शन का वह सिद्धांत जो जगत् की सृष्टि करनेवाले, इसका संचालन और नियंत्रण करनेवाले किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता (द्र० 'ईश्वरवाद')। अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् स्वयंसंचालित और स्वयंशासित है। ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व के लिये जो प्रमाण देते हैं, अनीश्वरवादी उन सबकी आलोचना करके उनको काट देते हैं और संसारगत दोषों को बतलाकर निम्नलिखित प्रकार के तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसे संसार का रचनेवाला ईश्वर नहीं हो सकता।

ईश्वरवादी कहते हैं कि मनुष्य के मन में ईश्वरप्रत्यय जन्म से ही है और वह स्वयंसिद्ध एवं अनिवार्य है। यह ईश्वर के अस्तित्व का द्योतक है। इसके उत्तर में अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वरभावना सभी मनुष्यों में अनिवार्य रूप से नहीं पाई जाती और यदि पाई भी जाती हो तो केवल मन की भावना से बाहरी वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मन की बहुत सी धारणाओं को विज्ञान ने असिद्ध प्रमाणित कर दिया है।

जगत् में सभी वस्तुओं का कारण होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण दो प्रकार के होते हैं—एक उपादान, जिसके द्वारा कोई वस्तु बनती है, और दूसरा निमित्त, जो उसको बनाता है। ईश्वरवादी कहते हैं कि घट, पट और घड़ी की भाँति समस्त जगत् भी एक कार्य (कृत घटना) है अतएव इसके भी उपादान और निमित्त कारण होने चाहिए। कुछ लोग ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और कुछ लोग निमित्त और उपादान दोनों ही कारण मानते हैं। इस युक्ति के उत्तर में अनीश्वरवादी कहते हैं कि इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि घट, पट और घड़ी की भाँति समस्त जगत् भी किसी समय उत्पन्न और आरंभ हुआ था। इसका प्रवाह अनादि है, अतः इसके स्रष्टा और उपादान कारण को ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। यदि जगत् का स्रष्टा कोई ईश्वर मान लिया जाय तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, यथा, उसका सृष्टि करने में क्या प्रयोजन था? भौतिक सृष्टि केवल मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता कैसे कर सकती है—कैसे इसका उपादान हो सकती है? यदि इसका उपादान कोई भौतिक पदार्थ मान भी लिया जाय तो वह उसका नियंत्रण कैसे कर सकता है? वह स्वयं भौतिक शरीर अथवा उपकरणों की सहायता से कार्य करता है अथवा बिना उसकी सहायता के? सृष्टि के हुए बिना वे उपकरण और वह भौतिक शरीर कहाँ से आए? ऐसी सृष्टि रचने से ईश्वर का, जिसको उसके भक्त सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और कल्याणकारी मानते हैं, क्या प्रयोजन है, जिसमें जीवन का अंत मरण में, सुख का अंत दुःख में, संयोग का वियोग में और उन्नति का अवनति में हो? इस दुःखमय सृष्टि को बनाकर, जहाँ जीव को खाकर जीव जीता है और जहाँ सब प्राणी एक दूसरे के शत्रु हैं और आपस में सब प्राणियों में संघर्ष होता है, भला क्या लाभ हुआ है? इस जगत की दुर्दशा का वर्णन योगवासिष्ठ के एक श्लोक में भली भाँति मिलता है, जिसका आशय निम्नलिखित है—

कौन सा ऐसा ज्ञान है जिसमें त्रुटियाँ न हों, कौन सी ऐसी दिशा है जहाँ दुःखों की अग्नि प्रज्वलित न हो, कौन सी ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है जो नष्ट होनेवाली न हो, कौन सा ऐसा व्यवहार है जो छलकपट से रहित हो? ऐसे संसार का रचनेवाला सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी ईश्वर कैसे हो सकता है?

ईश्वरवादी एक युक्ति यह दिया करते हैं कि इस भौतिक संसार में सभी वस्तुओं के अंतर्गत, और समस्त सृष्टि में, नियम और उद्देश्यसार्थकता पाई जाती है। यह बात इसकी द्योतक है कि इसका संचालन करनेवाला कोई बुद्धिमान् ईश्वर है। इस युक्ति का अनीश्वरवाद इस प्रकार खंडन करता है कि संसार में बहुत सी घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका कोई उद्देश्य, अथवा कल्याणकारी उद्देश्य नहीं जान पड़ता, यथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, बाढ़, आग लग जाना, अकालमृत्यु, जरा, व्याधियाँ और बहुत से हिंसक और क्रूर प्राणी। संसार में जितने नियम और ऐक्य दृष्टिगोचर होते हैं उतनी ही अनियमितता और विरोध भी दिखाई पड़ते हैं। इनका कारण ढूँढना उतना ही आवश्यक है जितना नियमों और ऐक्य का। जैसे, समाज में सभी लोगों को राजा या राज्यप्रबंध एक दूसरे के प्रति व्यवहार में नियंत्रित रखता है, वैसे ही संसार के सभी प्राणियों के ऊपर शासन करनेवाले और उनको पाप और पुण्य के लिये यातना, दंड और पुरस्कार देनेवाले ईश्वर की आवश्यकता है। इसके उत्तर में अनीश्वरवादी यह कहता है कि संसार में प्राकृतिक नियमों के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं दिखाई पड़ते। पाप और पुण्य का भेद मिथ्या है जो मनुष्य ने अपने मन से बना लिया है। यहाँ पर सब क्रियाओं की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं और सब कामों का लेखा बराबर हो जाता है। इसके लिये किसी और नियामक तथा शासक की आवश्यकता नहीं है। यदि पाप और पुण्य के लिये दंड और पुरस्कार का प्रबंध होता तथा उनको रोकने और करानेवाला कोई ईश्वर होता, और पुण्यात्माओं की रक्षा हुआ करती तथा पापात्माओं को दंड मिला करता तो ईसामसीह और गांधी जैसे पुण्यात्माओं की नृशंस हत्या न हो पाती।

इस प्रकार अनीश्वरवाद ईश्वरवादी युक्तियों का खंडन करता है और यहाँ तक कह देता है कि ऐसे संसार की सृष्टि करनेवाला यदि कोई माना जाय तो बुद्धिमान् और कल्याणकारी ईश्वर को नहीं, दुष्ट और मूर्ख शैतान को ही मानना पड़ेगा।

पाश्चात्य दार्शनिकों में अनेक अनीश्वरवादी हो गए हैं, और हैं। भारत में जैन, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य और पूर्वमीमांसा दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन हैं। इन दर्शनों में दी गई युक्तियों का सुंदर संकलन हरिभद्र सूरि लिखित षड्दर्शन समुच्चय के ऊपर गुणरत्न के लिखे हुए भाष्य, कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक, और रामानुजाचार्य के ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए श्रीभाष्य में पाया जाता है।

सं०ग्रं०—हरिभद्र सूरि षड्दर्शन समुच्चय (गुणरत्न की टीका), रामानुज श्रीभाष्य वेदांतसूत्रों (सूत्र प्रथम, १—३), हेकेल दि रिडिल ऑव दि यूनिवर्स, हार्किंग टाइम्स ऑव फिलासफी, नेचुरेलिज्म, इसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स (हेस्टिंग्ज द्वारा संपादित) में 'अथीइज्म' पर लेख। (भी० ला० आ०)

अनीस, मीर बबर अली

(१८०३-१८७४)—फैजाबाद में जन्म लिया। इनके पूर्वजों में छह सात पीढ़ियों से अच्छे कवि होते आए थे। अनीस ने आरंभ में गजलें लिखीं और अपने पिता से इस्लाह ली। पिता प्रसन्न तो हुए, पर कहने लगे कि ऐसी कविता तो सब करते हैं, तुम ऐसे विषयों पर लिखो कि ईश्वर भी प्रसन्न हो। अनीस ने तभी से कर्बला की दुर्घटना और इमाम हुसैन के बलिदान पर लिखना आरंभ कर दिया। उस समय अवध में शिया नवाबों का राज था, इसलिये शोकपूर्ण कविताओं (मरसियों) की उन्नति हो रही थी। अनीस भी फैजाबाद से लखनऊ आए और मरसिया लिखने लगे। मीर अनीस ने अच्छे अच्छे विद्वानों से अरबी और फारसी पढ़ी थी और घुड़सवारी, शस्त्रविद्या, व्यायाम आदि का भी अभ्यास किया था। इससे उनको मरसिया लिखने में बड़ी सुविधा हुई। उन्होंने मरसिया को (वीरकाव्य, एपिक) 'ट्रैजेडी' के और निकट पहुँचा दिया। उनकी कविता राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन के उस युग में वीररस, नैतिकता और जीवन के उदार भावों से भरी हुई है। उनकी कल्पनाशक्ति बहुत प्रबल थी। भाषा के प्रयोग में वह निपुण थे। उनका विषय नैतिक महत्व रखता था इसलिए उनकी कविता में वे सब विशेषताएँ पाई जाती हैं जो एक महान् कलाकार के लिये आवश्यक कही जा सकती हैं। मरसिया उनके हाथ में बाल शोकपूर्ण धार्मिक रचना से आगे बढ़कर महाकाव्य का रूप धारण कर गया जिसके समान अरबी, फारसी और दूसरी भाषाओं में भी कोई शोकमयी रचना नहीं पाई जाती।

मीर अनीस उस समय तक लखनऊ के बाहर कहीं नहीं गए जब तक कि १८५७ ई० में वहाँ पूर्णतया तबाही नहीं आ गई। अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पहले वे इलाहाबाद, पटना, बनारस और हैदराबाद गए जहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ। इस महाकवि का १८७४ में लखनऊ में देहांत हुआ। उनके मरसिए पाँच संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं जिनमें उनकी सारी रचनाएँ सम्मिलित नहीं हैं। इनके अतिरिक्त 'अनीस के कलाम' और 'अनीस की रुबाइयाँ' भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

सं० ग्रं०—रूहे अनीस, स० मसूद हसन रिजवी, यादगारे अनीस, अमीर अहमद अलवी, वाकिआते अनीस, महमान लखनवी, हालाते अनीस, अशहरी, अनीस की मरसियानिगारी, असर लखनवी। (ए० हु०)

अनुकंपी तंत्रिकातंत्र मनुष्य के विविध अंगों और मस्तिष्क के बीच संबंध स्थापित करने के लिये तागे से भी पतले अनेक स्नायुतंतु (नर्व फाइबर) होते हैं। स्नायुतंतुओं की लच्छियाँ अलग अलग बँधी रहती हैं। इनमें से प्रत्येक को तंत्रिका (नर्व) कहते हैं। प्रत्येक तंत्रिका में कई एक तंतु रहते हैं। तंत्रिकाओं के समुदाय को तंत्रिकातंत्र (नर्वस सिस्टम) कहते हैं। ये तंत्र तीन प्रकार के होते हैं (१) स्वायत्तनियंत्री (ऑटोनोमिक), (२) संवेदी (सेंसरी) और (३) चालक (मोटर) तंत्र। उन तंत्रिकाओं को स्वायत्तनियंत्री (ऑटोनोमिक) तंत्रिकाएँ कहते हैं जो मस्तिष्क में पहुँचकर एक दूसरे से संबद्ध होती हैं और हृदय, फेफड़े, आमाशय, अँतड़ी, गुर्दे आदि की क्रिया को नियंत्रित करती हैं। बाह्य जगत् से मस्तिष्क तक सूचना पहुँचानेवाली तंत्रिकाएँ संवेदी तंत्रिकाएँ (सेंसरी नर्व्ज़) तथा मस्तिष्क से अंगों तक चलने की आज्ञा पहुँचानेवाली तंत्रिकाएँ चालक तंत्रिकाएँ (मोटर नर्व्ज़) कहलाती हैं। इनमें से स्वायत्तनियंत्री तंत्रिकाओं को दो समूहों में विभाजित किया गया है (१) अनुकंपी तंत्रिकातंत्र (सिंपैथेटिक नर्वस सिस्टम) और परानुकंपी तंत्रिकातंत्र (पैरासिंपैथेटिक नर्वस सिस्टम)। भय, क्रोध, उत्तेजना, आदि का शरीर पर प्रभाव मस्तिष्क द्वारा अनुकंपी तंत्रिकातंत्र के नियंत्रण से पड़ता है। यह नियंत्रण अधिकतर शरीर के भीतर ऐड्रिनैलिन नामक रासायनिक पदार्थ के उत्पन्न होने से होता है। परानुकंपी तंत्रिकातंत्र का कार्य साधारणत: अनुकंपी के उल्टा होता है, जैसा आगे चलकर दिखाया गया है।

संरचना—कशेरुक दंड के सामने दाएँ और बाएँ गुच्छिकाओं (गैंग्लियन) की एक शृंखला प्रथम वक्षीय कशेरुका से लेकर अंतिम कटिकशेरुका तक स्थित है। ये कशेरुका गंडिका (वर्टीब्रल गैंग्लियन) कहलाती है। सुषुम्ना के पार्श्व प्रांत से, सौषुम्निक तंत्रिका की पश्चिम गुच्छिका द्वारा, एक सूक्ष्म तंतु निकलकर गुच्छिकाओं में जाता है, जहाँ से दूसरा तंतु प्रारंभ होता है, जो अंगों या आशयों के समीप अधिकशेरुकी गुच्छिकाओं (प्रीवर्टीब्रल गैंग्लियन) में समाप्त होता है। इन सूत्रों को गुच्छिकोत्तरी (पोस्ट गैंग्लियनिक) तंतु कहा जाता है। पहला तंतु (प्रीगैंग्लियनिक) सुषुम्ना के भीतर स्थित कोशिका का लांगूल (ऐक्सन) है, जो अधिकशेरुकी गुच्छिका की कोशिका के चारों ओर समाप्त हो जाता है। इस कोशिका का लांगूल गुच्छिकोत्तरी तंतु के रूप में अधिकशेरुकी गुच्छिका में जाकर समाप्त होता है, अथवा सीधा अंगों या आशयों की भित्तियों में चला जाता है। प्रथम तंतु पर मेदस पिधान (मायलीन शीथ) चढ़ा रहता है, दूसरे तंतु पर नहीं होता। इस प्रकार उत्तेजना के जाने के लिये सुषुम्ना से अंग तक एक मार्ग बन जाता है, जिसमें कम से कम दो तंतु होते हैं जिनका संगम (सिनैप्स) गुच्छिकाओं में होता है।

सौषुम्नीय और अनुकंपी तंत्रिकाओं में यही विशेष भेद है कि प्रथम प्रकार की तंत्रिकाओं में एक ही न्यूरोन होता है जो उत्तेजना को सुषुम्ना से अंतिम स्थान तक पहुँचाता है। दूसरे प्रकार की नाड़ियों में कम से कम दो न्यूरोन द्वारा उत्तेजना का संवहन होता है। दूसरा भेद यह है कि सौषुम्नीय तंत्रिकाएँ विशेषतया ऐच्छिक पेशियों में जाती हैं। अनुकंपी तंतु अनैच्छिक पेशियों और उद्रेचक ग्रंथियों में जाते हैं। तीसरा भेद संवहन संबंधी है। सौषुम्नीय नाड़ियों में उत्तेजना का संवहन केंद्रों की ओर अधिक होता है, अर्थात् उनमें संवेदक तंतु अधिक होते हैं। अनुकंपी तंतुओं में संवहन केवल अंगों की ओर होता है।

अनुकंपी तंत्र के अतिरिक्त भी कुछ अन्य तंत्रिकाओं में ऐसी ही रचना होती है, अर्थात् दो न्यूरोन पाए जाते हैं, जो अनुकंपी की ही भाँति उत्तेजना का संवहन और वितरण करते हैं। उनको परानुकंपी (पैरासिंपैथेटिक) तंतु कहते हैं। इन दोनों को आत्मग (ऑटोनोमिक) तंत्र भी कहा जाता है। अनुकंपी तंत्र के दो भाग हैं, एक कपाल (क्रेनियल) भाग और दूसरा त्रिक् (सैक्रल) भाग। कपाल भाग के पुन: दो विभाग हैं। एक विभाग मध्यमस्तिष्क (मिडब्रेन) से निकलता है और दूसरा पश्चमस्तिष्क (हाइंडब्रेन) से जिसका पूर्वगुच्छिका तंतु वागस, जिह्वाग्रसनिका और मौखिकी तंत्रिकाओं में शाखाएँ भेजता है। पश्चगुच्छिका तंतु की शाखाएँ पाचनप्रणाली और श्वासनलिका से लेकर बृहदांत्र तक के सारे पेशीस्तर, श्वासनाल, फुफ्फुस, और हृदय की पेशियों तथा मुख और गले की श्लैष्मिक कला की रक्तवाहिनियों में जाती हैं। त्रिक् भाग के तंतु श्रोणि की तीन बड़ी तंत्रिकाओं द्वारा, श्रोणिगुहा के भीतर स्थित अंगों, बृहदांत्र, मलाशय, मूत्राशय, जनन अंगों आदि, में वितरित हो जाते हैं।

कार्यप्रणाली—इसको आत्मग तंत्र इसलिये कहा जाता है कि इसकी क्रिया द्वारा भीतरी अंगों का सारा काम होता रहता है। यह स्वतः हमारे नियंत्रण से विमुक्त रहकर अंगों का संचालन करता रहता है। यद्यपि इसके तंतु मस्तिष्क और सुषुम्ना के केंद्रों से निकलते हैं, तथापि इनसे सौषुम्निक नाड़ियों का कोई संबंध नहीं होता। फिर भी उनमें उत्तेजनाएँ मस्तिष्क और सुषुम्ना से ही आती हैं।

जैसा ऊपर बताया गया है, अनुकंपी और परानुकंपी विभागों की क्रियाएँ एक दूसरे से विरुद्ध हैं। एक क्रिया को घटाता और दूसरा क्रिया को बढ़ाता है। पाचकनली के पेशीसमूह के संकोच (आंत्रगति) अनुकंपी से कम होते हैं और परानुकंपी से बढ़ते हैं। रक्तवाहिनियाँ अनुकंपी की क्रिया से संकुचित होती हैं और परानुकंपी से विस्तृत होती हैं। परानुकंपी के तंतु वागस द्वारा पहुँचकर हृदय को रोकते हैं, अनुकंपी से हृदय की गति बढ़ती है। इससे नेत्र का तारा प्रभावित होता है, परानुकंपी से संकुचित होता है। वायुनाल और प्रणालिकाओं की पेशियों में परानुकंपी के सूत्र मस्तिष्क से आते हैं।

सब अंगों में आत्मगतंत्र के इन दोनों विभागों के सूत्र फैले हुए हैं।
(मु० स्व० व०)

अनुक्रमणी वेदों की रक्षा के लिये कालांतर में आचार्यों ने ऐसे ग्रंथों का निर्माण किया जिनमें वेदों के प्रत्येक मंत्र के ऋषि, देवता, छंद, आख्यान आदि का विशेष विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रंथ '**अनुक्रमणी**' (सूची) के नाम से प्रख्यात हैं और प्रत्येक वेद से संबद्ध हैं। अनुक्रमणी के रचयिताओं में **शौनक** तथा **कात्यायन** विशेष विख्यात आचार्य हैं। षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के लिये दस ग्रंथों का निर्माण किया था जिनमें 'बृहद्देवता' तथा 'ऋक्प्रातिशाख्य' प्रख्यात तथा प्रकाशित हैं। बृहद्देवता में ऋग्वेदीय प्रत्येक मंत्र के वर्ण्य देवता का विस्तृत विवेचन है, साथ ही मंत्रों से संबद्ध रोचक आख्यानों का भी। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' ऋग्वेद की प्रख्यात अनुक्रमणी है जिसपर 'षड्गुरुशिष्य' का भाष्य बहुत ही उपयोगी व्याख्यान है। माधव भट्ट ने भी 'ऋग्वेदानुक्रमणी' का प्रणयन किया था जिसके दो खंड उपलब्ध और मद्रास से प्रकाशित हैं। यजुर्वेद की अनुक्रमणी 'शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूत्र' में दी गई है जिसकी रचना का श्रेय कात्यायन (वार्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति) को दिया जाता है। इसके ऊपर महायाज्ञिक प्रजापति के पुत्र महायाज्ञिक श्रीदेव का उपयोगी भाष्य भी प्रकाशित है। सामवेद से संबद्ध अनुक्रमणी ग्रंथों की संख्या पर्याप्त रूप से बड़ी है जिनमें उपग्रंथ सूत्र, निदान सूत्र, पंचविधान सूत्र, लघु ऋक्तंत्रसंग्रह, तथा सामसप्तलक्षण भिन्न भिन्न स्थानों से प्रकाशित हैं परंतु कल्पानुपद सूत्र, अनुपद सूत्र तथा उपनिदान सूत्र अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। इन ग्रंथों में सामवेद के ऋषि, छंद तथा सामविधान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अथर्ववेद की 'बृहत् सर्वानुक्रमणी' प्रत्येक कांड के मंत्र, ऋषि, देवता, तथा छंद का पूर्ण विवरण देती है और सर्वाधिक महत्वशाली मानी जाती है। 'पंचपटलिका' तथा 'दंत्योष्ठविधि' पूर्वग्रंथ के पूरक माने जा सकते हैं। शौनक रचित 'चरणव्यूह सूत्र' भी वेदों की शाखा, चरण आदि की जानकारी के लिये विशेष उपादेय है।
(ब० उ०)

अनुदार दल अनुदार दल अथवा कांजरवेटिव पार्टी इंग्लैंड का एक प्रमुख राजनीतिक दल है। कैथोलिक धर्मावलंबी जेम्स द्वितीय के उत्तराधिकारी के समर्थन और विरोध में टोरी और ह्विग दो राजनीतिक दलों का आविर्भाव चार्ल्स द्वितीय (१६६०-१६८५ ई०) के समय हुआ था। इनमें से टोरी दल कांजरवेटिव पार्टी का मूल पूर्वज है। टोरी दल राजपद के वंशानुगत और विशेष अधिकार तथा केवल ऐंग्लिकन धर्मव्यवस्था का समर्थक था। ह्विग दल ने नियंत्रित राजतंत्र, पार्लमेंट की सर्वशक्तिमत्ता तथा धर्मव्यवस्था में सहिष्णुता के सिद्धांत को मान्यता दी थी। जार्ज तृतीय (१७६०-१८२० ई०) के राज्यारोहण तक देश की राजनीति में ह्विग दल की प्रधानता रही। जॉर्ज के शासनकाल में टोरी दल सत्तारूढ़ हुआ।

इस दल के लॉर्ड नॉर्थ के बारह वर्षों (१७७०-८२ ई०) के प्रधान मंत्रित्व काल में शासन में राजा के व्यक्तिगत प्रभाव की वृद्धि हुई। इसी दल का विलियम पिट (छोटा पिट) १७८४ से १८०१ तक प्रधान मंत्री रहा। फ्रांस की राज्यक्रांति और नेपोलियन (१७८९-१८१५ ई०) के युग तथा बाद के पंद्रह वर्षों में टोरी दल ने उद्धार और लोकतांत्रिक आंदोलनों के दमन और इंग्लैंड के साम्राज्य के विस्तार की नीति अपनाई। किंतु युद्ध और औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न नई परिस्थितियों का निर्वाह दल की नीति से संभव न था। १८३० में पार्लमेंट के निर्वाचन में सुधारवादी ह्विग दल की विजय हुई। दल ने १८३२ में पहला सुधार कानून (रिफ़ार्म ऐक्ट) पारित किया। टोरी दल ने सुधार के प्रस्तावों का विरोध किया। सुधार कानून के बाद ह्विग दल ने कुछ प्रचलित व्यवस्थाओं में जो अपेक्षित सुधार किए उनका समर्थन टोरी दल ने नहीं किया।

इस काल टोरीदल का कांज़रवेटिव पार्टी (अनुदार दल) नाम पड़ गया। १८२४ में एक भोज के अवसर पर जॉर्ज कैनिंग ने टोरी पार्टी के लिये पहले पहल इस शब्द का उपयोग किया था। दल के नेता रॉबर्ट पील ने दल की नीति की जो घोषणा टैम्नवर्थ के मतदाताओं के समक्ष १८३५ ई० में की थी उसमें दल के लिये कांज़रवेटिव शब्द को अपना लिया था। शीघ्र ही टोरी दल के लिये यह नया नाम प्रचलित हो गया।

१८३४-३५ और १८४१-४६ में पील के नेतृत्व में शासनसूत्र अनुदार दल के हाथ में रहा। अनाज के आयात से प्रतिबंध उठा लेने के प्रश्न पर संरक्षण नीति के समर्थक दल के सदस्यों ने पील का विरोध किया और इस संबंध का कानून पारित होने पर उन्होंने पील का साथ छोड़ दिया। पील के अनुयायी उदार दल में सम्मिलित हो गए। सुधारों के संबंध में उदार नीति को कार्यान्वित करने के कारण ह्विग दल लिबरल पार्टी (उदार दल) कहा जाने लगा था। १८६७ में बेंजामिन डिज़रेली ने अनुदार दल का पुनर्गठन किया। कांज़रवेटिव और सांविधानिक सभाओं का एक संघ स्थापित हुआ। इस वर्ष टोरी दल की सरकार थी। दल ने दूसरा सुधार कानून पारित कर मताधिकार का विस्तार किया। दल के संगठन को पुष्ट करने के लिये डिज़रेली ने १८७० में दल का केंद्रीय कार्यालय खोला और दल के उद्देश्य और कार्यों की पूर्ति के लिये १८८० में एक केंद्रीय समिति भी बना दी। दल के क्षेत्र और कार्यों का विस्तार इस समिति का मुख्य कार्य है।

विक्टोरिया (१८३७-१९०१) के राज्यकाल में दल की स्थिति काफी दृढ़ हो गई थी। आयर्लैंड को स्वराज्य देने के संबंध में उदार दल के नेता विलियम इवार्ट ग्लैडस्टन के प्रस्तावों का प्रत्येक अवसर पर दल ने तीव्र विरोध किया था। उदार दल के कुछ सदस्य भी इस प्रश्न पर दल के नेता की नीति से सहमत न थे। वे अनुदार दल में सम्मिलित हो गए और दोनों यूनियनिस्ट (एकतावादी) कहे जाने लगे। बहुत समय तक अनुदार दल के लिये इस नाम का ही उपयोग होता रहा।

१८९५ से १९०५ तक अनुदार दल के हाथ में देश का शासन रहा। अगले दस वर्ष उदार दल सत्तारूढ़ रहा किंतु प्रथम विश्वमहायुद्ध की अवधि (१९१४-१८) में उदार और अनुदार दल दोनों की संयुक्त सरकार रही। वर्तमान शताब्दी में लेबर पार्टी (मजदूर दल) के उदय और विस्तार के बाद उदार दल देश की राजनीति में पिछड़ गया। प्रथम विश्वमहायुद्ध के बाद समय समय पर अनुदार और मजदूर दलों की प्रधानता देश की राजनीति में रही है। द्वितीय विश्वमहायुद्ध की अवधि (१९३९-४४) में भी दोनों दलों की संयुक्त सरकार रही जो १९५० तक बनी रही। १९५० के चुनाव में मजदूर दल के केवल १७ अधिक सदस्य आए। दल का मंत्रिमंडल एक वर्ष भी न टिक सका। नए चुनाव में अनुदार दल को बहुमत प्राप्त हुआ। १९५१ से अनुदार दल के हाथ में देश का शासनसूत्र है।

अनुदार दल साधारणतया प्रचलित व्यवस्थाओं में परिवर्तन के पक्ष में नहीं रहा है। उग्र और क्रांतिकारी व्यवस्थाओं का वह घोर विरोधी है। अनिवार्य परिस्थितियों में परंपरागत संस्थाओं और व्यवस्थाओं में सुधार दल ने स्वीकार किया है किंतु उनका समूल नाश उसको अभीष्ट नहीं है। दल की यह नीति रही है कि किसी भी व्यवस्था में क्रमश इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि परंपरागत स्थिति से उसका संबंध बना रहे। यह दल राजपद, लार्ड सभा, ऐंग्लिकन धर्मव्यवस्था और जमींदारों के अधिकारों का समर्थक रहा है। व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा में दल सदा सचेष्ट रहा है। समाजवाद के आंदोलन और राष्ट्रीयकरण की योजनाओं को दल ने क्षमा की दृष्टि से देखा है और यथासंभव उनका विरोध किया है। व्यवसाय और व्यापार के हित में दल ने संरक्षण नीति का समर्थन किया है। राज्य की सबल और सुदृढ़ वैदेशिक नीति तथा अन्य देशों में इंग्लैंड की प्रतिष्ठा की मान्यता दल का अभीष्ट है। साम्राज्यवाद का दल की नीति में प्रमुख स्थान है। अधीनस्थ देशों को स्वाधीनता देकर साम्राज्य के अंगभंग का यह दल विरोधी है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के आम चुनाव में विंस्टन चर्चिल ने अंतरराष्ट्रीय और साम्राज्य संबंधी समस्याओं को महत्व दिया था।

देश का समृद्ध और कुलीन वर्ग अनुदार दल का समर्थक है। बड़े बड़े जमींदार, व्यवसायी, पूंजीपति, वकील, डाक्टर और विश्वविद्यालय के प्राध्यापक अधिकांश में अनुदार दल के सदस्य हैं। अनुदार दल की नीति के समर्थन में ही देश के हितों की वे रक्षा संभव समझते हैं।

सं० ग्रं०—फ्रेडरिख ऑस्टिन ऑग इंग्लिश गवर्नमेंट ऐंड पॉलिटिक्स (संशोधित संस्करण), मैकमिलन, न्यूयार्क, एस० वी० पुणतांबेकर: कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड, १४८५-१९३१, नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी, ब्रेडन, जे० ए० द्वारा संपादित, दि डिक्शनरी ऑव ब्रिटिश हिस्ट्री, एडवर्ड आर्नल्ड ऐंड कंपनी, लंदन, महादेवप्रसाद शर्मा . ब्रिटिश संविधान, किताबमहल, इलाहाबाद,, त्रिलोचन पंत इंग्लैंड का सांविधानिक इतिहास, नंदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी। (त्रि० पं०)

अनुनाद किसी वस्तु में ध्वनि के कारण अनुकूल कंपन उत्पन्न होने तथा उसके स्वर आदि में वृद्धि होने को अनुनाद (रेज़ोनेंस) कहते हैं। भौतिक जगत् की क्रियाओं में हम यांत्रिक अनुनाद और वैद्युत् अनुनाद पाते हैं। द्रव्य और ऊर्जा के बीच भी अनुनाद होता है, जिसके द्वारा हमें द्रव्य के अनुनादी विकिरण का पता लगता है।

यांत्रिक अनुनाद—प्रत्येक वस्तु की एक कंपनसंख्या होती है जो उसकी बनावट, प्रत्यास्थता और भार पर निर्भर रहती है। तनिक ठुनका देने पर घंटे, घंटियाँ, थाली तथा अन्य बर्तन प्रत्येक सेकंड में इसी संख्या के बराबर कंपन करने लगते हैं और तब उनके संपर्क से वायु में ध्वनि उत्पन्न होती है। यदि कंपन संख्या ३० से कम होती है, तो ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती, जैसे पेंडुलम आदि के दोलन में। यदि कंपन संख्या ३० से अधिक और ३०,००० से कम होती है तो स्वर सुनाई पड़ता है, जैसे सितार के तार, धातु के छड़ अथवा घड़े की हवा आदि के कंपन से निकले स्वर। कंपन के ३०,००० प्रति सेकंड से अधिक होने पर स्वर नहीं सुनाई पड़ता।
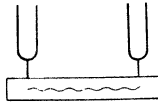
चित्र १—यदि दोनों स्वरित्रों की कंपनसंख्याएँ बराबर हैं तो उनके बीच अनुनाद होता है।

किसी दोलक (पेंडुलम) की कंपनसंख्या उसकी लंबाई पर निर्भर रहती है। यदि एक ही लंबाई के दो दोलक **क** और **ख** किसी तनी हुई रस्सी से लटकाए गए हों तो **क** को दोलित करने से थोड़ी देर बाद **ख** भी रस्सी द्वारा शक्ति पाकर दोलित हो जाता है। दोनों में शक्ति का आदान प्रदान होता है। यह तभी संभव है जब दोनों की कंपनसंख्याएँ बराबर हों।
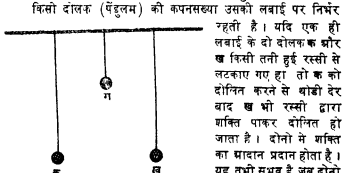
चित्र २. क और ख में अनुनाद होता है, ग में नहीं।

यदि दो स्वरित्र (ट्यूनिंग फोर्क) लकड़ी के तख्ते पर जड़े हुए हों और प्रत्येक की कंपनसंख्या

२५६ हो, तो उनमे से एक को ठुनका देने पर दूसरा स्वत कपित हो जाता है। इसी प्रकार किन्ही दो तारो मे अनुनाद होता है। यदि **क** कपनसख्या प्रति सेकड है, तार की लबाई **ल** सेटीमीटर है, **त** ग्रामभार मे तार का तनाव है और **भ** तार का भार प्रति सेटीमीटर है तो यदि दोनो तार ताने गए हो तो अनुनाद के लिये

$$\sqrt{(\text{त}')}/२\text{ल}'\sqrt{\text{भ}'} \text{ और } \sqrt{(\text{त}'')}/२\text{ल}''\sqrt{\text{भ}''}$$

को बराबर होना चाहिए, जहाँ एक प्राम (डैश) लगे अक्षर एक तार से संबध रखते है, और दो प्राम लगे अक्षर दूसरे तार से।

वैद्युतिक अनुनाद—दो कपनशील विद्युत्-परिपथो मे भी अनुनाद होता है। विद्युत्-परिपथ का कपन उसकी विद्युद्धारिता (कपैसिटी) **धा** और उपपादन **उ** पर निर्भर रहता है और दोलन सख्या **क** = १/२πउ धा होती है। यदि दो परिपथो की कपनसख्याएँ बराबर हो, अर्थात् **क'** = **क"**, तो दोनो मे अनुनाद होता है।

वैद्युतिक अनुनाद की ओर सर्वप्रथम सर ऑलिवर लॉज का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होने एक ही विद्युद्धारिता के दो लाइडन जारो को समान विद्युत् विभव का बनाया। एक परिपथ के लाइडन जार को प्रेरण कुडली (इडक्शन कॉयल) अथवा विम्जहर्ट मशीन से आविष्ट किया। देखा कि ज्योही इस कुडली की झिरी मे विद्युत् स्फुलिंग विसर्जित होता है त्योही दूसरी कुडली की झिरी मे भी स्फुलिंग उत्पन्न होता है। इस भाँति वैद्युतिक अनुनाद का प्रदर्शन कर सर ऑलिवर लॉज ने विद्युत्-शक्ति-प्रेषण का सिद्धात स्थापित किया। दोनो कपनशील परिपथो मे पहले को प्रेषी (ट्रैसमिटर) और दूसरे को सग्राही (रिसीवर) कहते है। स्पष्ट है कि वैद्युतिक अनुनाद के लिये २π (**उ'धा'**) = २π (**उ"धा"**), अर्थात् **उ'धा' = उ"धा"**।

एक परिपथ के कंपन को निश्चित कर दूसरी में उ" अथवा धा" को अदल बदलकर इसकी कंपनसख्या को पहली की कपनसख्या से मिलाया जाता है। इस क्रिया को समस्वरण (ट्यूनिंग) कहते हैं। दोनो के मेल खाने पर अनुनाद उत्पन्न होता है।

रेडियो तरगो का प्रेषण और ग्रहण इसी सिद्धात पर सभव हुआ। हाइनरिक रुडोल्फ हर्ट्ज़, गुग्लिमो मारकोनी, ब्रैनली, जगदीशचद्र बोस आदि वैज्ञानिको ने इसी सिद्धात पर परिपथ की शक्ति बढाकर तथा अन्य उपयोगी साधनो का प्रयोग कर विभिन्न दोलनसख्याओ के प्रेषक और ग्राहक यत्र बनाए थे।

टामस आर्थर एडिसन और ओ॰ डब्ल्यू॰ रिचार्डसन ने तापायनिक वाल्व का आविष्कार किया। उसी सिद्धात पर द्विध्रुवी, त्रिध्रुवी, फिर चतुर्ध्रुवी और पचध्रुवी वाल्वो का निर्माण हुआ। इनके द्वारा निश्चित कपनसख्या और प्रबल शक्ति के वैद्युत् परिपथ बनाए गए और विशाल प्रेषको से रेडियो की तरगो द्वारा समाचार, गाने और खबरे प्रेषित होने लगे। इन सबकी क्रियाविधि वैद्युत् अनुनाद पर आधारित है।

द्रव्य और ऊर्जा सबधी अनुनाद—आधुनिक वैज्ञानिक साधनो से हमे पदार्थरचना और तत्सबधी विकीर्ण शक्तियो की जानकारी सुलभ है। अणु तथा परमाणु के विशिष्ट वर्णक्रम होते है। नील्स बोर के अनुसार अणुओं एव परमाणुओं मे शक्ति की कई स्थितियाँ होती है। बाहरी शक्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अणु तथा परमाणु साधारण स्थिति से अन्य उत्तेजित स्थितियो मे जाते है और वहाँ से लौटती बार विभिन्न तरगदैर्घ्यों की रश्मियाँ विकीर्ण करते है। प्रथम उत्तेजित स्थिति से साधारण स्थिति मे लौटती बार उनकी मुख्य रश्मियाँ निकलती है। यदि कोई परमाणु साधारण स्थिति मे हो और उसकी मुख्य रेखा की ऊर्जा उसपर लगाई जाय, तो परमाणु और ऊर्जा मे अनुनाद होता है और परमाणु की अनुनादी रश्मि उत्सर्जित होती है। यदि आपतित रश्मिसमूह मे सभी रश्मियाँ हो तो परमाणु अपनी अनुनादी रश्मियो को ग्रहण कर लेता है और अविच्छिन्न वर्णक्रम मे काली रेखा उसी स्थान पर पाई जाती है। इस अनुनादी सिद्धात की खोज किर्शाफ ने की थी और उसी के आधार पर सौर स्पेक्ट्रम की काली रेखाओ की व्याख्या दी थी। इन रेखाओ का पता फ्राउनहोफर ने लगाया था, अत इन रेखाओ को फ्राउनहोफर रेखाएँ भी कहते है। अनुनादी रश्मियो पर आर॰ डब्ल्यू॰ वुड ने बड़ी खोज की है।
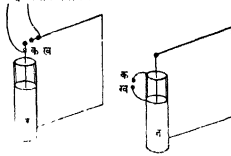
चित्र ३. सर ऑलिवर लॉज का प्रयोग

जब बाई ओर के यत्र की झिरी **क ख** मे स्फुलिंग विसर्जित की जाती है तब दाहिनी ओर के यत्र मे भी झिरी **क ख** मे स्फुलिंग अपने आप विसर्जित होती है।

परमाणु विस्फोट मे न्यूट्रान की ऊर्जा का अनुनाद यूरेनियम २३५ के नाभिक (न्यूक्लिअस) से होता है। इसी कारण विघटन शृखला स्थापित होती है और द्रव्य का परिवर्तन ऊर्जा मे होता है जिससे अपार ऊर्जा निकलती है। (न॰ ला॰ सि॰)

अनुनाद और आयनीकरण विभव इस शताब्दी के अनुसधा के फलस्वरूप हमारे १९वी शताब्दी के परमाणु सबधी विचारो मे मूलभूत परिवर्तन हुआ—परमाणु अविभाज्य न होकर अनेक अवयवो का समुदाय हो गया। हमारे आज के ज्ञान के अनुसार (द्र॰ **परमाणु**) परमाणु के दो मुख्य भाग है—एक है नाभिक (न्यूक्लिअस) और दूसरा है ऋणाणु (इलेक्ट्रॉन) मेघ। सरलतम प्रतिमा के अनुसार धनावेश युक्त नाभिक के परित ऋणाणु उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते है जैसे ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते है। नाभिक पर उतनी ही इकाइयाँ धन आवेश की होती है जितना ऋण आवेश परिक्रमा करनेवाले ऋणाणुओ पर होता है। हाँ, ऋणाणु चाहे जिस कक्षा मे नही रह सकते। उनकी कक्षाएँ नियत होती है, जिन्हे स्थायी कक्षाएँ (स्टेशनरी ऑर्बिट्स) कहते है। प्रत्येक कक्षा मे अधिक से अधिक कितने ऋणाणु रहेगे, यह सख्या भी निश्चित है। यह सरलता से देखा जा सकता है कि जैसे जैसे इलेक्ट्रॉन भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षाओ मे जाता है परमाणु की ऊर्जा मे वृद्धि होती है। जब सब ऋणाणु अपनी निम्नतम कक्षाओ मे रहते है तब परमाणु की ऊर्जा न्यूनतम होती है और कहा जाता है कि परमाणु अपनी सामान्य अवस्था मे है। परतु जब परमाणु को कहा से इतनी ऊर्जा मिले कि उसके शोषण से सबसे बाहरी ऋणाणु अगली कक्षा मे पहुँच जायँ तो कहते है कि परमाणु उत्तेजित हो गया है, और यह ऊर्जा अनुनाद ऊर्जा कहलाती है। स्पष्ट है कि यदि ऊर्जा कुछ कम हो तो ऋणाणु अगली कक्षा मे न जा सकेगा। जिस प्रकार ध्वनि के दो उत्पादको के आवर्तन भिन्न होने पर शक्ति का आदान-प्रदान नही होता, परतु जब आवर्तन अनुकूल (समान या दुगने, तिगुने आदि) होते है तब यह आदान प्रदान होता है, उसी प्रकार परमाणु भी ऊर्जा का आदान प्रदान तभी होता है जब आनेवाली ऊर्जा परमाणु की दो अवस्थाओ के अतर की ऊर्जा के बराबर हो। जब कोई ऋणाणु बाहरी कक्षा से भीतरी कक्षा मे आता है तो परमाणु की ऊर्जा मे कमी होती है और यह ऊर्जा विकिरण के रूप मे प्रकट होती है। इसके विपरीत जब परमाणु ऊर्जा का अवशोषण करता है तब ऋणाणु भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षाओ मे जाते है। वर्णपट मे प्रकाश की रेखाओ का विकिरण मे देखा जाना, या उनका अवशोषण होना, इन दोनो क्रियाओ के अस्तित्व की पुष्टि करना है। प्राय सभी रेखाओ का अस्तित्व परमाणु की दो ऊर्जा अवस्थाओ के भेद के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, यदि रेखा की आवर्तन सख्या **स** और दो अवस्थाओ मे परमाणु की ऊर्जा क्रमश ऊ_1 और ऊ_2 है तब

$$\text{प्ल सं} = \text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1, \qquad (1)$$

$$[hn = E_2 - E_1]$$

जहाँ **प्ल** प्लाक का स्थिराक है।

प्रश्न उठता है कि क्या वर्णपट की रेखाओं के अतिरिक्त भी परमाणु में ऊर्जा अवस्थाओं के अस्तित्व के संबंध में कोई और अधिक सीधा प्रमाण है। इसका उत्तर फ्रैंक और हर्ट्ज के प्रयोगों में मिलता है। यदि किसी परमाणु पर ऊर्जित कणों की बौछार की जाय तो दो फल हो सकते हैं (१) टक्कर प्रत्यास्थ (इलैस्टिक) हो और कण तथा परमाणु प्रत्यस्थ टक्कर के नियमों के अनुसार भिन्न भिन्न वेग से दूर हो जायँ, (२) कण अपनी ऊर्जा परमाणु को दे दे और फलस्वरूप परमाणु का बाहरी ऋणाणु किसी और बाहरी कक्षा में पहुंच जाय और परमाणु की ऊर्जा में वृद्धि हो जाय। ऊर्जायुक्त कण सरलता से उपलब्ध किए जा सकते हैं। यदि ऋणाणु, जिनका आवेश आ है, विभवांतर वि से गुजरे तो उनकी ऊर्जा आ वि होगी (जहाँ आ और वि दोनों एक ही इकाई में मापे गए हैं)। यदि ये ऋणाणु परमाणु को एक अवस्था से दूसरी में पहुँचाने में सफल होते हैं तो प्रत्यक्ष है कि

$$\text{आ वि} = \tfrac{1}{2}\ \text{द्र वे}^2 = \text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1 \qquad (२)$$

$$[QV = \tfrac{1}{2}\ mv^2 = E_2 - E_1]$$

जहां द्र ऋणाणु का द्रव्यमान और वे विभव के कारण उत्पन्न उसका वेग है। अब हम परमाणु के अवस्थाभेदों को ऋणाणु के विभव के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, समीकरण (२)। ऊपर की व्याख्या के अनुसार जब परमाणु सामान्य अवस्था से केवल अगली अवस्था में जाता है, तो हम उस ऊर्जा को परमाणु का अनुनाद विभव कहते हैं। अन्य अवस्थाओं में जाने के लिये जो ऊर्जा आवश्यक है वह उत्तेजना विभव कहलाएगी। परमाणु की एक और विशेष अवस्था हो सकती है—जब सबसे बाहरी ऋणाणु इतना दूर चला जाय कि सामान्यत वह बचे हुए परमाणु या आयन के क्षेत्र (या पहुंच) के बाहर हो। इसको संपन्न करने के लिये प्राय अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होगी (मौलिक रूप से ऋणाणु अनंत कक्षा में पहुँचना है)। इस ऊर्जा को परमाणु का आयनीकरण विभव कहते हैं। यह कहा जा सकता है कि अनुनाद विभव और आयनीकरण विभव उत्तेजना-विभव के विशेष रूप मात्र हैं।

मूल रूप में इन विभवों को निम्नलिखित रीति से हम ज्ञात कर सकते हैं। एक वायुहीन नली में उस तत्व के परमाणु भर देते हैं जिनके उत्तेजना विभवों को ज्ञात करना है (द्र० चित्र)।
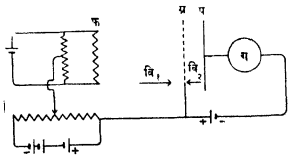
फिलामेंट फ से निकलते हुए ऋणाणु फिलामेंट और ग्रिड ग्र के बीच विभवांतर वि_1 के कारण त्वरित होते हैं। विभव वि_1 विभव वि_2 से बहुत कम परंतु विपरीत दिशा में ग्र और प्लेट प के बीच लगाया जाता है। वि_1 को धीरे धीरे बढ़ाया जाता है और फलत. गैल्वैनोमापी ग में विद्युद्धारा की वृद्धि होती है, क्योंकि द्रुतगामी ऋणाणु सरलता से प्लेट प तक पहुँचने में सफल होते हैं। परंतु, ज्यों ही ऋणाणुओं की ऊर्जा फ और प के बीच के स्थान में स्थित परमाणुओं की ऊर्जा अवस्था के अंतर के बराबर होगी, वे अपनी यह ऊर्जा परमाणुओं को दे देंगे और स्वयं प तक पहुँचने में असमर्थ होंगे। अत. वि_1 के उचित मूल्य का होने पर गैल्वैनोमापी धारा में ह्रास दिखलाएगा। परंतु वि_1 को और अधिक बढ़ाने पर, ऋणाणुओं की आवश्यक ऊर्जा परमाणुओं को मिल जाने के बाद भी, उनमें इतनी ऊर्जा रह जायगी कि वे फिर प तक पहुँचने में समर्थ हों। इस प्रकार ग की विद्युद्धारा बढ़ती घटती रहेगी और धारा के मूल्य के दो उतारों से संबंधित विभवों का अंतर परमाणु की दो अवस्थाओं की ऊर्जा के अंतर के बराबर होगा।

सामान्यत इस सरल रीति में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अधिक विस्तार के लिये देखें रूआर्क और यूरी ऐटम्स, मॉलीक्यूल्स ऐंड क्वांटा, तथा आर्नोट कलीजन प्रोसेसेज इन गैसेज (मेथुअन)। (द० श०)

अनुबंध (भाषा) शब्द का अर्थ है बंध या सातत्य अथवा संबंध जोड़नेवाला। व्याकरण में एक संकेतक अक्षर जो किसी शब्द के स्वर या विभक्ति में किसी विशेषता का द्योतक हो, जिसके साथ वह जुड़ा हुआ हो। किसी वर्ण या वर्णसमूह को भी अनुबंध कहा जाता है, जो किसी शब्द या प्रत्ययतुल्य पद के आरंभ या अंत में आता है, किंतु प्रयोग के समय, लुप्त हो जाता है। लुप्त होनेवाला भाषातत्व 'इत्' कहा जाता है। पाणिनि ने जिसे 'इत्' कहा है उसका व्याकरण में प्राचीन नाम अनुबंध ही रहा है। अनुबंध या इत् का प्रयोग व्याकरणिक वर्णन में एकरूपता लाने के लिये किया जाता है। प्रातिपदिकों से प्रत्ययों के अनुबंध में दोनों के योग से नए शब्द की रचना होती है, जिसका अर्थ बदल जाता है, यथा स्त्रीलिंग प्रत्यय 'टाप्' (अनुबंध में टकार एवं पकार का लोप होने से 'आ' शेष रह जाता है, जो प्रातिपदिकों में जुड़ता है) के योग से। 'अज' (ब्रह्मा) शब्द से स्त्रीलिंग बनाने के लिये 'टाप्' के सिर्फ 'आकार' के साथ योग करना पड़ता है, यथा अज + टाप् = अजा (बकरी)। इसी प्रकार अश्व + टाप् = अश्वा, बाल + टाप् = बाला, वत्स + टाप् = वत्सा। 'ङाप्' तथा 'ङीप्' प्रत्यय का 'ई' अंश अनुबंध से पुल्लिंग शब्दों में स्त्रीत्व का बोध कराता है, यथा राजन् + ङाप् = राज्ञी, दण्डिन् + ङीप् = दण्डिनी, गोप + ङीप् = गोपी, ब्राह्मण + ङीष् = ब्राह्मणी। 'पच्' (पकाना) धातु में 'घञ्' प्रत्यय के अनुबंध से 'ञ' और 'घ' की व्यंजन ध्वनि लुप्त (इत्) हो जाती है, केवल अक्षरात्मक स्वर 'अ' युक्त होता है, किंतु अनुबंध से 'च्' का परिवर्तन 'क्' में और 'प' के बाद आकार की वृद्धि होती है तथा शब्द पुल्लिंग बनाता है, यथा पच् + घञ् = पाक। इसी तरह 'पच्' में 'लुट्' प्रत्यय के अनुबंध में ल्, ट् व्यंजन ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं, 'उ' बदलकर 'अन' आदेश बन जाता है, यथा पच् + लुट् = पचनम्। एक ही अर्थ की प्रतीति होने पर भी यह शब्द नपुंसक लिंग होता है। भिन्न प्रत्यय के अनुबंध से लिंगपरिवर्तन हो जाता है। (मा० ला० ति०)

अनुबंध (कांट्रैक्ट), द्र० 'संविदा निर्माण' के अंतर्गत 'करार'।

अनुबंध चतुष्टय किसी ग्रंथ का प्रारंभ करने के पहले प्राचीन भारतीय परंपरा में भूमिका रूप से चार बातों का उल्लेख होता था, जिन्हें अनुबंध कहते थे—(१) ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय, (२) विषय के प्रतिपादन का प्रयोजन, (३) किसके लिये वह विषय प्रतिपादित किया गया है (अधिकारी), और (४) अधिकारी के साथ विषय का क्या संबंध है। अनुबंध शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'पीछे बाँधा हुआ', किंतु ग्रंथनिर्माण के बाद लिखे जाने पर भी इन अनुबंधों का ग्रंथ के प्रारंभ में ही उल्लेख रहता है। कभी कभी मंगलाचरण में ही अनुबंधों का निर्देश कर दिया जाता है। ये अनुबंध आज की भूमिका के पूर्वरूप माने जा सकते हैं। (रा० पा०)

अनुभव प्रयोग अथवा परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा बोध। स्मृति से भिन्न ज्ञान। तर्कसंग्रह के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं—स्मृति और अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति और उससे भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। अनुभव के दो भेद हैं—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। प्रथम को प्रमा तथा द्वितीय को अप्रमा कहते हैं। यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, तथा (४) शाब्द।

इनके अतिरिक्त मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकर के अनुयायी अर्थापत्ति, भाट्टमतानुयायी अनुपलब्धि, पौराणिक साम्भविका और ऐतिह्यका तथा तांत्रिक चेष्टिका को भी यथार्थ अनुभव के भेद मानते हैं। इन्हें क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, एतिह्य तथा चेष्टा से प्राप्त किया जा सकता है।

अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं—(१) संशय, (२) विपर्यय तथा (३) तर्क। संदिग्ध ज्ञान को संशय, मिथ्या ज्ञान को विपर्यय एवं ऊह (संभावना) को तर्क कहते हैं। (वि० ना० चौ०)

अनुभववाद (एंपिरिसिज्म) एक दार्शनिक सिद्धांत है जिसमें इंद्रियों को ज्ञान का माध्यम माना जाता है और जिसका मनोविज्ञान के संवेदनवाद (सेंसेशनलिज्म) तथा साहचर्यवाद (असोसिएशनिज्म) से पर्याप्त साम्य है। चाक्षुष प्रत्यक्ष (विजुअल परसेप्शन) की समस्या के प्रसंग में सहजज्ञानवाद (नेटिविज्म) का विकास अनुभववाद में हुआ। इस वाद के अनुसार प्रत्यक्षीकरण संवेदनाओं और प्रतिमाओं का साहचर्य है। हाब्स और लॉक की परंपरा के अनुभववादियों ने स्थापना की कि मन की स्थिति जन्मजात न होकर अनुभवजन्य होती है। बर्कले ने प्रथम बार यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि मूलतः अनुभव में स्पर्श और दृश्य संस्कारों के साथ सहचरित हो जानेवाले पदार्थों की गति के प्रत्यक्ष पर प्रसार का प्रत्यक्ष आधारित रहता है।

अनुभववाद के प्रमुख समर्थक हॉब्स लॉक, बर्कले, ह्यूम तथा हार्टले हैं। फ्रांस में कांडीलैक, लामट्री और बीन, स्काटलैंड में रीड और थामस ब्राउन तथा इंग्लैंड में जेम्स, जान स्टुअर्ट मिल एवं बेन का समर्थन इस वाद को मिला। सर चार्ल्स बेल, जोहनेस मिलर, हैल्र, लॉट्ज और वुट इत्यादि उन्नीसवीं शती के दैहिक मनोवैज्ञानिकों ने अनुभववाद को दैहिकी रूप प्रदान किया। अनंतर शरीरवेत्ताओं की दैहिकी व्याख्या और दार्शनिकों के संवेदनात्मक मनोविज्ञान का समन्वय हो गया। इस समन्वय का प्रतिनिधित्व ब्राउन, लाट्ज, हेल्महोल्त्ज तथा वुट का अनुभववादी मनोविज्ञान करता है जिसमें सहजज्ञानवाद का स्पष्ट खंडन है। बीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान में प्राकृत बोधवाद तथा अनुभववाद की समस्याएँ नहीं हैं। प्राकृत बोधवाद की समस्या ने घटना-क्रिया-विज्ञान (फिनॉमिनॉलॉजी) एवं अनुभववाद में व्यवहारवाद (बिहेवियरिज्म) तथा संक्रियावाद (ऑपरेशनिज्म) का रूप ले लिया है। (वै० च० श०)

अनुमान दर्शन और तर्क शास्त्र का पारिभाषिक शब्द। भारतीय दर्शन में ज्ञानप्राप्ति के साधनों का नाम प्रमाण है। अनुमान भी एक प्रमाण है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शन अनुमान को ज्ञानप्राप्ति का एक साधन मानते हैं। अनुमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका नाम अनुमिति है।

प्रत्यक्ष (इंद्रिय संनिकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा है उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत इस कारण से करती है कि हमारे पूर्वकालीन प्रत्यक्ष अनुभव में अनेक बार वे दोनों साथ साथ ही दिखाई पड़ी है, अनुमिति कहलाता है और इस ज्ञान पर पहुँचने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है। इस प्रक्रिया का सरलतम उदाहरण इस प्रकार है—किसी पर्वत के उस पार धुआँ उठता हुआ देखकर वहाँ पर आग के अस्तित्व का ज्ञान अनुमिति है और यह ज्ञान जिस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है उसका नाम अनुमान है। यहाँ आग प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, केवल धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पर पूर्वकाल में अनेक बार कई स्थानों पर आग और धुएँ का साथ साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होने से मन में यह धारणा बन गई है कि जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग भी होती है। अब जब हम केवल धुएँ का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और हमको यह स्मरण होता है कि जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ आग होती है, तो हम सोचते हैं कि अब हमको जहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है वहाँ आग अवश्य होगी, अतएव पर्वत के उस पार जहाँ हम इस समय धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है अवश्य ही आग वर्तमान होगी।

इस प्रकार की प्रक्रिया के मुख्य अंगों के पारिभाषिक शब्द ये हैं : जिस वस्तु का हमको प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है और जिस ज्ञान के आधार पर हम अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे **लिंग** कहते हैं। जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान होता है उसे **साध्य** कहते हैं। पूर्वप्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर उन दोनों के सहअस्तित्व अथवा साहचर्य के ज्ञान को, जो अब स्मृति के रूप में हमारे मन में है, **व्याप्ति** कहते हैं। जिस स्थान या विषय में लिंग का प्रत्यक्ष हो रहा हो उसे **पक्ष** कहते हैं। ऐसे स्थान या विषय जिनमें लिंग और साध्य पूर्वकालीन प्रत्यक्ष अनुभव में साथ साथ देखे गए हों **सपक्ष** उदाहरण कहलाते हैं। और, ऐसे उदाहरण जहाँ पूर्वकालीन अनुभव में साध्य के अभाव के साथ लिंग का भी अभाव देखा गया हो, विपक्ष उदाहरण कहलाते हैं। पक्ष में लिंग की उपस्थिति का नाम है **पक्षधर्मता** और उसका प्रत्यक्ष होना **पक्षधर्मता ज्ञान** कहलाता है। पक्षधर्मता ज्ञान जब व्याप्ति के स्मरण के साथ होता है तब उस परिस्थिति को **परामर्श** कहते हैं। इसी को **लिंगपरामर्श** भी कहते हैं क्योंकि पक्षधर्मता का अर्थ है लिंग का पक्ष में उपस्थित होना। इसके कारण और इसी के आधार पर पक्ष में साध्य के अस्तित्व का जो ज्ञान होता है उसी का नाम अनुमिति है। साध्य को लिंगी भी कहते हैं क्योंकि उसका अस्तित्व लिंग के अस्तित्व के आधार पर अनुमित किया जाता है। लिंग को **हेतु** भी कहते हैं क्योंकि इसके कारण ही हमको लिंगी (साध्य) के अस्तित्व का अनुमान होता है। इसलिये तर्कशास्त्रों में अनुमान की यह परिभाषा की गई है—लिंगपरामर्श का नाम अनुमान है और व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श है।

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थ अनुमान और परार्थ अनुमान, स्वार्थ अनुमान अपनी वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें बार बार के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अपने मन में व्याप्ति का निश्चय हो गया हो और फिर कभी पक्षधर्मता ज्ञान के आधार पर अपने मन में पक्ष में साध्य के अस्तित्व की अनुमिति का उदय हो गया है जैसा कि ऊपर पर्वत पर अग्नि के अनुमिति ज्ञान में दिखलाया गया है। यह समस्त प्रक्रिया अपने को समझाने के लिये अपने ही मन की है।

किंतु जब हमको किसी दूसरे व्यक्ति को पक्ष में साध्य के अस्तित्व का निःशंक निश्चय कराना हो तो हम अपने मनोगत को पाँच अंगों में, जिनको अवयव कहते हैं, प्रकट करते हैं। वे पाँच अवयव ये हैं :

प्रतिज्ञा—अर्थात् जो बात सिद्ध करनी हो उसका कथन। उदाहरण : पर्वत के उस पार आग है।

हेतु—क्यों ऐसा अनुमान किया जाता है, इसका कारण अर्थात् पक्ष में लिंग की उपस्थिति का ज्ञान कराना। उदाहरण : क्योंकि वहाँ पर धुआँ है।

उदाहरण—सपक्ष और विपक्ष दृष्टांतों द्वारा व्याप्ति का कथन करना, उदाहरण : जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ आग होती है, जैसे चूल्हे में, और जहाँ जहाँ आग नहीं होती, वहाँ वहाँ धुआँ भी नहीं होता, जैसे तालाब में।

उपनय—यह बतलाना कि यहाँ पर पक्ष में ऐसा ही लिंग उपस्थित है जो साध्य के अस्तित्व का संकेत करता है। उदाहरण : यहाँ भी धुआँ मौजूद है।

निगमन—यह सिद्ध हुआ कि पर्वत के उस पार आग है।

भारत में यह परार्थ अनुमान दार्शनिक और अन्य सभी प्रकार के वाद-विवादों और शास्त्रार्थों में काम आता है। यह यूनान देश में भी प्रचलित था और यूक्लिद ने ज्यामिति लिखने में इसका भली भाँति प्रयोग किया था। अरस्तू को भी इसका ज्ञान था। भारत के दार्शनिकों और अरस्तू ने भी पाँच अवयवों के स्थान पर केवल तीन को ही आवश्यक समझा क्योंकि प्रथम (प्रतिज्ञा) और पंचम (निगमन) अवयव प्रायः एक ही हैं। उपनय तो मानसिक क्रिया है जो व्याप्ति और पक्षधर्मता के साथ सामने होने पर मन में अपने आप उदय हो जाती है। यदि सुननेवाला बहुत मंदबुद्धि न हो, बल्कि बुद्धिमान हो, तो केवल प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों के कथन मात्र की आवश्यकता है। इसलिये वेदांत और नव्य न्याय के ग्रंथों में केवल दो ही अवयवों का प्रयोग पाया जाता है।

भारतीय अनुमान में आगमन और निगमन दोनों ही अंग हैं। सामान्य व्याप्ति के आधार पर विशेष परिस्थिति में साध्य के अस्तित्व का ज्ञान निगमन है और विशेष परिस्थितियों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर व्याप्ति की स्थापना आगमन है। पूर्व प्रक्रिया को पाश्चात्य देशों में 'डिडक्शन' और उत्तर प्रक्रिया को 'इंडक्शन' कहते हैं। अरस्तू आदि पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने निगमन पर बहुत विचार किया और मिल आदि आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने आगमन का विशेष मनन किया।

भारत में व्याप्ति की स्थापनाएँ (आगमन) तीन या तीनों में से किसी एक प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर होती थी। वे ये हैं (१) केवलान्वय, जब लिंग और साध्य का साहचर्य मात्र अनुभव में आता है, जब उनका सहअभाव न देखा जा सकता हो। (२) केवलव्यतिरेक—जब साध्य और लिंग दोनों का सहअभाव ही अनुभव में आता है, साहचर्य नहीं। (३) अन्वयव्यतिरेक—जब लिंग और साध्य का सहअस्तित्व और सहअभाव दोनों ही अनुभव में आते हों। आँग्ल तर्कशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने ग्रंथ में आगमन की पाँच प्रक्रियाओं का विशद वर्णन किया है। आजकल की वैज्ञानिक खोजों में उन सब का उपयोग होता है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान (इनफरेंस) का अर्थ भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ से कुछ भिन्न और विस्तृत है। वहाँ पर किसी एक वाक्य अथवा एक से अधिक वाक्यों की सत्यता को मानकर उसके आधार पर क्या क्या वाक्य सत्य हो सकते हैं, इसको निश्चित करने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है और विशेष परिस्थितियों के अनुभव के आधार पर सामान्य व्याप्तियों का निर्माण भी अनुमान ही है।

सं० ग्रं०—अन्नम् भट्ट : तर्कसंग्रह, केशव मिश्र : भाषापरिच्छेद, भी० ला० आत्रेय : दि एलिमेंट्स ऑव इंडियन लॉजिक।

(भी० ला० आ०)

अनुयोग जैन आगमों की व्याख्या का नाम अनुयोग है। प्राचीन काल में आगम के प्रत्येक वाक्य की व्याख्या नयों के आधार पर होती थी किंतु आगे चलकर मंदबुद्धि पुरुषों की अपेक्षा से आर्यरक्षित ने शास्त्रों के अनुयोग को चार प्रकार से विभक्त किया, यथा १. द्रव्यानुयोग, अर्थात् तत्वविचारणा, २. गणितानुयोग, अर्थात् लोकसंबंधी गणित की विचारणा, ३. चरणकरणानुयोग, अर्थात् साधु के आचार की विचारणा, और ४. धर्मकथानुयोग, अर्थात् धर्मबोधक कथाएँ। इन अनुयोगों के आधार पर तत्तद्विषयों के प्राधान्य को लेकर शास्त्रों का भी विभाग किया जाने लगा, जैसे आचारांग आदि को चरणकरणानुयोग में, उवासगदसा आदि को धर्मकथानुयोग में, जंबूदीव पण्णत्ति आदि को गणितानुयोग में और पन्नवणा आदि को द्रव्यानुयोग में शामिल किया गया। अनुयोग की प्रक्रिया का वर्णन करनेवाला प्राचीन ग्रंथ अनुयोगद्वार है जिसमें आवश्यक सूत्र के सामयिक अध्ययन की व्याख्या की गई है। उसी प्रक्रिया में व्याख्याकारों ने अन्य शास्त्रों की भी व्याख्या की है।

सं०ग्रं०—अनुयोगद्वार सूत्र, विशेषत उसके ५९वें सूत्र की व्याख्या।

(द० मा०)

अनुराधा भारतीय ज्योतिर्विदों ने कुल २७ नक्षत्र माने हैं, जिनमें अनुराधा सत्रहवाँ है। इसकी गिनती ज्योतिष में देवगण तथा मध्य नाडीवर्ग में की जाती है जिसपर विवाह स्थिर करने में गणक विशेष ध्यान देते हैं। 'अनुराधा नक्षत्र में जन्म' का पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में उल्लेख किया है। (विशेष द्र० 'नक्षत्र')। (च० म०)

अनुराधापुर लंका का एक प्राचीन नगर है जो कोलंबो के बाद सबसे बड़ा है। यह लंका के उत्तरी मध्यप्रांत की राजधानी तथा बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ है। नगर का स्थापनाकाल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बताया जाता है। जब अशोक के पुत्र महेंद्र ने लंका के शासकों तथा प्रजा को बौद्ध बनाया था, तब भी अनुराधापुर देश की राजधानी था। नगर में दो बहुत पुराने रम्य तालाब तथा एक बहुत बड़ा बौद्ध स्तूप है, जो बौद्धकालीन प्रगति के प्रतीक हैं। यहाँ एक वृक्ष है जो लोकोक्ति के अनुसार भारतस्थित बोधिगया के वृक्ष की शाखा से उगाया गया था। यह प्राचीन नगर देश का व्यापारिक तथा व्यावसायिक केंद्र है। यहाँ आटा पीसने की चक्कियाँ तथा अन्य बहुत से छोटे मोटे उद्योग धंधे हैं। (ह० ह० सिं०)

अनुरूपी निरूपण एक तल पर बनी किसी आकृति को दूसरे तल पर इस प्रकार चित्रित करने को कि एक आकृति के प्रत्येक बिंदु के लिये दूसरी आकृति में एक ही संगत बिंदु हो, और इसके अतिरिक्त, दोनों आकृतियों के संगतकोण बराबर हों, **अनुरूपी निरूपण** (कन्फ़ॉर्मल रिप्रेज़ेंटेशन) कहते हैं, क्योंकि इसमें एक आकृति का दूसरी आकृति में इस प्रकार निरूपण होता है कि दोनों आकृतियों के छोटे छोटे भाग अनुरूप (सिमिलर) बने रहते हैं।

मान लीजिए, एक तल में **क ख ग** एक त्रिभुज है और दूसरे तल में **कि, खि, गि** संगत त्रिभुज है। यह आवश्यक नहीं है कि त्रिभुजों की
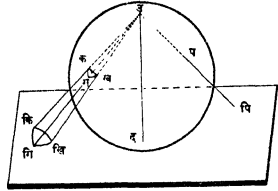
भुजाएँ ऋजु रेखाएँ ही हों। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि यदि भुजाएँ वक्र रेखाएँ हों तो भी, जब त्रिभुजों के आकार बहुत छोटे हो जायँगे, हम उन्हें ऋजु रेखाओं के सदृश ही मान सकते हैं।

जब बिंदु **ख**, **ग** बिंदु **क** की ओर प्रवृत्त होंगे, तब संगत बिंदु **खि, गि** बिंदु **कि** की ओर प्रवृत्त होंगे। यदि निरूपण अनुरूपी हो तो अंत में त्रिभुज **क ख ग** और **कि खि गि** के संगत कोण समान हो जायँगे और संगत भुजाएँ अनुपाती हो जायँगी। अत जो दो वक्र **क** पर मिलते हैं, उनका मध्यस्थ कोण उन दो वक्रों के मध्यस्थ कोण के बराबर होगा जो **कि** पर मिलते हैं।

अनुरूपी निरूपण का सबसे प्रसिद्ध प्रयोग **मर्केटर प्रक्षेप** कहलाता है। जिसके द्वारा भूमंडल की आकृतियों का चित्रण समतल पर किया जाता है (द्र० 'मर्केटर प्रक्षेप')।

लैंबर्ट ने सन् १७७२ में उक्त प्रश्न का अधिक व्यापक रूप से अध्ययन किया। पीछे लैग्रांज ने बताया कि इस विषय का समिश्र चर के फलनों (फंक्शंस ऑव ए कम्प्लेक्स वेरिएबुल) से क्या संबंध है। सन् १८२२ में कोपिनहेगन की विज्ञान परिषद् ने एक पुरस्कार के लिये यह विषय प्रस्तावित किया कि "एक तल के विभिन्न भाग दूसरे तल पर इस प्रकार कैसे चित्रित किए जायँ कि प्रतिबिंब के छोटे से छोटे भाग मौलिक तल के संगत भागों के अनुरूप हों?" गाउस ने सन् १८२५ में इस समस्या का हल निकाला और वहीं से इस विषय के व्यापक सिद्धांत का आरंभ हुआ। पिछले ५० वर्षों में इस क्षेत्र के अन्य कार्यकर्ताओं में रीमान, श्वार्ज़ और क्लाइन उल्लेखनीय हैं।

मान लीजिए कि **स = श (य, र) + अष (य, र)** समिश्र राशि **ल = य + अर** का एक वैश्लेषिक फलन है, जिसमें **अ** $= \sqrt{(-1)}$। यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि फलन की वैश्लेषिकता के लिये आवश्यक और पर्याप्त शर्तें ये हैं

$$\frac{\text{त श}}{\text{त य}} = \frac{\text{त ष}}{\text{त र}}, \quad \frac{\text{त श}}{\text{त र}} = -\frac{\text{त ष}}{\text{त य}}।$$

इन समीकरणों को **कोशी रीमान समीकरण** कहते हैं। जब ये समीकरण संतुष्ट हो जाते हैं तब, यदि हम **य, र** समतल की किसी आकृति का निरूपण **श, ष** समतल पर करें, तो निरूपण अनुरूपी होगा और कोणों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि दोनों फलन **श** तथा **ष** संतत हों और उनके चारों आंशिक अवकल गुणक

$$\frac{\text{त श}}{\text{त य}}, \quad \frac{\text{त श}}{\text{त र}}, \quad \frac{\text{त ष}}{\text{त य}}, \quad \frac{\text{त ष}}{\text{त र}}$$

भी संतत हों। आकृतियों की अनुरूपता केवल उन बिंदुओं पर टूटेगी जहाँ उपरिलिखित चारों अवकल गुणक शून्य हो जायँ।

उदाहरण के लिये हम कोई भी वैश्लेषिक फलन स = फ(ल) ले सकते हैं, जैसे $ल^2$, कोज्या ल अथवा ज्या ल। यदि हम $स = ल^2 = (य इर)^2$ लें तो $श = य^2 - र^2$ और $ष = २ य र$।

फिर $$श = य^2 - \frac{ष^2}{४य^2},\ श = \frac{ष^2}{४र^2} - र^2।$$

यदि हम य, र समतल मे ऋजु रेखाओं की दो सहतियाँ य = क, र = ख लें, जो परस्पर लंब हो, तो श, ष समतल मे उनकी संगत आकृतियाँ परवलय होंगी $ष^2 = ४क^2 (क^2 - श)$ और $ष^2 = ४ख^2 (ख^2 + श)$ जो समनाभि और समकोणीय है। स्पष्ट है कि य, र समतल के समकोण श, ष समतल में भी समकोणों से ही निरूपित होते है।

इसी प्रकार यदि हम श, ष समतल में दो रेखापुंज ले श = ग, ष = घ जो समकोणीय है, तो य, र समतल पर आयताकार अतिपरवलय $य^2 - र^2 = ग$ और $२यर = घ$ उनकी संगत आकृतियाँ होंगी। स्पष्ट है कि इस निरूपण मे भी आकृतियों के कोणगुण अक्षुण्ण बने रहते है।

सं० ग्रं०—एo आरo फोरसाइथ थ्योरी ऑव फक्शस, डब्लू०एफ० ऑसगुड : कनफामल रिप्रेजेटेशन ऑव वन सर्फेस अपॉन अनदर। (ब्र० मो०)

अनुर्वरता सतानोत्पत्ति की असमर्थता को अनुर्वरता कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, उस अवस्था को अनुर्वरता कहते है जिसमे पुरुष के शुक्राणु और स्त्री के डिंब का सयोग नही हो पाता, जिससे उत्पत्तिक्रम प्रारभ नही होता। यह दशा स्त्री और पुरुष दोनो के या किसी एक के दोष से उत्पन्न हो सकता है। सतानोत्पत्ति के लिये आवश्यक है कि स्वस्थ शुक्राणु अडग्रथि मे उत्पन्न होकर मूत्रमार्ग मे होते हुए मैथुन क्रिया द्वारा योनि में गर्भाशय के मुख के पास पहुँच जाय और वहाँ से स्वस्थ गर्भाशय की ग्रीवा मे होता हुआ डिबवाहनो म पहुँचकर स्वस्थ डिब का, जो डिबग्रथि से निकलकर वाहनी के झालरदार मुख मे आ गया है, समेचन करे। इसी के पश्चात् उत्पत्तिक्रम प्रारभ होता है। यदि स्वस्थ शुक्राणु और डिब की उत्पत्ति नही होती, या उनके निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने में कोई बाधा उपस्थित होती है, तो डिब और शुक्राणु का सयोग नही हो पाएगा और उसका परिणाम अनुर्वरता होगा। मानसिक दशा भी कभी कभी इसका कारण हो जाती है। यह अनुमान किया गया है कि प्राय दस प्रति शत विवाह अनुर्वर होते है।

कारण—पुरुष मे अनुर्वरता के दो प्रकार के कारण हो सकते हैं

(१) अडग्रथि मे बनकर शुक्राणु के निकलने पर योनि तक पहुँचने के मार्ग मे कोई रुकावट।

(२) अडग्रथियों की शुक्राणुओं को उत्पन्न करने मे असमर्थता।

रुकावट का मुख्य स्थान मूत्रमार्ग है जहाँ गोनोमेह (सूजाक, गनोरिया) रोग के कारण ऐसा सकोच (स्टेनोसिस) उत्पन्न हो जाता है कि वीर्य उसके द्वारा प्रवाहनलिका की यात्रा पूरी नही कर पाता। स्खलननलिका, शुक्रवाहिनी-नलिका, अथवा उपाड या शुक्राशय की नलिकाओं मे भी ऐसा ही सकोच उत्पन्न हो सकता है। जिन व्यक्तियो मे इस रोग मे दोना ओर के उपाड आक्रात हुए रहते है उनमे से ३० प्रति शत व्यक्ति अनुर्वर पाए जाते हैं। अन्य सक्रमणों से भी यही परिणाम हो सकता है, किंतु ऐसा अधिकतर गोनोमेह से ही होता है। अडग्रथियो मे शुक्राणु उत्पत्ति पर एक्स-रे का बहुत हानिकारक प्रभाव पडता है, यद्यपि ग्रथियों मे अन्य स्राव पूर्ववत् ही बने रहते है। इसी प्रकार अन्य सक्रामक रोगो मे भी, जैसे न्यूमोनिया, टाइफाइड आदि मे, शुक्राणु उत्पत्ति रुक जाती है। अडग्रथि में शोथ या पूयोत्पादन होने से (जिसका कारण प्राय गोनोमेह होता है) शुक्राणु उत्पत्ति सदा के लिये नष्ट हो जा सकती है। अन्य अत स्रावी ग्रथियों से भी, विशेषकर पिट्युटरी के अग्रभाग से, इस क्रिया का बहुत सबध है। आहार पर भी कुछ सीमा तक शुक्राणुउत्पत्ति निर्भर रहती है। विटामिन ई इसके लिये आवश्यक माना जाता है।

पुरुषो की भाँति स्त्रियो मे भी एक्स-रे और सक्रमण से डिंबग्रथि की डिंबोत्पादन क्रिया कम या नष्ट हो सकती है। गोनोमेह के परिणाम स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा अधिक भयकर होते है। डिब के मार्ग मे वाहनी के मुख पर, या उसके भीतर, शोथ के परिणामस्वरूप सकोच बनकर अवरोध उत्पन्न कर देते है। गर्भाशय की अतर्कला मे शोथ होकर और उसके पश्चात् सौत्रिक ऊतक बनकर कला को गर्भधारण के अयोग्य बना देते है। गर्भाशय की ग्रीवा तथा योनि की कला म शोथ होने से शुक्राणु का गर्भाशय मे प्रवेश करना कठिन होता है।

कुछ रोगियों में डिबग्रथि तथा गर्भाशय अविकसित दशा मे रह जाते है। तब डिबग्रथि डिब उत्पन्न नही कर पाती और गर्भाशय गर्भ धारण नही करता।

दशा के कारणों का अन्वेषण करके उन्ही के अनुसार चिकित्सा की जाती है। (मु० स्व० व०)

अनुलोम विवाह के अर्थ मे 'अनुलोम' एव 'प्रतिलोम' शब्दो का व्यवहार वैदिक साहित्य म नही पाया जाता। पाणिनि (चतुर्थ, ४ २८) ने इन शब्दो से व्युत्पन्न शब्द अष्टाध्यायी में गिनाए है और इसके बाद स्मृतिग्रथो मे इन शब्दों का वर्तमान मे प्रयोग होता दिखाई देता है (गौतम धर्मसूत्र, चतुर्थ १८-१५, मनु०, दशम, १३, याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रथम, ९५, वसिष्ठ०, १८ ७), जिससे अनुमान होता है कि उत्तर वैदिक काल के समाज मे अनुलोम एव प्रतिलोम विवाहो का प्रचार बढ़ा।

अनुलोम विवाह का सामान्य अर्थ है अपने वर्ण से निम्नतर वर्ण मे विवाह करना। इसके विपरीत किसी निम्नस्तर वर्ण के पुरुष और उच्चतर वर्ण की कन्या के बीच सबध का स्थापित होना प्रतिलोम कहलाता है (द्र० 'प्रतिलोम')। प्राय धर्मशास्त्रों की परीक्षा इसी सिद्धात का प्रतिपादन करती है कि अनुलोम विवाह ही शास्त्रकारों का मान्य थे, यद्यपि दोनो प्रकार के दृष्टात स्मृतिग्रथो मे मिलते है। अनुलोम विवाह से उत्पन्न सतान के विषय मे ऐसा सामान्य मत जान पड़ता है कि उसे माता के वर्ण के अनुरूप मानते है। इसका एक विपरीत उदाहरण बौद्ध जातकों मे फिक ने 'भद्दसाल जातक' मे ढूढ़ा है, जिसके अनुसार माता का कुल नही देखा जाता, पिता का ही कुल देखा जाता है। अनुलोम से उत्पन्न सताना और प्रजातियो के सबध में विभिन्न शास्त्रो मे विभिन्न मत पाए जाते है जिन सबका यहाँ उल्लेख करना कठिन है। मनु के अनुसार अबष्ठ, निषाद और उग्र अनुलोम विवाहो से उत्पन्न जातियाँ थी।

ऐसे अनुलोम विवाहों के उदाहरण भारत मे मध्यकाल तक काफी पाए जाते है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' से पता चलता है कि अग्निमित्र ने, जो ब्राह्मण था, क्षत्राणी मालविका से विवाह किया था। चद्रगुप्त द्वितीय की राजकन्या प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक 'ब्राह्मण' रुद्रसेन द्वितीय से विवाह किया और उसकी पट्टमहिषी बनी। कदबकुल के सम्राट् काकुत्स्थवर्मा (एपि० इडिका, भाग ८, पृ० २८) के तालगुड अभिलेख से विदित होता है कि कदबकुल के सस्थापक मयूर शर्मा ब्राह्मण थे, उन्होने काची के पल्लवो के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया। अभिलेख से पता चलता है कि काकुत्स्थ वर्मा (मयूर शर्मा के चतुर्थ वशज) ने अपनी कन्याएँ गुप्तो तथा अन्य नरेशो को ब्याही थी। आगे चलकर ऐसे विवाहो पर प्रतिबंध लगने आरभ हो गए। (च० म०)

स० ग्र०—काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना, १९४१।

अनुवाद शब्द का अर्थ सामान्यत व्याख्या या विश्लेषण है। इसका अर्थ पूर्वकथित बात का विश्लेषण या उल्लेख या एक भाषा से दूसरी भाषा मे रूपातरण करना माना जाता है। सस्कृत साहित्य मे विशेष रूप से ब्राह्मणग्रथो का वह भाग अनुवाद माना जाता है जिसमे पूर्वोक्त निर्देश या विधि की व्याख्या, विवरण या टीका निहित होती थी और जो स्वय कोई विधि या निदेश नही होता था। किसी कथन के पश्चात् किया गया 'वाद' ही अनुवाद था। कभी आचार्य अनुवाद करते थे, कभी कोई दक्ष शिष्य।

आधुनिक साहित्य मे अनुवाद शब्द के अर्थ का विकास या परिवर्तन हो जाने के कारण प्राचीन अर्थ मान्य नही रह गया है। अब एक भाषा में लिखे या कहे हुए विषय को दूसरी भाषा मे रूपातरित करना अनुवाद कहा जाता है। यह कला सिर्फ लिखित भाषा के समान ही प्राचीन नही है, बल्कि मानव भाषा के समान अतिप्राचीन काल से इसका अस्तित्व सभव माना

जा सकता है; तब से जब किसी चतुर द्विभाषिए ने उच्चरित भाषा या संकेत भाषा की सहायता से एक भाषाभाषी के कथ्य को दूसरे भाषाभाषी तक पहुँचाया होगा। पश्चिमी जगत् में प्राचीनतम लिखित साहित्य के अनुवादरूप में सुमेरियन गिल्गमिश नामक प्राचीन काव्य के अंशों का ई० पू० दूसरी शती की चार पाँच एशियाई भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध होता है। पश्चिमी जगत् में सर्वाधिक महत्वपूर्ण, अनुवाद सप्तुआजिन (Septuagint) ग्रंथ का है, जो यहूदियों के धर्मग्रंथ का ग्रीक भाषा में अनुवाद है। सिकंदर के समय में यूनान और भारत का सांस्कृतिक संबंध स्थापित होने से (ई० पू० ३२७ ई०) अनेक भारतीय ग्रंथों एवं विज्ञानों का ग्रीक भाषा में अनुवाद हुआ। इसी समय से भारतीय गणित का शून्य यूरोप में लोकप्रिय हुआ। इससे भी पूर्व बौद्ध साहित्य का पाली में प्रणयन होने से संस्कृत पाली में परस्पर अनुवाद क्रिया का आरंभ हुआ। बौद्धों के प्रभाव एवं प्रयास से अनेक भारतीय ग्रंथों का अनुवादकार्य चीनी, तिब्बती भाषाओं में संपन्न हुआ। अरबों के सिंध में आगमन से गणित और आयुर्वेद के कतिपय अंशों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ। जब अरबों ने यूरोप विजय किया तो अरबी से पुर्तगीज, इतालियन, लैटिन, ग्रीक आदि में अनेक लिखित साहित्य की उपयोगी बातों का अनुवादकार्य प्रारंभ हुआ और इसमें वृद्धि हुई। मध्यकाल में जब सामंतों और शासकों ने पांडुलिपियों को खरीदना शुरू किया तो अनुवादकार्य को प्रोत्साहन मिला। इसमें शैक्षणिक कार्य को भी आर्थिक प्रोत्साहन मिला। अनुवाद की दृष्टि से आधुनिक काल अत्यंत उपयोगी रहा है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के विस्तार ने अनेक सभ्यताओं और साहित्यों को एक दूसरे से जोड़ दिया, जिसके फलस्वरूप अनेक भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनी, पुर्तगीज और जर्मन में तथा इनसे अन्य भाषाओं में हुआ। रूस और चीन की साम्यवादी क्रांति ने मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन और माओ त्से तुंग के अनेक ग्रंथों का अनुवाद विश्व की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध करा दिया है। विज्ञान की अच्छी और उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद भी राष्ट्रीय माध्यमभाषाओं में होने लग गया है। आजकल विज्ञान की सहायता से अनुवाद की कंप्यूटर जैसी मशीनों का आविष्कार हो गया है। बहुभाषी देशों की संसदों, संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य अंतरराष्ट्रीय संमेलनों में मशीनों द्वारा एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादकार्य अविलंब संपन्न होने लग गया है। मशीनें अब एक भाषा से दूसरी भाषा में पुस्तकों का भी अनुवाद करने लगी हैं।

अनुवादकला की कुछ कठिनाइयाँ भी होती हैं। विज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास जैसे विषयों का अनुवाद अपेक्षाकृत सुगम है क्योंकि इसमें शब्द की अभिधाशक्ति की और वाच्यार्थ की ही आवश्यकता पड़ती है, संकेतार्थ, गूढ़ार्थ अथवा शैलीगत विशिष्टता की कठिनाई नहीं रहती। किंतु दर्शन एवं साहित्य के ग्रंथों का अनुवादकार्य उतना सुगम नहीं होता। इनमें शब्द की व्यंजनाशक्ति, रचनाकार की मानसिक स्थिति, अर्थगत संकेत एवं संदर्भ की जटिलता बहुत बड़ी बाधाएँ होती हैं। केवल शब्दार्थ या शब्दकोश की सहायता से इन ग्रंथों का दो भाषाओं में परस्पर अनुवाद कठिन होता है। मशीन भी इन समस्याओं का सही समाधान नहीं दे पाती। (मो० ला० ति०)

अनुविधि राज्य की प्रभुत्वसंपन्न शक्ति द्वारा निर्मित कानून को अनुविधि कहते हैं। अन्यान्य देशों में अनुविधिनिर्माण की पृथक् पृथक् प्रणालियाँ हैं जो वस्तुतः उस राज्य की शासनप्रणाली के अनुरूप होती हैं।

अंग्रेजी अनुविधि—अंग्रेजी कानून में जो अनुविधि है उसमें सन् १२३५ ई० का 'स्टैट्यूट ऑव मर्टन' सबसे प्राचीन है। प्रारंभ में सभी अनुविधियाँ सार्वजनिक हुआ करती थीं। रिचर्ड तृतीय के काल में इसकी दो शाखाएँ हो गईं—सार्वजनिक अनुविधि तथा निजी अनुविधि। वर्तमान अनुविधियाँ चार श्रेणियों में विभक्त हैं —१ सार्वजनिक साधारण अधिनियम, २. सार्वजनिक स्थानीय तथा व्यक्तिगत अधिनियम, ३ निजी अधिनियम जो सम्राट् के मुद्रक द्वारा मुद्रित होते हैं, ४ निजी अधिनियम जो इस प्रकार मुद्रित नहीं होते। निजी अधिनियमों का अब व्यवहार रूप में लोप होता जा रहा है।

भारतीय अनुविधि—प्राचीन भारत में कोई अनुविधि प्रणाली नहीं थी। न्याय सिद्धांत एवं नियमों का उल्लेख मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, बृहस्पति, कात्यायन आदि स्मृतिकारों के ग्रंथों में तथा बाद में उनके भाष्यों में मिलता है। मुस्लिम विधि प्रणाली में भी अनुविधियाँ नहीं पाई जातीं। अंग्रेजी राज्य के प्रारंभ में कुछ अनुविधियाँ 'विनिमय' के रूप में आईं। बाद में अनेक प्रमुख अधिनियमों का निर्माण हुआ, जैसे 'इंडियन पेनल कोड', 'सिविल प्रोसीजर कोड', 'क्रिमिनल प्रोसीजर कोड', 'एविडेंस ऐक्ट' आदि। सन् १९३५ ई० के 'गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट' के द्वारा महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन हुए। १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० को भारत स्वतंत्र हुआ और सन् १९५० ई० में स्वनिर्मित संविधान के अंतर्गत संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बन गया। इसके पूर्ववर्ती अधिनियमों को मुख्य रूप से अपना लिया गया। तदुपरांत संसद् तथा राज्यों के विधानमंडलों द्वारा अनेक अत्यंत महत्वपूर्ण अधिनियमों का निर्माण हुआ जिनसे देश के राजनीतिक, वैधानिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २४६ के अंतर्गत संसद् तथा राज्यों के विधानमंडलों की विधि बनाने की शक्ति का विषय के आधार पर तीन विभिन्न सूचियों में वर्गीकरण किया गया है—(१) संघसूची, (२) समवर्ती सूची तथा (३) राज्यसूची। संसद् द्वारा निर्मित अधिनियमों में राष्ट्रपति तथा राज्य के विधानमंडल द्वारा निर्मित अधिनियमों में राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के संबंध में यदि कोई अधिनियम राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाया जाता है तो उसमें राष्ट्रपति की स्वीकृति अपेक्षित है (द्र० भारत का संविधान, अनुच्छेद २४५-२५५)।

साधारण

(१) सार्वजनिक अधिनियम, जब तक विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न हो, देश की समस्त प्रजा पर लागू होते हैं। भारत में निजी अधिनियम नहीं होते।

(२) प्रत्येक अधिनियम स्वीकृतिप्राप्ति की तिथि से चालू होता है, जब तक किसी अधिनियम में अन्य किसी तिथि का उल्लेख न हो।

(३) कोई अधिनियम प्रयोग के अभाव में अप्रयुक्त नहीं समझा जाता, जब तक उसका निरसन न हो।

(४) अनुविधि का शीर्षक, प्रस्तावना अथवा पार्श्वलेख उसका अंग नहीं होता, यद्यपि निर्वचन में उनकी सहायता ली जा सकती है।

(५) प्रायः अधिनियमों का वर्गीकरण विषयवस्तु के आधार पर किया जाता है, जैसे, शाश्वत तथा अस्थायी, दंडनीय तथा लोकहितकारी, आज्ञापक तथा निदेशात्मक और सक्षमकारी तथा अयोग्यकारी।

(६) अस्थायी अधिनियम स्वयं उसी में निर्धारित तिथि को समाप्त हो जाता है।

(७) कतिपय अधिनियम प्रति वर्ष पारित होते हैं।

अधिनियम का निर्वचन

किसी अधिनियम के निर्वचन के लिये हमें सामान्य विधि तथा उस अधिनियम का आश्रय लेना होता है। निर्वचन के मुख्य नियम इस प्रकार हैं :

(१) अधिनियम का निर्वचन उसकी शब्दावली की अपेक्षा उसके अभिप्राय तथा उद्देश्य के आधार पर करना चाहिए।

(२) अधिनियम का देश की सामान्य विधि से जो संबंध है उसे ध्यान में रखना चाहिए। (श्री० अ०)

अनुशय बौद्ध परिभाषा के अनुसार संसार का मूल अनुशय है। (१) रागतृष्णा, (२) प्रतिघद्वेष, (३) मान, (४) अविद्या विद्या का विरोधी तत्व, (५) दृष्टिविशेष प्रकार की मान्यता या दर्शन, जैसे सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि, और (६) विचिकित्सासंशय, ये छह 'अनुशय' हैं। ये ही अनुशय संयोजन, बंधन, ओघ, आस्रव आदि शब्दों द्वारा भी व्यक्त किए गए हैं। अन्य दर्शनों में वासना, कर्म, अपूर्व, अदृष्ट, संस्कार आदि नाम से जिस तत्व का बोध होता है उसे बौद्धों ने अनुशय कहा है। अनुशय की हानि का उपाय विशेष रूप से बौद्धों ने बताया है।

सं०ग्रं०—अभिधर्मकोश, पंचम कोषस्थान। **(द० मा०)**

अनुशासन १. वह विधान जो किसी संस्था, वर्ग अथवा समुदाय के सब सदस्यों को उसके अनुसार सम्यक् रूप से कार्य अथवा आचरण करने के लिये विवश करे। २. नियम, यथा ऋण के संबंध में मनु का अनुशासन, शब्दों के संबंध में पाणिनि का शब्दानुशासन तथा लिंगानुशासन। ३. महाभारत का १३वाँ पर्व--अनुशासन पर्व (इसमें उपदेशों का वर्णन है, इसलिये इसका नाम अनुशासन पर्व रखा गया है)। ४. विनय (डिसिप्लिन) (मनु० २, १५६, टीका--शिष्याणां प्रकरणात् श्रेयोऽर्थम् अनुशासनम्)। (वि० ना० चौ०)

अनुहरण उस बाहरी समानता को कहते हैं जो कुछ जीवों तथा अन्य जीवों या आसपास की प्राकृतिक वस्तुओं के बीच पाई जाती है, जिससे जीव को छिपने में सुगमता, सुरक्षा अथवा अन्य कोई लाभ प्राप्त होता है। अंग्रेजी में इसे मिमिकरी कहा जाता है। ऐसा बहुधा पाया जाता है कि कोई जंतु किसी प्राकृतिक वस्तु के इतना सदृश होता है कि भ्रम से वह वही वस्तु समझ लिया जाता है। भ्रम के कारण उस जंतु की अपने शत्रुओं से रक्षा हो जाती है। इस प्रकार के रक्षक सादृश्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसमें मुख्य भाव निगोपन का होता है। एक जंतु अपने पर्यावरण (एनवायरनमेंट) के सदृश होने के कारण छिप जाता है। गुप्तपाषाण (क्रिप्टोलिथोड्स) जाति का केकड़ा ऐसा चिकना, चमकीला, गोल तथा श्वेत होता है कि उसका प्रभेद समुद्र के किनारे के स्फटिक के गोडों से, जिनके बीच वह पाया जाता है, नहीं किया जा सकता। ज्यामितीय शलभ (जिऑमेट्रिकल माथ्स) की इल्लियों (कैटरपिलरों) का रूपरंग उन पौधों की शाखाओं और पल्लवों के सदृश होता है, जिनपर वे रहते हैं (द्र० चित्र)।

ज्यामितीय शलभ की इल्ली
डंठल की आकृति की होने के कारण बहुधा इसके शत्रु धोखे में पड़े रहते हैं।

यह सादृश्य इस सीमा तक पहुँच जाता है कि मनुष्य की आँखों को भी भ्रम हो जाता है। रक्षक सादृश्य छद्मिन नामक प्राणियों में प्रचुरता से पाया जाता है। ये इतने हरे और पर्णसदृश होते हैं कि पत्तियों के बीच वे पहचाने नहीं जा सकते। इसका एक सुंदर उदाहरण पत्रकीट (फिलियम, वाकिंग लीफ) है। इसी प्रकार अनेक तितलियाँ भी पत्तों के सदृश होती हैं। पर्णचित्र पतंग (कैलिमा पैरालेक्टा) एक भारतीय तितली है। जब यह कहीं बैठती है और अपने परों को मोड़ लेती है, तो उसका पर एक सूखा पत्ता जैसा मालूम होता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पर के ऊपर (तितली के बैठने पर परों को मुड़ी हुई अवस्था में) एक मुख्य शिरा (वेन) दिखाई पड़ती है जिससे कई एक पार्श्वीय लघु शिराएँ निकलती हैं। यह पत्ते की मध्यनाड़ी तथा पार्श्वीय लघुनाड़ियों के सदृश होते हैं। परों पर एक काला धब्बा भी होता है, जो किसी कृमि के खाने से बना हुआ छिद्र जान पड़ता है। कुछ भूरे रंग के और भी धब्बे होते हैं जिनसे पत्ती के क्षय का आभास होता है।

पर्णचित्र पतंग
पत्ती की आकृति की होने के कारण इसकी जान बहुधा बच जाती है।

उपरिलिखित उदाहरणों में निगोपन का उद्देश्य शत्रुओं से बचने अर्थात् रक्षा का है। किंतु निगोपन का प्रयोजन आक्रमण भी होता है। ऐसे अभ्याक्रामी सादृश्य के उदाहरण मांसाहारी जंतुओं में मिलते हैं। कुछ मांसाहारी जंतु अपने पर्यावरण के सदृश होने के कारण पार्श्वभूमि में लुप्त हो जाते हैं और इस कारण अपने भक्ष्य जंतुओं को दिखाई नहीं पड़ते। कई एक मकड़े ऐसे होते हैं जो फूलों पर रहते हैं और जिनके शरीर का रंग फूलों के रंग से इतना मिलता जुलता है कि वे उनके मध्य बड़ी सुगमता से लुप्त हो जाते हैं। वे कीट जो उन पुष्पों पर जाते हैं, इन मकड़ों को पहचान नहीं पाते और इनके भोज्य बन जाते हैं।

प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे जड़ों तथा पत्तों, से जंतुओं के सादृश्य को भी कुछ प्राणिविज्ञ अनुहरण ही समझते हैं, किंतु अधिकांश जीववैज्ञानिक अनुहरण को एक पृथक् घटना समझते हैं। वे किसी जंतुजाति के कुछ सदस्यों के एक भिन्न जंतुजाति के सदृश होने को ही अनुहरण कहते हैं। कई एक ऐसे जंतु जो खाने में अरुचिकर अथवा विषैले होते हैं और छेड़ने पर हानिकारक हो सकते हैं, चटक रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर विशेष चिह्न रहते हैं। इसलिये उनके शत्रु उनको तुरंत पहचान लेते हैं और उन्हें नहीं छेड़ते। कुछ ऐसे जंतु, जिनके पास रक्षा का कोई विशेष साधन नहीं होता इन हानिकारक और अभ्याक्रामी जंतुओं के समान ही चटक रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर भी वैसे ही चिह्न होते हैं और धोखे में उनसे भी शत्रु भागते हैं। उदाहरणत:, कई एक अहानिकर जाति के सर्प प्रवालसर्पों (कोरल स्नेक्स) की भाँति रंजित तथा चिह्नित होते हैं, इसी प्रकार कुछ अहानिकर भृंग (बीटल) देखने में बर्रे (ततैया, वास्प) के सदृश होते हैं और कुछ शलभ मधुमक्खी के सदृश होते हैं और इस प्रकार उनके शत्रु उन्हें नहीं पकड़ते।

अरुचिकर और विषैले जंतुओं के शरीर पर के चिह्न तथा रंगों की शैली और उनके चटक रंग का उद्देश्य चेतावनी देना है। उनके शत्रु कुछ अनुभव के पश्चात् उनपर आक्रमण करना छोड़ देते हैं। अन्य जातियों के सदस्य जो ऐसी हानिकर जातियों के रंग रूप की नकल करते हैं, हानिकर समझकर छोड़ दिए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुहरण और रक्षकसादृश्य में आमूल भेद है। रक्षकसादृश्य किसी जंतु का किसी ऐसी प्राकृतिक वस्तु या फल अथवा पत्ते के सदृश होना है, जिनमें उनके शत्रुओं का किसी प्रकार का आकर्षण नहीं होता। इसका संबंध निगोपन से है। इसके विपरीत प्राबोधी अनुहरण एक जंतु का किसी ऐसी भिन्न जाति के सदृश होना है जो अपने हानिकर होने की चेतावनी अपने अभिदृश्य चिह्नों द्वारा शत्रुओं को देती है। अनुहरण करनेवाले जंतु छिपते नहीं, प्रत्युत वे चेतावनीसूचक रंग रूप धारण कर लेते हैं।

यद्यपि अनुहरण अनेक श्रेणी के जंतुओं में पाया जाता है, जैसे मत्स्य (पिसीज), सरीसृप (रेप्टिलिआ), पक्षिवर्ग (एवीज), स्तनधारी (मैमेलिआ) इत्यादि में, तो भी इसका अनुसंधान अधिकतर कीटों में ही हुआ है।

बेट्सियन अनुहरण--प्राणिविज्ञ बेट्स को अमेजन नदी के प्रदेशों में शाकतितील वंश (पाइरिनी) की कुछ ऐसी तितलियाँ मिलीं जो इथोमिइनीवंश की तितलियों के सदृश थीं। वालेस को पूर्वी प्रदेशों की कुछ तितलियों के संबंध में भी ऐसा ही अनुभव हुआ। पैपिलियो पौलिटैस तितली की मादाएँ तीन प्रकार की होती हैं। कुछ तो नर तितली के ही रंगरूप की होती हैं, कुछ पैपिलियो अरिस्टोलोकिआई के सदृश होती हैं, और कुछ पैपिलियो हैक्टर के सदृश होती हैं। इसी प्रकार ट्राइमेन ने ज्ञात किया कि मलाया की तितली, पैपिलियो डारडैनस, की मादाएँ उस जाति के नरों से भिन्न रूप की होती हैं और उसी देश में पाई जानेवाली अनेक प्रकार की विभिन्न तितलियों से मिलती जुलती हैं। इन घटनाओं से यह ज्ञात होता है कि वे तितलियाँ जो अपने हिंसकों के लिये अरुचिकर भोजन नहीं हैं (जैसे शाक-तितील-वंश की तितलियाँ, पैपिलियो पौलीटैस, पैपिलियो डारडैनस, इत्यादि), उन तितलियों का रंगरूप धारण कर लेती हैं जो अपने शत्रुओं को खाने में अरुचिकर ज्ञात होती हैं (जैसे इथोमिइनी वंश की तितलियाँ, पैपिलियो अरिस्टोलाकिआई, पैपिलियो हैक्टर, इत्यादि)।

अनुहरण

प्रत्येक पंक्ति मे बाईं ओर प्रारूप और दाहिनी ओर अनुहारी रूप है (देखे पृष्ठ १२८) क्रमानुसार इनके नाम ये है हेलिकोनियस टेलिसिफ़े और कोलीनिस टेलिसिफे, प्लैनेमा मैकारिस्टा (नर) और स्यूडाक्रेइया होलिलाइ (नर), पैपीलियो नेफालियन और पैपीलियो लिसिथस लिसिथस, पैपीलियो चैमिस्सोनिया और पैपीलियो लिसिथस रूरिक।

प्राणिविज्ञों का कहना है कि अरुचिकर तितलियों के पंखों का चटक रंग अभिदृश्य चिह्न तथा विशेष चित्रकारी उनके पित्रैकों (जीन्स) पर प्राकृतिक चुनाव के प्रभाव के कारण विकसित हुई है। उनके चिह्न ऐसे हैं कि उनके शत्रु उनको सहज में ही पहचान लेते हैं और अनुभव के पश्चात् इन तितलियों को अरुचिकर जानकर इन्हें मारना बंद कर देते हैं। जीवनसंघर्ष में इन आकृतियों का सदैव ही विशेष मूल्य रहा है, क्योंकि ये इस संघर्ष में रक्षा के साधन थे। इसी कारण ये विकसित हुए। रुचिकर तितलियों के पंखों पर भी अरुचिकर तितलियों के पंखों के सदृश चिह्नों और चित्रकारी का विकास प्राकृतिक चुनाव के प्रभाव के कारण ही हुआ, क्योंकि रंग रूप की अनुकृति जीवन संघर्ष में उनकी रक्षा का साधन हो सकती थी। सारांश यह कि अनुहरण के विकास का कारण प्राकृतिक चुनाव है।

तितलियों के कुछ अनुवंश ऐसे हैं जिनका अन्य वंश की तितलियाँ अनुहरण करती हैं। ये हैं राजपतंगानुवंश (डैनेआइनी) तथा ऐक्रिआइनी पुरानी दुनिया में और इथोमिइनी तथा हेलीकोनिनी नई दुनिया में। नई दुनिया में कुछ राजपतंगानुवंश की और अनेक ऐत्रिआइनी अनुवंश की तितलियाँ भी ऐसी ही हैं। फिलिपाइन टापुओं की तितली हैस्टिया लिडकोनो श्वेत और श्याम रंग की होती है और इसके पंख कागज के समान होते हैं। फिलिपाइन की एक दूसरी तितली पैपिलियो ईडियाइडीज इसका रूप धारण करती है। इसी प्रकार तितली ऊप्लीआ ज मिडैमस का अनुहरण पैपिलियो पैंगाडौक्सस करती है। अफ्रीका में राजपतंगानुवंश की तितलियाँ कम होती हैं, तब भी वे तितलियाँ, जिनका अन्य तितलियाँ अनुहरण करती हैं, इसी अनुवंश की हैं। ये ऐमोरिस प्रजाति की होती हैं। ये तितलियाँ काली होती हैं और काली पृष्ठभूमि पर श्वेत और पीले चिह्न होते हैं। डैनेअस प्लैक्सीप्पस का अनुहरण बैसिलार्किया आरकिप्पस करती है। डैनेअस प्लैक्सीप्पस और उसका अनुहरण करनेवाले उत्तरी अमरीका में मिलते हैं। डैनेआइनी अनुवंश की तितलियाँ पूर्वी प्रदेशों की रहनेवाली हैं और यहाँ से ही वे अफ्रीका और अमेरिका पहुँची हैं। इन प्रव्राजी तितलियों का रूप तथा आकार पूर्वी डैनेआइनी अनुवंश की तितलियों का सा होता है और उत्तरी अमरीका और अफ्रीका की तितलियों की कुछ जातियाँ उनका अनुहरण करती हैं।

यह देखा गया है कि नर की अपेक्षा मादा अधिक अनुहरण करती है। जब नर और मादा दोनों ही अनुहरण करते हैं तो मादा नर की अपेक्षा अनुकृत के अधिक समान होती है (अनुकृत = वह जिसका अनुहरण किया जाय)। इस संबंध में यह स्मरण रखने योग्य बात है कि मादा तितली में नर की अपेक्षा परिवर्तनशक्यता अधिक पाई जाती है। स्पष्ट है कि मादा में परिवर्तनशक्यता अधिक होने के कारण, प्राकृतिक चुनाव का कार्य अधिक सुगम हो जाता है और परिणाम अधिक संतोषजनक होता है, अर्थात् अनुकारी अधिक मात्रा में अनुकृत के समान होता है।

मुलेरियन अनुहरण---उपर्युल्लिखित उदाहरण बेट्सियन अनुहरण के हैं। यह नाम इसलिये पड़ा है कि इसे सर्वप्रथम बेट्स ने ज्ञात किया था। परंतु इस अन्वेषण के पश्चात् इसी से संबंधित एक और विचित्र घटना का ज्ञान प्राणिविज्ञों को हुआ। यह देखा गया कि कुछ भिन्न भिन्न, अरुचिकर तथा हानिकर जातियों की तितलियों के रंग, रूप, आकार भी एक समान हैं। यह स्पष्ट है कि जो जातियाँ स्वयं अरुचिकर और हानिकर हैं उन्हें किसी दूसरी हानिकर जाति की नकल करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह देखा गया कि इथोमिइनी और हेलिकोनिनी अनुवंश की तितलियाँ, जो दोनों ही अरुचिकर हैं, समान आकृति की होती हैं। इस घटना को मुलेरियन अनुहरण कहते हैं, क्योंकि इसकी संतोषजनक व्याख्या फ्रिट्ज मुलर ने की। मुलर ने बताया कि इस प्रकार के अनुहरण में जितनी जातियों की तितलियाँ भाग लेती हैं उन सबको जीवनसंघर्ष में लाभ होता है। यह स्पष्ट है कि तितलियों के शत्रुओं द्वारा इस बात का अनुभव प्राप्त करने में कि अमुक रूप रंग की तितलियाँ हानिकर हैं, बहुत सी तितलियों की जान जाती है। जब कई एक अरुचिकर जाति की तितलियाँ एक समान रंग या रूप धारण कर लेती हैं तो शत्रुओं की शिक्षा के लिये अनिवार्य जीवनाश कई जातियों में बँट जाता है और किसी एक जाति के लिये जीवनहानि की मात्रा कम होती है।

वालेस के अनुसार प्रत्येक अनुहरण में पाँच बातें होनी चाहिए। ये निम्नलिखित हैं

(१) अनुकरण करनेवाली जाति उसी क्षेत्र में और उसी स्थान पर पाई जाय जहाँ अनुकृत जाति पाई जाती है।

(२) अनुकरण करनेवाले अनुकृत से अधिक असुरक्षित हों।

(३) अनुकरण करनेवाले अनुकृत से संख्या में कम हों।

(४) अनुकरण करनेवाले अपने निकट के संबंधियों से भिन्न हों।

(५) अनुकरण सदैव बाह्य हो। यह कभी आंतरिक संरचनाओं तक न पहुँचे।

पहली बात की अधिकांश स्थितियों में पूर्ति हो जाती है, परंतु सदैव नहीं। ऐरर्गिनिस हाइपर्बियस नामक तितली डानाइस प्लैक्सिप्पस का रूप धारण करती है। दोनों ही लंका में मिलती हैं, किंतु भिन्न भिन्न स्थानों पर। यह कहा जाता है कि इसका कारण यह है कि इनके शत्रु प्रव्राजी पक्षी हैं, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं और एक जगह प्राप्त अनुभव का प्रयोग दूसरी जगह कर सकते हैं। इसी प्रकार हाइपोलिम्नस मिसिप्पस नामक तितली अफ्रीका, भारत और मलाया में मिलती है। इसके नर का अनुहरण अथाइमा पैकटेटा और लिमेनाइटिस ऐल्बोमैकुलटा करती हैं किंतु ये दोनों जातियाँ चीन में पाई जाती हैं। इसकी व्याख्या भी इसी बात पर आश्रित है कि इनके शत्रु प्रव्राजी पक्षी हैं। दूसरे नियम की भी लगभग सभी स्थितियों में पूर्ति होती है।

तीसरे नियम की पूर्ति कुछ स्थितियों में ही होती है, सदैव नहीं। पैपिलियो पौलीटैस अपने अनुकृत की दोनों जातियों की अपेक्षा संख्या में अधिक होती है। इसी प्रकार आरकोनिआस टेरिआस नामक तितली और आरकोनिआस किटिआस अपने अनुकृत से संख्या में अधिक होती हैं। इस स्थिति की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि ये घटनाएँ बेट्सियन अनुहरण की नहीं, मुलेरियन अनुहरण की हैं।

अनुहरण करनेवाली तितलियों पर जनन संबंधी कुछ प्रयोग भी किए गए हैं। पैपिलियो पौलीटैस का अनुकारी रूप एक जोड़ा पित्रैक (जीन) के कारण विकसित होता है, जो साधारण पित्रैकों को दबा देता है। यह नर में भी वर्तमान रहता है, किंतु इसका प्रभाव नर में विद्यमान एक अन्य दमनकारी पित्रैक के कारण दब जाता है। कुछ लोगों की धारणा यह भी है कि सादृश्य का कारण अनुहरण नहीं है। उनके मतानुसार ऐसा सादृश्य एक स्थान के रहनेवाले वंशों में पर्यावरण (एनवायरनमेंट) या लैंगिक चुनाव के प्रभाव में, अथवा मानसिक अनुभव के प्रतिचार (रेसपौंस) के कारण उत्पन्न हो जाता है। पर इन आधारों पर अंतर्वंशीय सादृश्य की सब घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। (मु० ला० श्री०)

अनेकांतवाद जैनमत के अनुसार सत्यज्ञान पूर्ण ज्ञान है, ऐसा ज्ञान उन लोगों के लिये ही संभव है जिन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया है। प्रत्येक वस्तु में असंख्य धर्म होते हैं। साधारण मनुष्य, विशेष दृष्टिकोण से देखने के कारण, अपूर्ण और सापेक्ष ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। ऐसे ज्ञान में सत्य और असत्य दोनों अंश विद्यमान होते हैं। प्रत्येक को यह कहने का अधिकार है कि उसे अपने दृष्टिकोण से क्या दीखता है, परंतु यह अधिकार नहीं कि जो कुछ किसी अन्य मनुष्य को उसके दृष्टिकोण से दीखता है, उसे असत्य कहे। अनेकांतवाद अहिंसा के लिये एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। (दी० च०)

अनेकांतिक हेतु हेत्वाभास का एक भेद जिसे सव्यभिचार भी कहते हैं। अनुमान में हेतु को साध्य की अपेक्षा कम स्थानों पर किंतु साध्य के साथ रहना चाहिए। यदि हेतु ऐसा नहीं है तो वह अनेकांतिक है। इस अवस्था में हेतु या तो साध्य से अलग रहता है, या केवल उस स्थान पर रहता है जहाँ साध्य की सिद्धि करनी है या उस हेतु का कोई दृष्टांत नहीं होता। इसलिये इसके तीन भेद होते हैं.

१. साधारण अनैकांतिक में हेतु साध्य से अन्यत्र भी रहता है, जैसे, पर्वत में आग है क्योंकि बुद्धिगम्य है। यहाँ बुद्धिगम्यता आग के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी रहती है।

२. असाधारण अनैकांतिक में हेतु केवल उस स्थान पर रहता है जहाँ साध्य की सिद्धि करनी है, जैसे, शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द है। यहाँ शब्द रूप हेतु केवल शब्द में रहता है जहाँ नित्यत्व की सिद्धि इष्ट है।

३. अनुपसहारी अनैकांतिक में हेतु साध्य के सबध का कोई दृष्टात नही होता, जैसे, सब अनित्य है क्योंकि सब ज्ञेय है। यहाँ ज्ञेयता और अनित्यता के परस्पर सबध का पक्ष के अतिरिक्त कोई दृष्टात नही है क्योंकि यहाँ 'सब' से अलग कुछ भी नही है जिसको दृष्टात रूप में उपस्थित किया जा सके।

स०ग्र०—न्यायसिद्धात मुक्तावली, तर्कसग्रह २–१। (रा० पा०)

अन्नकूट यह कृषि एव धन सबधी पर्व कार्तिक प्रतिपदा को पड़ता है, जो दीपावली के दूसरे दिन मनाया जाता है। इसमें कुछ अन्नो के कूटने का विधान है जो वस्तुत प्राचीन गोवर्धन पूजा की तरह है। स्थानभेद से अन्नकूट मनाने की प्रक्रिया में अतर अवश्य पाया जाता है, परतु 'गोधन' की पूजा के रूप में यह पर्व इस देश में सर्वत्र मनाया जाता है। (च० म०)

अन्नपूर्णा धन, धान्य से पूर्ण कर देनेवाली दानशीला देवी। यह दुर्गा की मृदु रूप है और इनका भाडार अक्षय है। पुराणों में इनका बडा माहात्म्य है। इस देवी की तुलना रोमन 'अन्ना पेरेन्ना' से की गई है जिनके नामो में भी विचित्र ध्वनिव्यजना है। (च० म०)

अन्नपूर्णानद जन्म २१ सितबर, १८९५ ई०। हिंदी में शिष्ट और श्लील हास्य के लेखक। आपकी पढ़ाई गाजीपुर, उत्तर प्रदेश, के एक छोटे स्कूल से आरभ हुई और लखनऊ के कैनिंग कालेज से बी० एस-सी० तक आपने शिक्षा ग्रहण की। पडित मोतीलाल नेहरू के पत्र 'इडिपेंडेंट' में कुछ समय श्री श्रीप्रकाश के साथ काम किया। २२ वर्ष की वय में साहित्य के क्षेत्र में आए, प्रसिद्ध हास्यपत्र 'मतवाला' में पहला निबध प्रकाशित हुआ—'खोपडी'। इन्होने हिंदी के शिष्ट हास्य रस के साहित्य को ऊँचा उठाया। इनपर उडहाउस आदि का काफी प्रभाव था। लिखते बहुत कम थे पर जो कुछ लिखा वह समाज के प्रति मीठी चुटकियाँ लिए हुए कुरीतियों को दूर करने के लिये और किसी के प्रति द्वेष या मत्सर न रखकर समाज को जगाने के लिये। उनका हास्य कोरे विदूषकत्व से भिन्न कोटि का था।

वह काफी दिनो तक राष्ट्रकर्मी दानवीर श्री शिवप्रसाद गुप्त के सचिव भी रहे। विख्यात मनीषी तथा राजनेता डा० सपूर्णानद के आप छोटे भाई थे। आपकी निम्नलिखित छह रचनाएँ पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुकी है—मेरी हजामत, मगन रह चोला, मगल मोद, महाकवि चच्चा, मन मयूर तथा मिसिर जी। आपका निधन जयपुर में ४ दिसबर, १९६२ को ६७ वर्ष की आयु में हुआ। (स०)

अन्नादुरै, कांजीवरम् नटराजन् तमिलनाडु के लोकप्रिय नेता, अपने प्रदेश के प्रथम गैरकाग्रेसी मुख्यमत्री एव द्रविड मुन्नेत्र कड़गम दल के सस्थापक थे। इनका जन्म १५ सितबर, १९०९ को कांजीवरम् के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। मद्रास विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में प्रारभ किया, पर शीघ्र ही ये पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गए। तमिल जागरण में इनके निबधो ने महत्वपूर्ण योगदान किया। श्री अन्नादुरै ने 'जस्टिस' नामक तमिल पत्र के सहायक सपादक एव बाद में 'विडुतलाई' नामक पत्र के सपादक के पद पर कार्य किया। इन्होंने सन १९४२ में तमिल साप्ताहिक 'द्रविडनाडु', सन् १९५७ में अग्रेजी साप्ताहिक 'होमलैंड' तथा एक वर्ष पश्चात् 'होमरूल' नामक पत्रिका निकाली थी। ये हिंदी के प्रबल विरोधी तथा तमिल भाषा और साहित्य के पुनरुत्थानकर्ता थे।

श्री अन्नादुरै प्रारभ में द्रविड कड़गम के सदस्य थे, पर अपने राजनीतिक गुरु से असतुष्ट होने के कारण इन्होने सन् १९४९ में अपने सहयोगियो के साथ द्रविड कड़गम से सबध विच्छेद कर लिया और द्रविड मुन्नेत्र कड़गम की स्थापना की। सन् १९५७ में विधानसभा का सदस्य निर्वाचित होने के पश्चात् अन्नादुरै राष्ट्रीय राजनीति में आए। इन्होंने द्रविडों के लिये पृथक् 'द्रविडस्तान' का नारा दिया और प्रदेश से कांग्रेस शासन को समाप्त करने का व्रत लिया। द्रविड मुन्नेत्र कड़गम ने इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये अनेक आदोलन किए। दस वर्ष पश्चात् राज्य की बागडोर अन्नादुरै के हाथ में आ गई। यद्यपि इनकी असामयिक मृत्यु ने इन्हे मुख्य मत्री के रूप में दो वर्ष से भी कम अवधि तक प्रदेशवासियो की सेवा करने का ही अवसर दिया, तथापि यह अल्पावधि भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रही है।

ये प्रतिभासपन्न राजनेता, कुशल प्रशासक एव सिद्धहस्त समाजशिल्पी थे। जनतात्रिक मूल्यो की प्रतिष्ठापना और पददलितों के उत्थान के लिये ये जीवन पर्यंत सघर्षरत रहे। इनके सबल नेतृत्व में कड़गम ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। ये जीवन पर्यत दल के महासचिव बने रहे। दल पर अपने असाधारण प्रभाव के कारण ही ये दल की पृथकतावादी नीतियों को राष्ट्रीय अखडता के हित में रचनात्मक मोड देने में सफल रहे। सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के समय श्री अन्नादुरै ने कड़गम के सदस्यों को राष्ट्रीय सुरक्षा में हर सभव योगदान करने के लिये प्रोत्साहित किया। ये दल के अतिवादियों को शनै शनै सहिष्णुता के मार्ग पर ला रहे थे। प्रारभ में कड़गम में उत्तर भारतीयों एव ब्राह्मणों का प्रवेश निषिद्ध था, पर अन्ना की प्रेरणा से द्रविड मुन्नेत्र कड़गम के सिद्धातो में विश्वास रखनेवालो के लिये दल की सदस्यता का द्वार खुल गया। सविधान की होली खेलने की योजना बनानेवालो के नेता ने तमिलनाडु का मुख्यमत्रित्व ग्रहण करते समय सविधान में पूर्ण निष्ठा व्यक्त की। कड़गम के सत्तारूढ होने पर केंद्र से विरोध के सबध में अनेक आशकाएँ व्यक्त की गई थी, पर श्री अन्नादुरै ने किसी प्रकार का सवैधानिक सकट नही उत्पन्न होने दिया। उनका हिंदीविरोध अवश्य चित्य था, लेकिन जिस प्रकार उनके दृष्टिकोण में क्रमिक परिवर्तन आ रहा था और क्षेत्रीयता के सकुचित मोह का स्थान राष्ट्रीयता की भावना लेती जा रही थी, उससे यह अनुमान हो चला था कि भविष्य में उनका हिंदीद्रोह भी समाप्त हो जायगा और तमिलनाडु के विद्यालयो में त्रिभाषा सिद्धात के अनुसार हिंदी की पढाई प्रारभ हो जायगी।

श्री अन्नादुरै राजकाज में क्षेत्रीय भाषा के प्रयोग के पक्षपाती थे। इन्होंने अपने प्रदेश में तमिल के प्रयोग को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। मद्रास राज्य का नामकरण तमिलनाडु करने का श्रेय भी इन्हीं को है।

तमिलनाडु का मुख्यमत्रित्व ग्रहण करने के पूर्व राज्यसभा के सदस्य के रूप में भी इन्होंने ख्याति प्राप्त की थी। सन १९६७ के महानिर्वाचन में तमिलनाडु में द्रविड मुन्नेत्र कड़गम की अभूतपूर्व सफलता ने अन्ना को अपने दल को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठापित करने की प्रेरणा प्रदान की थी। यदि असमय ही ये कालकवलित न हो गए होते तो सभवत भविष्य में द्रविड मुन्नेत्र कड़गम का स्थान भारत मुन्नेत्र कड़गम ने ले लिया होता।

कैंसर के असाध्य रोग से पीडित अन्नादुरै की इहलीला ३ फरवरी, १९६९ को समाप्त हो गई। (ला० ब० पा०)

अन्यथानुपपत्ति किसी अत्यावश्यक कारण के बिना किसी तथ्य की सिद्धि न होना अन्यथानुपपत्ति कहलाता है। कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण होते है किंतु उनमें से कोई एक कारण सर्वप्रधान होता है। अन्य कारणों के रहते हुए भी इस प्रधान कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सभव नही होती। इस प्रधान कारण को 'असाधारण कारण' अथवा 'करण' कहते है। इस कारण के अभाव में जब कार्य की उत्पत्ति असभव होती है तब उस कार्य को असाधारण कारण के बिना 'अन्यथानुपपत्ति' कहा जाता है। (रा० पा०)

अन्यथासिद्धि कार्य की उत्पत्ति में अनावश्यकता। कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक कारण कहलाता है, किंतु जो किसी के माध्यम से कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है उसे अन्यथासिद्धि कहते हैं। ऐसे कारणों के रहने या न रहने से कार्य की उत्पत्ति पर कोई प्रभाव नही पडता। न्याय दर्शन में पाँच प्रकार की अन्यथासिद्धियो का वर्णन मिलता है। बड़े

की उत्पत्ति मे दडत्व, दड का रूप, आकाश, कुम्हार का पिता और मिट्टी लानेवाला गधा, ये अन्यथासिद्ध कारण है। अन्यथासिद्धि की यह कल्पना न्यायशास्त्र मे सर्वप्रथम गगेशोपाध्याय (१२वी शताब्दी) से प्रारभ हुई। (रा० पा०)

अन्यदेशी नकारात्मक ढग से, अन्यदेशी वह है जिसे उस देश की, जिसमे वह आकर बसा है, नागरिकता न प्राप्त हो। अन्यदेशी के प्रति सामान्य दृष्टिकोण दो प्रकार के परस्पर विरोधी व्यवहारों का प्रतीक है एक का आधार वर्ग की आत्मचेतना है जिसके कारण उस वर्ग के लोग अपने से अपरिचितो या विदेशियो के प्रति अविश्वास, भय तथा घृणा के भाव रखते है, दूसरे प्रकार का व्यवहार मानवता के प्रति आदर की उस भावना से सबधित है जो आगतुक या अतिथि के आदर सत्कार के लिये प्रेरित करती है। इन दोनो परस्पर विरोधी व्यवहारो के कारण विश्व के सामाजिक और आर्थिक इतिहास मे अन्यदेशी की स्थिति भी दुहरी रही है।

प्राचीन काल की सभ्यता ने अनुमानत पहली बार किसी निश्चित भूभाग पर एक साथ रहनेवाले लोगो की वर्गचेतना को श्रेष्ठ सास्कृतिक मूल्य माना, और इस प्रकार अन्यदेशी को (अर्थात् जो उस भूभाग का नही है) 'बर्बर' ठहराया। मध्ययुग के अत मे यूरोपीय राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना के पूर्व तक अन्यदेशी के विरुद्ध स्थानीयता की प्राकृतिक ससक्ति थी। ससक्ति की इन इकाइयो मे हुए परिवर्तनो के अनुरूप अन्यदेशी के विचार मे भी परिवर्तन होते गए। प्राचीन काल के ग्रामसमाज मे एक ग्राम के लिये पडोसी ग्राम का भूमिपति अन्यदेशी था, और इसलिये उसे स्थानीय सपत्ति के सबध मे सीमित अधिकार ही प्राप्त हो सकते थे। मध्ययुगीन नगरो मे 'अन्यदेशी' का प्रयोग विदेशी व्यवसायियो के लिये होता था जिनपर एक विशेष प्रकार का अतिथिविधान लागू होता था।

स्थानीयता के बाद सास्कृतिक एकता ने अन्यदेशी के सिद्धात को निश्चित किया। एक प्रकार की संस्कृति के लोगो के लिये दूसरे प्रकार की संस्कृति के लोग 'बर्बर' या 'म्लेच्छ' थे। फिर, सभ्यता के विकास के साथ साथ आवागमन के साधनो की वृद्धि तथा विकास के कारण एक संस्कृति अपने आपको अपनी निश्चित सीमाओ मे न बाँधे रख सकी और एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का प्रभाव पडता रहा। फलत सास्कृतिक ससक्ति इतनी प्रभावशाली नही रह सकी कि उसके आधार पर दूसरी संस्कृति के लोगो को अन्यदेशी की सज्ञा दी जाय। आधुनिक युग मे अब सास्कृतिक एकता के बजाय वैचारिक एकता अन्यदेशी के विचार को स्पष्ट करने के लिये अधिक उपयुक्त है। आज विश्व के राष्ट्रो को साधारणत दो गुटो मे बाँटा जाता है अमरीकी और रूसी गुट, दूसरे शब्दो मे, पूँजीवादी विचारधारा के पोषक तथा साम्यवादी सिद्धात के अनुयायी। इस वैचारिक विभिन्नता के कारण रूस मे एक ही महाद्वीप के निवासी होने के बावजूद एक अमरीकी दूसरे महाद्वीप के निवासी चीनी की तुलना मे अधिक अन्यदेशी समझा जायगा।

भविष्य मे, कदाचित् अन्यदेशी के विचार मे एक नया परिवर्तन तब आएगा जब विज्ञान धरती के मनुष्य के लिये अन्य नक्षत्रो मे भी पहुँचना सुगम कर देगा। तब अनुमानत नक्षत्र की ससक्ति अन्यदेशी को निश्चित करने का आधार होगी।

अन्यदेशी एक नए, अपरिचित विदेशी वातावरण से घिरा रहता है, या यदि वह किसी अन्यदेशी वर्ग का अग है तो उस वर्ग के साथ अपने तथा वहाँ के नागरिको के बीच एक गहरी खाई का अनुभव करता है। इसीलिये साधारणत उस देश की रीतियो और परपराओ से स्वतत्र रहना उसका एक प्रमुख लक्षण माना जाता है। परपराओ से स्वतत्र रहने के कारण अन्यदेशी वहाँ का सामाजिक परिस्थितियो के प्रति वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) दृष्टिकोण अपनाने मे सफल होता है, जिसके आधार पर वह उस देश के नागरिको की तुलना मे वहाँ की सामाजिक परिस्थितियो के सबध मे अधिक न्यायसगत निर्णय दे सकता है। परतु साथ ही, अपने तथा वहाँ के नागरिको के बीच विभिन्नताओ की खाई का अनुभव कर, वहाँ के सामाजिक जीवन को विदेशी मान, वह स्वभावत उस देश के अल्पसख्यक विरोधी दलो का साथ देने के लिये इच्छुक रहता है। (रा० अ०)

अन्यूरिन ब्रिटिश चारण जो ७वी सदी ई० के प्रारभ मे हुआ। उसने गोडोडिन नाम की एक पुस्तक लिखी। गाडोडिन वेल्स की एक जाति थी जिसका सरदार अन्यूरिन का पिता था। इस प्रकार गाडोडिन अन्यूरिन की अपनी जाति के सबध का महाकाव्य है। इसमे सैक्सनो द्वारा ब्रिटनो की पराजय का वर्णन है। स्वय अन्यूरिन उस युद्ध मे कैद हो गया था। (भ० श० उ०)

अन्वयव्यतिरेक अनुमान मे हेतु (धुआँ) और साध्य (आग) के सबध का ज्ञान (व्याप्ति) आवश्यक है। जब तक धुएँ और आग के साहचर्य का ज्ञान नही है तब तक धुएँ से आग का अनुमान नही हो सकता। अनेक उदाहरणो मे दोनो के एक साथ रहने से तथा दूसरे उदाहरणो मे दोनो का एक साथ अभाव होने से ही हेतुसाध्य का सबध स्थिर होता है। हेतु और साध्य का एक साथ किसी उदाहरण (रसोईघर) मे मिलना अन्वय तथा दोनो का एक साथ अभाव (तालाब मे) व्यतिरेक कहलाता है। जिन दो वस्तुओ को एक साथ नही देखा गया है उनमे से एक को देखकर दूसरे का अनुमान नही किया जा सकता, अत अन्वय ज्ञान की आवश्यकता है। किंतु धुएँ और आग के अन्वय ज्ञान के बाद यदि आग को देखकर धुएँ का अनुमान किया जाय तो वह गलत होगा क्योकि आग बिना धुएँ के भी हो सकती है। इस दोष को दूर करने के लिये यह भी आवश्यक है कि हेतुसाध्य के एक साथ अभाव का ज्ञान हो। धुआँ जहाँ नही रहता वहाँ भी आग रह सकती है, अत आग से धुएँ का ज्ञान करना गलत होगा। किंतु जहाँ आग नही होती वहाँ धुआँ भी नही होता। चूँकि धुआँ आग के साथ रहता है (अन्वय), और जहाँ आग नही रहती वहाँ धुआँ भी नही रहता (व्यतिरेक), इसलिये धुएँ को देखकर आग का निर्दोष अनुमान किया जा सकता है। (ग० पा०)

अन्विताभिधानवाद 'प्रभाकर मीमासा' मे माना गया है कि अर्थ का ज्ञान केवल शब्द से नही, विधिवाक्य से होता है। जो शब्द किसी आज्ञापरक वाक्य मे आया हो उसी शब्द की सार्थकता है। वाक्य से बहिष्कृत शब्द का कोई अर्थ नही। 'घडा' शब्द का तब तक कोई अर्थ नही है जब तक इसका ('घडा लाओ' जैसे आज्ञार्थक) वाक्य मे प्रयोग नही हुआ है। इसी सिद्धात को अन्विताभिधानवाद कहते है। इस सिद्धात के अनुसार जब शब्द आज्ञार्थक वाक्य मे अन्य शब्दो से अन्वित (सबधित) होता है तभी वह अर्थविशेष का अभिधान करता है। प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध कराने मे अक्षम है किंतु व्यवहार के कारण शब्द का अर्थ सीमित हो जाता है। शब्दार्थ की इस सीमा का ज्ञान व्यवहार मे ही होगा और भाषा मे व्यवहार वाक्य के माध्यम से ही व्यक्त होता है, अत. शब्द का अर्थ वाक्य पर अवलबित रहता है। इस सिद्धात के अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है। न्याय मे इसके विपरीत अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन किया गया है। (रा० पा०)

अन्हिलवाड या अन्हिलपाटन गुजरात की सोलकी राजधानी वर्तमान पाटन था। उसे प्रसिद्ध सोलकी चालुक्य मूलराज ने बसाया था और वह महमूद गजनी के हमले तक बराबर सोलकियो की राजधानी बना रहा। वही सोमनाथ का प्रसिद्ध शिवमदिर था जिसे गजनी के महमूद ने अपने १०२४–२५ ई० के आक्रमण मे नष्ट कर दिया। उसके बाद भी सोलकी चालुक्य लौटे और अन्हिलवाड मे उन्होने पर्याप्त काल तक राज किया। बाद मे बघेलो ने उसे जीतकर वहाँ अपना राजकुल प्रतिष्ठित किया, और १३वी सदी के अत मे अलाउद्दीन खिलजी ने जब गुजरात जीता तब अन्हिलवाड भी उसी के साम्राज्य का नगर बन गया। (भ० श० उ०)

अपकृति (टॉर्ट), इसका प्रयोग कानून मे किसी ऐसे अपकार अथवा क्षति के अर्थ मे होता है जिसकी अपनी निश्चित विशेषताएँ होती है। मुख्य विशेषता यह है कि उसका प्रतिकार क्षतिपूर्ति के द्वारा सभव हो।

अपकृति की विशेषताएँ निम्नलिखित है—(१) अपकृति किसी व्यक्ति के अधिकार का अतिक्रमण अथवा उसके प्रति किसी अन्य व्यक्ति के कर्तव्य का उल्लघन है, (२) इसका प्रतिकार व्यवहारवाद द्वारा हो सकता है, (३) इग्लैंड मे सन् १८६५ ई० के पूर्व अपकृति का प्रतिकार सामान्य कानून के अंतर्गत हुआ करता था।

अंग्रेजी विधिप्रणाली में 'टार्ट' शब्द का प्रयोग नार्मन तथा ऐंजेविन सम्राटों के राज्यकाल में प्रारंभ हुआ। सन् १८६६ ई० के पूर्व प्राय पाँच शताब्दियों तक अपकृति का प्रतिकार सम्राट् के लेख पर निर्भर रहा। अपकृति संबधी अंग्रेजी कानून अधिकाश में वादर्जानित विधि के रूप में मिलता है यद्यपि गत शताब्दी के प्रारंभ में कुछ अनुविधि भी बनाए गए। अतएव सारभूत विधि के रूप में अपकृति कानून का विकास आधुनिक काल में हुआ।

भारतवर्ष में अंग्रेजी विधिप्रणाली अपनाई जाने के बहुत पहले, सुदूर अतीत में, अपकृति सबधी कानून के प्रमाण मिलते है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, बृहस्पति तथा कात्यायन की स्मृतियों में अपकृति संबधी हिंदू विधिप्रणाली का आधार हमें मिलता है। हिंदू तथा अंग्रेजी अपकृति-विधि-प्रणाली में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि हिंदू प्रणाली में क्षतिपूर्ति द्वारा प्रतिकार केवल तभी संभव है जब आर्थिक क्षति हुई हो, न कि आक्रमण या मानहानि या परस्त्रीगमन के मामलों में। मुस्लिम विधिप्रणाली में अपकृति कानून का क्षेत्र और भी अधिक संकीर्ण हो गया। उसमें हिंसात्मक कार्यों में दंड दिया जाता था, केवल संपत्ति के बलाद्ग्रहण के मामलों में क्षति-पूर्ति के नियम थे।

अपकृति तथा अपराध के सिद्धांत एवं प्रक्रिया दोनों में अंतर है। अपकृति क्षति या कर्तव्य का वह उल्लघन है जिसका सबंध व्यक्ति से होता है और वह व्यक्ति अपकारी द्वारा क्षतिपूर्ति का अधिकारी होता है। परंतु अपराध लोककर्तव्य का उल्लघन समझा जाता है और उसके लिये समाज अथवा राज्य अपराधी को दंड देता है। क्षति के कई दृष्टांत ऐसे हैं जो अपकृति तथा अपराध दोनों श्रेणियों के अंतर्गत आते है, जैसे आक्रमण, अपमानलेख या चोरी। कभी कभी कोई क्षति केवल अपराध की श्रेणी में रखी जा सकती है, जैसे सार्वजनिक बाधा, और इसके ठीक विपरीत कतिपय क्षतियाँ केवल अपकृति की श्रेणी में आती है, जैसे अनधिकार प्रवेश। अपकृति तथा अपराध संबधी प्रक्रिया में यह अंतर है कि अपकृति के मामले का वाद व्यवहार न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है परंतु आपराधिक मामला का अभियोग दंड न्यायालय में चलता है।

अपकृति में वादी का अधिकार साधारण विधि के अंतर्गत प्राप्य अधिकार है परंतु संविदाभंग के मामले में पक्षों के अधिकार एवं कर्तव्य संविदा के उपबधों के अनुसार ही होते है। संविदा में प्राय क्षतिपूर्ति की राशि भी निश्चित हो जाती है और क्षतिपूर्ति सिद्धांत रूप में दंड न होकर केवल संविदा के उपबध का पालन मात्र है।

अपकृति के अनेक रूप है। मूल शब्द 'टार्ट' का सार्वजनिक रूप में अर्थ यही है कि सीधे एवं सरल मार्ग का अतिक्रमण। अपकृति के प्रमुख रूप ये है शारीरिक क्षति, जैसे आघात, आक्रमण या मिथ्या कारावास, संपत्ति संबधी अपकार, जैसे अनधिकार प्रवेश, सार्वजनिक बाधा, मानहानि, द्वेषपूर्ण अभियोजन, धोखा अथवा छल तथा विविध अधिकारों की क्षति।

सं०ग्रं०—सामंड ग्रान टार्ट्स, १२वाँ संस्करण, एस० रामस्वामी अय्यर दि लॉ ऑव टार्ट्स। (श्री० अ०)

अपद्रव्यीकरण (मिलावट) धनलोलुप और भ्रष्टाचारी व्यवसायियों द्वारा खाद्य पदार्थों में अशुद्ध, सस्ती अथवा अनावश्यक वस्तुओं के मिश्रण को कहते है। छोटे बड़े अनेक खाद्य व्यापारी अधिक लाभ के लोभवश नाना प्रकार की युक्तियों से घटिया वस्तु को बढ़िया बताकर ऊँचे दाम पर बेचने का प्रयास करते है। इस प्रकार का कुत्सित व्यापार समाज के सभी वर्गों में न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्त है, जिससे जनता को उचित मूल्य देने पर भी घटिया खाद्य सामग्री मिलती है और उससे स्वास्थ्य की हानि भी होती है।

खाद्य व्यवसायियों का यह अनैतिक एवं समाजविरोधी आचरण संसार के सभी देशों में पाया जाता है, किंतु अशिक्षित, निर्धन और अल्पविकसित देशों में यह अधिक देखने में आता है। दूध, घी, तेल, अन्न, आटा, चाय, काफी, शर्बत आदि महँगे तथा देहसंरक्षी पदार्थों (प्रोटेक्टिव फूड्स) में अधिकतर अपद्रव्यीकरण किया जाता है जिससे उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। इससे जनता की जो स्वास्थ्यहानि होती है उसको रोकना परमावश्यक है। सदाचारपूर्ण नैतिक शिक्षा, अत्यंत उपयोगी साधन होते हुए भी, **अपद्रव्यीकरण रोकने में किसी देश में भी सफल सिद्ध नहीं हुई है।** मानव स्वभावगत दोषों का अध्ययन करनेवाले न्यायशास्त्रियों का मत है कि खाद्य का अपद्रव्यीकरण रोकने के लिये कठोर दंडनीति अपनाना आवश्यक है। साधारण धनदंड सर्वथा अपर्याप्त है। भोजन को विषाक्त करनेवाला आततायी कहलाता है और 'नाततायी वधे दोष' के अनुसार उसका कठोर दंड देना ही उचित है। इसी कारण ऐसे अपराधी के लिये धनदंड के अतिरिक्त अब कारादंड का भी विधान है। परंतु केवल दंड-नीति से भी काम नहीं चलता। जनमत जागरण की भी आवश्यकता है।

दूध में जल, घी में वनस्पति घी अथवा चर्बी, महँगे और श्रेष्टतर अन्नों में सस्ते और घटिया अन्न आदि के मिश्रण को साधारणत मिलावट या अपमिश्रण कहते है। किंतु मिश्रण के बिना भी शुद्ध खाद्य को विकृत अथवा हानिकर किया जा सकता है और उसके पौष्टिक मान (फूड वैल्यू) को गिराया जा सकता है। दूध में मक्खन का कुछ अंश निकालकर उसे शुद्ध दूध के रूप में बेचना, अथवा एक बार प्रयुक्त चाय की साररहित पत्तियों को सुखाकर पुन बेचना मिश्रणरहित अपद्रव्यीकरण के उदाहरण है। इसी प्रकार बिना किसी मिलावट के घटिया वस्तु को शुद्ध एवं विशेष गुणकारी घोषित कर झूठे दावे सहित आकर्षक नाम देकर जनता को ठगा जा सकता है। इस कारण 'मिलावट' अथवा 'मिश्रण' जैसे शब्द खाद्यविकारी कार्यों के लिये पूर्ण रूप से सार्थक नहीं है। खाद्य पदार्थ के उत्पादन, निर्माण, संचय, वितरण, वेष्टन, विक्रय आदि से संबधित वे सभी कुत्सित कार्य, जो उसके स्वाभाविक गुण, सारतत्व अथवा श्रेष्टता को कम करनेवाले है, अथवा जिनसे ग्राहक के स्वास्थ्य की हानि और उसके ठगे जाने की संभावना रहती है, अपद्रव्यीकरण या अपनामकरण (मिसब्रैंडिंग) द्वारा सूचित किए जाते है। जनस्वास्थ्य तथा न्यायविधान की दृष्टि से ये शब्द बहुत व्यापक अर्थ के द्योतक है।

खाद्य पदार्थ के अपद्रव्यीकरण द्वारा जनता की स्वास्थ्यहानि को रोकने के लिये प्रत्येक देश में आवश्यक कानून बनाए गए है। भारत के प्रत्येक प्रदेश में शुद्ध खाद्य संबधी आवश्यक कानून थे, किंतु भारत सरकार ने सभी प्रादेशिक कानूनों में एकरूपता लाने की आवश्यकता का अनुभव कर, देश-विदेशों में प्रचलित कानूनों का समुचित अध्ययन कर, सन् १९५४ में खाद्य-अपद्रव्यीकरण-निवारक अधिनियम (प्रिवेंशन ऑव फूड एडल्टरेशन ऐक्ट) समस्त देश में लागू किया और सन् १९५५ में इसके अंतर्गत आवश्यक नियम बनाकर जारी किए। इस कानून द्वारा अपद्रव्यीकरण तथा झूठे नाम से खाद्यों का बेचना दंडनीय है। वैधानिक दृष्टि से निम्नलिखित दशाओं में खाद्य अपद्रव्यीकृत माना जाता है

वह पदार्थ जिसका स्वाभाविक गुण, सारतत्व, या श्रेष्ठतास्तर ग्राहक द्वारा अपेक्षित पदार्थ से अथवा सामान्यत बोध होनेवाले पदार्थ से भिन्न हो और जिसके व्यवहार से ग्राहक के हित की हानि होती हो।

वह पदार्थ जिसमें कोई ऐसा अन्य पदार्थ मिला हो जो पूर्णत अथवा आंशिक रूप से किसी घटिया या सस्ती वस्तु से बदल दिया गया हो अथवा जिसमें से कोई ऐसा संघटक निकाल लिया गया हो जिससे उसके स्वाभाविक गुण, सारतत्व या श्रेष्ठतास्तर में अंतर हो जाय।

वह पदार्थ जो दूषित या स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो, जिसमें गंदा, पूतियुक्त, सड़ा, विघटित या रोगयुक्त प्राणिद्रव्य या वानस्पतिक वस्तु मिलाई गई हो, जिसमें कीट या कीड़े पड़ गए हो, अथवा जो मनुष्य के आहार के अनुपयुक्त हो।

वह पदार्थ जो किसी रोगी पशु से प्राप्त किया गया हो, जो विषैले या स्वास्थ्यहानिकारक संघटकयुक्त हो, या जिसका पात्र किसी दूषित या विषैले वस्तु का बना हो।

वह पदार्थ जिसमें स्वीकृत रंजक द्रव्य (कलरिंग मैटर) के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य रंजक मिला हो जिसमें कोई निषिद्ध रासायनिक परिरक्षी हो, अथवा स्वीकृत रंजक या परिरक्षी द्रव्य की मात्रा निर्धारित सीमा से अधिक हो।

वह पदार्थ जिसकी श्रेष्टता अथवा शुद्धता निर्धारित मानक से कम हो, अथवा उसके संघटक निर्धारित सीमा से अधिक हो।

इसी प्रकार निम्नलिखित दशा में खाद्यों को अपनामांकित (मिसब्रैंडेड) कहा जाता है :

वह पदार्थ जिसका बिक्री का नाम अन्य पदार्थ के नाम की नकल हो, या इस प्रकार मिलता जुलता हो कि धोखे की संभावना हो और उसके वास्तविक गुणधर्म प्रकट करने के लिये उसपर कोई स्पष्ट और व्यक्त नामपत्र (लेबिल) न हो।

वह पदार्थ जो असत्य रूप से किसी देशविशेष का बना बताया जाय, जो किसी अन्य वस्तु के नाम से बेचा जाय, जिसके संबंध में नामपत्र पर, या अन्य रीति से झूठे दावे किए जायँ और जो इस प्रकार रंजित, स्वादित, लेपित, चूर्णित या शोधित हो, जिससे उसके विकृत होने का भाव छिप जाय, अथवा जो अपनी वास्तविक दशा से उत्तम या मूल्यवान् दिखाया जाय।

वह पदार्थ जो बंद बेठनों में बेचा जाय और उसके बाहरी भाग पर उसमें रखे हुए पदार्थ की निर्धारित घट बढ़ की सीमा के अनुसार ठीक उल्लेख न हो।

वह पदार्थ जिसके नामपत्र पर कोई ऐसा उल्लेख, चित्र या उक्ति हो जो असत्य, भ्रामक या छलपूर्ण हो, जो किसी कल्पित व्यक्ति द्वारा निर्मित बताया जाय और जिसमें प्रयुक्त कृत्रिम रंजक, वासक (फ्लेवरिंग एजेंट), या परिरक्षी वस्तु का उल्लेख न हो।

वह पदार्थ जो किसी विशिष्ट आहार के उपयुक्त बताया जाय, परंतु उसके नामपत्र पर उसकी उपयोगिता के सूचक, उसके खनिज, विटामिन अथवा आहार विषयक संघटकों की सूचना न हो।

इस अधिनियम द्वारा केवल पूर्वोक्त प्रकार के अपद्रव्यीकरण अथवा अपनामांकन का ही निवारण नहीं किया जाता, परंतु भोजन की शुद्धता और स्वच्छता, भोजन के पात्रों, पाकशाला और भांडार की स्वच्छता और परिशोधन तथा खाद्य का मक्खी, धूल, मलीनता आदि से रक्षण इत्यादि स्वास्थ्योचित नियमों का भी यथोचित पालन आवश्यक कर दिया गया है। संक्रामक, सांसर्गिक अथवा घृणित रोग से ग्रस्त मनुष्यों द्वारा खाद्य पदार्थ का बनाना या बेचना वर्जित है। किसी संक्रामक रोग का प्रसार रोकने के लिये अस्थायी आदेश द्वारा किसी खाद्य का विक्रय स्थगित किया जा सकता है। जंग लगे पात्र, बिना कलई के तांबे अथवा पीतल के पात्र, सीसा मिश्रित ऐल्यूमिनियम के पात्र, अथवा जर्जरित एनामेलवाले तामचीनी के पात्रों का प्रयोग वर्जित है।

कोई भी व्यवसायी निम्नलिखित अपद्रव्यीकृत पदार्थों का व्यापार नहीं कर सकता

(१) क्रीम (मलाई) जो केवल दूध से न बनी हो और जिसमें दुग्धस्नेह (मिल्क फैट) ४०% से कम हो, (२) दूध जिसमें जल मिलाया गया हो, (३) घी जिसमें दूध से निकले घी से भिन्न कोई पदार्थ हो, (४) मथित दूध (मक्खनरहित दूध) शुद्ध दूध के नाम से, (५) दो या अधिक तेलों का मिश्रण खाद्य तेल के नाम से, (६) घी जिसमें वनस्पति घी मिला हो, (७) कृत्रिम मिष्टकर (स्वीटनिंग एजेंट) युक्त पदार्थ, (८) हलदी जिसमें कोई अन्य पदार्थ मिला हो।

अपद्रव्यीकरण के निवारण हेतु जो अन्य महत्वपूर्ण नियम लागू किए गए हैं, इस प्रकार हैं ---

(१) शहद के समान रूप रंगवाला पदार्थ जो शुद्ध शहद नहीं है, शहद नहीं कहा जा सकता, (२) सैकरीन किसी भी खाद्य में मिलाया जा सकता है, परंतु नामपत्र पर इसका स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है, (३) प्राकृतिक मृत्यु से मृत पशु का मांस नहीं बेचा जा सकता और न कोई खाद्य बनाने में प्रयुक्त हो सकता है, (४) अनधिकृत रूप से किसी खाद्य में कोई रंजक नहीं मिलाया जा सकता। रंजक का उपयोग करने पर नामपत्र पर 'कृत्रिम रीति से रंजित' लिखना आवश्यक है, (५) पनीर (चीज़), आइसक्रीम (मलाई की बर्फ या कुल्फी), बर्फीली शर्करा (आइसकैंडी) और श्लेषमिष्टान्न (जिलेटीन डेज़र्ट) में स्वीकृत रंजक का तथा कैरामेल का प्रयोग बिना उल्लेख के किया जा सकता है, (६) अकार्बनिक रंजक तथा वर्णक (पिगमेंट) सर्वथा वर्जित है। स्वीकृत रंजक का प्रयोग केवल शुद्ध रूप में तथा एक ग्रेन प्रति पाउंड तक के अनुपात में किया जा सकता है। (७) मलाई की बर्फ (कुल्फी), धूमित (स्मोक्ड) मछली, अंडानिर्मित खाद्य, मिठाई, फलों से बने शर्बत तथा अन्य पदार्थ एवं सुरारहित वातित या फेनिल (एयरेटेड) पेयों में ही रंजक प्रयुक्त हो सकते हैं। दूध, दही, मक्खन, घी, छेना, संघनित (कंडेंस्ड) दूध, क्रीम (मलाई), चाय, काफी और कोको में रंजक का प्रयोग वर्जित है। (८) आहार को स्वादिष्ट, रुचिकर, सुवासपूर्ण, सुपाच्य, पौष्टिक और अधिक काल तक सुरक्षित रखने के लिये वासक (फ्लेवरिंग), रंजक, विरंजक, गंधनाशक, तथा परिरक्षी पदार्थों की नियमानुकूल की गई मिलावट न्यायसंगत है, परंतु केवल वैध पदार्थ ही स्वीकृत खाद्यों में प्रयुक्त किए जायँ और नामपत्र पर उनका स्पष्ट उल्लेख हो। (९) कोचिनियल या कारमाइन, कैरोटीन या कैरोटिनोइड्स, क्लोरोफिल, लैक्टोफ्लेवीन, कैरामेल, अनोटो, रतनजोत, केसर और करक्यूमिन प्रकृतिप्रदत्त रंजक है, जो प्राकृतिक या संश्लेषित रीति से प्राप्त कर प्रयोग में लाए जा सकते हैं। (१०) तारकोल या अलकतरे से प्राप्त रंजक प्राय कैंसरजनक होते है, परंतु तारकोल से प्राप्त ११ प्रकार के लाल, पीले, नीले और काले रंजक केंद्रीय समिति द्वारा इस समय खाद्य में प्रयुक्त करने के लिये स्वीकृत है। (११) बेंजोइक अम्ल तथा बेंजोएट और सल्फर डाइ ऑक्साइड तथा सल्फाइट खाद्य परिरक्षक के रूप में प्रयुक्त किए जाते है। इनका प्रयोग फलों के रस, शर्बत तथा संरक्षित फल, मुरब्बा आदि तक ही सीमित है। (१२) नमक, चीनी, सिरका, लैक्टिक अम्ल, साइट्रिक अम्ल, ग्लिसरीन, ऐल्कोहल, मसाले तथा मसालों से प्राप्त सगंध तेल आदि स्वादकर पदार्थ परिरक्षक भी है, किंतु इनके प्रयोग के लिये कोई विशेष नियम नहीं है। (१३) टार्टरिक अम्ल, फॉस्फोरिक अम्ल अथवा किसी खनिज (मिनरल) अम्ल का प्रयोग खाद्य या पेय में वर्जित है।

निम्नलिखित खाद्य पदार्थों के निर्माण, संचय, वितरण, विक्रय आदि के लिये अनुज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक है और उसके नियमों का पालन अनिवार्य है .

(१) दूध तथा मथित दूध (मक्खनरहित दूध), (२) दूधजन्य पदार्थ (खोआ, क्रीम, रबड़ी, दही आदि), (३) घी, (४) मक्खन, (५) चर्बी, (६) खाद्य तेल, (७) निकम्मा (वेस्ट) घी, (८) मिठाई, (९) वातित या फेनिल पेय (एअरेटेड वाटर), (१०) मैदा के बने पदार्थ (बिस्कुट, केक, डबल रोटी आदि), तथा (११) फलोत्पन्न पदार्थ (फ्रूट प्रॉडक्ट्स) के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जो प्रादेशिक सरकार निश्चय करे। फलोत्पन्न पदार्थ का नियंत्रण केंद्रीय सरकार के फ्रूट प्रॉडक्ट्स आर्डर के अनुसार किया जाता है।

यदि अनुज्ञापत्र द्वारा नियंत्रित कोई व्यापार एक से अधिक स्थान में किया जाता है तो व्यापारी को प्रत्येक स्थान के लिये पृथक् अनुज्ञापत्र प्राप्त करना होगा। अनुज्ञापत्र उसी स्थान के लिये दिया जा सकता है जो अस्वास्थ्यकारी दुर्गुणों से रहित हो। घी के व्यापारी को निकम्मा घी, वनस्पति तथा चरबी के व्यापार की अनुमति नहीं मिलती। होटल और भोजनालय के प्रबंधकों को घी, तेल, वनस्पति, चर्बी आदि में पके पदार्थों की अलग अलग सूची ग्राहकों की जानकारी के लिये विज्ञापित करना आवश्यक है। घी, मक्खन, वनस्पति, खाद्य तेल तथा चर्बी के निर्माता और थोक व्यापारियों को इन पदार्थों के निर्माण, आयात, निर्यात संबंधी विवरण रखने पड़ते है जिनका आवश्यकतानुसार निरीक्षण किया जा सकता है। फेरीवालों को भी अनुज्ञापत्र लेना पड़ता है और एक धातु का बिल्ला धारण करना पड़ता है जिसपर आवश्यक सूचना होती है। किसी पदार्थ का आपत्तियोग्य, संदिग्ध या भ्रामक व्यापारिक नाम स्वीकार नहीं किया जाता।

खाद्यशुद्धता संबंधी एक केंद्रीय समिति तथा एक केंद्रीय प्रयोगशाला की स्थापना की गई है। इनके द्वारा भारतीय खाद्य का रासायनिक विश्लेषण करने की सर्वमान्य रीति तथा शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) स्थिर किए जाते है। इसी प्रकार प्रदेशों में खाद्यविश्लेषक तथा अनेक खाद्यनिरीक्षक नियुक्त है। खाद्यनिरीक्षक विक्रेताओं से संदिग्ध खाद्य का नमूना मोल लेकर विश्लेषक से परीक्षा कराता है और यदि नमूना अपद्रव्यित सिद्ध होता है तो स्वास्थ्याधिकारी की अनुमति से अपद्रव्यित खाद्य के विक्रेता को न्यायालय से उचित दंड दिलाता है। खाद्यविश्लेषक के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह रासायनिक विश्लेषण द्वारा अपद्रव्यकारी पदार्थ तथा उसकी मात्रा का पता लगाए। अपराध सिद्ध करने के लिये शुद्धता का अभाव ही प्रमाणित करना पर्याप्त है। खाद्यनिरीक्षक समय समय पर प्रत्येक अनुज्ञापत्र प्राप्त विक्रेता की खाद्य सामग्री का निरीक्षण करता

रहता है और अनुज्ञापत्र में उल्लिखित नियमों का उल्लंघन होने पर स्वास्थ्याधिकारी द्वारा अनुज्ञापत्र अस्वीकृत कराता है या न्यायालय द्वारा विक्रेता को दंड दिलाता है। खाद्यनिरीक्षक अस्थायी रूप से संदिग्ध खाद्य की बिक्री रुकवा सकता है और आवश्यक समझे तो उसे अपने अधिकार में ले सकता है। इसके औचित्य का निपटारा अंत में न्यायालय द्वारा होता है।

अपद्रव्यीकरण सिद्ध करने के लिये खाद्य की रासायनिक परीक्षा आवश्यक है। खाद्य का नमूना प्राप्त करने के पूर्व स्वास्थ्य निरीक्षक विक्रेता को सूचना देता है और उचित मूल्य चुकाकर आवश्यक मात्रा मोल लेता है। इसके तीन भाग कर, अलग अलग तीन बोतलों में बंद कर, सब पर मुहर लगा देता है और नामपत्र लगाकर सब ज्ञातव्य तथ्य लिख देता है। एक बोतल विक्रेता को, दूसरी खाद्यविश्लेषक और तीसरी खाद्यनिरीक्षक के लिये होती है। खाद्य विश्लेषक बोतल पाने पर उसकी परीक्षा करता है। परीक्षाफल से अपद्रव्यण सिद्ध होने पर विक्रेता पर स्वास्थ्याधिकारी द्वारा अभियोग लगाया जाता है और न्यायालय द्वारा उचित धनदंड या कारादंड अथवा दोनों दिलाए जाते हैं। यदि खाद्यविश्लेषक की परीक्षा पर अभियोगी या अभियुक्त किसी को संदेह हो और पुन परीक्षा की आवश्यकता जान पड़े तो उनके पास की सुरक्षित बोतल आवश्यक शुल्क सहित केंद्रीय खाद्यप्रयोगशाला में भेजी जाती है और उसकी परीक्षा का फल सर्वथा आपत्तिरहित माना जाता है। साधारण ग्राहक भी आवश्यक शुल्क देकर किसी विक्रेता से प्राप्त खाद्य की परीक्षा करा सकता है, परंतु उसे अपनी इस इच्छा की पूर्वसूचना विक्रेता को देनी आवश्यक है और खाद्य निरीक्षक द्वारा प्रयुक्त ढंग से ही नमूना मोल लेना होगा। परीक्षाफल से अपद्रव्यीकरण सिद्ध होने पर ग्राहक को शुल्क का धन वापस प्राप्त करने का अधिकार होगा।

स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक खाद्य पदार्थ की उपादेयता उससे प्राप्त पोषक सारों की मात्रा पर निर्भर है। पोषक सारों की मात्रा बढ़ाने के हेतु या भोजन पकाने से उनकी मात्रा कम न होने देने के लिये खाद्य की गुणवृद्धि अथवा समृद्धि की जाती है। यह कार्य वैज्ञानिक रीति से जनता में व्याप्त कुपोषण दूर करने के सदुद्देश्य से करना प्रशंसनीय है। विदेशों में मैदा, डबलरोटी, बिस्कुट, मार्गरीन, काफी, कोको, चाकलेट, चाय, लवण आदि अनेक खाद्य और पेय पदार्थों में विटामिन और खनिज द्रव्य द्वारा नियमानुसार गुणवृद्धि करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। भारत में भी आटे में कैलसियम कार्बोनेट (चाक, खड़िया), मैदा और चावल में बी-विटामिन और कैलसियम कार्बोनेट, समजित (टोन्ड) और पुनस्संयोजित दूध तथा वनस्पति में ए-विटामिन और गलगंड (गॉयटर) के स्थानिक रोगवाले क्षेत्रों में लवण में आयोडीन की मिलावट द्वारा गुणवृद्धि अथवा समृद्धि करने का प्रस्ताव है और कुछ अंशों में यह किया भी जा रहा है। रक्षा मंत्रालय के आदेशानुसार सन् १९४६ से भारतीय सेना में कैलसियम कार्बोनेट द्वारा प्रबलित आटे का व्यवहार हो रहा है। बंबई सरकार ने भी यही किया और ६४० पाउंड आटे में एक पाउंड कैलसियम कार्बोनेट मिलाना जारी किया, किंतु कुछ अड़चनों के कारण इस प्रयोग को सन् १९४९ में बंद कर दिया गया। वनस्पति घी में ७०० अंतर्राष्ट्रीय मात्रक (आई० यू०) विटामिन-ए प्रति आउंस मिलाने का चलन हो गया है। लवण में सोडियम आयोडेट मिलाकर गलगंडीय क्षेत्रों में भेजा जाता है। ग्राहक की जानकारी के लिये नामपत्र पर गुणवृद्धिकारी पदार्थ का नाम और मात्रा की आवश्यक सूचना होती है, जिसमें किसी प्रकार के भ्रम की संभावना नहीं रहती। अब संश्लिष्ट विटामिन बनने लगे हैं और भारत में भी जब विटामिन का उत्पादन होने लगेगा तो पोषक द्रव्यों द्वारा खाद्य की गुणवृद्धि कर जनता में व्याप्त कुपोषण दूर करना सुगम हो जायगा।

प्रत्येक खाद्य के अपद्रव्यीकरण के संबंध में प्रचलित कुरीतियाँ, उसके निरीक्षण और परीक्षण की विधियाँ तथा उसकी शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) का विवरण देना संभव नहीं है, किंतु सकल रूप में नित्यप्रति के व्यवहार में आनेवाले खाद्य के अपमिश्रण के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख संक्षेप में किया जाता है

१ खाद्यान्न—खाद्यान्न में धूल, कंकड़, तृण, भूसा आदि के अतिरिक्त अन्य सस्ते अन्न मिलावट के रूप में प्राय. नित्य ही देखने में आते हैं। जौ, ज्वार, मक्का, चना, मटर तथा अन्य निम्न श्रेणी के अन्नों के दाने कुछ तो खेत में, या कृषक के भंडार में अनायास मिल जाते हैं, पर बहुधा इन्हें भ्रष्टाचारी व्यापारी जान बूझकर मिलाते हैं। कुछ प्रदेशों में इस प्रकार की मिलावट रोकने के लिये मानक निर्धारित हैं, किंतु भारत सरकार ने समस्त देश के लिये अभी लागू नहीं किए हैं। साधारणत अन्न में धूल, कंकड़, तृण आदि ४%, बाहरी अन्न के दाने १०% (चावल में केवल ३%), टूटे दाने १०%, फफूँदीयुक्त दाने १५% तथा कीटभुक्त दाने ६% से अधिक नहीं होने चाहिए। सब मिलाकर अच्छे दाने ८०% से कम न हों और जल की मात्रा गेहूँ में १२% तथा अन्य में १५% से अधिक किसी भी ऋतु में नहीं होनी चाहिए। खाद्यान्न में की गई मिलावट का पता ग्राहक को सहज ही चल जाता है और मिलावट के अनुसार दाम भी घट जाता है। इस कारण सावधान ग्राहक को धोखे की आशंका नहीं रहती, किंतु यह बात पिसे हुए अन्न (आटा, मैदा, सूजी, बेसन, दलिया आदि) के संबंध में नहीं कही जा सकती।

गेहूँ में ग्ल्यूटीन नामक चिपचिपा प्रोटीन होता है, जो अन्य अन्नों में नहीं होता। यदि आटे में गेहूँ के अतिरिक्त किसी अन्य सस्ते अन्न का मेल है तो ग्ल्यूटीन का अनुपात कम हो जाता है। प्राय ८% से कम ग्ल्यूटीन-वाला आटा अपमिश्रित समझा जाता है। अन्नों के स्टार्च के कणों की आकृति सूक्ष्मदर्शी यंत्र (माइक्रॉस्कोप) द्वारा देखने से मिलावटी अन्न का पता चल सकता है।

खेसारी की दाल (लेथिरस सेटाइवा) के उपयोग से लैथिरिज्म नामक रोग (एक प्रकार की पंगुता) होने की आशंका रहती है। इस कारण इस दाल का सेवन नहीं करना चाहिए। अकालपीड़ित जनता जब इस दाल को खाती है तो कुछ मनुष्यों को लैथिरिज्म रोग हो जाता है और पैरों की निर्बलता के कारण खड़ा होना या चलना कठिन हो जाता है। रोग बढ़ने पर रोगी पंगु हो जाता है। अत खाद्यान्न में खेसारी की दाल की मिलावट नहीं होनी चाहिए।

२ दूध दही—स्वस्थ गाय, भैंस, भेड़ और बकरी के दूध को नवदुग्ध (फेनुस, कालास्ट्रम) रहित होना चाहिए। दूध में जल मिलाने से उसका विशिष्ट गुरुत्व कम हो जाता है और मक्खन या क्रीम (मलाई) निकाल लेने से बढ़ जाता है। कुछ मक्खन निकालकर और निश्चित मात्रा में जल मिलाने से दूध का विशिष्ट गुरुत्व शुद्ध दूध के अनुकूल किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में दुग्धमापी (लैक्टोमीटर) से केवल विशिष्ट गुरुत्व के आधार पर दूध के अपद्रव्यीकरण का पता नहीं चल सकता। विभिन्न पशुओं से प्राप्त दूध के सारभूत पोषक द्रव्यों की मात्रा एक सी नहीं होती। इस कारण उनके दूध की शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) भी भिन्न होते हैं। दुग्धवसा (मिल्क फैट) तथा स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की मात्राओं के आधार पर दूध के अपमिश्रण का पता चल जाता है। गाय के दूध में दुग्धवसा की मात्रा उड़ीसा में ३%, पंजाब में ४% और भारत के अन्य प्रदेशों में ३.५% से कम न होनी चाहिए और स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की अधिक-तम मात्रा ८.५% होनी चाहिए। भैंस के दूध में दुग्धवसा की मात्रा दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम तथा बंबई में ६% तथा शेष भारत में ५% है और स्नेहातिरिक्त ठोस द्रव्य की अधिक-तम सीमा ९% है। भेड़ बकरी के दूध में दुग्धवसा की निम्नतम सीमा मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंबई तथा केरल राज्य में ३.५% तथा शेष भारत में ३% है और वसातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की अधिकतम सीमा ९% है। पशु की जाति अज्ञात होने की अवस्था में दूध भैंस का माना जाता है। दही में भी दुग्धेतर कोई बाहरी पदार्थ नहीं होना चाहिए। इसका मानक दूध के समान ही है।

जल मिलाकर दूध बेचना वर्जित है। दूध में कोई रंजक या परिरक्षक पदार्थ नहीं मिलाया जा सकता। दूध का खट्टा होना कुछ काल के लिये रोकने, या खट्टापन दबाने के लिये सोडा मिलाना अनुचित है। अधिक उबालने से दूध में बहुत भौतिक और रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। उसका खाद्यमान (फूड वैल्यू) भी कम हो जाता है। लैक्टोज नामक दुग्ध-शर्करा कैरामेल में परिणत हो जाती है, जिससे उसके स्वाद और रंग में अंतर हो जाता है। इस कारण दूध या किसी शर्करायुक्त पक्वान्न में कैरामेल का पाया जाना अपद्रव्यीकरण नहीं कहा जाता। दूध में अनेक

प्रकार के कीटाणु पाए जाते हैं, जिनमे कुछ भयकर रोगकारक होते हैं और इसी कारण अशुद्ध और अस्वच्छ रीति से दूध का प्रयोग अनेक रोगो का कारण है। दूध का उबालना या पास्च्युरीकरण रोगकारी कीटाणुओं का नाशक है। यद्यपि उबालने अथवा पास्च्युरीकरण से दूध मे बहुत परिवर्तन हो जाता है, तथापि स्वास्थ्यरक्षार्थ यह अत्यत आवश्यक कार्य है और इसलिये यह दूध का अपद्रव्यीकरण नही समझा जाता।

३ **मक्खन तथा घी**—मक्खन या घी केवल गाय या भैस के दूध मे ही प्राप्त पदार्थ है। दुग्धेतर कोई पदार्थ मक्खन या घी मे नही होना चाहिए। मक्खन मे कम से कम ८० % दुग्धवसा होना आवश्यक है और जल की मात्रा १६ % से अधिक नही होनी चाहिए। अतः नमक तथा अनोटो नामक पीला रजक पदार्थ मिलाया जा सकता है। घी मे जल की मात्रा ० ५ % से अधिक नही होनी चाहिए और रजक या परिरक्षक पदार्थ का मेल वर्जित है।

४ **क्रीम** (मलाई)—जो केवल दूध से ही न बनाई गई हो और जिसमे ४० % से कम दुग्धवसा हो उस क्रीम का बेचना वर्जित है। इसमे कोई दुग्धेतर वस्तु नही मिलाई जा सकती, किंतु मलाई की बर्फ या कुल्फी (आइसक्रीम) मे क्रीम के साथ दूध, चीनी, शहद, अडा, मेवा, फल, चाकलेट तथा स्वीकृत रजक या वासक पदार्थ नियमानुकूल मिलाए जा सकते है। क्रीम मे ठोस द्रव्य की मात्रा ३६ % और दुग्धवसा की १० % से कम नही होनी चाहिए। आइसक्रीम मे किसी फल या मेवे का उपयोग करने की अवस्था मे दुग्धवसा १० % के स्थान मे ८ % से कम न हो। क्रीम मे स्टार्च, कृत्रिम मिष्टकर अथवा इस प्रकार का कोई अन्य पदार्थ नही होना चाहिए, किंतु मिश्रित आइसक्रीम मे स्टार्च या अन्य निर्दोष भरण का उपयोग किया जा सकता है। परतु दुग्धवसा की मात्रा क्रीम के समान ही होनी चाहिए।

५ **खोआ**—इसमे कोई दुग्धेतर पदार्थ नही होना चाहिए और दुग्धवसा की मात्रा २० % से कम न रहनी चाहिए।

६ **वनस्पति घी**—यह रूप रग और स्वाद मे घी से मिलता जुलता स्नेह है, परन्तु घी नही है। यह केवल शोधित और जमाया हुआ तेल है। वनस्पति घी का निर्माण उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) निकल की सहायता से शोधित, उदासीनीकृत (न्यूट्रैलाइज्ड) और प्रक्षालित वानस्पतिक तेल के हाइड्रोजनीकरण द्वारा किया जाता है। उसे निर्गंध कर कोई वासक (फ्लेवरिंग) पदार्थ मिलाया जाता है। वनस्पति घी मे वसाविलेय (फैट सॉल्युबल) ए तथा डी विटामिन मिलाए जा सकते है। इसमे कम से कम ५ % तिल का तेल मिलाना अनिवार्य है। खाद्यमूल्य की दृष्टि से वनस्पति घी के गुण दोष का विवेचन असगत है, परन्तु वनस्पति घी का सबसे अधिक दुरुपयोग घी के अपद्रव्यीकरण मे होता है। वनस्पति घी मे कोई उपयुक्त रजक मिलाकर घी के अपद्रव्यीकरण को रोकना अभी तक सभव नही हुआ है। वनस्पति मे तिल के तेल का मिश्रण इस हेतु करना अनिवार्य है कि बोदाइन द्वारा सुझाई गई फरफरोल परीक्षा द्वारा घी मे वनस्पति का अपमिश्रण सुगमता से जाना जा सके। सान्द्रत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और शर्करा के सयोग से प्राप्त फरफरोल तिल के तेल मे गुलाबी रग उत्पन्न कर देता है। शुद्ध घी मे वनस्पति घी मिश्रित कर बेचना वर्जित है और एक ही व्यापारी घी तथा वनस्पति घी दोनो का व्यापार नही कर सकता।

७ **मार्गरीन**—यह पदार्थ भी घी या मक्खन से मिलता जुलता है, जिसमे १० % से अधिक दुग्धवसा नही होती। इसमे वानस्पतिक अथवा जांतववसा ८० % से कम और जल की मात्रा १६ % से अधिक न होनी चाहिए। वनस्पति घी के समान मार्गरीन मे भी ५ % तिल का तेल मिलाना अनिवार्य है।

८ **खाद्य तेल**—खाद्य तेल के निर्माता तथा विक्रेता को अनुज्ञापत्र लेना आवश्यक है। कोई दो या दो से अधिक तेल मिलाकर नही बेचे जा सकते। सरसो के तेल का एक विशेष रूप से अपद्रव्यीकरण होता है। भटकटैया नामक एक जगली कँटीली झाडी के बीज काली सरसो के दाने से मिलते जुलते है। इस झाडी का वैज्ञानिक नाम आर्गीमनी मेक्सिकाना है और उत्तर भारत मे इसे भटकटैया, सियाल काँटा, मखार, भरभंड, भरभरवा, घमोया, पीली कटाई, बग, सत्यानासी, कुटीला आदि कहते है। सरसो के साथ इसके बीज की मिलावट कर तेल पेर लिया जाता है। इस प्रकार अपमिश्रित सरसो का तेल बेचने से व्यापारी को आर्थिक लाभ होता है। यह तस्कर व्यापार बहुत बढ गया है। इस अपमिश्रित तेल के सेवन से बेरीबेरी से मिलती जुलती, परतु सर्वथा भिन्न, महामारी जलशोथ (एपीडेमिक ड्रॉप्सी) नामक रोग हो जाता है। आर्गीमनी मेक्सिकाना मे पाया जानेवाला सेग्युनेरीन नामक विषैला ऐलकैलायड सभवत इस रोग का कारण है। यह रोग कभी कभी बहुत व्यापक हो जाता है और उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल मे इसके प्रकोप यदाकदा होते रहे है। पूरी छानबीन कर आर्गीमनी मेक्सिकाना को अब विष घोषित कर दिया गया है और अफीम, सखिया, कुचला आदि की तरह कोई इसे अनधिकृत रूप से अपने पास नही रख सकता। इस उपाय से यह विषैला अपमिश्रण बहुत कुछ नियत्रित हो गया प्रतीत होता है।

९ **वातित या फेनिल पेय** (एअरेटेड वाटर)—अशुद्ध जल अथवा अशुद्ध बर्फ के योग से बना पेय शुद्ध नही माना जाता। शर्करा, साइट्रिक अम्ल तथा स्वीकृत रजक का नियमित मात्रा मे प्रयोग वैध है। टार्टरिक अम्ल, फास्फोरिक अम्ल तथा खनिज अम्ल का प्रयोग और सीसा आदि विषैली धातुओ के लवणो का मिश्रण निषिद्ध है।

भारत से मसालो का निर्यात व्यापार बहुत होता है। अपमिश्रित मसालो के निर्यात से इस विदेशी व्यापार को बहुत हानि पहुँचने की आशका है। इस कारण मसालो की शुद्धता के मानक स्थिर कर दिए गए है। काफी, चाय, चीनी, शहद आदि के मानक भी स्थिर हो गए है। शेष पदार्थों के मानक देश के प्रत्येक भाग के नमूनो की परीक्षा कर समय समय पर स्थिर किए जा रहे है। केंद्रीय खाद्य मानक समिति यह कार्य बराबर कर रही है। कुछ प्रदेशो ने अखिल भारतीय मानक के अभाव मे अपने मानक लागू कर रखे हैं।

सं०ग्रं०—प्रिवेशन ऑव फूड ऐडल्टरेशन ऐक्ट, १९५४, प्रिवेशन ऑव फूड ऐडल्टरेशन रूल्स, १९५५, मॉडेल पब्लिक हेल्थ ऐक्ट (रिपोर्ट, १९५५), एनवाइरन्मेंटल हाइजीन कमेटी रिपोर्ट, १९४९ (ये सभी स्वास्थ्य मत्रालय के प्रकाशन है)। आहार और आहार विद्या, पोषण, हाइड्रोजनीकरण, फेनिल पेय, दूध, घी तथा गेहूँ शीर्षक लेख भी देखे।

(भ० श० या०)

अपभ्रंश आधुनिक भाषाओ के उदय से पहले उत्तर भारत मे बोलचाल और साहित्य रचना की सबसे जीवत और प्रमुख भाषा (समय लगभग छठी से १२वी शताब्दी)। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अपभ्रंश भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल की अंतिम अवस्था है जो प्राकृत और आधुनिक भाषाओ के बीच की स्थिति है।

अपभ्रंश के कवियो ने अपनी भाषा को केवल 'भासा', 'देसी भासा' अथवा 'गामेल्ल भासा' (ग्रामीण भाषा) कहा है, परतु सस्कृत के व्याकरणो और अलकारग्रथो मे उस भाषा के लिये प्राय 'अपभ्रंश' तथा कही कही 'अपभ्रष्ट' सज्ञा का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश नाम सस्कृत के आचार्यों का दिया हुआ है, जो आपातत तिरस्कारसूचक प्रतीत होता है। महाभाष्यकार पतजलि ने जिस प्रकार 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है उससे पता चलता है कि सस्कृत या साधु शब्द के लोकप्रचलित विविध रूप अपभ्रंश या अपशब्द कहलाते थे। इस प्रकार प्रतिमान से च्युत, स्खलित, भ्रष्ट अथवा विकृत शब्दो को अपभ्रंश सज्ञा दी गई और आगे चलकर यह सज्ञा पूरी भाषा के लिये स्वीकृत हो गई। दडी (सातवी शती) के कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि शास्त्र अर्थात् व्याकरण शास्त्र मे सस्कृत से इतर शब्दो को अपभ्रंश कहा जाता है, इस प्रकार पालि-प्राकृत-अपभ्रंश सभी के शब्द 'अपभ्रंश' सज्ञा के अतर्गत आ जाते है, फिर भी पालि प्राकृत को 'अपभ्रंश' नाम नही दिया गया।

दडी ने इस बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि काव्य मे आभीर आदि बोलियो को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया जाता है, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश नाम उसी भाषा के लिये रूढ हुआ जिसके शब्द सस्कृतेतर थे और साथ ही जिसका व्याकरण भी मुख्यत आभीरादि लोक बोलियो पर आधारित था। इसी अर्थ मे अपभ्रंश पालि-प्राकृत आदि से विशेष भिन्न थी।

अपभ्रंश के संबंध में प्राचीन अलंकारग्रंथों मे दो प्रकार के परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। एक ओर रुद्रट के काव्यालंकार (२-१२) के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) अपभ्रंश को प्राकृत कहते हैं तो दूसरी ओर भामह (छठी शती), दंडी (सातवी शती) आदि आचार्य अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत से भिन्न स्वतंत्र काव्यभाषा के रूप मे करते हैं। इन विरोधी मतो का समाधान करते हुए याकोबी (भविस्सयत्त कहा की जर्मन भूमिका, अंग्रेजी अनुवाद, बड़ौदा ओरिएंटल इंस्टीट्यूट जर्नल, जून १९५५) ने कहा है कि शब्दसमूह की दृष्टि से अपभ्रंश प्राकृत के निकट है और व्याकरण की दृष्टि से प्राकृत से भिन्न भाषा है।

इस प्रकार अपभ्रंश के शब्दकोश का अधिकांश, यहाँ तक कि नब्बे प्रति शत, प्राकृत से गृहीत है और व्याकरणिक गठन प्राकृतिक रूपो से अधिक विकसित तथा आधुनिक भाषाओं के निकट है। प्राचीन व्याकरणो के अपभ्रंश संबंधी विचारों के क्रमबद्ध अध्ययन से पता चलता है कि छह सौ वर्षों मे अपभ्रंश का क्रमश विकास हुआ। भरत (तीसरी शती) ने इसे शाबर, आभीर, गुर्जर आदि की भाषा बताया है। चंड (छठी शती) ने 'प्राकृतलक्षणम्' में इसे विभाषा कहा है और उसी के आसपास वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय ने एक ताम्रपट्ट में अपने पिता का गुणगान करते हुए उन्हें संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश प्रबंधरचना मे निपुण बताया है। अपभ्रंश के काव्यसमर्थ भाषा होने की पुष्टि भामह और दंडी जैसे आचार्यों द्वारा आगे चलकर सातवी शती में हो गई। काव्यमीमांसाकार राजशेखर (दसवी शती) ने अपभ्रंश कवियों को राजसभा मे सम्मानपूर्ण स्थान देकर अपभ्रंश के राजसम्मान की ओर संकेत किया तो टीकाकार पुरुषोत्तम (११वी शती) ने इसे शिष्टवर्ग की भाषा बतलाया। इसी समय आचार्य हेमचंद्र ने अपभ्रंश का विस्तृत और सोदाहरण व्याकरण लिखकर अपभ्रंश भाषा के गौरवपूर्ण पद की प्रतिष्ठा कर दी। इस प्रकार जो भाषा तीसरी शती मे आभीर आदि जातियो की लोक बोली थी वह छठी शती से साहित्यिक भाषा बन गई और ११वी शती तक जाते जाते शिष्टवर्ग की भाषा तथा राजभाषा हो गई।

अपभ्रंश के क्रमश भौगोलिक विस्तारसूचक उल्लेख भी प्राचीन ग्रंथो मे मिलते हैं। भरत के समय (तीसरी शती) तक यह पश्चिमोत्तर भारत की बोली थी, परंतु राजशेखर के समय (दसवी शती) तक पंजाब, राजस्थान और गुजरात अर्थात् समूचे पश्चिमी भारत की भाषा हो गई। साथ ही स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, कनकामर, सरहपा, कन्हपा आदि की अपभ्रंश रचनाओं से प्रमाणित होता है कि उस समय यह समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई थी।

वैयाकरणों ने अपभ्रंश के भेदो की भी चर्चा की है। मार्कंडेय (१७वी शती) के अनुसार इसके नागर, उपनागर और ब्राचड तीन भेद थे और नमिसाधु (११वी शती) के अनुसार उपनागर, आभीर और ग्राम्य। इन नामो से किसी प्रकार के क्षेत्रीय भेद का पता नही चलता। विद्वानो ने आभीरो को व्रात्य कहा है, इस प्रकार 'ब्राचड' का संबंध 'व्रात्य' से माना जा सकता है। ऐसी स्थिति मे आभीरी और ब्राचड एक ही बोली के दो नाम हुए। क्रमदीश्वर (१३वी शती) ने नागर अपभ्रंश और शसक छंद का संबंध स्थापित किया है। शसक छंदो की रचना प्राय पश्चिमी प्रदेशो मे ही हुई है। इस प्रकार अपभ्रंश के सभी भेदोपभेद पश्चिमी भारत से ही संबद्ध दिखाई पड़ते है। वस्तुत साहित्यिक अपभ्रंश अपने परिनिष्ठित रूप मे पश्चिमी भारत की ही भाषा थी, परंतु अन्य प्रदेशों मे प्रसार के साथ साथ उसमे स्वभावत क्षेत्रीय विशेषताएँ भी जुड़ गईं। प्राप्त रचनाओं के आधार पर विद्वानो ने पूर्वी और दक्षिणी दो अन्य क्षेत्रीय अपभ्रंशों के प्रचलन का अनुमान लगाया है।

अपभ्रंश भाषा का ढाँचा लगभग वही है जिसका विवरण हेमचंद्र के 'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्' के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद मे मिलता है। ध्वनिपरिवर्तन की जिन प्रवृत्तियो के द्वारा संस्कृत शब्दो के तद्भव रूप प्राकृत मे प्रचलित थे, वही प्रवृत्तियाँ अधिकांशत अपभ्रंश शब्दसमूह मे भी दिखाई पड़ती है, जैसे अनादि और असंयुक्त क, ग, च, ज, त, द, प, य, और व का लोप तथा इनके स्थान पर उद्वृत्त स्वर अ अथवा य श्रुति का प्रयोग। इसी प्रकार प्राकृत की तरह ('क्त', 'क्व', 'द्व' आदि संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर अपभ्रंश मे भी 'त्त', 'क्क', 'द्द' आदि द्वित्तव्यंजन होते थे। परंतु अपभ्रंश मे क्रमश समीपवर्ती उद्वृत्त स्वरो को मिलाकर एक स्वर करने और द्वित्तव्यंजन को सरल करके एक व्यंजन सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। इसी प्रकार अपभ्रंश मे प्राकृत से कुछ और विशिष्ट ध्वनिपरिवर्तन हुए। अपभ्रंश कारकरचना मे विभक्तियाँ प्राकृत की अपेक्षा अधिक घिसी हुई मिलती है, जैसे तृतीया एकवचन मे 'एण' की जगह 'ए' और षष्ठी एकवचन मे 'स्स' के स्थान पर 'ह'। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश निर्विभक्तिक संज्ञा रूपो से भी कारकरचना की गई। सहुँ, केहिं, तेहि, देसि, तणेण, केरअ, मज्झि आदि परसर्ग भी प्रयुक्त हुए। कृदंतज क्रियाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ी और संयुक्त क्रियाओं के निर्माण का आरंभ हुआ। संक्षेप में "अपभ्रंश ने नए सुबंतो और तिङंतो की सृष्टि की"। अपभ्रंश साहित्य की प्राप्त रचनाओं का अधिकांश जैन काव्य है अर्थात् रचनाकार जैन थे और प्रबंध तथा मुक्तक सभी काव्यों की वस्तु जैन दर्शन तथा पुराणों से प्रेरित है। सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू (नवी शती) है जिन्होंने राम की कथा को लेकर 'पउमचरिउ' तथा 'महाभारत' की रचना की है। दूसरे महाकवि पुष्पदंत (दसवी शती) है जिन्होंने जैन परंपरा के त्रिषष्ठि शलाकापुरुषो का चरित 'महापुराण' नामक विशाल काव्य मे चित्रित किया है। इसमे राम और कृष्ण की भी कथा सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त पुष्पदंत ने 'णायकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ' जैसे छोटे छोटे दो चरितकाव्यों की भी रचना की है। तीसरे लोकप्रिय कवि धनपाल (दसवी शती) है जिनकी 'भविस्सयत्त कहा' श्रुतपंचमी के अवसर पर कही जानेवाली लोकप्रचलित प्राचीन कथा है। कनकामर मुनि (११वी शती) का 'करकंडुचरिउ' भी उल्लेखनीय चरितकाव्य है।

अपभ्रंश का अपना दुलारा छंद दोहा है। जिस प्रकार प्राकृत को 'गाथा' के कारण 'गाहाबंध' कहा जाता है, उसी प्रकार अपभ्रंश को 'दोहाबंध'। फुटकल दोहो मे अनेक ललित अपभ्रंश रचनाएँ हुई है, जो इंदु (आठवी शती) का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार', रामसिंह (दसवी शती) का 'पाहुड़ दोहा', देवसेन (दसवी शती) का 'सावयधम्म दोहा' आदि जैन मुनियो की ज्ञानोपदेशपरक रचनाएं अधिकांशत दोहा मे है। प्रबंधचिंतामणि तथा हेमचंद्ररचित व्याकरण के अपभ्रंश दोहो से पता चलता है कि शृंगार और शौर्य के ऐहिक मुक्तक भी काफी संख्या मे लिखे गए है। कुछ रासक काव्य भी लिखे गए है जिनमे कुछ तो 'उपदेशरसायन रास' की तरह नितांत धार्मिक है, परंतु अद्दहमाण (१३वी शती) के संदेशरासक की तरह शृंगार के सरस रोमांस काव्य भी लिखे गए है।

जैनो के अतिरिक्त बौद्ध सिद्धो ने भी अपभ्रंश मे रचना की है जिनमे सरहपा, कन्हपा आदि के दोहाकोश महत्वपूर्ण है। अपभ्रंश गद्य के भी नमूने मिलते है। गद्य के टुकड़े उद्योतन सूरि (सातवी शती) की 'कुवलयमाला कहा' मे यत्रतत्र बिखरे हुए है।

नवीन खोजो से जो सामग्री सामने आ रही है, उससे पता चलता है कि अपभ्रंश का साहित्य अत्यंत समृद्ध है। डेढ़ सौ के आसपास अपभ्रंश ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं जिनमे से लगभग पचास प्रकाशित हैं।

सं०ग्रं०—नामवर सिंह हिंदी के विकास मे अपभ्रंश का योग (१९५४), हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य (१९५६)। (ना० सिं०)

अपरशैल प्राचीन धान्यकटक (द्र०) के निकट का एक पर्वत। भोटिया ग्रंथो से ज्ञात होता है कि पूर्वशैल और अपरशैल धान्यकटक (आंध्र) के पूर्व और पश्चिम मे स्थित पर्वत थे जिनके ऊपर बने विहार पूर्वशैलीय और अपरशैलीय कहलाते थे। ये दोनो चैत्यवादी थे और इन्ही नामो से उस काल मे दो बौद्ध निकाय भी प्रचलित थे। कथावत्थु नामक बौद्ध ग्रंथ मे जिन अशोककालीन आठ बौद्ध निकायो का खंडन किया गया है उनमे ये दोनो सम्मिलित है। कथावत्थु के अनुसार अपरशैलीय मानते थे कि भोजनपान के कारण अर्हत् का भी वीर्यपतन संभव है, व्यक्ति का भाग्य उसके लिये पहले से ही नियत है तथा एक ही समय अनेक वस्तुओं की ओर हम ध्यान दे सकते है। कुछ स्रोतों से ज्ञात होता है कि इस निकाय के प्रधान ग्रंथ प्राकृत में थे। (ना० ना० उ०)

अपरांत भारतवर्ष की पश्चिम दिशा का देशविशेष। 'अपरांत' (अपर+अंत) का अर्थ है पश्चिम का अंत। आजकल यह बंबई प्रांत का 'कोकण' प्रदेश माना जाता है। तालेमी नामक भूगोलवेत्ता ने इस प्रदेश को, जिसे वह 'अरिआके' या 'अबरातिके' के नाम से पुकारता है, चार भागों में विभक्त बतलाया है। समुद्रतट से लगा हुआ उत्तरी भाग थाणा और कोलाबा जिलों से मिलता है तथा दक्षिणी भाग रत्नागिरि और उत्तरी कनारा जिलों से। इसी प्रकार समुद्र से भीतरी प्रदेश के भी दो भाग हैं। उत्तरी भाग में गोदावरी नदी बहती है और दक्षिणी में कन्नड भाषाभाषियों का निवास है। महाभारत (आदिपर्व) तथा मार्कंडेय-पुराण के अनुसार यह समस्त प्रदेश 'अपरांत' के अंतर्गत है। बृहत्-संहिता (१४।२०) ने इस प्रदेश के निवासियों का 'अपरांतक' नाम से उल्लेख किया है जिनका निर्देश रुद्रदामन् के जूनागढ शिलालेखों में भी है। रघुवंश (४।५३) से भी स्पष्ट है कि अपरांत सह्य पर्वत तथा पश्चिम सागर के बीच का वह सँकरा भूभाग है जिसे परशुराम ने पुराणानुसार समुद्र को दूर हटाकर अपने निवास के लिये प्रस्तुत किया था। (ब० उ०)

अपरा उपनिषद् की दृष्टि में **अपरा विद्या** निम्न श्रेणी का ज्ञान मानी जाती है। मुंडक उपनिषद् (१।१।४) के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है—(१) **परा विद्या** (श्रेष्ठ ज्ञान) जिसके द्वारा अविनाशी ब्रह्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है (**सा परा, यदा तदक्षरमधिगम्यते**), (२) **अपरा विद्या** के अंतर्गत वेद तथा वेदांगों के ज्ञान की गणना की जाती है। उपनिषद् का आग्रह परा विद्या के उपार्जन पर ही है। ऋग्वेद आदि चारों वेदों तथा शिक्षा, व्याकरण आदि छहों अंगों के अनुशीलन का फल क्या है? केवल बाहरी, नश्वर, विनाशी वस्तुओं का ज्ञान, जो आत्मतत्व की जानकारी में किसी तरह सहायक नहीं होता। छांदोग्य उपनिषद् (७।१।२-३) में नारद-सनत्कुमार-संवाद में भी इसी पार्थक्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। नारद अध्यात्मशास्त्र के जिज्ञासु शिष्य हैं। सनत्कुमार तत्वशास्त्र के महान् आचार्य हैं जिनके पास नारद तत्वज्ञान सीखने जाते हैं। मंत्रविद् नारद सकल शास्त्रों के पंडित हैं, परन्तु आत्मविद् न होने से वे शोकग्रस्त हैं। "मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् तरति शोक-मात्मवित्।" अत उपनिषदों का स्पष्ट मंतव्य है कि अपरा विद्या को छोड़कर परा विद्या का अभ्यास करना चाहिए जिसमें इसी जन्म में, इसी शरीर में आत्मा का साक्षात्कार हो जाय (केन २।२३)। यूनानी तत्वज्ञ भी इसी प्रकार का भेद—डोक्सा तथा एपिस्टेमी—मानते थे जिनमें से प्रथम साधारण विचार का तथा द्वितीय सत्य का संकेतक माना जाता था। (ब० उ०)

अपराजितवर्मन् इस पल्लव राजा ने पल्लवों की विचलित कुललक्ष्मी को कुछ काल तक अचल रखा। वह ८७६ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा और ८९५ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसने पांड्य-राज वरगुण द्वितीय को परास्त किया, परंतु चोडों की सर्वग्रासी शक्ति ने पल्लवों को जीतकर तोंडमंडलम् पर अधिकार कर लिया और पल्लवों के स्वतंत्र शासन का अंत हो गया। अपराजितवर्मन् अंतिम पल्लव राजा था। (भ० श० उ०)

अपराजिता दुर्गा का पर्यायवाची नाम, जो उनके रौद्र रूप का द्योतक है। इसी रूप से उन्होंने अनेक असुरों का संहार किया था। 'देवीपुराण' तथा 'चंडीपाठ' में इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन मिलता है और तंत्र साहित्य में अपराजिता की पूजा का विधान है। इसके अतिरिक्त अपराजिता नाम की विद्या का कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' में उल्लेख किया है। (च० म०)

अपराध जिस समय मानव समाज की रचना हुई अर्थात् मनुष्य ने अपना सामाजिक संगठन प्रारंभ किया, उसी समय से उसने अपने संगठन की रक्षा के लिये नैतिक, सामाजिक आदेश बनाए। उन आदेशों का पालन मनुष्य का 'धर्म' बतलाया गया। किंतु, जिस समय से मानव समाज बना है, उसी समय से उसके आदेशों के विरुद्ध काम करनेवाले भी पैदा हो गए हैं, और जब तक मनुष्य प्रवृत्ति ही न बदल जाय, ऐसे व्यक्ति बराबर होते रहेंगे।

युगों से अपराध की व्याख्या करने का प्रयास हो रहा है। डा० पी० के० सेन ने अपराध की सत्ता इतिहास काल के भी पूर्व से मानी है। अतएव इसकी व्याख्या कठिन है। पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के प्रारंभिक विधानों के नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियमों को तोड़ना समान रूप से अप-राध था। सारजेंट स्टीफन ने लिखा है कि समुदाय का बहुमत जिसे सही बात समझे, उसके विपरीत काम करना अपराध है। ब्लैकस्टन कहते हैं कि समूचे समुदाय के प्रति जो व्यक्ति का कर्तव्य है तथा उसके जो अधिकार हैं उनकी अवज्ञा अपराध है। किसी दूसरे के अधिकार पर आघात पहुँ-चाना या समाज के प्रति कर्तव्य का पालन न करना, दोनों ही अपराध हैं। रोम में अपराध का निर्णय नगर की समूची जनता करती थी। तभी से अपराध को 'सार्वजनिक' भूल कहा जाने लगा है। आज के कानून में अपराध 'सार्वजनिक हानि' की वस्तु समझा जाता है।

दो सौ वर्ष पूर्व तक संसार के सभी देशों की यह निश्चित नीति थी कि जिसने समाज के आदेशों की अवज्ञा की है, उससे बदला लेना चाहिए। इसीलिये अपराधी को घोर यातना दी जाती थी। जेलों में उसके साथ पशु से भी बुरा व्यवहार होता था। यह भावना अब बदल गई है। आज समाज की निश्चित धारणा है कि अपराध शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का रोग है, इसलिये अपराधी की चिकित्सा करनी चाहिए। उसे समाज में वापस करते समय शिष्ट, सभ्य, नैतिक नागरिक बनाकर वापस करना है। अतएव कारागार यातना के लिये नहीं, सुधार के लिये है।

यह तो स्पष्ट हो गया कि अपराध यदि नैतिक तथा सामाजिक आदेशों की अवज्ञा का नाम है तो इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं बतलाया जा सकता। फ्रायड वर्ग के विद्वान् प्रत्येक अपराध को कामवासना का परिणाम बतलाते हैं तथा हीली जैसे शास्त्री उसे सामाजिक वातावरण का परिणाम कहते हैं, किंतु ये दोनों मत मान्य नहीं हैं। एक देश में एक ही प्रकार का धर्म नहीं है। हर एक देश में एक ही प्रकार का सामाजिक संगठन भी नहीं है, रहन सहन में भेद है, आचार विचार में भेद है, अतएव एक प्रकार का आदेश भी नहीं है। ऐसी स्थिति में एक देश का अपराध दूसरे देश में सर्वथा उचित आचार बन सकता है। कहीं पर स्त्री को तलाक देना वैध बात है, कहीं पर सर्वथा वर्जित है। कहीं पर संयुक्त परिवार का जीवन उचित है, कहीं पर पारिवारिक जीवन का कोई कानूनी नियम नहीं है। सन् १९४६-४७ में इंग्लैंड में चोरबाजारी करनेवालों को कड़ा दंड मिलता था, फ्रांस में उसे एक 'साधारण' बात समझा जाता था। कई देश धार्मिक रूप से किया गया विवाह ही वैध मानते हैं। पूर्वी योरप तथा अन्य अनेक साम्यवादी देशों में धार्मिक प्रथा से किए गए विवाह का कोई कानूनी महत्व ही नहीं होता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी अपराध की व्याख्या करने की चेष्टा की है और उसने भी केवल 'असामाजिक' अथवा 'समाजविरोधी' कार्यों को अपराध स्वीकार किया है। पर इससे विश्वव्यापी नैतिक तथा अपराध संबंधी विधान नहीं बन सकता। मोटे तौर पर सच बोलना, चोरी न करना, दूसरे के धन या जीवन का अपहरण न करना, पिता, माता तथा गुरुजनों का आदर, कामवासना पर नियंत्रण, यही मौलिक नैतिकता है जिसका हर समाज में पालन होता है और जिसके विपरीत काम करना अपराध है।

इटली के डा० लाब्रोजो पहले शास्त्री थे जिन्होंने अपराध के बजाय 'अपराधी' को पहचानने का प्रयत्न किया। फेरी समाजविज्ञान द्वारा अपराध और अपराधी को पहचानना चाहते थे। फेरी कहते थे कि कोई भी अपराध हो, चाहे कोई भी करे, किसी भी परिस्थिति में करे, उसका और कोई कारण नहीं, केवल यही कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्र इच्छा से किया गया है या प्राकृतिक या स्वाभाविक कारणों का परिणाम है। गैरोफालो अपराध को मनोविज्ञान का विषय मानते थे, उनके अनुसार चार प्रकार के अपराधी होते हैं—हत्यारे, उग्र अपराधी, संपत्ति के विरुद्ध अपराधी, तथा कामुक वासना के अपराधी। गैरोफ़ालो के मत से प्राणदंड, आजन्म कारागार या देशनिकाला, ये ही तीन सजाएँ होनी चाहिएँ।

फॉन हामेल ने पहली बार अपराधी के सुधार की चर्चा उठाई। फ्रांस के पंडित तार्दे ने नैतिक जिम्मेदारी, 'व्यक्तिगत विशिष्टता' की चर्चा की। उनके अनुसार मनुष्य अपनी चेतना तथा अंतश्चेतना का समुच्चय मात्र है। उसके कार्यों से जिसे दुःख पहुँचे यानी जिसके प्रति अपराध किया जाय उसको भी समान रूप से सामाजिक एकता के प्रति सचेत करना चाहिए।

फ्रांस की राज्यक्रांति ने 'मानव के अधिकार' की घोषणा की। अपराधी भी मनुष्य है। उसका भी कुछ नैसर्गिक अधिकार है। इसलिये अपराधी भी अपराध की व्याख्या चाहते हैं। इसकी सबसे स्पष्ट व्याख्या सन् १९३४ के फ्रांसीसी दंडविधान ने की। अपराध वही है जिसे कानूनन मना किया गया हो। जिस चीज को तत्कालीन वातावरण में मना कर दिया गया है, उसी का नाम अपराध है। किंतु, कानूनन नाजायज काम करना ही अपराध नहीं रह गया है। डा० गुतनर ने जो बात उठाई थी वही आज हर एक न्यायालय के लिये महान् विषय बन गई है। उन्होंने कहा था कि जिस आदेश की अवज्ञा जान बूझकर की गई हो, वही अपराध है। यदि छत पर पतंग उड़ाते समय किसी लड़के के पैर से एक पत्थर नीचे सड़क पर आ जाय और किसी दूसरे के सिर पर गिरकर प्राण ले ले तो वह लड़का हत्या का अपराधी नहीं है। अतएव महत्व की वस्तु नीयत है। अपराध और उसके करने की नीयत—इन दोनों को मिला देने से ही वास्तविक न्याय हो सकता है।

किंतु समाजशास्त्र के पंडितों के सामने यह समस्या भी थी और है कि समाज की हानि करनेवाले के साथ व्यवहार कैसा हो। अफलातून का मत था कि हानि पहुँचानेवाले की हानि करना अनुचित है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सिजविक ने स्पष्ट कहा था कि न्याय कभी नहीं चाहता कि भूल करनेवाले यानी अपराध करनेवाले को पीड़ा पहुँचाई जाय। लार्ड हाल्डेन ने भी अपराध का विचार न कर अपराधी व्यक्ति, उसकी समस्याएँ, उसके वातावरण पर विचार करने की सलाह दी है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा कई बार प्रधान मंत्री बननेवाले विंस्टन चर्चिल का कथन है कि "अपराध तथा अपराधी के प्रति जनता की कैसी भावना तथा दृष्टि है, उसी से उस देश की सभ्यता का वास्तविक अनुमान लग सकता है। ब्रिटिश कानून उसी काम को अपराध समझता है जो दुर्भाव से, स्वेच्छया, धूर्ततापूर्वक किया, कराया, करने दिया या होने दिया गया हो।" बहुत से अपराध ऐसे होते हैं जो अपराध होने के कारण ही अपराध नहीं समझे जाते। जैसे, ब्रिटेन में तीन प्रकार के विवाह नाजायज हैं अत: यदि विवाह हो भी गया तो वह विवाह नहीं समझा जायगा, जैसे १६ वर्ष से कम उम्र की लड़की से विवाह करना इत्यादि।

नवीन औद्योगिक सभ्यता में अपराध का रूप तथा प्रकार भी बदल गया है। नए किस्म के अपराध होने लगे हैं जिनकी कल्पना करना भी कठिन है। इसलिये अपराध की पहचान अब इस समय यही है कि कानून ने जिस काम को मना किया है, वह अपराध है। जिसने मना किया हुआ काम किया है, वह अपराधी है। किंतु, अपराधी परिस्थिति का दास हो सकता है, विवश हो सकता है, इसलिये उसे पहचानने का प्रयत्न करना होगा। आज का अपराध शास्त्र इसमें विश्वास नहीं करता कि कोई पेट से सीखकर अपराधी बना है या कोई जानबूझ कर उसे अपना 'जीवन' बना रहा है। हर एक अपराध का तथा हर एक अपराधी का अध्ययन होना चाहिए। इसीलिये आज प्रत्येक अपराध तथा प्रत्येक अपराधी व्यक्तिगत अध्ययन, व्यक्तिगत निदान तथा व्यक्तिगत चिकित्सा का विषय बन गया है।

(प० व०)

आधुनिक मनोविश्लेषण मनोविज्ञान अपराध को मनुष्य की मानसिक उलझन का परिणाम मानता है। जिस व्यक्ति का बाल्यकाल प्रेम और प्रोत्साहन के वातावरण में नहीं बीतता उसके मन में अनेक प्रकार की हीनता की मानसिक ग्रंथियाँ बन जाती हैं। इन ग्रंथियों में उसकी बहुत सी मानसिक शक्ति संचित रहती है। डा० अलफ्रेड एडलर का कथन है कि जिस व्यक्ति के मन में हीनता की मानसिक ग्रंथियाँ रहती हैं वह अनिवार्य रूप से अनेक प्रकार के अपराध करता है। यह अपराध वह इसलिये करता है कि स्वयं को दूसरे लोगों से अधिक बलवान् सिद्ध कर सके। हीनता की ग्रंथि जिस व्यक्ति के मन में रहती है वह सदा भीतरी मानसिक असंतोष की स्थिति में रहता है। वह सब समय ऐसे कामों में अपने को लगाए रहता है जिसमें सभी लोग उसकी ओर देखें और उसकी प्रशंसा करें। हीनता की मानसिक ग्रंथि मनुष्य को ऐसे कामों में भी लगाती है जिनके करने से मनुष्य को अनेक प्रकार की निंदा सुननी पड़ती है। ऐसा व्यक्ति स्वयं को सदा चर्चा का विषय बनाए रखना चाहता है। यदि उसकी भले कामों के लिये चर्चा नहीं हुई तो बुरे कामों के लिये ही हो। उसकी मानसिक ग्रंथि उसे शांत मन नहीं रहने देती। वह उसे सदा विशेष काम करने के लिये प्रेरणा देती रहती है। यदि ऐसे व्यक्ति को दंड दिया जाय तो इससे उसका सुधार नहीं होता, अपितु इससे उसकी मानसिक ग्रंथि और भी जटिल हो जाती है। ऐसे अपराधी के उपचार के लिये मानसिक चिकित्सक की आवश्यकता होती है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने हमें बताया है कि समाज में अपराध को कम करने के लिये दंडविधान को कड़ा करना पर्याप्त नहीं है। इसके लिये समाज में सुशिक्षा की आवश्यकता होती है। जब मनुष्य की कोई प्रवृत्ति बचपन से ही प्रबल हो जाती है तो आगे चलकर वह विशेष प्रकार के कार्यों में प्रकाशित होती है। ये कार्य समाज के लिये हितकर होते हैं अथवा समाजविरोधी होते हैं। समाजविरोधी कार्य ही अपराध कहे जाते हैं। अपराध को रोकने के लिये बचपन से ही हमें व्यक्ति के प्रति उचित दृष्टिकोण रखना होगा। जिस बालक को बड़े लाड़ प्यार से रखा जाता है और उसे सभी प्रकार के कामों को करने के लिये छूट दे दी जाती है, उसमें दूसरों के सुख के लिये अपने सुख को त्यागने की क्षमता ही नहीं आती। ऐसे व्यक्ति की सामाजिक भावनाएँ अविकसित रह जाती हैं। उसके जीवन में सुस्वत्व का निर्माण नहीं होता। इसके कारण वह न तो सामाजिक दृष्टि से भले बुरे का विचार कर सकता है और न बुरे कामों से स्वयं को रोकने की क्षमता प्राप्त कर पाता है। किसी भी व्यक्ति के जीवन में सुस्वत्व का निर्माण बचपन में ही होता है। बालक के माता पिता और आसपास का वातावरण तथा पाठशालाएँ इसमें महत्व का काम करती हैं। उचित शिक्षा का एक उद्देश्य यही है कि बालक में अपने ऊपर संयम की क्षमता आ जाए। जिस व्यक्ति में आत्मनियंत्रण की स्थिति जितनी अधिक रहती है वह अपराध उतना ही कम करता है।

समाज में बहुत से लोग अपने विवेक से प्रतिकूल अपराध करते हैं। इसका कारण क्या है? आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों के अनुसार ऐसे लोगों का बाल्यकाल ठीक से व्यतीत नहीं हुआ होता। ये लोग बुद्धि में तो जन्म से ही प्रवीण थे अतएव ये अनेक प्रकार के विचारों का ज्ञान सके। परंतु उनके मन में बचपन से ही ऐसे स्थायी भाव नहीं बने जिससे वे स्वयं को अनुचित कार्य करने से रोक सकें। ये स्थायी भाव जब तक मनुष्य के स्वभाव के अंग नहीं बन जाते तब तक वे मनुष्य को दुराचार से रोकने की क्षमता नहीं देते। ऐसे विद्वान लोग अपराध करते हैं और उनके लिये स्वयं का कोसते भी हैं। इससे वे अपनी मानसिक उलझनें बढ़ा लेते हैं। कभी कभी वे अपने अनुचित कार्यों की नैतिकता सिद्ध करने में अपनी विद्वत्ता का उपयोग कर डालते हैं। इनका सुधार सामान्य दंडविधान से नहीं हो पाता। वे इनसे बचने के अनेक उपाय रच लेते हैं। ऐसे लोगों को सुधारने के लिये संपूर्ण समाज की शिक्षा ही बदलनी होती है। इन्हें सुधारने के लिये आवश्यक है कि शिक्षा का ध्येय आजीविका कमाना अथवा व्यवहारकुशलता प्राप्त कर लेना न होकर मानव व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास अर्थात् बौद्धिक और भावात्मक विकास हो। जब मनुष्य दूसरों के हित में अपना हित देखने लगता है और इस सूझ के अनुसार आचरण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तभी वह समाज का सुयोग्य नागरिक होता है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ करता है, वह समाज के हित के लिये ही होता है।

अपराध एक प्रकार की सामाजिक विषमता है। यह व्यक्तिगत मानसिक विषमता का परिणाम है। इस प्रकार की विषमता का प्रारंभ बाल्य काल में ही हो जाता है। इसके सुधार के लिये प्रारंभ में आदत डालनी पड़ती है कि वह दूसरों के सुख में निज सुख का अनुभव करे। वह ऐसे काम करे जिससे सभी का हित हो और सब उसकी प्रशंसा करें।

(ला० रा० शु०)

हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार सामान्यतया वर्णित धर्मशास्त्र के नियम, सामाजिक नियम और राजनियम के विरुद्ध आचरण करना ही अपराध है। हिंदू धर्मशास्त्रों का विचारक्षेत्र बहुत व्यापक है जिसके अंतर्गत आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के नियमों के उल्लंघन का विचार मिलता है। इसी के अनुसार हिंदू धर्मशास्त्रों में सामान्य रूप से ३२ प्रकार के अपराध बताए गए हैं। इनकी संख्या और अधिक भी हो सकती है क्योंकि देश, काल और समाज की भिन्नता के अनुसार इन अपराधों के स्वरूप में भी भिन्नता मिलती है। इसलिये भिन्न भिन्न धर्मशास्त्र अथवा स्मृतिग्रंथ अपराधों और उनके दंड के संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार के विचार व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं। हिंदू धर्मशास्त्र के अंतर्गत अपराध के स्वरूप पर विचार करने के लिये मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, नारद, बृहस्पति, कात्यायन आदि को प्रमाण माना जाता है।

मन.शारीरिक दृष्टि से अपराध पर विचार करते हुए लाम्ब्रोजो ने काफी पहले कहा था कि अपराधी व्यक्ति के शरीर की विशेष बनावट होती है। परंतु उस समय उनके मत को मान्यता नहीं मिली। हाल में अपराधियों को लेकर कुछ प्रयोग किए गए जिनसे निष्कर्ष निकला कि ६० प्रतिशत अपराधियों के शरीर की बनावट असामान्य होती है। रक्तकोशिका में रहनेवाले २३ गुणसूत्र (क्रोमोसोम) युग्मों में से अपराधियों का २१वाँ गुणसूत्र युग्म असामान्य पाया गया। सन् १९६८ ई० में अपने चार बच्चों के हत्यारे एक व्यक्ति की ओर से लंदन की एक अदालत में तर्क उपस्थित किया गया कि मेरे गुणसूत्रों की बनावट अतिपुरुष की है अर्थात् मेरी रक्तकोशिकाओं में गुणसूत्रों का क्रम 'एक्स वाई वाई' है (सामान्य पुरुष की रक्तकोशिकाओं में गुणसूत्रों का क्रम 'एक्स वाई' रहता है) जिसके कारण मेरी अपराध मनोवृत्ति का कारण प्राकृतिक है और मैंने असामान्य मानसिक दशा में जिम्मेदारी समाप्त करने के लिये अपने बच्चों की हत्या की है। न्यायालय ने फैसले में यद्यपि उसकी असामान्य शारीरिक बनावट का उल्लेख नहीं किया तो भी असामान्य मानसिक दशा के आधार पर अपराधी को छोड़ दिया गया।

सन् १९६९ ई० में डा० हरगोविंद खुराना ने आनुवंशिक संकेत (जेनेटिक कोड) सिद्धांत का प्रतिपादन करके नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया जिसके अनुसार व्यक्ति का आचरण उसके जीन समूह की बनावट पर निर्भर करता है और जीन समूह की बनावट वंशपरंपरा के आधार पर होती है। फलत. अपराधी मनोवृत्ति रिक्थ में भी प्राप्त हो सकती है। (कै० च० श०)

अपरिणत प्रसव जब गर्भ २८ से ४० सप्ताह के बीच बाहर आ जाता है तब उसे अपरिणत प्रसव (प्रिमैच्योर लेबर) कहते हैं। २८ सप्ताह और उससे अधिक समय तक गर्भाशय में स्थित भ्रूण में जीवित रहने की क्षमता मानी जाती है। अमरीकन ऐकैडेमी ऑव पीडिएट्रिक्स ने सन् १९३५ में यह नियम बनाया था कि साढ़े पाँच पाउंड या उससे कम भार का नवजात शिशु अपरिणत शिशु माना जाय, चाहे गर्भकाल कितने ही समय का क्यों न हो। दि लीग ऑव नेशंस की इंटरनैशनल मेडिकल कमिटी ने भी यह नियम स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार के प्रसव लगभग दस प्रतिशत होते हैं।

अपरिणत प्रसव के कारण—(१) वे रोग जो गर्भावस्था में माता के स्वास्थ्य के लिये आपत्तिजनक हैं, जैसे जीर्ण वृक्क कोप (क्रॉनिक नेफ्राइटिस), गुर्दे की बीमारी, उच्च रक्तचाप (हाई ब्लड प्रेशर), मधुमेह (डायाबिटीज) और उपदंश (सिफिलिस), (२) गर्भावस्था के कुछ विशेष रोग, जैसे गर्भावस्थीय विषाक्तता (टॉक्सीमिया ऑव प्रेगनैन्सी), प्रसवपूर्व रुधिरस्राव, (३) संक्रामक रोग, जैसे गोणिकार्ति (पाइलाइटीज), इन्फ्लुएंजा, न्यूमोनिया, उंडुकार्ति (ऐपेंडिसाइटिस), पित्ताशयार्ति (कोलीसिस्टाइटिस), माता की विकृत मनःस्थिति, शरीर में रक्त की अत्यधिक कमी, इत्यादि; (४) गर्भाशय में कई भ्रूणों का होना और जलात्यय (हाइड्रैम्नियास), (५) लगभग ५० प्रति शत अपरिणत प्रसवों में कोई विशेष कारण विदित नहीं होता।

प्रबंध—पूर्वोक्त कारणों के अनुसार प्रसववेदना प्रारंभ होते ही उपयुक्त चिकित्सा होनी चाहिए, और निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) गर्भकाल में समय समय पर डाक्टरी परीक्षा करानी चाहिए और कोई रोग होने पर उसका उचित उपचार होना चाहिए, (२) रक्तस्राव होने पर उपयुक्त उपचार से अपरिणत प्रसव रोका जा सकता है; (३) प्रसव ऐसे चिकित्सालयों में होना चाहिए जहाँ अपरिणत शिशु के पालन का उचित प्रबंध हो, (४) प्रसवकाल में उचित चिकित्सा न मिलने से बहुत से बालक जन्म के समय, या जन्मते ही मर जाते हैं। इसलिये प्रसवकाल में कुछ उचित नियमों का पालन आवश्यक है, जैसे गर्भाशय की झिल्ली को अधिक से अधिक काल तक फूटने से बचाना, झिल्ली फूटने पर नाल को गर्भाशय के बाहर निकलने से रोकना, ऐसी ओषधियों का प्रयोग न करना जो बालक के लिये हानिप्रद हो, जैसे अफीम या बारबिट्युरेट्स, (५) प्रसव काल में माता को विटामिन 'के' १० मिलीग्राम चार चार घंटे पर देते रहना और बालक को जन्मते ही विटामिन 'के' १० मिलीग्राम सुई द्वारा पेशी में लगाना, (६) प्रसव के समय बालक का सिर बाहर निकालने के लिये किसी प्रकार के अस्त्र का उपयोग न करना, (७) बच्चे के सिर की रक्षा के हेतु सधानिका छेदन (एपीजियोटोमी) करना। कुछ रोगों में, जहाँ माता की रक्षा के लिये गर्भ का अंत करना आवश्यक समझा जाता है, अपरिणत प्रसव करवाना आवश्यक होता है।

अपरिणत-प्रसव-वेदना उत्पन्न करने की विधियाँ दो प्रकार की हैं: (१) ओषधियों का प्रयोग, (२) गर्भाशय की झिल्ली को फोड़ना या गर्भाशय की ग्रीवा को लैमिनेरिया टेंटम द्वारा फैलाना, (३) संध्या समय दो आउंस अंडी का तेल (कैस्टर ऑयल) पिलाकर तीन घंटे बाद एनीमा लगाना, (४) यदि प्रात काल तक पीड़ा आरंभ न हो तो पिट्यूइट्रीन के दो दो यूनिट की सुई पेशी में आधे आधे घंटे पर छह बार लगाना।

कुनैन (क्विनीन) आदि का प्रयोग अब नहीं किया जाता।

(क० गु०)

अपरूपता जब एक ही तत्व कई रूपों में मिलता है तो तत्व के इस गुण को अपरूपता (एलाट्रोपी) कहते हैं और उसके विभिन्न रूपों को उस तत्व का अपरूप कहते हैं। जैसे कार्बन के विभिन्न अपरूप हीरा (डायमंड), ग्रेफाइट, कोयला (कोल), कोक, चारकोल या काष्ठ-कोयला, अस्थिकोयला (बोनब्लैक), काजल, कार्बन ब्लैक, गैस कार्बन और पेट्रोलियम कोक, तथा चीनी कोयला, इत्यादि हैं। कार्बन के अतिरिक्त आक्सीजन, गंधक, फॉस्फोरस आदि भी अपरूपों में पाए जाते हैं।

(नि० सि०)

अपलेशियन पर्वत उत्तरी अमरीका की एक पर्वतश्रेणी है जिसका कुछ भाग कैनाडा में और अधिकांश संयुक्त राज्य में है। यह उत्तर में न्यूफाउंडलैंड से गैस्पे प्रायद्वीप और न्यू ब्रंज़विक होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर मध्य अलाबामा तक १,५०० मील की लंबाई में फैला है। इस पर्वतमाला की चौड़ाई उत्तर में २५० मील से लेकर दक्षिण में १५० मील तक है। इसकी समुद्रतल से औसत ऊँचाई साधारण है और इसका उच्चतम शिखर ब्लैक पर्वत पर स्थित माउंट माइकेल (६,७११ फुट) है। अपलेशियन के शिखर साधारणत गुंबदाकार हैं, जिनमें रॉकी पर्वत या पश्चिमी संयुक्त राज्य के अन्य नवीन पर्वतों की भाँति नोकीलेपन का अभाव है।

इस प्रणाली का भूवैज्ञानिक इतिहास अत्यंत जटिल है। इसके मौलिक उत्थान (अपलिफ्ट) और भंजन (फोल्डिंग) की क्रिया पुराकल्प (पैलिओज़ोइक) में, विशेषकर गिरियुग (परमियन युग) में, आरंभ हुई। भंजन-क्रिया तीव्रतापूर्वक पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप पूर्वी क्षेत्र भंजन तथा विभंजन (फॉल्टिंग) द्वारा अधिक प्रभावित हुए हैं।

इस महत्वपूर्ण गिरि-निर्माण-काल के पश्चात् अपलेशियन प्रदेश क्रमश अपक्षरण और उत्थानकालों से प्रभावित होता रहा है। निकट पूर्वकाल में, संभवत. तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) के अंत में, इस प्रदेश ने एक निम्नस्तरीय प्राचीन अपक्षरित मैदान (ला ओल्ड-एज एराज़नल प्लेन) का रूप धारण कर लिया। इसके पश्चात् पुनरुत्थान के कारण समुद्रतल से ऊँचाई में वृद्धि हुई और फलस्वरूप नदियों में महत्वपूर्ण ऊर्ध्वाधर अपक्षरण हुआ। अधस्तलीय शिलाओं की कठोरता सर्वत्र समान न होने के

कारण यह अपक्षरण असमान गति से होता रहा और परिणामस्वरूप वर्तमान काल मे दृष्टिगोचर विविध भूदृश्यो की उत्पत्ति हुई।

भूम्याकारीय दृष्टि से अपलेशियन श्रेणी तीन समातर भागो मे विभक्त हो जाती है जो क्रमानुसार पश्चिम से पूर्व की ओर इस प्रकार है

(१) अलघनी-कबरलैंड-क्षेत्र अथवा अपलेशियन पठार, जो मुख्यत क्षैतिज जलज शिलाओ द्वारा निर्मित एक बहु-शाखा-युक्त अपक्षरित पहाडी प्रदेश है। इसका उत्तरी भाग हिमनदियो द्वारा प्रभावित हुआ है। (२) मध्यस्थ 'रीज तथा घाटी खड' (रिज ऐड वैली सेक्शन), जहाँ शृखलाओ और घाटियो का समातर क्रम अत्यधिक भजित शिलाओ पर स्थित है। यहाँ घाटियो मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'महान् घाटी' (ग्रेट वैली) है जो न्यूयार्क से अलाबामा तक फैली है। (३) ब्लू रिज क्षेत्र जो आग्नेय और परिवर्तित मिश्रित मणिभीय शिलाओ की अपक्षरित पहाडियो और नीचे पर्वतो का क्रम है। इसके अतर्गत पीडमॉण्ट पठार भी आता है।

अपलेशियन प्रणाली के पूर्व मे अटलांटिक समुद्रतटीय मैदान स्थित है। अपलेशियन से पूर्व की ओर प्रवाहित नदियाँ पीडमॉण्ट पठार से प्रपातो के रूप मे इस मैदान मे उतरती है। इन प्रपातो को मिलानेवाली कल्पित रेखा को प्रपातरेखा कहते है। जलशक्ति की विशेष सुविधा के कारण प्रपातरेखा के नगर महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र है, जैसे फिलाडेलफिया, बाल्टीमोर, इत्यादि।

भूविज्ञान--अपलेशियन प्रदेश की शिलाएँ दो प्राकृतिक भागो मे विभक्त हो जाती है (क) प्राचीन (कैंब्रियन-पूर्व) मणिभीय शिलाएँ, जैसे, सगमरमर, शिस्ट, नाइस, ग्रैनाइट, इत्यादि और (ख) पुराकल्पीय अवसादो (पैलियोज़ोइक सेडिमेंट्स) का एक विशाल क्रम जिसके अतर्गत कैंब्रियन से लेकर गिरियुग (पर्मियन युग) तक की शिलाएँ आती है, जैसे बालुकाश्म (सैंडस्टोन), शेल, चूने का पत्थर और कोयला। ये शिलाएँ कैंब्रियनपूर्व शिलाओ के समान अधिक परिवर्तित नही है। परतु स्थानीय परिवर्तनो के कारण शेल स्लेट मे, और बिटयूमिनस कोयला ऐंथासाइट मे (जैसे उत्तरी पेनसिल्वेनिया मे), या ग्रैफाइट मे (जैसे रोड द्वीप मे), परिवर्तित हो गया है। अपलेशियन के मुख्य खनिज कोयला और लोहा है। (रा० ना० मा०)

अपस्फीत शिरा शरीर के विविध अगो से हृदय तक रुधिर ले जानेवाली वाहिनियो के फूल जाने और टेढी मेढी हो जाने को अपस्फीत शिरा (वैरिकोज़ वेन्स) कहते है। इस रोग का कारण यह है शिराएँ ऊतको से रक्त को हृदय की ओर ले जाती है। शिराओ को गुरुत्वाकर्षण के विपरीत रक्त को टाँगो से हृदय मे ले जाना पडता है। ऊपर की ओर के इस प्रवाह की सहायता करने के लिये शिराओ के भीतर कितनी ही कपाटिकाएँ बनी हुई है। ये कपाटिकाएँ रक्त को केवल ऊपर की ही ओर जाने देती हैं। जब कपाटिकाएँ दुर्बल हो जाती है, या कही कही नही होती, तो रक्त भली भाँति ऊपर को चढ नही पाता और कभी कभी नीचे की ओर बहने लगता है। ऐसी दशा मे शिराएँ फूल जाती है और लबाई बढ जाने से टेढी मेढी भी हो जाती है। ये ही अपस्फीत शिराएँ कहलाती है।

अपस्फीत शिरा उन व्यक्तियो मे पाई जाती है जिनको बहुत समय तक खडे होकर काम करना या चलना पडता है। बहुत बार एक ही परिवार के कई व्यक्तियो मे यह दशा पाई जाती है। अपस्फीत शिरा मे रोगी के चर्म के नीचे नीले रग की फूली हुई वाहिनियो के गुच्छे दिखाई पडते है। रोगी के लेट जाने पर वे मिट जाते हैं और उसके खडे होने पर वे फिर उभड आते है। उनके कारण रोगी के पैरो मे भारीपन और थकावट प्रतीत होती है। कभी कभी खुजली भी होती है और चर्म पर व्रण या पामा (एकज़ेमा) उत्पन्न हो जाता है।

ऐसी शिराओ को कम करने के लिये रबड की लचीली पट्टियाँ पावो की ओर से आरभ करके ऊपर की ओर को जघे तक बाँधी जाती है। दशा उग्र न होने पर शिराओ के भीतर इजेक्शन देने से लाभ होता है। जब शिराएँ अधिक विस्तृत हो जाती है तो शल्यकर्म द्वारा उनका निकालना आवश्यक होता है। बहुत बार इजेक्शन चिकित्सा और शल्यकर्म दोनो करने पडते हैं।

जिन मुख्य शिराओ मे अपस्फीत शिराओ मे रक्त जाता है उनका शल्यकर्म द्वारा बधन कर दिया जाता है। बहुत बार शिराओ के आक्रात भाग को निकाल देना पडता है। यदि गहरी शिराओ मे घनास्रता (थ्रॉबोसिस) होती है तो इजेक्शन चिकित्सा या शल्यकर्म नही किया जाता। (प्री० ढा०)

अपस्मार को साधारण लोग मृगी या मिरगी कहते है और अग्रेजी मे इसे एपिलेप्सी कहते हैं। अपस्मार की कई परिभाषाएँ दी गई है। एक परिभाषा के अनुसार कभी कभी बेहोशी का दौरा आने की स्थायी प्रवृत्ति को अपस्मार कहते है। एक दूसरी परिभाषा के अनुसार यह मस्तिष्क के लय का अभाव अर्थात् असतुलन (डिसरिथमिया) है। एक प्रकार से यह रोग मस्तिष्क की कोशिकाओ की वैद्युत् क्रियाशीलता मे क्षणभगुर आँधी है। मस्तिष्क मे किसी प्रकार के क्षत से, अथवा उसके किसी प्रकार विषाक्त हो जाने से यह रोग होता है।

यदि मस्तिष्क के किसी एक स्थान मे क्षत होता है, उदाहरणत अर्बुद (ट्यूमर) अथवा व्रणचिह्न (स्कार) तो मस्तिष्क के इस भाग से सबद्ध अग से ही गति (मरोड और क्षेप) का आरभ होता है, या केवल उसी अग मे गति होती है और रोगी चेतना नही खोता। ऐसे अपस्मार को जैकसनीय अपस्मार कहते है। इस प्रकार के कुछ रोगी शल्यकर्म से अच्छे हो जाते है।

अपस्मार व्यापक शब्द है और साधारणत रोग की उन जातियो के लिये प्रयुक्त होता है जिनके किसी विशेष कारण का पता नही चलता। दौरे हलके हो सकते है, तब रोग को लघु अपस्मार (पेटि माल) कहते है। इस रोग मे अचेतनता क्षणिक होती है, परतु बार बार हो सकती है। दौरे गहरे भी हो सकते है। तब रोग को महा अपस्मार (ग्रैंड माल) कहते है। इसमे सारे शरीर मे आक्षेप (छटपटाहट और मरोड) उत्पन्न होता है, बहुधा दाँतो से जीभ कट जाती है और मूत्र निकल पडता है। ये दौरे दो से पाँच मिनट तक रहते है और उसके बाद नीद आ जाती है या चेतना मद हो जाती है। कुछ रोगियो मे स्मरण शक्ति और बुद्धि का धीरे धीरे नाश हो जाता है।

अपस्मार लगभग ०.५ प्रति शत व्यक्तियो मे पाया जाता है। अपस्मार के दो प्रधान कारण है (१) जननिक, अर्थात् पुश्तैनी, (२) अवाप्त अर्थात् अन्य कारणो से प्राप्त।

आजकल मस्तिष्क की सूक्ष्म तरगो को वैद्युत् रीतियो से अकित करके उनकी परीक्षा की जा सकती है जिससे निदान मे बडी सहायता मिलती है। उपचार के लिये ओषधियो के अतिरिक्त शल्यकर्म भी बहुत महत्वपूर्ण है।

स०ग्र०--जे० एच० जैकसन सेलेक्टेड राइटिंग्ज खड १ (ऑन एपिलेप्सी ऐंड एपिलेप्टीफार्म कनवल्शस), लदन (१९३१), पन-फील्ड तथा जसपर. एपिलेप्सी ऐंड दि फकशनल ऐनाटोमी ऑव दि ह्यूमन ब्रेन, लदन (१९५४), डी० विलियम्स न्यू ओरिएटेशस इन ऐपिलेप्सी, ब्रिटिश मेडिकल जरनल, खड १, पृष्ठ ६८५। (दे० सि०)

अपामार्ग एमरैंथेसी परिवार का एक पौधा है। इसका वानस्पतिक नाम एकाइरैंथेस ऐस्पेरा है। यह ऊष्ण शीतोष्ण कटिबध मे उपलब्ध एक शाक है। यह एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के ऊष्ण प्रदेशो मे पाया जाता है। पूरे भारतवर्ष, श्रीलका तथा सभी सूखे स्थानो मे, जहाँ की मिट्टी मे पानी की मात्रा कम पाई जाती है, यह पौधा मिलता है। एकाइरैंथेस की कई जातियाँ होती है। पौधे की लबाई एक से तीन फुट तक और पत्तियो की लबाई एक से पाँच इच तक होती है। इसका तना शाखान्वित होता है। पत्रदल की सतह मखमली और कभी कभी चिकनी भी होती है। तने पर एक ही स्थान से दो पत्तियाँ विपरीत दिशा मे निकलती है।

पुष्प छोटे १/४--१/६ इच तक लबे तथा हरापन लिए हुए सफेद रग के होते है। निपत्र तथा ब्रैक्टियोल पुष्प से छोटे होते है। यह उभयलिगी तथा चिरलग्न होता है।

बीज आयताकार और बीजकवच चमकीला होता है। इस पौधे को ओषधि के रूप मे प्रयोग किया जाता है। गर्मी के कारण हुए घावो मे इसकी जड के चूर्ण को अफीम के साथ मिलाकर सेवन किया जाता है। सग्रहणी

तथा आँव मे भी इसका प्रयोग किया जाता है। पत्तियों का रस पेट के दर्द में लाभदायक है। अधिक मात्रा देने से गर्भपात हो जाता है।

अपामार्ग का स्पाइक सहित एक भाग

इसके बीज को पानी मे पीसकर साँप के काटने पर लगाने से विष का असर कम हो जाता है। बलगम पैदा होने पर इसकी थोडी मात्रा का उपयोग लाभकर होता है। इसके बीज से बनाई गई खीर मस्तिष्क रोगो मे लाभदायक है। हडक (हाइड्रोफोबिया) में भी इसका प्रयोग होता है। वमन की बीमारियो तथा कोढ म इसके बीज का प्रयोग किया जाता है। (कु० पु० अ०)

अपाला अत्रि की ब्रह्मज्ञानी पुत्री जिसे कुष्ठ रोग होने के कारण पति ने छोड दिया था। यह पिता के यहाँ रहकर इंद्र को प्रसन्न करने के लिये तप करने लगी। सोम को इंद्र की प्रिय वस्तु जानकर वह एक दिन नदी किनारे सोम ढूँढने गई और मिल जाने पर वही जडी को चबाकर स्वाद का अनुभव करने लगी। इंद्र वहाँ आए और अपाला से सोम प्राप्त किया। उन्ही के वरदान से अपाला के पिता का गंजापन दूर हुआ, वह स्वय प्रजनन के योग्य बनी और उसका कुष्ठ रोग चला गया। ऋग्वेद मे एक सूक्त (८ ९१) मे अपाला का उल्लेख है। (स०)

अपील 'अपील' शब्द मूलत अंग्रेजी का है जिसमे यद्यपि उसके कई अर्थ है तथापि हिंदी मे उसका प्रयोग आवेदनपत्र के आशय मे होता है, जो किसी हेतु या वाद का नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण से हटाकर उच्चतर न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के समक्ष, नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के निर्णय पर पुनर्विचार के लिये, प्रस्तुत किया जाता है। किसी हेतु या वाद को नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण से हटाकर उच्चतर न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत करना चार विभिन्न प्रणालियो द्वारा होता है—(१) अपील द्वारा, (२) पुनरीक्षण द्वारा, (३) लेख द्वारा, तथा (४) निर्देश की कार्रवाई द्वारा। पुनर्विलोकन की कार्रवाई द्वारा किसी न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के निर्णय का पुनर्विचार उसी न्यायाधीश या न्यायाधिकरण द्वारा भी हो सकता है।

अपील और पुनरीक्षण मे अंतर यह है कि पुनरीक्षण उच्चतर न्यायालय के स्वविवेक पर सदैव निर्भर रहता है और अधिकार या स्वत्व के रूप म उसकी माँग नही की जा सकती। उच्चतर न्यायालय पुनरीक्षण इसी आधार पर वियुक्त कर सकता है कि नीचे के न्यायालय द्वारा सार रूप मे न्याय हो चुका है चाहे वह निर्णय विधि के प्रतिकूल ही हुआ हो। परतु अपील ऐसे किसी आधार पर वियुक्त नही की जा सकती क्योकि अपील का, एक बार स्वीकार हो जाने पर, निर्णय विधि के अनुसार किया जाना तब तक अनिवार्य है जब तक अपील करने का अधिकार देनेवाले समविधि मे कोई विपरीत उपबध न हो।

अपील भारत की लेखप्रणाली से अनेक रूपो मे भिन्न है। लेख की कार्रवाई केवल उच्च न्यायालयो तथा उच्चतम न्यायालय में हो सकती है जब कि अपील उच्च न्यायालयो तथा उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयो या न्यायाधिकरण में भी हो सकती है। लेख उच्च न्यायालय की अधीक्षण शक्ति के अतर्गत इस हेतु निकाला जाता है कि नीचे के न्यायालय, न्यायाधिकरण, शासन या उसके अधिकारीगण अपने क्षेत्राधिकार के बाहर काम न करे या सार्वजनिक प्रयोजन के लिये दिए हुए क्षेत्राधिकार का प्रयोग करना अस्वीकार न करे, अथवा उनके निर्णय प्रत्यक्ष रूप से देश की विधि के प्रतिकूल न होने पावे तथा वे अपना कर्तव्यपालन उचित रीति से करे। अपील इस प्रकार सीमाबद्ध नही है। अपील सभी प्रश्नो को लेकर हो सकती है—प्रश्न चाहे तथ्य का हो चाहे विधि का। द्वितीय अपील केवल विधि के प्रश्नो तक ही सीमित रहती है।

अपील और निर्देश मे यह भेद है कि निर्देश की याचना नीचे के न्यायालय द्वारा उच्चतर न्यायालय से की जाती है ताकि विधि या प्रथा के किसी ऐसे प्रश्न का, जिसके सबध मे नीचे के न्यायालय को युक्तियुक्त सदेह हो, उच्चतर न्यायालय द्वारा निर्णय करा लिया जाय।

इतिहास—अंग्रेजी सामान्य विधि मे अपील के लिये कोई उपबध नही था। परतु सामान्य विधि न्यायालयो की गलतियाँ त्रुटिलेख के माध्यम से किंग्स बेंच न्यायालय द्वारा सुधारी जा सकती थी। त्रुटिलेख केवल विधि के प्रश्न पर होता था, तथ्य के प्रश्न पर नही।

परतु रोमन विधि मे अपील के लिये उपबध था। इग्लैंड मे अपील की कार्रवाई रोमन विधि से ली गई और अंग्रेजी विधि मे उसका समावेश उन वादो मे हुआ जिनका निर्णय सुनीति क्षेत्राधिकार के अतर्गत लार्ड चासलर द्वारा अथवा धर्म या नौकाधिकरण न्यायालयो द्वारा होता था। बाद मे, समविधि ने अपील के अधिकार को, सामान्य विधि तथा अन्य क्षेत्राधिकार के अतर्गत होनेवाले दोनो प्रकार के वादो म, नियमित रूप दिया।

प्राचीन भारत मे, जब विवाद कम होते थे, राजा स्वय प्रजा के विवादो का निपटारा करता था। उस समय अपील का प्रश्न नही था क्योकि राजा न्याय का स्रोत था। परतु राजा के न्यायालय के साथ साथ लोकप्रिय न्यायालय हुआ करते थे, बाद म राजा ने स्वय नीचे के न्यायालयो की स्थापना की। लोकप्रिय न्यायालय या नीचे के न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध अपील राजा के समक्ष हो सकती थी (द्र० 'इवोल्यूशन ऑव इग्लिश लॉ', एन० सी० सेन गुप्ता, पृष्ठ ४५)।

मुगल काल मे व्यवहारवादो की अपील सदर दीवानी अदालत मे तथा दडवादो की अपील निजाम-ए-अदालत मे होती थी। परतु सन् १८५७ ई० के असफल स्वातत्र्य युद्ध के पश्चात् जब ब्रिटिश राज्य ने भारत का शासन ईस्ट इडिया कपनी से अपने हाथ म लिया, सदर दीवानी अदालत तथा निजाम-ए-अदालत का उन्मूलन हो गया और उनका क्षेत्राधिकार कलकत्ता, बबई तथा मद्रास स्थित महानगर-उच्च-न्यायालयो को दे दिया गया। बाद मे भारत के विभिन्न प्रातो मे उच्च न्यायालयो की स्थापना हुई।

अपील के प्रकार—अपील सामान्यत दो प्रकार की होती है—प्रथम अपील या द्वितीय। कतिपय वादो मे तृतीय अपील भी हो सकती है। प्रथम अपील आरभिक न्यायालय के निर्णय के सबध म उच्चतर न्यायालय मे होती है। द्वितीय अपील अपील न्यायालय के निर्णय के सबध मे श्रेष्ठतम अधिकारी के समक्ष होती है।

व्यवहार अपील—व्यवहार वादो मे न्यायालय के समस्त आदेश दो भागो मे विभाजित होते है—'आज्ञप्ति' तथा 'आदेश'। आज्ञप्ति से तात्पर्य उस अभिनिर्णयन से है जिसके द्वारा, जहाँ तक अभिनिर्णयन देनेवाले न्यायालय का सबध है, वाद या वादानुरूप अन्य आरभिक कार्रवाई मे निहित विवादग्रस्त सब या किसी एक विषय के सबध मे, विभिन्न पक्षो के अधिकारो का अतिम रूप मे निवारण होता है (धारा २ (२) व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता)। आदेश से तात्पर्य व्यवहार न्यायालय के ऐसे प्रत्येक विनिश्चय से है जो आज्ञप्ति की श्रेणी मे नही आता (धारा २ (१४), व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता)। आदेश के विरुद्ध केवल एक अपील हो सकती है।

प्रथम अपील व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता की धारा ९६ के अतर्गत किसी आज्ञप्ति के विरुद्ध वाद के मूल्यानुसार उच्च न्यायालय या जिला न्यायाधीश के समक्ष होती है। प्रथम अपील मे तथ्य तथा विधि के सभी प्रश्नो पर विचार हो सकता है। प्रथम अपील न्यायालय को परीक्षण न्यायालय की

समस्त शक्तियाँ प्राप्त है। द्वितीय अपील, व्यवहार-प्रक्रिया-संहिता की धारा १०० के अंतर्गत व्यवहारवादों में आज्ञप्ति के विरुद्ध केवल विधि संबंधी प्रश्नों पर, न कि तथ्य के प्रश्न पर, उच्च न्यायालय में होती है। जब द्वितीय अपील की सुनवाई उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा होती है तब वह न्यायाधीश 'लेटर्स पेटेंट' या उच्च न्यायालय विधानीय अधिनियम के अंतर्गत, उसी न्यायालय के दो न्यायाधीशों के खंड के समक्ष एक और अपील की अनुमति दे सकता है।

दंड अपील--दंड अपील संबंधी विधि दंड-प्रक्रिया-संहिता की धारा ४०४ से लेकर ४३१ तक में दी हुई है। दंड संबंधी वादों में केवल एक अपील हो सकती है। इसका एक ही अपवाद है। जब अपील न्यायालय अभियुक्त को निर्मुक्त कर देता है तब दंड-प्रक्रिया-संहिता की धारा ४१७ के अंतर्गत विमुक्ति आदेश के विरुद्ध द्वितीय अपील उच्च न्यायालय में हो सकती है।

जब जिलाधीश के अतिरिक्त कोई अन्य दंडनायक दंड-प्रक्रिया-संहिता की धारा १२२ के अंतर्गत किसी वाद को स्वीकार या विमुक्त करना अस्वीकार कर दे तब उसके आदेश के विरुद्ध अपील जिलाधीश के समक्ष हो सकती है (धारा ४०६ (अ) दंड-प्रक्रिया-संहिता)। उत्तर प्रदेश राज्य ने जिलाधीश के समक्ष होनेवाली इस अपील का भी उन्मूलन कर दिया है और अपील जिलाधीश के समक्ष न होकर सत्रन्यायालय में होती है।

ऐसे मामलों को छोड़कर, जिनमें परीक्षण न्यायालय द्वारा होता है, दंड अपील तथ्य तथा विधि, दोनों प्रश्नों पर हो सकती है। मृत्युदंडादेश के विरुद्ध की जानेवाली अथवा मृत्यु-दंड-प्राप्त व्यक्ति के साथ परीक्षित व्यक्ति की ओर से की जानेवाली अपीलों को छोड़कर, न्यायसभ्य द्वारा परीक्षित समस्त वादों की अपील केवल विधि विषयक प्रश्नों के संबंध में ही हो सकती है। अपील-न्यायालय परीक्षण-न्यायालय द्वारा दिए गए दंडादेश की पुष्टि कर सकता है अथवा उसको उलट सकता है, अभियुक्त को विमुक्त कर सकता है, सिद्धदोष ठहरा सकता है या उस अभियोग से मुक्त कर सकता है जिसके लिये उसका परीक्षण हुआ था अथवा दंडादेश यथास्थित रखते हुए समति बदल सकता है, परंतु दंडादेश की वृद्धि नहीं कर सकता। वह पुन परीक्षण अथवा परीक्षणार्थ समर्पण का आदेश भी दे सकता है। (धारा ४२३, दंड-प्रक्रिया-संहिता)।

संविधान के अनुच्छेद १३२ से १३६ तक के उपबंधों के अनुसार किसी उच्च न्यायालय या अंतिम क्षेत्राधिकारवाले किसी न्यायाधिकरण के निर्णय के विरुद्ध, उच्चतम न्यायालय में अपील हो सकती है। अनुच्छेद १३२ के अंतर्गत किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति अथवा दंडादेश के विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है, यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि उस मामले में संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधिप्रश्न अंतर्ग्रस्त है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे तो उच्चतम न्यायालय अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकता है। जहाँ उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र दे देता है अथवा उच्चतम न्यायालय विशेष इजाजत दे देता है वहाँ उच्चतम न्यायालय की अनुज्ञा से संविधान के निर्वचन संबंधी प्रश्न के अतिरिक्त अन्य प्रश्न भी उठाए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय के किसी अंतिम निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है, यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि (क) विवादविषय की राशि या मूल्य प्रथम बार के न्यायालय में बीस हजार रुपए या किसी ऐसी अन्य राशि से, जो इस बारे में उल्लिखित की जाय, कम नहीं है, अथवा (ख) उसमें उतनी राशि या मूल्य की संपत्ति से संबद्ध कोई वाद या प्रश्न प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अंतर्ग्रस्त है, अथवा (ग) मामला उच्चतम न्यायालय में अपील के योग्य है। यदि उच्च न्यायालय का निर्णय पूर्ववत् नीचे के न्यायालय के निश्चय की पुष्टि करता है तब उच्च न्यायालय को यह और प्रमाणित करना होता है कि अपील में कोई सारवान् विधिप्रश्न अंतर्ग्रस्त है (अनुच्छेद १३३)।

उच्च न्यायालय की किसी दंड कार्रवाई में दिए हुए निर्णय या अंतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में होती है, यदि उच्च न्यायालय ने अपील में अभियुक्त व्यक्ति को मृत्युदंडादेश दिया है, अथवा उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील करने योग्य है।

अनुच्छेद १३६ के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय की विशेष अनुमति से अपील हो सकती है।

प्रति-आपत्ति--जब व्यवहारवाद में किसी पक्ष की ओर से अपील होती है तब उत्तरवादी को आज्ञप्ति के उस भाग के विरुद्ध, जो उसके विपरीत है, प्रति-आपत्ति प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। वह अपनी निजी अपील भी कर सकता है परंतु प्रति-अपील तथा प्रति-आपत्ति में यह अंतर होता है कि प्रति-अपील तो अपील के लिये निर्धारित अवधि के भीतर होनी चाहिए तथा अपील संबंधी समस्त नियमों का पालन आवश्यक है किंतु प्रति-आपत्ति, व्यवहार-प्रक्रिया-संहिता की क्रमसंख्या ४१, नियम २२ के अंतर्गत, अपील की सुनवाई की सूचना उत्तरवादी द्वारा प्राप्त की जाने की तिथि से ३० दिन के अंदर प्रस्तुत की जा सकती है। उच्चतम न्यायालय में होनेवाली अथवा दंडविषयक अपीलों में कोई प्रति-आपत्ति नहीं होती।

अवधि--कलकत्ता, मद्रास तथा बंबई के उच्च न्यायालयों द्वारा, आरंभिक क्षेत्राधिकार के प्रयोग के अंतर्गत दी गई आज्ञप्ति या आदेश से अपील करने की अवधि २० दिन है।

व्यवहारवादों में अपील जिला न्यायाधीश के समक्ष आज्ञप्ति या आदेश की तिथि से ३० दिन के अंदर की जा सकती है। उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि ३० दिन है और एक न्यायाधीश की आज्ञप्ति या आदेश से दो न्यायाधीशों के समक्ष अपील करने की अवधि ९० दिन है।

मृत्युदंडादेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि मृत्युदंडादेश की तिथि से सात दिन है।

उच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायालय में अपील करने की अवधि ३० दिन है। विमुक्ति के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि तीन मास है। शेष मामलों में अपील करने की अवधि ६० दिन है।

उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिये आवेदनपत्र उच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने की अवधि ९० दिन है। यदि उच्च-न्यायालय वह प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे जिसके लिए प्रार्थना की गई है, तो अस्वीकार किए जाने की तिथि से ६० दिन के अंदर, उच्च न्यायालय में भारतीय संविधान के अनुच्छेद १३२ या १३६ के अंतर्गत प्रमाणपत्र के लिये आवेदनपत्र दिया जा सकता है।

ऐसे मामलों में जिनमें उच्च न्यायालय को उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति या प्रमाणपत्र देने की शक्ति है, उच्चतम न्यायालय अपील करने की इजाजत के लिये किसी ऐसे आवेदनपत्र को अंगीकार नहीं करता जो उच्च न्यायालय में न दिया जाकर सीधे उसको दिया जाता है। अपवाद रूप कुछ मामलों को छोड़ एतदर्थ केवल कुछ ऐसे मामले ही अपवाद समझे जाते हैं जिनमें इस आधार पर आवेदनपत्र अस्वीकार करने से घोर अन्याय होने की आशंका रहती है। जहाँ उच्च न्यायालय में आवेदनपत्र देने का कोई उपबंध विधि में नहीं है वहाँ संविधान के अनुच्छेद १३६ के अंतर्गत आवेदनपत्र देने की अवधि संबद्ध आदेश (जिसके विरुद्ध अपील होनी है) की तिथि से ९० दिन है।

साधारण सिद्धांत--अपील में प्रयुक्त होनेवाले साधारण सिद्धांत इस प्रकार हैं

(१) अपील की कार्रवाई संविधि से उत्पन्न हुई है अत जब तक विधि में कोई उपबंध न हो, अपील नहीं हो सकती।

(२) अपील वाद या अन्य कार्रवाई की शृंखला है और अपील न्यायालय का निर्णय प्रारंभिक रूप से उन्हीं परिस्थितियों पर आधारित होता है जो नीचे के न्यायालय के विनिश्चय की तिथि पर वर्तमान थीं। किंतु अपील-न्यायालय वाद की घटनाओं पर भी ध्यान दे सकता है और नीचे के न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश में वादविषय के अनुसार न्यायोचित संशोधन कर सकता या उसे हटा सकता है।

(३) अपील प्रक्रिया का विषय न होकर मौलिक अधिकार का विषय समझी जाती है और यह मान लिया जाता है कि अपील के अधिकार का अपहरण करनेवाली किसी विधि का प्रयोग चालू अपील या वाद में तब तक नहीं होगा जब तक आवश्यक रूप से उसको अनुदर्शी प्रभाव न दिया गया हो। यदि ऐसा कोई अनुदर्शी प्रभाव नहीं दिया गया है तो चाहे नीचे के

न्यायालय के निर्णय के पूर्व ही वह विधि लागू हो चुकी हो, अपील का निर्णय उस विधि के अनुसार होगा जो वाद या अन्य कार्रवाई के आरंभ की तिथि पर लागू था।

(४) साधारणतया अपील का निर्णय नीचे के न्यायालय मे प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर किया जाता है। केवल वही नया साक्ष्य अपील न्यायालय द्वारा स्वीकार किया जा सकता है जो किसी पक्ष को समुचित खोज तथा प्रयत्न करने पर भी उस समय प्राप्त नही हो सका था जिस समय आरंभ के न्यायालय मे वाद या परीक्षण चल रहा था।

(५) नीचे के न्यायालय की आज्ञप्ति का अपील-न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश मे समावेश तभी होता है जब वह आज्ञप्ति या आदेश अपील के सभी मामलों की पूरी सुनवाई के बाद दिया जाता है, परंतु जब अपील किसी दोष के कारण अथवा किसी प्रारंभिक आपत्ति के आधार पर, जैसे न्यायालय शुल्क न देने पर या अवधि समाप्ति के कारण, विमुक्त कर दी जाती है तब ऐसा नही किया जा सकता। किंतु अपील-न्यायालय की आज्ञप्ति मे परीक्षण न्यायालय की आज्ञप्ति का समावेश हो जाने से वाद या अन्य कार्रवाई उपस्थित करने के अवधिकाल की गति नही रुकती जब तक कि वादहेतु नीचे के न्यायालय के विनिश्चय से उत्पन्न हुआ है।

(६) दंड संबंधी उन मामलों को छोड़कर जिनमें अपील न्यायालय दंडादेश मे वृद्धि नही कर सकता, अपील न्यायालय को ऐसा कोई भी आदेश देने की शक्ति रहती है जो आरंभ के न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है।

सं०ग्रं०—कारपस जूरिस सेकंडम का 'अपील' शीर्षक लेख, व्यवहार-प्रक्रिया संहिता, दंड-प्रक्रिया-संहिता। (च० अ०)

अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व जिन प्राणियों मे रीढ नही होती उन्हें अपृष्ठवंशी कहते है। विज्ञान का वह विभाग अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व कहलाता है जिसमे ऐसे प्राणियों मे बच्चों के जन्म के आरंभ पर विचार होता है। अधिकतर प्राणियों मे नर और मादा पृथक् होते है। नर शुक्राणु (स्पर्मेटोजोआ) सृजन करते है तथा मादा अंडे देती है। इन दोनों के संयोग से बच्चा पैदा होता है। परंतु निम्न श्रेणी के बहुत से प्राणी ऐसे भी होते है जिनमे नर और मादा मे कोई प्रभेद नही होता और वे शुक्राणु अथवा अंडे नहीं देते। इनकी वृद्धि उनके सारे शरीर के द्विविभाजन (बाइनेरी फिशन), या अंकुरण (बडिंग), या बीजाणु (स्पोर) निर्माण द्वारा होती है। इनमे कुछ अधिक उन्नत प्राणियों मे दो ऐसे प्राणी थोड़े समय के लिये संयुक्त होते है और उसके पश्चात् पुन विभाजन द्वारा वंश की वृद्धि करते है। उनसे भी अधिक उन्नत प्राणियों मे देखा जाता है कि दो पृथक् प्राणी एक दूसरे से संपूर्ण रूप से संयुक्त हो जाते है और उनकी पृथक् सत्ता नही रह जाती। ऐसे संयोग के पश्चात् फिर विभाजन तथा खंडन द्वारा वंश की वृद्धि होती है। ऐसे प्राणी एककोशिका (प्रोटोजोआ) श्रेणी के है जिनका सारा शरीर केवल एक ही कोश (सेल) का बना होता है। पर इनमें कुछ ऐसे भी होते है जो उच्च श्रेणी के प्राणियों की भाँति शुक्राणु तथा अंडों का आकार ग्रहण कर लेते है और इन दोनों के संयोग के पश्चात् पुन खंडन तथा विभाजन क्रिया प्रचलित होती है। एककोशिका (प्रोटोजोआ) के शरीर की, एक ही कोश होने के कारण, वृद्धि मे केवल कोश के आयतन मे वृद्धि होती है। परंतु नैककोशिक (मेटाजोआ) प्राणियों मे शरीर की वृद्धि क्रमशील होती है। इस प्रारंभिक वर्धनशील अवस्था मे ये भ्रूण कहलाते हैं और पूर्णता प्राप्त करने के पूर्व उनमे बहुत परिवर्तन होता है। भ्रूण भी प्रारंभिक अवस्था मे एक ही कोश का होता है, यद्यपि यह दो विभिन्न कोशों, शुक्राणु तथा अंडे, की संयुक्तावस्था है, जिसे युग्मज (जाइगोट) कहते है। यह युग्मज क्रमश भेदन (क्लीवेज) द्वारा बहुकोशी बनता है, परंतु एककोशिकों से इसकी भिन्नता इसी मे है कि विभाजित कोश पृथक् नही हो जाते।

इन नए कोशों की प्रगति और निरूपण दो भिन्न पद्धतियों पर होते हैं। कुछ प्राणियों मे इन नए कोशों का भविष्य बहुत ही प्रारंभिक काल मे निर्धारित हो जाता है, जिससे यह निश्चित हो जाता है कि वे किन किन अंगों की सृष्टि करेंगे। इस पद्धति को विशेषित विभिन्नता अथवा कुट्टिमचित्र (मोज़ेइक) विकास कहते है। ऐसे एक विभाजनशील अंडे को दो समान भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक खंड उस प्राणी का केवल अर्धांश ही बना सकता है। दूसरी पद्धति मे अंगों का निर्धारण प्रथमावस्था मे नहीं होता और ऐसे अंडों का दो भागों में विभाजन करने से यद्यपि वे आयतन मे छोटे हो जाते है, तथापि प्रत्येक भाग संपूर्ण प्राणी को बनाता है। ऐसी विभाजन प्रणाली को अनिश्चित (इंडिटर्मिनेट) अथवा विनियामक (रेगुलेटिव) भेदन कहते है। परंतु कुछ अवधि के पश्चात् इनमे भी कोशों का भविष्य प्रथम पद्धति की भाँति निर्धारित हो जाता है और उस समय अंडों का विभाजन करने पर प्राणी पूर्णांग नही बनता।

साधारणतया अंडों के अंदर खाद्यपदार्थ पीतक (योक) के रूप में संचित रहता है। वर्धनशील भ्रूण की पुष्टि पीतक से होती रहती है। अंडे के भीतर पीतक का वितरण मुख्यत तीन प्रकार का होता है। प्रथम मे पीतक की मात्रा बहुत कम होती है और वह सारे अंडे मे समान रूप से विस्तृत रहता है। ऐसे अंडे को अपीती (ऐलेसिथैल, आइसो-लेसिथैल अथवा होमोलेसिथैल) कहते है। दूसरे प्रकार मे पीतक की मात्रा बहुत अधिक होती है और वह अंडे के निम्नभाग मे एकत्रित रहता है। ऐसे अंडे को एकतःपीती (टेलोलेसिथैल) कहते है। तीसरे प्रकार मे पीतक अंडे के मध्य भाग मे स्थित रहता है। ऐसे अंडे को केंद्रपीती (सेंट्रोलेसिथैल) कहते है।

पीतक की मात्रा तथा उसकी स्थिति के अनुसार अंडे का विभाजन भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। पीतक विभाजन क्रिया मे बाधक होता है। अपीती अंडे संपूर्ण रूप से विभाजित होते है। ऐसी विभाजन प्रणाली को पूर्णभेदन (होलोब्लैस्टिक क्लीवेज) कहते है। परंतु एकतःपीती अंडों मे पीतक के नीचे की ओर एकत्रित होने के कारण अंडे का ऊपरी भाग शुद्ध तथा सक्रिय रहता है और विभाजन क्रिया केवल ऊपरी भाग मे आबद्ध रहती है। नीचे का भाग प्रारंभिक काल मे विभाजित नही होता। ऐसी आंशिक विभाजन प्रणाली को अपूर्ण भेदन (मेरोब्लैस्टिक अथवा डिस्कॉयडल क्लीवेज) कहते है। जहाँ पीतक अंडे के केंद्रस्थल मे रहता है वहाँ विभाजन क्रिया केवल परिधि पर आबद्ध रहती है। ऐसी विभाजन प्रणाली को उपरिष्ठभेदन (सुपरफिशियल क्लीवेज) कहते है। अधिकतर अंडों मे सक्रिय ऊपरी भाग और अपेक्षाकृत निष्क्रिय निम्न भाग पहले से ही प्रत्यक्ष हो जाता है—ऊपरी भाग को प्राणिध्रुव (ऐनिमल पोल) कहते है और नीचे के भाग को वर्धीध्रुव (वेजिटेटिव अथवा वेजिटल पोल) कहते है।

प्राणियों की सममिति (सिमेट्री) तीन भिन्न प्रकार की मानी गई है। अधिकांश प्राणियों मे दक्षिण और वाम पार्श्व, पृष्ठतल (डॉर्सल) और प्रतिपृष्ठ (वेंट्रल), तथा अग्रभाग (ऐंटीरियर) एवं पश्चभाग (पॉस्टीरियर) निर्धारित होते है। ऐसी सममिति को द्विपार्श्व (बाइलैटरल) सममिति कहा जाता है। इन प्राणियों के दक्षिण और वाम पार्श्व समतुल्य होते है। यह सममिति प्रथम प्रकार की हुई। दूसरे प्रकार मे प्राणी का शरीर एक ऊर्ध्वाधर बेलन की तरह होता है। ऐसे प्राणी मे दक्षिण और वाम पार्श्व का निर्धारण नही होता। उनके गोलाकार शरीर को अनेक समतुल्य भागों मे विभाजित किया जा सकता है। ऐसी सममिति को त्रिज्य (रेडियल) सममिति कहते है। तीसरे प्रकार मे प्रथम अवस्था मे द्विपार्श्व सममिति दिखाई पड़ती है, पर इसके पश्चात् दोनों पार्श्वों मे पुन त्रिज्य सममिति स्थापित हो जाती है। ऐसी सममिति को द्वयर (बाइरेडियल) सममिति कहते है।

अंडों का विभाजन विभिन्न प्रकार की सममितियों के अनुसार विभिन्न होता है। द्विपार्श्व सममिति मे प्रथम विभाजन रेखा खरबूजे की धारी की तरह (मेरिडोनियल) होती है, जिसके फलस्वरूप दो कोश बनते हैं। इन्ही दोनों कोशों से शरीर के दक्षिण और वाम पार्श्व की सृष्टि होती है। दोनों पार्श्वों मे समान रूप से विभाजन होता रहता है। त्रिज्य सममिति की विशेषता यह है कि विभाजन रेखाएँ सदा एक दूसरे को ऊर्ध्वाधर रेखाओं द्वारा काटती हैं और अक्ष के चारों ओर समान रूप से कोशों की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी रीति भी होती है जिसमे विभाजन रेखा वक्र होती है, और क्रम से एक बार दाहिनी ओर को और दूसरी बार बाईं ओर को झुकी रहती है। ऐसी प्रणाली को कुंतल भेदन (स्पाइरल क्लीवेज) कहते हैं, पर इनका अंतिम परिणाम द्विपार्श्व सममिति होती है। द्वयर

सममिति में प्रथम विभाजन द्विपार्श्व होता है, पर इसके पश्चात् दोनों पार्श्वों मे त्रिज्य सममिति की प्रथा प्रचलित होती है।

विभाजन क्रिया तीव्र गति से होती है—कोशो की सख्या बढ़ती जाती है, पर आयतन मे वे छोटे होते जाते है। अंत मे बहुकोशवाला एक गोलाकार भ्रूण बनता है जिसको एकभित्तिका (ब्लैस्चुला) कहा जाता है। नए कोश सब इस गोले की परिधि पर होते है और बीच मे लसिका (लिंफ) से भरा एक विवर रहता है। इस विवर को एकभित्तिका गुहा (ब्लैस्टोसील) कहते हैं।

चित्र १. एकभित्तिका
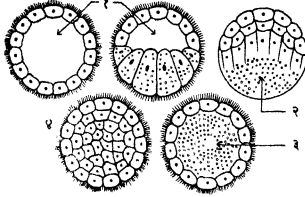
ऊपर बाईं ओर के दो चित्र मे पोली एकभित्तिका (सीलोब्लैस्चुला) की अनुप्रस्थ काट दिखाई गई है तथा दाहिनी ओर बिंबैकभित्तिका (डिस्कोब्लैस्चुला) है। नीचे बाईं ओर सांद्रैकभित्तिका (स्टीरिओब्लैस्चुला) और दाहिनी ओर पर्यैकभित्तिका (पेरिब्लैस्चुला) की अनुप्रस्थ काटें दिखाई गई है। १ एकभित्तिका-गुहा (ब्लैस्टोसील), २ पीतक (योक); ३ पीतक ४. सांद्रैकभित्तिका।

ऐसी खोखली एकभित्तिका को गुहीय एकभित्तिका (सीलोब्लैस्चुला) कहते है। इसकी बाहरी दीवार मे केवल एक ही कोश की गहराई होती है। एकन पीती अडो मे नीचे की ओर पीतक के सचय के कारण एकभित्तिका गुहा ऊपर की ओर बनती है। विभाजन केवल अडे के ऊपर ही, जहाँ पीतक की मात्रा अत्यधिक होती है, आबद्ध रहता है और एकभित्तिका गुहा बहुत ही सक्षिप्त रूप मे बनती है। इस प्रकार की एकभित्तिका को बिंबैकभित्तिका (डिस्कोब्लैस्चुला) कहते है। जिन अडो मे पीतक मध्यस्थल मे रहता है उनमे विभाजन केवल परिधि मे होता है। ऐसी एकभित्तिका को पर्यैकभित्तिका (पेरिब्लैस्चुला अथवा सुपरफिशियल ब्लैस्चुला) कहते है। कुछ प्राणियों मे एकभित्तिका ठोस होती है और गोलाई के भीतर भी कोश भर रहते हैं। ऐसी स्थिति मे एकभित्तिका को सांद्रैकभित्तिका (स्टिरिओब्लैस्चुला) अथवा तूत (मोरूला) कहते है।

छिद्रिष्ठो (स्पजो) मे एकभित्तिका अवस्था मे मुखद्वार बनता है, इस कारण ऐसी एकभित्तिका को मुखैकभित्तिका (स्टोमोब्लैस्चुला) कहते है। अन्य श्रेणी के प्राणियों मे ऐसा नही होता।

जब तक एक पर्तवाली एकभित्तिका क्रमश दो पर्तवाली बनती है तब तक भ्रूण को स्यूतिभ्रूण कहते है। दूसरी पर्त कई विभिन्न पद्धतियो से बनती है। सबसे सरल प्रणाली अपीती अडो मे होती है। इसमे एकभित्तिका का निम्न भाग, वर्धीध्रुव, क्रमश एकभित्तिका गुहा के अदर प्रवेश करता है। और अत मे भीतरी पर्त बाहरी पर्त से मिल जाती है। एकभित्तिका गुहा का अस्तित्व नही रह जाता और उसके स्थान मे एक दूसरा विवर बनता है जो अब दो पर्तों से ढका रहता है। उस विवर मे नीचे की ओर एक छिद्र होने के कारण यह खुला रहता है। इस छिद्र को आद्यत्रमुख (ब्लैस्टोपोर) कहते है। स्यूतिभ्रूण बनने की इस प्रणाली को अतर्गमन (इनवैजिनेशन) अथवा एंबोली की प्रथा कहते है। बाहरी पर्त को बहि स्तर (एक्टोडर्म अथवा एपिब्लास्ट) और भीतरी पर्त को अत स्तर (एडोडर्म अथवा हाइपोब्लास्ट) कहते हैं। अत.स्तर से इन प्राणियो की पाचकनाल (ऐलिमेंटरी कैनाल) तथा उससे उत्पन्न सभी अंगो का विकास होता है। इस कारण अत स्तर से वेष्टित विवर को आद्यत्र (आरकेटरॉन) कहते है। अधिकतर अपृष्ठवशी प्राणियो मे आद्यत्रमुख उनके अग्रभाग का निर्देशक होता है और उसमे या उसके निकट उनका मुखद्वार बनता है। ऐसे प्राणियो को आद्यमुखी (प्रोटोस्टोमियन) कहते है। इसके विपरीत सभी पृष्ठवशी (वर्टिब्रेट्स) और कुछ अपृष्ठवशी प्राणियो मे आद्यत्रमुख प्राणी के पश्चाद्भाग का निर्देशक होता है जहाँ मलद्वार बनता है। ऐसे विपरीतपथी प्राणियों को द्वितीयमुखी (ड्यूटेरो-स्टोमियन) कहते है।

जिन अडो मे पीतक अधिक मात्रा मे रहता है और एकभित्तिका गुहा बहुत सक्षिप्त होती है, उनमे ऊपर के कोश तीव्र गति से विभाजित होते रहते है और क्रमश बढते हुए नीचे के पीतक से भरे स्थान के ऊपर प्रसारित होते है। इस तरह नीचे की ओर दो पर्तें बनती है। इस प्रणाली को अध्यावृद्धि (एपिबोली) कहते हैं। बिंबैकभित्तिका मे पीतक अत्यधिक होने के कारण नए कोश केवल ऊपरी भाग मे बनते है और उनमे से कुछ कोश अलग होकर पहली पर्त के नीचे आ जाते है। इस तरह दूसरी पर्त अडे के ऊपरी भाग मे ही आबद्ध रह जाती है। ऐसी प्रणाली को पृथक्स्तरण (डिलैमिनेशन) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्राणियो मे ऊपरी पर्त प्रसारित न होकर भीतर की ओर मुड जाती है और सक्षिप्त एकभित्तिका गुहा के नीचे दूसरी पर्त बनाती है। इस प्रथा को अतर्वलन (इनवोल्यूशन) कहते है।

बहुकोशविशिष्ट निम्न श्रेणी के प्राणियो मे, जैसे छिद्रिष्ठ (पारिफेरा), आतरगुही (सिलेटरेटा) और ककतिवर्ग (टिनाफोरा) मे केवल दो ही पर्त बनते है। इस कारण इनको द्विस्तरिप्राणी (डिप्लोब्लास्टिक) कहते है। इन्ही दो पर्तों से इनका सारा शरीर और उसके विभिन्न अग बनते हैं। इनमे विशेषता यह होती है कि शरीर का बाहरी आवरण तथा भीतरी पाचक-नाल एक दूसरे से केवल एक कोशविहीन ततु द्वारा सलग्न रहते है
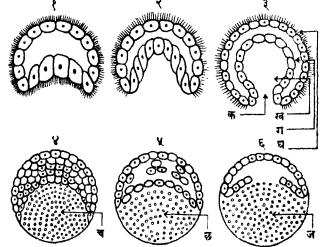
चित्र २ स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रुला)

१, २ और ३ मे अतर्वर्धन (एबोली) दिखाया है, क आद्यत्रमुख (ब्लैस्टोपोर), ख आद्यत्र (आरकेटरॉन), ग. अध स्तर (हाइपोब्लास्ट), घ बहि स्तर (एपिब्लास्ट), ४ मे अध्यावृद्धि (एपिबोली) दिखाई गई है, च पीतक (योक), ५ मे पृथक्स्तरण (डिलैमिनेशन) दिखाया गया है, छ पीतक, तथा ६ मे अतर्वलन (इन्वोल्युशन) दिखाया गया है, ज पीतक।

जिसे मध्यश्लेष (मेसोग्लीका) कहते हैं। इन तीन श्रेणी के प्राणियो के अतिरिक्त बहुकोशविशिष्ट सभी प्राणियो मे एक तीसरा पर्त बनता है जो बहि स्तर (एपिब्लास्ट) तथा अध स्तर (हाइपोब्लास्ट) के बीच मे स्थित रहता है। इसको मध्यस्तर (मेसोडर्म अथवा मेसोब्लास्ट) कहते है, एव ऐसे प्राणियो को त्रिस्तरी (ट्रिप्लोब्लैस्टिक) कहते हैं। इस मध्यस्तर का प्रवर्तन या तो बहिःस्तर तथा अंत.स्तर दोनो सस्थाओ से होता है, अथवा

केवल अन्तस्तर से होता है। प्रथम अवस्था में इस मध्यस्तर को बहिर्मध्यस्तर (एक्टोमेसोडर्म) और द्वितीय अवस्था में अन्तर्मध्यस्तर (एंडोमेसोडर्म) कहते है। ऐसा द्विजातीय मध्यस्तर केवल आद्यमुखी श्रेणी के प्राणियों में होता है। द्वितीयमुखी प्राणियों में केवल अंत मध्यस्तर होता है। अपृष्ठवंशी प्राणियों में केवल शरकृमिवर्ग (किटोग्नाथा) और शल्यचर्म (इकाइनोडर्म) द्वितीयमुखी होते हैं, और शेष सब आद्यमुखी होते है। त्रिस्तरी प्राणियों की विशेषता यह है कि मध्यस्तर में बाहरी आवरण और पाचकनाल के बीच एक लसिका से भरा विवर बनता है, जिसको देहगुहा (सीलोम अथवा बाडी कैविटी) कहते है। इस देहगुहा की बाहरी और भीतरी दोनों दीवारें मध्यस्तर की पर्तो से ही ढकी होती है। इसके अतिरिक्त मध्यस्तर से मांसपेशी (मसल), अस्थि, रक्त, प्रजननतंत्र तथा उत्सर्गी अंग बनते है।

कुछ त्रिस्तरी जीव ऐसे भी है जिनमे देहगुहा नही रहती और उसके स्थान पर एक विशेष तंतु भरा रहता है जिसे मूलोति (पारेंकिमा) कहते है। इस कारण त्रिस्तरी को फिर दो भागों में बाँटा जाता है—एक तो सदेहगुहा (सीलोमाटा), जिनमे देहगुहा वर्तमान रहती है, और दूसरी अदेहगुहा, जिनमे देहगुहा की जगह केवल मूलोति रहता है।

मध्यस्तर की एक और विशेषता होती है जिसके कारण अधिकतर त्रिस्तरी जीवों में शरीर का बहुखंडों में विभाजन होता है, अथवा केवल भीतर के अंगो में ही देखा जाता है।

आद्यमुखी और द्वितीयमुखी में देहगुहा का प्रवर्तन भिन्न प्रकार से होता है। आद्यमुखी में बहिर्मध्यस्तर से भ्रूण को मांसपेशी तथा योजी ऊती (कनेक्टिव टिशूज) बनते है। अंतर्मध्यस्तर के कोश भ्रूण के पीछे की ओर रहते है। इन कोशों से शरीर के अंदर प्रथमत कोशो का एक ठोस समूह होता है जो बाद में दो पर्तो में विभाजित हो जाता है। बीच का विवर देहगुहा बनता है। इस प्रकार से बनी देहगुहा को विपाटगुहा (स्किजोसील) कहते है। द्वितीयमुखी में अंतर्मध्यस्तर पहले से ही आद्यंत्र (आरकेंटरॉन) की ऊपरी दीवार के दोनो पार्श्वों मे सन्निहित रहता है। क्रमश यह आद्यंत्र से अलग होकर देहगुहा का विवर बनता है। इस प्रकार से बनी देहगुहा को आंत्रगुहा (एंटरोसील) कहते है।

भिन्न भिन्न अंगों का विकास क्रमश बहिस्तर, अंतस्तर तथा मध्यस्तर तीनों पर्तों मे होता है। भ्रूणावस्था में यद्यपि अंगों का विकास होता है, तथापि वे क्रियाशील नही होते। संचित पोतक की अधिकता अथवा पुष्टि का अन्य प्रबंध रहने पर भ्रूण वर्धित अवस्था में जन्म लेता है और अपना जीवननिर्वाह स्वाधीन रूप से कर सकता है। परंतु पोतक की मात्रा कम होने पर बहुधा भ्रूण अल्पविकसित अवस्था में ही जन्म लेकर स्वावलंबी हो जाता है। इस समय इसका शरीर पूर्ण विकसित अवस्था में भिन्न रूप का होता है जिसे डिंभ (लार्वा) कहते है। डिंभ दो प्रकार से पूर्णता प्राप्त करते है। एक में तो वे क्रमश बढते हुए पूर्ण रूप ग्रहण करते है। इस प्रथा को सीधा अथवा ऋजु विकास कहते है। दूसरी प्रथा मे डिंभ कुछ अवधि के पश्चात् प्राय स्थिर या निष्क्रिय हो जाते है, अथवा आहार बंद कर देते है। इस अन्तरिम काल में वे शंखी (प्यूपा) कहलाते है, और इनके शरीर के भीतर द्रुत गति से परिवर्तन होता है, जिसके पश्चात् वे प्रौढ रूप के हो जाते है। ऐसे द्रुत परिवर्तन को रूपांतरण (मेटामॉर्फोसिस) अथवा अप्रत्यक्ष विकास (इंडिरेक्ट डेवेलपमेंट) कहते है।

जल में अंडा देनेवाले सभी जीवों के शरीर पर, एकभित्तिका (ब्लैस्चुला) और स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रूला) अवस्था में जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) की बनी बाल की तरह रोमिकाएँ (सिलिया) होती है, जिनके द्वारा वे जल में प्रगति करते है।

छिद्रिण (पॉरिफेरा) प्राणियों का मुखद्वार एकभित्तिका अवस्था में बनता है। इनके एकभित्तिका के अग्रभाग के भीतर जीवद्रव्य की बनी कशाएँ (फ्लैजेला—चाबुक जैसे अंग जो जीव को तैरकर चलने में सहायता देते है) होती है। स्यूतिभ्रूण बनने के समय यह भाग उलटकर मुखद्वार से बाहर हो जाता है। इसके पश्चात् एकभित्तिका अग्रभाग द्वारा किसी वस्तु से संलग्न हो जाती है। उस समय विपरीत अंश के कोश बढते हुए अग्रभाग के ऊपर प्रसारित होकर दो पर्तें बनाते हैं जिनको द्विधाभित्ति (ऐंफिब्लैस्चुला) कहते है। द्विधाभित्ति क्रमश. पूर्ण रूप धारण कर लेती है।

आंत्रगुहियों (सिलेंटरेटा) में एकभित्तिका की दीवार से कोश अलग होकर एकभित्तिका गुहा के भीतर भर जाते है। एकभित्तिका अब ठोस रूप धारण करती है। इस स्थिति में इनको चिपिटक (प्लैनुला) डिंभ कहते है। भीतर के कोश से क्रमश दूसरी पर्त बनती है और उसके बीच विवर बनता है। श्रेणियों की विभिन्नता के अनुसार इनमे कई प्रकार के डिंभ होते है। जलीयकवर्ग (हाइड्रोजोआ) में डिंभ एक छोटे बेलन की तरह होता है जिसके मुख को वेष्टित करते हुए उँगलियों की तरह कई अंग होते है जिनको स्पर्शिका (टेंटेकल्स) कहते है। इस रूप के डिंभ को पुरुपाद (पॉलीपॉड) डिंभ कहते है। यह डिंभ क्रमश पूर्ण रूप ग्रहण करता है। छत्रिक वर्ग (सिफोजोआ) में भी पुरुपाद डिंभ बनता है, जिसको हाइड्रोटयूबा
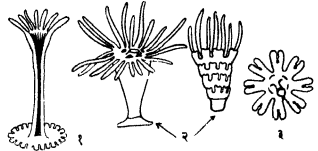
चित्र ३ आंतरगुही
१ रश्मिका (ऐक्टिन्यूला), २ चषमुख (साइफिस्टोमा), ३ षोडशार (एफिरा)।

अथवा चषमुख (सिफिस्टोमा) कहते है। पर यह डिंभ पुन खंडित होकर षोडशार (एफिरा) नामक डिंभ बनाता है जिससे पूर्ण रूप छत्रिक बनता है। पुष्पजीववर्ग (ऐंथोजोआ) की श्रेणी में भी पुरुपाद डिंभ बनता है। पुरुपाद डिंभ और चषमुख दोनों प्रारंभिक अवस्था में रश्मिका (ऐक्टिनुला) कहलाते है।

पृथुकृमि (प्लैटिहेल्मिथीज, फ्लैटवर्म्स) सर्वप्रथम त्रिस्तरी प्राणी है। इनमे पहले देहगुहा एकभित्तिका (सीलोब्लैस्टुला) बनती है। इस श्रेणी में विद्धपत्र (ट्रेमाटोडा) और अनांत्र (सेस्टोडा—बिना आँतवाले कीडे) के पराश्रयी होने के कारण, इनका जीवन इतिहास परिवर्तनों से भरा होता है। परंतु पर्णाविपिट वर्ग (टर्बेलेरिया) स्वाधीन जीव है, इस कारण इनके जीवन में विशेष परिवर्तन नही होते। स्यूतिभ्रूण बनने के बाद इनके डिंभ के शरीर से आठ उभडे हुए रोमिकायुक्त पिंडक (सिलिएटेड लोब्स) बनते है। इस डिंभ को मुलर का डिंभ कहते है।

चित्र ४. शीर्षाडिल (मुलर्स लारवा)
१ चक्षु, २ रोमिकायुक्त खंड, ३ मुख।

चित्र ५ टोपीडिंभ (पाइलिडियम)
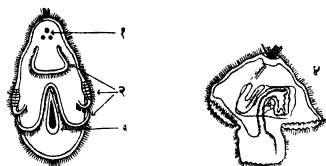
विखंडकृमि (नेमर्टिनि) श्रेणी के प्राणियों के डिंभ टोपी की आकृति के होने के कारण उन्हें टोपीडिंभ (पिलिडियम) कहते है। इनमे विशे-

षता यह है कि डिंभ में मलद्वार का आरंभ यहीं होता है। टोपीडिंभ का आकार वलयिन (ऐनेलिडा) श्रेणी के पक्षवलय डिंभ (ट्रोकोफोर लार्वा) से मिलता है। अधिक उन्नतिशील प्राणियों का विकास यहीं से होता है।

वलयिन (ऐनेलिडा) श्रेणी के जीवों में डिंभ मुख्यत पक्षमवलय होता है। इसकी विशेषता यह है कि मुखद्वार के आगे सारे शरीर को वेष्टित करती हुई एक रोमिकायुक्त पट्टी होती है जिसको पूर्वपक्षमवलय (प्रोटोट्रॉक) कहते है। यह रोमिकायुक्त पट्टी कुछ प्राणियों में एक से अधिक भी होती है। पक्षमवलय डिंभ का आकार चित्र ६ में दिखाया गया है।

चित्र ६ ट्रोकोफ़ोर

५ पक्षमवलय (प्रोटोट्रॉक)
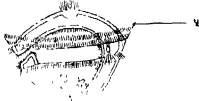
चूर्णप्रावार (मोलस्का) श्रेणी के प्राणियों में डिंभ साधारणत पक्षमवलय के आकार का होता है। परतु क्रमश इसके आकार में परिवर्तन होता है और इसके पश्चात् वह पटिकाडिंभ (वीलिजर) कहलाता है। इसमे विशेषता यह होती है कि पूर्वपक्षमवलय वर्धित होकर दो अथवा दो से अधिक रोम पिंडक बनाते है जो रोमिकायुक्त होते है। इन पिंडकों को पटिका (वीलम) और डिंभ को पटिकाडिंभ कहते है। इसके अतिरिक्त पटिकाडिंभ के पृष्ठ पर प्रकवच (शेल) बनता है और मुखद्वार के पीछे इन जीवो का पैर बनता है। पटिका प्रगति का अंग है।

चूर्णप्रावार श्रेणी के मुक्तिकावंश (यूनियनिडी फ़ैमिली) में डिंभ पराश्रयी होता है। इस कारण इसके शरीर की गठन भिन्न रूप की होती है, जो चित्र ७ में दाहिनी ओर दिखाई गई है। ये डिंभ मछलियों की त्वचा तथा जलश्वसनिकाओं (गिल्स) में चिपक जाते है और पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् स्वावलंबी हो जाते हैं। चिपकने के लिये इनमें लागाशु (बिसस थ्रेड्स) होते हैं और प्रकवच नुकीले होते है। डिंभ की अवस्था में इनमें पाचकनली नहीं होती। ये मछली के शरीर से अपना खाद्य रस के रूप में शोषित करते है। पूर्णता प्राप्त करने पर लागाशु नहीं रह जाते और प्रकवच का आकार भी बदल जाता है। इस डिंभ को लागाशुडिंभ (ग्लॉकिडियम) कहते है।
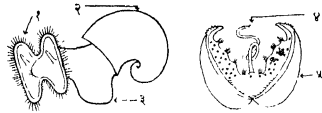
चित्र ७. पटिकाडिंभ (वीलिजर) तथा लागाशुडिंभ (ग्लॉकिडियम)

बाईं ओर उदरपाद (गैस्ट्रोपोडा) के प्रगत पटिकाडिंभ (वीलिजर), दाहिनी ओर लागाशुडिंभ (ग्लॉकिडियम), १ पटिका, २ प्रकवच ३ पाद (पैर), ४ लागाशुगत (बिसस थ्रेड), ५ प्रकवच।

संधिपादों (आर्थ्रोपोडा) की श्रेणी को कई भागों में बाँटा गया है, यथा, नखरिण (ओनिकोफ़ोरा) कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया), अयुतपाद (मिरिऐपोडा), कीट (इंसेक्टा) और अष्टपाद (ऐरैक्निडा)। इन सभी में अंडे केंद्रपीती होते है और विभाजन (भंदन) उपरिष्ठ होता है। इनमें अष्टपाद तथा नखरिण में बच्चे पूर्ण विकसित अवस्था में ही अंडे के बाहर आते है। भ्रूणावस्था का कोई विशेष महत्व नहीं होता।

कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया) में डिंभ कई प्रकार के होते हैं, और इनके एक दूसरे के संबंध के बारे में बहुत मतभेद है। इनमें व्यूपाग (नॉप्लिअस) डिंभ सबसे निम्न श्रेणी का माना जाता है। इसके शरीर में खंडन का कोई चिह्न नहीं होता। आँख मरल (सिंपुल) और केवल एक होती है। उपाग (अपेंडेजेज) केवल तीन जोड़े और द्विशाख (बाइरैमस—दो शाखाओं में विभाजित) होते है। उच्च श्रेणी के कठिनिवर्ग में यह अवस्था अंडे के अंदर ही व्यतीत होती है।

दो अन्य उपाग उत्पन्न होने पर व्यूपाग क्रमश उत्तरव्यूपाग (मेटा-नॉप्लिअस) हो जाता है और तब इसके शरीर का खंडन आरम्भ हो जाता है। आँख केवल एक और सरल होती है। उत्तर व्यूपाग, जब दो और उपाग बनते है, प्रजीव (प्रोटोजोइआ) बन जाता है। इसका शरीर क्रमश लंबा होता जाता है, और आँखें दो हो जाती है, पर सरल रहती है। जब एक और उपाग बनता है तब प्रजीव जीवक (जोइआ) हो जाता है। इसकी आँखें दो होती है, पर वे डंडियों पर स्थित रहती है और वृंताक्षि कहलाती

चित्र ८ व्यूपाग डिंभ (नॉप्लिअस लारवा)

चित्र ९ कीट भ्रूण (इन्सेक्ट एम्ब्रिओ)
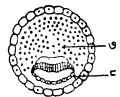
७ पीतक (योक), ८ उल्ब (एम्निऑन)

हैं। इसके पश्चात् जीवक से चलदृगाक्ष प्रजाति (माइसिस) बनता है जिसमें खंडन संपूर्ण हो जाता है। सभी खंडो में उपाग होते है पर विशेषता यह है कि इसके चलन के पैर द्विशाखी (बाइरैमस) होते है। पूर्णता प्राप्त करने पर पैर एकशाखी (युनिरैमस) हो जाते है।

इनके अतिरिक्त कठिनिवर्ग में और कई प्रकार के डिंभ होते है, यथा पूर्णपुच्छक प्रजाति (माइसिस), इरिक्थस, ऐलिमा, काचकर्क प्रजाति (फ़िलोसोमा), महाक्ष (मेगालोपा), इत्यादि, परतु इन सबमें केवल आकार का ही परिवर्तन होता है।

कीटो में भ्रूण अंडे के नीचे की ओर बनता है और इनमें उरगो, पक्षियो तथा स्तनधारियों की भाँति तरल द्रव्य से भरी एक थैली, जिसे उल्ब (एम्निऑन) कहते है, भ्रूण को वेष्टित किए रहती है

कीट तीन प्रकार के माने जाते है। प्रथम प्रकार में बच्चा अंडे के भीतर ही पूर्णता प्राप्त कर लेता है। ऐसे कीट को अरूपांतरी (एमेटाबोला) कहते है। दूसरे प्रकार में बच्चा यद्यपि छोटा होता है, तथापि उसका रूप प्रौढावस्था का होता है। केवल पंख और जननेंद्रिय क्रमश बनते है। ऐसे कीट को अपूर्णरूपांतरी (हेटेरोमेटाबोला) और उसके बच्चे को कीटशिशु (निंफ) कहते है। तीसरे प्रकार में बच्चा प्रथम अवस्था में एक ढोले के आकार का होता है, जो प्रौढावस्था से पूर्णतया भिन्न होता है। ये रूपांतरण (मेटामॉर्फ़ोसिस) के पश्चात् पूर्ण रूप धारण करते है। इनको पूर्णरूपांतरी (होलोमेटाबोला) कहते है।

अयुतपाद (मीरिओपोडा) में भी बच्चा प्राय पूर्ण रूप का होता है, पर प्रथम अवस्था में कीटो की तरह इसके भी केवल तीन पैर होते है।

आद्यमुखी (प्रोटोस्टोमिअन) का भ्रूणतत्व यहीं समाप्त होता है। अपृष्ठवंशी प्राणियों में केवल शरकृमिवर्ग (किटोग्नाथा) और शल्यचर्म (एकिनोडर्माटा) द्वितीयमुखी होते है। शरकृमिवर्ग कुछ विषयों में द्वितीयमुखी से भिन्न होते है। इनमें मुखद्वार आद्यंत्रमुखी (ब्लैस्टोपोर) से ही बनता है, पर बहिर्मध्यस्तर नहीं होता और देहगुहा आंत्रगुही होती है।

शल्यचर्मवर्ग में द्वितीयमुखियों की सभी विशेषताएँ पाई जाती है। मलद्वार आद्यंत्रमुख से अथवा उसके निकट बनता है। मुखद्वार विपरीत दिशा में अलग से बनता है। इसके डिंभ चार मुख्य प्रकार के होते है, यथा, लघुवर्ध (आरिकुलेरिआ), अभितोवर्ध (बिपिन्नेरिआ), प्लवडिंभ

(प्लूटिग्रस), ग्रहिप्लवडिंभ (ग्रोफिप्लूटिग्रस) एव पचकोण वृताभ (पेटाक्रिनॉयड)। इनमे पचकोण वृताभडिभ पूर्णावस्था से बहुत मिलता है, केवल इसमे धरातल से सलग्न रहने के लिये एक डंडी रहती है, जो पूर्णावस्था मे नही रह जाती।

अन्य सभी डिंभो मे दो रोमिका पट्टियाँ होती है, पर प्रत्येक डिंभ मे ये भिन्न रूप धारण करती है। एक रोमिका पट्टी मुखद्वार को चतुर्दिक् घेरे रहती है जिसे अभिमुख (ऐडोरल) रोमिका-पट्टी कहते है और दूसरी उसके बाहर शरीर को घेरे रहती है जिसे परिमुख (पेरिग्रोरल) रोमिका-पट्टी

चित्र १० शल्य चर्मी (एकिनोडर्म्स) के डिंभ

बाईं ओर लघुवर्ध (ग्रोरिक्युलेरिया), मध्य मे ग्रभितोवर्ध (बिपिन्नेरिया), दाहिनी ओर कदुक डिंभ (प्लुटिग्रस)। १ अभिमुख (ऐडोरल, मुख के समीप), २ परिमुख (पेरिग्रोरल)।

कहते है। चित्र १० मे इन दानो रोमिका पट्टियो की विशेषताएँ दिखाई गई है, जिससे इनका अतर ज्ञात होगा।

अपृष्ठवशी प्राणियो का यह भ्रूणतत्व सक्षेप मे लिखा गया है। यद्यपि इन प्राणियो का १५–१६ श्रेणियो मे बाँटा गया है, तथापि इनके भ्रूणतत्व से यही सिद्ध होता है कि यह विभाग केवल बाह्यिक है और प्राणियो मे, विशेषकर भ्रूणो मे, एक अतर्निहित परस्पर सबध है जिसके द्वारा विकासवाद की पुष्टि होती है। प्राणियो की विभिन्नता उनके वातावरण और तदनुसार उनकी जीवनपद्धति के कारण होती है। इस सिद्धात के अनुसार सभी प्राणियो को केवल दो विभागो मे बाँटा जा सकता है। एक तो आद्यमुखी और दूसरा द्वितीयमुखी। इन दोनो शाखाओ को शरकृमिवर्ग सबधित करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राणियो के विकास मे आद्यमुखी पहले बने, और उसके पश्चात् द्वितीयमुखी। द्वितीयमुखी से सभी पृष्ठवशियो (वर्टेब्रेटा) का विकास हुआ।

स० ग्र०—हास स्पमान . एमब्रियॉनिक डेवेलपमेट ऐंड इडक्शन, डी'आर्सी डब्ल्यू० टामसन ग्रॉन ग्रोथ ऐंड फॉर्म। (श० ध० च०)

अपेनाइस एक पर्वतश्रेणी है जो इटली प्रायद्वीप के बीच एक छोर से दूसरे छोर तक रीढ के समान फैली हुई है। कुल लबाई लगभग ८०० मील और चौडाई ७० से ८० मील तक है। इसके सामान्यत तीन विभाग हो जाते है, उत्तरी, केंद्रीय और दक्षिणी अपेनाइस। उत्तरी अपेनाइस के अतर्गत पश्चिम मे लइगूरियन अपेनाइस और पूर्व मे इट्रस्कन अपेनाइस है। ये दोनो मौसमी क्षति द्वारा अधिक प्रभावित हुए है और इस प्रकार इनमे कम ऊँचाई के ही दर्रे बन गए है जिससे आवागमन सुलभ हो गया है। इट्रस्कन अपेनाइस मुख्यत बालुकाश्म, मृत्तिका और चूने की चट्टान द्वारा निर्मित है। यहाँ औसत ऊँचाई ३,००० फुट है। माटी सिमोन नामक शिखर ७,०६७ फुट ऊँचा है। उत्तरी अपेनाइस की मुख्य नदियाँ स्क्रिविया, ट्रेबिया, टारो और रीनो है। इनमे से पहली तीन पो नदी से जा मिलती है जब कि रीनो नदी ऐड्रिऐटिक सागर मे गिरती है। इस पर्वतीय प्रदेश के दक्षिणी उपजाऊ ढाल पर जैतून इत्यादि की उपज होती है। यहाँ करारा की प्रसिद्ध सगमरमर की खाने स्थित है। समीपवर्ती समुद्रतटीय प्रदेश को रिवियरा कहते है, यहाँ कई एक रमणीक स्थल है जो महत्वपूर्ण पर्यटक केंद्र बन गए है।

केंद्रिय अपेनाइस इट्रस्कन अपेनाइस के दक्षिण से आरभ होते है। यहाँ चूने की शिलाओ द्वारा निर्मित श्रेणियो की अधिकता है। इस प्रदेश की मुख्य नदी टाइबर है। अनेक अन्य छोटी छोटी नदियाँ पूर्व की ओर बहकर ऐड्रिऐटिक सागर मे गिरती है। ऐड्रिऐटिक सागरीय ढाल पर कृषि महत्वपूर्ण है। केंद्रिय अपेनाइस का उच्चतम शिखर माटी कार्नो ९,५८४ फुट ऊँचा है। कुछ और पश्चिम की ओर अन्य कई खनिजो की खाने है परतु स्वय अपेनाइस से कोई उपयोगी खनिज नही प्राप्त होता है।

दक्षिण अपेनाइस मे अन्य भागो से कुछ विभिन्नताएँ पाई जाती है, उदाहरणत', यहाँ समातर शृखलाओ का अभाव और विच्छिन्न पर्वतखडो की अधिकता है। इस प्रदेश की औसत ऊँचाई मध्य अपेनाइस से अपेक्षाकृत कम है और उच्चतम शिखर सिरा डोल्सीडोर्मे ७,४५१ फुट ऊँचा है। पश्चिम की ओर ज्वालामुखी पर्वत स्थित है जो मुख्य अपेनाइस से पृथक् है। इनमे नेपुल्स नगर के समीप स्थित विसुवियस अधिक प्रसिद्ध है। यह एक जागृत ज्वालामुखी है। समीपवर्ती क्षेत्र की लावा द्वारा निर्मित मिट्टी खूब उपजाऊ है। समुद्रवर्ती ढाल पर जैतून की उपज महत्वपूर्ण है।

अपेनाइस के आर पार कई एक रेल और सडक मार्ग है। कई स्थानो पर घन वन है जिनकी सुरक्षा का प्रबध सरकार द्वारा होता है। अपेनाइस के अधिक ऊँचे भाग शीत ऋतु मे हिमाच्छादित रहते है।

भूविज्ञान—अपेनाइस ऐल्प्स-हिमालय-पर्वत-समूह से सबद्ध है। ठीक सबध का अब भी ब्योरेवार पता नही है और वैज्ञानिको मे कुछ मतभेद है। अपेनाइस मे रक्ताश्म (ट्राइऐसिक), महासरट (जुरैसिक), खटी (क्रिटेशियस), प्राक्नूतन (इयोसीन) और मध्यनूतन (मायोसीन) युगो के प्रस्तरो की तहे है। कही कही इनमे भी प्राचीन पत्थर दिखाई पडते है। प्राक्नूतन युग के अत मे पृथ्वी की पर्पटी इस प्रकार दाहरी होने लगी कि अपेनाइस का जन्म हुआ। सारे मध्यनूतन युग तक यह पर्वत बढता रहा। अतिनूतन (प्लाइग्रोसीन) युग मे अपेनाइस लगभग वर्तमान ऊँचाई तक पहुँच गया, यद्यपि ऊँचा होने की क्रिया और ज्वालामुखियो का सक्रिय होना दोनो आज तक कही कही जारी है। अपेनाइस मे अब हिमानियाँ (ग्लेशियर) नही हैं, परतु कही कही अतिनूतन युग के पश्चात् वे विद्यमान थी।

स०ग्र०—सी० एस० डु रिचे प्रेलर इटैलियन माउटेन जिम्रॉलोजी (१९२४)। (रा० ना० मा०)

अपोलो ग्रीस के प्रधान देवताओ मे से एक। सौदर्य, तारुण्य, युद्ध और भविष्यकथन का देवता। प्राचीन ग्रीक नारी देल्फी का विशेष आराध्य। अपोलो का जन्म, ग्रीक पौराणिक कथाओ के अनुसार, पिता देवराज ज्यूस् और माता लेतो से हुआ। ज्यूस् भारतीय इद्र की भाँति अपत्नीगामी था और उसने जो लेतो से प्रणय किया तो उसकी पत्नी हीरा ने लेतो का सर्वनाश करने की ठानी। उसने उस गर्भिणी पतिप्रिया को नाना प्रकार के दुख दिए और लेतो को दर दर की ठोकरे खानी पडी। अत मे समुद्र मे बहते हुए डिलाद्वीप पर उसने उस पुत्ररत्न का प्रसव किया जो पौरुष और सौदर्य का प्रतीक अपोलो नाम से ग्रीक और रोमन कथाओ मे प्रसिद्ध हुआ। शक्ति, सत्य, न्याय, पवित्रता आदि नैतिक गुणो का वह प्रतिष्ठाता बना और उसकी कथाओ से ग्रीको के पुराण भर गए।

वैसे तो ग्रीस और आयोनिया के अतिरिक्त द्वीपो और प्रधान भूमि पर जहाँ जहाँ ग्रीक जातियो की बस्तियाँ थी वहाँ वहाँ सर्वत्र और पीछे रोम आदि के नगरो मे भी, अपोलो के मदिर बने, परतु उसकी विशेष पूजा देल्फी के नगर मे प्रतिष्ठित हुई जहाँ प्राचीन काल मे उसका सबसे प्रसिद्ध मदिर खडा हुआ। ग्रीक इतिहास मे विख्यात देल्फी के भविष्यकथन, जिनका अतुल अधिकार छठी से चौथी शती ई० पू० के ग्रीस पर था, विशेषत इसी देवता से सबध रखते है। ग्रीको का विश्वास था कि स्वय अपोलो सामसामयिक समस्याओ पर भविष्यवाणी पवित्र पुजारिणी के मुँह से कराता है और उनकी राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओ को अपनी वाणी से सुलझा देता है। देल्फी मे अपोलो के त्योहार से सबधित कई दिनो तक चलनेवाले खेलो का सत्र हुआ करता था जो प्रसिद्ध ओलिपियाई खेलो से किसी प्रकार घटकर न था।

दियोनिसस् को छोडकर अपोलो के बराबर कोई दूसरा लोकप्रिय देवता ग्रीकों का उपास्य नहीं हुआ। और वह दियोनिसस् अथवा अफ्रोदीती की भाँति पौर्वात्य विश्वासों के आयात से भी उत्पन्न नहीं था, बल्कि ग्रीकों का निजी देवता था, उनके देवराज ज्यूस का पुत्र और भगिनी आर्तमिस् का जुड़वाँ भाई, जो ग्रीकों की ही भाँति बाण द्वारा लक्ष्यवेध में अनुपम कुशल था। अपोलो की प्राचीन काल में हजारों मूर्तियाँ बनीं। ग्रीक जहाँ जहाँ गए—सिसली में, सीरिया में, पंजाब में—सर्वत्र उन्होंने अपने इस प्रिय देवता अपोलो की मूर्तियाँ बनाईं। भारत के प्राचीन गंधार प्रदेश में भी—जहाँ पहली शती ई० की हिंदू यवन अथवा गांधार कला का जन्म हुआ—ग्रीक कलावंतों की छेनी के स्पर्श से पत्थर में जीवन फूटा और अपोलो की अनेक मूर्तियाँ निर्मित हुईं। परंतु उस देवता की अभिराम, सम्मोहक और सर्वोत्तम मूर्तियाँ आज रोम और वातिकन के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन मूर्तियों में अपोलो का अत्यंत आकर्षक छरहरा तन, लगता है, साँचे में ढाल दिया गया हो, पत्थर का नहीं, धातु का बना हो। (भ० श० उ०)

अपोलोदोरस् का जन्म ई० पू० १८० के लगभग हुआ था। इसने सिकंदरिया में अरिस्तार्कस् से शिक्षा ग्रहण की थी। तत्पश्चात् यह पर्गामस् होता हुआ एथेंस् में आकर बस गया और वहीं इसका शरीर छूटा। यह विविध विषयों में रुचि रखनेवाला प्रकांड विद्वान् था। क्रानिका नामक पुस्तक में इसने त्राय के पतन से लेकर अपने समय तक का इतिहास लिखा था। पेरीथियोन् नामक पुस्तक में गद्य में ग्रीक लोगों के धर्म का बौद्धिक विवेचन है। पेरीगेसिस् इसकी भूगोल संबंधी रचना है। एक पुस्तक इसने निरुक्तियों पर भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन लेखकों की रचनाओं पर इसने टीकाएँ भी रची थीं। (भो० ना० श०)

अपोलोनियस् (त्याना का) नव-पिथागोरस् संप्रदाय का दार्शनिक और सिद्ध पुरुष, जिसका जन्म ई० सन् के आरंभ से थोड़े ही पूर्व हुआ था। इसने तार्सस् और इगाए में अस्क्लेपियस् (यूनान के धन्वंतरि) के मंदिर में शिक्षा प्राप्त की थी और तत्पश्चात् निनेव, बाबुल और भारत की यात्रा की। यह योगियों के वेश में रहता था। कोई इसको सिद्ध मानते थे, कोई ऐंद्रजालिक। सिद्ध के रूप में इसने ग्रीस, इटली और स्पेन की भी यात्रा की थी। नीरो और दामीतियान् दोनों ने इसपर राजद्रोह का आरोप लगाया पर यह बच गया। इसने एफेसस् में एक विद्यालय स्थापित किया जहाँ यह शतायु होकर परलोक सिधारा। इसकी तुलना ईसामसीह तक के साथ की गई है। (भो० ना० श०)

अपोलोनियस् (रोद्स का) (ई० पू० तीसरी शताब्दी), संभवतया सिकंदरिया अथवा नौक्रातिस् का निवासी था पर चूँकि अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह रोद्स में बस गया था, वहीं का रहनेवाला कहा जाने लगा। इसने कल्लीमाकस् से शिक्षा प्राप्त की थी पर आगे चलकर दोनों में महान् कलह हो गया। यह जेनोदोतस् और एरातोस्थेनेस् के मध्यवर्ती काल में सिकंदरिया के सुविख्यात पुस्तकालय का अध्यक्ष रहा। इसने गद्य और पद्य दोनों में बहुत कुछ लिखा था। पद्य में नगरों की स्थापना की पुस्तक तथा आर्गोनाउतिका अधिक प्रसिद्ध है। आर्गोनाउतिका में यासन् और मेदिया के प्रेम का वर्णन अभिराम हुआ है। इसकी उपमाएँ कालिदास की उपमाओं के समान विख्यात हैं। परवर्ती रोमन कवियों (विशेषकर वर्जिल) पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। (भो० ना० श०)

अपोलो योजना द्र० 'अंतरिक्ष यात्रा'।

अपोहन (डायलिसिस) वह प्रक्रम है जिसमें कोलाइडी विलयन को चर्मपत्र (पार्चमेंट) के थैले में रखकर बहते हुए पानी में रख देते हैं जिससे क्रिस्टलाभ (क्रिस्टलॉएड्स) अपद्रव्य चर्मपत्र को पार करके बह जाते हैं और शुद्ध कोलाइडी विलयन चर्मपत्र में रह जाता है। जिस उपकरण में अपोहन किया जाता है उसे अपोहक (डायलाइज़र) कहते हैं। ठंढे जल के स्थान पर गरम जल प्रयुक्त करने से अपोहन की क्रिया तेज हो जाती है।

अपोहन के लिये प्रयुक्त किए जानेवाले चर्मपत्र के थैले के बाहर जल में

अपोहन — विद्युत् अपोहन
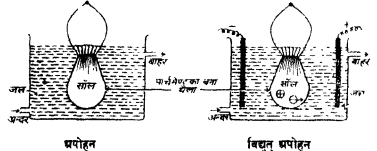
धन विद्युती तथा ऋण विद्युती दो इलेक्ट्रोड रखने पर अपोहन की क्रिया विद्युत् अपोहन (इलेक्ट्रो डायलिसिस) कहलाती है और बहुत तीव्र होती है। (नि० सि०)

अपोहवाद बौद्ध दर्शन में सामान्य का खंडन करके नामजात्याद्यसंयुत अर्थ को ही शब्दार्थ माना गया है। न्यायमीमांसा दर्शनों में कहा गया है कि भाषा सामान्य या जाति के बिना नहीं रह सकती। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग शब्द हो तो भाषा का व्यवहार नष्ट हो जायगा। अनेकता में एकत्व व्यवहार भाषा की प्रवृत्ति का मूल है और इसी को तात्विक दृष्टि से सामान्य कहा जाता है। भाषा ही नहीं, ज्ञान के क्षेत्र में भी सामान्य का महत्व है क्योंकि यदि एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से पृथक् माना जाय तो एक ही वस्तु के अनेक ज्ञानों में परस्पर कोई संबंध नहीं हो सकेगा। अतएव सामान्य या जाति को अनेक व्यक्तियों में रहनेवाली एक नित्य सत्ता माना गया है। यही सत्ता भाषा के व्यवहार का कारण है और भाषा का भी यही अर्थ है। बौद्धों के अनुसार सभी पदार्थ क्षणिक हैं अतः वे सामान्य की सत्ता नहीं मानते। यदि सामान्य एक है तो वह अनेक व्यक्तियों में कैसे रहता है? यदि सामान्य नित्य है तो नष्ट पदार्थ में रहनेवाले सामान्य का क्या होता है? अतः सामान्य नामक नित्यसत्ता वस्तुओं में नहीं होती। वस्तु क्षणिक है अतः वह किसी अन्य वस्तु से संबंधित न होकर अपने आपमें ही विशिष्ट एक सत्ता है जिसे स्वलक्षण कहा जाता है। अनेक स्वलक्षण पदार्थों में ही अज्ञान के कारण एकता की मिथ्या प्रतीति होती है और चूँकि लोकव्यवहार के लिये ऐसी प्रतीति की आवश्यकता है इसलिये सामान्य लक्षण पदार्थ व्यावहारिक सत्य तो हैं किंतु परमार्थतः वे असत् हैं। शब्दों का अर्थ परमार्थतः सामान्य के संबंध से रहित होकर ही भासित होता है। इसी को अन्यापोह या अपोह कहते हैं। अपोह सिद्धांत के विकास के तीन स्तर माने जाते हैं। दिङ्नाग के अनुसार शब्दों का अर्थ अन्याभाव मात्र होता है। शांतरक्षित ने कहा कि शब्द भावात्मक अर्थ का बोध कराता है, उसका अन्य से भेद ऊहा से मालूम होता है। रत्नकीर्ति ने अन्य के भेद से युक्त शब्दार्थ माना। ये तीन सिद्धांत कम से कम अन्य से भेद को शब्दार्थ अवश्य मानते हैं। यही अपोहवाद की विशेषता है। (रा० पां०)

अपौरुषेयतावाद वेद के आविर्भाव के विषय में नैयायिकों और तद्भिन्न दार्शनिकों के, विशेषतः मीमांसकों के, मत में बड़ा पार्थक्य है। न्याय का मत है कि ईश्वर द्वारा रचित होने के कारण वेद 'पौरुषेय' हैं, परंतु सांख्य, वेदांत और मीमांसा मत में वेद का उन्मेष स्वतः ही होता है, उसके लिये किसी भी व्यक्ति का, यहाँ तक कि सर्वज्ञ ईश्वर का भी प्रयत्न कार्यसाधक नहीं है। पुरुष द्वारा उच्चरितमात्र होने से भी कोई वस्तु पौरुषेय नहीं होती, प्रत्युत् दृष्ट के समान अदृष्ट में भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होने पर ही 'पौरुषेयता' आती है (यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्—सांख्य सूत्र ५।५०)।

श्रुति के अनुसार ऋग्वेद आदि वेद 'उस महाभूत के निःश्वास' हैं। श्वास प्रश्वास तो स्वतः आविर्भूत होते हैं। उनके उत्पादन में पुरुष की कोई बुद्धि नहीं होती। अतः उस महाभूत के निःश्वास रूप ये वेद अदृष्टवशात् अबुद्धिपूर्वक स्वयं आविर्भूत होते हैं। मीमांसा मत में शब्द नित्य होता है। शब्द अश्रुत होने पर भी लुप्त नहीं होता, क्रमशः विकीर्ण होने पर, बहुत

स्थानों मे फैल जाने पर, वह लघु और अश्रुत हो जाता है, परन्तु कथमपि लुप्त नही होता। 'शब्द करो' कहते ही आकाश मे अंतर्हित शब्द तालु और जिह्वा के संयोग से आविर्भूत मात्र हो जाता है, उत्पन्न नही होता (मीमांसा सूत्र १।१।१८)। वेद नित्य शब्द की राशि होने से नित्य है, किसी भी प्रकार उत्पाद्य या कार्य नही है। तैत्तिरीय, काठक आदि नामो का संबध भिन्न-भिन्न वैदिक संहिताओं के साथ अवश्य मिलता है, परन्तु यह आख्या प्रवचन के कारण ही है, ग्रंथरचना के कारण नही (मी० सू० १।१।३०)। वेदो मे स्थान स्थान पर उपलब्ध बबर प्रावाहणि आदि के समान शब्द किसी व्यक्तिविशेष के वाचक न होकर नित्य पदार्थ के निर्देशक है (मी० सू० १।१।३१)। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रतिपादक होनेवाले वेदो मे लौकिक इतिहास खोजने का प्रयत्न एकदम व्यर्थ है। इस प्रकार स्वत आविर्भूत वेद किसी पुरुष की रचना न होने से 'अपौरुषेय' है। इसी सिद्धांत का नाम 'अपौरुषेयतावाद' है। (ब० उ०)

अप्पय दीक्षित (ज० ल० १५५० ई०) वेदांत दर्शन के विद्वान्। उनके पौत्र नीलकंठ दीक्षित के अनुसार ये ७२ वर्ष जीवित रहे थे। १६२६ मे शैवों और वैष्णवों का झगडा निपटाने ये पाड्य देश गए बताए जाते है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित इनके शिष्य थे। इनके करीब ४०० ग्रंथो का उल्लेख मिलता है। शंकरानुसारी अद्वैत वेदांत का प्रतिपादन करने के अलावा इन्होंने ब्रह्मसूत्र के शैव भाष्य पर भी शिव की मणिदीपिका नामक शैव संप्रदायानुसारी टीका लिखी। अद्वैतवादी होते हुए भी शैवमत की ओर इनका विशेष झुकाव था। (ग० पा०)

अप्पर स्वामिगल जिनका माता पिता द्वारा प्रदत्त नाम पहले 'मरुल नीक्कियर' था। इन्हे प्राचीन चार तमिल समयाचार्यों या शैवाचार्यो मे गिना जाता है जिनमे से अन्य तीन तिरुज्ञान संबधर, सुदरर तथा माणिक्क वाचकर है और ये चारो दक्षिणी 'शैव सिद्धात' संप्रदाय के मत प्रवर्तकों के रूप मे भी प्रसिद्ध है। अप्पर का जन्म दक्षिण आर्काट के तिरुवामुर गावँ (जि० कुड्डलुर) मे हुआ था और इनकी जाति वल्लाल नामक अब्राह्मणो की थी। इनके पिता का नाम पुगलनर था और माता का मातिनियर। इनकी एक बडी बहन भी थी जिसका नाम तिलकवदियर (तिलकवती) था और जिसने माता पिता का देहात हो जाने पर इनका सस्नेह लालन पालन किया। अपने जीवन के अंतिम समय मे इन्हे पुग्कलुर गावँ (जि० तंजोर) मे रहना पडा था जहाँ प्रसिद्ध है कि लगभग ८० वर्ष की वृद्धावस्था मे इन्होंने अपना शरीरत्याग किया। इनका जीवनकाल, ईसवी सन् की छठी शती के तृतीय चरण से लेकर सातवीं शती के मध्य भाग तक माना जाता है। अप्पर तमिल, संस्कृत एवं प्राकृत के प्रकांड विद्वान् थे और अपनी वाक्शक्ति पर पूर्ण अधिकार होने के कारण इनका एक नाम 'तिरुनावुक्करशु' भी प्रसिद्ध था। इन्हे वैदिक धर्म एवं जैनधर्म के गूढतम सिद्धांतो का भी पूरा ज्ञान था और ये सिद्धहस्त कवि भी थे।

अप्पर की प्रवृत्ति पहले शैव धर्म की ओर ही रही, किंतु तिरुप्पतिरिपुलियुर (जि० कुड्डलुर) अथवा जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर जाकर इन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया और वहाँ आचार्य भी बन गए, परन्तु उस दशा मे जब एक बार इन्हे घोर उदरशूल के कारण अधीरता हो गई तो इन्होंने अपनी बडी बहन की शरण ली और उसकी प्रेरणा से पुन. शैव धर्म ग्रहण कर लिया। फलत बहुत से जैनियो द्वारा इस बात की निंदा की जाने पर, जैनी राजा कडव ने इन्हें अनेक बार महान् कष्ट पहुँचाया। फिर भी इन्हे कोई विचलित नही कर सका और इनसे प्रभावित होकर स्वय वह राजा तक शैव बन गया। तब से इन्होने प्रसिद्ध शैव तीर्थों और मंदिरो मे जाकर प्रचार करना आरंभ कर दिया और राजा महेंद्रवर्मन् (प्रथम) को भी शैव बनाया। मंदिरो मे पहुँचकर ये वहाँ की भूमि को स्वच्छ तथा सुदर बनाते और वहाँ की जनता को गाकर उपदेश दिया करते थे। अपनी इन यात्राओं के सिलसिले मे ये चिदबरम्, शियली, वेदारण्यम् आदि अनेक पवित्र स्थलो पर गए और, कहा जाता है, कहीं कहीं इन्होंने कई चमत्कार भी प्रदर्शित किए जिनका सर्वसाधारण पर बहुत प्रभाव पडा। जैन धर्म मे प्रतिष्ठा पा लेने पर इनका नाम 'क्षुल्लक धर्मसेन' पड गया था। परन्तु जब शैव धर्म का प्रचार करते समय इनकी तिरुज्ञान संबधर से मैत्री हुई तब उन्होंने इन्हें अप्पर (पिता) कहना आरंभ कर दिया।

अप्पर परिश्रमी किसान का आचरण करनेवाले शैव भक्त थे। इनकी उपलब्ध रचनाओं मे इनके इष्टदेव शिव का रूप एक निर्विशेष, सर्वातीत, किंतु सर्वांतर्गत परमतत्व सा प्रतीत होता है और उसे एक अनुपम व्यक्तित्व प्रदान करते हुए ये उसके प्रति विरहनिवेदन तथा पश्चात्ताप के भाव प्रदर्शित करते है। इनकी भक्ति दास्य भाव की है जिसमें करुणा एवं दैन्य भाव की मात्रा भी कम नही जान पडती।

सं०ग्रं०—पेरिय पुराणम्, सी० वी० एन० अय्यर : ओरिजिन ऐड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज्म इन साउथ इंडिया, मद्रास यूनिवर्सिटी प्रकाशन (जी० ए० नटेसन, मद्रास)। (प० च०)

अप्पियन (ई० ल० ११६–१७० तक) एक यूनानी-रोमन इतिहासकार जिसका जन्म सिकंदरिया (मिस्र) मे हुआ था। सम्राट् त्राजन के समय वह रोम गया और आतोनिनस पीयस के समय तक वहाँ रहा। इस बीच उसने वकालत की तथा सरकारी वकील और राजकोषाध्यक्ष के पदो को सुशोभित किया। उसने अपने ढंग से रोम का इतिहास २४ भागो मे लिखा जिसमे रोम का आधिपत्य स्वीकार करनेवाला का आदिकाल से रोम साम्राज्य मे मिलने तक का इतिहास है। उनमे से केवल ११ भाग और कुछ अंश उपलब्ध है। यह ग्रंथ यूनानी भाषा मे है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह उच्च स्तर का नही है, पर इसका ऐतिहासिक मूल्य कम नही है। (बै० पु०)

अप्रमा न्यायमत मे ज्ञान दो प्रकार का होता है। संस्कार मात्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान 'अनुभव' कहा जाता है। यह अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। जो वस्तु जैसी हो उसका उसी रूप मे अनुभव होना यथार्थ अनुभव है (यथाभूतार्थो यस्मिन् स)। घट का घट रूप मे अनुभव होना यथार्थ कहलाएगा। यथार्थ अनुभव की ही अपर संज्ञा 'प्रमा' है। 'अयं घट' (= यह घडा है) इस प्रमा मे हमारे अनुभव का विषय है घट (विशेष्य) जिसमे 'घटत्व' द्वारा सूचित विशेषण की सत्ता वर्तमान रहती है तथा यही घटत्व घट ज्ञान का विशिष्ट चिह्न है। प्राय इसीलिए उसे 'प्रकार' कहते है। जब घटत्व से विशिष्ट घट का अनुभव यही होता है कि वह कोई घटत्व से युक्त घट है, तब यह प्रमा होती है। न्याय की शास्त्रीय परिभाषा मे 'अयं घट' का अर्थ होता है—घटत्ववद् घटविशेष्यक—घटत्वप्रकारक अनुभव। प्रमा से विपरीत अनुभव को 'अप्रमा' कहते है, अर्थात् किसी वस्तु मे किसी गुण का अनुभव जिसमे वह गुण विद्यमान ही नही रहता। रजत मे 'रजतत्व' का ज्ञान प्रमा है, परन्तु रजत से भिन्न होनेवाली शुक्ति मे रजतत्व का ज्ञान अप्रमा है। प्रमा के दृष्टात मे 'घटत्व' घट का विशेषण है और घट ज्ञान का प्रकार है। फलत 'विशेषण' किसी भौतिक द्रव्य का गुण होता है, परन्तु 'प्रकार' ज्ञान का गुण होता है। (ब० उ०)

अप्सरा (१) प्रत्येक धर्म का यह विश्वास है कि स्वर्ग मे पुण्यवान् लोगो को दिव्य सुख, समृद्धि तथा भोगविलास प्राप्त होते है और इनके साधन मे अन्यतम है अप्सरा जो काल्पनिक, परन्तु नितांत रूपवती स्त्री के रूप मे चित्रित की गई है। यूनानी ग्रंथो मे अप्सराओं को सामान्यत 'निफ्' नाम दिया गया है। ये तरुण, सुदर, अविवाहित, कमर तक वस्त्र से आच्छादित, और हाथ मे पानी से भरा हुआ पात्र लिए स्त्री के रूप मे चित्रित की गई हैं जिनका नग्न रूप देखनेवाले को पागल बना डालता है और इसलिये नितांत अनिष्टकारक माना जाता है। जल तथा स्थल पर निवास के कारण इनके दो वर्ग होते है।

भारतवर्ष मे अप्सरा और गधर्व का साहचर्य नितांत घनिष्ठ है। अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार ही अप्सरा (अप्सु सरन्ति गच्छन्तीति अप्सरा) जल मे रहनेवाली मानी जाती है। अथर्व तथा यजुर्वेद के अनुसार ये पानी मे रहती है इसलिये कही कही मनुष्यों को छोडकर नदियों और जलतटो पर जाने के लिये इनसे कहा गया है। यह इनके बुरे प्रभाव की ओर संकेत है। शतपथ ब्राह्मण मे (११।५।१।४) ये तालाबो मे पक्षियों के रूप मे तैरनेवाली चित्रित की गई है और पिछले साहित्य मे ये निश्चित रूप से जगली जलाशयो मे, नदियों मे, समुद्र के भीतर वरुण के महलो मे भी रहनेवाली मानी गई है। जल के अतिरिक्त इनका संबध वृक्षों से भी है।

अथर्ववेद (४।३७।४) के अनुसार ये अश्वत्थ तथा न्यग्रोध वृक्षों पर रहती हैं जहाँ ये झूले में झूला करती हैं और इनके मधुर वाद्यों (कर्करी) की मीठी ध्वनि सुनी जाती है। ये नाच गान तथा खेलकूद में निरत होकर अपना मनोविनोद करती हैं। ऋग्वेद में उर्वशी प्रसिद्ध अप्सरा मानी गई है (१०।९५)।

पुराणों के अनुसार तपस्या में लगे हुए तापस मुनियों को समाधि से हटाने के लिये इंद्र अप्सरा को अपना सुकुमार, परंतु मोहक प्रहरण बनाते हैं। इंद्र की सभा में अप्सराओं का नृत्य और गायन सतत आह्लाद का साधन है। घृताची, रंभा, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका, कुंडा आदि अप्सराएँ अपने सौंदर्य और प्रभाव के लिए पुराणों में काफी प्रसिद्ध हैं। इस्लाम में भी स्वर्ग में इनकी स्थिति मानी जाती है। फारसी का 'हूरी' शब्द अरबी 'हवरा' (कृष्णलोचना कुमारी) के साथ संबद्ध बतलाया जाता है। (ब० उ०)

अप्सरा (२) भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, ट्रांबे (बंबई) में स्थापित भारतवर्ष की प्रथम परमाणु भट्ठी (रिऐक्टर) का नाम है। इसकी रूपरेखा, डिजाइन आदि डा० भाभा एवं उनके सहयोगी वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों ने १९५५ ई० में तैयार की थी। यह सर्वप्रथम ५ अगस्त, १९५६ ई० को प्रातः ३ बजकर ४५ मिनट पर क्रांतिक (क्रिटिकल) अवस्था में पहुँचा। इसका उद्घाटन २० जनवरी, सन् १९५७ ई० को प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

अप्सरा रिऐक्टर भवन का आकार ३०.५ × १५.२ × १८.३ मीटर और रिऐक्टर कुंड (पूल) का आकार ८.५ × ३.० × ८.२ मीटर है। अप्सरा की ऊर्जा उत्पादन की अधिकतम शक्ति १००० किलोवाट है, लेकिन इसका प्रचालन सामान्यतः ४०० किलोवाट शक्ति तक ही किया जाता है।

पिछले १६ वर्षों के अंतर्गत अप्सरा में बहुत से महत्वपूर्ण परीक्षण किए जा चुके हैं और प्रति वर्ष लाखों रुपए की लागत के रेडियो समस्थानिकों का निर्माण किया जाता है। यह रिऐक्टर भौतिकी, रसायन और जैविकी आदि के क्षेत्रों में अनुसंधान के लिये बहुत लाभदायक है। अनुसंधान प्रयोगों के अतिरिक्त इस रिऐक्टर में रेडियो समस्थानिकों का निर्माण भी काफी मात्रा में किया जाता है। इन रेडियो समस्थानिकों का उपयोग बड़े बड़े उद्योगों और अस्पतालों में किया जाता है।

अप्सरा रिऐक्टर के निर्माण और प्रचालन से प्राप्त हुए अनुभवों के आधार पर ही भारत परमाणु शक्ति के क्षेत्र में इतना विकास कर सका है। (नि० सि०)

अफई छोटा और विषैला साँप है जिसका सिर तिकोना और जिसकी सफेद रंग की भूरी पृष्ठभूमि पर एक तीर का निशान बना रहता है। शरीर धूसरपन लिए हुए भूरा और उसपर पीले चिह्नों की एक शृंखला होती है। उक्त शृंखला देह के ऊपर एक वक्र बनाती है। अफई की लंबाई ५५० मि०मी० तक पाई गई है। जंतु विज्ञान में इसका नाम एकिस कैरिनैटस है।

इस साँप का आहार छोटे मेढक, छिपकलियाँ, साँप, बिच्छू तथा अनेक प्रकार के कीट हैं। इन्हें अक्सर खुली चट्टानों पर भी देखा गया है। राजस्थान के रेगिस्तानों में रात के समय इन्हें चलते पाया गया है। महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले में ये साँप बहुत संख्या में पकड़े गए हैं। देखने में ये बहुत सुंदर होते हैं। इनका रंग बाहरी वातावरण के रंग जैसा होता है इसलिये इन्हें देखने से पहले ही, अधिकांश लोग इनके शिकार हो जाते हैं। मृत्यु काटने के कई दिन बाद होती है। (नि० सि०)

अफगान वे सब जात्योपजातियाँ जो प्रायः आधुनिक अफगानिस्तान, बलोचिस्तान के उत्तरी भाग तथा भारत के उत्तर पश्चिमी पर्वतखंडों में बसती हैं। वंश अथवा प्राकृतिक दृष्टि से ये प्रायः तुर्क-ईरानी हैं और भारत के निवासियों का भी काफी मिश्रण इनमें हुआ है।

कुछ विद्वानों का मत है कि केवल दुर्रानी वर्ग के लोग ही सच्चे 'अफगान' हैं और वे उन बनी इसराइल फिरकों के वंशज हैं जिनको बादशाह नबूकदनज़ार फिलस्तीन से पकड़कर बाबुल ले गया था। अफगानों के यहूदी फिरकों के वंशधर होने का आधार केवल यह है कि खाँजहाँ लोदी ने अपने इतिहास '**मखज़ने अफगानी**' में १६वीं सदी में इसका पहले पहल उल्लेख किया था। यह ग्रंथ बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल में लिखा गया था। इससे पहले इसका कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। अफगान शब्द का प्रयोग अलबरूनी एवं उत्बी के समय अर्थात् १०वीं शती के अंत में होना शुरू हुआ। दुर्रानी अफगानों के बनी इसराईल के वंशधर होने का दावा तो उसी परिपाटी का एक उदाहरण है जिसका प्रचलन मुसलमानों में अपने को मुहम्मद के परिवार का अथवा अन्य किसी महान् व्यक्ति का वंशज बतलाने के लिये हो गया था।

यद्यपि अफगानिस्तान के दुर्रानी एवं अन्य निवासी अपने ही को वास्तविक अफगान मानते हैं तथा अन्य प्रदेशों के पठानों को अपने से भिन्न बतलाते हैं, तथापि यह धारणा असत्य एवं निस्सार है। वास्तव में 'पठान' शब्द ही इस जाति का सामूहिक जातिवाचक शब्द है। 'अफगान' शब्द तो केवल उन शिक्षित तथा सभ्य वर्गों में प्रयुक्त होने लगा है, जो अन्य पठानों की अपेक्षा उत्कृष्ट होने पर बड़ा गर्व करते हैं।

पठान शब्द 'पख्ताना' (ऋग्वैदिक पक्थान्) या 'पश्तान' शब्द का हिंदी रूपांतर है। 'पठान' उन समस्त वर्गों के लिये प्रयुक्त होता है, जो 'पश्तो' भाषाभाषी हैं। पठान शब्द का प्रयोग पहले पहल १६वीं शती में 'मखज़ने अफगानी' के रचयिता नियामतुल्ला ने किया था। परंतु, जैसा कहा जा चुका है, अफगान शब्द का प्रयोग बहुत पहले से होता आया था।

अफगान जाति के लोगों के उत्तरपश्चिम के पहाड़ी प्रदेशों तथा आसपास की भूमि पर फैले होने के कारण, उनके चेहरे मोहरे और शरीर की बनावट में स्थानीय विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। तथापि सामान्य रूप से वे ऊँचे कद के, हृष्ट पुष्ट तथा प्रायः गोरे होते हैं। उनकी नाक लंबी एवं नोकदार, बाल भूरे और कभी कभी आँखें कंजी पाई जाती हैं।

थोड़े समय से ऊँचे वर्ग के पठान या अफगान सब फारसी बोलने लगे हैं। साधारण पठान 'पश्तो' भाषाभाषी हैं। अफगानिस्तान में उनका प्राबल्य १८वीं सदी के मध्य में हुआ है जब अहमदशाह अब्दाली (दुर्रानी) ने उस देश पर अधिकार करके उसे 'दुर्रानी' साम्राज्य घोषित किया था।

इन अफगानों या पठानों के विभिन्न वर्गों को एक सूत्र में बाँधनेवाली इनकी भाषा 'पश्तो' है। इस बोली के समस्त बोलनेवाले, चाहे वे किसी कुल या जाति के हों, पठान कहलाते हैं।

समस्त अफगान एक सर्वमान्य अलिखित किंतु प्राचीन परंपरागत विधान के अनुयायी हैं। इस विधान का आदि स्रोत 'पख्तानी' है। परंतु उसपर मुस्लिम तथा भारतीय रीत्याचार का काफी प्रभाव पड़ा है। पठानों के कुछ नियम तथा सामाजिक प्रचलन राजपूतों से बहुत मिलते हैं। सभी अफगानों का जीवन सैनिकों का सा होता है। एक ओर अतिथिसत्कार, और दूसरी ओर शत्रु से भीषण प्रतिशोध, उनके जीवन के अंग हो गए हैं। ऊसर और सूखे पहाड़ी प्रदेशों के निवासी होने के कारण उनका जीवन सदैव संघर्षपूर्ण रहा है। इसी से वे निर्भीक और निर्दय हो गए हैं। उनकी हिंस्र प्रवृत्ति धर्मांधता के कारण और भी उग्र हो गई है। किंतु उनके चरित्र में सौंदर्य तथा सद्गुणों की भी कमी नहीं है। वे बड़े वाक्चतुर, सामान्य परिस्थितियों में बड़े विनम्र और समझदार होते हैं। शायद उनके इन्हीं गुणों के कारण भारतीय स्वाधीनता संग्राम में महात्मा गांधी के प्रभाव से महामान्य अफगान नेता अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में समस्त पठान जनता के चरित्र में ऐसा मौलिक एवं आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ कि वह 'अहिंसा' की सच्ची व्रती बन गई। इन अफगानों में ऐसा परिवर्तन होना इतिहास की एक अपूर्व एवं अनुपम घटना है।

सं०ग्रं०—नियामतुल्ला मखज़ने अफगानी, बी० डॉर्न हिस्ट्री ऑव अफगान्स, उत्बी तारीखे यामिनी, मिहाजुद्दीन बिन सिराजुद्दीन : तबकाते नासिरी, बाबरनामा, मिर्ज़ा मुहम्मद तारीखे मुल्तानी (बंबई से प्रकाशित)। (प० श०)

अफगानिस्तान दक्षिण पश्चिम एशिया का एक स्वतंत्र मुसलमानी राज्य है, जो पामीर पठार के दक्षिण पश्चिम में लगभग ७०० मील तक फैला है। इसके उत्तर में रूसी तुर्किस्तान, पश्चिम में फारस, दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व में पाकिस्तान, तथा पूर्व में चीन का सिंकियांग एवं भारत का काश्मीर प्रदेश स्थित हैं। अत्यंत शक्तिशाली राज्यों से घिरा होने के कारण

यह एक अंतःस्थ (बफर) राज्य है जिसकी सीमा पिछले १०० वर्षों में अनेक बार संधियों द्वारा निर्धारित होती रही है। अंतिम बार इसकी सीमा २२ नवंबर, १९२१ ई० में अफगानिस्तान और ब्रिटेन की संधि द्वारा निर्धारित की गई, जिसके पश्चात् इसे जर्मनी, फ्रांस, रूस, इटली आदि राज्यों की मान्यता प्राप्त हो गई।

स्थिति २९° उ० से ३८° ३५' उ० अ०, ६०° ५०' पू० से ७५° पू० दे०। क्षेत्रफल : २,५०,००० वर्गमील। जनसंख्या १,५६,४४,२७५ (सन् १९६६ ई०) पठान ६०%, ताजिक ३०, ७%, उजबेक ५% हजारा (मुगल) ३%। अफगानिस्तान में जातीय एकता का अभाव है। पाकिस्तान की सीमा के निकट वजीरी, अफ्रीदी एवं मांगल आदि पठान जातियाँ रहती हैं जो बड़ी ही स्वेच्छाचारी हैं।

लो जिरगा (ग्रैंड नैशनल असेंबली) द्वारा सितंबर, १९६४ में स्वीकृत एवं अक्टूबर, १९६५ में लागू नए संविधान के अनुसार अफगानिस्तान में संसदीय जनतंत्र की स्थापना हो गई है जिसमें विधान संबंधी सभी अधिकार जनता द्वारा निर्वाचित द्विसदनी संसद् को प्राप्त हैं। मुहम्मद जहीरशाह संवैधानिक राष्ट्राध्यक्ष (बादशाह) और डॉ० अब्दुल जहीर वर्तमान प्रधान मंत्री हैं। बादशाह को प्रधान मंत्री तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार है। विधानपालिका, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका इत्यादि शासन की इकाइयाँ अलग अलग हैं और अपने अपने क्षेत्र में प्रभुसत्तासंपन्न हैं। संपूर्ण देश को २९ प्रांतों में विभक्त कर दिया गया है और हर प्रांत का प्रशासन गवर्नर के द्वारा चलाया जाता है। काबुल, कपिसा, परवान, वरदक, लोगर, ननगरहर, पक्तया, कहवाज तथा उरगन, जाबुल, कंधार, उरुजगान, बामियान, हेरात, बदघीस, फरयाब, जाउजगान, बल्ख, हलमंड, फराह, निमरूज, गोर, समगन, कुनडूज, ताखार, बदख्शाँ, बघलान तथा पुलेखुमरी, लघमनन और कुनार प्रांतों के नाम हैं। यहाँ सुन्नी मुसलमानों की प्रधानता है। शीया मुसलमानों की जनसंख्या देश की जनसंख्या का केवल आठ प्रतिशत है। काबुल अफगानिस्तान की राजधानी एवं प्रमुख नगर है, इसकी जनसंख्या ४,८०,३८३ (सन् १९६९) है। कंधार, हेरात, मजार-ए-शरीफ और जलालाबाद आदि अन्य मुख्य नगर हैं। राज्यभाषाएँ पश्तो और फारसी हैं।

उत्तर में तुर्किस्तान के मैदानी खंड को छोड़कर अफगानिस्तान गगनचुंबी पर्वतों एवं ऊँचे पठारों का देश है, जो जवशिला (शेल) और चूने के पत्थरों के बने हैं। इनके तल में ग्रैनाइट तथा साईनाइट पत्थर मिलते हैं। मत्स्य (डेवोनियन) और कार्बनप्रद (कार्बनिफेरस) युगों के पहले यह क्षेत्र टेथिस सागर का एक अंग था। बाद में यह ऊपर उठने लगा तथा यहाँ के पठारों एवं पर्वतों का निर्माण तृतीय कल्प (टर्शियरी एरा) में हिमालय और ऐल्प्स के निर्माण के साथ हुआ।

अफगानिस्तान की मुख्य पर्वतश्रेणी हिंदूकुश है। यह पामीर पठार से दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिम की ओर लगभग ६०० मील तक चलकर हेरात प्रांत में लुप्त हो जाती है। कोह-ए-बाबा, फिरोज कोह, और कोह-ए-सफेद इसके अन्य भागों के नाम हैं। इसकी दक्षिणी शाखा सुलेमान पर्वत है जो पूर्व में टोरघर तथा स्याह कोह और पश्चिम में स्पिनघर तथा सफेद कोह कही जाती है। हिंदूकुश पर्वत के प्रमुख दर्रे खावक, सलग, बामियाँ एवं शिकारीशेबर हैं। सुलेमान के दर्रे खैबर, गोमल एवं बोलन हैं। ये दर्रे वाणिज्यपथ का काम देते हैं। प्राचीन काल में इन्हीं दर्रों से होकर सर्वप्रथम आर्य लोग तथा बाद में मुसलमान, मुगल तथा अन्य विदेशी भारत में पहुँचे।

अफगानिस्तान छह प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है

(१) बैक्ट्रिया अथवा अफगानी तुर्किस्तान, जो हिंदूकुश पर्वत के उत्तर आमू तथा उसकी सहायक कुंदज तथा कोक्चा नदियों का मैदानी भाग है।

(२) हिंदूकुश पर्वत, जिसकी औसत ऊँचाई १५,००० फुट से अधिक है। इसकी चोटियाँ, जो १८,००० फुट से भी ऊँची हैं, सर्वदा हिमाच्छादित रहती हैं।

(३) बदख्शाँ, जो उत्तरी पूर्वी अफगानिस्तान में, तुर्किस्तान के पूर्व, एक रमणीक प्रदेश है। इसी के अंतर्गत 'छोटा पामीर' पर्वत है।

(४) काबुलिस्तान, जिसके अंतर्गत काबुल का पठार और चारदेह तथा कोह-ए-दमन की समृद्ध घाटियाँ हैं। काबुल के पठार की ऊँचाई, ५,००० से ६,००० फुट तक है, यह काबुल नदी तथा उसकी सहायक लोगर, पंजशीर एवं कुनार से सिंचित, समृद्ध एवं घनी आबादी का क्षेत्र है।

(५) हजारा, जो मध्य अफगानिस्तान का पर्वतीय एवं विरल आबादी का प्रदेश है।

(६) दक्षिणी मरुस्थल, जिसके पश्चिमी भाग में सिस्तान एवं पूर्व में रेगस्तान नामक मरुस्थल हैं। ये मरुस्थल देश का चौथाई भाग छेंके हुए हैं। इस क्षेत्र का जलपरिवाह (ड्रेनेज) हमुन-ए-हेलमाँद तथा गौद-ए-जिरेह नामक झीलों में जमा होता है।

आमू, हरी रूद, मुर्गाब, हेलमाँद, काबुल आदि अफगानिस्तान की प्रमुख नदियाँ हैं। आमू तथा काबुल के अतिरिक्त अन्य नदियाँ अंतःस्थल परिवाही (इनलैंड ड्रेनेजवाली) हैं। आमू नदी रोशन एवं दरवाज नामक पर्वत श्रेणियों से निकलकर लगभग ४८० मील तक अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निर्धारित करती है। हेलमाँद अफगानिस्तान की सर्वाधिक लंबी नदी है जो ६०० मील तक हजारा एवं दक्षिणी पश्चिमी मरुस्थल में होती हुई सिस्तान क्षेत्र में गिरती है।

अफगानिस्तान खनिज पदार्थों में धनी है, परंतु उनका विकास अभी तक नहीं हो सका है। निम्न कोटि का कोयला घोरबंद की घाटी में और लटाबाद के समीप मिलता है। इसकी संचित निधि १,५०,००,००० टन कूती जाती है, किंतु वार्षिक उत्पादन १०,००० टन से बढ़कर १९६७-६८ में १,५१,००० टन हो गया था। नमक कटाघम क्षेत्र में मिलता है। इसका वार्षिक उत्पादन १९६७-६८ में लगभग ३१,००० टन था। अन्य खनिज पदार्थों में तांबा हिंदूकुश में, सीसा हजारा में चाँदी हजाराजत एवं पंजशीर की घाटी में, लोहा घोरबंद की घाटी एवं काफिरिस्तान में, गंधक मयमाना प्रांत एवं कामार्द की घाटी में, अभ्रक पंजशीर की घाटी में, एस्बेस्टास जिद्रा जिले में, क्रोमियम लोगर की घाटी में तथा सोना, माणिक, फीरोजा, वैडूर्य (लैपिस लैजूली) एवं अन्य बहुमूल्य पत्थर बदख्शाँ में मिलते हैं। हाल में खनिज तेल उत्तरी अफगानिस्तान के हेरात प्रांत में प्राप्त हुआ है।

अफगानिस्तान की जलवायु अति शुष्क है। यहाँ दैनिक तथा वार्षिक तापांतर अधिक तथा वायुवेग अत्यंत तीव्र रहता है। ग्रीष्म ऋतु में घाटियाँ तथा कम ऊँचे पठार उष्ण हो जाते हैं। आमू की घाटी, कंधार एवं जलालाबाद में ताप ११०° से ११५° फारेनहाइट तक चढ़ जाता है तथा दक्षिण पश्चिम के मरुस्थल में धूल एवं बालुकायुक्त प्रचंड हवाएँ १०० मील प्रति घंटे से भी अधिक वेग से चलती हैं। जाड़े की ऋतु में बहुत ठंढी और वेगवती हवाएँ चलती हैं। काबुल, गजनी, हजारा आदि ३,००० फुट से अधिक ऊँचे क्षेत्रों में ताप ०° फा० से भी कम हो जाता है। यहाँ जनवरी तथा फरवरी के महीनों में तुषारपात और मार्च तथा अप्रैल में वर्षा होती है। अफगानिस्तान की औसत वर्षा ११ इंच है। इसके अधिकांश में वर्षा अपर्याप्त होती है। दक्षिण पश्चिम के मरुस्थल विशेष रूप से शुष्क हैं, जहाँ वर्षा चार इंच से भी कम होती है। ६,००० फुट से ऊँचे स्थलों में वसंत तथा शरद ऋतुएँ अति प्रिय और मनमोहक होती हैं।

जंगल ६,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई तक मिलते हैं। इन जंगलों में कोणधारी (चीड़ आदि) वृक्ष तथा श्रीदारु (लार्च) की प्रचुरता है। इन वृक्षों की छाया में गुलाब एवं अन्य सुंदर फूल उगते हैं। ३,००० से ६,००० फुट की ऊँचाई में बाज (ओक) एवं अखरोट के वृक्ष मिलते हैं। ३,००० फुट से नीचे जंगली जैतून (ऑलिव), गुलाब, बेर तथा बबूल पाए जाते हैं।

अफगानिस्तान पशुपालक एवं कृषिप्रधान देश है। इसका अधिकांश पर्वतीय एवं शुष्क होने के कारण कृषि के लिये उपयुक्त नहीं है। फिर भी यहाँ के मैदानों एवं अनेक उर्वर घाटियों में नहरों आदि द्वारा सिंचाई करके फल, सब्जियाँ एवं अन्न उपजाए जाते हैं। कुछ भागों में बिना सिंचाई की कृषि भी प्रचलित है। जाड़े में गेहूँ, जौ तथा मटर और गरमी में धान, मक्का, ज्वार, बाजरा की फसलें होती हैं। थोड़े परिमाण में रुई, तंबाकू, तथा गाँजा भी पैदा किया जाता है। कुछ वर्षों से हेलमाँद तथा अर्गंदाब नदियों पर जल-संग्रह-तड़ाग और हरी रूद पर बाँध बनाकर कृषि को विकसित किया जा रहा है। यहाँ ग्रीष्मकाल की शुष्क जलवायु फल उपजाने के लिये उपयुक्त है। अंगूर, शहतूत और अखरोट के अतिरिक्त सेब, नाश-

पाती, बादाम, बेर, अंजीर, खूबानी, सतालू आदि फल भी उपजाए जाते हैं। अंगूर विशेषत भारत को निर्यात किया जाता है।

यहाँ की मुख्य संपत्ति भेडे तथा अन्य पशुसमुदाय है और प्रधान उद्यम पशुपालन है। कटाघन और मजार के क्षेत्रों मे सर्वोत्कृष्ट जाति के घोडे पाले जाते है। अदखुई के निकट भेड का सर्वोत्तम चमडा मिलता है। मोटी पूंछ की भेडे, जो दक्षिण मे मिलती है, ऊन, मास तथा चर्बी के लिये प्रसिद्ध है। ऊन का वार्षिक उत्पादन लगभग ७,००० टन है।

अफगानिस्तान मे केवल छोटे उद्योगों का विकास हो पाया है। काबुल नगर में दियासलाई, बटन, जूता, संगमरमर तथा लकडी के सामान बनाए जाते है। कुंदज मे रुई धुनने और जिबेल-उस-सिराज, पुल-ए-खुमरी तथा गुलबहार मे सूती कपडे बुनने के कारखाने है। बघलन एव जलालाबाद मे चीनी के कारखाने है। हाल मे जिबेल-उस-सिराज मे सीमेंट उद्योग का विकास हुआ है।

इस राज्य मे आवागमन की समस्या जटिल है। यहाँ रेलो का सर्वथा अभाव है और सडकों की स्थिति अच्छी नहीं है। अत आवागमन के सामान्य साधन ऊँट, गधा, खच्चर तथा बैल है। परतु मोटरगाडियो का प्रयोग दिनोंदिन बढता जा रहा है।

चारो ओर अन्य देशो से घिरे होने के कारण अफगानिस्तान का ९०% वैदेशिक व्यापार पहले पाकिस्तान द्वारा होता था, किंतु २ जून, १९५५ ई० को अफगानिस्तान तथा रूस के बीच पचवर्षीय पारवहन सधि होने के बाद अफगानिस्तान का व्यापार विशेष रूप से रूस द्वारा होने लगा है। मुख्य आयात सूती कपडा, चीनी, धातु की बनी सामग्री, पशु, चाय, कागज, पेट्रोल, सीमेंट आदि है, जो विशेषत भारत, रूस तथा पाकिस्तान से प्राप्त होते है। सूखे एव रसदार फल, मसाले, कराकुल नामक चर्म, दरियाँ, रुई एव कच्चा ऊन यहाँ के मुख्य निर्यात है, जो प्रधानत भारत, रूस, संयुक्त राज्य (अमरीका) तथा ब्रिटन को भेजे जाते है। (न० कि० प्र० सि०)

इतिहास : १८ वीं शताब्दी के मध्य तक अफगानिस्तान नाम से विहित राज्य की कोई पृथक् सत्ता नही थी अत अफगानिस्तान की भौगोलिक सज्ञा का उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उपयोग बहुत कुछ १७४७ के पूर्व तक आनुवंशिक था। इसके एक सगठित राष्ट्रीय एकतंत्र के रूप में उदय होने के पूर्व इस देश का इतिहास अत्यत वैविध्यपूर्ण है।

आर्यों के आगमनकाल (ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम सहस्राब्दी) में ये राज्य ईरानी जातियो द्वारा अधिकृत थे। बाद में कुरुष् ने इन राज्यों को हखमनी साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। ई० पू० चौथी शताब्दी मे सिकदर ने इन राज्यो को विजित कर लिया। सिकदर के पश्चात् परवर्ती यूनानी शासक शको और पार्थवो द्वारा हटा दिए गए। ई० पू० प्रथम शताब्दी में उनपर कुषाणवंश के शासको का आधिपत्य रहा जो कुजुल कदफीसिस तथा कनिष्क के काल मे अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य अधिक समय तक नहीं टिक सका, किंतु कुषाण शासक हिंदूकुश की दक्षिणी पूर्वी घाटियों में तब तक बने रहे जब

तक श्वेत हूणो ने उनपर अधिकार नही जमा लिया। इन हूणो ने ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी मे अफगानिस्तान के उत्तरी एव पूर्वी भागो पर अधिकार कर लिया था। ७वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य पूर्वी अफगानिस्तान की राजनीतिक अवस्था का सम्यक् वर्णन ह्वेनत्साग ने किया है।

७वी शताब्दी मे अरबविजय का ज्वार अफगानिस्तान पहुँचा। इस आक्रमण की एक लहर सिजिस्तान होकर गुजरी, किंतु प्रथम तीन शताब्दियो मे यहाँ से होनेवाले काबुल विजय के प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। काबुली प्रात, अन्य पूर्वी प्रातो की अपेक्षा इस्लामीकरण का प्रतिरोध अधिक समय तक करता रहा। सुलतान महमूद गजनवी (९९७–१०३०) के काल मे अफगानिस्तान एक महान् किंतु अल्पजीवी साम्राज्य का प्रधान केंद्र बना जिसके अतर्गत ईराक तथा कैस्पियन सागर से रावी नदी तक के विस्तृत भूभाग थे। महमूद के उत्तराधिकारी गुरीदो द्वारा ११८६ ई० मे पराजित हुए। तत्पश्चात् अफगानिस्तान अल्प समय के लिये ख्वारिज्मी शाहो के हाथ आया। १३वी शताब्दी मे इसपर मगोलो ने अधिकार जमा लिया जो हिंदूकुश के उत्तर जम गए थे। उगुदे की मृत्यु के बाद मगोल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और अफगानिस्तान फारस के इल्खामो के हिस्से पडा। इन्ही के प्रभुत्व मे ताजिकिस्तान का 'कार्त' नामक एक राजवश शासनारूढ हुआ और देश के अधिकाश पर प्राय दो शताब्दियो तक शासन करता रहा। अत मे तैमूर ने आकर इस वश का अत कर डाला तथा हिरात विजय के पश्चात् उत्तरी अफगानिस्तान मे अपने को दृढ कर लिया।

१६वी शताब्दी के आरभ मे, बाबर के समय, ये राज्य काबुल और कधार म केंद्रित हो गए थे, जो भारतीय मुगल साम्राज्य के प्रात बन गए। किंतु, हिरात फारस के शाहो के अधिकार मे चला गया। एक बार अफगानिस्तान पुन विभाजित हुआ, फलत बल्ख उजबेको और कधार ईरानियो के बाँट पडा। १७०८ मे कधार के गिलजाइयो ने ईरानियो को निकाल भगाया और १७२२ मे फारस पर आक्रमण कर उसपर अपना अस्थायी शासन स्थापित कर लिया। १७३७–३८ मे नादिरशाह ने, जो फारस के महत्तम शासको मे से था, कधार दखल कर काबल जीत लिया।

१७४७ म नादिरशाह के मरने पर कधार के अफगान सरदारो ने अहमद खा (बाद मे अहमदशाह अब्दाली के नाम से विख्यात) को अपना मुखिया चुना और उसके नेतत्व मे अफगानिस्तान ने इतिहास मे प्रथम बार एक स्वाधीन शासनसत्ता द्वारा शासित, अपना राजनीतिक अस्तित्व प्राप्त किया। अहमदशाह ने दुर्रानी राजवश की नीव डाली और अपने राज्य का विस्तार पश्चिम मे लगभग कैस्पियन सागर, पूर्व मे पजाब और कश्मीर तथा उत्तर मे आमू दरिया तक किया।

१९वीं शताब्दी मे अफगानिस्तान दोतरफा दबाया गया, एक ओर रूस आमू दरिया तक बढ आया और दूसरी ओर ब्रिटेन उत्तर पश्चिम मे खैबर क्षेत्र तक चढ आया। १८३९ मे एक भारतीय ब्रिटिश सेना ने कधार, गजनी और काबुल पर अधिकार कर लिया। दोस्तमुहम्मद को हटाकर शाहशुजा नामक एक परवर्ती अक्षम शासक को अमीर बना दिया गया। इस परिवर्तन के विरुद्ध वहाँ भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, फलत शाहशुजा और कई ब्रिटिश अधिकारी तलवार के घाट उतार दिए गए। १८४२ के दिसबर मे ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान को खाली कर दिया और दोस्तमुहम्मद को फिर से अमीर होने की स्वीकृति दे दी। १८४९ मे दोस्तमुहम्मद ने सिक्खो की ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उनकी लडाई मे सहायता की, फलत पेशावर का क्षेत्र हाथ से निकल गया जो ब्रिटिश भारत मे मिला लिया गया। १८६३ मे दोस्त मुहम्मद ने हिरात को ईरानियो से पुन छीन लिया। उसके बेटे शेरअली खाँ ने रूसियो को स्वीकृति तो दे दी, किंतु ब्रिटिश एजेंट को रखने से इन्कार कर दिया। इससे द्वितीय अफगान युद्ध (१८७८–८१) छिड गया, फलत शेरअली खाँ भागा और उसकी मृत्यु हो गई। उसके बेटे याकूब खाँ ने ब्रिटिश सरकार से एक सधि की। उसने खैबर दर्रे के साथ सीमा के कई प्रदेशो को छोड दिया और ब्रिटेन को अफगानिस्तान के वैदेशिक सबधो को नियत्रित करने की स्वीकृति दे दी। इस प्रबध के विरुद्ध भडकनेवाले जनद्वेष और क्रोध के परिणामस्वरूप ब्रिटिश रेजिडेंट की हत्या हुई और याकूब खाँ गद्दी से उतार दिया गया। तत्पश्चात् दोस्तमुहम्मद का पोता अब्दुर्रहमान खाँ अमीर के रूप मे मान्य हुआ। अब्दुर्रहमान ने अपना प्रभुत्व कधार और हिरात तथा बाद मे काफिरिस्तान तक बढा लिया। उसने स्थानीय जातीय सरदारो द्वारा नियत्रित एक सशक्त केंद्रीय शासन स्थापित करने, अच्छी प्रकार से शिक्षित एक स्थायी सेना को सगठित करने, विद्रोहो को कुचलने और करव्यवस्था को दुरुस्त करने के लिये अफगानिस्तान को आधुनिक राष्ट्र की भाँति तैयार करने की आवश्यकता का पथ प्रशस्त किया। अब्दुर्रहमान के बेटे हबीबुल्ला खाँ ने, जो १९०१ में गद्दी पर बैठा, मोटरकारो, टेलीफोनो, समाचारपत्रो और काबुल के लिये प्रकाशयुक्त विद्युत् व्यवस्था का समारभ किया।

१९१९ मे हबीबुल्ला के एक भतीजे अमानुल्ला खाँ ने गद्दी सँभाली। उसने तुरत अफगानिस्तान के पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की और ग्रेट ब्रिटेन मे लडाई छेड दी जो शीघ्र ही एक सधि से समाप्त हो गई। उसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने अफगानिस्तान के पूर्ण स्वातत्र्य को मान्यता दी और अफगानिस्तान ने वर्तमान ऐंग्लो अफगानिस्तान सीमा स्वीकार कर ली।

अमानुल्ला ने अमीर का पद समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर 'बादशाह' उपाधि निर्धारित की तथा सरकार को एक केंद्रित प्रतिनिधि राजतत्र के अतर्गत मान्यता दी। उसने अफगानिस्तान को आधुनिक बनाने के लिये वहाँ वेगवान तथा द्रुत सुधारों की बाढ ला दी। मुल्लाओ के धार्मिक और खानो (सामतो) तथा कबायली सरदारो के लौकिक अधिकारो के प्रति उसकी चुनौती ने उनके प्रबल प्रतिरोध को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप १९२९ का विद्रोह हुआ और अमानुल्ला को गद्दी छोड विदेश भाग जाना पडा। वर्ष के भीतर ही पिछली लडाइयो के एक योद्धा मुहम्मद नादिर खाँ ने पुन शक्ति अर्जित की और नादिरशाह के रूप मे राज्यप्रमुख बना। १९३३ मे काबुल मे उसकी हत्या कर दी गई और उसका उत्तराधिकार मुहम्मद जहीरशाह को मिला जो १९६५ तक अफगानिस्तान का एकछत्र शासक रहा।

भाषा तथा साहित्य—अफगानिस्तान की प्रधान भाषाएँ पश्तो और फारसी है। पश्तो सामान्यत अफगानी जातियो की भाषा है जो अफगानिस्तान के उत्तरी-पूर्वी भाग मे बोली जाती है। काबुल का क्षेत्र और गजनी मुख्य रूप से फारसी-भाषा-भाषी है। राष्ट्रीय एकता को बढाने तथा शिक्षा के विस्तार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार ने पश्तो को राष्ट्रीय भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि विस्तृत रूप से पश्तो भारतीय आर्यभाषा से निकली है, फिर भी अपने शोर और गठन मे यह ईरानी भाषा है। ध्वनिपरिवर्तनो और बाह्यग्रहण ने पश्तो को एक स्वरव्यवस्था दी है जिसके अतर्गत ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनकी ध्वन्यात्मकता फारसी भाषा के लिये अपरिचित है। पश्तो के तीन अक्षर उसके लिये विलक्षण लगते है जो फारसी मे नही प्रयुक्त होते।

सन् १९४०–४१ मे अब्दुल हई हबीबी ने सुलेमा मकू द्वारा विरचित 'तजकिरातुलउलियां' नामक काव्यसग्रह के कुछ अश प्रकाशित किए जो ११वी शताब्दी के रचे बताए गए है। किंतु उनकी प्रामाणिकता अभी पूर्णत स्थापित नही हो सकी है। रावर्टी के अनुसार पश्तो मे लिखी गई प्राचीनतम कृति खोज निकाली गई है जो १४१७ मे लिखित शेखमाली की यूसुफजाइयज नामक इतिहास पुस्तक है। अकबर के शासनकाल मे रौशनिया आदोलन के पुरस्कर्ता बयाजिद अमारी (ल० १५८५) ने पश्तो मे कई पुस्तकें लिखी। उसका खैरुल-बयान अत्यत प्रसिद्ध कृति है। उसके समसामयिक अखुद दरवेज ने भी पश्तो मे कई पुस्तके लिखी हैं। खुशाल खाँ खत्तक (ल० १६९४) ने, जो आधुनिक अफगानिस्तान का राष्ट्रीय कवि है, लगभग सौ कृतियो का फारसी से पश्तो मे अनुवाद किया है। उसके पोते अफजल खाँ ने तारीखे-मुरस्सा नामक अफगानो का इतिहास लिखा। १८वी शताब्दी मे अब्दुर्रहमान और अब्दुल हामिद नामक पश्तो के दो लोकप्रिय कवि हो गए है। १८७२ मे विद्यार्थियो के उपयोग के लिये कालिद अफगानी नामक एक रचना रची गई थी जिसमे पश्तो गद्य और पद्य के नमूने प्राप्त होते है। १८२९ मे खारकोव के राजकीय रूसी विश्वविद्यालय के प्राफेसर बी० दोर्न ने पश्तो का अग्रेजी व्याकरण लिखा। पश्तो अकादमी ने अभी हाल मे ही अनेक साहित्यिक कृतियो का प्रकाशन किया है।

स०ग्रं०—साइक्स . ए हिस्ट्री ऑव अफगानिस्तान, (१९४०), फेरियर · हिस्ट्री ऑव दि अफ़गान्स (१८५४); मेलिसन . हिस्ट्री ऑव

अफगानिस्तान (१८७४); अफगानिस्तान ऐंड दि अफगान्स (१८७६); सुल्तान मुहम्मद खाँ कास्टिट्यूशन ऐंड लॉज ऑव अफगानिस्तान (१९१०), लॉकहर्ट नादिरशाह (१९३८), यीट नार्दर्न अफगानिस्तान (१८८८), मुहम्मदअली प्रोग्रेसिव अफगानिस्तान (१९३३), टेट दि किंगडम ऑव अफगानिस्तान, ए हिस्टॉरिकल स्केच (१९११), मुहम्मद हयात खाँ . हयाती-अफगानी (उर्दू मे अफगानिस्तान का इतिहास, १८३७); मुहम्मद हुसेन खाँ इन्कलाबी अफगानिस्तान (उर्दू मे, १९३१), ग्रियर्सन लिग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया, १०, रावर्टी . ग्रामर (१८६७); व्याकरण (१८६७), मार, रिपोर्ट ऑव ए लिग्विस्टिक मिशन ट अफगानिस्तान (१९२०), एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम (सशोधित सस्करण), खड १, फैसिकुलस ४।

(ख्रा० अ० नि०, कै० चं० श०)

अफ़ज़ल खाँ (मृत्यु १६५९), यह मोहम्मदशाह का, एक शाही बावर्चिन के कुक्ष से उत्पन्न अवैध पुत्र कहा जाता है। उसकी गणना बीजापुर राज्य के श्रेष्ठतम सामतो और सेनानायको मे थी। १६४९ मे वाई का राज्यपाल बनाया गया था और १६५४ मे कनकगिरि का। मुगलों के विरुद्ध तथा कर्नाटक युद्ध मे उसने बडी वीरता का प्रदर्शन किया था, किंतु शीरा के कस्तूरीरंग को सुरक्षा का आश्वासन देकर भी उसका वध कर देने मे उसके विश्वासघात की कुख्याति फैल गई थी। पतनोन्मुख बीजापुर एक ओर मुगलो से आतंकित था, दूसरी ओर शिवाजी के उत्थान ने परिस्थिति गंभीर बना दी थी। अफजल खाँ स्वय शाहजी तथा उनके पुत्रो से तीव्र वैमनस्य रखता था। अघा खाँ के विद्रोह मे शाहजी को जान बूझकर समयोचित सहायता न देने से, उसके पुत्र शभूजी की युद्धक्षेत्र मे मृत्यु हो गई। शिवाजी को दबाने के लिये राजाज्ञा से अफज़ल ने शाहजी को बंदी बनाया।

शिवाजी के उत्थान के साथ साथ बीजापुर की स्थिति बडी सकटाकीर्ण हो गई। राज्य की सुरक्षा के लिये शिवाजी को कुचलना अनिवार्य हो गया। अफजल खाँ ने शिवाजी को सर करने का बीडा उठाया। उसने घमड मे कहा कि अपने घोडे से उतरे बगैर वह शिवाजी को बदी बना लेगा। प्रस्थान के पूर्व बीजापुर की राजमाता बडी साहिबा ने उसे गुप्त सदेश भेजा कि समुख युद्ध की अपेक्षा वह शिवाजी से मैत्री का बहाना कर धोखे मे उसे जीवित या मृत बदी बना ले। १२,००० सेना के साथ उसने शिवाजी के विरुद्ध प्रस्थान किया। कहते है, अभियान के पूर्व उसने अपने गाँव अफजलपुरा मे अपनी ६३ पत्नियों की हत्या कर दी थी। मराठो को आतंकित करने के लिये मार्ग मे अत्यत क्रूरता प्रदर्शित कर अनेक मंदिरो को ध्वस्त करता हुआ अफजल खाँ प्रतापगढ के सन्निकट पहुँच गया जहाँ शिवाजी सुरक्षित थे। जब प्रतापगढ पर आक्रमण करने की सामर्थ्य नही हुई तब अफजल ने अपने प्रतिनिधि कृष्णाजी भास्कर को कृत्रिम मैत्रीपूर्ण सधि का प्रस्ताव लेकर भेजा। अतत प्रतापगढ के निकट दोनो मे भेट होना तय हुआ। शिवाजी दो सेवको के साथ एक हाथ मे बिछुआ और दूसरे मे बघनखा छिपाए अफजल खा से भेट करने गए। अफजल खाँ ने आलिंगन करते समय एक हाथ से शिवाजी का गला घोंटने का प्रयत्न किया, दूसरे से छूरे का वार किया, किंतु वस्त्रों के नीचे लोहे की जाली पहने रहने के कारण वार खाली गया और शिवाजी ने अफजल खाँ का वध कर डाला।

(रा० ना०)

अफ़लातून (प्लैटो) यूनान देश का सुविख्यात दार्शनिक। उसका मूल ग्रीक भाषा का नाम प्लातोन् है उसी का अंग्रेजी रूपातर प्लैटो और अरबी रूपातर अफलातून है। उसका जन्मकाल ४२९ ई० पू०-४२७ ई० पू० माना जाता है। उसके पिता का नाम अरिस्तोन् और माता का पैरिक्तियोने था। वे दोनो ही एथेस् के अत्यत उच्च कुलों मे उत्पन्न हुए थे। आरभ मे अफलातून की प्रवृत्ति काव्यरचना की ओर थी, पर लगभग २० वर्ष की अवस्था मे सोक्रातेस (सुकरात) के प्रभाव से वह कवि से विचारक बन गया। यद्यपि अपनी कुलपरपरा के अनुसार उसको राजनीति मे सक्रिय भाग लेना चाहिए था, तथापि समसामयिक राजनीति की दुर्दशा ने उसको इस दिशा मे प्रवृत्त होने से रोक दिया। ई० पू० ३९९ मे सुकरात के मृत्युदड के पश्चात् वह एथेस् छोड़कर चला गया और उसने दूर देशों की (कुछ के मत मे भारतवर्ष तक की) यात्रा की। ई० पू० ३८९ मे वह इटली और सिसिली गया। इसी यात्रा मे उसकी भेंट सिराकूस के शासक दियोनिसियुस् प्रथम से हुई तथा दियोन् और पिथागोरस् के अनुयायी आर्किताम् के साथ आजीवन मित्रता का सूत्रपात हुआ। इस यात्रा से लौटते समय सभवत वह ईगिना मे बंदी बना लिया गया। पर धन देकर उसको छुडा लिया गया।

एथेंस् लौटने पर उसने अकादेमी नामक स्थान पर यूरोप के प्रथम विश्वविद्यालय का बीजारोपण किया। यह उसके जीवन का मध्याह्नकाल था। उसने अपने जीवन के उत्तरार्ध को इसी विद्यालय के विकासकार्य मे लगा दिया। ई० पू० ३६७ मे सिराकूस के दियोनिसियुस् प्रथम की मृत्यु के उपरात दियोन् ने अफलातून को दियोनिसियुस् द्वितीय को दार्शनिक राजा बनाने के लिये आमंत्रित किया। अफलातून ने अपनी शिक्षा का प्रयोग करने के लिये इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। पर यह प्रयोग असफल रहा। ईर्ष्या से प्रेरित होकर दियोनिसियुस् द्वितीय ने दियोन् को निर्वासित कर दिया। अफलातून ने सिराकूस की तीसरी यात्रा ई० पू० ३६१ मे की, पर वह इस बार भी वहाँ के राजनीतिक जीवन के उलझे हुए सूत्रो को सुलझा नही सका और कुछ समय के लिये स्वय बदी बना लिया गया। यहाँ से उसको आर्किताम् के प्रभाव से मुक्ति मिली। इसके पश्चात् उसका जीवन अकादेमी मे ही व्यतीत हुआ और ई० पू० ३४८ मे ८० वर्ष की आयु मे उसका शरीरात हुआ।

सुदर स्वस्थ शरीर, दीर्घ जीवन, आर्थिक चिंताओ का अभाव, उच्च कुल मे जन्म, सद्गुरु सुकरात की प्राप्ति, कुशाग्र बुद्धि इत्यादि अपरिमित वरदान अफलातून को प्राप्त थे। उसने इन सबका सदुपयोग किया तथा अपने और अपने गुरु के नाम को अमर बना दिया। उसकी इस अमर ख्याति का आधार है उसकी रचनाओ का साहित्यिक सौष्ठव और उसके विचारो की अतल गभीरता।

अफलातून की रचनाओ की तालिका प्राचीन काल मे बहुत लंबी थी, परतु आधुनिक आलोचको ने अनेक प्रकार की कसौटियो पर उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण करके उनमे से अनेक को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। परतु यह सौभाग्य की बात है कि अफलातून की समग्र प्रामाणिक रचनाएँ अद्यावधि उपलब्ध है। कुल मिलाकर अफलातून की रचनाओ मे आजकल २५ सवाद, १ सुकरात का आत्मनिवेदन तथा कुछ उसके पत्र प्रामाणिक माने जाते है। इनके नाम निम्नलिखित है —(१) अपोलौगिया, (२) क्रितो(न्), (३) यूथीफ्रो(न्), (४) प्रोतागोरस्, (५) हिप्पियास् लघु, (६) हिप्पियास् बडा, (७) लाखेस्, (८) लीसिस्, (९) खार्मिदीम्, (१०) गोर्गियास्, (११) मैनैक्सेनस्, (१२) मैनो (न्), (१३) यूथीदीमस्, (१४) कातील्स्, (१५) सिम्पोसियोन्, (१६) फएदो(न्), (१७) पौलितेइया अर्थात् रिपब्लिक, (१८) फएद्रस्, (१९) थियैतैतस्, (२०) पार्मेनिदीस्, (२१) सोफिस्त, (२२) पोलितिकस्, (२३) क्रितियास्, (२४) तिमाइयस्, (२५) फिलिबस्, (२६) नौमोई अर्थात् लॉज, (२७) ऐपिस्तोलाए अर्थात् १३ पत्रो का सग्रह। सवादात्मक रचनाओ मे प्रमुख वक्ता सुकरात है तथा रचना का नाम सुकरात के अतिरिक्त अन्य प्रमुख वक्ता के नाम पर पडा है। केवल १, १५, १७, २१, २२, २६ और २७ सख्यावाली रचनाएँ इसका अपवाद है। इनके नाम का सबध विषय से है। यह सब ग्रथ आकार मे तुलसीदास की रचनाओ से प्राय दो गुने होंगे।

अफलातून की रचनाओ मे विषयो की आश्चर्यजनक विविधता है। सुकरात का जीवनवृत्त, गणनतत्व का विवेचन, शब्दतत्व, सौदर्यतत्व, शिक्षाशास्त्र, राजनीति, आत्मा की अमरता, काव्यालोचन, सगीतसमीक्षा, सृष्टितत्व आदि न जाने कितने गूढ विषयो पर अफलातून ने अपने विचारो को व्यक्त किया है। पर उसका मुख्य दार्शनिक सिद्धात 'थियरी ऑव् आइडियाज' नाम से विख्यात है। मूल ग्रीक भाषा मे 'अइदस्' और 'इदिया' शब्दो का प्रयोग इस सिद्धात के सबध मे किया गया है। ये शब्द भाषाशास्त्र की दृष्टि से सस्कृत की 'विद्' धातु मे सबद्ध है, पर अर्थ की दृष्टि से इनका संबंध महाभाष्यकार पतंजलि और आचार्य शकर द्वारा प्रयुक्त 'आकृति' शब्द से अधिक है। इंद्रियग्राह्य जगत् के परिदृश्यमान पदार्थो के मूल मे रहनेवाले बुद्धिग्राह्य और अतींद्रिय तत्व को, जो स्थायी है और परिदृश्यमान पदार्थो का कारण है, अफ़लातून ने

'इदिया' कहा है। इन 'इदियों' का अपना स्वतंत्र स्थायी अस्तित्व है। दृश्यजगत् के पदार्थों में जो कुछ यथार्थ सत्य है वह अपने 'इदिया' के अस्तित्व मे भागीदार होने के कारण है। ससार की समस्त पुस्तकें 'इदिया' की अपूर्ण अनुकृतियाँ मात्र है। 'इदिया' मे भी ऊँच नीच का कोटिक्रम पाया जाता है। इनमे सर्वोच्च 'इदिया' सत् (अगाथॅन्) का इदिया है। यह समग्र सत्ता का मूल कारण है, प्रकाशस्वरूप है, पर इसके पूर्ण वर्णन मे वाणी मूक हो जाती है। 'इदिया' दृश्य पदार्थों से पृथक् और अपृथक् दोनो ही है। सत् के 'इदिया' और विश्वात्मा का परस्पर क्या सबध है, इस बात को अफलातून ने अस्पष्ट ही छोड दिया है।

वास्तविक, अव्यभिचारी, स्थायी, स्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति 'इदिया' के अवधारण से ही सभव है, दृश्य पदार्थो मे भटकने से केवल 'मत' या 'राय' की ही प्राप्ति हो सकती है जो परिवर्तनशील और अविश्वसनीय है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये शिक्षा और पूर्वस्मृति का उद्बोधन आवश्यक है। अफलातून के मत मे शरीर की कारा मे आबद्ध होने के पूर्व मानवीय आत्मा अपने शुद्ध रूप मे 'इदिया' का चिंतन किया करती थी। उस अवस्था के पुन. स्मरण से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

ज्ञान की प्राप्ति से ही सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यो का सम्यक् अवबोध और पालन सभव है। अफलातून का विश्वास था कि पूर्ण ज्ञानी दार्शनिक ही निर्विकार भाव से शासन का कार्य कर सकते है। इन ज्ञानी शासकों मे अनासक्ति की भावना को बद्धमूल करने के लिये उसने उनके मध्य में सपत्ति, सतान और स्त्रियो के ऊपर समानाधिकार के सिद्धात का प्रतिपादन किया था। पर यह साम्यवाद केवल शासको तक ही सीमित रहा।

नगरों के सुशासन के लिये शासको मे सत्यज्ञान का होना अनिवार्य है। परन्तु अनेक कलाएँ और विशेष कर नाटक और कविताएँ तो सत्य की अनुकृति की भी अनुकृति है—क्योंकि दृश्यजगत् के पदार्थ 'इदियाओ' की अनुकृति है और कलाएँ इन दृश्यजगत् के पदार्थों का अनुकरण करती है। अत इन कलाओ का आदर्श नगर मे कोई प्रश्रय नही मिलना चाहिए। कवियो को आदर्श नगर से बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिए।

परतु इससे हमको यह निष्कर्ष कदापि नही निकालना चाहिए कि अफलातून नीरस दार्शनिक था। उसने अपने "सिपोसियोन्" नामक सवाद के सौदर्य के स्वरूप का अविस्मरणीय प्रतिपादन किया है। इस सवाद मे प्रेम और सौदर्य के स्वरूप का ऐसा उद्घाटन किया गया है कि अफलातून की प्रतिभा का लोहा मानना पडता है। बाह्य कायिक सौदर्य से सपन्न अल् किबियादीस् को कुरूपतासपन्न सुकरात के आतरिक सौदर्य के समक्ष मत्रमुग्ध हुआ देखकर हमको स्वर्गिक सौदर्य की झलक दिखाई देने लगती है।

पर जैसे जैसे समय बीतता गया, अफलातून के विचारो मे परिवर्तन होता गया। उसके अतिम ग्रथ नोमोई (लाज) मे, जिसको अफलातून-स्मृति का नाम दिया जा सकता है, हमको यथार्थवादी अफलातून के दर्शन होते है। यहाँ पर वह ५०४० नागरिको के एक दूसरे ही प्रकार के नगर की व्यवस्था उपस्थित करता है। इस नगर का शासन सभा, परिषद्, विधान-रक्षको, परीक्षको और रात्रिपरिषद् के द्वारा सवैधानिक पद्धति से करने का सुझाव है। इस नगर मे दर्शन की अपेक्षा धर्म की चर्चा अधिक और नास्तिको का मतपरिवर्तन करने अथवा मार डालने तक का विधान किया गया है।

यूरोप मे अफलातून का प्रभाव सभी विचारको से अधिक गहरा रहा है। ह्वाइटहेड के अनुसार समस्त पाश्चात्य दर्शन अफलातून की रचनाओ की पादटिप्पणियो की परपरा है। आधुनिक काल के कुछ विचारको ने उसको अधिनायकवाद के समर्थको मे गिना है, पर यह उनकी भ्राति है। उर्विक नामक विद्वान् ने अफलातून की आदर्श नगरव्यवस्था मे भारतीय समाज का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। गिलबर्ट मरे के मत में अफ़लातून के समान गद्यलेखक न दूसरा हुआ है और न होगा ही। रिटर के अनुसार "वह सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा; वह उन आध्यात्मिक शक्तियों को उन्मुक्त करनेवाला है जो बहुतो के लिये वरदान सिद्ध हुई है और सर्वदा वरदान बनी रहेगी।"

अफलातून संबंधी साहित्य सभी सभ्य देशो की भाषा मे विपुल मात्रा में पाया जाता है। अत यहाँ केवल प्रमुख रचनाओ का नामोल्लेख किया जाता है।

मूल रचना के सबध मे बर्नेट् (आक्सफोर्ड), बेकर, स्टालबोम् (जर्मनी) के सस्करण अत्यत प्रामाणिक माने जाते है। अफलातून की रचनाओ के अनुवाद समस्त प्रमुख यूरोपीय भाषाओ मे उपलब्ध है।

अग्रेजी मे जोवेट का अनुवाद अधिक प्रसिद्ध है, पर बहुत सही नहीं है, यद्यपि इसकी शैली अत्यत आकर्षक है। लोएब् क्लासिकल लाइब्रेरी मे अफलातून की समस्त रचनाएँ—मूल और अनुवाद—१२ जिल्दो मे प्रकाशित हो चुकी है। कॉर्नफ़ोर्ड के अनुवाद अधिक विश्वसनीय है। हाल मे कई ग्रथो के सुलभ अनुवाद भी प्रकाशित हुए है। हिंदी मे स्वर्गीय डा० बेनी-प्रसाद ने सुकरात के जीवन से सबध रखनेवाली कुछ छोटी रचनाओ का अग्रेजी से अनुवाद किया था जो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'सुकरात' नाम से प्रकाशित हुआ था। भोलानाथ शर्मा ने 'रिपब्लिक' का मूल ग्रीक भाषा से हिंदी मे अनुवाद किया है जो 'आदर्श नगरव्यवस्था' नाम से हिंदी समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है।

अफलातून से सबधित आलोचनात्मक साहित्य मे निम्नलिखित उल्लेखनीय है—बर्नेट ग्रीक फिलासफी फ्रॉम थालेस् टु प्लैटो, टेलर : प्लेटो, फ़ील्ड द फिलॉसफ़ी ऑव प्लैटो और प्लैटो, ऐंड हिज़् कंटेंपोरेरीज़्, त्सैलर प्लेटो ऐंड द ओल्डर अकाडेमी, गौपर्त्स ग्रीक थिकर्स् जिल्द २ और ३, शोरी ह्वाट् प्लैटो सेड, और यूनिटी ऑव प्लैटोज़ थॉट्, रिट्टर द एसेंस ऑव प्लैटोज़ फिलासफी, और प्लातोन, ज़ाइन् लबन्, ज़ाइने श्रिफ्टैन्, ज़ाइने लीरे (जर्मन भाषा मे) (रिट्टर आधुनिक समय में प्लैटो का सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ माना जाता है।), ग्रूब् प्लैटोज़ थॉट्, वैर्नेर याएगर पाइडेइया, जिल्द २ और ३, फ्रीड्लाडर , प्लातोन्, उर्विक : मेसेज ऑव प्लैटो, विलामोवित्स् मेअोलेंन्डार्फ् प्लातोन् भाग १, २ (जर्मन भाषा), लियॉन् रोबिन ग्रीक थॉट्, लूतॉस्लास्की द ऑरिजिन ऐंड ग्रोथ् ऑव प्लैटोज़ लॉजिक्, स्टयुआर्ट द मिथ्स् ऑव प्लैटो, क्रॉसमैन् प्लैटो टुडे, पौपर द ओपन् सोसाइटी ऐंड इट्स एनीमीज़, लॉज फिलासफी ऑव प्लैटो, तामसकर अफलातून की सामाजिक व्यवस्था (हिंदी)। (भो० ना० श०)

अफार अफ्रीका मे हैमिटिक वश की एक जाति है जो अबिसीनिया तथा समुद्र के बीच के शुष्क भूभाग मे निवास करती है। ये लोग गैला तथा सोमाली जाति की प्रकृति से बहुत मिलते जुलते है। इनके दो समूह है—एक वह जो पशुपालकों का जीवन व्यतीत करता है तथा दूसरा वह जो समुद्र के किनारे निवास करता है। इन लोगों का मुख्य धर्म वृक्ष-पूजा है, ये नाममात्र के लिये मुसलमान है। इनकी नाक सँकरी तथा सीधी, ओठ पतले, ठुड्डी छोटी तथा नुकीली होती है। ये सरलतम वस्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र नही धारण करते। (न० ला०)

अफीम एक पौधे से प्राप्त होती है जिसका लैटिन नाम पैपावेर सौम्नी-फेरम है। यह पौधा तीन से पाँच फुट तक ऊँचा होता है। इसकी ढोढी (फल) को पेड मे ही कच्ची अवस्था मे छिछला चीर दिया जाता है (नश्तर लगा दिया जाता है) और उससे जो रस निकलता है उसी को सुखाने और साफ करने से अफीम बनती है।

उपज—सबसे अधिक अफीम भारत में उत्पन्न होती है। अन्य देश, जहाँ अफीम उत्पन्न होती है, तुर्की (टर्की), ग्रीस, ईरान और चीन है। भारत मे साधारणत सफेद फूलवाला पौधा बोया जाता है। बीज नवबर मे बोया जाता है, फूल लगभग जनवरी के अत मे लगता है और प्राय एक महीने बाद ढोढी लगभग मुर्गी के अडे के बराबर हो जाती है। तब इसको पाछा जाता है, अर्थात् नश्तर लगाया जाता है। यह काम तीसरे पहर से लेकर अँधेरा होने तक किया जाता है और दूसरे दिन सबेरे निकले हुए दूधिया रस को काछ लिया जाता है। इस रस को हवा मे तीन चार सप्ताह तक सूखने दिया जाता है और तब कारखाने मे शुद्ध करने के लिये भेज दिया जाता है। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) मे इसके लिये एक सरकारी बड़ा

कारखाना है। कारखाने मे बडे बर्तनो में डालकर अफीम को गूँधा जाता है और तब गोला या ईंट बनाकर बेचा जाता है।

भारत की अफीम अधिकतर विदेश ही जाती है, क्योंकि यहाँ के लोग अफीम खाना या तबाकू की तरह पीना बहुत बुरा समझते हैं। यूरोप मे अफीम से इसके रासायनिक पदार्थों को अलग करके मॉरफीन, कोडीन इत्यादि ओषधियाँ बनाते हैं।

अफीम का पौधा
पत्तियाँ, फूल और ढोढो।

गुण—अफीम का स्वाद कडुआ होता है और खाने से मिचली आती है। इसकी गंध बडी लाक्षणिक होती है—मादक और भारी। चौथाई से तीन ग्रेन तक अफीम औषध के रूप मे एक मात्रा (खुराक) समझी जाती है। इसके खाने से पीडा का अनुभव मिट जाता है, गहरी नीद आती है और आँख की पुतलियाँ छोटी हो जाती हैं। नीद खुलने पर भूख मिट जाती है, कुछ मिचली आती है, कोष्ठबद्धता (कब्ज) होती है, सर भारी जान पड़ता या दुखता है। परतु यदि बहुत कम मात्रा मे अफीम खाई जाय तो इसका प्रभाव उत्तेजक और कल्पनाशक्तिवर्धक होता है। बार बार अफीम खाने से अफीम का प्रभाव घटने लगता है। पहले की तरह उत्तेजना आदि उत्पन्न करने के लिये अधिक अफीम की आवश्यकता होती है। अधिक खाने पर दिनो दिन और अधिक की आवश्यकता पडती जाती है। फिर ऐसी लत लग जाती है कि अफीम छोडना कठिन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति भी देखे गए है जो एक छटाँक अफीम रोज खाते थे।

अधिकतर लोग अफीम की गोली खाते है या उसे घोलकर पीते है, परतु विदेश मे कुछ लोग मॉर्फीन (अफीम से निकले रसायन) का इजेक्शन लेते हैं। कुछ लोग तो अफीम से उत्पन्न आह्लाद के लिये इसका सेवन करते है, परन्तु अधिकतर लोग पीडा मे छुटकारा पाने के लिये, डाक्टर की राय से या स्वय अपने से, इसका सेवन आरभ करते है और महीने बीस दिन के पश्चात् इसे छोड नही पाते। डाक्टर चोपडा ने इस विषय पर बहुत अध्ययन किया है। उनके अनुसार इसका सेवन करनेवालो मे से लगभग ५० प्रति शत लोग शारीरिक पीडा से छुटकारा पाने के लिये अफीम खाते है, बीस पचीस प्रति शत मानसिक क्लेश या चिता से छुटकारा पाने के लिये और केवल पद्रह बीस प्रति शत शौक के लिये।

चडू—कुछ लोग अफीम को तबाकू की तरह आँच पर तपाकर पीते है। इस काम के लिये बनाई गई अफीम को चडू कहते है। इसके लिये अफीम पानी मे उबालते है और ऊपर से मैल काछकर फेंक देते है। फिर उसे सुखाकर रखते है। पीने के लिये लोहे की तीली पर जरा सा निकालकर उसे दीप शिखा मे गरम करते है (भूनते है) और तब विशेष नली मे रखकर तुरत लेटे लेटे पीते है। एक फूँक मे पीना समाप्त हो जाता है। नशा तुरत होता है। अधिक आवश्यकता होती है तो फिर सब काम दोहराया जाता है।

अफीम के ऐलकलायड—अफीम की सरचना बडी जटिल है। इसमे से लगभग १६ विभिन्न रासायनिक पदार्थ पृथक् किए गए है जिनमे मॉरफीन, कोडीन, नार्सीन और थीबेन मुख्य है। मनुष्य शरीर पर मॉरफीन का प्रभाव लगभग वही होता है जो अशोधित अफीम का। इसलिये मारफीन को शोधित अफीम समझा जा सकता है। ६ प्रति शत से कम मॉरफीनवाली अफीम को अमरीका मे दवा के लिये बेकार समझा जाता है। युवा पुरुष के लिये ओषधि के रूप मे मॉरफीन की एक मात्रा (खुराक) १/८ से १/४ ग्रेन तक होती है। कोडीन का प्रभाव बहुत कुछ मॉरफीन की तरह का ही होता है परन्तु उतना तीव्र नही। थीबेन प्रबल विष है। यह मेरुकेद्र को उत्तेजित तथा विषाक्त करता है तथा हाथ पैर मे ऐंठन और छटपटाहट उत्पन्न करता है।

सरकारी नियंत्रण—अफीमची के आचरण का स्तर इतना गिर जाता है कि प्रत्येक भला आदमी चाहता है कि ससार से अफीम का सेवन उठ जाय। भारत मे तो लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते ही है, इग्लैड मे भी सन् १८८३ मे एक प्रस्ताव पार्लियामेंट मे उपस्थित किया गया था कि सरकार अफीम के व्यापार का त्याग करे, क्योंकि "यह ईसाई सरकार के सम्मान और कर्तव्य के पूर्णतया विरुद्ध है"। परतु यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका। सन् १८४० मे चीन सरकार ने अफीम के आयात पर रोक लगा दी और इस कारण चीन तथा ग्रेट ब्रिटेन मे युद्ध छिड गया। १५ वर्ष बाद इसी बात को लेकर फिर इन दोनो राज्यो मे लडाई लगी और उसमे फ्रास भी ग्रेट ब्रिटेन की ओर से सम्मिलित हुआ। चीनवाले हार अवश्य गए, परतु यह प्रश्न दब न सका। १९०७ मे भारत की ब्रिटिश सरकार और चीन की सरकार मे समझौता हुआ कि दस वर्ष मे अफीम का भेजना भारत बद कर देगा। इस समझौते के अनुसार कुछ वर्षों तक तो चीन मे अफीम जाना कम होता रहा, परतु अत तक समझौते का निर्वाह न हो सका। १९०९ मे अमरीका के प्रेसीडेट रूजवेल्ट ने एक आयोग (कमिशन) बैठाया। फिर १९१३, १९१४, १९१९, १९२४, १९२५, १९३० मे कई राज्यो के प्रतिनिधियो की सभाएँ हुई। परन्तु यह समस्या कभी हल न हो पाई। अब तो चीन मे साम्यवादी गणतत्र राज्य होने के बाद से इस विषय मे बडी कडाई बरती जा रही है और अफीमचियो की सख्या नगण्य हो गई है। भारत सरकार ने अपने देश मे अफीम की खपत कम करने के लिये यह आज्ञा निकाल दी है कि अफीमची लोग डाक्टरी जाँच के बाद पजीकृत किए जायंगे (उनका नाम रजिस्टर मे लिखा जायगा)। उनको न्यूनतम आवश्यक मात्रा मे अफीम मिला करेगी और यह मात्रा धीरे धीरे कम कर दी जायगी।

अफीम का उपचार—६ ग्रेन या अधिक अफीम खाने से व्यक्ति मर जा सकता है। अफीम खाने के आरभिक लक्षण वे ही होते है जो अधिक मदिरा पीने के, मस्तिष्क मे रक्तस्राव के अथवा कुछ अन्य रोगो के। परन्तु इन सभी के लक्षणो मे सूक्ष्म भेद होते हैं, जिन्हे डाक्टर पहचान सकता है। अफीम के कारण चेतनाहीन व्यक्ति की त्वचा ठढी और पसीने से चिपचिपी हो जाती है। आँख की पुतलियाँ (तारे) सुई के छेद की तरह छोटी हो जाती है और होठ नीले पड जाते है। साँस धीरे धीरे चलती है और नाडी भी मद तथा अनियमित हो जाती है। साँस रुकने से मृत्यु हो जाती है। उपचार के लिये पेट मे आधे आधे घटे पर पानी चढाकर धोया जाता है। दवा देकर उलटी (वमन) कराई जाती है। कहवा पिलाना लाभदायक है। डाक्टर कहवा मे पाए जानेवाले रासायनिक पदार्थ को गुदामार्ग से भीतर चढाते है। साँस को उत्तेजित करने के लिये ऐट्रोपीन सल्फेट के इजेक्शन लगाए जाते हैं। रोगी को जाग्रत रखने के लिये सब उपाय करना चाहिए। उसे चलाना चाहिए, अमोनिया सुँघानी चाहिए या बिजली का हल्का झटका (शाक) लगाना चाहिए। साँस के रुकते ही कृत्रिम श्वसन चालू करना चाहिए। जब तक हृदय धडकता रहे तब तक निराश न होना चाहिए और कृत्रिम श्वसन जारी रखना चाहिए। (भ० दा० व०)

अफ्रानियस लूसियस रोमन कामिक कवि। इसका काल ९४ ई० पू० के लगभग माना जाता है। इसने रोमन मध्यमवर्गीय जीवन को अपनी कविता का विषय बनाया। मीनादर आदि कवियो की कृतियों का इसने अपनी कविताओं मे भरपूर उपयोग किया। (भ० श० उ०)

अफ्रीका (अग्रेजी मे ऐफ्रिका) एक महाद्वीप का नाम है जो पृथ्वी के पूर्वी गोलार्ध मे एशिया के दक्षिण-पश्चिम मे है।

स्थिति तथा विस्तार—क्षेत्रफल की दृष्टि से महाद्वीपो मे अफ्रीका का द्वितीय स्थान है। तटवर्ती द्वीपसमूह सहित इसका क्षेत्रफल लगभग १,१६,३५,००० वर्ग मील है। इस प्रकार यह महाद्वीप क्षेत्रफल मे भारत गणतत्र के नौ गुने से भी बडा है। अक्षांशीय विस्तार की दृष्टि से यह महाद्वीप अद्वितीय है यह उत्तरी तथा दक्षिणी दोनो ही गोलार्धों के कटिबधो मे लगभग समान दूरी तक विस्तृत है। ३७° २०′ उ० अ० से ३४° ५१′ द० अ० तक तथा १७° २०′ प० दे० से ५१° १२′ पू० दे० तक यह फैला हुआ है। इसकी अधिकतम लबाई उत्तर मे रासबेन मक्का से दक्षिण मे अगुलहास अतरीप तक, लगभग ५,००० मील तथा अधिकतम चौडाई पश्चिम मे वर्ड अतरीप से ग्वार्डाफुई अंतरीप तक, लगभग ४,५०० मील है।

अफ्रीका के जंतु

ऊपर जेबरा, नीचे ओकापी (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नेचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अफ्रीका के जंतु

ऊपर हिरन नीचे गैंडा (दि अमरिकन म्यूजियम आॅव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अफ्रीका के जतु

ऊपर सिह नीचे हाथी (दि अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अफ्रीका के जंतु

बाईं ओर गोरिल्ला और दाहिनी ओर जिराफ (दि अमरिकन म्यूजियम आव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

विषुवत रेखा इस महाद्वीप के मध्य से जाती है। इसलिये इसका अधिकांश, लगभग ९० लाख वर्ग मील, अयनवृत्तीय कटिबंध में पड़ता है। दक्षिण की अपेक्षा यह उत्तर में अधिक चौड़ा है। इसके क्षेत्रफल का लगभग दो तिहाई भाग उत्तरी गोलार्ध में तथा एक तिहाई भाग दक्षिणी गोलार्ध के अंतर्गत आता है।

सीमा--अफ्रीका के पूर्व में हिंद महासागर तथा पश्चिम में अंध (अटलांटिक) महासागर स्थित है। उत्तर में भूमध्यसागर है, जिसकी लंबाई जिब्राल्टर के मुहाने से सीरिया के तट तक लगभग २,३०० मील है। जिब्राल्टर का मुहाना १५ से २४ मील तक चौड़ा है। सईद बंदरगाह से स्वेज बंदरगाह तक लगभग १०७ मील लंबी ६५० फुट चौड़ी तथा ३७ फुट गहरी स्वेज नहर भूमध्यसागर को लालसागर से मिलाती है। इस नहर का उद्घाटन १८६९ ई० में हुआ था। युद्धकालिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह नहर बड़े महत्व की है। हाल में मिस्र ने इस नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया है। इसके निर्माण के पश्चात् भारत से यूरोपीय बंदरगाहों की दूरी चार पाँच हजार मील कम हो गई है, जब यह नहीं बना था तब अफ्रीका के दक्षिण से होकर जहाजों को जाना पड़ता था। उत्तर-पूर्व में लालसागर बीच में रहने के कारण अफ्रीका एशिया महाद्वीप से पृथक् हो गया है। स्वेज बंदरगाह से दक्षिणपूर्व की ओर लगभग १,६०० मील की दूरी पर यह सागर संकीर्ण हो जाता है। यही संकीर्ण भाग 'बाबुल मंडब' का मुहाना है, जिसका अर्थ अरबी भाषा के अनुसार 'आँसू का द्वार' है। इस स्थान पर नाविकों को सशंक एवं सावधान रहना पड़ता है। इसकी चौड़ाई लगभग २० मील है और पेरिम नामक द्वीप द्वारा यहाँ जलमार्ग दो भागों में विभक्त हो जाता है।

समुद्रतट--अफ्रीका का समुद्रतट अधिक कटा छँटा नहीं है। पश्चिमी तट पर गायना की खाड़ी के रूप में एक बहुत बड़ा घुमाव है जिसके अंतर्गत बेनिन की खाड़ी स्थित है। अंगोला राज्य में लोबिटो की खाड़ी है। दक्षिणी तट पर अल्गोआ तथा डेलागोआ की खाड़ियाँ है। दक्षिण-पूर्व में मोजांबिक का मुहाना मडागास्कर द्वीप को अफ्रीका से पृथक् करता है। पूर्वी तट पर एक नोकदार घुमाव है। इस घुमाव के उत्तर-पूर्व में शुमालीलैंड का प्रायद्वीप है जिसे अफ्रीका का सींग भी कहते है।

खोज--अफ्रीका का घनिष्ठ संबंध भूमध्यसागरीय देशों के साथ अधिक होना स्वाभाविक है। यह संबंध वंशानुगत, सांस्कृतिक तथा विशुद्ध भौगोलिक रूप में मिलता है। हेरोडोटस के वर्णन से ज्ञात होता है कि मिस्र देश के राजा नेको ने यूनानी दार्शनिकों के इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा की कि यह महाद्वीप दक्षिण में सागर द्वारा घिरा है या नहीं। उसने पहले स्वेज स्थल डमरूमध्य पर नहर खुदवाने का असफल प्रयत्न किया। इसके पश्चात् उसने लालसागर में युद्धपोतों का एक बेड़ा तैयार कराया और चुने हुए फीनीशियन नाविकों को इस महाद्वीप की परिक्रमा कर जिब्राल्टर के मार्ग से वापस लौटने की आज्ञा दी। द्वितीय शताब्दी में सिकंदरिया में लिखित अपनी भूगोल की पुस्तक में क्लॉडिअस टॉलिमी ने इस महाद्वीप के उत्तरी भाग का विस्तृत वर्णन किया है। अरब के प्रमुख भूगोलवेत्ता इद्रीसी (११००-११६५ ई०) ने भी पूरे महाद्वीप का सविस्तार वर्णन किया है, जिसमें नील नदी के उद्गम स्थान तथा समीपस्थ बड़ी झीलों का भी वर्णन मिलता है। १४वीं तथा १५वीं शताब्दियों में पुर्तगाल-निवासियों ने इस महाद्वीप में अनेक अन्वेषण किए और इस महाद्वीप की लगभग ठीक ठीक रूपरेखा अंकित की। उस मानचित्र में बड़ी झीलें भी दिखलाई गई है। आधुनिक युग में मुंगोपार्क, बर्टन, स्पेक तथा लिविंग्स्टन सदृश अनेक साहसी युवकों ने पर्याप्त खोज की है। केप अंतरीप (केप ऑव गुड होप) के निकट से पार होने का सर्वप्रथम श्रेय १४८७ ई० में बार्थोलोमिउ डियाज को प्राप्त हुआ, जिन्होंने अल्गोआ की खाड़ी भी देखी थी। इसके दस वर्ष पश्चात् वास्को द गामा और आगे बढ़े तथा अरबसागर पार कर भारत पहुँचने में सफल हुए। उस समय से १९वीं शताब्दी तक नाविकों द्वारा महाद्वीप के तटवर्ती भागों की परिक्रमा होती रही, किंतु इसका अधिकतर भीतरी भाग गुप्त रहस्य ही बना रहा। इसके अनेक भौगोलिक कारण थे। अत यह महाद्वीप पिछली शताब्दी तक अंध महाद्वीप कहा जाता था।

प्राकृतिक बनावट--इस महाद्वीप की भूरचना तथा प्राकृतिक संरचना अन्य महाद्वीपों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं सरल है। इसका अधिकांश पठारी है, जिसपर भौमिक गतियों (अर्थ मूवमेंट्स) का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। पिछले कई युगों से यह एक अचल भूखंड के रूप में स्थित रहा है। इसकी महाद्वीपीय छज्जा (शेल्फ) एवं महाद्वीपीय ढाल (स्लोप) के किनारे प्राय इसके समुद्रतट के समांतर हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण पृथ्वी की बाहरी परत के टूटने से हुआ है। इसके धरातल की लगभग एक तिहाई पर कैंब्रियनपूर्व चट्टानें वर्तमान है। इस महाद्वीप के पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा दक्षिण के अंतरीपीय भाग को छोड़कर प्राय सर्वत्र मुड़ने से बने पर्वतों की श्रेणियों का अभाव है। पश्चिमोत्तर भाग में ऐटलस पर्वत यूरोप के आल्प्स पर्वत का ही एक बढ़ा हुआ भाग है। दक्षिण में अनेक छोटी छोटी श्रेणियाँ है, उदाहरणार्थ रॉगवर्डबर्ग, निउवेल बर्ग, स्निउबर्ग, ड्राकेंसबर्ग, स्वार्तबर्ग, लान्जबर्ग इत्यादि। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित बेंगेला को यदि लालसागर के तट पर स्थित स्वाकिन से एक कल्पित रेखा द्वारा मिलाया जाय, तो यह रेखा इस महाद्वीप को प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से दो असमान भागों में बाँट देगी। उत्तरी भाग की औसत ऊँचाई ३,००० फुट से बहुत कम तथा दक्षिणी भाग की औसत ऊँचाई ३,००० फुट से बहुत अधिक है। उत्तरी भाग में अनेक पठार है जो कैंब्रियन पूर्व या आग्नेय चट्टानों से निर्मित है। इनमें अहगर, तसिली, तिबेस्ती तथा दारफर पठार मुख्य है। इनके अतिरिक्त इस भाग में अनेक उच्च प्रदेश भी है जिनमें कांगो की घाटी का उत्तरी भाग तथा गायना तट के पृष्ठभाग में स्थित उच्च भूमि उल्लेखनीय है। कैमरून की चोटी (१३,३५० फुट) एक प्रमुख ज्वालामुखी शिखर है। गायना की खाड़ी में फर्नंदो पो, प्रिंसिप, साओटोम आदि अनेक द्वीप ज्वालामुखी द्वारा निर्मित है। इस उत्तरी भाग में कई प्राकृतिक द्रोणियाँ (बेसिन) भी है जिनमें पहुँचकर नदियों का पानी या तो सूख जाता है या उससे छोटी तथा छिछली झीलें बन जाती है। मुख्य खात शॉटेल जेरिद, शाद झील, देबो झील, बहरेल गजल आदि है। दक्षिणी भाग में भी गामी तथा कारू नामक दो प्राकृतिक द्रोणियाँ है।

पूर्वी अफ्रीका में स्थित एक बहुत लंबी निभंग उपत्यका (रिफ्ट वैली) है जो महान् निभंग उपत्यका (दि ग्रेट रिफ्ट वैली) के नाम से विश्वविख्यात है। यह विश्व की सबसे लंबी निभंग उपत्यका है। इसका उत्तरी भाग एशिया में स्थित है तथा बीच के भाग में अकाबा की खाड़ी एवं लालसागर है। अफ्रीका में पूर्वी अबिसीनिया की खड़ी ढाल तथा सुमालीलैंड के बीच स्थित निम्न भूमि, रुडॉल्फ झील, केनिया देश की नैवास्का झील तथा अन्य छोटी झीलों की शृंखला, न्यासा झील और शायर नदी की घाटी इसी महान् निभंग उपत्यका के छिन्नावशेष है। इस निभंग उपत्यका की एक शाखा न्यासा झील के उत्तरी छोर के पास से निकलती है, जिसे पश्चिमी निभंग उपत्यका कहते है। इसमें टैंगैन्यिका, किवू, एडवर्ड, अल्बर्ट आदि झीलें स्थित है। पूर्वी अफ्रीका में पठार की ऊँचाई कई जगह ज्वालामुखी चट्टानों के जमा होने से बढ़ गई है। प्रमुख चोटियाँ किलिमैंजारो (१९,५९० फुट), केनिया (१७,०४० फुट), एल्गन (१४,१४० फुट) तथा रास दाशान (१५,००० फुट) है। इस भाग में रुवेंजोरी नामक एक १६,७९० फुट ऊँची चोटी है जो ज्वालामुखी द्वारा निर्मित नहीं है। पठार की बाहरी ढाल खड़ी है और वह एक दूसरे उपकूलीय मैदान से घिरी है।

झीलें--अफ्रीका की सबसे बड़ी झील विक्टोरिया न्याजा है जो नील नदी के उद्गम स्थान के समीप है। इस झील का क्षेत्रफल २६,००० वर्ग मील, अधिकतम लंबाई २५० मील, चौड़ाई २०० मील तथा गहराई २७० फुट है। इसके निकट ही अल्बर्ट न्याजा नामक झील है जो १०० मील लंबी, २२ मील चौड़ी और ५५ फुट गहरी है। टैंगैन्यिका ४५० मील लंबी और ४० मील चौड़ी झील है इसकी अधिकतम गहराई ४,७०८ फुट है। दूसरी लंबी एवं सँकरी झील न्यासा है। (३५० मील लंबी, ४५ मील चौड़ी)। किवू झील ५५ मील लंबी तथा ३० मील चौड़ी है। यह झील पुरातन ज्वालामुखी प्रदेश में स्थित है। अबिसीनिया पठार के उत्तरी भाग में ५,६९० फुट की ऊँचाई पर स्थित टाना झील आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। रुडोल्फ झील पूर्वोत्तर अफ्रीका में स्थित है। इसकी लंबाई १८५ मील तथा चौड़ाई ३७ मील है। रुडोल्फ झील के पूर्व में स्टेफनी झील ४० मील लंबी और १५ मील चौड़ी है। पश्चिमोत्तर मध्य अफ्रीका में चाड तथा रोडेशिया में बैंगविऊलू नामक छिछली

झीलें है। इनके क्षेत्रफल में ऋतुओं के अनुसार ह्रास तथा वृद्धि हुआ करती है। बैंगविउलू झील की अधिकतम माप ६० मील × ४० मील × १५ फुट है। चाड झील में शारी नदी गिरती है। वर्षाऋतु में इस झील की गहराई २८ फुट हो जाती है।

नदियाँ—अफ्रीका में पाँच मुख्य नदियाँ है नील (८,००० मील), नाइजर (२,६०० मील), कांगो (३,००० मील), जाबेंजी (१,६०० मील) तथा ऑरेंज (१,३०० मील) है। इनमें नील नदी प्रमुख है। सभ्यता के उषाकाल (लगभग ८,००० ई० पू०) से ही इस नदी का ऐतिहासिक महत्व प्रकट होता है। ईसा से लगभग चार शताब्दी पूर्व यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने नील नदी की वार्षिक बाढ़ का संबंध अबिसीनिया की ग्रीष्मकालीन वर्षा एवं हिम के द्रवीभूत होने से बताया था। नील नदी में छह प्राकृतिक जलप्रपात है। सबसे निचला प्रपात असवान के समीप है। इस नदी पर कई बाँध बनाए गए है जिनमें असवान बाँध सर्वोच्च और जगत्प्रसिद्ध है। सोबात, नीली नील तथा अतबरा नदियाँ नील नदी की मुख्य सहायक है। नीली नील नदी पर बाँधा गया सेनार बाँध उल्लेखनीय है। कांगो नदी नील नदी से लगभग १,००० मील छोटी है, किंतु इसमें अपेक्षाकृत जलराशि का वहन अत्यधिक होता है। अपनी सहायक नदियों के साथ कांगो नदी अफ्रीका के मध्य में यातायात का उत्तम साधन है। पश्चिमी अफ्रीका में नाइजर नदी तथा उसकी सहायक बनू के कारण प्रशस्त जलमार्ग उपलब्ध है। पश्चिमी भाग की छोटी नदियों में सेनेगाल तथा गैंबिया उल्लेखनीय है। जाबेंजी और ऑरेंज दक्षिणी अफ्रीका की मुख्य नदियाँ है। इस महाद्वीप की अधिकांश नदियाँ विशालकाय होते हुए भी यातायात के लिये उपयुक्त नहीं है। कांगो नदी का लिविंगस्टन प्रपात, जाबेंजी का विक्टोरिया प्रपात, नाइजर का बुसा प्रपात तथा नील नदी के अनेक प्रपात आवागमन में बाधक होते है।

जलवायु—अफ्रीका की जलवायु पर समीपस्थ महासागरों तथा महाद्वीपों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। एशिया महाद्वीप का प्रभाव इसपर अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। समुद्री जलधाराएँ भी उपकूलीय प्रदेशों में अपना प्रभाव डालती है। पश्चिमी तट पर उत्तर में कैनरी तथा दक्षिण में बेंगुएला नामक ठंढी जलधाराएँ बहती है। इन दोनों धाराओं के मध्य गायना तट के निकट गायना नामक उष्ण धारा बहती है। दक्षिण पूर्व में मोजांबिक धारा उल्लेखनीय है। इस महाद्वीप को जलवायु के विचार से अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। अफ्रीका की निजी विशेषता यह है कि उत्तरी अफ्रीका की जलवायु के अनुरूप ही दक्षिणी अफ्रीका में भी जलवायु पाई जाती है। मुख्यतः पाँच प्रकार की जलवायु यहाँ पाई जाती है—विषुवतीय जलवायु, सूडान सदृश उष्ण जलवायु, उष्ण मरुस्थलीय जलवायु, भूमध्यसागरीय जलवायु और चीन सदृश जलवायु। अफ्रीका में विषुवतीय जलवायु के भी तीन प्रभेद पाए जाते है—मध्य अफ्रीका सदृश, गायना सदृश तथा पूर्व अफ्रीका सदृश। मध्य अफ्रीका सदृश जलवायु कांगो क्षेत्र में ५° द० अ० के उत्तर में पाई जाती है। ताप वर्ष भर लगभग ८०° फा० रहता है। वर्षा साल भर होती रहती है, पर अप्रैल तथा अक्टूबर में वर्षा अधिक होती है। इस क्षेत्र की वर्षा का वार्षिक योग ५०" से ६०" है। आपेक्षिक आर्द्रता बारहों महीने ऊँची रहती है। कांगो नदी के मुहाने के समीप शीत जलधारा तथा स्थलीय वायु के कारण वर्षा लगभग ३०" ही होती है। गायना सदृश जलवायु गायना के उपकूलीय भाग तथा उसके पृष्ठभाग में पाई जाती है। यह जलवायु प्रदेश सियेरा लियोन से लेकर कैमरून तक ८° उ० अ० के दक्षिण में है। इस जलवायु में कुछ मानसूनी लक्षण पाए जाते है। वर्ष भर ताप ७५° फा० से ऊँचा रहता है। आपेक्षिक आर्द्रता भी ऊँची रहती है। वर्षा अधिक होती है। ग्रीष्मकाल में वायु कूलाभिमुख चलती है और शीतकाल में इसकी गति विपरीत हो जाती है। फलतः ग्रीष्मकाल में ही वर्षा अधिक होती है। उदाहरणार्थ, फ्रीटाउन में पूरे वर्ष की वर्षा १७०" है, किंतु दिसंबर से लेकर फरवरी तक केवल ३" ही वर्षा होती है। सबसे अधिक वर्षा (४००") कैमरून पर्वत के पश्चिमी ढाल पर होती है। शीतकाल में बहनेवाली ठंढी एवं अपेक्षाकृत शुष्क वायु स्वास्थ्यवर्धक होती है। पूर्व अफ्रीका सदृश जलवायु पूर्वी पठारी भाग में ३° उ० अ० से ५° द० अ० तक मिलती है। पठार की ऊँचाई अधिक (लगभग ४,००० फुट) होने के कारण तापमान कम रहता है। वार्षिक तापांतर भी कम रहता है। दैनिक तापांतर अधिक होता है। वर्षा का वार्षिक योग लगभग ४५" है। प्रतिवाती ढालों पर वर्षा ६०" से ७०" तक होती है, किंतु अनुवाती ढालों पर अपेक्षाकृत कम (लगभग २०") होती है। निभंग उपत्यका में वर्षा ३०" से अधिक नहीं होती।

सूडान सदृश जलवायु विषुवतीय भाग के उत्तर में लगभग ६०० मील चौड़े कटिबंध में पाई जाती है। इसका अधिकतम ताप लगभग ९०° फा० है। मासिक ताप का मध्यम मान ७०° फा० से कम नहीं रहता। वार्षिक तापांतर १५° फा० से २०° फा० तथा दैनिक तापांतर अत्यधिक होता है। शीतकाल में उ० पू० वाणिज्य वायु तथा ग्रीष्मकाल में द० प० मानसूनी वायु बहती है। वर्षा मानसूनी वायु से होती है। इस पेटी के दक्षिणी भाग में वर्षा ४०" से ५०" तथा उत्तरी भाग में ८" से १०" होती है। दक्षिण से उत्तर की ओर वर्षा की मात्रा, अवधि तथा निर्भरता का क्रमिक ह्रास होता जाता है। शीतकाल में हरमटन नामक शुष्क वायु बहती है, जिसके परिणामस्वरूप आपेक्षिक आर्द्रता लगभग २५ प्रतिशत हो जाती है। वाष्पीकरण की तीव्रता के कारण पर्याप्त मात्रा में होनेवाली वर्षा का भी मूल्य मनुष्य के लिये घट जाता है। अबिसीनिया में ऊँचाई अधिक होने से ताप कम रहता है। वर्षा, गायना की खाड़ी तथा हिंद महासागर, दोनों से आनेवाली आर्द्र हवा से होती है। दक्षिणी तथा दक्षिण पश्चिमी भागों में वर्षा ६०" से अधिक होती है, किंतु उत्तरी तथा पूर्वी भागों की दशा मरुभूमि तुल्य है। दक्षिणी अफ्रीका में सूडान सदृश जलवायु कांगो क्षेत्र से दक्षिण तथा मकर रेखा से उत्तर पाई जाती है। प्रायद्वीपीय भाग के कारण यहाँ महासागरीय प्रभाव अधिक है। ऊँचाई का भी प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्मकाल में औसत तापमान ८०° फा० तथा शीतकाल में ६०° फा० रहता है। शीतकाल में आकाश स्वच्छ रहता है तथा आर्द्रता कम होती है। वर्षा ग्रीष्मकाल में होती है। वर्षा की मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। पूर्वी उपकूलीय भाग में सामुद्रिक जलधारा का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है।

उष्ण मरुस्थलीय जलवायु का क्षेत्र १८° उ० अ० के उत्तर में अध महासागर से लालसागर तक विस्तृत है। इसके भी दो विभाग है—सहारा सदृश तथा उपकूलीय मरुभूमि सदृश। सहारा सदृश जलवायु समुद्र से दूरस्थ भागों में पाई जाती है। ग्रीष्मकाल के अपराह्न में ताप १२०° फा० हो जाता है। शीतकाल में औसत ताप ६०° फा० रहता है। आकाश निर्मेघ रहने के कारण दैनिक तापांतर वर्ष भर लगभग ५०° फा० रहता है। आपेक्षिक आर्द्रता ३०% से ५०% तक रहती है। वर्षा अत्यल्प होती है। उपकूलीय मरुभूमि सदृश जलवायु उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी उपकूलीय भाग में, दक्षिणी अफ्रीका के कालाहारी प्रदेश में तथा सोमालीलैंड के उपकूलीय भाग में पाई जाती है। इन प्रदेशों में समुद्री प्रभाव के कारण ताप घट जाता है। दैनिक तापांतर कम तथा आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है। वर्षा लगभग ५" होती है।

भूमध्यसागरीय जलवायु पश्चिमोत्तर अफ्रीका तथा प्रायद्वीपीय अफ्रीका के दक्षिणी छोर पर लगभग ३५° अ० के बाहर पाई जाती है। इस जलवायु की मुख्य विशेषता यह है कि वर्षा शीतकाल में होती है और ग्रीष्मकाल शुष्क होता है। ताप ग्रीष्म में लगभग ७५ फा० तथा शीतकाल में ४५° फा० से ऊपर रहता है। वर्षा की मात्रा स्थल की प्राकृतिक बनावट पर निर्भर रहती है। चीन सदृश जलवायु अफ्रीका के दक्षिणपूर्व में पाई जाती है। समुद्री प्रभाव के कारण जलवायु समान बनी रहती है। वार्षिक तापांतर अधिक नहीं हो पाता। पर्वतीय भागों में ताप अपेक्षाकृत कम रहता है। वर्षा ग्रीष्मकाल में होती है और उसकी मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमशः घटती जाती है। आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है।

मिट्टी—अफ्रीका की मिट्टी का अध्ययन अभी तक पर्याप्त रूप से नहीं हो पाया है। अमरीका के श्री सी० एफ० मार्बट ने पहले पहल अफ्रीका की मिट्टियों के प्रकार तथा उनका वितरण बताने की चेष्टा की। १९२३ ई० में उनके निश्चयों का सारांश प्रकाशित हुआ। अफ्रीका के अयनवृत्तीय भाग में प्रायः सर्वत्र लाल दोमट पाई जाती है। उष्ण मरुस्थलीय भाग की मिट्टी में जीवांश (ह्यूमस) कम पाया जाता है और मिट्टी का रंग फीका होता

है। कहीं कहीं क्षारमिश्रित ऊसर भी मिलता है। ट्रांसवाल की निम्नभूमि तथा दक्षिणी रोडेशिया में चर्नोजेम नामक काली मटियार मिट्टी पाई जाती है। इसमें जीवांश की मात्रा अधिक होती है। इस मिट्टी की एक मेखला उत्तरी अफ्रीका के सूडान राज्य के मध्य में भी मिलती है। ऑरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रांसवाल के निकटवर्ती उच्च प्रदेशों में गाढ़े भूरे रंग की उपजाऊ मिट्टी पाई जाती है। उत्तर में सूडान के अधिकांश भाग में यही मिट्टी मिलती है। शीतकालीन वर्षावाले क्षेत्रों (केप प्रांत के पश्चिमी भाग तथा ऐटलस पर्वतीय प्रदेश) में भूरे रंग का दोमट अधिक है। नेटाल तथा केप प्रांत के पूर्वी ढालों पर लाल दोमट पाई जाती है। नील नदी की घाटी की मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ है।

प्राकृतिक वनस्पति--प्राकृतिक वनस्पतियों की गणना में अफ्रीका संसार में अद्वितीय है। विषुवतीय प्रदेश, अधिक ताप तथा वर्षा के कारण, सदाहरित घने जंगलों से आच्छादित है। ... में गैबिया के मुहाने से लेकर कांगो क्षेत्र तक मिलते हैं। ... मध्य भाग तथा कांगो की घाटी के निचले भाग में इन वनों का प्रभाव उल्लेखनीय है। पूर्वी अफ्रीका के अयनवृत्तीय भाग तथा मैडेगैस्कर द्वीप के पूर्वी, उपकूलीय भाग में भी ऐसे वन पाए जाते हैं। इन वनों के वृक्ष अधिक ऊँचे और घने होते हैं। इनके नीचे छोटे छोटे पौधे भूमि का पूर्णतः ढँक लेते हैं। महोगनी, नारियल तथा रबर मुख्य वृक्ष हैं।

विषुवतीय वनस्थली के उत्तर तथा दक्षिण में घास का सावैना नामक विस्तृत क्षेत्र है। यहाँ अधिक वर्षावाले भाग में लंबी घास के साथ साथ, वृक्ष भी उग आते हैं, किंतु वर्षा की कमी के साथ वृक्षों की संख्या भी घटने लगती है। मरुस्थल के निकट बबूल तथा अन्य कँटीदार झाड़ियाँ अधिक मिलती हैं और घास भी लंबी नहीं होती। सावैना मंडल में मुख्य वृक्ष बाओबब है। दक्षिणपूर्व अफ्रीका में घास का वेल्ड नामक समशीतोष्ण मैदान पाया जाता है। यहाँ घास सावैना के घास की अपेक्षा छोटी होती है। अबिसीनिया, मैडागैस्कर तथा पूर्वी अफ्रीका के ऊँचे पठारों पर भी घास के मैदान पाए जाते हैं। भूमध्यसागरीय जलवायुवाले प्रदेशों में जैतून (ऑलिव) और रसीले फलों के वृक्ष तथा कुछ झाड़ियाँ मिलती हैं। मरुस्थली भाग वनस्पति से प्रायः शून्य है। मरूद्यानों में कुछ काँटेदार झाड़ियाँ और खजूर के वृक्ष दिखाई पड़ते हैं।

वनजंतु--विषुवतीय वन कीड़े मकोड़ों तथा पक्षियों से भरा है। बृहत्काय जंतु नदियों, दलदलों तथा घने वनों के अंचल में अधिक हैं। इनमें हाथी, दरियाई घोड़े, गैंडे, मगर, घड़ियाल इत्यादि मुख्य हैं। पेड़ की डालियों पर वास करनेवाले बंदर, गोरिल्ला, चिंपैंजी आदि नाना जाति के बंदर यहाँ पाए जाते हैं। सावैना मंडल वन्य पशुओं का भांडार है। घास के इस खुले मैदान में जिराफ, जेबरा, बारहसिंगा आदि तीव्रगामी पशु स्वच्छंद विहार करते हैं। इन अहिंसक पशुओं पर जीनेवाले सिंह, चीते, तेंदुए, लकड़बग्घे, बनैले सुअर आदि शिकारी जंतु भी पाए जाते हैं। शुतुर्मुर्ग नाम का एक विचित्र पक्षी भी मिलता है। जंगली जीवों से उपलब्ध होनेवाली वस्तुओं में शुतुर्मुर्ग का पर तथा हाथीदाँत मुख्य है। हाथीदाँत के लाभदायक व्यापार के लालच से ही अरब के व्यापारी इधर अधिक आकर्षित होकर प्रविष्ट हुए थे। जंगलों में अजगर भी मिलते हैं। अफ्रीका का अजगर विषैला होता है। इन जंतुओं के अतिरिक्त मलेरिया तथा पीला ज्वर सदृश भयानक रोग फैलानेवाले मच्छड़, ट्सट्सी मक्खी और अनेक प्रकार के जहरीले कीड़ों तथा चींटियों के लिये अफ्रीका कुख्यात है।

खनिज संपत्ति--अफ्रीका के कुछ भाग खनिज संपत्ति से संपन्न हैं। यूरोप निवासियों तथा अफ्रीका के आदिवासियों के बीच संबंध स्थापित करने में बेलजियन कांगो स्थित कटंगा की ताँबेवाली खान तथा दक्षिणी अफ्रीका की सोने और हीरे की खानों का प्रमुख हाथ रहा है। सहारा मरुभूमि में ऊँटों का लंबा कारवाँ वहाँ पाए जानेवाले नमक के व्यापार के लिये ही जाता था। अफ्रीका में कोयले, पेट्रोलियम, सीसे तथा जस्ते की कमी है, किंतु हीरा, सोना, मैंगनीज, ऐल्युमीनियम, प्लैटिनम तथा राँगा प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। संसार का प्रमुख ताँबा उत्पादक क्षेत्र अफ्रीका में ही है। यह बेलजियन कांगो से रोडेशिया तक, २०० मील लंबी मेखला के रूप में, फैला हुआ है। लोहा उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों भागों में पाया जाता है। अलजीरिया, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया की खानें उत्तरी भाग में लौह के उत्पादन के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। मैडागैस्कर द्वीप में कोयले के अविकसित क्षेत्र हैं। यहाँ अभ्रक, सोना तथा रत्न भी निकलते हैं। संयुक्त राज्य (अमरीका) द्वारा उत्पादित लोहे के १८वें भाग के बराबर लोहा अफ्रीका में निकाला जाता है। संसार का २० प्रतिशत मैंगनीज तथा १६ प्रतिशत ताँबा इस महाद्वीप में उत्पन्न होता है। मैंगनीज की मुख्य खान घाना देश के सिकंडी बंदरगाह से ३४ मील दूर स्थित है। पूर्वी भाग के नेटाल राज्य में कोयले की खानें हैं। अफ्रीका संसार में कोबाल्ट का सबसे बड़ा उत्पादक है।

सिंचाई--विषुवतीय प्रदेश तथा उसके समीपस्थ सावैना मंडल के पर्याप्त वृष्टिवाले भाग को छोड़कर अफ्रीका के अधिकांश भाग में सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं है, वहाँ कृषि का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। अल्प वृष्टिवाले प्रदेशों में पशुपालन भी जल की सुलभता पर ही आश्रित है। नील नदी की घाटी में सिंचाई का समुचित प्रबंध किया गया है। असवान तथा सेनार सदृश विशाल बाँध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। ऐंग्लो ईजिप्शियन सूडान के प्रायद्वीप में तथा मिस्र देश के निचले भाग में सिंचाई के बिना रुई की खेती कदापि संभव नहीं थी। दक्षिणी अफ्रीका में भी सिंचाई की आवश्यकता अधिक थी और इस बात पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस भाग में स्थित वालबैंक जलाशय, जिससे लगभग एक लाख एकड़ जमीन सींची जाती है, दक्षिणी गोलार्ध का सबसे बड़ा सिंचाई का साधन माना जाता है। पश्चिमोत्तर अफ्रीका में फ्रांसीसी सरकार ने सिंचाई की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया है। अलजीरिया तथा ट्यूनीशिया के दक्षिणी भागों में पातालतोड़ कूपों का निर्माण हुआ है। अलजीरिया की शेलिफ नदी की घाटी में दो सिंचाई योजनाएँ बनी हैं। नाइजेरिया के उत्तरी भाग में कुओं से सिंचाई होती है। नाइजर तथा वोल्टा नदियों पर बनाए गए बाँधों से पश्चिमी अफ्रीका में सिंचाई का अच्छा प्रबंध हो गया है। मोरक्को देश में इस दिशा में कुछ विकास हुआ है। पूर्वोत्तर अफ्रीका के इरीट्रिया देश के अंतर्गत भी नदियों का पानी सिंचाई के काम में लाया जाता है।

कृषि--अफ्रीका के अधिकांश में कृषि प्राचीन ढंग से की जाती है। वहाँ के आदिवासी अपने आवश्यकतानुसार अन्न उपजाते हैं। मक्का, ज्वार तथा बाजरा उनके मुख्य खाद्यान्न हैं। उनके खेतों में स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति कठोर परिश्रम करती हैं। ये लोग कृषि के आधुनिक ढंग से प्रायः अनभिज्ञ हैं। वे खेतों में बाजारू खाद का प्रयोग नहीं करते। जहाँ विदेशी भूमिपतियों की देखरेख में खेती की जाती है, वहाँ अफ्रीका के आदिवासी मजदूरों के रूप में परिश्रम करते हैं। ये भूमिपति लाभप्रद शस्यों को उपजाने पर विशेष और मोटे अन्न पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देते हैं।

अफ्रीका में पैदा होनेवाले कुछ पौधे तो वहाँ अनादि काल से पाए जाते हैं, उदाहरणार्थ नील, रेंडी तथा कहवा, किंतु कुछ पौधे विदेशियों द्वारा बाहर से लाकर भी लगाए गए हैं। केला, कटहल, नारियल, खजूर, अंजीर, सन, जैतून, ज्वार, बाजरा, गन्ना तथा धान संभवतः यहाँ एशिया महाद्वीप से लाए गए और मक्का, कसावा, मूँगफली, शकरकंद, अरुई, सेम, पपीता तथा अमरूद व्यापारियों द्वारा अमरीका से लाकर पश्चिमी अफ्रीका में लगाए गए। तबाकू भी अमरीका से ही लाया गया।

विषुवतीय प्रदेश में जंगल को स्वच्छ कर कहीं कहीं धान, गन्ना, अरुई, शकरकंद, मूँगफली, केला, कोको तथा कसावा नामक कंद की खेती की जाती है। सावैना मंडल की मुख्य उपज मक्का, ज्वार तथा बाजरा है। शीतकाल में गेहूँ तथा जौ की खेती होती है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं मूँगफली और रुई भी उपजाई जाती है। वेल्डवाले भाग में मक्का, तबाकू, गेहूँ, जौ तथा जई की खेती होती है। सिंचाई की सहायता से रसदार फलों के वृक्ष भी लगाए जाते हैं। मरुस्थलीय भागों में बिना सिंचाई के कुछ भी पैदा नहीं होता। मरूद्यानों की मुख्य उपज खजूर तथा गेहूँ है। नील नदी की घाटी रुई की खेती के लिये विश्वविख्यात है। भूमध्यसागरीय प्रदेशों में गेहूँ की खेती होती है और अंगूर, संतालू, संतरा सदृश रसदार फल तथा जैतून के वृक्ष लगाए जाते हैं।

पशुपालन--मिस्र देशवासियों को संभवतः ३,५०० ईसवी पूर्व से ही ऊँटों की जानकारी है, किंतु लगभग ३२५ ईसवी पूर्व तक वे ऊँटों का व्यवहार

नहीं करते थे। परंतु घोड़ों का व्यवहार वे लगभग ढाई हजार ईसवी पूर्व से जानते हैं। जंगल तथा मरुस्थल के मध्यस्थ खुले भागों में घोड़ों का व्यवहार लड़ाई के काम में किया जाता था। गोपालन दूध, मांस और चमड़े के उत्पादन के लिये तथा कहीं कहीं धार्मिक विचार से अधिक महत्वपूर्ण है। उत्तरी तथा पश्चिमोत्तर अफ्रीका में खच्चरों का व्यवहार अधिक होता है। मुसलमानों को छोड़कर अन्य सभी धर्मावलंबी सूअर पालते हैं। बकरियाँ प्राय सभी गाँवों में पाई जाती है। भेड़ विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में पाली जाती है। बेल्जियन कांगो में अपि के पास जंगलों में काम करने के लिये हाथी भी पाले गए हैं।

साबैना मंडल, वेल्ड क्षेत्र तथा उच्च पठारी घास के मैदान पशुपालन के लिये उपयुक्त है। कहीं कहीं जल की समस्या उत्पन्न होती है, किंतु कुओं तथा कृत्रिम जलाशयों का निर्माण करके यह समस्या अधिकांश भाग में हल की जा चुकी है। मरुस्थलों के अचलीय भागों में अभी यह समस्या वर्तमान है और व्यावसायिक पशुपालन में बाधक सिद्ध होती है। मरुस्थलीय भागों में ऊँट, उत्तर के साबैना मंडल में गाय और घोड़े तथा पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमोत्तर अफ्रीका में भेड़ तथा बकरियाँ मुख्य पालित पशु है।

उद्योग धंधे—उद्योग धंधों की दृष्टि से अफ्रीका पिछड़ा हुआ महाद्वीप है। आधुनिक युग के उद्योगों का विकास अभी यहाँ नहीं हो पाया है। इसके मुख्य कारण है आवागमन के साधनों की असुविधा, कुशल कारीगरों की कमी तथा कोयला जैसे ईंधन का असमान वितरण। इस महाद्वीप में जलविद्युत् की संभावना बहुत अधिक है (संसार की लगभग ४० प्रतिशत), किंतु इसका विकास पर्याप्त रूप में नहीं हो पाया है। अब धीरे धीरे अफ्रीका के विभिन्न भागों में कल कारखाने खुल रहे है और इस दिशा में विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

मिस्र देश में सूती-वस्त्र-उद्योग का विकास हुआ है। यहाँ सूत कातने तथा सूती कपड़े बनाने के अनेक कारखाने है। इसके अतिरिक्त आटा, तेल, चीनी, सिगरेट, सीमेंट तथा चमड़े के भी कई कारखाने है। खजूर का फल डब्बों में बंद करके बाहर भेजना यहाँ का एक मुख्य धंधा है। दक्षिणी अफ्रीका में ईंधन सस्ता है। यहाँ औद्योगिक विकास अन्य भागों की अपेक्षा अधिक हुआ है। प्रिटोरिया में लोहा तथा इस्पात का एक आधुनिक कारखाना है। दक्षिणी अफ्रीका में सीमेंट, साबुन, सिगरेट, वस्त्र, रेल संबंधी सामग्री तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने के अनेक कारखाने है। इस भाग के बंदरगाहों में मछली मारने का उद्योग भी उल्लेखनीय है। युगांडा में ओवेन-प्रपात-बाँध के उद्घाटन के साथ ही उस देश के औद्योगिक विकास का मार्ग खुल गया। वस्त्र तथा सीमेंट के उद्योग आरंभ हो गए है। बेल्जियन कांगो में भी औद्योगिक विकास हो रहा है। वहाँ नारियल के तेल के अनेक कारखाने है। इनके अतिरिक्त वस्त्र, साबुन, चीनी तथा जूते बनाने के कारखाने भी खुले है। इस औद्योगिक विकास का मुख्य कारण उस क्षेत्र में जलविद्युत् का विकास है। विषुवतीय प्रदेश में लकड़ी चीरने का उद्योग तीव्रता से बढ़ रहा है।

परिवहन के साधन—अफ्रीका में परिवहन के सुगम साधनों का प्राय अभाव है। कुछ ही भागों में इनका विकास हो पाया है। अधिकांश में सामान ढोने के प्राचीन साधनों का ही व्यवहार होता रहा है। नील नदी में नाव, मध्य अफ्रीका में डोंगी तथा मजदूर, मरुस्थलों में ऊँट, ऐटलस प्रदेश में खच्चर तथा दक्षिणी अफ्रीका में बैलगाड़ी से बोझ ढोने का काम लिया जाता था। इन साधनों से वर्तमान युग की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। अत पक्की सड़कें तथा रेलमार्ग बनाने पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। रेलमार्ग बनाने में इस महाद्वीप में अनेक प्राकृतिक बाधाएँ उपस्थित होती है। अब तक अफ्रीका में रेलमार्ग का क्रमहीन ढाँचा मात्र खड़ा हुआ है, अन्यान्य देशों की भाँति इसका जाल नहीं बिछ पाया है। दक्षिणी तथा पश्चिमोत्तर अफ्रीका, विषुवतीय प्रदेश तथा नील नदी की निचली घाटी में रेल की कई लाइनें बिछ गई है। सबसे अधिक विकास दक्षिणी अफ्रीका में हुआ है। केप ऑव गुड होप से जो लाइन पूर्वी पठारी प्रदेश को पार करती हुई उत्तर की ओर बढ़ गई है वह केप-कैरो लाइन के नाम से विख्यात है, किंतु मिस्र तथा सूडान की मध्यस्थ सीमा के पास विच्छिन्न होने के कारण इसका नाम सार्थक नहीं है। बड़ी नदियाँ, जिनमें सैकड़ों मील तक छोटे जहाज चलते है, इस महाद्वीप के भीतरी भागों के लिये सुगम जलमार्ग हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यापार में स्वेज नहर का अद्वितीय महत्व है। उपकूलीय भागों में समुद्री मार्ग से व्यापार होता है। अफ्रीका के समुद्री कूल पर कुछ महत्वपूर्ण बंदरगाह स्थित है, जिनमें पोर्ट सईद, सिकंदरिया, त्रिपोली, अल्जियर्स, डकार, अक्रा, मोंबासा, केपटाउन, पोर्ट एलिजाबेथ, डरबन, लॉरेंसो मार्क्स, जंजीबार, मोंबासा, स्वेज इत्यादि मुख्य है। इस महाद्वीप में वायुमार्ग की व्यवस्था अच्छी है। लंबी दूरी तथा अन्य सुगम साधनों के अभाव के कारण ही इसका इतना विकास हुआ है। कैरो, खार्तूम, नैरोबी, जोहान्सबर्ग, एलिजाबेथविल, लियोपोल्डविल, कानो, डकार, अल्जियर्स इत्यादि वायुमार्ग के मुख्य केंद्र है।

व्यापार—अफ्रीका का अंतरराष्ट्रीय व्यापार मुख्यत यूरोप के औद्योगिक देशों के साथ है। पिछली शताब्दियों में यह महाद्वीप गुलामों की बिक्री के लिये प्रसिद्ध था। इसके गुलामों का मुख्य ग्राहक संयुक्त राज्य (अमरीका) था। इस समय अफ्रीका विशेषकर कच्चा पदार्थ विभिन्न देशों को निर्यात करता तथा विदेशों से निर्मित पदार्थों का आयात करता है। यहाँ से निर्यात होनेवाले पदार्थों में सोना, मैंगनीज, कोबाल्ट, ताँबा निकल, प्लैटिनम, रबर, कोको, नारियल का तेल कपास, फल, गोंद, ऊन, हाथीदाँत, शुतुर्मुर्ग के पर इत्यादि मुख्य है। विदेशों से कल पुर्जे, मोटर गाड़ियाँ, रेल के इंजन, दवाएँ, कृत्रिम खाद, छोटे जहाज, वायुयान, लड़ाई के हथियार इत्यादि आयात किए जाते है।

इस महाद्वीप की कुल अनुमित जनसंख्या लगभग २७ करोड़ और जनसंख्या का घनत्व २३ व्यक्ति प्रति वर्गमील है।

निवासी—अफ्रीका के निवासियों में प्रमुख स्थान यहाँ के आदिवासियों का है। इनमें हबशी, हमाइट, शामी (सेमाइट), बौने बुशमेन, हाटेंटाट तथा मसाबी मुख्य जातियाँ है।

शारीरिक बनावट तथा मुखाकृति की दृष्टि से हबशियों की कई उपजातियाँ मानी जाती है किंतु पश्चिमी अफ्रीका का हबशी पूरे समुदाय का प्रतिरूप माना जाता है। उसका शरीर भरकम, कद साधारण या ऊँचा, सिर लंबा, नाक चौड़ी, होंठ मोटे, निचला जबड़ा कुछ आगे निकला हुआ, रंग गाढ़ा भूरा (करीब करीब काला) और बाल काला तथा घुँघराला होता है। मध्यकांगो क्षेत्र के हबशी का कद साधारण या छोटा तथा सिर चौड़ा होता है। नील नदी के उद्गम के आसपास बसनेवाले नीलोटिक हबशी लंबे कद (लगभग ६' ६") के होते है।

हमाइट जाति के लोगों का शरीर दुर्बल रंग हल्का, बाल सीधे या घुँघराले, नाक पतली तथा होठ पतले होते है। इस जाति के लोग सहारा तथा पूर्वोत्तर अफ्रीका में पाए जाते है। जहाँ इनका संबंध हबशियों के साथ हो गया है वहाँ हबशी जाति के कुछ लक्षण इनमें भी स्पष्ट दिखाई पड़ते है।

अफ्रीका के उत्तरी तथा पूर्वी भाग में रहनेवाले लोग शामी जाति के है। इनका रंग हल्का भूरा, हमाइटों की तरह ही नाक और होंठ पतले होते है। साँवले रंग के अतिरिक्त इनके अन्य सभी लक्षण काकेशस की गोरी जाति के समान ही है। हमाइट तथा शामी दोनों जातियों के मनुष्य हबशी गुलामों को बेचने का व्यापार करते थे।

बेल्जियन कांगो क्षेत्र के पूर्वोत्तर प्रदेश में बौने निवास करते है। इनका शरीर सुगठित होता है और ये चतुर शिकारी होते है। इनका सिर बड़ा, गर्दन छोटी धड़ लंबा, पैर छोटे तथा हाथ पाँव पतले होते है। इनकी चाल में डगमगाहट रहती है। इनकी औसत ऊँचाई ४' ६" होती है। स्त्रियाँ इनसे भी छोटी होती है। इनकी नाक अधिक चौड़ी होती है। ये चौकन्ने दिखाई पड़ते है। इनका रंग हबशियों की तरह काला नहीं होता, बल्कि पीलापन लिए हुए कुछ भूरा होता है।

बुशमेन दक्षिणी अफ्रीका में कालाहारी में रहते है। इनका कद छोटा और शरीर की बनावट हबशियों से भिन्न होती है। इनका सिर लंबा, हाथ पैर धड़ की अपेक्षा छोटे तथा बाल घुँघराले होते है। हाटेंटॉट के शरीर की बनावट भी बुशमैन की तरह होती है किंतु बुशमैन की अपेक्षा इनकी ऊँचाई अधिक, सिर लंबा और सिर के ऊपरी भाग का चपटापन कम होता है। इनके जबड़े आगे की ओर अधिक निकले होते है। पूर्वी अफ्रीका के पठारी प्रदेश में मसाबी लोग पशुपालन द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते हैं।

अफ्रीका के जंतु

ऊपर बंदर, नीचे शुतुर्मुर्ग (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।
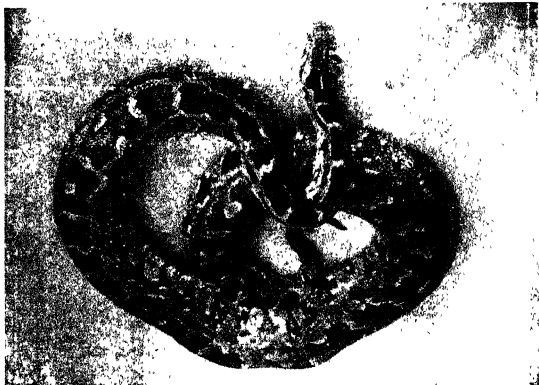
अफ्रीका तथा भारत के अजगर

ऊपर, अफ्रीका का बोआ, नीचे, भारतीय अजगर, देखें पृष्ठ ८१ (दि अमेरिकन म्यूजियम आव नेचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अफ्रीका
मील
उत्तरी अंध महासागर
दक्षिण अंध महासागर
हिंद
महासागर
अल्जीरिया
लीबिया
मिस्र
फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका
फ्रेंच सूडान
नाइजीरिया
सूडान
एंगोला
इथिओपिया
केनिया
बेल्जियन
कांगो
दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका
दक्षिण अफ्रीका संघ
यूरोप
एशिया
सीरिया
इराक
ईरान
अरब
तुर्की

ट्युनीशिया
मोरक्को
अल्जीरिया
लीबिया
संयुक्त-
अरब
गणराज्य
स्पैनिश
सहारा
मौरितानिया
माली
नाइजर
चाद
(शाद)
सूडान
फ्रेंच-
सोमाली लैंड
अपर
वोल्टा
नाइजेरिया
मध्य अफ्रीका
गणतन्त्र
इथियोपिया
सियरा लियोन
आइवरी
कोरट
लाइबेरिया
स्पैनिश
गायना
गाबो
केनिया
सोमाली
रवांडा
बुरुंडी
कांगो
(किन्शासा)
तंजानिया
जंजीबार
अंगोला
जाम्बिया
रोडेशिया
दक्षिण-
पश्चिम
अफ्रीका
बोत्स्वाना
स्वाजीलैंड
दक्षिण-
अफ्रीका
गणतन्त्र
लेसोथो

वर्तमान अफ्रीका

उपर्युक्त निवासियों के अतिरिक्त भारतीय लोग तथा कई स्वार्थसाधक विदेशी भी यहाँ अधिक संख्या में आ बसे हैं।
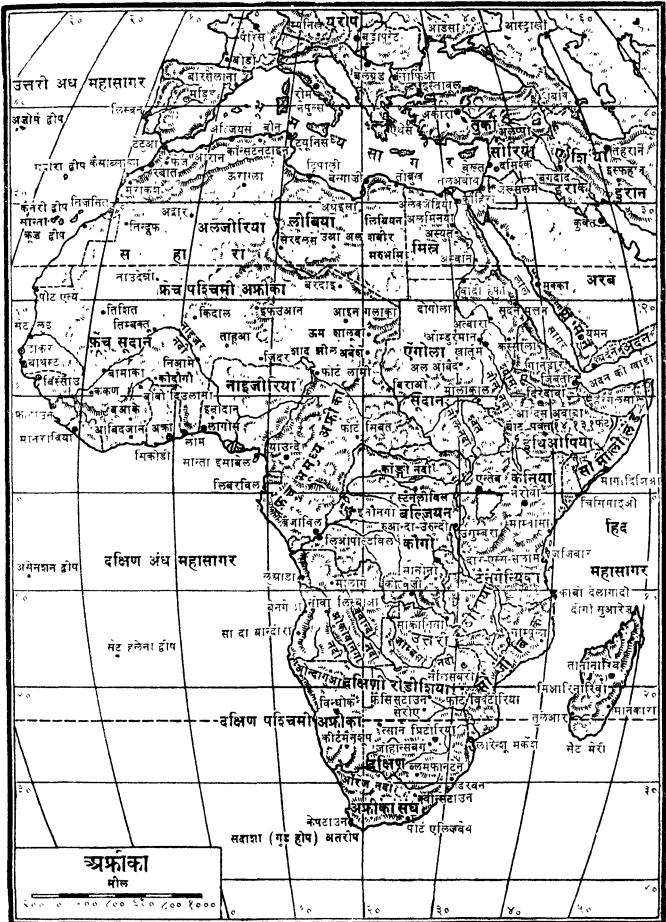
अफ्रीका के देश—अफ्रीका का राजनीतिक मानचित्र रंगबिरंगा दिखाई पड़ता है। देशों की इतनी अधिक संख्या किसी अन्य महाद्वीप में नहीं मिलती। इसका मुख्य कारण है यूरोपीय राष्ट्रों की स्वार्थपरता, जिन्होंने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये इस महादेश के टुकड़े कर आपस में बाँट लिया है और इसकी प्राकृतिक संपत्ति का उपयोग कर स्वयं समृद्धिशाली बन गए हैं। अफ्रीका के देशों की सूची निम्नलिखित है

मोरक्को, स्पैनिश मोरक्को, अल्जीरिया, ट्युनीशिया, स्पैनिश सहारा, मौरितानिया, माली, नाइजर, सेनेगाल, गायना, आइवरी कोस्ट, अपर-वोल्टा, टोगो, दहोमी, गिनीया, पुर्तगीज गायना, सियरा लियोन, लाइबेरिया, घाना, नाइजीरिया, चाद (शाद), कैमेरून, मध्य अफ्रीका गणतंत्र, कांगो, स्पैनिश गायना, लीबिया, संयुक्त अरब गणराज्य, सूडान, इथिओपिया, फ्रेंच शुमाली लैंड, शुमाली गणतंत्र, ज़ैरे (कांगो या किन्शासा), युगांडा, केनिया, तंजानिया, अंगोला, दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका, जाबिया, रोडेशिया, बोत्स्वाना, दक्षिण अफ्रीका गणतंत्र, मोजाबीक, मालागासी गणतंत्र, मलावी, लेसोथो, स्वाजीलैंड, इत्यादि।

विदेशी आधिपत्य—यह महाद्वीप उपनिवेशवाद का ज्वलंत उदाहरण था। यहाँ मिस्र, इथिओपिया, लाइबेरिया और घाना को छोड़कर अन्य देशों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी विदेशी सरकार का आधिपत्य था। अफ्रीका के विभिन्न देशों पर अपना आधिपत्य जमानेवाले राष्ट्रों में यूरोप के ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल, स्पेन, तथा बेल्जियम मुख्य राष्ट्र थे। द्वितीय विश्व महायुद्ध के बाद से एशिया के लोगों की भाँति अफ्रीकी जनता भी उपनिवेशवाद के विरुद्ध जागरित हुई है और वहाँ स्वतंत्रता के नारे बुलंद किए गए। अब दक्षिणी अफ्रीका में प्रचलित साम्राज्यवादियों की रंग-भेद-नीति के विरुद्ध जनता सक्रिय आंदोलन कर रही है।

सन् १९५६ में लार्ड हेली के इस बयान से कि "यह अफ्रीका का ही एकमात्र भाग्य है कि इसके इतने देशों पर एक न एक यूरोपीय शक्ति का आधिपत्य अथवा नियंत्रण बना हुआ है", वहाँ क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। सन् १९६१ तक २३ राज्य, जो पहले फ्रेंच अथवा ब्रिटिश शासन के अधीन थे, स्वतंत्र हो गए। अब मात्र दक्षिणी अफ्रीका ही गोरों के नियंत्रण में बच गया है।　　(न० प्र०)

अफ्रीकी एकता संगठन की स्थापना ३० अफ्रीकी देशों के शासनाध्यक्षों ने २५ मई, १९६३ ई० को अदिस अबाबा में आयोजित सम्मेलन में एक राजलेख पर हस्ताक्षर करके की।

उक्त संगठन के प्रमुख उद्देश्य हैं अफ्रीकी एकता तथा संगठन में निरंतर वृद्धि करना, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक तथा सुरक्षा संबंधी नीतियों में तालमेल स्थापित करना, अफ्रीका से उपनिवेशवाद का समापन करना और अफ्रीकी एकता संगठन के सदस्य राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा हेतु एक सम्मिलित रक्षा व्यवस्था का गठन करना।

संगठन के प्रमुख अंग (१) राज्याध्यक्षों अथवा शासनाध्यक्षों की परिषद्, (२) विदेशमंत्रियों की परिषद्, (३) महासचिवालय तथा (४) मध्यस्थता, विरोधशमन और पंचफैसले के लिये एक आयोग है। अफ्रीकी भाषाओं के अतिरिक्त इस संगठन ने फ्रेंच तथा अंग्रेजी भाषाओं को भी अधिकृत भाषा के रूप में मान्यता दी है।　　(कै० चं० श०)

अफ्रीकी भाषाएँ

अफ्रीका महाद्वीप में बुशमैन (गुल्मनिवासी), बांटू, सूडान तथा सामी-हामी-परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। अफ्रीका के समग्र उत्तरी भाग में सामी भाषाओं का आधिपत्य प्राय दो हजार वर्षों से रहा है। इधर दो तीन शताब्दियों से दक्षिण के कोने पर और समस्त पश्चिमी किनारे पर यूरोपीय जातियों ने कब्जा करके मूल निवासियों को महाद्वीप के भीतरी भागों की ओर हटा दिया। किंतु अब अफ्रीकी निवासियों में जागृति हो चली है और फलस्वरूप उनकी निजी भाषाएँ अपना अधिकार प्राप्त कर रही हैं।

बुशमैन परिवार—इस जाति के लोग दक्षिणी अफ्रीका के मूल निवासी समझे जाते हैं। इनकी बहुत सी बोलियाँ हैं। ग्रामगीतों और ग्रामकथाओं को छोड़कर इन बोलियों में कोई अन्य साहित्य नहीं है। रूप की दृष्टि से ये भाषाएँ अंत में प्रत्यय जोड़नेवाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था में हैं। इनके कुछ लक्षण सूडान परिवार की भाषाओं से मिलते हैं और कुछ बांटू परिवार की जुलू भाषा से। संभव है, जुलू की ध्वनियों पर इस परिवार की भाषाओं का प्रभाव पड़ा हो। बुशमैन में छह 'क्लिक' ध्वनियाँ भी हैं। लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर प्राणिवर्ग और अप्राणिवर्ग पर अवलंबित है और इस बात में द्राविड़ भाषाओं के चेतन और अचेतन लिंग से समता रखता है। बहुवचन बनाने के कई ढंग हैं जिनमें अभ्यास मुख्य है। हॉटेंटाट भाषाएँ भी बुशमैन के अंतर्गत समझी जाती हैं। हॉटेंटाट शब्द प्राय एकाक्षर होते हैं। तीन वचन (एक, द्वि, बहु) होते हैं। उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के सर्वनाम के दो रूप (वाच्यसमावेशक और व्यतिरिक्त) पाए जाते हैं। सुर का भी अस्तित्व है।

बांटू परिवार—ये भाषाएँ प्राय समस्त दक्षिणी अफ्रीका में, भूमध्यरेखा के नीचे के भागों में बोली जाती हैं। इनके दक्षिण पश्चिम में हॉटेंटाट और बुशमैन हैं और उत्तर में सूडान परिवार की विभिन्न भाषाएँ। इस परिवार में करीब एक सौ पचास भाषाएँ हैं जो तीन (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी) समूहों में बाँटी जाती हैं। इन भाषाओं में कोई साहित्य नहीं है। प्रधान भाषाएँ काफिर, जुलू, सेसुतो, कांगो और स्वहीली हैं।

बांटू भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं और परस्पर सुसबद्ध हैं। इनका प्रधान लक्षण उपसर्ग जोड़कर पद बनाने का है। अंत में प्रत्यय जोड़कर भी पद बनाए जाते हैं पर उपसर्ग की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिये संप्रदान कारक का अर्थ 'कु' उपसर्ग से निकलता है, यथा कुति (हमको), कुनि (उनको), कुजे (उसको)। बहुवचन–अबतु (बहुत से आदमी), अमुतु (एक आदमी)। बांटू भाषाओं का दूसरा प्रधान लक्षण ध्वनिसामंजस्य है। ये भाषाएँ सुनने में मधुर होती हैं। सभी शब्द स्वरांत होते हैं और संयुक्त व्यंजनों का अभाव सा है।

सूडान परिवार—ये भाषाएँ भूमध्यरेखा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक फैली हुई हैं। इनके उत्तर में हामी परिवार की भाषाएँ हैं। कुल ४३५ भाषाओं में से केवल पाँच छह ही लिपिबद्ध पाई जाती हैं। इनमें वाई, मोम, कनूरी-हाउसा तथा न्यूल मुख्य हैं। नूबी में चौथी से सातवीं सदी ईसवी के कोप्ती लिपि में लिखे लेख मिलते हैं।

इन भाषाओं की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है। एकाक्षर धातुओं के अस्तित्व और उपसर्ग तथा प्रत्ययों के नितांत अभाव के कारण चीनी भाषाओं की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद सुर पर आधारित है। शब्दों में लिंग नहीं होता। आवश्यकता पड़ने पर नर और मादा के बोधक शब्दों द्वारा लिंग दिखाया जाता है। बहुवचन का भाव साफ साफ इन भाषाओं में नहीं झलकता। वाक्य अधिकांशत छोटे छोटे, एक संज्ञा और एक क्रिया के होते हैं। सूडानी भाषाओं में एक तरह के मुहावरे होते हैं जिन्हें ध्वनिचित्र, शब्दचित्र या वर्णनात्मक क्रियाविशेषण कह सकते हैं, जैसे, ईव भाषा में 'जा' धातु का अर्थ चलना होता है और इसमें कई दर्जन मुहावरे बनते हैं जिनका अर्थ सीधे चलना, जल्दी जल्दी चलना, छोटे छोटे कदम रखकर चलना, लंबे आदमी की चाल चलना, चूहे आदि छोटे जानवरों की तरह चलना, इत्यादि अर्थ प्रकट होते हैं।

सूडान परिवार में चार समूह हैं—सेनेगल भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ्रीका समूह और नील नदी के ऊपरी हिस्से की बोलियाँ।

सूडान और बांटू दोनों परिवारों में कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं। दोनों में संज्ञाओं को विभिन्न गणों में विभक्त करते हैं। इस विभाग के अभाव में संज्ञा और क्रिया का भेद केवल वाक्य में शब्द के स्थान से ही प्रकट होता है। सुर भी दोनों में प्राय मिलते हैं।

सामी-हामी-परिवार—हामी भाग की भाषाएँ समग्र उत्तरी अफ्रीका में फैली हुई हैं और इनको बोलनेवाली कुछ जातियाँ दक्षिण और मध्यवर्ती अफ्रीका में घुसती चली गई हैं। सामी भाग की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया में बोली जाती हैं पर उनकी प्रधान भाषा अरबी ने सारे उत्तरी अफ्रीका में भी घर कर लिया है। पश्चिम में मारक्को से लेकर पूरब में

स्वेज तक तथा समस्त मिस्र में यही शासन तथा साहित्य की मुख्य भाषा है। अलजीरिया और मोरक्को की राजभाषा अरबी है ही। हब्शी राजभाषा सामी है।

सामी-हामी-परिवार के हामी भाग के पाँच मुख्य लक्षण है —(१) पद बनाने के लिये संज्ञाओं में उपसर्ग और क्रियाओं में प्रत्यय लगाए जाते है, (२) क्रिया के काल का बोध उतना नही होता जितना क्रिया के पूर्ण हो जाने या अपूर्ण रहने का, (३) लिंगभेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर अवलंबित न होकर आधार पर है। बड़े और शक्तिशाली जीव और पदार्थ (तलवार, बड़ी मोटी घास, बड़ी चट्टान, हाथी चाहे नर हो या मादा, आदि के बोधक शब्द) स्त्रीलिंग मे होते है, (४) हामी की केवल एक भाषा (नामा) में द्विवचन मिलता है, अन्यों में नही। बहुवचन बनाने के कई ढंग है। अनाज, बालू, घास आदि छोटी चीजों को समूहस्वरूप बहुवचन मे ही रखा जाता है और यदि एकत्व का विचार करना होता है तो प्रत्यय जुड़ता है जैसे लिस् (बहुत से आँसू), लिस (एक आँसू), बिल् (पतिंगे), बिल (एक पतिंगा), (५) हामी भाषाओं का एक विचित्र लक्षण बहुवचन में लिंगभेद कर देना है। इस नियम को ध्रुवाभिमुख कहते है। जैसे सोमाली भाषा में लिबि हिद्दू (शेर पु०), लिबिहद्योदि (बहुत से शेर, स्त्री०), होयोदि (माता, स्त्री०), होयो इकि (माताएँ, पु०)। बहुत से शेर स्त्रीलिंग में और बहुत सी माताएँ पुल्लिंग में है।

हामी भाषाओं मे विभक्तिसूचक प्रत्यय नही पाए जाते। ये भाषाएँ परस्पर काफी भिन्न है पर सर्वनाम—त् प्रत्ययांत स्त्रीलिंग आदि एकतासूचक लक्षण है। हामी की मुख्य प्राचीन भाषाएँ मिस्री और कोप्ती थी। मिस्री भाषा के लेख छह हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते है। इसके दो रूप थे—एक धर्मग्रंथों का और दूसरा जनसाधारण का। जनसाधारण की मिस्री की ही एक भाषा कोप्ती है जिसके ईसवी दूसरी सदी से आठवीं सदी तक के ग्रंथ मिलते है। यह १६वीं सदी तक की बोलचाल की भाषा थी। वर्तमान भाषाओं में हब्श देश की खमीर, पूर्वी अफ्रीका के कुशी समूह की, सोमालीलैंड की सोमाली और लीबिया की लीबी (या बबर) प्रसिद्ध है। वर्तमान काल की मिस्री भाषा गठन में बहुत सरल और सीधी है। उसकी धातुएँ (मूल शब्द) कुछ एकाक्षर है और कुछ अनेकाक्षर।

सं० ग्रं०—मेइए (Meillet) ले लाग दु माद (पेरिस), बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषाविज्ञान (प्रयाग)। (बा० रा० स०)

अफ्रीदी पठानों की एक महाशक्तिशाली जाति जो उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश (पश्चिमी पाकिस्तान) में सफेद कोह की पूर्वी ढाल पर रहती है। अफ्रीदी जाति की उत्पत्ति अज्ञात है। ये लोग अपने उपद्रवों के लिये कुख्यात है। इनका केंद्र समुद्रतल से ६,००० से ७,००० फुट तक की ऊँचाई पर स्थित एक ऊँचा प्रदेश तिराह है, जिसके दक्षिणी भाग में ओरकजाई लोग रहते है। लगभग १५वीं शताब्दी में अफ्रीदियों ने तिराहियों को भगा दिया, परंतु थोड़े ही समय में विजित प्रदेश के अधिक भूभाग पर पठोसियो ने अधिकार जमा लिया। आगे चलकर जहाँगीर के शासनकाल में ओरकजाइयों से तिराह का अर्धभाग अफ्रीदियों ने फिर ले लिया। अकबर के काल में इनमें से बहुत से लोग मुगल सेना में भर्ती हो गए। ब्रिटिश शासनकाल में खैबर से गुजरनेवाले व्यापारिक काफिलों की रक्षा के लिये इस जाति के लोग नियुक्त किए गए, परंतु आतरिक कलह के कारण सुरक्षा नहीं स्थापित हो सकी। १८९७ में उन अफ्रीदियों ने जो ब्रिटिश खैबर सेना में भरती हो गए थे शेष अफ्रीदियों के आक्रमण का सामना किया और लंडी कोतल की अत्यंत वीरतापूर्वक रक्षा की, परंतु अंत में उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा। तब अंग्रेजों ने एक बड़ी सेना भेजकर सब आक्रमणकारियों को दंड दिया और शांति स्थापित की।

अफ्रीदी अत्यंत स्वतंत्रताप्रिय है। इसलिये इनके गोत्रस्वामी का अधिकार भी बहुत कम होता है। यद्यपि ये बहुत वीर तथा पुष्ट होते है, तथापि यह जाति अपनी निर्दयता तथा अविश्वास के लिये कुख्यात है। अंग्रेजों के समय में भारतीय सेना में इनका बहुत बड़ा सहयोग था। (न० ला०)

अबगर मेसोपोतामिया के राजाओं का एक वंश जिसने ईसा के एक सदी पहले से एक सदी बाद तक एदेस्सा को राजधानी बनाकर ओस्रोईन में राज किया था। प्राचीन ईसाई परंपरा की किंवदंती है कि अबगर पंचम उक्कामा ने कुष्ठ से पीड़ित होने पर उससे रक्षा के लिये ईसा से पत्रव्यवहार किया था। कहते है, ईसा ने स्वयं वहाँ न जाकर अपने शिष्य जुदास को भेजा था। अबगरराज ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। प्रोटेस्टेंट लोग तो इस कथा की सत्यता में संदेह करते ही है, रोमन कैथोलिक विद्वानों में भी इस संबंध में मतभेद है। संभवत ईसाई धर्म के प्रचार के लिये यह किंवदंती गढ़ ली गई थी। अबगर राजाओं के नगण्य राजवंश का महत्व अधिकतर इसी किंवदंती के कारण है। (आ० ना० उ०)

अबट्टाबाद उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश (पश्चिमी पाकिस्तान) के हजारा जिले की एक तहसील (३३° ४६' से ३४° २२" उ० अ०, ७२° ५५' से ७३° ३१' पू० दे०)। यह पूर्व में झेलम नदी द्वारा घिरी हुई है। इसका क्षेत्रफल ७१५ वर्ग मील है। यह एक वनयुक्त पर्वतीय देश है। वर्षा बहुत कम होने के कारण केवल ज्वार और बाजरा यहाँ के मुख्य उत्पादन और खाद्यान्न है। इसका मुख्य नगर अबट्टाबाद (स्थिति ३४° ९' उ० अ०, ७३° १३' पू० दे०) समुद्रतट से ४,१०० फुट की ऊँचाई पर है। इसका नाम इसके संस्थापक सर जेम्स अबट्ट (ऐबट) के नाम पर पड़ा। यहाँ एक प्रमुख सैनिक छावनी तथा आर्यातिचिकित्सालय है। यह अशोक के शिलालेखों के लिये प्रसिद्ध है। (न० ला०)

अबरडीन उत्तरी सागर के तट पर डी और डोन नदियों के मुहानों के बीच स्थित उत्तरी स्काटलैंड का एक प्रमुख बंदरगाह तथा अबरडीनशायर की राजधानी है। भौतिक दृष्टि से इसकी उत्पत्ति १२वीं शताब्दी में हुई। १३३६ में एडवर्ड तृतीय ने इस नगर को जला डाला था। पुन निर्मित होने पर इसका नाम नवीन अबरडीन पड़ा। यहाँ की मुख्य दूकानें तथा नवनिर्मित आधुनिक ढंग की इमारतें यूनियन स्ट्रीट के किनारे स्थित है जो ७० फुट चौड़ी है। स्कलहिल की चित्रशाला एवं कौतुकालय तथा मैकडोनल्ड हाल में आधुनिक कलाकारों के चित्रों का संग्रह बहुत महत्वपूर्ण है। डूथी (४५ एकड़), विक्टोरिया (१३ एकड़), वेस्ट बर्न (१३ एकड़), स्टीवर्ट (११ एकड़) तथा हेजेलफेल्ड यहाँ के मुख्य प्रमदवन (पार्क) हैं।

यहाँ का विश्वविद्यालय, जिसमें किंग्स कालेज (स्थापित १४९४) तथा मारिशल कालज (१५९३) है, १८६० ई० में बना। १९१३ में अनुसंधान के लिये रोबेट इंस्टिटयूट खोला गया। माध्यमिक तथा औद्योगिक शिक्षाओं के लिये १८८१ में राबर्ट गार्डन कालेज स्थापित किया गया।

अबरडीन स्काटलैंड के मत्स्यव्यापार का मुख्य केंद्र है। अन्यान्य व्यवसायों के अंतर्गत जूट, कागज, यांत्रिक इंजीनियरी, रासायनिक इंजीनियरी, जहाज, कृषि संबंधी औजार, साबुन तथा मोमबत्ती बनाना मुख्य है। क्षेत्रफल ६,३१६ एकड़ और जनसंख्या १,८५,११० (१९६१) है। (न० ला०)

अबरडीनशायर स्काटलैंड का उत्तर-पूर्वी प्रादेशिक भाग है जिसमें डी, डोन, यान, यूगे तथा डेवरोन नदियाँ बहती है। बेन मैकडुई (४,२९६ फुट) मुख्य पर्वतशिखर है। भूमि प्राय सर्वत्र तथा जलवायु शुष्क है। बबूल और देवदार मुख्य प्राकृतिक वनस्पतियाँ है। कृषि तथा मछली मारना प्रमुख उद्यम है। मुख्य उपज ओट, जौ तथा जई है। यह प्रदेश पशु, भेड़ तथा दुग्धव्यापार के लिये प्रसिद्ध है। परिवहन (यातायात) के साधनों में रेल, सड़कें तथा समुद्री मार्ग सभी उपलब्ध है। मुख्य नगर अबरडीन (राजधानी), पीटरहेड तथा फ्रेजरबर्ग है। क्षेत्रफल १९७० वर्ग मील और जनसंख्या ३,१७,७३१ (१९६१) है। (न० ला०)

अबादान शत्तुलअरब (ईरान) के डेल्टा में अबादान नामक द्वीप तथा इसी नाम का एक नगर भी है (स्थिति ३०° २१' उ० अ०, ४८° १७' पू० दे०)। अबादान द्वीप अरबी में जजीरतुलखिधर के नाम से प्रसिद्ध है। बाहमिशिर नदी के किनारे इस नाम के फकीर का एक मकबरा बना है। १९०९ में ऐंग्लो ईरानियन आयल कंपनी लिमिटेड ने इस द्वीप के बारिम तथा बवरदोह गाँवों में अपने तेल की पाइप लाइन का स्टेशन स्थापित किया जो अब अबादान के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ से तेल

का निर्यात तथा मशीनों का आयात होता है। यहाँ से मोहमेरा (६ मील) तक और यहाँ से अहवाज (७८ मील) तथा उसके आगे ६८ मील पर स्थित मस्जिद सुलमान तक सड़क गई है। जनसंख्या २,७०,७२६ (१९६६) है। (न० ला०)

अबाध इच्छा दर्शन नीति समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का एक जटिल विवादग्रस्त विषय। प्रत्येक क्षेत्र मे प्रश्न यही होता है कि मनुष्य जो चाहे करने या न करने को स्वाधीन है कि नहीं। प्राय इसे इच्छास्वातत्र्य की समस्या कहा जाता है। परतु मनुष्य जिस इच्छा को चाहे उसी को मन मे नही उत्पन्न कर सकता। वह उठी हुई इच्छाओ मे से जिसको चाहे कार्यान्वित करने को स्वतत्र है कि नही, यही प्रश्न है। इसलिये इसे सकल्पस्वातत्र्य की समस्या कहना अधिक यथार्थ होगा। पश्चिम में प्राचीन दर्शन मे मानसिक-शक्ति-तत्वों की धारणा के प्रचार के कारण वहाँ के स्पिनोज़ा जैसे बुद्धिवादी और लॉक जैसे अनुभववादी दोनो प्रकार के विचारको ने सकल्प के कोई वास्तविक मानसिक-शक्ति-सत्ता न होने के पक्ष मे बहुत तर्क किए है। यह ठीक ही है कि कोई सकल्प-शक्ति-तत्व नही। व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व ही सकल्प किया करता है, और उसके ही स्वातत्र्य का प्रश्न है। परतु इसे व्यक्तिस्वातत्र्य अथवा मनुष्य-स्वातत्र्य का प्रश्न कहने से व्यक्ति एव राज्य अथवा समाज के परस्पर अधिकारो के इससे भिन्न प्रश्नो को इस प्रश्न से अलग रखना कठिन हो जाने की आशका है।

इस प्रश्न का प्रथम निश्चित उत्तर प्राचीन भारत मे प्रतिपादित कर्मवाद के सिद्धात म मिलता है। कर्मविपाक की दृष्टि से मनुष्य कर्म के अभेद्य बधनो मे जकड़ा हुआ है और उसे किसी प्रकार का प्रवृत्तिस्वातत्र्य भी प्राप्त नही है। इस सदर्भ मे, धर्म द्वारा इन बधनो से मोक्षप्राप्ति के आश्वासन को और सकल्प के स्वातत्र्य अनुभव को सार्थक करने के लिये, वेदात एव साख्य ने सचित कर्म के अतर्गत प्रारब्ध तथा अनारब्ध कर्म मे भेद किया है। प्रारब्ध वे सचित कर्म है जिनके फल का भोगना आरभ हो गया है, उनको तो भोगना ही पड़ेगा। परतु कुछ सचित कर्म अनारब्ध होते है, अर्थात् उनका भोगना अभी आरभ नही हुआ है। इनका ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। मीमासा दर्शन ने नित्य और नैमित्तिक कर्मो को शास्त्रोक्त विधि से करते रहने तथा काम्य एव निषिद्ध कर्मो को त्याग देने मे कर्मबधन से मुक्ति अर्थात् नैष्कर्म्यप्राप्ति को सभव बनाया है। गीता, महाभारत और उपनिषदो मे किसी प्रकार के कर्म को सर्वथा छोड़ देना असभव माना गया है। उपनिषद् ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान द्वारा मोक्ष का उपदेश दिया गया है और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये पातजलयोग, अध्यात्म-विचार, भक्ति और कर्मफलाशात्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग आदि मार्ग बताए गए है। परतु यदि प्राणिमात्र अपनी कर्मनिर्धारित प्रकृति के अनुसार ही चले तो मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये स्वतत्र कैसे होगा? भारतीय अध्यात्मशास्त्र का उत्तर यह है कि मनुष्य मे देह भी है और आत्मा भी। आत्मा मूल मे ब्रह्म से अभिन्न है। नामरूपात्मक कर्म अनित्य और परब्रह्म को ही लागू होने से उसी को पूर्णतया आच्छादित कर बाध्य करने मे असमर्थ है। फिर, जो आत्मा कर्मव्यापारो का एकीकरण करके सृष्टि-ज्ञान उत्पन्न करता है उसे स्वय उस सृष्टि से भिन्न एव स्वतत्र होना ही चाहिए। यह स्वातत्र्य व्यवहार मे तब प्रगट होता है जब परमात्मा का ही अशभूत जीव पूर्वकर्मार्जित प्रकृति के बधनो मे बध जाता है और इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये मोक्षानुकूल कर्म करने की प्रवृत्ति इद्रियो मे होने लगती है। परतु यह स्वातत्र्य वास्तव मे आत्मा के इच्छारहित अकर्तापद को प्राप्त करने का प्रेरणा का है, साधारण इच्छा, बुद्धि, मन अथवा व्यक्तित्व का नही। वही स्वतत्र रीति से व्यक्तित्व, मन, बुद्धि अथवा इच्छा को प्रेरणा दिया करता है। जीव-ब्रह्म-अद्वैत को न माननेवाले, भक्तिहेतु द्वैत मे विश्वास करनेवाले विचारको ने भी जीव के स्वातत्र्य को उसका अपना व्यक्तिगत नही वरन्, स्वप्रयास करनेवालो को परमेश्वर की दैवी कृपा से प्राप्त माना है। बौद्धो का प्राय आत्मा अथवा ईश्वर मे विश्वास नही होता, परतु उन्होने भी स्वप्रयास, स्वातत्र्य, सामर्थ्य एव उत्तर-दायित्व का उपदेश दिया है।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे कभी प्रकृतिबधन से मुक्ति को स्वातंत्र्य माना गया है और कभी प्रत्येक प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाया गया है। अफलातून ने सकल्प को ज्ञान द्वारा निर्धारित स्वीकार किया, परतु अपने ज्ञान की सीमाओ के अदर मनुष्य को स्वतत्र एव उत्तर-दायी माना। अरस्तू ने भी कहा कि मनुष्य अशत स्वतत्र है। वह अपने अनैच्छिक कर्मो के लिये उत्तरदायी नही, परतु अपने सकल्प से किए हुए अच्छे बुरे सभी कर्मो के लिये अवश्य उत्तरदायी है, और राज्य को इन्ही से प्रयोजन है। स्तोइक विचारको का सभी कुछ का नियत्रण करनेवाली एक विश्वात्मा मे विश्वास था, और इस प्रकार वे नियतिवादी थे। परतु इनमे क्रिसिपस मनुष्य के अपने चरित्र को ही उसके आचरण का मुख्य कारण मानता था, और इसलिये मनुष्य को अपने कर्मो के लिये उत्तरदायी कहता था। एपिक्यूरियन दार्शनिक भौतिकवादी थे, फिर भी किसी विश्वनियत्रण मे विश्वास न करने के कारण सयोग एव स्वातत्र्य के समर्थक थे। ईसाई दार्शनिको मे सत आगस्तिन का विचार था कि आदिमानव आदि मे स्वतत्र था, परतु उसके पतन से मनुष्य जाति के लिये दुष्कर्म अवश्यभावी हो गया, केवल कुछ व्यक्ति भगवत्कृपा से भाग्य मे अच्छाई लेकर आते है। पर थोमस आक्विनस और डन्स स्कोट्स ने ईश्वर की सर्वज्ञता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य के सकल्प मे आत्मनिर्धारण की पूर्ण शक्ति मानी है। हॉब्स भौतिकवादी तथा पूर्ण नियतिवादी था। उसने मानसिक अवस्थाओ को मस्तिष्क के अणुओ की सूक्ष्म गतियाँ कहा और मनुष्य के कर्म को इन्ही से और बाह्य भौतिक कारणो द्वारा निर्धारित बताया। देकार्त बुद्धिवादी था। उसने सकल्प मे आत्मनिर्धारण का पूर्ण स्वातत्र्य और ज्ञान एव विश्वास का भी सकल्प द्वारा ही निर्धारण माना। स्पिनोज़ा ने बौद्धिक नियतिवाद का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि मनुष्य का कर्म अधिकाश उसके स्वभाव एव चरित्र द्वारा निर्धारित होता है। इस आतरिक बाध्यता का अर्थ है कि वह स्वयनिर्धारित अर्थात् स्वतत्र है। अनुभववादी लॉक ने सकल्प को अनुभवगत तत्व स्वीकार नही किया, परतु मनुष्य को स्वतत्र माना। काट सकल्प स्वातत्र्य का मुख्य पाश्चात्य प्रतिपादक समझा जाता है। उसने स्वातत्र्य को नीति का आवश्यक आधार कहा है। उसकी दृष्टि मे मनुष्य अशत आभासरूप प्रकृति का अग है, और इस नाते प्राकृतिक नियमो की नियति के अधीन है। परतु अशत वह सत्य मूलजगत् का अग भी है, और इसलिये वह अपनी अतरात्मा से निकले हुए निरपेक्ष आदेशो के पालन मे सर्वथा स्वतत्र है। चेतनावादी ग्रीन ने भी प्रकृति के ज्ञान के लिये उससे ऊपर एक नियममुक्त स्वतत्र ज्ञाता का होना आवश्यक माना है। फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ के मत के अनुसार आत्मा का बाह्य, व्यावहारिक, देशात्मक तथा सामाजिक रूप प्रकृतिबद्ध लगता है, परतु इसका वास्तविक आत-रिक स्वरूप गहन अतर्दर्शन से अनुभूति मे आ सकता है। आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप का लक्षण जीवन, परिवर्तन, असमाप्यता, अतःप्रवेश, अदेशिकता, सृजनात्मक सक्रियता एव स्वातत्र्य है। जर्मन दार्शनिक ऑयकन ने यही अनुभूति महान् आदर्शो के पालन द्वारा भी प्राप्य मानी है।

नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की कई विचारधाराओ ने भी मनुष्य-स्वातत्र्य मे विश्वास की माँग की है, क्योंकि यदि मनुष्य स्वतत्र नही है तो वह अपने अपराधो के लिये उत्तरदायी नही कहा जा सकता। फिर अपराध करनेवालो को अपराधी कैसे ठहराया जाय और दड कैसे दिया जाय? स्वातत्र्य मे विश्वास के बिना कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म, शुद्धि, सुधार, क्राति, प्रयास, अभ्यास, साधना सबका विवेचन अर्थहीन हो जाता है। यदि सभी कुछ कर्म अथवा नियमबद्ध है तो जो होना है, वही होगा, क्या होना चाहिए इसका प्रश्न ही नही रह जाता और मनुष्य के भाग्य मे प्रकृति का दासत्व ही रह जाता है।

आधुनिक विज्ञान पर आधारित आधिभौतिकवाद और प्रकृतिवाद सिद्धात की दृष्टि से नियतिवादी है। इस नियतिवाद के अनुसार मनुष्य, उसकी इच्छाएँ और उसके सकल्प सभी प्रकृति के नियमो द्वारा पूर्वनिश्चित होते है। परतु व्यवहार मे प्रकृतिवादी भी प्रबल पुरुषार्थवादी अर्थात् स्वातत्र्यवादी हुआ करते है। सिद्धात की दृष्टि से भी देखा जाय तो प्रकृति-वाद का मूल अनुभववाद है, और मानव अनुभव मनुष्य के सकल्प के स्वातत्र्य का साक्षी है। मनुष्य बाह्य परिस्थितियो का नियत्रण कर पाए चाहे न कर पाए, परतु उसका अत:करण इस मनोवैज्ञानिक अनुभवसत्य का साक्षी है कि वह अपने संकल्पो और कार्मों मे, पाप पुण्य, धर्म अधर्म मे, पूर्णतया

स्वतंत्र है। यही नहीं, अनुभव तो सभी जीवों में और कदाचित् जड़ प्रकृति में भी कुछ स्वचालन एवं स्वातंत्र्य का प्रमाण पाता है और आज प्राकृतिक विज्ञान ने इन प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है। विचार करने पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि विज्ञान, नियमवाद और प्रकृतिवाद स्वयं मनुष्य के स्वतंत्र बौद्धिक प्रयास की उपज हैं। पूर्णतया नियमबद्ध प्रकृति में तो मनुष्य अपने अनुभवों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालने में स्वतंत्र नहीं होगा। फिर विज्ञान सत्य का दावा कैसे कर सकेगा? वह भी व्यक्तियों की परिस्थितियों द्वारा निर्धारित मत मात्र रह जायगा।

फिर भी पूर्ण स्वातंत्र्यवाद ठीक नहीं हो सकता। उसका तो अर्थ यह होगा कि व्यक्ति का पूर्व इतिहास कुछ भी हो, वर्तमान स्वभाव एवं चरित्र कैसा भी हो, वह हर समय संभव मार्गों में से किसी को भी अपना लेने में सर्वथा स्वतंत्र है। इस मत के अनुसार तो जीवन में कोई तारतम्य नहीं रह जाता। संचित अनुभव और प्राप्त शिक्षाएँ महत्वहीन हो जाती हैं। वंशानुक्रम भी प्रभावहीन हो जाता है। जीवन जादू का पिटारा भी बन जाता है जिसमें कोई जब चाहे जो कुछ चाहे, निकाल दिखाए, नियमों की कोई सत्ता नहीं रहती, विज्ञान असंभव हो जाता है।

इसलिये आधुनिक विद्वान् मुख्य प्राचीन विचारधाराओं का पदानुसरण करते हुए मनुष्य को अंशतः स्वतंत्र और अंशतः बाध्य मानते हैं। जहाँ तक मनुष्य अपने सामने कई मार्ग देख पाता है, वहाँ तक उनमें से कोई एक चुन लेने में वह पूर्णतः स्वतंत्र है। यह बात दूसरी है कि किसी एक परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने लिये अधिक संभावनाएँ देख पाता है और कोई कम। यह व्यक्तिगत अंतर अवश्य ही उनके बाह्य और आंतरिक पूर्व और वर्तमान से नियत होते हैं। यही नहीं, इस पूर्ण सत्तात्मकता के उपयोग में व्यक्ति अपने वश के बाहर की सभी परिस्थितियों से कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित होता है। वास्तव में कोई व्यक्ति उसी कार्य के लिये उत्तरदायी हो सकता है जो उसका अपना हो, अर्थात् जो उसके चरित्र, स्वभाव अथवा व्यक्तित्व से निस्सरित हुआ हो। उत्तरदायित्व के लिये जिस स्वातंत्र्य की आवश्यकता है वह यही आत्मनिर्धारण है। इस दृष्टि से मनुष्य वास्तव में अपने कर्मों का स्वतंत्र कर्ता ही है।

सं० ग्रं०—ऋग्वेद, उपनिषद् ग्रंथ, श्रीमद्भगवद्गीता, योगवासिष्ठ, पातंजल योगसूत्र, सांख्यकारिका, जैमिनी मीमांसासूत्र, वेदांतसूत्र, शांकर भाष्य, महाभारत, धम्मपद, महापरिनिब्बान सुत्त, प्लैटो रिपब्लिक, अरस्तू एथिक्स, जेनो स्टोइकस्, एपीक्योरियस एंड सेप्टिक्स, सैकर्यान सेलेक्शंस फ्राम मेडीवल फिलासफर्स, डेकार्टस् मेडिटेशंस, लॉक एसे ऑन दि ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, स्पिनोज़ा एथिक्स, हॉब्स् लेवियाथन, कांट क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न, ग्रीन प्रोलेग्मेना टु एथिक्स, बर्गसाँ टाइम एंड फ्री विल, युकेन प्रजेंट डे एथिक्स इन देयर रिलेशंस टु दि स्पिरिचुअल लाइफ, बेन दि इमोशंस एंड दि विल, टर्नर विल ऐंड विल, ब्रॉड फिलासफी ऑव दी प्रैक्टिकल, सोली फ्रीविल ऐंड डिटरमिनिज्म, पिलर दि बेसिस ऑव फ्रीडम, पेरन दि गुडविल, लॉस्की फ्रीडम ऑव दि विल, बदमेव फ्रीडम ऐंड दि स्पिरिट। (रा० लु०)

अबाध व्यापार (फ्री ट्रेड) इसका सरल अर्थ है किसी देश के अंदर या किन्हीं दो देशों के बीच बिना किसी बाधा के या बेरोक टोक वस्तुओं का क्रय विक्रय। अबाध व्यापार की इस नीति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा जाता। इसलिये न तो विदेशी वस्तुओं के आयात पर विशेष कर लगाए जाते हैं और न स्वदेशी उद्योग को कोई विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि अबाध व्यापार के अंतर्गत वस्तुओं पर किसी प्रकार के कर ही नहीं लगाए जाते, किंतु जो भी कर लगाए जाते हैं वे केवल सरकारी आय के लिये ही होते हैं, किसी उद्योग को संरक्षण देने के लिये नहीं। जब किसी विशेष लाभ हेतु कोई दो राष्ट्र परस्पर व्यापार करना प्रारंभ करते हैं तो उसके स्वतंत्र व्यापारिक आदान प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वंचित कर देता है। व्यापार में वस्तुओं का अदला बदला होता है और इस अदला बदली में क्रेता तथा विक्रेता दोनों को लाभ होता है। जैसे जैसे व्यापार की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे वैसे लाभ भी बढ़ता जाता है।

देशी व्यापार में सबसे बड़ी बाधा यातायात की असुविधा है। पहाड़ी क्षेत्रों में, सड़कों के अभाव से और ग्रामीण क्षेत्रों में पक्की सड़कें बहुत कम होने के कारण व्यापार बहुत नहीं बढ़ पाता। यह बाधा सरकार के प्रयत्नों द्वारा ही दूर होती है तथा संसार का प्रत्येक देश अपने देशी व्यापार को बढ़ाने के लिये उचित सड़कों का प्रबंध करता है।

विदेशी व्यापार अधिकांश में समुद्री जहाजों द्वारा ही होता है। बड़े बड़े जहाजों को चलाने में जब से भाप के इंजनों का उपयोग होने लगा है, जहाज द्वारा माल ले जाने का खर्च पहले से बहुत कम हो गया है। इससे संसार के भिन्न भिन्न देशों के विदेशी व्यापार में बहुत उन्नति हुई है। स्वेज नहर बन जाने से अंग्रेजों के विदेशी व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है।

विदेशी व्यापार में प्रायः उन्हीं वस्तुओं का आयात किया जाता है जो अन्य देशों में सस्ती तैयार की जाती हैं और उनसे आयात के व्यापारियों के अतिरिक्त उन वस्तुओं के उपभोक्ताओं को भी लाभ होता है। विदेशी व्यापार में प्रायः वे ही वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं जो दूसरे देशों की तुलना में सस्ती तैयार होती हैं। इससे निर्यात के व्यापारियों के साथ ही साथ उन वस्तुओं के विदेशी उपभोक्ताओं को भी लाभ होता है। अबाध व्यापार में वस्तुओं के उत्पादकों में पारस्परिक प्रतियोगिता अधिक होने के कारण देशों के उद्योगों में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आ पाती और वे अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन करने का प्रयत्न करते हैं।

अबाध व्यापार से अंतरराष्ट्रीय व्यवहार में तनाव की संभावना कम होती है तथा प्रत्येक देश अपनी वस्तुओं का विक्रय दूसरे देशों में करके अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं।

अबाध व्यापार की एक विशेषता यह है कि इसमें अंतरराष्ट्रीय श्रम-विभाजन में कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं होने पातीं। किसी देश के लोग अपने लाभ के लिये उस उद्योग में लगते हैं जिसमें उन्हें अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अबाध व्यापार की नीति हर देश को उन उद्योगों को विकसित करने के लिये प्रोत्साहित करती है जो उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होते हैं।

अबाध व्यापार में कतिपय हानियाँ भी होती हैं। जो वस्तुएँ अन्य देशों से सस्ते मूल्य पर आती हैं उन वस्तुओं के उत्पादकों को देश के अंदर भारी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है और यदि वे अपना लागत खर्च कम करके उतने ही सस्ते मूल्य पर वैसी वस्तुएँ देश के अंदर तैयार नहीं कर पाते तो उन वस्तुओं के कारखानों को बंद कर देना पड़ता है। इससे देश के कुछ उद्योग धंधों को बहुत हानि होती है और साथ ही बेरोजगारी भी बढ़ती है।

अबाध व्यापार से दूसरी बड़ी हानि यह होती है कि उन नए उद्योग-धंधों को, जो किसी देश में आरंभ किए जाते हैं, चलाने का अवसर ही नहीं मिल पाता। आरंभिक अवस्था में उनका लागत खर्च अधिक होता है और वे अपने कारखानों में उतनी सस्ती लागत पर वस्तुएँ तैयार नहीं कर पाते जितने लागत खर्च पर दूसरे देशों में पहले से स्थापित बड़े बड़े कारखाने तैयार कर लेते हैं। इन नवीन उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि देश की सरकार उन वस्तुओं के आयात पर ऐसा भारी कर लगा दे जिससे वे नए उद्योग द्वारा बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता न कर सकें। नए उद्योग धंधों को संरक्षण द्वारा सरकार की सहायता देना आवश्यक हो जाता है।

जो देश औद्योगिक विकास में अन्य देशों से आगे रहता है वह अबाध व्यापार से अपने यहाँ से तैयार माल अधिक मात्रा में दूसरे देशों में भेजने का प्रयत्न करता है। परिणामतः औद्योगिक विकास में पिछड़े हुए देशों को जीवनरक्षक पदार्थ देकर विलासिता के या दिखावटी सस्ते पदार्थ बदले में लेने पड़ते हैं। इससे उनका विदेशी व्यापार बढ़ने पर उनको स्थायी लाभ नहीं हो पाता और उन्हें अपने उद्योग धंधों को बढ़ाने का अवसर भी नहीं मिल पाता। इस प्रकार की हानि से बचने के लिये पिछड़े हुए देश अपने उद्योग धंधों के संरक्षण के लिये आयातों पर भारी कर लगाते हैं और ऐसी वस्तुओं के आयात का नियंत्रण करते हैं जो हानिकारक होती हैं, जैसे, मादक पदार्थ तथा अन्य विलासिता की दिखावटी वस्तुएँ।

अबाध व्यापार का आरंभ सर्वप्रथम इंग्लैंड में हुआ। १९वीं शताब्दी के आरंभ में इंग्लैंड में खाद्य पदार्थ, जैसे—गेहूँ, जौ, मक्खन, अंडा, जई तथा

रेशमी और ऊनी वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगाए गए थे। इन करों के कारण वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गई थीं और इससे इंग्लैंड की जनता को बड़ी हानि होती थी। इग्लैंड के कुछ अर्थशास्त्रियों ने और संसद के सदस्यों ने खाद्य पदार्थों पर से कर हटाने का आंदोलन आरंभ किया। सन् १८३८ में राष्ट्रीय अन्नकर विरोध संघ (ऐंटी कार्न ला लीग) की स्थापना हुई। इस संघ को अपने कार्य में संघर्ष का सामना करना पड़ा। इंग्लैंड की पार्लियामेंट में कई बार इस प्रश्न पर विचार हुआ। अंत में सन् १८४६ में पील महोदय का अन्नकर हटाने का प्रस्ताव लोकसभा (हाउस ऑव कामन्स) में स्वीकृत हुआ और लार्ड सभा ने भी उसे बहुमत से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अन्न पर से आयात कर हटा दिया गया। अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेने पर राष्ट्रीय अन्नकर विरोधी संघ भंग कर दिया गया। धीरे धीरे अन्य वस्तुओं के आयात कर भी हटा दिए गए और १८६० तक इंग्लैंड में अबाध व्यापार पूर्ण रूप से जारी हो गया।

उसी समय इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हो रही थी। १९वीं सदी के आरंभ में इंग्लैंड की अधिकांश जनता ग्रामों में ही निवास करती थी और खेती के साथ साथ घरेलू उद्योग धंधे भी उन्नत दशा में थे। इंग्लैंडवासियों ने संसार के भिन्न भिन्न भागों में उपनिवेश बसाकर या राज्य स्थापित कर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना कर ली और इन देशों से अपना व्यापार भी खूब बढ़ाया था। देश में साहसी पुरुषों और पूँजी की कमी नहीं थी। इसी समय कुछ ऐसी मशीनों का आविष्कार किया गया जो भाप की सहायता से चलाई जाती थीं और जिनके द्वारा कपड़े तैयार करने का खर्च बहुत कम होता था। बड़े बड़े कारखाने खुले और नए नगरों का निर्माण हुआ तथा पुराने नगरों की वृद्धि हुई। लोहे और कोयले के उद्योग को भी बहुत प्रोत्साहन मिला। बड़े बड़े जहाजों का निर्माण होने लगा। उनके चलाने में भाप का उपयोग होने से उनकी गति भी बढ़ गई और सामान ले जाने का खर्च कम हो गया।

बड़े बड़े कारखानों में वस्तुओं की उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने लगी। इन कारखानों को चलाने के लिये कच्चे माल की अधिक परिमाण में आवश्यकता थी। अबाध व्यापार की नीति के कारण इंग्लैंड को अन्य देशों से कच्चा माल सस्ते दामों पर प्राप्त करने की बड़ी सुविधा मिली। तैयार माल को बाहर दूसरे देशों में सस्ते मूल्य पर भेजने में भी अबाध व्यापार की नीति से इंग्लैंड के व्यापारियों को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड का विदेशी व्यापार खूब बढ़ा और १९वीं सदी के अंत तक संसार के सब देशों के संपूर्ण विदेशी व्यापार का चौथाई भाग इंग्लैंड निवासियों के हाथ में आ गया। औद्योगिक क्रांति और अबाध व्यापार की नीति के कारण इंग्लैंड की खूब आर्थिक उन्नति हुई और संसार के राष्ट्रों में उसका प्रथम स्थान हो गया।

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत के घरेलू उद्योग धंधे खूब उन्नत दशा में थे। भारतवासी अपने घरेलू उद्योग धंधों द्वारा सुंदर वस्तुओं का निर्माण कर अन्य देशों से खूब व्यापार करते थे। भारत की मलमल संसार के सब देशों में प्रसिद्ध थी। उत्साही अंग्रेजों के दिलों में भारत के साथ सीधा व्यापार करने की लालसा जाग्रत हुई। धीरे धीरे इसी उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने शनैः शनैः अपने पैर भारतवर्ष में मजबूत किए तथा यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। औद्योगिक क्रांति के कारण इंग्लैंड में बड़े बड़े कारखाने स्थापित हुए और इन कारखानों के लिये अधिक परिमाण में कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल को आसानी से बेचने की आवश्यकता हुई। इस कार्य में अबाध व्यापार नीति से इंग्लैंड को बहुत लाभ हो रहा था। इसलिये अँगरेजों ने उसी नीति का पालन भारत में भी किया। इस नीति का परिणाम भारत में यह हुआ कि इंग्लैंड के कारखानों में बने हुए सस्ते तैयार माल भारत में बिना किसी रोक टोक के बड़े परिमाणों में आने लगे। इंग्लैंड से सस्ते सूती कपड़ों के आयात में खूब वृद्धि हुई और भारत के जुलाहों को इस प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। वे उतने कम कीमत पर कपड़ा तैयार करने में असमर्थ रहे और इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में करोड़ों जुलाहों को अपना काम बंद करके खेती की शरण लेनी पड़ी। भारत का सूती कपड़ों का प्रधान घरेलू उद्योग चौपट हो गया और करोड़ों कारीगरों को भूख और बेकारी का शिकार होना पड़ा।

इस अबाध व्यापार की नीति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारत से कच्चा माल, विशेषकर रुई, तिलहन और अनाज अधिक परिमाण में अन्य देशों को जाने लगा। इससे देश में अनाज की कमी होने लगी और अच्छी फसल के दिनों में भी केवल आधा पेट भोजन पानेवालों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई। जिस वर्ष फसल खराब होती थी उस वर्ष तो दशा और भी खराब हो जाती थी। इन्हीं दिनों देश में कई अकाल पड़े।

इस अबाध व्यापार की नीति का तीसरा परिणाम यह हुआ कि भारत में नए उद्योग नहीं पनपने पाए। भारत में सूती कपड़े के कुछ कारखाने अवश्य स्थापित हुए परंतु उनको इंग्लैंड के कारखानों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा और उनकी विशेष उन्नति न हो सकी। अबाध व्यापार की नीति के अनुसार भारत सरकार ने भारत में बने सूती कपड़ों के उत्पादन पर कर लगा दिया, इसके कारण भी इस उद्योग की उन्नति में रुकावट हुई। जिस अबाध व्यापारनीति के कारण इंग्लैंड की बहुत आर्थिक उन्नति हुई उसी नीति के कारण भारत के उद्योग धंधे चौपट हो गए और भारतवासी अधिक गरीब हो गए।

भारतवासियों ने अबाध व्यापारनीति की हानियों का अनुभव किया और भारतीय नेताओं ने इस नीति को बदलने के लिये भारी आंदोलन किया। सन् १९२० में भारत सरकार द्वारा एक आर्थिक कमीशन नियुक्त हुआ जिसने भारत में देशी उद्योगों के लिये संरक्षण नीति स्वीकार करने की सिफारिश की। इस कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार को अपनी अबाध व्यापार की नीति बदलनी पड़ी और सन् १९२० के बाद से भारत में अबाध व्यापार की नीति का पालन नहीं हो रहा है।

इंग्लैंड में भी आजकल अबाध व्यापार नीति का पालन नहीं हो रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ने अनुभव किया कि इंग्लैंड की इस नीति से उनको भी हानियाँ होती हैं, इसलिये उन्होंने इंग्लैंड को अपनी यह नीति बदलने के लिये राजी कर लिया। अब इंग्लैंड में साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति का पालन किया जाता है। इस नीति के अनुसार जो माल इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से आता है उनपर आयात कर कम दर से लिया जाता है और अन्य देशों से उन्हीं वस्तुओं के आयात पर कर की दर अधिक रहती है। इसी प्रकार साम्राज्य के अन्य देश इंग्लैंड की वस्तुओं पर कर की दर कम रखते हैं। अबाध व्यापार की हानियों का अनुभव कर आजकल संसार का कोई भी देश इस नीति का पालन नहीं कर रहा है। यदि संसार के सब देश आर्थिक दृष्टि से विकसित दशा में हों और सब देश इस नीति का पालन करना स्वीकार कर लें तब संसार के सब देशों को इस अबाध व्यापार-नीति से बहुत लाभ हो सकता है। आजकल तो संसार के कई देशों में विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक नियंत्रण है। भारत विदेशी विनिमय को बचत करने के लिये अपने आयातों का कठोरतापूर्वक नियंत्रण कर रहा है। उसने अपने उद्योग धंधों को प्रोत्साहित करने के लिये बहुत सी वस्तुओं के आयात पर संरक्षण कर लगा दिया है। अमरीका का व्यापार चीन से हो ही नहीं रहा है। संसार में बड़े बड़े देशों के दो गुट हो गए हैं। एक गुट के देशों का व्यापार अन्य गुट के देशों के साथ नियंत्रित रूप से ही हो पाता है। नियंत्रणों और संरक्षण करों के कारण संसार के राष्ट्रों का विदेशी व्यापार जितना होना चाहिए उतना नहीं हो पाता, इसलिये प्रायः सब देश विदेशी व्यापार से पूरा लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। अभी कुछ वर्ष हुए एक अंतरराष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना हुई है। इसमें ५० से अधिक राष्ट्र संमिलित हुए हैं। इस संगठन का उद्देश्य जनता के रहन सहन का स्तर ऊँचा करना तथा व्यापारिक प्रतिबंधों को यथासाध्य कम कर संसार को समृद्ध बनाना है। इस संगठन के सदस्य अपने अपने देशों में व्यापारिक प्रतिबंधों को कम करने का प्रयत्न करते हैं और अपने पारस्परिक झगड़े संगठन के सामने उपस्थित कर उसके निर्णय स्वीकार करते हैं।

जब यह संगठन विश्वव्यापी हो जायगा, संसार के सब राष्ट्र इसके सदस्य हो जायँगे और जब इस संगठन के उद्देश्यानुसार सब व्यापारिक प्रतिबंध हट जायँगे तब संसार में अबाध व्यापार की नीति का पालन होने लगेगा और उसके द्वारा व्यापार का लाभ सब देशों को समान रूप से होने लगेगा और किसी राष्ट्र को उसके द्वारा हानि नहीं पहुँचेगी।

सं०ग्रं०—कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय व्यापार का इतिहास।

(द० म० दु०)

अबितिबी ओंटेरिओ (कैनाडा) में एक झील तथा नदी है। अबितिबी झील (४९° उ० अ०, ८०° प० दे०) ६० मील लंबी (क्षेत्रफल ३५६ वर्ग मील) तथा छिछली है और इसमें अनेक द्वीप हैं। इसके किनारे वृक्षों से सुशोभित हैं। इसके आसपास लकड़ी काटी जाती है तथा रोएँदार पशुओं का शिकार किया जाता है। ग्रैंड ट्रंक पैसिफिक (अब, कैनेडियन नैशनल) रेलवे इस प्रदेश से होकर गुजरती है। इस झील में से अबितिबी नदी निकलकर २०० मील बहने के पश्चात् मूस नदी में मिल जाती है। (न० ला०

अबिसीनिया द्र० 'इथियोपिया'।

अबीअथार (पुरानी पोथी के अनुसार अहीमेलक का बेटा)—नाब का पुरोहित। दोएग के हत्याकांड में अबीअथार अकेले जान बचाकर भागा। भागकर वह दाऊद के पास गया। दाऊद की खानाबदोशी में और उसके शासनकाल में अबीअथार बराबर उसके साथ रहा। अब्सलोम के विद्रोह के समय वह दाऊद के प्रति वफादार रहा, किंतु सुलेमान के विरुद्ध उसने अदोनीजा का समर्थन किया। इसी अपराध में वह निर्वासित कर दिया गया। जेरूसलम के राजपुरोहित परिवार जादोक का अबीअथार प्रतिस्पर्धी प्रतीत होता है। (त्रि० ना० पा०)

अबीगैल (पुरानी पोथी में नबाल की पत्नी)—दाऊद की प्रारंभिक पत्नियों में से एक। अबीगैल दाऊद की पत्नी बनने से पूर्व दक्षिणी जूदा में कारमेल के शासक नबाल की पत्नी थी। बाइबिल की पुस्तक 'साम' में दाऊद और अबीगैल के संबंधों की चर्चा आती है। अबीगैल अपने को दाऊद की 'दासी' या सेविका कहा करती थी, इसी कारण १६वीं और १७वीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य में अबीगैल शब्द दासी के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा था। (वि० ना० पा०)

अबीजाह (पुरानी पोथी का एक नाम)—बाइबिल के पुराने अहदनामे में अबीजाह नाम के नौ विविध व्यक्तियों का उल्लेख आता है। इनमें प्रमुख हैं

(१) जूदा के राजा रिहोबोम का पुत्र और उत्तराधिकारी (९१८-९१५ ई० पू०) तथा (२) सैमुअल का दूसरा पुत्र। अबीजाह और उसका भाई जायल दुराचरण के अपराध में बीरशेबा में दंडित हुए थे। (वि० ना० पा०)

अबीमेलेख बाइबिल की पुरानी पोथी में अबीमेलेख नाम के दो व्यक्तियों का वर्णन आता है। (१) अबीमेलेख दक्षिणी फिलस्तीन में गेरार का राजा और पैगंबर इसहाक का मित्र था। पैगंबर इसहाक कुछ काल तक अबीमलेख का अतिथि रहा। अपने गेरार अधिवास में इसहाक ने अबीमलेख को बताया कि उसकी (इसहाक की) पत्नी रेबेकाह उसकी (इसहाक की) अपनी बहन है। अबीमलेख ने इसहाक को फटकारा और कहा कि किस तरह अनजान में ही इसहाक व्यभिचार का दोषी हो जाता। इस घटना से उस समय के प्रचलित नैतिक विचारों की प्रगति का पता चलता है।

(२) शेखेमी दासी से उत्पन्न अबीमेलेख जेरुब्बाल अथवा गिदियन का बेटा था। गिदियन की मृत्यु के बाद अबीमेलेख ने शेखेम के नागरिकों पर अपने पिता के ही समान शासन करने का दावा किया। अपने पिता की ७० अन्य संतानों की हत्या करके अबीमेलेख ने मध्य फिलस्तीन पर अपने राज्य का विस्तार कर लिया, किंतु उसकी सफलता क्षणस्थायी रही। (वि० ना० पा०)

अबुल् अतहिय अबू इसहाक इस्माइल बिन कासिम अनबार के पास एक गाँव एनुल्तमर में पैदा हुआ और कूफा में इसका पालन हुआ। युवावस्था में मिट्टी के बर्तन बेचकर यह कालयापन करता था। आरंभ से ही इसकी रुचि कविता की ओर थी। कुछ समय के अनंतर बगदाद पहुँचकर इसने खलीफा महदी की प्रशंसा की और पुरस्कृत हुआ। खलीफा हारूँरशीद के काल में यह और भी सम्मानित हुआ। बगदाद में खलीफा महदी की दासी उत्बा पर इसका प्रेम हो गया और यह अपने कसीदों में उसके सौंदर्य तथा गुणों का गायन करने लगा। किंतु उत्बा ने इसके प्रति कुछ ध्यान नहीं दिया जिससे यह संसार से मन हटाकर धर्म और सूफी विचारों की ओर झुक पड़ा। अब इसकी कविता में सदाचार की बातें बढ़ गईं जिसे इसके देशवालों ने बहुत पसंद किया। परंतु कुछ लोगों ने उसपर यह आपत्ति की है कि इसकी रचना इस्लाम के सिद्धांतों तथा तत्वों के अनुसार नहीं है। धन दौलत का लोभ इसे अंत तक बना रहा। बगदाद में मरा और वहीं दफनाया गया।

अबुल् अतहिय का दीवान सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसके दो भाग हैं। एक भाग में सदाचार की प्रशस्ति और दूसरे भाग में अन्य प्रकार की कविताएँ संगृहीत हैं। इसकी कविता में निराशावाद अधिक है, पर इसकी काव्यशैली सरल तथा सुगम है। इसका समय सन् ७४८ ई० तथा सन् ८२५ ई० (सन् १३० हि० तथा सन् २१० हि०) के बीच है। (आर० आर० शे०)

अबुल् अला मुअर्री अबुल् अला का जन्म मुअर्रतुल् नोअमान में हुआ था, जो हलब से २० मील दूर **शाम** का एक कस्बा है। यह अभी बच्चा ही था कि इसपर शीतला का प्रकोप हुआ और इसकी दृष्टि जाती रही। प्रकृति ने इस हानि की किसी सीमा तक पूर्ति इस प्रकार कर दी कि इसकी स्मरणशक्ति बहुत तीव्र हो गई। प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता से पाकर यह हलब चला गया और वहाँ के विद्वानों से उच्च शिक्षा प्राप्त की। हलब के अनंतर यूसाने इनाकिय (अंतियर) तथा तिराबुलिस (त्रिपोली) की यात्रा की और सन् ९९३ ई० में मुअर्रा लौट आया। यह १५ वर्ष तक बहुत थोड़ी आय पर कालयापन करता हुआ अरबी कविता तथा भाषाविज्ञान पर व्याख्यान देता रहा। इस बीच इसकी प्रसिद्धि दूर दूर तक फैल गई जिससे इसने बगदाद जाकर अपने भाग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया। यहाँ इसकी भेंट बहुत से प्रतिष्ठित साहित्यकारों तथा विद्वानों से हुई, जिन्होंने इसका अच्छा स्वागत किया। यद्यपि यह यहाँ केवल डेढ़ वर्ष रहा, तथापि इसी बीच इसके विचारों तथा सिद्धांतों में परिपक्वता आ गई और बाकी समय के लिये इसने अपना मार्ग निश्चित कर लिया। मुअर्रा लौटने पर यह एकांतवास करने लगा, मांस खाना छोड़ दिया और विरक्तों के आचार का ग्रहण कर लिया। इस स्वभावपरिवर्तन का विशिष्ट कारण इसकी माता की बीमारी तथा मृत्यु हुई। साथ ही बगदाद में किसी निश्चित आय का प्रबंध न हो सकने का भी इसपर प्रभाव पड़ा था।

अबुल् अला की कृतियों में इसकी कविताओं के दो संग्रह सक्तुल्ज़नद (दियासलाई की लपट) तथा लुज़ूमियात बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले में बगदाद जाने से पहले की कविताओं का संकलन है। इसमें इसने अपने पूर्ववर्तियों के दिखलाए मार्ग से बाहर जाने का प्रयास नहीं किया है। बगदाद से लौटने के बाद की कविताएँ लुज़ूमियात में संगृहीत हैं और इनमें अबुल् अला के साहस, दृढ़ता तथा गंभीरता का पता लगता है। पश्चिम के आलोचकों ने इसकी स्वच्छंद शैली को विशेष रूप से पसंद किया पर पूर्व में इसकी कविता बहुत पसंद की जाती है। (आर० आर० शे०)

अबुल फज्ल अकबर के दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार और विद्वान्। १४ जनवरी, १५५१ ई० को आगरा में पैदा हुए। अपने पिता शेख मुबारक की देखरेख में इन्होंने अध्ययन किया। इनके पिता उदार विचारों के विद्वान् थे और इसी कारण इन्हें कट्टर मुल्लाओं के दुर्व्यवहार सहने पड़े। अबुल फज्ल अत्यधिक मेधावी बालक थे। १५ वर्ष की उम्र में इन्होंने उस जमाने का समस्त परंपरागत ज्ञान प्राप्त कर लिया। १५७४ ई० के आरंभ में उनके बड़े भाई फैजी ने उन्हें अकबर के सामने पेश किया। साल भर बाद जब अकबर ने **इबादतखाना** (पूजागृह) में धार्मिक विचार विमर्श आरंभ किया तब अबुल फज्ल ने अपने प्रकांड पांडित्य, दार्शनिक रुझान और उदार विचारों से सम्राट् का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपने पिता के सहयोग से मशहूर **महजर** तैयार किया जिसने अकबर को **मुजतहिद** से भी ऊँचा दर्जा दिया और उन्हें वह शक्ति प्रदान की जिससे मुल्लाओं के आपसी मतभेद पर वे निर्णय करने योग्य हो सके। क्रमश वे अकबर के प्रियपात्र बन गए और एक दिन सम्राट् ने उन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। अधिकांश कूटनीतिक पत्रव्यवहार उन्हीं को करने पड़ते थे और विदेशी शासकों तथा अमीरों को पत्र भी वे ही लिखते थे। १५८५ ई० में उन्हें एकहजारी मनसब मिला। पाँचहजारी मनसब तक पहुँचने में उन्हें १८ साल लगे। सन् १५९९ में उनकी नियुक्ति दक्षिण में हुई जहाँ उन्होंने अपनी

शासकीय योग्यता भी प्रमाणित करने का अवसर मिला। जब शाहजादा सलीम ने विद्रोह किया तब अकबर ने उन्हें दकन से बुला लिया। जब वे राजधानी जा रहे थे और रास्ते में थे तब २२ अगस्त, १६०२ ई० को शाहजादा सलीम के इशारे पर राजा वीरसिंह बुंदेला ने उनकी हत्या कर दी। उनका सिर इलाहाबाद में सलीम के पास भेजा गया और शरीर ग्वालियर के समीप अतरी ले जाकर दफना दिया गया।

अबुल फज्ल ने बहुत लिखा है। उनकी रचनाओं में मुख्य है, **अकबरनामा, आईन ए अकबरी**, कुरान की टीका, बाइबिल का फारसी अनुवाद (अप्राप्य), **इयार-ए-दानिश** (**अनवर-ए-सुहैली** का आधुनिक रूपांतर), **तारीख-ए-अल्फ़ी** की भूमिका (अप्राप्य) और महाभारत का फारसी अनुवाद। उनके पत्रों और फुटकल रचनाओं का संपादन उनके भतीजे अब्दुस्समद ने मक्तूबात-ए-अल्लामी (पुष्पिका में इसकी समाप्ति की तिथि १०१५ हिजरी = १६०६ ई० दी हुई है) शीर्षक से किया है। यह संग्रह इंशा-ए-अबुल फज्ल नाम से मशहूर है। उनके निजी पत्रों का दूसरा संग्रह रुक्क़ात-ए-अबुल फज्ल नाम से विख्यात है। इसका संपादन उनके भतीजे नूरुद्दीन मुहम्मद ने किया था।

अबुल फज्ल का महत्व उनके **अकबरनामा** [illegible] है। उसमें अकबर के शासन का विस्तृत इतिहास है और साथ ही उनके **दफ्तरों** में उनके पूर्वजों का भी उल्लेख है। प्रथम दो दफ्तर एशियाटिक सोसाइटी (तीन भागों में) से प्रकाशित हुए थे। तीसरा दफ्तर, जिसका स्वतंत्र शीर्षक **आईन ए-अकबरी** है, साम्राज्य के शासन और सांख्यकी से संबद्ध है। इससे भारत की भौगोलिक परिस्थिति तथा सामाजिक और धार्मिक जीवन के संबंध में महत्वपूर्ण सूचनाएं मिलती हैं। **आईन-ए-अकबरी** का वास्तविक महत्व कुछ दूसरी ही बात में है। उसमें अल बेरूनी के बाद के मुस्लिम कालीन भारत तथा हिंदू दर्शन और हिंदुओं के तौर तरीकों की सम्यक् जानकारी होती है।

अबुल फज्ल का सुलह-ए-कुल (शांति) की नीति में पूरा विश्वास था। धार्मिक मामलों के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत ही उदार थे। उन्होंने मुल्लाओं के प्रभाव को दूर करने में अकबर का पूरा नैतिक समर्थन तो किया ही, साथ ही उनकी राज्यनीतियों के निर्माण के लिये व्यापक और अधिक उदार आधार प्रस्तुत किया।

अबुल फज्ल का फारसी गद्य पर पूरा अधिकार था। उनकी शैली यद्यपि अत्यधिक अलंकृत है, फिर भी उनकी अपनी है।

सं०ग्रं०—आईन-ए-अकबरी इंशा-ए-अबुल फज्ल (II), तबकात-ए-अकबरी निजामुद्दीन (जिल्द, २, पृ० ४५८), मुंतखाब-उल्-तवारीख (बदायुनी, जिल्द २, पृ० १७२, १९८–२०० आदि), म-आसिरुल-उमरा (जिल्द २, पृ० ६०८-२२), दरबार-ए-अकबरी, मुहम्मद हुसैन आजाद (लाहौर, १९१०, उर्दू पृ० ४६३-५०८), ए हिस्ट्री ऑव पर्शियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐंड द मुगल कोर्ट (अकबर पर लिखा गया भाग) एम० ए० गनी (इलाहाबाद, १९३०, पृ० २३०-२४६)। (यू० हु० खाँ)

अबुल फर्ज अली अलइस्फहानी

यद्यपि अबुल् फर्ज अल का जन्म इस्फहान (ईरान) में हुआ था, पर वह वास्तव में अरब था और कुरैश कबीला से संबंधित था। आरंभिक अवस्था में यह इस्फहान से बगदाद चला गया और वहाँ रहकर अरबी विद्याओं, विषयों तथा ज्ञान-विज्ञान में योग्यता प्राप्त की। इसने हलब तथा अन्य ईरानी नगरों की यात्रा भी की। अपनी अवस्था का अंतिम भाग इसने खलीफा मुइज्जुद्दौला के मंत्री अलमुहल्लबी के आश्रय में व्यतीत किया।

इसकी रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रंथ 'किताबुल अगानी' है। इसमें लेखक के समय तक की वह कुल अरबी कविताएँ संगृहीत की गई है, जिन्हें गेय रूप में ढाल दिया गया है। लेखक ने इन सब कवियों तथा गीतिकारों का जीवनपरिचय भी इस ग्रंथ में संकलित किया है, जिन्होंने यह कार्य पूरा किया था। इसके साथ ही विस्तृत ऐतिहासिक बातों तथा आकर्षक घटनाओं का वर्णन दिया है जिससे यह ग्रंथ इस नामी ज्ञान विज्ञान का नादिर तथा बहुमूल्य कोष बन गया है। 'किताबुल अगानी' बीस जिल्दों में मिस्र से प्रकाशित हो चुका है। इस विशद ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण 'रन्नातुल् मसानिस व अलमसानी' है, जिसे अतून सालिहानी अलीसवी ने टिप्पणियों के साथ बेरूत से प्रकाशित किया है।

इसका समय सन् २८४ हि० से सन् ३४६ हि० (सन् ८९७ ई० से सन् ९६७ ई०) तक है। (आर० आर० शे०)

अबुल फिदा

सीरिया के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा भूगोलवेत्ता, जन्म दमिश्क, नवंबर, १२७३। अबुल फिदा का संबंध अय्युबिद शासक परिवार से है। उन्होंने अपने चाचा हामा के शाहजादे मलिक मंसूर के अनुशासन में रहकर हमलावरों के खिलाफ हुए युद्ध में मुख्य भाग लिया। सन् १२९९ ई० में अपने निस्संतान भतीजे, महमूद द्वितीय के मरने के बाद अबुल फिदा को आशा थी कि वे हामा के राज्यप्रमुख पद के अधिकारी होंगे, किंतु उन्हें निराश होना पड़ा और यह पद साकर नामक एक अमीर को दिया गया। अबुल फिदा ने मामलुक सुल्तानों के यहाँ नौकरी कर ली। अपनी नौकरी के बारह वर्षों के बाद १८ अक्टूबर, १३१० ई० को वे हामा के जागीरदार हो गए। दो साल बाद उनका सामंत पद प्रादेशिक शासक के जीवन में बदल गया। सन् १३१९ ई० में उन्होंने सुल्तान मुहम्मद के साथ हज की तीर्थयात्रा की। पुन: काहिरा लौटने पर सुल्तान ने अबुल फिदा को अल-मलिक अल मुअय्यद की उपाधि दी और सुल्तान पद के सिरोपा से भूषित किया। इस प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उन्हें सीरिया के सभी गवर्नरों की अपेक्षा [illegible] महत्व दिया गया। २७ अक्टूबर, १३३१ ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

अबुल फिदा साहित्यिक रुचि और परिष्कृत विचारोंवाले शाहजादा थे। उन्होंने अनेक विद्वानों तथा साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, धार्मिक और साहित्यिक विषयों पर गद्य और पद्य में कई पुस्तकें लिखी, किंतु लगभग सभी रचनाएँ नष्ट हो गई। केवल दो पुस्तकें हो, जो इतिहास और भूगोल पर लिखी गई हैं, प्राप्त है जिनपर उनकी ख्याति आधारित है। **मुख्तसर तारीख-इल-बशर** (मानव का संक्षिप्त इतिहास) एक सार्वभौम इतिहास है जिसमें सन् १३२९ ई० तक का वर्णन है। इसका प्रारंभिक भाग मुख्यत: इब्नी असीर की कृति पर आधारित है। इसका प्रकाशन १८६९ ई० में हुआ।

तकवीम-इल-बुलदान गणित और भौतिक आँकड़ों से युक्त एक वर्णनात्मक भूगोल है जिसका अबुल फिदा के बाद के लेखकों ने पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया। इसका संपादन जे० टी० रीनाउद और मकगुकिन द स्लेन ने किया और १८४० ई० में यह पेरिस से प्रकाशित हुआ।

सं० ग्रं०—अबुल फिदा के ग्रंथों में आए हुए आत्मचरितात्मक उद्धरणों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकों से उनके विषय में सूचनाएं मिलती है

कुतुबी फवात (कैरो, १८५१) भाग १, पृ० ७०, अलदुहार अल-कमीना, इब्न जजर अस्कलानी (हैदराबाद, १९२९), भाग १, पृ० ३७१–३७३, तबाकत-उश-शफीयह सुबकी, भाग ६, पृ० ८४–८५, इंट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑव साइंस, जी सार्टन (बाल्टीमोर, १९४७) भाग ३, पृ० २००, ३०८, ७९३-९। (यू० हु० खाँ)

अबुल फैज, फ़ैजी या फैयाजी

सन १५४७ में आगरे में जन्म। अबुल फज्ल के बड़े भाई और अकबरी दरबार के कविसम्राट्। वे कम उम्र में ही अरबी साहित्य, काव्य और औषधियों की जानकारी के कारण मशहूर हो गए थे। २० वर्ष की आयु में ही उनकी काव्यरचना की ख्याति अकबर के कानों में पड़ी और तभी उन्हें अकबर के दरबारी कवियों में स्थान मिल गया। ३० वर्ष की आयु में वे **मलिक-उस-शुअरा** (कविसम्राट्) के पद पर नियुक्त हुए। अपने भाई अबुल फज्ल के ही समान वे स्वतंत्र विचारक थे और उन्होंने अकबर के धार्मिक विचारों और नीतियों का समर्थन किया। सन् १५७९ ई० में उन्होंने अकबर के लिये पद्यात्मक **खुतबा** तैयार किया। उसी साल अकबर के द्वितीय पुत्र मुराद के शिक्षक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। **अकबरनामा** में उद्धृत पद्यों में उन्होंने अपने को तीनों शाहजादों का शिक्षक बतलाया है। जब १५८० ई० में सम्राट् अकबर काश्मीर गए, तब अपने साथ फैजी को भी लेते गए थे। १५९१ ई० में सम्राट् ने दकन के राज्यों के लिये 'मिशन' भेजने का निश्चय किया। फैजी बुरहानपुर के राजदूत चुने गए। १५ अक्टूबर, १५९५ ई० को आगरे में उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के बाद उनकी पुस्तकों का महत्वपूर्ण संग्रह, जो ४,६०० भागों में है, राजकीय पुस्तकालय में भेज दिया गया। इस संग्रह में दर्शन, संगीत, ज्योतिष, गणित,

कविता, ओषधि, इतिहास, धर्म आदि अनेक विषयों पर लिखी गई रचनाएँ है।

फैजी को अमीर खुसरो के बाद द्वितीय महान् भारत-ईरानी कवि माना जाता है। शाह अब्बास के दरबारी कवियों ने भी उनकी उत्कृष्ट काव्य-रचना, उदात्त विचारों, और अधिकारपूर्ण लेखनशैली की प्रशंसा की है। बदायूनी का कथन है कि काव्य, पहेली, छदशास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और ओषधियों के विषय में फैजी अपने समय में अद्वितीय थे। अरबी और फ़ारसी के अतिरिक्त वे संस्कृत के भी अगाध पंडित थे।

बदायूनी और बख्तावर खाँ (मिरात-उल-आलम) के अनुसार फैजी की १०१ रचनाएँ है। कहा जाता है कि उन्होने ५०,००० कविताएँ लिखी हैं। उनकी अनेक रचनाएँ अप्राप्य है। महत्वपूर्ण पुस्तकों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है (१) **सवती-उल-इल्हाम** अरबी में लिखित कुरान की टीका (मुद्रित)। (२) **नल-दमन** नल-दमयंती की प्रेमकथा (मुद्रित)। (३) **लीलावती**, अंकगणित की एक संस्कृत रचना का फारसी अनुवाद (मुद्रित)। (४) **मरकज-ए-अदवार**, निजामी लिखित **मखजन-उल-असरार** के अनुकरण पर एक **मसनवी** (मुद्रित)। (५) **जफर-नामा-ए-अहमदाबाद**, अकबर की अहमदाबाद विजय पर एक मसनवी (ब्रिटिश म्यूजियम में रखी हस्तलिखित प्रति)। (६) **शरीक-उल-मरीफत**, संस्कृत ग्रंथों के आधार पर वेदांत दर्शन पर एक समीक्षा (इंडिया आफिस कैटलॉग, १९५७, हस्तलिखित प्रति)। (७) **महाभारत** के द्वितीय पर्व का अनुवाद, (इंडिया ऑफिस कैटलॉग, नं० २६२२)। (८) **लतीफ-ए फ़ैयाजी** सम्राट्, फैयाजी के मित्रों, समसामयिक विद्वानों, मतों, वैद्यों आदि को लिखे गए फैयाजी के पत्रों का संग्रह, फैयाजी के भतीजे नूरुद्दीन मुहम्मद द्वारा संपादित (इंडिया आफिस, अलीगढ, रामपुर तथा अन्य पुस्तकालयों में प्राप्य हस्तलिखित प्रतियाँ)।

सं०ग्रं०—आईन-ए-अकबरी, पृ० २३५–२४२, मुतखाब-उल्-तवारीख, भाग २, पृ० ४०५–६, मआसिर-उल्-उमरा, भाग २, पृ० ५८४-९०, शेर-उल्-आजम शिब्ली (आजमगढ, १९४५, उर्दू में लिखित) भाग ३, पृ० २८–७२, मुहम्मद हुसेन आजाद दरबार-ए-अकबरी (लाहौर, १९२२, उर्दू में लिखित), पृ० १००-१०६, एम० ए० गनी ए हिस्ट्री आव परशियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट मुगल कोर्ट (अकबर) (इलाहाबाद, १९३०) पृ० ३९-६७। (मु० हु० खाँ)

अबू उबैद:, मइमर बिन बिल्मसन्नी अबू उबैद का जन्म बसरा में हुआ था। वह यहूदी ईरानी नसल का था। इसने अपने लेखों में दयालु अरबों के विरुद्ध शुऊबी आदोलन का साथ दिया। इस कारण कुछ लोग भूल से इसे 'खारिजी' (त्यक्त) कहते है। इसके अध्ययन का विशेष विषय अरबी भाषा की बारीकियाँ, अरबी के अर्थ तथा वर्णन में नवीन योजनाएँ, अरबों का बीता हुआ इतिहास तथा उनकी आपसी विभिन्नताएँ एवं विरोध है। यह पहला आदमी है जिसने नई विद्या पर पुस्तक लिखी। इसकी रचना 'मजाजुल् कुरान' प्रसिद्ध है। यह व्यग्य तथा हास्य में भी अद्वितीय था। इतनी विद्वत्ता के रहते हुए भी यह अरबी शेरों तथा कुरान की आयतों को शुद्ध रूप में नहीं पढ सकता था। इसने लगभग दो सौ पुस्तकें लिखी है, जिनकी केवल अधूरी सूची मिलती है। खलीफा हारूँ-अल्-रशीद के बुलाने पर यह बगदाद गया था, जहाँ असमई से इसकी खूब नोक झोंक रही। इसकी मृत्यु सन् २०९ हि०, सन् ८२४ ई० में हुई।

(आर० आर० शे०)

अबूतमाम, हबीब बिन औसुत्ताई दमिश्क के पास जासिम गाँव में इसका जन्म हुआ। यह गाँव से दमिश्क जाकर वस्त्र बुनने का काम करने लगा। दमिश्क से हम्स जाकर इसने शिक्षा प्राप्त की। फिर मिस्र चला गया, जहाँ जामेअ अमरू में लोगों को पानी पिलाने लगा। वहाँ यह विद्वानों की सभाओं में जाना आता था। कुछ समय बाद यह बगदाद गया। खलीफा मुअतसिम ने इसकी कविता की ख्याति सुनकर इसे अपने दरबार में रख लिया। खलीफा के अतिरिक्त मंत्रियों तथा सरदारों पर भी कविता करता था और उनके प्रसाद तथा पुरस्कारों से संतुष्ट था। इसकी अवस्था अभी अधिक नहीं हुई थी कि मौसल में इसकी मृत्यु हो गई।

अबूतमाम के दीवान में प्रशस्ति, मरसिया, गजल, आत्मप्रशंसा आदि सभी प्रकार की कविताएँ मिलती हैं। काव्यशैली वैज्ञानिक तथा दार्शनिक है। यदि हमें एक ओर उसमें उच्च विचार तथा सुकुमार भाव मिलते है, तो दूसरी ओर अप्रचलित शब्द और उलझी कल्पनाएँ भी मिलती है। इसकी शैली क्लिष्ट हो गई है। अबूतमाम की एक और कृति है, जिसपर इसकी प्रसिद्धि विशेष रूप से आधारित है। यह अरब के कवियों की रचनाओं का संकलन है, जो विभिन्न भागों में बँटा है। इसमें एक भाग हमास: (वीरता) भी है और इसी संबंध से इसने इस संग्रह का नाम 'दीवान अल् हमास' रखा है। इसका काल सन् १८० हि० से सन् २२८ हि० (सन् ७९६ ई० से सन् ८४३ ई०) तक है। (आर० आर० शे०)

अबूनुवास हसन बिन हामी अबूनुवास का जन्म खुजिस्तान की राजधानी अहवाज में हुआ। इसके माता पिता साधारण वित्त के थे। यह शुद्ध अरब नहीं था प्रत्युत ईरानी रक्त का मेल था। इसके बाल बहुत बड़े बड़े थे, जो कधों पर लटकते रहते थे। इसी कारण इसने अबूनुवास पदवी ग्रहण की। इसने बसरा तथा कूफा में शिक्षा प्राप्त की और वहाँ से बगदाद पहुँचा। वहाँ यह पहले बरमकों के यहाँ रहा, जिन्होंने इसे बहुत धन दिया। फिर यह हारूँ-अल्-रशीद के दरबार का आश्रित हुआ। स्वभाव से यह ऐय्याश था और मदिरापन की भी इसकी बहुत कमजोरी थी। इस कारण खलीफा ने इससे अप्रसन्न होकर इसे कैद कर लिया। इसे इस कारण बार बार कैद भुगतनी पडी। हारूँ-अल्-रशीद की मृत्यु पर खलीफा अमीन ने इसे अपना विशिष्ट कवि नियत कर लिया। इसकी मृत्यु ५४ वर्ष की अवस्था में हुई। मरने से पहले इसने कुकर्मों से तोबा कर लिया था और भक्तिपूर्ण कविता करने लगा था।

अबूनुवास के दीवान में हर प्रकार की कविता के नमूने मिलते है, पर इसकी वास्तविक रुचि मदिरा तथा प्रेमवर्णन में है और इस क्षेत्र में यह अपने अन्य समसामयिकों से बहुत आगे बढ गया है। उसने पूर्ववर्तियों का अनुगमन बहुत प्रयत्न तथा परिश्रम से किया है, पर उसका वास्तविक रुझान नवीनता की ही ओर है। उसका समय १४५ हि० से १९८ हि० (सन् ७६२ ई० से सन् ८१३ ई०) तक है। (आर० आर० शे०)

अबू बक्र उस्मान के पुत्र जिनके उपनाम 'सिद्दीक' और 'अतीक' भी थे। सुन्नी मुसलमान इनको चार प्रमुख पवित्र खलीफाओं में अग्रगणी मानते है। ये पैगबर मुहम्मद के प्रारंभिक अनुयायियों में से थे और इनकी पुत्री आयशा पैगबर की चहेती पत्नी थी। उन्होंने ४०,००० दिरहम की पूँजी से व्यापार आरंभ किया था जो उस समय घटकर ५,००० दिरहम रह गई थी जब उन्होंने पैगबर के साथ मदीना को प्रस्थान किया। पैगबर की मृत्यु (जून ८, ६३२ ई०) के पश्चात् मदीना के आदिवासियों ने एक सभा में लंबे विवाद के पश्चात् अबू बक्र को पैगबर का खलीफा (उत्तराधिकारी) स्वीकार किया। ये उस समय ६० वर्ष के, इकहरे शरीर, किंतु प्रबल साहस और शक्तिवाले विनम्र व्यक्ति थे। उन्हें देखकर गुमान भी नहीं होता था कि वह अपनी दो वर्ष और तीन मास की खिलाफत की छोटी सी अवधि में इस्लाम को इतिहास के सबसे बड़े खतरे से बचा सकेंगे।

पैगबर की मृत्यु होते ही मक्का, मदीना और ताइफ नामक तीन नगरों के अतिरिक्त समस्त अरब प्रदेश इस्लाम विमुख हो गया। पैगबर द्वारा लगाए गए करों और नियुक्त किए गए कर्मचारियों को लोगों ने बहिष्कार कर दिया। तीन अप्रामाणिक पुरुष पैगबर तथा एक अप्रामाणिक स्त्री पैगबर अपना पृथक् प्रचार करने लगे। अपने घनिष्टतम मित्रों के परामर्श के विरुद्ध अबू बक्र ने विद्रोही आदिवासियों से समझौता नहीं किया। ११ सैनिक दस्तों की सहायता से उन्होंने समस्त अरब प्रदेश को एक वर्ष में नियंत्रित किया। मुसलमान न्यायपंडितों ने धर्मपरिवर्तन के अपराध के लिये मृत्युदंड निश्चित किया है, किंतु अबू बक्र ने उन सब जातियों को क्षमा कर दिया जिन्होंने इस्लाम और उसकी केंद्रीय शक्ति को पुन स्वीकार कर लिया।

पदारोहण के एक वर्ष के भीतर ही अबू बक्र ने खालिद (पुत्र वलीद) को, जो संसार के सर्वोत्तम सेनापतियों में से था, आज्ञा दी कि वह मुसन्ना नामक सेनापति के साथ १८,००० सैनिक लेकर इराक पर चढाई करें। इस सेना ने ईरानी शक्ति को अनेक लडाइयों में नष्ट करके बाबुल तक, जो ईरानी साम्राज्य की राजधानी मदाइन के निकट था, अपना आधिपत्य स्थापित

किया। इसके बाद खालिद ने अबू बक्र के आज्ञानुसार इराक से सीरिया की ओर कूच किया और वहाँ मरुस्थल को पार करके वह ३०,००० अरब सैनिकों से जा मिला और १,००,००० बिजतीनी सेना को फिलस्तीन के अजन दैइन नामक स्थान पर परास्त किया (३१ जुलाई, ६३४ ई०)। कुछ ही दिनों बाद अबू बक्र का देहात हो गया (२३ अगस्त, ६३४)।

शासनव्यवस्था मे अबू बक्र ने पैगंबर द्वारा प्रतिपादित गरीबी और आसानी के सिद्धातो का अनुकरण किया। उनका कोई सचिवालय और राजकीय कोष नही था। कर प्राप्त होते ही व्यय कर दिया जाता था। वह ५,००० दिरहम सालाना स्वय लिया करते थे, किंतु अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होने इस धन को भी अपनी निजी संपत्ति बेचकर वापस कर दिया।

सं०ग्रं०—म्योर कैलिफेट, उर्दू तबरी के इतिहासों का अनुवाद, जैसे इब्ने अहसीर (हैदराबाद मे मुद्रित) तथा इब्ने खलदून। (मु० ह०)

अबू सिबेल, इप्सबुल नूबिया मे नील नद के तट पर कोरोस्की के दक्षिण प्राचीन मिस्री फराऊन रामेसेज द्वितीय द्वारा ई० पू० १३वीं सदी के मध्य निर्मित मदिरो का परिवार। इन मदिरो की सख्या तीन है जिनमे से प्रधान फराऊन सेती के समय बनना आरभ हुआ था और उसके पुत्र के शासन मे समाप्त हुआ। तीनों मदिर चट्टानो को काटकर बनाए गए है और इनमे से कम से कम प्रधान मदिर तो प्राचीन जगत् मे अनुपम है। मदिरो के सामने रामेसेज की चार विशालकाय बैठी युग्म मूर्तियाँ द्वार के दोनों ओर बनी हुई है, ये प्राय ६५ फुट ऊँची हैं। रामेसेज की मूर्तियों के साथ उसकी रानी और पुत्र पुत्रियों की भी मूर्तियाँ कोरकर बनी है। मदिर सूर्यदेव आमेनरा की आराधना के लिये बने थे। मदिर के भीतर चट्टानो मे ही कटे अनेक बडे बडे पौने दो दो सौ फुट लबे चौडे हाल हैं जिनमे ठोस चट्टानो से ही काटकर अनेक मूर्तियाँ बना दी गई हैं। उनमे राजा की कीर्ति और विजयो की वार्ताएँ दृश्यो मे खोदकर प्रस्तुत की गई है। अबू सिबेल के ये मदिर ससार के प्राचीन मदिरो मे असाधारण महत्व के है। (ओ० ना० उ०)

अबू हनीफा अननुमान (६९९-७७६ ई०) अबू हनीफा अन-नुमान (साबित के बेटे) सुन्नी न्यायशास्त्र (फिक्ह) की प्रारभिक चार पद्धतियों—हनफी, मालिकी, शाफई और हबली—मे से हनफी के प्रवर्तक इमामे आजम के नाम से प्रसिद्ध थे। हनफी न्यायपद्धति लगभग सभी अर-बेतर सुन्नी मुसलमानो मे प्रचलित है।

इमाम के पितामह दास के रूप मे ईरान से कूफा लाए गए और वे वहाँ स्वतत्र कर दिए गए। इमाम के पिता कपडे के प्रसिद्ध व्यापारी थे और इमाम ने अपने जीवन का पठन पाठन मे व्यतीत करते हुए पिता के पेशे को ही अपनाया। वे हम्माद के शिष्य थे। ७३८ ई० मे हम्माद की मृत्यु के बाद उनके पद पर आसीन हुए और शीघ्र ही मुसलमानी न्यायशास्त्र के सबसे महान् पंडित के रूप मे विख्यात हुए। उनके शिष्य दूर दूर तक मुस्लिम जगत् मे फैले और न्याय के चोटी के पदो पर नियुक्त हुए। इमाम की मृत्यु पर ५०,००० से भी अधिक शिष्य आखिरी नमाज मे सम्मिलित हुए।

अबू हनीफा की महत्ता उन सिद्धातो और प्रणालियो मे परिलक्षित होती है जिनको स्वीकार करके उन्होने एक ऐसी न्यायपद्धति की व्यवस्था की जिसमे धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनो ही प्रकार के सार्वभौम मुसलमानी नियमो का समावेश था। उनकी पद्धति मक्का तथा मदीना की रूढ़िवादी पद्धति (रवायात) से भिन्न थी। जहाँ कुरान या पैगंबर का मत (हदीस) स्पष्ट था, इमाम ने उसे स्वीकार किया, और जहाँ वह स्पष्ट नही था, वे साम्य (कयास) स्थापित करते थे। किंतु यदि हदीस अप्रामाणिक, अशक्त या अविश्वसनीय हो तो युक्ति पर भरोसा करने की उन्होने सलाह दी। इमाम ने धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष मामलो को पृथक् पृथक् कर दिया। धर्म-निरपेक्ष मामलो मे पैगंबर के मत को न माना। पैगंबर ने कहा था कि "यदि मैं धार्मिक मामलों मे आज्ञा दूँ तो मानो, किंतु यदि मैं और मामलो मे आज्ञा दूँ तो मैं भी तुम्हारी ही तरह मात्र मनुष्य हूँ"। अबू हनीफा ने कोई किताब नही लिखी, किंतु लगभग ३० वर्षों तक अनुयायियों के साथ किए न्याय के आधार पर उनके १२,९०,००० कानूनी नियमो का सकलन उपलब्ध है। मूल ग्रथ लुप्त हो चुका है, किंतु उसके आधार पर इमाम के शिष्यो द्वारा लिखी गई पुस्तकें हनीफा न्यायपद्धति के आधार हैं। खेद की बात है कि इमाम के अनुयायियों ने उनके इस प्रमुख सिद्धात की अवज्ञा की और कानून को देश तथा काल के अनुकूल ढालने का उनका कलाम न माना। अबू हनीफा को दो बार काजी का पद अस्वीकार करने के अपराध मे कारावास का दड दिया गया। पहली बार कूफा के शासक यजीद द्वारा और दूसरी बार खलीफा मंसूर द्वारा। आध्यात्मिक स्वतत्रता की रक्षा अविचल रहकर कारावास मे भी उन्होने अपने प्राणत्याग तक की।

सं०ग्रं०—मौलाना शिबली सीरतुन-नौमान (१८९३)। (मु०ह०)

अबे, एडविन आस्टिन (१८५२-१९११), सयुक्त राज्य अमरीका का चित्रकार जो फिलाडेल्फिया मे उत्पन्न हुआ था। ललित कलाओं की पेन्सिल्वेनिया अकादमी मे चित्रणकला सीखकर उसने पुस्तको को सचित्र करने का कार्य शुरू किया। राबर्ट हेरिक, गोल्डस्मिथ, शेक्सपियर आदि की कृतियो को सचित्र करने से उसकी खासी ख्याति हुई। उसके जलचित्र और पेस्टलचित्र भी बडे सफल हुए। १८९८ ई० मे वह आर० ए० (रायल अकादमी) का सदस्य हो गया। उसके जलचित्रो मे प्रधान 'टोन-हिल आँख', 'अक्टूबर का गुलाब', 'पुराना गीत' है, वैसे ही पेस्टल चित्रो मे प्रधान 'बीट्रिस' और 'फिलिस' हैं। उसके तैलचित्रो मे सुदरतम शायद 'मई की एक सुबह' है। उसने भित्तिचित्रण भी किए। बोस्टन सग्रहालय मे सुरक्षित उसके चित्र 'पवित्र ग्रेल की खोज' तो अभूत सुदर बन पडा है। (भ० श० उ०)

अबेग रिचार्ड अबेग (१८६९-१९१०) ब्रेस्लाव मे प्रोफेसर तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। इनका जन्म डैनजिग तथा प्रशिक्षण बर्लिन मे हुआ था। थोडी आयु से ही वैज्ञानिक कार्यों मे इनकी बहुत रुचि थी और अपने घर में इन्होने एक छोटी सी प्रयोगशाला भी बना ली थी, जिसको इनकी माँ, रासायनिक पदार्थों की दुर्गंध के कारण, पसद नही करती थी। आगे चलकर बडे बडे वैज्ञानिको, जैसे ओस्टवाल्ड तथा अर्रहेनियस, के सपर्क मे आने का इनको अवसर मिला। इन्होने अपनी सैनिक शिक्षा के अवसर पर गुब्बारे की उडान मे भाग लिया, जो इन्हे अति रुचिकर प्रतीत हुई। बाद मे भी इस तरह की उडानो मे ये भाग लेते रहे, इसी मे इन्हे अपनी जान भी गँवानी पडी।

भौतिक रसायन के कई विषयो पर इन्होने अनुसधान किया। अबेग विख्यात लेखक भी थे। ये 'हैंडबुक डर एनार्गेनिशेन् केमी' तथा 'साइट्स-श्रिफ्ट फूर इलेक्ट्रोकेमी' नामक पत्रिका के सपादक थे।

सं०ग्रं०—हेनरी मॉन माउथ स्मिथ टॉर्च बेयरर्स ऑव केमिस्ट्री, डब्ल्यू० रैमजे जर्नल ऑव केमिकल सोसाइटी (१९११)। (वि० वा० प्र०)

अबेनेज्रा अबेनेज्रा का वास्तविक नाम इब्न एजरा और पूरा नाम अब्राहम बिनमेअर इब्न एजरा था। उसका जन्म सन् १०९३ ईसवी मे हुआ और मृत्यु सन् ११६७ मे हुई। वह तोलेदो (स्पेन) मे पैदा हुआ था। अपने समय का वह प्रसिद्ध यहूदी कवि और विद्वान् माना जाता है। अपनी जन्मभूमि में यथेष्ट कीर्ति उपार्जित कर सन् ११४० मे वह भ्रमण के लिये निकला। सबसे पहले वह उत्तरी अफ्रीका के देशो मे गया। कुछ वर्षों तक वहाँ ठहरने के पश्चात् वह इटली, फ्रास और इग्लैंड भी गया। लगभग २५ वर्ष तक विदेशों मे रहकर उसने अपनी विद्वत्ता की कीर्तिध्वजा फहराई। वह उच्च कोटि का विचारक और जनप्रिय कवि था। आधुनिक इब्रानी व्याकरण के जनक हय्यूज की पुस्तको का उसने अरबी से इब्रानी भाषा मे अनुवाद किया और स्वय उनपर टीकाएँ लिखी। अबेनेज्रा की रचनाओ मे दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि विषयों के ग्रथ है। किंतु उसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यहूदी धर्मग्रथों पर लिखी उसकी टीकाएँ है। पुराने अहदनामे के प्रमुख यहूदी पैगंबरो की पुस्तको पर अबेनेज्रा के भाष्य बडे चाव से पढे जाते है।

सं०ग्रं०—जे० जैकस . जुइश कांट्रीब्यूशन टु सिविलिजेशन। (वि० ना० पां०)

अबोर की पहाड़ियाँ हिमालय पर्वत के अंश हैं जो आसाम की उत्तरी सीमा पर पश्चिम में सिम्रोम नदी तथा पूर्व में डिबग के बीच फैली हुई हैं। यहाँ पर अबोर (जिसका अर्थ आसामी भाषा में 'असभ्य' होता है) जाति निवास करती है। भूमि प्राय घने जगलों से ढकी है जिनके बीच से होकर नदियाँ बहती हैं। अबोर लोग दो समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं—(१) पासीमेयाँग, जो पश्चिम में मिरी पहाड़ियों तथा पूर्व में डिहग नदी से घिरे हुए भागों में रहते हैं और (२) बोर अबोर, जो डिहग तथा डिबग के बीच में रहते हैं। अबोर नाटे कद के तथा पुष्ट होते हैं। (न० ला०)

अबोहर पजाब राज्य के फिरोजपुर जिले की फाजिल्का तहसील का एक प्रसिद्ध तथा प्राचीन ऐतिहासिक नगर है, जो ३०° ९' उ० अ० तथा ७४° १६' पू० दे० रेखाओं पर दिल्ली से मुल्तान जानेवाले मार्ग पर स्थित है। इब्नबतूता यहाँ सन् १३४१ ई० में आया था, जिसने इसे हिंदुस्तान का प्रथम नगर बताया था। यहाँ एक विशाल दुर्ग के कुछ अवशेष है, जिनसे ऐसा प्रकट होता है कि किसी काल में यह नगर पर्याप्त विख्यात रहा होगा। सरहिंद नहर द्वारा सिंचाई का साधन उपलब्ध हो जाने तथा सन् १८९७ ई० में दक्षिण पजाब रेलवे खुल जाने से यह नगर बहुत उन्नति कर गया है। यहाँ अन्न तथा ऊन की बहुत बडी मडी है। यहाँ एक आरोग्यशाला तथा हाई स्कूल है। यहाँ का हिंदी साहित्य सदन पुस्तकालय तथा जलकार्यालय दर्शनीय है। कपास से बिनौला निकालने तथा कपास दबाने के कारखाने भी यहाँ हैं। क्षेत्रफल १०८८ वर्ग मील। (न० ला०)

अब्द (सं०) का अर्थ वर्ष है। यह वर्ष, सवत् एव सन् के अर्थ में आजकल प्रचलित है क्योंकि हिंदी में इस शब्द का प्रयोग सापेक्षिक दृष्टि से कम हो गया है। अनेक वीरों, महापुरुषों, सप्रदायों एव घटनाओं के जीवन और इतिहास के आरभ की स्मृति में अनेक अब्द या सवत् या सन् ससार में चलाए गए हैं, यथा, १–**सप्तर्षि संवत्**—सप्तर्षि (सात तारो) की कल्पित गति के साथ इसका सबध माना गया है। इसे लौकिक, शास्त्र, पहाडी या कच्चा संवत् भी कहते हैं। इसमे २४ वर्ष जोडने से सप्तर्षि-सवत्-चक्र का वर्तमान वर्ष आता है। २–**कलियुग संवत्**—इसे महाभारत या युधिष्ठिर सवत् भी कहते हैं। ज्योतिष ग्रथो में इसका उपयोग होता है। शिलालेखों में भी इसका उपयोग हुआ है। ई० पू० ३१०२ से इसका आरभ होता है। वि० स० में ३०४४ एव श० स० में ३१७९ जोडने से कलि० स० आता है।

३–**वीरनिर्वाण संवत्**—अतिम जैन तीर्थंकर महावीर के निर्वाण वर्ष ई० पू० ५२७ से इसका आरभ माना जाता है। वि० स० में ४७० एव श० स० में ६०५ जोडने से वीर निर्वाण स० आता है।

४–**बुद्धनिर्वाण संवत्**—गौतम बुद्ध के निर्वाण वर्ष से इसका आरभ माना जाता है जो विवादास्पद है क्योंकि विविध स्रोत एव विद्वानों के आधार पर बुद्धनिर्वाण ई० पू० १०९७ से ई० पू० ३८८ तक माना जाता है। सामान्यत ई० पू० ४८७ अधिक स्वीकृत वर्ष है।

५–**मौर्य सवत्**—चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से ई० पू० ३२१ में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। हाथीगुफा, कटक (उडीसा) में मौर्य सवत् १६५ का राजा खारवेल का एक लेख प्राप्त हुआ है।

६–**सेल्युकिडि सवत्**—सिकंदर महान् के सेनापति सेल्युकस ने जब बँटवारे में एशिया का साम्राज्य प्राप्त किया तो ई० पू० ३१२ से अपने नाम का सवत् चलाया। खरोष्ठी लिपि के कुछ लेखों में इसका सदर्भ मिलता है।

७–**विक्रम संवत्**—इसे मालवा सवत् भी कहते हैं। मालवराज ने आक्रामक शकों को परास्त कर अपने नाम का सवत् चलाया। इसका आरभ ई०पू० ५७ वर्ष से माना जाता है। भारत और नेपाल में यह अत्यधिक लोकप्रिय है। उत्तर भारत में इसका आरभ चैत्र शुक्ल १ से, दक्षिण भारत में कार्तिक शुक्ल १ से और गुजरात तथा राजस्थान के कुछ हिस्सों में आषाढ शुक्ल १ (आषाढादि सवत्) से माना जाता है।

८–**शक संवत्**—ऐसा अनुमान किया जाता है कि दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर के राजा शालिवाहन ने इस सवत् को चलाया। अनेक स्रोत इसे विदेशियों द्वारा चलाया हुआ मानते हैं। काठियावाड़ एव कच्छ के शिलालेखों तथा सिक्कों में इसका उल्लेख पाया जाता है। वराहमिहिर कृत 'पचसिद्धांतिका' में इसका सबसे पहले उल्लेख किया गया है। दक्षिण भारत में यह सवत् अत्यत लोकप्रिय रहा है। नेपाल में भी इसका प्रचलन है। इसमें १३५ वर्ष जोडने से वि० स० और ७८ वर्ष जोड़ने से ई० सन् बनता है।

९–**कलचुरि सवत्**—इसे चेदि सवत् और त्रैकूटक स० भी कहते हैं। यह सं० गुजरात, कोकण एव मध्य प्रदेश में लेखों में मिला है। इसमें ३०७ जोडने से वि० स० तथा २४९ जोडने से ई० सन् बनता है।

१०–**गुप्त संवत्**–इसे 'गुप्त काल' और 'गुप्त वर्ष' भी कहा जाता है। काठियावाड के वलभी राज्य (८९४ ई०) में इसे 'वलभी सवत्' कहा गया। किसी गुप्तवशी राजा से इसका सबध जोडा जाता है। नेपाल से गुजरात तक इसका प्रचलन रहा। इसमें ३७६ जोडने से विक्रम स०, २४१ जोडने से शक स० एव ३२० जोडने से ईस्वी सन् बनता है।

११–**गांगेय संवत्**—कलिगनगर (तमिलनाडु) के गगावशी किसी राजा का चलाया हुआ सवत् माना जाता है। दक्षिण भारत के कतिपय स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है। ५७६ जोडने से ईसवी सन् बनता है।

१२–**हर्ष सवत्**—थानेश्वर के राजा हर्ष के राज्यारोहण के समय इसे चलाया गया माना जाता है। उत्तर प्रदेश एव नेपाल में कुछ समय तक यह प्रचलित रहा। इसमें ६०६ जोड़ने से ईसवी सन् बनता है।

१३–**भाटिक (भट्टिक) सवत्**—यह सवत् जैसलमेर के राजा भट्टिक (भाटी) का चलाया हुआ माना जाता है। इसमें ६८० जोडने से वि० स० और ६२३ जोडने से ई० स० बनता है।

१४–**कोल्लम् (कोलंब) संवत्**—तमिल में इसे 'कोल्लम् आडु' और सस्कृत में कोलब सवत् लिखा गया है। मलाबार के लोग इसे 'परशुराम सवत्' भी कहते हैं। इसके आरभ का ठीक पता नहीं है। इसमें ८२५ जोड़ने से ई० स० बनता है।

१५–**नेवार (नेपाल) संवत्**—नेपाल राज जयदेवमल्ल ने इसे चलाया। इसमें ९३६ जोड़ने से वि० स० और ८७९ जोडने से ई० स० बनता है।

१६–**चालुक्य विक्रम संवत्**—कल्याणपुर (आध्र) के चालुक्य (सोलकी) राजा विक्रमादित्य (छठे) ने शक सवत् के स्थान पर चालुक्य सवत् चलाया। इसे 'चालुक्य विक्रमकाल', 'चालुक्य विक्रम वर्ष', 'वीर विक्रम काल' एव 'विक्रम वर्ष' भी कहा जाता है। ११३२ जोड़ने से वि०स० एव १०७६ जोडने से ई० स० बनता है।

१७–**सिंह सवत्**—कर्नल जेम्स टॉड ने इसका नाम 'शिवसिंह सवत्' और दीव बेट (काठियावाड) के गोहिलों का चलाया हुआ बतलाया है। इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इसमें ११७० जोड़ने से वि० स० और १११३ जोडने से ई० स० बनता है।

१८–**लक्ष्मणसेन सवत्**—बगाल के सेनवशी राजा लक्ष्मणसेन के राज्याभिषेक से इसका आरभ हुआ। इसका आरभ माघ शुक्ल १ से माना जाता है। इसका प्रचलन बगाल, बिहार (मिथिला) में था। इसमें १०४० जोडने से शक स०, ११७५ जोडने से वि० स० और १११८ जोडने से ई० स० बनता है।

१९–**पुडुवैप्पु संवत्**—सन् १३४१ में कोचीन के समीप उद्भूत 'बीपीन' टापू की स्मृति में यह सवत् चलाया गया। आरभ में कोचीन राज्य में इसका प्रचलन हुआ।

२०–**राज्याभिषेक संवत्**—छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक जून १६७४ से इसका आरभ माना जाता है। मराठा प्रभाव तक इसका प्रचलन रहा।

२१–**बार्हस्पत्य संवत्सर**—यह १२ वर्षों का माना जाता है। बृहस्पति के उदय और अस्त के क्रम से इस वर्ष की गणना की जाती है। सातवीं सदी ईसवी के पूर्व के कुछ शिलालेखों एव दानपत्रों में इसका उल्लेख पाया जाता है, यथा 'वर्षनाम आश्विन', 'वर्षनाम कार्तिक' आदि।

२२–**बार्हस्पत्य संवत्सर** (६० वर्ष का)—इसमें ६० विभिन्न नामों के ३६१ दिन के वर्ष माने गए हैं। बृहस्पति के राशि बदलने से इसका आरभ माना जाता है। दक्षिण में इसका उल्लेख अधिक मिलता है।

चालुक्य राजा मगलेश (ई० सं० ५६१-६१०) के लेख में इसे 'सिद्धार्थ संवत्सर' भी लिखा गया है।

२३—ग्रहपरिवृत्ति संवत्सर—इसमे ६० वर्ष का चक्र होता है। पूरा होने पर वर्ष १ से लिखना शुरू करते हैं। इसका आरभ ई० पू० २४ से माना जाता है। मदुरा (तमिलनाडु) मे इसका विशेष प्रचलन रहा है।

२४—सौर वर्ष—यह ३६५ दिन १५ घड़ी ३१ पल और ३० विपल का माना जाता है। इसमे बारह महीने होते है। आजकल प्राय सौर वर्ष ही व्यवहार मे आता है।

२५—चांद्र वर्ष—दो चाद्र पक्षो का एक चाद्र मास होता है। उत्तर मे कृष्णपक्ष १ से और दक्षिण मे शुक्ल पक्ष १ से मास की गणना होती है। १२ चाद्रमास का एक चाद्र वर्ष होता है जो ३५४ दिन, २२ घड़ी, १ पल और २४ विपल का होता है। सौरमान एव चाद्रमान के ३२ महीनो मे १ महीने का अतर पड जाता है।

२६—हिजरी सन्—इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब के मक्का से मदीना पलायन (हिजरी) का दिन १५ जुलाई, ६२२ ई० स० इसका आरभ माना जाता है। यह चाद्रवर्ष है। चाँद देखकर इसका आरभ किया जाता है। तारीख एक शाम से दूसरी शाम तक चलती है। सौर मास की तुलना मे चाद्रमास १० दिन ५३ घड़ी ३० पल और ६ विपल के लगभग कम होता है। इस प्रकार १०० सौर वर्ष मे ३ चाद्रवर्ष २४ दिन ६ घड़ी का समय बढ़जायगा। अस्तु इस सन् की अन्य से कोई निश्चित तुलना नही हो सकती। भारत मे इसका पहला उल्लेख महमूद गजनवी के महमूदपुर (लाहौर) के सिक्को पर मिलता है, जिनपर सस्कृत मे भी हिजरी सन् का उल्लेख किया गया है।

२७—शाहूर सन्—संभवत इसे भारत मे मुहम्मद तुगलक ने चलाया था। यह हिजरी सन् का संशोधित रूप है। चाद्रमास के बदले इसे सौरमास के अनुसार माना गया है। इसमे ६०० जोडने से ई० सन् और ६५७ जोडने से वि० स० बनता है। मरहठा शासन मे यह लोकप्रिय हुआ। मराठी पचागो मे अभी भी मिलता है।

२८—फसली सन्—इसे बादशाह अकबर ने टोडरमल के परामर्श से लगान वसूली के लिये हिजरी सन् ९७१ (१५६३ ई०) मे चलाया। यह हिजरी सन् का सशोधित रूप है क्योकि इसके महीने सौर मास के अनुसार चलते है। पजाब से बगाल तक के उत्तरी भाग मे किसानो और अमीनो मे इसका प्रचलन है। दक्षिण भारत का फसली सन् उत्तर से कुछ भिन्न है।

२९—विलायती सन्—बगाल मे अपना शासन स्थापित होने के बाद इसे अग्रेजो ने चलाया। यह फसली सन् का दूसरा रूप है जिसमे वर्षारभ आश्विन मास से होता है। इसमे ५९२-५९३ जोड़ने से ई० स० बनता है।

३०—अमली सन्—यह वास्तव मे विलायती सन् ही है किंतु उडीसा मे इसका आरभ भाद्रपद शुक्ल १२ अर्थात् राजा इद्रद्युम्न के जन्मकाल से माना जाता है। इसका प्रचार वहाँ के व्यापारियो एव न्यायालयो मे है।

३१—बँगला सन्—इसे 'बगाब्द' भी कहते है। फसली सन् से अतर यह है कि इसका आरभ वैशाख से होता है। इसमे ५९४ जोड़ने से ई० स० तथा ६५१ जोडने से वि० स० बनता है।

३२—मगि सन्—यह भी बगाल मे ही चलता है किंतु बगाब्द से ४५ वर्ष पीछे इसका आरभ माना जाता है। बँगला देश के चटगाँव जनपद मे इसका प्रचार हुआ। प्रचार का कारण आराकान (बर्मा) की मगि जाति की क्षेत्रीय विजय को मिलता है।

३३—इलाही सन्—बादशाह अकबर ने बीरबल के सहयोग से 'दीन-इलाही' (ईश्वरीय धर्म) के साथ इस सन् को हिजरी सन् ९९२ (१५८४ ई०) मे चलाया। इसमे महीने ३२ दिनो के होते थे। अकबर जहाँगीर के समय के लेखो सिक्को मे इसका उल्लेख है। शाहजहाँ ने इसे समाप्त कर दिया।

३४—यहूदी सन्—यह प्रचलित अब्दो मे सर्वाधिक प्राचीन है। इजरायल और विश्व के यहूदी इसका प्रयोग करते है। यह ५७३३ वर्ष पुराना है। ईसवी सन् मे ३५६१ जोड़ने से यह सन् आता है।

३५—ईसवी सन्—ईसामसीह के जन्मवर्ष से इसका आरभ माना जाता है। ई० स० ५२७ के लगभग रोम निवासी पादरी डायोनिसियस ने गणना कर रोम नगर की स्थापना से ७९५ वर्ष बाद ईसामसीह का जन्म होना निश्चित किया। वर्तमान ईसवी सन् की छठी शती से इसका प्रचार शुरू हुआ और १००० ईसवी तक यूरोप के सभी ईसाई देशो ने तथ, आधुनिक यूरोपीय साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ सारे विश्व ने इसे स्वीकार कर लिया। इससे पूर्व रोमन साम्राज्य मे जूलियस सीजर और पोप ग्रेगरी द्वारा निर्धारित सन् तथा पचाग चलते थे। यह सौर वर्ष है जिसका आरभ १ जनवरी से होता है। २४ घटे का दिन (रात १२ बजे से अगली रात १२ बजे तक) माना जाता है। इसमे ५७ वर्ष जोडने से वि० स० बनता है। इसे ख्रीस्ताब्द भी कहा जाता है। १९१७ तक रूस मे पश्चिमी यूरोप के मुकाबले वर्ष का आरभ १३ दिन पीछे होता था। क्रांति के बाद लेनिन ने उसे बढ़ाकर समकक्ष किया, जिससे २५ अक्टूबर को हुई क्रांति ७ नवबर को मान ली गई। यही कारण है कि सोवियत क्रांति को 'अक्टूबर क्रांति' भी कहा जाता है। (मो० ला० ति०)

अब्दाली, अहमदशाह अफगानो की अब्दाली अथवा दुर्रानी शाखा का एक वीर एव महत्वाकाक्षी व्यक्ति। अफगानिस्तान के बादशाह नादिरशाह ने इसे बचपन मे ही पकडकर दास बना लिया था। परतु अपनी योग्यता तथा लगन से यह सेनाध्यक्ष के पद तक पहुँच गया। सन् १७४७ ई० मे नादिरशाह का कत्ल हो जाने के बाद अब्दाली ने हेरात मे स्वय को स्वतत्र घोषित कर दिया और कदहार तथा काबुल जीतने के बाद बादशाह बन बैठा। सन् १७४८ ई० मे इसने भारत पर चढाई की। दिल्ली के शाहजादे अहमदशाह ने सरहिद नामक स्थान पर इसे रोक लिया। युद्ध हुआ और अब्दाली की हार हुई। यह फौरन काबुल लौट गया। अब्दाली के वापस चले जाने के बाद मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई और शाहजादा अहमदशाह गद्दी पर बैठा। अब्दाली ने १७४९ ई० मे पुन भारत पर आक्रमण किया। मुगलो की पराजय हुई और अब्दाली को मुलतान, सिंध तथा पजाब के सूबे देकर उन्होने सधि कर ली।

सन् १७५४ ई० मे मुगल बादशाह अहमदशाह की मृत्यु हो गई और जहाँदारशाह के पुत्र आलमगीर द्वितीय को सिंहासन पर बिठाया गया, किंतु साम्राज्य मे जो अव्यवस्था फैल चुकी थी, उसे दूर न किया जा सका। निजाम का दौहित्र गाजीउद्दीन मुगल साम्राज्य का प्रधान मत्री था। उसमे और रुहेला सरदार नजीबुद्दौला के बीच प्रतिद्वद्विता चल रही थी। दोनो ही आलमगीर पर अपना अपना प्रभुत्व रखना चाहते थे। गाजीउद्दीन ने मुलतान पर हमला किया और अहमदशाह अब्दाली के अधिकारी को बदी बना लिया। इससे क्रुद्ध हो अब्दाली ने सन् १७५६ ई० मे भारत पर तीसरी बार आक्रमण किया। हमले की खबर सुनकर गाजीउद्दीन दिल्ली से भागकर मराठो की शरण मे चला गया। अब्दाली ने दिल्ली आकर भयकर लूट पाट तथा कत्ले-आम करवाया। पश्चात् नजीबुद्दौला को प्रधान मत्री बनाकर वह अपने देश वापस चला गया। (कै० च० श०)

अब्दुर्रज्जाक प्रख्यात सूफी। इनका पूरा नाम कमालुद्दीन अब्दुर्रज्जाक अबू अल गनीम इब्न जमालुद्दीन अल काशानी था। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, ये मूलत फारस के जिबाल प्रात मे काशान नामक कस्बे के रहनेवाले थे जो तेहरान इस्फहान मार्ग पर लगभग बीचोबीच स्थित है। इनकी जन्मतिथि का ठीक ठीक पता नही है किंतु हाजी हलीफा ने इनका जन्म ७३० हि० (१३२९-३० ई०) म निश्चित किया है। एक अन्य स्थान पर हाजी हलीफा ने ही उनका जन्म ८८७ हि० (१४८२-८३ ई०) बताया है, लेकिन उक्त स्थल पर किसी भ्रमवश उन्होने अब्दुर्रज्जाक काशानी के बजाय कमालुद्दीन अब्दुर्रज्जाक समरकदी का जन्मसवत् दे दिया है। जामी (नफहात, पृ० ५५७) के अनुसार ये नतंज निवासी शाह नूरुद्दीन अब्द अस्समद के शिष्य थे।

इश्तिलाहात-अस-सूफीयाना अब्दुर्रज्जाककृत प्रसिद्ध ग्रथ है। जिसे सूफी सप्रदायातर्गत व्यवहृत तकनीको शब्दो का प्रामाणिक कोश कहा जाता है और जिसके दो भाग है। इनकी दूसरी पुस्तक 'लताइफ अल इलाम फी इशाराती अहल अल इलहाम' मे भी सूफियो के तकनीकी शब्दो की व्याख्या है। रज्जाक रचित 'रिसालात फ़ी लकदा वा लकदर' का व्याख्यासहित अनुवाद और प्रकाशन गुयार्ड ने किया था। इनकी और भी कई पुस्तके हैं जैसे कुरान के ३८वे पारे की अन्योक्तिपूर्ण व्याख्या करनेवाली तबीलात अल कुरान एव इब्न अरबी कृत 'फुसुस अल हिकम' तथा अब्दुल्ला अल अंसारी रचित 'मनाजिल अस सायरीन' के ऊपर लिखे गए भाष्य।

बाद के खेवे के सूफियों की तरह अब्दुर्रज्जाक ने भी, फाराबी इब्न सीना द्वारा मुसलमानों के लिये व्याख्यायित 'नव अफलातूनवादी' दर्शन को अपना आधार बनाया। अत वह सर्वेश्वरवादी थे क्योंकि उक्त दर्शन में ससार को, भारतीय वेदांत की तरह 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' कहा गया है और माना गया है कि उसी एक ब्रह्म की ज्योति में सपूर्ण विश्व का अस्तित्व है। (कैं० च० श०)

अब्दुर्रहीम खाँ खानखानाँ, नवाब जन्म लाहौर में १४ सफर, सन् ९६४ हि० (१७ दिसबर, सन् १५५६ ई०)। पिता बैराम खाँ के गुजरात में मारे जाने पर यह दिल्ली लाए गए और सम्राट् अकबर ने इनकी रक्षा का भार स्वय ग्रहण कर लिया। यह स्वय प्रतिभाशाली थे इसलिये अति शीघ्र तुर्की, फारसी, संस्कृत, हिंदी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हो गए। यह फारसी, हिंदी तथा संस्कृत के सुकवि और साहित्यमर्मज्ञ भी हो गए। तीनों भाषाओं में इनकी प्रचुर कविता मिलती है। तुर्की से फारसी में बाबरनामा का अनुवाद भी इन्होंने किया है। यह बीस वर्ष की अवस्था में अपनी योग्यता के कारण गुजरात के शासक नियत हुए, जिस पद पर पाँच वर्ष रहे। इसके अनतर मीर अर्ज तथा मुलतान सलीम के अभिभावक नियत किए गए। सन् १५८३ ई० में गुजरात में सरखेज के युद्ध में शत्रु की चौगुनी सेना को पूर्णतया परास्त कर दिया, जिससे इन्हें पाँचहजारी मसब तथा खानखानाँ की पदवी मिली। सन् १५९२ ई० में यह मुलतान के प्रांताध्यक्ष नियत हुए और इन्होंने सिंध तथा ठट्ठा विजय किया। सन् १५९५ ई० में य दक्षिण भेजे गए, जहाँ इन्होंने अहमदनगर घेरा। सन् १५९७ ई० की फरवरी में सुहेल खाँ के अधीन दक्षिण के तीन सुलतानों की सम्मिलित सेनाओं को आष्टी के मैदान में घोर युद्ध करके परास्त किया। सन् १६०० ई० में अहमदनगर विजय किया और बरार के प्रांताध्यक्ष नियत हुए। जहाँगीर के राज्यकाल में प्राय ये अत तक दक्षिण में ही नियत रहे, पर शाहजादों तथा अन्य सरदारों के विरोध से कोई अच्छा कार्य नहीं कर सके। शाहजहाँ के विद्रोह करने पर इन्होंने एक प्रकार से उन्हीं का पक्ष लिया, पर इस दुरगी चाल का यही फल निकला कि इनके कई पुत्र पौत्र मार डाले गए। जहाँगीर खाँ के विद्रोह पर उसका पीछा करने के लिये यह नियत हुए, पर दिल्ली में बीमार होकर सन् १०३६ हि० (सन् १६२७ ई०) में मर गए।

यह बड़े सच्चरित्र, उदार तथा गुणग्राहक थे और इनके सबध में इनकी बहुत सी कहानियाँ प्रसिद्ध है। दोहावली, नगरशोभा, मदनाष्टक आदि हिंदी रचनाएँ विख्यात है। रहीम कवि के नीतिपरक दोहे प्रसिद्ध है तथा इन्होंने कृष्णभक्ति सबधी कुछ पदों की भी रचना की थी जो अत्यत भावपूर्ण है। अवधी में उनकी बरवै नायिकाभेद नामक रचना प्रसिद्ध है। अपनी उक्तियों के वैचित्र्य से उन्होंने बिहारी जैसे कवि को प्रभावित किया।

स० ग्रं०—१ मआसिरे रहीमी, २ मुगल दरबार, भाग २, ३ रहिमन विलास। (ब्र० दा०)

अब्दुल हक हापुड में जन्म १८६९ ई० में, शिक्षा अधिकतर अलीगढ़ में प्राप्त की और वहीं से १८९४ ई० में बी० ए० पास किया। १८९६ ई० में हैदराबाद राज में नौकरी मिल गई। लिखने की रुचि विद्यार्थी जीवन से ही थी। १८९६ ई० में एक पत्रिका "अफसर" निकाली। दक्षिण भारत में रहने के कारण इसका अवसर मिला कि वह प्रारंभिक "दक्खिनी उर्दू" की खोज करें। इनमें उनको बड़ी सफलता मिली। जब वह १९११ ई० में अंजुमने तरक्की उर्दू के मंत्री बनाए गए तब उनके गवेषणापूर्ण कामों में और उन्नति हुई। उसमानिया विश्वविद्यालय में अनुवाद का जो विभाग बना उसकी देखरेख भी अब्दुल हक के ही हाथ में दी गई। १९२१ ई० में उन्होंने 'उर्दू' नाम से एक बहुत ही उच्च कोटि की आलोचनात्मक और खोजपूर्ण पत्रिका निकाली जो आज भी निकल रही है। कुछ समय तक वह उसमानिया विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष भी रहे।

१९३६ ई० में वह देहली चले आए। कुछ समय तक महात्मा गाधी के हिंदुस्तानी आंदोलन के साथ भी रहे। १९३७ ई० में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से उन्हें आनरेरी डाक्टरेट मिली। भारतवर्ष का बँटवारा होने के बाद मौलाना अब्दुल हक (जिनको कुछ लोग "बाबा-ए-उर्दू" भी कहने लगे थे) पाकिस्तान चले गए। वहाँ भी "अजुमने-तरक्की उर्दू" का सचालन यही कर रहे है।

उनकी रचनाओं में मरहूम देहली कालेज, मरहठी पर फारसी का असर, उर्दू नशव व नुमा में सूफियाए किराम का काम, नुसरती, कवायदे उर्दू, मुकद्दमाते अब्दुल हक और खुतबाते अब्दुल हक प्रसिद्ध है।

स० ग्रं०—अब्दुल लतीफ जौहर अब्दुल हक, रामबाबू सक्सेना तारीखे-अदबे उर्दू, डा० एजाज हुसेन मुख्तसर तारीख अदबे उर्दू। (सै० ए० हु०)

अब्बादीदी अरबों का वह खानदान जिसने सेविल में सन् १०२३ ई० में एक स्वतत्र राज्य कायम किया। उस घराने के सस्थापक सैविल के काजी अबुल कासिम मोहम्मद बिन इस्माइल थे। इनके पुरखे शाम देश से स्पेन आए थे। इनका राज्य बड़ा तो न था, फिर भी आसपास की रियासतों में सबसे शक्तिशाली था। अबुल कासिम ने स्पेन और अरब के मुसलमानों को बर्बरों के विरुद्ध सगठित कर दिया। उनका पुत्र एबाद स्पेन के मुसलमान खानदानों के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हो गया है। वह स्वय कवि और विद्वानों का सरक्षक था, पर वह जालिम और कठोरहृदय भी था। वह अपने विरोधियों को निर्दयता से कुचल दिया करता था। वह शत्रुओं की खोपड़ियाँ जमा किया करता था। प्रसिद्ध लोगों की खोपड़ियाँ वह बक्सों में सुरक्षित रखता और साधारण लोगों की खोपड़ियों के दावट या गुलदान बनवाया करता था। उसका सारा बल अपने समय के लोगों से लड़ने में खर्च हुआ। उसकी मौत (१०६९ ई०) के बाद से इस घराने का विनाश आरभ हुआ। इस कुल के अतिम राजा अलमोतमिद को ईसाई राजा अलफान्सो चतुर्थ ने पराजित किया और उसकी मौत मराकश में कैद में हुई। (मु० अ० अ०)

अब्बासी इस नाम से तीन घराने इतिहास में विख्यात है। अब्बासी खलीफा, ईरान के शफवी बादशाह और सूदान का एक राजकुल। अब्बासी खलीफाओं ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया था। वे अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब बिन हाशिम की सतान थे। अल अब्बास की औलाद ने खोरासान को अपना ठिकाना बनाया और उनके पौत्र मोहम्मद बिन अली ने बनी ओमय्या को जड़ से उखाड़ फेंकने की पूरी तैयारियाँ कर ली थी। वह अपने प्रयत्न में सफल रहे और ७४७ ई० में खोरासान में विद्रोह हुआ। बनी ओमय्या की सेना पराजित हुई। ७४९ में अबुल अब्बास ने खिलाफत का दावा किया और अलसफ्फाह यानी खूनी का नाम धारण करके बनी ओमय्या के एक एक आदमी को तलवार के घाट उतार दिया। इस कुटुंब का एक व्यक्ति अब्दुल रहमान बिन मोआविया अपनी जान बचाकर स्पेन भाग गया और करतबा में बनी ओमय्या का राज स्थापित कर लिया। अबू जाफरुल मसूर ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाकर राजनैतिक केंद्र को पूर्व की ओर हटा लिया। इस नए घराने ने ज्ञान-विज्ञान की रक्षा में बड़ा हिस्सा लिया परतु इतने बड़े राज्य में एकता को केंद्रित करना आसान काम न था। ७८८ ई० में इद्रीस बिन अब्दुल्लाह ने मराकश में एक अलग स्वतत्र राज्य स्थापित कर लिया। खैरवान को भी स्वतत्रता मिल गई। खोरासान में वहाँ के शासक ताहिर जुल मनन ने ८१० ई० में खलीफा की अधीनता मानने से इनकार कर दिया और ८६८ ई० में मिस्र के शासक ने भी अपनी स्वतत्रता घोषित कर दी।

खलीफा अल् मोत्तसिम (८३३-४२) ने तुर्क दासों की एक शरीर-रक्षक सेना बनाई और इस अब्बासी घराने की अवनति शुरू हो गई। तुर्क दासों का बल राजनीतिक कार्यों में धीरे धीरे बढ़ता गया। खलीफा अल मुक्तदर ने ९०८ ई० में मुनिस को, जो तुर्क शरीररक्षक सेना का अध्यक्ष था, अमीरुल उमरा की उपाधि दी और उसी के साथ साथ सारे राजनीतिक अधिकार उसे सौंप दिए। जब फातमी खानदान मिस्र में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, तब अब्बासी खलीफाओं के धार्मिक कार्यों को भी बड़ा धक्का पहुँचा। अब्बासी खिलाफत के पूर्वी क्षेत्र में कई स्वतत्र राज्य बन गए जिनमें प्रधान तुर्किस्तान में सल्जुकों का था। जब तुर्कों का प्रभाव बढ़ा तब खलीफा के राज्य की हद बगदाद नगर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में सीमित हो गई।

बगदाद पर १२५८ ई० मे हलाकू ने आक्रमण कर अल् मोतसिम का वध कर दिया। अब्बासियों का कुटुंब तितर बितर हो गया और लोगो ने भागकर मिस्र मे शरण ली। फातिमी सुलतानो ने उन्हे खलीफा अवश्य मान लिया, मगर उनका राजनीतिक या धार्मिक मामलो मे कुछ भी प्रभाव न रहा। १५१७ ई० मे उस्मानी तुर्क सलीम प्रथम की अधीनता मे मिस्र पर आक्रमण करके शाही खानदान का अंत कर दिया गया। वह आखिरी अब्बासी खलीफा अल् मोतवक्किल को कुस्तुतुनिया ले गया और उससे एक एकरारनामे पर हस्ताक्षर कराए जिसमे उसने समस्त राजनीतिक और धार्मिक अधिकार त्याग देने की घोषणा की। सलीम ने अल् मोतवक्किल को फिर मिस्र लौट जाने की आज्ञा दे दी, जहाँ पहुँचकर वह १५३८ ई० मे मर गया। इस कुटुंब मे २७ खलीफा हुए, जिनमे हारूँनुर्रशीद और मामनुर्रशीद के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। (मु० अ० अ०)

अब्राबानेल, इसहाक यह प्रसिद्ध यहूदी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, धर्मशास्त्री और भाष्यकार सन् १४३७ ई० मे लिस्बन मे पैदा हुआ। उसके परिवार की ओर से यह दावा किया जाता था कि वे लोग प्रसिद्ध यहूदी पैगंबर दाऊद के उत्तराधिकारी हैं। अब्राबानेल की मृत्यु सन् १५०८ ई० मे हुई। अब्राबानेल जितना योग्य विद्वान् था उतना ही योग्य राजनीतिज्ञ भी था। शीघ्र ही वह पुर्तगाल के राजा अलफेंजो पंचम का कृपापात्र बन गया। शासन के महत्वपूर्ण कार्य उसे सौंपे जाते थे। अलफेंजो की मृत्यु के बाद उसे पुर्तगाल त्यागकर स्पेन भाग जाना पडा, जहाँ वह आठ वर्षों (१४८४-९२) तक स्पेन के राजा फर्दीनाद और सम्राज्ञी इसाबेला के अधीन गृहमंत्री रहा। सन् १४९२ ई० मे जब यहूदियों को स्पेन से निकाला गया तो अब्राबानेल नेपुल्स, कॉर्फ और मोनापोली मे रहा। सन् १५०३ ई० मे वह वेनिस चला गया जहाँ मृत्युपर्यंत, अर्थात् सन् १५०८ तक, वह गृहमंत्री रहा। अब्राबानेल की यह विशेषता थी कि उसने बाइबिल की सामाजिक पृष्ठभूमि का गहरा अध्ययन किया था और तर्क के साथ अपनी राजनीति मे उसको व्यावहारिक रूप देने का गंभीर प्रयत्न किया था। (वि० ना० पा०)

अब्राहम (लगभग १८०० ई० पू०) इब्रानी अर्थात् यहूदी जाति के पितामह। बाइबिल मे अब्राहम का अर्थ 'बहुत सी जातियों का जनक' माना गया है। ये याहवेह (या ईश्वर) के आदेश से मेसापोटामिया के उर तथा हाराम नामक शहरों को छोडकर कानान और मिस्र चले गए। बाइबिल मे अब्राहम का जो वृत्तात मिलता है (उत्पत्ति ग्रथ, अध्याय ११-२५), उसकी रचना लगभग ९०० ई० पू० मे अनेक परपराओं के आधार पर हुई थी। इसमे संस्कृति और रीति रिवाजो का जो वर्णन है वह हम्मुराबी (ल० १७२८-१६८६ ई० पू०) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इब्रानी तथा हम्मुराबी के बहुत से कानून एक जैसे है। आधुनिक खुदाई द्वारा हम्मुराबी का अच्छा परिचय प्राप्त हुआ है।

सारी बाइबिल मे अब्राहम का महत्व स्वीकृत है--(१) ये स्वय यहूदी जाति के प्रवर्तक थे। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने उनको कानान देश दिलाने की प्रतिज्ञा की थी। इनके साथ ईश्वर का जो व्याख्यान हुआ था उसकी स्मृति मे यहूदी खतना करते है। ईसा अब्राहम के सबसे महान् वंशज है। (२) अब्राहम को ईश्वर का दास और मित्र कहा गया है। ईश्वर के आदेश पर ये अपने एकमात्र पुत्र यिशहाक का बलिदान करने के लिये तैयार थे। अब्राहम के द्वारा समस्त जातियो को ईश्वर का आशीर्वाद मिलनेवाला था। वस्तुत अब्राहम उन समस्त लोगों के आध्यात्मिक पिता माने जाते है, जो ईश्वर पर आस्था रखते है।

सं० ग्र०--एच० एच० राउली रीसेंट डिस्कवरी ऐंड दि पैट्रिआर्कल एज, बुलेटिन आव दि जान रायलेनोल्स लाइब्रेरी, सितबर, १९४९, ई० दोर्मे अब्राहम दा लि कदर दि ला हिस्तोआर। (वि० ना० पा०)

अब्सलोम दाऊद का तीसरा पुत्र अब्सलोम अपने पिता का अत्यत दुलारा था। पुरानी पोथी की दूसरी पुस्तक मे उसका वर्णन आता है। उसके व्यक्तित्व मे अद्भुत आकर्षण था, किंतु वह बेहद अभिमानी और उच्छृंखल था। इसीलिये उसके जीवन का अंत दुख भरा हुआ। बाइबिल मे उसका पहला उल्लेख उस समय का मिलता है जब उसने अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र और अपने सौतेले भाई अमनान की इसलिये हत्या की कि उसने अब्सलोम की सगी बहन तमर के साथ बलात्कार किया था। हत्या के अपराध मे उसे निष्कासित भी कर दिया गया था, किंतु अंत में जोब के अनुरोध पर उसे दडमुक्त कर दिया गया। दाऊद की मृत्यु से पूर्व जब उत्तराधिकार का प्रश्न उठा तो अब्सलोम ने विद्रोह कर दिया। दाऊद को अपने थोडे से अनुयायियों और अंगरक्षकों के साथ जॉर्डन के पार भाग जाना पडा। जेरूसलम के नगर और राज्य के मुख्य भाग पर अब्सलोम का अधिकार हो गया। अब्सलोम ने दाऊद का पीछा किया, किंतु सग्राम मे वह बुरी तरह हार गया। स्वय जोब ने उसका वध किया। ऐसे निकम्मे और विश्वासघाती पुत्र की मृत्यु पर भी दाऊद का प्रेमातुर हृदय शोक से भर गया। (वि० ना० पा०)

अभयगिरि लका की प्राचीन राजधानी अनुराधापुर (द्र०) का प्रसिद्ध विहार। वहा के राजा वट्टगामिनी का एक नाम अभय था जिसने बुद्ध के अवशेषो पर निर्मित स्तूप के समीप इस विहार का निर्माण करवाया था। यह स्तूप ही गिरि के नाम से प्रसिद्ध था। (ना० ना० उ०)

अभयाकर गुप्त भारत और तिब्बत मे प्रसिद्ध तांत्रिक बौद्ध आचार्य थे जिनका समय डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार १०८४-११३० ई० है। ये तिब्बती भाषा मे निपुण थे और इन्होंने उसमे अनेक भारतीय ग्रंथों का अनुवाद भी किया। डा० भट्टाचार्य इन्हे बगाल मे उत्पन्न, मगध मे शिक्षित और विक्रमशिला विहार मे प्रसिद्ध मानते है। डा० पी० एन० बोस इन्हे रामपाल का समकालीन मानते है। तेंजुर में इनके १८ ग्रथो का पता चलता है जिसमे कालचक्र, चक्रसवर, अभिषेक, स्वाधिष्ठानक्रम, ज्ञानडाकिनी, महाकाल, बुद्धकपाल, पचक्रम, वज्रयान जैसे विविध तांत्रिक बौद्ध विषयों का विवेचन किया गया है। इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रथो की टीकाएँ भी लिखी थीं। तेंजुर मे इन्हे पडित, महापडित, आचार्य, सिद्ध, स्थविर आदि विशेषणों के साथ स्मरण किया गया है। इस ग्रथ मे इन्हे मगधनिवासी कहा गया है। (ना० ना० उ०)

अभाव किसी वस्तु का न होना। कुमारिल के अनुसार अभावज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता क्योंकि वहाँ विषयेंद्रियसबध नहीं है। अभाव के साथ लिंग की व्याप्ति नहीं होती, अत अनुमान भी नहीं हो सकता। अभावज्ञान के लिये मीमासा मे अनुपलब्धि नामक अलग प्रमाण माना गया है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष से भाव की तरह अभाव का भी ज्ञान होता है। अभावज्ञान के लिये इंद्रियसबध की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ वस्तु का अभाव होता है वहाँ वस्तु का अभाव उस स्थान का विशेषण बन जाता है। यह अभाव विशिष्ट आधार का ज्ञान प्रत्यक्ष जैसा हो, किंतु विशेष्य-विशेषण-भाव नामक एक अलग सनिकर्ष से, होता है। अत घर के अभाव का ज्ञान सर्वदा भूतलज्ञान के कारण होता है। बौद्ध दर्शन मे अभाव को दिक्कालसापेक्ष कहा गया है। वस्तुत भावात्मक वस्तु का अभाव के साथ कोई सबध नहीं है। इसलिये अभावज्ञान सभव नहीं है। जहाँ अभावज्ञान होता है वहाँ किसी न किसी प्रकार का भावात्मक ज्ञान ही होता है।

न्यायवैशेषिक दर्शन मे भावात्मक और अभावात्मक दो प्रकार के पदार्थ माने गए है। अभाव उतना ही सत्य है जितना वस्तु का सद्भाव। वैशेषिक दर्शन मे चार प्रकार के अभावो का उल्लेख है--(१) प्रागभाव--उत्पत्ति के पूर्व वस्तु का अभाव, (२) प्रध्वसाभाव-- विनाश के बाद वस्तु का अभाव, (३) अन्योन्याभाव---एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे अभाव, और (४) अत्यंताभाव---वह अभाव जो सर्वदा वर्तमान हो। (रा० पा०)

अभिकर्ता (व्यापार) वह व्यक्ति है जो किसी अन्य व्यक्ति की ओर से व्यापार सबधी कार्य करे। अधिकाशत तो उसका कार्य माल के क्रय, विक्रय अथवा वितरण मे अपने प्रधान की सहायता करना है और प्राय उसका पारिश्रमिक वर्तन (कमीशन) के रूप मे होता है। कार्यानुसार अभिकर्ता विभिन्न नामों से पुकारे जाते है। क्रेता और विक्रेता के बीच सौदा तय करानेवाला अभिकर्ता दलाल कहलाता है। अपने प्रधान की ओर से माल का क्रय अथवा विक्रय करनेवाले अभिकर्ता को कमीशन एजेंट कहते हैं क्योंकि माल के मूल्य पर कमीशन ही उसका पारिश्रमिक होता है। कभी कभी निर्माता अपने माल का विक्रय बढ़ाने के लिये विभिन्न

क्षेत्रों में अभिकर्ता नियुक्त कर देते हैं जो अपने प्रधान के माल के विक्रय की समुचित व्यवस्था करके उसे विक्रय संबंधी समस्याओं से मुक्त कर देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अभिकर्ताओं का कार्य नीलामी द्वारा माल का विक्रय करना है।

कुछ अभिकर्ता क्रय विक्रय तो नहीं करते परंतु उनकी क्रियाएँ व्यापार-वृद्धि में बहुत सहायक होती हैं और उन्हें पारिश्रमिक वर्तन के रूप में नहीं मिलता। विज्ञापन करनेवाले, आयात किए माल को बंदरगाह पर छुड़ानेवाले तथा विदेशों को माल का निर्यात करने में सहायता देनेवाले अभिकर्ता इस श्रेणी में आते हैं।

स्पष्ट है कि अभिकर्ता अपनी विभिन्न सेवाओं से व्यापारी की बहुत सहायता करता है। अपने अधिकारों की सीमा में जो भी कार्य अभिकर्ता अपने प्रधान की ओर से करता है वह प्रधान द्वारा ही किया हुआ समझा जाता है। (रा० गो० स०)

अभिकल्पना किसी पूर्वनिश्चित ध्येय की उपलब्धि के लिये तत्संबंधी विचारों एवं अन्य सभी सहायक वस्तुओं को क्रमबद्ध रूप में सुव्यवस्थित कर देना ही 'अभिकल्पना' (डिज़ाइन) है। वास्तुविद (आर्किटेक्ट) किसी भवन के निर्माण की योजना बनाते हुए रेखाओं का विभिन्न रूपों में अंकन किसी एक लक्ष्य की पूर्ति को सोचकर करता है। कलाकार भी रेखाओं के संयोजन में चित्र में एक विशेष प्रभाव या विचार उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार इमारती इंजीनियर किसी इमारत में सुनिश्चित टिकाऊपन और दृढ़ता लाने के लिये उसकी विविध मापों को नियत करता है। ये सभी बातें अभिकल्पना के अंतर्गत हैं।

वास्तुविद का कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवहार्य अभिकल्पना प्रस्तुत करे जो भवननिर्माण की लक्ष्यपूर्ति में सुविधाजनक एवं मितव्ययी हो। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इमारत का आकार उस क्षेत्र के पड़ोस के अनुकूल हो और अपने इर्द गिर्द खड़ी पुरानी इमारतों के साथ भी उसका ठीक मेल बैठ सके। मान लीजिए, इर्द गिर्द के सभी मकान मेहराबदार दरवाजेवाले हैं, तो उनके बीच एक सपाट डाट के दरों का, सादे ढंग के सामनेवाला मकान शोभा नहीं देगा। इसी तरह यदि आसपास के मकानों के बाहरी भाग नंगी ईंटों के हों, तो उनके बीच पलस्तर किया हुआ मकान अनुपयुक्त सिद्ध होगा। इसी तरह और भी कई बातें हैं जिनका विचार पार्श्ववर्ती वातावरण को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिए। दूसरी विशेष बात जो वास्तुविद के लिये विचारणीय है, वह है भवन के बाहरी आकार के विषय में एक स्थिर मत का निर्णय। वह ऐसा होना चाहिए कि एक राह चलता व्यक्ति भी भवन को देखकर बिना पूछे यह समझ ले कि वह भवन किसलिये बना है। जैसे, एक कालेज को अस्पताल सरीखा नहीं लगना चाहिए और न अस्पताल की ही आकृति कालेज सरीखी होनी चाहिए। बैंक का भवन देखने में पुष्ट और सुरक्षित लगना चाहिए और नाटकघर या सिनेमाघर का बाहरी दृश्य शोभनीय होना चाहिए। वास्तुविद को यह सुनिश्चित होना चाहिए कि उसने उस पूरे क्षेत्र का भरपूर उपयोग किया है जिसपर उसे भवन निर्मित करना है।

कलापूर्ण अभिकल्पनाओं के अंतर्गत मनोरंजन अथवा रंगमंच के लिये पर्दे रँगना, अलंकरण के लिये विभिन्न प्रकार के चित्रांकन, किसी विशेष विचार को अभिव्यक्त करने के लिये भित्तिचित्र बनाना आदि कार्य भी आते हैं। कलाकार की खूबी इसी में है कि वह अपनी अभिकल्पना को यथार्थ आकार दे। चित्र को कलाकार के विचारों की सजीव अभिव्यक्ति का प्रतीक होना चाहिए। चित्र की आवश्यकता के अनुसार कलाकार पेंसिल के रेखाचित्र, तैलचित्र, पानी के रंगों के चित्र आदि बनाए।

इमारतों के इंजीनियर को वास्तुविद की अभिकल्पना के अनुसार ही अपनी अभिकल्पना ऐसी बनानी होती है कि इमारत अपने पर पड़नेवाले सब भारों को सँभालने के लिये यथेष्ट पुष्ट हो। इस दृष्टि से वह निर्माण के लिये विशिष्ट उपकरणों का चुनाव करता है और ऐसे निर्माण पदार्थ लगाने का आदेश देता है जिससे इमारत सस्ती तथा टिकाऊ बन सके। इसके लिये इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्माण के लिये सुझाए गए विशिष्ट पदार्थ बाजार में उपलब्ध हैं या नहीं, अथवा सुझाई गई विशिष्ट कार्यशैली को कार्यान्वित करने के लिये अभीष्ट दक्षता का अभाव तो नहीं है। भार का अनुमान करने में स्वयं इमारत का भार, बनते समय या उसके उपयोग में आने पर उसका चल भार, चल भारों के आघात का प्रभाव, हवा की दाब, भूकंप के धक्कों का परिणाम, ताप, संकोच, नींव के बैठने आदि अनेक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है।

इनमें से कुछ भारों की गणना तो सूक्ष्मता से की जा सकती है, किंतु कई ऐसे भी हैं जिन्हें विगत अनुभवों के आधार पर केवल अनुमानित किया जा सकता है। जैसे भूकंप के बल को लें— इसका अनुमान बड़ा कठिन है और इस बात की कोई पूर्वकल्पना नहीं हो सकती कि भूकंप कितने बल का और कहाँ पर होगा। तथापि सौभाग्यवश अधिकतर चल और अचल भारों के प्रभाव की गणना बहुत कुछ ठीक ठीक की जा सकती है।

ताप एवं संकोचजनित दाबों का भी पर्याप्त सही अनुमान पूरे ऋतुचक्र के तापों में होनेवाले व्यतिक्रमों के अध्ययन तथा कंक्रीट के ज्ञात गुणों द्वारा किया जा सकता है। हवा एवं भूकंप के कारण पड़नेवाले बल अंततोगत्वा अनिश्चित ही होते हैं, परंतु उनकी मात्रा के अनुमान में थोड़ी त्रुटि रहने से प्रायः कोई हानि नहीं होती। निर्माणसामग्री साधारणतः इतनी पुष्ट लगाई जाती है कि दाब आदि बलों में ३३ प्रतिशत वृद्धि होने पर भी किसी प्रकार की हानि की आशंका न रहे। नींव के धँसने का अच्छा अनुमान नीचे की भूमि की उपयुक्त जाँच से हो जाता है। प्रत्येक अभिकल्पक को कुछ अज्ञात तथ्यों को भी ध्यान में रखना होता है, यथा कारीगरों की अक्षमता, किसी समय लोगों की अकल्पित भीड़ का भार, इस्तेमाल में लाए गए पदार्थों की छिपी संभाव्य कमजोरियाँ इत्यादि। इन तथ्यों को "सुरक्षागुणक" (फैक्टर ऑव सेफ्टी) के अंतर्गत रखा जाता है, जो इस्पात के लिये २ से २½ तक और कंक्रीट, शहतीर तथा अन्य उपकरणों के लिये ३ से ४ तक माना जाता है। सुरक्षागुणक को भवन पर अतिरिक्त भार लादने का बहाना नहीं बनाना चाहिए। यह केवल अज्ञात कारणों (फैक्टर्स) के लिये है और एक सीमा तक ह्रास के लिये भी, जो भविष्य में भवन को धक्के, जर्जरता एवं मौसम की अनिश्चितताएँ सहन करने के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है। (ज० कृ०)

अभिचार सामान्य अर्थ हनन। तंत्रों में प्रायः छह प्रकार के अभिचारों का वर्णन मिलता है—१ मारण, २ मोहन, ३ स्तंभन, ४ विद्वेषण, ५ उच्चाटन और ६ वशीकरण। मारण से प्राणनाश करने, मोहन से किसी के मन को मुग्ध करने, स्तंभन से मंत्रादि द्वारा विभिन्न घातक वस्तुओं या व्यक्तियों का निरोध, स्थितिकरण या नाश करने, विद्वेषण से दो अभिन्नहृदय व्यक्तियों में भेद या द्वेष उत्पन्न करने, उच्चाटन से किसी के मन को चंचल, उन्मत्त या अस्थिर करने तथा वशीकरण से राजा या किसी स्त्री अथवा अन्य व्यक्ति के मन को अपने वश में करने की क्रिया संपादित की जाती है। इन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को करने के लिये अनेक प्रकार के तांत्रिक कर्मों के विधान मिलते हैं जिनमें सामान्य दृष्टि से कुछ घृणित कार्य भी विहित माने गए हैं। इन क्रियाओं में मंत्र, यंत्र, बलि, प्राणप्रतिष्ठा, हवन, ओषधिप्रयोग आदि के विविध नियोजित स्वरूप मिलते हैं। उपर्युक्त अभिचार अथवा तांत्रिक षट्कर्म के प्रयोग के लिये विभिन्न तिथियों का विधान मिलता है जैसे—मारण के लिये शतभिषा में अर्धरात्रि, स्तंभन के लिये शीतकाल, विद्वेषण के लिये ग्रीष्मकालीन पूर्णिमा की दोपहर, उच्चाटन के लिये शनिवारयुक्त कृष्णा चतुर्दशी अथवा अष्टमी आदि का निर्देश है। (ना० ना० उ०)

अभिजाततंत्र अभिजाततंत्र (अरिस्टॉक्रैसी) वह शासनतंत्र है जिसमें राजनीतिक सत्ता अभिजन के हाथ में हो। इस संदर्भ में 'अभिजन' का अर्थ है कुलीन, विद्वान्, बुद्धिमान्, सद्गुणी, उत्कृष्ट। पश्चिम में 'अरिस्टॉक्रैसी' का अर्थ भी लगभग यही है। अफलातून और उसके शिष्य अरस्तू ने अपनी पुस्तकों में अरिस्टॉक्रैसी को बुद्धिमान्, सद्गुणी व्यक्तियों का शासनतंत्र माना है।

अभिजाततंत्र का उल्लेख प्रायः अनेक देशों के इतिहास में मिलता है। विद्वानों का मत है कि भारत में भी प्राचीन काल में कुछ अभिजाततंत्र थे। अफलातून की सुविख्यात पुस्तक 'रिपब्लिक' में वर्णित आदर्श नगरव्यवस्था
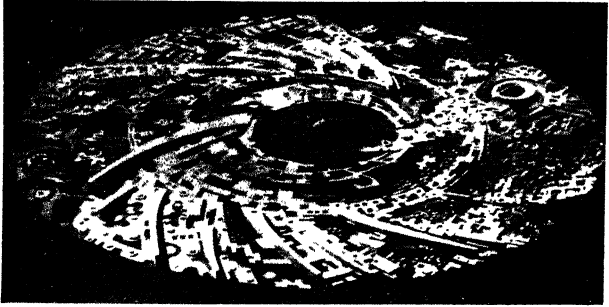
अभिज्ञान शाकुंतलम्-एक मुग्धकारी दृश्य
(द्र० पृष्ठ १७५)

आरोवील अर्थात् ऊषा नगरी (द्र० पृष्ठ ४२५)

आदिबुद्ध (द्र० पृष्ठ ३६६)

आइंस्टाइन (द्र० पृष्ठ ३३३)

सर्वज्ञ दार्शनिकों का अभिजाततंत्र है। इन दार्शनिकों के लिये अफलातून ने कौटुंबिक और संपत्ति संबंधी साम्यवाद की व्यवस्था की है।

राज्यदर्शन के इतिहास में धनिकतंत्र को भी कभी कभी अभिजाततंत्र माना गया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम, दोनों में शासनसत्ता एक व्यक्ति या समस्त वयस्क नागरिकों के हाथ में न होकर थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होती है। दूसरे कुछ का मत है कि धनसंचय चरित्रवान् ही कर सकते हैं और इस प्रकार वह सद्गुण की अभिव्यक्ति है। अनेक आधुनिक समाजशास्त्रियों का मत है कि राजतंत्र और जनतंत्र में भी वास्तव में सप्रभुता थोड़े से व्यक्तियों के ही हाथ में होती है। राजा को शासन-संचालन के लिये चतुर राजनीतिज्ञों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। जनतंत्र में भी प्राय सामान्य जनता को राजनीति में रुचि नहीं होती, वह अनुगामी होती है। शासन की बागडोर जनतंत्र में भी चतुर राजनीतिज्ञों के ही हाथ में होती है और वे धनी होते हैं। वास्तविक राजनीतिक प्रक्रिया में जो संपन्न है, वही चतुर है, वही राजनीतिज्ञ है, प्रशासन और राजनीतिक दलबंदी में उन्हीं का सिक्का चलता है।

किंतु अभिजन की नियुक्ति कैसे हो? यदि जननिर्वाचन द्वारा, तो वह एक प्रकार का जनतंत्र है। यदि अन्य किसी प्रकार से, तो अभिजन शासक संकीर्ण, स्वार्थी, दुर्विनीत और धनप्रिय हो जाते हैं और अपनी क्षमता को परिवर्तित परिस्थिति के अनुरूप नहीं रख पाते।

आज जनतंत्र और अभिजाततंत्र की प्रमुख समस्या यही है कि किसी प्रकार राज्य में धन के वृद्धिशील प्रभाव का निराकरण हो और जन-साधारण बुद्धिमान् सेवापरायण व्यक्तियों को अपना शासक निर्वाचित करें।

सं० ग्रं०—अरस्तू राजनीति (भोलानाथ शर्मा द्वारा अनुवाद); जायसवाल, के० पी० 'हिंदू पालिटी', अफलातून आदर्श नगरव्यवस्था (भोलानाथ शर्मा द्वारा अनुवाद), लुडोविसी, ए० एम० दि डिफेंस ऑव अरिस्टॉक्रैसी।　　　　(गो० ना० ध०)

अभिज्ञान शाकुंतलम् महाकवि कालिदास का एक विश्वविख्यात नाटक जिसका अनुवाद प्राय सभी विदेशी भाषाओं में हो चुका है। शकुंतला राजा दुष्यंत की स्त्री थी जो भारत के सुप्रसिद्ध राजा भरत की माता और मेनका अप्सरा की कन्या थी। महाभारत में लिखा है कि शकुंतला का जन्म विश्वामित्र के वीर्य से मेनका अप्सरा के गर्भ से हुआ था जो इसे वन में छोड़कर चली गई थी। वन में शकुंतों (पक्षियों) आदि ने हिंसक पशुओं से इसकी रक्षा की थी, इसी से इसका नाम शकुंतला पड़ा। वन में से इसे कण्व ऋषि उठा लाए थे और अपने आश्रम में रखकर कन्या के समान पालते थे। एक बार राजा दुष्यंत अपने साथ कुछ सैनिकों को लेकर शिकार खेलने निकले और घूमते फिरते कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचे। ऋषि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे, इससे युवती शकुंतला ने ही राजा दुष्यंत का आतिथ्यसत्कार किया। उसी अवसर पर दोनों में प्रेम और फिर गंधर्व विवाह हो गया। कुछ दिनों बाद राजा दुष्यंत वहाँ से अपने राज्य को चले गए। कण्व मुनि जब लौटकर आए, तब यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि शकुंतला का विवाह दुष्यंत से हो गया। शकुंतला उस समय गर्भवती हो चुकी थी। समय पाकर उसके गर्भ से बहुत ही बलवान् और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम भरत रखा गया। कहते हैं, इस देश का 'भारत' नाम इसी के कारण पड़ा। कुछ दिनों बाद शकुंतला अपने पुत्र को लेकर दुष्यंत के दरबार में पहुँची। परंतु शकुंतला को बीच में दुर्वासा ऋषि का शाप मिल चुका था। राजा ने इसे बिल्कुल नहीं पहचाना, और स्पष्ट कह दिया कि न तो मैं तुम्हें जानता हूँ और न तुम्हें अपने यहाँ आश्रय दे सकता हूँ। परंतु इसी अवसर पर एक आकाशवाणी हुई, जिससे राजा को विदित हुआ कि यह मेरी ही पत्नी है और यह पुत्र भी मेरा ही है। उन्हें कण्व मुनि के आश्रम की सब बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने शकुंतला को अपनी प्रधान रानी बनाकर अपने यहाँ रख लिया। महाकवि कालिदास के लिखे हुए प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में राजा दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम, विवाह, प्रत्याख्यान और ग्रहण आदि का वर्णन है। पौराणिक कथा में आकाशवाणी द्वारा बोध होता है पर नाटक में कवि ने मुद्रिका द्वारा इसका बोध कराया है। कालिदास का यह नाटक विश्वविख्यात है।　　　　(वि० त्रि०)

अभिधम्म साहित्य बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने उनके उपदिष्ट 'धर्म' और 'विनय' का संग्रह कर लिया। अट्ठकथा की एक परंपरा से पता चलता है कि 'धर्म' से दीघनिकाय आदि चार निकायग्रंथ समझे जाते थे, और धम्मपद सुत्तनिपात आदि छोटे छोटे ग्रंथों का एक अलग संग्रह बना दिया गया था, जिसे 'अभिधर्म' (=अतिरिक्त धर्म) कहते थे। जब धम्मसंगणि आदि जैसे विशिष्ट ग्रंथों का भी समावेश इसी संग्रह में हुआ, जो अतिरिक्त छोटे ग्रंथों से अत्यंत भिन्न प्रकार के थे, तब उनका अपना एक स्वतंत्र पिटक–अभिधर्मपिटक बना दिया गया और उन अतिरिक्त छोटे ग्रंथों के संग्रह का 'खुद्दक निकाय' के नाम से पाँचवाँ निकाय बना।

'अभिधम्मपिटक' में सात ग्रंथ हैं—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। विद्वानों में इनकी रचना के काल के विषय में मतभेद है। प्रारंभिक समय में स्वयं भिक्षुसंघ में इसपर विवाद चलता था कि क्या अभिधम्मपिटक बुद्धवचन है।

पाँचवें ग्रंथ कथावत्थु की रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की, जिसमें उन्होंने संघ के अंतर्गत उत्पन्न हो गई मिथ्या धारणाओं का निराकरण किया। बाद के आचार्यों ने इसे 'अभिधम्मपिटक' में संगृहीत कर इसे बुद्धवचन का गौरव प्रदान किया।

शेष छह ग्रंथों में प्रतिपादित विषय समान है। पहले ग्रंथ धम्मसंगणि में अभिधर्म के सारे मूलभूत सिद्धांतों का संकलन कर दिया गया है। अन्य ग्रंथों में विभिन्न शैलियों से उन्हीं का स्पष्टीकरण किया गया है।

सिद्धांत—तेल, बत्ती से प्रदीप्त दीपशिखा की भाँति तृष्णा, अहंकार के ऊपर प्राणी का चित्त (=मन=विज्ञान=कॉशसनेस) धाराशील प्रवाहित हो रहा है। इसी में उसका व्यक्तित्व निहित है। इसके परे कोई 'एक तत्व' नहीं है।

सारी अनुभूतियाँ उत्पन्न हो संस्काररूप से चित्त के निचले स्तर में काम करने लगती हैं। इस स्तर की धारा को 'भवंग' कहते हैं, जो किसी योनि के एक प्राणी के व्यक्तित्व का रूप होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'सबकांशस' की कल्पना से 'भवंग' का साम्य है। लोभ-द्वेष-मोह की प्रबलता से 'भवंग' की धारा पाशविक और त्याग-प्रेम-ज्ञान के प्राबल्य से वह मानवी (और दैवी भी) हो जाती है। इन्हीं की विभिन्नता के आधार पर संसार के प्राणियों की विभिन्न योनियाँ हैं। एक ही योनि के अनेक व्यक्तियों के स्वभाव में जो विभिन्नता देखी जाती है उसका भी कारण इन्हीं के प्राबल्य की विभिन्नता है।

जब तक तृष्णा, अहंकार बना है, चित्त की धारा जन्म जन्मांतरों में अविच्छिन्न प्रवाहित होती रहती है। जब योगी समाधि में वस्तुसत्ता के अनित्य-अनात्म-दुःखस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी तृष्णा का अंत हो जाता है। वह अर्हत् हो जाता है। शरीरपात के उपरांत बुझ गई दीपशिखा की भाँति वह निवृत्त हो जाता है।　　　　(भि० ज० का०)

अभिधर्मकोश आचार्य असंग के छोटे भाई आचार्य वसुबंधु ने अपने जीवन के प्रथम भाग में सर्वास्तिवाद सिद्धांत के अनुसार कारिकाबद्ध अभिधर्मकोश ग्रंथ की रचना की। यह इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ कि कवि बाण ने लिखा है कि तोते मैने भी अभिधर्मकोश के श्लोकों का उच्चारण करते थे। अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने यथास्थान अन्य दर्शनों की समीक्षा भी की है। ग्रंथ पर आचार्य ने स्वयं एक विस्तृत भाष्य की भी रचना की, जिसपर कई टीकाएँ लिखी गईं। प्रसिद्ध यात्री विद्वान् ह्युएन्सांग ने चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया था जो आज भी प्राप्त है।　　　　(भि० ज० का०)

अभिनय जब प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रूपक में निर्दिष्ट संवाद और क्रिया के अनुसार नाट्यप्रयोक्ता द्वारा सिखाए जाने पर या स्वयं नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुखमुद्रा तथा वेशभूषा के द्वारा दर्शकों को शब्दों के भावों का परिज्ञान और रस की अनुभूति कराते हैं तब उस संपूर्ण समन्वित व्यापार को

अभिनय कहते हैं। भरत ने अपने नाटयशास्त्र में अभिनय शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है "अभिनय शब्द 'णीञ्' धातु मे 'अभि' उपसर्ग लगाकर बना है जिसका अर्थ है पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचाना अर्थात् दर्शकों के हृदय मे अनेक अर्थ या भाव भरना।" साधारण अर्थ मे किसी व्यक्ति या अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। भरत ने चार प्रकार का अभिनय माना है---आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक अभिनय का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्टाओ मे कोई भाव या अर्थ प्रकट करना। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और चरण द्वारा किया जानेवाला अभिनय शारीर अभिनय या आगिक अभिनय कहलाता है और आंख, भौंह, नाक, अधर, कपोल और ठोडी से किया हुआ मुखज अभिनय, उपांग अभिनय कहलाता है। चेष्टाकृत अभिनय उसे कहते है जिसमे पूरे शरीर की विशेष चेष्टा के द्वारा अभिनय किया जाता है जैसे लँगडे, कुबडे, या बूढे की चेष्टाएँ दिखाकर अभिनय करना। ये सभी प्रकार के अभिनय विशेष रस, भाव तथा सचारी भाव के अनुसार किए जाते है।

शरीर अथवा आगिक अभिनय मे सिर के तेरह, दृष्टि के छत्तीस, आँख के तारो के नौ, पुट के नौ, भौहो के सात, नाक के छह, कपोल के छह, अधर के छह और ठोढी के आठ अभिनय होते है। व्यापक रूप से मुखज चेष्टाओ में अभिनय छह प्रकार के होते है। भरत ने कहा है कि मुखराग से युक्त शारीरिक अभिनय थोडा भी हो तो उसमे अभिनय की शोभा दूनी हो जाती है। यह मुखराग चार प्रकार का होता है---स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। ग्रीवा का अभिनय भी विभिन्न भावों के अनुसार नौ प्रकार का होता है।

आंगिक अभिनय मे तेरह प्रकार का सयुक्त हस्त अभिनय, चौबीस प्रकार का असयुक्त हस्त अभिनय, चौसठ प्रकार का नृत्त हस्त का अभिनय और चार प्रकार का हाथ के करण का अभिनय बताया गया है। इसके अतिरिक्त वक्ष के पाँच, पार्श्व के पाँच, उदर के तीन, कटि के पाँच, उरु के पाँच, जघा के पाँच और पैर के पाँच प्रकार के अभिनय बताए गए है। भरत ने सोलह भूमिचारियो और सोलह आकाशचारियो का वर्णन करके दस आकाशमडल और दस भौम मडल के अभिनय का परिचय देते हुए गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है कि किस भूमिका के व्यक्ति को मच पर किस रस मे, कैसी गति होनी चाहिए, किस जाति, आश्रम, वर्ण और व्यवसायवाले को रगमच पर कैसे चलना चाहिए तथा रथ, विमान, आरोहण, अवरोहण, आकाशगमन आदि का अभिनय किस गति से करना चाहिए। गति के ही समान आसन या बैठने की विधि भी भरत ने विस्तार से समझाई है। जिस प्रकार यूरोप मे घनवादियो (क्यूबिस्टस) ने अभिनयकौशल के लिये व्यायाम का विधान किया है वैसे ही भरत ने भी अभिनय के लिये व्यायाम, नस्य और आहार के नियम बताए है। इस प्रकार भरत ने अपने नाटयशास्त्र मे अत्यत सूक्ष्मता के साथ आगिक अभिनय का ऐसा विस्तृत विवरण दिया है कि अभिनय के सबध मे ससार के किसी देश मे अभिनय कला का वैसा सागोपाग निरूपण नही हुआ।

सात्विक अभिनय तो उन भावो का वास्तविक और हार्दिक अभिनय है जिन्हे रस सिद्धान्तवाले सात्विक भाव कहते है और जिसके अतर्गत, स्वेद, स्तभ, कप, अश्रु, वैवर्ण्य, रोमाच, स्वरभग और प्रलय की गणना होती है। इनमे से स्वेद और रोमाच को छोडकर शेष सबका सात्विक अभिनय किया जा सकता है। अश्रु के लिये तो विशेष साधना आवश्यक है, क्योकि भावमग्न होने पर ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

अभिनेता रगमच पर जो कुछ मुख से कहता है वह सबका सब वाचिक अभिनय कहलाता है। साहित्य मे तो हम लोग व्याकृता वाणी ही ग्रहण करते है, किंतु नाटक मे अव्याकृता वाणी का भी प्रयोग किया जा सकता है। चिडियो की बोली, सीटी देना या ढोरो को हाँकते हुए चटकारी देना आदि सब प्रकार की ध्वनियो को मुख मे निकालना वाचिक अभिनय के अतर्गत आता है। भरत ने वाचिक अभिनय के लिये ६३ लक्षणो का और उनके दोष गुण का भी विवेचन किया है। वाचिक अभिनय का सबसे बडा गुण है अपनी वाणी के आरोह अवरोह को इस प्रकार साध लेना कि कहा हुआ शब्द या वाक्य अपने भाव और प्रभाव को बनाए रखे। वाचिक अभिनय की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यदि कोई जवनिका के पीछे से भी बोलता हो तो केवल उसकी वाणी सुनकर ही उसकी मुखमुद्रा, भावभंगिमा और आकाक्षा का ज्ञान किया जा सके।

आहार्य अभिनय वास्तव मे अभिनय का अग न होकर नेपथ्यकर्म का अग है और उसका सबध अभिनेता से उतना नही है जितना नेपथ्यसज्जा करनेवाले से। किंतु आज के सभी प्रमुख अभिनेता और नाटयप्रयोक्ता यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक अभिनेता को अपनी मुखसज्जा और रूपसज्जा स्वय करनी चाहिए।

भरत के नाटयशास्त्र मे सबसे विचित्र प्रकरण है चित्राभिनय का, जिसमे उन्होने ऋतुओ, भावो, अनेक प्रकार के जीवो, देवताओ, पर्वत, नदी, सागर आदि का, अनेक अवस्थाओ तथा प्रात, साय, चद्रज्योत्स्ना आदि के अभिनय का विवरण दिया है। यह समूचा अभिनयविधान प्रतीकात्मक ही है, किंतु ये प्रतीक उस प्रकार के नहीं हैं जिस प्रकार के यूरोपीय प्रतीकाभिनयवादियो ने ग्रहण किए है।

अभिनय करने की प्रवृत्ति बचपन से ही मनुष्य मे तथा अन्य अनेक जीवो मे होती है। हाथ, पैर, आँख, मुँह, सिर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियो मे समान रूप से पाई जाती है। उनके अनुकरण कृत्यो का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इससे उन्हे वास्तविक अनुभव जैसा आनद मिलता है और दूसरा यह कि इससे उन्हे दूसरो का अपना भाव बताने मे सहायता मिलती है। इसी दूसरे उद्देश्य के कारण शारीरिक या आगिक चेष्टाओ और मुखमुद्राओ का विकास हुआ जो जगली जातियो मे बोली हुई भाषा के बदले या उसकी सहायक होकर आज भी प्रयोग मे आती है।

यूनान मे देवताओ की पूजा के साथ जो नृत्य प्रारभ हुआ वही वहाँ की अभिनयकला का प्रथम रूप था जिसमे नृत्य के द्वारा कथा के भाव की अभिव्यक्ति की जाती थी। यूनान मे प्रारभ मे धार्मिक वेदी के चारो ओर जो नाटकीय नृत्य होते थे उनमे सभी लोग समान रूप से भाग लेते थे, किंतु पीछे चलकर समवेत गायको मे से कुछ चुने हुए समर्थ अभिनेता ही मुख्य भूमिकाओ के लिए चुन लिए जाते थे जो एक को ही नहीं, कई कई भूमिकाओ का अभिनय करते थे क्योकि मुखौटा पहनने की रीति के कारण यह सभव हो गया था। इस मुखौटे के प्रयोग के कारण वहाँ वाचिक अभिनय तो बहुत समुन्नत हुआ किंतु मुखमुद्राओ मे अभिनय करने की रीति पल्लवित न हो सकी।

इटलीवासियो मे अभिनय की रुचि बडी स्वाभाविक है। नाटक लिखे जाने से बहुत पहले से ही वहाँ यह साधारण प्रवृत्ति रही है कि किसी दल को जहा कोई विषय दिया गया कि वह झट उसका अभिनय प्रस्तुत कर देता था। सगीत, नृत्य और दृश्य के इस प्रेम ने ही वहा के राजनीतिक और धार्मिक सघर्ष मे भी अभिनयकला को जीवित रखने मे बडी सहायता दी है।

यूरोप मे अभिनय कला को सबसे अधिक महत्व दिया शेक्सपियर ने। उसने स्वय मानव स्वभाव के सभी प्रतिनिधि चरित्रो का चित्रण किया है। उसने हैमलेट के सवाद मे श्रेष्ठ अभिनय के मूल तत्वो का समावेश करते हुए बताया है कि अभिनय मे वाणी और शरीर के अगो का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करना चाहिए, अतिरंजित रूप से नही।

१८वी शताब्दी मे ही यूरोप मे अभिनय के सबध मे विभिन्न सिद्धातो और प्रणालियो का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रासीसी विश्वकोशकार देनी दिदरो ने उदात्तवादी (क्लासिकल) फ्रासीसी नाटक और उसकी रूढ अभिनयपद्धति से ऊबकर वास्तविक जीवन के नाटक का सिद्धात प्रतिपादित किया और बताया कि नाटक को फ्रास के बुर्जुवा (मध्यवर्गीय) जीवन की वास्तविकतर प्रतिच्छाया बनना चाहिए। उसने अभिनेता को यह सुझाया है कि प्रयोग के समय अपने पर ध्यान देना चाहिए, अपनी वाणी सुननी चाहिए और अपने आवेगों की स्मृतियाँ ही प्रस्तुत करनी चाहिए। किंतु 'मास्को स्टेज ऐंड इपीरियल थिएटर' के भूतपूर्व प्रयोक्ता और कलासचालक थियोदोर कौमिसारजेवस्की ने इस सिद्धात का खडन करते हुए लिखा था : 'अब यह सिद्ध हो चुका है कि यदि अभिनेता अपने अभिनय पर सावधानी से ध्यान रखता रहे तो वह न दर्शको को प्रभावित कर सकता है और न रगमच पर किसी भी प्रकार की रचनात्मक सृष्टि कर सकता है, क्योंकि उसे अपने
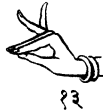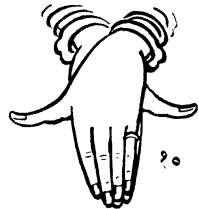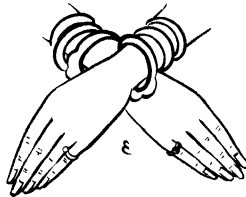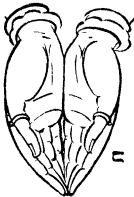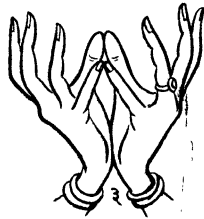
हाथ की अँगुलियों द्वारा भावप्रकाश

(१) संपुट कमल, (२) अर्धविकसित कमल, (३) फुल्ल कमल, (४-५) मयूर, (६) पताक, (७) त्रिपताक, (८) अंजलि मुद्रा, (९) स्वस्तिक मुद्रा, (१०) मत्स्य मुद्रा, (११-१२) मृग मुद्रा, (१३) हसास्य, (१४) शंख मुद्रा, (१५) गरुड़ मुद्रा (द्र० 'अभिनय', पृष्ठ १७५)।

असुरनज़ीरपाल (८८४-८५९ ई० पू०),
(द्र०, असुरनज़ीरपाल, पृष्ठ ३०६)।

असुर राजा, बलिकर्म-परिधान मे,
(द्र०, असुर, पृष्ठ ३०५)।

आंतरिक स्वात्म पर जो प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं उनपर एकाग्र होने के बदले वह अपने बाह्य स्वात्म पर एकाग्र हो जाता है जिससे वह इतना अधिक आत्मचेतन हो जाता है कि उसकी अपनी कल्पना शक्ति नष्ट हो जाती है। अत, श्रेष्ठतर उपाय यह है कि वह कल्पना के आश्रय पर अभिनय करे, नवनिर्माण करे, नयापन लाए और केवल अपने जीवन के अनुभवो का अनुकरण या प्रतिरूपण न करे। जब कोई अभिनेता किसी भूमिका का अभिनय करते हुए अपनी स्वय की उत्पादित कल्पना के विश्व में विचरण करने लगता है उस समय उसे न तो अपने ऊपर ध्यान देना चाहिए, न नियत्रण रखना चाहिए और न तो वह ऐसा कर ही सकता है, क्योकि अभिनेता की अपनी भावना से उद्भूत और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करनेवाली कल्पना अभिनय के समय उसके आवेग और अभिनय को नियत्रित करती, पथ दिखलाती और सचालन करती है।

२०वी शताब्दी में अनेक नाटचविद्यालयो, नाटचसस्थाओ और रगशालाओ ने अभिनय के सबध मे अनेक नए और स्पष्ट सिद्धात प्रतिपादित किए। मार्क्स रीनहार्ट ने जर्मनी मे और फिर्मी गेमिए ने पेरिस मे उस प्रकृतिवादी नाटचपद्धति का प्रचलन किया जिसका प्रतिपादन फ्रास मे आदे आत्वाँ ने और जर्मनी मे ओनेग ने किया था और जिसका विकास बर्लिन मे ओटो ब्राह्म ने और मास्को मे स्तानिस्लवस्की ने किया। इन प्रयोक्ताओ ने बीच बीच मे प्रकृतिवादी अभिनय मे या तो रीतिवादी (फोर्मलिस्ट्स) लोगो के विचारो का सनिवेश किया या सन् १९१० के पश्चात् कोमिसारजेवस्की ने अभिनय के सश्लेषणात्मक सिद्धातो का जो प्रवर्तन किया था उनका भी थोडा बहुत समावेश किया, किंतु अधिकाश फ्रासीसी अभिनेता १८वी शताब्दी की प्राचीन स्वैरवादी (रोमाटिक) पद्धति या अर्धोदात्त (सूडो-क्लासिकल) अभिनयपद्धति का ही प्रयोग करते रहे।

सन् १९१० के पश्चात् जितने अभिनयसिद्धात प्रसिद्ध हुए उनमे सर्वप्रसिद्ध मास्को आर्ट थिएटर के प्रयोक्ता स्तानिसलवस्की की प्रणाली है जिसका सिद्धात यह है कि कोई भी अभिनेता रगमच पर तभी स्वाभाविक और सच्चा हो सकता है जब वह उन आवेगो का प्रदर्शन करे जिनका उसने अपने जीवन मे कभी अनुभव किया हो। अभिनय मे यह आतरिक प्रकृतिवाद स्तानिसलवस्की की कोई नई सूझ नही थी क्योकि कुछ फ्रासीसी नाटयज्ञो ने १८वी शताब्दी मे इन्ही विचारो के आधार पर अपनी अभिनयपद्धतियाँ पर्वतित की थी। स्तानिसलवस्की के अनुसार वे ही अभिनेता प्रेम के दृश्य का प्रदर्शन भली भाँति कर सकते है जो वास्तविक जीवन में भी प्रेम कर रहे हो।

स्तानिसलवस्की के सिद्धात के विरुद्ध प्रतीकवादियो (सिबोलिस्ट्स), रीतिवादियो (फार्मलिस्ट्स) और अभिव्यजनावादियो (एक्स्प्रेशनिस्ट्स) ने नई रीति चलाई जिसमे सत्यता और जीवनतुल्यता का पूर्ण बहिष्कार करके कहा गया कि अभिनय जितना ही कम, वास्तविक और कम जीवनतुल्य होगा उतना ही अच्छा होगा। अभिनेता को निश्चित चरित्रनिर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे गूढ विचारो को रूढ रीति से अपनी वाणी, अपनी चेष्टा और मुद्राओ द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए और वह अभिनय रूढ, जीवन-साम्य-हीन, चित्रमय और कठपुतली-नृत्य-शैली मे प्रस्तुत करना चाहिए।

रूढिवादी लोग आगे चलकर मेयरहोल्द, तायरोफ और अरविन पिस्काटर के नेतृत्व मे अभिनय मे इतनी उछल कूद, नटविद्या और लयगति का प्रयोग करने लगे कि रगमच पर उनका अभिनय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कोई सरकस हो रहा हो जिसमे उछल कूद, शरीर का कलात्मक सतुलन और इसी प्रकार की गतियो की प्रधानता हो। यह अभिनय ही घनवादी (क्यूबिस्टिक) अभिनय कहलाने लगा। इन लयवादियो मे से मेयरहोल्द तो आगे चलकर कुछ प्रकृतिवादी हो गया किंतु लियोपोल्ड जेस्नर, निकोलस ऐवरेनोव आदि अभिव्यजनावादी, या यो कहिए कि अतिरजित अभिनयवादी लोग कुछ तो रूढिवादियो की प्रणालियो का अनुसरण करते रहे और कुछ मनोवैज्ञानिक प्रकृतिवादी पद्धति का।

इस प्रकार अभिनय की दृष्टि से यूरोप मे पाँच प्रकार की अभिनय पद्धतियाँ चली, (१) रूढिवादी या स्थिर रीतिवादी (फ्रार्मलिस्ट), (२) प्रकृतिवादी (नैचुरलिस्ट), (३) अभिव्यंजनावादी (एक्स्प्रेशनिस्ट) जो अतिरजित अभिनय करते थे, (४) घनवादी (क्यूबिस्ट) जो संतुलित व्यायामपूर्ण गतियो द्वारा यत्रात्मक अभिनय करते थे और (५) प्रतीकवादी (सिंबोलिस्ट्स), जिन्होने अपने अभिनय मे प्रत्येक भाव के अनुसार कुछ निश्चित मुखमुद्राएँ और आगिक गतियाँ प्रतीक के रूप मे मान ली थी और उन सब भावो की अवस्थाओ मे वे लोग उन्ही प्रतीको का अभिनय करते थे। किंतु ये प्रतीक भारतीय मुद्राप्रतीको से पूर्णत भिन्न थे। यह प्रतीकवाद यूरोप मे सफल नही हो सका।

२०वी शताब्दी के चौथे दशक से, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के आसपास, यूरोप की अभिनयप्रणाली मे परिवर्तन हुआ और प्राय सभी यूरोपीय तथा अमरीकी रगशालाओ मे प्रत्येक अभिनेता से यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अभिनय मे कोई नवीनता और मौलिकता दिखाकर अत्यत अप्रत्याशित ढग का अभिनय करके लोगो को सतुष्ट करे। आजकल अभिनेता के लिये यह आवश्यक माना जाने लगा है कि वह अपनी कल्पना का प्रयोग करके नाटक के भाव की प्रत्येक परिस्थिति मे अपने अभिनय का ऐसा सश्लिष्ट सयोजन करे कि उससे नाटक मे कुछ विशेष चेतना और सजीवता उत्पन्न हो। उसका धर्म है कि वह रगशाला के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर अपनी प्रतिभा के बल से नाटककार की भावना का उचित और स्पष्ट सरक्षण करता हुआ नाटक का प्रवाह और प्रभाव बनाए रखे।

आजकल के प्रसिद्ध अभिनेताओ का कथन है कि अभिनेता को किसी विशेष पद्धति का अनुसरण नही करना चाहिए और न किसी अभिनेता का अनुसरण करना चाहिए। वास्तव मे अभिनय का कोई एक सिद्धात नही है, जो दो नाटको के लिये या दो अभिनेताओ के लिये किसी एक परिस्थिति मे समान कहा जा सके। आजकल के अभिनेता सचालक (ऐक्टर-मैनेजर) इसी मत के है कि अच्छे अभिनेता को ससार के सब नाटको की सब भूमिकाओ के लिये सिद्ध होना चाहिए और यदि यह न हो तो अपनी प्रकृति के अनुसार भूमिकाओ के लिये कोई निश्चित प्रणाली ढूँढ निकालनी चाहिए और तदनुसार अपने को स्वय शिक्षित करते चलना चाहिए। आजकल के अधिकाश नाटयाचार्यों का मत है कि नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिये अभिनेता को न तो बहुत अधिक प्रकृतिवादी होना चाहिए और न अधिक अभिव्यजनावादी या लयवादी। अतिरजित अभिनय तो कभी करना ही नही चाहिए।

आजकल की अभिनयप्रणाली मे एक चरित्राभिनय (कैरेक्टर ऐक्टिंग) की रीति चली है जिसमे एक अभिनेता किसी विशेष प्रकार के चरित्र मे विशेषता प्राप्त करके सदा सब नाटको मे उसी प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। चलचित्रो के कारण इस प्रकार के चरित्र अभिनेता बहुत बढते जा रहे है।

भूमिका मे स्वीकृत पद, अवस्था, प्रकृति, रस और भाव के अनुसार छह प्रकार की गतियो मे अभिनय होता है—अत्यत करुण मे स्तब्ध गति, शात मे मद गति, शृगार, हास और बीभत्स मे साधारण गति, वीर मे द्रुत गति, रौद्र मे वेगपूर्ण गति और भय मे अतिवेगपूर्ण गति। इन सबका विधान विभिन्न भावो, व्यक्तियो, अवस्थाओ और परिस्थितियो पर अवलंबित होता है। अभिनय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि अभिनेता को मौलिक होना चाहिए और किसी पद्धति का अनुसरण न करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी रचना के द्वारा नाटककार जो प्रभाव अपने दर्शको पर डालना चाहता है उसका उचित विभाजन हो सके।

स०ग्र०—भरत नाटचशास्त्र, के० ऐंब्रोस क्लैसिकल डान्सेज ऐंड कॉस्टयूम्स ऑव इडिया (१९५२), नदिकेश्वर अभिनयदर्पण (१९३४), सीताराम चतुर्वेदी अभिनव नाटचशास्त्र (१९५०), शारदातनय भावप्रकाशन (१९३०), लार्डिस निकल वर्ल्ड ड्रामा (१९५१), सिडनी डब्ल्यू० कैरोल ऐक्टिंग आन दि स्टेज (१९४७); एन० डिडसे दि थिएटर (१९४८), एन० चेरकासोव : नोट्स ऑव ए सोवियत ऐक्टर (१९५६), सारा बर्नहार्ट दि आर्ट [illegible] (१९३०)। (सी० च०)

अभिनवगुप्त तंत्र तथा साहित्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य । जन्म कश्मीर में दशम शताब्दी के मध्य भाग में हुआ था (लगभग ९५० ई०—९६० ई० के बीच) । इनका कुल अपनी विद्या, विद्वत्ता तथा तांत्रिक साधना के लिये कश्मीर में नितांत प्रख्यात था । इनके पितामह का नाम था वराहगुप्त तथा पिता का नरसिंहगुप्त जो लोगों में 'चुखुल' या 'चुखुलक' के घरेलू नाम से भी प्रसिद्ध थे । अभिनव में ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा विद्यमान थी कि इसकी तृप्ति के लिये इन्होंने कश्मीर के बाहर जालंधर की यात्रा की और वहाँ अर्धत्र्यंबक मत के प्रधान आचार्य शंभुनाथ से कौलिक मत के सिद्धांतों और उपासनातत्वों का प्रगाढ़ अनुशीलन किया । इन्होंने अपने गुरुओं के नाम ही नहीं दिए हैं, प्रत्युत उनसे अधीत शास्त्रों का भी निर्देश किया है । इन्होंने व्याकरण का अध्ययन अपने पिता नरसिंहगुप्त से, ब्रह्मविद्या का भूतिराज से, क्रम और त्रिक् दर्शनों का लक्ष्मणगुप्त से, ध्वनि का भट्टेंदुराज से तथा नाटयशास्त्र का अध्ययन भट्ट तोत (या तौत) से किया । इनके गुरुओं की सख्या बीस तक पहुँचती है ।

अभिनवगुप्त के आविर्भावकाल का पता उन्हीं के ग्रंथों के समयनिर्देश से भली भाँति लगता है । इनके आरंभिक ग्रंथों में क्रमस्तोत्र की रचना ६६ लौकिक संवत् (= ९९१ ई०) में और भैरवस्तोत्र की ६८ स० (= ९९३ ई०) में हुई । इनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी' का रचनाकाल ९० लौकिक स० (= १०१५ ई०) है । फलत: इनकी साहित्यिक रचनाओं का काल ९९० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है । इस प्रकार इनका समय दशम शती का उत्तरार्ध तथा एकादश शती का आरंभिक काल स्वीकार किया जा सकता है ।

ग्रंथरचना—अभिनवगुप्त तंत्रशास्त्र, साहित्य और दर्शन के प्रौढ आचार्य थे और इन तीनों विषयों पर इन्होंने ५० से ऊपर मौलिक ग्रंथों, टीकाओं तथा स्तोत्रों का निर्माण किया है । अभिरुचि के आधार पर इनका सुदीर्घ जीवन तीन कालविभागों में विभक्त किया जा सकता है .

(क) **तांत्रिक काल**—जीवन के आरंभ में अभिनवगुप्त ने तंत्रशास्त्रों का गाढ़ अनुशीलन किया तथा उपलब्ध प्राचीन तंत्रग्रंथों पर इन्होंने अद्वैतपरक व्याख्याएँ लिखकर लोगों में व्याप्त भ्रांत सिद्धांतों का सफल निराकरण किया । क्रम, त्रिक तथा कुल तंत्रों का अभिनव ने क्रमश: अध्ययन कर तद्विषयक ग्रंथों का निर्माण इसी क्रम से संपन्न किया । इस युग की प्रधान रचनाएँ ये हैं—**बोधपंचदशिका, मालिनीविजय वार्तिक, परात्रिंशिकाविवरण, तंत्रालोक, तंत्रसार, तंत्रोच्चय, तंत्रवटधानिका** । **तंत्रालोक** त्रिक तथा कुल तंत्रों का विशाल विश्वकोश ही है जिसमें तंत्रशास्त्र के सिद्धांतों, प्रक्रियाओं तथा तत्संबद्ध नाना मतों का पूर्ण, प्रामाणिक तथा प्रांजल विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यह ३७ परिच्छेदों में विभक्त विराट् ग्रंथराज है जिसमें बंध का कारण, मोक्षविषयक नाना मत, प्रपंच का अभिव्यक्तिप्रकार तथा सत्ता, परमार्थ के साधक उपाय, मोक्ष के स्वरूप, शैवाचार की विविध प्रक्रिया आदि विषयों का सुंदर प्रामाणिक विवरण देकर अभिनव ने तंत्र के गंभीर तत्वों को वस्तुत: आलोकित कर दिया है । अंतिम तीनों ग्रंथ इसी के क्रमश: संक्षिप्त रूप हैं जिनमें संक्षेप पूर्वापेक्षया ह्रस्व होता गया है ।

(ख) **आलंकारिक काल**—अलंकारग्रंथों का अनुशीलन तथा प्रणयन इस काल की विशिष्टता है । इस युग से संबद्ध तीन प्रौढ रचनाओं का परिचय प्राप्त है—**काव्य-कौतुक-विवरण, ध्वन्यालोकलोचन** तथा **अभिनवभारती** । **काव्यकौतुक** अभिनव के नाटयशास्त्र के गुरु भट्ट तौत की अनुपलब्ध प्रख्यात कृति है जिसपर इनका 'विवरण' अन्यत्र संकेतित ही है, उपलब्ध नहीं । **लोचन** आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' का प्रौढ व्याख्यानग्रंथ है तथा **अभिनवभारती** भरत-नाटय-शास्त्र के पूर्ण ग्रंथ की पांडित्यपूर्ण प्रमेयबहुल व्याख्या है ।

(ग) **दार्शनिक काल**—अभिनवगुप्त के जीवन में यह काल उनके पांडित्य की प्रौढ़ि और उत्कर्ष का युग है । परमत का तर्कपद्धति से खंडन और स्वमत का प्रौढ प्रतिपादन इस काल की विशिष्टता है । इस काल की प्रौढ़ रचनाओं में ये नितांत प्रसिद्ध हैं—**भगवद्गीतार्थसंग्रह, परमार्थसार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी** तथा **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिणी** । अंतिम दोनों ग्रंथ अभिनवगुप्त के प्रौढ पांडित्य के निकषग्रावा हैं । ये उत्पलाचार्य द्वारा रचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के व्याख्यान हैं । पहले में तो केवल कारिकाओं की व्याख्या है और दूसरे में उत्पल की ही स्वोपज्ञ वृत्ति (आजकल अनुपलब्ध) 'विवृति' की प्रांजल टीका है । प्राचीन गणनानुसार चार सहस्र श्लोकों से संपन्न होने के कारण पहली टीका 'चतु:सहस्री' (लघ्वी) तथा दूसरी 'अष्टादशसहस्री' (अथवा बृहती) के नाम से भी प्रसिद्ध है जिनमें अंतिम टीका अब तक अप्रकाशित ही है ।

वैशिष्टय—अभिनवगुप्त का व्यक्तित्व बड़ा ही रहस्यमय है । महाभाष्य के रचयिता पतंजलि को व्याकरण के इतिहास में तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र को अद्वैत वेदांत के इतिहास में जो गौरव तथा आदरणीय उत्कर्ष प्राप्त है वही गौरव अभिनव को भी तंत्र तथा अलंकारशास्त्र के इतिहास में प्राप्त है । इन्होंने रस सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक व्याख्या (अभिव्यंजनावाद) कर अलंकारशास्त्र को दर्शन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया तथा प्रत्यभिज्ञा और त्रिक दर्शनों को प्रौढ भाष्य प्रदान कर इन्हें तर्क की कसौटी पर व्यवस्थित किया । ये कोरे शुष्क तार्किक ही नहीं थे, प्रत्युत साधनाजगत् के गुह्य रहस्यों के मर्मज्ञ साधक भी थे ।

सं० ग्रं०—जगदीश चटर्जी . कश्मीर शैविजम (श्रीनगर, १९१४), कांतिचंद्र पांडेय · अभिनवगुप्त —ऐन हिस्टारिकल ऐंड फिलासोफिकल स्टडी (काशी, १९३५) । (ब० उ०)

अभिप्रेरक विधिप्रणाली का शब्द है जिसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो किसी अन्य व्यक्ति को कोई अपराध या ऐसे कार्य के लिये प्रोत्साहित करता है जो संपादित होने पर अपराध होता है । यह आवश्यक है कि वह दूसरा व्यक्ति विधि के समक्ष अपराध करने के योग्य हो तथा उसका उद्देश्य या मनोभाव अभिप्रेरक के उद्देश्य या मनोभाव के सदृश हो । अपराध के संपादन में योग देने के निमित्त किया गया कोई भी कार्य, चाहे वह अपराध के पूर्व किया गया हो अथवा बाद में, अपराध करने के तुल्य समझा जाता है । भारतीय दंडविधान में अभिप्रेरक तथा वास्तविक अपराधी को समान रूप से दंड दिया जाता है (भारतीय दंडविधान, धारा १०८) । (श्री० अ०)

अभिप्रेरण (मोटिवेशन) हमारे व्यवहार किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये होते हैं । हम जो कुछ करते हैं उनके पीछे कोई न कोई प्रयोजन होता है । अभिप्रेरण हमारे सभी कार्यों का आवश्यक आधार है । हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ अभिप्रेरण के रूप में हमारे विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को प्रेरित करती है ।

अभिप्रेरण के विकास में मूल कारण हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ, जैसे भूख और प्यास, होती हैं । लेकिन आयु और अनुभव में वृद्धि के साथ साथ हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ ग्रहण कर लेती हैं । इनके साथ हमारे भावों और विचारों, रुचियों और अभिवृत्तियों का संबंध हो जाता है । इस प्रकार अभिप्रेरण का आरंभ में जो पार्थिव आधार था वह कालांतर में आयु और अनुभव में वृद्धि के फलस्वरूप सामाजिक और सांस्कृतिक रूप धारण कर लेता है । पशुजगत् में अभिप्रेरण का मूल आधार शारीरिक आवश्यकताएँ होती हैं । लेकिन मानवजगत् में सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अभिप्रेरण का स्रोत बन जाती हैं ।

अभिप्रेरण का आवश्यक अंग प्रयोजन (मोटिव) है । वस्तुत: प्रयोजन के क्रियात्मक रूप (फ़ेनामेनन) को ही अभिप्रेरण कहते हैं । प्रयोजन कई प्रकार के होते हैं, लेकिन स्थूल रूप से उन्हें शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कोटियों में बाँट सकते हैं । अवगम (लर्निंग) द्वारा प्रयोजन में संशोधन होता है । बालक की शिक्षा दीक्षा उसके शारीरिक प्रयोजनों को वांछित सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोजनों का रूप प्रदान करती है । इन्हीं प्रयोजनों के आधार पर किसी व्यक्ति का अभिप्रेरण बनता है । यह कथन ठीक है कि बिना प्रयोजनों के अभिप्रेरण का अस्तित्व ही नहीं होता । व्यक्ति किस दिशा में, किस सीमा तक, कितनी शक्ति के साथ प्रयास करेगा, रुचि लेगा और प्रेरित होगा, यह उसके प्रयोजनों पर निर्भर है । अभिप्रेरण में व्यक्ति के विभिन्न प्रयोजन क्रियाशील होकर उसके कार्यों और व्यवहारों

को दिशा प्रदान करते हैं। अभिप्रेरणा का संबंध व्यक्ति के जीवनमूल्यो और विश्वासों से भी होता है। व्यक्ति ज्यो ज्यो विकसित होता है त्यो त्यो वह अपने जीवनमूल्यों और विश्वासो से अभिप्रेरित होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति में वाछित जीवनमूल्यों और विश्वासो के प्रति समान पैदा किया जाता है। यही जीवनमूल्य और विश्वास व्यक्ति के अभिप्रेरण के आवश्यक अग बन जाते हैं। इस प्रकार अभिप्रेरण शारीरिक और मानसिक प्रयोजनो का क्रियाशील रूप है। इसका सामाजिक और सास्कृतिक आधार होता है और इसमे व्यक्ति के जीवनमूल्यो और विश्वासो का महत्वपूर्ण स्थान है।

स० ग्रं०—यग : मोटिवेशन ऑव बिहेवियर, मैक्लैंड : स्टडीज इन मोटिवेशन, मैसलो : मोटिवेशन ऐंड पर्सनालिटी। (सी० रा० जा०)

अभिमन्यु अर्जुन और सुभद्रा का पुत्र, जिसने महाभारत युद्ध में चक्रव्यूह भेदकर अपनी वीरता का परिचय दिया था। युद्ध में १३वें दिन अर्जुन जिस समय सशप्तको से लडने चले गए थे उस समय अवसर देखकर कौरवों ने चक्रव्यूह की रचना की जिसे भेदना अर्जुन के अतिरिक्त किसी को न आता था। अभिमन्यु ने सुभद्रा के गर्भ मे ही चक्रव्यूह मे प्रवेश करना अपने पिता के मुख से सुन रखा था परतु उससे निकलना उसे नहीं आता था। फिर भी चक्रव्यूह में प्रवेश कर वीरता का परिचय देकर उसने सद्गति प्राप्त की। (चं० म०)

अभियांत्रिकी का अग्रेजी भाषा मे पर्यायवाची शब्द "इजीनियरिंग" है, जो लैटिन शब्द "इजेनियम" से निकला है; इसका अर्थ स्वाभाविक निपुणता है। कलाविद की सहज प्रतिभा से अभियांत्रिकी धीरे धीरे एक विज्ञान मे परिणत हो गई। निकट भूतकाल मे अभियांत्रिकी शब्द का जो अर्थ कोश मे मिलता था वह सक्षेप मे इस प्रकार बताया जा सकता है कि "अभियांत्रिकी एक कला और विज्ञान है, जिसकी सहायता से पदार्थ के गुणो को उन सरचनाओ और यत्रो के बनाने मे, जिनके लिये यांत्रिकी (मिकैनिक्स) के सिद्धात और उपयोग आवश्यक है, मनुष्योपयोगी बनाया जाता है।" किंतु यह सीमित परिभाषा अब नही चल सकती। अभियांत्रिकी शब्द का अर्थ अब एक ओर नाभिकीय अभियांत्रिकी (न्यूक्लियर इजीनियरिंग) के उच्च वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्र से लेकर मानवीय गुणो से सबधित विषयो, जैसे श्रमिक नियत्रण प्रबधीय कार्यक्षमता, समय और गति का अध्ययन इत्यादि, अनेक प्रायोगिक विज्ञानो के विस्तृत क्षेत्र को घेरे हुए है। अतः अभियांत्रिकी की इस प्रकार परिभाषा करना अधिक उपयुक्त होगा कि 'यह मनुष्य की भौतिक सेवा के निमित्त प्राकृतिक साधनो के दक्ष उपयोग का विज्ञान और कला है।'

अभियांत्रिकी की अनेक शाखाओ में, जैसे वास्तुनिर्माण (सिविल), यांत्रिक, विद्युतीय, सामुद्र, खनिसबधी, रासायनिक, कृषीय, नाभिकीय आदि मे, कुछ महत्वपूर्ण कार्य अन्वेषण, प्ररचन, उत्पादन, प्रचलन, निर्माण, विक्रय, प्रबध, शिक्षा, अनुसधान इत्यादि हैं। अभियांत्रिकी शब्द ने कितना विस्तृत क्षेत्र छेक लिया है, इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये दृष्टातस्वरूप उसकी विभिन्न शाखाओ के अतर्गत आनेवाले विषयो के नाम देना ज्ञानवर्धक होगा।

वास्तुनिर्माण अभियांत्रिकी (सिविल इजीनियरिंग) के अतर्गत अग्रलिखित विषय है : सडकें, रेल, नौतरण मार्ग, सामुद्र अभियांत्रिकी, बाँध, अपक्षरणनिरोध, बाढ़ नियत्रण, नौनिवेश, पत्तन, जलवाहिकी, जलविद्युत्शक्ति, जलविज्ञान, सिंचाई, भूमिसुधार, नदीनियत्रण, नगरपालिका अभियांत्रिकी, स्थावर संपदा, मूल्यांकन, शिल्पाभियांत्रिकी (वास्तुकला), पूर्वनिर्मित भवन, ध्वनिविज्ञान, संवातन, नगर तथा ग्राम अभियोजना, जलसग्रहण और वितरण, जलोत्सारण, मलापवहन, कूड़े कचड़े का अपवहन, सारचनिक अभियांत्रिकी, पुल, कंक्रीट, धात्विक संरचनाएँ, पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट (प्रिस्ट्रेस्ड कक्रीट), नीव, संधान (वेल्डिंग), भूसर्वेक्षण, सामुद्रपरीक्षण, फ़ोटोग्राफ़ीय सर्वेक्षण (फोटोग्राफिक सर्वेयिंग), परिवहन, भूविज्ञान, द्रवयांत्रिकी, प्रतिकृति, विश्लेषण, मृदायांत्रिकी (सॉयल इजीनियरिंग), जलस्रावी स्तरो में चिकनी मिट्टी प्रविष्ट करना, शैलपूरित बाँध, मृत्तिका बाँध, पूरण (भरना, ग्राउटिंग) की रीतियाँ, जलाशयो मे जल रसना (सीपेज) के अध्ययन के लिये विकिरणशील समस्थानिको (आइसोटोप्स) का प्रयोग, अवसाद की घनता के लिये गामा किरणो का प्रयोग।

यांत्रिकी इंजीनियरिंग में उष्मागतिकी, जलबाष्प, डीजेल तथा क्षिपप्रणोदन (जेट प्रोपलशन), यत्रप्ररचना, ऋतुविज्ञान, यत्रोपकरण, जलचालित यत्र, धातुकर्मविज्ञान, वैमानिकी, मोटरकार आदि (ऑटोमोबाइल) सबधी अभियांत्रिकी, कपन, पोतनिर्माण, उष्मा स्थानातरण, प्रशीतन (रेफ्रीजरेशन) है।

विद्युत् अभियांत्रिकी में विद्युद्यत्र, विद्युत्-शक्ति-उत्पादन, संचरण तथा वितरण, जलविद्युत्, रेडियोसपर्क, विद्युत्मापन, विद्युदधिष्ठापन, अत्युच्चावृत्ति कार्य, नाभिकीय अभियांत्रिकी, वैद्युदाण्विकी (इलेक्ट्रॉनिक्स) है।

रासायनिक अभियांत्रिकी मे चीनी मिट्टी सबधी अभियांत्रिकी, वहन, विद्युत् रसायन, गैस अभियांत्रिकी, धात्वीय तथा पेट्रोलियम अभियांत्रिकी, उपकरण तथा स्वयचल नियत्रण, चूर्णन, मिश्रण तथा विलयन, प्रसृति (डिफ़्यूज़न) विद्या, रासायनिक यत्रो का आकल्पन तथा निर्माण, विद्युत् रसायन हैं।

कृषीय अभियांत्रिकी में औद्योगिक प्रबध, खनि अभियांत्रिकी, इत्यादि, इत्यादि है।

अभियांत्रिकी को सकीर्ण परिमित शाखाओं मे विभाजित नहीं किया जा सकता। वे परस्परावलबी है। प्रायोगिक और प्राकृतिक दोनो प्रकार की घटनाओ का निरपेक्ष निरीक्षण तथा इस प्रकार के निरीक्षण के फलो का अभियांत्रिक समस्याओ पर ऐसी सावधानी से प्रयोग, जिससे समय और धन के न्यूनतम व्यय से समाज को अधिकतम सेवा मिले, अभियांत्रिकी की प्रमुख पद्धति है। शुद्ध वैज्ञानिक अभियांत्रिकी की उलझनो को सुलझाने की रीति वैज्ञानिक चाहे खोज पाए हो या न पाए हो, अभियता को तो अपना कार्य पूरा करना ही होगा। ऐसी अवस्था मे अभियता कुछ सीमा तक प्रायोगिक विश्लेषण का सहारा लेता है और कार्यरूप मे परिणत होनेवाला ऐसा हल ढूंढ निकालता है जो, रक्षा का समुचित प्रबध रखते हुए, उसकी प्रति दिन की समस्याओ को सुलझाने योग्य बना सकता है। जैसे जैसे सबधित वैज्ञानिक अश का उसका ज्ञान अधिक अचूक होता जाता है, वह रक्षा के प्रबध मे कमी करके व्यय भी घटा सकता है। समस्याओ के बौद्धिक और क्रियात्मक विचार ने ही अभियता को उन क्षेत्रो मे भी प्रवेश करने योग्य बनाया है जो आरभ से ही वैज्ञानिक, आयुर्वैज्ञानिक (डाक्टर), अर्थशास्त्री, प्रबधक, मानवीय-शास्त्र-वेत्ता इत्यादि से सरोकार रखते समझे जाते हैं।

विश्व का इतिहास अभियांत्रिकी के रोमास की कहानी से भरा पड़ा है। भारत और विदेशो मे दूरदर्शी तथा निश्चित सकल्पवाले मनुष्यों ने अपने स्वप्नो के अनुसरण मे सब कुछ दावँ पर लगाकर महत्वपूर्ण कार्य सपादित किए हैं। प्रत्येक अभियांत्रिक अभियान में तत्सबधी विशेष समस्याएँ रहती है और इनको हल करने मे छोटी तथा बडी दोनो प्रकार की प्रतिभाओ को अवसर मिलता है। (सी० बा० जो०)

अभियांत्रिकी तथा प्राविधिक शिक्षा किसी वाणिज्य या व्यवसाय मे, विशेषकर अभियांत्रिकी (इजीनियरी) के कार्यों की आधारभूत कलाओ और विज्ञानो मे व्यक्तियो को प्रशिक्षित करना प्राविधिक शिक्षा कहलाता है। अभियांत्रिक शिक्षा मे आज अभियांत्रिकी की केवल पुरानी शाखाएँ—नागरिक (सिविल), यांत्रिक (मिकैनिकल), खनिज (माइनिंग) और वैद्युत (इलेक्ट्रिकल), अभियांत्रिकी और उसके विभाग, जैसे सडक अभियांत्रिकी, पत्तन अभियांत्रिकी, मोटरकार (ऑटोमोबाइल) अभियांत्रिकी, यत्रनिर्माण अभियांत्रिकी, भवन अभियांत्रिकी, प्रभासन (इल्यूमिनेटिंग) अभियांत्रिकी इत्यादि—ही समिलित नहीं हैं, प्रत्युत ऐसी संगत शाखाएँ भी समिलित है, जैसे रासायनिक अभियांत्रिकी और धातुकार्मिक (मेटालर्जिकल) अभियांत्रिकी।

आधुनिक विशेषीकरण के होते हुए भी अभियांत्रिकी की सब शाखाओं के लिये सामान्य विज्ञान तथा गणित की पक्की नीव पहले से डाल रखने की नितांत आवश्यकता रहती है।

अभियांत्रिकी शिक्षा के उद्देश्य और स्तर—अभियांत्रिकी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित होने चाहिए

(१) उनको प्रशिक्षित करना जो भविष्य में उद्योग के नायक होंगे,

(२) औद्योगिक कार्यकर्ताओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करना कि वे बताया हुआ अपना काम अधिक दक्षता और लगन से कर सकें,

(३) उन व्यक्तियों को प्रशिक्षित करना जो सरकार के भवन तथा सड़क निर्माण, नहर तथा सिंचाई और अन्य अभियांत्रिकी विभागों की देखभाल करेंगे।

प्रारंभिक सामान्य शिक्षा—औद्योगिक श्रमिक सेवा के अधिकांश व्यक्तियों के लिये अच्छी प्राथमिक शिक्षा, जिसमें विज्ञान, गणित और प्रकृतिअध्ययन का समावेश हो, व्यावसायिक पाठशालाओं में भरती होने के लिये पर्याप्त होगी।

अभियांत्रिकी शिक्षा में उपाधिपत्र (डिप्लोमा अथवा सर्टिफिकेट) उन लोगों के लिये उपयुक्त होता है जो अभियांत्रिकी विश्वविद्यालयों में नहीं अध्ययन कर सकते। ऐसे व्यक्तियों के लिये हाई स्कूल तक विज्ञान और गणित का ज्ञान न्यूनतम योग्यता समझी जानी चाहिए। उपाधिपत्र का पाठ्यक्रम तीन वर्षों का होना चाहिए और उसके बाद लगभग दो वर्षों तक किसी कारखाने अथवा सरकारी निर्माण विभाग में क्रियात्मक प्रशिक्षण लेना चाहिए। भारत में ऐसी कई उपाधिपत्र पाठशालाएँ सरकार ने अथवा गैरसरकारी संस्थाओं ने हाल में खोली हैं।

अभियांत्रिकी में विश्वविद्यालय तक की शिक्षा—इस शिक्षा के लिये न्यूनतम योग्यता विज्ञान सहित इंटरमीडिएट समझी जानी चाहिए। विश्वविद्यालय में अथवा किसी प्रौद्योगिक संस्थान (टेकनोलॉजिकल इंस्टिट्यूट) में चार वर्षों का पाठ्यक्रम होना चाहिए और उसके बाद एक वर्ष तक अपरेंटिसी (शिक्षा)।

भारत में अभियांत्रिकी शिक्षा का इतिहास—भारत में अभियांत्रिकी का सबसे पुराना विद्यालय टौमसन कालेज है जो रुड़की (उत्तर प्रदेश) में सन् १८४७ ई० में स्थापित किया गया था। सन् १९४९ में इसे रुड़की इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय में रूपांतरित कर दिया गया। अब अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालयों में अभियांत्रिकी शिक्षण विभाग हैं। इनके अतिरिक्त हाल में कई प्रौद्योगिक संस्थान खोले गए हैं, उदाहरणत खड़गपुर और बंबई में।

सामान्य—बहुत से लोगों में शंका बनी रहती है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अभियांत्रिकी के लिये समुचित और पर्याप्त है या नहीं। अभियांत्रिकी की प्रकृति ही ऐसी है कि इस प्रकार की शंका उठती है। मौलिक रूप से अभियांत्रिकी ही उपयोगी परिणामों के निमित्त, उपयोगी रीति से सामग्री और शक्ति लगाने का वैज्ञानिक ज्ञान देती है। परंतु वैज्ञानिक खोजों से सदा नवीन रीतियाँ निकलती रहती है और नवीन उद्योग खड़े होते रहते हैं। इस प्रकार परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति, नवीन रीतियों, नवीन उद्योगों और नवीन आर्थिक परिस्थितियों के कारण यांत्रिकी शिक्षा में परिवर्तन की अपेक्षा सदा बनी रहती है।

शिक्षा संस्थाएँ—अभियांत्रिकी तथा प्रौद्योगिकी की स्नातक स्तर तक शिक्षा की सुविधा अब भारत के सभी राज्यों में उपलब्ध है। उदाहरणार्थ—पंजाब इंजीनियरिंग कॉलेज, चंडीगढ़, गुरु नानक इंजीनियरिंग कॉलेज, लुधियाना, थापर इंजीनियरिंग कॉलेज, पटियाला, रुड़की युनिवर्सिटी, रुड़की, दयालबाग इंजीनियरिंग कालेज, दयालबाग, आगरा, इंजीनियरिंग कॉलेज मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ़, इंजीनियरिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डेलही पॉलिटेक्नीक, दिल्ली, बिड़ला इंजीनियरिंग कॉलेज, पिलानी, जोधपुर इंजीनियरिंग कॉलेज, जोधपुर, गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज, जबलपुर, माधव इंजीनियरिंग कालेज, ग्वालियर; सेकसरिया इंजीनियरिंग कॉलेज, इंदौर, पटना इंजीनियरिंग कॉलेज, पटना, मेसरा इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, रांची, सिंधरी इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, सिंधरी, इंजीनियरिंग कॉलेज, मुजफ्फरपुर, स्कूल ऑव माइनिंग, धनबाद, शिवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज, शिवपुर (कलकत्ता), जादवपुर युनिवर्सिटी, जादवपुर, कलकत्ता, इंस्टिट्यूट ऑव टेकनालाजी, खड़गपुर, इंजीनियरिंग कालेज, आंध्र यूनिवर्सिटी, इंजीनियरिंग कॉलेज, अन्नामलई यूनिवर्सिटी; गुइंडी कॉलेज, मद्रास, हायर इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, मद्रास; मद्रास इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, मद्रास, इंस्टिट्यूट ऑव सायंस, बैंगलोर, इंजीनियरिंग कॉलेज, मैसूर, इंजीनियरिंग कॉलेज ट्रावनकोर, इंजीनियरिंग कॉलेज, ओस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद, विक्टोरिया जुबिली टेक्निकल इंस्टिट्यूट, बंबई, हायर इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलॉजी, बंबई, इंजीनियरिंग कालेज, पूना, इंजीनियरिंग कॉलेज, नागपुर, इंजीनियरिंग कॉलेज, बड़ोदा यूनिवर्सिटी, बड़ोदा, इंजीनियरिंग कॉलेज, आनंद।

वर्तमान पंचवर्षीय योजना में अनेक नए कॉलेज खोलने की व्यवस्था है। भारत सरकार द्वारा स्थापित सभी उच्च प्रौद्योगिक संस्थानों में और उपर्युक्त कई संस्थाओं में स्नातकोत्तर शिक्षा की सुविधा है।

डिप्लोमा स्तर तक प्राविधिक शिक्षा की सुविधा के संबंध में जानकारी भारत सरकार द्वारा स्थापित और नियोजित प्रादेशिक प्राविधिक शिक्षा कार्यालयों और परामर्शदाताओं से प्राप्त की जा सकती है। (न०ला०गु०)

अभिरंजित कांच

अभिरंजित कांच (अंग्रेजी में स्टेंड ग्लास) से साधारणत वही कांच (शीशा) समझा जाता है जो खिड़कियों में लगता है, विशेषकर जब विविध रंगों के कांच के टुकड़ों को जोड़कर कोई चित्र प्रस्तुत कर दिया जाता है। यूरोप के विभिन्न विख्यात गिर्जाघरों में बहुमूल्य अभिरंजित कांच लगे हैं।

अभिरंजित कांच के निर्माण में तीन प्रकार के कांच प्रयोग में आते हैं (१) कांच जो द्रवण के समय ही सर्वत्र रंगीन हो जाता है। (२) इनैमल द्वारा पृष्ठ पर रंगा कांच। (३) रजत लवण द्वारा पीला रँगा कांच।

प्रारंभ—अभिरंजित कांच का कहाँ और कब प्रथम निर्माण हुआ, यह अस्पष्ट है। अधिकतर संभावना यही है कि अभिरंजित कांच का आविष्कार भी कांच के आविष्कार के सदृश पश्चिमी एशिया और मिस्र में हुआ। इस कला की उन्नति एवं विस्तार १२वीं शताब्दी से आरंभ होकर १४वीं शताब्दी में शिखर पर पहुँचे। १६वीं शताब्दी में भी बहुत से कलायुक्त अभिरंजित कांच बने, परन्तु इसी शताब्दी के अंत में इस कला का ह्रास आरंभ हुआ और १७वीं शताब्दी के पश्चात् इस कला का प्राय लोप हो गया। इस समय कुछ ही संस्थाएँ हैं जो अभिरंजित कांच विशेष रूप से बनाती हैं।

अभिरंजित कांच का प्रयोग विशेषकर ऐसी खिड़कियों में होता है जो खुलती नहीं, केवल प्रकाश आने के लिये लगाई जाती है। इसी उद्देश्य से गिर्जाघरों के विशाल कमरों में विशाल अभिरंजित कांच, केवल प्रकाश आने के लिये दीवारों में लगाए जाते हैं। इन कांचों पर अधिकतर ईसाई धर्म से संबंधित चित्र, जैसे ईसा का जन्म, बचपन, धर्मप्रचार, सूली अथवा माता मरियम के चित्र अंकित रहते हैं और इन कांचों में से होकर जो प्रकाश भीतर आता है उससे शांति और धार्मिक वातावरण उत्पन्न होने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। कुछ अभिरंजित कांचों में प्राकृतिक एवं पौराणिक दृश्य और महान् पुरुषों के चित्र भी अंकित रहते हैं।

प्रविधि—आरंभ में उपयुक्त रंगीन कांच के टुकड़े एक नक्शे के अनुसार काट लिए जाते हैं और चौरस सतह पर उन्हें नक्शे के अनुसार रखा जाता है। तब जोड़ की रेखाओं में द्रवित सीसा धातु भर दी जाती है। इस प्रकार कांच के विविध टुकड़े संबंधित होकर एक पट्टिका में परिणत हो जाते हैं। सीसा भी रेखा की तरह पट्टिका पर अंकित हो जाता है और आकर्षक लगता है।

यदि किसी विशिष्ट रंग का कांच उपलब्ध नहीं रहता तो कांच पर इनैमल लगाकर और फिर कांच को तप्त करके अनेक प्रकार का एकरंगा कांच अथवा चित्रकारी उत्पन्न की जा सकती है। आरंभ में तप्त करने के पूर्व इनैमल को खुरचकर चित्र अंकित किया जाता था, पर बाद में इनैमल द्वारा ही विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित किए जाने लगे। इनैमल लगाने की क्रिया एक से अधिक बार भी की जा सकती है और इस प्रकार रंग को अपेक्षित स्थान पर गहरा किया जा सकता है अथवा उसपर दूसरा रंग चढ़ाकर उसका रंग बदला जा सकता है।

रंगरहित कांच पर रजत लवण का लेप लगाकर और तदुपरांत कांच को तप्त करने से कांच की सतह पीली से नारंगी रंग तक की हो जाती है।

यह रंग स्थायी और अति आकर्षक होता है। इस प्रकार के काँच को भी अभिरंजित काँच और इस क्रिया को "पीत अभिरंजकी" कहा जाता है। नीले काँच पर इस क्रिया से काँच हरा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का काँच भी अभिरंजित काँचचित्रों के प्रयोग में आता है। पीत अभिरंजित काँच का आविष्कार सन् १३२० में हुआ।

भारत में अभिरंजित काँच की माँग प्राय शून्य के बराबर है, अत यहा पर यह उद्योग कहीं नहीं है। (रा० च०)

अभिलेख १ परिभाषा और सीमा—किसी विशेष महत्व अथवा प्रयोजन के लेख को अभिलेख कहा जाता है। यह सामान्य व्यावहारिक लेखों से भिन्न होता है। प्रस्तर, धातु अथवा किसी अन्य कठोर और स्थायी पदार्थ पर विज्ञप्ति, प्रचार, स्मृति आदि के लिये उत्कीर्ण लेखों की गणना प्राय अभिलेख के अंतर्गत होती है। कागज, कपड़े, पत्ते आदि कोमल पदार्थों पर मसि अथवा अन्य किसी रंग से अंकित लेख हस्तलेख के अंतर्गत आते हैं। कड़े पत्तों (ताड़पत्रादि) पर लौहशलाका से खचित लेख अभिलेख तथा हस्तलेख के बीच में रखे जा सकते हैं। मिट्टी की तख्तियों तथा बर्तनों और दीवारों पर उत्खचित लेख अभिलेख की सीमा में आते हैं। सामान्यत किसी अभिलेख की मुख्य पहचान उसका महत्व और उसके माध्यम का स्थायित्व है।

२ **अभिलेखन सामग्री और यांत्रिक उपकरण**—जैसा ऊपर उल्लिखित है, अभिलेखन के लिये कड़े माध्यम की आवश्यकता होती थी, इसलिये पत्थर, धातु, ईंट, मिट्टी की तख्ती, काष्ठ, ताड़पत्र का उपयोग किया जाता था, यद्यपि अंतिम दो की आयु अधिक नहीं होती थी। भारत, सुमेर, मिस्र, यूनान, इटली आदि सभी प्राचीन देशों में पत्थर का उपयोग किया गया। अशोक ने तो अपने स्तंभलेख (सं० २, तोपरा) में स्पष्ट लिखा है कि वह अपने धर्मलेख के लिये प्रस्तर का प्रयोग इसलिये कर रहा था कि वे चिरस्थायी हो सकें। किंतु इसके बहुत पूर्व आदिम मनुष्य ने अपने गुहाजीवन में ही गुहा की दीवारों पर अपने चिह्नों को स्थायी बनाया था। भारत में प्रस्तर का उपयोग अभिलेखन के लिये कई प्रकार से हुआ है—गुहा की दीवार, पत्थर की चट्टानें (चिकनी और कभी कभी खुरदरी), स्तंभ, शिलापट्ट, मूर्तियों की पीठ अथवा चरणपीठ, प्रस्तरभांड अथवा प्रस्तरमंजूषा के किनारे या ढक्कन, पत्थर की तख्तियाँ, मुद्रा, कवच आदि, मंदिर की दीवार, स्तंभ, फर्श आदि। मिस्र में अभिलेख के लिये बहुत ही कठोर पत्थर का उपयोग किया जाता था। यूनान में प्राय संगमरमर का उपयोग होता था, यद्यपि मौसम के प्रभाव में इसपर उत्कीर्ण लेख घिस जाते थे। विशेषकर, सुमेर, बाबुल, क्रीट आदि में मिट्टी की तख्तियों का अधिक उपयोग होता था। भारत में भी अभिलेख के लिये ईंट का प्रयोग यज्ञ तथा मंदिर के संबंध में हुआ है। धातुओं में सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसा, लोहा, जस्ते का उपयोग किया जाता था। भारत में ताम्रपत्र अधिकता से पाए जाते हैं। काठ का उपयोग भी हुआ है, किंतु इसके उदाहरण मिस्र के अतिरिक्त अन्य कहीं अवशिष्ट नहीं हैं। ताड़पत्र के उदाहरण भी बहुत प्राचीन नहीं मिलते।

अभिलेख में अक्षर अथवा चिह्नों की खोदाई के लिये रुखानी, छेनी, हथौड़े (नुर्काल), लौहशलाका अथवा लौहवर्तिका आदि का उपयोग होता था। अभिलेख तैयार करने के लिये व्यावसायिक कारीगर होते थे। साधारण हस्तलेख तैयार करनेवालों को लेखक, लिपिकर, दिविर, कायस्थ, करण, कर्णिक, करणिन् आदि कहते थे, अभिलेख तैयार करनेवालों की संज्ञा शिल्पी, रूपकार, सूत्रधार, शिलाकूट आदि होती थी। प्रारंभिक अभिलेख बहुत सुंदर नहीं होते थे, परंतु धीरे धीरे स्थायित्व और आकर्षण की दृष्टि से बहुत सुंदर और अलंकृत अक्षर लिखे जाने लगे और अभिलेख की कई शैलियाँ विकसित हुईं। अक्षरों की आकृति और शैलियों से अभिलेखों के तिथिक्रम को निश्चित करने में सहायता मिलती है।

३ **चित्र, प्रतिकृति प्रतीक तथा अक्षर**—तिथिक्रम से अभिलेखों में इनका उपयोग किया गया है। (इस संबंध में विस्तृत विवेचन के लिये द्र० अक्षर) विभिन्न देशों में विभिन्न लिपियों और अक्षरों का प्रयोग किया गया है। इनमें चित्रात्मक, भावात्मक और ध्वन्यात्मक सभी प्रकार की लिपियाँ हैं। ध्वन्यात्मक लिपियों में भी अंकों के लिये जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है वे ध्वन्यात्मक नहीं हैं। ब्राह्मी और देवनागरी दोनों के प्राचीन और अर्वाचीन अंक १ से ९ तक ध्वन्यात्मक नहीं हैं। प्राचीन अक्षरात्मक तथा चित्रात्मक अंकों की भी यही अवस्था है। सामी, यूनानी और रोमन लिपियों के भी अंक ध्वन्यात्मक नहीं हैं। यूनानी में शब्दों के प्रथम अक्षर ही अंकों के लिये प्रयुक्त होते थे, जैसा एम (M), डी (D), सी (C), वी (V) और आइ (I) का प्रयोग अब तक १०००, ५००, १००, ५०, १० (V को ही उलटा जोड़कर), ५ और १ के लिये होता है। इसी प्रकार विराम और गणित के बहुत से चिह्न ध्वन्यात्मक नहीं होते।

४ **लेखनपद्धति**—लेखनपद्धति में सबसे पहले प्रश्न आता है व्यक्तिगत अक्षरों की दिशा का। अत्यंत प्राचीन काल से अब तक अक्षरों की बनावट और अंकन में प्राय एकरूपता पाई जाती है। अक्षर ऊपर से नीचे लंबवत् खचित अथवा उत्कीर्ण होते हैं मानो किसी कल्पित रेखा से वे लटकते हों। आधुनिक कन्नड के आड़े अक्षर भी उसी कल्पित रेखा के नीचे सँजोए जाते हैं। अक्षरों का अंकन प्राय एक सीधी आधारवत् रेखा के ऊपर होता है। इस पद्धति के अपवाद चीनी और जापानी अभिलेख हैं, जिनमें पंक्तियाँ लंबवत् ऊपर से नीचे लिखी जाती हैं। लेखन पद्धति का दूसरा प्रश्न है लेखन की दिशा। भारोपीय लिपियों की लेखनदिशा बाएँ से दाएँ तथा सामी और हामी लिपियों की दाएँ से बाएँ मिलती है। कुछ प्राचीन यूनानी अभिलेखों और बहुत थोड़े भारतीय अभिलेखों में लेखनदिशा गोमूत्रिका सदृश (पहली पंक्ति में दाएँ से बाएँ, दूसरी पंक्ति में बाएँ से दाएँ और आगे क्रमश इसी प्रकार) पाई जाती है। चीनी और जापानी अभिलेखों में पंक्तियाँ ऊपर से नीचे और लेखनदिशा दाएँ से बाएँ होती है। प्रारंभिक काल में अक्षरों के ऊपर की रेखा काल्पनिक थी अथवा किसी अस्थायी पदार्थ से लिखकर मिटा दी जाती थी। आगे चलकर वह वास्तविक हो गई, यद्यपि यूनानी और रोमन अभिलेखों में वह अक्षरों के नीचे आ गई। भारतीय अक्षरों में क्रमश शिरोरेखा बनाने की प्रथा चल गई जो कल्पित (पुन वास्तविक) रेखा पर बनाई जाती थी। प्राचीन अभिलेखों में एक शब्द के अक्षरों का समूहीकरण और शब्दों के पृथक्करण पर ध्यान कम दिया जाता था, यहाँ तक कि वाक्यों को अलग करने के लिये भी किसी चिह्न का प्रयोग नहीं होता था। जिन भाषाओं का व्याकरण नियमित था उनके अभिलेख पढ़ने और समझने में कठिनाई नहीं होती, शेष में कठिनाई उठानी पड़ती है। विरामचिह्नों का प्रयोग भी पीछे चलकर प्रचलित हुआ। भारतीय अभिलेखों में पूर्ण विराम के लिये दंडवत् एक रेखा (।), दो रेखा (॥) अथवा शिरोरेखा के साथ एक दंडवत् रेखा (ा) का प्रयोग होता था। किसी अभिलेख के अंत में तीन दंडवत् रेखाओं (।।।) का भी प्रयोग होता था। सामी तथा यूरोपीय अभिलेखों में वाक्य के अंत में एक बिंदु ( ), दो बिंदु ( ) अथवा शून्य (०) लगाने की प्रथा थी। इसी प्रकार अभिलेखों में पुष्टीकरण, संशोधन, संक्षिप्तीकरण तथा छूट की पूर्ति करने की पद्धति और चिह्नों का विकास हुआ। प्राय सभी देशों में मांगलिक चिह्नों, प्रतीकों और अलंकरणों का प्रयोग अभिलेखों में होता था। भारत में स्वस्तिक, सूर्य, चंद्र, त्रिरत्न, बुद्धमंगल, चैत्य, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, वृत्त, ओ३म् का आलंकारिक रूप, शंख, पद्म, नदी, मत्स्य, तारा, शस्त्र, कवच आदि इस प्रयोजन के लिये काम में आते थे। सामी देशों में चंद्र और तारा, ईसाई देशों में स्वस्तिक, क्रास आदि मांगलिक चिह्न प्रयुक्त होते थे। अभिलेख के ऊपर, नीचे या अन्य किसी उपयुक्त स्थान पर लाछन अथवा अंक प्रामाणिकता के लिये लगाए जाते थे।

५ **अभिलेख के प्रकार**—यदि अत्यंत प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के अभिलेखों का वर्गीकरण किया जाय तो उनके प्रकार इस भाँति पाए जाते हैं (१) व्यापारिक तथा व्यावहारिक, (२) आभिचारिक (जादू टोना से संबद्ध), (३) धार्मिक और कर्मकांडीय, (४) उपदेशात्मक अथवा नैतिक, (५) समर्पण तथा चढ़ावा संबंधी, (६) दान संबंधी, (७) प्रशासकीय, (८) प्रशस्तिपरक, (९) स्मारक तथा (१०) साहित्यिक।

(१) **व्यापारिक तथा व्यावहारिक**—भारत, पश्चिमी एशिया, मिस्र, क्रीट, यूनान आदि सभी प्राचीन देशों में व्यापारियों की मुद्राओं पर और उनके लेखे जोखे से संबंध रखनेवाले अभिलेख पाए गए हैं। प्राचीन

भारत के निगमों और श्रेणियों की मुद्राएँ अभिलेखांकित होती थीं और वे व्यापारिक एवं व्यावहारिक कार्यों के लिये भी स्थायी और कड़ी सामग्री का उपयोग करती थीं। कभी कभी तो अन्य प्रकार के अभिलेखों में भी व्यापारिक विज्ञापन पाया जाता है। कुमारगुप्त तथा बंधुवर्मन्‌कालीन मालव सं० ५२९ के अभिलेख में वहाँ के ततुवायों (जुलाहों) के कपड़ों का विज्ञापन इस प्रकार दिया हुआ है "तारुण्य और सौंदर्य से युक्त, सुवर्णहार, ताबूल, पुष्प आदि से सुशोभित स्त्री तब तक अपने प्रियतम से मिलने नहीं जाती, जब तक कि वह दशपुर के बने पट्टमय (रेशम) वस्त्रों के जोड़े को नहीं धारण करती। इस प्रकार स्पर्श करने में कोमल, विभिन्न रगों से चित्रित, नयनाभिराम रेशमी वस्त्रों से संपूर्ण पृथ्वीतल अलंकृत है।"

(२) **आभिचारिक**—सिंधुघाटी (हरप्पा और मोहेंजोदड़ो) में प्राप्त बहुत सी तख्तियों पर आभिचारिक यत्र हैं। इनमें विभिन्न पशुओं द्वारा प्रतिनिहित सभवत देवताओं की स्तुतियाँ हैं। प्राय: कवचों पर ये अभिलेख मिलते हैं। सुमेर, मिस्र, यूनान आदि में भी आभिचारिक अभिलेख पाए जाते हैं।

(३) **धार्मिक और कर्मकांडीय**—मंदिर, यज्ञ, हवन, पूजापाठ आदि से सबध रखनेवाले बहुसख्यक अभिलेख पाए जाते हैं। इनमें धार्मिक विधिनिषेध, हवनप्रक्रिया, पूजापद्धति, हवन तथा पूजा की सामग्री, यज्ञदक्षिणा आदि का उल्लेख मिलता है। अशोक ने तो अपने अभिलेखों को 'धर्मलिपि' ही कहा है जिनमें बौद्ध धर्म के सर्वमान्य तत्वों का विवरण है। यूनानी अभिलेखों में मंदिर, कर्मकाड, पुरोहित तथा धार्मिक सघों के बारे में प्रचुर सामग्री मिलती है।

(४) **उपदेशात्मक**—धार्मिक प्रयोजन की तरह अभिलेखों का नैतिक उपयोग भी होता था। अशोक के धर्मलेखों में उपदेशात्मक अश बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। बेसनगर (विदिशा) के छोटे गरुडध्वज अभिलेख में भी उपदेश है "तीन अमृत पद है। यदि इनका सुदर अनुष्ठान हो तो ये स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं। ये हैं—दम, त्याग और अप्रमाद।" चीन और यूनान में भी उपदेशात्मक अभिलेख मिलते हैं।

(५) **समर्पण अथवा चढ़ावा**—धार्मिक स्थापत्यों, विधियों और अन्य प्रकार की सपत्ति का किसी देवता अथवा धार्मिक सस्थान को स्थायी रूप से समर्पण अकित करने के लिये इस प्रकार के अभिलेख प्रस्तुत किए जाते थे।

(६) **दान सबधी**—प्राचीन धार्मिक और नैतिक जीवन में दान का बहुत ऊँचा स्थान था। प्रत्येक देश और धर्म में दान को सस्था का रूप प्राप्त था। स्थायी दान को अकित करने के लिये पहले पत्थर और फिर ताम्रपत्र का प्रयोग होता था।

(७) **प्रशासकीय**—प्रशासकीय अभिलेखों में विधि (कानून), नियम, राजाज्ञा, जयपत्र, राजाओं और राजपुरुषों के पत्र, राजकीय लेखा-जोखा, कोष के प्रकार और विवरण, सामतों से प्राप्त कर एव उपहार, राजकीय समान और शिष्टाचार, ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख, समाधिलेख आदि की गणना है। पत्थर के स्तभ पर लिखी हुई बाबुली सम्राट् हम्मुराबी की विधिसहिता प्रसिद्ध है। अशोक के धर्मलेखों में उसका राजकीय शासन (आज्ञा) भरा पड़ा है।

(८) **प्रशस्ति**—राजाओं द्वारा विजयों और कीर्ति का वर्णन स्थायी रूप से शिलाखडों और प्रस्तरस्तभों पर लिखवाने की प्रथा बहुत प्रचलित रही है। भारत में राजाओं की दिग्विजय के वर्णन बड़ी सख्या में पाए जाते हैं। मिस्री सम्राट् रामसेज तृतीय, ईरानी सम्राट् दारा, भारतीय राजाओं में खारवेल, गौतमीपुत्र शातकर्णी, रुद्रदामन्, समुद्रगुप्त, चद्रगुप्त (द्वितीय), स्कंदगुप्त, द्वितीय पुलकेशिन् आदि की प्रशस्तियाँ प्रसिद्ध है। अन्य प्रकार के अभिलेखों में भी समसामयिक राजाओं की प्रशस्तियाँ पाई जाती है।

(९) **स्मारक**—चूँकि अभिलेखों का मुख्य कार्य अकन को स्थायी बनाना था, अत घटनाओं, व्यक्तियों तथा कृतियों के स्मारकरूप में अगणित अभिलेख पाए गए है।

(१०) **साहित्यिक**—अभिलेखों में सर्वमान्य धार्मिक ग्रथो अथवा उनके अवतरण और कभी कभी समूचे नवीन काव्य, नाटक आदि ग्रंथ अभिलिखित पाए जाते हैं।

६ **अभिलेख सिद्धांत**—अभिलेख तैयार करने के लिये सामान्य रूप से कुछ सिद्धात और नियम प्रचलित थे। अभिलेख का प्रारंभ किसी धार्मिक अथवा मागलिक चिह्न या शब्द से किया जाता था। इसके पश्चात् किसी इष्ट देवता की स्तुति अथवा आमंत्रण होता था। तत्पश्चात् आशीर्वादात्मक वाक्य आता था। पुन दान अथवा कीर्तिविशेष की प्रशसा होती थी। फिर दान अथवा कीर्ति भग करनेवाले की निंदा की जाती थी। अत मे उपसंहार होता था। अभिलेख के अत में लेखक और उत्कीर्ण करनेवाले का नाम और मागलिक चिह्न होता था। भारत में यह नियम प्राय सर्वप्रचलित था। अन्य देशों में इन सिद्धातो के पालन में दृढ़ता नहीं थी।

७. **तिथिक्रम और संवत का प्रयोग**—अभिलेखों में तिथि और सवत लिखने की प्रथा धीरे धीरे प्रचलित हुई। प्रारभ में भारत में स्थायी एव क्रमबद्ध सवतों के अभाव में राजाओं के शासनवर्ष से तिथि गिनी जाती थी। फिर कतिपय महत्वाकाक्षी राजाओं और शासकों ने अपनी कीर्ति स्थायी करने के लिये अपने पदासीन होने के समय से सवत् चलाया जो उनके बाद भी प्रचलित रहा। फिर महान् घटनाओं और धर्मप्रवर्तकों एव सत महात्माओं के जन्म अथवा निधनकाल से भी सवतों का प्रवर्तन हुआ। फलस्वरूप अभिलेखों में इनका प्रयोग होने लगा। तिथियों के अकन में दिन, वार, पक्ष, मास और सवत् का उल्लेख पाया जाता है।

८. **ऐतिहासिक अभिलेख**—तिथिक्रम से प्राचीन अभिलेख मिस्र की चित्रलिपि के माने जाते हैं। फिर प्राचीन इराक के अभिलेखों का स्थान है, जो पहले अर्धचित्रलिपि और पुन कीलाक्षरों में अंकित है। सिंधुघाटी के अभिलेख इराकी अभिलेखों के प्राय समकालीन है। इनके पश्चात् क्रीट, यूनान और रोम के अभिलेखों की गणना की जा सकती है। ईरान के कीलाक्षर और आरामाई लिपि के लेख भी प्रसिद्ध हैं। चीन में चित्र एव भावलिपि के लेख बहुत प्राचीन काल से पाए जाते हैं। भारत में सिंधुघाटी के परवर्ती अभिलेखों का मोटे तौर पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है (१) मौर्यपूर्व, (२) मौर्य, (३) शुग, (४) भारत-बाख्त्री, (५) शक, (६) कुषण, (७) आध्र-शातवाहन, (८) गुप्त, (९) मध्यकालीन (इसमें विविध प्रादेशिक शैलियों का समावेश है) तथा (१०) आधुनिक। भारतीय शैली के अभिलेख सपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में पाए जाते हैं।

सं०ग्रं०—द्र० 'अक्षर' के सदर्भग्रथो के अतिरिक्त, हिक्स ऐंड हिल ग्रीक हिस्टॉरिकल इंस्क्रिप्शन्स (द्वि० स०), १९०१, ई० एस० राबर्ट्स इट्रोडक्शन टु ग्रीक एपिग्राफी, १८८७, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् लटिनेरम्, बर्लिन, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द १, २ और ३; एपिग्राफिया इंडिका की विविध जिल्दें। (रा० ब० पा०)

अभिलेखागार सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक, राजकीय अथवा अन्य सस्था सबधी अभिलेखों, मानचित्रों, पुस्तकों आदि का व्यवस्थित निकाय और उसका सरक्षागार। अधिकतर ये अभिलेख राज्यों, साम्राज्यों, स्वतत्र नगरों, सस्थाओं अथवा विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा महत्वपूर्ण कार्यों के सपादनार्थ प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, कालातर ने जिन्हें ऐतिहासिक महत्व प्रदान कर दिया है। प्रशासन की घोषणाएँ, फर्मान, सविधानों की मूल प्रतियाँ, सधियों सुलहनामों के अहदनामे, राष्ट्रों के पारस्परिक सबधों के मान और सीमाओं के उल्लेख आदि सभी प्रकार के अभिलेख इस श्रेणी में आते है और राष्ट्रीय अथवा अतरराष्ट्रीय अभिलेखागारों में सरक्षित और सुरक्षित किए जाते है। पहले इनका उपयोग प्राय: सबधित सस्थाओं का निजी था, पर अब ये ऐतिहासिक अध्ययन के लिये प्रयुक्त अथवा वादप्रतिवादों के सदर्भ में भी प्रमाणार्थ उपस्थित किए जा सकते हैं। सधियाँ तो राष्ट्रों को अपने पूर्वव्यवहारों और अहदनामों के अनुकूल आचरण करने को बाध्य करती है।

अभिलेखागार अथवा अभिलेखनिकाय की राष्ट्रीय अथवा प्रशासन-विभागीय व्यवस्था नि सदेह आधुनिक है जो वस्तुत: नियोजित रूप में फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद और मुख्यत. उसके परिणामस्वरूप संगठित हुई है। किंतु अभिलेखागारों की संस्था प्राचीन काल में भी सर्वथा अनजानी

न थी। ईसा से सैकड़ों साल पहले राजाओं, सम्राटों की दिग्विजयों, राजकीय प्रशासकीय घोषणाओं, फर्मानों, पारस्परिक आचरण व्यवहारों के संबंध में जो उनके अभिलेख मंदिरों, मकबरों की दीवारों, शिलाओं, स्तंभों, ताम्रपत्रों आदि पर खुदे मिलते हैं वे भी अभिलेखागार की व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार के महत्व के अभिलेख प्राचीन काल में खोज में अभिरुचि रखनेवाले अनेक पुराविद सम्राटों द्वारा एकत्र कर उनके अभिलेखागारों में सदियों, सहस्राब्दियों सरक्षित रहे हैं। ईसा से पहले सातवीं सदी (६३८-३३ ई० पू०) में सम्राट् असुरबनिपाल ने अपनी राजधानी निनेवे में लाखों ईंटों पर कीलनुमा अक्षरों में खुदे अभिलेखों को एकत्र कर अपना इतिहासप्रसिद्ध अभिलेखागार सगठित किया था जिसकी सप्राप्ति और अध्ययन से प्राचीन जगत् के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है। इसी अभिलेखागार में प्राय. तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में लिखे ससार के पहले महाकाव्य 'गिल्गमेश' की मूल प्रति उपलब्ध हुई है। खत्ती रानी का मिस्र के फ़राऊन के साथ युद्धविरोधी पत्रव्यवहार आज भी उपलब्ध है जो प्राचीनतम सरक्षित अभिलेख के रूप में पुराकालीन अतरराष्ट्रीय सबध का प्रमाण प्रस्तुत करता है और ई० पू० ल० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य का है।

अभिलेखों के राष्ट्रीय अभिलेखागारों में आधुनिक ढग से प्रशासकीय सरक्षण की व्यवस्था पहली बार फ़ासीसी राज्यक्राति के समय हुई जब फ़ास में (१) राष्ट्रीय और (२) विभागीय ('नासिओनाल' तथा 'दपार्तमाँ') अभिलेखागार (आर्कीव) क्रमश. १७८६ और १७९६ में सगठित हुए। बाद में इसी सगठन के आधार पर बेल्जियम, हालैंड, प्रशा, इग्लैंड आदि ने भी अपने अपने अभिलेखागार व्यवस्थित किए। इग्लैंड और ब्रिटिश राष्ट्रसघ में अभिलेखों और अभिलेखागारों की लाक्षणिक सज्ञा 'रेकर्ड' तथा 'रेकर्ड आफिस' है।

इग्लैंड ने १८३८ में ऐक्ट बनाकर देश के विविध स्वतत्र अभिलेखसग्रहों का केंद्रीकरण कर उनको लदन में एकत्र कर दिया। इस दिशा में विशेषत. दो प्रकार की व्यवस्था विविध राष्ट्रों में प्रचलित है। कुछ ने तो सारे प्रदेशीय अभिलेखागारों के अभिलेखों को राजधानी में सुरक्षित कर उन्हें बद कर दिया है और कुछ ने केंद्रीकरण की नीति अपनाकर स्थानीय दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्ययन और उपयोग के निमित्त अभिलेखों को यथास्थान प्रदेश में ही सुरक्षित रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐसे केंद्रीय अभिलेखों को भी प्रदेश में भेज दिया है जिनका सबध उन प्रदेशों के इतिहास, राजनीति या व्यापारव्यवस्था से रहा है। कुछ राष्ट्रों ने एक तीसरी नीति अपनाकर केंद्र और प्रदेशों के अभिलेखागारों में तत्सबधी महत्व की दृष्टि से अभिलेखों को बाँटकर सुरक्षित किया है। अनेक अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ बनाकर यथावश्यक स्थानों में रखने की व्यवस्था है। यह व्यवस्था विशेषकर दो अथवा अधिक राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार सबधी अभिलेखों की रक्षा के लिये होती है। इस सबध में अतरराष्ट्रीय अभिलेखागार भी सगठित किए गए हैं।

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में भी महत्व के 'रेकर्ड' सगृहीत और सरक्षित करने की योजना स्वीकृत हुई और आज इस देश में भी राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली में सगठित है।

देशविभाजन के बाद जिन अभिलेखों का संबंध भारत और पाकिस्तान दोनों से है उनकी प्रतिलिपियाँ पाकिस्तान ने बनवा ली हैं। विस्तृत विवरण के लिये द्र० 'अभिलेखालय'।

अभिलेखागारों की व्यवस्था और अभिलेखों की सुरक्षा विशेष विधि से की जाती है। इसके लिये सर्वत्र विशेषज्ञ नियुक्त हैं। अभिलेखों का नियमन, उनका विभाजन और वर्गीकरण आज एक विशिष्ट विज्ञान ही बन गया है। इस दिशा में अमरीकी सयुक्त राज्य ने विशेष प्रगति की है। राज्य अथवा संस्था अभिलेखों की सुरक्षा की उत्तरदायी होती है। अध्ययनादि के लिये उनके उत्तरोत्तर सार्वजनिक उपयोग की व्यवस्था आधुनिक अभिलेखागार आदोलन का प्रधान लक्ष्य है।

सं०ग्रं०—ए० एफ़० कूलमान द्वारा संपादित . आर्काइव्ज ऐंड लाइब्ररीज़, १९३९-४०, जी बूर्गें : ले आर्कीव नासिओनाल द फ़ास, १९३९; यूरोपियन आर्काइवल प्रैक्टिसेज इन अरेंजिंग रेकर्ड्स (यू० एस० नैशनल आर्काइव्ज), १९३९, सोवियत एंसाइक्लोपीडिया . आर्काइव; एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका . आर्काइव्ज। (भ० श० उ०)

अभिलेखालय, भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बाद भारत में भी अपना अभिलेखागार स्थापित हुआ। उसे भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखालय कहते हैं। इससे पूर्व इसका नाम इपीरियल रेकर्ड् डिपार्टमेंट (साम्राज्य-अभिलेख-विभाग) था। यह अभिलेखालय प्रथमोक्त नाम से नई दिल्ली के जनपथ और राजपथ के चौक के पास लाल और सफेद पत्थरों के एक भव्य भवन में स्थित है। प्राकृतिक सकटों से अभिलेखों की रक्षा के लिये आधुनिक वैज्ञानिक साधन प्रस्तुत कर लिए गए हैं।

इस विभाग को सन् १८९१ में ईस्ट इडिया कपनी के समय से इकट्ठे हुए सरकारी अभिलेखों को लेकर रखने का काम सौंपा गया था। उस समय इसके अधिकारी लोग स्पष्ट रूप से यह नहीं जानते थे कि इसका क्या काम होगा। अभिलेखसमूह अव्यवस्थित अवस्था में पड़ा था। भारत सरकार का ध्यान इस ओर तब गया जब इग्लैंड और वेल्ज के अभिलेखों के सबंध में नियुक्त राजकीय आयोग ने सन् १९१४ में भारतीय अभिलेखों की अव्यवस्थित अवस्था पर टिप्पणी की। फलत सन् १९१९ में भारत सरकार ने भारतीय अभिलेखों के सबध में अपनी सिफारिशें (अभिस्ताव) भेजने के लिये एक भारतीय ऐतिहासिक अभिलेख आयोग नियुक्त किया। उस आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप अभिलेखों की अवस्था में धीरे धीरे सुधार होता गया और अभिलेखालय का काम अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। अब इसका मुख्य काम है सरकार के स्थायी अभिलेखों को सँभालकर रखना और प्रशासनिक उपयोग के लिये माँगने पर सरकार के विभिन्न कार्यालयों को देना। इसके साथ ही इसको एक और काम भी सौंपा गया है। वह है सरकार द्वारा निश्चित अवधि तक के अभिलेख गवेषणार्थियों को गवेषणाकार्य के लिये देना। गवेषणार्थी अभिलेखालय के गवेषणाकोष्ठ (रिसर्च रूम) में बैठकर गवेषणाकार्य करते हैं। उपर्युक्त दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही इस विभाग का सब कार्यकलाप हो रहा है।

सरकार के वे सभी अभिलेख यहाँ समय समय पर अभिरक्षा के लिये भेजे जाते हैं जो अब अपने अपने विभागों, कार्यालयों, मत्रालयों आदि में तो प्रचलित (करेंट) नहीं हैं किंतु सरकार के स्थायी उपयोग के हैं। इनके अतिरिक्त भूतपूर्व वासामात्य भवनों (रेजिडेंसियों), विलीन राज्यों तथा राजनीतिक अभिकरणों के भी अभिलेख यहाँ भेजे जाते हैं। इस अभिलेखालय के इस्पात के ताकों पर इस समय लगभग १,०३,६२५ जिल्दें और ५१,१३,००० बिना जिल्द बँधे प्रलेख (डाक्युमेंट) हैं। कुल मिलाकर १३ करोड़ पृष्ठयुग्म (फोलियो) हैं। इनके अतिरिक्त भारत भूमिति विभाग (सर्वे ऑव् इडिया) से ११,५०० पाडुलिपि मानचित्र और विभिन्न अभिकरणों के ४,१५० मुद्रित मानचित्र प्राप्त हुए हैं। मुख्य अभिलेखमाला सन् १७४८ से आरंभ होती है। इससे पूर्व के वर्षों के भी हितकारी अभिलेखसग्रहों की प्रतिलिपियाँ इडिया आफिस, लदन से मँगाकर रखी गई हैं। इन जिल्दों में सन् १७०७ और १७४८ में ईस्ट इडिया कपनी और उसके कर्मचारियों के बीच किए गए पत्रव्यवहार के सक्षेप भी हैं। बाद के वर्षों का पत्रव्यवहार यहाँ पर मूल में एक अटूट माला के रूप में मिलता है और वह ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक अनुपम स्रोत है। इसी प्रकार मूल कसल्टेशस भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें ईस्ट इडिया कपनी के प्रशासकों द्वारा लिखे गए वृत्त (मिनिट्स), ज्ञापन (मेमोरडा), प्रस्ताव और सारे देश में विद्यमान कपनी के अभिकर्ताओं (एजेंटों) के साथ किया गया पत्रव्यवहार है। इस देश की रहन सहन और प्रशासन का लगभग प्रत्येक पहलू इनमें मिलता है। अभिलेखों में विदेशी हित की सामग्री और पूर्वी चिट्ठियों का एक सग्रह भी है। इन चिट्ठियों में अधिकतर चिट्ठियाँ फारसी भाषा में हैं। परतु बहुत सी संस्कृत, अरबी, हिंदी, बँगला, उड़िया, मराठी, तमिल, तेलुगु, पजाबी, बर्मी, चीनी, स्यामी और तिब्बती भाषाओं में भी हैं। हाल के वर्षों में इग्लैंड, फ़ास, हालैंड, डेनमार्क और अमरीका से भारत के लिये हितकारी सामग्रियों की अणुचित्र-प्रतिलिपियाँ (माइक्रोफ़िल्म कापीज) भी प्राप्त की गई हैं।

माँगे जाने पर सुगमता से निकालकर देने के लिये इन अभिलेखों को बहुत सावधानी से ताकों पर वर्गीकरण, परीक्षण और क्रमबद्ध करके रखा जाता है और उनकी सूचियाँ तैयार की जाती है।

जो कार्यालय अपने अभिलेख यहाँ भेजते है वे पहले उनमे से अनुपयोगी अभिलेखों को निकालकर नष्ट कर देते हैं। नष्ट करते समय कहीं वे प्रशासनिक और ऐतिहासिक मूल्य के अभिलेखों को भी न नष्ट कर दें इसलिये यह अभिलेखालय उनको अभिलेखसचयन के सबध मे सलाह देता है और इस काम मे उनका पथप्रदर्शन करता है। सचयन के सबध मे विषमता दूर करने के लिये इस अभिलेखालय ने विभिन्न मत्रालयों से आए हुए प्रतिवेदनों के आधार पर अभिलेखसचयन का एकविध (यूनिफार्म) नियम तैयार किया है।

बाहर से आनेवाले अभिलेखों का पहले वायुशोधन (एअर क्लीनिंग) तथा धूमन (फ्यूमिगेशन) किया जाता है। वायुशोधन के द्वारा अभिलेखों मे से धूल हटा दी जाती है और धूमन के द्वारा हानिकारक कीडों को नष्ट कर दिया जाता है।

अभिलेखों का परिरक्षण (सँभाल) इस अभिलेखालय के सबसे महत्वपूर्ण कामों मे से एक है। यह काम अभिलेख प्रतिसस्कार (मरम्मत) की विभिन्न विधाओं द्वारा प्रलेखों, उनके कागजों तथा स्याहियों आदि की अवस्थाओं को ध्यान मे रखकर यथोचित रीति से किया जाता है। इस काम को सुचारु रूप से करने के लिये अभिलेखालय ने अपनी ही प्रयोगशाला (रिसर्च लेबोरेटरी) बना रखी है। इसमे कागजों तथा स्याहियों आदि के नमूनों का, अभिलेख-प्रतिसस्कार के लिए उनकी उपयुक्तता आदि जानने के सबध मे परीक्षणकार्य किया जाता है। प्रयोगशाला मे ऐसे साधनों तथा रीतियों आदि की खोज भी की जाती है जिससे अभिलेखों को अधिक से अधिक दीर्घजीवी बनाया जा सके।

अभिलेखपरिरक्षण (सँभाल) मे भा-प्रतिलिपिकरण (फोटो-डुप्लिकेशन) विधा से भी सहायता ली जाती है। अणुचित्रण विधा (माइक्रोफिल्मिंग प्रोसेस) द्वारा पुराने और भिदुर अभिलेखों का लगातार अणुचित्रण किया जा रहा है ताकि यदि कभी मूल अभिलेख उपहत या नष्ट हो जायँ तो उनकी प्रतिलिपियाँ सँभालकर रखी जा सके। इसके अतिरिक्त अणुचित्र प्रतिलिपियों को उपयोग मे लाने से जहाँ मूल अभिलेखों की आयु अधिक लबी हो सकती है वहाँ भारत के विभिन्न भागों मे स्थित गवेषणार्थियों को गवेषणार्थ सस्ते मूल्य पर अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ मिल सकती है।

यह अभिलेखालय इस समय ससार के सबसे बडे अभिलेखालयों मे से एक है। इसके कार्यकलापों के प्रशासन, अभिलेख, प्रकाशन, प्राच्य अभिलेख और शैक्षणिक अभिलेख तथा परिरक्षण आदि नामों से छह सभाग (डिवीजन) है। प्रत्येक शाखा अपने शाखाप्रभारी (सेक्शन इन्चार्ज) तथा सभाग अधिकारी (डिवीजन आफिसर) के द्वारा अपना कार्यकलाप निदेशक को भेजती है। (कृ० द० भा०)

अभिवृत्ति (एटिट्यूड) मनुष्य की वह सामान्य प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा वस्तु का मनोवैज्ञानिक ज्ञान होता है। इसी आधार पर व्यक्ति वस्तुओं का मूल्याकन करता है। कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अभिवृत्ति को मनुष्य की वह अवस्था माना है जिसके द्वारा मानसिक तथा नाडी-व्यापार-सबधी अनुभवों का ज्ञान होता है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक आलपार्ट है। उनके सिद्धातों के अनुसार अभिवृत्ति जीवन मे वस्तुबोधन का मुख्य कारण है। इस परिभाषा के द्वारा अभिवृत्ति वह सामान्य प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न भिन्न अनुभवों का समन्वय करता है। यह वह मापदड है जिसके द्वारा व्यक्तित्व के निर्माण मे सामाजिक तथा बौद्धिक गुणों का समावेश होता है। मनोवैज्ञानिकों ने अभिवृत्तियों का विभाजन, उनके वस्तु आधार, उनकी गहनता तथा उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर किया है। इसका घनिष्ठ सबध व्यक्ति के अमूर्त विचार तथा कल्पना से ही है। अभिवृत्ति का जन्म प्राय चार साधनों से होता हुआ देखा गया है—प्रथम समन्वय द्वारा, द्वितीय आघात द्वारा, तृतीय भेद द्वारा तथा चतुर्थ स्वीकरण द्वारा। यह आवश्यक नही है कि ये यत्र स्वतत्र रूप से ही कार्य करें, ऐसा भी देखा गया है कि इनमे एक या दो कारण भी मिलकर अभिवृत्ति को जन्म देते है। इस दिशा मे अमेरिका के दो मनोवैज्ञानिकों—जे० डेविस तथा आर० बी० ब्लेक ने विशेष रूप से अनुसधान किया है। प्रयोगों द्वारा यह भी देखा गया है कि अभिवृत्ति के निर्माण मे माता पिता, समुदाय, शिक्षा प्रणाली, सिनेमा, सवेगात्मक परिस्थितियाँ तथा सूच्यता (सजेस्टिबिलिटी) का विशेष हाथ होता है। अभिवृत्ति को नापने का प्रश्न सदा से मनोवैज्ञानिकों के लिये कठिन रहा है, लेकिन आज के युग मे इस दिशा मे भी पर्याप्त कार्य हुआ है। एल० थर्स्टन ने इस क्षेत्र मे सराहनीय कार्य किया है। उनके विचारों द्वारा अभिवृत्ति को नापने का प्रयत्न किया गया है। उन्होने 'ओपीनियन स्केल' विधि को ही प्रधानता दी है। प्रक्षेपिक विधि (प्रोजेक्शन टेकनीक) आजकल विशेष रूप से प्रयोग मे लाई जा रही है। ई० एस० बोगारडस ने अपने अनुसधानों द्वारा 'सोशल डिस्टेन्स टेकनीक' के द्वारा व्यक्तियों के विचारों को नापने का प्रयत्न किया है। इस दिशा मे अभी विशेष कार्य होने की आवश्यकता है। भारतीय मनोविज्ञान शालाएँ भी इस दिशा मे कार्य कर रही है। मनोविज्ञान शाला, इलाहाबाद, ने कुछ विधियों का भारतीकरण किया है। (श० ना० उ०)

अभिव्यजनावाद जर्मनी और आस्ट्रिया से प्रादुर्भूत प्रधानत. मध्य यूरोप की एक चित्र-मूर्ति-शैली जिसका प्रयोग साहित्य, नृत्य और सिनेमा के क्षेत्र मे भी हुआ है। यह शैली वर्णनात्मक अथवा चाक्षुष न होकर विश्लेषणात्मक और आभ्यतरिक होती है, उस भाववादी (इप्रेशनिस्टिक) शैली के विपरीत जिसमे कलाकार की अभिरुचि प्रकाश और गति मे ही केंद्रित होती है, उन्ही तक सीमित अभिव्यजनावादी प्रकाश का प्रयोग बाह्य रूप को भेद भीतर का तथ्य प्राप्त कर लेने, आतरिक सत्य से साक्षात्कार करने और गति के भावप्रक्षेपण आत्मान्वेषण के लिये करता है। वह रूप, रगादि के विरूपण द्वारा वस्तुओं का स्वाभाविक आकार नष्ट कर अनेक आतरिक आवेगात्मक सत्य को ढूँढता है। अभिव्यजनावाद के प्रधानत तीन प्रकार है, (१) विरूपित, यद्यपि सर्वथा अमूर्त नही, (२) अमूर्त और (३) नव वस्तुवादी। इनमे से पहले वर्ग के कलाकारो मे प्रधान है किर्चनर नोल्डे, पेक्स्टीन, मूलर, दूसरे मे मार्क, कान्स्की, क्ली, जालेन्स्की और तीसरे मे ग्राटो, डिक्स, जार्ज ग्रास्म आदि। जर्मनी से बाहर के अभिव्यजनावादियों मे प्रधान रूआल, मूर्त और एडवार्ड मक है। अभिव्यजनावाद ललित कलाओं के माध्यम से साहित्य मे आया। यही आदोलन इटली मे भविष्यद्वाद (फ्यूच्यूरिस्ट) और आतपूर्व रूप मे 'क्यूबायच्यूरिजम' कहलाया इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रासीसी चित्रकार हर्व ने १९०१ मे किया, उसे साहित्यालोचन मे प्रयुक्त किया आस्ट्रिया के लेखक हरमान बाहर ने १९१४ ई० मे। इसका मूल उद्देश्य था यात्रिकता के विरुद्ध विद्रोह। यथार्थवाद की परिणति प्रकृतिवाद और नव्य रोमासवाद तथा बिबवाद आदि से ऊबकर उसकी प्रतिक्रिया मे अभिव्यजनावाद चला। इसमे आरी बेर्गसाँ नामक फ्रासीसी दार्शनिक के 'जीवनोत्सव' और जीवनीशक्ति' (एलाँ विताल) सिद्धात ने और परिपुष्टि दी। यह वाद बाद मे हुस्सिर्ल सहजज्ञानाश्रित क्षणिकवाद दस्तायव्स्की और स्ट्रिडबर्ग के मानवात्मा के आविष्कार आदि के रूप मे दार्शनिक प्रतिष्ठा पाता रहा। फ्रायड के मनोविश्लेषण और चित्तविकलन के सिद्धातों ने, स्वप्न तथा अर्धचेतना के प्रतीकात्मक अर्थाभिव्यजन पद्धति ने अभिव्यजनावाद का और समर्थन किया। अभिव्यजनावादी लेखकों की अपनी विस्फोटक शैली होती है, वह सीधे वर्णनों के विरुद्ध है। उनकी भाषा तार (टेलीग्राम) की भाषा की तरह होती है, कभी कभी अधूरे वाक्यों, तुतलाहट आदि के रूपों मे असामाजिक अभिव्यक्तियों मे भी वह अपना आश्रय खोजती है। अभिव्यजनावादी बेजान चीजों को जिदा बनाकर बुलवाते है। यथा—'गगा के घाट यदि बोले', या 'बुजियों ने कहा' या 'गली के मोड़ पर लेटर बक्स, दीवार या म्यूनिसिपल लालटेन की बातचीत' आदि। उन्हे जीवन के वर्तमान से बेहद असतोष होता है, जीवित को वे मृत मानकर चलते है, मृत को जीवित बनाने का यत्न करते है। अभिव्यजनावादियों मे भी कई प्रकार है, कुछ केवल अध आवेग या चालनाशक्ति पर जोर देते है, कुछ बौद्धिकता पर, कुछ लेखकों ने मनुष्य और प्रकृति की समस्या को प्रधानता दी, कुछ ने मनुष्य और परमेश्वर की समस्या को। इस विचारपद्धति का सबसे

अधिक प्रभाव यूरोप के नाटय साहित्य और मंच पर पडा। १९१२ ई० मे सीर्जे के 'दि बेगर' या कैसर के 'फ्राम मार्निंग टिल मिडनाइट' ऐसे ही नाटक थे। अधिकतर अभिव्यंजनावादी लेखक हिटलर के अभ्युदय के साथ जर्मनी से निष्कासित कर दिए गए, यथा अर्नेस्ट टालर, अन्य कुछ लेखक, यथा जोहर्ट, हैनिके, लेर्श आदि, नात्सी बन गए।

सं०ग्रं०—एच० कार्टर दि न्यू स्पिरिट इन दि यूरोपियन थियेटर १९१४-२४(१९२६), आर० सैमुएल ऐंड आर०एच० थामस एक्स्प्रेशन इन जर्मन लाइफ, लिटरेचर ऐंड दि थियेटर, १९१०-२४ (१९३९), सी० ब्लैकवर्न 'काटिनेंटल इन्फ्लुएन्सेज ऑन यूजीन ओ' नील्स एक्स्प्रेसिव ड्रामाज, सी० ई० डब्ल्यू० ए० देहलस्ट्रोम स्ट्रिंडबर्ग्स ड्रैमैटिक एक्स्प्रेशनिज्म (१९३०)। (प्र० मा०)

अभिव्यक्ति का अर्थ विचारो के प्रकाशन से है। व्यक्तित्व के समायोजन के लिये मनोवैज्ञानिको ने अभिव्यक्ति को मुख्य साधन माना है। इसके द्वारा मनुष्य अपने मनोभावो को प्रकाशित करता तथा अपनी भावनाओ को रूप देता है। वर्तमान युग मे मनोविश्लेषण शास्त्र के विद्वानो ने व्यक्ति की अतृप्त इच्छाओ की अभिव्यक्ति के लिये कई विधियाँ बताई है। उनका कहना है कि विकृत मन को शांति देने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की कोई क्षति उसे ऐसा करने से रोके नही। इस कार्य के लिये आज पाश्चात्य देशो मे एक नवीन मानसशास्त्र का जन्म हो गया है तथा उसका प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् लोग व्यक्ति की समस्याओ को वैज्ञानिक ढग से सुधारने मे प्रयत्नशील हैं। (श० ना० उ०)

अभिश्लेषण (एग्लुटिनेशन) दो वस्तुओ का मिलाना। भाषाविज्ञान मे शब्दो के समेलन को अभिश्लेषण कहते है। भाषा मे पदो के द्वारा अर्थ का तथा परसर्ग आदि के द्वारा सबंध का बोध होता है। 'मर' शब्द मे 'मैं' (अर्थ तत्व) और 'का' (सबध तत्व) का अभिश्लेषण करके 'मेरा' शब्द बनाया गया है। इस अभिश्लेषण के आधार पर ही भाषाओ का आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है। चीनी भाषा मे अभिश्लेषण नही है किंतु तुर्की भाषा अभिश्लेषण का अच्छा उदाहरण है।

इसके तीन मुख्य भेद है—(१) प्रश्लिष्ट अभिश्लेषण (इनकारपोरेशन), इसमे दोनो तत्वो को अलग नही किया जा सकता। (२) अभिश्लिष्ट अभिश्लेषण (मिपुन एग्लुटिनेशन) मे अभिश्लिष्ट तत्व पृथक् दिखाई देते है। (३) श्लिष्ट अभिश्लेषण (इनफ्लेक्शन) मे यद्यपि अर्थतत्व मे विकार हो जाता है फिर भी सबध तत्व अलग मालूम होता है।

संस्कृत व्याकरण मे अभिश्लेषण की प्रक्रिया को सामर्थ्य कहते है। वहा इसके एकार्थी भाव और व्यपेक्षा से दो भेद माने गए है।

प्राचीन पाश्चात्य दर्शन मे दो विचारो के समन्वय के लिये इसका प्रयोग हुआ है।

चिकित्साशास्त्र मे द्रव पदार्थ मे बैक्टीरिया, सेल या जीवाणुओ के परस्पर सयोग के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है। (रा० पा०)

अभिषेक राजतिलक का स्नान जो राज्यारोहण को वैध करता था। कालातर मे राज्याभिषेक राजतिलक का पर्याय बन गया। अथर्ववेद मे अभिषेक शब्द कई स्थलो पर आया है और इसका सस्कारगत विवरण भी वहाँ उपलब्ध है। कृष्ण यजुर्वेद तथा श्रौत सूत्रो मे हम प्राय सर्वत्र 'अभिषेचनीय' सज्ञा का प्रयोग पाते है जो वस्तुत राजसूय का ही एक अग था, यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण को यह मत सभवत स्वीकार नही। उसके अनुसार अभिषेक ही प्रधान विषय है।

ऐतरेय ब्राह्मण ने अभिषेक के दो प्रकार बतलाए है (१) पुनरभिषेक (अष्टम ५-११), (२) ऐंद्र महाभिषेक (अष्टम, १२-२०)। इनमे से प्रथम का राजसूय से सबध जान पडता है, न कि यौवराज्य अथवा सिंहासनग्रहण से। ऐंद्र महाभिषेक अवश्य इद्र के राज्याभिषेक से सबधित है। उक्त ब्राह्मण ग्रथ मे ऐसे सम्राटो की सूची भी दी हुई है जिनका अभिषेक वैदिक नियम से हुआ था। ये है (१) जन्मेजय पारीक्षित, तुर कावषेय द्वारा अभिषिक्त, (२) शार्यात मानव, च्यवन भार्गव द्वारा अभिषिक्त, (३) शतानीक सात्राजित, सोम शुष्मण वाजरत्नायन द्वारा अभिषिक्त, (४) आंबष्ठ्य, पर्वत और नारद द्वारा अभिषिक्त, (५) युधाश्रुष्टि औग्रसैन्य, पर्वत और नारद द्वारा अभिषिक्त, (६) विश्वकर्मा च्यवन, कश्यप द्वारा अभिषिक्त, (७) सुदास पैजवन, वसिष्ठ द्वारा अभिषिक्त, (८) मरुत्त आविक्षित्त, सवर्त आंगिरस द्वारा अभिषिक्त, (९) अग उद्मय आत्रेय, (१०) भरत दौष्यंत, दीर्घतमस मामतेय। निम्नांकित राजा केवल सस्कार के ज्ञान से जयी हुए : (१) दुर्मुख पाचाल, बृहदुक्थ से ज्ञान पाकर, (२) अत्यराति जानंतपि (सम्राट् नही) वसिष्ठ सातहव्य से ज्ञान पाकर।

इन सूचियो के अतिरिक्त कुछ अन्य सूचियाँ प्रसिद्ध पाश्चात्य तत्वज्ञ गोल्डस्टकर ने दी है (द्र०, ऐतरेय ब्राह्मण, गोल्डस्टूकर द्वारा सपादित, गोल्डस्टूकर, डिक्शनरी, सस्कृत-इग्लिश, बर्लिन, लदन १८५६)।

आगे चलकर महाभारत मे युधिष्ठिर के दो बार अभिषिक्त होने का उल्लेख मिलता है, एक सभापर्व (२००,३३,४५) और दूसरा शांतिपर्व, १००,४०) मे।

मौर्य सम्राट् अशोक के सबध मे हम यह जानते हैं कि उसे यौवराज्य के पश्चात् चार वर्ष अभिषेक की प्रतीक्षा करनी पडी थी और इसी प्रकार हर्ष शीलादित्य को भी, जैसा 'महावश' एव युवान च्वाग के 'सि-यू की' नामक ग्रथो से ज्ञात होता है। कालिदास ने भी रघुवश के द्वितीय सर्ग मे अभिषेक का निर्देश किया है।

ऐतिहासिक वृत्तातो से ज्ञात होता है कि आगे चलकर राजसचिवो के भी अभिषेक होने लगे थे। हर्षचरित मे 'मूर्धाभिषिक्ता अमात्या राजान.' इस प्रकार का सकेत पाया जाता है। आगे चलकर अनेक ऐतिहासिक सम्राटो ने प्राय वैदिक विधान का आश्रय लेकर अभिषेक क्रिया सपादित की, क्योकि उसके बिना सम्राट् नही माना जाता था।

अभिषेक के कतिपय अन्य सामान्य प्रयोगो मे प्रतिमाप्रतिष्ठा के अवसर पर उसका आधान एक साधारण प्रक्रिया थी जो आजकल भी हिंदुओ मे भारत एव नेपाल मे प्रचलित है।

एक विशिष्ट अर्थ मे अभिषेक का प्रयोग बौद्ध 'महावस्तु' (प्रथम १२४ २०) मे हुआ है जहाँ साधना की परिणति दस भूमियो मे अतिम 'अभिषेक भूमि' मे बतलाई गई है।

वैदिक एव उत्तर वैदिक साहित्य मे अभिषेक का जो विधान दिया गया है वह निम्नलिखित है। प्राय अभिषेक के समय उसके कुछ पहले, अथवा उसके बीच मे सचिवो की नियुक्ति होती थी और इसी प्रकार अन्य राजरत्नो का निर्वाचन भी सपन्न होता था जिनमे साम्राज्ञी, हस्ति, श्वेतवाजि, श्वेतवृषभ मुख्य थे। उपकरणो मे श्वेतछत्र, श्वेतचामर, आसन (भद्रासन), सिंहासन, भद्रपीठ, पद्मासन, स्वर्णविरचित एव अजिनआवृत तथा मांगलिक द्रव्यो मे स्वर्णपात्र (अनेक स्थानो से लाए गए जल से भरे), मधु, दुग्ध, दधि, उदुबरदड एव अन्य वस्तुएँ रखी जाती थी। भारतीय अभिषेकविधान मे जिस उच्च कोटि के मांगलिक द्रव्य और उपकरण प्रयुक्त होते थे वैसे प्राचीन ईसाइयो अथवा सामी (सेमेटिक) राज्यारोहण की क्रियाओ मे नही होते थे।

इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि अभिषेक एक सिद्धात प्रक्रिया के रूप मे केवल इसी देश की स्थायी सपत्ति है, अन्य देशो मे इस प्रकार के सिद्धात इतने अस्पष्ट और उलझे हुए है कि उनका निश्चयात्मक सिद्धातस्वरूप नही बन पाया है, यद्यपि शक्तिसाधना और ऐश्वर्य की कामना रखनेवाले सभी सम्राटो ने किसी न किसी रूप मे स्नान, विलेपन को प्रतीक का रूप देकर इस सस्कार का आश्रय लिया है।

सं०ग्रं०—ऐतरेय ब्राह्मण, गोल्डस्टूकर डिक्शनरी ऑव सस्कृत ऐंड इग्लिश, बर्लिन ऐंड लदन, १८५६, इसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, भाग प्रथम, एडिन०, १९५५। (च० म०)

अभिसमय बौद्ध स्थविरवाद के सिद्धातो का वर्णन 'अभिधर्म' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु महायान के शून्यवादी माध्यमिक विकास के साथ ही प्रज्ञापारमिता को महत्व मिला और अधिधर्म के स्थान मे 'अभिसमय' शब्द का व्यवहार, विशेषत मैत्रेयनाथ के बाद, होने लगा। मैत्रेयनाथ ने 'प्रज्ञापारमिता' शास्त्र के आधार पर 'अभिसमयालंकार' शास्त्र

लिखा जो प्रज्ञापारमिता अथवा निर्वाण प्राप्त करने के मार्ग का उपदेश देता है। महायान में इस शास्त्र का अत्यधिक महत्व होना स्वाभाविक था क्योंकि उस संप्रदाय के अनुसार प्रज्ञापारमिता की साधना इसमें बताई गई है। प्रज्ञापारमिता शब्द का प्रयोग निर्वाण और निर्वाण का मार्ग इन दोनों अर्थों में होता है। तदनुसार 'अभिसमय' के भी ये दो अर्थ हैं। किंतु साध्य की अपेक्षा साधना, जो साध्य तक ले जाती है, साधकों के लिये विशेष महत्व की वस्तु होती है, अतएव 'निर्वाण की साधना का मार्ग' अर्थ में ही विशेष रूप से 'अभिसमय' शब्द प्रचलित हो गया है। 'अभिसमय' के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में साधनमार्ग का ही विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

सं०ग्रं०—अभिसमयालंकार के विविध संपादन तथा अनुवाद, ओवर मिलर ऐक्टा ओरिएंटालिया, खंड ११, कलकत्ता ओरिएंटल सिरीज, सं० २७। (द० मा०)

अभिसार भारतीय साहित्यशास्त्र का एक मान्य पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है नायिका का नायक के पास स्वयं जाना अथवा दूती या सखी के द्वारा नायक को अपने पास बुलाना। अभिसार में प्रवृत्त होनेवाली नायिका को 'अभिसारिका' कहते हैं। दशरूपक के अनुसार जो नायिका या तो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे (अभिसरेत्) अथवा नायक को अपने पास बुलावे (अभिसारयेत्) वह 'अभिसारिका' कहलाती है—कामार्ताऽभिसरेत् कांत सारयेद्वाऽभिसारिका (दशरूपक २।२७)। कुछ आचार्य अभिसारण का कार्य वासकसज्जा का ही निजी विशिष्ट व्यापार मानकर इसे अभिसारिका का आवश्यक लक्षण नहीं मानते, परंतु प्राचीन आचार्यों के मत के यह सर्वथा विरुद्ध है। भरत मुनि ने तो कांत के अभिसारण को ही अभिसारिका का प्रधान लक्षण अंगीकार किया है (अभिसारयते कांत सा भवेदभिसारिका।—नाट्यशास्त्र २४।२१२)। भावप्रकाश का भी यही मत है (चतुर्थ अधिकार, पृष्ठ १००–१०१)। कवियों की दृष्टि में अभिसारिका ही समस्त नायिकाओं में अत्यंत मधुर, आकर्षक तथा प्रेमाभिव्यंजिका होती है (सर्वतश्चाभिसारिका)।

अभिसारिका के भावों का विश्लेषण आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। मद अथवा मदन, सौंदर्य का अभिमान अथवा राग का उत्कर्ष ही अभिसारिका के व्यापार की मुख्य प्रेरक शक्ति है। प्रियतम से मिलने के लिये बेचैनी तथा उतावलेपन की मूर्ति बनी हुई यह नायिका सिंह से डरी हरिणी के समान अपनी चंचल दृष्टि इधर उधर फेंकती हुई मार्ग में अग्रसर होती है। वह अपने अंगों को समेटकर इस ढंग से पैर रखती है कि तनिक भी आहट नहीं होती (निःशब्दपदसंचरा)। हर डग पर शंकित होकर अपने पैरों को पीछे लौटाती है। जोरों से काँपती हुई पसीने से भीग उठती है। यह उसकी मानसिक दशा का जीता जागता चित्र है। वह अकेले सन्नाटे में पैर रखते कभी नहीं डरती। निःशब्द संचरण भी एक अभ्यस्त कला के समान अभ्यास की अपेक्षा रखता है। कोई भी प्रवीण नायिका इसे अनायास नहीं कर सकती। घर में ही भविष्यत् अभिसारिका को इसकी शिक्षा लेनी पड़ती है। वह अपने नूपुरों का जानुभाग तक ऊपर उठा लेती है (आजानुहृतनूपुरा) तथा आँखों को अपने करतल से बंद कर लेती है जिससे 'रजनी तिमिरावगुंठित' मार्ग में वह बंद आँखों से भी भली भाँति आसानी से जा सके। अभिसार काली रात के समय ही अधिकतर माना जाता है इसलिये यह नायिका अपने अंगों को नीले दुकूल से ढक लेती है (नीलनिचोल-दुकूलिनी) तथा प्रत्येक अंग में कस्तूरी से पत्रावलि बना डालती है। उसकी भुजाओं में नीले रत्न के बने कंकण रहते हैं। कंठ में 'अबुसार' (प्राचीन आभूषणविशेष) की पंक्ति रहती है और ललाट पर केश की मंजरी सी लटकती रहती है। अभिसारिका का यही सुभग वेश कवियों की सरस लेखनी द्वारा बहुशः चित्रित किया गया है।

अभिसारिका के अनेक प्रकार साहित्य में वर्णित हैं। भावप्रकाश (पृष्ठ १०१) में स्वभावानुसार तीन भेद बतलाए गए हैं, परांगना, वेश्या तथा प्रेष्या (दासी)। अभिसारिका का लोकप्रिय विभाजन पाँच श्रेणी में बहुशः किया गया है, (१) ज्योत्स्नाभिसारिका, जो छिटकी चाँदनी में अपने प्रियतम से निर्दिष्ट स्थान पर मिलने जाती है। इसके वस्त्र, आभूषण, अंगराग आदि समस्त प्रयुक्त वस्तुएँ उजले रंग की होती हैं और इसीलिये यह 'शुक्लाभिसारिका' भी कही जाती है। (२) तमोऽभिसारिका (या कृष्णाभिसारिका)—अँधेरी रात में अभिसरण करनेवाली नायिका। (३) दिवाभिसारिका—दिन के धवल प्रकाश में अभिसरण के निमित्त इसके आभूषण सुवर्ण के बने होते हैं तथा पीली साड़ी इसके शरीर को सूरज के धूप में अदृश्य सी बनाती है। (४) गर्वाभिसारिका तथा (५) कामाभिसारिका में समय का निर्देश न होकर नायिका के स्वभाव की ओर स्पष्ट संकेत है।

अभिसार के मंजुल वर्णन कवियों की लेखनी से तथा रोचक चित्रण चित्रकारों की तूलिका के द्वारा अत्यंत सुंदरता से प्रस्तुत किए गए हैं। राधिका का लीलाभिसार वैष्णव कवियों का लोकप्रिय विषय रहा है जिसका वर्णन गीतगोविंद जैसे संस्कृत काव्य में तथा सूरदास, विद्यापति और ज्ञानदास के पदों में अत्यंत आकर्षक शैली में हुआ है। राजपूत तथा कांगड़ा शैली के चित्रकारों ने भी अभिसार का अंकन अपने चित्रों में किया है। (ब० उ०)

अभिहितान्वयवाद कुमारिल मीमांसा और न्याय दर्शन में स्वीकार किया गया है कि शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। एक शब्द स्वार्थबोधन के लिये दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं करता। वाक्य स्वतंत्र अर्थबोधन करनेवाले शब्दों का समूह होता है। स्वार्थबोधन करने के बाद शब्द वाक्य में अन्वित होते हैं। यह सिद्धांत अन्विताभिधानवाद का ठीक उल्टा है। इसके अनुसार भाषा की इकाई शब्द ही है, वाक्य इकाइयों का समुदाय मात्र है। प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् अर्थ होता है। चूँकि प्रकृति व्यवहार में प्रचलित है अतः वह स्वतंत्र रूप से अर्थबोधन करती है। प्रत्यय लोकप्रचलित नहीं है अतः उसमें लोक में स्वतंत्र अर्थबोधन नहीं होता। फिर भी व्याकरण में प्रत्यय का वैसा ही स्वतंत्र अर्थ है जैसा प्रकृति का। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का पारस्परिक संबंध विशेषण-विशेष्य-भाव के रूप में होता है और इसको प्रकारतावाद कहते हैं। (रा० पा०)

अभोरर्स प्रोटेस्टेंट मतावलंबी लार्ड चासलर शैफ्ट्सबरी ने कैथोलिक मत के प्रसार का अवरोध करने तथा यार्क के ड्यूक जेम्स का उत्तराधिकार अवैध घोषित करने के लिये आंदोलन संगठित किया। जेम्स को सिंहासन से वंचित करने के लिये पार्लियामेंट में एक्स्क्लूजन बिल प्रस्तुत किया गया। बिल को विफल करने के लिये चार्ल्स द्वितीय ने १६७९ में पार्लियामेंट भंग कर दी, फिर उसी वर्ष अक्टूबर में नई निर्वाचित पार्लियामेंट भी वर्ष भर के लिये स्थगित कर दी। शैफ्ट्सबरी के आंदोलन के फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों ने पार्लियामेंट फिर से बुलाने के लिये सम्राट् के समुख प्रार्थनापत्र भेजे। प्रतिकार रूप में सर जार्ज जेफ्री और फ्रांसिस विथेस ने सम्राट् के समक्ष इस कार्य का घृणात्मक विरोध प्रदर्शित करते हुए निवेदनपत्र भेजा। इस समय चार्ल्स की लोकप्रियता में वृद्धि तथा शैफ्ट्सबरी के अनुचित कार्यों के कारण जनता में से भी अनेक व्यक्तियों ने प्रार्थियों के विरुद्ध आवेदन किया। जिन व्यक्तियों ने इस प्रकार के घृणात्मक विरोध का प्रदर्शन किया था उन्हें अभोरर्स कहा गया। बाद में इन्हें व्यंग रूप में टोरी संज्ञा प्राप्त हुई, तथा प्रार्थी दल को ह्विग संज्ञा। (रा० ना०)

अभ्युदय सांसारिक सौख्य तथा समृद्धि की प्राप्ति। महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा में अभ्युदय की सिद्धि को भी परिगणित किया है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, वैशेषिक सूत्र १।१।२)। भारतीय धर्म की उदार भावना के अनुसार धर्म केवल मोक्ष की सिद्धि का ही उपाय नहीं, प्रत्युत ऐहिक सुख तथा उन्नति का भी साधन है। इसलिये वैदिक धर्म में अभ्युदय काल में श्राद्ध का विधान विहित है। रघुनंदन भट्टाचार्य ने अभ्युदय श्राद्ध को दो प्रकार का माना है : भूत जो पुत्रजन्मादि के समय होता है और भविष्यत् जो विवाहादि के अवसर पर होता है। सारांश यह है कि वैदिक धर्म केवल परलोक की ही शिक्षा नहीं देता, प्रत्युत वह इस लोक को भी व्यवहार की सिद्धि के लिये किसी भी तरह उपेक्षणीय नहीं मानता। (ब० उ०)

अभ्रक (अंग्रेजी में माइका) एक खनिज है जिसे बहुत पतली पतली परतों में चीरा जा सकता है। यह रंगरहित या हलके पीले, हरे या काले रंग का होता है। यह शिलानिर्माणकारी खनिज है। अभ्रक को दो

वर्गों मे विभाजित किया जाता है : (१) मस्कोवाइट वर्ग, (२) बायोटाइट वर्ग ।

१. मस्कोवाइट वर्ग मे तीन जातियाँ है
मस्कोवाइट : हा$_2$ पाऐ$_3$ (सिऔ)$_3$
पैरागानाइट . हा$_2$ सोऐ$_3$ (सिऔ$_4$)$_3$
लैपिडोलाइट : पाले [ऐ(औहा, फ्ला)$_2$] ऐ(सिऔ$_3$)$_3$

२. बायोटाइट वर्ग मे भी तीन जातियाँ हैं
बायोटाइट (हापो)$_2$ (मैलो)$_2$ (ऐलो$_2$) (सिऔ$_4$)$_3$
फ्लागोपाइट . हापा (मै,फ्लो मै$_3$ ऐ(सिऔ$_4$)$_3$
ज़िनवल्डाइट : (पालि)$_3$ [ऐ(औहा, फ्लो)$_2$] लोऐ$_2$ सि$_5$ औ$_{16}$

[हा = हाइड्रोजन, पो = पोटैसियम, ऐ = ऐल्यूमिनियम, सि = सिलिकन, औ = ऑक्सिजन, सो = सोडियम, लि = लीथियम, फ्लो = फ्लोरीन, मै$_n$ = मैगनीशियम, लो = लोह) ।

इन दोनों जातियों के मुख्य खनिज क्रमश श्वेताभ्रक तथा कृष्णाभ्रक है ।

खनिजात्मक गुण—पूर्वोक्त दोनों प्रकार के खनिजो के गुण लगभग एक से ही है । रासायनिक सगठन मे थोड़ा सा भेद होने के कारण इनके रग मे अतर पाया जाता है। श्वेताभ्रक को पोटैसियम अभ्रक तथा कृष्णाभ्रक को मैगनीशियम और लौह अभ्रक कहते हैं । श्वेताभ्रक मे जल की मात्रा ४ से ६ प्रतिशत तक विद्यमान रहती है ।

अभ्रक वर्ग के सभी खनिज मोनोक्लिनिक समुदाय में स्फुटीय होते है। अधिकतर ये परतदार आकृति मे पाए जाते है। श्वेताभ्रक की परतें रगहीन, अथवा हल्के कत्थई या हरे रग की होती है । लोहे की विद्यमानता के कारण कृष्णाभ्रक का रग कालापन लिए होता है। इन खनिजो की सतह चिकनी तथा मोती के समान चमकदार होती है । एक दिशा मे इन खनिजो की परतों को बडी सुविधा से अलग किया जा सकता है। ये परतें बहुत नम्य (फ्लेक्सिबुल) तथा प्रत्यस्थ (इलैस्टिक) होती है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि हम एक इच के हजारवे भाग के बराबर मोटाई की परत ले और उसे एक चौथाई इच व्यास के बेलन के आकार मे मोड़ डाले तो अपनी प्रत्यास्थता के कारण वह पुन. फैलकर समतल हो जायगी । इन खनिजों की कठोरता २ से ३ तक है। थोड़े से दबाव से यह नाखून से खुरचे जा सकते है । इनका आपेक्षिक घनत्व २.७ से ३.१ तक होता है ।

अभ्रक वर्ग के खनिजो पर अम्लो का कोई प्रभाव नही पड़ता । अभ्रक ऐल्यूमिनियम तथा पोटैसियम के जटिल सिलिकेट है, जिनमे विभिन्न मात्रा मे मैगनीशियम तथा लोह एव सोडियम, कैल्सियम, लीथियम, टाइटेनियम, क्रोमियम तथा अन्य तत्व भी प्राय. विद्यमान रहते है । मस्कोवाइट सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभ्रक है। यद्यपि मस्कोवाइट सर्वाधिक सामान्य शिलानिर्माता (रॉक-फॉर्मिंग) खनिज है तथापि इसके निक्षेप, जिनसे उपयोगी अभ्रक प्राप्त होता है, केवल भारत तथा ब्राज़ील के कुछ सीमित क्षेत्रो मे पिगमेटाइट पट्टिकाओं (वेस) मे ही विद्यमान है। सपूर्ण ससार की आवश्यकता का ८० प्रतिशत अभ्रक भारत मे ही मिलता है ।

प्राप्तिस्थान—अभ्रक के उत्पादन मे भारत अग्रगण्य देश है, यद्यपि यह कैनाडा, ब्राज़ील आदि देशो मे भी प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होता है, तथापि वहा का अभ्रक अधिकाशत छोटे आकार की परतो मे अथवा चूरे के रूप मे मिलता है । बड़ी स्तरवाले अभ्रक के उत्पादन मे भारत को ही एकाधिकार प्राप्त है ।

अभ्रक की पतली पतली परतो मे भी विद्युत् रोकने की शक्ति होती है और इसी प्राकृतिक गुण के कारण इसका उपयोग अनेक विद्युत्यन्त्रो मे अनिवार्य रूप से होता है । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योगो मे भी अभ्रक का प्रयोग होता है । बायोटाइट अभ्रक कतिपय ओषधियो के निर्माण मे प्रयुक्त होता है ।

बिहार की अभ्रकपेटिका पश्चिम मे गया जिले से हज़ारीबाग तथा मुगेर होती हुई पूरब मे भागलपुर जिले तक लगभग ९० मील की लंबाई और १२-१६ मील की चौड़ाई मे फैली हुई है । इसका सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्र कोडर्मा तथा आसपास के क्षेत्रों में सीमित है। भारतीय अभ्रकशिलाएँ सुभाजा (शिस्ट) हैं, जिनमें अनेक परिवर्तन हुए हैं । अभ्रक मुख्यत पुस्तक के रूप मे प्राप्त होता है । इस समय बिहार क्षेत्र मे ६०० से भी अधिक छोटी बडी अभ्रक की खाने हैं । इन खानो मे अनेक की गहराई ७०० फुट तक चली गई है । बिहार मे अत्युत्तम जाति का लाल (रूबी) अभ्रक पाया जाता है जिसके लिये यह प्रदेश सपूर्ण ससार मे प्रसिद्ध है ।

आध्र मे नेल्लोर जिले की अभ्रकपेटिका दुर तथा सगम के मध्य स्थित है । इसकी लबाई ६० तथा चौड़ाई ८-१० मील है । इस पेटिका मे अनेक स्थानो पर अभ्रक का खनन होता है । यद्यपि अधिकाश अभ्रक का वर्ण हरा होता है, तथापि कुछ स्थानो पर 'बगाल रूबी' के समान लाल वर्ण का कुछ अभ्रक भी प्राप्त होता है ।

भारतीय अभ्रक के उत्पादन मे राजस्थान का द्वितीय स्थान है। राजस्थान की अभ्रमकय पेटिका जयपुर से उदयपुर तक फैली है तथा उसमे पिगमेटाइट मिलते है । कुछ अल्प महत्व के निक्षेप अलवर, भरतपुर, भीमत तथा डूंगरपुर मे भी मिले है । राजस्थान से प्राप्त अभ्रक मे से केवल अल्पाश ही उच्च कोटि का होता है, अधिकाश मे या तो धब्बे होते है अथवा परते टूटी या मुडी होती है ।

बिहार, राजस्थान और आध्र के विशाल अभ्रकक्षेत्रो के अतिरिक्त कुछ मस्कोवाइट बिहार के मानभूम, सिहभूम तथा पालामऊ जिलो मे भी मिलता है। इसी प्रकार अधोवर्ग का कुछ अभ्रक उडीसा के सबलपुर, आँगुल तथा ढेंकानल मे पाया गया है। आध्र में कुडप्पा, तथा मद्रास मे सलेम, मालाबार तथा नीलगिरि जिलों मे भी अभ्रक के निक्षेप है, किंतु ये अधिक महत्व के नही। मैसूर के हसन तथा मैसूर और पश्चिम बगाल के मेदिनीपुर तथा बाँकुडा जिलो मे भी अल्प मात्रा मे अभ्रक पाया गया है ।

उपयोगिता—यद्यपि देश मे अभ्रक अति प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है, तथापि इसका अधिकांश कच्चे माल के रूप में विदेशो को भेज दिया जाता है। हमारे अपने उद्योग मे इसकी खपत प्राय नही के बराबर है । इसमे सदेह नही कि अधिक मात्रा मे निर्यात के कारण इस खनिज द्वारा विदेशी मुद्रा का उपार्जन यथेष्ट हो जाता है, किंतु यदि इसको देश मे ही परिष्कृत पदार्थ का रूप दिया जा सके तो और भी अधिक आय होने की सभावना है ।

व्यापार की दृष्टि से अभ्रक के दो खनिज श्वेताभ्रक और फ्लोगोपाइट अधिक महत्वपूर्ण है । अभ्रक का प्रयोग बडी बडी चादरो के रूप मे तथा छोटे छोटे टुकडो या चूर्ण रूप मे होता है । बडी बडी परतोवाला अभ्रक मुख्यतया विद्युत् उद्योग मे काम आता है। विद्युत् का असवाहक होने के कारण इसका उपयोग कडेसर, कम्यूटेटर, टेलीफोन, डायनेमो आदि के काम मे होता है । पारदर्शक तथा तापरोधक होने के कारण यह लैंप की चिमनी, स्टोव, भट्ठियो आदि मे प्रयुक्त होता है । अभ्रक के छोटे छोटे टुकडों को चिपकाकर माइकानाइट बनाया जाता है । अभ्रक के छोटे छोटे टुकडे रबड उद्योग मे, रग बनाने मे, मशीनों मे चिकनाई देने के लिये तथा मानपत्रो आदि की सजावट के काम आते है ।

सं०ग्रं०—एच० एच० रीड . रटलीज़ एलिमेंट्स ऑव मिनरालॉजी (१९४२); जे० कॉगिन ब्राउन तथा ए० के० डे . इडियाज़ मिनरल वेल्थ (१९५५) ; टी० एच० हॉलैंड दि माइका डिपॉज़िट्स ऑव इडिया (मेमॉयर्स, जिओलोजिकल सरवे ऑव इडिया, खड ३४, सन् १९०२) ।
(म० ना० मे०)

आयुर्वेद में अभ्रक—सस्कृत मे जिसे अभ्रक कहते है वही हिंदी मे अबरक, बँगला मे अभ्र, फारसी मे सितारा ज़मीन तथा लैटिन और अंग्रेजी मे माइका कहलाता है। काले रग का अभ्रक आयुर्वेदिक ओषधि के काम मे लेने का आदेश है। साधारणत अग्नि का इसपर प्रभाव नही होता, फिर भी आयुर्वेद में इसका भस्म बनाने की रीतियाँ हैं। यह भस्म शीतल, धातुवर्धक और त्रिदोष, विषविकार तथा कृमिदोष को नष्ट करनेवाला, देह को दृढ़ करनेवाला तथा अपूर्व शक्तिदायक कहा गया है । क्षय, प्रमेह, बवासीर, पथरी, मूत्राघात इत्यादि रोगो मे यह भस्म लाभदायक कहा गया है । (भ० दा० व०)

अभ्रक एक जटिल सिलिकेट यौगिक है। इसकी संरचना निश्चित नहीं रहती। इसमें पोटैशियम, सोडियम और लिथियम जैसे क्षारीय पदार्थ भी मिले रहते हैं। आग्नेय चट्टानों में प्राय अभ्रक पाया जाता है। वायु तथा धूप आदि से प्रभावित होकर कभी कभी सिलिकेट खनिज भी अभ्रक में बदल जाता है।

अभ्रक ऊष्मा तथा विद्युत् का कुचालक है। यही गुण इसके व्यापारिक महत्व का आधार है। पवनमापी यंत्र तथा उत्तम कोटि के दर्पण अभ्रक की सहायता से बनाए जाते हैं। बायलर के जैकेट के आवरण बनाने में भी इसका उपयोग होता है। विद्युत्यंत्र तथा उपकरण, जैसे डायनमो, आर्मेचर, हीटर, टेलीफोन के डायल बनाने में भी इसका उपयोग होता है। रेडियो, वायुयान तथा मोटर इंजन के पुर्जों में भी अभ्रक का उपयोग बढ़ता जा रहा है। इससे खाद भी बनाई जाती है।

अभ्रक पारदर्शक होता है। साथ ही ताप के आकस्मिक उतार चढ़ाव का भी इसपर अधिक असर नहीं होता है। इसलिये यह भट्ठियों में अग्निनिरोधक पलस्तर करने के काम आता है। रंगहीन पारदर्शक कागज, विभिन्न प्रकार के खिलौने, रंगमंच के पर्दों की सजावट तथा चमकीले पेंट कलर भी अभ्रक की सहायता से बनाए जाते हैं।

आयुर्वेद चिकित्सा में अभ्रक भस्म काफी प्रचलित औषधि है जो क्षय, प्रमेह, पथरी आदि रोगों के निदान में प्रयुक्त होती है। (नि० सि०)

अभ्रप्रकोष्ठ (क्लाउड चेंबर) उपकरण का आविष्कार स्काटलैंड के वैज्ञानिक सी० टी० आर० विल्सन ने किया है। नाभिकीय अनुसंधानों में यह बहुत उपयोगी उपकरण है। इसकी सहायता से परमाणु विखंडन अनुसंधानों में वैज्ञानिकों को कण की उपस्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता रहता है।

अभ्र प्रकोष्ठ में काँच का एक बेलनाकार कोष्ठक रहता है जिसका व्यास लगभग एक फुट होता है। कोष्ठक का आयतन एक पिस्टन द्वारा घटाया बढ़ाया जा सकता है। कोष्ठक के भीतर वाष्प भरी रहती है। वाष्प का आयतन एकाएक बढ जाने पर उसका ताप कम हो जाता है। इसके लिये विल्सन ने पिस्टन के नीचे का स्थान निर्वात कर दिया जिससे पिस्टन शीघ्र नीचे आ जाता है और आयतन एकाएक बढ जाता है।
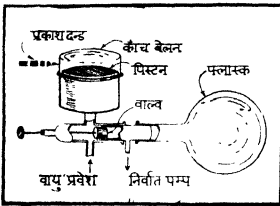
विल्सन का नया अभ्रप्रकोष्ठ

कोष्ठक के भीतर वाष्प का आयतन बढ़ने पर जब उसका ताप घटता है तब वाष्प अभ्र में परिवर्तित हो जाती है। इस वाष्प को अभ्र में परिवर्तित होने के लिये नाभिकों की आवश्यकता होती है। इस समय अल्फा या अन्य आवेशयुक्त कण कोष्ठक में प्रवेश करें तो उनके मार्ग का चित्र बन जाएगा। उसके मार्ग को दृश्य बनाने के लिये कोष्ठक को पारद-चाप-दीप द्वारा प्रकाशित करते हैं। कोष्ठक की पेंदी काली रहती है, जिससे काली पृष्ठभूमि पर अभ्रमार्ग सरलता से दिखाई पड़े। कोष्ठक के ऊपर कैमरा लगा रहता है जिससे चित्र लिया जाता है।

परमाणु विखंडन के अधिकांश प्रयोगों का निरीक्षण अभ्रकोष्ठक द्वारा किया गया। परमाणुनाभिक क्रियाओं की खोज भी इसी उपकरण द्वारा संभव हुई। (नि० सि०)

अमर अथवा अमरचंद नाम के कई व्यक्तियों के उल्लेख प्राप्य है—

(१) परिमल नामक संस्कृत व्याकरण के रचयिता।

(२) वायडगच्छीय जिनदत्त सूरि के शिष्य। इन्होंने कलाकलाप, काव्य-कल्पलता-वृत्ति, छंदोरत्नावली, बालभारत आदि संस्कृत ग्रंथों का प्रणयन किया।

(३) विवेकविलास के रचयिता। ईसा की १३वीं शताब्दी में यह विद्यमान थे। (कै० च० श०)

अमरकंटक अमरकंटक पहाड़ तथा नगर मध्य प्रदेश में स्थित है। समुद्रतल से नगर की ऊँचाई ३,४९३ फुट है तथा स्थिति अ० २२°४०'१५" उ० और दे० ८१°४८'१०" पू० है।

अमरकंटक पहाड़ सतपुड़ा श्रेणी का ही एक अंश है तथा इसका ऊपरी भाग एक विस्तृत पठार सा है। इस पहाड़ पर कई मंदिर हैं जो पुण्यसलिला नर्मदा के उद्गमस्थल के चारों ओर स्थित हैं। इसके आसपास बहुत से निर्झर हैं। नर्मदा के उद्गमस्थल के पास एक कुंड है। शोण नदी भी इसी के पास से निकली है। इन नदियों का उद्गमस्थल होने के कारण यह हिंदुओं के लिये प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है और प्रति वर्ष लाखों यात्री यहाँ दर्शन करने आते हैं। इसका प्राकृतिक सौंदर्य बहुत ही मनोरम है और जलवायु भी अच्छी है। इस कारण कई पर्यटक तथा जलवायु परिवर्तन के इच्छुक भी यहाँ प्रति वर्ष आते हैं। (वि० मु०)

अमरकोश संस्कृत के कोशों में अमरकोश अति लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। अन्य संस्कृत कोशों की भाँति अमरकोश भी छंदोबद्ध रचना है। इसका कारण यह है कि भारत के प्राचीन पंडित 'पुस्तकस्था' विद्या को कम महत्व देते थे। उनके लिये कोश का उचित उपयोग वही विद्वान् कर पाता है जिसे वह कंठस्थ हो। श्लोक शीघ्र कंठस्थ हो जाते हैं। इसलिये संस्कृत के सभी मध्यकालीन कोश पद्य में हैं। इतालीय पंडित पावोलीनी ने सत्तर वर्ष पहले यह सिद्ध किया था कि संस्कृत के ये कोश कवियों के लिये महत्वपूर्ण तथा काम में कम आनेवाले शब्दों के संग्रह हैं। अमरकोश ऐसा ही एक कोश है। इसका वास्तविक नाम अमरसिंह के अनुसार 'नामलिंगानुशासन' है। नाम का अर्थ यहाँ संज्ञा शब्द है। अमरकोश में संज्ञा और उसके लिंगभेद का अनुशासन या शिक्षा है। अव्यय भी दिए गए हैं, किंतु धातु नहीं हैं। धातुओं के कोश भिन्न होते थे (द्र० काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन आदि)। हलायुध ने अपना कोश लिखने का प्रयोजन 'कविकंठविभूषणार्थम्' बताया है। धनंजय ने अपने कोश के विषय में लिखा है, 'मैं इसे कवियों के लाभ के लिये लिख रहा हूँ, (कवीनां हितकाम्यया) अमरसिंह इस विषय पर मौन हैं, किंतु उनका उद्देश्य भी यही रहा होगा। अमरकोश में साधारण संस्कृत शब्दों के साथ साथ असाधारण नामों की भरमार है। आरंभ ही देखिए—देवताओं के नामों में 'लेखा' शब्द का प्रयोग अमरसिंह ने कहाँ देखा, पता नहीं। ऐसे भारी भरकम और नाममात्र के लिये प्रयोग में आए शब्द इस कोश में संगृहीत हैं, जैसे—देवद्र्यङ् या विश्वद्र्यङ् (३,३४)। कठिन, दुर्लभ और विचित्र शब्द ढूढ ढूँढकर रखना कोशकारों का एक कर्तव्य माना जाता था। नमस्या (नमाज या प्रार्थना) ऋग्वेद का शब्द है (२,७,३४)। द्विवचन में नासत्या, ऐसा ही शब्द है। अमरकोश में कतिपय प्राकृत शब्द भी संस्कृत समझकर रख दिए गए हैं। मध्यकाल के इन कोशों में, उस समय प्राकृत शब्दों के अत्यधिक प्रयोग के कारण, कई प्राकृत शब्द संस्कृत माने गए हैं, जैसे—छुरिका, ढक्का, गर्गरी (दे० प्रा० गग्गरी), डुलि, आदि। बौद्ध-विकृत-संस्कृत का प्रभाव भी स्पष्ट है, जैसे—बुद्ध का एक नामपर्याय अर्कबंधु। बौद्ध-विकृत-संस्कृत में बताया गया है कि अर्क किसी पहले जन्म में बुद्ध का नाम था। अत न मालूम कैसे अमरसिंह ने अर्कबंधु नाम भी कोश में दे दिया। बुद्ध के 'सुगत' आदि अन्य नामपर्याय ऐसे ही हैं। इस कोश में प्राय दस हजार नाम हैं, जहाँ मेदिनी में केवल साढ़े चार हजार और हलायुध में आठ हजार हैं। इसी कारण पंडितों ने इसका आदर किया और इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई है। (इ० जा०)

अमरत्व दर्शन और धर्म मे प्रयुक्त शब्द। भौतिक और दृष्ट जगत् मे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होकर, कुछ काल रहकर, नष्ट हो जानेवाली दिखाई पडती है। दार्शनिको का मत है कि जगत् के अतर्गत सभी वस्तुओ मे छह विकार होते है—उत्पत्ति, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश। ऐसा चारो ओर अनुभव होने पर भी मनुष्य यह समझता है कि उसमे कोई एक ऐसा आत्मतत्व है जो इन छह भावविकारो से रहित है, अर्थात् जो अजन्मा, अजर और अमर है। भारतीय दर्शनो मे चार्वाक दर्शन को छोडकर प्राय सभी दर्शनो मे आत्मा के अमरत्व की कल्पना हुई है। बौद्ध दर्शन भी, जो आत्मा को कोई विशेष पदार्थ नही मानता, मृत्यु के पश्चात् जीवन, पुनर्जन्म और निर्वाण को मानता है।

अमरत्व (अर्थात् मृत्युरहितता) की कल्पना के अतर्गत दो बातें आती है

(१) भौतिक शरीर की मृत्यु (नाश) हो जाने पर भी आत्मतत्व का किसी न किसी रूप मे कही न कही अस्तित्व, एव (२) आत्मा का षड्भावविकारो से सदैव मुक्त रहना और कभी भी मृत्यु का अनुभव न करना।

अमरत्व सिद्ध करने के लिये जो अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जाती है उनमे से कुछ ये है—(१) **धार्मिक युक्ति** प्राय सभी धर्मों के आदिग्रथ आत्मा को अमर बतलाते है और मृत्यु के पश्चात् भौतिक शरीर से छुटकारा पाने पर आत्मा के किसी दूसरे लोक—स्वर्ग, नरक, ईश्वर के धाम अथवा फिर इसी लोक के दूसरे स्थान मे जाने का सकेत करते है। हिंदू, बौद्ध, जैन आदि सभी भारतीय धर्मों मे आत्मा के पुनर्जन्म की कल्पना मिलती है।

(२) **दार्शनिक युक्ति**—कुछ वैज्ञानिको और दार्शनिको ने मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण और विचार करके यह निश्चित किया है कि क्षण क्षण बदलनेवाले इस भौतिक शरीर मे और इससे अतिरिक्त अस्तित्व और स्वरूपवाला एक ऐसा तत्व है जो षड्भावविकारो से परे, इन सब विकारो का द्रष्टा, सदा वही का वही रहनेवाला, शरीर को अपने प्रयोग मे लानेवाला और शरीर के द्वारा भौतिक जगत् मे कार्य करनेवाला है जिसे आत्मा कहते है। जैसे कोई व्यक्ति अपने फटे पुराने कपडो को त्यागकर नए कपडे पहन लेता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण शरीर को त्यागकर दूसरे नवीन शरीर को अपना लेती है। वह आत्मा अमर है।

(३) **परामनोवैज्ञानिक युक्ति**—आजकल के वैज्ञानिक युग मे वैज्ञानिक रीति और साधनो द्वारा मानव व्यक्तित्व की अद्भुत शक्तियो का विशेष अध्ययन किया जा रहा है। इसके लिये सन् १८८२ मे एक विशेष सस्था साईकिकल रिसर्च सोसाइटी का निर्माण हुआ था। उसने बहुत सी विचित्र खोजे की और आज इस प्रकार की खोजो के आधार पर एक नया विज्ञान, जिसको परामनोविज्ञान (पैरासाइकोलॉजी) कहते है, उत्पन्न हो गया है, जिसका निर्णय यह है कि मनुष्य मे अद्भुत और अतुल मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ है जिनका शरीर से बहुत कम सबध है और जो इस बात की द्योतक है कि मानव मे कोई 'मन' अथवा 'आत्मा' नामक ऐसा तत्व है जो शरीर की सीमाओ मे बद्ध न रहकर भी कार्य करता है और जो देश और काल के बधनो से मुक्त है तथा जो शरीर से अलग हो सकता है और उसके बिना भी कार्य कर सकता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर उस तत्व के अस्तित्व का प्रमाण भी मिलता है। यदि शरीर के अतिरिक्त और शरीर से अलग होकर भी आत्मतत्व जैसा कोई पदार्थ वर्तमान रहता है और कार्य कर सकता है तो उसके अमर होने मे बहुत कम सदेह रह जाता है।

(४) **नैतिक और मूल्यात्मक युक्ति**—भारतीय दर्शनो मे आत्मा के अमरत्व की यह एक प्रबल युक्ति दी जाती है कि यदि हम केवल मरणशील और जन्मजात शरीर मात्र है तो हमारे किए हुए पाप और पुण्य का हमको कोई बुरा भला फल नही चखना पडेगा क्योकि मरने पर सब कुछ नष्ट हो जायगा, फल भोगनेवाला रहने का ही नही (कृतनाश)। बचपन मे हमको जो सुख दुःख होते है वे हमारे किए हुए बुरे भले कामो के फल नही होते (अकृतोपभोग) और ससार मे किसी प्रकार का न्याय नही होगा। एक जीवन मे सब कर्मों का फल नही मिल सकता और न सब भोगो के कारण भूतकर्म ही होते हैं, अतएव यदि ससार मे न्याय है और भले कामो का फल भला और बुरे कामो का फल बुरा होता है तो जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् कर्म करनेवाली और फल भोगनेवाली आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करना ही होगा। इस ससार मे यह भी देखने मे आता है कि पापी लोग सुखी और पुण्यात्मा लोग दुःखी रहते है। यदि आत्मा अमर है तो इस स्थिति का प्रतिकार दूसरे जन्म मे अथवा परलोक (स्वर्ग, नरक) मे हो सकता है।

एक सासारिक जीवन मे कोई भी व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्यो—सत्य, कल्याण और सौदर्य—को प्राप्त नही कर सकता। इनकी प्राप्ति की सबमे उत्कट इच्छा रहती है, अतएव आत्मा जन्मजन्मातरो मे प्रयत्न करके इनकी प्राप्ति कर सकेगा। यह मानना पडेगा या यह कहना होगा कि शिव और सुदर की पिपासा मृगतृष्णा मात्र है।

(५) **पूर्वजन्म स्मरण की युक्ति**—कभी कभी छोटे बच्चो को अपने पूर्वजन्म और उसकी विशेष परिस्थितियो की याद आ जाती है और खोज करने पर वे सत्य पाई जाती है, भारत और यूरोप मे ऐसी कई घटनाओ की खोज की गई है। यदि ऐसी एक भी घटना सच्ची है तो यह निश्चय है कि मृत्यु और जन्म आत्मा पर आघात नही कर सकते। आत्मा अमर है।

आत्मा के अमरत्व के विरोध मे भी अनेक युक्तियाँ दी जाती है। विशेषत यह कि उस अमरत्व से क्या लाभ है और उसका क्या अर्थ है जिसका हमको स्वय ज्ञान नही है। कर्म के भले बुरे फल मिलने से हमारा लाभ तभी हो सकता है जब हमको यह ज्ञान रहे कि हमको अमुक कर्म करने का अमुक फल मिल रहा है।

मानव अमर है अथवा नश्वर, वस्तुत यह एक ऐसी समस्या है जिसके खडन और मडन पक्षो मे बहुत कुछ कहा जा सकता है और जिसका निर्भ्रांत निर्णय करना कठिन है।

सं० ग्रं०—जेम्स मर्चेंट द्वारा सपादित इमॉर्टेलिटी, मर्चेंट द्वारा सपादित सर्वाइवल, अर्नेस्ट हट 'इ वि सरवाइव डेथ ?', इसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐड एथिक्स, हेस्टिग्ज द्वारा सपादित, मे 'इमॉर्टेलिटी' विषयक लेख। (भी० ला० आ०)

अमरदास गुरु सिक्खो के तीसरे गुरु। अमृतसर से कुछ दूर बसरका गाँव के खत्रियो की भल्ला शाखा के तेजभान नामक व्यक्ति के सबसे बडे पुत्र अमरू या अमरदास का जन्म वैशाख शुक्ल १४, स० १५३६ (सन् १४७९ ई०) को हुआ। खेती और व्यापार इनकी जीविका थी। प्रारभ मे ये वैष्णव सप्रदायानुयायी थे किंतु असतोष की स्थिति मे गुरु नानक का एक पद सुनकर ये उन्हा के शिष्य तथा सिक्खो के दूसरे गुरु अगद से मिलने गए और उनके शिष्य हो गए। गुरु की आज्ञा से ये व्यास नदी के किनारे बसाए गए एक नये नगर के एक भवन मे रहने लगे। यह नगर बाद मे गोइदवाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गुरु अगद ने अपने अतिम समय मे भाई बुड्ढा द्वारा अभिषिक्त करवाकर ७३ वर्ष की आयु मे इन्हे गुरुपद प्रदान किया। गुरु अगद के देहात के बाद उनके पुत्र दातू द्वारा अपमानित होकर भी अपनी क्षमाशीलता, सहनशीलता और विनय का परिचय देते हुए ये अपनी जन्मभूमि बसरका चले गए। अपने इन चारित्रिक गुणो के कारण ही इनकी सिक्ख मत मे विशेष महिमा है। इनका देहात स० १६३१ की भाद्रपद पूर्णिमा को हुआ। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'आनद' है जो उत्सवो पर गाई जाती है। इनके कुछ पद, वार एव सलोक ग्रथसाहब मे सगृहीत है। इन्ही के शिष्य तथा सिक्ख मत के चौथे गुरु रामदास ने इनके आदेश से अमृतसर के पास 'सतोषसर' नाम का एक तालाब बनवाया जो आगे चलकर गुरु अमरदास के ही नाम पर अमृतसर के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

(ना० ना० उ०)

अमरनाथ कश्मीर का एक प्रसिद्ध तीर्थ जहाँ अमरनाथ महादेव का स्वयंभू तुषारलिंग है। यहाँ श्रावण पूर्णिमा के दिन प्रति वर्ष मेला लगता है। इसकी स्थिति कश्मीर के पूर्वी भाग मे है और इसके पर्वतशृंग की ऊँचाई १५–१६ हजार फीट के लगभग है। (कै० च० श०)

अमरबेल एक प्रकार की लता है जो बबूल, कीकर, बेर पर एक पीले जाल के रूप मे लिपटी रहती है इसका आकाशबेल, अमरबेल, अमर बल्लरी भी कहते है। प्रायः यह खेतो मे भी मिलती है, पौधा एकशाकीय

परजीवी है जिसमे पत्तियो और पर्णहरित का पूर्णतः अभाव होना है। इसीलिये इसका रग पीतमिश्रित सुनहरा या हल्का लाल होता है। इसका तना लबा, पतला, शाखायुक्त और चिकना होता है। तने से अनेक मजबूत पतली पतली और मासल शाखाएँ निकलती है जो आश्रयी पौधे (होस्ट) को अपने भार से झुका देती हैं।

इसके फूल छोटे, सफेद या गुलाबी, घटाकार, अर्धवृत्त या सवृत्त और हल्की सुगध से युक्त होते है।

यह बहुत विनाशकारी लता है जो अपने पोषक पौधे को धीरे धीरे नष्ट कर देती है। इसमे पुष्पागमन वसत मे और फलागम ग्रीष्म ऋतु मे होता है। इसकी लता और बीज का उपयोग ओषधि के रूप मे होता है। इसके रस मे कस्कुटीन (Cuscutien) नामक ऐल्केलायड, अमरबेलीन, तथा पीताभ हरित वर्ण का तेल पाया जाता है। इसका स्वाद तिक्त और काषाय होता है। इसका रस रक्तशोधक, कटुपौष्टिक तथा पित्त कफ को नष्ट करनेवाला होता है। फोडे फुसियो और खुजली पर भी इसका प्रयोग किया जाता है। पजाब मे दाइयाँ इसका क्वाथ गर्भपात कराने के लिये देती हैं। आश्रयी वृक्ष के अनुसार इसके गुणों मे भी परिवर्तन आ जाता है। (र० च० गु०)

अमरसिंह अमरकोश के रचयिता अमरसिंह का जीवनवृत्त अधकार मे है। विद्वानों के बहुत श्रम के बाद भी उसपर नाममात्र का ही प्रकाश पडा है। इस तथ्य का प्रमाण अमरकोश के भीतर ही मिलता है कि अमरसिंह बौद्ध थे। अमरकोश के मगलाचरण मे प्रच्छन्न रूप से बुद्ध की स्तुति की गई है, किसी हिंदू देवी देवता की नहीं। यह पुरानी किवदती है कि शकराचार्य के समय (आठवी शताब्दी) अमरसिंह के ग्रथ जहाँ जहाँ मिले, जला दिए गए। उसके बौद्ध होने का एक प्रमाण यह भी है कि अमरकोश मे ब्रह्मा, विष्णु, आदि देवताओ के नामो से पहले, बुद्ध के नाम दिए गए है, क्योकि बौद्धों के अनुसार सब देवी देवता भगवान् बुद्ध से छोटे हैं। अमरसिंह नाम से अनुमान होता है कि उसके पूर्वज क्षत्रिय रहे होगे। अमरसिंह का निश्चित समय बताना असभव ही है क्योंकि अमरसिंह ने अपने से पहले के कोशकारों के नाम ही नहीं दिए है। लिखा है : 'समाहृत्यान्यतन्त्राणि' अर्थात् मैने अन्य कोशो से सामग्री ली है, किंतु किससे ली है, इसका उल्लेख नहीं किया। कर्न और पिशल का अनुमान था कि अमरसिंह का समय ५५० ई० के आसपास होगा क्योकि वह विक्रमादित्य के नवरत्नो मे गिना जाता है जिनमे से एक रत्न वराहमिहिर का निश्चित समय ५५० ई० है। ब्यूलर अमरसिंह को लक्ष्मणसेन की सभा का रत्न मानते है। विलसन साहब को गया मे एक शिलालेख मिला जो ९४८ ई० का है। इसमे खुदा है कि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो मे से एक रत्न अमरदेव ने गया मे बुद्ध की मूर्ति स्थापित की और एक मदिर बनाया। यह अमरदेव अमरसिंह ही था, इसका प्रमाण नहीं मिलता, महत्व की बात है कि प्राय अस्सी पचासी वर्ष से उक्त शिलालेख और उसके अनुवाद लुप्त है। हलायुध ने भी अपने कोश मे एक प्राचीन कोशकार अमरदत्त का नाम गिनाया है। यूरोप के विद्वान् इस अमरदत्त को अमरसिंह नहीं मानते। (हे० जो०)

अमरावती दक्षिण के पठार पर बबई राज्य मे स्थित एक जिला तथा उसका प्रधान नगर है। अमरावती जिला, अ० २१°४६' उ० से २०°३२' उ० तथा दे० ७६°३८' पू० से ७८°२७' पू० तक फैला हुआ, बरार के उत्तरी तथा उत्तर पूर्वी भाग मे बसा है। इसे दो पृथक् भागो मे विभाजित किया जा सकता है : (१) पैनघाट की उर्वरा तथा समतल घाटी जो पूर्व की ओर निकली हुई मोर्सी ताल्क को छोडकर लगभग चौकोर है। समुद्रतल से इस समतल भाग की ऊँचाई लगभग ८०० फुट है। (२) उत्तरी बरार का पहाडी भाग जो सतपुडा पहाडी का एक अश है, और भिन्न भिन्न समयो मे भिन्न भिन्न नामो से प्रसिद्ध था, जैसे, बाँडा, गागरा, मेलघाट। इसके उत्तर पश्चिम की ओर ताप्ती, पूर्व की ओर वारधा और बीच से पूर्णा नदी बहती है। जिले की प्रधान उपज रुई है और कुल कृष्य भूमि का ५० प्रतिशत इसी के उत्पादन मे लगा है। जिले का क्षेत्रफल लगभग १२,२१० कि० मी० है तथा १९७१ के गणनानुसार जनसंख्या १४,४४,२२६ है।

अमरावती जिले का प्रधान नगर अमरावती समुद्रतल से १,११८ फुट की ऊँचाई पर (अ० २०° ५६' उ० और दे० ७७°४७' पू०) स्थित है। इसकी आबादी १३,७८,७५ है (१९६१ ई०)। रघुजी भोसला ने १८वीं शताब्दी मे इसकी स्थापना की थी। वास्तुकला के सौंदर्य के दो प्रतीक अभी भी अमरावती मे मिलते हैं--एक कुख्यात राजा विसेनचदा की हवेली और दूसरा शहर के चारो ओर की दीवार। यह चहारदीवारी पत्थर की बनी, २० से २६ फुट ऊँची तथा सवा दो मील लबी है। इसे निजाम सरकार ने पिडारियो से धनी सौदागरो को बचाने के लिये सन् १८०४ मे बनाया था। इसमे पाच फाटक तथा चार खिडकियाँ है। इनमे से एक खिडकी खूनखारी नाम से कुख्यात है जिसके पास १८१६ मे मुहर्रम के दिन ७०० व्यक्तियों की हत्या हुई थी। अमरावती नगर दो भागो मे विभाजित है--पुरानी अमरावती तथा नई अमरावती। पुरानी अमरावती दीवार के भीतर बसी है और इसके रास्ते सकीर्ण, आबादी घनी तथा जलनिकासी की व्यवस्था निकृष्ट है। नई अमरावती दीवार के बाहर वर्तमान समय मे बनी है और इसकी जलनिकासी व्यवस्था, मकानो के ढग आदि अपेक्षाकृत अच्छे है। अमरावती नगर के अनेक घरो मे आज भी पच्चीकारी की बनी काली लकडी के बारजे (बरामदे) मिलते है जो प्राचीन काल की एक विशेषता थी।

अमरावती मे हिंदुओ के तथा जैनियो के कई मदिर है। इनमे से अबादेवी का मदिर सबसे महत्वपूर्ण है। लोग कहते है, इस मदिर को बने लगभग एक हजार वर्ष हो गए और सभवत अमरावती का नाम भी इसी से प्रचलित हुआ, यद्यपि इससे कतिपय विद्वान् सहमत नही है। अमरावती मे मालटेकरी नामक एक पहाड है जो इस समय चाँदमारी के रूप मे व्यवहृत होता है। किवदती है कि यहाँ पिडारी लोगो ने बहुत धन दौलत गाड रखा है। अमरावती का जल यहाँ के वाडाली तालाब से आता है। यह तालाब लगभग दो वर्ग मील की भूमि से पानी एकत्रित करता है और १५० लाख घन फुट पानी धारण कर सकता है। अमरावती रुई के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ रुई के तथा तेल निकालने के कई कारखाने भी है।

हिंदुओ की पौराणिक किवदती के अनुसार अमरावती सुमेरु पर्वत पर स्थित देवताओ की नगरी है जहाँ जरा, मृत्यु, शोक, ताप कुछ भी नहीं होता। इस अमरावती और बरारवाली अमरावती मे कोई सबध नहीं है। किसी किसी का यह अनुमान है कि ऐसी अमरावती मध्य एशिया की आमू (आक्सस) नदी के आसपास बसी थी।

मद्रास के गुटूर जिले मे भी अमरावती नामक एक प्राचीन नगर है। कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर (अ० १६°३५' उ० तथा दे० ८०°२४' पू०) स्थित है। इसका स्तूप तथा सगमरमर पत्थर की रेलिंग की मूर्तियाँ भारतीय शिल्पकला के उत्तम प्रतीक है। शिलालेख के अनुसार इस अमरावती का प्रथम स्तूप ई० पू० २०० वर्ष पहले बना था और अन्य स्तूप पीछे कुषाणो के समय मे तैयार हुए। इन स्तूपों की कई सुदर मूर्तियाँ ब्रिटिश म्यूजियम तथा मद्रास के अजायबघर मे रखी गई है। (वि० मु०)

अमरीका पश्चिमी गोलार्ध अथवा 'नई दुनिया' का भूभाग जो साधारणतया इसी नाम से सुविख्यात है। प्रस्तुत भूभाग का नामकरण अमेरिगो वेस्पूसिओ नामक नाविक की स्मृति मे मार्टिन वाल्डसेम्यूलर नामक भूगोलवेत्ता ने किया था। अमेरिगो ने १४९९ ई० मे लिखी अपनी पुस्तक मे इस देश को नई दुनिया कहा था। १५०७ ई० के एक मानचित्र मे अमरीका नाम उस भूभाग के लिये प्रयुक्त हुआ जिसे आज दक्षिणी अमरीका कहते है। सपूर्ण भूभाग का पता लगने पर धीरे धीरे यही नाम सारे अमरीकी भूभाग के लिये प्रयुक्त होने लगा।

जेनोआ निवासी क्रिस्तोफर कोलबस ने १२ अक्टूबर, १४९२ ई० को अमरीका का पता लगाया। सर्वप्रथम वह पश्चिमी द्वीपसमूह के आधुनिक बहामा द्वीपो मे से वैटलिंग द्वीप पहुँचा। कोलबस का विश्वास था कि वह मार्को पोलो द्वारा वर्णित एशिया के पूर्वी छोर पर पहुँच गया है और तदनुसार इन द्वीपो को उसने 'इडीज' कहा। इनका ला इडियाज नाम स्पेन मे बहुत समय तक खूब प्रचलित था। कोलबस ने १४९२ ई० से लेकर १५०४ ई० तक की अपनी तीन यात्राओ मे लगभग सपूर्ण पश्चिमी द्वीपसमूह का भ्रमण किया और ओरीनिको नदी के मुहाने तक पहुँचा था।

विश्वास है कि इंग्लैंड की सहायता से जॉन कैबट नामक दूसरा जेनोआ-निवासी न्यूफाउडलैंड तथा समीपवर्ती महाद्वीपीय भाग पर भी १४६७ ई० के लगभग पहुँचा। १५००-१५०३ ई० के मध्य कोर्टेरियल नामक पुर्तगीज परिवार ने उत्तरी अमरीका के पूर्वी समुद्रतट की यात्रा की। तदनतर विभिन्न लोगो ने इस भूभाग के विभिन्न भागों का भ्रमण किया। १५०६ ई० तक महाद्वीपीय क्षेत्र पर स्पैनिश बस्तियो का प्रारभ हो गया था। नवबर, १५२० ई० के लगभग फर्डिनैंड मैगलेन ने दक्षिणी अमरीका के दक्षिण होते हुए प्रशात महासागर को पार किया। इस प्रकार एशिया से सर्वथा अलग विशाल महाद्वीपीय अमरीकी भूभाग की सस्थिति और दोनो महाद्वीपो के मध्य स्थित प्रशात महासागर का पता सारे ससार को लग गया। सर्वप्रथम स्पेनी एव पुर्तगाली और तदनतर फ्रांसीसी, अँगरेज, डच आदि जातियो ने महाद्वीप के विभिन्न भागों मे बसना प्रारभ किया और इस प्रकार औपनिवेशिक सघर्षो का क्रम बहुत समय तक चलता रहा। इनके अतिरिक्त यूरोप महाद्वीप के विभिन्न देशो के निवासी यहाँ आने लगे और इस प्रकार जनसंख्या बढती गई।

अमरीकी भूभाग दो महाद्वीपो में बँटा है—एक उत्तरी अमरीका (उसे देखे) जो दक्षिण मे पनामा तक फैला है और जिसमे तथाकथित मध्य अमरीका का भूभाग भी समिलित है और दूसरा दक्षिणी अमरीका (उसे देखे) जो पनामा के दक्षिण से हार्न अतरीप तक विस्तृत है। इस प्रकार सपूर्ण अमरीकी भूभाग की उत्तर दक्षिण लबाई पृथ्वी पर सर्वाधिक है। इसकी आकृति पृथ्वी के चतुरनीकीय विरूपण (टेट्राहेड्रल डिफॉर्मेशन) का प्रतिफल मानी जाती है। यह उत्तर मे अत्यधिक चौड़ा एव दक्षिण मे शीर्षबिंदु की तरह नुकीला है।

न केवल आकृति प्रत्युत भूतात्विक विकास एव सरचना मे भी दोनो अमरीकी महाद्वीपो मे साम्य है। दोनो महाद्वीपो के उत्तरपूर्व मे प्राचीनतम भूतात्विक आधार (लारेशिया एव गायना के पठार) हैं, दोनो मे ही इन पठारो के दक्षिण पर्वतीय ऊँचाइयाँ (अपलेशियन एव ब्राजील) स्थित हैं जिनमे मणिभीय (रवेदार) चट्टाने समुद्र की ओर तथा कैंब्रियनपूर्व शिलाएँ महाद्वीपो के अदर की ओर फैली है। दोनो भागो की आधुनिक ऊँचाइयाँ नवयुगीन भूउत्थानो का प्रतिफल है। दोनो महाद्वीपो के पश्चिम मे उत्तर से दक्षिण नवनिर्मित विषम पर्वतश्रेणियाँ स्थित है। इन पर्वतो एव पठारो के बीच बीच विभिन्न प्रवाह-प्रणालियाँ (सेंट लारेंस, अमेजन, मैकेंजी, ओरीनिको, मिसीसिपी, लाप्लाटा आदि) विकसित है। परतु दोनो महाद्वीपो मे स्थिति, जलवायु, वनस्पति, जीवजतु, रहन सहन मे प्रचुर अतर भी है। (का० ना० सि०)

अमरीका, संयुक्त राज्य वर्तमान सयुक्त राज्य अमरीका (यूनाइटेड स्टेट्स), १६७० ई० की जनगणना के अनुसार जिसकी कुल आबादी २०,४७,६५,७७० है, की सृष्टि दो कारणो से हुई। यूरोपवासियों का १७वी शताब्दी से इस द्वीप मे अपने विचार, वाणी तथा सस्कृति सहित आना, और यहाँ रहकर उनके यूरोपीय स्वरूप का बदल जाना। उत्तरी अमरीका की खोज १५वी-१६वी शताब्दियो मे हुई थी, पर लगभग शताधिक वर्ष बाद आगतुको ने इस देश मे प्रवेश किया और उसे अपना लिया। धार्मिक स्वतत्रता का अपहरण, इग्लैंड मे सम्राट् और पार्लियामेंट के बीच सघर्ष, औपनिवेशिक व्यापार का आकर्षण, सोना प्राप्त करने का लोभ तथा बढती हुई जनसख्या के लिये नया स्थान ढूँढने की अभिलाषा ने लोगो को नए देश मे बसने के लिये प्रेरित किया। १६०६ ई० मे तीन छोटे अंग्रेजी जहाज १२० व्यक्तियो को लेकर कैप्टेन न्यूपोर्ट के नेतृत्व मे अमरीका के लिये चले। चार महीने की सामुद्रिक यात्रा के पश्चात् इनमे से १०४ व्यक्ति सकुशल जेम्स नदी के मुहाने पर उतरे। वर्जीनिया कपनी ने ५,६४६ व्यक्ति भेजे जिनमे से १६२४ ई० तक कोई १,०६५ व्यक्ति जीवित थे। इस कपनी के बद हो जाने पर ये उपनिवेश सम्राट् के अधिकार मे चले गए और वही इनका गवर्नर नियुक्त करने लगा। वर्जीनिया उपनिवेश मे तबाकू की खेती होने लगी जो क्रमश. उसके विकास का मुख्य साधन बनी। इसके उत्तर मे १६३२ ई० मे मेरीलैंड नामक दूसरा राजकीय उपनिवेश स्थापित किया गया, जिसका पट्टा सम्राट् ने जार्ज कल्वर्ट या लार्ड बाल्टीमोर को दिया। इस वश का इसपर कई पीढ़ियो तक अधिकार रहा। यहाँ रोमन कैथोलिको को धार्मिक स्वतंत्रता थी। यह उपनिवेश भी तंबाकू की खेती के लिये प्रसिद्ध हो गया।

औपनिवेशिक युग . धनप्राप्ति की इच्छा, धार्मिक स्वतत्रता की अभिलाषा, राजनीतिक अत्याचार से मुक्त होने का सकल्प और नए साहसिक कार्य के प्रलोभन ने यूरोप के और देशो से भी लोगो को यहाँ आने के लिये बाध्य किया। १६२४ ई० मे डचो ने न्यू नेदरलैंड्स का उपनिवेश बसाया, पर चालीस वर्ष बाद इसपर अग्रेजो का अधिकार हो गया और उन्होने इसका नाम न्यूयार्क रखा। १६वी-१७वी शताब्दियो के धार्मिक क्रांतिकाल मे प्यूरिटन नामक एक दल उठ खडा हुआ जो अग्रेजी ईसाई धर्म मे सुधारो का आदोलन करने लगा। इसका एक जत्था इग्लैंड छोड़कर हालैंड मे जा बसा। इनमे से कुछ लोग १६२० ई० मे इग्लैंड होते हुए अमरीका जा पहुँचे। वहाँ इन्होने न्यू प्लीमथ की पिलग्रिम कालोनी बसाई। चार्ल्स प्रथम के समय भी जिन पादरियो को उपदेश देने से वचित कर दिया गया था, वे पूर्ववर्ती पिलग्रिमो का अनुकरण करते हुए अमरीका आए। उन्होने १६३० ई० मे मसाच्युसेट्स उपनिवेश की स्थापना की। पेनसिलवेनिया और नार्थ कैरोलाइना के अनेक आगंतुक जर्मनी और आयरलैंड से अधिक धार्मिक स्वतत्रता और आर्थिक उन्नति की आशा मे इधर आए थे।

१७वी शताब्दी के प्रथम तीन चौथाई भाग मे जो विदेशी अमरीका में आकर बसे उनमे अग्रेजो की सख्या बहुत अधिक थी। कुछ डच, स्वीड और जर्मन साउथ कैरोलाइना मे और उसके आस पास कुछ फ्रेंच उगनो और कही कही स्पेनी, इटालीय और पुर्तगाली भी बस गए थे। १६८० ई० के पश्चात् इग्लैंड इनका आगमन स्रोत नही रहा। इन सब औपनिवेशिको ने वहाँ जाकर अग्रेजी भाषा, कानून, रीतिरिवाज और विचारधारा को अपना लिया। १७०० ई० मे अग्रेजी बस्तियाँ न्यू हैंपसर, मसाच्युसेट्स, कनेक्टिकट, न्यू हैवेन, रोड आइलैंड, न्यूयार्क, न्यू जर्सी, पेनसिलवेनिया, डिलावेयर, मेरिलैंड, वर्जीनिया, नार्थ कैरोलाइना और साउथ कैरोलाइना मे स्थापित हो चुकी थी। सबसे अतिम बस्ती जार्जिया १७५३ ई० मे स्थापित हुई।

इन उपनिवेशो मे उत्तरी भाग के निवासी व्यवसाय तथा व्यापार मे सलग्न थे पर दक्षिणवालो का पेशा केवल कृषि ही था। इन विविधताओं का कारण भौगोलिक परिस्थिति थी। बदरगाहो के निकट गाँवो और नगरो मे बसकर न्यू इग्लैंडवासियो ने शीघ्र ही अपना जीवन शहरी बना लिया, तथा लाभदायक व्यवसाय ढूँढ निकाले। इससे उनकी आर्थिक नीव मजबूत हो गई। उत्तर उपनिवेशो की अपेक्षा मध्यवर्ती उपनिवेशवालो की आबादी अधिक मिली जुली थी। इनके विपरीत वर्जीनिया, मेरिलैंड, कैरोलाइना तथा जार्जिया नामक दक्षिणी बस्तियाँ प्रधानतया ग्रामीण थी। वर्जीनिया अपनी तबाकू के लिये यूरोप मे प्रसिद्ध हो चुका था। १७वी शताब्दी के अत और १८वी के आरभ मे मेरिलैंड और वर्जीनिया की सामाजिक व्यवस्था मे वे लक्षण आ चुके थे जो गृहयुद्ध तक रहे। अधिकतर राजनीतिक अधिकार और बढ़िया भूमि प्लांटरो ने अपने अधिकार मे कर रखी थी। वे बड़ी शान से रहते थे और उनका सारा कार्य दास करते थे। यह दासप्रथा, जिसका दक्षिणी उपनिवेशो म बडा जोर था और जिसे हटाने के लिये दक्षिण के लोग तैयार न थे, आगे चलकर गृहयुद्ध का एक बडा कारण बनी।

इन तीन क्षेत्रो के उपनिवेशो मे भौगोलिक और आर्थिक पृथक्ता होते हुए भी एक विशेषता यह थी कि इनपर इग्लैंड की सरकार के प्रभाव का अभाव रहा और सभी अपने को पूर्णतया स्वतत्र समझते रहे। इग्लैंड की सरकार ने नई दुनिया पर अपने स्थानीय शासनाधिकार कपनियो और उनके मालिको को सौंप दिए थे। परिणाम यह हुआ कि वे इग्लैंड से दूर होते गए। इग्लैंड की सरकार इनपर अपना नियत्रण रखना चाहती थी और १६५१ ई० के पश्चात् समय समय पर उसने ऐसे कानून बनाना आरभ किया जिनमें उपनिवेशो के व्यापारिक और साधारण जीवन पर नियत्रण रखने का प्रयास था।

स्वतंत्रता की ओर यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियो का अमरीका पर बराबर प्रभाव पड़ता रहा। यूट्रेक्ट की सधि के अनुसार अकेडिया, न्यूफाउडलैंड और हडसन की खाड़ी फ्रांसीसियो से अग्रेजो को मिली। कनाडा और अग्रेजी उपनिवेशो के बीच कोई सीमा निर्धारित नहीं थी

और यूरोप में आस्ट्रिया के राजकीय युद्ध में अंग्रेज और फ्रांसीसी विपक्षी थे। अब अमरीका में भी फ्रांसीसियों, जिनका कनाडा पर अधिकार था, और अंग्रेजों के बीच १७५४ ई० में युद्ध छिड़ गया। १७५९ में क्यूबेक का पतन होते ही फ्रांसीसियों का पासा पलट गया। १७६३ ई० की संधि में फ्रांस ने इंग्लैंड को सेंट लारेंस की खाड़ी के दो द्वीपों को छोड़कर, ओहायो घाटी और कनाडा भी दे दिया। युद्ध के कारण अमरीका की १३ बस्तियाँ राजनीतिक एकता के सूत्र में बँध गईं और उनको अपनी शक्ति और संगठन का पता चला। अमरीका में बने माल के आयात पर इंग्लैंड में नियंत्रण तथा यूरोप में अमरीका के निर्यात माल पर लगी चुंगी से व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचा। इंग्लैंड केवल कच्चा माल और अन्न लेना चाहता था और अमरीका में अपने बने हुए माल की खपत चाहता था। ग्रेनविल ने उन उपनिवेशों में अंग्रेजी सेना रखने का सुझाव दिया जिसके खर्च का बोझ अमरीका की जनता पर पड़ता था। इंग्लैंड ने कानून द्वारा कर लगाकर अमरीका को सर करना चाहा। इन्हीं करों में स्टैंप कर भी था। इसका वहाँ कड़ा विरोध हुआ और न्यूयार्क की एक सभा में अमरीकियों ने एलान किया कि जब तक उनका प्रतिनिधान इंग्लैंड की पार्लियामेंट में न होगा तब तक उसका लगाया कर भी उन्हें मान्य न होगा। अंग्रेजी सरकार को झुकना पड़ा और वह कर वापस ले लिया गया।

१७६७ ई० में चाय, शीशे तथा अन्य चीजों पर कर लगाने का प्रस्ताव हुआ जिससे अमरीकी उपनिवेशों में इसका भी विरोध हुआ और चाय को छोड़कर बाकी सब पर चुंगी की छूट दे दी गई। उन्होंने अंग्रेजी चाय का बहिष्कार किया। बोस्टन में कुछ अमरीकनों ने रेड इंडियन के वेश में अंग्रेजी जहाजों पर चढ़कर उनकी चाय समुद्र में फेंक दी। ब्रिटिश पार्लियामेंट में इस घटना से बड़ी उत्तेजना हुई और जार्ज तृतीय ने कड़ी नीति अपनाने का आदेश दिया। मसाच्यूसेट्स के प्रस्ताव को लेकर फिलाडेल्फिया में ५ सितंबर, १७७४ ई० को एक सभा हुई जिसमें सम्राट् तथा इंग्लैंड और कनाडा की जनता के नाम संदेश भेजना स्वीकार किया गया। इसमें स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं उठाया गया था। जनरल गेज द्वारा मसाच्यूसेट्स में अमरीकन नेताओं को पकड़ने और गोली चलाने से आग भड़क उठी और युद्ध आरंभ हो गया। फिलाडेल्फिया की दूसरी सभा में जार्ज वाशिंगटन को नेता चुना गया। उस समय अंग्रेजी सेना की संख्या १०,००० तक पहुँच चुकी थी। ४ जुलाई, १७७६ ई० को टामस जेफरसन द्वारा लिखित अमरीकी स्वतंत्रता का घोषणापत्र कांटिनेंटल सभा में पास हुआ।

अंग्रेजी सेना को आरंभ में कुछ सफलताएँ मिलीं और वाशिंगटन को निरंतर पीछे हटना पड़ा। क्रांति का युद्ध छह वर्ष से अधिक काल तक चलता रहा जिस बीच अनेक महत्वपूर्ण युद्ध हुए। ट्रेंटन और प्रिंस्टन की जीतों ने उपनिवेशों में आशा जागृत कर दी। सितंबर, १७७७ ई० में हाव ने फिलाडेल्फिया पर अधिकार कर लिया, पर शरद् में अमरीकनों की युद्ध में सबसे बड़ी जीत हुई। १७ अक्टूबर, १७७७ ई० को ब्रिटिश सेनापति बरगोइन ने अपनी पाँच हजार सेना सहित आत्मसमर्पण कर दिया। फ्रांस ने, जो अपनी पुरानी दुश्मनी के कारण इंग्लैंड के विपक्ष में था, अमरीका के साथ व्यापारिक और मित्रता की संधियाँ कर लीं जिसमें बेंजामिन फ्रैंकलिन का बड़ा हाथ था। १६वें लुई ने जनरल रोशांबो की अध्यक्षता में ६,००० जवानों की एक प्रबल सेना भेजी और फ्रेंच समुद्री बेड़े ने ब्रिटिश सेनाओं को सामान भेजने में कठिनाई डाल दी। १७७८ ई० में अंग्रेजों को फिलाडेल्फिया खाली कर देना पड़ा। वाशिंगटन और रोशांबो की सेनाओं के प्रयास से लार्ड कार्नवालिस को १७ अक्तूबर, १७८१ ई० में यार्कटाउन में आत्मसमर्पण करना पड़ा। इंग्लैंड में प्रधान मंत्री लार्ड नार्थ थे जिन्होंने त्यागपत्र दे दिया और अप्रैल, १७८२ ई० में नया मंत्रिमंडल बनाया गया। १७८३ ई० में पेरिस के संधिपत्र पर हस्ताक्षर हुए। १३ अमरीकन राज्यों को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता मिली। केवल कनाडा अंग्रेजों के पास रह गया और मिसीसिपी नदी उत्तर की सीमा मान ली गई। १७८७ ई० में फिलाडेल्फिया में एक कन्वेंशन हुआ जिसमें देश का विधान बनाने और केंद्रीय शासनव्यवस्था के लिये सरकार बनाने का निश्चय किया गया। १७ सितंबर, १७८७ ई० को प्रस्तुत संविधान पर उपस्थित राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिए। २१ जून, १७८८ ई० को संविधान अंतिम रूप में सब राज्यों द्वारा स्वीकृत हो गया। राष्ट्रीय संघ की कांग्रेस ने राष्ट्रपति के प्रथम चुनाव की व्यवस्था की और ३० अप्रैल, १७८९ को वाशिंगटन ने अपने पद की शपथ ली।

गृहयुद्ध तक. विधान के अंतर्गत १३ राष्ट्रों ने एक समझौता किया और अपने कुछ अधिकार केंद्र को सौंप दिए, पर आंतरिक मामलों में वे पूर्णतया स्वतंत्र थे। संयुक्त राज्य की सीमा बढ़ाने के लिये यह आवश्यक हो गया कि अमरीका के और भागों पर अधिकार किया जाय। १८६१ ई० के गृहयुद्ध के पहले का युग वास्तव में संयुक्त-राज्य-क्षेत्र-विस्तार-युग कहलाने योग्य है। १७८७ ई० में उत्तरी पश्चिमी प्रदेश, जिनमें बाद में चलकर छह नए राज्य बने, और १८०३ ई० में लूईजियाना प्रदेश डेढ़ करोड़ डालर में फ्रांस से खरीद लिए गए। उस समय जेफरसन राष्ट्रपति था। संयुक्त राज्य को १० लाख वर्ग मील से अधिक भूमि और न्यूआर्लींस का बंदरगाह मिल गया। अमरीका महाद्वीप के दो तिहाई भाग पर इसका अधिकार हो गया। बाकी एक तिहाई भाग १८४५-५० ई० के बीच अधिकार में आया। देश की समस्त नदियों पर केंद्रीय नियंत्रण हो गया। १९वीं शताब्दी के प्रथम भाग में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच हुए युद्ध में अमरीकी व्यवस्था की नीति बहुत समय तक कायम न रह सकी और उसके व्यापार को बड़ी क्षति पहुँची। १८१२ में ब्रिटेन के विरुद्ध अमरीका को युद्धक्षेत्र में उतरना पड़ा। स्थल पर तो संयुक्त राज्य को असफलता मिली पर समुद्र में उसे विजय प्राप्त हुई। युद्ध की समाप्ति घेंट की संधि से हुई जिसे १८१५ ई० में संयुक्त राज्य ने स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में अमरीकी जनसंख्या को बड़ी क्षति पहुँची थी, पर इसका महत्वपूर्ण परिणाम राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का उद्गार हुआ। संयुक्त राज्य अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अब समानता का पद प्राप्त कर चुका था। इस युग में जेफरसन और मनरो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जो नए राज्य बने उनमें १८०३ ई० में ओहायो, १८१२ ई० में लूइजियाना, १८१६ ई० में इंडियाना, १८१७ ई० में मिसीसिपी, १८१८ ई० में इलिनाय, १८१९ ई० में अलाबामा, १८२० ई० में मेन और १८२१ ई० में मिसौरी के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय मनरो डाक्ट्रिन (नीति) की घोषणा की गई जिससे अमरीका का यूरोप के घरेलू मामला तथा यूरोपियन उपनिवेशों और दोनों अमरीकी द्वीपों में यूरोपीय शक्तियों का हस्तक्षेप करना अवैध हो गया। रूस ने इसे मानकर अलास्का में ५४ ४० पर अपनी दक्षिणी सीमा निर्धारित की। अंत में १८६१ में रूस ने इसे ₹५ लाख डालर पर अमरीका के हाथ बेच दिया।

इस काल उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में दासप्रथा को लेकर वैमनस्य की भावना तीव्र हो उठी जो अमरीकी गृहयुद्ध का एक बड़ा कारण बनी। उत्तरी राज्यों में दासप्रथा को हटा दिया गया था पर दक्षिणी राज्य अपनी आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उसे बनाए रखना चाहते थे। वे उसे घरेलू मामला समझते थे जिसमें उनके मत से, कांग्रेस को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। अमरीकी राजनीति में भी दासप्रथा को लेकर राजनीतिक दलों में फूट पड़ गई। दासप्रथा के विरोधियों और पक्षपातियों के बीच संघर्ष का जोर बढ़ता जा रहा था। १८५७ ई० में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बहुमत से किए गए ड्रेड स्काट के फैसले ने आग में घी का काम किया। ८ फरवरी, १८६१ ई० को 'कानफेडरेट स्टेट ऑव अमेरिका' का संगठन हुआ जिसका लिंकन ने विरोध किया। १२ अप्रैल को चार्ल्स्टन (साउथ कैरोलाइना) के फोर्ट सुमटर पर गोलाबारी हुई और गृहयुद्ध आरंभ हो गया। यह चार वर्ष चला और अंत में ८ अप्रैल, १८६५ ई० को दक्षिणी सेना ने हथियार डाल दिए।

विस्तार और सुधार का युग गृहयुद्ध और प्रथम विश्वयुद्ध के ५० वर्षों के मध्यकाल में संयुक्त राज्य में भारी परिवर्तन हुए। बड़े बड़े कारखाने खुले, महाद्वीप के आर पार रेल द्वारा यातायात सुगम हो गया तथा समुद्र, नगरों और हरे भरे खेतों ने देश की आर्थिक उन्नति में योग दिया। लोहे, भाप, बिजली के उत्पादन और वैज्ञानिक आविष्कारों ने राष्ट्र में नए प्राण फूँके। संयुक्त राज्य बड़ी तेजी से प्रगति कर चला। १९१४ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के समाचार से इसे भारी धक्का पहुँचा पर अमरीकी उद्योग पश्चिमी राष्ट्रों की युद्धसामग्री की माँग के कारण फूलने फलने लगा। १९१५

संयुक्तराज्य (अमरीका) के कुछ प्रसिद्ध भवन
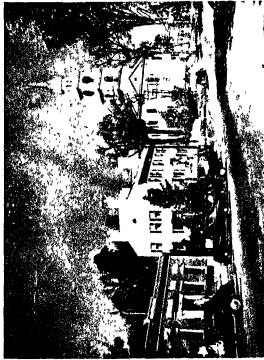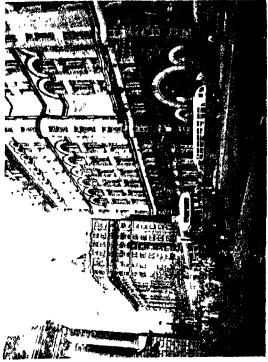
उपर बाईं ओर "ह्वाइट हाउस"—संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति का निवास स्थान, ऊपर दाहिनी ओर वाशिंगटन (कोलंबिया) की एक सडक पर वर्जीनिया की सैर के लिये जानेवाले बस यात्रियों की भीड, नीचे बाईं ओर बरमॉण्ट राज्य के मिडिलबरी नामक एक छोटे नगर की मुख्य सडक, नीचे दाहिनी ओर: वाशिंगटन (कोलंबिया) में उच्चतम न्यायालय का भवन (अमरीकी दूतावास के सौजन्य से)।

दमकल

अग्नि बुझाने का यंत्र (दे० पृष्ठ ७३)।
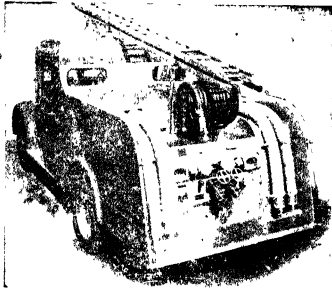
अमरीका में समाचारपत्र-विक्रेता

संयुक्त राज्य (अमरीका) में समाचारपत्रों की बड़ी खपत है (सौजन्य, अ० दूतावास)
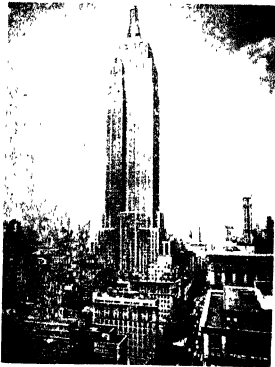
अमरीका की एम्पायर बिल्डिंग

न्यूयॉर्क में कई अति उत्तुंग भवन हैं। उनमें से यह भी एक है। यह १,२५० फुट ऊँचा है और इसमें १०२ मंजिलें हैं (सौजन्य, अ० दूतावास)।

'दि कैपिटल'
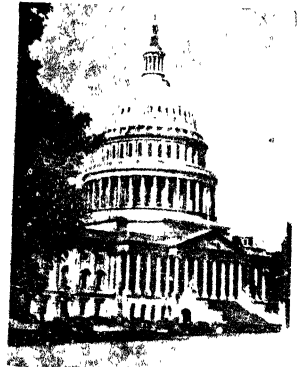
संयुक्त राज्य (अमरीका) की राजधानी वाशिंगटन में कैपिटल नामक भवन, जिसमें राज्य की प्रतिनिधि तथा नियामक सभाएँ होती हैं।

अमरीका (उत्तरी) के दो प्रकार के जंतु

ऊपर बारहसिंगा (कैरिबू), नीचे गाँड़ (बाइसन) (द अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

आखेटि पतंग

वास्तविक से बड़े पैमाने पर फोटोग्राफ। यह कीट कृषि के हानिकारक कीड़ों के शरीर में अपना अंडा दे देता है, जिससे थोड़े ही समय में उनका नाश हो जाता है, द्र० पृ० ३८७ (द अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य) से।

मकड़ी और बिच्छू

ये दोनों अष्टपाद वंश के सदस्य हैं, द्र० पृष्ठ २९२ (द अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

ई० मे जर्मनी के सैनिक नेताओं ने घोषणा की कि वे ब्रिटिश द्वीपों के आसपास के समुद्र मे किसी भी व्यापारिक जहाज को नष्ट कर देंगे। राष्ट्रपति विल्सन ने अपनी नीति घोषित की कि अमरीकी जहाजो अथवा जन के नाश करने का जर्मनी उत्तरदायी होगा। जर्मन पनडुब्बियो ने अमरीका के कई जहाज डुबो दिए। अत. २ अप्रैल, १९१७ ई० को अमरीका ने विश्वयुद्ध मे प्रवेश किया और उसके सैनिक और जहाज फ्रांस पहुँच गए। जनवरी, १९१८ ई० मे विल्सन ने न्याययुक्त शाति के आधार पर अपने सुप्रसिद्ध १४ सूत्र रखे। इसके अतर्गत राष्ट्रसघ का निर्माण करना, छोटे बड़े राज्यो को समान राजनीतिक स्वतत्रता और राष्ट्र की अखडता का आश्वासन दिलाना था। उन्ही सूत्रों के आधार पर ११ नवबर, १९१८ ई० को जर्मनी ने अस्थायी सधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। विल्सन के सूत्रो का और राष्ट्रो म स्थायी सधि का पूर्णतया पालन नही किया गया, अत सयुक्त राज्य राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशस) का सदस्य नही बना।

२०वी शताब्दी के तीसरे दशक मे अमरीका मे आर्थिक सकट उत्पन्न हुआ। कृषि क्षेत्र मे मदी आ गई और ससार के बाजार धीरे धीरे अमरीका के लिये बद हो गए। १९२९ की पतझड़ मे शेयर बाजार के भाव गिरे और लाखो व्यक्तियो की जीवन भर की सचित पूँजी नष्ट हो गई। कारखाने बद हो गए और लाखो आदमी बेकार हो गए। १९३२ ई० के चुनाव मे डेमोक्रैट फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की जीत हुई। उसने न्यू डील नामक व्यापारिक नीति से अमरीका की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास किया और उसमे वह सफल भी हुआ। १९३९ ई० मे द्वितीय महायुद्ध छिड गया। अमरीका ने पहले तो तटस्थता की नीति अपनाई, पर १९४१ ई० मे उसे भी युद्ध मे आना पड़ा। लगभग चार वर्षों के युद्धकाल मे अमरीका ने सैनिको और युद्ध-सामग्री से मित्रराष्ट्रो की बड़ी सहायता की। ८ मई, १९४५ ई० को जर्मनी की सेना ने आत्मसमर्पण किया और जापान के हीरोशिमा और नागासाकी द्वीपों पर परमाणु बम गिरने के फलस्वरूप २ सितबर, १९४५ ई० को उसने भी आत्मसमर्पण किया और विश्वयुद्ध का अत हुआ। २६ जून, १९४५ ई० को ५१ राष्ट्रो ने सयुक्त राष्ट्रीय घोषणापत्र स्वीकार किया जिसमे एक नए अतरराष्ट्रीय सघ का सविधान था। अमरीका के इतिहास मे भी एक नया अध्याय आरभ हुआ। इसने विश्व की अन्य शक्तियो के साथ गुटबदी शुरू की। उत्तर अटलांटिक (नैटो) और दक्षिण-पूर्वी एशियाई (सीटो) समझौते तथा बगदाद पैक्ट मे अमरीका का बहुत से राज्यो के साथ सैनिक गठबधन हो गया, पर इसके जवाब मे रूस और उसके साथी देशो ने भी अपने गुट बना लिए।

स०ग्र०—हेनरी विलियम एलसन हिस्ट्री ऑव दि युनाइटेड स्टेट्स ऑव् अमेरिका, न्ययार्क, १९४९, हेरोल्ड फाकनर शार्ट हिस्ट्री ऑव दि अमेरिकन पीपुल, लदन, १९३८, डी० सी० सोमरवेल हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स (यूनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस द्वारा वितरित)।

(बै० पु०)

सन् १९५० से १९५३ ई० तक अमरीका ने कोरियाई युद्ध मे सयुक्त राष्ट्रसघ की सेनाओ को सैनिक, धन तथा अन्य युद्धोपयोगी सामग्री देकर काफी सहायता की। १९५६ ई० के चुनाव मे रिपब्लिकन पार्टी के जनरल आइजनहावर दोबारा राष्ट्रपति चुने गए। अमरीका ने १९४९ ई० मे स्थापित जनवादी चीन (पीकिंग) को मान्यता नही दी, इसके विपरीत वह फारमूसा द्वीपसमूह म चाग काई शेक की सरकार को ही चीन की वास्तविक सरकार के रूप मे मानता रहा और उसे पर्याप्त सहायता भी देता रहा। उधर स्तालिन की मृत्यु के बाद हालाँकि रूस और अमरीका के बीच निरतर चल रहे शीतयुद्ध मे कुछ कमी हुई फिर भी १९६२ ई० मे उक्त दोनो देशो के बीच तनाव उस समय अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया जब राष्ट्रपति केनेडी ने क्यूबा को सैनिक सामग्री पहुँचानेवाले रूसी जहाजो को समुद्र मे ही रोक लिया और क्यूबा के स्थापित रूसी प्रक्षेपास्त्रो के अड्डो को समाप्त करने की माँग की। तत्कालीन रूसी प्रधान मत्री ख्रुश्चोव ने लेबनान से अमरीकी अड्डे खत्म करने की शर्त रखी। किसी तरह मामला टला और ससार सर्वनाशक युद्ध की विभीषिका से बाल बाल बचा। नवबर, १९६३ मे राष्ट्रपति केनेडी की डलास (टेक्सास) मे हत्या कर दी गई और तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिंडन जानसन ने राष्ट्रपति की हैसियत से कार्यभार सँभाला। उन्होने कांग्रेस के माध्यम से अमरीका मे इस प्रकार की योजनाएँ चालू की जिनसे देश के अतर्गत आर्थिक दृष्टि से कमजोर समुदायो को विकास का अवसर मिल सके, हालाँकि काले गोरे के प्रश्न को लेकर अमरीका में तनाव बना ही रहा। जहाँ तक अतरराष्ट्रीय स्थिति का प्रश्न था, राष्ट्रपति जानसन ने दक्षिणी वियतनाम एव पाकिस्तान को अत्यधिक सैनिक एव आर्थिक सहायता दी। पाकिस्तान ने १९६५ मे अमरीकी हथियारो के भरोसे ही भारत से युद्ध छेड़ा और मुंह की खाई।

नवबर, १९६८ मे रिचर्ड एन० निक्सन (रिपब्लिकन) अमरीका के राष्ट्रपति चुने गए। इसी वर्ष नागरिक अधिकारो के लिये संघर्षशील काले अमरीकियो के नेता मार्टिन लूथर किंग तथा राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी राबर्ट केनेडी (जान एफ० केनेडी के भाई) की हत्या कर दी गई। १९६८ मे ही रूस और अमरीका द्वारा सयुक्त रूप से प्रस्तुत परमाणुशस्त्रो की होड़ पर प्रतिबध लगाने का प्रस्ताव राष्ट्रसघ मे पारित किया गया।

नवबर, १९७२ मे हुए ९२वी कांग्रेस के मध्यावधि चुनाव मे रिपब्लिकन दल को न तो सीनेट और न ही अवर सदन मे बहुमत मिला। इससे अमरीकियो ने डेमोक्रैटिक दल को स्पष्टत शक्तिशाली बना दिया। फलत: राष्ट्रपति को अपने मत्रिमडल मे व्यापक परिवर्तन करने पड़े और आगामी चुनाव जीतने के लिये निक्सन ने चीन तथा रूस की सद्भावना यात्राएँ भी कीं।

दिसबर, १९७१ ई० मे भारत तथा पाकिस्तान के बीच हुए युद्ध मे राष्ट्रपति निक्सन ने खुले आम पाकिस्तान का पक्ष लिया। राजनीतिक और अतरराष्ट्रीय मच पर जब वह किसी भी तरह भारत को न झुका सके तो भयादोहन करने के लिये सातवे बेड़े का परमाणुशक्ति चालित 'एटरप्राइज' नामक युद्धपोत हिंद महासागर मे भेजा। इसस भारत और अमरीका के सबधो पर बहुत बुरा असर पड़ा।

नवबर, १९७२ मे चुनाव जीतकर निक्सन पुन. अमरीका के राष्ट्रपति हो गए। लबे अरसे से चला आ रहा वियतनामी युद्ध भी २७ जनवरी, १९७३ को उस समय समाप्त हो गया जब पेरिस मे उत्तरी वियतनाम, दक्षिणी वियतनाम, राष्ट्रीय मुक्ति मोरचे (वियतकाङ्) द्वारा स्थापित अस्थायी क्रांतिकारी सरकार तथा अमरीका के विदेश मत्रियो ने वियतनाम सधि पर हस्ताक्षर कर दिए। ३० जनवरी को युद्धविराम का कार्य प्रारंभ हुआ और ३ फरवरी, १९७३ को लगभग पूर्ण युद्धविराम हो गया। १२ फरवरी, १९७३ को लाओस मे भी युद्धविराम समझौता हो गया। लेकिन इस बीच अमरीका की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गई। फलत १३ फरवरी, १९७३ ई० को अमरीकी डालर का अवमूल्यन करना पड़ा।

(कै० च० श०)

अमरीका का गृहयुद्ध १८६१-६५ ई० के बीच सयुक्त राज्य अमरीका और दक्षिण के ग्यारह राज्यो के बीच गृहयुद्ध हुआ। यह कहना सर्वथा उचित न होगा कि यह युद्ध केवल दासप्रथा को लेकर हुआ। वास्तव मे इस सघर्ष का बीज बहुत पहले ही बोया जा चुका था और यह विभिन्न विचारधाराओ मे पारस्परिक विरोध का परिणाम था। उत्तर के निवासी भौगोलिक परिस्थिति, यातायात के साधन तथा व्यापारिक सफलता के फलस्वरूप सतुष्ट, सपन्न तथा अधिक सभ्य थे। दक्षिणी राज्यो की अपनी अलग समस्या थी। १७वी और १८वी शताब्दियों मे अफ्रीका से बहुत से हबशी दास यहाँ लाए गए थे और वे ही कृषि उत्पादन के आधार थे। इसलिये दक्षिणी राज्य इन हबशी दासो को मुक्त करने मे असमर्थ थे और वे कृषि तथा अन्य उद्योगो मे स्वतत्र श्रम से काम नही ले सकते थे। अमेरिका के उत्तरी राज्य के निवासी शीतल जलवायु के कारण अपना कार्य सरलता से कर लेते थे और वह दासो पर निर्भर नही करते थे। इसीलिये वहाँ दासप्रथा धीरे धीरे लुप्त हो गई। मशीन युग ने समस्या को और भी जटिल बना दिया और उत्तर तथा दक्षिण के बीच की खाई बढ़ने लगी। उत्तरी निवासी मशीन के प्रयोग स आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति करने लगी। उनका कोयले और लोहे का उत्पादन बढ़ा और वहाँ बहुत से कारखाने काम करने लगे। वहाँ की जनसख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। दक्षिणी राज्यो के लोग अभी तक केवल कृषि पर आधारित थे और वे युग के साथ प्रगति नही कर सके।

यहाँ की जनसंख्या भी अधिक तेजी से नहीं बढ़ी। संयुक्त राष्ट्र की व्यापारिक नीति उत्तरी राज्यो के लिये लाभदायक थी पर दक्षिणवाले उससे लाभ नही उठा सकते थे। व्यापारिक नीति का दक्षिण मे विरोध हुआ और दक्षिणी इसे अवैध ठहराने लगे। वे स्वतत्र व्यापार के अनुयायी थे, जिससे वे अपना कच्चा माल बिना नियत्रण के विदेश भेज सके और अपने आवश्यकतानुसार बनी हुई चीजे खरीदें। दक्षिण कैरोलाइना के जान कूल्हन के मतानुसार प्रत्येक राज्य को सयुक्त राज्य की किसी भी नीति को मानने या न मानने का पूर्ण अधिकार था। सघर्ष के बीज ने अब वृक्ष का रूप धारण कर लिया था। संविधान की आड़ मे उत्तर और दक्षिण के राज्य अपने अपने मत की पुष्टि का पूर्णतया प्रयास करने लगे।

व्यापारिक नियत्रण के अतिरिक्त दासप्रथा को लेकर यह विरोध और बढा। ऐंड्रघू जैकसन के समय दासप्रथा के विरोध मे किया गया उत्तरी राज्यो में प्रदर्शन और दक्षिणी राज्यो मे इसको कायम रखने का प्रयास गृहयुद्ध का दूसरा मूल कारण हुआ। दक्षिणी कहने लगे कि टेक्सास पर अधिकार और मेक्सिको से युद्ध करना अनिवार्य है। वे सेनेट मे बराबरी की सख्या कायम रखना चाहते थे। १८४४ ई० मे मसाच्यूसेट्स की धारासभा ने यह प्रस्ताव पारित किया कि संयुक्त राष्ट्र का सविधान अपरिवर्तनीय है और टेक्सास पर अधिकार अमान्य है। दक्षिणियो ने और जोर से कहा कि यदि दासप्रथा बंद की गई तो वे संयुक्त राज्य से अलग हो जायँगे। दासप्रथा का प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त अब धार्मिक क्षेत्र मे भी घुस आया। इसको लेकर मेथडिस्ट चर्च मे भी उत्तरी और दक्षिणी दो दल हो गए। दोनो ने धार्मिक सस्थाओ को अपनी ओर खीचा। यद्यपि विग और डेमोक्रैट दलो ने १८४८ ई० के राष्ट्रपति के चुनाव मे इस समस्या को अलग रखना चाहा, तथापि इस चुनाव ने जनता को दो भागो मे बाँट दिया जो मूलत. भौगोलिक आधार पर बँटी थी।

सघर्ष और भी घना होता गया। मेक्सिको से युद्ध में प्राप्त भूमि में दासप्रथा को रखने अथवा हटाने का प्रश्न जटिल था। दक्षिणवाले इसे रखना चाहते थे क्योकि यह उनके क्षेत्र मे था, पर उत्तर के निवासी सिद्धात रूप से दासप्रथा के पूर्ण विरोधी थे और नए स्थान मे इसे रखने को तैयार न थे। उत्तरी राज्यो की धारासभाओ ने इसका विरोध किया, पर इसके विपरीत दक्षिण मे दासप्रथा के समर्थन मे सार्वजनिक सभाएँ हुई। वर्जिनिया की धारासभा ने उत्तरी राज्यो की सभा मे पारित किए गए प्रस्ताव का कडा विरोध किया और वहाँ की जनता ने सयुक्त राज्य से लोहा लेने का दृढ निश्चय कर लिया। १८५० ई० मे एक समझौता हुआ जिसके अतर्गत कैलिफोर्निया स्वतत्र राज्य के रूप मे सयुक्त राज्य मे शामिल हो गया और कोलबिया मे दासप्रथा हटा दी गई। टेक्सास को एक करोड डालर दिए गए और भागे हुए दासो को वापस करने का एक नया कानून पारित हुआ। इसका पालन नही हुआ। उत्तर के राज्य भागे हुए बदमाशो को उनके मालिको के पास नही लौटाते थे। इससे परिस्थिति गभीर हो गई। प्रसिद्ध ड्रेडस्काट वाद मे न्यायाधीश टानी ने बहुमत से निर्णय किया कि विधान के अतर्गत न तो राष्ट्रीय ससद् (सेनेट) और न किसी राज्य की धारासभा किसी क्षेत्र से दासप्रथा को हटा सकती है। इसके ठीक विपरीत लिकन ने कहा कि कोई भी राज्य अपनी सीमा के अदर दासप्रथा को हटा सकता है। इन प्रश्नो को लेकर राजनीतिक दलो मे आतरिक विरोध हो गया। १८६० ई० में लिकन राष्ट्रपति चुन लिए गए। लिकन का कहना था कि यदि किसी घर मे फूट है तो वह घर अधिक दिन नही चल सकता। इस सयुक्त राज्य को आधे स्वतत्र और आधे दासो मे नही बाँटा जा सकता। राष्ट्रपति के चुनाव की घोषणा के बाद दक्षिण कैरोलाइना ने एक समेलन बुलाया जिसमे सयुक्त राज्य से अलग होने का प्रस्ताव सर्वसमति से पारित हुआ। १८६१ ई० के फरवरी तक जार्जिया, फ्लोरिडा, अलाबामा, मिसीसिपी, लूइसियाना और टेक्सास ने इस नीति का पालन किया। इस प्रकार नवबर, १८६० ई० से मार्च, १८६१ ई० तक, वाशिंगटन मे केंद्रीय शासन शिथिल हो गया। १८६१ ई० के फरवरी मास मे वाशिंगटन मे शातिसमेलन हुआ, किंतु थोडे समय बाद, १२ अप्रैल, १८६१ ई० को अनुसघीय राज्यो की तोपो ने चार्ल्स्टन बदरगाह की शाति भग कर दी। यहाँ प्रदर्शित फोर्ट सुमटर पर गोलाबारी करके "कानफ़ेडरेता" ने गृहयुद्ध छेड़ दिया।

युद्ध के मोर्चे मुख्यत तीन थे—समुद्र, मिसीसिपी घाटी और पूर्व समुद्रतट के राज्य। युद्ध के आरभ मे प्राय समग्र जलसेना सयुक्त राज्य के हाथ मे थी, किंतु वह बिखरी हुई और निर्बल थी। दक्षिणी तट की घेराबदी से यूरोप को रुई का निर्यात और वहाँ से बारूद, वस्त्र और औषधि आदि दक्षिण के लिये अत्यत आवश्यक आयात की चीजे पूर्णतया रुक गईं। सयुक्त राज्य के बेडे ने दक्षिण के सबसे बडे नगर न्यूआर्लिंस से आत्मसमर्पण करा लिया। मिसीसिपी की घाटी मे भी सयुक्त राज्य की सेना को अनेक जीतें हुई। वर्जिनिया कानफेडरेता को बराबर सफलताएँ मिली। १८६३ ई० मे युद्ध का आरभ उत्तर के लिये अच्छा नहीं हुआ, पर जुलाई में युद्ध की बाजी पलट गई। १८६४ ई० मे युद्ध का अत स्पष्ट दीखने लगा। १७ फरवरी को कानफेडरेता ने दक्षिण कैरोलाइना की राजधानी कोलबिया को खाली कर दिया। चार्ल्स्टन सयुक्त राज्य के हाथ आ गया। दक्षिण के निर्विवाद नेता राबर्ट ई० ली द्वारा आत्मसमर्पण किए जाने पर १३ अप्रैल को वाशिंगटन मे उत्सव मनाया गया। गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद दक्षिणी राज्यो के प्रति कठोरता की नीति नही अपनाई गई, वरन् काग्रेस ने सविधान मे १३वाँ सशोधन प्रस्तुत करके दासों की स्वतत्रता पर कानूनी छाप लगा दी।

सं०ग्रं०—डी० सी० सोमरवेल · हिस्ट्री ऑव यूनाइटेड स्टेट्स (१९४१), एलसन् हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स आव अमरीका (मैकमिलन, १९०९), रोड्स हिस्ट्री आव दि सिविल वार।

(बै० पु०)

अमरीकी भाषाएँ इनके अतर्गत अमरीका महाद्वीप के सभी (उत्तरी, दक्षिणी और मध्य) भागो के मूल निवासियो द्वारा बोली जानेवाली भाषाएँ आती है। ईसवी १५वी सदी के अत मे यूरोप से एक जहाज भारतवर्ष की खोज करता हुआ, भ्रम से चक्कर खाकर अमरीका पहुँच गया और तभी से यहाँ के मूल निवासियो का नाम "इडियन" पड गया। अनुमान है कि कोलबस के समय अमरीका के समस्त मूल निवासियो की सख्या चार पाँच करोड रही होगी, जो अब घटते घटते डेढ करोड रह गई है। इन लोगो मे लिखने का कोई रिवाज नही था। विशेष घटनाओ की याद, रग बिरगी रस्सियो मे गाँठें बाँधकर रखी जाती थी। पत्थरो, घोघो तथा चमडे आदि पर भी भाँति भाँति के चित्र और निशान बने मिलते है पर इनका कोई अर्थ नही निकलता, और यदि निकलता भी है तो उसे मूल निवासी बताते नही। तथापि नहुअत्ल और मय भाषाओ मे अब लिपि मिलती है। मय भाषा की पुस्तकों मे साथ ही साथ स्पेनी भाषा मे अनुवाद भी मिलता है।

तुलनात्मक व्याकरण के और बहुधा अन्य ब्योरेवार ग्रथो के अभाव मे इन भाषाओ के विषय मे विशेष विवरण नही दिया जा सकता। इनमे क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ मिलती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन मूल निवासियो की जातियाँ इधर उधर आती जाती और एक दूसरे पर आधिपत्य जमाती रही है, इसीलिये भाषा सबधी सामान्य लक्षणों के साथ विशेषताओ और अपवादों का बडा भारी मिश्रण मिलता है। कभी कभी कोई कोई बोली इतनी अधिक प्रभावशाली रही कि उसने विजित जातियो की बोलियों को बिलकुल नष्ट ही कर दिया। कोलबस के आगमन के पहले दक्षिणी अमरीका मे इका नाम के साम्राज्य की राजभाषा **कुइचुआ** थी। स्पेनी विजेताओ ने इसी का प्रयोग मूल निवासियो के बीच ईसाई धर्म के प्रचार के निमित्त किया। इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र में होने के कारण, **गुआर्नी तुपी** का भी प्रयोग ईसाई पादरियो ने धर्मप्रचार के लिये किया। **करीब** और **अरोवक** भाषाएँ भी पारस्परिक जयपराजय से प्रभावित है। अरोवक जाति पर करीब जाति ने विजय प्राप्त कर ली और उसके पुरुष वर्ग को या तो बीन बीनकर मार डाला या दूर भगा दिया। स्त्रियों को रख लिया। ये बराबर अरोवक ही बोलती रही। बाद की पीढियाँ भी इसी प्रकार दोनो भाषाएँ आज तक बोलती चली आ रही है और पुरुष वर्ग की **करीब** भाषा पर स्त्री वर्ग की **अरोवक** भाषा का प्रभाव पडता दिखाई देता है।

यद्यपि इन भाषाओ के बारे मे अभी विशेष अनुसंधान नही हो पाया है, तब भी मोटे तौर पर इनको कई परिवारो मे बाँटा जा सकता है। अनुमान

है कि इन परिवारो की संख्या सौ सैंवा सौ के लगभग है। प्राय इन सभी भाषाम्रो मे एक सामान्य लक्षरग प्रश्लिष्ठ योगात्मक के रूप मे पाया जाता है। इनमे बहुधा पूरा पूरा वाक्य ही एक लबे शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह संस्कृत की तरह विभिन्न पदो को जोडकर समास के रूप मे नही होता, बल्कि प्रत्येक पद का एक एक प्रधान अक्षर या ध्वनि लेकर, सबको एक साथ मिला दिया जाता है। **चेरोकी** भाषा के पद **नधोलिनिन** (हमारे लिये डोगी लाम्रो) मे इसी प्रकार तीन शब्द **नतेन** (लाम्रो), **श्रमोखोल** (नाव, डोगी), और **निन** (हमको) मिले हुए है। कभी कभी इस प्रकार के एक दर्जन शब्दो तक के ध्वनि या वर्णसकलन एक पद के रूप मे सगठित मिलते हैं और उन सभी शब्दो का पदार्थ एक साथ वाक्यार्थ के रूप मे श्रोता को मालूम हो जाता है। स्वतत्र शब्दो का प्रयोग इन भाषाम्रो मे बहुत कम है।

ये सभी जातियाँ जगली नही हैं। इन जातियो मे से कुछ ने साम्राज्य स्थापित किए। मेक्सिको के साम्राज्य का अत १६वीं सदी मे यूरोपवालो ने वहाँ पहुँचकर किया। वहाँ की **मय** और **नहुअत्ल** भाषाएँ सुसस्कृत हैं और उनमे साहित्य भी मिलता है। इन भाषाम्रो का वर्गीकरण प्राय भौगोलिक आधार पर किया जाता है जो शास्त्रीय भले ही न हो, सुविधाजनक अवश्य है·

	देशनाम	**भाषानाम**
	ग्रीनलैंड	**एस्किमो**
उत्तरी अमरीका	कनाडा	**अथबस्की** (समूह)
	सयुक्त राज्य	**अल्गोनकी** (आदि)
		नहुअत्ल (प्राचीन)
	मेक्सिको	**अजतेक** (वर्तमान)
	युकतन	**समय**
	उत्तरी प्रदेश	**करीब, अरोवक**
	मध्यप्रदेश	**गुम्रनी तुपी**
दक्षिणी अमेरिका	पश्चिमी प्रदेश (पेरू और चिली)	**अरौकन, कुइचुआ**
दक्षिणी प्रदेश		**चको, तियरादेलफूगो**

दक्षिणी प्रदेश पेरू और चिली की भाषा चको, तियरादेलफूगो हैं। इनमे से **तियरादेलफूगो** भाषा और उसके बोलनेवाले लोग ससार मे सबसे अधिक सस्कृतिहीन माने जाते है। **एस्किमो** के बारे मे कुछ विद्वानो का मत हे कि यह उराल-अल्ताई परिवार की है।

स०ग्र०—बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, मेइए. ले लाग दु माद (पेरिस)। (बा० रा० स०)

अमरीकी साहित्य

अमरीका से यहाँ तात्पर्य सयुक्त राज्य अमरीका से है जहाँ की भाषा अग्रेजी है। अमरीका की तरह उसका साहित्य भी नया है।

आदिकाल : १७वी सदी मे अमरीका मे शरण लेनेवाले पिल्ग्रिम फादर अपने साथ इग्लैड की सास्कृतिक परपरा भी लेते आए। इसलिये लगभग दो सदियो तक अमरीकी साहित्य अग्रेजी साहित्य की लीक पर चलता रहा। १६वी सदी मे जाकर उसे अपना व्यक्तित्व मिला।

नवागंतुको के सामने जीवननिर्वाह की कठिनता, कला और साहित्य के प्रति प्यूरिटन सप्रदाय की अनुदारता और प्रतिभा की न्यूनता के कारण अमरीकी साहित्य का आदिकाल उपलब्धिविरल है। इस काल मे वर्जीनिया और मसाच्यूसेट्स साहित्यरचना के प्रधान केंद्र थे, जिनमें वर्जीनिया पर सामती और ममाच्यूसेट्स पर मध्यवर्गीय इग्लैड का गहरा असर था। किंतु दोनो ही केद्रा में प्यूरिटनो का प्रभुत्व था। साहित्यरचना का काम पादरिया के हाथ मे था, क्योकि औरो की अपेक्षा उन्हे अधिक अवकाश था। इसलिये इस युग के साहित्य का अधिकाश धर्मप्रधान है। मुख्य रूप से यह युग पत्रो, डायरी, इतिहास और धार्मिक तथा नीतिपरक कविताम्रो का है।

नए उपनिवेश और उनके विकास की अमित संभावनाओं का वर्णन, **शासन में धर्म और राज्य के पारस्परिक संबंधो के विषय में विचारसंघर्ष,** आत्मकथा, जीवनचरित, साहसिक यात्राएँ तथा अभियान और धार्मिक उपदेश गद्यलेखको के मुख्य विषय बने। रुक्ष और सरल किंतु सशक्त वर्णनात्मक गद्यरचना मे वर्जीनिया के कैप्टेन जॉन स्मिथ और उनकी रोमाचकारी कृतियाँ, ए ट्रू रिलेशन (१६०८) और ए मैप ऑव वर्जीनिया, (१६१२) विशेष उल्लेखनीय है। इसी तरह का वर्णनात्मक गद्य जॉन हैमंड, डैनियल डेंटन, विलियम पेन, टॉमस ऐश, विलियम वुड, मेरी रौलैंडसन और जॉन मेसन ने भी लिखा।

धार्मिक वादविवाद को लेकर लिखी गई नैथेनियल वार्ड की रचना, द सिपिल कॉब्लर ऑव अग्गवाम (१६४७) अपने व्यग्य और विद्रूप मे उस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। वार्ड की तरह ही टॉमस मार्टन ने दि न्यू इग्लिश कैनन (१६३७) मे प्यूरिटनो का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया था। दूसरी ओर स्टर्न जान विथ्रॉप ने अपने जर्नल (१६३०-४६) और इक्रिस मेदर और उसके पुत्र कॉटन मेदर ने अपनी रचनाम्रो मे प्यूरिटन आदर्शों और धर्मप्रधान राजसत्ता का समर्थन किया। कॉटन की मैगनेलिया क्रिस्टी अमेरिकाना तत्कालीन प्यूरिटन सप्रदाय की सबसे प्रतिनिधि और समृद्ध रचना है। उस युग के अन्य गद्यकारो मे विलियम बेडफर्ड, सैमुएल सेवाल, टॉमस शेपर्ड, जान कॉटन, रोजर विलियम्स और जॉन वाइज के नाम उल्लेखनीय है। इनमे से अनेक १८वी सदी मे भी लिखते रहे।

१७वी सदी की कविता अनुभूति से अधिक उपदेश की है और उसका रूप अनगढ है। दि बे साम बुक (१६४०) इसका उदाहरण है। कवियो मे तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—माइकेल विगिल्सवर्थ, ऐनी ब्रेडस्ट्रीट और एडवर्ड टेलर। दिव्य आनद और वेदना, ईशभक्ति, प्रकृतिवर्णन और जीवन के साधारण सुख दुख उनकी कविताम्रो के मुख्य विषय हैं। निष्कपट अनुभूति के बावजूद इनकी कविता मे कलात्मक सौदर्य की कमी है। ब्रेडस्ट्रीट की कविता मे स्पेसर, सिडनी और सिलवेस्टर तथा टेलर की कविता मे डन, क्रेशा, हर्बर्ट इत्यादि अग्रेजी कवियो की प्रतिध्वनियाँ स्पष्ट हैं।

नाटक और आलोचना का जन्म आगे चलकर हुआ।

१८वीं सदी—१७वी सदी के यथार्थवादी और कल्पनाप्रधान गद्य तथा धार्मिक कविता की परपरा १८वी सदी मे न केवल पुराने बल्कि नए लेखको मे भी जीवित रही। उदाहरणार्थ, विलियम बिर्ड और जोनैदन एडवर्ड्स ने क्रमश कैप्टेन स्मिथ और मेदर का अनुसरण किया। एडवर्ड्स की रचनाम्रो मे उसकी तीव्र प्यूरिटन भावना, गहन चिंतन, अद्भुत तर्कशक्ति और रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ दीख पडती हैं। लेकिन प्यूरिटन कट्टरपथ के स्थान पर धार्मिक उदारता का भी उदय हो रहा था, जिसे जोनैदन मेह्यू और सेवाल की रचनाम्रो ने व्यक्त किया। सेवाल ने अपनी डायरी मे 'धर्म की व्यावसायिक परिकल्पना' का आग्रह किया। बिर्ड की दि हिस्ट्री ऑव दि डिवाइडिग लाइन (१७२६) और सेरा नाइट के जर्नल (१७०४) मे सत्रहवी सदी के पुराने प्रभावो के बावजूद इग्लैड के १८वी सदी के साहित्य की लौकिकता, मानसिक सतुलन, व्यग्य और विनोदप्रियता, जीवन और व्यक्तियो का यथार्थ चित्रण और उचित लाघव तथा स्वच्छता के आदर्श की छाप है। वास्तव मे इस सदी के अमरीकी साहित्यमंदिर की प्रतिमाएँ अग्रेजी के प्रसिद्ध गद्यकार और कवि ऐडिसन, स्विफ्ट और गोल्डस्मिथ है। सदी के मध्य तक आते आते धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक चितन मे प्यूरिटन सहजानुभूति, रहस्यवाद और अलौकिकता को तर्क और विज्ञान ने पीछे ढकेल दिया। इग्लैड और उसके उपनिवेश के बीच बढते हुए सघर्षो और अमरीकी राज्यक्रांति ने नई चेतना को और भी वेग तथा बल दिया। उसके सबसे समर्थ अग्रणी बेजामिन फैकलिन (१७०६-६०) और टॉमस पेन (१७३७-१८०६) थे। अमरीका की आधुनिक सस्कृति के निर्माण मे इसका महान् योग है।

व्यवसायी, वैज्ञानिक, अन्वेषक, राजनीतिज्ञ और पत्रकार फ्रैंकलिन के साहित्य का आकर्षण उसके असाधारण किंतु व्याबहारिक, सस्कृत, सयमित और उदार व्यक्तित्व मे है। उसकी आटोबायोग्राफ़ी अत्यत लोकप्रिय रचना है। उसके पत्रो और 'डूगुड' शीर्षक तथा 'बिजीबडी' नाम से लिखे गए निबंधो मे सदाचार और जीवन की साधारण समस्याम्रो की सरल, **शालीन और विनोदप्रिय अभिव्यक्ति है, लेकिन उसकी रचना कस्स फ्रॉर**

रिड्यूसिंग ए ग्रेट एम्पायर टु ए स्माल वन (१७७३) से उसकी प्रखर व्यंग्य और कटाक्षशक्ति का भी पता चलता है।

टॉमस पेन का साहित्य उसके क्रांतिकारी जीवन का अविभाज्य अंग है। फ्रैंकलिन की सलाह से वह १७७४ ई० में इंग्लैंड छोड़कर अमरीका आया और दो वर्ष बाद ही उसने अमरीका की पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थन में कामनसेंस की रचना की। दी एज ऑव रीजन (१७९४-९६) में उसने ईसाई धर्म पर गहरी चोट कर डीइज्म का समर्थन किया। बर्क के विरुद्ध फ्रांसीसी क्रांति के पक्ष में लिखी गई उसकी रचना दि राइट्स ऑव मैन ने उस युग में हर देश के क्रांतिकारियों का पथप्रदर्शन किया। उसके गद्य में क्रांतिकारी विचारों की ऋजु ओजस्विता है।

सैमुएल ऐडम्स, जॉन डिकिन्सन, जोजेफ गैलोवे इत्यादि ने भी उस युग की राजनीतिक हलचल को अपनी रचनाओं से प्रभावित किया। लेकिन उनसे अधिक महत्वपूर्ण गद्यलेखक हेक्टर सेंट जान दि क्रेवेकूर है जिसने लेटर्स फ्राम ऐन अमेरिकन फार्मर (१७८२) और स्केचेज ऑव एटीथ सेंचुरी अमेरिका में अमरीकी किसान और प्रकृति का आदर्श रोमानी चित्र प्रस्तुत किया। दास-प्रथा-विरोधी जॉन वूलमैन (१७२०-७२) की विशेषता उसकी सरलता और माधुर्य है।

स्वतंत्रता के बाद शासन में केंद्रीकरण के पक्ष और विपक्ष में होनेवाले वादविवाद के संबंध में अलेक्जैंडर हैमिल्टन, जॉन जे और टॉमस जेफर्सन के नाम उल्लेखनीय हैं। जेफर्सन द्वारा लिखित विश्वविख्यात दि डिक्लरेशन ऑव इंडिपेंडेंस का गद्य अपनी सरल भव्यता में अद्वितीय है।

१८वीं सदी की कविता का एक अंश उन गीतों का है जो युद्धकाल में लिखे गए और जिनमें याकी डूडिल, नैथन हेल और एपिलॉग बहुत प्रसिद्ध है। इस सदी के कुछ कवियों, जैसे ओडेल, हाप्किन्सन, राबर्ट ट्रीट पेन, इवान्स और क्लिफ्टन ने अत्यंत कृत्रिम शैली की रचनाएँ की। इनसे भिन्न प्रकार के कवि कानेक्टिकट या हार्टफर्ड विट्स के नाम से पुकारे जानेवाले डेविड हम्फ्रेज, टिमोथी ड्वाइट, जोएल बार्लो, जॉन ट्रंबुल, डाक्टर सैमुएल हाप्किंस, रिचर्ड ऐल्सप और थियोडोर ड्वाइट थे जिन्होंने पोप को आदर्श मानकर व्यंग्यप्रधान द्विपदियाँ और महाकाव्य लिखे। इनके लिये रीतिसमत शुद्धता कविता का सबसे बड़ा गुण थी। इन कवियों में टिमोथी ड्वाइट, ट्रंबुल और बार्लो में अपेक्षाकृत अधिक मौलिकता थी। लेकिन इस सदी का सबसे बड़ा कवि फिलिप फ्रेनो (१७५२-१८३२) है जो एक ओर अत्यंत तिक्त विद्रूप दि ब्रिटिश प्रिजनशिप (१७८१) का तो दूसरी ओर दि वाइल्ड हनीसकल जैसे तरल गीतिकाव्य का स्रष्टा है। उसकी कविताओं ने १९वीं सदी की रोमानी कविता की जमीन तैयार की।

इस सदी के अंतिम भाग में उपन्यास और नाटक का भी उदय हुआ। टॉमस गॉडफ्रे द्वारा लिखित दि प्रिंस ऑव पार्थिया (१७५९) अमरीका का पहला नाटक है, जिसे १७६७ में व्यावसायिक रंगमंच पर खेला गया। इसी प्रकार रायल टाइलर रचित दि कंट्रास्ट (१७८७) अमरीका का पहला प्रहसन है, हालाँकि उसमें शेरिडन और गोल्डस्मिथ की प्रतिध्वनियाँ स्थान स्थान पर हैं। विलियम डन्लप इस युग का एक और उल्लेखनीय नाटककार है।

अमरीका का पहला उपन्यासकार चार्ल्स ब्रॉकडेन ब्राउन (१७७१-१८१०) है जिसके प्रसिद्ध उपन्यास वाइलैंड (१७९८), आरमंड (१७९९), आर्थर मर्विन (१७९९) और एडगर हंटली (१७९९) असंभावित कथानकों और बोझिल शैली के बावजूद अपनी भावप्रवणता और रोमानी चरित्रों के कारण रोचक हैं। इस समय के एक अन्य प्रमुख उपन्यासकार ब्रैकेनरिज ने माडर्न शिवैलरी (१७९२-१८१५) में सेवांते और स्मालेट के आदर्श पर अति साहसिकतापूर्ण उपन्यास की रचना की। रिचर्डसन के अनुकरण पर भावुकतापूर्ण उपन्यास और कथाएँ भी विलियम हिल ब्राउन, श्रीमती राउसन और श्रीमती फास्टर द्वारा लिखी गईं।

१९वीं सदी--इस सदी के प्रारंभिक वर्षों में न्यूयार्क में 'निकरबॉकर' नाम से पुकारे जानेवाले लेखकों का उदय हुआ जो साहित्य में अर्विंग को व्यंग्यकृति डीडरिख निकरबॉकर्स ए हिस्ट्री ऑव न्यूयार्क (१८०९) की मनोरंजक वार्तालाप की शैली को अपना आदर्श मानते थे। ऐसे लेखकों में उपन्यासकार जेम्स कर्क पाल्डिंग, नाटककार डन्लप, कवि सैमुएल वुडवर्थ और जॉर्ज पी० मारिस थे। फिट्ज-ग्रीन हैलेक और जोजेफ राडमन ड्रेक नीचे स्तर पर बायरन और कीट्स से मिलते जुलते कवि थे। न्यूयार्क में दो अच्छे समझे जानेवाले किंतु वास्तव में साधारण गीतकार हुए--जॉन हावर्ड पेन और जेम्स रोट पर्सीवाल। पत्रिकाओं में सतही आलोचनाओं का भी उदय हुआ। दक्षिण में तीन काफी अच्छे उपन्यासकार हुए--जॉन पेंडिलटन केनेडी, विलियम गिलमोर सिम्स और जॉन इस्टेन कुक।

इन लेखकों के बीच १९वीं सदी के पूर्वार्ध में चार ऐसे लेखकों का उदय हुआ जिन्होंने अमरीकी साहित्य को मेरुदंड दिया और जो इसलिये अमरीका के प्रथम शुद्ध साहित्यिक समझे जाते हैं: वाशिंगटन अर्विंग (१७८३-१८५९), विलियम कलेन ब्रायंट (१७९४-१८७८), जेम्स फेनिमोर कूपर (१७८९-१८५१) और एडगर एलेन पो (१८०९-४९)।

अर्विंग की शैली ऐडिसन, स्टील, गोल्डस्मिथ और स्विफ्ट की तरह मँजी हुई, चपल, अद्भुत किंतु मोहक कल्पनायुक्त और आत्मव्यंजक है। उसकी क्रीडाप्रिय कल्पना का पूर्ण रिप वान विंकिल संसार के अविस्मरणीय चरित्रों में है। उसके प्रसिद्ध रेखाचित्रों, निबंधों, कथाओं और अन्य कृतियों में वेस्टमिंस्टर अबे, स्ट्रैटफर्ड-आन-ऐवन, दि स्केच बुक, रिप वान विंकिल, दि म्यूटेबिलिटी ऑव लिटरेचर, दि स्पेक्टर ब्राइडग्रूम, दि स्लीपिंग हालो इत्यादि हैं। उसके विचारों में स्नायु और गहनता की कमी और भावुकता की अतिशयता है, किंतु अभिव्यक्ति के स्वच्छ लालित्य में वह अद्वितीय है।

ब्रायंट अमरीका का प्रकृतिकवि है। वह वर्ड्स्वर्थ के स्तर का नहीं किंतु उसी तरह का कवि है और उसमें वर्ड्स्वर्थ की चिंतनशीलता, संयम और नैतिकता है। उसने पहली बार कविता में अमरीका के दृश्यों, पेड़ पौधों और चिड़ियों का वर्णन किया। उसकी कविता में रोमानी तत्वों के साथ स्पष्टता भी है। अतुकांत छंद उसका प्रिय माध्यम था और उसमें उसे काफी दक्षता प्राप्त थी। थैनेटॉप्सिस कविता उसका उदाहरण है। वह अमरीका का पहला कवि है जिसमें केवल कौशल ही नहीं बल्कि उच्च कोटि की प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं।

कूपर जनवाद, प्रकृतिसौंदर्य और निश्छल जीवन का रोमानी उपन्यासकार है। उसकी कल्पना जंगलों, घास के मैदानों और समुद्रों के ऊपर मँडराती है तथा साहस और पराक्रम पर मुग्ध हो उठती है। सभ्यता से अछूते रेड इंडियनों का चित्रण वह अत्यंत सहानुभूति और सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के साथ करता है, नैटी बंपो और लेदर स्टाकिंग उसके महान् चरित्र हैं। देशप्रेम के बावजूद वह अमरीकी समाज के जनविरोधी, आडंबरपूर्ण, क्रूर और स्वार्थप्रिय रूप का तीव्र आलोचक है। उसकी प्रसिद्ध रचनाओं में लेदर-स्टॉकिंग टेल्स माला की ये कथाएँ हैं: दि पायोनियर्स (१८२३), दि लास्ट ऑव दि मोहिकंस (१८२६), दि प्रेयरी (१८२७), दि पाथफाइंडर (१८४०), दि डीयर स्लेयर (१८४१)। उसे सर वाल्टर स्काट के समकक्ष रखा जा सकता है।

पो अत्यद्भुत जीवन का कवि और कथाकार है। उसकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक आग्रहों का समावेश है। स्वयं अमरीका ने उसके कविरूप की उपेक्षा की, किंतु दि रैवेन (१८४५) आदि कविताओं ने फ्रांस के प्रतीकवादियों और आधुनिक यूरोपीय कविता को बहुत प्रभावित किया। उसकी कविताओं में सर्वथा मौलिक रचनाकौशल है और वे अपने संगीत की शुद्धता, सूक्ष्मता, सरल माधुर्य और विविधता के लिये प्रसिद्ध हैं। आलोचक के रूप में भी उसका महत्व है। पो जासूसी कहानियों के स्थापकों में है, किंतु उसकी ख्याति टेल्स ऑव दि ग्रोटेस्क ऐंड अराबेस्क (१८४०) की रोमांचकारी वेदना और रहस्यात्मक वातावरणपूर्ण कथाओं पर अधिक निर्भर है।

नवजागरण काल--प्रेसिडेंट जैक्सन के शासन से लेकर पुनर्निर्माण तक का समय (१८२९-१८७०) औद्योगिक विकास और जनवादी आस्था के समानांतर अमरीकी साहित्य में नवजागरण का युग है। धर्म और राजनीति की तरह इस युग का साहित्य भी उदार और रोमानी मानवतावादी दृष्टिकोण से संपृक्त है।

हास्यसाहित्य पर भी इस जनवादी प्रवृत्ति की स्पष्ट छाप है। न्यू इंग्लैंड के हास्यकारों में सेबा स्मिथ (१७९२-१८६८) ने जैक डाउनिंग और जेम्स रसेल लॉवेल (१८१९-९१) ने होसिया बिगलो और बर्डोफेडम

माविन, और बेंजामिन पी० शिलबर (१८१४-९०) ने मिसेज पार्टिंगटन और उनके भतीजे आइक जैसे साधारण याकी चरित्रों के माध्यम से राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की यथार्थ और विनोदपूर्ण समीक्षा की। डेवी क्रॉकिट (१७८६-१८३६), आगस्टस बाल्डिन लांगस्ट्रीट (१७९०-१८७०), जॉन्सन जे० हूपर (१८१५-६३), टॉमस बैम्स थार्प (१८१५-७८), जाजेफ जी० बाल्डविन (१८१५-६४) और जार्ज हैरिस (१८१४-६८) जैसे दक्षिण-पश्चिम के हास्यकार उनसे भी अधिक विनोदप्रिय थे।

नवजागरण काल के प्रारंभ के कवियों में अमरीका के लोकप्रिय कवि हेनरी वड्स्वर्थ लांगफेलो (१८०७-८२) के अतिरिक्त आलिवर वेंडेल होम्स (१८०९-९४) और जेम्स रसेल लॉवेल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विश्वविद्यालयों में आचार्य पद पर काम करने के कारण इन्हें यूरोपीय सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं का गहरा ज्ञान था, लेकिन अमरीकी जीवन ही उनकी कविता का मूल स्रोत है। नैसर्गिक सरल प्रवाह के साथ कथा कहने या वर्णन करने में लांगफेलो अत्यत सफल कवि है। उपदेश की प्रवृत्ति के बावजूद उसकी कविताएँ मर्मस्पर्शी है। उसकी प्रसिद्ध कविताओं में दि स्लेव्स ड्रीम और हायावाथा है। होम्स और लॉविल की कविताओं की विशेषताएँ क्रमश नागर विनोदप्रियता और भावों की उदात्तता है।

कवियों में अमरीकी जनवाद की सबसे महान् और मौलिक उपज वाल्ट ह्विटमन (१८१९-९२) है। साधारण व्यक्ति की असाधारणता के विश्वास से भरे हुए इस स्वप्नद्रष्टा कवि में आदिकवियों का उन्नतवक्ष, सार्वभौम, उन्मादपूर्ण और बधनमुक्त स्वर है। वह मुक्तछद का जन्मदाता भी है। पहली बार १८५५ में प्रकाशित और समय के साथ परिवर्धित उसके काव्यसंग्रह लीव्स ऑव ग्रास ने फ्रास के प्रतीकवादी कवियों और यूरोप की आधुनिक कविता पर गहरा असर डाला।

दक्षिण के कवियों में उल्लेखनीय नाम हेनरी टिमरांड, पाल हैमिल्टन हेन और विलियम जे ग्रेसन के है। इनमें से अधिकतर दासस्वामियों के जनविरोधी दृष्टिकोण के समर्थक थे। प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण, काव्य-संगीत और छदप्रयोगों की दृष्टि से इनमें अधिक प्रतिभासपन्न कवि सिडनी लेनियर था।

इसी युग ने लोकोत्तरवादी कहे जानेवाले चितनशील गद्यकारों को उत्पन्न किया जिनमें राल्फ वाल्डो इमर्सन (१८०३-८२) और हेनरी डेविड थोरो (१८१७-६२) सबसे प्रसिद्ध है। ये मसाच्युसेट्स के कांकॉर्ड नामक गाँव में रहते थे और इनकी रचनाओं पर न्यू इग्लैंड के यूनिटेरियन सप्रदाय की धार्मिक उदारता और रहस्यवादी अतर्दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव है। इमर्सन के अनुसार धर्म का तत्व नैतिक आचरण है। इसलिये उसका रहस्यवाद लोकजीवन के प्रति उदासीन नहीं है। सरल, चित्रमय शब्द, सूक्तिप्रियता, गहन किंतु कविसुलभ अनुभूतिमय चितन और शात, स्निग्ध व्यक्तित्व उसके साहित्य की विशेषताएँ है। एसेज (१८४१, १८४४), रिप्रेजेंटेटिव मेन (१८५०) और इग्लिश ट्रेट्स (१८५६) उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ है।

थोरो ने पश्चिम और पूर्व के ग्रथो का अध्ययन किया था। उसमें इमर्सन की तुलना में अधिक व्यावहारिकता और विनोदप्रियता है। उसकी प्रसिद्ध रचना वाल्डेन (१८५४) जीवन में नैसर्गिकता की ओर लौटने के दर्शन का प्रतिपादन है। अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक सिविल डिस्ओबिडिएंस (१८४९) में उसने शासन में अराजकतावाद के सिद्धात की स्थापना की। उसकी रचनाओं में अमरीकी व्यक्तिवाद की चरमावस्था व्यक्त हुई।

एमास ब्रासन एल्कॉट, जॉर्ज रिपले, ओरेस्टेस ब्राउसन, मार्गरेट फुलर और जोन्स वेरी उस युग के अन्य महत्वपूर्ण लोकोत्तरवादियों में है। लोकोत्तरवादियों में से अनेक १८४८ की क्रांति से प्रभावित हुए थे और उन्होंने तरह-तरह की अराजकतावादी, समाजवादी या साम्यवादी योजनाओं का प्रयोग किया और स्त्रियों के लिये मताधिकार, मजदूरों की स्थिति में सुधार और वेशभूषा तथा खानपान में सयम का आदोलन चलाया।

सुधार के इस युग में अनेक लेखकों ने दासों की मुक्ति के लिये भी आदोलन किया। इस सघर्ष का नेतृत्व विलियम एल० गैरिसन (१८०५-७९) ने किया। उसने दि लिबरेटर नामक साप्ताहिक निकाला जिसके प्रसिद्ध लेखकों में गद्यकार वेंडेल फिलिप्स (१८११-८४) और कवि जॉन ग्रीनलीफ ह्विटियर (१८०७-९२) थे। ह्विटिएर की कविताएँ सरल किंतु पददलितों के लिये अपार करुणा और स्नेह से पूर्ण है। पोएम्स रिटेन ड्यूरिंग दि प्रोग्रेस ऑव् दि एबालिशन क्वेश्चन, वॉइसेज ऑव् फ्रीडम, सॉग्ज़ ऑव दि लेबर आदि उसके काव्यसग्रहों के नाम से ही उसकी काव्यवस्तु का पता चल जाता है। उसकी कविता अन्याय के विरुद्ध प्रस्न है। वह ग्रामकवि है और उसकी कविता की भाषा और छद पर भी ग्रामीण प्रभाव है। १९वी सदी की सबसे प्रसिद्ध नीग्रो कवयित्री फ्रासिस ऐलेन वाट्किंस हार्पर (१८२५-१९११) है, जिसकी कविताओं में बैलडों की सरलता है।

दास-प्रथा-विरोधी आदोलन ने अमरीका के विश्वविख्यात उपन्यास अंकिल टॉम्स केबिन (१८५२) की लेखिका हेरिएट बीचर स्टोवे (१८११-९६) को उत्पन्न किया। उसके उपन्यास में विनोद, तीव्र अनुभूति और दारुण यथार्थ का दुर्लभ मिश्रण है।

इतिहास के क्षेत्र में भी इस काल में कुछ प्रसिद्ध लेखक हुए जिनमें प्रमुख जॉर्ज बैक्रॉफ्ट, जॉन लॉथ्रॉप मॉटले और फ्रांसिस पार्कमैन है।

अमरीका के दो महान् उपन्यासकार, नथेनियल हाथोर्न (१८०४-६४) और हर्मन मेलविल (१८१९-९१) इसी युग की देन है। हाथोर्न की कथाओं का ढाँचा इतिहास और रोमास के सम्मिश्रण से तैयार होता है, लेकिन उनकी आत्मा यथार्थवाद है। समाज और व्यक्ति के सघर्ष और उससे आविर्भूत अनेक नैतिक समस्याओं को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि, कथा-रूपकों और प्रतीकों के सहारे प्रस्तुत करने में हाथोर्न अद्वितीय हैं। उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना दि स्कारलेट लेटर (१८५०) इसका प्रमाण है।

मेलविल आकर्षक किंतु पापमय ससार में मानव के अनवरत किंतु दृढ़ सघर्ष का उपन्यासकार है। नाविक जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर उसने इस दार्शनिक दृष्टिकोण को अपने महान् उपन्यास मोबी डिक ऑर दि ह्वाइट ह्वेल में अहाब नामक नाविक और सफेद ह्वेल के रोमाचकारी सघर्ष में व्यक्त किया। रूपक और प्रतीक, उद्दाम चरित, भाव और भाषा, विराट् और रहस्यमय दृश्य, अतर्दृष्टि के तडित् आलोक में जीवन का उद्घाटन---ये मेलविल के उपन्यासों और कथाओं की विशेषताएँ हैं।

इस काल में डैनियल वेब्सटर, रेडॉल्फ ऑव रोआनोक, हेनरी क्ले और जॉन सी० कैल्हाउन ने गद्य में वक्तृत्व शैली का विकास किया। वेब्स्टर ने दासप्रथा का विरोध किया। अंतिम तीन दक्षिण में प्रचलित दासप्रथा के समर्थक थे। प्रेसिडेंट अब्राहम लिंकन का स्थान इनमें सबसे ऊँचा है। फ़ेयर-वेल टु स्प्रिंगफील्ड (१८६१), दि फर्स्ट इनागरल ऐड्रेस (१८६१), दि गेटिसबर्ग स्पीच (१८६३) और दि सेकड इनागरल ऐड्रेस (१८६५) भाषण में उपयुक्त शब्दों चित्रों और लयो के प्रयोग की अद्भुत क्षमता के परिचायक है। लिंकन के गद्य पर बाइबिल और शेक्सपियर की स्पष्ट छाप है।

गृहयुद्ध से १९१४ तक---गृहयुद्ध और उसके बाद का समय विज्ञान की उन्नति के साथ अमरीका में नए उद्योगों और नगरों के उदय का है। १९वीं सदी के अत तक जगलों के कट जाने के कारण देश की सीमा अतलांतिक से प्रशात महासागर तक फैल गई। इस नई स्थिति में अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग और आत्मविश्वास से भरे हुए आधुनिक अमरीका का उदय हुआ।

आत्मविश्वास का यह स्वर इस युग के अमरीकी हास्य साहित्य में मौजूद है। चार्ल्स फेरस्ब्राउन, डेविड रॉस लॉक, चार्ल्स हेनरी स्मिथ, हेनरी ह्वीलर शा और एडगर डब्ल्यू० नाई ने क्रमश आर्टेमस वार्ड, पेट्रोलियम वी (वेसूवियस) नैज्बी, बिल आर्प, जॉश बिलिंग्ज़ और बिल नाई के कल्पित नाम धारण कर अपनी समकालीन घटनाओं और समस्याओं पर जान बूझकर गँवारू, व्याकरण के दोषों से भरी हुई, रसभगपूर्ण और लातीनी या विद्वत्तापूर्ण सदर्भों से लदी भाषा में विनोदपूर्ण विचारविमर्श किया। उन्होंने साहित्य में 'रंजनकारी मूर्खों' के वेश में अमरीकी हास्य को विकसित किया।

कथासाहित्य में स्थानीय वातावरण या आंचलिकता का व्यापक ढग से इस्तेमाल हुआ। ऐसे कथाकारों में, समय और स्थान दोनों ही दृष्टियों से, फ्रांसिस ब्रेट हार्ट प्रथम है। उसने प्रशात महासागर के तटीय जीवन के

चित्र अंकित किए। दि लक ऑव रोरिंग कैंप ऐंड अदर स्केचेज़ (१८७०) में उसने कैलिफोर्निया के खदान मजदूरों के जीवन की विनोद और भावुकता-पूर्ण झाँकी प्रस्तुत की। इसी तरह स्टोवे ने ओल्ड टाउन फोक्स (१८६९) और सैम लाउसस ओल्डटाउन फायरसाइड स्टोरीज (१८७१) में न्यू इंग्लैंड के जीवन के मनोरंजक चित्र अंकित किए। एडवर्ड एगिल्स्टन का उपन्यास दि हूज़िएर स्कूलमास्टर (१८७१) इंडियाना के प्रारंभिक दिनों के जीवन पर आधारित है। विलियम सिडनी पोर्टर (ओ' हेनरी १८६२-१९१०) ऐसी कथाओं के लिये प्रसिद्ध है। अतीत इतिहास में स्थित किंतु यथार्थ से प्रेरित इन कथाओं में भावुकता, विनोद, चित्रात्मकता और विलक्षणता की प्रधानता है। ऐसी कथाओं के रचनाकारों में जॉर्ज वाशिंगटन केबिल, टॉमस नेल्सन पेज, जोएल चैंडलर हैरिस, मेरी नोआइ-लिस मार्फ़ी, सारा ओर्न जिवेट, हेनरी काइलर और मेरी विल्किंस फ़ीमैन भी महत्वपूर्ण हैं।

इन कथाकारों से अमरीका के महान् साहित्यकार सैमुएल लैंघार्न क्लेमेंस (मार्क ट्वेन १८३५-१९१०) का निकट का संबंध है। मार्क ट्वेन के अनेक उपन्यासों पर उनके भ्रमणशील जीवन का असंदिग्ध प्रभाव है। दि ऐडवेंचर्स ऑव टाम सायर (१८७६), लाइफ़ ऑन दि मिसिसिपी (१८८३) और दि ऐडवेंचर्स ऑव हक्लबेरी फिन (१८८४) मार्क ट्वेन के व्यापक अनुभव, चरित्रों के निर्माण की उसकी अद्वितीय प्रतिभा और काव्यमय किंतु पौरुषेय शैली की क्षमता के प्रमाण हैं। व्यंग्य और भाड के निर्माण में भी कम ही लेखक उसके समतुल्य हैं।

विलियम डीन हॉवेल्स ने जीवन के साधारण पक्षों के यथार्थ चित्रण पर जोर दिया। उसके समक्ष कला से अधिक महत्व मानवता का था। स्वाभाविक चित्रण पर जोर देनेवालों में ई० डब्ल्यू० होवे, जोज़ेफ कर्कलैंड और जॉन विलियम दि फारेस्ट भी उल्लेखनीय हैं। हैमलिन गारलैंड ने किसानों के जीवन और यौन संबंधों के कटु यथार्थ को चित्रित किया।

अमरीका की यथार्थवादी परंपरा के महान् लेखकों में थियोडोर ड्रेज़र (१८७१-१९४५) का निर्विवाद स्थान है। ड्रेज़र ने साहस के साथ अमरीका के पूँजीवादी समाज की क्रूरता और पतनशीलता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया, जिससे कुछ लोग उसे अश्लील भी कहते हैं। किंतु सिस्टर कैरी, जेनी गरहार्ड्ट, दि फाइनेंसियर, दि टाइटन और ऐन अमेरिकन ट्रैजेडी जैसे उसके प्रसिद्ध उपन्यासों से स्पष्ट है कि जीवन के कटु यथार्थ के तीव्र बोध के बावजूद मूलतः वह सुंदर जीवन और मानवीय नैतिकता की तृषा से आकुल है।

फ्रैंक नॉरिस और स्टीफेन क्रेन (१८७०-१९००) प्रभाववादी कथाकार हैं। उनमें चमत्कारिक भाषा की असाधारण क्षमता है। हैरल्ड फ्रेडरिक (१८५६-१८९८) में व्यंग्यपूर्ण चरित्रचित्रण की असाधारण क्षमता है।

हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) चरित्रों के सूक्ष्म और यथार्थ मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ साथ कला के प्रति जागरूकता के लिये प्रसिद्ध है। कहानी के सुगठन की दृष्टि से वह संसार के इने गिने लेखकों में है। आलोचक के रूप में वह दि आर्ट ऑव फिक्शन (१८८४) जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रणेता है। अमरीकी और यूरोपीय संस्कृतियों की टकराहट प्रस्तुत करने में उसके उपन्यास बेजोड़ हैं।

रोमानी वातावरण में जीवन के यथार्थ को रूपायित करनेवाले उपन्यासकारों में जैक लंडन और अप्टन सिंक्लेयर प्रथम कोटि के हैं। जैक लंडन का दि काल ऑव दि वाइल्ड (१९०३) और सिंक्लेयर का दि जंगल (१९०६) इसके उदाहरण हैं। रोमानी और विलक्षण उपन्यासों तथा कहानियों के सफल लेखकों में फ्रांसिस मैरियन क्रॉफर्ड, ऐंब्रोज़ बीयर्स और लैफकैडियो हार्न हैं।

हेनरी ऐडम्स ने अपनी आत्मकथा 'दि एजुकेशन ऑव हेनरी ऐडम्स' (१९०६) में आधुनिक अमरीकी जीवन का निराशापूर्ण चित्र अंकित किया। अमरीका की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की शल्यक्रिया इडा एम० टारबेल ने हिस्ट्री ऑव दि स्टैंडर्ड आयल कंपनी और लिंकन स्टीफेंस ने दि शेम ऑव दि सिटीज में किया। चार्ल्स डडले वार्नर और एडवर्ड बेलामी ने भी पूँजी की बढ़ती हुई शक्ति और नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर आक्रमण किया।

एडविन मार्खम और विलियम व्हॉन मूडी की कविताओं में भी आलोचना का वही स्वर है।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही अमरीका की पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना होने लगी थी। अनेक लेखकों ने समाजवाद को मुक्ति के मार्ग के रूप में अपनाया। ऐसे लेखकों के अग्रणी थियोडोर ड्रेज़र, जैक लंडन और अप्टन सिंक्लेयर थे।

वाल्ट ह्विटमन को छोड़कर १९वीं सदी के अंतिम और २०वीं सदी के प्रारंभ के वर्ष कविता में साधारण उपलब्धि से आगे न जा सके। अपवाद-स्वरूप एमिली डिकिन्सन (१८३०-१८८६) है जो निश्चय ही अमरीका की सबसे बड़ी कवयित्री है। उसकी कविताओं का स्वर आत्मपरक है और उनमें उसके ग्रामीण जीवन और असफल प्रेम के अनुभव तथा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। डिकिन्सन की कविता में यथार्थ, विनोद, व्यंग्य और कटाक्ष, वेदना और उल्लास की विविधता है। चित्रयोजना, सरल और क्षिप्र भाषा, खंडित पंक्तियों और कल्पना की बौद्धिक विचित्रता में वह आधुनिक कविता के अत्यंत निकट है।

प्रथम महायुद्ध के बाद—यूरोप की तरह अमरीका में भी यह काल नाटक, उपन्यास, कविता और साहित्य की अन्य विधाओं में प्रयोग का है।

नाटक के क्षेत्र में गृहयुद्ध के पहले रॉबर्ट माटगोमरी बर्ड और जॉर्ज हेनरी बोकर अतुकांत दुःखांत नाटकों के लिये और डियन बूसीकॉल्ट अति-रंजित घटनाओं से पूर्ण नाटकों के लिये साधारण रूप में उल्लेखनीय हैं। गृहयुद्ध के बाद भी नाटकों का विकास बहुत संतोषजनक न रहा। जेम्स ए० हर्न, ब्रासन हॉवर्ड, आगस्टस टॉमस और क्लाइड फिट्श में रंगमंच की समझ है, लेकिन उनके नाटकों में भावों और विचारों का सतहीपन है। प्रथम महायुद्ध के बाद नाटक के क्षेत्र में अनेक प्रयोग होने लगे और यूरोप का गहरा असर पड़ा। नाटक में गंभीर स्वर का उदय हुआ। इस आंदोलन का उत्कर्ष यूजीन ओ' नील (१८८८-१९५३) के नाटकों में प्रकट हुआ। ओ' नील के नाटकों में यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद और चेतना के स्तरों के उद्घाटन के अनेक प्रयोग हैं। किंतु इन प्रयोगों के बावजूद ओ' नील कविसुलभ कल्पना और भावावेग के साथ जीवन के प्रति अपने दुःखांत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देता है।

मार्क कॉनेली, जॉर्ज एस० कॉफमैन, एल्मर राइस, मैक्सवेल ऐंडर्सन, रॉबर्ट शेरउड, क्लिफर्ड ओडेट्स, थार्नटन वाइल्डर टेनेसी; विलियम्स और आर्थर मिलर ने भी नाटक में यथार्थवाद, प्रहसन, संगीतप्रहसन, काव्य और अभिव्यंजना के प्रयोग किए। यूरोप के आधुनिक नाट्यसाहित्य और अमरीका में 'लघु' और ललित रंगमंचों के उदय ने उन्हें शक्ति और प्रेरणा दी।

आधुनिक अमरीकी कविता का प्रारंभ एडविन आर्लिंगटन रॉबिंसन (१८६९-१९३५) और राबर्ट फ्रास्ट (१८७४-१९६३) से होता है। परंपरागत तुकांत और अतुकांत छंदों के बावजूद उनका दृष्टिकोण और विषयवस्तु आधुनिक है, दोनों में अवसादपूर्ण जीवन के चित्र हैं। रॉबिंसन में अनास्था का मुखर स्वर है। फ्रॉस्ट की कविता की विशेषताएँ अंतरंग शैली में साधारण अनुभव की अभिव्यक्ति, संयमित, संक्षिप्त और स्वच्छ वक्तव्य, नाटकीयता और हास्य तथा चिंतन का संमिश्रण है। पो और डिकिन्सन की रूपवादी शैली से प्रभावित अन्य उल्लेखनीय कवि वैलेस स्टीवेंस (ज० १८७९), एलिनार वाइली (१८८५-१९२८), जॉन गोल्डफ्लेचर (१८८६-१९५०) और मेरियन मूर (ज० १८८७) हैं।

हैरियट मुनरो (१८६०-१९३६) द्वारा शिकागो में स्थापित पोएट्री : ए मैगज़ीन आव वर्स अमरीकी कविता में प्रयोगवाद का केंद्र बन गई। इसके माध्यम से ध्यान आकर्षित करनेवाले कवियों में वैचेल लिंडसे (१८७९-१९३१), कार्ल सैंडबर्ग (ज० १८७८) और एडगर ली मास्टर्स (१८६९-१९५०) प्रमुख हैं। ये ग्रामों, नगरों और चरागाहों के कवि हैं। मास्टर्स की कविता में गहरा विषाद है, लेकिन सैंडबर्ग की प्रारंभिक कविताओं में मनुष्य में आस्था का स्वर ही प्रधान है। हार्ट क्रेन (१८९९-१९३२) में ह्विटमन का रोमानी दृष्टिकोण है। यह रोमानी दृष्टिकोण नाओमी रेप्लास्को, जॉन गार्डन, जॉन हाल ह्विलॉक, आइवर विंटर्स और थियोडोर रोथेक की कविताओं में भी है। आर्किबाल्ड मैक्लीश (ज० १८९२) की

कविताओं मे सर्वहारा के संघर्षों का चित्र है। स्टीफेन विंसेंट बेने (१८९८-१९४३) व्यापक मानव महानुभूति का कवि है। उसमें ... अत्यन्त सफल है। होरेस ग्रेगरी (ज० १८९८) और केनेथ पैचेन (ज०१९११) की कविताओं पर भी ह्विट्मन का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी ओर रॉबिंसन जेफर्स (ज० १८८७) है जो अपनी कविताओं मे मनुष्य के प्रति आक्रोशपूर्ण घृणा और प्रकृति के दारुण दृश्यो से प्रेम के लिये प्रसिद्ध है।

एमी लॉवेल (१८७४-१९२५) और एच० डी० (हिल्डा डूलिटिल : ज० १८८६) ने इमेजिस्ट काव्यधारा का नेतृत्व किया। एज़रा पाउंड (ज० १८८५) और टी० एस० इलियट (१८८८-१९६५) ने आधुनिक अमरीकी कविता मे प्रयोगवाद पर गहरा असर डाला। उनसे और 'मेटाफिजिकल' शैली के रूपवाद से प्रभावित कवियों मे जान क्रोवे रैंसम (ज० १८८८), कॉनरॉड आइकेन (ज० १८८९), रॉबर्ट पेन वैरेन (ज० १९०५), ऐलेन टेट (ज० १८९९), पीटर वाइरेक (ज०१९१६) कार्ल शैपीरो (ज० १९१३), रिचर्ड विल्बुर (ज० १९२१), आर० पी० ब्लैकमूर (ज० १९०४) तथा अनेक अन्य कवि है। अभिव्यक्ति मे घनत्व, चमत्कार और दीक्षागम्यता उनकी विशेषताएँ है। इनके अनुसार "कविता का अर्थ नही, अस्तित्व होना चाहिए।"

प्रयोगवादियो मे ई० ई० कमिंग्ज़ (ज० १८९४) पक्तियो के प्रारभ मे बडे अक्षरो को हटाने तथा विरामो और पक्तियो के विभाजन मे प्रयोगो के लिये प्रसिद्ध हैं।

२०वी सदी की कवयित्रियो मे सारा टीज़डेल (१८८४–१९३३) और एड्ना सेंट विंसेंट मिले (१८९२–१९५०) अपने सानेटो और आत्मपरक गीतो की स्पष्टोक्तियो के लिये प्रसिद्ध है। मिले मे प्रखर सामाजिक चेतना है। जेम्स वेल्डेन जॉन्सन (१८७१–१९३८), लैंगस्टेन ह्यूजेज़ (ज०१९०२) और काउंटी क्लैन (१९०३–४६) नीग्रो कवि हैं जिन्होने नीग्रो जाति की समस्याओ पर ध्यान केंद्रित किया।

२०वी सदी के अन्य प्रयोगवादियो मे मार्क व्हॉन डोरेन, लियोनी ऐडम्स, रॉबर्ट लॉविल, हॉवर्ट होरन, जेम्स मेरिल, डब्ल्यू० एस० मर्विन, डेलमोर श्वार्ट्ज़, म्यूरिएल रुकेसर, विनफील्ड टाउनले स्कॉट, एलिजाबेथ बिशप, मेरिल मूर, ऑगडेन नैश, पीटर वाइरेक, जान कियार्डी आदि ऐसे कवि है जिनपर वाल्ट ह्विट्मन की कविता का आंशिक प्रभाव है। अपेक्षाकृत नए प्रयोगवादियो मे जॉन पील बिशप, रैंडाल जेरेल, रिचर्ड एबरहार्ट, जॉन बेरिमैन, जॉन फ्रेडरिक निम्स, जॉन मैल्कम ब्रिनिन और हॉवर्ड नेमेरोव है। सामाजिक यथार्थ और स्वस्थ जनवादी चेतना को महत्व देनेवाले आधुनिक कवियो मे वाल्टर लोवेनफेल्स, मार्था मिलेट, मेरिडेल ले स्यूर, टॉमस मैक्ग्राथ, ईव मेरियम, केनेथ रेक्सरॉथ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद की मुख्य प्रवृत्तियो को सक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूकता, उसकी विषमताओ से टकराकर टूटते हुए स्वप्नो का बोध, पूँजीवादी समाज और उसकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओ से विद्रोह और नई सामाजिक व्यवस्था तथा जीवन के नए मूल्यों की खोज।

इस विद्रोह मे कथाकारो ने फ्रायड के मनोविज्ञान और मार्क्स के दर्शन का सहारा लिया। जेम्स ब्राँच कैबेल ने जर्गेन (१९१९) मे फ्रायडवादी प्रतीकों के माध्यम से अमरीकी समाज और यौन सबधी उसके रूढिगत दृष्टिकोण की आलोचना की। जोना गेल (१८७४-१९३८) और रूथ सक्चो (ज० १८९२) ने गाँवो के जीवन पर से रोमानी आवरण हटा दिया। गाँवो के सकुचित जीवन और कुठित यौन सबधो का सबसे बडा चित्रकार शेरवुड ऐंडर्सन है।

यथार्थवाद को प्रबल बनाने मे ड्रेज़र के अतिरिक्त एफ० स्काट फिट्जेरल्ड और सिंक्लेयर लिविस का बहुत बडा हाथ था। फिट्ज़ेराल्ड के दिस साइड ऑव पैराडाइज़ (१९२०) और दि ग्रेट गैट्स्बी (१९२५) मे अमरीका के भग्न स्वप्नो और नैतिक ह्रास का चित्र है। लिविस ने मेन स्ट्रीट (१९२०) मे गाँवो, बैबिट (१९२२) मे व्यवसाय, ऐरोस्मिथ (१९२५) मे पूँजीवादी विज्ञान, एल्मर गैंट्री (१९२७) मे धर्म, इट कांट हैपेन हियर (१९३५) मे फासिज्म की प्रवृत्तियो और किंग्ज़ब्लड रॉयल (१९४७) मे नीग्रो जाति के प्रति अन्याय के चित्र प्रस्तुत कर अमरीकी समाज मे व्यापक ह्रास के लक्षण दिखलाए। लेकिन इनमें लिविस का स्वर पराजय का नही बल्कि समाजवाद की स्थापना द्वारा समस्याओ पर अंतिम विजय का था। जेम्स टी० फेरेल ने तीन खडो मे लिखे गए उपन्यास स्टड्स लॉनिगन (१९३२-३५) मे सामाजिक विषमताओ को चित्रित किया। रिचर्ड राइट के उपन्यासो मे नीग्रो जाति के जीवन का चित्र है। अलबर्ट हाल्पर मजदूरो के सघर्षों का उपन्यासकार है। जे० पी० मारक्वां ने न्यू इग्लैंड के सभ्रात परिवारो पर व्यंग्य और कटाक्ष किया। एच० एल० मेकेन ने प्रेजुडीसेज़ (१९१९-२७) मे सामाजिक अधविश्वासो और अन्यायों पर आक्रमण किया। गबर्ट पेन वारेन ने आल दि किंग्ज़ मेन मे व्यंग्य और आक्रोश के साथ फासिज्म को धिक्कारा। जॉन डॉस पसॉस की ख्याति युद्धविरोधी उपन्यास थ्री सोल्जर्स से हुई और दूसरे युद्ध तक उसने मनहटन ट्रासफर और फॉर्टी-सेकड पैरेलेल, १९१९ और दि बिग मनी नामक तीन खडो के उपन्यास मे आधुनिक अमरीकी समाज की कटु आलोचना की।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे (१८९९-१९६१), विलियम फॉकनर (१८९७-१९६२) और जान स्टाइनबेक (ज० १९०२) की गणना आधुनिक काल के तीन बड़े उपन्यासकारो मे है। इन्होने निराशा से प्रारभ किया, लेकिन बाद मे आस्था की ओर लौटे। स्पेन के गृहयुद्ध ने हेमिंग्वे को जनता की शक्ति का बोध कराया और उसके दो प्रसिद्ध उपन्यास टु हैव ऐंड हैव नॉट (१९३७) और फॉर हूम दि बेल टॉल्स (१९४०) इसी विश्वास की उपज है। हेमिंग्वे बुल-फाइट मे प्रदर्शित मानव के अपार पराक्रम और उसमे मनुष्य या पशु के अनिवार्य अत से उत्पन्न करुणा का कथाकार भी है। हेमिंग्वे की शैली मे बाइबिल से मिलती जुलती सरलता, स्नायविकता और माधुर्य है।

फॉकनर 'चेतना की अर्धारा' शैली का उपन्यासकार है। उसके उपन्यासो मे दासप्रथा के गढ दक्षिण के सामाजिक और सास्कृतिक क्षय के चित्र हैं। दक्षिण के जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरणो के ज्ञान के कारण वह अमरीका का सबसे बडा आचलिक उपन्यासकार माना जाता है। उसके उपन्यासो मे दीक्षागम्यता की प्रवृत्ति भी है। स्टाइनबेक ने ऐतिहासिक उपन्यासो मे समाजविरोधी और अराजकवादी दृष्टिकोण से प्रारभ किया। बाद मे उसने मार्क्सवादी दर्शन अपनाया और इस प्रभाव के युग मे लिखे गए उसके दो उपन्यास इन डुबियस बैटिल (१९३६) और दि ग्रेप्स ऑव राथ अत्यत प्रसिद्ध हैं।

चरित्रो के रागात्मक पक्ष, प्रतीको और वाक्यरचना मे लय पर बल देनेवाले उपन्यासकारो मे विला केदर, कैथरीन ऐनी पोर्टर और टॉमस वुल्फ का प्रमुख स्थान है। नए प्रयोगो से प्रभावित कितु मुख्यत उपन्यास के परपरागत रूप को सुरक्षित रखनेवाले उपन्यासकारो मे तीन महिलाएँ उल्लेखनीय हैं—एडिथ व्हार्टन, ऐलेन ग्लैस्गो और पर्ल एस० बक। मार्क्सवादी या अमरीका की स्वस्थ जनतात्रिक परपरा के प्रति सचेत समकालीन उपन्यासकारो मे इरा बुल्फर्ट, मेलर, हेनरी राथ, डब्ल्यू० ई० बी० डुबॉय, जान सैफर्ड, बार्बरा गाइल्स, हॉवर्ड फास्ट, रिंग लार्डनर जूनियर, डाल्टन ट्रबो, फिलिप बोनोस्की, लॉयड एल० ब्राउन, वी० जे० जेरोम और बेन फील्ड ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। गद्य शैली की मौलिकता की दृष्टि से गर्ट्रूड स्टीन अमरीका का अद्वितीय लेखक है।

२०वी सदी का पूर्वार्ध आलोचना साहित्य मे अत्यत समृद्ध है। इसका प्रारभ 'मानवतावादी' इर्विंग बैबिट और उसके सहयोगियो, पाल एल्मर मोर, नार्मन फार्स्टर और स्टुअर्ट शेरमन द्वारा मानव मे आस्था के नाम पर यथार्थवाद के विरोध के रूप मे हुआ। दूसरी ओर एच० एल० मेकेन ने यथार्थवाद का समर्थन किया। साहित्य मे स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण पर जोर देनेवाले आलोचको मे वानविक ब्रुक और वी० एल० पैरिंगटन का बहुत ऊँचा स्थान है।

आलोचना मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात करनेवालो मे वी० एफ० कैलवर्टन, ग्रैनविल हिक्स और माइक गोल्ड थे। इसका पुट एडमड विल्सन, केनेथ बर्क, और जेम्स टी० फेरेल की आलोचनाओ मे भी है। आज भी अनेक आलोचक इस दृष्टिकोण से लिखते हैं और उनमे प्रमुख सिडनी फ़िंकेलस्टीन, सैमुएल सिलेन, लूई हैरप, फिलिप बोनोस्की, अलबर्ट माल्ट्ज़, वी० जे० जेरोम, चार्ल्स हंबोल्ड्ट और हर्बर्ट ऐप्थेकर हैं।

मार्टिन डी० जैबेल, एज़रा पाउंड, हुल्म, आई० ए० रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट की आलोचनाओं ने अमरीका की 'नई आलोचना' को जन्म दिया। 'नई आलोचना' मुख्यत. रूपवादी आलोचना है जो वस्तु और दृष्टिकोण के स्थान पर रचना की प्रक्रियाओं पर जोर देती है। इसके प्रधान प्रचारकों में दक्षिण के रूढ़िवादी साहित्यकार और आलोचक आर० पी० ब्लैकमूर, एलेन टेट, जान क्रोवे रैंसम, क्लिंथ ब्रुक्स और राबर्ट पेन वैरेन हैं।

नग्न यौन चित्रण और पाशविक प्रवृत्तियों के जोर पकड़ने से दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीकी साहित्य का संकट बहुत गहरा हुआ है। लिविस, डास पैसास, स्टाइनबेक, सैंडबर्ग, हिक्स, हॉवर्ड फास्ट आदि अनेक लेखकों ने समाजवादी देवता के कूच कर जाने की बात कही है। लेकिन समाजवाद के साथ साथ अमेरिकी साहित्य और संस्कृति की महान् जनवादी परंपराओं का विसर्जन आधुनिक अमरीकी साहित्य के विकास में बाधक है।

सं०ग्रं०—ब्लेयर तथा अन्य : दि लिटरेचर ऑव यूनाइटेड स्टेट्स, आर० ई० स्पिलर तथा अन्य : लिट्ररी हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव अमेरिकन लिटरेचर, डब्ल्यू० एफ० टेलर : ए० हिस्ट्री ऑव अमेरिकन लेटर्स, एस० टी० विलियम्स तथा एन० एफ० ऐडकिंस : कोर्सेज ऑव रीडिंग इन अमेरिकन लिट्रेचर, वी० एल० पैरिंगटन : मेन करेंट्स इन अमेरिकन थाट, एफ० ओ० मैथिसन : अमेरिकन रेनेसाँ। (च० बं० सिं०)

अमरीकी साहित्य (१९४५–१९७०)—द्वितीय महायुद्ध के बाद से १९७० तक का अमरीकी साहित्य काव्यरूपों को ताड़ना एवं पुनर्निमित करता रहा है। परंपराओं पर आघात उनके आंतरिक शक्तिपात का ही द्योतक है। युद्धोत्तर साहित्य में हमें मानव के अस्तित्व का नवीकृत बोध मिलता है। मनुष्य की निजी हस्ती पर होनेवाले आक्रमणों के प्रतिरोध की अभिव्यक्ति मिलती है। प्रतिज्ञाबद्धताओं एवं आस्थाओं का पुनर्निरीक्षण किया गया है। इस काल के अमरीकी साहित्य में लेखक के जीवनदर्शन के समरूप ही अंत करणी विरोध का साहस है। वह आत्महस्ती एवं समाज के भिड़न के आधारगत तथ्य का अन्वेषण साहित्यिक कला के रूप एवं विरोध द्वारा करता रहा है। यह साहित्य प्रत्याख्यानी एवं नया है।

यह साहित्य युद्धोत्तर विघटक गर्त एवं विनाशकारी अस्तव्यस्तता की पृष्ठभूमि में अंकुरित हो अपना निर्माण करता है। युद्ध के बाद सतत शीतयुद्ध ने उसे जीवन की अनुभूतियाँ दी, जिनमें प्रमुख ये है —प्रबल किंतु अर्थहीन हिंसा, आत्मापराग, समाज से अपराग, मनुष्य का अमानवीकरण, अत्याचारी समाज एवं महाराज्य के पैशाची पाश यथार्थ में व्यक्ति की दुर्गति, सर्वशक्तिमान आर्थिक एवं राजनीतिक निहितस्वार्थों द्वारा विज्ञापन तथा प्रचार के माध्यम से लोगों का मस्तिष्क प्रक्षालन। ऐसे पैशाची जगत् में सर्जित होनेवाला साहित्य अजनबी के माध्यम से प्रेम एवं स्वतंत्रता का अन्वेषण करता है। वह दमन के सामाजिक वातावरण में लिखा गया व्यक्ति की आत्महस्ती का साहित्य है, जिसमें वृत्तिगत अनिवार्यताएँ ही मार्गनिर्देशक हैं। नैतिकता भी वैयक्तिक एवं अस्तित्वपरक हो गई है, एवं इसीलिए व्ययात्मक तथा अनिश्चित। राज्य एवं समाज में मूल्यों का सर्वनाश हो जाने पर भी यह साहित्य अपने को आत्मरहती एवं जीवन के प्रति समर्पित करता है। इसका संकल्प अमंगलनाश के सन्निकट है।

यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि ऊर्ध्ववर्णित मनुष्य एवं समाज की स्थिति तथा तन्मयता साहित्यिक प्रवृत्तियाँ मात्र अमरीकी नहीं, अपितु अंतरराष्ट्रीय है। युद्धोत्तर विश्व का अमरीकीकरण हो चुका है अथवा हो रहा है।

उपन्यास —युद्धोत्तर कथासाहित्य शक्तिशाली एवं वैविध्यपूर्ण है। युद्धसबंधी उपन्यास भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। जान हर्सी, जार्ज, मैंडल, जान हार्न बर्न्स (द गैलरी, १९४७), नामन मेलर (द नेकड ऐंड द डेड, १९४८), जान हाक्स (द कैनिबल, १९४९), जेम्स जोन्स (फ्राम हियर टु इटर्निटी, १९५१), टामस बर्गर (क्रैजी इन बर्लिन, १९५८), तथा जाजेफ हेलर (कैच–२२, १९६१) के युद्धसबंधी कथासाहित्य में भी रूप एवं साहित्यिक उद्देश्य की प्रचुर विविधता है। उपन्यास की यह अनेकरूपता एवं अनेकोद्देश्यता सतह के नीचे समाज के खंड खंड हो जाने के कारण है। बर्नार्ड मेलमड के उपन्यासों में यहूदी समाज का चित्रण है, फ्लैनरी ओ' कानर में दक्षिणी अमरीकियों का, जैक केरुआक में हिप्स्टरों का, ग्लेड्लर आसर्ड में बोहिमियाई आवारों का, हर्बर्ट गोल्ड में चापलूसों का, जान चीवर एवं लुई ऑकिन्क्लास में परिनागरों का। यह स्थिति समाज के विघटन को प्रतिबिंबित करती है। दक्षिणी उपन्यासकार यहूदी लेखक, नीग्रो कथाकार एवं बीटनिक लेखक संस्कृति की सत्रासी अंतर्भूमि से अपनी अस्तित्वपरक अनुभूतियों को मुखरित करते हैं। इन लेखकों की सस्थिति को प्रकृतिवाद व्यक्त करने में असमर्थ था। अतएव उसने प्रतीकात्मकता, रूमानी अथवा बीभत्स सनसनी, पुराख्यानी एवं आद्यरूपी ततुजाल, कलात्मक अथवा गडबड कसीदेवाले क्षेत्रों में प्रवेश किया।

इस काल के उपन्यासों में नायक की मूलत निष्कलुषता पर बल है, जो पतितोद्धारी गुण के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। निष्कलुष नायक कभी तो विद्रोही शिकार एवं विद्रोही बलिपशु के रूप में निरूपित किया जाता है तो कभी अजनबी, बच्चा, किशोर, अपराधी सत अथवा विदूषक के रूप में। प्रत्येक दशा में नायक की आत्महस्ती एवं पतित समाज के बीच समाधान नहीं हो पाता और इस अर्थ में उसकी दीक्षा अधूरी ही रह जाती है। विद्रोह, विध्वस अथवा आत्महस्ती अभिपुष्टि पर बल रहता है। केरुआक, बरोज, आसर्ड, विडल एवं मेलर के उपन्यासों में यही सरचना मिलती है। बेलो, जोंस, बोल्ज, मेलमूड, स्टाइरन एवं मकलर्ज के उपन्यासों में विद्रोही नायक का अंत शहादत, आत्महत्या अथवा पराजय में होता है। यही बात सैलिंजर, कपोट, एलिसन एवं डान्लेवी के उपन्यासों पर भी लागू होती है। सभी नायक को अपराधी सत अथवा खीस्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। हाक्स, कपोट, नैबाकोव एवं ओ'कॉनर के कुछ उपन्यासों में विरूपी पिशाच भी यही भूमिका अदा करते हैं। अपने सपनों की दुनिया में बंद विरूपी पात्र समाज का सत्रस्त शिकार होने पर शैतान के रूप में परिणत हो जाता है एवं समाज की सारी ही सामान्य मान्यताओं पर आघात करता है। इन उपन्यासों में प्रत्याख्यान पैशाची विद्रोह का रूप धारण कर लेता है। अमरीकी उपन्यासों पर यूरोपियन अस्तित्ववाद का भी प्रभाव पड़ा है। स्टाइरन, बोल्ज, बेलो, जान अपडाइक, डान्लेवी एवं जान बार्थ के उपन्यासों पर यूरोपीय अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट है।

सं०ग्रं०—लेज़ियर : डेकाडस ऐंड रीबर्थ, (१९७१), गैलोवे : दि ऐब्सर्ड हियरो इन अमेरिकन फिक्शन, (१९६६) हार्पर : डेस्पेरेट फेथ, (१९६७), इहाबाहसन : रैडिकल इनोसेंस, (१९६१), फीडलर : द रिटर्न ऑव द वैनिशिंग अमेरिकन, (१९६८)।

कविता —द्वितीय महायुद्धोत्तर कालीन अमरीकी कविता बीट अथवा बीटनिक कवियों एवं विद्योचित कवियों के पारस्परिक सघर्ष एवं विरोध का लक्षित करती है। राबर्ट लोवल के शब्दों में यह संघर्ष अनगढ एवं परिष्कृत कविता के बीच पारस्परिक विरोध का संघर्ष है। इस वर्गीकरण के बावजूद हम देखते हैं कि इस २५ वर्ष की अवधि में अनेक बीटनिक कवि विद्योचित बन गए तथा अनेक विद्योचित कवियों ने बीटनिक शैली को अपनाया।

बीटनिक कवियों में समाज के प्रति विद्रोह की भावना है। वे सभी सामाजिक संस्थाओं को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और अपने लिये प्रात्यंतिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता चाहते हैं। वे अति मुक्तछंद में मनमाने ढंग से लिखते हैं। काव्य उनकी जीवनशैली का मात्र उपफल है। वे मदिरा, नशा, यौन प्रयोगों एवं मादक द्रव्यों की सहायता से भावोद्दीपन की तीक्ष्णता को बढ़ाने का प्रयास करते हैं एवं नीग्रो तथा जैज संगीतज्ञों के सत्संग में भगवद्दर्शन की आशा रखते हैं। अपनी कविताओं को वे विलियम कार्लोस विलियम्ज़ अथवा जैक केरुआक को समर्पित करते हैं। जैन, बौद्ध एवं पूर्वी संस्कृति के तात्त्विक अथवा 'असामाजिक' पक्षों से आकर्षित ये नए बोहिमियाई 'आवारे' हैं जो समाज का विरोध एवं आदिमवाद, मूलवृत्ति, शक्ति तथा रक्त की उपासना करते हैं। काव्य में बीटनिक शैली के प्रमुख लेखक हैं ऐलन गिन्ज़बर्ग, ग्रेगरी कोर्सो तथा लारेंस फर्लिंगेटी। केनेथ रेक्सरॉथ, केनथ पैचन, राबर्ट डंकन, डेनिस लेवरतोव, चार्ल्स ओल्सन, राबर्ट क्रीली, जडसन क्रूज तथा जिल मार्लोविट्स की कविताओं पर भी बीटनिक शैली का

प्रभाव पड़ा है। बीट कविता की आसन्नता एवं ओज मानवी अस्तित्व के नग्न चरित्र को गीत देता है।

गिन्ज़बर्ग की 'हाउल' (१९५६) नरकवासी कवि द्वारा मनुष्य के नारकीय अस्तित्व का उच्छेदन करती है। उनकी पंक्तियाँ प्रेम, अथवा क्रोधरूपी कोड़े की फटकार से आधुनिक जगत् के सारे सत्रास एव विभीषिका का स्पर्श कर उनसे आगे ब्रह्मांडीय पवित्रता तक पहुँचती है। राजनीतिक, हत्या, पागलपन, स्वापकव्यसनी, समलिंगसबध, अथवा तात्रिक या जेन तटस्थता की विषयवस्तु का भार उनकी पंक्तियाँ सदा ही वहन करने मे समर्थ नही होती। गिन्ज़बर्ग की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसका रहस्यवादी तत्व है। उसका दूसरा प्रकाशन 'कैडिश' (१९६०) भी इन्ही गुणो से युक्त है एव मनुष्य की सवेदना को अनुभूत यथार्थ के सीमातक क्षेत्र तक ले जाता है। 'बीट' शब्द के प्राय तीन अर्थ दिए जाते है—(१) समाज का निम्नस्तर जहाँ सस्थाओ एव परिपाटियो ने दलित कवि को दबा रखा है, (२) जैज सगीत की लय एव ताल जो काव्यसगीत को उत्प्रेरित करता है, एव (३) भगवद्दर्शन। ग्रेगरी कोर्सो के 'द वेस्टल लेडी ग्रान ब्रैटल', 'गैसोलीन', तथा 'द हैपी बर्थडे ऑव डेथ' मे छंद बीट आदर्श के सन्निकट हैं। वह जैज के विस्फोटक प्रभाव एव हिप्स्टर नर्तको की भाषा तथा शब्दो का अनुकरण करता है। लारस फर्लिंगेटी के 'अ कॉनी आइलड ऑव द माइड' मे गली काव्य लिखने का प्रयास किया गया है। कविता को अध्ययन कक्ष के बाहर गलियो में लाया गया है। इसमे जैज की सगति मे गलियो मे बोलती आवाज की अनुकृति है। अन्य बीट कवियो के नाम हैं गे स्नाइडर, फिल वेलन एव माइकेल मक्लूअर। बीट कविता अमरीका की अतर्भौम कविता है। बीट ही के समान दो अन्य अतर्भौम सप्रदाय भी हैं—ब्लैक माउटन कवि एव न्यू पार्क कवि। पहले संप्रदाय मे चार्ल्ज ओलसन, राबर्ट क्रीली, राबर्ट डकन एव जानथन विलियम्ज आते हैं। दूसरे सप्रदाय के अतर्गत डेनिस लेवर्तोव, ल राय जोज एव फ्रैंक ओ' हारा आते हैं।

विद्रोचित कवियो मे सबसे महत्वपूर्ण है अपराधस्वीकारी कवि राबर्ट लोवल, स्नोडग्राम, अदर अटोनिनुस, सिल्विया प्लैथ एव थेओडोर रेथके। गाइल ग्लेजियर की कविताएँ (आर्चर्ड पार्क अड इस्ताबूल, १९६५, यू टू, १९६६, द डार्विसिज, १९७०, एव वाइसिज ऑव द डेड, १९७१) भी इसी श्रेणी मे आएँगी। राबर्ट ब्लाई, जेम्ज राइट, राबर्ट केली, विलियम डफी एव जेरेमो रादनबर्ग अपने को नितलबिबीय कवि कहते है। इनके अतिरिक्त बेरीमन, श्वार्त्स, जारल, शपियरो, नेमरोव, एवर्हार्ट, कुनिन्म, वियरेक, स्मिथ, विल्बर एव डिकी भी विद्रोचित कवि है। स्त्री कवियो मे हाज, स्वेमन, मिलर, मक्गिनली, बिशप, रुकेसर, सेक्स्टन एव गार्डनर के नाम विशेष उल्लेखनीय है। नीग्रो कवियो मे वाकर, ब्रुकलिन, डाइसन, टाल्सन, बेड, जोज, ओडेन, रिवर्ज आदि नीग्रो लोकगीतो से प्रेरणा प्राप्त करते है।

कहना नही होगा, पाउड, टेट, रेसम, एलियट, ऑडन एव कमिंग्ज के समान द्वितीय महायुद्धोत्तर २५ वर्षों मे नवोदित कवियो ने सुख्याति अभी तक नही प्राप्त की।

सं०ग्रं०—कैबन रीसट अमेरिकन पोएट्री, (१९६२), हावर्ड अलोन विद अमेरिका, (१९६६), हगफर्ड स०, पोएट्स इन प्रोग्रेस, (१९६२), केसथ, स० पोएम्ज ऑव प्रोटेस्ट, (१९६८), आस्ट्रफ, स० द कटेपररी पोइट अज़ आर्टिस्ट अड क्रिटिक, (१९६४), शिवमूर्ति पाडेय, स० एसिज ऑन माडर्न अमेरिकन पोइट्री, (१९७१), राजथल . द न्यू पोएट्स, (१९६७)।

नाटक—द्वितीय महायुद्धोत्तर नाट्य साहित्य मे आत्यंतिक प्रयोग हुए है। उपन्यास एव कविता के समान ही नाटक ने आत्महस्ती के बिंबो पर बल दिया है। मानवीय सत्य को निरूपित करने के लिये उसने अभिव्यजनावाद अथवा अतियथार्थवाद की सहायता ली एव मानव प्रकृति के तरल पक्ष पर बल दिया। आर्थर मिलर मे सामाजिक सवेग के होते हुए भी वैयक्तिक मनःस्थिति का संत्रस्त बोध है। टेनेसी विलियम्ज मे सस्कृति की प्राचीरो पर स्वप्न एव इच्छाओ का सशक्त प्रहार होता है। एडवर्ड आल्बी एव जैक गेल्बर विवेक के सीमातक क्षेत्र से मनुष्य के आंतरिक गर्त एव अंधकार पर दृष्टिपात करते है। इन चार नाट्यकारो का स्थान इस समय सर्वोपरि है। वैसे रिचर्डसन, हेज, विलिंगम, विडल, फूट, गिब्सन, चायफ्स्की, नैश, इज, लारट्स, ऐडर्सन, कपोट, मकलर्ज़, माज़ेल फ्रिग्ज, लॉगन, ब्रेट, शुल्बर्ग एव वोक ने भी इस काल मे नाटक लिखे हैं।

आर्थर मिलर के नाटको मे एक नई गरिमा एव सारगर्भ है जो मनुष्य की कायम रहने की इच्छाशक्ति, मानवीय सबधो के घनत्व एव अनुभूति के वैचित्र्य से ओतप्रोत है। मिलर के अनुसार मनुष्य अपने सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण द्वारा यथोचित अश मे परिभाषित नही हो सकता, और न ही वह अव्यक्त शक्तियो के प्रभाव से ही अछूता रह सकता है। मिलर के पात्रो की शक्ति वफादारी के बढते हुए वृत्त मे उनके सपनो में निहित है। पापयुक्त सवेग तब तक सार्थक नही होता जब तक बृहत्तर प्रतिज्ञाबद्धताएँ उसका खडन न करे। बृहत्तर प्रतिज्ञाबद्धताएँ व्यक्ति एव समाज दोनो के ही ऊपर हैं। ये प्रवृत्तियाँ 'द मैन हू हैड आल द लक' (१९४४); 'आल माई सज़' (१९४७), 'डेथ ग्राव द सेल्ज़मन' (१९४९), 'द क्रूसिब्ल' (१९५३), 'व्यू फ्राम द ब्रिज' (१९५५) एव 'अ मेमरी ऑव टू माडिज' (१९५५) मे स्पष्ट देखी जा सकती है।

टेनेसी विलियम्ज के स्वप्न, इच्छाएँ एव पुराकथाएँ मिलर के यथार्थीय, नैतिक एव सामाजिक दर्शन के विपरीत हैं। विलियम्ज के पात्र एकाकी शिकार, अजनबी, लीकपतित एव भगोड़े है। उनके नाटक भयावह कृत्य, हत्या, कामविकृति, नरभक्षण, शीलअपहरण एव सनसनीदार बीभत्स घटनाओ से भरे है। जब बलिपशु पात्र ऐसी भयावह अस्तित्वपरक स्थितियो से होकर गुजरता है तो उसकी कल्पना धार्मिकता का स्पर्श करती है। ये विशिष्टताएँ 'द ग्लास मिनाजरी (१९४५), 'अ स्ट्रीटकार नेम्ड डिज़ायर' (१९४७), 'कामीनो रेयाल' (१९५३); 'आर्फ्यूस डिसेंडिंग' (१९५५), 'सडन्ली लास्ट समर' (१९५८), 'नाइट ऑव दि इगुआना' (१९६१) आदि नाटको मे दृष्टिगत हैं।

टेनेसी विलियम्ज ने जिन मूल वृत्तियो पर बल दिया उन्ही को आधार बनाकर एडवर्ड आल्बी एव जैक गेल्बर ने अमरीका मे निरर्थक अस्तित्व के नाट्यसाहित्य का निर्माण किया। उनका जीवनदर्शन यह स्पष्ट देखता है कि मनुष्य ने वर्तमान सामाजिक सगठन एव सस्थाओ के कारण अपनी नियति पर अपना नियत्रण खो दिया है। अत अस्तित्व निरर्थक है एवं मनुष्य अपने अंत की असहाय प्रतीक्षा कर रहा है। एडवर्ड आल्बी के 'दि अमेरीकन ड्रीम' (१९५९), 'द डेथ ऑव बेसी स्मिथ' (१९५९), 'हू ज़ अफ्रेड ऑव वर्जीनिया वुल्फ' (१९६०) एव जैक गेल्बर के 'द कनेक्शन' (१९५९) तथा 'दि ऐप्ल' (१९६१) मे निरर्थक अस्तित्व के नाट्यसाहित्य की प्रमुख विशिष्टताएँ स्पष्ट लक्षित है।

सं०ग्रं०—डाउनर रीसट अमेरिकन ड्रामा (१९६१); ऐसलिन : द थियेटर ऑव दि अब्सर्ड (१९६१), पोर्टर मिथ अड माडर्न अमेरिकन ड्रामा, (१९६९), वीलज अमेरिकन ड्रामा सिंस वर्ल्ड वार टू (१९६२)।

आलोचना—द्वितीय महायुद्धोत्तर २५ वर्षो को प्राय ही अमरीकी साहित्य मे आलोचना का युग कहा जाता है। रैडल जारल की 'पोइट्री ऐड दि एज' (१९५३), कार्ल शपियरो की 'इन डिफेंस ऑव इग्नरस' (१९६०), नार्मन मेलर की 'अड्वर्टाइज्मट फार माइसेल्फ' (१९५९); जेम्ज बाल्डविन की 'नोबडी नोज माई नेम' (१९६१), होफमान की 'फ्राईडियनिज्म अड द लिट्ररी माइड (१९४५), ब्राउन की 'लाइफ अगेंस्ट डेथ' (१९५९) एव ट्रिलिंग की 'फ्राइड अड द क्राइसिस ऑव अवर कल्चर' (१९५५) को पर्याप्त सैद्धातिक ख्याति मिली। युद्धोत्तर सकट एव विश्वव्यापी सत्रास के भाव ने आलोचको एव विचारको मे आत्मबोध के भार को उत्प्रेरित किया तथा वे मात्र रसवाद से कही परे आलोचनात्मक सिद्धातो का नियोजन करने के लिये बाध्य हुए। आधारगत समस्याओ से उत्प्रेरित उनके मानसिक प्रयास ने मनुष्य के अपनी आत्महस्ती के प्रति, समाज के प्रति एव भगवान् के प्रति संबंधो का एक नया आलोचनात्मक दर्शन प्रस्तुत किया।

इस काल की अमरीकी आलोचना का सबसे महान् पक्ष है पुराथाथी आलोचना, जिसका इस लघु अवधि में ही विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा है।

पुराणगाथी आलोचना के प्रमुख प्रवर्तक हैं जोजफ कैंपबेल, फ्रैंसिस फर्ग्युसन, वेन शुमेकर, फिलिप वीलराइट एवं नार्थ्रप फ्राई। इस आलोचनाप्रवाह पर मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण तथा मानवशास्त्र का व्यापक प्रभाव पड़ा है। पुराणगाथी आलोचना के आधारभूत सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण ही यहाँ संभव है।

साहित्य पुराणकथाओं के समान ही मनुष्य की आकांक्षाओं तथा दुःस्वप्नों का शाब्द प्रक्षेपण है, अतएव साहित्यिक विश्वसभावनाओं अथवा आकयताओं का काल्पनिक विश्व है। साहित्य विधाओं, प्रतीकों, कथाओं एवं प्रकारों का अंतर्बंध है। विधाएँ पाँच हैं देवाख्यान विधा, अद्भुत विधा, उच्चानुकृति विधा, निम्नानुकृति विधा, एवं व्यंग्य विधा। विधाओं के समरूप ही पाँच प्रतीक हैं . रहस्यवादी एकक अथवा चित्रण, पुराणगाथी आद्यरूप, रौपिक बिंब अपकेंद्रीय निर्देशात्मक चिह्न, एवं अभिकेंद्रीय आक्षरिक मूलभाव। कथाएँ चार है —कामदीय, अद्भुत कथा, त्रासदीय एवं व्यंग्य। कथाएँ सूर्यपुराकथा के चार सोपानों के समरूप हैं —कामदीय कथा वासंती कथा है, अद्भुत कथा ग्रीष्मकथा है, त्रासदीय कथा ही शारदीय कथा है, एवं व्यंग्य हेमंती है। साहित्यप्रकारों का वर्गीकरण लय एवं प्रस्तोतामाध्यम के आधार पर किया गया है। इस आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके सारे ही नियम स्वयं साहित्यानुमानित हैं वैसे ही जैसे भौतिकी के नियम विश्व एवं प्रकृति के अवलोकन से ही प्राप्त किए गए है। पुराणगाथी आलोचना ने समीक्षा को पहली बार एक क्रमानुगत विकासोन्मुख शास्त्र के रूप मे प्रस्तुत किया है। आनेवाली पीढियाँ तथ्य एवं तर्क की त्रुटियों को सुधार सकती है।

सं०ग्रं०—जोजफ कैंपबेल, 'द हियरो विद अ थाउजंड फेसिज' (१९४९), फ्रैंसिस फर्ग्युसन, 'दि आइडिया ऑव अ थिएटर' (१९४९), 'द ह्यमन इमिज इन ड्रैमेटिक लिट्रेचर' (१९५७); फिलिप वीलराइट, 'द बर्निंग फाउंटन' (१९५४), नार्थ्रप फ्राई, 'अनैटमी ऑव क्रिटिसिज्म' (१९५७); शिवमूर्ति पांडेय, 'नार्थ्रप फ्राई के मूलरूपकीय आलोचनासिद्धांत', आलोचना, ४४ (१९६८), पृ० ६८–७६। (शि० मू० पा०)

अमरुक संस्कृत के प्रख्यात गीतिकार कवि। उनकी कविता जितनी विख्यात है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का अभी तक ठीक निर्णय नही हो पाया है। रविचंद्र ने 'अमरुशतक' की अपनी टीका के उपोद्घात मे आद्य शंकराचार्य को अमरुक से अभिन्न व्यक्ति माना है, परंतु यह किंवदंती नितांत निराधार है। आद्य शंकराचार्य के द्वारा किसी 'अमरुक' नामक राजा के मृत शरीर मे प्रवेश तथा कामतंत्र विषयक किसी ग्रंथ की रचना का उल्लेख शंकरदिग्विजय मे अवश्य किया गया है, परंतु विषय की भिन्नता के कारण 'अमरुशतक' को शंकराचार्य की रचना मानना नितांत भ्रांत है। आनंदवर्धन (९वी सदी का मध्यकाल) ने अमरुक के मुक्तकों की चमत्कृति तथा प्रसिद्धि का उल्लेख किया है (ध्वन्यालोक का तृतीय उद्योत)। इससे इनका समय ९वी सदी के पहले ही सिद्ध होता है। (ब० उ०)

अमरुशतक यह महाकवि अमरुक (या अमरु) के पद्यों का संग्रह है। नाम से यह शतक है, परंतु इसके पद्यों की संख्या एक सौ से कही अधिक है। सूक्तिसंग्रहों मे अमरुक के नाम से निर्दिष्ट पद्यों को मिलाकर समस्त श्लोकों की संख्या १६३ है। इस शतक की प्रसिद्धि का कुछ परिचय इसकी विपुल टीकाओं से लग सकता है। इसके ऊपर दस व्याख्याओं की रचना विभिन्न शताब्दियों मे की गई जिनमे अर्जुन वर्मदेव (१३वी सदी का पूर्वार्ध) की 'रसिक संजीवनी' अपनी विद्वत्ता तथा मार्मिकता के लिये प्रसिद्ध है। आनंदवर्धन की संमति मे अमरुक के मुक्तक इतने सरस तथा भावपूर्ण हैं कि अल्पकाय होने पर भी वे प्रबंधकाव्य की समता रखते है। संस्कृत के आलंकारिकों ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण के लिये इसके बहुत से पद्य उधृत कर इनकी साहित्यिक सुषमा का परिचय दिया है। अमरुक शब्दकवि नही है, प्रत्युत रसकवि हैं जिनका मुख्य लक्ष्य काव्य मे रस का प्रचुर उन्मेष है। अमरुशतक के पद्य शृंगार रस से पूर्ण हैं तथा प्रेम के जीते जागते चटकीले चित्र खीचने मे विशेष समर्थ है। प्रेमी और प्रेमिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं मे विद्यमान शृंगारी मनोवृत्तियों का अतीव सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन सरस श्लोकों की प्रधान विशिष्टता है। कहीं पति को परदेश जाने की तैयारी करते देखकर कामिनी की हृदयविह्वलता का चित्र है, तो कही पति के आगमन का समाचार सुनकर सुंदरी की हर्ष से छलकती हुई आँखों और विकसित स्मित का रुचिर चित्रण है। हिंदी के महाकवि बिहारी तथा पद्माकर ने अमरुक के अनेक पद्यों का सरस अनुवाद प्रस्तुत किया है।

सं०ग्रं०—बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, पंचम सं०, १९५८, दासगुप्त तथा दे हिस्ट्री ऑव क्लैसिकल लिटरेचर, कलकत्ता, १९३५। (ब० उ०)

अमरूद का अंग्रेजी नाम ग्वावा है, वानस्पतिक नाम सीडियम ग्वायवा, प्रजाति सीडियम, जाति ग्वायवा, कुल मिटसी। वैज्ञानिकों का विचार है कि अमरूद की उत्पत्ति अमरीका के उष्ण कटिबंधीय भाग तथा वेस्ट इंडीज से हुई है। भारत की जलवायु मे यह इतना घुल मिल गया है

अमरूद
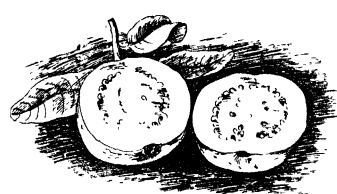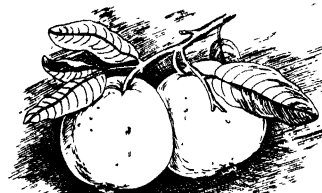
ऊपर बाह्य आकृति और नीचे काट दिखाई गई है।

कि इसकी खेती यहाँ अत्यंत सफलतापूर्वक की जाती है। पता चलता है कि १७वी शताब्दी मे यह भारतवर्ष मे लाया गया। अधिक सहिष्णु होने के कारण इसकी सफल खेती अनेक प्रकार की मिट्टी तथा जलवायु मे की जा सकती है। जाड़े की ऋतु मे यह इतना अधिक तथा सस्ता प्राप्त होता है कि लोग इसे निर्धन जनता का एक प्रमुख फल कहते है। यह स्वास्थ्य के लिये अत्यंत लाभदायक फल है। इसमे विटामिन 'सी' अधिक मात्रा मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त विटामिन 'ए' तथा 'बी' भी पाए जाते है। इसमे लोहा, चूना तथा फास्फोरस अच्छी मात्रा मे होते है। अमरूद की जेली तथा बर्फी (चीज) बनाई जाती है। इसे डिब्बों मे बंद करके सुरक्षित भी रखा जा सकता है।

अमरूद के लिये गर्म तथा शुष्क जलवायु सबसे अधिक उपयुक्त है। यह गरमी तथा पाला दोनों सहन कर सकता है। केवल छोटे पौधे ही पाले

से प्रभावित होते हैं। यह हर प्रकार की मिट्टी में उपजाया जा सकता है, परंतु बलुई दोमट इसके लिये आदर्श मिट्टी है। भारत में अमरूद की प्रसिद्ध किस्में इलाहाबादी सफेदा, लाल गूदेवाला, चित्तीदार, करेला, बेदाना तथा अमरूद सेब हैं।

अमरूद का प्रसारण अधिकतर बीज द्वारा किया जाता है, परंतु अच्छी जातियों के गुणों को सुरक्षित रखने के लिये आम की भाँति भेटकलम (इनार्चिंग) द्वारा नए पौधे तैयार करना सबसे अच्छी रीति है। बीज मार्च या जुलाई में बो देना चाहिए। वानस्पतिक प्रसारण के लिये सबसे उत्तम समय जुलाई अगस्त है। पौधे २० फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं। अच्छी उपज के लिये दो सिंचाई जाड़े में तथा तीन सिंचाई गर्मी के दिनों में करनी चाहिए। गोबर की सड़ी हुई खाद या कंपोस्ट, १५ गाड़ी प्रति एकड़, देने से अत्यंत लाभ होता है। स्वस्थ तथा सुंदर आकार का पेड़ प्राप्त करने के लिये आरंभ में ही डालियों की उचित छँटाई (प्रूनिंग) करनी चाहिए। पुरानी डालियों में जो नई डालियाँ निकलती हैं उन्हीं पर फूल और फल आते हैं। वर्षा ऋतु में अमरूद के पेड़ फूलते हैं और जाड़े में फल प्राप्त होते हैं। एक पेड़ लगभग ३० वर्ष तक भली भाँति फल देता है और प्रति पेड़ ५००–६०० फल प्राप्त होते हैं। कीड़े तथा रोग से वृक्ष को साधारणत: कोई विशेष हानि नहीं होती। (ज० रा० सिं०)

अमरू बिन कुलसूम अमरू इस्लाम से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले पैदा हुए थे। इनका संबंध तुग़लिब कबीले से था। इनकी माता प्रसिद्ध कवि मुहलहिल की पुत्री थी। ये १५ वर्ष की छोटी अवस्था में ही अपने कबीले के सरदार हो गए। तुग़लिब तथा बकर कबीलों में बहुधा लड़ाइयाँ हुआ करती थीं जिनमें वे भी अपने कबीले की ओर से भाग लिया करते थे। एक बार इन दोनों कबीलों ने संधि करने के लिये हीरा के बादशाह अमरू बिन हिंद से प्रार्थना की। बादशाह ने नब्बू तुग़लिब के विरुद्ध निर्णय किया जिसपर अमरू बिन कुलसूम रुष्ट होकर लौट आए। इसके अनंतर बादशाह ने किसी बहाने इनका अपमान करना चाहा पर इन्होंने बादशाह को मार डाला। यह पैगंबरपूर्व के उन कवियों में से थे जो 'असहाब मुअल्लकात' कहलाते हैं। इनका वर्ण्य विषय वीरता, आत्मविश्वास तथा उत्साह और उल्लास के भावों से भरा है। अवश्य ही अपनी और अपने कबीले की प्रशंसा तथा शत्रु की बुराई करने में इन्होंने बड़ी अतिशयोक्ति की है। इनकी रचना में प्रवाह, सुगमता तथा गेयता बहुत है। इन्हीं गुणों के कारण इनकी कृतियाँ अरब में बहुत प्रचलित हुई और बहुत समय तक बच्चे बच्चे की जबान पर रहीं। इनकी मृत्यु सन् ६०० ई० के लगभग हुई। (आर० आर० शं०)

अमरेली महाराष्ट्र में बड़ौदा से १३६ मील तथा अहमदाबाद से १३२ मील दक्षिण पश्चिम में थेबी नामक एक छोटी नदी पर स्थित इसी नाम के जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति २१° ३६' उ० अ० एवं ७१°१५' पू० दे०)। यह ऐतिहासिक महत्व का स्थान है जो प्राचीन काल में अमरवल्ली कहलाता था। इसके चतुर्दिक् निर्मित प्राचीर अब विनष्टप्राय है। भावनगर-पोरबंदर-रेलवे के चितल स्टेशन से दस मील दूर होने के कारण यातायात की असुविधा है, परंतु अब पक्की सड़कों द्वारा चारों ओर से संबंध स्थापित हो गया है। यहाँ पहले हाथकरघे से बने वस्त्रों का व्यवसाय प्रमुख था, परंतु कारखानों की प्रतिद्वंद्विता के कारण दिन-प्रति-दिन घट रहा है। रँगाई एवं चाँदी का काम भी यहाँ होता है। यह नगर काठियावाड़ की कपास तथा बिनौले की बड़ी मंडियों में से एक है। यहाँ बिनौले निकालने के कारखाने, बिनौले के तेल की मिलें तथा इंजीनियरिंग के छोटे मोटे सामान बनाने के कारखाने हैं। यह जिले का प्रमुख प्रशासनिक एवं शैक्षणिक केंद्र है। (का० ना० सिं०)

अमरोहा भारतवर्ष के संयुक्त प्रांत की एक तहसील तथा पुराना नगर है। यह तहसील तथा नगर मुरादाबाद जिले के अंतर्गत है। अमरोहा तहसील समतल मैदान है। इसमें से तीन छोटी छोटी नदियाँ बहती हैं। पूर्वी सीमा पर रामगंगा है।

अमरोहा नगर मुरादाबाद के उत्तर पश्चिम में लगभग २३ मील की दूरी पर और बान नदी के दक्षिण पश्चिम में लगभग चार मील पर है। यह अ० २८°५४'४०" उ० तथा दे० ७८° ३१' ५" पू० पर स्थित है। यहाँ नगरपालिका है। भारतविभाजन के बाद यहाँ से काफी मुसलमान पाकिस्तान चले गए। नगर का वर्तमान क्षेत्रफल लगभग ३६७ एकड़ है।

अमरोहा नगर की स्थापना आज से लगभग ३,००० वर्ष पूर्व हस्तिनापुर के राजा अमरोहा ने की थी और उन्हीं के नाम पर संभवत: इस नगर का नाम भी अमरोहा पड़ा। कुछ औरों के विचार से पृथ्वीराज की भगिनी अंबीरानी के नाम पर ऐसा नाम पड़ा। हिंदुओं के बाद अमरोहा मुसलमानों के हाथ में गया और तब से मुसलमानों के इतिहास में इसका उल्लेख बराबर मिलता है। अलाउद्दीन (१२९५-१३१५ ई०) के समय में चंगेज खाँ ने इसपर आक्रमण किया था।

ऐतिहासिक अवशेषों की दृष्टि से अमरोहा मुरादाबाद जिले में सर्वप्रथम है। यहाँ १०० से भी अधिक मस्जिदें तथा लगभग ४० मंदिर हैं। पुराने जमाने के हिंदू राजाओं के बनवाए हुए कुएँ, तालाब, सेतु, किले आदि के अवशेष अभी भी दिखाई पड़ते हैं। नगर में यत्रतत्र मुसलमानी जमाने की बड़ी बड़ी इमारतें ध्वंसोन्मुख अवस्था में खड़ी दिखाई देती हैं।

अमरोहा मुसलमानों का तीर्थस्थान है। शेख सद्दू की मसजिद यहाँ की सबसे पुरानी इमारत है जो कभी हिंदुओं का मंदिर थी। आज की मस्जिद की दीवारों पर कहीं कहीं हिंदू कला दिखाई देती है। हिंदू से मुस्लिम कला में परिवर्तन १२८६ से १२८८ के बीच कैकोबाद की राजसत्ता में हुआ। शेख सद्दू की अलौकिक शक्ति के बारे में कई किंवदंतियाँ हैं, जिनपर विश्वास रखनेवाले लोग रोगों से छुटकारा पाने के लिये यहाँ आते हैं। वर्तमान समय की बनी शाह वालियत की दर्गाह भी मशहूर है जो उस फकीर की कब्र पर बनी है। इस दर्गाह पर हिंदू मुसलमान दोनों धर्मावलंबियों की श्रद्धा है और प्रति वर्ष लाखों यात्री इसका दर्शन करने के लिये दूर दूर से आते हैं। इसके अतिरिक्त और कई फकीरों की दर्गाहें भी यहाँ हैं।

अमरोहा के निजी उद्योगों में चीनी मिट्टी के बर्तन का निर्माण बहुत ही प्रसिद्ध है। गृह-उद्योग-प्रतियोगिता में यहाँ के बने कप, प्लेट, फूलदानी, खाने की थाली इत्यादि कई बार राज्य सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई हैं। इनके अतिरिक्त लकड़ी के छोटे मोटे काम तथा कपड़ा बुनने का उद्योग भी यहाँ विकसित है। यहाँ साल में दो बड़े मेले लगते हैं। (वि० मु०)

अमरौली (योग), द्र० 'मुद्रा'।

अमलतास को संस्कृत में व्याधिघात, नृपद्रुम इत्यादि, गुजराती में गरमाष्ठो, बँगला में सोनालू तथा लैटिन में कैसिया फिस्चुला कहते हैं। शब्दसागर के अनुसार हिंदी शब्द अमलतास संस्कृत अम्ल (खट्टा) से निकला है।

भारत में इसके वृक्ष प्राय: सब प्रदेशों में मिलते हैं। तने की परिधि तीन से पाँच फुट तक होती है, किंतु वृक्ष बहुत ऊँचे नहीं होते। शीतकाल में इसमें लगनेवाली, हाथ सवा हाथ लंबी, बेलनाकार काले रंग की फलियाँ पकती हैं। इन फलियों के अंदर कई कक्ष होते हैं जिनमें काला, लसदार, पदार्थ भरा रहता है। वृक्ष की शाखाओं को छीलने से उनमें से भी लाल रस निकलता है जो जमकर गोंद के समान हो जाता है। फलियों से मधुर, गंधयुक्त, पीले कलछवें रंग का उड़नशील तेल मिलता है।

गुण—आयुर्वेद में इस वृक्ष के सब भाग ओषधि के काम में आते हैं। कहा गया है, इसके पत्ते मल को ढीला और कफ को दूर करते हैं। फूल कफ और पित्त को नष्ट करते हैं फली और उसमें का गूदा पित्तनिवारक, कफनाशक, विरेचक तथा वातनाशक है। फली के गूदे का आमाशय के ऊपर मृदु प्रभाव ही होता है, इसलिये दुर्बल मनुष्यों तथा गर्भवती स्त्रियों को भी विरेचक ओषधि के रूप में यह दिया जा सकता है। (भ० दा० व०)

अमलनेर महाराष्ट्र के पूर्वी खानदेश जिले में ताप्ती की सहायक बोरी नदी के बाएँ तट पर स्थित इसी नाम के तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति २१°२' उ० अ०, ७५°४' पू० दे०)। यह ताप्ती-घाटी-रेलवे एवं जलगाँव-अमलनेर-रेलवे लाइनों का जंकशन होने के कारण शीघ्रता से उन्नति कर गया है। यह गल्ले का प्रमुख बाजार तथा जिले की कपास की सबसे बड़ी मंडी है। यहाँ बिनौले निकालने के दो कारखाने, एक सूती कपड़े की मिल तथा दो प्रमुख छापेखाने हैं। यहाँ एक स्नातकोत्तर

महाविद्यालय भी है। इस नगर में ४०% से अधिक लोग उद्योग धंधो मे लगे है। नगर का प्रशासन नगरपालिका द्वारा होता है। (का० ना० सि०)

अमलसुथा ग्रास्त्रोगाथों की रानी जो उनके राजा थियोदोरिक की बेटी थी और यूथारिक से ब्याही थी। उसके विवाह के कुछ ही काल बाद उसके पति का देहांत हो गया। पिता के मरने पर अमलसुथा ने अपने पुत्र की अभिभाविका के रूप मे रावेना मे राज करना शुरू किया। ५३४ ई० मे उसका पुत्र मर गया और वह ग्रास्त्रोगाथों की रानी बनी। अनेक उच्चपदीय और सभ्रात ग्रास्त्रोगाथों को उसे उनके षड्यत्र के लिये दंडित करना पडा था। अत मे उसके चाचा ने उनसे मिलकर उसे बोलसेना झील के एक द्वीप मे कैद कर दिया जहाँ उसकी ५३५ ई० मे हत्या कर दी गई। (भ० श० उ०)

अमलापुरम् आध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी जिले मे सेट्रल डेल्टा सिस्टम की प्रमुख नहर पर, राजमुद्री से ३८ मील दक्षिण पूर्व स्थित, इसी नाम के तालुके का प्रमुख केंद्र है (स्थिति १६°३४' उ० अ०, ८२°१' पू० दे०)। किंवदंतियो के अनुसार यह नगरी पाडवों के श्वशुर पाचालनरेश की राजधानी थी। सीमात पर स्थित होने के कारण इसका दूसरा नाम कोणसीमा भी था। यहाँ वेकटस्वामी तथा सुब्बारायडु (नागराज) के दो प्रसिद्ध हिंदू मदिर है। यहाँ लकडी का गोदाम, चावल की मिले और कपडा बुनने, काष्ठशिल्प तथा शीशे एव चाँदी के बर्तन बनाने के उद्योग है। यहाँ तालुके के प्रशासनिक कार्यालय तथा प्रथम श्रेणी का महाविद्यालय भी है। पचायत नगर का प्रशासन करती है। (का० ना० सि०)

अमात्य भारतीय राजनीति के अनुसार राज्य के सात अगो मे दूसरा अग है जिसका अर्थ है मत्री। राजा के परामर्शदाताओ के लिये अमात्य, सचिव तथा मत्री इन तीनों शब्दो का प्रयोग प्राय किया जाता है। इनमे अमात्य नि सदेह प्राचीनतम है। ऋग्वेद के एक मत्र (४।४।१) मे 'अमवान्' शब्द का यास्क द्वारा निर्दिष्ट अर्थ 'अमात्ययुक्त' ही है (निरुक्त ६।१२)। व्युत्पत्ति के अनुसार 'अमात्य' का अर्थ है सर्वदा साथ रहनेवाला व्यक्ति (अमा = साथ)। आपस्तब धर्मसूत्र मे अमात्य का अर्थ नि सदेह मत्री है, जहाँ राजा को आदेश है कि वह अपने गुरुओ तथा मत्रियो से बढकर ऐश्वर्य का जीवन न बिताए। (२।१०।२५।१०)। 'सचिव' शब्द का प्रथम प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण (१।२।६) मे मिलता है जहाँ मरुत इद्र के 'सचिव' (सहायक या बधु) बतलाए गए है। मत्रियों की सलाह लेना राजा के लिये नितात आवश्यक होता है। इस विषय मे कौटिल्य, मनु (७।५५) तथा मत्स्यपुराण (२१५।३) के वचन बहुत ही स्पष्ट है। अमात्य, सचिव तथा मत्री शब्दो का पर्याय रूप मे प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होता है जिससे इनके परस्पर पार्थक्य का पता ठीक ठीक नही चलता।

रुद्रदामन् के जूनागढ़वाले शिलालेख मे सचिव शब्द अमात्य का पर्यायवाची माना गया है। सचिवो के दो प्रकार यहाँ बतलाए गए है (१) मतिसचिव (= राजा को परामर्श देनेवाला मत्री) तथा (२) कर्मसचिव (= निश्चित किए गए कार्यों का सपादन करनेवाला)। अमर के अनुसार भी सचिव (= मतिसचिव) अमात्य मत्री कहलाता है और उससे भिन्न अमात्य 'कर्मसचिव' कहलाते है। परतु यह पार्थक्य अन्य ग्रथो मे नही पाया जाता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार मत्रियो का पद ऊँचा होता था और अमात्य का साधारण कोटि का। कौटिल्य का कहना है अमात्यो का परीक्षण धर्म, अर्थ, काम और भय के विषय मे अच्छे ढग से करने पर यदि वे ईमानदार और शुद्ध चरित्रवाले सिद्ध हो, तब उनको नियुक्त करना चाहिए, परतु मत्रियो के विषय मे उनका आग्रह है कि जो व्यक्ति समस्त परीक्षणो के द्वारा परीक्षित होने पर राज्यभक्त तथा विशुद्धाशय प्रमाणित किया जाय, वही मत्री के पद के लिये योग्य समझा जाता है। (अर्थशास्त्र १।१०)। परीक्षा के उपाय के निमित्त प्रयुक्त प्रधान शब्द है—उपधा जिसकी व्याख्या 'नीतिवाक्यामृत' के अनुसार है—धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणम् उपधा। राजा को मत्रणा (मत्र) देने का कार्य ब्राह्मण का निजी अधिकार था, इसीलिये कालिदास ने ब्राह्मण मत्री के द्वारा अनुशासित राजन्य की शक्ति के उपचय की समता 'पवनाग्निसमागम' से दी है (रघुवंश ८।४)। अमात्य का प्रधान कार्य राजा को बुरे मार्ग मे जाने से बचाना था। और केवल राजनीतिक बातो मे ही नही, प्रत्युत अन्य आवश्यक विषयो मे भी राजा का मत्रियो से परामर्श करना अनिवार्य था। वह अपने मत्रियों से मत्रणा बडे गुप्त स्थान मे करता था, अन्यथा मत्र और करणीय का भेद खुल जाने से राष्ट्र के अनिष्ट की आशका बनी रहती थी।

अमात्यपरिषद् (अथवा मत्रिपरिषद्) के सदस्यों की सख्या के विषय मे प्राचीन काल से मतभिन्नता दिखलाई पडती है। किसी आचार्य का आग्रह मत्रियो की सख्या तीन चार तक सीमित रखने के ऊपर है, किंतु कुछ आचार्य उसे सात आठ तक बढ़ाने के पक्ष मे हैं। रामायण (बालकाड, ७।२-३) मे दशरथ के मंत्रियों की सख्या आठ दी गई है और इसी के तथा शुक्रनीतिसार (२।७१।७२) के आधार पर छत्रपति शिवाजी ने अपनी मत्रिपरिषद् अष्टप्रधाना की बनाई थी। शातिपर्व, कौटिल्य तथा नीतिवाक्यामृत के वचनो की परीक्षा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन काल मे मत्रिसभा तीन प्रकार की होती थी (क) तीन या चार मत्रियो का अतरग मत्रिमडल सबसे अधिक महत्वशाली था। (ख) मत्रियो की परिषद् जिसमे मत्रियो की सख्या सात या आठ रहती थी। (ग) अमात्यो या सचिवो की एक बडी सभा जिसमे राज्य के विभिन्न विभागो के उच्च अधिकारी भी समिलित होते थे। अमात्यो के लिये आवश्यक गुणों तथा योग्यता का विशेष वर्णन धर्मसूत्रों तथा स्मृतियो मे किया गया है।

सं०ग्रं०—कौटिलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामदकनीतिसार, काशीप्रसाद जायसवाल हिंदू पॉलिटी। (ब० उ०)

अमानसता (ऐमनीज़िआ) का अर्थ है स्मरणशक्ति का खो जाना। या तो यह मनोवैज्ञानिक कारणों मे उत्पन्न होती है या शारीरिक विकार से (उदाहरणत, सिर मे चोट लगने से)। बुढापे मे और मस्तिष्क की धमनियो के पथरा जाने पर (आर्टीरियोस्क्लिरोसिस मे) अमानसता बहुधा होती है। बुढापे के कारण उत्पन्न अमानसता मे स्मरणशक्ति का ह्रास धीरे धीरे होता है। पहले रोगी यह बता नही पाता कि सबेरे क्या खाया था या कल क्या हुआ था। फिर स्मरणनाश बढता जाता है और सुदूर भूतकाल की बातें भी सब भूल जाती है। धमनियो के पथराने मे स्मरणशक्ति विचित्र ढग से मिटती है। विशेष जाति की बाते भूल जाती है, अन्य बाते अच्छी तरह स्मरण रहती है। कभी कभी दो चार दिन या एक दो सप्ताह के लिये बाते भूल जाती है और फिर वे अच्छी तरह याद हो आती है। कोई पुरानी बाते भूलता है, कोई नवीन बाते भूलता है।

मिरगी (द्र० **अपस्मार**) आदि रोगो मे स्मरणशक्ति धीरे धीरे नष्ट होती है। अतराबध मे (उसे देखें) सदा ही स्मरणशक्ति क्षीण रहती है। मनोवैज्ञानिक कारणो से उत्पन्न अमानसता मे, उदाहरणत किसी प्रिय व्यक्ति के मरण से उत्पन्न अमानसता मे, बहुधा केवल उसी प्रिय व्यक्ति से सबध रखनेवाली बाते भूल जाती है।

युद्धकाल मे नकली अमानसता बहुत देखने मे आती थी। लडाई पर भेजे जाने से छुट्टी पाने के लिये अमानसता का बहाना करना बचने की सरल रीति थी। इन दशाओ मे इसकी जाँच की जाती थी कि कोई उत्पादक कारण—जैसे मदिरापान, मिरगी, हिस्टीरिया, विषण्णता, पागलपन आदि—तो नही विद्यमान है। पीछे कुछ अन्य रीतियाँ निकली (उदाहरणत, रोरशाप की रीति) जिससे अधिक अच्छी तरह पता चलता है कि अमानसता असली है या नकली।

अमानसता सीसा धातु के विषाक्त लवणो, कारबन मोनोआक्साइड नामक विषाक्त गैस तथा अन्य मादक विषों से अथवा मूत्ररक्तता, विटैमिन बी की कमी, मस्तिष्क का उपदश आदि से भी उत्पन्न होती है।

मनोवैज्ञानिक कारणो से उत्पन्न अमानसता के उपचार के लिये **मनोविकार विज्ञान** शीर्षक लेख देखे। (दे० सि०)

अमानुल्ला खाँ अफ़गानिस्तान का अमीर, अमीर हबीबुल्ला खाँ का पुत्र, जन्म १८९२। हबीबुल्ला के हत्यारे नसरुल्ला खाँ से १९१९ मे अमारत छीन ली। उसी साल ब्रिटिश सेना से मुठभेड के बाद सधि के नियमो के अनुसार अमानुल्ला खाँ को अमारत मे अफ़ग़ानिस्तान की

स्वतंत्रता घोषित हुई। नए अमीर ने अनेक सामाजिक सुधार किए जिनके परिणामस्वरूप अफगानिस्तान मे अनेक विद्रोह हुए। इनमे से अंतिम बच्चा सक्का के विद्रोह के बाद १९२९ मे अमीर को गद्दी छोडकर इटली की शरण लेनी पड़ी। किस प्रकार धार्मिक कट्टरता सामाजिक सुधार के आड़े आ सकती है, अमानुल्ला खाँ का पतन इसका ज्वलंत उदाहरण है।
(भ० श० उ०)

अमिताभ बौद्धो के महायान संप्रदाय के अनुसार वर्तमान जगत् के अभिभावक तथा अधीश्वर बुद्ध का नाम। इस संप्रदाय का यह मंतव्य है कि स्वयंभू आदिबुद्ध की ध्यानशक्ति की पाँच क्रियाओ के द्वारा पाँच ध्यानी बुद्धो की उत्पत्ति होती है। उन्ही मे अन्यतम ध्यानी बुद्ध अमिताभ हे। अन्य ध्यानी बुद्धो के नाम है—वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव तथा अमोघसिद्धि। आदिबुद्ध के समान इनके भी मंदिर नेपाल मे उपलब्ध है। बौद्धो के अनुसार तीन जगत् तो नष्ट हो चुके हैं और आजकल चतुर्थ जगत् चल रहा है। अमिताभ ही इस वर्तमान जगत् के विशिष्ट बुद्ध है जो इसके अधिपति (नाथ) तथा विजेता (जित) माने गए हैं। 'अमिताभ' का शाब्दिक अर्थ है अनंत प्रकाश से संपन्न देव (अमिता. आभा यस्य असौ)। उनके द्वारा अधिष्ठित स्वर्गलोक पश्चिम मे माना जाता है जिसे **सुखावती** (विष्णुपुराण मे 'सुखा') के नाम से पुकारते हैं। उस स्वर्ग मे सुख की अनंत सत्ता विद्यमान है। उस लोक (सुखावती लोकधातु) के जीव हमारे देवो के समान सौदर्य तथा सौख्यपूर्ण होते है। वहाँ प्रधानतया बोधिसत्वो का ही निवास है, तथापि कतिपय अर्हतो की भी सत्ता वहाँ मानी जाती हे। वहाँ के जीव अमिताभ के सामने कमल से उत्पन्न होते हैं। वे भगवान् बुद्ध के प्रभाभासुर शरीर का स्वतः अपने नेत्रो से दर्शन करते है तथा अपने कानो से उनके वचनो और उपदेशो का श्रवण करते है। सुखावती अनश्वर लोक नही है, क्योकि वहाँ के निवासी जीव अग्रिम जन्म मे बुद्धरूप से उत्पन्न होते है। इस प्रकार अमिताभ का स्वर्ग केवल भोगभूमि ही नही है, प्रत्युत वह एक आनंददायक शिक्षणकेंद्र है जहाँ जीव अपने पापो का प्रायश्चित्त कर अपने आपको सद्गुणसंपन्न बनाता है। जापान मे अमिताभ जापानी नाम 'अमिदो' से विख्यात है। पूर्वोक्त स्वर्ग का वर्णनपरक संस्कृत ग्रंथ '**सुखावती व्यूह**' नाम से प्रसिद्ध है जिसके दो संस्करण आजकल मिलते है। बृहत् संस्करण के चीनी भाषा मे बारह अनुवाद मिलते है जिनमे सबसे प्राचीन अनुवाद १४७-१८६ ई० के बीच किया गया था। लघु संस्करण का अनुवाद कुमारजीव ने चीनी भाषा मे पाँचवी शताब्दी में किया था और ह्वेनत्साग ने सप्तम शताब्दी मे। इससे इस ग्रंथ की प्रख्याति का पूर्ण परिचय मिलता है।

सं०ग्रं०—विटरनित्स हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता, १९२५।
(ब० उ०)

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पंचस्कंधो मे से संज्ञा की मूर्ति के रूप मे एक ध्यानी बुद्ध। इनका वर्ण रक्त, वाहन मयूर, मुद्रा समाधि और प्रतीक पद्म है। ध्यानी बुद्ध (द्र० 'भारतीय देवी देवता') का तांत्रिक स्वरूप महत्वपूर्ण है जिसमे उनके मंत्र, स्वरूप, स्थान, बीज, कुल आदि का विस्तार से विवेचन मिलता है।
[ना० ना० उ०]

अमीचंद (मृत्यु १७६७ ई०), संभवत वास्तविक नाम अमीरचंद का बंगाली उच्चारण। सामयिक अँगरेजो ने तथा उन्ही के आधार पर इतिहासकार मेकाले ने उसे बंगाली बताया है, किंतु वस्तुत वह अमृतसर का रहनेवाला सिक्ख व्यवसायी था और दीर्घ काल से कलकत्ते मे बस गया था। अँगरेजो के प्रभुत्व का प्रसार सर्वप्रथम दक्षिण मे हुआ, किंतु अँगरेजी साम्राज्य के संस्थापन की नीव बंगाल मे ही पड़ी। बंगाल मे, व्यवसायलाभ की भावना से प्रेरित होकर अँगरेजो के सर्वप्रथम संपर्क मे आनेवाले भारतीय व्यवसायी ही थे। अलीवर्दी खाँ के कठोर नियंत्रण मे तो अँगरेज अपने प्रभुत्व का विस्तार करने मे असमर्थ रहे, किंतु अल्पवयस्क, अपरिपक्वबुद्धि तथा उद्धतप्रकृति सिराजुद्दौला के राज्यारोहण से यह संभव हो सका। नितांत स्वार्थलाभ से प्रेरित होकर अमीचंद ने अँगरेजो की यथेष्ट सहायता की, किंतु, इतिहास मे उसका नाम अपरिचित ही रहता यदि प्लासी युद्ध के पूर्व क्लाइव और मीरजाफर मे जो संधियोजना हुई उसमे अमीचंद से संबंधित क्लाइव के अनैतिक आचरण से इंग्लैंड की पार्लियामेंट में तथा अँगरेज इतिहासकारो द्वारा क्लाइव के कार्य की कटु आलोचना न हुई होती। अमीचंद ने अँगरेजो के व्यावसायिक संपर्क मे आकर यथेष्ट धन अर्जित कर लिया था।

कूटनीतिज्ञता के दृष्टिकोण मे, वैध या अवैध उपायो से, अँगरेजो के सामूहिक तथा व्यक्तिगत लाभ की अभिवृद्धि के लिये, सिराजुद्दौला के राज्यारोहण के बाद सिराजुद्दौला के प्रभुत्व का दमन कर अव्यवस्थित शासन को और भी अव्यवस्थित बनाना तत्कालीन अँगरेजो की दृष्टि से वांछनीय था। इस घटनाक्रम मे सिराजुद्दौला ने अँगरेजो के मुख्य व्यावसायिक केंद्र कलकत्ते पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के पूर्व अँगरेजो ने केवल संदेह के आधार पर अमीचंद को बंदी बनाने के लिये सिपाही भेजे। सिपाहियो ने अमीचंद के अंतःपुर पर आक्रमण कर दिया। अपमानित होने से बचने के लिये अंतःपुर की तेरह स्त्रियो की हत्या कर दी गई। ऐसे मर्मातक अपमान के होने पर भी अमीचंद ने अँगरेजो का साथ दिया। कलकत्ता पतन के बाद उसने अनेक अँगरेज शरणार्थियो को आश्रय दिया तथा अन्य प्रकारो से भी सहायता प्रदान की। क्लाइव ने अमीचंद को वाट्स का दूत बनाकर नवाब की राजधानी मुर्शिदाबाद भेजा। इस स्थिति मे उसने अँगरेजो को अमूल्य सहायता प्रदान की। संभवत, चंद्रनगर पर अँगरेजो के आक्रमण के लिये नवाब से अनुमति दिलवाने मे अमीचंद का ही हाथ था। उसी ने नवाब के प्रमुख अधिकारी महाराज नंदकुमार को सिराजुद्दौला से विमुख कर अँगरेजो का तरफदार बनाया।

नवाब के विरुद्ध जगत्सेठ तथा मीरजाफर के साथ अँगरेजो ने जिस गुप्त षड्यंत्र का आयोजन किया था उसमे भी अमीचंद का बहुत बड़ा हाथ था। बाद मे, जब क्लाइव के साथ मीरजाफर की संधिवार्ता चल रही थी, अमीचंद ने अँगरेजो को धमकी दी कि यदि सिराजुद्दौला की पदच्युति के बाद प्राप्त खजाने का पाँच प्रतिशत उसे न दिया जायगा तो वह सब भेद नवाब पर प्रकट कर देगा। अमीचंद को विफलप्रयत्न करने के लिये दो संधिपत्र तैयार किए गए। एक नकली, जिसमे अमीचंद को पाँच प्रतिशत भाग देना स्वीकार किया गया था, दूसरा असली, जिसमे यह अंश छोड दिया गया था। ऐडमिरल वाट्सन ने नकली संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। तब क्लाइव ने उसपर वाट्सन के हस्ताक्षर नकल कर, वह नकली संधिपत्र अमीचंद को दिखा, उसे आश्वस्त कर दिया। सामयिक इतिहासकार ओर्मी का कथन है कि सिराजुद्दौला की पदच्युति के बाद जब वास्तविक स्थिति अमीचंद को बताई गई तो इस आघात से उसका मस्तिष्क विकृत हो गया तथा कुछ समय उपरांत उसकी मृत्यु हो गई। किंतु, इतिहासकार बेवरिज के मतानुसार वह दस वर्ष और जीवित रहा। अँगरेजो से उसके संपर्क बने रहे जिसका प्रमाण यह है कि उसने फाउंडलिंग अस्पताल को दो हजार पाउंड दान दिए जिसकी भित्ति पर 'कलकत्ते के काले व्यवसायी' की सहायता स्वीकृत है। उसने लंदन के मेग्डालेन अस्पताल को भी दान दिया था।
(रा० ना०)

अमीबा अत्यंत सरल प्रकार का एक प्रजीव (प्रोटोज़ोआ) है जिसकी अधिकांश जातियाँ नदियो, तालाबो, मीठे पानी की झीलो, पोखरो, पानी के गड्ढो आदि मे पाई जाती है। कुछ संबंधित जातियाँ महत्वपूर्ण परजीवी और रोगकारी है।

जीवित अमीबा बहुत सूक्ष्म प्राणी है, यद्यपि इसकी कुछ जातियो के सदस्य १/२ मि० मी० से अधिक व्यास के हो सकते है। संरचना मे यह जीवरस (प्रोटोप्लाज्म) के छोटे ढेर जैसा होता है, जिसका आकार निरंतर धीरे धीरे बदलता रहता है। कोशिकारस बाहर की ओर अत्यंत सूक्ष्म कोशाकला (प्लाज्मालेमा) के आवरण से सुरक्षित रहता है। स्वयं कोशारस के दो स्पष्ट स्तर पहचाने जा सकते है—बाहर की ओर का स्वच्छ, कणरहित, काँच जैसा, गाढ़ा बाह्य रस तथा उसके भीतर का अधिक तरल, धूसरित, कणयुक्त भाग जिसे आंतर रस कहते है। आंतर रस मे ही एक बड़ा केंद्रक भी होता है। संपूर्ण आंतर रस अनेक छोटी बड़ी अन्नधानियों तथा एक या दो संकोची रसधानियों से भरा होता है। प्रत्येक अन्नधानी में भोजनपदार्थ तथा कुछ तरल पदार्थ होता है। इनके भीतर ही पाचन की क्रिया होती है। संकोचिरसधानी मे केवल तरल पदार्थ होता

है। इसका निर्माण एक छोटी धानी के रूप मे होता है, किंतु धीरे धीरे यह बढ़ती है और अंत मे फट जाती है तथा इसका तरल बाहर निकल जाता है।

अमीबा की चलनक्रिया बड़ी रोचक है। इसके शरीर से कुछ अस्थायी प्रवर्ध निकलते है जिनको कूटपाद (नकली पैर) कहते है। पहले चलन की दिशा मे एक कूटपाद निकलता है, फिर उसी कूटपाद में धीरे धीरे सभी कोशारस बहकर समा जाता है। इसके बाद ही, या साथ साथ, नया कूटपाद बनने लगता है। हाइमन, मास्ट आदि के अनुसार कूटपादो का निर्माण कोशारस मे कुछ भौतिक परिवर्तनो के कारण होता है। शरीर के पिछले भाग मे कोशारस गाढ़े गोंद की अवस्था (जेल स्थिति) से तरल स्थिति मे परिवर्तित होता है और इसके विपरीत अगले भाग मे तरल स्थिति से जेल स्थिति मे। अधिक गाढ़ा होने के कारण आगे बननेवाला जेल कोशिकारस को अपनी ओर खीचता है।

अमीबा
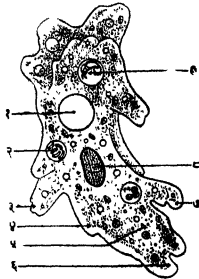
१ संकोची रसधानी; २. अन्नधानी, ३ कूटपाद, ४ कूटपाद, ५ आतर रस, ६ स्वच्छ बाह्य रस, ७ कूटपाद, ८ केंद्रक ९ अन्नधानी।

अमीबा जीवित प्राणियो की तरह अपना भोजन ग्रहण करता है। यह हर प्रकार के कार्बनिक कणो—जीवित अथवा निर्जीव—का भक्षण करता है। इन भोजनकणो को वह कई कूटपादो से घेर लेता है, फिर कूटपादो के एक दूसरे से मिल जाने से भोजन का कण कुछ तरल के साथ अन्नधानी के रूप मे कोशारस मे पहुँच जाता है। कोशारस से अन्नधानी मे पहले आम्ल, फिर क्षारीय पाचक यूषो का स्राव होता है, जिससे प्रोटीन तो निश्चय ही पच जाते है। कुछ लोगो के अनुसार मड (स्टार्च) तथा वसा का पाचन भी कुछ जातियो मे होता है। पाचन के बाद पचित भोजन
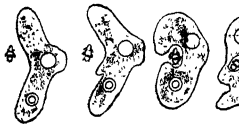
अमीबा का आहारग्रहण

इस चित्र मे दिखाया गया है कि अमीबा आहार कैसे ग्रहण करता है। सबसे बाएँ चित्र मे अमीबा आहार के पास पहुँच गया है। बाद के चित्रो मे उसे घेरता हुआ और अंतिम चित्र मे अपने भीतर लेकर पचाता हुआ दिखाया गया है।

का शोषण हो जाता है और अपाच्य भाग चलनक्रिया के बीच क्रमश शरीर के पिछले भाग मे पहुँचता है और फिर उसका परित्याग हो जाता है। परित्याग के लिये कोई विशेष अंग नही होता।

श्वसन तथा उत्सर्जन (मलत्याग) की क्रियाएँ अमीबा के बाह्य तल पर प्राय सभी स्थानो पर होती हैं। इनके लिये विशेष अंगो की आवश्यकता इसलिये नहीं होती कि शरीर बहुत सूक्ष्म और पानी से घिरा होता है।

कोशिकारस की रसाकर्षण दाब (ऑसमोटिक प्रेशर) बाहर के जल की अपेक्षा अधिक होने के कारण जल बराबर कोशाकला को पार करता हुआ कोशारस मे जमा होता है। इसके फलस्वरूप शरीर फूलकर अंत मे फट जा सकता है। अत जल का यह आधिक्य एक दो छोटी धानियो मे एकत्र होता है। यह धानी धीरे धीरे बढती जाती है तथा एक सीमा तक बढ जाने पर फट जाती है और सारा जल निकल जाता है। इसीलिये इसको सकोची धानी कहते है। इस प्रकार अमीबा मे रसाकर्षण नियंत्रण होता है।

प्रजनन के पहले अमीबा गोलाकार हो जाता है, इसका केंद्रक दो केंद्रको मे बँट जाता है और फिर जीवरस भी बीच से खिचकर बँट जाता है। इस प्रकार एक अमीबा से विभाजन द्वारा दो छोटे अमीबे बन जाते है। संपूर्ण क्रिया एक घटे से कम मे ही पूर्ण हो जाती है।

प्रतिकूल ऋतु आने के पहले अमीबा अन्नधानियो और सकोची धानी का परित्याग कर देता है और उसके चारो ओर एक कठिन पुटी (सिस्ट) का आवेष्टन तैयार हो जाता है जिसके भीतर वह गरमी या सर्दी मे सुरक्षित रहता है। पानी सूख जाने पर भी पुटी के भीतर का अमीबा जीवित बना रहता है। हाँ, इस बीच उसकी सभी जीवनक्रियाएँ लगभग नही के बराबर रहती है। इस स्थिति को बहुधा स्थगित प्राणिक्रम कहते है। उबलता पानी डालने पर भी पुटी के भीतर का अमीबा मरता नही। बहुधा पुटी के भीतर अनुकूल ऋतु आने पर कोशारस तथा केंद्रक का विभाजन हो जाता है और जब पुटी नष्ट होती है तो उसमे से दो या चार नन्हे अमीबे निकलते है।

मनुष्य की अँतडी मे छह प्रकार के अमीबे रह सकते है। उनमे से एक के कारण प्रवाहिका (पेचिश) उत्पन्न होती है जिसे अमीबाजन्य प्रवाहिका कहते है। यह अमीबा अँतडी के ऊपरी स्तर को छेदकर भीतर घुस जाता है। इस प्रकार अँतडी में घाव हो जाते है। कभी कभी ये अमीबे यकृत (लिवर) तक पहुँच जाते है और वहाँ घाव कर देते है। (उ० श० श्री०)

अमीर खुसरो फारसी का श्रेष्ठतम भारतीय कवि जो उत्तरप्रदेश के एटा जिले के पटियाली नामक स्थान मे १२५३ ई० मे उत्पन्न हुआ था। इसका पता सैफुद्दीन महमूद लाची तुर्को के सरदारो मे से था और अल्तमश के शासनकाल मे भारत आकर बस गया था। इसकी माता इमादुल मुल्क (राज्यस्वामी) की कन्या थी। अमीर खुसरो की केवल १० वर्ष की अवस्था मे ही सैफुद्दीन का देहात हो गया इससे इसके नाना ने इसका पालन पोषण किया। बाल्यकाल मे ही अमीर खुसरो शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य हो गया और उनके प्रति उसने महान् प्रेम और आदर बढाया। अत्यत प्रारंभिक अवस्था मे ही उसने काव्यरचना आरंभ की। बलबन के शासनकाल मे वह श्रेष्ठ कुलीनो और शाही परिवार के सदस्यो—अलाउद्दीन किशलू खाँ, बुगरा खाँ, बादशाह मुहम्मद तथा मलिक अली सरजदर हातिम खाँ—के संपर्क मे आया। कैकुबाद दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने उसे अपने दरबार मे आमंत्रित किया और प्रधान दरबारियो मे उसे समिलित कर लिया। उसी समय से जीवन भर वह सुल्तान की सेवा मे रहा। १३२४ मे वह गयासुद्दीन तुगलक के साथ बंगाल की चढाई पर गया। जब वह लखनौती मे ठहरा था उसी समय उसके आध्यात्मिक गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया दिल्ली मे चल बसे। इससे खुसरो को मार्मिक शोक हुआ। अपने गुरु की मृत्यु के छह महीने पश्चात् १३२५ मे दिल्ली मे खुसरो ने भी आखिरी साँस ली। वह शेख निजामुद्दीन औलिया के मकबरे के पैताने दफनाया गया।

अमीर खुसरो बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह कवि, भाषाशास्त्री, गायक, विद्वान्, दरबारी और रहस्यवादी, सभी कुछ था। वस्तुत वह मध्यकालीन संस्कृति का विशिष्ट प्रतिनिधि था। कवि की हैसियत से वह फारसी कविता की महती प्रतिभाओ—फिरदौसी, सादी, अनवरी, हाफिज, उर्फी आदि की कोटि मे था। उसने हिंदी मे एक 'दीवान' भी रचा था। (दुर्भाग्यवश अमीर खुसरो की हिंदी रचनाओ का कोई प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध नही।) इसके अतिरिक्त खुसरो संगीत मे भी असाधारण [illegible] था और इस कला को उसने अपनी महत्वपूर्ण देना से अलंकृत किया।

भारत के लिये खुसरो के मन में अगाध प्रेम था और उसकी संश्लिष्ट संस्कृति का महान् प्रशंसक था। अपने नूह सिपेहर में उसने ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में अन्य सभी देशों के ऊपर भारत की महत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

अमीर खुसरो की निम्नांकित कृतियाँ उपलब्ध हैं :

(१) पाँच दीवान (क) तुह्फतुस सिगार (किशोरावस्था की रची हुई कविताएँ), (ख) वस्तुल हयात (मध्य जीवन की कविताएँ), (ग) गुर्रतुल कमाल (परिपक्वावस्था की कविताएँ), (घ) बकिया-नकिया, (ङ) निहायतुल कमाल।

(२) पाँच मसनवियाँ : (क) मतलाउल अनवर, (ख) शिरिन-उ खुसरो, (ग) ऐनाई सिकदरी, (घ) हश्त-बहिश्त, (ङ) मजनूनुम लैला।

(३) तीन गद्य कृतियाँ (क) खाजा इन-उल फुतूह (अलाउद्दीन खिलजी के युद्धों का विवरण), (ख) अफजलुल फवाइद (शेख निजामुद्दीन औलिया की उक्तियों का संकलन, (ग) इजाजी (खुसरवी ललित गद्य के नमूने)।

(४) पाँच ऐतिहासिक कविताएँ (क) किरानुस-सादेइन, कैकुबाद के उसके पिता बुगरा खाँ से मिलने पर, (ख) मिकताहुल फुतूह (जलालुद्दीन खिलजी के सैन्य संचालनों का विवरण), (ग) दुवाल रानी खिज्र खाँ और दुवालदी की प्रणयकथा, (घ) नूह सिपिह (मुबारक खिलजी के शासन का विवरण), (ङ) तुगलकनामा (खुसरो खाँ से गयासुद्दीन तुगलक के युद्ध का विवरण)।

सं०ग्रं०—जीवनी संबधी विवरणों के लिये द्र० गुर्रतुल कमाल की भूमिका, समसामयिक विवरणों के लिये द्र० बरानी, तारीखी-फिरोजशाही मीरखुर्द, सियासुल औलिया शिबली भी द्र०, शीरुल आजम (उर्दू में, आजमगढ़ १९४७) खड दो, पृष्ठ ९९-१७५, सैयद अहमद महराहर्वी. हयाती खुसरो (उर्दू में, लाहौर, १९०९), मुहम्मद हबीब हजरत अमीर खुसरो ऑव डेलही (बबई, १९२७), वाहिद मिर्जा लाइफ ऐंड टाइम्स ऑव अमीर खुसरो (कलकत्ता, १९३५)।

(खा० अ० नि०)

अमुर्री बाइबिल के अनुसार अमुर्री यहूदियों से भिन्न एक अन्य जाति थी जो कानान की निवासिनी थी। उत्खनन से प्राचीन मिस्र की सभ्यता को प्रकाश में लानेवाली जो सामग्री प्राप्त हुई है उसमें पेपिरस् पर अंकित कुछ अमुर्री लोगों के चित्र भी हैं। इन चित्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अमुर्री जाति किसी आर्य जाति या भारोपीय जाति की एक शाखा रही होगी। बाबुली साहित्य के अनुसार अमुर्री जाति के लोग बाबुल से पश्चिम के भूभाग के निवासी थे। कुछ विद्वानों के अनुसार अमुर्री जाति ही आधुनिक आर्मेनी जाति की पूर्वज थी।

बाबुल के राजकुलों की सूची के अनुसार २६०० ई० पू० में बाबुल पर अमुर्री जाति के राजकुल का शासन था। उसपर इनकी राजसत्ता का दूसरा उल्लेख उस समय मिलता है जब अमुर्री राजकुलों ने बाबुल पर २१०५ ई० पू० से १९२५ ई० पू० तक शासन किया। तेल अलअमर्ना और बोगाज कुई की उत्खननसामग्री से पता चलता है कि लेबनान और कादेश के राजघराने भी अमुर्री थे जिन्होंने १४०० ई० पू० से लेकर १२०० ई० पू० तक इन देशों पर राज किया। कुछ विद्वानों के अनुसार अमुर्री भाषा ही इब्रानी का प्राथमिक रूप थी।

सं०ग्रं०—ए० टी० ले० दि एपाएर ऑव दि एमोराइट्स (१९१९)।

(वि० ना० पां०)

अमुल ईरान के मजाऊंदेरान प्रांत का एक नगर है जो बरफुरूश से २३ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। इसकी जनसंख्या २२,००० है। यह हेराज नदी के दोनों तटों पर बसा है तथा एलबुर्ज पर्वत एवं कैस्पियन सागर के तटीय प्रदेश के मध्य में एक प्रमुख नगर है। नगर के निकट ही स्थित प्राचीन स्मारकों के भग्नावशेष अमुल की प्राचीन गौरवगरिमा की कहानी सुनाते हैं। यहाँ पर सम्राट् सैयद कव्वामुद्दीन (मृत्यु १३७९ ई०) तथा १४वीं शताब्दी के दूसरे प्रसिद्ध लोगों के मकबरों के अवशेष दर्शनीय हैं। चावल एवं फल यहाँ की मुख्य उपज है। (शि० म० सिं०)

अमृत ऐसा कोई तत्व या पदार्थविशेष जिसकी प्राप्ति से मृत्यु का निवारण हो सके। इसकी कल्पना ऋग्वेद से ही आरंभ होती है और ब्राह्मण, पुराण एवं आयुर्वेदिक साहित्य में उसकी अनेक प्रकार से व्याख्याएँ मिलती हैं। सृष्टि में मुख्यत: दो ही तत्व हैं—एक देव और दूसरे पंचभूत। देवतत्व अमृत और पंचभूत मर्त्य हैं। ऋग्वेद में देवतत्व के आवाहन के साथ अनेक बार अमृत की कल्पना प्राप्त होती है। देवों को अमृत कहा गया है (अमृता देवा, शतपथ २।१।३।४)। प्राणी के शरीर में जो प्राणतत्व है वह अमृत का ही रूप माना गया है (अमृतं उ वै प्राणा, श० ९।३।३।१३)। मनुष्य को जितनी आयुष्य मिली है उसमें शत-प्रति-शत प्राणशक्ति का उपभोग अमृतत्व का ही लक्षण है। इस दृष्टि से सूर्य की रश्मियों में, उन्मुक्त वायु और जलधारा में, जहाँ जहाँ प्राणशक्ति का अधिक प्रवाह हो, वहा अमृत का अधिष्ठान समझना चाहिए। इसी कारण '**आदित्यो अमृतम्**'—यह परिभाषा बनी। इसी दृष्टि से १०० वर्ष की पूर्ण आयु की उपलब्धि को मानव के लिये अमृतत्व कहा गया है। (एतद् वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति)। और भी, मन अमृत, शरीर मर्त्य है। अनंत और रोग मृत्यु के रूप हैं। अप्रमाद अमृत और प्रमाद मृत्यु का रूप कहा गया है।

प्रजातंतु या संतान के रूप में भी मनुष्य अमरता का अनुभव करता है। ब्रह्मचर्य अमृत का रूप और आत्मविनाश मृत्यु है। पुराणों के अनुसार देव और असुरों ने समुद्रमथन द्वारा अमृत को प्राप्त किया। अमृत देवों को ही मिला, असुरों को नहीं। प्रतिदेव का प्रतिपक्षी तत्व असुर है। अमृत, ज्योति और सत्य की संज्ञा देव है। मृत्यु, अनृत और तम की संज्ञा असुर है। देवासुर संग्राम सृष्टि के अमृत-मृत्यु-संघर्ष का ही प्रतीक है। विश्वरचना के मूल में जो शक्ति है वही अपार समुद्र है। उसी के मथन से अमृत और विष का जन्म माना गया है। देवों में सबसे बड़े महादेव का एक रूप मृत्युंजय है। उस स्वरूप से उन्होंने विष, मृत्यु या सर्प को अपने वश में कर लिया है। अमृत की उपलब्धि के लिये विष या मृत्यु को वश में करना आवश्यक है। आयुर्वेद के अनुसार जीवनतत्व की संज्ञा अमृत है प्राकृतिक सदाचार से उसकी रक्षा होती है। रोग अमृत के प्रतिपक्षी हैं। नाना प्रकार की ओषधियों के द्वारा अमृतत्व या जीवन की पुन: प्राप्ति ही आयुर्वेदोक्त अमृत है। (वा० श० अ०)

अमृतयोग ज्योतिषशास्त्र का एक योगविशेष। ज्योतिष में वर्णित आनंद आदि २८ योगों में २१वाँ योग अमृतयोग है। निम्नलिखित स्थितियों में अमृतयोग माना जाता है

(१) रविवार उत्तराषाढ नक्षत्र, (२) सोमवार शतभिषा नक्षत्र, (३) भौमवार अश्विनी नक्षत्र, (४) बुधवार मृगशिरा नक्षत्र, (५) गुरुवार श्लेषा नक्षत्र (६) शुक्रवार हस्त नक्षत्र तथा (७) शनिवार अनुराधा नक्षत्र।

यह योग अपने नाम के अनुसार अमृतत्व फल देनेवाला है अत: इस योग में यात्रा आदि शुभ कार्य श्रेष्ठ माने जाते हैं। (उ० श० पा०)

अमृतसर पंजाब का एक जिला है और इसी नाम का वहाँ एक प्रसिद्ध नगर भी है। जिले की स्थिति ३१° ४' से ३२° ३' अ० उ० तक, ७४° २९' से ७५° २४' पू० दे० तक, क्षेत्रफल १,९६२ वर्ग मील; जनसंख्या १८,२२,६०६ (१९७१ ई०)।

अमृतसर जिला नए पंजाब प्रांत के पश्चिमोत्तर में जालंधर कमिश्नरी के सारे जिलों में प्रमुख है। लगभग संपूर्ण भाग मैदान है। रावी और व्यास नदियाँ इसकी पश्चिमोत्तर और दक्षिण पूर्व सीमा क्रम से बनाती हैं। इनके अतिरिक्त साकी नदी जो जिला गुरदासपुर से आती है, इसके उत्तर पश्चिम भाग में बहती हुई रावी नदी में मिल जाती है। इस नदी में पूरे वर्ष जल रहता है। यहाँ की जलवायु शीतकाल में अधिक ठंढी तथा ग्रीष्मऋतु में गरम रहती है। औसत वार्षिक वर्षा लगभग २१ इंच होती है। लोगों का मुख्य धंधा खेती बारी है और अपर बारी दोआब नहर द्वारा सिंचाई की अच्छी सुविधा प्राप्त है। गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, दाल, कपास और गन्ना यहाँ की मुख्य उपज है।

अमृतसर (नगर)—स्थिति : ३१° ३८' उ० अ० तथा ७४° ५३' पू० दे०; जनसंख्या : ४,३२,६६३ (१९७१)। यह सिक्खों का प्रमुख

नगर तथा तीर्थस्थान है। एक प्रकार से इसकी नींव सिक्खो के चौथे गुरु रामदास ने सन् १५७७ ई० मे डाली। उनकी इच्छा थी कि सिक्ख जाति के लिये एक सुंदर मंदिर का निर्माण किया जाय। मंदिर का निर्माणकार्य आरंभ होने से पूर्व उसके चारो ओर उन्होने एक ताल खुदवाना आरंभ किया। परतु उनकी मृत्यु हो जाने के कारण यह कार्य उनके पुत्र तथा पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने स्वर्णमंदिर बनवाकर पूर्ण किया। धीरे धीरे इसी मंदिर के चारो ओर अमृतसर नगर बस गया। महाराजा रणजीतसिंह ने मंदिर की शोभा बढ़ाने मे बहुत धन व्यय किया और उसी समय से यह नगर एक मुख्य व्यापारिक केंद्र बन गया। आज भी व्यापार और उद्योग की दृष्टि से अमृतसर बहुत आगे बढ़ा हुआ है। सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा बुनने एव दरी और शाल बनाने के उद्योग मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कपडे की रँगाई, छपाई और कढाई के उद्योग भी अधिक उन्नति कर गए है। बिजली के पखे, कले, रासायनिक वस्तुएँ, लोहे की चादरें, प्लास्टिक का सामान तथा नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाने का भी यह एक प्रमुख केंद्र बनता जा रहा है। यहाँ खालसा कालेज १८६३ ई० मे खोला गया। यह नगर रेल द्वारा कलकत्ता से १२३२ मील, बबई से १२६० मील और दिल्ली से २७८ मील पर है। ऐतिहासिक दृष्टि से अमृतसर विशेष महत्व का है। दरबार साहिब (स्वर्णमंदिर) से लगभग दो फर्लांग की दूरी पर ही विख्यात जलियाँवाला बाग है जहाँ जनरल डायर ने १३ अप्रैल, सन् १९१९ ई० को एक सार्वजनिक सभा पर गोली चलवाई थी, जिसमे लगभग डेढ हजार व्यक्ति घायल हुए एव मारे गए थे। १९४७ ई० मे पंजाब प्रात के बँटवारे से नगर की उन्नति को विशेष ठेस लगी, पर अब भी यह पजाब राज्य का सबसे बडा नगर है। (आ० स्व० जौ०)

अमेज़न १ प्राचीन पश्चिमी जनविश्वास के अनुसार नारी योद्धा जिनका पुक्सीन सागर के निकट पोतस मे आवास बताया जाता है। कहते है कि इन नारी योद्धाओ का अपना स्वतत्र राज्य था और उसपर उनकी रानी थर्मोदोन नदी के तट पर बसी अपनी राजधानी थेमिस्कीरा से राज्य करती थी। आनुश्रुतिक विश्वास के अनुसार इन योद्धाओ ने इस्कीदिया, थ्रेस, लघु एशिया और ईजियन सागर के अनेक द्वीपो पर हमले किए थे और एक समय तो उनकी सेनाएँ अरब, सीरिया और मिस्र तक पहुँच गई थी। उनके देश मे मर्द को बसने का अधिकार न था, परतु वे अपनी अद्भुत जाति को लुप्त होने से बचाने के लिये अपनी पडोसी जाति के पुरुषों मे जाकर कुछ दिन रह आती थी। इस संबंध से जो पुत्र होते थे वे या तो मार डाले जाते थे या अपने पिताओ के पास भेज दिए जाते थे और कन्याएँ रख ली जाती थी जिन्हे उनकी माताएँ कृषिकर्म, आखेट और युद्ध करना सिखाती थी। ग्रीकों का विश्वास था कि अमेज़न योद्धाओ के दाहिना स्तन नही होता था जिससे वे अस्त्र शस्त्र आसानी से चला सकती थी। ग्रीक किंवदंतियो मे तो अनेक ग्रीक वीरो का इन नारी योद्धाओ से युद्ध हुआ है जिसके दृश्य ग्रीक कलावतो ने बार बार अपने देवताओ की चौखटो पर उभारे है। ग्रीक कला मे अमेज़न-नारी-योद्धा का आकलन पर्याप्त हुआ है। एक अमेज़न (मात्तेई) की अत्यत सुदर मूर्ति वातिकन के सग्रहालय मे आज भी सुरक्षित है। (भ० श० उ०)

अमेज़न २ द० अमरीका की एक प्रसिद्ध नदी है जो जल की मात्रा के विचार से ससार की सबसे बडी तथा सर्वाधिक लबी नदियो मे दूसरी नदी है। इस नदी की सपूर्ण द्रोणी विषुवत्रेखीय क्षेत्र मे पडती है। पेरूवियन ऐडीज़ पर्वत के पूर्वांचल मे १२,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित लागो लारीकोचा नामक झील से निकलकर पेरू तथा ब्राज़ील मे लगभग ४,००० मील पूर्व-उत्तर-पूर्व प्रवाह के अनतर भूमध्यरेखा पर अध-महासागर (ऐटलांटिक ओशन) मे गिरती है। यह मुहाने से (९० मील पर स्थित) पारा तक बडे सामुद्रिक पोतो, (२,३०० मील पर स्थित) इकीटोस तक छोटे सामुद्रिक पोतों और (२,७८६ मील पर स्थित) आचुअल प्वाइट तक छोटे जहाजो के लिये नौकागम्य है। धारा की औसत गति तीन मील प्रति घटा है जो सँकरे स्थानो मे पाँच मील तक हो जाती है। नवबर मे जून तक नदी बढाव की ओर रहती है। सुदूर तक यह प्रमुख दो धाराओ मे विभक्त होकर बहती है, पर मुहाने से ४०० मील अत स्थित ओबीडोज के बाद एकीबद्ध होकर लगभग एक मील चौड़ी तथा २०० फुट गहरी नदी के रूप में विशाल जलराशि लाती है, जो समुद्र में मुहाने से २०० मील दूर तक स्पष्ट पहचानी जा सकती है। बाढ मे घाटी का न केवल निचला मैदान ही (इगापो) प्रत्युत् ऊपरी मैदान (वारगेम) के लाखो वर्ग मील का क्षेत्र भी झील सा हो जाता है।

अमेज़न मे २७,२२,००० वर्ग मील क्षेत्र से लगभग दो सौ नदियों का जल आता है। अधिकाश सहायक नदियाँ दक्षिण से आती है जिनमे हुआल्गा, उकायली, जावारी, जुटाई, जुरुआ, तेभी, कोआरी, मैडिरा, तापाजोज, जिगु आदि प्रमुख है। सेंटियागो, मोरोना, जापुरा रायो, निग्रो, औतुमा, ट्रावेटा आदि उत्तरी सहायक नदियाँ है। भूगोलवेत्ताओ के अनुसार अमेज़न का निचला भाग सामुद्रिक खाडी था जिसकी लहरो के अपक्षरण से ओबीडोज के पास का पर्वतीय स्थल कटकर बह गया। नदी के मुहाने पर विशाल भित्तिज्वार (बोर) आता है जिसके कारण नदी के जल के साथ विशाल परिमाण मे मिट्टी आने पर भी डेल्टा नही बन पाता।

नदीतट पर स्थित पारा (जनसख्या ३,५०,०००), मनाओज (ज०स० १,००,०००), इक्वीटोस (ज०स० ३०,०००) और सनारम (ज०स० ७,०००) आदि बदरगाहो द्वारा रबर, कहवा, चमड़ा, तबाकू, लकडी, कपास, सुपारी, काकाओ, नारगी, मास, मछली तथा अन्य उष्णकटिबधीय वस्तुओ का निर्यात होता है। अमेज़न द्रोणी मे अनेक प्रकार के पेड पौधे, झाडियाँ, लताएँ तथा जीवजतु, कीट, पतग, मछलियाँ आदि पाई जाती है जिनके बीच कटुतम जीवनसघर्ष है। अत यहाँ विभिन्न औद्योगिक, परिवाहनिक, मानवशास्त्रीय, भौगोलिक, वैज्ञानिक एव खनिज सबधी अन्वेषण एव सर्वेक्षण कार्य हो रहे है। १९२७ एव १९२८ मे अमरीकी भौगोलिक परिषद् ने भी हिस्पानिक अमरीका (लैटिन अमरीका) के मानचित्र (मापक १ . १०,००,०००) की सामग्री के कल्पनार्थ विशेषज्ञो के दो दल भेजे थे।

यूरोपियनो मे से स्पेन निवासी बिसेंट यानेज पिजन ने सर्वप्रथम सन् १५०० ई० मे अमेज़न का पता लगाया और मुहाने से ५० मील अनर्देश तक यात्रा की। फासिस्को डी ओरलेना न इसका अमेज़ोनाज नाम रखा और १५४१ मे ऐंडीज पर्वत से लेकर समुद्र तक इसकी यात्रा की। (का० ना० सि०)

अमोघवर्ष राष्ट्रकूट राजा जो ल० ८१४ ई० मे गद्दी पर बैठा और ६४ साल राज करने के बाद सभवत ८७८ ई० मे मरा। वह गोविद तृतीय का पुत्र था। उसके किशोर होने के कारण पिता ने मृत्यु के समय करकराज को शासन का कार्य सँभालने को सहायक नियुक्त किया था। किंतु मत्री और सामत धीरे धीरे विद्रोही और अमहिष्णु होते गए। साम्राज्य का गगवाडी प्रात स्वतत्र हो गया और वेगी के चालुक्यराज विजयादित्य द्वितीय ने आक्रमण कर अमोघवर्ष को गद्दी से उतार तक दिया। परतु अमोघवर्ष भी साहस छोडनेवाला व्यक्ति न था और करकराज की सहायता से उसने राष्ट्रकूटो का सिंहासन फिर स्वायत्त कर लिया। राष्ट्रकूटो की शक्ति फिर भी लौटी नही और उन्हे बार बार चोट खानी पडी।

अमोघवर्ष के सजन ताम्रपत्र के अभिलेख से समकालीन भारतीय राजनीति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है, यद्यपि उसमे स्वय उसकी विजयो का वर्णन अतिरजित है। वास्तव मे उसके युद्ध प्राय उसके विपरीत ही गए थे। अमोघवर्ष धार्मिक और विद्याव्यसनी था, महालक्ष्मी का परम भक्त। जैनाचार्य के उपदेश से उसकी प्रवृत्ति जैन हो गई थी। 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तरमालिका' का वह रचयिता माना जाता है। उसी ने मान्यखेट राजधानी बनाई थी। अपने अतिम दिनो मे राजकार्य मत्रियो और युवराज पर छोड वह विरक्त रहने लगा था। (ओ० ना० उ०)

अमोघसिद्धि (बौद्ध देवता), द्र० 'भारतीय देवी देवता (बौद्ध)'।

अमोनिया तीव्र तथा विशेष प्रकार की तीक्ष्ण गधवाली गैस है।

इसके कुछ यौगिक, विशेषकर नौसादर (साल अमोनिएक, या अमोनियम क्लोराइड), बहुत पहले ही ज्ञात थे। परतु स्वतंत्र अमोनिया गैस के अस्तित्व के बारे में ठीक ज्ञान १७७४ ई० में जे० प्रीस्टली द्वारा इसे तैयार किए जाने पर हुआ। इस गैस का नाम उन्होने 'ऐल्कलाइन एयर' रखा। १७७७ ई० मे सी० डब्ल्यू० शेले ने इस गैस में नाइट्रोजन की उप-

अमृतसर का स्वर्णमंदिर
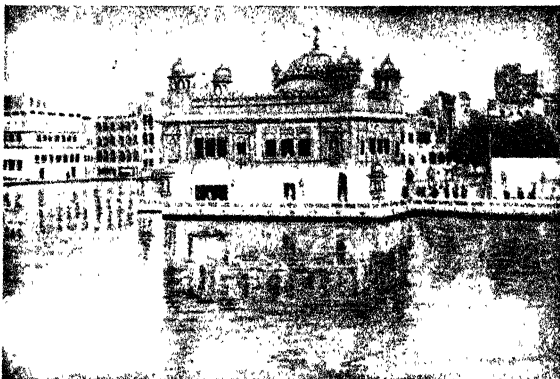
यह सिक्खों का गुरुद्वारा है (द्र० पृष्ठ [illegible]७)
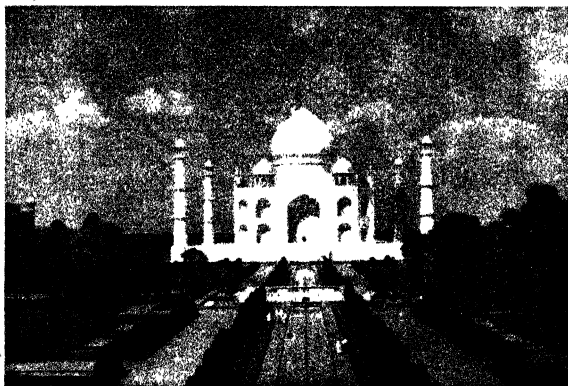
आगरे का विश्वप्रसिद्ध ताजमहल

(द्र० पृष्ठ ३५२)

स्थिति बताई; १७८५ में सी० एल० बेरटोले ने विद्युत् चिनगारी द्वारा इसे विघटित कर इसमे हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन की मात्राएँ ज्ञात की।

अमोनिया कई विधियो से स्वत. बनती है और बनाई जा सकती है। अल्प मात्रा मे अमोनिया हवा तथा वर्षा के जल मे पाई जाती है, नदी, तालाब और समुद्र के जल मे भी (समुद्रजल में लगभग ० १ मिलीग्राम प्रति लिटर की मात्रा मे) यह मिलती है। पशुओ के शारीरिक भाग एव पौधो के सडने से (नाइट्रोजन युक्त कार्बनिक पदार्थों के विघटन द्वारा) अमोनिया तथा इसके लवरण बनते है। अमोनिया के कुछ यौगिक खनिजो में, मिट्टी मे और फलो के रस या पौधो के अन्य भागो मे भी पाए जाते हैं।

अमोनिया बनाने की विधियाँ विशेषत दो प्रकार की हैं—नाइट्रोजन और हाइड्रोजन तत्व के सीधे सयोग से अथवा नाइट्रोजन या अमोनिया के यौगिको से। नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन के गैसीय मिश्रण मे विद्युत् चिनगारी, या डिस्चार्ज, उत्पन्न करने से अमोनिया बनती है, जिसका समीकरण यह है $ना_2 + ३ हा_2 \rightleftarrows २ नाहा_3$ (ना = नाइट्रोजन, हा = हाइड्रोजन)। यह क्रिया उत्प्रेरक (कैटालिस्ट) की अनुपस्थिति मे न्यून मात्रा मे होती है। इस प्रत्यावर्ती क्रिया के रासायनिक सतुलन के विशेष अध्ययन से हाबर ने ज्ञात किया कि अमोनिया की मात्रा गैसीय मिश्रण की दाब तथा ताप पर विशेष रूप से निर्भर है।

अमोनिया के औद्योगिक उत्पादन के लिये हाबर की तथा कई अन्य सशोधित विधियाँ है (जैसे कैसले, क्लाउड इत्यादि की)। इनमे विशेषकर गैस की दाब, ताप, उत्प्रेरक के चुनाव तथा तैयार अमोनिया के अलग करने के ढग मे भिन्नता है। साधारणतया २००-१००० वायुमडल (ऐटमॉस्फियर) की दाब, ४००-६००° सेंटीग्रेड का ताप, लोहा, आस्मियम, मोलिब्डिनम, यूरेनियम, टाइटेनियम, टग्सस्टन इत्यादि जैसे उत्प्रेरक तथा अल्कलाइन आक्साइड (जैसे सोडियम या पोटैसियम आक्साइड) के साथ उसके समर्थक (प्रोमोटर), जैसे ऐल्यूमिनियम, सिलिकन, जिरकोनियम आदि के आक्साइड का उपयोग होता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के स्रोत, नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिये हवा मे आक्सीजन अलग करने की विधि तथा इनको शुद्ध करने की रीति मे भी अतर है।

नाइट्रोजन के आक्साइड, नाइट्रिक अम्ल एव नाइट्रेट के अवकरण से अमोनिया प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणत, हाइड्रोजन के साथ नाइट्रिक आक्साइड गरम प्लैटिनम-स्पाज अथवा प्लैटिनाइज्ड-ऐस्बेस्टस पर प्रवाहित करने से अमोनिया प्राप्त होती है। इसी प्रकार नाइट्रिक अम्ल से भी अमोनिया बनती है। इसमे गरम नली मे रध्रमय पत्थर (जैसे प्यूमिस स्टोन) की सतह की उपस्थिति तथा ताँबा, जस्ता, राँगा के आक्साइड या फेरिक आक्साइड आदि उत्प्रेरक की आवश्यकता पडती है। नाइट्रस तथा नाइट्रिक अम्ल पर हाइड्रोजन सल्फाइड, राँगा, लोहा या जस्ता की क्रिया से भी अमोनिया मिलती है। नाइट्रेट या नाइट्राइट लवण के क्षारमहित घोल मे जस्ता, जस्ता तथा प्लैटिनम, ऐल्यूमिनियम या सोडियम अमैल्गम की क्रिया मे भी अमोनिया बनती है (इन लवणों की मात्रा ज्ञात करने के विचार से यह क्रिया महत्वपूर्ण है)। नाइट्रेट तथा नाइट्राइट का अवकरण जीवाणुओ द्वारा भी होता है।

नाइट्रोजन के कुछ यौगिक जैसे फास्फाइड, सल्फाइड, आयोडाइड या क्लोराइड पर और कुछ धातुओ (जैसे लिथियम, कैल्सियम, मैग्नीशियम) के नाइट्राइट पर पानी की क्रिया से अमोनिया बनती है। कई साइनाइड भी अतितप्त (सुपरहीटेड) भाप द्वारा अमोनिया बनाते हैं। कैल्सियम साइनामाइड तथा पानी की क्रिया द्वारा हवा का नाइट्रोजन अमोनिया जैसे उपयोगी रासायनिक यौगिक मे परिवर्तित किया जा सकता है। यह फ्रैंक तथा कैरो की विधि है।

नाइट्रोजन युक्त कुछ कार्बनिक यौगिको से भी अमोनिया प्राप्त होती है। प्रारभ मे इसका मूल स्रोत मूत्र तथा पशुओं का सीग, खुर इत्यादि था। साधारण मूत्र मे २० से २५ ग्राम प्रति लीटर यूरिया होता है जो सड़ने पर अमोनियम कारबोनेट बनाता है। चमडा, सीग, बाल तथा पशुओ के अन्य भागो को बद बर्तनो मे गरम करने से अमोनिया तथा काला तेल सा पदार्थ, जिसे डिपेल ऑयल कहते है, प्राप्त होता है और जांतव कोयला (ऐनिमल चारकोल) बच रहता है।

पत्थर के कोयले को गरम करने पर (कोयले के संयुक्त नाइट्रोजन से) अमोनिया प्राप्त होती है। अत कोल गैस, जलाने योग्य कोयला (कोक) बनाने में प्राप्त गैस, प्रोड्यूसर गैस और ब्लास्ट फरनेस गैस से अमोनिया उपजात (बाइप्रॉडक्ट) के रूप मे मिलती है।

प्रयोगशाला मे साधारणतया नौसादर को तीव्र या बुझाए सूखे चूने के साथ गरम करके अमोनिया गैस तैयार की जाती है।

अमोनिया के घोल के कई बार आसवन से, अथवा द्रव अमोनिया से प्रभाजित आसवन (फ्रैक्शनल डिस्टिलेशन) द्वारा प्राप्त गैस को पिघलाए हुए ऐल्कैली हाइड्राक्साइड मे सुखाने से शुद्ध अमोनिया मिलती है। अमोनिया से क्रिया करने के कारण इस कार्य के लिये सामान्य सुखानेवाली वस्तुएँ, जैसे कैल्सियम क्लोराइड, गधक का अम्ल तथा फ़ास्फ़ोरस पेंटाक्साइड, प्रयुक्त नही की जा सकती है।

गुण—अमोनिया रगहीन गैस है। इसे सहसा सूँघने पर आँख में आँसू आ जाता है। अधिक मात्रा से घुटन उत्पन्न होती है तथा इस गैस मे बंद करने से जानवर की मृत्यु हो जाती है। गैस का घनत्व ०·५९६३ (वायु = १), या ० ५३९५ (आक्सिजन = १), या ०.७७१० ग्राम प्रति लीटर (०° सेंटीग्रेड, ७६० मिलीमीटर दाब पर) होता है। अमोनिया गैस सरलता से रगहीन तरल तथा बर्फ सदृश ठोस मे परिवर्तित की जा सकती है। क्रांतिक (क्रिटिकल) ताप १३२ ४° सें०, दाब ११५ ५ वायुमडल तथा तरल का घनत्व ० २३५ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर है। अमोनिया का द्रवणांक—७७·७ सें० तथा क्वथनांक–३३ ३५° से० है, सगलन उष्मा (–७५° सें० पर) १०८ १ तथा बाष्पायन उष्मा –३३ ४°, –२०°, –१०° तथा ०° सें० पर क्रमानुसार ३२७.१, ३१७ ६, ३०९ ७ और ३०१ ६ कैलोरी प्रति ग्राम है। (इस लेख मे सर्वत्र कैलोरी से ग्राम-कैलोरी (१५° से०) समझना चाहिए।)

पानी, एल्कोहल तथा बहुत से अन्य द्रवो मे अमोनिया घुलनशील है। पानी मे इसकी घुलनशीलता अत्यधिक है। ०° से० तथा ७६० मिलीमीटर पर पानी अपने आयतन के हजार गुने से भी अधिक अमोनिया घोल लेता है। इस क्रिया मे ताप उत्पन्न होता है। ठढे घोल को गरम करके अमोनिया अशत या पूर्णत बाहर निकाली जा सकती है।

अमोनिया का वाष्प दबाव विभिन्न तापो पर इस प्रकार है ·

१	१०	४०	१००	४००	७६० मिली० मि०
–१०९ १	–९१ ९	–७९ २	–६८ ४	–४५ ४	–३६ ६ से०—

अमोनिया का विशिष्ट ताप ठोस के लिये (–१०३° से० से–१८८° सें० तक ताप पर) ० ५०२ है, द्रव के लिये (–६०° से० पर) १ ०४७ है, तथा गैस के लिये (१५° से० और १ वायुमडल की स्थिर दाब पर) ० ५२३२ (कैलोरी/ग्राम/डिगरी से०) है, स्थिर दाब तथा स्थिर आयतन के विशिष्ट ताप का अनुपात (अर्थात् γ) = १ ३१० है। गैस तथा द्रव अमोनिया की निर्माण उष्मा (१८° से० तथा १ वायुमडल दाब पर) क्रमानुसार १० ९४ तथा १५ ८४ किलो-कैलोरी है।

आक्सिजन मे अमोनिया गैस जलती है, जिससे नाइट्रोजन, जल एवं अल्प मात्रा मे अमोनियम नाइट्रेट और नाइट्रोजन पराक्साइड बनते है। गरम नली मे आक्सिजन के साथ अमोनिया प्रवाहित करने से नाइट्रोजन के आक्साइड बनते है। यह क्रिया उत्प्रेरक (जैसे लोहा, ताँबा, निकल और विशेषकर प्लैटिनम) की उपस्थिति मे भी होती है। अमोनिया से शोरे का अम्ल बनाने की ऑस्टवाल्ट विधि इसी पर आधारित है।

गरम करने अथवा विद्युत् चिनगारी या डिस्चार्ज से अमोनिया स्वत नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन मे विघटित होती है। इस क्रिया की गति (अथवा विघटित अमोनिया की मात्रा) ताप, स्पर्श पृष्ठ की प्रकृति एवं उत्प्रेरक की उपस्थिति पर निर्भर है। अल्ट्रावायलेट या रेडियम के ऐल्फा किरण से भी अमोनिया का विघटन होता है।

क्लोरीन मे यह गैस शीघ्रता से जलती है। इस क्रिया मे अमोनियम क्लोराइड तथा नाइट्रोजन बनते है। ब्रोमीन तथा आयोडीन के साथ भी यौगिक बनते है। वाष्पीय गधक को अमोनिया के साथ गरम नली मे प्रवाहित करने पर अमोनियम मोनो तथा पॉली-सल्फाइड प्राप्त होते है। गरम कार्बन पर अमोनिया की क्रिया से साइनाइड बनता है। कुछ धातुओ को (जैसे मैग्नीशियम, जस्ता, टाइटेनियम इत्यादि को) अमोनिया मे

गरम करने पर नाइट्राइड बनते हैं। इसी तरह गरम ऐल्कली धातु सूखी अमोनिया से अमाइड बनाते है, जैसे सोडियम अमाइड या सोडामाइड, पोटैशामाइड इत्यादि।

बहुत से लवरा अमोनिया के सयोग से नए यौगिक बनाते है, जैसे कैल्सिअम, जस्ता या चाँदी के क्लोराइड से उनके अमीनो-क्लोराइड प्राप्त होते हैं। इस तरह के कुछ यौगिक (जैसे मैंगनीज अमीनो-सल्फेट) हवा मे रखने से और कुछ यौगिक (जैसे जिंक अमीनो सल्फेट) गरम करने से अमोनिया देते हैं। द्रव मे रूपान्तरण के लिये फैराडे ने इसी विधि द्वारा अमोनिया गैस प्राप्त की थी।

निम्न तापक्रम पर अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पानी के साथ अमोनिया के दो हाइड्रेट, नाहा$_3$ हा$_2$ औ (औ = आक्सिजन) (छोटे रगहीन रवेवाला) और नाहा$_3$, ½ हा$_2$ औ (सुई के आकार के रवेवाला), बनते हैं। अमोनिया का पानी मे घोल क्षारीय है और अम्ल के साथ क्रिया करने पर अमोनियम लवरा बनता है, जैसे अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम नाइट्रेट, अमोनियम सल्फेट इत्यादि। अमोनिया के घोल मे कुछ आक्साइड, हाइड्राक्साइड तथा लवरा भी घुल जाते है, जैसे सिल्वर आक्साइड, कापर हाइड्राक्साइड, सिल्वर क्लोराइड। इस प्रकार के कापर हाइड्राक्साइड का घोल नकली रेशम (रेयन) बनाने मे उपयुक्त होने के कारण औद्योगिक महत्व की वस्तु है।

द्रव अमोनिया अच्छा घोलक है। इसमे बहुत सी धातुएँ, लवरा और अन्य यौगिक घुल जाते है। कुछ लवरा, जो पानी मे सूक्ष्म मात्रा मे ही घुल सकते हैं, अमोनिया मे अच्छी तरह घुल जाते है। जैसे सिल्वर आयोडाइड। बहुत से कार्बनिक यौगिक भी अमोनिया मे घुलते है। अमोनिया के घोल मे यौगिकों की सगत (ऐसोसिएशन) करने अथवा घोलक के साथ यौगिक बनाने की प्रवृत्ति है।

कुछ अम्ल अमोनियम लवरा के रूप में द्रव अमोनिया मे घुल जाते हैं तथा पोटैसियम, सोडियम और मैगनीशियम धातु की क्रिया से हाइड्रोजन देते हैं, जैसे ऐसिटामाइड, सोडियम अमाइड तथा पोटैसियम ऐसिटामाइड। अमोनिया के घोल मे भी इनसे विभक्त अयन क्रिया करते है और अम्ल तथा क्षार मिलकर लवरा बनाते हैं।

अमोनिया की पहचान उसकी विशेष गध या गीले लाल लिटमस को नीला करने या हल्दी के कागज को भूरा लाल करने अथवा नेमलर के रीएजेंट मे भूरा रग उत्पन्न करने से की जाती है। किसी मद क्षारसूचक, जैसे मिथाइल आरेंज या मिथाइल रेड की उपस्थिति मे प्रामाणिक अम्ल से अनुमापन (टाइट्रेशन) करके अथवा क्लोरोप्लैटिनिक अम्ल से प्राप्त अवक्षेप को तौलकर (या जलाने पर प्राप्त प्लैटिनम को तौलकर) घोल मे अमोनिया की मात्रा ज्ञात की जाती है।

स०ग्र०—जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० व्हाइटले थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री, जे० आर० पारटिंगटन . ए टेक्स्टबुक ऑव इनआर्गैनिक केमिस्ट्री (1950)। (वि० वा० प्र०)

अमोनिया अवशोषण यंत्र एक प्रकार का प्रशीतक (रिफ्रिजरेटर) यत्र है। जो घरो और कारखानो मे ठढक उत्पन्न करने के काम आता है। अवशोषण यत्रो की उपयोगिता का क्षेत्र बहुत सीमित है लेकिन जब बहुत निम्न ताप अपेक्षित हो तो ऐसे यत्रो का महत्व अधिक हो जाता है।

इस यत्र की कार्यप्रणाली चित्र द्वारा समझाई गई है। जनित्र (जेनेरटर) (क) मे अमोनिया का साद्र (कासेंट्रेटेड) जलीय (ऐकुअस) घोल भरा होता है, और ज्वालक से या भाप की नलियो से इसको गरम किया जाता है। घोल मे से अमोनिया गैस निकलकर सघनित्र (ख) मे डूबी सर्पिल मे से जाती है। (ख) मे शीतल पानी निरतर प्रवाहित होता रहता है। अत सर्पिल मे गैस स्वय अपनी ही दाब से सघनित हो जाती है। यह द्रव एक सँकरे नियामक (रेगुलेटिंग) वाल्व (च) के मार्ग से शीत सग्रहागार (काल्ड स्टोरेज) (ग) मे रखी सर्पिल मे प्रवेश करता है जिसमे निम्न दाब के कारण द्रव वाष्पित हो जाता है। वाल्व (च) को इस तरह से समायोजित (ऐडजस्ट) किया जाता है कि उसके दोनो सिरो के बीच दाब का अभीष्ट अतर बना रहे। शीतसग्रहागार (ग) मे से नमक का घोल प्रवाहित होता रहता है, जो सर्पिल में अमोनिया के वाष्पन से शीतल होता जाता है, और फिर कही भी जाकर प्रशीतन का काम करता है।

सर्पिल (ग) मे बनी अमोनिया गैस अवशोषक (घ) मे रखे पानी या अमोनिया के तनु (हलके) घोल द्वारा अवशोषित होती रहती है और इस

अमोनिया अवशोषण यंत्र
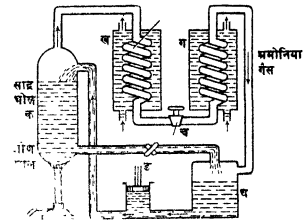
प्रकार अल्प दाब बना रहता है। (घ) मे घोल साद्र होता जाता है और पप (ङ) द्वारा जनित्र (क) के ऊपरी भाग मे पहुँचाया जाता है। इसके विपरीत जनित्र के पेंदे से तनु घोल अवशोषक (घ) मे आता जाता है। इस तरह पूर्ण चक्रीय प्रक्रम (साइक्लिक प्रासेस) से निरतर प्रशीतन होता रहता है। (नि० सिं०)

अम्मन, मीर इनके पुरखे हुमायूँ के समय से मुगल दरबार मे थे। सूरजमल जाट ने जब दिल्ली की तबाही की तो वे कलकत्ते चले गए, यो खास रहनेवाले दिल्ली के थे। मीर अम्मन ने कलकत्ते मे फोर्ट विलियम कालेज मे सन् 1801 ई० मे फारसी से 'चहार दर्वेश' का सलीस उर्दू मे अनुवाद किया। इनको फारसी मिली हुई मुश्किल उर्दू की जगह सलीस उर्दू लिखने का बानी कहा जाता है। चहार दर्वेश मे जबान के बारे मे इन्होने लिखा है, "जो शख्स सब आफते सहकर दिल्ली का रोडा होकर रहा, दस पाँच पुश्ते इस शहर मे गुजरी दरबार उमराओ के और मेले ठेले, सैर तमाशा लोगो का देखा और कूचागर्दी की, उसका बोलना अलबत्ता ठीक है।" उन्होने 'अनुवार सुहेली' का भी अनुवाद उर्दू मे किया और उसका नाम 'गजेखूबी' रखा। 'चहार दर्वेश' की वजह से ये अमर है। (र० स० ज०)

अम्र बिन आस अल सहमी इस्लाम के पैगबर के सहाबी। इस्लाम के इतिहास मे इनका बहुत बडा भाग है। उनके धर्म का सिलसिला 629-30 ई० मे इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेने से आरभ होता है। जब वे अभी केवल 9-10 वर्ष की अवस्था के थे, उनको महत्व का राजनीतिज्ञ माना गया है।

अम्र को हजरत मोहम्मद ने उम्मान भेजा जहाँ के राजाओ ने उनके प्रभाव से इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। वह उम्मान मे थे, जब पैगबर की मृत्यु का समाचार मिला। वे मदीने लौट आए, पर वहाँ वे ज्यादा दिन न ठहर सके क्योकि हजरत अबू बकर ने शाम और फिलिस्तीन देशो की सेना के साथ उन्हे भेज दिया। वह यारमुक्के के युद्ध मे और दमिश्क की विजय के समय भी उपस्थित थे। इस्लामी इतिहास मे उनकी सबसे बडी विजय मिस्र मे हुई। कहा जाता है, मिस्र को उन्होने अपनी जिम्मेदारी पर जीता था। मिस्र को उन्होने जीता ही नही, बल्कि वहाँ का शासनप्रबध भी ठीक किया। उन्होने न्याय और कर विभाग की नीति मे सुधार किया और फुस्तात की नीव डाली जो 10वी सदी मे अलकाहिरा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हजरत उस्मान की मृत्यु के बाद वे हजरत अली और मोआविया के झगडे मे पच बनाए गए। जीवन भर वे मिस्र के राज्यपाल रहे। 661 ई० मे एक व्यक्ति ने उनकी हत्या के लिये उनपर वार किया। उसके खंजर से वे बच गए और उनकी जगह दूसरा व्यक्ति मारा गया। (मो० अ० अं०)

अम्ल और क्षारक मोटे हिसाब से अम्ल (ऐसिड) उन पदार्थों को कहते हैं जो पानी में घुलने पर खट्टे स्वाद के होते हैं (अम्ल = खट्टा), हल्दी से बनी रोली (कुकुम) को पीला कर देते है, अधिकांश धातुओं पर (जैसे जस्ते पर) अभिक्रिया करके हाइड्रोजन गैस उत्पन्न करते है और क्षारक को उदासीन (न्यूट्रल) कर देते है। मोटे हिसाब से क्षारक (बेस) उन पदार्थों को कहते हैं जिनका विलयन चिकना चिकना सा लगता है (जैसे बाजारू सोडे का विलयन), स्वाद कड़ुआ होता है, हल्दी को लाल कर देते हैं और अम्लों को उदासीन करते है। उदासीन करने का अर्थ है ऐसे पदार्थ (लवण) का बनाना जिसमे न अम्ल के गुण होते हैं, न क्षारक के। वैज्ञानिक परिभाषाएँ आगे दी जायँगी।

लवाज़िए ने (१७७० ई० मे) आक्सिजन के गुणो का अध्ययन करते समय देखा कि कार्बन, गधक और फास्फोरस सदृश तत्व जब आक्सिजन मे जलते हैं तब उनसे बने आक्साइड जल के साथ मिलकर अम्ल बनाते है। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अम्लो मे आक्सिजन रहता है और अम्लो की अम्लीयता का कारण आक्सिजन है। इसी कारण इस गैस का नाम 'आक्सिजन' पडा, जिसका अर्थ होता है 'अम्ल बनानेवाला पदार्थ' तथा इसी कारण जर्मन भाषा मे आक्सिजन को 'सायर स्टफ' अर्थात् अम्ल पदार्थ कहते है।

लवाज़िए ने ही अम्लो को दो वर्गों, अकार्बनिक अम्लो और कार्बनिक अम्लो में विभक्त किया था। पीछे देखा गया कि कुछ तत्वो के आक्साइड पानी में घुलकर अम्ल नही बल्कि क्षार बनाते है और कुछ अम्लो मे आक्सिजन बिलकुल नही होता। बर्टोले ने सन् १७८७ मे हाइड्रोसाइएनिक अम्ल, डेवी ने सन् १८१०-११ मे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और सन् १८१३ मे हाइड्रियोडिक अम्ल का आविष्कार किया। इनमे से किसी मे आक्सिजन नही है।

आगे चलकर देखा गया है कि जो पदार्थ बिलकुल सूखे होते हैं, उनमे कोई अम्लीय अभिक्रिया नही होती। तब लोगो ने अम्लो को दो वर्गों मे विभक्त किया, एक हाइड्रो-अम्ल और दूसरा आक्सी-अम्ल। पीछे सन् १८१५ मे डेवी ने सुझाव रखा कि अम्लो की अम्लीयता आक्सिजन के कारण नही, वरन् हाइड्रोजन के कारण है। डूलाग ने सन् १८१५ मे आक्सैलिक अम्ल का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि आक्सिजनवाले और बिना आक्सिजनवाले अम्लो में कोई भेद नही है।

अम्लो मे कोई ऐसा गुण नही है जिसे हम अम्लो का विशिष्ट लक्षण कह सके। साधारण गुण ऊपर बताए जा चुके है। अम्ल और धातु की अभिक्रिया मे अम्ल के अणु का एक, या एक से अधिक, हाइड्रोजन परमाणु धातुओ, धातुओं के आक्साइडों, हाइड्राक्साइडो अथवा कार्बोनेटो से विस्थापित हो जाता है।

ऐसे भी कुछ अम्ल हैं जो खट्टे होने के बदले मीठे होते हैं। ऐसा एक अम्ल ऐमिडो-फास्फरिक अम्ल है। कुछ ऐसे भी अम्ल हैं जो क्षारहर नही होते। कुछ ऐसे भी क्षार है जिनका हाइड्रोजन धातुओ से विस्थापित हो जाता है। फिटकिरी अम्ल नही है। इसमे विस्थापित होनेवाला कोई हाइड्रोजन भी नही है। पर यह स्वाद में खट्टा और क्रिया मे क्षारहर होता है। यह नीले लिटमस को लाल भी करता है। इसी प्रकार सोडियम बाई-सल्फाइड खट्टा और क्षारहर होता है। यह नीले लिटमस को लाल करता है। इसमे विस्थापित होनेवाला हाइड्रोजन भी है, पर यह अम्ल नही है। मिथेन अम्ल नही है, पर इसका हाइड्रोजन जस्ते से विस्थापित हो जाता है और इस प्रकार जिंक डाइमेथिल बनता है जो लवण नही है।

अत अम्ल की कोई सतोषप्रद परिभाषा अब तक नहीं दी जा सकी है। आयन सिद्धात के आधार पर यदि हम अम्लो की परिभाषा देना चाहें तो कह सकते हैं कि अम्लो मे हाइड्रोजन आयनो का रहना अत्यावश्यक है।

सिलवियस ने सन् १६५६ मे पहले पहल अम्लो और क्षारको मे विभेद किया था। रूल ने सन् १७७४ मे क्षारक नाम उस पदार्थ को दिया जो अम्लो के साथ मिलकर लवण बनाता है। आजकल क्षारक उन आक्सिजन-वाले पदार्थों को कहते हैं जो अम्लो के पूरक होते हैं। क्षार धातुओ, क्षारीय-मृदा धातुओ और अन्य धातुओ के आक्साइड और वे सभी वस्तुएँ क्षारक हैं जो अम्लो के साथ मिलकर लवण बनाती हैं। आरंभ में क्षारक केवल उन धातुओं अथवा धातुओं के आक्साइडो के लिये व्यवहृत होता था जो लवणों के 'बेस' या आधार थे। लवणो के क्षारक आवश्यक अवयव हैं।

क्षारक वास्तव मे वे पदार्थ हैं जो अम्ल के साथ मिलकर लवण और जल बनाते है। उदाहरणत, जिक आक्साइड सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ मिलकर जिक सल्फेट और जल बनाता हैं। दाहक सोडा सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ मिलकर सोडियम सल्फेट और जल बनाता है। धातुओ के आक्साइड सामान्यत क्षारक है। पर इसके अपवाद भी है।

क्षारको मे धातुओ के आक्साइड और हाइड्राक्साइड है, पर सुविधा के लिये तत्वो के कुछ ऐसे समूह भी रखे गए है जो अम्लो के साथ मिलकर बिना जल बने ही लवण बनाते है। ऐसे क्षारको मे अमोनिया, हाइड्राक्सीलेमिन और फास्फीन है। द्रव अमोनिया घुल जाता है पर फीनोल्फथैलीन से कोई रग नही देता। अत. कहाँ तक यह क्षारक कहा जा सकता है, यह बात सदिग्ध है।

यद्यपि ऊपर की क्षारक की परिभाषा बडी असतोषप्रद है, तथापि इससे अच्छी परिभाषा नही दी जा सकी है। क्षारक (बेस) और क्षार (ऐल्कैली) पर्यायवाची शब्द नही है। सब क्षार क्षारक है पर सब क्षारक क्षार नही हैं। क्षार-धातुओ के आक्साइड, जैसे सोडियम आक्साइड, जल में घुलकर हाइड्राक्साइड बनाते हैं। ये प्रबल क्षारकीय होते है। क्षारीय मृदा-धातुओ के आक्साइड, जैसे कैल्सियम आक्साइड, जल मे अल्प विलेय और अल्प क्षारीय होते है। अन्य धातुओ के आक्साइड जल मे घुलते नही और उनके हाइड्राक्साइड परोक्ष रीतियो से ही बनाए जाते है।

धातुओ के आक्साइड और हाइड्राक्साइड क्षारक होते है। क्षार-धातुओ के आक्साइड जल मे शीघ्र घुल जाते है। कुछ धातुओं के आक्साइड जल मे कम विलेय होते हैं और कुछ धातुओ के आक्साइड जल मे तनिक भी विलेय नही है। कुछ अधातुओं के हाइड्राइड, जैसे नाइट्रोजन और फास्फरस के हाइड्राइड (क्रमश अमोनिया और फास्फीन) भी भस्म होते है। (फू० स० व०)

अम्लाट गार्गीसहिता के युगपुराणवाले स्कध मे एक शक आक्रमण का उल्लेख है जो मगध पर ल० ३५ ई० पू० मे हुआ था। इस आक्रमण का नेता शक अम्लाट था। अम्लाट सभवत शकराज अयस् (ल० ५८-११ ई० पू०) का प्रातीय शासक था और उत्तर पश्चिम के भारतीय सीमाप्रात से चलकर सीधा मगध तक जा पहुँचा। यह शक आक्रमण इतना प्रबल और भयानक था कि मगध को इसने अपूर्व सकट मे डाल दिया। युगपुराण मे लिखा है कि अम्लाट ने इतना नरसहार किया कि मगध मे रक्षा करने और हल चलाने के लिये एक पुरुष भी न बचा और हल आदि चलाने का कार्य भी स्त्रियाँ ही करने लगी, वही शासन भी करती थी। (ओ० ना० उ०)

अयथार्थ घट का पटरूप से अनुभव होना अयथार्थ कहलाएगा, क्योंकि घट मे जिस पटत्व का अनुभव हम कर रहे है, वह (पटत्व) उस पदार्थ (घट) में कभी विद्यमान नही रहता। फलत 'अतद्वति तत्प्रकारकोऽनुभव' अयथार्थ अनुभव का शास्त्रीय लक्षण है। न्यायशास्त्र मे यह तीन प्रकार का माना गया है (१) सशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क। एकधर्मी (धर्म से युक्त पदार्थ) मे जब अनेक विरुद्ध धर्मों का अवगाही ज्ञान होता है, तब वह सशय (या सदेह) कहलाता है। सामने खड़ा हुआ पदार्थ वृक्ष का स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष ? यह सशय है, क्योंकि एक ही धर्मी मे स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व जैसे दो विरुद्ध धर्मों का समभाव से ज्ञान होता है। विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते है, जैसे सीप (शुक्ति) मे चाँदी का ज्ञान। दोनो का रग सफेद होने से दर्शक को यह मिथ्या अनुभव होता है।

'तर्क' न्यायशास्त्र का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। अविज्ञात-स्वरूप वस्तु के तत्वज्ञान के लिये उपपादक प्रमाण का जो सहकारी ऊह (संभावना) होता है उसे ही 'तर्क' कहते है। प्राचीन न्यायशास्त्र में तर्क के ११ भेद माने जाते थे जिनमे से केवल पाँच भेद नव्य नैयायिको को मान्य हैं। उनके नाम है: (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था तथा (५) प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग। इनमे अतिम प्रकार ही विशेष प्रसिद्ध है जिसका दृष्टांत इस प्रकार होगा: कोई व्यक्ति पर्वत से

निकलनेवाली धूमशिखा को देखकर 'पर्वत वह्निमान् है'—यह प्रतिज्ञा करता है और तदनुकूल व्याप्ति भी स्थिर करता है—"जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है"। इसपर कोई प्रतिपक्षी व्याप्ति का विरोध करता है। अनुमानकर्ता इसके विरोध को स्वीकार कर उसमे दोष दिखलाता है। यदि पर्वत पर आग नही है तो, उसमे धूम भी नही होगा। परतु धूम तो स्पष्टत दिखाई देता है। अत. प्रतिपक्षी का पक्ष मान्य नही है। यहाँ वक्ता प्रथमत व्याप्य (वह्न्यभाव) की सत्ता पर्वत के ऊपर मानता है और इस आरोप से व्यापक (धूमाभाव) की सत्ता वहाँ सिद्ध करता है। ये दोनो मिथ्या होने के कारण 'आरोप' ही है। यहाँ प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान 'तर्क' कहलाएगा। (ब० उ०)

अयन आधे वर्ष तक सूर्य आकाश के उत्तर गोलार्ध मे रहता है, आधे वर्ष तक दक्षिण गोलार्ध मे। दक्षिण गोलार्ध मे उत्तर गोलार्ध मे जाते समय सूर्य का केद्र आकाश के जिस बिदु पर रहता है उसे वसतविषुव कहते हैं। यह बिंदु तारो के सापेक्ष स्थिर नही है, यह धीरे धीरे खिसकता रहता है। इस खिसकने को विषुव अयन या सक्षेप मे केवल अयन (प्रिसेशन) कहते है (अयन = चलना)। वसतविषुव से चलकर और एक चक्कर लगाकर जितने काल मे सूर्य फिर वही लौटता है उतने को एक सायन वर्ष कहते हैं। किसी तारे से चलकर सूर्य के वहीं लौटने को नाक्षत्र वर्ष कहते हैं। यदि विषुव चलता न होता तो सायन और नाक्षत्र वर्ष बराबर होते। अयन के कारण दोनो वर्षों मे कुछ मिनटो का अतर पडता है। आधुनिक नापो के अनुसार औसत नाक्षत्र वर्ष का मान ३६५ दिन, ६ घटा, ९ मिनट, ९.६ सेकड के लगभग और औसत सायन वर्ष का मान ३६५ दिन, ५ घटा, ४८ मिनट, ४६.०५४ सेकड के लगभग है। सायन वर्ष के अनुसार ही व्यावहारिक वर्ष रखना चाहिए, अन्यथा वर्ष का आरभ सदा एक ऋतु मे न पडेगा। हिंदुओ मे जो वर्ष अभी तक प्रचलित था वह सायन वर्ष से कुछ मिनट बडा था। इसलिये वर्ष का आरभ आगे की ओर खिसकता जा रहा था। उदाहरणत पिछले ढाई हजार वर्षों मे २१ या २२ दिन का अतर पड गया है। ठीक ठीक बताना सभव नही है, क्योकि सूर्य-सिद्धांत, ब्रह्मसिद्धात, आर्यभटीय इत्यादि मे वर्षमान थोडा बहुत भिन्न है। यदि हम लोग दो चार हजार वर्षों तक पुराने वर्षमान का ही प्रयोग करे तो सावन भादो के महीने उस ऋतु मे पडेगे जब कडाके का जाडा पडता रहेगा। इसीलिये भारत सरकार ने अब अपने राष्ट्रीय पचाग मे ३६५.२४२२ दिनो का सायन वर्ष अपनाया है।

अयन का एक परिणाम यह होता है कि आकाशीय ध्रुव, अर्थात् आकाश का वह बिदु जो पृथ्वी के अक्ष की सीध मे है, तारो के बीच चलता रहता है। वह एक चक्कर लगभग २६,००० वर्षों मे लगाता है। जब कभी उत्तर आकाशीय ध्रुव किसी चमकीले तारे के पास आ जाता है तो वह तारा पृथ्वी के उत्तर गोलार्ध मे ध्रुवतारा कहलाने लगता है। इस समय उत्तर आकाशीय ध्रुव प्रथम लघु सप्तर्षि (ऐल्फा अरसी मैजोरिस) के पास है। इसीलिये इस तारे को हम ध्रुवतारा कहते है। अभी आकाशीय ध्रुव ध्रुवतारे के पास जा रहा है, इसलिये अभी सैकडो वर्षों तक पूर्वोक्त तारा ध्रुवतारा कहला सकेगा। लगभग ५,००० वर्ष पहले प्रथम कालिय (ऐल्फा ड्रैकोनिस) नामक तारा ध्रुवतारा कहलाने योग्य था। बीच मे कोई तारा ऐसा नही था जो ध्रुवतारा कहलाता। आज से १५,००० वर्ष पहले अभिजित (वेगा) नामक तारा ध्रुवतारा था। हमारे गृह्य सूत्रो मे विवाह के अवसर पर ध्रुवदर्शन करने का आदेश है। प्रत्यक्ष है कि उस समय कोई न कोई ध्रुवतारा अवश्य था। इससे अनुमान किया गया है कि यह प्रथा आज से लगभग ५,००० वर्ष पहले चली होगी।

शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है कि कृत्तिकाएँ पूर्व मे उदय होती हैं। इससे शतपथ लगभग ३,००० ई० पू० का ग्रथ जान पडता है, क्योकि अयन के कारण कृत्तिकाएँ उसके पहले और बाद मे पूर्व मे नही उदय होती थी।

अयन का कारण—लट्टू को नचाकर भूमि पर इस प्रकार रख देने से कि लट्टू का अक्ष खडा न रहकर कुछ तिरछा रहे, लट्टू का अक्ष धीरे-धीरे मँडराता रहता है और वह एक शकु (क.न) परिलिखित करता है। ठीक इसी तरह पृथ्वी का अक्ष एक शकु परिलिखित करता है जिसका अर्ध शीर्षकोण लगभग २३½° होता है। कारण यह है कि पृथ्वी ठीक ठीक गोलाकार नही है। भूमध्य पर व्यास अधिक है। मोटे हिसाब से हम यह मान सकते हैं कि केद्रीय भाग शुद्ध रूप से गोलाकार है और उसके बाहर निकला भाग भूमध्यरेखा पर चिपका हुआ एक वलय है। सूर्य सदा रविमार्ग के समतल मे रहकर पृथ्वी को आकर्षित करता है। यह आकर्षण पृथ्वी के केद्र से होकर नही जाता, क्योकि पूर्वकल्पित वलय का एक खड अपेक्षाकृत सूर्य के कुछ निकट रहता है, दूसरा कुछ दूर (द्र० चित्र)। निकटस्थ भाग पर आकर्षण अधिक पडता है, दूरस्थ पर कम। इसलिये इन आकर्षणो की यह प्रवृत्ति होती है कि पृथ्वी को घुमाकर उसके अक्ष को रविमार्ग के धरातल पर लब कर दे। यह घूर्णनज बल पृथ्वी के अपने अक्षके परित घूर्णन के साथ सश्लिष्ट (कॉम्बाइन) किया जाता है तो परिणामी घूर्णन अक्ष की दिशा निकलती है जो पृथ्वी के अक्ष की पुरानी दिशा से जरा
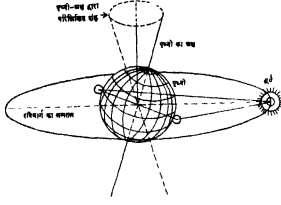
अयन का कारण

पृथ्वी की मध्यरेखा के फूले द्रव्य पर सूर्य के असम आकर्षण से पृथ्वी का अक्ष एक शकु परिलिखित करता है।

सी भिन्न होती है, अर्थात् पृथ्वी का अक्ष अपनी पुरानी स्थिति से इस नवीन स्थिति मे आ जाता है। दूसरे शब्दों मे, पृथ्वी का अक्ष घूमता रहता है। अक्ष के इस प्रकार घूमने मे चद्रमा भी सहायता करता है। वस्तुत चद्रमा का प्रभाव सूर्य की अपेक्षा दूना पडता है। सूक्ष्म गणना करने पर सब बाते ठीक वही निकलती है जो वेध द्वारा देखी जाती हैं।

चद्रमार्ग का समतल रविमार्ग के समतल से ५° का कोण बनाता है। इस कारण चद्रमा पृथ्वी को कभी रविमार्ग के ऊपर से खीचता है, कभी नीचे से। फलत., भूमध्यरेखा तथा रविमार्ग के धरातलो के बीच का कोण भी थोडा बहुत बदलता रहता है जिसे विदोलन (न्यूटेशन) कहते है। पृथ्वीअक्ष के चलने से वसत और शरद् विषुव दोनो चलते रहते हैं।

ऊपर बताए गए अयन को चाद्र-सौर-अयन (लूनि-सोलर प्रिसेशन) कहते है। इसमे भूमध्य का धरातल बदलता रहता है। परन्तु ग्रहो के आकर्षण के कारण स्वय रविमार्ग थोडा विचलित होता है। इससे भी विषुव की स्थिति मे अतर पड़ता है। इसे ग्रहीय अयन (प्लैनेटरी प्रिसेशन) कहते है।

सं०ग्रं०—न्यूकॉम्ब . स्फेरिकल ऐस्ट्रॉनोमी, गोरखप्रसाद · स्फेरिकल ऐस्ट्रॉनोमी। (गो० प्र०)

अयस्कनिक्षेप भूमि से खोदकर निकाले गए अजैव पदार्थ को खनिज (मिनरल) कहते है, विशेषकर जब उसकी विशेष रासायनिक सरचना हो और नियमित गुण हो। यदि किसी खनिज से कोई धातु निकल सकती है तो उसे अयस्क (अग्रेजी मे ओर) कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से तो प्राय सभी पदार्थों मे कोई धातु पर्याप्त मात्रा मे अथवा नाम मात्र रहती है ही, जैसे नमक मे सोडियम धातु है, या समुद्र के जल मे सोना, परतु अयस्क कहलाने के लिये साधारणत यह आवश्यक है कि (१) उस पदार्थ मे कोई धातु अवश्य हो, (२) पदार्थ प्राकृतिक वस्तु हो और (३) उससे धातु निकलने मे

इतना व्यय न पड़े कि वह धातु आर्थिक दृष्टि से महँगी पड़े। अयस्क के ढेर को अयस्कनिक्षेप कहते हैं।

२०वीं शताब्दी के पहले अयस्कों को उनकी प्रमुख धातु के अनुसार नाम दिया जाता था, जैसे लोहे का अयस्क, सोने का अयस्क, इत्यादि। परंतु बहुत से अयस्कों में एक से अधिक धातुएँ रहती हैं। फिर, यदि किसी अयस्क में कोई बहुमूल्य धातु निकाली जाय तो इस निकालने की क्रिया में थोड़ा काम बढ़ाने से बहुधा अन्य कोई धातु भी पृथक् की जा सकती है और इस अतिरिक्त कार्य में नाम मात्र ही लागत लग सकती है। इस प्रकार यद्यपि अयस्क का नाम मूल्यवान् धातु के नाम पर रखा जाता था, तो भी वह दूसरी सस्ती धातु के लिये बहुमूल्य स्रोत हो जाता था।

इन सब झंझटों से बचने के लिये धीरे धीरे अयस्कों की उत्पत्ति के अनुसार उनका नाम पड़ने लगा। उनकी रासायनिक उत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है (द्र० **खनिज निर्माण**), परंतु उत्पत्ति की भौतिक दशाएँ भी बड़ी विभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, धातुवाले कई अयस्क पृथ्वी की अधिक गहराई से निकले, पहाड़ों की दरारों में से ऊपर उठे, पिघले पदार्थ है, अथवा प्राचीन काल के पिघले पत्थरों में से पिघला अयस्क उसी प्रकार अलग हो गया जैसे तेल पानी से अलग होता है, और तब दोनों जम गए। प्लैटिनम, क्रोमियम और निकेल के सल्फाइड तथा ऑक्साइड अधिकतर इसी प्रकार बने जान पड़ते हैं। कुछ अयस्क तह पर तह जमे हुए रूप में मिलते हैं, जैसे पूर्वी ब्रिटेन तथा भारत के लोहे के अयस्क। अवश्य ही ये गरमी, सरदी से धरातल की चट्टानों के चूर होने पर बने होंगे, यह चूर वर्षा में बहकर समुद्र में पहुँचा होगा और वहाँ तह पर तह जम गया होगा, या थालों के सूखने पर परत पर परत निक्षिप्त हुआ होगा। ट्रावनकोर के टाइटेनियमवाले अयस्क और अफ्रीका के स्वर्णनिक्षेप इन धातुओं या पदार्थों के ज्यों के त्यों बहकर पहुँचने से उत्पन्न हुए हैं। पिघलने से बने अयस्कों की उत्पत्ति में ताप (तापक्रम) का विशेष प्रभाव पड़ता है। सभी बातों पर विचार कर अयस्कों का वर्गीकरण किया जा रहा है, परंतु अभी वैज्ञानिक इस विषय में एकमत नहीं हो सके हैं।

अयस्कनिक्षेपों की खोज—अयस्कों की खोज तीन प्रकार से की जाती है: भूवैज्ञानिक, भूभौतिक तथा भूरासायनिक। भूवैज्ञानिक रीति में देश के भूविज्ञान (जिऑलोजी) पर ध्यान रखा जाता है और उससे यह परिणाम निकाला जाता है कि किस प्रकार के शैलों में कैसे अयस्क हो सकते हैं। भूभौतिकी (जिओफिज़िक्स) में नित्य नई रीतियाँ निकल रही हैं जो अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो रही हैं। दिक्सूचक और चुंबकीय नतिसूचक का तो सैकड़ों वर्षों से उपयोग होता रहा है, अब ऐसा चुंबकत्वमापी बना है जो हवाई जहाज पर से काम कर सकता है। इनसे लोहे तथा कुछ अन्य धातुओं के अयस्कों का पता चलता है। जब अयस्क और ऑक्सिजन का संयोजन होता है तो बिजली उत्पन्न होती है जिसे नापकर अयस्क के महत्व का पता लगाया जाता है। विद्युच्चालकता नापने से भी अयस्क का पता चलता है, क्योंकि अयस्कों की चालकता अधिक होती है। स्थानीय गुरुत्वाकर्षण के न्यूनाधिक होने से भी अयस्क का पता चलता है, क्योंकि अयस्क बहुधा भारी होते हैं। गाइगर गणक (गाइगर काउंटर) से यूरेनियम का पता चलता है और अँधेरे में चमकने के गुण से टंग्स्टन आदि का। भूकंपमापी यंत्रों द्वारा भी अयस्कों की खोज में सहायता मिलती है।

शैल, मिट्टी, उस मिट्टी में उगनेवाले पौधों और उस प्रदेश में बहनेवाले स्रोतों के पानी के रासायनिक विश्लेषण से भी अयस्कों का पता लगाया जाता है।

पूर्वोक्त रीतियों से जब अयस्क का पता मोटे हिसाब से चल जाता है तब इस्पात, टंग्स्टन कारबाइड या हीरे के बरमे से बहुत गहरा छेद करके, या कुआँ खोदकर, या काफी दूरी तक इधर उधर खोदकर, देखा जाता है कि कैसा अयस्क है, कितना है और लाभ के साथ उससे धातु निकाली जा सकती है, या नहीं।

सं०ग्रं०—एच० ई० मैकिस्ट्री : माइनिंग जिऑलोजी (न्यूयार्क, १९४८), ए० एम० बेटमैन : इकानोमिक मिनरल डिपाज़िट्स (न्यूयार्क, १९५०)। (वि० सा० द्वु०)

अयस्क प्रसाधन अधिकांश खनिज जिनसे धातु निस्सारित की जाती है, रासायनिक यौगिक, जैसे ऑक्साइड, सल्फाइड, कारबोनेट, सल्फेट और सिलिकेट के रूप में होते हैं। खनिज में मिश्रित अनुपयोगी पदार्थ को "विधातु" (गैंग) कहते हैं। इस खनिज को जिसमें धातु की
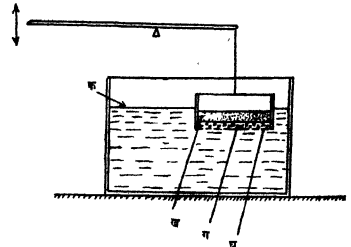
चित्र १—हस्तचालित जिग

इसमें हलके और भारी पदार्थ अलग किए जाते हैं, क जल की सतह, ख हलका पदार्थ, ग भारी पदार्थ, घ चलनी।

मात्रा लाभदायक होती है "अयस्क" (ओर) कहते हैं। खनिज से धातुनिस्सार के पूर्व अनेक क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं जिन्हें सामूहिक रूप से अयस्क प्रसाधन (ओर ड्रेसिंग) कहते हैं। इसके द्वारा अयस्क में धातु की
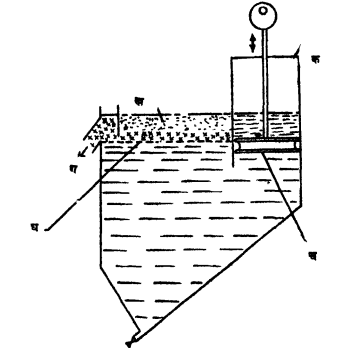
चित्र २—हार्ज जिग

इस मशीन से हलके और भारी पदार्थ अलग किए जाते हैं। क जल अंदर जाने का स्थान, ख हलके द्रव्य, ग भारी द्रव्य, घ. चलनी, च विचालक (पानी को हिलानेवाला)।

मात्रा का समृद्धीकरण करते हैं। इसमें दलना, पीसना और सांद्रण की क्रियाएँ सम्मिलित हैं। अयस्क का समृद्धीकरण उसमें निहित धातुओं के

भिन्न भिन्न भौतिक गुणों, जैसे रग और द्युति, आपेक्षित घनत्व, तलऊर्जा (सर्फेस एनर्जी), अभिवेध्यता (पर्मिएबिलिटी) और विद्युच्चालकता, की सहायता से किया जाता है।

हाथ से चुनना—अयस्क की भिन्न भिन्न इकाइयों को उनके रग या द्युति की सहायता से चुन लेते हैं। इस क्रिया द्वारा अयस्क के वे टुकडे पृथक् हो जाते है जो तत्क्षण धातुकर्म के योग्य होते है, उदाहरणार्थ गेलीना और कैलको-पाइराइट में से भिन्न खनिज इसी रीति से अलग किए जाते है।

गुरुत्व सांद्रण—यह क्रिया सल्फाइट रहित अयस्को, जैसे केसिटेराइट, क्रोमाइट और वूलफ्रेमाइट के लिये व्यवहार मे लाई जाती है। यह क्रिया खनिजो और विधातुओ के आपेक्षिक घनत्वो मे अतर होने के फलस्वरूप
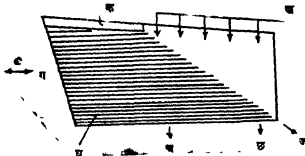
चित्र ३—हलके और भारी पदार्थों को अलग करने की मेज
क पदार्थ को डालने का स्थान, ख धोने का पानी, ग सिरे की गति, घ पट्टियो से बनी नाली, च हलका पदार्थ, छ. मध्यम पदार्थ,, ज भारी पदार्थ।

कार्यान्वित होती है। पात्रधावन (पैनिंग) गुरुत्वसाद्रण की सबसे सरल विधि है। इसमें चूर्ण को पानी मे झकझोरकर निथरने दिया जाता है। इस प्रकार स्थूल, हलके कणों से बहुमूल्य धातु के भारी कण अलग हो जाते हैं। यह रीति अब भी जलोढ मिट्टी (अलूवियम) से सोने के कण निकालने के काम मे लाई जाती है। जिगिग वस्तुत स्तरण (स्ट्रैटिफिकेशन) की एक विधि है जिससे क्रमानुसार ऊपर नीचे शीघ्र चलते पानी मे कणो को उनके आपेक्षिक घनत्वानुसार विस्तृत किया जाता हैं। पुराने जिग पृथक्कारक हस्तचालित होते थे (चित्र १)। इस साधारण जिग-

चित्र ४—स्थैतिक विद्युत् से पृथक्करण
१. विद्युच्चुबक, २ गिरता हुआ अयस्क, ३ चुबकीय अयस्क; ४ अचुबकीय अयस्क।
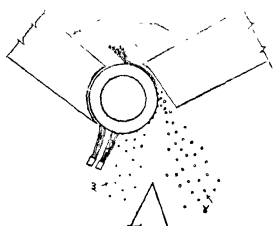
पृथक्कारक के विकास से दूसरे यात्रिक पृथक्कारक बने है जो या तो चलायमान चलनीयुक्त होते है जिसमे अयस्क पानी मे डुबाया जाता है या स्थिर चलनीयुक्त (चित्र २), जिसमे पानी डुलता है और अयस्क चलनी मे रखा रहता है। टेब्लिग पदार्थों को आपेक्षिक घनत्वानुसार पृथक् करने की उत्तम विधि है। यह विधि सूक्ष्म पदार्थों के लिये उपयोगी है। इसमे पदार्थ के बहुत गाढे घोल का निरंतर मथन होता रहता है और ऊपर से पानी बहता रहता है, जिसमे हल्के कण पानी मे मिलकर बह जाते है तथा भारी कण कुछ दूर पर एकत्र हो जाते है। विल्फले टेबुल (चित्र ३) मे पदार्थ एक ऐसे टेबुल पर रखा जाता है जो एक ओर चाडा और दूसरी ओर सँकरा रहता है और जो एक छोर से दूसरे छोर की ओर झुका रहता है। ऊँचे सिरे की ओर अयस्क का गाढा घोल झिरीदार बक्स से गिराया जाता है। मशीन से मेज का इधरवाला सिरा झटके से ऊपर नीचे चलता रहता है। मेज पर पट्टियाँ जडी रहती है। झटका लगने पर और मेज के ढालू रहने के कारण भारी माल रुक रुककर आगे बढता है और अत
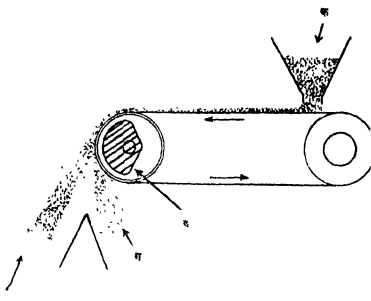
चित्र ५—चुबकीय पृथक्करण
क अयस्क से भरा बर्तन, ख चुबक, ग. लौह चुंबकीय अयस्क, घ अयस्क का अचुबकीय भाग।

मे एक बडे बरतन मे एकत्रित हो जाता है। ऊपर से बहे पानी को एक बार फिर नए अयस्क पर छोडते है। इस प्रकार बचा खुचा माल भी निकल आता है।

चुबकीय पृथक्करण—जब खनिज का एक अंश लौहचुबकीय होता है और प्राय पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकता है, तो विद्युच्चुबकीय पृथक्करण की रीति प्रयुक्त की जाती है। इस विधि की उपयोगिता मुख्यत मैगनेटाइट समृद्धीकरण मे और समुद्ररेण के रुटाइल से इल्मेनाइट पृथक् करने मे है। इन पृथक्कारको का सरल सिद्धात चित्र ४ और ५ मे दिखाया गया है। चुबकीय क्षेत्र को प्रबल या दुर्बल बनाकर चुबकीय पदार्थ को अचुबकीय से या मद चुबकीय को प्रबल चुबकीय पदार्थ से पृथक् किया जा सकता है।

स्थैतिक विद्युत् (इलेक्ट्रोस्टैटिक) पृथक्करण—किसी खनिज का पारद्युतिक (डाइ-इलेक्ट्रिक) स्थिराक उसकी किसी सतह के वैद्युत् आवेश के विसर्जन की दर को नियंत्रित करता है और यही स्थैतिक विद्युत् पृथक्करण का मूल सिद्धात है। इस विधि मे खनिज के कण उच्च विभव के समीप भेजे जाते है, जिससे खनिज के विभिन्न अवयव भिन्न भिन्न मात्रा मे अपने मार्ग से विचलित होते है और इस प्रकार भिन्न भिन्न स्थानो पर गिरते है। आजकल समुद्ररेण से उच्च कोटि का रुटाइल नामक खनिज प्राप्त करने मे चुबकीय और स्थैतिक विद्युत् दोनो विधियों के सहयोग से काम होता है।

प्लवन (फ्लोटेशन)—अयस्कप्रसाधन के इतिहास मे प्लवनपद्धति का प्रारभ एक स्वर्णिम अवसर था, क्योंकि इस पद्धति मे करोड़ो टन निम्न

श्रेणी के और मिश्र अयस्को को, जिनके प्रसाधन के लिये गुरुत्वाकर्षण रीतियाँ अनुपयुक्त थीं, प्रसाधन योग्य बना दिया है। अयस्क के उत्प्लवन (उतराने) का कारण यह है कि ऊपर उठा फेन विशेष खनिजों को लेकर ऊपर उठता है और शेष पदार्थ नीचे बैठे रह जाते हैं। इस रीति मे खनिज की पृष्ठतलीय शक्तियो का उपयोग किया जाता है। साधारणत धातु की तरह चमकनेवाले खनिज (विशेषत सल्फाइड) भीगते नही, और इसलिये तैरते रहते है, जब कि अधातु द्युतिवाले खनिज फेन मे नही फँसते और डूब जाते है। उपयुक्त रासायनिक पदार्थों के घोलो के प्रयोग से खनिजो के विभिन्न अवयवो की उत्प्लाविता मे इस प्रकार अतर डाला जा सकता है कि एक अवयव दूसरे की अपेक्षा शीघ्र प्लविन हो सके (तैरने लगे) या एक के प्लवित होने के बाद दूसरा प्लविन हो और तीसरा नीचे ही बैठा रह जाय।

विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों का उनके कार्य के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है, जैसे फेनक (फ्रॉथर्स), एकत्रक (कलेक्टर्स), प्रावसादक (डिप्रेसैंट्स), कर्मण्यक (ऐक्टिवेटर्स) और नियामक (रेगुलेटर्स)।

फेनक खनिज मे मिश्रित जल का तल तनाव (सर्फेस टेंशन) घटा देते है और खनिज के प्लवन के लिये फेन बनाने योग्य वायु के बुलबुलो का स्थायीकरण कर देते है। पाइन का तेल और क्रेसिलिक अम्ल साधारण फेनक हैं।

एकत्रक खनिज को जलप्रत्यपसारी (रिपेलेंट) बनाकर उत्प्लवन बढा देते हैं। सल्फाइड खनिजो के लिये डाइ-थायो-कार्बोनेट (जैंथेट्स) और डाइ-थायो-फास्फेट्स (एयरोफ्लोट्स) साधारण एकत्रक है।

प्रावसादक एकत्रको के प्रभाव को रोकने का कार्य करते है। ताम्र-लौह-सल्फाइड अयस्को मे चूने के सयोजन से लौह अयस्क डूब जाता है और ताम्र अयस्क (कैल्कोपाइराइट) तैरता रहता है।

कर्मण्यक का कार्य प्रावसादक के विपरीत होता है। वे उन खनिजो को उत्प्लवित करते हैं जिनका उत्प्लवन या तो अस्थायी रूप से दबा दिया गया हो, या जो बिना कर्मण्यक की सहायता के उत्प्लवित न हो। उदाहरणार्थ, सायानाइड से यदि जिंक सल्फाइड का अवसाद कर दिया गया हो जिससे वह डूबने लगे, तो कापर सल्फेट के प्रयोग से उसे फिर तैरने योग्य बना सकते है।

चित्र ६—उत्प्लावक
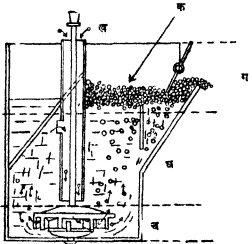
अयस्क को पानी मे पीसकर और उचित रासायनिक पदार्थ मिलाकर इस मशीन की टकी घ मे डाल दिया जाता है। चर्खी च में नली ख से हवा आती रहती है। चरखी के नाचने से बहुत फेन (क) उठता है जिसे एक घूमती हुई पटरी काछ-कर मुंह ग से बाहर निकाल देती है।

नियामक क्षारीयता और अम्लीयता अर्थात् अयस्क के पी० एच० में परिवर्तन कर देते हैं जिससे उत्प्लवन के प्रतिकर्मको के कार्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। व्यवहार मे उत्प्लवन प्रतिकर्मक बहुत थोडे परिमाण में उपयोग किए जाते हैं, जैसे प्रति टन अयस्क मे फेनक तथा एकत्रक ०.०३ से ०.२ पाउड तक और प्रावसादक तथा कर्मण्यक ०.३ से १ पाउंड तक प्रयुक्त किए जाते है। ये सब रासायनिक पदार्थ उत्प्लवनवाले बर्तनो मे ही साधारणत उत्प्लवन के समय या थोड़ा पहले डाले जाते है। कुछ पदार्थों को अपना काम करने मे पर्याप्त समय लगता है। इसलिये ऐसे पदार्थों को अलग टैंक मे खनिज और पानी के साथ मिलाकर नियत समय तक छोड़ देते है।

संक्षेप मे, उत्प्लवन की क्रिया मे पानी के साथ पिसे अयस्क को, विशेष रूप से इसी काम के लिये बनी मशीन मे, वायु के साथ फेंटते है (चित्र ६)। पिसे अयस्क के उचित रासायनिक पदार्थों के साथ मिलने के पश्चात् मिश्रण उत्प्लवनकोष्ठो मे जाता है और वहाँ घूमती हुई चरखी पर गिरता है। चरखी की धुरी को चारो ओर से घेरे हुए एक नली रहती है जिसमें से हवा आती रहती है। इसमें बहुत फेन बनता है और वाछित खनिज फेन मे लिपटकर ऊपर उठ आता है (चित्र ६)। इस फेन को घूमती हुई पटरियाँ काछ लेती है। तब इस खनिजमय फेन को गाढा किया जाता है और छानकर पानी मे अलग कर लिया जाता है। खनिजरहित अवशेष उत्प्लवनकक्ष के नीचे बने एक छेद मे बहा दिया जाता है।

चाँदी और सोना के अतिरिक्त अन्य धातुओ के खनिजो को आजकल अधिकतर उत्प्लवन की रीति से ही अलग किया जाता है। चयनमय उत्प्लवन (सिलेक्टिव फ्लोटेशन) द्वारा, जिसमे उचित प्रावसादको और कर्मण्यको का प्रयोग किया जाता है, सीसा, जस्ता और ताँबा के मिश्रित खनिजो से इन तीनो को बडी सफलता से अलग अलग किया जाता है। सोडियम सल्फाइड को कर्मण्यक की तरह प्रयोग करके सीसे के आक्सि-जनमय खनिजो को दिन पर दिन अधिक मात्रा मे उत्प्लवन विधि से निकाला जाता है, क्योंकि इस प्रकार खनिज पर सल्फाइड की पतली परत जम जाती है और खनिज ऊपर उतराने लगता है। (यू० वा० भ०)

अयस्ककांत मणि

द्र० 'चुबकत्व'।

अयोध्या

भारतवर्ष का एक अति प्राचीन नगर है जो घाघरा (सरयू) नदी के दाहिने किनारे पर उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले मे २६° ४८' उ० अ० तथा ८२°१२' पू० दे० रेखाओ पर स्थित है। इसका महत्व इसके प्राचीन इतिहास मे ही निहित है क्योकि भारत के प्रसिद्ध एव प्रतापी क्षत्रियो (सूर्यवशी) की राजधानी यही नगर रहा है। उक्त क्षत्रियो मे दाशरथी रामचद्र अवतार के रूप मे पूजे जाते है। पहले यह कोसल जनपद की राजधानी था। प्राचीन उल्लेखो के अनुसार तब इसका क्षेत्रफल ९६ वर्ग मील था। यहाँ पर सातवी शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनत्साग आया था। उसके अनुसार यहाँ २० बौद्ध मंदिर थे तथा ३,००० भिक्षु रहते थे। इस प्राचीन नगर के अवशेष अब खडहर के रूप मे रह गए है जिसमे कही कही कुछ अच्छे मदिर भी है। वर्तमान अयोध्या के प्राचीन मदिरो मे सीतारसोई तथा हनुमानगढी मुख्य है। कुछ मदिर १८वी तथा १९वी शताब्दी मे बने जिनमें कनकभवन, नागेश्वरनाथ तथा दर्शनसिंह-मदिर दर्शनीय है। कुछ जैन मदिर भी है। यहाँ पर वर्ष मे तीन मेले लगते हैं—मार्च-अप्रैल, जुलाई-अगस्त तथा अक्टूबर-नवबर के महीनो मे। इन अवसरो पर यहाँ लाखो यात्री आते है। अब यह एक तीर्थ-स्थान के रूप मे ही रह गया है। इसका प्रशासन फैजाबाद नगरपालिका से होता है। (न० ला०)

अरकट

(आर्काड्) तमिलनाडु के एक नगर और दो जिलो का नाम है। इन जिलो मे से एक उत्तर अरकट और एक दक्षिण अरकट कहलाता है। अरकट नगर उत्तर अरकट का प्रधान नगर है। अग्रेजो की विजय के पहले यह नगर बहुत समृद्धिशाली था, परतु अब यहाँ कुछ मसजिदो, मकबरो और किलो के खँडहर ही रह गए है। क्लाइव का नाम अरकट की विजय और रक्षा से हुआ। १८वी शताब्दी मे कर्नाटक की गद्दी के लिये मुहम्मद अली और फ्रासीसियो की सहायता से चाँदा साहब अग्रेजो से लड़ रहे थे। चाँदा साहब को परेशान करने के लिये क्लाइव ने अरकट पर चढाई कर दी और सफलता से उसे जीत लिया। तब चाँदा

साहब को १०,००० सिपाहियों की सेना अरकट भेजनी पड़ी और इस प्रकार त्रिचनापल्ली में घिरे हुए अंग्रेजों की विपत्ति कम हुई।

अरकट फिर क्रमानुसार फ्रांसीसियों, अंग्रेजों और हैदरअली के हाथ में गया, परंतु अंत में १८०१ में अंग्रेजों के अधीन हो गया। तब से भारत की स्वतंत्रता तक वह ब्रिटिश अधिकार में ही रहा।

उत्तर अरकट जिले के उत्तर में चित्तूर, पूर्व में चिंगलपट, दक्षिण में दक्षिण अरकट तथा सलेम और पश्चिम में मैसूर राज्य है। इसका क्षेत्रफल १२,२६५ वर्ग कि० मी० है और जनसंख्या ३७,३८,२७३ (१९७१)। भूमि अधिकतर सपाट है, परंतु पश्चिम की ओर पहाड़ी है। इस भाग की जलवायु शीतल है। समुद्रतल से इधर की ऊँचाई लगभग २,००० फुट है। अधिक भागों में भूमि पथरीली है और खेती बारी नहीं हो पाती, परंतु घाटियाँ बहुत उपजाऊ हैं। वेलोर इस जिले का मुख्य नगर है और तिरुपति प्रसिद्ध तीर्थस्थान है।

दक्षिण अरकट के उत्तर में उत्तर अरकट और चेंगलपट्टु है, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पांडीचेरी जिला, दक्षिण में तंजोर तथा त्रिचनापली जिले और पश्चिम में सलेम जिला। क्षेत्रफल १०,८९८ वर्ग कि० मी० है और जनसंख्या ३६,०६,६६१ (१९७१)। समुद्र की ओर भूमि रेतीली और नीची है, परंतु पश्चिम की ओर देश पहाड़ी है और कहीं कहीं ऊँचाई ५,००० फुट तक पहुँच जाती है। प्रधान नदी कोलरून है, तीन अन्य छोटी नदियाँ भी हैं। इस जिले में कड्डालोर एक छोटा बंदरगाह है।

दोनों जिलों में चावल, ज्वार आदि और मूँगफली की खेती होती है।
(नृ० कु० सिं०)

अरक्कोणम् तमिलनाडु के उत्तर आर्काडु जिले में इसी नाम के तालुके का प्रमुख केंद्र है (स्थिति १३° ५' उ० अ० एवं ७९° ४०' पू० दे०)। रेलवे जंकशन होने के कारण यह नगर तीव्र गति से उन्नति कर गया है। यह मद्रास रेलवे की उत्तर पश्चिमी एवं दक्षिण पश्चिमी लाइनों का केंद्र तथा दक्षिणी रेलवे की प्रमुख लाइन के चेंगलपट्टु नामक स्थान से निकलनेवाले शाखा-रेल-मार्ग का अंतिम स्थान भी है। १९०१ ई० में इसकी जनसंख्या ५,३१३ थी, जिसमें अधिकांश रेलवे कर्मचारी थे। १९४१ ई० में यह १५,४८४ थी, जो सन् १९५१ तक के दशक में बढ़कर २३,०३२ हो गई। इसमें लगभग २५% लोग यातायात के धंधे में लगे थे। नगर का प्रशासन पंचायत द्वारा होता है।
(का० ना० सिं०)

अरगोल अंगूर से शराब किण्वन द्वारा बनाते समय पीपों के चारों ओर जो कठोर तह जम जाती है उसे अरगोल या टार्टार कहते हैं। यह मुख्यतः पोटैसियम हाइड्रोजन टार्टरेट होता है। अरगोल, टार्टरिक अम्ल बनाने के काम आता है।
(नि० सिं०)

अरण्यतुलसी का पौधा ऊँचाई में आठ फुट तक, सीधा और डालियों से भरा होता है। छाल खाकी, पत्ते चार इंच तक लंबे और दोनों ओर चिकने होते हैं। यह बंगाल, नेपाल, आसाम की पहाड़ियों, पूर्वी नेपाल और सिंध में मिलता है। यह श्वेत (ग्रैवम) और काला (ग्रैटिसिमम) दो प्रकार का होता है। इसके पत्तों को हाथ से मलने पर तेज सुगंध निकलती है।

आयुर्वेद में इसके पत्तों को वात, कफ, नेत्ररोग, वमन, मूर्छा अग्निविसर्प (एरिसिपलस), प्रदाह (जलन) और पथरी रोग में लाभदायक कहा गया है। ये पत्ते सुखपूर्वक प्रसव करानेवाले तथा हृदय को भी हितकारक माने गए हैं।

इन्हें पेट के फूलने को दूर करनेवाला, उत्तेजक, शांतिदायक तथा मूत्रनिस्सारक समझा जाता है।

रासायनिक विश्लेषण से इनमें थायमोल, यूगेनल तथा एक अन्य उड़नशील (एसेंशियल) तेल मिले हैं।
(भ० दा० व०)

अरण्यानी ऋग्वेद की वनदेवी। यह समस्त जगत् की कल्याणकारिणी है। इसे मधुर गंध से सुरभित कहा गया है। यह समस्त वन्य जगत् की धात्री है (मृगाणां मातरम्)। बिना उपजाए ही प्राणियों के लिये आहार उत्पन्न करनेवाली है। ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त (१०,१४६) उसकी स्तुति में कहा गया है।
(ओ० ना० उ०)

अरब एशिया के दक्षिण पश्चिम में एक प्रायद्वीपीय पठार है, जो १२° उ० अ० से ३२° उ० अ० तक तथा ३५° पू० दे० से ६६° पू० दे० तक फैला है। इसकी औसत चौड़ाई ७०० मील तथा लंबाई १,२०० मील है। क्षेत्रफल १०,००,००० वर्गमील। इसके पश्चिम में लालसागर, दक्षिण में अरबसागर एवं अदन की खाड़ी, पूर्व में ओमान एवं फारस की खाड़ियाँ तथा उत्तर में जॉर्डन एवं इराक के मरुस्थल हैं। इसका लालसागरीय तट अकाबा की खाड़ी से अदन तक फैला है और १,६०० मील लंबा है। दक्षिण में इसके तट की लंबाई १,२५० मील है।

पठार में आद्यकल्पिक (आर्कियन) पत्थर हैं जिनपर मध्यकल्पिक (मेसोज़ोइक) बालू एवं चूने के पत्थरों का जमाव मिलता है। इसकी ढाल पश्चिम से पूर्व की है। पश्चिमी तट पर लावानिर्मित ऊँची पर्वतश्रेणियाँ मिलती हैं जिनकी औसत ऊँचाई ५,००० फुट है। इनकी सर्वाधिक ऊँचाई यमन राज्य में १२,३३६ फुट है। अरब के मध्य भाग की ऊँचाई २,००० से ३,००० फुट है।

यह संसार की अति उष्ण पट्टी में पड़ता है। यमन, असीर, एवं ओमान की पहाड़ियों को छोड़ अरब का संपूर्ण भाग शुष्क एवं उष्ण है, जहाँ वर्षा साल भर में पाँच इंच से भी कम होती है। सततप्रवाहिनी नदियों का सर्वथा अभाव है। अरब में तीन प्रकार के क्षेत्र मिलते हैं (१) कठिन मरुस्थल, (२) शुष्क प्रशोषस्थली (स्टेप्स), (३) मरूद्यान एवं कृषिक्षेत्र। कठिन मरुस्थलों में न जल है, न किसी प्रकार की वनस्पति। इसके अंतर्गत नफ़ूद, दहना एवं रुब-अल-खाली के बलुए ढेर एवं कंकड़ के क्षेत्र हैं। नफ़ूद में बद्दू लोग, जाड़े में थोड़ी वर्षा होने पर, ऊँट तथा भेड़ चराते हैं। रुब-अल-खाली के पूर्वी भाग में अलमुर्रा एवं अन्य जातियाँ प्रसिद्ध ओमानी ऊँट पालती हैं।

स्टेप्स के अंतर्गत हमाद, हेजाज एवं मिदियाँ के क्षेत्र हैं। यहाँ कहीं कहीं प्राकृतिक जलछिद्र तथा कँटीली झाड़ियाँ मिलती हैं। मरूद्यान एवं कृषिक्षेत्र मध्य भाग (जिसे नज्द कहते हैं) तथा तटीय भागों में मिलते हैं। नज्द में तीन मरूद्यान एक दूसरे से जुड़े हैं, जिनके बीच में रियाध नगर है। रियाध सऊदी अरब राज्य की राजधानी है। तटीय उर्वर क्षेत्रों में यमन, हामा, ओमान का बटीनाह् तट तथा वादी हद्रेमौत प्रमुख हैं। यमन जगत्प्रसिद्ध मोच्चा कहवा की जन्मभूमि है।

अरब प्रायद्वीप खनिज तेल का भांडार है, जिसकी संचित निधि ९ अरब (९०० करोड़) बैरल बताई जाती है। सोना, चाँदी, गंधक तथा नमक अन्य प्रमुख खनिज हैं।

यहाँ का मुख्य उद्यम घोड़ा, ऊँट, गदहा, भेड़ तथा बकरा पालना है। खजूर एवं ऊँट का दूध अरब लोगों का मुख्य भोजन है। मरूद्यान में गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरे के अतिरिक्त अंगूर, अखरोट, अनार, अंजीर तथा खजूर आदि फल उपजाए जाते हैं। पठारों पर सेब तथा घाटियों में केला पैदा किया जाता है।

मुसलमानों के तीर्थस्थान मक्का एवं मदीना प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग (हेजाज) में स्थित हैं। ९०% तीर्थयात्री जिद्दा बंदरगाह से होकर इन तीर्थस्थानों में जाते हैं।
(न० कि० प्र० सिं०)

अरब का इतिहास अरब के अंतर्गत विविध प्रादेशिक इकाइयों में यमन, हेजाज, ओमान, हज्रमौत, नज्द, हसा और हिरा मुख्य हैं। १९वीं शताब्दी में दक्षिणी अरब से जो प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनके अनुसार हज़रत ईसा से कम से कम एक हज़ार वर्ष पहले अरब में एक ऊँचे दरजे की सभ्यता विद्यमान थी। प्राचीन असूरी शिलालेखों, इंजील के पुराने अहदनामे और प्राचीन ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है। "अरब इतिहास के सभी विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि नवीं शताब्दी ई० पू० में अरब में चार सुसभ्य राज्यों का अस्तित्व मिलता है। ये राज्य थे—माइन, सबा, हज्रमौत और कताबान्।

इन चारों में सबा राज्य के संबंध में विद्वानों का लगभग एक मत है। तौरेत के अनुसार सबा की राजकुमारी 'सम्राज्ञी शेबा' ने लगभग

६५० ई० पू० में सम्राट् सुलेमान से भेंट की थी। छठी सदी ई० पू० तक सबा राजकुल की राजधानी सिरवाह थी। उसके पश्चात् राजकुल बदला और मारिब राजधानी बनी। सबा के राजकुलो के हाथो मे ११५ ई० पू० तक शासन की बागडोर रही। सबा राजकुलो के अंतर्गत अरब का दक्षिण पश्चिमी भाग समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँचा। भारत के साथ मिस्र का समस्त व्यापार अरब के इसी भाग के माध्यम से होता था। भारत से तिजारती बेड़े माल लेकर यहीं आते थे और यहाँ से स्थलमार्ग द्वारा यह माल मिस्र जाता था। मिस्र के तोलेमी सम्राटो ने जब सीधे स्थलमार्ग से भारत के साथ व्यापार प्रारभ किया तब सबा का महत्व समाप्त हो गया।

प्राचीन अरब के दूसरे राजकुल माइन का प्रभाव अरब के दक्षिणी भाग पर पूरी तरह फैला हुआ था। प्राचीन आलेखो के अनुसार माइन राजकुल के २५ राजाओं का पता चलता है। निस्सदेह इस राजकुल का कई सदियों तक प्रभाव रहा होगा। यह सभव है कि माइन और सबा के राजकुल समकालीन रहे हों।

११५ ई० पू० मे दक्षिण पश्चिम अरब मे शासन की बागडोर साबियों के हाथो से हज्रमौत के हिमयारितो के हाथो मे चली गई। लगभग इसी समय कताबान् राजकुल का भी अंत हो गया। कताबान् राजकुल के सबध मे बहुत कम ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। हिमयार राजकुल ने अपने को 'सबा और रायदान राजकुल' के नाम से पुकारना शुरू किया। यह वह समय था जब रोम की सत्ता ने अरब की राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया। रोमी सत्ता ने एलिअस गालस नामक सेनापति के नेतृत्व मे एक बडी रोमी सेना अरब पर आक्रमण करने के लिये भेजी, किंतु अरब मार्गदर्शको ने इस सेना को मरुस्थल मे ऐसा भटकाया कि वह पानी की तलाश करते करते समाप्त हो गई। हिमयारितो की सत्ता चौथी सदी ईसवी तक अरब के दक्षिण पश्चिमी भाग पर एकछत्र शासन करती रही।

चौथी सदी ई० मे इथियोपिया की सेनाओ ने दक्षिण पश्चिमी अरब के एक भाग पर अधिकार कर लिया। लगभग एक सदी तक प्रभुत्व के लिये हिमयारितो के साथ उनका सघर्ष चलता रहा। सन् ५२५ ई० मे रोमी सत्ता की सहायता से इथियोपिया की सेना ने अरब के इस भाग पर पूर्ण अधिकार कर लिया, किंतु इथियोपिया की यह एकछत्र सत्ता केवल ५० वर्ष तक ही अरब के इस भाग पर रह सकी। सन् ५७५ ई० मे ईरानी सम्राट् की सेनाओ ने इथियोपिया के हाथो से यहाँ के शासन की बागडोर छीन ली। इसके बाद दक्षिण पश्चिमी अरब के इस भाग के यमन प्रांत का शासन ईरानी सम्राट् के क्षत्रप द्वारा होने लगा।

इन राजकुलो के अतिरिक्त हिरा, गस्सान और किंदा की रियासते भी पूर्वोत्तर और मध्य अरब मे उभरी। तीसरी सदी ई० से लेकर छठी सदी ई० तक इन रियासतों का अस्तित्व कायम रहा। छठी सदी ई० मे इन रियासतों ने रोम या ईरान की अधीनता स्वीकार कर ली।

हजरत मोहम्मद के जन्म के समय छठी सदी ई० मे अरब का अधिकतर भाग विदेशी शासन के अधीन था। साम और ईरान की सरहद से मिले हुए भाग अलग अलग कुस्तुनतुनिया के रोमन सम्राटो और ईरान के खुसरा के अधीन थे। लालसागर के किनारे का भाग इथियोपिया के ईसाई बादशाह के अधीन था। केवल हेजाज का प्रांत, जिसमे मक्का और मदीना शहर है, नज्द, ओमान और हज्रमौत के कुछ हिस्से ही सपूर्ण अरब मे अपने को स्वतत्र कह सकते थे।

अरबो मे वीरता की कमी न थी। उन्हे स्वतंत्रता बहुत प्यारी थी। त्याग और बलिदान के लिये वे सदा तत्पर रहते थे। अतिथियो का सत्कार करना और अपनी आन पर मर मिटना उन्हे खूब आता था, किंतु वे झूठे वहमो और कुरीतियो मे डूबे हुए थे। सारा देश सैकडों कबीलो मे बँटा हुआ था और हर कबीला सैकडा शाखाओं और उपशाखाओ मे। कबीले के एक व्यक्ति का अपमान समस्त कबीले का अपमान समझा जाता था। इन कबीलों मे नित्यप्रति लडाइयाँ होती रहती थी और परिणामस्वरूप भयकर रक्तपात होता रहता था और नित्य युद्ध के हजारो कैदी गुलामो की तरह बाजारों में बिकते रहते थे।

थोडे से कबीलो को छोड़कर, जिन्होंने यहूदी या ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, शेष सब अरब अपने पुराने धर्म को ही मानते थे। असख्य देवी देवताओ की पूजा उनमे प्रचलित थी। हर कबीले का अपना अलग देवता होता था। देवताओ के सामने पशुओ की बलि चढ़ाई जाती थी। कोई कोई तो अपने देवताओ के आगे अपने बेटो को काटकर चढा देते थे। कुछ अरब एक सर्वोपरि परमात्मा को भी मानते थे जिसे वे 'अल्लाह ताला' कहते थे। अधिकाश अरब हज़रत इब्राहीम के बेटे इस्माइल से अपना निकास बताते थे।

सारे देश मे जुए और शराब का बेहद प्रचार था। लड़कियो को जिंदा दफन कर देने का आम रिवाज था। अरबो मे एक कहावत प्रसिद्ध थी—"सबसे अच्छा दामाद कब्र है।" इस तरह के देश और इस तरह के समाज मे मक्के के प्रतिष्ठित कुरैशी कबीले के एक बड़े घराने, बनी हाशिम मे तारीख ६ रबीउल अव्वल, सोमवार, २० अप्रैल, सन् ५७१ ई० को सूर्योदय के समय मोहम्मद साहब का जन्म हुआ।

मोहम्मद साहब की वृत्ति सदा से ही गभीर थी। अपनी कौम के अध पतन का उनके दिल पर बडा बोझ था। उन्होने यह अनुभव कर लिया कि अरब के अलग अलग कबीलो और सप्रदायो के अलग अलग देवी-देवताओ को पूजना ही उनके अदर फूट और भेदभाव के बढने का मुख्य कारण है। उन्होने एक सर्वोपरि और अखड परमेश्वर की पूजा द्वारा उन उबको पूरी तरह मिलाकर एक कौम बना देने का दृढ निश्चय किया। चालीस वर्ष की अवस्था मे उन्होने ईश्वर के सदेशवाहक पैगंबर के रूप मे ईश्वर की अखडता और एकता का प्रचार शुरू किया। ये ईश्वरीय सदेश 'कुरान' मे सगृहीत है।

जो बुराइयाँ मोहम्मद साहब के समय मे अरब मे सबसे अधिक फैली हुई थी, कुरान मे उनकी तीव्र निंदा की गई। शराबखोरी, वेश्यागमन, असीमित बहुपत्नीवाद, कन्याओ की हत्या, जुआ, सूदखोरी और जादू टोने मे अधविश्वास आदि का कुरान ने सर्वथा निषेध किया। मोहम्मद साहब एक ऐसे देश मे पैदा हुए थे जहाँ राजनीतिक सगठन, राष्ट्रीय एकता, विवेक-सिद्ध धार्मिक विश्वास और सदाचार का पता न था। अपनी अनुपम धी-शक्ति के केवल एक आक्रमण मे उन्होने अपने देशवासियो की राजनीतिक अवस्था, उनके धार्मिक विश्वास और सदाचार—तीनो को एक साथ सुधार दिया। स्वतत्र कबीलो की जगह उन्होने एक राष्ट्र का निर्माण किया। अनेक देवो देवताओ मे अधविश्वास की जगह उन्होने एक अनन्य सर्वशक्तिमान किंतु दयालु परमात्मा मे विवेकपूर्ण विश्वास पैदा कर दिया। सन् ६३२ ई० मे अपनी मृत्यु से पूर्व मोहम्मद साहब को एक साथ अरब मे तीनो चीजों की स्थापना का सौभाग्य प्राप्त हुआ—एक राष्ट्र, एक साम्राज्य और एक धर्म।

मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अबूबक्र (६३२-६३४) स्वाधीन अरब रियासत के पहले खलीफा (शासक) चुने गए। पैगंबर की मृत्यु के बाद एक बार अरब मे विद्रोह की बाढ सी आ गई किंतु असीम धैर्य और दूरदर्शिता के साथ अबूबक्र ने विद्रोह को शात किया। मोहम्मद साहब की अतिम इच्छा के अनुरूप अबूबक्र ने रोमी सेना से उत्तरी अरब की सुरक्षा के लिये एक सैन्य दल भेजा। अगले ही वर्ष अरब की सीमाओं मे ईरानी और रोमी हुकूमतों का अत करने के लिये एक बडी सेना अपने महान् सेनापति खालिद इब्न वलीद के सेनापतित्व मे रवाना की। दो वर्ष के अल्प शासन के बाद ही अबूबक्र की मृत्यु हो गई किंतु इसमे कोई सदेह नही कि अत्यत सकट के काल मे अबूबक्र ने न केवल अरब की स्वाधीनता की रक्षा की वरन् इसलाम धर्म को भी खतरे से बचाया।

अबूबक्र के बाद उमर (६३४-६४४) ने खिलाफ़त की बागडोर सँभाली। उमर के शासनकाल मे ईरान, फिलिस्तीन, इराक़, साम (सीरिया) और मिस्र को अरबो ने अपने अधीन कर लिया। उमर ने बनी उमैया कुल के योग्य व्यक्ति मुआविया को साम का और अम्र को मिस्र का सूबेदार नियुक्त किया। उमर के शासनकाल मे ही, सन् ६३५ ई० मे, इराक मे कूफा और बसरा के प्रसिद्ध शहर आबाद हुए। अम्र ने सन् ६४१ मे मिस्र मे एक नए शहर फ़ोस्तात की नीव डाली। इसी फ़ोस्तात का बाद में क़ाहिरा

नाम पड़ा। उमर के दस वर्षों के शासन में अरब सत्ता का न केवल अभूतपूर्व विस्तार हुआ बरन् शासनव्यवस्था मे नए नए सुधार किए गए।

तीसरे खलीफ़ा उस्मान (६४४-६५६) ने उमर के उत्तराधिकारी की हैसियत से शासन की बागडोर सँभाली। उस्मान के शासनकाल में एक ओर मुसलिम सेनाएँ उत्तर मे आर्मीनिया और एशिया कोचक तथा पश्चिम में कार्थेज (उत्तरी अफ्रीका) तक पहुँची, दूसरी ओर अरब मे आतंरिक गृहकलह ने भीषण रूप धारण कर लिया। उस्मान इस गृहकलह को शांत कर सकने मे असफल रहे। कूफ़ा, बसरा और फोस्तात से विद्रोहियो के दल राजधानी मदीना पर चढ़ आए। उस्मान ने अपने सूबेदारो को कुमक भेजने के लिये संदेश भेजा किंतु सैनिक सहायता पहुँचने के पूर्व ही विद्रोहियों ने खलीफा उस्मान की हत्या कर डाली।

उस्मान की मृत्यु के बाद अली (६५६-६६१) खलीफा की गद्दी पर बैठा। उस्मान की हत्या ने गृहकलह की जिस भावना को तीव्र कर दिया था, अली का शासन उसे शात न कर सका। साम के सूबेदार मुआविया ने अली की सत्ता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। बसरा के सूबे ने भी अली की वफ़ादारी की सौगंध खाने से इनकार किया। अली ने बसरा पर आक्रमण किया और भयकर युद्ध के बाद, जिसमे दस हजार योद्धा काम आए, बसरा पर अधिकार किया। बसरा विजय के पश्चात् अली ने कूफ़ा को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ से मुआविया को वफ़ादारी प्रकट करने का आदेश भेजा। मुआविया के इनकार करने पर पचास हज़ार सेना लेकर अली दमिश्क की ओर बढे। सन् ६५७ ई० मे सिफ़िन के मैदान मे दोनो ओर की सेनाओ मे सघर्ष हुआ। भयकर रक्तपात के बाद दोनो दल अनिर्णीत स्थिति मे अपनी अपनी राजधानियो को लौट गए।

सन् ६५८ मे मुआविया ने अपने को प्रतिद्वंद्वी खलीफा घोषित कर दिया। इसी वर्ष मुआविया ने अम्र के द्वारा मिस्र पर भी अधिकार कर लिया। स्वयं अरब के भीतर ख़ारिजिओ का एक नया संप्रदाय विद्रोह का झंडा लेकर उठ खड़ा हुआ। ख़ारिजिओ के अनुसार मुसलमान केवल एक अल्लाह ताला के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ खा सकते थे, खलीफा के प्रति नही। सन् ६५८ में ख़ारिजिओ के साथ नेहरवान मे अली का सैनिक सघर्ष हुआ। अगणित ख़ार्जी कत्ल कर दिए गए किंतु उनका उत्साह ठंढा नही हुआ। अपने प्रचार द्वारा वे अली के विरुद्ध विद्रोह की भावना को तेज करते रहे। अत मे इन्ही ख़ारिजिओ ने षड्यंत्र करके अली, मुआविया और अम्र की हत्या की योजना बनाई। अम्र और मुआविया इस षड्यंत्र से बच गए किंतु एक खार्जी षड्यंत्रकारी के हाथो अली की मृत्यु हुई।

अली की मृत्यु के बाद उनके पुत्र हसन को खलीफा घोषित किया गया किंतु हसन ने खिलाफत की गद्दी पाँच या छह महीने बाद त्याग दी। मुआविया से सुलह कर हसन ने मदीने मे अपने जीवन के अंतिम आठ वर्ष बिताए। हसन के आत्मसमर्पण के बाद मुआविया अरब साम्राज्य का एकछत्र अधिकारी रह गया।

मुआविया ने अपनी मृत्यु से पूर्व इस्लामी परपरा के विपरीत अपने बेटे यजीद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। अप्रैल, सन् ६८० ई० मे मुआविया की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु पर यजीद दमिश्क के सिंहासन पर बैठे। इधर कूफ़ा के नागरिको ने हजरत मोहम्मद के नाती और अली के बेटे हुसैन से प्रार्थना की कि वह कूफ़ा आकर खिलाफत की बागडोर सँभाले। हुसैन अपने समस्त परिवार के साथ मक्के से कूफ़ा के लिये रवाना हुए। यजीद के सूबेदार अब्दुल्ला की सेना ने कर्बला के मैदान मे हुसैन का रास्ता रोक दिया। नौ दिन तक प्यास से तडपने के बाद हुसैन ने यजीद की सेना का सामना किया। १० अक्टूबर, सन् ६८० ई० अथवा मोहर्रम की दसवी तारीख को कर्बला के मैदान मे हुसैन अपने समस्त परिवार के साथ शहीद हुए, केवल हुसैन की बहिन, उसके दो बेटे और दो बेटियाँ बच सकी। कर्बला की यह शोकजनक घटना आज भी हर साल इस्लामी दुनिया के शियो मे दु ख के साथ मनाई जाती है।

कर्बला की शोकात घटना के बाद अब्दुल्ला इब्न जुबैर ने मक्के मे घोषणा की कि यजीद से कर्बला का बदला लेना चाहिए। मक्का और मदीना के नागरिको ने अब्दुल्ला के प्रस्ताव का समर्थन किया। खलीफ़ा यजीद की सेना ने सन् ६८२ ई० में मदीने पर आक्रमण कर उसे लूट लिया और विद्रोहियों को तलवार के घाट उतारा। दूसरे वर्ष जाकर मक्का को घेर लिया। तीन महीने के बाद यजीद की मृत्यु का समाचार पाकर खलीफ़ा की सेना वापस लौट गई, किंतु जाने से पूर्व वह पवित्र काबे तक को नष्ट करती गई। यजीद के बाद मर्वान और मर्वान के बाद अब्दुल मलिक खलीफ़ा बना। इस बीच अब्दुल्ला इब्न जुबैर मक्के मे प्रतिद्वंद्वी खलीफ़ा के रूप मे शासन कर रहा था। साम के एक भाग और मिस्र ने भी उसकी खिलाफत स्वीकार कर ली थी। मार्च, सन् ६९२ मे अब्दुल मलिक के सेनापति हज्जाज ने मक्के का घेरा शुरू किया और उसी वर्ष अक्टूबर में मक्के पर अधिकार कर लिया। अब्दुल्ला इब्न जुबैर ७२ वर्ष की आयु मे भी बहादुरी के साथ लडते हुए खेत रहे। अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद अब्दुल मलिक के हाथो मे खिलाफत का एकछत्र शासन आ गया।

सन् ७५० ई० तक मुआविया के खानदानवाले, जिन्हें बनी उमैया कहा जाता है, खलीफा की गद्दी पर आसीन रहे। इस काल अरब सेनाओ ने एक ओर सिंध को जीता, दूसरी ओर स्पेन को अपने अधीन किया। ख़ुरासान को भी अरब झडे के नीचे शामिल किया गया और अफ्रीका महाद्वीप मे अरब सत्ता का सफलतापूर्वक विस्तार हुआ। उमैया खानदान के अंतिम खलीफ़ा मर्वान द्वितीय का वध करके बनी हाशिम खानदान के अब्बासी खलीफाओ का शासन प्रारभ हुआ। अब्बासियो का पहला खलीफा था अबुल अब्बास और अंतिम मुतास्सिम। पाँच शताब्दियो तक अब्बासी खलीफा अरब ससार के ऊपर हुकूमत करते रहे। अत मे सन् १२५८ ई० मे मगोल विजेता हुलाकू के आक्रमण ने अंतिम अब्बासी खलीफा के साथ साथ अब्बासी राजकुल का सदा के लिये अत कर दिया।

अब्बासी खलीफाओ मे सबसे चमकते हुए नाम हारूँ-अल-रशीद और उसके बेटे मामू का है। हारूँ वीर योद्धा, कुशल सेनापति और चतुर शासक के अतिरिक्त विद्वानो का समान करनेवाला था। उसके शासनकाल मे ज्ञान विज्ञान का एक नया युग प्रारभ हुआ। उसके दरबार मे देश विदेश के विद्वान् आकर एकत्रित होते थे और शायरी, वक्तृत्वकला, इतिहास, कानून, विज्ञान, आयुर्वेद, सगीत और कला आदि विषयो पर चर्चा करते थे। इसी प्रकार खलीफा मामू के शासनकाल मे भी साहित्य, विज्ञान और दर्शन शास्त्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई। अपने दरबार मे वह साहित्यकारो, दार्शनिकों, हकीमो, कवियो, वैज्ञानिको, कलाकारो और इतिहासज्ञो का खूब आदर समान करता था। भाषाविज्ञान और व्याकरण शास्त्र ने भी उसके समय मे यथेष्ट उन्नति की। उसने अनुवाद के काम को भी प्रोत्साहन दिया और संस्कृत तथा यूनानी भाषाओ के महत्वपूर्ण ग्रथो का अरबी मे अनुवाद करवाया। ज्योतिष और नक्षत्रविज्ञान की उन्नति मे भी उसने काफी रुचि दिखाई।

अब्बासी खलीफाओ के पतन के बाद अरबो की सत्ता और उनका महत्व समाप्त हो गया। मक्के पर मिस्र की ओर से एक अमीर शासन करने लगा। मक्के और मदीने के बाहर पूरी अराजकता फैल गई। बद्दुओ की लूट मार के कारण हज की यात्रा तक सुरक्षित नही रह गई। सन् १५१७ ई० मे जब तुर्को के सुलतान सलीम ने मिस्र पर अधिकार कर लिया तब मक्के के शरीफ ने शहर को तालियाँ तुर्क सुल्तान के हवाले करके उसे हेजाज़ का अधिराज स्वीकार कर लिया। लगभग एक शताब्दी के बाद सन् १६३० ई० मे यमन के एक सरदार कासिम ने तुर्कों को निकालने के बाद अरब पर अपनी इमामत की घोषणा की। अरब के एक भाग पर इस कुल की इमामत सन् १८७१ तक कायम रही।

अरब का आधुनिक इतिहास १८वी शताब्दी के आरभ मे वहाबी आदोलन से प्रारभ होता है। उस समय अरब अनेक स्वतंत्र रियासतो मे बँटा हुआ था जिनके सरदारो मे आए दिन लडाइयाँ होती रहती थी। इन्ही मे एक सरदार मोहम्मद इब्न सऊद था। उसने मध्य और पूर्वी अरब पर अपना शासन कायम कर लिया। उसने मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब नामक धार्मिक सुधारक की शिक्षाओ को अपनाकर शासन प्रारभ किया। सन् १८०४ मे सऊद के वशजो ने मक्के और मदीने पर अधिकार कर लिया। इसी समय के लगभग यूरोपीय शक्तियो ने भी तेल की खानों के लालच मे अरब की राजनीति में दखल देना शुरू किया। प्रथम विश्वयुद्ध का लाभ उठाकर सऊद राजकुल के उत्तराधिकारी इब्न सऊद

ने अरब प्रायद्वीप के एक बड़े भाग पर और विशेषकर हेजाज पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सऊद ने अपने राज्य का नया नाम "सऊदी अरब" रखा। तब से अब तक इब्न सऊद ही सऊदी अरब के अधिराज हैं। सऊदी अरब के मुख्य नगरों में मक्का, जिद्दा, रियाज और मदीना शामिल हैं। अरब की अन्य स्वतंत्र रियासतों में यमन, ओमान और बहरैन हैं। अरब के बंदरगाह अदन पर अंग्रेजों की हुकूमत आज भी कायम है।

इब्न उऊद के शासन में सऊदी अरब में कई सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधार हुए। इस संबंध में स्वयं इब्न सऊद के शब्द हैं—"हम वहाबियों को पहले पवित्र काबे में जाने तक की अनुमति न थी। इसके बाद हमारी दुआओं को स्वीकार करके अल्लाह ने हमें मक्का और मदीना के पवित्र नगरों की खिदमत बख्शी। जिस समय से शासन हमारे हाथों में आया है उस समय से हमने कड़ाई के साथ शराब पीना, जुआ खेलना, कब्रों की पूजा करना और लूटमार करना बंद कर दिया है। हमने अरब कौम की आत्मा को विदेशी एजेंटों के हाथों से मुक्त किया है। हम चाहते हैं कि अरब की नीम आजाद रियासतें भी पूरी तरह आजाद होकर समस्त अरब कौम के साथ एकता के धागे में बँधें। इस दिशा में हम निरंतर प्रयत्न करते रहेंगे।"

सं०ग्रं०—सर विलियम म्यूर : लाइफ ऑव मोहेमट (१८७८); दी कैलीफ़ेट, इट्स राइज, डिक्लाइन ऐंड फाल (१८९१), एम० ए० फज्ल : लाइफ ऑव मोहम्मद (१९२८), महमूद पाशा फलकी : सीरतुन्नबी (१९२४), ए० जी० लियोनार्ड : इस्लाम, हर मारेल ऐंड स्पिरिचुअल वैल्यू (१८९२), टी० डब्ल्यू० आर्नल्ड : दि प्रीचिंग ऑव इस्लाम (१८९६), लेनपूल : मोहम्मडन डायनस्टीज़ (१८९४), अली अमीर : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव सेरासेंस (१८९९), साइमन ओक्ले : हिस्ट्री ऑव दी सेरासेंस (१७०८), फैज़ान : ओमय्यद्स ऐंड अब्बासीज़; पालग्रेव : सेंट्रल ऐंड ईस्टर्न अरेबिया (१८६५), मैकेंजी : दि खिलाफत ऑव दि वेस्ट, रेनाल्ड ए० निकल्सन : दि मिस्टिक्स ऑव इस्लाम, जाकी अली : इस्लाम इन दि वर्ल्ड (१९३८); पंडित सुंदरलाल : हजरत मोहम्मद और इस्लाम (१९४१)। (वि० ना० पां०)

अरबगिर तुर्की राज्य में मलाटिया प्रांत का एक नगर है जो पूर्वी तथा पश्चिमी फरात नदियों के संगम से कुछ दूर, संयुक्त नदी के दाहिने किनारे से थोड़ी दूरी पर स्थित है। एक सड़क द्वारा यह सिवास नगर से संबद्ध है। यहाँ के अधिकांश लोग वाणिज्य तथा अन्य व्यवसायों में लगे हुए हैं। फलों तथा तरकारियों की खेती करना यहाँ का मुख्य धंधा है। रेशमी, सूती तथा ऊनी कपड़े भी यहाँ तैयार किए जाते हैं। वर्तमान नगर बहुत पुराना नहीं है, किंतु दो मील पर पुराना नगर है जिसे अस्कीशहर कहते हैं। (ह० ह० सिं०)

अरब लीग की स्थापना १९४५ ई० में हुई। इसके निर्माण के पीछे १९वीं शताब्दी का अरब जागरण था। लगभग चार सौ वर्ष तक ऑटोमन साम्राज्य का अंग रहने के उपरांत भी अरब जाति ने अपनी पृथक् सत्ता बनाए रखी जिसके मूल में एक धर्म, एक भाषा और एक ही सांस्कृतिक रिक्थ था। १९वीं शताब्दी में पनपे अरब आंदोलन और प्रथम विश्वयुद्ध के बीच तुर्की के विरुद्ध हुए अरब विद्रोह का उद्देश्य था कि ऑटोमन साम्राज्य से अलग होकर एशिया स्थित अरब देश सम्मिलित होकर एक स्वतंत्र एवं प्रभुसत्तासंपन्न अरब राष्ट्र का निर्माण करें। किंतु १९१९ के शांति समझौते के कारण अरब संसार दो वर्गों में विभक्त हो गया। एक वर्ग फ्रांसीसी प्रभाव में रहा तो दूसरा ब्रिटिश में। सऊदी अरब तथा यमन तटस्थ रहे। इसके कारण अरबों के विभिन्न राष्ट्र बने, यथा सीरिया लेबनान, ईराक, जार्डन और फिलस्तीन।

सन् १९४३ तक फिलस्तीन को छोड़ शेष सभी उपर्युक्त राष्ट्रों ने पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। फलस्वरूप १९४४ ई० की शरद् ऋतु में अलेक्जैंड्रिया नगर के अंतर्गत अरबों का एक संमेलन हुआ जिसमें 'अलेक्जैंड्रिया नयाचार अधिकरण' का गठन हुआ। इस अधिकरण ने 'अरब लीग' संबंधी मसविदा तैयार किया क्योंकि अरबों का एक राष्ट्र या संघ बनाने की कोई भी संभावना इस अधिकरण के सदस्यों को दिखाई न पड़ी। २२ मार्च, १९४५ ई० के दिन काहिरा में मिस्र, ईराक, सऊदी अरब, सीरिया, लेबनान, जार्डन तथा यमन ने एक इकरारनामे पर हस्ताक्षर किए और अरब लीग का जन्म हुआ। लीबिया मार्च, १९५३ में; सूडान जनवरी, १९५६ में; ट्यूनिसिया तथा मोरोक्को अक्टूबर, १९५८ में, कुवैत जुलाई, १९६१ में और अल्जीरिया १६ अगस्त, १९६२ को अरब लीग के सदस्य बने। इकरारनामे के एक परिशिष्ट में व्यवस्था है कि अरब लीग में सम्मिलित न होनेवाले अरेबियन प्रायद्वीप तथा उत्तर अफ्रीका स्थित अरब राष्ट्रों से भी सहकार एवं भाईचारा बरता जाए।

संगठन—अरब लीग की एक परिषद्, अनेक विशेष समितियाँ तथा एक स्थायी सचिवालय है। परिषद् में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक एक मत देने का अधिकार है। परिषद् का अधिवेशन किसी भी अरब राष्ट्र की राजधानी में बुलाया जा सकता है। अरब लीग को यह अधिकार भी है कि वह लीग के सदस्य राष्ट्रों अथवा लीग के किसी सदस्य राष्ट्र और अन्य बाहरी अरब राष्ट्र के मध्य उठे विवाद को दूर करने के लिये मध्यस्थता कर सके। परिषद् की एक राजनीतिक समिति भी है जिसके सदस्य अरब राष्ट्रों के विदेशमंत्री होते हैं। लीग का स्थायी सचिवालय काहिरा में है और इसके अध्यक्ष को महासचिव कहा जाता है। महासचिव का स्तर राजदूत के समकक्ष रखा गया है।

अरब साझा बाजार—अरब लीग ने एक अरब साझा बाजार भी गठित किया है। अप्रैल, सन् १९६४ में तत्संबंधी समझौता हुआ जिसपर ईराक, जार्डन, सीरिया तथा संयुक्त अरब गणराज्य ने हस्ताक्षर किए थे। इस समझौते के अनुसार अगले पाँच वर्षों में कृषि उत्पादों एवं प्राकृतिक साधनों पर लगनेवाले सीमाशुल्क को क्रमश समाप्त करने की व्यवस्था थी। प्रति वर्ष तटकर में २० प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादों पर लगनेवाले सीमाशुल्क में १० प्रतिशत कटौती करने को सभी राष्ट्र सहमत थे। सदस्य राष्ट्रों के बीच धन एवं श्रमिकों का मुक्त आदान प्रदान भी इसके अनुसार हो सकेगा। (कै० चं० श०)

अरब सागर हिंद महासागर का उत्तरी पश्चिमी भाग है। इसकी सीमाएँ पूर्व में भारत, उत्तर में पाकिस्तान तथा दक्षिणी ईरान और पश्चिम में अरब तथा अफ्रीका के सोमाली प्रायद्वीप द्वारा निर्धारित होती हैं। इस सागर की दो मुख्य शाखाएँ हैं। पहली शाखा अदन की खाड़ी है जो लाल सागर और अरब सागर को बाबलमंदब के जलसंयोजक द्वारा मिलाती है। दूसरी शाखा ओमान की खाड़ी है जो आगे चलकर फारस की खाड़ी कहलाती है। अरब सागर का क्षेत्रफल (अंतर्गत समुद्रों सहित) लगभग १७,१५,००० वर्ग मील है। यह सागर प्राचीन काल में समुद्रतटीय व्यापार का केंद्र था और इस समय यूरोप और भारत के बीच के प्रधान समुद्रमार्ग का एक अंग है।

अरब सागर में द्वीपों की संख्या न्यून है और वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन द्वीपों में कुरिया मुरिया, सोकोत्रा और लकादिव द्वीपसमूह उल्लेखनीय हैं। लकादिव द्वीपसमूह समुद्रांतर (सबमैरीन) पर्वतश्रेणियों के द्योतक हैं। इन द्वीपों का क्रम दक्षिण की ओर हिंदमहासागर के मालदिव और चागोज द्वीपसमूहों तक चला जाता है। यह समुद्रांतर श्रेणी संभवत अरावली पर्वत का ही दक्षिणी क्रम है जो तृतीयक (टर्शियरी) युग में, गोंडवाना प्रदेश के खंडन और भारत के पश्चिमी तट के विभंजन के साथ ही मुख्य पर्वत से विच्छिन्न हो गया। लकादिव-मालदिव-चागोज शृंखला पूर्णत प्रवाल (कोरल) द्वारा रचित है और विश्व की कुछ सर्वोत्कृष्ट प्रवाल्याएँ (ऐटॉल) एवं उपह्रद (लैगून, समुद्री ताल) यहाँ विद्यमान हैं। बंबई और कराची के बीच की तटरेखा को छोड़कर इस सागर में महाद्वीपीय निधाय (कांटिनेंटल शेल्फ़) अत्यंत संकीर्ण है और महाद्वीपीय ढाल (स्लोप) बड़ी तेज है। [उस लगभग चौरस भूमि को महाद्वीपीय निधाय कहते हैं जो समुद्र के तट पर जल के नीचे रहता है और जिसकी गहराई ६०० फुट से कम होती है। इसके बाद गहराई बड़ी तेजी से बढ़ती है। इस प्रकार गहराई बढ़ने से उत्पन्न ढाल को महाद्वीपीय ढाल (कॉन्टिनेंटल स्लोप) कहते हैं।]

अरब सागर के अन्य समुद्रांतर कूटो (सबमैरीन रिजेज) मे मरे कूट है, जो उत्तर दक्षिण फैला है। अपनी लबाई के अधिकाश मे यह दोहरा है, अर्थात् दो ऊँची श्रेणियो के मध्य एक घाटी स्थित है। यह मध्यवर्ती घाटी लगभग १२,००० फुट गहरी है। पूर्वोक्त कूट सभवत. सिध की किरथर श्रेणी का समुद्रातर विस्तार है। कुछ समय पूर्व एक तीसरी गिरिशृखला का पता चला जो बलूचिस्तान और ईरान के तट पर पूर्व पश्चिम दिशा मे विद्यमान है। यह सभवत जेग्रोस पर्वतमाला का समुद्रातर अश है। समुद्रातर कूटो के अतिरिक्त अरब सागर मे एक महत्वपूर्ण समुद्रातर नाली है। यह पश्चिम मे सिध नदी के मुहाने पर इडस स्वाच के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाद्वीपोय निधाय के सिरे पर लगभग १०० फुट गहरी है, परतु क्रमश आगे चलकर सिध नदी के मुहाने पर ३,७२० फुट गहरी हो गई है। इस समुद्रातर नाली के दोनो ओर ६५६ फुट ऊँची दोवारे है।

अरब सागर के नितल मे विद्यमान शिलाओ के विषय मे हमारा ज्ञान अभी अपूर्ण एव नगण्य है। इन शिलाओ पर एकत्र निक्षेपो का ही साधारण ज्ञान प्राप्त हो सका है। इस सागर के महाद्वीपीय निधाय का अधिकाश भूजात पक (टेरोजेनस मड) द्वारा आच्छादित है। यह पक नदियो द्वारा परिवहित अवसाद है। अधिक गहराई पर ग्लोबी-जरीना का निकर्दम (कीचड) तथा टेरोपाड का निकर्दम है और अगाध सागरीय भागो मे लाल मिट्टी विद्यमान है।

अरब सागर के जलपृष्ठ का ताप उत्तर मे २६° सेंटीग्रेड से लेकर दक्षिण मे २७.५° सें० तक है। इस सागर की लवणता ३६ से लेकर ३७ प्रति सहस्र है।

अरब सागर की धाराएँ पावस (मानसून हवाओ) के दिशापरिवर्तन के साथ साथ अपना दिशापरिवर्तन करती रहती है। शीतकाल मे पावस (मानसून हवाएँ) उत्तरपूर्व से चलता है, जिसके फलस्वरूप अरब सागरीय तटरेखा के अनुरूप प्रवाहित जलधारा पश्चिम की ओर मुड जाती है। इसे उत्तर पूर्वी पावसप्रवाह (नॉर्थ-ईस्ट मानसून ड्रिफ्ट) कहते है। ग्रीष्म-काल मे दक्षिण पश्चिमी पावसप्रवाह अरब सागरीय तट के अनुरूप पूर्व की ओर प्रवाहित होता है। (रा० ना० मा०)

अरबी दर्शन अरबी दर्शन का विकास चार मजिलो से होकर गुजरा है. (१) यूनानी ग्रथो का सामी तथा मुसलमानो द्वारा किया अनुवाद तथा विवेचन, यह युग अनुवादो का है, (२) बुद्धिपरक हेतुवादी युग; (३) धर्मपरक हेतुवादी युग, और इन सबके अत मे, (४) शुद्ध दार्शनिक युग। प्रत्येक युग का विवरण इस प्रकार है

१ **अनुवाद युग**—जब अरबो का साम पर अधिकार हो गया तब उन्हे उन यूनानी ग्रथो के अध्ययन का अवकाश मिला जिनका सामियो द्वारा सामी अथवा अरबी भाषा मे अनुवाद हो चुका था। प्रसिद्ध सामी टीकाकार निम्नलिखित है

(अ) प्रोबस (५वीं शताब्दी के आरभ मे) जिन्हे सबसे पहला टीकाकार माना गया है। इन्होंने अरस्तू के तार्किक ग्रथो तथा पार्फरे के 'इसागाग' की व्याख्या की।

(आ) रैसेन के निवासी सर्गियस (मृत्यु ५३६) जिन्होंने धर्म, नीति-शास्त्र, स्थूल पदार्थ-विज्ञान, चिकित्सा तथा दर्शन सबधी यूनानी ग्रथो का अनुवाद किया।

(इ) एदीसा के निवासी याकोब (६६०-७०८), यह मुस्लिम शासन के पश्चात् भी यूनानी धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रथो का अनुवाद करने मे व्यस्त रहे। विशेषत मसूर के शासन मे मुसलमानो ने भी अरबी भाषा मे उन यूनानीशास्त्रो का अनुवाद करना आरभ किया जिनका मुख्यत सबध पदार्थविज्ञान तथा तर्क अथवा चिकित्साशास्त्र से था।

९वी शताब्दी मे अधिकतर चिकित्सा सबधी ग्रथो के अनुवाद हुए परतु दार्शनिक ग्रथो के अनुवाद भी होते रहे। याहिया इब्ने बितृया ने अफलातून की 'तीयास' तथा अरस्तू के 'प्राणिग्रथ', 'मनोविज्ञान', 'ससार' का अरबी भाषा मे अनुवाद किया। अब्दुल्ला नईमा अलहिमसा ने अरस्तू के 'आभासात्मक' का तथा 'फिजिक्स' और 'थियालॉजी' पर जान फिलायोनस कृत व्याख्या का अनुवाद किया। कोस्ता इब्ने लूका (८३५) ने अरस्तू की 'फिजिक्स' पर सिकदरिया के अफरोदियस तथा फिलोपोनस लिखित व्याख्या का अनुवाद किया। इस समय के सर्वोत्तम अनुवादक अबूजैद हुसेन इब्ने, उनके पुत्र इसहाक बिन हुसेन (९१०) और उनके भतीजे हुबैश इब्नुल हसन थे। ये सब लोग वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रथो का अनुवाद करने मे व्यस्त थे।

१०वी शताब्दी मे भी यूनानी ग्रथो के अनुवाद का काम गतिशील रहा। इस समय के प्रसिद्ध अनुवादक अबू बिश्र मत्ता (९७०), अबू जकरिया याहिया इब्ने अलगनिकी (९७४), अबू अली ईसा इब्ने इसहाक इब्ने जूरा (१००८), अबुलखैर अल हसन इब्नुल खमार (जन्म ९४२) आदि है। सक्षेप मे, मुसलमानो ने ग्रीक शास्त्रो का सामी अथवा अरबी भाषा मे अध्ययन किया अथवा स्वय इन ग्रथो का अरबी मे अनुवाद किया। यूनानी विचारधारा और दार्शनिक दृष्टि सामियो द्वारा सिकदरिया तथा अतिओक से पूरब की ओर एदीसा, निसिबिस, हर्रान तथा गादेशपुर मे विकासमान हुई थी और मुसलमान जब विजेताधिकार से वहाँ पहुचे तब उन्होंने, जो कुछ यूनानी दर्शन तथा शास्त्रज्ञान उपलब्ध था, उसको ग्रहण किया और धीरे धीरे भिन्न भिन्न समस्याओ के प्रभाव से दार्शनिक चितन का आरभ हुआ।

२ मोतजेला अर्थात् बुद्धिपरक हेतुवाद युग—इस्लाम मे सबसे प्रथम विचारविमर्श पारमार्थिक स्वच्छदता का था। बसरा मे, जो उस समय विद्याभ्यास तथा पाडित्य का एक विशिष्ट केंद्र था, एक दिन उस युग के महान् विद्वान् इमाम हसन बसरी एक मस्जिद मे विद्यादान कर रहे थे कि उनसे किसी ने पूछा कि वह व्यक्ति (उमय्या शासको की ओर सकेत था), जो घोर अपराध करे, मुस्लिम है अथवा नास्तिक। इमाम हसन बसरी कोई उत्तर देने को ही थे कि उनका एक शिष्य वासिल बिन अता बोल उठा कि ऐसा व्यक्ति न मुस्लिम है और न इस्लाम के विरुद्ध है। यह कहकर वह मस्जिद के एक दूसरे भाग मे जा बैठा और अपने विचार की व्याख्या करने लगा जिसपर गुरु ने लोगो को बताया कि शिष्य ने 'हमे छोड दिया है' (एतजि ला अन्ना)। इस वाक्य पर इस विचारशाखा की स्थापना हुई।

चूँकि उमय्या शासक घोर पाप कर रहे थे और अपने आपको यह कह-कर कि हम कुछ नही करते, सब कुछ खुदा करता है, निर्दोष बताते थे, इससे स्वच्छदता का प्रश्न इस्लाम मे बडे वेग से उठा। हेतुवादियो ने इस प्रश्न तथा इसी प्रश्न की सनिकट शाखाओ का विशेष अनुसधान किया।

अबुल हुजैल की मृत्यु नवी शताब्दी के मध्य हुई। इन्होंने एक ओर मनुष्य को स्वच्छदता प्रदान की और दूसरी ओर खुदा को भी सर्व-शक्ति (तथा गुण) सपन्न सिद्ध किया। मनुष्य की स्वेच्छा तो इसी बात से सिद्ध है कि सब धर्म कुछ विधिनिषेध बताते है, जो बिना स्वच्छदता के सभव नही। दूसरी दलील है कि प्रत्येक धर्म स्वर्ग को प्राप्य तथा नरक को त्याज्य बताते है जिससे प्रमाणित है कि मनुष्य को स्वेच्छा प्राप्त है। तीसरी दलील है कि मनुष्य की स्वच्छदता खुदा के सर्वशक्तिमान और सर्वगुणसपन्न होने मे किसी प्रकार से बाधक नही है।

खुदा और उसके गुणो मे विशेषण-विशेष्य-भाव नही है बल्कि सारूप्य है। उदाहरणार्थ, खुदा सर्वज्ञ है, तो इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान अथवा शक्ति अथवा अन्य गुण उससे भिन्न नही है। वह सर्वगुणसपन्न है, परतु खुदा की अपेक्षा यह अनेकानेक गुणों का सबध गुण तथा गुणी जैसा नही हो सकता, क्योकि खुदा सर्वव्यापी है और उससे कोई वस्तु, गुण या विशेषण बाहर नही है। इसके अतिरिक्त दैवी गुणों का साधारण अर्थ नही लिया जा सकता तथा उन्हे मनुष्यारोपित नही कह सकते। अत ईश्वरेच्छा मानुषिक स्वच्छदता के विरुद्ध नही है। ईश्वरेच्छा तो सृष्टि के लिये सकेत मात्र है। इसका किंचित् यह अर्थ नही है कि ससार अथवा मनुष्य सर्वश. ईश्वराधीन है। चरित्रनिर्माण के लिये मानुषिक स्वतत्रता ही आवश्यक है परतु जीवनोद्धार के प्रति ईश्वरप्रत्यादेश निस्सदेह उपयोगी है।

अल नज्जाम (मृत्यु ८४५) अबुल हुजैल के शिष्य थे, एमपीदाक्लिज तथा अनक्सागोरस की विचारधारा से प्रभावित। इनके मतानुसार खुदा कोई अशुभ कर्म नही कर सकता। वह वही करता है जो उसके दास तथा भक्तो के लिये अत्यत शुभ है। खुदा के सबध मे 'इच्छा' शब्द को विशेष

अर्थ मे लेना आवश्यक है। इस संबंध में इस शब्द से कोई कमी अथवा आवश्यकता प्रदर्शित नही होती, बल्कि 'इच्छा' खुदा के सर्वकर्तृत्व का ही एक पर्याय है। सृष्टि की क्रिया आदिकाल मे संपूर्णतया समाप्त हो चुकी है और अब कालानुसार अन्य पदार्थ, वृक्ष तथा पशु अथवा मनुष्य आदि उत्पन्न होते रहते है।

नज्जाम दृश्य अरणु की सत्ता न मानकर दृश्य पदार्थों को एक अप्राकृतिक गुणसमूह ख्याल करते है। सब द्रव्य पदार्थ वैवगतिक गुणसमूह होने के कारण भूतात्मक नही है परंतु अनात्म्यता प्रधान विषय है।

जाहिज के कथनानुसार यद्यपि विषय प्रगतिशील है तथापि ईश्वरीय प्रभाव से कोई वस्तु भी विहीन नही है।

मुअम्मर का कथन है कि खुदा सत्तास्वरूप होने के कारण गुणविहीन है। उसको निराकार समझना ही उचित है। उसको गुणविशिष्ट समझने में विपरीत धर्मत्व का आक्षेप इसलिये आता है कि विपरीत गुण भी उससे किसी प्रकार बहिर्गत नहीं समझे जा सकते।

३ **अशारिया अर्थात् धर्मपरक हेतुवादी युग**—नवी शताब्दी मे बुद्धिपरक हेतुवादियो के विरुद्ध कई विचारधाराएँ उत्पन्न हुई। इन्ही मे एक अशरी चलन है जिसके संचालक **अलअशरी** (८७२-९३४ ई०) है, जिनकी विचारधारा धीरे धीरे सब इस्लामी देशो मे शास्त्रवत् समझी गई। उन्होंने मदबुद्धि सत्यधर्मानुयायियों की साकार उपासना का विरोधी होते हुए भी एक ओर तो खुदा का संपूर्ण ऐश्वर्य प्रदान किया और दूसरी ओर उपासना की स्वच्छंदता (जो उसके मनुष्यत्व का सर्वोत्तम आधार है) स्थापित की। उनके कथनानुसार प्रकृति को बिना खुदा के प्रभाव के स्वतः सामर्थ्य नहा है। सामान्यतः मनुष्य भी सर्वथा खुदा पर ही आश्रित है। परंतु ऐसा होते हुए भी वह सर्वथा स्वच्छंद है।

धर्मज्ञान का मूल विषय खुदा चूंकि परोक्ष है अतः पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये कुरान अथवा कोई अन्य ईश्वरीय प्रत्यादेश मनुष्य जाति के लिये अनिवार्य है।

४ **दार्शनिक युग—अबू याकूब बिन इसहाक अलकिंदी** (मृ० ८७५) का अरब होने से सर्वोत्तम अरब दार्शनिक माना गया है। ये दार्शनिक होने के अतिरिक्त अत्यंत सुयोग्य व्यक्ति और अन्यान्य कलाओं मे भी सिद्धहस्त थे। यूनानी दार्शनिकों के महत्वपूर्ण ग्रंथो के टीकाकार के रूप मे अत्यंत प्रसिद्ध है। इन्होंने या तो स्वयं अरबी भाषा मे यूनानी ग्रंथो के अनुवाद किए है अथवा अपनी अध्यक्षता मे और लोगो से अनुवाद कराए है, फिर इन्हे स्वयं संशोधित किया है। अरस्तू के धर्मतत्व का अरबी अनुवाद उन्ही की अध्यक्षता में तैयार हुआ था। किंदी ने अन्य धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया था और इस अध्ययन के अनुसार उनका विश्वास था कि सब धर्म एक पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते है जो सृष्टि का मूल कारण है और सब धर्मज्ञाताओं ने उसी को पूज्य तथा माननीय बताया है।

सृष्टिकर्ता होने के कारण अल्लाह का प्रभाव संसार मे व्याप्त है, परंतु उसका प्रभाव तथा प्रकाश संसार मे वस्तुतः अधोगति से पहुँचता है और प्रथम उद्भाव का प्रभाव अग्राम्य उत्पत्ति और उसका उससे अगली स्थिति पर उद्भावित होता है। प्रथम उद्भव बुद्धि है और प्रकृति उसी के अनुसार नियुक्त है। अल्लाह (ईश्वर) तथा प्रकृति के मध्य मे विश्वात्मा है जिससे जीवात्मा निर्गत हुआ है।

किंदी संभवतः विश्व का सबसे प्रथम दार्शनिक है जिसने यह बताया कि उद्दीपन तथा वेदना एक दूसरे के प्रमाणानुसार कल्पित है। इस सिद्धांत का प्रवर्तन करने के कारण काफडन किंदी की गणना विश्व के सर्वोत्तम बारह दार्शनिकों मे करता है।

फराबी (मृ० ९५०) ने अरस्तू का विशेष अध्ययन किया था और इसी लिये उन्हें एशिया मे लोग गुरु नंबर दो के नाम से याद करते हैं। फ़राबी के कथनानुसार तर्कशास्त्र के दो मुख्य भाग है। प्रथम भाग मे संकल्प तथा मनोगत पदों का विवेचन करना आवश्यक है। द्वितीय भाग मे अनुमान तथा प्रमाणों का वर्णन आता है। इंद्रियग्राह्य उत्तमोत्तम साधारण चेतना भी संकल्पो के अंतर्गत गिनी जानी चाहिए। इसी प्रकार स्वभावजन्य भाव भी संकल्पों के ही अंतर्गत आते है। उन संकल्पों के मिलान से निर्णय की उत्पत्ति होती है जो सदसत् होते हैं। इस सदसत्-निर्णय-क्रिया की उत्पत्ति के लिये यह अनिवार्य है कि बुद्धि मे कुछ भाव अथवा विचार स्वजात हो जिनकी अग्रतर सत्याकृति अनावश्यक हो। इस प्रकार की मूल प्रतिज्ञाएँ गणित, आत्मविद्या तथा नीतिशास्त्र मे विद्यमान है।

तर्कशास्त्र म जो सिद्धात निर्दिष्ट है वे ही आत्मविद्या मे भी सर्वश प्रत्यक्ष है। जो कुछ विद्यमान है वह या तो संभावित है अथवा अन्यथासिद्ध है। संसार चूंकि स्वयसिद्ध नही है, अतः उसका कोई अन्योन्य भावरहित कारण मानना आवश्यक है। इसको हम खुदा अथवा अल्लाह (किंवा ईश्वर) के नाम से संकेत कर सकते है। यह परम सत्ता जिसे अल्लाह कहते है, इतरेतर भावों से पुकारे जाने के कारण भिन्न भिन्न नामों से अनुचिंतित होता है। उनमे से कुछ नाम उसकी आत्मसत्ता को निर्दिष्ट करते है अथवा कुछ उसकी संसार-समासक्ति-विषयक है। परंतु यह बात स्वयंसिद्ध है कि उसकी पारमार्थिक सत्ता इन नामों तथा उपाधियों द्वारा अगम्य है।

इब्ने मसकवे (मृत्यु १०३०) के कथनानुसार जीवात्मा एक शरीरी द्रव्य है जिसे अपनी सत्ता तथा ज्ञान का बोध रहता है। अतः जीवात्मा का ज्ञान तथा आत्मिक उद्योग प्रच्छन्न शरीर की सीमा से परे है। यही कारण है कि उसकी इंद्रियग्राह्यता संसार के विषयभोगों से लेशमात्र भी तृप्त नहीं होती। मनुष्य अपने अनर्जात ज्ञान के द्वारा अधर्म से बचता हुआ हित की ओर प्रोत्साहित है। हित दो प्रकार का होता है सामान्य और विशेष। सामान्य हित सबके लिये पुरुषार्थ है जो परमज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। साधारणतः मनुष्य प्रीतिपरक जरूर है परंतु यह व्यक्तिगत हित मनुष्यत्व के विरुद्ध होने से पुरुषार्थ का बाधक है। वास्तविक सुख तो मनुष्यत्व के अनुसार काम करने मे है और मनुष्यत्व के आदर्श की प्राप्ति संसर्ग मे ही संभव है, अन्यथा नही। इस सलापप्रियता की हज्ज तथा नमाज से भी पुष्टि होती है। यही प्रतिभावना सब धर्मों का आदेश है।

इब्नेसिना (मृत्यु १०३७) की राय मे संसार संभावी होने के हेतु अवश्यप्राप्य नही है। अवश्यप्राप्य की खोज अंत मे हक (ब्रह्म) को सिद्ध करती है जिसको यद्यपि बहुत से नाम तथा विशेषण दिए जाते है, परंतु उसकी पारमार्थिक सत्ता इन सबके द्वारा अगम्य है। ऐसा भी नही कि वह केवल निर्गुणी है। उसे तो सब गुणो तथा विषयो का आधार होने के कारण निर्गुणी गुणी कहना ही उपयुक्त है।

उस पारमार्थिक सत्ता से विश्वात्मा (वैश्वानर) का उद्भव होता है और यह अनेकत्व का आश्रय है। विश्वात्मा जब अपने कारण का चिंतन करती है तब आकाशमंडल चैतन्य विकृत होता है जिससे परिच्छन्न आत्मा का स्पष्टीकरण होकर अन्य स्थूल विकार तथा शरीर विकसित होते हैं। शरीर या आत्मा से वस्तुतः कोई संपर्क नहीं है। शरीर की उत्पत्ति तो चार सूक्ष्म तत्वो (पृथ्वी, आप, तेजस्, वायु) के संमिश्रण से है, परंतु शरीर की उत्पत्ति चतुर्विध गुणों से नही है, वह तो विश्वात्मा से विकसित होने के कारण स्वतः परममूलक है। आदि मे हो शरीरी एक स्वतः सिद्ध सूक्ष्म द्रव्य है जो अन्य शरीरो मे स्थित होकर अहमत्व के भान का कारण है।

इब्ने अल-हजाम के कथनानुसार दृश्य पदार्थ कुछ विशेष गुणो का समूह है और इन सब सामूहिक गुणो के हेतु से ही कोई पदार्थ अपनी विशेष संज्ञा से पुकारा जाता है। अब बाह्य प्रत्यक्ष स्वयं अन्य क्षणों का समूह है जिनके द्वारा अमुक पदार्थ के अमुक अमुक गुण प्रदीप्त होते हैं। अतः एक साधारण प्रत्यक्ष के अंतर्गत अनेकानेक गुण प्रत्यक्ष प्रतीत होते है। प्रत्येक प्रत्यक्ष स्थूलभूत पदार्थ के किसी एक गुण अथवा भाव को प्रकाशित करता है जिन्हे स्मृतिभाव से कुछ क्षण पश्चात् सामूहिक प्रतिज्ञा से स्थूल पदार्थ की संज्ञा दी जाती है।

अलगिजाली (मृत्यु ११११) के समय तक मुस्लिम दार्शनिको द्वारा दर्शनशास्त्र की विशेष उन्नति हो चुकी थी परंतु वह दर्शनविकास मनुष्य (मुस्लिम) की हार्दिक (धार्मिक) तृष्णा की तृप्ति कर सकता था अथवा नहीं, यह कोई भी नही समझ सका था।

गिजाली प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने इस प्रश्न पर गंभीर विचार किया। इनको कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सब तत्व-विचार-धारा जो इस्लाम मे किंदी से आरंभ हुई थी और फराबी द्वारा इब्नेसिना तक पहुँची थी और जिसका आश्रय मुख्यतः ग्रीक तत्व-विचार-धारा थी, सर्वथा धार्मिक चेष्टाओं और हार्दिक रसिकता के विरुद्ध है। इनके लिये एक ओर तो हृदयग्राही

बहुत कुछ व्यापार के कारण ही हुआ। मिनाई राज्य के पश्चात् सबाई राज्य स्थापित हुआ जो ६५० ई० पू० से ११५ ई० पू० तक रहा। सबाई राज्य पूरे दक्षिणी अरब में फैला हुआ था। उनका प्रथम काल ६५० ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में राजा धार्मिक नेता भी होता था और उसकी उपाधि 'मुकरिब सबा' थी। द्वितीय काल ११५ ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में राजा 'मलिक सबा' के नाम से पुकारा जाता था। इसकी राजधानी मारिब थी। ये लोग वास्तु-निर्माण-कला में दक्ष थे। इन्होंने अनेक गढ़ बनाए थे जिनके खडहर अब भी पाए जाते हैं। इन्होंने एक भव्य बाँध भी बाँधा था जो 'सद्‌मारिब' के नाम से प्रसिद्ध था। ११५ ई० पू० के पश्चात् दक्षिणी अरब का राज्य हिम्यरी जाति के हाथ में आया। इसका प्रथम काल ३०० ई० तक रहा। हिम्यरी, सबाई तथा मिनाई संस्कृति तथा व्यापार के अधिकारी थे। वे कृषि में दक्ष थे। सिंचाई के लिये उन्होंने कुएँ, तालाब तथा बाँध निर्मित किए थे। इनकी राजधानी जफार थी जो सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत थी। इस काल में निर्माण-कला की अधिक उन्नति हुई। यमन प्रासादभूमि के नाम से पुकारा जाने लगा। इन प्रासादों में गुमदान का प्रासाद बहुत प्रसिद्ध था जो विश्व-इतिहास में प्रथम गगनचुंबी था। उसकी छत ऐसे पत्थर से बनाई गई थी कि अंदर से बाहर का आकाश दीखता था। सबाई तथा हिम्यरी राज्य का शासन बड़ा अद्भुत था जिसमें जातीय, वर्गीय तथा साम्राज्यवादी शासन सभी के अंश मिलते है। हिम्यरी राज्य के इसी प्रथम युग में अरबों का पतन हो गया। इसका मुख्य कारण रूमियों की शक्ति का आविर्भाव था। जैसे जैसे रूमियों के जलयान अरब सागर तथा कुल्ज़ुम सागर में आने लगे तथा रूमी व्यापारी यमन के व्यापार पर अधिकार करने लगे वैसे वैसे दक्षिणी अरब की आर्थिक दशा जीर्ण होती गई। आर्थिक दुर्दशा से राजनीतिक पतन का आविर्भाव हुआ। हिम्यरी राज्य का द्वितीय काल ३०० ई० से प्रारम्भ होता है। इसी काल में हब्शह (अबीसीनिया) के राजा ने यमन पर आक्रमण करके ३४० ई० से ३७८ ई० तक राज्य किया परतु पुन हिम्यरी राज्य ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस काल में हिम्यरी राजाओं की उपाधि तुब्बा थी जिन्होंने दक्षिणी अरब पर ५२५ ई० तक राज किया और अपनी सभ्यता को कायम रखा। ५२५ ई० में पुन हब्शह निवासियों ने यमन पर आक्रमण करके उसकी स्वाधीनता को समाप्त कर दिया। अब्रहह दक्षिणी अरब का शासक था। उसने ५७० ई० में मक्का पर भी आक्रमण किया परन्तु असफल रहा। ५७५ ई० में ईरानियों ने यमन पर आक्रमण करके हब्शह के राज्य को नष्ट कर दिया और कुछ दिनों पश्चात् ईरानियों का पूर्ण रूप से यमन पर अधिकार हो गया। ६२८ ई० में यमन के पाँचवें शासक ने इस्लाम स्वीकार किया जिस कारण यमन मुसलमानों के अधिकार में आ गया। इस्लाम के पूर्व दक्षिणी अरब का धर्म नक्षत्रों पर आधारित था। इसी नाम के देवी देवताओं की पूजा की जाती थी। दक्षिणी अरब में यहूदीपन और ईसाईपन अधिक मात्रा में आ गया था। नजरान में ईसाइयों की संख्या अधिक थी।

उत्तरी तथा मध्य अरब की प्राचीन सभ्यता—दक्षिणी अरब के समान उत्तरी अरब में भी अनेक स्वाधीन राज्य स्थापित हुए जिनकी शक्ति तथा वैभव व्यापार पर आधारित था। उनकी सभ्यता भी ईरानी अथवा रूमी सभ्यता से प्रभावित थी। यहाँ सर्वप्रथम राज नबीतियों का था जो ईसा से ६०० वर्ष पूर्व आए थे और कुछ दिनों पश्चात् पेत्रा पर अधिकार कर लिया था। ये लोग वास्तुशिल्प में दक्ष थे। इन्होंने पर्वतों को काटकर सुदर भवन बनाए। ईसा से प्राय चार सौ वर्ष पूर्व तक यह नगर सबा तथा रूमसागर के कारवानी मार्ग में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। यह राज्य रूमियों के अधिकार में था परतु १०५ ई० में रूमियों ने इसपर आक्रमण करके इसे अपने साम्राज्य का एक प्रांत बना लिया। इसी प्रकार का दूसरा राज्य तद्‌मुर (Palmyra) के नाम से प्रसिद्ध था। उसका वैभवकाल १३० ई० से २७० ई० तक था। इसका व्यापार चीन तक फैला हुआ था। रूमियों ने २७० ई० में इसे भी नष्ट कर दिया। तद्‌मुर की सभ्यता यूनान, साम और मिस्र की सभ्यता का अद्भुत मिश्रण थी। इन दोनों स्वाधीन राज्यों के पश्चात् दो राज्य और कायम हुए—एक गस्सानी, जो बीजनीनी (Byzantine) राज्य के अधीन था, तथा दूसरा लख्मी, जो ईरानी राज्य के अधीन था। प्रथम राज्य की संस्कृति रूमियों से प्रभावित थी तथा द्वितीय की ईरानियों से। लख्मी तथा गस्सानी दोनों ने वास्तु में अधिक उन्नति कर ली थी। खवर्नक तथा सदीर दो भव्य प्रासाद उन्हीं के महान् कार्य है जिनका वर्णन प्राचीन अरबी साहित्य में भी मिलता है। गस्सानियों ने भी अपने भूखंड को सुंदर प्रासादों, जलकुंडों, स्नानागारों तथा क्रीडास्थलों से सुसज्जित किया था। इन दोनों राज्यों का उन्नतिकाल छठी शताब्दी ई० है। इसी प्रकार का एक राज्य मध्य अरब में किंदा के नाम से प्रसिद्ध था जो यमन के तुब्बा वंश के राजाओं के अधीन था। किंदा की सभ्यता यमनी सभ्यता थी। वह इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसने अरब के अनेक वंशों को एक शासक के अधीन करने का प्रथम प्रयत्न किया था।

नज्द तथा हिजाज में खानाबदोश रहा करते थे। इसमें तीन नगर थे—मक्का, यस्रिब तथा ताइफ। इन नगरों में बदवी जीवन के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते थे, यद्यपि अनेक वंश के लोग व्यापार किया करते थे। मध्य अरब के निवासियों का जीवन तथा सभ्यता बदवियाना थी और उनकी जीवनव्यवस्था गोत्रीय (कबीलाई) थी। इसी कारण युद्ध खूब हुआ करते थे। बदवियों का धर्म मूर्तिपूजा था। यस्रिब में कुछ यहूदी भी रहा करते थे। मक्का में काबा था जो जाहिली अरब के धार्मिक विश्वासों का स्रोत था।

इस्लामी सभ्यता—६१० ई० में, जैसा उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित है, ईशदूत हजरत मुहम्मद ने एक नवीन धर्म, नवीन समाज, तथा नवीन सभ्यता की नींव रखी। जब वह ६२२ ई० में मक्का से हिज्रत कर (छोडकर) मदीना गए तब वहाँ एक नवीन प्रकार के राज्य की स्थापना की। इस नवीन धर्म की प्रारंभिक शिक्षा का स्रोत कुरान है। उसकी आरंभिक तथा महत्वपूर्ण शिक्षाएँ तीन हैं १ तौहीद (एक ईश्वर की उपासना करना), २ रिसालत (हजरत मुहम्मद साहब को ईशदूत मानना), ३ परलोक (मआद) अर्थात् इस नश्वर संसार का एक अंतिम दिवस होगा और उस दिन प्रत्येक मनुष्य ईश्वर के समक्ष अपने कर्मों का उत्तर देगा। इस धर्म के महत्वपूर्ण संस्कारों में पाँच समय नमाज़ पढ़ना और वर्ष में एक बार हज करना, यदि हज करने में समर्थ हो, था। आर्थिक संतुलन कायम रखने के लिये प्रत्येक धनी मुसलमान का यह कर्तव्य माना गया कि अपनी वर्ष भर की बची हुई पूँजी में से २½ प्रतिशत वह दीन दुखियों की आर्थिक दशा के सुधार के लिये दे दे। नवीन समाज की रचना इस प्रकार की गई कि वे जाहिली अरब जो अनेकानेक जातियों में विभाजित थे सब एकबद्ध हो गए और उन्होंने पहली बार राष्ट्रीयता की कल्पना की। जाहिली समाज में केवल रक्तसंबंध जाति के प्रत्येक व्यक्ति को एकत्र रखता था परतु इस्लामी समाज में धर्म तथा भ्रातृत्व का संबंध प्रत्येक मुसलमान को एक ही झंडे के नीचे एकत्रित करता था। इसके अतिरिक्त इस्लामी समाज की नींव बिना किसी भेदभाव के धर्म, भ्रातृत्व तथा न्याय पर आधारित थी। नैतिक तथा सामाजिक बुराइयों से बचने की प्रेरणा मिली तथा सदाचार और परोपकार को प्रोत्साहन मिला। अतएव इस नवीन धर्म तथा समाज की नींव पर एक समुन्नत सभ्यता के भवन का निर्माण हुआ। ईशदूत (पैगंबर नबी) ने मदीना में एक नए ढंग के राज्य की स्थापना की जो गणतंत्रीय नियमों पर आधारित था। ऐसे शासन से उन्होंने केवल दस वर्ष में पूरे अरब देशों पर अधिकार कर लिया।

जब ६३२ ई० में मुहम्मद साहब का देहांत हुआ तो लगभग पूरे अरब के निवासी मुसलमान हो चुके थे। उनके देहांत के पश्चात् ६६१ ई० तक यह गणतंत्रीय शासन स्थापित रहा। तदनंतर मुहम्मद साहब के खलीफा (प्रतिनिधि) अबूबक्र, उमर, उस्मान और अली ने उन्हीं के ढंग पर शासन किया और गणतंत्र के तत्वों को कायम रखा। शासक तथा प्रजा के भेदभावों को समाप्त कर दिया गया तथा न्याय और भ्रातृत्व के आधार पर देश संघटित हुआ। राज्य की महत्वपूर्ण समस्याएँ परामर्श समिति द्वारा निश्चित की जाती थीं। इसी कारण इस काल को 'खुल्फ़ाएराशिदीन' का काल कहते है। ६६१ ई० से उमवी काल प्रारंभ होता है। उमवी राज्य के संस्थापक अमीर मुआविया थे। उनके राज्यारोहण से राज्य की परिस्थितियों में कई परिवर्तन हुए। खिलाफत (प्रतिनिधान) सल्तनत में परिवर्तित हो गया तथा गणतंत्र स्वाधीनता में। खलीफा या राजा जातीय तथा पैतृक होने लगे। खलीफा के निर्वाचन की प्रथा समाप्त हो गई। यह राज्य ७५० ई० तक कायम रहा। इसकी राजधानी दमिश्क थी। खुलफ़ाएराशिदीन तथा उमवी काल इस्लामी विजयों का काल है।

इन दोनों युगों में इस्लामी विजयों की प्रधानता रही। उमवी राज्य यूरोप में बिस्के की खाड़ी तथा उत्तरी अफ्रीका से पूर्व में सिंधु नदी तथा चीन की सीमा तक, उत्तर में अरब सागर से दक्षिण में नील नदी के झरनों तक फैल गया था। सन् ७५० ई० में यह राज्य अब्बासी खलीफाओं के अधिकार में आ गया। इस राज्य का संस्थापक अबुलअब्बास सफ्फाह था। अब्बासी राज्य की राजधानी बगदाद थी जो उन्हीं का बसाया हुआ एक नवीन नगर था। इसी समय स्पेन की खिलाफत अब्बासी खिलाफत से पृथक् हो गई। स्पेन के राज्य का संस्थापक ७५६ ई० में अब्दुर्रहमान उमवी था। अब्बासी राज्य का पतन १२५८ ई० में हलाकू खाँ द्वारा हुआ और स्पेन का राज्य १४९२ ई० में मिट गया।

सांस्कृतिक दृष्टि से खुल्फाएराशिदीन का काल प्रारंभिक है। अरब अपने साथ विजित देशों में ज्ञान तथा संस्कृति नहीं ले गए थे। साम, मिस्र, इराक तथा ईरान में विजित जातियों के समक्ष उनको झुकना पड़ा और उनका सांस्कृतिक नेतृत्व उन्हें स्वीकार करना पड़ा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उमवीकाल जाहिलीकाल से अधिक दूर न था, फिर भी ज्ञान का बीजारोपण उसी काल में हुआ। दमिश्क, कूफा, बसरा, मक्का, मदीना प्रारंभिक ज्ञान तथा ज्ञानियों के महत्वपूर्ण केंद्र थे। अब्बासी काल में ज्ञान और विद्या की जो उन्नति राजधानी बगदाद में हुई उसका प्रारंभ उमवी काल में ही हो चुका था, जब यूनानी, सामी तथा भारतीय संस्कृति अरब निवासियों को प्रभावित कर रही थी। अतः सर्वांगीण रूप से हम उमवीकाल को ज्ञानरूपी बालक के पालन पोषण का काल कह सकते हैं।

अरब सभ्यता का विकास उमवी खलीफा अब्दुलमलिक-बिन-मरवान (६८५-७०५) के काल से प्रारंभ होता है। उसने कार्यालयों की भाषा लातीनी, यूनानी तथा पह्लवी की जगह अरबी कर दी। विजित जातियों ने अरबी सीखना आरंभ कर दिया, यहाँ तक कि धीरे धीरे पश्चिमी एशिया के अधिकतर देशों तथा उत्तरी अफ्रीका की भाषा अरबी हो गई। यह सत्य है कि अरबों के पास अपनी संस्कृति नहीं थी, परंतु उन्होंने विजित जातियों को अपना धर्म तथा अपनी भाषा सिखाई और उनको ऐसे अवसर दिए कि वे अपना कृतित्व दिखा सकें। अरबों का सबसे महान् कार्य यह है कि उन्होंने विजित जातियों की सांस्कृतिक संभावनाओं को उभाड़ा और अपना धर्म तथा अपनी भाषा प्रचलित करके उनको भी अरब शब्द के अर्थ में सम्मिलित कर लिया और विजेता तथा विजित का अंतर समाप्त हो गया। उनमें शासन की योग्यता पूर्ण रूप से विद्यमान थी। उन्होंने न केवल शासनव्यवस्था में बीजंतीनी तथा सासानी राज्य के नियमों का अनुसरण किया, अपितु उनमें संशोधन करके उनको सुंदर बनाया। अरबों ने अनेक प्राचीन सभ्यताओं के मिटते हुए ज्ञान मूल से अनूदित और संरक्षित किए और उनका प्रचार, जहाँ जहाँ वे गए, यूरोप आदि देशों में उन्होंने किया।

ज्ञानविज्ञान तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से अब्बासी काल बहुत महत्व रखता है। यह उन्नति, एक सीमा तक भारतीय, यूनानी, ईरानी प्रभाव के कारण हुई। ज्ञान विज्ञान की उन्नति का प्रारंभ अधिकतर अनुवादों से हुआ जो ईरानी संस्कृत, सुर्यानी (सीरियक) तथा यूनानी भाषा से किए गए थे। थोड़े समय में अरस्तू तथा अफलातून की दर्शन की पुस्तकें, नव-अफलातूनी टीकाकारों की व्याख्याएँ, जालीनूस (गालेन) की चिकित्सा संबंधी पुस्तकें, गणित विद्या में निपुण उकलैदिस (युक्लिद) तथा बतलीमूस (प्तोलेमी) की पुस्तकें तथा ईरान और भारत की वैज्ञानिक तथा साहित्यिक पुस्तकें अनुवादों द्वारा अरबों के अधिकार में आ गईं। अतएव जिन शास्त्रों, विज्ञानों को सीखने में यूनानियों को शताब्दियाँ लग गई थीं उनको अरबों ने वर्षों में सीख लिया और केवल सीखा ही नहीं, उनमें महत्व के संशोधन भी किए। इसी कारण मध्यकालीन इतिहास में अरब वैज्ञानिक साहित्यिक दृष्टि से उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे। यह सत्य है कि इस सभ्यता का स्रोत प्राचीन मिस्री, बाबुली, फिनीकी तथा यहूदी सभ्यताएँ थीं और उन्हीं से ये धाराएँ बहकर यूनान आई थीं और इस काल में पुनः यूनानी ज्ञान विज्ञान तथा सभ्यता के रूप में उलटी बहकर पूर्वी देशों में आ रही थीं। इसके पश्चात् ये ही सिकिलिया (सिसिली) तथा स्पेन पहुँचीं और वहाँ के अरबों ने फिर इन धाराओं को यूरोप पहुँचाया।

अरबों के वैज्ञानिक जागरण, विशेषतः नैतिक साहित्य तथा गणित में, भारत ने भी प्रारंभ में भाग लिया था। ज्योतिष विद्या के एक ग्रंथ पत्रिका-सिद्धांत का अनुवाद मुहम्मद बिन इब्राहीम फजारी ने ((मृ० ७९६-८०६ के बीच कभी) किया और वही मुसलमानों में प्रथम ज्योतिषी कहलाया। उसके पश्चात् ख्वारिज्मी (मृ० ७५०) ने ज्योतिष विद्याओं में बहुत परिवर्धन किया तथा यूनानी व भारतीय ज्योतिष में अनुकूलता लाने का प्रयत्न किया। इसके पश्चात् अरबों ने गणित के अंकों तथा दशमलव भिन्न के नियम भी भारतीयों से ग्रहण किए। अरबी भाषा में सर्वप्रथम साहित्यिक पुस्तक 'कलीला व दिमना' है जिसका अब्दुल्ला बिन मुकफ्फा (मृ० ७५०) ने पह्लवी से अनुवाद किया था। इस पुस्तक की पह्लवी प्रति का नौशेरवाँ के समय संस्कृत से अनुवाद किया गया था। इस पुस्तक का महत्व इस कारण है कि पह्लवी प्रति की प्राप्ति संस्कृत प्रति के समान ही दुर्लभ है, परंतु अब भी ये कहानियाँ पंचतंत्र में विस्तारपूर्वक मिल सकती हैं। इस बीच अब्बासी खलीफा मामून (८१३-८४४) ने बगदाद में बैतुल हिक्मत की स्थापना की जो वाचनालय तथा अनुवादभवन था, ज्ञान-संस्थान। इस अकादमी द्वारा यूनानी वैद्यकशास्त्र, गणित तथा यूनानी दर्शन का परिचय मुसलमानों को हुआ। इस समय के अरबी अनुवादकों में प्रसिद्ध हुनैन बिन इस्हाक (८०९-७३) तथा साबित बिन कुर्रा (८३६-९०) हैं।

अनुवादकाल लगभग एक शताब्दी तक रहा। उसके पश्चात् स्वयं अरबों में उच्च कोटि के लेखकों ने जन्म लिया जिन्होंने विज्ञान तथा साहित्य के भांडार में परिवर्धन किया। उनमें से अपने विषय में दक्ष लेखकों के नाम निम्नलिखित हैं

वैद्यक में राजी (८५०-९२३) तथा इब्नसिना (९८०-१०३७), ज्योतिष तथा गणित में बत्तानी (८७७-९१८), अलबरूनी (९७३-१०४८) तथा उमर खैयाम (मृ० ११२३-४), रसायनशास्त्र में जाबिर बिन हय्याम (८वीं शताब्दी), भूगोल में इब्न खुर्दादबेह (मृ० ९१२), याकूबी (९वीं शताब्दी के अंत में), इस्तखरी (१०वीं शताब्दी में), इब्न हौकल (१० वीं शताब्दी), मक्दसी (१०वीं शताब्दी में), हम्दानी (मृ० ९४५) तथा याकूत (१०७९-१२२९), इतिहास में इब्न हिशाम (मृ० ८३४), वाकिदी (मृ० ८२३), बलाजुरी (मृ० ८९२), इब्न कुतैबा (मृ० ८८९), तबरी (८३८-९२३), मसूदी (१०वीं शताब्दी में), अबुल अमीर (११६०-१२३४) तथा इब्न खल्दून (१३३२-१४०६), धर्मशास्त्र में बुखारी (८१०-७०), मुस्लिम (मृ० ८७५), विशेषतः फिक्ह (इस्लामी धार्मिक विधान) में अबूहनीफा (मृ० ७६७), इमाम मालिक (७१५-७९५), इमाम शाफई (७६७-८२०) तथा इब्न हंबल (मृ० ८५५)।

अरबों ने साहित्यिक सेवाओं के साथ साथ ललित कलाओं में न केवल अभिरुचि दिखलाई, अपितु विश्व के सांस्कृतिक इतिहास में अरबी कला का महत्वपूर्ण अध्याय खोल दिया। जिस प्रकार अरबी साहित्य पर बाह्य प्रभाव पड़ा उसी प्रकार वास्तु, संगीत तथा चित्रकला पर भी पड़ा। अतएव विजित जातियों के मेलजोल से वास्तुकला की नींव पड़ी और शनैः शनैः इस कला में अनेकानेक शैलियाँ निकलीं, जैसे **सामी-मिस्री**, जिसमें यूनानी, रूमी तथा तत्कालीन कला का अनुसरण किया जाता था, **इराकी-ईरानी** जिसकी नींव सासानी, किल्दानी तथा असूरी शैली पर पड़ी थी, उंदुलुसी **उत्तरी अफ्रीकी**, जो तत्कालीन ईसाई तथा विजीगोथिक से प्रभावित हुई और जिसे मोरिश की संज्ञा दी गई, **हिंदी**, जिसपर भारतीय शैली का गहरा प्रभाव है। इन सभी शैलियों के प्रतिनिधि भवनों में निम्नलिखित विख्यात हुए कुब्बतुस्सखरा (बैतुल मुकद्दस), जामे दमिश्क, मस्जिद नबवी, दमिश्क के राजकीय प्रासाद (जो अलखज़रा के नाम से प्रसिद्ध थे), बगदाद के शाही प्रासाद, मस्जिदें, पाठशालाएँ तथा चिकित्सालय, कर्तुबा (कोर्दोवा) के शाही प्रासाद (जो अलहम्रा के नाम से प्रसिद्ध थे) तथा वहाँ की जामे मस्जिद। चित्रकला में अरबों ने नवीन प्रणाली प्रारंभ की जिसको यूरोपीय भाषा में अरबेस्क कहते हैं। इस काल मनुष्य तथा पशुओं के चित्रों के स्थान पर सजावट का काम सुंदर फलपत्तियों तथा बेलबूटों से लिया गया। इसी प्रकार सुलेख (कैलीग्राफी) को भी एक कला समझा जाने लगा।

संगीतकला में भी बाह्य प्रभाव से नवीन प्रणाली की नीव पड़ी। अरबो के प्रागिस्लामी गीत मनमोहक तथा सरल होते थे परतु विशेषत ईरानी तथा रूमी संगीत के प्रभाव से अरबी संगीत मे राग रागिनियो का आविर्भाव हुआ और इसमे इतनी उन्नति हुई कि अब्बासीकाल मे अबुलफर्ज इस्फहानी (८९७-९६७) ने एक पुस्तक की रचना की जिसका नाम किताबुलआगानी है। यह पुस्तक संगीत के सौ राग एकत्र करती है तथा तत्कालीन साहित्यिक एवं सास्कृतिक ज्ञान का भाडार है।

सं०ग्रं०—एन्साइक्लोपीडिया ग्राव इस्लाम, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, हिस्ट्री ऑव अरब, अरब इन हिस्ट्री। (अ० अ०)

अरबी साहित्य अरबी साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी चिरकालिकता है। उसने अपने दीर्घ जीवन मे विभिन्न प्रकार के उतार चढ़ाव देखे और उन्नति एव अवनति की विभिन्न अवस्थाओ का अनुभव किया, तथापि इस बीच शृखलाएँ अविच्छिन्न तथा परस्पर सबद्ध रही और उसकी शक्ति एव सामर्थ्य मे अभी तक कोई अतर नही आया।

(अ) पूर्व-पैगंबर-काल (आरभ से सन् ६२२ ई० तक) सबसे पहला मोड, जिससे अरबी साहित्य प्रभावित हुआ, इस्लामी क्रांति है। इस आधार पर सन् ६२२ ई० से उसके जीवन का एक नया युग प्रारभ हुआ जब ईश्वर के संदेशवाहक (रसूलुल्लाह) मक्का छोड़कर मदीना चले गए। इससे पहले का काल इस्लाम की परिभाषा मे 'जहालत' का युग कहलाता है और आज हमे अरबी साहित्य की जो प्राचीनतम पूँजी उपलब्ध है वह इसी युग की है। यह लगभग समस्त पूँजी पद्यो के रूप मे ही है जो पाँच और अधिकतर छठी शताब्दी ईसवी के अरबी कवियो द्वारा प्रस्तुत की गई है। चूँकि उन दिनो अरबी के लिखित रूप का प्रचलन नही था, अत वे पद्य शताब्दियो तक रावियो के कठो मे ही सुरक्षित रहे और वश की परपरागत मौखिक निधि बने रहे। तत्पश्चात् ८वी तथा ९वी शताब्दियो मे जब विद्या तथा कला का प्रारभ हुआ, इनको विभिन्न प्रकार से पुस्तको मे एकत्रित कर लिया गया।

ये ही कविताएँ अरबी साहित्य के प्रारभिक उदाहरण हैं। फिर भी ये उसकी बाल्यावस्था की परिचायक नही बल्कि उसकी प्रौढ़ता की सूचक हैं, गभीर और स्वस्थ। जब विद्वान् उस युग की कविता के बाँकपन पर दृष्टिपात करते है, तब चकित रह जाते हैं और उनको मानना पड़ता है कि उनकी यह सफाई और रौनक शताब्दियो के अभ्यास एव प्रयास के बिना प्राप्त नही हुई होगी। परतु यह सब हुआ किस प्रकार, इसका वास्तविक ज्ञान अभी हमको नही है। फिर भी इसमे सदेह नही कि मुहम्मदपूर्व की कविता प्रौढ़ है। अत प्रत्येक युग मे उसके सौदर्य, गुणो तथा विशेषताओ को स्वीकार किया गया है और आज भी उसका मान तथा गौरव मान्य है।

इस्लाम के अभ्युदय से पूर्व अरब मे कविता अपनी जवानी पर थी। मेलो तथा बाजारो मे कविसम्मेलन प्राय हुआ करते थे। समाज मे कवियो को बडा आदर प्राप्त था। अत जब कोई नया कवि प्रसिद्ध होता था तब उसके कबीले की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर उत्सव मनाती और मगलगीत गाती थी। दूसरे कबीले के लोग उस कवि के कबीलेवालो को बधाई देते थे, क्योकि कवि ही कबीले के महान् कार्यो का रक्षक तथा उसकी मानमर्यादा का निरीक्षक होता था। यही कारण है कि प्राय कवि ही कबीले का अध्यक्ष हुआ करता था। सधि एव युद्ध और प्रसिद्धि एव कलक कवि के ही हाथ मे होते थे। उसकी ओजपूर्ण कविताएँ मुरझाए हृदयो मे उत्साह भर देती थी और मधुर गीत आवेशपूर्ण मस्तिष्को को सात्वना देते थे। वह जिसकी प्रशसा कर देता था उसकी प्रसिद्धि बढ जाती थी और जिसकी बुराई कर देता था उसका कही मुँह छिपाने को भी स्थान नही मिलता था।

कविता का प्रधान एव प्रचलित रूप कसीदा था। इसी क्षेत्र मे कविगण अपना कौशलप्रदर्शन करते थे। इसका आरभ प्राय इस प्रकार होता है मानो कवि किसी यात्रा मे कुछ पुराने भग्नावशेषो (खडहरो) के सामने खडा है जहाँ उसने पहले कभी निवास किया था। यह ढग अरब के कवियो के लिये समस्तरूपेण वास्तविक तथा समीचीन है क्योकि अरबनिवासी सदैव खानाबदोशो की भाँति चरागाहो की खोज मे चलते फिरते रहते थे। कुछ दिनो तक एक स्थान पर निवास कर चुकने के बाद वे वहाँ से कूच कर देते थे। इस अस्थायी निवासकाल मे विभिन्न कबीलो से मित्रता तथा शत्रुता की असंख्य घटनाएँ घटित होती थीं। अत जब कभी दूसरी बार उस जगह से होकर वह गुजरते थे तब पूर्वस्मृतियो का सिंहावलोकन स्वाभाविक हो जाता था। अत उन भग्नावशेषो को देखते ही कवि की आँखो के सामने पिछली घटनाओ के चित्र आ जाते थे और वह अपनी प्रेम की घटनाओं तथा वियोग की अवस्थाओ का वर्णन स्वत करने लगता था। इस सबध मे वह अपनी प्रेमिका के सौदर्य तथा स्वभाव सबधी विशेषताओ का मनोहर चित्र उपस्थित करता था। फिर मानो वह अपनी यात्रा दोबारा आरभ कर देता था और रेतीली पहाडियो, टीलो तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन मे लीन हो जाता था। उस समय वह अपने घोडे या अपनी ऊँटनी की चाल, डीलडौल तथा सहनशीलता की विशुद्ध प्रशसा करता था। उसको शुतुरमुर्ग, जगली बैल या दूसरे पशु से उपमा देता था और अपनी यात्रा एव भ्रमण तथा युद्ध एव मारकाट का वर्णन करता था। उसके बाद अपने और कबीले के महान् कार्यो और उच्चादर्शो का वर्णन बडे गौरव के साथ करता था। तत्पश्चात् यदि कोई विशेष उद्देश्य उसके समक्ष होता था तो वह उसका भी वर्णन करता था। इस प्रकार कसीदा अपनी चरमसीमा तक पहुँच जाता है। सामान्य रूप से कसीदे के यही अग होते हैं जिनमे परस्पर कोई गहरा लगाव और दृढ़ सबध नही होता। वह विभिन्न प्रकार के छोटे बडे मोतियो के हार के समान होता है जिसमे से कुछ मोती बडी सुगमता से निकालकर दूसरे हारो मे पिरोए जा सकते है।

इस युग की कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि वह वास्तविकता के बहुत निकट है। कवियो ने जो कुछ वर्णन किया है वह उनका यथार्थ अनुभव तथा निरीक्षण है। इसीलिये इस सबध मे यह किवदती है कि 'अल-शेर दीवानुल अरब' अर्थात् कविता अरब का भाडार है। प्रकट है कि इस कविता का अरब के प्राचीन इतिहास के निर्माण मे महत्वपूर्ण योग रहा है। उस काल के कुछ विशेष प्रसिद्ध कवियो के नाम है—इम्रोउल-कैस, जुहैर, तरफह, लबीद, अम्र-बिन-कुल्सूम, अतरह, नाबिगह, हारिस बिन हिल्लिज्जा और आयशा।

(आ) पैगबर का युग—उचित उत्तराधिकारीकाल तथा उमैय्याकाल (सन् ६२२ ई० से ७५० तक)। इस्लाम के अभ्युदय के पश्चात् कुछ समय तक कविता के क्षेत्र मे बहुत शिथिलता रही, क्योकि अरबो का ध्यान पूर्णरूपेण इस्लामी क्राति पर केंद्रित रहा। उनका उत्साह धर्म के प्रचार तथा देशो की विजय मे लग गया। कविता के प्रति उनकी उपेक्षा का एक बडा कारण यह भी हुआ कि अब तक जो वस्तुएँ उनको विशेष रूप से प्रेरित करनेवाली थी—जैसे जातीय पक्षपात, गोत्रीय गौरव, दोषारोपण एव घृणा, अहकार, मारकाट, मद्यपान, द्यूतक्रीडा इत्यादि—उन सबको इस्लाम ने निषिद्ध घोषित कर दिया था। इसी से इस्लाम के प्रारभिक समय की जो सक्षिप्त कविताएँ मिलती है उनका विषय 'जहालत के युग' की कविताओ से भिन्न है। इनमे इस्लाम के विरोधियो की बुराई की गई है और रसूलुल्लाह की प्रशसा तथा इस्लाम का समर्थन हुआ है। इस्लाम के सिद्धातो एव विचारधाराओ का प्रतिबिब भी इनपर पर्याप्त मात्रा मे दृष्टिगोचर होता है। इस काल के कवियो मे हस्सान-बिन-साबित (मृ० सन् ६७३ ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रसूलुल्लाह के पश्चात् उचित-उत्तराधिकारीकाल मे भी कविता की यही अवस्था रही। आपके चार उत्तराधिकारी (खलीफा), विद्वान् एव समस्त महानुभाव इस्लाम धर्म के सिद्धातो के प्रचार तथा जनसाधारण के आचरणसुधार मे जुटे रहे। उन्होने कविता की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया।

फिर जब सन् ६६१ ई० मे उमैय्या वश का राज दमिश्क मे स्थापित हुआ तो कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुई कि पुराना जातीय पक्षपात फिर जाग्रत हो गया। असख्य राजनीतिक दल उठ खडे हुए और एक दूसरे से बुरी तरह से उलझ गए। प्रत्येक दल ने कविता के शस्त्र का प्रयोग किया और कवियो को अपनी इच्छापूर्ति का साधन बनाया। फलस्वरूप कविता का बाजार एक बार फिर गरम हो गया। परतु इसकी सामान्य शैली लगभग वही थी जो जहालत के युग की कविताओ की थी। इतना अवश्य है कि भाषा एव वर्णन मे कुछ मिठास और शिष्टता की झलक दिखाई जाती है। इस काल का प्रत्येक कवि किसी न किसी दल का समर्थक था जिसकी प्रशसा मे वह अपनी पूरी कवित्वशक्ति अर्पित कर देता था। साथ ही विरोधियो पर दोषारोपण करने मे भी वह कोई कसर नही रखता था। इसीलिये

इस काल की अधिकांश कविताओं के वर्ण्य विषय प्रशंसा एवं दोषारोपण पर आधारित हैं। अख़्तल (मृ० सन् ७१३ ई०) की गणना प्रथम कोटि के कवियों में होती है। इस युग की एक विशेषता फरज़दक़ और जरीर की पारस्परिक कविताप्रतिद्वंद्विता भी है जो इतनी प्रसिद्ध थी कि युद्धक्षेत्र में सैनिक भी इन्हीं दिनों की कविता से संबंधित वादविवाद किया करते थे।

दूसरी ओर अरब में विशेष रूप से ग़ज़लिया शायरी (प्रेमकविताओं) का प्रचलन था जिसमें उमर-बिन-अबी रबीआ (मृ० सन् ७१९ ई०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। कुछ प्रेमी कवि भी बहुत प्रसिद्ध थे, जैसे जमील (मृ० सन् ७०१), जो बुसैना का प्रेमी था और मजनूँ जो लैला का प्रेमी था। इनकी कविताएँ सौंदर्य तथा प्रेम की संवेदनाओं एवं घटनाओं और संयोग वियोग के अनुभवों तथा अवस्थाओं से परिपूर्ण हैं और उनमें संवेदन, प्रभाव, सौंदर्य, मधुरता, मनोहारिता एवं मनोरंजकता भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

(इ) **अब्बासी युग** (७५० ई० से १२५८ ई० तक)—यह काल प्रत्येक दृष्टिकोण से स्वर्णयुग कहलाने का अधिकारी है। इसमें हर प्रकार की उन्नति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। खलीफा से लेकर जनसाधारण तक सब विद्या तथा कलाकौशल को उन्नत बनाने में तन मन से लगे हुए थे। बगदाद राजधानी के अतिरिक्त विस्तृत इस्लामी राज्य में असंख्य शिक्षाकेंद्र स्थापित थे जो विद्या तथा कलाकौशल की उन्नति के लिये एक दूसरे से आगे बढ जाने की होड़ कर रहे थे। इस समुपयुक्त वातावरण के फलस्वरूप कविता का उद्यान भी लहलहाने लगा। सभ्यता तथा संस्कृति की उन्नति और अन्य जातियों तथा भाषाओं के मेल से नवीन विचारधाराएँ और नए शब्द एवं वाक्यांश कविता में स्थान पाने लगे। विचारों में गंभीरता एवं बारीकी और शब्दों में प्रवाह एवं माधुर्य आने लगा। विभिन्न वर्णनशैलियाँ निकाली गईं और प्रशंसा एवं दोषारोपण के विभिन्न ढंग निकाले गए जिनमें अतिशयोक्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया। इस क्षेत्र के योद्धाओं में अबू तमाम (मृ० ८४३ ई०), बहतुरी (मृ० सन् ८९७ ई०) और मुतनब्बी (मृ० सन् ९६५ ई०) अग्रणी थे। इसके अतिरिक्त पूर्वसीमाओं तथा प्रतिबंधों को तोड़कर कविताक्षेत्र को और भी विस्तृत किया गया तथा उसमें विभिन्न राहें निकाली गईं। एक ओर प्रेम और आसक्ति की घटनाओं और फाकामस्ती के वर्णन निस्संकोच किए गए। इस दिशा का प्रतिनिधि कवि अबूनुवास (मृ० सन् ८१० ई०) था। दूसरी ओर विरक्ति, पवित्रता और उपदेश की धाराएँ प्रवाहित हुईं। इस क्षेत्र में अबुल अताहिया (मृ० ८५० ई०) सर्वप्रथम था। इसी प्रकार अबुल अला अलमअर्री (मृ० सन् १०५७ ई०) ने मानवता के विभिन्न अंगों पर दार्शनिक ढंग से प्रकाश डाला और इब्नुल फारिज़ (मृ० १२३५ ई०) ने आध्यात्मिकता के वायुमंडल में उड़ान भरी।

यहाँ स्पेन की अरबी कविता का वर्णन भी विशेष रूप से अभीष्ट है। वहाँ मुसलमानों का राज लगभग ८०० वर्ष रहा। इस बीच विद्या तथा कलाकौशल ने वहाँ ऐसी उन्नति की कि उसे देखकर यूरोप शताब्दियों तक आश्चर्यचकित रहा। यहाँ की अरबी कविता भी प्रारंभ में प्राचीन मुहम्मद पूर्व युग की कविता के ढंग पर चली, परंतु शीघ्र ही स्थानीय जलवायु ने उसे अपने रंग में रँगना शुरू किया और अंत में उसको एक नया रूप और सौंदर्य प्राप्त हुआ। इसकी दो विशेषताएँ हैं : एक तो प्राकृतिक दृश्यों का चित्ताकर्षक वर्णन, दूसरी प्रेमभावनाओं की मनोहारिणी कहानी। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि यहाँ लोकभाषा में एक नई प्रकार की कविता ने प्रौढ़ता प्राप्त कर राजा रंक सबका मन हर लिया। स्पेन का कण कण उसके रागों से द्रवित हो गया। वहाँ के प्रसिद्ध कवियों में इब्ने हानी (मृ० ९७३ ई०) और इब्ने जदून (मृ० १०७१ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस काल में अरबी गद्य ने भी बहुत उन्नति की। प्रारंभ में इब्नुल मुक़फ़्फ़ा (मृ० ७६० ई०) ने दूसरी भाषाओं की कुछ पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया जिनमें कलीलह् व दिमना (मूल संस्कृत 'पंचतंत्र') बहुत प्रसिद्ध हैं। फिर प्राचीन कथा कहानियों को बड़ी शीघ्रता के साथ पुस्तकों में संकलित किया जाने लगा। एक ओर तो कथा कहानियों पर लेखनशक्ति का प्रयोग किया गया और मनोरंजक ढंग को चित्ताकर्षक शैली में प्रस्तुत किया गया। इस संबंध में अलिफलैला का नाम बहुत प्रसिद्ध है जो विभिन्न प्रकार की सैकड़ों कहानियों का संग्रह है। दूसरी ओर खलीफाओं, महापुरुषों, कवियों, साहित्यकारों और विद्वानों के परिचय, सदाचार, शिष्टाचार, दंतकथाओं, कलाकौशल आदि के वर्णन एकत्र किए गए। इस क्षेत्र के मीर प्रसिद्ध महानुभाव जाहिज़ (मृ० ८६९ ई०) थे। इनके पश्चात् इस क्षेत्र में सक्रिय भाग लेनेवालों में इब्ने क़ुतैबह (मृ० ८८९ ई०), इब्ने अब्दे रब्बी (मृ० ९३९ ई०) और अबुल फरज अस्फ़हानी (मृ० ९६७ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी पुस्तकों को अरबी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है।

इस काल के साहित्यिक लेखों में तुकांत गद्य को भी अधिक ख्याति प्राप्त हुई और उसका महत्व इतना बढ गया कि उसे उच्च कोटि के गद्य का अत्यावश्यक अंग माना जाने लगा। अंत में इसकी उन्नति मकामात के रूप में अपनी चरम सीमा पर पहुँची और वास्तविकता यह है कि बहुतेरे साहित्यमर्मज्ञों की राय में इससे अधिक उच्च स्तर का साहित्य अब तक अस्तित्व में नहीं आया था। मकामात का केंद्र विदूषक नायक होता है और उसकी शैली नाटकीय होती है। प्रत्येक मकामह साहित्यिक संग्रह होता है जिसमें नायक अपने ज्ञान संबंधी वर्णनों तथा साहित्यिक हास परिहास एवं योग्यता के द्वारा अपने समस्त प्रतिद्वंद्वियों को पूर्णरूपेण हराकर सब दर्शकों को आश्चर्य में डाल देता है। उसमें कथावस्तु कुछ नहीं होती, केवल साहित्यिक अतिशयोक्ति तथा वर्णनशैली का चमत्कार ही सब कुछ होता है। बदीउज्जमाँ हमदानी (मृ० १००७ ई०) और बाद हरीरी (मृ० सन् ११२२ ई०) अरबी साहित्य के इस काल के आकाश में चंद्र सूर्य की भाँति चमकते हैं।

इसके अतिरिक्त असंख्य विद्याओं एवं कलाओं, जैसे तफ़सीर (क़ुरान की व्याख्या) हदीस, फ़िक़ह (कानून), इतिहास, निरुक्त, मंतिक, दर्शन, ज्योतिष, भूमिति, गणित इत्यादि के क्षेत्र में सहस्रों ऐसे विद्वानों ने कार्य किया। इनकी असंख्य कृतियों में ज्ञान का बहुमूल्य संग्रह एकत्र है और इनमें से सैकड़ों पुस्तकों की गणना उच्च कोटि की ज्ञान संबंधी तथा साहित्यिक कृतियों में होती है। इनसे आज तक विद्वान् लाभ उठाते और उनके समुद्र में डुबकी लगाकर बहुमूल्य मोती निकालते रहे हैं। फिर भी, उनके भांडार का बहुत बड़ा भाग अभी तक अज्ञात और संसार की दृष्टि से ओझल है जो विद्या एवं कला के जिज्ञासुओं को खोज और निरंतर परिश्रम के लिये आमंत्रित करता है।

(ई) **मुसलमानों तथा तुर्कों का शासनकाल** (सन् १२५८ ई० से १७९८ ई० तक)—बगदाद का राज्य अब्बासी राजत्वकाल से ही पतनोन्मुख हो चुका था। अब इस युग में उसके टुकड़े टुकड़े हो गए। मुगलों, तुर्कों और दूसरी जातियों में प्रभुता विभाजित हो गई। राजनीतिक क्रांति का प्रभाव ज्ञानजगत् पर भी पड़ना अनिवार्य था। अंत: इस लंबे समय में ज्ञान एवं साहित्य में कोई प्रगति नहीं हुई। कविता तो वास्तव में बिलकुल निष्प्राण हो चुकी थी। कवि केवल शाब्दिक क्रीडा में लीन थे। मौलिकता का पता नहीं था। प्राचीन विषयों तथा विचारों का पिष्टपेषण हो रहा था। अलबूसीरी (मृ० १२९६ ई०) की निस्संदेह कविता में बहुत प्रसिद्धि हुई जिसका आधार विशेष रूप से वह कसीदा है जो उसने रसूलुल्लाह के सम्मान में लिखा था। इसके अतिरिक्त सफीउद्दीन हिल्ली (मृ० १३५० ई०) का नाम भी बहुत विख्यात है जिसे इस काल का सबसे बड़ा कवि कहा जा सकता है।

निस्संदेह इतिहासलेखन ने इस काल में उत्तरोत्तर उन्नति की। इस काल के ऐतिहासिक कार्यों में विस्तृत दृष्टिकोण और यथार्थप्रियता के चिह्न पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस संबंध में इब्ने खल्दून (मृ० १४०६ ई०) का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसने इतिहासलेखन में एक नई शैली का सूत्रपात किया। उसने अपने इतिहास की भूमिका में बहुत सी ज्ञान संबंधी, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का बहुत सुंदर वर्णन किया है और इतिहास का एक विस्तृत दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। अंत: उस भूमिका का महत्व स्वतंत्र पुस्तक से भी अधिक है। बाद के यूरोपीय इतिहासकार मैकियावली, वीको और गिबन इत्यादि वास्तव में इब्ने खल्दून के ही अनुयायी हैं।

इस काल में कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो अनेक विद्याओं तथा कलाओं में समान दक्षता रखते थे। इसलिये उनके व्यक्तित्व को किसी एक क्षेत्र में

सीमित नही किया जा सकता। इब्ने तैमीयह (मृ० १२३८ ई०), जहबी (मृ० १३४७ ई०), इब्नेहजर अस्कलानी (मृ० १४४९ ई०) और जलालुद्दीन सुयूती (मृ० १५०५ ई०) ऐसे ही विद्वान् है। यह मडल इस काल के प्रकाशहीन आकाश में जुगनू की भाँति चमक रहा है। इनकी सैकड़ों कृतियों में समस्त प्रकार की विद्याओं और कलाओं का कोष भरा हुआ है। इनके अतिरिक्त इब्ने मजूर (मृ० १३११ ई०) व्याकरण, निरुक्त और साहित्य का बहुत बड़ा विद्वान् और अन्वेषक हुआ है। 'लिसानुल अरब' उसकी विशाल कृति है जिसकी गणना शब्दकोश तथा साहित्य की चोटी की पुस्तकों में होती है।

(उ) **आधुनिक काल** (सन् १७९८ ई० से अब तक)—यह अरबी साहित्य का पुनर्जागरणकाल है जिसका प्रारंभ मिस्र पर नेपोलियन के आक्रमण से होता है। इस काल में कुछ ऐसे कारण और परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई कि अरबी साहित्य में जीवन की एक नई लहर दौड़ी और उसमें नई नई शाखाएँ फूट निकलीं। पश्चिमी संस्कृति एवं सभ्यता, ज्ञान एवं साहित्य और विचारधारा एवं दृष्टिकोण ने अरब देश को बहुत प्रभावित किया। आधुनिक ढंग के विद्यालयों का श्रीगणेश हुआ, मुद्रणकला का आविष्कार तथा पत्रिकाओं एवं समाचारपत्रों का प्रचार हुआ। ज्ञान संबंधी साहित्यिक संस्थाएँ स्थापित हुईं। इस प्रकार अरब जाति नवीन प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों से परिचित हुई। स्वतंत्रता, देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाएँ जाग्रत हुईं। राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं में भी परिवर्तन हुआ। फलस्वरूप अरबी साहित्य में एक क्रांति का जन्म हुआ।

कविता ने करवट बदली। उसमें जीवन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। शाब्दिक चमत्कार के स्थान पर अब वर्ण्य विषय की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। राजनीतिक कविताएँ एवं राष्ट्रीय गान लिखे जाने लगे। अन्य भाषाओं की कविताओं के अरबी में पद्यानुवाद किए गए। उर्दू के गौरवान्वित कवि अल्लामा इकबाल की कविताओं का भी अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त कविता के मानदंड (छंद) भी बदल गए। कुछ कवियों ने स्वच्छंद कविताएँ भी लिखीं और प्राचीन शैली के विरुद्ध एक एक विषय पर ठोस कविताओं की रचना हुई। इस काल के विशिष्ट कवियों के नाम ये हैं अल बारूदी (मृ० १९०४ ई०), हाफिज इब्राहीम (मृ० १९३२ ई०), शौकी (मृ० १९३२ ई०), रुसाफी (मृ० १९४५ ई०), खलील मतरान (मृ० १९४९ ई०), अबूशादी (मृ० १९५५ ई०), अब्दुर्रहमान सिद्की, अब्दुर्रहमान बदवी और सुलेमान अल ईसा इत्यादि।

आधुनिक युग में पद्य की अपेक्षा गद्य पर अधिक जोर दिया गया और उसमें साहित्य के अन्य अंगों की अभिवृद्धि की गई। मारून नक्काश (मृ० १८५५ ई०) ने अरबी साहित्य में नाटक का श्रीगणेश किया। कुछ समय पश्चात् अब्दुल्ला नदीम (मृ० १८९६ ई०) और नजीब-अल-हद्दाद (मृ० १८९९ ई०) ने इस ओर ध्यान दिया। फिर शीघ्र ही नाटककला ने इतनी अधिक उन्नति की कि आजकल उसकी गणना उच्च साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में होती है। इसी प्रकार उपन्यासों और संक्षिप्त कहानियों को भी मान्यता प्राप्त हुई। पहले यूरोप की भाषाओं से हर प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेम संबंधी तथा हास्यरस की कथाएँ अरबी में रूपांतरित की गईं। तत्पश्चात् इस विषय की मौलिक रचनाएँ भी साहित्यक्षेत्र में आने लगीं जिनमें प्राचीन अरबी सभ्यता को प्राणवान् बनाने और राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने का काम लिया गया। इस क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्ति ये हैं—अब्दुलकादिर माजिनी (मृ० १९४९ ई०), मुहम्मदहुसेन हैकल (मृ० १९५६ ई०), महमूद तैमूर, तौफीक-अल-हकीम, मुहम्मद फरीद, अबू हदीद, रहमान अब्दुल कुद्दूस और अजीज अबाजह।

उच्च कोटि के साहित्यकारों में अल मनफलूती (मृ० १९२४ ई०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह एक विशिष्ट शैली का प्रभावशाली अधिष्ठाता है। समाज की अव्यवस्थित दशाओं और जीवन के अप्रिय कटु अनुभवों का उसने जो सुंदर चित्रण किया है वह उसी का भाग है। खलील जिब्रान (मृ० १९३१ ई०) ने भी सुंदर साहित्य का उच्चादर्श प्रस्तुत किया है। इस काल का सबसे बड़ा लेखक निस्संदेह मुस्तफा सादिक राफिई (मृ० १९३७ ई०) है जिसकी पुस्तक वह्युलकलम अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है। आधुनिक काल में इतिहास और समालोचना की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया। प्राचीन ज्ञान संबंधी और साहित्यिक पूँजी का वर्तमान सिद्धांतों के प्रकाश में परीक्षण करने का काम शीघ्रतापूर्वक हो रहा है। डाक्टर ताहा हुसैन, अल-जैयाद और अल-अक्काद इत्यादि अत्यंत उच्च कोटि के साहित्यकार, विचारक और आलोचक हैं। इन लोगों ने इस्लामी सभ्यता, साहित्य के इतिहास एवं ज्ञान और साहित्य के अन्य अंगों में संबंधित वर्तमान शैली के अनुकरणस्वरूप बहुत सुंदर कृतियाँ प्रस्तुत की।

वर्तमान काल के साहित्यकारों और आलोचकों में दो दृष्टिकोण प्रत्यक्ष रूप से मिलते हैं। कुछ तो प्राचीन शैली के पक्ष में है। वे पश्चिम की समस्त ज्ञान संबंधी एवं साहित्यिक धनराशि और आधुनिक प्रवृत्तियों एवं दृष्टिकोणों से पूरा पूरा लाभ उठाने के साथ साथ अपने प्राचीन सिद्धांतों, जातीय परंपराओं तथा मानमर्यादा को भी स्थिर रखना चाहते है और इसके विपरीत कुछ अरबी साहित्य को बिलकुल पश्चिमी विचारधारा और वर्णनशैली में ढाल देना चाहते है। वे किसी प्राचीन बात को उस समय तक मानने के लिये तैयार नही है जब तक वह वर्तमान विचारधारा के मापदंड पर पूरी न उतर जाए। इस प्रकार विभिन्न चिंतनसंस्थाओं के उदय और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष से अरबी साहित्य विभिन्न प्रकार से लाभान्वित हुआ है। अत वह अपने क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करता हुआ शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ता जा रहा है और प्रतिदिन महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर रहा है जिससे उसकी महिमा और स्थायी अस्तित्व के लक्षण परिलक्षित है।

सं०ग्रं०—जुर्जी जैदान अरबी भाषा के साहित्य का इतिहास (अरबी), हन्ना-अल-फाखूरी अरबी साहित्य का इतिहास (अरबी), आर० ए० निकल्सन अरबों का साहित्यिक इतिहास (अंग्रेजी), इंसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम (अरबी-अंग्रेजी), इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (अंग्रेजी)। (हा० मु० मु०)

अरस्तू ३२३ ई० पू० में चंद्रगुप्त मौर्य राजसिंहासन पर बैठा। उसी साल जगद्विजेता सिकंदर की मृत्यु हुई। इसके एक साल बाद सिकंदर के गुरु अरस्तू ने शरीर त्यागा। उस समय अरस्तू की उम्र ६२ साल की थी।

अरस्तू ने ३८४ ई० पू० में यूनान के उत्तर पूर्वी प्रायद्वीप कैल्सीडिस (खल्किदिकि) के शहर स्तैजाईरा में जन्म लिया। उसके पिता का नाम नाईकोमेकस था जो वैद्य था। वह मकदूनिया के बादशाह अमिंतास के दरबार में रहता था। अरस्तू का बचपन वैद्यक के वातावरण में बीता। और संभव है, अरस्तू को जो जीवनशास्त्र से लगाव था, वह इन्हीं संस्कारों का फल हो। अरस्तू १८ बरस का था जब वह एथेंस आया और अफलातून का शिष्य बना। उसने बीस बरस अपने गुरु के साथ बिताए और जब ३४७ ई० पू० में अफलातून का देहांत हुआ तो अरस्तू ने एथेंस छोड़ा। फिर तीन बरस वह अपने सहपाठी हर्मियस के पास रहा जो एशिया के समुंदर के किनारे एक छोटे से राज (एतार्नियस) का मालिक था। वहाँ अरस्तू ने हर्मियस की भतीजी से ब्याह कर लिया। यहाँ से वह लेजबॉस द्वीप गया और मितिलीन नगर में रहा। इन स्थानों में जीवनशास्त्र के अध्ययन और समुद्री जंतुओं की देखभाल का उसे अच्छा अवसर मिला। इन निरीक्षणों के नतीजों पर बाद की पुस्तकों का आधार रखा है।

३४३ ई० पू० में मकदूनिया के बादशाह फिलिप ने अरस्तू को अपने बेटे का शिक्षक नियुक्त किया और सात साल मकदूनिया में रहने के बाद, जब फिलिप की मौत हो गई और सिकंदर ने राजपाट सँभाला तब अरस्तू दोबारा एथेंस आया। यहाँ उसने पठन पाठन का काम शुरू किया। एक बाग खरीदा जिसमें अपोलो देवता का स्थान था और जिसे लाईसीयम कहते थे। यहाँ उसने हस्तलिखित ग्रंथों का पुस्तकालय बनाया और एक संग्रहालय स्थापित किया। इसके बनाने में सिकंदर ने रुपए पैसे से उसकी मदद की और जंतुओं के नमूने एकत्र कराकर भेजे।

अरस्तू का बारह बरस तक पढ़ाने और किताबें लिखने का काम चलता रहा। पर ३२३ ई० पू० में सिकंदर के मरने पर अरस्तू को एथेंस छोड़ना पड़ा। एथेंसनिवासी मकदूनिया की अधीनता से खुश नहीं थे और अरस्तू का मकदूनिया से गहरा संबंध था। इसलिये डर था कि कहीं लोग उसके विरुद्ध उपद्रव न करें। उसने भागकर यूबोआ द्वीप में शरण ली, पर एक ही साल में उसका देहांत हो गया।

अरस्तू ने अध्ययन और अध्यापन के समय बहुत सी पुस्तकें लिखीं। इन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है। पहली श्रेणी में वे पुस्तकें हैं जिन्हें उसने साधारण जनता के लिये लिखा था, दूसरी में वे हैं जिनमें वैज्ञानिक ग्रंथों की सामग्री संगृहीत है और तीसरी श्रेणी में वे वैज्ञानिक ग्रंथ हैं जिनमें विविध शास्त्रों के सिद्धांतों का विवरण है। पहली श्रेणी की सब पुस्तकें नष्ट हो गईं, दूसरी में से केवल एक बची है जिसमें यूनान के विधानों का संकलन है। तीसरी श्रेणी की पुस्तकों के नामों की कई पुरानी तालिकाएँ मिलती हैं। इन तालिकाओं और उन पुस्तकों में, जो अरस्तू की लिखी मानी जाती हैं, भेद है। बात यह है कि दो सौ बरस तक किसी ने इनको लाइसीयम की चारदीवारी के बाहर नहीं निकाला। फिर ई० पू० पहली सदी में एंड्रानिकस नाम के विद्वान् ने इन्हें प्रकाशित किया। इसी से इन ग्रंथों की गिनती और लेखक के बारे में मतभेद है।

प्रामाणिक पुस्तकों को छह या आठ भागों में बाँटा जाता है जिनका ब्यौरा यों है

१ लॉजिक अर्थात् तर्कशास्त्र, २. फिज़िक्स अर्थात् भौतिकशास्त्र, ३ बायालाजी अर्थात् जीवशास्त्र, ४ साईकालॉजी अर्थात् मनःशास्त्र, ५ मेटाफिज़िक्स अर्थात् परमतत्वशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ६ एथिक्स अर्थात् नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, ७ पॉलिटिक्स अर्थात् राजनीतिशास्त्र, शासनशास्त्र, ८ ईस्थेटिक्स अर्थात् सौंदर्यशास्त्र, रस या कलाशास्त्र।

यदि २, ३ और ४ विषयों को एक विज्ञान के भाग मान लें तो छह विभाग रह जाते हैं। इस तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अरस्तू के ज्ञान की परिधि कितनी विस्तृत थी। प्रायः सभी विज्ञानों पर उसका अधिकार था। पर अरस्तू की विशेषता यही नहीं है कि वह उक्त सभी विद्याओं का जाननेवाला था। इससे बढ़कर दो और विशेषताएँ हैं। एक यह कि वह मार्गप्रदर्शक और आविष्कारक था, और दूसरी यह कि वह सब विद्याओं को एक सूत्र में बाँधनेवाला उच्चतम कोटि का दार्शनिक था।

चौथी सदी ई० पू० अरस्तू की जीवनयात्रा का काल है। यह गहरी क्रांति का समय था। जो सामाजिक व्यवस्था ४०० बरसों से विकसित होती चली आ रही थी, जिसने वैभव के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर अपनी अनुपम कृतियों से जगत् को चकित कर दिया था, जिसकी नीति, कला-कौशल, साहित्य, इतिहास और विज्ञान ने आदमी के माथे पर ऐसा ठप्पा लगाया था कि आज ढाई हजार बरस बीतने पर भी उसकी छाप मिटी नहीं, वह व्यवस्था तेजी के साथ छिन्न भिन्न हो रही थी। इस व्यवस्था की विशेषता यह थी कि समाज और नगर का एक ही अर्थ था। समाज से अभिप्राय वह जनसमूह था जो एक खास नगर में निवास करता हो। समाज के सदस्य एक नगर के रहनेवाले ही हो सकते थे। जो जन नगर से बाहर थे वे समाज से बाहर थे। नगर के समाज की नींव पर नगर के राज संगठित होते थे। इस राज के कामों में, इसकी विधानसभा में, इसके कर्मचारियों में, नगर के नागरिक ही हिस्सा ले सकते थे। हर नागरिक के अपने नगरराज के प्रति कर्तव्य और अधिकार थे।

इस व्यवस्था की अधोगति से प्रभावित हो यूनान के विचारवानों के हृदय विह्वल हो रहे थे। सोचने की बात थी कि क्यों पुरानी परंपरा बदल रही थी, किन कारणों से नगरसमाज में कमजोरी आई थी, किस प्रकार इसका प्रतिरोध हो सकता था, कौन सी व्यवस्था मनुष्यसंघ के लिये सबसे लाभकारी थी?

पहले पहल इन प्रश्नों की ओर सुकरात का ध्यान गया। वह इसी खोज में रहता था कि परमार्थ क्या है? आचरण का ध्येय क्या होना चाहिए? सत्य क्या है? ज्ञान क्या है? आत्मा को कैसे पहचानें? शुभ और अशुभ, सुंदर और कुरूप, गुण और अवगुण में क्या भेद है? विवेक का साधन और अंत क्या है? ज्ञान पर विवेक का आधार है इसलिये ज्ञान का मार्ग और ज्ञान की मंजिल जानने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

सुकरात के विचारों ने एथेंस में खलबली डाल दी। पुरानी रीतियों के माननेवालों, देवी देवताओं के उपासकों, कर्मकांडियों को भय हुआ कि इन विचारों के फैलने से युवक अपने सनातन धर्म से विमुख हो जायँगे, समाज का क्रम नष्टभ्रष्ट हो जायगा। उन्होंने सुकरात के विरुद्ध अदालत में मुकदमा चलाया और सुकरात पर आक्षेप लगाया कि वह देवताओं का निरादर करता है और नौजवानों के चालचलन को बिगाड़ता है। जजों ने सुकरात के खिलाफ फैसला सुनाया और मौत की सजा का हुक्म दिया। सुकरात ने जहर का प्याला पिया और नगर के न्याय के आगे सिर झुकाया।

सुकरात का प्रिय शिष्य था अफलातून। इसने गुरु की शिक्षाओं को रूपकों, कथानकों और संवादों के रूप में ऐसी उत्कृष्ट सुंदरता के साथ संपादित किया कि सुकरात अमर हो गया। अफलातून ने आचारनीति और राजनीति दोनों पर गहरा विचार किया और नागरिक, समाज और राज के सिद्धांतों पर अनोखा प्रकाश डाला। इन सिद्धांतों के खंडन मंडन में उसने दर्शन के बुनियादी उसूलों पर बहस की और ज्ञान के प्रमाणों, सच और झूठ, वस्तु और भ्रम के अंतर को स्पष्ट किया।

अफलातून की अकादमी में अरस्तू ने बीस साल अध्ययन किया और अफलातून से बहुत कुछ सीखा था। अफलातून से पहले यूनानी विद्वानों की दृष्टि बहिर्मुखी थी। जगत् क्या है? पंचभूत से बना यह प्रपंच, जिसे हम पाँच ज्ञानेंद्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, जैसा दीख पड़ता है वैसा ही नानाविध है या एकविध? अगर इसमें एकता है तो एकतत्व क्या है? जगत् में सब वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, फिर इसमें क्या चीज स्थायी है? यदि सभी कुछ चल है जंगम है, तो ज्ञान कैसे हो सकता है? बहती नदी के पानी का कोई कण स्थिर नहीं रहता, फिर नदी किसका नाम है?

अफलातून और अरस्तू दोनों ने इन समस्याओं पर गौर किया। दोनों ने बाहर से अंदर की तरफ देखा। जाननेवाला तत्व क्या है? जानने का क्या क्रम है, क्या वस्तु है जिसे जानते हैं, यह कैसे जानें कि जो कुछ जाना है वही तथ्य है। अफलातून और अरस्तू के जवाबों में अंतर है। शिष्य होते हुए भी उसके अपने स्वतंत्र विचार थे और उसने उन्हीं का प्रचार किया। अफलातून और अरस्तू ने जो दो पथ चलाए उन्हीं पर यूरोपीय दर्शन का कारवाँ चलता चला आ रहा है। इनमें शाखा प्रशाखाएँ अवश्य निकली हैं और नई राहें फूटी और फैली हैं, लेकिन इन दो जगद्गुरुओं के प्रभाव से सभी दार्शनिकों की विचारशैलियों ने उत्तेजन और प्रोत्साहन पाया है।

अरस्तू ने विद्याओं को तीन वर्गों में बाँटा था। पहले वर्ग में वे विद्याएँ हैं जिनका मुख्य ध्येय सिद्धांतों का स्थापना है, शुद्ध ज्ञान का उपार्जन है। दूसरे वर्ग में वे हैं जिनमें व्यवहार पर ज्यादा जोर है और जो कामों में सहायक हैं। और तीसरे वर्ग में वे विद्याएँ हैं जो उत्पादन के लिये लाभदायक हैं और जिनकी सहायता से उपयोगी और सुंदर वस्तुएँ बन सकती हैं।

पहले वर्ग में दर्शन, विज्ञान और गणित हैं। इस वर्ग में परमतत्वशास्त्र (मेटाफिज़िक्स), भौतिक शास्त्र (फिज़िक्स), जीवशास्त्र (बायोलोजी) और मनश्शास्त्र (साईकोलॉजी) सम्मिलित हैं। दूसरे वर्ग में राजनीतिशास्त्र प्रमुख है और आचारशास्त्र इसी के अंतर्गत है। तीसरे वर्ग के भाग हैं—साहित्य और कलाशास्त्र (काव्य और अलंकारशास्त्र, ईस्थेटिक्स)।

तर्कशास्त्र (लॉजिक) इनसे पृथक् है। तर्कशास्त्र को विद्याओं की विद्या कहा है। तर्क सब विद्या की कुंजी है, ज्ञान का साधन है। अरस्तू का सबसे महत्वपूर्ण कार्य तर्कशास्त्र की रचना है। अरस्तू के समय से आज तक प्रायः २,५०० बरस हो चुके, परंतु तर्कशास्त्र का जो ढाँचा अरस्तू ने बनाया था वही आज भी कायम है। बुनियाद वही है, कहीं कहीं एक दो कोठे अटारियाँ बढ़ी हैं। अब कुछ दिनों से अरस्तू के तर्कशास्त्र के मुकाबले में कुछ नए तर्कशास्त्र निर्मित हुए हैं जो अरस्तू से आगे बढ़ गए हैं। पर अचरज और गौरव की बात यह है कि अरस्तू का संगठित शास्त्र इतने दिनों पंडितसमाज में सम्मान का पात्र बना रहा और आज भी शिक्षाक्रम में इसका ऊँचा मूल्य है।

अरस्तू ने तर्कशास्त्र में तीन विषयों पर विचार किया है। एक, सब प्रकार की बोधविधियों (रीज़निंग) में कौन सी चीज समान है और इन विधियों के कितने भेद हैं। अर्थात् युक्ति (सिलॉजिज़्म) के कौन कौन से रूप हैं। तर्क की इस शाखा का संबंध केवल युक्तियों के रूप अथवा आकार से है, युक्ति के अर्थ से नहीं। इसका उद्देश्य यह देखना है कि उक्ति असंगत तो नहीं, इसके अवयवों में अनुरूपता है या नहीं। दूसरा, इस

बात की जाँच कि युक्ति और तथ्य में सामजस्य है या नही, युक्ति ज्ञानसपन्न है अथवा नही। तात्पर्य, यह विचार करना कि यद्यपि युक्ति रूप से तो दोषरहित है तथापि वह सत्य की वाहक भी है या नही। उसमे मिथ्याहेतु या आभास (फैलेसीज) तो नही है।

चूँकि युक्ति का आश्रय वाक्य (प्रोपोजीशन) है और वाक्य पदो (टर्म्स) से मिलकर बनते हैं, तर्कशास्त्र मे पहला सवाल यह उठता है कि पद और वाक्य कितने प्रकार के है। यही से पदार्थ (कैटेगरीज) की चर्चा शुरू होती है अर्थात् भाव के हिसाब से पदो का किन गुणो मे विभाजित कर सकते हैं। अरस्तू ने पदार्थों की गिनती निश्चित रूप से स्थिर नही की, पर उसकी पुस्तको मे दस के नाम मिलते है। इनमें सत्य (सब्स्टैंस) मूल पदार्थ है, क्योकि यह सबका आधार है। बाकी ये है

गुण (क्वालिटी), मात्रा (क्वांटिटी), अन्वय (रिलेशन), देश (प्लेस), काल (टाइम), स्थिति (स्टेट), दशा (पोजीशन), कर्तृभाव (सेक्शन), कर्मभाव (पैसीविटी)।

वाक्यो के कई गुण है। भावसूचक (अफर्मेटिव) और अभावसूचक (निगेटिव), व्यापक (युनिवर्सल), अव्यापक (नॉन-युनिवर्सल) और व्यक्तिगत (इडिवीजुअल), आवश्यक (नेससरी), अनावश्यक (नाट-नेसेसरी) और शक्य (पॉसिबिल)।

वाक्य तीन अगो के मेल से बनता है—वाचक (सब्जेक्ट), वाच्य (प्रेडीकेट) और जोड (कपुल)।

जब वाक्यो को क्रमानुसार रखते है तो युक्ति का रूप उत्पन्न होता है। युक्ति वैज्ञानिक विद्याओं का साधन है। युक्ति के द्वारा ही ठीक नतीजा पर पहुँच सकते है। अरस्तू ने युक्ति के तीन अवयव माने है। (१) प्रतिज्ञा (मेजर प्रेमिस), (२) हेतु (माइनर प्रेमिस), (३) निगमन (कनक्लूजन)। हिदुस्तान में गौतम के न्यायशास्त्र के अनुसार दो अवयव और है—उदाहरण (एक्जापुल) तथा उपनय (ऐप्लीकेशन)। (द्र० 'अनुमान' लेख)

मिथ्याहेतु को दो भागो मे विभाजित किया है। एक भाग उन आभासो का है जो शब्दो के दुरुपयोग के परिणाम है और दूसरे भाग मे वे मिथ्या हेतु हैं जो ज्ञान के अभाव मे या युक्ति मे छिद्रो के कारण उपजते हैं। युक्तिया के अनेक रूप (फिगर्स) हैं। इन रूपो द्वारा सामान्य (जनरल) वाक्यो से विशेष (पर्टिकुलर) की ओर और विशेष से सामान्य की ओर बुद्धि की प्रगति होती है और विज्ञान के निष्कर्ष निकलते हैं।

तर्कशास्त्र का आधार यही क्रम या प्रगति है। एक तरफ ज्ञान इद्रियो द्वारा सचित प्रलभन (पर्सेप्ट्स) मात्र है, दूसरी तरफ बुद्धि प्रलभनों की समानताओं का अनुभव कर उपलब्धियाँ (कासप्ट) की सृष्टि करती है। इसका अर्थ यह है कि बोधधारा प्रलभन से उपलब्धि की ओर बहती है और उपलब्धि से प्रलभन की ओर लौटती है।

जैसा क्रम तर्क मे प्रलभन और उपलब्धि मे दिखाई देता है, अर्थात् जैसा विकास हमारे अतर्जगत् मन मे दिखाई देता है, अरस्तू का विचार है कि वैसा ही क्रम बाहरी जगत् मे भी जारी है। बाहरी जगत् सचमुच जगत् है, चलनात्मक है, परिवर्तनशील है। जगत् वस्तुओं का समुदाय है। समस्त जगत् और प्रत्येक वस्तु प्रगति मे बँधी है। वस्तु के दो अग है—एक द्रव्य (मैटर) और दूसरा रूप (फॉर्म)। द्रव्य जड है, यह वस्तु का आधार है परतु इसमें गति नही। द्रव्य मे शक्यता (पॉसिबिलिटी, पोटेंशियालिटी) है, तथ्यता (रियलिटी) नही। तथ्य तो ज्ञान की भित्ति, चेतन का अग है। जड माया के समान है, बोधविहीन है। द्रव्य मे रूप के मेल से वस्तुएँ व्यक्त होती है। इसलिये प्रत्येक वस्तु द्रव्य और रूप का सगम है। परतु प्रत्येक वस्तु धारावाहिनी (कन्टिन्यूइटी) है और जगत् भी स्वभाव से निरतर समन्वय है। जगत् सीढी के समान है जिसमे वस्तुओं के डड लगे हुए हैं। सबसे नीचे के डडो मे रूप का अश थोडा है। इससे ऊपर के डडो मे रूप की मात्रा बढती जाती है। निर्जीव वस्तुओ, जैसे हवा, पानी, पत्थर, धातु इत्यादि, मे चेतन के विकारो अर्थात् रूपो की कमी है। वनस्पतियो मे यह निर्जीवो से अधिक है, जतुओ मे और भी अधिक तथा मनुष्य मे सबसे अधिक। केवल रूपहीन द्रव्य नेति (नीगेशन) के तट पर विराजता है। केवल द्रव्यहीन रूप ज्ञानमय आत्मा है, जिसे ईश्वर का नाम दे सकते है। नेति और ईश्वर के बीच मे नानाविध जगत् का प्रसार है जिसमे वस्तुएँ और उनके गुण (स्पेसीज) हिलोरे लेते है। जगत् एक सत्ता है जिसमे प्रगति निहित है। प्रगति बिना कारण के सभव नही। अरस्तू के अनुसार कारण चार तरह के होते है। प्रत्येक वस्तु के बनने मे द्रव्य और रूप आवश्यक है। इन दो को अरस्तू उपादान (मैटीरियल) और उद्देश्य (फाइनल) कारण कहता है, क्योकि द्रव्य की निष्ठा रूप को ग्रहण करना है। इसीलिये रूप को द्रव्य का उद्देश्य कहा है। कम रूप की वस्तु अधिक रूप की वस्तु का द्रव्य है, जैसे पत्थर द्रव्य है मूर्ति के लिये, मिट्टी घडे के लिये।

मूर्ति का उपादान कारण पत्थर है। पत्थर मे रूप उपजानेवाले मूर्तिकार का व्यवसायकौशल मूर्ति का निमित्त (एफिशेट) कारण है। मूर्तिकार जिन विधियो और निष्ठाओं के अधीन मूर्ति का निर्माण करता है वे विहित (फॉर्मल) कारण है। मूर्ति का अतिम रूप उद्देश्य कारण है।

यही चार कारण समस्त सृष्टि मे काम करते है। सृष्टि को प्रकृति-सोपान कहना चाहिए।

मनुष्य इस सोपान का ऊँचा डडा है। इसके नीचे के डडे मनुष्यरूप के लिये द्रव्य का काम देते है। शरीर और जीवात्मा के मेल से मनुष्य बनता है। जीवात्मा के शरीर मे समेटने से व्यक्ति तैयार होता है। शरीर का जीवात्मा से अटूट सबध है। एक को दूसरे से अलग कर दे तो मानव व्यक्ति नष्ट हो जाय। जीवात्मा और शरीर का सयोग व्यक्ति-विशेष कहलाता है। अरस्तू का विचार था कि मृत्यु के बाद मनुष्य व्यक्ति छिन्न भिन्न हो जाता है, क्योकि शरीरविशेष के न रहने पर जीवात्मा, जो शरीर से विशेष सबध रखती है, कायम नही रह सकती।

मनुष्य, जो जीवात्मा और शरीर का गठन है प्रकृतिसोपान के बहुत ऊँचे डडे पर स्थित है। सृष्ट भूतो मे उसका दर्जा सबसे ऊपर है। उसके नीचे जितने भूत है, उसको जीवात्मा मे अतर्हित है। वह द्रव्य है जिसकी नीव पर मनुष्यरूप प्रकट हुआ है। जीवात्मा, जो मनुष्य की सब चेष्टाओं की प्रेरक है, अपने भीतर सब जीवजन्तुओं की प्रेरक आत्माओं को लिए हुए है। इस कारण मानव आत्मा मे वनस्पति और जतु दोनो की आत्माओं के गुण है। और इनसे बढकर चेतन बुद्धि (रीजन) है जो मनुष्य को समस्त वनस्पतियो और जीवजतुओ से उत्कृष्ट बनाती है।

जीवात्मा के वानस्पतिक अग का व्यापार (फक्शन) पुष्टि है, अर्थात् उन तत्वो का ग्रहण जिनसे व्यक्ति जीवित रहता है और अपने समान जीवो को उत्पन्न करता है। वानस्पतिक आत्मा (वेजिटेबुल सोल) पुष्टि और उत्पादन की शक्ति का नाम है। जतुओ मे एक और गुण है—इद्रिया द्वारा विषयो की जानकारी। इसे इद्रियग्रहण (सेंसेशन) कह सकते है। जैसे पुष्टि शक्ति का काम भोजन का ग्रहण है, वैसे ही जतु की आत्मा (एनिमल सोल) का व्यापार देखना, सुनना, सूघना, छूना और चखना है। यह तो मूल कृतियाँ है। इनके सिवा वस्तुओं का प्रलभन (पर्सेप्शन) है, जिसके द्वारा इद्रियग्रहणो का योग वस्तु व्यक्ति के पूरे रूप का बोध कराता है और एक वस्तु को दूसरी से पृथक् करना है। प्रलभन पर कल्पना (इमैजिनेशन), स्मरण और स्वप्न (का आसरा) है। इन सबका जातव आत्मा से सबध है।

जातव आत्मा के दो कार्य है—एक प्रलभन अर्थात् इद्रियो द्वारा बाह्य जगत् के विशेषणो की सूचनाएँ जमा करना। दूसरे, इन विशेषणो से उत्पन्न होनेवाले भावो अर्थात् सुख दु ख और सुख दु ख के आकर्षण और प्रतिकार से जो इच्छाएँ मन मे उभरती है उनका अनुभव करना।

कर्म की चेष्टा इन्ही अनुभूतियो से पैदा होती है।

जीवात्मा का सबसे ऊँचा अग मन और चित्त है जिसे बोधात्मा (रैशनल सोल) कहते है। अरस्तू का मत है कि मन और चित्त (पैसिव ऐड ऐक्टिव) बोधात्मा के दो भाग है। मन को उपादान (मैटिरियल काज) का और चित्त को निमित्त (एफिशेट काज) का निकटवर्ती माना है। मन का कार्य विषयो का ग्रहण (अप्रीहेशन) है, चित्त का सृजन (क्रिएशन), शक्य को तथ्य मे बदलना, अव्यक्त को व्यक्त बनाना। जैसे सूर्य का उजाला वस्तुओ के रूप को उजागर करता है, वैसे ही चित्त मन के विकारो को बुद्धिगम्य बनाता है। चित्त की असलीयत क्या है? अरस्तू के टीकाकारो का मत है कि चित्त द्रव्यविहीन शुद्ध आत्मा का अश है और शुद्ध आत्मा ईश्वर का पर्याय है।

प्रकृति के विषयों की व्याख्या और शास्त्रीय सिद्धांतों का उल्लेख भौतिक शास्त्रों के अंतर्गत है। मनोविज्ञान के पश्चात् मनुष्य के आचरण के संबंध में विचार आरंभ होता है। यह दो विद्याओं में समाप्त होता है, राजनीतिशास्त्र और आचार या नीतिशास्त्र।

राजनीतिशास्त्र का विषय समाज और राज है। प्रश्न यह है कि समाज किसे कहते हैं? यह कैसे बनता है? समाज और इसके व्यक्तियों में क्या संबंध है? समाज और व्यक्ति के क्या कर्तव्य है? ये ही प्रश्न राज्य के बारे में उठते हैं। राज के क्या क्या रूप हैं, कैसे ये रूप बदलते है और इनमे कौन से अच्छे और कौन से बुरे हैं?

अरस्तू बतलाता है कि समाज और राज की व्यवस्था स्वाभाविक (नैचुरल) है। समाज और राज को जीवात्मा के उद्रेकों का बाहरी स्पष्ट स्वरूप समझना चाहिए। जीवात्मा का पहला अंग वानस्पतिक आत्मा है। वानस्पतिक आत्मा का व्यापार जीवन का पालन पोषण और जाति का वर्धन है। मनुष्य इन दोनों कामों को अकेले नहीं, दूसरों की सहायता से ही संपादन कर सकता है। इसीलिये मनुष्यों का मनुष्यों के साथ संघात अनिवार्य है। मनुष्य की वानस्पतिक आत्मा की तृप्ति इसी मनुष्यसंघात के जरिए होती है, जिसे कुटुंब कहते हैं। कुटुंब की सृष्टि प्रकृतिगत है।

जीवात्मा का दूसरा अंग जांतव आत्मा है। जांतव आत्मा का व्यापार प्रलंभन का कार्य है। ज्ञानेंद्रियों के संबंध से मनुष्य बाहरी जगत् को अपनाता है। मन विषयों का ध्यान करता है। विषयों में राग उत्पन्न होता है। इच्छाएँ मन को विषयों की ओर खींचती है। हमें मनोरथों की दुनिया में घेरती है। इनकी पूर्ति के लिये कुटुंब से बड़े मनुष्यसमाज की आवश्यकता होती है। इसे आर्थिक समाज कहते है, अर्थात् वह समाज जो अर्थों को पूरा करे। जीवात्मा की तृप्ति की यह दूसरी मंजिल है।

जीवात्मा का उत्तम अंग बोधात्मा है। बुद्धि का व्यापार प्रलंभनों को एक सूत्र में बाँधना है। इंद्रियों द्वारा जो अनुभव होते है उनकी समानताओं को एकत्रित करने पर व्यापक विचार उत्पन्न होते है। विषयों के संयोग से भाव उभरते है, मन में खींचतान होती है। किसे अपनाएँ, किसे दुराएँ, ऐसी दुविधा हृदय को विह्वल करती है। हमारी बुद्धि इस स्थिति में निर्णय करती है। यदि भाव इसकी अधीनता को मान लेते है तो हम अपनी मानवी पात्रता का प्रमाण देते हैं और नहीं तो जानवर के पद से ऊपर नहीं उठते। बोधात्मा व्यापक विचारों को संगठित करती है और भावों को आदेश देती है। बोधात्मा की पूर्ति मनुष्य संगठन की ही पूर्ति और संगठन में आदेश का अनुष्ठान है। जिस संगठन में व्यापकता और आदेश हो उसे राज्य कहते है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से ऊपर उठता है, व्यापकता में समा जाता है और विषयों की आसक्ति पर काबू पाता है। वानस्पतिक और जांतव आत्मा का बोधात्मा के अधीन हो जाना स्वराज्य है। वह विधान सबमें उत्तम है जिसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो।

नीतिशास्त्र का विषय आचरण का अध्ययन है। स्वभाव से समाज का व्यक्ति राज्य का सदस्य है। राज्य का ध्येय मनुष्य की आत्मा की तृप्ति है। तृप्त आत्मा का बाहरी रूप स्वराज्य है। इसका भीतरी रूप नियम और संयम है। मानव प्रकृति मानव श्रेय (गुड) की प्राप्ति में ही आनंद पाती है। इसलिये आचरण या नीति का आदर्श मानवकल्याण की प्राप्ति ही हो सकता है।

श्रेय का क्या अर्थ है? श्रेय को सुख अर्थात् शारीरिक तुष्टि नहीं समझना चाहिए। न तो श्रेय धन के पीछे भागने का नाम है, और न ही यह मान और सत्कार का स्नेह है। श्रेय वास्तव में आनंद (हैपिनेस) का पर्याय है। आनंद उस अवस्था को कहते है जिसमें मनुष्य अपनी सच्ची मानवता का संपादन करता रहता है। सच्ची मानवता बोधात्मा की तुष्टि है। बोधात्मा का कार्य जीवनयोजना को तैयार करना और इस योजना को व्यवहार में सफल करना है। इस योजना का आधार सदाचार है और इसका विस्तार पूरी जीवनयात्रा है।

सदाचार सुव्यवस्थित स्वभाव का नाम है। सुव्यवस्थित स्वभाव ऐसा स्वभाव है जो अतिशयों से बचता हुआ बीच का मार्ग ग्रहण करता है। अरस्तू मध्यवर्ती आचरण को सद्गुण कहता है। उदाहरण के लिये वीरता (करेज) को लें। यह दु:साहस (रैशनेस) और कायरता (कावर्डिस) के बीच का गुण है। दु:साहस और कायरता अतिशयी होने के कारण अवगुण हैं और वीरता इनके मध्य में होने के कारण सद्गुण है। ऐसे ही न्याय, दान, सत्य, मैत्री इत्यादि अतिशयों को छोड़ बीच के रास्ते पर चलने के नाम हैं इसीलिये ये सदाचार के अंश हैं। सदाचार से श्रेय जीवन प्राप्त होता है और श्रेय आनंद प्रदान करता है। अरस्तू के अनुसार आनंद सन्यास, वैराग्य और त्याग से नहीं मिल सकता, न आनंद धन की अधिकता और भोगविलास की प्रचुरता से प्राप्त हो सकता है। त्याग और भोग दोनों ही अतिशयता के लक्षण है। धन, स्वास्थ्य, सौंदर्य, यश, मित्र इत्यादि श्रेयमय जीवन के साधन है। इनके बिना जीवन का ध्येय, आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। सदाचार की आदत, जो संयम से पैदा होती है, श्रेयदायी है।

परंतु पूर्ण आनंद के लिये एक बात की और आवश्यकता है, जिसका दर्जा सदाचार से ऊपर है। वह है सत्य की धारणा और ध्यान। अरस्तू का कहना है "जिन्हें स्वतंत्र आनंद की इच्छा हो उन्हें चाहिए, इसे दर्शन के अध्ययन में खोजें, क्योंकि और सब प्रकार के सुखों के लिये मनुष्य दूसरों की सहायता के अधीन है।"

अरस्तू ने कलाशास्त्र में अलंकार और काव्य की व्याख्या की है।

कई सौ वर्षों तक अरस्तू की पुस्तकें अंधकार में रहीं, फिर रोम साम्राज्य के पतन के बाद जब रोमन कैथलिक चर्च का अधिकार बढ़ा तो मध्यकालीन यूरोप की संस्कृति और विचारों पर अरस्तू की छाप पड़ने लगी। इस कार्य में अरबों ने बड़ा भाग लिया। ८वीं सदी के आरंभ में उन्होंने स्पेन जीता और वहाँ विश्वविद्यालय कायम किए। यहाँ मुसलमान विद्वानों ने अरस्तू की रचनाओं का पठन पाठन जारी किया। इन विद्यालयों में जिन ईसाई विद्यार्थियों ने विद्योपार्जन किया उन्होंने अरस्तू के विचारों को ईसाई समाज में फैलाया। मध्यकाल के अंत तक अरस्तू का सिक्का जमा रहा। फिर आधुनिक काल के आरंभ में अफ़लातून के सिद्धांतों का अनुकरण हुआ और नई चिंतनधाराओं का विकास हुआ। पर आज भी यद्यपि यूरोप के विद्वान् अपने अपने दर्शनों की रचना में नए नए सिद्धांतों का प्रचार और पुराने सिद्धांतों का खंडन मंडन करते हैं, तथापि वे अरस्तू के दायरे से बहुत परे नहीं जा पाते।

सं०ग्रं०—(क) **अनुवाद और भाष्य**—जे० आर० स्मिथ तथा डब्ल्यू० डी० रोज द्वारा संपादित, ऑक्सफोर्ड अनुवाद, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

(ख) **सामान्य कृतियाँ**—ग्रोट, जी०, अरिस्टॉटल, तृतीय संस्करण, लंदन, १८८३, टेलर, ए० ई० अरिस्टॉटल, द्वितीय संस्करण, रॉस, डब्ल्यू० डी०. अरिस्टॉटल, लंदन, १९२३।

(ग) **स्वतंत्र ग्रंथ**—बर्नेट, जे०. एथिक्स, टेक्स्ट ऐंड कमेंटरी, लंदन, पीटर्स, एफ० एच० एथिक्स, टेक्स्ट ऐंड ट्रांसलेशन ऐंड कमेंटरी, लंदन, न्यूमैन, डब्ल्यू० एल०. पॉलिटिक्स, टेक्स्ट ऐंड कमेंटरी, चार खंड, ऑक्सफोर्ड, १८८७–१९०२, बार्कर, ई० पोलिटिकल थॉट ऑव प्लेटो ऐंड अरिस्टॉटल, रॉस, डब्ल्यू० डी० अरिस्टॉटल्स मेटाफिजिक्स, ऑक्सफोर्ड, १९२४।

(घ) **इतिहास तथा दर्शन**—जोपर्ज, टी० ग्रीक थिकर्स (अंग्रेजी अनुवाद), चार खंड, लंदन, १९१२, जैलर, ई० ग्रीक फिलॉसफी', (अंग्रेजी अनुवाद, कॉस्टेलो तथा म्योरहेड द्वारा), २ खंड, लंदन, ओबरवेग, एफ० हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी, अंग्रेजी अनुवाद स्मिथ और शैफ द्वारा, बर्नेट, जे० ग्रीक फिलॉसफी, बर्ट्रेड रसेल. हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलॉसफी। (ता० च०)

अरहर द्र० 'दाल' तथा 'भारतीय शस्य'।

अराकान बरमा का एक प्रदेश है (द्र० 'बरमा')। बंगाल की खाड़ी के पूर्वी तट पर चटगाँव (चिटागॉङ्ग) से नेग्रेस अंतरीप तक यह विस्तृत है। इस प्रकार इसकी लंबाई लगभग ४०० मील है। चौड़ाई उत्तर में ९० मील है, परंतु अराकान योमा पर्वत के कारण दक्षिण की ओर अराकान की चौड़ाई धीरे धीरे कम होते होते १५ मील हो जाती है। तट पर अनेक टापू हैं। इस प्रदेश का प्रधान नगर अकयाब है। प्रांत चार जिलों में विभक्त है। क्षेत्रफल लगभग १६,००० वर्ग मील है।

चार मुख्य नदियाँ नाफ, मायू, कलदन और लेमरो है। कलदन गहरी है और इसमें छोटे जहाज ५० मील भीतर तक जा सकते है। अन्य नदियाँ

बहुत छोटी हैं, क्योकि वे पहाड जिनसे ये निकली हैं, समुद्रतट के निकट हैं। पर्वत को पार करने के लिये कई दर्रे (पास) है।

प्रदेश पहाडी है और केवल दशम भूभाग मे खेती हो पाती है। मुख्य शस्य धान है। फल, तबाकू, मिरचा आदि भी उत्पन्न किए जाते है। जगल भी है, परतु वर्षा इतनी अधिक (औसतन १२०" से १३०" तक) होती है कि सागवान यहाँ नही हो पाता।

अराकानवासियों की सभ्यता अति प्राचीन है। लोकोक्ति के अनुसार २,६६६ ई० पू० से आज तक के सभी राजाओं के नाम ज्ञात है। कभी मुगल और कभी पुर्तगाली लोगो ने कुछ भागो पर अधिकार जमा लिया था, परतु वे शीघ्र मार भगाए गए। सन् १८२६ मे यहाँ अग्रेजी राज्य रहा। जनवरी, सन् १९४८ से बरमा पुन स्वतत्र हो गया है और अब वहाँ गणतत्र राज्य है। अराकान का प्रधान नगर पहले अराकान था, परतु अस्वास्थ्यप्रद होने के कारण अब अकयाब प्रधान नगर हो गया है।

यद्यपि अराकाननिवासी भी बर्मी ही है, तो भी उनकी देशी भाषा और रस्मरिवाजो मे अन्य बरमानिवासियों से पर्याप्त भिन्नता है, परतु ये भी बौद्धधर्म के ही अनुयायी है। (न० ला०)

अराकान योमा भारत तथा बर्मा की सीमा निर्धारित करनेवाली एक पर्वतश्रेणी जो आसाम की 'लुशाई' पहाडियों के दक्षिण तथा बँगला देश के चटगाँव नामक पहाडी क्षेत्र के पूर्व मे स्थित है जिसका विक्टोरिया नामक सर्वोच्च शिखर १०, ०१८ फुट ऊँचा है।

[न० कि० प्र० सि०]

अराजकता, अराजकतावाद अराजकता एक आदर्श है जिसका सिद्धात अराजकतावाद है। अराजकतावाद राज्य को समाप्त कर व्यक्तियो, समूहों और राष्ट्रों के बीच स्वतत्र और सहज सहयोग द्वारा समस्त मानवीय सबधो मे न्याय स्थापित करने के प्रयत्नों का सिद्धात है। अराजकतावाद के अनुसार कार्यस्वातत्र्य जीवन का गत्यात्मक नियम है, और इसीलिये उसका मतव्य है कि सामाजिक सगठन व्यक्तियों के कार्यस्वातत्र्य के लिये अधिकतम अवसर प्रदान करे। मानवीय प्रकृति मे आत्मनियमन की ऐसी शक्ति है जो बाह्य नियत्रण से मुक्त रहने पर सहज ही सुव्यवस्था स्थापित कर सकती है। मनुष्य पर अनुशासन का आरोपण ही सामाजिक और नैतिक बुराइयो का जनक है। इसलिये हिसा पर आश्रित राज्य तथा उसकी अन्य सस्थाएँ इन बुराइयो को नही दूर कर सकती। मनुष्य स्वभावत अच्छा है किंतु ये सस्थाएँ मनुष्य को भ्रष्ट कर देती है। बाह्य नियत्रण से मुक्त, वास्तविक स्वतत्रता का सहयोगी सामूहिक जीवन प्रमुख रीति से छोटे समूहो मे सभव है, इसलिये सामाजिक सगठन का आदर्श सघवादी है।

सुव्यवस्थित रूप से अराजकतावाद के सिद्धात को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय स्तोइक विचारधारा के प्रवर्तक जेनो को है। उसने राज्यरहित ऐसे समाज की स्थापना पर जोर दिया जहाँ निरपेक्ष समानता एव स्वतत्रता मानवीय प्रकृति की सत्प्रवृत्तियो को सुविकसित कर सार्वभौम सामजस्य स्थापित कर सके। दूसरी शताब्दी के मध्य मे अराजकतावाद के साम्यवादी स्वरूप के प्रवर्तक कार्पोक्रेतीज ने राज्य के अतिरिक्त निजी सपत्ति के भी उन्मूलन की बात कही। मध्ययुग के उत्तरार्ध मे ईसाई दार्शनिको तथा समुदायो के विचारो और सगठन मे भी कुछ स्पष्ट अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ व्यक्त हुई जिनका मुख्य आधार यह दावा था कि व्यक्ति ईश्वर से सीधा रहस्यात्मक सबध स्थापित कर पापमुक्त हो सकता है।

आधुनिक अर्थ मे व्यवस्थित ढग से अराजकतावादी सिद्धात का प्रतिपादन विलियम गॉडविन ने किया जिसके अनुसार सरकार और निजी सपत्ति वे दो बुराइयाँ है जो मानव जाति की प्राकृतिक पूर्णता की प्राप्ति मे बाधक है। दूसरो का प्रधानत्व करने का साधन होने के कारण सरकार निरकुशता का स्वरूप है, और शोषण का साधन होने के कारण निजी सपत्ति क्रूर अन्याय। परतु गॉडविन ने सभी सपत्ति को नही, केवल उसी सपत्ति को बुरा बताया जो शोषण मे सहायक होती है। आदर्श सामाजिक सगठन की स्थापना के लिये उसने हिसात्मक क्रातिकारी साधनो को अनुचित ठहराया। न्याय के आदर्श के प्रचार से ही व्यक्ति मे वह चेतना लाई जा सकती है जिससे वह छोटी स्थानीय इकाइयो की आदर्श अराजकतावादी प्रसविदात्मक व्यवस्था स्थापित करने मे सहयोग दे सके।

इसके बाद दो विचारधाराओ ने विशेष रूप से अराजकतावादी सिद्धात के विकास मे योग दिया। एक थी चरम व्यक्तिवाद की विचारधारा, जिसका प्रतिनिधित्व हर्बर्ट स्पेंसर करते है। इन विचारको के अनुसार स्वतत्रता और सत्ता मे विरोध है और राज्य अशुभ ही नही, अनावश्यक भी है। किंतु ये विचारक निश्चित रूप से निजी सपत्ति के उन्मूलन के पक्ष मे नही थे और न सगठित धर्म के ही विरुद्ध थे।

दूसरी विचारधारा फ़ुअरबाख (Feuerbach) के दर्शन से सबधित थी जिसने सगठित धर्म तथा राज्य के पारभौतिक आधार का विरोध किया। फ़ुअरबाख के क्रातिकारी विचारो के अनुकूल मैक्स स्टर्नर ने समाज को केवल एक मरीचिका बताया तथा दृढता से कहा कि मनुष्य का अपना व्यक्तित्व ही एक ऐसी वास्तविकता है जिसे जाना जा सकता है। वैयक्तिकता पर सीमाएँ निर्धारित करनेवाले सभी नियम अह के स्वस्थ विकास मे बाधक है। राज्य के स्थान पर 'अहवादियों का सघ' (ऐसोसिएशन ऑव इगोइस्ट्स) हो तो आदर्श व्यवस्था मे आर्थिक शोषण का उन्मूलन हो जायगा, क्योकि समाज का प्रमुख उत्पादन स्वतत्र सहयोग का प्रतिफल होगा। क्राति के सबध मे उसका यह मत था कि हिसा पर आश्रित राज्य का उन्मूलन हिसा द्वारा ही हो सकता है।

अराजकतावाद को जागरूक जन आदोलन बनाने का श्रेय प्रूधों (Proudhon) को है। उसने सपत्ति के एकाधिकार तथा उसके अनुचित स्वामित्व का विरोध किया। आदर्श सामाजिक सगठन वह है जो 'व्यवस्था मे स्वतत्रता तथा एकता मे स्वाधीनता' प्रदान करे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दो मौलिक क्रातियाँ आवश्यक है एक का सचालन वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध तथा दूसरे का वर्तमान राज्य के विरुद्ध हो। परतु किसी भी दशा मे क्राति हिसात्मक न हो, वरन् व्यक्ति की आर्थिक स्वतत्रता तथा उसके नैतिक विकास पर जोर दिया जाय। अतत प्रूधों ने स्वीकार किया कि राज्य को पूर्णरूपेण समाप्त नही किया जा सकता, इसलिये अराजकतावाद का मुख्य उद्देश्य राज्य के कार्यो को विकेंद्रित करना तथा स्वतत्र सामूहिक जीवन द्वारा उसे जहाँ तक सभव हो, कम करना होना चाहिए।

बाकूनिन ने आधुनिक अराजकतावाद मे केवल कुछ नई प्रवृत्तियाँ ही नही जोडी, वरन् उसे समष्टिवादी स्वरूप भी प्रदान किया। उसने भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर जोर देने के साथ साथ उपभोग की वस्तुओं के निजी स्वामित्व को भी स्वीकार किया। उसके विचार के तीन मूलाधार है अराजकतावाद, अनीश्वरवाद तथा स्वतत्र वर्गो के बीच स्वेच्छा पर आधारित सहयोगिता का सिद्धात। फलत वह राज्य, चर्च और निजी सपत्ति, इन तीनों सस्थाओ का विरोधी है। उसके अनुसार वर्तमान समाज दो वर्गों मे विभाजित है सपन्न वर्ग, जिसके हाथ मे राजसत्ता रहती है, तथा विपन्न वर्ग जो भूमि, पूँजी और शिक्षा से वचित रहकर पहले वर्ग की निरकुशता के अधीन रहता है, इसलिये स्वतत्रता से भी वचित रहता है। समाज मे प्रत्येक के लिये स्वतत्रता की प्राप्ति अनिवार्य है। इसके लिये दूसरो को अधीन रखनेवाली हर प्रकार की सत्ता का बहिष्कार करना होगा। ईश्वर और राज्य ऐसी ही दो सत्ताएँ है। एक पारलौकिक जगत् मे तथा दूसरी लौकिक जगत् मे उच्चतम सत्ता के सिद्धात पर आधारित है। चर्च पहले सिद्धात का मूर्त रूप है। इसलिये राज्यविरोधी क्राति चर्चविरोधी भी हो। साथ ही, राज्य सदैव निजी सपत्ति का पोषक है, इसलिये यह क्राति निजी सपत्तिविरोधी भी हो। क्राति के सबध मे बाकूनिन ने हिसात्मक साधनो पर अपना विश्वास प्रकट किया। क्राति का प्रमुख उद्देश्य इन तीनो सस्थाओ का विनाश बताया गया है, परतु नए समाज की रचना के विषय मे कुछ नही कहा गया। मनुष्य की सहयोगिता की प्रवृत्ति मे असीम विश्वास होने के कारण बाकूनिन का यह विचार था कि मानव समाज ईश्वर के अधविश्वास, राज्य के भ्रष्टाचार तथा निजी सपत्ति के शोषण से मुक्त होकर अपना स्वस्थ सगठन स्वय कर लेगा। क्राति के सबध मे उसका विचार था कि उसे जनसाधारण की सहज क्रियाओ का प्रतिफल होना चाहिए। साथ ही, हिसा पर अत्यधिक बल देकर उसने अराजकतावाद मे आतकवादी सिद्धात जोडा।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे अराजकतावाद ने अधिक से अधिक साम्यवादी रूप अपनाया है। इस आंदोलन के नेता क्रोपात्किन ने पूर्ण साम्यवाद पर बल दिया। परतु साथ ही उसने जनक्राति द्वारा राज्य को विनष्ट करने की बात कहकर सत्तारूढ़ साम्यवाद को अमान्य ठहराया। क्राति के लिये उसने भी हिंसात्मक साधनो का प्रयोग उचित बताया। आदर्श समाज मे कोई राजनीतिक सगठन न होगा, व्यक्ति और समाज को क्रियाओ पर जनमत का नियत्रण होगा। जनमत आबादी की छोटी छोटी इकाइयो में प्रभावोत्पादक होता है, इसलिये आदर्श समाज ग्रामो का समाज होगा। आरोपित सगठन को कोई आवश्यकता न होगी क्योकि ऐसा समाज पूर्णरूपेण नैतिक विधान के अनुरूप होगा। हिंसा पर आश्रित राज्य को सस्था के स्थान पर आदर्श समाज के आधार ऐच्छिक सघ और समुदाय होगे और उनका सगठन नीचे से विकसित होगा। सबसे नीचे स्वतंत्र व्यक्तियो के समुदाय, कम्यून होगे, कम्यून के सघ प्रात, और प्रात के सघ राष्ट्र होगे। राष्ट्रो के सघ यूरोपीय सयुक्त राष्ट्र की ओर अतत. विश्व सयुक्त राष्ट्र की स्थापना होगी।

सं०ग्रं०—कोकर, एफ० डब्ल्यू० रीसेंट पोलिटिकल थॉट, न्यूयॉर्क, १९३४, क्रोपॉट्किन, पी० एनार्किज्म—इट्स फिलासफी ऐंड आइडियल, १९०८, ग्रे, एलेक्जैंडर दि सोशलिस्ट ट्रैडिशन, लदन, १९४६, रीड, हर्बर्ट दि फिलॉसफी ऑव एनार्किज्म, लदन, १९४७, लोहर फ्रेडरिक : एनार्किज्म, विलसन, सी० एनार्किज्म। (रा० अ०)

अराड कालाम (बुद्ध के गुरु) द्र० 'आलार कालाम'।

अरानी, जानोस (१८१७–१८८२) हगरी के कवि। नागीजालाना मे अभिजात, पर गरीब परिवार मे जन्म। पहले अध्यापक हुए। फिर यात्री-अभिनेता। ताल्दी नामक महाकाव्य से उन्होने यश अर्जित किया। १८४८ मे जालोना की जनता ने उन्हें हगरी की लोकसभा के लिये अपना प्रतिनिधि चुना। अगले साल उन्होने क्रातिवादी सरकार की नौकरी कर ली जिसे सरकार के पतन पर छोडकर उन्हे अपने घर लौट जाना पडा। एक साल बाद हगरी मे भाषा और साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए।

अब उन्होने अपने देश और जनता के दीन जीवन पर विचार करना शुरू किया। तत्काल उनको कविताओ मे विछिन्न राजनीतिक प्रयत्नो की असफलता के कारण देश के नेताओ और परिस्थितियो के प्रति व्यग्यात्मक हास्यजनक धारा फूट पडी। इसी वितृष्णा और व्यग्यात्मक शैली मे उन्होने अपना 'बोलोद इस्तोक' लिखा (१८५०)। अगले अनेक वर्ष उन्होने हगरी का अपना मगयार (जातीय) मशहूर बैलेड लिखा। १८५८ मे वे हगरी की अकादमी के सदस्य चुने गए और दो साल बाद किस्फालूदी सोसाइटी के सचालक। अरानी ने अपनी कविताओ द्वारा अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार जीते। उनका हगरी के साहित्य, विशेषकर कविता के क्षेत्र मे अपना स्थान है। उन्होने उसे एक नई तथा राष्ट्रीय दिशा दी। कविता यथार्थ जीवन और प्रकृति के सपर्क मे आई। साहित्य को परपरा की भूमि पर रखते हुए भी उन्होने उसे जनता के धरातल पर खीचा। मगयार कवियो मे वे सर्वाधिक जनप्रिय और कलाप्राण है। (ओ० ना० उ०)

अरारूट अथवा अरारोट (अंग्रेजी मे ऐरोरूट) एक प्रकार का स्टार्च या मड है जो कुछ पौधो की कदिल (ट्यूबरस) जडो से प्राप्त होता है। इनमें मरेटेसी कुल का सामान्य शिशुमूल (मरटा अरडिनेसिया) नामक पौधा मुख्य है। यह दीर्घजीवी शाकीय पौधा है जो मुख्यत उष्ण देशों मे पाया जाता है। इसको जडो मे स्टार्च के रूप मे खाद्य पदार्थ सचित रहता है। १० से १२ महीने तक के, पूर्ण वृद्धिप्राप्त पौधे की जड मे प्राय २६ प्रतिशत स्टार्च, ६५ प्रतिशत जल और शेष ९ प्रतिशत मे अन्य खनिज लवण, रेशे, इत्यादि होते हे। मरटा अरडिनेसिया के अतिरिक्त, मैनीहार युटिलिस्मा, कुरकुमा अगुस्टोफोलिया, लेसिया पिनेटीफिडा और ऐरम मैकुलेटम मे भी अरारूट प्राप्त होता है।

अरारूट निकालने की विधि—कदिल जडो को निकालकर अच्छी तरह धाने के पश्चात् उनका छिलका निकाल दिया जाता है। फिर उन्हें अच्छी तरह पीसकर दूधिया लुगदी बना ली जाती है। तब लुगदी को अच्छी तरह धोया जाता है, जिससे जड का रेशेदार भाग अलग हो जाता है। यह फेक दिया जाता है। बचे हुए दूधिया भाग को, जिसमे मुख्यतया स्टार्च रहता है, महीन चलनी या मोटे कपड़े पर डालकर उसमे का पानी निकाल दिया जाता है। बचा हुआ सफेद भाग स्टार्च होता है जिसे पानी से फिर भली भाति धो तथा सुखाकर अत मे पीस लिया जाता है। इसी रूप मे अरारूट बाजार मे बिकता है।

अरारूट का स्टार्च बहुत छोटे दानो का और सुगमता से पचनेवाला होता है। इस गुण के कारण इसका उपयोग बच्चो तथा रोगियो के भोजन के लिये विशेष रूप से होता है।

अरारूट के नाम पर बाजार मे बिकनेवाले पदार्थ बहुधा या तो कृत्रिम होते है या उनमे अनेक प्रकार की मिलावटे होती है। कभी कभी आलू, चावल, साबूदाना या ऐसी ही अन्य वस्तुओ के महीन पिसे हुए आटे अरारूट के नाम पर बिकते है या इन्हे शुद्ध अरारूट के साथ विभिन्न मात्रा मे मिलाकर बेचा जाता है। कृत्रिम या मिलावटी अरारूट को सूक्ष्मदर्शी द्वारा निरीक्षण करके पहचाना जा सकता है। (ज० ना० रा०)

अराल सागर पश्चिमी एशिया की एक झील अथवा अतर्देशीय सागर है। इसका नामकरण खिरगीज शब्द अरालडेंगिज के आधार पर हुआ है, जिसका अर्थ है द्वीपो का सागर। विश्व के अतर्देशीय सागरो मे, क्षेत्रफल के अनुसार, इसका स्थान चौथा है। इसकी लबाई लगभग २८० मील और चौडाई १३० मील है। इसकी औसत गहराई ५२ फुट है और अधिकतम गहराई पश्चिमी तट की समातर द्रोणी मे २२३ फुट है। इस सागर मे जिहून अथवा आमू नदी (ऑक्सस) और सिहुन अथवा सर नदी (याक्सार्टिज) गिरती हैं, जिनसे बडी मात्रा मे अवसाद (सेडिमेंट) का निक्षेप होता है। इस सागर के पूर्वी तट के समातर अनेक छोटे छोटे द्वीपपुज विद्यमान है। आँधियो की बहुलता और सुरक्षित स्थानो की कमी के कारण अराल सागर मे जलयातायात सुविधाजनक नही है। सागरपृष्ठ का शीतकालीन ताप लगभग ३२° फा० रहता है, यद्यपि अधिकाश तटीय भाग हिमाच्छादित हो जाता है। गर्मी मे ताप लगभग ८०° फा० रहता है। सागरसमतल की घट बढ महत्वपूर्ण है, परतु ब्रीकनर के ३५ वर्षीय चक्र से इसका कोई सबध नहीं है। यह प्राचीन धारणा कि यह सागर कभी कभी लुप्त हो जाया करता है, पूर्णतया निराधार है। अराल सागर मे मीठे पानीवाली मछलियाँ पाई जाती है। यहाँ मछली उद्योग कैस्पियन सागर की तुलना मे कम महत्व का है। अराल सागर के तटवर्ती प्रदेश प्राय निर्जन है। (ग० ना० मा०)

अरावली वस्तुत एक भजित पर्वत है जो पृथ्वी के इतिहास के आरभिक काल मे ऊपर उठा था। यह पर्वतश्रेणी राजस्थान मे लगभग ४०० मील की लबाई मे उत्तर पूर्व से लेकर दक्षिण पश्चिम तक फैली है। इसकी औसत ऊँचाई समुद्रतल से १,००० फुट से लेकर ३,००० फुट तक है और उच्चतम शिखर दक्षिणी भाग मे स्थित आबू पर्वत है (ऊँचाई ५,६५० फुट)। यह श्रेणी दक्षिण की ओर अधिक चौडी है और अधिकतम चौडाई ६० मील है। इस पर्वत का अधिकाश वनस्पतिहीन है। आबादी विरल है। इसके विस्तृत क्षेत्र, विशेषकर मध्यस्थ घाटियाँ, बालू के मरुस्थल हैं। इस पर्वत की शाखाएँ पथरीली श्रेणियो के रूप मे जयपुर और अलवर होकर उत्तर पूर्व मे फैली है। उत्तर पूर्व की ओर इनका क्रम दिल्ली के समीप तक चला गया है, जहाँ ये क्वार्टजाइट की नीची, विच्छिन्न पहाडियो के रूप मे दृष्टिगोचर होती है।

राजस्थान मे आदिकल्प (आर्कियोजोइक) के धारवार (ह्यूरोनियन) काल मे अवसादो (सेडिमेंट्स) का निक्षेपण हुआ और धारवार युग के अत मे पर्वतकारक शक्तियो द्वारा विशाल अरावली पर्वत का निर्माण हुआ। ये सभवत विश्व के ऐसे प्राचीनतम भजित पर्वत है जिनमे शृंखलाओं के बनने का क्रम इस समय भी विद्यमान है।

अरावली पर्वत का उत्थान पुन पुराकल्प (पैलिओजोइक एरा) मे प्रारभ हुआ। पूर्वकाल मे ये पर्वत दक्षिण के पठार से लेकर उत्तर मे हिमालय तक फैले थे और अधिक ऊँचे उठे हुए थे। परंतु अपक्षरण द्वारा मध्यकल्प

(मेसोज़ोइक एरा) के अंत में इन्होंने स्थलीयप्राय रूप धारण कर लिया। इसके पश्चात् तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) के आरंभ में विकुंचन (वार्पिग) द्वारा इस पर्वत ने वर्तमान रूप धारण किया और इसमें अपक्षरण द्वारा अनेक समांतर विच्छिन्न शृंखलाएँ भी बन गईं। इन शृंखलाओं की ढाल तीव्र है और इनके शिखर समतल है। यहाँ पाई जानेवाली शिलाओं में स्लेट, शिस्ट, नाइस, संगमरमर, क्वार्टज़ाइट, शेल और ग्रैनाइट मुख्य है। (रा० ना० मा०)

अरिकेसरी मारवर्मन् मदुरा के पांड्यों की शक्ति प्रतिष्ठित करनेवाले प्रारंभिक राजाओं में प्रधान। लगभग ७वीं सदी ई० के मध्य हुआ। उसकी ख्याति पांड्य अनुश्रुतियों में पर्याप्त है और उसका नेडुमारन् अथवा कुन पांड्य संभवतः वही है। पहले वह जैन था पर बाद में संत तिरुज्ञानसंबंदर के उपदेश से परम शैव हो गया। उसके शासनकाल में पांड्यों का पर्याप्त उत्कर्ष हुआ। (ओ० ना० उ०)

अरित्रपाद (कोपेपोडा) कठिनि (क्रस्टेशिया) वर्ग का एक अनुवर्ग (सबक्लास) है। इस अनुवर्ग के सदस्य जल में रहनेवाले तथा कवच से ढके प्राणी हैं। अरित्रपाद का अर्थ है अरित्र (नाव खेने के डाँड़े) के सदृश पैरवाले जीव। "कोपेपॉड" का भी ठीक यही अर्थ है। इस अनुवर्ग में कई जातियाँ हैं। अधिकांश इतने सूक्ष्म होते है कि वे केवल सूक्ष्मदर्शी से देखे जा सकते हैं। खारे और मीठे दोनों प्रकार के पानी में ये मिलते है। संसार के सागरों में कहीं भी
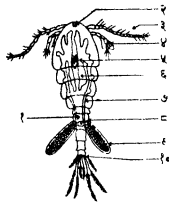
(स्त्री) मध्याक्ष (पृष्ठ दृश्य)
१ सयुत तनुखंडक (कपाउड सोमाइट), २ मध्य चक्षु, ३ स्पर्शसूत्रक, ४ स्पर्शसूत्र, ५ अंडाशय, ६ गर्भाशय, ७ अंड प्रणाली, ८ शुक्रधान, ९ अंडस्यून, १० उच्छाखा (रैमस)।

नर मध्याक्ष (अधर दृश्य)
११ उदोष्ठ (लैब्रम), १२ उपजंभ (मैक्सिला), १३ हनुपाद (मैक्सिलिपीड), १४ पुच्छखंड (टेलसन), १५ पुच्छ द्विशाख की उच्छाखाएँ, १६ स्पर्शसूत्रक, १७ स्पर्शसूत्र, १८ जंभ, १९ उपजंभक, २० संतुक (कॉपुला), २१, २२, २३ और २४ अग्रगपाद, २५ उदर

महीन जाल डालकर खींचने से इस अनुवर्ग के प्राणी अवश्य मिलते है। अमरीका के एक बंदरगाह के पास एक गज के जाल को १५ मिनट तक घसीटने पर लगभग २५,००,००० जीव अरित्रपाद अनुवर्ग के मिले। मछलियों के आहार में ये मुख्य अवयव है। अधिकांश अरित्रपाद स्वच्छंद विचरते रहते है और अपने से छोटे प्राणी और कण खाकर जीवित रहते है, परंतु कुछ जाति के अरित्रपाद मछलियों के शरीर में चिपके रहते है और उनका रुधिर चूसते रहते है। स्वतंत्र रूप से मीठे या खारे पानी में तैरती हुई पाई जानेवाली जातियों के अच्छे उदाहरण मध्याक्ष (साइक्लॉप्स—सिर के बीच में आँखवाले) तथा कैलानस हैं। पत्तनाड़ी का शरीर खंडदार होता है; शीर्ष और वक्ष एक में (जिसे शीर्षोरस, सेफालोथोरैक्स, कहते है), उदर (ऐब्डोमेन) प्राय पृथक् तथा आकार एक लंबी, पतली, बीच में मोटी, विलायती नाशपाती की तरह होता है। शीर्षोरस का ऊपरी आवरण उत्कवच (कैरापेस) कहलाता है। इसके अगले सिर के पृष्ठ पर बीच में एक चक्षु होता है जो मध्यचक्षु (मीडियन आइ) कहलाता है। अंतिम उदर तनुखंडक (एब्डॉमिनल सामाइट = उदर के लंबे खंड) में दो घ्रायुक्त पुच्छकटिका (प्लूम्ड कॉडल स्टाइल्स) जुड़ी रहती है। स्पर्शसूत्रक (ऐंटेन्यूल्स) बहुत लंबे, एकशाखी (यूनिरैमस) तथा संवेदक होते है और प्रचलन के काम आते है। तीन या चार अग्रग द्विशाखी पैर भी होते हे, जो पानी में तेज चलने के काम आते है।

इस अनुवर्ग के सदस्य खाद्य वस्तुओं को, जो पानी म मिलती है, अपने मुख की ओर स्पर्शसूत्र (ऐंटेनी) तथा जंभ (मैंडिबल्स, जबड़ो) से परिचालित करके और उपजंभ (मैक्सिली) से छानकर मुख में लेते है।

मादा मध्याक्ष (साइक्लॉप्स) में शुक्रधान (स्पर्माथीका = शुक्र रखने की थैली) छठे अग्रग खंड (थोरैसिक सेग्मेंट) में होता है। दोनों तरफ की अंडप्रणाली अंडस्यून (एग सैक) में खुलती है और शुक्रधान से भी संबंधित रहती है। नर शुक्राणु (स्पर्मेटोफोर) मादा के शरीर में प्रवेश करता है और निषेचन के बाद मादा निषिक्त अंडकोश, जब तक बच्चे अंड के बाहर नहीं निकलते, अंडस्यून में ही लिए फिरती है। बच्चे अंडे से निकलने पर ल्यूपाग (नॉप्लिअस) कहलाते है। धीरे धीरे और अधिक तनुखंडक तथा अपांग बनते है और इस तरह पाँच लगातार पदों में ल्यूपाग प्रौढ अवस्था (मध्याक्ष) को प्राप्त होता है।

मध्याक्ष का (बच्चा) ल्यूपाग (अधर दृश्य)
१ स्पर्शसूत्र, २ स्पर्शसूत्रक, ३ उदोष्ठ (लैब्रम), ४ जंभ (मैंडिबल)।

परजीवी अरित्रपाद—इसमें नर अधिकांश में मादा से बहुत छोटे होते है। वे या तो स्वतंत्र रूप में रहते है या मादा में चिपटे रहते है। उनके शरीर का आकार और रचना मादा के शरीर की रचना से उच्च स्तर की होती है। जीवनचक्र बहुत ही जटिल एवं मनोरंजक होता है। मुख्य परजीवी अरित्रपाद निम्नलिखित है :

(१) **अंकुशसूत्र** (अर्गासिलस)—यह एक मछली (मारोना लैब्राक्स) के गलफड़ों से चिपका रहता है। इसके उपांग बहुत छोटे होते है। स्पर्शसूत्र पोषिता (होस्ट) को पकड़ने के लिये अंकुश (हुक) या काँटों में परिणत हो जाते है।

अंकुशसूत्र (अर्गासिलस)
१ स्पर्शसूत्रक, २ स्पर्शसूत्र, ३ अंडस्यून

विरूपा (निकोथा)
४ अंडस्यून

कृमिकाय
५ अंडस्यून

पालिकाय (ऐथोसोमा)
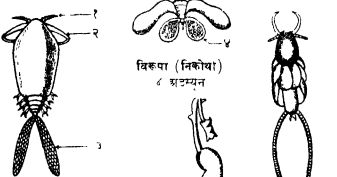
(२) **पालिकाय प्रजाति** (गैथोमोमा)—यह शार्क मछलियों (लैम्ना कारनुबिका) के मुख में पाया जाता है। इसके शरीर का आकार अनेक प्रतिच्छादी पिंडकों के रहने से अन्य जातियों से बहुत भिन्न होता है।

(३) **विरूपा प्रजाति** (निकोथी)—यह बड़े भागे (लाब्स्टर) की जलश्वसनिकाओं (गिल्स) में पाया जाता है। इसके स्पर्शसूत्र और मुखांग शोषण करनेवाले अंगों में परिवर्तित हो जाते हैं। वक्ष (उरस) से बड़े बड़े पिंडक निकलने के कारण इसका रूप बहुत भद्दा लगता है।

(४) **कास्थिजीविप्रजाति** (कांड्राकैंथस)—यह अस्थिमत्स्य (बोनी फिश) की जलश्वसनिका में चिपटे हुए मिलते हैं। लंबाई में नर मादा का बारहवाँ भाग होता है। इसका शरीर अखंडित और चपटा होता है, जिससे बहुत से झुर्रीदार पिंडक निकल रहते हैं। नर सदा मादा से जननेंद्रिय के निकट चिपटा रहता है। इसका शरीर इतना भद्दा और कुरूप होता है कि यदि इसमें अंडस्यून न होते तो इसे अरित्रपाद नहीं कहा जा सकता।

स्त्री

कास्थिजीवी (कांड्राकैंथस)

१ स्पर्शसूत्र द्वितीय, २ अरित्रपाद प्रथम, ३ अरित्रपाद द्वितीय, ५ अंडस्यून, ६ मध्याक्ष, ७ वृषण

(५) **कृमिकाय प्रजाति** (लर्नीआ)—यह कीड़े के आकार का होता है। इसके शरीर के अगले सिरे पर पिंडक होते हैं। उपजभ से यह पोषिता के चमड़े को छेदकर उसके शरीर से रस चूसता है।

(६) **हूनशिर प्रजाति** (लेसटीरा)—यह जेनिप्टेरेस ब्लेकोड्स नामक मछली में पाया जाता है। मादा की लंबाई अंडस्यून को छोड़कर ७० मिलीमीटर होती है। इसका सिर फूला हुआ होता है जो अपनी पोषिता मछली के चमड़े और मांसपेशियों के बीच में रहता है तथा बाकी धड़ पानी में लटकता रहता है।

(७) **लबकाय प्रजाति** (ट्रेकेलिएस्टिज़)—यह अपने दूसरे उपजभ द्वारा पोषिता में चिपटा रहता है।

हूनशिर (लेसटीरा)
८. सिर, ९. ग्रीवा, १० अंडस्यून।

लबकाय (ट्रेकेलिएस्टिज़)
११ उपजभ, १२ स्पर्शसूत्र; १३. अंडस्यून

(८) मांस्ट्रिला—यह प्रायः पुरुरोमिणो (पॉलिकीटा) में रहते हैं। इनका जीवनचक्र बड़ा जटिल होता है। नर एवं मादा तथा अंडे से निकले हुए ल्यूपेग चलते फिरते हैं। किंतु प्रौढ़ होने तक के बीच की अवस्थाओं में अपना आहार कई तरह से पुरुरोमिणो में परजीवी रहकर स्पर्शसूत्र द्वारा प्राप्त करते हैं।

(९) **कैलिगस**—ये चलनशील बहिःपरजीवी (एक्टोपैरासाइट) मछली के जल-श्वसनिका-वेश्म (चेंबर) में रहते हैं। इनके शरीर की रचना बहुत भद्दी होती है, रस चूसने के लिये शोषणनलिकाएँ होती हैं।

(१०) **हर्पिल्लोबिअस**—ये परजीवी वलयी (ऐनेलिड्स) में पाए जाते हैं। मादा एक थैली की तरह होती है, जो पोषिता के शरीर से मूलकों (रूटलेट्स) द्वारा आहार खींचती है। नर भी छोटी थैली के आकार के होते हैं। (रा० च० स०)

अरियाद्ने

अरियाद्ने यूनान की पौराणिक कथाओं में क्रीत के राजा मिनोस् एवं सूर्य की पुत्री पासीफाए की कन्या। जब थेमियस् और उसके साथी वार्षिक बलि के रूप में क्रीत पहुँचे और नगर में उनकी यात्रा निकली तब राजकन्या अरियाद्ने थेसियस् के रूप पर मुग्ध हो गई। उसने भूलभुलइयों में रहनेवाले मिनोतोर (मिनोस् के नर+वृषभ) को मारने और वहाँ से डोरी के सहारे निकल आने में थेसियस् की सहायता की। इसके उपरांत वह थेसियस् के साथ भाग आई। एथेंस् लौटते समय थेसियस् ने या तो नाक्सौस् द्वीप में उसकी हत्या कर दी, अथवा उसका परित्याग कर दिया। इसके उपरांत दियोनीसस् ने उसके साथ विवाह किया और उसके अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ आलोचक इसकी कथा को शीतकाल की (सुप्त या मृत) और वसंत काल की (जाग्रत) प्रकृति का रूपक मानते हैं। अरियाद्ने (अथवा अरियाग्ने) का अर्थ "अत्यंत पूज्य" है।

सं०ग्रं०—रोज़ : हैंडबुक ऑव ग्रीक माइथॉलॉजी, एडिथ् हैमिल्टन् : माइथॉलॉजी, १९५४, रॉबर्ट् ग्रेव्ज़् : दि ग्रीक मिथ्स् १९५५। (भो० ना० श०)

अरिष्टनेमि

अरिष्टनेमि १ यह एक बड़ा प्रतापी दैत्य था जिसने बैल का रूप धारण कर कृष्ण का सामना किया था। यह बलि का पुत्र था। २ इक्ष्वाकुवंशी निमि (मिथिला शाखा) की वंशपरंपरा में एक राजा अरिष्टनेमि का नाम आता है। यह राजा सूर्यवंशी था। (च० म०)

अरिस्तोफ़ानिज़

अरिस्तोफ़ानिज़ १ (ल० ई० पू० ४५० से ई० पू० ३८५) यूनानी प्रहसनकार। इसके पिता का नाम फ़िलिप्पस् और माता का ज़ेनोदोरा था तथा इसकी कुछ स्थावर संपत्ति इगिना में भी थी, जिसके कारण इसके मूल एथेंस निवासी होने में संदेह किया गया है। अरिस्तोफ़ानिज़ ने १८ वर्ष की आयु से ही नाटकरचना आरंभ कर दी थी। आरंभिक नाटकों में उसने अपना नाम नहीं दिया था। कहते हैं, इसने ५४ नाटक लिखे थे जिनमें से इस समय केवल ११ मिलते हैं। लगभग मार्च मास में दियोनीसस् की रंगस्थली में एथेंस में जो नाट्य प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं उनमें अरिस्तोफ़ानिज़ को चार प्रथम, तीन द्वितीय तथा एक तृतीय पुरस्कार भिन्न भिन्न अवसरों पर प्राप्त हुए थे। अपने प्रहसनों में अरिस्तोफ़ानिज़ ने एथेंस के बड़े से बड़े नेताओं की हँसी उड़ाई है अतएव उसको एक नेता क्लिओन् का कोपभाजन भी बनना पड़ा, पर अपने स्वतंत्र स्वभाव को उसने नहीं छोड़ा। सुकरात और यूरीपीदिस् जैसे दार्शनिकों और नाटककारों को भी उसके परिहास का पात्र बनना पड़ा, तथापि उसके चित्त में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं थी। इसी कारण सुकरात का अनन्य भक्त अफलातून (प्लातोन्) अरिस्तोफ़ानिज़ से प्रेम करता था।

यूनान के प्रहसनात्मक नाटकों का इतिहास तीन युगों में विभक्त है जो प्राचीन प्रहसन, मध्य प्रहसन और नवीन प्रहसन के युग कहलाते हैं। प्राचीन प्रहसन युग और मध्य प्रहसन युग के प्रहसनों में से केवल अरिस्तोफ़ानिज़ के प्रहसन ही आजकल मिलते हैं। उसके आजकल मिलनेवाले नाटकों के नाम और परिचय निम्नलिखित हैं। अकानम् (ई० पू० ४२५ में प्रस्तुत) जिसमें एथेंस के युद्धसमर्थक दल और सेनानायकों का परिहास किया गया था। इसपर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। हिप्पेस् (शूर सामंत) की

रचना लगभग ४२४ ई० पू० मे हुई और इसमे कवि ने क्लिग्रोन तथा उस समय के जनतन्त्र पर कटु आक्रमण किया। इसपर लेखक को प्रथम पुरस्कार और क्लिग्रोन् का कोप प्राप्त हुआ। नैफेलाइ (मेघ) का समय ई० पू० ४२३ है। इसमे सुकरात की हँसी उड़ाई गई है। इसपर कवि को तृतीय पुरस्कार मिला था। स्फेकैस् (बर्रे) लगभग ई० पू० ४२२, मे दो पीढ़ियों के विचारभेद और न्यायालयो को परिहास का विषय बनाया गया है। एक दृश्य मे दो कुत्तो को जूरी महोदय के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आईरोना (शांति) ई० पू० ४२१ मे प्रस्तुत किया गया था। इसमे युद्ध से व्यथित एक कृषक गुबरैले पर सवार होकर शांति की खोज मे ओलिंपस् की यात्रा करता है। इसपर कवि को द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। ओर्नीथैस् (चिड़ियाँ) का अभिनय ई० पू० ४१४ मे हुआ था। इसमे दो महत्वाकाक्षी व्यक्ति चिड़िया द्वारा अपने लिये आकाश मे एक साम्राज्य-स्थापन का प्रयत्न करते है। इस सुदर कल्पना पर कवि को द्वितीय पुरस्कार मिला था। लीसिस्त्राता का समय ई० पू० ४११ है। पैलोपानीशिय युद्ध कुछ समय के लिये रुककर पुन भड़क उठा था। अरिस्तोफानिज इस युद्ध का विरोधी था। इस नाटक म स्त्रिया के द्वारा अपने पतियों को रत्यधिकार मे वंचित करके शांति प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। इसमे कवि के राजनीतिक विचारो की झलक मिलती ह। थैस्मोफोरियाजूसाई ई० पू० ४११ मे प्रस्तुत किया गया था। इसमे महाकवि यूरीपोदिज को प्रहसन का लक्ष्य बनाया गया है। बात्रकोई (माइक) ई० पू० ४०५ मे प्रस्तुत किया गया था। यह प्रहसन के रूप मे ईस्किलस् और यूरीपोदिज की आलोचना है और अरिस्तोफानिज की श्रेष्ठ रचना है। इसपर प्रथम पुरस्कार मिलना ही था। ऐक्लेसियाजूसाई (ई० पू० ३९१) सभवतया अंतिस्थैनेस् अथवा अफलातून के साम्यवाद (विशेषकर स्त्री पुरुषो की समानता के पोषक साम्यवाद) की आलोचना ह। अपेक्षाकृत यह एक शिथिल प्रहसन है। अतिम उपलब्ध रचना प्लूतस् का समय ई० पू० ३८८ है। इसमे परंपरा के प्रतिकूल धन के देवता को नेत्रवान् बनाया गया है जो सब सज्जनो को धनवान् बना देता है।

अरिस्तोफानिज का प्रहसन किसी को नही छोडता। उसकी भाषा नितांत उच्छृंखल है। नग्न अश्लीलता की भी उसकी रचनाओ म कमी नही है। पर गीतो मे कोमलता और माधुर्य भी पर्याप्त है। जिस प्रकार के प्रहसन उसने लिखे है उसके पूर्व और पश्चात् दूसरा कोई वैसे प्रहसन नही लिख सका।

सं०ग्रं०—ओट्स ऐंड नील दि कंप्लीट ग्रीक ड्रामा, २ जिल्द, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क, १९३८; मरे ए हिस्ट्री ऑव एन्शेंट ग्रीक लिटरेचर, १९३७, नौर्वुड-राइटर्स ऑव ग्रीस, १९३५, बाउरा एन्शेंट ग्रीक लिटरेचर, १९४५। (भो०ना०श०)

अरिस्तोफ़ानिज २ (बीजातियम् का) ई० पू० १९५ के आसपास सिकदरिया के सुविख्यात पुस्तकालय का प्रधान अध्यक्ष। इस प्रकाड विद्वान् ने प्राय सभी प्रमुख ग्रीक कवियो, नाटककारो और दार्शनिका क ग्रंथो का सपादन किया था। कोशकार एव वैयाकरण के रूप म भी इसकी विशेष ख्याति है। कुछ लोगो के मत मे इसने ग्रीक भाषा के स्वरो (ऐक्सेंट्स) का आविष्कार किया था पर अन्य लोगों के मत मे यह केवल उनका सुव्यवस्थापक था। प्राणिशास्त्र पर भी इसने एक पुस्तक लिखी थी। इसका जीवनकाल ई० पू० २५७ से १८० तक माना जाता है।

सं०ग्रं०—जे० ई० सैंडीज ए हिस्ट्री ऑव क्लासिकल स्कॉलरशिप, ३ जिल्द, १९०८। (भो०ना०श०)

अरीठा यह वृक्ष लगभग सारे भारतवर्ष मे पाया जाता है। इसके पत्ते गूलर के पत्तो से बडे, छाल भूरी तथा फल गुच्छा म होते है। इसकी दो जातियाँ है। प्रथम जाति के वृक्ष के फलो को पानी मे भिगोने और मथने से फेन उत्पन्न होता है और इससे सूती, ऊनी तथा रेशमी सब प्रकार के कपडे तथा बाल धोए जा सकते है। आयुर्वेद के मत मे यह फल त्रिदोषनाशक, गरम, भारी, गर्भपातक, वमनकारक, गर्भाशय को निश्चेष्ट करनेवाला तथा अनेक विषो का प्रभाव नष्ट करनेवाला है। सभवत वमनकारक होने के कारण ही यह विषनाशक भी है। वमन के लिये इसकी मात्रा दो से चार माशे तक बताई जाती है। फल के चूर्ण के गाढे घोल की बूँदो को नाक मे डालने से अधकपारी, मिर्गी और वातोन्माद मे लाभ होना बताया गया है।

दूसरे प्रकार के वृक्ष से प्राप्त बीजो से तेल निकाला जाता है, जो ओषधि के काम आता है। इस वृक्ष से गोद भी मिलता है। (भ० दा० व०)

अरुंधती सप्तर्षिमडल के साथ वसिष्ठपत्नी अरुंधती का नाम सलग्न है। यह छोटा सा नक्षत्र, जिसे पाश्चात्य ज्योतिर्विद 'मॉर्निंग स्टार' अथवा 'नॉर्दर्न क्राउन' कहते है, पातिव्रत का प्रतीक माना जाता है। विल्सन प्रभृति पाश्चात्य कोशकारो की यह धारणा कि अरुंधती शायद सभी सप्तर्षियो की पत्नी थी, भ्रामक है। (च० म०)

अरुण नाम के कई व्यक्तियो के उल्लेख भारतीय वाङमय मे मिलते है।

सृष्टि की उत्पत्ति के समय ब्रह्मा के मास से उत्पन्न ऋषि का नाम अरुण था। पचम मनु के पुत्रो मे स[illegible] की यही सज्ञा थी। दनु और कश्यप के एक पुत्र का भी अरुण नाम मिलता ह। हर्यश्व को दृषद्वती से जात पुत्र का भी यही नाम था जिसके अन्य नामातर निबधन तथा त्रिबधन थे। नरकासुर के पुत्र अरुण ने अपने छह भाइयो के साथ कृष्ण पर आक्रमण किया और सबाधव मारा गया। धर्मसावर्णि मन्वतर के सप्तर्षियो मे से भी एक का नाम अरुण था।

पूर्वाकाश की प्रात कालीन लालिमा अथवा बालसूर्य को भी अरुण कहा जाता है। पौराणिक मान्यता के अनुसार सूर्य के रथ का सारथि अरुण विनता और कश्यप का पुत्र था। इसके जन्म की कथा पर्याप्त रोचक है। उल्लेख है कि विनता और उसकी सौत कद्रू एक साथ आपन्नसत्वा हुई। परतु कद्रू को पहले ही प्रसव हो गया और उसके पुत्र चलने फिरने भी लगे। यह देख विनता ने अपने दो अडो मे से एक को फोड डाला जिससे कमर तक शरीरवाला पुत्र निकला। यही अरुण था जिसे, पैर न होने के कारण, अनूरू तथा विपाद भी कहा गया। यह जानने पर कि सौतियाडाह के कारण मेरी यह दशा हुई है, अरुण ने अपनी माँ को शाप दिया कि पाँच सौ वर्ष तक सौत की दासी बनकर रहो। परतु बाद म उसने उ शाप बताया कि दूसरे अडे को यदि परिपक्व होने दिया गया तो उससे उत्पन्न पुत्र तुम्हे दासता से मुक्त करेगा। दूसरे अडे से जन्मे गरुड़ ने अरुण को ले जाकर पूर्व दिशा मे रखा। अपने योगबल से अरुण ने सतप्त सूर्य के तेज को निगल लिया। तभी देवताओं के अनुरोध पर उसने सूर्य का सारथ्य स्वीकार किया। सपाति, जटायु तथा श्येन इसके पुत्र थे। निर्णयसिंधु तथा संस्कारकौस्तुभ मे अरुणकृत स्मृति का उल्लेख है। विपाद होने के कारण सूर्य की मूर्तियो के साथ अरुण सदा कटिभाग तक ही उत्कीर्ण होता है। सूर्यमदिरो अथवा विष्णुमदिरो की चौखट पर घोडो की रास पकड़े रथ का सचालन करती हुई अरुणमूर्ति मध्यकालीन कला मे बहुधा कोरी गई है।

विप्रचित्ति वंश के एक दानव का नाम भी अरुण था। इसने सहस्रो वर्ष तक गायत्री जाप करके ब्रह्मा से युद्ध मे मृत्यु न होने का वर पाया। इद्रादि से युद्ध के समय आकाशवाणी द्वारा इसके मरने के उपाय का पता चला कि गायत्री का त्याग करने पर ही दानव की मृत्यु सभव है। पश्चात् देवताओं द्वारा नियुक्त बृहस्पति ने इससे गायत्री जाप छुड़वाया। इससे क्रुद्ध गायत्री ने लाखो भौरे उत्पन्न किए जिन्होने सेना सहित अरुण को मार डाला। (कै० च० श०)

अरुणाचल प्रदेश भारत के पूर्वोत्तर सीमात पर अवस्थित इस प्रदेश का क्षेत्रफल ३१,४३८ वर्ग मील है तथा जनसख्या लगभग ४,४०,००० । यह हिमालय पर्वत की शृखला मे तिब्बती तथा बर्मी सीमा के निकट स्थित है। पहले यह पूर्वोत्तर सीमात एजेंसी का क्षेत्र रहा है। यहाँ पर्वतीय जनजाति के लोग निवास करते है। इनमे एकता के साथ ही भिन्नता का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि ये पचास विभिन्न बोलियो का व्यवहार करते है। बहुत दिनो तक यह आसाम का अग बना रहा। यहाँ का प्रशासन आसाम राज्य के राज्यपाल क्षेत्रीय परिषद् की सहायता से करते रहे है। इस परिषद् मे इस क्षेत्र के लिये नामाकित संसद् सदस्य तथा स्थानीय पचायतो के प्रतिनिधि रहते है। यह परिषद् क्षेत्र की समस्याओ पर विचार विनिमय करती है तथा उनके सबध मे परामर्श देती है। इसके कुछ सदस्य

प्रशासक के सलाहकार के रूप में भी कार्य करते है। २१ जनवरी, सन् १९७२ को अरुणाचल प्रदेश का केंद्रप्रशासित प्रदेश के रूप मे उद्घाटन हुआ। भारतीय सविधान के २७वें सशोधन के परिणामस्वरूप, जो लोकसभा मे १५ दिसबर,१९७१ को तथा राज्यसभा मे २१ दिसबर, १९७१ को स्वीकृत हुआ था, पूर्वोत्तर-क्षेत्र-पुनर्गठन-विधेयक के अनुसार इसका गठन हुआ। इस क्षेत्र के पाँच राज्यो, आसाम, नागालैंड, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा तथा दो केंद्रप्रशासित क्षेत्र मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल, उच्च न्यायालय तथा लोकसेवा आयोग एक ही होंगे। पूर्वोत्तर परिषद् मे इन सभी प्रदेशों की आर्थिक, सामाजिक तथा नियोजन सबधी समस्याओ पर विचारविमर्श की व्यवस्था है। इसमे इन प्रदेशो की यातायात, सचारसाधन, विद्युत् तथा उद्योग सबधी समन्वय की व्यवस्था है। भारत सरकार ने इस प्रदेश मे भूतपूर्व सैनिको को बसाने की योजना बनाई है। (ल० श० व्या०)

अरूपुफोट्टै तमिलनाडु मे रामनाथपुरम् (रामनद) जिले के इसी नाम के तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति ९°३१' उ० अ०, ७८°६' पू० दे०)। यह जिले के प्रमुख, उन्नतिशील, व्यावसायिक एव व्यापारिक केंद्रों मे से एक है। यहाँ के निवासियो मे सेदान नामक जाति के जुलाहे एव शानान नामक व्यापारिक लोग प्रमुख है। सूती कपडा बुनने एव रँगने का धधा यहाँ प्रमुख है, जिसका तैयार माल कोलबो, सिंगापुर एव पेनाग को निर्यात होता है। १९०१ ई० मे इसकी जनसख्या २३,६३३ थी, जो सन् १८८१ की जनसख्या की तुलना मे दूनी थी। इस नगर को, निकटतम रेलवे स्टेशन विरुद्रनगर से १३ मील दूर होने के कारण, यातायात की कठिनाई थी, लेकिन अब पक्की सडकों द्वारा चतुर्दिक् सबध स्थापित हो गया है। (का० ना० सि०)

अरोडा एक जाति का नाम जो अपने को अरोडे या अरोडवशी भी कहते है। इस जाति मे प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार इसका मूलस्थान उत्तरी सिध के अरोड नामक स्थान मे था। उसका प्राचीन नाम अरुटकोट भी कहा जाता है। अरोड को जब ७१२ ई० मे मुहम्मद बिन कासिम ने लूटा और राजा दाहर का, जो अरोडवशी थे, नष्ट कर दिया तो अरोड जाति सिध को छोडकर पजाब की ओर फैल गई और अधिकाश लोग पजाब के सिध, झेलम, चनाब और रावी तट के शहरों मे बस गए। तब से ये अपने तीन भेद मानते है। जो उत्तर की ओर आए वे उतराधी, जो दक्षिण दिशा की ओर गए वे दक्खिने और जो पश्चिम दिशा मे ही बसे वे दाहरे कहलाने लगे। इनमें से प्रत्येक उपजाति मे एक जैसे अल्ल या अवटक पाए जाते है। इन दिशावाची भेदो के अतिरिक्त स्थानिक भेद भी उत्पन्न हो गए, जैसे लाहौरी, मुलतानी, पोठोहारी, जोधपुरी, नागौरी, राजपूतानी आदि। कहा जाता है, १००० ई० के ल० पजाब पर भी मुसलमानी अधिकार हो जाने के बाद ये फिर उजडकर कई दिशाओ मे चले गए और फलस्वरूप कच्छी, गुजराती, काठी, लोहाने आदि भेद अरोडो मे उत्पन्न हो गए। ये अपना गोत्र काश्यप या कश्यप मानते है।

अरोडो मे अनेक प्रकार के 'अल्ल' या जातीय उपनाम प्रचलित है जो पारिवारिक नाम, पैतृक नाम अथवा व्यापार, पेशो और पदो के अनुसार उत्पन्न हुए। अहूजे, मनचे, कालडे, चोपे, बलूजे, बत्तरे, बवेजे आदि कुछ अल्लों के नाम है। इस प्रकार के लगभग ८०० अल्लों की सूची इनके इतिहास मे सगृहीत है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनमे से बहुत से नाम पजाब की प्राचीन जातियों और उपजातियो से आए है जिन्हे प्राचीन काल मे क्षत्रिय श्रेणि कहते थे। ये एक प्रकार के छोटे छोटे स्वायत्त सघ राज्य थे, जिनमे से अनेक नामो का उल्लेख पाणिनि की ग्रामसूचियो मे हुआ है, जैसे वाल्जिक (४।२।५४) से बलूजे और चौपयन (४।२।५४) से चोपे। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि पजाब की पाँच नदियों के बीच के वाहीक प्रदेश का प्राचीन नाम आरट्ट था जिसका उल्लेख महाभारत (कर्णपर्व) मे मिलता है (आरट्टा नाम वाहीका वर्जनीया विपश्चिता, कर्णपर्व ३०।४०)। इन्हे वाहीक निवासी होने के कारण नष्टधर्म और विकुत्सित कहा गया है। वस्तुत देश की अपेक्षा आरट्ट जाति का नाम अधिक था जो प्राचीन सिंधु जनपद (वर्तमान सिंध सागर दोआब) से लेकर मुलतान और अरोर या रोरी सक्खर तक फैली हुई थी। पंजाब मे जब बाह्लीक के यवनों का शासन हुआ तो उस प्रदेश के निवासियो के आचार व्यवहार को कुत्सित माना जाने लगा। मूलत यही समीचीन विदित होता है कि पजाब की अन्य जातियो के समान अरोडे भी प्राचीन क्षत्रिय जातियों मे से थे, जिनमें अनेक सघराज्यो के रूप मे सगठित थे। राजस्थान की ओर फैले हुए अरोडे भी पजाब से ही छिटपुट हुए।

सं०ग्रं०—डा० हरनाम सिह भोगा अरोडवश जातीय इतिहास, १९३८ ई०। (वा० श० अ०)

अर्गट एक दवा है जिससे अनैच्छिक मासपेशियो मे सकोच होता है और इसलिये प्रसव के बाद असामान्य रक्तस्राव रोकने के लिये स्त्रियों को दिया जाता है। अधिक मात्रा मे खाने पर यह तीव्र विष का गुण दिखाता है। नीवारिका (अग्रेजी मे राई) नाम के निकृष्ट अन्न मे बहुधा एक विशेष प्रकार की फफूँदी (भुकडी) लग जाती है जिससे वह अन्न विषाक्त हो जाता है। इसी फफूँदी (लैटिन नाम क्लैवीसेप्स पर्प्युरिया) से अर्गट निकाला जाता है। इस फफूँदी लगी नीवारिका को खाने से जीर्ण विषाक्तता (क्रानिक पॉयजनिंग) रोग हो जाने का खतरा रहता है।

अर्चावतार अर्चा का अर्थ प्रतिमा अथवा मूर्ति होता है। प्रात, नगर, गृह आदि मे भगवान् मूर्ति रूप मे भी अवतीर्ण होते है। निराकार-निर्विकार-शुद्ध-बुद्ध-परमानदस्वरूप परब्रह्म भक्तों की हितकामना से राम कृष्ण आदि विविध रूपों मे अवतार ग्रहण करते है। इसी विषय मे 'साधकाना हितार्थाय ब्रह्मणोरूपकल्पना' कथन भी सार्थक है।

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिह आदि अवतारों के अतिरिक्त गृह, नगर, प्रात आदि के मदिरो मे भी भक्त के अर्चनासपादन के लिये भगवान् अवतार लेते है। यह अवतार मूर्ति रूप मे प्रतिष्ठित होने के कारण अर्चावतार शब्द से अभिहित होता है। वैष्णव मतानुसार अर्चावतार एक मूर्तिविशेष है जो देश काल की उत्कृष्टता से रहित होता है। वह अर्चक के समस्त अपराधो को क्षमा करनेवाला तथा आश्रिताभिमत होता है। वह दिव्य देहयुक्त एव सहनशील है। वह सर्वसमर्थ एव परिपूर्ण होने पर भी अपने सभी कर्मो मे अर्चक की अधीनता स्वीकार करनेवाला होता है। प्रभु होता हुआ भी परमेश्वर स्नान-भोजन-शयन आदि सब कार्यो मे पूजक के अधीन हो जाता है। अतएव पूजा करनेवाले समय से मूर्ति के स्नान, भोग, शयन आदि की व्यवस्था करते है।

गृह, नगर, ग्राम, प्रदेश आदि मे निवास करनेवाले इस अर्चावतार के चार भेद होते है—स्वयव्यक्त, सैद्ध, दैव और मानुष। भगवान् की जो मूर्तियाँ स्वय प्रकट हुई उन्हे स्वयव्यक्त, सिद्ध द्वारा होने से सैद्ध कहा जाता है। दैव और मानुष स्पष्ट ही है।

अर्चावतार की अर्चना के १६ प्रकार है आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताबूल, प्रदक्षिणा और विसर्जन। इसे षोडशोपचार कहा जाता है। छत्र, चामर, व्यजन आदि के प्रयोग से राजोपचार की अर्चा होती है और पूजा के पश्चात् अर्चावतार की स्तुति की जाती है तथा अत मे साष्टाग दडवत् प्रणाम का विधान है। पूजको मे इसकी महिमा स्वीकृत है। (उ० श० पा०)

अर्जुन १ महाभारत के वीर। उस परपरा के अनुसार महाराज पाडु की ज्येष्ठ पत्नी, और वासुदेव कृष्ण की बूआ कुती के, इद्र से उत्पन्न तृतीय पुत्र अर्जुन थे। कुती का दूसरा नाम 'पृथा' था जिससे ये 'पार्थ' के नाम से भी अभिहित किए जाते थे। पाडु के पाँचो पुत्रो मे अर्जुन के समान धनुर्धारी तथा वीर दूसरा नहीं था। ये अपना गाडीव धनुष बाएँ हाथ से भी चलाया करते थे, इससे इनका नाम 'सव्यसाची' भी पड़ गया। द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या मे इनके प्रख्यात आचार्य थे जिनसे धनुर्विद्या सीखकर इन्होंने महाभारत मे वर्णित द्रौपदीस्वयवर के समय अपना अद्भुत शस्त्र-कौशल दिखलाया और द्रौपदी को जीता। महाभारत मे उनके द्वारा भारत के उत्तरीय प्रदेशो की दिग्विजय तथा अतुल सपत्ति की प्राप्ति का वर्णन है। इसी से सभवत इनका नाम 'धनजय' प्रसिद्ध हुआ। शकुनि द्वारा कूटद्यूत मे पराजित होने पर अपने भाइयों के साथ इन्होंने भी द्वैतवन मे वास किया और एक साल का अज्ञातवास विराटनगर मे बिताया। विराटनगर मे बृहन्नला नाम से उन्होंने राज-

कुमारी उत्तरा को नृत्यकला की शिक्षा दी। अस्त्रविद्या के साथ ललित कला का ज्ञान इनके व्यापक व्यक्तित्व का परिचायक है। कृष्ण की बहन सुभद्रा का उन्होंने हरण कर उससे विवाह किया जिससे इन्हें 'अभिमन्यु' नामक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ।

महाभारत युद्ध के आरंभ में कुरुक्षेत्र के मैदान में एकत्र हुए अपने सगे-संबधियों को देखकर इन्हें युद्ध से विरक्ति हो गई थी और तब वासुदेव कृष्ण ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का उपदेश देकर इनका व्यामोह दूर किया था। अंग देश का राजा तथा दुर्योधन का परम सुहृद् पराक्रमी कर्ण इनका प्रधान प्रतिद्वंद्वी था जिसे मारकर इन्होंने विजय प्राप्त की। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि प्रख्यात वीरों के ऊपर विजय पाना अर्जुन की असाधारण वीरता, अदम्य उत्साह तथा विलक्षण अस्त्रचातुर्य का परिचायक था। ये श्रीकृष्ण के घनिष्ठ सखा तथा संबधी थे। उनके स्वर्गवासी होने पर भी ये जीवित थे तथा यादवों की स्त्रियों को जब ये द्वारिका पहुँचा रहे थे, तब आभीरों ने रास्ते में ही इन्हें लूट लिया (भागवत, प्रथम स्कंध, ५ अ०)। महाभारत युद्ध के अनंतर अपने पौत्र परीक्षित को राज्य सौंप अपने भाइयों के साथ ये हिमालय में गलने के लिये चले गए। (ब० उ०)

अर्जुन २ एक वृक्ष है जिसका नाम संस्कृत तथा बँगला में भी यही है। संस्कृत में अर्जुन शब्द का अर्थ श्वेत है। इसके वृक्ष जंगलों में ६० से ८० फुट तक ऊँचे, नदियों के किनारे, दक्षिण भारत से अवध तक तथा ब्रह्मदेश और लंका में भी पाए जाते हैं। इसके पत्ते पाँच अंगुल तक चौड़े और एक बित्ता तक लंबे होते हैं तथा इनके पीछे दो गाँठें सी होती हैं। इन पत्तों को टसर के कीड़ों को खिलाया जाता है। फूल बहुत छोटे और हरी झाईं लिए श्वेत होते हैं। इसका गोंद श्वेत होता है और खाने तथा औषधि के काम आता है। परंतु इसकी छाल ही विशेष गुणकारी कही गई है।

छाल में लगभग १५ प्रतिशत टैनिन होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में इसके क्वाथ से नासूर तथा जला हुआ स्थान धोने का और हृदयरोग में दूध के साथ पिलाने का विधान है। छाल का चूर्ण दूध और राब के साथ अस्थिभंग में और चोट में विस्तृत नील पड़ जाने पर खिलाया जाता है।

आयुर्वेद में अर्जुन को कसैला, गरम, कफनाशक, व्रणशोधक, पित्त, श्रम और तृषा निवारक तथा मूत्रकृच्छ्र रोग में हितकारी कहा गया है। प्राय: सब आयुर्वेदशास्त्रियों ने इसे हृदयरोग में लाभकारी माना है।

अर्जुन की लकड़ी से नाव, गाड़ी, खेती के औजार, इत्यादि बनते हैं, और छाल रँगने के काम में आती है। (भ० दा० व०)

अर्जुनदेव (गुरु) सिक्ख संप्रदाय के दस गुरुओं में पाँचवें गुरु हैं। इनका जन्म गोइंदवाल में १५६३ ई० में हुआ। इनके पिता चतुर्थ गुरु श्री रामदास एवं माता भानीदेवी थीं। गुरु रामदास ने इनकी योग्यता तथा प्रतिभा से प्रभावित हो इन्हें ही अपनी गुरु गद्दी का उत्तराधिकारी बनाया, हालाँकि इनके और भी दो बड़े भाई थे।

सिक्ख गुरुओं में गुरु अर्जुनदेव का स्थान पर्याप्त महत्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती चार गुरुओं ने आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुए अमित सेवाकार्य किया, किंतु गुरु अर्जुनदेव ने इसमें आगे बढ़कर बलिदान और कष्टसहन की परंपरा प्रवर्तित की। साथ ही अपने पिता द्वारा प्रारंभ किए अमृतसर नगर के निर्माणकार्य को भी इन्होंने आगे बढ़ाया। वहाँ अमृतसरोवर का निर्माण करवाकर उसके अंदर एक हरिमंदिर भी बनवाया जिसकी आधारशिला एक सूफी संत मियाँ मीर के द्वारा रखवाई। अमृतसर के समीप 'तरन तारन' नाम का एक और नगर इन्होंने ही बसाया और इसमें भी एक तालाब और उसके बीचोबीच एक गुरुद्वारा बनवाया। सार्वजनिक सुविधा के लिये इन्होंने इधर उधर वापी, कूपों का निर्माण भी कराया। 'ग्रंथ साहब' के आजकल प्राप्य संस्करण का संपादन भी इन्होंने ही किया और इसमें गुरु नानक से रामदास तक के चार गुरुओं की बानी के साथ साथ तत्कालीन अन्यान्य प्रसिद्ध संत महात्माओं के उपदेशों तथा शब्दों को भी संकलित किया। गुरु नानक के नाम से प्रचलित अनेक जाली रचनाओं को छाँट छाँटकर इन्होंने 'ग्रंथ साहब' को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया। ग्रंथ साहब में इनके लगभग २,००० शब्द संकलित हैं। इनके 'सुखमनी पाठ' को सिक्ख संप्रदाय में नित्यपाठ का गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। मुगल सम्राट् अकबर इनका बहुत सम्मान करता था किंतु जहाँगीर इनके बढ़ते हुए प्रभाव और प्रसिद्धि को सहन न कर सका। अवसर देखकर, उसने अपने विद्रोही पुत्र खुसरो से मिल जाने का आरोप इनपर लगाया और इन्हें बंदी बना लिया। बंदी काल में इन्हें अनेक प्रकार के असह्य कष्ट और यंत्रणाएँ दी गईं जिन्हें इन्होंने हँसते हुए सहन किया और सन् १६०६ ई० में ४३ वर्ष की अवस्था में रावी तट पर अपनी जीवनलीला संवरण की। (प्रे० ना० शु०)

अर्थक्रिया वह क्रिया जिसके द्वारा किसी प्रयोजन (अर्थ) की सिद्धि हो। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में बौद्धदर्शन के प्रसंग में अर्थक्रिया के सिद्धांत का विस्तृत विवेचन किया है। बौद्धों का मान्य सिद्धांत है—अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम् अर्थात् वही पदार्थ या द्रव्य सत्व कहा जा सकता है जो हमारे किसी प्रयोजन की सिद्धि करता है। घट को हम पदार्थ इसीलिये कहते हैं कि उसके द्वारा पानी लाने का हमारा तात्पर्य सिद्ध होता है। उस प्रयोजन के सिद्ध होते ही वह द्रव्य नष्ट हो जाता है। इसलिये बौद्ध लोग क्षणिकवाद का अर्थात् 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' इस सिद्धांत को प्रामाणिक मानते हैं। इसके लिये उन्होंने बड़ी युक्तियाँ दी हैं (द्र० सर्वदर्शन संग्रह का पूर्वनिर्दिष्ट प्रसंग)। न्याय भी इसके रूप को मानता है। प्रामाण्यवाद के अवसर पर इसकी चर्चा न्यायग्रंथों में है। न्यायमत में प्रामाण्य 'परत:' माना जाता है और इसके लिये अर्थक्रिया का सिद्धांत प्रधान हेतु स्वीकार किया गया है। घड़ा पानी को लाकर हमारी प्यास बुझाने में समर्थ होता है, इसलिये वह निश्चित रूप से घड़ा ही सिद्ध होता है। परंतु न्यायमत में इस सिद्धांत के मानने पर भी क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती। (ब० उ०)

अर्थवाद भारतीय पूर्वमीमांसा दर्शन का विशेष पारिभाषिक शब्द, जिसका अर्थ है प्रशंसा, स्तुति अथवा किसी कार्यात्मक उद्देश्य को सिद्ध कराने के लिये इधर उधर की बातें जो कार्य संपन्न करने में प्रेरक हों। पूर्वमीमांसा दर्शन में वेदों के—जिनको वह अपौरुषेय, अनादि और नित्य मानता है—सभी वाक्यों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है, और समस्त वेदवाक्यों का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त कराना माना है। क्रिया-विधानात्मक वाक्यों के अतिरिक्त वेदों में और जो वाक्य वर्णनात्मक रूप से मिलते हैं उनको मीमांसा ने क्रिया में प्रवृत्त कराने का साधन मात्र माना है, किसी विशेष, वास्तविक वस्तु का वर्णन नहीं माना। विधि, निषेध, मंत्र, नामधेय—क्रियात्मक वाक्यों—को छोड़कर और सब वाक्य अर्थवाद के अंतर्गत हैं। यज्ञ से, जो वेदों का मुख्य विधान है, उनका केवल इतना ही संबंध है कि वे बच्चों को लिखी हुई सत्या-सत्यनिरपेक्ष कहानियों की नाईं, मनुष्यों को यज्ञ करने की प्रेरणा करते हैं तथा न करने से हानि का संकेत करते हैं। समस्त अर्थवादात्मक वाक्य तीन प्रकार के हैं (१) गुणवाद, जिसमें मनुष्यों के साधारण ज्ञान के विरुद्ध वस्तुओं के गुणों का वर्णन मिलता है, (२) भूतार्थवाद, जिसमें वे वाक्य आते हैं जो मनुष्यों को ऐसी बातें बतलाते हैं जिनका ज्ञान वेदवाक्यों के अतिरिक्त और किसी प्रमाण द्वारा नहीं हो सकता, (३) अनुवाद, वे वाक्य जिनमें उन बातों का वर्णन है जिनका ज्ञान मनुष्यों को पहले से है। मीमांसकों के अनुसार वेदवाङ्मय में आए हुए ब्रह्म, ईश्वर, जीव, देवता, लोक और परलोक आदि संबंधी सभी वर्णन अर्थवाद मात्र हैं। उनका उद्देश्य हमको इन वस्तुओं का ज्ञान देना नहीं है, केवल क्रिया (यज्ञ) में प्रवृत्त कराना है। इस सिद्धांत का उत्तरमीमांसा (वेदांत) के आचार्यों ने, विशेषत: श्री शंकराचार्य ने, खंडन किया है। साधारण बोलचाल में अर्थवाद का अभिप्राय झूठी सच्ची बातें कहकर अपना मतलब सिद्ध करना हो गया है। (भी० ला० आ०)

अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र दो शब्दों से बना है, अर्थ और शास्त्र, इसलिये इसकी सबसे सरल परिभाषा यह है कि वह ऐसा शास्त्र है जिसमें मनुष्य के अर्थसंबंधी प्रयत्नों का विवेचन हो। किसी विषय के संबंध में मनुष्यों के कार्यों के क्रमबद्ध ज्ञान को उस विषय का शास्त्र कहते हैं, इसलिये अर्थशास्त्र में मनुष्यों के अर्थसंबंधी कार्यों का क्रमबद्ध ज्ञान होना

आवश्यक है। अर्थशास्त्र मे अर्थसबंधी बातों की प्रधानता होना स्वाभाविक है। परतु इसको यह न भूल जाना चाहिए कि ज्ञान का उद्देश्य अर्थ प्राप्त करना ही नही है, सत्य की खोज द्वारा विश्व के लिये कल्याण, सुख और शांति प्राप्त करना भी है। अर्थशास्त्र भी यह बतलाता है कि मनुष्यों के आर्थिक प्रयत्नो द्वारा विश्व मे सुख और शांति कैसे प्राप्त हो सकती है। सब शास्त्रो के समान अर्थशास्त्र का उद्देश्य भी विश्वकल्याण है। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण अतरराष्ट्रीय है, यद्यपि उसमे व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हितो का भी विवेचन रहता है। यह संभव है कि इस शास्त्र का अध्ययन कर कुछ व्यक्ति या राष्ट्र धनवान् हो जायँ और अधिक धनवान् होने की चिता मे दूसरे व्यक्ति या राष्ट्रो का शोषण करने लगे, जिससे विश्व की शांति भग हो जाय। परन्तु उनके शोषण सबधी ये सब कार्य अर्थशास्त्र के अनुरूप या उचित नही कहे जा सकते, क्योकि अर्थशास्त्र तो उन्ही कार्यों का समर्थन कर सकता है, जिनके द्वारा विश्वकल्याण की वृद्धि हो। इस विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र की सरल परिभाषा इस प्रकार होनी चाहिए—अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के अर्थसबधी सब कार्यों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। उसका ध्येय विश्वकल्याण है और उसका दृष्टिकोण अतरराष्ट्रीय है।

भारत में अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र बहुत प्राचीन विद्या है। चार उपवेद अति प्राचीन काल मे बनाए गए थे। इन चारो उपवेदो मे अथर्ववेद भी एक उपवेद माना जाता है। परतु अब यह उपलब्ध नही है। विष्णुपुराण मे भारत की प्राचीन तथा प्रधान १८ विद्याओं मे अर्थशास्त्र भी परिगणित है। इस समय बार्हस्पत्य तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र उपलब्ध है। अर्थशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य बृहस्पति थे। उनका अर्थशास्त्र सूत्रो के रूप मे प्राप्त है, परन्तु उसमे अर्थशास्त्र सबधी सब बातो का समावेश नही है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही एक ऐसा ग्रथ है जो अर्थशास्त्र के विषय पर उपलब्ध क्रमबद्ध ग्रथ है, इसलिये इसका महत्व सबसे अधिक है। आचार्य कौटिल्य चाणक्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। ये चद्रगुप्त मौर्य (३२१-२९७ ई० पू०) के महामत्री थे। इनका ग्रथ 'अर्थशास्त्र' पडितो की राय मे प्राय २,३०० वर्ष पुराना है। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने के उपायो का विचार करना है। उन्होने अपने अर्थशास्त्र मे ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशो की विजय करने की अनेक बातो का समावेश किया है। शहरो का बसाना, गुप्तचरो का प्रबध, फौज की रचना, न्यायालयो की स्थापना, विवाह सबधी नियम, दायभाग, शत्रुओ पर चढाई के तरीके, किलाबदी, सधियो के भेद, व्यूहरचना इत्यादि बातो का विस्ताररूप से विचार आचार्य कौटिल्य अपने ग्रथ मे करते है। प्रमाणत इस ग्रथ की कितनी ही बाते अर्थशास्त्र के आधुनिक काल मे निर्दिष्ट क्षेत्र से बाहर की है। उसमे राजनीति, दडनीति, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि विषयो पर भी विचार हुआ है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र का वर्तमान रूप मे विकास पाश्चात्य देशो मे, विशेषकर इग्लैंड मे, हुआ। ऐडम स्मिथ वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्मदाता माने जाते है। आपने 'राष्ट्रो की सपत्ति' (वेल्थ आव नेशन्स) नामक ग्रथ लिखा। यह सन् १७७६ ई० मे प्रकाशित हुआ। इसमे उन्होने यह बतलाया है कि प्रत्येक देश के अर्थशास्त्र का उद्देश्य उस देश की सपत्ति और शक्ति बढाना है। उनके बाद माल्थस, रिकार्डो, मिल, जेवस, कार्ल मार्क्स, सिजविक, मार्शल, वाकर, टासिग और राबिस ने अर्थशास्त्र सबधी विषयो पर सुदर रचनाएँ की। परतु अर्थशास्त्र को एक निश्चित रूप देने का श्रेय प्रोफेसर अलफ्रेड मार्शल को प्राप्त है, यद्यपि प्रोफेसर राबिस का प्रोफेसर मार्शल से अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध मे मतभेद है। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो मे अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध मे तीन दल निश्चित रूप से दिखाई पडते है। पहला दल प्रोफेसर राबिस का है जो अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान मानकर यह स्वीकार नही करता कि अर्थशास्त्र मे ऐसी बातो पर विचार किया जाय जिनके द्वारा आर्थिक सुधारो के लिये मार्गदर्शन हो। दूसरा दल प्रोफेसर मार्शल, प्रोफेसर पीगू इत्यादि का है, जो अर्थशास्त्र को विज्ञान मानते हुए भी यह स्वीकार करता है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय मनुष्य है और उसकी आर्थिक उन्नति के लिये जिन जिन बातो की आवश्यकता है, उन सबका विचार अर्थशास्त्र मे किया जाना आवश्यक है। परतु इस दल के अर्थशास्त्री राजनीति से अर्थशास्त्र को अलग रखना चाहते हैं। तीसरा दल कार्ल मार्क्स के समान समाजवादियो का है, जो मनुष्य के श्रम को ही उत्पत्ति का साधन मानता है और पूँजीपतियो तथा जमींदारो का नाश करके मजदूरो की उन्नति चाहता है। वह मजदूरो का राज भी चाहता है। तीनो दलो मे अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध मे बहुत मतभेद है। इसलिये इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र—प्रो० राबिस के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है जो इच्छित वस्तु और उसके परिमित साधनो के रूप मे उपस्थित होते है, जिनका उपयोग वैकल्पिक या कम से कम दो प्रकार से किया जाता है। अर्थशास्त्र की इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है—(१) अर्थशास्त्र विज्ञान है, (२) अर्थशास्त्र मे मनुष्य के कार्यों के सबध मे विचार होना है, (३) अर्थशास्त्र मे उन्ही कार्यों के सबध मे विचार होना है जिनमे—

(अ) इच्छित वस्तु प्राप्त करने के साधन परिमित रहते है, और
(ब) इन साधनो का उपयोग वैकल्पिक रूप से कम से कम दो प्रकार से किया जाता है।

मनुष्य अपनी इच्छाओ की तृप्ति से सुख का अनुभव करता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाओ को तृप्त करना चाहता है। इच्छाओ की तृप्ति के लिये उसके पास जो साधन, द्रव्य इत्यादि है वे परिमित है। व्यक्ति कितना भी धनवान क्यो न हो, उसके धन की मात्रा अवश्य परिमित रहती है, फिर वह इस परिमित साधन द्रव्य का उपयोग कई तरह से कर सकता है। इसलिये उपयुक्त परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के उन सब कार्यो के सबध मे विचार किया जाता है जो वह परिमित साधनो द्वारा अपनी इच्छाओ को तृप्त करने के लिये करता है। इस प्रकार उसके उपभोग सबधी सब कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र मे किया जाना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को बाजार मे अनेक वस्तुएँ खरीदने की आवश्यकता रहती है और उसके पास खरीदने का साधन द्रव्य परिमित रहता है। इस परिमित साधन द्वारा वह अपनी आवश्यक वस्तुएँ किस प्रकार खरीदता है, वह कौनसी वस्तु किस दर से, किस परिमाण मे, खरीदता या बेचता है, अर्थात् वह विनिमय किस प्रकार करता है, इन सब बातो का विचार अर्थशास्त्र मे किया जाता है। मनुष्य जब कोई वस्तु तैयार करता है, उसके तैयार करने के साधन परिमित रहते है और उन साधनो का उपयोग वह कई तरह से कर सकता है। इसलिये उत्पत्ति सबधी सब कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र मे होना स्वाभाविक है।

मनुष्य को अपने समय का उपयोग करने की अनेक इच्छाएँ होती है। परतु समय हमेशा परिमित रहता है और उसका उपयोग कई तरह से किया जा सकता है। मान लीजिए, कोई मनुष्य सो रहा है, पूजा कर रहा है या कोई खेल खेल रहा है। प्रोफेसर राबिस की परिभाषा के अनुसार इन कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र मे होना चाहिए, क्योकि जो समय सोने मे पूजा मे या खेल मे लगाया गया है, वह अन्य किसी कार्य मे लगाया जा सकता था। मनुष्य कोई भी काम करे, उसमे समय की आवश्यकता अवश्य पडती, है और इस परिमित साधन समय के उपयोग का विवेचन अर्थशास्त्र मे अवश्य होना चाहिए। प्रोफेसर राबिस की अर्थशास्त्र की परिभाषा इतनी व्यापक है कि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का विवेचन, चाहे वह धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक ही क्यो न हो, अर्थशास्त्र के अदर आ जाता है। इस परिभाषा को मान लेने से अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र की सीमाओ का स्पष्टीकरण बराबर नही हो पाता है।

प्रोफेसर राबिस के अनुयायियों का मत है कि परिमित साधनो के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का आर्थिक पहलू रहता है और इसी पहलू पर अर्थशास्त्र मे विचार किया जाता है। वे कहते है, यदि किसी कार्य का सबध राज्य से हो तो उसका उस पहलू से विचार राजनीतिशास्त्र मे किया जाय और यदि उस कार्य का सबध धर्म से भी हो तो उस पहलू से उसका विचार धर्मशास्त्र मे किया जाय।

मान लें, एक मनुष्य चोरबाजार मे एक वस्तु को बहुत अधिक मूल्य मे बेच रहा है। साधन परिमित होने के कारण वह जो कार्य कर रहा है और उसका प्रभाव वस्तु की उत्पत्ति या पूर्ति पर क्या पड़ रहा है, इसका विचार तो अर्थशास्त्र मे होगा, चोरबाजारी करनेवाले के सबध मे राज्य का

क्या कर्तव्य है, इसका विचार राजनीतिशास्त्र या दंडनीति में होगा। यह कार्य अच्छा है या बुरा, इसका विचार समाजशास्त्र, आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र मे होगा। और, यह कैसे रोका जा सकता है, इसका विचार शायद किसी भी शास्त्र में न हो। किसी भी कार्य का केवल एक ही पहलू से विचार करना उसके उचित अध्ययन के लिये कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

प्रोफेसर राबिंस की अर्थशास्त्र की परिभाषा की दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान ही मानता है। उसमे केवल ऐसे नियमों का विवेचन रहता है जो किसी समय मे कार्य कारण का संबंध बतलाते है। परिस्थितियों मे किस प्रकार के परिवर्तन होने चाहिए और परिस्थितियो के बदलने के क्या तरीके है, इन गंभीर प्रश्नो पर उसमे विचार नही किया जा सकता, क्योंकि ये सब कार्य विज्ञान के बाहर है। मान लें, किसी समय किसी देश मे शराब पीनेवाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है। प्रोफेसर राबिंस की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मे केवल यही विचार किया जायगा कि शराब पीनेवालो की संख्या बढने से शराब की कीमत, शराब पैदा करनेवालो और स्वयं शराबियों पर क्या असर पड़ेगा। परंतु उनके अर्थशास्त्र मे इस प्रश्न पर विचार करने के लिये गुंजाइश नही है कि शराब पीना अच्छा है या बुरा और शराब पीने की आदत सरकार द्वारा कैसे बंद की जा सकती है। उनके अर्थशास्त्र मे मार्गदर्शन का अभाव है। प्रत्येक शास्त्र में मार्गदर्शन उसका एक महत्वपूर्ण भाग माना जाता है और इसी भाग का प्रोफेसर राबिंस के अर्थशास्त्र की परिभाषा मे अभाव है। इस कमी के कारण अर्थशास्त्र का अध्ययन जनता के लिये लाभकारी नही हो सकता।

समाजवादी चाहते हैं कि पूँजीपतियों और जमींदारो का अस्तित्व न रहने पाए, सरकार मजदूरो की हो और देश की आर्थिक दशा पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण हो। वे अपनी अर्थशास्त्र संबंधी पुस्तकों मे इन प्रश्नो पर भी विचार करते है कि मजदूर सरकार किस प्रकार स्थापित होनी चाहिए। जमींदारो और पूँजीपतियों का अस्तित्व कैसे मिटाया जाय। मजदूर सरकार का संगठन किस प्रकार का हो और उनका संगठन संसारव्यापी किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार समाजवादी लेखक अर्थशास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक बना देते है कि उसमे राजनीतिशास्त्र की बहुत सी बातें आ जाती है। हमको अर्थशास्त्र का क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित करना चाहिए जिससे उसमे राजनीतिशास्त्र या अन्य किसी शास्त्र की बातो का समावेश न होने पाए।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र के संबंध मे प्रोफेसर मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्रोफेसर मार्शल के मतानुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन संबंधी साधारण कार्यो का अध्ययन करता है। वह मनुष्यों के ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों की जाच करता है जिनका घनिष्ठ संबंध उनके कल्याण के निमित्त भौतिक साधन प्राप्त करने और उनका उपयोग करने मे रहता है।

प्रोफेसर मार्शल ने मनुष्य के कल्याण को अर्थशास्त्र की परिभाषा मे स्थान देकर अर्थशास्त्र के क्षेत्र को कुछ बढा दिया है। परंतु इस अर्थशास्त्री ने भी अर्थशास्त्र के ध्येय के संबंध मे अपनी पुस्तक में कुछ विचार नही किया। वर्तमान काल मे पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र तो बढा दिया है, परंतु आज भी वे अर्थशास्त्र के ध्येय के संबंध मे विचार करना अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अंदर स्वीकार नही करते। अब तो अर्थशास्त्र को कला का रूप दिया जा रहा है। संसार मे सर्वत्र आर्थिक योजनाओं की चर्चा है। आर्थिक योजना तैयार करना एक कला है। बिना ध्येय के कोई योजना तैयार ही नही की जा सकती। अर्थशास्त्र का कोई भी सर्वसफल निश्चित ध्येय न होने के कारण इन योजना तैयार करनेवालो का भी कोई एक ध्येय नही है। प्रत्येक योजना का एक अलग ही ध्येय मान लिया जाता है। अर्थशास्त्र मे अब देशवासियो की दशा सुधारने के तरीको पर भी विचार किया जाता है, परंतु इस दशा सुधारने का अंतिम लक्ष्य अभी तक निश्चित नही हो पाया है। सर्वमान्य ध्येय के अभाव में अर्थशास्त्रियो मे मतभिन्नता इतनी बढ़ गई है कि किसी विषय पर दो अर्थशास्त्रियों का एक मत कठिनता से हो पाता है। इस मतभिन्नता के कारण अर्थशास्त्र के अध्ययन मे एक बड़ी बाधा उपस्थित हो गई है। इस बाधा को दूर करने के लिये पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो को अपने ग्रंथो मे अर्थशास्त्र के ध्येय के संबंध मे गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और जहाँ तक संभव हो, अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य ध्येय शीघ्र निश्चित कर लेना चाहिए।

अर्थशास्त्र का ध्येय—संसार मे प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुखी होना और दुःख से बचना चाहता है। वह जानता है कि अपनी इच्छा जब तृप्त होती है तब सुख प्राप्त होता है और जब इच्छा की पूर्ति नही होती तब दुःख का अनुभव होता है। धन द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त करने मे सहायता मिलती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि संसार मे धन द्वारा ही सुख की प्राप्ति होती है। अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिये वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस धन को प्राप्त करने की चिंता मे वह प्राय यह विचार नही करता कि धन किस प्रकार से प्राप्त हो रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि धन ऐसे साधनों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है जिनसे दूसरो का शोषण होता है, दूसरो को दुःख पहुँचता है। इस प्रकार धन प्राप्त करने के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। पूँजीपति अधिक धन प्राप्त करने की चिंता मे अपने मजदूरो को उचित मजदूरी नही देता। इससे मजदूरो की दशा बिगड़ने लगती है। दूकानदार खाद्य पदार्थों में मिलावट करके अपने ग्राहकों के स्वास्थ्य को नष्ट करता है। चोरबाजारी द्वारा अनेक सरल व्यक्ति ठगे जाते है, महाजन कर्जदारो से अत्यधिक सूद लेकर और जमींदार किसानों से अत्यधिक लगान लेकर असंख्य व्यक्तियों के परिवारों को बरबाद कर देते है। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जो जैसा बोता है उसको वैसा ही काटना पड़ता है। दूसरो का शोषण कर या दुःख पहुँचाकर धन प्राप्त करनेवाले इस नियम को शायद भूल जाते है। जो धन दूसरो को दुःख पहुँचाकर प्राप्त होता है उसमे अंत मे दुःख ही मिलता है। उससे सुख की आशा करना व्यर्थ है। यह सत्य है कि दूसरो को दुःख पहुँचाकर जो धन प्राप्त किया जाता है उससे इच्छित वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती है और इन वस्तुओं को प्राप्त करने से सुख मिल सकता है। परंतु यह सुख अस्थायी है और अंत मे दुःख का कारण हो जाता है। संसार में ऐसी कई वस्तुएँ है जिनका उपयोग करने से तत्काल तो सुख मिलता है, परंतु दीर्घकाल मे उनसे दुःख की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ मादक वस्तुओं के सेवन से तत्काल तो सुख मिलता है, परंतु जब उनकी आदत पड़ जाती है तब उनका सेवन अत्यधिक मात्रा मे होने लगता है, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे अंत मे दुःखी होना पड़ता है। दूसरो को हानि पहुँचाकर जो धन प्राप्त होता है वह निश्चित रूप से बुरी आदतों को बढ़ाता है और कुछ समय तक अस्थायी सुख देकर वह दुःख बढ़ाने का साधन बन जाता है। दूसरो को दुःख देकर प्राप्त किया हुआ धन कभी भी स्थायी सुख और शांति का साधक नही हो सकता।

सुख दो प्रकार के है। कुछ सुख तो ऐसे है जो दूसरो को दुःख पहुँचाकर प्राप्त होते है। इनके उदाहरण ऊपर दिए जा चुके है। कुछ सुख ऐसे है जो दूसरो को सुखी बनाकर प्राप्त होते है। वे मनुष्य के मन में शांति उत्पन्न करते है। अपना कर्तव्य पालन करने से जो सुख प्राप्त होता है वह भी शांतिप्रद होता है। कर्तव्यपालन करते समय जो श्रम करना पड़ता है उससे कुछ कष्ट अवश्य मालूम होता है, परंतु कार्य पूरा होने पर वह दुःख सुख में परिणत हो जाता है और उससे मन मे शांति उत्पन्न होती है। इस प्रकार का सुख भविष्य में दुःख का साधन नही होता और इस प्रकार के सुख को आनंद कहते है। जब आनंद ही आनंद प्राप्त होता है तब दुःख का लेशमात्र भी नही रह जाता। ऐसी दशा को परमानंद कहते हैं। परमानंद प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोत्तम ध्येय है। वही आत्मकल्याण की चरम सीमा है। प्रत्येक मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह परमानंद प्राप्त करने का हमेशा प्रयत्न करता रहे। वह हमेशा ऐसा सुख प्राप्त करता रहे जो भविष्य मे दुःख का कारण या साधन न बन जाय और वह शांति और संतोष का अनुभव करने लगे।

जब हम अपने प्रयत्नों द्वारा दूसरों को सुख पहुँचाते है और उनके कल्याण के साधन बन जाते है तब प्रकृति के अटल नियम के अनुसार इन्हीं प्रयत्नों द्वारा हमारे कल्याण मे भी वृद्धि होने लगती है। आत्मकल्याण प्राप्त करने का सरल उपाय दूसरो के कल्याण का साधन बनना है। इसी प्रकार

अपने कार्यों द्वारा किसी को भी दुःख न पहुँचाना अपने दुःख से बचने का सबसे सरल तरीका है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसका सच्चा हितसाधन दूसरो के हितसाधन या परमार्थ द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि दूसरो का सुख अर्थात् विश्वकल्याण ही अपने स्थायी सुख और शाति अर्थात् आत्मकल्याण का एकमात्र साधन है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण करने के लिये दूसरो के कल्याण का हमेशा प्रयत्न करने लगेगा तब किसी भी तरह से स्वार्थों का विरोध न होगा, ससार मे सब प्रकार का सघर्ष दूर हो जायगा और सर्वत्र सुख और शाति स्थायी रूप से स्थापित हो जायगी।

आत्मकल्याण के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के स्वार्थों को उतना ही महत्व दे जितना वह अपने स्वार्थ को देता है। जैसे वह अपने सुखो को बढाने का प्रयत्न करता है, वैसे ही उसे दूसरो के सुखो को बढाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे कार्य बद हो जायँगे जिनके कारण दूसरो के दुःखो की वृद्धि होती है। इससे विश्व के जीवो मे सुख की निरतर वृद्धि होने लगेगी और विश्व का कल्याण बढते बढते चरम सीमा तक पहुँच जायगा। बिना विश्वकल्याण के किसी भी व्यक्ति का आत्मकल्याण नही हो सकता। सच्चा आत्मकल्याण विश्वकल्याण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आत्मकल्याण ही प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोत्तम ध्येय है और जब अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नो का अध्ययन करता है तब उसका ध्येय भी आत्मकल्याण ही होना चाहिए। परतु, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, सच्चा आत्मकल्याण विश्वकल्याण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये अर्थशास्त्र का ध्येय विश्वकल्याण ही होना चाहिए।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि जब किसी इच्छा की पूर्ति नही होती तब दुःख का अनुभव होता है। इसलिये यदि किसी वस्तु की इच्छा ही न की जाय तो दुःख प्राप्त करने का अवसर ही न प्राप्त हो। कुछ सज्जनो का मत है कि सपूर्ण इच्छाओ की निवृत्ति द्वारा दुःख का अभाव और स्थायी सुख तथा शाति प्राप्त हो सकती है। इसलिये इस दृष्टि से देखा जाय तब तो सब इच्छाओ का अभाव ही अर्थशास्त्र का ध्येय होना चाहिए। यह ठीक है कि अभ्यास द्वारा इच्छाओ का नियत्रण अवश्य किया जा सकता है, परतु ऐसी दशा प्राप्त कर लेना जब किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न ही न होने पाए साधारण मनुष्य के लिये असभव नही तो अत्यत कठिन अवश्य है। समाधि या स्थितप्रज्ञ दशा मे ही यह सभव है। परतु इस दशा को प्राप्त करना लाखो मनुष्यो मे से एक के लिये भी व्यावहारिक नही है। अस्तु, अर्थशास्त्र का ध्येय सपूर्ण इच्छाओ के अभाव को मान लेने से थोडे से व्यक्तियो का ही कल्याण हो सकेगा और जनता का उससे कुछ भी लाभ न होगा, इसलिये इस ध्येय को मान लेना उचित न होगा।

कुछ व्यक्ति मानवकल्याण ही अर्थशास्त्र का ध्येय मानते हैं। वे जीवजतुओ तथा पशुपक्षियो के हितो का ध्यान रखना आवश्यक नही समझते। वे शायद यह मानते है कि जीवजतुओ और पशुपक्षियो को ईश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये ही उत्पन्न किया है। इसलिये उनको दुःख पहुँचाकर या वध करके यदि मनुष्यो की इच्छाओ की पूर्ति हो सकती हो तो उनको दुःख पहुँचाने मे कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए। किंतु धर्मशास्त्र और महात्मा गाधी का तो यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा ही कार्य करना चाहिए जिससे 'सार्वभौम हित' अर्थात् सब जीवधारियो का हित हो, किसी की भी हानि न होने पाए। जब मनुष्य प्रत्येक जीवधारी के हित को अपने निजी हित के समान मानने लगता है तभी उसको स्थायी सुख और शाति प्राप्त होती है। महात्मा गाधी ने इस मार्ग को 'सर्वोदय' नाम दिया है। इस सर्वोदय मार्ग द्वारा ही ससार मे प्रत्येक प्रकार का सघर्ष दूर हो सकता है, शोषण का अत हो सकता है और विश्वशाति स्थापित हो सकती है। सर्वोदय का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण और विश्वकल्याण की वृद्धि करने का उत्तम साधन है। इसलिये उनके अनुसार अर्थशास्त्र का ध्येय मानवकल्याण न मानकर विश्वकल्याण ही मानना चाहिए।

सं०ग्रं०—श्री उदयवीर शास्त्री : कौटिल्य का अर्थशास्त्र (हिंदी अनुवाद); ए० ई० मनरो : अर्ली एकानॉमिक थॉट (१९२४); एडमड ह्विटेकर : ए हिस्ट्री ऑव एकॉनॉमिक आइडियाज, टी० डब्ल्यू० हचिसन : दि सिग्निफिकेंस ऐंड बेसिक पास्टुलेट्स ऑव एकानॉमिक थियरी; बेनहम : अर्थशास्त्र (अग्रेजी पुस्तक का अनुवाद), श्री जे० के० मेहता और अन्य अध्यापक : अर्थशास्त्र की रूपरेखा, श्री दयाशकर दुबे : अर्थशास्त्र के मूलाधार, श्री भगवानदास केला : सर्वोदय अर्थशास्त्र। (द० श० दु०)

अर्थशास्त्र के अंग—पूर्व मे उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण, अर्थशास्त्र के ये चार प्रधान अग माने जाते थे। परतु आधुनिक अर्थशास्त्र मे कई नई व्याख्याएँ जुड गई है, जैसे अब हम सूक्ष्म (माइक्रो) तथा व्यष्टि (मैक्रो) दो रूपो मे आर्थिक समस्याओ को देखते हैं। इसके अतिरिक्त राजस्व भी अलग से अपना महत्व बढा रहा है, क्योकि इधर आर्थिक क्रिया कलापो मे सरकार का हस्तक्षेप जनकल्याण की दृष्टि से आवश्यक हो गया है। अतरराष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय, बैंकिंग आदि व्यष्टि अर्थशास्त्र के रूप हैं। सक्षेप मे, अध्ययन के दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र के विभिन्न अगो को हम इस प्रकार रख सकते है :

क सूक्ष्म अर्थशास्त्र—यह वैयक्तिक इकाइयो का अध्ययन करता है, जैसे व्यक्ति, परिवार, फर्म, उद्योग, विशेष वस्तु का मूल्य। बोल्डिंग के अनुसार, "सूक्ष्म अर्थशास्त्र विशेष फर्मों, विशेष परिवारो, वैयक्तिक कीमतो, मजदूरियो, आयो, वैयक्तिक उद्योगो तथा विशिष्ट वस्तुओ का अध्ययन है।" यह सीमात विश्लेषण को महत्व देता है।

ख व्यष्टि अर्थशास्त्र—आधुनिक आर्थिक सिद्धात के बहुत से महत्वपूर्ण विषय जैसे अतरराष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय, राजस्व, बैंकिंग, व्यापारचक्र, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के सिद्धात, आर्थिक नियोजन एव आर्थिक विकास आदि का अध्ययन इसके अंतर्गत होता है। बोल्डिंग के शब्दो मे, "व्यापक अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र का वह भाग है जो अर्थशास्त्र के बडे समूहो और औसतो का अध्ययन करता है, न कि उसकी विशेष मदो का। वह इन समूहो को उपयोगी ढग से परिभाषित करने का प्रयत्न करता है तथा इनके पारस्परिक सबधो को जाँचता है।

सक्षेप मे ये ही अर्थशास्त्र के अग है। केस के बाद के आधुनिक अर्थशास्त्री अब कुछ नए नामो से अर्थशास्त्र के विभिन्न अगो का विवेचन करते हैं, जैसे पूँजी का अर्थशास्त्र, पूंजी निर्माण, श्रम अर्थशास्त्र, यातायात का अर्थशास्त्र, मौद्रिक, अर्थशास्त्र केंद्रीय अर्थशास्त्र, अल्प विकसित देशो का अर्थशास्त्र, विकास का अर्थशास्त्र तुलनात्मक अर्थशास्त्र, अतरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र आदि। आधुनिक काल मे देश विदेश मे अर्थशास्त्र विषय की स्नातकोत्तर शिक्षा भी इन्ही नामो के प्रश्नपत्रो के अनुसार दी जाती है।

समाजवाद और पूंजीवाद—आधुनिक आर्थिक प्रणालियो मे समाजवाद तथा पूँजीवाद का सर्वाधिक उल्लेख हो रहा है। इसका सबध अर्थशास्त्र से है। कार्ल मार्क्स जैसे विद्वानो ने साम्यवाद की स्थापना की तथा रूस ने आर्थिक प्रगति करके पूंजीवादी राष्ट्रो को चकित कर दिया। अतिशय गरीबी ने मानवता को समाजवाद की ओर अधिक आकर्षित किया है क्योकि पूंजीवादी प्रणाली ने अपनी शोषण प्रक्रिया द्वारा अधिक नरसहार किया है।

प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री—भारत की अर्थशास्त्र को जानने, समझने और प्रयोग मे लाने की अपनी विशेष परपरा रही है। यह दुःख का विषय है कि प्राचीन एव नवीन भारतीय अर्थशास्त्रियो की प्रमुख कृतियो का मूल्याकन उचित रूप से अभी तक नही किया गया है और हमारे विद्यार्थी केवल पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो एव उनके सिद्धातो को पढते रहे है।

प्राचीन काल के आर्थिक विचारो को हम वेदो, उपनिषदो, महाकाव्यो, धर्मशास्त्रो, गृह्यसूत्रो, नारद, शुक्र, विदुर के नीतिग्रथो और सर्वाधिक रूप से कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त करते है।

वर्तमान समय मे मुख्य भारतीय अर्थशास्त्रियो मे १ दादाभाई नौरोजी (१८२५), २ महादेव गोविंद रानडे (१८४२), ३ रमेशचद्र दत्त (१८४८), ४. गोपाल कृष्ण गोखले (१८६६), ५ महात्मा गाधी (१८६९) तथा ६. विश्वेश्वरैया (१८६१) के नाम उल्लेखनीय है।

सर्वोदय अर्थशास्त्र—महात्मा गांधीप्रणीत तथा आचार्य विनोबा भावे द्वारा प्रयाग में लाई गई अर्थशास्त्र की यह विचारधारा अति आधुनिक है और भारतीयों की विशिष्ट देन है। इसके अंतर्गत ग्रामस्वराज्य, स्वावलंबन, सहग्रस्तित्व के प्रयाग तथा अहिंसक क्रांति जैसे विचार हैं, जो, जयप्रकाश नारायण के शब्दों में, भारत में ही नहीं, विश्व में कहीं भी कभी भी आर्थिक क्रांति ला सकते हैं। इनका प्रयोग नई शिक्षा के साथ साथ भारत में हो रहा है।

गणितीय अर्थशास्त्र—आधुनिक अर्थशास्त्र आधे से अधिक गणितीय माडलों, साध्यों, समीकरणों तथा फारमूलों (सूत्रों) में बँध गया है। पूर्व में सांख्यिकी का प्रयोग अर्थशास्त्री ऐच्छिक रूप से करते थे परंतु अब वह अर्थशास्त्र के हेतु अनिवार्य हो गया है। इसके अतिरिक्त अर्थमिति भी विकास माडलों में पूर्ण विकसित हो रही है। प्रवैगिक रूप में "इन-पुट आउट-पुट" विश्लेषण से लेकर अर्थशास्त्र ने "गेम थ्योरी" तथा "टेक्निकल फ्लो" तक निकाल डाला है। आर्थिक सिद्धांतों को स्पष्ट करने के हेतु गणितीय "टूल्स" का प्रयोग सब अर्थशास्त्री कर रहे हैं। "लाइनर प्रोग्रामिंग" तथा 'विभेदीकरण प्रक्रिया' के अंतर्गत अर्थशास्त्री गणितीय (विशेषकर बीजगणितीय सूत्रों से) दृश्य प्रभावों के साथ साथ अदृश्य आर्थिक प्रभावों को भी दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं। गणना की छोटी मशीन से लेकर विशालतम वैज्ञानिक विद्युतीय साधन "कंप्यूटर" तक अर्थशास्त्रियों की गणितीय प्रगति के व्यावहारिक रूप हैं। संभवत अगले दो तीन दशक तक ऐसी विधियाँ आविष्कृत हो जायँगी जिनमें गणितीय विधियों द्वारा अति संक्षेप में केवल निष्कर्ष प्राप्त होंगे तथा प्रक्रिया का कोई भी तारतम्य बैठाना आवश्यक न होगा। "अत्युत्पादन" के इस युग में पाश्चात्य अर्थशास्त्री गणितीय अर्थशास्त्र पद्धति पर सबसे अधिक निर्भर कर रहे हैं।

अल्पविकसित देशों का विकास—व्यावहारिक अर्थशास्त्र गरीब एवं साधनरहित देशों की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझा रहा है। गुनार मिडल कृत "एशियन ड्रामा" संभवत मार्क्स के "दास कैपिटल" के बाद सबसे बड़ा अर्थशास्त्रीय ग्रंथ प्रकाशित हुआ है जिसमें अल्पविकसित देशों की समस्याएँ सुलझाई गई हैं। अर्थशास्त्र की यह विचारधारा भी द्वितीय महायुद्ध के बाद उभरी है और इसका भी नित नवीन विस्तार हो रहा है। इसी के अंतर्गत योजनाकरण, पूँजी निर्माण तथा विदेशी सहायता जैसी वर्तमान अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

अर्थशास्त्र की उपादेयता—अर्थशास्त्र का महत्व बड़ी तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की एफाके रिपोर्ट, (१९७० ई०) के अनुसार अर्थशास्त्र पर लगभग १,००० ग्रंथ या लेख प्रति घंटे विश्व में प्रकाशित हो रहे हैं। राजनीति के बाद लोकप्रियता में अर्थशास्त्र का ही स्थान है। वस्तुत अर्थशास्त्र का प्रयोग कल्याण के हेतु करना ही पड़ेगा अन्यथा केवल भौतिक साधन जुटाने का लक्ष्य रखकर एक दिन यह सबको ले डूबेगा। संतोष की बात है कि अब अर्थशास्त्री इस बात को समझने लगे हैं। भारत का प्राचीन दर्शन इस तथ्य को प्रारंभ से जानता है कि केवल भौतिक साधनों का बाहुल्य ही मनुष्य को सुखी नहीं कर सकता। प्रो० शुंपीटर ने अपने नवीनतम लेख "अर्थशास्त्र का भविष्य" में स्वीकार किया है कि "सिद्धांत रूप से आर्थिक विश्लेषण चाहे जितनी प्रगति कर ले, व्यवहार में उसे हमेशा शांति, सुख एवं कल्याण के हेतु ही कार्य करना होगा। यदि अर्थशास्त्र समस्त मानव के समान कल्याण के हेतु कार्य कर सके तो इसका भविष्य बहुत उज्वल होगा।" इसी कारण अब अर्थशास्त्र पर नोबेल पुरस्कार भी दिया जाने लगा है।

कीन्स का प्रभाव—संक्षेप में कीन्स और उसके विस्तृत प्रभाव के बारे में विचार कर लेना उचित होगा। मार्शल के शिष्य जान मेनार्ड कीन्स (१८८३) का "रोजगार, ब्याज एवं मुद्रा का सामान्य सिद्धांत" (सन् १९३६) नामक ग्रंथ अर्थशास्त्र की विशेष महत्वपूर्ण पुस्तक है। वास्तव में इस ग्रंथ ने पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों की विचारधारा को आमूल परिवर्तित कर दिया है। इसी पर हेराड डोमर का सुप्रसिद्ध विकास माडल, लियोंतिफ का इन-पुट आउट-पुट माडल आदि कई महत्वपूर्ण सिद्धांत उद्भूत हुए हैं। प्रो० सैम्युलसन मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति या अर्थशास्त्री एक बार कीन्स के विश्लेषण से प्रभावित होने के बाद पुरानी विचारधाराओं की ओर नहीं लौटा। कीन्स के प्रभाव के कारण ही उनके पूर्ववर्ती आलोचक भी उनके समर्थक हो गए। वे बहुत स्पष्टवादी रहे और इसी कारण उनके आर्थिक विचार सुलझे हुए हैं। उन्होंने व्यावहारिक क्षेत्र में भी यथेष्ट योगदान दिया था। अमरिका की न्यू डील, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष तथा अंतरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (विश्व बैंक) आदि की स्थापना में उनका सक्रिय योगदान रहा है।

कीन्स व्यष्टि अर्थशास्त्र के जन्मदाता रहे हैं। इसी हेतु उनका ग्रंथ "सामान्य सिद्धांत" इतना लोकप्रिय हुआ। वैसे भी इस ग्रंथ में उन्होंने व्यापक आर्थिक विश्लेषण का स्पष्ट किया है। उन्होंने अर्थशास्त्र को कुल आय तथा प्रभावी माँग का सिद्धांत दिया। उनके अनुसार रोजगार प्रभावी माँग पर निर्भर करता है। प्रभावी माँग स्वयं उपयोग तथा विनियोग पर निर्भर करती है। उपभोग का निर्धारण आय के आकार और समाज की उपभोग प्रवृत्ति के अनुसार होता है। अत यदि रोजगार बढ़ाना है तो उपभोग तथा विनियोग दोनों में वृद्धि करना चाहिए।

कीन्स ने मार्शल, पीगू, फिशर द्वारा दी गई आय की स्थैतिक परिभाषाओं में से किसी को भी स्वीकार नहीं किया क्योंकि कीन्स के अनुसार वे उन तत्वों पर कोई प्रकाश नहीं डालती जो किसी विशेष समय में अर्थव्यवस्था में रोजगार और आय के स्तर को निर्धारित करते हैं। कीन्स ने सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय की परिभाषा इस प्रकार दी जिससे उसे समाज में रोजगार का निर्धारण करने में सहायता मिले। मार्शल के मूल्य सिद्धांत का आधार जिस प्रकार 'कीमत' है, वैसे ही कीन्स के रोजगार सिद्धांत का आधार 'आय' है। उनके अनुसार 'कुल आय = कुल उपयोगव्यय + कुल विनियोग' होगा। उन्होंने 'राष्ट्रीय आय' के हेतु कहा कि चूँकि 'आय = उपयोग + बचत' तथा 'व्यय = उपभोग + विनियोग' है, इसलिये 'उपभोग + बचत = उपभोग + विनियोग' या 'बचत = विनियोग' के होगा। कीन्स का आय विश्लेषण ही हमें यह निर्देशन देता है कि अर्थव्यवस्था को भारी उतार चढ़ाव से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि बचत और विनियोग में समानता बनाए रखा जाय। मंदी कालीन कुप्रभावों को दूर करने के लिये कीन्स ने सस्ती मुद्रानीति, सार्वजनिक निर्माण कार्य और धन के उचित बँटवारे से उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि के लिये सरकारी व्यय एवं नीतियों की सहायता की है।

कीन्स का सिद्धांत विकसित देशों पर अधिक तथा अल्पविकसित देशों पर कम लागू होता है। परंतु यदि अल्पविकसित देशों में भी प्रभावी माँग और बचत उत्पन्न हो सके तो कीन्स का अर्थशास्त्र वहाँ पर भी लागू हो सकता है। वस्तुत वर्तमान विश्व की बेरोजगारी, मंदी, मूल्यवृद्धि आदि को देखते हुए कीन्स की नीतियों पर दृढ़ता से चलना ही उचित होगा और तभी ये समस्याएँ सुलझ सकती हैं। अर्थशास्त्र आधुनिक रूप में, निश्चय ही सबसे अधिक कीन्स के सिद्धांतों से प्रभावित है।

सं०ग्रं०—वाचस्पति गैरोला कौटिलीय अर्थशास्त्र, तिलकनारायण हजेला आर्थिक विचारों का इतिहास, निर्मोनेल राबिंस अर्थशास्त्र का स्वरूप और महत्व, अल्फ्रेड मार्शल अर्थशास्त्र के सिद्धांत, जान मेनार्ड कीन्स कामधंधा, ब्याज, एवं मुद्रा का सामान्य सिद्धांत, बी० सी० सिनहा . कीन्स का अर्थशास्त्र, जे० के० मेहता स्टडीज इन एडवान्स्ड एकोनामिक थियरी, पी० डी० हजेला केन्सीय एवं क्लासिकल रोजगार सिद्धांत; सुधाकांत मिश्र अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डी० एन० चतुर्वेदी महात्मा गांधी का आर्थिक दर्शन, अलेक्जेंडर ग्रे आर्थिक सिद्धांत का विकास।

(सु० का० मि०)

अर्थशास्त्र, कौटिलीय यह प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसका पूरा नाम 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' है। लेखक का व्यक्तिनाम विष्णुगुप्त, गोत्रनाम कौटिल्य (कुटिल से व्युत्पन्न) और स्थानीय नाम चाणक्य (तक्षशिला के पास चणक नामक स्थान का रहनेवाला) था। अर्थशास्त्र (१५।४३१) में लेखक का स्पष्ट कथन है, "इस ग्रंथ की रचना उन आचार्य ने की जिन्होंने अन्याय तथा कुशासन से क्रुद्ध होकर नांदों के हाथ में गए हुए शास्त्र, शस्त्र एवं पृथ्वी का शीघ्रता से उद्धार किया था।" चाणक्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य (३२१-२९८ ई० पू०) के महामंत्री थे। उन्होंने चंद्रगुप्त के प्रशासकीय उपयोग के लिये इस ग्रंथ

की रचना की थी। यह मुख्यत सूत्रशैली मे लिखा हुआ है और सस्कृत के सूत्रसाहित्य के काल और परपरा मे रखा जा सकता है। "यह शास्त्र अनावश्यक विस्तार से रहित, समझने और ग्रहण करने मे सरल एव कौटिल्य द्वारा ऐसे शब्दो मे रचा गया है जिनका अर्थ सुनिश्चित हो चुका है।" (अर्थशास्त्र, १५ ६) यद्यपि कतिपय प्राचीन लेखको ने अपने ग्रथो मे अर्थशास्त्र से अवतरण दिए हैं और कौटिल्य का उल्लेख किया है, तथापि यह ग्रथ लुप्त हो चुका था। १९०४ ई० मे तजोर के एक पडित ने भट्टस्वामी के अपूर्ण भाष्य के साथ अर्थशास्त्र का हस्तलेख मैसूर राज्य पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री आर० शाम शास्त्री को दिया। श्री शास्त्री ने पहले इसका अशत अग्रेजी भाषातर १९०५ ई० मे 'इडियन ऐटिक्वेरी' तथा 'मैसूर रिव्यू' (१९०६–१९०९ ई०) मे प्रकाशित किया। इसके पश्चात् इस ग्रथ के दो हस्तलेख म्यूनिख लाइब्रेरी मे प्राप्त हुए और एक सभवत कलकत्ता मे। तदनतर शाम शास्त्री, गणपति शास्त्री, यदुवीर शास्त्री आदि द्वारा अर्थशास्त्र के कई सस्करण प्रकाशित हुए। शाम शास्त्री द्वारा अग्रेजी भाषातर का चतुर्थ सस्करण (१९२९ ई०) प्रामाणिक माना जाता है।

ग्रथ के अत मे दिए चाणक्यसूत्र (१५ १) मे अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार हुई है "मनुष्यो की वृत्ति को अर्थ कहते हैं। मनुष्यो से संयुक्त भूमि ही अर्थ है। उसकी प्राप्ति तथा पालन के उपायो की विवेचना करनेवाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते है। इसके मुख्य विभाग है (१) विनयाधिकरण, (२) अध्यक्षप्रचार, (३) धर्मस्थीयाधिकरण, (४) कटकशोधन, (५) वृत्ताधिकरण, (६) योन्यधिकरण, (७) षाड्गुण्य, (८) व्यसनाधिकरण, (९) अभियास्यत्कर्माधिकरण, (१०) सग्रामाधिकरण, (११) सघवृत्ताधिकरण, (१२) आबलीयसाधिकरण, (१३) दुर्गलम्भोपायाधिकरण, (१४) औपनिषदिकाधिकरण और (१५) तत्रयुक्त्यधिकरण। इन अधिकरणो के अनेक उपविभाग (१५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० उपविभाग तथा ६,००० श्लोक) है। अर्थशास्त्र से समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इस विषय के जितने ग्रथ अभी तक उपलब्ध है उनमे से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान् है।" इस शास्त्र के प्रकाश म न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवाछनीय का शमन भी होता है (अर्थशास्त्र, १५ ४३१)।

इस ग्रथ की महत्ता को देखते हुए कई विद्वानो ने इसके पाठ, भाषातर, व्याख्या और विवेचन पर बडे परिश्रम के साथ बहुमूल्य कार्य किया है। शाम शास्त्री और गणपति शास्त्री का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त यूरोपीय विद्वानो मे हर्मान जाकोबी (ऑन दि अथॉरिटी ऑव कौटिलीय, इ० ऐ०, १९१८), ए० हिलेब्राड्ट, डॉ० जॉली, प्रो० ए० बी० कीथ (ज० रा० ए० सो०) आदि के नाम आदर के साथ लिए जा सकते है। अन्य भारतीय विद्वानो मे डा० नरेद्रनाथ ला (स्टडीज इन ऐंशेट हिंदू पॉलिटी, १९१४), श्री प्रमथनाथ बनर्जी (पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेट इडिया), डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल (हिंदू पॉलिटी), प्रो० विनयकुमार सरकार (दि पाजिटिव बैकग्राउड ऑव् हिंदू सोशियोलॉजी), प्रो० नारायणचद्र बद्योपाध्याय, डा० प्राणनाथ विद्यालकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

स० ग्र०—वेबर हिस्ट्री ऑव इडियन लिटरेचर (ट्रबनर), पृ० २१०, आर० शाम शास्त्री कौटिल्य अर्थशास्त्र (अग्रेजी भाषातर), चतुर्थ सस्करण, मैसूर, १९२९, डॉ० जॉली अर्थशास्त्र ऐड धर्मशास्त्र (ज़ेड० डी० एम० जी०, १९१३, पृ० ४९–९६)। (रा० ब० पा०)

अर्थापत्ति मीमासा दर्शन मे अर्थापत्ति एक प्रमाण माना गया है। यदि कोई व्यक्ति जीवित है किंतु घर मे नही है तो अर्थापत्ति के द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि वह बाहर है। प्रभाकर के अनुसार अर्थापत्ति से तभी ज्ञान सभव है जब घर मे अनुपस्थित व्यक्ति के सबध मे सदेह हो। कुमारिल के मत मे उस व्यक्ति के जीवन के बारे मे निश्चय तथा घर मे अनुपस्थिति दोनो को मिलाकर ही उस व्यक्ति के बाहर होने का ज्ञान होता है। न्यायशास्त्र के अनुसार अर्थापत्ति अनुमान के अतर्गत है। विशेष विवरण के लिये द्र० 'प्रमाण'। (रा० पा०)

अर्दशिर अर्दशिर, अर्तशिर एवं अर्तक्षथ्र आदि नामो से भी विहित, अभिलेखो मे अपने को अर्त्तजरसीज़ (२२६–२४१ ई०) के नाम से पुकारता है। वह पायक (बाब्रेक) का द्वितीय पुत्र था जो ससन का लडका था और जिसने अतिम पार्थ व सम्राट् अर्दवन् को हराया और नवागत पारसी अथवा ससानी साम्राज्य की स्थापना की। ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे मीड लोग अथवा पश्चिमी पारसी, जिनका उल्लेख ११०० ई० पू० तक के असीरियन अभिलेखो मे हुआ है, अखमीनियनो के दक्षिणी पारसीक राजवश द्वारा परास्त हुए। अखमीनियनो को सिकदर तथा उसके यूनानी सैनिको ने चौथी सदी ई० पू० मे हराया। यूनानी सत्ता को विस्थापित करनेवाले पार्थियन थे जो तीसरी शती ई० म ससानियनो की बढती हुई शक्ति के आगे नतमस्तक हुए। अर्दशिर, जो अहुरमज्द का परम भक्त था, माजी सप्रदाय के सतो के प्रभाव मे आया और उसने रोम एव आर्मीनिया के साथ सफलतापूर्वक युद्ध कर पुरातन जरथुस्त्र मत की प्रतिष्ठा की और न केवल उसे राजधर्म घोषित किया बल्कि उसके अभ्युदय के लिये अथक चेष्टाएँ की। ईरान के विभिन्न राज्यो को एक सुगठित केंद्रीय राजसत्ता के अतर्गत ले जाकर उसने शासन की व्यवस्था चलाई जिसका आधार जरथुस्त्र के सिद्धात थे। उसने अपने प्रधान पुरोहित को धार्मिक ग्रथो के सकलन का आदेश दिया। इन ग्रथो की खोज उसके अनुवर्ती शासक शापुर प्रथम के राज्यकाल मे चलती ही रही, सकलन का कार्य शापुर द्वितीय (३०९-३७९ ई०) के राज्यकाल मे जाकर समाप्त हुआ। धार्मिक सगठन और राज्य की एकता के सिद्धात मे पूरा विश्वास रखनेवाला सम्राट् अपने पुत्र शापुर प्रथम को दी गई अपनी अनुज्ञा (टेस्टामेंट) मे कहता है—"धर्म और राज्य दोनो सगी बहनो के समान है जो एक दूसरी के बिना नही रह सकती। धर्म राज्य की शिला है और राज्य धर्म का रक्षक।" (र० म०)

अर्धचालक द्र० 'विद्युच्चालन'।

अर्धनारीश्वर शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप का सृष्टिप्रक्रिया मे महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रतीकात्मक स्वरूप की व्यजना स्पष्ट है। इसका मूल वैदिक भाव यह था कि यह जो द्यावा पृथिवी लोको की मध्यवर्ती सृष्टि है वह माता पिता, योषा-वृषा-प्राण है, अग्नि सोम, पुरुष स्त्री, पति पत्नी के द्वद्व से ही उत्पन्न होती है। प्रजापति आरभ मे एक था। उसके मन मे सृष्टि की इच्छा हुई तब उसने अपने शरीर के दो खड करके आधे मे पुरुष और आधे मे स्त्रीभाव का निर्माण किया

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्या स विराजमसृजत्प्रभु ॥

सृष्टि के लिये पुरुषतत्व और स्त्रीतत्व दोनो के मैथुनधर्म की आवश्यकता है। वृक्ष वनस्पति के प्रत्येक पुष्प मे एव कीट, पतग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि मे जहाँ तक प्राणसमन्वित भूतसृष्टि का विस्तार है वहाँ तक पिता द्वारा माता के गर्भधारण से प्रजा की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के इस आदिभूत मातृतत्व और पितृतत्व को ही पुराणो की प्रतीक भाषा मे पार्वतीपरमेश्वर कहा जाता है। ये ही शिव पार्वती है। वैदिक साहित्य के अनुसार शिव पार्वती ही रुद्र और अबिका है—अग्निर्वै रुद्र (शतपथ ५।३।१।१०), एष रुद्र यदग्नि (तैत्तिरीय १।१।५।८-९)। जहाँ अग्नि है उसी का अशभूत सोम है। सोम अग्नि का, उसके अधीन रहनेवाला, सखा है (अग्निर्जागार्ततमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका, ऋग्वेद ५।४४।१५)। अग्नि अन्नाद कहलाता है और सोम उसका अन्नरूप मे सभरण करता है। अग्नि और सोम ही विश्व के मूलभूत माता पिता है। वेद की कल्पना है कि प्रत्येक केंद्र मे जहाँ जहाँ अग्नि है, वही वही आधा भाग सोम का भी है। पुरुष मे अग्नितत्व प्रधान और स्त्री म सोम प्रधान होता है, किंतु जो स्त्री है उसके अभ्यतर मे अर्धभाग पुरुष का विद्यमान रहता है। इसी के लिये ऋग्वेद मे कहा है, स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहु (ऋग्वेद १।१६४।१६)। स्त्री का शोणित आग्नेय और पुरुष का शुक्र सौम्य भाव मे युक्त रहता है। शुक्र और शोणित ही विज्ञान की भाषा मे वृषा और योषा या नर और मादा कहे जाते है।

पुरुष द्वारा नारी मे जो बीजवपन होता है उस आहित गर्भ को सृष्टि की वैज्ञानिक भाषा मे विराज कहा जाता है। उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक प्रजा विराट् का ही रूप है। अग्नि मे सोम का समन्वय पारस्परिक अंतर्याम संबंध से निष्पन्न होता है। अर्थात् अग्नि लक्षणांतर सोम लक्षण नारी को गर्भित करता है। नारी उस अग्निकण को अपने गर्भ मे लेकर अपनी मात्रा से उसका संवर्धन करती है और उसी से वह बीज विराट्-भाव प्राप्त करता है। उसी की संज्ञा प्रजा होती है। जो बीज की शक्ति के अनुसार मात्रा का आधान करती है वही माता है। पिता और माता शिव और शक्ति के ही रूप है। शक्ति के बिना शिव का स्वरूप घोर होता है और शक्ति के साथ वही शिव कहा जाता है। अर्थात् जिस अग्नि को सोमरूपी अन्न प्राप्त नही होता वह जिस वस्तु मे रहती है उसी को भस्म कर डालती है। अग्नि मे सोम की आहुति ही याग है। यज्ञ का स्वस्तिभाव शिव और शक्ति या अग्नि और सोम के समन्वय पर ही निर्भर है। यह समन्वित रूप ही शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप है। इस प्राचीन वैदिक भाव को पुराणो मे अर्धनारीश्वर शिव के प्रतीक द्वारा प्रकट किया गया। कथा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि करनी चाही। केवल पुरुषभाव से उन्हे सफलता नही मिली। तब उन्होने शिव की आराधना की। शिव ने उन्हे अर्धनारीश्वर रूप मे दर्शन दिया और तब ब्रह्मा को सृष्टिविधान की ठीक युक्ति ज्ञात हुई। अर्थात् स्त्री और पुरुष का समन्वय ही सृष्टि की सच्ची विधि है।

भारतीय कला मे शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त होती है। एलोरा के कैलासमंदिर मे अर्धनारीश्वर शिव की प्रभावशाली मूर्ति है। किंतु इन सबमे प्राचीनतम मूर्ति मथुरा की कुषाण-कालीन कला मे प्रथम शती ई० के लगभग निर्मित हुई। इस मूर्ति का आधा भाग पुरुष जैसा है और वामार्ध भाग स्त्री के व्यंजनो से युक्त है।

सं०ग्रं०—गोपीनाथ राव भारतीय मूर्तिशास्त्र, मद्रास, १९१४-१५, भाग २, पृ० ३२१-३२; अंशुमध्येदागम, ६९ पटल, उत्तर कामिकागम, ६० पटल; शिल्परत्न, २२ पटल। (वा० श० अ०)

अर्धमागधी प्राचीन काल मे मगध की भाषा थी। जैन धर्म के प्रतिष्ठाता महावीर ने इसी भाषा मे अपने धर्मोपदेश किए थे। लोकभाषा होने के कारण यह आसानी से स्त्री, बालक, वृद्ध और अनपढ लोगो की समझ मे आ सकती थी। आगे चलकर महावीर के शिष्यों ने अर्धमागधी मे महावीर के उपदेशो का संग्रह किया जो आगम नाम से प्रसिद्ध हुए। समय समय पर जैन आगमो की तीन वाचनाएँ हुई। अंतिम वाचना महावीरनिर्वाण के १,००० वर्ष बाद, ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आरंभ मे, देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के अधिनायकत्व मे वलभी (वला, काठियावाड़) मे हुई जब जैन आगम वर्तमान रूप मे लिपिबद्ध किए गए। इसी बीच जैन आगमों मे भाषा और विषय की दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए, जो स्वाभाविक था। इन परिवर्तनो के होने पर भी आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि जैन आगम पर्याप्त प्राचीन और महत्वपूर्ण है। ये आगम श्वेतांबर जैन परंपरा द्वारा ही मान्य है, दिगंबर जैनों के अनुसार ये लुप्त हो गए है।

हेमचंद्र आचार्य ने अर्धमागधी को आर्ष प्राकृत कहा है। अर्धमागधी शब्द का कई तरह से अर्थ किया जाता है (क) जो भाषा मगध के आधे भाग मे बोली जाती हो, (ख) जिसमे मागधी भाषा के कुछ लक्षण पाए जाते हो, जैसे पुलिंग मे प्रथमा के एकवचन मे एकारांत रूप का होना (जैसे धम्मे)। आगमो के उत्तरकालीन जैन साहित्य की भाषा को अर्धमागधी न कहकर प्राकृत कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय मगध के बाहर भी जैन धर्म का प्रचार हो गया था। भाषा-विज्ञान की परिभाषा मे अर्धमागधी मध्य भारतीय आर्य परिवार की भाषा है, इस परिवार की भाषाएँ प्राकृत कही जाती है। मध्य भारतीय आर्य परिवार की भाषा होने के कारण अर्धमागधी संस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

सं०ग्र०—ए० एम० घाटगे इंट्राडक्शन टु अर्धमागधी (१९४१), बेचरदास जीवराज दोशी प्राकृत व्याकरण (१९२५)।

(ज० च० जै०)

अर्बुद शरीर के किसी भी अंग मे उत्पन्न हुई गाँठ है। इसको साधारण बोलचाल मे ट्यूमर भी कहा जाता है। विकृतिविज्ञान मे अर्बुद की परिभाषा कठिन है, परंतु सरल, यद्यपि अपूर्ण, परिभाषा यह है कि अर्बुद एक स्वतंत्र और नई उत्पत्ति है अथवा अप्राकृतिक उतकपिंड है जिसकी वृद्धि प्राकृतिक उतकपिंडो की नियमित वृद्धि से भिन्न होती है।

छद्म अर्बुद—कुछ अर्बुद केवल देखने मे अर्बुद के समान होते है, वे वास्तविक अर्बुद नही होते, उदाहरणत चोट लगने से शरीर के किसी भाग का सूज आना (उसमे शोथ उत्पन्न होना), टूटी हड्डियो के ठीक ठीक न जुड़ने पर संधिस्थल पर गाँठ बन जाना, फोड़ा (संस्कृत मे स्फोटक), निकलना, कौडी (इन्फ्लेम्ड लिंफैटिक ग्लैंड) उभड आना और क्षय, उपदंश (सिफिलिस), कुष्ठ आदि के कारण गाँठ बनना अर्बुद नही है। अति-श्रम से मासपेशियो की वृद्धि, जैसे नर्तकियो मे टाँग की पिंडलियों की वृद्धि, गर्भाधान मे स्तनो और उदर की वृद्धि आदि सामान्य शारीरिक क्रियाएँ है और इनको रोग नही कहा जाता। बाहर से शरीर के भीतर विशेष जीवाणुओं या कीटाणुओं के घुस आने पर और चारो ओर से शरीर की कोशिकाओं से उनके घिर जाने पर जलमय पुटी (सिस्ट) बन जाना भी यथार्थ अर्बुद नही है। इसी प्रकार मुँहासे, अडकोष मे जल उतर आने से अडकोशवृद्धि आदि भी अर्बुद नही है। अपस्फीत शिरा (उसे देखे) और उसी प्रकार से शरीर के भीतर द्रव भरे अंगो की भित्तियों का दुर्बलता के कारण फूल आना भी अर्बुद नही है। हिस्टीरिया मे (उसे देखे), रोगिणी की इस धारणा से कि मै गर्भवती हूँ, पेट फूल आना भी अर्बुद नही है।

वास्तविक अर्बुद—वास्तविक अर्बुद मे शरीर की कोशिकाएँ अनियमित रूप से बढने लगती हैं। शरीर की रचना (द० 'शरीर-रचना-विज्ञान') कोशिकामय है। चमडी कोशिकाओ से बनी है, मास भी कोशिकाओ से बना है, परंतु विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं से, हड्डियाँ, दाँत इत्यादि सभी अंग विशेष प्रकार की कोशिकाओं से बने है। इन्ही कोशिकाओं मे से किसी जाति की कोशिकाओं के, या उनमे मिलती जुलती परंतु विकृत कोशिकाओं के अनावश्यक मात्रा मे बढना आरंभ करने से अर्बुद उत्पन्न होता है। इस बढने का कारण अभी तक अज्ञात है। यो तो स्वस्थ शरीर मे कोशिकाओं की संख्या सदा बढती ही रहती है। परंतु प्रत्येक कोशिका की आयु सीमित होती है, आयु पूरी होने पर उसके बदले मे नई कोशिका आ जाती है। नई कोशिकाओं के बनने का ढंग यह है कि कोई स्वस्थ कोशिका दो भागो मे विभक्त हो जाती है और प्रत्येक भाग बढ़कर पूरी कोशिका के बराबर हो जाता है। जब शरीर का थोड़ा सा मास निकल जाता है, जैसे कट जाने से या जल जाने से, तो पड़ोस की कोशिकाएँ बढ़ने लगती है और थोड़े समय मे क्षति की पूर्ति कर देती हैं। क्षतिपूर्ति के बाद कोशिकाओं की वृद्धि अपने आप बंद हो जाती है। हम कोशिकाओं की वृद्धि का उद्देश्य समझ सकते हैं, उनका रुकना भी उचित ही है, यद्यपि अभी तक यह पता नही लग सका है कि उनका बढ़ना किस प्रकार नियंत्रित होता है।

अर्बुदो की उत्पत्ति शरीर की कोशिकाओं की अकारण वृद्धि से होती है और वृद्धि रुकती नही। नवजात कोशिकाएँ बहुधा कुछ विकृत (साधारण से अधिक सरल) होती है।

कुछ व्यवसायो मे लगे व्यक्तियो मे अर्बुद अधिक उत्पन्न होते है, संभवत. उस व्यवसाय मे प्रयुक्त रासायनिक पदार्थों द्वारा उत्पन्न उत्तेजना के कारण। कुछ परिवारो मे अर्बुद अधिक देखे जाते है, संभवत आनुवंशिक (हेरिडिटेरी) शारीरिक लक्षणों के कारण। जीवाणुओं को शरीर मे प्रविष्ट कराकर अर्बुद उत्पन्न करने का प्रयोग विफल रहा है। चोट से अर्बुद उत्पन्न होने का पक्का प्रमाण नही मिल सका है।

वास्तविक अर्बुदो मे कोशिकावृद्धि बहुधा तभी रुकती है जब रोगी की मृत्यु हो जाती है। नई कोशिकाओं के बनने का पता साधारणत शरीर के किसी अंग के फूल आने से चलता है। परंतु अधिक गहराई मे बने अर्बुदो का पता शरीर के ऊपरी भाग को टटोलने से नही चल पाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अर्बुद मे बनी नई कोशिकाएँ शरीर की साधारण कोशिकाओं को मारती चलती हैं। ऐसी अवस्था मे भी शरीर का कोई

अंग नहीं फूलता। साधारण कोशिकाओं के अधिक संख्या में मरने के कारण फूलने के बदले अंग पिचक भी जा सकता है। ऐसा स्तनों और आंतों के कर्कट (कैंसर) रोग से हो सकता है। शरीर की नलिकाओं में, जैसे अँतड़ी, पित्तनलिका तथा मूत्रनलिका में, अर्बुद के कारण रुकावट उत्पन्न हो सकती है। जहाँ घाव हो जाने से रक्तवमन और रक्तमिश्रित मूत्र आ सकता है। अर्बुद पक जा सकता है और तब पीब (मवाद) शरीर के बाहर मूत्र आदि के साथ निकल सकती है। खोपड़ी, छाती आदि हड्डियों से घिरे स्थानों में भीतर अर्बुद बनने से शरीर के अन्य अंग (जैसे मस्तिष्क, हृदय आदि) भीतर ही भीतर दबने लगते हैं और तब नवीन उपद्रव उत्पन्न होते हैं। हड्डी के भीतर अर्बुद उत्पन्न होने से हड्डी दुर्बल होकर टूट जा सकती है। अन्यत्र बने अर्बुद से दृष्टिहीनता इत्यादि उत्पन्न हो सकती है।

मृदु और घातक अर्बुद—अर्बुद में कभी पीड़ा होती है, कभी नहीं। जब अर्बुदों से शरीर के अन्य अंग दबने लगते हैं तब अवश्य पीड़ा होती है। जैसा अंत में बताया गया है, अर्बुदों के वर्गीकरण में कुछ कठिनाई पड़ती है। पुराने लोग मोटे हिसाब से अर्बुदों को दो जातियों में विभक्त करते थे, एक घातक (मैलिग्नैंट) और दूसरा मृदु (बिनाइन)। घातक वे होते हैं जो उचित चिकित्सा न करने पर रोगी को जान ले लेते हैं। मृदु अर्बुदों से साधारणतः जान नहीं जाती, परंतु यदि वे किसी बेढब स्थान में हुए तो शरीर के किसी अन्य अंग को दबाकर जान ले सकते हैं। घातक अर्बुदों में आरंभ से यह प्रवृत्ति रहती है कि वे शरीर की अन्य कोशिकाओं पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट करते रहते हैं। उनमें एक विशेष लक्षण यह भी होता है कि वे अपने उद्गम स्थान से हटकर शरीर के विविध भागों में विचरण करते रहते हैं और अनेक स्थानों में उनकी बस्ती बढ़ने लगती है। यदि शरीर के सब अंगों से घातक अर्बुद की कोशिकाएँ निकाल न दी जायँ तो एक स्थान को स्वच्छ करने पर दूसरे स्थान से रोग का आरंभ हो जाता है। मृदु अर्बुद अपने उद्गम स्थान पर ही टिके रहते हैं। उन्हें काटकर पूर्णतया निकाल देने पर रोग से छुटकारा मिल जाता है। मृदु अर्बुद कभी कभी घातक अर्बुद में बदल जाता है, परंतु इस परिवर्तन का कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

मृदु अर्बुद—वसा (चर्बी) की कोशिकाओं की वृद्धि से बने अर्बुद को लिपोमा कहते हैं। इन कोशिकाओं और स्वस्थ शरीर की वसा-कोशिकाओं में कोई भी अंतर सूक्ष्मदर्शी से नहीं दिखाई पड़ता। अर्बुद की वसा एक पतली पारदर्शी झिल्ली के भीतर रहती है। ये अर्बुद साधारणतः वहीं बनते हैं जहाँ स्वस्थ शरीर में वसा रहती है। अधिकतर वे त्वचा के नीचे बनते हैं और मटर से लेकर फुटबाल तक के बराबर हो सकते हैं।

रक्तवाहिनियों और लसीकावाहिनियों के अर्बुद साधारणतः मृदु होते हैं, परंतु कभी कभी वाहिनी के फट जाने से इतना रक्तस्राव हो सकता है कि रोगी मर जाय।

अर्बुद

ऊपर के चित्र में हाथ की हड्डी में उत्पन्न अर्बुद तथा नीचे के चित्र में अँगुली का मृदु अर्बुद दिखाया गया है।

नरम हड्डियों (उपास्थि, कार्टिलेज) के अर्बुद कभी कभी नारियल के बराबर तक हो सकते हैं। हड्डियों के अर्बुद या तो भीतरी गूदे के बढ़ने से या बाहरी कड़ी खोल के बढ़ने से उत्पन्न होते हैं। स्त्रियों में गर्भाशय का अर्बुद बहुत बड़े आकार तक पहुँच सकता है और इसमें मृदु से घातक में बदलने की प्रवृत्ति रहती है। बहुधा समूचे गर्भाशय को ही निकालने पर रोग से छुटकारा मिलता है। अँगुलियों में बहुत छोटा अर्बुद हो सकता है, जो छूने से बहुत दुखता है। जल भरी पुटिका (सिस्ट) भी किसी अँगुली में निकल सकती है। दाँत की कोशिकाएँ कभी कभी जन्म के समय जबड़े के किसी असाधारण स्थान में पड़ जाती हैं और उनके बढ़ने से भी अर्बुद हो सकता है। तब जबड़े में शोथ और बड़ी पीड़ा होती है। स्तन का नरम अर्बुद फुटबाल के बराबर तक हो जाता है। वहाँ का कड़ा अर्बुद नारंगी से बड़ा नहीं होता।

घातक अर्बुद—जिस प्रकार मृदु तथा घातक अर्बुद की कोशरचना में पृथक्ता होती है, प्रायः उसी प्रकार इन कोशों के जीवनक्रम में भी पृथक् गुण मिलते हैं। प्रायः मृदु अर्बुदकोश में उद्गमकोश की भाँति क्रिया करने की प्रवृत्ति का अधिक अंश पाया जाता है। उदाहरणतः, चुल्लिकाग्रंथि के अर्बुद रोग में इन कोशों द्वारा चुल्लिकारस का कुछ अंश बनता है तथा यकृतअर्बुद में पित्त बनाने की क्रिया का कुछ अंश मिलता है। इसके विपरीत, घातक अर्बुद या कर्कट में कोशरचना की विभिन्नता के साथ ही क्रिया में भी विभिन्नता होती है, जिससे कोश का पूर्व जीवन-क्रम नहीं अथवा अल्प मात्रा में रह जाता है।

घातक वर्ग के कोश में उद्गम या मूल कोष की रचना की तुलना में अनेक रचनात्मक विभिन्नताएँ मिलती हैं, जैसे केंद्रक का आकार, नाप, विशेष रासायनिक रंगों का आकर्षण, कोश के रासायनिक तथा भौतिक गुणों में उद्गमकोश से भिन्नता, प्रसर, पिंड्यसूत्र तथा प्ररज्यतर्कु की विभिन्नता, सूत्रविभाजन में विचित्रता, असूत्रविभाजन, कोशविभाजन तथा विभेदन में असनियमित गुण आदि विशेषताएँ प्रकट होती हैं, जिनसे उनके घातक वर्ग की पहचान हो जाती है (द्र० 'कर्कट')।

अघातक अर्बुद में अर्बुदकोश केवल उद्गम ऊति के उसी अंग में सीमित रहते हैं जहाँ उनकी उत्पत्ति होती है तथा इनमें अंतस्संचरण शक्ति नहीं होती। घातक अर्बुद की मुख्य विशेषताओं में वृद्धि की द्रुतगति, अरूपिकता (विपर्ययण, ऐनाप्लेज़िआ), अंतस्संचरण शक्ति (विप्रवेशन, इन्फिल्ट्रेशन), दूर के अंगों में शिराओं तथा लसिकातंत्रों द्वारा विस्तारित होने की शक्ति (स्थानांतरण, मेटास्टैसिस), शल्यक्रिया से काटकर निकालने के बाद स्थानीय पुनरुत्पत्ति (प्रत्यावर्तन, रिकरेंस), व्रण, असंतुलित, असनियमित कोशिकाभाजन तथा वृद्धि मुख्य हैं।

उत्पत्ति—अर्बुद की उत्पत्ति के कारण के विषय में कई मत हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। आयु, योनि, जाति, अंग, सामाजिक रीति रस्म, जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ, आनुवंशिकता, चोट, व्यावसायिक विशेषता, कतिपय रासायनिक वस्तुएँ, परजीवी, संक्रमण, वाइरस, हारमोन असंतुलन इत्यादि का अर्बुद उत्पत्ति से संबंध है (द्र० **कर्कट**)। घातक अर्बुद के कोश पड़ोसी अंगों में अंतस्संचरण गुण से प्रवेश कर जाते हैं तथा दूर दूर के अनेक अंगों में शिराओं तथा लसिका-तंत्रों से विस्तारित होकर वहाँ भी विकसित होने लगते हैं, जिसके कारण रोग के आरंभ में तो लक्षण उद्गम अंग तक ही सीमित रहते हैं, परंतु शीघ्र ही शरीर के जिन जिन अंगों में उनका अंतस्संचरण तथा विस्तरण हुआ है उन सभी अंगों की प्राकृतिक क्रियाओं की रुकावट द्वारा उत्पन्न रोग के लक्षण मिलेंगे तथा नित्य बढ़ते जायँगे। साथ ही दुर्बलता, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, मानसिक चंचलता, पीड़ा, रक्तक्षीणता, धीरे धीरे शरीरभार गिरना आदि दिन प्रति दिन बढ़ते जायँगे।

निदान—चतुर चिकित्सक बाह्य लक्षणों से अर्बुदों का पता लगा लेता है, परंतु सच्चे रोगनिदान के लिये साधारण परीक्षा के अतिरिक्त आधुनिक विशेष परीक्षणविधियाँ, जैसे मल-मूत्र-परीक्षा, एक्स-रे-परीक्षा, ऊतकपरीक्षा, रक्तपरीक्षा, समस्थानिक (आइसोटोप) रोगपरीक्षा आदि कई प्रकार की रीतियाँ हैं। चिकित्सा के लिये शल्य, एक्स-रे तथा समस्थानिक चिकित्साविधियाँ अब उपलब्ध हैं। रोग के आरंभ में ही पारिवारिक चिकित्सक तथा विशेषज्ञ चिकित्सक की राय शीघ्र लेनी चाहिए।

वर्गीकरण—अर्बुदों के वर्गीकरण की पृथक् पृथक् रीतियाँ है। वर्गीकरण मे नामकरण की प्रथा भी समय समय पर बदलती रहती है। विलियम बॉयड ने अर्बुदो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है

अर्बुद की जाति	रोग का नाम
१ संयोजी-ऊतक-अर्बुद (कनेक्टिव टिशू ट्यूमर्स)	
क—मृदु (इनोसेंट)	फाइब्रोमा
	लिपोमा
	मिक्सोमा
	कौंड्रोमा
	ऑस्टिओमा
ख—घातक (मैलिग्नैंट)	सार्कोमा
	कौर्डोमा
२ पेशी ऊतक अर्बुद (मसल टिशू ट्यूमर)	लाइओमिओमा
	रहैब्डोमिओमा
३ वाहिन्यर्बुद (एंजिओमा)	हीमैंगिओमा
	लिफैंगिओमा
४. अंतश्छदीय अर्बुद (एंडोथेलिओमा)	
५ हीमोपोएटिक-ऊतक-अर्बुद (ट्यूमर्स ऑव हीमापोएटिक टिशू)	
क—मृदु लसीकार्बुद (बिनाइन लिफोमा)	लिफोसार्कोमा
ख—घातक लसीकार्बुद (मैलिग्नैंट लिफोमा)	हॉडकिंस डिसीज
	ल्यूकीमिआ
	मल्टिपुल मिएलोमा
६ मसा (पिग्मेंटेड ट्यूमर्स)	नेवस
	मेलानोमा
७. ततु-ऊतक-अर्बुद (नर्वटिशू अर्बुद)	ग्लाइओमा
	निउरो ब्लास्टोमा
	रेटिनो ब्लास्टोमा
	गैंग्लिओ निउरोमा
८ धारिच्छद अर्बुद (एपिथीलिअल ट्यूमर्स)	
क—मृदु (इनासेंट)	पैपिलोमा
	एडिनोमा
ख—घातक (मैलिग्नैंट)	कारसिनोमा
९. विशेष प्रकार के धारिच्छद अर्बुद (स्पेशल फार्म्स ऑव एपिथीलियल ट्यूमर्स)	हाइपरनेफ्रोमा
	कोरिओ एपिथीलिओमा
	ऐडामैंटिनोमा
१० टेराटोमा	

सं०ग्रं०—आर० ए० विलिस पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स (लदन, १९४८), केटल . पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स। (उ० श० प्र०)

अर्माडा प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी इग्लैड को, जिसे पोप सेक्स्तस् पचम ने स्पेन को प्रदान कर दिया था, नतमस्तक करने तथा, सभवत रानी एलिजाबेथ के विवाहप्रस्ताव अस्वीकार कर देने पर अपना रोष शात करने के लिये कैथोलिक मतावलबी स्पेन सम्राट् फिलिप द्वितीय ने इग्लैंड पर आक्रमण करने का विशाल आयोजन किया। ऐडमिरल साताक्रूज के अधिनायकत्व मे १२९ जहाज, ८०० नाविक तथा २१,००० सैनिको के विशाल बेडे का निर्माण हुआ। इसे इन्विसिबुल (अजेय) अर्माडा की सज्ञा प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त अर्माडा के सहायतार्थ फ्लैंडर्स मे पार्मा के ड्यूक के नेतृत्व मे ३०,००० सैनिक नियुक्त किए गए। अग्रेजी बेडा जहाजो और सैनिकों की सख्या मे कम होते हुए भी, हॉवर्ड, ड्रेक, हाकिंग तथा फ्रोबिशर जैसे दक्ष अनुभवी नेताओ द्वारा सचालित था, उसके नाविक भी अधिक सक्षम और अनुभवी थे। अग्रेजी जहाज छोटे होने के कारण स्पेनी जहाजो की अपेक्षा अधिक सुगमता और दक्षता से सचालित किए जा सकते थे। ड्रेक ने आरभ में ही असीम साहस का परिचय दे कादिज बदरगाह मे घुस अर्माडा पर आक्रमण कर 'स्पेन के राजा की दाढी झुलस दी।' ऐडमिरल साताक्रूज की भी मृत्यु हो गई। इससे अर्माडा का अभियान स्थगित हो गया। नवीन अधिनायक मदीना सीदोनिया अनुभवहीन नाविक था। प्रस्थान करने पर आँधी के कारण और भी व्याघात पडा। मदीना सीदोनिया ने पार्मा के ड्यूक की सहायता लिए बिना ही प्लाइमथ की ओर बढने का निश्चय किया। सात मील चौडा व्यूह रचकर अर्धचद्राकार अर्माडा जब प्लाइमथ के निकट आया तब ऐडमिरल हॉवर्ड ने प्लाइमथ से निकल अर्माडा के पृष्ठ पर दूर से ही आक्रमण कर एक के बाद एक जहाजो को ध्वस्त करना आरभ कर दिया। 'उसने स्पेनियो के एक एक करके सारे पर उखाड डाले।' जैसे जैसे अर्माडा चैनल मे बढता गया वैसे वैसे हफ्ते भर उसपर आग बरसती रही और उसे कैले मे आश्रय लेने के लिये बाध्य होना पडा। तब आधी रात बीतने पर ड्रेक ने आठ जहाजो मे बारूद आदि लाद, उनमे आग लगा बदरगाह मे छोड दिया। आतकित होकर अर्माडा को बाहर निकलना पडा। ग्रेवलाइस के निकट छह घटे के भीषण संघर्ष के फलस्वरूप अर्माडा को मैदान छोड भागना पडा। गोला बारूद की कमी के कारण अग्रेजी जहाज अधिक पीछा न कर सके। किंतु रहा सहा काम प्रकृति ने पूरा कर दिया। उत्तरी समुद्रो मे बवडर के कारण अर्माडा की बची खुची शक्ति भी नष्ट हो गई। ध्वस्त दशा मे केवल ५४ जहाज ही स्पेन पहुँच सके। 'इनविसिबुल' (अजेय) शब्द का ऐसा उपहास इतिहास मे कम ही हुआ होगा।

सं० ग्रं०—जे० ए० फ्राडी दि स्पैनिश स्टोरी ऑव दि अर्माडा ऐंड अदर एसेज, सर जे० के० लाफ्टन स्टेट पेपर्स रिलेटिंग टु दि डिफीट ऑव दि स्पेनिश अर्माडा, सर जे० कार्बेल्ट ड्रेक ऐंड दि ट्यूडर नैवी, क्रीजी फिफ्टीन डिसाइसिव बैटिल्स, जे० आर० हेल्स ग्रेट अर्माडा। (रा० ना०)

अर्मीनियस जर्मन वीर। युवावस्था मे उसने रोम की सेना मे काम किया। जर्मनी लौटकर देशवासियो को रोम के गवर्नर के पाशविक शासन मे पिसते देख उसने विद्रोह का झडा खडा किया और १५ ई० मे रोम के शासक को हराकर भगा दिया। २१ ई० म उसकी हत्या कर दी गई। (स० च०)

अर्ल मार्क्विस और वाइकाउट के बीच का पद जो अग्रेज अमीरो (पियर्स) को दिया जाता है। इस पद का इतिहास प्राचीन है और १३३७ ई० तक यह सबसे ऊँचा समझा जाता रहा है। एडवर्ड तृतीय ने अपने पुत्र को इसी से समानित किया था। यह पैतृक होता है और पिता के बाद पुत्र को प्राप्त होता है। सभवत सम्राट् कन्यूट के समय यह स्कैंडिनेविया से इग्लैड मे प्रचलित किया गया था। इसका सबध पहले राज्यशासन से था और अर्ल पहले काउटी के न्यायाधीश होते थे। ११४० ई० मे सर्वप्रथम जेफ्री डे मैडविल को इसेक्स का अर्ल बनाया गया। पैतृक होने के नाते, पुत्र के न होने पर यह पद पुत्री को मिलता था। कई पुत्रियो के होने पर, सम्राट् एक के पक्ष मे अपना निर्णय देता था। विवाहिता पुत्री के पति को पार्लियामेंट मे स्थान प्राप्त करने का अधिकार मिलता था। १३३७ ई० मे बहुत से अर्ल बनाए गए और उनको जागीरे भी दी गईं। उनका किसी एक काउटी से सबध न था। १३८३ ई० मे इस पद को केवल पुत्र तक ही सीमित रखने का प्रतिबध लगाया गया। केवल जीवन पर्यंत इस पद को धारण करने का भी प्रयास हुआ। इसके साथ तलवार बाँधना तथा एडवर्ड के समय से कढी हुई सुनहरी टोपी और कालर बाँधना भी अनिवार्य हो गया। आगे के इतिहास मे यह पद साधारण व्यक्तियो को भी दिया जाने लगा। स्काटलैंड मे सर्वप्रथम १३९८ ई० मे लिड्जे को क्राफर्ड का अर्ल बनाया गया। आयरलैंड मे किल्डेर का अर्ल सबसे बडा समझा जाता था। अर्ल का सबोधन 'राइट आनरेबुल' और 'लार्ड' है। उसके ज्येष्ठ पुत्र 'वाइकाउट' और कनिष्ठ पुत्र केवल 'आनरेबुल' कहे जाते है। उसकी सब पुत्रियाँ 'लेडीज' कहलाती हैं। (बै० पु०)

अर्विंग, वाशिंगटन (१७८३-१८५९), निबधकार और कथाकार। इनका जन्म न्यूयार्क मे हुआ। बचपन से ही इन्होंने अपने

पिता विलियम अर्विग (जो स्काटलैंड से अमरीका आए थे) के निजी पुस्तकालय मे विद्योपार्जन किया। १७९९ मे इन्होने वकालत का काम आरभ किया, परतु क्षय रोग से ग्रस्त होने के कारण १८०४ मे स्वास्थ्यलाभ के लिये ये यूरोप चले गए। १८०६ मे स्वदेश लौटने पर अपने भाइयो के व्यवसाय मे हाथ बटाया और साहित्य पर अपनी दृष्टि केंद्रित की। १८०७ मे इन्होने 'सालमागुडी' नाम की एक मनोरजन मिसलेनी और १८०९ मे न्यूयार्क का इतिहास प्रकाशित किया। १८१५ मे पुन यूरोप भ्रमण के बाद १८१९ मे इन्होने 'दि स्केच बुक' प्रकाशित की, जिसे विदेशो मे बहुत सफलता और ख्याति मिली। १८२२ मे यह पेरिस गए और दो किताबे 'ब्रेसब्रिज हाल' और 'टेल्स ऑव ए ट्रैवेलर' लिखी। १८२६ मे ये स्पेन चले गए जिसके फलस्वरूप इन्होने अनेक सुदर इतिहास लिखे 'कोलबस की जीवनी और उनकी यात्राओ का इतिहास', १८२८, 'ग्रेनाडा की विजय' १८२९, 'कोलबस के साथियो की यात्राएँ', १८३१, 'अलहब्रा', १८३२, 'स्पेन पर विजय की कथाएँ', १८३५ और 'मुहम्मद और उनके उत्तराधिकारी', १८४९। सन् १८३२ मे वे अमरीका लौट चुके थे। १८४२ मे वे स्पेन मे अमरीका के राजदूत नियुक्त हुए, और १८४६ मे स्वदेश लौट आए। इसी वर्ष इन्होने 'गोल्डस्मिथ की जीवनी' प्रकाशित की और १८५५-५९ के बीच मे 'वाशिगटन की जीवनी' नामक अपनी महान् कृति प्रकाशित की। १८५५ मे ही इनकी कथाओ और निबधो का एक सकलन 'वुल्फर्ट्स रूस्ट' के नाम से प्रकाशित हो चुका था। १८५९ को २८ नवबर को एकाएक इनकी मृत्यु हो गई। इनकी लेखनी आकर्षक थी और अमरीका के साहित्य मे इनका ऊँचा स्थान है। (स्क० गु०)

अर्विग, सर हेनरी (१८३८-१९०५), अग्रेज अभिनेता, मूल नाम जान ब्राड्रिब। पहली बार बुलवर लिटन के नाटक 'रिशेल्यू' मे आर्लीन्स के ड्यूक की भूमिका मे रगमच पर आए। अगले दस वर्षो मे उन्होने ५०० भूमिकाएँ खेली। वे शेक्सपियर के प्रधान नाटको मे प्रधान पात्र बने और १८७४ मे जो उन्होने २०० रातो तक लगातार हैम्लेट का पार्ट किया उससे अग्रेज जनता ने उन्हे देश का रुचिरतम अभिनेता स्वीकार किया। १८९५ मे 'नाइट' बने। दशको उन्होने बडे सफलतापूर्वक अभिनय, नाटको के निर्देशन और रगमचीय प्रकाशन किए। (ओ० ना० उ०)

अर्श अथवा बवासीर (अग्रेजी मे हेमोरॉयड अथवा पाइल्स) एक रोग है जिसमे मलाशय की शिरा गुदा के अत मे या गुदा के भीतर फूल जाती है और विवर्ण हो जाती है। इसमे पीडा होती है और कभी कभी रुधिर बहता है। यदि मलद्वार पर या उससे बाहर की शिराएँ फूल जाती है तो यह बाह्य अर्श कहलाता है और मलद्वार के बाहर फूले फूले पिड से दिखाई पडते है। गुदा के भीतर शिरा के फूलने पर फूले पिड आतरिक अर्श कहे जाते है। परीक्षा करने पर ये टटोले जा सकते है या गुददर्शक (प्राक्टास्कोप) द्वारा देखे जा सकते है।

यहाँ की शिराओ मे विशेषता यह होती है कि वे मलाशय की लबाई की दिशा मे मलाशय के समातर स्थित होती है। उनमे कपाटिकाएँ (वाल्व) नही होती। इस कारण ऊपर से दबाव पडने पर उनके अतिम भाग फूल जाते है और बहुधा यह दशा चिरस्थायी सी हो जाती है। अतएव कोष्ठबद्धता (कब्ज) तथा यकृत के विकारो के कारण इनमे रक्त जमा होने लगता है और कुछ समय मे अर्श बन जाते हैं, जिनको मस्सा भी कहा जाता है। आतरिक अर्श भी दो प्रकार के होते है। एक को खूनी कहा जाता है, जिसमे समय समय पर रक्त निकला करता है। दूसरा बादी कहलाता है। इसके मसे अधिक फूले हुए होते है।

अर्श बहुत बार दूरस्थ रोग के लक्षण होते है। चिकित्सा में इसका विचार करना आवश्यक है। चालीस साल से ऊपर की आयु मे वे कैसर के द्योतक हो सकते हैं। उच्च रुधिरचाप (हाई ब्लड प्रेशर) मे वे समय समय पर रक्त को निकालकर रोगी की रक्षा के हेतु होते हैं। रोग का निश्चय करते समय गुदा से रक्तप्रवाह के अन्य कारणो पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सामान्य दशाओ मे कारण को दूर करके औषधोपचार से चिकित्सा की जा सकती है। इजेक्शन विधि मे बादाम के तेल मे ५० प्रतिशत फिनोल द्रव का योग प्रत्येक अर्श मे प्रति सप्ताह इजेक्शन से तब तक दिया जाता है जब तक वे सूख नही जाते। शस्त्र-चिकित्सा-विधि मे प्रत्येक अर्श का बंधन और छेदन कर दिया जाता है। (मु० स्व० व०)

अर्शक यह पहला पार्थव राजा था। यूनानियो ने इसे अर्सेकीज लिखा है। २४८ ई० पू० के लगभग सोग्यिक साम्राज्य के जिन दो प्रातो ने सफल विद्रोह का झडा उठाया, उनमे से एक बाख्त्री का ग्रीक शासित प्रात था, दूसरा ईरानियो का पार्थिया। पार्थिया का विद्रोह राष्ट्रीय था और जब पार्थव ग्रीक शासन का जुआ अधिक न ढो सके तो उसे उन्होने उतार फेका। उनके जनविद्रोह का नेता अर्शक साधारण कुल मे जन्मा था और उसके नेतृत्व मे पार्थिया का प्रात सिल्यूकस के साम्राज्य से अलग हो गया। (ओ० ना० उ०)

अर्हत् और अरिहत पर्यायवाची शब्द हैं। अतिशय पूजासत्कार के योग्य होने से इन्हे अर्हत् (अर्ह = योग्य होना) कहा गया है। मोहरूपी शत्रु (अरि) का अथवा आठ कर्मों का नाश करने के कारण ये अरिहत (अरि को नाश करनेवाला) कहे जाते है। जैनो के णमोकार मत्र मे पचपरमेष्ठियो मे सर्वप्रथम अरिहतो को नमस्कार किया गया है। सिद्ध परमात्मा है लेकिन अरिहत भगवान् लोक के परम उपकारक हैं, इसलिये इन्हे सर्वोत्तम कहा गया है। एक काल मे एक ही अरिहत जन्म लेते है। जैन आगमो का अर्हत् द्वारा भाषित कहा गया है। अरिहत तीर्थंकर, केवली और सर्वज्ञ होते है। महावीर जैन धर्म के चौबीसवे (अतिम) तीर्थकर माने जाते है। बुरे कर्मो का नाश होने पर केवल ज्ञान द्वारा वे समस्त पदार्थों को जानते है इसलिये उन्हे केवली कहा है। सर्वज्ञ भी उसे ही कहते है।

सं०ग्र०—अभिधानराजेंद्र कोश, १ (१९१३), पट्खडागम, धवला टीका, १ (१९३९)। (ज० च० जै०)

अलकार अलकृति अलकार अलम् अर्थात् भूषण। जो भूषित करे वह अलकार है। इस कारण व्युत्पत्ति से उपमा आदि अलकार कहलाते है। उपमा आदि के लिये अलकार शब्द का सकुचित अर्थ मे प्रयोग किया गया है। व्यापक रूप मे सौदर्य मात्र को अलकार कहते हैं और उसी से काव्य ग्रहण किया जाता है। (काव्य ग्राह्यमलकारात्। सौदर्यमलकार —वामन)। चारुत्व को भी अलकार कहते है। (टीका, व्यक्तिविवेक)। भामह के विचार मे वक्रार्थविधायक शब्दोक्ति अथवा शब्दार्थवैचित्र्य का नाम अलकार है (वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति।) रुद्रट अभिधानप्रकारविशेष को ही अलकार मानते है (अभिधानप्रकारविशेषा एव चालकारा)। दडी के लिये अलकार काव्य के शोभाकर धर्म हैं (काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते)। सौदर्य, चारुत्व, काव्यशोभाकर धर्म इन तीन रूपो मे अलकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे हुआ है और शेष मे शब्द तथा अर्थ के अनुप्रासोपमादि अलकारो के सकुचित अर्थ मे। एक मे अलकार काव्य के प्राणभूत तत्व के रूप मे ग्रहीत है और दूसरे मे सुसज्जितकर्ता के रूप मे।

आधार सामान्यत कथनीय वस्तु को अच्छे से अच्छे रूप मे अभिव्यक्त देने के विचार से अलकार प्रयुक्त होते है। इनके द्वारा या तो भावो को उत्कर्ष प्रदान किया जाता है या रूप, गुण तथा क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराया जाता है। अत मन का ओज ही अलकारो का वास्तविक कारण है। रुचिभेद से आडबर और चमत्कारप्रिय व्यक्ति शब्दालकारो का और भावुक व्यक्ति अर्थालकारो का प्रयोग करता है। शब्दालकारो के प्रयोग मे पुनरुक्ति, प्रयत्नलाघव तथा उच्चारण या ध्वनिसाम्य मुख्य आधारभूत सिद्धात माने जाते है और पुनरुक्ति को ही आवृत्ति कहकर इसके वर्ण, शब्द तथा पद के क्रम से तीन भेद माने जाते हैं, जिनमे क्रमश अनुप्रास और छेक एव यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा लाटानुप्रास को ग्रहण किया जाता है। वृत्यनुप्रास प्रयत्नलाघव का उदाहरण है। वृत्तियो और रीतियो का आविष्कार इसी प्रयत्नलाघव के कारण हुआ है। श्रुत्यनुप्रास

में ध्वनिसाम्य स्पष्ट है ही। इन प्रवृत्तियो के अतिरिक्त चित्रालंकारों की रचना मे कौतूहलप्रियता, वक्रोक्ति, अन्योक्ति तथा विभावनादि अर्थालंकारो की रचना मे वैचित्र्य मे आनद मानने की वृत्ति कार्यरत रहती हैं। भावाभिव्यजन, न्यूनाधिकारिणी तथा तर्कना नामक मनोवृत्तियो के आधार पर अर्थालकारो का गठन होता है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों मे अलकारो की सामग्री ली जाती है, जैसे व्याकरण के आधार पर क्रियामूलक भाविक और विशेष्य-विशेषण-मूलक अलकारो का प्रयोग होता है। मनोविज्ञान से स्मरण, भ्रम, सदेह तथा उत्प्रेक्षा की सामग्री ली जाती है, दर्शन से कार्य-कारण-सबधी असगति, हेतु तथा प्रमाण आदि अलकार लिए जाते हैं और न्यायशास्त्र के क्रमश वाक्यन्याय, तर्कन्याय तथा लोकन्याय भेद करके अनेक अलकार गठित होते है। उपमा जैसे कुछ अलकार भौतिक विज्ञान से सबंधित हैं और रसालकार, भावालकार तथा क्रियाचातुरीवाले अलंकार नाट्यशास्त्र से ग्रहण किए जाते है (द्र० 'अलकारपीयूष, १')।

स्थान और महत्व आचार्यों ने काव्यशरीर, उसके नित्यधर्म तथा बहिरंग उपकारक का विचार करते हुए काव्य मे अलकार के स्थान और महत्व का व्याख्यान किया है। इस सबध मे इनका विचार गुण, रस, ध्वनि तथा स्वय वस्तु के प्रसग मे किया जाता है। शोभास्रष्टा के रूप मे अलकार स्वय अलकार्य ही मान लिए जाते हैं और शोभा के वृद्धिकारक के रूप मे वे आभूषण के समान उपकारक मात्र माने जाते है। पहले रूप में वे काव्य के नित्यधर्म और दूसरे रूप मे वे अनित्यधर्म कहलाते हैं। इस प्रकार के विचारो मे अलकारशास्त्र मे दो पक्षो की नीव पड गई। एक पक्ष ने, जो रस को ही काव्य की आत्मा मानता है, अलकारो को गौण मानकर उन्हे अस्थिरधर्म माना और दूसरे पक्ष ने उन्हें गुणो के स्थान पर नित्यधर्म स्वीकार कर लिया। काव्य के शरीर की कल्पना करके उनका निरूपण किया जाने लगा। आचार्य वामन ने व्यापक अर्थ को ग्रहण करते हुए भी सकीर्ण अर्थ की चर्चा के समय अलकारो को काव्य का शोभाकर धर्म न मानकर उन्हे केवल गुणो मे अतिशयता लानेवाला हेतु माना (काव्यशोभाया कर्त्तारो धर्मा गुणा। तदतिशयहेतवस्त्वलकारा।—का० सू०)। आचार्य आनदवर्धन ने इन्हे काव्यशरीर पर कटककुडल आदि के सदृश मात्र माना है (तमर्थमवलबते येऽङ्गिन ते गुणा. स्मृता। अगाश्रितास्त्वलकारा मन्तव्या कटकादिवत्।—ध्वन्यालोक)। आचार्य मम्मट ने गुणो को शौर्यादिक अगी धर्मों के समान तथा अलकारो को उन गुणो का अगद्वार से उपकार करनेवाला बताकर उन्ही का अनुसरण किया है (ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणा॥ उपकुर्वन्ति ते सत येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलकारास्तेऽनुप्रासोपमादय।) उन्होने गुणो को नित्य तथा अलकारो को अनित्य मानकर काव्य मे उनके न रहने पर भी कोई हानि नही मानी (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि—का० प्र०)। आचार्य हेमचद्र तथा आचार्य विश्वनाथ दोनो ने उन्हें अगाश्रित ही माना है। हेमचद्र ने तो 'अगाश्रितास्त्वलकारा' कहा ही है और विश्वनाथ ने उन्हे अस्थिर धर्म बताकर काव्य मे गुणो के समान आवश्यक नही माना है (शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन। रसादीनुपकुर्वतोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत्।—सा० द०)। इसी प्रकार यद्यपि अग्निपुराणकार ने 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्' कहकर काव्य मे रस की प्रधानता स्वीकार की है, तथापि अलकारो को नितात अनावश्यक न मानकर उन्हे शोभातिशायी कारण मान लिया है (अर्थालकाररहिता विधवेव सरस्वती)।

इन मतो के विरोध मे १३वी शती मे जयदेव ने अलकारो को काव्यधर्म के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए उन्हे अनिवार्य स्थान दिया है। जो व्यक्ति अग्नि मे उष्णता न मानता हो, उसी की बुद्धिवाला व्यक्ति वह होगा जो काव्य मे अलकार न मानता हो। अलकार काव्य के नित्यधर्म हैं (अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती।—चद्रालोक)।

इस विवाद के रहते हुए भी आनदवर्धन जैसे समन्वयवादियो ने अलकारो का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्हे आकार मानने मे हिचक नही दिखाई है। रसो की अभिव्यजना वाच्यविशेष से ही होती है और वाच्यविशेष के प्रतिपादक शब्दो से रसादि के प्रकाशक अलकार, रूपक आदि भी वाच्यविशेष ही हैं, अतएव उन्हें अंतरंग रसादि ही मानना चाहिए। बहिरगता केवल प्रयत्नसाध्य यमक आदि के सबध मे मानी जायगी (यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्या। तस्मान्न तेषा बहिरगत्व रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव।—ध्वन्यालोक)। अभिनवगुप्त के विचार से भी यद्यपि रसहीन काव्य मे अलकारो की योजना करना शव को सजाने के समान है (तथाहि अचेतन शवशरीर कुडलाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावात्—लोचन), तथापि यदि उनका प्रयोग अलकार्य के सहायक के रूप मे किया जायगा तो वे कटकवत् न रहकर कुकुम के समान शरीर को सुख और सौदर्य प्रदान करते हुए अद्भुत सौदर्य से मडित करेगे, यहाँ तक कि वे काव्यात्मा ही बन जायँगे। जैसे खेलता हुआ बालक राजा का रूप बनाकर अपने को सचमुच राजा ही समझता है और उसके साथी भी उसे वैसा ही समझते हैं, वैसे ही रस के पोषक अलकार भी प्रधान हो सकते है (सुकवि विदग्धपुरध्रीवत् भूषण यद्यपि श्लिष्ट योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसपाद्या, कुकुमपीतिकाया इव। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्थममुमर्थं मनसि कृत्वाह।—लोचन)।

वामन से पहले के आचार्यों ने अलकार तथा गुणो मे भेद नही माना है। भामह 'भाविक' अलकार के लिये गुण शब्द का प्रयोग करते है। दडी दोनो के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते है और यदि अग्निपुराणकार काव्य मे अनुपम शोभा के आधायक को गुण मानते है (य काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुण) तो दडी भी काव्य के शोभाकर धर्म को अलकार की सज्ञा देते है। वामन ने ही गुणो की उपमा युवती के सहज सौदर्य से और शालीनता आदि उसके सहज गुणो से देकर गुणरहित किंतु अलकारमयी रचना को काव्य नही माना है। इसी के पश्चात् इस प्रकार के विवेचन की परपरा प्रचलित हुई।

वर्गीकरण : ध्वन्यालोक मे 'अनन्ता हि वाग्विकल्पा' कहकर अलकारो की अगणेयता की ओर सकेत किया गया है। दडी ने 'ते चाद्यापि विकल्प्यते' कहकर इनकी नित्य सख्यवृद्धि का ही निर्देश किया है। तथापि विचारको ने अलकारो को शब्दालकार, अर्थालकार, रसालकार, भावालकार, मिश्रालकार, उभयालकार तथा ससृष्टि और सकर नामक भेदो मे बाँटा है। इनमे प्रमुख शब्द तथा अर्थ के आश्रित अलकार है। यह विभाग अन्वयव्यतिरेक के आधार पर किया जाता है। जब किसी शब्द के पर्यायवाची का प्रयोग करने से पक्ति मे ध्वनि का वही चारुत्व न रहे तब मूल शब्द के प्रयोग मे शब्दालकार होता है और जब शब्द के पर्यायवाची के प्रयोग मे भी अर्थ की चारुता मे अतर न आता हो तब अर्थालकार होता है। सादृश्य आदि को अलकारो के मूल मे पाकर पहले पहल उद्भट ने विषयानुसार, कुल ४४ अलकारो को छह वर्गों मे विभाजित किया था, किंतु इनसे अलकारो के विकास की भिन्न अवस्थाओ पर प्रकाश पडने की अपेक्षा भिन्न प्रवृत्तियो का ही पता चलता है। वैज्ञानिक वर्गीकरण की दृष्टि से तो रुद्रट ने ही पहली बार सफलता प्राप्त की है। उन्होने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष को आधार मानकर उनके चार वर्ग किए है। वस्तु के स्वरूप का वर्णन वास्तव है। इसके अतर्गत २३ अलकार आते है। किसी वस्तु के स्वरूप की किसी अप्रस्तुत से तुलना करके स्पष्टतापूर्वक उसे उपस्थित करने पर औपम्यमूलक २१ अलकार माने जाते है। अर्थ तथा धर्म के नियमो के विपर्यय मे अतिशयमूलक १२ अलकार और अनेक अर्थोवाले पदो से एक ही अर्थ का बोध करानेवाले श्लेषमूलक १० अलकार होते है।

विभाजन अलकार के मुख्यत तीन भेद माने जाते है—शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार। शब्द के परिवृत्तिसह स्थलो मे अर्थालकार और शब्दो की परिवृत्ति न सहनेवाले स्थलो मे शब्दालकार होता है। दोनो की विशिष्टता रहने पर उभयालकार होता है। अलकारो की स्थिति दो रूपो मे हो सकती है—केवल रूप और मिश्रित रूप। मिश्रण की द्विविधता के कारण 'सकर' तथा 'ससृष्टि' अलकारो का उदय होता है। शब्दालकारो मे अनुप्रास, यमक तथा वक्रोक्ति का प्रामुख्य है। अर्थालकारो की सख्या लगभग एक सौ पचीस तक पहुंच गई है (कुवलयानद)।

सब अर्थालकारो की मूलभूत विशेषताओ को ध्यान मे रखकर आचार्यों ने इन्हें मुख्यत. पाँच वर्गों मे विभाजित किया है : १. सादृश्यमूलक—

उपमा, रूपक आदि; २. विरोधमूलक—विषय, विरोधाभास आदि; ३. शृंखलाबध—सार, एकावली आदि, ४ तर्क, वाक्य, लोकन्यायमूलक काव्यलिंग, यथासंख्य आदि, ५ गूढार्थप्रतीतिमूलक—सूक्ष्म, पिहित, गूढोक्ति आदि। (आ० प्र० दी०)

अलंकार शास्त्र संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में 'अलंकारशास्त्र' ही नितांत लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में क्रियाकल्प (क्रिया = काव्यग्रंथ, कल्प = विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट ६४ कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित '**साहित्य विद्या**' नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके। 'अलंकारशास्त्र' में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकीर्ण दनो अर्थों में समझना चाहिए। अलंकार के दो अर्थ मान्य हैं—(१) अलंक्रियते अनेन इति अलंकार (= काव्य में शोभा के आधायक उपमा, रूपक आदि, संकीर्ण अर्थ); (२) अलंक्रियते इति अलंकार = काव्य की शोभा (व्यापक अर्थ)। व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलंकारशास्त्र काव्यशोभा के आधायक समस्त तत्वों—गुण, रीति, रस, वृत्ति, ध्वनि आदि—का विधायक शास्त्र है जिसमें इन तत्वों के स्वरूप तथा महत्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्व को अभिव्यक्त करता है। साहित्यशास्त्र के आरंभिक युग में 'अलंकार' (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था जिसके अभाव में काव्य उष्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। 'अलंकार' के गंभीर विश्लेषण से एक ओर 'वक्रोक्ति' का तत्व उद्भूत हुआ और दूसरी ओर दीपक, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों में विद्यमान प्रतीयमान अर्थ की समीक्षा करने पर 'ध्वनि' के सिद्धांत का स्पष्ट संकेत मिला। इसलिये रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्वों का प्रतिपादक होने पर भी, अलंकार की प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' पड़ा और वह लोकप्रिय भी हुआ।

प्राचीनता अलंकारों की, विशेषतः उपमा, रूपक, स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मंत्रों में निश्चित रूप से होती है, परंतु वैदिक युग में इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नहीं मिलता। निरुक्त के अनुशीलन से 'उपमा' का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना का परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन गार्ग्य आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नहीं किया है, प्रत्युत कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमाप्रकारों का भी दृष्टांतपुरःसर वर्णन किया है (निरुक्त ३।१३-१८)। इससे स्पष्ट है कि अलंकारशास्त्र का उदय यास्क (सप्तम शती ई० पू०) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नंदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलंकारिकों में अवश्य लिए है, परंतु इनके ग्रंथ और मत का परिचय नहीं मिलता। राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट बृहस्पति, उपमन्यु, सुवर्णनाभ, प्रचेतायन, शेष, पुलस्त्य, पाराशर, उतथ्य आदि अष्टादश आचार्यों में से केवल भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही आजकल उपलब्ध है। अन्य आचार्य केवल काल्पनिक सत्ता धारण करते है। इतना तो निश्चित है कि यूनानी आलोचना के उदय से शताब्दियों पूर्व 'अलंकारशास्त्र' प्रामाणिक शास्त्रपद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

संप्रदाय 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबंध ने इस शास्त्र के अनेक संप्रदायों की विशिष्टता का सुंदर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न अंगों पर महत्व तथा बल देने से विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न शताब्दियों में उत्पत्ति हुई। मुख्य संप्रदायों की संख्या छह मानी जा सकती है—(१) रस संप्रदाय, (२) अलंकार संप्रदाय, (३) रीति या गुण संप्रदाय, (४) वक्रोक्ति संप्रदाय, (५) ध्वनि संप्रदाय तथा (६) औचित्य संप्रदाय। इन संप्रदायों में अपने नामानुसार तत्तत् तत्व काव्य की आत्मा अर्थात् मुख्य प्राणाधायक स्वीकृत किए जाते हैं। (१) **रस संप्रदाय** के मुख्य आचार्य भरत मुनि है (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने नाट्यरस का ही मुख्यतः विश्लेषण किया और उस विवरण को अवांतर आचार्यों ने काव्यरस के लिये भी प्रामाणिक माना। (२) **अलंकार संप्रदाय** के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दंडी (सातवीं शताब्दी), उद्भट (आठवीं शताब्दी) तथा रुद्रट (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) हैं। इस मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास में यही संप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अंगीकृत किया जाता है। (३) **रीति संप्रदाय** के प्रमुख आचार्य **वामन** (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होंने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा माना है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**)। दंडी ने भी रीति के उभय प्रकार—वैदर्भी तथा गौडी—की अपने 'काव्यादर्श' में बड़ी मार्मिक समीक्षा की थी, परंतु उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता रहती है। (४) **वक्रोक्ति संप्रदाय** की उद्भावना का श्रेय आचार्य कुंतक को (१०वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है। (५) **ध्वनि संप्रदाय** का प्रवर्तन आनंदवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगांतरकारी ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (१०वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किया। मम्मट (११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (१२वीं श० का पूर्वार्ध), हेमचंद्र (१२वीं श० का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (१३वीं श० का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (१४वीं श० का पूर्वार्ध), पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं श० का मध्यकाल)—इसी संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य है। (६) **औचित्य संप्रदाय** के प्रतिष्ठाता क्षेमेंद्र (११वीं श० का मध्यकाल) ने भरत, आनंदवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण कर काव्य में औचित्य तत्व को प्रमुख तत्व अंगीकार किया तथा इसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। अलंकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षों से काव्यतत्वों की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्व यह शास्त्र अत्यंत प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षासंसार के लिये अलंकारशास्त्र की काव्यतत्वों की चार अत्यंत महत्वपूर्ण देन है जिनका सर्वांग विवेचन, अंतरंग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियों ने बड़ी सूक्ष्मता से अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्यतत्व है—औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस। **औचित्य** का तत्व लोकव्यवहार में और काव्यकला में नितांत व्यापक सिद्धांत है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमांसा का प्रासाद खड़ा होता है। आनंदवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् में मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य का उपनिबंधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है—अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्। औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)। **वक्रोक्ति** लोकातिक्रांत गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक संज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप में परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करनेवाला काव्यतत्व है। **ध्वनि** का तत्व संस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचकों का कहना है कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता जितना हमारे कानों को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितांत गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुंदर मनोरम अर्थ 'व्यंजना' नामक एक विशिष्ट शब्दव्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ को ध्वनिकाव्य के नाम से पुकारते है। सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजी के मान्य आलोचक एबरक्राबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्व की ओर अभी अभी आकृष्ट हुई है। **रसतत्व** की मीमांसा भारतीय आलोचकों के मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनंद के उन्मीलन में ही चरितार्थ होता है चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितांत मधुरतर तथा शोभन पक्ष है, इस तथ्य पर भारतीय आलोचना

का नितांत आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझानेवाले दर्शन की छानबीन से कथमपि पराङ्मुख नहीं होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों—'पोएटिक्स', 'रेटारिक्स' तथा 'ऐस्थेटिक्स'—का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गंभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह पश्चिमी आलोचना से कहीं अधिक महत्वशाली है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

सं०ग्रं०—काणे : हिस्ट्री ऑव अलंकारशास्त्र (बंबई, १९५५), एस० के० दे : संस्कृत पोएटिक्स (लंदन, १९२५); बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खंड, काशी, १९५०)। (ब० उ०)

अलंकृत साँप के शरीर पर गहरे रंग की दो पट्टियाँ होती हैं जिनमें से एक आँख के नीचे तथा दूसरी उसके पीछे रहती है। इसका रंग गहरा भूरा होता है और पूरी देह में अधिक गहरी भूरी या काली आड़ी पट्टियाँ रहती हैं जिनमें सफेद आँख जैसे चिह्न बने होते हैं। प्रकृति से यह उग्र है और जरा सा छेड़ने पर तुरत आक्रामक रुख धारण कर लेता है। छिपकली, मेढक तथा छोटे साँप इसके आहार हैं। यह अंडप्रजक है।

यह कश्मीर, लद्दाख तथा सिक्किम प्रदेशों में पाया जाता है और इसे वहाँ की स्थानीय भाषाओं में 'कुलपार' कहते हैं। नर की लंबाई १५०० मि० मी० तथा मादा की १२५० मि० मी० तक होती है। जंतुविज्ञान में इसका नाम एलैफेहेलेना है।

(नि० सिं०)

अलंबुषा अप्सराकन्या थी जिसका जन्म कश्यप तथा प्राधा के योग से हुआ था। एक बार दधीचि के तप से भयभीत इंद्र ने अलंबुषा को उक्त ऋषि का तप भंग करने के लिये भेजा। फलतः दधीचि और अलंबुषा से 'सारस्वत' नामक पुत्र पैदा हुआ। पश्चात् अलंबुषा ने दिष्टवंशी बंधुपुत्र तृणबिंदु का वरण किया जिससे इडविडा नाम की कन्या का जन्म हुआ।

(कै० चं० श०)

अल उतबी तारीख यामीनी अथवा किताबुल-यामीनी के लेखक, अबु-नसर-मोहम्मद इब्न मोहम्मद जब्बरुल उतबी सुलतान महमूद का मंत्री था। इसके पूर्वजों ने शमानी राजाओं के शासनकाल में उच्च पदों को सुशोभित किया। नसिरुद्दीन सुबुक्तगीन और महमूद के शासनकाल का वृत्तांत इसकी पुस्तक में मिलता है, पर गजनी सम्राट् के राज्यकाल में ४१० हिजरी (१०२० ई०) के बाद का विस्तृत ब्योरा इसके ग्रंथ में नहीं है। इसकी मृत्यु की तिथि निश्चित नहीं, पर ४२० हिजरी (१०३० ई०) तक यह जीवित था। इसका ग्रंथ अरबी में है जिसका अनुवाद फारसी में 'तर्जुमाए यामीनी' के नाम से अबुल शराक अर्बादकानी ने ५२८ हिजरी (११९२ ई०) में किया।

सं०ग्रं०—इलियट और डाउसन : भारत का इतिहास।

(बैं० पु०)

अलकतरा लकड़ी, पत्थर का कोयला तथा कच्चे खनिज तेल (पेट्रोलियम) आदि कार्बनिक पदार्थों का जब शुष्क आसवन (ड्राइ डिस्टिलेशन) किया जाता है तो कई प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन्हीं पदार्थों में एक गहरे काले रंग का गाढ़ा द्रव पदार्थ भी प्राप्त होता है जिसे अलकतरा (अगारराल, विराल, अंग्रेजी में टार अथवा कोलटार) कहते हैं। उदाहरणार्थ पत्थर के कोयले के शुष्क आसवन में निम्नांकित पदार्थ प्राप्त होते हैं :

(१) **कोयले की गैस** (१७%)—इसमें कई गैसें मिश्रित रहती हैं जिनमें प्रमुख हाइड्रोजन (५२%), मेथेन (३२%), कार्बन मोनोक्साइड (६%), नाइट्रोजन (४%), कार्बन-डाइ-ऑक्साइड (२%) तथा एथिलीन और अन्य ओलीफीन (४%) हैं। इनके अतिरिक्त बेंजीन तथा अन्य ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन के वाष्प भी इसमें रहते हैं। इसका मुख्य उपयोग ईंधन के रूप में होता है।

(२) **अमोनिया विलयन** (८%)—इससे अमोनिया प्राप्त की जाती है।

(३) **अलकतरा** (५%)।

(४) **कोक** (७०%)—यह भभके (रिटॉर्ट) में बचा ठोस पदार्थ है। इसका उपयोग ईंधन के रूप में तथा लोहे के कारखानों में अवकारक (रिड्यूसिंग एजेंट) के रूप में होता है।

आजकल अधिक अलकतरा कोयले से ही प्राप्त होता है, क्योंकि कोयले की गैस तथा कोक प्राप्त करने के लिये कोयले का शुष्क आसवन अधिक परिमाण में किया जाता है। लंदन, न्यूयॉर्क, बंबई, कलकत्ता आदि शहरों में घरों में ईंधन के रूप में प्रयुक्त होने के लिये कोयले की गैस का उत्पादन बहुत होता है, और फलस्वरूप अलकतरा बड़ी मात्रा में प्राप्त होता है।

कोयले की गैस प्राप्त करने के लिये कोयले का बृहत् परिमाण में शुष्क आसवन सर्वप्रथम लंदन में १८वीं शताब्दी के अंत में आरंभ हुआ था। धीरे धीरे कोयले की गैस की माँग बढ़ती गई और फलस्वरूप उसका उत्पादन भी बढ़ता गया और उसी के अनुसार अलकतरे की मात्रा भी बढ़ती गई। आरंभ में अलकतरे का कोई उपयोग ज्ञात नहीं था और बेकार पदार्थ समझकर इसे फेंक दिया जाता था। लगभग सन् १८५० से अलकतरे का उपयोग विभिन्न कार्यों में होने लगा। आरंभ में अलकतरे का उपयोग लकड़ी की रक्षा करने, लकड़ी तथा पत्थर पर काला रंग चढ़ाने तथा काजल (लैंप ब्लैक) बनाने में होता था। आजकल अलकतरा विभिन्न ऐरोमैटिक पदार्थों की प्राप्ति का एक मूल्यवान् स्रोत है।

गुण—अलकतरा गहरे काले रंग का एक गाढ़ा द्रव है और इसमें एक विशेष प्रकार की तीव्र गंध होती है। अलकतरे में अनेक प्रकार के पदार्थ विद्यमान रहते हैं। लगभग २०० विभिन्न रासायनिक कार्बनिक यौगिक अब तक इसमें पहचाने जा चुके हैं। अलकतरे में विद्यमान सब पदार्थों को उनकी रासायनिक प्रतिक्रिया के आधार पर तीन प्रकारों में बाँटा जाता है—उदासीन, आम्लिक तथा भास्मिक। उदासीन पदार्थों में ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन मुख्य है। आम्लिक पदार्थों में फीनोल (कार्बोलिक अम्ल) तथा क्रिसोल है। भास्मिक पदार्थों में मुख्य पिरीडीन और कुनोलीन हैं। अलकतरे में साधारणतः दो से पाँच प्रतिशत तक पानी भी रहता है।

अलकतरे से प्राप्त होनेवाले कुछ मुख्य पदार्थों की सूची नीचे दी जाती है :

हाइड्रोकार्बन : बेंजीन, डाइ-फिनाइल, फिनैंथ्रीन, टालुईन, फ्लोरीन, ऐंथ्रासीन, आर्थो, मेटा और पैरा जाइलीन, नैफ्थलीन, क्राइसीन, इंडीन, मेथिल नैफ्थलीन।

नाइट्रोजनवाले पदार्थ : पिरीडीन, इंडोल, पिकोलीन, ऐक्रीडीन, कुनोलीन, कार्बोजोल, आइसो-कुनोलीन।

आक्सिजनवाले पदार्थ : फीनोल, नैफ्थाल, क्रिसोल, डाइ-फिनाइलीन आक्साइड।

अलकतरे का आसवन : अलकतरे में विभिन्न पदार्थ प्रभाजित आसवन (फ्रैक्शनल डिस्टिलेशन) द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। निर्जलीकरण करने के बाद प्रभाजित आसवन द्वारा पहले कुछ मुख्य अंश पृथक् किए जाते हैं और फिर प्रत्येक अंश से रासायनिक विधि द्वारा, अथवा पुनः प्रभाजित आसवन द्वारा, पृथक् पृथक् उपयोगी पदार्थ प्राप्त किए जाते हैं।

आसवन के लिये मुख्यतः दो प्रकार के उपकरण (यंत्र) उपयोग में आते हैं। एक प्रकार में अलकतरे की एक निश्चित मात्रा उपकरण में ली जाती है और जब इसका आसवन समाप्त हो जाता है तो उपकरण को साफ कर पुनः नई मात्रा लेकर आसवन आरंभ किया जाता है। दूसरे प्रकार में आसवनक्रिया को बिना रोके अलकतरे को बीच बीच में उपकरण में डालते रहने का प्रबंध रहता है और इस प्रकार आसवन बराबर होता रहता है। आसवन की विधि तथा उपकरण के प्रकार के अनुसार अलकतरे से प्राप्त होनेवाले पदार्थों के स्वभाव तथा मात्रा में अंतर होता है।

संरचना : साधारण ताप पर अगारराल (अलकतरा) श्यान (विस्कस) होता है और साधारणतः इसका आपेक्षिक भार जल से अधिक होता है। अलकतरा कार्बनिक यौगिकों, मुख्यतः हाइड्रोकार्बनों का अत्यंत जटिल मिश्रण होता है। जिन यौगिकों द्वारा अलकतरे का निर्माण होता है उनका विस्तार हल्के तैल के निर्माण में प्रयुक्त यौगिकों से लेकर

डामर (पिच) के निर्माण में प्रयुक्त अत्यधिक जटिल पदार्थों तक होता है। अधिकाश अलकतरे मे ठोस पदार्थ अपकीर्ण रहता है। अधिकतर यह कलिल (कोलॉयडल) रूप मे होता है, परतु इसका विस्तार मोटे (स्थूल) कणो तक पाया जाता है। स्थूल कार्बनीय पदार्थ शायद वकभाड (भभका, रिटॉर्ट) से निकलनेवाली गैस के साथ आते है, परंतु कलिल भाग उच्च अणुभार युक्त जटिल हाइड्रोकार्बन होता है। ठोस पदार्थ को, जो बेंजोल मे अविलेय होता है, 'मुक्त कार्बन' कहते है। कार्बनिक सघटको के अतिरिक्त अलकतरे मे एक प्रतिशत का कुछ भाग राख तथा कई प्रतिशत जल भी होता है।

अलकतरे की सरचना मुख्यत. कार्बनीकरण के ताप पर निर्भर रहती है, परतु कुछ अशो मे इसपर कोकित कोयले की प्रकृति का भी प्रभाव पडता है। तापीय अलकतरे मे अधिक भाग 'सुरभि यौगिको' (ऐरोमैटिक कपाउड) यथा फीनोल, क्रीसोल, नैफ्थलीन, बेंजीन तथा इसके सजातीय एवं ऐंथ्रैसीन का होता है। उच्चतापीय अलकतरा प्रारभिक अलकतरे के अपदलन (क्रैकिंग) से निर्मित किया जाता है जो स्वयं कोयले के विन्यास (कोल स्ट्रक्चर) का त्रोटन होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। अलकतरे की प्रारभिक सरचना उन कोयलो पर निर्भर रहती है जिनसे उसका उत्पादन होता है, परतु अधिक गर्म करने के पश्चात् दोनो की भिन्नता समाप्त हो जाती है और अंतिम सरचना मुख्यत विच्छेदन की स्थिति पर निर्भर रहती है। (स०प्र०ट०)

निम्नताप कार्बनीकरण ऐसा अलकतरा उत्पन्न करता है जो कम परिवर्तित होता है और जिसमे क्रीसोल और जाइलेनोल, उच्चतर फीनोल और क्षारक, नैफ्थलीन के अतिरिक्त पराफिन तथा कुछ डाइहाइड्राक्सी फीनोल भी रहते हैं। इस अलकतरे की संरचना मे उच्च ताप पर निर्मित अलकतरे की अपेक्षा विभेद अधिक होता है। इसका कारण प्रारभिक यौगिको की अपदलनाशता की भिन्नता है।

उच्चतापीय अलकतरा मे कई सौ यौगिक होते हैं। इनमे से बहुत थोडे से यौगिक ऐसे है जिन्हें पहचाना और अलग किया जा सका है। व्यावसायिक स्तर पर तो अपेक्षाकृत बहुत ही कम यौगिको को निकाला जा सका है। अलकतरा से जो यौगिक निकाले जा सके हैं उनको तथा प्रत्येक के सकेद्रण एव प्रभाग को सारणी १ मे दिखाया गया है:

सारणी १

व्यावहारिक दशा मे साधारण अलकतरे से प्राप्य आसुत तथा उनमे व्युत्पन्न उत्पाद
(प्रतिशत मौलिक अलकतरे पर आधारित है)

अलकतरा			
हल्का तैल, २००° सें० (३९२° फा०) तक	५.०	—	—
बेंजीन	—	० १	—
टालुईन	—	० २	—
जाइलीन	—	१.०	—
भारी विलायक नैफ्था	—	१ ५	—
मध्य तैल, २००–२५०° सें० (३९२–४८२° फा०)	१७.०	—	—
अलकतरा (टार)-अम्ल	—	२ ५	—
फीनाल	—	—	०.७
क्रीसोल	—	—	१ १
जाइलेनाल	—	—	०.२
उच्चतर अलकतरा अम्ल	—	—	०.५
अलकतरा (टार)-भस्म	—	२ ०	—
पायरिडीन	—	—	०.१
भारी भस्म	—	—	१.९
नैफ्थलीन	—	१०.९	—
अभिज्ञ	—	१.७	—
भारी तैल, २५०-३००° सें० (४८२-५७२° फा०)	७.०	—	—
मेथिल नैफ्थलीन	—	२ ५	—
डाइमेथिल नैफ्थलीन	—	३ ४	—
एसी नैफ्थलीन	—	१.४	—
अभिज्ञ	—	१ ०	—
ऐंथ्रैसीन तैल, ३००-३५०° सें० (५७२-६६२° फा०)	९ ०	—	—
फ्लोरीन	—	१ ६	—
फेनेनथ्रेन	—	४ ०	—
ऐंथ्रैसीन	—	१.१	—
कारबेंजोल	—	१ १	—
अभिज्ञ	—	१.२	—
डामर	६२ ०	—	—
गैस	—	२.०	—
भारी तैल	—	२१ ८	—
रक्त मोम	—	७ ०	—
कार्बन	—	३२ ०	—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अलकतरे के गुण कार्बनीकरण की विधियो पर निर्भर रहते है। सारणी २ मे विभिन्न कार्बनीकरण विधियो से प्राप्त अलकतरे के गुण अंकित है:

सारणी २

विभिन्न अलकतरो के गुण:

	अनुप्रस्थ वकभाड (उच्चताप)	बीक कुंड	उदग्र वकभाड	निम्नताप कार्बनीकरण
१५ ५° से० पर आपेक्षिक भार	१ १६	१ १७	१.११	१.०३
आसवन, शुष्क डामर का भार, प्रतिशत				
२००° से० (३९२° फा०) तक	५	२	५	९
२००°-२३०° सें० (४४६° फा०)	७	३	११	१६
२३०°-२७०° सें० (५१८° फा०)	११	७	१४	१३
२७०°-३००° सें० (५७२° फा०)	४ ५	६	७	९
३००°-मध्य डामर	१२ ५	११	१२	१८
मध्य डामर	६०	७१	५१	३५
अशोधित डामर अम्ल, २००°-२७०° से० वाले प्रभाग मे प्रभाग का आयतन प्रतिशत	२०-२५	२०-२५	२०-५०	३५-४०
शुष्क अलकतरे का आयतन प्रतिशत	४-५	४-५	६-१२	८-१०
नैफ्थलीन, २००°-२७०° सें० प्रभाग मे शुष्क अलकतरे का भार प्रति शत	४	४-६	लेशमात्र	शून्य
मुक्त कार्बन, भार प्रतिशत	१५	१५	४	१

'उपजात प्रत्यादान उपकरण' (बाई-प्रॉडक्ट रिकवरी ऐपरेटस) मे विभिन्न स्थानो पर अवक्षिप्त अलकतरे के गुणो में बहुत अंतर होता है। जिन अलकतरो मे उच्च-क्वथनाक यौगिक अधिक मात्रा मे होते है वे 'सग्रहण नल' (कलेक्टिंग मेन) मे एकत्र होते हैं। परतु प्रारभिक शीतक (प्राइमरी कूलर) से प्राप्त अलकतरे मे अधिक अनुपात निम्न-क्वथनाक यौगिको का होता है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अलकतरे के आसवन से आजकल कई प्रकार के रासायनिक एव रजक पदार्थ तैयार किए जाते है। एक टन अलकतरे के आसवन से औसत मात्रा में निम्नलिखित विभिन्न पदार्थ प्राप्य होते हैं:

		आसवन ताप मेटीग्रेड
लघु तैल	१२ गैलन	१७०° से० तक
कार्बोलिक तैल	२० ,,	१७०° से० से २३०° से० तक
क्रियोसोट तैल	१७ ,,	२३०° से० से २७०° से० तक
ऐंथ्रैसीन तैल	३८ ,,	२७०° से० से ४००° से० तक
डामर	११ हड्रेडवेट	अवशेष

उपर्युक्त पदार्थों के शोधन और रासायनिक उपचार के पश्चात् निम्नलिखित शुद्ध पदार्थों की प्राप्ति होती है

बेंजीन तथा टॉलुईन	२५ पाउंड
फीनोल	११ ,,
क्रीसोल	५० ,,
नैफ्थलीन	१८० ,,
क्रिओसोट	२०० ,,
ऐंथ्रैसीन	६ ,,

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि अलकतरा न केवल एक तरल ईंधन है, वरन् उससे नाना प्रकार के रासायनिक विस्फोटक पदार्थ, ओषधियाँ, सुंदर रंजक, संश्लिष्ट रबर, प्लास्टिक, मक्खन तथा अन्य कई वस्तुएँ बनाई जा रही है। वास्तव में यह एक बहुमूल्य निधि है जिसमें सहस्रों रत्न छिपे पड़े है।

सं०ग्रं०—नैशनल रिसर्च काउंसिल, अमरीका (सभापति एच० एच० लौरी) दि केमिस्ट्री ऑव कोल यूटिलाइजेशन, २ खंड (१९४५)।
(द० स्व०)

अलकनंदा गंगा की एक प्रधान शाखा अथवा सहायक है। यह हिमालय से निकलकर संयुक्त प्रांत के गढ़वाल जिले के ऊपरी भाग में बहती हुई टिहरी गढ़वाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान पर बाईं ओर से आनेवाली भगीरथी से मिलकर गंगा का निर्माण करती है। अलकनंदा भी भारत की पवित्र नदियों में गिनी जाती है। माउंट कैमेट (२५,४४७ फुट) के पार्श्वद्वय से धौली तथा सरस्वती नदियाँ आती है और गंगोत्तरी-केदारनाथ-बदरीनाथ शिखरसमूह (२२,०००-२३,००० फुट) के पूर्वी पार्श्व में उनके मिलने से अलकनंदा नदी बन जाती है। इस शिखरसमूह के पश्चिमी अंचलों से भागीरथी निकलती है और टिहरी गढ़वाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान में अलकनंदा के संगम से पुण्यसलिला गंगा का निर्माण होता है। भागीरथीसंगम के पूर्व अलकनंदा नदी में पिंदर, नंदाकिनी एवं मंदाकिनी नदियाँ मिलती है और इन संगमों पर क्रमानुसार कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग और रुद्रप्रयाग नामक तीर्थस्थान है।

बदरीनाथ से थोड़ी दूर ऊपर अलकनंदा नदी की चौड़ाई १८ या २० फुट है, पथ उथला एवं धारा तीव्र है। इसके ऊपर नदी का मार्ग हिमपुंजों के भीतर ढँका रहता है। शास्त्रों में उल्लिखित 'अलकापुरी'—कुबेर की महानगरी—इसके उत्तरांचल में स्थित है। देवप्रयाग में नदी की चौड़ाई १४०-१५० फुट हो जाती है। नदी के पार्श्व में ७,००० फुट की ऊँचाई तक हिमोढ़ (मोरेस) पाए जाते है जब कि आज की हिमनदियाँ १२,००० फुट से नीचे नहीं मिलती। अलकनंदा के तट पर श्रीनगर नामक नगर सुशोभित है। (का० ना० सि०)

अलकपाद (सिरिपीडिया) कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया) के अंतर्गत एक अनुवर्ग के जीव है। इनमें कई जातियाँ हैं। सभी केवल समुद्र में रहते है। कुछ अलकपाद खाड़ियों तथा नदियों के मुहानों में भी मिलते है। कुछ अलकपाद परजीवी जीवन व्यतीत करते है। अधिकांश अलकपाद प्रौढ़ अवस्था में चट्टानों या बहते हुए पदार्थों से अपने अग्र भाग (गरदन) द्वारा चिपके रहते है। साधारणतया ये तीन इंच लंबे होते है, किंतु एक जाति के सदस्य लगभग नौ इंच लंबे और सवा इंच मोटी गरदन के होते है। जहाजों पर कभी कभी अलकपाद इतनी संख्या में चिपक जाते है कि जहाज का वेग आधा हो जाता है, इंजनों में तेल या कोयला बहुत खर्च होता है और मशीनों पर अनुचित बल पड़ता है। इसलिये जहाजों को नौनिवेश (डाक) में रखकर बार बार साफ करना पड़ता है। अनुमान किया गया है कि इस सफाई में प्रति वर्ष पचास करोड़ रुपए से अधिक ही खर्च होता होगा। कुछ जंगली मनुष्यजातियाँ बड़े अलकपादों का मांस खाती है। जापान के लोग समुद्र में बाँस बाँध देते है और जब उनपर पर्याप्त अलकपाद चिपक जाते है तो उनको खुरचकर छुड़ा लेते है और खेतों में खाद की तरह डालते है। अलकपादों के शरीर अपूर्ण, उदर अविकसित, उर से निकली तीन जोड़ी द्विशाखी टाँगें और एक जोड़ी पुच्छकटिका (कॉडल स्टाइल्स) होती है। आँख नहीं होती और डिंभ (छोटा बच्चा, लार्वा) स्पर्शसूत्रकों (ऐंटेन्यूल्स) द्वारा चिपकता है, परंतु प्रौढ़ अवस्था में इन सूत्रों के चिह्न मात्र रह जाते है। स्पर्शसूत्र (ऐंटेनी) बिलकुल नहीं होते। बार्नेकल और सीपीनुमा अलपकाद अलकपादों के परिचित उदाहरण है। बार्नेकल अपने डंडीनुमा अग्रभाग से, जिसे ऊपर गरदन कहा गया है और जिसे अंग्रेजी में पेडंकल (छोटा पैर) कहते है (द्र० चित्र), समुद्र में बहते हुए पदार्थों में चिपके रहते है। सीपीनुमा जातियों में डंडीवाला भाग नहीं होता, ये सिर के अग्रभाग से चट्टानों में चिपके पाए जाते है और चारों तरफ कड़े पट्टों से घिरे रहते है (द्र० चित्र)। जंतु का सारा शरीर, जो मुंडक (कैपिटुलम) कहलाता है, द्विपुट चर्म के खोल से ढँका रहता है और यह खोल पाँच कड़े पट्टों से सुरक्षित रहता है। द्विपुट खोल नीचे की ओर खुला रहता है, जिसमें द्विशाखी टाँगें निकली रहती हैं। खोल के पिछले भाग की ओर मुँह रहता है। खाने के समय यह जीव अपनी टाँगें जल्दी जल्दी बाहर भीतर इस प्रकार निकालता है और खींचता है कि खाद्य वस्तुएँ, जो पानी में रहती है, मुँह में चली जाती है। इस तरह वह अपना पेट भरता है। छेड़ने से टाँगों का चलना बंद हो जाता है और खोल के पुट बंद हो जाते हैं। टाँगें रोएँदार पर की तरह होती है और वे नन्हे समुद्री जीवों को पकड़ने में जाल का काम देती है। इन्हीं केश के समान टाँगों के कारण इन प्राणियों का नाम अलकपाद पड़ा है। अंग्रेजी शब्द सिरिपीडिया का अर्थ भी ठीक यही है—केश के समान पैरवाले प्राणी।
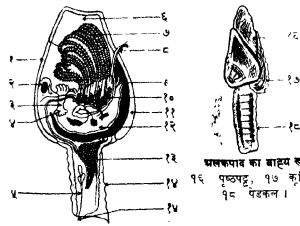
अलकपाद की शरीररचना

१ वरुथ (कड़ा पट्ट), २ उपचालक पेशी, ३ गला, ४ पाचक ग्रंथि, ५ चेप निकालनेवाली ग्रंथि, ६ पृष्ठपट्ट, ७ उर से निकली टाँगें, ८ शिश्न, ९ गुदा, १० वृषण, ११ कटिका (नाव के पेंदे के रूप का कड़ा भाग), १२ आमाशय, १३ अंडाशय, १४ पेडंकल (गरदन सदृश अंग), १५ स्पर्शसूत्रक।

अलकपाद का बाह्य रूप

१६ पृष्ठपट्ट, १७ कटिका, १८ पेडंकल।

शैलखंडावर नामक अलकपाद बाह्य दृश्य

अधिकांश प्रौढ़ अलकपाद उभयलिंगी होते है। एक का निषेचन दूसरे से, या अपने से ही, होता है। कुछ जातियाँ ऐसी भी है जिनमें यौन संरचना तीन प्रकार की होती है। स्कैल्पेलम् जाति में कुछ प्राणी उभयलिंगी, कुछ

मादा और कुछ केवल नर ही होते है। मादा माप और आकार में तो उभयलिंगी प्राणी के सदृश होती है, परन्तु इनमे वृषणकोष (टेस्टीज) नहीं होते। नर उभयलिंगी और मादा की अपेक्षा बहुत ही छोटे होते है। इनको वामन (ड्वार्फ) या पूरक नर (काम्प्लिमेंटल मेल्स) कहते है। ये या तो मादा के संरक्षक पट्टों के भीतर या उसके मुँह के पास रहते है। इनका कार्य एकाश्रयी मादाओं का निषेचन करना होता है।

अलकपादों का जीवन इतिहास अंड से निकले नन्हे डिंभ (छोटे बच्चे) से प्रारंभ होता है। तब उनमें हाथ पाँव के बदले तीन जोडी अंग होते है (द्र० चित्र)। कई बार केंचुल बदलने के बाद वे एकाएक ऐसे रूप मे आ जाते है जिसमे उनका शरीर दो कड़े खोलों (प्रकवच) से ढँका रहता है। इस अवस्था मे ये पूर्णपुच्छक (साइप्रिस) कहलाते है (द्र० चित्र)। ये अपने छोटे स्पर्शसूत्रकों (एंटेन्यूल्स) के चूषकों से पत्थर, जहाज, लकड़ी या जानवर (जैसे केकड़े) के शरीर पर चिपक जाते है। फिर वे अपने भीतर से निकलनेवाले चेप से अपने सर को बड़ी दृढ़ता से उस पत्थर आदि पर चिपका लेते है। तब दोनो प्रकवच झड़ जाते है और पाँच खंडों का नया प्रकवच उग आता है। पहले के तीन जोडी अंग अब रोएँदार पैर हो जाते है, आँख मिट जाती है, गरदन बहुत लंबी हो जाती है और इस प्रकार अलकपाद अपनी युवावस्था में आ जाता है।

परजीवी अलकपाद में दो जातियाँ, कर्कटोदर स्यूनिका (सैक्युलिना कार्सिनी) तथा शंखकर्कजीवी (पेल्टोगैस्टर), विशेषकर उल्लेखनीय है। कर्कटोदर स्यूनिका परजीवी जीवन से शारीरिक अधोगति का ज्वलंत उदाहरण है। प्रौढ़ अवस्था मे एक विषम मांसतंत्र के ढेर की तरह यह केकड़े के उदरतल से चिपकी रहती है। इसकी जीवनकहानी बड़ी विचित्र

स्यूनिका का डिंभ

कर्कटोदर स्यूनिका (केकड़े के पेट से चिपकी हुई स्यूनिका)

पूर्णपुच्छक नामक अलकपाद

१. आधार कला, २. परजीवी (कर्कटोदर स्यूनिका) का शरीर, ३. उदर, ४ अग्र शृंग, ५ स्पर्शसूत्रक, ६ अग्र स्पर्शिकाएँ, ७. अभिन्नित कोशिकाएँ, ८ स्पर्शसूत्र, ९ जभ, १० स्पर्शसूत्रक, ११ ग्रंथि कोशिकाएँ, १२ उदर।

है और तीन जोडी अंगवाले डिंभ में आरंभ होती है। इस डिंभ मे ललाटशृंग होते है, किंतु मुँह या अन्नस्रोतस नहीं होता। पूर्णपुच्छक (साइप्रिस) अवस्था मे यह किसी केकड़े की टाँग के एक दृढ़ रोम से अपने स्पर्शसूत्रकों द्वारा चिपट जाती है। इस अवस्था मे थोड़े समय के बाद पूर्णपुच्छक का सारा धड़, मांसपेशियाँ, टाँगें, आँख और मलोत्सर्ग के अंग शरीर से बिलकुल पृथक् होकर गिर पड़ते हैं। थोड़ा सा भाग, जिसमे केवल डिंभाणु ही रहते है, केकड़े के दृढ़रोम से जुड़ा रह जाता है। तब डिंभ का यह बचा हुआ भाग केकड़े की देहगुहा मे चला जाता है। रक्तपरिवहन द्वारा फिर यह केकड़े के अन्नस्रोतस तक पहुँचकर उसके अधरतल में चिपक जाता है। तब इसमें छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं जो आपस में मिलकर एक जाल सा केकड़े के सारे शरीर में बना लेती है। यह जाल टाँगों तक पहुँचता है। इसी बीच इसके अधरतल से फिर एक गाँठ सी निकलती है। जिसमें प्रजनन ग्रंथि तथा प्रगंड होता है। जैसे जैसे यह गाँठ बढ़ती है वैसे वैसे यह केकड़े के उदर के अधरतल पर दबाव डालता है। केकड़ा जब केंचुल बदलता है तो स्यूनिका पूर्ण विकसित रूप से बाहर आकर केकड़े के उदर के अधरतल से चिपककर लटक जाती है (द्र० चित्र)।

स्यूनिका का परजीवी जीवन केवल उसका शारीरिक अधःपतन नहीं करता वरन् अपने पोषक (केकड़े) के लिये भी बहुत हानिकारक सिद्ध होता है। मुख्य हानिकारक प्रभाव यह है जब स्यूनिका किसी नर केकड़े के बाहर आ जाती है तो केकड़े का केंचुल छोड़ना बिलकुल बंद हो जाता है और उसकी प्रजनन ग्रंथियाँ धीरे धीरे बिलकुल दुबली और दुर्बल हो जाती है। गौण लैंगिक अवयव, जैसे मैथुन कटिका (कॉपुलेटरी स्टाइलस) तथा नखर (कीली) नाप में बहुत छोटे हो जाते है। तब नर केकड़ा उभयलिंगी या मादा हो जाता है। उसका उदर विस्तीर्ण तथा चौड़ा हो जाता है। इसी तरह मादा के भी गौण लैंगिक अवयव (अंडवाही उपांग) नाप में छोटे हो जाते है।

शंखकर्कजीवी नामक अलकपाद भी एक अन्य जाति के केकड़े के लिये उसी प्रकार हानिकारक है जिस प्रकार स्यूनिका नर केकड़े के लिये, किंतु कुछ अधिक मात्रा में। (रा० च० स०)

अलका मेरु पर्वत पर यक्ष गंधर्वों की नगरी और यक्षराज कुबेर की राजधानी। कालिदास ने अलका को अपने मेघदूत में यक्षों की नगरी कहा है और उसे कैलास पर्वत की ढाल पर बसी बताया है। उसी नगरी का अभिशप्त यक्ष मेघदूत का नायक है जिसकी प्रिया का उस अलका में प्रोषितपतिका विरहिणी के रूप में कवि ने बड़ा विशद, भावुक, आर्द्र और मार्मिक वर्णन किया है। प्रकट है कि अलका भौगोलिक जगत् की नगरी न होकर काव्यजगत् की नगरी है, सर्वथा पौराणिक।

(भा० ना० उ०)

अलक्तक अथवा अलक्त एक रंजक पदार्थ जिसका प्रयोग स्त्रियाँ पैरों को रँगने के लिये करती है। यह लाख (लाक्षा) या लाह से बनाया जाता है। विशेष द्र० 'लाख या लाह'। (कै० च० श०)

अलक्ष्मी कालकूट के बाद समुद्रमथन के समय इसका प्रादुर्भाव हुआ। यह वृद्धा थी और इसके केश पीले, आँखें लाल तथा मुख काला था। देवताओं ने इसे वरदान दिया कि जिस घर में कलह हो, वही तुम रहो। हड्डी, कोयला, केश तथा भूसी में वास करो। कठोर असत्यवादी, बिना हाथ मुँह धोए और संध्या समय भोजन करनेवालों को तुम कष्ट दो। गुरु, देव, अतिथि आदि का पूजन न करनेवालों, वेदपाठ न करनेवालों, परस्पर कलहकारी पति पत्नियों, द्यूत खेलनेवालों तथा अभक्ष्य भक्षियों को तुम दरिद्र बना दो। लक्ष्मी से पूर्व इसका आविर्भाव हुआ था अतः विष्णु से लक्ष्मी का विवाह होने के पूर्व इस ज्येष्ठा का विवाह उद्दालक ऋषि से करना पड़ा (पद्मपुराण, ब्रह्मखंड)। लिंगपुराण (२-६) के अनुसार अलक्ष्मी का विवाह दुःसह नामक ब्राह्मण से हुआ और उसके पाताल चले जाने के बाद यह अकेली रह गई। सनत्सुजात संहितांतर्गत कार्तिक माहात्म्य में लिखा है कि पति द्वारा परित्यक्त होने पर यह पीपल वृक्ष के नीचे रहने लगी। वहीं हर शनिवार को लक्ष्मी इससे मिलने आती है। अतः शनिवार को पीपल लक्ष्मीप्रद तथा अन्य दिन स्पर्श करने पर दारिद्र्य देनेवाला माना जाता है। (कै० च० श०)

अलख वि० (सं० अलक्ष्य), जो दिखाई न पड़े, अदृश्य, अप्रत्यक्ष, उ० 'अलख न लखिया जाई'—कबीर। अगोचर, इंद्रियातीत, परमात्मा का एक विशेषण। 'अलख अरूप अबरन सो करता'—जायसी।

(१) शून्य, परमात्मा, अविनश्वर नाम जिसका स्मरण गुदरपंथी और नाथ जोगी साधु, घर घर भिक्षा माँगने समय, 'अलख अलख' पुकार कर दिलाया करते है। (२) नाथपंथी जोगियों का वह गीत जो भिक्षा माँगते समय, प्राय. सिकारों पर गाया जाता है और जिसमें अधिकतर

गोपीचंद, भरथरी, गोरख, पूरन भगत या मैनावती की कथाएँ अथवा निर्गुण मत की भावनाएँ पाई जाती है, निरगुनियाँ गीत।

इसी से 'अलख जगाना' एक मुहावरा ही बन गया।

'अलखदरीबा' वह स्थान जहाँ पर संत दादूदयाल अपने अनुयायियो के साथ बैठकर आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे। अलख शब्द से संबंधित कुछ और सप्रदाय भी हैं, यथा 'अलखधारी', भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो का एक सप्रदाय, जिसके अनुयायी अलख अगोचर तत्व का ध्यान करते है। 'अलखनामी' सप्रदाय (द्र० 'अलखनामी')। 'अलख निरजन' परमात्मा का एक नाम जो, उसके शून्यवत् अदृश्य रहने के कारण पड़ा। 'अलखवाला', जोगियो का एक उपसप्रदाय। (प० च०)

अलखनामी १—एक प्रकार के गोरखपथी साधु जिनके सिर पर जटा और शरीर पर भस्म एव गेरुआ वस्त्र हो तथा जो ऊन की सेली बाँधने हो जिसमे प्राय घुँघुरू अथवा घटी लगी हो। भिक्षा माँगते समय ये लोग बहुधा दरियाई खप्पर फैलाकर 'अलख अलख' पुकारा करते है और एक द्वार पर अधिक नही अडा करते (अलखिया)। २—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो, विशेषकर बीकानेर तथा अबाला जिले के एक प्रकार के साधु जो अपने को अलखनामी, अलखधारी या अलखगीर कहा करते है और किसी लालबेग का अनुयायी भी बतलाते है जिसे वे शिव का अवतार मानते हैं। ये अधिकतर ढेढ जाति के होते है, मूर्तिपूजा मे विश्वास नही करते और अलख अगोचर तत्व का ध्यान करते है। इनके लिये दृश्यमान ससार के अतिरिक्त परलोक जैसा कोई स्थान नही है और यही रहकर ये अहिंसा परोपकारादि का जीवनयापन करना श्रेयस्कर मानते है। इनके आडबरहीन जीवन मे ऊँच नीच का सामाजिक भेद नही है और न पूजा की कोई विस्तृत, व्यवस्थित विधि ही है। ये टोपी और मोटे कपड़े धारण करते हैं और एक दूसरे से मिलने पर 'अलख कहो' कहा करते है तथा विशुद्ध योगियो के रूप मे समादृत होते हैं। ३—१९वी शताब्दी के एक साधु जो अयोध्या, नेपाल और हिमालय की तराइयो मे कोपीन बाँधे तथा चिमटा लिए भ्रमण करते और बीच बीच मे आकाश की ओर देखकर चिल्लाते हुए 'अलख्य अलख्य' कहते रहते थे। इन्हे अलख्य स्वामी भी कहा जाता था और ये अत तक कटक के निकटवर्ती पर्वतीय कुभपत्नी जातियो मे धर्मप्रचारकस्वरूप प्रसिद्ध थे।

स०ग्र०—क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टीसिज्म (लदन, १९३५ ई०), परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सतपरपरा (प्रयाग, स० २००८), हिंदी शब्दसागर, बँगला विश्वकोश। (प० च०)

अलबरूनी अबू-रिहान-मुहम्मद बिन अहमद अलबरूनी ख्वारिज्मी का जन्म हिजरी सन् ३६० (९७०-७१ ई०) मे हुआ था। 'तवारीख हुकमा' के लेखक शहरजूरी, जिसने इनकी जीवनी लिखी है, के मतानुसार यह सिंध के बेरून नामक स्थान मे पैदा हुए थे और इसी से इनका नाम बरूनी या बिरूनी पडा। अलबरूनी ने स्वय अपने जन्मस्थान का कही उल्लेख नही किया है। 'किताबुल अन्सान' के लेखक समानी का, जिसने अपना ग्रथ हिजरी सन् ५६२ (११६६ ई०) मे लिखा, कहना है कि फारसी शब्द 'बिरूनी' से बाहर पैदा होनेवाले का सकेत होता है। इस अरबी विद्वान् के प्रारभिक जीवनकाल का कही विवरण नही मिलता। किंतु शमसुद्दीन मोहम्मद शहरजरी का कथन है कि कभी भी उनके हाथ से न लेखनी अलग हुई, न उनके नेत्र पुस्तक से हटे। केवल एक ही दो बार वे कार्य से वर्ष भर मे अवकाश लेते थे। उनका ध्यान हर समय पुस्तक पढने पर लगा रहता था। अबुलफजल बैहाकी का, जो बरूनी की मृत्यु के पचास वर्ष बाद हुआ, कहना है कि अपने समय के वे अद्वितीय विद्वान् थे और दर्शन, गणित तथा ज्यामिति मे पारगत थे। उनकी नियुक्ति गजनी के मुहम्मद बिन सुबुक्तगीन के यहाँ हुई और उन्हे भारत आने और यहाँ बहुत काल तक रहने का अवसर मिला। इसी बीच बिरूनी ने यहाँ पर सस्कृत भाषा और भारतीय सस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होने यहाँ के कई प्रातो का भ्रमण किया और इसमे वे प्रमुख व्यक्तियो के सपर्क मे आए। उन्होने भारतीय दर्शन और धर्म की पुस्तको का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही कला और विज्ञान के क्षेत्रो मे भी प्रवेश किया। शेख रईस अबू-अली इब्न सिना (अवीचेन्ना) की पुस्तक 'बातकल' का इन्होंने अरबी मे अनुवाद किया। गणित और ज्यामिति की अपनी पुस्तक 'कानून मसूदी' मे इन्होने उपर्युक्त ग्रथ से बहुत कुछ उद्धृत किया। अको, युग और सवत् के विषय मे भारतीय विद्वानो ने जो कुछ भी लिखा है उसका उल्लेख अलबरूनी ने 'बातकल' के अनुवाद मे किया है। अलबरूनी और इब्नसिना का बहुत विषयो मे मतभेद था, पर इब्नसिना ने कभी भी बरूनी से वादविवाद नही किया। बरूनी भारत मे लगभग ४० वर्ष रहे पर इनके भारतीय भौगोलिक ज्ञान मे त्रुटियाँ मिलती है। हिजरी सन् ४३० (१०३८-३९) मे इनकी मृत्यु हो गई।

इन्होने बहुत से ग्रथ लिखे जिनमे से कुछ का यूनानी भाषा मे अनुवाद किया। कहा जाता है, इनके लिखे ग्रथो से एक ऊँट का बोझा हो सकता है। मुख्यतया इनके नक्शो की तालिका, बहुमूल्य पत्थरो का विवरण, ओषधि पदार्थ, ज्योतिष, ऐतिहासिक तालिका और कसूल-मसूदी नामक नक्शो और भूगोल से सबधित ग्रथ है। अतिम ग्रथ के लिये सुल्तान मसूद ने एक हाथी के बोझ भर चाँदी के टुकडे इन्हे भेट मे दिए पर इन्होने उन्हें लौटा दिया।

स०ग्र०—अलबरूनी, इलियट और डाउसन हिस्ट्री ऑव इडिया, भाग २, सतराम अलबरूनी की भारतयात्रा। (बै० पु०)

अल बलाजुरी अहमद बिन हिया बिन जाबिर अल बलाजुरी। जन्मतिथि अज्ञात; मृत्यु ८९२ ई०। प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकार। खलीफा मुतवक्किल का मित्र। जनश्रुति के अनुसार 'बलाजुरी' फल (भिलावा) का रस भूल से पी लेने से मरे। किंतु यह निश्चय नही है कि यह घटना उनके दादा से सबधित है या स्वय उन्ही से। तात्पर्य यह है कि बलाजुरी के जीवन का वृत्तात बहुत कुछ अज्ञात है। वह फारसी के प्रकाड पडित थे और फारसी ग्रथो के अरबी मे अनुवादक नियुक्त किए गए थे। शायद इसी कारण उन्हे अरबी न मानकर फारसी या ईरानी माना गया है। किंतु उनके पितामह मिस्र की खिलाफत मे उच्च पदाधिकारी थे। बलाजुरी की शिक्षा दमिश्क, अमीसा तथा ईराक मे हुई थी। इब्नसाद उनके गुरु थे।

बलाजुरी के लिखे दो बृहत् ग्रथ है (१) फुतूह-उल-बल्दान, देगेज द्वारा सपादित तथा १८६६ ई० मे लाइडन से प्रकाशित, द्वितीय प्रकाशन कैरो से १३१८ हि० (१९०० ई०) मे। इस ग्रथ मे मुहम्मद और यहूदी लोगो के युद्ध से आरभ करके उनके अन्य सामरिक कृत्यो तथा सीरिया, मिस्र और आरमीनिया आदि की विजय का इतिहास वर्णित है। जहाँ तहाँ ऐसे स्थल भी बिखरे पडे है जिनसे तत्कालीन सास्कृतिक एव सामाजिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। राजनीतिक शब्दावली तथा सस्थाओ, राजकर, मुद्रा तथा शासन सबधी अन्य बातो के भी बहुमूल्य उल्लेख इस पुस्तक मे पाए जाते है। अरब राजनीतिक इतिहास पर यह एक अत्यत मूल्यवान् एव प्रामाणिक ग्रथ है। (२) बलाजुरी का दूसरा ग्रथ है 'अन्साब-अल-अशराफ'—इस ग्रथ के लेखक ने बड़ी बृहदाकार योजना बनाई थी, पर वह उसे पूरा न कर पाया। इसमे अरबो का वशानुगत इतिहास दिया गया है।

स०ग्र०—एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। (प० श०)

अलबामा (राज्य), द्र० 'अमरीका, सयुक्त राज्य'।

अलबेली अलि सस्कृत के परपरागत विद्वान् थे किंतु इन्हे ब्रजभक्ति के उन्नायको मे विशिष्ट माना जाता है। इनके गुरु का नाम वशी अलि था जो अपनी उपासनापद्धति को नवीन रूप देनेवाले महात्मा के रूप मे प्रसिद्ध रहे है। ये विष्णु स्वामी की दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित थे। अलबेली अलि का सस्कृत भाषा मे प्रणीत 'श्रीस्तोत्र' नामक काव्य यमक और अनुप्रास की छटा के लिये विद्वानो के मध्य समादरित है। ब्रजभाषा मे इन्होने 'समयप्रबध पदावली' की रचना की है। इस ग्रथ मे राधाकृष्ण की रूपमाधुरी का अति सरस रूप मे वर्णन किया गया है। ब्रज मे उनके कई पद बड़े चाव से गाए जाते है। (कै० च० श०)

अलबैहाकी ख्वाजा अबुलफ़ज़ल बिन अल हसन-अलबैहाकी ने 'तारीख सुबुक्तगीन' अथवा 'तारीख बैहाकी' नामक विस्तृत ग्रंथ लिखा जिसके अब केवल कुछ अंश ही उपलब्ध हैं। ४०२ हिजरी (१०११

ई०) में ये सोलह वर्ष के थे, और ४५१ हिजरी (१०६० ई०) मे वृद्धावस्था मे अपना ग्रंथ लिखते रहे। खाकी शिराजी के अनुसार इनकी मृत्यु ४७० हिजरी (१०८० ई०) के लगभग हुई। पहले ग्रंथ मे सुबुक्तगीन के शासनकाल का इतिहास है और 'तारीख मसूदी' मे मसूद के राज्यकाल का उल्लेख है। महमूद के विषय मे उन्होंने 'ताजुल-फुतूह' मे लिखा। हाजी खलीफा के मतानुसार बैहाकी ने गजनी के सम्राटो का विस्तृत इतिहास लिखा।

सं०ग्रं०—इलियट और डाउसन . इतिहास। (बै० पु०)

अलर्क (१) काशीनरेश दिवोदास का प्रपौत्र। इसके पिता के तीन नाम मिलते है वत्स, प्रतर्दन तथा ऋतध्वज। विष्णुपुराण (४ ६) के अनुसार दिवोदास प्यार से प्रतर्दन को ही 'वत्स' नाम से संबोधित करता था और सत्यनिष्ठ होने के कारण उसका नाम ऋतध्वज पड़ा। गरुडपुराण (१३६) मे दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन तथा प्रतर्दन का पुत्र ऋतध्वज है। हरिवंश (१, २६) मे प्रतर्दन का पुत्र वत्स और वत्स का पुत्र अलर्क है जिसने काशी मे ६६ हजार वर्ष तक राज्य किया। अलर्क इतना सत्यनिष्ठ और ब्राह्मणो का उपकर्ता था कि एक बार एक अंधे ब्राह्मण की याचना पर इसने अपनी आँखे निकालकर उसे दे दी (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काड १२. ४३)। लोपामुद्रा की कृपा से यह सदा तरुण रहा और इसे दीर्घायु मिली। वायुपुराण (६२ ६८) के अनुसार निकुभ के शाप से निर्जन हुई वाराणसी का इसने क्षेमक को मारकर उद्धार किया और उसे पुन बसाया। धनुर्बल से अलर्क ने समस्त पृथ्वी जीती और अत मे सूक्ष्म ब्रह्म की आराधना मे लग गया। इसके पुत्र का नाम सतति था।

(२) शत्रुजित्तनय ऋतुध्वज और मदालसा से उत्पन्न एक पुत्र का नाम भी अलर्क था। इसके बड़े भाई सुबाहु ने काशीनरेश की सहायता से इसपर आक्रमण कर दिया। मदालसा और दत्तात्रेय के परामर्श पर इसने अपना राज्य सुबाहु को दे दिया और स्वय त्यागी बन गया।

(क० चं० श०)

अलवर भारत के राजस्थान राज्य का एक मुख्य नगर तथा जिला है। यह नगर क्वार्ट्स तथा स्लेट से बनी हुई पहाडी के नीचे, दिल्ली से ८० मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है। पहले अलवर एक देशी राज्य था और अलवर नगर उसकी राजधानी थी, परतु १९४७ मे भारत के स्वतत्र होने के पश्चात् जब छोटी छोटी रियासते भारत सरकार मे सम्मिलित हो गईं, राज्य पुनर्गठन के अनुसार, अलवर राजस्थान राज्य मे मिला दिया गया और तब से इस नगर का राजधानी रहने का श्रेय चला गया। अलवर की स्थिति अ० २७° ३४′ उ० तथा दे० ७६° ३६′ पू० पर है। अलवर राज्य का क्षेत्रफल राजस्थान मे मिलने के पूर्व ३,१५८ वर्ग मील था और जनसख्या ८,२३,०५५ (१९४१) थी। अब अलवर जिले का क्षेत्रफल ८,३८२ वर्ग कि० मी० तथा जनसख्या १३,८२,४८५ (१९७१) हो गई है। अलवर नगर की आबादी १,००,७६१ (१९७१) है।

अलवर नाम की उत्पत्ति के बारे मे मतभेद है। कुछ लोगो का कहना है कि इसके पूर्व नाम आलपुर, अर्थात् सुदृढ नगरी, से वर्तमान नाम अलवर आया, कुछ औरो के विचार से इस नाम का मूल अरवलपुर अर्थात् अरावली पर्वत का शहर है, क्योकि अलवर की पहाडियाँ अरावली पर्वतमाला का ही एक भाग है। वर्तमान समय मे कुछ विद्वानो के मत से अलवर का नाम सालवास जाति के लोगो के नाम से निकला जो यहाँ पहले पहल बसे थे और इसका पुराना नाम सात्वावारा था, जिसमे सालवर, हलवर और फिर अलवर नाम प्रसिद्ध हुआ। राजपूत वीर प्रतापसिंह ने इस राज्य की स्थापना की (सन् १७४०-९१ ई०) और बख्तावरसिंह को इन्होने गोद लिया। बख्तावरसिंह के समय मे इस नगर की खूब उन्नति हुई। बाद मे अंग्रेजो के साथ हाथ मिलाकर मराठो के साथ इन्होंने लडाई की तथा १८०३ ई० मे अंग्रेजो से सधि की। १८९२ ई० मे १० साल की अवस्था मे महाराजा जयसिंह सिंहासन पर बैठे तथा उन्होंने १९२३ मे लदन के इपीरियल कानफरेस मे भारत का प्रतिनिधित्व किया। अंग्रेजो के सिक्के को अलवर राज ने सर्वप्रथम मान लिया था। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व अंग्रेजो की पदातिक तथा अश्वारोही सेना का कुछ भाग यहाँ रहता था।

अलवर नगरी एक घाटी के पास करीब १,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। पुराने जमाने की लडाई के समय यह बड़ी ही सुरक्षित थी। इसके एक ओर अखंड पहाडी है ही, अन्य ओर सुदृढ भीत, प्रशस्त खाई तथा एक गहरे नाले द्वारा घिरी हुई है। ऊँचाई पर स्थित इसके किले का दृश्य एक मुकुट के समान प्रतीत होता है। शहर मे प्रवेश के लिये पाँच तोरण हैं तथा भीतर मनोरम राजभवन, मदिर और समाधि आदि बनी हैं।

राज्य की अधिकतम लंबाई उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ८० मील तथा चौड़ाई पूरब से पश्चिम की ओर ६० मील है। इसका कुल क्षेत्रफल ३,१५८ वर्ग मील है। इस राज्य के पूर्वी भाग मे खुला मैदान है जो खेती के लिये उपयुक्त है। अरावली पर्वतमाला के कुछ अंश पश्चिम सीमा पर है। इनकी लबाई लगभग १२ से २० मील है। ये पथरीली सीधी पर्वतमालाएँ समानर रूप से फैली हुई है तथा स्थान स्थान पर इनकी ऊँचाई २,२०० फुट तक चली गई है। दो महत्वपूर्ण नदियाँ साभी तथा रूपारेल इसी के पास से बहती हैं। रूपारेल नदी पर महाराव राजा बन्नीसिंह ने १८४४ ई० मे एक बाँध बनवाया जिस कारण यहाँ एक सुदर भील बन गई है। इसे सीली सेढ भील कहते है। यह अलवर के दक्षिण-पश्चिम मे लगभग नौ मील की दूरी पर स्थित है। इससे दो नहरें सिंचाई के लिये निकाली गई है।

विशेष दर्शनीय स्थानो मे १९वी शताब्दी का बना राजा बन्नीसिंह का राजमहल, १३९३ की बनी तारग सुलतान की दर्गाह (जो कुछ लोगो के विचार से फीरोजशाह तुगलक का भाई था और कुछ लोगो के विचार से नाहर खाँ मेवाती का पौत्र था), फतेजग की दर्गाह, जिसपर अभी भी हिंदुओ की कलाओ का निदर्शन मिलता है, और महाराव राजा बख्तावरसिंह का स्मृतिस्तभ आदि सुविख्यात है। इनके अतिरिक्त कई मस्जिदे भी हैं जिनमे दैरा की मस्जिद विशेष महत्वपूर्ण है। यह १५७९ ई० मे इस रास्ते से अकबर के गुजरते समय बनी थी। आधुनिक समय मे बना लेडी डफरिन का महिला अस्पताल (सन् १८८९) भी दर्शनीय है। शहर के उत्तर-पश्चिम मे नगर की अपेक्षा लगभग १,००० फुट अधिक ऊँचाई पर निकुंभ राजपूतो का बना किला है जो खानजादे का अधिकार होने के पूर्व यहाँ राज्य करते थे। इनकी दीवारे पहाड़ो के ऊपर उपत्यकाओ मे होती हुई लगभग दो मील तक फैली है। शहर के बाहर दो और दर्शनीय महल हैं, एक बन्नीविलास प्रासाद और दूसरा लेसडाउन कोठी।

अलवर इस समय पर्याप्त उन्नतिशील नगर है। यहाँ पर उच्च शिक्षालय, अस्पताल, महिला विद्यालय आदि है। महारानी विक्टोरिया की हीरक जयती के अवसर पर राजाओ के बच्चो के पढने के लिये एक विशिष्ट विद्यालय खोला गया। अलवर के निजी उद्योगो मे रुई ओटना, कालीन बनाना, कबल बनाना आदि कुछ छोटे मोटे गृहउद्योगो के अतिरिक्त कोई बडा उद्योग नही है। (वि० मु०)

अलसी या तीसी को सस्कृत मे अलसी के सिवाय क्षुमा भी कहते है। गुजराती मे इसका नाम अलशी, मराठी मे जवस अलशी, अंग्रेजी मे लिनसीड तथा लैटिन मे लाइनम यूसिटैटिसिमम है।

इस पौधे की फसल समस्त भारतवर्ष मे होती है। लाल, श्वेत तथा धूसर रग के भेद से इसकी तीन उपजातियाँ है। इसके पौधे दो या ढाई फुट ऊँचे, डालियाँ दो या तीन, पत्तियाँ छोटी तथा फूल नीले होते हैं। फूल झडने पर घुडियाँ बँधती है, जिनमे बीज रहता है। इन बीजो से तेल निकलता है, जिसमे यह गुण होता है कि वायु के सपर्क मे रहने से कुछ समय मे यह ठोस अवस्था मे परिवर्तित हो जाता है। विशेषकर जब इसे विशेष रासायनिक पदार्थों के साथ उबाल दिया जाता है तब यह क्रिया बहुत शीघ्र पूरी होती है। इसी कारण अलसी का तेल रग, वार्निश, और छापने की स्याही बनाने के काम आता है। इस पौधे के डठलो से एक प्रकार का रेशा प्राप्त होता है जिसको निरंगकर लिनेन (एक प्रकार का कपडा) बनाया जाता है। तेल निकालने के बाद बची हुई सीठी को खली कहते हैं जो गाय तथा भैंस को बडी प्रिय होती है। इसमे बहुधा पुल्टिस बनाई जाती है।

आयुर्वेद में अलसी को मंदगधयुक्त, मधुर, बलकारक, किंचित् कफ-वात-कारक, पित्तनाशक, स्निग्ध, पचने मे भारी, गरम, पौष्टिक, कामो-

दीपक, पीठ के दर्द और सूजन को मिटानेवाली कहा गया है। गरम पानी में डालकर केवल बीजों का या इसके साथ एक तिहाई भाग मुलेठी का चूर्ण मिलाकर, क्वाथ (काढ़ा) बनाया जाता है, जो रक्तातिसार और मूत्र संबंधी रोग में उपयोगी कहा गया है। (भ० दा० व०)

अलहंब्रा दुर्ग और राजप्रासाद, मूरी ग्रानडा (स्पेन) में पश्चिमी इस्लामी स्थापत्य और वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना। शहर की सीमा पर डारो नदी के किनारे पहाड़ी पर यह राजभवन बना हुआ है। इस 'कालअत अल हमरा' अर्थात् लाल किले को यूसुफ (१३५४) और मोहम्मद पंचम (१३३४-१३९१) ने बनवाया था। अब इस समय पुराने दुर्ग की भारी दीवारें और बुर्जें ही बच रही हैं। इसके परे 'अलहंब्रा आल्ता' (दरबारियों का निवासस्थान) है। दीवारें लाल ईंटों की बनी हैं और उनपर ऊँची ऊँची बुर्जियाँ हैं। महल के चारों ओर परकोटा दौड़ता है। चार्ल्स पंचम ने अपना राजभवन बनाने के विचार से मूर नरेशों का राजमहल नष्ट कर दिया था, किंतु उसका राजभवन कभी बन न सका। इसकी सजावट में गाढ़े और भड़कीले रंगों का उपयोग किया गया है। इसका सौंदर्य विशेषकर उस समय प्रकट होता है जब सूर्यरश्मियाँ मूरी स्तंभों और मेहराबों से छन छनकर दीवारों पर पड़ती हैं।

इसके आकर्षण के केंद्र दो आयताकार आँगन हैं। यूसुफ का बनवाया हुआ १३८ × ७४ फुट बड़ा अलबाका मत्स्यपूर्ण तड़ाग है। इसके एक ओर एबाजादोरेज (दूतभवन) है जहाँ ३० वर्ग फुट ऊँचा सिंहासन बना हुआ है। इसका गुंबज ५० फुट ऊँचा है। दूसरा आँगन केसरीगृह के नाम से प्रसिद्ध है। इसे मोहम्मद पंचम ने बनवाया था। इसमें एक १५ × ६६ फुट ऊँचा फव्वारा सिंह के मुख से बहता रहता है। यह आँगन के मध्य बारह श्वेत सिंहों के सहारे टिका हुआ अस्बस्तस का पात्र है। इनकी दीवारों पर नीचे से पाँच फुट ऊँचे तक पीले रंग की विभिन्न प्रकार की टाइलें लगी हुई हैं। फर्श संगमरमर का है। इसके एक ओर स्थित 'अबेंसेर्राजेस' नामक एक वर्गाकार कमरे की ऊँची गुंबज नीली, लाल, सुनहरी और भूरे रंग की है। इसके सामने 'साला-लास-दोस हरमानस' (दो बहनों का हाल) है। इसमें भी सुंदर फव्वारा और गुंबज है।

१८१२ में नेपोलियन के समय जब फ्रांस की सेना ने स्पेन पर आक्रमण किया, इसकी बुर्जें उड़ा दी गई। १८२१ के भूकंप में भी इसको भारी हानि पहुँची। १८२८ में इसके पुनर्निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ और इटली के प्रसिद्ध शिल्पी कान्ट्रेरास, उसके पुत्र राफेल पीले और प्रपौत्र मरियानो ने तीन पीढ़ियों में पूरा किया। (प्र० कु० वि०)

अलाओल अथवा अलाउल सत्रहवीं शती में विद्यमान थे और इन्होंने हिंदी (अवधी) कवि मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' को आधार बनाकर बँगला में 'पद्मावती' की रचना की। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में इनका उल्लेख 'आलो उजालो' नाम से किया है।

'पद्मावती' अराकान दरबार में थदो मितार (१६४५-१६५२) के शासनकाल में राजा के महापात्र मगन ठाकुर की प्रार्थना पर रची गई। मगन ठाकुर कौन थे, यह अभी विवादास्पद है।

देखा जाय तो अलाउल कृत 'पद्मावती' न केवल काव्यग्रंथ है अपितु एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख भी है। यह इसलिये कि इसके आरंभ के कुछ अध्यायों में रचनाकार ने राजा थदो मितार, उसकी राजधानी, प्रासाद, राजसभा, स्थलसेना और नौसेना का विस्तृत चित्रण किया है। इसमें इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को भिन्न रूप में भी दिया गया है यथा, इतिहास में थदो मितार राजा नरपति दिग्यि का भतीजा बतलाया गया है जबकि अलाउल ने उसे उसका पुत्र कहा है। 'पद्मावत' और 'पद्मावती' की तुलना करने पर पता चलता है कि अलाउल ने जायसी का अनुकरण करते हुए भी बहुत सी बातों में पूरी स्वच्छंदता बरती है। अतः 'पद्मावती' अक्षरशः अनुवाद न होकर छाया रूपांतर बन गया है। (कं० च० श०)

अलागोआस समुद्रतट पर स्थित ब्राजील का एक राज्य है जो उत्तर और पश्चिम में पर्नांबुको, दक्षिण तथा पश्चिम में सरजिए राज्य और पूर्व में अंधमहासागर से घिरा हुआ है। जलवायु उष्ण तथा आर्द्र है। इसका पश्चिमी भूभाग शुष्क तथा अर्धबंजर पठार है जो केवल चरागाह के लिये उपयुक्त है। तटवर्ती भूमि उर्वर है और वहाँ वनयुक्त पर्वत पाए जाते हैं। नदियों की उर्वरा घाटियों में गन्ना, कपास, तंबाकू, ज्वार, मक्का, धान तथा फल उपजाए जाते हैं। चमड़े, खाल, रबर, लकड़ी तथा ईख की मदिरा का निर्यात होता है। पशु भी पाले जाते हैं।

१७वीं शताब्दी में यह डच शासन के अंतर्गत रहा। बाद में पुर्तगाली यहाँ आए और उन्होंने गन्ने की खेती में बड़ी प्रगति की। १८वीं शताब्दी के मध्य में यह पर्याप्त धनी क्षेत्र हो गया। १८८९ ई० से यह स्वतंत्र राज्य बन गया।

मेसियो राजधानी तथा प्रमुख व्यावसायिक नगर है। जरागुआ बंदरगाह से पर्याप्त व्यापार होता है। यहाँ के अन्य नगरों में अलागोआस, जो पहले यहाँ की राजधानी था, मेसियो से १५ मील दक्षिण पश्चिम मंगुआबा झील पर स्थित है। दूसरा नगर पेनेडो, सैनफ्रांसिस्को नदी के मुहाने से २६ मील ऊपर स्थित है। क्षेत्रफल २७,७३१ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या १६,०६,१६५ (१९७१)। (न० ला०)

अलातशांति लकड़ी आदि को प्रज्वलित कर चक्राकार घुमाने पर अग्नि के चक्र का भ्रम होता है। यदि लकड़ी की गति को रोक दिया जाय तो चक्राकार अग्नि का अपने आप नाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन और वेदांत में इस उपमा का उपयोग मायाविनाश के प्रतिपादन के लिये किया गया है। माया के कारण का नाश होने पर माया से उत्पन्न कार्य का भी नाश हो जाता है। यही अलातचक्र के दृष्टांत से सिद्ध किया जाता है। (रा० पा०)

अलारिक (ल० ३७०-४१० ई०) पश्चिमी गोथों का प्रसिद्ध सरदार विजेता जो ३७० ई० के लगभग दानूब के मुहाने के एक द्वीप में तब उत्पन्न हुआ जब उसकी जाति के लोग हूणों से भागकर उसी द्वीप में छिपे हुए थे।

युवावस्था में अलारिक रोमन सम्राट की वीजीगोथ सेना का सेनापति नियत हुआ और एक दिन उस सेना ने उसकी शक्ति और शौर्य से चमत्कृत होकर उसे अपना राजा घोषित कर दिया। बस तभी से अलारिक का दिग्विजयी जीवन शुरू हुआ। पहले उसने पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया। कुस्तुंतुनिया से दक्षिण चल उसने प्रायः समूचे ग्रीस को रौंद डाला, फिर स्तिलिचो से हार, लूट का माल लिए वह एपिरस जा पहुँचा। रोम के सम्राट् ने उसकी विजयों से डरकर उसे इलिरिकम का राज्य सौंप दिया। ४०० ई० के लगभग उसने इटली पर आक्रमण किया और साल भर के भीतर वह उत्तरी इटली का स्वामी हो गया। पर अगले साल सम्राट् से धन लेकर वह लौट गया।

४०८ ई० में अलारिक इटली लौटा और बढ़ता हुआ सीधा रोम की प्राचीरों के सामने जा खड़ा हुआ। उसने रोम का ऐसा सफल घेरा डाला कि रोम के सम्राट्, सिनेट और नागरिक त्राहि त्राहि कर उठे और उन्होंने अलारिक से प्राणदान का मूल्य पूछा। अलारिक ने अपार धन, बहुमूल्य वस्तुएँ और प्रायः साढ़े सैंतीस मन भारतीय काली मिर्च माँगी। यह सब मिल जाने के बाद उसने रोम को प्राणदान दिया। यह रोम पर उसका पहला घेरा था। जाते जाते उसने सम्राट् से दानूब नद और वेनिस की खाड़ी के बीच २०० मील लंबी और १५० मील चौड़ी भूमि का राज्य माँगा। उसके न मिलने पर उसने अगले साल रोम पर दूसरा घेरा डाला। उससे डरकर रोमन सिनेट ने अलारिक की बात मानकर उसके विश्वासपात्र एक ग्रीक को भी राजदंड दे दिया और इस प्रकार रोम के दो दो सम्राट् हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वी और पश्चिमी दोनों सम्राटों ने अलारिक पर दोहरी चोट की और अफ्रीका से इटली को अन्न जाना बंद कर दिया। इसके उत्तर में अलारिक ने रोम की प्राचीरें तोड़ नगर में प्रवेश किया। राजधानी का सर्वथा विनाश तो नहीं हुआ पर उसकी

हानि अत्यधिक हुई। रोम ने हानिबल के बाद पहली बार विदेशी विजेता के प्रति आत्मसमर्पण किया था।

अलारिक ने अब रोम के दक्षिण हो अफ्रीका की राह ली जिससे वह इटली के खलिहान मिस्र पर अधिकार कर ले। पर तूफान ने उसके बेड़े को नष्ट कर दिया। अलारिक ज्वर से मरा और उसका शव बुसेंतो नदी की धारा हटाकर उसकी तलहटी में गाड़ दिया गया। शव और धन वहाँ गाड़ दिए जाने के बाद नदी की धारा फिर पूर्ववत् कर दी गई और उस कार्य में भाग लेनेवाले मजदूरों का वध कर दिया गया जिससे शव और संपत्ति का सुराग न लगे। (भ० श० उ०)

अलास्का उत्तरी अमरीका के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित, संयुक्त राज्य का बृहत्तम और सर्वाधिक विरल बसा हुआ, ४९वाँ राज्य है। स्थिति ५१° ४०' उ० से ७०° ४०' उ० अ० तथा १३०° ०' प० से १७३° ०' प० दे०, क्षेत्रफल ५,८६,४०० वर्ग मील, जनसंख्या २,६७,००० (१९७१)। अधिकांश निवासी गोरी जाति के है और आदिवासियों की संख्या केवल ४८,५२२ (१९७१) है। ऐंकरेज (जनसंख्या ८६,१३७ (१९७१)), फेयरबैंक्स १४,३३६ (१९७१) जूनू (१३,३३८, राजधानी), केचिकन ६,७०३ (१९७१), ईस्टचेस्टर माउटेनव्यू आधुनिक सुविधासंपन्न नगर है।

संयुक्त राज्य ने ७२ लाख डालर, यानी दो सेंट से भी कम प्रति एकड़ पर अलास्का को रूस से १८६७ ई० में ३० मार्च को खरीदा। रूस (सन् १७४१-१८६७) और फिर संयुक्त राज्य की अनेक वर्षों की अधिकारावधि में अलास्का सर्वविधिशोष्य और औपनिवेशिक क्षेत्र के रूप में अविकसित रहा है। इधर कुछ वर्षों से संयुक्त राज्य इसकी अत्यंत महत्वपूर्ण सामरिक महत्ता एवं प्रचुर संपत्ति को ध्यान में रखकर इसके विकास की ओर अग्रसर हुआ है। १९५७ में इसे वैधानिक राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ।

अलास्का का धरातल अत्यंत विषम है। यहाँ संयुक्त राज्य के अन्य राज्यों में स्थित सर्वोच्च शिखर (माउंट ह्विटनी १४,५०१ फुट) से अधिक ऊँचे ग्यारह शिखर विद्यमान है जिनमें माउंट मैकिन्ले (२०,३०० फुट) उत्तरी अमरीका का सर्वोच्च शिखर है। धरातल, जलवायु, वनस्पति आदि की विशेषताओं एवं विकास की संभावनाओं को दृष्टि में रखकर अलास्का के तीन प्रमुख भौगोलिक विभाग किए जा सकते है (१) प्रशांत महासागर तटीय क्षेत्र (५०"–१२०" वार्षिक वर्षा) जिसमें संपूर्ण दक्षिणी पूर्वी भाग सम्मिलित है, लगभग ३,००० मील की लंबाई में फैला है। इस क्षेत्र का अधिकांश पर्वतीय है जिसमें बीसों हिमशिखर, घाटियाँ एवं हिमनदियाँ है। निचली ढालों पर श्रीमरुल (हेमलॉक), सरो एवं देवदारु के घने वन है। अन्य भागों की अपेक्षा इस भाग में शीत ऋतु में न कड़ाके की सर्दी, न ग्रीष्म में अधिक गर्मी पड़ती है। (२) मध्य का पठार (वर्षा ६"–१६") दो लाख वर्ग मील का उच्च भूमिवाला क्षेत्र है जिसमें यूकन तथा कुस्कोकिंग नदियाँ बहती है। यहाँ अत्यंत विषम जलवायु है पर कृषि एवं चरागाह योग्य सर्वाधिक भूमि यहीं है। वन अपेक्षाकृत निम्न कोटि के एवं अधिक खुले है। (३) उत्तरी मैदानी क्षेत्र में, जो ब्रुक्स पर्वतश्रेणियों द्वारा पठार से पृथक् होता है, टुंड्रा की जलवायु एवं वनस्पति मिलती है। रेनडियर (बड़ा बारहसिंगा), कैरीबू (बारहसिंगे की एक विशेष जाति) तथा सील मछलियाँ यहाँ जीवननिर्वाह का मुख्य साधन है। कोयला एवं तेल भी यहाँ प्राप्त होता है।

अलास्का में सोना, चाँदी, ताँबा, पारा, कोयला, तेल, प्लैटिनम, राँगा, टंग्स्टेन, सीसा, जस्ता, संगमरमर तथा अन्य खनिज प्रचुर मात्रा में है, जिनका अधिकांश पर्वतीय भाग एवं पठार में है। मत्स्य (आय ८८५, ३४,४८६ डालर), खनिज (आय २,७८,६०,००० डा०) तथा ऊर्णाजिन (फर) (आय ५०,००,००० डालर) यहाँ के प्रमुख उद्योग है। कृषि एवं चरागाहों की भी वृद्धि हो रही है। वनों से बहुमूल्य लकड़ियाँ प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अलास्का के मनोरम दृश्यों तथा आखेटक्रीड़ा संबंधी सुविधाओं के कारण यात्रीउद्योग (टूरिज्म) बढ़ रहा है। यहाँ ६४८ मील रेल, ३,५०० मील सड़क तथा वायुयान के छोटे बड़े ४०० संस्थान हैं। वस्तुओं का आयात निर्यात मुख्यतः समुद्र द्वारा होता है। कुल वार्षिक व्यापार लगभग २३,००,००,००० डालर का होता है। (का० ना० मि०)

अलिफलैला (अरेबियन नाइट्स) द्र० 'अरबी साहित्य'।

अलिराजपुर मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की एक तहसील है। पहले यह मध्यभारत के दक्षिण एजेंसी में मध्यभारत का एक राज्य था। उसके पहले यह भील या भोपावर एजेंसी का एक देशी राज्य था। उस समय इसका क्षेत्रफल ८३६ वर्ग मील था।

अलिराजपुर एक पहाड़ी प्रदेश है तथा यहाँ के आदिवासी 'भील' नाम से पुकारे जाते है। इसका अधिकतर भाग जंगल से ढका है और बाजरा तथा मक्का के अतिरिक्त विशेष रूप से और कुछ पैदा नहीं होता। अलिराजपुर नगर पहले अलिराजपुर राज्य की राजधानी था, परंतु इस समय झाबुआ जिले का प्रधान नगर है। २२° ११' उ० अ० तथा ७४° २४' पू० दे० पर यह स्थित है। यहाँ नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) है।

इस नगर के पुराने इतिहास का ठीक पता नहीं चलता और कब किसके द्वारा यह स्थापित हुआ है इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। पहाड़ों तथा जंगलों से घिरा होने के कारण इसपर आक्रमण कम हुए और इसलिये मराठों ने जब मालवा पर आक्रमण किया तब इसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अंग्रेजों के अधीनस्थ होने के पूर्व मालवा के राणा प्रतापसिंह अलिराजपुर के प्रधान थे। इनके देहांत के पश्चात् मुसाफिर नामक इनके एक विश्वासी नौकर ने राज्य को सँभाला तथा प्रतापसिंह के मरणोत्तर उत्पन्न पुत्र यशवंतसिंह को सिंहासन पर बैठाया गया। यशवंतसिंह का सन् १८६२ में देहांत हुआ। मरने के पूर्व उन्होंने अपने दो पुत्रों को राज्य बाँट देने का निर्देश दिया, परंतु अंग्रेजों ने आसपास के कुछ प्रधानों से परामर्श करके इनके बड़े पुत्र गंगदेव को संपूर्ण राज्य का मालिक बनाया। गंगदेव योग्य राजा नहीं था और वह ठीक से राज्य नहीं चला सका। कुछ ही दिनों में विद्रोह की भावना प्रज्वलित हुई और अराजकता छा गई। इस कारण अंग्रेज सरकार ने कुछ दिनों के लिये इसे अपने हाथ में ले लिया। गंगदेव के देहांत के बाद (१८७१ में) इनके भाई आदि ने इसपर राज्य किया। भारत स्वतंत्र होने के बाद यह राज्य भारतीय गणतंत्र में मिल गया और इस समय मध्यप्रदेश का एक भाग है। अलिराजपुर पर राज्य करनेवाले प्रधान राठौर राजपूतों के वंशज थे और महाराणा पद के अधिकारी थे। इनके सम्मानार्थ पहले नौ तोपों की सलामी दी जाती थी।

अलिराजपुर नगर का सबसे आकर्षक भवन इसका भव्य राजप्रासाद है जो इसके मुख्य बाजार के निकट ही बना है। राज्यव्यवस्था करनेवाले अधिकारियों के निवासस्थान भी इसी में है। (वि० मु०)

अली (**अबू तालिब के पुत्र**) पैगंबर मुहम्मद के चचेरे भाई और उनकी पुत्री फातिमा के पति। सुन्नी मुसलमानों के चौथे पवित्र खलीफा। विरोधियों को संदेह न हो, इसलिये पैगंबर के मदीना प्रस्थान (हिजरत) के समय अली को घर पर छोड़ दिया गया था। पैगंबर के शासनकाल में अली का आचरण अत्यंत उदात्त रहा, इस तथ्य पर सभी विद्वान् सहमत है। बद्र ओहोद तथा अलखंदक की लड़ाइयों में उनका युद्धलाघव असाधारण था। पैगंबर ने फद्राक की ओर कूच करते समय अली को मदीना का शासक नियुक्त कर दिया। अली ने यमन पर भी सफल आक्रमण किया (६३१–६३२)।

अली के पहले दो खलीफाओं (अबू बक्र और उमर) से मैत्रीपूर्ण संबंध थे। उमर ने मृत्यु से पूर्व अपने उत्तराधिकारी (खलीफा) का निर्वाचन छह निर्वाचकों पर छोड़ा था। उन्होंने उस्मान को खलीफा निर्वाचित किया। इसमें अली की भी सहमति थी (६४४)। सन् ६५६ ई० में कूफा, बसरा तथा फुस्तात (मिस्र) के विद्रोहियों ने अली के प्रयत्नों को विफल कर उस्मान की हत्या कर दी।

विद्रोहियों ने मदीना छोड़ने के पूर्व यह माँग की कि मदीना की जनता एक खलीफा निर्वाचित करे। अली ने काफी पसोपेश के बाद इस पद को ग्रहण किया। सीरिया के प्रशासक मुआविया के अतिरिक्त समस्त मुसलमान जगत् ने उन्हें खलीफा स्वीकार किया। किंतु अली की वास्तविक कठिनाई उनके अनुयायियों का पिछड़ापन थी। पैगंबर के दो साथी

(सहाबा) तलहा और जुबैर, जिन्होंने पहले अली को खलीफा स्वीकार कर लिया था, पैगंबर की पत्नी आयशा के साथ बसरा पहुँचे और उस्मान के घातको को दड देने की माँग की। विवश होकर अली ने बसरा के निकट 'ऊँटो की लडाई' मे उन्हें परास्त किया।

कूफा मे अपनी राजधानी स्थापित करने के बाद अली ने सीरिया को कूच किया। सिफ्फिन मे सेनाओ की मुठभेड हुई और ११० दिनो तक युद्ध और कलह चलता रहा (जून-अगस्त, ६५७)। अत मे झगडे को पचायत से सुलझाने का निश्चय हुआ। अली के प्रतिनिधि अबू मूसा अशीरी को मुआविया के प्रतिनिधि मिस्रविजयी अम्र-इब्नुल-आस ने धोखा दिया। फलस्वरूप अबू मूसा ने अली और मुआविया दोनो की सत्ताओ को जन-साधारण के समुख अस्वीकार कर दिया, किंतु अम्र ने उसके पश्चात् अपनी वक्तृता मे अली मे अविश्वास तथा मुआविया के प्रति अपने विश्वास की घोषणा की। अम्र की सूझ के द्वारा मुआविया की रक्षा हुई और पुरस्कार-स्वरूप मुआविया ने अम्र को मिस्रविजय करने मे सहायता दी। अली के कुछ अत्यत अंधविश्वासी 'खारिजी' नामधारी मुसलमान अनुयायी, जो पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य चाहते थे, नहरवान मे एकत्र हुए और अली की विचारविनिमय की चेष्टा के विपरीत उनमे से १,८०० ने लडकर प्राण देने का ही निर्णय किया।

सन् ६६० मे अली ने मुआविया मे पारस्परिक राज्यसीमाओ की सुरक्षा के लिये एक सधि की। उधर मुआविया ने अपने को खलीफा घोषित कर दिया। अली इसके लिये उसपर आक्रमण करना चाहते थे, किंतु तभी इब्ने मुलजम नामक एक खारिजी ने उनकी हत्या कर दी। (जून २४, ६६१)।

मुसलमानों मे हज़रत अली के महत्व के संबंध में बड़ा मतभेद है। अस्ना अशरीशिया उन्हें एकमात्र न्यायसंगत खलीफा, पैगबर के पश्चात् सबसे बड़ा मुसलमान तथा इस्लाम के बारह महान् नेताओ मे प्रथम मानते हैं। इस्माइली शियाओ के अनुसार अली अवतार तथा इमामो के पूर्वज हैं जो कुरान के नियमों में संशोधन और परिवर्तन भी कर सकते हैं। (मु० ह०)

अलीगढ उत्तर प्रदेश का एक जिला है और इसी नाम का एक प्रसिद्ध नगर भी उस जिले मे है।

अलीगढ़ (जिला)—स्थिति : २७°२९' से २८°११' अ० उ०, तथा ७७°२९' से ७८°३८' पू० दे०, क्षेत्रफल ५,०२४ वर्ग कि० मी०, जनसख्या २१,१३,४४७ (१९७१ ई०)।

अलीगढ उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग मे, गगा यमुना के दोआबे मे आगरा कमिश्नरी का एक जिला है। इस जिले की पूर्वोत्तर सीमा गगा नदी से तथा पश्चिमोत्तर सीमा यमुना नदी से बनती है। इनके अतिरिक्त इस जिले मे दो और मुख्य नदियाँ हैं—प्रथम काली नदी जो पूर्वी भाग मे तथा द्वितीय करवान नदी जो पश्चिमी भाग मे बहती है। दोआबे के अधिकाश मे दोमट मिट्टी है जो बहुत उपजाऊ है। गगा तथा यमुना के निकट का भाग नीचा है और खादर कहलाता है। गगा खादर उपजाऊ है, परतु यमुना खादर की मिट्टी कडी और कृषि के लिये अयोग्य है। गेहूँ, चना, जौ, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास तथा थोडा बहुत गन्ना यहाँ की मुख्य फसले हैं। इस जिले मे कंकड भी निकलता है, जो सडके बनाने के काम आता है। इस जिले मे कोल (अलीगढ), खैर, हाथरस, सिकदराराऊ, इगलास और अतरौली तहसीलें हैं। इस जिले की ८१ प्रति शत जनता ग्रामीण है।

अलीगढ़ (नगर)—स्थिति २७°५४' उ० अ० तथा ७८°६' पू० दे०, जनसख्या : २,५४,००८ (१९७१ ई०)।

अलीगढ एक प्राचीन नगर है, जिसका पुराना नाम कोयल अथवा कोल है। ११९४ ई० मे कुतुबुद्दीन ने इस नगर को अपने अधिकार मे कर लिया। १६वी शताब्दी मे इसका नाम मुहम्मदगढ तथा १७१७ ई० मे साबितगढ़ हो गया। लगभग १७५७ ई० मे जाटो ने इसका नाम रामगढ़ रखा। तत्पश्चात् नजफ खाँ ने इसका वर्तमान नाम अलीगढ रखा। ग्रैंड ट्रक रोड पर स्थित अलीगढ का दुर्ग १७५९ ई० मे सिंधिया का प्रमुख गढ बन गया। पीछे, १८०३ मे, लार्ड लेक की सेना ने इसपर अधिकार कर लिया। इस नगर की आर्थिक तथा सामाजिक दशा पर मुस्लिम संस्कृति का यथेष्ट प्रभाव है। प्राचीन रामगढ दुर्ग के मध्य मे जामा मस्जिद की विशाल इमारत है, जो अधिक ऊँचाई पर होने के कारण दूर से दिखाई देती है। इस प्राचीन बस्ती से आबादी उत्तर तथा पूर्व की ओर बढ़ गई है। अधिकारियों का महाल (सिविल स्टेशन) उत्तर की ओर है और वही पर अलीगढ़ विश्वविद्यालय स्थित है। १८७५ मे सर सैयद अहमद खाँ ने इसकी नीव एक स्कूल के रूप मे डाली, जो १९२० मे विकसित होकर विश्वविद्यालय बन गया।

अलीगढ उत्तर रेलवे का एक प्रमुख स्टेशन है जो कलकत्ते से ८७६ मील पर, बबई से ६०४ मील पर और दिल्ली से केवल ७९ मील पर है। अलीगढ रुई तथा अनाज की बडी मडी है और प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। ताले तथा पीतल का इमारती सामान बनाना इस नगर का मुख्य उद्योग है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर सरसो का तेल निकालने, रुई की गाँठ बनाने, बर्फ बनाने तथा नाम के इस्पाती ठप्पे (डाई) और इसी प्रकार की बहुत सी धातु की छोटी मोटी वस्तुएँ बनाने के उद्योग उन्नति पर हैं। शरदऋतु की प्रदर्शनी के लिये एक विशाल मैदान मे पक्की दूकाने बनी हुई हैं। इस प्रदर्शनी मे दूर दूर के व्यापारी आते है। (आ० स्व० जौ०)

अली पाशा यह वह उपाधि है जो उस्मानी तुर्क अपने सरदारो को दिया करते थे। इस तरह की उपाधिवाले ओहदेदार कुल नौ हुए है।

इसी नाम की दूसरी ऐतिहासिक उपाधि मिस्र के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञो को दी जाती है जिनको 'अलीपाशा मुबारक' के नाम से पुकारा जाता है। यह १८२३-२४ ई० मे पैदा हुए। यह एक साधारण वश के व्यक्ति थे। पहले ये मिस्री तोपखाने मे एक अधिकारी हुए और धीरे धीरे उन्नति करके मत्री के पद पर पहुँचे। १८४४ ई० मे फ्रास गए और मेट्ज के तोपखाने के स्कूल मे शिक्षा ग्रहण की। अली पाशा मुबारक ने मिस्र सरकार के प्रत्येक विभाग में बहुत ज्यादा सुधार किए। इन्ही के मत्रित्व मे छापेखाने खुले और स्कूलो के लिये पढ़ाई जानेवाली पुस्तकें तैयार की गईं। रेलवे लाइन बनी। सिंचाई का कार्य आरभ हुआ। विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। १८९१ ई० मे उन्होने सर अलफ्रेड मिलनर के हस्तक्षेप के कारण त्यागपत्र दे दिया और राजनीति से अलग होकर एक साधारण व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। १४ नवबर, १८९३ को उनकी मृत्यु काहिरा मे हो गई।

एक और अली पाशा मुहम्मद अमीन तुर्क राजनीतिज्ञ १८१५ ई० मे कुस्तुतुनियाँ में पैदा हुए। यह रशीद पाशा के शिष्य थे। लदन मे १८४१ ई० मे तुर्की राजदूत रहे। पेरिस के सुलहनामे मे तुर्की के प्रतिनिधि बनाकर भेजे गए। १८५६-६१ ई० तक उस्मानिया सल्तनत के मुख्य मत्री रहे। इन्होने बहुत सी नई बाते लागू की। इनकी मृत्यु १८ सितबर, १८७१ को हुई। (मु० अ० अं०)

अलीपुर द्वार पश्चिमी बगाल के जलपाइगुडी जिले मे इसी नाम के सब डिवीजन का प्रमुख नगर है (स्थिति २६°२९' उ० अ०, ८९°३२' पू० दे०)। यह काटजानी नदी के उत्तरी तट पर बसा है और कूचबिहार रेलवे का स्टेशन है। जलपाइगुडी एव बक्सा नगरो से भी यह पक्की सडको द्वारा जुडा है। आवागमन की सुविधाओ के कारण यह अपने क्षेत्र का उन्नतिशील व्यापारिक केंद्र हो गया है। यहाँ काटजानी नदी के पुराने छोडे हुए मार्गों मे झीले बन गई हैं। यह स्थान अस्वास्थ्यकर है और यहाँ मलेरिया का भयानक प्रकोप है। इस कस्बे का नाम कर्नल हिदायत अली खाँ के नाम पर पडा है। (का० ना० सिं०)

अली, मुहम्मद मौलाना मुहम्मद अली सन् १८७८ ई० मे नजीबाबाद, जिला बिजनौर में पैदा हुए। दो साल के थे कि पिता का देहावसान हो गया। माँ ने, जो 'बी अम्मा' कहलाती थी और बड़े किर्दार की बीबी थी, शिक्षा की व्यवस्था की। अलीगढ़ मे ऊँची तालीम हासिल की, फिर आक्सफर्ड गए। वापसी पर खिलाफत तहरीक और कांग्रेस मे शामिल हुए। कांग्रेस के ३८वें अधिवेशन (काकीनाडा) के सभापति हुए। मुहम्मद

अली ने अध्यक्ष की हैसियत से खास तौर पर मुसलमान और कांग्रेस, औरतो की तनजीम, खादी का काम, सिक्खो का मसला और स्वराज्य के रूप आदि पर जोर दिया। फिर ये गोलमेज कान्फ्रेंस मे भी शामिल होने लदन गए और उसके एक अधिवेशन में बड़ा पुरजोश व्याख्यान दिया। स्वास्थ्य खराब था, व्याख्यान के बाद से हालत गिरनी शुरू हो गई और ५ फरवरी, १९३२ ई० को लदन मे ही उनकी मृत्यु हो गई। जनाजा जुरूसलम ले जाया गया और वहाँ मसजिदे अकसा मे दफन हुए।

मौलाना मुहम्मद अली जबरदस्त रहबर होते हुए बड़े अदीब और शायर भी थे। आपका उपनाम 'जौहर' था। उर्दू पत्रकारिता को आपने एक नई दिशा दी। आपकी ही दिखाई राह पर बाद मे आनेवाले तमाम उर्दू अखबारो ने कदम रखा। आप कलकत्ते से एक अखबार 'कामरेड' निकालते थे और एक दैनिक अखबार भी जिसका नाम 'हमदर्द' था। यह दैनिक एक सफे पर छपता था। मौलाना का पूरा जीवन जाति तथा देश के लिये अनेक त्याग करने मे बीता। (र० ज०)

अलीवर्दी खाँ बंगाल मे औरंगजेब के नियुक्त किए हुए हाकिम मुर्शिद कुली खाँ की मृत्यु के बाद १७२७ ई० मे उनके दामाद शुजाउद्दीन खाँ हाकिम नियुक्त किए गए थे। अलीवर्दी खाँ उनके नायब नाजिम थे। मिर्जा मुहम्मद के बेटे अलीवर्दी का असली नाम मिर्जा मुहम्मद अली था, बाद को 'अलीवर्दी खाँ' और 'महाबत जग' के खिताब देहली से मिले। शुजाउद्दीन खाँ की मृत्यु के बाद उनके बेटे सर्फराज खाँ हाकिम हुए लेकिन अलीवर्दी खाँ ने उनके भाई के साथ मिलकर साजिश की जिसमे आलमचद और सेठ फतेहचद भी शरीक थे। १० अप्रैल, सन् १७४० ई० को अलीवर्दी ने बिहार की तरफ से हमला किया और गीरिया नामक स्थान पर सर्फराज खाँ को मार दिया। फिर वह स्वय बगाल के हाकिम बन बैठे और देहली के शाहनशाह से अपनी हुकूमत की सनद मनवा ली। सन् १७५१ ई० में उन्होने मरहटो से एक समझौता किया, क्योकि एक तरफ उन्हें बंगाल पर मरहठो के हमलो का खतरा था और दूसरी तरफ उनके अपने पठान सरदार बगावत करने पर उतारू रहते थे। इस समझौते मे उन्होने मरहठो को बारह लाख रुपया सालाना चौथ के रूप मे देना मजूर किया। उड़ीसा के एक हिस्से का पूरा लगान इसमे जाता था। लेकिन इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता कि अलीवर्दी खाँ ने देहली को कोई खिराज दिया हो या अग्रेजो को कोई टैक्स अदा किया हो। सन् १७५६ ई० मे ८० साल की उम्र मे मुर्शिदाबाद मे अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हुई और वही खुशबाग के एक कोने मे अपनी माँ के पास दफनाए गए। अलीवर्दी खाँ अत्यत बहादुर सिपाही और बहुत समझदार हाकिम थे। (र० ज०)

अली, शौकत मौलाना शौकत अली मौलाना मुहम्मद अली के बड़े भाई थे। आप सन् १८७६ मे पैदा हुए। धार्मिक शिक्षा के बाद अलीगढ मे पढा। खिलाफत और कांग्रेस के आदोलन मे सन् १९१९ से लेकर सन् १९२१ तक भाग लेते रहे। भाई के साथ जेल भी गए। अतिम समय मे आप मुस्लिम लीग मे शामिल हो गए थे। ४ जनवरी, सन् १९३९ को देहात हुआ। (र० ज०)

अलूचा (अग्रेजी नाम प्लम; वानस्पतिक नाम : प्रूनस डोमेस्टिका, प्रजाति प्रूनस, जाति डोमेस्टिका, कुल : रोजेसी) एक पर्णपाती वृक्ष है। इसके फल को भी अलूचा या प्लम कहते हैं। फल लीची के बराबर या कुछ बड़ा होता है और छिलका नरम तथा साधारणत गाढे बैंगनी रग का होता है। गूदा पीला और खटमिट्ठे स्वाद का होता है। भारत मे इसकी खेती नही के समान है; परंतु अमरीका आदि देशो मे यह महत्वपूर्ण फल है। केवल कैलिफोर्निया मे लगभग एक लाख पेटी माल प्रति वर्ष बाहर भेजा जाता है। आलूबुखारा (प्रूनस बुखारेंसिस) भी एक प्रकार का अलूचा है, जिसकी खेती बहुधा अफगानिस्तान में होती है। अलूचा का उत्पत्तिस्थान दक्षिण-पूर्व यूरोप अथवा पश्चिमी एशिया में काकेशिया तथा कैस्पियन सागरीय प्रांत है। इसकी एक जाति प्रूनस सैलिसिना की उत्पत्ति चीन से हुई है। इसका जैम बनता है।

अलूचा के सफल उत्पादन के लिये ठढी जलवायु आवश्यक है। देखा गया है कि उत्तरी भारत की पर्वतीय जलवायु मे इसकी उपज अच्छी हो सकती है। मटियार, दोमट मिट्टी अत्यत उपयुक्त है, परतु इस मिट्टी का जलोत्सारण (ड्रेनेज) उच्च कोटि का होना चाहिए। इसके लिये ३०-४० सेर सड़े गोबर की खाद या कपोस्ट प्रति वर्ष, प्रति वृक्ष के हिसाब से देना चाहिए। इसकी सिचाई आड़ू की भाँति करनी चाहिए। अलूचा का वर्गीकरण फल पकने के समयानुसार होता है : (१) शीघ्र पकनेवाला, जैसे अलूचा लाल, अलूचा पीला, अलूचा काला तथा अलूचा ड्वार्फ, (२) मध्यम समय मे पकनेवाला, जैसे अलूचा लाल बड़ा, अलूचा जर्द तथा आलूबुखारा, (३) विलब से पकनेवाला, जैसे अलूचा ऐल्का, अलूचा लेट, अलूचा एक्सेल्सियर तथा केल्सीज जापान।

अलूचा या आलूबुखारा
यह खटमिट्ठा फल भारत के पहाड़ी प्रदेशो मे होता है।

अलूचा का प्रसारण आँख बाँधकर (बडिंग द्वारा) किया जाता है। आड़ू या अलूचा के मूल वृत पर आँख बाँधी जाती है। दिसबर या जनवरी मे १५-१५ फुट की दूरी पर इसके पौधे लगाए जाते हैं। आरभ के कुछ वर्षो तक इसकी काट छाँट विशेष सावधानी से करनी पड़ती है। फरवरी के आरभ मे फूल लगते है। शीघ्र पकनेवाली किस्मो के फल मई मे मिलने लगते हैं। अधिकाश फल जून जुलाई मे मिलते हैं। लगभग एक मन फल प्रति वृक्ष पैदा होता है। (ज० रा० सिं०)

अलेक्जेंडर अफ्रोडिसियस का तीसरी ई० शताब्दी मे उदित यूनानी दार्शनिक जिसने अरस्तू के सिद्धातो की अधिकाशत वैयक्तिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की। इसने आत्मा की नित्यता को अस्वीकार किया था। (ना० ना० उ०)

अलेक्जेंडर द्वीपसमूह सयुक्त राज्य अमरीका के अधीन अलास्का राज्य के दक्षिणी पश्चिमी समुद्रतट के सनिकट अ० ५४° ४०' उ० से ५८° ३०' उ० मे स्थित है। विद्वानो का कहना है कि ये द्वीप निमज्जित पहाड़ियो की अवशिष्ट चोटियाँ है जो समुद्रतल से ३,००० फुट से लेकर ५,००० फुट की ऊँचाई तक उठ गई है। इनका ऊपरी भाग घने जंगलो से आवृत है और सीधे खड़े किनारो पर हिमनद की क्रियाओं के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते है।

अलेक्जेंडर द्वीपपुज के अतर्गत लगभग १,१०० छोटे बड़े द्वीप है जो आपस मे एक जाल सा बनाते है और उपकूल के निकट १३,००० वर्गमील के क्षेत्र मे फैले हैं। इनका वृत्ताकार घेरा उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व तक फैला हुआ है। इनमे क्रमश शिकागोफ, बारानोफ, ऐडमिरैल्टी, कुपरिनोफ, कुईन, प्रिंस ऑव वेल्स, इटोलिन तथा रेविलाजिगेडो प्रधान हैं। प्रिस ऑव वेल्स इनमे से सबसे बड़ा द्वीप है जो १४० मील लबा तथा ४० मील चौड़ा है। बारनोफ के पश्चिमी तट पर इसकी पुरानी राजधानी सिटका स्थित है। द्वीपो द्वारा बनी हुई खाड़ी प्रशात महासागर के तूफानो से मुक्त है, इस कारण यह खाड़ी उपयोगी जलपोत पथ है। (वि० मु०)

अलेक्जेंड्रिया (नगर), द्र० 'मिस्र'।

अलेक्सांदर प्रथम (पावलोविच) रूस का जार, पाल प्रथम का पुत्र, जन्म २३ दिसबर, १७७७ को सेंट पीटर्सबर्ग मे। २४ मार्च, १८०१ को राजगद्दी पर बैठा। पिता से दूर रहने और पाल तथा कैथरीन मे मतभेद रहने के कारण इसको अपने आंतरिक भाव सदा छिपाए रखने पड़े। इस कारण इसके व्यवहार मे सदा सचाई का अभाव रहा। नेपोलियन इसको उत्तर का स्फिक्स कहा करता था।

पिता की हत्या होने पर यह सिंहासन पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही इंग्लैंड के साथ संधि (१५ जून, १८०१) और फ्रांस तथा स्पेन के साथ मैत्री की। शासन के पहले चार साल उसने राज्य के आंतरिक सुधार में लगाए। रूस को एक संविधान देने का उसने प्रयत्न किया। करों को हटाया, कर्जदारों को ऋणमुक्त किया, कोड़े मारने की सजा का अंत किया और इस रीति से अर्धदासता को दूर करने का रास्ता बनाया। साथ ही उसने 'सीनेट' के कार्य और अधिकार निर्धारित किए, मंत्रालय का पुनःसंगठन किया और नौसेना, परराष्ट्र, गृह, न्याय, वित्त, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा आदि के विभाग स्थापित किए। सेंट पीटर्सबर्ग में विज्ञान अकादमी की तथा कजान और खारकाव में विश्वविद्यालयों की भी उसने स्थापना की। शांतिकाल में शिक्षा, साहित्य और संस्कृति को प्रोत्साहन दिया।

अलेक्सांदर ने फ्रांस के विरुद्ध इंग्लैंड से संधि की (अप्रैल, १८०५)। पीटर के प्रभाव में आकर आस्ट्रिया, इंग्लैंड और प्रशा के साथ मिलकर इसने भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप अनेक युद्धों में रूस को फ्रांस से हारना पड़ा। टिलसिट की संधि द्वारा दोनों फिर मित्र बने और नैपोलियन ने वालाकिया और मोल्दाविया पर रूस का अधिकार स्वीकार किया।

यूरोप का सार्वभौम सम्राट् होने की भावना से नैपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया। बोरोदिनो (७ सितंबर, १८१२) में रूसी सेना हारी। पर शीघ्र पासा पलट गया। रूसी मास्को को अग्निसमर्पित कर पीछे हट गए। १५ सितंबर, १८१२ को नैपोलियन ने आग में जलते मास्को में प्रवेश किया। निराश, निस्सहाय, सर्दी भूख से संतप्त फ्रेंच सेना वापस लौटी और थकी माँदी सेना को बीयाजमा में रूसी सेनापति मिलेन्न एंडेर्सचिव मिलारोगोविच ने पराजित कर उसका पीछा किया।

अलेक्सांदर ने अब यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने का यत्न किया। अब प्रशा, रूस और आस्ट्रिया की सम्मिलित सेना ने फ्रेंच सेना का लाइपजिग (१६-१९ अक्टूबर, १८१३) में मुकाबला किया। 'सब राष्ट्रों का युद्ध' नाम से प्रसिद्ध इस संग्राम में नैपोलियन पराजित हुआ और वह बंदी कर लिया गया। फ्रांस के नए राजा १८वें लुई को 'ज़ार' ने फ्रांस को उदार संविधान देने के लिये बाध्य किया।

१०० दिनों के बाद नैपोलियन कैद से फ्रांस लौटा और वाटरलू के संग्राम में पुनः पराजित हुआ। वीएना कांग्रेस के निर्णय से रूस को वारसा के साथ पोलैंड का एक बड़ा भाग मिला। रूस ने आस्ट्रिया और प्रशा से संधि की जो इतिहास में 'पवित्र संधि' (होली एलायंस) के नाम से प्रसिद्ध है।

पुराने और नए झगड़ों के कारण तुर्की और रूस के मध्य छिड़ती लड़ाई अलेक्सांदर की बुद्धिमत्ता के कारण रुक गई। ज़ार १९ नवंबर, १८२५ को अजोव सागर के तट पर मरा। (अ० कु० वि०)

अलेक्सांदर द्वितीय (१८१८-१८८१) रूस का ज़ार, (१८५५-८१), निकोलस प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र। २ मार्च, १८५५ को निकोलस प्रथम की जब सेवेस्तोपल में भारी पराजय के बाद मृत्यु हुई और जब क्रीमिया का युद्ध अभी चल ही रहा था, यह रूस के सिंहासन पर बैठा। तुर्की से मिली पराजय ने सेना के संगठन और राज्य में आंतरिक सुधार की आवश्यकता को अनिवार्य कर दिया था। यद्यपि अलेक्सांदर स्वभाव से कोमल था, तथापि कम सहिष्णु और प्रतिगामी था। इतिहास में यह 'मुक्तिदाता' और महान् सुधारों का युगप्रवर्तक के नाम से प्रसिद्ध है। मुक्ति कानून द्वारा उसने एक करोड़ भूदासों को स्वाधीन कर दिया, काश्तकारों को बिना मुआवजा दिए वैयक्तिक स्वाधीनता दे दी। १८६४ में जिला और प्रांतिक कौंसिलों (जेम्सट्व्स) की और १८७० में निर्वाचित नगरपालिकाओं की स्थापना हुई। इसी काल स्थानीय स्वायत्तशासन का विकास, न्याय के कानूनों में संशोधन, जूरीप्रणाली का प्रारंभ और शिक्षाप्रणाली में संशोधन हुआ। सैनिक शिक्षा अनिवार्य की गई।

रूस की औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ अलेक्सांदर के शासनकाल में ही हुआ। व्यवसाय और रेलवे का विस्तार हुआ। काकेशस पर अधिकार जम गया। मध्य एशिया में रूस के राज्यविस्तार से रूस और ब्रिटेन के संबंधों में तनाव आ गया।

किंतु अलेक्सांदर के शासनसुधार प्यासे के लिये ओस के समान थे। क्रांतिकारी दल इससे संतुष्ट नहीं था। उसकी शक्ति बराबर बढ़ती गई। उसी मात्रा में ज़ार भी प्रतिक्रियावादी होता गया और जीवन के पिछले सालों में उसका प्रयत्न अपने ही सुधारों को व्यर्थ करने में लगा। १८६३ में पोलैंड में विद्रोह हुआ जो क्रूरतापूर्वक कुचल दिया गया। तुर्की से १८७७ में पुनः युद्ध छिड़ गया। सुदूर पूर्व में आमूर नदी की घाटी का प्रदेश व्लादीवोस्तक तक (१८६०) और जापान से सखालिन तक (१८७५) लेने में ज़ार फिर भी सफल हुआ।

१३ मार्च, १८८१ को सेंट पीटर्सबर्ग में जमीन के नीचे बम रखकर ज़ार अलेक्सांदर की हत्या कर दी गई। (अ० कु० वि०)

अलेक्सांदर तृतीय (१८४५-९४) रूस का ज़ार, ज्येष्ठ भ्राता निकोलस की १८६५ में मृत्यु हो जाने पर राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ और पिता की हत्या के बाद गद्दी पर बैठा।

यह सुशिक्षित नहीं था अतः इसका दृष्टिकोण सीमित था। किंतु था यह ईमानदार, साहसी और दृढ़ विचारों का। पोबादोनोस्त्सेव इसका परामर्शदाता था जो धार्मिक स्वतंत्रता, लोकतंत्र और संसदीय शासनप्रणाली को अनर्थों की जड़ मानता था। अतः गद्दी पर बैठते ही पिता द्वारा बनाया गया संविधान इसने वापस ले लिया जो उसी दिन प्रकाशित होनेवाला था जिस दिन इसके पिता की हत्या हुई थी।

अलेक्सांदर का विश्वास था कि विशाल रूसी साम्राज्य में एक देश (रूस), एक धर्म, एक संस्कृति और एक सम्राट् रहना चाहिए। अतः साम्राज्य के गैर रूसी प्रदेशों में रूसी भाषा को थोपा गया। यहूदियों को सताया गया और कठोर दमन द्वारा निहलिस्ट पार्टी के षड्यंत्रों को कुचला गया।

इसके शासनकाल में रेलवे का विस्तार हुआ, उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन मिला, मुद्रा में सुधार हुआ, फ्रांस के साथ मैत्री की संधि की गई और मध्य एशिया में रूस की स्थिति सुदृढ़ हुई। इसके कारण ब्रिटेन की अपने भारतीय साम्राज्य के लिये चिंता बढ़ गई। (अ० कु० वि०)

अलेक्सांदर प्रथम (एपिरस का राजा) एपिरस में मोलोसिया का राजा था। मकदूनिया के फिलिप द्वितीय की सहायता से इसे गद्दी मिली थी। इसने सिकंदर महान् की बहन क्लियोपात्रा से विवाह किया था। इसने ३४२ से ३३० ई० पू० तक राज किया। रोम के साथ इसकी मैत्री थी और दक्षिण इटली के अधिकांश पर इसका अधिकार था। इसके राज्यकाल में एपिरस की शक्ति प्रसिद्ध हुई। इसने सोने और चाँदी के सिक्के भी चलाए थे। (अ० कि० ना०)

अलेक्सांदर सेवेरस (२०८-२३५ ई०), जिसका पूरा नाम, मार्कस ओरेलियस सेवेरस अलेक्सांदर था। वह सम्राट् का पुत्र तो न था पर सम्राट् हेलियो गैबलस की हत्या के बाद प्रभावशाली शरीररक्षक सेना ने उसे सम्राट् बना दिया। उस समय वह निरा बालक ही था। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह होने लगे। स्वयं सम्राट् को फारस के सस्सानी राजा से लड़ने के लिये पूर्व जाना पड़ा। वहाँ से तो वह विशेष प्रतिष्ठापूर्वक नहीं ही लौटा, उधर लौटते ही जो उसे पश्चिम में गॉल के जर्मनों से लोहा लेना पड़ा तो उसी मोर्चे पर वह मारा गया। (ओ० ना० उ०)

अलेक्सियस तृतीय पूर्वी रोमन साम्राज्य का सम्राट्। ११९५ में जब उसका भाई इसाक द्वितीय थ्रेस में शिकार खेल रहा था, अलेक्सियस को सम्राट् घोषित कर दिया गया। फिर उसने अलेक्सियस को पकड़कर उसकी आँखें निकलवा लीं और कैद कर लिया। बाद में उसे मुक्त कर अनंत धनदान से सेना का मुँह बंद करना पड़ा। पूर्व में तुर्कों ने साम्राज्य रौंद डाला और उत्तर के बलगरों ने मकदूनिया और थ्रेस को उजाड़ डाला। उधर उसने स्वयं खजाने का धन अपने महलों के निर्माण पर खर्च कर दिया। सिंहासनच्युत और कैद इसाक के बेटे अलेक्सियस ने तब वियना में तुर्कों के विरुद्ध परामर्श करके पश्चिमी राजाओं से सहायता की प्रार्थना की और उसकी सहायता से उसने अलेक्सियस तृतीय को साम्राज्य के बाहर

भगा दिया। तब से अलेक्सियस पूर्वी साम्राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करता, लड़ता और बार बार हारता, दर दर फिरता रहा। अंत में एक मठ में उसकी मृत्यु हुई। (ओं० ना० उ०)

अलेक्सियस मिखाइलोविच (१६२९-७६), रोमनोव राजवंश का दूसरा 'जार'। इसकी शिक्षा धर्म के आधार पर मास्को में हुई। प्रसिद्ध विद्वान् बोरिस मोरोज़ोव इसका शिक्षक था। इस कारण इसकी शिक्षा में आधुनिक साधनों का भी उपयोग किया गया। जर्मनी के नक्शे और चित्र भी बरते गए। प्राचीन रूसी संस्कृति के साथ दृढ़ अनुराग रखता हुआ भी यह पश्चिमी सभ्यता से आकृष्ट हुआ। विदेशी भाषाओं की पुस्तकों का रूसी भाषा में इसने अनुवाद कराया। रूस में सर्वप्रथम नाट्य रंगमंच (थियेटर) की स्थापना की। १६४५ ई० में यह राजसिंहासन पर बैठा।

रूस इस समय संक्रमण की स्थिति में था। १६वीं शताब्दी आधुनिक युग के साथ रूस में आई। रूस में परिवर्तन वांछनीय है, यह माननेवाला वह अकेला था। रूसी दरबार के कुछ लोग कट्टर रूढ़िवादी और पश्चिमी सभ्यता के विरोधी थे। इसने अपने सलाहकार प्रगतिशील विचारों के लोगों में से चुने, जैसे मोरोज़ोव ओर्डिन, माशचोकिन मात्वेयो।

अनुभव न होने से राज्य में पहले अशांति रही। लेकिन १६५५ में शांति स्थापित हो गई। १६५५-१६५६ और १६६०-१६६७ में पोलैंड से उसने युद्ध किया, स्मोलेंस्क जीता, लिथुएनिया के अनेक प्रांतों पर अधिकार कर लिया। १६५५-१६६१ तक उसका स्वीडेन से युद्ध हुआ। कज्जाकों को उसने रूस से निकाल दिया। विधिसंहिताओं में उसने संशोधन किया और आधुनिक विज्ञान का अनुवाद कराया। उसने अनेक धार्मिक सुधार भी किए।

अलेक्सियस स्वभाव से नम्र, दयालु और न्यायप्रिय शासक था। वह अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति समझता था। भविष्य की ओर देखते हुए भी उसने रूस का अतीत से संबंध सहसा नहीं तोड़ा। महान् पीटर का यह पिता था। उसका निजी जीवन लांछनरहित था। (अ० कु० वि०)

अलेघनी पर्वत से पहले पूरे अपलेचियन पर्वत का बोध होता था, परंतु अब यह नाम केवल अमरीका की हडसन नदी के दक्षिण तथा पश्चिम में स्थित पर्वतावल के लिये प्रयुक्त होता है। यह अचल अपलेचियन पर्वत का उत्तर पश्चिम भाग है। पेनसिलवानिया स्टेट में यह पर्वतश्रेणी सीधी हो गई है तथा पर्वतशिखर नुकीले हो गए हैं। इसकी ऊँचाई यहाँ पर १,५०० से १,८०० फुट तक है। मेरीलैंड, वर्जीनिया तथा पश्चिमी वर्जीनिया स्टेट में ४,८०० फुट तक की ऊँचाई पाई जाती है तथा इन स्थानों पर पर्वतशिखर अपेक्षाकृत चौड़ा है। ब्लू पर्वतश्रेणी के समांतर जानेवाली पर्वतमाला की गणना भी अलेघनी पर्वतश्रेणी में की जाती है और इस पहाड़ी भाग के उत्तर पश्चिम अचल को अलेघनी अग्र (फ्रंट) कहते हैं। इस पहाड़ी के दक्षिण पूर्व ओर का किनारा प्रायः खड़ा है, परंतु पश्चिम ओर कुछ ढालुआ सा है।

पूर्वी किनारे को छोड़कर, जहाँ यह भंजित (फोल्डेड) रूप ले लेती है, सभी जगह परतें क्षैतिज हैं और यह अचल वास्तविक पर्वतश्रेणी का आकार न लेकर गहरी कटी घाटी का रूप ले लेता है। इसमें कैंब्रियन से कार्बनप्रद युग तक के अंतर्गत बने चूने के पत्थर, बलुआ पत्थर और काग्लोमरेट ही मुख्यतः मिलते हैं। इस श्रेणी के ऊँचे भागों पर बड़ी बड़ी कोयले की खानें पाई जाती हैं। अलेघनी अग्र तथा ब्लू पर्वतश्रेणी के बीच में ५० से १०० मील तक चौड़ी एक घाटी है। पश्चिम की ओर कंबरलैंड से मोहावक तक इसकी ढाल कम है। मेक्सिको की खाड़ी तथा अटलांटिक में गिरनेवाली नदियों का यह जलविभाजक है।

अलेघनी पर्वत न्यूयार्क स्टेट के कैटस्किल अचल से लेकर टेनेसी स्टेट के कंबरलैंड पठार तक फैला हुआ है। इस कारण संयुक्त राष्ट्र अमरीका के अटलांटिक समुद्रोपकूल से पश्चिम की ओर देश के भीतर आने जाने के लिये एक बाधा स्वरूप था, परंतु अब इसपर कई रेल मार्ग बन गए हैं जो इस पर्वतश्रेणी को, इसकी नदियों की घाटी के सहारे, आर पार करते हैं। (वि० मु०)

अलेप्पि अथवा अंबलापुल्ला दक्षिण भारत के केरल राज्य का प्रमुख बंदरगाह एवं इसी नाम के जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति ९° ३०' उ० अ० एवं ७६° २०' पू० दे०)। यह क्वीलन से ४६ मील उत्तर एवं एर्णाकुलम् से ३५ मील तथा कोचीन से ३४ मील दक्षिण स्थित है। १८वीं सदी के अंत तक यह क्षेत्र जंगल से ढका रेतीला मैदान था। महाराज रामवर्मा ने उत्तरी ट्रावंकोर-कोचीन-क्षेत्र में इसकी व्यापारिक महत्ता एवं व्यावसायिक एकाधिकार को समाप्त करने के उद्देश्य से यहाँ बंदरगाह बनवाया था। सुविधा पाकर यहाँ देशी विदेशी व्यापारी बस गए और विदेशों से इस बंदरगाह द्वारा आयात निर्यात होने लगा। व्यापार की वृद्धि के लिये पृष्ठक्षेत्र से नहर द्वारा बंदरगाह का संबंध जोड़ा गया। १८वीं सदी के अंत में बड़े बड़े गोदाम एवं दूकानें राज्य की ओर से बनवाई गईं। अतः १९वीं सदी की प्रथम तीन दशाब्दियों तक यह ट्रावंकोर का प्रमुख बंदरगाह हो गया था। साल के अधिकांश में यह बंदरगाह जहाजों के ठहरने के लिये सुरक्षित रहता है।

उद्योगों की दृष्टि से अलेप्पि नारियल की जटाओं से बनी चटाइयों के लिये सुप्रसिद्ध है। यहाँ से गरी, नारियल तेल, नारियल की जटा, चटाइयाँ, इलायची, काली मिर्च, अदरक आदि का निर्यात होता है। आयात की वस्तुओं में चावल, बनस्पति, नमक, तंबाकू, धातु एवं कपड़े आदि प्रमुख हैं।

१९०१ ई० में नगर की जनसंख्या केवल २४,९१८ थी जो १९५१ ई० में बढ़कर १,१६,२७८ हो गई। पिछली दशाब्दियों में यह दूनी से अधिक हो गई। अलेप्पि बंदरगाह का महत्व अब घट गया है, परंतु यह अब भी अनुतटीय एवं नदियों के विमुखीय प्रवाह द्वारा होनेवाले व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। १९५६-५७ में इस बंदरगाह द्वारा २,६२० टन का आयात एवं २३,५२५ टन का निर्यात हुआ था। (का० ना० सिं०)

अलेप्पो कुवेक नदी की घाटी में स्थित सीरिया का एक नगर है जिसकी स्थापना ईसा से २,००० वर्ष पहले हुई थी। अलेप्पो पूर्वकाल में यूरोप तथा फारस और भारत के बीच व्यापारमार्ग पर होने के कारण बहुत विख्यात था, किंतु बाद में स्वेज नहर तथा अन्य मार्गों के खुल जाने के कारण इसके व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा। साबुन बनाना, सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र तैयार करना, दरी बनना और रंगसाजी का काम करना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त यहाँ से अनाज, तंबाकू, ऊन तथा रुई का निर्यात होता है। जनसंख्या ५,८६,८८२ (१९६१)। (न०ला०)

अलोंप्रा, अलाउंग पहाउरा (१७११-१७६०) बर्मा का राजा, जिसने १७५३ से १७६० तक उस देश के कुछ प्रदेशों पर राज किया। बर्मा के मध्य में स्थित आवानगर के समीप शिकारियों के एक छोटे गाँव स्वेबो में १७११ में उसका जन्म हुआ था। वयस्क होने पर पिता की जमींदारी और शिकारियों के सरदार का वंशानुगत पद उसको मिला। १७५० के लगभग तेलंगों ने अवा और उसके समीप के कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। अलोंप्रा ने एक सेना संगठित की और दो वर्ष में ही तेलंगों को अधिकृत प्रदेश से निकालकर १७५३ में अवा पर अधिकार कर लिया और अपने आपको देश का राजा घोषित किया। उसने अपने राज्य का विस्तार किया और दक्षिण में स्थित बर्मा की राजधानी पेगू पर भी अधिकार कर लिया। १७६० में स्यामविजय के अभियान में वह अस्वस्थ हो गया और मई मास में उसकी मृत्यु हो गई। अलोंप्रा सैनिक-प्रतिभा-संपन्न वीर और कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने न्यायव्यवस्था में भी सुधार किया। उसके वंशज १८८५ तक बर्मा में राज करते रहे। (वि० प०)

अल्जीयर्स नगर अल्जीरिया राज्य की राजधानी है। यह अल्जीयर्स की खाड़ी के पश्चिमी तट पर बुजारी पर्वत से सटी हुई और समुद्रतट के समांतर जानेवाली साहिल पहाड़ियों की ढाल पर बसा हुआ है (स्थिति अ० ३६° ४८' उ० तथा दे० ३° ७' पू०)। यह नगर राज्यपाल के निवासस्थान, विधानसभा, उच्च न्यायालय, सैनिक अड्डा तथा आर्चबिशप का केंद्रस्थल है। यहाँ की समुद्र की लहरों को स्पर्श

करती हुई पहाड़ियों की खड़ी ढाल सैनिक महत्व की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। तुर्कों का बसाया हुआ अल्जीयर्स त्रिभुजाकार था, जिसके शीर्ष पर कस्बा नामक मुहल्ला था, आधार पर रिपब्लिक वीथी (बूलवर्द दि रिपब्लिक) और भुजाओं पर दोनों ओर ऊँचाई तक जानेवाले सोपान थे। फ्रांसीसी अल्जीयर्स अलग अलग छोटे छोटे टुकड़ों में बसा हुआ था। आधुनिक अल्जीयर्स पाश्चात्य ढंग का नगर है। मस्जिदें, सैन्य आवास तथा मूर लोगों के बनवाए सुंदर भवन, अब सब ध्वस्त हो गए हैं, केवल उनके खँडहर अभी तक विद्यमान हैं।

इस बंदरगाह का तटीय प्रदेश रिपब्लिक वीथी के नाम से परिचित है। इसके उत्तरी भाग को फ्रांस वीथी (बूलवर्द द ला फ्रांस) और दक्षिणी भाग को कार्नो वीथी कहते हैं। इस नगर के मुख्य कार्यालय तथा व्यवसायकेंद्र इन वीथियों पर स्थित हैं।

रिपब्लिक वीथी पर राजभवन स्थित है जो बहुत दिनों तक इस नगर का केंद्र था। समुद्रतट के समांतर जानेवाली बाब-अल-अऊद नामक संकीर्ण सड़क पर अल्जीयर्स का सबसे पुराना भाग बसा है। अल्जीयर्स की देशज विशेषता इसके सबसे ऊँचे भाग, पहाड़ियों की ढाल पर दिखाई पड़ती है। ११८ मीटर की ऊँचाई पर कस्बा बसा हुआ है। मुस्तफा क्षेत्र, जो पहले इस नगर का एक उपनगर था, आजकल नगर में सम्मिलित हो गया है।

पुराने समय में खैरुद्दीन ने पेनोन नामक छोटे टापू को मुख्य भूभाग से मिलाकर तुर्कों का बंदरगाह बनाया था और आज भी इस टापू पर नाविक-सेना-कार्यालय, दिशासूचक प्रकाशस्तंभ और विभिन्न तुर्की भवन दिखाई देते हैं। फ्रांसीसियों का उन्नत वर्तमान बंदरगाह इससे कुछ दूर पर बना है, जिसका स्थान फ्रांसीसी बंदरगाहों में महत्व की दृष्टि से केवल मारसेई के बाद पड़ता है। (वि० मु०)

अल्जीरिया उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका स्थित एक लोकतांत्रिक गणराज्य है। इसके उत्तर में भूमध्यसागर, दक्षिण में माली और नाइजर, पूर्व में ट्यूनिसिया और लिबिया इत्यादि गणराज्य तथा पश्चिम में मोरक्को, स्पैनिश सहारा एवं मौरिटेनिया हैं। भौगोलिक दृष्टि से संपूर्ण देश को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) उत्तरी और (२) दक्षिणी। उत्तरी अल्जीरिया में ऐटलस पर्वत की दो श्रेणियाँ समुद्र के समांतर फैली हुई हैं। उक्त पर्वतीय श्रेणियों तथा तटस्थित पर्वतीय टेल नामक क्षेत्र के बीच एक शुष्क पेटी है। उत्तरी भाग में देश की सबसे लंबी (४०५ मील) शेलिफ नदी के अतिरिक्त अनेक सोते, नाले और छोटी पहाड़ी नदियाँ हैं। दक्षिणी अल्जीरिया रेगिस्तानी, अतः उजाड़ है, किंतु इसका क्षेत्रफल उत्तरी भाग से आठ गुना बड़ा है। इस देश के विभिन्न भागों की भौगोलिक स्थितियाँ चूँकि परस्पर काफी भिन्न हैं, अतः इनकी जलवायु भी अलग अलग है। तटवर्ती क्षेत्र समशीतोष्ण रहता है तो धुर दक्षिण की ओर ऐटलस पहाड़ तक जाते जाते गर्मी और शीत की दृष्टि से जलवायु आत्यंतिक हो जाती है। इसके बाद और दक्षिण में सहारा मरुस्थल गर्म एवं शुष्क है। उत्तरी भागों में शीतकालीन वर्षा होती है जबकि गर्मी का मौसम उष्ण तथा आर्द्र रहता है। दक्षिणी भाग में गर्मियों के दौरान कुछ वर्षा होती है और कभी कभी जलता हुआ सिरक्को नामक गर्म तूफान भी चलता है।

अल्जीरिया का कुल क्षेत्रफल २३,८१,७४३ वर्ग कि० मी० है जिसमें से खेती केवल ६२,००० वर्ग कि० मी० भूमि में ही होती है। ६६,००० वर्ग कि० मी० में अंगूर के उद्यान हैं २,००० वर्ग कि० मी० में फलोद्यान तथा ३५,००० वर्ग कि० मी० में जंगल हैं। ३,८३,७५० वर्ग कि० मी० भूमि झाड़ झंखाड़वाली है। इस देश की कुल अनुमित जनसंख्या १,२१,०१,६६४ (१६६६) है जिसमें लगभग ८०,००० यूरोपीय भी सम्मिलित हैं। किंतु उक्त जनसंख्या में ५,००,००० प्रवासी अल्जीरियावालों को नहीं गिना गया है।

सन् १६६२ ई० तक अल्जीरिया, फ्रांस का एक उपनिवेश था। किंतु १६५४ ई० में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (फ्रंत द लिबरेशन नैशनेल) के नेतृत्व में विद्रोह प्रारंभ हुआ जिसे अंततः सफलता मिली और १६६२ ई० में इवियान समझौते के माध्यम से फ्रांस की सरकार ने अल्जीरिया में स्वशासन को स्वीकार कर लिया। उक्त समझौते में प्रावधान था कि फ्रांसीसी अड्डे अल्जीरिया में यथावत् बने रहेंगे तथा फ्रांसीसी सहायता भी पूर्ववत् मिलती रहेगी। १६६३ ई० की शरद् ऋतु में सीमा विवाद को लेकर मोरक्को तथा अल्जीरिया के बीच छिटपुट लड़ाई शुरू हुई किंतु अफ्रीकी एकता संघ के हस्तक्षेप से समझौता हो गया। जून, १६६५ में रक्तहीन क्रांति हुई और राष्ट्रपति अहमद बिन बिल्लाह को पदच्युत कर दिया गया।

कर्नल ओआरी बूमेदियन ने तत्काल क्रांतिकारी परिषद् के अध्यक्ष की हैसियत से देश का शासन सँभाल लिया। १६७०-७१ में अल्जीरिया और फ्रांस के बीच तेल के मसले को लेकर काफी तनाव पैदा हो गया था।

१६६३ ई० में स्वीकृत संविधान के अनुसार अल्जीरिया में एक दलीय सरकार का शासन है जिसमें राष्ट्रपति को असीमित अधिकार प्राप्त हैं। प्रमुख विधायिका राष्ट्रीय असेंबली है जिसका निर्वाचन वयस्क मतदान के आधार पर प्रति पाँचवें वर्ष कराने का प्रावधान है। किंतु वर्तमान राष्ट्रीय असेंबली, जिसका निर्वाचन सितंबर, १६६४ में हुआ था, अभी तक कार्य कर रही है। १६७० में नए निर्वाचन कराने की घोषणा की गई थी, पर अभी तक इस घोषणा पर अमल नहीं किया गया है।

अल्जीरिया का समुद्रतटीय भाग अत्यधिक उपजाऊ है जिसमें अधिकतर यूरोपीय लोगों तथा कुछ स्वशासित स्थानीय समितियों द्वारा वैज्ञानिक खेती की जाती है और पर्याप्त समृद्ध फसलें उगाई जाती हैं। मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, चुकंदर, मक्का, आलू तथा तंबाकू की होती हैं। अंजीर, अंगूर, अखरोट, जैतून आदि फल, कपास तथा खजूर भी बहुतायत से पैदा होते हैं। ऐल्फैल्फा नामक घास भी पर्याप्त मात्रा में उगती है। जंगलों में मुख्यतः चीड़, देवदार तथा बाँझ (ओक) के पेड़ होते हैं। घोड़े, खच्चर, गदहे, ऊँट, भेड़ें तथा बकरियाँ इस देश के पालतू जानवर हैं। मछलियों का व्यवसाय यहाँ काफी उन्नति पर है। १६६३ ई० में ५६८ नावें तथा ८,००० मछुए मछलियाँ पकड़ने के लिये नियुक्त किए गए थे और लगभग १७,००० टन मछलियाँ पकड़ी गई थीं। अल्जीरिया में लोहा, फासफेट, जस्ता, पारा, राँगा, कार्डलिन, संगमरमर तथा ऐंटीमनी आदि खनिज उपलब्ध हैं। नमक भी यहाँ काफी मिलता है। १६६६ में यहाँ २ अरब, ५५ करोड़, ६० लाख क्यूबिक मीटर प्राकृतिक गैस का उत्पादन हुआ था।

अल्जीरिया में सरकारी भाषा अरबी और व्यवहार की प्रमुख भाषा फ्रांसीसी है। किंतु केबिलस जाति के यहाँ के मूल निवासी बरबरस भाषा बोलते हैं, हालाँकि इसे लिखते समय ये भी अरबी लिपि का ही प्रयोग करते हैं। यहाँ की अधिकतम जनसंख्या इस्लाम धर्म की अनुयायी है। मैदानी इलाकों और घाटियों में अरब तथा पहाड़ी उजाड़ भागों में केबिलस (पिछड़ा वर्ग) जाति के लोग रहते हैं। १६४३ ई० से केबिलस लोगों को नागरिकता के सभी अधिकार प्राप्त हैं।

उत्तरी अल्जीरिया १३ विभागों में विभक्त है। इन विभागों को ७६ उपविभागों तथा ६३४ कम्यूनों में बाँट दिया गया है। सहारा के दो विभाग —सावोरा तथा ओयसिस—पाँच उपविभागों तथा ४७ कम्यूनों में विभक्त हैं। यहाँ का प्रमुख नगर तथा राजधानी अल्जीयर्स है जिसकी अनुमित जनसंख्या ६,४३,००० (१६६७) है। अन्य प्रमुख नगर ओरान (३,२५,०००) तथा सिदी-बेल-अब्बेस (१,०१,०००) हैं। सातवीं आठवीं शताब्दी में यहाँ अरबों (मूरों) की सभ्यता फैली। पश्चात् १८३० ई० तक यहाँ बारबरी जाति का आधिपत्य रहा। १८३० ई० में यहाँ फ्रांसीसियों का शासन हो गया था। (कै० च० श०)

अल्टाई क्षेत्र दक्षिणी मध्य साइबेरिया में रूसी प्रजातंत्र का एक प्रशासनिक क्षेत्र है। कुछ भाग पर्वतीय तथा शेष काली मिट्टी का उपजाऊ प्रदेश है। यहाँ गेहूँ, चुकंदर आदि की कृषि तथा दूध, मक्खन आदि उद्योग विकसित हैं। वनों से बहुमूल्य लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं। सीसा, जस्ता, टंग्स्टन तथा सोना आदि खनिज यहाँ पाए जाते हैं। यहाँ की राजधानी बरनउल है जहाँ कपड़े तथा खाद्य उद्योग के कारखाने हैं। रूब्ट्सोव्स्क में कृषि संबंधी यंत्र बनते हैं। (का० ना० सिं०)

अल्टाई पर्वत मध्य एशिया में रूस, चीन तथा मुख्यतः पश्चिमी मंगोलिया में स्थित पर्वतश्रेणियों का एक समूह है, जो इरतिश नदी

और जुगारियन तलहटी से लेकर उत्तर में साइबेरियन रेलवे और सयान पर्वतों तक फैला है। प्रधान अल्टाई पर्वत (एकताघ श्रेणियाँ) उत्तर मे कोब्डो द्रोणी (बेसिन) और दक्षिण मे हरतिश द्रोणी को पृथक् करता है। ९४° पू० दे० के पास इसकी दो निम्न समातरगामी, श्रेणियाँ पूर्व की ओर जाती हैं और वनो से आच्छादित है (६५००'-८१५०' वृक्षपक्ति), जबकि पश्चिमी श्रेणी हिमानी शिखरो से पूरित है। इन पर्वतो मे मुख्यत सीसा, जस्ता, चाँदी, थोडा लोहा, कोयला एव ताँबा पाया जाता है। अल्पाइन क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार के पेड़ पौधे तथा जीवजतु विद्यमान हैं।

(का० ना० सि०)

अल्डबरा द्वीप हिंद महासागर मे ९° ३०' दक्षिण अ०, ४६° ०' पू० दे० पर मैडागास्कर से २६५ मील उत्तर-पश्चिम तथा माहे (सेशल्स द्वीपसमूह) से ६६० मील दक्षिण पश्चिम पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल ६० वर्ग मील है। यहाँ उपजाऊ मिट्टी बहुत कम है, अधिकतर बालू ही है। वनस्पतियो मे घनी झाड़ियाँ, बबूल के वृक्ष, मजिष्ठाकुल (रुबियेसिई) और मधूककुल (सैपोटेसिई) मुख्य हैं। यहाँ के बृहत्काय स्थलीय कछुए जो लुप्त हो चले थे, अब सावधानी से पाले जाते हैं। इसके अतिरिक्त पेडुकी, घोघे और केंकड़े भी अधिक सख्या मे मिलते है। यहाँ बकरियाँ पाली जाती हैं तथा नारियल पैदा किया जाता है। मछली मारना यहाँ का प्रमुख उद्योग है। (न० ला०)

अल्पबुद्धिता अल्पबुद्धिता सबधी कानून ने यह परिभाषा दी है कि "अल्पबुद्धिता मस्तिष्क का वह अवरुद्ध अथवा अपूर्ण विकास है जो १८ वर्ष की आयु के पूर्व पाया जाय, चाहे वह जन्मजात कारणो से उत्पन्न हो चाहे रोग अथवा आघात (चोट) से", परतु वास्तविकता यह है कि अल्पबुद्धिता साधारण से कम मानसिक विकास और जन्म से ही अज्ञात कारणों द्वारा उत्पन्न सीमित बुद्धि का फल है। अन्य सब प्रकार की अल्पबुद्धिता को गौण मानसिक न्यूनता कहना चाहिए। बिनेट परीक्षण मे व्यक्ति की योग्यता देखी जाती है और अनुमान किया जाता है कि उतनी योग्यता कितने वर्ष के बच्चे मे होती है। इसको उस व्यक्ति की मानसिक आयु कहते है। उदाहरणत, यदि शरीर के अगो के स्वस्थ रहने पर भी कोई बालक अल्पबुद्धिता के कारण अपने हाथ से स्वच्छता से नही खा सकता, तो उसकी मानसिक आयु चार वर्ष मानी जा सकती है। यदि उस व्यक्ति की साधारण आयु १६ वर्ष है तो उसका बुद्धि गुणाक (इन्टेलिजेंस कोशेंट, स्टैनफोर्ड-बेनेट) ४/१६ × १००, अर्थात् २५, माना जायगा। इस गुणाक के आधार पर अल्पबुद्धिता को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है। यदि यह गुणाक २० से कम है तो व्यक्ति को मूढ़ (अंग्रेजी मे इडियट) कहा जाता है, २० और ५० के बीचवाले व्यक्ति को न्यूनबुद्धि (इबेसाइल) कहा जाता है और ५० तथा ७० के बीच दुर्बलबुद्धि (फीबुल माइंडेड), परतु यह वर्गीकरण अनियमित है, क्योंकि अल्पबुद्धिता अटूट रीति से उत्तरोत्तर बढती है। सामान्य बुद्धि, दुर्बल बुद्धि, इतनी मूढता कि डाक्टर उसका प्रमाणपत्र दे सके और उससे भी अधिक अल्पबुद्धिता के बीच भेद व्यक्ति के सामाजिक आचरण पर निर्भर है, कोई नही कह सकता कि मूर्खता का कहाँ अत होता है और मूढता का कहा आरभ। जिनका बुद्धि गुणाक ७० से ७५ के बीच पडता है उन्हे लोग मदबुद्धि कह देते है, परतु मदबुद्धिता भी उत्तरोत्तर कम होकर सामान्यबुद्धिता मे मिल जाती है। ऐसे भी उदाहरण मिलते है जिनमे केवल प्रयासशक्ति और आवेगशक्ति (कोनेटिव और इमोशनल फक्शस) के सबध मे बुद्धि कम रहती है।

भारत मे अल्पबुद्धिता संबंधी आँकडे उपलब्ध नहीं हैं। यूरोप मे सारी जनसख्या का लगभग दो प्रतिशत अल्पबुद्धि पाया जाता है, परतु यदि मदबुद्धि और पिछड़ी बुद्धिवालों को भी संमिलित कर लिया जाय तो अल्पबुद्धिवालो की सख्या कम से कम छह प्रतिशत होगी। सौभाग्य की बात है कि मूढ़ और न्यून बुद्धिवाले कम होते है (१/२ प्रतिशत से भी कम)। इनका अनुपात यों रहता है मूढ, १ न्यूनबुद्धि, ४: दुर्बलबुद्धि, २०।

अल्पबुद्धिता के कारणों का पता नही है। आनुवंशिकता (हेरेडिटी) तथा गर्भावस्था अथवा जन्म के समय अथवा पूर्वशैशवकाल मे रोग अथवा चोट सभव कारण समझे जाते हैं।

अल्पबुद्धिता जितनी ही अधिक रहती है उतना ही कम उसमें आनुवंशिकता का प्रभाव रहता है, केवल कुछ विशेष प्रकार की अल्पबुद्धिता, जो कभी कभी ही देखने मे आती है और जिसमे दृष्टि भी हीन हो जाती है, खानदानी होती है। सतान मे पहुँच जाने की सभावना, मूढ़ता अथवा न्यूनबुद्धिता की अपेक्षा, दुर्बलबुद्धिता मे अधिक रहती है। गर्भावस्था मे माता को जर्मन मीज़ल्स, नीरमयी छोटी माता (चिकन पॉक्स), वायरस के कारण मस्तिष्कार्ति (वायरस एनसेफैलाइटिज़) इत्यादि होना और माता पिता के रुधिरो मे परस्पर विषमता (इनकॉम्पैटिबिलिटी), माता पिता मे उपदश (सिफलिस) और जन्म के समय चोट अथवा अन्य क्षति महत्वपूर्ण कारण समझे जाते हैं। जन्म के समय की क्षतियो मे बच्चे मे रक्त की कमी मे विवर्णता (पैलर), जमुआ (तीव्र श्वासरोध, इतना गला घुट जाना कि शरीर नीला पड़ जाय, ब्लू अरिफ़क्सिया), दुग्ध पीने की शक्ति न रहना अथवा जन्म के बाद आक्षेप (छटपटाने के साथ बेहोशी का दौरा) हैं।

बाल्यावस्था के आरभ मे मस्तिष्क मे पानी बढ जाने (जलशीर्ष, हाइड्रोसेफलस) और मस्तिष्कार्ति (मस्तिष्क का प्रदाह, एनसेफैलाइटिज़) से मस्तिष्क बहुत कुछ खराब हो जाता है और इस प्रकार गौण अल्पबुद्धिता उत्पन्न होती है। खोपडी की हड्डी मे कुछ प्रकार की त्रुटियो से भी, जिनके कारण खोपडी बढने नही पाती, मानसिक त्रुटियाँ उत्पन्न होती हैं। ये रोग मस्तिष्क को वास्तविक भौतिक क्षति पहुँचाते है और इस क्षति के कारण विविध अगो मे भी विकृति उत्पन्न हो सकती है।

अल्पबुद्धि बच्चों मे विकास के साधारण पद, जैसे बैठना, खडा होना, चलना, बोलना, स्वच्छता (विशेषकर मूत्र को वश मे रखना), देर से विकसित होते हैं। एक वर्ष की आयु के पहले इन सब त्रुटियो का पता पाना कठिन होता है, परतु चतुर माताएँ, विशेषकर वे जो इसके पहले स्वस्थ बच्चे पाल चुकी है, कुछ त्रुटियो को शीघ्र भाँप लेती हैं, जैसे दूध पीने मे विभिन्नता, न रोना और बच्चे का माता के प्रति न्यून आकर्षण, बच्चे का बहुत शात और चुप रहना इत्यादि।

साधारणत, मूढ सामान्य भौतिक विपत्तियों से, जैसे आग से या सडक पर गाडी से, अपने को नही बचा सकता। मूढो को अपने हाथ खाना या अपने को स्वच्छ रखना नहीं सिखाया जा सकता। उनमें से कुछ अपने साथियो को पहचान सकते है और अपनी सरल आवश्यकताएँ बता सकते हैं, वस्तुत वे पशुओ से भी कम बुद्धिवाले होते है। जो कुछ वे पाते है उसे मुँह मे डाल लेते है, जैसे मिट्टी, घास, कपडा, चमडा; कुछ मूढ अपना सिर हिलाते रहते है या झूमते रहते है।

न्यून बुद्धिवालो की भी देखभाल दूसरो को करनी पडती है और उनको खिलाना पडता है। वे जीविकोपार्जन नही कर सकते। सरलतम बातो को छोडकर अन्य बाते स्मरण रखने या गुण ढग सीखने मे वे असमर्थ होते है। परतु यह सभव है कि वे स्वयचालित यत्र की तरह, बिना समझे, सिखाया गया कार्य करते रहे। कभी कभी वे कुछ दिनाक या घटनाएँ भी स्मरण रख सकते है, परतु जो कुछ भी वे किसी न किसी प्रकार सीख लेते है उसका वे यथोचित उपयोग नहीं कर पाते। न्यूनबुद्धिवालो का व्यक्तित्व विविध होता है, कुछ तो दयावान और आज्ञाकारी होते हैं, दूसरे क्रूर, धोखेबाज और कुनही (बदला लेनेवाले)। इनमे भी अधिक अल्पबुद्धितावाले बहुधा जिद्दी, शीघ्र धोखा खानेवाले और खुशामदपसद होते है। वे शीघ्र ही समाजद्रोही मार्गों मे उतर पडते है, जैसे वेश्यावृत्ति, चोरी, डकैती और भारी अपराध। वे बिना अपराध की महत्ता को समझे हत्या तक कर सकते है।

दुर्बल बुद्धिवाले, जिन्हे अंग्रेज़ी मे मोरन भी कहते है, विशेष शिक्षा से इतना सीख सकते है कि यत्रवत् श्रम द्वारा वे अपना जीविकोपार्जन कर सकें। ऐसे व्यक्तियो को जीविकोपार्जन के लिये अवश्य उत्साहित करना चाहिए। खेती, बरतन आदि माँजने की नौकरी और मजदूरी आदि का काम वे कर सकते है। प्रयोगशाला मे काँच के बरतन धोना और मेज साफ करना भी कुछ ऐसे व्यक्ति सँभाल लेते है।

पाठशाला जाने की आयु के पहले, दुर्बल बुद्धिवाले बच्चो मे अन्य बच्चो की तरह जिज्ञासा नहीं होती। अपने मन से काम करने की शक्ति

भी उनमे नही होती और न उनमे खेल कूद आदि के प्रति रुचि होती है, वे बड़े शात और निष्क्रिय रहते हैं। उनकी स्मरणशक्ति पर्याप्त अच्छी हो सकती है। बहुधा वे देर मे बोलना आरभ करते है, बोली साफ नही होती और व्यजना भी अच्छी नही होती। ऐसे बच्चो को विशेष पाठशालाओ मे शिक्षा दी जाय तो अच्छा है। उनकी कामप्रवृत्ति (सेक्स इस्टिक्ट) न्यूनविकसित होती है, परतु स्त्रियो मे दुर्बलबुद्धिवालिया का वेश्यावृत्ति अपनाना असाधारण नही है। दुर्बलबुद्धिवाली माता निर्दय होती है, बच्चो की ठीक देखभाल नही करती और गृहस्थी भी ठीक से नही चलाती, जिससे गार्हस्थ्य जीवन दुखमय हो जाता है। बहुधा दुर्बल बुद्धिवाले लडके अपना अलग समूह बनाकर चोरी करते है या आवेशयुक्त अपराध करते है, उदाहरणत:, यदि मालिक के प्रति क्रोध है तो उसके घर मे आग लगा सकते है। पैसे के प्रलोभन से हत्या इत्यादि अपराधो के लिये उन्हे सुगमता से राजी किया जा सकता है, परतु वे योजना नही बना पाते और बहुधा पकड लिए जाते है, क्योकि वे बचने की चेष्टा ही नही करते। ये लोग बिना यह समझे कि परिणाम क्या होगा, अपराध कर बैठते है।

ऐसे भी लोग है जो पाठशाला मे मदबुद्धि समझे जाते थे, परतु पीछे अपने ही प्रयत्न से ऊँची स्थितियो मे पहुँचे है।

कुछ विशेष प्रकार की अल्पबुद्धिताएँ भी है जिनमे मानसिक त्रुटियो के साथ शारीरिक विकृति भी रहती है, जैसे मौद्गल्याभ मूढता (मॉङ्गोलॉयड इडिओसी, जिसमे आर्यवश के लोगो का चेहरा विकृत होकर मगोल लोगो की तरह हो जाता है), क्रेटिनिज्म (एक रोग जिसमे बचपन से ही शारीरिक वृद्धि रुक जाती है और विकृति, घेघा, थायरायड-हीनता, खुरखुरी कडी त्वचा और मूढता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है, यह बहुधा थायरायड रस के कारण उत्पन्न होता है), कदाकारता (गॉरगॉयलिज्म) इत्यादि।

अल्पबुद्धिवाले बच्चो की देखभाल साधारण पाठशालाएँ नही कर सकती और उनमे ऐसे बच्चो को भरती करना और उनको किसी न किसी प्रकार पास कराने की चेष्टा करना भूल है। सयुक्त राज्य (अमरीका) आदि कतिपय देशो मे अल्पबुद्धि और दुर्बलबुद्धि बच्चो की पृथक् बस्तियाँ होती है जहाँ उनकी विशेष देखभाल की जाती है और इस उद्देश्य से विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है कि जहाँ तक हो सके, उनका विकास कर दिया जाय। इन अभागे बच्चो की सामाजिक समस्याओ का और परिवार के लोगो को छुटकारा देने का यही सबसे अच्छा हल है।

(नि० गु०)

अल्पाका दक्षिण अमरीका के ऐडीज पर्वतो के उच्च अचलो मे (१६,०००-१६,००० फुट पर) पाए जानेवाले दो जाति के चतुष्पद जानवर है। इनका वैज्ञानिक नाम "लामा ह्यूआनाको", जाति "पाको" है। इनको गणना ऊँट की श्रेणी मे की जाती है, क्योकि इनमे ऊँट जैसा

अल्पाका

यह ऊँट की श्रेणी का पशु है, इसके बाल घने और लबे होते है। बाई ओर यह बाल सहित तथा दाहिनी ओर बाल काटने पर दिखाया गया है।

जल आमाशय (वाटर स्टमक) पाया जाता है। परतु कूबड नही होता। अल्पका देखने मे भेड़ से मिलता जुलता है। इसका सर लबा और गरदन आकाश की ओर उठी रहती है। शरीर घने बालो से ढका रहता है जो इसे वहाँ के अत्यधिक शीत मे बचाता है। इन देशो के निवासी इसे भेड की भाँति मुख्यत ऊन के लिये पालते हैं। इसका मास भी स्वादिष्ट होता है। इसके बाल चमकदार, लचीले, हल्के और अधिक गर्मी पहुँचानेवाले होते है। अल्पाका के शरीर से पाए जानेवाले ऊन की मात्रा भी पर्याप्त होती है।

अल्पाका के ऊन की पूरी लबाई लगभग १२ इच तक होती है, जिसमे से केवल आठ इच वार्षिक कटाव मे काटा जाता है। ऊन का प्राकृतिक रग मुख्यत काला, घना, धूसर या हल्के रग का होता है। काटने के बाद रग तथा गुण के अनुसार इसकी छँटाई होती है, जिसे इन देशो की औरते बडी चतुरता से सपन्न करती है। इसके मुलायम और बारीक रेशे बडी आसानी से बुने जा सकते है। पहले पहल अल्पाका कोट बनाने के काम मे लाया जाता था, परतु अब इसका उपयोग अधिकतर अस्तर के रूप मे होता है।

दक्षिण अमरीका के लामा, गोयेनाको और विक्युना नामक ऊनवाले अन्य तीन पशु अल्पाका की ही जाति मे परिगणित होते है। इनमे से अल्पाका और विक्युना का ऊन सबसे मूल्यवान् माना जाता है। विक्युना अल्पाका से बडा एक जगली जतु है। लामा और अल्पाका दोनो पालतू जानवर है।

पहले अल्पाका के ऊन को मशीन मे बुनने मे बडी कठिनाई पडी, क्योकि अल्पाका का ऊन बहुत कुछ बाल की तरह होता है, परतु शीघ्र ही पूरी सफलता मिल गई। अल्पाका अब एक जाति के ऊनी वस्त्र को कहते है जिसमे विशेष चमक रहती है, चाहे उसका ऊन अल्पाका नामक पशु से मिला हो, चाहे अन्य पशुओ से। (वि० मु०)

अलफियेरी वित्तोरियो काउट (१७४६-१८०३)—इटली का प्रसिद्ध दुखात नाटककार, जिसका जन्म पीदमोत प्रात के अस्ती नगर मे हुआ था। उसे १४ वर्ष की अवस्था मे ही पिता और चाचा की अनत सपत्ति विरासत मे मिली। सात वर्ष तक वह पर्यटक के रूप मे यूरोप के विविध देशो मे भ्रमण करता रहा जिसका वृत्तात उसने अपनी आत्मकथा मे अकित किया है। यद्यपि उसका भ्रमण उसकी विलासिता से विकृत था, उसने उसे प्रभावित भी प्रभूत किया और इग्लैड की राजनीतिक स्वतत्रता तथा फ्रास के साहित्य का लाभ उसने भरपूर उठाया। वे ही दोनो उसके जीवन के आदर्श बन गए। वाल्तेयर, रूसो और मांतेस्क का अध्ययन उसने गहरा किया, फलत राजनीतिक अत्याचार का वह शत्रु बन गया।

अल्फियेरी के नाटको मे प्रधान 'साउल' है। स्वाभाविक ही अपनी आदर्श चेतना के अनुसार अपना एक दुखात नाटक 'मारिया स्तुआरदा', लिखकर उसने अपनी प्रिय चहेती काउटेस को समर्पित किया जिसके साथ रहकर उसने अपना शेष जीवन बिता दिया। उसके पिछले नाटको मे प्रधान 'मिर्रा' था जिसे अनेक समालोचको ने 'साउल' से भी सुदर माना है।

अल्फियेरी अमरीकी और फ्रासीसी दोनो राज्यक्रातियो का समकालीन था और दोनो पर उसने सुदर कविताए लिखी। फ्रासीसी राज्यक्राति के समय वह पेरिस मे ही था। वहाँ के रक्तपात से घबडाकर वह काउटेस के साथ अपनी सपत्ति छोड फ्रास से भाग निकला। उसे आँखो देखी मारकाट से जो घृणा हुई तो उसने उसके विरुद्ध 'मिसोगालो' नाम के अपने गद्यसग्रह मे कुछ बडे सशक्त निबध प्रकाशित किए और इस प्रकार उसने न केवल राजाओ और महतो के विरुद्ध, बल्कि राज्यक्राति के अत्याचार के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई।

इन निबधो के अतिरिक्त उसका यश उसकी कविताओ, प्रधानत उसके १६ नाटको पर अवलबित है। १६वी सदी के आरभ मे उसकी रचनाओ के सग्रह २२ खडो मे फ्लोरेस मे प्रकाशित हुए। उसी नगर मे उसका देहात भी हुआ। (ओ० ना० उ०)

अल्फ्रेड (ल० ८४८-६०० ई०) प्राचीन इग्लैड के राजाओ मे अपने पराक्रम और तप के कारण यह राजा 'महान्' की उपाधि से विभू-

षित हुआ है। उस काल के इंग्लैंड के राजाओं का डेनों से महान् संघर्ष हुआ। डेनों के दल के दल सागर पार से द्वीप में उतर आते और उसे लूट खसोटकर स्वदेश लौट जाते। उनकी मार से इग्लैंड जर्जर हो उठा और उसके राजाओं को बार बार पराजय का शिकार होना पडा। उन्हीं के प्रतिकार में अल्फ्रेड ने जीवन भर संघर्ष किया और अनेक बार तो उसकी स्थिति सामान्य भगोडे जैसी हो गई। देश की रोमाचक ऐतिहासिक लोकस्मृतियों में अल्फ्रेड की कहानी बडी प्रिय हो गई है और उसकी जनप्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके संबंध में सच झूठ दोनों प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गई हैं। एक का तो यहाँ तक कहना है कि अल्फ्रेड को एक बार डेनों से हारकर गडेरिए के घर में शरण लेनी पड़ी थी जहाँ गडेरिए की पत्नी ने उसे अनजाने कडी कडी बातें कही थीं। राणा प्रताप सा वीर जीवन बितानेवाले अल्फ्रेड का चरित सचमुच इतिहास की प्रिय कथा बन गया है।

अल्फ्रेड का जन्म वाटेज में हुआ। वह राजा ईथेल वुल्फ का पाँचवाँ बेटा था। उसके पिता के मरने पर उसके दो बडे भाइयों, ईथेल बाल्ट और ईथेल बर्ट ने बारी बारी से राज किया। फिर उनसे छोटा भाई इग्लैंड की गद्दी पर बैठा और तभी से अल्फ्रेड राजनीति के क्षेत्र में उतरा। ६६८ ई० में दोनों भाइयों ने पहली बार मरसिया में डेनों का सामना किया, पर उन्हें वे जीत न सके। दो साल बाद डेनों के विरुद्ध संघर्ष और घना हो गया और ८७१ में अल्फ्रेड ने उनसे नौ नौ लडाइयाँ लड़ीं। हार और जीत का जैसे ताँता बँध गया और इन्हीं के बीच जब बडा भाई ईथेल रेड मरा तब अल्फ्रेड इग्लैंड की गद्दी पर बैठा। अभी वह भाई की लाश दफनाने में ही लगा था कि उसे उनसे फिर लडना पडा। पर जो संधि हुई उसके अनुसार अल्फ्रेड को दम लेने के लिये करीब पाँच साल मिल गए। डेन इंग्लैंड के अन्य भागों में तब व्यस्त थे और ८७६ ई० में वे फिर उनकी ओर लौटे। उन्होंने एग्जीटर छीन लिया, पर शीघ्र ही अल्फ्रेड की चोट और अपना जहाजी बेडा तूफान में उड जाने के कारण उन्हें हारकर मरसिया लौटना पडा। अगले साल डेन फिर लौटे और अल्फ्रेड को गिने चुने आदमियों के साथ जंगल और दलदल लाँघ अथेलनी में शरण लेनी पडी। इसी शरण की कहानी गडेरिए की किंवदंती से संबंध रखती है। राजा गाँव में वहाँ छिपा जरूर था, पर वस्तुत वह वहाँ अपनी जीत की तैयारी कर रहा था।

८७८ ई० की मई में वह अपने आश्रय से बाहर निकला और राह में मिलती जाती सेनाओं के साथ डेनों से लोहा लेने चला। विल्टशायर के एडिंग्टन नगर के पास दोनों की मुठभेड हुई और अल्फ्रेड पूर्ण विजयी हुआ। डेनों के राजा गुथ्रम ने आत्मसमर्पण कर ईसाई धर्म स्वीकार किया। अगले साल वेसेक्स और मरसिया से वेडमोर की सुलह के मुताबिक डेन सेनाएँ बाहर निकल गई, यद्यपि लंदन और इग्लैंड के उत्तर पूर्वी भाग अब भी उन्हीं के कब्जे में बने रहे। कुछ साल शांति रही, पर ८८५ में जो संघर्ष हुआ उससे लंदन भी अल्फ्रेड के हाथ आ गया। उसके बाद डेनों के जो दल आए उनके साथ उनके बीबी बच्चे भी थे जिससे प्रकट हो गया कि इस बार वे जमकर इग्लैंड जीतने आए हैं। डेनों की देशी और विदेशी फौजें मिलकर इग्लैंड जीतने का प्रयास करने लगीं। पहले फार्नहम में उनकी हार हुई फिर घने मोर्चे के बाद एग्जीटर में। लडाई पर लडाई होती गई, पर अल्फ्रेड ने न स्वयं दम लिया, न डेनों को लेने दिया। अंत में मजबूर होकर उन्होंने लडाई से हाथ खींच लिया। कुछ इग्लैंड में बस गए, कुछ सागर पार उतर गए।

अल्फ्रेड ने डेनों की शक्ति तोड देने के बाद देश के शांतिमय शासन में चित्त लगाया। राज्य को सुशासन के लिये उसने अनेक 'शायरों', 'हड्रेडों', 'बुर्गों' में बाँटा और वहाँ न्याय की प्रतिष्ठा की। स्थल और नौसेनाओं को भी उसने बढाया और किलों को मजबूत किया, उनमें लक्षक सेनाएँ रखीं। अल्फ्रेड का नाम जिस आदर से देशसेवा के संबंध में लिया जाता है उसी आदर से उसके पांडित्य का उल्लेख भी इतिहास में होता है। उसने अनेक ग्रंथों का लातीनी से स्वयं अंग्रेजी में अनुवाद किया। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक बीड उसका समकालीन था और उसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'एक्लेसियस्टिकल हिस्ट्री ऑव दी इंग्लिश पीपुल' भी अल्फ्रेड का ही अनुवाद माना जाता है, यद्यपि इधर कुछ दिनों से कुछ लोगों को इसमें संदेह होने लगा है। (ओ० ना० उ०)

अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी १९वीं शती के पूर्वार्ध तक कलकत्ता के व्यवसायी और उच्चाधिकारी वर्ग में नाटक और रंगमंच प्राय अंग्रेजों द्वारा प्रश्रय पाता रहा और समाज के विशिष्ट वर्ग का ही मनोरंजन करता रहा। सर्वप्रथम बंबई के कुछ पारसी व्यवसायियों ने यह अनुभव किया कि धन और यश कमाने का यह भी एक बहुत अच्छा साधन है। कला की बात उनके सामने विशेष नहीं थी, जनसाधारण का येनकेनप्रकारेण, संभव असंभव दृश्य दिखलाकर और प्राय अनुदात्त भावनाएँ जगाकर मनोरंजन करना उनका उद्देश्य था। ये कंपनियाँ देश भर का दौरा करती थी और सिनेमा का प्रचलन न होने के कारण इनके प्रदर्शनों में जनता खूब रस लेती थी। रंगमंच और अभिनय को निश्चित कला के रूप में ग्रहण करने का आंदोलन बहुत बाद में चला।

पारसी व्यवसायियों ने सन् १८०० ई० में ही इस ओर पहल की और सन् १८७१ ई० में बंबई में कावस जी पालन जी खटाऊ, माणिक जी जीवन जी मास्टर तथा मुहम्मद अली की भागीदारी में अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी की स्थापना हुई। बाद में जीवन जी मास्टर और मुहम्मद अली ने अपनी अलग 'न्यू अल्फ्रेड' कंपनी बनाई। मूल अल्फ्रेड के निर्देशक थे श्री अमृत केशव नायक जिनके निर्देशनकौशल तथा भाषा (हिंदी) ज्ञान के कायल तत्कालीन प्रसिद्ध नाटककार आगा हश्र कश्मीरी भी थे। श्री नायक ने वाराणसीस्थ नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मंडली को भी भारतेंदु के नाटकों के निर्देशन में सहयोग दिया था। बंबई में अल्फ्रेड कंपनी ने अपने नाटकों के प्रदर्शन के लिये स्थायी रंगभवन का भी निर्माण कराया था।

कलकत्ता के मदन थियेटर्स ने बाद में अल्फ्रेड कंपनी को खरीद लिया था और १९२७ से १९३२ की अवधि में इस कंपनी ने आगा हश्र लिखित 'आँख का नशा', 'दिल की प्यास' और नारायणप्रसाद 'बेताब' के 'कृष्ण सुदामा' नाटकों का अत्यंत सफल प्रदर्शन किया। अल्फ्रेड कंपनी का भारत के व्यावसायिक रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। (स०)

अल्बम प्राचीन रोम में इस शब्द का प्रयोग लकडी के एक तख्ते के लिये होता था जिसपर सफेद खडिया से लेप लगाकर काले अक्षरों में जनसूचनाएँ लिख दी जाती थीं। मजिस्ट्रेटों की वार्षिक घोषणाएँ, सिनेटरों और न्यायालय के अधिकारियों आदि की नामसूचियाँ भी इसी प्रकार प्रकाशित की जाती थीं। परंतु आजकल 'अल्बम' शब्द का व्यवहार एक दूसरे अर्थ में होता है, उन जिल्दों के अर्थ में जिनमें मोटी दफ्तियों के बीच मोटे सादे कागज बँधे रहते हैं, जिनपर चित्र चिपका दिए जाते हैं, अथवा संभ्रात या महान् व्यक्तियों के हस्ताक्षर लिए जाते हैं।

(ओ० ना० उ०)

अल्बर्ट झील अफ्रीका महादेश के युगांडा राज्य में अ० १° ९' से २° १७' द० तथा दे० ३०° ३०' से ३१° ३५' पू० तक विस्तृत एक बृहत् जलाशय है। यूरोपियनों को इसका पता सन् १८६४ में चला। इसका क्षेत्रफल १,६४० वर्ग मील है, अधिकतम लंबाई १०० मील, चौडाई २२ मील तथा गहराई ५५ फुट है। इसकी सतह की औसत ऊँचाई समुद्रतल से २,०३० फुट है जो ऋतु के अनुसार बदलती रहती है। पैलेस्टाइन की जार्डन नदी की घाटी से लेकर लालसागर होती हुई अबिसीनिया के भीतर से केनिया कालोनी तक विस्तृत एक विशाल निम्न उपत्यका है (ग्रेट रिफ्ट वैली) और अल्बर्ट झील युगांडा राज्य की इसी उपत्यका के पश्चिमी भाग के उत्तरी सिरे पर स्थित है। इसके आसपास कई गर्म सोते पाए जाते है। किबीरो के पास लवणमय जल का भी एक सोता है जिससे नमक एकत्र करना यहाँ का एक प्रमुख व्यवसाय है।

अल्बर्ट झील के पूर्वी तथा पश्चिमी किनारे पर स्थित निम्न उपत्यका की पहाड़ी सीधी खडी है तथा इसका पाददेश झील की सतह को स्थान स्थान पर छूता है। झील का सँकरा उपकूल कई स्थानों पर घने जंगलों से आवृत है और चारों ओर पठार पर कहीं सँकरी, कहीं चौडी सीढियाँ धीरे धीरे ऊपर तक चली गई हैं। पूर्वी किनारे की पहाड़ियाँ लगभग

१,००० से २,००० फुट तक ऊँची हैं और पश्चिम तट की पहाड़ियों में कई नुकीली चोटियाँ हैं जिनमें से अनेक ८,००० फुट तक ऊँची हैं। इन दोनों किनारों में स्थान स्थान पर गहरी खाइयाँ दिखाई पड़ती हैं। इन खाइयों पर से तथा पठारों के किनारों से बहनेवाली नदियों में कई सुंदर जलप्रपात हैं जो इस झील के सौंदर्य को और बढ़ा देते हैं। झील के दक्षिण में सेमलिकी नदी की प्रशस्त घाटी है और एडवर्ड झील का पानी इस नदी द्वारा अल्बर्ट झील में आकर गिरता है। पानी के अतिरिक्त सेमलिकी नदी द्वारा प्रचुर जलोढक (तलछट) भी अल्बर्ट में आ पहुँचता है। झील के उत्तर में पूर्वी किनारे पर विक्टोरिया नाइल नदी आकर इसमें मिलती है जो झील के समांतर दक्षिण दिशा से बहती हुई आती है। उत्तर में अल्बर्ट झील सँकरी होती गई है और आगे चलकर एक संकीर्ण पहाड़ी के बीच से बहर-अल-जाबेल नामक एक छोटी नदी के रूप में निकली है।

अल्बर्ट झील धीरे धीरे छोटी होती जा रही है। यह अनुमान किया जाता है कि इसकी पुरानी सतह से वर्तमान सतह लगभग १,००० फुट नीचे है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि भूचाल अथवा अपक्षरण के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। (वि० मु०)

अल्बर्ट प्रथम (१८७५-१९३४), बेल्जियम का राजा। संसार का भ्रमण कर अल्बर्ट १९०९ ई० में बेल्जियम की राजगद्दी पर बैठा। उसने अध्ययन विदेशों में जा जाकर किया था, और साहित्य तथा कला को अपनी संरक्षा दी। अनेक साहित्यकार और कलावंत उसके मित्र थे। सन् १९१४ के महायुद्ध में उसने सालों जर्मनी से मोर्चा लिया। बाद, विध्वस्त बेल्जियम के पुनर्निर्माण में वह दत्तचित्त हुआ। नमूर में चट्टान से गिर जाने से उसकी आकस्मिक मृत्यु हुई। (ओ० ना० उ०)

अल्बर्टा कैनाडा राज्य का एक प्रांत है जो ४९° उ० से ६०° उ० अ० तथा ११०° प० से १२०° प० दे० रेखाओं के बीच स्थित है। इसके दक्षिण में संयुक्त राज्य अमरीका, पूर्व में ससकेचवान, उत्तर में उत्तर पश्चिम प्रदेश तथा पश्चिम में राकी पर्वत है। इसके मुख्य तीन प्राकृतिक भाग किए जा सकते हैं : दक्षिण पश्चिम में राकी पर्वतीय प्रदेश, उत्तर पूर्व में अथबस्का झील के निकट 'लारेंशियन शील्ड' नामक एक छोटा पठारी क्षेत्र तथा तीसरा, मध्य का बड़ा मैदान। यहाँ पर राकी पर्वत ८,००० से ९,००० फुट तक ऊँचा है। अल्बर्टा का अधिकतर भूभाग चीड़ आदि कोणधारी वृक्षों के वनों से भरा पड़ा है। अधिकतर आबादी दक्षिण के प्रेयरीज क्षेत्र में पाई जाती है। मुख्य नदियाँ ससकेचवान, अथबस्का, मिल्क तथा पीस हैं। जाड़े में ठढक (औसत ताप १५° फा०) तथा गर्मी में पर्याप्त गर्मी (८०° फा०) पड़ती है। वर्ष भर में लगभग २० इंच वर्षा होती है।

इस प्रांत में २,४८,८०० वर्ग मील भूमि तथा ६,४८५ वर्ग मील जल है। भूक्षेत्रफल में ८५,५६० वर्ग मील कृषि योग्य तथा ५१,०८० वर्ग मील वनप्रदेश है जिसे काटकर कृषि की जा सकती है। कैनाडा का ६७ प्रतिशत पेट्रोल यहाँ पर मिलता है। यहाँ जलशक्ति से लगभग १०,६६,-५०० अश्वसामर्थ्य चौबीसों घंटे प्राप्त हो सकती है। झीलों तथा नदियों में मछली मारने का काम होता है। कृषि यहाँ का मुख्य उद्यम है। शुष्क क्षेत्रों में सिंचाई के साधन भी उपलब्ध हैं। जौ, गेहूँ, जई, मटर तथा चुकंदर मुख्य उपज हैं। यहाँ पर पशुपालन भी होता है। १९७० की पशुगणना के अनुसार यहाँ पर घोड़े ८०,०००, गाएँ १,६८,०००, अन्य पशु ३३,३७,०००, भेड़ें २,६७,०००, सूअर १६,००,००० तथा मुर्गियाँ इत्यादि १,१२,२०,००० हैं।

परिवहन (यातायात) के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। १९७० में रेलमार्ग की पूरी लंबाई ६,०८१ मील थी। कैनेडियन पैसिफिक रेलवे यहाँ का प्रथम रेलमार्ग है जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। कालगरी इसका मुख्य जंकशन है। ग्रैंड ट्रंक पैसिफिक (अब कैनेडियन नैशनल) का बनना १९०३ में प्रारंभ और १९१५ में पूरा हुआ। यह दक्षिणी ससकेचवान के उर्वरा मैदान में होकर जाता है। तीसरा, एक छोटा रेलमार्ग क्राउन नेस्ट से होता हुआ राकी क्षेत्र में जाता है। जलमार्ग, वायुमार्ग तथा सड़कों का विस्तार भी यहाँ यथेष्ट है जिनकी कुल लंबाई ८५,८१४ मील है। जनसख्या १६,००,००० (१९७०) है, जिसमें ४,६२,००० व्यक्ति गाँवों में तथा ११,३१,००० व्यक्ति नगरों में रहते हैं। यहाँ के प्रमुख नगर एडमांटन (४,२२,४१८), कालगरी (३,८५,४३६), लेथब्रिज (३९,५२२) तथा मेडिसिनहट (२५,७१३) हैं (जनसख्या १९७० के अनुसार)। (न० ला०)

अल्बानी संयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयार्क प्रांत की राजधानी तथा बंदरगाह है, जो न्यूयार्क नगर से १४५ मील उत्तर हडसन नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९.६ वर्ग मील तथा जनसख्या १,२२,६७० (१९६८) है। न्यूयार्क सेंट्रल, डेलावेर तथा हडसन, वेस्टशोर तथा बोस्टन और अल्बानी रेलवे लाइनें यहाँ से होकर जाती हैं। यहाँ पर एक राजकीय संग्रहालय तथा सन् १८१८ में स्थापित एक राजकीय पुस्तकालय है जिसमें ६,३०,००० पुस्तकें हैं। न्यूयार्क स्टेट नैशनल बैंक की इमारत संभवत अमरीका का सबसे पुराना भवन है जिसमें प्रारंभ से ही बैंक का कार्य होता रहा है। यहाँ २० प्रमदवन (पार्क) हैं जिनमें वाशिंगटन तथा लिंकन सबसे बड़े हैं। यहाँ नगरपालिका, हवाई अड्डा और एक व्यस्त बंदरगाह है। विभिन्न उद्योग धंधे भी यहाँ होते हैं जिनमें रासायनिक पदार्थ, वस्त्र, कागज, स्टोव तथा पिन इत्यादि बनाना मुख्य है। अल्बानी प्रमुख शिक्षाकेंद्र है। यहाँ पर विभिन्न स्कूल, कालेज तथा व्यावसायिक संस्थाएँ हैं जिनमें नैशनल विश्वविद्यालय, अल्बानी फारमेसी कालेज (स्थापित १८८१), अल्बानी लॉ स्कूल (स्थापित १८५१) तथा अल्बानी मेडिकल स्कूल (स्थापित १८३९) प्रमुख हैं। यहाँ से दो दैनिक पत्र निकलते हैं निकरबोकर न्यूज सन् १८४७ से और टाइम्स यूनियन सन् १८५३ से। रेलमार्ग, जलमार्ग तथा सड़कों का जाल बिछा होने के कारण अल्बानी एक प्रमुख माल-वितरण-केंद्र बन गया है। (न० ला०)

अल्बुकर्क न्यू मेक्सिको (संयुक्त राज्य, अमरीका) का सबसे बड़ा नगर है, जो समुद्रतल से १९६ फुट की ऊँचाई पर रिओग्रांडे नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित है। इसकी स्थापना १७०६ ई० में प्रांत के गवर्नर डॉन फ्रांसिस्को कुअरवो वाइ वाल्डेस द्वारा हुई। यहाँ पर अनेक क्षयचिकित्सालय हैं। पशुपालन तथा काष्ठउद्योग मुख्य धंधे हैं। लकड़ी, लोहे तथा मशीन की दूकानें, ऊन, रेलवे तथा कृषि संबंधी सामान बनाने के कई कारखाने हैं। यहाँ पर न्यू मेक्सिको का विश्वविद्यालय १८९२ ई० में स्थापित हुआ। जनसख्या २,४३,७५१ (१९७०) है। (न० ला०)

अल्बुला स्विट्जरलैंड के ग्रिसन नामक पहाड़ी भाग का एक प्रसिद्ध गिरिपथ है। उत्तर से एनगाडाइन नदी के उत्तरी भाग में पहुँचने के लिये यही मुख्य मार्ग है। इसके उच्चतम भाग की ऊँचाई समुद्रतल से ७,५९५ फुट है। इस कारण पहले ७,५०४ फुट पर स्थित जूलियर गिरिपथ अधिक सुगम तथा सरल पड़ता था और उसका महत्व बहुत दिनों तक अल्बुला गिरिपथ से अधिक था। १३वीं शताब्दी से ही अल्बुला गिरिपथ चालू हो गया था, परंतु १८६५ ई० में इसमें घोड़ागाड़ी जाने के लिये रास्ता बनाया गया और १९०३ में इसमें रेलमार्ग बना। तब इसका महत्व कई गुना बढ़ गया। इस गिरिपथ द्वारा राईन तथा हिंटर राईन उपत्यकाओं की सबसे सीधी सड़क बन गई है।

अल्बुला गिरिपथ के भीतर से जानेवाला रेलपथ कोयर नगर से रोचिनाऊ नगर तक राइन नदी के साथ साथ चलता है और फिर हिंटर राइन से होते हुए थूसिस तक पहुँचता है। इसके बाद शिन खड्ड के अंदर यह अल्बुला नामक पहाड़ी नदी को काटता हुआ टिफेन कास्टेल तक आता है। इस जगह से दक्षिण की ओर जूलियर पथ को छोड़कर अल्बुला नदी के साथ चलना शुरू करता है तथा आगे चलकर एक सुरंग से गुजरता है जिसका प्रवेशपथ ५,८७९ फुट पर और सर्वोच्च भाग ५,९८७ फुट पर स्थित है। यह सुरंग गिरिपथ के ठीक नीचे काटी गई है। रेलमार्ग इसके अंदर से निकलकर बीवर घाटी पर पहुँचता है तथा एनगाडाइन नदी की घाटी के ऊपरी भाग पर उतर आता है। इस गिरिपथ के कारण सेंट मोरीट्स से कोयर का रास्ता छोटा होकर केवल ५६ मील रह गया। (वि० मु०)

अल्बे फिलीपीन द्वीपसमूह मे अल्बे प्रात का मुख्य नगर तथा राजधानी है। अल्बे तथा लिगास्पी नगरपालिकाएँ १६०७ मे एक दूसरे मे मिला दी गई तथा इस संयुक्त नगरपालिका का नाम १६२५ मे केवल लिगास्पी रखा गया। इसके आसपास की भूमि समतल तथा जलवायु अच्छी है। कोई भी ऋतु यहाँ शुष्क नही रहती। पटुआ यहाँ की मुख्य उपज है। अन्य फसलो मे गरी का गोला, चीनी, चावल, अनाज, मीठे आलू तथा तबाकू मुख्य है। यहाँ की भाषा बीकल है। अल्बे सडको, रेलो तथा जलमार्गों द्वारा विभिन्न स्थानो से सबद्ध है। (न० ला०)

अल्बेनिया बाल्कन प्रायद्वीप मे एक समाजवादी प्रजातत्र देश है। क्षेत्रफल २८,७४८ वर्ग कि० मी० (११,१०१ वर्ग मील), जनसख्या २०,७६,८०० (१६६६ ई०) जिसमे ७० प्रतिशत मुसलमान, २० प्रतिशत कट्टरपंथी (आर्थोडॉक्स) ईसाई तथा १० प्रतिशत रोमन कैथोलिक है। इसके भूभाग की अधिकतम लबाई ३२४ कि० मी०, अधिकतम चौडाई ६६ कि० मी० और समुद्रतट की कुल लबाई २४० कि० मी० है। इसकी राजधानी टिराना है जिसकी जनसख्या १,६६,००० (१६६७) है। अल्बेनियाई भाषा दो बोलियो मे विभक्त है—घेग तथा टॉस्क। घेग श्कुबी नदी के उत्तर मे और टॉस्क दक्षिण मे बोली जाती है। १६४५ से राजकीय भाषा वह है जो टॉस्क को आधार बनाकर विकसित की गई है।

अल्बेनिया के उत्तर तथा पूर्व मे यूगोस्लाविया, दक्षिण पूर्व मे यूनान (ग्रीस), पश्चिम मे ऐड्रियाटिक सागर और दक्षिण पश्चिम मे आयोनियन सागर है।

अल्बेनिया के लगभग पूरे भूभाग मे अल्बेनियाई आल्प्स नामक पर्वत फैला हुआ है, फलस्वरूप इस देश का अधिकतर भाग अनुपजाऊ और सागरतल से ३,००० फुट ऊँचा है। पूर्वी सीमा पर कोराब नामक सर्वोच्च पर्वत शिखर है जिसकी ऊँचाई ६,०६६ फुट है। तटीय प्रदेश मैदानी, अत उपजाऊ है। परतु यह भी मलेरियावाले दलदलो के कारण अभी तक अविकसित पडा है। दक्षिण पश्चिम अल्बेनिया मे भी कोरचे नगर के चारो ओर उपजाऊ मैदान है जहाँ खेतीबाडी की जाती है।

इस देश मे विविध प्रकार के भूधरातल है, अत यहाँ विविध प्रकार की जलवायु और तदनुसार विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती हैं। दक्षिण के तटीय मैदानो मे भूमध्यसागरीय जलवायु है जिसमे शीत ऋतु मे वर्षा होती है और ग्रीष्म ऋतु लगभग शुष्क रहती है। मध्यवर्ती तथा उत्तरी इलाको मे लगभग बारहो मास काफी वर्षा होती है। उच्च पर्वतीय भागो मे पहाडी जलवायु रहती है जिसमे शीत ऋतु के दौरान हिमपात होता है।

इतिहास जार्ज कस्ट्रियोटा (जो इस्कदरबेग के नाम से प्रसिद्ध थे) की १४६७ ई० मे मृत्यु के पश्चात् अल्बेनिया पर तुर्की का आधिपत्य हो गया जो १६१२ ई० तक बना रहा। २८ नवबर, १६१२ को व्लाने (वैलोना) मे अल्बेनिया की स्वतत्रता की घोषणा की गई। लदन मे आयोजित राजदूत समेलन मे अल्बेनिया की भौगोलिक सीमाओ का निर्धारण किया गया तथा प्रिस विलियम आँव वीड अल्बेनिया के शासक मनोनीत हुए। वे ७ मार्च, १६१४ को डुरैस पहुँचे। लेकिन जल्दी ही देश मे अराजकता व्याप्त हो गई और प्रिस ३ सितबर, १६१४ को अल्बेनिया छोडकर चले गए। २६ अप्रैल, १६१५ को लदन मे हुए गुप्त समझौते मे प्रावधान रखा गया कि अल्बेनिया का बँटवारा कर दिया जाए। परतु ३ जून, १६१७ को इटली ने उक्त समझौता अस्वीकार कर दिया और अल्बेनिया स्थित इतालवी प्रधान सेनापति ने जिरोकास्टर नामक नगर मे अल्बेनिया की स्वतत्रता की घोषणा कर दी। जनवरी, १६२५ मे यहाँ जनतात्रिक शासन की स्थापना की गई जो १ सितबर, १६२८ को राजतत्र मे परिवर्तित कर दिया गया और ३१ जनवरी, १६२५ से राष्ट्रपति की हैसियत से काम करनेवाले अहमद बेग जोगु सम्राट् हो गए। ये अप्रैल, १६३६ तक सिंहासनारूढ रहे परतु इसी सन् मे अल्बेनिया पर इटली का आधिपत्य हो गया और सम्राट् जोगु इंग्लैंड भाग गए। १६३६ से १६४४ तक अल्बेनिया पर इटलीवालो तथा जर्मनो का आधिपत्य रहा। किंतु २६ नवंबर, १६४४ को मित्रराष्ट्रों की सेना ने इसे मुक्त करा लिया। १० नवबर, १६४५ को ब्रिटेन, अमरीका तथा रूस ने जनरल एनवर होक्शा की अस्थायी सरकार को मान्यता दे दी, लेकिन इस शर्त पर कि यथाशीघ्र नए चुनाव करा दिए जायँगे। २ दिसबर, १६४५ को हुए चुनाव के परिणामस्वरूप अल्बेनिया मे साम्यवादियो को बहुमत मिला और उन्होने शासन सँभालकर ११ जनवरी, १६४६ को अल्बेनिया को एक गणतत्र देश घोषित कर दिया। १६४६ मे ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका ने अल्बेनिया से सबध विच्छेद कर लिए तथा सयुक्त राष्ट्रसघ मे अल्बेनिया को सदस्य बनाने के प्रस्ताव पर निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग किया। अतत १४ दिसबर, १६५५ को अल्बेनिया राष्ट्रसघ का सदस्य बना। लेकिन अमरीका ने इस अवसर पर भी मतदान मे भाग नही लिया। अल्बेनिया के स्तालिनवादी तथा चीनसमर्थक रख के कारण १६६१ मे रूस ने भी इससे अपने राजनयिक सबध समाप्त कर लिए।

सविधान तथा शासन अल्बेनिया का राजनीतिक ढाँचा १६४६ मे स्वीकृत सविधान के अनुरूप है। लेकिन उक्त सविधान को १६५०, १६५५, १६६० तथा १६६३ मे सशोधित किया गया है। देश की सर्वोच्च विधायिका एक सदनीय जन असेबली है जिसकी बैठक वर्ष मे दो बार होती है और जो दैनिक शासन चलाने का अधिकार स्थायी समिति (प्रेसीडियम) को सौप देती है। स्थायी समिति मे एक अध्यक्ष (चेयरमैन), तीन उपाध्यक्ष (डेप्युटी चेयरमैन), एक सचिव (सेक्रेटरी) तथा दस सदस्य होते है। जन असेबली के सहकारियो (डेप्युटीज) का चुनाव वयस्क मतदान से होता है। ऐसा प्रत्येक सहकारी आठ हजार मतो का प्रतिनिधित्व करता है।

सरकार मे एक प्रधान मत्री (मत्रिपरिषद् का अध्यक्ष), चार उपप्रधान मत्री, १३ मत्री तथा सरकारी योजना आयोग का एक अध्यक्ष होता है। सपूर्ण शासन पर अल्बेनियाई श्रमसगठन (अर्थात् कम्युनिस्ट पार्टी) का प्रभुत्व रहता है जिसकी स्थापना ८ नवबर, १६४१ को हुई थी और जिसका प्रशासकीय निकाय पोलित ब्यूरो है।

कृषि जैसा इससे पूर्व लिखा जा चुका है, अल्बेनिया का अधिकतर भूभाग अनुपजाऊ, जगली और पर्वतीय है। १६६६ ई० मे यहाँ ५,८०,२०० हेक्टेयर भूमि खेती के तथा ६,३५,३०० हेक्टेयर चरागाहो के लिये उपयोग मे लाई गई। १६७० ई० मे २,८३,२०० हक्टेयर जमीन की सिंचाई की गई। यहाँ के मैदानो मे अगूर, सतरे, नीबू आदि भूमध्यसागरीय फल पैदा होते है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यहाँ जनवादी कृषिप्रणाली लागू की गई। अत भूमि पर सरकार (बडे जगलो तथा खेती के लिये अनुपयुक्त भूमि), सरकारी फार्मो (१६६६ ई० मे अधिकृत १,१७,३०० हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि), सहकारी समितियो (१६६६ मे अधिकृत ४,६१,६०० हेक्टेयर) तथा निजी लागो (१,३०० हेक्टेयर) का अधिकार है। मई, १६६७ मे निजी भूखडो (प्लाटो) को ५०–६० प्रतिशत तक कम कर दिया गया था। १६६६ मे यहाँ ट्रैक्टरो (प्रत्येक १५ अश्वशक्तिवाला) की सख्या १०,४७० थी।

१६६५ मे यहाँ निम्नलिखित उत्पादन (मीट्रिक टनो मे) हुआ अनाज (गेहूं, चावल आदि) ३,२६,०००, कपास २३,०००; तबाकू १४,०००, आलू २१,०००।

१६६४ मे यहाँ ४,२७,१०० गाय बैल, १६,८२,२०० भेडे, ११,६६,३०० बकरियाँ, १,४६,६००, सुअर (१६६३ मे), १,२२,१०० घोडे तथा खच्चर और १६,६०,००० मुर्गियाँ थी। इस वर्ष कुल ३,६०० मीट्रिक टन मछलियाँ भी पकडी गई।

खनिज अल्बेनिया खनिजो की दृष्टि से काफी समृद्ध देश है। परतु इन्हें उपलब्ध करने की पद्धति पिछले कुछ ही वर्षों से विकसित की जा रही है। १६७० मे यहाँ सात कोयले, सात क्रोमियम (वार्षिक उत्पादन ३,००,००० मीट्रिक टन) तथा छह ताँबे की खानो मे काम हुआ। १६६६ मे टिराना के निकट वलियाम मे कोयले के बहुत बडे भडार की खोज की गई है। व्लोन के निकट नमक का उत्पादन भी होता है।

उद्योग धंधे . अल्बेनिया मे पूरे उद्योग धधो का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। उत्पादन काफी कम है। प्रमुख उद्योग कृषि उत्पादों को तैयार

करना, वस्त्र तथा सीमेंट के हैं। चीन की सहायता से रासायनिक तथा अभियांत्रिकी संबंधी उद्योगों की स्थापना की जा रही है। एलबासन में एक लौह तथा इस्पात का कारखाना स्थापित किया जा रहा है जिसकी क्षमता आठ लाख टन होगी। लेनिन जलविद्युत् स्टेशन, मलिक चीनी मिल, स्कोदर तबाकू मिल तथा स्टालिन वस्त्र मिल पहले से ही उत्पादनप्रक्रिया में हैं। यहाँ अब छह जलविद्युत्घर है जिनमें १९६५ में ३४१ करोड़ ९ लाख किलोवाट विद्युत् पैदा की गई थी। (कं० च० अ०)

अल्बेनियाई भाषा भारतीय यूरोपीय परिवार की यह प्राचीन भाषा अपने प्राय मौलिक रूप में अल्बेनियाई जनता की प्राचीन प्रथाओं की भाँति आज भी विद्यमान है। इसके बोलनेवालों की सख्या लगभग दस लाख है। उत्तरी और दक्षिणी दो बोलियों के रूप में यह प्रचलित है। उत्तरी बोली को 'ग्वेगुइ' कहते है और दक्षिणी को 'तोस्क'। इनके सज्ञा रूपों में किंचित् भेद है ग्वेगुई में स्वरों के मध्य का 'न' तोस्क में 'र' हो जाता है। इन बोलियों का भारतीय यूरोपीय रूप इनके सर्वनामों तथा क्रियापदों में आज भी सुरक्षित है। यथा तो (दाऊ—अंग्रेजी, तू—हिंदी), ना (वी—अंग्रेजी, हम—हिंदी), जू (यू—अंग्रेजी, तुम—हिंदी) तथा क्रियापदों में रूपविधान दोम (मैं कहता हूँ), दोती (वह कहता है), दोमी (हम कहते है), और दोनी (वे कहते हैं)।

इसकी अधिकाश शब्दावली विदेशी शब्दों से मिलकर बनी है, यद्यपि भारतीय यूरोपीय परिवार के अनेक मौलिक शब्द इसमें आज भी विद्यमान हैं। प्राचीन ग्रीक भाषा से बहुत ही कम शब्द इसमें आए प्रतीत होते है, किंतु मध्यकालीन तथा आधुनिक ग्रीक से अवश्य कुछ शब्द घूम फिरकर (और कभी कभी वेश बदलकर भी) इस भाषा में आ गए हैं। जैसे 'लिपसेत' (यह आवश्यक है) शब्द सर्बियन भाषा से अल्बेनियाई में आया, किंतु उससे पहले सर्बिया ने इसे ग्रीक से लिया था। स्लाव भाषाओं से भी अनेक शब्द लिए गए है। क्लासिकी युग में प्राचीन ग्रीक का प्रभाव अल्बेनिया तक नहीं पहुँच पाया, जबकि लातीनी प्रभाव बहुत पहले से ही वहाँ तक पहुँच चुका था। अल्बेनियाई अकावली में चार के लिये 'कत्रे' तथा शत के लिये 'क्विंद्' शब्द अवश्य ही लातीनी भाषा के हैं। जबकि 'पेस' (पाँच) और दहेन (दश) मूल भारतीय-यूरोपीय-परिवार के है। इसी प्रकार लातीनी 'अमीकस' (दूध) अल्बेनियाई में 'मीक' रह गया है।

शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के प्रभुत्वकाल में अल्बेनियाई नागरिक शब्दावली पर यथानुसार प्रबल लातीनी प्रभाव भी पडा, किंतु ग्रामीण जनता ने अपनी भाषा को आज तक सर्वथा 'शुद्ध' रखा है। इसका उच्चारण और व्याकरण आज भी अपने मौलिक रूप में अक्षुण्ण है। यह भाषा जिस पर्वतीय प्रदेश में बोली जाती है, वह एपीरस के उत्तर में, माटीनीग्रो के दक्षिण में और अद्रियातिक सागर के पूर्वस्थ है। यह कब और कैसे इस क्षेत्र में आई, यह अभी तक अनिश्चित है। इस भाषा के १५वीं शताब्दी के ही उपलब्ध साहित्य को सबसे प्राचीन कहा जा सकता है, किंतु अन्य अधिकाश प्राचीन साहित्य १६वीं और १७वीं शताब्दी का ही मिलता है। आधुनिक अल्बेनियाई साहित्य जिस भाषा में लिखा गया है वह वर्तमान भाषा से बहुत भिन्न नहीं है और वर्तमान भाषा प्राचीन बोलियों का ही प्राय अपरिवर्तित रूप है। (का० च० सौ०)

अल्बेर्ती, लियोन बतिस्ता (१४०४-१४७२) इटली का कवि, गायक, दार्शनिक, चित्रकार और वास्तुकार। अल्बेर्ती वैसे तो पुनर्जागरण काल के विशिष्ट कलाविदों में से था, पर कवि भी वह असाधारण था। उसने २० वर्ष की आयु में इतने सुदर लातीनी पद लिखे कि भ्रमवश उसे लोगों ने लपिदस् की रचना मानकर छापा। उसने अनेक प्रधान गिरजाघरों की डिज़ाइनें प्रस्तुत कीं और वास्तु पर एक प्रसिद्ध ग्रथ 'दे रे ईदिफिकातोरिया' लिखा जिसके इतालीय, फ्रेंच, स्पेनी और अंग्रेजी में अनुवाद हुए। (भ० श० उ०)

अल्मोड़ा अल्मोड़ा भारत के उत्तर प्रदेश के उत्तर में पहाड़ी इलाके में स्थित एक जिला तथा उसका प्रधान नगर है। वर्तमान अल्मोड़ा जिले का क्षेत्रफल ७,०२३ वर्ग कि० मी० है और जनसख्या ७,८१,८२१ है। अल्मोड़ा नगर हिमालय प्रदेश की एक पर्वतश्रेणी पर, समुद्रतट से ५,४९४ फुट की ऊँचाई पर स्थित है (अ० २९° ३५' १९" उ० तथा दे० ७९° ४१' १९" पू०)। पर्वतश्रेणी की ऊँचाई ५,२०० फुट से ५,५०० फुट तक है। अल्मोड़ा के उत्तर से एक अन्य छोटी सी पर्वतश्रेणी निकलकर सीधी पश्चिम की ओर चली गई है। इन पर्वतश्रेणियों के बीच के भाग में पुराने ढग के घरों की बस्तियाँ मिलती है। यहाँ कुछ खेती भी होती है। यहाँ अनेक प्राचीन दुर्गों के खँडहर मिलते है। अल्मोड़ा चद्रवंशी राजाओं की राजधानी थी। इसने अनेक राजवशों का उत्थान और पतन देखा है। किंवदंतियों के अनुसार अल्मोड़ा एक तिवारी ब्राह्मण के परिवार के अधीन था। इस समय इनके वंशजों के हाथ में अल्मोड़ा जेल के पास थोड़ी सी जमीन रह गई है। कहा जाता है, इन लोगों के साथ यह शर्त थी कि ये सूर्यपूजा के लिये आँवला भेजा करेंगे। आँवला को यहाँ लामोरा कहा जाता है। अल्मोड़ा लामोरा शब्द का ही अपभ्रंश रूप माना जाता है।

अल्मोड़ा में सैनिकों का एक बड़ा अड्डा तथा कई विद्यालय हैं। प्रधान कालेज सर हेनरी रामजे के नाम से है। यहाँ की जलवायु बहुत अच्छी है जो विशेषकर क्षय रोगियों के लिये बहुत ही लाभप्रद है। इसके निकटवर्ती रानीखेत में सैनिकों के वायुपरिवर्तन का भी एक स्थान है। सन् १७६० में गोरखा सेना ने इस नगर पर अधिकार कर उसके पूर्वी किनारे पर एक किला बनवाया। मोहरा का किला इसके दूसर भाग में स्थित है। इसे लालमडी भी कहते है। सन् १८१५ में अंग्रेजों तथा गोरखों की लड़ाई अल्मोड़ा में ही हुई थी।

अल्मोड़ा जिला सन् १८९१ में नैनीताल, कुमायूँ तथा तराई प्रातों के पुनर्विन्यास द्वारा बना। यह जिला गगा तथा घाघरा के शिलामय अचल के बीच में स्थित है। घाघरा का स्थानीय नाम यहाँ पर 'काली' है। यह जिला अ० २८° ५९' उ० से ३०° ४९' उ० तथा दे० ७९° २' पू० से ८१° ३१' पू० के बीच में फैला हुआ है। यह अचल हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के अंतर्गत है तथा एक के बाद एक हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियाँ दक्षिण से उत्तर की ओर विस्तृत है। इस हिमाच्छादित तथा जगलों से ढके हुए पार्वत्य प्रदेश के क्षेत्रफल का ठीक पता अभी तक नहीं लगाया जा सका है।

अल्मोड़ा, विशेषकर इसकी सिलेटी पर्वतश्रेणी, चाय के लिये प्रसिद्ध है। चीड, देवदार, तून आदि के वृक्ष इस पार्वत्य अचल की शोभा बढ़ाते है। (वि० मु०)

अल्-मोहदी अल्-मोहदी शासन की स्थापना इब्न तूमर्त (महदी पदवीधारी) और उनके मित्र अब्दुल मोमिन (अमीरुल-मोमिनीन पदवीधारी) नामक दो धार्मिक व्यक्तियों द्वारा हुई। अल्-मोहदी वश ने समस्त पूर्वी अफ्रीका तथा मुसलमानी स्पेन पर ११२८ से १२६९ ई० तक शासन किया। इब्न तूमर्त का सभवत कोई पुत्र नहीं था अत अब्दुल मोमिन के बाद के ११ शासक उसकी सतान न होकर उसके परिवार से चुने गए।

इब्न तूमर्त अरब में इमाम गज़ाली तथा मदीना की परपराओं से प्रभावित हुए। अफ्रीका लौटने पर उन्होंने अपने विरोधियों को काफिर घोषित किया और अलमोरावीद दल से अनवरत युद्ध प्रारभ कर दिया। अलमोरावीद (१०६१-११४५) मालिकी परपरा के अनुयायी थे। वे कुरान के शाब्दिक अर्थ और खुदा के सशरीर व्यक्तित्व (मुज्जसमिया) में, जो वस्तुत एक आध्यात्मिक निरर्थकता है, विश्वास रखते थे। अल-तूमर्त अफ्रीका के सुदूर बीहड़ प्रदेश में एक छोटे से राज्य की स्थापना कर सके, किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके मित्र अब्दुल मोमिन ने पहले मोरक्को पर और सात वर्ष के अथक प्रयत्न के पश्चात् समस्त पूर्वी अफ्रीका और मुसलमानी स्पेन पर अधिकार कर लिया। अल्-मुराबी मान्यता के विरुद्ध अल्-मोहदी स्वय को खलीफा घोषित करते थे और बगदाद के खलीफा को स्वीकार नहीं करते थे। (मु० ह०)

अल्यूशियन द्वीपपुंज लगभग १४ बड़े और ५५ छोटे द्वीपों तथा अनेक चोटियों से बना है। यह पहले कैथेरिन द्वीपपुंज के नाम से प्रसिद्ध था। यह कमचटका प्रायद्वीप के पूर्व से अलास्का प्रायद्वीप के पश्चिम तक लगभग ६०० मील के विस्तार में फैला हुआ है। इसकी स्थिति अ० ५२° उ० से ५५° उ० तक और दे० १७२° प० से १६३° प० तक है। यह सयुक्त राज्य (अमरीका) के अलास्का राज्य का एक भाग है।

१७४१ ई० मे रूस सरकार की प्रेरणा से डेनमार्क के वाइटस् बेरिंग तथा रूस के अलेक्सी चिरीकोव दोनो ने सेंट पीटर तथा सेंट पाल नामक जहाजो से उत्तरी महासागर की ओर यात्रा की। रास्ते मे सामुद्रिक तूफानो मे ये बिछुड गए। चिरीकोव अल्यूशियन द्वीपो पर आ पहुँचे और बेरिंग कमचटका होते हुए कमाडर द्वीपपुंज पर आए। तभी से इन द्वीपो का ज्ञान यूरोपवालो को हुआ। यहाँ इनका देहात हो गया। १८६७ ई० तक अल्यूशियन द्वीपपुंज रूसियो के हाथ मे था, परतु बाद मे अमरीका के हाथ मे आया।

अल्यूशियन द्वीपपुंज के चार प्रथम द्वीपसमूह फाक्स, अंड्रियानफ, रैट और निकट द्वीप (नियर आइलैंड्स) कहलाते है। फाक्स और अंड्रियानफ के बीच मे चतुःपर्वतीय द्वीप (आइलैंड्स ऑव फोर माउटेंस) स्थित है। फाक्स द्वीपसमूह सबसे पूर्व मे है और इसके प्रथम द्वीपो के नाम युनिमाक, उनलस्का और उमनाक है। चतुःपर्वतीय द्वीपो मे चुगिनाडाक्, हर्बर्ट, कारलाइल, कागामिल तथा उलिआगा प्रधान है। अंड्रियानफ द्वीपसमूह का नाम रूसी पयटक अंड्रियन टोलस्टिक पर पडा है। इसमे अमलिया, आट्का, ग्रेट सिटकिन्, आदाक, कनागा तथा तनागा सम्मिलित है। रैट द्वीपसमूह का नाम इसमे पाए जानेवाले चूहो की अधिकता के कारण पडा। निकट द्वीपसमूह का नाम रूस के सबसे समीप रहने के कारण पडा। सेमीसोपोच-नोय, अमचिट्का, किस्का तथा बुल्डीर रैट द्वीपसमूह मे है और सेमीचि द्वीप, आगाटू तथा आटू निकट द्वीपसमूह मे है।

अल्यूशियन द्वीपपुंज का नाम अलास्का स्थित अल्यूशियन पहाड से पडा है। इन द्वीपो की रीढ अलास्का के पास दक्षिण पश्चिम की ओर झुकी है, परतु १७६° प० दे० के बाद इसकी दिशा बदल जाती है। वैज्ञानिको के मत से यह द्वीपसमूह ज्वालामुखी उद्गार के कारण बना है और इसलिये आग्नेय दरारो की दिशा के अनुसार इसकी रीढ की दिशा बनी हुई है। इनमे से अधिकतर द्वीपो पर अग्निउद्गार के चिह्न स्पष्ट है तथा कई एक द्वीपो पर सक्रिय ज्वालामुखी विद्यमान हैं, जैसे उनिमक मे माउट शिशाल्डिन या स्मोकिंग मोजज, इसके पास इसानोटस्की पीक (८,०८८ फुट) और माउट राउडटाप (६,१५५ फुट)। इनके अतिरिक्त उमनाक मे माउट सीवीडाफ (७,२३६ फुट), उनलस्का मे माउट माकुशिन (५,००० फुट) और चूकिनाडाक मे माउट क्लीवलैंड, ये सब आग्नेय गिरि है। इनमे से अधिकतर पहाडो पर हिमनदी प्रवाहित हो रही है। यह अचल अधिकाश स्थानो मे आग्नेय चट्टानो से बना है। फिर भी रवादार चट्टाने, परतदार चट्टाने तथा लिगनाइट पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। इनके उपकूल कटे फटे है और इसलिये इनपर पहुँचने का मार्ग भयावह है। देखने से लगता है, ये पहाडियाँ समुद्र के ऊपर सीधी खडी हैं।

इस द्वीपपुंज के इतना उत्तर मे होते हुए भी यहाँ की जलवायु सामुद्रिक प्रभाव के कारण समशीतोष्ण है तथा वर्षा अधिक होती है। अलास्का की तुलना मे इसका शीतकालीन ताप लगभग एक सा रहता है, परतु ग्रीष्मकालीन तापक्रम मे पर्याप्त अतर हो जाता है, अर्थात् अलास्का की अपेक्षा यहाँ गर्मी कम पडती है। यहाँ प्राय साल भर कुहरा रहता है। यहाँ की खेती मे कुछ सब्जियाँ उगाई जाती है। कृषि का कार्य मई से सितबर तक (लगभग १३५ दिन) होता है। यहाँ पर वृक्ष कहीं कहीं दिखाई देते है। प्राकृतिक वनस्पति मे प्राय घास की जाति के पौधे ही अधिक है।

यहाँ के लोगो का मुख्य व्यवसाय समुद्री मछली पकडना तथा आखेट है। आजकल भेड तथा रेनडियर (हरिण) पालने का भी प्रयत्न चल रहा है। यहाँ पर रहनेवाली मेरुप्रदेशीय नीली लोमडी के शिकार के लिये १८वी शताब्दी मे रूस के ऊर्णाजिनविक्रेता (फर डीलर्स) यहाँ आकर जमे थे, परतु जबसे यह अमरीका के हाथ मे गया, आदिवासियो को छोडकर इन्हे मारने की आज्ञा किसी को नही है। इन व्यवसायो के अतिरिक्त यहाँ की स्त्रियो की बनाई हुई टोकरियाँ तथा उनपर बने सूक्ष्म कढाई के कार्य प्रसिद्ध है। ये लोग सिलाई करने तथा कपडा बुनने मे भी चतुर है।

अल्यूशियन द्वीपपुंज के आदिवासी एसक्वीमावन जाति के हैं। इनकी भाषा, रहन सहन, कार्य करने की शक्ति आदि एस्किमो से मिलती जुलती है। इनके गाँव उपकूल के समीप बसे है, क्योंकि उपकूल के पास इन्हें पक्षी, मछली, समुद्री जतु आदि सुगमता से उपलब्ध हो जाते है तथा जलाने की लकडी भी प्राप्त हो जाती है। पहले ये लोग जमीन के नीचे घर बनाकर रहते थे और कभी कभी सामूहिक गृह भी बनाया करते थे। इनकी शारीरिक गठन मे बलिष्ठ देह, छोटी गर्दन, छोटा कद, काला मुखमडल, काली आँखे तथा काले केश प्रत्येक विदेशी की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करते है। ईसाई धर्म का प्रचार यहाँ पूर्ण रूप से हुआ और यहाँ के निवासियों की वर्तमान रहन सहन पाश्चात्य सभ्यता से पर्याप्त प्रभावित हुई है। आबादी अधिकतर अलास्का द्वीपो पर केंद्रित है। ये द्वीप काफी उन्नति पर है। सयुक्त राज्य (अमरीका) के पहरेवाले जहाजो का यह एक अड्डा है। सन् १९४९ तक अलास्का मे एक डच बदरगाह भी था। इस समय यह बद हो गया है और आटू मे एक छोटा सा बदरगाह चालू रखा गया है। (वि० मु०)

अल्लमप्रभु कर्नाटक के वीरशैव सप्रदाय के महान् साधक और आचार्य। ये वीरशैव मत के प्रतिष्ठापक बसव के, जिनका समय १२वीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है, गुरु थे। इस प्रकार ये बसव के ज्येष्ठ समकालीन थे। कुछ लोग इनका जन्म शिमोगा जिले के बल्लिल ग्राम मे मानते है। कहा जाता है, इनका विवाह कामलता नाम की एक सुदरी कन्या से हुआ था, किंतु थोडे ही दिनो बाद उसका देहात हो गया। तदुपरात अल्लम विरक्त हो गए। बाद मे इन्होने वन मे रहकर दीर्घ तपस्या की। प्रसिद्धि यह भी है कि पार्वती ने इनके वैराग्य की परीक्षा ली थी। तदुपरात ये शिवाद्वैत तत्व के समर्थ प्रचारक हुए। इन्होंने अपनी शिष्यमडली के साथ भारत के विविध प्रदेशो की यात्रा की। इसी यात्रा मे मैसूर राज्य के कल्याण नगर मे बसव ने अल्लमप्रभु का दर्शन किया और इनसे दीक्षा ली।

अल्लमप्रभु के ऊपर कुछ लोग शाकराद्वैत का विपुल प्रभाव मानते हैं। इन्होंने (षट्चक्रस्थानीय) षट्स्थलो और लिगधारण का प्रवर्तन किया। प्रभुलिगलीला मे प्राप्त अल्लमप्रभु के उपदेशो मे इनका उल्लेख मिलता है। इसमे जीव और शिव के अद्वैत का सिद्धात प्रतिपादित है। इन्होंने बाह्य कर्मकाड का खडन करते हुए जीव और जगत् के चरम सत्य के साक्षात्कार पर जोर दिया है। हिंसा की निंदा कर इन्होने भूमिकर्षण तक का निषेध किया क्योंकि इसमे भूमिगत कीटादिको की प्राणहानि होती है। निष्काम कर्म और फलसमर्पण का भी इन्होंने उपदेश किया है। इनके उपदेशो पर विचार कर कुछ विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अल्लमप्रभु के विचारो को शाकर दर्शन के उन विचारो से प्राय अभिन्न मानना चाहिए जिनके अनुसार एक परम सत्य ही माया और अविद्या के कारण अनेक रूपो मे प्रतीत होता है। इनके द्वारा उपदिष्ट भक्ति कुछ लोगो की दृष्टि मे बौद्धिक प्रकार की है जिसमे सतत निर्विघ्न ध्यान और शिव का सर्वपदार्थों मे एक परमसत्य के रूप मे साक्षात्कार सम्मिलित है। मुक्तायी को इन्होंने अपने उपदेश मे बताया है कि जैसे मातृस्तन के दुग्ध से सपोषित शिशु क्रमश: अन्नाहार की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार गुरु की शिक्षा से भक्त बाह्य वस्तुओ के बधन को क्रमश त्यागकर, अनत विभिन्न कर्मों एव उनके फलो के प्रति निष्काम होकर ज्ञान प्राप्त करता है। इनके उपदेशो मे अध्ययन, व्याख्यानादि का उतना महत्व नही है जितना शिवाद्वैत प्राप्ति का। विभिन्न सूत्रो से यह ज्ञात होता है कि इन्होंने बसव को भक्ति, योग, षट्स्थल और लिगधारण का उपदेश किया था। इस योग मे प्राणवायु सबधी अभ्यासो का विशेष महत्व है जिसके बिना भक्तिप्राप्ति और बधनिरोध सभव नही।

कहा जाता है, गोरक्षनाथ की भी अल्लमप्रभु से भेंट हुई थी। गोरक्ष ने अपनी योगशक्ति से शरीर को शस्त्रप्रहार से मुक्त कर लिया था और उन्होंने अल्लमप्रभु के समक्ष इसका प्रदर्शन भी किया था। अल्लमप्रभु ने भी गोरक्ष को अपने शरीर मे खड्गप्रवेश करने के लिये कहा जिसमे गोरक्ष को अनुभव हुआ कि खड्ग जैसे शून्य मे प्रवेश कर रहा हो। गोरक्ष ने अल्लमप्रभु से इसका रहस्य पूछा और व्याख्यान मे इनसे दीक्षा ली तथा आशीर्वाद प्राप्त किया। इस प्रसग मे गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध सिद्ध-सिद्धात-पद्धति और प्रभुलिगलीला मे प्राप्त अल्लमप्रभु के उपदेशों का

तुलनात्मक अध्ययन कर कुछ लोगों ने इन दोनों के विचारों एवं सिद्धांतों के साम्य के अनेक बिंदु खोज निकाले हैं और निष्कर्षत यह मत व्यक्त किया है कि यह असंभव नहीं है कि इन दोनों महापुरुषों में विचारों का परस्पर आदान प्रदान हुआ हो। इन दोनों के संवाद का विवरण प्रभुलिंगलीला में देखा जा सकता है।

अल्लमप्रभु के लिखे निम्नलिखित ग्रंथ कहे जाते हैं षट्स्थलज्ञान-चारित्र्य, शून्य संपादन, मंत्रगोप्य, सृष्टिवचन। (ना० ना० उ०)

अल्लाह इस शब्द का मूल अरबी भाषा का 'अल् इलाह' है। कुछ लोगों का विचार है कि इसका मूल आरामी भाषा का 'इलाहा' है। इसलाम से पाँच शताब्दी पहले का सफा की इमारतों पर यह शब्द 'हल्लाह' के रूप में खुदा हुआ था। छह शताब्दी पहले की ईमाइया की इमारतों पर भी यह शब्द खुदा हुआ मिलता है।

इसलाम से पहले भी अरब में लोग इस शब्द से परिचित थे। मक्का की मूर्तियों में एक अल्लाह की भी थी। यह मूर्ति कुरेश कबीले की विशेष मान्य थी। मूर्तियों में इसकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी और सृष्टिकार्य इसी से संबंधित माना जाता था। परंतु अरबों का दृष्टिकोण इसके संबंध में निश्चित नहीं था और इसकी शक्तियों तथा कार्यों का उन्हें स्पष्ट ज्ञान न था।

इसलाम के उदय के अनंतर इसके अर्थ में बड़ा परिवर्तन हुआ। कुरान के जिस अंश का सबसे पहले इलहाम हुआ उसमें अल्लाह के गुण सृष्टि करना तथा शिक्षा देना बताए गए हैं। कुरान में अल्लाह के और भी बहुत से गुण वर्णित है, जैसे दया, न्याय, पोषण, शासन आदि। इसलाम ने सबसे अधिक बल अल्लाह की एकता पर दिया है अर्थात् उसके कामों तथा गुणों में कोई उसका साझीदार नहीं है। यह इसलाम का मौलिक सिद्धांत है, जिसे स्वीकार किए बिना कोई मुसलमान नहीं हो सकता। (आर० आर० श०)

अल्लूर तमिलनाडु राज्यांतर्गत नेल्लूर जिले का एक नगर। यह १४° ४९' ३०" उ० अ० एवं ८०° ५' २१" पू० दे० पर स्थित है। धान की खेती इस नगर का मुख्य धंधा है और यहाँ उपजिलाधीश की अदालत तथा डाकखाने की सुविधा प्राप्त है। (कैं० चं० श०)

अलवा गुजरात राज्य के अंतर्गत एक क्षेत्र। सन् १९५० ई० से पहले यह क्षेत्र रेवाकांठ नाम की देशी रियासत की जागीर था। इसमें सात गाँव सम्मिलित हैं। उत्तर और दक्षिण में वीरपुर और पाटलावडी है जबकि पूर्व में तीन छोटे छोटे गाँव और पाटलावडी का भाग पड़ता है। पश्चिम में देवलिया नामक प्रसिद्ध गाँव है। इस क्षेत्र का क्षेत्रफल केवल पाँच वर्गमील है, परंतु यहाँ भील जाति के पिछड़े हुए लोग रहते है जिनमें से अधिकांश जंगली जीवन व्यतीत करते हैं और प्राय शिकार पर ही निर्भर रहते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य सरकार का ध्यान इस इलाके की ओर आकर्षित हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप विकास कार्यक्रमों को यहाँ तेजी से लागू किया जा रहा है। (कैं० चं० श०)

अलस्टर आयरलैंड के उत्तर में एक प्रांत है। सन् १९२० में आयरलैंड में छह काउंटियों को एक में सम्मिलित करके उन्हें अलस्टर कहा गया और उनका शासन अलग कर दिया गया जो उत्तर आयरलैंड की सरकार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलस्टर आयरलैंड की भाषा में उलध कहलाता था। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है। पहले यह आयरलैंड का एक प्रांत था, परंतु सन् ८०० ई० में यह तीन भागों में विभक्त और अलग अलग व्यक्तियों के अधीन हो गया। पीछे सब भाग ओ'नील परिवार के शासन में आ गए। नॉर्मन आक्रमण के बाद यहाँ का शासन विदेशियों के हाथ में चला गया, परंतु १५वीं शताब्दी के बाद अलस्टर के ही दो व्यक्तियों का प्रभुत्व सारे अलस्टर में स्थापित हो गया। सन् १६०३–१६०७ में यहाँ अंग्रेजों का शासन हो गया और तब बहुत से अंग्रेज और स्कॉट यहाँ आ बसे (द्र० 'आयरलैंड')। (ह० ह० सि०)

अवंतिवर्धन अवंती के प्रद्योतकुल का अंतिम राजा जो संभवत मगधराज शिशुनाग का समकालीन था। वैसे, पुराणों के अनुसार शैशुनाग वंश का प्रवर्तक शिशुनाग इस काल के पर्याप्त पहले हुआ, परंतु सिंहली इतिहास के अनुसार, जो संभवत अधिक सही है, वह बिंबिसार से कई पीढ़ियाँ बाद हुआ। मगध और अवंती के बीच वत्सों का राज्य था और दीर्घ काल तक मगध-कोशल-वत्स-अवंती का परस्पर संघर्ष चला था। फिर जब वत्स को अवंती ने जीत लिया तब मगध और अवंती प्रकृत्यमित्र हो गए थे। और अब मगध और अवंती के संघर्ष में अवंती को अपने मुँह की खानी पड़ी। उसी संघर्ष के अंत में मगध की सेनाओं द्वारा अवंतिवर्धन पराजित हुआ और मध्यप्रदेश का यह भाग भी मगध के हाथ आ गया। (भ० श० उ०)

अवंतिवर्मन् (ल० ८५५ ई०–८८३ ई०) यह उत्पल राजकुल का पहला राजा जब कश्मीर की गद्दी पर बैठा तब कश्मीर गृहयुद्ध से लहूलुहान हो रहा था और उसपर दरिद्रता की छाया डोल रही थी। करकोटक राजाओं की कमजोरी से गाँवों के डामर जमींदार सशक्त हो गए थे और उनके कारण प्रजा तबाह थी। न जीवन की रक्षा हो पाती थी, न धन की। देश की उपज इतनी कम हो गई थी कि अन्न माने के भाव बिकने लगा था। अवंतिवर्मन् ने देश में शांति स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। डामरों को दबाकर उसने अपने मंत्री सूय्य (सूर्य) की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति सँभाली, नहरें निकलवाकर सिंचाई का प्रबंध किया और झेलम की धारा बदल दी। एक खिरनी चावल का मूल्य, जो पहले २०० दीनार हुआ करता था, अब ३६ दीनार हो गया। अवंतिवर्मन् ने अवंतिपुर नाम का नगर बसाया जो वंतपोर के नाम से आज भी मौजूद है। उसने अनेक मंदिर बनवाकर उन्हें देवोत्तर संपत्ति से समृद्ध किया। वह पंडितों का आदर करता था और उसी की संरक्षा में प्रसिद्ध साहित्यकार आलोचक आनंदवर्धन ने अपना 'ध्वन्यालोक' रचा। (भ० श० उ०)

अवंतिसुंदरी संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमांसा के प्रणेता कविराज राजशेखर की धर्मपत्नी थीं। राजशेखर ८८०–९२० ई० में वर्तमान थे। ये महाराष्ट्र प्रांत के मूल निवासी थे तथा लाट और कान्यकुब्ज देश में इनके जीवन का अधिक भाग व्यतीत हुआ था। इनकी पत्नी अवंतिसुंदरी अत्यंत विदुषी नारी थीं। साहित्यशास्त्र के प्रसंगों में इनके मत उद्धरण के रूप में प्राप्य हैं। संभव है, इन्होंने कुछ स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हों और वे काल के प्रवाह में नष्ट हो गए हों। राजशेखर ने स्वयं अपनी काव्यमीमांसा में आदरपूर्वक इनके काव्यशास्त्रीय मतों का उल्लेख किया है। काव्यमीमांसा में इनके मत का उल्लेख शब्दपाक, काव्य-वस्तुविवेचन और शब्दार्थहरण के प्रसंग में किया गया है। इसके अतिरिक्त इनके संबंध में विशेष ज्ञान नहीं है। (वि० ना० गौ०)

अवंतिसुंदरी कथा संस्कृत साहित्य के गद्यकाव्य के अंतर्गत एक महत्व-पूर्ण कथाप्रबंध है। विद्वानों ने इसे आचार्य दंडी की कृति माना है और इनकी तीसरी रचना के रूप में इसी प्रबंध को मान्यता दी है। दंडी के काव्यादर्श की टीका में जघाल ने इसे दंडी की रचना कहा है। दंडी के आविर्भावकाल की संभावना विद्वानों ने ५०० ई० से ८०० ई० के बीच की है। प्राचीन ग्रंथों की खोज में अवंतिसुंदरी कथा की एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई थी। एम० आर० कवि नामक एक विद्वान् ने इसका संपादन करके सन् १९२४ ई० में इसे प्रकाशित करवाया और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इसे दंडी की रचना बताया। इसका कथानक कविकल्पित है, जैसा कथाप्रबंध के लिये आवश्यक है। इसका कथानक दंडी के दशकुमारचरित की भाँति ही है। राजकुमारों और अवंतिसुंदरी नायिका की कथा के व्याज से इसमें तत्कालीन समाज का यथातथ्य चित्रण उपलब्ध होता है। गद्यशैली की दृष्टि से यह कथाप्रबंध एक महत्वपूर्ण कृति है और संस्कृत गद्यकाव्य की शैली के विकासक्रम में एक निश्चित सोपान के रूप में माना जाता है। (वि० ना० गौ०)

अवंती मालव जनपद का प्राचीन नाम, जिसका उल्लेख महाभारत में भी हुआ है। अवंतिनरेश ने युद्ध में कौरवों की सहायता की थी। वस्तुत यह आधुनिक मालवा का पश्चिमी भाग है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, जिस राजधानी का दूसरा नाम स्वयं अवंती भी था। पौराणिक हैहयों ने उसी जनपद की दक्षिणी राजधानी माहिष्मती (मांधाता)

मे राज किया था। सहस्रबाहु अर्जुन वहीं का राजा बताया जाता है। बुद्ध के जीवनकाल मे अवंती विशाल राज्य बन गया और वहाँ प्रद्योतो का कुल राज करने लगा। उस कुल का सबसे शक्तिमान् राजा चंड प्रद्योत महासेन था जिसने पहले तो वत्स के राजा उदयन को कपटगज द्वारा बंदी कर लिया, पर जिसकी कन्या वासवदत्ता का उदयन ने हरण किया। अवंती ने वत्स को जीत लिया था, परंतु बाद उसे स्वयं मगध की बढती सीमाओं मे समा जाना पडा। बिंदुसार और अशोक के समय अवंती साम्राज्य का प्रधान मध्यवर्ती प्रांत था जिसकी राजधानी उज्जयिनी मे मगध का प्रांतीय शासक रहता था। अशोक स्वयं वहाँ अपनी कुमारावस्था मे रह चुका था। उसी जनपद मे विदिशा मे शुंगो की भी एक राजधानी थी जहाँ सेनापति पुष्यमित्र शुंग का पुत्र राजा अग्निमित्र शासन करता था। जब मालव संभवत सिकंदर और चंद्रगुप्त की चोटों से रावी के तट से उखडकर जयपुर की राह दक्षिण की ओर चले थे, तब अंत मे अनुमानत [illegible] को हराकर अवंती मे ही बस गए थे और उन्हीं के नाम से बाद मे अवंती का नाम मालवा पडा। (भ्रा० ना० उ०)

अवकल ज्यामिति (प्रक्षेपीय) विक्षेपात्मक अवकल ज्यामिति (प्रोजेक्टिव डिफरेंशियल ज्योमेट्री) मे हम किसी ज्यामितीय आकृति के किसी सार्विक अल्पांश (जेनरल एलिमेंट) के समीप उसके उन गुणों का अध्ययन करते है जिनमे किसी सार्विक विक्षेपात्मक रूपांतर (ट्रैसफार्मेशन) मे कोई विकार नहीं होता। जैसे किसी वक्र के ये गुण कि उसके किसी बिंदु पर स्पर्श रेखा अथवा आश्लेषण समतल (ऑस्क्युलेटिंग प्लेन) का अस्तित्व है अथवा नहीं, विक्षेपात्मक अवकलीय गुण है, किंतु किसी तल का यह गुण कि उसपर अल्पांतरी (जिओडेसिक) का अस्तित्व है या नहीं, विक्षेपात्मक नहीं है, क्योंकि इसमे लंबाई का भाव निहित है जो विक्षेपात्मक नहीं है।

आकृतियो के विक्षेपात्मक अवकल गुणो के अध्ययन की कम से कम तीन विधियाँ निकल चुकी है जो इस प्रकार है (१) अवकल समीकरण, (२) घात-श्रेणी-प्रसार (पावर सीरीज एक्स्पैंशन) और (३) किसी बिंदु के विक्षेप निर्देशांकों (प्रोजेक्टिव कोऑर्डिनेट्स) का एक प्राचल (पैरामीटर) अथवा अवकल रूपों (डिफरेंशियल फॉर्म्स) के पदों मे प्रसार। पहली और तीसरी विधियों मे प्रदिश कलन (टेंसर कैल्क्युलस) का प्रयोग किया जा सकता है।

उपयुक्त निर्देश त्रिभुज (ट्राइऐंगिल ऑव रेफरेंस) चुनने से, जिसके चुनाव का ढंग अद्वितीय होगा, किसी समतल वक्र का समीकरण इस रूप मे ढाला जा सकता है

$$\text{र} = \text{य}^2 + \text{क य}^3 + \text{ख य}^4 + (\text{ख} + २\text{क}^2)\text{य}^5 + \ldots$$

इस घात श्रेणी के समस्त गुणांक (कोइफिशेंट) सार्विक विक्षेप रूपांतर के अंतर्गत, वक्र के परम निश्चल (ऐब्सोल्यूट इनवेरियंट) है, अत वे मूलबिंदु पर वक्र के समस्त विक्षेपात्मक अवकल गुणो को व्यक्त करते है। किसी वक्र के किसी बिंदु पर के स्पर्शी का भाव सुपरिचित है। मान लीजिए कि हम किसी वक्र के बिंदु पा के समीप चार अन्य बिंदु लेते है। जब ये चारो बिंदु पा की ओर अग्रसर होते है, तब इन पाँचों बिंदुओं द्वारा खींचे गए शांकव (कॉनिक) की जो सीमास्थिति होगी, उसे वक्र के बिंदु पा पर, आश्लेषण शांकव (ऑस्क्युलेटिंग कॉनिक) कहते है। इसी प्रकार एक समतल त्रिघाती (प्लेन क्यूबिक) के इस गुण की सहायता से कि उसका निर्धारण नौ स्वेच्छा ((आर्बिट्रेरी) बिंदुओ से होता है, हम आश्लेषण त्रिघाती (ऑस्क्युलेटिंग क्यूबिक) की परिभाषा दे सकते हैं। इस अध्ययन मे, सीमा (लिमिट) के प्रयोग के कारण, कलन (कैल्क्युलस) बहुत काम मे आता है।

साधारणतया त्रिविस्तारी विक्षेपात्मक अवकाश (थ्री-डाइमेंशनल प्रोजेक्टिव स्पेस) मे अनंतस्पर्शी वक्रो (ऐसिम्प्टोटिक कर्व्ज) के दो एक-प्राचल परिवार (वन-पैरामीटर फैमिलीज) होते है। यदि दो से कम परिवार हो तो तल (सर्फेस) विकास्य (डिवेलपेबुल) होगा। यदि दो से अधिक हो तो तल एक समतल (प्लेन) होगा। यदि विकास्य तलो और समतलो को छोड दिया जाय और अनंतस्पर्शी रेखाओ को तल के प्राचलीय वक्र मान लिया जाय तो समघात निर्देशांक (होमोजीनियस कोआर्डिनेट्स) इस प्रकार चुने जा सकते हैं कि वे अवकल समीकरणों की निम्नलिखित संहति (सिस्टम) को संतुष्ट करें

$$\frac{\text{त}^2\text{य}}{\text{तष}^2} = \frac{\text{तक्ष तय}}{\text{तष तष}} + \text{उ}\frac{\text{तय}}{\text{तस}} + \text{प य},$$

$$\frac{\text{त}^2\text{य}}{\text{तस}^2} = \text{ऊ}\frac{\text{तय}}{\text{तष}} + \frac{\text{तक्ष तय}}{\text{तस तस}} + \text{फ र},$$

$$\text{क्ष} = \text{लघु}\ (\text{उ ऊ}), \quad [\text{त} = \delta]$$

इन्हे फ्यबिन के अवकल समीकरण (डिफरेंशियल इक्वेशंस) कहते है। इनके गुणांक **उ, ऊ, प, फ** तल के निश्चल है।

किसी तल के विक्षेपात्मक गुणो मे से एक गुण होता है उसका किसी [illegible] स्पर्शक्रम (ऑर्डर ऑव कॉनटैक्ट)। विशेषकर, द्विघात तलो का एक द्विप्राचल परिवार होता है जिसका तल (पृष्ठ) **पृ** मे किसी बिंदु **मू** पर द्वितीय क्रम का स्पर्श होता है। यदि द्विघाती (क्वाड्रिक्स) इस प्रकार चुने जायँ कि **मू** पर, प्रतिच्छेद वक्र के स्पर्शी, **मू** के अनंतस्पर्शियो के प्रति अभिध्रुवी (ऐपोलर) हों तो द्विघातियो को डार्बो द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) और ३-बिंदु स्पर्शियो को [illegible] डार्बो [illegible] है। **पृ** के प्रत्येक बिंदु पर डार्बो द्विघातियो का एक एकप्राचल [illegible] होता है। इसमे से बहुत से विशेष प्रकार के द्विघाती होते है। कदाचित् [illegible] द्विघाती (क्वाड्रिक्स) सबसे रोचक होते है। इनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है **मू** के अनंतस्पर्शी वक्र **व** पर दो समीपस्थ बिंदु **पा₁** और **पा₂** [illegible] बिंदुओ पर अनंत-स्पर्शी वक्र के स्पर्शी खींचो। [illegible] स्पर्शी एक द्विघाती का निर्धारण करते है। जब **पा₁** और **पा₂** वक्र **व** [illegible] **मू** की ओर अग्रसर होते है, तब उक्त द्विघाती की सीमास्थिति को [illegible] द्विघाती कहते है।

रेखाओं के किसी द्विप्राचल परिवार को सर्वांगसमता (कॉनग्रुएंस) कहते है। उदाहरणत किसी तल के मापात्मक अभिलंब (मेट्रिक नार्मल्स) एक सर्वांगसमता बनाते है। यदि **पृ** के किसी बिंदु **मू** का साहचर्य (ऐसोसिएशन) एक रेखा से है जिसकी स्थिति **मू** के साथ साथ बदलती रहती है तो ऐसी रेखाओ के संग्रह से एक सर्वांगसमता का निर्माण होता है। जब **मू** तल **पृ** के किसी उपयुक्त वक्र पर चलता है तब सर्वांगसमता की सहचर रेखा वक्र को स्पर्श करती है, और इस प्रकार एक विकास्य तल का सृजन करती है। साधारणत किसी तल पर ऐसे वक्रो के दो एकप्राचल परिवार होते है। सर्वांगसमता के विकास्य तलों मे इनकी संगति बैठती है। अब मान लीजिए कि एक सर्वांगसमता का निर्माण तल **पृ** के बिंदुओं के मध्य से जानेवाली ऐसी रेखाओं से होता है जो उन बिंदुओ पर खींचे गए **पृ** के स्पर्शतलों पर स्थित नहीं है, तो किसी भी डार्बो द्विघाती के प्रति इन रेखाओं की व्युत्क्रम ध्रुवियाँ (रेसिप्रोकल पोलर्स) एक सर्वांगसमता का निर्माण करती है जिसकी रेखाएँ पृ के स्पर्शसमतलो पर स्थित होती है, किंतु उनके स्पर्शबिंदुओ मे से होकर नहीं जाती। सर्वांगसमताओं के ऐसे जोडों को व्युत्क्रम सर्वांगसमताएँ (रेसिप्रोकल कानग्रुएंसेज) कहते है। आज तक व्युत्क्रम सर्वांगसमताओं के बहुत से जोडों का अध्ययन हो चुका है। इन्हीं मे से एक युग्म विल्जिंस्की को नियत सर्वांगसमताओं (डाइरेक्ट्रिस कॉनग्रुएंसेज) का है। इनकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है यदि **त** की व्युत्क्रम सर्वांगसमताओं की एक जोडी के विकास्यों के संगत वक्रो के दो कुलक (सेट्स) अभिन्न (कोइंसिडेंट) हो जायँ तो उक्त सर्वांग-समताओं को विल्जिंस्की की नियत सर्वांगसमताएँ कहते है।

यह जानने के लिये कि विक्षेप ज्यामिति मे सर्वांगसमताओं का क्या महत्व है, संयुग्मी जालों (कॉनजुगेट नेट्स) की कल्पना को भी समझ लेना आवश्यक है। इनकी परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते है

मान लीजिए, किसी तल **पृ** के किसी बिंदु के मध्य से अनंतस्पर्शी वक्र खींचे गए हैं, तो इस बिंदु का स्पर्शी, और उक्त वक्रो पर उस बिंदु पर खींचे गए स्पर्शियो के प्रति उसका हरात्मक संयुग्मी (हार्मोनिक कॉनजुगेट), ये दोनों मिलकर संयुग्मी स्पर्शी कहलाते है। यदि संयुग्मी स्पर्शियो के किसी जोडे मे से एक को किसी एकप्राचल वक्रपरिवार के एक वक्र का स्पर्शी मान लिया जाय तो जोडे का दूसरा स्पर्शी एक अन्य एकप्राचल वक्र-परिवार का स्पर्शी हो जायगा। वक्रों के ऐसे दो कुलकों से संयुग्मी जाल का निर्माण होता है। संयुग्मी जालो का एक अन्य लाक्षणिक गुण (कैरेक्ट-

रिस्टिक प्रॉपर्टी) इन शब्दों मे व्यक्त हो सकता है जब कोई बिंदु मू संयुग्मी जाल के एक वक्र पर चलता है तब जाल के दूसरे वक्र पर बिंदु मू पर खीचे गए स्पर्शी एक विकास्य तल का सृजन करते है। जब एक बिंदु तल त के किसी वक्र पर चलता है, तो उसका मापात्मक अभिलब एक ऋजुरेखज (रूल्ड) तल का सृजन करता है। यदि वक्र के स्थान मे वक्रतारेखा (लाइन ऑव कर्वेचर) ले तो यह ऋजुरेखज तल विकास्य हो जाता है। वक्रता-रेखाओ द्वारा निर्मित जाल एक सयुग्मी जाल होता है और मापात्मक अभिलंब सर्वांगसमता (मेट्रिकनॉर्मल कॉनग्रुएस) से उसकी सगति (कॉरिस-पॉण्डेंस) बैठती है। हम इसी बात को इस प्रकार व्यक्त करते है कि मापात्मक अभिलब सर्वांगसमता तल से सयुग्मी है।

विक्षेपात्मक अवकल ज्यामिति में बहुत सी सर्वांगसमताएँ ऐसी है जो सार्वीकृत अभिलब सर्वांगसमताएँ (जेनरेलाइज्ड नॉर्मल कॉनग्रुएन्सेज) कहला सकती है, क्योकि सर्वागसमता का निर्धारण तल से होता है और वह तल से सयुग्मी रहती है। इन्ही में से एक यथाकथित ग्रीन-फ्यूबिनी विक्षेप अभिलब (प्रोजेक्टिव नॉर्मल) भी है।

वह वक्र जिसके स्पर्शी एक विकास्य तल का निर्माण करते हैं, तल की निशित कोर (कस्पिडल एज्) कहलाता है। मू के सयुग्मी स्पर्शियों के लाक्षणिक गुण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जोडे मे से प्रत्येक स्पर्शी रश्मिबिंदु (रे पॉइंट) पर निशित कोर का स्पर्शी होता है। इस प्रकार जो दो रश्मिबिंदु प्राप्त होते है वे मू के जाल की एक रश्मि का निर्धारण करते हैं। जाल के वक्रो के बिंदु मू पर के आश्लेषण समतलो की प्रतिच्छेद रेखा जाल का अक्ष होती है। रश्मि तथा अक्ष और उनके द्वारा जनित सर्वांगसमताओ का अध्ययन बहुत से व्यक्तियों ने किया है।

कुछ लोगो ने अल्पातरियों की कल्पना का, यह देखकर कि इनका मापात्मक अवकल ज्यामिति मे कितना महत्व है, विक्षेप ज्यामिति मे प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। प्रथम तो निश्चल अनुकल

$$\int \sqrt{(इ उ)}\ \text{ताप तास}$$

के बाह्यजो (एक्स्ट्रीमल्स) को विक्षेप अल्पातरी कहते है। समस्त विक्षेप अल्पातरियो के आश्लेषण समतल कक्षा ३ का एक शकु (कोन) बनाते है। उक्त शकु का निशित अक्ष ग्रीन और फ्यूबिनी का विक्षेप अभिलब होता है। अल्पिकाओ का एक अन्य सार्वीकरण सर्वांगसमता के सयोग वक्र (यूनियन कर्व) मे मिलता है। उक्त वक्र तल पू का एक ऐसा वक्र होता है जिसके प्रत्येक बिंदु का आश्लेषण समतल उस बिंदु की सर्वांगसमता रेखा (लाइन ऑव कॉनग्रुएस) के मध्य से जाता है।

सं०ग्रं०—जी० दारबूस लेसा सुर ला थिओरी जेनेराल दे सुरफास, ४ खड (पेरिस, १८८७-९६), लेन ई० पी० १ प्रोजेक्टिव डिफरेशिअल जिऑमेट्री ऑव कर्व्ज ऐंड सर्फेसेज (शिकागो, १९३२), २ ए ट्रीटीज ऑन प्रोजेक्टिव डिफरेशिअल जिऑमेट्री (शिकागो, १९४२), जी० फ्यूबिनी और सेख जिओमेत्रिआ प्रोइएत्तिवा दिफरेन्सिआल २ खड (बोलोन्या, १९२६-२७), विल्जिस्की, ई० जी० प्रोजेक्टिव डिफ-रेशिअल जिऑमेट्री ऑव कर्व्ज ऐंड रूल्ड सर्फेसेज (लाइपजिग १९०६)। (रा० बि०)

अवकल ज्यामिति (मापीय) अवकल ज्यामिति मे उन तलो और बहुगुणो (मैनीफोल्ड्स) के गुणो का अध्ययन किया जाता है जो अपने किसी अल्पाश (एलिमेंट) के समीप स्थित हो जैसे किसी वक्र अथवा तल के गुणों का अध्ययन, उसके किसी बिंदु के पडोस में। मापीय अवकल ज्यामिति का सबध उन गुणो से है जिनमे नापने की क्रिया निहित हो।

शास्त्रीय अवकल ज्यामिति मे ऐसे वक्रो और तलो का अध्ययन किया जाता है जो त्रिविस्तारी यूक्लिडीय अवकाश (स्पेस) मे स्थित हो। इसमे अवकल कलन (डिफरेंशियल कैल्क्युलस) और अनुकल कलन (इनटेग्रल कैल्क्युलस) की विधियो का प्रयोग होता है, या यो कहिए कि इस विद्या मे हम वक्रो और तलो के उन गुणो का अध्ययन करते हैं जो त्रिविस्तारी गतियो मे भी निश्चल (इनवेरियंट) रहते है। मान लीजिए, दो बिंदु एक दूसरे के समीप स्थित है। यदि उनके समकोणीय कार्तीय निर्देशाक (य, र, ल) और (य+ताय, र+तार, ल+ताल) हो (ता≡d) तो उनकी मध्यस्थ दूरी ताव के लिये यह सूत्र होगा :

$$(\text{ताव})^2 = (\text{ताय})^2 + (\text{तार})^2 + (\text{ताल})^2 \qquad (१)$$

हम किसी वक्र बा की इस प्रकार व्याख्या करते है कि वह एक ऐसे बिंदु का बिंदुपथ है जिसके निर्देशाक एक ही प्राचल (पैरामीटर) के पदो मे व्यक्त हो सके। ऐसे वक्र के समीकरण इस प्रकार के होंगे :

$$\text{य} = \text{फ}_1(\text{ट}),\ \text{र} = \text{फ}_2(\text{ट}),\ \text{ल} = \text{फ}_3(\text{ट}), \qquad (२)$$

जिनमे ट प्राचल है। इन समीकरणो से अवकलो (डिफरेंशियलो) ताय, ताल, तार की गणना करके (१) मे प्रतिस्थापित करने से इस प्रकार का सबध प्राप्त होगा :

$$\text{ताव} = \text{फा}(\text{ट})\ \text{ताट} \qquad (३)$$

इसके अनुकलन से बा के किसी भी चाप का मान निकाला जा सकता है। मान लीजिए कि पा, फा पूर्वोक्त वक्र पर दो समीपस्थ बिंदु है जिन-पर प्राचल के सगत मान ट और ट+ताट है। जब ताट शून्य की ओर अग्रसर हो तब रेखा पा फा की जो सीमास्थिति होगी, उसे वक्र के बिंदु पा पर खीची गई स्पर्शी कहते हैं। यदि किसी वक्र के समस्त बिंदु एक समतल मे स्थित हो तो वक्र को समतल वक्र कहते है, अन्यथा उसे विषमतली (स्क्यू), कुटिल (टार्चुअस) अथवा व्यावृत (ट्विस्टेड) कहते है। मान लीजिए कि पा के समीप दो बिंदु फा, बा स्थित है। जब बिंदु बा बिंदु पा की ओर अग्रसर होता है तब समतल पाफाबा की सीमास्थिति को वक्र बा का, बिंदु पा पर, आश्लेषण समतल (प्लेन ऑव ऑस्क्युलेशन) कहते है। इसी प्रकार, जब बा, पा की ओर अग्रसर होता है, तब वृत्त पाफाबा की सीमास्थिति को वक्र बा का, बिंदु पा पर, आश्लेषण वृत्त कहते है। बिंदु पा के आश्लेषण वृत्त के केंद्र को पा का वक्रताकेंद्र और उसकी त्रिज्या को वृत्तीय वक्रतात्रिज्या अथवा केवल वक्रतात्रिज्या कहते है। जब बिंदु फा, बा, भा बिंदु पा की ओर अग्रसर होते है तब गोले पा फा बा भा की सीमास्थिति को बिंदु पा का आश्लेषण गोला कहते है। उक्त गोले का केंद्रबिंदु पा का गोलीय वक्रताकेंद्र और उसकी त्रिज्या गोलीय वक्रतात्रिज्या कहलाती है। बिंदु पा पर वक्र के जितने भी अभिलब खीचे जा सकते है, सब पा की स्पर्शी पर लब होते है अत वे एक ऐसे समतल मे स्थित होते है जो उस स्पर्शी पर लब होता है। उक्त समतल को बिंदु पा पर, वक्र बा का, अभिलब समतल कहते है। पा के उस अभिलब का जो आश्लेषण समतल मे स्थित होता है, पा का मुख्य अभिलब (प्रिंसि-पल नॉर्मल) कहते है, और जो अभिलब आश्लेषण समतल पर लब होता है, पा का द्विलब (बाइ-नॉर्मल) कहलाता है।

जो कोण स्पर्शी और द्विलब एक नियत दिशा से बनाते है उनके परि-वर्तन की चाप-दरें (आर्क-रेट) वक्र बा की बिंदु पा पर क्रमानुसार वक्रता और कुटिलता (टॉर्शन) कहलाती है और उन्हें ड और ढ से निरूपित किया जाता है। किसी भी सरल रेखा की वक्रता और कुटिलता प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है और किसी भी समतल वक्र की केवल कुटिलता प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है।

वक्र के किसी बिंदु पा पर की वक्रता ड उसके आश्लेषण वृत्त की त्रिज्या का व्युत्क्रम होती है। इसीलिये उक्त वृत्त को बिंदु पा का वक्रता-वृत्त भी कहते है। राशियां ड, ढ और व का वक्र से घनिष्ठ सबध होता है। यदि ड, ढ दिए हो तो वक्र केवल स्थिति और अनुन्यास (ओरियंटेशन) छोडकर, पूर्ण रूप से निश्चित हो जाता है। जैसे, यदि वक्रता और कुटि-लता दोनों प्रत्येक बिंदु पर शून्य हो तो वक्र एक ऋजु रेखा होगा। यदि वक्रता अचर और कुटिलता शून्य हो तो वक्र एक वृत्त होगा। यदि वक्रता और कुटिलता दोनो शून्येतर हो तो वक्र एक वर्तुल भ्रमी (सर्क्युलर हेलिक्स) होगा।

किसी तल पृ की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते है कि वह एक ऐसे बिंदुपरिवार का बिंदुपथ होता है जिसमे दो प्राचल हो। यदि प्राचल व, स हो तो तल के प्राचलीय समीकरण इस प्रकार के होंगे

$$\text{य} = \text{फ}_1(\text{व}, \text{स}),\ \text{र} = \text{फ}_2(\text{व}, \text{स}),\ \text{ल} = \text{फ}_3(\text{व}, \text{स}) \qquad (४)$$

इनको वक्रीय निर्देशाक (कर्विलिनियर कोऑर्डिनेट्स) भी कहते हैं।

किसी तल के इस प्रकार के निरूपण का ढंग पहले पहल गाउस ने निकाला था।

यदि कोई वक्र **वा** तल **त** पर स्थित है तो उसका समीकरण ऐसा होगा

$$\text{फ}\ (\text{ष, स}) = 0 \qquad (५)$$

क्योंकि यदि हम इस समीकरण मे से **ष** के पदो (टर्म्स) मे **स** का मान निकालकर (४) मे रख दें तो **य, र, ल** एक ही प्राचल **ष** के फलन बन जायँगे। अत बिंदु (**य, र, ल**) का बिंदुपथ एक वक्र हो जायगा। वक्र की दिशा **ताष/तास** पर निर्भर होगी।

यदि **पा** तल **पृ** पर कोई बिंदु है तो तल पर **पा** से होकर जितने भी वक्र खीचे जा सकते है, उन सबकी स्पर्शरेखाएँ एक तल पर स्थित होगी जिसे बिंदु **पा** का स्पर्श समतल कहते हैं। जो रेखा पा से होकर उक्त समतल पर लबवत् खीची जाय, वह **पृ** की, बिंदु **पा** पर, अभिलब कहलाती है।

जिस तल का सृजन किसी ऋजुरेखा की गति से होता है, वह ऋजुरेखज तल (रूल्ड सरफेस) कहलाता है। इस प्रकार उक्त तल पर जो अनत ऋजु रेखाएँ स्थित होती हैं, तल के जनक (जेनेरेटर) कहलाती है। यदि तल का स्पर्श समतल एक ही प्राचल पर निर्भर हो तो तल को खोलकर एक समतल पर फैलाया जा सकता है। अत उसे विकास्य तल (डेवेलपेबुल सरफेस) कहते है। शकु (कोन) और बेलन (सिलिंडर) ऐसे तलो के सरल उदाहरण है। वह ऋजुरेखज तल जो विकास्य न हो, विषमतली कहलाता है। जो ऋजुरेखज तल किसी विषमतली वक्र के स्पर्शियो से बनता है, विकास्य होता है, किंतु जिन ऋजुरेखज तलो का सृजन किसी विषमतलीय वक्र के मुख्य अभिलबो अथवा द्विलबो द्वारा होता है, वे विषमतलीय होते है।

यदि (४) मे अवकलो **ताय, तार, ताल** के मान निकालकर (१) मे रख दिए जायँ तो इस प्रकार का सबध प्राप्त होगा

$$\text{ताव}^2 = \text{चा ताष}^2 + \text{छा ताष तास} + \text{जा तास}^2 \text{।} \qquad (६)$$

इस समीकरण के दाहिने पक्ष मे अवकलो का जो वर्ग व्यजक है, **पृ** का प्रथम मूलभूत रूप (फडामेंटल फॉर्म) कहलाता है और गुणाक **चा, छा, जा** तल के प्रथम क्रम (ऑर्डर) के मूलभूत परिमाण (फडामेंटल मैग्निट्यूड्स) कहलाते है। इनमे **ष, स** के प्रति **य, र, ल** के केवल प्रथम आशिक अवकलजो (डेरिवेटिव्ज) का समावेश होता है। **पृ** पर स्थित वक्रो की चाप लबाइया, वक्रो के मध्यस्थ कोण और **पृ** के विभिन्न भागो के क्षेत्रफल, इन सबम केवल **चा, छा, जा** का ही समावेश होता है।

यदि तल **पृ** का, **पा** के अभिलब से होकर किसी दिशा मे खीचे गए समतल द्वारा, काट (सेक्शन) लिया जाय तो उसे अभिलब काट (नॉर्मल सेक्शन) कहते है और यदि इस अभिलब काट की वक्रता निकाली जाय, तो वह उस दिशा मे **पा** की अभिलबवक्रता कहलाती है। **ताष/तास** की दिशा मे बिंदु (**ष, स**) की अभिलबवक्रता का सूत्र यह है

$$\text{ङ}_{\text{न}} = \frac{\text{टा ताष}^2 + २\ \text{ठा ताष तास} + \text{डा तास}^2}{\text{चा ताष}^2 + २\ \text{छा ताष तास} + \text{जा तास}^2}, \qquad (७)$$

जिसमे दक्षिण पक्ष के व्यजक के अश को **पृ** का द्वितीय मूलभूत रूप कहते है और **टा, ठा, डा** तल के द्वितीय क्रम के मूलभूत परिमाण कहलाते है। इनमे **य, र, ल** के, **ष, स** के प्रति, द्वितीय क्रम के अवकलजो का समावेश होता है। छह गुणाको **चा, छा, जा, टा, ठा, डा** मे परस्पर तीन स्वतत्र सबध होते है जिन्हे गाउस और मैनार्डी कोडाजी समीकरण कहते है। तल सिद्धात मे इन छह गुणाको का उतना ही महत्व है जितना वक्र सिद्धात मे वक्रता और कुटिलता का। यदि ये छह गुणाक **ष, स** के फलनो के रूप मे दिए हो तो स्थिति और अनुन्यास को छोडकर, तल पूर्ण रूप से निश्चित हो जाता है। वह तल जिसके प्रत्येक बिंदु पर **टा, ठा, डा** शून्य हो, समतल होता है। वह तल जिसके लिये

$$\frac{\text{टा}}{\text{चा}} = \frac{\text{ठा}}{\text{छा}} = \frac{\text{डा}}{\text{जा}},$$

या तो गोला होगा या समतल। किसी बिंदु की अभिलंब-वक्रता **ताष/तास** पर निर्भर रहती है। यदि यह किसी बिंदु की प्रत्येक दिशा में एक समान हो तो बिंदु को नाभिज (अबिलिक) कहते है। यदि किसी तल का प्रत्येक बिंदु नाभिज हो तो तल एक गोला होगा। यदि किसी तल का कोई बिंदु **पा** नाभिज न हो तो **पा** पर दो परस्पर लब दिशाएँ ऐसी होगी जिनकी अभिलबवक्रताएँ चरम (एक्स्ट्रीमम) होगी। ये दिशाएँ मुख्य दिशाएँ, और इन दिशाओ की अभिलबवक्रताएँ मुख्य वक्रताएँ कहलाती हैं। किसी बिंदु की मुख्य वक्रताओ का जोड माध्य वक्रता (मीन कर्वेचर) कहलाता है और उसे **जा** से निरूपित करते है। इसी प्रकार, मुख्य वक्रताओ का गुणनफल गाउसी वक्रता कहलाता है और **झा** से निरूपित होता है। यदि किसी तल के प्रत्यक बिंदु की माध्य वक्रता शून्य हो तो उसे लघुतमी तल (मिनिमल सर्फेस) कहते है। रज्जुज (कैटेनॉयड) और लाबिक सर्पिलज (राइट हेलिकॉयड) लघुतमी तलो के उदाहरण है। ऋजुरेखज लघुतमी तल केवल लाबिक सर्पिलज ही होता है और लघुतमी परिक्रमण तल केवल रज्जुज ही होता है। यदि किसी तल के प्रत्येक बिंदु की गाउसी वक्रता शून्य हो तो तल एक छद्मगोला (सूडो-स्फियर) होगा। गाउसी वक्रता की ज्यामितीय परिभाषा इस प्रकार भी दी जा सकती है :

मान लीजिए, **पृ** का एक छोटा सा भाग **प्री** है जिसका पर्यंत वक्र **बा** है। एक एकक (यूनिट) त्रिज्या का एक गोला लेकर केंद्र से **बा** के बिंदुओ पर **पृ** के अभिलबो के समानर रेखाएँ खीचे। ये रेखाएँ गोले के तल को जिन बिंदुओ पर काटती है, मान लीजिए, उनसे वक्र **बी** का सृजन होता है। जब क्षेत्र **प्री** सिकुडकर बिंदु **पा** से अभिन्न हो जाता है तब अनुपात

$$\frac{\text{बी से समावृत क्षेत्र}}{\text{बा से समावृत क्षेत्र}}$$

की सीमा को बिंदु **पा** पर **पृ** की गाउसी वक्रता कहते है जिसका सूत्र यह है :

$$\text{झा} = \frac{\text{टा डा} - \text{ठा}^2}{\text{चा जा} - \text{छा}^2} \text{।} \qquad (८)$$

पृ पर स्थित वे वक्र, प्रत्येक बिंदु पर जिनकी दिशाएँ मुख्य दिशाएँ होती हैं, **पृ** की वक्रतारेखाएँ कहलाती है। गोले और समतल को छोडकर शेष प्रत्येक तल पर वक्रतारेखाओ के दो परिवार होते है जो परस्पर लबवत् काटते है। किसी परिक्रमण तल की वक्रतारेखाएँ अक्षाश (लैटीटयूड) रेखाएँ और देशातर (लाजीटयूड) रेखाएँ होती है। किसी सकेंद्र द्विघाती तल की वक्रतारेखाएँ वे वक्र होती है जिनमे वे अपने समनाभियो (कॉनफोकल्स) को काटती है।

यदि **पृ** पर कोई वक्र **बा** ऐसा हो कि प्रत्येक बिंदु पर **बा** की दिशा मे अभिलबवक्रता शून्य हो तो **बा** को **पृ** की अनतस्पर्शी रेखा (ऐसिंपटोटिक लाइन) कहते है। साधारणतया, प्रत्येक तल पर अनतस्पर्शी रेखाओ के दो परिवार होते है जिनका समीकरण यह होता है

$$\text{टा ताष}^2 + २\ \text{ठा ताष तास} + \text{डा तास}^2 = 0 \qquad (९)$$

लाबिक सर्पिलज की अनतस्पर्शी रेखाएँ उसके जनक और भ्रमी होती है। किसी लघुतमी तल पर उसकी अनतस्पर्शी रेखाएँ एक समकोणीय जाल बनाती है। अनतस्पर्शी रेखाओ का अध्ययन हम एक अन्य दृष्टिकोण से भी कर सकते है। मान लीजिए कि **पा, फा** तल **पृ** पर दो समीपस्थ बिंदु हैं। मान लीजिए कि **पा** से होती हुई, **पा** और **फा** के स्पर्श समतलो की प्रतिच्छेद रेखा के समानर, रेखा **पा बा** खीची गई है। जब **फा, पा** की ओर अग्रसर होता है, तब **पा फा** और **पा बा** की दिशाएँ परस्पर सयुग्मी (कॉन्जुगेट) कहलाती है। वक्रो के दो कुलक (सेट्स) जो **त** पर स्थित हो और जिनके किसी भी बिंदु पर खीचे गए स्पर्शी सयुग्मी हो, एक सयुग्मी जाल का निर्माण करते है। जो वक्र सयुग्मी (सेल्फ-कॉन्जुगेट) हो, अनतस्पर्शी रेखा कहलाता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि **बा** के किसी भी बिंदु की अनतस्पर्शी रेखा **पृ** के उसी बिंदु के द्विलब से अभिन्न होती है और किसी अनतस्पर्शी रेखा के किसी बिंदु पर खीची गई स्पर्शी की दिशा वही होती है जो तल के उसी बिंदु पर खीची गई दो नतिपरिवर्तन स्पर्शियो (इनफ्लेक्शनल टैनजेंट्स) मे से एक होती है।

पृ पर, अनंतस्पर्शी रेखाओं और वक्रतारेखाओं के अतिरिक्त, एक अन्य महत्वपूर्ण वक्र होता है जिसे अल्पातरी (जिओडेसिक) कहते हैं। **पृ** के प्रत्येक बिंदु **पा** से होकर, और प्रत्येक दिशा मे, एक वक्र ऐसा होता है जिसका **पा** वाला आश्लेषण समतल, **पृ** के बिंदु **पा** पर खीचे गए अभिलंब, से होकर जाता है। अत उक्त वक्र के प्रत्येक बिंदु का मुख्य अभिलंब, उस बिंदु पर खीचे गए **पृ** के अभिलब से अभिन्न होता है। ऐसे वक्र को अल्पातरी कहते हैं। अल्पातरी तल के किन्ही दो बिंदुओ के मध्यस्थ सबसे छोटा मार्ग अल्पातरी होता है। किसी तल के अल्पातरियो के अवकल समीकरण मे केवल **चा, छा, जा** और इनके प्रथम आंशिक अवकलजो का समावेश होता है। किसी गोले के अल्पांतरी बृहत् वृत्त (ग्रेट सर्किल्स) होते है। यदि **पा**, वक्र **वा** का कोई बिंदु है तो **पा** का वह अल्पातरी जो **वा** के **पा** पर खींचे गए स्पर्शी की दिशा मे खीचा जाय, वक्र **वा** का, बिंदु **पा** पर, अल्पांतरी स्पर्शी (जिओडेसिक टैनजेंट) कहलाता है। किसी वक्र के किसी बिंदु पर के अल्पातरी स्पर्शी की सगत वक्रता को उस बिंदु की अल्पातरी वक्रता कहते है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि वक्र **वा** के किसी बिंदु **पा** की अल्पातरी वक्रता बिंदु के उस वक्रता सदिश (कर्वेचर वेक्टर) का विघटित भाग (रिज़ॉल्व्ड पार्ट) होती है जो उस बिंदु के स्पर्शी समतल मे स्थित हो। किसी अल्पातरी की अल्पातरी वक्रता उसके प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है। विलोमत, यदि किसी वक्र के प्रत्येक बिंदु पर उसकी अल्पातरी वक्रता शून्य हो तो वक्र स्वय एक अल्पातरी होगा।

वक्र **वा** के किसी बिंदु **पा** के अल्पातरी स्पर्शी की कुटिलता उस बिंदु पर वक्र की कुटिलता कहलाती है। जितने वक्र एक दूसरे को **पा** पर स्पर्श करते है, उन सबकी अल्पातरी कुटिलता एक सी होती है। किसी भी तल **पृ** के प्रत्येक बिंदु **पा** पर दो दिशाएँ होती हैं जिनमे अल्पातरी कुटिलता चरम होती है। **पृ** पर स्थित वे वक्र अल्पांतरी कुटिलता रेखाएँ (लाइन्स ऑव जिओडेसिक टॉर्शन) कहलाते हैं जिनके प्रत्येक बिंदु पर खीचा गया स्पर्शी चरम अल्पातरी कुटिलता की दिशा मे होता है। किसी बिंदु पर अल्पातरी कुटिलता रेखा की दिशा मे दो मुख्य वक्रताएँ होती है, जिनके माध्य को उस बिंदु की अभिलब वक्रता (नॉर्मल कर्वेचर) कहते हैं। **पृ** पर वे वक्र लक्षण रेखाएँ (कैरिक्टरस्टिक लाइन्स) कहलाते है जिनके प्रत्येक बिंदु का स्पर्शी उस दिशा मे होता है जिस दिशा मे अल्पातरी कुटिलता और अभिलब वक्रता का अनुपात चरम हो। किसी तल पर स्थित वे वक्र जिनका समीकरण

$$\text{चा ताव}^2 + 2\,\text{छा ताव तास} + \text{जा तास}^2 = 0 \qquad (10)$$

हो, मोघ रेखाएँ (नल लाइन्स) कहलाती हैं। किसी तल पर स्थित वक्रो के ये पाँच परिवार—मोघ रेखाएँ, अनंतस्पर्शी रेखाएँ, वक्रता रेखाएँ, अल्पातरी कुटिलता रेखाएँ और लक्षण रेखाएँ—एक बद सहति (क्लोज्ड सिस्टम) का निर्माण करते है। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई भी दो समीकरण इस रूप मे लिए जायँ.

$$\text{फ} = 0, \qquad \text{फि} = 0,$$

और इनके जैकोबियनों को शून्य के बराबर रखा जाय तो उपर्युक्त पाँच सहतियों के अतिरिक्त और कोई सहति प्राप्त नही होगी।

किंतु शास्त्रीय अवकल ज्यामिति की भाँति यह मानना आवश्यक नही है कि कोई तल यूक्लिडीय अवकाश मे ही स्थित होगा।

आधुनिक दृष्टिकोण मे किसी बिंदु को **स** सख्याओ

$$(\text{य}_1, \text{य}_2, \ldots, \text{य}_\text{स})$$

का क्रमित कुलक (आर्डर्ड सेट) माना जाता है। इस बिंदु से इसके समीपस्थ बिंदु

$$(\text{य}_1 + \text{ताय}_1, \text{य}_2 + \text{ताय}_2, \ldots, \text{य}_\text{स} + \text{ताय}_\text{स})$$

की दूरी **ताव** के लिये सूत्र यह है.

$$\text{ताव}^2 = \text{घ}_{\text{तप}}\,\text{ताय}^\text{त}\,\text{ताय}^\text{प}, \qquad (11)$$

जिसमे दक्षिण पक्ष का वर्ग-अवकल-रूप एक धनात्मक निश्चित रूप (पॉजिटिव-डेफिनिट फ़ॉर्म) है। कोई अवकाश जिसमे **ताव** का सूत्र (११) हो, **स** विस्तारो का रीमानीय अवकाश (रीमानियन स्पेस) कहलाता है। जिस प्रकार हम यूक्लिडीय त्रिविस्तारी अवकाश मे वक्रो और तलो का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार हम रीमानीय अवकाश $\text{आ}_\text{स}$ मे भी वक्रों और उपावकाशो (सब-स्पेसेज) का अध्ययन करते हैं। $\text{आ}_\text{स}$ के किसी बिंदु का बिंदुपथ, जिसके निर्देशाक एक ही प्राचल **व** के पदो मे व्यक्त किए जा सके, $\text{आ}_\text{स}$ का वक्र कहलाता है। $\text{आ}_\text{स}$ के उन बिंदुओ का बिंदुपथ जिनके निर्देशाक **म** प्राचलो ($\text{र}^1, \text{र}^2, \ldots, \text{र}^\text{म}$) के पदो मे रखे जा सके, $\text{आ}_\text{स}$ मे स्थित **म**- विस्तारी *उपावकाश कहलाता है।* यदि **म** = **स** − १ तो उपावकाश को $\text{आ}_\text{स}$ का परावकाश (हाइपर स्पेस) कहते हैं। उपावकाश **म** = १ ही एक साधारण वक्र होता है। जैसे यूक्लिडीय मापज (मेट्रिक) (१) से तल पर मापज (६) प्राप्त होता है, वैसे ही मापज (११) से उपावकाश

$$\text{य}^\text{त} = \text{फ}^\text{त}\,(\text{र}^1, \text{र}^2, \quad, \text{र}^\text{म}), \; \text{त} = 1, 2, \quad, \text{स}$$

मे निम्नलिखित मापज प्राप्त होता है

$$\text{ताव}^2 = \text{क}_{\text{ड}}\;\text{तार}^\text{ड}\,\text{तार}^\text{ढ}\,। \qquad (12)$$

रीमानीय ज्यामिति का अध्ययन प्रदिश कलन (टेन्सर कैल्क्युलस) की सहायता से किया जाता है। पिछले कतिपय दशको मे रीमानीय ज्यामिति के कई सार्वीकरण (जेनरलाइजेशन) निकल आए है। इनमे से एक महत्वपूर्ण सार्वीकरण फिन्स्लर ज्यामिति अथवा सार्वमापज ज्यामिति (ज्योमेट्री ऑव दि जेनरल मेट्रिक) है जिसमे रीमानीय मापज का स्थान निर्देशाको और अवकलो का एक अधिक सार्विक फलन **फा (य, ताय)** ले लेता है।

सं०ग्र०—फोरसाइथ · लेक्चर्स ऑन डिफरेशियल ज्योमेट्री ऑव कर्व्ज़ ऐंड सरफेसेज, आइज़ेनहार्ट डिफरेंशियल ज्योमेट्री, आइज़ेनहार्ट इट्रोडक्शन टु डिफरेशियल ज्योमेट्री विद एड ऑव दि टेसर कैल्क्युलस, वेदरबर्न डिफरेशियल ज्योमेट्री, २ खड, वेदरबर्न . रीमानियन ज्योमेट्री ऐंड टेसर कैल्क्युलस, डुशेक और मेयर लेरबुख डर डिफरेशियल ज्योमेट्री, २ खड, ई० पी० लेन मेट्रिक डिफरेशियल ज्योमेट्री ऑव कर्व्ज़ ऐंड सरफेसेज (१६४०)। (रा० बि०)

अवकल समीकरण

अवकल समीकरण (डिफरेशियल ईक्वेशस) उन सबंधो को कहते हैं जिनमे स्वतत्र चल तथा अज्ञात परतत्र चल के साथ साथ उस परतत्र चल के एक या अधिक अवकल गुणक (डिफरेंशियल कोइफिशेंट्स) हो। यदि परतत्र चल एक तथा स्वतत्र चल भी एक ही हो तो सबध को **साधारण** (ऑर्डिनरी) **अवकल समीकरण** कहते हैं। जब परतत्र चल तो एक परतु स्वतत्र चल अनेक हो तो परतत्र चल के खडावकल गुणक होते हैं। जब ये उपस्थित रहते है तब सबध को आशिक (पार्शियल) **अवकल समीकरण** कहते है। परतत्र चल को स्वतत्र चल के पदो मे व्यजित करने को अवकल समीकरण का हल करना कहा जाता है।

यदि अवकल समीकरण मे **च** वी कक्षा का (ऑर्डर) अवकल गुणक हो, और अधिक का नही, तो अवकल समीकरण **च** वी कक्षा का कहलाता है। उच्चतम कक्षा के अवकल गुणक का घात (पॉवर) ही अवकल समीकरण का घात कहलाता है। घात ज्ञात करने के पहले समीकरण को भिन्न तथा करणी चिह्नो से इस प्रकार मुक्त कर लेना चाहिए कि उसमे अवकल गुणको पर कोई भिन्नात्मक घात न हो। उदाहरणत

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} = \frac{\text{प}(\text{य})}{\text{फ}(\text{र})}, \qquad (1)$$

$$(1-\text{य}^2)\,\frac{\text{ता}^2\text{र}}{\text{ताय}^2} = 2\text{य}\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} + 2\,\text{र} = 0, \qquad (2)$$

$$\left(\frac{\text{ता}^4\text{र}}{\text{ताय}^4}\right)^3 + \text{फ}(\text{य})\left(\frac{\text{तार}}{\text{ताय}}\right)^6 + \text{प}(\text{य})\,\text{र} = \text{ब}(\text{य}), \qquad (3)$$

$$\text{फ}(\text{य}) = \frac{\text{तार}}{\text{ताय}} \Big/ \sqrt{\left\{1 + \left(\frac{\text{ता}^2\text{र}}{\text{ताय}^2}\right)^2\right\}}, \qquad (4)$$

मे अवकल समीकरण (१) पहली कक्षा तथा एक घात का है; (२) की कक्षा दो परतु घात एक है, (३) की कक्षा चार तथा घात पाँच है; और (४) की कक्षा दो और घात तीन (जैसा भिन्न और करणी चिह्नों से मुक्त करने पर स्पष्ट हो जाता है)।

यदि $अ_1$, $अ_2$, $अ_3$, . ., $अ_म$ स्वेच्छ अचल हों और

$$फ(य, र, अ_1, अ_2, अ_3, \ldots, \ldots, अ_म) = ० \quad (५)$$

मे फ चलो य, र का कोई फलन, तो इसे म बार अवकलन करने से म अन्य समीकरण प्राप्त होते हैं। इन म + १ समीकरणों द्वारा सभी अचलो के लुप्तीकरण से संबध

$$प(य, र, \frac{तार}{ताय}, \frac{ता^2 र}{ताय^2}, \ldots, \frac{ता^म र}{ताय^म}) = ० \quad (६)$$

प्राप्त होता है। यह (५) का अवकल समीकरण है, जो म वी कक्षा का है। सबध (५) को अवकल समीकरण (६) का **पूर्ण पूर्वग** कहते है। इसे **व्यापक अनुकल या व्यापक हल** भी कहते है। यह आवश्यक नही कि पूर्वग य का स्पष्ट फलन हो। वास्तव मे य, र के वे सभी सबध अवकल समीकरण के अवकल कहलाते हैं जिनसे प्राप्त र तथा र के अन्य अवकल गुणाको के मान अवकल समीकरण को सतुष्ट कर सकते हैं। (५) और (६) से यह स्पष्ट है कि पूर्ण पूर्वग मे स्वेच्छ अचलो की सख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर होती है। यदि पूर्ण पूर्वग मे कुछ या सब अचलो को विशेष मान दे दिए जायँ तो वह **विशिष्ट अनुकल** कहलाता है।

यदि सबध (५) का लेखाचित्र खीचा जाय तो स्वेच्छ अचलो को भिन्न भिन्न मान देने से अनत वक्र मिलेगे। वक्रो के इस समुदाय मे एक ऐसी विशेषता है जो इसके प्रत्येक वक्र मे पाई जाती है और जो स्वतत्र अचलो पर निर्भर नही है। इसी विशेषता को अवकल समीकरण प्रकट करता है और वक्रो का यह समुदाय अवकल समीकरण का **वक्रपरिवार** कहलाता है।

अवकल समीकरण का अनुकलन सरल नही है। अभी तक प्रथम कक्षा के अवकल समीकरण भी पूर्ण रूप से हल नही हो पाए हैं। कुछ अवस्थाओ मे अनुकलन सभव है, जिनका ज्ञान इस विषय की भिन्न भिन्न पुस्तको से प्राप्त हो सकता है। अनुकलन करने की विधियाँ साकेतिक रूप मे यहाँ दी जाती है।

प्रथम कक्षा और एक घात के अवकल समीकरण—इनके हल करने की बहुत विधियाँ है। उदाहरणत

(अ) चलो को पृथक् करके अनुकलन करते हैं, उदाहरणत, अवकल समीकरण (१) को निम्नाकित प्रकार से लिख सकते है .

$$फ(र) तार = प(य) ताय।$$

अत अनुकलन करके

$$\int फ(र) तार = \int प(य) ताय + अ,$$

जो अवकल समीकरण (१) का पूर्ण पूर्वग है।

(आ) समघाती समीकरण, जैसे

$$\frac{तार}{ताय} = \frac{यर + य^2 + र^2}{3र^2 + य^2}।$$

इसमे र = पय लिखने से चल पृथक् हो जाते हैं, फिर (अ) की तरह अनुकलन कर लेते हैं।

(इ) **एकघात अवकल समीकरण**—जब अवकल समीकरण मे र तथा र के सभी अवकल गुणाक एक घात के हो तो वह **एकघात अवकल समीकरण** कहलाता है। पहली कक्षा के एकघात समीकरण का उदाहरण

$$\frac{तार}{ताय} + प(य)र = ब(य)$$

है। इसको हल करने के लिये दोनो पक्षों को

$$ई^{\int प(य) ताय}$$

से गुणा कर देते हैं [जहाँ ई ($\equiv e$) प्राकृतिक लघुगुणको का आधार है], इससे बायाँ पक्ष $र ई^{\int प(य) ताय}$ का अवकल गुणाक हो जाता है। दोनों पक्षो का अनुकलन करने से

$$र ई^{\int प(य) ताय} = \int ब(य) ई^{\int प(य) ताय} ताय + अ$$

प्राप्त होता है जो अवकल समीकरण का पूर्ण पूर्वग है।

(ई) **शुद्ध अवकल समीकरण**—ऊपर बता चुके हैं कि पूर्वग से स्वेच्छ अचलो को हटा देने से अवकल समीकरण प्राप्त होता है। यदि स्वेच्छ अचलो का लुप्तीकरण गुणा, भाग तथा अन्य बीजगणितीय क्रियाओ के बिना ही केवल अवकलन द्वारा हो जाय तो इस प्रकार प्राप्त समीकरण को शुद्ध अवकल समीकरण कहते हैं। कभी कभी अवकल समीकरण किसी फलन मे गुणा करने पर शुद्ध अवकल समीकरण बन जाता है। ऐसे गुणक को **अनुकलन गुणक** कहते है। जैसे (इ) मे $ई^{\int प(य) ताय}$ अनुकलन गुणक है। प्रथम कक्षा का अवकल समीकरण

$$फ(य, र) तार + प(य, र) ताय = ०$$

तब शुद्ध होता है जब $\frac{तफ}{तय} = \frac{तप}{तर}$।

यहाँ तफ/तय का अर्थ है फ(य, र) का य के अनुसार आंशिक अवकल गुणाक।

कुछ अवकल समीकरण ऐसे होते है जो वैसे तो उपर्युक्त रूपो मे नही होते परतु स्वतत्र और परतत्र चलो की उचित स्थानापत्ति (सब्स्टिट्यूशन) से इन रूपो मे लाए जा सकते है तथा उनकी तरह हल किए जा सकते है। इस विधि को स्वतत्र चल परिवर्तन तथा परतत्र चल परिवर्तन कहते है।

प्रथम कक्षा परंतु एक से उच्च घात के अवकल समीकरण—प्रथम कक्षा परतु एक से उच्च घात के अवकल समीकरण से तार/ताय का मान बीजगणितीय रीतियो से निकालकर उपर्युक्त विधियो से हल कर लेते हैं। इसके हल मे स्वेच्छ अचल होता तो एक है, परतु उसका घात अवकल गुणाक के घात के बराबर होता है।

अवकल समीकरण के वक्रपरिवार का अवगुठन (एनवेलप) उस परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्पर्श करता है। अत स्पर्शबिदु के नियामक तथा सगत सदस्य के तार/ताय का मान ही उस बिंदु पर अवगुठन के तार/ताय का मान होता है। अत अवगुठन का समीकरण अवकल समीकरण को सतुष्ट करता है। अवगुठन इस परिवार का सदस्य नही है, न पूर्वग मे स्वेच्छ अचलो को विशेष मान देने से ही प्राप्त होता है। अत: यह हल **अपूर्व अनुकल** (सिंगुलर सोल्यूशन) कहलाता है, जो वास्तव मे परिवार के अवगुठन का समीकरण होता है।

एक से उच्च कक्षा के एकघात अवकल समीकरण—यदि एकघात अवकल समीकरण

$$प_0(य)\frac{ता^न र}{ताय^न} + प_1(य)\frac{ता^{न-1} र}{ताय^{न-1}} + \ldots + प_{न-1}(य)\frac{तार}{ताय} + प_न र = ० \quad (७)$$

पर विचार करे तो स्थानापत्ति से यह स्पष्ट है कि यदि $र = फ_1(य)$ इसका एक हल है तो $र = क_1 फ_1(य)$, भी हल होगा जहाँ $क_1$ कोई स्वेच्छ अचल है। यदि $र = फ_1(य)$, $र = फ_2(य)$, $र = फ_3(य)$, . . , $र = फ_न(य)$ सभी हल हो तो

$$र = क_1 फ_1(य) + क_2 फ_2(य) + \ldots + क_न फ_न(य) \quad (८)$$

भी (७) का हल होगा जहाँ $क_1$, $क_2$, . ., $क_न$ स्वेच्छ अचल है। यदि ये सब फलन स्वतत्र हो तो मान (८) अवकल समीकरण (७) का पूर्ण पूर्वग होगा, क्योकि इसमे स्वेच्छ अचलो की संख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर है।

समीकरण

$$प_0(य)\frac{ता^न र}{ताय^न} + प_1(य)\frac{ता^{न-1} र}{ताय^{न-1}} + \ldots + प_{न-1}(य)\frac{तार}{ताय} + प_न र = ब(य) \quad (९)$$

समीकरण (७) की सहायता से हल होता है। यदि $फ_1$, $फ_2$, . ., $फ_न$ अवकल समीकरण (७) के हल हो और फा(य) समीकरण (९) का एक विशिष्ट हल हो तो

$$र = क_1 फ_1(य) + क_2 फ_2(य) + \ldots + क_न फ_न(य) + फा(य) \quad (१०)$$

समीकरण (९) का पूर्ण पूर्वग होगा।

अवकल गुणकों के गुणांक (कोइफिशेंट) यदि अचल हों, अर्थात् समीकरण निम्नांकित प्रकार का हो

$$क_० \frac{ता^च र}{ताय^च} + क_१ \frac{ता^{च-१} र}{ताय^{च-१}} + \ldots + क_{च-१} \frac{तार}{ताय} + क_च र = ०, \quad (११)$$

जिसमें $क_०, क_१, \ldots, क_च$ अचल है तो उसमें $र = ई^{मय}$ लिखने से [जहाँ $ई (\equiv e)$ प्राकृतिक लघुगुणकों का आधार है], संबंध

$$क_० म^च + क_१ म^{च-१} + क_२ म^{च-२} + \ldots + क_{च-१} म + क^च = ० \quad (१२)$$

प्राप्त होता है। इस समीकरण को हल करने से म के च मान प्राप्त होते हैं। यदि वे $म_१, म_२, \ldots, म_च$ हों तो संबंध

$$र = ख_१ ई^{म_१ य} + ख_२ ई^{म_२ य} + \ldots + ख_च ई^{म_च य} \quad (१३)$$

समीकरण (११) को संतुष्ट करता है। मान (१३) अवकल समीकरण (११) का पूर्ण पूर्वग है। समीकरण (१२) को अवकल समीकरण (७) का **सहायक समीकरण** (ऑक्जिलियरी इक्वेशन) कहते हैं।

समीकरण

$$क_० \frac{ता^च र}{ताय^च} + क_१ \frac{ता^{च-१} र}{ताय^{च-१}} + \ldots + क_{च-१} \frac{तार}{ताय} + क_च र = ब(य) \quad (१४)$$

का हल संबंध (१३) के दाएँ पक्ष में य का एक विशेष फलन जोड़ने से प्राप्त होता है, जिसे समीकरण (१४) का **विशिष्ट अनुकलन** कहते हैं तथा (१३) को अवकल समीकरण (१४) का **पूरक फलन** कहते हैं।

विज्ञान में अधिकतर द्वितीय कक्षा के अवकल समीकरणों का ही प्रयोग होता है। इनके हल बहुत महत्व रखते हैं। एक एक समीकरण पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, जैसे लीजेंडर के अवकल समीकरण

$$(१ - य^२) \frac{ता^२ र}{ताय^२} - २य \frac{तार}{ताय} + म(म+१) र = ०$$

तथा बेसल के अवकल समीकरण

$$य^२ \frac{ता^२ र}{ताय^२} + य \frac{तार}{ताय} + (य^२ - म^२) र = ०$$

इत्यादि पर।

श्रेणी में हल—यदि हम अवकल समीकरण (२) का हल एक अनंत परंतु संसृत श्रेणी

$$र = य^च (क_० + क_१ य + क_२ य^२ + \ldots) \quad (१५)$$

मान लें, तथा इससे प्राप्त तार/ताय, $ता^२ र/ताय^२$ के मान अवकल समीकरण में स्थानापत्ति करें, तो सरल करने पर तादात्म्य

$$(१ - य^२)[-क_० च(च-१) य^{च-२} + क_१ (च+१) च य^{च-१} + क_२ (च+२)(च+१) य^च + \ldots]$$
$$- २य [क_० च य^{च-१} + क_१ (च+१) य^च + क_२ (च+२) य^{च+१} + \ldots]$$
$$+ २ [क_० य^च + क_१ य^{च+१} + क_२ य^{च+२} + \ldots] = ०$$

प्राप्त होता है।

इसको सरल करके य के प्रत्येक घात के गुणांक को शून्य के बराबर लिखने से समीकरण

$$\left.\begin{array}{l} क_० च(च-१) = ० \\ क_१ (च+१) च = ० \\ क_२ (च+२)(च+१) - क_० च(च-१) - २क_० च = ० \end{array}\right\} \quad (१६)$$

प्राप्त होते हैं। समीकरण (१६) से च = १ या ०, अन्य समीकरणों से $क_१, क_२, क_३, \ldots$ के मान च के पदों में ज्ञात कर लेते हैं। इनमें च के प्रत्येक मान को स्थानापन्न करके दो फलन

$$रा = य, री = १ - य^२ - \frac{१}{३} य^४ - \frac{१}{५} य^६ \ldots$$

प्राप्त होते हैं जिनसे (२) का पूर्ण पूर्वग

$$र = क_० रा + ख_० री$$

प्राप्त होता है। समीकरण (१६) समीकरण (२) का **घातीय समीकरण** (इंडिशियल इक्वेशन) कहलाता है। इसी प्रकार अन्य समीकरण भी हल किए जाते हैं। साधारणतः घातीय समीकरण के मूलों की संख्या अवकल समीकरणों की कक्षा के बराबर होती है।

युगपत अवकल समीकरण—यदि परतंत्र चल एक से अधिक हों तो पूर्वग ज्ञात करने के लिये साधारणतः उतने ही अवकल समीकरण होने चाहिए जितने परतंत्र चल। जैसे

$$\frac{ता^२ र}{ताय^२} + ल = य,$$

$$\frac{तार}{ताय} + \frac{ताल}{ताय} = य^२।$$

यहाँ ल और र परतंत्र चल हैं। इन समीकरणों द्वारा ल का लुप्तीकरण करने पर एक साधारण अवकल समीकरण प्राप्त होता है, जिसे हल करके र का मान प्राप्त करते हैं। फिर दिए हुए समीकरणों में र की स्थानापत्ति करके या तो ल का मान ज्ञात हो जाता है, अन्यथा ऐसा अवकल समीकरण प्राप्त होता है जिसे हल करके ल का मान ज्ञात कर सकते हैं।

यदि परतंत्र चल दो हों और केवल एक ही संबंध ज्ञात हो तो पूर्वग प्रत्येक अवस्था में ज्ञात नहीं हो सकता।

प्रथम कक्षा और एक घात का समीकरण निम्नांकित रूप में लिखा जा सकता है

$$प(य, र, ल) ताय + फ(य, र, ल) तार + ब(य, र, ल) ताल = ०।$$

इसे तभी हल कर सकते हैं जब फलन प, फ, ब समीकरण

$$प\left(\frac{तफ}{तल} - \frac{तब}{तर}\right) + फ\left(\frac{तब}{तय} - \frac{तप}{तल}\right) + ब\left(\frac{तप}{तर} - \frac{तफ}{तय}\right) = ०$$

को संतुष्ट करें। इसे **अनुकलन की शर्त** (कंडिशन ऑव इंटीग्रेबिलिटी) कहते हैं।

यदि प, फ, ब यह शर्त पूरी नहीं करते तो इसे हल करने के हेतु हम य, र, ल में दूसरा स्वेच्छ संबंध मान लेते हैं, जिसकी सहायता से पूर्वोक्त विधि या अन्य विधियों से समीकरण को हल करते हैं।

आंशिक अवकल समीकरण—ये समीकरण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं। पूर्वग को स्वेच्छ अचलों से मुक्त करके या इसे स्वेच्छ फलन से मुक्त करके।

यदि ल परतंत्र चल तथा य, र स्वतंत्र चल हों और

$$प(य, र, ल, क, ख) = ० \quad (१७)$$

में क चलों य, र, ल का कोई फलन हो तो इस संबंध तथा संबंध तप/तय = ०, तप/तर = ० से क, ख का लोप करके आंशिक अवकल समीकरण

$$फ(य, र, ल, पा, फा) = ० \quad (१८)$$

प्राप्त होता है। यहाँ

$$पा = \frac{तल}{तय}, फा = \frac{तल}{तर}।$$

संबंध (१७) समीकरण (१८) का **पूर्ण अनुकल** कहलाता है।

इस प्रकार यदि

$$ब(श, ष) = ० \quad (१९)$$

जहाँ श, ष स्वतंत्र चल य, र, ल के ज्ञात फलन हैं और ब चलों श, ष का कोई स्वेच्छ फलन है और यदि (१९) का य, र के अनुसार क्रमशः आंशिक अवकलन करके तब/तश, तब/तष का लोप करें तो प्राप्त आंशिक अवकल समीकरण का रूप

$$पी पा + फी फा = ब \quad (२०)$$

हो जाता है जहाँ पी, फी और ब चलों य, र, ल के फलन हैं।

(१९) को (२०) का **पूर्ण अनुकल** कहते हैं। क, ख को विशेष मान देने से या ब को विशेष रूप देने से प्राप्त संबंधों को विशिष्ट अनुकल कहते हैं।

यदि (१७) का लेखाचित्र खींचें तो तलों का एक परिवार मिलता है। इस तलपरिवार का अवगुंठन भी आंशिक अवकल समीकरण (१८) को संतुष्ट करता है। परंतु यह हल (१७) से प्राप्त नहीं होता। अतः **इसे अपूर्व अनुकल कहते हैं।**

यदि (१७) में **ख** को **क** का कोई स्वेच्छ फलन **फ** (**क**) मान लें तो हम देखते हैं कि

प [**य**, **र**, **ल**, **क**, **फ** (**क**)] = ०

अब यदि हम इसका लेखाचित्र **क** के भिन्न मानों के लिये खींचें तो तलों का एक परिवार मिलता है। इस परिवार के आसन्न तलों के कटान वक्रों को लाक्षणिक (कैरेक्टरिस्टिक) कहते हैं। इन वक्रों का अवगुंठन भी अवकल समीकरण (१४) को संतुष्ट करता है। इस अनुकल को **व्यापक अनुकल** कहते हैं।

प्रयुक्त गणित, भौतिक विज्ञान तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में भौतिक राशियों को समय, स्थान, ताप इत्यादि स्वतंत्र चलों के फलनों में तुरंत प्रकट करना प्रायः कठिन हो जाता है। परंतु हम उनकी वृद्धि की दर तथा उसके अवकल गुणकों में कोई न कोई संबंध बहुधा बड़ी सुगमता से पा सकते हैं। इस प्रकार ऐसे अवकल समीकरण प्राप्त होते हैं जिन्हें पूर्वोक्त राशियाँ संतुष्ट करती हैं। इन्हें हल करना उन राशियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक होता है। इसलिये विज्ञान की उन्नति बहुत अंश तक अवकल समीकरण की प्रगति पर निर्भर है।

सं०ग्रं०—गोरखप्रसाद : प्रारंभिक अवकल समीकरण; मर, प्यागो, फोरसाइथ, बेटमैन, इंस इत्यादि के अवकल समीकरण। (भ० ला० श०)

अवचेतन

(सब-कांशस) जो चेतना में न होने पर भी थोड़ा प्रयास करने से चेतना में लाया जा सके। उन भावनाओं, इच्छाओं तथा कल्पनाओं का संगठित नाम जो मानव के व्यवहार को अचेतन की भाँति अज्ञात रूप में प्रभावित करती रहने पर भी चेतना की पहुँच के बाहर नहीं है और जिनको वह अपनी भावनाओं, इच्छाओं तथा कल्पनाओं के रूप में स्वीकार कर सकता है। मानसिक जगत् में इसका स्थान अहम् तथा अचेतन के बीच माना गया है। (श० ना० उ०)

अवतारवाद

संसार के भिन्न भिन्न देशों तथा धर्मों में अवतारवाद धार्मिक नियम के समान आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। पूर्वी और पश्चिमी धर्मों में यह सामान्यतः मान्य तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है।

हिंदू—अवतारवाद की हिंदू धर्म में विशेष प्रतिष्ठा है। अत्यंत प्राचीन काल से वर्तमान काल तक यह उस धर्म के आधारभूत मौलिक सिद्धांतों में अन्यतम है। 'अवतार' का शाब्दिक अर्थ है भगवान् का अपनी स्वातंत्र्य-शक्ति के द्वारा भौतिक जगत् में मूर्तरूप से आविर्भाव होना, प्रकट होना। 'अवतार' तत्व का द्योतक प्राचीनतम शब्द 'प्रादुर्भाव' है। श्रीमद्-भागवत में 'व्यक्ति' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (१०।२९।१४)। वैष्णव धर्म में अवतार का तथ्य विशेष रूप से महत्वशाली माना जाता है, क्योंकि विष्णु (या नारायण) के पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी तथा अर्चा नामक पंचरूपधारण का सिद्धांत पांचरात्र का मौलिक तत्व है। इसीलिये वैष्णवजन भगवान् के इन नाना रूपों की उपासना अपनी रुचि तथा प्रीति के अनुसार अधिकतर करते हैं। शैवमत में भगवान् शंकर की नाना लीलाओं का वर्णन मिलता है (द्र० नीलकंठ दीक्षित का 'शिवलीलार्णव' काव्य) परंतु भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वती के मूल रूप की उपासना ही इस मत में सर्वत्र प्रचलित है।

नैतिक संतुलन—'ऋत' की स्थिति रहने पर ही जगत् की प्रतिष्ठा बनी रहती है और इस संतुलन के अभाव में जगत् का विनाश अवश्यंभावी है। सृष्टि के रक्षक भगवान् इस संतुलन की सुव्यवस्था में सदैव दत्तचित्त रहते हैं। 'ऋत' के स्थान पर 'अनृत' की, धर्म के स्थान पर अधर्म की जब कभी प्रबलता होती है, तब भगवान् का अवतार होता है। साधु का परित्राण, दुर्जन का विनाश, अधर्म का नाश तथा धर्म की स्थापना—इस महनीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भगवान् अवतार धारण करते हैं। गीता का यह श्लोक अवतारवाद का महामंत्र माना जाता है (४।८)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

परंतु ये उद्देश्य भी अवतार के लिये गौण रूप ही माने जाते हैं। अवतार का **मुख्य प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न है। सर्वैश्वर्यसंपन्न, अपराधीन, कर्म**-कालादिकों के नियामक तथा सर्वनिरपेक्ष भगवान् के लिये दुष्टदलन **और** शिष्टरक्षण का कार्य तो इतर साधनों से भी सिद्ध हो सकता है, तब **भगवान्** के अवतार का मुख्य प्रयोजन श्रीमद्भागवत (१०।२९।१४) के **अनुसार** कुछ दूसरा ही है :

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

मानवों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का जागरूक प्रयोजन है। भगवान् स्वतः अपने लीलाविलास से, अपने अनुग्रह से, साधकों को बिना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए, मुक्ति प्रदान करते हैं—अवतार का यही मौलिक तथा प्रधान उद्देश्य है।

पुराणों में अवतारवाद का हम विस्तृत तथा व्यापक दर्शन पाते हैं। इस कारण इस तत्व की उद्भावना पुराणों की देन मानना किसी भी तरह न्याय्य नहीं है। वेदों में हम अवतारवाद का मौलिक तथा प्राचीनतम आधार उपलब्ध होता है। वेदों के अनुसार प्रजापति ने जीवों की रक्षा के लिये तथा सृष्टि के कल्याण के लिये नाना रूपों का धारण किया। मत्स्यरूप धारण का संकेत मिलता है शतपथ ब्राह्मण में (१।८।१।१), कूर्म का शतपथ (७।५।१।५) तथा जैमिनीय ब्राह्मण (३।२७२) में, वराह का तैत्तिरीय संहिता (७।१।५।१) तथा शतपथ (१४।१।२।११) में, नृसिंह का तैत्तिरीय आरण्यक में तथा वामन का तैत्तिरीय संहिता (२।१।३।१) में शब्दतः तथा ऋग्वेद में विष्णुसूक्तों में अर्थतः संकेत मिलता है। ऋग्वेद में त्रिविक्रम विष्णु को तीन डगों द्वारा समग्र विश्व के नापने का बहुशः श्रेय दिया गया है (इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्—ऋग्वेद १।१५४।३)। आगे चलकर प्रजापति के स्थान पर जब विष्णु की प्रमुखता हुई, तब ये विष्णु के अवतार माने जाने लगे। पुराणों में इस प्रकार अवतारों के रूप, लीला तथा घटनावैचित्र्य का वर्णन वेद के ऊपर ही बहुशः आश्रित है।

भागवत के अनुसार सत्वनिधि हरि के अवतारों की गणना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार न सूखनेवाले (अविदासी) तालाब से हजारों छोटी छोटी नदियाँ (कुल्या) निकलती हैं, उसी प्रकार अक्षय्य सत्वाश्रय हरि से भी नाना अवतार उत्पन्न होते हैं—अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः। यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः। पांचरात्र मत में अवतार प्रधानतः चार प्रकार के होते हैं—**व्यूह** (संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध), **विभव**, **अंतर्यामी** तथा **अर्चावतार**। विष्णु के अवतारों की संख्या २४ मानी जाती है (श्रीमद्भागवत २।६), परंतु दशावतार की कल्पना नितांत लोकप्रिय है जिनकी प्रख्यात संज्ञा इस प्रकार है—दो पानीवाले जीव (वनजौ, मत्स्य तथा कच्छप), दो जलथलचारी (**वनजौ**, वराह तथा नृसिंह), वामन (खर्व), तीन राम (परशुराम, दाशरथि राम तथा बलराम), बुद्ध (सकृप) तथा कल्कि (अकृप)—

वनजौ वनजौ खर्वस्त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
अवतारा दशैवैते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

महाभारत में दशावतार में 'बुद्ध' को छोड़ दिया गया है और 'हंस' को अवतार मानकर संख्या की पूर्ति की गई है। भागवत के अनुसार '**बलराम**' की दशावतार में गणना है, क्योंकि श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ठहरे। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं, अंश नहीं, अंशी हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार परमेश्वर प्रकृति और प्रकृतिजन्य कार्य का नियमन प्रवर्तनादि कार्य करते हैं और माया से मुक्त रहते हुए भी माया से संबद्ध प्रतीत होते हैं एवं सर्वदा चिच्छक्तियुक्त होकर पुरुष कहलाते हैं जिनमें भिन्न भिन्न अवतारों की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार अवतारों के भेद हैं—पुरुषावतार, गुणावतार, कल्पावतार, मन्वंतरावतार, युगावतार, स्वल्पावतार, लीलावतार आदि। कहीं कहीं आवेशावतार आदि की भी चर्चा मिलती है, जैसे परशुराम। इस प्रकार अवतारों की संख्या तथा संज्ञा में पर्याप्त विकास हुआ है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अवतार वस्तुतः परमेश्वर का वह आविर्भाव है जिसमें वह किसी विशेष उद्देश्य को लेकर किसी विशेष रूप में, किसी विशेष देश और काल में, लोकों में अवतरण करता है।

सं०ग्रं०—भाडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर-सेक्ट्स, पूना १६२८, गोपीनाथ कविराज : भक्तिरहस्य नामक लेख ('कल्याण', हिंदू संस्कृति अंक), बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, काशी, १६५३, मुशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, काशी, १६५८।

(ब० उ०, ना० ना० उ०)

बौद्ध तथा अन्य धर्म (पारसी, सामी, मिस्री, यहूदी, यूनानी, इसलाम) बौद्ध धर्म के महायानपंथ में अवतार की कल्पना दृढ़मूल है। 'बोधिसत्व' कर्मफल की पूर्णता होने पर बुद्ध के रूप में अवतरित होते हैं तथा निर्वाण की प्राप्ति के अनंतर बुद्ध भी भविष्य में अवतार धारण करते हैं—यह महायानियों की मान्यता है। बोधिसत्व तुषित नामक स्वर्ग में निवास करते हुए अपने कर्मफल की परिपक्वता की प्रतीक्षा करते हैं और उचित अवसर आने पर वह मानव जगत् में अवतीर्ण होते हैं। थेरवादियों में यह मान्यता नहीं है। बौद्ध अवतारतत्व का पूर्ण निदर्शन हमें तिब्बत में दलाईलामा की कल्पना में उपलब्ध होता है। तिब्बत में दलाईलामा अवलोकितेश्वर बुद्ध के अवतार माने जाते हैं। तिब्बती परंपरा के अनुसार गेदन ड्रुप (१४७३ ई०) नामक लामा ने इस कल्पना का प्रथम प्रादुर्भाव किया जिसके अनुसार दलाईलामा धार्मिक गुरु तथा राजा के रूप में प्रतिष्ठित किए गए। ऐतिहासिक दृष्टि से लोजग-ग्या-मत्सो (१६१५—१६८२ ई०) नामक लामा ने ही इस परंपरा को जन्म दिया। तिब्बती लोगों का दृढ़ विश्वास है कि दलाईलामा के मरने पर उनकी आत्मा किसी बालक में प्रवेश करती है जो उस मठ के आसपास ही जन्म लेता है। इस मत का प्रचार मंगोलिया के मठों में भी विशेष रूप से है। परंतु चीन में अवतार की कल्पना मान्य नहीं थी। चीनी लोगों का पहला राजा शागती सदाचार और सद्गुण का आदर्श माना जाता था, परंतु उसके ऊपर देवत्व का आरोप कहीं भी नहीं मिलता।

पारसी धर्म में अनेक सिद्धांत हिंदुओं और विशेषत: वैदिक आर्यों के समान हैं, परंतु यहाँ अवतार की कल्पना उपलब्ध नहीं है। पारसी धर्मानुयायियों का कथन है कि इस धर्म के प्रौढ़ प्रचारक या प्रतिष्ठापक जरथुस्त्र अहुरमज्द के कहीं भी अवतार नहीं माने गए हैं। तथापि ये लोग राजा को पवित्र तथा दैवी शक्ति से संपन्न मानते थे। 'ह्वरेनाह' नामक अद्भुत तेज की सत्ता मान्य थी जिसका निवास पीछे अर्दशिर राजा में तथा सस्सनवंशी राजाओं में था, ऐसी कल्पना पारसी ग्रंथों में बहुश: उपलब्ध है। सामी (सेमेटिक) लोगों में भी अवतारवाद की कल्पना न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है। इन लोगों में राजा भौतिक शक्ति का जिस प्रकार चूड़ांत निवास था उसी प्रकार वह दैवी शक्ति का पूर्ण प्रतीक माना जाता था। इसलिये राजा को देवता का अवतार मानना यहाँ स्वभावत: सिद्ध सिद्धांत माना जाता था। प्राचीन बाबुल (बेबिलोनिया) में हमें इस मान्यता का पूर्ण विकास दिखाई देता है। किश का राजा 'उरुमुश' अपने जीवनकाल में ही ईश्वर का अवतार माना जाता था। नरामसिन नामक राजा अपने में देवता का रक्त प्रवाहित मानता था इसलिये उसने अपने मस्तक पर सींग से युक्त चिह्न अंकित करवा रखा था। वह 'अक्काद का देवता' नाम से विशेष प्रख्यात था।

मिस्री मान्यता भी कुछ ऐसी ही थी। वहाँ के राजा 'फराऊन' नाम से विख्यात थे जिन्हें मिस्री लोग दैवी शक्ति से संपन्न मानते थे। मिस्रनिवासी यह भी मानते थे कि 'रा' नामक देवता रानी के साथ सहवास कर राजपुत्र को उत्पन्न करता है, इसीलिये वह अलौकिक शक्तिसंपन्न होता है। यहूदी भी ईश्वर के अवतार मानने के पक्ष में है। बाइबिल में स्पष्टत: उल्लेख है कि ईश्वर ही मनुष्य का रूप धारण करता है और इसके पर्याप्त उदाहरण भी वहाँ उपलब्ध होते हैं। यूनानियों में अवतार की कल्पना आर्यों के समान नहीं थी परंतु वीर पुरुष विभिन्न देवों के पुत्ररूप माने जाते थे। प्रख्यात योद्धा हरक्यूलीज ज्यूस का पुत्र माना जाता था, लेकिन देवता के मनुष्यरूप में पृथ्वी पर जन्म लेने की बात यूनान में मान्य नहीं थी।

इसलाम के शिया संप्रदाय में अवतार के समान सिद्धांत का प्रचार है। शिया लोगों की यह मान्यता कि अली (मुहम्मद साहब के चचेरे भाई) तथा फ़ातिमा (मुहम्मद साहब की पुत्री) के वंशजों में ही धर्मगुरु (खलीफ़ा) बनने की योग्यता विद्यमान है, अवतार के पास तक पहुँचती है। 'इमाम' की कल्पना में भी यह तथ्य जागरूक माना जा सकता है। वे मुहम्मद साहब के वंशज ही नहीं है, प्रत्युत उनमें दिव्य ज्योति की भी सत्ता है और उनकी श्रेष्ठता का यही कारण है।

सं०ग्रं०—बार्थ : रिलिजन्स ऑव इंडिया, लंदन, १८९१, वोडेल : बुद्धिज्म ऑव तिब्बत; वीडेमन : दी एनशेंट इजिप्शियन डॉक्ट्रिन ऑव दि इम्मार्टेलिटी ऑव सोल। (ब० उ०)

ईसाई धर्म आधारभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यों की मुक्ति के उपाय बताने के उद्देश्य से ईसा में अवतरित हुआ (ईसा की संक्षिप्त जीवनी के लिये द्र० 'ईसा')।

बाइबिल के निरीक्षण से पता चलता है कि किस प्रकार ईसा के शिष्य उनके जीवनकाल में ही धीरे धीरे उनके ईश्वरत्व पर विश्वास करने लगे। इतिहास इसका साक्षी है कि ईसा के मरण के पश्चात् अर्थात् ईसाई धर्म के प्रारंभ से ही ईसा को पूर्ण रूप से ईश्वर तथा पूर्ण रूप से मनुष्य भी माना गया है। इस प्रारंभिक अवतारवादी विश्वास के सूत्रीकरण में उत्तरोत्तर स्पष्टता आती गई है। वास्तव में अवतारवाद का निरूपण विभिन्न भ्रांत धारणाओं के विरोध से विकसित हुआ। उस विकास के सोपान निम्नलिखित हैं

(१) बाइबिल में अवतारवाद का सुव्यवस्थित प्रतिपादन नहीं मिलता, फिर भी इसमें ईसाई अवतारवाद के मूलभूत तत्व विद्यमान हैं। एक ओर, ईसा का वास्तविक मनुष्य के रूप में चित्रण हुआ है—उनका जन्म और बचपन, तीस वर्ष की उम्र तक बढ़ई की जीविका, दु:खभोग और मरण, यह सब ऐसे शब्दों में वर्णित है कि पाठक के मन में ईसा के मनुष्य होने के विषय में संदेह नहीं रह जाता। दूसरी ओर, ईसा ईश्वर के अवतार के रूप में भी चित्रित हैं। तत्संबंधी शिक्षा समझने के लिये ईश्वर के स्वरूप के विषय में बाइबिल की धारणा का परिचय आवश्यक है। इसके अनुसार एक ही ईश्वर में, एक ही ईश्वरीय तत्व में तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और आत्मा, तीनों समान रूप से अनादि और अनंत हैं (विशेष विवरण के लिये द्र० 'त्रित्व')। बाइबिल में इसका अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में उल्लेख हुआ है कि ईसा ईश्वर के पुत्र हैं, जो पिता की भाँति पूर्ण रूप से ईश्वरीय हैं।

(२) प्रथम तीन शताब्दियों में बाइबिल के इस अवतारवाद के विरुद्ध कोई महत्वपूर्ण आंदोलन उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक भ्रांत धारणाओं का प्रवर्तन अवश्य हुआ था, किंतु उनमें से कोई भी धारणा अधिक समय तक प्रचलित नहीं रह सकी। प्रथम शताब्दी में दो परस्पर विरोधी वादों का प्रतिपादन किया गया था—एबियोनितिस्म के अनुसार ईसा ईश्वर नहीं थे और दोसेतिस्म के अनुसार वह मनुष्य नहीं थे। दोसेतिस्म का अर्थ है प्रतीयमानवाद, क्योंकि इस वाद के अनुसार ईसा मनुष्य के रूप में दिखाई तो पड़े, किंतु उनकी मानवता वास्तविक न होकर प्रतीयमान मात्र थी। उक्त मतों के विरोध में काथलिक धर्मतत्वज्ञ बाइबिल के उद्धरण देकर प्रमाणित करते थे कि ईसाई धर्म के सही विश्वास के अनुसार ईसा में ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों ही विद्यमान थे।

(३) चौथी शताब्दी ई० में आरियस ने त्रित्व और अवतारवाद के विषय में एक नया मत प्रचलित करने का सफल प्रयास किया जिससे बहुत समय तक समस्त ईसाई संसार में अशांति व्याप्त रही। आरियस के अनुसार ईश्वर का पुत्र तो ईसा में अवतरित हुआ किंतु पुत्र ईश्वरीय न होकर पिता की सृष्टि मात्र है (द्र० 'आरियस')। इस शिक्षा के विरोध में ईसाई गिरजे की प्रथम महासभा ने घोषित किया—"पिता और पुत्र तत्वत: एक हैं", अर्थात् दोनों समान रूप से ईश्वर हैं। इस महासभा का आयोजन ३२५ ई० में निसेया नामक नगर में हुआ था।

(४) आरियस के बाद अपोलिनारिस ने ईसा के अपूर्ण मनुष्यत्व का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उनके अनुसार ईसा के मानव शरीर तथा प्राणधारी जीव (ऐनिमल सोल) था, किंतु उनके बुद्धिसंपन्न आत्मा (रैशनल सोल) नहीं थी, ईश्वर का पुत्र मानवीय आत्मा का स्थान लेता था। कुस्तुंतुनिया की महासभा ने ३८१ ई० में अपोलिनारिस के विरुद्ध घोषित

किया कि ईसा के वास्तविक मानव शरीर में एक बुद्धिसंपन्न वास्तविक मानवीय आत्मा विद्यमान थी।

(५) पाँचवी शताब्दी मे कुस्तुंतुनिया के बिशप नेस्तोरियस ने अवतारवाद संबंधी एक नई धारणा का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप कायलिक गिरजे की तृतीय महासभा का आयोजन एफेसस मे ४३१ ई० मे हुआ था। नेस्तोरियस के अनुसार ईसा मे दो व्यक्ति विद्यमान थे—एक मानव व्यक्ति, जो पूर्ण मानवीय स्वभाव अर्थात् शरीर और आत्मा से संपन्न था और एक ईश्वरीय व्यक्ति (ईश्वर का पुत्र), जो ईश्वरीय स्वभाव से संपन्न था। अत ईश्वर मनुष्य नही बना प्रत्युत उसने एक स्वत.पूर्ण मनुष्य मे निवास किया है। एफेसस की महासभा ने नेस्तोरियस को पदच्युत किया तथा उनकी शिक्षा के विरोध मे घोषित किया कि ईसा मे केवल एक ही व्यक्ति अर्थात् ईश्वर का पुत्र विद्यमान है। अनादिकाल से ईश्वरीय स्वभाव से संपन्न होकर ईश्वर के पुत्र ने मानवीय स्वभाव (शरीर और आत्मा) को अपना लिया और इस प्रकार एक ही व्यक्ति मे ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों का संयोग हुआ।

(६) नेस्तोरियस के मत के प्रतिक्रियास्वरूप कुछ विद्वानो ने ईसा मे न केवल एक ही व्यक्ति प्रत्युत एक ही स्वभाव भी मान लिया है। इस वाद का नाम मोनोफिसितिस्म अर्थात् एकस्वभाववाद है; यूतिकस इसका प्रवर्तक माना जाता है। इस वाद के अनुसार अवतरित होने के पश्चात् ईसा का ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो इस प्रकार एक हो गए कि एक नया स्वभाव, एक नवीन तत्व उत्पन्न हुआ, जो न पूर्ण रूप से ईश्वरीय और न पूर्ण रूप से मानवीय था। दूसरो के अनुसार ईसा का मनुष्यत्व उनके ईश्वरत्व मे पूर्णतया लीन हो गया जिससे ईसा मे ईश्वरीय स्वभाव मात्र शेष रहा। इस एकस्वभाववाद के विरुद्ध चतुर्थ महासभा (काल्सेदोन, ४५१ ई०) ने परंपरागत अवतारवाद की पूर्ण रक्षा करते हुए ठहराया कि ईसा मे ईश्वरत्व और मनुष्यत्व दोनो अक्षुण्ण और पृथक् हैं।

(७) बाद मे एकस्वभाववाद का परिवर्तित रूप प्रचलित हुआ। यह नया वाद ईसा का ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो को स्वीकार करते हुए भी मानता था कि उनका मनुष्यत्व पूर्णतया निष्क्रिय था, यहाँ तक कि उसमे मानवीय इच्छाशक्ति का भी अभाव था। ईसा का समस्त कार्यकलाप उनकी ईश्वरीय इच्छाशक्ति से प्रेरित था। इस मत के विरोध मे कुस्तुंतुनिया की एक नई महासभा ने ६८० ई० मे ईसा का पूर्ण मनुष्यत्व प्रतिपादित करते हुए घोषित किया कि ईसा मे ईश्वरीय इच्छाशक्ति तथा कार्यकलाप के अतिरिक्त एक मानवीय इच्छाशक्ति तथा कार्यकलाप का पृथक् अस्तित्व था।

(८) इस प्रकार हम देखते है कि प्रारंभिक अवतारवादी विश्वास की पूर्ण रक्षा करते हुए इसके सैद्धांतिक सूत्रीकरण का शताब्दियो तक विकास होता रहा। अन्ततोगत्वा यह माना गया कि ईश्वर के पुत्र ने पूर्णतया ईश्वर रहते हुए मनुष्यत्व अपना लिया है, अत एक ही ईश्वरीय व्यक्ति मे दो स्वभावों का—ईश्वरत्व और मनुष्यत्व का—संयोग हुआ। उनका मनुष्यत्व वास्तविक और पूर्ण था—एक ओर उनका शरीर और उसका सुख दुःख वास्तविक था, दूसरी ओर उनकी मानवीय आत्मा की अपनी बुद्धि तथा इच्छाशक्ति का पृथक् अस्तित्व और सक्रियता थी। ईसाई अवतारवाद को प्राय इन्कार्नेशन कहा जाता है, वास्तव मे यह ईश्वर द्वारा मनुष्यत्व का ग्रहण ही है, उसका मानव रूप मे प्रादुर्भाव।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० ड्रम : क्रिस्टोलाजी (एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना), दि बिगिनिंग्ज ऑव क्रिश्चियानिटी, १९१६, एस० माइकेल : इनकार्नेशन (डिक्शनरी ऑव थियोलाजी कैथोलिक)। (का० बु०)

अवदान साहित्य बौद्धो का संस्कृत भाषा मे निबद्ध चरितप्रधान साहित्य। 'अवदान' (प्राकृत अपदान) का अमरकोश के अनुसार अर्थ है—प्राचीन चरित, पुरातन वृत्त (अवदान कर्मवृत्त स्यात्)। 'अवदान' से तात्पर्य उन प्राचीन कथाओ से है जिनके द्वारा किसी व्यक्ति की गुणगरिमा तथा श्लाघनीय चरित्र का परिचय मिलता है। कालिदास ने इसी अर्थ मे 'अवदान' शब्द का प्रयोग किया है (रघुवंश, ११।२१)। बौद्ध साहित्य में इसी अर्थ मे 'जातक' शब्द भी बहुश प्रचलित है, परंतु अवदान जातक से कतिपय विषयो मे भिन्न है। 'जातक' भगवान् बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाओ से सर्वथा संबद्ध होते हैं जिनमे बुद्ध ही पूर्वजन्म मे प्रधान पात्र के रूप मे चित्रित किए गए रहते हैं। 'अवदान' में यह बात नही पाई जाती। अवदान प्राय बुद्धोपासक व्यक्तिविशेष का आदर्श चरित होता है। बौद्धों ने जनसाधारण में अपने धर्म के तत्वो के प्रचार के निमित्त सुबोध संस्कृत गद्य पद्य मे इस सुंदर साहित्य की रचना की है।

इस साहित्य का प्रख्यात ग्रंथ 'अवदानशतक' है जो दस वर्गों मे विभक्त है तथा प्रत्येक वर्ग मे दस दस कथाएँ हैं। इन कथाओ का रूप थेरवादी (हीनयानी) है। महायान धर्म के विशिष्ट लक्षणो का यहाँ विशेष अभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ बोधिसत्व संप्रदाय की बातें बहुत कम है। बुद्ध की उपासना पर आग्रह करना ही इन कथाओ का उद्देश्य है। इन कथाओं का वर्गीकरण एक सिद्धांत के आधार पर किया गया है। प्रथम वर्ग की कथाओ मे बुद्ध की उपासना करने से विभिन्न दशा के मनुष्यो (जैसे ब्राह्मण, व्यापारी, राजकन्या, सेठ आदि) के जीवन मे चमत्कार उत्पन्न होता है तथा वे अगले जन्म मे बुद्धत्व पाते हैं। प्रेत की वर्तमान दशा को देखकर कही उसके पूर्वजन्म का वर्णन है, तो कही अर्हत् बननेवाले व्यक्तियों के शुभ जीवन का रोचक विवरण। अवदानशतक का चीनी भाषा मे अनुवाद तृतीय शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुआ था। फलत इसका समय द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

दिव्यावदान—महायानी सिद्धातो पर आश्रित कथानकों का रोचक वर्णन इस लोकप्रिय ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य है। इसका ३८वाँ प्रकरण 'महायानसूत्र' के नाम से अभिहित किया गया है। यह उल्लेख ग्रंथ के मौलिक सिद्धातो की दिशा प्रदर्शित करने मे उपयोगी माना जा सकता है। दिव्यावदान अवदानशतक के कथानक तथा काव्यशैली से विशेषत प्रभावित हुआ है। इसकी आधी कथाएँ विनयपिटक से और बाकी सूत्रालंकार से संगृहीत की गई हैं। समग्र ग्रंथ का तो नही, परंतु कतिपय कथाओ का अनुवाद चीनी भाषा मे तृतीय शतक मे किया गया था। शुंग वंश के राजा पुष्यमित्र (१७८ ई० पू०) तक का उल्लेख यहाँ उपलब्ध होता है। फलतः इसके कतिपय अंशो का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी मानना उचित होगा, परंतु समग्र ग्रंथ का भी निर्माणकाल तृतीय शताब्दी के बाद नही है।

अशोकावदान—दिव्यावदान के ही कतिपय अवदान (२६–२९ अवदान) महाराज प्रियदर्शी अशोक से संबद्ध होने के कारण 'अशोकावदान' के नाम से पुकारे जाते है। इन कथाओ का, जो ऐतिहासिक दृष्टि से नितात महत्वपूर्ण हैं, केंद्रबिंदु प्रियदर्शी अशोक ही है जिनके व्यक्तिगत घरेलू जीवन, धार्मिक निष्ठा तथा धर्मप्रचार के अदम्य उत्साह की जानकारी के लिये ये कथाएँ अभिप्रेत है। इस अवदान मे दो कथाएँ अपनी रोचकता के कारण विशेष महत्व रखती हैं। अशोक के पुत्र कुणाल की करुण कथा बौद्धयुग की रोमांचक कथाओ मे बड़ी प्रख्यात है। बुद्ध का रूप धारण कर मार का आचार्य उपगुप्त से शिक्षा के लिये प्रार्थना करना भी बड़ा ही रोचक आख्यान है, नाटक के समान हृदयावर्जक है।

कालातर मे अवदानशतक की कथाओ का ही श्लोकबद्ध संक्षिप्त रूप अनेक ग्रंथो मे मिलता है। 'अवदानशतक' के ऊपर आश्रित ग्रंथो में कल्पद्रुमावदानमाला प्राचीनतम प्रतीत होता है। इसकी प्रथम तथा अवदानशतक की अंतिम कथा एक ही है। आचार्य उपगुप्त ने इन कथाओ को अशोक के उपदेश के लिये कहा है। यहाँ अवदानशतक के प्रत्येक वर्ग की प्रथम तथा द्वितीय कथाओं का ही शब्दांतर से वर्णन है। रत्नावदानमाला मे इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग की तीसरी और चौथी कथाओ का संक्षेप है। अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदान, भद्रकल्पावदान, व्रतावदानमाला, विचित्रकर्णिकावदान तथा सुमागधावदान इस साहित्य के अन्य ग्रंथ है। काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र (११वीं शताब्दी) रचित तथा उनके पुत्र सोमेंद्र द्वारा संपूरित अवदानकल्पलता इस साहित्य का सचमुच एक बहुमूल्य रत्न है जिसकी आभा तिब्बती अनुवाद मे भी किसी प्रकार फीकी नही होने पाई है।

सं०ग्रं०—विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता, १९३२, स्पेयर द्वारा संपादित अवदानशतक की भूमिका

(सेंटपीटर्सबर्ग, १९०२-९); बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास, पंचम सं०, काशी, १९५८। (ब० उ०)

अवध उत्तर प्रदेश के एक भाग का नाम जो प्राचीन काल में कोशल कहलाता था। इसकी राजधानी अयोध्या थी (द्र० 'अयोध्या')। अवध शब्द अयोध्या से ही निकला है। अवध की राजधानी प्रारंभ में फैजाबाद थी किंतु बाद को लखनऊ उठ आई थी। अवध पर नवाबों का आधिपत्य था जो प्राय स्वतन्त्र थे। क्योंकि अवध के नवाब शिया मुसलमान थे अत अवध में इसलाम के इस संप्रदाय को विशेष संरक्षण मिला। लखनऊ उर्दू कविता का भी प्रसिद्ध केंद्र रहा। दिल्ली केंद्र के नष्ट होने पर बहुत से दिल्ली के भी प्रसिद्ध उर्दू कवि लखनऊ चले आए थे।

सन् १७६५ ई० में बक्सर की लड़ाई में अवध के नवाब हार गए, परंतु लार्ड क्लाइव ने अवध उनको लौटा दिया, केवल इलाहाबाद और कड़ा जिलों को क्लाइव ने मुगल सम्राट् शाहआलम को दे दिया। वारेन हेस्टिंग्ज ने पीछे नवाब की सहायता करके रुहेलखंड को भी अवध में सम्मिलित करा दिया और शाहआलम से अप्रसन्न होकर इलाहाबाद और कड़ा को अवध के नवाब के सिपुर्द कर दिया। १७७५ ई० में अंग्रेजों ने अवध के नवाब से बनारस का जिला ले लिया और १८०१ में रुहेलखंड भी ले लिया। इस प्रकार अवध कभी बड़ा, कभी छोटा होता रहा।

१८५६ में अंग्रेजों ने अवध को अपने अधिकार में कर लिया। १८५७ के विद्रोह में अवध अंग्रेजों के हाथ से निकल गया था परंतु डेढ़ वर्ष की लड़ाई में अंतिम विजय अंग्रेजों की हुई। १९०२ में आगरा और अवध के प्रांतों को एक में मिलाकर नया प्रांत बनाया गया जिसका नाम आगरा और अवध का 'संयुक्त प्रांत' रखा गया, जिसे संक्षेप में 'संयुक्त प्रांत' अथवा अंग्रेजी में केवल 'यू० पी०' कहा जाता था। इसी प्रांत का नामकरण उत्तर प्रदेश हो गया है जिसे अंग्रेजी में लिखे नाम के आदि अक्षरों के आधार पर अब भी 'यू० पी०' कहा जाता है। (द्र० 'उत्तर प्रदेश')

अवधिज्ञान जैनसम्मत आत्ममात्र सापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का एक प्रकार अवधिज्ञान है। परमाणुपर्यन्तरूपी पदार्थ इस ज्ञान का विषय है। इसका विपर्यय विभंगज्ञान है। इसकी लब्धि जन्म से ही नारकों और देवों को होती है। अतएव उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय और शेष पंचेद्रियतिर्यंच और मनुष्यों का क्षायोपशमिक अथवा गुण प्रत्यय है, अर्थात् तपस्या आदि गुणों के निमित्त से उन्हें प्राप्त होनेवाली यह एक ऋद्धि है। अणगार को उनके गुणों के अनुसार प्राप्त होनेवाले अवधिज्ञान के ये छह भेद है--आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

सं०ग्रं०--नंदीसूत्र का हिंदी अनुवाद, सूत्र ६ से, तत्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २१-२८। (द० मा०)

अवधी भाषा तथा साहित्य अवधी भाषा हिंदी क्षेत्र की एक उपभाषा है। यह उत्तरप्रदेश में अवध के जिलों में तथा फतेहपुर, मिरजापुर, जौनपुर आदि कुछ अन्य जिलों में भी बोली जाती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक शाखा बघेलखंड में बघेली नाम से प्रचलित है। अवध शब्द की व्युत्पत्ति 'अयोध्या' से है। इस नाम का एक सूबा मुगलों के राज्यकाल में था। तुलसीदास ने अपने 'मानस' में अयोध्या को अवधपुरी कहा है। इसी क्षेत्र का पुराना नाम कोसल भी था जिसकी महत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है। गठन की दृष्टि से हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओं को दो वर्गों--पश्चिमी और पूर्वी--में विभाजित किया जाता है। अवधी पूर्वी के अंतर्गत है। पूर्वी की दूसरी उपभाषा छत्तीसगढ़ी है। अवधी को कभी कभी बैसवाड़ी भी कहते है। परंतु बैसवाड़ी अवधी की एक बोली मात्र है जो उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर जिले के कुछ भागों में बोली जाती है।

अवधी के पश्चिम में पश्चिमी वर्ग की बुंदेली और ब्रज का, दक्षिण में छत्तीसगढ़ी का और पूर्व में भोजपुरी बोली का क्षेत्र है। इसके उत्तर में नेपाल की तराई है जिसमें थारू आदि आदिवासियों की बस्तियाँ है जिनकी भाषा अवधी से बिलकुल अलग है।

हिंदी खड़ीबोली से अवधी की विभिन्नता मुख्य रूप से व्याकरणात्मक है। इसमें कर्ता कारक के परसर्ग (विभक्ति) 'ने' का नितांत अभाव है। अन्य परसर्गों के प्राय दो रूप मिलते है--ह्रस्व और दीर्घ। (कर्म-संप्रदान-संबंध--क, का, करण-अपादान--स-त, से-ते, अधिकरण--म, मा)।

संज्ञाओं की खड़ीबोली की तरह दो विभक्तियाँ होती है--विकारी और अविकारी। अविकारी विभक्ति में संज्ञा का मूल रूप (राम, लरिका, बिटिया, मेहरारू) रहता है और विकारी में बहुवचन के लिये 'न' प्रत्यय जोड़ दिया जाता है (यथा रामन, लरिकन, बिटियन, मेहरारुन)। कर्ता और कर्म के अविकारी रूप में व्यंजनांत संज्ञाओं के अंत में कुछ बोलियों में एक ह्रस्व 'उ' की श्रुति होती है (यथा रामु, पूतु, चोरु)। किंतु निश्चय ही यह पूर्ण स्वर नहीं है और भाषाविज्ञानी इसे फुसफुसाहट का एक स्वर मानते है। इसी प्रकार के दो और फुसफुसाहट के स्वर--ह्रस्व 'इ' और ह्रस्व 'ए' (यथा साँझि, खानि, ठेलुआ, पहँटा) मिलते है।

संज्ञाओं के बहुधा दो रूप, ह्रस्व और दीर्घ (यथा नदी नदिया, घोड़ा घोड़वा, नाऊ नउआ, कुत्ता कुतवा) मिलते है। इनके अतिरिक्त अवधी क्षेत्र के पूर्वी भाग में एक और रूप--दीर्घतर मिलता है (यथा कुतउना)। अवधी में कहीं कहीं खड़ीबोली का ह्रस्व रूप बिलकुल लुप्त हो गया है, यथा बिल्ली, डिब्बी आदि रूप नहीं मिलते बेलइया, डेबिया आदि ही प्रचलित है।

सर्वनाम में खड़ीबोली और ब्रज के 'मेरा तेरा' और 'मेरो तेरो' रूप के लिये अवधी में 'मोर तोर' रूप है। इनके अतिरिक्त पूर्वी अवधी में पश्चिमी अवधी के 'सो' 'जो' 'को' के समानांतर 'से' 'जे' 'के' रूप प्राप्त है।

क्रिया में भविष्यत्काल के रूपों की प्रक्रिया खड़ीबोली से बिलकुल भिन्न है। खड़ीबोली में प्राय प्राचीन वर्तमान (लट्) के तद्भव रूपों में --गा-गी-गे जोड़कर (यथा होगा, होगी, होंगे आदि) रूप बनाए जाते है। ब्रज में भविष्यत् के रूप प्राचीन भविष्यत्काल (लट्) के रूपों पर आधारित है। (यथा होइहै = भविष्यति, होइहों = भविष्यामि)। अवधी में प्राय भविष्यत् के रूप तव्यत् प्रत्ययांत प्राचीन रूपों पर आश्रित है (होइबा = भवितव्यम्)। अवधी की पश्चिमी बोलियों में केवल उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप तव्यतांत रूपों पर निर्भर है। शेष ब्रज की तरह प्राचीन भविष्यत् पर। किंतु मध्यवर्ती और पूर्वी बोलियों में क्रमश तव्यतांत रूपों की प्रचुरता बढ़ती गई है। क्रियार्थक संज्ञा के लिये खड़ीबोली में 'ना' प्रत्यय है (यथा होना, करना, चलना) और ब्रज में 'नो' (यथा होनो, करनो, चलनो)। परंतु अवधी में इसके लिये 'ब' प्रत्यय है (यथा होब, करब, चलब)। अवधी में निष्ठा एकवचन के रूप का 'वा' में अंत होता है (यथा भवा, गवा, खावा)। भोजपुरी में इसके स्थान पर 'ल' में अंत होनेवाले रूप मिलते है (यथा भइल, गइल)। अवधी का एक मुख्य भेदक लक्षण है अन्यपुरुष एकवचन की सकर्मक क्रिया के भूतकाल का रूप (यथा करिसि, खाइसि, मारिसि)। ये '-सि' में अंत होनेवाले रूप अवधी को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलते। अवधी की सहायक क्रिया के रूप 'ह' (यथा हइ, हईं), 'अह' (अहइ, अहईं) और 'बाटइ' (यथा बाटइ, बाटइँ) पर आधारित है।

ऊपर लिखे लक्षणों के अनुसार अवधी की बोलियों के तीन वर्ग माने गए है पश्चिमी, मध्यवर्ती और पूर्वी। पश्चिमी बोली पर निकटता के कारण ब्रज का और पूर्वी पर भोजपुरी का प्रभाव है। इनके अतिरिक्त बघेली बोली का अपना अलग अस्तित्व है।

विकास की दृष्टि से अवधी का स्थान ब्रज और भोजपुरी के बीच में पड़ता है। ब्रज की व्युत्पत्ति निश्चय ही शौरसेनी से तथा भोजपुरी की मागधी प्राकृत से हुई है। अवधी की स्थिति इन दोनों के बीच में होने के कारण इसका अर्धमागधी से निकलना मानना उचित होगा। खेद है कि अर्धमागधी का हमें जो प्राचीनतम रूप मिलता है वह पाँचवीं शताब्दी ईसवी का है और उससे अवधी के रूप निकालने में कठिनाई होती है। पालि भाषा में बहुधा ऐसे रूप मिलते हैं जिनसे अवधी के रूपों का विकास सिद्ध किया जा सकता है। संभवत ये रूप प्राचीन अर्धमागधी के भी रहे होंगे।

सं०ग्रं०--बाबूराम सक्सेना इवल्यूशन ऑव अवधी।

(बा० रा० स०)

अवधी साहित्य

प्राचीन अवधी साहित्य की दो शाखाएँ है एक भक्तिकाव्य और दूसरी प्रेमाख्यान काव्य। भक्तिकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' (सं० १६३१) अवधी साहित्य की प्रमुख कृति है। इसकी भाषा संस्कृत शब्दावली से भरी है। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य कई ग्रंथ अवधी मे लिखे है। इसी भक्ति साहित्य के अंतर्गत लालदास का 'अवधविलास' आता है। इसकी रचना संवत् १७०० मे हुई। इनके अतिरिक्त कई और भक्त कवियो ने रामभक्ति विषयक ग्रंथ लिखे।

संत कवियों मे बाबा मलूकदास भी अवधी क्षेत्र के थे। इनकी बानी का अधिकांश अवधी मे है। इनके शिष्य बाबा मथुरादास की बानी भी अधिकतर अवधी मे है। बाबा धरनीदास यद्यपि छपरा जिले के थे तथापि उनकी बानी अवधी मे प्रकाशित हुई। कई अन्य संत कवियो ने भी अपने उपदेश के लिये अवधी को अपनाया है।

प्रेमाख्यान काव्य मे सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' है जिसकी रचना 'रामचरितमानस' से ३४ वर्ष पूर्व हुई। दोहे चौपाई का जो क्रम 'पद्मावत' मे है प्राय वही 'मानस' मे मिलता है। प्रेमाख्यान काव्य मे मुसलमान लेखको ने सूफी मत का रहस्य प्रकट किया है। इस काव्य की परंपरा कई सौ वर्षों तक चलती रही। मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', आलम की 'माधवानल कामकंदला', नूरमुहम्मद की 'इंद्रावती' और शेख निसार की 'यूसुफ जुलेखा' इसी परंपरा की रचनाएँ है। शब्दावली की दृष्टि से ये रचनाएँ हिंदू कवियो के ग्रंथो से इस बात मे भिन्न है कि इसमे संस्कृत के तत्सम शब्दो की उतनी प्रचुरता नहीं है।

प्राचीन अवधी साहित्य के अंतर्गत अकबर के दरबार के सुप्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहिमन' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका एक ग्रंथ 'बरवै-नायिका-भेद' अवधी मे है जिसकी भाषा अत्यंत मधुर और शृंगारभावोत्तेजक है।

आधुनिक अवधी साहित्य मे अधिकतर रचनाएँ देशप्रेम, समाजसुधार आदि विषयो पर और मुख्य रूप से व्यंग्यात्मक है। कवियो मे प्रतापनारायण मिश्र, बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' वंशीधर शुक्ल, चंद्रभूषण द्विवेदी 'रमई काका' और शारदाप्रसाद 'भुशुंडि' विशेष उल्लेखनीय है।

प्रबंध की परंपरा मे 'रामचरितमानस' के ढंग का एक महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रंथ द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' है। उसकी भाषा और शैली 'मानस' के ही समान है और ग्रंथकार ने कृष्णचरित प्राय उसी तन्मयता और विस्तार से लिखा है जिस तन्मयता और विस्तार से तुलसीदास ने रामचरित अंकित किया है। मिश्र जी ने इस ग्रंथ की रचना द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रबंध काव्य के लिये अवधी की प्रकृति आज भी वैसी ही उपादेय है जैसी तुलसीदास के समय मे थी।

सं०ग्रं०—बाबूराम सक्सेना, त्रि० ना० दीक्षित अवधी और उसका साहित्य (दिल्ली)। (बा० रा० स०)

अवधूत साधुओं का एक भेद। उ० खेचरा, सेचरा, पारधी, सिवसाधक, अवधूत। आसन मारि बैठ सब पाँच आत्मा भूत—जायसी। आरंभ मे अवधूतोपनिषद् मे इस शब्द की जो व्याख्या दी गई है, उससे इस पद से संकेतित व्यक्ति के वैशिष्ट्य का विवरण हो जाता है। इस उपनिषद् के अनुसार इस शब्द मे आए अ का अक्षरत्व अथवा अक्षरपद, व का अर्थ वरेण्य का सर्वश्रेष्ठ पद धू का अर्थ धूत संसारबंधन अथवा सांसारिक वासनाओं का उच्छेद और त का अर्थ है तत्वमस्यादिलक्ष्यत्व। इस पद से विशिष्ट व्यक्ति का व्याख्यान इस उपनिषद् के अतिरिक्त अवधूतगीता, गोरक्षनाथरचित सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति, गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह आदि ग्रंथो मे उपलब्ध है। 'महानिर्वाणतंत्र' मे प्रधानत चार प्रकार के अवधूत कहे गए है (१) 'ब्रह्मावधूत' जो किसी भी वर्ण का ब्रह्मोपासक हो और किसी भी आश्रम मे हो, (२) 'शैवावधूत' जो विधिपूर्वक सन्यास ले चुका हो, (३) 'वीरावधूत' जिसके सिर के बाल दीर्घ तथा बिखरे हो, गले मे हाड़ या रुद्राक्ष की माला पड़ी हो, कटि मे कौपीन हो, शरीर पर भस्म या रक्तचंदन हो, हाथ मे काष्ठदंड, परशु एवं डमरू हो और साथ मे मृगचर्म हो, (४) 'कुलावधूत' जो कुलाचार मे अभिषिक्त होकर भी गृहस्थाश्रम मे रहे। वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत रामानंद के शिष्यों मे भी अवधूत कहलानेवाले साधु पाए जाते है। इनके सिर पर बड़े बड़े बाल रहते है, गले मे स्फटिक की माला रहती है और शरीर पर कंथा एवं हाथ मे दरियाई खप्पर दीख पड़ते है। बंगाल मे इनके पृथक् पृथक् अखाड़े है और इनमे सभी जातियो के लोग समाविष्ट होते है। भिक्षा के लिये जब ये गृहस्थो के द्वार पर जाते है तब 'बीर अवधूत' नाम का स्मरण करके एकतारा या अन्य वाद्ययंत्र बजाकर गाने लग जाते है। ये लोग प्राय अव्यवस्थित रूप मे ही रहा करते है। इन्हे बंगाल मे कभी कभी बाउल नाम से भी अभिहित करते है जो सर्वथा इनसे भिन्न वर्ग के कुछ अन्य लोगो की ही वास्तविक संज्ञा है। नाथपंथ मे अवधूत की स्थिति अत्यंत उच्च मानी जाती है और 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' के अनुसार वह सभी प्रकार के प्रकृतिविकारो से रहित हुआ करता है। वह कैवल्य की उपलब्धि के लिये आत्मस्वरूप के अनुसंधान मे निरत रहा करता है और उसकी अनुभूति निर्गुण एवं सगुण से परे की होती है। गुरु दत्तात्रेय को भी अवधूत कहा जाता है और दत्त संप्रदाय (अवधूत मत) मे अवधूत मत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके मान्य ग्रंथ 'अवधूतगीता' मे इसका पूर्ण विवेचन है। पश्चिमोत्तर प्रदेश मे उन स्त्रियो को 'अवधूती' कहते है जो पुरुष सन्यासी के वेश मे रहकर भस्म, रुद्राक्षादि धारण करती है तथा जो साधारणत किसी गंगागिरि नाम की वैसी ही सन्यासिन या अवधूतनी की परंपरा की समझी जाती है।

तांत्रिक बौद्ध साधना मे ललना, रसना और अवधूती नामक तीन नाडियाँ प्रमुख मानी गई है। अवधूती सुषुम्नास्थानीय है। यह मध्यदेशीया एवं ग्राह्य-ग्राहक-विवर्जिता होती है। (ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता। अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता।—अद्वयवज्रसंग्रह) यह धर्ममुद्रा तथा महामुद्रा की अभेदता का हेतु है। यह महासुखाश्रयसहजानंदप्रदायिका है और अद्वयस्वभावा है। बोधिचित् के मध्यवर्गीया अवधूतिका मे ऊर्ध्वसंचार से भिन्न भिन्न प्रकार के आनंदो का आस्वाद बताया जाता है।

सं०ग्रं०—बँगला विश्वकोश, प्रथम खंड, उपासक संप्रदाय (द्वितीय-भाग), अभिधान राजेंद्र, कल्याणी मल्लिक नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनप्रणाली (कलकत्ता १९५० ई०), मोकाशी 'महाराष्ट्रातील पाँच संप्रदाय' (पुणे १९५८ ई०)।

(प० च०, ना० ना० उ०)

अवमूल्यन द्र० 'मुद्रास्फीति'।

अवयव, अवयवी 'अवयव' का अर्थ है अंग और 'अवयवी' का अर्थ है अंगी। बौद्धो और नैयायिको मे इस विषय को लेकर गहरा मतभेद चलता है। बौद्धो के मत मे द्रव्य (घट आदि) अपने उत्पादक परमाणुओं का समूह मात्र है अर्थात् वह अवयवो का पुंज है। न्यायमत मे अवयवों मे उत्पन्न होनेवाला अवयवी एक स्वतंत्र पदार्थ है, अवयवो का संघात मात्र नहीं। बौद्धो की मान्यता है कि परमाणुपुंज होने पर घट को प्रत्यक्ष असिद्ध नहीं माना जा सकता। अकेला परमाणु अप्रत्यक्ष भले ही हो, परंतु उसका समूह कथमपि अप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसे दूर पर स्थित एक केश भले ही प्रत्यक्ष न हो, परंतु जब केशों का समूह हमारे नेत्रो के सामने प्रस्तुत होता है, तब उसका प्रत्यक्ष अवश्यमेव सिद्ध है। व्यवहार मे इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत मिलता है। न्याय इसका जोरदार खंडन करता है। उसकी उक्ति है कि केश और परमाणु को हम एक कोटि मे नहीं रख सकते। परमाणु अतींद्रिय है इसलिये उसका संघात भी उसी प्रकार अतींद्रिय अतएव प्रत्यक्ष के अयोग्य है। केश तो अतींद्रिय नहीं है, क्योंकि समीप लाने पर एक केश का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। अदृश्य परमाणुपुंज से दृश्य परमाणुपुंज का उदय मानना भी एकदम युक्तिहीन है, क्योंकि अदृश्य दृश्य का उत्पादक कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि घड़ा परमाणुओं अर्थात् अवयवो का ही समूह होता (जैसा बौद्ध मानते है), तो उसका प्रत्यक्ष कभी हो ही नहीं सकता। परंतु घट का प्रत्यक्ष

तो होता ही है। अतएव अवयवो से भिन्न तथा स्वतंत्र अवयवी का अस्तित्व मानना ही युक्तियुक्त मत है। (ब० उ०)

अवर प्रवालादि युग पुराकल्प जिन छह युगो मे विभक्त किया गया है उनमें से दूसरे प्राचीनतम युग को अवर प्रवालादि युग कहते हैं। इसी को अंग्रेजी मे ऑर्डोवीशियन पीरियड कहते है। सन् १८७९ ई० मे लैपवर्थ महोदय ने इस अवर प्रवालादि युग का प्रतिपादन करके मरचीसन तथा सेजविक महोदयो के बीच प्रवालादि (साइल्यूरियन) और खिखंड (कैब्रियन) युगो की सीमा के विषय में चल रहे प्रतिद्वंद्व को समाप्त कर दिया। इस युग के प्रस्तरो का सर्वप्रथम अध्ययन वेल्स प्रात मे किया गया था और ऑर्डोवीशियन नाम वहाँ बसनेवाली प्राचीन जाति ऑर्डोविशाई पर पडा है।

भारतवर्ष मे इस युग के स्तर बिरले स्थानो मे ही मिलते हैं। दक्षिण भारत मे इस युग का कोई स्तर नही है। हिमालय मे जो स्तर मिलते है, वे भी केवल कुछ ही स्थानो मे सीमित है, यथा स्पिटी, कुमाऊँ, गढ़वाल और नेपाल। विश्व के अन्य भागो मे इस युग के प्रस्तर अधिक मिलते है।

ऑर्डोवीशियन युग के प्राणियो के अवशेष कैब्रियन युग के सदृश है। इस युग के प्रस्तरो मे ग्रैप्टोलाइट नामक जीवो के अवशेषो की प्रचुरता है। ट्राइलोबाइट और ब्रैकियोपॉड जीवो के अवशेष भी अधिक मात्रा मे मिलते है। कशेरुदडी जीवो मे मछली का प्रादुर्भाव इसी युग मे हुआ। अमरीका के बिग हॉर्न पर्वत और ब्लैक पर्वत के ऑर्डोवीशियन बालुकाश्मो मे प्राथमिक मछलियों के अवशेष पाए गए है। (रा० ना०)

अवलोकितेश्वर महायान बौद्ध ग्रथ सद्धर्मपुडरीक मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्व के माहात्म्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलता है। अनत करुणा के अवतार बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का व्रत है कि बिना ससार के अनत प्राणियो का उद्धार किए वे स्वय निर्वाणलाभ नही करेगे। जब चीनी यात्री फाहियान ३९९ ई०मे भारत आया था तब उसने सभी जगह अवलोकितेश्वर की पूजा होते देखा।

भगवान् बुद्ध ने बराबर अपने को मानव के रूप में प्रकट किया और लोगो को प्रेरित किया कि वे उन्ही के मार्ग का अनुसरण करे। किंतु उसपर भी ब्राह्मणधर्म की छाप पडे बिना नही रही। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की कल्पना उसी का परिणाम है। ब्रह्मा के समान ही अवलोकितेश्वर के विषय मे लिखा है

'अवलोकितेश्वर की आँखों से सूरज और चाँद, भ्रू से महेश्वर, स्कधो से देवगण, हृदय से नारायण, दाँतो से सरस्वती, मुख से वायु, पैरो से पृथ्वी और उदर में वरुण उत्पन्न हुए।' अवलोकितेश्वरो मे महत्वपूर्ण सिंहनाद की उत्तर मध्यकालीन (ल० ११वी सदी) असाधारण सुदर प्रस्तरमूर्ति लखनऊ सग्रहालय मे सुरक्षित है। (विशेष द्र० 'भारतीय देवी देवता'।) (भि० ज० का०)

अवसाद शैल वायु, जल और हिम के चिरतन आघातों से पूर्वस्थित शैलो का निरतर अपक्षय एव विदारण होता रहता है। इस प्रकार के अपक्षरण से उपलब्ध पदार्थ ककड, पत्थर, रेत, मिट्टी इत्यादि, जलधाराओं, वायु या हिमनदो द्वारा परिवाहित होकर प्राय निचले प्रदेशो, सागर, झील अथवा नदो की घाटियो में एकत्र हो जाते है। कालान्तर मे सघनित होकर वे स्तरीभूत हो जाते है। इन स्तरीभूत शैलो को अवसाद शैल (सेडिमेंटरी राक्स) कहते है।

अवसाद शैलो के प्रकार—अवसाद शैलो का निर्माण तीन प्रकार से होता है। पहले प्रकार के शैलो का निर्माण विभिन्न खनिजो और शिलाखडो के भौतिक कारणो से टूटकर इकट्ठा होने से होता है। विभिन्न प्राकृतिक आघातो से विदीर्ण रेत एव मिट्टी नदियो या वायु के झोको द्वारा परिवाहित होकर उपयुक्त स्थलो में एकत्र हो जाती है और पहली प्रकार की शिलाओ का जन्म देती है। ऐसी शिलाओं को व्यपघर्षण (डेट्राइटल) या एपिक्लास्टिक शैल कहते है। बलुआ पत्थर या शैल इसी प्रकार की शिलाएँ है। दूसरे प्रकार के शैल जल में घुले पदार्थों के रासायनिक निस्सादन (प्रेसिपिटेशन) से निर्मित होते है। निस्सादन दो प्रकार से होता है, या तो जल मे घुले पदार्थों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ से या जल के वाष्पीकरण से। ऐसी शिलाओ को रासायनिक शैल कहते हैं। विभिन्न कार्बोनेट, जैसे चूने का पत्थर, डोलोमाइट आदि फास्फेट एव विविध लवण इसी वर्ग मे आते हैं। तीसरे प्रकार के शैलो के विकास मे जीवो का हाथ है। मृत्यु के उपरात प्रवाल (मूँगा), शैवाल (ऐल्जी), खोलधारी जलचर युक्ताप्य (डाइएटम) आदि के कठोर अवशेष एकत्रित होकर शैलो का निर्माण करते हैं। मृत वनस्पतियो के सचयन से कोयला इसी प्रकार बना है। रासायनिक शिलाओ के निर्माण मे जीवाणुओ का सहयोग उल्लेखनीय है। सूक्ष्म जीवाणुओ की उत्प्रेरणाओ से जल मे घुले पदार्थों का निस्सादन तीव्र हो जाता है।

इतिहास—अवसाद शैलो के इतिहास मे अवयवो के उद्गमस्थान, उनका परिवहन, सचयन और स्तरीभवन महत्वपूर्ण प्रश्न है। किसी अवसाद शैल की खनिजसरचना उस पूर्वस्थित शैल की सरचना पर निर्भर रहती है जिसके अपक्षय से वह निर्मित हुआ है। उदाहरण के लिये, बिहार के कोयला उत्पादक क्षेत्र मे गहराई पर पाए जानेवाले बलुआ पत्थरो के जनक शैल है पुरातन 'ग्रेनाइट' एव 'नाइस', जिनकी सरचना के अभिन्न और आवश्यक सघटक है 'क्वार्ट्ज' एव 'फ़ेल्सपार'। उपर्युक्त बलुआ पत्थर मे भी इन दो खनिजो की प्रचुरता है। यहाँ यह नही समझना चाहिए कि जनक शैल और अवसाद शैल की खनिजसरचना मे पूर्ण सादृश्य होता है। वस्तुत ऋतुक्षरण एव परिवहन की अवधि मे वे ही खनिज बच पाते हैं जिनकी आतरिक रचना सुदृढ होती है और कलेवर कठोर होता है। अधिक गरम और वर्षावाले प्रदेशो मे रासायनिक क्रियाओं की उग्रता के कारण बहुत कम खनिज अपरिवर्तित रह पाते है, अत मूल जनक शैल एव अवसाद शैल मे केवल दूरस्थ सादृश्य ही होगा।

परिवहन की अवधि मे कणो का यात्रिक (मिकैनिकल) घर्षण पर्याप्त प्रखर होता है। फलत कणों का परिमाण छोटा और आकार गोल हो जाता है। कणो की गोलाई से अवसादो की यात्रा की लबाई का अच्छा पता लगता है। अवसादो के निर्माण मे पृथक्करण (सॉर्टिंग) एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस पृथक्करण का आधार कणो का परिमाण एव उनका घनत्व रहता है। फलस्वरूप छोटे छोटे कण एक साथ एकत्र होते है और बड़े बड़े कण उनसे अलग। यह पृथक्करण परिवहन की अवधि मे ही कार्यान्वित होता रहता है और इस क्रिया मे परिवहन के साधन जल या वायु या हिम का महत्व स्वाभाविक रूप से सर्वाधिक होता है। पृथक्करण एव घर्षण की सामर्थ्य मे वायु का स्थान प्रथम, जल का द्वितीय और हिम का तृतीय है।

अवसादो के सचयन का सर्वाधिक विस्तृत एव स्थायी क्षेत्र है सागर। सागर के अतिरिक्त झील, दलदल, नदियों की घाटियाँ और उनके बाढग्रस्त मैदान आदि भी सचयन के क्षेत्र है, किंतु ये अस्थायी होते है। पूर्णत रासायनिक एव जैविक अवसादन केवल ऐसे वातावरण मे होते है जहाँ जल गदा न हो। उष्ण एव उथले सागरो मे रासायनिक निस्सादन अपेक्षाकृत तीव्र होता है। ऐसी बद खाडियो मे जहाँ जल का वाष्पीकरण उग्र रूप मे होता है, लवणों के निक्षेप निर्मित होते है।

अवसाद शैल और जीवाश्म अवसाद शैलो मे प्राय जीवो के अवशेष समाधिस्थ रहते है। उनसे न केवल तत्कालीन वातावरण का ज्ञान होता है, अपितु वे शैलो की आयु के भी परिचायक होते हैं। त्रिखडी (ट्राइलोबाइट), केकड़े के पुरातन पूर्वज, शीर्षपादा (सेफालोपोडा) और कुछ सीप (पेलेसिपोडा) आदि सर्वदा सामुद्रिक वातावरण के द्योतक है। कुछ प्रकार के घोंघे (गैस्ट्रोपॉड), कुछ पादछिद्रिगण (फोरामिनिफ़ेरा) मीठे पानीवाले असामुद्रिक वातावरण के परिचायक है।

कुछ विशिष्ट खनिजो की उपस्थिति भी बड़ी महत्वपूर्ण होती है। उदाहरणस्वरूप हरे रग के खनिज आहरितिज (ग्लॉकोनाइट) से गहरे पानी मे शैल के उद्भव का सकेत मिलता है। शैलो का लाल रग लोहे के आक्साइड के कारण होता है। यह रग शुष्क मरुस्थलीय वातावरण का सूचक है।

अवसाद शैल एवं अयस्क निक्षेप—कोयला, ऐल्यूमिनियम का अयस्क बाक्साइट, लोहे का अयस्क लैटेराइट, नमक, जिप्सम, फास्फेट, मैगनेसाइट, सीमेंट का अयस्क, चूने का पत्थर, इत्यादि कई महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ अवसाद शैलो मे उपलब्ध होते है। (र० चं० मि०)

अवस्था समीकरण का तात्पर्य उस गणितीय सूत्र से है जिसके द्वारा किसी समष्टि की अवस्था (स्टेट ऑव ऐग्रिगेशन) में किसी वस्तु के आयतन, दाब और ताप के संबंध का बोध हो। यदि इनमें से दो राशियाँ ज्ञात हों तो तीसरी उन दोनों पर निश्चित प्रकार से निर्भर होगी और उसका मान अवस्था समीकरण से मालूम किया जा सकता है। बायल और चार्ल्स के नियमों से

$$PV = RT$$

संबंध प्राप्त होता है, जो आदर्श गैस के लिये अवस्था समीकरण है। गैसें उच्च ताप और निम्न दाब की परिस्थितियों में इसका निकटता से पालन करती हैं किंतु सामान्य परिस्थितियों में यह समीकरण किसी भी वास्तविक गैस का व्यवहार यथार्थता से व्यक्त नहीं करता।

वास्तविक गैसें आदर्श गैस समीकरण से बहुत विचलित होती हैं, इसकी पुष्टि बाद में और अधिक दाब पर प्रयोग करके नाटेरर, ऐंड्र्यूज और केइने ने की। ऐंड्र्यूज के प्रयोग मौलिक महत्व के हैं क्योंकि वे गैसों के वास्तविक व्यवहार पर बहुत प्रकाश डालते हैं और उस महत्वपूर्ण अवस्था समीकरण के आधार हैं जिसका प्रतिपादन वानडरवाल्स ने किया है। वानडरवाल्स का अवस्था समीकरण निम्न है

$$\left(p + \frac{a}{V^2}\right)(V - b) = RT$$

जिसमें a और b नियतांक हैं तथा p अनुभूत दाब है। यह समीकरण आदर्श गैस अवस्था से होनेवाले अधिकांश विचलनों का समाधान कर देता है।

अनेक अन्य अवस्था समीकरण प्रतिपादित किए गए हैं। उनमें से कुछ विशिष्ट सीमाओं के बीच वानडरवाल्स समीकरण से अधिक सत्य हैं। फिर भी इस समीकरण की सरलता को देखते हुए, यह सामान्यतः वास्तविक गैसों के व्यवहार से पर्याप्त सन्निकट है। (नि० सि०)

अवाप्ति (अटेनमेंट) विज्ञान की प्रगति से शिक्षाप्रणाली में भी नवीन विचारधाराओं का जन्म हुआ है। इसमें परीक्षा संबंधी परिवर्तन उल्लेखनीय है। वैज्ञानिकों की धारणा रही है कि लेखपरीक्षा द्वारा हम परीक्षार्थी के उन गुणों तथा वस्तुओं को नापते हैं जिन्हें नापना हमारा ध्येय होता है। इसके अतिरिक्त इस परीक्षा में परीक्षक की निजी भावनाएँ अंक प्रदान करने में विशेष कार्य करती है। इन दोनों से रक्षा करने के लिये यह उचित समझा गया कि विषयनिष्ठ परीक्षा ही परीक्षार्थी के मूल्यांकन में सहायक हो सकेगी। इस विचारधारा के फलस्वरूप अमरीका में ई० एल० थार्नडाइक ने सर्वप्रथम अवाप्तिपरीक्षा (अटेनमेंट टेस्ट) के पक्ष में १९०४ में एक पुस्तक लिखी। उसके पश्चात् भिन्न भिन्न देशों के शिक्षाविदों ने भी अपने देश में इसका प्रचार किया। उन लोगों का विचार है कि प्रमाणित परीक्षा के लिये अवाप्तिपरीक्षा एक मुख्य साधन है। इस प्रकार की कुछ परीक्षाएँ अध्याय के द्वारा अपने विषय के ज्ञान को नापने के लिये बनाई जाती हैं तथा कुछ विषयनिष्ठ परीक्षाएँ प्रमाणीकृत की जाती हैं और उनके द्वारा एक क्षेत्र के परीक्षार्थियों की योग्यता तुलनात्मक रूप में आसानी से नापी जा सकती है। अवाप्तिपरीक्षा बनाने के पहले परीक्षक को यह स्वयं समझ लेना चाहिए कि वह किस वस्तु को नापना चाहता है। उसे यह भी जान लेना है कि अवाप्तिपरीक्षा परीक्षार्थी के अर्जित ज्ञान को ही नापती है। अवाप्तिपरीक्षा बनाने में आइटम के चुनाव में विशेष ध्यान देना चाहिए। इन्हीं के ऊपर उस परीक्षा की मान्यता निर्भर करती है। किस तरह के आइटम होने चाहिए, इसका ज्ञान 'शैक्षिक संख्याशास्त्र' (एजुकेशनल स्टैटिस्टिक्स) से पूर्ण परिचय होने पर ही हो सकता है। आजकल हमारे देश में इस दिशा में कार्य हो रहा है और ऑल इंडिया कौंसिल फॉर सेकंडरी एजुकेशन ने विदेशी विशेषज्ञों द्वारा अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये सुविधाएँ दी हैं। (श० ना० उ०)

अविद्या द्र० 'योग' तथा 'विद्या अविद्या'।

अवेस्ता जिस भाषा के माध्यम का आश्रय लेकर जरथुस्त्र धर्म का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है उसे 'अवेस्ता' कहते हैं। अवेस्ता या 'ज़ेंद अवेस्ता' नाम से भी धार्मिक भाषा और धर्मग्रंथों का बोध होता है। उपलब्ध साहित्य में इसका प्रमाण नहीं मिलता कि पैगंबर अथवा उनके समकालीन अनुयायियों के लेखन अथवा बोलचाल की भाषा का नाम क्या था। परंतु परंपरा से यह सिद्ध है कि उस भाषा और साहित्य का भी नाम 'अविस्तक' था। अनुमान है कि इस शब्द के मूल में 'विद्' (जानना) धातु है जिसका अभिप्राय ज्ञान अथवा बुद्धि है।

बहुत प्राचीन काल में आर्य जाति अपने प्राचीन आवास 'आर्य वजेह' (आर्यों की आदिभूमि) में रहा करती थी जो सुदूर उत्तरी प्रदेश में अवस्थित था 'जहाँ का वर्ष एक दिन के बराबर' होता था। उस स्थान को निश्चयात्मक रूप में बतला पाना कठिन है। बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रंथ 'दि आर्कटिक होम' में इस भूमि को उत्तरी ध्रुव प्रदेश में बतलाया है जहाँ से आर्यों ने पामीर की शृंखला में प्रवास किया। बहुत समय पर्यंत एक सुगठित जन के रूप में वे एक स्थान में रहे, एक ही भाषा बोलते, विश्वासों, रीतियों और परंपराओं का समान रूप से पालन करते रहे। जनसंख्या में वृद्धि तथा उत्तरी प्रदेश के शीत तथा अन्य कारणों ने उनकी शृंखला छिन्न भिन्न कर दी। आर्यजन के विविध कुलों में दो कुलों के लोग, जो आगे चलकर भारतीय (इंडियन) और ईरानी शाखाओं के नाम से विख्यात हुए, पूर्वी ईरान में दीर्घ काल तक और निकटतम संपर्क में रहे। आगे चलकर एक जत्थे ने हिंदूकुश की पर्वतमाला पार कर पंजाब में लगभग २००० ई० पू० प्रवेश किया। शेष जन आर्यों की आदिभूमि की परंपरा का निर्वाह करते हुए ईरान में ही रह गए। अवेस्ता, विशेषतः अवेस्ता के गाथासाहित्य और वैदिक संस्कृत में निकटतम समानता वर्तमान है। भेद केवल ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) और निरुक्तगत (लेक्सिकोग्राफिकल) है। दो बहन भाषाओं के व्याकरण और रचनाक्रम (सिंटैक्स) में भी निकट साम्य है।

ईरान और भारत दोनों ही देशों में लेखन के आविष्कार के पूर्व मौखिक परंपरा विद्यमान थी। अवेस्ता ग्रंथों में मौखिक शब्दों, छंदों, स्वरों, भाष्यों एवं प्रश्नों और उत्तरों का उल्लेख हुआ है। एक ग्रंथ (यस्न, २९.८) में अहुरमज़्द अपने संदेशवाहक ज़रथुस्त्र की वाणी की संपत्ति प्रदान करते हैं क्योंकि 'मानव जाति में केवल उन्होंने ही दैवी संदेश प्राप्त किया था जिन्हें मानवों के बीच ले जाना था।' ज्ञान के देवता ने उन्हें सच्चा 'अथ्रवन' (पुरोहित) कहा है जो सारी रात ध्यानावस्थित रहकर और अध्ययन में समय बिताकर सीखे गए पाठ को जनता के बीच ले जाते हैं। प्राचीन भारत के ब्राह्मणों की तरह अथ्रवन ही प्राचीन ईरान में शिक्षा तथा धर्मोपदेश के एकमात्र अधिकारी समझे जाते थे। इन पुरोहितों में वंशानुगत रूप में धर्मग्रंथों की मौखिक परंपरा चली आया करती थी।

पैगंबर के स्तवन "गाथाएँ" गाथा में, जो बोलचाल की भाषा थी, पाए जाते हैं और जनश्रुति तथा शास्त्रीय साहित्य के अनुसार जरथुस्त्र को अनेक ग्रंथों का रचयिता बतलाया जाता है। अरब इतिहासकारों का कथन है कि ये ग्रंथ १२,००० गाय के चर्मों पर अंकित थे। प्राचीन ईरानी तथा आधुनिक पारसी लेखकों के अनुसार पैगंबर ने २१ 'नस्क' अथवा ग्रंथ लिखे थे। ऐसा कहा जाता है कि सम्राट् विश्तास्प ने दो यथातथ्य अनुलेख इन ग्रंथों का कराकर दो पुस्तकालयों में संगृहीत किया था। एक अनुलेखवाली सामग्री अग्नि में भस्म हो गई जब पर्सीपोलिस का राजप्रासाद सिकंदर ने जला दिया और दूसरी अनुलेख की सामग्री साहित्यिक विवरणों के आधार पर विजेता सैनिक अपने देश को लेते गए जहाँ उसका अनुवाद यूनानी भाषा में हुआ। प्रारंभिक ससानी काल में संगृहीत ये बिखरे हुए ग्रंथ फिर सातवीं शती में ईरानी साम्राज्य के ह्रास के कारण विलुप्त होकर कुल साहित्य वर्तमान समय में केवल लगभग ८३,००० पद्यों में उपलब्ध रह गया है जब कि मौलिक पद्यों की संख्या २०,००,००० थी, जिसके बारे में प्लिनी का कथन है कि महान् दार्शनिक हर्मिप्पस ने ईसा की शताब्दी के प्रारंभ से तीन शती पूर्व अध्ययन कर डाला था।

अवेस्ता भाषा का धीरे धीरे अखामनी साम्राज्य के ह्रास के कारण उत्पन्न हुए ईरान में उथल पुथल के कारण ह्रास प्रारंभ हो गया। जब उसका प्रचार बिलकुल लुप्त हो गया, अवेस्ता ग्रंथों के अनुवाद और भाष्य

'पहलवी' भाषा में प्रस्तुत किए जाने लगे। इस भाषा की उत्पत्ति उसी काल में हुई जो ससानीयों की राजभाषा बन गई। उन भाष्यों को पहलवी में जेंद कहा जाता है और व्याख्याएँ अब 'अवेस्तक-उ-जेंद' अथवा अवेस्ता तथा उसके भाष्य के नाम से विख्यात है। विपर्यय से इसी को 'जेंद-अवेस्ता' कहा गया। अनुमान किया गया है कि धार्मिक विषयों पर रचित पहलवी ग्रंथ, जो विनाश से बच रहे उनकी शब्दसंख्या ४,४६,००० के लगभग होगी।

पहलवी का प्रचार आधुनिक पारसी वर्णमाला के प्रारंभ से बिलकुल कम हो गया। उसका लिखित स्वरूप आर्य एवं सामी बनावट का मिश्रण था। सामी शब्दों को हटाकर उनके स्थानों में उनका ईरानी पर्यायवाची शब्द रखकर उसका साधारणीकरण किया गया था। कालांतर में पहलवी ग्रंथों को जब समझाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया, हुजवर शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर ईरानी पर्यायवाची रखकर दुरूह पहलवी भाषा भी सीधी बनाई गई। अपेक्षाकृत सरल की गई भाषा और आगे रचित भाष्य एवं व्याख्याएँ 'पजंद' (अवेस्ता की पैंती-जैंती) के नाम से विख्यात हुई। पजंद के ग्रंथ अवेस्ता वर्णमालाओं में अंकित हुए जिस प्रकार ईरान में अरबी वर्णमाला के साथ पहलवी लिपि का ह्रास हुआ।

पजंद भाषा ही आगे चलकर पहलवी तथा आधुनिक फारसी के बीच की कड़ी बनी। अंतिम जरथुस्त्र साम्राज्य के ह्रास के अनंतर विजेताओं की अरबी लिपि ने अवेस्ता की पहलवी लिपि को उत्क्षिप्त कर दिया। अरबी अक्षर आधुनिक फारसी वर्णमाला के अक्षर मान लिए गए जिसका प्रचार हुआ। ग्रंथरचना जब अवेस्ता में होती थी तो उसे 'पजंद' कहते थे और जब पुस्तक अरबी अक्षरों में लिपिबद्ध होने लगी, उसे 'पारसी' कहने लग गए।

अवेस्ता के जो ग्रंथ पैगंबर के अनुयायियों के पास अवशिष्ट हैं अपने सामी रूप में पाए जाते हैं। वे ऐसे अक्षरों में मिलते हैं जो ससानी पहलवी में लिए गए हैं, जिनका मूल आधार संभवत: प्राचीन अरमेक वर्णमाला का कोई न कोई प्रकार है। यह लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है और इसमें प्राय: ५० भिन्न चिह्नों (साइन्स) का समावेश पाया जाता है।

जरथुस्त्र मतावलंबी ईरान लगभग पाँच शती पर्यंत सिल्यूसिड और पार्थियन शासनों के अंतर्गत रहा। धार्मिक ग्रंथों की मौखिक वंशक्रमानुगत परंपरा ने लुप्तप्राय ग्रंथों के पुनरुद्धार के कार्य को सरल कर दिया। ससानी साम्राज्य के संस्थापक अर्दशिर ने विद्वान् पुरोहित तनसर के बिखरे हुए सूत्रों को, जो मौखिक रूप में प्रचलित थे, एक प्रामाणिक संग्रह में निबद्ध करने का आदेश किया था। ग्रंथों की खोज शापुर द्वितीय (३०९-३७९ ई०) के राजत्वकाल पर्यंत होती रही जिसमें प्रसिद्ध दस्तूर अदरबाद महरस्पंद की सहायता सराहनीय है। (रु० म०)

अवेस्ता साहित्य--अवेस्ता युग की रचनाओं में प्रारंभ से लेकर २०० ई० तक तिथिक्रम से आनेवाली सर्वप्रथम रचनाएँ 'गाथाएँ' हैं जिनकी संख्या पाँच है। अवेस्ता साहित्य के वे ही मूल ग्रंथ हैं जो पैगंबर के भक्तिसूत्र हैं और जिनमें उनका मानव का तथा ऐतिहासिक रूप प्रतिबिंबित है, न कि काल्पनिक व्यक्ति का, जैसा कि बाद के कुछ लेखकों ने अपने अज्ञान के कारण उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी भाषा बाद के साहित्य की अपेक्षा अधिक आर्ष है और वाक्यविन्यास (सिटैक्स), शैली एवं छंद में भी भिन्न है क्योंकि उनकी रचना का काल विद्वानों ने प्राचीनतम वैदिक मंत्रों की रचना का समय निर्धारित किया है। नपे तुले स्वरों में रचे होने के कारण वे सस्वर पाठ के लिये ही हैं। उनमें न केवल गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियाँ वर्तमान हैं, वे विषयप्रधान ही न होकर व्यक्तिप्रधान भी हैं जिनमें पैगंबर के व्यक्तित्व की विशेष रूप से चर्चा की गई है, उनके ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने और उस विशेष अवस्था के परिज्ञान के लिये वांछनीय आशा, निराशा, हर्ष, विषाद, भय, उत्साह तथा अपने मतानुयायियों के प्रति स्नेह और शत्रुओं से संघर्ष आदि भावों का भी समावेश पाया जाता है। यद्यपि पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन वासना से घिरा हुआ है, पैगंबर ने इस प्रकार शिक्षा दी है कि यदि मनुष्य वासना का निरोध कर सात्विक जीवन व्यतीत करे तो उसका कल्याण अवश्यंभावी है।

गाथाओं के बाद 'यस्न' आते हैं जिनमें ७२ अध्याय हैं जो 'कुश्ती' के ७२ सूत्रों के प्रतीक हैं। कुश्ती कमरबंद के रूप में बुनी जाती है जिसे प्रत्येक जरथुस्त्र मतावलंबी 'सुद्रे' अथवा पवित्र कुर्ती के साथ धारण करता है जो धर्म का बाह्य प्रतीक है। यस्न उत्सव के अवसर पर पूजा संबंधी 'विस्पारद' नामक २३ अध्याय का ग्रंथ पढ़ा जाता है। इसके बाद संख्या में २३ 'यश्तों' का सगायन किया जाता है जो स्तुति के गान हैं और जिनके विषय अहुरमज्द तथा अमेष-स्पेंत, जो दैवी ज्ञान एवं ईश्वर के विशेषण हैं और 'यजता', पूज्य व्यक्ति जिनका स्थान अमेष स्पेंत के बाद है।

अवेस्ता काल के धार्मिक ग्रंथों की सूची के अंत में 'वेंदीदाद', 'विदेवो दाता' (राक्षसों के विरुद्ध कानून) का उल्लेख हुआ है। यह कानून विषयक एक धर्मपुस्तक है जिसमें २२ 'फरगर्द' या अध्याय हैं। इसके प्रधान वर्ण्य विषय इस प्रकार है--अहुरमज्द की रचना तथा अग्र मैन्यु की प्रतिरचनाएँ, कृषि, समय, शपथ, युद्ध, वासना, अपवित्रता, शुद्धि एवं दाहसंस्कार।

प्राचीन पारसी रचनाकाल (८०० ई० पू० से लगभग २०० ई०) के बीच लिखित साहित्य का सर्वथा अभाव था। उस समय केवल कीलाक्षर (क्यूनीफार्म) अभिलेख भर थे जिनमें हखामनी सम्राटों ने अपने आदेश अंकित कर रखे थे। उनकी भाषा अवेस्ता से मिलती है, परंतु लिपि में बाबुली और असीरियन उत्पत्ति का अनुमान होता है।

पहलवी युग (ईसा की प्रथम शती से लेकर नवीं शती तक) में कई प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी गईं जैसे 'बुंदहिश्न' जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति दी हुई है, 'दिनकर्द' जिसमें बहुत से नैतिक और सामाजिक प्रश्नों की मीमांसा की गई है, 'शायस्त-ल-शायस्त' जो सामाजिक और धार्मिक रीतियों एवं संस्कारों का वर्णन करता है, 'इकद-गुमानिक विजर' (संदेहनिवारणार्थक सजग) जिसमें वासना की उत्पत्ति की समस्या का विवेचन किया गया है तथा 'सद दर' जिसमें विविध धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों की व्याख्या की गई है।

आधुनिक पारसी वर्णमाला के आविष्कार से पहलवी का प्रचार लुप्त हो गया। जरथुस्त्र मत के ग्रंथ भी अब प्राय: आधुनिक फारसी में लिखे जाने लग गए। (रु० म०)

अव्यग शाकद्वीपीय सौर ब्राह्मणों द्वारा धारण किया जानेवाला पवित्र सूत्र है। इसको तीन कोटि होती है, २०० अंगुल का उत्तम, १२० अंगुल का मध्यम तथा १०८ अंगुल का ह्रस्व। अन्य ब्राह्मण जिस प्रकार यज्ञोपवीत के बिना किसी कर्मकांड के अधिकारी नहीं होते, उसी प्रकार सौर ब्राह्मण भी इसके बिना सूर्यपूजा नहीं कर सकते। पारसी लोग भी सूर्यपूजा के समय इसको धारण करते हैं। जेंदावेस्ता में अव्यग का 'ऐव्यगहनम्' और पारसी में 'कुश्ती' संज्ञा प्राप्त है। (कै० च० श०)

अशांती अफ्रीका में गोल्डकोस्ट राज्य का एक प्रशासकीय विभाग है (क्षेत्रफल २४,५६० वर्ग मील)। इसका अधिकांश पर्वतीय है और जंगलों से ढका है। साल के अधिकांश महीनों में पानी पर्याप्त बरसता है। जलवायु स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। बबूल, ताड़ तथा कपास के पर्याप्त वृक्ष हैं। यहाँ की मुख्य फसलें मक्का, केला, नारियल तथा सकरकंद हैं। यहाँ कण के रूप में प्रति वर्ष १,००,००० आउंस सोना निकाला जाता है। अंगरेजों ने १८९६ ई० में यहाँ अपना शासन स्थापित किया, किंतु १९३५ में यहाँ एक स्वतंत्र सांघिक राज्य की स्थापना हुई। (ह० ह० सिं०)

अशोक १. यह प्राचीन भारत में मौर्यवंश का तीसरा राजा था। इसके पिता का नाम बिंदुसार और माता का जनपदकल्याणी, प्रियदर्शना अथवा धर्मा था। लग० २९७ ई० पू० इसका जन्म हुआ। परंपरा के अनुसार बिंदुसार के १०१ पुत्र थे, जिनमें ९९ अन्य रानियों से तथा अशोक और तिष्य प्रियदर्शना से थे। ९९ भाइयों में सबसे बड़ा

सुसीम था। अशोक देखने मे असुंदर, किंतु योग्यतम था। कुमारावस्था मे वह अवंति राष्ट्र तथा गाधार का राज्यपाल बनाया गया था। राजकुल एव मत्रियों के षड्यत्र से उत्तराधिकार के लिये सुसीम एव अशोक मे गृहयुद्ध हुआ। अत मे अशोक विजयी हुआ। बौद्ध साहित्य की यह कथा कि अशोक अपने ९९ भाइयो को मारकर सिंहासन पर बैठा, विश्वसनीय नही जान पडती, यद्यपि यह बहुत सभव है कि उत्तराधिकार के लिये युद्ध मे कुछ भाई मारे गए हो। अशोक लगभग २७२ ई० पू० सिंहासन पर बैठा और २३२ ई० पू० तक उसने राज किया। उसने अपने शासन के प्रारभ मे अपने और पितामह चद्रगुप्त एव पिता बिंदुसार की साम्राज्यवादिनी नीति का अवलबन किया। काश्मीर, कलिंग एव कतिपय अन्य प्रदेशो को, जो मौर्य साम्राज्य मे नही थे, उसने विजित बनाया। अशोक का साम्राज्य प्राय सपूर्ण भारत और पश्चिमोत्तर मे हिंदूकुश एव ईरान की सीमा तक था। कलिंग के भीषण युद्ध से उसके हृदय पर बडा आघात पहुँचा और उसने अपनी शस्त्र और हिंसा पर आधारित दिग्विजय की नीति को छोडकर धर्मविजय की नीति को अपनाया। सभवत इसी समय उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और अपने साम्राज्य के सभी साधनो का लोकमगल के कार्यो मे लगाया।

अशोक मे सम्राट् और सत का अद्भुत मिश्रण था। उसकी राजनीति धर्म और नीति से पूर्णत प्रभावित थी। उसका आदर्श था "लोकहित से बढकर दूसरा और कोई कर्म नहो। जा कुछ भी मै पुरुषार्थ करता हूँ वह लोगो पर उपकार नही, अपितु इसलिये कि मैं उनसे उऋण हो जाऊँ और उनको इहलौकिक सुख और परमार्थ प्राप्त कराऊँ।" अपनी प्रजा से वह अपनी सतान के समान स्नेह करता था। उसकी हितचिंता मे वह परिभ्रमण भी करता था, जिसमे वह जनता के सपर्क मे आकर उसके सुख दु ख को समझे। वह अपनी प्रजा की भौतिक तथा नैतिक दोनो प्रकार की उन्नति करना चाहता था। अपने शासन को नैतिक मोड देने के लिये उसने कई प्रकार के धममहामात्यो की नियुक्ति की। उसके शासन के विभागो मे लोकोपकारी कार्यो की प्रमुखता थी।

शासन से कही अधिक अपने धर्म और उसके प्रचार के लिये अशोक प्रसिद्ध था। इसमे कोई सदेह नही कि अशोक धर्मत बौद्ध था जो भाब्रू धर्मलेख और धर्मपर्यायो के उल्लेख से स्पष्ट है। किंतु अपने प्रचार मे वह सर्वमान्य नैतिक सिद्धातो पर ही जोर देता था, जिनका सभी धर्मो से मेल हो सकता था। इसके विधि और निषेध दो अग थे। अपने द्वितीय तथा सप्तम स्तभलेख मे उसने साधुता (बहुकल्याण), अल्पपाप, दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव आदि को विधेयात्मक धर्म का गुण माना है। व्यवहार मे इनका कार्यान्वय प्राणियो के अवध, भूतो के प्रति अहिंसा, माता पिता की शुश्रूषा, स्थविरो की शुश्रूषा, गुरुओ के प्रति आदरभाव, मित्र-परिचित-जाति तथा ब्राह्मणो श्रमणों को दान तथा उनके साथ सुष्ठु व्यवहार, दास तथा भृत्य के साथ सुदर बर्ताव, अल्पभाडता (कम सग्रह) और अल्पव्ययता के द्वारा अशोक ने बतलाया। इसी को वह धर्ममगल, धर्मदान और धर्मविजय कहता है। तृतीय स्तभलेख मे धर्म के निषेधात्मक अग का वर्णन करते हुए चडता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान, ईर्षा आदि के परित्याग का उपदेश किया गया है। धार्मिक जीवन के विकास के लिये प्रत्यवेक्षा (आत्मनिरीक्षण) की आवश्यकता बतलाई गई है। सप्तम तथा द्वादश शिलालेखो मे अशोक ने धार्मिक सहअस्तित्व तथा धार्मिक समता का उपदेश किया है और वाक्सयम एव भावशुद्धि पर जोर दिया है। अशोक के धर्म की विशेषताओ मे नैतिकता, सारवत्ता, सार्वजनीनता, उदारता एव समता मुख्य है।

इसी नैतिक धर्म के प्रचार को धर्मविजय कहा गया है। यह धर्मविजय परपरागत धर्मविजय से भिन्न था। परपरागत धर्मविजय का अर्थ था भूमि एव धन के लोभ के बिना अपनी सैनिक शक्ति से चक्रवर्तित्व अथवा देशव्यापी साम्राज्य के लिये अन्य राज्यो के ऊपर विजय प्राप्त करना, इसमे बल और हिंसा का प्रयोग होता था। अशोक की धर्मविजय वास्तव मे रणविजय नही, भारत तथा दूसरे देशो और राज्यों पर नीति, शांति और सेवा के द्वारा धर्म की विजय थी।

धर्मविजय की प्राप्ति के लिये कई साधनो का अवलबन किया गया। नैतिक शिक्षाओ को स्थायी रूप से प्रजा के पास पहुँचाने के लिये धर्मलेखो का प्रवर्तन हुआ जो पर्वतशिलाओ, प्रस्तरस्तभा और गुहाओ मे अकित किए गए। धर्मलेखो की गणना इस प्रकार है १० शिलालेख---(अ) चौदह प्रमुख, (आ) पृथक् कलिंग अभिलेख, (इ) लघु शिलालेख (सहसराम, रूपनाथ, बैराट, सिद्धपुर, जातिग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि मास्की), २० स्तभलेख---(अ) सात प्रमुख, (आ) लघु स्तभलेख (प्रयाग, साँची, सारनाथ, रुम्मिनदेई तथा निगलीव), ३० गुहालेख---(बराबर तथा नागार्जुनी की पहाडिया मे)। धर्मप्रचार का दूसरा साधन 'अनुसधान' था। नियमित रूप से अशोक और उसके मुख्य अधिकारी विविध जनपदो मे जनता से सपर्क स्थापित करने के लिये यात्रा करते थे। इसका उद्देश्य उसी के शब्दो मे "जनस्य जानपदस्य दर्शनम्" (जनपदो तथा जनता का दर्शन) था। तीसरा साधन 'श्रावण' था। इसके अतर्गत धार्मिक तथा नैतिक विषयो पर कथावार्ता का आयोजन किया जाता था। इसके अतिरिक्त विहारयात्रा के स्थान पर धर्मयात्रा (तीर्थस्थानो और धार्मिक कार्यक्रम के लिये) और विलासपूर्ण समाजो के स्थान पर धर्मसमाज (सतो अथवा धार्मिक प्रयोजन के लिये) व्यवस्था हुई। हस्तिस्कध तथा ज्योतिस्कध आदि स्वर्गीय दृश्यो का प्रदर्शन जनता का ध्यान धार्मिक जीवन से उत्पन्न पुण्यो की ओर आकृष्ट करने के लिये किया जाता था। लोकोपकारी कार्यो का समावेश भी धर्मविजय मे किया गया। सडकों का निर्माण, उनके किनारे वृक्षो का आरोपण, पाथशालाओं और प्याउओ का आयोजन, सुरक्षा आदि का समुचित प्रबध था। मनुष्यचिकित्सा एव पशुचिकित्सा की व्यवस्था भी राज्य की ओर से थी। औषधियो के उद्यान लगाए गए। जो औषधियाँ अपने देश मे नही होती थी, वे विदेशो से मँगाकर लगाई गई। अनेक स्तूपो, चैत्यो, विहारों और स्तभो का निर्माण भी धर्म की स्थापना के लिये किया गया।

धर्मविजय के लिये प्रचारकसघ का भी सगठन हुआ। धर्मविजय की कोई भौगोलिक सीमा नही थी। इसलिये धर्मचक्र का प्रवर्तन देश विदेश दोनो मे हुआ। अशोक की लोकसेवा का क्षेत्र अपने राज्य तक ही सकुचित नही था। उसके प्रचार के क्षेत्रो को निम्नलिखित भागो मे बाँटा जा सकता है. (१) साम्राज्य के अतर्गत विभिन्न प्रदेश, (२) साम्राज्य के सीमात प्रदेश की जातियाँ---यवन, कांबोज, गाधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आध्र, पुलिंद, (३) साम्राज्य की जगली और पिछडी हुई जातियाँ, (४) दक्षिण भारत के अर्धस्वाधीन राज्य, (५) लका (ताम्रपर्णि), (६) सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मकदूनियाँ और एपिरस आदि यवन देश। इतने बड़े पैमाने पर पहले कभी नीति और धम का प्रचार नही हुआ था।

अशोक के धार्मिक प्रचार से कला को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। अपने धर्मलेखो के अकन के लिये उसने ब्राह्मी और खरोष्ठी दो लिपियो का उपयोग किया और सपूर्ण देश मे व्यापक रूप से लेखनकला का प्रचार हुआ। धार्मिक स्थापत्य और मूर्तिकला का अभूतपूर्व विकास अशोक के समय मे हुआ। परपरा के अनुसार उसने तीन वर्ष के अतर्गत ८४,००० स्तूपो का निर्माण कराया। इनमे से ऋषिपत्तन (सारनाथ) मे उसके द्वारा निर्मित धर्मराजिका स्तूप का भग्नावशेष अब भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार उसने अगणित चैत्यो और विहारो का निर्माण कराया। अशोक ने देश के विभिन्न भागो मे प्रमुख राजपथो और मार्गो पर धर्मस्तभ स्थापित किए। अपनी मूर्तिकला के कारण ये स्तभ बहुत ही महत्व के है। इनमे सारनाथ का सिंहशीर्ष स्तभ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। स्तभनिर्माण की कला पुष्ट नियोजन, सूक्ष्म अनुपात, सतुलित कल्पना, निश्चित उद्देश्य की सफलता, सौदर्यशास्त्रीय उच्चता तथा धार्मिक प्रतीकत्व के लिये अशोक के समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इन स्तभो का उपयोग स्थापत्यात्मक न होकर स्मारकात्मक था। सारनाथ का स्तभ धर्मचक्रप्रवर्तन की घटना का स्मारक था और धर्मसघ की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिये इसकी स्थापना हुई थी। यह चुनार के बलुआ पत्थर के लगभग ४५ फुट लबे प्रस्तरखड का बना हुआ है। धरती मे गडे हुए आधार को छोडकर इसका दड गोलाकार है, जो ऊपर की ओर क्रमश पतला होता जाता है। दड के ऊपर इसका कठ और कठ के ऊपर शीर्ष है। कठ के नीचे प्रलबित दलोंवाला उलटा कमल है। गोलाकार कठ चक्र से चार भागो मे विभक्त है। उनमे क्रमश:

हाथी, घोडा, बैल तथा सिंह की सजीव प्रतिकृतियाँ उभरी हुई है। कठ के ऊपर शीर्ष मे चार सिहमूर्तियाँ है जो पृष्ठत एक दूसरी से जुडी हुई हैं। इन चारो के बीच मे एक छोटा दड था जो धर्मचक्र को धारण करता था। अपने मूर्तन और पालिश की दृष्टि से यह स्तभ अद्भुत है। इस समय स्तभ का निचला भाग अपने मूल स्थान मे है। शेष सग्रहालय मे रखा है। धर्मचक्र के केवल कुछ टुकडे उपलब्ध हुए। चक्ररहित सिहशीर्ष ही आज भारत गणतत्र का राज्यचिह्न है। चक्र वैदिक ऋत से विकसित धर्म की कल्पना का प्रतीक है, जो सपूर्ण आकाश म गतिशील रहता है। उसका सिहनाद चारो दिशाओं मे चारो सिह करते है। कठ पर उभार गतिशील चारो पशु धर्मप्रवर्तन के प्रतीक है। प्रलबित कमल भारत के दार्शनिक रहस्यवाद का आधार है।

अशोक की धार्मिक नीति के प्रभाव के सबध मे इतिहासकारो मे काफी मतभेद है। परतु इस नीति के लाभ और हानि दोनो पक्षो की तुलना बहुत ही महत्वपूर्ण एव मनोरजक है। अशोक की धर्मविजय की नीति के द्वारा सपूर्ण देश तथा पडोसी अन्य देशो मे सामाजिक प्रवृत्तियो को पूरा प्रोत्साहन मिला। एक लिपि ब्राह्मी तथा एक भाषा पालि का आजकल की हिंदी की भाँति एकीकरण के माध्यम के रूप मे सर्वत्र प्रचार हुआ। धर्म के माध्यम के रूप मे स्थापत्य तथा मूर्तिकला विकसित, समृद्ध एव प्रसारित हुई। धार्मिक सहअस्तित्व, सहिष्णुता, उदारता, और समता का प्रचार हुआ। नैतिकता, विश्वबधुत्व और अतरराष्ट्रीयता को प्रश्रय मिला और इनके द्वारा भारत को अतरराष्ट्रीय जगत् मे ऊँचा पद प्राप्त हुआ। अशोक की धार्मिक नीति से प्रभूत लाभ हुए। राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से कई इतिहासकारो के मतो मे कई हानियाँ हुई। इसके द्वारा भारत का राजनीतिक विस्तार रुक गया यदि उसने चद्रगुप्त की नीति का अवलबन किया होता तो मकदूनी या रोमन साम्राज्य के समान एक विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना हुई होती। राजनीति का विस्तार रुक जाने से राजनीतिक चिंतन भी शिथिल हो गया, अत चाणक्य के बाद राजनीति शास्त्र मे कोई प्रौढ आचार्य नही मिलता। दिग्विजयिनी मौर्य सेना स्कधावारो मे पडी पडी निष्क्रिय हो गई थी—इसीलिये यवन (यूनानी) आक्रमणों के सामने वह पुन न ठहर सकी। अशोक की नीति ने भारतीयो के स्वभाव को कोमल बना दिया और उन्हे इहलौकिक और भौतिक उन्नति के मार्ग से विमुख किया। कल्पित महत्तावाली अतरराष्ट्रीयता ने राष्ट्रीयता की भावनाओं का तिरस्कार कर उन्हे दुर्बल बना दिया, आदि। यदि नैतिक तुला पर उपर्युक्त लाभ और हानि रखी जायें तो मानव मूल्यो की दृष्टि से अशोक की धार्मिक नीति के लाभ अधिक भारी सिद्ध होते है।

अपनी आदर्शवादिता, नीतिमत्ता तथा लोकहितचिंता के कारण संसार के इतिहास म अशोक का बहुत ही ऊँचा स्थान है। वास्तव मे अभी तक ससार का इतिहास बर्बर कृत्यो के वर्णन से भरा पडा है। पृथ्वी को रक्तप्लावित करनेवाले असख्य विजेताओं की सूची मे नीति और प्रेम का उपदेश करनेवाला शासक अशोक प्राय अकेला है। एक इतिहासकार के मत मे "बर्बरता के महासागर मे शाति और सस्कृति का वह एकमात्र द्वीप है।" यदि किसी शासक की महत्ता का मापदड राजनीतिक और सैनिक सफलता न होकर लोकहित हो तो ससार का कोई दूसरा शासक अशोक की समता नही कर सकता। वह केवल जनसुखवाद और मानवतावाद का ही समर्थक नहीं था, वह मानव की नैतिक और पारमार्थिक उन्नति के लिये भी प्रयत्नशील था और न केवल मानव, सपूर्ण जीवमात्र की हितचिंता मे रत। सिकदर, सीजर, कोंस्तातीन, अकबर, नैपोलियन आदि अपने मे विशाल और विराट् थे, किंतु वे अशोक की महत्ता और उच्चता को नही पहुँच सकते। यदि किसी व्यक्ति के यश और प्रसिद्धि को मापने का मापदड असख्य लोगो का हृदय है, जो उसकी पवित्र स्मृति को सजीव रखता है और अगणित मनुष्यो की जिह्वा है, जो उसकी कीर्ति का गान करती है, तो अशोक की समता इतिहास के थोडे से महापुरुष ही कर सकते है।

स०ग्र०—दत्तात्रेय रामकृष्ण भाडारकर अशोक, राधाकुमुद मुकर्जी : अशोक, बेणीमाधव बरुआ : अशोक और उसके अभिलेख; वी० ए० स्मिथ अशोक, सत्यकेतु विद्यालंकार . मौर्य साम्राज्य का इतिहास, हुल्त्श कार्पस इस्क्रिप्शनम इडिकेरम, भाग १, इस्क्रिप्शस ऑव अशोक। (रा० ब० पा०)

अशोक २. यह वृक्ष संस्कृत, बँगला, मराठी, मलयालम, तेलुगु और अग्रेजी मे भी यही कहलाता है। लैटिन मे (१) जोनेसिया असोका तथा (२) सैरैका इडिका, ये दो नाम है।

यह लग्यूमिनोसी जाति का वृक्ष है, देखने मे सुदर होता है। इस वृक्ष मे वसत ऋतु मे फूल लगते है। पहले मे ये नारगी रग के और दूसरे मे श्वेत रग के होते है। पहले प्रकार की पत्तियाँ रामफल के वृक्ष की पत्तियों जैसी तथा दूसरे की आम की पत्तियो जैसी लबी परतु किनारे पर लहरदार होती है। इनम श्वेत मजरियाँ लगती है, जिनके झडने पर छोटे, गोल फल लगते है, जो पकने पर लाल हो जाते है पर खाए नही जाते।

यह वृक्ष समस्त भारतवर्ष मे पाया जाता है। इसकी छाल आयुर्वेद मे कटु, तिक्त, ज्वर एव तृषानाशक, घाव को भरनेवाली, अँतडियो को सिकोडनेवाली, कृमिनाशक तथा पाचक कही गई है। रक्तविकार, थकावट, शूल, बवासीर, अस्थिभग तथा मूत्रकृच्छ्र म उपयोगी है। देशी वैद्य इसको स्त्रीरोगो मे, जैसे गर्भाशय के रोग, रक्तप्रदर, रक्तस्राव इत्यादि मे रामबाण मानते है। (भ० दा० व०)

अशोकस्तंभ द्र० 'अशोक १'।

अश्ताबुला संयुक्त राज्य, अमरीका, के ओहायो राज्य का एक नगर है जो ईरी झील तथा ईरी नदी के मुहाने पर, समुद्रतल से ७०३ फुट की ऊँचाई पर, क्लीवलैंड से ५६ मील उत्तर पूर्व मे बसा है। यह राष्ट्रीय तथा राजकीय सडको और रेलो द्वारा अन्य स्थानो से सबधित है तथा औद्योगिक, व्यावसायिक और जहाजो का केंद्र है। यह कच्चा लोहा, कोयला तथा कृषि के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ मछली मारना, तैलशोधन, चमडा सिझाना इत्यादि, प्रमुख उद्योग है। अश्ताबुला रेड इडियन शब्द है जिसका अर्थ है मछली की नदी। गोरी जातियो ने इसे पहले पहल १८०१ मे आबाद किया। १८३१ मे यहाँ निगम बना और १८९१ मे नगर। (नृ० कु० सि०)

अश्मरी या पथरी शरीर मे, विशेषकर मूत्राशय, वृक्क तथा पित्ताशय मे, जमे ठोस द्रव्य को कहते है। यह लाला ग्रथियो मे तथा कई अन्य अगो म भी बन जाती है, जिसका नीचे सक्षिप्त उल्लेख किया गया है। वृक्क और मूत्राशय की अश्मरियाँ कैलसियम फॉस्फेट, ऑक्जलेट तथा सोडियम-ऐमोनियम यूरेट की होती है। वे जैथीन सिस्टीन से भी बन सकती है। पित्ताशय की अश्मरी कोलेस्टरोल की बनी होती है, जिसमे बहुधा चूना भी मिला रहता है।

अश्मरी मे एक केंद्र होता है जिसके चारो ओर चूने आदि के स्तर एक पर एक एकत्र होते रहते है। केंद्र रक्त के थक्के, श्लैष्मिक कला के टुकडे, जीवाणु, श्वेतकणिकाओं आदि से बन सकता है। इसके चारो ओर लवणो के स्तर जमा हो जाते है। इस कारण अश्मरी को काटने पर स्तरित रचना दिखाई देती है।

मूत्राशय की अश्मरी—हमारे देश मे राजस्थान मे तथा पर्वतीय प्रातो मे यह रोग अधिक पाया जाता है। वहाँ पीने के जल मे लवणो की अधिकता रोग का कारण प्रतीत होती है। चर्म से अधिक वाष्पीभवन होने के कारण मूत्राशय की अतिसाद्रता भी अश्मरीनिर्माण का कारण हो सकती है। अश्मरी यूरिक अम्ल, ऐमोनिया के यूरेट लवण, चूने के फास्फेट तथा ऑक्जलेट लवणों से बनती है। सिस्टीन (विषाणिन—सीग, बाल इत्यादि मे पाया जानेवाला एक पदार्थ) और जैथीन (पीत-श्वेत, रवेदार पदार्थ, जिससे अनेक पीले रग के यौगिक बनते है) की अश्मरी भी पाई जाती है। फॉस्फेट की अश्मरी चिकनी और भुरभुरी होती है जो दबाने से ही टूट जाती है। यूरेट की इससे कड़ी होती है। ऑक्जलेट की अश्मरी सबसे कड़ी होती है। उसपर दाने या कगूरे से उठे होते है जिनके कारण मूत्राशय की श्लेष्मिक कला से रक्तस्राव होता रहता है। इस कारण अश्मरी

का रंग रक्त के मिल जाने से गहरा लाल होता है। ऐसी अश्मरी से रोगी को पीड़ा अधिक होती है।

जब अश्मरी मूत्रमार्ग के अन्तर्द्वार पर, जिससे मूत्राशय से मूत्र निकलता है, स्थित होकर मूत्रप्रवाह को रोक देती है तब रोगी को पीड़ा होती है। किंतु यदि रोगी अपनी स्थिति बदल दे, पार्श्व से लेट जाय, तो बहुधा अश्मरी के स्थानातरित हो जाने से मूत्रमार्ग खुल जाता है और मूत्र निकल जाता है जिससे रोगी की पीड़ा जाती रहती है। मूत्र का रुकना ही रोग का विशेष लक्षण है।

यह रोग बच्चो मे अधिक होता है और स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषों मे अधिक पाया जाता है। साधारणत एक अश्मरी बनी रहती है। जब अधिक अश्मरियाँ रहती है तो आपस में रगड़ने से उनपर चिह्न बन जाते हैं। एक्स-रे फोटो मे अश्मरी की छाया दिखाई देती है। इस कारण एक्स-रे चित्र लेने से निदान निश्चित हो जाता है।
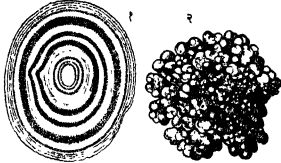
दो अश्मरियाँ

१ मूत्राशय की अश्मरी का काट, यह अश्मरी १५" चौड़ी और १६" लबी थी। २. वृक्क की अश्मरी; यह मुख्यत कैलसियम ऑक्जलेट की बनी है।

चिकित्सा—(१) **अश्मरीभजन** कर्म मे भजक (लिथोट्राइट) से मूत्राशय के भीतर की अश्मरी को तोडकर चूर्ण कर दिया जाता है और चूषकयत्र (ईवैकुएटर) द्वारा उसको बाहर खींच लिया जाता है। (२) शल्यकर्म द्वारा उदर के निचले भाग मे भगसधानिका के ऊपर मध्यरेखा मे तीन इच लबा छेदन करके मूत्राशय के स्पष्ट हो जाने पर उसका भी छेदन करके अश्मरी को सदश से पकड कर निकाल लेते है और फिर मूत्राशय तथा उदर के छिन्न भागो को सी देते है।

वृक्क की अश्मरी—वृक्क के प्रातस्थ भाग मे या श्रोणि (पेल्विस) मे स्थित, बडे आकार की अश्मरी मे, जिसके कुछ भाग वृक्कवस्तु मे धँसे हो, कोई लक्षण नही उत्पन्न होते। ऐसी अश्मरियाँ शात अश्मरियाँ कहलाती है। छोटी चलायमान अश्मरियाँ दारुण पीडा का कारण होती है।

अश्मरी के निर्माण के कारणो का अभी तक पूर्ण ज्ञान नही हो सका है, किंतु पिछले कुछ वर्षो के अनुसधान से अश्मरीनिर्माण का सबध भोजन से प्रतीत होता है। आहार मे चूने के यौगिको की अधिकता और विटामिन ए की कमी अश्मरीनिर्माण मे सहायक होती है। विटामिन ए की कमी से वृक्कप्रणालिकाओ की श्लेष्मिक कला क्षत हो जाती है। उसके कुछ भाग गल से जाते है जो अश्मरीनिर्माण के लिये केंद्र का काम करते है। फिर सक्रमण भी सहायक कारण होता है जिससे श्लेष्मिक कला की कोशिकाएँ शोथयुक्त हो जाती है और उनकी पारगम्यता (पर्मिएबिलिटी) बदल जाती है। शारीरिक, भौतिक तथा रासायनिक दशाओ का भी प्रभाव पड़ता है। शरीर के प्रत्येक भाग मे अश्मरीनिर्माण के सबध मे ये ही दशाएँ लागू है। जिन रोगो मे अस्थिक्षय होने से, कैलसियम मुक्त होता है उनमे अश्मरी बनने के लिये चूना उपलब्ध हो जाता है। परावटुका (पैरायाइराइड) की अतिवृद्धि या अर्बुदो से भी यही परिणाम होता है। जिन दशाओ में मूत्र रुक जाता है उनमे भी ऐसा ही होता है।

रोग के साधारण लक्षण—कटिपार्श्व और वृक्क के पीछे के प्रात मे हलका सा दर्द सदा बना रहता है। मूत्र मे रक्त आता है जो इतना थोड़ा हो सकता है कि वह केवल अणुवीक्षक द्वारा दिखाई दे। छोटी चलायमान अश्मरी से तीव्र पीडा हो सकती है जो पीठ से प्रारभ होकर सामने से होती हुई नीचे पेडू और शिश्न मे जाती हुई प्रतीत होती है। यदि अश्मरी श्रोणी (गोणिका) या कैलिसो मे भरकर मूत्रप्रणालिकाओ के मुखो को बद कर देती है और मूत्र का प्रवाह रुक जाता है तो कैलिसो का, जिनमे मूत्र एकत्र रहता है, आकार विस्तृत हो जाता है और उनके विस्तार से वृक्कवस्तु नष्टप्राय हो जाती है। इस दशा को जलातिवृक्कविस्तार (हाइड्रोनेफोसिस) कहते हैं। यदि किसी प्रकार वहाँ सक्रमण पहुँच जाता है तो वहाँ पूय (पस) बनकर एकत्र होती है। यह पूतिवृक्क विस्तार (पायोनेफोसिस) कहा जाता है।

निदान—निदान लक्षणो और एक्स-रे द्वारा किया जाता है। मूत्रपरीक्षा तथा अन्य परीक्षाएँ भी आवश्यक है।

चिकित्सा—यदि एक ही अश्मरी है तो शल्यकर्म करके उसको गोणिका द्वारा निकाल दिया जाता है। एक से अधिक अश्मरियाँ होने पर तथा प्रातस्था मे स्थित होने पर और वृक्कवस्तु के नष्ट हो जाने पर सपूर्ण वृक्क का ही छेदन (नेफ्रेक्टोमी) करना पडता है।

पित्ताशय की अश्मरी—पित्ताशय की अश्मरियाँ शुद्ध कॉलेस्टरीन की या बिलिरुबिन कैलसियम की बनी रहती है। एक्स-रे में इनकी कोई छाया नही बनती। उनकी हलकी सी छाया केवल उस समय बनती है जब उनपर कैलसियम चढा रहता है। एक से लेकर कई सौ अश्मरियाँ पित्ताशय मे उपस्थित हो सकती है। एक अश्मरी बडी और गोल या नाशपाती सी होती है। अधिक अश्मरियो के होने पर वे एक दूसरे को रगड़कर चौपहल या अठपहल हो जा सकती है। किंतु प्राय इनके कारण पित्ताशय की भित्तियो मे शोथ उत्पन्न हो जाता है जिसको पित्ताशयार्ति (कोलिसिस्टाइटिस) कहते हैं। इसके उग्र और जीर्ण दो रूप होते है। उग्र रूप मे लक्षण तीव्र होते हैं। रोग भयकर होता है। जीर्ण रूप मे लक्षण मद होते हैं और बहुत काल तक बने रहते हैं। इस दशा का सबध अश्मरी की उत्पत्ति के साथ विशेष रूप से है। इससे अश्मरी उत्पन्न होती है और अश्मरी से जीर्ण शोथ उत्पन्न होता है। इसी के कारण रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्वय अश्मरी लक्षण नही उत्पन्न करती। जब कोई छोटी अश्मरी पित्ताशय से पित्तनलिका अथवा सयुक्ता पित्तवाहिनी (कॉमन बाइल डक्ट) मे चली जाती है तो नलिका मे आकुचन होने लगता है जिससे दारुण पीडा होती है। इसको पित्तशूल (बिलियरी कॉलिक) कहते हैं। रोगी पीडा को उदर मे दाहिनी ओर नवी पर्शुका के अग्र प्रात से उरोस्थि के अग्रपत्रक (जिफाइड प्रोसेस) तक और पीछे पीठ मे असफलक के अधोकोण तक अनुभव करता है। यह पीडा अत्यत दारुण तथा असह्य होती है। रोगी छटपटाता है। इससे मृत्यु तक होती देखी गई है।

चिकित्सा—अश्मरी को शल्यकर्म द्वारा निकालना आवश्यक है। यदि रोग बहुत समय से है और जीर्ण शोथ भी है तो पित्ताशय का सपूर्ण छेदन उचित है। वेदना के समय, जिसको रोग का आक्रमण कहा जाता है, शामक ओषधियाँ, विशेषकर मॉफिन या उसी के समान अन्य ओषधियाँ, देकर पीडा दूर करना अत्यत आवश्यक है।

अन्य स्थानों की अश्मरी—मूत्रप्रवाहिनी (यूरेटर) **मे अश्मरी**—मूत्रप्रवाहिनी मे अश्मरी बनती नही। छोटे आकार की अश्मरियाँ वृक्क से मूत्रप्रवाह के साथ आ जाती है, जो बहुत छोटी होती है (वे रेत के कण के समान हो सकती है) वे मूत्रप्रवाहिनी (गवीनी) मे होती हुई मूत्राशय मे चली जाती हैं। जब मूत्रप्रवाहिनी के व्यास के बराबर की कोई अश्मरी वहाँ फँस जाती है, जिससे मूत्रप्रवाहिनी मे आक्षेप होने लगते है, तो उससे दारुण वेदना होती है और जब तक अश्मरी निकल नही जाती, निरतर होती रहती है। इससे मृत्यु तक हो जाती है।

लालाग्रंथियों मे अश्मरी—ऊर्ध्वहन्वाधर ग्रथि (सब्मैक्जलरी ग्लैंड) और उनकी नलिका मे अश्मरियाँ अधिक बनती है। ये कर्णमूल ग्रथि (पैरोटिड) की नलिका मे भी पाई जाती है। नलिकाओं के अवरुद्ध हो जाने से ग्रथि का स्राव मुख मे नही पहुँच सकता। ग्रथि मे अश्मरी के स्थित होने के कारण ग्रथि बार बार सूज जाती है जिससे बहुत पीडा होती है। ग्रंथि को निकाल देना आवश्यक होता है। लेखक ने एक रोगी से

दोनों ओर की ऊर्ध्वहन्वाधर ग्रंथियो मे तीन और चार अश्मरियाँ निकाली, जिनकी रासायनिक परीक्षा करने पर वे कैलसियम कार्बोनेट और फ़ॉस्फेट की बनी पाई गई।

अग्न्याशय मे अश्मरी (पैंक्रिऐटिक)—ये कैलसियम कार्बोनेट और मैगनीसियम फॉस्फेट की बनी होती है। ये असाधारण है और अग्न्याशय की नलिका मे मिलती है। इनके कोई विशिष्ट लक्षण नहीं होते। प्राय उदर का एक्स-रे लेने से अकस्मात् इस प्रकार की अश्मरी की छाया दिखाई दे जाती है।

आंत्र की अश्मरी (एंटरोलिथ)—आंत्र मे मल के शुष्क होने से कडे पिंड बनते है तो कभी कभी बद्धाव की दशा उत्पन्न कर देते है।

पुरःस्थ (प्रोस्टेट) की अश्मरी—पुरःस्थ मे भी कैलसियम के कार्बोनेट और फॉस्फेट लवणो के एकत्र होने से अश्मरी बन जाती है। इसके लक्षण मूलाधार प्रात मे भारीपन, पीडा तथा मूत्रत्याग मे पीडा होते है। गुदपरीक्षा तथा एक्स-रे से इनका निदान किया जाता है।

शिश्न मे अश्मरी—कभी कभी मूत्राशय से आकर अश्मरी शिश्न मे अटक जाती है। उचित साधनों द्वारा उसको निकालना आवश्यक है।

सं०ग्रं०—हैडफील्ड जोन्स सर्जरी, नेल्सन एन्सायक्लोपीडिया ऑव सर्जरी। (मु० स्व० व०)

अश्व द्र० 'घोडा'।

अश्वगंधा एक पौधा है जो खानदेश, बरार, पश्चिमीघाट एव अन्य अनेक स्थानों मे मिलता है। हिंदी मे इसे साधारणतया असगध कहते है। लैटिन मे इसका नाम वाइथनिया सोम्निफेरा है। यह पौधा दो हाथ तक ऊँचा होता है और विशेषकर वर्षा ऋतु मे पैदा होता है, किंतु कई स्थानो पर बारहो मास उगता है। इसकी अनेक शाखाएँ निकलती है और घुँघची जैसे लाल रंग के फल बरसात के अत या जाडे के प्रारभ मे मिलते है। इसकी जड लगभग एक फुट लबी, दृढ, चेपदार और कडवी होती है। बाजार मे गधी जिसे असगध या असगध की जड कहकर बेचते है, वह इसकी जड नहीं, वरन् अन्य वर्ग की लता की जड होती है, जिसे लैटिन भाषा मे कॉन्वॉल्वुलस असगधा कहते है। यह जड जहरीली नहीं होती, किंतु अश्वगधा की जड जहरीली होती है। अश्वगधा का पौधा चार पाँच वर्ष जीवित रहता है। इसी को जड से असगध मिलती है, जो बहुत पुष्टिकारक है।

राजनिघटु के मतानुसार अश्वगधा चरपरी, गरम, कडवी, मादक गधयुक्त, बलकारक, वातनाशक और खाँसी, श्वास, क्षय तथा व्रण को नष्ट करनेवाली है, इसकी जड पौष्टिक, धातुपरिवर्तक और कामोद्दीपक है, क्षयरोग, बुढापे की दुर्बलता तथा गठिया मे भी यह लाभदायक है। यह वातनाशक तथा शुक्रवृद्धिकर आयुर्वेदिक ओषधियो मे प्रमुख है, शुक्रवृद्धिकारक होने के कारण इसको शुक्रला भी कहते है।

रासायनिक विश्लेषण से इसमे सोम्निफेरिन और एक क्षारतत्व तथा राल और रजक पदार्थ पाए गए है। इसमे निद्रा लानेवाले और मूत्र बढानेवाले पदार्थ भी प्रचुर मात्रा मे होते है।

अश्वगधा

उपयोग—इसका ताजा तथा सूखा फल ओषधि के काम मे आता है, किंतु सिंध, पाकिस्तान के उत्तर पश्चिमी सरहदी प्रात, अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान मे इसे रेनेट के स्थान पर दूध जमाने के काम मे लाते है। इसका पाचक द्रव नमक के पानी मे जल्दी आ जाता है (१०० भाग पानी मे ५ भाग नमक होना चाहिए)। इस पानी के उपयोग से दही शीघ्र जमता है, जो पेट मे पाचक अम्ल के समान लाभ पहुँचाता है। कुछ वैद्यो ने इस वनस्पति की जड को प्लेग मे उपयोगी पाया है।

वैद्य असगध से चूर्ण, घृत, पाक इत्यादि बनाते है और ओषधि के रूप मे इसका उपयोग गठिया, क्षय, अध्यत्व, कटिशूल, नारू नामक कृमि, वातरक्त इत्यादि रोगो मे भी करते है। इस प्रकार असगध के अनेक और विविध उपयोग है।

सं०ग्रं०—चद्रराज भडारी वनौषधि चद्रोदय, हरिदास वैद्य चिकित्सा चद्रोदय (हरिदास ऐंड कपनी, कलकत्ता)। (भ० दा० व०)

अश्वघोष बौद्ध महाकवि तथा दार्शनिक। कुषाणनरेश कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष का समय ईसवी प्रथम शताब्दी का अत और द्वितीय का आरभ है। ये साकेत (अयोध्या) के निवासी तथा सुवर्णाक्षी के पुत्र थे। चीनी परपरा के अनुसार महाराज कनिष्क पाटलिपुत्र के अधिपति को परास्त कर वहाँ से अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) ले गए थे। कनिष्क द्वारा बुलाई गई चतुर्थ बौद्ध सगीति की अध्यक्षता का गौरव एक परपरा महास्थविर पार्श्व को और दूसरी परपरा महावादी अश्वघोष को प्रदान करती है। ये सर्वास्तिवादी बौद्ध आचार्य थे जिसका सकेत सर्वास्तिवादी 'विभाषा' की रचना मे प्रयोजक होने मे भी हमे मिलता है। ये प्रथमत परमत को परास्त करनेवाले 'महावादी' दार्शनिक थे। इसके अतिरिक्त साधारण जनता को बौद्धधर्म के प्रति 'काव्योपचार' से आकृष्ट करनेवाले महाकवि थे।

इनके नाम मे प्रख्यात अनेक ग्रथ है, परतु प्रामाणिक रूप मे अश्वघोष की साहित्यिक कृतियाँ केवल चार है (१) बुद्धचरित, (२) सौदरनद, (३) गडीस्तोत्रगाथा तथा (४) शारिपुत्रप्रकरण। 'सूत्रालकार' के रचयिता सभवत ये नही है। बुद्धचरित चीनी तथा तिब्बती अनुवादो मे पूरे २८ सर्गो मे उपलब्ध है, परतु मूल संस्कृत मे केवल १४ सर्गो मे ही मिलता है। इसमे तथागत का जीवनचरित और उपदेश बडी ही रोचक वैदर्भी रीति मे नाना छदो मे निबद्ध किया गया है। सौदरनद (१८ सर्ग) सिद्धार्थ के भ्राता नद को उद्दाम काम से हटाकर सघ मे दीक्षित होने का भव्य वर्णन करता है। काव्यदृष्टि से बुद्धचरित की अपेक्षा यह कही अधिक स्निग्ध तथा सुदर है। गडीस्तोत्रगाथा गीतिकाव्य की सुषमा से मडित है। शारिपुत्रप्रकरण अधूरा होने पर भी महनीय रूपक का रम्य प्रतिनिधि है। अनेक आलोचक अश्वघोष को कालिदास की काव्यकला का प्रेरक मानते है।

सं०ग्रं०—बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, १९५८, दासगुप्त तथा दे हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता। (ब० उ०)

अश्वत्थ (पीपल) यह वनस्पति जगत् के अर्टिकेसी परिवार का एक सदस्य है। इसका लैटिन नाम फाइकस रिलीजिओसा लिन्न है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय भाषाओ मे भी इसके विभिन्न नाम है, जैसे, संस्कृत मे—पिप्पल, अश्वत्थ, चलपत्र, बोधिद्रुम, हिंदी मे पीपल, बँगला मे—अशुदगाछ, मराठी मे—पिपल, गुजराती मे—पीपलो, नेपाली मे—पिपली, मलयालम मे—अरयाल, तमिल मे—अरसु, अरसुरम्, अरबी मे—शजरतुल् मुतरअश, फारसी मे—दरख्ते लरजा।

यह एक आक्षीरी, पर्णपाती (डेसिडुअस), विशालकाय छायावृक्ष है जिसकी ऊँचाई २४ मीटर तक होती है। इसके काडस्कध से मोटी मोटी शाखाएँ निकलकर चतुर्दिक् फैली होती है किंतु कोमल एव पतली शाखाग्र नीचे को लटके रहते है जिनपर लबे डठलयुक्त लट्वाकार हृदयाकार, लबे अग्रवाली चमकदार पत्तियो का पुज होता है। इसके छाल का रग भूरा होता है। पत्तियाँ सात इच तक लबी होती है।

भौगोलिक वितरण—ये पजाब के पूरब मे हिमालय के समीपवर्ती वनो और बगाल, उडीसा, मध्यभारत आदि मे पाए जाते है। भारत के अन्य भागो मे वृक्षारोपण के कारण या जगली वृक्षो के रूप मे मिलते है। हिमालय पर ५,००० फुट की ऊँचाई तक इनका वृक्षारोपण किया गया है। श्रीलका और बर्मा मे ये वृक्ष बौद्ध धर्म के अनुयायियो द्वारा ले जाए गए हैं।

ज्ञातव्य है कि इसी वृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। बौद्ध और हिंदू इस वृक्ष को अत्यंत पवित्र मानते हैं। हिंदू इसमें देवताओं का निवास मानकर इसकी पूजा करते हैं।

अश्वत्थ (पीपल) की पत्तियाँ तथा फल ओषधियों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। (म० प्र० मि०)

अश्वत्थामा आचार्य द्रोण का पुत्र जिसने महाभारत के युद्ध में बड़ी वीरता से पांडवों का सामना किया। उसकी माता कृपी थी। कहीं कहीं पितृमूलक द्रौणायन का भी प्रयोग अश्वत्थामा के लिये हुआ है। उसने द्रोण की हत्या का प्रतिशोध द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पाँच पुत्रों को मारकर लिया था। (च० म०)

अश्वधावन अथवा घुड़दौड़ घोड़ों के वेग की प्रतियोगिता है। ऐसी प्रतियोगिता मुख्यत: दुलकी, सरपट और क्षेत्रगामी (क्रॉस-कंट्री) या अवरोधयुक्त (ऑब्स्टैकल) दौड़ों में होती है।

अश्वधावन की प्रथा अति प्राचीन है, परंतु प्रथम अश्वधावन प्रतियोगिता, जिसका उल्लेख दिनांक सहित प्राप्त है, ६८४ ई० पू० की है जो २३वीं ओलिंपिक प्रतियोगिता में हुई थी। यह यथार्थ में चार अश्वों द्वारा खिंचे रथों की प्रतियोगिता थी। ४० वर्ष बाद प्रथम बार ३३वें ओलिंपिक में अश्वारोही प्रतियोगिता हुई। यूनान में अश्वधावन सर्वप्रिय खेलों में से था और राष्ट्रीय खेल माना जाता था।

यूनान के समान रोम में भी अश्वधावन प्रचलित था और लोकप्रिय खेलों में समझा जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन में रोमन आधिपत्य काल में ही अश्वधावन का प्रचलन प्रतियोगिता के रूप में हुआ। प्रारंभ में इस प्रकार के खेल कूद ईसाई धर्म के विरुद्ध समझे जाते थे। पर धर्म इस खेल के आकर्षण को न दबा सका। जर्मनी में सर्वप्रथम ऐसे खेलों को धार्मिक समारोहों में भी स्थान मिला। कुछ काल में अश्वधावन इतना लोकप्रिय हो गया कि राजकुल से भी इसे उत्साह मिलने लगा। सन् १५९२ में चेस्टर में सर्वसाधारण के लिये अश्वधावन प्रतियोगिता प्रारंभ हुई। यह प्रतियोगिता नगराध्यक्ष (मेयर) के सभापतित्व में होती थी। इंग्लैंड के जेम्स प्रथम ने इंग्लैंड में अश्वधावन स्थल स्थापित किए और साथ ही घोड़ों की नस्ल सुधारने की भी चेष्टा की। अश्वधावन प्रतियोगिताओं में इंग्लैंड के राजाओं की रुचि बढ़ती गई और पारितोषिक भी उसी अनुपात में बढ़ते गए। सन् १७२१ ई० में जार्ज प्रथम ने जीतनेवाले अश्व को १०० गिनी पारितोषिक में दी। अश्वधावन के प्रबंध को सुचारु रूप से चलाने के लिये सन् १७५० में अश्वारोही समिति (जॉकी क्लब) की स्थापना हुई। इस सभा को इंग्लैंड में अश्वधावन संबंधी सभी बातों के अंतिम निर्णय का अधिकार दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन में अश्वधावन एक राष्ट्रीय खेल समझा जाता है और बड़े समारोह के साथ विभिन्न स्थानों में साल में इसकी अनेक बड़ी बड़ी प्रतियोगिताएँ होती हैं। इनमें से ये पाँच प्रतियोगिताएँ परंपरागत, प्राचीन और सर्वोत्तम मानी जाती हैं (१) सेंट लेजर अश्वधावन प्रतियोगिता, जिसका प्रारंभ १७७६ ई० में हुआ। यह डॉनकास्टर में सितंबर मास के मध्य में होती है। (२) ओक्स प्रतियोगिता, जिसका प्रारंभ १७७९ ई० में हुआ और जो इप्सम में, मई के अंत में, सुप्रसिद्ध डर्बी प्रतियोगिता के तुरत बाद पड़नेवाले शुक्रवार को होती है। (३) डर्बी प्रतियोगिता, जो सन् १७८० ई० में आरंभ हुई। यह भी इप्सम में दौड़ी जाती है। इप्सम तीव्र मोड़ों तथा कठिन उतार और चढ़ाव के लिये प्रसिद्ध है। इस प्रतियोगिता को विशेष महत्व दिया जाता है। (४) न्यू मार्केट में दौड़ी जानेवाली "दो हजार गिनी" की दौड़, जो १८०९ ई० में प्रारंभ हुई। (५) "एक हजार गिनी की दौड़" भी इसी न्यू मार्केट स्थल में दौड़ी जाती है। इसकी स्थापना सन् १८१४ ई० में हुई। इन पाँच दौड़ों के अतिरिक्त बहुत सी दौड़ें ऐसकट, गुडवुड आदि क्षेत्रों में दौड़ी जाती हैं और ये भी पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं।

सन् १८३९ ई० में न्यू मार्केट क्षेत्र में "हैंडीकैप" घुड़दौड़ प्रारंभ की गई। इस दौड़ का उद्देश्य सर्वोत्तम अश्वों के विरुद्ध अन्य अश्वों को भी दौड़ में सफलता प्राप्त करने का अवसर देना था। हैंडीकैप के नियमानुसार अश्वों की ख्याति, धावनशक्ति एवं आयु को ध्यान में रखते हुए उनके सवारों का भार निश्चित किया जाता है। सर्वोत्तम अश्व को भारी तथा निम्न श्रेणी के अश्व को हल्का अश्वारोही दिया जाता है। किस अश्व को इस प्रकार कितनी सुविधा अथवा असुविधा दी जाय, इसका निर्णय अश्वारोही समिति (जॉकी क्लब) करती है। सवार के भार के लिये प्रतिबंध रहते हैं। अश्वारोही को अपने भार को आठ नौ स्टोन (स्टोन = लगभग सात सेर) तक बनाए रखना अति आवश्यक है। भारी घुड़सवार अनुत्तीर्ण कर दिए जाते हैं।

सन् १८८४ में सैन डाउन के प्रबंधकर्ताओं ने एक नई १०,००० पाउंड की प्रतियोगिता की योजना निकाली। यह दौड़ इक्लिप्स के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सन् १८३९ में "द ग्रैंड नैशनल" नामक एक और लोकप्रिय घुड़दौड़ का प्रचलन हुआ। यह साढ़े चार मील लंबी दौड़ लिवरपुल में होती है। यथार्थ में यह ग्रेट ब्रिटेन की पुरानी स्टीपलचेज़ प्रथा का आधुनिक रूप है। पुराने समय में स्टीपलचेज़ सुसंपन्न लोगों के आखेट अश्वों की प्रतियोगिता थी। इसमें बिना मार्ग के, ऊँची नीची भूमि तथा छोटे बड़े अवरोधों को लाँघते हुए, किसी दूरस्थ चर्च की नुकीली मीनार को लक्ष्य मान अश्वारोही एक दूसरे से होड़ लेते थे। परंतु अब विभिन्न प्रकार की बाधाएँ निर्धारित रूप में खड़ी करके यह प्रतियोगिता एक निश्चित क्षेत्र में दौड़ी जाने लगी है।

अश्वधावन अमरीका में भी अति लोकप्रिय है। १७वीं सदी के मध्य से ही इसका प्रचलन वरजीनिया और मेरीलैंड में था।

अमरीका में दुलकी चाल की दौड़ (ट्रॉटिंग रेस) उतनी ही प्रिय है जितनी सरपट दौड़। दुलकी दौड़ दो प्रकार से दौड़ी जाती है (१) घुड़सवार घोड़े की काठी पर रहता है। (२) एक छोटी दो पहियोंवाली गाड़ी घोड़े में जोतकर अश्वारोही इसी गाड़ी पर बैठता है।

फ्रांस में आधुनिक ढंग से अश्वधावन सन् १८३३ से प्रचलित हुआ। प्रिक्स ड ओरलिंओ, प्रिक्स डू जॉकी, प्रिक्स डू प्रिंस इंपीरियल और द ग्रैंड प्रिक्स डी पेरिस यहाँ की मुख्य और महत्वपूर्ण दौड़ों में है। ग्रैंड प्रिक्स डी पेरिस एक अंतरराष्ट्रीय दौड़ मानी जाती है और अन्य देशों के घोड़े भी इसमें भाग लेने आते हैं। स्टीपलचेज़ की दौड़ में पेरिस ग्रैंड स्टीपलचेज़ प्रमुख है।

आस्ट्रेलिया, जर्मनी, इटली तथा अन्य देशों में अश्वधावन मूलत इंग्लैंड की ही प्रथा तथा नियमों के अनुसार होता है।

अश्वजनन--इसका उद्देश्य उत्तमोत्तम अश्वों की वृद्धि करना है। यह नियंत्रित रूप से केवल चुने हुए उत्तम जाति के घोड़े घोड़ियों द्वारा ही बच्चे उत्पन्न करके संपादित किया जाता है।

अश्व पुरातन काल से ही इतना तीव्रगामी और शक्तिशाली नहीं था जितना वह आज है। नियंत्रित सुप्रजनन द्वारा अनेक अच्छे घोड़े संभव हो सके हैं। अश्वप्रजनन (ब्रीडिंग) आनुवंशिकता के सिद्धांत पर आधारित है। देश विदेश के अश्वों में अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं गुणविशेषों को ध्यान में रखते हुए घोड़े तथा घोड़ी का जोड़ा बनाया जाता है और इस प्रकार इनके बच्चों में माता और पिता दोनों के विशेष गुणों में से कुछ गुण आ जाते हैं। यदि बच्चा दौड़ने में तेज निकला और उसके गुण उसके बच्चों में भी आने लगे तो उसकी संतान से एक नवीन नस्ल आरंभ हो जाती है। इंग्लैंड में अश्वप्रजनन की ओर प्रथम बार विशेष ध्यान हेनरी अष्टम ने दिया। अश्वों की नस्ल सुधारने के लिये उसने राजनियम बनाए। इनके अंतर्गत ऐसे घोड़ों को, जो दो वर्ष से ऊपर की आयु पर भी ऊँचाई में ६० इंच से कम रहते थे, संतानोत्पत्ति से वंचित रखा जाता था। पीछे दूर दूर देशों से उच्च जाति के अश्व इंग्लैंड में लाए गए और प्रजनन की रीतियों से और भी अच्छे घोड़े उत्पन्न किए गए।

अश्वजनन के लिये घोड़ों का चयन उनके उच्च वंश, सुदृढ़ शरीररचना, सौम्य स्वभाव, अत्यधिक साहस और दृढ़ निश्चय की दृष्टि से किया जाता है। गर्भवती घोड़ी को हल्का परंतु पर्याप्त व्यायाम कराना आवश्यक है। घोड़े का बच्चा ग्यारह मास तक गर्भ में रहता है। नवजात बछड़े को पर्याप्त मात्रा में माँ का दूध मिलना चाहिए। इसके लिये घोड़ी को अच्छा आहार देना

आवश्यक है। बच्चे को पाँच छह मास तक ही माँ का दूध पिलाना चाहिए। पीछे उसके आहार और दिनचर्या पर यथेष्ट सतर्कता बरती जाती है। (आ० सिं० स०)

अश्वपति वैदिक तथा पौराणिक युग के प्रख्यात महीपति। इस नाम के अनेक राजाओं का परिचय वैदिक ग्रंथों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है

(१) छादोग्य उपनिषद् (५।११) के अनुसार अश्वपति कैकेय केकय देश के तत्ववेत्ता राजा थे जिनसे सत्ययज्ञ आदि अनेक महाशाल तथा महाश्रोत्रिय ऋषियों ने आत्मा की मीमांसा के विषय में प्रश्न कर उपदेश पाया था। इनके राज्य में सर्वत्र सौख्य, समृद्धि तथा सुचारित्र्य की प्रतिष्ठा थी। अश्वपति के जनपद में न कोई चोर था, न शराबी, न मूर्ख और न कोई अग्निहोत्र से विरहित। स्वैर आचरण (दुराचार) करनेवाला कोई पुरुष न था फलत कोई दुराचारिणी स्त्री न थी। इनकी तात्विक दृष्टि परमात्मा को वैश्वानर के रूप में मानने के पक्ष में थी। इनके अनुसार यह समग्र विश्व, इसके नाना पदार्थ तथा पंचमहाभूत इसी वैश्वानर के विभिन्न अंग प्रत्यंग है। आकाश परमात्मा का मस्तक है, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, पृथ्वी पैर है। इस समष्टिवाद के सिद्धात का पोषक होने से छादोग्य उपनिषद् में अश्वपति महनीय दार्शनिक चित्रित किए गए है। (छादोग्य० ५।१८)।

(२) महाभारत के अनुसार सावित्री के पिता और मद्रदेश के अधिपति थे। इनकी पुत्री सावित्री सत्यवान् नामक राजकुमार से ब्याही थी। परंपरा के अनुसार सावित्री अपने पातिव्रत तथा तपस्या के कारण अपने गतप्राण पति को जिलाने में समर्थ हुई थी। इसलिये वह आर्यललनाओं में पातिव्रत धर्म का प्रतीक मानी जाती है।

(३) वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाड, सर्ग १) के अनुसार अश्वपति केकय देश के राजा थे। इनके पुत्र का नाम युधाजित तथा पुत्री का नाम कैकेयी था जो अयोध्या के इक्ष्वाकुनरेश दशरथ से ब्याही थी। रामायण (अयोध्या०, सर्ग ३५) में एक विशिष्ट कथा का उल्लेख कर अश्वपति का पक्षियों की भाषा का पंडित होना कहा गया है। (ब० उ०)

अश्वमेध भारतवर्ष का एक प्रख्यात यज्ञ। सार्वभौम राजा अर्थात् चक्रवर्ती नरेश ही अश्वमेध का अधिकारी माना जाता था, परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (८ पंचिका) के अनुसार अन्य महत्वशाली राजन्यों का भी इसके विधान में अधिकार था। आश्वलायन श्रौत सूत्र (१०।६।१) का कथन है कि जो सब पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है, सब विजयों का इच्छुक होता है और समस्त समृद्धि पाने की कामना करता है वह इस यज्ञ का अधिकारी है। इसलिये सार्वभौम के अतिरिक्त भी मूर्धाभिषिक्त राजा अश्वमेध कर सकता था (आप० श्रौत० २०।१।१, लाट्यायन ६।१०।१७)। यह अति प्राचीन यज्ञ प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेद के दो सूक्तों में (१।१६२, १।१६३) अश्वमेधीय अश्व तथा उसके हवन का विशेष विवरण दिया गया है। शतपथ (१३।१-५) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८-९) में इसका बड़ा ही विशद वर्णन उपलब्ध है जिसका अनुसरण श्रौत सूत्रों, वाल्मीकीय रामायण (१।१३), महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में तथा जैमिनीय अश्वमेध में किया गया है।

अनुष्ठान—अश्वमेध का आरंभ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी से अथवा ज्येष्ठ (या आषाढ) मास की शुक्लाष्टमी से किया जाता था। आपस्तब ने चैत्र पूर्णिमा इसके लिये उचित तिथि मानी है। मूर्धाभिषिक्त राजा यजमान के रूप में मंडप में प्रवेश करता था और उसके पीछे उसकी चारों पत्नियाँ सुसज्जित वेश में गले में सुनहला निष्क पहनकर अनेक दासियों तथा राजपुत्रियों के साथ आती थी। इनके पदनाम थे (क) महिषी (राजा के साथ अभिषिक्त पटरानी), (ख) वावाता (राजा की प्रियतमा), (ग) परिवृक्ती (परित्यक्ता भार्या) तथा (घ) पालागली (हीन जाति की रानी)। अश्वमेध का घोड़ा बड़ा ही सुडौल, सुंदर तथा दर्शनीय चुना जाता था। उसके शरीर पर श्याम रंग की चौरी होती थी। पास के तालाब में उसे विधिवत् स्नान कराकर इस पावन कर्म के लिये अभिषिक्त किया जाता। तब वह सौ राजकुमारों के सरक्षण में वर्ष भर स्वच्छंद घूमने के लिये छोड़ दिया जाता था। अश्व की अनुपस्थिति में तीन इष्टियाँ प्रति दिन सवितृदेव के निमित्त दी जाती थी और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति के वीणावादक स्वरचित पद्य प्रति दिन राजा की स्तुति में वीणा बजाकर गाते थे। प्रति दिन पारिप्लव (विशिष्ट आख्यान) का पारायण किया जाता था। एक साल तक निर्विघ्न घूमने के बाद जब घोड़ा सकुशल लौट आता था तब राजा दीक्षा ग्रहण करता था। अश्वमेध तीन सुत्या दिवसों का अहीन याग था। 'सुत्या' से अभिप्राय सोमलता को कूटकर सोमरस चुलाने से था (सवन, अभिषव)। इसमें बारह दीक्षाएँ, बारह उपसद और तीन सुत्याएँ होती थी। २१ अरत्नि ऊँचे २१ यूप प्रस्तुत किए जाते थे।

दूसरा सुत्यादिवस प्रधान और विशेष महत्वशाली होता था। उस दिन अश्वमेधीय अश्व को अन्य तीन घोड़ों के साथ रथ में जोतकर तालाब में स्नान कराया जाता था। रानियाँ उसके शरीर में घी मलती थी। तब वह अश्व विषप्रयोग से मारा जाता था। रानियाँ बाई से दाहिनी और दाहिनी से बाईं ओर उसकी प्रदक्षिणा करती थी। शव के पास अभिषिक्त रानी लेटती थी। अध्वर्यु दोनों को कपड़े से ढक देता और रानी घोड़े के साथ संभोग करती सी दर्शायी जाती। इस अवसर पर चारों ऋत्विज् रानियों के साथ अश्लील कथोपकथन में प्रवृत्त होते थे। अश्व की वसा निकालकर अग्नि में हवन करते थे और ब्रह्योद्य की चर्चा होती थी। ब्रह्योद्य से तात्पर्य गूढ़ पहेलियों का पूछना और बूझना होता है। तब राजा व्याघ्रचर्म या सिंहचर्म पर बैठता था। तीसरे दिन उपांग याग होते थे और ऋत्विजों को भूरि दक्षिणा दी जाती थी। होता, ब्रह्मा अध्वर्यु तथा उद्गाता को पूरब, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में विजित देशों की संपत्ति क्रमश दक्षिणा में दी जाती थी और अश्वमेध समाप्त हो जाता था।

महत्व—अश्वमेध एक प्रतीकात्मक याग है जिसके प्रत्येक अंश का गूढ़ रहस्य है। ऐतरेय ब्राह्मण में अश्वमेधयागी प्राचीन चक्रवर्ती नरेशों का बड़ा ही महत्वशाली ऐतिहासिक निर्देश है। ऐतिहासिक काल में भी ब्राह्मण राजाओं ने या वैदिकधर्मानुयायी राजाओं ने अश्वमेध का विधान बड़े ही उत्साह के साथ किया। राजा दशरथ तथा युधिष्ठिर के अश्वमेध प्राचीन काल में संपन्न हुए कहे जाते है। द्वितीय शती ई०पू० में ब्राह्मण पुनर्जागृति के समय शुगवशी ब्राह्मणनरेश पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध किया था, जिसमें महाभाष्यकार पतंजलि स्वयं उपस्थित थे (इह पुष्यमित्र याजयाम)। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी चौथी सदी ई० में अश्वमेध किया था जिसका परिचय उनकी अश्वमेधीय मुद्राओं से मिलता है। दक्षिण के चालुक्य और यादव नरेशों ने भी यह परंपरा जारी रखी। इस परंपरा के पोषक सबसे अंतिम राजा, जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह प्रतीत होते है, जिनके यज्ञ का वर्णन कृष्ण कवि ने 'ईश्वरविलास काव्य' में तथा महानद पाठक ने अपनी 'अश्वमेधपद्धति' में (जो किसी राजेंद्र वर्मा की आज्ञा से सकलित अपने विषय की अत्यंत विस्तृत पुस्तक है) किया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध का विस्तृत रोचक वर्णन 'जैमिनि अश्वमेध' में मिलता है।

सं० ग्रं०—डा० कीथ रिलिजन ऐंड फिलासफी ऑव वेद ऐंड उपनिषद् (द्वितीय भाग), लंदन, १९२५, काणे हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र (खंड २, भाग २), पूना, १९४१। (ब० उ०)

अश्ववंश खुरवाले चौपायों का एक वंश है जिसे लैटिन में इक्विडी कहते है। इस वंश के सब सदस्यों में खुरों की संख्या विषम (ताक)—एक अथवा तीन—रहने से इनको विषमांगुल (पेरिसोडैक्टिल) कहते हैं। अश्ववंश में केवल एक प्रजाति (जीनस) है, जिसमें घोड़े, गदहे और ज़ेबरा हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रजाति में वे सब लुप्त जंतु भी है जो घोड़े के पूर्वज माने जाते है। अन्य विषमांगुल जीवों—गैंडों और टेपिरों—की अपेक्षा अश्ववंश के जंतु अधिक छरहरे और फुर्तीले शरीर के होते है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आरंभ में घोड़े भी मदगामी और पत्ती खानेवाले जीव थे। जैसे जैसे नीची पत्तियों की कमी पड़ती गई वैसे वैसे घोड़े अधिकाधिक घास खाने लगे। तब उनके दाँतों का विकास इस प्रकार हुआ कि वे कड़ी कड़ी घासें अच्छी तरह चबा सके। इधर भेड़िए आदि हिंसक जीवों से बचने के लिये उनके चारों पैरों की अंगुलियों का तथा टाँग और सारे शरीर का ऐसा विकास हुआ कि वे वेग से भागकर अपने को बचा सके। इस प्रकार उनके पैरों की अगल बगलवाली अंगुलियाँ छोटी

होती गई और बीच की अंगुली एक न खुर मे परिणत हो गई। भूमि मे मिले जीवाश्मों से इस सिद्धांत का पूरा समर्थन होता है। घोड़े की प्राचीनतम ठठरी जीवाश्म (फॉसिल) के रूप मे प्रादिनूतन युग के आरंभ के पत्थरो मे मिलती है। तब घोड़े आजकल की लोमडो के बराबर होते थे, उनके अगले पैरो में पाँच अंगुलियाँ होती थी, पिछले मे तीन। चौभड़ शरीर के आकार के अनुपात मे छोटे क्षेत्रफल के होते थे और सामने के दाँत भी छोटे और सरल होते थे। प्रादिनूतन काल के आरंभ से आज तक लगभग साढे पाँच करोड वर्ष बीत चुके है। इस दीर्घ काल में घोडो के अनेक जीवाश्म मिले है, जिनसे पता चलता है कि घोडा के दांतो मे

घोड़े के खुरों का उद्भव

बाई ओर अगले और दाहिनी ओर पिछले पैरो का क्रमिक विकास दिखाया गया है।

और टाँगो मे तथा खुरो मे किस प्रकार क्रमिक विकास होकर आज का सुदर, पुष्ट, तीव्रगामी और घास चरनेवाला घोडा उत्पन्न हुआ है। मध्यप्रादिनूतन युग मे अगले पैर की पाँचवी अगुली बेकार नही हुई थी, परतु चौभड कुछ चौडे अवश्य हो गए थे। आदिनूतन युग मे चौभड़ के बगलवाले दाँत भी चौभड की तरह चौडे हो चले थे। सामने के टाँग की अगुलियो मे केवल तीन ही अगुलियाँ काम कर पाती थी, अगल बगल की अगुलियाँ इतनी छोटी हो गई थी कि वे भूमि को छू भी नही पाती थी। बीच की अगुली बहुत मोटी और पुष्ट हो गई थी। मध्यनूतनयुग मे दाँत पहले से बडे हो गए और चौभड के बगलवाले दाँत चौभड की तरह हो गए। सामने के पैर की बीचवाली अगुली खुर मे बदल गई और अगल बगल की कोई अगुली भूमि को नही छू पाती थी।

अतिनूतनयुग मे दाँत और लबे हो गए और उनकी आकृति आधुनिक घोडो के दाँतो की तरह हो गई। सामने का खुर और भी बडा हो गया और अगल बगल की अगुलियाँ अधिक छोटी और बेकार हो गई।

प्रातिनूतनयुग मे घोडा आधुनिक घोडे की तरह हो गया। उसके जीवाश्म उस युग के पत्थरो मे अमरीका मे मिले है। इस काल से पीछे के

घोड़े के दाँतों का विकास

ऊपर के चित्र मे प्राचीन घोडे के छोटे तथा सीमेंटविहीन चौभड़ दिखाए गए है। नीचे आधुनिक घोडे के पूर्ण विकसित तथा सीमेंट से आवृत चौभड दिखाए गए है।

पत्थरों में घोड़े के जीवाश्म भारत तथा एशिया के अन्य भागों और अफ्रीका में बहुतायत से मिले हैं।

जब तक दाँतो और खुरो का विकास होता रहा तब तक शरीर के आकार मे भी वृद्धि होती रही। ग्रीवा की कशेरुका (रीढ) और मुख की ओर की खोपडी भी बढती गई, इसलिये घोडे की आकृति भी बदलती गई।

ऊपर के वर्णन मे सर्वत्र घोडा शब्द प्रयुक्त हुआ है, परतु वैज्ञानिको ने प्रत्येक युग, या युग के प्रमुख खड, के अश्ववशीय जतु को विशेष नाम दे रखा है। विकास के क्रम मे कुछ नाम ये है इयोहिपस, ओरोहिपस, एपिहिपस, मेसोहिपस, मायोहिपस, पैराहिपस, मेरीहिपस, प्रोटोहिपस, प्लायोहिपस, प्लेसिपल और ईक्वस। ये नाम विकासक्रम की सरल वशावली के है, जिसके सब सदस्य उत्तरी अमरीका मे पाए गए है। प्रोटोहिपस की एक शाखा दक्षिण अमरीका पहुँची और दूसरी शाखा एशिया मे पहुँची। ये शाखाएँ कुछ समय मे समाप्त हो गई। ईक्वस की एक शाखा एशिया मे पहुँची जिससे जेबरा, गदहा और घोडा विकसित हुए। अमरीका के मूल ईक्वस लुप्त हो गए। (श० ध० च०)

अश्वसेन तक्षक नाग का पुत्र। अर्जुन द्वारा खाडववन जलाए जाने के समय (महाभारत, आदि पर्व, २१८ ६, २२० ४०, ६०.३५) तक्षक की पत्नी तथा पुत्र अश्वसेन वही थे। जान बचाने के लिये तक्षक की पत्नी ने पुत्र को मुँह मे दबाकर आकाशमार्ग से भाग निकलने का प्रयत्न किया। किंतु अर्जुन ने तक्षकभार्या का सिर काट डाला। तक्षक से मित्रता होने के कारण इद्र ने अर्जुन के विरुद्ध वर्तन करके अश्वसेन की रक्षा की।

पश्चात् महाभारत (कर्ण पर्व, ६६) मे कर्णार्जुन युद्ध के समय अश्वसेन ने कर्ण के बाण पर आरोहण किया। लेकिन कृष्ण तत्काल स्थिति समझ गए और उन्होने रथ के अश्वो को घुटनो के बल बैठा दिया। बाण चूका और अर्जुन की ग्रीवा की बजाय उसके मुकुट को टुकडे टुकडे करता हुआ निकल गया। अर्जुन ने अश्वसेन को मार डाला। (कै० च० श०)

अश्विनीकुमार अश्वदेव, प्रभात के जुडवे देवता द्यौस के पुत्र, युवा और सुदर। इनके लिये 'नासत्यौ' विशेषण भी प्रयुक्त होता है। इनके रथ पर पत्नी सूर्या विराजती है और रथ की गति से सूर्या की उत्पत्ति होती है। ये देवचिकित्सक और रोगमुक्त करनेवाले है। इनकी उत्पत्ति निश्चित नही कि वह प्रभात और सध्या के तारो से है या गोधूली या अर्ध प्रकाश से। परतु उनका सबध रात्रि और दिवस के सधिकाल से ऋग्वेद ने किया है। उनकी स्तुति ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ मे की गई है। वे कुमारियो को पति, वृद्धो को तारुण्य, अधो को नेत्र देनेवाले कहे गए है। महाभारत के अनुसार नकुल और सहदेव उन्ही के पुत्र थे। (ओ० ना० उ०)

अश्विनी नक्षत्र ज्योतिष शास्त्र मे वर्णित २७ नक्षत्रो मे यह पहला नक्षत्र है। इसकी अश्वमुखाकृति है, अत इसका नाम अश्विनी है। तारागण के गुच्छे को नक्षत्र कहते है। इस नक्षत्र मे तीन तारागण प्रकाशित होते है। अश्विनी नक्षत्र के स्वामी तथा देवता अश्विनीकुमार है। ज्योतिष मे इसकी गणना शुभ नक्षत्रो में की जाती है--'अश्विनी तु शुभा प्रोक्ता।'

इसकी सज्ञा तिर्यङ्मुख है, अत इसमे तिर्यङ्मुखवाले कार्य शुभफलद होते है। घोडा, हाथी, भैंस, गदहा, बैल, कुत्ता आदि वस्तुओ का क्रय इस नक्षत्र मे विहित है। इसके अतिरिक्त नौका का जलावतरण, हल चलाना आदि कार्य भी अश्विनी नक्षत्र मे किए जा सकते है। अश्विनी नक्षत्र लघु एव क्षिप्र सज्ञक भी है अत इसमें दूकान करना, अलकारधारण, औषधग्रहण, क्रीडा, शिल्पज्ञान, शिक्षा तथा यात्रा शुभ है। मोती, सुवर्ण, मणि, मूँगा, गजदत, शख, रक्तवस्त्र भी धारण योग्य होते है। (उ० श० पा०)

अष्टकर्म द्र० 'कर्म'।

अष्टकुल पुराणो के अनुसार साँपो के शेष, वासुकि, कबल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म तथा शख ये आठ कुल माने जाते है। इन्हे शख या कुलिक तक्षक, महापद्म, शंख, कुलिक, कबल, अश्वतर, धृतराष्ट्र और बलाहक भी कहा गया है। (कै० च० श०)

अष्टछाप हिंदी साहित्य के निम्नलिखित आठ कृष्णभक्त कवियो का वर्ग 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है : कुभनदास (गोरवा क्षत्रिय,

जन्मस्थान जमुनावती, गोवर्धन), सूरदास (सारस्वत ब्राह्मण, जन्मस्थान सीही), परमानंददास (कान्यकुब्ज ब्राह्मण, जन्मस्थान कन्नौज), कृष्णदास अधिकारी (कुनबी शूद्र, जन्मस्थान चिलोतरा, अहमदाबाद, गुजरात), नंददास (सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मस्थान रामपुर, एटा), चतुर्भुजदास (गोरवा क्षत्रिय, कुंभनदास जी के पुत्र), गोविंदस्वामी (सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मस्थान आँतरी, भरतपुर), छीतस्वामी (चौबे, मथुरिया ब्राह्मण, जन्मस्थान मथुरा)। इनमें से प्रथम चार कवि श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३५ से सं० १५८७ वि० तक) के शिष्य थे और अंतिम चार आचार्य वल्लभ के उत्तराधिकारी पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (सं० १५७२ से सं० १६४२ तक) के। ये आठों भक्तकवि गो० विट्ठलनाथ के सहवास में (लगभग सं० १६०६ वि० से सं० १६३५ वि० तक) एक दूसरे के समकालीन रहे और ब्रज में गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन-सेवा और भगवद्भक्ति विषयक पद रचा करते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने संप्रदाय के परम भक्त, उत्कृष्ट कवि और उच्च कोटि के संगीतज्ञ इन आठ महानुभावों पर प्रशंसा और वैशिष्ट्य की मांत्रिक छाप लगाई। तभी से आठों भक्तों का वर्ग 'अष्टछाप' कहलाने लगा। इस बात का प्रमाण वल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य में मिलता है। ये आठों कवि श्रीकृष्ण के आठ सखाओं की अनुरूपता में अष्टसखा भी कहलाते हैं। ब्रजभाषा को समृद्ध काव्यभाषा का रूप देने का श्रेय इन्हीं आठ कवियों को है। इनके काव्य का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की भावपूर्ण लीलाओं का चित्रण है। सूरदास ने यद्यपि भागवत की संपूर्ण कथा का अनुसरण किया है, तथापि इन्होंने आनंदरूप ब्रजकृष्ण के चरित्रों का तन्मयता से चित्रण किया है। मानव जीवन में बाल्य और किशोर, दो ही अवस्थाएँ आनंद और उल्लास से पूर्ण होती हैं। इसलिये इन अष्टभक्तों ने कृष्णजीवन के आधार पर जीवन के इन्हीं दो पहलुओं पर अधिक लिखा है। सौंदर्य और प्रेम की रसमयी धारा समान रूप से इनके संपूर्ण काव्य में प्रवाहित है। परंतु सूर के काव्य में हृदयग्राहिणी शक्ति अधिक है, उसमें सार्वजनिक प्रेमानुभूतियों का सजीव और स्वाभाविक रसपूर्ण चित्रण है।

सांसारिक प्रेम की मनोवृत्तियों को संसार के आलंबनों से समेटकर इन भक्तों ने अलौकिक नायक परब्रह्म श्रीकृष्ण को अर्पित किया है। चित्त की बहुमुखी वृत्ति को रसरूप कृष्ण में लगाकर उसका निरोध किया है, यही इनकी आध्यात्मिक साधना है। दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, इन चार भावों के प्रीतिसंबंधों में से एक न एक के द्वारा इन्होंने ईश्वर की आराधना की है। सूरदास ने इन चारों भावों को अपने प्रेम-भक्ति-काव्य में प्रमुखता दी है। परमानंददास ने वात्सल्य, सख्य और कांता भावों को लिया है, अन्य छह कवि कांता भाव के प्रेम में विभोर थे और इसी का उनके काव्य में अधिक चित्रण है।

अष्टछाप भक्त केवल पदरचयिता कवि ही न थे, वे उच्च कोटि के संगीतकार भी थे, संगीत इनका एक आध्यात्मिक साधन था। साधनस्वरूप नवधा भक्ति के प्रकारों में कीर्तन भी भक्ति का एक प्रकार है। अष्टछाप के कृष्णभक्तों ने मन की तल्लीनता और चित्त की एकाग्रता के लिये संगीत की स्वरलहरी में अपने चित्त की वृत्तियों को रमाया है। अष्टछाप कवियों की रचनाओं में संगीत के साथ साहित्य और अध्यात्म दोनों का समन्वय है। अकबरी दरबार के प्रसिद्ध गवैए तानसेन बैजू, रामदास, मानसिंह आदि अष्टछाप के समकालीन थे। उस समय अष्टछाप के कुंभनदास 'ध्रुपद' गायकी के लिये और गोविंदस्वामी 'धमार' गायकी के लिये प्रसिद्ध थे। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि तानसेन ने धमार गायन गोविंदस्वामी से सीखा था।

सूरदास और परमानंददास के काव्य में प्रेम की व्यंजना सत्य और सौंदर्य की चरम सीमा तक पहुँची हुई है। उनके भावों में मार्मिकता है। ब्रह्मानंदसहोदर काव्यानंद की रसप्रवाहिनी शक्ति अर्थ सूरदास में अद्वितीय है। बालमनोविज्ञान और मातृहृदय का पारखी जैसा कवि सूरदास है वैसा आधुनिक भारतीय भाषाओं में कोई कवि नहीं हुआ। सूरदास के वात्सल्य और विरह के पद अनुपम हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, अष्टछाप काव्य ब्रजभाषा में रचा गया है। उसमें भावमयता, सजीवता और स्वाभाविक अलंकारिता है। सजीव शब्दचित्र के अंकन में सूरदास, परमानंददास और नंददास की कला अधिक कुशल है। इनकी भाषा में चित्रमयता के गुण के साथ साथ, सरसता, सुकुमार प्रभावात्मकता और संगीतात्मक लयता है। भावानुकूल शब्दों के प्रयोग के लिये नंददास बहुत प्रसिद्ध हैं। भाषा के लालित्य के कारण नंददास के विषय में कथन प्रसिद्ध है

और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।

अष्टछाप के सभी कवि भक्तिपद्धति की दृष्टि से पुष्टिमार्गीय तथा दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से शुद्धाद्वैतवादी थे। अष्टछाप के प्रत्येक भक्त कवि की प्रामाणिक रचनाओं के नाम निम्नलिखित हैं

१ सूरदास सूरसागर, सूरसारावली, दृष्टिकूट के पद (साहित्यलहरी), २ परमानंददास परमानंदसागर, ३ कुंभनदास पदसंग्रह, ४ कृष्णदास पदसंग्रह, ५ नंददास रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी (अथवा नाममाला) रूपमंजरी, विरहमंजरी, श्यामसगाई, दशम स्कंध भाषा, गोवर्धनलीला, सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी, भवरगीत, पदावली, ६ चतुर्भुजदास पदसंग्रह, ७ गोविंदस्वामी पदसंग्रह, ८ छीतस्वामी पदसंग्रह।

सं०ग्रं०—चौरासी वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ जी तथा हरिराय जी), दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ जी तथा हरिराय जी), अष्टसखान की वार्ता, भक्तमाल (नाभादास), अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (दीनदयालु गुप्त), अष्टछाप (धीरेंद्र वर्मा)।

(दी० द० गु०)

अष्टदल कमल द्र० 'कमल'।

अष्टधातु आठ धातुओं का समुदाय जिसमें सोना, चाँदी, तांबा, राँगा, जस्ता, सीसा, लोहा तथा पारा (रस) की गणना की जाती है। एक प्राचीन श्लोक में इनका निर्देश यों किया गया है

स्वर्णं रूप्यं ताम्रं च रंगं यशदमेव च।
शीसं लौहं रसश्चेति धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिता॥

सुश्रुतसंहिता में केवल प्रथम सात धातुओं का ही निर्देश देखकर आपाततः प्रतीत होता है कि सुश्रुत पारा (पारद, रस) को धातु मानने के पक्ष में नहीं है, पर यह कल्पना ठीक नहीं। उन्होंने रस को धातु भी अन्यत्र माना है (ततो रस इति प्रोक्तः स च धातुरपि स्मृतः)। अष्टधातु का उपयोग प्रतिमा के निर्माण के लिये भी किया जाता था तब रस के स्थान पर पीतल का ग्रहण समझना चाहिए, भविष्यपुराण के एक वचन के आधार पर हेमाद्रि का ऐसा निर्णय है।

(ब० उ०)

अष्टपाद (ऐरैकनिडा) संधिपदा (आर्थोपोडा) प्राणिसमुदाय (फाइलम) की एक श्रेणी है जिसके अंतर्गत नृप केकड़ा, मकड़ी, बिच्छू, अर्ल्पिकाएँ (माइट) तथा किलनी या चिचड़ियाँ (टिक) आती हैं। इनमें चलने के लिये आठ टाँगें होती हैं, इसीलिये ये अष्टपाद कहलाते हैं। अष्टपाद श्रेणी के सदस्य कीट श्रेणी के सदस्यों से भिन्न होते हैं। अष्टपादों की निम्नलिखित रचनात्मक विशेषताएँ हैं

शरीर दो मुख्य भागों में विभक्त होता है। शिर तथा वक्ष दोनों के विलीयमान होने से अग्रभाग शिरोर (सेफालोथोरैक्स) तथा पश्चभाग उदर कहलाता है, आँखें सरल होती हैं जिनकी संख्या २ से १२ तक होती है, शिरोर में छह जोड़े अनुबंध (शरीर से जुड़े अंश) होते हैं, जिनमें प्रथम दो जोड़े ग्राहिका (केलिसेरा) और पादस्पर्शशृंग (पेडिपैल्पस) के होते हैं। ये शिकार को घेरने तथा पकड़ने के काम आते हैं और अन्य शेष चार जोड़े चलनेवाली टाँगें होती हैं। सभी अष्टपाद भोजन को चूसकर खानेवाले प्राणी होते हैं, अतएव उनमें हन्विकाएँ (मैंडिबुल्स अथवा जबड़े) विद्यमान नहीं होतीं, स्पर्शक (ऐंटेनी) का अभाव होता है तथा अधिकांश में उदर पर कोई अनुबंध नहीं होता।

श्वास प्रायः पुस्तक फुफ्फुस (बुक लंग्स) द्वारा लिया जाता है (पुस्तक फुफ्फुस एक प्रकार का कोष्ठकमय श्वासपथ है। ये कोष्ठक औदरिक तल पर गड्ढों में स्थित रहते हैं, उनमें पुस्तक के पृष्ठों की भाँति कई पतले पत्रक होते हैं जिनमें होकर रक्त का परिभ्रमण होता रहता है)। इस

समुदाय के सदस्य प्राय मांसाहारी होते है। बिच्छू मे विषग्रंथियाँ होती हैं, जो एक खोखले डंक से संबद्ध रहती है।

अष्टपादो की कई जातियाँ अत्यंत प्राचीन शिलाओं मे जीवाश्म के रूप मे पाई गई है। वे नि:संदेह प्रवालादि युग (सिल्यूरियन पीरियड) मे प्राय आज की सी ही आकृति मे विद्यमान थी। अष्टपादो की लगभग ६०,००० जातियाँ (स्पीशीज़) है।

अष्टपाद श्रेणी निम्नलिखित नौ मुख्य वर्गों मे विभाजित की जा सकती है (१) स्कॉर्पियोनाइडिया (बिच्छू वर्ग), (२) पेडीपालपाइडा (ह्विप स्कॉर्पियन, चाबुकदार बिच्छू), (३) ऐरेनिडा अथवा मकड़ियाँ, (४) पाल्पीग्रेडी अथवा कोनेनिया, (५) सालीफ्यूगी अथवा केलोनेथी अर्थात् वायुबिच्छू, (६) स्युडोस्कॉर्पियोनाइडिया या मिथ्या बिच्छू या पुस्तक बिच्छू, (७) रिसिन्युलिग्राइ या क्रिप्टोसिलस, (८) फैलेनजाइडिया या लवन मकड़ियाँ, (९) एकैरीना (अल्पिकाएँ, किलनियाँ या चिचड़ियाँ)। इनके अतिरिक्त दो अन्य सदेहात्मक वर्ग (१०) जिफोसुरा या नृप केकड़ा (किंग क्रैब) और (११) इउरीटेरिडा है।

चित्र १ बिच्छू

वर्ग (१) स्कार्पियोनाइडिया (बिच्छू वर्ग)——इस वर्ग के अंतर्गत वे अष्टपाद आते है जिनका शरीर दो भागो, एक निरंतर शिरोर तथा दूसरा उदर, मे बँटा होता है। उदर का अग्रभाग सात चौड़े खंडों का तथा पश्चभाग पाँच सकीर्ण खंडो का और अंतिम पुच्छीय खंड डंक या पुच्छकटकयुक्त होता है। ग्राहिकाएँ छोटी और नखरी (कीलेट, नख की तरह) होती है, पादस्पर्शश्रृंग बड़े तथा नखरयुक्त होते हैं। अग्र उदर के दूसरे खंड के पृष्ठभाग मे एक जोड़े कंघी के सदृश ककताग (पेक्टिस) होते है। श्वसन कार्य चार जोड़े पुस्तक फुप्फुसों द्वारा होता है। पुस्तक फुप्फुस अग्र उदर के तीसरे, चौथे, पाँचवे तथा छठे खंडो मे स्थित रहते हैं।

इस वर्ग के अंतर्गत बिच्छू आते है जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है (द्र० 'बिच्छू')।

वर्ग (२) पेडीपालपीडा——ये वे अष्टपाद है जिनका शरीर प्राय अखंड शिरोर तथा नौ से लेकर १२ चिपटे उदरखंडो तक का बना होता है, उदरशिरोर से एक संकीर्ण ग्रीवा द्वारा जुड़ा रहता है, ग्राहिकाएँ सरल और पादस्पर्शश्रृंग भी सरल एवं नखरी होते है। प्रथम जोड़े पाद के अंतिम सिरे पर बहुसंधित कषा (चाबुक या कोड़ा) होती है। उदर के दूसरे तथा तीसरे खंडो मे स्थित दो जोड़े पुस्तक फुप्फुस ही श्वसन के अवयव होते है।

चित्र २. मकड़ी (एरेनिया डायेडिमाटा)

इस वर्ग के अंतर्गत फाइनिकस (बिच्छू-मकड़ियाँ) आती हैं।
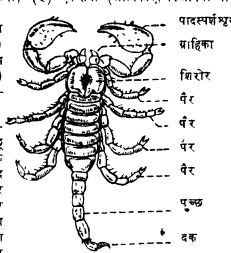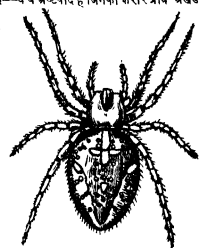
वर्ग (३) ऐरेनिडा——इस वर्ग के उदाहरण मकड़ियाँ है, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है (द्र० 'मकड़ी')।

वर्ग (४) पाल्पीग्रेडी——ये वे अष्टपाद है जिनके शिरोर के अंतिम दो खंड स्वतंत्र होते है, उदर दस खंडो मे विभक्त होता है और शिरोर से ग्रीवा द्वारा जुड़ा होता है, पुच्छकटक लंबे संधित कषा (फ्लगेलम) के आकार का होता है। ग्राहिकाएँ नखरी तथा पादस्पर्शश्रृंग पाद के सदृश होते है। श्वसन अवयव तीन जुड़े पुस्तक फुप्फुसों का होता है।

इस वर्ग के अंतर्गत कोनेनिया आता है।

वर्ग (५). सोलिफ्यूजी——ये वे अष्टपाद है जिनका शरीर तीन भागो मे, सिर, वक्ष (तीन खंडो का) तथा उदर (दस खंडो) मे बँटा रहता है। ग्राहिका नखरी होती है, पादस्पर्शश्रृंग लंबे तथा पाद जैसे होते है। श्वसन अंग श्वासप्रणाल (ट्रैकिई) ही होता है।

इसी वर्ग के अंतर्गत गेलियोडिस आता है।

चित्र ३. मकड़ी और उसका जाला

वर्ग (६). स्युडोस्कॉर्पियोनाइडा (मिथ्या बिच्छू अथवा कैलोनेथी)——वे अष्टपाद हैं जिनमे शिरोर लगातार (अटूट) होता है, परंतु कभी कभी पृष्ठ भाग मे दो अनुप्रस्थ कुल्या (ग्रूव्ज़) द्वारा विभाजित होता है। उदर १२ खंडो मे विभाजित रहता है, किंतु वह अग्र तथा पश्च उदर मे बँटा नही रहता और डंकरहित होता है। ग्राहिकाएँ बहुत छोटी और पादस्पर्शश्रृंग बिच्छू जैसे होते हैं। श्वसनकार्य श्वासप्रणाली द्वारा होता है। एक जोड़ा कातनेवाली ग्रंथियाँ वर्तमान रहती है।

इस वर्ग के अंतर्गत पुस्तक बिच्छू अथवा केलीफर आते है।

चित्र ४ मकड़ी

खाद के ढेरो, लकड़ी की दरारो तथा इसी प्रकार के स्थानो मे एक विस्तृत तथा रोचक, छोटी मकड़ियो का वर्ग मिलता है। ये मिथ्याबिच्छू है जो अपने को छिपाए रहते है और फलस्वरूप बहुत कम लोगो के देखने मे आते है। इनमे स्पर्शश्रृंग बड़े होते है जो आक्रमण के अस्त्र का काम देते है। इनके कारण ही ये बिच्छू जैसे प्रतीत होते है। इनका उदर वलयी होता है और ये कीटो तथा अल्पिकाओं का आहार कर अपना जीवनयापन करते है। अंडे तथा बच्चो को माँ साथ लिए फिरती है। शरद् ऋतु मे वयस्क मिथ्या बिच्छू रेशम का घोसला बनाकर उसी मे आश्रय लेता है (द्र० चित्र ५)।
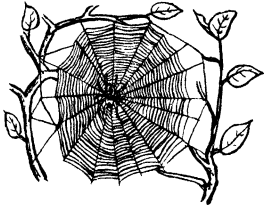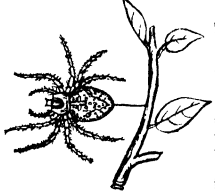
वर्ग (७) रिसिन्यूलिग्राइ——इस वर्ग के अंतर्गत वे अष्टपाद आते हैं जिनका शिरोर अटूट प्रकार का होता है। इनके अग्रभाग मे एक चलायमान प्रलंब अंग होता है जिसे कुकुलस कहते है, उदर ग्रीवा द्वारा

शिरोर से जुड़ा रहता है, उदर में यद्यपि चार ही खंड प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, तो भी यथार्थ में नौ होते हैं। ग्राहिकाएँ तथा पादस्पर्शभृंग नखर होते हैं। श्वासोच्छ्वास श्वासप्रणाल द्वारा होता है।

इस वर्ग के उदाहरण क्रिप्टोसिलस है।

वर्ग (८) फ़ेलेनजाइडा—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शिरोर अखंडित होता है और उदर दस खंडों का तथा शिरोर से सीधा जुड़ा रहता है। इनकी ग्राहिकाएँ नखर होती हैं और पादस्पर्शभृंग पाद जैसे होते हैं। श्वसन अवयव श्वासप्रणाल का बना होता है। इनमें कताई की किसी प्रकार की ग्रंथियाँ विकसित नहीं होतीं।

इस वर्ग के अंतर्गत लवन मकड़ियाँ (हार्वेस्टर स्पाइडर्स) आती हैं।

चित्र ५ अष्टपाद मकड़ी (केलीफर लेट्रीलाई)

हार्वेस्टर, हार्वेस्टमैन अथवा लवन मकड़ियाँ लंबी टाँगोंवाले, बहुत ही व्यापक, मकड़ी के आकार के प्राणी हैं। वे केवल खेतों में पाए जाते हैं। वे अपने शिकार कीट, मकड़ी तथा अल्पिकाओं का पीछा करते हैं, इसलिये वे जाल का निर्माण नहीं करते। इनका शरीर मकड़ियों से भिन्न और ठोस गोलाकार होता है। मैथुन ऋतु में मादा के लिये नर आपस में लड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। मादा पत्थरों के नीचे अथवा जमीन में बिल के भीतर अंडे देती है। बच्चे उत्पन्न होने पर वे माँ बाप की आकृति के होते हैं।

वर्ग (९) एकेराइना—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शरीर खंडों में विभाजित दृष्टिगोचर नहीं होता। मुखांग काटने अथवा छेदने और चूसने के उपयुक्त बना रहता है। श्वसन अवयव जब वर्तमान रहता है तब श्वासप्रणाल के रूप में होता है।

इस वर्ग के उदाहरण अल्पिकाएँ (माइट) तथा चिचड़ियाँ या किलनियाँ (टिक) हैं।

अल्पिकाएँ—अल्पिकाएँ सारे संसार में विपुल संख्या में पाई जाती हैं। आर्थिक दृष्टि से इनका भी उतना ही महत्व है जितना मकड़ियों का। साधारणतः अल्पिकाएँ बहुत ही सूक्ष्म प्राणी होती हैं और इनका अध्ययन अणुवीक्षण यंत्र द्वारा ही हो सकता है। अनेक अल्पिकाओं के शरीर के विभिन्न खंडों में बहुत कम अंतर रहता है। अल्पिकाओं का शरीर कीटों की भाँति अलग अलग खंडों में विभक्त नहीं होता। मुखांग चबाने, काटने तथा चूसनेवाले होते हैं। अल्पिकाएँ किलनियों से छोटी होती हैं। ये स्वतंत्र रूप से रहनेवाली और परोपजीवी, दोनों प्रकार की होती हैं। अल्पिकाएँ ताजे या गले सड़े कार्बनिक पदार्थों को खाती हैं। खुजली की अल्पिकाएँ मनुष्य में खुजली उत्पन्न कर देती हैं (द्र० चित्र ६, जो वास्तविक से लगभग २०० गुने पैमाने पर बना है)। इन्हीं से संबंधित एक जाति कुत्तों में खुजली उत्पन्न करती है। अल्पिकाओं का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न होता है और स्वभाव के अनुकूल इनके शरीर की रचना में भी प्रायः बहुत भिन्नता होती है। भोजन के अनुसार मुखांग विशेष रूप से भिन्न होते हैं। वासस्थान के अनुसार इनके पैर की रचना में भी विशेषता रहती है। पैरों के अंतिम सिरे पर छोटे छोटे रोम या अंकुश चूषक होते हैं। अल्पिकाएँ या तो नेत्रहीन होती हैं, या एक या अनेक आँखोंवाली। इनके जीवन-इतिहास में प्रायः रूपांतरण होता है, प्रथम अंडा, बाद में डिंभ (लार्वा), जिसमें पैरों की संख्या कम होती है। पातक (निंफ) की अवस्था हो सकती है या नहीं भी। उसके बाद वयस्क अवस्था होती है। अल्पिकाएँ या तो स्वतंत्र विचरनेवाली होती हैं और मिट्टी में, समुद्र में तथा नदियों और तालाबों में पाई जाती हैं अथवा दूसरे प्राणियों पर जीवननिर्वाह करनेवाली होती हैं।

थूथनयुक्त अल्पिकाओं (स्नाउट माइट्स) का शरीर मुलायम होता है। इनके पैर लंबे होते हैं और ये कीटों की तलाश में बड़ी तेजी से दौड़ती हैं। ये शीतल तथा आर्द्र स्थानों में रहती हैं और शरद् ऋतु में गिरे पत्तों के नीचे पाई जाती हैं। कुछ अल्पिकाएँ, जैसे कर्तनक (कताईवाली) अल्पिकाएँ, रेशम की तरह तागा उत्पन्न करती हैं। कुछ अल्पिकाओं में चोंच होती है, जो सूई जैसी हनुविकाओं (मैंडिबल्स) की बनी होती है। बड़े अनुबंध (अंग), जिनमें कैंचे के समान नखर होते हैं, शिकार को पकड़ने के काम में लाए जाते हैं। कृषक किलनिया (हार्वेस्ट माइट) मनुष्य पर आक्रमण करती हैं। उनके काटने से त्वचा में बड़े जोर की खुजलाहट और जलन होती है। कटनी के दिनों में खेतों में कटनी करनेवाले प्रायः इनके शिकार हो जाते हैं। बगीचों में पाई जानेवाली लाल मकड़ी (रेड स्पाइडर) वस्तुतः बुननेवाली एक अल्पिका है। ये अधिक संख्या में होने पर पौधों की कोमल कलियों को क्षति पहुँचाती हैं। एक दूसरे प्रकार की बुनकर अल्पिकाएँ (वीवर माइट) चिड़ियों पर निर्वाह करनेवाली होती हैं।

चित्र ६ खुजली की अल्पिका

ये उँगलियों के बीच घर कर लेती है। अंडे देने के लिये जब ये त्वचा में सुरंगें बनाती है, तो बड़ी खुजली होती है।

प्रायः सभी जल अल्पिकाएँ मीठे जल में पाई जाती हैं, यद्यपि कुछ खारे जल में तथा कुछ समुद्र में भी पाई जाती हैं। वयस्क जल अल्पिकाएँ प्रायः स्वतंत्र विचरनेवाली होती हैं, किंतु एक प्रकार की जल अल्पिका परोपजीवी होती है और शुक्तियों (सिप्पियों) के गलफड़ों में पाई जाती है। ये अल्पिकाएँ हरे, नीले, पीले आदि अनेक सुंदर रंगों की होती हैं। अधिकांश में काले और पीले का सम्मिश्रण होता है। ये अन्य अल्पिकाओं की अपेक्षा बड़ी होती हैं। उनमें बहुत सी जल की तीव्र धारा में रहती हैं। कुछ अल्पिकाएँ सामाजिक होती हैं (अर्थात् समूहों में रहती हैं) और तालाबों के घास पात के बीच पाई जाती हैं। ये मांसाहारी होती हैं। खुजलीवाली अल्पिकाएँ सारकोप्टिज स्कैबीज कहलाती हैं और वे बहुधा अंगुलियों के बीच की कोमल त्वचा में रहती हैं। वे शरीर के अन्य भागों में भी रह सकती हैं। मादा अल्पिकाएँ त्वचा में घुस जाती हैं और उन्हीं में अंडे देती हैं, किंतु नर त्वचा में घुसता नहीं और ऊपरी सतह पर स्वतंत्र होकर विचरण करता है। खुजली के प्रसार का कारण किसी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में अल्पिकाओं का संक्रमण होता है। बहुधा हाथ मिलाकर अभिवादन करने से यह एक से दूसरे व्यक्ति में पहुँच जाती है (द्र० चित्र ६)।

चित्र ७. गॉल-माइट (एरियोफाइस सिल्विकोला)।

डिमोडेक्स फालिकुलेरम नामक अल्पिका मनुष्य के चेहरे में स्थित त्वग्वसा ग्रंथियों पर आश्रित रहती है। यह प्रायः कुत्तों की त्वचा में भी पाई जाती है। एकेरिण की एक जाति कुकला में, जो बड़े जानवरों के लिये बहुत ही विषैला सिद्ध होता है, पाई जाती है।

भेड़ों में खुजली, सारकोप्टिस ओविस नामक अल्पिका द्वारा होती है। रोगग्रस्त भेड़ को किसी विषैले
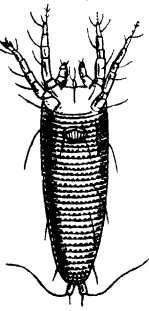
घोल में डुबोकर बाहर निकाल लेने से इस बीमारी से छुटकारा मिल सकता है।

कुछ अलिपकाएँ पौधों पर रहती है और उनमे एक बीमारी, जिसे अंग्रेजी मे गॉल कहते हैं, पैदा करती है (द्र० चित्र ७)।

किलनियाँ अथवा चिचड़ियाँ (टिक्स)—इनका अध्ययन मनुष्य के लिये बहुत ही रोचक है, क्योंकि ये सभी पराश्रयी होती है और पोषक (होस्ट) के रक्त पर निर्वाह करती है। ये रेतीले स्थानों में छोटी छोटी झाडियों तथा छोटे छोटे पौधों पर रहती है। इन स्थानों पर प्रत्येक किलनी छोटी किंतु बहुत क्रियाशील होती है। यह वहाँ बैठनेवाली चिड़ियों के परों तथा स्तनधारियों की टाँगों के बालों मे लग जाती है और अपने पैने मुखांगों से उनकी त्वचा को बेधकर रक्त चूसती है। संसार में अनेक प्रकार की किलनियाँ होती है, जो मुर्गा, गाय भैंसा, कुत्तों तथा मनुष्यों पर आश्रयी होती हैं। कई देशों मे वे अनेक प्रकार के छोटे छोटे प्राणियों, जैसे गिलहरियों, पर भी निर्वाह करनेवाली होती है। किलनियाँ बीमारी के जीवाणुओं का प्रसार भी करती है, जैसे मनुष्य मे टिक ज्वर तथा गाय भैंसों में एक विशेष प्रकार का ज्वर। वे खेतों में मिट्टी के भीतर हजारों की संख्या में अंडे देती है, जिनमें षट्पदधारी डिंभ (लार्वा) उत्पन्न होते है। ये घास पर चढकर, जमकर बैठ जाते है और तब तक बैठे रहते है जब तक कोई मनोनुकूल प्राणी उधर से नहीं निकलता। जब इस प्रकार का कोई प्राणी दिखाई पड़ता है तब वे उत्तेजित हो जाते है और प्राणी जब अधिक समीप पहुँच जाता है, ये घास छोड़कर उसकी त्वचा से चिपट जाते है। इस प्रकार पैर जमा लेने पर ये अपनी पैनी चोंच (चंचु) पोषक के मांस में घुसेड़ देते है और उसका रक्त चूसकर अपने शरीर का वास्तविक नाप से दुगुना फूल उठते है। जब भूख मिट जाती है तब ये पोषक से पृथक् होकर भूमि पर गिर जाते है। रक्त से फूले हुए होने के कारण ये चल फिर नहीं सकते, इसीलिये कई सप्ताहों तक इसी अवस्था मे पड़े रहते है या भूमि के भीतर घुस जाते है। वहाँ विश्राम के साथ रक्त का पाचन करते है।

बाद मे डिंभ (लार्वा) त्वचा (केंचुल) छोड़ देता है और तब वह पोतक (निंफ) अवस्था मे पदार्पण करता है। पोतक बन जाने पर एक बार फिर घास पर चढ़ जाता है और मनोनुकूल पोषक की प्रतीक्षा की पुनरावृत्ति करता है। पोषक के उपलब्ध हो जाने पर उससे चिपक और रक्त चूसकर पुन: पृथ्वी पर गिर पड़ता है। पुन: एक बार त्वचा छोड़ता है। पोतक के त्वचा छोड़ने के बाद वयस्क नर या मादा किलनी उत्पन्न होती है। ऐसी किलनियाँ किसी ऐसे तीसरे प्राणी की प्रतीक्षा करती है जिनके रक्त का वे शोषण कर सकें और जिनके ऊपर रहकर मैथुन कर सकें। मैथुन कर चुकने के बाद मादा पुन: धरातल पर गिर जाती है और अंडे देती है।

किलनियों का यह जीवन इतिहास जटिल है और उनके मरने की संभावना बहुत अधिक रहती है। वंश की सुरक्षा मादा द्वारा बहुत बड़ी संख्या में अंडे दिए जाने से होता है (चित्र ८)।

चित्र ८. किलनी या चीचड़ी

वर्ग (१०) जिफोस्यूरा—ये वे अष्टपाद है जिनका शिरोर एक चौड़े वर्म (कारेप) से ढका रहता है और उदर छह मध्यकाय (मेसोसोमैटिक) खंडों का तथा एक लंबे सकीर्ण पुच्छखंड अथवा डंकयुक्त पश्चकाय (मेटासोमा) का होता है। शिरोर भाग मे एक जोड़ी ग्राहिका तथा पाँच जोड़े पाद होते है। उदर के अग्रभाग में जुड़े पट्ट (प्लेट) जैसे अनुबंध होते हैं जो गलफड़ पटल (ओपरक्युलम) है। इसके पीछे चिपटे तथा एक दूसरे पर चढ़े पाँच जोड़े अनुबंध होते है। श्वसन के अवयव पन्नों के आकार के गलफड़ (गिल्स) होते हैं, जो उदरीय अनुबंधों से जुड़े होते है।

इस वर्ग के अंतर्गत नृप केकड़े (किंग क्रैब) आते हैं। इन्हें लीमुलस अथवा अश्व-खुर केकड़ा (हॉर्स-शू क्रैब) भी कहते है।
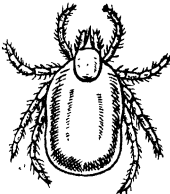
नृप केकड़ा—इसका शरीर दो भागों मे विभक्त होता है: शिरोर तथा उदर। शिरोर की आकृति घोड़े के खुर जैसी होती है और वह चौड़े वर्म से ढका रहता है। उदर कुछ कुछ षट्कोणाकार होता है जो एक लंबे पुच्छकटक (कॉडल स्पाइन) में समाप्त होता है।

इसके अग्रखंड अथवा शिरोर में छह जोड़े अनुबंध लगे रहते है जिनमें प्रथम जोड़ा ग्राहिकाएँ होती हैं और अन्य पाँच जोड़े चलने के काम आते हैं। उदर पर सामने की ओर एक जोड़ा थालों जैसा अनुबंध लगा रहता है, जिससे मिलकर गलफड़-पटल बनता है। यह उत्तरी अमरीका, वेस्ट इंडीज तथा ईस्ट इंडीज मे नदियों के मुहाने पर अथवा छिछली खाड़ियों में पाया जाता है। यह बालू मे बिल बनाकर रहता है, किंतु पानी के नीचे कुछ चल भी सकता है और समुद्र के तल पर से कुछ दूर ऊपर तक भी उठ सकता है। इसका आहार समुद्री बलयी जंतु होते है (चित्र ९)।

चित्र ९. नृप केकड़ा (प्रतिपृष्ठ दृश्य)

नृप केकड़े में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है जो एक ओर तो अष्टपाद श्रेणी और दूसरी ओर कठिनि (क्रस्टेशिया) श्रेणी की शारीरिक रचना से मिलती जुलती है। कठिनि श्रेणी के सदृश इसके भी उदरीय खंड मे पाँच जोड़े पट्ट (प्लेट) के समान उपांग (अपेंडेजेज) होते हैं। जीवन-चक्र के विकास मे एक अवस्था डिंभ की होती है। इसके डिंभ को त्रिखंड डिंभ (ट्राइलोबाइट लार्वा) कहते है। इसका डिंभ कठिनि के डिंभ से मिलता जुलता है। नृप केकड़ा कठिनि तथा अष्टपाद श्रेणियों के बीच एक प्रकार की योजक कड़ी है। साधारण नृप केकड़े (पैरालिथोडीज़ कैमशैटिका) का मांस लोग खाते है। जापान और रूस मे इनकी डिब्बाबंदी होती है और डिब्बाबंद मांस दूर दूर तक जाता है। ये केकड़े टाँग फैलाकर नापे जाने पर चार फुट तक के होते है।

वर्ग (११) इयूरीप्टेरिडा—ये वे अष्टपाद है जिनमे अपेक्षाकृत शिरोर छोटा होता है। इसके पश्चात् १२ स्वतंत्र खंड और एक लंबा तथा सकीर्ण अंतिम खंड होता है। शिरोर में पाद सदृश एक जोड़ी ग्राहिकाएँ तथा पाँच जोड़े पाद सदृश अन्य अनुबंध होते है, जिनमे चार जोड़े चलने के लिये होते है। बाह्य त्वचा पर विलक्षण प्रकार की नक्काशी होती है।

इस वर्ग के अंतर्गत प्राथमिक युग के बड़े बड़े इयूरीप्टिरस नामक प्राणी आते है, जो अब लुप्त हो गए है।

सं०ग्रं०—टी० जे० पार्कर ऐंड विलियम ए० हैसवेल ए० टेक्स्टबुक ऑव जुआलोजी, भाग १, ऑक्टेम्स प्रेस, लिमिटेड, लंदन (१९५१); जॉन हेनरी कॉम्सटॉक दि सायंस ऑव लिविंग थिंग्स, चपलस्वरूप गुप्त जंतुविज्ञान, डी० आर० पुरी माध्यमिक प्राणिशास्त्र, रघुबीर माध्यमिक प्राणिकी।

(भू० ना० प्र०)

अष्टबाहु (ऑक्टोपस) चूर्णप्रावार (मोलस्क) प्रसृष्टि (समूह) के जीव है। चूर्णप्रावार का अर्थ है चूने (कैल्सियम) से बने कड़े खोलवाले प्राणी। इसी प्रसृष्टि में घोंघा, सीप, शंख इत्यादि जीव भी है। अष्टबाहुओं की गणना शीर्षपाद वर्ग मे की जाती है। शीर्षपाद वर्ग के जीवों की अपनी कुछ विशेषताएँ है जो अन्य चूर्णप्रावारों में नहीं पाई
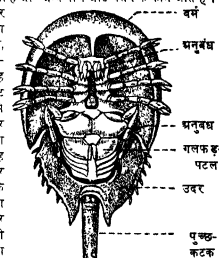
जाती। मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं . उनके शरीर की रचना तथा संगठन अन्य जातियों से उच्च कोटि की होती है। वे आकार में बड़े सुडौल, बहुत तेज चलनेवाले, मांसाहारी, बड़े भयानक तथा क्रूर स्वभाव के होते हैं। बहुतों में प्रकवच (बाहरी कड़ा खोल) नहीं होता। ये पृथ्वी के प्राय: सभी उष्ण समुद्रों में पाए जाते हैं।

मसिक्षेपी (कटल फिश), कालक्षेपी (लोलाइगो), सामान्य अष्टबाहु, स्क्विड तथा मृदुनाविक (आर्गोनॉट) अष्टबाहुओं के उदाहरण हैं। पूर्ण वयस्क भीम (जाइएट) स्क्विड की लंबाई ५० फुट, नीचे के जबड़े ४ इंच तक लंबे और आँखों का व्यास १५ इंच तक होता है।

सामान्य अष्टबाहु को समुद्र का भयंकर जीव भी कहते हैं। यह उत्तरी समुद्रों में तल पर अधिकतर रहता है। इसमें आठ लंबी लंबी मांसल बाहुएँ होती हैं। इसी से इस प्राणी का नाम अष्टबाहु पड़ा है। सामान्य अष्टबाहु की दो विपरीत बाहुओं के सिरों के बीच की दूरी १२ फुट और प्रशांत सागरीय भीम अष्टबाहु की ३० फुट तक होती है। इसके मुख के चारों ओर एक बहुत बड़ी कीप (फनेल) के समान गड्ढा होता है जिसका मुख प्रावार के भीतर तक चला जाता है। बाहुएँ आपस में झिल्ली से जुड़ी होती हैं। इनके भीतर तल पर बहुत से वृत्ताकार चूषकों की दो पंक्तियाँ होती हैं। इन चूषकों द्वारा अष्टबाहु चट्टानों से बड़ी मजबूती से चिपका रहता है और अन्य समुद्री जंतुओं को एक या अधिक बाहुओं से प्रबलता से पकड़ लेता है। जुड़ी हुई बाहुएँ भी पकड़ने का काम करती हैं। मुख में एक दंतीली जिह्वा भी होती है।

सामान्य अष्टबाहु

क : जल में गतिवान (१ कीप अर्थात् फनेल), ख चट्टान पर विश्राम करता हुआ।

अष्टबाहु मांसाहारी होते हैं। बहुत से अष्टबाहु एक साथ रहते हैं और अपने लिये पत्थरों या चट्टानों का एक आश्रयस्थल बना लेते हैं। वे एक साथ रात को खाने की खोज में निकलते हैं और फिर अपने आश्रयस्थल पर लौट आते हैं। मोती के लिये डुबकी लगानेवाले गोताखोर, या समुद्र में नहानेवाले, बहुधा इनकी शक्तिशाली बाहुओं और चूषकों के फंदों में पड़कर घायल हो जाते हैं। यूरोप के दक्षिणी किनारे की बहुत सी मछलियाँ इनके कारण नष्ट हो जाती हैं। अष्टबाहु जब अपनी आठ बाहुओं को फैलाकर समुद्र तल पर रेंगता या तैरता है तो एक बड़े मकड़े के सदृश दिखाई देता है। इसका पानी में तैरकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना भी बड़े विचित्र ढंग से होता है। तैरते समय अष्टबाहु अपने कीप से मुँह में बड़े बल से पानी को बाहर फेंकता है और इसी से जेट विमान की तरह पीछे की ओर चल पाता है। साथ ही उसकी आठों बाहुएँ भी, जो अब पाँव का कार्य करती हैं, उसे उसी तरफ बढ़ने में सहायता पहुँचाती हैं। इस प्रकार वह सामने देखता रहता है और पीछे हटता रहता है। इसका तंत्रिकातंत्र और आँखें इसी वर्ग के अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक विकसित होती हैं। संतुलन तथा दिशा बतानेवाले अंग, उपलकोष्ठ (स्टैटोसिस्ट) और घ्राणनलिका भी सिर पर पाई जाती है। इसकी त्वचा में रंग भरी कोशिकाएँ होती हैं, जिनकी सहायता से यह अपनी परिस्थिति के अनुसार रंग बदलता है। इस विशेषता से इसको बहुधा अपने शत्रुओं से बचने में सहायता मिलती है।

१. मृदुनाविक (मादा)

मृदुनाविक का प्रकवच

मृदुनाविक (आर्गानॉट) भी अष्टबाहु जाति का प्राणी है जो खुले समुद्र के ऊपरी तल पर तैरता पाया जाता है। मादा मृदुनाविक में एक बाह्य प्रकवच होता है, जो बहुत सुंदर, कोमल और कुंतलाकार होता है। यह प्रकवच इस जंतु की दो बाहुओं के बहुत चौड़े और चिपटे सिरों की त्वचा के रस से बनता है, और ये बाहुएँ उनको बड़ी सुंदरता से उठाए रहती हैं। जब तक अंडे परिपक्व होकर फूटते नहीं तब तक मादा इसी बाह्य प्रकवच में रखकर अंडे को सेती है। नर मृदुनाविक में, जो स्त्री मृदुनाविक से छोटा होता है, बाह्य प्रकवच नहीं होता।

प्रजनन एवं विकास—अष्टबाहु नर तथा स्त्री (मादा) दोनों ही प्रकार के होते हैं, परंतु नर स्त्री से आकार में छोटा होता है और उसकी पिछली एक बाहु के रूप में कुछ भेद होता है। इसको निषेचांगीय (हेक्टोकॉटिलाइज्ड) बाहु कहते हैं। यह बाहु प्रजनन के लिये अंडों के निषेचन (फर्टिलाइजेशन) में काम आती है। नर में दो प्रजनन ग्रंथियाँ और मादा में दो प्रजनन नलियाँ होती हैं। सहवास में नर अपनी निषेचांगीय बाहु को, जिसमें शुक्रभर (स्पर्मैटोफार्स) होते हैं, स्त्री की प्रावार गुहा (मैंटल कैविटी) में डालकर अपने शरीर से उस बाहु का पूर्ण विच्छेद कर देता है। बाहु में के शुक्राणुओं से अंडे तब निषिक्त हो जाते हैं। मादा अपने अंडों को या तो छोटे छोटे समूहों में या एक से एक लिपटे एक डोर के रूप में देती है और किसी बाहरी पदार्थ से लटका देती है।

नर अष्टबाहु

२. निषेचांगीय बाहु

अंडे खाद्य पदार्थ से भरे होते हैं। इनमें विभाजन अपूर्ण होता है और जंतु के विकास में डिंभ नहीं बनता (द्र० **अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व**)। (रा० च० स०)

अष्टमंगल अष्टमांगलिक चिह्नों के समुदाय को अष्टमंगल कहा गया है। साँची के स्तूप के तोरणस्तंभ पर उत्कीर्ण शिल्प में मांगलिक चिह्नों से बनी हुई दो मालाएँ अंकित हैं। एक में ११ चिह्न हैं—सूर्य, चक्र, पद्मसर, अंकुश, वैजयंती, कमल, दर्पण, परशु, श्रीवत्स, मीनमिथुन और श्रीवृक्ष। दूसरी माला में कमल, अंकुश, कल्पवृक्ष, दर्पण, श्रीवत्स, वैजयंती, मीनयुगल, परशु, पुष्पदाम, तालवृक्ष तथा श्रीवृक्ष हैं। इनसे ज्ञात होता है कि लोक में अनेक प्रकार के मांगलिक चिह्नों की मान्यता थी। विक्रम संवत् के आरंभ के लगभग मथुरा की जैन कला में अष्टमांगलिक चिह्नों की संख्या और स्वरूप निश्चित हो गए। कुषाणकालीन आयागपटों पर अंकित ये चिह्न इस प्रकार हैं : मीनमिथुन, देवविमानगृह, श्रीवत्स, वर्धमान या शराव, संपुट, त्रिरत्न, पुष्पदाम, इंद्रयष्टि या वैजयंती और पूर्णघट। इन आठ मांगलिक चिह्नों की आकृति के ठीकरों से बना आभूषण अष्टमांगलिक माला कहलाता था। कुषाणकालीन जैन ग्रंथ अंगविज्जा, गुप्तकालीन बौद्धग्रंथ महाव्युत्पत्ति और बाणकृत हर्षचरित में अष्टमांगलिक माला आभूषण का उल्लेख हुआ है। बाद के साहित्य और लोकजीवन में भी इन चिह्नों की मान्यता और पूजा सुरक्षित रही, किंतु इनके नामों में परिवर्तन भी देखा जाता है। शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत एक प्रमाण के अनुसार सिंह, वृषभ, गज, कलश, व्यजन, वैजयंती, दीपक और दुंदुभी, ये अष्टमंगल थे। (वा० श० अ०)

अष्टमूर्ति शिव का नाम। भविष्यपुराण में शिव की आठ मूर्तियाँ बतलाई गई हैं : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सोम और सूर्य। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतल के नांदीश्लोक में इनका उल्लेख किया है। शैव सिद्धांत में पंच महातत्वों से बने महासाकार पिंड से शिव की निम्नलिखित आठ मूर्तियों की उत्पत्ति मानी गई है : शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा।

उपनिषदों के अनुसार निराकार ब्रह्म ही जडचेतनात्मक प्रपंच मे साकार होकर प्रतिभासित होता है। विराट् ब्रह्मांड को पचतत्व, काल के प्रतीक सूर्य चद्र तथा आत्मा के प्रतीक यजमान के रूप मे विभाजित किया गया है। गीता मे यजमान, सोम और सूर्य के स्थान पर मन, बुद्धि, अहकार की गणना हुई है। इस गणना मे कालतत्व का समावेश नही होता। अत काल के प्रतीक सूर्य चद्र का ग्रहण करना आवश्यक हो गया। मन, बुद्धि, अहकार ये जीव के धर्म है अत जीव के प्रतीक यजमान मे इनका अतर्भाव हो जाता है। इन तत्वो के अतिरिक्त ब्रह्माड कुछ भी नही है और ब्रह्माड का ब्रह्म से अभेद है, इसलिये शैवो ने निराकार शिव को इन आठ तत्वो की मूर्ति धारण करनेवाला परमतत्व माना है।

स०ग्र०—गीता ७ ४, अभिज्ञानशाकुतलम १ १, सिद्ध-सिद्धात-सग्रह, मुडकोपनिषद् २ १। (रा० पा०)

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आठ हजार श्लोकोवाला यह महायान बौद्ध ग्रथ प्रज्ञा की पारमिता (परकाष्ठा) के माहात्म्य का वर्णन करता है। प्रज्ञापारमिता को मूर्त रूप मे अवतरित कर उसके चमत्कार दिखाए गए है। इसमे ३२ परिच्छेद है जिनमे प्राय गृद्धकूट पर्वत पर भगवान् बुद्ध अपने सुभूति, सारिपुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र जैसे शिष्यो को उपदेश देते हुए उपस्थित होते है। आगे चलकर इस ग्रथ के कई छोटे और बडे सस्करण बने। (भि० ज० का०)

अष्टाग मार्ग द्र० 'बुद्ध' तथा 'बौद्ध धर्म'।

अष्टाग योग महर्षि पतजलि के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध)। इसकी स्थिति और सिद्धि के निमित्त कतिपय उपाय आवश्यक होते है जिन्हे 'अग' कहते हैं और जो सख्या मे आठ माने जाते है। अष्टाग योग के अतर्गत प्रथम पाँच अग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार) 'बहिरग' और शेष तीन अग (धारणा, ध्यान, समाधि) 'अतरग' नाम मे प्रसिद्ध है। बहिरग साधना यथार्थ रूप से अनुष्ठित होने पर ही साधक को अतरग साधना का अधिकार प्राप्त होता है। 'यम' और 'नियम' वस्तुत शील और तपस्या के द्योतक है। यम का अर्थ है सयम जो पाँच प्रकार का माना जाता है (क) अहिसा, (ख) सत्य, (ग) अस्तेय (चोरी न करना अर्थात् दूसरे के द्रव्य के लिये स्पृहा न रखना), (घ) ब्रह्मचर्य तथा (ड) अपरिग्रह (विषयो का स्वीकार न करना)। इसी भाँति नियम के भी पाँच प्रकार होते है शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय (मोक्षशास्त्र का अनुशीलन या प्रणव का जप) तथा ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर मे भक्तिपूर्वक सब कर्मो का समर्पण करना)। आसन से तात्पर्य है स्थिर और सुख देनेवाले बैठने के प्रकार (स्थिर सुखमासनम्) जो देहस्थिरता की साधना है। आसन जप होने पर श्वास प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम **प्राणायाम** है। बाहरी वायु का लेना श्वास और भीतरी वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। प्राणायाम प्राणस्थैर्य की साधना है। इसके अभ्यास से प्राण मे स्थिरता आती है और साधक अपने मन की स्थिरता के लिये अग्रसर होता है। अतिम तीनो अग मन स्थैर्य की साधना है। प्राणस्थैर्य और मन स्थैर्य की मध्यवर्ती साधना का नाम 'प्रत्याहार' है। प्राणायाम द्वारा प्राण के अपेक्षाकृत शात होने पर मन का बहिर्मुख भाव स्वभावत कम हो जाता है। फल यह होता है कि इद्रियाँ अपने बाहरी विषयो से हटकर अतर्मुखी हो जाती है। इसी का नाम प्रत्याहार है (प्रति = प्रतिकूल, आहार = वृत्ति)।

अब मन की बहिर्मुखी गति निरुद्ध हो जाती है और वह अतर्मुख होकर स्थिर होने की चेष्टा करता है। इसी चेष्टा की आरभिक दशा का नाम धारणा है। देह के किसी अग पर (जैसे हृदय मे, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) अथवा बाह्यपदार्थ पर (जैसे इष्टदेवता की मूर्ति आदि पर) चित्त को लगाना 'धारणा' कहलाता है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, योगसूत्र ३।१)। ध्यान इसके आगे की दशा है। जब उस देशविशेष मे ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप से प्रवाहित होता है, तब उसे 'ध्यान' कहते है। धारणा और ध्यान दोनो दशाओं मे वृत्तिप्रवाह विद्यमान रहता है, परतु अतर यह है कि धारणा मे एक वृत्ति से विरुद्ध वृत्ति का भी उदय होता है, परतु ध्यान मे सदृशवृत्ति का ही प्रवाह रहता है, विसदृश का नही। ध्यान की परिपक्वावस्था का नाम ही समाधि है। तब चित्त आलबन के आकार मे प्रतिभासित होता है, अपना स्वरूप शून्यवत् हो जाता है और एकमात्र आलबन ही प्रकाशित होता है। यही समाधि की दशा कहलाती है। अतिम तीनो अगो का सामूहिक नाम 'सयम' है जिसके जीतने का फल है विवेक ख्याति का आलोक या प्रकाश। समाधि के बाद प्रज्ञा का उदय होता है और यही योग का अतिम लक्ष्य है।

स०ग्र०—स्वामी ओमानद पातजल योगरहस्य, बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन (शारदामदिर, काशी, १९५७)। (ब० उ०)

अष्टाग वैद्यक द्र० 'आयुर्वेद'।

अष्टाध्यायी पाणिनिविरचित व्याकरण का ग्रथ। यह छह वेदागो मे मुख्य माना जाता है। अष्टाध्यायी मे ३,९८१ सूत्र और आरंभ मे वर्णसमाम्नाय के १४ प्रत्याहार सूत्र है। अष्टाध्यायी का परिमाण एक सहस्र अनुष्टुप श्लोक के बराबर है। अष्टाध्यायी के कर्ता पाणिनि कब हुए, इस विषय मे कई मत है। भडारकर और गोल्डस्टकर इनका समय ७वी शताब्दी ई० पू० मानते है। मैकडानेल, कीथ आदि कितने ही विद्वानो ने इन्हे चौथी शताब्दी ई० पू० माना है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि नदो के समकालीन थे और यह समय ५वी शताब्दी ई० पू० होना चाहिए। पाणिनि मे शतमान, विंशतिक और कार्षापण आदि जिन मुद्राओं का एक साथ उल्लेख है उनके आधार पर एव अन्य कई कारणो से हमे पाणिनि का काल यही समीचीन जान पडता है।

महाभाष्य मे अष्टाध्यायी को सर्ववेद-परिषद्-शास्त्र कहा गया है। अर्थात् अष्टाध्यायी का सबध किसी वेदविशेष तक सीमित न होकर सभी वैदिक सहिताओ से था और सभी के प्रातिशाख्य अभिमतो का पाणिनि ने समादर किया था। अष्टाध्यायी मे अनेक पूर्वाचार्यो के मतो और सूत्रो का सनिवेश किया गया। उनमे से शाकटायन, शाकल्य, अभिशाली, गार्ग्य, गालव, भारद्वाज, काश्यप, शौनक, स्फोटायन, चाक्रवर्मण का उल्लेख पाणिनि ने किया है।

अष्टाध्यायी मे आठ अध्याय है और प्रत्येक अध्याय मे चार पाद है। पहले दूसरे अध्यायो मे सज्ञा और परिभाषा सबधी सूत्र है एव वाक्य में आए हुए क्रिया और सज्ञा शब्दो के पारस्परिक सबध के नियामक प्रकरण भी है, जैसे क्रिया के लिए आत्मनेपद-परस्मैपद-प्रकरण, एव सज्ञाओ के लिये विभक्ति, समास आदि। तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायों मे सब प्रकार के प्रत्ययो का विधान है। तीसरे अध्याय मे धातुओ से प्रत्यय लगाकर कृदत शब्दो का निर्वचन है और चौथे तथा पाँचवे अध्यायो मे सज्ञा शब्दो मे प्रत्यय जोडकर बने नए सज्ञा शब्दो का विस्तृत निर्वचन बताया गया है। ये प्रत्यय जिन अर्थविशेषो को प्रकट करते है उन्हे व्याकरण की परिभाषा में वृत्ति कहते है, जैसे वर्षा मे होनेवाले इद्रधनु को वार्षिक इद्रधनु कहेंगे। वर्षा मे होनेवाले इस विशेष अर्थ को प्रकट करनेवाला 'इक' प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है। तद्धित प्रकरण मे १,१९० सूत्र है और कृदत प्रकरण मे ६३१। इस प्रकार कृदत, तद्धित प्रत्ययो के विधान के लिये अष्टाध्यायी के १,८२१, अर्थात् आधे से कुछ ही कम सूत्र विनियुक्त हुए है। छठे, सातवे और आठवें अध्यायो मे उन परिवर्तनो का उल्लेख है जो शब्द के अक्षरो मे होते है। ये परिवर्तन या तो मूल शब्द मे जुडनेवाले प्रत्ययो के कारण या सधि के कारण होते है। द्वित्व, सप्रसारण, सधि, स्वर, आगम, लोप, दीर्घ आदि के विधायक सूत्र छठे अध्याय मे आए है। छठे अध्याय के चौथे पाद से सातवे अध्याय के अत तक अगाधिकार नामक एक विशिष्ट प्रकरण है जिसमे उन परिवर्तनो का वर्णन है जो प्रत्यय के कारण मूल शब्दो मे या मूल शब्द के कारण प्रत्यय मे होते है। ये परिवर्तन भी दीर्घ, ह्रस्व, लोप, आगम, आदेश, गुण, वृद्धि आदि के विधान के रूप मे ही देखे जाते है। अष्टम अध्याय मे वाक्यगत शब्दो के द्वित्वविधान, प्लुतविधान एव षत्व और णत्वविधान का विशेषत उपदेश है।

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त उसी से संबंधित गणपाठ और धातुपाठ नामक दो प्रकरण भी निश्चित रूप से पाणिनि निर्मित थे। उनकी परंपरा आज तक अक्षुण्ण चली आती है, यद्यपि गणपाठ मे कुछ नए शब्द भी पुरानी सूचियों मे कालांतर मे जोड़ दिए गए है। वर्तमान उणादि सूत्रों के पाणिनिकृत होने मे सदेह है और उन्हे अष्टाध्यायी के गणपाठ के समान अभिन्न अग नही माना जा सकता। वर्तमान उणादि सूत्र शाकटायन व्याकरण के ज्ञात होते हैं।

अष्टाध्यायी के साथ आरभ से ही अर्थों की व्याख्यापूरक कोई वृत्ति भी थी जिसके कारण अष्टाध्यायी का एक नाम, जैसा पतजलि ने लिखा है, वृत्तिसूत्र भी था। और भी, माथुरीवृत्ति, पुण्यवृत्ति आदि वृत्तियाँ थी जिनकी परपरा मे वर्तमान काशिकावृत्ति है। अष्टाध्यायी की रचना के लगभग दो शताब्दी के भीतर कात्यायन ने सूत्रो की बहुमुखी समीक्षा करते हुए लगभग चार सहस्र वार्तिको की रचना की जो सूत्रशैली मे ही हैं। वार्तिकसूत्र और कुछ वृत्तिसूत्रो को लेकर पतजलि ने महाभाष्य का निर्माण किया जो पाणिनीय सूत्रो पर अर्थ, उदाहरण और प्रक्रिया की दृष्टि से सर्वोपरि ग्रथ है।

अष्टाध्यायी मे वैदिक संस्कृत और पाणिनि की समकालीन शिष्ट भाषा मे प्रयुक्त संस्कृत का सर्वांगपूर्ण विचार किया गया है। वैदिक भाषा का व्याकरण अपेक्षाकृत और भी परिपूर्ण हो सकता था। पाणिनि ने अपनी समकालीन संस्कृत भाषा का बहुत अच्छा सर्वेक्षण किया था। इनके शब्दसग्रह मे तीन प्रकार की विशेष सूचियाँ आई हैं (१) जनपद और ग्रामो के नाम, (२) गोत्रो के नाम, (३) वैदिक शाखाओ और चरणो के नाम। इतिहास की दृष्टि से और भी अनेक प्रकार की सास्कृतिक सामग्री, शब्दो और सस्थाओ का सनिवेश सूत्रो मे हो गया है।

सं०ग्रं०—वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, सदाशिव कृष्ण बेलवेलकर . सिस्टम्स ऑव संस्कृत ग्रामर; युधिष्ठिर मीमासक संस्कृत व्याकरण का इतिहास। (वा० श० अ०)

अष्टावक्र कहोड के पुत्र जिनकी कहानी महाभारत मे दी गई है। कहते हैं, कहोड़ यज्ञ में अधिक ध्यान देने के कारण अपनी पत्नी पर विशेष ध्यान न दे पाते थे जिससे गर्भ मे ही अष्टावक्र ने उनकी भर्त्सना करनी आरभ कर दी। कहोड के शाप से वे अष्टाग से वक्र हो गए थे, किंतु बाद मे अपने ज्ञान और पितृभक्ति से वे बहुत सौम्य हो गए। [च० म०]

असंग बौद्ध आचार्य असग का जन्म गाधार प्रदेश के पुष्पपुर नगर, वर्तमान पेशावर, मे दूसरी शताब्दी के आसपास हुआ था। आचार्य असग योगाचार परपरा के आदिप्रवर्तक माने जाते है। महायान सूत्रालकार जैसा प्रौढ़ ग्रथ लिखकर इन्होने महायान सप्रदाय की नीव डाली और यह पुराने हीनयान सप्रदाय से किस प्रकार उच्च कोटि का है इसपर जोर दिया। आचार्य असग धार्मिक प्रवर्तक होते हुए बौद्ध न्याय के भी आदिगुरु माने जाते है। इन्होने न्याय के अध्यापन की एक मौलिक परपरा चलाई जिसमे प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग की दीक्षा हुई। प्रसिद्ध है कि आचार्य असग के भाई वसुबधु पहले सर्वास्तिवाद के पोषक थे, किंतु बाद मे असग के प्रभाव मे आकर वे योगाचार विज्ञानवादी हो गए। दोनों भाइयो ने मिलकर इसके पक्ष को बडा प्रबल बनाया। (भि० ज० का०)

असंशयवाद (ऐग्नास्टिसिज्म) एक धार्मिक आदोलन, जो दूसरी सदी के आरभ मे प्रारभ हुआ, उस सदी के मध्यकाल मे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा और फिर क्षीण हो चला। वैसे इसकी विभिन्न शाखा प्रशाखाएँ चतुर्थ शताब्दी तक जड जमाए रही। यह बात भी स्मरणीय है कि कई महत्वपूर्ण असशयवादी मान्यताएँ ईसाई मत का आरभ होने के पूर्व ही विकसित हो चुकी थी।

'असशय' शब्द के प्रयोग से असशयवादियो को बुद्धिवाद का समर्थक नही समझना चाहिए। वे बुद्धिवादी नही, दैवी अनुभूतिवादी थे। असशयवादी सप्रदाय अपने को एक ऐसे रहस्यमय ज्ञान से युक्त समझता था जो कही अन्यत्र उपलब्ध नही तथा जिसकी प्राप्ति वैज्ञानिक विचार विमर्श द्वारा नही वरन् दैवी अनुभूति से ही सभव है। उनका कहना है कि यह ज्ञान स्वय मुक्ति प्रदान करनेवाला है और उसके सच्चे अनुयायियो से ही किसी रहस्यमय ढग से प्राप्त होता है। संक्षेप मे, सभी असशयवादी अपने समस्त आचार विचार और प्रकार मे धार्मिक रहस्यवादियों की श्रेणी मे आते हैं। वे सभी गूढ तत्वज्ञान का दावा करते हैं। वे मृत्यूपरात जीव की सद्गति में विश्वास करते है और उस मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभु की उपासना करते हैं जो अपने उपासको के लिये स्वय मानव रूप मे एक आदर्श मार्ग बता गया है।

अन्य रहस्यवादी धर्मो की भाँति असशयवाद मे भी मत्रतत्र, विधिसस्कारादि का महत्वपूर्ण स्थान है। पवित्र चिह्नो, नामो तथा सूत्रो का स्थान सर्वोच्च है। असशयवादी सप्रदायो के अनुसार मृत्युपरात जीव जब सर्वोच्च स्वर्ग के मार्ग पर अग्रसर होता है तो निम्न कोटि के देव एव शैतान बाधा उपस्थित करते है जिनसे छुटकारा तभी सभव है जब वह शैतानो के नाम स्मरण रखे, पवित्र मत्रो का सही उच्चारण करे, शुभ चिह्नो का प्रयोग करे या पवित्र तैलो से अभिषिक्त हो। मृत्यूपरात सद्गति के लिये असशयवादियो के अनुसार ये अत्यत महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ है। मानव शरीर मे अवतरित स्वय मुक्तिप्रदाता को भी पुन स्वर्गारोहण के लिये इन मत्रादि की आवश्यकता हुई थी।

असशयवाद एक विशेष प्रकार के द्वैत सिद्धात पर आधारित है। अच्छाई और बुराई दोनो एक दूसरे के प्रतिपक्षी है। प्रथम दैवी जगत् का और द्वितीय भौतिक जगत् का प्रतिनिधि है। भौतिक जगत् बुराइयों की जड, विरोधी शक्तियों का सघर्षस्थल है। असशयवादी भौतिक जगत् का निर्माण उन सात शक्तियों द्वारा मानते है जो उनपर शासन करती है। इन सात शक्तियों के स्रोत सूर्य, चद्र और पाच नक्षत्र है।

असशयवादियों की यह दृढ धारणा रही है कि वे ईश्वराधीन स्वर्ग का प्रकाश प्राप्त करेंगे। इसके लिये उन्होने केवल मत्र एव चिह्नादि को ही आवश्यक नही माना वरन् भौतिक जगत् की क्रियाओ से उदासीनता तथा उसकी शक्तियों से निर्लिप्तता को भी ईश्वरीय प्रकाश की प्राप्ति मे अनिवार्य बताया।

असशयवादियो की यह प्रमुख मान्यता है कि जगत् की सृष्टि के पूर्व एक आदिपुरुष था, परम साधु पुरुष, जो ससार मे विभिन्न रूपो मे विचरता और अपने को किसी एक असशयवादी मे व्यक्त करता है। वह उस दैवी शक्ति का प्रतीक है जो सबकी उन्नति के लिये भौतिक जगत् के अधकार मे उतरकर विश्वविकास का नाटकीय दृश्य प्रस्तुत करती है।

स०ग्र०—ई० एफ० स्काट नास्टिसिज्म ऐड वैलेंशिऐनिज्म इन हेस्टिंग्ज, एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐड एथिक्स, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मे 'नास्टिसिज्म' शीर्षक निबध। (श्री० स०)

असत्कार्यवाद कारणवाद का न्यायदर्शनसमत सिद्धात जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले नही रहता। न्याय के अनुसार उपादान और निमित्त कारण मे अलग अलग कार्य उत्पन्न करने की पूर्ण शक्ति नही है किंतु जब ये कारण मिलकर व्यापारशील होते है तब इनकी समिलित शक्ति मे एक ऐसा कार्य उत्पन्न होता है जो इन कारणों से विलक्षण होता है। अत कार्य सर्वथा नवीन होता है, उत्पत्ति के पहले इसका अस्तित्व नही होता। कारण केवल उत्पत्ति मे सहायक होते है। साख्यदर्शन इसके विपरीत कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण मे स्थित मानता है, अत उसका सिद्धात सत्कार्यवाद कहलाता है। न्यायदर्शन भाववादी और यथार्थवादी है। इसके अनुसार उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना अनुभवविरुद्ध है। न्याय के इस सिद्धात पर आक्षेप किया जाता है कि यदि असत् कार्य उत्पन्न होता है तो शशशृंग जैसे असत् कार्य भी उत्पन्न होने चाहिए। किंतु न्यायमजरी मे कहा गया है कि असत्कार्यवाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति नही मानी जाती। अपितु जो उत्पन्न हुआ है उसे उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है। (रा० पा०)

असमिया भाषा और साहित्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की शृखला मे पूर्वी सीमा पर अवस्थित असम की भाषा को असमी, असमिया अथवा आसामी कहा जाता है। ग्रियर्सन के वर्गीकरण की दृष्टि से यह बाहरी उपशाखा के पूर्वी समुदाय की भाषा है, पर सुनीतिकुमार चटर्जी के वर्गीकरण मे प्राच्य समुदाय में इसका स्थान है। उड़िया तथा बँगला की भाँति असमी की भी उत्पत्ति प्राच्य प्राकृत तथा अपभ्रश से हुई है।

असमिया भाषा का व्यवस्थित रूप १३वी तथा १४वी शताब्दी से मिलने पर भी उसका पूर्वरूप बौद्ध सिद्धों के 'चर्यापद' मे देखा जा सकता है। 'चर्यापद' का समय विद्वानो ने ईसवी सन् ६०० से १००० के बीच स्थिर किया है। इन दोहों के लेखक सिद्धों मे से कुछ का तो कामरूप प्रदेश से घनिष्ठ संबंध था। 'चर्यापद' के समय से १२वा शताब्दो तक असमी भाषा मे कई प्रकार के मौखिक साहित्य का सृजन हुआ था। मणिकोवर-फुलकोवर-गीत, डाकवचन, तंत्र मंत्र आदि इस मौखिक साहित्य के कुछ रूप है।

सीमा की दृष्टि से असमिया क्षेत्र के पश्चिम मे बँगला है। अन्य दिशाओं मे कई विभिन्न परिवारो की भाषाएँ बोली जाती है। इनमे से तिब्बती, बर्मी तथा खासी प्रमुख है। इन सीमावर्ती भाषाओ का गहरा प्रभाव असमिया की मूल प्रकृति मे देखा जा सकता है। अपने प्रदेश मे भी असमिया एकमात्र बोली नही है। यह प्रमुखत मैदानो की भाषा है।

बहुत दिनो तक असमिया को बँगला की एक उपबोली सिद्ध करने का उपक्रम होता रहा है। असमिया की तुलना मे बँगला भाषा और साहित्य के बहुमुखी प्रसार को देखकर ही लोग इस प्रकार की धारणा बनाते रहे है। परतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बँगला और असमिया का समानातर विकास आसानी से देखा जा सकता है। मागधी अपभ्रंश के एक ही स्रोत से निःसृत होने के कारण दोनो मे समानताएँ हो सकती हैं, पर उनके आधार पर एक को दूसरी की बोली सिद्ध नही किया जा सकता।

असमिया लिपि मूलत ब्राह्मी का ही एक विकसित रूप है। बँगला से उसकी निकट समानता है। लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध रूप भास्करवर्मन का ६१० ई० का ताम्रपत्र है। परतु उसके बाद से आधुनिक रूप तक लिपि मे 'नागरी' के माध्यम से कई प्रकार के परिवर्तन हुए है।

असमिया भाषा का पूर्ववर्ती, अपभ्रंशमिश्रित बोली से भिन्न रूप प्राय १४वी शताब्दी से स्पष्ट होता है। भाषागत विशेषताओं का ध्यान मे रखते हुए असमिया के विकास के तीन काल माने जा सकते हैं

(१) प्रारंभिक असमिया—१४वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के अंत तक। इस काल को फिर दो युगों मे विभक्त किया जा सकता है (अ) वैष्णव-पूर्व-युग तथा (आ) वैष्णवयुग। इस युग के सभी लेखकों मे भाषा का अपना स्वाभाविक रूप निखर आया है, यद्यपि कुछ प्राचीन प्रभावों से वह सर्वथा मुक्त नही हो सकी है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा मे पर्याप्त एकरूपता नही मिलती। परतु असमिया के प्रथम महत्वपूर्ण लेखक शंकरदेव (जन्म –१४४६) की भाषा मे ये त्रुटियाँ नही मिलती। वैष्णव-पूर्व-युग की भाषा की अव्यवस्था यहाँ समाप्त हो जाती है। शंकरदेव की रचनाओं मे ब्रजबुलि प्रयोगो का बाहुल्य है।

(२) मध्य असमिया—१७वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के प्रारंभ तक। इस युग मे अहोम राजाओं के दरबार की गद्यभाषा का रूप प्रधान है। इन गद्यकर्ताओं का बुरजी कहा गया है। बुरजी साहित्य मे इतिहास-लेखन की प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते है। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य से भिन्न है। बुरजियों की भाषा आधुनिक रूप के अधिक निकट है।

(३) आधुनिक असमिया—१६वी शताब्दी के प्रारंभ से। १८१६ ई० मे अमरीकी बप्तिस्त पादरियों द्वारा प्रकाशित असमिया गद्य मे बाइबिल के अनुवाद से आधुनिक असमिया का काल प्रारंभ होता है। मिशन का केंद्र पूर्वी आसाम मे होने के कारण उसकी भाषा मे पूर्वी आसाम की बोली को ही आधार माना गया। १८४६ ई० मे मिशन द्वारा एक मासिक पत्र 'अरुणोदय' प्रकाशित किया गया। १८४८ मे असमिया का प्रथम व्याकरण छपा और १८६७ मे प्रथम असमिया अंग्रेजी शब्दकोश।

क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से असमिया के कई उपरूप मिलते है। इनमे से दो मुख्य है—पूर्वी रूप और पश्चिमी रूप। साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से पूर्वी रूप को ही मानक माना जाता है। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी रूप मे बोलीगत विभिन्नताएँ अधिक है। असमिया के इन दो मुख्य रूपों मे ध्वनि, व्याकरण तथा शब्दसमूह, इन तीनो ही दृष्टियों से अंतर मिलते है। असमिया के शब्दसमूह मे संस्कृत तत्सम, तद्भव तथा देशज के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के शब्द भी मिलते है। अनार्य भाषापरिवारो से गृहीत शब्दों की संख्या भी कम नही है। भाषा मे सामान्यत. तद्भव शब्दों की प्रधानता है। हिंदी उर्दू के माध्यम से फारसी, अरबी तथा पुर्तगाली और कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं के भी शब्द आ गए है।

भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला मे पूर्वी सीमा पर स्थित होने के कारण असमिया कई अनार्य भाषापरिवारो से घिरी हुई है। इस स्तर पर सीमावर्ती भाषा होने के कारण उसके शब्दसमूह मे अनार्य भाषाओ के कई स्रोतों से लिए हुए शब्द मिलते हैं। इन स्रोतो मे से तीन अपेक्षाकृत अधिक मुख्य है .

(१) ऑस्ट्रो-एशियाटिक—(अ) खासी, (आ) कोलारी, (इ) मलायन
(२) तिब्बती-बर्मी—बोडो
(३) थाई—अहोम

शब्दसमूह की इस मिश्रित स्थिति के प्रसग मे यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि खासी, बोडो तथा थाई तत्व तो असमिया मे उधार लिए गए है, पर मलायन और कोलारी तत्वो का मिश्रण इन भाषाओं के मूलाधार के पारस्परिक मिश्रण के फलस्वरूप है। अनार्य भाषाओ के प्रभाव को असम के अनेक स्थाननामों मे भी देखा जा सकता है। ऑस्ट्रिक, बोडो तथा अहोम के बहुत से स्थाननाम ग्रामो, नगरो तथा नदियो के नामकरण की पृष्ठभूमि मे मिलते है। अहोम के स्थाननाम प्रमुखत नदियों को दिए गए नामो मे है।

असमिया साहित्य

असमिया के शिष्ट और लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालो मे विभक्त किया जाता है. (१) वैष्णवपूर्वकाल १२००–१४४६ ई०, (२) वैष्णवकाल . १४४६-१६५० ई०, (३) गद्य, बुरजी काल . १६५०-१६२६ ई०, (४) आधुनिक काल . १६२६-१६४७ ई०, (५) स्वाधीनतोत्तरकाल १६४७ ई०—।

(१) वैष्णवपूर्वकाल—अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर हेम सरस्वती और हरिहर विप्र असमिया के प्रारंभिक कवि माने जा सकते है। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र' असमिया का प्रथम लिखित ग्रंथ माना जाता है। ये दोनो कवि कमतापुर (पश्चिम कामरूप) के शासक दुर्लभनारायण के आश्रित थे। एक तीसरा प्रसिद्ध कवि कविरत्न सरस्वती भी था, जिसने 'जयद्रथवध' लिखा। परतु वैष्णवपूर्वकाल के सबसे प्रसिद्ध कवि माधव कदली हुए, जिन्होंने राजा महामाणिक्य के आश्रय मे रहकर अपनी रचनाएँ की। माधव कदली के रामायण के अनुवाद ने विशेष ख्याति प्राप्त की। संस्कृत शब्दसमूह को असमिया मे रूपांतरित करना कवि की विशेष कला थी। इस काल की अन्य फुटकर रचनाओ मे कुछ गीतिकाव्य उल्लेखनीय है। इन रचनाओं मे तत्कालीन लोकमानस विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ है। तंत्र मंत्र, मनसापूजा आदि के विधान इस वर्ग की कृतियों मे अधिक चर्चित हुए है।

(२) वैष्णवकाल—इस काल की पूर्ववर्ती रचनाओ मे विष्णु से संबद्ध कुछ देवताओं को महत्व दिया गया था। परतु आगे चलकर विष्णु की पूजा की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। स्थिति के इस परिवर्तन मे असमिया के महान् कवि और धर्मसुधारक शंकरदेव (१४४६–१५६८)ई० का योग सबसे अधिक था। शंकरदेव की अधिकांश रचनाएँ भागवतपुराण पर आधारित है और उनके मत को भागवती धर्म कहा जाता है। असमिया जनजीवन और संस्कृति को उसके विशिष्ट रूप मे ढालने का श्रेय शंकरदेव को ही दिया जाता है। इसीलिये कुछ समीक्षक उनके व्यक्तित्व को केवल कवि के रूप में ही सीमित नही करना चाहते। वे मूलत. उन्हें धार्मिक सुधारक के रूप मे मानते हैं। शंकरदेव की भक्ति के प्रमुख आश्रय थे श्रीकृष्ण। उनकी लगभग ३० रचनाएँ है, जिनमे से 'कीर्तनघोषा' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप 'अंकीया नाटक' के प्रारंभकर्ता भी शंकरदेव ही है। उनके नाटको मे गद्य और पद्य का बराबर मिश्रण मिलता है। इन नाटकों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। 'अंकीया नाटक' के पद्यांश को 'बरगीत' कहा जाता है, जिसकी भाषा प्रमुखतः ब्रजबुलि है।

शकरदेव के अतिरिक्त इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण कवि उनके शिष्य माधवदेव हुए। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे कवि होने के साथ साथ संस्कृत के विद्वान्, नाटककार, संगीतकार तथा धर्मप्रचारक भी थे। 'नामघोषा' इनकी विशिष्ट कृति है। शकरदेव के नाटकों मे 'चोरधरा' अधिक प्रसिद्ध रचना है। इस युग के अन्य लेखकों में अनत कदली, श्रीधर कदली तथा भट्टदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। असमिया गद्य को स्थिरीकृत करने में भट्टदेव का ऐतिहासिक योग माना जाता है।

(३) बुरजी, गद्यकाल—आहोम राजाओं के असम मे स्थापित हो जाने पर उनके आश्रय में रचित साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति धार्मिक न होकर लौकिक हो गई। राजाओं का यशवर्णन इस काल के कवियों का एक प्रमुख कर्तव्य हो गया। वैसे भी अहोम राजाओं में इतिहासलेखन की परपरा पहले से ही चली आती थी। कवियों की यशवर्णन की प्रवृत्ति को आश्रयदाता राजाओं ने इस ओर मोड़ दिया। पहले तो अहोम भाषा के इतिहासग्रथों (बुरंजियों) का अनुवाद असमिया में किया गया और फिर मौलिक रूप में बुरंजियों का सृजन होने लगा। 'बुरजी' मूलत एक टाइ शब्द है, जिसका अर्थ है 'अज्ञात कथाओं का भाडार'। इन बुरंजियों के माध्यम से असम प्रदेश के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। बुरजी साहित्य के अतर्गत कामरूप बुरजी, कछारी बुरजी, आहोम बुरजी, जयतीय बुरजी, बेलियार बुरजी के नाम अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है। इन बुरजी ग्रथों के अतिरिक्त राजवशों की विस्तृत वशावलियाँ भी इस काल में मिलती है। कुछ चरितग्रथों की रचना भी इसी काल में हुई। उपयोगी साहित्य की दृष्टि से इस युग में ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि विज्ञान सबधी ग्रथों का भी सृजन हुआ। कला तथा नृत्य विषयक पुस्तकें भी लिखी गई। इस समस्त बहुमुखी साहित्यसृजन के मूल में राज्याश्रय द्वारा पोषित धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस काल में हिंदी के दो सूफी काव्यों (कुतुबन की 'मृगावती' तथा मझन की 'मधुमालती') के कथानकों के आधार पर दो असमिया काव्य लिखे गए। पर मूलत यह युग गद्य के विकास का है।

(४) आधुनिक काल—अन्य अनेक प्रातीय भाषाओं के साहित्य के समान असमिया में भी आधुनिक काल का प्रारभ अंग्रेजी शासन के साथ जोड़ा जाता है। १८२६ ई० असम में अंग्रेजी शासन के प्रारभ की तिथि है। इस युग में स्वदेशी भावनाओं के दमन तथा सामाजिक विषमता ने मुख्य रूप से लेखकों को प्रेरणा दी। इधर १८३८ ई० में ही विदेशी मिशनरियों ने भी अपना कार्य प्रारभ किया और जनता में धर्मप्रचार का माध्यम असमिया को ही बनाया। फलत असमिया भाषा के विकास में इन मिशनरियों द्वारा परिचालित व्यवस्थित ढग के मुद्रण तथा प्रकाशन से भी एक स्तर पर सहायता मिली। अंग्रेजी शासन के युग में अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य के अध्ययन मनन से असमिया के लेखक प्रभावित हुए। कुछ पाश्चात्य आदर्श बंगला के माध्यम से भी अपनाए गए। इस युग के प्रारभिक लेखकों में आनदराम टेकियाल फुकन का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। अन्य लेखकों में हेमचद्र बरुआ, गुणाभिराम बरुआ तथा सत्यनाथ बोड़ा के नाम उल्लेखनीय है। असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखत तीन लेखकों द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चद्रकुमार अग्रवाल (१८५८-१९३८), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (१८५८-१९३८) तथा हेमचद्र गोस्वामी (१८७२-१९२८)। कलकत्ता में रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रों ने १८८९ में 'जोनाकी' (जुगनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्रिका को केंद्र बनाकर धीरे धीरे एक साहित्यिक समुदाय उठ खड़ा हुआ जिसे बाद में जोनाकी समूह कहा गया। इस वर्ग के अधिकाश लेखक अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से प्रभावित थे। २०वी सदी के प्रारभ के इन लेखकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ बहुमुखी प्रतिभासपन्न थे। उनका 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामक सकलन विशेष प्रसिद्ध है। असमिया साहित्य में उन्होंने कहानी तथा ललित निबध के बीच के एक साहित्य रूप को अधिक प्रचलित किया। बेजबरुआ की हास्यरस की रचनाओं को काफी लोकप्रियता मिली। इसीलिये उन्हें 'रसराज' की उपाधि दी गई। इस युग के अन्य कवियों में कमलाकात भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनीबाला देवी, अबिकागिरि रायचौधुरी, नीलमणि फुकन आदि का कृतित्व महत्वपूर्ण माना जाता है। मफिजुद्दीन अहमद की कविताएँ सूफी धर्मसाधना से प्रेरित है।

गद्य, विशेष रूप से कथासाहित्य, के क्षेत्र में १९वी शताब्दी के अत में दो लेखक पद्मनाथ गोसाई बरुआ तथा रजनीकांत बारदोलाई अपने ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों के लिये महत्वपूर्ण समझे जाते है। जोनाकी समुदाय के समानातर जिन गद्यलेखकों ने साहित्यसृजन किया उनमें से वेणुधर राजखोवा तथा शरच्चद्र गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शरच्चद्र गोस्वामी की प्रतिभा वैसे तो बहुमुखी थी, पर उनकी ख्याति प्रमुखत कहानियों को लेकर है। कहानी के क्षेत्र में लक्ष्मीधर शर्मा, बीना बरुआ, कृष्ण भुयान आदि ने प्रणय सबधी नए अभिप्रायों के कुछ प्रयोग किए। लक्ष्मीनाथ फुकन अपनी हास्यरस की कहानियों के लिये स्मरणीय है। कथासाहित्य के अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में अतुलचद्र हजारिका तथा ज्योतिप्रसाद अग्रवाल का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। समीक्षा तथा शोध की दृष्टि से अबिकानाथ बरा, वाणीकात काकती, कालीराम मेधी, विरचि बरुआ तथा डिबेश्वर नियोग का कृतित्व उल्लेखनीय है।

असमिया साहित्य के आधुनिक काल में पत्र पत्रिकाओं का माध्यम भी काफी प्रचलित हुआ। इनमें से 'अरुणोदय', 'जोनाकी', 'बोली', 'आवाहन', 'जयती' तथा 'पछोवा' ने विभिन्न क्षेत्रों में काफी उपयोगी कार्य किया है। नए प्रकार का साहित्यसृजन प्रमुखत 'रामधेनु' को केंद्र बनाकर हुआ है।

(५) स्वाधीनतोत्तरकाल—इस युग में पाश्चात्य प्रभाव अधिक स्वस्थ तथा सतुलित रूप में आए है। इलियट तथा उनके सहयोगी अंग्रेजी कवियों से नए असमिया लेखकों को प्रमुखत प्रेरणा मिली है। केवल कविता में ही नहीं, कथासाहित्य तथा नाटक में भी इन नए प्रयोगों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं को नए लेखकों ने उठाया है। उनके शिल्प सबधी प्रयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

प्राचीन असम की साहित्य-रुचि-सपन्नता का पता तत्कालीन ताम्रपत्रों से चलता है। इसी प्रकार वहाँ के पुस्तकोत्पादन के सबध में भी एक प्राचीन उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार कुमार भास्करवर्मन (ईसा की सातवी शताब्दी) ने अपने मित्र कन्नौजसम्राट् हर्षवर्धन को सुदर लिपि में लिखी हुई अनेक पुस्तकें भेंट की थी। इन पुस्तकों में से एक सभवत तत्कालीन असम में प्रचलित कहावतों तथा मुहावरों का सकलन था।

बहुत प्राचीन काल से ही असम में सगीतप्रियता की परपरा चलती आ रही है। इसके प्रमाणस्वरूप आधुनिक असम में अलिखित और अज्ञात लेखकों द्वारा प्रस्तुत वस्तुत अनेकानेक लोकगीत मिलते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक परपरा से सुरक्षित रह सके है। ये लोकगीत धार्मिक अवसरों, आचारों तथा ऋतुओं के परिवर्तनों से सबद्ध है। कुछ लोकगाथाओं में राजकुमार नायकों के आख्यान भी मिलते है। शिष्ट साहित्य के उद्भव के पूर्व इस काल में दार्शनिक डाक का महत्व असाधारण है। उसके कथनों को वेदवाक्य सज्ञा दी गई है। डाकवचनों की यह परपरा बगाल तथा बिहार तक मिलती है। असम के प्राय प्रत्येक परिवार में कुछ समय पूर्व तक इन डाकवचनों का एक हस्तलिखित सकलन रहता था।

असम के प्राचीन नाम 'कामरूप' से प्रकट होता है कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से तत्र मत्र की परपरा रही है। इन गुह्याचारों से सबद्ध अनेक प्रकार के मत्र मिलते है जिनसे भाषा तथा साहित्य विषयक प्रारभिक अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। 'चर्यापद' के लेखक सिद्धों में से कई का कामरूप से घनिष्ठ सबध बताया जाता है, जो इस प्रदेश की तात्रिक परपरा को देखते हुए काफी स्वाभाविक जान पड़ता है। इस प्रकार चर्यापदों के समय से लेकर १३वीं शताब्दी के बीच का मौखिक साहित्य या तो जनप्रिय लोकगीतों और लोकगाथाओं का है या नीतिवचनों तथा मत्रों का। यह साहित्य बहुत बाद में लिपिबद्ध हुआ।

सं०ग्रं०--विरंचिकुमार बरुआ असमिया साहित्य की रूपरेखा, बाणीकांत काकती असमीज, इट्स फॉर्मेशन ऐंड डेवेलपमेंट ।

(रा० स्व० च०)

असहयोग विदेशी अँगरेज सरकार को देश से निकालकर देश को आजाद करने का सबसे पहला उपाय जो महात्मा गांधी ने देश को बताया उसे उन्होंने 'असहयोग' या 'शांतिमय असहयोग' (नानवायलेंट, नान कोआपरेशन) नाम दिया। कुछ दिनों बाद 'सत्याग्रह' शब्द का उपयोग भी होने लगा, किंतु यदि सही तौर पर देखा जाय तो महात्मा गांधी का सत्याग्रह असहयोग का ही एक विकसित और उन्नत रूप था। अंत में इसी उपाय से भारत ने स्वाधीनता प्राप्त की।

कुछ लोगों का कहना है कि दुनिया में कोई चीज नई नहीं होती। कम से कम असहयोग का विचार या उसकी कल्पना इस देश के राजनीतिक इतिहास में कोई नई चीज नहीं थी। राजनीति में अहिंसा का विचार भी इस देश में बिलकुल नया नहीं था। महात्मा गांधी से पचास वर्ष पहले पंजाब के नामधारी सिक्खों के गुरु गुरुरामसिंह जी ने खुले तौर पर अंग्रेजी राज के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' यानी जेहाद का झंडा खड़ा किया था। वह अंग्रेज सरकार को भारत से निकालना अपना लक्ष्य बताते थे। पंजाब के उस समय के अंग्रेज लेफ्टिनेंट गवर्नर स्वयं भैणी साहब के गुरुद्वारे को देखने गए। गुरुद्वारे में उनको गुरुरामसिंह से भेंट हुई। गुरुरामसिंह ने अंग्रेज शासक से स्पष्ट शब्दों में कहा कि "मैं आप लोगों को भारत से निकालने की तैयारी कर रहा हूं।" जब उनसे पूछा गया कि आप अंग्रेजों को किस तरह निकालिएगा तो उन्होंने कहा कि "मैं १०८, १०८ गोलों की बहुत सी तोपें तैयार करा रहा हूं। जब अंग्रेज शासक ने तोप देखना चाहा तो गुरु जी ने अपने हाथ की १०८ दानों की सफेद ऊन की माला अंग्रेज शासक के सामने रख दी। 'अहिंसा' के अर्थों में वह पंजाबी 'छिमा' (क्षमा) शब्द का उपयोग किया करते थे। हिंसा के वह कट्टर विरोधी थे। अपने अनुयायियों को वह अंग्रेज सरकार के साथ पूर्ण असहयोग की सलाह देते थे। उनका उपदेश था कि कोई भारतवासी अपने बच्चों को अँग्रेजों के किसी सरकारी मदरसे में पढ़ने के लिये न भेजे, कोई, चाहे उसे कितना भी कष्ट क्या न हो, अंग्रेजी अदालत का आश्रय न ले, न अंग्रेजी अदालत में जाय, कोई भारतवासी अंग्रेज सरकार की नौकरी न करे। वह अंग्रेजों की रेलों में बैठने और अंग्रेजी डाकखानों की मारफत चिट्ठी पत्री भेजने तक के विरुद्ध थे। कुछ बरसों तक पंजाब में यह आंदोलन खूब फैला। अंग्रेज सरकार के लिये उसे दमन करना आवश्यक हो गया। सन् १८७२ में गुरुरामसिंह को कैद करके रंगून भेज दिया गया, जहाँ कुछ समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। पंजाब के अनेक जिलों से हजारों नामधारी सिक्खों को गिरफ्तार करके स्पेशल ट्रेनों में भर भरकर कहीं पूरब की तरफ भेज दिया गया। आज तक इस बात का पता न चला कि उन लोगों को सुंदरवन में ले जाकर मार डाला गया या बंगाल की खाड़ी में डुबो दिया गया। भारत में अंग्रेजी राज के खिलाफ शांतिमय असहयोग का वह पहला तजरबा था। सन् १९४७ तक अर्थात् भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के दिन तक हजारों ही नामधारी सिक्ख ऐसे थे जो न अंग्रेजी स्कूल में अपने बच्चों को पढ़ने भेजते थे, न अंग्रेजी कचहरियों में जाते थे और न अंग्रेजों की नौकरी आदि करते थे। कुछ ऐसे भी थे जो न रेलगाड़ी में यात्रा करते थे और न सरकारी डाकखाने से अपनी चिट्ठी पत्र भेजते थे।

महात्मा गांधी की सत्याग्रह की कल्पना भी दुनिया में कोई नई कल्पना नहीं थी। स्वयं गांधी जी ने सन् १९१९ में प्रसिद्ध अमरीकी संत दार्शनिक थारो की मशहूर किताब 'दि ड्यूटी आव सिविल डिसओबीडिएन्स' को छपवाकर उसका अंग्रेजी में और भारत की अनेक भाषाओं में खूब प्रचार कराया था। थारो का उपदेश यही था कि स्वयं अहिंसात्मक रहते हुए किसी भी अन्यायी सरकार के कानूनों को भंग करके जेल जाना या मौत का सामना करना हर न्यायप्रेमी का कर्तव्य है। महात्मा गांधी से बहुत पहले यह वाक्य "जो सरकार किसी एक मनुष्य को भी न्याय के विरुद्ध जेलखाने में बंद कर देती है उस सरकार के अधीन हर न्यायप्रेमी मनुष्य के रहने की असली जगह जेलखाना ही है", सारी दुनिया में गूंज चुका था। २०वीं सदी के भारत के असहयोग आंदोलन और सत्याग्रह आंदोलन से पीढ़ियों पहले अमरीका और स्वयं यूरोप के कई देशों में अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के तजरबे हो चुके थे। हम इस स्थान पर उन सब पहले के तजरबों के विस्तार में जाना नहीं चाहते।

महात्मा गांधी के आंदोलन की विशेषता यह थी कि उन्होंने एक इतने विशाल देश में, इतने बड़े पैमाने पर और इतनी शक्तिशाली सत्ता के विरुद्ध इस अहिंसात्मक हथियार का सफल प्रयोग करके दुनिया को दिखला दिया। दुनिया के इतिहास में यह सचमुच एक नई बात थी।

असहयोग का अर्थ बिलकुल साफ और सीधा है। इसमें तीन बातें हैं। पहली यह कि किसी देश के लोग दूसरे देश के लोगों पर बिना शासित देश के लोगों की सहायता और उनके सहयोग के शासन नहीं कर सकते, दूसरे यह कि किसी भी अन्याय, आक्रमण, कुशासन या बुराई के साथ सहयोग करना यानी उसे मदद देना गुनाह है, तीसरी और अंतिम बात यह कि यदि किसी शासित देश के लोग विदेशी सरकार के साथ सहयोग करना बिलकुल बंद कर दें और इस असहयोग की सजा में हर तरह के कष्ट भोगने को तैयार हो जायं तो कोई विदेशी सरकार उस देश पर देर तक शासन नहीं कर सकती। महात्मा गांधी के इस अनुपम आंदोलन ने करोड़ों भारतवासियों के अंदर वह जागृति, साहस, निर्भीकता, त्यागभावना, एकता और वह नई जान फूंक दी जिससे इस देश में विदेशी शासन का चल सकना सर्वथा असंभव हो गया और जिससे विवश होकर अंग्रेजों को, शासकों की हैसियत से, भारत छोड़कर चला जाना पड़ा।

असहयोग को पंजाबी में 'नामिलवर्तन' और उर्दू में 'अदमतआवुन' कहते थे। संभव है भारत की किसी और भाषा में उसका कोई और नाम भी रखा गया हो, पर असहयोग नाम सारे भारत में प्रचलित था और अब तक है।

असहयोग आंदोलन शुरू होने से पहले देश की आजादी चाहनेवालों में मुख्यतः दो विचारों के लोग थे। एक वह जो केवल अर्जी परचों के जरिए अंग्रेज सरकार की कृपा से धीरे धीरे राजनीतिक उन्नति करने की आशा करते थे और दूसरे वह जो हिंसात्मक क्रांति का रास्ता ढूंढ़ते थे। दोनों के अपने अपने प्रयत्न भी चल रहे थे। उनपर विचार करने की हमें यहाँ आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक स्वाधीनताप्राप्ति का संबंध है, इन दोनों उपायों की निष्फलता साबित हो चुकी है। पहले महायुद्ध (१९१४-१८) ने देशवासियों के अंदर स्वाधीनता की प्यास को और अधिक बढ़ा दिया था। अंग्रेज शासक भी दमन के नए नए हथियार तैयार कर रहे थे। उस अपूर्व संकट के समय महात्मा गांधी के शांतिमय असहयोग कार्यक्रम ने भारत की सारी जनता के दिलों में एक नया उत्साह, नई उमंग और आशा की नई जोत जगा दी।

गांधी जी के असहयोग कार्यक्रम के मुख्य अंग ये थे (१) स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार, (२) सरकारी नौकरी का बहिष्कार, (३) सरकारी अदालतों का बहिष्कार, (४) सरकारी खिताबों का बहिष्कार और (५) सरकार की उस समय की कौंसिलों या धारासभाओं का बहिष्कार। इन्हीं को गांधी जी पंचबहिष्कार कहा करते थे। गांधी जी का कहना था कि विदेशी सरकार स्कूलों और कालेजों की गलत तालीम के जरिए देश के बालकों में देशाभिमान को घटाती और एक दूसरे से द्वेष को बढ़ाती है, इन्हीं स्कूलों और कालेजों में वह विदेशी शासन के लिये कर्मचारी यानी उपयोगी यंत्र गढ़कर तैयार करती है। सरकारी स्कूलों और कालेजों को वह 'गुलामखाने' कहा करते थे। विदेशी सरकार की नौकरी को वह पाप कहते थे। विदेशी अदालतों को वह देशवासियों के चरित्र को गिराने, उन्हें मिटाने और उनमें फूट डालने का एक बहुत बड़ा साधन मानते थे। विदेशी सरकार के खिताब स्वीकार करने को वह देशाभिमान के विरुद्ध बताते थे और उस जमाने में जिस तरह की कौंसिलें अंग्रेजों ने बना रखी थीं उन्हें वह जनता के हित में सर्वथा निरर्थक और आम जनता तथा पढ़े लिखे नेताओं के बीच की खाई को बढ़ानेवाली मानते थे। पंचबहिष्कार के लिये यही उनकी खास दलीलें थीं।

इस असहयोग का ही एक और छठा अंग था, विदेशों की बनी हुई चीजों का बहिष्कार और गांवों की बनी चीजों, विशेषकर हाथ के कते सूत की हाथ की बुनी खद्दर का उपयोग। गांधी जी का कहना था कि अंग्रेज व्यापार

द्वारा धन कमाने के लिये ही दूसरे देशों पर शासन करना चाहते हैं। अगर हम उनके यहाँ की बनी चीजों को खरीदना बंद कर दें तो एक बहुत बड़ा लोभ उनके रास्ते से हट जाय और दूसरों पर हुकूमत करने का उनका उद्देश्य भी एक बड़े दरजे तक जाता रहे। इसीलिये चरखे को गांधी जी स्वराज्यप्राप्ति की कुंजी मानते थे। जिन करोड़ों देशवासियों की जीविका विदेशियों ने अपने व्यापार द्वारा नष्ट कर दी थी उन्हें फिर से जीविका प्रदान करने और उनके घरों में खुशहाली लाने का उनके अनुसार यही एकमात्र साधन था। गांधी जी इसे बहुत अधिक महत्व देते थे और अपने असहयोग कार्यक्रम का एक अंग मानते थे। पर साथ ही वह इस प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक देखते थे और अंग्रेजी माल और दूसरे विदेशी माल में कोई फरक करना भी नहीं चाहते थे। खद्दर और ग्रामोद्योग का प्रश्न उनके लिये एक स्थायी प्रश्न था। इसीलिये उसे असहयोग के 'पंचबहिष्कारों' में शामिल नहीं किया जाता।

अपने इस कार्यक्रम को देश भर में फैलाने के लिये गांधी जी ने सारे देश का दौरा किया। उनके व्याख्यानों से सारे देश में एक बिजली सी दौड़ गई। सैकड़ों और हजारों उपदेशक गली गली और गाँव गाँव जाकर उनके उपदेशों और उनके सिद्धांतों का प्रचार करने लगे। देश भर में लाखों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों से निकलकर स्वाधीनता आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। जगह जगह अनेक राष्ट्रीय विद्यालय भी खुल गए। जो नौजवान देश के आंदोलन में भाग लेना चाहते थे उनकी तैयारी के लिये जगह जगह 'आश्रम' खोले गए। हजारों ने सरकारी नौकरियों से इस्तीफा दे दिया। सरकारी अदालतों की जगह देश भर में हजारों आजाद पंचायतें कायम हो गई। अनगिनत लोगों ने अपने खिताब वापिस कर दिए, जिनमें विशेष उल्लेखनीय कविसम्राट् श्री रवींद्रनाथ ठाकुर का अपनी 'सर' की उपाधि वापस करना थी। अनेक देशभक्तों ने सरकारी कौंसिलों में जाने से इनकार किया। देश के विस्तार और उसकी विशालता को देखते हुए गांधी जी का असहयोग कार्यक्रम केवल एक बहुत थोड़े अंश में ही सफल हो सका। फिर भी वह इतना सफल अवश्य हुआ कि कलकत्ते में ब्रिटिश सरकार के सबसे बड़े प्रतिनिधि अंग्रेज वायसराय ने खुले शब्दों में स्वीकार किया कि

"गांधी जी के कार्यक्रम की सफलता में एक इंच की ही कसर रह गई थी। मैं हैरान था, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था।"

दमनचक्र जोरों के साथ चलना शुरू हुआ। गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए। लाखों कार्यकर्ता जेलों में डाल दिए गए। हिंदू मुसलमानों को लड़ाने के विधिवत् प्रयत्न किए गए। जगह जगह हिंदू मुसलमान दंगे कराए गए। स्वाधीनता का आंदोलन एक बार कुछ दबता दिखाई दिया, पर फिर उसने जोर पकड़ा। गांधी जी के नेतृत्व में उसने नए रूप धारण करने शुरू किए। गांधी जी के जेल में रहते हुए ही जबलपुर और नागपुर में झंडा सत्याग्रह हुआ, जिसमें उनके बनाए तिरंगे राष्ट्रीय झंडे के मान की रक्षा के लिये १,६०० से ऊपर आदमी जेल गए और अंग्रेज सरकार को उस मामले में सोलह आने हार माननी पड़ी। गांधी जी के आने के बाद सुप्रसिद्ध 'नमक सत्याग्रह' हुआ। देश भर में लाखों आदमियों ने अंग्रेज सरकार का नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह में हिस्सा लिया और लाखों ही जेल गए। राजद्रोह के कानून को तोड़कर खुले आम इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन और प्रचार किया गया जो देशभक्ति के भावों से भरी हुई थीं, पर जिन्हें सरकार ने राजद्रोह कहकर जब्त कर लिया था। और भी तरह तरह के न्यायविरुद्ध कानून तोड़े गए। दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो गांधी जी की आज्ञा से यह आवाज सारे देश में गूँज गई कि 'अंग्रेजों को इस युद्ध में किसी तरह की सहायता मत दो।' कुछ दिनों बाद आवाज उठी "अंग्रेजो, भारत छोड़ो"। जगह जगह अंग्रेज सरकार को लगान न देने तक का आंदोलन चला। ध्यान से देखा जाय तो ये सब तरह तरह के 'सत्याग्रह' आंदोलन अहिंसात्मक असहयोग के ही विविध रूप थे।

गांधी जी 'अहिंसात्मक असहयोग' में 'सहयोग' शब्द से कहीं अधिक जोर 'अहिंसा' शब्द पर देते थे। ध्येय की अपेक्षा वह साधनों की पवित्रता को अधिक महत्व देते थे। सारे कार्यक्रम में उनकी सबसे बड़ी शर्त यह थी कि किसी अंग्रेज मर्द, औरत या बच्चे की जान या उसके माल को किसी तरह का भी नुकसान न पहुँचने पाए। यह शर्त उनकी इतनी बड़ी थी कि शुरू के असहयोग आंदोलन के दिनों में चौरीचौरा (उत्तर प्रदेश) में जब कुछ लोगों ने पुलिस चौकी को आग लगा दी और कुछ पुलिसवालों को मार डाला तो गांधी जी ने सारे देश के अंदर अपने आंदोलन को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया और जनता की उस गलती का प्रायश्चित्त स्वयं किया। शासकों के साथ सहयोग करने में उनकी साफ हिदायत थी कि किसी बीमार की सेवा शुश्रूषा करने में, किसी अंग्रेज स्त्री के बच्चा पैदा होने की सूरत में उसको आवश्यक सहायता करने में कहीं किसी तरह की कमी न की जाय। उनकी कोई कोई बात मामूली आदमी की समझ से ऊपर होती थी। उदाहरण के लिये, दूसरे महायुद्ध के दिनों में, जब उन्होंने "अंग्रेजों को युद्ध में किसी तरह की मदद मत दो" की आवाज उठाई, उन्हीं दिनों उनकी यह भी हिदायत हुई कि अगर फौज के अंदर सिपाहियों को सर्दी के कारण कंबलों की आवश्यकता हो तो उन्हें कंबल देना हमारा फर्ज है। उनका कहना था कि अगर मैं घोड़ों की नाल लगाने का काम करता हूँ और फौज के घोड़े पास से जा रहे हों और उनकी नालें टूट गई हों तो मेरा धर्म है कि उनकी नालें लगा दूँ ताकि उनके पैर जख्मी न होने पाएँ। वह केवल उन कानूनों को तोड़ने की इजाजत देते थे जो न्याय और जनहित के विरुद्ध थे। सारे आंदोलन में दृढ़ता और आत्मबलिदान के साथ साथ अहिंसा, मानवता और सहृदयता उनके हर कार्यक्रम में साथ साथ चलती थी। देश की आम जनता पर कम से कम कुछ समय के लिये इसका गहरा प्रभाव पड़ा, उदाहरण के लिये, पेशावर के सरहदी पठानों पर। एक बार फौजी अंग्रेज अफसर ने एक जुलूस को आगे बढ़ने से रोक दिया। जुलूस निहत्थी जनता का था। उसमें औरतें भी थीं, जिनमें से बहुतों की गोद में बच्चे थे। जुलूस ने पीछे हटने से इनकार कर दिया। फौजी गोरों ने बंदूकें तानकर उन्हें मार डालने की धमकी दी। दस दस करके निहत्थे पठानों के जत्थे आगे बढ़ने गए और सब अपनी छातियों पर गोलियाँ खाते गए। जब दस की लाशें हटा दी जाती थीं तब दस और बढ़ते थे और वहीं गोली खाकर गिर पड़ते थे। यहाँ तक कि पूरी ४०० लाशें, जिनमें बहुत सी गोद में बच्चा लिए औरतों की थीं, एक ही स्थान पर गिरीं और अंग्रेज फौजी अफसर को घबराकर अपना हुक्म वापस लेना पड़ा। पठान जनता में से न किसी आदमी का हाथ ऊपर उठा और न किसी के पैर पीछे हटे। इसी तरह के दृश्य देश के और अनेक भागों में भी दिखाई पड़े। गांधी जी के अनुयायियों में अहिंसा की दृष्टि से यदि किसी एक सबसे बड़े और सबसे पक्के अनुयायी का नाम लिया जा सकता है तो वह 'सरहदी गांधी' खान अब्दुल गफ्फार खाँ का।

अंत में इतना कह देना जरूरी है कि महात्मा गांधी के इस अनोखे आंदोलन ने देश की करोड़ों जनता के अंदर वह दृढ़ता, निर्भीकता, उमंग और संकल्पशक्ति पैदा कर दी कि उसी के फलस्वरूप १५ अगस्त, सन् १९४७ की आधी रात को बिना रक्तपात के हिंदुस्तान की हुकूमत अंग्रेजों के हाथों से निकलकर बाजाब्ता देशवासियों के हाथों में आ गई।

सं०ग्रं०—महात्मा गांधी : एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ, हिंद स्वराज्य, नान वायलेंस इन पीस ऐंड वार (२ खंड), सत्याग्रह, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, अंटू दिस लास्ट, राजेंद्रप्रसाद : सत्याग्रह इन चंपारन, महादेव देसाई की डायरी (३ भाग), दि स्टोरी ऑव बारडोली, आर० बी० ग्रेग : ए डिसिप्लिन फॉर नान वायलेंस, प्यारेलाल : गांधियन टेकनीक्स इन दि मॉडर्न वर्ल्ड, विनयगोपाल राय : गांधियन एथिक्स, नॉन कोआपरेशन इन अदर लैंड्स, आत्मकथा (गांधी जी, हिंदी), गोखले : मेरे राजनीतिक गुरु गांधी जी। (सु० ला०)

असामान्य मनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक शाखा, जो मनुष्यों के असाधारण व्यवहारों, विचारों, ज्ञान, भावनाओं और क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करती है। असामान्य या असाधारण व्यवहार वह है जो सामान्य या साधारण व्यवहार से भिन्न हो। साधारण व्यवहार वह है जो बहुधा देखा जाता है और जिसको देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता और न उसके लिये कोई चिंता ही होती है। वैसे तो सभी मनुष्यों के व्यवहार में कुछ न कुछ विशेषता और भिन्नता होती है जो एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न बतलाती है, फिर भी जबतक वह विशेषता अति अद्भुत न हो, कोई उससे उद्विग्न नहीं होता, उसकी ओर किसी का विशेष ध्यान

नही जाता। पर जब किसी व्यक्ति का व्यवहार, ज्ञान, भावना या क्रिया दूसरे व्यक्तियो से विशेष मात्रा और विशेष प्रकार से भिन्न हो और इतना भिन्न हो कि दूसरे लोगो को वह विचित्र सी जान पडे तो उस क्रिया या व्यवहार को असामान्य या असाधारण कहते हैं। असामान्य मनोविज्ञान के कई प्रकार होते हैं

(१) अभावात्मक, जिसमे किसी ऐसे व्यवहार, ज्ञान, भावना और क्रिया में से किसी का अभाव पाया जाय जो साधारण या सामान्य मनुष्यो मे पाया जाता हो। जैसे किसी व्यक्ति मे किसी प्रकार के इद्रियज्ञान का अभाव, अथवा कामप्रवृत्ति अथवा क्रियाशक्ति का अभाव।

(२) किसी विशेष शक्ति, ज्ञान, भाव या क्रिया का ह्रास या मात्रा की कमी।

(३) किसी विशेष शक्ति, ज्ञान, भाव या क्रिया की अधिकता या मात्रा मे वृद्धि।

(४) असाधारण व्यवहार न इतना भिन्न व्यवहार कि वह अनोखा और आश्चर्यजनक जान पडे। उदाहरणार्थ कह सकते है कि साधारण कामप्रवृत्ति के असामान्य रूप का भाव, कामह्रास, कामाधिक्य और विकृत काम हो सकते है।

किसी प्रकार की असामान्यता हो तो केवल उसी व्यक्ति को कष्ट और दुःख नही होता जिसमे वह असामान्यता पाई जाती है, बल्कि समाज के लिये भी वह कष्टप्रद होकर एक समस्या बन जाती है। अतएव समाज के लिये असामान्यता एक बडी समस्या है। कहा जाता है कि सयुक्त राज्य, अमरीका मे १० प्रति शत व्यक्ति असामान्य है, इसी कारण वहाँ का समाज समृद्ध और सब प्रकार से सपन्न होना हुआ भी सुखी नही कहा जा सकता।

कुछ असामान्यताएँ तो ऐसी होती है कि उनके कारण किसी की विशेष हानि नही होती, वे केवल आश्चर्य और कौतूहल का विषय होती है, किंतु कुछ असामान्यताएँ ऐसी होती है जिनके कारण व्यक्ति का अपना जीवन दुःखी, असफल और असमर्थ हो जाता है, पर उनसे दूसरों को विशेष कष्ट और हानि नही होती। उनको साधारण मानसिक रोग कहते है। जब मानसिक रोग इस प्रकार का हो जाय कि उससे दूसरे व्यक्तियो को भय, दुःख, कष्ट और हानि होने लगे तो उसे पागलपन कहते है। पागलपन की मात्रा जब अधिक हो जाती है तो उस व्यक्ति को पागलखाने मे रखा जाता है, ताकि वह स्वतत्र रहकर दूसरो के लिये कष्टप्रद और हानिकारक न हो जाय।

उस समय और उन देशो मे जब और जहाँ मनोविज्ञान का अधिक ज्ञान नही था, मनोरोगी और पागलो के सबध मे यह मिथ्या धारणा थी कि उनपर भूत, पिशाच या शैतान का प्रभाव पड गया है और वे उनमे से किसी के वश मे होकर असामान्य व्यवहार करते है। उनको ठीक करने के लिये पूजा पाठ, मत्र तत्र और यत्र आदि का प्रयोग होता था अथवा उनको बहुत मार पीटकर उनके शरीर से भूत पिशाच या शैतान भगाया जाता था।

आधुनिक समय मे मनोविज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि अब मनोरोग, पागलपन और मनुष्य के असामान्य व्यवहार के कारण, स्वरूप और उपचार को बहुत लोग जान गए है।

असामान्य मनोविज्ञान मे इन विषयों की विशेष रूप से चर्चा होती है .

(१) असामान्यता का स्वरूप और उसकी पहचान।

(२) साधारण मानवीय ज्ञान, क्रियाओ, भावनाओ और व्यक्तित्व तथा सामाजिक व्यवहार के अनेक प्रकारो मे अभावात्मक विकृतियों के स्वरूप, लक्षण और कारणो का अध्ययन।

(३) ऐसे मनोरोग जिनमे अनेक प्रकार की मनोविकृतियाँ उनके लक्षणों के रूप मे पाई जाती है। इनके होने से व्यक्ति के आचार और व्यवहार मे कुछ विचित्रता आ जाती है, पर वह सर्वथा निकम्मा और अयोग्य नही हो जाता। इनको साधारण मनोरोग कह सकते है। ऐसे किसी रोग मे मन मे कोई विचार बहुत दृढता के साथ बैठ जाता है और हटाए नहीं हटता। यदा कदा और अनिवार्य रूप से वह रोगी के मन मे आता रहता है। किसी मे किसी असामान्य विचित्र और अकारण विशेष भय का यदा कदा और अनिवार्य रूप से अनुभव होता रहता है। जिन वस्तुओ से साधारण मनुष्य नहीं डरते, मानसिक रोगी उनसे भयभीत होता है। कुछ लोग किसी विशेष प्रकार की क्रिया को करने के लिये, जिसकी उनको किसी प्रकार की आवश्यकता नही, अपने अदर से इतने अधिक प्रेरित और बाध्य हो जाते है कि उन्हे किए बिना उनको चैन नही पडती।

(४) असामान्य व्यक्तित्व जिसकी अभिव्यक्ति नाना प्रकार के उन्मादो (हिस्टीरिया) मे होती है। इस रोग मे व्यक्ति के स्वभाव, विचारो, भावो और क्रियाओ मे स्थिरता, सामजस्य और परिस्थितियों के प्रति अनुकूलता का अभाव, व्यक्तित्व के गठन की कमी और अपनी ही क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ पर अपने नियत्रण का ह्रास हो जाता है। द्विव्यक्तित्व अथवा व्यक्तित्व की तब्दीली, निद्रावस्था मे उठकर चलना फिरना, अपने नाम, वश और नगर का विस्मरण होकर दूसरे नाम आदि का ग्रहण कर लेना इत्यादि बाते हो जाती है। इस रोग का रोगी, अकारण ही कभी रोने, हँसने, बोलने लगता है, कभी चुप्पी साध लेता है। शरीर मे नाना प्रकार की पीडाओ और इद्रियों मे नाना प्रकार के ज्ञान का अभाव अनुभव करता है। न वह स्वय सुखी रहता है और न कुटुब के लोगो को सुखी रहने देता है।

(५) भयकर मानसिक रोग, जिनके हो जाने से मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन निकम्मा, असफल और दुःखी हो जाता है और समाज के प्रति वह व्यर्थ भाररूप और भयानक हो जाता है, उसको और लोगो से अलग रखने की आवश्यकता पडती है। इस कोटि मे ये तीन रोग आते है

(अ) उत्साह-विषाद-मय पागलपन—इस रोग मे व्यक्ति को एक समय विशेष शक्ति और उत्साह का अनुभव होता है जिस कारण उसमे असामान्य स्फूर्ति, चपलता, बहुभाषिता, क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति होती है और दूसरे समय इसके विपरीत अशक्तता, खिन्नता, ग्लानि, चुप्पी, आलस्य और नाना प्रकार की मनोवेदनाओ का अनुभव होता है। पूर्व अवस्था मे व्यक्ति जितना निरर्थक प्रतिकायशील होता है उतना ही दूसरी अवस्था मे उत्साहहीन और आलसी हो जाता है। उसके लिये हाथ पैर उठाना और खाना पीना भी कठिन हो जाता है।

(आ) स्थिर भ्रमात्मक पागलपन—इस रोगवाले व्यक्ति के मन मे कोई ऐसा भ्रम स्थिरता और दृढता के साथ बैठ जाता है जो सर्वथा निर्मूल होता है, ऐसा असत्य होता है, किंतु उसे वह सत्य और वास्तविक समझता है। उसके जीवन का समस्त व्यवहार इस मिथ्या भ्रम से प्रेरित होता है अतएव दूसरे लोगो को आश्चर्यजनक जान पडता है। बहुधा दूसरों के लिये वह कष्टकारक और घातक भी हो जाता है। यह भ्रम बहुधा किसी प्रकार के बडप्पन से सबध रखता है जो वास्तव मे उस व्यक्ति मे नही होता। जैसे, कोई बहुत साधारण या पिछडा हुआ व्यक्ति अपने को बहुत बडा विद्वान, आविष्कारक, सुधारक, पैगबर, धनवान, समृद्ध भाग्यवान, सर्वस्वी, वल्लभ, भगवान् का अवतार, चक्रवर्ती राजा समझकर लोगों से उस प्रकार के व्यक्तित्व के प्रति जो आदर और समान होना चाहिए उसकी आशा करता है। ससार के लोग जब उसकी आशा पूरी करते नहीं दिखाई देते तो ऐसे व्यक्ति के मन मे इस परिस्थिति का समाधान करने के लिये एक दूसरा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वह सोचता है कि चूँकि वह अत्यत महान् और उत्कृष्ट व्यक्ति है इसलिये दुनिया उससे जलती और उसका निरादर करती है तथा उसको दुःख और यातना देने एव मारने को उद्यत रहती है। बडप्पन का और यातना का दोनो भ्रम एक दूसरे के पोषक होकर ऐसे व्यक्ति के व्यवहार को दूसरे लोगो के लिये रहस्यमय और भयप्रद बना देते है।

(इ) मनोह्रास, व्यक्तित्वप्रणाश या आत्मनाश रोग मे पागलपन की पराकाष्ठा हो जाती है। व्यक्ति का व्यक्तित्व सर्वथा नष्ट होकर उसके विचारो, भावनाओ और कामो मे किसी प्रकार का सामजस्य, ऐक्य, परिस्थिति अनुकूलता, औचित्य और दृढता नही रहती। अपनी किसी क्रिया, भावना या विचार पर उसका नियत्रण नहीं रहता। देश, काल और परिस्थिति का ज्ञान लुप्त हो जाता है। उसकी सभी बाते असगंल और दूसरो की समझ मे न आनेवाली होती है। वह व्यक्ति न अपने किसी काम का रहता है, न दूसरो के कुछ काम आ सकता है। ऐसे पागल सब कुछ खा लेते है, जो जी में आता है, बकते रहते है और जो कुछ मन मे आता है, कर डालते हैं। न उन्हें लज्जा रहती है और न भय। विवेक का तो प्रश्न ही नही उठता।

(६) अति उच्च प्रतिभाशाली और जन्मजात न्यून प्रतिभावाले व्यक्तियों का अध्ययन भी असामान्य मनोविज्ञान करता है। यद्यपि यह विश्वास बहुत पुराना है (द्र० 'उत्तररामचरित') कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा की मात्रा भिन्न होती है, तथापि कुछ दिनों से पाश्चात्य देशों में मनुष्य की प्रतिभा की मात्रा की भिन्नता (न्यूनता, सामान्यता और अधिकता) को निर्धारित करने की रीति का आविष्कार हो गया है। यदि सामान्य मनुष्य की प्रतिभा की मात्रा की कल्पना १०० की जाय तो संसार में २० से लेकर २०० मात्रा की प्रतिभावाले व्यक्ति पाए जाते हैं। इनमें से ९० से ११० तक की मात्रावालों को साधारण, ९० से कम मात्रावालों को निम्न और ११० से अधिक मात्रावालों को उच्च श्रेणी की प्रतिभावाले व्यक्ति कहना होगा। अतिनिम्न, निम्न और ईषत् निम्न तथा अति उच्च, उच्च और ईषत् उच्च मात्रावाले भी बहुत व्यक्ति मिलेंगे। इन विशेष प्रकार की प्रतिभावालों के ज्ञान, भाव और क्रियाओं का अध्ययन भी असामान्य मनोविज्ञान करता है।

(७) असामान्य मनोविज्ञान जाग्रत अवस्था से भिन्न स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि, मूर्छा, संमोहित निद्रा, निद्राहीनता और निद्राभ्रमण आदि अवस्थाओं को भी समझने का प्रयत्न करता है और यह जानना चाहता है कि जाग्रत अवस्था से इनका क्या संबंध है।

(८) मनुष्य के साधारण जाग्रत व्यवहार में भी कुछ ऐसी विचित्र और आकस्मिक घटनाएँ होती रहती हैं जिनके कारण का ज्ञान नहीं होता और जिनपर उनके करनेवालों को स्वयं विस्मय होता है। जैसे, किसी के मुँह से कुछ अद्वितीय, अवांछित और अनुपयुक्त शब्दों का निकल पड़ना, कुछ अनुचित बातें कलम से लिख जाना, जिनके करने का इरादा न होते हुए और जिनको करके पछतावा होता है, ऐसे कामों को कर डालना। इस प्रकार की घटनाओं का भी असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन करता है।

(९) अपराधियों और विशेषत उन अपराधियों की मनोवृत्तियों का भी असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन करता है जो मन की दुर्बलताओं और मानसिक रुग्णता के कारण एवं अपने अज्ञात मन की प्रेरणाओं और इच्छाओं के कारण अपराध करते हैं।

उपर्युक्त विषयों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना असामान्य मनोविज्ञान का काम है, इसपर कोई मतभेद नहीं है, पर इस विज्ञान में इस विषय पर बड़ा मतभेद है कि इन असामान्य और असाधारण घटनाओं के कारण क्या हैं। यह तो सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि मनोविकृतियों की उत्पत्ति के कारणों में भूत पिशाच, शैतान आदि के प्रभाव का मानना अनावश्यक और अवैज्ञानिक है। उनके कारण तो शरीर, मन और सामाजिक परिस्थितियों में ही ढूँढने होंगे। इस संबंध में अनेक मत प्रचलित होते हुए भी तीन मतों को प्रधानता दी जा सकती है और उनमें समन्वय भी किया जा सकता है। वे ये हैं

(१) शारीरिक तत्वों का रासायनिक ह्रास अथवा अतिवृद्धि। विषैले रासायनिक तत्वों का प्रवेश या अतिउत्पादन और शारीरिक अंगों तथा अवयवों की, विशेषत मस्तिष्क और स्नायुओं की, विकृति अथवा विनाश।

(२) सामाजिक परिस्थितियों की अत्यंत प्रतिकूलता और उनमें व्यक्ति के ऊपर अनुपयुक्त दबाव तथा उनके द्वारा व्यक्ति की पराजय। बाहरी आघात और साधनहीनता।

(३) अज्ञात और गुप्त मानसिक वासनाएँ, प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ जिनका ज्ञात मन के ऊपर अज्ञात रूप से प्रभाव डालना है। इस दिशा में खोज करने में फ्रायड, एडलर और युंग ने बहुत कार्य किया है और उनकी बहुमूल्य खोजों के आधार पर बहुत से मानसिक रोगों का उपचार भी हो जाता है।

मानसिक असामान्यताओं और रोगों का उपचार भी असामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत होता है।

रोगों के कारणों के अध्ययन के आधार पर ही अनेक प्रकार के उपचारों का निर्माण होता है। उनमें प्रधान ये हैं

(१) रासायनिक कमी की पूर्ति।
(२) संमोहन द्वारा निर्देश देकर व्यक्ति की सुप्त शक्तियों का उद्बोधन।
(३) मनोविश्लेषण, जिसके द्वारा अज्ञात मन में निहित कारणों का ज्ञान प्राप्त करके उनको दूर किया जाता है।
(४) मस्तिष्क की शल्यचिकित्सा।
(५) पुन शिक्षण द्वारा बालकपन में बने हुए अनुपयुक्त स्वभावों को बदलकर दूसरे स्वभावों और प्रतिक्रियाओं का निर्माण इत्यादि।

अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग मानसिक चिकित्सा में किया जाता है।

सं० ग्रं०—कोलमन प्रिंसिपल्स ऑव ऐबनार्मल साइकोलॉजी, ब्राउन साइकोडायनमिक्स ऑव ऐबनार्मल बिहेवियर, फिशर ऐबनार्मल साइकोलॉजी, पेज ऐबनार्मल साइकोलॉजी, हार्ट साइकोलॉजी ऑव इमैनिटी, मर्फी ऐन आउटलाइन ऑव ऐबनार्मल साइकोलॉजी। (भी० ला० आ०)

असिक्रीड़ा पहले जब तलवार से लड़ाई हुआ करती थी तब सभी योद्धाओं में तलवार से लड़ सकने की योग्यता आवश्यक थी। अब तलवार की नकली लड़ाई ही रह गई है जो भारत में मुहर्रम आदि त्योहारों पर दिखाई पड़ती है, परंतु विदेशों में यह नकली लड़ाई भी बढ़िया खेल के रूप में परिवर्तित हो गई है, जिसे अंग्रेजी में फेंसिंग कहते हैं। यह शब्द वस्तुत अंग्रेजी 'डिफेंस' से निकला है, जिसका अर्थ है रक्षा। पहले दो व्यक्तियों में गहरा मनमुटाव हो जाने पर न्याय के लिये वे इस विचार से तलवार से लड़ पड़ते थे कि ईश्वर उसकी रक्षा करेगा जिसके पक्ष में धर्म है। इस प्रकार का द्वंद्वयुद्ध (डुएल) तभी समाप्त होता था जब एक को घातक चोट लग जाती थी। परंतु प्राय सभी देशों की सरकारों ने द्वंद्वयुद्ध को दंडनीय अपराध घोषित कर दिया। इसलिये फेंसिंग में लड़ने की रीतियाँ तो वे ही रह गई जो द्वंद्वयुद्ध में प्रयुक्त होती थीं, परंतु अब प्रतिद्वंद्वी को असि (तलवार) से छू भर देना पर्याप्त समझा जाता है। प्रतिद्वंद्वी को असि से छू दिया जाय और स्वयं उसकी असि से बचा जाय, फेंसिंग का कुल खेल इतना ही है। इन दिनों भी फेंसिंग बहुत अच्छा खेल समझा जाता है और **ओलिंपिक** खेलों में (उसे देखें) फेंसिंग प्रतियोगिता अवश्य होती है।

फेंसिंग में तीन तरह के यंत्रों का प्रयोग होता है। प्रत्येक की प्रतिद्वंद्विता अलग अलग होती है, और इनसे खेलने का ढंग भी बहुत कुछ भिन्न होता है। प्रत्येक शस्त्र के लिये अलग शिक्षा लेनी पड़ती है और अभ्यास करना पड़ता है। इन यंत्रों के नाम हैं फ्वायल (फॉयल), एप ([illegible]) और सेबर। फ्वायल किरच की तरह का यंत्र है जिसका फल पतला, लचीला और ३४ इंच लंबा होता है। कुल तौल दो छटाँक होती है। यह कोंचने का यंत्र है, परंतु प्रतियोगिताओं में नोक पर बटन लगा दिया जाता है, जिसमें प्रतिद्वंद्वी घायल न हो। खेल में चकमा देना (निशाना कहीं और का लगाना तथा मारना कहीं और), विद्युद्गति से अचानक मारना, बचाव और प्रत्युत्तर (रिपोस्ट, ऐसी चाल कि प्रतिद्वंद्वी का वार खाली जाय और अपना उसे लग जाय) ये ही विशेष दाव हैं। इस खेल में बड़ी फुरती और हाथ पैर का ठीक ठीक साथ चलाना इन्हीं दोनों की विशेष आवश्यकता रहती है, बल की नहीं। इसलिये इस खेल में स्त्रियाँ भी मर्दों को हराती देखी गई हैं। फ्वायल की नोक प्रतिद्वंद्वी को चौंवक लगनी चाहिए। केवल धड़ पर चोट की जा सकती है। पाँच बार छू जाने पर व्यक्ति हार जाता है (स्त्रियों की प्रतियोगिता में चार बार पर्याप्त है)।

एप (ए ह्रस्व, पे दीर्घ) तिकोना होता है, फ्वायल से भारी होता है और इसका मुष्टिकासंरक्षक बड़ा होता है। इसकी नोकवाले बटन पर लाल रंग में डुबाई हुई मोम की कीलें लगी रहती हैं जिनके लगते ही कपड़ा रँग जाता है। इससे निर्णायकों को सुगमता होती है। प्रतिद्वंद्वियों का श्वेत वस्त्र धारण करना अनिवार्य होता है। अब बहुधा एप में विद्युत् तार लगा रहता है जिससे प्रतिद्वंद्वी के छू जाने पर घंटी बजती है और बत्ती जलती है, धड़, हाथ, पैर, सिर कहीं भी चोट की जा सकती है। तीन बार चोट खाने पर व्यक्ति हार जाता है।

सेबर तलवार की तरह होता है। इससे कोचते भी हैं, काटते भी हैं। यह फ़्वायल से थोड़ा ही अधिक भारी होता है। इससे सिर, भुजाओं और

असिक्रीड़ा (फ़ेंसिंग)

चौकन्ना खड़ा होना।
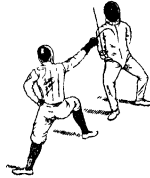
वह मारा !

यह सेबर की लड़ाई है। दाहिनी ओर के प्रतिद्वंद्वी ने अपने सेबर का प्रयोग करके अपने को बचाना चाहा, परंतु बचा न सका।
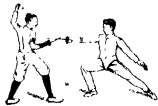
साफ बचा !

बाईं ओर के प्रतिद्वंद्वी ने अपने को बचा तो लिया, परंतु प्रत्युत्तर न दे सका।

प्रत्युत्तर

बाईं ओर के खिलाड़ी ने अपने को बचा ही नहीं लिया, बचाने के साथ साथ प्रतिद्वंद्वी को मार भी दिया

धड़ पर चोट की जा सकती है। जो व्यक्ति पाँच बार प्रतिद्वंद्वी को पहले मार दे वह जीतता है, चाहे कोचकर मारे, चाहे काटने की चाल से। इसका खेल अधिक दर्शनीय होता है। (श्री० गो० ति०)

असित (१) महर्षि कण्व के आश्रम में दुष्यंत और शकुंतला के प्रेमविवाह से उत्पन्न पुत्र जो भरत के नाम से विख्यात है। असित, सर्वदमन और भरत दो पति इनके अप्रचलित नाम हैं। इनके भरत नाम पर ही इस देश का नाम भारत पड़ा।

(२) असित काश्यप अथवा असित देवल—एक सूक्तद्रष्टा। काश्यप का पुत्र तथा हिमालय की कन्या एकपर्णा का पति। (म०)

असीरिया इराक की दजला (टाइग्रिस) और फरात (यूफ़ेटीज़) नदियों के बीच में जो भूमि है उसपर, प्राचीन काल में, दो राज्य, असीरिया तथा बैबिलोनिया थे। पश्चिम में मध्य मेसोपोटामिया का उजाड़ प्लेटो, पूर्व में कुर्दिस्तान का पहाड़ी भाग, उत्तर में आर्मीनिया तथा दक्षिण में बैबिलोनिया का राज्य असीरिया की सीमाएँ निर्धारित करते थे।

जहाँ असीरिया था वह पर्वतीय तथा पठारी देश है। इसके मध्य में मैदानी भाग तथा कुछ घाटियाँ हैं। जलवायु भूमध्यसागरीय है। यहाँ सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। असीरिया राज्य का विस्तार सीरिया की तरफ अधिक था। जहाँ आज शरकात नगर है, वहीं दजला नदी के पश्चिमी तट पर असुर नगर था जो देश की राजधानी था। निनेवेह नगर असुर से ६० मील उत्तर में स्थित था। कुछ समय के लिये कलाह ८वीं तथा ९वीं शताब्दी में देश की राजधानी था। अरबेला, हरन आदि बहुत से नगर तथा उपनगर देश में थे, जिनके अवशेष अब भी मिलते हैं।

बर्बर आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा अधिक कठिनाइयों का सामना करने के कारण यहाँ के लोग युद्धप्रिय तथा कठोर थे। यहाँ गेहूँ, जौ तथा फल बहुत पैदा होता था। यहाँ की सभ्यता ईसा से २,५०० ई० पू० की मानी जाती है। प्रारंभिक सुमेरी काल के इतिहास में यहाँ की सभ्यता का वर्णन पाया जाता है। यहाँ के नगर सुव्यवस्थित ढंग से बसे हुए थे। जिनमें विनोदस्थल, क्रीडाकेंद्र तथा उद्यान थे। नगरों के चारों तरफ अट्टालकयुक्त चौड़ी दीवारें थीं। (ह० ह० सि०)

असुर १ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में लगभग १०५ बार हुआ है। उसमें ९० स्थानों पर इसका प्रयोग शोभन अर्थ में किया गया है और केवल १५ स्थलों पर यह देवताओं के शत्रु का वाचक है। 'असुर' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्राणवंत, प्राणशक्ति से संपन्न (असुरिति प्राणनामास्त: शरीर भवति, निरुक्त ३।८) और इस प्रकार यह वैदिक देवों के एक सामान्य विशेषण के रूप में व्यवहृत किया गया है। विशेषत यह शब्द इंद्र, मित्र तथा वरुण के साथ प्रयुक्त होकर उनकी एक विशिष्ट शक्ति का द्योतक है। इंद्र के तो यह वैयक्तिक बल का सूचक है, परंतु वरुण के साथ प्रयुक्त होकर यह उनके नैतिक बल अथवा शासनबल का स्पष्टत: संकेत करता है। असुर शब्द इसी उदात्त अर्थ में पारसियों के प्रधान देवता 'अहुरमज्द' ('असुर मेधावी') के नाम से विद्यमान है। यह शब्द उस युग की स्मृति दिलाता है जब वैदिक आर्यों तथा ईरानियों (पारसीकों) के पूर्वज एक ही स्थान पर निवास कर एक ही देवता की उपासना में निरत थे। अनंतर आर्यों की इन दोनों शाखाओं में किसी अज्ञात विरोध के कारण फूट पड़ गई। फलत वैदिक आर्यों ने 'न सुर असुर' यह नवीन व्युत्पत्ति मानकर असुर का प्रयोग दैत्यों के लिये करना आरंभ किया और उधर ईरानियों ने भी देव शब्द का ('द एव' के रूप में) अपने धर्म के दानवों के लिये प्रयोग करना शुरू किया। फलत वैदिक 'वृत्रघ्न' (इंद्र) अवस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' के रूप में एक विशिष्ट दैत्य का वाचक बन गया तथा ईरानियों का 'असुर' शब्द पिप्रु आदि देवविरोधी दानवों के लिये ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ जिन्हें इंद्र ने अपने वज्र से मार डाला था (ऋक्० १०।१३८।३-४)। शतपथ ब्राह्मण (१३।८।२।१) में देव और असुर भ्रातृव्य शत्रु माने गए हैं। इस ब्राह्मण की मान्यता है कि असुर देवदृष्टि से अपभ्रष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं (तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुवन्त पराबभूवु)। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निक में शतपथ के इस वाक्य को उद्धृत किया है। शबर स्वामी ने 'पिक', 'नेम', 'तामरस' आदि शब्दों को असुरी भाषा का शब्द माना है। आर्यों के आठ विवाहों में 'आसुर विवाह' का संबंध असुरों से माना जाता है। पुराणों तथा अवांतर साहित्य में 'असुर' एक स्वर से दैत्यों का ही वाचक माना गया है।

सं०ग्रं०—मैकडॉनेल दि वैदिक माइथालॉजी (स्ट्रासबर्ग, १९१२); कीथ रेलिजन ऐंड फिलासफी आव वेद (प्रथम भाग), हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज़ (ग्रंथसंख्या ३१, १९२५)। (ब० उ०)

असुर २ (अस्सुर, अस्सूर, अस्शुर, अस्शर, अशुर, अशूर) उत्तरपूर्वी इराक में प्राचीन काल में बसनेवाली एक प्रबल विजयिनी सामी जाति, उसकी राजधानी और प्रधान देवता का नाम। अपने समूचे देश की विजय कर असुर जाति ने निकट और दूर के देशों और जातियों पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। उसके अपने देश का नाम ग्रीक और उत्तरवर्ती यूरोपीय साहित्य में असीरिया या अस्सीरिया पड़ा। उसी असुर की पूजा असुर महान् या अहुरमज्द के रूप में प्राचीन ईरानियों ने की। असुर जाति की अपनी धार्मिक परंपरा के अनुसार 'असुर' वह महान् देवता है जिसने पहले स्वयं अपने को सिरजा, पश्चात् चराचर को। संस्कृत (वैदिक) भाषा में भी पहले 'असुर' शब्द की व्युत्पत्ति 'असु प्राण र' शक्तिमान् अर्थ में हुई। बाद में, संभवत आर्यों—मितन्नी और मीदी (ईरानी आर्यों)—से प्राणांतक संघर्ष होने से, इस शब्द का अर्थ बिलकुल विपरीत सुरशत्रु (न सुर इति असुर) होने लगा।

असुरों की राजधानी अस्सुर का उल्लेख बाइबिल (सृष्टि २, १४) में भी हुआ है। यह प्राचीन असूरिया (असीरिया) का प्रधान नगर दजला के पश्चिमी तट पर उसके बड़ी ज़ाब से संगम के ३७ मील नीचे बसा था। हाल की खुदाइयों में इसके भवनों के महत्वपूर्ण खंडहर—समूची इमारतें और सड़कें—शरकत के निकट नदी की प्राचीन तलहटी में निकले हैं। ६०६ ई० पू० में असुरों की इस राजधानी का विध्वंस ईरानी आर्य उन मीदियों ने किया जिनके दारा आदि नामधारी राजाओं ने बाद में वह प्रबल ईरानी साम्राज्य कायम किया जिसकी एक सीमा भारत में पंजाब तक जा पहुँची, दूसरी नील नद और भूमध्यसागर तक, तीसरी दानूब और दक्षिणी रूस तक।

प्राचीन असुर प्रदेश या असूरिया आधुनिक इराक के उत्तरी भाग में दजला नदी के दोनों ओर वर्तमान सीरिया की पूर्वी सीमा और छोटी ज़ाब के बीच फैला हुआ था। स्वयं 'सीरिया' नाम उसी 'असूरिया' का अपभ्रंश है। उस प्राचीन असूरिया के उत्तर में अर्मीनिया (उरार्तु, अरारात पर्वत) और दक्षिण में बाबुल (बाबिलोनिया) थे तथा पूर्व में कुर्दिस्तान के पर्वत और पश्चिम में ह्वाब की मरुभूमि थी। इसकी जलवायु ठंढी थी और बीच की भूमि पर जाड़ों में वर्षा भी पर्याप्त होती थी। पर इसका अधिकतर भाग पहाड़ी और रेतीला होने से निस्संदेह वहाँ आहार की कमी थी।

असुरों की पहली राजधानी, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कलात शरकत के पास अस्सुर था। उसके बाद असुरों के उत्तर-साम्राज्य-काल में राजधानी निनवे आधुनिक कुयुंजिक, प्रायः ६० मील उत्तर, जहाँ उस महान् नगर के भग्नावशेष मिले हैं और जिसका विध्वंस ६१२ ई० पू० में हुआ था, बना। वैसे निनवे नगर का निर्माण अस्सुर से भी पहले हो चुका था। निनवे और अस्सुर दोनों के बीच आधुनिक निमरूद के पास कला था, असुरों की तीसरी राजधानी, उनके नवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० के साम्राज्य-काल की। निनवे के पूर्वोत्तर वर्तमान खोर्साबाद में प्रबल असुर विजेता सारगोन (शर्रुकिन) की राजधानी, उसी के नाम पर, दुरशर्रुकिन था। इन नगरों की खुदाइयों में बड़े महत्व की पुरातात्विक और ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है। असूरिया के नगरों में प्रधान दो और थे, अरबेला (वर्तमान अर्बिल) और हारान। अरबेला सिकंदर और दारा की युद्धभूमि होने से इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है और हारान पश्चिमी ह्वाब (मेसोपोटामिया) में असूरी साम्राज्य का केंद्र, उत्तरकाल में निनवे के ध्वंस के बाद उसकी राजधानी था।

इतिहास—प्राचीन जातियों में आज किसी के इतिहास की सामग्री इतनी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध नहीं जितनी असुरों के इतिहास की प्राप्त है। इस संबंध में असूरी तिथिक्रम की ओर संकेत कर देना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल की किसी सक्रिय जाति ने अपनी विरासत के रूप में उत्तरकालीन जनता के लिये इतने अभिलेख और ऐतिहासिक घटनाओं के वृत्तांत नहीं छोड़े। अति प्राचीन इतिहास के परिणामस्वरूप तब की पुरातात्विक सामग्री और अभिलेख तो हैं ही, १०वीं और सातवीं शताब्दी ई० पू० के मध्यकाल के प्रायः प्रत्येक राजा और राजकर्मचारों की घटनाओं के संबंध में अभिलेख सुरक्षित हैं। ६४० ई० पू० से १०वीं ई० पू० के मध्य तक की प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना की सही तिथि आज इन्हीं अभिलेखों के आधार पर दी जा सकती है। ७वीं शताब्दी ई० पू० के बीच हुए एक ग्रहण की तिथि से विद्वानों ने पिछली सदियों की भी प्रधान घटनाओं की सही तिथियाँ निर्धारित कर ली हैं जिनकी पुष्टि अन्य स्वतंत्र प्रमाणों से भी हो जाती है। इनमें से प्रधान तालेमी द्वारा प्रस्तुत ग्रीक में ज्योतिष संबंधी असूरी राजाओं की सूची है। बाइबिल की पुरानी पोथी के प्रमाण, उसके नबियों के असूरी सम्राटों की रक्तिम विजयों के विपरीत निर्भीक उद्गार उसी दिशा में ऐतिहासिक तथ्य को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार बाबुली और मिस्री सम्राटों के समसामयिक तिथिक्रमों से भी मिलान कर असूरी तिथिक्रम (लिम्मू) की सत्यता परखी जा चुकी है। द्वितीय सहस्राब्दी की १५वीं शताब्दी ई० पू० की घटनाएँ तो तिथिक्रम की दृष्टि से दस वर्ष आगे पीछे की सीमा में बाँधी जा चुकी हैं। खोर्साबाद (दुरशर्रुकिन) के खंडहरों से राजाओं की जो तालिका, उनके शासनवर्षांक के साथ, उपलब्ध हुई है वह द्वितीय सहस्राब्दी के आरंभ तक सही तिथियों की शृंखला प्रस्तुत कर देती है। फिर भी प्राचीनकालीन तिथिक्रम निकटतम मात्रा में ही सही हो सकता है और नीचे का असुर इतिहास उसी संभावित सीमा के साथ दिया जा रहा है।

असुर—इतिहास का विभाजन प्रधानतः दो कालभागों—साम्राज्य-पूर्व और साम्राज्यकाल—में किया जा सकता है। साम्राज्यकाल का प्रारंभ अति प्राचीन काल में ही हो गया था। स्वयं साम्राज्यकाल के तीन युग किए गए हैं—प्राचीन, मध्य और उत्तर युग। पिछली खुदाइयों से विद्वानों ने अनुमान किया है कि ४७५० ई० पू० के लगभग असूरिया में गाँव बस चले थे। शीघ्र बाद ही, पहले चाहे पीछे, भांडों का आयात हुआ, फिर दक्षिण अर्थात् बाबुली दिशा से असुर ग्रामों ने धातु का उपयोग भी सीखा। बाबुली सभ्यता तब से असुर विचारों पर हावी हुई और उसका असूरिया में प्राधान्य अंत तक बना रहा। २३०० ई० पू० के आसपास राजनीतिक दृष्टि से भी असूरिया बाबुल-अक्काद का प्रांत बन गया। लिम्मू अभिलेखों का प्रकाश असुरी तिथिक्रम का प्रायः १८वीं शताब्दी ई० पू० मिलता है। वैसे खोर्साबाद की राजसूची के ३२ नामों में पिछले १७ ऐतिहासिक हैं। उनमें पहले के १५ राजाओं के नाम अद्भुत और पुराणपरक होने से उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में पुराविदों ने आपत्ति की है, यद्यपि मानव-शृंखला चूँकि सदा जीवित रही है, उन्हें भी कामचलाऊ मानकर स्वीकार किया जा सकता है। उन पंद्रहों में दूसरे का नाम 'आदम' है जो इब्रानी मनु और इसान के पूर्वज 'आदम' की याद दिलाता है।

प्राचीन साम्राज्ययुग—साम्राज्य के प्राचीन युग का आरंभ २००० ई० पू० के लगभग हुआ। पुजुर-असुर प्रथम, जिसने १९५० ई० पू० के आसपास राज किया, संभवतः असूरी साम्राज्य का पहला निर्माता और उन्नायक था। अगली दो सदियाँ असूरिया की समृद्धि और राजनीतिक ऐश्वर्य की थीं। तब देश के बाहर अन्य राज्यों (खत्तिया के) में अनेक असूरी आढ़ते और व्यापारिक केंद्र स्थापित हुए। असुरराज इलुशुम्मा (ल० १९०० ई० पू०) ने केवल पचास वर्ष बाद बाबुल को जीतकर असूरिया का करद प्रांत बना लिया और उसके उत्तराधिकारियों ने लघु एशिया से घना व्यापार किया, जैसा वहाँ के हजारों अभिलेखों में प्रकट है। इन्हीं दो सदियों के बीच एक पाश्चात्य सामी घुमक्कड़ जाति दक्षिण पश्चिमी एशिया को जीतकर वहाँ बस गई। वह अमुर्रू (पाश्चात्य) जाति प्राचीन इब्रानी भाषा बोलती थी। उसी जाति के शम्सी-अदाद (प्रथम) नामक राजा ने असूरिया पर अधिकार कर उसके प्रभुत्व की सीमाएँ एक ओर भूमध्य सागर और पश्चिम-दक्षिणी ईरान में एलाम तक पहुँचा दीं। उसका यह दावा इस भूखंड के विविध स्थानों से प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध है। आधुनिक सीरिया और ईराक की मिली सीमा के उत्तर में मारी का प्रांत था जिसपर शम्सी-अदाद प्रथम और उसके पुत्र इश्मे-दागान के समय उनके पुत्रों ने प्रांतीय शासक के रूप में राज किया, जैसा वहाँ मिले सैकड़ों पत्रों से प्रमाणित है। इश्मे-दागान की मृत्यु के बाद देश में घोर अराजकता फैली और मारी, बाबुल आदि प्रांत स्वतंत्र हो गए। बाबुल तो इतना प्रबल हो गया कि उसके महत्वाकांक्षी इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् हम्मुराबी ने तभी अपना प्रबल साम्राज्य स्थापित किया और असूरिया को उसका सूबा बना लिया। यह घटना १७०० ई० पू० के लगभग की है, यद्यपि कुछ पुराविद् हम्मुराबी का शासन-काल प्रायः दो सदियाँ पहले मानते हैं। अगली दो सदियाँ (१७००—१५०० ई० पू०) फिर असूरी राजनीति के लिये घातक सिद्ध हुईं क्योंकि तभी असूरिया अनेक वीर और बर्बर जातियों की युद्धभूमि बन गया। खत्तियों ने पश्चिम से, हूरियों ने पूर्व से और मितन्नियों ने उत्तर से उसपर आक्रमण किए और इनका समय समय पर देश में प्राधान्य बना रहा। मितन्नी संभवतः भारतीय आर्य थे जो इंद्र, वरुण आदि ऋग्वैदिक देवताओं को पूजते थे और जिन्होंने खत्तियों के साथ अपनी बोगाज़-कोई की संधिपट्टिका पर इन्हीं भारतीय आर्य देवताओं को साक्ष्य घोषित किया था (ल० १४५० ई० पू०)।

मध्यसाम्राज्य युग—प्रायः १५०० ई० पू० से ९०० ई० पू० तक असूरी साम्राज्य का मध्ययुग था। इस युग में अभिलेख फिर मिलने लगते हैं। इस युग का आरंभयिता असुर निरारी प्रथम था। अगली सदी में बाबुल के नए कस्सी राजा असूरिया के साथ अधिपति का व्यवहार करते हैं और उनकी राजधानी निनवे मितन्नी आर्यों के अधिकार में चली जाती है

असूरी सईस और घोड़े

(देखें 'असुर', पृष्ठ ३०५)।

असूरी राजा का जलूस
(द्र० 'असुर' पृष्ठ ३०५)।

टैंक विजयंत (द्र० आयुध पृष्ठ ४०१)।
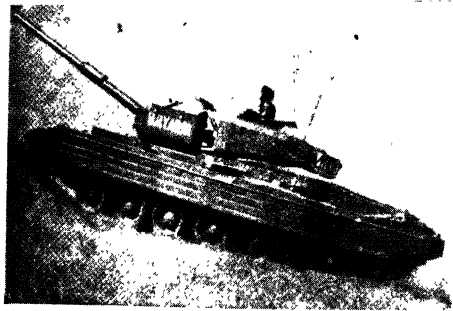
जिन्हे थुतमोस तृतीय और खत्ती परास्त कर वहाँ से निकालते हैं। १४वी सदी ई० पू० के मध्य के लगभग असुर-उबल्लित प्रथम देश को नवजीवन और शक्ति देता है। वह बाबुल को भी पराभूत कर लेता है और उसके फराऊन इखनातून के साथ किए पत्रव्यवहार (अमरना के पत्रों मे सुरक्षित) तो प्राचीन अतरराष्ट्रीय सबध के प्रतीक बन गए हैं।

अदाद-निरारी प्रथम (ल० १२६८-१२६६ ई० पू०), शालमानेजेर प्रथम (ल० १२६५-१२३६ ई० पू०) और तुकुल्ती-निनुर्ता प्रथम (ल० १२३५-११६६ ई० पू०) ने असूरी भूमि धीरे धीरे खत्तियों और फराऊनों से छीन ली और इसमे से अतिम ने तो अपने साम्राज्य की सीमा उत्तर में आर्मीनिया के पर्वतो से दक्षिण मे फारस की खाडी तक फैला दी। परतु उसके पुत्र के शासनकाल मे बाबुल ने फिर शक्ति सचित कर असूरिया को पराभूत कर दिया। अत मे असुर-रेश-इशी ने फिर बाबुल की विजय कर देश के पराभव का बदला लिया और उसके पुत्र तिगलाथ-पिलेजेर प्रथम (ल० १११६-१०७८ ई० पू०) के समय तो मध्यकालीन असूरी साम्राज्य ने अपने ऐश्वर्य की चोटी छू ली। उसने एक ओर तो आर्मीनिया से फ्रीगियाइयो को निकाल फिनीकिया और सीरिया विजय की और दूसरी ओर बाबुल पर अधिकार कर लिया। तिगलाथ पिलेजेर के राजप्रासाद मे असूरी विधिव्यवस्था (कानून) प्राप्त हुई है जिससे तत्कालीन क्रूर दडविधान पर प्रभूत प्रकाश पडता है। उस यशस्वी विजेता के पश्चात् असूरी राजाओ के भाग्याकाश पर फिर मेघ घिर आए और आरामियों ने धीरे धीरे असुरों को निस्तेज कर दिया। अगली सदी असूरिया की शक्तिहीनता और दरिद्रता की साक्षी थी।

उत्तरसाम्राज्य युग—१०वी सदी ई० पू० के आरभ मे ही असूरी साम्राज्य का उत्कर्ष फिर से शुरू हो गया था। पिता पुत्र असुर-दान द्वितीय और अदाद-निरारी द्वितीय ने आरामियो की शक्ति तोड दी। तुकुल्ती निनुर्ता द्वितीय का बेटा असुर-नजीरपाल द्वितीय (८८३-८५६ ई० पू०) इस काल का सबसे महान् असुर सम्राट् था। उसने अपनी विजयो द्वारा असूरिया की काया पलट दी। उसके अभिलेखो मे उसके क्रूर आक्रमणो की कथा लिखी है। असुर चढाइयों की बर्बरता के जो उल्लेख अभिलेख और साहित्य मे मिलते है उन्हे इसी ने चरितार्थ किया। समूचे प्रात की जनता को वह उखाडकर अन्यत्र बसाता या बर्बाद कर देता, नगर जीतकर बच्चो, बूढो तक को तलवार के घाट उतार देता और नगर जला देता। पर उसने अपने साम्राज्य की सीमाएँ निश्चय भूमध्यसागर तक फैला दो। उसके बेटे शालमानेजेर तृतीय (८५८-८२४ ई० पू०) ने पिता का साम्राज्य बरकरार रखा, यद्यपि उसे सम्मिलित शत्रुओं के प्रबल सघ से लोहा लेना पडा। उस सघ मे आरामी, फिनीकी, इजरायली, अरब सभी शामिल थे। लडाई जमकर हुई और शालमानेजेर जीता भी, पर हानि उसे बडी उठानी पडी। शत्रुओ मे भी फूट पड गई और सघ के नेता सीरिया के राजा हदाद एजेर (बेन हदाद द्वितीय) के मर जाने पर तो उसके बेटे हजाएल को अपनी राजधानी दमिश्क भी छोडनी पडी, यद्यपि असुरराज भी उसे ले न सका। पर शालमानेजेर ने अन्यत्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया और बाबुल पर अधिकार कर लिया। उसके अतिम दिनो मे उसके एक पुत्र ने भी उससे विद्रोह कर दिया। पर शीघ्र उसका मनोनीत उत्तराधिकारी पुत्र शम्शी-अदाद पचम असूरी गद्दी पर बैठा, यद्यपि उसके शासन से अनेक प्रात निकल गए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी यशस्विनी रानी सम्मुरामाई अपने बालक पुत्र अदाद-निरारी तृतीय (८१०-७८३ ई० पू०) की अभिभाविका बनी और उसकी ख्याति से पीछे का इतिहास भर गया। ग्रीक अनुश्रुतियो मे उसका नाम सेमिरमिस् है। ख्यातो मे लिखा है कि उसने पजाब तक पर आक्रमण किया। स्वय अदाद ने अपनी योग्यता का परिचय अपनी विजयो से दिया और कास्पियन सागर तक के प्रदेश जीत लिए। परतु उसके उत्तराधिकारियो के शासनकाल मे असूरिया की शक्ति फिर क्षीण हो चली और उरार्तू (आर्मीनिया), सीरिया, फिलिस्तीन के स्वतत्र राज्य प्रबल हो गए। इधर घर मे भी विद्रोह होने लगे।

इस प्रकार के एक विद्रोह ने तिगलाथ-पिलेजेर तृतीय को ७४६ ई० पू० मे ऊपर फेंका। संभवत: वह स्वच्छद सामरिक था, असूरी राजकुल का न था। फिर असाधारण शक्ति अर्जित कर उसने असूरिया को उत्तरसाम्राज्य युग मे उत्कर्ष की चरम चोटी पर चढा दिया। वह सेना लिए दक्षिण पहुचा और बाबुल तथा उसके दक्षिणवर्ती प्रातो को जीत वहाँ की मार्दुनिक सत्ता को प्राचीन परपरा तोड अपने को बाबुल का राजा भी घोषित किया। फिर वह विद्युद्गति से उत्तर पूर्व जा पहुँचा और उसने मीदियो की शक्ति तोड दी। फिर उरार्तू के फरात के तीर सफल लोहा लेता वह सीरियाइयो को धूल चटाता इजरायल मे गाजा जा पहुँचा और उस राज्य का अधिकाश अपने साम्राज्य मे मिला उसने पीछे दमिश्क पर भी अधिकार कर लिया। उसके पुत्र के दुर्बल शासन के बाद सारगोन द्वितीय (शर्रुकिन) ने फिर ताकत की सरगर्मी दिखाई। उसने इजराइल को उखाड़कर सीरिया को रोद डाला और हमाथ तथा कारखेमिश की भी वही गति की। उरार्तू की शक्ति ने उसे फिर खींचा और उसने उत्तर की ओर अभियान कर उस देश के ऋद्ध प्रातो को उजाड डाला। मरने से पहले उसने असूरिया की राजधानी कला से हटाकर अपने नाम की नगरी दुरशर्रुकिन मे स्थापित की। उसके पुत्र सेनाखेरिब (७०४-६८१ ई० पू०) को लगातार विद्रोहो का सामना करना पडा। बाबुल मे, फिनीकिया मे, फिलिस्तीन मे, सर्वत्र विद्रोह हुए और सेनाखेरिब उन्हें कुचलता फिरा। जूदा के राजा हेजेकिया का आत्मसमर्पण कराता, उसके देश को रौंदता वह मिस्री सीमा तक जा पहुँचा। इसी बीच एलाम और बाबुल की सम्मिलित विद्रोही सेनाओ से दजला के पूर्व खलूले मे जो उसकी मुठभेड हुई उसमे वह हार गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम ने भी सिर उठाया और फिलिस्तीन मे फिर विद्रोह भडक उठा। पर सेनाखेरिब पहले बाबुल की ओर बढा और ६८९ ई० पू० मे उसने उसे नष्ट कर दिया। फिर वह पश्चिम की ओर विद्रोहियो को दड देने चला, पर उधर महामारी का प्रकोप हो जाने से उसे लौटना पडा। शीघ्र उसके दो बेटो ने उसकी हत्या कर दी। अपने हत्यारे भाइयो को उत्तर की ओर भगाकर एसारहद्दन (६८०-६६९ ई० पू०) पिता की गद्दी पर बैठा। उसका शासन अल्पकालिक रहा, पर उसी बीच उसने पिता का साम्राज्य मजबूत पायो पर रखा। बाबुल का फिर से निर्माण कर उसने उसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया। फिर वह अरब और मीदिया को सर करता मिस्र जा पहुँचा और मेम्फिस उसने जीत लिया। उत्तर-पश्चिम से किमारी और कोहकाफ (काकेशस) लाँघ जो शक उत्तरी असूरिया पर टूटने लगे थे, उनको उसने अपनी सीमाओ मे बँधे रहने को बाध्य किया।

सेनाखेरिब के पुत्र असुरबनिपाल (अस्शुर-बन-अप्ली, ६६८-६६३ (ई० पू०) ने असूरिया के इतिहास को एक नया सास्कृतिक रुख दिया। वह पिछले असूरी साम्राज्यकाल का सबसे महान सम्राट् था। उसने अपनी विजयों के बीच बीच बडे बडे सास्कृतिक अभियान किए—लेखको को बाबुल आदि प्राचीन नगरो को भेजा जहाँ से उन्होने कीलनुमा अक्षरो मे सुमेरी-अक्कादी साहित्य के अमोल रत्न खोज निकाले और उनकी नकलें अपने सम्राट् के पास भेजी। लाखो ईटो पर लिखे हजारो ग्रथ असुरबनिपाल के निनेवे के सग्रहालय से मिले है जिनमे उस काल के इतिहास, साहित्य और जीवन पर प्रभूत प्रकाश पडा है। उस सम्राट् के शासनकाल मे असूरियो ने कला के क्षेत्र मे असाधारण उन्नति की। उसके भवनो के निर्माता असुर वास्तुकारों की सर्वत्र विदेशो मे माँग होने लगी। सारगोन, सेनाखेरिब और असुरबनिपाल के शासनकाल कला के उत्कर्ष के थे। असुरबनिपाल तो ससार का पहला पुराविद् और सग्रहकर्ता था।

राजनीतिक सक्रियता मे भी असुरबनिपाल ने बडी ख्याति अर्जित की। अपने पराक्रम से उसने मिस्र जीत लिया। उसके पिता ने अपना साम्राज्य दोनो बेटो मे बाँटकर बाबुल छोटे शमाश-शुम-उकिन को दे दिया था। उसने अब असुरबनिपाल से विद्रोह किया और जो युद्ध परिणामत हुआ उसे ६४८ ई० पू० मे जीत असुरबनिपाल ने बाबुलिया का भयानक सहार कर यह प्रदर्शित कर दिया कि उस दिशा मे उसकी रुचि अन्य असुर राजाओ से भिन्न नही है। पर इसी बीच अन्य प्रातो ने भी विद्रोह किया—मिस्र, अरब और एलाम ने। असुरबनिपाल ने एलामियो को परास्त कर एलाम का राज्य ही मिटा दिया। उस प्राचीन राज्य के नष्ट हो जाने से फारस मे प्रतिष्ठित ईरानी आर्यों की शक्ति बढी और उनका राज्य वहाँ स्थापित हुआ जो कालातर मे दारयो का प्रसिद्ध साम्राज्य बना। उनके राजा कुरुष् प्रथम ने असूरी आधिपत्य स्वीकार कर एलाम पर अपना स्वत्व स्थापित

किया। अंत मे सघर्ष से टूटकर अरबों ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। धीरे धीरे प्राय: सभी विद्रोहियो ने लीदिया और उरार्तु तक अधिपति असुर-बनिपाल की सत्ता स्वीकार कर ली और वह सम्राट् सुख और शातिपूर्वक ल० ६३३ ई० पू० के मरा।

उसके बाद की असूरिया की कहानी क्रमश छीजती शक्ति और बढ़ती दरिद्रता की है। बाबुल के शासक नबोपालास्सर ने मीदी क्षयार्ष के साथ सघ बना असूरिया पर आक्रमण किया। ६१४ ई० पू० मे मीदियो ने प्राचीन राजधानी अस्शुर को नष्ट कर मिटा दिया और दो साल बाद निनेवे की भी वही गति हुई जब उसकी लपटो मे भरे राजप्रासादो मे असुरराज सिन-शार-इश्कुन जलकर भस्म हो गया। तब असुर-उबालित द्वितीय राजा हुआ जिसने पश्चिमी मेसोपोटामिया मे हारान मे अपनी राजधानी स्थापित की, पर उसे भी ६०८ और ६०६ ई० पू० के बीच मीदी आर्यों ने नष्ट कर डाला। उधर मिस्री फराऊन ने फिलिस्तीन और सीरिया पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार असूरिया के प्रात तथा करद राज्य उससे स्वतत्र होते या शत्रुमित्रो के अधिकार मे चले गए और उस रक्तरंजित क्रूर साम्राज्य का इतिहास से लोप हो गया।

असूरी सभ्यता—असूरिया प्राचीन सभ्यताओ का स्पार्ता था। उसकी समूची राजनीतिक व्यवस्था सैन्यसगठन पर आधारित थी। उसके सम्राटो की एकमात्र महत्वाकाक्षा विजेता होने की थी, इसी से उन्होने अपनी राजनीति को बल और सेना के पायो पर खडा किया। पठारो की असूरी जनता को उन्होने सैनिक दृष्टि से सगठित किया। पहली बार विशेष महत्व से घुडसवारो का उपयोग असुर राजाओ ने यत्नो के साथ अपने युद्धो मे किया, रथसेना कम से कम, अश्वसेना अधिक से अधिक। इसी से उनकी शत्रुता भी आपज्जनक थी, विरोध या विद्रोह करके उनके सामने जीवित रह जाना असभव था। उनकी सामरिक नृशसता इतनी कुख्यात हो गई थी कि उसने दूर दूर के साहित्यो पर अपनी स्मृतिछाप छोडी है। दूरस्थ भारतीय साहित्य मे भी उनके इस रक्तरंजित इतिहास की स्मृति बनी है। सही, मूल रूप में सस्कृत मे असव प्राण के अर्थ मे प्राणवान् असुर की व्युत्पत्ति होती है, परतु उनके पराक्रम से आरभ होकर जो उनके नाम की व्याख्या दैत्य (न सुरा इति असुरा) के अर्थ मे होने लगी वह उनकी प्रचड क्रूरता का ही परिणाम था। भारतीय युद्धपरपरा मे 'धर्मविजयीनृप' वह था जो विजित पर केवल मानसिक आधिपत्य स्थापित करता था—कालिदास के रघुवश के चौथे सर्ग मे उसकी व्याख्या है, श्रियं जहार न तु मेदिनीम्—श्री वह विजित की हर लेता था पर सपत्ति, राज्य, सिहासन लौटा देता था। उसके विपरीत 'असुरविजयीनृप' वह था जो असुरसम्राटो की भाँति विजित के राज्य को उखाड फेकता था (उत्खाय तरसा)। असुर-सम्राटो का विजित जनता को तलवार के घाट उतार देना, नगरो को जला डालना, प्रजा को एक प्रात से उखाडकर दूसरे प्रात मे बसा देना प्रकृत बात थी।

असुरो का सुमेरी बाबुलियो से पाए साहित्य के अतिरिक्त अपना निजी साहित्य न था। पर वे साहित्य को सीखकर उसकी रक्षा खूब करते थे। उन्होने बाबुलियो से सुमेरिया की प्राचीन कीलनुमा लिपि सीखी और उसमे अपने हजारो व्यावसायिक और राजनीतिक अभिलेख तथा पत्र लिखे और प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत की। असुरबनिपाल के निनेवे के सग्रहालय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। असुरो का साहित्य चार प्रकार का है—१ व्यावसायिक अभिलेख और पत्र, २ प्राचीन ग्रथो की नकले, ३ राजाओ के सैनिक अभियानो और विजयो के विस्तृत वृत्तात और ४ लिम्मु, राजकर्मचारियो द्वारा लिखे वार्षिक विवरण। इन्ही असुरसम्राटो की सरक्षा से गिलगमेश आदि प्राचीन सुमेरी बाबुली वीरकाव्यो की रक्षा हो सकी है।

असुर सामी जाति के थे, परतु अनेक जातियो के सधिस्थल पर बसने के कारण उनमे सम्मिश्रण भी प्रचुर मात्रा मे हुआ था। उनके अधिकतर देवता भी बाबुलियो के देववर्ग से लिए हुए थे, अपना प्रधान और राष्ट्रीय देवता फिर भी उनका था, असुर, जिसे प्राचीन ईरानी आर्यों ने अहुरमज्द के रूप मे पूजा और ऋग्वैदिक आर्यो ने अपने वरुण, रुद्र, अग्नि आदि देवताओ का शक्तिवाचक विशेषण बनाया। असुर ही जाति का नाम था, वही उनके प्रधान नगर और राजधानी का नाम था, उनके राजाओ का नामाश भी। उनके अन्य देवता अधिकतर बाबुलियो मे लिए हुए निम्नलिखित थे: इया, बेल या बाल, नेस्रोख, नेबु, शमाश, सिन, नेर्गल, इश्तर।

परतु असुरो की एक प्रतिभा अनुपम थी, उनका कलाप्रेम। उनके राजप्रासाद प्राचीन जगत् मे अप्रतिम थे। उनके सिहो और साँडो की सर्वतोभद्रिका (चारो ओर से कोरी) मूर्तियाँ अचरज के अभिप्राय थी जो पहले दारा की, पीछे अशोक के स्तभो के आदर्श बनी। पत्थर मे उभारकर असुर कलावतो द्वारा लिखे चित्र आज भी कलापारखियो को विस्मय मे डाल देते है। असुरबनिपाल के प्रासाद का बाणबिद्ध सिहनी का आखेट-चित्र सजीवता मे बेजोड है। असुर शिल्पियो की सुरुचि और कला का तब ऐसा साका चला कि दूर दूर के देशो मे उनकी माँग होने लगी और विदेशी साहित्यो और अनुश्रुतियो मे उनका उल्लेख हुआ। भारतीय परपरा मे भी मय असुर के शिल्प का बारबार उल्लेख हुआ है। महाभारत के युधिष्ठिर के स्थल मे जल और जल मे स्थल का आभास उत्पन्न करनेवाले, राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय भी उसी को दिया गया है। निनेवे, कला, अशुर आदि की खुदाइयो मे जो कला सबधी अनत सामग्री मिली है उससे ससार के सग्रहालय भर है। कुछ अजब नही जो असुरो की राजधानी कला से ही सस्कृत 'कला' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। इस शब्द का सस्कृत मे प्रयोग बहुत प्राचीन नही है, पाँचवी-छठी सदी ई० पू० से पहले तो कतई नही। वस्तुत पहली बार शिल्पार्थ मे कला का उपयोग वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' मे तीसरी सदी ईसवी मे किया है। किला शब्द की उत्पत्ति भी कला से ही हुई है, जो उस नगर के दुर्गनुमा परकोटो का परिचायक है।

मूर्तियो और उत्खचनो से प्रकट होता है कि असुर ऊँचे, प्राणवान् और शिराव्यजित शरीरवाले होते थे। वे सिर के बाल लबे और लबी दाढी रखते थे। तहमत और चोगा वे शरीर पर धारण करते थे। उनका फलित ज्योतिष मे अटल विश्वास था और उनके सम्राट् प्रत्येक सैनिक अभियान के पहले शकुन विचरवा लिया करते थे।

सं०ग्रं०—एच० आर० हाल दि एशेंट हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, आर० डब्ल्यू० रोजर्स ए हिस्ट्री आव बैबिलोनिया ऐंड असीरिया, न्यूयार्क, १९१५, ए० टी० ओल्मस्टेड हिस्ट्री आव असीरिया, न्यूयार्क, १९२३, कैब्रिज एशेंट हिस्ट्री, खड १ और २, कैब्रिज, १९२३-२४, एस० स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ऑव असीरिया, लदन, १९२८, भ० श० उपाध्याय दि एशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १९५४। (भ० श० उ०)

असुर ३ बिहार राज्य मे छोटा नागपुर क्षेत्र के निवासी कबीलो मे से एक का नाम। असुर इनमे सभवत सबसे अधिक पिछडे हुए है। यद्यपि इनके पडोसी अन्य कबीलो के प्रामाणिक और तात्विक क्षेत्र अध्ययन उपलब्ध है, तथापि असुर कबीले का विस्तृत अध्ययन अब तक नही हुआ है। इस कमी का एक कारण असुरो के भौगोलिक विवरण की अनिश्चितता है। एल्विन के मत मे पश्चिम मे मध्यभारत के होशगाबाद और भडारा जिले से पूर्व मे बिहार के राँची और पलामू जिले तक छिटपुट पाए जानेवाले लोहा पिघलानेवाले सभी कबीलो को 'अगरिया' परिवार मे रखना उचित है। इस वर्गीकरण के अनुसार बिहार के असुर भी इसी श्रेणी के है। पर लोहा पिघलानेवाले सब कबीलो का ऐसा एकीकरण उन कबीलो की सास्कृतिक विषमताओ को दृष्टिगत करते हुए सही नही प्रतीत होता। छोटा नागपुर क्षेत्र मे, विशेष रूप से राँची और पलामू जिलो की क्रमश उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी सीमा के पठारी प्रदेश मे असुरो की सख्या सबसे अधिक है। कृष्ण वर्ण, मझोले कद, सीधे या घुंघराले बाल और चिपटी नाकवाले असुर अपने पडोसी मुडा, बिरहोर तथा उराँव कबीलो की भाँति ही '**प्रत आस्ट्रेलीय**' प्रजातीय स्कध के है। इनकी बोली भी मुडारी भाषापरिवार की है। वर्तमान असुरो ने लोहा पिघलाने का धधा छोड दिया है, किंतु आज भी ये कुशल लोहार है। उसके नाम 'असुर' और निकट भूत मे लोहा पिघलाने के धधे के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि वर्तमान असुर कबीले के पूर्वज ऋग्वेद मे वर्णित असुर रहे होगे। इस मत को स्वीकार करना सभव नही। मुंडा लोककथाओ मे भी मुडाओ से पूर्व छोटा नागपुर प्रदेश मे लोहा पिघलानेवाली असुर जाति के आधिपत्य का उल्लेख है जिन्हें बाद मे 'सिगबोगा' की शक्ति और तेज द्वारा परास्त कर दिया गया था।

किंतु इस क्षेत्र के अन्य कबीलों से असुरों की प्रजातीय, सांस्कृतिक और भाषागत समानता को ध्यान में रखते हुए यह मत निर्विवाद प्रतीत नहीं होता।

वर्तमान असुर कबीले का मुख्य धंधा कृषि है और इनकी मुख्य फसलें धान, मकई और जौ है। लोहारी के अतिरिक्त पशुपालन, आखेट, मधुमचय आदि इनके मुख्य सहायक धंधे हैं। विनिमय अदला बदली द्वारा होता है, यद्यपि हाल में निकटवर्ती नगरों के महाजनों ने इन्हें मुद्रा व्यवस्था से भी परिचित करा दिया है। असुर सामाजिक संरचना में नातेदारी के संबंध (किनशिप रिलेशन्स) अब भी महत्वपूर्ण हैं। दादा दादी, नाना नानी और नाती नातिन को आपस में हँसी ठट्ठा करने की विशेष छूट है। कुछ हास परिहास तो निश्चय ही हमारे आदर्शों के विचार से औचित्य और श्लीलता की सीमा का अतिक्रमण करनेवाले हैं। विवाह के मुख्य रूप क्रय विक्रय, सेवाविवाह और धरने का विवाह है। प्रथम प्रकार का विवाह 'लाठी टेकना' कहलाता है जिसमें वरपक्ष द्वारा वधू के मूल्य का भुगतान अनिवार्य होता है। यदि वर पक्ष वधू का मूल्य देने में असमर्थ हो तो विवाहोपरांत वर को घरजमाई के रूप में अनिश्चित अवधि तक अपने ससुर के घर काम करना पड़ता है। यह सेवाविवाह का ही एक रूप है। तीसरे प्रकार का विवाह वह है जिसमें अपने ससुर परिवार के विरोध की परवाह न करते हुए कन्या भावी पति के घर धरना दे देती है और कालांतर में सास ससुर की सेवा द्वारा प्रसन्न कर वैध पत्नी का पद ग्रहण करती है। संपूर्ण असुर कबीला बहुत से बहिर्विवाही कुलों (एक्जोगैमस क्लैंस) में बँटा है। इनमें ऐंट, बेग, बुड़वा, ऐंदुवार, किरकिटा और खुसार विशेष उल्लेखनीय है। प्रत्येक कुल 'टोटमी' है और कुल के सदस्यों के लिये 'टोटमी' पशु अथवा पक्षी का मांस खाना वर्जित है। असुर टोटमी कुलों के नाम मुंडा और उराँव कुलनामों के समान हैं। अन्य कबीलों की भाँति असुरों में भी कुलों का नामकरण पवित्र परिवेश के पशुपक्षियों के आधार पर किया गया है। अविवाहित असुर नवयुवक और नवयुवतियों के परंपरागत शिक्षण, आमोद प्रमोद और सहयोग के हेतु प्रत्येक गाँव में युवक और युवतियों के लिये पृथक् 'गितिओड़ा' या युवागृह होते हैं। कबीले में नृत्य, गीत और सामूहिक आखेट का आयोजन युवागृह के तत्वावधान में होता है। असुरों के सर्वोच्च देवता सिंगबोंगा या सूर्य देवता हैं। बलि द्वारा उग्र देवताओं का शमन, झाड़ फूँक द्वारा रोगों की चिकित्सा तथा महामारी आदि संकट से कबीले की रक्षा का कार्य गाँव के अनुभवी 'देउरी' के हाथ में होता है। हाल में अधिकांश असुर गाँवों के छोटे बालकों की प्राथमिक शिक्षा के लिये शासन द्वारा संचालित स्कूल खोले गए हैं। बाजारों तथा नागरिक व्यापारियों ने भी असुरों के संपर्क का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है। भारतीय कबीलाई जनसंख्या द्वारा पर-संस्कृति-ग्रहण की प्रक्रिया के प्रसंग में असुरों की यह प्रगति निश्चय ही रोचक है। (र० जै०)

असुरनजीरपाल (८८४–८५९ ई० पू०) यह असुर नृपति प्राचीन काल के प्रधानतम दिग्विजयी सम्राटों में से था। अपने पिता तुकुल्ती-निनुर्ता द्वितीय के निधन के पश्चात् वह असुरों की गद्दी पर बैठा और उसके प्रताप से असुर राज्य तत्कालीन सभ्य संसार का हर क्षेत्र में विधायक बन गया। प्राचीन भारतीय साहित्य में जो क्रूरकर्मा असुरों की रक्तिम विजयों का निर्देश मिलता है उनका उद्गम इसी असुरनजीरपाल के प्रयत्न हैं। वह न केवल राज्यों और देशों को जीतता था, अमानुषिक रक्तपात से नगरों को नष्ट और सूना कर देता था, जीवित शत्रुओं की खाल खिंचवा लिया करता था, बल्कि उसने अपनी दिग्विजयों में क्रूरता की एक नई रीति ही चला दी। वह देश या नगर को जीत उसकी समूची प्रजा को अपने पूर्व स्थान से उखाड़कर अपने साम्राज्य के दूसरे प्रदेशों में बसा देता था जिससे फिर वह विद्रोह न करे या उसके भीतर स्वदेश की रक्षा के लिये कोई भावना ही जीवित न रह जाय। अक्सर तो वह अपने विजित शत्रुओं के हाथ और कान कटवाकर उनकी आँखें निकलवा लेता, फिर उन्हें एक पर एक डाल अंबार खड़ा कर देता और भूखों मरने के लिये छोड़ देता। बच्चे जिंदा जला डाले जाते और राजाओं को असुरिया ले जाकर उनकी खाल खिंचवा ली जाती। असुरनजीरपाल की चलाई इस क्रूर प्रथा की परंपरा बाद के असुर राजाओं ने भी कायम रखी, यद्यपि धीरे धीरे उसका ह्रास होता गया।

असुरनजीरपाल दिग्विजय के लिये पहले पूर्व और उत्तर की ओर बढ़ा और दक्षिण अरमेनिया को सिलीशिया तक उसने रौंद डाला। अनेक राज्यों को जीतता वह प्राचीन प्रबल खत्तियों की राजधानी कारखेमिश पहुँचा और उसे जीत, फरात लाँघ, उत्तरी सीरिया की ओर चला। फिर लेबनान और फिनीकी नगरों का आत्मसमर्पण स्वीकार करता जब वह समुद्रतट से लौटता दमिश्क के सामने जा खड़ा हुआ तब उसकी गति की तीव्रता से सीरिया के राजा को काठ मार गया। उसको विनीत करता असुरसम्राट् जब राजधानी लौटा तब मर्दित मानवता बिलबिला रही थी और राह के विध्वस्त राज्य, नष्ट नगर, उजड़े और जले गाँव, असुर सेनाओं की गति की कथा कह रहे थे।

असुरनजीरपाल मात्र दिग्विजयी न था, अपूर्व सैन्यसंचालक और उसका संगठयिता भी था। रथों को कम कर घुड़सवारों की संख्या बढ़ा और पहली बार युद्ध में यंत्रों का प्रयोग कर उसने असूरी सेना का नया संगठन किया। अपनी राजधानी उसने असुरों की प्राचीन राजधानी 'असुर' से हटाकर कल्खी में स्थापित की और वहाँ उसने अनेक प्रासादों तथा मंदिरों का निर्माण कराया। प्राचीन साहित्य में जो मय आदि वास्तुकारों का उल्लेख मिलता है उनके शिल्प की प्रतिष्ठा विशेषत: असुरनजीरपाल के ही समय हुई थी। तत्कालीन सभ्यता के सारे देशों में तब असुर शिल्पियों और वास्तुकारों की माँग होने लगी। स्वयं असुरनजीरपाल की दिग्विजयों के वृत्तांत स्तंभों और शिलाखंडों पर लिख लिए गए और इस प्रकार उसका नाम इतिहास में भय और क्रूरता का पर्याय हो गया। (भ० श० उ०)

असुरबनिपाल (६६९–६२३ ई० पू०) असुर (असूरियाई) जाति का प्रसिद्ध पुराविद् सम्राट्। असुरों ने अरमनी पहाड़ों के दक्षिण और दजला फरात नदियों के उपरले द्वाब से उठकर समूचे द्वाब, नदियों के मुहानों तक बाबुल और प्राचीन सुमेर के नगरों पर अधिकार कर लिया था। असुरबनिपाल के पूर्वज तिगलाथ पिलेसर और असुरनजीरपाल की विजयों ने असुर साम्राज्य की सीमाएँ ईरान, कृष्ण और भूमध्यसागर तथा नील नदी तक फैला दी थीं। असुरबनिपाल उसी साम्राज्य का अधिकारी हुआ और एसारहद्दन की मृत्यु के बाद निनेवे की गद्दी पर बैठा। उसके पिता ने अपना साम्राज्य दोनों बेटों में बाँट दिया था। छोटे बेटे शमश्-शुम-उकिन को उसने बाबुल दिया था और बड़े बेटे असुरबनिपाल को शेष साम्राज्य, यद्यपि बाबुल को उसने निनेवे का सामंतराज्य घोषित किया।

असुरबनिपाल ने प्राय: आधी सदी राज किया। उसका शासनकाल घटनाओं से भरा था। गद्दी पर बैठते ही पहले वह मिस्र के विद्रोही फराउन को दंड देने के लिये बढ़ा और उसे कारबानित में परास्त कर उसने उसकी राजधानी मेंफिस पर अधिकार कर लिया। फिर उस देश के राजाओं को परास्त करता वह निनेवे लौटा, पर उसके लौटते ही मिस्र के राजाओं ने फिर सिर उठाया और उसे थीबिज की ओर फिर लौटना पड़ा। राह के नगरों को जलाता और नष्ट करता वह थीबिज पहुंचा और फराऊनों की उस प्राचीन राजधानी को उसने मटियामेट कर दिया। लौटते समय राह में उसने फिनीकिया जीता और सागर पार दूर के लीदिया से आए दूतमंडल की भेंट उसने स्वीकार की। असुरशक्ति उत्कर्ष की चोटी चूमने लगी।

असुरबनिपाल की विजयों का ताँता फिर नहीं टूटा। दक्षिणी ईरान में अवस्थित एलाम ने कभी बाबुल पर आक्रमण किया था। असुरबनिपाल ने उसका बदला लिया और उसकी चोट से एलामी राजा की सेनाएँ शूषा की ओर भागीं। असुरबनिपाल ने उनका पीछा किया। तूलिज के युद्ध में एलामी राजा ते-उम्मान को परास्त कर असुरबनिपाल ने एलाम का राज्य अपने विश्वासपात्र को दिया। यह घटना अभिलेख द्वारा अमर कर दी गई। पश्चात् असुरबनिपाल को भाई के षड्यंत्र से बाबुल, एलाम, फिलीस्तीन और फिनीकिया की सम्मिलित सेनाओं का सामना करना पड़ा। उसने बड़ी योग्यता से एक एक प्रतिद्वंद्वी का नाश किया और एलाम को इतिहास से मिटा दिया। फिर वह अरब, ईदोन और दमिश्क होता, राह में शत्रुओं को नष्ट करता, पत्नी के साथ निनेवे लौटा और ६३५ ई० पू० में उसने वहाँ अपनी दिग्विजयों का उत्सव मनाया। ईश्तर के मंदिर तक उसने जो अपना

रथ हाँका उसे उसके वंदी राजाओं ने खींचा। इस शक्ति की कशमकश के बीच मिस्र निश्चय स्वतंत्र हो गया।

असुरबनिपाल का नाम उसकी विजयों से भी अधिक असूरी संस्कृति के साथ संलग्न है। वह संसार का पहला पुराविद् था, पहला संग्रहकर्ता। उसके शासनकाल में असुर लेखकों ने सुमेर और बाबुल से सीखी कीलनुमा लिखावट में हजारों ग्रंथ ईंटों पर लिख डाले। अभी हाल खोद निकाले निनेवे के ग्रंथागार में लाखों ईंटों पर लिखे हजारों ग्रंथ असुरबनिपाल ने संग्रह किए थे जिनमें से अनेक आज यूरोप और अमरीका के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। जलप्रलय के वृत्तांत का संचालक, मानव जाति का पहला वीरकाव्य 'गिलगमेश' निनेवे में संगृहीत असुरबनिपाल के इसी ग्रंथागार की ईंटों पर खुदा मिला है। (भ० श० उ०)

असुराचार्य भृगु ऋषि तथा हिरण्यकशिपु की पुत्री दिव्या के पुत्र जो शुक्राचार्य के नाम से अधिक ख्यात हैं। इनका जन्म का नाम शुक्र उशनस है। पुराणों के अनुसार यह दैत्यों के गुरु तथा पुरोहित थे। कहते हैं, भगवान् के वामनावतार में तीन पग भूमि प्राप्त करने के समय, यह राजा बलि की झारी के मुख में जाकर बैठ गए और बलि द्वारा दर्भाग्र से झारी साफ करने की क्रिया में इनकी एक आँख फूट गई। इसीलिये यह 'एकाक्ष' भी कहे जाते थे। आरंभ में इन्होंने अंगिरस ऋषि का शिष्यत्व ग्रहण किया किंतु जब वह अपने पुत्र के प्रति पक्षपात दिखाने लगे तब इन्होंने शंकर की आराधना कर मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त की जिसके बल पर देवासुर संग्राम में असुर अनेक बार जीते। इन्होंने १,००० अध्यायोंवाले 'बार्हस्पत्य शास्त्र' की रचना की। गो और जयंती नाम की इनकी दो पत्नियाँ थीं। असुरों के आचार्य होने के कारण ही इन्हें असुराचार्य कहते हैं। (स०)

असूरी भाषा सामी परिवार की प्राचीन अक्कादी की, बाबुली की ही भाँति, एक शाखा। अक्कादी का यह नाम उस अक्काद नगर से पड़ा जो ई० पू० २४वीं सदी में प्रसिद्ध सम्राट् शर्रुकीन की राजधानी था। तभी अक्कादी को राजभाषा का पद मिला। कालांतर में अक्कादी, प्रदेश और काल के अनुसार, असूरी और बाबुली नामक जनबोलियों में विकसित होकर बँट गई। असूरी दजला नदी (इराक) की उपरली घाटी में और बाबुली दजला-फरात के सागरवर्ती दोआब में बोली जाती थी। कालक्रम से अक्कादी के तीन युग माने जाते हैं—१ प्राचीन काल (ल० २००० ई० पू०—ल० १५०० ई० पू०), २ मध्यकाल (ल० १५०० ई० पू०—ल० १००० ई० पू०) और ३ उत्तरकाल (ल० १००० ई० पू०—ल० ५०० ई० पू०)। स्वाभाविक ही यही कालक्रम असूरी और बाबुली जनबोलियों का भी अपनी विकासपरंपरा में होगा। ई० पू० ५०० के बाद भी असूरी और बाबुली बोली और लिखी जाती रही, पर साधारणतः तब उन इराकी नदियों के कांठे में प्रायः सर्वत्र आरामी का प्रचार हो गया था।

अक्कादी अथवा बाबुली असूरी भाषाओं की लिपि गैरसामी सुमेरी कीलाक्षरों से निकली है। दक्षिण मेसोपोटामिया में बसनेवाले इन सुमेरियों से तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में पहले बाबुलियों ने उनकी लिपि सीखी, फिर प्रायः हजार वर्ष बाद उत्तर के असूरियों अथवा असुरों ने। हजारों विचारसकता का ध्वनित करनेवाले ६०० (लिपि) चिह्न सुमेरी में थे। इन चिह्नों में से कुछ केवल शब्दमूलक, कुछ इनके साथ साथ पदांशमूलक भी थे। बाबुलियों ने आरंभ में इस लिपि के केवल पदांश चिह्नों का उपयोग किया। बाबुलियों और असुरों ने कालांतर में, जब सुमेरी भाषा का प्रयोग मंदिरों में बंद हो गया, सुमेरी चिह्नों और शब्दों की बृहत् सूचियाँ बना लीं। इनसे कई बोलियों को बड़ा बल मिला क्योंकि सुमेरी शब्दों के उनके लिपिचिह्नों के साथ बाबुली और असूरी में भी पर्याय प्रस्तुत हो गए। परिणाम यह हुआ कि असूरी में, इसके सामी होने और सामी भाषाओं से शब्दरूढ़ होने के बावजूद, सुमेरी शब्दों की बहुतायत हो गई और सुमेरी लिपि में लिखी जाने के कारण इसका उच्चारण भी पुरातन और असामयिक हो गया।

सं० ग्रं०—आई० जे० गेल्ब : ओल्ड अकेडियन राइटिंग ऐंड ग्रामर (शिकागो, १९५२), सेटन लायड : फाउंडेशंस इन दि डस्ट (लंदन, १९४७)। (भ० श० उ०)

असेंशन नौ मील लंबा, तथा छह मील चौड़ा एक छोटा द्वीप है जो दक्षिणी अंध (अटलांटिक) महासागर में सेंट हेलेना द्वीप से उत्तर पश्चिम दिशा में ७०० मील की दूरी पर स्थित है। द्वीप ज्वालामुखी के उद्गार से निकले हुए लावा से बना है। मध्य में शंकु के समान उठा हुआ ग्रीन पर्वत है। समीपवर्ती पठारों की ऊँचाई १,२०० फुट से २,००० फुट तक है। ८° द० अ० पर स्थित यह द्वीप दक्षिण पूर्वी व्यापारिक हवाओं के मार्ग में पड़ता है। ढालों पर झाड़ियाँ तथा घास उगती है।

१५०१ ई० में जाओदो नोवा नामक पुर्तगाली ने इसका पता लगाया तथा १८१५ ई० में अंग्रेजों ने सर्वप्रथम यहाँ अपना अधिकार जमाया। आज यह द्वीप अपनी स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के कारण अंग्रेजों का क्रीड़ाकेंद्र तथा जहाजों के ठहरने का स्थान है। १९२२ ई० में यह सेंट हेलेना का एक उपराज्य मान लिया गया है। (ह० ह० सि०)

अस्तित्ववाद (एक्जिस्टेंशियलिज्म) एक नवीन यूरोपीय दर्शन या विचारधारा का हिंदी पर्याय। वस्तुतः यह एक सुसंगत दर्शन न होकर कई विचारधाराओं का सामान्य नाम है, जो व्यक्ति के 'अस्तित्व' को प्रधानता देती है। उसके अनुसार काट के बाद सब आदर्शवादी और भौतिकवादी दार्शनिक सैद्धांतिक रूप से प्रमेयों की चर्चा करते रहे हैं, उनका विषय मनुष्य का 'सार' (मानवता) रहा है, परंतु मानव का यथार्थ 'अस्तित्व' नहीं। 'एक्जिस्टेंस प्रिसीड्स एसेंस'—इस साररूप गुणसामान्य से पहले जन्म मृत्यु के दो छोरों से सीमित मनुष्य का अस्तित्व है। अतः बुद्ध के दुःख-चरम-सत्य की भाँति अस्तित्ववाद मृत्यु को प्रधान मानकर, मनुष्य को अपने जीवन की दिशा का निदर्शन निर्णायक मानता है। व्यक्ति की यह चुनने की शक्ति, सार्थक क्षणों में से निर्णय करने की संकल्प-विकल्प-शक्ति ही मनुष्य की स्वतंत्रता की शर्त है। अन्यथा मौत तो अंत है ही। मनुष्य निरंतर अंत की ओर गिर रहा है, मनुष्य विवश, असमर्थ, असहाय और प्रवाह-पतित की भाँति है। इस अवस्था का भान प्राचीन संतों ने भी बार बार कराया था। संत अगस्तिन, ड्यूंस स्काट्स, पास्कल आदि सबने इसकी चर्चा की है। परंतु अस्तित्ववाद निराशामय नियतिवाद नहीं है। वह 'मानवी अवस्थिति' को इस चुनौती को स्वीकार करके चलता है। डेन तत्वज्ञ सरेन कीर्केगार्द (१८१३-५५) ने अपने ग्रंथ 'भीति की भावना', 'भय और कंप' आदि में इसकी चर्चा की। २०वीं शताब्दी के आरंभ में अब तक यास्पर्स और हाइडेगर में, जर्मनी में, शेस्तोव और बेर्दयेव में, रूस में, उनाम्युनो में, स्पेन में, फ्रांस में गाल्वार, ग्रेनिए, ज्याँ पाल सार्त्र, केमुअ, ब्वोइ, माद्रे, मार्सेल आदि में अस्तित्ववादी दर्शन के लक्षण दिखाई देते हैं, यद्यपि इनमें से कई लेखक अपने को अस्तित्ववादी नहीं मानते।

दस्ताएव्स्की और फ्रांज काफ्का के उपन्यासों में भी अस्तित्ववादी दर्शन के लक्षण मिलते हैं। अब अस्तित्ववादी दार्शनिकों लेखकों में भी दो दल हो गए हैं एक ईश्वरवादी है और दूसरा अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी या ईसाई अस्तित्ववादियों में गैब्रिएल मार्सेल, कीर्केगार्द, यास्पर्स, एलेन आदि हैं। निरीश्वरवादियों में सार्त्र, कैमुअ आदि अन्य लेखक। यूरोप में अस्तित्ववाद का महत्व गत दो महायुद्धों की विभीषिका के बाद अधिक उभरकर सामने आया।

अस्तित्ववाद को मार्क्सवादियों और रोमन कैथोलिकों दोनों से घोर विरोध मिला है। मानव जीवन की क्षुद्रता पर जोर देने के कारण मार्क्सवादी इसे जंतुवादी और निराशावादी दर्शन कहते हैं। कैथोलिक तो इसे स्पष्टतः अनुत्तरदायी दर्शन मानते हैं। अस्तित्ववाद का कुछ क्षीण प्रभाव आधुनिक भारतीय साहित्य पर भी परिलक्षित होने लगा है। विशुद्ध अस्तित्ववाद की परिणति निराशावाद और शून्यवाद में हो रही है। वह एक सँकरा व्यक्तिवादी दर्शन है, ऐसा उसपर आरोप है।

सं० ग्रं०—ई० मोनिएर : इंट्रोडक्शन ऑव एक्जिस्टेंशियलिज्म (१९४७); एच० ई० रीड : एक्जिस्टेंशियलिज्म, मार्क्सिज्म ऐंड अना॰

किज्म (१९४७); एल० जे० ब्लकहम · सिक्स ऐक्ज़िस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स (१९५७); जे० पी० सर्की ऐक्ज़िस्टेंशियलिज्म ऐंड ह्यूमैनिज्म। (प्र० मा०)

अस्त्रशस्त्र द्र० 'आयुध'।

अस्थि श्वेत रंग का एक कठोर ऊतक है जिससे सारे कशेरुकी (रीढ़वाले) जतुओं के शरीर का ककाल (ढांचा) बनता है। अस्थि शरीर के आकार का आधार है। अस्थियां द्वारा ही शरीर गति करता है तथा भीतर के मुख्य अग सुरक्षित रहते है। इन्हीं के कारण हमारे दैनिक कार्य सपन्न होते है।

अस्थि एक परिवर्तनशील ऊतक है और शरीर के बहुत से रासायनिक तथा जैव परिवर्तनों से उसका सबध है। रक्त मे होनेवाले रासायनिक परिवर्तनों तथा शरीर के अन्य भागों मे अत स्रावी और आहारजन्य कारणों से स्वय अस्थि मे रचनात्मक परिवर्तन होने लगते है, और अस्थि भी इन परिवर्तनों का कारण होती है। आयु पर्यंत अस्थि का पुनर्निर्माण होता रहता है तथा उसकी रचना बदलती रहती है।

शरीर की अधिकतर अस्थियाँ लबी होती हैं। इनमे एक दो चौडे या फूले हुए सिरे के बीच लबा काड (खाखला बेलन) होता है। सिरो को वर्धक प्रात कहते है, क्योंकि यहीं से अस्थि की वृद्धि होती है। अस्थि पर एक अत्यत सूक्ष्म कला चढी रहती है, जिसको अस्थ्यावरण कहते है। काड के भीतर एक लबी नलिका होती है जिसके बाहर ठोस अस्थि मे दो भाग होते हैं। नलिका की ओर सुषिर भाग रहता है जो सछिद्र होता है। उसके बाहर सहृत भाग होता है जो घना और ठोस होता है। बीच की नलिका मे अस्थिमज्जा भरी रहती है। यही रक्त बनता है। अस्थिमज्जा ही रक्त की फैक्टरी है। रक्तनलिकाओं द्वारा अस्थि का पोषण होता है और उनमे नाडियो के सूत्र भी आते है। बहुत सी अस्थियों के प्रातीय भागों पर हायलीन नामक उपास्थि चढी रहती हैं। ये भाग सधियो के भीतर रहते है और उपास्थि के कारण ऐठने नही पाते। इन प्रातो पर अस्थि ऊतक विशेषकर क्रियमाण होता है और यहीं नवीन अस्थिनिर्माण होता है। शरीर की लबाई इसी प्रात पर निर्भर रहती है। जब प्रात और काड आपस मे सयुक्त हो जाते है तो अस्थि की लबाई की वृद्धि रुक जाती है।

अस्थि—अस्थि अस्थिकाशिकाओं और कैलसियमयुक्त अंतर्कोशिकीय वस्तु की बनी रहती है। इस अतर्काशिकीय वस्तु मे सयोजक ऊतक के ततु कैलसियम कार्बनिट और फास्फेट के साथ स्थित होते है जिससे वस्तु मे कठोरता आ जाती है। अस्थि की कोशिकाएँ दो प्रकार की होती है एक अस्थिनिर्माणक, जो अस्थि ऊतक को बनाती और उसे कैलसियमयुक्त करती है और दूसरी अस्थिभजक, जिसका काम अस्थि के सब अवयवो का पोषण करना है। अस्थि बनने तथा अस्थियो के जीवन मे जो परिवर्तन होते है, वे सब इन दोनों क्रियाओं के परिणामस्वरूप होते है और शरीर मे होनेवाले रासायनिक तथा भौतिक या जैव परिवर्तन इनके निर्णायक या प्रारभ करनेवाले है।

लबी अस्थियो के अतिरिक्त शरीर मे कुछ छोटी, चपटी तथा क्रमहीन अस्थियाँ भी पाई जाती है। इनके भीतर मज्जानलिका नही होती। इनके नाम से इनका प्रकार स्पष्ट है। कपाल की चपटी अस्थियों मे दो स्तर होते है जिनके बीच मे कुछ मज्जा रहती है। मणिबध या प्रपाद की छोटी अस्थियाँ है। रीढ़ के कशेरुक क्रमहीन अस्थियाँ है, जिनका आकार विषम होता है। (म० कु० गो०)

अस्थि जातव शरीर का सबसे कठोर ऊतक है। नई अस्थि का रग गुलाबीपन लिए हुए श्वेत होता है। अस्थि को अनुप्रस्थ ओर से काटने पर उसमे दो प्रकार का ऊतक मिलता है—एक बाहर के भाग मे उपस्थित हाथीदाँत के समान सघन जिसको सहृत (कपैक्ट) अस्थि या स्तर कहते है, और दूसरा भीतर का अस्थि भाग जो ट्रैबीकुली या सूक्ष्म पलको के जाल का बना हुआ है जिसके बीच बीच मे सयोजन करते हुए अवकाश (स्पेस) बन गए है। इसको स्पजी या सुषिर अस्थि कहते है। सहृत भाग मे अवकाश अति सूक्ष्म होते हैं और ठोस पदार्थ अधिक। स्पजी भाग मे अवकाश बड़े है और ठोस पदार्थ अत्यल्प मात्रा मे।

शरीर मे अस्थि पर पर्यस्थि (पेरिऑस्टियम) कला चढ़ी रहती है जिसमे होकर रक्तवाहिकाएँ अस्थि मे पहुँचती है। लबी अस्थियो मे एक लबी नलिका उसके ऊपरी सिरे से नीचे तक जाती है। यह अस्थिमज्जा गुहा या नलिका कहलाती है और इसकी भित्ति पर अतरस्थि कला आच्छादित रहती है। अस्थिनलिका मे मज्जा भरी रहती है। (नि० सिं०)

अस्थिचिकित्सा शल्यतत्र का वह विभाग है, जिसमें अस्थि तथा सधियों के रोगो और विकृतियो या विरूपताओं की चिकित्सा का विचार किया जाता है। अतएव अस्थि या सधियो से सबधित अवयव, पेशी, कडरा, स्नायु तथा नाडियो के तद्गत विकारो का भी विचार इसी मे होता है।

यह विद्या अत्यत प्राचीन है। अस्थिचिकित्सा का वर्णन सुश्रुतसहिता तथा हिप्पोक्रेटीज़ के लेखो मे मिलता है। उस समय भग्नास्थियो तथा च्युतसधियों (डिस्लोकेशन) तथा उनके कारण उत्पन्न हुई विरूपताओं को हस्तसाधन, अगो के स्थिरीकरण और मालिश आदि भौतिक साधनो से ठीक करना ही इस विद्या का ध्येय था। किंतु जब से एक्स-रे, निश्चेतन विद्या (ऐनेस्थिज़ीया) और शस्त्रकर्म की विशेष उन्नति हुई है तब से यह विद्या शल्यतत्र का एक विशिष्ट विभाग बन गई है और अब अस्थि तथा अगो की विरूपताओं को बडे अथवा छोटे शस्त्रकर्म से ठीक कर दिया जाता है। न केवल यही, अपितु विकलाग शिशुओं और उन बालको के, जिनके अग टेढे-मेढे हो जाते है या जन्म से ही पूर्णतया विकसित नही होते, अगो को ठीक करके उपयोगी बनाना, उपयोगी कामो को करने के लिये अभ्यस्त करना तथा बालक को शिक्षित करके उसका पुन स्थापन (रीहैबिलिटेशन) करना, जिससे वह समाज का उपयोगी अग बन सके और अपना जीविकोपार्जन कर सके, ये सब आयोजन और प्रयत्न इस विद्या के ध्येय है।

हस्तसाधन (मैनिप्युलेशन) और स्थिरीकरण (इमोबिलाइज़ेशन)—इन दो क्रियाओं से अस्थिभग, सधिच्युति तथा अन्य विरूपताओं की चिकित्सा की जाती है। हस्तसाधन का अर्थ है टूटे हुए या अपने स्थान से हटे हुए भागो को हाथो द्वारा हिला डुलाकर उनको स्वाभाविक स्थिति मे ले आना। स्थिरीकरण का अर्थ है च्युत भागो को अपने स्थान पर लाकर अचल कर देना जिससे वे फिर हट न सके। पहले लकडी या खपची (स्प्लिंट) या लोहे के ककाल तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं से स्थिरीकरण किया जाता था, किंतु अब प्लास्टर ऑव पेरिस का उपयोग किया जाता है, जो पानी मे सानकर छोप देने पर पत्थर के समान कडा हो जाता है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म करके धातु की पट्टी और पेचो द्वारा या अस्थि की कील बनाकर टूटे अस्थिभागों को जोडा जाता है और तब अग पर प्लास्टर चढा दिया जाता है।

इसी प्रकार आवश्यकता होने पर सधियों, नाडियो तथा कडराओं को शस्त्रकर्म करके ठीक किया जाता है।

भौतिकी चिकित्सा (फिजियोथेरापी)—ऐसी चिकित्सा अस्थिचिकित्सा का विशेष महत्वपूर्ण अग है। शस्त्रकर्म तथा स्थिरीकरण के पश्चात् अग को उपयोगी बनाने के लिये यह अनिवार्य है। भौतिकी चिकित्सा के विशेष साधन ताप, उद्वर्तन (मालिश) और व्यायाम है।

जहाँ जैसा आवश्यक होता है वहाँ वैसे ही रूप मे इन साधनो का प्रयोग किया जाता है। शुष्क सेक, आर्द्र सेक या विद्युत्‌किरणों द्वारा सेक का प्रयोग हो सकता है। उद्वर्तन हाथों से या बिजली से किया जा सकता है। व्यायाम दो प्रकार के होते है—जिनको रोगी स्वय करता है वे सक्रिय होते हैं तथा जो दूसरे व्यक्ति द्वारा बलपूर्वक कराए जाते है वे निष्क्रिय कहलाते है। पहले प्रकार के व्यायाम उत्तम समझे जाते है। दूसरे प्रकार के व्यायामो के लिये एक शिक्षित व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो इस विद्या मे निपुण हो।

पुन स्थापन—यह भी चिकित्सा का विशेष अग है। रोगी की विरूपता को यथासभव दूर करके उसको कोई ऐसा काम सिखा देना जिससे वह जीविकोपार्जन कर सके, इसका उद्देश्य है। टाइपिंग, चित्र बनाना, सीना, बुनना आदि ऐसे ही कर्म है। यह काम विशेष रूप से समाजसेवको का है, जिन्हे अस्थिचिकित्सा विभाग का एक अग समझा जा सकता है।

(म० कु० गो०)

अस्थिमज्जा गूदे के समान मृदु ऊतक है जो सब अस्थियो के स्पजी भाग के अवकाशो मे, लबी अस्थियो की मध्यनलिका की गुहा मे और बडे आकार की हेवर्सी नलिकाओ मे पाया जाता है। भिन्न भिन्न अस्थियो मे और अयु के अनुसार उसके सघटन मे अतर होता है। मज्जा दो प्रकार की होती है—पीली और लाल।

पीली मज्जा का आधार तातव ऊतक होता है जिसमे रक्तवाहिकाएँ और कोशिकाएँ पाई जाती है जिनमे अधिकाश वसाकोशिकाएँ होती है। कुछ लाल मज्जा के समान कोशिकाएँ मिलती है।

लाल मज्जा का आधार सयोजी ऊतक होता है जिसके ढाँचे के जाल मे रजनरागी (अरजीरॉफिलिक) ततु और उससे सबधित जीवाणुभक्षी कोशिकाएँ तथा कई प्रकार की रक्तकणिकाएँ और उनके पूर्वगामी रूप, कुछ वसाकोशिकाएँ तथा कुछ लिफ पर्व होते है। (नि० सि०)

अस्थिसंध्याति (ऑस्टियो-आर्थ्राइटिस) नामक रोग मे दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं. (१) अस्थियो के कुछ भाग गल जाते है और (२) बहिस्थ भाग मे नई अस्थि बन जाती है। प्राय मध्यस्थ भाग गलता है। जानुसधि मे अर्धचद्र उपास्थि के टूटे हुए भाग के रह जाने से ऐसा होता है। किंतु जहाँ किसी व्यक्ति मे अनेक वर्षो मे भी इस प्रकार के परिवर्तन नही होते, वहाँ दूसरे व्यक्ति मे थोडे ही समय मे ऐसे परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। अस्वाभाविक प्रकार से बहुत समय तक सधि के अवयवो पर भार पडना तथा कुछ रोगविषो की क्रिया या सधि अथवा उसके समीप के अस्थिभाग का कुसयोजित होना, पास की अस्थियो के रोग, स्नायुओ का ढीला पड जाना, सधि का अतिचलायमान हो जाना तथा इसी प्रकार के अन्य कारण, जिनसे चलने मे सधि के अतर्गत अस्थिभाग पर अनुचित दिशा मे भार पडता है, उपर्युक्त परिवर्तनो के कारण होते है। किंतु परिवर्तनो की ठीक ठीक उत्पत्तिविधि का अभी तक ज्ञान नही हो सका है। (मु० स्व० व०)

अस्पताल या चिकित्सालय तथा औषधालय मानव सभ्यता के आदिकाल से ही बनते चले आए है। वेद और पुराणो के अनुसार स्वय भगवान् ने प्रथम चिकित्सक के रूप मे अवतार लिया था। ५,००० वर्ष या इससे भी प्राचीन इतिहास मे चिकित्सालयो के प्रमाण मिलते है, जिनमे चिकित्सक तथा शल्यकोविद (सर्जन) काम करते थे। ये चिकित्सक तथा सर्जन रोगियो को रोगमुक्त करने और उनके आर्तिनाशन तथा मानवता की ज्ञानवृद्धि के भावो से प्रेरित होकर स्वयसेवक की भाँति अपने कर्म मे प्रवृत्त रहते थे। ज्यो ज्यो सभ्यता तथा जनसख्या बढती गई त्यो त्यो सुसज्जित चिकित्सालयो तथा सुसगठित चिकित्सा विभाग की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी। अतएव ऐसे चिकित्सालय सरकार तथा सेवाभाव से प्रेरित जनसमुदाय की ओर से खोले जाने का प्रमाण इतिहास मे मिलता है। हमारे देश मे दूर दूर के गाँवो मे भी कोई न कोई ऐसा व्यक्ति होता था, चाहे वह अशिक्षित ही हो, जो रोगियो को दवा देता और उनकी चिकित्सा करता था। इसके पश्चात् आधुनिक समय मे तहसील तथा जिलो के अस्पताल बने जहाँ अतरग (इनडोर) और बहिरग (आउटडोर) विभागो का प्रबध किया गया। आजकल बडे बडे नगरो मे बडे बडे अस्पताल बनाए गए हैं, जिनमे भिन्न भिन्न चिकित्सा विभागो के लिये विशेषज्ञ नियुक्त किए गए हैं। प्रत्येक आयुर्विज्ञान (मेडिकल) शिक्षण सस्था के साथ बडे बडे अस्पताल सबद्ध है और प्रत्येक विभाग एक विशेषज्ञ के अधीन है, जो कालेज मे उस विषय का शिक्षक भी होता है। आजकल यह प्रयत्न किया जा रहा है कि गाँवो मे भी प्रत्येक पाँच मील के क्षेत्र मे चिकित्सा का एक केंद्र अवश्य हो।

आधुनिक अस्पताल की आवश्यकताएँ अत्यत विशिष्ट हो गई है और उनकी योजना बनाना भी एक विशिष्ट कौशल या विद्या है। प्रत्येक अस्पताल का एक बहिरग विभाग और एक अतरग विभाग होता है, जिनका निर्माण वहाँ की जनता की आवश्यकताओ के अनुसार किया जाता है।

बहिरंग विभाग—बहिरग विभाग मे केवल बाहर के रोगियो की चिकित्सा की जाती है। वे ओषधि लेकर या मरहम पट्टी करवाकर अपने घर चले जाते है। इस विभाग मे रोगी के रहने का प्रबध नही होता। यह विभाग नगर के बीच मे होना चाहिए जहाँ जनता का पहुँचना सुगम हो। इसके साथ ही एक आपात (इमरजेंसी) विभाग भी होना चाहिए जहाँ आपद्ग्रस्त रोगियो का, कम से कम, प्रथमोपचार तुरत किया जा सके। आधुनिक अस्पतालो मे इस विभाग के बीच मे एक बडा कमरा, जिसमे रोगी प्रतीक्षा कर सके, बनाया जाता है। उसमे एक ओर 'पूछताछ' का स्थान रहता है और दूसरी ओर अभ्यर्थक (रिसेप्शनिस्ट) का कार्यालय, जहाँ रोगी का नाम, पता आदि लिखा जाता है और जहाँ से रोगी को उपयुक्त विभाग मे भेजा जाता है। अभ्यर्थक का विभाग उत्तम प्रकार से, सब सुविधाओ से युक्त, बनाया जाय तथा उसमे कर्मचारियो की पर्याप्त सख्या हो, जो रोगी को उपयुक्त विभाग मे पहुँचाएँ तथा उसकी अन्य सब प्रकार की सहायता करे। बहिरग विभाग मे निम्नलिखित अनुविभाग होने चाहिए १ चिकित्सा, २ शल्य, ३ व्याधिकी (पैथॉलोजी), ४ स्त्रीरोग, ५ विकलाग (ऑर्थोपीडिक), ६ शालाक्य (इयर-नोज़-थ्रोट), ७ नेत्र, ८ दत, ९ क्षयरोग, १० चर्म और रतिजरोग, ११ बालरोग (पीडियेट्रिक्स) और १२ आपत्ति अनुविभाग। प्रत्येक अनुविभाग मे एक विशेषज्ञ, उसका हाउस-सर्जन, एक क्लार्क, एक प्रविधिज्ञ (टेकनीशियन), एक कक्ष-बाल-सेवक (वार्ड-बॉय) और एक अर्दली होना चाहिए। प्रत्येक अनुविभाग निदानविशेष तथा चिकित्साविशेष के आवश्यक यत्रो और उपकरणो से सुसज्जित होना चाहिए। व्याधिकी विभाग की प्रयोगशाला मे नित्यप्रति की परीक्षाओ के सब उपकरण होने चाहिए, जिससे साधारण आवश्यक परीक्षाएँ करके निदान मे सहायता की जा सके। विशेष परीक्षाओ तथा विशेषज्ञो द्वारा परीक्षा किए जाने के पश्चात् ही रोग का निदान हो सकता है और रोग निश्चित हो जाने के पश्चात् ही चिकित्सा प्रारभ होती है। अतएव रोगी को अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी पडती है। फलत उसके बैठने तथा उसकी अन्य सुविधाओ का उचित प्रबध होना चाहिए।

चिकित्सा—चिकित्सा सबधी कार्य दो भागो मे विभक्त किए जा सकते है: (१) नुसखे के अनुसार ओषधि देकर रोगी को विदा करना, और (२) साधारण शस्त्रकर्म, उद्वर्तन, तापचिकित्सा आदि का आयोजन करना। इस कारण प्रत्येक बहिरग विभाग मे उत्तम, सुसज्जित, कुशल सहायको तथा नर्सो से युक्त एक आपरेशन थिएटर होना चाहिए। उद्वर्तन, अन्य भौतिकी-चिकित्सा-प्रक्रियाओ तथा प्रकाश-चिकित्साओ के लिये उनके उपयुक्त विभागो का उचित प्रबध होना चाहिए। इससे अतरग विभाग से रोगी को शीघ्र नीरोग करके मुक्त किया जा सकेगा और वहाँ विषम रोगियो की चिकित्सा के लिये अधिक स्थान और समय उपलब्ध होगा।

आपद्-अनुविभाग—बहिरग विभाग का एक आवश्यक अग आपद-अनुविभाग है। इसमे अहर्निश २४ घटे काम करने के लिये कर्मचारियो की नियुक्ति होनी चाहिए। निवासी-सर्जन (रेजिडेंट-सर्जन), नर्स, अर्दली, बालसेवक, मेहतर आदि इतनी सख्या मे नियुक्त किए जायँ कि चौबीसो घटे रोगी को उनकी सेवा उपलब्ध हो सके। इस विभाग मे सक्षोभ (शॉक) की चिकित्सा विशेष रूप से करनी होगी। इस कारण इस चिकित्सा के लिये सब प्रकार के आवश्यक उपकरणो तथा ओषधियो से यह विभाग सुसज्जित होना चाहिए। इसकी तत्परता तथा दक्षता पर ही रोगी का जीवन निर्भर रहता है। अतएव यहाँ के कर्मचारी अपने कार्य मे निपुण हो, तथा सभी प्रकार की व्यवस्था यहाँ अति उत्तम होनी चाहिए। ग्लूकोज़, प्लाज्मा, रक्त, तापचिकित्सा के यत्र, उत्तेजक ओषधियाँ, इजेक्शन आदि पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होने चाहिए। यहाँ एक्स-रे का एक चलयत्र (मोबाइल प्लाट) भी होना चाहिए, जिसमे अस्थिभग, अस्थि और सधि सबधी विकृतियाँ, फुप्फुस के रोग या हृदय की दशा देखकर रोग का निश्चय किया जा सके। यत्रो तथा वस्त्रो आदि के विसक्रमण के लिये भी पूर्ण प्रबध होना आवश्यक है। यदि यह विभाग किसी शिक्षासस्था के अधीन हो तो वहाँ एक व्याख्यान एव प्रदर्शन का कमरा होना आवश्यक है, जो इतना बडा हो कि समस्त विद्यार्थी वहाँ एक साथ बैठ सके। शिक्षको के विश्राम के निमित्त तथा शिक्षासामग्री रखने और रात्रि मे काम करनेवाले कर्मचारियो के लिये भी अलग कमरे हो। सारे विभाग मे उद्घावन पद्धति द्वारा शोधित होनेवाले शौचस्थान होने चाहिए। ऐसे शौचस्थानो का कर्मचारियो तथा रोगियो के लिये पृथक् पृथक् होना आवश्यक है।

इस विभाग का सगठन करते समय वहाँ होनेवाले कार्य, कार्यकर्ताओ की सख्या, प्रत्येक अनुविभाग मे चिकित्सार्थी रोगियो की सख्या, उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ तथा भविष्य मे होनेवाले अनुमित विस्तार, इन सब बातो का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। प्रतिदिन का अनुभव है कि जिस भवन का आज निर्माण किया जाता है वह थोडे ही समय मे कार्याधिक्य के कारण अपर्याप्त हो जाता है। पहले से ही इसका विचार कर लेना उचित है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि बहिरग विभाग मे बहुत अधिक व्यय करना पडता है। आधुनिक समय मे चिकित्सा का सिद्धात ही यह है कि कोई चाहे कितना ही निर्धन क्यो न हो, उसे उत्तम से उत्तम चिकित्सा के आयोजनो तथा ओषधियो से अपनी निर्धनता के कारण वचित न होना पडे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कितने धन की आवश्यकता है इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सरकार, देशप्रेमी और श्रीसपन्न व्यक्तियो की सहायता से इस उद्देश्य की पूर्ति असंभव न होनी चाहिए।

अतरग विभाग—अतरग विभाग मे विषम रोगो तथा रोगी की अवस्था को देखकर चिकित्सा करने का प्रबध होता है। प्रात, नगर या क्षेत्र की आवश्यकताओ और वहाँ उपलब्ध आर्थिक सहायता के अनुसार ही छोटे या बडे विभाग बनाए जाते है। थोडे (दस या बारह) रोगियो से लेकर सहस्र रोगियो को रखने तक के अतरग विभाग बनाए जाते है। यह सब पर्याप्त धनराशि और कर्मचारियो की उपलब्धि पर निर्भर है। बहुत बार धन उपलब्ध होने पर भी उपयुक्त कर्मचारी नही मिलते। हमारे देश और उत्तर प्रदेश मे उपचारिकाओ (नर्सो) की इतनी कमी है कि कितने ही अस्पताल खाली पडे है। इसका कारण है मध्यम श्रेणी के परिवारो की उपचार व्यवस्था मे अरुचि। कुछ सामाजिक कारणो से उपचारिकाओ को बहुत अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता; यह नितात भ्रममूलक है। जनता की ऐसी धारणाओ मे तनिक भी औचित्य नही है।

अतरग विभाग मे भर्ती किए जाने के पश्चात् रोगी की व्यथाओ का पूर्ण अन्वेषण विशेषज्ञ अपने सहायको तथा व्याधिकी प्रयोगशाला, एक्स-रे विभाग आदि के सहयोग से करता है। इस कारण इन विभागो को नवीनतम उपकरणो से सुसज्जित रखना आवश्यक है। शल्य विभाग के लिये इसका महत्व विशेष रूप से अधिक है जहाँ कर्मचारियो का दक्ष होना और उनमे पारस्परिक सहयोग सफलता के लिये अनिवार्य है। कक्ष-बालसेवक से लेकर विशेषज्ञ सर्जन तक सबके सहयोग की आवश्यकता है। केवल एक नर्स की असावधानी से सारा शस्त्रकर्म असफल हो सकता है।

एक्स-रे तथा उत्तम आपरेशन थिएटर इस विभाग के अत्यत आवश्यक अग है।

उत्तम उपचार सारी सस्था की सफलता की कुजी है, इसी से अस्पताल का नाम या बदनामी होती है। अस्पताल तथा आधुनिक चिकित्सापद्धति का विशेष महत्वशाली अग उपचारिकाएँ है। इस कारण उत्तम शिक्षित उपचारिकाओ को तैयार करने की आयोजना सरकार की ओर से की गई है।

अस्पताल का निर्माण—आधुनिक अस्पतालो का निर्माण इजीनियरिंग की एक विशेष कला बन गई है। अस्पतालो के निर्माण के लिये राज्य के मेडिकल विभाग ने आदर्श मानचित्र (प्लान) बना दिए है, जिनमे अस्पताल की विशेष आवश्यकताओ और सुविधाओ का ध्यान रखा गया है। सब प्रकार के छोटे बडे अस्पतालो के लिये उपयुक्त नकशे तैयार कर दिए गए है जिनके अनुसार अपेक्षित विस्तार के अस्पताल बनाए जा सकते है।

अस्पताल बनाने के पूर्व यह भली भाँति समझ लेना उचित है कि अस्पताल खर्च करनेवाली सस्था है, धनोपार्जन करनेवाली नही। आधुनिक अस्पताल बनाने के लिये आरभ मे ही एक बडी धनराशि की आवश्यकता पडती है, उसे नियमित रूप से चलाने का खर्च उससे भी बडा प्रश्न है। बिना इसका प्रबध किए अस्पताल बनाना भूल है। धन की कमी के कारण आगे चलकर बहुत कठिनाई होती है और अस्पताल का निम्नलिखित उद्देश्य पूरा नही हो सकता

> नत्वह कामये राज्य न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
> कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

हमारा देश अति विस्तृत तथा उसकी जनसंख्या अत्यधिक है। उसी प्रकार यहाँ चिकित्सा सबधी प्रश्न भी उतने ही विस्तृत और जटिल हैं। फिर जनता की निर्धनता तथा शिक्षा की कमी इस प्रश्न को और भी जटिल कर देती है। इस कारण चिकित्साप्रबध की आवश्यकताओ के अध्ययन के लिये सरकार की ओर से कई बार कमेटियाँ नियुक्त की गई है। भोर कमेटी ने जो सिफारिशे की है उनके अनुसार प्रत्येक १० से २० सहस्र जनसख्या के लिये ७५ रोगियो को रखने योग्य एक ऐसा अस्पताल होना चाहिए जिसमे छह डाक्टर और छह उपचारिकाएँ तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त हो। यह प्राथमिक अग कहलाएगा। ऐसे २० प्राथमिक अगो पर एक माध्यमिक अग भी आवश्यक है। यहाँ के अस्पताल मे १,००० अतरंग रोगियो को रखने का प्रबध हो। यहाँ प्रत्येक चिकित्साशाखा के विशेषज्ञ नियुक्त हो तथा परिचारिकाएँ और अन्य कर्मचारी भी हो। एक्स-रे, राजयक्ष्मा, सर्जरी, चिकित्सा, व्याधिकी, प्रसूति, अस्थिचिकित्सा आदि सब विभाग पृथक् पृथक् हो। माध्यमिक अग से परे और उससे बडा, केद्रीय या जिले का विभाग या अग हो, जहाँ उन सब प्रकार की चिकित्साओ का प्रबध हो, जिनका प्रबध माध्यमिक अग के अस्पताल मे न हो। यही पर सबसे बड़े सचालक का भी स्थान हो।

इस आयोजन का समस्त अनुमित व्यय भारत सरकार की सपूर्ण आय से भी अधिक है। इस कारण यह योजना अभी तक कार्यान्वित नही हो सकी है।

विशिष्ट अस्पताल—आजकल जनसख्या और उसी के अनुसार रोगियो की सख्या मे वृद्धि होने से विशेष प्रकार के अस्पतालो का निर्माण आवश्यक हो गया है। प्रथम आवश्यकता छुतहे रोगो के पृथक् अस्पताल बनाने की होती है, जहाँ केवल छुतहे रोगी रखे जाते हैं। इसी प्रकार राजयक्ष्मा के रोगियो के लिये पृथक् अस्पताल आवश्यक है। मानसिक रोग, अस्थिरोग, बालरोग, स्त्रीरोग, प्रसूतिगृह, विकलागता आदि के लिये बडे नगरो मे पृथक् अस्पताल आवश्यक है। छोटे नगरो मे एक ही अस्पताल मे कम से कम भिन्न भिन्न अपेक्षित विभाग बनाना आवश्यक है। इन अस्पतालो का निर्माण भी उनके आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न प्रकार से करना होता है और उसी प्रकार वहाँ के कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है। इन सब प्रकार के अस्पतालो के मानचित्र तथा वहाँ की समस्त आवश्यकताओ की सूची सरकार ने तैयार कर दी है, जिनके अनुसार सब प्रकार के अस्पताल बनाए जा सकते है।

विश्राम विभाग—बडे नगरो मे, जहाँ अस्पतालो की सदा कमी रहती है, उग्र अवस्था से मुक्त होने के पश्चात्, दुर्बल स्वास्थ्योन्मुख व्यक्तियो तथा अत्यधिक समयसाध्य चिकित्सावाले रोगियो के लिये पृथक् विभाग—रुग्णालय (इनफर्मरी)—बनाना आवश्यक है। इससे अस्पतालो की बहुत कुछ कठिनाई कम हो जाती है और उग्रावस्था के रोगियो को रखने के लिये स्थान सुगमता से मिल जाता है।

चिकित्सालय और समाजसेवक—आजकल समाजसेवा चिकित्सा का एक अग बन गई है और दिन दिन चिकित्सालय तथा चिकित्सा मे समाजसेवी का महत्व बढता जा रहा है। औषधोपचार के अतिरिक्त रोगी की मानसिक, कौटुबिक तथा सामाजिक परिस्थितियो का अध्ययन करना और रोगी की तज्जन्य कठिनाइयो का दूर करना समाजसेवी का काम है। रोगी की रोगोत्पत्ति मे उसकी पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ कहाँ तक कारण थी, उसकी रुग्णावस्था मे उसके कुटुब को किन कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है तथा रोग से या अस्पताल से रोगी के मुक्त हो जाने के पश्चात् कौन सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, उनका रोगी पर क्या प्रभाव होगा आदि रोगी के सबध की ये सब बाते समाजसेवी के अध्ययन और उपचार के विषय है। यदि रोगमुक्त होने के पश्चात् वह व्यक्ति अर्थसकट के कारण कुटुबपालन मे असमर्थ रहा, तो वह पुन. रोगग्रस्त हो सकता है। रोगकाल मे उसके कुटुब की आर्थिक समस्या कैसे हल हो, इसका प्रबंध समाजसेवी का कर्तव्य है। इस प्रकार की प्रत्येक समस्या समाजसेवी को हल करनी पडती है। इससे समाजसेवी का चिकित्सा मे महत्व समझा जा सकता है। उग्र रोग की अवस्था मे उपचारक य,

उपचारिका की जितनी आवश्यकता है, रोगमुक्ति के पश्चात् उस व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा जीवन को उपयोगी बनाने मे समाजसेवी की भी उतनी ही आवश्यकता है।

आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासंस्थाओं में अस्पताल—आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासंस्थाओं (मेडिकल कालेजो) मे चिकित्सालयो का मुख्य प्रयोजन विद्यार्थियो की चिकित्सा संबंधी शिक्षा तथा अन्वेषण है। इस कारण ऐसे चिकित्सालयो के निर्माण के सिद्धांत कुछ भिन्न होते है। इनमे प्रत्येक विषय की शिक्षा के लिये भिन्न भिन्न विभाग होते हैं। इनमे विद्यार्थियों की सख्या के अनुसार रोगियो को रखने के लिये समुचित स्थान रखना पडता है, जिसमे आवश्यक शय्याएँ रखी जा सके। साथ ही शय्याओं के बीच इतना स्थान छोडना पडता है कि शिक्षक और उसके विद्यार्थी रोगी के पास खडे होकर उसकी परीक्षा कर सकें तथा शिक्षक रोगी के लक्षणो का प्रदर्शन और विवेचन कर सके। इस कारण ऐसे अस्पतालो के लिये अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। फिर, प्रत्येक विभाग को पूर्णतया आधुनिक यत्रों, उपकरणों आदि से सुसज्जित करना होता है। वे शिक्षा के लिये आवश्यक हैं। अतएव ऐसे चिकित्सालयो के निर्माण और सगठन मे साधारण अस्पतालो की अपेक्षा बहुत अधिक व्यय होता है। शिक्षको और कर्मचारियो की नियुक्ति भी केवल श्रेष्ठतम विद्वानो में से, जो अपने विषय के मान्य व्यक्ति हो, की जाती है। अतएव ऐसे चिकित्सालय चलाने का नित्यप्रति का व्यय अधिक होना स्वाभाविक है।

ऐसी सस्थाओ के निर्माण, सज्जा तथा कर्मचारियो का पूरा ब्योरा इंडियन मेडिकल काउसिल ने तैयार कर दिया है। यही काउसिल देश भर की शिक्षासस्थाओ का नियत्रण करती है। जो सस्था उसके द्वारा निर्धारित मापदड तक नही पहुँचती उसको काउसिल मान्यता प्रदान नही करती और वहाँ के विद्यार्थियों को उच्च परीक्षाओ मे बैठने के अधिकार से वचित रहना पडता है। शिक्षा के स्तर को उच्चतम बनाने मे इस काउसिल ने स्तुत्य काम किया है।

ऐसे अस्पतालो मे विशेष प्रश्न पर्याप्त स्थान का होता है। कमरो का आकार और संख्या दोनो को ही अधिक रखना पडता है। फिर, प्रत्येक विभाग की आवश्यकता, विद्यार्थियो और शिक्षको की सख्या आदि का ध्यान रखकर चिकित्सालय की योजना तैयार करनी पडती है। (च० भा० मि०)

प्रमुख अस्पताल—भारत के प्रत्येक मुख्य नगर मे सरकार तथा दानी सज्जनो द्वारा स्थापित अनेक अस्पताल है। नीचे केवल कुछ प्रमुख तथा विशिष्ट रोगो से पीडितो के लिये अस्पतालो के नाम दिए जाते है —

अमृतसर (पजाब)—पजाब मेटल हास्पिटल (केवल मानसिक रोगो की चिकित्सा के लिये), पंजाब डेटल हास्पिटल (केवल दतरोग का चिकित्सा स्थान)।

इंदौर (मध्यप्रदेश). इन्फेक्शस डिजीजेज हास्पिटल (सक्रामक रोगो की चिकित्सा के लिये), कल्याणमल नर्सिंग होम (रोगियो की देखभाल और उपचार के लिये विशिष्ट सस्था), लेपर असाइलम (कुष्ठरोगियो के लिये), मेटल हास्पिटल (मानसिक रोगो का चिकित्सालय) टी० बी० क्लिनिक (क्षयरोग की चिकित्सा के लिये), टी० बी० सैनाटोरियम (क्षयरोग के रोगियो की देखभाल तथा चिकित्सा की सस्था)।

इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) कमला नेहरू हास्पिटल (मातृत्व सबधी अस्पताल)।

उज्जैन (मध्यप्रदेश) लेपर असाइलम (कुष्ठरोग मे पीडितो के लिये), टी० बी० क्लिनिक (क्षयरोग की चिकित्सा का अस्पताल)।

कटक (उडीसा) ए० सी० बी० मेडिकल कालेज हास्पिटल (कठिन रोगो की परीक्षा तथा चिकित्सा सस्थान)।

कलकत्ता (पश्चिमी बगाल) अल्बर्ट विक्टर लेपर हास्पिटल, १८, गोबरा रोड, एताली (कुष्ठरोग का विशिष्ट चिकित्सालय), आर० जी० कार मेडिकल कालेज हास्पिटल, १ बेलगछिया रोड (कठिन रोगो के अध्ययन और चिकित्सा के लिये), कलकत्ता मेडिकल स्कूल और हास्पिटल, ३०१-३, अपर सरकुलर रोड (कठिन रोगो की परीक्षा और चिकित्सा की संस्था), कारमाइकेल हास्पिटल फ़ॉर ट्रापिकल डिजीजेज, सेंट्रल ऐवेन्यू, (उष्णप्रधान देशों के विशेष रोगविषयक अनुसधान तथा चिकित्सासस्थान), नीलरतन सरकार मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, सियालदह (रोगपरीक्षा तथा चिकित्सा का उत्तम प्रबध), मेडिकल कालेज हास्पिटल, ८८ कालेज स्ट्रीट (यहाँ सब रोगो के साथ साथ दतरोगो के अध्ययन तथा चिकित्सा का विशेष प्रबध है), सेंट कैथरीन्स हास्पिटल, ६८ डाएमड हारबर रोड, खिदिरपुर (यहाँ असाध्य रोगो से पीडितो के लिये निवास तथा चिकित्सा का प्रबध है), ऑल इंडिया इंस्टिट्यूट ऑव हाइजीन ऐंड पब्लिक हेल्थ, ११०, चित्तरजन ऐवेन्यू, कलकत्ता (निरोधक तथा सामाजिक आयुर्विद्या पर शोध तथा चिकित्सा)।

कालिकट (केरल) गवर्नमेट विमेन ऐंड चिल्ड्रेस हास्पिटल (स्त्रियो और बालको की चिकित्सा के लिये)।

चडीगढ़ (पजाब) पोस्ट ग्रैजुएट रिसर्च सेटर तथा अस्पताल, सेक्टर १२, चडीगढ (इसमे जीर्ण रोगो, असाध्य रोगो तथा आँख की चिकित्सा का विशिष्ट प्रबध है)।

त्रिचूर (केरल) एडवर्ड मेमोरियल मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व सबधी विशेष अस्पताल)।

त्रिवेंद्रम (केरल) विमेन ऐंड चिल्ड्रेस हास्पिटल (स्त्रियो और बालको के रोगो के लिये)।

दिल्ली इन्फेक्शस डिजीजेज हास्पिटल (सक्रामक रोगो का अस्पताल), इरविन हास्पिटल, दिल्ली गेट (सब रोगो के लिये प्रमुख अस्पताल), लेडी हार्डिंज मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, लेडी हार्डिंज रोड (रोगो के अध्ययन तथा चिकित्सा का प्रमुख अस्पताल), विलिंगडन हास्पिटल, इर्विन रोड (रोगियो के रहने के लिये विशेष अच्छा प्रबध है), मिसेज बी० ए० म० मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व सबधी विशिष्ट अस्पताल), ऑल इंडिया इंस्टिट्यूट ऑव मेडिकल साइंसेज, असारीनगर, नई दिल्ली-१६, वल्लभ भाई पटेल चेस्ट इंस्टिट्यूट, दिल्ली (क्षयरोग, फुफ्फुसरोग तथा इनसे सबधित आयुर्विज्ञान मे शोध तथा चिकित्सा)।

नूरनद (केरल) लेप्रसी सैनाटोरियम (कुष्ठरोग का विशिष्ट अस्पताल)।

पटना (बिहार) पटना मेडिकल कालेज हास्पिटल, बाँकीपुर (कर्कटरोग की विशिष्ट चिकित्सा यहाँ उपलब्ध है)।

बँगलोर (मैसूर) मेटल अस्पताल (मानसिक रोगो का चिकित्सालय), मिंटो ऑफ्थैल्मिक हास्पिटल (चक्षुरोगो का विशिष्ट अस्पताल) लेपर असाइलम (कुष्ठरोग की चिकित्सासस्था), एपिडेमिक डिजीजेज हास्पिटल (महामारीवाले रोगो की चिकित्सा का अस्पताल), गवर्नमेट टी० बी० सैनाटोरियम (क्षयरोग चिकित्सालय), आइसोलेशन हास्पिटल (सक्रामक रोगो का चिकित्सासस्थान), मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व सबधी कष्टो के निवारणार्थ)।

बबई इन्फेक्शस डिजीजेज हास्पिटल, आर्थर रोड, जैकब सरकिल (सक्रामक रोगो की विशिष्ट चिकित्सा), एकवर्थ लेपर होम, माटुगा (कुष्ठरोग चिकित्सालय), जमशेदजी जीजीभाई हास्पिटल, बाबुला टैक रोड, बाइकला (इस अस्पताल मे ४७८ रोगियो के निवास का प्रबध है। जननेंद्रिय सबधी रोगो का विभाग दिन और रात खुला रहता है), ताता मेमोरियल हास्पिटल, परेल (कर्कटरोग की चिकित्सा के लिये भारत का प्रमुख अस्पताल), बाई मोतीबाई ऐंड सर डी० एम० पेटिट हास्पिटल, मजगाव रोड, बाइकला (स्त्रियो के रोगो के लिये), बैरामजी जीजीभाई हास्पिटल फार चिल्ड्रेन, मजगाँव रोड, बाइकला (१२ वर्ष से कम आयुवाले बच्चे सब प्रकार के रोगो की चिकित्सा के लिये भरती किए जाते है), म्युनिसिपल ग्रुप ऑव टी०बी० हास्पिटल्स, जेरबाई वाडिया रोड, सिवडी (क्षयरोगियो की विशिष्ट चिकित्सा के लिये, इस अस्पताल मे ३०० रोगियो के निवास का प्रबध है, यह सब प्रकार के आधुनिक यत्रो से सुसज्जित है)।

मटनचेरी (केरल) विमेन ऐंड चिल्ड्रेस हास्पिटल (स्त्रियो और बालको के रोगो का अस्पताल)।

मद्रास गवर्नमेट ऑफ्थैल्मिक हास्पिटल, २० मारशल रोड, एग्मोर (चक्षुरोगो की विशेष चिकित्सा के लिये); गवर्नमेंट जेनरल हास्पिटल (सब प्रकार के रोगो का प्रमुख चिकित्सालय); गवर्नमेंट मेंटल हास्पिटल,

लोकाक गार्डन, किलपाक (मानसिक रोगों का चिकित्सालय), गवर्नमेंट स्टैनली हास्पिटल, ओल्ड जेल स्ट्रीट (मेडिकल कालेज से संबधित, सर्वरोग चिकित्सा का प्रमुख संस्थान), गवर्नमेंट हास्पिटल फॉर विमेन ऐंड चिल्ड्रेन, एग्मोर (स्त्रियों और बालकों के लिये विशेष चिकित्सालय), गवर्नमेंट टयुबरक्युलोसिस हास्पिटल, रोयापेट तथा गवर्नमेंट टयुबरक्युलोसिस इंस्टिटयूट, स्पर टैंक रोड, एग्मोर (क्षयरोग चिकित्सा के विशिष्ट अस्पताल); कस्तूरबा गाधी हास्पिटल फॉर विमेन ऐंड चिल्ड्रेन, ट्रिप्लिकेन (स्त्रियों और बालकों के लिये विशिष्ट चिकित्सालय)।

रांची (बिहार) इंडियन मेंटल हास्पिटल (मानसिक रोगों का प्रसिद्ध अस्पताल)।

लखनऊ (उत्तर प्रदेश), गाधी मेमोरियल हास्पिटल (सब कठिन रोगों की परीक्षा तथा चिकित्सा के लिये मेडिकल कालेज से संबद्ध प्रमुख अस्पताल)।

वाराणसी (उत्तर प्रदेश) सर सुंदरलाल अस्पताल वाराणसी (यहाँ कुछ दुस्साध्य रोगों का इलाज संभव हो गया है)।

वेलोर (उत्तरी आर्काड़, तमिलनाडु) क्रिश्चियन मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, वेलोर (शल्यचिकित्सा का प्रमुख अस्पताल)।

शिलांग (आसाम) रीड प्राविंशियल चेस्ट हास्पिटल (वक्ष संबंधी रोगों का विशेष अस्पताल)।

सतारा (महाराष्ट्र) मिशन हास्पिटल, मीरज (क्षयरोगों की विशिष्ट चिकित्सा), लेप्रसी सैनाटोरियम, मीरज (कुष्टरोग का प्रमुख चिकित्सालय)।

सीतापुर (उत्तर प्रदेश) नेत्र-चिकित्सा-केंद्र, सीतापुर (आँख के सभी रोगों की चिकित्सा आधुनिक पद्धति तथा उपकरणों से की जाती है)।

हैदराबाद (आंध्र) ओस्मानिया जेनरल हास्पिटल (सब रोगों की विशिष्ट चिकित्सा के लिये), निगमपल्लि आइसोलेशन हास्पिटल (संक्रामक रोगों से पीड़ितों के लिये)। (भ० दा० व०, कै० च० श०)

अस्पृश्य भारत का एक अछूत मानव परिवार, जिनके संस्पर्श से अशौच होता है, अस्पृश्य कहलाते है। कुछ व्यक्तियों का स्पर्श कुछ सीमित काल के लिये ही निषिद्ध है, यथा, मृत्यु एवं जन्म के अवसर पर सपिंड और समानोदकों का अथवा रजस्वला स्त्रियों का। किंतु कुछ जातियाँ सर्वदा ही साधारणत स्पर्श के द्वारा अशौच का कारण है और इन्हे ही अछूत अथवा अस्पृश्य (विष्णुधर्मसूत्र, ५, १०८) कहा जाता है (मनु० ८, ६१, वेदव्यास १, ११-१२)। 'अत्य' (वसिष्ठधर्मसूत्र १६।३०) तथा 'बाह्य' (आपस्तंब १, २, ३६, १४) भी इनके अभिधान थे। अत्यावसायी (गौतम २०।१, मनु० ४।७६) इस कोटि मे निम्नतम थे। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२८५) अत्यजो का दो विभाग करती हे--प्रथम उच्च अत्यज और द्वितीय निम्न सात अत्यावसायी जातियाँ--चांडाल, श्वपच, क्षत्ता, सूत, वैदेहिक, मागध और आयोगव। अत्यज की सूचियाँ स्मृतियों मे भिन्न भिन्न उपलब्ध होती हैं। किंतु चमार, धोबी, कैवर्त, मेद, भिल्ल, नट, कोलिक प्राय सभी मे पाए जाते हैं। इस सूची का समर्थन अलबेरूनी (सचाउ का भाषातर १, पृ० १०१) भी करता है। उसके अनुसार अछूत की दो श्रेणियाँ थी पहली मे केवल आठ जातियाँ--धोबी, चमार, बसोर, नट, कैवर्त, मल्लाह, जुलाहा और कवच बनानेवाले तथा दूसरी कोटि मे--हाडी, डोम और बधतु आते है। आधुनिक काल मे इनके लिये दलित (अ० डिप्रेस्ड), अनुसूचित (शिड्यूल्ड) और हरिजन नाम भी प्राप्त हुए हैं।

प्रतिलोमप्रसूति, वैदिक परंपरा से बिलगाव, आरूढपतन (सन्यासी का गृहस्थाश्रम मे प्रवेश), देवलकवृत्ति, गोमासभक्षण, आदिम जातियों की सास्कृतिक हीनता, हिंसक एवं अछूत व्यवसाय, कबीले से अलग हो जाना आदि अस्पृश्यता के कारण बतलाए गए है। किंतु इनमे से किसी को भी एकमेव कारण नही माना जा सकता। साधारणत ऐसा प्रतीत होता है कि सांस्कृतिक हीनता, जातिगत विभिन्नता एवं अछूत व्यवसाय के विविध तत्वों ने इनमें विशेष योग दिया।

वैदिक काल मे अछूत प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण नही मिलते। पौल्कस (वाजसनेयी, स० ३०, २१), बीभत्स एवं चांडाल और निषाद (वही, ३०, १७, मैत्रायणी १६, ११) पुरुषमेध की बलि के योग्य समझे गए। छांदोग्य मे शूकर तथा कुत्ते के समान ही चांडाल भी 'कपूय' माना गया। उपमन्यु के अनुसार निषाद पंचमवर्ण था, किंतु 'विश्वजित्' का याजक निषादो के बीच मे तीन रोज तक निवास करता था (कौषीतकी २५, १८)।

सूत्रकाल मे यह प्रथा स्थिर हो गई थी। चांडाल के स्पर्श एवं संभाषण मे क्रमश सचैल स्नान और आचमन करने पर शुद्धि होती थी। चांडाली-संगमन से ब्राह्मण चांडाल हो जाता था एवं कठिन प्रायश्चित्त से शुद्ध होता था। वह 'अत' अर्थात् ग्राम के अत मे रहता था। अन्य अत्यजो की स्थिति अच्छी थी। क्रमश धार्मिक पवित्रता की भावना बढ़ती गई और तदनुरूप ही अस्पृश्यता की प्रथा ने जोर पकड़ा। मनु० (१०।५०-५७) के अनुसार अछूतो को ग्रामनगरो के बाहर चैत्य वृक्षो के नीचे, श्मशान, पहाड़ों और जंगलो मे रहना चाहिए। मृतको के वस्त्र, फूटे हुए भांड और लोहे के अलंकार इनके उपयोज्य थे। प्राय यही स्थिति बाद की स्मृतियो मे है। लघुस्मृतियो के काल मे अत्यजो की सूची बन गई थी जिसमे सात से लेकर १८ जातियाँ तक परिगणित की गईं।

बौद्ध साहित्य में अस्पृश्यप्रथा--निम्नस्तरीय वर्ग के लिये 'हीन सिप्प' और 'हीन जाति' के उल्लेख मिलते हैं। 'हीन सिप्प' मे बँसोर, कुंभकार, पेसकर (जुलाहा), चम्मकार (चमार), नहपित (नाई) तथा 'हीन जाति' मे चांडाल, पुक्कुस, रथकार, वेणुकार और निषाद है। द्वितीय वर्गवालो की स्थिति अच्छी नही थी। वे 'बहिनगर' अथवा 'चांडालग्रामक' (जातक, ४।३७६) मे निवास करते थे। चांडालो की तो अपनी अलग भाषा भी थी। चुल्लधम्मजातक के अनुसार वे पीत वस्त्र और रक्त माल तथा कधे पर कुल्हाड़ी और हाथ मे एक कटोरा रखते थे। चांडाल स्त्रियाँ जादू टोने मे बहुत दक्ष थी। बाँसुरी बजाना तथा शवदाह करना इनके प्रमुख कार्य थे। बौद्धपरंपरा मे अस्पृश्यता अपेक्षाकृत कम थी। दिव्यावदान (पृ० ६५२) मे बहुश्रुत धर्मज्ञ विद्वान् पुष्करसारी की पुत्री का विवाह चांडालराज त्रिशकु के साथ वर्णित है। वज्रसूची (पृ० २) चांडाली से उत्पन्न विश्वामित्र और उर्वशी से जनित वसिष्ठ की ओर इंगित कर अस्पृश्यप्रथा पर आघात करती है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार कम्मारपुत्त छुद का भोजन बुद्ध ने मृत्यु के पूर्व किया था। आनंद ने चांडाल-कन्यका के हाथ का जलपान किया था (दिव्यावदान, पृ० ६११)। 'शार्दूलकर्णावदान' का चांडालराज त्रिशकु स्वयं तो वेद और इतिहास मे पारंगत था ही, उसने अपने पुत्र शार्दूलकर्ण को वेद, वेदांग, उपनिषत्, निघटु इत्यादि की शिक्षा दिलवाई थी। ब्राह्मण द्वारा प्रज्वलित श्रौताग्नि और चांडाल, व्याध आदि के द्वारा उत्पन्न साधारण अग्नि मे कोई अंतर नही माना गया (अस्सलायनसुत्त, मज्झिमनिकाय)। बुद्ध का संदेश था--निर्वाण की प्राप्ति चांडाल, पुक्कस को भी हो सकती है--खत्तिया ब्राह्मण वेस्सा सुद्दा चडाल पुक्कसा, सब्बे सोरता दाता सब्बे वा परिनिब्बुता (जातक ४, पृ० ३०३)।

जैन वाङ्मय में अस्पृश्यप्रथा--आदिपुराण के अनुसार कारु (शिल्प) द्विविध है--स्पृश्य और अस्पृश्य। स्पृश्य कारुशालिक (जुलाहा), मालिक (माली), कुंभकार, तिलतुद (तेली) और नापित हैं। अस्पृश्य शिल्प रजक, बढ़ई, अयस्कार और लोहकार है। डोब, चांडाल और किणिक इनसे भी नीचे थे। व्यवहार-सूत्र-भाष्य (६४) मे डोब का कार्य गाना, सूप आदि बनाना बतलाया गया है।

तंत्र और अस्पृश्य--साधारणत शाक्त तंत्रो मे जात पाँत और छूत छात के बंधन शिथिल थे। कुलार्णवतंत्र (८,६६) के अनुसार 'प्राप्ते तु भैरवे चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय'। स्मार्त शैव और स्मार्त वैष्णव स्पृश्यास्पृश्य का विचार रखते थे।

मध्यकालीन वैष्णव संतो ने जातिप्रथा और अस्पृश्यप्रथा का तिरस्कार किया। कबीरपंथ में अनेक शूद्र और कुछ अछूत वर्ग के संत थे। अन्य संतो में रविदास, नदनर और चोखमेला उल्लेख्य हैं।

भारत के बाहर अस्पृश्यप्रथा—स्पर्श से होनेवाला अशौच विभिन्न स्तर का होता है। कभी कभी अशौच में केवल शारीरिक अशुचि की भावना रहती है और कभी उसके साथ ही साथ धार्मिक पवित्रता में क्षति और अभाव की धारणा। प्रस्तुत प्रसंग में अशौच से तात्पर्य अशुचि (अपवित्रता) और धार्मिक पवित्रता में क्षति (पॉल्यूशन) युगपत् दोनों अर्थों में है। इस प्रकार के स्पर्शाशौच की प्रथा मिस्र, फारस, बर्मा, जापान इत्यादि देशों में भी थी। प्राचीन मिस्र में सुअर पालनेवाले अशुद्ध समझे जाते थे और उनका स्पर्श निषिद्ध था। वे मंदिरों में प्रविष्ट भी नहीं हो सकते थे। प्राचीन फारस का मज्द धर्म का पुजारी अन्य धर्मवालों के संपर्क से अशुद्ध हो जाता था और शुचिता प्राप्त करने के लिये उसे स्नान करना आवश्यक था। बर्मा में सात प्रकार के निम्नवर्गीय थे जिनमें 'सदल' (सं० चांडाल ?) अछूत माने जाते थे। जापान के 'एत' और 'हिन्न' वर्गीय व्यक्तियों का स्पर्श वर्जित था।

१९वीं शताब्दी ईसवी में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानंद ने अछूतप्रथा के निवारण का प्रयत्न किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९१७ में अछूतप्रथा की समाप्ति का प्रस्ताव पास किया। महात्मा गांधी ने कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में अछूतोद्धार को सम्मिलित कर इस कुत्सित प्रथा की ओर व्यक्तियों का ध्यान विशेष रूप से खींचा। हरिजनों के द्वारा जनपथ का व्यवहार और मंदिरप्रवेश का आंदोलन प्रारंभ हुआ। सन् १९३२ में महात्मा गांधी ने "कम्यूनल अवार्ड" में अछूतों को सवर्ण हिंदुओं से अलग करने के प्रयत्न के विरुद्ध अनशन किया जो 'पूना पैक्ट' होने पर टूटा। इस अनशन ने हरिजनों की स्थिति के संबंध में देशव्यापी लहर फैला दी। इसी समय 'हरिजन-सेवक-संघ' की स्थापना हुई। भारतीय संविधान के अनुसार करीब ४२९ वर्ग अछूत माने गए हैं। भंगी, चमार, बसोर, और माँग प्रायः सारे देश में अस्पृश्य माने जाते हैं। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न वर्ग और व्यवसाय अनेक नामों से अछूतों में परिगणित होते हैं। इन अछूतों में उच्चावच स्तर का तारतम्य है और भोजन तथा विवाह के संबंध में वे एक दूसरे से अलग रहते हैं। इनके देवालय सवर्ण हिंदुओं के मंदिरों से अलग होते थे और ग्राम्य देवता तथा दुर्गाशक्ति के रूप ही प्रायः विविध स्वरूपों में पूज्य थे। किंतु अब इनमें संस्कृतीकरण—उच्च माने जानेवाले वर्गों की संस्कृति के अनुकरण—की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है।

भारतीय संविधान ने अछूतप्रथा समाप्त कर दी है और किसी भी रूप में उसका पालन या आचरण निषिद्ध घोषित कर दिया है (धारा १७)। सार्वजनिक स्थानों—कुएँ, जलाशय, होटल, सामाजिक मनोरंजन के स्थानों—में उनका प्रवेश विहित माना गया (धारा १५) है। उनके व्यावसायिक और औद्योगिक स्वातंत्र्य की सुरक्षा की गई (धारा २९) है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रदेशों ने अस्पृश्यतानिवारक कानून बना लिए हैं। इस प्रकार विधान ने अछूतों की सामाजिक, व्यावसायिक एवं औद्योगिक परंपरानुगत अयोग्यताओं को दूर कर दिया है। साथ ही साथ, लोकसभा और प्रादेशिक विधानसभाओं में जनसंख्या के अनुसार कुछ वर्षों तक विशेष प्रतिनिधि के निर्वाचन का अधिकार सुरक्षित रखा गया है (३३०, ३३२, ३३४ धाराएँ)। हरिजन सेवक संघ, भारतीय डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, हरिजन आश्रम (प्रयाग) कुछ प्रमुख संस्थाएँ हैं जो हरिजनोद्धार में दत्तचित्त हैं। (वि० शं० पा०)

अस्वान नगर मिस्र के अस्वान प्रांत की राजधानी है। नील नदी पर बने हुए अस्वान बाँध से ३½ मील दक्षिण, काहिरा से ५५२ मील की दूरी पर स्थित यह नगर यूरोपवासियों का शीतकालीन क्रीडाकेंद्र है। रेलवे स्टेशन के दक्षिण पूर्व में स्थित २४९ ई० पू० के बने हुए मंदिर का भग्नावशेष, एलिफैंटाइन टापू का प्राचीन मंदिर तथा मिस्र की छठी राजसत्ता के बनवाए हुए चट्टानी मकबरे नगर की प्राचीनता के द्योतक हैं। नगर प्राचीन एवं नया सैन नगरों के मिल जाने से बना है। रेल तथा सड़कों से यह देश के अन्य नगरों से संबद्ध है। नूक जाति के लोग यहाँ के आदिवासी हैं। यहाँ उत्तरोत्तर जनसंख्या की पर्याप्त वृद्धि हो रही है। १९६० में यहाँ की जनसंख्या ४९,००० हो गई थी। (द० द० सि०)

अस्सक, अश्मक दक्षिणापथ की एक जाति जिसे संस्कृत साहित्य में अश्मक कहा गया है। अस्सकों का निवास गोदावरी के तीर कहीं था। पोतलि अथवा पोतन उनका प्रधान नगर था। परंतु अंगुत्तरनिकाय की तालिका से ज्ञात होता है कि वे बाद में उत्तर की ओर जा बसे थे और संभवतः उनकी आवासभूमि मथुरा और अवंती के बीच थी। प्रगट है कि बुद्ध के समय दक्षिण में ही उनका निवास था। अंगुत्तरनिकायवाली तालिका निश्चय ही कुछ बाद की है जब वह जाति दक्षिण से उत्तर की ओर संक्रमण कर गई थी। पुराणों में महापद्मनंद द्वारा अश्मकों के पराभव की भी कथा लिखी है। सिकंदर के इतिहासकारों ने उसके आक्रमण के समय अस्सकेनोई नामक पराक्रमी जाति द्वारा २० हजार घुड़सवारों, ३० हजार पैदलों और ३० हाथियों के साथ उसकी राह रोकने की बात लिखी है। उनके पराक्रम की बात लिखते और उनके प्रति विजेता की अनुदारता प्रकाशित करते वे झिझकते नहीं। यदि यह अस्सकेनोई जाति, जिसके दुर्ग मस्सग के अमर युद्ध का वर्णन ग्रीक इतिहासकारों ने किया है, अश्मक ही है, तो इस जाति के शौर्य की कथा निस्संदेह अमर है। साथ ही यह एकीकरण यह भी प्रमाणित करता है कि अस्सकों या अश्मकों का गोदावरी तथा अवंती के निकटवर्ती जनपद के अतिरिक्त एक तीसरा निवास भी था। संभवतः उस जाति का पूर्वतम निवास पश्चिमी पाकिस्तान में, जिसकी विजय सिकंदर ने यूसफजयी इलाके के चारसद्दा में पुष्करावती की विजय से भी पहले की, था। (भ० श० उ०)

कूर्मपुराण तथा बृहत्संहिता (रचनाकाल ५०० ई० के आसपास) में अश्मक उत्तर भारत का अंग माना गया है। इन ग्रंथों के अनुसार पंजाब के समीप अश्मक प्रदेश की स्थिति थी। परंतु राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' (१७वाँ अध्याय) में इसकी स्थिति दक्षिण भारत के प्रदेशों में मानी है। राजशेखर के अनुसार माहिष्मती (इंदौर से ४० मील दक्षिण नर्मदा के दाहिने किनारे बसे महेश नामक नगर) से आगे दक्षिण की ओर 'दक्षिणापथ' का आरंभ होता है जिसमें महाराष्ट्र, विदर्भ, कुंतल, क्रथकैशिक, सूर्पारक (सोपारा), कांची, केरल, चोल, पांड्य, कोंकण आदि जनपदों का समावेश बतलाया गया है। राजशेखर अश्मक जनपद को इसी दक्षिणापथ का अंग मानते हैं। ब्रह्मांडपुराण में यही स्थिति अंगीकृत की गई है। 'दशकुमारचरित' में दंडी ने, 'हर्षचरित' में बाणभट्ट ने तथा 'अर्थशास्त्र' की टीका में भट्टस्वामी ने भी इसे महाराष्ट्र प्रांत के अंतर्गत माना है। 'दशकुमारचरित' के अष्टम उच्छ्वास के अनुसार अश्मक के राजा ने कुंतल, कोंकण, वनवासि, मुरल, ऋचिक तथा नासिक के राजाओं को विदर्भनरेश से युद्ध करने के लिये भड़काया जिससे उन लोगों ने विदर्भनरेश पर एक साथ ही आक्रमण कर दिया। इससे स्पष्ट है कि अश्मक महाराष्ट्र का ही कोई अंग या समग्र महाराष्ट्र का सूचक था, विदर्भ प्रांत का किसी प्रकार अंग नहीं हो सकता, जैसा काव्यमीमांसा पर अंग्रेजी टिप्पणी में निर्दिष्ट किया गया है (द्र० 'काव्यमीमांसा,' पृ० २८२, बड़ोदा संस्करण)। (ब० उ०)

अहं (ईगो) अथवा 'मैं', अथवा 'स्व'। मनोविज्ञान में मानव की वे समस्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ जिनके कारण वह 'पर' अर्थात् 'अन्य' से भिन्न होता है। मनोविश्लेषण में मनुष्य की वे शक्तियाँ जो उसको यथार्थता (रियलिटी प्रिंसिपल) के अनुसार व्यवहार करने के लिये प्रेरित करती हैं। मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि "अहम्" और "पर" का बोध तथा विकास साथ साथ होता है। (द्र० 'अहंवाद')। (श्या० ना० मे०)

अहंकार मैं की भावना। सांख्य दर्शन में अहंकार पारिभाषिक शब्द है। प्रकृति-पुरुष-संयोग से 'महत्' उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार की उत्पत्ति है। अहंकार से ही सूक्ष्म स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है। यह भौतिक तत्व है। इससे जीवन में अभियान उत्पन्न होता है तथा इसी में क्रिया होती है, पुरुष में नहीं। अहंकार के कारण पुरुष प्रकृति के कार्यों से तादात्म्य अनुभव करता है। अहंकार ही अनुभवों को पुरुष तक पहुँचाता है। इसके सत्वगुणप्रधान होने पर सत्कर्म होते हैं, रज प्रधान होने पर पापकर्म होते हैं तथा तम प्रधान होने पर मोह होता है। सात्विक अहंकार से मन, पंच ज्ञानेंद्रियों तथा पंच कर्मेंद्रियों की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से

पच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार सात्विक अहंकार से मन, राजस से दस इंद्रियाँ तथा पच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। अहकार को दर्शनो मे पतन का कारण माना गया है क्योंकि प्राय सभी भारतीय दर्शन अनुभवगम्य आत्मा के रूप को आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही मानते। अत 'मैं' की भावना से किया गया कार्य आत्मा के मिथ्या ज्ञान से प्रेरित है। पारमार्थिक जगत् मे अहकारमुक्त होना चाहिए किंतु व्यावहारिक जगत् मे अहकार के बिना निर्वाह सभव नही है। (रा० पा०)

अहंवाद (सॉलिप्सिज़्म) अहवाद उस दार्शनिक सिद्धात को कहते हैं जिसके अनुसार केवल ज्ञाता एव उसकी मनोदशाओं अथवा प्रत्ययों (आइडियाज) की सत्ता है, दूसरी किसी वस्तु की नही। इस मतव्य का तत्वदर्शन तथा ज्ञानमीमासा दोनो से सबध है। तत्वदर्शन सबधी मान्यता का उल्लेख ऊपर की परिभाषा मे हुआ है। सक्षेप मे वह मान्यता यही है कि केवल ज्ञाता अथवा आत्मा का ही अस्तित्व है। ज्ञानमीमासा इस मतव्य का प्रमाण उपस्थित करती है। दार्शनिक एफ० एच० ब्रैडले ने अहवाद की पोषक युक्ति को इस प्रकार प्रकट किया है "मैं अनुभव का अतिक्रमण नही कर सकता, और अनुभव मेरा अनुभव है। इससे यह अनुमान होता है कि मुझसे परे किसी चीज का अस्तित्व नही है, क्योंकि जो अनुभव है वह इस आत्म की दशाएँ ही है।"

दर्शन के इतिहास मे अहवाद के किसी विशुद्ध प्रतिनिधि को पाना कठिन है, यद्यपि अनेक दार्शनिक सिद्धात इस सीमा की ओर बढते दिखाई देते है। अहवाद का बीजारोपण आधुनिक दर्शन के पिता देकार्त की विचारपद्धति मे ही हो गया था। देकार्त मानते है कि आत्म का ज्ञान ही निश्चित सत्य है, बाह्य विश्व तथा ईश्वर केवल अनुमान के विषय है। जान लाक का अनुभववाद भी यह मानकर चलता है कि आत्म या आत्मा के ज्ञान का साक्षात् विषय केवल उसके प्रत्यय होते है, जिनके कारण भूत पदार्थों की कल्पना की जाती है। बर्कले का आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद अहवाद मे परिणत हो जाता है।

स०ग्र०—बाल्डविन डिक्शनरी ऑव फिलॉसफी ऐंड साइकॉलॉजी; अप्पय दीक्षित सिद्धातलेशसग्रह (दृष्टिसृष्टिवाद प्रकरण)। (दे० रा०)

अहग्गार पठार अफ्रीका के सहारा मरुस्थल के मध्य भाग मे उत्तर पश्चिम मे दक्षिण पूर्व को कर्णवत् फैला हुआ है। यह (आदिकल्प-पुराकल्प) चट्टानो से बना हुआ है। यहाँ ज्वालामुखीय उत्पत्ति की कई चोटियाँ है जिनकी ऊँचाई ८,००० फुट से अधिक नहीं है। ये चोटियाँ समय समय पर बर्फ से ढक जाती हैं। यहाँ की जलवायु ठढी है तथा तुषार भी पर्याप्त पडता है। यहाँ की मुख्य वनस्पति एक प्रकार का बबूल (अकेसिया टारटिला) है। यहाँ के निवासी टारेग जाति के हैं। ये चरागाहो मे अपने पशु चराते तथा बजारो का जीवन व्यतीत करते है। (न० ला०)

अहमद खाँ, सर सैयद दिल्ली मे १८१७ ई० मे पैदा हुए, पुरखे हेरात से शाहजहाँ के समय आए थे। सर सैयद की शिक्षा उनकी माँ ने की। १८३७ ई० मे सरकारी नौकर हुए। मुसलमान कौम की उन्नति का विचार शुरू से था। सन् १८६१ ई० म एक स्कूल मुरादाबाद मे और १८६४ ई० मे एक स्कूल गाजीपुर मे खोला जहाँ मुसलमान लडको को अग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी। सन् १८६६ ई० मे इंग्लैंड गए और वहाँ से लौटने पर एक पत्रिका 'तहजीबुल इखलाक' निकाली जिसके द्वारा मुसलमानो मे प्रगतिशील विचार फैले। नौकरी के बीच उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आसारउलसनादीद' लिखी। पेशन के बाद सन १८७७ ई० मे उन्होंने अलीगढ कालेज कायम किया जिसकी नीव लार्ड लिटन के हाथो से रखी गई। सन् १८९८ ई० मे सर सैयद का स्वर्गवास हो गया। अलीगढ विश्वविद्यालय मे ही वे दफन हुए।

सर सैयद ने उर्दू भाषा की बडी सेवा की। वह सीधी सादी मगर अत्यत जोरदार भाषा लिखते थे। उर्दू साहित्यिक निबधलेखन की कला सर सैयद की बहुत बडी देन है। उर्दू गद्य में नए विचार और उनके लिये नित्य नए शब्द सर सैयद ने अत्यंत खूबी से गढ़े, चुने और सम्मिलित किए। (र० ह० ज०)

अहमदनगर बबई राज्य का एक जिला तथा नगर है (१९° ५' उ० अ०, ७४° ५५' पू० दे०), जो सीना नदी के बाएँ तट पर स्थित है। १४९७ मे यह अहमद निजाम शाह द्वारा स्थापित किया गया। १६३६ मे शाहजहाँ ने इसपर विजय प्राप्त की। १७९७ मे मुख्य मराठा दौलतराव सिधिया का इसपर अधिकार हो गया तथा १८१७ मे पूना की सधि द्वारा यह अग्रेजो के शासन मे आ गया। यहाँ पर सूती तथा रेशमी वस्त्रों का बहुत बडा व्यापार होता है। प्रमुख उद्योग हाथ से कपडा बुनना, दरी बनाना तथा ताबे और पीतल के बर्तन तैयार करना है। यहाँ कपडे के कई कारखाने हैं। शिक्षा सस्थाओं मे कला तथा विज्ञान के कालेज और आयुर्वेदिक महाविद्यालय मुख्य है। क्षेत्रफल २ वर्ग मील है, जनसख्या १,१९,०२० (१९६१)।

अहमदनगर जिले मे (१८° २०' उ० अ० से २०° ०' उ० अ० और ७३° ४३' पू० दे० से ७४° ५१' पू० दे०) कई नदियाँ बहती है, जैसे गोदावरी तथा उसकी सहायक पारवारा और मूला, डोर, सेथानी, भीमा तथा उसकी सहायक गोर। साल मे वर्षा २०-२२ इच होती है। मुख्य फसलें कपास, पटुआ, गन्ना, ज्वार, दाल तथा गेहूँ है। यहाँ पर चीनी के साल तथा चमडा बनाने के दो बडे कारखाने है। मुख्य आयात टीन की चादरे, धातु, नमक और रेशम है तथा निर्यात चीनी, चमडा, अनाज और हाथ के बुने कपडे है। जिले का क्षेत्रफल १७,०३५ वर्ग कि० मी० है और जनसख्या २२,६६,५५५ है (१९७१)। (न० ला०)

अहमद बिन हबल अब्दुल्लाह अहमदुश्शबानी अहमद बिन हबल का जन्म, पालन तथा अध्ययन बगदाद मे हुआ और यही उनकी मृत्यु हुई। यह इस्लामी विद्वानो के चार प्राचीन विचारो की ज्ञानशालाओं मे से एक के सस्थापक है। इसी प्रकार की एक अन्य शाला के सरथापक इमाम शोफई के शिष्य थे। हदीस की आत्मा के साथ उसके शब्दो की पैरवी पर भी बल देते थे। यह मुअतजल (अलग हुए) फिर्के की स्वच्छद विचारधारा के विरुद्ध दृढ चट्टान माने जाते थे। खलीफा मामूँ ने, जो स्वय मुअतजली थे, इन्हे बहुत प्रकार के कष्ट दिए और उनके बाद खलीफा अलमुअतासिम ने भी इन्हे कारागार मे डाला, पर यह अपने मार्ग से तनिक भी नहीं हटे। सन् ८५५ ई० मे इनकी मृत्यु पर लाखो स्त्री पुरुष इनके जनाजे के साथ गए, जिससे ज्ञात होता है कि यह कितने जनप्रिय थे। इस्लामी विद्वन्मडलियों के अन्य सस्थापको की तरह इन्हें भी आज तक इमाम की सम्मानित पदवी से स्मरण किया जाता है। यह प्राचीन ज्ञान के अतिरिक्त हदीस के भी विद्वान् तथा प्रचारक थे। इन्होंने हदीस का सग्रह भी प्रस्तुत किया था जिसका नाम 'मुसनद' है और जिसमे लगभग चालीस सहस्र हदीसे सगृहीत है। धार्मिक बातो में कठोर होने के कारण अब इनके अनुयायियो की सख्या बहुत कम रह गई है और वह भी केवल इराक तथा शाम तक ही सीमित है।

(आर० आर० श०)

अहमदशाह दुर्रानी अब्दाली फिरके के एक अफगान वश का सस्थापक। १७२२ ई० मे जन्म। पिता मुहम्मद जमाँ खाँ हेरात के निकट का एक सामान्य सरदार था। जब नादिरशाह ने हेरात पर आक्रमण (१७३१) किया तो अब्दालियो की शक्ति नष्ट हो गई और अन्य बहुत से अब्दालियो के साथ अहमद खाँ भी आक्राता के हाथो पकड़ा गया। परतु १७३७ ई० मे वह स्वतत्र हो गया और माजदारान का शासक नियुक्त हुआ। समयातर मे वह नादिरशाह की सेना मे एक ऊँचे पद पर नियुक्त हुआ। नादिरशाह की मृत्यु के उपरांत अहमद खाँ ने उसकी सेना का दमन करके अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इस अवसर पर मुख्य अब्दाली मालिको ने एक दरवेश के आदेशानुसार एकमत से उसको अपना बादशाह चुना। तब अहमद खाँ ने 'शाह' की पदवी ग्रहण की और अपना उपनाम, दुर्र दुर्रानी (सर्वोत्तम मोती) रखा। तभी से अब्दाली फिरके का नाम भी दुर्रानी पड गया।

कधार को केंद्र बनाकर अहमदशाह ने काबुल पर अधिकार किया। फिर पंजाब की अराजकता और मुगल सम्राट् की निर्बलता का लाभ उठाकर वह भारत पर हमला करने लगा। १७५५ मे उसने दिल्ली का

बड़ी निर्दयता से ४० दिन तक विध्वस किया और मथुरा को खूब लूटा। लाहौर के मुसलमान सूबेदार ने अहमदशाह से अपनी रक्षा के लिये सिक्खो तथा मराठो से मित्रता कर ली। इसपर दुर्रानी एक बार फिर भारत पर चढ़ आया और अत मे १७६१ ई० मे पानीपत के प्राचीन युद्धक्षेत्र मे मराठो से उसका भारी युद्ध हुआ जिसमे मराठो की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई। अहमदशाह को पूरी सफलता प्राप्त हुई। किंतु उसके वापस लौटते ही सिक्खों ने विरोध खड़ा कर दिया। अहमदशाह ने उनको भी पूर्णतया परास्त किया और सरहिंद तथा पजाब मे लूट मार करता हुआ वापस लौटा। १७६७ मे उसने अतिम बार भारत की यात्रा की और सिक्खो से मैत्री करने का प्रयत्न किया, किंतु उसकी बहुत सी सेना उससे विमुख होकर उसे छोड़ गई। ऐसी परिस्थिति मे सिक्खो ने उसका पीछा करके उसे बहुत परेशान किया। इस प्रकार यह योद्धा अपने अतिम दिनो मे कृश तथा हताश होकर १७७३ ई० मे परलोक सिधारा। उसके बाद साम्राज्य का अधिकारी उसका बेटा तीमूर हुआ।

सं०ग्रं०—सुल्तान मुहम्मद खाँ, इब्न मूसा खाँ, दुर्रानी तारीखे सुल्तानी (फारसी), मुहम्मदी कारखाना, बबई (१२९८ हि०, १८८० ई०), गडासिह अहमदशाह दुर्रानी (लखनऊ)। मियरुल मुताखिरीन (फारसी), सैय्यद गुलाम हुसन तबातबाई, कलकत्ता (१८८२)। (प० श०)

अहमदाबाद अहमदाबाद नगर (२३° १' उ० अ०, ७२ ३७' पूर्व दे०) गुजरात राज्य मे खभात की खाड़ी से ५० मील तथा बबई से ३०९ मील उत्तर साबरमती नदी के बाएँ तट पर स्थित राज्य का प्रथम तथा भारत का छठा बृहत्तम नगर और प्रमुख औद्योगिक, व्यापारिक तथा वितरणकेंद्र है।

साबरमतीतट पर एक भील सरदार के नाम पर असावल नामक रम्य स्थल था जो सामरिक दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण था। १४११ ई० में गुजरात के सुलतान अहमद प्रथम ने इसे अपनी राजधानी बना लिया और अहमदाबाद नामकरण किया। अहमदाबाद का इतिहास पाँच युगो से गुजरा है। १४११-१५११ ई० के बीच की शताब्दी मे गुजरात के शक्तिशाली शासको के अधीन नगर की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। १५१२-७२ का द्वितीय साठवर्षीय काल अवनति का था, क्योकि बहादुरशाह ने चपानेर को अपनी राजधानी बना लिया था, पर इसके पश्चात् चार बड़े मुगल शासको—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब—का राजत्वकाल (१५७३-१७०७) सर्वाधिक समुन्नतिशील था। धन धान्य, विभिन्न उद्योगो—सोना, चाँदी, ताँबा, सूती रशमी कपडो, जरी एव दरेस (एक प्रकार का फूलदार महीन कपडा) के काम, व्यापार, शिल्प-चित्र-स्थापत्य आदि विभिन्न कलाकौशलो एव सौदर्य मे हिंदुस्तान का शिरोमणि तथा तत्कालीन लदन के तुल्य और वेनिस से बढकर था। शक्तिहीन मुगलो के चतुर्थ युग (१७०७-१८१७) मे मराठो की लूटपाट, मनमाना कर वसूली एवं असुरक्षा आदि से अराजकता फैल गई थी और व्यापार उद्योग चौपट हो गया। अधिकाश निवासी नगर छोडकर भाग गए। १८१७ ई० के बाद अँगरेजी शासन मे पुनर्विकास प्रारभ हुआ और तब से आज तक नगर निरतर समुन्नतिशील है।

अहमदाबाद का आधुनिक औद्योगिक युग १८६१ ई० से प्रारभ होता है, जब वहाँ प्रथम कपडे की मिल खुली। आतरिक स्थिति होने के कारण बबई की अपेक्षा इसे सस्ता श्रम, सस्ती भूमि एव सुविधापूर्ण बाजार प्राप्त हुआ, अत आज वहाँ बबई की अपेक्षा अधिक कपडे के कारखाने है (७४:८४)। यहाँ रेशमी कपडे के भी कारखाने है। यह क्षेत्रीय रेलो एव राजमार्गो का केंद्र होने तथा उपजाऊ क्षेत्र मे स्थित होने के कारण प्रमुख व्यापारिक नगर हो गया है। कांडला बदरगाह के विकास से इसकी स्थिति सुदृढ़तर हो गई है।

अहमदाबाद की उद्योगप्रधान आधुनिक वेशभूषा मे मध्यकालीन गौरव एव ऐश्वर्य के निदर्शनरूप मे विभिन्न स्थापत्यशैलियो मे निर्मित हजारो मस्जिदो, हिंदू-जैन-मंदिरो, स्मारको तथा प्राचीरो के अवशेष विद्यमान है। साथ ही, अहमदाबाद की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ के 'पोल' हैं जो जाति या सामाजिक स्तरविशेषवाले परिवारो की सर्वसुविधापूर्ण इकाईवाले छोटे नगर ही होते हैं। इनमे पोलपरिषद् का शासन भी चलता है। सड़क के दोनो ओर मकान रहते है और दो अन्य छोरो पर विशाल गोपुर जो रात्रि मे बद कर दिए जाते है। बड़े पोल की जनसख्या दस हजार तक होती है। अहमदाबाद मे गाधी जी का साबरमती का आश्रम है, जहाँ से उन्होने प्रख्यात दाडी यात्रा की थी। यहीं पर गुजरात विश्वविद्यालय स्थित है।

अहमदाबाद की जनसख्या बराबर बढ रही है। १८९१ (१,४४,४५१) एव १९५१ (७,८८,३३३) के साठ वर्षो मे जनसख्या ४४६% बढी। ५२% लोग उद्योगो मे तथा २१% लोग व्यापार मे लगे थे। प्रति हजार पुरुषो पर केवल ७७१ स्त्रियाँ थी। १९७१ मे यहाँ की जनसख्या १५,९१,८३२ हो गई। (का० ना० सिं०)

अहल्या एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अहल्या ब्रह्मदेव की मानसी स्त्रीसृष्टि थी जिसके सौदर्य पर मोहित होकर इद्र ने उसे अपनी सहधर्मिणी बनाने के लिये ब्रह्मा से माँगा, परतु ब्रह्मा ने उसे गौतम ऋषि को विवाहार्थ दे दिया। इद्र ने अपनी प्राचीन कामना के चरितार्थ उसके पातिव्रत का हरण किया। इस घटना के विषय मे दो मत है। वाल्मीकि रामायण की कुछ प्रतियों के अनुसार अहल्या की समति से इद्र ने ऐसा किया, परतु अधिक प्रचलित आख्यान के अनुसार इद्र ने गौतम का रूप धारण कर अपनी अभिलाषा की सिद्धि की जिसमे गौतम ऋषि को असमय मे प्रभात होने की सूचना देने का काम चद्रमा ने मुर्गा बनकर किया। गौतम ने तीनो को शाप दिया। अहल्या शिला बन गई और जनकपुर जाते समय राम की चरणरज के स्पर्श से उसे फिर स्त्री का रूप प्राप्त हुआ और गौतम ने उसे फिर स्वीकार किया। शतानद अहल्या के ही पुत्र थे (रामायण, बालकाड ४८-४९ सर्ग)। अहल्या की यह कथा वस्तुत एक उदात्त रूपक है, कुमारिल भट्ट का यह दृढ मत है। वेदो मे इद्र के लिये विशेषण प्रयुक्त है—अहल्यायै जार। इसी विशेषण के आधार पर यह कथा गढी गई है। इद्र सूर्य का प्रतीक है तथा अहल्या रात्रि का जिसका वह घर्षण किया करता है और उसे जीर्ण (वृद्ध, अतर्हित) बना डालता है। शतपथ (३।३।४।१८), जैमिनि ब्रा० (२।७९) तथा षड्विंश (१।१) मे उपलब्ध इस आख्यान का यही तात्पर्य है। (ब० उ०)

अहाब ओम्री का पुत्र और इसरायल का राजा (८७५ ई० पू०—८५२ ई० पू०)। उसे पिता द्वारा न केवल जोर्डन के पूर्व मे गिलीद का राज्य मिला बल्कि मोब का राज्य भी उत्तराधिकार मे प्राप्त हुआ। अहाब का विवाह सीदान के राजा एथबाल की पुत्री जेज़ेबेल के साथ हुआ। जेज़ेबेल ने अपने देश की शासनप्रणाली और बालदेवता की पूजा प्रचलित करनी चाही। यहूदी केवल अपने राष्ट्रीय देवता एकमात्र यहवे की ही पूजा करते थे। उन्होने पैगबर एलिजा के नेतृत्व मे बाल की पूजा के विरोध मे विद्रोह किया। सीरियको के साथ लड़ते हुए अहाब की मृत्यु हुई। (वि० ना० पा०)

अहिंसा हिंदू शास्त्रो की दृष्टि से 'अहिंसा' का अर्थ है सर्वदा तथा सर्वथा (मनसा, वाचा और कर्मणा) सब प्राणियो के साथ द्रोह का अभाव। (अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह.—व्यासभाष्य, योगसूत्र २।३०)। अहिंसा के भीतर इस प्रकार सर्वकाल मे केवल कर्म या वचन से ही सब जीवो के साथ द्रोह न करने की बात समाविष्ट नही होती, प्रत्युत मन के द्वारा भी द्रोह के अभाव का सबध रहता है। योगशास्त्र मे निर्दिष्ट यम तथा नियम अहिंसामूलक ही माने जाते है। यदि उनके द्वारा किसी प्रकार की हिंसावृत्ति का उदय होता है तो वे साधना की सिद्धि मे उपादेय तथा उपकारक नही माने जाते। 'सत्य' की महिमा तथा श्रेष्ठता सर्वत्र प्रतिपादित की गई है, परतु यदि कही अहिंसा के साथ सत्य का सघर्ष घटित होता है तो वहाँ सत्य वस्तुत सत्य न होकर सत्याभास ही माना जाता है। कोई वस्तु जैसी देखी गई हो तथा जैसी अनुमित हो उसका उसी रूप मे वचन के द्वारा प्रकट करना तथा मन के द्वारा सकल्प करना 'सत्य' कहलाता है, परतु यह वाणी भी सब भूतों के उपकार के लिये प्रवृत्त होती है, भूतो के उपघात के लिये नही। इस प्रकार सत्य की भी कसौटी अहिंसा ही है। इस प्रसग मे वाचस्पति मिश्र ने 'सत्यतपा' नामक तपस्वी के

सत्यवचन को भी सत्याभास ही माना है, क्योंकि उसने चोरों के द्वारा पूछे जाने पर उस मार्ग से जानेवाले सार्थ (व्यापारियों का समूह) का सच्चा परिचय दिया था। हिंदू शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय (न चुराना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, इन पाँचों यमों को जाति, देश, काल तथा समय से अनवच्छिन्न होने के कारण समभावेन सार्वभौम तथा महाव्रत कहा गया है (योगसूत्र २।३१) और इनमें भी, सबका आधार होने से, 'अहिंसा' ही सबसे अधिक महाव्रत कहलाने की योग्यता रखती है। (ब० उ०)

जैन दृष्टि से सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार अहिंसा है। अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है, हिंसा न करना। इसके पारिभाषिक अर्थ विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राणवध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है, सत्प्रवृत्ति, स्वाध्याय, अध्यात्मसेवा, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदि आत्महितकारी व्यवहार विध्यात्मक अहिंसा है। संयमी के द्वारा भी अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा हिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसा में सत्क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुँचने पर तथ्य कुछ और मिलता है। निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करनेवाला यदि आतरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा न होगी। इसलिये निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आतरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय दृष्टि की बात है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

जैन ग्रंथ आचारांगसूत्र में, जिसका समय संभवत तीसरी चौथी शताब्दी ई० पू० है, अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया गया है : भूत, भावी और वर्तमान के अर्हत् यही कहते हैं—किसी भी जीवित प्राणी को, किसी भी जतु को, किसी भी वस्तु को जिसमें आत्मा है, न मारो, न (उससे) अनुचित व्यवहार करो, न अपमानित करो, न कष्ट दो और न सताओ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये सब अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हर एक में भिन्न भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग अलग जीव हैं। उपर्युक्त स्थावर जीवों के उपरांत त्रस (जगम) प्राणी है, जिनमें चलने फिरने का सामर्थ्य होता है। ये ही जीवों के छह वर्ग हैं। इनके सिवाय दुनिया में और जीव नहीं है। जगत् में कोई जीव त्रस (जगम) है और कोई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरी में होना कर्मों की विचित्रता है। अपनी अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं। एक ही जीव जो एक जन्म में त्रस होता है, दूसरे जन्म में स्थावर हो सकता है। त्रस हो या स्थावर, सब जीवों को दुःख अप्रिय होता है। यह समझकर मुमुक्षु सब जीवों के प्रति अहिंसा भाव रखे।

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिये निर्ग्रंथ प्राणिवध का वर्जन करते हैं। सभी प्राणियों को अपनी आयु प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है वह अपनी आत्मा को दंड देनेवाला है। वह दूसरे प्राणियों का हनन करके परमार्थत अपनी आत्मा का ही हनन करता है।

आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है, इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा है असत्य आदि सभी विकार आत्मपरिणति को बिगाड़नेवाले है, इसलिये वे सब भी हिंसा है। असत्य आदि जो दोष बतलाए गए हैं वे केवल "शिष्यबोधाय" है। सक्षेप में रागद्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा और उनका प्रादुर्भाव हिंसा है। रागद्वेषरहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाय तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती, रागद्वेषसहित प्रवृत्ति से, प्राणवध न होने पर भी, वह होती है। जो रागद्वेष की प्रवृत्ति करता है वह अपनी आत्मा का ही घात करता है, फिर चाहे दूसरे जीवों का घात करे या न करे। हिंसा से विरत न होना भी हिंसा है और हिंसा में परिणत होना भी हिंसा है। इसलिये जहाँ रागद्वेष की प्रवृत्ति है वहाँ निरंतर प्राणवध होता है।

अहिंसा की भूमिकाएँ : हिंसा मात्र से पाप कर्म का बंधन होता है। इस दृष्टि से हिंसा का कोई प्रकार नहीं होता। किंतु हिंसा के कारण अनेक होते है, इसलिये कारण की दृष्टि से उसके प्रकार भी अनेक हो जाते हैं। कोई जान बूझकर हिंसा करता है, तो कोई अनजान में भी हिंसा कर डालता है। कोई प्रयोजनवश करता है, तो कोई बिना प्रयोजन भी।

सूत्रकृतांग में हिंसा के पाँच समाधान बतलाए गए हैं (१) अर्थदंड, (२) अनर्थदंड, (३) हिंसादंड, (४) अकस्माद्दंड, (५) दृष्टिविपर्यासदंड। अहिंसा आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा है। वह एक और अखंड है, किंतु मोह के द्वारा वह ढकी रहती है। मोह का जितना ही नाश होता है उतना ही उसका विकास। इस मोहविलय के तारतम्य पर उसके दो रूप निश्चित किए गए है (१) अहिंसा महाव्रत, (२) अहिंसा अणुव्रत। इनमें स्वरूपभेद नहीं, मात्रा (परिमाण) का भेद है।

मुनि की अहिंसा पूर्ण है, इस दशा में श्रावक की अहिंसा अपूर्ण। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरणत मुनि की अहिंसा २० बिस्वा है तो श्रावक की अहिंसा सवा बिस्वा है। (पूर्ण अहिंसा के अंश बीस है, उनमें से श्रावक की अहिंसा का सवा अंश है।) इसका कारण यह है कि श्रावक १९ जीवों की हिंसा को छोड़ सकता है, बादर स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं। इसमें उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है—दस बिस्वा रह जाता है। इसमें भी श्रावक उन्नीस जीवों की हिंसा का संकल्पपूर्वक त्याग करता है, आरंभजा हिंसा का नहीं। अत: उसका परिमाण उसमें भी आधा अर्थात् पाँच बिस्वा रह जाता है। संकल्पपूर्वक हिंसा भी उन्हीं उन्नीस जीवों की त्यागी जाती है जो निरपराध हैं। सापराध त्रस जीवों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकता। इससे वह अहिंसा ढाई बिस्वा रह जाती है। निरपराध उन्नीस जीवों की भी निरपेक्ष हिंसा को श्रावक त्यागता है। सापेक्ष हिंसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक (धर्मोपासक या व्रती गृहस्थ) की अहिंसा का परिमाण सवा बिस्वा रह जाता है। इस प्राचीन गाथा में इसे सक्षेप में इस प्रकार कहा है :

जीवा सुहुमाथूला, सकप्पा, आरम्भाभवे दुविहा।
सावराह निरवराहा, सविक्खा चैव निरविक्खा॥

(१) सूक्ष्म जीवहिंसा, (२) स्थूल जीवहिंसा, (३) सकल्प हिंसा, (४) आरंभ हिंसा, (५) सापराध हिंसा, (६) निरपराध हिंसा, (७) सापेक्ष हिंसा, (८) निरपेक्ष हिंसा। हिंसा के ये आठ प्रकार हैं। श्रावक इनमें से चार प्रकार की, (२, ३, ६, ८) हिंसा का त्याग करता है। अत श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है। (मु० न०)

इसी प्रकार बौद्ध और ईसाई धर्मों में भी अहिंसा की बड़ी महिमा है। वैदिक हिंसात्मक यज्ञों का उपनिषत्कालीन मनीषियों ने विरोध कर जिस परंपरा का आरंभ किया था उसी परंपरा की पराकाष्ठा जैन और बौद्ध धर्मों ने की। जैन अहिंसा सैद्धांतिक दृष्टि से सारे धर्मों की अपेक्षा असाधारण थी। बौद्ध अहिंसा निःसंदेह आस्था में जैन धर्म के समान महत्व की न थी, पर उसका प्रभाव भी संसार पर प्रभूत पड़ा। उसी का यह परिणाम था कि रक्त और लूट के नाम पर दौड़ पड़नेवाली मध्य एशिया की विकराल जातियाँ प्रेम और दया की मूर्ति बन गई। बौद्ध धर्म के प्रभाव में ही ईसाई भी अहिंसा के प्रति विशेष आकृष्ट हुए, ईसा ने जो आत्मोत्सर्ग किया वह प्रेम और अहिंसा का ही उदाहरण था। उन्होंने अपने हत्यारों तक की सद्गति के लिये भगवान् से प्रार्थना की और अपने अनुयायियों से स्पष्ट कहा कि यदि कोई एक गाल पर प्रहार करे तो दूसरे को भी प्रहार स्वीकार करने के लिये आगे कर दो। यह हिंसा या प्रतिशोध की भावना नष्ट करने के लिये ही था। तोल्स्तोइ (टॉल्स्टॉय) और गांधी ईसा के इस अहिंसात्मक आचरण से बहुत प्रभावित हुए। गांधी ने तो जिस अहिंसा का प्रचार किया वह अत्यंत महत्वपूर्ण थी। उन्होंने कहा कि उनका विरोध असत् से है, बुराई से नहीं। उनसे आवृत व्यक्ति सदा प्रेम का अधिकारी है, हिंसा का कभी नहीं। अपने आंदोलन के प्राय चोटी पर होते भी चौराचौरी के हत्याकांड से विरक्त होकर उन्होंने आंदोलन बंद कर दिया था। (भ० श० उ०)

अहिच्छत्र (सबसे प्राचीन लेख में अधिच्छत्र), 'सर्पों का छत्र', महाभारत के अनुसार उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र को कुरुओं

ने वहाँ के राजा से छीनकर द्रोण को दे दिया था। कहा जाता है, द्रोण ने द्रुपद को अपने शिष्यों की सहायता से हराकर प्रतिशोध लिया था और उसका आधा राज्य बाँट लिया था। अहिच्छत्र के पांचाल जनपद का इतिहास ई० पू० छठी शताब्दी से मिलता है। तब यह १६ जनपदों में से एक था। मुद्राओं और लेखों से ज्ञात होता है कि ई० पू० पहली शताब्दी में मित्रवंश के राजाओं ने अहिच्छत्र में राज किया। कुछ विद्वानों ने इस वंश को शुंग राजाओं का वंश सिद्ध करने का प्रयास किया है, पर वास्तव में ये प्रांतीय शासक थे, जैसा इस वंश की लंबी, मुद्रांकित नामों के आधार पर बनी, तालिका से प्रतीत होता है। इसके बाद का इतिहास नहीं मिलता। गुप्तसाम्राज्य में निःसंदेह यह एक भुक्ति था। चीनी यात्री युवान च्वांग ने यहाँ पर १० बौद्ध विहार और नौ मंदिर देखे थे। ११वीं शताब्दी में इसका राजनीतिक महत्व जाता रहा।

बरेली जिले के आँवला स्टेशन से कोई सात मील उत्तर प्राचीन अहिच्छत्र के अवशेष आज भी वर्तमान है। इनमें कोई तीन मील के त्रिकोणाकार घेरे में ईंटों की किलेबंदी के भीतर बहुत से ऊँचे ऊँचे टीले है। सबसे ऊँचा टीला ७५ फुट का है। कनिंघम ने सबसे पहले वहाँ कुछ खुदाई कराई और बाद में फ्यूरर ने उसका अनुसरण किया। १९४०-४४ में यहाँ चुने हुए स्थानों की खुदाई हुई जिसमें भूरी मिट्टी के ठीकरे मिले। महाभारतकाल का तो कोई प्रमाण यहाँ नहीं मिला, पर शुंग, कुषाण और गुप्तकाल की अनेक मुद्राएँ, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ मिली। बाद के काल के रहने के स्थान, सड़कें और मंदिरों के अवशेष भी मिले है।

सं०ग्रं०—कनिंघम : आर्केयोलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, भाग १, बी० सी० लाह : पांचाल और उनकी राजधानी अहिच्छत्र (अंग्रेजी में), ए० घोष : अहिच्छत्र के ठीकरे (अंग्रेजी में), के० सी० पाणिग्राही : ऐंशिऐंट इंडिया, भाग १। (ब० पु०)

अहिरावण, महिरावण रावण के पातालनिवासी दो मित्र जो रावण के कहने से सुबेल पर्वत की एक शिला पर राम लक्ष्मण को सोते देख, बध करने के लिये शिलासहित उठाकर ले गए। हनुमान पीछा करते हुए निकुंभिला नगर पहुँचे जहाँ उन्हें उनका पुत्र मकरध्वज (स्नान के समय हनुमान का एक स्वेदबिंदु मछली द्वारा पी जाने से उसके गर्भ से उत्पन्न) मिला जिसने उन्हें बताया कि प्रातःकाल कामाक्षीदेवी के मंदिर में राम लक्ष्मण का वध होगा। जब राक्षस राम लक्ष्मण को बधार्थ लेकर मंदिर पहुँचे तब हनुमान ने देवी के छद्मस्वर में कहा कि पूजा आदि मंदिर के झरोखे से बाहर से की जाय। राक्षसों ने वैसा ही किया तथा राम लक्ष्मण को भी झरोखे से भीतर छोड़ दिया। इसके बाद तुमुल युद्ध हुआ किंतु अहिरावण, महिरावण के रक्त से नए नए अहिरावण, महिरावण पैदा होने लगे। हनुमान को अहिरावण की पत्नी ने बताया कि वह नागकन्या है तथा बलपूर्वक यहाँ लाई गई है। महिरावण की भी उसपर कुदृष्टि है। यदि राम उससे विवाह करें तो वह इन दोनों राक्षसों को नष्ट करने का उपाय बता सकती है। हनुमान ने उत्तर दिया कि यदि राम के बोझ से उसका पलंग न टूटा तो वह ब्याह कर लेंगे। नागकन्या ने बताया कि एक बार कुछ लड़के भौंरों को पकड़कर काँटे चुभा रहे थे तब इन दोनों ने भौंरों को बचाया था। वे ही भ्रमर अमृतबिंदु से इन दोनों को जीवित रखते है, अतः पहले भौंरों को मार डालो। हनुमान ने बहुत से भ्रमरों को मार डाला। एक भ्रमर जब शरणागत हुआ तो उससे हनुमान ने अहिपत्नी का पलंग अंदर से खोखला करवाया। तब तक राम के बाण से सब राक्षसों का बध हो चुका था। हनुमान से सब बात सुनकर राम नागकन्या के आवास में गए तथा पलंग स्पर्श करते ही, पोला हो जाने के कारण, टूट गया। हनुमान की चतुराई से राम को नागकन्या से विवाह नहीं करना पड़ा। उसने अग्नि में जलकर शरीर छोड़ा। (म०)

अहिर्बुध्न्य संहिता पांचरात्र साहित्य का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। विष्णुभक्ति का जो दार्शनिक अथवा वैचारिक पक्ष है, उसी का एक प्राचीन नाम पांचरात्र भी है। परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) का विवेचन होने के कारण इस साहित्य का यह नामकरण किया गया है। नारद पांचरात्र और इस संहिता में उक्त नामकरण का यही अर्थ बतलाया गया है। पांचरात्र साहित्य का रचनाकाल सामान्यतया ईसापूर्व चतुर्थ शती से ईसोत्तर चतुर्थ शती के बीच माना जाता है। पांचरात्र संहिताओं की संख्या लगभग २१५ बतलाई जाती है, जिनमें अबतक लगभग १६ संहिताओं का ही प्रकाशन हुआ है। अहिर्बुध्न्य संहिता का प्रकाशन १९१६ ई० के दौरान तीन खंडों में हुआ था। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें ज्ञान, योग, क्रिया, चर्या तथा वैष्णवों के सामान्य आचारपक्ष के प्रामाणिक विवेचन के साथ साथ वैष्णव दर्शन के आध्यात्मिक प्रमेयों की भी प्रामाणिक व्याख्या दी गई है। अन्य अनेक संहिताओं से इसकी विशेषता यह है कि इसमें इस मत का दार्शनिक विवेचन भी उपलब्ध है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें तांत्रिक ग्रंथों की तरह ही तांत्रिक योग का भी सांगोपांग विवेचन किया गया है, यद्यपि भक्ति की महिमा यहाँ कम नहीं है। इसमें भेदाभेदवाद का भी पर्याप्त व्याख्यान है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् रामानुज दर्शन की भूमिका के लिये पांचरात्र दर्शन को महत्वपूर्ण मानते हैं। (वि० ना० गौ०)

अहिल्याबाई होल्कर (१७२५-९५), इंदौर के शासक मल्हरराव होल्कर के पुत्र खंडेराव की पत्नी। उसने राजनीतिज्ञता, शासकीय दक्षता तथा धर्मपरायणता का यथेष्ट परिचय दिया, यद्यपि स्वयं वह धर्मपरायणता को ही अपना मुख्य कर्तव्य तथा प्रेरक शक्ति मानती रही। तत्सामयिक स्वार्थ, अनाचार, पारस्परिक विग्रहों और युद्धों के विषाक्त वातावरण में उसका प्रत्येक जाग्रत क्षण राजकीय समस्याओं के समाधान या धर्मकार्य में ही व्यतीत होता था।

आरंभ से ही मल्हरराव ने अपनी पुत्रवधू को शासकीय उत्तरदायित्व से अवगत कराना शुरू कर दिया था। युद्धक्षेत्र में खंडेराव की मृत्यु होने पर वृद्ध, शिथिलकाय मल्हरराव ने राज्यभार बहुत कुछ उसके कंधों पर छोड़ दिया था। मल्हरराव की मृत्यु के उपरांत अहिल्याबाई का क्रूरप्रकृति पुत्र मालीराव केवल नौ मास ही शासन कर सका। तब से राज्यसंचालन का संपूर्ण उत्तरदायित्व अहिल्याबाई ने ही सँभाला। थोड़े ही समय में उसने राज्य में शांति और व्यवस्था स्थापित कर दी। पड़ोसी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए। युद्धक्षेत्र में भी उसने तुकोजी के नायकत्व में मंदसौर में राजपूतों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। शासनप्रबंध में उसने विशेष यश अर्जित किया। बड़े राज्य की रानी न होकर भी जितनी स्नेहासिक्त कीर्ति उसे प्राप्त हुई, उतनी ब्रिटिश भारत के इतिहास में किसी राजवंश के राजनीतिज्ञ को न मिली। यह कीर्ति उसके राजनीतिक कार्यों पर नहीं, वरन् उसकी चारित्रिक धवलता तथा दानशीलता पर आधारित थी। उसकी दानशीलता उसके राज्य की परिधि तक ही सीमित न थी, बल्कि समस्त देश के सुदूर तीर्थस्थानों—गंगोत्री से लेकर विंध्याचल सरीखे दुरूह स्थानों तक—व्याप्त थी। यह दानशीलता केवल धार्मिक भावनाओं से प्रेरित न होकर, निर्धनों, असहायों तथा थके माँदे पथिकों को सहायता देने की आंतरिक मानवीय भावनाओं से संचारित थी। यही कारण है कि उसे अपनी जनता से तो आत्मज का सा स्नेह मिला ही, पड़ोसी राज्यों ने भी उसके प्रति सम्मान और आदर प्रदर्शित किया एवं भविष्य में भारतीय जनस्मृति में आदर्श नारी के रूप में उसकी गुणगाथा गाई गई। व्यक्तिगत रूप से उसके जीवन की सबसे प्रशंसनीय बात यह थी कि दारुण कौटुंबिक दुःख सहते हुए भी (उसने अपने पति, पुत्र, जामाता और नाती की मृत्यु अपने सामने देखी तथा अपनी पुत्री मुक्तिबाई को सती होते देखा) उसने अपना मानसिक संतुलन विकृत न होने दिया और न राजनीतिक संकट ही उसे कभी विचलित कर सके। (रा० ना०)

अहुरमज्द प्राचीन ईरान के पैगंबर जरथुस्त्र की ईश्वर (अहु = स्वामी, मज्द = चरम ज्ञान) को प्रदत्त संज्ञा। सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सृष्टि के एक कर्ता, पालक एवं सर्वोपरि तथा अद्वितीय, जिसे वंचना छू नहीं सकती और जो निष्कलंक है। पैगंबर की 'गाथाओं' अथवा स्तोत्रों में ईश्वर की प्राचीनतम, महत्तम एवं अत्यंत पवित्र भावना का समावेश मिलता है और उसमें प्राकृतिक शक्ति (नेचरपार्सिफिक) पूजा का सर्वथा अभाव है जो प्राचीन आर्य और सामी देवताओं की विशेषता थी। धार्मिक नियमों में जिनका पालन करना प्रत्येक जरथुस्त्र मतावलंबी का

कर्तव्य माना जाता है; उसे इस प्रकार कहना पड़ता है—"मैं अहुरमज्द के दर्शन में आस्था रखता हूँ . मैं असत देवताओं की प्रभुता तथा उनमे विश्वास रखनेवालो की अवहेलना करता हूँ।"

इस प्रकार प्रत्येक नवमतानुयायी प्रकाश का सैनिक होता है जिसका पुनीत कर्तव्य अधकार और वासना की शक्तियो से धर्मसस्थापन के लिये लड़ना है।

"ऐ मज्द ! जब मैंने तुम्हारा प्रथम साक्षात् पाया", इस प्रकार पैगंबर ने एक सुप्रसिद्ध पद मे कहा है, "मैंने तुम्हे केवल विश्व के आदि कर्ता के रूप मे अभिव्यक्त पाया और तुमको ही विवेक का स्रष्टा (श्रेष्ठ, मिन्) एव सद्धर्म का वास्तविक सर्जक तथा मानव जाति के समस्त कर्मों का नियामक समझा।"

अहुरमज्द का साक्षात् केवल ध्यान का विषय है। पैगबर ने इसीलिये केवल ऐसी उपमाओ और रूपको का आश्रय लेकर ईश्वर के विषय मे समझाने का प्रयास किया है जिनके द्वारा अनत की कल्पना साधारण मनुष्य की समझ मे आ पाए। वह ईश्वर से स्वय वाणी मे प्रकट होकर उपदेश करने के लिये आराधन करता है और इस बात का निर्देश करता है कि अपने चक्षुओ से सभी व्यक्त एव अव्यक्त वस्तुओ को देखता है। इस प्रकार की अभिव्यजनाएँ प्रतीकात्मक ही कही जायँगी। (रु० म०)

अहेरिया मध्य दोआब के अतर्गत रहनेवाली एक शिकारी तथा जरायमपेशा जाति। हालाँकि इस जाति के लोग अपने को किसी पुरातन सूर्यवशी राजा का वशज मानते हैं, तथापि इनकी रहन सहन, रीतिरिवाज तथा शिकारी प्रवृत्ति से अनुमान लगाया जाता है कि ये भीलो अथवा बहेलियो के वशज है। कुछ लोग इन्हे धानुक (मुर्दाखोर) भी कहते है, परंतु ऐसा है नही। अलबत्ता गोरखपुर जिले मे रहनेवाले अहेरिया साँप को पकड़कर खा जाते है।

अहेरिया जाति मे पचायतप्रथा है। पचायत ही इनके सब विवादो का निर्णय करती है। एक बार निर्वाचित हो जाने पर पूरे जीवन वही व्यक्ति सरपच रहता है। उसके बीमार पड़ने पर या अनुपस्थित रहने पर जाति के किसी अन्य वरिष्ठ सदस्य को सरपच का कार्य सौंप दिया जाता है। इस जाति मे बहुविवाह की प्रथा है और कोई कोई व्यक्ति तो एक साथ चार चार पत्नियाँ रखता है। विधवा विवाह की प्रथा भी इनमे प्रचलित है। दो सगी बहनो से प्राय एक ही व्यक्ति शादी कर लेता है। इनमे धनी लोग मुर्दे को जलाते है और गरीब या तो शव को नदी मे बहा देते है अथवा जमीन मे गाड़ देते है।

अहेरिया मेघासुर नामक देवता को पूजते है। अलीगढ जिले की अतरौला तहसील के अतर्गत स्थित गगीरी गाँव मे मेघासुर का एक भव्य मदिर वर्तमान है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि मुनि इनके महात्मा हैं। शिकार के अतिरिक्त पत्तल, टोकरी, शहद तथा गोद इत्यादि बेचकर भी ये अपना जीवननिर्वाह करते है। (कै० च० श०)

अहोम ताई जाति की शाखा, जिसने आसाम मे १३वी सदी मे बसकर उसे अपना नाम दिया। शीघ्र उसने ब्रह्मपुत्र के निचले काँठे पर भी कुछ काल के लिये अधिकार कर लिया। उस जाति के शासन मे राजकर वैयक्तिक शारीरिक सेवा के रूप मे लिया जाता था। अहोम पहले जीवजतुओ की पूजा किया करते थे, पीछे हिंदू धर्म के प्रभाव से उन्होने हिंदू देवताओ को अपनी आस्था दी। अहोमो का समाज जनो (खेल) मे विभक्त है। उनकी भाषा असमी (द्र० 'असमिया') है और लिपि देवनागरी से विकसित। प्राचीन अहोमी या असमी भाषा मे ताड़पत्रो पर लिखी अनेक हस्तलिपियाँ आज उपलब्ध हैं। (भ० श० उ०)

अह्रिमन जरथुस्त्र धर्म मे आगे चलकर वासना की प्रतीक अह्रिमन सज्ञा हुई। गाथा साहित्य के अवेस्ता ग्रथ मे इस सज्ञा का मौलिक रूप 'अग्र मैन्यु' (वैदिक मन्यु) एव पहलवी मे 'अह्रिमन' है। जबसे धर्म के ससार मे इस महाभयकर राक्षस का आगमन हुआ, विनाश और प्रलय की सृष्टि हुई। इसमे तथा 'स्पेंत मैन्यु' मे, जो कल्याणकारी शक्ति है, सघर्ष का बीज भी बो दिया गया। पैगबर का अपने अनुयायियो के लिये अनुशासन इसी वासना की शक्ति से अनवरत लड़ते रहना है जिसका अतिम परिणाम कल्याणकारी शक्ति की जीत एवं अह्रिमन का पलायन एव पाताल लोक मे शरण लेना है। (रु० म०)

आंगिलवर्त (मृत्यु ८१४) फ्रैंक लातीनी कवि। शलमान का मंत्री। शार्लमान् की पुत्री वर्था का प्रेमी जिससे उसके दो बच्चे हुए। ७९० में वह सैं रिकुए का मठाध्यक्ष था। ८०० मे वह शार्लमान् के साथ रोम गया और ८१४ मे उसकी वसीयत का वह गवाह भी रहा। उसकी कविताओं में ससार के व्यवहारकुशल मनुष्यों की सुसस्कृत रुचि परिलक्षित होती है। उसे राजकीय उच्च सामतवर्ग के जीवन का पूरा ज्ञान था। सम्राट् की साहित्यगोष्ठी मे वह 'होमर' कहलाता था। (स० च०)

आंगेलस सिलोसेयस (१६२४–१६७७), जर्मन कवि। नाम जोहान शेफलर, पर उपनाम आंगेलस सिलोसेयस से विख्यात हुआ। पहले वटमबर्ग के ड्यूक का राजचिकित्सक था, १६५२ से धर्म की ओर अधिक झुका। १६६१ में बेसली के बिशप का सहकारी बन गया। आंगेलस ने बहुत से भजन लिखे जो आज भी जर्मन प्रोटेस्टेंट भजनावली मे सकलित है। उसकी कविता अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिये प्रसिद्ध है। (स० च०)

आंग्ल-आयरी साहित्य अंग्रेजो द्वारा आयरलैंड विजय करने का कार्य हेनरी द्वितीय द्वारा १२वी शताब्दी (११७१) मे आरभ हुआ और हेनरी अष्टम द्वारा १६वी शताब्दी (१५४१) मे पूर्ण हुआ। चार सौ वर्षों के सघर्ष के पश्चात् वह २०वी शताब्दी (१९२२) मे स्वतंत्र हुआ। इस दीर्घकाल मे अंग्रेजो का प्रयत्न रहा कि आयरलैंड को पूरी तरह इंग्लैंड के रग मे रँग दे, उसकी राष्ट्रभाषा गैलिक को दबाकर उसे अंग्रेजीभाषी बनाएँ। इस कार्य मे वे बहुत अशो मे सफल भी हुए। आग्ल-आयरी साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जो अंग्रेजीभाषी आयरवासियो द्वारा रचा गया है और जिसमे आयर की निजी सभ्यता, सस्कृति और प्रकृति की विशेष छाप है। गैलिक अपने अस्तित्व के लिये १७वी शताब्दी तक सघर्ष करती रही और स्वतत्र होने के बाद आयर ने उसे अपनी राष्ट्रभाषा माना। फिर भी लगभग चार सौ वर्षों तक आयरवासियो ने जिस विदेशी माध्यम से अपने को व्यक्त किया है वह पैतृक दाय के रूप मे उनकी अपनी राष्ट्रीय सपत्ति है। इसमें से बहुत कुछ इस कोटि का है कि वह अंग्रेजी साहित्य का अविभाज्य अग बन गया है और उसने अंग्रेजी साहित्य को प्रभावित भी किया है, पर बहुत कम ऐसा है जिसमे आयर के हृदय की अपनी खास धड़कन नही सुनाई देती। इस साहित्य के लेखको मे हमे तीन प्रकार के लोग मिलते है एक वे जो इंग्लैंड से जाकर आयर मे बस गए पर वे अपने सस्कार से पूरे अंग्रेज बने रहे, दूसरे वे जो आयर से आकर इंग्लैंड मे बस गए और जिन्होने अपने राष्ट्रीय सस्कारो को भूलकर अंग्रेजी सस्कारो को अपना लिया, तीसरे वे जो मूलत: चाहे अंग्रेज हो चाहे आयरी, पर जिन्होने आयर की आत्मा से अपने को एकात्म करके साहित्यरचना की। मुख्यत इस तीसरी श्रेणी के लोग ही आग्ल-आयरी साहित्य को वह विशिष्टता प्रदान करते है जिससे भाषा की एकता के बावजूद अंग्रेजी साहित्य मे उनको अलग स्थान दिया जाता है। यह विशिष्टता उसकी सगीतमयता, भावाकुलता, प्रतीकात्मकता, काल्पनिकता, अतिमानव और अतिप्रकृति के प्रति आस्था और कभी कभी बलात् इन सबसे विमुख एक ऐसी बौद्धिकता और तार्किकता मे है जो उद्धत और क्रांतिकारिणी प्रतीत होती है। यही है जो एक ही युग मे विलियम बटलर यीट्स को भी जन्म देती है और जार्ज बरनार्ड शा को भी।

आग्ल-आयरी साहित्य का आरभ सभवत लियोनेल पावर के सगीतविषयक लेख से होता है जो १३९५ में लिखा गया था, पर साहित्यिक महत्व का प्रथम लेख शायद रिचर्ड स्टैनीहर्स्ट (१५४७–१६१८) का माना जायगा जो आयर के इतिहास के सबध मे हालिनशेड के क्रानिकिल (१५७८) में समिलित किया गया था।

१७वी शताब्दी के कवियो मे डेनहम, रासकामन, टेट, नाटककारो में ओरेरी और इतिहासकारो मे सर जान टेंपिल के नाम लिए जायँगे।

१८वीं शताब्दी इंग्लैंड में गद्य के चरम विकास के लिये प्रसिद्ध है। वाग्मिता, नाटक, उपन्यास, दर्शन, निबध सबमे अद्भुत उन्नति हुई। इसमे आयरियो का योगदान अंग्रेजो से किसी भी दशा मे कम नही माना जायगा।

पार्लियामेंट मे बोलनेवालो मे एड्मड बर्क (१७२६-९७) का नाम सर्वप्रथम लिया जायगा। 'इपीचमेंट आव वारेन हेस्टिंग्ज' की प्रत्याशा किसी अंग्रेज से नही की जा सकती थी, उसमें अंग्रेजो के आत्मनियंत्रण का भी अभाव है। पार्लियामेंट के अन्य वक्ताओ मे फिलपाट क्यरन (१७५०-१८१७) और हेनरी ग्राटन (१७४६-१८२०) के नाम भी संमानपूर्वक लिए जायँगे, यद्यपि उनके विषय प्राय आयर से सबद्ध और सीमित होते थे।

१८वीं शताब्दी उपन्यासो के उद्भव का काल है। सेंट्सबरी ने जिन चार लेखको को उपन्यास के रथ का चार पहिया कहा है, उनमे एक स्टर्न (१७१३-६८) हैं। ये आयरमूलक थे, और यद्यपि ये आजीवन इंग्लैड मे ही रहे, उनके उपन्यास ने इस प्रकार के चरित्र को जन्म दिया जो भावना के उद्वेग मे पूरी तरह बहता है। दूसरे उपन्यासकार गोल्डस्मिथ (१७२८-७४) ने उपन्यास मे सामान्य घरेलू जीवन की स्थापना की।

जोनाथान स्विफ्ट (१६६७-१७४५) ने सरल शैली मे व्यग्य लिखने मे प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका ग्रंथ 'गलिवर्स ट्रैवेल' मानवता पर सबसे बड़ा व्यंग है। उसे बालविनोद बनाकर लेखक ने मानवता पर व्यग्य किया है। जार्ज बर्कले (१६८५-१७५३) ने यूरोपीय दर्शनशास्त्र मे विचार के सूक्ष्म आधारो का सूत्रपात किया।

नाटककारो मे विलियम काग्रीव (१६७०-१७२६), शेरिडन (१७५१-१८१६) और जार्ज फरकुहर (१६७८-१७०७) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस शताब्दी मे कोई प्रसिद्ध कवि नही हुआ।

आयर के इतिहास मे १९वीं सदी राष्ट्रीयता, उदार मनोवृत्ति, क्रांति की विचारधारा, रूमानी उद्भावना और पुरातन के प्रति अनुराग के लिये प्रसिद्ध है। काव्य के क्षेत्र मे, शारलट ब्रुक (१७४०-९३) ने गैलिक कविताओ के अनुवाद अंग्रेजी मे किए थे, जे० जे० कोलनन (१७९५-१८२९) ने गैलिक कविताओ के आधार पर अंग्रेजी मे कविताएँ लिखी। मौलिक कवियो मे जेम्स क्लैरेंस मगन (१८०३-४९), सैंमुएल फरगुसन (१८१०-८६), आब्रे-डि-वियर (१८१४-१९०२) और विलियम एलिगम (१८२४-८९) के नाम प्रसिद्ध हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध थॉमस मूर (१७७९-१८५२) हुए। उन्होने आयरी लय में बहुत सी कविताएँ लिखी। अपने समय मे वे रूमानी कवियो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध थे।

१९वीं शताब्दी मे कई पत्रपत्रिकाएँ निकली जिनसे आयरलैंड के सास्कृतिक आदोलन को बडा बल मिला। इसमे 'यग आयरलैंड' और 'दि नेशन' प्रमुख रहे। डबलिन युनिवर्सिटी मैगजीन मे इस आदोलन की कुछ स्थायी साहित्यिक सामग्री सगृहीत है।

इस शताब्दी के उपन्यासकारो मे निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं चार्ल्स मेट्यूरिन (१७८२-१८२४) जिनके 'मेलमाथ दि वाडरर' को यूरोपीय ख्याति मिली, मेरिया एजवर्थ (१७६७-१८४९) जिन्होने समकालीन आयरी जीवन का चित्रण सफलता के साथ किया, जेरल्ड ग्रिफिन (१८०३-४०) जिन्होने ग्रामीण जीवन की ओर ध्यान दिया। लघुकथालेखको मे हैमिल्टन मैक्सवेल (१७९२-१८५०) का नाम सर्वोपरि है। चार्ल्स लीवर (१८०६-७२) ने हास्य और व्यग्य लिखने मे प्रसिद्धि प्राप्त की। आयरी व्यग्य अपने ही ऊपर आकर समाप्त होता है। लीवर पर अपनी ही जाति का मजाक उडाने का दोष लगाया गया। यही दोष आगे चलकर जे० एम० सिज पर भी लगा।

इस शताब्दी के आलोचको मे एडवर्ड डाउडन (१८४३-१९१३) का नाम प्रसिद्ध है। शेक्सपियर पर लिखी उनकी पुस्तक आज भी मान्य है।

नाटक के क्षेत्र मे इस शताब्दी के अत मे आस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००) प्रसिद्ध हुए। वे आयरी थे, परतु उन्होने आयरी प्रभावो से मुक्त रहने का प्रयत्न किया था। उनमे जो कुछ आयरी प्रभाव है, उनके अवचेतन से ही आया जान पडता है।

१९वीं सदी के अत मे आयर मे जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ उसके केंद्र डब्ल्यू० बी० यीट्स (१८६५-१९३९) माने जाते हैं। कविता, नाटक, निबंध, सभी क्षेत्रों में उनकी ख्याति समान है। उन्होने डबलिन मे एबी थियेटर की स्थापना भी की। इससे प्रोत्साहित होकर कई अच्छे नाटककार आगे आए। इनमे लेडी ग्रिगोरी (१८५२-१९३२) और जे० एम० सिज (१८७१-१९०९) अधिक प्रसिद्ध है। दोनो ने आयर के ग्रामीण जीवन की ओर देखा--लेडी ग्रिगोरी ने भावुकता से, सिंज ने व्यग्य से। डब्ल्यू० बी० यीट्स ने कई प्रकार के नाटक लिखे। जापान के 'नो' नाटको से प्रभावित होकर उन्होने प्रतीकात्मक नाटक लिखने मे विशिष्टता प्राप्त की। कविता के क्षेत्र मे आयरी प्रभाव को न छोडते हुए भी अपने समय मे वे अंग्रेजी के प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे। उनके मित्र जार्ज रसेल, जो ए० ई० के नाम से कविताएँ लिखते थे, थियोसॉफिकल विचारो से प्रभावित थे।

जार्ज बरनार्ड शा (१८५६-१९५०) का रुख आयर के सबध मे आस्कर वाइल्ड जैसा ही था। पर जिस प्रकार का व्यग्य उन्होने समकालीन समाज के हर पक्ष पर किया है, वह कोई आयरी ही कर सकता था।

यीट्स के समकालीन लेखकों मे जार्ज मूर (१८५२-१९३३) का भी नाम लिया जायगा। वे कुछ समय तक आयर के सास्कृतिक आदोलन से सबद्ध रहे, पर बाद को अलग हो गए।

आधुनिक काल मे जिस लेखक ने सारे ससार का ध्यान डबलिन और आयरलैंड की ओर अपनी एक रचना से ही खीच लिया वे है जेम्स ज्वाएस (१८८२-१९४१)। उनकी 'युलिसीज' ने मानव मस्तिष्क की ऐसी गहराइयो को छुआ कि वह सारे ससार के लिये कौतूहल का विषय बन गई। ज्वाएस ने भाषा की अभिनव अभिव्यजनाओं की सभावनाओ का भी पता लगाया।

स्वतत्रताप्राप्ति के बाद आयर मे साहित्यिक शिथिलता के चिह्न दिखाई देते है। कारण शायद नई प्रेरणा का अभाव है, और सभवत यह भी कि आयर की मनीषा गैलिक के पुनरुद्धार और प्रचार की ओर लग गई है और अंग्रेजी के साथ उसका भावात्मक सबध ढीला हो रहा है।

(ह० ब०)

आंग्ल-नॉरमन साहित्य रोमन विजय के बहुत पहले आर्यों के कुछ प्रारंभिक कबीले इंग्लैंड के दक्षिण एव दक्षिण पश्चिमी भागो मे बस चुके थे। इन कबीलो मे पहले तो गॉल तथा ब्राइटन आए, फिर रोमन आए। तत्पश्चात् सैक्सन और डेन आए और अत मे नॉर्मन आए।

इतिहास से हमे लोगो के स्थानातरण की कथा मालूम पडती है। इन स्थानातरणो के अनेक कारण है, लेकिन फिर भी हम उन्हे ढूँढने का प्रयत्न करते है और विश्लेषण के बाद हम ऐसे तथ्य पाते है जिनकी व्याख्या नही की जा सकती। जो लोग शताब्दियो से एक स्थान पर सुख दुख झेलते हुए रहते आए है वे अचानक विचित्र आकाक्षाओ से प्रेरित होकर बडे बडे पहाडो, तीव्रगामी नदियों और वीरान रेगिस्तानो को पार करने के लिये कटिबद्ध हो जाते है। इसके पीछे आर्थिक एव भौगोलिक (ऋतु सबधी) कारण है, किंतु कुछ और भी बाते है जो इनसे भिन्न है। चगेज खाँ की भाँति एक बडा नेता उठ खडा होता है और लोगों मे एक नया जोश का दौर आ जाता है। उनमे अस्थिरता हो जाती है। वे अपने पुराने घरो मे बैठे बैठे कुपित और विचलित हो उठते है।

यही बात जर्मनिक कबीले के साथ घटी थी। वे योद्धा थे। वे लबे तडंगे, चौडी हड्डियो तथा नीली आँखोवाले क्रूर व्यक्ति थे। वे रोमन सैन्य दल के विरुद्ध लोहा लेते रहे तथा शताब्दियों के कठिन सग्राम के बाद, अत मे, रोमन प्रतिरक्षा के कवच को भेदते हुए समस्त पश्चिमी यूरोप मे फैल गए।

ये भयकर विजेता तरगो की भाँति अपने सुनसान और उजाड घरो से बाहर की ओर पश्चिम के हरे भरे ससार मे आ निकले। जिन्होने उनका प्रतिरोध किया वे नष्ट हो गए और जिन्होने उनके प्रभुत्व को स्वीकार किया वे या तो दास थे या गँवार। इसके तुरत बाद अपनी लबी काली नावो पर सवार होकर इंगलिश चैनल नामक क्षुब्ध जलरेखा को उन्होने पार किया और श्येनाक्ष कप्तानो के नेतृत्व मे उत्तरी सागर मे भी आगे बढे। फिर, विशेष नरसंहार के पश्चात् इंग्लैंड की उस जनता पर अधिकार जमाया जो रोमनो के आने के बाद यत्र तत्र बड़ी असहाय स्थिति मे रह गई थी।

वे दक्षिण के समृद्ध भागो में, वहाँ के मूल निवासियो को मार भगाकर, जा बसे।

भयानक और हिंस्र होते हुए भी वे व्यवहारत. अपने मे एक दूसरे के प्रति काफी निष्ठावान् थे। स्त्रियो के प्रति समान की भावना रखते थे। वस्तुत सैक्सन घरो मे स्त्रियो को बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त थी और इस स्थिति को बदलने मे सदियाँ लग गई।

सैक्सन भूस्वामियो का जीवन अन्यदेशीय वीरयुग के भूस्वामियो के जीवन के पर्याप्त समान था। सायकाल जब कबीलो के सरदार भवनो मे बैठकर मोटी रोटियाँ मास के साथ खाते रहते थे, उसी समय चारण आते और प्राचीन वीरो यथा विडसिथ और बियोउल्फ की गाथाएँ गाकर सुनाते थे। बियोउल्फ एक शक्तिशाली योद्धा था जो साहसिक अभियानो का अन्वेषी था। राजा राथगर का वह कृपापात्र बना, क्योंकि उन दिनो उसकी रियासत ग्रैंडेन नामक दैत्य से आक्रात थी। इसका कोई साहित्यिक सौष्ठव नहो था, किंतु इसमे एक शक्ति और अभिव्यक्ति की क्षमता थी तथा आदिम मानवो के गुहाचित्रो की सी स्पष्टता थी। होमर युग की अपेक्षा इसमे अधिक प्रारभिकता थी। वन्य हिंसक कल्पना होते हुए भी इसमे यत्र तत्र बौद्धिक (स्टोइक) पूर्णता थी। सैक्सन जाति का यह वास्तविक चित्र माना जा सकता है—उस जाति का जो स्वभाव से मनहूस और क्रूरता से चिह्नित थी, जो हँस भी नही सकती थी। वे सभी अपने देश की अधकारमय ठढी शीत ऋतुओ की याद दिलाते है। बियोउल्फ तथा विडसिथ दोनो उस जाति की महान् गाथाएँ है जिनमे कालातर मे अनेक प्रक्षिप्त अश जुडते गए और अत मे ईसाकाल मे लिखित रूप मे आए। इसीलिये इसपर ईसाई भावनाओ का हल्का रग चढा हुआ है।

किंतु प्रथम आग्ल-सैक्सन लेखक है एक साधु, केडमन। उसकी कविताएँ बाइबिल से अनूदित है। लेकिन उसम पर्याप्त स्वच्छदता बरती गई है, क्योकि केडमन स्वय लातीनी भाषा से अनभिज्ञ था।

इस समय जो भाषा विकसित हुई थी और जिसे हम आग्ल-सैक्सन कहते है वह जर्मनिक भाषा थी जो वास्तव मे जूट्स और फ्रीलैंडर्स कबीलो की भाषा से थोडी ही भिन्न थी। केल्टिक भाषा तथा लातीनी और गिरजाघरो की लातीनी के सपर्क मे आने पर ही इसमे कुछ परिवर्तन हुआ और शीघ्र ही इसकी सश्लेषणात्मक विशेषताओ मे विश्लेषणात्मक विशेषताओ को स्थान देना आरभ हुआ। इसमे मूल धातुएँ तो ज्यो की त्यो रह गई, किंतु उपसर्गादि बदलने आरभ हो गए।

आग्ल-सैक्सन साहित्य कविताओ से समृद्ध था जिनमे से अधिकतर मौखिक होने के कारण नष्ट हो गए और कुछ काल के थपेडो मे वह गए, किंतु बची खुची कविताएं अपनी विशेषताओ का परिचय देती है। इसमे केवल भव्यता था, छद सबधी उसके प्रयोग बलाघातयुक्त एव श्लेषात्मक होते थे। इसमे यौगिक शब्दो का प्रयोग होता था। किंतु इसमे एक दुर्लभ स्पष्टता एव सादगी वर्तमान थी, यद्यपि वह गीतिमयता एव भव्यता से रहित होती थी।

आग्ल-सैक्सनो का अपना कुछ गद्य साहित्य भी था। यह मुख्यत. तथ्य-कथन के रूप म था और राजा अल्फ्रेड महान् की कृतियाँ भी इसमे समिलित थी। सन् १०६६ मे एक घटना घटी जिसने इग्लैड के भाग्य को बदल दिया। विजेता विलियम, जो नार्मनो का सरदार तथा मूलत जर्मनिक कबीले का था, अपने बधुओ से विलग हो गया, क्योकि उन्होने लातीनी सस्कृति अपना ली थी। अत वह सामने आया और इग्लैड को जीत लिया। इनकी भाषा नॉर्मन-फ्रेंच थी और लगभग १४वी सदी के अत तक फ्रांसीसी कुलीनो एव राजदरबारो की भाषा बनी रही। १५वी सदी के बाद तक अधिकतर अग्रेज, जो सयुक्त रूप से उस समय नॉर्मन और सैक्सन थे, फ्रासीसी तथा अग्रेजी दोनो का उपयोग करते थे।

१३०० से १४०० ई० तक अग्रेजी भाषा मे अनेक त्वरित परिवर्तन हुए। असभ्यो एव बदमाशो की भाषा से बदलकर यह पार्लियामेट की भाषा बनी और अंत मे एलिजाबेथ युग के पूर्व मे हुए महान् कवि चॉसर की भी यही भाषा थी। चॉसर को निश्चित रूप से कुछ साहित्यिक रूपो को अतिम आकार देने का श्रेय है, यद्यपि ये रूप किसी न किसी रूप मे वर्तमान थे। चॉसर ने कोई नई भाषा नहीं गढ़ी, केवल लंदन की भाषा पर अपनी निजी छाप लगा दी।

चॉसर-पूर्व-पद्यो की तिथि निश्चित करना कठिन है। उनमे से कुछ तो पाडुलिपियो के रूप मे वितरित किए गए थे और कुछ स्मृति एव मौखिक पाठ के आधार पर चल रहे थे। इससे कोई इतना सोच सकता है कि ये पद्य अधिकतर १३वी सदी मे और मुख्यत उस सदी के उत्तरार्ध मे लिखे गए थे। कभी कभी हम उसके अप्रत्याशित सौदर्य के एक गीत मे आश्चर्यजनक ताजगी का अनुभव करते है। जैसे—

Summer is a comen in-londe sing cuckoo

(कोयल गाती है कि धरती पर ग्रीष्म आ रहा है)

कुछ तो आग्ल-सैक्सन कल्पना के निबिड अधकार से बिलकुल ही भिन्न हैं। यही कुछ ऐसी वस्तु है जो नॉर्मनो ने इग्लैड को दी—वह था जीवनोल्लास और थी निरीक्षण एव मूल्याकन की क्षमता। केल्टिक कल्पना तथा रहस्यवाद से सैक्सन रीतिबद्धता और घनत्व का मेल और फिर नॉर्मनो की जीवन के शिवतत्वो के प्रति प्रेमभावना का अनुलेप—यही कुछ ऐसी चीजे है जो इग्लैड के साहित्य को इतना महान् बना देती है। यह सब कुछ बहुत निष्प्राण रूप मे आया है, फिर भी इसमे अग्रेजो के स्वभाव के वे प्रमुख गुण अभिव्यक्त है जो उनके साहित्य मे प्रतिबिबित होते है।

नॉर्मनो तथा सैक्सनो के पारस्परिक विलयन की प्रारभिक अवस्था मे दोनो के साहित्य कुछ एक दूसरे से पृथक् थे अथवा कहा जा सकता है कि बडे भद्दे तौर पर मिले थे। किंतु विलियन के पूर्ण होने के तुरत बाद ही काफी सख्या मे लबी कविताएँ लिखी गई। पुरानी केल्टिक गाथाएँ, जो राजा आर्थर से सबधित थी, फ्रासीसी भाषा मे महान् आर्थर सबधी स्वच्छदतावादी साहित्य बन गई। सर गवायन और 'हरित योद्धा' (ग्रीन नाइट) जैसी रोमानी अथवा 'मोती' जैसी सुदर कोमल विषयवस्तुवाली एव करुणापूर्ण कविताएँ पढकर कोई भी यह अनुभव करता है कि इन कविताओ के, विशेषत आर्थर सबधी रोमानी कथाओ के माध्यम से एक नए ढग की राष्ट्रीयता अभिव्यक्त की जा रही है। राजा आर्थर एक राष्ट्रनायक का रूप धारण कर लेता है। केवल राजा आर्थर के धुँधले राष्ट्रनायकत्व मे ही हम कोमलता एव गहराई की भावना से ओतप्रोत नही होते बल्कि रिचर्ड रोल के गीतो मे भी हम एक नई जिदादिली ग्रहण कर सकते हैं। रिचर्ड रोल इग्लैड के मध्यकालीन रहस्यवादियो मे सबसे बडा था। वह १३५० मे चल बसा।

अधिकाश लेखक उत्तर के अथवा मरसिया के थे। किंतु अब हम लदन के अभ्युदय को धन्यवाद दिए बिना न रहेगे। लदन की भाषा प्रमुख हो चली और यहाँ इन कवियो के नाम उल्लेखनीय समझे जायँगे लैग्लैड, गोवर और चॉसर। ये सभी समसामयिक थे। यद्यपि लैंग्लैड अधिक वयस्क था, तथापि वह गोवर और चॉसर से अधिकतर मिलता रहा होगा, क्योकि लदन उस समय अल्प विस्तृत और घनी आबादीवाला प्रदेश था।

कवि के रूप मे लैग्लैड ने बहुत कुछ खोया। उसकी मौलिक प्रतिभा एव महानता लुप्त हो चुकी थी, क्योंकि जान पडता है, उसकी पाडुलिपियाँ बहुत हाथो मे पडी, इससे कविताओ के मौलिक रूप नष्ट हो गए और अब कोई बहुत दक्ष सपादक ही उनको अतिम शुद्ध रूप देने की आशा कर सकता है, क्योकि ध्यानपूर्वक पढने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपनी रचनाओ मे सर्वांगपूर्ण था और उन पुनरुक्तियो और व्यर्थ की कवित्वहीन पंक्तियो से सर्वथा रहित था जिन्हे बाद को लोगो ने जोड दिया था।

दूसरा दोष यह था कि उसने आग्ल-सैक्सन छदो को, उसकी श्लेषात्मकता और बलाघात के साथ ग्रहण कर लिया था। उसने ऐसा बहुत कम अनुभव किया कि आग्ल-सैक्सन भाषा की प्राचीन विशेषताएँ मृतप्राय हो रही थी इसलिये भाषा की रूपसज्जा मे आपातत परिवर्तन आवश्यक था। और यदि उनका साहित्य आज उतना नही पढा जाता जितना पढा जाना चाहिए (क्योकि रुढ़िवादी आवरण के साथ उसमे तीक्ष्ण व्यग्य है), तो उसका कारण केवल उनके छद है जो पाठको को अपनी सामान्य पहुँच के बाहर प्रतीत होते हैं। उनकी श्लेषात्मकता मे गति भरने और गौरव लाने की शक्ति नही है।

गोवर मे हमे ऐसी काव्यात्मकता का दर्शन होता है जो थोडी गभीर है। लातीनी, फ्रांसीसी और अग्रेजी, तीनो मे इसकी अच्छी गति थी। ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि वह अपनी ही मातृभाषा अंग्रेजी में,

जो कि उस समय इन तीनो मे सबसे अशक्त थी, विश्वस्त नही प्रतीत होता है। यद्यपि इसकी अंग्रेजी शैली चॉसर की भाँति प्रसाद एव लालित्यपूर्ण नहीं है तो भी सरल है और यदि वह 'नैतिक' धारणाओ मे थोड़ा बहुत ग्रस्त होता तो वैसी ही अच्छी रचनाएँ दे सकता था।

फिर भी चॉसर का एक अलग ही ससार था। वह शायद लैंग्लैंड से बहुत छोटा था, किंतु लगता है कि वह एक अलग ही दुनिया मे रहता था। लैंग्लैंड एक उत्प्रेरित मध्यकालीन कवि था और चॉसर मे आधुनिक साहित्य की पहली वास्तविक आवाज थी। सचमुच यह एक दीर्घ प्रशिक्षणकाल था जिसमे उसने फ्रासीसी पद्य के परपरागत स्वच्छदतावाद का अनुसरण किया। फ्रासीसी कवियो, यथा ज्याँ द म्युग, गिलेम द लारिस (Jean de Mung, Gullame de Lorris) को अनूदित किया। बोकाशियो पेत्रार्क और दाते जैसे महान् इतालीय साहित्यिको के पथ पर चला। किंतु इन औपचारिक रचनाओ मे भी कुछ ऐसी बाते थी जो कवि की भावी महानता प्रकट करती थी। केवल इतना ही नही था कि वह फ्रासीसी पद्य के नमूने पर आठ मात्राओवाले पद्य सरलतापूर्वक गढ लेता था बल्कि यत्र तत्र किसी प्रकार का निरीक्षण अथवा बिंब यह भी बताते थे कि आगे कौन सी चीज विकसित होनेवाली है। लेकिन कैंटरबरी टेल्स की भाँति मूल्यवान् सामग्री इनमे अप्राप्य थी। यह आधुनिक काल की सर्वप्रथम प्रामाणिक चीज थी। उसका एक अश ही कवि की प्रतिभा का द्योतक है। कैंटरबरी की तीर्थयात्रा के लिये यात्रियो की एक दल मे इकट्ठे होन जैसी एक सामान्य घटना बहुत साधारण सी प्रतीत होती है, जो मध्यकालीन अग्रेज तीर्थयात्रियो के लिये स्वाभाविक भी थी, किंतु ऐसे विषय का यह एक सुदर चयन तथा उत्कृष्ट कला का उदाहरण है। केवल एक ही झोके मे चॉसर अपने समसामयिको से आगे निकल जाता है। जैसे दाते ने ईसाइयो के शुद्धीकरण एव स्वर्ग की कल्पना को अपने काव्य के घेरे मे रखकर उसे सर्वांगरूपेण पुष्ट बनाया और भव्यता उत्पन्न की उसी प्रकार चॉसर ने मध्यकालीन इग्लैड के जीवन का एक महत्वपूर्ण अश लेकर और उसमे स्वाभाविकता तथा नाटकीयता का नियोजन करते हुए आधुनिक युगीन ढग से उसे अपनी निराली शैली मे उद्घाटित किया।

इसमे चॉसर ने बडा भव्य ससार चित्रित किया है। इन तीर्थयात्रियो मे ऐसे स्त्री पुरुष है जो अपनी एक सच्ची प्रतिकृति (टाइप) रखते है और वे स्वय अपने आप भी वैसी ही दृढता के साथ सच्चे है। यह एक आदर्श मिश्रण है जिसमे सम्मानित योद्धा, सुशीला प्रियारेस (Prioress), चालाक चिकित्सक, बाथ की बहुविवाहिता वाचाल पत्नी, बहस करनेवाला 'रसोइया', नीच अफसर (रीव), बदमाश क्षमादाता, घृणित 'समन तामील करनेवाला', 'मस्त फ्रायर' अथवा आक्सेन फोर्ड का क्लार्क, सच्चे विश्वास से दीप्त नि सृत उद्वेग, सभी घुले मिले है। वैविध्य का कितना सुदर सामजस्य है जो समस्त मध्यकालीन इग्लैड के समाज को ऐसी स्पष्टता के साथ चित्रित करता है जो सदैव अमर रहेगा।

चॉसर की सफलता के कौन से कारण है ? उत्तर मे कहा जायगा, उसकी महान् प्रतिभा। किंतु महान् प्रतिभा एक बडा गोलमोल शब्द है। इसमे असख्य गुणो का समावेश है जो हर नई पीढी के महान् प्रतिभा सबधी गुणो की कल्पना से एकदम उसी रूप मे मेल नही खाते। महान् प्रतिभा अपनी किरणे भविष्य के गर्भ मे फेंकती है और उसका सदेश इस भाँति सप्रेषित होता है कि लोग उसे पूरे तौर से समझ नही पाते। इसलिये चॉसर ने अपने समसामयिको के विपरीत जनता की भाषा अपनाई, किंतु नए छद का चुनाव जनरुचि से विपरीत था। उसने सर्वप्रथम फ्रासीसी कवियो का अनुकरण किया और आठ मात्रावाली द्विपदियो को सरलतापूर्वक लिखा। किंतु उसे मालूम था कि यह अग्रेजी के अनुकूल नही पडता, क्योकि इस प्रकार की लघु माप फ्रासीसी भाषा की प्रतिभाओ के ही अनुकूल है, और क्योंकि उसकी ध्वनि मे सबद्धता तथा एक स्वर के लोप का आधिक्य है। किंतु आग्ल-सैक्सन पृष्ठभूमि के नाते अग्रेजी मे गति लाने के लिये कुछ अधिक स्थान की आवश्यकता रहती है। चॉसर ने पेटामीटर नामक छद दिया जो अग्रेजी पद्य की बडी उपलब्धि है।

नारमनो और सैक्सनो का पारस्परिक विलयन सर्वप्रथम चॉसर मे ही परिलक्षित होता है। वस्तुत यही अग्रेजी का आदिकवि है जिसने उस काल की नई भाषा अग्रेजी मे अपने गीत गाए। (र० ना० दे०)

आंजेलिको फ्रा (१३८७–१४५५) मध्यकाल और पुनर्जागरण-काल के सधियुग का विख्यात इतालीय चित्रकार। उसका बप्तिस्मे का नाम गुइदो और धर्म का नाम जोवानी था। तुस्कानी के विचियो नगर मे उसका जन्म हुआ था और युवावस्था मे ही वह पादरी हो गया था। पोप के आवाहन पर वह रोम गया। वहाँ उसे आर्चबिशप का पद प्रदान किया गया, पर उसने उसे अस्वीकार कर दिया। उसकी धार्मिक चेतना मे इतना ऊँचा पद धर्मेतर अलकरण मात्र था। आंजेलिको निर्धनो और आर्तो का परम बधु था और उनके दु.ख से द्रवित हो वह रो दिया करता था।

आंजेलिको का यह स्वभाव उसके चित्रणो के इतिहास मे भी परिलक्षित होता है। जब कभी वह ईसा के प्राणदड, शूली का चित्रण करता, रो पडता। इस प्रकार के उसके चित्रो की सख्या अनत है। उसने रोम, फ्लोरेंस आदि अनेक नगरो के गिरजाघरो मे भित्तिचित्रण किए। इनसे भिन्न उसके अनेक चित्र फ्लोरेंस की उफ्फीजी गैलरी, पेरिस के लूव्र आदि के सग्रहालयो मे सुरक्षित है। उसका बनाया एक सुदर चित्र लदन मे भी है। प्रसिद्ध इतालीय कलावत चरितकार वसारी और सर चार्ल्स हॉम्स ने उसकी भूरि भूरि प्रशसा की है। उसका 'कुमारी का अभिषेक' नामक चित्र असाधारण माना जाता है। खाकानवीसी मे वह असामान्य था और अनेक कलासमीक्षको की राय मे वर्णतत्व का ऐसा सफल सक्रिय जानकार दूसरा नही हुआ। कहते हैं, आंजेलिको ने एक बार खिंचे खाके मे रग भरकर फिर उसपर कूँची नही चलाई, उसे दोबारा छुआ नही। वह रोम मे ही १४५५ मे मरा।

स०ग्र०—दी तुमियाती फ्रा आंजेलिको, फ्लोरेंस १८६७, आर० एल० डगलस फ्रा ऐंजेलिको, लदन १६०१, जी० विलियम्सन फ्रा ऐंजेलिको, लदन, १६०१। (भ० श० उ०)

आंटिलिया आंटिलिया अथवा सात नगरोवाला द्वीप अध महासागर का एक पौराणिक द्वीप है। प्राचीन परपरागत कथानुसार पूर्वकाल मे सात पुर्तगाली नेताओ मे से प्रत्येक ने इस द्वीप मे एक नगर बसाया तथा उसपर शासन किया था। (न० कि० प्र० सि०)

आंटीब्स आंटीब्स दक्षिण फ्रांस मे भूमध्यसागर के तट पर स्थित एक स्वास्थ्यकर नगर है, जहाँ शरत्काल मे बाहर से अनेक लोग आते है। इसकी स्थापना यूनानियो द्वारा लगभग ३४० ई० पू० मे हुई थी। इत्र एव चाकलेट के उद्योग के लिये विख्यात होने के अतिरिक्त यह फूल, सतरा, सूखे फल, जैतून (ऑलिव) तथा मछली का निर्यात करता है। शीतकालीन मिस्ट्रेल नामक उत्तरी पश्चिमी वायु से सुरक्षित होने के कारण यह यूरोप के धनवानो का क्रीड़ास्थल है। यहाँ अनेक होटल, विनोदगृह, अद्भुत वाटिकाएँ तथा रम्य स्थान है। (न० कि० प्र० सि०)

आंडीजान आंडीजान सोवियत मध्यएशिया मे स्थित, उजबेक सोवियत-समाजवादी-प्रजातत्र का एक विभाग है, जो फरगाना घाटी के पूर्व मे स्थित है। इसके अधिकाश मे सिंचाई द्वारा रूई, रेशम तथा फलो की खेती होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे यहाँ पर खनिज तेल की खानो का पता लगाया गया और तब से यह उजबेकिस्तान का प्रमुख तेल एव गैस उत्पादक केंद्र बन गया।

आंडीजान नामक एक नगर भी है जो आंडीजान विभाग की राजधानी तथा प्रमुख नगर है। यहाँ के उद्योग धधो मे रूई की मिले, तेल की मिले, फल तथा तत्सबधी उद्योग और मशीन तथा ट्रैक्टर बनाने के कारखाने प्रमुख है। यह द्वितीय श्रेणी का रेलवे स्टेशन है और नवी शताब्दी से ही प्रसिद्ध नगर रहा है। पहले यह कोकद के खाँ लोगो के अधीन था, परतु १८७५ मे रूस मे मिला लिया गया। यहाँ पर भूचाल बहुत आते थे, जिनमे से अतिम १६०२ ई० मे आया था। (शि० म० सि०)

आंतरगुही जतु साम्राज्य की एक बडी निम्न कोटि की प्रसृष्टि (फाइलम, बडा समूह) है, जिसको लैटिन भाषा मे सिलेंटरेटा कहते हैं। इस प्रसृष्टि के सभी जीव जलप्राणी हैं। केवल प्रजीव (प्रोटोजोआ) तथा छिद्रिष्ठ (स्पज) ही ऐसे प्राणी हैं जो आंतरगुही से भी अधिक सरल आकार के होते हैं। विकासक्रम में ये प्रथम बहुकोशिकीय जतु हैं, जिनकी विभिन्न प्रकार की कोशिकाओ में विभेदन तथा वास्तविक ऊतकनिर्माण

दिखाई पड़ता है। इस प्रकार इनमे तंत्रिका तंत्र तथा पेशीतंत्र का विकास हो गया है। परंतु इनकी रचना मे न सिर का ही विभेदन होता है, न विखंडन ही दिखाई पड़ता है। इनका शरीर खोखला होता है, जिसके भीतर एक बड़ी गुहा होती है। इसको आंतरगुहा (सीलेंटेरॉन) कहते है। इसमे एक ही छेद होता है। इसको मुख कहते है, यद्यपि इसी छिद्र के द्वारा भोजन भी भीतर जाता है तथा मलादि का परित्याग भी होता है। शरीर की दीवार कोशिकाओ की दो परतो की बनी होती है—बाह्यस्तर (एक्टोडर्म) तथा अंतःस्तर (एंडोडर्म)—और दोनो के बीच बहुधा एक अकोशिकीय पदार्थ—मध्यश्लेष (मीसग्लीया)—होता है। मुख के चारो ओर बहुधा कई लंबी स्पर्शिकाएँ होती है। इनका कंकाल, यदि हुआ तो, कैल्सियमयुक्त या सींग जैसे पदार्थ का होता है। जल मे रहने तथा सरल संरचना के कारण इनमे न तो परिवहनसंस्थान होता है, न उत्सर्जन या श्वसनसंस्थान। जननक्रिया अलैंगिक तथा लैंगिक दोनो ही विधियों से होती है। अलैंगिक जनन कोशिकाभाजन द्वारा होता है। लैंगिक जनन के लिये जननकोशिकाओ की उत्पत्ति बाह्यस्तर अथवा अंतःस्तर मे स्थित जननांगों मे होती है। इन जीवों मे कई प्रकार के डिंभ (लार्वा) पाए जाते है और कई जातियों मे पीढ़ियों का एकांतरण होता है। अधिकांश जातियाँ दो मे से एक रूप मे पाई जाती है—पालिप (पॉलिप) रूप मे या मेडूसा रूप मे, और जिनमे एकांतरण होता है उनमे एक पीढ़ी एक रूप की तथा दूसरी दूसरे रूप की होती है। कुछ जातियों मे बहुरूपता का बहुत विकार देखा जाता है।

पालिप तथा मेडूसा—(१) पालिप रूप के आंतरगुही जलीयक (हाइड्रोज़ोआ) तथा पुष्पजीव (ऐंथोज़ोआ) वर्गों मे पाए जाते है। पुष्पजीवों मे उनके विकास की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। सरल रूप का पालिप गिलास जैसा या बेलनाकार होता है। उसका मुख ऊपर की ओर तथा मुख की विपरीत दिशा पृथ्वी की ओर होती है। उपनिवेश (कालोनी) बनानेवाली जातियो मे मुख की विपरीत दिशावाले भाग से पालिप उपनिवेश से जुड़ा रहता है। ऐसी जातियों मे विभिन्न पालिपो की आंतरगुहाएँ एक दूसरे से शाखाओ की गुहाओं द्वारा संबंधित रहती है। ऐसी जातियों मे अधिकांशतः सभी पालिप एक जैसे नही होते। उदाहरण के लिये कुछ मुखसहित होते है और भोजन ग्रहण करते है तो कुछ मुखरहित होते है और भोजन नही ग्रहण कर सकते। ये केवल जननक्रिया मे सहायक होते है (नीचे द्र० 'बहुरूपता')। जलीयकों के पालिपो की आंतरगुहा सरल आकार की थैली जैसी होती है, किंतु पुष्पजीवों मे कई खड़े परदे दीवार की भीतरी पर्त मे निकलते है जो आंतरगुहा को अपूर्ण रूप से कई भागो मे बाँट देते है। इनकी संख्या तथा व्यवस्था प्रत्येक जाति मे निश्चित रहती है। समुद्रपुष्प तथा कई अन्य मूँगे की चट्टानो का निर्माण करनेवाले आंतरगुहियो मे इन परदो तथा स्पर्शिकाओ की संख्या मे विशेष संबंध होता है।

आंतरगुही, पालिप रूप
आंतरगुहियो के बीच मे गुहा रहती है। अँतड़ी, फेफड़ा, इत्यादि कोई अंग इनमे नही होते।

समुद्रपुष्प (सी ऐनिमोन) का नाम इसलिये पड़ा है कि वह कुछ कुछ फूल सा दिखाई पड़ता है। इसकी भी संरचना अन्य पालिपो की तरह होती है। खोखले बेलनाकार स्तंभ के ऊपर गोल टिकिया सी रहती है, जिसके बीच मे मुँहवाला छेद होता है और स्पर्शिकाओ की एक या अधिक तह होती है। स्पर्शिकाएँ फूल की पँखुड़ियों सी जान पड़ती है। स्तंभ का निचला सिरा चिपटे पाँव की तरह होता है। इसी के सहारे समुद्रपुष्प विविध वस्तुओ मे चिपकता है। परंतु वह स्थायी रूप से एक ही जगह नही चिपका रहता। समुद्रपुष्प चल सकता है, परंतु बहुत धीरे धीरे। बहुधा कई दिनो तक एक ही स्थान मे चिपका रह जाता है। समुद्र के तट के पास, छिछले पानी मे, समुद्रपुष्प बहुत पाए जाते हैं। ये प्रायः सभी समुद्रों मे पाए जाते हैं, परंतु उष्णदेशीय समुद्रो के समुद्रपुष्प बड़े होते है। ऐसे देशो मे मूँगे की डूबी शैल मालाओ पर गज भर तक की टिकियावाले समुद्रपुष्प पाए जाते हैं। ये विविध रंगो के होते है और बहुधा इनपर सुंदर धारियाँ और ज्यामितीय चित्रकारी रहती है। ये मांसाहारी होते है और अपनी स्पर्शिकाओ से छोटे जीवो को पकड़कर खाते है।

समुद्रपुष्प (सी ऐनिमोन)
यह समुद्र की पेंदी पर चिपका रहता है। देखने मे यह फूल सा लगता है, परंतु है यह प्राणी और अपनी स्पर्शिकाओ द्वारा छोटे जीवो को पकड़कर पचा डालता है।

(२) मेडूसा—उन आंतरगुहियों को जिन्हे लोग गिजगिजिया (अंग्रेजी मे जेली फिश) कहते है, वैज्ञानिक भाषा मे मेडूसा कहते है। पाश्चात्य परंपरा के अनुसार मेडूसा नाम की एक राक्षसी थी जिसे केश नही थे, केश के बदले मे सर्प थे। इसी राक्षसी के नाम पर इन आंतरगुहियो का नाम मेडूसा पड़ा है। मेडूसा का शरीर छतरी के समान होता है और भीतर से, उस बिंदु पर जहाँ छतरी की डंडी लगनी चाहिए, मुख होता है, छतरी की कोर से स्पर्शिकाएँ निकली रहती है। छतरी के आकार का होने के कारण इन्हे हिंदी मे छत्रिक कहा जाता है। इनका शरीर अत्यंत नरम होने के कारण इन्हें साधारण भाषा मे गिजगिजिया कहते हैं।

गिजगिजिया बड़ी ही सुंदर होती है। इनका मनमोहक रूप देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित रह जाता है। इनके शरीर की संरचना तंतुमय होती है, न बाहर हड्डी होती है और न भीतर। इनके भीतर बहुत सा जल रहता है। इसीलिये पानी के बाहर निकाले जाने पर वे चिपुक जाती है और उनकी सुंदरता जाती रहती है।

आंतरगुही, मेडूसा रूप
इन्हे छत्रिक और गिजगिजिया (जेली फिश) भी कहते है।

समुद्रतट पर खड़े होने से ये जंतु पानी मे तैरते हुए कभी न कभी दिखाई पड़ ही जाते है। उनकी स्पर्शिकाएँ नीचे झूलती रहती हैं और ऊपर छतरी की तरह उनका शरीर फूला रहता है। जान पड़ता है, ये लाचार है और पानी जिधर चाहे उधर उन्हें बहा ले जायगा, परंतु बात ऐसी नही होती। गिजगिजिया इच्छित दिशा में जा सकती है, हाँ, वह तेज नही तैर सकती। तैरने के लिये यह अपने छतरी जैसे अंग को बार बार फुलाती पिचकाती है।

गिजगिजिया की कई जातियाँ होती हैं। कुछ मे छतरी तीन फुट व्यास की होती है, परंतु अन्य जातियों मे छतरियाँ छोटी होती हैं। गिजगिजिया विविध सुंदर रंगो की होती है, परंतु तैरनेवालो को उनसे बचा ही रहना चाहिए, क्योंकि उनकी बाहुओं मे अनेक नलिकाएँ होती हैं, जो शत्रु के शरीर मे डंक की तरह विष पहुँचाती हैं। बड़ी गिजगिजियो की स्पर्शिकाएँ कई गज लंबी होती है। एक की चपेट मे आ जाने से मनुष्य को घंटो पीड़ा होती है। कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है।

आंतरगुही की संरचना—ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से पता चलेगा कि आंतरगुही की साधारण संरचना उच्च प्राणियों के भ्रूणवर्धन मे एकभित्तिका (ब्लास्टुला) अवस्था के समान है (द्र० अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व)।

इस अवस्था मे भ्रूण एक थैली के समान होता है, जिसके भीतर एक बडी गुहा होती है और इसमे बाहर से सपर्क के लिये एक ही छिद्र होता है। गुहा की दीवार कोशिकाओ के दो स्तरो का बनी होती है। वास्तव मे ऐसा कोई आतरगुही नही है जिसकी सरचना एकभित्तिका के समान सरल हो, किंतु आद्यजलीयक (प्रोटोहाइड्रा) नामक आतरगुही और एकभित्तिका मे केवल इतना ही अतर है कि प्रथम की कोशिकाएँ कई प्रकार की होती हैं और दोनो स्तरो के बीच एक अकोशिकाय पदार्थ—मध्यश्लेष (मीज़ोग्लीया)—होता है। अधिकाश आतरगुही इससे कही अधिक जटिल होते है, किंतु सभी को इस सरल रूप से तुलना की जा सकती है। अधिकाश जातियो मे मुख के चारो ओर खोखले या ठास, अँगुली जैसे प्रवर्ध अथवा स्पर्शिकाएँ होती है। बहुधा उनमे त्रिज्याय समिति (रेडियल सिमेट्री) होती है, अर्थात् यदि मुख को केंद्र मानकर आतरगुही को किन्ही दो भागो में विभक्त कर दिया जाय तो दोनो भाग समान होगे। हाँ, पुष्पजीव (ऐंथोजोआ) नामक वर्ग में अवश्य ही प्राणी के ऐसे दो भाग एक विशेष रेखा पर ही हो सकते है, अर्थात् उनमे द्विपार्श्वीय समिति होती है। अनेक आतरगुहियो मे मध्यश्लेष का विकास बहुत अधिक हो जाता है, जिससे ये जतु दलदार हो जाते है, जैसा अनेक जातियो की जेली मछलियो में होता है। पालिप और मेडूसा की कोशिकाओ में पर्याप्त भेद होता है।

एक सुंदर छत्रिक

भ्रूणवर्धन तथा जीवन इतिहास—आतरगुहियो के विभिन्न वर्गों के भ्रूणवर्धन तथा जीवन इतिहास मे काफी अतर है, किंतु लगभग सभी मे किसी न किसी प्रकार का डिंभ (लार्वा) अवश्य ही पाया जाता है। कुछ उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा। समुद्रपुष्प मे अडा जल मे परित्यक्त किया जाता है और शरीर के बाहर ही उसका ससेचन होता है। बाद मे ससेचित अडा दो, चार, आठ या इससे अधिक कोशिकाओ मे विभक्त होता है। कोशिकाएँ इस प्रकार व्यवस्थित होती है कि अत मे एक खोखला गोला बन जाता है। यह एकभित्तिका अवस्था है। इसमे बाहरी तल पर अनेक रोमिकाएँ निकल आती है। धीरे धीरे एकभित्तिका का एक सिरा धँसने लगता है जिससे गोले की भीतरी गुहा या एकभित्तिका का अत हो जाता है और दो स्तरोवाला स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रुला) बनता है। इसका मुख बाद मे प्रौढ अवस्था के मुख मे बदलता है तथा इसकी गुहा आतरगुहा का जन्म देती है। रोमिकाओ के कारण इस अवस्था मे ही भ्रूण बहुत कुछ तैर सकता है और अत मे समुद्र के तल पर रुककर क्रमश: प्रौढ अवस्था मे परिवर्तित हो जाता है।

किसी प्रारूपिक जलीयक (हाइड्रोज़ोआ), जैसे सुकुमार प्रजाति (ओबिलिया) मे, पालिप रूपवाली पीढी उपनिवेश (कालोनी) बनाती है, जिसमे शाखाओ पर कुछ मुखयुक्त पालिप होते है, कुछ मुखरहित। मुखरहित पालिपो से कोशिकाभाजन के द्वारा कई अपरिपक्व स्वतत्र छत्रिक (मेडूसा) जैसे जीव बनते है। ये परिपक्व होते है, तो इनमे प्रजननांग बनते है। नर तथा मादा छत्रिक अलग अलग होते है। नर मे शुक्रकोशिकाएँ निकलती है और वे मादा छत्रिक मे जाकर मादा प्रजननांग को भेदकर अडे का ससेचन करती है। प्रजननांग के भीतर ही पहले एकभित्तिका बनती है, फिर कुछ कोशिकाओ के स्तर त्यागकर उसके नीचे दूसरा स्तर बनाने से स्यूतिभ्रूण बनता है, किंतु इसमे मुख नही होता। बाहरी तल पर रोमिकाएँ बन जाती है और भ्रूण लबा हो जाता है। अब भ्रूण प्रजननांग तोडकर जल मे स्वतत्र रूप से तैरने के लिये निकल पडता है। यह एक डिंभ है, जिसको चिपिटक (प्लेनुला) कहते हैं। वास्तव मे यह जलीयक का प्रारूपिक डिंभ है। कुछ समय के बाद चिपिटक किसी पत्थर या अन्य किसी ठोस वस्तु पर रुक जाता है। इसका एक सिरा पत्थर से चिपक जाता है। दूसरा लबा हो जाता है। इस सिरे पर मुख और चारो ओर स्पर्शिकाएँ बन जाती है। फिर उसके बेलनाकार शरीर से कोशिकाओ के द्वारा शाखाएँ बनती है।

छत्रिक वर्ग (स्काइफोज़ोआ), जैसे स्वर्णछत्रिक (ऑरेलिया) का भ्रूणवर्धन इससे भिन्न है। स्वर्णछत्रिक बडे छत्रिक के रूप मे होता है, जिसमे प्रजननांग होते है। सुकुमार (ओबोलिया) की भाँति इसमे भी चिपिटक डिंभ बनता है, जो धरातल पर रुकने के बाद चषमुख (स्काईफिस्टोमा) नामक डिंभ मे बदलता है। चषमुख के पूर्ण निमाण के बाद यह आडे आडे अनेक टुकडो मे बँट जाता है। पूरी सरचना तश्तरियो के एक दूसरे पर रखे हुए बडे ढेर जैसी लगती है। फिर प्रत्येक टुकडा या 'तश्तरी' अलग हो जाती है और उसका रूपातरण प्रौढ मे हो जाता है।

इनमे से सुकुमार का जीवन इतिहास एक और तथ्य का भी स्पष्ट करता है। सुकुमार के जीवनचक्र मे पालिप तथा मेडूसा दोनो रूपो के प्रौढ पाए जाते है। पालिप रूप बस्तियो मे रहते है और इनकी सख्यावृद्धि अलैंगिक रीति से होती है। ये एक ही स्थान पर स्थिर रहते है। मेडूसा अकेले स्वतत्र तैरनेवाले तथा लैंगिक प्रजनन करनेवाले होते है। जीवनचक्र मे पालिप तथा मेडूसा पीढियां एक के बाद एक आती है, अर्थात् इन दो पीढियो के बीच एकांतरण होता है। अत इसको पीढियो का एकातरण कहते है। स्वर्णछत्रिक मे पालिप पीढी अविकसित रह जाती है। वास्तव मे चषमुखी को ही पालिप पीढी का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। अत स्वर्णछत्रिक मे एकातरण स्पष्ट नही होता। मेट्रीडियम नामक आतरगुहियो मे मेडूसा बिलकुल ही अविकसित होता है, अत उसमे एकातरण का आभास भी नही मिलता।

ऊतकी या विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ—कहा जा चुका है, आतरगुही का शरीर कोशिकाओ के दो ही स्तरो, बाह्यस्तर तथा अतस्तर, का बना होता है, जिनके बीच विभिन्न मोटाई की एक अकोशिकीय परत होती है। बाह्यस्तर मे प्राय सात प्रकार की कोशिकाएँ होती है। इनमे सबसे बहुसख्यक पेश्यभिच्छदीय (मस्कुलोएपीथियलियल) कोशिकाएँ होती है। ये बाहर की ओर चौडी और मध्यश्लेष की ओर कुछ नुकीली होती है। इसी ओर से इनमे कुछ प्रवर्ध निकलते है, जो मध्यश्लेष के ऊपर फैलकर पूरा स्तर बना लेते है।

भीतर की ओर सँकरी होने के कारण इन कोशिकाओ के बीच कुछ जगह छूट जाती है, जिसमे छोटी कोशिकाओ के समूह पाए जाते हैं, इनको अतरालीय (इटरस्टीशियल) कोशिकाएँ कहते है। वास्तव मे इन छोटी कोशिकाओ के विभेदन से अन्य प्रकार की कोशिकाएँ बनती है।

पेश्यभिच्छदीय कोशिकाओ के बीच बीच कही कही कुछ विशेष प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती है जिनको दशघट (निडोब्लास्ट) कहते है। इनके भीतर एक बडी थैली जैसी सरचना होती है, जिसको सूच्यग (निमैसिस्ट) कहते है। सूच्यग कोशिका के बाहरी धरातल की ओर रहता है और उसी ओर उसमे एक खोखला दशसूत्र होता है। सूत्र का निचला भाग कुछ मोटा होता है जिसे दड कहते है। दड पर कुछ नुकीले काँटे और छोटे छोटे शल्य होते है। निष्क्रिय अवस्था मे सूत्र और दड दोनो कोष के भीतर उलटकर कुतलिक अवस्था मे पड़े रहते है। वास्तव मे सूत्र कुछ उसी प्रकार उलटा रहता है जैसे झोले या मोजे को हम उलट सकते है। कोष के चारो ओर जीवद्रव्य होता है। उसमे एक केंद्रक होता है। जीवद्रव्य से कई सूक्ष्म सकोची धागे निकलकर कोष का चारो ओर से घेरे रहते हैं जब सूत्र कोष के भीतर रहता है तब कोष का बाहरी मुख एक ढकने से बद रहता है। धरातल पर कोष के मुख के निकट एक दशोद्गामी रोम (नीडोसिल) होता है तथा कुछ तत्रिका-कोशिकाओ के ततुक कोशिका के जीवद्रव्य मे फैले होते है। किसी प्राणी द्वारा दशोद्गामी रोम के उद्दीप्त हो जाने पर सूत्र एकाएक उलटकर कोष के बाहर विस्फोट की भाँति निकलता है और शिकार मे धँस जाता है। इसमे से एक विषैला द्रव निकलने के कारण शिकार अवसन्न हो जाता है। इस क्रिया मे बहुधा पूरा दशकोष ही निकल पडता है। दशकोषो के आकार, सूत्र की लबाई, काँटो की सख्या, आदि की विभिन्नता के कारण दशकोषों के कई भेद किए जाते हैं।

पेश्यभित्तिछदीय कोशिकाओ के बीच बीच कुछ सवेदी कोशिकाएँ होती हैं, जो पतली तथा ऊँची होती हैं और जिनके स्वतत्र तल पर अनेक सवेदी रोम होते है।

जलीयक (हाइड्रोजोआ) वर्ग के बाह्य स्तर मे जननकोशिकाएँ भी पाई जाती हैं, किंतु छत्रिक वर्ग (स्काइफोजोआ) तथा पुष्पजीव वर्ग (एथोजोआ) मे ये अतस्तर मे होती हैं। वृषणो मे अनेक शुक्राणुओ का निर्माण होता है और अडाशयो मे केवल एक ही अडकोशिका होती है।

अतस्तर (एडोडर्म) मे प्राय तीन ही प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती हैं। सख्या मे सबसे अधिक पोषिकोशिकाएँ होती है। ये स्तभाकार और ऊँची होती हैं तथा इनके स्वतत्र तलो से कई कूटपाद निकलते है। इनके द्वारा ये उन भोजनकणो का अतर्ग्रहण करती है जो समुद्र मे पाए जाते है। मीठे (अलवण) पानी के आतरगुहियो मे बहुधा पोषिकोशिकाओ मे शैवाल (एलजी) पाए जाते है। इनके साथ आतरगुही का सहजीवन का सबध होता है।

पोषिकोशिकाओ के बीच बीच मे कुछ छोटी ग्रथिकोशिकाएँ होती है, जिनसे पाचक रस उत्पन्न होकर आतरगुहा मे जाता है और कुछ सीमा तक भोजन के पाचन मे सहायक होता है। सभवत इसी रस के कारण जीवित शिकार अवसन्न भी होते है।

मध्यश्लेष (मीजोग्लिया) की रचना विभिन्न होती है। बहुधा यह पतले श्लेष्मक के स्तर जैसा होता है, कुछ मे यह कडी उपास्थि जैसा होता है और कुछ मे लगभग तरल। यह बिना कोशिका का ही होता है, किंतु बहुधा इसमे कुछ स्वतत्र कोशिकाएँ पाई जाती है, जो बाह्य स्तर या अतस्तर से इसमे आ जाती है। कुछ आतरगुहियो मे कोशिकाओ के अतिरिक्त अनेक ततु भी पाए जाते हैं, जो कभी भी पेशीय प्रकृति के नही होते और जिनके कार्य के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

उपनिवेशों (कोलोनीज) का निर्माण तथा बहुरूपता—जलीयक, स्वर्गछत्रिक, ऑरेलिया, मेट्रीडियम तथा अन्य समुद्रफूल (ऐनिमोन) उन आतरगुहियो मे है जिनका प्रत्येक सदस्य स्वतत्र, अर्थात् एक दूसरे से पृथक् होता है। किंतु सुकुमार (ओबीलिया) के पालिप मे कई जीव एक दूसरे से सबद्ध होकर रहते है। इनकी आतरगुहाएँ एक दूसरे से सबधित होती है, प्रतिक्रिया मे भी कुछ सामजस्य होता है और यही नही, प्राणियो के बीच थोडा श्रम का विभाजन भी होता है। मुखवाले पालिप भोजन करते है, छत्रिक निर्माण नही करते, मुखरहित पालिप भोजन नही ग्रहण करते, छत्रिक निर्माण करते है। सुकुमार मे छत्रिक भी इस जाति का एक अलग रूप है। इस प्रकार कम से कम तीन रूप या सरचनावाले सदस्य एक सुकुमार की ही जाति मे हुए। किसी जाति मे जब सदस्य एक से अधिक रूपो मे पाए जाते हैं तो इसको बहुरूपता कहते हैं। छत्रिक तथा पालिप की बहुरूपता पीढियो के एकातरण से सबधित है, पालिप तथा कुड्मसरोज (क्लास्टोस्टाइल) की बहुरूपता उपनिवेशनिर्माण के कारण है। कई जातियो मे एक ही उपनिवेश मे कई प्रकार के प्राणी होते है। जलीयक वर्ग के नितालधरगण (साइफोनोफोरा) मे बहुरूपता का जो विकास देखने मे आता है वह पूरे जतुससार मे कही और नही दिखाई पडता। उदाहरण के लिये, समुद्रशालि (हैलिस्टेमा) वर्ग मे कुछ सदस्य छोटे गुब्बारे के आकार के होते हैं, जो वायु से भरे होने के कारण हलके होते है और इन्ही के कारण पूरी बस्ती उलटी तैरती है, कुछ पत्तो जैसे चपटे होते है, कुछ समुख होते है, कुछ मे स्पर्शिकाएँ बहुत बडी होती है और बहुधा मुख नही होते, कुछ जननागो से युक्त होते है, कुछ नही। इसी प्रकार अन्य नितालधरगण (साइफोनोफोरा) मे भी भिन्न-भिन्न रूप के सदस्य होते है। पुष्पजीवी (एथोजोआ) या प्रवाल बनानेवाले आतरगुहियो मे बहुरूपता इस सीमा तक विकसित हो गई है कि कभी कभी यह सदेह होता है कि एक ही बस्ती के विभिन्न शारीरिक रचनावाले प्राणी वास्तव मे अलग अलग सदस्य हैं या बहुविकसित अग, जो मिलकर एक बहुविकसित सदस्य की रचना करते हैं। इस प्रकार नितालधरगण (साइफोनोफोरा) मे बहु-अग-सिद्धात (अर्थात् ये विभिन्न रूप अग हैं, सदस्य नही) तथा बहु-सदस्य-सिद्धात (अर्थात् विभिन्न रूप सदस्य हैं, अंग नही) की समस्या का प्रारभ हो गया है।

वर्गीकरण—आंतरगुही को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है: जलीयकवर्ग (हाइड्रोजोआ), छत्रिकवर्ग (स्काईफोजोआ) तथा पुष्पजीवी (ऐंथोजोआ या एक्टीनोजोआ)। जलीयकवर्ग के अतर्गत जलीयक, सुकुमार तथा अनेक जीव आते है, जिनमे साधारणत छत्रिक तथा पालित दोनो रूप पाए जाते है। छत्रिकवर्ग मे छत्रिक का विकास होता है, किंतु पालिप अविकसित रह जाता है। इसके अतर्गत जेली मछलियाँ रखी जाती है। पुष्पजीवी मे पालिप सुविकसित होता है, किंतु छत्रिक अनुपस्थित होता है। इस वर्ग मे समुद्रफूल, प्रवाल निर्माण करनेवाले आतरगुही आदि रखे जाते है। पहले इसमे एक चौथा वर्ग पक्षवाही (टीनोफोरा) भी रखा जाता था, किंतु ये जतु अन्य आतरगुहियो से इतने भिन्न होते है कि इनको अब आतरगुहियो से अलग एक पृथक् प्रसृष्टि मे ही रखा जाता है। (उ० श० श्री०)

आंतिगुआ द्वीप पश्चिमी द्वीपपुज का एक द्वीप है, जो बारबुडा तथा रिडाडा सहित लीवार्ड द्वीपसमूह (ब्रिटिश) का एक प्रात है। स्थिति १७° ६' उ० दे०, ६१° ४५' पू० दे०, क्षेत्रफल १०८.७५ वर्ग मील, जनसख्या ६१,६६४ (सन् १९६३ ई०)। इस द्वीप का पता सन् १६४२ ई० मे कोलबस ने पाया था। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ४५" है, परतु अधिकाश समय तक प्राय सूखा पडता है। सन् १९४० ई० मे सयुक्त राज्य, अमरीका ने ब्रिटेन से यहाँ पर नौसेना एव वायुसेना का एक अड्डा बनाने का अधिकार ९९ वर्ष के लिये प्राप्त किया। सेंट जॉन (१९६३ मे जनसख्या १३,०००) इसकी राजधानी है। इसका मुख्य निर्यात चीनी, छाछ, अनानास तथा रुई है, जिसमे चीनी का अनुपात ९० प्रतिशत है। (न० कि० प्र० सि०)

आंतिगोनस कीक्लोप्स (ई० पू० ३८२-३०१) सिकदर का एक सेनापति जिसने युद्ध मे एक आँख खोकर 'कीक्लोप्स' की उपाधि प्राप्त की। यह मकदुनिया का निवासी था और सिकदर के साम्राज्य-विभाजन से उसे फ्रिगिया, लीसिया और पैंफीलिया के प्रात मिले। पर्दिकस की मृत्यु के पश्चात् उसे सुसीयाना भी मिल गया। यूमेनेस के विरुद्ध युद्ध मे उसने आंतिपातर, आंतिगोनस तथा अन्य यूनानी सेनापतियो को हराया। पश्चिमी एशिया पर अधिकार होने पर उसे सिकदर द्वारा लूटा हुआ ईरानी राजकोष सूसा मे प्राप्त हुआ। इसकी बढती हुई शक्ति को तालमी, सेल्यूकस तथा अन्य यूनानी सेनापतियो ने मिलकर रोकना चाहा। आंतिगोनस उसके विरुद्ध सफल हुआ और उसने सम्राट् की पदवी धारण की। ई० पू० ३०१ मे इप्सस के युद्ध मे इसे वीरगति प्राप्त हुई। यह कला और साहित्य का प्रेमी था। इसका नाम मोनो कथाल्मस भी है।

स०ग्र०—कैंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६। (बै० पु०)

आंतिगोनस गोनातस (ल० ई० पू० ३१९-२३९) आंतिगोनस कीक्लोप्स का पौत्र और दिमेत्रियस का पुत्र जिसका जीवनकाल सघर्षमय रहा। ई० पू० २८३ मे अपने पिता की मृत्यु पर उसने प्रजा का नेतृत्व किया और ई० पू० २७६ मे पिरस गालवालो को हराकर अपना पैतृक राज्य प्राप्त किया। दो वर्ष बाद फाइरस ने इसे छीन लिया, पर उसकी मृत्यु के पश्चात् आंतिगोनस को पुन अपना राज्य मिल गया। पिरस के पुत्र सिकदर के साथ इसका सघर्ष ई० पू० २६३ से २५५ तक चलता रहा और इसे कुछ समय के लिये अपने राज्य से हाथ धोना पडा, पर अत मे यह पुन सफल हुआ। इसके जीवन के अतिम दिन सुख और शाति से बीते। यह कलाप्रेमी होने के कारण विशेष प्रसिद्ध था।

स०ग्र०—कैंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६, टार्न. आंतिगोनस गोनातस, कैंब्रिज। (बै० पु०)

आंतिपातर सिकंदर महान् का एक सेनापति और उसकी ओर से कार्यवाहक शासक। इसे अरस्तू से शिक्षा मिली थी। मकदुनिया के सम्राट् फिलिप का यह विश्वासपात्र था। यूनान से पूर्व की ओर प्रस्थान करते समय सिकदर इसे मकदुनिया और यूनान का कार्यवाहक शासक नियुक्त कर गया था। इसने थ्रेस और स्पार्ता के विद्रोह को दबाया। सिकदर की मृत्यु के बाद इसने मकदुनिया के शासन का पूर्ण

भार अपने ऊपर ले लिया। लामियन के युद्ध मे इसने यूनानियों को बुरी तरह हराया जो स्वतत्र होने का प्रयास कर रहे थे। ई० पू० ३२१ मे इसने अपने को शासक घोषित किया और दो वर्ष बाद ई० पू० ३१६ मे इसकी मृत्यु हो गई।

सं०ग्रं०—कैंब्रिज प्राचीन इतिहास, खड ६। (बैं० पु०)

आंतियोकस इस नाम के १३ सिल्यूकस वशीय राजाओ ने प्राचीन सीरिया तथा निकटवर्ती प्रदेशो पर राज किया। आंतियोकस प्रथम अपने पिता के वध के पश्चात् ई० पू० २८१ मे सिहासन पर बैठा और उसने अपनी बिखरी राजनीतिक शक्ति का सचय करने का प्रयास किया। इसका मौर्यसम्राट् बिदुसार के साथ राजनीतिक सपर्क था और इसने अपने राजदूत दियामाकस को पाटलिपुत्र भेजा था। मौर्यसम्राट् के लिये मीठी शराब तथा अजीर भी भेजे, पर यूनानी दार्शनिक भेजने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। फिलिस्तीन के प्रश्न को लेकर इसे मिस्र के सम्राट् तालमी के साथ युद्ध करना पड़ा। इसके पुत्र आंतियोकस द्वितीय (ई० पू० २६१–२४६) ने मिस्र की राजकुमारी के साथ विवाह कर दोनो देशो को मैत्रीसूत्र मे बाँधा। इन दोनो सम्राटो का अशोक के अभिलेखो मे उल्लेख है। इसके समय बैक्ट्रिया और पार्थिया ने अपनी स्वतत्रता घोषित कर दी।

आंतियोकस तृतीय (ई० पू० २२३-१८७) 'महान्' इस देश का सबसे प्रतापी सम्राट् था। उसने अपने साम्राज्य को बढ़ाना चाहा, पर यूनान मे थर्मापिली के युद्ध मे पराजित होकर उसे अपने देश वापस आना पड़ा। इसी देश के आंतियोकस चतुर्थ (ई० पू० १७६-१६४) ने मिस्रियों को हराकर फिलिस्तीन लेना चाहा, पर रोमनों की बढ़ती हुई शक्ति के आगे इसे मिस्र छोड़ना पड़ा। आंतियोकस अष्टम (ई० पू० १३८-१२६) ने जुरूसलम पर अधिकार किया और पार्थवो से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की।

सं०ग्रं०—कैंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६। (बैं० पु०)

आंतिस्थेनीज (लगभग ई० पू० ४५५–३६०) एथेस के दार्शनिक। आरभ मे इन्होंने गौर्गियास्, एक हिप्पियास् और प्रौदिकस् से शिक्षा प्राप्त की, पर अत मे ये सुकरात के भक्त बन गए। किनोसार्गस् नामक स्थान पर इन्होंने अपना विद्यालय स्थापित किया जहाँ पर प्राय. निर्धन लोगो को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। ये सुख का आधार सद्वृत्ति (अरेते) को और सद्वृत्ति का आधार ज्ञान को मानते थे। ये यह भी मानते थे कि सद्वृत्ति की शिक्षा दी जा सकती है और इसके लिये शब्दों के अर्थों का अनुसधान अपेक्षित है। ये अधिकाश सुखों को प्रवचक मानते थे। ये कहते थे कि केवल श्रमोत्पादित सुख स्थायी है। अतएव ये इच्छाओ को सीमित करने का उपदेश देते थे। ये एक लबादा पहने रहते थे और एक दड और खरो अपने पास रखते थे। इनके अनुयायी भी ऐसा ही करने लगे। (भो० ना० श०)

आंती दक्षिण पेरू की एक लड़ाकू जाति है, जो ऐडीज पर्वत की पूर्वी ढाल पर उकायलो नामक द्रोणी (बेसिन) के जगलो मे निवास करती है। ये लोग पहले क्रूर नरभक्षी थे, किंतु अब उनके पुरुषो ने धातु की कारीगरी तथा स्त्रियों ने कपड़ा बुनने का कार्य आरभ कर दिया है। इस जाति के लोग बलिष्ठ होते है। इनके लबे बाल कधो पर लटकते रहते है। शृगार के लिये ये लोग चिड़ियों के पख एव चोच की माला गले मे पहनते है। (न० कि० प्र० सि०)

आतुग मचूरिया का महत्व मे तीसरा बदरगाह है (४०° ६' उ० अ०, १२४° २३' पू० दे०)। यह कोरिया तथा मचूरिया की सीमा निर्धारित करनेवालो यालु नामक नदी के मुहाने पर बसा है। रेशम के उद्योग और काष्ठ एव सोयाबीन के निर्यात के लिये प्रसिद्ध है। इसे यालु द्रोणी का द्वार कहा जा सकता है। यह बदरगाह वर्ष के चार महीने तक बर्फ के कारण बद रहता है तथा समुद्र के उथले होने के कारण १,००० टन से अधिक के जहाज इस बदरगाह तक नही पहुँच पाते। यह आतुग प्रात की राजधानी भी है। (न० कि० प्र० सि०)

आतोनिनस पिअस (८६-१६१ ई०) कासुस ओरेलियस फुलवस का बेटा, रोमन सम्राट्। पहले वह साम्राज्य के अनेक ऊँचे पदो पर रहा, फिर १३८ ई० मे सम्राट् हाद्रियन ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। उसी साल हाद्रियन के मरने पर आतोनिनस सम्राट हुआ। अनेक पदो पर बुद्धिमानी से कार्य कर चुकने के कारण वह साम्राज्य की वास्तविक स्थिति मे पूर्णत: परिचित था और प्रजा का हित हृदय से चाहता था। उसने शासन का भार अधिकतर रोमन सिनेट को सौपा और कानून मे अनेक सुधार किए। उसने ब्रिटेन मे फोर्थ से लेकर क्लाइड तक दीवार खड़ी की जो आज भी एक अश मे वर्तमान है। (ओ० ना० उ०)

आंतोनियस, मार्कस (ल० ८३–३० ई० पू०) इसी नाम के पिता का पुत्र और पितामह का पौत्र था। वह रोम के प्रसिद्ध जनरल जूलियस सीज़र का बड़ा प्रिय और विश्वासपात्र था। वह स्वय रणकुशल सेनापति और असाधारण योद्धा था। दो दो बार सीज़र की अनुपस्थिति मे वह इटली का उपशासक (डेपुटी गवर्नर) हुआ। वह पहले त्रिब्यून, फिर सीजर के साथ कासुल रहा। जब षड्यत्रकारियो ने सिनेट मे सीज़र को मार डाला तब आतोनी ने अपनी वक्तृता द्वारा जनता को अपनी ओर कर लिया और अब शक्ति उसके और सीज़र के मनोनीत अधिकारी ओक्तावियन के हाथ आ गई।

पर दोनों मे खूब सघर्ष चला। परिणामत आतोनी को गॉल भागना पड़ा, पर वहाँ से वह लेपिदस के साथ एक बडी सेना लेकर रोम पर चढ आया। जो नया समझौता हुआ उससे गॉल आतोनी को मिला, स्पेन लेपिदस को एव अफ्रीका, सिसिली और सार्दीनिया ओक्तावियन को। फिलिप्पी की लड़ाई मे उसने ब्रूतस और प्रजातत्रवादियों का बल नष्ट कर दिया। अब आतोनी ग्रीस और लघुएशिया की ओर बढा। इसी यात्रा मे वह मिस्र को आकर्षक ग्रीक रानी क्लियोपात्रा के प्रणय के वशीभूत हो गया। जब होश मे आकर वह रोम लौटा, तब उसने देखा कि साम्राज्य का स्वामी ओक्तावियन हो गया है। वैमनस्य पर्याप्त बढा, पर ओक्तावियन ने अपनी बहन का उससे विवाह कर मित्रता पर पैबद लगाया। अब साम्राज्य का बँटवारा नए सिरे से हुआ—ओक्तावियन पश्चिम का स्वामी हुआ, आतोनी पूर्व का। वह फिर क्लियोपात्रा के पास लौटा और विलास मे खो गया। उधर ओक्तावियन ने उसपर चढाई की और जब आक्तियम के युद्ध मे हारकर आतोनियस मिस्र भागा तब पहली बार शत्रु ने उसकी पीठ देखी। अत मे उसने इस धोखे मे कि क्लियोपात्रा ने आत्महत्या कर ली है, स्वय उससे पहले ही आत्महत्या कर ली। वह साहित्यकारो के लिये बडा प्रिय नायक हो गया है। (भ० श० उ०)

आतोनेलिया दा मोसेना (१४३०–१४७९) इटली के चित्रकार आतोनेलियो दा आतोनियो का जनप्रिय नाम। जन्मस्थान मेसिना। इटली मे सर्वप्रथम तैलचित्र का प्रचलन आतोनेलियो ने किया। शैली मे इतालीय सौम्यता और सरलता तथा फिनलैंड की कुछ कुछ कोणाकार शैली का बडा सुदर समन्वय है। उसकी सर्वोत्तम कृति 'सेंट जेरोम अपने अध्ययन मे' लदन के नैशनल हाल मे सुरक्षित है। (म० च०)

आतोफगास्ता चिली देश का एक मुख्य नगर एव बदरगाह है तथा आतोफगास्ता प्रात की राजधानी है। स्थिति २३° ४८' द० अ०, ७०° ३६' प० दे०, जनसख्या १,३७,९६८ (सन् १९७० ई०)। इस नगर की स्थापना सन् १८७० ई० मे बोलिविया राज्य मे हुई थी, किंतु सन् १८७९ ई० मे चिली ने आक्रमण करके इसे अधिकृत कर लिया, तभी से यह चिली राज्य मे है। यह रेल का एक अतरराष्ट्रीय केंद्र है। यहाँ चाँदी शुद्ध करने का कारखाना भी है। चिली के बदरगाहो मे इसका स्थान द्वितीय है। यह नाइट्रेट (शोरा) के निर्यात के लिये विश्वविख्यात है।

आतोफगास्ता प्रात का क्षेत्रफल १,२३,०६३ वर्ग किलोमीटर है। जनसख्या ३,७६,३३० (१९७०) है। यह प्रात अटकामा मरुभूमि मे स्थित है तथा चाँदी, ताँबा, सीसा, सोहागा, नमक इत्यादि खनिजो मे धनी है। (न० कि० प्र० सि०)

आंत्रज्वर और परांत्रज्वर दोनो 'साल्मोनेला टाईफोसिया' नामक जीवाणुओ के कारण उत्पन्न होते हैं। रोग की अवस्था मे तथा रोगमुक्त होने के पश्चात् भी कुछ व्यक्तियो के मल मे ये जीवाणु पाए

जाते हैं। ये व्यक्ति रोगवाहक कहलाते हैं। मनुष्यों में रोग का संक्रमण भोजन और जल द्वारा होता है, जिनमें जीवाणु मक्खियों या रोगवाहकों के हाथों से पहुँच जाते हैं। आधुनिक स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों द्वारा रोग का बहुत कुछ नियंत्रण किया जा चुका है। पिछले कई वर्षों में इस रोग की कोई महामारी नहीं फैली है, किंतु अब भी जहाँ तहाँ, विशेषकर ऊष्ण प्रदेशों में, रोग होता है।

जीवाणु शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् क्षुद्रांत्र में 'पायर के क्षेत्रों' में बस जाते हैं और वहाँ अनिगलन उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण वहाँ व्रण बन जाता है। कुछ जीवाणु रक्त में भी पहुँच जाते हैं जहाँ से उनका संवर्धन किया जा सकता है, विशेषकर पहले सप्ताह में। रुधिर में इस प्रकार जीवाणुओं के पहुँचने से अन्य क्षेत्रों में गौण संक्रमण उत्पन्न हो जाता है, उदाहरणार्थ लसिका ग्रंथियाँ, यकृत, प्लीहा और अस्थिमज्जा में। पित्तनलिका में संक्रमण अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ से जीवाणु अधिकाधिक संख्या में आंत्र में पहुँचते हैं तथा नए नए व्रण उत्पन्न करते हैं और मल में अधिकाधिक जीवाणु जाते हैं।

प्रथम संक्रमण से १० से १४ दिन तक में रोग उभड़ता है।

लक्षण—इस रोग का लक्षण है मंद ज्वर जो धीरे धीरे बढ़ता है। आरंभ में बेचैनी या पेट में मंद पीड़ा, सिरदर्द, तबीयत भारी जान पड़ना, भूख न लगना, कफ और कोष्ठबद्धता। चार पाँच दिन बाद ज्वर अँतरिया सा हो जाता है और ताप १०२ से १०४ डिग्री फारनहाइट के बीच घटता बढ़ता है। लगभग सातवें दिन शरीर के विभिन्न भागों में आलपीन के सिर के बराबर गुलाबी दाने दिखाई पड़ते हैं। ये दाने विशेषकर वक्ष के सामने और पीठ की ओर दिखाई देते हैं। प्लीहा और यकृत भी कुछ बढ़ जाते हैं और रोगी कुछ बेहोश सा दिखाई देता है। नाड़ी इस अवस्था में प्राय मंद रहती है। कुछ मानसिक लक्षण, जैसे बेचैनी, बिछौने की चादर को या नाक को नोचना और प्रलाप भी उत्पन्न हो जाते हैं। रोग की अवधि प्राय छह से आठ सप्ताह तक हुआ करती है। रोग के लक्षण उसी प्रकार कम होते हैं जिस प्रकार प्रारंभ में वे धीरे धीरे बढ़ते हैं।

विशिष्ट प्रतिजीवाणुक चिकित्सा के प्रारंभ के पूर्व इस रोग के ३० प्रति शत रोगियों की मृत्यु हो जाती थी, किंतु क्लोरैंफेनिकोल नामक ओषधि के प्रयोग से अब हम, यदि उपयुक्त समय पर निदान हो जाय और उचित चिकित्सा प्रारंभ कर दी जाय, प्रत्येक रोगी को रोगमुक्त कर सकते हैं।

मृत्यु प्राय ऐसे उपद्रवों के कारण होती है जैसे आंत्र में छिद्रण (छेद हो जाना), रक्तप्रवाह, असाध्य अतिसार तथा तीव्र कर्णपटहार्ति। मानसिक लक्षणों से कोई बुरे परिणाम नहीं होते, यद्यपि रोगी के संबंधी लोग उससे बहुत डर जाते हैं। मृत्यु का विशिष्ट कारण चर्म की रक्तवाहिनी कोशिकाओं का प्रसार होता है, जो जीवाणु द्वारा उत्पन्न विषों का परिणाम होता है। इसके कारण भीतरी अंगों को, विशेषकर हृदय को, पर्याप्त रक्त नहीं मिल पाता। आजकल इस उपद्रव की भी संतोषजनक चिकित्सा की जा सकती है।

निदान—रोग की विशिष्ट प्रारंभविधि से, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, रोग का संदेह करना सरल है, किंतु वैज्ञानिक निदान के लिये जीवाणुओं का संवर्धन करना या प्रतिपिंडों का प्रचुर संख्या में देखा जाना आवश्यक है। प्रथम सप्ताह में रक्त से जीवाणु संवर्धित किए जा सकते हैं। वैज्ञानिक निदान का यही अचूक आधार है। रोग के १० दिन के पश्चात् मल और मूत्र से भी जीवाणुओं का संवर्धन किया जा सकता है। इस अवस्था में समूहक प्रतिक्रिया (अग्लूटिनेशन टेस्ट), जिसको विडल परीक्षण भी कहते हैं, प्राय सकारात्मक मिलती है। जाँच के नकारात्मक होने का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि १० से १५ प्रति शत रोगियों में यह जाँच रोग के पूर्ण काल भर नकारात्मक रहती है।

रोगरोधन—इस रोग की वैक्सीन (टी० ए० बी०) के प्रयोग से रोग में विशेष कमी हुई है, विशेषकर सैनिक विभाग में, जहाँ इसका प्रयोग अनिवार्य है और प्रत्येक सैनिक को इसके इंजेक्शन दिए जाते हैं। अब सभी देशों में इसका प्रयोग किया जाता है और इसमें संदेह नहीं कि इससे रोगक्षमता उत्पन्न होती है, जो छह मास से एक वर्ष तक रहती है। ०.२ से १ घन सेंटीमीटर वैक्सीन के, एक सप्ताह के अंतर से, तीन बार इंजेक्शन दिए जाते हैं।

चिकित्सा—आंत्रिक ज्वर की चिकित्सा के लिये क्लोरैंफेनिकोल ओषधि अत्यंत विशिष्ट प्रमाणित हुई है। रोग का निदान होते ही, शरीरभार के प्रति किलोग्राम के लिये २५ से ३० मिलीग्राम के हिसाब से, रोगी को यह ओषधि खिलाना प्रारंभ कर देना चाहिए और ज्वर उतर जाने के तीन चार दिन पश्चात् तक खिलाते रहना चाहिए। इस चिकित्सा के बाद रोग का पुनराक्रमण कोई असाधारण बात नहीं है। इसलिये कुछ विद्वान् ज्वर उतरने के १० दिन पश्चात् तक ओषधि देने का परामर्श देते हैं। कुछ विद्वान् इस काल में वैक्सीन देने के पक्षपाती हैं। यदि उपद्रव के रूप में प्रांतिक (पेरिफेरल) रक्तावसाद हो जाय तो उसकी चिकित्सा ग्लूकोज़ तथा सैलाइन को रक्त में पहुँचाकर सफलतापूर्वक की जा सकती है। हृत्कोची (सिस्टॉलिक) रक्त दाब के ८० मिलीमीटर से कम हो जाने पर नॉर-ऐड्रिनेलीन मिला देना चाहिए। रक्तस्राव होने पर रक्ताधान (ब्लड ट्रैंसफ्यूज़न) करना चाहिए। आंत्रछिद्रण होने पर शल्यकर्म आवश्यक है। अत्यंत उग्र दशाओं में स्टिराइडों का प्रयोग अपेक्षित है।

पैराटाइफ़ाइड ज्वर—यह इतना अधिक नहीं होता, जितना आंत्रज्वर। पैराटाइफाइड-बी की अपेक्षा पैराटाइफाइड-ए अधिक होता है। यह रोग इतना तीव्र नहीं होता। क्लोरैंफेनिकोल से लाभ होता है, किंतु टाइफाइड के समान नहीं। बहुत से रोगी सामान्य चिकित्सा और उचित उपचर्या से ही आरोग्यलाभ कर लेते हैं। (वी० भा० भा०)

आंथोनी, पादुआ का संत

(११९५-१२३१ ई०)। इनका जन्म लिस्बन में हुआ। पहले अगस्तिनीय संघ के सदस्य थे, किंतु १२२० ई० में उन्होंने फ्रांसिस्की संघ में प्रवेश किया। १२२१ ई० में असीसी के संत फ्रांसिस से उनकी भेंट हुई। बाद में वह धर्मविद्या (थेओलोजी) के अध्यापक हुए तथा उत्तरी इटली में उपदेशक के रूप में ख्याति प्राप्त करने लगे। उनका देहांत पादुआ (इटली) में हुआ। १२३२ ई० में उनको संत घोषित किया गया। वह काथलिक ईसाइयों के सर्वाधिक लोकप्रिय संतों में से हैं। उनका पर्व १३ जून को मनाया जाता है।

सं०ग्रं०—ओजिनियय-स्मिथ, ई० सेंट ऐंथनी ऑव पादुआ ऐकार्डिंग टु हिज़ कांटेंपोरैरीज़, न्यूयार्क, १९२६। (का० बु०)

आंथोनी, संत

(२५०-३५६ ई०) ईसाई धर्म के सर्वप्रथम मठवासी। २७० ई० में एकांतवासी बनकर तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। बहुत से शिष्यों द्वारा अपना अनुकरण देखकर उन्होंने मठवासी जीवन के संघटन के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने आरियस का विरोध किया। उनका जन्म मध्य मिस्र में तथा देहांत वहाँ की मरुभूमि में हुआ था।

सं०ग्रं०—हर्टलिंग, एल० वान० ऐंटोनियस डर आइनसीडलर, इंजब्रुक, १९२५। (का० बु०)

आंदोरा

पूर्वी पिरेनीज़ का अर्धसत्तासंपन्न राज्य है, जो फ्रांस तथा उर्गेल के बिशप के सम्मिलित अधिकार में है। यह फ्रांस के एरिज विभाग तथा स्पेन के लेरिडा प्रांत के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९१ वर्ग मील है। यहाँ के धरातल की ऊँचाई सागरतल से ६,५०० फुट से १०,००० फुट तक है। धरातल विषम तथा जलवायु कष्टकर है। यहाँ पर भेड़ तथा उसके पालने के लिये लहलहाते हुए चरागाह हैं, अतएव यहाँ पशुपालन यथेष्ट उन्नति पर है। यहाँ के वस्त्र उद्योग तथा तंबाकू संबंधी उद्योग विश्वविख्यात हैं। फलद वृक्ष तथा लताएँ भी होती हैं। यहाँ के पर्वतों में लोहे एवं सीसे (धातु) की खुदाई होती है। यहाँ की राजधानी अदोरा है। (शि० मं० सिं०)

आंद्राक्लीज़

आंद्रोक्लुस, एक रोमन दास का नाम जो सम्राट् तिबेरियस के समय हुआ। उसने अपने स्वामी की निर्दयता से तंग आकर, भागकर अफ्रीका में एक गुफा में शरण ली। कुछ समय पश्चात् इस गुफा में एक लँगड़ाते हुए शेर ने प्रवेश किया और आंद्राक्लीज़ ने उसके पंजे से एक

बड़ा काँटा निकाल दिया। कुछ समय पश्चात् वह पकड़कर सर्कस में सिंह के सामने फेंक दिया गया। यह सिंह वही था जिसकी आंद्राक्लीज ने सहायता की थी, सिंह ने, कहते हैं, इस कारण उसको नहीं खाया। इसपर आंद्राक्लीज को स्वतंत्र कर दिया गया।

सं०ग्रं०—जार्ज बर्नार्ड शॉ आंद्राक्लीज ऐंड द लॉयन, १९११। (भो० ना० श०)

आंद्रासी जूलियस, काउंट (१८२३-१८९० ई०)। हंगरी के इस राजनीतिज्ञ का जन्म स्लोवाकिया के कोचिरे नगर में हुआ था। वह हंगरी के सवैधानिक आदोलन के नेताओं में से था। देश के अगले युद्धों में उसे अनेक बार भाग लेना पड़ा और फलस्वरूप अनेकानेक कठिनाइयाँ भी सहनी पड़ीं। कालांतर में वह हंगरी का प्रधान मंत्री हुआ और उसने सेना आदि के क्षेत्र में अनेक सुधार किए। आस्ट्रिया और रूस से उसे बराबर राजनीतिक लोहा लेते रहना पड़ा। रूस को वह स्वदेश का अत्यंत भीषण शत्रु मानता था और उसके हथकंडों के प्रतिकार के लिये उसने जीवन भर प्रयत्न किए। धीरे धीरे देश की रक्षा के लिये उसने ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और रूस तक से मैत्री कर ली। यद्यपि वह तुर्कों के उसमान साम्राज्य को बनाए रखने के मत का था, परंतु यदि वह संभव न हो सका तो वह रूस के मुकाबले आस्ट्रिया हंगरी का प्रभुत्व बाल्कन राज्यों में कायम रखना चाहता था। पूर्वी प्रश्न के संबंध में उसने बराबर इसी दृष्टि से प्रयत्न किए। आंद्रासी पहला मगयार राजनीतिज्ञ था जिसने अखिल यूरोपीय यश अर्जित किया। वह क्रांतिपूर्व हंगरी के राज्य का प्रधान निर्माता माना जाता है। (ओं० ना० उ०)

आंद्रिया इटली के आपूलिया प्रांत का एक नगर तथा एक कम्यून (प्रशासकीय विभाग) है। यह बारी नगर से ३१ मील पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा में एक कृषिक्षेत्र में स्थित है। जनसंख्या ६३,१९६ (सन् १९४९ ई०)। इस नगर की स्थापना आंद्रिया के प्रथम नार्मन सामंत पीटर द्वारा सन् १०४६ ई० के लगभग हुई थी। यह सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय का प्रिय निवासस्थान था। यहाँ अनेक पुरानी इमारतें हैं, जिनमें १३वीं शताब्दी के कुछ गिरजाघर भी हैं। यह जैतून, गेहूँ तथा बादाम के व्यवसाय का एक प्रमुख केंद्र है। (न० कि० प्र० सि०)

आंद्रिया देल सार्तो (१४८६-१५३० ई०) इटली का पुनर्जागरणकालीन प्रसिद्ध चित्रकार। उसका पिता आग्नोलो दर्जी था। अनेक स्थितियों में प्रारंभिक जीवन बिताकर आंद्रिया ने स्वतंत्र चितेरे की वृत्ति आरंभ की। फ्लोरेंस के अनन्सियाता गिरजे में उसने संत फिलिप्पो बेनित्सी के जीवन की घटनाओं का भित्तिचित्रण किया। अपनी २३ वर्ष की आयु में ही चित्रण की तकनीक में वह इटली का सर्वोत्तम चितेरा माना जाने लगा था। कुछ लोगों के विचार में तो रफ़ेल भी उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था। माइकेल ऐंजेलो के भित्तिचित्रण अभी प्रारंभिक अवस्था में ही थे। आंद्रिया की शैली शुद्ध और सादी थी। वह एक बार चित्र लिखकर फिर दूसरी बार उसपर ब्रश कभी नहीं फेरता था। इन भित्तिचित्रों से उसकी इतनी ख्याति हुई कि सर्वत्र से उसका बुलावा आने लगा और काम की बाढ़ आ गई। उसका प्रधान आकर्षण आकृतिचित्रण था। भित्तिचित्रों में भी उसकी चित्री आकृतियाँ कुशलतम चितेरों के जोड़ की है।

आंद्रिया के विशिष्ट भित्तिचित्र हैं—'कुमारी का जन्म', 'मागी का जलूस', 'बाप्तिस्त का भाषण', 'श्रद्धा', 'दान', 'बाप्तिस्त का शिरच्छेद', 'हिरोद की कन्या का नृत्य', 'मादोना देल साक्को', 'अंतिम भोज'। उसके आकृतिचित्र लंदन की नैशनल गैलरी, पेरिस के लूव्र, फ्लोरेंस के उफ़िज़ी गैलरी आदि के संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। राजा फ्रांसिस प्रथम के निमंत्रण पर वह फ्रांस गया और वहाँ भी उसने अनेक चित्र लिखे। पर बीच में ही पत्नी के बुलाने से वह स्वदेश लौट गया। उसकी पत्नी लुक्रेत्सिया अत्यंत रूपवती थी और आंद्रिया उसे देखते ही उसपर आसक्त हो गया था। तब वह अन्य की विवाहिता थी, पर पति शीघ्र ही मर गया और प्रेमिया ने तत्काल परस्पर विवाह कर लिया। इस पत्नी के सौंदर्य का आंद्रिया पर इतना गहरा प्रभाव था कि उसके बनाए मदोना (मरियम) के सारे चित्र लुक्रेत्सिया के रूप में ही प्रभावित थे। उसके लिखे अन्य आकृतिचित्रों में भी अधिकतर उसी की रूपरेखा उभर आई है। आंद्रिया अपने जन्म के नगर फ्लोरेंस में ही ४३ वर्ष की आयु में प्लेग से मरा। उसकी पत्नी विधवा होकर उसकी मृत्यु के ४० वर्ष बाद तक जीवित रही।

सं०ग्रं०—एच० गिन्नेस आंद्रिया देल सार्तो, १८९९; एफ० नाप आंद्रिया देल सार्तो, बाइलेफेल्ड और लाइप्त्सिग, १९०७। (भ० श० उ०)

आंद्रेएव लियोनिद निकोलएविच (१८७१-१९१९) रूस के सुप्रसिद्ध नाटककार एवं उपन्यासलेखक जिनका रूसी कथासाहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। आई० डब्ल्यू० श्क्लोवस्की ने उनकी तुलना गार्शिन से की है। उनकी सर्वप्रिय रचनाएँ 'दि रेड लाफ' (१९०४), 'दि लाइफ़ आव मैन' (१९०६), जो एक रूपक अथवा प्रतीक नाटक है, 'दि सेवेन हैंग्ड मेन' (१९०८) तथा 'ही हू गेट्स स्लैप्ड' है, जिनमें से अंतिम का शीर्षक जितना ही रोचक है उतना ही तत्कालीन सामाजिक जीवन के चित्रांकन में कटु है। (च० म०)

आंद्रोनिकस प्रथम १२वीं सदी के मध्य पूर्वी साम्राज्य का सम्राट्। ११६१ ई० में तुर्कों ने उसे पकड़कर साल भर कैद रखा। अलेक्सियस के मरने पर आंद्रोनिकस कोस्तांतिनोपुल में सम्राट् हुआ और अपने अल्प काल के शासन में उसने सामंती संस्थाओं के विरुद्ध अनेक नियम बनाकर प्रजा का दुःख हरा, यद्यपि उससे उसके सामंत बिगड़ उठे। आभिजात्य ने उसपर विद्रोह किया और ११८५ में उसकी हत्या कर दी गई। (ओं० ना० उ०)

आंद्रोनिकस द्वितीय (१२६०-१३३२ ई०) रोमन सम्राट् मिखायल पालियोलोगस उसका पिता था जिसके मरने के बाद वह स्वयं पूर्वी रोमन साम्राज्य का सम्राट् हुआ। उसके शासनकाल में वेनिस और जेनोआ की कीर्ति बढ़ी और तुर्कों ने बिथीनिया साम्राज्य से छीन लिया। उनसे लड़ने के लिये सम्राट् ने रोगर दी फ्लोर नाम के एक स्पेनी सामरिक को नियत किया। रोगर ने तुर्कों को हरा तो दिया पर वह स्वयं सम्राट् के साथ मनमानी करने लगा। अंत में जो उसके सैनिकों ने विद्रोह किया तो थ्रेस और थीबीज साम्राज्य के हाथ से निकल गए। अंत में आंद्रोनिकस को साम्राज्य की गद्दी अपने पौत्र को दे देनी पड़ी। (ओं० ना० उ०)

आंध्र भारत का एक प्रदेश है। क्षेत्रफल १,०५,९६३ वर्ग मील। श्री रामुलु के आत्मबलिदान के पश्चात्, भारतीय संघ का यह भाषानुसार बना प्रथम राज्य है। इसकी स्थापना १ अक्टूबर, सन् १९५३ ई० को हुई। तत्पश्चात् १ नवंबर, सन् १९५६ ई० को हैदराबाद के तेलंगाना क्षेत्र के भी इसमें मिल जाने पर वर्तमान आंध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। इस राज्य में श्रीकाकुलम्, विशाखापट्टनम्, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर, नेल्लोर, कड्डपा, कुर्नूल, अनंतपुर, चित्तूर, हैदराबाद, महबूबनगर, आदिलाबाद, निजामाबाद, मेडक, करीमनगर, वारंगल, खम्माम तथा नलगोंडा नामक बीस जिले हैं।

प्राकृतिक दशा—आंध्र प्रदेश का पूर्वी सागरतटीय भाग मैदान है, जो गोदावरी एवं कृष्णा के नदीमुख प्रदेशों में अधिक विस्तृत हो गया है। इस मैदानी भाग का विस्तार नदीघाटियों के रूप में पश्चिम की ओर भी है। इसपर नदियों द्वारा लाई हुई उपजाऊ काँप मिट्टी बिछी हुई है। राज्य के पूर्वी भाग में पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ, उत्तर से दक्षिण तक, फैली हुई हैं। युगों से गर्मी सर्दी तथा वर्षा सहने के कारण इनकी चोटियाँ कटकर चपटी हो गई हैं और नदियों ने इन्हें असंबद्ध कर दिया है। आंध्र का उत्तर-पश्चिमी भाग दक्षिणी सोपानाश्म (डेकन ट्रैप) से ढका है। पूर्वी भाग में नवीन तथा प्राचीन जलोढ़ (अलूवियम) के निक्षेप हैं। इसका शेष भाग आद्यकल्प (आरकियन) के कणाश्म (ग्रैनाइट) तथा दलाश्म (नाइस) से बना हुआ है। इस राज्य का पठारी भाग सागरतल की अपेक्षा ५०० से लेकर २,००० फुट तक ऊँचा है।

जलवायु—आंध्र प्रदेश उष्ण जलवायु प्रदेश के अंतर्गत है। यहाँ का जनवरी का औसत ताप ६५° फा० से ७५° फा० तथा जुलाई का औसत ताप ८५° फा० से ९५° फा० तक होता है। सागरीय प्रभाव के कारण पूर्वी

भाग की जलवायु पश्चिमी भाग की अपेक्षा अधिक सम है। इस राज्य की वार्षिक वर्षा का औसत ४२ इंच है जो ग्रीष्म के पावस (मानसून), अंतिम पावस तथा शीत ऋतु के मानसून से होती है। राज्य के पूर्वी भाग को वर्षा ५५ इंच तथा पश्चिमी भाग को ३५ इंच है।

मिट्टी—आंध्र प्रदेश में कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती है। समुद्रतटीय प्रदेश में उपजाऊ कांप मिट्टी तथा बलुई मिट्टी मिलती है। उत्तर पश्चिम के सोपानाश्म क्षेत्र में काली तथा लाल मिट्टी पाई जाती है। यहाँ अनेक स्थानो पर भूरी मिट्टी भी मिलती है। अधिक वर्षा तथा असम धरातल के कारण यहाँ मिट्टी का अपक्षरण बहुत होता है।

वनस्पति—आंध्र प्रदेश में वनो का कुल क्षेत्रफल १,१०,१३२ ८ वर्ग कि० मी० है। यह आंध्र के कुल क्षेत्रफल का ४० प्र० श० है। सागौन, कुसुम, रोजवुड तथा बाँस यहाँ के वनो में बहुतायत में मिलते है। ये सब पतझड़वाले वृक्ष है।

आंध्र की मुख्य नदियाँ गोदावरी, कृष्णा तथा पेन्नार है। अनुमानत ये सब १५ करोड़ एकड़ फुट पानी प्रति वर्ष बगाल की खाड़ी में डालती है। यहाँ की मुख्य बहुधंधीय योजनाएँ तुगभद्रा, नागार्जुनसागर, पेन्नार, पुलिचिताला, कद्दाम, वामसद्रधा, कोइलसागर आदि है। आंध्र में सिंचाई के क्षेत्रो का विवरण इस प्रकार है . राजकीय नहरे, ३० ३६ लाख एकड, व्यक्तिगत नहरे, ६२,७२६ एकड, तालाब, २५ ६६ लाख एकड, कुएँ, ७ ५४ लाख एकड, दूसरे साधन, २ ५४ हजार एकड। सिंचाई के इतने साधन होते हुए भी इस राज्य के अधिकतर भाग को अनिश्चित एव अनियमित पावस वर्षा पर निर्भर रहना पडता है।

कृषि—सन् १९५५-५६ में आंध्र का कुल बोया गया क्षेत्र २३० लाख एकड़ था, यह सपूर्ण भारत की कुल बोई गई भूमि का नौ प्रति शत था। ७२ ३८ लाख एकड भूमि बजर थी। कृषि के अतिरिक्त कामो में लाई गई भूमि ३३.३३ लाख एकड तथा चरागाहो के लिये उपयुक्त भूमि २८ ७८ लाख एकड थी। विविध प्रकार की मिट्टी एव वर्षा के कारण आंध्र के कृषि उत्पादन भी विविध प्रकार के है। खाद्यान्न, तेलहन, तबाकू, गन्ना, मूंगफली, अडी तथा मसालो के उत्पादन में आंध्र प्रदेश का भारतीय सघ में महत्वपूर्ण स्थान है। यह निम्न तालिका से विदित है

फसल	क्षेत्रफल (हजार एकड मे)	उत्पादन (हजार टनो मे)	कुल भारतीय उत्पादन का प्र०श०
धान	६,३४९	३,१९५	१३ २
ज्वार	६,११८	१,०८०	१२ ९
दाले	३,२९४	२,८६०	२ ७
मूंगफली	२,८१४	९४९	२४ ८
बाजरा	१,७४५	३,६४०	१० ३
मक्का	४७१	८०	२ ७
रागी	८६५	३४५	१९ ४
तबाकू	३२१	१०७	४३ १
अडी	९०५	६५	५८ ८
कपास	१०३४	१२७	[illegible]२ ९
गन्ना	१६४	४५६	८ २
मिर्च	३९७	१०३	२८ ९
हल्दी	२३	३४	२८ ०

आंध्र के अन्य उत्पादन केला, आम, नीबू, सतरा आदि है।

आंध्र मे पशु महत्वपूर्ण हैं। १९६६ ई० मे पशुओं की सख्या इस प्रकार थी . भैंस ६७,९०,०००, गाय १,२३,४०,०००, बकरी ३७,९०,०००, भेड ८०,००,०००।

खनिज पदार्थ—आंध्र खनिज पदार्थों का विशाल भडार है। यहाँ के मुख्य खनिज पदार्थ मैंगनीज, अभ्रक, कोयला, लोहा, चूने का पत्थर, क्रोमाइट, ऐसबेस्टस आदि हैं। यहाँ भारत का १० प्रति शत मैंगनीज निकलता है, जो मुख्यतया विशाखापट्टनम्, बेलारी, श्रीकाकुलम आदि क्षेत्रो से आता है। यहाँ का मुख्य अभ्रक-उत्पादक क्षेत्र नेल्लोर है। इस राज्य में भारत का १५% अभ्रक उत्पन्न होता है। कोयला मुख्यतया गोदावरी नदी की घाटी में स्थित सिंगरेनी, तंदूर आदि क्षेत्रो से आता है। आंध्र दक्षिणी भारत का सर्वप्रधान कोयला उत्पादक राज्य है। यह सपूर्ण भारत का ५% कोयला उत्पन्न करता है। यहाँ ऐसबेस्टस मुख्यतया कडप्पा क्षेत्र से आता है। नेल्लोर जिले की बालू मे अणु खनिज भी मिलते है। भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के अनुसार आंध्र के गुटूर तथा नेल्लोर जिलो मे ३८ करोड ९० लाख टन लोहा संरक्षित है।

उद्योग धंधे—अपार प्राकृतिक साधन होते हुए भी आंध्र प्रदेश औद्योगिक दृष्टि मे पिछड़ा है। सूती कपडे की २१ मिले मुख्यतया हैदराबाद, औरंगाबाद, गुटकल, एडोनी एवं गुलबर्गा मे स्थित हैं। कागज की मिले राजमहेंद्री तथा सीरपुर कागजनगर मे है। इस राज्य मे चीनी बनाने की १९ मिले हैं जिनमे सबप्रधान बाधन मिल है। सीमेंट के कारखाने विजयवाड़ा, कृष्णा, पनियाम, नदीकोडा आदि स्थानो पर है। सिगरेट बनाने के कारखाने हैदराबाद मे तथा चमड़े के कारखाने वारगल, विजयवाडा आदि स्थानो मे है। गुटूर मे चीनी मिट्टी के बर्तन तथा काँच के कारखाने है। जलयान-निर्माण उद्योग का केंद्र विशाखापट्टनम् है। यहाँ कैलटेक्स कपनी की एक बृहत् तैल-शोधन-शाला है।

गृह-उद्योग—आंध्र मे करघा उद्योग अत्यत उन्नत दशा मे है। इसके मुख्य केंद्र मछलीपट्टम्, वारगल तथा एलुरु हैं। फर्नीचर के लिये आदिलाबाद, सीग तथा हाथीदांत के काम के लिये हैदराबाद और विशाखापट्टनम्, लाह के खिलौना के लिये कोडापल्ली, दियासलाई बनाने के लिये हैदराबाद और विजयवाडा, रेशम का कीडा पालने के लिये मदाकसीरा, हिंदूपुर कुर्नूल, पूर्वी गोदावरी आदि प्रसिद्ध है।

आंध्र से निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ तबाकू, मूँगफली, तेलहन, चावल, कोयला आदि है। आयात की वस्तुएँ दाल, कपडा, पक्के माल हैं। यहा रेलो की लबाई २,९०२ मील तथा सडको की लबाई १४,४६६ मील है।

बदरगाह—आंध्र का सागरतट यथेष्ट लबा है और विशाखापट्टनम् यहाँ का एक अच्छा बदरगाह है। सिंधिया कपनी ने यहाँ पर जहाज बनाने का एक कारखाना स्थापित किया है। १९५८ तक इस कारखाने मे २४ जहाज बने। इसका पूर्ण विकास होने पर यहाँ पर प्रति वर्ष चार जहाज बनेंगे। यहाँ जहाजो की मरम्मत के अतिरिक्त पनडुब्बियो की मरम्मत भी होने लगी है तथा पनडुब्बियाँ बनाने का एक कारखाना भी यहाँ स्थापित किया गया है। आंध्र के अन्य प्रमुख बदरगाह कोकोनाडा तथा मछलीपट्टनम् है।

जनसख्या—सन् १९७१ ई० मे आंध्रप्रदेश की जनसख्या लगभग ४,३२,८४,९३१ थी। यहाँ के प्रसिद्ध नगरो की जनसख्या इस प्रकार थी हैदराबाद ११,१८,५५३, विशाखापट्टनम् १,८२,००२, विजयवाडा, २,३०,३९७, गुटूर १,८७,१३५, वारगल १,५६,१०६, राजमुद्री १,३०,००२। यहा की भाषा तेलुगु तथा राजधानी हैदराबाद है। (रा० लो० सि०)

आंफिएरोस आइक्लेस् अपोलो (सूर्य) तथा हिपेर्मेस्त्रा का पुत्र एव आर्गास् का राजा, जो द्रष्टा के रूप मे विख्यात था। इसका विवाह अद्रास्तस् की बहन एरीफिले के साथ हुआ था जिसके आग्रह के कारण वह थेबेस् के अभियान मे समिलित हुआ। ग्रीक पुराणकथाओ के अनुसार उसको पहले से ही मालूम था कि वह युद्ध मे मारा जायगा, इसलिये उसने अपने पुत्रो को अपनी माता से बदला लेने का आदेश कर दिया था। थेबेस् के युद्ध मे पराजित होकर भागते हुए वह सूर्य द्वारा प्रस्तुत किए भूविवर मे रथ और घोडो के सहित समा गया।

स०ग्र०—एडिथ् हैमिल्टन माइथॉलोजी, १९५४, राबर्ट ग्रेव्ज : द ग्रीक मिथ्स्, १९५५। (भो० ना० श०)

आंफिक्त्योनी आफिक्त्योनेइया, आफिक्त्योनेस् प्राचीन यूनान की धर्म सबधी परिषदो के नाम। इस शब्द का अर्थ है चारो ओर रहनेवाले (आंफि = अमित, सब ओर + क्त्यनिस् = निवासी)। ये परिषदे मदिरो, धर्मस्थानो, धार्मिक उत्सवो एव मेलो की व्यवस्था किया करती थी। इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिषद् वह थी जो आरभ मे थर्मोपिली के पास अथेला नामक स्थान पर देमेतर (अन्न और कृषि की देवी) के मदिर की व्यवस्था करती थी तथा जो आगे चलकर देल्फी मे सूर्यदेव अपोलो के मदिर का भी प्रबध करने लगी थी। इसके प्राचीनतम रूप मे यूनानियों के १२ कबीले (थेसालियन्, बियोतियन्, दोरियन्, इयोनियन् (स० यवन),

पैंहिबियन्, दोलोपियन्, मग्नेती, लोक्रियन्, इनियाने, थियोती, प्रक्रियन्, मॉलियन् और फोकियन्) सम्मिलित थे। समय समय पर इन कबीलों की संख्या घटती बढ़ती रही थी। इस परिषद् की बैठकें वर्ष में दो बार, बारी बारी से देल्फी और थर्मोपिली में, हुआ करती थी, जिनमें प्रत्येक कबीले को दो मत प्राप्त थे। इसकी सपत्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसने अपना सिक्का भी चलाया था।

ग्रीक जगत् में इस परिषद् का राजनीतिक महत्व भी पर्याप्त था। विभिन्न नगरराष्ट्रों में बँटी हुई ग्रीक जाति में यह परिषद् एकता की दिशा में प्रभाव डालनेवाली थी। आपसी युद्धों में परिषद् ने नगरों को और नगरों को जल की व्यवस्था को नष्ट करने का निषेध कर दिया था। आगे चलकर इस परिषद् ने समस्त ग्रीक जाति पर एक समान लागू होनेवाले नियम बनाने की दिशा में भी प्रयत्न किया था और एक समान मुद्राप्रचलन का भी उद्योग किया था। परिषद् के नियमों का उल्लंघन करनेवालों के अभियोगों का निर्णय कबीलों के मताधिकारी प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता था जो 'हियेरोम्नेमोन्' कहलाते थे एवं अपराधियों के विरुद्ध धमयद्ध तक की घोषणा कर सकते थे। पर बलशाली नगरराष्ट्र इस परिषद् के आदेशों की उपेक्षा भी कर देते थे और कभी कभी इसका अपने कार्यों के साधने में भी प्रयोग करते थे। फेराए के यासन् और मकदूनिया के फिलिप् ने इसका उपयोग अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये किया था। कहते हैं, इस परिषद् का प्रथम सस्थापक अफिक्त्योन् था जो दउकालियोन् का पुत्र और हेलेन् का भाई था।

स०ग्र०—बुजोल्ट ग्रीशिशे श्टाट्स्कुडे, १९२६। कारस्टेट ग्रीशिशे श्टाट्स्रेष्ट, १९२२। (भो० ना० श०)

आँबाहलदी या आमाहलदी को सस्कृत में आम्रहरिद्रा अथवा वनहरिद्रा तथा लैटिन में करकुमा ऐरोमैटिका कहते हैं।

यह वनस्पति विशेषकर बंगाल के जगलों में और पश्चिमी प्रायद्वीप में होती है। इसकी जड़ें रंग में हल्दी की तरह और गध में कपूर की तरह होती हैं। जड़ें बहुत दूर तक फैलती हैं। पत्ते बड़े और हरे तथा फूल सुगधित होते हैं। इसे बागीचों में भी लगाते हैं।

आयुर्वेद में इसे शीतल, वात, रक्त और विष को दूर करनेवाली, वीर्यवर्धक, सनिपातनाशक, रुचिदायक, अग्नि का दीपन करनेवाली तथा उग्रव्रण, खाँसी, श्वास, हिचकी, ज्वर और चोट से उत्पन्न सूजन को नष्ट करनेवाली कहा गया है।

इसकी सुखाई हुई गाँठों का व्यवहार वातनाशक और सुगध देनेवाले द्रव्य के समान किया जाता है। चोट तथा मोच में भी अन्य द्रव्यों के साथ पीसकर गरम लेप का व्यवहार किया जाता है। (भ० दा० व०)

आबुर मद्रास प्रात के अतर्गत उत्तरी अर्काट जिले में बेलोर तालुके में एक नगर तथा दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यह पलार नदी के दक्षिणी किनारे पर वेलोर से ३० मील तथा मद्रास से ११२ मील दूर स्थित है (स्थिति १२° ४८' उ० अ० तथा ७८° ४३' पू० दे०)। पहले यह नील के व्यापार का केंद्र था, अब यहाँ से तेल, घी तथा अन्य खाद्य वस्तुएँ मद्रास भेजी जाती हैं। यहाँ की मुख्य व्यापारी जाति 'लबाई' है।

बहुत ऊँचा आबूर मीनार ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध है। भूतकाल में यहाँ बहुत सी भयकर लड़ाइयाँ लड़ी गई थीं। यहाँ उद्योग, व्यापार तथा नौकरियों में लगभग बराबर सख्या में लोग लगे हुए हैं। (ह० ह० सि०)

आम्ब्रोज (३४०-३७१) मिलान के बिशप, जन्म त्रीव्ज में। प्राचीन ईसाई धर्म के अगस्तिन, जेरोम और ग्रेगरी महान् की श्रेणी के सत। इन्होंने धार्मिक भावना से ओतप्रोत पर सरल बोधगम्य भाषा में अनेक भजनों की रचना की जो बाद के भजनों के लिये आदर्श सिद्ध हुए। इनके पिता प्रीफेक्ट और माता विदुषी एव दयावान् स्त्री थी। इन्हें रोम में शिक्षा मिली थी, तदुपरात मिलान के बिशप हुए। अपना धन इन्होंने गरीबों में बाँटकर ईसाई धर्म के प्रचार में जीवन लगा दिया। (म० च०)

आंभी ३२६ ई० पू०, सिकदर का समकालीन और तक्षशिला का राजा। सिकदर ने जब सिंधुनद पार किया तब आभी ने अपनी राजधानी तक्षशिला में चाँदी की वस्तुएँ, भेड़ें और बैल भेंट कर उसका स्वागत किया। चतुर विजेता ने उसके उपहारों को अपने उपहारों के साथ लौटा दिया जिसके फलस्वरूप आभी ने आगे का देश जीतने के लिये उसे ५,००० अनुपम योद्धा प्रदान किए। आभी को उदार विजेता ने फिर झेलम और सिंधुनद के द्वाब का शासक नियुक्त किया। (ओ० ना० उ०)

आँवला सस्कृत में इसे अमृता, अमृतफल, आमलकी, पचरसा इत्यादि, अंग्रेजी में एब्लिक माइरोबालान तथा लैटिन में फिलैंथस एंबेलिका कहते हैं। यह वृक्ष समस्त भारत के जगलों तथा बाग बगीचों में होता है। इसकी ऊँचाई २० से २५ फुट तक, छाल राख के रंग की, पत्ते इमली के पत्तों जैसे, किंतु कुछ बड़े तथा फूल पीले रंग के छोटे छोटे होते हैं। फूलों के स्थान पर गोल, चमकते हुए, पकने पर लाल रंग के, फल लगते हैं, जो आँवला नाम से ही जाने जाते हैं। वाराणसी का आँवला सब से अच्छा माना जाता है। यह वृक्ष कार्तिक में फलता है।

आयुर्वेद के अनुसार हरीतकी (हड़) और आँवला दो सर्वोत्कृष्ट ओषधियाँ हैं। इन दोनों में आँवले का महत्व अधिक है। चरक के मत से शारीरिक अवनति को रोकनेवाले अवस्थास्थापक द्रव्यों में आँवला सबसे प्रधान है। प्राचीन ग्रथकारों ने इसको शिवा (कल्याणकारी), वयस्था (अवस्था को बनाए रखनेवाला) तथा धात्री (माता के समान रक्षा करनेवाला) कहा है।

इसके फल पूरा पकने के पहले ही व्यवहार में आते हैं। वे ग्राही (पेटभरी रोकनेवाले), मूत्रल तथा रक्तशोधक बताए गए हैं। कहा गया है, ये अतिसार, प्रमेह, दाह, कँवल, अम्लपित्त, रक्तपित्त, अर्श, बद्धकोष्ठ, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, खाँसी इत्यादि रोगों को नष्ट तथा दृष्टि को तेज, वीर्य को दृढ़ और आयु की वृद्धि करते हैं। मेधा, स्मरणशक्ति, स्वास्थ्य, यौवन, तेज, कांति तथा सर्वबलदायक ओषधियों में इसे सर्वप्रधान कहा गया है। इसके पत्तों के क्वाथ से कुल्ला करने पर मुँह के छाले और क्षत नष्ट होते हैं। सूखे फलों को पानी में रात भर भिगोकर उस पानी से आँख धोने से सूजन इत्यादि दूर होती है। सूखे फल खूनी अतिसार, आँव, बवासीर और रक्तपित्त में तथा लोहभस्म के साथ लेने पर पाडुरोग और अजीर्ण में लाभदायक माने जाते हैं। आँवला के ताजे फल, उनका रस या इनसे तैयार किया शरबत शीतल, मूत्रल, रेचक तथा अम्लपित्त को दूर करनेवाला कहा गया है। आयुर्वेद के अनुसार यह फल पित्तशामक है और सधिवात में उपयोगी है। ब्राह्मरसायन तथा च्यवनप्राश, ये दो विशिष्ट रसायन आँवले से तैयार किए जाते हैं। प्रथम मनुष्य को नीरोग रखने तथा अवस्थास्थापन में उपयोगी माना जाता है तथा दूसरा भिन्न भिन्न अनुपानों के साथ भिन्न भिन्न रोगों, जैसे हृदयरोग, वात, रक्त, मूत्र तथा वीर्यदोष, स्वरक्षय, खाँसी और श्वासरोग में लाभदायक माना जाता है।

आधुनिक अनुसधानों के अनुसार आँवला में विटेमिन सी प्रचुर मात्रा में होता है, इतनी अधिक मात्रा में कि साधारण रीति से मुरब्बा बनाने में भी सारे विटैमिन का नाश नहीं हो पाता। सभवत आँवले का मुरब्बा इसीलिये गुणकारी है। आँवले को छाँह में सुखाकर और कूट पीसकर सैनिकों के आहार में उन स्थानों में दिया जाता है जहाँ हरी तरकारियाँ नहीं मिल पाती। आँवले के उस अचार में, जो आग पर नहीं पकाया जाता विटैमिन सी प्राय पूर्ण रूप से सुरक्षित रह जाता है, और यह अचार, विटैमिन सी की कमी में खाया जा सकता है। (भ० दा० व०)

आँहवेई चीन देश का एक पूर्वी प्रात है, जो यागसीक्याग की घाटी में स्थित है, क्षेत्रफल १,३९,००० ९ वर्ग कि० मी०, जनसख्या ३,५०,००,००० (१९६८ ई०)। यह प्रात सन् १९३८ से १९४८ ई० तक जापान के अधीन रहा। चीन की राजनीतिक क्रांति के बाद इसके दो भाग किए गए, परतु अगस्त, सन् १९५२ ई० में ये पुन एक हो गए। आँहवेई दो प्राकृतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) उत्तरी आँहवेई, उत्तर चीन के मैदान का एक खड है जो ह्वाईहो की द्रोणी में स्थित है। यह क्षेत्र जाड़े में अत्यधिक ठंढा और शुष्क तथा गर्मी में आर्द्र एव उष्ण रहता है। यह जाड़े में गेहूँ और क्योलियाग की उपज के लिये प्रसिद्ध है।

(२) दक्षिणी ग्राँहवेई, यांगत्सीक्यांग की घाटी मे पहाडियो से घिरा, अधिक रम्य जलवायु तथा गेहूँ एव चावल की उपज का क्षेत्र है। यह प्रा त ग्रन्न के अतिरिक्त रूई, रेशम, चाय तथा खनिजो मे कोयले और लोहे का भी उत्पादन करता है। इसके प्रमुख नगर पेगपू, वुहू, होफी तथा ह्वाइनिग हैं। होफी इसकी राजधानी है। (न० कि० प्र० सि०)

ग्राइंस्टाइन प्रसिद्ध भौतिकी वैज्ञानिक और सापेक्षवाद के जन्मदाता ऐल्बर्ट ग्राइन्स्टाइन का जन्म १४ मार्च, सन् १८७९ को जर्मनी के वुर्टेमबर्ग प्रदेश के ऊल्म नामक नगर में हुआ था। इनके माता पिता यहूदी थे। इनका बचपन म्यूनिख मे बीता था जहाँ इनके पिता का बिजली के सामान का कारखाना था। सन् १८९४ मे इनका परिवार इटली मे जा बसा और ऐल्बर्ट को स्विट्ज़रलैंड के ग्राउ नामक नगर के एक विद्यालय मे भरती करा दिया गया। इसके पश्चात् गणित तथा भौतिक शास्त्र पढाकर जीविकोपार्जन करते हुए ये ज्यूरिक मे विद्याभ्यास करते रहे। सन् १९०१ मे बर्न के पेटेंट कार्यालय मे जाँचकर्ता नियुक्त हुए तथा १९०९ तक इसी पद पर रहे। इसी बीच इन्होने ज्यूरिक विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की तथा भौतिक शास्त्र सबधी अपने प्रारभिक लेख प्रकाशित किए। ये इतनी उच्च कोटि के समझे गए कि इन्हे ज्यूरिक के विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर का पद दिया गया। एक ही वर्ष बाद, सन् १९१० मे प्राग के जर्मन विश्वविद्यालय मे ये सैद्धातिक भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हो गए। १९१२ मे ये ज्यूरिक के पालिटेक्निक स्कूल मे प्रोफेसर नियुक्त होकर इस नगर मे लौट आए। सन् १९१३ मे इन्होंने बर्लिन के प्रुशियन विज्ञान अकादमी मे गवेषणा सबधी पद के साथ बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का तथा भौतिकी के कैसर विल्हेल्म इस्टिट्यूट के सचालक का भी पद स्वीकार किया।

अब तक विज्ञान के क्षेत्र मे इनकी असाधारण श्रेष्ठता इतनी सुस्पष्ट हो गई थी कि इन्हे राजकीय प्रुशियन विज्ञान अकादमी का सदस्य चुन लिया गया और इनकी वृत्तिका नियत कर दी गई कि ये अपना समय स्वतत्र रूप से केवल अनुसधान मे लगा सके। जेनेवा, मैनचेस्टर, रॉस्टॉक तथा प्रिन्सटन विश्वविद्यालयो ने इन्हे डॉक्टरेट की समानित उपाधियाँ अर्पित की तथा ऐम्सटर्डम (नीदरलैंड) और कोपेनहेगेन (डेनमार्क) की अकादमियो ने अपना समानित सदस्य चुना। सन् १९२१ मे ये इग्लैंड की रायल सोसायटी के भी सदस्य चुने गए। इसी सस्था ने सन् १९२५ मे इन्हे कोपली पदक से तथा सन् १९२६ मे रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी ने भी एक स्वर्णपदक से समानित किया। सन् १९२१ मे इन्हे ससार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार नोबेल पुरस्कार मिला।

सन् १९३० मे जर्मनी मे विषम राजनीतिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई। इस समय जर्मनी मे विज्ञान तथा वैज्ञानिक का भविष्य ग्राइंस्टाइन को अति संकटमय जान पडा। उन्होने यह देश छोड यूरोप, इग्लैंड तथा सयुक्त राज्य (अमरीका) की यात्रा आरभ की और अत मैं अमरीका के प्रिन्सटन नगर मे, उच्च अध्ययन के लिये स्थापित नई सस्था मे प्रोफेसर का पद स्वीकार कर सन् १९३३ से वही बस गए।

ग्राइंस्टाइन ने जो अनुसधान किए है वे इतने उच्चस्तरीय गणित पर आधृत है तथा उनका क्षेत्र और फल इतने व्यापक है कि उन सबका ब्योरेवार वर्णन करना यहाँ सभव नही है। जिस खोज के कारण लोग उन्हे विशेषकर जानते है वह आपेक्षिता सिद्धात है (उसे देखें)। इसके सीमित रूप का प्रकाशन इन्होने सन् १९०५ मे किया था। इस सिद्धात ने उस समय की अनेक आधारभूत धारणाओ को उलट पलट दिया। पहले तो वैज्ञानिक इस सिद्धात को कल्पना की उडान समझते थे, किंतु धीरे धीरे विश्व के वैज्ञानिकों ने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार किया। सन् १९१५ मे इन्होने इसी का विस्तृत सिद्धात प्रकाशित किया।

सन् १९०५ मे ही इन्होने "ब्राउनियन" गति, अर्थात् वायु तथा तरल पदार्थों में इधर उधर अनियमित रीति से तैरनेवाले सूक्ष्म कणो की चाल, के संबध मे एक सिद्धात प्रस्तुत किया। इन कणो की गति को पिछले ८० वर्षों में चेष्टा करने पर भी वैज्ञानिक नही समझ पाए थे। धातु के तलो पर प्रकाश के आघात से विद्युद्धारा की उत्पत्ति के तथा विकीर्ण ऊर्जा से हुए रासायनिक परिवर्तन के कारणों पर भी आपने प्रकाश डाला।

सन् १९४९ में इन्होने अपने उस नवीन सिद्धात की घोषणा की जिसके द्वारा विद्युच्चुबकीय घटनाएँ तथा गुरुत्वाकर्षण के फल एक सूत्र मे आबद्ध हो गए। सन् १९५३ मे इसी सिद्धात का अधिक विस्तार कर इन्होंने उन आधारभूत, सर्वपरिवेष्टक नियमो का वर्णन किया जिनसे विश्व के सब कार्य सपादित होते हैं।

इस अपूर्व समझवाले महावैज्ञानिक की मृत्यु सन् १९५५ मे ७६ वर्ष की आयु मे हुई। अनेक विद्वानो का मत है कि पिछली कई शताब्दियो से ऐसे श्रेष्ठ वैज्ञानिक ने जन्म नही लिया था। (भ० दा० व०)

ग्राइंस्टीनियम तत्व अमरीका के ताप न्यूक्लीय विस्फोट के रेडियमधर्मी मलबे मे पाया गया था। इसका नाम विश्वविख्यात वैज्ञानिक ग्राइंस्टाइन के नाम पर रखा गया है। ग्राइंस्टीनियम की खोज १९५२ ई० मे ही हो गई थी लेकिन काफी समय तक यह प्रचुर मात्रा मे तैयार नही किया जा सका। यूरेनियम द्वारा न्यूट्रान अवशोषित होने से इसका निर्माण हुआ था। उस ताप न्यूक्लीय विस्फोट मे भारी मात्रा मे न्यूट्रानो का द्रावक उत्पन्न हुआ जिसके कारण यूरेनियम नाभिक १७ न्यूट्रानो का अवशोषण कर पाया और फलस्वरूप यह तत्व बन सका। १९५४ ई० मे लगभग एक ही समय, कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय, ओरेगन प्रयोगशाला (अमरीका) और स्टाकहोम प्रयोगशाला मे तत्व ९९ का निर्माण किया गया। यूरेनियम–२३८ पर नाइट्रोजन नाभिक की अभिक्रिया द्वारा यह तत्व बनाया गया। १९६१ ई० मे एक अधिक न्यूट्रान फ्लक्स वाले रिएक्टर मे प्लूटोनियम-२३९ के विकिरणन द्वारा प्रचुर मात्रा मे इसको तैयार किया गया। इसकी परमाणुसख्या ९९ तथा अर्धआयु २० दिन है। यह ६.६ एम० ई० वोल्ट ऊर्जा के अल्फाकरण उत्सर्जित करता है। इसका रासायनिक सूत्र I s है। अब तक इसके चार समस्थानिक पाए गए है। (नि० सिं०)

ग्राइग्रोला सयुक्त राज्य, अमरीका के कैन्सास राज्य का एक नगर है। यह समुद्रतल से ९५७ फुट की ऊँचाई पर न्यू शो नदी के तट पर स्थित है तथा रेला द्वारा अर्विसन, टोपेका, सैंटाफी, मिसौरी, कैंसास तथा टेक्सास से सबद्ध है। कैसास नगर इसके पूर्वोत्तर मे १०९ मील की दूरी पर स्थित है। ग्राइग्रोला मे चारो ओर से सडके ग्राकर मिलती हैं। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। यह एक सपन्न कृषिक्षेत्र के बीच स्थित है, अत यहाँ बहुत सी दुग्धशालाएँ है। ईंटे तथा सीमेंट, लोहे के सामान, मिट्टी का तेल तथा वस्त्रादि ग्राइग्रोला के प्रसिद्ध उद्योग है। इसकी स्थापना सन् १८५९ ई० मे हुई थी। १८९३ ई० मे इसके निकट प्राकृतिक गैस का पता चला। तब नगर की जनसख्या मे तीव्र वृद्धि प्रारभ हो गई। (लें० रा० सिं० क०)

ग्राइग्रोवा यह सयुक्त राज्य, अमरीका के ग्राइग्रोवा राज्य का एक प्रसिद्ध नगर है, जो ग्राइग्रोवा नदी के तट पर ६८५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह शिकागो, शक द्वीप तथा प्रशात महासागरीय तट से रेलों द्वारा सबद्ध है तथा डेस म्वाइस से १२१ मील पूर्व मे स्थित है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इसकी ख्याति विश्वविद्यालय के कारण है जो ग्राइग्रोवा राज्य की सबसे बडी शिक्षासस्था है। सन् १८३९ ई० मे ग्राइग्रोवा नगर ग्राइग्रोवा राज्य की राजधानी चुना गया था, परतु सन् १८५३ ई० मे इसे पदच्युत करके डेस म्वाइस को राजधानी बनाया गया। सप्रति राजधानी के पुराने कार्यालय मे विश्वविद्यालय का कार्यालय स्थित है। सन् १९७० मे इसकी जनसख्या ४,६०,८५० थी। (लें० रा० सिं० क०)

ग्राइक, जान फ़ान दूसरा नाम जान फान ब्रुगे (ल० १३७०-१४४०), हूबर्ट ग्राइक का छोटा भाई। दोनों भाई चित्रकारी के इतिहास मे प्रसिद्ध हो गए है। जान ने पहले भाई से ही चित्रण मे शिक्षा ली, पर शीघ्र वह उससे उस कला मे आगे निकल गया और उसकी असाधारण मेधा ने उसे अपने ससार के कलावतो मे अग्रणी बना दिया और आज उसकी गणना इतिहास के सर्वोत्तम चितेरो मे है।

पहले दोनो भाइयो ने अनेक चित्राकन सयुक्त रूप से किए। इस प्रकार का एक सयुक्त चित्रण गेट के गिरजे मे प्रसिद्ध 'मेमने की पूजा' है, जिसमे ३०० से अधिक आकृतियाँ चित्रित है और जो ससार के सर्वोत्तम चित्रो मे गिना जाता है। यह चित्रण दीवार मे जडे लकडी के तख्ते पर

हुआ है, जिसके दोनो पार्श्वों मे चितेरों और उनकी भगिनी की आकृतियाँ बनी हैं।

चित्रकला के इतिहास मे जान आइक ने चित्रण की सामग्री मे इतिहास के प्रयोग का आविष्कार कर एक क्रांति कर दी। यह आविष्कार दोनो भाइयों का संयुक्त था। वैसे, मूलत इसके आविष्कार का श्रेय संभवत उनको नही है। आइको के पहले भित्तिचित्रण की परंपरा यह थी कि आकृतियाँ समतल स्वर्णिम पृष्ठभूमि से आगे को बगैर गहराई (पर्स्पेक्टिव) के उभार ली जाया करती थी। स्वयं फान आइक ने भी पहले इसी तकनीक का अनुसरण किया। पर जैसे जैसे उसका कलाविषयक अभ्यास और सूझ बढ़ती गई, वह रूप का अंकन अधिक स्वाभाविक करता गया। पहले जल के साथ मिश्रित रंगों की पृष्ठभूमि छिटक जाया करती थी, पर अब तेल की स्निग्धता से वह जमी रहने लगी। इससे चित्रण की शैली ने एक नया डग भरा।

अपनी चित्री आकृतियों मे पर्स्पेक्टिव या गहराई देने के लिये उसने जिस उपाय का आविष्कार किया उससे अनेक कलासमीक्षकों ने उसे आधुनिक चित्रण का जनक घोषित किया है, कारण, अपनी नई शैली से उसने चित्रण के तकनीक को एक नई दिशा दी जिसने आनेवाली पीढ़ी की नेदरलैंड और इटली के पुनर्जागरणकालीन कलानुरागों की कृतियों को अमर कर दिया। फान आइक की खोजों का उपयोग उन्होंने ही किया। काँच पर किए अपने चित्रणों मे उसने जिस तकनीक का उपयोग किया वह उसका निजी था। उसके रंग बड़े हलके मिले होते थे पर इस प्रकार चिपक जाते थे कि उनका मिटना असंभव हो जाता था। अब तक पच्चीकारी मे रंग डालने के बजाय छोटे छोटे शीशे के विभिन्न रंगों के टुकड़े जोड़ लिए जाते थे। यह सही है कि काया की कुछ भावभंगिया को अभिव्यक्त करने मे यह तकनीक सदा सफल नहीं हो पाती थी, विशेषकर नग्नाकृतियों के आकलन मे, परंतु आइक द्वारा अनुष्ठित शैली मे चेहरे, वसनों तथा कलाकृतियों का अंकन और प्रकाश तथा छाया का प्रक्षेपण अपेक्षाकृत कहीं सुंदर होने लगा। इसका प्रमाण स्वयं उसके और उसके शिष्यों के अंकन है। फान आइक के अनेक चित्र आज भी सुरक्षित है—गिरजाघरों मे, संग्रहालयों और निजी संग्रहों मे। जान फान आइक मसाइक मे जनमा और ब्रुग्स (नेदरलैंड्स) मे मरा।

सं०ग्रं०—जो० एफ० वागेन ह्युबर्ट ऐंड जोहान फान आइक, १८२२, मार्टिन कान्वे . दि फान आइक्स ऐंड देयर फालोअर्स, १९२१, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खंड ६, १९५६। (भ० श० उ०)

आइजनहावर, ड्वाइट डेविड (१८९०) संयुक्त राज्य अमरीका के ३४ वे राष्ट्रपति। इन्होने १९११ मे सेना मे प्रवेश किया और निरंतर उन्नति करते चले गए। पहले महायुद्ध मे भी इन्होने भाग लिया और दूसरे महायुद्ध के समय तो ये विख्यात जनरल ही हो गए थे। दूसरे महायुद्ध से पहले ही १९३५ ई० मे जनरल मैक आर्थर ने आइजनहावर को फिलिप्पाइंस मे सेना का उपपरामर्शदाता नियुक्त कर दिया था। दूसरे महायुद्ध मे जनरल आइजनहावर ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किए। जनरल मांटगोमरी और जनरल आइजनहावर ने ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं का उल्लेखनीय संचालन किया।

युद्ध से लौटने के बाद आइजनहावर अमरीका मे अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे और जब वे न्यूयार्क सिटी मे पहुँचे तब करीब ४० लाख जनता ने उनका स्वागत किया। १९५५ के चुनाव मे आइजनहावर रिपब्लिकन (प्रजातंत्रीय) दल की ओर से अमरीका के प्रेसिडेंट चुन लिए गए। दूसरी बार भी वे वहाँ के प्रेसिडेंट चुने गए। उनका विशेष प्रयास अधिक से अधिक पश्चिमी मित्रराष्ट्रों को रूस के मुकाबले प्रबल बनाना रहा है जिससे शक्ति के संतुलन के फलस्वरूप विश्व मे शांति बनी रहे। (ओ० ना० उ०)

आइडेंटी किट का आविष्कार लास एंजेलिस के टेक्निकल सर्विसेज डिविजन के उच्चाधिकारी ह्यू सी० मैकडानल्ड ने किया था। इसकी सहायता से ऐसे अपराधी भी पकड़े जा सकते है जिनका पुलिस अथवा गुप्तचर विभाग मे कोई रिकार्ड न हो।

'आइडेंटी किट' मे चार इंच चौड़ी और पाँच इंच लंबी १६ तस्वीरे होती हैं। उन तस्वीरों या वर्कों पर गुप्त चिह्न और संख्या लिखी रहती है। उनमे नाक, आँख, ठुड्डी, माथा, ओठ, पलकें यानी चेहरे के हर हिस्से की प्राय हर प्रकार की आकृतियाँ होती है जिनकी सहायता से हर प्रकार की तस्वीरें तत्काल तैयार की जा सकती है। जब इनसे किसी की शक्ल बना ली जाती है तब वर्क के चिह्न और संख्याएँ तस्वीर के नीचे एक पंक्ति मे जमा हो जाती है। यह संख्या आसानी से प्रसारित की जा सकती है और जहाँ कहीं भी पुलिस के पास 'आइडेंटी किट' हो, वह इन संख्याओं की सहायता से अपराधी की शक्ल तुरत तैयार कर लेता है। फिर उस शक्ल की प्रतिलिपियाँ जगह जगह इस तरह से वितरित कर दी जाती है कि अपराधी चाहे जहाँ भी हो, उसे पहचानने मे कोई कठिनाई नही होती।

अमरीका मे 'आइडेंटी किट' का प्रचलन अन्य देशों की अपेक्षा अभी अधिक है। वहाँ ऐसे उदाहरणों की भरमार है, जिसमे गुप्तचर विभाग के अधिकारियों ने अपराधी की तस्वीर लोगों के बीच बाँट दी और उनकी सहायता से अपराधी आनन फानन पकड़ा गया। (नि० सि०)

आइवरी कोस्ट एक गणतंत्र राष्ट्र है। अफ्रीका महाद्वीप मे यह लाइबेरिया तथा घाना के बीच स्थित है। गिनी, माली तथा अपर वोल्टा नामक देशों से इस देश की सीमाएँ मिलती हैं। इसका क्षेत्रफल ३,२२,४६३ वर्ग कीलोमीटर है और जनसंख्या (१९६५ की जनगणना के अनुसार) ३८,४०,०००। उक्त जनसंख्या मे १५ हजार यूरोप निवासी भी सम्मिलित है। इसके तटवर्ती क्षेत्र की लंबाई ६०८ किलोमीटर है।

फ्रांस ने १८४२ ई० मे आइवरी कोस्ट पर अधिकार कर लिया था किंतु नियमित फ्रांसीसी शासन वहाँ १८८२ ई० मे प्रारंभ हुआ। ७ अगस्त, १९६० के दिन इस देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की और २० सितंबर, १९६० को इसे राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया।

नारियल, रबड़ तथा महोगनी यहाँ काफी मात्रा मे उपलब्ध होते है। कमोय तथा बिया नदियों मे सोना मिलता है। केला, अनन्नास, मूँगफली, मक्का, गेहूँ, रूई, चावल तथा कोको यहाँ के प्रमुख पैदावार है। यहाँ से काफी का निर्यात पर्याप्त होता है।

आइवरी कोस्ट के लगभग सभी प्रमुख नगर तटवर्ती इलाके मे ही स्थित है। ग्राड लाहऊ, ग्राड बस्सम, एस्सिनी, सस्साद्र और अबिदजान (आइवरी कोस्ट की राजधानी) इत्यादि नगर समुद्रतट पर ही है। केवल काग एवं सकल नाम के नगर देश के मध्यवर्ती क्षेत्र मे बसे है। (कै० च० श०)

आइसक्रीम (एक प्रकार की मलाई की कुल्फी) दूध, क्रीम, चीनी और सुगंध के मिश्रण को ठंढा करके जमा देने से बनती है। खाने मे यह अति स्वादिष्ट होती है और स्वच्छता से बनाई जाने पर यह स्वास्थ्यप्रद आहार है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमरीका) मे लगभग आठ करोड़ मन आइसक्रीम प्रति वर्ष खपती है।

आइसक्रीम जमाने की घरेलू मशीन
बीच के फलदार दंड से दूध आदि का मिश्रण मथ उठता है। इसकी अगल बगल लगे काठ छटककर बरतन के भीतरी पृष्ठ पर से जमी आइसक्रीम को खुरच लेते हैं, जिससे दूध के नए अंश को जमने का अवसर मिलता है।

घर पर आइसक्रीम बनाने के लिये जमानेवाली मशीनों का प्रयोग किया जाता है, जिन्हे फ्रीजर कहते है। यह लोहे की कलईदार चादर का, ढक्कनदार, बेलनाकार डिब्बा होता है जो काठ की बालटी मे रखा रहता है। मशीन का हैंडिल घुमाने से डिब्बा नाचता है और इसके भीतर लगे लकड़ी के फल उलटी ओर घूमते हैं। डिब्बे में
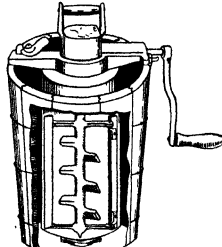
दूध तथा अन्य वस्तुओं का समिश्रित घोल रहता है, बाहर बर्फ और नमक का मिश्रण। बर्फ और नमक का मिश्रण बर्फ से कहीं अधिक ठंढा होता है और उसकी ठंढक से बरतन के भीतर का दूध जमने लगता है। पहले पहल बरतन की दीवार पर दूध जमता है। उसे भीतर घूमनेवाली लकड़ियाँ खुरचकर दूध में मिला देती हैं। इस प्रकार दूध थोड़ा थोड़ा जमता चलता है और शेष दूध में मिलता जाता है। कुछ समय में सारा दूध जम जाता है, परंतु भीतरी लकड़ी के घूमते रहने से वह पूरा ठोस नहीं हो पाता। इस अवस्था के बाद हैंडिल घुमाना बेकार है।

बढ़िया आइसक्रीम के लिये निम्नलिखित अनुपात में वस्तुएँ मिलाई जा सकती है : आठ छटाँक क्रीम, चार छटाँक दूध, चार छटाँक संघनित दुग्ध (कंडेंस्ड मिल्क) या उसके बदले में उतनी ही रबड़ी (अर्थात् उबालकर खूब गाढ़ा किया हुआ दूध), तीन छटाँक चीनी और इच्छानुसार सुगंध (गुलाबजल या वैनिला एसेंस या स्ट्रॉबेरी एसेंस आदि) तथा मेवा, पिस्ता, बादाम या काजू अथवा फल। यदि पूर्वोक्त चार छटाँक दूध में एक चुटकी अरारोट (पहले अलग थोड़े से दूध में मसलकर) मिला लिया जाय और उस मिश्रण को उबाल लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। स्मरण रहे, संघनित दूध के बदले रबड़ी डालने से स्वाद उतना अच्छा नहीं होता। ठंढा होने पर सब पदार्थों को एक में मिलाकर सुगंध डालनी चाहिए। (क्रीम वह वस्तु है जिससे मक्खन निकलता है, दूध को क्रीम निकालनेवाली मशीन में डालकर मशीन को चालू करने पर मक्खनरहित दूध अलग हो जाता है और क्रीम अलग)। डेरी से क्रीम खरीदी जा सकती है। क्रीम न मिले तो उबले दूध को कई घंटे स्थिर छोड़कर ऊपर से निकाली गई मलाई और चिकनाई से काम चल सकता है, परंतु स्वाद में अंतर पड़ जाता है।

बाहरी बालटी के लिये बर्फ को नुकीले काँटे और हथौड़ी से छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़ डालना चाहिए (या काठ के हथौड़े से चूर करना चाहिए)। टुकड़े आधा इंच या पौन इंच के हों, कोई भी एक इंच से बड़ा न रहे। दो भाग बर्फ में एक भाग पिसा नमक पड़ता है। थोड़ी बर्फ, तब थोड़ा नमक, फिर बर्फ और नमक, इसी प्रकार अंत तक पारी पारी से नमक और बर्फ डालते रहना चाहिए। ध्यान रहे कि दूधवाले बरतन में नमक न घुसने पाए। बर्फ और नमक के गलने से ही ठंढक उत्पन्न होती है।

बड़े पैमाने पर आइसक्रीम बनाने के लिये मशीनों का प्रयोग किया जाता है। इसमें सात आठ इंच व्यास की एक नली होती है, जिसके भीतर खुरचनेवाली लकड़ियाँ लगी रहती हैं। इस नली में एक ओर से दूध आदि का मिश्रण चुनता है, दूसरी ओर से तैयार आइसक्रीम, जिसमें केवल मेवा आदि डालना रहता है, निकलती है, कारण यह है कि बर्फ बनाने की मशीन में नली के ऊपर एक खोल रहता है और खोल तथा नली के बीच के स्थान में अत्यंत ठंढी की गई अमोनिया या अन्य गैस बहती रहती है।

विदेशों में अरारोट के बदले साधारणतः जिलेटिन का उपयोग किया जाता है। इसका उद्देश्य होता है कि दूध के पानी से बर्फ के रवे न बन जायँ और मथने के कारण क्रीम से मक्खन अलग न हो जाय (यदि आइसक्रीम को जमाते समय खूब मथा न जाय तो वह पर्याप्त वायुमय न बन पाएगी और इसलिये स्वादिष्ट न होगी)। जमाने के पहले मिश्रण को आधे घंटे तक १५५° फारेनहाइट ताप तक गरम करके तुरत खूब ठंढा किया जाता है जिससे रोग के जीवाणु मर जायँ। इस क्रिया को पैस्ट्युराइज़ेशन कहते हैं। मिश्रण को बहुत बारीक छेद की चलनी में डालकर और बहुत अधिक दबाव का प्रयोग करके (लगभग २,५०० पाउंड प्रति वर्ग इंच का) छाना जाता है। इससे दूध में चिकनाई के कण बहुत छोटे (प्राकृतिक नाप के अष्टमांश) हो जाते हैं। इससे आइसक्रीम अधिक चिकनी और स्वादिष्ट बनती है।

जमानेवाली मशीन से निकलने के बाद आइसक्रीम को ठंढी कोठरी में, जो बर्फ से भी अधिक ठंढी होती है, कई घंटे तक रखते हैं। इससे आइसक्रीम कड़ी हो जाती है। फिर ग्राहकों के यहाँ (होटल और फेरी-वालों के पास) विशेष मोटरलारियों में उसे भेजते हैं। जबतक वह बिक नहीं जाती, लारियों में वह साधारणतः प्रशीतकों (रेफ्रीजरेटरों) या गरमी न घुसने देनेवाली पेटियों में रखी जाती है। (मा० जा०)

आइसबर्ग अथवा हिमप्लवा हिम का बहता हुआ पिंड है जो किसी हिमनदी या ध्रुवीय हिमस्तर से विच्छिन्न हो जाता है। इसे हिमगिरि भी कहते हैं। हिमगिरि समुद्री धाराओं के अनुरूप प्रवाहित होते हैं। ये प्रायः ध्रुवी देशों से बहकर आते हैं और कभी कभी इन प्रदेशों से बहुत दूर तक पहुँच जाते हैं। जब हिमनदी समुद्र में प्रवेश करती है तब उसका खंडन हो जाता है और हिम के विच्छिन्न खंड हिमगिरि के रूप में बहने लगते हैं। इन हिमगिरियों का केवल १/६ भाग जल के ऊपर दृष्टि-गोचर होता है। शेष पानी के भीतर रहता है। हिमगिरि प्रायः अपने साथ शिलाखंडों को भी ले चलते हैं और पिघलने पर इन्हें समुद्रनितल पर निक्षेपित करते हैं।

हिमगिरियों की अत्यधिक बहुलता ४२° ४५′ उ० अ० और ४७° ५२′ प० दे० पर है जहाँ लैब्रेडोर की ठंढी धारा गल्फस्ट्रीम नामक उष्ण धारा से मिलती है। गर्म और ठंढी धाराओं के संगम से यहाँ अत्यधिक कुहरा उत्पन्न होता है, जिससे समुद्री यातायात में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। हिमगिरि बहुधा अत्यंत विशालकाय होते हैं और उनसे जहाज का टकराना भयावह होता है। लगभग पूर्वोक्त स्थान पर अप्रैल, १९१२ ई० में टाइटैनिक नामक बहुत बड़ा और एकदम नया जहाज एक विशाल हिमगिरि को छूता हुआ निकल गया, जिससे जहाज का पार्श्व चिर गया और कुछ घंटों में जहाज जलमग्न हो गया।

(रा० ना० मा०)

आइसलैंड (१९६६ में जनसंख्या २,०३,४४२) उत्तरी ऐटलांटिक महासागर में स्थित एक द्वीप है जिसका विस्तार ६३° १२′ उ० अ० से ६६° ३३′ उ० अ० तथा १३° २२′ प० दे० से २४° ३५′ प० दे० तक है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ३९,७५८ वर्ग मील है। संपूर्ण द्वीप ज्वालामुखी चट्टानों द्वारा निर्मित पठार है जिसका केवल १/१४ भाग अपेक्षाकृत नीचा है। आइसलैंड के अधिकांश लोग इसी निचले भाग में बसे हुए हैं।

द्वीप का करीब १३ प्रति शत भाग हिमाच्छादित रहता है जिसमें लगभग १२० हिमनदियाँ (ग्लेशियर) पाई जाती हैं। यहाँ के सबसे बड़े ग्लेशियर 'वट्नाजोकुल' का क्षेत्रफल १५० से २०० वर्ग मील तक है।

आइसलैंड में बहुत सी झीलें हैं। इनमें से कुछ ग्लेशियरों द्वारा निर्मित हुई हैं और कुछ ज्वालामुखी के क्रेटर में पानी भर जाने के कारण। सबसे बड़ी झीलों में थिंगवालवत्न एवं थोरिसवत्न मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल २७ वर्ग मील है।

यह द्वीप संसार के उन ज्वालामुखी प्रदेशों में से है जहाँ तृतीयक काल से अब तक लगातार उद्गार होते आए हैं। १०० से अधिक ज्वाला-मुखी पर्वत तथा हजारों क्रेटर इस द्वीप में फैले हुए हैं, जिनसे निर्मित लावा प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग ४,६५० वर्ग मील है। इन उद्गारों के कारण यहाँ प्रायः भूचाल आया करता है। गरम पानी के अनेक सोते तथा फव्वारे (गाइसर) भी इसी कारण यहाँ मिलते हैं।

आइसलैंड की जलवायु गल्फस्ट्रीम नामक गरम धारा के प्रभाव से उसी अक्षांश में स्थित अन्य देशों की अपेक्षा अधिक गर्म है। यहाँ का साधारण वार्षिक ताप ३९.४° फा० है। शीतकाल के अत्यधिक ठंढे मास (जनवरी) का औसत ताप ३४.२° फा० तथा गर्मी की ऋतु के अधिकतम उष्ण मास (जुलाई) का ताप ५१.६ फा० है। यहाँ के निचले मैदानों की औसत वार्षिक वर्षा ५१ इंच तथा ऊँचे भागों की औसत वर्षा ७९.७ इंच है।

यहाँ की वनस्पतियाँ पश्चिमी यूरोपीय प्रदेश तथा आर्कटिक प्रदेश की वनस्पतियों के समान हैं। घास तथा छोटे पौधे (तीन फुट से १० फुट तक के) ही अधिक उगते हैं। भूर्ज वृक्ष (बर्च) यहाँ का मुख्य पौधा है। जीवजंतु कम मिलते हैं। ध्रुवप्रदेशीय रीछ, लोमड़ी आदि जानवर कहीं कहीं दिखाई पड़ जाते हैं। परंतु आस पास के समुद्रों में सील, ह्वेल, कॉड, हेरिंग आदि मछलियाँ अधिक मिलती हैं। मछली पकड़ना यहाँ का मुख्य उद्यम है। निर्यात की वस्तुओं में मछली तथा मछली से बनी वस्तुएँ, विशेषकर कॉड एवं शार्क लिवर आयल, मुख्य हैं।

जून, सन् १९४४ से यह देश पूर्ण स्वतंत्र बना दिया गया है। इसकी राजधानी रेकजाविक (१९७० ई० में जनसंख्या ८१,६९३) है।

अपनी विशेष स्थिति के कारण इसका सामरिक महत्व बढ़ता जा रहा है और यह अमरीका का एक प्रमुख सैनिक अड्डा बन गया है। (उ० सि०)

आइसलैंडिक (भाषा) आइसलैंड में बोली जाने के कारण इस भाषा को आइसलैंडिक कहा जाता है। इस भाषा का संबंध जर्मन भाषा (द्र०) का प्राचीन मार्स (द्र०) अथवा प्राचीन स्कैंडेनेवियन (द्र०) भाषा से है।

ईसा की ८वीं शताब्दी के आसपास प्राचीन स्कैंडेनेवियन भाषा की उत्तरी शाखा दो उपशाखाओं—पूर्वी उपशाखा एवं पश्चिमी उपशाखा—में विभाजित हो गई। इस पूर्वी उपशाखा से स्वीडिश एवं डेनिश भाषाओं का विकास हुआ तथा पश्चिमी उपशाखा से आइसलैंडिक एवं नार्वियन भाषाएँ विकसित हुईं। आरंभ में आइसलैंडिक एवं नार्वियन भाषाओं में कोई भिन्नता नहीं थी। नवीं शताब्दी के आसपास नार्वे के निवासियों ने जाकर आइसलैंड को बसाया। प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण आइसलैंड के निवासियों का नार्वे के निवासियों से इतना दृढ़ संबंध नहीं रहा। फलस्वरूप आइसलैंड की भाषा स्वतंत्र रूप से विकसित हो गई।

साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से आइसलैंडिक भाषा का विशेष महत्व है। विशेषकर १२वीं से १४वीं शताब्दी तक का समय इस भाषा के साहित्य की उन्नति का काल है। उनके वीरकाव्यों (जिन्हें एद्द Edda कहा जाता है) का विश्वसाहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

इस भाषा पर लैटिन एवं अन्य जर्मन भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव है। (स० कु० रो०)

आइसलैंडिक लिपि आइसलैंडिक भाषा (द्र०) जिस लिपि में लिखी जाती है, उसे ही आइसलैंडिक लिपि कहा जाता है। यह वास्तव में लैटिन लिपि (द्र०) ही है जिसमें कुछ वर्ण बदलकर इस लिपि का निर्माण किया गया है। (स० कु० रो०)

आइसोटोप द्र० 'समस्थानिक'।

आईन-ए-अकबरी (अकबर के विधान, समाप्तिकाल १५९८ ई०) अबुलफज्ल-ए-अल्लामी द्वारा फारसी भाषा में प्रणीत, बृहत् इतिहासपुस्तक अकबरनामा का तृतीय तथा अधिक प्रसिद्ध भाग है। यह एक बृहत्, पृथक् तथा स्वतंत्र पुस्तक है। सम्राट अकबर की प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा आज्ञा से, असाधारण परिश्रम के फलस्वरूप पाँच बार शुद्ध कर इस ग्रंथ की रचना हुई थी। यद्यपि अबुलफज्ल ने अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं, किंतु उसे स्थायी और विश्वव्यापी कीर्ति आईन-ए-अकबरी के आधार पर ही उपलब्ध हो सकी। स्वयं अबुलफज्ल के कथनानुसार उसका ध्येय महान् सम्राट् की स्मृति को सुरक्षित रखना तथा जिज्ञासु का पथ-प्रदर्शन करना था। मुगल काल के इस्लामी जगत् में इसका यथेष्ट आदर हुआ, किंतु पाश्चात्य विद्वानों को, और उनके द्वारा भारतीयों को, इस अमूल्य निधि की चेतना तब हुई जब सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स के काल में ग्लैडविन ने इसका आंशिक अनुवाद किया, तत्पश्चात् ब्लाकमैन (१८७३) और जैरेट (१८९१, १८९४) ने इसका संपूर्ण अनुवाद किया। ग्रंथ पाँच भागों में विभाजित है तथा सात वर्षों में समाप्त हुआ था। प्रथम भाग में सम्राट् की प्रशस्ति तथा महलों और दरबारी विवरण है। दूसरे भाग में राज्यकर्मचारी, सैनिक तथा नागरिक (सिविल) पद, वैवाहिक तथा शिक्षा संबंधी नियम, विविध मनोविनोद तथा राजदरबार के आश्रित प्रमुख साहित्यकार और संगीतज्ञ वर्णित हैं। तीसरे भाग में न्याय तथा प्रबंधक (एक्ज़ीक्यूटिव) विभागों के कानून, कृषिशासन संबंधी विवरण तथा बारह सूबों को ज्ञातव्य सूचनाएँ और आँकड़े संकलित हैं। चौथे विभाग में हिंदुओं की सामाजिक दशा और उनके धर्म, दर्शन, साहित्य और विज्ञान का (संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण इनका संकलन अबुलफज्ल ने पंडितों के मौखिक कथनों का अनुवाद कराकर किया था), विदेशी आक्रमणकारियों और प्रमुख यात्रियों का तथा प्रसिद्ध मुस्लिम संतों का वर्णन है और पाँचवें भाग में अकबर के सुभाष्य संकलित हैं एवं लेखक का उपसंहार है। अंत में लेखक ने स्वयं अपना जिक्र किया है। इस प्रकार सम्राट्, साम्राज्यशासन तथा शासित वर्ग का आईन-ए-अकबरी में अत्यंत सूक्ष्म दिग्दर्शन है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि युद्धों, षड्यंत्रों तथा वंशपरिवर्तनों के पचड़ों को प्राधान्य देने की अपेक्षा शासित वर्ग को समुचित स्थान प्रदान किया गया है। एक प्रकार से यह आधुनिक भारत का प्रथम गजेटियर है। इसकी सर्वाधिक महत्ता यह है कि कट्टरता और धर्मोन्माद के विरोध में हिंदू समाज, धर्म और दर्शन को विशद् गुणग्राही स्थान देकर प्रगतिशील और उदात्त दृष्टिकोण की स्थापना की गई है। अबुलफज्ल ऐसा प्रकांड विद्वान् अन्य काल में भी संभव था, किंतु आईन-ए-अकबरी जैसा ग्रंथ अकबर के काल में ही संभव था, क्योंकि असाधारण विद्वान् (इसीलिये वह अल्लामी के विभूषण से प्रतिष्ठित हुआ) और असाधारण सम्राट् का बौद्धिक स्तर पर उदात्त भावनाओं की प्रेरणा से पूर्ण समन्वय संभव हो सका था। आईन-ए-अकबरी पर सम्राट् की प्रशस्ति में मुख्यत: अतिशयोक्ति का दोष लगाया जाता है, किंतु ब्लाकमैन के कथनानुसार ".. वह (अबुलफज्ल) प्रशंसा करता है, क्योंकि उसे एक सच्चा नायक मिल गया है।" और यह निर्विवाद है कि अकबर कालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिये आईन-ए-अकबरी एक कोश का महत्व रखता है। अकबर के व्यक्तित्व और इतिहास को तौलने के लिये वह तराजू में बाट के समान है। (रा० ना०)

आउग्सबर्ग जर्मनी के पश्चिमी भाग में बवेरिया का एक शहर है। यह म्यूनिख से ३५ मील उत्तर पश्चिम में वेरटाख तथा लेख नदी के संगम पर १,५०० फुट की ऊँचाई पर बसा है। १४ ई० पू० में आगस्टस बादशाह द्वारा रोमन साम्राज्य की चौकी (आउटपोस्ट) के रूप में इसकी स्थापना हुई थी। आउग्सबर्ग यूरोप का एक महत्वपूर्ण तथा सपन्न शहर था, क्योंकि यह उत्तरी तथा दक्षिणी यूरोप को मिलानेवाले मार्ग पर था। १२७६ ई० में यह एक सुंदर साम्राज्यवादी शहर बन गया। १७०३ ई० में निर्वाचित बवेरिया राज्य द्वारा बमों से नष्ट किया गया तथा १८०३ की लड़ाई में भी बहुत कुछ नष्ट हुआ। यहाँ का रेनेसाँ टाउनहाल जिसमें गोल्डेन हाल नामक सभाभवन भी है, जर्मनी में सबसे अच्छा है। यह भवन १७३ फुट लंबा, ५६ फुट चौड़ा तथा ५३ फुट ऊँचा है। अप्रैल, १९५४ ई० में संयुक्त राज्य की फौज ने इसको अपने अधिकार में कर लिया। यह नगर मध्ययुग में व्यावसायिक तथा व्यापारिक केंद्र के रूप में प्रसिद्ध था, परंतु आज औद्योगिक रूप में प्रसिद्ध है। सूती उद्योग, कलपुर्जे, रासायनिक वस्तुएँ, यंत्र, कागज की वस्तुएँ, चमड़े के सामान, इंजन तथा सोने चाँदी के सामान यहाँ बनाए जाते हैं। द्वितीय महायुद्ध में यह पोत के डीज़ल इंजिन बनाता था। १९६१ में इसकी जनसंख्या २,१४,३७६ थी। (नृ० कु० सि०)

आक (ऑक) बत्तक के समान, छोटा, समुद्रीय, टिट्टिभ (कारैड्रिफार्मीज) वर्ग का पक्षी है। इसका शरीर गठा हुआ, पंख छोटे और सँकरे, १२ से १८ परों की छोटी नाप तथा शरीर के पिछले भाग में आपस में झिल्ली से जुड़े, कुल तीन अँगुलियोंवाले, पैर होते हैं। पैरों की स्थिति शरीर के पिछले भाग में होने के कारण आक भूमि पर सीधे होकर चलता है। साधारणत: इसके शरीर के ऊपरी भाग का रंग काला और निचले का श्वेत होता है।

आक पक्षी

यह अंध तथा प्रशांत महासागरों के उत्तरी भागों और ध्रुव महासागरों में पाया जाता है।

आक अनेक जातियों के होते हैं। इनका निवास अंध तथा प्रशांत महासागरों के उत्तरी भागों और ध्रुव महासागरों में सीमित है। वर्ष के अधिक भाग को ये तट के पासवाले समुद्र में बिताते

हैं। केवल शीत ऋतु मे ये दक्षिण की ओर चले जाते हैं। इनका भोजन मुख्यत मछली तथा कठिनि (क्रस्टेशियन) वर्ग के जीव, जैसे केकड़े, झींगा, महाचिंगट (लॉब्स्टर) इत्यादि होते है। इन्हें ये जल मे गोता मारकर पकड़ते है। टापुओ और समुद्रतटीय पहाड़ियो मे ये सतानोत्पत्ति के लिये बस जाते हैं। इनकी प्राय सब जातियाँ घोसला नही बनाती तथा एक जाति को छोडकर बाकी सब जातियो के आक वर्ष मे केवल एक अडा देते है। अडे से बाहर निकलने पर बच्चे काले रोएँदार परो से ढके रहते हैं। समुद्र मे तो आक मौन रहते है, पर सतानोत्पत्ति के लिये बसे उपनिवेशो मे ये विचित्र प्रकार के स्वर निकालते है।

भीमकाय आक ३० इच लबा होता है। परो के लिये अधाधुंध शिकार किए जाने के कारण इसकी जाति १९वी सदी में लुप्त हो गई।
(कै० जा० डा०)

आकलैंड न्यूज़ीलैंड का सबसे बडा नगर है। यह प्रायद्वीप के बहुत सँकरे भाग मे स्थित है। इस कारण दोनो तटो पर इसका अधिकार है, परतु उत्तम बदरगाह पूर्वी तट पर है। आस्ट्रेलिया से अमरीका जानेवाले जहाज, विशेषकर सिडनी से वैंकूवर जानेवाले, यहाँ ठहते हैं। यह आधुनिक बदरगाह है। यहाँ पर विश्वविद्यालय, कलाभवन तथा एक नि शुल्क पुस्तकालय है जो सुदर चित्रो से सजा है। इस नगर के आस पास न्यूटन, पार्नेल, न्यू मार्केट तथा नौर्थकोट उपनगर बसे है। आकलैंड की आबादी दिन प्रति दिन बढती जा रही है। इसका मुख्य कारण दुग्ध उद्योग तथा अन्य धधे है। आकलैंड जहाज द्वारा आस्ट्रेलिया, प्रशातद्वीप, दक्षिणी अफ्रीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमरीका से सबद्ध है और रेलो द्वारा न्यूज़ीलैंड के दूसरे भागो से। यहाँ का मुख्य उद्योग जहाज बनाना, चीनी साफ करना तथा युद्धसामग्री बनाना है। इसके सिवाय यहाँ लकड़ी तथा भोजनसामग्री इत्यादि का कारबार भी होता है। यहाँ से लकड़ी, दूध के बने सामान, ऊन, चमडा, सोना और फल बाहर भेजा जाता है। १९७० मे यहाँ की जनसख्या १,५२,३०० थी। (न० कु० सिं०)

आकस्मिकवाद दार्शनिक मत, घटनाओ के अकारण घटित होने का सिद्धात—यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटो ने इसका प्रतिपादन किया। सीमाविशेष तक अरस्तू भी इसके समर्थक थे। ससार की गतिविधि के सचालन मे अनेक आकस्मिक सयोगो का विशेष महत्व है। अत इस मत को आकस्मिकवाद कहा गया। पाश्चात्य देशो मे वैज्ञानिक विवेचन का प्राधान्य होने पर इस विचारधारा की मान्यता नही रही। उत्तरकालीन यूनानी दार्शनिको ने भी 'विधि' और 'कारण' को प्रधानता देकर आकस्मिकवाद के सिद्धात को अस्वीकार किया।

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार के पूर्व भारत मे आकस्मिकवाद की दार्शनिक मान्यता 'यदृच्छावाद' के रूप मे थी। ब्रह्माड की सरचना और सचालन मे 'आकस्मिकता' तथा 'अकारणत्व' को कारण माना गया। साख्य दर्शन मे सूक्ष्म, अज्ञात और आकस्मिक तत्व को कार्य का प्रेरक बताया गया। भारतीय दर्शन मे 'आकस्मिकता' की 'स्वेच्छा' तथा 'अनवरतता' के रूप मे भी मान्यता रही है।

'आकस्मिकवाद' स्पष्टत मानता है कि सृष्टि की सभी घटनाएँ तथा समस्त कार्य अकारण और सयोगवश सपन्न हो रहे हैं। इस मत के आलोचको का कथन है कि 'कारण' का सूक्ष्म स्वरूप ज्ञात न होने पर उसे भ्रमवश 'आकस्मिक' और 'सयोगबद्ध' कहना युक्तिसंगत नही है। अपने ज्ञान, कल्पना और साधनो के सीमित और असमर्थ होने के कारण ही हमें कार्य, घटना अथवा रचना के 'कारण' का बोध नही हो पाता और इस स्थिति को 'आकस्मिक' कह दिया जाता है। सप्रति 'आकस्मिकवाद' वैज्ञानिकचिंतनविधि के कारण मान्य नही है।

नीतिशास्त्रीय चिंतन मे 'आकस्मिकवाद' इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि मानसिक परिवर्तन आकस्मिक और अकारण भी होते है, तथा पूर्वनिश्चित कारणों एव प्रेरक तत्वो के अभाव मे भी स्वेच्छया संचालित मानसिक व्यापार स्वत गतिशील रहते हैं; चित्रकला में 'आकस्मिकवाद' प्रकाश के आकस्मिक प्रभावो के विवेचन से सबंधित है।
(रा० प्र० श०)

आकांक्षा अभाव से उत्पन्न इच्छा। साहित्यशास्त्र, व्याकरण तथा दर्शन मे इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है। वाक्य से अर्थज्ञान करने के लिये वाक्य मे आए हुए शब्दो का परस्पर सबध होना चाहिए। यह सबध ही ऐसा तत्व है जिससे वाक्य की एकता बनी रहती है। अलग शब्द का प्रयोग करने पर उस शब्द के बारे मे उत्सुकता होती है और तभी इसका समाधान होता है जब उस शब्द को सुसबधित वाक्य का अंग बना देते है। अत अपूर्ण प्रयोग से श्रोता के मन मे जो उत्सुकता होती है उसे आकाक्षा कहते है और जिस शब्द मे आकाक्षा उत्पन्न होती है उसे साकाक्ष कहते है। साकाक्ष शब्दो से पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नही होती और निराकाक्ष शब्दो के समूह से सार्थक वाक्य नही बनता। अत. वाक्य साकाक्ष शब्दो का एक निराकाक्ष समूह कहा जा सकता है। (रा० पां०)

आका द्र० 'आसाम'।

आकारिकी अथवा आकार विज्ञान [अंग्रेजी में मॉरफॉलाजी : मॉर्फे (= आकार) + लोगस (= विवरण)] शब्द वनस्पति विज्ञान तथा जतु विज्ञान के अतर्गत उन सभी अध्ययनो के लिये प्रयुक्त होता है। जिनका मुख्य विषय जीवपिड का आकार और रचना है। पादप आकारिकी मे पादपो के आकार और रचना तथा उनके अगो (मूल, स्तभ, पत्ती, फूल आदि) एव इन अगों के परस्पर सबध और सपूर्ण पादप से उसके अगो के सबध का विचार किया जाता है। आकार विज्ञान का अध्ययन जनन तथा परिवर्तन के विभिन्न स्तरो पर जीवपिंड के इतिहास के तथ्यों का केवल निर्धारण मात्र हो सकता है। परतु आजकल, जैसा सामान्यत समझा जाता है, आकारिकी का आधार अधिक व्यापक है। इसका उद्देश्य विभिन्न पादपवर्गों के आकार मे निहित समानताओ का पता लगाना है। इसलिये यह तुलनात्मक अध्ययन है जो उद्विकासात्मक परिवर्तन और परिवर्धन के दृष्टिकोण से किया जाता है। इस प्रकार आकारिकी पादपो के वर्गीकरण की स्थापना और उनके विकासात्मक अथवा जातिगत इतिहास के पुनर्निर्माण मे सहायक है। आकारिकीय अध्ययन की निम्नलिखित पद्धतियाँ है

(१) जीवित पादपों के प्रौढ आकारो की तुलना, (२) पुरोद्भिदी अर्थात् जीवो के अवशिष्टो (फॉसिल) के अध्ययन के आधार पर प्राचीन, लुप्त, निश्चित आकारो के साथ जीवित पादपो की तुलना, (३) प्रत्येक पादप के परिवर्धन का निरीक्षण।

आकार विज्ञान के प्राय दो उपविभाग किए जाते हैं—बाह्य आकार विज्ञान, जिसका सबध पादप अगो के सापेक्ष स्थान तथा बाह्य आकार से है और शरीररचना (अनैटोमी), जो पादपो की बाह्य और आतरिक संरचना का अध्ययन है। कौशिकी अथवा कोशाध्ययन, जिसका सबध आतरिक रचना से है, आकार विज्ञान के उपविभाग के रूप मे विकसित हुआ, किंतु अब यह जीवविज्ञान की ही एक स्वतत्र शाखा माना जाता है।

आकार विज्ञान का अध्ययन कुछ विशिष्ट रूप भी धारण कर सकता है; जैसे, इसका सबध किसी पादप के प्रारभिक विकास से, आकार और सरचना के निर्णायक कारणो मे अथवा पादप के उन भागो से, जो कुछ विशिष्ट कार्य करनेवाले समझे जाते हैं, हो सकता है। आकार विज्ञान के इन खडो को क्रमानुसार भ्रूण विज्ञान (एमब्रिऑलोजी), आकारजनन (मॉर्फोजिनेसिस) तथा अगवर्णना (ऑर्गैनोग्रैफी) कहते है। पीढियो के एकातरण की क्रिया पादप आकारिकी की इतनी प्रमुख और महत्वपूर्ण विशेषता है कि बहुत वर्षों तक यह आकार विज्ञान के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य बनी रही। शरीररचना (अनैटोमी) का सबध स्थूल और सूक्ष्म बाह्य और आतरिक बनावट से है। शरीररचना का एक विशिष्ट विषय है औतिकी (हिस्टॉलोजी) जिसका सबध जीवपिंड की सूक्ष्म रचना से है।

प्राणि आकारिकी—यद्यपि आकार विज्ञान मे (जिसका संबंध प्राणी के सामान्य आकार और उसके अगो की सरचना से है) तथा शरीररचना में

(जिसका संबंध स्थूल और सूक्ष्म रचनात्मक विस्तार से है) भेद किया जा सकता है, तो भी वास्तविक व्यवहार मे प्राणिशास्त्री इन दोनो शब्दो का प्रयोग पर्यायवाची रूप मे करते हैं। अतएव प्राणिशास्त्री आकार विज्ञान शब्द के व्यावहारिक अर्थ मे शरीररचना विषयक समस्त अध्ययन को भी संमिलित करते हैं।

प्राणियों के आकार के विभिन्न प्रकार और उनके रूपातर प्राणि आकारिकी के अध्ययन के विषय हैं। आकार मुख्यतया शरीर की सममिति पर निर्भर है। सममिति के प्रकारो के अध्ययन से पता चलता है कि शीर्ष-प्राधान्य (सेफलाइज़ेशन), जो अग्र तत्रिकाओ तथा संवेदी रचनाओ की सघनता के कारण सिर का उत्तरोत्तर भेदकरण है, शरीर की द्विपार्श्विक सममिति के साथ साथ होता है। ज्यो ज्यो हम रचना की सश्लिष्टता (जटिलता) के क्रम मे ऊपर चढते जाते हैं, शीर्षप्राधान्य की क्रिया अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है और मस्तिष्क के अत्यधिक परिवर्धन के साथ वानर तथा मनुष्य मे पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त होती है। सममिति मे अतर परिवर्धन के समय अन्य अक्षो की अपेक्षा एक अक्ष के अनुदिश अधिक वृद्धि होने से होता है। आकार के रूपातरो मे परिस्थिति के अनुकूल चलने की विशेषता होती है। रचना सबंधी समानता के लिये सधर्मता (होमोलॉजी) शब्द का व्यवहार होता है और कार्य सबधी या दैहिक समानता के लिये कार्यसादृश्य (अनैलोजी) का। सधर्मता शरीर-रचना सबधी अर्तानिहित समानता है जिससे समान विकासात्मक उत्पत्ति ज्ञात होती है, परतु कार्यसादृश्य (अनैलोजी) मे इस तरह की कोई विशेषता नही है।

प्रयोगात्मक भ्रूणतत्व इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि किसी प्राणी के शरीर के अतिम आकार या रचना का अस्तित्व अडे मे उसी रूप मे पहले से ही होता है अथवा वे परिवर्धन के समय पर्यावरण के तत्वो पर निर्भर हैं और इन तत्वो द्वारा ये दोनो परिवर्तित किए जा सकते हैं।
(पं० म० तथा वि० प्र० सिं०)

आकाश १ पचमहाभूतो मे अन्यतम भूत द्रव्य। वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश नव द्रव्यों मे से एक विशिष्ट द्रव्य है। इसका विशेष गुण शब्द है। इसकी सिद्धि परिशेषानुमान से होती है। वैशेषिको की समति मे शब्द न तो स्पर्शवान् द्रव्यो (जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का गुण हो सकता है और न आत्मा, मन, काल तथा दिक् का ही। इस प्रकार आठ द्रव्यो का गुण न होने के कारण बाकी बचे हुए द्रव्य (आकाश) का ही यह गुण सिद्ध होता है। प्रशस्तपादभाष्य मे पूर्व अनुमान की सिद्धि का प्रकार दिखलाया गया है। किसी द्रव्य के बाह्य प्रत्यक्ष के लिये उसमे दो गुणो का अस्तित्व नितात आवश्यक होता है। उस पदार्थ मे महत् परिमाण रहना चाहिए और उद्भूत रूप भी। आकाश न तो कोई सीमित पदार्थ है और न वह किसी रूप को ही धारण करता है। इसलिये आकाश का प्रत्यक्ष नही होता, प्रत्युत शब्दगुण धारण करने स वह अनुमान से सिद्ध माना जाता है। आकाश गुणवान् (अर्थात् शब्दवान्) होने से द्रव्य है और निरवयव तथा निरपेक्ष होने से नित्य है। आकाश की एकता सिद्ध करने के लिये कणाद की युक्ति यह है कि आकाश की सत्ता का हेतु बननेवाला शब्द सर्वत्र समान ही पाया जाता है। रूप, रस, गध तथा स्पर्श के समान उसमे प्रकारभेद नही पाए जाते। शब्द की ध्वनियो मे जो भेद मालूम पडता है, वह निमित्त कारण के भेद से है। फलत शब्द की एकता होने से आकाश भी एक ही माना जाता है (वैशेषिक सूत्र २।१।३०)। आकाश विभु द्रव्य है अर्थात् वह सर्वव्यापक और अनत है। घट के द्वारा अवच्छिन्न होनेवाला घटाकाश तथा मठ के द्वारा सीमित होनेवाला मठाकाश आदि भेद उपाधिजन्य ही है। आकाश वस्तुत एक अच्छेद्य तथा अभेद्य द्रव्य है। भाट्ट मीमासको के मत मे आकाश का प्रत्यक्ष भी होता है (मानमेयोदय, पृ० १८८, अडयार स०)। आकाश का परिमाण 'परम महत्' है और यह परिमाण सबसे बडा माना गया है। शब्द की ग्राहक इद्रिय (श्रोत्र) भी आकाश होती है, क्योकि कान के भीतर जो आकाश रहता है, उसी के द्वारा शब्द का ज्ञान हमे होता है। (ब० उ०)

भारतीय दर्शन मे वेदात के अनुसार आकाश की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई। यह ब्रह्म का प्रतीक है क्योंकि यह अनंत, नित्य, अपरिवर्तनशील तत्व है। मीमासको के अनुसार दिक् (आकाश) वह सर्वगत द्रव्य है जो भौतिक अर्थों के तिरोभाव के पश्चात् भी रहता है। साख्यमत आकाश को पचमहाभूतो मे से एक मानता है जिसकी उत्पत्ति शब्द तन्मात्र से होती है। इसका गुण शब्द है। न्यायवैशेषिक दर्शन मे दिक् और काल दोनो ही सर्व उत्पत्तिमान के निमित्त है। वैशेषिक द्वारा माने हुए नौ द्रव्यो मे से आकाश एक द्रव्य है, शब्द गुण जिसका आधार है। कणाद ऋषि दिक् और आकाश मे भेद करते हैं। आकाश का गुण शब्द है और दिक् वह द्रव्यविशेष है जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है। पालि आम्नाय मे महाभूत केवल चार है किंतु सूत्रो मे कुछ ऐसे सकेत मिलते है जिनके आधार पर आकाश को पाँचवाँ महाभूत कहा जा सकता है। नागार्जुन के समय मे चार महाभूत, आकाश और विज्ञान नामक छह धातुओ की गणना होती थी। जैन दर्शन के अनुसार आकाश द्रव्यो का अवकाश देनेवाला वह पदार्थ है जिसके लोकाकाश और आलोकाकाश नामक दो प्रकार हैं। बौद्ध वैभाषिक दर्शन मे आकाश वह निर्विशेष, अनत, नित्य, सर्वव्यापक एव सत्तात्मक पदार्थ है जो अरूप और अभौतिक है। भारतीय नास्तिक चार्वाकमत आकाश को जगत् के तत्व के रूप मे स्वीकार नही करता। इस प्रकार भारतीय नास्तिक एव आस्तिक दर्शनो मे, मूल एव विकसित रूपो मे भी, आकाश के सबध मे भिन्न भिन्न मत मिलते है।

भारतीय दर्शन एव साधना मे अनताकाश, अव्याकृताकाश, चित्ताकाश, चिदाकाश, भूताकाश, घटाकाश आदि अनेक भेद मिलते है। भारतीय दर्शन मे दिक् शब्द से जिस वस्तु की अभिव्यक्ति होती है, माध्व दर्शन मे उसे किंचित् भिन्न रूप मे अव्याकृताकाश कहते है। यह वह आकाश है जिसमे सृष्टि अथवा प्रलय के समय मे भी किसी प्रकार की विकृति नही आती। न इसकी उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है। अत यह नित्य, एक, व्याप्त और स्वगत कहा गया है। तामस अहकार से जो आकाश उत्पन्न होता है, उसे भूताकाश कहते है। यह रूपयुक्त, पचभूतो से आविष्ट देहाकार से विकारशील, तामस, अहकार का कार्य, परिच्छिन्न और गतिशील है। वैदिक साहित्य तथा उसका अनुसरण करनेवाले परवर्ती साहित्य मे चित्ताकाश अथवा अतराकाश का वर्णन मिलता है। शरीर के बाह्य नाडीजालो मे सचरणशील वायु जब सयत हो जाती है और परिणामत जब मन भी स्थिर हो जाता है, तब जिस आकाश का आविर्भाव होता है, उसे हृदय या 'दहर पुडरीक' कहा गया है। इसकी कर्णिका मे विकसित तेजमडल को हृदयाकाश कहते है जो स्थूल वृत्तियो का लयस्थान है। इसे चित्ताकाश कहते है। प्राचीन उपनिषत्साहित्य मे 'दहरविद्या' के प्रकरण मे चिदाकाश का वर्णन मिलता है। ज्ञानसूर्य के उदय के उपरात जिस पुडरीकरूपी हृदयाकाश का विकास होता है, उसे चिदाकाश कहते है। इसे ही पुराणसंहिता जैसे ग्रथो मे परब्रह्म पुरुषोत्तम का लीलास्थान कहा गया है।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शन मे देह विज्ञान के अतर्गत निर्गुण आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश नामक पाँच आकाशो की प्रसिद्धि है, जिनके स्थान है—जन्मस्थान, नाभिप्रदेश, हृदयप्रदेश, बिंदु और नाद। आकाशो मे सर्वोच्च परमाकाश अथवा परम व्योम है, जो नित्य, अक्षर एव सत् है।

भारतीय योगसाधना मे षट्चक्रभेद के प्रकरण मे मूलाधार, मणिपूरकादि (द्र० 'चक्र') छह चक्रो के अनतर सातवे चक्र सहस्रार की मान्यता है जिसे 'आकाश' भी कहा जाता है। योगविभूतियो मे आकाशगमन एक ऋद्धि भी है जिसे बौद्ध साधनानुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध प्राप्त करते है। बौद्ध साहित्य मे आकाश मे टँगे चदन के भिक्षापात्र को आकाशमार्ग से ही प्राप्त कर लेने पर बुद्धदेव ने भारद्वाज को निंदित किया था और लौकिक कार्य के विषय मे कभी योगैश्वर्य को न प्रकाशित करने का निर्देश दिया था—इस प्रकार की कथा मिलती है। आकाशगमन एक प्रकार का आसन-उत्थान-व्यापार है जो सभी देशो के प्राचीन साहित्य एव साधन मे व्यक्त है। ईसाई मत के ग्रथो मे सेंट मरिणका, जान क्लिचास, मिस्र की सेंट मेरी, बिशप सेंट आर०, सेंट फ्रासिस (पाओला) आदि के विषय में भी इसी प्रकार की

ऋद्धि के वर्णन मिलते है। भारतीय महायोगियों में स्वामी विशुद्धानद परमहस, श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी, श्री काठिया बाबा आदि के विषय में भी इसी प्रकार की ऋद्धियों की चर्चा की जाती है। इस प्रकार के साहित्य का बहुत विस्तार है। (ना० ना० उ०)

आकाश २ भौतिकी के अनुसार पृथ्वी को घेरे हुए जो गोलाकार गुबज दिखाई पडता है उसी को आकाश अथवा गगन कहते है। पृथ्वी पर जिधर भी हम अपने चारो ओर दृष्टि दौडाते है वही यह गुबज धरातल से मिलता हुआ जान पडता है। इस चतुर्दिक् विस्तृत बृहत् समिलनवृत्त को क्षितिज कहते है। समुद्र के बीच जहाज पर बैठे हुए हम जहाज इस विशाल गुबज के केंद्र पर स्थित जान पडता है, किंतु ज्यों ज्यों जहाज आगे बढता है त्यों त्यों यह गुबज क्षितिज के साथ आगे सरकता जाता है। यही अनुभव हमें थल पर भी होता है। पृथ्वी की परिक्रमा चाहे हम जलमार्ग से करे अथवा स्थलमार्ग से, यह आकाश हमें सर्वत्र इसी रूप मे दिखाई पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि यह खगोल हमारी पृथ्वी के ऊपर चतुर्दिक् आच्छादित है। प्रश्न उठता है कि क्या यह आकाश कोई वास्तविक पदार्थ है। ऊपर देखने से हमे एक पर्दे का आभास होता है, किंतु वास्तव में आकाश कोई पर्दा नही है। सूर्य, चद्र, ग्रह तथा नक्षत्र, पृथ्वी के परिभ्रमण तथा घूर्णन के कारण अथवा अपनी निजी गति के कारण विभिन्न आपेक्षिक गतियो से इसी पर्दे पर चलते दिखाई पडते है। रात्रि मे जहाज के ऊपर अथवा मरुस्थल के बीच यह गुबज तारो और ग्रहो से आच्छादित दिखाई पडता है। हम एक साथ इस गुबज का आधा ही देख पाते है, दूसरा गोलार्ध पृथ्वी के ठीक दूसरी ओर पहुँचने पर दिखाई पड़ता है। आकाश निर्मल रहने पर कृष्ण पक्ष की रात्रि में एक चौडी मेखला पर तारे अधिक सख्या मे दिखाई पडते है। यह मेखला क्षितिज के एक किनारे से निकलकर हमारे ऊपर से होती हुई क्षितिज की ठीक दूसरी ओर जाकर मिलती जान पडती है और यही दृश्य पृथ्वी की दूसरी ओर पहुँचने पर भी दिखाई पडता है। इससे ज्ञात होता है कि यह मेखला एक पूर्ण, विशाल चक्र के समान पृथ्वी को घेरे हुए है। इसे आकाशगगा कहते है (द्र० **आकाशगगा**, अन्य आकाशीय पिंडो के लिये द्र० **ज्योतिष**)।

यद्यपि चद्रमा की दूरी केवल २ लाख ३६ हजार मील है, जिसे तय करने में प्रकाश को कुल सवा सेकड लगता है और नीहारिकाओ की दूरियाँ इतनी अधिक है कि उनसे चलकर पृथ्वी तक पहुँचने मे प्रकाश को सैकडो अथवा हजारो वर्ष लगते है, तो भी सब आकाशीय पिंड हमे आकाश के ही पर्दे पर दिखाई पडते है और ऐसा जान पडता है कि सब पृथ्वी से एक ही दूरी पर है।

इन तारों और नक्षत्रों से भरे हुए आकाश को देखकर हमे आकाश की शून्यता पर विश्वास नहीं होता, किंतु पूरे आकाश के पद्म भाग मे केवल एक भाग को तारों ने ले रखा है, इसीलिये आकाश को नभ (शून्य) भी कहा गया है। शेष स्थान में नाक्षत्र धूलि और कण विद्यमान हैं, परतु ये भी बहुत बिखरी हुई अवस्था में है। एक घन सेंटीमीटर मे हाइड्रोजन का केवल १ परमाणु और एक घन मील में सभवत १०० अन्य कण विद्यमान है, जब कि पृथ्वी पर साधारण ताप और दाब पर साधारण गैसों मे $१०^{१९}$ अणु प्रति घन सेंटीमीटर में पाए जाते है।

आकाश दिन मे (बादल आदि न होने पर) देखने पर नीला दिखाई देता है और ऐसा लगता है कि यह नीलापन अथाह है, जैसे स्वय इसकी गहराई घनीभूत हो गई हो। इसका रग अधिकाश बैगनी प्रकाश से निर्मित होता है और इसमें काफी मात्रा नीले रग की होती है और थोडी मात्रा हरे रग की तथा अत्यल्प मात्रा पीले और लाल की, इन सभी रगो के प्रकाश का योग आकाशीय नीला रग प्रदान करता है।

आकाश की नीलिमा प्रकाश की रश्मियो के प्रकीर्णन (बिखरने) द्वारा उत्पन्न होती है। रात्रि में प्रकाश नही रहता तो वही गगनमडल काला अर्थात् प्रकाशरहित हो जाता है। हमारी पृथ्वी को घेरे हुए वायुमडल है जो हमें दिखाई तो नही पड़ता, किंतु इस वायुसागर मे हम लोग उसी तरह रहते है और इसका उपयोग करते हैं जैसे मछलियाँ जलसागर मे रहती है। वायु का घनत्व पृथ्वी के तल पर सबसे अधिक होता है और ऊपर की ओर क्रमश घटता जाता है। लगभग $१०^{-५}$ सेंटीमीटर दाब पर वायु १,००० मील से भी ऊपर तक पाई जाती है। इस वायुमडल मे नाइट्रोजन, आक्सिजन, कार्बन-डाई-आक्साइड तथा अन्य गैसें होती है। इनके अतिरिक्त जलवाष्प और धूलि के कण भी विद्यमान है। प्रकाश की रश्मियाँ इन्ही गैसो के अणुओ द्वारा तथा धूलि और जल के कणो द्वारा प्रकीर्णित होती है। प्रकीर्णित प्रकाश की तीव्रता प्र (s) तरंगदैर्घ्य त (λ) के चतुर्थ घात की विलोमी होती है, अर्थात्

$$प्र \propto \frac{1}{त^{4}} \left(s \propto \frac{1}{\lambda^{4}} \right)$$

प्रकाश के तरगदैर्घ्य के दसवे भाग से भी छोटे कणो के द्वारा प्रकीर्णन रैले के निम्नलिखित सूत्र के अनुसार होता है—

$$s = स्थिराक \times \frac{(n-1)^{2}}{N\lambda^{4}}$$

जहाँ s इकाई आयतन द्वारा होनेवाले प्रकीर्णन को व्यक्त करता है, N प्रति इकाई आयतन कणो की सख्या है, तथा n वर्तनाक है। इससे यह स्पष्ट है कि नीली रश्मियाँ, जिनका तरगदैर्घ्य लाल रश्मियो के तरगदैर्घ्य का आधा होता है, लगभग १० गुना अधिक विक्षिप्त होती है। यदि कण इन रश्मियो के तरगदैर्घ्य से बहुत बडे होते है तो किरणो का परावर्तन नियमित रूप मे नही होता और प्रकाश श्वेत दिखाई पडता है। धूलि के हल्के कण आँधी मे बहुत ऊपर चले जाते है। इनके द्वारा पीली रश्मियाँ प्रकीर्णित होती है और आकाश पीला दिखाई पडता है। आकाश का ऐसा ही रग ज्वालामुखी उद्गार के बाद दिखाई पडता है। वायुमडल निर्मल रहने पर प्रकीर्णन केवल वायु तथा जल के अणुओ द्वारा होता है। इससे बहुत अधिक मात्रा मे छोटी तरगवाली नीली रश्मियाँ प्रकीर्णित होती हैं और उन्ही के रग के अनुसार ऊपरी शून्य स्थान नीला दिखाई पडता है। गर्मी के दिनो मे जब वायु मे धूलि के कण अधिक होते है तो इन बडे कणो से प्रकाश की अन्य बडे तरगदैर्घ्य की रश्मियाँ भी प्रकीर्णित होती है जिससे आकाश का रग उतना नीला नही रह जाता, कुछ भूरा हो जाता है। जब आँधी आदि के कारण धूलि की मात्रा और अधिक हो जाती है तो बड़े बडे कणो द्वारा किरणो के अनियमित परावर्तन से आकाश श्वेत दिखाई पडता है। पहाडो की चोटी से आकाश पूर्णत नीला मालूम पड़ता है। विमानो मे अथवा राकेट प्लेन मे, जो बहुत ऊंचाई से जाते हैं, आकाश काला दिखाई पडता है, क्योंकि अधिक ऊँचाई पर वायु के तत्वो के अणु बहुत ही कम रह जाते है और किरणो का प्रकीर्णन बहुत क्षीण हो जाता है, जिससे ऊपरी शून्य भाग प्रकाशरहित अथवा काला दिखाई पडता है।

प्रात और सायकाल, जब सूर्य की किरणें धरातल के लगभग समातर आती हैं, उन्हे वायुमडल के भीतर तिरछी दिशा में अधिक चलना पडता है। आँख पर बडे तरगदैर्घ्य की लाल रश्मियाँ सीधी पडती है, किंतु अन्य छोटी रश्मियाँ प्रकीर्णित होकर नीचे की ओर तथा अगल बगल मुड जाती है, जिसके कारण आकाश लाल दिखाई पडता है। सूर्य जितना ही क्षितिज के पास नीचे रहता है, लालिमा उतनी ही अधिक देखी जाती है।

दिन मे क्षितिज के निकट का आकाश चमकीला और श्वेत होता है और लगभग सूर्य से प्रकाशित सफेद पर्दे के सदृश दिखाई देता है। यदि आँख से x दूरी पर आयतन का एक अल्प परिमाण sdx भाग का प्रकीर्णन करता है और आँख तक आते आते प्रकाश की यह मात्रा e^{-sx} के अनुपात मे कम हो जाती हो तो एक असीमित मोटी तह मे प्राप्त होनेवाला प्रकाश इसी प्रकार के सभी आयतन परिमाणो से प्राप्त प्रकाशमात्राओ के योग के तुल्य होगा :

$$\int_{0}^{\infty} se^{-sx}\,dx = 1$$

अर्थात् यह फल s से मुक्त है और इसमे रग नही है।

नवीन अनुसधानो से यह भी मालूम हुआ है कि ऊपर वर्णन किए गए प्रकीर्णनप्रभाव आकाश के रगो का पूर्णत समाधान नही करते है। वायुमडल मे अत्यधिक ऊँचाई पर अल्प मात्रा मे ओजोन गैस भी है जिसके कारण आकाश के रंगो पर अतिरिक्त प्रभाव पड़ता है। ओजोन का रग

एकदम नीला होता है जो अवशोषण के कारण उत्पन्न होता है। यदि आकाश का नीला रंग केवल प्रकीर्णन द्वारा ही होता तो सूर्य के क्षितिज के समीप पहुँचने पर आकाश के रंग मे भूरेपन का और कुछ कुछ पीलेपन का भी पुट दिखाई देना चाहिए लेकिन यह नीला दिखाई देता है। ऐसा ओज़ोन की उपस्थिति के कारण ही होता है।

(न० ला० मि०, नि० मि०)

आकाशगंगा (गैलेक्सी) असख्य तारो का समूह है जो स्वच्छ और अँधेरी रात मे, आकाश के बीच से जाते हुए अर्धचक्र के रूप मे और झिलमिलाती सी मेखला के समान दिखाई पडता है। यह मेखला वस्तुत एक पूर्ण चक्र का अग है जिसका क्षितिज के नीचे का भाग नही दिखाई पडता। भारत मे इसे मदाकिनी, स्वर्णगगा, स्वर्नदी, सुरनदी, आकाशनदी, देवनदी, नागवीथी, हरिताली आदि भी कहते है।

हमारी पृथ्वी और सूर्य जिस आकाशगगा मे अवस्थित है, रात्रि मे हम नगी आँख से उसी आकाशगगा के ताराओ को देख पाते है। चित्र मे आकाशगगा के भीतर सूर्य की स्थिति (सू) दिखाई गई है। अबतक ब्रह्माड के जितने भाग का पता चला है उसमे लगभग ऐसी ही १६ अरब आकाशगगाएँ होने का अनुमान है। ब्रह्माड के विस्फोट सिद्धात (बिग बग थ्योरी आफ युनिवर्स) के अनुसार सभी आकाशगगाएँ एक दूसरे से बडी तेजी से दूर हटती जा रही है।

हमारी आकाशगगा (जिसमे हमारी पृथ्वी है) की चौडाई और चमक सर्वत्र समान नहीं है। धनु (सैजिटेरियस) तारामण्डल मे यह सबसे अधिक चौडी और चमचीली है। दूरदर्शी से देखने पर आकाशगगा मे असख्य तारे दिखाई पडते है। विभिन्न चमक के तारो की सख्या गिनकर, उनकी दूरी की गणना कर और उनकी गति नापकर ज्योतिषियो ने आकाशगगा के वास्तविक रूप का बहुत अच्छा अनुमान लगा लिया है। यदि आकाश मे दिखाई पडनेवाले रूप के बदले त्रिविमितीय अवकाश (स्पेस) मे आकाशगगा के रूप पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि आकाशगगा लगभग समतल वृत्ताकार पहिए के समान है जिसकी धुरी के पास का भाग कुछ फूला हुआ है। चित्र मे आकाशगगा का बगल से चित्र दिखाया गया है (ऊपर से देखने पर आकाशगगा पूर्ण वृत्ताकार दिखाई पडेगी)। इस पहिए का व्यास लगभग एक लाख प्रकाशवर्ष है (१ प्रकाशवर्ष = ५.६ × १०[१२] मील या पृथ्वी से सूर्य की दूरी का ६३ हजार गुना) और मोटाई ३,००० से ६,००० प्रकाशवर्ष के बीच है। केंद्र के पास की मोटाई लगभग १५,००० प्रकाशवर्ष है। हमारी आकाशगगा मे तारे समान रूप से वितरित नही है। बीच बीच मे अनेक तारागुच्छ है और इसकी भी सभावना है कि देवयानी (एंड्रोमीडा) नीहारिका के समान हमारी आकाशगगा मे भी सर्पिल कुडलियाँ (स्पाइरल आर्म्स) हो (द्र० **नीहारिका**)। तारो के बीच मे सूक्ष्म धूलि और गैस फैली हुई है, जो दूर के तारो का प्रकाश क्षीण कर देती है। धूलि और गैस का घनत्व सस्था के मध्यतल मे अधिक है। कही कही धूलि के घने बादल हो जाने से काली नीहारिकाएँ बन गई है। कही गैस के बादल पास के तारो के प्रकाश से उद्दीप्त होकर चमकती नीहारिका के रूप मे दिखाई पडते हैं। हमारी आकाशगगा का द्रव्यमान सूर्य के द्रव्यमान का लगभग एक खरब (१०[११]) गुना है। इसमे मे प्राय आधा तो तारो का द्रव्यमान है और आधा धूलि और गैस का।

आकाशगंगा का वातावरण

हमारी आकाशगंगा बीच मे फूली हुई वृत्ताकार पूड़ी के समान है। चित्र मे उसका काट (सेक्शन) दिखाया गया है। सू से सूचित वृत्त के भीतर ही वे सब तारे हैं जो हम आकाश मे पृथक् पृथक् दिखाई पडते है।

हमारी आकाशगंगा

हमारी आकाशगगा के चारो ओर बहुत दूर तक तारे और तारागुच्छ विरलता से फैले हुए हैं।

हमारी आकाशगगा के केंद्र के पास तारे सख्या मे अधिक घने है और किनारे की ओर अपेक्षाकृत बिखरे हुए हैं। सभी तारे केंद्र की परिक्रमा कर रहे है, केंद्र के निकटवाले तारे अधिक गति से और दूरवाले कम गति से। हमारा सूर्य केंद्र से लगभग ३०-३५ हजार प्रकाशवर्ष दूर है और आकाशगगा के मध्य तल मे है। इसी कारण अपनी आकाशगगा हम वैसी मेखला की तरह दिखाई पडती है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। पृथ्वी मे आकाशगगा का केंद्र धनु तारामडल की ओर है। इसीलिये आकाशगगा धनु की ओर हमे अधिक चमकीली लगती है। सूर्य भी आकाशगगा के केंद्र की परिक्रमा करता है। इस परिक्रमा मे उसका वेग १५० मील प्रति सेकड है। इस वेग से भी पूरी परिक्रमा मे सूर्य को २० करोड वर्ष लग जाते है।

कुछ तीव्र गतिवाले तारे और गोलीय तारागुच्छ (ग्लोब्यूलर क्लस्टर) हमारी आकाशगगा की सीमा के बाहर है, किंतु ये भी हमारी आकाशगगा मे सबद्ध है और उसी के अग माने जाते है (द्र० चित्र) लगभग १०० गोलीय तारागुच्छ ज्ञात है। इनका वितरण गोलाकार है। इन तारागुच्छो के वितरण मे आकाशगगा का केंद्र ज्ञात किया जा सकता है। तारो की गति नापने से भी केंद्र की गणना मे सहायता मिलती है। रूप और विस्तार मे आकाशगगा बहुत सी अगाग (एक्स्ट्रा गैलक्टिक) नीहारिकाओ से (अर्थात् उन आकाशगगाओ से जो हमारी आकाशगगा से पूर्णतया बाहर हैं) मिलती जुलती है।

प्रारभ मे खगोलशास्त्रियो की धारणा थी कि ब्रह्माड मे नई आकाशगगाओ और क्वासरो का जन्म सभवत पुरानी आकाशगगाओ के विस्फोट के फलस्वरूप होता है। लेकिन यार्क विश्वविद्यालय के खगोलशास्त्रियो—डा० सी० आर० प्यूटर्न और डा० ए० ई० राइट ने आकाशगगाओ के चार समूहो की अतरक्रियाओ का अध्ययन करके इस धारणा का खडन किया है। उन्होने यह बताया कि आकाशगगाओं के बीच मे ऐसी विस्फोटक अतरक्रियाएँ नही होती है जो नई आकाशगगाओ को जन्म दे सके।

(नि० सि० तथा च० प्र०)

सं०ग्रं०—गोरखप्रसाद नीहारिकाएँ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्), बोक एव बोक द मिल्की वे (१६५४)।

आकाशवाणी (ऑल इडिया रेडियो) आकाशवाणी शब्द भारतवर्ष के केंद्रीय सरकार द्वारा सचालित, बेतार से कार्यक्रम प्रसारित करनेवाली राष्ट्रीय, देशव्यापक अखिल भारतीय सस्था के लिये व्यवहार मे लाया जाता है। ८ जून, सन् १६३६ को इस सस्था की स्थापना के अवसर पर इसका अग्रेजी नामकरण ऑल इडिया रेडियो हुआ। किंतु इसमे पूर्व ही सन् १६३५ मे तत्कालीन देशी रियासत मैसूर मे एक अलग रेडियो स्टेशन की स्थापना की गई थी जिसे मैसूर सरकार ने आकाशवाणी की सज्ञा दी थी। भारतवर्ष के स्वतत्र हो जाने के कुछ समय बाद जब देशी रियासतो के रेडियो स्टेशन आल इडिया रेडियो मे समिलित कर लिए गए, तब आल इडिया रेडियो के लिये भारतीय नाम 'आकाशवाणी', मैसूर रेडियो स्टेशन के नामानुसार, अपना लिया गया। इस समय अग्रेजी मे 'ऑल इडिया रेडियो' और भारतीय भाषाओ मे 'आकाशवाणी' शब्द का व्यवहार होता है।

आकाशवाणी की स्थापना सन् १६३६ मे हुई, यद्यपि भारतवर्ष मे रेडियो कार्यक्रमो का सिलसिलेवार प्रसारण २३ जुलाई, १६२७ से ही प्रारभ हो गया था। 'आकाशवाणी' केंद्रीय सरकार के प्रसार और सूचना मत्रालय के अधीनस्थ एक विभाग है। केंद्रीय सूचना तथा प्रसारमत्री और उनके मत्रालय द्वारा ससद् (पार्लियामेंट) आकाशवाणी पर अपना नियत्रण रखती है। इसके प्रमुख अधिकारी महानिदेशक (डाइरेक्टर जनरल) है जिनके नीचे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे स्थित २८ रेडियो स्टेशन, ६० ट्रासमिटर और कतिपय अन्य प्रकार के केंद्र और कार्यालय हैं, यथा समाचारविभाग, विदेशी

कार्यक्रम विभाग, दूरदर्शन केंद्र (टेलिविजन), इंस्टालेशन विभाग इत्यादि। इन सब केंद्रों और कार्यालयों को एक सूत्र मे बाँधनेवाला एक केंद्रीय दफ्तर है जिसके इजीनियरिंग अग के प्रमुख चीफ इजीनियर हैं और जिसके कार्यक्रम, शासकीय और निरीक्षण शाखाओं मे उप-महानिर्देशक (डिप्टी डाइरेक्टर जनरल) नियुक्त है। कुल मिलाकर आकाशवाणी मे (१९६० ई०) नौ हजार व्यक्ति काम कर रहे हैं। आकाशवाणी का प्रधान कार्यालय नई दिल्ली के प्रसार भवन (ब्राडकास्टिंग हाउस) और आकाशवाणी भवन मे स्थित है।

आकाशवाणी का उद्देश्य रेडियो का जनसाधारण की शिक्षा, जानकारी और मनोरजन के लिये उपयोग करना है। अपने २८ रेडियो स्टेशनो से आकाशवाणी भारतवासियों के लिये १६ मुख्य भाषाओं, २९ आदिवासी भाषाओं तथा ४८ उपभाषाओं मे विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित करती है। कार्यक्रम के प्रथम वर्ग मे क्षेत्रीय भाषाओं के वे कार्यक्रम हैं जो विभिन्न स्टेशनो से प्रसारित होते है और जिनमे सगीत, वार्ताओं, नाटक और सामान्य समाज से सबद्ध अन्य प्रकार के कार्यक्रम आते हैं। दूसरे वर्ग है राष्ट्रीय कार्यक्रमों के, यानी सगीत, वार्ताओं, नाटक इत्यादि के वे कार्यक्रम जो दिल्ली से प्रसारित होने पर अन्य सभी स्टेशनो द्वारा 'रिले' किए जाते है अथवा जिनकी मूल पाडुलिपि (मास्टर कापी) के आधार पर अन्य भाषाओं मे एक समान कार्यक्रम प्रसारित किए जाते है। इन राष्ट्रीय कार्यक्रमो द्वारा देश मे सास्कृतिक आदान प्रदान बढा है। तीसरा वर्ग है समाचार बुलेटिन, समाचारदर्शन और तद्विषयक कार्यक्रमो का। आकाशवाणी की सभी ४७ बुलेटिने जो १६ भाषाओं मे प्रसारित होती है दिल्ली मे सपादित होकर अलग अलग भाषाक्षेत्रो के स्टेशनो से रिले की जाती है। इनके अतिरिक्त प्रदेशो मे स्थानीय समाचार भी प्रसारित किए जाते है। चौथा वर्ग है 'विविध भारती' के कार्यक्रमो का जो हल्के फुल्के मनोरजन चाहनेवाले श्रोताओं के लिये केंद्रीय रूप से सपादित होकर कुछ शक्तिशाली ट्रासमिटरो पर प्रति दिन प्रसारित किए जाते है और सारे देश मे सुने जा सकते है। पाँचवाँ वर्ग, जो एक तरह से पहले वर्ग मे ही शामिल है, विशिष्ट श्रोताओं के लिये कार्यक्रमो का है, यथा ग्रामीण जनता के लिये, औद्योगिक क्षेत्रों, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, सैनिक दलों, महिलाओं और बच्चों के लिये। इन पाँचों वर्गों के अतर्गत कुल मिलाकर आकाशवाणी वर्ष भर मे एक लाख से अधिक घटो के कार्यक्रम प्रसारित करती है जिसमे लगभग ४८ प्रति शत सगीत के कार्यक्रम होते है, २२ प्रति शत समाचार के और शेष वार्ता, नाटक इत्यादि अन्य प्रकार के।

विदेशो के लिये आकाशवाणी का एक अलग विभाग है, जो १६ भाषाओं मे प्रति दिन २० घटे कार्यक्रम प्रसारित करता है। इसका उद्देश्य प्रधानत भारतीय नीति तथा भारतीय सस्कृति से विदेशी जनता और प्रवासी भारतीयों को परिचित कराना है।

इस समय (१९६०) आकाशवाणी के विभिन्न ट्रासमिटरो द्वारा देश के लगभग ३७ प्रति शत क्षेत्र मे कुल मिलाकर देश की ५५ प्रति शत जनता रेडियो कार्यक्रमो को भली भाँति सुन सकती है, किंतु कुछ विघ्नो के साथ ४५ प्रति तश क्षेत्र मे ६५ प्रति शत तक जनता इन कार्यक्रमो को सुन सकती है। १९४७ के बाद १९६० तक रेडियो स्टेशनो की सख्या ६ से बढ़कर २८ हो गई। रेडियो सेटो की सख्या १९४७ मे २,७६,००० थी और १९५९ मे १७,२५,००० हो गई। फिर भी देश की जनसख्या और आकाशवाणी के रेडियो स्टेशनो के विस्तार को देखते हुए रेडियो सेटो की सख्या मे अभिवृद्धि की आवश्यकता है। इस समय आकाशवाणी के लगभग साढ़े पाँच करोड़ वार्षिक व्यय मे से लगभग ६० प्रति शत रेडियो सेटो की लाइसेस फीस से आता है। साधारण लाइसेस फीस १५ रुपया वार्षिक है, किंतु फीस की दरें कुछ विशेष प्रकार के रेडियो सेटों के लिये अलग अलग भी है।

अपने निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति करते समय आकाशवाणी देश को एक सास्कृतिक सूत्र मे बाँधने का प्रयास भी करती रही है। शास्त्रीय और उपशास्त्रीय सगीत को आकाशवाणी के कार्यक्रम ने प्रोत्साहन दिया है और लगभग १० हजार सगीत कलाकार इन कार्यक्रमो मे प्रति वर्ष भाग लेते रहे हैं। लोकसगीत के रेकार्डों का एक विशाल संग्रह भी तैयार किया गया है और नए प्रकार के सुगम संगीत और वाद्यवृद की आयोजना भी की गई है। साहित्यसमारोह, राष्ट्रीय कविसभा, सगीतसंमेलन, गौरव ग्रथमाला इत्यादि कार्यक्रम विभिन्न प्रादेशिक संस्कृतियो से अनेक श्रोताओं को परिचित कराते है। आकाशवाणी द्वारा सर्वाधिक सेवा ग्रामीण जनता के लिये हो रही है। लगभग ७० हजार रेडियो सेट ग्रामीण केंद्रो मे बाँटे गए हैं और दैनिक ग्रामीण कार्यक्रम लोकप्रिय और शिक्षाप्रद साबित हुए हैं। ग्रामीण-श्रोता-मडलों की स्थापना से देहाती जनता मे नवचेतना का प्रादुर्भाव देखा जा रहा है। इन सब दिशाओं मे प्रगति करते समय आकाशवाणी को न केवल सगीतज्ञों और साहित्यिको का सहयोग प्राप्त हुआ है बल्कि अनेक प्रकार की परामर्श समितियों का भी, जिन्हे सूचना और प्रसार मत्रालय नियुक्त करता है। दूरदर्शन (टेलिविजन) का भी प्रारभ एक प्रयोग के रूप मे १९५९ के सितबर मास मे दिल्ली मे किया गया है। (ज० च० मा०)

इस समय (सन् १९७३ मे) देश मे आकाशवाणी के ३९ प्रधान केंद्र, तीन कम शक्ति के उपकेंद्र और २४ सहायक केंद्र है। इसके सिवा ३० चैनलो से विविधभारती का लोकप्रिय कार्यक्रम भी प्रसारित होता है। इस समय १३७ ट्रासमिटर कार्य कर रहे है जिनमे से १०५ मध्यम तरग के और ३२ लघु तरग के है।

आकाशवाणी के तीन मुख्य कार्यक्रमो मे एक तो राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारित होनेवाले देशव्यापी महत्व के कार्यक्रम, दूसरे दिल्ली, बबई, कलकत्ता और मद्रास जैसे चार बडे शहरो मे प्रसारित किए जानेवाले प्रादेशिक स्तर के और तीसरे क्षेत्रीय कार्यक्रमो को, अलग अलग केंद्र, अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुसार प्रसारित करते है।

आकाशवाणी के घरेलू सेवा के कार्यक्रम २० प्रधान भाषाओं और लगभग १०० बोलियों और जनभाषाओं मे प्रसारित होते है। इसके सिवा आकाशवाणी की विशेष सेवा के ससार भर के श्रोताओं के लिये २४ भाषाओं के कार्यक्रम प्रसारित होते है।

विभिन्न केंद्रो से प्रसारित होनेवाले कार्यक्रमो की कुल अवधि ७०० घंटे से ज्यादा है। इसमे ४३.६ प्रति शत समय सगीत कार्यक्रम और २२.५ प्रति शत समय समाचार प्रसारण को दिया जाता है। शेष मे वार्ता, वादविवाद, नाटक, रेडियोरूपक, महिलाओं, बच्चों, किसानो और औद्योगिक मजदूरो के लिये विशेष कार्यक्रमो को दिया जाता है। प्रति दिन विविधभारती के कार्यक्रमो को प्रसारित किया जाता है जिनकी दैनिक अवधि लगभग ३६० घटे हैं। इस प्रकार एक दिन मे आकाशवाणी से १,००० घटे से ज्यादा अवधि के कार्यक्रम प्रसारित होते है।

सामाचार और सामयिक चर्चा आकाशवाणी का समाचार-सेवा-विभाग केंद्रीय और प्रादेशिक समाचार, सामयिक विषयो पर समीक्षा और विचार विमर्श के द्वारा देश और विदेश के श्रोताओं को सही, निष्पक्ष, शीघ्र और अधिक से अधिक जानकारी देता है। इसमे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्रो की मुख्य प्रवृत्तियों तथा जनरुचि की बातो को स्थान दिया जाता है। खेलकूद तथा गाँव की खबरो को भी महत्व दिया जाता है। इस समय २४ घटे मे २३० बुलेटिने प्रसारित होती हैं। इनमे से १७५ बुलेटिने भारतीय श्रोताओं के लिये होती है। हिंदी समाचारदर्शन और अंग्रेजी न्यूजरील कार्यक्रमों के द्वारा प्रमुख घटनाओं की ध्वनि और शब्दझाँकी भी प्रस्तुत की जाती है। ये कार्यक्रम घटनास्थल पर किए गए रिकार्डिंग पर आधारित होते है।

विदेश सेवा आकाशवाणी ने सबसे पहले १ अक्टूबर, १९३९ को विदेशी श्रोताओं के लिये प्रसारण शुरू किया। आजकल प्रति दिन ५१ घंटे २४ भाषाओं में विदेशो के लिये कार्यक्रम प्रसारित होते है।

विविध भारती और सामयिक चर्चा 'विविध भारती' के नाम से अक्टूबर, १९५७ मे यह सेवा शुरू की गई। इसमे लोकप्रिय सगीत और रोचक रूपक होते है। आज विभिन्न भागों मे स्थित ३० केंद्रो से इसका प्रसारण होता है। आकाशवाणी से व्यापारिक विज्ञापन का प्रसारण १९६७ मे बबई नागपुर से प्रसारित होनेवाले कार्यक्रमो मे शुरू हुआ। आज व्यापारिक सेवा का प्रसारण 'विविध भारती' के ३० मे से १८ केंद्रो से

किया जा रहा है। व्यापारिक सेवा प्रसारण के प्रारंभ से सितंबर १९७१ तक कुल ८,३८,४२,५२२ रुपए राजस्व स्वरूप प्राप्त हुए।

ग्रामीण विकास में सहायता आकाशवाणी के केंद्रों से गाँवों के लिये भी कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। आकाशवाणी ने कुछ केंद्रों पर कृषि और गृह यूनिट बनाए हैं जो सघन कृषिक्षेत्रों को खेतिहर योजनाओं की सहायता के लिये सूचनाप्रद कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। परिवार नियोजन यूनिट परिवार नियोजन विभाग द्वारा समय समय पर आयोजित विशेष अभियानों में सहायता करते हैं। आकाशवाणी ने १९६९ ई० में दिल्ली केंद्र से युवा व्यक्तियों के लिये युववाणी नाम से विशेष कार्यक्रम शुरू किया है।

विकास का रूप अगले दो वर्षों में देश के ८५ प्रति शत लोग मध्यम तरंग प्रसारण सुन सकेंगे। देश में प्रसारण की सुविधाओं का विस्तार इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया जा रहा है कि मध्यम तरंग सेवा का ज्यादा से ज्यादा विस्तार किया जाय और उन क्षेत्रों तक ले जाया जाय जहाँ अबतक यह उपलब्ध नहीं है। यह काम वर्तमान ट्रांसमिटरों की शक्ति बढ़ाकर तथा बहुत विचारपूर्वक चुने गए स्थानों पर ट्रांसमिटर स्टेशन बनाकर किया जायगा। इसके अलावा कई एक प्रादेशिक केंद्रों तथा सहायक केंद्रों में कार्यक्रम तैयार करने की सुविधाओं का विस्तार भी किया जायगा।

दूरदर्शन (टेलिविजन) का विकास भारत में दिल्ली के आकाशवाणी केंद्र से १५ सितंबर, १९५९ से छोटे पैमाने पर टेलिविजन सेवा शुरू हुई। आज इसका लाभ दिल्ली में ६० किलोमीटर की परिधि के अंदर रहनेवाले लोग उठा सकते हैं। दिल्ली और उसके आसपास टेलिविजन दर्शकों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। दिल्ली में आज लगभग ४५,००० टेलिविजन सेट हैं। दिल्ली टेलिविजन केंद्र को स्कूलसेवा निर्धारित विषयों पर नियमित रूप से शैक्षणिक कार्यक्रम प्रस्तुत करती है। ये कार्यक्रम कक्षाओं में होनेवाले अध्यापन के पूरक के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। अनुमान है कि इस कार्यक्रम में ऐसे ४११ विद्यालयों के, जहाँ टेलिविजन सेट्स हैं, दो लाख से अधिक विद्यार्थी लाभान्वित होते हैं। जनवरी, १९६७ से टेलिविजन द्वारा खेती के उन्नत तरीकों को लोकप्रिय बनाने की योजना शुरू की गई है। इस विशेष कार्यक्रम का नाम कृषिदर्शन है और सप्ताह में तीन बार दिखाया जाता है। इस समय लगभग ८० कृषि दूरदर्शन (टेलिविजन) क्लब हैं।

चौथी योजना में टेलिविजन के विकास के अंतर्गत दिल्ली के टेलिविजन केंद्र का विस्तार शामिल किया गया है। इसमें श्रीनगर, बंबई, कलकत्ता, मद्रास और लखनऊ में टेलिविजन केंद्र स्थापित करने और अमृतसर, पूना, कानपुर, दुर्गापुर, आसनसोल और मसूरी में टेलिविजन रिले केंद्र स्थापित करने की योजना है।

बंबई और श्रीनगर के टेलिविजन केंद्र तथा पूना और अमृतसर के रिले केंद्र शीघ्र चालू होंगे। लखनऊ और मद्रास केंद्र तथा दुर्गापुर, आसनसोल और कानपुर के रिले केंद्र १९७४ तक तैयार होंगे। दिल्ली टेलिविजन केंद्र के विस्तार के लिये मसूरी में एक विशेष ट्रांसमिटर लगाने का प्रस्ताव है। (रा० ना० व०)

आकाशीय रज्जुमार्ग ऊँची नीची, पर्वतीय अथवा पंकिल भूमि को पार कर नियत स्थान पर सामग्री पहुँचाने के लिये रज्जुमार्ग (एईरियल रोपवेज) अद्वितीय साधन है। कारखानों तथा बनते हुए बाँधों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर कच्चा सामान ले जाने के लिये इनका बहुत उपयोग होता है।

रज्जुमार्ग दो प्रकार के होते हैं एकल रज्जु (मोनो केबुल) तथा द्विरज्जु (बाइकेबुल)। प्रथम में एक ही अछोर रज्जु होती है जो अनवरत चलती रहती है। यह अपने साथ खाली या भरे हुए डोलों (बाल्टियों) को अपने गंतव्य स्थान पर ले जाती है। ये डोल रज्जु में अपने वाहक के साथ बँधे रहते हैं (द्र० चित्र १)।

चित्र क में इस्पात का एक कंकाल या अट्टालक दिखाया गया है। इसी पर रज्जु टिकी रहती है, जिसमें डोल अपने वाहक सहित काठी के फाँसों (सैडिल क्लिप्स) द्वारा बँधा रहता है। रज्जु निरंतर चलती रहती है और अपने साथ डोलों को भी लिए चलती है।

रज्जुमार्ग के दोनों छोरों पर घूमती हुई घिरनियाँ रहती हैं, जिनपर रज्जु चढ़ी रहती है। चित्र ख में लादने का स्थान दिखाया गया है। प्रत्येक छोर पर एक अपनयन पटरी (शट रेल) रहती है, जिसपर भार लादने या खाली करने के लिये डोल चढ़ जाता है। काम पूरा हो जाने पर डोल को फिर रज्जु पर ठेल दिया जाता है। अपनयन पटरी तथा रज्जु की स्थिति में इस प्रकार का प्रबंध रहता है कि डोल को एक से दूसरे पर भेजने में बड़ी सुगमता होती है और रज्जु पर रंच मात्र भी झटका नहीं पड़ता, यह रज्जु के टिकाऊ (दीर्घजीवी) होने के लिये बहुत आवश्यक है।

चित्र ग-घ में डोल, वाहक, अपनयन पटरियों पर चलनेवाले पहियों और काठी की फाँस के (जो रस्सी को पकड़ती है) दो दृश्य दिखाए गए हैं। वाहक से डोल इस प्रकार संबद्ध रहता है कि बोझ लादने या खाली करनेवाले छोर पर वह सरलता से उलटा जा सके।

यदि रज्जुमार्ग अधिक लंबा होता है तो प्रत्येक तीन या चार मील पर विभाजक स्टेशन बना दिया जाता है, जहाँ डोल पहली रज्जुप्रणाली को छोड़ देते हैं और उनके पहिए स्थिर पटरियों पर चढ़ जाते हैं। तब वे दूसरे भाग की रज्जु पर चढ़ने के लिये आगे की ओर ठेल दिए जाते हैं।

यदि रज्जुमार्ग में दिशापरिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है तो परिवर्तन के स्थान पर एक प्लैटफार्म बना दिया जाता है जिसमें दो क्षैतिज (हॉरिज़ॉन्टल) घिरनियाँ रहती हैं। रज्जु इन घिरनियों पर से होकर जाती है और सरलता से उसकी दिशा बदल जाती है।

रज्जु का चुनाव—रज्जु इस्पात के तारों को बटकर बनी रहती है। उसके चुनाव में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है (१) एक एक डोल में कितना बोझ लदेगा। (२) बोझ लादने तथा उतारने के लिये कितना समय मिलेगा और (३) रज्जुमार्ग का वेग कितना रहेगा। इन्हीं बातों पर विचार करके रज्जुमार्ग की कार्यक्षमता नियत की जाती है, अर्थात् यह स्थिर किया जाता है कि प्रति घंटा कितना बोझ वहन हो सकेगा। प्रायः बोझ लादने का समय बीस से तीस सेकंड तक होता है। आवश्यकतानुसार एक या इससे अधिक डोल एक साथ भरे जा सकते हैं। रज्जु का वेग रज्जुमार्ग की ढाल पर भी निर्भर रहता है। साधारणतया इसकी चाल दो से पाँच मील प्रति घंटा रखी जाती है, किंतु यह सात मील प्रति घंटा तक भी की जा सकती है। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि गति में जितनी ही तीव्रता होगी उतनी ही अधिक इसमें परिवर्तनस्थल पर झटके लगने की भी संभावना रहेगी। अतएव अधिक दूरी तथा अधिक क्षमता के लिये द्विरज्जुप्रणाली का ही उपयोग उचित होता है।

इस प्रकार रज्जु की मोटाई क्रमागत अट्टालकों के बीच की दूरी, उनके बीच की रज्जु पर एक साथ आनेवाले अधिकतम बोझ की मात्रा और प्रति इंच मोटाई के अनुसार रज्जु की मजबूती पर निर्भर है। मोटाई में रज्जु ३/४" से १½" तक के व्यास की होती है। रज्जु पहले इतनी ही तानी जाती है कि वितस्ति (स्पैन, अर्थात् एक अट्टालिका से क्रमागत अट्टालिका तक की दूरी) के केंद्र पर उसकी नति अधिक से अधिक वितस्ति की १/२० हो। इसलिये अचल बोझ, वायु की दाब, झटकों और कंपनों के प्रभाव आदि, को ध्यान में रखकर ही रज्जुमार्ग का अंतिम रूप निश्चित किया जाता है। अचल भार, दाब आदि को कुल भार का २५ प्रति शत मान लिया जा सकता है।

आवश्यक शक्ति—रज्जु को पूर्वनिश्चित गति के अनुसार चलाने के लिये इंजन की आवश्यकता होती है और उसकी शक्ति रज्जु की ढाल (ग्रेडिएंट) पर निर्भर है। कभी कभी माल लादने का स्टेशन उतारनेवाले स्टेशन की अपेक्षा इतनी अधिक ऊँचाई पर होता है कि गुरुत्वाकर्षण के कारण लदे हुए डोल न केवल स्वयं नीचे उतरते हैं, वरन् उनसे उत्पन्न फालतू शक्ति अन्य कार्यों में भी सहायक हो सकती है। साधारण अनुमान के लिये इतना कहा जा सकता है कि बोझ लादने और उतारने के स्टेशनों पर घर्षण के कारण चार से पाँच अश्वसामर्थ्य (हॉर्स पावर) तक की आवश्यकता हो सकती है। अट्टालकों पर और रज्जु पर के घर्षण के लिये $सा \times ल/१२$ अश्वसामर्थ्य चाहिए, जहाँ सा प्रति घंटा प्रति टन में रज्जुमार्ग की क्षमता है और ल मार्ग की लंबाई मीलों में है। सचालक

चक्रों में भी कुछ शक्ति का ह्रास होता है, जो पूर्वोक्त घर्षण के २५ प्रति शत के लगभग हो सकता है।

अट्टालिकाओं के निर्माण में इनकी क्रमिक दूरी के साथ अन्य बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है, जैसे (१) स्थायी भार, (२) अट्टालिका, ठीक मार्ग में विचलित नहीं होने देती। दूसरी रज्जु चलती रहती है और वही डोलों को घसीट ले चलती है, जैसा चित्र ङ में दिखाया गया है।

घसीटनेवाली रज्जु ठीक उसी प्रकार की होती है जैसी एकल-रज्जु-प्रणाली में। इन दोनों प्रणालियों में कौन सी प्रणाली चुननी चाहिए,

आकाशीय रज्जु मार्ग
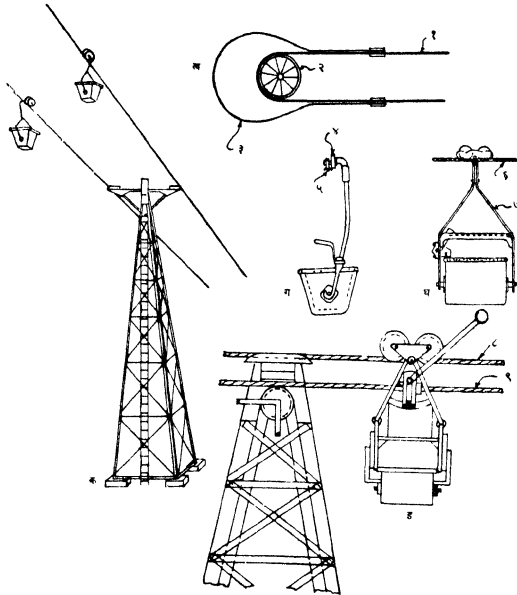
क अट्टालक; रज्जु और डोल, कार्यकरण स्थिति में, ख लादने का स्थान' १ गतिमान रज्जु, २ घूमती हुई घिरनी, ३ अपनयन पटरी (शट रेल), ग डोल (पार्श्व दृश्य), ४ अपनयन पटरी पर चलनेवाला पहिया, ५. रस्सी, घ डोल (समुख दृश्य), ६ गतिमान रज्जु, ७ डोल लटकाने का कंकाल, ङ द्वि-रज्जु-प्रणाली, ८ स्थिर रज्जु, ९ गतिमान रज्जु।

रज्जु और डोल पर वायु की दाब, (३) नीचे की दिशा में रज्जु के तनाव का विघटित अंश (रिज़ॉल्व्ड पार्ट), (४) अट्टालिका की घिरनी के फँस जाने पर, एक ओर की रज्जु पर बोझ और दूसरी ओर कुछ न रहने से, दोनों ओर की रज्जुओं के क्षैतिज तनावों का अंतर और (५) एक ओर की रज्जु टूट जाने पर अट्टालिका पर क्षैतिज तनाव और ऐंठन घूर्ण (टॉर्शनल मोमेंट)।

द्विरज्जुप्रणाली--दोहरी रज्जुप्रणाली में एक मार्गदर्शी रज्जु (ट्रैक रोप) रहती है, जो डोलवाहकों का बोझ सँभालती है और उन्हें यह बताना बहुत कठिन है। द्विरज्जुप्रणाली में आरंभ में अधिक खर्च अवश्य बैठता है, पर अधिक दूरी तक तथा अधिक ढाल पर अधिक बोझ के यातायात के लिये यही प्रणाली अधिक उपयुक्त ठहरती है। एकल-रज्जु-प्रणाली अधिक सरल है और हल्के तथा अस्थायी कामों के लिये अवश्य ही अपेक्षाकृत सस्ती है।

रेलमार्ग की अपेक्षा सुविधाएँ--पर्वतीय प्रदेशों में रेलमार्ग में अधिक से अधिक तीन प्रति शत ढाल रखी जा सकती है, परंतु रज्जुमार्ग ४० प्रति शत ढाल तक पर काम कर सकता है। यदि किसी पर्वतीय प्रदेश में दो

बिंदुओं के तलों का अंतर २,६४० फुट है और वे एक दूसरे से दो मील पर हैं तो दो मील के ही रज्जुमार्ग से काम चल जायगा, परतु २ प्रति शत की ढाल के रेलमार्ग की लबाई २० मील रखनी पडेगी। फिर, रेल के लिये मार्ग के बीहड नालो को पार करने और स्थान स्थान पर पुल, तटबध तथा पुश्तवान बनाने की कठिनाइयाँ भी अत्यधिक हो सकती है। (ज० कृ०)

आकृति पतजलि तथा गौतम ने 'आकृति' की परिभाषा समान शब्दो में की है—आकृतिग्रहणा जाति (महाभाष्य), आकृतिर्जातिलिंगाख्या (न्यायसूत्र), जिसका अर्थ यह है कि आकृति या आकार का तात्पर्य अवयव के सस्थानविशेष से है और जाति का निर्णय आकृति के द्वारा ही होता है। सास्ना (गलकबल), लागूल, खुर, विषाण आदि गोत्व जाति के लिंग माने जाते है। उन्हे देखकर किसी पशु को हम गाय मानने के लिये बाध्य होते हैं। शब्द के शक्य अर्थ के विचारप्रसग मे कतिपय आचार्य आकृति को ही शब्द का अर्थ मानते थे। महाभाष्य मे इसका उल्लेख है। गौतम ने व्यक्ति तथा जाति के समान ही आकृति को वाक्यार्थ माननेवालो के मत का खडन कर इन तीनो के समुच्चय को ही पद का अर्थ माना है (जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्था, न्यायसूत्र—२।२।६३)। (ब० उ०)

आकृतिविद्या (फिजिओनॉमी) एक असद्विद्या है जिसमे शरीर और उसके विभिन्न अगो की बनावट तथा उनकी ज्ञापक मुद्राओ एव चेष्टाओ, विशेषरूप से चेहरे की आकृति तथा अभिव्यक्ति को आधार बनाकर व्यक्ति की सवेगात्मक और अन्य मानसिक दशाओ की व्याख्या एव विश्लेषण किया जाता है। प्रसिद्ध जर्मन शरीर-रचना-विज्ञानी फ्राज जोसेफ गाल (१७५८-१८२८) ने १७६६ ई० मे इस विद्या को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। सामान्यत मुखाकृति के आधार पर व्यक्ति की मानसिक दशाओ का उद्‌घाटन ही इस विद्या का अभिप्रेत माना जाता है। कुछ लोग कपाल विद्या (फ्रेनॉलॉजी) को आकृतिविद्या का पर्याय बताते है किंतु आस्ट्रियन शरीर-रचना-विज्ञानी जोहान्न कैस्पर स्पर्जहीम (१७७६-१८३२) ने गाल के 'करोटि विज्ञान' (क्रेनियालॉजी) को 'कपालविद्या' (फ्रेनॉलॉजी) सज्ञा दी थी। (कै० च० श०)

आक्कियुस (अथवा अत्तियुस्) लुकियुस् लातीनी भाषा का दु खात नाटको का रचयिता कवि। इसका जन्म उम्ब्रिया के पिसौरूम नामक स्थान पर हुआ था। इसका समय ई० पू० १७० से ई० पू० ८५ तक है। युवावस्था मे यह रोम नगर मे आकर बस गया था और ई० पू० १४० मे दु खान्त नाटकों (ट्रैजेडी) का विख्यात लेखक माना जाने लगा। इसके ४५ नाटको के नाम और इनकी रचनाओ की लगभग ७०० पक्तियाँ इस समय उपलब्ध है। अपने नाटको को इसने यूनानी नाटको के आदर्शों के अनुसार लिखा था। नाटको के अतिरिक्त इसने गद्य और पद्य मे और भी रचनाएँ प्रस्तुत की थी जिनमे यूनानी और लातीनी साहित्य का इतिहास भी था। यह लातीनी भाषा का प्रथम महान् वैयाकरण भी था। (भो० ना० श०)

आक्ता दिउरना प्राचीन रोम का गजट जिसमे नित्य की प्रधान घटनाओ का अधिकारियो द्वारा प्रकाशन होता था। इसमे राजकीय घोषणाओ के अतिरिक्त प्रधान व्यक्तियो के पुत्रो के जन्मादि का उल्लेख हुआ करता था। आक्ता का आरभ जूलियस सीजर ने ही किया था। सफेद तख्ते पर घटनाएँ लिखकर दिन भर के लिये सार्वजनिक स्थान पर तख्ता टाँग दिया जाता था, फिर उसे उठाकर राजकीय लेखागार मे रख लेते थे। आक्ता दिउरना का प्रकाशन साम्राज्य के विभाजन तक चलता रहा। (ओ० ना० उ०)

आक्सनार्ड नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के कैलिफोर्निया राज्यात-र्गत वेट्युरा जिले मे, सेटा बारबरा चैनल के तट के समीप, लास ऐंजिलिस नगर से पश्चिमोत्तर पश्चिम दिशा मे ५० मील की दूरी पर स्थित है। यह सदर्न पैसिफिक रेलमार्ग पर है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय चुकदर से चीनी बनाना है। यहाँ का फल व्यापार भी महत्वपूर्ण है। यह नगर १८९८ ई० मे स्थापित हुआ था। (रा० ना० मा०)

आक्सफोर्ड इग्लैंड के ऑक्सफोर्डशायर का मुख्य नगर है। यहाँ विश्वविख्यात आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय है। यह लदन से पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा मे रेल और सडक मार्गों से क्रमानुसार ६३½ मील और ५१ मील की दूरी पर, टेम्स नदी और उसकी सहायक चारवेल नदी के बीच के ककडीले मैदान मे स्थित है। कुल जनसख्या १,०९,३३० (१९७०) है। और क्षेत्रफल ८७ ८५ वर्ग कि० मी० है।

पूर्वकाल मे यह नगर एक दीवार से घिरा था। इस दीवार के अवशेष न्यू कालेज के उद्यान मे विद्यमान है। यहाँ का बोडलियन पुस्तकालय भवन देखने योग्य है। रैडक्लिफ कैमरा, क्लैरेंडन भवन और शैलडोनियन व्याख्यानभवन, जिसमे ४,००० व्यक्तियो के बैठने का प्रबध है, अन्य महत्वपूर्ण भवन हैं। इस नगर के अनेक विद्यालयभवनो मे क्राइस्ट चर्च, मर्टन कालेज, न्यू कालेज, माडलिन कालेज, आल सोल्स कालेज और सेंट जोन्स उल्लेखनीय हैं।

ऑक्सफोर्ड नगर मे उद्योग धधे अधिक महत्वपूर्ण नही है। शराब, बिजली का सामान, दस्ताने, कागज और साइकिल उद्योग उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय से सबधित उद्योगो मे ऑक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय प्रेस महत्वपूर्ण है। (रा० ना० मा०)

आक्साइड किसी तत्व के साथ आक्सिजन के यौगिक है। ये सर्वत्र बहुतायत से मिलते है। हाइड्रोजन का आक्साइड पानी (**हा$_2$औ**) पृथ्वी पर बहुत बडी मात्रा मे है। इसके अतिरिक्त हवा मे कई प्रकार के गैसीय आक्साइड है, जैसे कार्बन डाइ आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड आदि। खनिजो, चट्टानो और धरती की ऊपरी तह मे भी विभिन्न आक्सा-इड है। आक्सिजन कुछ तत्वो को छोडकर लगभग सभी तत्वो से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष क्रिया करता है। इससे अनेक आक्साइड उपलब्ध है।

आक्साइड बनाने के लिये वैसे तो बहुत सी विधियाँ है, परतु साधारण-तया निम्नाकित विधियो का प्रयोग होता है:

आक्सिजन के सीधे सयोग से—सोडियम, फासफोरस, लोहा, कार्बन, गधक, मैग्नीशियम इत्यादि हवा या आक्सिजन मे गरम करने पर आक्सा-इड बनाते है। इनमे कुछ तो साधारण ताप पर ही धीरे धीरे आक्सिजन से क्रिया करते हैं, जैसे सोडियम, फास्फोरस आदि।

पानी की क्रिया द्वारा—मोर्चा लगने से अथवा गरम लोहे पर भाप की क्रिया से लोहे का आक्साइड प्राप्त होता है। कुछ धातुओ के नाइट्रेट या कारबोनेट को अधिक गरम करने पर (लवण के विघटन से) आक्साइड प्राप्त होता है, जैसे कापर नाइट्रेट या कैल्सियम कार्बोनेट से क्रमानुसार ताँबे तथा नाइट्रोजन के और कैल्सियम तथा कार्बन के आक्साइड। इसी विधि से हाइड्रॉक्साइड (जैसे फेरिक हाइड्रॉक्साइड) भी आक्साइड देते है।

रासायनिक गुण अथवा आक्सिजन के अनुपात के अनुसार इन आक्सा-इडो को क्रम से रखने पर प्रत्येक समूह के प्रतिनिधि आक्साइड **धा$_2$औ** या **धा औ** इत्यादि होते है (यहाँ **धा** = कोई धातु, **औ** = आक्सिजन)। परतु कुछ तत्व कई आक्साइड बनाते है, जिनमे आक्सिजन की मात्राएँ भिन्न होती है।

रासायनिक गुण के विचार से आक्साइड निम्नाकित वर्गों मे विभक्त किए जा सकते है

अम्लीय आक्साइड—ये पानी से मिलकर अम्ल बनाते है अथवा क्षार या क्षारीय आक्साइड के लवण, जैसे कार्बन डाइ आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड। कुछ आक्साइड मिश्रित एनहाइड्राइड होते हैं, जैसे नाइट्रोजन पराक्साइड पानी के साथ नाइट्रस और नाइट्रिक अम्ल दोनो बनाता है।

क्षारीय आक्साइड—ये पानी से मिलकर क्षार बनाते है अथवा अम्ल या अम्लीय आक्साइड से लवण, जैसे सोडियम, पोटैशियम, कैल्सियम के आक्साइड।

उदासीन आक्साइड—इनकी क्रिया मे न लवण ही बनता है और न क्षार अथवा अम्ल, जैसे नाइट्रस आक्साइड, कारबन मोनोक्साइड। वैसे तो नाइट्रस आक्साइड हाइपोनाइट्रस अम्ल का ऐनहाइड्राइड है, परतु पानी से मिलकर अम्ल नही बनाता।

उभयधर्मी (ऐंफोटेरिक) आक्साइड—ये अम्ल से क्षारीय आक्साइड के सदृश तथा क्षार से अम्लीय आक्साइड के सदृश क्रिया करते है, जैसे जिंक आक्साइड अम्ल तथा क्षार दोनो से लवण देता है।

पराक्साइड—इनमे साधारण से अधिक आक्सिजन होता है। ऐसे (क्षारीय) पराक्साइड पानी अथवा अम्ल से हाइड्रोजन पराक्साइड बनाते है (जैसे सोडियम या बेरियम पराक्साइड)। इनमे भी दो प्रकार है, पहला सुपर आक्साइड तथा दूसरा बहु (पॉली) आक्साइड।

दोहरे या मिश्रित आक्साइड—कुछ धातु के ऐसे दो आक्साइड, जिनमे से एक मे आक्सिजन की मात्रा कम है तथा दूसरी मे अधिक, मिलकर मिश्रित आक्साइड देते हैं। जैसे लोऔ तथा $लो_2 औ_3$ से $लो_3 औ_4$ (लो = लोहा या लौह)।

आक्साइड के नामकरण मे आक्सिजन की मात्रा के अनुसार मोनो (एक), डाई (द्वि), सेस्क्वी (अध्यर्द्ध) इत्यादि का प्रयोग होता है।

आक्साइडो का उपयोग बहुत तरह के रासायनिक यौगिको के बनाने मे होता है। कई प्रकार के उत्प्रेरकों (कैटालिस्टो) तथा उनके उन्नायको (प्रोमोटर्स) मे आक्साइड का बहुत उपयोग होता है।

सं० ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर : ए कॉम्प्रिहेसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० आर० पारटिंगटन टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

आक्सिजन रंग, स्वाद तथा गंधरहित एक गैस है। इसकी खोज, प्राप्ति अथवा प्रारंभिक अध्ययन मे जे० प्रीस्टले और सी० डब्ल्यू० शेले ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आक्सिजन पृथ्वी के अनेक पदार्थो मे रहता है और वास्तव मे अन्य तत्वों की तुलना में इसकी मात्रा सबसे अधिक है। आक्सिजन वायुमडल मे स्वतंत्र रूप मे मिलता है और आयतन के अनुसार उसका लगभग पाँचवाँ भाग है। यौगिक रूप मे पानी, खनिज तथा चट्टानो का यह महत्वपूर्ण अंश है। वनस्पति तथा प्राणियो के प्राय सब शारीरिक पदार्थों का आक्सिजन एक आवश्यक तत्व है।

कई प्रकार के आक्साइडो (जैसे पारा, चाँदी इत्यादि के) अथवा डाइआक्साइडो (लेड, मैंगनीज, बेरियम के) तथा आक्सिजनवाले बहुत से लवणो (जैसे पोटैशियम नाइट्रेट, क्लोरेट, परमैंगनेट तथा डाइक्रोमेट) को गरम करने से आक्सिजन प्राप्त हो सकता है। जब कुछ पराक्साइड पानी के साथ प्रक्रिया करते है तब भी आक्सिजन उत्पन्न होता है। अत सोडियम पराक्साइड तथा मैंगनीज डाइआक्साइड या चूने के क्लोराइड का चूर्णित मिश्रण (अथवा इसी प्रकार के अन्य मिश्रण भी) आक्सिजन उत्पादन के लिये प्रयुक्त होते है। हाइपोक्लोराइट अथवा हाइपोब्रोमाइट (जैसे ब्लीचिंग पाउडर) के विघटन से या गंधक के अम्ल तथा मैंगनीज डाइआक्साइड या पोटैशियम परमैंगनेट की क्रिया मे भी आक्सिजन मिलता है। गैस की थोडी मात्रा तैयार करने के लिये हाइड्रोजन पराक्साइड, अकेले अथवा उत्प्रेरक के साथ अधिक उपयुक्त है।

जब बेरियम आक्साइड को तप्त किया जाता है (लगभग ५००° से० तक) तब वह हवा से आक्सिजन लेकर पराक्साइड बनाता है। अधिक तापक्रम (लगभग ८००° से०) पर इसके विघटन से आक्सिजन प्राप्त होता है तथा पुन उपयोग के लिये बेरियम आक्साइड बच रहता है। औद्योगिक उत्पादन के लिये ब्रिन विधि इसी क्रिया पर आधारित थी। आक्सिजन प्राप्त करने के विचार से कुछ अन्य आक्साइड भी (जैसे ताँबा, पारा आदि के आक्साइड) इसी प्रकार उपयोगी है। हवा से आक्सिजन अलग करने के लिये अब द्रव हवा का अत्यधिक उपयोग होता है, जिसके प्रभाजित आसवन से आक्सिजन प्राप्त किया जाता है। पानी के विद्युत्लेषण (इलेक्ट्रॉलिसिस) से हाइड्रोजन के उत्पादन मे आक्सिजन भी उपजात (बाइप्रॉडक्ट) के रूप मे मिलता है।

आक्सिजन का घनत्व १.४२९० ग्राम प्रति लीटर है (०° सें०, ७६० मिलीमीटर दाब पर) और वायु की अपेक्षा यह गैस १.१०५२७ गुना भारी है। इसका विशिष्टताप (स्थिर दाब पर) ०.२१७८ कैलोरी प्रति ग्राम, १५° से० पर, है तथा स्थिर आयतन के विशिष्ट ताप से इसका अनुपात (१५° सें० पर) १.४०१ है। आक्सिजन के द्रवीकरण मे विशेषज्ञो को विशेष कठिनाई हुई थी, क्योंकि इसका क्रांतिक (क्रिटिकल) ताप—११८.८° से०, दाब ४९.७ वायुमडल तथा घनत्व ०.४३० ग्राम/सेंटीमीटर³ है। द्रव आक्सिजन हल्के नीले रंग का होता है। इसका क्वथनांक—१८३° सें० तथा ठोस आक्सिजन का द्रवणांक—२१८.४° सें० है। १५° से० पर संगलन तथा वाष्पायन उष्माएँ क्रमानुसार ३.३० तथा ५०.९ कैलारी प्रति ग्राम हैं।

आक्सिजन पानी मे थोडा घुलनशील है, जो जलीय प्राणियो के श्वसन के लिये उपयोगी है। कुछ धातुएँ (जैसे पिघली हुई चाँदी) अथवा दूसरी वस्तुएँ (जैसे कोयला) आक्सिजन का शोषण बड़ी मात्रा मे कर लेती हैं।

बहुत से तत्व आक्सिजन से सीधा संयोग करते है। इनमे कुछ (जैसे फास्फोरस, सोडियम इत्यादि) तो साधारण ताप पर ही धीरे धीरे क्रिया करते हैं, परन्तु अधिकतर, जैसे कार्बन, गंधक, लोहा, मैग्नीशियम इत्यादि, गरम करने पर। आक्सिजन से भरे बर्तन मे ये वस्तुएँ दहकती हुई अवस्था मे डालते ही जल उठती हैं और जलने से आक्साइड बनता है। आक्सिजन मे हाइड्रोजन गैस जलती है तथा पानी बनता है। यह क्रिया इन दोनो के गैसीय मिश्रण मे विद्युत् चिनगारी से अथवा उत्प्रेरक की उपस्थिति मे भी होती है।

आक्सिजन बहुत से यौगिको से भी क्रिया करता है। नाइट्रिक आक्साइड, फेरस तथा मैंगनस हाइड्राक्साइड का आक्सीकरण साधारण ताप पर ही होता है। हाइड्रोजन फास्फाइड, सिलिकन हाइड्राइड तथा जिंक इथाइल से तो क्रिया मे इतना ताप उत्पन्न होता है कि संपूर्ण वस्तुएँ ही प्रज्वलित हो उठती है। लोहा, निकल इत्यादि महीन रूप मे रहने पर और लेड सल्फाइड तथा कार्बन क्लोराइड सूर्य के प्रकाश मे क्रिया करते है। इन क्रियाओ मे पानी की उपस्थिति, चाहे यह सूक्ष्म मात्रा मे ही क्यो न रहे, बहुत महत्वपूर्ण है।

जीवित प्राणियो के लिये आक्सिजन अति आवश्यक है। इसे वे श्वसन द्वारा ग्रहण करते हैं। द्रव आक्सिजन तथा कार्बन, पेट्रोलियम, इत्यादि का मिश्रण अति विस्फोटक है। इसलिये इनका उपयोग कडी वस्तुओ (चट्टान इत्यादि) के तोडने मे होता है। लोहे की मोटी चद्दर काटने अथवा मशीन के टूटे भागो को जोड़ने के लिये आक्सिजन तथा दहनशील गैस को ब्लो पाइप मे जलाया जाता है। इस प्रकार उत्पन्न ज्वाला का ताप बहुत अधिक होता है। साधारण आक्सिजन के साथ हाइड्रोजन या ऐसिटिलीन जलाई जाती है। इसके लिये ये गैसे इस्पात के बेलनो मे अति संपीडित अवस्था मे बिकती है। आक्सिजन सिरका, वार्निश इत्यादि बनाने तथा असाध्य रोगियों के साँस लेने के लिये भी उपयोगी है।

दहकते हुए तिनके के प्रज्वलित होने से आक्सिजन की पहचान होती है (नाइट्रस आक्साइड से इसकी भिन्नता नाइट्रिक आक्साइड के उपयोग से जानी जा सकती है)। आक्सिजन की मात्रा क्यूप्रस क्लोराइड, क्षारीय पायरागैलोल के घोल, ताँबा अथवा इसी प्रकार की दूसरी उपयुक्त वस्तुओ द्वारा शोषित कराने से ज्ञात की जाती है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर ए कॉम्प्रिहेसिव ट्रीटाइज ऑन इनआर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० आर० पारटिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनआर्गैनिक केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

आक्सिम ऐलडिहाइडो तथा कीटोनो पर हाइड्रॉक्सिल-ऐमिन की प्रतिक्रिया से जो यौगिक प्राप्त होते है उन्हे आक्सिम कहते है। ऐलडिहाइडो से बने यौगिक ऐलडॉक्सिम तथा कीटोनो से बने यौगिक कीटॉक्सिम कहलाते हैं। इनके सूत्र निम्नलिखित है :

$$मू—का > औ + हा_2 नाऔहा = मू—का > नाऔहा + हा_2 औ$$

(दोनों ओर का के नीचे: हा)

ऐलडिहाइड — **ऐलडिहाइड**

$$मू—का > औ + हा_2 नाऔहा = मू—का > नाऔहा + हा_2 औ$$

(दोनों ओर का के नीचे: मू′)

कीटोन — **कीटॉक्सिम**
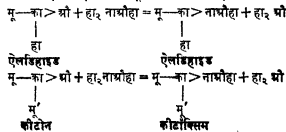
सबसे पहला आक्सिम विक्टर मेयर ने सन् १८७८ ई० में बनाया था। इसके बाद ऐलडिहाइड तथा कीटोनो के शुद्धीकरण तथा उनकी पहचान में आक्सिमो के महत्व के कारण तथा इन यौगिको की विन्यास-समावयवता के कारण, रसायनज्ञो ने इनके अध्ययन मे विशेष रुचि दिखलाई, जिसके फलस्वरूप इनसे सबद्ध अनेक महत्वपूर्ण अनुसधान हुए।

ऐलडिहाइडों तथा कीटोनो के शुद्धीकरण तथा पहचान मे इनके उपयोग का विशेष कारण यह है कि आक्सिम ठोस अवस्था मे मणिभीय तथा जल मे अविलेय होते हैं, अत इनको शुद्ध अवस्था मे प्राप्त किया जा सकता है। हाइड्रोक्लोरिक या गधकाम्ल के विलयन के साथ गरम करने से आक्सिमों का जलविश्लेषण हो जाता है। इसके फलस्वरूप ऐलडिहाइड या कीटोन स्वतत्र अवस्था में पुन प्राप्त हो जाते हैं।

आक्सिमो के अपचयन से प्राथमिक ऐमिन प्राप्त होते है अत >का>ओ को>का—नाहा मे परिवर्तित करने मे इनका प्रयोग होता है। ऐलडाक्सिम ऐसिड क्लोराइड द्वारा निर्जलित किए जा सकते है जिससे

मू—का>ना—ओहा
|
हो

यौगिक मू—का≡ना में परिवर्तित हो जाते हैं।

कुछ आक्सिम, धात्वीय तत्वो के साथ सयुक्त होकर, स्थायी सवर्ग (कोऑरडिनेट) यौगिक बनाते हैं। लगभग एक समान गुणवाले और सबधित विविध तत्वो से इस प्रकार बननेवाले यौगिको की विलेयता एक दूसरे से भिन्न होती है। इस कारण, वैश्लेषिक रसायन मे, इन आक्सिमो का बडा महत्व है। सैलिसिल ऐलडाक्सिम अनेक धातुओ से इस प्रकार के यौगिक बनाता है, परतु ताँबे के साथ बने यौगिक को छोडकर अन्य धातुओ से बने सभी यौगिक तनु (डाइल्यूट) ऐसीटिक अम्ल मे विलेय है। ताँबे के साथ बना यौगिक हरिताभपीत रग का एक चूर्ण सा होता है और इसे ११०° सें० पर सुखाकर स्थायी रखा जा सकता है। अत इफ्रेम ने इस आक्सिम का अन्य तत्वो से ताँबे के पृथक्करण तथा उसके परिमापन के लिये उपयोग करना अच्छा बतलाया है। इसी प्रकार डाईमेथिल ग्लाइक्सिम, जो डाइकीटोन-डाई-ऐसिटिल का डाइ-आक्सिम है, अनेक धातुओं के साथ सकीर्ण यौगिक बनाता है, जिनमें से केवल निकल तथा पलेडियम से बने यौगिक तनु अम्लो तथा तनु क्षार विलयनो मे अविलेय होते है। अत निकल तथा पलेडियम के परिमापन तथा निकल को कोबाल्ट से पूर्णत पृथक् करने मे इस आक्सिम का बहुत उपयोग होता है। बीटा नैप्थोक्वीनोन का एक आक्सिम कोबाल्ट के साथ इसी प्रकार का अविलेय यौगिक बनाता है, जिससे कोबाल्ट के परिमापन मे इसका उपयोग होता है।

आक्सिमों की विन्यास-समावयवता—विन्यास रसायन के विकास मे आक्सिमो का महत्व कुछ कम नही है। सन् १८८३ ई० मे हान्स गोल्ड-स्मिट ने ज्ञात किया कि बेजिल का द्वि-आक्सिम दो रूपो मे पाया जाता है, फिर सन् १८८९ ई० मे विक्टर मेयर ने एक तीसरा रूप भी ज्ञात किया। उसी वर्ष बेकमैन ने बताया कि बेंजैलडीहाइड का आक्सिम भी दो रूपो मे पाया जाता है। वांट हाफ ने >का = का< वाले यौगिको की ज्यामितीय समावयवता पूर्ण रूप से सिद्ध कर दी थी, अत आर्थर हान्स तथा ऐल्फ्रेड वर्नर ने इन सिद्धातो को >का = ना—वाले यौगिका मे लगाकर यह दिखलाया कि आक्सिमो के समावयव ज्यामितीय समावयव है। उनके अनुसार ऐलडीहाइडों तथा असममितीय कीटोनो के आक्सिम दो रूपो मे पाए जायँगे जिन्हे इस प्रकार लिख सकते हैं.

मू हा / का ‖ ना—ओहा ; हा मू / का ‖ ना—ओहा ; अथवा ; मू मू′ / का ‖ ना—ओहा ; मू′ मू / का ‖ ना—ओहा
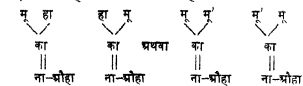
यह समावयवता ठीक उसी प्रकार की है जैसी मैलिक तथा फ्यूमेरिक अम्ल की >का = का< पर। कीटोनो मे यह केवल असममितीय कीटोनो मे सभव है, क्योंकि मू तथा मू′ के एक हो जाने से फिर इन दो रूपो मे कोई अंतर नही रह जाता। इसके आधार पर बेंजिल द्वि-आक्सिम के रूप भी लिखे जा सकते है।
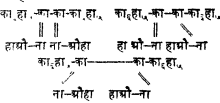
$का_{६}हा_{५}$-का-का-$का_{६}हा_{५}$; $का_{६}हा_{५}$-का—का-$का_{६}हा_{५}$
‖ ‖ ; ‖ ⟍
हाओ—ना ना—ओहा ; हाओ—ना हाओ—ना

$का_{६}हा_{५}$-का————का-$का_{६}हा_{५}$
⟋ ⟍
ना—ओहा हाओ—ना

कीटोनो के आक्सिमो की फासफोरस पेटाक्साइड के साथ ईथर मे प्रतिक्रिया करने मे जो पदार्थ मिलता है उसपर जल की प्रतिक्रिया से प्रति-स्थापित ऐसिड ऐमाइड प्राप्त होते है। इस क्रिया को बेकमैन का रूपातरण कहते हैं। इस क्रिया मे मूलको का परिवर्तन होता है। जो मूलक पहले कार्बन के साथ सयुक्त था, अब वह नाइट्रोजन के साथ सयुक्त मूलक से स्थानातरण कर लेता है।

मू-का = ना-ओहा→हाओ-का = नामू→ओ = का-नाहामू
| | |
मू′ मू′ मू′

कीटॉक्सिम — **प्रतिस्थापित ऐसिड-ऐमाइड**

यह स्पष्ट है कि दो समावयवी आक्सिमो मे से तो

मू-का-मू′
‖
हाओ-ना

मू′काओनाहामू मिलेगा, परतु

मू-का-मू′
‖
ना-ओहा
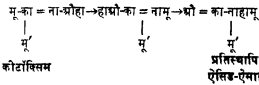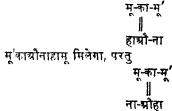
से मूकाओनाहामू′ मिलेगा। इन पदार्थों का इस प्रकार बेकमैन रूपा-तरण के फलस्वरूप बनना इस बात की पुष्टि करता है कि समावयवी आक्सिमो की रचना तो एक सी है, परतु उसकी समावयवता मूलको के तल मे विभिन्न प्रकार से स्थित होने के कारण होती है।

इसके बाद इन बातो की पुष्टि करने के लिये हान्स, वर्नर, डब्ल्यू० एच० मिल्स, माइसनहाइमर, टी० डब्ल्यू० जे० टेलर तथा एल० एफ० सटन आदि रसायनज्ञो ने अनेक प्रयोगो के आधार पर समय समय पर अपने विचार प्रकट किए है, किंतु आक्सिमो के सबध मे अभी तक बहुत सी बाते नही निश्चित हो पाई है।

स०ग्र०—सिडविक केमिस्ट्री ऑव नाइट्रोजन कपाउड्स, जे० सी० थॉर्प डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री।

टिप्पणी ओ = आक्सिजन, का = कार्बन, ना = नाइट्रोजन, हा = हाइड्रोजन, मू = मूलक (रैडिकल), मू′ = अन्य मूलक। (गं० दा० ति०)

आक्सैलिक अम्ल

आक्सैलिक अम्ल पाटैसियम और कैल्सियम लवण के रूप मे बहुत से पौधो मे पाया जाता है। लकडी के बुरादे को क्षार के साथ २४०° से २५०° सें० के बीच गरम करके आक्सैलिक अम्ल, $(काओओहा)_{२}$, बनाया जा सकता है। इस प्रतिक्रिया मे सेल्यूलोस की—काहाओहा—काहाओहा की इकाई आक्सीकृत होकर $(काओओहा)_{२}$ का रूप ग्रहण कर लेती है। आक्सैलिक अम्ल को औद्योगिक परिमाण मे बनाने के लिये सोडियम फार्मेट का सोडियम हाइड्राक्साइड या कार्बोनेट के साथ गरम किया जाता है। आक्सैलिक अम्ल का कार्बोक्सिल समूह दूसरे कार्बोक्सिल समूह पर प्रेरणा प्रभाव डालता है, जिससे इनका आयनीकरण अधिक होता है। आक्सैलिक अम्ल मे शक्तिशाली अम्ल के गुण है।

पेनीसीलियम और एस्पेंगिलस फफूंदे शर्करा से आक्सैलिक अम्ल बनाती है। यदि कैल्सियम कार्बोनेट डालकर विलयन का पीएच ६-७ के बराबर रखा जाय तो लगभग ९० प्रति शत शर्करा, कैल्सियम आक्सैलेट मे बदल जाती है।
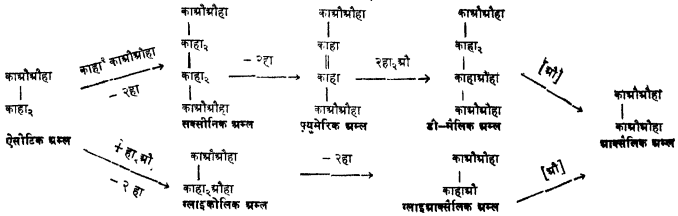
(संकेत ओ = आक्सीजन, का = कार्बन, हा = हाइड्रोजन ।)

ऐसीटिक अम्ल दो प्रकारों से आक्सैलिक अम्ल में परिवर्तित होता है, जैसा ऊपर दी गई सारणी में दिखाया गया है।

आक्सैलिक अम्ल पोटैसियम परमैंगनेट द्वारा शीघ्र आक्सीकृत हो जाता है। इस आक्सीकरण में दो अति आक्सीकृत कार्बन के परमाणुओं के बीच का दुर्बल संबंध टूट जाता है तथा कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी बनता है। यह प्रतिक्रिया नियमित रूप से होती है और इसका उपयोग आयतनमितीय (वॉल्युमेट्रिक) विश्लेषण में होता है। आक्सैलिक अम्ल के इस अवकारी (रेड्यूसिंग) गुण के कारण इसका उपयोग स्याही के धब्बे छुड़ाने के लिये तथा अन्य अवकारक के रूप में होता है।

आक्सैलिक अम्ल को गरम करने पर यह फार्मिक अम्ल, कार्बन डाइ-आक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड और पानी में विच्छेदित हो जाता है। सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा यह विच्छेदन कम ताप पर ही होता है और इस दशा में बना फार्मिक अम्ल, कार्बन मोनोक्साइड और पानी में विच्छेदित हो जाता है।

आक्सैलिक अम्ल आठ भाग पानी में विलेय है। १५०° सें० तक गरम करने पर इसका मणिभ जल (वाटर ऑव क्रिस्टैलाइज़ेशन) निकल जाता है। जलयोजित अम्ल का गलनांक १०१° सें० और निर्जलीकृत अम्ल का गलनांक १८९ सें० है। नार्मल ब्यूटाइल ऐलकोहल के साथ आसुत (डिस्टिल) करने पर ब्यूटाइल एस्टर बनता है, जिसका क्वथनांक २४३° सें० है। आक्सैलिक अम्ल के पैरा-नाइट्रोबेंजाइल एस्टर का क्वथनांक २०४° सें०, ऐनिलाइड का गलनांक २४५° सें० और पैरा-टोल्यूडाइड का गलनांक २६७° सें० है। (कृ० ब०)

आखिया खारस (अथवा अहिकार) अस्सीरिया के राजा सिनाखिरीब् को परामर्श देनेवाला एक प्राचीन मनीषी। इसकी जीवन-कथा तथा सूक्तियाँ सीरिया, अरब, इथियोपिया, आर्मेनिया, रूमानिया और तुर्की की प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध है। इसने अपने भतीजे नादान को दत्तक पुत्र के रूप में रख लिया था। पर नादान ने उसका विनाश करने का प्रयत्न किया, किंतु वह भूमिगृह में छिपकर किसी प्रकार बच गया। वह प्रकट हुआ तब जब राजा को उसके परामर्श की आवश्यकता पड़ी। अत: उसने अपने प्रभाव को पुन: प्राप्त कर लिया। उसने अधर में प्रासाद का निर्माण करके तथा बालू की रस्सी बटकर मिस्र के सम्राट् को संतुष्ट किया। इसके पश्चात् उसने नादान को समुचित दंड दिया और उसकी लगातार भर्त्सना की। आखिया खारस की कथा ई० पू० ५वीं शताब्दी से भी अधिक पुरानी है।

सं०ग्रं०—कोनीबियर इत्यादि : स्टोरी ऑव अहिकार। (भो०ना०श०)

आखेटि पतंग (इक्नुमन फ्लाइ) छोटे, बहुधा चटकीले रंगोंवाले, क्रियाशील कीट (इंसेक्ट) हैं। चींटियों, मधुमक्खियों तथा बर्रों से इनका निकट संबंध है। प्राय: इन्हें धूप से प्रेम होता है। इनके पूर्वोक्त संबंधियों और इनमें यह भेद है कि प्रौढ़ होने पर ही ये स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हैं। अपरिपक्व अवस्था में ये पूर्णत: परजीवी होते हैं। तब तक विविध प्रकार के कीटों के शरीर के ऊपर या भीतर रहकर, उन्हीं से भोजन और आश्रय पाते हैं तथा अंत में उनके प्राण ले लेते हैं। प्रौढ़ स्त्री आखेटि पतंग अंडे या तो आश्रयदाता कीट के शरीर के ऊपर देती है या अपने अंडरोपक (ओविपॉज़िटर) की सहायता से इन्हें उसकी त्वचा के नीचे घुसेड़ देती है। अंडरोपक एक प्रकार का रूपांतरित डंक होता है जो आश्रय देनेवाले कीट की चमड़ी को छेदकर उसके भीतर अंडे डालने में सहायता देता है। आश्रय देनेवाले कीट के शरीर के भीतर आखेटिपतंग के डिंभ (लार्वी) प्राय: सैकड़ों की संख्या में होते हैं। ये शनै: शनै: उसके शरीर के कोमल पदार्थ को खा जाते हैं तथा अंत में केवल उसकी खाल रह जाती है और इस तरह वह मर जाता है। इन डिंभों में प्राय: टाँगें नहीं होतीं तथा ये श्वेत या पीले रंग के होते हैं। जब ये पूरे बड़े हो जाते हैं तो आश्रय देनेवाले जीव की मृत देह पर अपने चारों ओर एक रेशमी कोवा (कोकून) बना लेते हैं तथा आखेटि पतंग बनकर निकलने के पूर्व वे शंखी (प्यूपा) की अवस्था में रहते हैं।

आखेटि पतंग
यह कृषि के हानिकारक कीड़ों के शरीर में अंडे देता है, जिससे वे शीघ्र ही मर जाते हैं।

आखेटि पतंग अनेक प्रकार के कीटों की अपरिपक्वावस्था में ही उन पर आश्रित होना आरंभ कर देते हैं, विशेषकर तितलियों और पतंगों की इल्लियों (कैटरपिलर्स) पर, गुबरैलों (कोलिओप्टरा) के जातकों (ग्रब्स) पर, मक्खियों (डिप्टेरा) के ढोलों (मैगॉट्स) पर तथा मकड़ियों और कूट-बिच्छुओं (फाल्स स्कॉरपियंस) पर। इनमें से पैनिस्कस जाति के समान कुछ आखेटि पतंग तो बाह्य परजीवी हैं, परंतु अन्य जातियों के आखेटि पतंग अधिकतर आंतरिक परजीवी होते हैं। आखेटि पतंग साधारणतया पृथ्वी के प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं। समस्त भूमंडल पर अभी तक इनकी २,००० जातियाँ ज्ञात हुई हैं, जो २४ वर्गों में विभाजित की गई हैं। भारत, ब्रह्मदेश (बर्मा) लंका तथा पाकिस्तान में पाई जानेवाली

इनकी लगभग ७०० जातियों का वर्णन अभी तक किया गया है। यूरोप तथा अमरीका में ग्रैवनहार्स्ट, वेसमील और ऐशमीड के समान अनेक कीटवैज्ञानिको ने इन कीटो का अध्ययन किया है। इनकी अधिकाश भारतीय जातियो का वर्णन यूरोप के लिनीअस, फाब्रिशिअस, वाकर, कैमरन तथा मॉरली ने किया है। अतिम लेखक ने भारत के स्वतत्र होने के पूर्व भारत के सेक्रेटरी ऑव स्टेट द्वारा प्रकाशित "फॉना ऑव ब्रिटिश इडिया" (ब्रिटिश भारत के प्राणी) नामक पुस्तकमाला मे एक सपूर्ण पुस्तक इन कीटो के वर्णन को अर्पित कर दी है।

बहुत से कीट, जिनपर परजीवी आखेटि पतग आक्रमण करते है, बहुधा खेती और जगलो को हानि पहुँचानेवाले है। इसलिये आखेटि पतगों को मनुष्य का हितकारी मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ये उन हानिकारक इल्लियो, गुबरैलो, ढोलो इत्यादि को, जो हमारी खेती नष्ट करने के सिवाय जगल के वृक्षो की पत्तियाँ खा जाते या उनका बहुमूल्य लकड़ो के भीतर छेद कर देते हैं, बड़ी सख्या मे नष्ट कर डालते है।

एवानिआ नामक आखेटि पतग काले रग का होता है, जो बहुधा घरो मे पाया जाता है। यह साधारणतया घरो मे पाए जानेवाले घृणित तिलचट्टे (कॉकरोच) के अडधानो (एगसैक) की तत्परता से खोज कर उन्ही मे अपने अडे रख देते है। एवानिआ के डिंभ तिलचट्टे के अडों का खा जाते है। पीतपीटिका (जैथोपिम्प्ला) पीला और काले धब्बोंवाला एक अन्य आखेटि पतग है, जो सुगमता से मिलता है, यह अनेक हानिकारक इल्लियो का परजीवी है। माइक्रोब्रैकन लेफ्रोई नामक आखेटि पतग भारत और मिस्र मे पाए जानेवाले रुई के कुख्यात कर्पासकीट (बोलवर्म) की इल्लियों का प्रसिद्ध परजीवी है और इसलिये हमारा हितकारी है।

कुछ जातियो को, जैसे माइक्रोब्रैकन जिलीकिआ का, प्रयोगशालाओं में बड़ी सख्या मे प्रजनित करा और पालकर भारत तथा सयुक्त राज्य, अमरीका मे आलू को हानि पहुँचानेवाली कदपतग की इल्लियाँ (ट्यूबर मॉथ कैटरपिलर) की रोक के लिये खेतो और भाडारो मे छोड़ दिया जाता है। ओपिअस जाति की अनेक उपजातियाँ बहुमूल्य फलो को नष्ट करनेवाली फलमक्खियों के ढोलो पर आक्रमण करती है। इसलिये अमरीका ने अपने फलो की रक्षा के लिये भारत से इन आखेटि पतगो का आयात किया है। (म० सु० म० ग०)

आखेन (स्थिति ५०° ४७' उ० ६° ५' पू०) आरडेनीज पठार के उत्तराचल मे कोलोन-ब्रूसेल्स की प्रधान रेलवे पर कोलोन से ४४ मील दक्षिणपश्चिम मे स्थित पश्चिमी जर्मनी का प्राचीन नगर है। सीमात भौगोलिक स्थिति तथा तज्जन्य युद्धो के कुप्रभावो के कारण इसका क्रमिक ह्रास हो रहा है। जनसख्या १,७७,६२४ (सन् १९६१)। द्वितीय महायुद्ध मे इसे पूर्णतया जला दिया गया था। स्थानीय कोयले की प्राप्ति के कारण यहाँ काँच, कपड़ा एव लोहे के कारखाने हैं।

(का० ना० सि०)

आख्यान शब्द आरभ से ही सामान्यत कथा अथवा कहानी के अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है। तारानाथ कृत 'वाचस्पत्यम्' नामक कोश के प्रथम भाग मे, इसकी व्युत्पत्ति 'आख्यायते अनेनेतिआख्यानम्' दी है। साहित्यदर्पण मे आख्यान को 'पुरावृत कथन' (आख्यान पूर्ववृत्तोक्ति) कहा गया है। डा० एस० के० दे के मतानुसार ऋग्वेद के कथात्मक सूक्त वस्तुत पौराणिक और निजधरी आख्यान ही है (ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, एस० एन० दासगुप्त ऐंड एस० के० दे, पृ० ४३)। यास्क ने निरुक्त (११।१५) मे सरमा पणीस की कथा को आख्यान कहा है।

'आख्यान' और सस्कृत 'आख्यायिका' दोनो के वर्णविन्यासो मे सादृश्य होने के कारण ही सभवत हिंदी के कुछ विद्वान् 'आख्यायिका' के शास्त्रीय लक्षणो को 'आख्यान' के ऊपर लागू करके उसके स्वरूपसपादन का प्रयास करते रहे हैं। किंतु सस्कृत के लक्षणशास्त्रो मे दिए 'आख्यायिका' के लक्षणो और 'आख्यान' मे पाए जानेवाले लक्षणो मे परस्पर कुछ ऐसे मौलिक विरोध वर्तमान है कि उन्हे एक दूसरे का समानार्थक नही माना जा सकता। सस्कृत मे आख्यायिका की श्रेणी की एक गद्यबद्ध रचना और भी होती थी, जिसे कथा कहते थे। भामह ने काव्यालकार (१।२५, २८) मे सुदर गद्य मे रचित सरस कहानी को 'आख्यायिका' कहा है। यह उच्छ्‌वासो मे बँटी होती थी और इसमे नायक अपने वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन स्वय करता था। बीच बीच मे वक्त्र और अपवक्त्र छद आ जाते थे, जबकि कथा मे वक्त्र और अपवक्त्र छद नही होते थे, न ही इसका विभाजन उच्छ्‌वासो मे होता था।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'आख्यायिका' की विशेषता इस बात मे पाई जाती है कि वह स्वय किसी अपने पात्र द्वारा ही कही गई होती है जिस कारण उसकी बहुत सी बाते आत्मोद्गारपरक बन जाती है। प्रेमाख्यानवाले 'आख्यान' शब्द का मूल अर्थ भी किसी ऐसी विशेषता की ही ओर सकेत करता जान पड़ता है। 'महाभारत' एव 'रामायण' के 'आख्यान' कहे जाने की सार्थकता भी कदाचित् इसी बात मे निहित होगी कि उनके रचयिता क्रमश व्यास एव वाल्मीकि ने अपनी देखी सुनी बाते ही लिखी थी, उनमे कल्पना का वैसा अश नही रहता, जो कथा के सबध मे प्राय आवश्यक सा बन जाया करता है। आख्यान शब्द को इसी कारण अपेक्षाकृत अधिक 'वृत्तातपरक' और तदनुसार विशुद्ध भी कह सकते है। अतएव प्रेमकहानी के भी मूल रूप मे वस्तुत 'आपबीती' जैसी ही होने से 'प्रेम' शब्द के साथ किए गए इसके प्रयोग को सर्वथा उपयुक्त समझना चाहिए (भारतीय प्रेमाख्यान की परपरा, तृतीय अनुच्छेद)।

उपर्युक्त पक्तियो मे चतुर्वेदी जी ने सीधे न कहकर कथनलाघव के माध्यम से आख्यान को आख्यायिका का सदृशार्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। एक अन्य स्थल (हिंदी साहित्य, द्वितीय खड, स० धीरेंद्र वर्मा तथा ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० २८५) पर भी, किंतु जरा अधिक स्पष्ट ढग से, वह यही बात दुहराते है, "'प्रेमाख्यान' का 'आख्यान' शब्द मूलत आख्यायिका का ही एक रूपातर सा प्रतीत होता है।"

किसी कथाकृति को आख्यान सज्ञा देने के लिये यदि यह नितात आवश्यक हो कि उसका रचयिता ने कथा को स्वय 'देखा सुना' हो तो रामायण एव महाभारत के सदर्भ मे अभी तक ऐसे प्रमाण अथवा साक्ष्य उपलब्ध नही है कि उनके आधार पर निश्चित होकर यह कह दिया जाए कि उनके रचयिताओं ने वही सब कुछ लिखा जो स्वय उन्होंने 'देखा सुना' था। साथ ही 'देखा सुना' पद क्या अपने मे अस्पष्ट एव अनिश्चित अर्थ का द्योतक नही है? अस्तु, रामायण एव महाभारत को 'आख्यान' नाम देने का अवश्य ही कोई दूसरा कारण रहा होगा। वैदिक साहित्य से लेकर हिंदी साहित्य तक जितने भी आख्यान ग्रथ मिलते है या जिन्हे आख्यानक ग्रथ माना जाता है, उनमे से कोई एकाध 'अपेक्षाकृत अधिक वृत्तातपरक और तदनुसार विशुद्ध' हो तो हो, शेष कल्पनाप्रधान ही है। कथा और आख्यानक ग्रथो की तो बात ही क्या, चरितग्रथो और चरितकाव्यों तक मे कल्पना ने इतिहास को बुरी तरह आक्रांत कर रखा है।

डा० शभुनाथ सिह (हिंदी महाकाव्य का स्वरूपविकास, पृ० ६) ने आदिकालीन आख्यानक नृत्यगीतो से नृत्य, सगीत और आख्यान तीनो का विकास माना है। आगे चलकर (पृ० १०) उन्होंने यह भी कहा है कि इन आख्यानो का वस्तुतत्व पौराणिक, निजधरी, समसामयिक तथा कल्पित; इन चार प्रकार के पात्रो, घटनाओं और परिस्थितियो को लेकर गठित हुआ है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ४८) ने भी आख्यान को आख्यायिका से पृथक् एक लोकविधा माना है, यथा "परतु जनसाधारण का एक और विभाग, जिसमे धर्म का स्थान नही था, जो अपभ्रश साहित्य के पश्चिमी आकार से सीधे चला आ रहा था, जो गाँवो की बैठकों मे कथानक रूप से और गान रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधको ने पौराणिक आख्यानो के बदले हुए लोकप्रचलित कथानको का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।" वस्तुत आख्यान को आख्यायिका सिद्ध करने के कारण ही चतुर्वेदी जी को उक्त सब कुछ कहना करना पड़ा। इतना ही नही, भामहकालीन 'आख्यायिका' के इस लक्षण—उसमे नायक अपने वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन स्वय करता था—को आख्यान पर घटाने के लिये उन्हे 'प्रेम कहानी के मूल रूप मे आपबीती जैसी' भावना की क्लिष्ट कल्पना तक करनी पड़ी।

साहित्य निरतर गतिशील है। अत वह युगानुरूप अपनी विधाओ मे परिवर्तन, परिवर्धन, सशोधन तथा परिष्कार करता चलता है और लक्षण

साहित्यिक विधाओं को लेकर ही निश्चित किए जाते हैं, उनपर जबरदस्ती घटाए नहीं जा सकते। इसीलिये भामह के बाद दंडी ने काव्यादर्श (१।२३-२८) में कथा और आख्यायिका को एक ही श्रेणी की रचनाएँ मानते हुए कहा है कि कहानी नायक कहे या कोई और कहे, अध्याय का विभाजन हो या न हो, अध्यायों का नाम उच्छ्वास रखा जाय या लंभ, बीच में वक्त्र, अपरवक्त्र छंद आएँ अथवा न आएँ, कहानी में कोई अंतर नहीं पड़ता। अतः इन ऊपरी भेदों के कारण 'कथा' और 'आख्यायिका' में अंतर करना चाहिए। नवों शती (लगभग) में आचार्य रुद्रट ने तो तत्कालीन प्रचलित साहित्य के आधार पर यहाँ तक कह दिया था कि केवल संस्कृत में निबद्ध कथाओं के लिये गद्य में लिखने का बंधन है, परंतु अन्य भाषाओं में लिखी जानेवाली रचनाएँ पद्य में भी लिखी जा सकती है। यहाँ 'अन्य भाषाओं' से प्राकृत और अपभ्रंश की ओर इशारा किया गया है। अतः सिद्ध है कि युगानुरूप साहित्यिक विधाओं के मानदंड बदलते रहते है।

दंडी ने भी कथा और आख्यायिका के अंतर्गत समस्त आख्यान जाति (खंडकथा, परिकथा आदि) को अंतर्भुक्त माना है, यथा—

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयांकिता।
अत्रैवांतर्भविष्यंति शेषाश्चाख्यानजातयः॥
—काव्यादर्श (१।२८)

अतः स्पष्ट है कि दंडी के समय में भी आख्यान जातिवाचक शब्द था। महाभारत में अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानों का संकलन है, इसलिये इसे आख्यानकाव्य कहा गया होगा। रामायण को भी आख्यान संज्ञा देने का कारण संभवतः यही रहा हो।

हिंदी में 'आख्यान' शब्द प्रायः साधारण कथा या वृत्तांत के रूप में ही प्रयुक्त होता है। इसीलिये प्रेमाख्यानक काव्यों के अंतर्गत कथा (सत्यवती कथा), चरित (छिताई चरित), वार्ता (मधुमालती वार्ता), दूहा (ढोला मारू रा दूहा), चौपाई या चौपई (माधवानल कामकंदला चउपई), रास (बीसलदेव रास) आदि सभी काव्यविधाएँ प्राप्य हैं।

(कै० च० श०)

आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में ही हमें उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में (१०।७।२६) इतिहास तथा पुराण का उल्लेख मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रंथ के रूप में किया गया मिलता है। वेदों की व्याख्यानप्रणाली के विभिन्न संप्रदायों में यास्क ने ऐतिहासिकों के संप्रदाय का अनेक बार उल्लेख किया है जिनके अनुसार 'वृत्र' त्वाष्ट्र असुर की संज्ञा है और देवों के अधिपति इंद्र के साथ उसके घोर संघर्ष और तुमुल संग्राम का वर्णन ऋग्वेद के मंत्रों में किया गया है। इस संप्रदाय के व्याख्याकारों की संमति में वेदों में महत्वपूर्ण आख्यान विद्यमान है। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं है। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में है और कुछ किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते है। ऋग्वेद में इंद्र तथा अश्विन के विषय में भी अनेक आख्यान मिलते है जिनमें इन देवों की वीरता, पराक्रम तथा उपकार की भावना स्पष्ट अंकित की गई है। ऋग्वेद के भीतर ३० आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है जिनमें से कतिपय प्रख्यात आख्यान ये है—शुनःशेप (१।२४), अगस्त्य और लोपामुद्रा (१।१७९), गृत्समद (२।१२), वसिष्ठ और विश्वामित्र (३।५३, ७।३३ आदि), सोम का अवतरण (३।४३), त्र्यरुण और वृशजान (५।२), अग्नि का जन्म (५।११), श्यावाश्व (५।३२), बृहस्पति का जन्म (६।७१), राजा सुदास (७।१८), नहुष (७।९५), अपाला (८।९१), नाभानेदिष्ठ (१०।६१।६२), वृषाकपि (१०।८६), उर्वशी और पुरूरवा (१०।९५), सरमा और पणि (१०।१०८), देवापि और शंतनु (१०।९८), नचिकेता (१०।१३५)। इनके अतिरिक्त दानस्तुतियों में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध हैं जिनसे दान पाकर अनेक ऋषियों को उनकी स्तुति में मंत्र लिखने की प्रेरणा मिली। इन स्तुतियों में भी कतिपय आख्यानों की ओर स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं।

ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रंथों में भी आख्यानों का विवरण दिया गया है। इनमें से कतिपय आख्यान तो एकदम नवीन हैं, परंतु कुछ ऋग्वेद में संकेतित आख्यानों के ही परिबृंहित रूप हैं। ऋग्वेद से संबद्ध 'अनुक्रमणी साहित्य' में, विशेषतः बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी में, निरुक्त, नीतिमंजरी और सायण भाष्य में इन आख्यानों की विस्तृत घटनाओं का भी वर्णन हुआ है। पुराणों में भी ये आख्यान वर्णित है, परंतु इनकी घटनाओं में कहीं ह्रास और कहीं परिबृंहण दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र भी इनके विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते है। उदाहरणार्थ सोभरि काण्व का आख्यान, जो ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (८।१९, २०, २१, २२) में संकेतित है, भागवत में विस्तार से वर्णित है (भागवत, स्कंध ९, अ० ६।३८-५५)। श्यावाश्व आत्रेय का आख्यान ऋग्वेद में (५।६१) उल्लिखित होने के अतिरिक्त सांख्यायन श्रौतसूत्र (१६।११।१९) में भी निर्दिष्ट है। च्यवान (पुराणों में 'च्यवन') भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (१।११६, ११७, ११८, १०।३९) में संकीर्तित होकर तांड्य ब्राह्मण (१४।६।११), निरुक्त (४।१९), शतपथ ब्राह्मण (कांड ४) तथा श्रीमद्भागवत पुराण (९।३) में विस्तार के साथ वर्णित है। इस प्रकार वैदिक आख्यानों के विकास की विपुल सामग्री रामायण, महाभारत और पुराणों के भीतर रोचक विस्तार के साथ उपलब्ध होती है।

आख्यानों का तात्पर्य क्या है, इस प्रश्न के उत्तर के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अमरीकी विद्वान् डा० ब्लूमफील्ड ने उन विद्वानों के मत का खंडन किया है जिन्होंने इन आख्यानों की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी विद्वान् पुरूरवा के आख्यान के भीतर एक गंभीर रहस्य का दर्शन करते है। उनकी दृष्टि में पुरूरवा सूर्य और उर्वशी उषा है। उषा और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ा ही दीर्घ होता है। वियोगी होने पर सूर्य उषा की खोज में दिन भर घूमा करता है, तब कहीं जाकर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों का समागम होता है। प्राचीन भारत के वैदिकों (कुमारिल भट्ट, सायण आदि) की व्याख्या का यही रूप था। परंतु आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वंचित रखना न्याय्य और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

इन आख्यानों के अनुशीलन के विषय में दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है (क) ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारों को अग्रसर करते हैं और ऐसे व्यापारों का वर्णन करते है जो मानव समाज के कल्याणसाधन के नितांत समीप है। इनका अध्ययन मानव मूल्य के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिये उपादेय तत्वों का समावेश इन आख्यानों के भीतर करते है। (ख) उसी युग के वातावरण को ध्यान में रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारित करना चाहिए जिस युग में इन आख्यानों का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्यनिर्धारण करना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। इन तथ्यों की आधारशिला पर आख्यानों की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आख्यानों की शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि के निमित्त है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनों परस्पर संबद्ध है। मनुष्य यज्ञों में देवों के लिये आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा पूर्ण करते है और अपने प्रसादों की वृष्टि उनके ऊपर निरंतर करते है। इंद्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टांत है। यजमान के द्वारा दिए गए सोमरस का पान कर इंद्र नितांत प्रसन्न होते है और उसकी कामना को सफल बनाते हैं। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) का अपने वज्र से छिन्न भिन्न कर वे सब नदियों को प्रवाहित करते है। वृष्टि से मानव आप्यायित होते है। संसार में शांति विराजने लगती है। कालिदास ने इस वैदिक तथ्य को बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त किया है (रघुवंश, चतुर्थ सर्ग)।

प्रत्येक आख्यान के अंतस्तल में मानवों के शिक्षणार्थ तथ्य अंतर्निहित हैं। अपाला आत्रेयी (ऋग्वेद ८।९१) का आख्यान नारीचरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। राजा त्र्यरुण त्रैवृष्ण और वृशजान का आख्यान (ऋ० ५।२, तांड्य ब्राह्मण १३।३।१२, ऋग्विधान १२।५२, बृहद्देवता ५।१४।२३) वैदिक कालीन पुरोहित की महत्ता और गरिमा का स्पष्ट संकेत करता है। सोभरि काण्व का आख्यान (ऋ० ८।१९, ८।८१; निरुक्त ४।१५; भागवत ९।६) संतति के महत्व

का प्रतिपादन करता है। उषस्ति चाक्रायण (छांदोग्य, प्रथम प्रपाठक, खंड १०-११) का आख्यान अन्न के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। श्यावाश्व आत्रेय की कथा (ऋ० ५।६१) ऋषि के गौरव को, प्रेम की महिमा को तथा कवि की साधना को बड़ी सुंदर रीति से अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेदीय युग की यह प्रख्यात प्रणयकहानी है, जिसमें प्रेम की सिद्धि के लिये श्यावाश्व तपस्या के बल पर मंत्रद्रष्टा ऋषि बन जाते हैं। दध्यङ् आथर्वण का आख्यान (ऋ० १।११६।१२३, शतपथ १४।४।५।१३, बृहदारण्यक २।५, भागवत पुराण ६।१०) राष्ट्र के मंगल के लिये अपने जीवनदान को शिक्षा देकर हम क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का और राष्ट्र का कल्याण करने का गौरवमय उपदेश देता है। पुराण में इन्हीं का नाम ऋषि दधीचि है, जिन्होंने वृत्र को मारने के लिये इंद्र को अपनी हड्डियाँ वज्र बनाने के लिये देकर आर्य सभ्यता की रक्षा की थी। अनधिकारी को रहस्यविद्या के उपदेश का विषम परिणाम इस वैदिक आख्यान में दिखलाया गया है। इन सब आख्यानों के पीछे उपदेश है—ईश्वर में अटूट श्रद्धा तथा मानव से घनिष्ठ प्रेम।

कतिपय ऋषियों की चारित्रिक त्रुटियों तथा अनैतिक आचरणों का भी वर्णन वैदिक तथा उनका अनुसरण करनेवाले महाभारत और पुराणों में पाए जानेवाले आख्यानों में उपलब्ध होता है। ये कथानक अनैतिकता के गर्त में गिरने से बचाने के लिये ही निर्दिष्ट हैं।

पुराणों में भी ये ही आख्यान बहुश: वर्णित है, परंतु इनके रूप में वैषम्य है। तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक आख्यान कालांतर में परिवर्तित मनोवृत्ति अथवा विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति के कारण अपने विशुद्ध वैदिक रूप से नितांत विकृत रूप धारण कर लेते हैं। विकास की प्रक्रिया में अनेक अवांतर घटनाएँ भी उस आख्यान के साथ संश्लिष्ट होकर उसे एक नया रूप प्रदान करती हैं, जो कभी कभी मूल आख्यान के नितांत विरुद्ध सिद्ध होता है। शुन:शेप तथा वसिष्ठ विश्वामित्र के कथानकों का अनुशीलन इस सिद्धांत के प्रदर्शन में दृष्टांत प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद में निर्दिष्ट शुन:शेप का यह आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में नए रूप में, नवीन घटनाओं से संवलित होकर उपलब्ध होता है। अब यहाँ यह आख्यान आरंभ में राजा हरिश्चंद्र के पुत्र रोहिताश्व के साथ तथा कथांत में ऋषि विश्वामित्र के साथ संबद्ध होकर एक नवीन रूप धारण कर लेता है। उसके अन्य दो भाइयों की सत्ता, उसके पिता का दारिद्रय, उसके विक्रय आदि की समस्त घटनाएँ कथानक में रोचकता लाने के लिये पीछे से गढ़ी गई प्रतीत होती हैं। 'शुन:शेप' का अर्थ भी कुत्ते से कोई संबंध नहीं रखता। 'शुन' का अर्थ है सुख, कल्याण तथा 'शेप' का अर्थ है स्तंभ या खंभा। अत: 'शुन:शेप' का अर्थ ही है 'सौख्य का स्तंभ'। इस प्रकार यह कथानक वरुण के पाश से मुक्ति का संदेश देता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रशस्त बनाता है।

वसिष्ठ विश्वामित्र का आख्यान ऋग्वेद में स्वत: संकलित है। ये दोनों ऋषि संभवत: भिन्न भिन्न समय में राजा सुदास के पुरोहित थे। ये उस युग के ऋषि हैं जो चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र से बाहर माना जा सकता है। दोनों में परम सौहार्द्र तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता है। दोनों तपस्या से पूत, तेज के पुंज तथा अलौकिक शक्तिशाली महापुरुष हैं। परंतु अवांतर ग्रंथों—रामायण, पुराण, बृहद्देवता आदि—में दोनों के बीच एक महान् संघर्ष, वैमनस्य तथा विरोध दिखलाया गया है। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने के लिये लालायित और वसिष्ठ के द्वारा अंगीकृत न होने पर उनके पुत्रों के विनाशक के रूप में चित्रित किए गए हैं।

सं०ग्रं०—हरियप्पा : ऋग्वेदिक लीजेंड्स थ्रू दि एजेज, पूना, १९५३, बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, १९५८, मैकडोनल्ड . दि वैदिक माइथॉलाजी, स्ट्रासबर्ग, १९१८।

प्रख्यात आख्यान शुन:शेप का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में (१।२४, २५) बहुश: संकलित होने से सत्य घटना के ऊपर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३) में यह आख्यान बहुत विस्तार के साथ वर्णित है, जिसके आदि में राजा हरिश्चंद्र का और अंत में विश्वामित्र का संबंध जोड़कर इसे परिवर्धित किया गया है। वरुण की कृपा से ऐक्ष्वाकु नरेश हरिश्चंद्र को पुत्र उत्पन्न होना, समर्पण के समय उसका जंगल में भाग जाना, हरिश्चंद्र को उदररोग की प्राप्ति, रास्ते में अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुन:शेप का क्रय करना, देवताओं की कृपा से उसका बध्यपशु होने से बच जाना, विश्वामित्र के द्वारा उसका कृतकपुत्र बनाया जाना, आदि घटनाएँ प्रख्यात हैं।

उर्वशी और पुरूरवा का आख्यान वैदिक युग की एक रोमांचक प्रणयगाथा है। देवी होने पर भी उर्वशी का राजा पुरूरवा के प्रणयपाश में बद्ध होना, पृथ्वीतल पर महारानी के रूप में निवास तथा अंत में राजा को अपने विरह से संतप्त कर अंतर्धान होना आदि घटनाएँ नितांत प्रख्यात हैं। ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त (१०।९५) में पुरूरवा और उर्वशी का कथनोपकथन मात्र है, परंतु शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में यह कथानक रोचक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है तथा इस प्रणयकथा के अंकन में साहित्यिक सौंदर्य का भी परिचय मिलता है। विष्णुपुराण (४।६), मत्स्यपुराण (अध्याय २४) तथा भागवत (९।१४) में इसी कथा का रोचक विवरण हम पाते हैं। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में इस कथानक का नितांत मंजुल नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस आख्यान के विकास में एक विशेष तथ्य की सत्ता मिलती है। पुराणों ने मत्स्यपुराण का आधार लेकर इसे प्रणयगाथा के रूप में ही अंकित किया है। परंतु वैदिक आख्यान में पुरूरवा पागल प्रेमी न होकर यज्ञ का प्रचारक नरपति है। वह पहला व्यक्ति है जिसने श्रौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक त्रेता अग्नि) की स्थापना का रहस्य जानकर यज्ञ संस्था का प्रथम विस्तार किया। पुरूरवा के इस परोपकारी रूप की अभिव्यक्ति वैदिक आख्यान का वैशिष्टय है।

च्यवन भार्गव तथा **सुकन्या मानवी** का आख्यान भारतीय नारी-चरित्र का एक नितांत उज्वल दृष्टांत उपस्थित करता है। यह कथा ऋग्वेद के अश्विन से संबद्ध अनेक सूक्तों में संकेतित है (१।११६ तथा १।११७ आदि)। यही कथा तांड्य ब्राह्मण (१४।६।११) में, निरुक्त (४।१९) में, शतपथ (कांड ४) में तथा भागवत (स्कंध ९, अध्याय ३) में भी विस्तार से दी गई है। च्यवन का वैदिक नाम 'च्यवान' है। सुकन्या की वैदिक कहानी उसकी पौराणिक कहानी की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और आदर्शमयी है। पुराण में सुकन्या ऋषि की चमकती हुई आँखों को छेदकर स्वयं अपराध करती है और इसके लिये उसे दंड मिलना स्वाभाविक है। परंतु वेद में उसका त्याग उच्च कोटि का है। सैनिक बालकों द्वारा किए गए अपराध के निवारण के लिये सुकन्या वृद्ध च्यवन ऋषि को आत्मसमर्पण करती है। उसके दिव्य प्रेम से प्रभावित होकर अश्विनों ने च्यवन को वार्धक्य से मुक्त कर दिया और उन्हें नूतन यौवन प्रदान किया। (ब० उ०)

आख्यायिका द्र० 'आख्यान' एवं 'कथा'।

आगम १ यह शास्त्र साधारणतया 'तंत्रशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

निगमागममूलक भारतीय संस्कृति का आधार जिस प्रकार निगम (=वेद) है, उसी प्रकार आगम (=तंत्र) भी है। दोनों स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे के पोषक हैं। निगम कर्म, ज्ञान तथा उपासना का स्वरूप बतलाता है तथा आगम इनके उपायभूत साधनों का वर्णन करता है। इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने 'तत्ववैशारदी' (योगभाष्य की व्याख्या) में 'आगम' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है आगच्छंति बुद्धिमारोहंति अभ्युदयनि:श्रेयसोपाया यस्मात्, स **आगम**। आगम का मुख्य लक्ष्य 'क्रिया' के ऊपर है, तथापि ज्ञान का भी विवरण यहाँ कम नहीं है। 'वाराहीतंत्र' के अनुसार आगम इन सात लक्षणों से समन्वित होता है: सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (=शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) साधन तथा ध्यानयोग। 'महानिर्वाण' तंत्र के अनुसार कलियुग में प्राणी मेध्य (पवित्र) तथा अमेध्य (अपवित्र) के विचारों से बहुधा हीन होते हैं और इन्हीं के कल्याणार्थ महादेव ने आगमों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया। इसीलिये कलियुग में आगम की पूजापद्धति विशेष उपयोगी तथा लाभदायक मानी जाती है—**कलौ आगमसम्मत**। भारत के नाना धर्मों में आगम का साम्राज्य है। जैन धर्म में मात्रा में न्यून होने पर भी आगमपूजा का पर्याप्त समावेश है। बौद्ध धर्म का 'वज्रयान' इसी पद्धति का प्रयोजक मार्ग है। वैदिक धर्म में

उपास्य देवता की भिन्नता के कारण इसके तीन प्रकार हैं . वैष्णव आगम (पांचरात्र तथा वैखानस आगम), शैव आगम (पाशुपत, शैवसिद्धांत, त्रिक आदि) तथा शाक्त आगम। द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत की दृष्टि से भी इनमे तीन भेद माने जाते है। अनेक आगम वेदमूलक हैं, परतु कतिपय तत्वों के ऊपर बाहरी प्रभाव भी लक्षित होता है। विशेषत शाक्तागम के कौलाचार के ऊपर चीन या तिब्बत का प्रभाव पुराणो मे स्वीकृत किया गया है। आगमिक पूजा विशुद्ध तथा पवित्र भारतीय है। 'पंच मकार' के रहस्य का अज्ञान भी इसके विषय मे अनेक भ्रमो का उत्पादक है।

सं०ग्रं०—आर्थर एवेलेन शक्ति ऐंड शास्त्र, गणेश ऐंड क०, मद्रास, १९५२, चटर्जी काश्मीर शैविज्म, श्रीनगर, १९१६, बलदेव उपाध्याय . भारतीय दर्शन, काशी, १९५७। (ब० उ०)

जैन आगम—जैन दृष्टिकोण से भी आगमो का विचार कर लेना समीचीन होगा। जैन साहित्य के दो विभाग है, आगम और आगमेतर। केवल ज्ञानी, मनःपर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, चतुर्दशपूर्व के धारक तथा दशपूर्व के धारक मुनियों को आगम कहा जाता है। कही कही नवपूर्व के धारक को भी आगम माना गया है। उपचार से इनके वचनो को भी आगम कहा गया है। जब तक आगम बिहारी मुनि विद्यमान थे, तब तक इनका इतना महत्व नही था, क्योंकि तब तक मुनियो के आचार व्यवहार का निर्देशन आगम मुनियो द्वारा मिलता था। जब आगम मुनि नही रहे, तब उनके द्वारा रचित आगम ही साधना के आधार माने गए और उनमे निर्दिष्ट निर्देशन के अनुसार ही जैन मुनि अपनी साधना करते है।

आगम साहित्य भी दो भागों मे विभक्त है अंगप्रविष्ट और अंग-बाह्य। अंगो की संख्या १२ है। उन्हे गणिपिटक या द्वादशांगी भी कहा जाता है :

१—आचाराग	५—भगवती	९—अनुत्तरोपपातिकदशा
२—सूत्रकृताग	६—ज्ञाता	१०—प्रश्न व्याकरण
३—स्थानाग	७—उपासक दशाग	११—विपाक
४—समवायाग	८—अतकृत् दशा	१२—दृष्टिवाद

इनमे दृष्टिवाद का पूर्णत विच्छेद हो चुका है। शेष ग्यारह अंगो का भी बहुत सा अंश विच्छिन्न हो चुका है। उपलब्ध ग्रंथो का अंश-परिमाण इस प्रकार है

१—आचाराग	श्रुतस्कध (२)	अध्ययन (२५)	उद्देशक (५१)	चूलिका (३)	श्लोक (२,५००)

(जिसमे सातवे 'महापरिज्ञा' नामक अध्ययन का विच्छेद हो चुका है।)

२—सूत्रकृताग	श्रुतस्कध (२)	अध्ययन (२३)	उद्देशक (१५)	श्लोक (२,१००)
३—स्थानाग	स्थान (१०)	उद्देशक (२८)	श्लोक (३,७७०)	
४—समवायाग	श्रुतस्कध (१)	अध्ययन (१)	उद्देशक (१)	श्लोक (१,६६७)
५—भगवती	शतक (४०)	उद्देशक (१,९२३)	श्लोक (१५,७५२)	
६—ज्ञाता	श्रुतस्कध (२)	वर्ग (१०)	उद्देशक (२२५)	श्लोक (१५,७५२)
७—उपासक दशाग	अध्ययन (१०)	श्लोक (८१२)		
८—अतकृत् दशा	श्रुतस्कध (१)	वर्ग (८)	उद्देशक (९०)	श्लोक (९००)
९—अनुत्तरोपपातिक-दशाग	वर्ग (३)	अध्ययन (३३)	श्लोक (१,२९२)	
१०—प्रश्न व्याकरण	श्रुतस्कध (२)	अध्ययन (१०)	श्लोक (१,२५०)	
११—विपाक	श्रुतस्कध (२)	अध्ययन (२०)	श्लोक (१,२१६)	

अंगबाह्य—इसके अतिरिक्त जितने आगम हैं वे सब अंगबाह्य हैं; क्योंकि अंगप्रविष्ट केवल गणधरकृत आगम ही माने जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त आगम कवियो द्वारा रचित आगम अंगबाह्य माना जाता है। उनके नाम, अध्ययन, श्लोक आदि का परिमाण इस प्रकार है :

उपाग	१ औपपातिक	अधिकार (३)	श्लोक (१,२००)
	२ राजप्रश्नीय		श्लोक (२,०७८)
	३ जीवाभिगम	प्रतिपाति (९)	श्लोक (४,७००)
	४ प्रज्ञापना	पद (३६)	श्लोक (७,७८७)
	५ जबूद्वीप प्रज्ञप्ति	अधिकार (१०)	श्लोक (४,१८६)
	६ चद्रप्रज्ञप्ति	प्राभृत (२०)	श्लोक (२,२००)
	७ सूर्यप्रज्ञप्ति	प्राभृत (२०)	श्लोक (२,२००)
	८ कल्पिका	अध्ययन (१०)	
	९ कल्पावतसिका	(१०)	
	१० पुष्पिका	(१०)	
	११ पुष्पचूलिका	(१०)	
	१२ वह्निदशा	(१०)	

(इन पाँचो उपागो का सयुक्त नाम 'निरयावलिका' है। श्लोक १,१०९)

छेद	१ निशीथ	उद्देशक (२०)	श्लोक (८१५)	
	२ महानिशीथ	अध्ययन (७)	चूलिका (२)	श्लोक (४,५००)
	३ बृहत्कल्प	उद्देशक (६)	श्लोक (४७३)	
	४ व्यवहार	उद्देशक (१०)	श्लोक (६००)	
	५ दशाश्रुतस्कध	अध्ययन (१०)	श्लोक (१,८३५)	
		अध्ययन	चूलिका	श्लोक
मूल	१ दशवैकालिक	(१०)	(२)	(९०१)
	२ उत्तराध्ययन	(३६)	(२,०००)	
	३ नदी		(७००)	
	४ अनुयोगद्वार		(१,६००)	
	५ आवश्यक	(६)	(१२५)	
	६ ओघनिर्युक्ति		(१,१७०)	
	७ पिडनिर्युक्ति		(७००)	
प्रकीर्णक	१ चतु शरण	(१०)	(६३)	
	२ आतुर प्रत्याख्यान	(१०)	(६४)	
	३ भक्त प्रत्याख्यान	(१०)	(१७२)	
	४ सस्तारक	(१०)	(१२२)	
	५ तदुल वैचारिक	(१०)	(४००)	
	६ चद्रवैध्यक	(१०)	(३१०)	
	७ देवेद्रस्तव	(१०)	(२००)	
	८ गणिविद्या	(१०)	(१००)	
	९ महाप्रत्याख्यान	(१०)	(१३४)	
	१० समाधिमरण	(१०)	(७२०)	

आगमो की मान्यता के विषय मे भिन्न भिन्न परंपराएँ है। दिगबर आम्नाय में आगमेतर साहित्य ही है, वे आगम लुप्त हो चुके, ऐसा मानते

हैं। श्वेतांबर आम्नाय में एक परंपरा ८४ आगम मानती है, एक परपरा उपर्युक्त ४५ आगमो को आगम के रूप मे स्वीकार करती है तथा एक परपरा महानिशीथ ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति तथा १० प्रकीर्ण सूत्रो को छोडकर शेष ३२ का स्वीकार करती है।

विषय के आधार पर आगमो का वर्गीकरण :

भगवान् महावीर से लेकर आर्यरक्षित तक आगमो का वर्गीकरण नहीं हुआ था। प्रवाचक आर्यरक्षित ने शिष्यो की सुविधा के लिये विषय के आधार पर आगमो को चार भागो मे वर्गीकृत किया।

१—चरणकरणानुयोग
२—द्रव्यानुयोग
३—गणितानुयोग
४—धर्मकथानुयोग

चरणकरणानुयोग—इसमे आचार विषयक सारा विवेचन दिया गया है। आचार प्रतिपादक आगमो की सज्ञा चरणकरणानुयोग की गई है। जैन दर्शन की मान्यता है कि "नाणस्स सारो आयारो" ज्ञान का सार आचार है। ज्ञान की साधना आचार की आराधना के लिये होनी चाहिए। इस पहले अनुयोग मे आचाराग, दशवैकालिक आदि आगमो का समावेश होता है।

द्रव्यानुयोग—लोक के शाश्वत द्रव्यो की मीमासा तथा दार्शनिक तथ्यो की विवेचना करनेवाले आगमो के वर्गीकरण को द्रव्यानुयोग कहा गया है।

गणितानुयोग—ज्योतिष सबधी तथा भग (विकल्प) आदि गणित सबंधी विवेचन इसके अतर्गत आता है। चद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगम इसमे समाविष्ट होते है।

धर्मकथानुयोग—दृष्टात उपमा कथा साहित्य और काल्पनिक तथा घटित घटनाओ के वर्णन तथा जीवन-चरित्र-प्रधान आगमो के वर्गीकरण को धर्मकथानुयोग की सज्ञा दी गई है।

इन आचार और तात्विक विचारो के प्रतिपादन के अतिरिक्त इसके साथ साथ तत्कालीन समाज, अर्थ, राज्य, शिक्षा व्यवस्था आदि ऐतिहासिक विषयो का प्रासंगिक निरूपण बहुत ही प्रामाणिक पद्धति मे हुआ है।

भारतीय जीवन के आध्यात्मिक, सामाजिक तथा तात्विक पक्ष का आकलन करने के लिये जैनागमो का अध्ययन आवश्यक ही नही, किंतु दृष्टि देनेवाला है। (मु० मु०)

आगम २ (भाषा सबधी) एक प्रकार का भाषायी परिवर्तन है। इसका सबध मुख्य रूप मे ध्वनिपरिवर्तन से है। व्याकरण की आवश्यकता के बिना जब किसी शब्द मे कोई ध्वनि बढ जाती है तब उसे आगम कहा जाता है। यह एक प्रकार की भाषायी वृद्धि है। उदाहरणार्थ 'नाज' शब्द के आगे 'अ'-ध्वनि जोडकर 'अनाज' शब्द बनाया जाता है। वास्तव मे यहाँ व्याकरण की दृष्टि से 'अ'-की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि 'नाज' एव 'अनाज' शब्दो की व्याकरणात्मक स्थिति मे कोई अतर नही है। इसलिये 'अनाज' मे 'अ' स्वर का आगम समझा जायगा।

आगम तीन प्रकार का होता है

(१) स्वरागम, जिसमे स्वर की वृद्धि होती है।
(२) व्यजनागम, जिसमे व्यजन की वृद्धि होती है।
(३) अक्षरागम, जिसमे स्वर सहित व्यजन की वृद्धि होती है।

आगम शब्द की तीन स्थितियो मे हो सकता है

(१) शब्द के आरभ मे, अर्थात् आदि आगम।
(२) शब्द के मध्य मे, अर्थात् मध्य आगम।
(३) शब्द के अत मे, अर्थात् अत आगम।

नीचे हर प्रकार के आगम के उदाहरण दिए जा रहे है

स्वरागम

१ आदि आगम (अ + नाज = अनाज)।
२ मध्य आगम (कर्म + अ = करम)।
३. अत आगम (दवा + ई = दवाई)।

व्यंजनागम :

१ आदि आगम (ह + ओठ = होठ)।
२ मध्य आगम (शाप + -र्- = श्राप)।
३ अत आगम (भौ + ह = भौंह)।

अक्षरागम

१ आदि आगम (घुँ + गुजा = घुँगुची)।
२. मध्य आगम (खल + र् + अ = खरल)।
३ अत आगम (आँक + डा = आँकडा)।

(स० कु० रो०)

आगरा (अ० २७° १०' उ० और दे० ७८° ३' पू०, जनसख्या ६,३७,७८५ (१९७१ ई०)। यमुना के दाएँ किनारे पर स्थित उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध नगर है।

प्राचीन आगरा कदाचित् यमुना के बाएँ किनारे पर बसा था, पर उसका कोई चिह्न नही मिलता। इसका कारण नदी का मार्गपरिवर्तन बताया गया है। वर्तमान आगरा से १० या ११ मील दक्षिण पूर्व यमुना की एक प्राचीन छाडन (पुरानी तलहटी) मिलती है जिसके किनारे पर सभवत प्राचीन हिंदू नगर की स्थिति रही होगी। वर्तमान आगरा मुसलमानो की ही कृति है।

नगर का क्रमबद्ध इतिहास लोदी काल मे प्रारभ होता है। सिकदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी दोनो ने आगरा को ही राजधानी बनाया। सन् १५२६ ई० मे यह नगर मुगल साम्राज्य के सस्थापक बाबर के हाथ मे चला गया। परतु इसकी उन्नति उसके पोते अकबर के काल से प्रारभ हुई, जिसने १५७१ ई० मे आगरे के किले का निर्माण आरभ किया और उसका नाम अकबराबाद रखा। परतु किले की अधिकाश इमारते जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा निर्मित हुई है। इस काल मे नगर की दशा अच्छी बताई जाती है। उस समय नगर चहार-दीवारी से घिरा था जिसमे १६ प्रवेशद्वार तथा अनेक गुबज एव परकोटे थे। नगर का क्षेत्रफल लगभग ११ वर्ग मील था।

औरगजेब के काल मे, जब साम्राज्य की राजधानी दिल्ली हटा दी गई, आगरा की अवनति प्रारभ हो गई। १८वी शताब्दी के अतिम काल मे जाट, मरहठा, मुसलमान आदि कई वर्गो ने नगर पर अपना आधिपत्य रखने का प्रयत्न किया। अत मे १८०३ ई० मे आगरा ईस्ट इडिया कपनी के हाथ मे चला गया। जब उत्तरी भारत मे अग्रेजी राज्य का विस्तार बढ गया, आगरा को उत्तरी पश्चिमी सूबे (नॉर्थ वेस्टर्न प्राविसेज) की राजधानी बनाया गया। परतु सन् १८५७ ई० के गदर के पश्चात् इस प्रदेश की राजधानी इलाहाबाद बनी और तब से फिर आगरा को अपना प्राचीन गौरव प्राप्त न हो सका।

आगरा 'ताजमहल का नगर' कहलाता है, परतु यहाँ अन्य कई विशाल एव भव्य इमारते भी है जिनमे मुगलकालीन वास्तुकला की महत्ता प्रकट होती है। आगरे का किला १½ मील के वृत्त मे है, जिसमे स्थित मोती मसजिद तथा जहाँगीरी महल बहुत सुदर इमारते है। यमुना के उस पार एतमादेउद्दौला का मकबरा सुदरता मे ताजमहल से होड लेता है। नगर मे पाँच मील पश्चिम सिकदराबाद मे अकबर महान् का मकबरा है। इस इमारत का प्रारभ अकबर के जीवनकाल मे ही हो गया था जिसे जहाँगीर ने पूर्ण किया। परतु यहाँ की सबसे असाधारण वस्तु ताजमहल है जिसमे शाहजहाँ तथा उसकी पत्नी मुमताज बेगम की कब्र है। पूरी इमारत सगमरमर की बनी हुई है जिसकी छटा शरद्पूर्णिमा को देखते ही बनती है।

आगरा पश्चिमी उत्तर प्रदेश का सबसे बडा शिक्षाकेंद्र है। यहाँ का आगरा कालेज (१८२३ ई० मे स्थापित) प्रदेश के प्राचीनतम विद्यालयो मे से एक है। अन्य शिक्षासंस्थानो मे सेंट जॉन्स कालेज तथा बलवत राजपूत कालेज के नाम उल्लेखनीय है। प्रारभ मे इन विद्यालयो का सबध कलकत्ता तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयो से था, परतु १९२७ ई० मे आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् ये सस्थाएँ स्थानीय विश्वविद्यालय का अग बन गई है। आगरा विश्वविद्यालय अभी तक एक परीक्षक सस्था ही है। आगरा के निकट दयालबाग उपनगर राधा-

स्वामी संप्रदाय का मुख्य केंद्र है। आगरा की बनी दरियाँ एवं कालीन भारत भर में विख्यात हैं। चमड़े का काम भी यहाँ अच्छा होता है। (उ० सिं०)

आगस्ता संयुक्त राज्य, अमरीका के जार्जिया राज्य का एक नगर है जो सवाना नदी के किनारे उसके मुहाने से २०१ मील ऊपर बसा है और एक भीतरी बंदरगाह है। आगस्ता का औसत ताप जनवरी में ४०° फा० तथा जुलाई में ८१° फा० रहता है। इस नगर का विकास कृषि-कौशल, उद्योग और उत्तम केओलिन तथा चिकनी मिट्टी के आधिक्य के कारण हुआ है। इस क्षेत्र में कपास, अनाज, फल, सब्जी इत्यादि पैदा होती हैं तथा लुगदी और माल तैयार किए जाते हैं। यहाँ जाड़े की ऋतु समशीतोष्ण रहती है। यहाँ की आबादी १९६० में ७०,६२६ थी।

ऑगाइट खनिज की रचना मैगनीशियम, कैल्शियम तथा लोहे के सिलिकेटों से होती है। इसमें कुछ अल्युमीनियम भी पाया जाता है। ऑगाइट का रंग प्रायः काला होता है। यह रवों के रूप में मिलता है जिसमें विशेष चमक नहीं होती है। इस खनिज की कठोरता पाँच से छह तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.९ से ३.४ के बीच होता है। (नि० सिं०)

आगा खाँ आगा खाँ, प्रथम (१८००-१८८१), वास्तविक नाम हसन अलीशाह, फारस में जन्म, हजरत अली तथा उनकी पत्नी, हजरत मोहम्मद की पुत्री फातिमा के वंशज थे। उन्हें आगा खाँ की पदवी फारस के राजदरबार से मिली थी जो बाद में वंशपरंपरागत हो गई। हसन अलीशाह के पूर्वज फारस और मिस्र के राजवंश से संबंधित थे। स्वयं उनका विवाह फारस की राजकुमारी से हुआ था। फारस छोड़ने के पूर्व वे केरमान के गवर्नर जनरल थे, किंतु सम्राट् के रोषवश उन्हें जन्मभूमि त्याग भारत में अँगरेज सरकार का आश्रय ग्रहण करना पड़ा था। अफगानिस्तान तथा सिंध में अँगरेज सरकार का प्रभुत्व स्थापित कराने में उन्होंने बहुत बड़ी सहायता की। सिंध में उनका धार्मिक प्रभाव भी यथेष्ट मात्रा में स्थापित हो गया था। भारत सरकार ने उन्हें इस्लाम के इस्माइलिया संप्रदाय का इमाम स्वीकार कर उन्हें पेंशन प्रदान की थी। स्पष्टतः यह हसन अलीशाह के धार्मिक प्रभाव की स्वीकृति का ही नहीं, बल्कि अँगरेजों को प्रदत्त सहायता का भी परिणाम था। वे अंत तक भारत में अँगरेजी राज्य के प्रबल समर्थक बने रहे। उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रदेश पर, तथा सन् १८५७ की क्रांति में भी उन्होंने अँगरेजों को यथेष्ट सहायता की। अंत में उन्होंने बंबई को अपना निवासस्थान बना लिया जहाँ उन्होंने घुड़दौड़ के अभिभावक के रूप में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की। मृत्युपर्यंत वे भारत के इस्माइलियों का ही नहीं, वरन् अफगानिस्तान, खुरासान, अरब, मध्य एशिया, सीरिया, मोरक्को आदि देशों में इस्माइली अनुयायियों का धार्मिक मार्गप्रदर्शन करते रहे। उनका व्यक्तित्व योद्धा राजनीतिज्ञ, धार्मिक नेता तथा खिलाड़ी का अद्भुत सम्मिश्रण था।

आगा खाँ द्वितीय—आगा अलीशाह (मृत्यु १८८५) आगा खाँ प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र थे। १८८१ में वे आगा खाँ द्वितीय घोषित किए गए, किंतु १८८५ में उनकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का असामयिक निधन हो गया। वे बंबई काउंसिल के सदस्य भी थे।

आगा खाँ तृतीय—वास्तविक नाम मोहम्मद शाह, (१८७७-१९५७), अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। आठ वर्ष की अवस्था में वे आगा खाँ घोषित हुए। नौ वर्ष की अवस्था में भारत सरकार द्वारा उन्हें एक हजार रुपए मासिक की आजीवन पेंशन तथा 'हिज हाइनेस' की पदवी प्रदान की गई। अपनी विदुषी माता की देखरेख में उनकी प्रारंभिक शिक्षा पूर्ण हुई। पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा का भी उन्हें पूर्ण अनुभव प्राप्त हुआ। युवावस्था में ही उन्होंने देश की राजनीति में भाग लेना आरंभ कर दिया था। १९०६ में उन्होंने मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल के प्रमुख की हैसियत से वाइसराय लार्ड मिंटो के संमुख मुस्लिम समाज के भारतीय राजनीति में अधिकाधिक भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करने के निमित्त आवेदनपत्र प्रस्तुत किया था। वे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के सभापति भी निर्वाचित किए गए थे। वे अंग्रेजी राज्य के प्रबल समर्थक थे। प्रत्येक ऐसे अवसर पर जब ब्रिटिश साम्राज्य—तुर्की इतालवी युद्ध से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक—संकटग्रस्त हुआ, आगा खाँ ने अंग्रेजों की मौखिक और सक्रिय सहायता की तथा मुसलमानों को, विशेष रूप से अपने अनुयायियों को, अंग्रेजों का पक्ष ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, की संस्थापना का आगा खाँ को बहुत बड़ा श्रेय है। १९१९ में इंडिया ऐक्ट के अंतिम रूपनिर्माण में उनका हाथ था। १९३०-३१ की इंग्लैंड में आयोजित राउंड टेबुल कानफ्रेंस में वे ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधिमंडल के प्रमुख थे। १९३२ की अखिल विश्व निरस्त्रीकरण कानफरेंस के सदस्य थे। १९३७ में वे जिनीवा स्थित राष्ट्रसंघ की असेंबली के सभापति निर्वाचित हुए थे। इस प्रकार राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आगा खाँ ने प्रमुख भाग लिया था। किंतु उनके विचार या कार्यप्रणाली में धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता तथा देश के प्रति उदासीनता का लेश न था। मुस्लिम समाज पर उन्होंने हमेशा शांतिवादी प्रभाव डालने का ही प्रयत्न किया। तभी देश के सम्माननीय राजनीतिज्ञों में उनकी गणना हुई। आगा खाँ के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक रोचक प्रसंग यह भी है कि घोड़े पालने तथा घुड़दौड़ के अभिभावक के नाते उन्होंने विश्वख्याति अर्जित की। उनका अस्तबल संसार के सर्वश्रेष्ठ अस्तबलों में गिना जाता था और संसार की सर्वश्रेष्ठ घुड़दौड़ प्रतियोगिता में उनके घोड़ों ने अनेक बार विजय प्राप्त की। स्विट्ज़रलैंड में ११ जुलाई, १९५७ को उनकी मृत्यु हुई।

आगा खाँ चतुर्थ (१९३६-) आगा खाँ तृतीय की मृत्यु के बाद उनके वसीयतनामे के अनुसार, उनके पुत्र राजकुमार अली खाँ को उत्तराधिकार अस्वीकृत कर, अली खाँ के पुत्र करीम अल् हुसैनी को आगा खाँ घोषित किया गया (१३ जुलाई, १९५७)। इनकी शिक्षा दीक्षा इंग्लैंड तथा अमरीका में संपन्न हुई है। (रा० ना०)

आगासी प्रसिद्ध प्रकृतिवादी, विख्यात भूशास्त्री तथा आदर्शवादी शिक्षक जीन लुई रोडोल्फ आगासी का जन्म स्विट्ज़रलैंड में मोराट झील के तट पर २० मई, १८०७ को हुआ था। बचपन से ही आपकी अभिरुचि प्राणिशास्त्र के अध्ययन में थी। लोजान में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आपने जूरिक, हाइडेलबर्ग और म्यूनिख विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। हाइडेलबर्ग से आपने 'डॉक्टर ऑव फिलॉसफी' की उपाधि प्राप्त की। १८३० में आपको म्यूनिख विश्वविद्यालय से डॉक्टर आव मेडिसिन की उपाधि मिली।

तत्पश्चात् आगासी पेरिस गए। वहाँ आपको क्यूवियर के साथ काम करने का अवसर मिला। शीघ्र ही आपकी नियुक्ति न शाटेल नगर में प्रोफेसर के पद पर हो गई। १८४६ में आपको बोस्टन के लोवेल इंस्टिट्यूट में भाषणमाला देने का निमंत्रण मिला। इस कार्य में आपका अभूतपूर्व सफलता मिली और शीघ्र ही दूसरी भाषणमाला देने के लिये आपको चार्ल्सटन जाना पड़ा। आपकी ख्याति चारों ओर फैल गई। हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने १८४८ में प्राणिशास्त्र विज्ञान में प्रोफेसर के पद पर आपकी नियुक्ति की। तब से जीवनपर्यंत आपने, तन, मन, धन से इस विश्वविद्यालय की सेवा की।

आपका सबसे महान् ग्रंथ 'रिसर्च सु ले प्वासों फोसिल' सन् १८३३ से १८४२ के बीच पाँच भागों में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में पुराजीव, मछलियों तथा अन्य परिमृत (एक्सटिंक्ट) जीवों का वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त आपकी अन्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं

सिलेक्टा जेनेरा ए स्पिसीज पिसियम, हिस्ट्री ऑव दि फ्रेश वाटर फिशेज ऑव सेंट्रल यूरोप, एतूद सु ले ग्लासिए, कंट्रिब्यूशंस टु दि नैचुरल हिस्ट्री ऑव युनाइटेड स्टेट्स, मेथड्स ऑव स्टडी इन नैचुरल हिस्ट्री, जिऑलॉजिकल स्केचेज, द स्ट्रक्चर ऑव ऐनिमल लाइफ, ए जर्नी टु ब्रैज़ील, गेन एसे इन क्लासिफिकेशन।

१२ दिसंबर, १८७३ को आपकी मृत्यु हो गई। (म० ना० मे०)

आग्नेय भाषापरिवार संसार की विभिन्न भाषाओं की तुलना कर, उनमें पाई जानेवाली समानताओं एवं ऐतिहासिक संबंध के आधार

पर उन्हें विभिन्न समूहों में विभाजित किया गया है। संबंधित भाषाओं के ऐसे समूहों को 'भाषापरिवार' कहा जाता है। ससार के ऐसे भाषा-परिवारों में एक प्रसिद्ध परिवार है 'आग्नेय भाषापरिवार'।

आग्नेय का अर्थ है अग्निदिशा (पूर्व एव दक्षिण दिशा के मध्य) से सबधित अथवा अग्निदिशा मे स्थित। अत आग्नेय भाषापरिवार से तात्पर्य ऐसे भाषापरिवार से है जिसकी भाषाएँ मुख्य रूप से पूर्व एव दक्षिण के मध्य बोली जाती है। इस परिवार का प्रसिद्ध नाम 'आस्ट्रोएशियाटिक' है। पेटर श्मिट ने 'आस्ट्रोनेशियन' अथवा 'मलय-पोलीनेशियन' (द्र० 'आस्ट्रोनेशियन') परिवार को आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार से जोडकर एक बृहत् भाषापरिवार की कल्पना की जिसे उन्होने 'आस्ट्रिक' परिवार का नाम दिया। क्षेत्र की दृष्टि से आस्ट्रिक परिवार संसार का सबसे विस्तृत भाषापरिवार है। पश्चिम मे मैडागास्कर से लेकर पूर्व मे पूर्वी द्वीपसमूह तक तथा उत्तर पश्चिम मे पजाब के उत्तरी भाग से लेकर दक्षिण पूर्व मे न्यूज़ीलैंड तक इस भाषापरिवार का फैलाव है।

इस प्रकार आस्ट्रिक परिवार के मुख्य दो वर्ग हैं—(१) आस्ट्रोनेशियन, (२) आस्ट्रो-एशियाटिक। आस्ट्रोनेशियन अथवा मलय-पोलीनेशियन वर्ग की भाषाएँ प्रशांत महासागर के द्वीपो मे फैली हुई है। इन भाषाओं के भी कई समूह है, जिनमे मुख्य समूह है इडोनेशियन, मलेनेशियन, मैक्रोनेशियन एव पोलीनेशियन। आस्ट्रोनेशियन वर्ग के विवेचन में न्यूगिनी एव आस्ट्रेलिया की कुछ मूल भाषाओं का भी उल्लेख किया जाता है क्योंकि इन भाषाओं मे कुछ विशेषताएँ आस्ट्रोनेशियन वर्ग की है।

आस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग की भाषाएँ मध्यभारत के छोटा नागपुर प्रदेश से लेकर अनाम तक फैली हुई है। इसकी मुख्य तीन शाखाएँ है (१) मुडा, (२) मानख्मेर, (३) अनामी।

मुडा (जिसे 'कोल' भी कहा जाता है) भाषाओं का क्षेत्र मुख्य रूप से भारत है। इसके दो भाग है। एक तो हिमालय की तराईवाला भाग जिसकी सीमा शिमला की पहाडियों तक है तथा दूसरा मध्यभारत का छोटा नागपुरवाला भाग। इस शाखा की मुख्य उपभाषाएँ हैं : सथाली, मुडारी, कनावरी, खडिया, हो एव शबर। मुडा भाषाओं का भारतीय भाषाओं पर पर्याप्त प्रभाव है। (द्र० 'मुडा')।

मानख्मेर शाखा की भाषाएँ, वर्तमान समय मे मुख्य रूप से स्याम, बर्मा और भारत मे बोली जाती हैं। इस शाखा की दो मुख्य भाषाएँ है—मान एव ख्मेर। मान का क्षेत्र बर्मा की मरतबान खाड़ी का तटवर्ती भाग है। यह किसी समय बड़ी समृद्ध साहित्यिक भाषा थी। मान के शिलालेख ११वी शताब्दी के आसपास के है। ख्मेर का क्षेत्र बर्मा एव स्याम है। ख्मेर भाषा के शिलालेख ७वी शताब्दी के आसपास के है। भारत के आसाम प्रदेश की खासी पहाडियों पर बोली जानेवाली 'खासी' अथवा 'खसिया' (कई बातो मे भिन्न होने पर भी) इसी शाखा से सबध रखती है। निकोबार की 'निकोबारी' एव बर्मा के वनो मे बोली जानेवाली 'पलौंग' आदि भाषाओं का सबध भी इस शाखा से है।

अनामी अनाम प्रदेश की भाषा है जो मुख्य रूप से हिंदचीन के पूर्वी किनारे के भागो मे बोली जाती है। यह एक प्रकार मे मिश्रित भाषा है, जिसमे कुछ विशेषताएँ मानख्मेर शाखा की एव कुछ विशेषताएँ चीनी भाषा की हैं। इसलिये कुछ लोग इसकी गणना इस परिवार मे न कर चीनी परिवार मे करते है।

एक ही परिवार की होने पर भी इस परिवार की भाषाओं मे पर्याप्त भिन्नता है। यो मुख्य रूप से ये भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ है किंतु साथ ही कुछ भाषाओं मे अयोगात्मक (एकाक्षरी) भाषाओं के लक्षण भी दिखाई पडते है। (स० कु० रा०)

आग्नेयास्त्र द्र० 'आयुध'।

आज्ञाचक्र द्र० 'चक्र' एव 'योग'।

आचारशास्त्र (एथिक्स) आचारशास्त्र को व्यवहारदर्शन, नीतिदर्शन, नीतिविज्ञान आदि नाम भी दिए जाते है। मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन अनेक शास्त्रो मे अनेक दृष्टियो से किया जाता है। मानवव्यवहार, प्रकृति के व्यापारो की भाँति, कार्य-कारण-शृंखला के रूप मे होता है और उसका कारणमूलक अध्ययन एव व्याख्या की जा सकती है। मनोविज्ञान यही करता है। किंतु प्राकृतिक व्यापारो को हम अच्छा या बुरा कहकर विशेषित नही करते। रास्ते मे अचानक वर्षा आ जाने से भीगने पर हम बादलो को कुवाच्य नही कहने लगते। इसके विपरीत साथी मनुष्यों के कर्मों पर हम बराबर भले बुरे का निर्णय देते है। इस प्रकार निर्णय देने की सार्वभौम मानवीय प्रवृत्ति ही आचारदर्शन की जननी है। आचारशास्त्र मे हम व्यवस्थित रूप से चिंतन करते हुए यह जानने का प्रयत्न करते है कि हमारे अच्छाई बुराई के निर्णयो का बुद्धिग्राह्य आधार क्या है। कहा जाता है, आचारशास्त्र नियामक अथवा आदर्शान्वेषी विज्ञान है, जब कि मनोविज्ञान यथार्थान्वेषी शास्त्र है। निश्चय ही शास्त्रो के इस वर्गीकरण मे कुछ तथ्य है, पर वह भ्रामक भी हो सकता है। उक्त वर्गीकरण यह धारणा उत्पन्न कर सकता है कि आचारदर्शन का काम नैतिक व्यवहार के नियमो का अन्वेषण तथा उद्घाटन नही है, अपितु कृत्रिम ढग से वैसे नियमो को मानव समाज पर लाद देना है। किंतु यह धारणा गलत है। नीतिशास्त्र जिन नैतिक नियमो की खोज करता है वे स्वय मनुष्य की मूल चेतना मे निहित है। अवश्य ही यह चेतना विभिन्न समाजों तथा युगो मे विभिन्न रूप धारण करती दिखाई देती है। इस अनेकरूपता का प्रधान कारण मानव प्रकृति की जटिलता तथा मानवीय श्रेय की विविधरूपता है। विभिन्न देशकालो के विचारक अपने अपने समाजो के प्रचलित विधि-निषेधो मे निहित नैतिक पैमानो का ही अन्वेषण करते है। हमारे अपने युग मे ही, अनेक नई पुरानी संस्कृतियो के सम्मिलन के कारण, विचारको के लिये यह सभव हो सकता है कि वे अनगिनत रूढ़ियो तथा सापेक्ष्य मान्यताओं से ऊपर उठकर वस्तुत सार्वभौम नैतिक सिद्धातो के उद्घाटन की ओर अग्रसर हो।

नीतिशास्त्र का मूल प्रश्न क्या है, इस सबध मे दो महत्वपूर्ण मत पाए जाते है। एक मतव्य के अनुसार नीतिशास्त्र की प्रधान समस्या यह बतलाना है कि मानव जीवन का परम श्रेय (समम बोनम) क्या है। परम श्रेय का बोध हो जाने पर हम शुभ कर्म उन्हे कहेंगे जो उस श्रेय की ओर ले जानेवाले है, विपरीत कर्मों को अशुभ कहा जायगा। दूसरे मतव्य के अनुसार नीतिशास्त्र का प्रधान कार्य शुभ या धर्मसमत (राइट) की धारणा को स्पष्ट करना है। दूसरे शब्दो मे, नीतिशास्त्र का कार्य उस नियम या नियमसमूह का स्वरूप स्पष्ट करना है जिस या जिनके अनुसार अनुष्ठित कर्म शुभ अथवा धार्मिक होते है। ये दो मतव्य दो भिन्न कोटियो की विचारपद्धतियो को जन्म देते है।

परम श्रेय की कल्पना अनेक प्रकार से की गई है, इन कल्पनाओं अथवा सिद्धांतो का वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ हम सक्षेप मे यह विमर्श करेंगे कि नैतिकता के नियम—यदि वैसे कोई नियम होते है तो—किस कोटि के हो सकते है। नियम या कानून की धारणा या तो राज्य के दडविधान से आती है या भौतिक विज्ञानों से, जहाँ प्रकृति के नियमो का उल्लेख किया जाता है। राज्य के कानून एक प्रकार के शासको की न्यूनाधिक नियत्रित इच्छा द्वारा निर्मित होते है। वे कभी कभी कुछ वर्गों के हित के लिये बनाए जाते है, उन्हे तोडा भी जा सकता है और उनके पालन से भी कुछ लोगो को हानि हो सकती है। इसके विपरीत प्रकृति के नियम अखडनीय होते है। राज्य के नियम बदले जा सकते है, किंतु प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय हैं। नीति या सदाचार के नियम अपरिवर्तनीय, पालनकर्ता के लिये कल्याणकर एव अखडनीय समझे जाते है। इन दृष्टियो से नीतिशास्त्र के नियम स्वास्थ्यविज्ञान के नियमो के पूर्णतया समान होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य अथवा मानव प्रकृति दो भिन्न कोटियो के नियमो के नियत्रण मे व्यापृत होती है। एक ओर तो मनुष्य उन कानूनों का वशवर्ती है जिनका उद्घाटन या निरूपण भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि तथ्यान्वेषी (पाजिटिव) शास्त्रो मे होता है और दूसरी ओर स्वास्थ्यविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि आदर्शान्वेषी विज्ञानो के नियमो का, जिनसे वह बाध्य तो नही होता, पर जिनका पालन उसके सुख तथा उन्नति के लिये आवश्यक है। नीतिशास्त्र के नियम इस दूसरी कोटि के होते है।

नीतिशास्त्र की समस्याओं को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं : (१) परम श्रेय का स्वरूप क्या है ? (२) परम श्रेय अथवा शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत या साधन क्या है ? (३) नैतिक आचार की अनिवार्यता के आधार (सैंक्शन) क्या है ? परम श्रेय के बारे में पूर्व और पश्चिम मे अनेक कल्पनाएँ की गई है। भारत मे प्राय सभी दर्शन यह मानते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य सुख है, किंतु उनमे से अधिकाश की सुख सबधी धारणा तथाकथित सौख्यवाद (हेडॉनिज्म) से नितात भिन्न है। इस दूसरे या प्रचलित अर्थ मे हम केवल चार्वाक दर्शन को सौख्यवादी कह सकते है। चार्वाक के नैतिक मतव्यो का कोई व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नही है, किंतु यह समझा जाता है कि उसके सौख्यवाद मे स्थूल ऐंद्रिय सुख को ही महत्व दिया गया है। भारत के दूसरे दर्शन जिस आत्यतिक सुख का जीवन का लक्ष्य कहते है उसे अपवर्ग, मुक्ति या मोक्ष अथवा निर्वाण से समीकृत किया गया है। न्याय तथा सांख्य दर्शनो मे जिस अपवर्ग या मुक्ति की कल्पना की गई है, उसे भावात्मक सुखरूप नही कहा जा सकता किंतु उपनिषदो तथा वेदात की मुक्तावस्था आनदरूप कही जा सकती है। वेदात की मुक्ति तथा बौद्धो का निर्वाण, दोनो ही उस स्थिति के द्योतक है जब व्यक्ति की आत्मा सुख दु ख आदि द्वद्वो से परे हो जाती है। यह स्थिति जीवनकाल मे भी आ सकती है, जिसे भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञ कहा गया है वह एक प्रकार से जीवन्मुक्त ही कहा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शनो मे परम श्रेय के सबध मे अनेक मतवाद पाए जाते है (१) सौख्यवादी सुख को जीवन का ध्येय घोषित करते है। सौख्यवाद के दो भेद है, व्यक्तिपरक सौख्यवाद तथा सार्वभौम सौख्यवाद। प्रथम के अनुसार व्यक्ति के प्रयत्ना का लक्ष्य स्वय उसका सुख है। दूसरे के अनुसार हमे सबके सुख अथवा 'अधिकाश मनुष्यो के अधिकतम सुख' को लक्ष्य मानकर चलना चाहिए। कुछ विचारको के अनुसार सुखो म सिर्फ मात्रा का भेद होता है, दूसरो के अनुसार उनम घटिया बढ़िया का, अर्थात् गुणात्मक अतर भी रहता है। (२) अन्य विचारको के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य एव परम श्रेय पूर्णत्व है, अर्थात् मनुष्य की विभिन्न क्षमताओ का पूर्ण विकास। (३) कुछ अध्यात्मवादो अथवा प्रत्ययवादी चिंतको ने आत्मलाभ (सेल्फ रियलाइजेशन) को जीवन का ध्येय माना है। उनके अनुसार आत्मलाभ का अर्थ है आत्मा के बौद्धिक एव सामाजिक अगो का पूर्ण विकास तथा उपभोग। (४) कुछ दार्शनिको के मत मे परम श्रेय कर्तव्यरूप या धर्मरूप है, नैतिक क्रिया का लक्ष्य स्वय नैतिकता या धर्म ही है।

हमारे परम श्रेय अथवा शुभ अशुभ के ज्ञान का साधन या स्रोत क्या है, इस सबध मे भी विभिन्न मतवाद है। अधिकाश प्रत्ययवादियो के मत मे भलाई बुराई का बोध बुद्धि द्वारा होता है। हेगेल, ब्रैडले आदि का मत यही है और काट का मतव्य भी इसका विरोधी नही है। काट मानते हैं कि अतत हमारी कृत्यबुद्धि (प्रैक्टिकल रीजन) ही नैतिक आदेशो का स्रोत है। अनुभववादियो के अनुसार हमारे शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत अनुभव ही है। यह मत नैतिक सापेक्षतावाद (एथिकल रिलेटिविटिज्म) को जन्म देता है। तीसरा मत प्रतिभानवाद अथवा अपरोक्षतावाद (इटुइशनिज्म) है। इस मत के अनुसार हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति है जो साक्षात् ढग से शुभ अशुभ को पहचान या जान लेती है। प्रतिभानवाद के अनेक रूप हैं। शैफ्ट्सबरी और हचेसन नामक ब्रिटिश दार्शनिको का विचार था कि रूप रस आदि को ग्रहण करनेवाली इद्रियो की ही भाँति हमारे भीतर एक नैतिक इद्रिय (मॉरल सेंस) भी होती है जो सीधे भलाई बुराई को देख लेती है। बिशप बटलर नाम के विचारक के मत मे हमारे अदर सदसद्बुद्धि (कांश्यस) नाम की एक प्रेरक वृत्ति होती है जो स्वार्थ तथा परार्थ के बीच उठनेवाले द्वद्व का समाधान करती हुई हमे औचित्य का मार्ग दिखलाती है। हमारे आचरण की अनेक प्रेरक वृत्तियाँ हैं, एक वृत्ति आत्मप्रेम (सेल्फ लव) है, दूसरी पर-हित-आकाक्षा (बेनीवोलेंस)। सदसद्बुद्धि का स्थान इन दोनो से ऊपर है, वह इन दोनो के ऊपर निर्णायक रूप मे प्रतिष्ठित है। जर्मन विचारक काट की गणना प्रतिभानवादियो मे भी की जाती है। प्रतिभानवादी नैतिक सिद्धातो का एक सामान्य लक्षण यह है कि वे किसी कार्य की भलाई बुराई के निर्णय के लिये उसके परिणामो पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। कोई कर्म इसलिये शुभ या अशुभ नही बन जाता कि उसके परिणाम एक या दूसरी कोटि के है। किसी कार्य के समस्त परिणामों की पूर्वकल्पना वैसी ही कठिन है जैसा कि उनपर नियत्रण कर सकना। कर्म की अच्छाई बुराई उसकी प्रेरणा (मोटिव) से निर्धारित होती है। जिस कर्म के मूल में शुभ प्रेरणा है वह सत् कर्म है, अशुभ प्रेरणा म जन्म लेनेवाला कर्म असत् कर्म या पाप है। काट का कथन है कि शुभ सकल्पबुद्धि (गुडविल) एक ऐसी चीज है जो स्वय श्रेयरूप है, जिसका श्रेयत्व निरपेक्ष एव निश्चित है, शेष सब वस्तुओ का श्रेयत्व सापेक्ष होता है। केवल शुभ सकल्पशक्ति ही अपनी श्रेयरूप ज्योति से प्रकाशित होती है।

नैतिक शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत क्या है, इस सबध मे भारतीय विचारको ने भी कई मत प्रकट किए है। मीमासा दर्शन के अनुसार श्रुति द्वारा प्रेरित आचार ही धर्म है और श्रुति या वेद द्वारा निषिद्ध कर्म अधर्म। इस प्रकार धर्म एव अधर्म श्रुतियो के विधि-निषेध-मूलक हैं। भगवद्गीता मे निष्काम कर्मयोग की शिक्षा के साथ साथ यह बतलाया गया है कि कर्तव्या-कर्तव्य की जानकारी के लिये शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के अतर्गत श्रुति तथा स्मृति दोनो का परिगणन होता है। हिंदू धर्म म प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिये अलग अलग कर्तव्यो का निर्देश किया गया है, इन कर्तव्यों का विशद विवेचन धर्मसूत्रो तथा स्मृतिग्रथो मे मिलता है। इस कोटि के कर्तव्यो के अतिरिक्त सामान्य धर्म अथवा सार्वभौम धर्मनियमो के बोध के लिये अतरात्मा को भी प्रमाण माना गया है। सज्जनों के आचार को पथप्रदर्शक रूप मे स्वीकार किया गया है।

नैतिक आचरण की अनिवार्यता के आधार भी अनेक रूपो मे कल्पित हुए है। मनुष्य के इतिहास मे नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण नियामक धर्म (रिलीजन) रहा है। हमे नैतिक नियमो का पालन करना चाहिए, क्योकि वैसा ईश्वर या धर्मव्यवस्था को इष्ट है। सदाचार की दूसरी नियामक शक्ति राज्य है। लोगो को अनैतिक कार्यों से विरत करने म राजाज्ञा एक महत्वपूर्ण हेतु होती है। इसी प्रकार समाज का भय भी नैतिक नियमो को शक्ति देता है। काट के अनुसार हमें स्वय धर्म के लिये धर्म करना चाहिए, कर्तव्यपालन स्वय अपने मे इष्ट या साध्य वस्तु है। जो विचारक कर्तव्या-कर्तव्य को परमश्रेय की अपेक्षा से रक्षित करते है, वे कह सकते है कि नैतिक आचरण की प्रेरणा मूलत. आत्मोन्नति की प्रेरणा है। हम शुभ कर्म करते हैं, क्योकि वैसा करने से हम अपने परम श्रेय की ओर प्रगति करते है।

कर्तृस्वातत्र्य बनाम निर्धारणवाद नीतिशास्त्र की एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि क्या मनुष्य कर्म करने मे स्वतत्र है ? जब हम एक व्यक्ति को उसके किसी कार्य के लिये भला बुरा कहते है, तब स्पष्ट ही उसे उस कार्य के लिये उत्तरदायी मान लेते हैं, जिसका मतलब होता है यह प्रच्छन्न विश्वास कि वह व्यक्ति विचाराधीन कार्य करने न करने के लिये स्वतत्र था। काट कहते हैं चूंकि मुझे करना चाहिए, इसलिये मैं कर सकता हूँ। तात्पर्य यह कि कर्ता की स्वतत्रता को माने बिना नैतिक जीवन एव नैतिक मूल्याकन की व्यवस्था सभव नही दीखती। हम प्रकृति के व्यापारो को भला बुरा नही कहते, केवल मनुष्य के कर्मों पर ही वैसा निर्णय देते है, इससे जान पड़ता है कि प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारो मे कुछ अतर है। यह अंतर मनुष्य की स्वतत्रता के कारण है। किसी क्रिया के अनुष्ठान को इच्छा का विषय बनाने न बनाने मे मनुष्य की सकल्पबुद्धि (विल) स्वतत्र है।

निर्धारणवाद (डिटरमिनिज्म) के पोषको को उक्त मत ग्राह्य नही है। भौतिक विज्ञान बतलाता है कि विश्वब्रह्माड मे सर्वत्र कार्य-कारण-नियम का अखड शासन है। प्रत्येक वर्तमान घटना का निर्धारण अतीत हेतुओ (कडिशस) से होता है। सपूर्ण विश्व एक बृहत् कार्य-कारण-परपरा है। सब प्रकार की घटनाएँ अखड नियमो के अधीन है। ऐसी दशा मे यह कैसे माना जा सकता है कि मनुष्य के सकल्प विकल्प तथा व्यापार अकारण एव नियमहीन होते हैं ? मनुष्य के क्रियाकलापो को विश्व के घटनासमूह में अपवादरूप नही माना जा सकता। यदि अनेक अवसरो पर हम मानवीय व्यापारो के सबध मे सफल भविष्यवाणी नही कर सकते तो इसका कारण हमारी उन व्यापारो के नियामक नियमो की अपूर्ण जानकारी है, न कि उन व्यापारो की नियमहीनता।

निर्धारणवाद के सिद्धात को भौतिक शास्त्रो से बल मिला है, उसे प्रकृतिजगत् की यत्रवादी व्याख्या से भी अवलब मिलता है। किंतु इसका यह मतलब नही कि निर्धारणवाद एक भौतिकवादी सिद्धात है। कहा गया है कि स्पिनोजा तथा हेगेल के दर्शनो मे व्यक्ति की स्वतत्रता के लिये कोई स्थान नही है। साख्य दर्शन मे पुरुष को निर्गुण तथा निष्क्रिय माना गया है। समस्त कर्मो को बुद्धि मे आरोपित किया गया है और बुद्धि को तीन गुणो से सचालित बतलाया गया है। गीता मे लिखा है—सारे कार्य प्रकृति के तीन गुणो द्वारा किए जाते हैं, अहकारवश मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। गीता मे ही प्रत्येक कर्म के साख्यसमत पाँच कारण गिनाए गए है, अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ और दैव, ऐसी दशा मे केवल मनुष्य कर्म के लिये उत्तरदायी नही कहा जा सकता।

मैकेजी आदि कुछ विचारक उक्त दोनो मतो से भिन्न आत्मनिर्धारणवाद (सल्फ-डिटरमिनेशन) के सिद्धात को मानते हैं। जहाँ मनुष्य स्वतत्रता की भावना से कर्म करता है, वहाँ कर्म स्वय उसके व्यक्तित्व मे निहित शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। इस अर्थ मे मनुष्य स्वतत्र है। बुरे काम के बाद उत्पन्न होनेवाली पश्चात्ताप की भावना कर्ता की स्वतत्रता सिद्ध करती है।

स०ग्र०—हेनरी सिजविक आउटलाइंस ऑव द हिस्ट्री ऑव एथिक्स, सुशीलकुमार मैत्र एथिक्स ऑव द हिंदूज। (दे० रा०)

आचारशास्त्र का इतिहास यद्यपि आचारशास्त्र की परिभाषा तथा क्षेत्र प्रत्येक युग मे मतभेद के विषय रहे है, फिर भी व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि आचारशास्त्र मे उन सामान्य सिद्धातो का विवेचन होता है जिनके आधार पर मानवीय क्रियाओ और उद्देश्यो का मूल्याकन सभव हो सके। अधिकतर लेखक और विचारक इस बात से भी सहमत है कि आचारशास्त्र का सबध मुख्यत मानदडो और मूल्यो से है, न कि वस्तुस्थितियो के अध्ययन या खोज से, और इन मानदडो का प्रयोग न केवल व्यक्तिगत जीवन के विश्लेषण मे किया जाना चाहिए वरन् सामाजिक जीवन के विश्लेषण मे भी।

नैतिक मतवादो का विकास दो विभिन्न दिशाओ मे हुआ है। एक ओर तो आचारशास्त्रज्ञो ने 'नैतिक निर्णय' का विश्लेषण करते हुए उचित अनुचित सबधी मानवीय विचारो के मूलभूत आधार का प्रश्न उठाया है। दूसरी ओर उन्होने नैतिक आदर्शो तथा उन आदर्शो की सिद्धि के लिये अपनाए गए मार्गो का विवेचन किया है। आचारशास्त्र का पहला पक्ष चिंतनशील है, दूसरा निर्देशनशील। इन दोनो को हमे एक साथ देखना होगा, क्योकि प्रत्यक्षरूप मे दोनो सलग्न और अविभाज्य है।

पश्चिमी जगत् मे आचारशास्त्र के सिद्धात जिस तरह कालक्रमानुसार, एक के बाद एक, सामने आए उस तरह का क्रमबद्ध विकास पौर्वात्य दर्शन के इतिहास मे नही मिलता। पूर्व मे विभिन्न नैतिक दृष्टिकोण और कभी कभी तो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण भी, साथ साथ विकसित होते रहे। अत पूर्व और पश्चिम मे आचारशास्त्र के इतिहास का अलग अलग अध्ययन करना सुविधाजनक होगा।

भारत—भारतीय दर्शनप्रणालियो मे आचरण सबधी प्रश्नो को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किसी न किसी रूप मे प्रत्येक दर्शन ने मुक्ति या मोक्ष को सामने रखा है और मुक्तिलाभ के लिये सदाचार के नियमो की समीक्षा आवश्यक हो जाती है। इस बात पर वैदिक और अवैदिक परपराओ मे किसी हद तक सामजस्य है। आचरण सबधी शास्त्र (स्मृतियाँ और धर्मशास्त्र) आचरण को भारत मे दिशा देते है।

जैन दर्शन मे जीवात्मा को उसकी मौलिक विशुद्धावस्था प्राप्त कराना ही जीवन का लक्ष्य बताया गया है। इस मार्ग की सबसे बडी रुकावट यह है कि कर्मो ने जीवात्मा को जड तत्व से कलुषित कर दिया है। जिस तरह बादलो से सूर्यकिरणो का प्रकाश मद हो जाता है, वैसे ही 'पुद्गल' या जड तत्व के परमाणु जीव के चैतन्य को अपवित्र कर देते है। इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये कर्म के 'आस्रव' को रोकना आवश्यक है। यह तभी सभव है, जब सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र तीनो की उपलब्धि हो। जैन धर्म मे आचरण के उन नियमो की विस्तृत चर्चा है जिनके द्वारा ये 'त्रिरत्न' प्राप्त किए जा सकते है। इनमे अहिसा मुख्य है।

चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण पूर्णतया भौतिकवादी है। मनुष्य की सत्ता उसका शरीर है। चैतन्य शरीर का एक विशिष्ट गुण मात्र है। जीवन का लक्ष्य सुखसपादन है। मृत्यु के बाद व्यक्तित्व का कोई भी पक्ष शेष नही रहता, इसलिये परलोक की चिंता व्यर्थ है। सुख के साथ दुख मिश्रित है, लेकिन केवल इसलिये सुखो का त्याग करना मूर्खता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही सुख की साधना करनी चाहिए, न कि दूसरो के।

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सप्रदायो मे ज्ञानमीमासा तथा आदितत्व के स्वरूप के विषय मे तीव्र मतभेद है। वैभाषिक और सौत्रातिक दर्शन वास्तववादी है, योगाचार विज्ञानवादी और माध्यमिक शून्यवादी। लेकिन आचरण के प्रश्न पर सभी बौद्ध विचारको ने गौतम बुद्ध के आदि उपदेशो को स्वीकार किया है। 'चार आर्य सत्यो' मे चौथा, अर्थात् 'दुख-निरोध-मार्ग' आचारशास्त्र का आधार है। इसका व्यावहारिक रूप 'मध्यम प्रतिपदा' अथवा मध्यम मार्ग है। एक ओर व्यर्थ आत्मोत्पीडन, दूसरी ओर क्षणिक सुखो की आराधना, इन दोनो 'अतियो' का परिहार ही सदाचरण है। मध्यम मार्ग का अवलबन करके कार्य-कारण-शृखला (प्रतीत्य समुत्पाद) का अत किया जा सकता है। जन्म मृत्यु के अनवरत चक्र से छुटकारा निर्वाण है।

महायान सप्रदाय ने निर्वाण की अधिक सकारात्मक व्याख्या की। व्यक्ति को अपने निर्वाण से ही सतुष्ट नही होना चाहिए। बोधिसत्व का आदर्श यह है कि स्वय सबोधि प्राप्त करने के बाद दूसरो के कल्याण के लिये लगातार यत्न किया जाय। प्रेम सहानुभूति, अनुकपा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना, इन सद्गुणो पर बौद्ध आचरणशास्त्र मे विशेष जोर दिया गया है।

हिंदू दर्शन के सभी सप्रदायो ने, जहाँ तक आचरणशास्त्र का सबध है, उपनिषदो और भगवद्गीता के मुख्य सिद्धातो को स्वीकार किया है। उपनिषदो ने जहाँ एक ओर परम तत्व के गहन प्रश्न को उठाया है और ब्रह्मज्ञान को ही दर्शन का यथार्थ लक्ष्य माना है, वहाँ दूसरी ओर आत्मसाधना और 'शील' के व्यावहारिक पक्ष पर भी ध्यान दिया है। भगवद्गीता तत्वज्ञान की अपेक्षा आचारशास्त्र की दृष्टि मे अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र का समन्वय कराने के उद्देश्य से निष्काम कर्म का आदर्श गीता मे प्रतिपादित किया गया है। अकर्मण्यता न तो स्वतत्रता का लक्ष्य है, न आध्यात्मिक ज्ञान का। कर्मसन्यास से श्रेयस्कर है फलासक्ति त्यागकर कर्तव्य करते रहना। सदाचार के लिये धैर्य, मानसिक सतुलन और आत्मशुद्धि अनिवार्य है। ईश्वरभक्ति और ज्ञान से भी मनुष्य का जीवन परिष्कृत होकर कर्मयोग मे सहायता मिलती है।

शकराचार्य के अनुसार गीता का मूल दर्शन अद्वैतवादी है। मुक्ति का एकमेव साधन ज्ञान है। ज्ञान और कर्म मे विरोध है और दोनो का समन्वय असभव है। फिर भी शकराचार्य ने यह स्वीकार किया कि आत्मशुद्धि की प्रारभिक मजिलो मे कर्मो का भी मूल्य है।

रामानुज ने भक्तिमार्ग की महत्ता को ही उपनिषदो और गीता का मुख्य सदेश माना। मध्ययुग के भारतीय आचारशास्त्र पर, अद्वैत वेदात की तुलना मे, भक्तिमार्ग से प्रेरणा लेनेवाली वैष्णव परपरा का ही अधिक प्रभाव पडा। इस्लाम के सूफी मत से इस प्रवृत्ति को बल मिला। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन आचारशास्त्र, जिसका प्रतिबिंब दार्शनिक ग्रथो की अपेक्षा सतकाव्य मे अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है, मानवतावाद है।

आधुनिक काल मे गाधीवाद मे भारतीय आचारशास्त्र की सभी स्वस्थ परपराओ का समन्वय मिलता है। उपनिषदो की आत्मसाधना, जैनो की 'अहिसा', बुद्ध की अनुकपा और प्रेम, गीता का कर्मयोग, इस्लाम का विश्वबधुत्व, इन सभी के लिये गाधीवाद मे स्थान है। और चूँकि इन आदर्शो को राष्ट्रीय स्वाधीनता के ठोस प्रश्न के सदर्भ मे सामने रखा गया, इसलिये महात्मा गाधी का आचारशास्त्र, देशकालातीत समस्याओ को उठाते हुए भी, भारतीय सास्कृतिक मूल्यो का प्रतिनिधित्व करता है।

चीन—आचारशास्त्र को दर्शन और धर्मशास्त्र से पृथक् करना सभी प्राचीन सभ्यताओ के अध्ययन मे कठिन है, लेकिन पश्चिमी जगत् की अपेक्षा

पूर्वी जगत् के सांस्कृतिक इतिहास मे यह कठिनाई और भी तीव्रता से सामने आती है।

चीन के दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक मूल्यो के दो आदि-स्रोत है : 'ताओवाद और कन्फूचीवाद'। इनमे आपसी विरोध होते हुए भी इन दोनो का समन्वय ही, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, चीनी विचारको का लक्ष्य रहा है। आगे चलकर एक तीसरी विचारधारा ने चीन मे पदार्पण किया, जिसे व्यापक रूप से बौद्ध विचारधारा कहा जा सकता है।

लाओत्से (ज० ५७० ई० पू०)—ताओ के अनुसार प्रकृति से सामजस्य स्थापित करना ही 'शुभ' है। इसके लिये आवश्यक सद्गुण है सरलता, मृदुलता, सौदर्यप्रेम और शातिप्रियता। मानव को अपना जीवन स्वाभाविक और ऋजु बनाना चाहिए। इस ताओमार्ग का प्रवर्तक लाओ-त्सू था।

कन्फूशस (५५१ से ४७९ ई० पू०)—कन्फूशस का दृष्टिकोण इससे मूलतया भिन्न है। इनके अनुसार जीवन की पूर्णतम साधना ही मनुष्य का कर्तव्य है। यह कर्तव्य उसे समाज के सदस्य की हैसियत से ही निभाना है। कार्यसिद्धि और पुरुषार्थ ही वास्तविक 'शुभ' है। सदाचार का आधार है सतुलित जीवन और सतुलित जीवन के दो सिद्धात है 'चुग' का सिद्धात अर्थात् अपने व्यक्तित्व की उच्चतम मांगो को सतुष्ट करते रहो और 'शू' का सिद्धात, अर्थात् विश्व से समस्वरता निर्माण करते हुए जीवन व्यतीत करो। अरस्तू के 'सुनहरे मध्यम मार्ग' की तरह कन्फूशस का आचारशास्त्र भी अतिरेकविरोधी है।

मेशियस (३७१ से २८९ ई० पू०)—मेशियस का आचारशास्त्र कन्फूशस के सिद्धात पर ही आधारित है, परतु उसमे समाजकल्याण की अपेक्षा मानववाद पर अधिक जोर दिया गया है।

अनेक चीनी दार्शनिक 'ताओ' के रहस्यवाद और अनिर्व्यक्तिवाद से भी असतुष्ट थे और कन्फूशस के परपराप्रधान, औपचारिक उपदेशो से भी। इसलिये बहुत से ऐसे पथो का आविर्भाव हुआ जिन्होने या तो समझौते का मार्ग अपनाया या जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष को लेकर एक नए आचारदर्शन की सृष्टि की। उदाहरणस्वरूप 'मोत्सु' का पथ उपयोगितावादी था। सदाचरण का मापदड 'अधिकतम उपयोग' है, परतु इसका साधन है प्रेम या मैत्री। सघर्ष इसलिये अनैतिक है कि वह अनुपयोगी और 'अपव्ययशील' बन जाता है। 'फाशिया' पथ ने आचारशास्त्र को राजनीति के समीप पहुँचा दिया और कहा कि राजसत्ता तथा विधान से ही सदाचार की रक्षा की जा सकती है।

'ताओ' और कन्फूशसवाद का समन्वय कराने का उत्कट प्रयास 'यिन-याग' सिद्धात मे देखा जा सकता है। विश्व मे दो शक्तियाँ लगातार काम करती रहती है—'याग', जो क्रियाशील, सकारात्मक, 'पुरुषोचित' है, और 'यिन', जो निष्क्रिय, नकारात्मक, 'स्त्रियोचित' है। प्रत्येक वस्तु, सस्था और सबध मे ये दोनो ही प्रवृत्तियाँ प्रतिबिबित है। इनका उचित मात्रा मे वास्तव्य ही 'शुभ' परिस्थिति है। और ऐसी परिस्थिति के निर्माण मे हाथ बटाना मानव का कर्तव्य है।

मध्ययुगीन चीनी आचारशास्त्र पर बौद्ध विचारो की स्पष्ट छाप है। थेरवाद की अपेक्षा महायान का, और विशेषत माध्यमिक दर्शन का, चीन मे अधिक तेजी से विकास हुआ। परतु नागार्जुन के 'शून्यवाद' को परपरागत 'व्यावहारिकता' के साँचे म ढालकर चीनी विचारको ने बौद्ध जीवनदर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। इस नए दर्शन का नारा है : 'समग्र मे एक और एक म समग्र'।

मिंग युग (१५वी से १६वी सदी) १२वी और १३वी शताब्दी के आचारदर्शन मे सदेहवाद और अतिभौतिकवाद के स्पष्ट चिह्न है, लेकिन 'मिंग' युगीन सास्कृतिक पुनरुत्थान के बाद चीनी विचारधारा फिर बुद्धिवाद की ओर झुकी। तब स आधुनिक युग तक चीन का आचारदर्शन मुख्य रूप से बुद्धिवादी ही रहा है।

ईरान जरथुस्त्रवाद मे आचारसिद्धातो को बडा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वय जरथुस्त्र के विषय मे निश्चित रूप से कुछ कम कहा जा सकता है। 'गाथाओ' मे उसका व्यक्तित्व ऐतिहासिक लगता है, परंतु 'अवेस्ता' में वह काल्पनिक पौराणिक बन जाता है। जरथुस्त्रधर्म मुख्यत द्वैतवादी है। 'अवेस्ता' मे 'अहुर' को एकमेव परमसत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि 'अहुर' की अभिव्यक्ति दो दिशाओ मे होती है। एक ओर आलोक है, दूसरी ओर अधकार; एक ओर जड भौतिक वस्तु, दूसरी ओर अध्यात्म। लेकिन 'अहुर' का एकत्व केवल औपचारिक है।

मानी (जन्म २१५ ई० पू०)—आगे चलकर मानी ने खुले आम जरथुस्त्रवाद को पूर्णतया द्वैतवादी बना दिया। उसके अनुसार भौतिक वस्तु एक स्वतंत्र शक्ति है जिसका अध्यात्मशक्ति के साथ लगातार सघर्ष चलता रहता है। मानव व्यक्तित्व के दो विभाग है एक आत्मा जो आलोकमय है और दूसरा शरीर जो अधकारमय है। सकल्पशक्ति इन दोनो के बीच मे है और किसी भी ओर झुक सकती है। प्रत्यक्ष आचरण मे मानव स्वतत्र है। यदि वह चाहे तो रचनात्मक आलोकशक्ति की ओर अपने आपको ले जा सकता है। पार्थिव सुखो को त्यागकर विनाशात्मक अधकारशक्ति से मुक्तिलाभ सभव है। भविष्य मे आलोक की सपूर्ण विजय निश्चित है। उस विजयक्षण को समीप लाना अशत मानव आचरण पर निर्भर है।

यूनान—मानवीय आचरण का वैज्ञानिक ढग से परीक्षण सबसे पहले सोफिस्त दार्शनिक ने किया। ई० पू० ७वी शताब्दी मे ही यूनान मे दर्शन की स्वस्थ परपराएँ बन चुकी थी, परतु प्रोतागोरस के पहले विचारको ने मुख्यत बाह्य जगत् पर ही ध्यान दिया था। थेलीज से अनक्सागोरस तक सभी दार्शनिक विश्व के आदितत्व की खोज करते रहे। सोफिस्तपथियो ने दर्शन के लक्ष्य का पुनर्मूल्याकन किया तथा मानव जीवन की प्रत्यक्ष समस्याओ को दार्शनिक दृष्टि से आँकने का यत्न किया।

प्रोतागोरस (जन्म ४८० ई० पू०)—'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु की कसौटी है'—प्रोतागोरस की इस उक्ति म सोफिस्त आचारशास्त्र के अच्छे और बुरे दोनो अग प्रतिबिबित है। जहाँ एक ओर इस कथन से आचारशास्त्र ठोस समस्याओ की ओर झुकता है वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्तिगत और सापेक्ष भी बन जाता है।

गोर्जियस (जन्म ४८३ ई० पू०)—गोर्जियस के सपर्क मे प्रोतागोरस का मानववाद निरे सदेहवाद मे परिणत हो गया और इस सदेहवाद से, दार्शनिक स्तर पर, अतिस्वार्थवाद और सुखवाद को बल मिला।

सुकरात (४६९ से ३९९ ई० पू०)—इन विकृतियो के विरुद्ध सुकरात ने सर्वप्रथम एक ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण किया जो आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ परिस्थितियो पर आधारित था। सुकरात का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। 'ज्ञान ही सदाचार है'। जिसे उचित कर्मो का वास्तविक ज्ञान है, उसका आचरण ठीक होना ही पडेगा, और अज्ञान की परिणति दुराचार मे होना भी उतना ही अनिवार्य है। सोफिस्तपथी 'न्याय', 'नियम', 'सयम' आदि शब्दो का प्रयोग अवश्य करते थे, पर इनकी सूक्ष्म व्याख्या उन्होने कभी नही की। सुकरात ने इस बात पर जोर दिया कि व्यक्तिनिरपेक्ष नैतिक आदर्शो का आधार ज्ञानमीमासा ही है। जो अतर 'ज्ञान' और 'जानकारी' मे है, वही नियमबद्ध आचारशास्त्र और प्रथाजन्य नैतिक धारणाओं मे है। सभी का लक्ष्य समान है—'भलाई'। परतु ज्ञान द्वारा ही 'भलाई' और परमशुभ मे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। और इस सामजस्य का सामाजिक रूप केवल ऐसे राज्य मे मिल सकता है जहाँ शासकगण अच्छे जीवन को एक कला समझकर उसे आत्मसात् करने का यत्न करते रहे।

अफ़लातून (४२७ से ३४७ ई० पू०)—सुकरात के उदात्त आदर्शवाद के प्रति सच्ची निष्ठा बरतते हुए अफलातून ने उनके उपदेशो को परिष्कृत रूप मे रखा और उन्हे दार्शनिक मतवाद का सहारा दिया। अफलातून के आचारशास्त्र का एक पहलू विशुद्ध तात्विक है। भौतिक जगत् की वस्तुओ की तथाकथित 'सत्ता' छाया मात्र है। वास्तविक सत्ता केवल भावो या प्रत्ययो की है, क्योकि प्रत्यय ही नित्य और स्वसपूर्ण है। इनमें सबसे शुद्ध और उच्च श्रेणी का प्रत्यय है 'शुभ'। इस तरह सदाचार का आधार आदिसत्ता का शुभत्व है।

लेकिन अफ़लातून के आचारदर्शन का एक दूसरा, यथार्थवादी पक्ष भी है। इसमे मानव स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। मानव

स्वभाव के—अफलातून के शब्दों में मानव 'आत्मा' के—तीन विभाग हैं। इन्हें इच्छा, संवेग और बुद्धि से संचालन मिलता है। पहले दो विभागों पर तीसरे का प्रभुत्व ही सदाचार का आधार है। व्यक्ति में न केवल मानवीय प्रवृत्ति, अर्थात् विवेकशीलता है, वरन् उसमें 'पशवीय' और 'वनस्पतीय' प्रवृत्तियाँ भी हैं जो उसे जैविक और दैहिक स्तर से ऊपर उठने से रोकती हैं। बुद्धि का उद्देश्य इन प्रवृत्तियों का विनाश नहीं, उनका शासन और नियंत्रण है।

इस उद्देश्य की सही व्याख्या केवल सामाजिक स्तर पर हो सकती है, न कि व्यक्तिगत स्तर पर। समाज में मानव स्वभाव के तीन अंगों के अनुरूप तीन वर्ग हैं—श्रमिक, योद्धा और शासक। यह वर्गविभाजन प्राकृतिक है और वर्गहीन समाज की कल्पना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि न्याय का आधार अंततः प्राकृतिक नियम ही है। आदर्श व्यवस्था वह है जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोग अपने अपने सद्गुणों की साधना करते रहें। शासक विवेकशील हों, योद्धा वीर और श्रमिक मेहनती तथा विनम्र। ये सद्गुण परस्पर पूरक हैं और इनकी उचित मात्रा में प्रयोग ही 'नैतिक परिस्थिति' है। ऐसी परिस्थिति अंततोगत्वा तीसरे वर्ग के लोगों पर ही निर्भर है, क्योंकि ऐच्छिक और संवेगात्मक प्रवृत्तियों को बुद्धि ही काबू में रख सकती है। शासक वर्ग का दृष्टिकोण पूर्णतया दार्शनिक, बुद्धिवादी होना चाहिए और इसके लिये उचित शिक्षाप्रणाली नितांत आवश्यक है।

अरस्तू (३८४ से ३२२ ई० पू०)—सुकरातवादी परंपरा की परिणति अरस्तू के आचारशास्त्र में मिलती है। अरस्तू ने विश्लेषण और प्रयोग करते हुए आचरण के विभिन्न पहलुओं की वैज्ञानिक ढंग से समीक्षा की। आचारदर्शन का स्वतंत्र 'शास्त्र' के रूप में विकास अरस्तू के 'नाइकोमेकियाई एथिक्स' से ही आरंभ होता है।

अरस्तू के अनुसार 'शुभ' की अभिव्यक्ति दो दिशाओं में होती है। पहली दिशा वह है, जिसमें अभ्यास और प्रयत्न द्वारा मानव अपनी निम्नतर प्रवृत्तियों को उच्चतरित शक्ति के—अर्थात् बुद्धि के—नियंत्रण में लाता है। इस प्रयास के फलस्वरूप जिन सद्गुणों की सृष्टि होती है वे हैं 'नैतिक सद्गुण'। लेकिन शुभत्व का एक दूसरा माध्यम भी है—अर्थात् बुद्धि द्वारा विशुद्ध सत्ता या चरम सत्य की खोज। इस ज्ञान और मनन से 'बौद्धिक सद्गुणों' की सृष्टि होती है। आदर्श जीवन तो ऐसे ही मनन का जीवन है ('थिओरिया')।

परंतु आचारशास्त्र का प्रत्यक्ष संबंध बौद्धिक सद्गुणों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों से अधिक घनिष्ठ है। नैतिक सद्गुणों का आधार है मध्यम मार्ग का सिद्धांत। एक ओर अतिरेक और दूसरी ओर अभाव, इन दोनों त्रुटियों से बचकर ही सदाचार संभव है। उदाहरणस्वरूप, 'साहस' एक नैतिक सद्गुण है। इसका अतिरेक है 'असावधानी' और इसकी न्यूनता है 'कायरता'। इसी तरह प्रत्येक नैतिक सद्गुण की सीमाएँ स्थिर की जा सकती हैं।

एरिस्तिपस (जन्म ४३५ ई० पू०)—अरस्तू के बाद ग्रीक आचारशास्त्र की धारा दो विरोधी दिशाओं में विभक्त हो गई। एक ओर एपिक्यूरस ने सुखवाद की ओर दूसरी ओर जीनो ने संन्यासवाद का आदर्श के रूप में सामने रखा। वास्तव में इन दोनों के बीज सुकरात युग में ही पड़ चुके थे। एपिक्यूरस के सुखवाद का मूल स्रोत है 'साइरेनेइक' आचारदर्शन और जीनो की 'स्तोइक' प्रणाली का आधार है 'सिनिक' पथ का सुखवादविरोधी दर्शन। साइरेनेइक पथ का प्रवर्तक एरिस्तिपस था और सिनिक पथ की स्थापना सुकरात के शिष्य अंतिस्थिनीज (४३६ ई० पू०) ने की थी।

एपिक्यूरस (३४१ से २७० ई० पू०)—एपिक्यूरीय आचारशास्त्र ज्ञान और विवेक को साधन मात्र समझकर संतोष या समाधान को जीवन का लक्ष्य मानता है। सुख के प्रति खिंचाव और दुःख का इवर्जन स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। 'साइरेनेइक' दृष्टिकोण मूलतः उचित था, परंतु उसमें सुख की व्याख्या संकीर्ण है। केवल क्षणिक सुख को सर्वस्व समझना मूर्खता है। हमारा ध्येय जीवन को समग्र रूप से सुखमय बनाना है। इस क्रिया में विशिष्ट सुखों को कभी कभी त्यागना पड़ता है। सुखों की तीव्रता केवल एक पक्ष है, उनके स्थायित्व पर भी ध्यान देना है। मानसिक शांति शारीरिक इच्छापूर्ति से अधिक सुखमय है, क्योंकि वह हमें अधिक समय तक संतुष्ट रख सकती है। सर्वोच्च सद्गुण 'सावधानी' है, क्योंकि वह एक सीमा तक हमें दुःख दर्द से बचाता है।

जीनो (३४० से २६५ ई० पू०)—स्तोइकवाद का सिद्धांत इसके बिलकुल विपरीत है। जीनो के अनुसार विवेक ही सर्वस्व है। सुखप्राप्ति का अपनी जगह पर कोई महत्व नहीं है, यद्यपि विवेकशील जीवनक्रम में यदि सुख भी मिले तो उसे जबर्दस्ती ठुकराना जरूरी नहीं है, जैसा कि 'सिनिकपंथी' करते थे। संवेदजन्य सुखों को गौण और तुच्छ समझना काफी है। 'प्रकृति के अनुसार जीवन' का मतलब है विवेकशील जीवन, क्योंकि मानव के लिये चेतन, क्रियाशील विवेकशक्ति ही 'प्राकृतिक' है। सदाचार का आधार है आत्मनियंत्रण, कर्तव्यपरायणता और स्वार्थत्याग। नैतिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है असंयम। 'स्तोइक' विचारधारा में संन्यासवृत्ति काफी प्रबल होते हुए भी जीनो और उसके अनुयायियों ने 'सिनिक' पथ के विकृत व्यक्तिवाद से बचने का भी यथेष्ट प्रयत्न किया। मध्ययुगीन जीवनमूल्यों पर स्तोइक आचारदर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा। सेनेका और सम्राट् मार्कस ऑरिलियस (१२० से १८० ई०) ने इस दर्शन का समर्थन किया।

प्लोतिनस (२०५ से २७० ई०)—मध्ययुगीन आचारशास्त्र मुख्यतः धार्मिक या अध्यात्मवादी है। रोमन साम्राज्य के पतन से पहले ही ईसाई धर्मतत्व के संदर्भ में ग्रीक दर्शन का पुनर्मूल्यांकन किया जाने लगा था। इस तरह का पहला महत्वपूर्ण प्रयास नवअफलातूनवाद में देखा जा सकता है। सुकरात-अफलातून-अरस्तू की विचारपरंपरा में जो रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ निहित थीं उन्हें प्लोतिनस के दर्शन में उभारा गया है। मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है 'एक' अथवा 'परमसत्' का अपरोक्ष ज्ञान। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें अपने आपको 'योग्य' बनाना है और इसके लिये सदाचार आवश्यक है। इस तरह प्लोतिनस के लिये आचारदर्शन का महत्व सीमित और सापेक्ष है। नवअफलातूनवाद के अन्य प्रमुख प्रतिनिधि हैं फाइलो और पोरफिरी।

आगस्तिन (३५४ से ४३० ई०)—संत आगस्तिन का 'पैत्रिस्तिक' दर्शन भी ईश्वरानुभूति को चरम लक्ष्य मानता है। ईश्वरप्रेम ही वास्तविक नैतिकता का आधार हो सकता है। आगस्तिन ने यह कहकर कि ईश्वरकेंद्रित जीवन में ही 'अधिकतम इच्छापूर्ति' संभव है, अप्रत्यक्ष रूप से सुखवाद के सिद्धांत को एक सीमा तक स्वीकार किया।

थोमस एक्वाइनस (१२२५ से १२७४)—मध्ययुगीन आचारदर्शन का सबसे विकसित रूप संत थोमस एक्वाइनस की दर्शनप्रणाली में है। एक्वाइनस ने ईसाई धर्मतत्व को अफलातूनवाद से अरस्तूवाद की ओर ले जाने का यत्न किया। सत्य और शुभ का अनुसंधान दो भागों से संभव है—विश्वास और विवेक। ये दोनों स्वतंत्र हैं, परंतु इनमें कोई मूलभूत विरोध नहीं है। विवेकशक्ति की उच्चतम सफलता है अरस्तूदर्शन। 'विश्वास' की सबसे उदात्त सिद्धि है ईसामसीह का 'यथार्थसंगत अध्यात्मवाद'। लेकिन इससे निम्नतर स्तर पर जो 'विवेक' और 'विश्वास' की सफलताएँ हैं उनसे भी नैतिक जीवन में प्रेरणा मिल सकती है। ईश्वरज्ञान ही परम शुभ है।

एक्वाइनस के बाद 'स्कोलैस्टिक' विचारधारा धीरे धीरे गतिहीन और संकीर्ण बन गई। आचारशास्त्र का स्वतंत्र अस्तित्व करीब करीब समाप्त हो गया और नैतिक प्रश्नों का विवेचन ईसाई धर्मशास्त्र की कुछ वादग्रस्त समस्याओं में शाब्दिक ऊहापोह तक ही सीमित रह गया।

आधुनिक युग—आचारशास्त्र का आधुनिक युग १५वीं १६वीं शताब्दियों के धर्मनिरपेक्ष दर्शन से आरंभ होता है। इस दर्शन का एक पक्ष वैज्ञानिक और प्रकृतिवादी है जिसका स्वस्थ रूप बेकन और विकृत रूप हाब्ज में झलकता है। आचारशास्त्र की दृष्टि से हाब्ज बेकन से अधिक महत्वपूर्ण है।

हाब्ज (१५८८ से १६७९)—हाब्ज का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। वस्तुओं और गति का ही अस्तित्व वह मानता है और मानव आचरण को 'वस्तु' और 'गति' के ही दायरे में देखता है। चूँकि वस्तुजगत् से मानव का संबंध संवेदन द्वारा ही संभव है, इसलिये संवेदन ही मानव जीवन का 'मुख्य संचालक' है। सुख की इच्छा और दुःख के प्रति विमुखता ही

मानवीय व्यवहार का आधार है। व्यक्ति का कर्तव्य केवल एक है—अपने लिये सुख अर्जन करना। स्वार्थपरता स्वाभाविक है, स्वार्थत्याग कृत्रिम। सामाजिक सगठन का आधार 'प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक अन्य व्यक्ति से भय' है। सुखो को वर्तमान की तरह भविष्य मे भी प्राप्त करने के लिये 'अधिकार' और 'शक्ति' आवश्यक हैं। इसलिये अधिकारप्रेम भी प्राकृतिक है और आचरण का निर्देशन करता है। व्यवहार का आतरिक मानदड स्वार्थ है, बाह्य मानदड राजकीय अथवा सामाजिक अधिकार है।

क्लार्क (१६७५ से १७२९)—हाब्ज के स्वार्थपरक सुखवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। यह प्रतिक्रिया 'सहजज्ञानवादी आचरणशास्त्र' मे व्यक्त हुई।

कडवर्थ (१६१७ से १६८८)—इस प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि है क्लार्क, कडवर्थ, शैफ्टसबरी, हचीसन और बटलर। इनमे आपसी मतभेद होते हुए भी व्यापक रूप से इस बात पर सहमति है कि नैतिक नियम 'स्वत सिद्ध सत्य' है।

शैफ्टसबरी (१६७१ से १७१३)—शैफ्टसबरी ने आचारशास्त्र मे पहली बार 'नैतिक विवेकशक्ति' (मारल सेंस) का सिद्धात सामने रखा। बटलर का भी कहना है कि नैतिक नियमो का सहज ज्ञान इसलिये सभव है कि प्रकृति ने—या 'ईश्वर' ने—इस प्रकार के ज्ञान के लिये हमे एक विशेष साधन प्रदान किया है।

बटलर (१६९२ से १७५२)—इस साधन को बटलर 'सदसद्विवेकक्षमता' (कांशेंस) कहता है। यह क्षमता ही मनुष्य की वास्तविक आत्मा है, उसके व्यक्तित्व का केंद्रबिंदु है।

ह्यूम (१७११ से १७७६)—ह्यूम का आचरणशास्त्र फिर एक बार सवेदनवाद की ओर झुकता है। ह्यूम का विश्वास है कि आचरण का यथार्थ विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही सभव है। मनोविज्ञान का इस विषय मे एक ही निष्कर्ष हो सकता है, वह यह कि सुख दुख ही आचरण के निर्णायक है। हमारे नैतिक निर्णय कुछ ऐसे प्राकृतिक सत्यो पर आधारित है जिनका, अपने मूल स्वरूप मे, कोई नैतिक महत्व नही है।

काट (१७२४ से १८०४)—काट का प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यावहारिक विवेक की आलोचना' आधुनिक विवेकवादी आचारशास्त्र के आधारस्तभो मे है। काट ने पूर्ववर्ती विचारको के एकागी सिद्धातों को सतुलित रूप देकर उन्हे एक समन्वयात्मक आचरणदर्शन मे सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया। 'कर्तव्य' और 'स्वार्थ' ये दोनो बिलकुल अलग अलग प्रेरणाएँ है। इनमे से कर्तव्य को ही प्रधान मानकर जीवन सगठित किया जाय तो अधिकतम कल्याणसपादन किया जा सकता है। कर्तव्य की व्याख्या 'शुभ सकल्प' द्वारा ही सभव है। शुभ सकल्प ही एकमात्र ऐसा शुभ है जिसका मूल्य निरपेक्ष है। अन्य सभी 'अच्छाइयाँ', जैसे सुख, योग्यता, सुविधा इत्यादि सापेक्ष है। उनका महत्व यही तक सीमित है कि शुभ सकल्प को क्रियमाण बनाने मे उनसे सहायता मिल सकती है।

काट ने इस बात पर जोर दिया कि नैतिक नियम विश्वव्यापी और पूर्णतया अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति मे और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति वह लागू होता है। इस नियम का आदेश है कि हम मानवता को अपने मे और अन्य लोगो मे सर्वदा साध्य के रूप मे स्वीकार करे, न कि साधन के रूप मे। नैतिक कर्तव्य को किसी भी बाह्य दबाव की उत्पत्ति समझना गलत है, चाहे वह बाह्य शक्ति 'ईश्वर' हो या 'सुखवर्धक' परिस्थिति। विवेकशील व्यक्ति जिस नियम के अधीन है उसका निर्माण स्वय विवेक ही करता है।

फिश्टे (१७६२ से १८१४)—फिश्टे का आचरणशास्त्र अतिबुद्धिवादी है। वह व्यक्ति को स्वतत्र मानता है, पर उसके अनुसार आचरण की स्वाधीनता ज्ञान पर निर्भर है। काट की भूल यह थी कि उसने विवेक के सैद्धातिक और व्यावहारिक अगो के बीच विरोध खड़ा किया।

हीगेल (१७७०–१८३१)—शेलिंग के दर्शन मे आचारशास्त्र विशुद्ध तत्वज्ञान का अग बन जाता है। हीगेल दर्शन की भित्ति भी 'परमसत्' (ऐब्सोल्यूट) की कल्पना है, लेकिन हीगेल के 'परमवाद' का उसकी 'द्वद्वात्मक पद्धति' (डाइलेक्टिक्स) से अविश्लेष्य संबध है। भावजगत् मे विरोधी शक्तियो के सघर्ष से, और उच्चतर स्तर पर उनके समन्वय से, विकास होता है। नैतिक धारणाओं के प्रति भी यही नियम लागू होता है। आचारशास्त्र का लक्ष्य उन मंजिलों का अध्ययन है जिनके बीच, सघर्ष और समन्वय मे गुजरते हुए, नैतिक मूल्यों का विकास हुआ है।

डार्विन (१८०९–१८८२)—विकासवादी दृष्टिकोण के वैज्ञानिक पक्ष का डार्विनवाद के माध्यम से आचारशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा।

स्पेंसर (१८२०–१९०३)—डार्विन के 'प्राकृतिक चुनाव के नियम' से प्रेरणा लेकर हर्बर्ट स्पेंसर ने एक नया विकासात्मक सुखवाद प्रस्तुत किया। जीवन का आधार है व्यक्ति का परिवेश से सफल अनुकूलन (अडैप्टेशन)। यह नियम मानव के लिये उतना ही वास्तविक है जितना अन्य प्राणियो के लिये, यद्यपि मानव जीवन मे सामाजिक और सांस्कृतिक परपराओ का निर्माण हुआ है। 'सफल अनुकूलन' का लक्षण है एक ऐसे प्रगतिशील समाज का सगठन जिसमे व्यक्तिगत सुखो का लाभ समग्र जाति के कल्याणसपादन से सलग्न हो।

बेंथम (१७४८–१८४२), **मिल** (१८०६–१८७३)—स्पेंसर के सुखवाद पर बेंथम और मिल के 'उपयोगितावाद' का स्पष्ट प्रभाव है। मिल का दर्शन उस सशक्त 'अनुभववादी' परपरा पर आधारित है जिसकी बुनियाद बेकन-हाब्ज-लाक-ह्यूम ने रखी थी। बेंथम का प्रसिद्ध सूत्र (फार्मूला 'अधिकतम अधिक लोगो का अधिक से अधिक सुख)' मिल के सपर्क मे उच्चतर उपयोगितावाद का एक साधन बन गया। मिल ने इस बात पर जोर दिया था कि जीवन के सास्कृतिक और बौद्धिक मूल्यो का ध्यान मे रखते हुए ही 'सुख' की व्याख्या करनी चाहिए।

'उपयोगिता' का प्राधान्य देनेवाली अन्य विचारधाराओ मे कात का मानववाद और विलियम जेम्स का प्रत्यक्ष परिणामवाद आचारशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

कांत (१७९८–१८५७) कात ने मानव इतिहास को तीन युगो मे विभाजित किया—धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक। इनमे से अतिम, अर्थात् वैज्ञानिक युग ही वास्तव मे 'सकारात्मक' है। इसी युग मे मानवकेंद्रित आचरणशास्त्र का निर्माण हो सकता है। भविष्य का धर्म 'मानवता धर्म' होगा जिसमे नैतिक, धार्मिक और अन्य पक्षो का निर्देशन समाजविज्ञान द्वारा होगा। मानवता एकमात्र आराध्य वस्तु होगी और जातिकल्याण ही व्यवहार का मानदड होगा। ऐसी परिस्थिति मे आचारशास्त्र का समाजशास्त्र मे विलीन होना अनिवार्य है।

जेम्स (१८४२–१९१०)—विलियम जेम्स ने यूरोप की भाववादी दार्शनिक परपरा का विरोध किया। विशुद्ध तात्विक स्तर पर सत्य की खोज व्यर्थ है। सत्य 'बना बनाया' नही है, मानव के जीवन मे, उसके आचरण और विभिन्न प्रयासो मे, सत्य का निर्माण होता है। सत्य की कसौटी उसका प्रत्यक्ष परिणाम है।

ड्यूई (१८५९–१९५०)—इस दृष्टिकोण को, जो प्रैगमैटिज्म के नाम से प्रसिद्ध है, जान ड्यूई ने आगे बढ़ाया। ड्यूई के अनुसार 'प्रत्यक्ष परिणाम' की व्याख्या राजनीतिक और सामाजिक प्रगति के सदर्भ मे की जानी चाहिए। ड्यूई ने अपने आचारशास्त्र मे प्रजातत्रवाद, समानता और सामाजिक स्वास्थ्य के आदर्शों को महत्वपूर्ण माना है।

शोपेनहावर (१७८८–१८६०)—उधर जर्मनी मे हीगेल के बाद शोपेनहावर, नीत्शे और मार्क्स ने तीन अलग अलग मार्ग अपनाए। शोपेनहावर का दृष्टिकोण निराशावादी है। समस्त इतिहास को वह 'जीवनसकल्प' की अभिव्यक्ति मानता है। यह अभिव्यक्ति जिस सघर्ष के बीच होती है वह दुख और क्लेश से परिपूर्ण है। प्राणियो के 'सुख' काल्पनिक और क्षणिक है, उनसे लालायित होकर 'सकल्प' और भी तेजी से जीवनधारा को आगे बढ़ाता है और इस तरह और भी अधिक क्लेश उत्पन्न होते है। वैसे तो जीव मात्र का अस्तित्व दुखमय है, परन्तु मानव जीवन मे यह क्लेश चरम सीमा तक पहुँच जाता है। शारीरिक कष्टो के अलावा अब मानसिक वेदना का भी प्रादुर्भाव होता है। आचरणशास्त्र का कटु कर्तव्य है मनुष्य को यह समझाना कि जीवनसकल्प के विनाश से ही उसके दुख का अत हो सकता है। इसके लिये जीवन के सभी तथाकथित सुखमय अनुभवो को ठुकराना होगा, और सबसे पहले उस 'सुख' को जिसके कारण मानव जाति कायम है। मनुष्य का आदिपाप यह है कि वह जन्म ग्रहण करता है।

हार्टमान (१८४२-१९०६)—निकोलाई हार्टमान का निराशावाद शोपेनहावर से भी एक कदम आगे है। जहाँ शोपेनहावर व्यक्ति का यह कर्तव्य बताता है कि वह अपने जीवनसंकल्प का विनाश करे, वहाँ हार्टमान की यह माँग है कि संपूर्ण विश्व से जीवनी शक्ति को खत्म करने में हमें योग देना चाहिए।

नीत्शे (१८८८-१९००)—नीत्शे का आचारशास्त्र भी परंपरागत नैतिक मान्यताओं को ठुकराता है। नीत्शे का सिद्धांत है 'मूल्यों का निर्मूल्यीकरण'। उसकी शिकायत है कि ईसाई धर्म से प्रेरित होकर जो नैतिक सिद्धांत सामने आए हैं वे दुर्बलों के लिये हैं, बलवानों के लिये नहीं। ऐसा आचारशास्त्र 'करुणा का आचारशास्त्र' है। वास्तव में केवल एक मूल्य ऐसा है जिसपर मानव गर्व कर सकता है—शक्ति। जिससे भी शक्ति का प्रसार होता है वह उचित है और जिस कर्म से शक्ति की महत्ता घटती है वह त्याज्य है। श्रेष्ठ पुरुष की श्रेष्ठताभावना एकमेव अच्छाई है। अनुकलन (एप्टेशन) का आदर्श श्रेष्ठ मानव का आदर्श नहीं हो सकता, क्योंकि अनुकलन का अर्थ है परिवेश के सामने हथियार डाल देना। मानवता का लक्ष्य है अतिमानव का निर्माण—यह सत्य केवल कुछ इने गिने लोग ही समझ सकते हैं और उन्हीं के हाथ में मानव जाति का भविष्य है। अतिमानव के लिये किसी नैतिक नियम की कल्पना नहीं की जा सकती। वह अच्छे बुरे के मतभेद से परे है।

मार्क्स (१८१८-१८८३)—मार्क्स ने हीगेल के द्वंद्ववाद को भौतिक रूप दिया और कहा कि मानव जीवन में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के स्वगत विरोध से ही आचरण को दिशा मिलती है। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन समाज की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। उत्पादन के साधन जिस वर्ग के हाथ में होते हैं वही वर्ग राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त कर लेता है। यही नहीं, अनिवार्य रूप से धार्मिक संस्थाओं, शिक्षाप्रणाली और सांस्कृतिक साधनों पर भी शासक वर्ग कब्जा कर लेता है। अपने हितों की रक्षा के लिये इस वर्ग के लोग कुछ नैतिक मान्यताओं की रचना करते हैं और उन्हें अटल, विश्वव्यापी तथा नित्य बताते हैं। वास्तव में मानव स्वभाव परिवर्तनशील है और नैतिक नियम भी अटल नहीं हो सकते। जो समाज वर्गों में विभाजित है उसमें शासक वर्ग और शोषित वर्ग के 'कर्तव्य' समान नहीं है। प्रागैतिहासिक 'कबीले के समाज' के पतन से लेकर अब तक नैतिक मूल्यों में लगातार वर्गसंघर्ष प्रतिबिंबित हुआ है। जब दुनिया भर में साम्यवादी समाज की स्थापना होगी और वर्गविभाजन का अंत होगा तभी ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण हो सकेगा जिसमें नैतिक सिद्धांत समस्त मानव जाति के वास्तविक कल्याण पर आधारित होंगे।

२०वीं शताब्दी में दर्शन के कुछ अन्य अंगों की तुलना में आचारशास्त्र की उपेक्षा हुई है। आचारशास्त्र को कोई नई प्रणाली इधर प्रस्तुत नहीं की गई। इसका मतलब यह नहीं कि नैतिक प्रश्नों को दार्शनिकों ने गौण समझा है। क्रोचे, बेर्गसां, रसल और अन्य आधुनिक दार्शनिकों ने नैतिक निर्णय के स्वरूप को अपने अपने दृष्टिकोण से समझने का यत्न किया है। परंतु 'शुभाशुभविवेक' को एक स्वतंत्र विज्ञान का विषय माननेवाले विचारक आज अधिक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि आचारशास्त्र पर विभिन्न दिशाओं से दबाव पड़ रहा है—समाजशास्त्र की ओर से और मनोविज्ञान की ओर से। एक ओर तो सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलता हमें इस बात के लिये बाध्य करती है कि आचरण के नैतिक पक्ष को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं के संदर्भ में ही देखें। दूसरी ओर फ्रायडवाद ने मानव मन की जिन अचेतन क्रियाओं की ओर ध्यान दिलाया है उनकी समीक्षा भी आवश्यक हो गई है। आचरण का 'विशुद्ध नैतिक मूल्यांकन' कठिन हो चला है, क्योंकि नैतिक धारणाओं के पीछे अब कुछ ऐसी अचेतन शक्तियों का आभास मिला है जिन्हें अभी समझना है।

सं०ग्रं०—एच० सिजविक : हिस्ट्री ऑव एथिक्स (१९६०), जे० ई० एर्डमान : हिस्ट्रीज़ ऑव फिलासफी, जे० एस० मैकेंजी : मैनुएल (१९२४), जे० एच० म्योरहेड : एलिमेंट्स ऑव एथिक्स (१८९२), डब्ल्यू० वुन्ट्ट : एथिक्स (१८९७)। (वि० श्री० न०)

आचार्य प्राचीन काल में आचार्य एक शिक्षा संबंधी पद था। उपनयन संस्कार के समय बालक का अभिभावक उसको आचार्य के पास ले जाता था। विद्या के क्षेत्र में आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा था। अतः यह धारणा बन गई थी कि आचार्य के पास गए बिना विद्या, श्रेष्ठता और सफलता की प्राप्ति नहीं होती (आचार्याद्धि विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापयतीति।—छांदोग्य ४-९-३)। उच्च कोटि के अध्यापकों में आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय होते थे, जिनमें आचार्य का स्थान सर्वोत्तम था। मनुस्मृति (२-१४१) के अनुसार उपाध्याय वह होता था जो वेद का कोई भाग अथवा वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) विद्यार्थी को अपनी जीविका के लिये शुल्क लेकर पढ़ाता था। गुरु अथवा आचार्य विद्यार्थी का संस्कार करके उसको अपने पास रखता था तथा उसके संपूर्ण शिक्षण और योगक्षेम की व्यवस्था करता था (मनु २-१४०)। 'आचार्य' शब्द के अर्थ और योग्यता पर सविस्तर विचार किया गया है। निरुक्त (१-४) के अनुसार उसको आचार्य इसलिये कहते हैं कि वह विद्यार्थी से आचारशास्त्रों के अर्थ तथा बुद्धि का आचयन (ग्रहण) कराता है। आपस्तंब धर्मसूत्र (१ १ १ ८) के अनुसार उसको आचार्य इसलिये कहा जाता है कि विद्यार्थी उससे धर्म का आचयन करता है। आचार्य का चुनाव बड़े महत्व का होता था। 'वह अंधकार से घोर अंधकार में प्रवेश करता है जिसका उपनयन अविद्वान् करता है। इसलिये कुलीन, विद्यासंपन्न तथा सम्यक् प्रकार से संतुलित बुद्धिवाले व्यक्ति को आचार्य पद के लिये चुनना चाहिए।' (आप० ध० सू० १ १ १ ११-१३)। यम (वीरमित्रोदय, भाग १, पृ० ४०८) ने आचार्य की योग्यता निम्नलिखित प्रकार से बतलाई है 'सत्यवाक्, धृतिमान्, दक्ष, सर्वभूतदयापर, आस्तिक, वेदनिरत तथा शुचियुक्त, वेदाध्ययनसंपन्न, वृत्तिमान्, विजितेंद्रिय, दक्ष, उत्साही, यथावृत्त, जीवमात्र से स्नेह रखनेवाला आदि' आचार्य कहलाता है। आचार्य आदर तथा श्रद्धा का पात्र था। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६-२३) में कहा गया है: जिसकी ईश्वर में परम भक्ति है, जैसे ईश्वर में वैसे ही गुरु में, क्योंकि इनकी कृपा से ही अर्थों का प्रकाश होता है। शारीरिक जन्म देनेवाले पिता से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जन्म देनेवाले आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है (मनु० २. १४६)।

आजमगढ़ गंगा के उपजाऊ मैदान में स्थित पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ५,७४४ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या २८,६६,२१६ (१९७१) है। अधिकांश जनसंख्या का उद्यम खेती है। मुख्य फसलें चावल, जौ, गेहूँ और गन्ना है। इस जिले का मुख्य नगर आजमगढ़ है जो २६° ३' उ० अ० और ८३° १३' पू० दे० पर स्थित है। यह नगर गंगा नदी की सहायक टोंस नदी के सर्पिल घुमावों द्वारा तीन ओर से घिरा हुआ है। बाढ़ से रक्षा के लिये ऊँचा बाँध बनाया गया है। पर कभी कभी बाँध तोड़कर नदी का पानी फैल जाता है और नगर को पर्याप्त क्षति पहुँचती है। औसत वार्षिक वर्षा ४२.०५ इंच है। यह पूर्वोत्तर रेलवे की मऊ से शाहगंज जानेवाली शाखा पर स्थित है और पक्की तथा कच्ची सड़कों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यह वाराणसी से दोहरीघाट होते हुए गोरखपुर जानेवाले मोटर मार्ग पर पड़ता है। इस नगर की स्थापना १६६५ ई० में आजम खाँ द्वारा हुई थी। इसके पूर्व यह भूमि गौतम के बिसेन राजपूतों के अधीन थी। इस समय यहाँ दो डिग्री कालेज है। शिबली मंजिल तथा हरिऔध-कला-भवन विशेष उल्लेखनीय भवन है। (रा० ना० मा०)

आज़ाद अबुलकलाम अहमद मुहीयुद्दीन (१८८८-१९५८ ई०) एक बड़े विद्वान् घराने में पैदा हुए। जन्म मक्का में हुआ और किशोरावस्था के कई वर्ष वहीं बीते। अरबी फारसी अपने पिता से पढ़ी और बाल्यावस्था में ही असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अभी केवल १२ वर्ष के थे कि एक पत्रिका कलकत्ते से निकाल दी और १९०२ ई० से पत्रपत्रिकाओं में इनके लेख छपने लगे। १९०२ ई० में कलकत्ते से ही एक साहित्यिक पत्रिका 'लिसानुस्-सिदक' निकाली। १९०५ ई० में लखनऊ की प्रसिद्ध पत्रिका 'अन-नदवा' के संपादक नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद अमृतसर चले गए और वहाँ 'वकील' के संपादक हो गए।

१९१२ ई० में कलकत्ते से स्वयं अपना साप्ताहिक 'अल हिलाल' निकाला। उर्दू में ऐसी उच्च कोटि का कोई साप्ताहिक इससे पहले नहीं निकला था। १९१६ ई० में अपने राजनीतिक विचारों के कारण राँची में

नजरबंद कर दिए गए। यहाँ इन्होंने अपने पूर्वजों के बारे में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तजकेरा' लिखी और 'कोरान शरीफ' का उर्दू अनुवाद टीका सहित आरंभ कर दिया। १९१९ ई० में वहाँ से छूटे, किंतु १९२१ ई० में फिर बंदी बना दिए गए। १९२३ ई० में कांग्रेस के सभापति चुने गए। १९३० ई० में अंग्रेजी राज्य ने सभी नेताओं के साथ मौलाना आजाद को भी बंदी बना दिया। १९३९ में फिर कांग्रेस के सभापति नियुक्त किए गए और १९४६ तक इसका नेतृत्व करते रहे। १९४२ ई० में अंतिम बार कैद किए गए। स्वतंत्रता मिलने पर केंद्र में जो राष्ट्रीय मंत्रिमंडल बना, मौलाना आजाद उसमें शिक्षामंत्री बनाए गए। इसी बीच ईरान, तुर्की, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा की। २२ फरवरी, १९५८ ई० को देहली में देहात हुआ।

आजाद ने वैसे कुछ कविताएँ भी लिखीं किंतु उनके गद्य ने उन्हें उर्दू साहित्यकारों में बहुत ऊँचा स्थान दिया। उनके लेखों में भी उनके व्याख्यानों की शक्ति पाई जाती है।

मौलाना आजाद की रचनाओं में 'तजकेरा', 'तरजुमानुल कोरान', 'गुब्बारे-खातिर', 'कौले-फैसल', 'दास्ताने करबला, 'इसानियत मौत के दरवाजे पर', 'मजामीने अल हिलाल', 'मजामीने आजाद', 'खुतबाते आजाद' इत्यादि है।

सं०ग्रं०—अबुल कलाम आजाद . तजकेरा, अबुल कलाम आजाद : इडिया, जोश मलीहाबादी आजाद की कहानी, काजी अब्दुल गफ्फार : आसारे-अबुल-कलाम, अबू सईद अजमी . अबुल कलाम आजाद विन्स फ्रीडम। (सै० ए० हु०)

आज़ाद, चद्रशेखर द्र० 'चद्रशेखर आजाद'।

आज़ाद, शमशुल उलमा मौलाना मुहम्मद हुसेन (१८३३–१९१० ई०)। मौलाना सैयद मुहम्मद बाकर दिल्ली के एक बहुत बडे विद्वान् और धार्मिक नेता थे जिन्होंने उर्दू अखबार के नाम से १८३६ ई० में पहला गभीर उर्दू समाचारपत्र निकाला। इस पत्रिका में अंग्रेजों के विरोध में विचार प्रकट किए जाते थे। १८५७ ई० के आदोलन में अवसर मिलते ही अंग्रेजों ने मौलाना बाकर को गोली से उडा दिया। आजाद उन्हीं के पुत्र थे। पिता ने पुत्र को फारसी, अरबी, पढाई, दिल्ली कालेज में पढने के लिये भेजा, प्रेस का काम सिखाया तथा कविता और भाषा के मर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिये उस समय के प्रसिद्ध कवि शेख मुहम्मद इब्राहिम 'जौक' के हाथ में सौंप दिया। पिता ने इस प्रकार आजाद को ऐसा बना दिया था कि वह ससार में अपनी जगह बना सकें, परतु १८५७ के आदोलन ने इन्हें बेघर कर दिया और कई वर्ष तक ये लखनऊ, मद्रास और बबई में मारे मारे फिरते रहे। छोटी छोटी नौकरियाँ कों, और बच्चों के लिये पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तकें लिखीं। इसी बीच काश्मीर और मध्य एशिया भी हो आए। १८६९ ई० में लाहौर गवर्नमेंट कालेज में अरबी के अध्यापक नियुक्त हुए और वहाँ कुछ अंग्रेज और हिंदुस्तानी विद्वानों के साथ मिलकर "अजुमने पजाब" बनाई जिसने नई प्रकार की कविताएँ लिखने की परपरा आरभ हुई। १८७४ ई० में लाहौर में जो नए मुशायरे हुए उनमें ख्वाजा 'हाली' ने भी भाग लिया और वास्तव में उसी समय से आधुनिक उर्दू साहित्य का विकास आरभ हुआ। १८८५ ई० में 'आजाद' ने ईरान की यात्रा की और जब वहाँ से लौटे तब अपना सारा समय और सारी शक्ति साहित्यरचना में लगाने के लिये नौकरी से भी अलग हो गए। १८८८ ई० में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई कि आजाद की मानसिक दशा बिगडने लगी और दो एक वर्ष बाद वे बिलकुल पागल हो गए। इसमें भी जब कभी मौज आ जाती, लिखने पढने में लग जाते। १९०९ में इनका स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो गया और २२ जनवरी, १९१० ई० को ये परलोक सिधार गए।

अपने विस्तृत ज्ञान से सुदर भावपूर्ण शैली और नवीन विचारों के कारण आजाद वर्तमान साहित्य के जन्मदाताओं में गिने जाते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में से निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं .

"सुखनदाने-फार्स", "निगारिस्ताने-फार्स", "आबे-हयात", "नैरगे-खयाल", "दरबारे-अकबरी", "कससे-हिंद", "कायनाते-अरब", "जानवरिस्तान", "नज्मे-आजाद" इत्यादि।

संग्रं०—पडित कैफी . मनशूरात, जहाँ बानू : मुहम्मद हुसेन आजाद, मुहम्मद यहया तन्हा : सियरुल–मुसन्नफीन, हामिद हसन कादिरी दास्तान-तारीखे-उर्दू, अब्दुल्ला, डा० एस० एन० स्पिरिट ऐंड सब्स्टैंस ऑव उर्दू प्रोज अडर दि इन्फ्लुएंस ऑव सर सैयद। (सै० ए० हु०)

आजीवक द्र० 'आजीविक'।

आजीविक आजीविक शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में विवाद रहा है किंतु 'आजीविक' के विषय में विशेष विचार रखनेवाले श्रमणों के एक वर्ग को यह अर्थ विशेष मान्य रहा है। वैदिक मान्यताओं के विरोध में जिन अनेक श्रमणसप्रदायों का उत्थान बुद्धपूर्वकाल में हुआ उनमें आजीविक सप्रदाय भी था। इस सप्रदाय का साहित्य उपलब्ध नहीं है, किंतु बौद्ध और जैन साहित्य तथा शिलालेखों के आधार पर ही इस सप्रदाय का इतिहास जाना जा सकता है। बुद्ध और महावीर के प्रबल विरोधियों के रूप में आजीविकों के तीर्थंकर मक्खली गोसाल (मस्करी गोशाल) का उल्लेख जैन-बौद्ध-शास्त्रों में मिलता है। यह भी उन शास्त्रों से ही ज्ञात होता है कि उस समय आजीविकों का सप्रदाय प्रतिष्ठित और समावृत था। गोसाल अपने को चौबीसवाँ तीर्थंकर कहते थे। इस जन उल्लेख को प्रमाण न भी माना जाय तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि गोसाल से पहले भी यह सप्रदाय प्रचलित रहा। गोसाल से पहले के कई आजीविकों का उल्लेख मिलता है। शिलालेखों और अन्य आधारों से यह सिद्ध है कि यह सप्रदाय समग्र भारत में प्रचलित रहा और अत में मध्यकाल में अपना पार्थक्य इस सप्रदाय ने खो दिया। आजीविक श्रमण नग्न रहते और परिव्राजकों की तरह घूमते थे। भिक्षाचर्या द्वारा जीविका चलाते थे। ईश्वर या कर्म में उनका विश्वास नहीं था। किंतु वे नियतिवादी थे। पुरुषार्थ, पराक्रम, वीर्य से नहीं, किंतु नियति से ही जीव की शुद्धि या अशुद्धि होती है। ससारचक्र नियत है, वह अपने क्रम में ही पूरा होता है और मुक्तिलाभ करता है। आश्चर्य तो यह है कि आजीविकों का दार्शनिक सिद्धात ऐसा होने हुए भी आजीविक श्रमण तपस्या आदि करते थे और जीवन में कष्ट उठाते थे।

सं०ग्रं०—बॉशम, ए० एल० हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिन्स ऑव दि आजीविकाज। (द० मा०)

आटाकामा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी भाग में शुष्क और खारा मरुस्थल है। यह चिली देश के आटाकामा तथा अटाफेगास्टा प्रदेश के अधिकतर भाग और अर्जेनटीना के लॉस ऐंडीज प्रदेश में फैला है। इसके ऊँचे भाग 'पूना डी अटाकामा' कहे जाते हैं। यह विच्छिन्न पर्वतीय भाग है। जगह जगह ज्वालामुखी पर्वत हैं तथा अन्य भागों में शोरा मिलता है। यह मरुस्थल ऐंडीज पर्वत तथा समुद्रतट के बीच में पडता है। ऊँचाई ३,००० से ५,००० फुट तक है। इसका क्षेत्रफल १,०८४ वर्ग मील है। पूर्वी भाग में कभी कभी वर्षा हो जाती है जिससे हिमाच्छादित ऊँची चोटियों से सोते निकलकर कुछ उर्वरापन ला देते हैं। या अधिकतर भाग पठारी है जो जाडे में शुष्क और अत्यधिक ठडा रहता है तथा गर्मी में वर्षा और आँधी से प्रभावित होता है। पश्चिमी ढाल पर विस्तृत, छिछले स्थल तथा सीढ़ीनुमा ढालें मिलती हैं जो तट पर बालू में मिल जाते हैं। यह भाग शोरा के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यह तीन चार शताब्दी पहले तक शुष्क तथा बेकार समझा जाता था, परतु अब यहाँ खनिज पदार्थों का भाडार पाया गया है। यहाँ ताँबा, चाँदी, सीसा, कोबाल्ट, निकेल तथा बोरैक्स मिलते हैं। यहाँ पर खानों में काम करनेवाले लोगों की काफी बस्तियाँ हैं। यहाँ की ताँबा और चाँदी की खानें विश्वप्रसिद्ध हैं। (न० कु० सि०)

आटोफोनोस्कोप यह एक यत्र है जिसकी रचना पैकोनमेली ने की थी। स्वरयत्र (द्र०) के अध्ययन के लिये इस यत्र से सहायता मिलती है। (स० कु० रो०)

आड़ू या सतालू (अंग्रेजी नाम पीच, वानस्पतिक नाम · प्रूनस पर्सिका, प्रजाति प्रूनस, जाति : पर्सिका, कुल रोज़ेसी) का उत्पत्तिस्थान चीन है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि यह ईरान में उत्पन्न हुआ। यह पर्णपाती वृक्ष है। भारतवर्ष के पर्वतीय तथा उपपर्वतीय

भागों में इसकी सफल खेती होती है। ताजे फल खाए जाते हैं तथा फल से फलपाक (जैम), जेली और चटनी बनती है। फल में चीनी की मात्रा पर्याप्त होती है। जहाँ जलवायु न अधिक ठंडी, न अधिक गरम हो, १५° फा० से १००° फा० तक के तापवाले पर्यावरण में, इसकी खेती सफल हो सकती है। इसके लिये सबसे उत्तम मिट्टी बलुई दोमट है, पर यह गहरी तथा उत्तम जलोत्सरणवाली होनी चाहिए।

आड़ू दो जाति के होते है—(१) देशी, उपजातियाँ : लार्ज अगरा, पेशावरी तथा हरदोई, (२) विदेशी, उपजातियाँ : बिर्डविल्स अर्ली, डबल फ्लावरिंग, चाइना फ्लैट, डाक्टर हाग, फ्लोरिडाज ग्रोन, अलबर्टा आदि। प्रजनन कलिकायन द्वारा होता है। आड़ू के मूल वृंत पर रिंग बडिंग अप्रैल या मई मास में किया जाता है। स्थायी स्थान पर पौधे १५ से १८ फुट की दूरी पर दिसंबर या जनवरी के महीने में लगाए जाते हैं। सड़े गोबर की खाद या कंपोस्ट ८० से १०० मन तक प्रति एकड़ प्रति वर्ष नवंबर या दिसंबर में देना चाहिए। जाड़े में एक या दो तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रति सप्ताह सिंचाई करनी चाहिए। सुंदर आकार तथा अच्छी वृद्धि के लिये आड़ू के पौधे की कटाई तथा छँटाई प्रथम दो वर्ष भली भाँति की जाती है। तत्पश्चात् प्रति वर्ष दिसंबर में छँटाई की जाती है। जून में फल पकता है। प्रति वृक्ष ३० से ५० सेर तक फल प्राप्त होते है। स्तंभछिद्रक (स्टेम बोरर), आड़ू अंगमारी (पीच ब्लाइट) तथा पर्णपरिकुंचन (लीफ कर्ल) इसके लिये हानिकारक कीड़े तथा रोग हैं। इन रोगों से इस वृक्ष की रक्षा कीटनाशक द्रव्यों के छिड़काव (स्प्रे) द्वारा सुगमता से की जा सकती है। (ज० रा० सि०)

आड़ू

भारत के पर्वतीय तथा उपपर्वतीय भागों में इसकी सफल खेती होती है।

आतानक विश्लेषण

आतानक विश्लेषण (टेंसर ऐनालिसिस) का मुख्य उद्देश्य ऐसे नियमों की रचना और अध्ययन है, जो साधारणतया सहचर (कोवैरिएंट) रहते हैं, अर्थात् यदि हम नियामकों की एक पद्धति से दूसरी में जायँ तो ये नियम ज्यों के त्यों बने रहते है। इसीलिये अवकल ज्यामिति के लिये यह विषय महत्वपूर्ण है।

इस विषय के पुराने विचारकों में गाउस, रीमान और क्रिस्टॉफेल के नाम उल्लेखनीय है। किंतु इस विषय को व्यवस्थित रूप रिची और लेवी चिविता ने दिया। इन्होंने इस विषय का नाम बदलकर निरपेक्ष कलन कलन (ऐब्सोल्यूट डिफरेंशियल कैल्कुलस) कर दिया। इस विषय का प्रयोग अनुप्रयुक्त गणित की बहुत सी शाखाओं में होता है।

मान लीजिए, एक त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) अ_3 है जिसके प्रत्येक बिंदु **पा** के नियामक तीन वास्तविक राशियों **य**, **य**, य_3 पर आश्रित है। मान लीजिए, **पा** के निकट ही **फा** एक दूसरा बिंदु है जिसके नियामक ($\text{य}_1+\text{ताय}_1$, $\text{य}_2+\text{ताय}_2$, $\text{य}_3+\text{ताय}_3$) है, तो इस अवकल कुलक (सेट ऑव डिफरेंशियल्स)

$$\text{ताय}_1,\quad \text{ताय}_2,\quad \text{ताय}_3,$$

को एक सदिश (वेक्टर) कहते है, या यों कहिए कि बिंदुयुग्म **पा**, **फा** को एक सदिश कहते है।

मान लीजिए, हम **य**, य_2, य_3 को एक दूसरी नियामक पद्धति $\text{य}'_1$, $\text{य}'_2$, $\text{य}'_3$ में परिवर्तित करते है, जो ऐसी है कि पहले नियामक दूसरे नियामकों के सतत फलन है। इसके अतिरिक्त अवकल गुणक

$$\frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_1'},\ \frac{\text{तय}_2}{\text{तय}_2'},\ \frac{\text{तय}_3}{\text{तय}_3'},\ \frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_1'},\ \frac{\text{तय}_2}{\text{तय}_3'}$$

भी सतत हैं (जहाँ त = θ) और जैकोबियन

$$\text{त}(\text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3)$$
$$\text{त}(\text{य}_1', \text{य}_2', \text{य}_3')$$

परिमित है, पर शून्य नहीं है, तो हमारे परिवर्तनसूत्र इस प्रकार के होंगे :

$$\text{ताय}_1' = \frac{\text{तय}_1'}{\text{तय}_2}\,\text{ताय}_2$$

अब मान लीजिए, का^1, का^2, का^3 तीन राशियाँ हैं, तो इनका रूपांतर इस प्रकार के सूत्रों से होगा

$$\text{का}_1' = \frac{\text{तय}_1'}{\text{तय}_2}\,\text{का}^2$$

तो इस राशि कुलक का^1, का^2, का^3 को **पदवी** एक के **प्रतिचल आतानक** (कंट्रावेरिएंट टेंसर ऑव रैंक वन) कहेंगे और राशियाँ का^1, का^2, का^3 उक्त आतानक के ३ संघटक कहलाएँगी। साधारणतया आतानकों में उच्च प्रत्यय लगाए जाते है।

इसके अतिरिक्त, यदि का_1, का_2, का_3 तीन राशियाँ हो, जिनके परिवर्तनसूत्र इस प्रकार के हो

$$\text{का}_2' = \frac{\text{तय}_3}{\text{तय}_2'}\,\text{का}_3,$$

तो उनके कुलक को **सहचर आतानक** (कोवैरिएंट टेंसर) कहते है। इन राशियों के लिये निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

पदवी १ के इन तीनों प्रकार के आतानकों को सदिश (वेक्टर) भी कहते है।

इसी प्रकार, यदि स^2 राशियाँ $\text{का}_{\text{चछ}}$ हो, जिनका परिवर्तनसूत्र

$$\text{का}'_{\text{चछ}} = \left(\frac{\text{तय}}{\text{तय}_{\text{च}}'}\right)\left(\frac{\text{तय}_{\text{ह}}}{\text{तय}'_{\text{छ}}}\right)\text{का}_{\text{चह}}$$

हो तो वे भी एक सहचल का सृजन करती है और जो राशियाँ $\text{का}^{\text{चछ}}$ हो, जिनका परिवर्तनसूत्र

$$\text{का}'^{\text{च}}_{\text{छ}} = \left(\frac{\text{तय}_{\text{च}}}{\text{तय}_{\text{च}}}\right)\left(\frac{\text{तय}_{\text{छ}}'}{\text{तय}_{\text{ह}}}\right)\text{क}^{\text{ह}}_{\text{छ}}$$

हो, तो वह पदवी २ के एक प्रतिचल का सृजन करती हैं। स्पष्ट है कि हम इन परिभाषाओं का किसी भी पदवी तक विस्तार कर सकते है। पदवी ० के आतानक को अदिश भी कहते है। यह **य** का एकाकी फलन होता है, जो नियामकों के किसी भी परिवर्तन **फ'** = **फ** के लिये निश्चल (इन्वैरिएंट) रहता है।

स०ग्रं०—एल० पी० आइजेनहार्ट : कंटिन्युअस ग्रुप्स ऑव ट्रैंसफॉर्मेशन्स (१९३३), ओ० वेब्लेन : इन्वैरिएंट्स ऑव क्वाड्रैटिक डिफरेंशियल फार्म्स (१९२७), ए० डी० माइकेल : मैट्रिक्स ऐंड टेंसर कैलक्युलस विद ऐप्लिकेशन्स टु मेकैनिक्स, इलैस्टिसिटी ऐंड एअरोनॉटिक्स (१९४६)। (अ० मो०)

आतिश, ख्वाजा हैदरअली

आतिश, ख्वाजा हैदरअली (१७७८-१८४७ ई०) ये दिल्ली के ख्वाजा अलीबख्श के पुत्र थे जो बाद में फैजाबाद चले आए थे। पिता के मर जाने के कारण आतिश न ठीक से शिक्षा प्राप्त नहीं की। उस समय फैजाबाद अवध का सैनिक केंद्र था। आतिश सैनिकों के समीप रहकर तलवार चलाना सीख गए और एक नवाब के यहाँ नौकर हो गए। नवाब कवि भी थे इसलिये आतिश को फैजाबाद में ही कविताएँ लिखने की प्रेरणा मिली और जब १८१५ ई० के लगभग लखनऊ आए तो यहाँ का वातावरण ही कविताओं से भरा हुआ दिखाई दिया। आतिश यहाँ आकर मुसहफी को अपनी कविताएँ दिखाने लगे और कविसम्मेलनों में सम्मिलित होकर बड़े बड़े कवियों से टक्कर लेने लगे। कम पढ़े लिखे होने पर भी उनकी भाषा बड़ी सरस और भावपूर्ण होती थी। वह किसी राजदरबार से कोई संबंध नहीं रखते थे, बिलकुल स्वतंत्र थे और सूफी दृष्टि रखते थे। इसलिये उनकी कविता में बड़ी जान थी। उस समय लखनऊ में एक बड़े कवि नासिख भी थे जो केवल शब्दों के शुद्ध प्रयोग और अलंकारों से काम लेने को कविता जानते थे। उर्दू कविता का वह युग उनसे बहुत प्रभावित हुआ।

आतिश भी इससे बच नहीं सके थे, परंतु उनके स्वतंत्र स्वभाव, तथा भावपूर्ण विचारों ने उनको बहुत ऊँचा कर दिया था और लखनऊ के रंग में रँगा हुआ होने पर भी वह भावपूर्ण कविताएँ लिखते थे। उन्होंने केवल गजलें लिखी हैं और उन्हों में अपने नैतिक और धार्मिक विचारों तथा भावों को प्रकट किया है।

उनके शिष्यों में पंडित दयाशंकर "नसीम" और "रिंद" बहुत प्रसिद्ध हुए। आतिश के केवल दो संग्रह "कुल्लियाते आतिश" के नाम से मिलते हैं।

सं०ग्रं०—मुहम्मद हुसेन 'आजाद' आबे-हयात, मुसहफी तजकिरए-हिंदी, शेफता गुलशने बेखार, अबुल लैस लखनऊ का दबिस्ताने-शायरी। (सै० ए० हु०)

आतिशबाजी उन युक्तियों का सामूहिक नाम है जिनसे अग्नि द्वारा प्रकाश, ध्वनि या धुएँ का अनुपम प्रदर्शन होता है। इनका उपयोग मनोरंजन के अतिरिक्त सेना तथा उद्योग में भी होता है। साधारण जलने में ईंधन को आवश्यक आक्सीजन हवा से मिलता है, परंतु आतिशबाजी में ईंधन के साथ कोई आक्सीजनप्रद पदार्थ मिला रहता है। फिर, ईंधन भी शीघ्र जलनेवाला होता है। इसी से अधिक ताप या प्रकाश या ध्वनि उत्पन्न होती है।

प्राचीन समय में आक्सिजन के लिये शोरे (पोटैसियम नाइट्रेट) का उपयोग किया जाता था, परंतु १७८८ में बर्टलो ने पोटैसियम क्लोरेट का आविष्कार किया जो शोरे से अच्छा पड़ता है। लगभग १८६५ में और फिर १८९४ में क्रमानुसार मैगनीसियम और ऐल्युमिनियम का आविष्कार हुआ, जो जलने पर तीव्र प्रकाश उत्पन्न करते हैं। इनके उपयोग से आतिशबाजी ने बड़ी उन्नति की।

कुछ प्रकार की आतिशबाजी में उद्देश्य यह रहता है कि जलती हुई गैसें बड़े वेग से निकलें। इनमें बारूद का प्रयोग किया जाता है जो गंधक, काठकोयला और शोरे का महीन मिश्रण होता है। विशेष वेग के लिये इन पदार्थों को बहुत बारीक पीसकर मिलाया जाता है। महताबी आदि में उद्देश्य यह रहता है कि चटक प्रकाश हो। सफेद प्रकाश के लिये ऐंटिमनी या आर्सेनिक के लवण रहते हैं, परंतु इस रंग की महताबियाँ कम बनाई जाती हैं। रंगीन महताबियों में पोटैसियम क्लोरेट के साथ विभिन्न धातुओं के लवणों का प्रयोग किया जाता है, जैसे लाल रंग के लिये स्ट्रांशियम का नाइट्रेट या अन्य लवण, हरे के लिये बेरियम का नाइट्रेट या अन्य लवण, पीले के लिये सोडियम कारबोनेट आदि, नीले के लिये ताँबे का कारबोनेट या अन्य लवण, जिसमें थोड़ा मरक्यूरस क्लोराइड मिला दिया जाता है। चमक के लिये मैगनीशियम या ऐल्युमिनियम का अत्यंत महीन चूर्ण मिलाया जाता है। बहुधा स्पिरिट में लाह (लाख) का घोल, या पानी में गोंद का घोल या तीसी (अलसी) का तेल मिलाकर अन्य सामग्री को बाँध दिया जाता है। अधिकांश रंगीन ज्वाला देनेवाली आतिशबाजी में क्लोरेट और रंग उत्पन्न करनेवाले पदार्थों के अतिरिक्त गंधक तथा कुछ साधारण ज्वलनशील पदार्थ भी रहते हैं, जैसे लाह, कड़ी चर्बी, खनिज माम, चीनी इत्यादि। उदाहरणस्वरूप दो योग नीचे दिए जाते हैं

लाल महताबी के लिये

पोटैसियम परक्लोरेट	२	भाग
स्ट्रांशियम नाइट्रेट	६	भाग
गंधक	२	भाग
लाह	२	भाग

हरी महताबी के लिये

पोटैसियम परक्लोरेट	६	भाग
बेरियम नाइट्रेट	३०	भाग
गंधक	३	भाग
लाह	२	भाग

आतिशबाजी के लिये खोल साधारणतः कागज का बनता है। मजबूत खोल के लिये कागज पर लेई या सरेस पोतकर उसे गोल डंडे पर लपेटा जाता है। मुँह सँकरा करने के लिये गीली अवस्था में ही एक ओर डोर कसकर बाँध दी जाती है। जिन खोलों को बारूद का बल नहीं सहन करना पड़ता उनको बिना लेई के ही लपेटते हैं। अंतिम परत पर जरा सी लेई लगा देते हैं। जो मसाला भरा जाना है उसे कूट कूटकर खूब कस दिया जाता है और अंत में पलीता (शीघ्र आग पकड़नेवाली डोर, जो पानी में गाढ़ी सनी बारूद में डुबाने और निकालकर सुखाने से बनती है) लगा दिया जाता है।

बाण के लिये खूब पुष्ट खोल बनाया जाता है। जली गैसों के नीचे-मुँह जोर से निकलने के कारण ही बाण ऊपर चढ़ता है। इसलिये आवश्यक है कि बाण के भीतर बारूद जोर से जले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बाण में भरी बारूद के बीच में एक पोली शंक्वाकार जगह छोड़ दी जाती है, जिससे बारूद का जलता हुआ क्षेत्रफल अधिक रहे। जलती गैसों के निकलने के लिये मिट्टी की टोंटी लगाई जाती है जिसमें खोल स्वयं न जलने लगे। बाण के माथे पर, जो सबसे अंत में जलता है, एक टोप लगा दिया जाता है, जिसमें रंगबिरंगी फुलझड़ियाँ रहती हैं।

फुलझड़ियाँ अलग भी बनती और बिकती हैं। इनमें अन्य मसालों के अतिरिक्त लोहे की रेतन रहती है। इस्पात की रेतन से फूल अधिक श्वेत होते हैं। काजल डालने से बड़े फूल बनते हैं। जस्ते तथा ऐल्युमिनियम का भी प्रयोग किया जाता है। एक नुसखा यह है :

पोटैसियम परक्लोरेट	३०	भाग
बेरियम नाइट्रेट	५	भाग
ऐल्युमिनियम	२२	भाग
लोह	३	भाग

चर्खी में बाँस का ऐसा ढाँचा रहता है जो अपनी धुरी पर नाच सके और इसकी परिधि पर आमने सामने बाण की तरह बारूद भरी दो नलिकाएँ रहती हैं।

बाँस के ढाँचे पर बँधी महताबियों से भली प्रकार के चित्र और अक्षर बनाए जा सकते हैं।

सं०ग्रं०—ए० सेंट एच० ब्रॉक पायरोटेकनिक्स (१९२२)।

आतबारा मिस्र की नील नदी की अंतिम सहायक नदी है जो अबिसीनिया पठार से निकलकर १,२६६ किलोमीटर बहने के पश्चात् नील में आकर मिलती है। स्वयं इसकी भी अनेक सहायक नदियाँ हैं जिनमें कुछ पर्याप्त बड़ी भी हैं। इन नदियों में जुलाई तथा अगस्त के महीनों में वर्षा के पानी से बहुत बाढ़ आ जाती है, परंतु अक्टूबर के पश्चात् इनका पानी बहुत कम हो जाता है। आतबारा अपने साथ लगभग १,००,००,००० से १,५०,००,००० मीट्रिक टन तक रेत नील में लाकर गिराती है। (न० ला०)

आत्मकथा अपनी कहानी। आपबीती लिखना आसान नहीं है। कुछ लोगों का यह विचार है कि केवल उन्हीं की आत्मकथाएँ होनी चाहिए जिनका जीवन पर्याप्त घटनाबहुल रहा हो या महान् अथवा आदर्श हो। आत्मकथा के लिये आवश्यक गुण हैं (१) उत्तम स्मृति, (२) अपने प्रति तटस्थता, (३) स्पष्टवादिता, (४) अति आत्मसमर्थन अथवा अति संकोच, दोनों प्रकार की मानसिक स्थितियों से मुक्त होना, (५) अपने जीवन की घटनाओं को चुनते समय, कौन सी घटनाएँ सार्वजनिक महत्व की होंगी, इसका विवेक, अर्थात् कलात्मक दृष्टि और (६) आकर्षक निवेदनशैली। जीवन में ऐसी कई घटनाएँ होती हैं, और महान् व्यक्तियों के जीवन में तो वे और भी तीव्रता से अनुभव की जाती हैं, जो कथनीय होती हैं, जिनमें किसी प्रकार के रागद्वेष का अतिरेक होता है अथवा काम क्रोधादि वृत्तियों का निरंकुश प्रदर्शन होता है। उन्हें टालकर जो जीवनियाँ लिखी जाती हैं, वे बनावटी जान पड़ती हैं, उनमें सहजता का लोप हो जाता है। उन्हें पूरी तरह कहने का नैतिक साहस बहुत कम व्यक्तियों में होता है, क्योंकि तब तो एक ओर आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्लेषण तथा दूसरी ओर आत्मप्रेम के बीच द्वंद्व पैदा होता है। इस कशमकश को संसार की कुछ महानतम आत्मकथाओं में बराबर उत्कटता से अनुभव किया गया और व्यक्त भी किया गया है। ये आत्मकथाएँ साहित्य की अभिराम रचनाएँ और कलाकृतियाँ बन गई हैं।

इसके विपरीत कई आत्मकथाएँ केवल घटनाओं की तालिका या बाह्य व्यावहारिक जीवन के नीरस विवरणों की सूची मात्र हो जाती हैं। उनमें बहुत कम ऐसे अंश पाए जाते हैं जिनमें पाठक भी उतना ही रसोद्बोधन

अनुभव कर सकें। परंतु इस प्रकार के ग्रंथों का ऐतिहासिक मूल्य होता है। वे हमारी जानकारी तो बढ़ाती ही हैं। इब्नबतूता, युवानच्वांग, अलबेरूनी, फाहियान, निकोलाओ मानूची, निकितिन, नैनसिंग, तनसिंग आदि के यात्रा या अभियानवर्णन इस प्रकार की आत्मकथाओं और संस्मरणों के उत्तम उदाहरण हैं। पत्रों और डायरियों के संग्रह भी इसी कोटि में आते हैं, यद्यपि उनमें आत्मीयता अधिक होती है। गेटे ने इसीलिये अपनी जीवनी का नाम रखा था 'डिक्टुग उंड वाहहीट' (कविता और सत्य)। पेप्स ने अंग्रेजी में डायरियाँ बहुत सुंदर लिखीं।

विदेशी लेखकों की श्रेष्ठ आत्मकथाओं में एक साहित्यविधा आत्मस्वीकृति के साहित्य की होती है। इसी के अंतर्गत संत अगस्तिन (३५४–४३० ई०) के 'कन्फेशंस', रूसो के 'कन्फेशंस' (उसकी मृत्यु के बाद १७८१–८८ में प्रकाशित), डी क्विन्सी की १८२१ में प्रकाशित 'एक अंगरेज अफीमची की आत्मकथा' (कन्फेशंस ऑव ऐन ओपियम ईटर) आदि आत्मकथाएँ आती हैं। अल्फ्रे दि मुसे की प्रसिद्ध फ्रेंच आत्मजीवनी, आस्कर वाइल्ड की 'डी प्राफंडिस', लियो तोल्स्तोइ की आत्मकथा के रूप में लिखित डायरी, आंद्रे जीद के जूर्नाल, एथिल मैनिन के 'कन्फेशंस ऐंड इंप्रेशंस' इसी कोटि में आते हैं। इनके तीन प्रकार संभव होते हैं (१) ऐसी कथाएँ जो एक कमरे में इकट्ठा लोगों को कोई आदमी पूर्वसंस्मरणों के रूप में कहे, (२) ऐसी बातें कहना जो केवल मित्रों से एकांत में कही जा सकें, (३) ऐसी बातें जिन्हें मित्रों से भी कहने में लज्जा अनुभव हो। कुछ आत्मकथाएँ इसलिये मनोरंजक होती हैं कि उनके द्वारा किसी व्यक्ति के आत्मिक अनुभव प्रकट होते हैं, यथा जार्ज फाक्स क्वेकर या प्रिंस क्रोपात्किन या कार्डिनल निवमैन या स्टीवेन स्पेंडर की आत्मकथाएँ। कुछ आत्मकथाएँ इसलिये प्रसिद्ध होती हैं कि वे किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की या उनमें संबंधित की होती हैं, यथा बाबरनामा (१४८३–१५३०), हिटलर का 'मीन काफ', मादमोज़ेल द रेमूसेत (नेपोलियन की प्रेयसी), चर्चिल, जार्ज सैंड, अन्ना पावलोवा, मेरी बाशकीर्तसेफ, बोदलेयर, सॉमरसेट माम आदि के संस्मरण, डायरियाँ, नोटबुक इत्यादि।

यूरोप की प्राचीन आत्मकथाओं में प्रसिद्ध आत्मकथा रोमन विजेता जूलियस सीजर की है। आधुनिक काल की रोचक आत्मकथाओं में जर्मन सम्राट् विल्हेम कैसर की आत्मकथा है जिसके पहले अध्याय का शीर्षक है 'दस आइ डिसमिस्ड बिस्मार्क' (मैंने बिस्मार्क को बर्खास्त कर दिया)।

हिंदी के प्राचीन साहित्य में आत्मकथात्मक सामग्री यत्र तत्र ही मिलती है। जैन कवि बनारसीदास की 'अर्धकथा' हिंदी की प्रथम क्रमबद्ध आत्मकथा मानी जाती है, यद्यपि यह पद्यात्मक है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, स्वामी दयानंद, अंबिकादत्त व्यास, स्वामी श्रद्धानंद, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय की आत्मकथाएँ इस धारा की प्रारंभिक और प्रयोगात्मक रचनाएँ मानी जा सकती हैं। संबद्ध रूप से लिखी गई हिंदी की आत्मकथाओं में श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' तथा राजेंद्रप्रसाद की 'आत्मकथा' प्रमुख है।

भारत के विशिष्ट महापुरुषों की प्रसिद्ध आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की 'सत्य के प्रयोग', जो मूल रूप में गुजराती में लिखी गई थी तथा अंग्रेजी में लिखी गई जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' उल्लेखनीय है। भारत की समस्त भाषाओं में आत्मचरित संबंधी साहित्य मिलता है, उदाहरणार्थ रवींद्रनाथ ठाकुर की बँगला में लिखी 'जीवनस्मृति', मराठी में सावरकर की 'माझी जन्मठेप', धोंडो केशव कर्वे की 'आत्मकथा', रमाबाई रानडे की 'आमच्या आयुष्यातील काही आठवणी', धर्मानंद कोसंबी का 'निवेदन', गुजराती में काका कालेलकर की 'ओतेरानी दीवालो' और 'हिंडलगानु प्रसाद' तथा क० मा० मुंशी की 'सीधी चढान' और 'स्वप्नसिद्धि की खोज में', मलयालम में सरदार पणिक्कर की आत्मकथा, उर्दू में 'मौलाना आजाद की कहानी उनकी जबानी', बंगाल में कई क्रांतिकारियों की और सुभाषचंद्र बोस की आत्मजीवनियाँ पठनीय हैं। (प्र० मा०)

आत्मरति (नार्सिसिज़्म अथवा नार्सिज़्म), व्यक्ति का स्वयं के प्रति असामान्य कामात्मक प्रेमभाव। यूनानी मिथक 'नारसिसस' के आधार पर उक्त मनोविकृति का नामकरण किया गया था। नारसिसस नदी के देवता सेफिसस तथा अप्सरा लीरिओप से उत्पन्न अति सुंदर बालक था। भविष्यवक्ता टीरेसियस ने घोषणा की थी कि नारसिसस की उमर काफी लंबी होगी, बशर्ते वह अपना चेहरा न देखे। 'एको' नामक अप्सरा अथवा 'अमीनियस' के प्रेम को ठुकराने के कारण यूनानी देवता नारसिसस से अप्रसन्न हो गए। फलस्वरूप जलाशय के किनारे जाने पर उसने अपने चेहरे का प्रतिबिंब पानी में देख लिया और उसपर मोहित होकर प्राण त्याग दिए। मृत्युस्थल पर एक पुष्प उगा जिसे मरनेवाले के नाम पर 'नारसिसस' (नरगिस) कहा जाने लगा।

उपर्युक्त मिथक के आधार पर फ्रायड ने 'आत्मरति' नामक प्रत्यय अथवा कल्पनाधारणा को प्रस्तुत करते हुए कहा 'जिस व्यक्ति के आकर्षण की वस्तु बाह्य जगत् में नहीं होती, वह अपने से प्रेम करने लगता है और ऐसा ही व्यक्ति आत्मप्रेमी कहलाता है।' तनाव से मुक्त होने के लिये बाहरी वस्तुओं के प्रति रुचि अथवा आकर्षण का होना आवश्यक है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है और जब व्यक्ति बाह्य वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में रस नहीं ले पाता तो उसकी वृत्तियों का केंद्रीयगण स्वयं के प्रति हो जाता है। सामान्यतः ऐसा अंतर्मुखी व्यक्तियों के साथ होता है। सविभ्रम (पैरानाइया) और अकाल मनोभ्रंश (डिमेंशिया प्रीकॉक्स) के रोगी भी इसके शिकार होते हैं। प्रारंभिक आत्मरति में बालक के प्रेम और आकर्षण की वस्तु उसका अपना शरीर मात्र होता है। फ्रायड के मतानुसार यह मनोलैंगिक विकास (साइको-सैक्सुअल-डेवलपमेंट) की प्रारंभिक अवस्था है। (कै० च० श०)

आत्मवाद १—आत्मवाद क्या है? दार्शनिक विवेचन का उद्देश्य तत्व का ज्ञान प्राप्त करना है। सत्य ज्ञान में संदेह का प्रश्न नहीं होता। पर क्या ऐसे ज्ञान की संभावना भी है। देकार्त ने व्यापक संदेह से आरंभ किया, परंतु शीघ्र ही उसे रुकना पड़ा। स्वयं संदेह के अस्तित्व में संदेह नहीं कर सकता। संदेह चेतना है, इसलिये चेतना असंदिग्ध तथ्य है। चेतना में चेतन और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, का संपर्क होता है। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा कहने में हम चेतना के दो पक्षों को स्वतंत्र द्रव्यों का पद दे देते हैं, और इसका हमें अधिकार नहीं। इसके विपरीत, द्रव्यवाद ज्ञान के साथ ज्ञाता और ज्ञेय को भी तत्व का पद देता है।

द्रव्यवादियों में ज्ञाता और ज्ञान विषय की स्थिति के संबंध में तीव्र मतभेद है। प्रकृतिवादियों के विचारानुसार यहाँ सत्ता केवल प्रकृति की है, चेतना और चेतन इसके विकास में प्रकट हो जाते हैं। आत्मवाद के अनुसार सारी सत्ता अभौतिक है, प्राकृत पदार्थ चेतनावस्थाएँ ही हैं। जो विचारक बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उनमें भी कुछ कहते हैं कि स्व-इतर स्व में प्रविष्ट नहीं हो सकता, ज्ञाता का ज्ञान उसका अपनी अवस्थाओं तक ही सीमित रहता है। दोनों दशाओं में चेतन की प्राथमिकता आत्मवाद की मौलिक धारणा है।

२—आत्मवाद और प्रकृतिवाद दृष्टिकोणों का भेद १—प्रकृतिवाद के लिये मौलिक सत्ता दृष्ट वस्तुओं की है, आत्मवाद दृष्ट के साथ, बल्कि इससे अधिक, अदृष्ट को महत्व देता है। 'चेतना है', 'मैं हूँ'—यह तथ्य दृष्ट आकार नहीं रखते, परंतु चेतना और चेतन की सत्ता में संदेह नहीं हो सकता। इनके साथ ही 'सत्य' की सत्ता भी असंदिग्ध है। २—प्रकृतिवाद के लिये इंद्रियजन्य ज्ञान सत्य ज्ञान का नमूना है, अन्य सब ज्ञान इसी पर आधारित होते हैं। आत्मवाद बुद्धि को इंद्रियों से बहुत ऊँचा पद देता है। इंद्रियाँ तो प्रकटनों के क्षेत्र से परे देख नहीं सकतीं, सत्ता का ज्ञान बुद्धि की क्रिया है। ३—प्रकृतिवाद तथ्यों की दुनिया में रहता है, इसके लिये 'मूल्य' का कोई अस्तित्व नहीं। आत्मवाद 'मूल्य' को विशेष महत्व देता है। प्रकृतिवाद घटनाओं के रंग रूप की बात बताता है, आत्मवाद उनके मूल्य की जाँच करता है। ४—प्रकृतिवाद के अनुसार जो कुछ जगत् में हो रहा है, प्राकृत नियम के अनुसार हो रहा है, आत्मवाद रचना में 'प्रयोजन' को देखता है। यंत्रवाद प्रकृतिवाद का मान्य सिद्धांत है, आत्मवाद दृष्ट जगत् के समाधान के लिये आरंभ की ओर नहीं, अपितु इसके अंत की ओर देखता है। ५—प्रकृतिवाद के लिये मानव जीवन कालक्रम मात्र है, आत्मवाद के लिये जीवन का उद्देश्य कालक्रम में नहीं, अपितु इसके बाहर, इसके ऊपर है। जीवन

की सफलता इसकी 'लबाई और चौडाई' में ही नही, अपितु इसकी 'गहराई' मे भी है।

३—आत्मवाद के रूप—प्राचीन यूनान मे पोर्मनाइदीस ने पहले पहल दार्शनिक विवेचन में 'द्रव्य' और 'आभास', 'सत्' और 'असत्' के भेद मे प्रवेश किया। इसके साथ ही बुद्धि और इद्रियो के भेद ने भी महत्व प्राप्त किया। अफलातून ने इन भेदो की नीव पर अपने दर्शन का निर्माण किया। अफलातून से पहले, कुछ विचारक एकरस सत् मे विश्वास करते थे, कुछ प्रवाह मे ही सत्ता का रूप देखने थे। अफ़लातून ने इन दोनो विचारधाराओ को मिलाने का यत्न किया और कहा कि दृष्ट जगत् के पदार्थों की स्थिति तो आभास या छायामात्र है, वास्तविक सत् प्रत्ययों की दुनिया है। हम कोई निर्दोष सीधी रेखा नही खीच सकते, इसपर भी रेखागणित का अस्तित्व तो है ही। ससार मे पूर्ण न्याय विद्यमान नही, इसपर भी नीति मे न्याय के प्रत्यय पर विचार हो सकता है।

अफलातून ने अतिम सत्ता को परलोक मे रखा था, आधुनिक आत्मवादी इसे पृथ्वी पर ले आए। इनमे जार्ज बर्कले, फीखटे और हेगल के नाम प्रसिद्ध है। बर्कले से पहले जान लाक ने प्रधान और अप्रधान गुणो मे भेद किया था और अप्रधान गुणो को मान की स्थिति दी थी। बर्कले ने दोनो प्रकार के गुणो के भेद को मिटाकर प्रकृति के स्वतत्र अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। उसके अनुसार सारी सत्ता चेतन आत्माओ और उनके बोधो की है। इन बोधो मे उपलब्ध परमात्मा की क्रिया का फल है। फीखटे ने एक डग और भरा और कहा कि हम ही अपनी मानसिक क्रिया के लिये बाह्य जगत् की रचना कर लेते है। यह विचार 'मानवी आत्मवाद' (सब्जेक्टिव आईडियलिज्म) कहलाता है। 'वस्तुगत आत्मवाद' (ऑब्जेक्टिव आईडियलिज्म') के अनुसार हम जगत् को नही बनाते, बाह्य जगत् हमे बनाता है। सारी सत्ता व्यापक चेतना की है। चेतना का जितना भाग किसी विशेष क्षेत्र मे अपने आपको सीमित कर लेता है, उसे जीवात्मा कहते है। आधुनिक आत्मवादियो मे सबसे प्रमुख नाम हेगल का है। उसका सिद्धात 'निरपेक्ष आत्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। हेगल के विचार मे कुर्सी के प्रत्यय का अस्तित्व उतना ही असदिग्ध है जितना कुर्सी का है, उसके लिये 'विचारयुक्त' और 'वास्तविक' अभिन्न है। स्पीनोजा की तरह हेगल ने भी एक ही मूल तत्व को माना, परतु जहाँ स्पीनोज़ा ने इसे द्रव्य (सब्स्टेंस) के रूप मे देखा, वहाँ हेगल ने इसे मन (सब्जेक्ट) के रूप मे देखा। हेगल का निरपेक्ष चेतनारूप है। निरपेक्ष अपने आपको तीन मजिलो मे अभिव्यक्त करता है। पहली मजिल मे वह जड जगत् (नेचर) का रूप धारण करता है, दूसरी मजिल मे जीवन प्रकट होता है और अत मे, मनुष्य के रूप मे, आत्मचेतन प्रकट होता है। इस प्रगति मे 'विरोध' महत्वपूर्ण भाग लेता है। प्रत्येक वस्तु मे उसके विरोध का अश विद्यमान होता है, विरोधी अशो का 'समन्वय' सारी उन्नति का तत्व है।

४—एकवाद और अनेकवाद—सख्या की दृष्टि से आत्मवाद एकवाद और अनेकवाद मे विभक्त होता है। हेगल एकवादी है। लाइबनित्स के अनुसार सारी सत्ता चिद्‌बिंदुओ से बनी है। प्रत्येक प्रकृत पदार्थ असख्य चिद्‌बिंदुओं का समूह है जिन्हे एक दूसरे का पता नही। मनुष्य मे एक केंद्रीय चिद्‌बिंदु भी विद्यमान है जिसे जीवात्मा कहते हैं। परमात्मा समग्र का केंद्रीय चिद्‌बिंदु है।

'वैयक्तिक आत्मवाद' (पर्सनल आईडियलिज्म) प्रत्येक जीव को नित्य और स्वाधीन तत्व का पद देता है।

५—कांट का अध्यात्मवाद—कांट ने तत्वज्ञान के स्थान मे ज्ञानमीमासा को अपने विवेचन का विषय बनाया। उससे पहले प्रमुख प्रश्न यह था—"अनुभव हमे क्या बताता है ?" कांट ने पूछा—"अनुभव बनता कैसे है ?" उसके विचार मे अनुभव की सामग्री बाहर से प्राप्त होती है, सामग्री को विशेष आकृति देना मन की क्रिया है। अनुभव की बनावट में ही चेतन की प्राथमिकता प्रकट होती है।

तत्वज्ञान मे कांट वस्तुवादी था, ज्ञानमीमासा मे अध्यात्मवादी था।

सं०ग्रं०—प्लेटो सवाद, बर्कले : मानव ज्ञान के नियम, हेगल : आत्मा का तत्वज्ञान। (दी० चं०)

आत्महत्या आत्महत्या का अर्थ जान बूझकर किया गया आत्मघात होता है। वर्तमान युग मे यह एक गर्हणीय कार्य समझा जाता है, परतु प्राचीन काल मे ऐसा नही था, बल्कि यह निदनीय की अपेक्षा समान्य कार्य समझा जाता था। हमारे देश की सतीप्रथा तथा युद्धकालीन जौहर इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण है। मोक्ष आदि धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर भी लोग आत्महत्या करते थे।

आत्महत्या के लिये अनेक उपायो का प्रयोग किया जाता है जिनमें मुख्य ये है फाँसी लगाना, डूबना, गला काट डालना, तेजाब आदि द्रव्यो का प्रयोग, विषपान तथा गोली मार लेना। उपाय का प्रयोग व्यक्ति की निजी स्थिति तथा साधन की सुलभता के अनुसार किया जाता है।

विभिन्न देशो मे तथा स्त्री पुरुषो द्वारा अपनाए जानेवाले आत्महत्या के विविध साधनो मे प्रचुर मात्रा मे अतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत मे डूबकर तथा इग्लैंड मे फाँसी लगाकर की जानेवाली आत्महत्याओ की सख्या अधिक होती है। उसी प्रकार भारत मे स्त्रियाँ, सात मे छह, डूबकर आत्महत्या का मार्ग अपनाती है जब कि पुरुषो मे डूबने तथा फाँसी लगाने की सख्या प्राय समान है।

जीवन मे रुचि का अभाव, पारस्परिक विद्वेष, गृहकलह, निराश्रय, शारीरिक तथा मानसिक उत्पीडन तथा आर्थिक सकट आत्महत्या के प्रमुख कारण होते है। स्त्रियो मे आत्महत्या का कारण अधिकाश रूप मे द्वेष या कलह पाया जाता है।

आत्महत्या का प्रयत्न—भारतीय दडविधान की धारा ३०९ के अतर्गत आत्महत्या का प्रयत्न दडनीय अपराध है जिसको तीन श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है—(१) घोर मानसिक या शारीरिक यत्रणा की स्थिति मे आत्महत्या का प्रयत्न, (२) बिना किसी अभिप्राय या उद्देश्य के एकाएक भावावेश मे किया गया प्रयत्न तथा (३) निश्चित भावना से विषपान द्वारा आत्महत्या का प्रयत्न। अतिम प्रयत्न विशेष रूप से दडनीय है। (श्री० अ०)

आत्मा स्वरूप ही आत्मा है। भारतीय दार्शनिको मे चार्वाक अथवा लोकायत संप्रदाय देह को ही आत्मा समझते है, अर्थात् भौतिक देह के अतिरिक्त आत्मा नामक किसी पृथक् पदार्थ की सत्ता वे नही मानते। इस सप्रदाय मे बृहस्पतिप्रणीत एक प्राचीन सूत्रग्रथ था, जिसके विभिन्न सूत्रो का उद्धरण अति प्राचीन विभिन्न साप्रदायिक दार्शनिक ग्रथो मे मिलता है। उसमे आत्मा के विषय मे सूत्र है—"चैतन्यविशिष्ट. काय पुरुष", अर्थात् चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। उसमे यह भी लिखा है कि चैतन्य या विज्ञान मदशक्तिवत् पृथ्वी आदि भूतो के सघर्ष से उद्भूत होता है। इस मत के अनुसार स्थूल देह की निवृत्ति, अर्थात् मृत्यु ही 'अपवर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक सप्रदाय के अनुरूप भिन्न भिन्न दार्शनिक सप्रदाय थे, जिनका मत या सिद्धात बृहस्पति के सिद्धात के अनुरूप था। ये भी लोकायत सप्रदाय के अतर्गत थे। इनमे से किसी के मत के अनुसार इद्रिय ही आत्मा है, किसी के मत के अनुसार प्राण आत्मा है और किसी के मत मे मन आत्मा है। इन मतो के अनुसार आत्मा अनित्य अर्थात् उत्पत्तिविनाशशील पदार्थ है।

न्यायवैशेषिक मत के अनुसार आत्मा नित्य पदार्थ है और देह, इद्रिय तथा मन से पृथक् है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुखदु ख, धर्माधर्म और भावनाख्य सस्कार आत्मा के विशेष गुण है। इस मत मे आत्मा नित्य और विभु-द्रव्य-विशेष है। मन नित्य और अणु-द्रव्य-विशेष है। आत्माएँ बहुत है और मन भी बहुत है। प्रत्येक आत्मा के साथ निज निज पृथक् मनो का अनादिकालीन 'अजसयोग' नाम का सबंध है। प्रत्येक आत्मा मे और प्रत्येक मन मे विशेष (वैशेषिक मतानुसार) है। यह विशेष ही इनका परस्पर व्यावर्तक धर्म है। विलक्षण आत्ममनः-सयोग से ज्ञानादि क्रिया का उद्भव होता है। इसके मूल मे है मन की क्रिया। उसके भी मूल मे धर्माधर्मात्मक अदृष्ट का व्यापार है। आत्मज्ञान के उदय से धर्माधर्म के विनष्ट हो जाने पर विलक्षण आत्ममनः-संयोग नही होने पाता। हाँ, अनादि सयोग रह जाता है। उस समय

आत्मा मुक्त हो जाती है एवं उसमें ज्ञानादि विशेष गुणों का आत्यंतिक उपरम हो जाता है। आपात दृष्टि से यह स्थिति शिलाशकलवत् प्रतीत होती है, परंतु वास्तव मे ऐसा है नहीं। इस सिद्धात के अनुसार आत्मा सत् मात्र है, अनित्य नही है। शून्यवत् प्रतीत होने पर भी यह शून्य नही है।

साख्य मत के अनुसार आत्मा या पुरुष नित्य चित्स्वरूप द्रष्टा या साक्षिमात्र है। वह अपरिणामी या कूटस्थ है। परतु प्रकृति त्रिगुणात्मिका और नित्य परिणामशीला है। प्रकृति मे सदृश परिणाम निरतर चल रहा है। सृष्टिकाल मे गुणवैषम्य के कारण विसदृश परिणाम भी चलता है। आत्मा अनादिकाल से अविवेकवश प्रकृति के जाल मे फँसी है। स्वय गुणत्रय से स्वरूपत पृथक् होने पर भी अपने को पृथक् नही समझती। इस अविवेक का नाम है अज्ञान।

विवेकख्याति होने पर इस अज्ञान को निवृत्ति होती है। सप्रज्ञात समाधियों में अतिम अस्मिता नाम की जो समाधि है वही ऐश्वर्य की अवस्था है। इसके पश्चात् विवेकख्याति के साथ साथ क्रमश निरोधभूमि में प्रवेश होता है। विवेकख्याति पूर्ण होने पर पुरुष या आत्मा स्वरूप मे प्रतिष्ठित होती है और सत्व अव्यक्त या प्रलीन होता है। सत्व प्रलीन न होकर पुरुष के बराबर शुद्धिलाभ भी कर सकता है, परतु यह वैकल्पिक स्थिति है। साधारण जीवों के लिये यह स्थिति नही है। लौकिक व्यवहार मे आत्मा अस्मितामात्र रूप है, परतु वस्तुत आत्मस्वरूप मे अस्मिता नही है। आत्मा विशुद्ध चिन्मात्र है। देश, काल, आकार आदि से इसका परिच्छेद नही होता।

मीमासा मतानुसार आत्मा अहप्रतीति का विषय है और यह सुख-दुख-उपाधियो से विरहितस्वरूप नित्य वस्तु है। किसी किसी वेदातप्रस्थान मे प्राण ही आत्मा कहा गया है। अभाव ब्रह्मवादी 'असदेव इदमग्र आसीद्', इस प्रकरण के अनुसार आत्मा को असतस्वरूप समझते हैं। यह एक प्रकार से देखा जाय तो शून्य भूमि की बात है। पाचरात्रगण जो कुछ कहते हैं उससे किसी किसी का मत है कि पाचरात्र के अनुसार आत्मा अव्यक्त तत्व है, पराप्रकृति ही वासुदेव है, जीवसमुदाय उनके स्फुलिंगवत् कण हैं। पराप्रकृति का परिणाम स्वीकृत होने के कारण यह मत किसी अश मे अव्यक्त का ही प्रतिपादक मालूम होता है। किसी किसी वेदांतविद् विद्वान् के अनुसार 'सदेव इदमग्र आसीत्', इस श्रौत वचन के अनुसार आत्मा सत् शब्दवाच्य है। वैयाकरण लोग आत्मा को पश्यतीरूप शब्दब्रह्म मानते है। षोडश कलात्मक पुरुष मे यह पश्यती अमृतकला या षोडशीकला कही जाती है। उसका स्वरूपसाक्षात्कार होने पर ही अधिकार की निवृत्ति होती है। विज्ञानवादी बौद्ध मत से क्षणिक विज्ञान संतान ही आत्मा है। बौद्ध मत नैरात्म्यप्रतिपादक होने के कारण उनमे उपचार से चित्त को ही आत्मा कहा जाता है। अनादिकाल से निर्वाणकालपर्यंत स्थायी एक प्रवाह मे पडी हुई विज्ञान की धारा ही वैभाषिक दृष्टि से आत्मपदवाच्य है। योगाचार मत मे यह चित्त अथवा आत्मा आलयविज्ञानात्मक है।

वैभाषिक मत मे चित्त या विज्ञान अहकार का आश्रय होने से आत्मपदवाच्य है। विज्ञानस्कध का तात्पर्य है प्रवाहपतित विज्ञानो की समष्टि। चाक्षुष आदि पाँच प्रकार तथा मानस अर्थात् प्रात्यक्षिक निर्विकल्प विज्ञान की धारा चित्त या आत्मा के नाम से प्रथित है। स्फुटार्था मे है—'अहकारसनिश्रय आत्मा इति आत्मवादिन सकल्पयति। चित्तमहकारनिश्रय आत्मेति उपचर्यते।'

तत्र मत मे आत्मा विश्वोत्तीर्ण प्रकाशात्मक है। किसी किसी आम्नाय के अनुसार (कुलाम्नाय) आत्मा विश्वमय है। त्रिकादि दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा विश्वोत्तीर्ण होकर भी विश्वमय है। वे लोग कहते है कि एक ही चिदात्मरूपी परमेश्वर के स्वातत्र्य से भिन्न भिन्न दार्शनिक भूमियाँ अवभासित हुई है। भूमिगत वैचित्र्य के मूल मे स्वातत्र्य के प्रच्छादन तथा उन्मीलन का तारतम्य है। वस्तुत सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति अखडित ही है। जिन लोगो की दृष्टि परिच्छिन्न है वे परमात्मा की इच्छा से ही तत्तदश मे अभिमानविशिष्ट होते हैं। जब तक परशक्तिपात या पूर्ण अनुग्रह न हो तब तक महाव्याप्ति नही होती और अखंडताबोध भी नही आता।

शाकर वेदांत के दृष्टिकोण से एकजीववाद तथा नानाजीववाद दोनो का ही विवरण मिलता है। एकजीववाद के अनुसार अविद्याशबल ब्रह्म ही जीव है। यह जीव सब शरीरो मे एक ही है, तथापि एक व्यक्ति के अनुभव के विषय मे दूसरे व्यक्ति का अनुसधान नही होता। इसका कारण है अविद्या का वैचित्र्य। 'एक एव हि भूतात्मा' इत्यादि वचन एकजीववाद में प्रमाण माने जाते है। एकजीववाद दृष्टि-सृष्टि-वाद नाम से भी परिचित है। प्रकाशानद का वेदातसिद्धातमुक्तावली एकजीववाद का एक उत्तम प्रकरण ग्रथ है। नानाजीववाद की दृष्टि मे जीव अत करणावच्छिन्न चैतन्य माना जाता है। वेदातपरिभाषा मे नानाजीववाद का ही प्रतिपादन हुआ है।

यादवप्रकाश के अनुसार जीवात्मा ब्रह्म का अश है। ब्रह्म सगुण है और प्रपच सत्य है। परतु भास्कर के मतानुसार सोपाधिक ब्रह्मखड ही जीव है। इस मत मे भी ब्रह्म सगुण तथा प्रपच सत्य है। भास्कर के मतानुसार जीव और ब्रह्म स्वभावत अभिन्न है। परतु दोनो मे देवमनुष्यादिकृत भेद औपाधिक है। अचित तथा ब्रह्म का भेद स्वाभाविक है। उनमे जो अभेद है वह भी स्वाभाविक है। यादव के मत मे जीव और ब्रह्म मे भेदाभेद स्वाभाविक है, क्योकि मुक्ति मे भेद रहता है और 'तत्त्वमसि' श्रुति के अनुसार अभेद तो सिद्ध ही है।

श्रीवैष्णव सप्रदाय ने इन दोनो मतो का खडन किया है। भास्कर मत मे उपाधि और ब्रह्म को छोडकर अन्य वस्तु न रहने से ब्रह्म मे उपाधिससर्गनिमित्तक जितने औपाधिक दोष होते हैं उनमे से किसी के भी निवारण का उपाय नही है। इसीलिये श्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्म के अपहतपाप्मत्वादि विशेषण व्यर्थ होते है। यादव के मतानुसार जीव और ब्रह्म के भेद के तुल्य अभेद भी माना जाता है। इसी मे ब्रह्म को ही स्वरूपत देवता, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि भेदो से अवस्थित होने के कारण जीव मानना पडता है। इसी से जीवगत सर्व दोष ब्रह्म मे आ पडते है। रामानुजीयो का अपना सिद्धात यह है कि जीव प्रत्यक् चेतन आत्मा कर्ता इत्यादि है। ईश्वर भी ठीक उसी प्रकार का है। प्रत्यक् शब्द का यह तात्पर्य है कि आत्मा और ईश्वर दोनो ही अपने आप भासमान है। चेतन शब्द का यह तात्पर्य है कि यह ज्ञान का आश्रय है अर्थात् यह धर्मी है, इसमे धर्मभूत ज्ञान आश्रित रहता है। 'आत्मा' शब्द से समझा जाता है कि यह शरीर प्रतिसबधी है। कर्ता शब्द का तात्पर्य है—सकल्प का आश्रय। इस दृष्टि से जीवात्मा तथा परमात्मा मे भेद नही है। परतु जीवात्मा चेतन होने पर भी अणु है और ईश्वर महान् है। जीव चेतन होने पर भी ईश्वर की स्वेच्छा के अधीन अर्थात् नियोज्य है, परतु ईश्वर नियाक्ता है। जीव आधेय या आश्रित है, परतु ईश्वर आश्रय है। जीव विधेय या नियम्य है, परतु ईश्वर नियामक है। रामानुज के अनुसार आत्मा बद्ध, मुक्त और नित्य, तीन प्रकार का है।

आर्हत मत मे आत्मा जीवतत्व का ही नाम है। जीव का स्वभाव पाँच प्रकार का है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। प्रत्येक मे अवातर भेद है। (गो० क०)

आदत (स्वभाव) मनुष्य की अर्जित प्रवृत्ति। पशुओं मे भी विभिन्न आदते पाई जाती है। मनुष्य की कुछ आदते (जैसे मादक वस्तुओ का सेवन) ऐसी हो सकती है जो पूर्वानुभाव की प्राप्ति के लिये उसे आतुर बना सकती है। आदत मनुष्य के मानसिक सस्कार का रूप ले सकती है। आदत का बनाना व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर होता है। मेरुदड के वाहक ततुओ मे एक सबध स्थापित हो जाने से आदत पडती है। आदत चेतन प्राणो की स्वेच्छा का फल होती है। प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद के अनुसार आदत रुचि के आधार पर बनती है। आदत की विलक्षणताएँ है एकरूपता, सुगमता, रोचकता और ध्यानस्वातत्र्य।

आदत के आधार पर हमारे बहुत से कार्य चलते हैं। आदतो का दास न होकर हमे उनका स्वामी होना चाहिए। संकल्प की दृढ़ता, कार्यशीलता, सलग्नता तथा अभ्यास से आदत डाली जा सकती है। मारने पीटने से आदते और दृढ हो जाती हैं। बुरी आदतो को छुडाने के लिये उनसे सबद्ध विकृत संवेग को नष्ट करके भावनाग्रंथियों को खोलना आवश्यक है। (स० प्र० चौ०)

आदम बाइबिल के प्रथम पृष्ठों पर (द्र० 'उत्पत्ति ग्रंथ') कहा गया है कि ईश्वर ने प्रथम मनुष्य आदम को अपना प्रतिरूप बनाया था। इब्रानी भाषा मे 'आदामा' का अर्थ है—लाल मिट्टी मे बना हुआ। मनुष्य का शरीर मिट्टी से बनता है और अत मे मिट्टी मे ही मिल जाता है, अत प्रथम मनुष्य का नाम आदम ही रखा गया। आदम की सृष्टि कब, कहाँ और कैसे हुई, इसके विषय मे बाइबिल कोई निश्चित सूचना नही देती। आधुनिक विज्ञान इसके सबध मे निरतर नई धारणाओ का प्रतिपादन करता रहता है। आदम के पूर्व उपमनुष्य या अर्धमनुष्य थे अथवा नही, इसके सबध मे भी बाइबिल मे कोई लेख नही मिलता। इतना ही ज्ञात होता है कि आदम की आत्मा किसी भौतिक तत्व से नही बनी और आजकल जितने भी मनुष्य पृथ्वी पर है वे सबके सब आदम के वशज है। प्राचीन मध्यपूर्वी शैली के अनुसार बाइबिल सृष्टि के वर्णन मे प्रतीकों का सहारा लेती है। उन प्रतीको को अक्षरश समझने से भ्राति उत्पन्न होगी। बाइबिल का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक है। आदम ने ईश्वर के आदेश का उल्लघन किया और ईश्वर की मित्रता खो बैठा। प्रतीकात्मक भाषा मे इसके विषय मे कहा गया है—आदम ने वर्जित फल खाया और इसके फलस्वरूप उसे अदन की वाटिका से निर्वासित किया गया (द्र० 'आदिपाप')। ईसा ने मनुष्य और ईश्वर की मित्रता का पुनरुद्धार किया, अत बाइबिल मे ईसा को नवीन अथवा द्वितीय आदम कहा गया है।

सं०ग्रं०—कैथालिक कमेटरी ऑव होली स्क्रिप्चर, लडन, १९५३, भ्रूसवाटर ए पाथ थ्रू जेनेसिस, लडन, १९५५। (का० बु०)

आदम्स पीक (स्थिति ६° ५५' उ० अ०, ८०° ३०' पू० दे०) कोलबो से ४५ मील पूर्व लका द्वीप का द्वितीय सर्वोच्च पर्वतशिखर है। प्रस्तुत शक्वाकार शिखर समुद्रतल से ७,३६० फुट ऊँचा है। शिखरतल पर एक पदचिह्न अकित है जिसे हिंदू, बौद्ध एव मुसलमान अपने अपने इष्ट देवताओ—शिव, बुद्ध, आदम—का पुनीत पदचिह्न मानकर पूजते है। उक्त पुण्यस्थली बौद्धो की देखरेख मे है। इस पर्वत का दृश्य भी अत्यत मनोहर है। (का० ना० सिं०)

आदम्स ब्रिज लका के मन्नार द्वीप तथा भारतीय तट के रामेश्वर द्वीप के मध्य दक्षिण पश्चिम मे मन्नार की खाडी और उत्तर पूर्व मे पाक के मुहाने से जुडी हुई लगभग ३० मील लबी बालुकाराशि है जिसे पौराणिक मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सेतुबाँध भी कहते है। इसका कुछ भाग सर्वदा सूखा रहता है और बढ़े हुए जल मे भी इस जल की गहराई तीन चार फुट से अधिक नही रहती। अत समुद्री यान इस रास्ते न आकर लका के दक्षिण से घूमकर जाते है। भूगर्भिक प्रमाणो के अनुसार उक्त खड एक स्थलडमरूमध्य के द्वारा जुडा हुआ था, परतु १८४० की प्रचड आँधी से असबद्ध हो गया। भूवैज्ञानिक खोजो के अनुसार यहाँ प्रवालीय कृमियो का तात्कालिक भूसलोन्नयन के कारण विनष्ट हो गई और अब प्रवालशिलाओ के रूप मे विद्यमान है। १८३८ मे इसे समुद्रीय परिवहन के योग्य बनाने के लिये खोदाई आरभ की गई, परतु जहाजो के काम का यह न बन सका। अब भारतीय सरकार तदर्थ सक्रिय है।

रामायण के अनुसार अयोध्या के निर्वासित राजकुमार श्री रामचद्र जी ने अपनी पत्नी सीता को प्राप्त करने के लिये लकाधिपति रावण पर आक्रमणार्थ यह सेतु बँधवाया था, जिसके अवशेष इस बालुकाराशि के रूप मे विद्यमान है। सुप्रसिद्ध रामेश्वरम् मदिर राम के विजय अभियान का स्मारक है। (का० ना० सिं०)

आदर्शवाद १ प्रत्यय और आदर्श—कुछ विचारको के अनुसार मनुष्य और अन्य प्राणियों मे प्रमुख भेद यह है कि मनुष्य प्रत्ययो का प्रयोग कर सकता है और अन्य प्राणियो मे यह क्षमता विद्यमान नही। कुत्ता दो मनुष्यो को देखता है, परतु २ को उसने कभी नही देखा। प्रत्यय दो प्रकार के होते है—वैज्ञानिक और नैतिक, सख्या, गुण, मात्रा आदि। वैज्ञानिक प्रत्ययो का अस्तित्व तो असदिग्ध है, परतु नैतिक प्रत्ययो का अस्तित्व विवाद का विषय बना रहा है। हम कहते हैं—'आज मौसम बहुत अच्छा है।' यहाँ हम अच्छेपन का वर्णन करते है और इसके साथ अच्छाई के अधिक न्यून होने की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार का भेद कर्मों के संबंध में भी किया जाता है। नैतिक प्रत्यय को आदर्श भी कहते हैं। आदर्श एक ऐसी स्थिति है, जो (१) वर्तमान मे विद्यमान नही, (२) वर्तमान स्थिति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है, (३) अनुकरण करने के योग्य है और (४) वास्तविक स्थिति का मूल्य जाँचने के लिये मापक का काम देती है। आदर्श के प्रत्यय मे मूल्य का प्रत्यय निहित है। मूल्य के अस्तित्व की बाबत हम क्या कह सकते है?

कुछ लोग मूल्य को मानव कल्पना का पद ही देते है। जो वस्तु किसी कारण से हमे आकर्षित करती है, वह हमारी दृष्टि मे मूल्यवान् या भद्र है। इसके विपरीत अफलातून के विचार मे प्रत्यय या आदर्श ही वास्तविक अस्तित्व रखते है, दृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व तो छाया मात्र है। एक तीसरे मत के अनुसार, जिसका प्रतिनिधित्व अरस्तू करता है, आदर्श वास्तविकता का आरभ नही, अपितु 'अत' है। 'नीति' के आरभ मे ही वह कहता है कि सारी वस्तुएँ आदर्श की ओर चल रही है।

मूल्यो मे उच्च और निम्न का भेद होता है। जब हम कहते है कि क ख से उत्तम है, तब हमारा आशय यही होता है कि सर्वोत्तम से ख की अपेक्षा क का अतर थोडा है। मूल्य की तुलना का आधार सर्वोत्तम है। इसे नि श्रेयस कहते है। प्राचीन यूनान और भारत के लिये नि.श्रेयस या सर्वश्रेष्ठ मूल्य के स्वरूप को समझना ही नीति मे प्रमुख प्रश्न था।

२ नि श्रेयस का स्वरूप—नि श्रेयस या सर्वोच्च आदर्श के स्वरूप के सबध मे सभी इससे सहमत है कि यह चेतना से सबद्ध है, परंतु ज्योंही हम जानना चाहते है कि चेतना मे कौन सा अश साध्यमूल्य है, त्योंही मतभेद प्रस्तुत हो जाता है। कुछ लोग कहते है कि सुख का उपभोग ऐसा मूल्य है। कुछ ज्ञान, बुद्धिमत्ता, प्रेम या शिवसकल्प को यह पद देते है। कुछ इस विकल्प मे एकवाद को छोड़कर अनेकवाद की शरण लेते है और कहते हैं कि एक से अधिक वस्तुएँ साध्यमूल्य है। किसी वस्तु के साध्यमूल्य होने या न होने का निर्णय करने के लिये डाक्टर मूर ने निम्नलिखित सुझाव दिया है "कल्पना करो कि दो विकल्पो मे पूर्ण समानता है, सिवाय इस भेद के कि एक विशेष वस्तु एक विप्लव मे विद्यमान है और दूसरे मे नही या एक मे दूसरे की अपेक्षा अधिक मात्रा मे विद्यमान है। इन दोनो विप्लवो मे तुम्हारी बुद्धि किसके अस्तित्व को अधिक उपयुक्त समझती है? जो वस्तु ऐसी स्थिति मे एक विप्लव को दूसरे से अधिक उपयुक्त बनाती है, वह साध्यमूल्य है।"

३ आदर्शवाद की मान्य धारणाएँ—मूल्यो का अस्तित्व, उनमें श्रेष्ठता का भेद और सर्वश्रेष्ठ मूल्य का अस्तित्व आदर्शवाद की मौलिक धारणा है। इससे सबद्ध कुछ अन्य धारणाएँ भी आदर्शवादियो के लिये मान्य है। इनमे से हम यहाँ तीन पर विचार करेगे (१) सामान्य का पद विशेष से ऊँचा है। प्रत्येक बुद्धिवत बुद्धिवत होने के नाते भद्र मे भाग लेने का अधिकारी है। (२) आध्यात्मिक भद्र का मूल्य प्राकृतिक भद्र से अधिक है। (३) बुद्धिवत प्राणी (मनुष्य) मे भद्र को सिद्ध करने की क्षमता है। मनुष्य स्वाधीन कर्ता है।

इन तीनो धारणाओ पर तनिक विचार की आवश्यकता है।

(१) स्वार्थ और सर्वार्थ—सामान्य और विशेष का भेद स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद के विवाद मे प्रकट होता है। भोगवाद (सुखवाद) ने स्वार्थ से आरभ किया, परतु शीघ्र ही इसके ध्येय मे सर्वार्थ ने स्थान प्राप्त कर लिया। मनुष्य का अंतिम उद्देश्य अधिक से अधिक सख्या का अधिक से अधिक उपभोग है। दूसरी ओर काट ने भी कहा कि निरपेक्ष आदेश की दृष्टि मे सारे मनुष्य एक समान साध्य है, कोई मनुष्य भी साधन मात्र नही। मृत्यु की तरह नैतिक जीवन सभी भेदो को मिटा देता है। कोई मनुष्य कर्तव्य से ऊपर नहीं, कोई अधिकारों से वचित नही।

(२) आध्यात्मिक और प्राकृतिक मूल्य—इस विषय मे काट का कथन प्रसिद्ध है 'जगत् मे और इसके परे भी हम शिवसकल्प के अतिरिक्त किसी वस्तु का भी चितन नही कर सकते, जो बिना किसी शर्त के शुभ या भद्र हो।' जान स्टुअर्ट मिल जैसे सुखवादी ने भी कहा, तृप्त सुअर से अतृप्त सुकरात होना उत्तम है। मिल ने यह नही देखा कि इस स्वीकृति मे वह अपने सिद्धात से हटकर आदर्शवाद का समर्थन कर रहे है। सुकरात में ऐसा आध्यात्मिक अंश है जो सुअर मे विद्यमान नही।

टामस हिल ग्रीन ने विस्तार से यह बताने का यत्न किया है कि आधुनिक नैतिक भावना प्राचीन यूनान की भावना से इन दो बातो मे बहुत आगे बढ़ी है—मनुष्य और मनुष्य मे भेद कम हो गया है, और जीवन मे आध्यात्मिक पक्ष अग्रसर हो रहा है।

(३) नैतिक स्वाधीनता—काट के विचार मे मानव प्रकृति मे प्रमुख अंश 'नैतिक भावना' का है, वह अनुभव करता है कि कर्तव्यपालन की माँग शेष सभी माँगो से अधिक अधिकार रखती है, नैतिक आदेश 'निरपेक्ष आदेश' है। इस स्वीकृति के साथ नैतिक स्वाधीनता की स्वीकृति भी अनिवार्य हो जाती है। 'तुम्हे करना चाहिए, इसलिये तुम कर सकते हो।' योग्यता के अभाव मे उत्तरदायित्व का प्रश्न उठ ही नही सकता।

४. श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम—यहाँ एक कठिन स्थिति प्रस्तुत हो जाती है नैतिक आदर्श श्रेष्ठतम की सिद्धि है या उसकी ओर चलते जाना है? जिस अवस्था को हम श्रेष्ठतम समझते है, उसे प्राप्त करने पर उसे श्रेष्ठतम ही पाते हैं। जहाँ कही भी हम पहुँचे, त्रुटि और अपूर्णता बनी रहती है। स्वय काट ने कहा है कि हमारा अतिम उद्देश्य पूर्णता है, और इसकी सिद्धि के लिये अनत काल की आवश्यकता है। कुछ विचारक तो कहते हैं कि अपूर्णता का कुछ अश रहना ही चाहिए। सोर्टो अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नैतिक मूल्य' मे कहता है 'कल्पना करो कि सारे मूल्यो की सिद्धि हो गई है। ऐसा होने पर नीति का क्या बनेगा? आगे बढने के लिये कोई आदर्श रहेगा ही नही। सफलता सारे प्रयत्न का अत कर देगी और इस तरह सिद्धिप्राप्त नैतिक आदर्श नैतिक जीवन को पूर्ण करने मे समाप्त कर देगा। इस कठिनाई के कारण ब्रैडले ने कहा कि नैतिक जीवन मे आतरिक विरोध है: सारे नैतिक प्रयत्न का अत इसकी अपनी हत्या है।

सं०ग्रं०—प्लेटो रिपब्लिक, अरस्तू एथिक्स, काट मेटाफिजिक्स ऑव एथिक्स, मूर एथिक्स। (दी० च०)

आदिग्रंथ सिखो का पवित्र धर्मग्रथ जिसे उनके पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् १६०४ ई० में सगृहीत कराया था और जिसे सिख धर्मानुयायी 'गुरुग्रंथ साहिब जी' भी कहते एव गुरुवत् मानकर समानित किया करते हैं। 'आदिग्रथ' के अतर्गत सिखो के प्रथम पाँच गुरुओ के अतिरिक्त उनके नवे गुरु और १४ 'भगतो', 'शेखो' की बानियाँ आती है। ऐसा कोई सग्रह सभवत गुरु नानकदेव के समय में ही तैयार किया जाने लगा था और गुरु अमरदास के पुत्र मोहन के यहाँ प्रथम चार गुरुओ के पत्रादि सुरक्षित भी रहे, जिन्हे पाँचवें गुरु ने उनसे लेकर पुन क्रमबद्ध किया तथा उनमे अपनी और कुछ 'भगतो' की भी बानियाँ सम्मिलित करके सबको भाई गुरुदास द्वारा गुरुमुखी मे लिपिबद्ध करा दिया। भाई बन्नो ने फिर उसी की प्रतिलिपि कर उसमे कतिपय अन्य लोगो की भी रचनाएँ मिला देनी चाही जो पीछे स्वीकृत न हो सकी और अत मे दसवे गुरु गोविदसिंह ने उसका एक तीसरा 'बीड' (सस्करण) तैयार कराया जिसमे, नवम गुरु की कृतियों के साथ साथ, स्वय उनके भी एक 'सलोक' को स्थान दिया गया। उसका यही रूप आज भी वर्तमान समझा जाता है। इसकी केवल एकाध अतिम रचनाओ के विषय मे ही यह कहना कठिन है कि वे कब और किस प्रकार जोड दी गई।

'ग्रथ' की प्रथम पाँच रचनाएँ क्रमश (१) 'जपुनीसाणु' (जपुजी), (२) 'सोदरु' महला १, (३) 'सुणिअडा' महला १, (३) 'सो पुरखु', महला ४ तथा (५) सोहिला महला १ के नामो से प्रसिद्ध हैं और इनके अनतर 'सिरीराग' आदि ३१ रागो मे विभक्त पद आते है जिनमे पहले सिखगुरुओ की रचनाएं उनके (महला १, महला २ आदि के) अनुसार सगृहीत है। इनके अनतर भगतो के पद रखे गए है, किंतु बीच बीच मे कही कही 'बारहमासा', 'थिती', 'दिनरैणि', 'घोडीआँ', 'सिद्ध गोष्ठी', 'करहले', 'बिरहडे', 'सुखमनी' आदि जैसी कतिपय छोटी बडी विशिष्ट रचनाएँ भी जोड दी गई है जो साधारण लोकगीतो के काव्यप्रकार उदाहृत करती हैं। उन रागानुसार क्रमबद्ध पदो के अनतर सलोक सहस कृती, 'गाथा' महला ५, 'फुनहे' महला ५, चउबोले महला ५, सवैए सीमुख बाक् महला ५ और मुदावणी महला ५ को स्थान मिला है और सभी के अत मे एक रागमाला भी दे दी गई है। इन कृतियो के बीच बीच मे भी यदि कही कबीर एव शेख फरीद के 'सलोक' सगृहीत हैं तो अन्यत्र किन्ही ११ पदो द्वारा निर्मित वे स्तुतियाँ दी गई है जो सिख गुरुओ की प्रशसा मे कही गई हैं और जिनकी सख्या भी कम नही है। 'ग्रथ' मे सगृहीत रचनाएँ भाषावैविध्य के कारण कुछ विभिन्न लगती हुई भी, अधिकतर सामजस्य एव एकरूपता के ही उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

आदिग्रथ का कभी कभी 'गुरुबानी' मात्र भी कह देते है, किंतु अपने भक्तो को दृष्टि मे वह सदा शरीरी गुरुस्वरूप है। अत गुरु के समान उसे स्वच्छ रेशमी वस्त्रो मे वेष्टित करके चाँदनी के नीचे किसी ऊँची गद्दी पर 'पधराया' जाता है, उसपर चँवर ढलते है, पुष्पादि चढ़ाते है, उसकी आरती उतारते है तथा उसके सामने नहा धोकर जाते और श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते है। कभी कभी उसकी शोभायात्रा भी निकाली जाती है तथा सदा उसके अनुसार चलने का प्रयत्न किया जाता है। ग्रथ का कभी साप्ताहिक तथा कभी अखड पाठ करते है और उसकी पक्तियो का कुछ उच्चारण उस समय भी किया करते है जब कभी बालको का नामकरण किया जाता है, उसे दीक्षा दी जाती है तथा विवाहादि के मगलोत्सव आते है अथवा शवसस्कार किए जाते है। विशिष्ट छोटी बडी रचनाओ के पाठ के लिये प्रात काल, सायकाल, शयनवेला जैसे उपयुक्त समय निश्चित है और यद्यपि प्रमुख सगृहीत रचनाओं के विषय प्रधानत दार्शनिक सिद्धात, आध्यात्मिक साधना एव स्तुतिगान से ही सबध रखते जान पड़ते है, इसमे सदेह नही कि 'आदिग्रथ' द्वारा सिखो का पूरा धार्मिक जीवन प्रभावित है। गुरु गोविंदसिंह का एक सग्रहग्रथ 'दसवाँ ग्रथ' नाम से प्रसिद्ध है जो 'आदिग्रथ' से पृथक् एव सर्वथा भिन्न है।

सं०ग्रं०—डकन ग्रीनलेस दि गॉस्पेल ऑव दि गुरु ग्रथसाहब, खुशवतसिंह 'दि सिक्खस', परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सत परपरा। (प० च०)

आदित्य अदिति के पुत्र। इस शब्द के अर्थ है—सूर्य, समस्त देवता, सूर्यअधिष्ठित गगन, सूर्य का तेजोमडल, आदित्यमडलातर्गत हिरण्यवर्ण परमपुरुष विष्णु, दक्षिण और उत्तर पथ मे ईश्वर द्वारा नियुक्त धूमादि एव अर्चिरादि अभिमानी देवगण, अर्कवृक्ष, सूर्य के पुत्र, इद्र, वामन, वसु, विश्वेदेवा तथा तोमर, लीला आदि बारह मात्राओं के छद।

ऋग्वेद (२–२७–१) मे छह आदित्य बताए गए है—मित्र, अर्यमण, भग, वरुण, दक्ष तथा अश। पुन ऋग्वेद (६–११४–३) मे आदित्यो की सख्या सात कही गई है परतु यहाँ इनका नामोल्लेख नही है। ऋग्वेद (१०–७२–८–६) तथा शतपथ ब्राह्मण (६–१–२८) मे अदिति के आठवे पुत्र का नाम मार्तड दिया गया है। अथर्ववेद (८–६–२१) मे अदिति के आठ पुत्रो का उल्लेख है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१–१–६१) मे अश, भग, धातृ, इद्र, विवस्वान, मित्र, वरुण तथा अर्यमण इत्यादि अदिति के आठ पुत्र बताए गए है। शतपथ ब्राह्मण (११–६–३–८) मे १२ आदित्य है जो क्रमश १२ महीनो के निर्देशक माने जाते है। ऋग्वेद मे सूर्य को आदित्य कहा गया है। अत सूर्य सातवाँ और मार्तड आठवाँ आदित्य है। गाय आदित्यो की बहन है (ऋ० ८–१०–१–१५)।

ऋग्वेद (७–८५–४) तथा मैत्रायणी सहिता (२–१–१२) मे इद्र को आदित्यो मे से एक कहा गया है परतु शतपथ ब्राह्मण (११–६–३–५) मे इद्र बारह आदित्यो से अलग है। आदित्य का उल्लेख वसु, रुद्र, मरुत, अगिरस, ऋभु तथा विश्वेदेव आदि देवताओ के साथ कई स्थानो पर हुआ है, फिर भी वह समस्त देवताओ का सामान्य नाम है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (१–१–६–१) मे कथा मिलती है कि अदिति ने ब्रह्मदेव को उद्देशित कर चावल पकाया ताकि उसकी कोख से साध्यदेव उत्पन्न हो। आहुति देकर बचा हुआ चावल उसने खाया जिससे धातृ एव अर्यमण दो जुड़वाँ पुत्र हुए। दूसरी बार मित्र तथा वरुण, तीसरी बार अश एव भग और चौथी बार इद्र एव विवस्वान हुए। यही कहा गया है कि अदिति के १२ पुत्र ही द्वादशादित्य या साध्य नामक देव है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मणो मे आदित्य की उत्पत्ति सामवेद से भी बताई गई है। पुराणो मे आदित्य कश्यप तथा अदिति के पुत्र है। (विशेष द्र० 'सूर्य'।) (कै० च० श०)

आदित्य प्रथम चोड यह चोडराज विजयपाल का पुत्र था जो ८७५ ई० के लगभग सिंहासनारूढ हुआ। ८६० ई० के लगभग उसने पल्लवराज अपराजितवर्मन को परास्त कर तोडमडलम् को अपने राज्य मे

मिला लिया और इस प्रकार पल्लवों का अंत हो गया। आदित्य परम शैव था और उसने शिव के अनेक मंदिर बनाए। उसके मरने तक उत्तर में कलहस्ती और मद्रास तथा दक्षिण में कावेरी तक का सारा जनपद चोड़ों के शासन में आ चुका था। (ओ० ना० उ०)

आदित्यवर्धन यह थानेश्वर के भूतिवंश का राजा था, श्रीकंठ (थानेश्वर) के राजवंश के प्रतिष्ठाता नरवर्धन का पौत्र। आदित्यवर्धन ने मगधराज दामोदर गुप्त की पुत्री महासेना गुप्ता को ब्याहा जिससे वर्धनों की मर्यादा बढ़ी। आदित्यवर्धन के संबंध में इससे अधिक कुछ पता नहीं। उसके बाद उसका पुत्र और हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन थानेश्वर का राजा हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि आदित्यवर्धन ने छठी स० ई० के अंत में राज किया होगा। (ओ० ना० उ०)

आदित्यसेन राजा माधवगुप्त का पुत्र, उत्तर गुप्तों में संभवत सबसे शक्तिमान्। हर्ष के जीवनकाल में तो वह चुपचाप सामंत ही बना रहा, पर उसके मरते ही उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर सम्राटों के विरुद्ध शस्त्रास्त्र धारण किए। उसके अश्वमेध के अनुष्ठान से प्रकट है कि उसने कुछ भूमि भी निश्चय जीती होगी, और लेख में उसे "आसमुद्र पृथ्वी का स्वामी" कहा भी गया है। उसका शासनकाल तो निश्चित नहीं है, पर कम से कम ६७२ ई० तक वह निश्चय जीवित रहा। आदित्यसेन की मृत्यु के बाद उत्तरकालीन गुप्तों की राजधानी विचलित हो चली। (ओ० ना० उ०)

आदिपाप ईसाई धर्म का एक मूलभूत सिद्धांत है कि सब मनुष्य रहस्यात्मक रूप से प्रथम मनुष्य आदम के पाप के भागी बनकर 'ओरिजिनल सिन' अर्थात् आदिपाप की दशा में जन्म लेते हैं, जिससे वे अपने ही प्रयत्न द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में असमर्थ हैं। ईसा ने आदम के उस पाप का तथा मानव जाति के अन्य सब पापों का प्रायश्चित्त करके मुक्ति का द्वार खोल दिया।

बाइबिल के प्रथम ग्रंथ में इसका वर्णन किया गया है। आदम ने ईश्वर के आदेश का उल्लंघन किया और फलस्वरूप ईश्वर की मित्रता खो बैठा। इसी कारण मानव जाति की दुर्गति हुई और संसार में मृत्यु, दुःख और विषयवासना का प्रवेश हुआ (द्र० 'आदम')। फिर भी यहूदी धर्म में आदिपाप की शिक्षा नहीं मिलती। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन बाइबिल के उत्तरार्ध में हुआ है (द्र० रोमियों के नाम संत पौलुस का पत्र, अध्याय ५)। आदिपाप का तत्व इसमें है कि आदम के पाप के कारण समस्त मानव जाति ईश्वर की मित्रता से वंचित हुई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य मृत्यु, दुःख और विषयवासना के शिकार बन गए, यद्यपि कैथोलिक गिरजा उन लोगों का विरोध करता है जो लूथर, कैलविन आदि के समान सिखलाते हैं कि आदिपाप के फलस्वरूप मनुष्य का स्वभाव पूर्ण रूप से दूषित हुआ है।

सं०ग्रं०—जे० फ्यूडोर्फर एर्बसुंडे यूनिट एर्वोद फोम एपोस्टल पौलुस, मस्टर, आइ० डब्ल्यू०, १९२७। (का० बु०)

आदिपुराण जैनधर्म का एक प्रधान पुराण। जैनधर्म के अनुसार ६३ महापुरुष बड़े ही प्रतिभाशाली, धर्मप्रवर्तक तथा चरित्रसंपन्न माने जाते हैं और इसीलिए ये 'शलाकापुरुष' के नाम से विख्यात हैं। ये २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव तथा नौ बलदेव (या बलभद्र) हैं। इन शलाकापुरुषों के जीवनप्रतिपादक ग्रंथों को श्वेतांबर लोग 'चरित्र' तथा दिगंबर लोग 'पुराण' कहते हैं। आचार्य जिनसेन ने इन समग्र महापुरुषों की जीवनी काव्यशैली में संस्कृत में लिखने के विचार से इस 'महापुराण' का आरंभ किया, परंतु ग्रंथ की समाप्ति में पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। फलत अवशिष्ट भाग को उनके शिष्य आचार्य गुणभद्र ने समाप्त किया। ग्रंथ के प्रथम भाग में ४८ पर्व और १२ सहस्र श्लोक हैं जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभनाथ की जीवनी निबद्ध है और इसलिये 'महापुराण' का प्रथमार्ध 'आदिपुराण' तथा उत्तरार्ध उत्तरपुराण के नाम से विख्यात है। आदिपुराण के भी केवल ४२ पर्व पूर्ण रूप से तथा ४३वें पर्व के केवल तीन श्लोक आचार्य जिनसेन की रचना हैं और अंतिम पर्व (१६२० श्लोक) गुणभद्र की कृति है। इस प्रकार आदिपुराण के १०,३८० श्लोकों के कर्ता जिनसेन स्वामी हैं। हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन आदिपुराण के कर्ता से भिन्न तथा बाद के हैं, क्योंकि इन्होंने जिनसेन स्वामी की स्तुति अपने ग्रंथ के मंगलश्लोक में की है।

आदिपुराण कवि की अंतिम रचना है। जिनसेन का लगभग श० सं० ७७० (=८४८ ई०) में स्वर्गवास हुआ। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) का वह राज्यकाल था। फलत आदिपुराण की रचना का काल नवीं शताब्दी का मध्य भाग है। यह ग्रंथ काव्य की रोचक शैली में लिखा गया है।

सं०ग्रं०—नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, बंबई, १९४२; डा० विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, द्वितीय खंड, कलकत्ता, १९३३। (ब० उ०)

आदिबुद्ध अर्थात् बुद्धों में आदिम। इन्हें पंचध्यानी बुद्धों (द्र० 'भारतीय देवी देवता') में आदिम अथवा प्रथम कहा गया है। कुछ लोगों के अनुसार प्रारंभ में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँच बौद्ध तत्वों अथवा स्कंधों के मूर्तरूप पंचध्यानी बुद्धों की रचना हुई। बुद्धों के कुलों की कल्पना के साथ कुलेशों की भी कल्पना हुई। आदिबुद्ध संबंधी सिद्धांत के अभ्युदयकाल के संबंध में विभिन्न मत हैं। कुछ के अनुसार १०वीं ईस्वी शताब्दी, दूसरे मत के अनुसार सातवीं शताब्दी तथा तीसरे मत के अनुसार प्रथम ईस्वी शताब्दी में इस सिद्धांत का अभ्युदय हुआ। इतना निश्चित है कि यह आदिबुद्धसिद्धांत बौद्धों का ईश्वरवादी सिद्धांत मान लिया गया है। लगभग छठी सातवीं ई० शताब्दी में तत्कालीन वज्रयानी आचार्यों ने आस्तिक मतों को एक पूर्ण विकसित अद्वैतवादी दर्शन की ओर अभिमुख होते देखा और उन लोगों ने बहुदेववादी बौद्ध देवमंडल को संस्कृत करने के उद्देश्य से उस समय के पंचस्कंधों के अधिष्ठाता उन ध्यानी बुद्धों के कुलों और कुलेशों का विकास किया जो अपने अपने कुलों के आदिबुद्ध थे। हिंदू ईश्वरवादी सिद्धांतों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए उन लोगों ने इन सभी कुलों के भी प्रथम अथवा आदिम बुद्ध की विचारणा के क्रम में आदिबुद्ध अथवा वज्रधर्मसिद्धांत का विकास किया। आदिबुद्ध को ही वज्रयान का सर्वोच्च देवता स्थिर किया गया और यह माना गया कि पंचध्यानी बुद्धों का उन्हीं से विकास हुआ।

इस सिद्धांत का प्रवर्तन कुछ मतों के अनुसार नालंदा विहार में १०वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। दूसरे मतों के अनुसार इसका प्रवर्तन सातवीं शताब्दी में ही मध्यभारत में हुआ। प्रवर्तन के उपरांत इनके स्वरूप की कल्पना की गई, मूर्तियाँ बनीं और पूजाविधान भी स्थिर हुआ। आदिबुद्धसिद्धांत में संबंधित विशेष तत्व कालचक्रतंत्र है। इसे ही वह मूल तत्व माना जाता है जिससे आदिबुद्धसिद्धांत का प्रवर्तन हुआ। इस दृष्टि से इस तत्वविशेष का भी समय १०वीं शताब्दी निश्चित होता है। इस सिद्धांत को सर्वप्रथम कालचक्रयान में ही स्वीकार किया गया। आदिबुद्ध के दूसरे दो प्रसिद्ध नाम हैं वज्रसत्व और वज्रधर। कुछ लोगों के अनुसार वज्रधर की कल्पना आदिबुद्ध के बाद की है अर्थात् वज्रधर की कल्पना १०वीं शताब्दी के प्रथमार्ध के बाद हुई जबकि वज्रसत्व का ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य से विकसित बोधिसत्व वज्रपाणि से विकास हुआ। इस प्रकार वज्रसत्व परवर्ती विकास है। प्राय वज्रधर और वज्रसत्व को एक मान लिया जाता है। आदिबुद्ध इन सभी ध्यानी बुद्धों के जनक हैं और साथ ही तांत्रिक बौद्ध देवमंडल के सर्वोच्च देवता हैं।

आदिबुद्ध की मानवाकृति में अभिव्यक्ति दो रूपों में मिलती है—एकाकी रूप में और युगनद्ध रूप में। एकाकी रूप में आदिबुद्ध प्रभूतभावेन अलंकृत और वज्रपर्यंक आसन में अथवा ध्यानमुद्रा में अभिव्यक्त होते हैं। उनके दोनों पैर एक दूसरे पर आरोपित रहते हैं और दोनों तलवे ऊर्ध्वमुख रहते हैं। उनके दाहिने हाथ में वज्र, बाएँ हाथ में घंटा और शेष दोनों हाथ वक्ष भाग पर एक दूसरे पर वज्रहुंकार मुद्रा में स्थित रहते हैं। इस अभिव्यक्ति में वज्र परमतत्व शून्य का और घंटा उस प्रज्ञा का प्रतीक है जिसकी ध्वनि दूर दूर तक प्रसारित होती है। कभी कभी ये प्रतीक कमल पर दोनों

तरफ दिखाए जाते हैं जिनमें से वज्र दाहिनी ओर और घंटा बाईं ओर प्रदर्शित होता है।

युगनद्ध मुद्रा में आदिबुद्ध अथवा वज्रधर उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त अपनी उस शक्ति से भी सपरिष्वक्त रहते हैं जिसे प्रज्ञापारमिता कहा जाता है। यह शक्ति आकार में लघुतर और प्रभूतभावेन अलकृत होती है। यह दाहिने हाथ में कर्तरी और बाएँ हाथ में कपाल धारण किए रहती है। कर्तरी अज्ञान के विनाश का प्रतीक है और कपाल पूर्ण एकता का। युगनद्ध मुद्रा में यह प्रतीकीकृत होता है कि द्वयता और अद्वय में भेद मिथ्या है और दोनों जललवरणभावेन विमिश्रित हैं। तिब्बती लामा धर्म में इन्हें प्रायः नीलवर्ण, प्राय नग्न, बुद्धानुरूप आसन और ध्यानमुद्रा में अंकित किया जाता है।

इस सिद्धात के तात्रिक बौद्ध धर्म में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के बाद आदिबुद्ध के विभिन्न पक्षो एव रूपो के प्रति आस्था रखनेवाले बौद्धो ने अपने को विभिन्न सप्रदायो मे विभक्त कर लिया। किसी किसी ने पचध्यानी बुद्धो मे से ही किसी को आदिबुद्ध मान लिया, किसी ने वज्रसत्व को ही आदिबुद्ध के रूप मे स्वीकार कर लिया और किसी ने समन्तभद्र या वज्रपाणि जैसे बोधिसत्व (द्र०) को ही आदिबुद्ध की मान्यता दे दी। इस प्रकार आदिबुद्ध मत विभिन्न सप्रदायो मे विभक्त हो गया। नेपाल मे आज भी बौद्ध आदिबुद्ध से सबधित विभिन्न सप्रदायो मे विभक्त है। वहाँ कुछ बौद्ध सप्रदाय वैरोचन अथवा अक्षोभ्य को आदिबुद्ध मानते है और कुछ अमिताभ को।

इस आदिबुद्ध के अभ्युदय तथा उनके मत के प्रसारक्षेत्र, मदिरादि के सबध मे कथाएँ मिलती है। इनके अभ्युदय के सबध मे स्वयभूपुराण के आधार पर कहा जाता है कि आदिबुद्ध स्वय नेपाल के कालीदह क्षेत्र मे सर्वप्रथम एक ज्वाला के रूप मे प्रकट हुए और मजुश्री ने उस ज्वाला की रक्षा के लिये उसपर एक मदिर का निर्माण कराया। यही प्राचीन मदिर स्वयभू चैत्य के रूप मे आज भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार आदिबुद्ध की एक ऐसी ज्वाला के रूप मे पूजा की जाती है जिसे वज्राचार्य नित्य, स्वयभू और स्वतंत्र मानते हैं। (ना० ना० उ०)

आदिलशाह, इब्राहीम (प्रथम एव द्वितीय), द्र० 'बीजापुर का आदिलशाही राजवश' तथा 'उर्दू भाषा और साहित्य'।

आदिवराह 'वराह' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद (१।६१।७, ८।७७।१०) तथा अथर्ववेद (८।७।२३) मे हुआ है। एक मत्र मे रुद्र को स्वर्ग का वराह कहा गया है (ऋ० १।११४।५)। विभव या अवतार का प्रथम निर्देश तैत्तिरीय सहिता तथा शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है, जहाँ प्रजापति के मत्स्य, कूर्म तथा वराह रूप धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषो को तथा क्षीरपाक को ग्रहण कर लिया जो वस्तुत 'एमुष' नामक वराह की सपत्ति थे। इद्र ने इस वराह को भी मार डाला (ऋक् ८।७७।१०)। शतपथ के अनुसार इसी 'एमुष' नामक वराह ने जल के ऊपर रहनेवाली पृथ्वी को ऊपर उठा लिया (१४।१।२।११)। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार यह वराह प्रजापति का और पुराणो के अनुसार विष्णु का रूप था। इस प्रकार वराह अवतार वैदिक निर्देशो के ऊपर स्पष्टत आश्रित है।

भारतीय कला मे वराह की मूर्ति दो प्रकार की मिलती है—विशुद्ध पशुरूप मे तथा मिश्रित रूप मे। मिश्रण केवल सिर के ही विषय मे मिलता है तथा अन्य भाग मनुष्य के रूप मे ही उपलब्ध होते है। पशुमूर्ति का नाम केवल वराह या **आदिवराह** है तथा मिश्रित रूप का नाम **नृवराह** है। उत्तरभारत मे पशुमूर्ति या आदिवराह की मूर्ति अनेक स्थानो पर मिलती है। इनमे सबसे प्रख्यात तोरमाण द्वारा निर्मित 'एरण' मे लाल पत्थर की वराहमूर्ति मानी जाती है। मानवाकृति मूर्ति के ऊपर कभी कभी छोटे छोटे मनुष्यो के भी रूप उत्कीर्ण मिलते हैं, जो देव, असुर तथा ऋषि के प्रतिनिधि माने जाते है एव पृथ्वी वराह के दाँतो से लटकती हुई चित्रित की गई है। वराह का सबसे प्राचीन तथा सुदर निदर्शन विदिशा के पास उदयगिरि की चतुर्थ गुफा मे उत्कीर्ण मिलता है। यह चद्रगुप्त द्वितीय कालीन पाँचवी शताब्दी का है। वराह की अन्य दो मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती है (१) **यज्ञवराह** (सिंह के आसन पर ललितासन में उपविष्ट मूर्ति, लक्ष्मी तथा भूदेवी के साथ), (२) **प्रलयवराह** (वही मुद्रा, पर केवल भूदेवी के सग मे) इन मूर्तियो से आदिवराह की मूर्ति सर्वथा भिन्न होती है।

स०ग्रं०—बैनर्जी डेवेलपमेंट ऑव हिंदू आइकॉनोग्रैफी, द्वितीय स० कलकत्ता, १९५५, गोपीनाथ राव हिंदू आइकोनोग्रैफी, मद्रास। (ब० उ०)

आदिवासी (ऐबोरिजिनल) सामान्यत 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र के मूल निवासियो के लिये किया जाना चाहिए, परतु ससार के विभिन्न भूभागो मे जहाँ अलग अलग धाराओ मे अलग अलग क्षेत्रो से आकर लोग बसे हो उस विशिष्ट भाग के प्राचीनतम अथवा प्राचीन निवासियो के लिये भी इस शब्द का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'इडियन' अमरीका के आदिवासी कहे जाते हैं और प्राचीन साहित्य मे दस्यु, निषाद आदि के रूप मे जिन विभिन्न प्रजातीय समूहो का उल्लेख किया गया है उनके वशज समसामयिक भारत मे आदिवासी माने जाते है।

अधिकाश आदिवासी सस्कृति के प्राथमिक धरातल पर जीवनयापन करते हैं। वे सामान्यत क्षेत्रीय समूहो मे रहते है और उनकी सस्कृति अनेक दृष्टियो से स्वयपूर्ण रहती है। इन सस्कृतियो मे ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव रहता है तथा ऊपर की थोडी ही पीढियो का यथार्थ इतिहास क्रमश किंवदतियो और पौराणिक कथाओ मे घुल मिल जाता है। सीमित परिधि तथा लघु जनसख्या के कारण इन सस्कृतियो के रूप में स्थिरता रहती है, किसी एक काल मे होनेवाले सास्कृतिक परिवर्तन अपने प्रभाव एव व्यापकता मे अपेक्षाकृत सीमित होते है। परपराकेंद्रित आदिवासी सस्कृतियाँ इसी कारण अपने अनेक पक्षो मे रूढिवादी सी दीख पडती है। उत्तर और दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, एशिया तथा अनेक द्वीपो और द्वीपसमूहो मे आज भी आदिवासी सस्कृतियो के अनेक रूप देखे जा सकते है।

भारत मे अनुसूचित आदिवासी समूहो की संख्या २१२ है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार आदिवासियो की सख्या १,९१,११,४९८ है। देश की जनसख्या का ५ ३६ प्रति शत भाग आदिवासी स्तर का है।

प्रजातीय दृष्टि से इन समूहो मे नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलायड और मगोलायड तत्व मुख्यत पाए जाते है, यद्यपि कतिपय नृतत्ववेत्ताओ ने नीग्रिटो तत्व के सबध मे शकाएँ उपस्थित की है। भाषाशास्त्र की दृष्टि मे उन्हे आस्ट्रो-एशियाई, द्रविड और तिब्बती-चीनी-परिवारो की भाषाएँ बोलनेवाले समूहो मे विभाजित किया जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत का विभाजन चार प्रमुख क्षेत्रो मे किया जा सकता है उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र।

उत्तर पूर्वीय क्षेत्र के अतर्गत हिमालय अचल के अतिरिक्त तिस्ता उपत्यका और ब्रह्मपुत्र की यमुना-पद्मा-शाखा के पूर्वी भाग का पहाडी प्रदेश आता है। इस भाग के आदिवासी समूहो मे गुरूग, लिंबू, लेपचा, आका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपो, मिकिर, राभा, कचारी, गारो, खासी, नागा, कुकी, लुशाई, चकमा आदि उल्लेखनीय है।

मध्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी और राजमहल पर्वतमाला के पश्चिमी भाग से लेकर दक्षिण की गोदावरी नदी तक है। सथाल, मुडा, उराँव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, जुआंग, खोड, सवरा, गोड, भील, बैगा, कोरकू, कमार आदि इस भाग के प्रमुख आदिवासी है।

पश्चिमी क्षेत्र मे भील, ठाकुर, कटकरी आदि आदिवासी निवास करते हैं। मध्य पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण मे सह्याद्रि तक का पश्चिमी प्रदेश इस क्षेत्र मे आता है। गोदावरी के दक्षिण से कन्याकुमारी तक दक्षिणी क्षेत्र का विस्तार है। इस भाग मे जो आदिवासी समूह रहते है उनमे चेंचू, कोडा, रेड्डी, राजगोड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरुबा, बडागा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, उराली, कनिक्कर आदि उल्लेखनीय है।

नृतत्ववेत्ताओ ने इन समूहो मे से अनेक का विशद शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक अध्ययन किया है। इस अध्ययन के आधार पर भौतिक सस्कृति तथा जीवनयापन के साधन सामाजिक सगठन, धर्म, बाह्य सस्कृति, प्रभाव आदि की दृष्टि से आदिवासी भारत के विभिन्न वर्गीकरण करने के अनेक वैज्ञानिक प्रयत्न किए गए है। इस परिचयात्मक रूपरेखा में इन सब

प्रयत्नो का उल्लेख तक सभव नही है। आदिवासी संस्कृतियो की जटिल विभिन्नताओ का वर्णन करने के लिये भी यहाँ पर्याप्त स्थान नही है।

यद्यपि प्राचीन काल मे आदिवासियो ने भारतीय परपरा के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान किया था और उनके कतिपय रीति रिवाज और विश्वास आज भी थोडे बहुत परिवर्तित रूप मे आधुनिक हिंदू समाज मे देखे जा सकते है, तथापि यह निश्चित है कि वे बहुत पहले ही भारतीय समाज और संस्कृति के विकास की प्रमुख धारा से पृथक् हो गए थे। आदिवासी समूह हिंदू समाज से न केवल अनेक महत्वपूर्ण पक्षो मे भिन्न है, वरन् उनके इन समूहो मे भी कई महत्वपूर्ण अतर है। समसामयिक आर्थिक शक्तियो तथा सामाजिक प्रभावो के कारण भारतीय समाज के इन विभिन्न अगो की दूरी अब क्रमश कम हो रही है।

आदिवासियो की सास्कृतिक भिन्नता को बनाए रखने मे कई कारणो का योग रहा है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर उनमे से अनेक मे प्रबल 'जनजाति-भावना' (ट्राइबल फीलिंग) है। सामाजिक-सास्कृतिक-धरातल पर उनकी संस्कृतियो मे अनेक ऐसी संस्थाएँ है जो हिंदू समाज की संस्थाओ से भिन्न है, परंतु जिनका आदिवासियो की संस्कृतियो के गठन मे केंद्रीय महत्व है। असम के नागा आदिवासियो की नरमुडप्राप्ति प्रथा बस्तर के मुरियो को घोटुल संस्था, टोडा समूह मे बहुपतित्व, कोया समूह मे गोबलि की प्रथा आदि का उन समूहो की संस्कृति मे बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु ये संस्थाएँ और प्रथाएँ भारतीय समाज की प्रमुख प्रवृत्तियो के अनुकूल नही है। आदिवासियो की सकलन-आखेटक-अर्थव्यवस्था तथा उसमे कुछ अधिक विकसित अस्थिर और स्थिर कृषि की अर्थव्यवस्थाएँ अभी भी परपरास्वीकृत प्रणाली द्वारा चलाई जाती है। परपरा का प्रभाव उनपर नए आर्थिक मूल्यो के प्रभाव की अपेक्षा अधिक है। धर्म के क्षेत्र मे जीववाद, जीविवाद, पितृपूजा आदि हिंदू धर्म के समीप लाकर भी उन्हे भिन्न रखते है।

आज के आदिवासी भारत मे पर-संस्कृति-प्रभावो की दृष्टि से आदिवासियो के चार प्रमुख वर्ग दीख पडते हैं। प्रथम वर्ग मे पर-संस्कृति-प्रभावहीन समूह है, दूसरे मे पर-संस्कृतियो द्वारा अल्पप्रभावित समूह, तीसरे मे पर-संस्कृतियो द्वारा प्रभावित, किंतु स्वतंत्र सास्कृतिक अस्तित्ववाले समूह और चौथे वर्ग मे ऐसे आदिवासी समूह आते हैं जिन्होने पर-संस्कृतियो का स्वीकरण इस मात्रा मे कर लिया है कि अब वे केवल नाममात्र के लिये आदिवासी रह गए है।

स०ग्र०—गुह, बी०एस० दि रेशल एलिमेंट्स इन इडियन पापुलेशन (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३६), एल्विन, वेरियर . द एबारिजिनल्स (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३८), दुबे, श्यामाचरण मानव और संस्कृति (राजकमल, १९५९)। (श्या० दु०)

आद्यपक्षी पक्षियो के विकास का इतिहास अन्य सभी जतुसमूहो के विकास के इतिहास से अधिक दुर्बोध है। जिस काल तक भूविज्ञान पहुँच सका है उसमे आद्यपक्षी का कोई उपयुक्त प्रमाण प्राप्त नही है। आदिनूतन के प्रारभिक भाग के (अब से लगभग करोड़ वर्ष पूर्व के) पक्षियो के जीवाश्म (फॉसिल) बहुत कम प्राप्त हुए है। खटीयुग (क्रिटेशस युग) के बाद केवल आठ प्रतिनिधि मिले है, परंतु सब आदर्शभूत नही है और अपूर्ण भी है।

इनमे सबसे अच्छा अवशेष हैस्पौरनिस नामक पक्षी का है। यह तैरनेवाली चिडिया थी। इसके पख छोटे थे। इसकी उरोस्थि (स्टर्नम) पर कूट (अंग्रेजी मे कील) था। इक्थियॉर्निस नामक पक्षी का अवशेष भी अच्छा है। यह कबूतर के बराबर एक छोटी उडनेवाली चिडिया थी, जिसका उरकूट (कील) बड़ा था। इन दोनो चिडियो के जबडो पर पूर्णतया विकसित दाँत थे। परंतु इन दोनो के जीवाश्मो मे से कोई एक भी पक्षियो के विकास पर प्रकाश नही डालता। इनसे यह पता अवश्य चला है कि उडना इनसे पहले प्रारभ हो चुका था। पक्षियो के विकास के अध्ययन के लिये पुरानी चट्टानो का अध्ययन आवश्यक है।

पूर्वी जर्मनी के सोलनहाफन नामक स्थान पर महासरट (जुरासिक) काल की महीन दानेवाली चूने की चट्टानें हैं। किसी समय मे यह पत्थर लीथो की छपाई के लिये खोदा जाता था। इन पत्थरो का पूरा निरीक्षण किया जाता था, इसलिये इनपर अंकित सभी चिह्नों की जाँच होती रहती थी। सन् १८६१ के प्रारभ मे एक पत्थर मे पर (फेदर) की एक छाप मिली। इससे कर्मचारी बहुत चकित हुए। इसके कुछ समय बाद ही पखो से सुसज्जित एक प्राणी का ककाल पत्थर के बीच मे मिला। यह पापनहाइम नामक गाँव के पास लागेनलथाइमर हार्ट मे मिला। पापनहाइम मे डाक्टर अर्न्स्ट हाबर्लाइन रहते थे। उन्होने अपने सग्रह के लिये दोनो शिलाएँ ले ली। तत्पश्चात् हरमन फॉन मेयर ने परवाली छाप का नाम आर्कियॉप्टॅरिक्स लिथोग्राफिका रखा। इस नाम का अर्थ है 'लिथो के पत्थर का पुराना पर'। दूसरी शिला पर अकित जो ककाल सहित पर का चिह्न था वह किसी दूसरे आद्यपक्षी का था। उसमे खोपडी स्पष्ट नही थी, परंतु पख और पूंछ की छाप बहुत अच्छी थी।

यह दूसरी छाप एक पहेली बन गई। इससे ज्ञात हुआ कि प्राणी कौए की नाप का रहा होगा। इसका ककाल सरीसृप के ढग का था, जबडो मे दाँत थे तथा अँगुलियो मे नख थे, परंतु हाथ के बदले निश्चित रूप से पर थे। वैज्ञानिको ने उसे आद्यपक्षी के अवशेष के रूप मे पहचाना। इससे कम विकसित पक्षी का कोई चिह्न इससे पहले नही मिला था। इस पत्थर को बाद मे ब्रिटिश म्यूजियम ने प्राप्त कर लिया।

सन् १८७७ मे आर्कियॉप्टॅरिक्स का एक दूसरा प्रतिरूप एक पत्थर निकालने की खान मे मिला, जो पहले स्थान से लगभग दस मील दूर थी। इस स्थान का नाम ब्लूमनबर्ग था। इस छाप मे, जो दो पत्थरो मे सुरक्षित है, खोपडी का चिह्न भी है और सब बातो मे यह लदनवाले नमूने से अच्छी है। इन पत्थरो को बर्लिन के नाटुरकुडे म्यूज़ियम ने खरीद लिया।

आर्कियॉप्टॅरिक्स के पत्थरो की प्राप्ति के पश्चात् इनका अध्ययन प्रारभ हुआ। इनके अध्ययन के लगभग ३६ प्रयास अब तक हो चुके हैं। अतिम प्रयास ब्रिटिश म्यूजियम (नैचुरल हिस्ट्री विभाग) के सचालक सर गैविन डी बियर ने सन् १९४५ मे किया। उन्होने इस अध्ययन के लिये एक्स-रे तथा अल्ट्रावायलट किरणो का भी प्रयोग किया।

सर गैविन के अध्ययन ने निम्नलिखित बातो की पुष्टि की है . १. लदन म्यूजियम के जीवाश्मो की करोटि (खोपडी) मे अब तक जितनी हड्डियो की गणना की गई थी उससे वे अधिक है, २ इस अविकसित पक्षी का मस्तिष्क बहुत कुछ सरीसृप के मस्तिष्क की तरह था, ३. इसके कशेरुक (वर्टेब्री) के सिरे या तो चपटे है या छिछले प्याले के आकार के, अर्थात् उभयावतल (ऍम्फिसीलस) है, ४. उरोस्थि नाव के आकार की और कूट (कील)-विहीन है, कही मासपेशियो के जुडने के चिह्न भी नही है। यदि पख आधुनिक उडनेवाली चिडियो की भाँति होते तो उनमे उरकूट होता, या मासपेशियो के जुडने के लिये उभरे निशान होते। इससे पता चलता है कि आर्कियॉप्टॅरिक्स उड़नेवाली चिड़िया नही थी, केवल सरकनेवाली चिडिया थी।

आर्कियॉप्टॅरिक्स के सरीसृपीय लक्षण निम्नलिखित है १ इसकी हड्डियाँ खोखली या वायुमय नही है, २ कशेरुको की बनावट तथा जोड दोनो सरीसृप जैसे है, ३ पूंछ लबी है और २० कशेरुको की बनी है, ४ अगले और पिछले पैरो की रचना सरीसृप के पैरो जैसी है और अँगुलियो मे नख है, ५ जबडो मे दाँत है, ६. पसलियाँ पतली है और उनमे अकुश प्रवर्ध (असिनट प्रोसेसेज) नही होते।

आर्कियॉप्टॅरिक्स के पक्षीवाले लक्षणो मे निम्नलिखित प्रमुख है : १. पर, २ विशाखक (फरकुला) नामक अस्थि उपस्थित है, ३ पैर की पहली अँगुली पीछे की ओर है और अन्य तीन इसके विरोध मे दूसरी ओर है, जैसा अन्य चिडियो मे होता है, ४ श्रोणिमखला (पेल्विक गर्डल) की भगास्थि (प्यूबिक बोन) पीछे की ओर मुडी है, ५ कर्पर (क्रेनियम) की अनेक हड्डियाँ आधुनिक चिडियो की हड्डियो की भाँति जुडी है।

ये मिले जुले लक्षण सिद्ध करते है कि आर्कियॉप्टॅरिक्स आधुनिक पक्षी और सरीसृप के विकास के बीच की योजक कडी है। इसका अर्थ यह नही कि यह आधा सरीसृप और आधा पक्षी है, किंतु यह है कि यह एक ऐसा सरीसृप था, जिसने पक्षी की ओर विकसित होना प्रारभ कर दिया था, अर्थात् यह आद्यपक्षी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आर्कियॉप्टॅरिक्स ने किस मूल कुटुब से जन्म लिया था। इसका आकार उड़नेवाले सरीसृप अर्थात् टेरोडैक्टाइल के

मिलता है। परंतु टेरोडैक्टाइल के उड़ने का ढंग भिन्न था और उसकी हड्डियाँ भी भिन्न प्रकार की थी। दो छोटे पैरों पर चलनेवाले कुछ डायनोसौर भी रचना में चिड़ियों के निकट आते हैं। ये अपने अगले पैरों को पृथ्वी से ऊपर उठाए पिछले पैरों पर दौड़ते थे। दौड़ने का यह ढंग तथा उनके शरीर की रचना यह सिद्ध करती है कि सरीसृप तथा आर्कियॉप्टेरिक्स दोनों की पितृश्रेणी एक है।

यह भली भाँति ज्ञात हो चुका है कि आर्कियॉप्टेरिक्स भली भाँति उड़नेवाला पक्षी नहीं था। घने जंगलों के बड़े बड़े वृक्ष इसे उड़ने का अवसर नहीं देते रहे होंगे। यह केवल एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर दूसरे तक विसर्पण (ग्लाइड) करता रहा होगा। पीछे के लंबे पैर, लंबी दुम और चपटे सिरवाली कशेरुकाएँ उड़ने में बिलकुल सहायक नहीं थी, किंतु विसर्पण में पूर्णतया सहायक था।

संसार के जीवाश्मों में आर्कियॉप्टेरिक्स के जीवाश्मों का स्थान महत्वपूर्ण है। (स० ना० प्र०)

आद्योद्भिद (प्रोटोफाइटा) ऐसे एक या बहुकोशिकी जीव हैं जो पौधों की तरह अपना भोजन तरल रूप में ही ग्रहण करते हैं। इनको देखने से अनुमान किया जा सकता है कि वानस्पतिक सृष्टि का आदि रूप कैसा रहा होगा। कुछ सामान्य शैवाल (ऐलजी) भी इसी वर्ग में आते हैं शैवाल और एककोशिकी प्रजीव (प्रोटोज़ोआ) दोनों एक साथ एक-कोश-जीव (प्रोटिस्टा) वर्ग में रखे जाते हैं। ये संपूर्ण जीवनसृष्टि के आदिरूप माने जाते हैं। एककोशिकों के कई वर्ग हैं, कुछ ऐसे हैं जो तरल रूप से भोजन लेते हैं, कुछ ऐसे हैं जो प्राणियों की तरह ठोस रूप में तथा कुछ ऐसे भी होते हैं जो दोनों प्रकार से भोजन प्राप्त कर सकते हैं। अंतिम रूपवाले जीव विचारक के सुविधानुसार पौधों या जंतुओं दोनों में से किसी भी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। अभी तक इनकी कोई भी परिदृढ़ परिभाषा संभव नहीं हो पाई है।

आद्योद्भिद वर्ग में कार्बन-संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) क्रिया होती है। यह क्रिया इन पौधों में पर्णहरित और कभी कभी अन्य रंगों की सहायता से होती है। इस क्रिया में कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी से धूप की उपस्थिति में जटिल कारबनिक यौगिक (जैसे स्टार्च, वसा इत्यादि) बनते हैं। आद्योद्भिद के वर्ग अपने अपने रंगों के आधार पर पहचाने जा सकते हैं। एककोशिक आद्योद्भिद चर (गतिशील, मोटिल) होते हैं तथा इनके पक्ष्म होते हैं। पक्ष्मों की संख्या और उनका विन्यास प्रत्येक वर्ग के लिये निश्चित होता है। प्राय प्रत्येक वर्ग में अचर रूप भी होते हैं, जो एक या बहुकोशिकीय होते हैं।

आद्योद्भिद में प्रजनन अत्यंत साधारण रीति से होता है। बहुधा एककोशिका के, चाहे वह चर अवस्था में ही क्यों न हो, दो भाग हो जाते हैं। स्थायी रूपों में प्रजनन चर बीजाणु (ज़ूस्पोर्स) से भी होता है। मिक्सोफाइसी वर्ग में लैंगिक भेद नहीं होता, परंतु अधिकतर वर्गों के प्राय अधिक विकसित रूपों में लैंगिक भेद होता है। क्लोरोफिसिई में विषम लैंगिक प्रजनन होता है। आद्योद्भिद की बहुत सी प्रजातियाँ, जो क्लोरोफिसिई, जैंथोफिसिई, मिक्सोफिसिई आदि में शामिल हैं, स्थायी होती हैं और इन्हें सामान्य रूप से शैवाल ही कहा जाता है। इसके विपरीत, शैवालों में कुछ ऐसे भी आकार हैं जो आद्योद्भिद रूप से अधिक विकसित हैं और इनके प्राचीन रूपों का पता भी नहीं मिलता। आद्योद्भिद के ऐसे रूप जो स्वचालित होते हैं तथा जिनमें कोशिकाभित्ति नहीं होती, शैवालों से पृथक् वर्ग में रखे जाते हैं। इस वर्ग को कशाग वर्ग (फ्लैजेलेटा) कहते हैं (कश = चाबुक)। ये प्रजीव (प्रोटोज़ोआ) के निकट हैं, परंतु ऐसा विभाजन कृत्रिम तथा अनुचित प्रतीत होता है।

सं०ग्रं०—एफ० ई० फिट्ज़ : प्रेसिडेंशियल ऐड्रेस टु सेक्शन के, ब्रिटिश ऐसोसिएशन फॉर ऐडवान्समेंट ऑव साइंस (१९२७)। (भी० श० त्रि०)

आधर्षण अटेंडर, अंग्रेजी विधिप्रणाली में सामान्य कानून के अंतर्गत, मृत्युदंडादेश के पश्चात् जब यह प्रत्यक्ष हो जाता था कि अपराधी जीवित रहने योग्य नहीं है तब उसको (अटेंड) कहा जाता था और इस कार्यवाही को अटेंडर कहते थे। अटेंडर का अर्थ है आधर्षण। आधर्षण की कार्यवाही मृत्युदंडादेश के पश्चात् अथवा मृत्युदंडादेशतुल्य परिस्थिति में हुआ करती थी। निर्णय के बिना, केवल दोषसिद्धि के आधार पर, आधर्षण नहीं हो सकता था।

आधर्षण के परिणामस्वरूप अपराधी की समस्त चल या अचल संपत्ति का राज्य द्वारा अपहरण हो जाता था, वह संपत्ति के उत्तराधिकार से स्वयं तो वंचित हो ही जाता था, उसके उत्तराधिकारी भी उसकी संपत्ति नहीं पा सकते थे। इसको रक्तभ्रष्टता कहते थे। परंतु सन् १८७० के 'फ़ॉरफीचर ऐक्ट' के अंतर्गत आधर्षण अथवा संपत्ति अपहार या रक्तभ्रष्टता वर्जित हो गई और अब अटेंडर सिद्धांत का कोई विशेष महत्व नहीं रहा।

बिल्स ऑव अटेंडर—आधर्षण विधेयक द्वारा संसद् न्यायप्रशासन का कार्य करता था। कार्यवाही अन्य विधेयकों के समान ही होती थी। अंतर इतना था कि उसमें दो पक्ष, जिनके विरुद्ध विधेयक होता था, संसद के समक्ष वकील द्वारा उपस्थित हो सकते तथा साक्ष्य प्रस्तुत कर सकते थे। प्रथम आधर्षण विधेयक सन् १४५९ ई० में पारित हुआ था और अंतिम विधेयक सन् १७९८ ई० में। (श्री० अ०)

आधुनिक मनोविज्ञान मनोविज्ञान आधुनिक युग की नवीनतम विद्या है। वैसे तो मनोविज्ञान की शुरूआत आज से २,००० वर्ष पूर्व यूनान में हुई। प्लेटो और अरस्तू के लेखों में उसे हम देखते हैं। मध्यकाल में मनोविज्ञानचिंतन की योरप में कमी हो गई थी। आधुनिक युग में इसका प्रारंभ ईसा की अठारहवीं शताब्दी में हुआ। परंतु उस समय मनोविज्ञान केवल दर्शन शास्त्रों का सहयोगी था। उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। मनोविज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व १९वीं शताब्दी में हुआ, परंतु इस समय भी विद्वानों को मनुष्य के चेतन मन का ही ज्ञान था। उन्हें उसके अचेतन मन का ज्ञान नहीं था। जब अचेतन मन की खोज हुई तो पता चला कि जो ज्ञान मन के विषय में था वह उसके छुद्र भाग का ही था।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोज, चिकित्सा विज्ञान के कार्यकर्ताओं की देन है। इन खोजों की शुरूआत डा० फ्रायड ने की। उनके शिष्य अलफ्रेड एडलर, चार्ल्स युंग, विलियम स्टेकिल और फेरेंजी ने इसे आगे बढ़ाया। डा० फ्रायड स्वयं प्रारंभ में शारीरिक रोगों के चिकित्सक थे। उनके यहाँ कुछ ऐसे रोगी आए जिनकी सब प्रकार की शारीरिक चिकित्सा होते हुए भी रोग जाता नहीं था। ऐसे कुछ जटिल रोगियों का उपचार डा० ब्रूअर ने केवल प्रति दिन बातचीत करके तथा रोगी की व्यथा को प्रति दिन सुनकर किया। डा० ब्रूअर के इस अनुभव से यह पता चला कि मनुष्य के बहुत से शारीरिक और मानसिक रोग ऐसे भी होते हैं, जो किसी प्रकार की प्रबल भावनाओं के दमित होने से उत्पन्न हो जाते हैं, और जब इन भावनाओं का धीरे धीरे प्रकाशन हो जाता है तो ये समाप्त भी हो जाते हैं।

डा० फ्रायड की प्रमुख देन दमित भावनाओं की खोज की ही है। इनकी खोज करते हुए उन्हें पता चला कि मनुष्य के मन के कई भाग हैं। साधारणतया जिस भाग को वह जानता है, वह उसका चेतन मन ही है। इस मन के परे मन का वह भाग है जहाँ मनुष्य का वह ज्ञान संचित रहता है जिसे वह बड़े परिश्रम के साथ इकट्ठा करता है। इस भाग में ऐसी इच्छाएँ भी उपस्थित रहती हैं जो वर्तमान में कार्यान्वित नहीं हो रही होतीं, परंतु जिन्हें व्यक्ति ने बरबस दबा दिया है। मन का यह भाग अवचेतन मन कहा जाता है।

इसके परे मनुष्य का अचेतन मन है। मन के इस भाग में मनुष्य की ऐसी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, स्मृतियाँ और संवेग रहते हैं, जिन्हें उसे बरबस दबाना और भूल जाना पड़ता है। ये दमित भाव तथा इच्छाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में संगठित हो जाती हैं। और फिर वे उसके व्यक्तित्व में खिंचाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार के दमित भावों, इच्छाओं और स्मृतियों को मानसिक ग्रंथियाँ कहा जाता है। मानसिक रोगी के मन में ऐसी अनेक प्रबल ग्रंथियाँ रहती हैं। इनका रोगी को स्वयं ज्ञान नहीं रहता और उनकी स्वीकृति भी वह करना नहीं चाहता। ऐसी ही दमित ग्रंथियाँ अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों में व्याप्त होती हैं। हिस्टीरिया का रोग उन्हीं में से एक है। यह रोग कभी कभी शारीरिक रोग बनकर प्रगट होता है तब इसे रूपांतरित हिस्टीरिया कहा जाता है।

मनुष्य के अचेतन मन में न केवल दमित अवांछनीय और अनैतिक भाव रहते हैं, वरन् उन्हें दमन करनेवाली नैतिक धारणाएँ भी रहती हैं। इन नैतिक धारणाओं का ज्ञान व्यक्ति के चेतन मन को न होने के कारण उनमें सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मनुष्य की नैतिकता का भाव सुपरईगो (सुपर इगो) कहलाता है। मनुष्य के सुस्वत्व और उसके अचेतन मन में उपस्थित वासनात्मक, असामाजिक भावों और इच्छाओं का संघर्ष मनुष्य के अनजाने ही होता है। मनुष्य का सुस्वत्व उस कुत्ते के समान है जो मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित असामाजिक विचारों और इच्छाओं को चेतना के स्तर पर आकर प्रकाशित नहीं होने देता। फिर ये दमित भाव अपना रूप बदलकर मनुष्य की जाग्रत अवस्था में अथवा उसकी स्वप्नावस्था में, जबकि उसका सुस्वत्व कुछ ढीला हो जाता है, रूप बदलकर प्रकाशित होते हैं। यही भाव अनेक प्रकार के रूप बदलकर शारीरिक रोगों अथवा आचरण के दोषों में प्रकाशित होते हैं। डा० फ्रायड ने स्वप्न समझने के लिये एक नया विज्ञान ही खड़ा कर दिया। उनके कथनानुसार स्वप्न अचेतन मन में उपस्थित दमित भावनाओं के कार्यों का ही परिणाम है। किसी व्यक्ति के स्वप्न को जानकर और उसका ठीक अर्थ लगाकर हम उसके दमित भावों को जान सकते हैं और उसके मानसिक विभाजन को समाप्त करने में उसकी सहायता कर सकते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोज डा० फ्रायड के उपर्युक्त खोजों के आगे भी गई है। उनके शिष्य डा० युग ने बताया कि मनुष्य के सुस्वत्व की जड़ केवल उसके व्यक्तिगत अनुभव में नहीं है, वरन् यह संपूर्ण मानवसमाज के अनुभव में है। इसी के कारण जब मनुष्य समाज की मान्यताओं के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसके भीतरी मन में अकारण ही दंड का भय उत्पन्न हो जाता है। यह भय तब तक नहीं जाता जब तक मनुष्य अपनी नैतिकता संबंधी भूल को स्वीकार नहीं कर लेता और उसका प्रायश्चित्त नहीं कर डालता। इस तरह की आत्मस्वीकृति और प्रायश्चित्त से मनुष्य के भोगवादी स्वत्व और सुस्वत्व अर्थात् समाजहितकारी उपस्थित स्वत्व में एकता स्थापित हो जाती है। मनुष्य को मानसिक शांति न तो भोगवादी स्वत्व की अवहेलना से मिलती है और न सुस्वत्व की अवहेलना से। दोनों के समन्वय से ही मानसिक स्वास्थ्य और प्रसन्नता का अनुभव होता है।

इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० विलियम ब्राउन मन के उपर्युक्त सभी स्तरों के परे मनुष्य के व्यक्तित्व में उपस्थित एक ऐसी सत्ता को भी बताते हैं, जो देश और काल की सीमा के परे है। इसकी अनुभूति मनुष्य का मानसिक और शारीरिक शिथिलीकरण की अवस्था में होता है। उनका कथन है कि जब मनुष्य अपने सभी प्रकार के चिंतन को समाप्त कर देता है और जब वह इस प्रकार शांत अवस्था में पड़ जाता है, तब वह अपने ही भीतर उपस्थित एक ऐसी सत्ता से एकत्व स्थापित कर लेता है जो अपार शक्ति का केंद्र है और जिससे थोड़े समय के लिये भी एकत्व स्थापित करने पर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग शांत हो जाते हैं। इससे एकत्व स्थापित करने के बाद मनुष्य के विचार एक नया मोड़ ले लेते हैं। फिर ये विचार रोगमूलक न होकर स्वास्थ्यमूलक हो जाते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान अब भगवान् बुद्ध और महर्षि पातंजलि की खोजों की ओर जा रहा है। मन के उपर्युक्त तीन भागों के परे एक ऐसी स्थिति भी है जिसे एक ओर शून्य रूप और दूसरी ओर अनंत ज्ञानमय कहा जा सकता है। इस अवस्था में द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं और त्रिपुटीजन्य ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। (ला० रा० शु०)

आनंद (स्थविर) बुद्ध के चचेरे भाई थे जो बुद्ध से दीक्षा लेकर उनके निकटतम शिष्यों में माने जाने लगे थे। वे सदा भगवान् बुद्ध की निजी सेवाओं में तल्लीन रहे। वे अपनी तीव्र स्मृति, बहुश्रुतता तथा देशनाकुशलता के लिये सारे भिक्षुसंघ में अग्रगण्य थे। बुद्ध के जीवनकाल में उन्हें एकांतवास कर समाधिभावना के अभ्यास में लगने का अवसर प्राप्त न हो सका। महापरिनिर्वाण के बाद उन्होंने ध्यानाभ्यास कर अर्हत् पद का लाभ किया और जब बुद्धवचन का संग्रह करने के लिये वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा के द्वार पर भिक्षुसंघ बैठा तब स्थविर आनंद अपने योगबल से, मानो पृथ्वी से उद्भूत हो, अपने आसन पर प्रकट हो गए। बुद्धोपदिष्ट धर्म का संग्रह करने में उनका नेतृत्व सर्वप्रथम था। (भि० ज० का०)

आनंदगिरि अद्वैत वेदांत के एक मान्य आचार्य। इनका व्यक्तित्व अभी तक पूर्णतया प्रकाशित नहीं हुआ है। ये संभवत गुजरात के निवासी थे और १३वीं सदी के मध्य में वर्तमान थे। कुछ लोग इन्हें १४वीं सदी में भी वर्तमान मानते हैं। इसी प्रकार शंकरविजय के लेखक के रूप में भी एक आनंदगिरि का स्मरण किया जाता है जो शंकराचार्य के कनिष्ठ समकालीन थे। इस दृष्टि से वे नवीं शती में वर्तमान हो सकते हैं। इन्हें शंकराचार्य का शिष्य भी कहा जाता है। टीकाकार आनंदगिरि ने अनुभूतिस्वरूपाचार्य और शुद्धानंद का भी शिष्यत्व ग्रहण किया था। ये द्वारिकापीठाधीश भी थे। इनके प्रधान शिष्य अखंडानंद थे जिन्होंने प्रकाशात्मनरचित 'पंचपादिकाविवरण' नामक ग्रंथ पर 'तत्वदीपन' नामक टीका लिखी थी। शंकराचार्य के शिष्य आनंदगिरि के एक प्रसिद्ध समकालीन के रूप में प्रकाशानंद यति का नाम लिया जाता है। इनके अनेक नाम मिलते हैं, जैसे आनंदतीर्थ, अनंतानंदगिरि, आनंदज्ञान, आनंदज्ञानगिरि, ज्ञानानंद आदि। अभी तक ठीक पता नहीं चलता कि ये विभिन्न अभिधान एक ही व्यक्ति के हैं अथवा भिन्न भिन्न व्यक्तियों का एकत्र समिश्रण है। आनंदगिरि की एक प्रख्यात प्रकाशित रचना है 'शंकरदिग्विजय', जिसमें आदिशंकर के जीवनचरित का वर्णन बड़े विस्तार से नवीन तथ्यों के साथ किया गया है। परंतु ग्रंथ की पुष्पिका में ग्रंथकार का नाम सर्वत्र 'अनंतानंदगिरि' दिया हुआ है। फलत ये आनंदगिरि से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इस दिग्विजय में आचार्य शंकर का संबंध कामकोटि पीठ के साथ दिखलाया गया है और इसलिये अनेक विद्वान् इसे शृंगेरी पीठ की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देखकर कामकोटि पीठ के अनुयायी किसी संन्यासी की रचना मानते हैं। आनंदगिरि (आनंदज्ञान) का 'बृहत् शंकरविजय' प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माना जाता है, जो इससे सर्वथा भिन्न है। यह ग्रंथ अप्राप्य है। धनपति सूरि ने माधवीय शंकरदिग्विजय की अपनी टीका में इस ग्रंथ से लगभग १,३५० श्लोक उद्धृत किए हैं।

आनंदज्ञान का ही प्रख्यात नाम आनंदगिरि है। इन्होंने शंकराचार्य की गद्दी सुशोभित की थी। कामकोटि पीठवाले इन्हें अपने मठ का अध्यक्ष बतलाते हैं, उधर द्वारिका पीठवाले अपने मठ का। इनका आविर्भावकाल १२वीं शताब्दी माना जाता है। ये अद्वैत को लोकप्रिय तथा सुबोध बनानेवाले आचार्य थे और इसीलिये इन्होंने शंकराचार्य के प्रमेयबहुल भाष्यों पर अपनी सुबोध व्याख्याएँ लिखीं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की इनकी टीका 'न्यायनिर्णय' नाम से प्रसिद्ध है। शंकर के गीताभाष्य पर भी इनकी व्याख्या नितांत लोकप्रिय है। सुरेश्वर के 'बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक' के ऊपर आनंदगिरि की टीका इनके प्रौढ पांडित्य का निदर्शन है। इन्होंने आचार्य के उपनिषद्भाष्यों पर भी अपनी टीकाएँ निर्मित की हैं। इस प्रकार अद्वैत वेदांत के इतिहास में शंकराचार्य के साथ व्याख्याता रूप में आनंदगिरि का नाम अमिट रूप से संबद्ध है।

आनंदगिरि ने अनेकानेक टीका ग्रंथ लिखे हैं—'ईशावास्यभाष्यटिप्पण', 'केनोपनिषद्भाष्यटिप्पण', 'वाक्यविवरणव्याख्या', 'कठोपनिषद्भाष्यटीका', 'मुंडकभाष्यव्याख्यान', 'माडूक्य गौडपादीयभाष्यव्याख्या', 'तैत्तिरीयभाष्यटिप्पण', 'छांदोग्यभाष्यटीका', 'तैत्तिरीयभाष्यवार्तिकटीका', 'शास्त्रप्रकाशिका', 'बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकटीका', 'बृहदारण्यकभाष्यटीका', 'शारीरक भाष्यटीका' (अथवा न्यायनिर्णय), 'गीताभाष्यविवेचन', 'पंचीकरण विवरण', 'तर्कसंग्रह', 'उपदेशसाहस्रीविवृत्ति', 'वाक्यवृत्तिटीका', 'आत्मज्ञानोपदेशटीका', 'त्रिपुरीप्रकरणटीका', 'पदार्थनिर्णयविवरण' तथा 'तत्वालोक'। गृहस्थाश्रम में इनका नाम जनार्दन था। उसी समय इन्होंने तत्वालोक नामक उक्त ग्रंथ लिखा था। (ब० उ०, ना० ना० उ०)

आनंदघन द्र० 'घनानंद'।

आनंदतीर्थ द्र० 'मध्वाचार्य'।

आनंदबोध शांकर वेदांत के प्रसिद्ध लेखक। ये संभवत ११वीं अथवा १२वीं शती में विद्यमान थे। इन्होंने शांकर वेदांत पर कम

से कम तीन ग्रंथ लिखे थे—'न्यायदीपावली', 'न्यायमकरंद' और 'प्रमाणमाला'। इनमें से 'न्यायमकरंद' पर चित्सुख और उनके शिष्य सुखप्रकाश ने क्रमश: 'न्यायमकरंद टीका' और 'न्यायमकरंद विवेचना' नामक व्याख्या ग्रंथ लिखे। १३वीं शती में आनंदज्ञान के गुरु अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने भी आनंदबोध के तीनों ग्रंथों पर टीकाएँ लिखीं। इन्होंने कोई मौलिक योगदान नहीं किया। स्वयं आनंदबोध का यह कथन उद्धृत किया जाता है कि उन्होंने अपने समकालीन ग्रंथों से सामग्री एकत्र की। इन्होंने सांख्यकारिका के सत्कार्यवाद का खंडन किया। साथ ही न्याय, मीमांसा और बौद्धमत के भ्रम संबंधी सिद्धांतों का भी खंडन करते हुए उसके अनिर्वचनीयतावाद का समर्थन किया। 'अविद्या' से संबंधित आनंदबोध की तर्कणा के संबंध में कहा जाता है कि वह मंडन से ली हुई है। वेदांतमत के परवर्ती लेखकों ने आनंदबोध के तर्कों का अनुसरण किया है, यहाँ तक कि माध्व मत के व्यासतीर्थ ने प्रकाशात्मन के साथ ही आनंदबोध के भी तर्कों का अनुसरण किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि आनंदबोध समकालीन एवं परवर्ती दोनों कालों के लेखकों के लिये प्रेरणाप्रद रहे। (ना० ना० उ०)

आनंदभैरव संगीत के प्राचीन भारतीय पंडितों के अनुसार रागों के प्रमुख छह भेद बताए गए हैं, यथा भैरव, श्री, मालकोस, दीपक, मेघ और हिंडोल। आनंदभैरव तथा बसंतभैरव राग भैरव के दो विभेद हैं, यद्यपि आजकल इन विभेदों का प्रचलन नहीं रह गया है। भैरव प्रातःकाल का राग है। (स०)

आनंदपाल शाहिय नृपति प्रसिद्ध जयपाल का पुत्र। जयपाल ने महमूद गजनी से हारकर, बेटे को गद्दी सौंप, ग्लानिवश अग्निप्रवेश किया था। आनंदपाल भी चैन से राज न कर सका और महमूद की चोटें उसे भी सहनी पड़ी। १००८ ई० में महमूद ने भारत पर फिर आक्रमण किया। पिता ने महमूद से लड़ते समय देश को विदेशियों से रक्षा के लिये हिंदू राजाओं को सेना सहित आमंत्रित किया था। वही नीति इस संकट के समय आनंदपाल ने भी अपनाई। उसने देश के राजाओं को आमंत्रित किया, उनकी सेनाएँ आईं भी, पर महमूद के असाधारण सैन्यसंचालन के सामने वे टिक न सकीं और मैदान हमलावर के हाथ रहा। इस पराजय के बाद भी आनंदपाल छह वर्ष तक प्राचीन शाहियों की गद्दी पर रहा, पर गजनी के हमलों में शीघ्र ही उसका राज्य टूक टूक हो गया। उसके बेटे त्रिलोचनपाल और पोते भीमपाल ने भी महमूद से लोहा लिया, पर शाहियों की शक्ति निरंतर क्षीण होती गई और भीमपाल की युद्ध में मृत्यु के बाद उस प्रसिद्ध शाही राजकुल का १०२६ ई० में अंत हो गया जिसने गुप्त सम्राटों द्वारा मालवा और गुजरात से विदेशी कहकर निकाल दिए जाने पर भी हिंदूकुश और काबुल के सिंहद्वार पर सदियों भारत की रक्षा की थी। (ओ० ना० उ०)

आनंदलहरी भगवती भुवनेश्वरी की स्तुति में विरचित १०३ स्तोत्रों का यह संग्रह है जिसे आद्य शंकराचार्य की कृति कहा जाता है। इसका 'सौंदर्यलहरी' नाम विशेष प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों का अब यह मत हो चला है कि यह रचना बाद के किसी शंकराचार्य की है किंतु जनमत अभी इस पक्ष में नहीं है। काव्य की दृष्टि से तो यह रचना सौंदर्यपूरित है ही, तांत्रिक रहस्यों के समावेश के कारण इसमें दुरूहता भी भरी हुई है। आश्चर्य होता है कि आद्य शंकराचार्य ने अपनी ३२ वर्षों की अल्पायु में अन्य कृतियों, यात्राओं आदि के बीच समय निकालकर इसकी रचना कैसे की। भारत के सभी मतानुयायी और भाषायी क्षेत्रों में इसका समादर है तथा कई विदेशी भाषाओं में भी इसका अनुवाद हो चुका है। भुवनेश्वरी (पार्वती) के स्तुतिरूप में कहे गए इन १०३ श्लोकों में महान् तांत्रिक ज्ञान निहित है।

इसका ११वाँ श्लोक विशेष महत्वपूर्ण है (तंत्रशास्त्र की दृष्टि से) जिसमें ४३ दलोंवाले 'श्रीयंत्र' का वर्णन है। मध्य में बिंदु के स्थान पर शिव हैं। इसके बाद चतुरस्र यंत्र में श्रीकंठ आदि चार शंकर, पाँच कोणों में पाँच शिवयुवती, इसके बाद नौ कोणों में नौ मूल प्रकृति और बाद के आठ कोणों में कुसुमा आदि आठ देवियाँ। तब १६ कोणों में श्री आदि १६ देवियाँ और फिर तीन रेखाओं के चतुर्द्वार। इस प्रकार ४३ कोणों को माँ भुवनेश्वरी के चरण बतलाकर प्रत्येक कोण में एक देवी की स्थापना की गई है। यह तांत्रिकों के अध्ययन साधना की सामग्री प्रस्तुत करता है।

कुछ पांडुलिपियों में केवल १०० श्लोक मिलते हैं। (स०)

आनंदवर्धन अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध आलोचक आनंदवर्धन कश्मीर के निवासी थे। 'देवीशतक' के उल्लेखानुसार इनके पिता का नाम 'नोण' था। कल्हण के कथनानुसार ये कश्मीर के राजा अवंतिवर्मा (८५५ ई०—८८४ ई०) के सभापंडितों में मुख्य थे। राजशेखर (९००—९२५ ई०) के द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट किए जाने से भी इनका समय नवीं शताब्दी का मध्यकाल निश्चित किया जाता है। इनकी प्रख्यात रचनाएँ, जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं किया है, चार हैं—(१) **देवीशतक** भगवती त्रिपुरसुंदरी की स्तुति में निबद्ध एक शतक काव्य, (२) **अर्जुनचरित** अर्जुन के शौर्य का वर्णनपरक महाकाव्य, (३) **विषमबाण लीला** प्राकृत में निबद्ध कामदेव की लीलाओं का वर्णन करनेवाला काव्य, और (४) **ध्वन्यालोक** जिसने संस्कृत के आलोचनाजगत् में युगांतर प्रस्तुत कर दिया। आनंदवर्धन की संस्कृत साहित्यशास्त्र को महती देन है काव्य में 'ध्वनि' सिद्धांत का उन्मीलन तथा प्रतिष्ठापन। इनकी मान्यता है कि काव्य में वाच्य अर्थ के अतिरिक्त एक सुंदरतम अर्थ की भी सत्ता रहती है जो 'प्रतीयमान' अर्थ के नाम से अथवा स्फोटवादी वैयाकरणों की परंपरा के अनुसार 'ध्वनि' नाम से व्यवहृत होता है। इसी ध्वनि के स्वरूप का तथा प्रभेदों का विवेचन ध्वन्यालोक का मुख्य उद्देश्य है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं—पद्यबद्ध कारिका, गद्यमयी वृत्ति तथा नाना छंदों में निबद्ध उदाहरण। उदाहरण तो निश्चित रूप से प्राचीन कवियों के काव्य से तथा लेखक की साहित्यिक रचनाओं से उद्धृत किए गए हैं, परंतु कारिका तथा वृत्ति के लेखक के व्यक्तित्व के विषय में आलोचकों में गहरा मतभेद है। कतिपय नव्य आलोचक आनंदवर्धन को केवल वृत्ति का रचयिता तथा 'सहृदय' नामक किसी अज्ञात लेखक को कारिका का निर्माता मानकर वृत्तिकार को कारिकाकार से भिन्न मानते हैं, परंतु संस्कृत की मान्य प्राचीन परंपरा, राजशेखर, कुंतक, महिम भट्ट, क्षेमेंद्र तथा हेमचंद्र के प्रामाण्य पर, आनंदवर्धन को ही कारिका और वृत्ति दोनों का रचयिता माना जाता रहा है। आलोचकों का बहुमत भी इसी पक्ष की ओर है। अलंकारशास्त्र के इतिहास में आनंदवर्धन ने सर्वप्रथम इस शास्त्र की युक्ति तथा तर्क के आधार पर व्यवस्था प्रदान की और व्यंजना जैसी नवीन वृत्ति की कल्पना कर काव्य के अंतस्तत्व का मार्मिक विश्लेषण किया। इसीलिये संस्कृत के आलोचकवृंद आनंद को 'साहित्य-सिद्धांत-सरणि का प्रतिष्ठापक' मानते हैं।

सं०ग्रं०—पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव अलंकारशास्त्र, बंबई, १९५५, बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भाग), काशी, सं० २००७, एस० के० दे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स (दो भाग), कलकत्ता।

आनंदवाद उस विचारधारा का नाम है जिसमें आनंद को ही मानव जीवन का मूल लक्ष्य माना जाता है। विश्व की विचारधारा में आनंदवाद के दो रूप मिलते हैं। प्रथम विचार के अनुसार आनंद इस जीवन में मनुष्य का चरम लक्ष्य है और दूसरी धारा के अनुसार इस जीवन में कठोर नियमों का पालन करने पर ही भविष्य में मनुष्य को परम आनंद की प्राप्ति होती है।

प्रथम धारा का प्रधान प्रतिपादक ग्रीक दार्शनिक एपिक्यूरस (३४१-२७० ई० पू०) था। उसके अनुसार इस जीवन में आनंद की प्राप्ति सभी चाहते हैं। व्यक्ति जन्म से ही आनंद चाहता है और दुःख से दूर रहना चाहता है। सभी आनंद अच्छे हैं, सभी दुःख बुरे हैं। किंतु मनुष्य न तो सभी आनंदों का उपभोग कर सकता है और न सभी दुःखों से दूर रह सकता है। कभी आनंद के बाद दुःख मिलता है और कभी दुःख के बाद आनंद। जिस कष्ट के बाद आनंद मिलता है वह कष्ट उस आनंद से अच्छा है जिसके बाद दुःख मिलता है। अतः आनंद को चुनने में सावधानी की आवश्यकता है। आनंद के भी कई भेद होते हैं जिनमें मानसिक आनंद शारीरिक आनंद से श्रेष्ठ है। आदर्श रूप में वही आनंद सर्वोच्च है जिसमें दुःख का लेश भी न हो, किंतु समाज और राज्य द्वारा निर्धारित नियमों की अवहेलना करके जो आनंद प्राप्त होता है वह दुःख से भी बुरा है, क्योंकि मनुष्य को उस आनं-

हेलना का दंड भोगना पडता है। सदाचारी और निरपराध व्यक्ति ही अपनी मनोवृत्ति को सयमित करके आचरण के द्वारा उच्च आनद प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से एपिक्यूरस का आनदवाद विषयोपभोग की शिक्षा नही देता, अपितु आनदप्राप्ति के लिये सद्गुणो को अत्यावश्यक मानता है। एपिक्यूरस का यह मत कालातर मे हेय दृष्टि से देखा जाने लगा क्योंकि इसके माननेवाले सद्गुणो की उपेक्षा करके विषयोपभोग को ही प्रधानता देने लगे। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे जान लाक (१६३२–१७०४), डेविड ह्यूम (१७११–१७७६), बेंथम (१७३६–१८३२) तथा जान स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३) इस विचारधारा के प्रबल समर्थकों मे से थे। मिल के उपयोगितावाद के अनुसार वह आनद जिससे अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक लाभ हो, सर्वश्रेष्ठ है। केवल परिमाण के अनुसार ही नही, अपितु गुण के अनुसार भी आनद के कई भेद है। मूर्ख और विद्वान् के आनद म गुणगत भेद है, परिमाणगत नही। पापी का आनद सद्गुणी के आनद से हीन है अत लोगो को सद्गुणी बनकर सच्चा आनद प्राप्त करना चाहिए।

भारत मे चार्वाक दर्शन ने परलोक, ईश्वर आदि का खडन करते हुए इस ससार मे ही उपलब्ध आनद के पूर्ण उपभोग को प्राणिमात्र का कर्तव्य माना है। काम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। सभी कर्तव्य काम की पूर्ति के लिये किए जाते है। वात्स्यायन ने धर्म और अर्थ को काम का सहायक माना है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक आचरणो के सामान्य नियमो (धर्म) का उल्लघन करते हुए काम की तृप्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार ससार के नश्वर पदार्थों के उपभोग से उत्पन्न आनद नाशवान् है। अत प्राणी को अविनाशी आनद की खोज करनी चाहिए। इसके लिये हमे इस ससार का त्याग करना पडे तो वह भी स्वीकार होगा। उपनिषदो मे सर्वप्रथम इस विचारधारा का प्रतिपादन मिलता है। मनुष्य की इद्रियो को प्रिय लगनेवाला आनद (प्रेय) अंत में दुख देता है। इसलिये उस आनद की खोज करनी चाहिए जिसका परिणाम कल्याणकारी हो (श्रेय)। आनद का मूल आत्मा मानी गई है और आत्मा को आनदरूप कहा गया है। विद्वान् ससार मे भटकने की अपेक्षा अपने आपमें स्थित आनद को ढूँढते है। आनदावस्था जीव की पूर्णता है। अपनी शुद्ध आत्मा को प्राप्त करने के बाद आनद अपने आप प्राप्त हो जाता है। उपनिषदो के दर्शन को आधार मानकर चलनेवाले सभी धार्मिक और दार्शनिक सप्रदायो मे आनद को आत्मा की चरम अभिव्यक्ति माना गया है। शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निंबार्क, चैतन्य और तात्रिक सप्रदाय तथा अरविंद दर्शन किसी न किसी रूप मे आनद को आत्मा की पूर्णता का रूप मानते है।

बौद्ध दर्शन म ससार को दुखमय माना गया है। दुखमय ससार को त्यागकर निर्वाणपद प्राप्त करना प्रत्येक बौद्ध का लक्ष्य है। निर्वाणावस्था को आनदावस्था और महासुख कहा गया है। जैन सप्रदाय मे भी शरीर घोर कष्ट देने के बाद नित्य 'ऊर्ध्वगमन' करता हुआ असीम आनदोपलब्धि करता है। पूर्वमीमासा मे सासारिक आनद को 'अनर्थ' कहकर तिरस्कृत किया गया है और उस धर्म के पालन का विधान है जो वेदो द्वारा विहित है और जिसका परिणाम आनद है।

अफलातून के अनुसार सद्गुणी जीवन पूर्णानद का जीवन है, यद्यपि आनद स्वय व्यक्ति का ध्येय नही है। अरस्तू के अनुसार वे सभी कर्म जिनसे मनुष्य मनुष्य बनता है, कर्तव्य के अतर्गत आते है। इन्ही कर्मों का परिणाम आनद है। एडिमोनिज्म स्तोइक दर्शन मे सासारिक आनद को आत्मा का रोग माना गया है। इस रोग से मुक्त रहकर सद्गुणो का निरपेक्ष भाव से सेवन करने पर आध्यात्मिक आनद प्राप्त करना ही मनुष्य का सच्चा लक्ष्य है। नव्य अफलातूनी दर्शन मे सासारिक विषयो की अपेक्षा ईश्वर और जीव की अभेदावस्था मे उत्पन्न आनंद को उच्च माना गया है। ईसाई दार्शनिक आगस्तिन (३५३-४३०) ने बड़े जोरदार शब्दो मे ईश्वरसाक्षात्कार से उत्पन्न आनद की तुलना मे सासारिक आनद को मरे व्यक्ति का आनद माना है। स्पिनोजा (१६३२-१६७७) ने कहा, 'नित्य और अनंत तत्व के प्रति जो प्रेम उत्पन्न होता है वह ऐसा आनंद प्रदान करता है जिसमें दुःख का लेश भी नही है।' इमानुएल काट (१७२४-१८०४) का कहना है कि सर्वोत्तम श्रेय (गुड) इस संसार मे नही प्राप्त हो सकता, क्योंकि यहाँ लोग अभाव और कामनाओ के शिकार होते है। आचार के अनुल्लघनीय नियमो को (एथिकल इपरेटिव) पहचानकर चलने पर मनुष्य अपनी इद्रियो की भूख का दमन कर सकता है। मनुष्य की इच्छा स्वतत्र है। उसका कुछ कर्तव्य है, अत वह करता है। कर्तव्य कर्तव्य के लिये है। कर्तव्य का अन्य कोई लक्ष्य नहीं है। निर्विकार भाव से कर्तव्यपथ पर चलनेवाले व्यक्ति को सच्चे आनद की प्राप्ति होनी चाहिए, किंतु इस ससार मे कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को आनद की प्राप्ति आवश्यक नही है। अत काट के अनुसार भी वास्तविक आनद सासारिक नही, कर्तव्यपालन से उत्पन्न पारमार्थिक आनद ही पूर्ण आनद है।

सं०ग्रं०—महाभारत, शातिपर्व, उपनिषद्, शकर, रामानुज, वल्लभ तथा निबार्क के ग्रथ, तत्रालोक, माधव सर्वदर्शनसग्रह, अफलातून के 'लाज' और 'रिपब्लिक', जेलर ग्रीक दर्शन, मिल : यूटिलिटेरियनिज्म। (रा० पा०)

आन (१७०३-१७४६), रूस की सम्राज्ञी, महान् पीटर के भाई ईवान पचम की पुत्री। मास्को के निकटस्थ इसमाइलोर्वा मे माँ के पास प्राचीन रीति रस्मो के बीच बचपन उपेक्षा और घृणा में बीता। बाद मे पीटर ने इसकी सरक्षकता ग्रहण की। १७१० मे कूरलैंड के ड्यूक फ्रेडरिक विलियम से विवाह हुआ लेकिन पति लेनिनग्राड से घर जाते हुए रास्ते मे मर गया। विधवा आन को कूरलैंड की शासिका बनाकर वहाँ रहने के लिये बाध्य किया गया। काउट पीटर बेस्टटूवे रूसी रेजीडेंट बनाया गया। यह इसके प्रेमियो मे से एक था। बाद मे बीरन रेजीडेंट नियुक्त किया गया। पीटर द्वितीय के मरने पर आन रूस की सम्राज्ञी हुई (३० जनवरी, १७३०)।

२६ फरवरी को आन ने मास्को मे प्रवेश किया। ६ मार्च को राज्य में विप्लव हुआ और प्रिवी कौंसल (सरदार परिषद्) का अत कर उसने अपने को 'आँटोक्राट' घोषित किया।

आन वासना और क्रूरता की पुतली थी। हजारो को फाँसी दी गई और हजारो साइबेरिया को निर्वासित कर दिए गए। बौनो को दरबार मे रखा और बागो और उद्यानो मे हर किस्म के जानवर रखे, जिनपर राजमहल की खिडकी से यह गोली चलाती थी। लेकिन सरदारो पर से एक-एक करके प्रतिबध उठ गए। 'कोर ऑव पाजेज' की स्थापना की गई, जिसमे सरदारो तथा सामतो के लडके साधारण लोगो से पृथक् उच्च सैनिक शिक्षा पाते थे। सैनिक सेवा की अवधि भी आजन्म की जगह २५ वर्ष कर दी गई।

किंतु विदेशी सबधो मे आन को सफलता मिली और रूस की प्रतिष्ठा भी बढी। क्रीमिया युद्ध (१७३६-३६) साढे चार साल चला और अजोव शहर लेकर ही सतोष करना पडा, पर इससे उत्तमान साम्राज्य की अजेयता का विश्वास लुप्त हो गया। तातार लुटेरो का अत हो गया। 'स्टेप्पे' मे सफलता मिलने से रूस की प्रतिष्ठा बढी और इसके कारण यूरोप के मामले मे रूस की बात ध्यान से सुनी जाने लगी।

२८ अक्टूबर, १७४० को इसकी मृत्यु हुई। इससे पहले इसने अपने चचेरे दौहित्र इवान षष्ठ को अपना उत्तराधिकारी बनाया और बीरेन को उसका रीजेंट नियुक्त किया। (अ० कु० वि०)

आनाकोंडा सयुक्त राज्य (अमरीका) के मोंटाना राज्य का एक नगर है। यहाँ के ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, फासफेट आदि तैयार करने के उद्योग विश्वप्रसिद्ध है। सपूर्ण सयुक्त राष्ट्र अमरीका का ६० प्रतिशत मैंगनीज यहाँ तैयार होता है। यहाँ पर जूनियर तथा सीनियर सार्वजनिक विद्यालय है। यह नगर सुदर तथा आनददायक प्राकृतिक दृश्यो के बीच मे स्थित है। मोंटाना के ताँबा उद्योग के जनक मारकिवस डैली के समस्त उद्योगो का केंद्र यही है। उन्ही की आनाकोंडा नामक खान के नाम पर इस नगर का नाम आनाकोंडा पडा है। सन् १६७० ई० मे यहाँ की जनसख्या ६,७७१ थी। (शि० म० सिं०)

आनुंत्सियो, गाब्रिएल दे (१८६३–१६३८ ई०) प्रसिद्ध इतालीय साहित्यकार, पत्रकार, योद्धा और राजनीतिज्ञ आनुंत्सियो का

जीवन बहुत घटनापूर्ण रहा। वह विलास और वैभव का प्रेमी था। यूरोपीय रोमासकालीन परवर्ती साहित्य की प्रवृत्तियों के समन्वय की अपूर्व क्षमता आनुंसियो की रचनाओं में मिलती है। भाषा की दृष्टि से उसे अलंकारवादी कहा जा सकता है। कविता, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य सभी कुछ उसने लिखा।

इसकी प्रारंभिक रचनाएँ प्रीमो वेरे (कविताएँ) में संगृहीत हैं। अन्य काव्यकृतियों में 'कांतो नोवो', 'इनटरमेज्जो दी रीमे', 'एलेजिए रोमाने', 'ईसोतेओ ए ला कोमेरा', 'पोएमा पारादीसियाको', 'ले लाउदी' हैं। प्रसिद्ध उपन्यासों में 'इल प्याचे', 'लरे', 'इतोचेंले', 'इल फुवाको' आदि हैं। नाट्यकृतियों में 'फ्रांचेस्का दा रीमिनी', 'ला फोल्या दो यारियो', 'ला नावे' आदि हैं। 'ले नोवेल्ले देल्ला पेस्कारा' उसकी कहानियों का प्रसिद्ध संग्रह है। आत्मकथात्मक गद्यकाव्य की दृष्टि से 'कोंतेमनात्मियोने देल्ला मोर्ते' तथा 'लीवरो सेग्रेतो' उल्लेखनीय हैं।

सं०ग्रं०—लेखक की संपूर्ण कृतियों का राष्ट्रीय संस्करण—रोम से १९२७-३६ तथा १९३१ में निकला, पी० पाकाल्सी : स्तुदी सुल द', आनुंसियो, तूरिन, १९३६, इतालीय साहित्य का इतिहास, जिल्द ३, नातालीनो सापेन्यो आदि। (रा० सि० तो०)

आनुपातिक प्रतिनिधान आनुपातिक प्रतिनिधान शब्द का अभिप्राय उस निर्वाचन प्रणाली से है जिसका उद्देश्य लोकसभा में जनता के विचारों की एकतानता तथा विभिन्नताओं को गणितरूपी यथार्थता से प्रतिबिंबित करना है। १९वीं शताब्दी के संसदीय अनुभव ने परंपरागत प्रतिनिधित्व की प्रणाली के कुछ स्वाभाविक दोषों पर प्रकाश डाला। सरल बहुमत तथा अपेक्षाकृत मताधिकीय पद्धति (सिंपुल मेजारिटी ऐंड रिलेटिव मेजारिटी सिस्टम) के अंतर्गत प्रत्येक निर्वाचनक्षेत्र में एक या अनेक सदस्य बहुमत के आधार पर चुने जाते हैं। अर्थात् इस प्रणाली में इस बात को कोई महत्व नहीं दिया जाता कि निर्वाचित सदस्यों के प्राप्त मतों तथा कुल मतों में क्या अनुपात है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि अल्पसंख्यक जातियाँ प्रतिनिधान पाने में असफल रह जाती हैं तथा बहुसंख्यक अधिकाधिक प्रतिनिधित्व पा जाती हैं। कभी कभी अल्पसंख्यक मतदाता बहुसंख्यक प्रतिनिधियों को भेजने में सफल हो जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के उपरांत इंग्लैंड में हाउस ऑव कामन्स के निर्वाचन के इतिहास में हम इसके कई दृष्टांत मिलते हैं, उदाहरणार्थ, सन् १९१८ के चुनाव में संयुक्त दलवालों (कोलीशनिस्ट) ने अपने विरोधियों से चौगुने स्थान प्राप्त किए जब कि उन्हें केवल ४८ प्रति शत मत मिले थे। इसी प्रकार १९३५ में सरकारी दल ने लगभग एक करोड़ मतों से ४२८ स्थान प्राप्त किए जब कि विरोधी दल ९० ६ लाख मत पाकर भी केवल १८४ स्थान ही प्राप्त कर सका। इसी तरह १९४५ के चुनाव में मजूर दल को १ २ करोड़ मतों द्वारा ३९२ स्थान मिले, जब कि अनुदार दल (कंज़र्वेटिव्ज) को ८० ५ लाख मतों द्वारा केवल १८९। इसके अतिरिक्त यदि हम उन व्यक्तियों की संख्या गिनें (क) जो केवल एक ही उम्मीदवार के खड़े होने के कारण अपने मताधिकार का उपयोग नहीं कर सके, (ख) जिनका प्रतिनिधि निर्वाचन में हार गया और उनके दिए हुए मत व्यर्थ गए, (ग) जिन्होंने अपने मत का उपयोग इसलिये नहीं किया कि कोई ऐसा उम्मीदवार नहीं मिला जिसकी नीति का वे समर्थन करते, (घ) जिन्होंने अपना मत किसी उम्मीदवार को केवल इसलिये दिया कि उसमें सबसे कम दोष थे, तो यह प्रतीत होगा कि वर्तमान निर्वाचनप्रणाली वास्तव में जनता को प्रतिनिधित्व देने में अधिकतर असफल रहती है। इन्हीं दोषों का निवारण करने के लिये आनुपातिक प्रतिनिधान की विभिन्न विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधान का सामान्य विचार १९वीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न हुआ, जब कि उपयोगितावाद के प्रभाव के अंतर्गत सुधारकों ने यांत्रिक उपायों द्वारा लोकसंस्थाओं को अधिक सफल बनाने का प्रयास किया। आनुपातिक प्रतिनिधान का विचार पहले पहल १७९३ में फ्रांसीसी राष्ट्र-विधान-सभा में प्रस्तुत किया गया। परंतु उस समय इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया। १८२० में फ्रांसीसी गणितज्ञ गरगोन (Gorgonne) ने राजनीतिक गणित पर एक लेख 'निर्वाचन तथा प्रतिनिधान' के शीर्षक से ऐनल्स ऑव मैथेमैटिक्स में छापा। उसी वर्ष इंग्लैंड निवासी टामस राइट हिल नामक एक अध्यापक ने एकल संक्रमणीय प्रणाली (सिंगिल ट्रांसफरेबिल वोट) से मिलती जुलती एक योजना प्रस्तुत की और उसका एक गैरसरकारी संस्था के चुनाव में प्रयोग भी हुआ। १८३९ में इस विधि का सार्वजनिक प्रयोग दक्षिणी आस्ट्रेलिया के नगर एडिलेड में हुआ था। स्विट्ज़रलैंड में १८४२ में जिनीवा की राज्यसभा के समक्ष विक्तार कानसिदेरां ने सूचीप्रणाली (लिस्ट सिस्टम) का प्रस्ताव रखा।

१८४४ में संयुक्त राज्य, अमरीका में टामस गिलपिन ने 'लघुसंख्यक जातियों का प्रतिनिधान' (आन द रिप्रेज़ेंटेशन ऑव माइनारिटीज़ टु ऐक्ट विद द मेजारिटी इन इलेक्टेड असेंबलीज) नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने भी आनुपातिक प्रतिनिधान की सूचीप्रणाली का वर्णन किया। १२ वर्ष के उपरांत डेनमार्क में वहाँ के अर्थमंत्री कार्ल आंड्रे द्वारा आयोजित निर्वाचनप्रणाली के आधार पर मतपत्र का प्रयोग करते हुए एकल संक्रमणीय पद्धति के आधार पर प्रथम सार्वजनिक निर्वाचन हुआ। परंतु सामान्यत यह प्रणाली टामस हेयर के नाम से जोड़ी जाती है। टामस हेयर इंग्लैंड निवासी थे जिन्होंने अपनी दो पुस्तकों अर्थात् मशीनरी ऑव गवर्नमेंट (१८५६) तथा ट्रीटाइज आन दि इलेक्शन ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज (१८५९) में विस्तारपूर्वक इस प्रणाली का उल्लेख किया। और जब जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक रिप्रेज़ेंटेटिव गवर्नमेंट में इस प्रस्तुत प्रणाली को 'राज्यशास्त्र तथा राजनीति में सबसे महत्वपूर्ण सुधार' कहकर प्रशंसा की तब विश्व के राजनीतिज्ञों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। टामस हेयर के मौलिक आयोजन में समय समय पर विभिन्न परिवर्तन होते रहे हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व विभिन्न रूपों में अपनाया गया है, तथापि इन सबमें एक समानता अवश्य है, जो इस प्रणाली का एक अनिवार्य अंग भी है कि इस प्रणाली का प्रयोग बहुसदस्य निर्वाचनक्षेत्रों (मल्टी-मेंबर कांस्टीटुएंसी) के बिना नहीं हो सकता।

आनुपातिक प्रतिनिधान प्रणाली के दो मुख्य रूप हैं, अर्थात् सूचीप्रणाली तथा एकल संक्रमणीय मतप्रणाली। सूचीप्रणाली कुछ हेर फेर के साथ यूरोप के अधिकतर देशों में प्रचलित है। सामान्यत इस प्रणाली के अंतर्गत विभिन्न राजनीतिक दलों को सूचियों को उनके प्राप्त किए गए मतों के अनुसार सदस्य दिए जाते हैं। इस प्रणाली की व्याख्या सबसे उत्तम रूप में जर्मनी के १९२० के वाइमार विधान के अंतर्गत जर्मन संसद् के निम्न सदन रोश्टाग की निर्वाचन पद्धति से की जा सकती है जिसे बाडेन आयोजना के नाम से संबोधित किया जाता है। इस आयोजना के अनुसार रोश्टाग की कुल संख्या नियत नहीं थी वरन् निर्वाचन में डाले गए मतों की कुल संख्या के अनुसार घटती बढ़ती रहती थी। प्रत्येक ६०,००० मतों पर, जिसे कोटा कहते थे एक प्रतिनिधि चुना जाता था। जर्मनी को ३५ चुनावक्षेत्रों में बाँट दिया गया था और उनको मिलाकर १७ चुनाव भागों में। प्रत्येक राजनीतिक दल को तीन प्रकार की सूचियाँ प्रस्तुत करने का अधिकार था : स्थानीय सूची, प्रदेशीय सूची तथा राष्ट्रीय सूची। प्रत्येक मतदाता अपना मत प्रतिनिधि को न देकर किसी न किसी राजनीतिक दल को देता था। प्रत्येक निर्वाचनक्षेत्र में मतगणना के उपरांत प्रत्येक राजनीतिक दल को स्थानीय सूची के ऊपर प्रथम उम्मीदवार से उतने प्रतिनिधि दे दिए जाते थे जितने कुल प्राप्त मतों के अनुसार कोटा के आधार पर मिले, तदुपरांत प्रत्येक प्रदेश में स्थानीय क्षेत्रों के शेष मतों को जोड़कर फिर प्रत्येक दल को प्रदेशीय सूची से विशेष सदस्य दे दिए जाते हैं और इसी प्रकार सारे प्रदेशीय क्षेत्रों के शेष मतों को फिर जोड़कर राष्ट्रसूची से कोटा के अनुसार विशेष सदस्य और इसपर भी यदि शेष मत रह जायँ तो ३०,००० मतों से अधिक पर एक विशेष सदस्य उस दल को और मिल जाता था। इस प्रकार बाडेनप्रणाली ने आनुपातिक प्रतिनिधान के इस सिद्धांत को कि 'कोई भी मत व्यर्थ न जाना चाहिए' का तार्किक निष्कर्ष तक पालन किया। इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह है कि मतदाताओं को प्रतिनिधियों के चुनाव में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं होती।

एकल संक्रमणीय मत या हेयर प्रणाली के अनुसार प्रतिनिधियों का निर्वाचन सामान्य सूची द्वारा होता है, निर्वाचन के समय प्रत्येक मतदाता,

उम्मीदवारो के नाम के आगे अपनी रुचि के अनुसार १, २, ३, ४ इत्यादि सख्या लिख देता है। गणना से प्रथम चरण कोटा का निष्कर्ष करना है। कोटा को प्राप्त करने के लिये डाले गए मतो की कुल सख्या को निर्वाचन-क्षेत्र के नियत सदस्यो की सख्या मे एक जोडकर, भाग करके, तदुपरात परिणामफल मे एक जोड दिया जाता है, अर्थात् :

$$\text{कोटा} = \frac{\text{मतों की कुल सख्या}}{\text{नियत प्रतिनिधि सख्या} + 1}$$

सबसे पहले उन उम्मीदवारो को निर्वाचित घोषित किया जाता है जो कोटा प्राप्त कर लेते है। यदि इससे समस्त स्थानो की पूर्ति नही होती तब पूर्व-निर्वाचित सदस्यो के कोटा से अधिक मतो को उनके मतदाताओ मे उनकी रुचि के अनुसार बाँट दिया जाता है। यदि इसपर भी स्थानो की पूर्ति नही होती, तब कम से कम मत पाए हुए उम्मीदवार के मतो को तब तक बाँटते रहते है जब तक कुल स्थानो की पूर्ति नही हो जाती। अनुभव से प्रतीत होता है कि एकल सक्रमणीय प्रणाली मतदाताओ को निर्वाचन मे स्वतत्रता तथा प्रत्येक समूह को सख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। इसकी यह भी विशेषता है कि राजनीतिक दल निर्वाचन मे अनुचित लाभ नही उठा सकते, परतु आलोचको का कहना है कि यह निर्वाचन सामान्य मतदाताओ की बुद्धि के परे है।

अपने गुणो के कारण आनुपातिक प्रतिनिधित्व का बडी शीघ्रता से प्रचार हुआ है। प्रथम महायुद्ध के पहले भी यूरोप के बहुत से देशो मे सूची-प्रणाली का लोकसभाओ के निर्वाचन मे अधिकतर प्रयोग होने लगा था। डेनमार्क मे तो १८५५ मे ही ससद् के उच्च भवन के निर्वाचन के लिये इसका प्रयोग आरभ हो गया था। तदुपरात १८९१ मे स्विट्जरलैंड ने प्रादेशिक ससदो के लिये इसे अपनाया और १८९५ मे बेलजियम ने स्थानीय चुनावो के लिये तथा १८९९ मे ससद् के लिये। स्वीडेन ने १९०७ मे, डेनमार्क ने १९१५ मे, हालैंड ने १९१७ मे, स्विट्जरलैंड ने १९१८ मे और नार्वे ने १९१९ मे इस प्रणाली को पूर्ण रूप से सब चुनावो के लिये लागू कर दिया। प्रथम महायुद्ध के उपरात यूरोप के समस्त नए विधानो मे किसी न किसी रूप मे आनुपातिक प्रतिनिधान को स्थान दिया गया।

अग्रेजी भाषी देशो मे अधिकतर एकल सक्रमणीय प्रणाली का प्रयोग हुआ है। ब्रिटेन मे यह प्रणाली १९१८ से पार्लमेट के विश्वविद्यालयो के प्रतिनिधियो के निर्वाचन मे इस्तेमाल होती रही है और इग्लैंड के गिर्जे की राष्ट्रसभा के लिये, स्काटलैंड मे १९१९ मे शिक्षा सबधी सस्थाओ के लिये, उत्तरी आयरलैंड मे १९२० से पार्लमेंट के दोनो सदनो के सदस्यो के चुनाव के लिये। आयरलैंड के विधान के अनुसार सारे चुनाव इसी प्रणाली द्वारा होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका मे इसका प्रयोग सिनेट तथा कुछ स्थानीय चुनावो मे होता है। कैनेडा मे भी स्थानीय चुनाव इसी आधार पर होते है। सयुक्त-राज्य, अमरीका मे अभी तक इस प्रणाली का प्रयोग स्थानीय चुनावो के अतिरिक्त अन्य चुनावो मे नही हो पाया है।

द्वितीय महायुद्ध ने इस आदोलन को और आगे बढाया, उदाहरणार्थ, फ्रास के चतुर्थ गणतत्रीय विधान ने सामान्य सूची को अपनी निर्वाचन-विधि मे स्थान दिया। तदुपरात सीलोन, बर्मा और इडोनेशिया के नए विधानो ने एकल सक्रमणीय मतप्रणाली को अपनाया है। भारतवर्ष मे लोक-प्रतिनिधान-अधिनियमो तथा नियमो (पीपुल्स रिप्रेजेटेटिव ऐक्ट्स ऐंड रेगुलेशन) के अतर्गत लगभग सारे चुनाव एकल सक्रमणीय मतप्रणाली द्वारा ही होते है। आनुपातिक प्रतिनिधान प्रणाली के पक्ष और विपक्ष मे बहुत से तर्क वितर्क दिए जा सकते हैं। इसमे तो सदेह नही कि सैद्धातिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रणाली यदि यथार्थ रूप मे लागू की जाय तो अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त कर सकती है। निस्सदेह यह समाज के सभी प्रमुख समूहो (ग्रुप्स) के प्रतिनिधित्व की रक्षा करती है। ऐसे देशो मे जहाँ जातीय तथा सामाजिक अल्पसख्यक समूह है, इस प्रणाली का विशेष महत्व है।

आलोचको का यह कथन कि यह प्रणाली अधिक उलझी हुई है, कुछ तर्कयुक्त नही प्रतीत होता। प्रथम तो यह प्रणाली स्वय ही एक प्रकार की राजनीतिक शिक्षा का साधन है, और जहाँ तक उलझन तथा विषमता का प्रश्न है, उसको निपुण तथा सुयोग्य चुनाव अधिकारी की नियुक्ति से दूर किया जा सकता है। आनुपातिक प्रतिनिधान की एक आलोचना यह भी है कि यह राजनीतिक दलो की संख्या मे वृद्धि को प्रोत्साहन देती है, परिणामस्वरूप ससद् मे किसी एक दल का बहुसख्यक होना कठिन हो जाता है, जिससे अधिकाश मत्रिमडल सयुक्तदलीय तथा फलस्वरूप अस्थायी होते है। परतु बेलजियम तथा स्विट्जरलैंड जैसे देशो के राजनीतिक अनुभवो से यह तर्क निराधार प्रतीत होता है, क्योकि किसी देश की राजनीतिक दलपद्धति इतनी उस देश की निर्वाचनपद्धति पर निर्भर नही करती जितनी उस देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, जातीय, भाषा सबधी तथा राजनीतिक परिस्थितियो पर।

स०ग्र०—कामन्स, जे० आर०, प्रोपोर्शनल रिप्रेजेटेशन, फिनर, एच० द केस अगेस्ट पी० आर०, होग, सी० जीऐंड तथा जी० एच० हैलेट प्रोपोर्शनल रिप्रेजेटेशन, हारविल, जी० पी० आर०, रिप्रेजेंटेशन, ट्रट्स डेजर्स ऐंड डिफेक्ट्स, हमफ्रीज, जे० एच० प्रोपोर्शनल रिप्रेजेंटेशन। (अ० ला० लु०)

आनुभविक मनोविज्ञान (एंपिरिकल साइकॉलॉजी) अनुभव पर आधारित मनोविज्ञान जिसके अतर्गत व्यवस्थित प्रयोग तथा वैज्ञानिक निरीक्षण की प्रणाली प्रयुक्त की जाती है। यह तार्किक मनोविज्ञान से सर्वथा भिन्न है क्योकि तार्किक मनोविज्ञान सामान्य दार्शनिक सिद्धात मे निष्कर्षित निगमन (डिडक्शन) पर आधारित होता है। कभी कभी इसे प्रायोगिक मनोविज्ञान (एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी) से भी अलग माना जाता है। कारण, प्रायोगिक मनोविज्ञान मे तर्क कम और वर्णन अधिक किया जाता है। आनुभविक मनोविज्ञान के आविष्कर्ता के रूप मे गुस्ताव थियोडोर फेकनर (१८०१–१८८७) का नाम प्रसिद्ध है और आनुभविक पद्धति को मनोवैज्ञानिक सिद्धात से सबद्ध करनेवाले फ्रांज बेटाना (१८३८–१९१७) थे। (कं० च० श०)

आनुवंशिकता (अग्रेजी मे हेरेडिटी) माता, पिता तथा अन्य पूर्वजों से सतति मे रूप, रग, स्वभाव तथा अन्य लक्षणो के आने को कहते हैं। वनस्पतियो तथा प्राणियो दोनो मे आनुवशिकता महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ लक्षण आनुवशिक होते है, कुछ वातावरण तथा परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होते है। परिस्थितिजनित लक्षणो का एक उदाहरण है अस्थिदौर्बल्य (रिकेट्स)। माता पिता मे यह रोग गरीबी, निकृष्ट आहार, अस्वास्थ्यकर रहन सहन से हो सकता है और ये ही परिस्थितियाँ बच्चे मे भी वही रोग उत्पन्न कर सकती है। कभी कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कोई विशेष लक्षण आनुवशिक है अथवा परिस्थितिजनित।

कोशिकाओ का पता लगने के बाद से आनुवशिकता का कारण कुछ समझ मे आने लगा। सजीव प्राणियो के जीवन की इकाई कोशिका (सेल) होती है। इसी इकाई के सरचनात्मक तथा क्रियात्मक समुच्चय (एग्रिगेट) को हम जीव (आरगैनिज्म) कहते है। जीवो की कोशिकाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनकी रचना लगभग एक जैसे पदार्थों तथा एक ही ढग या परिपाटी पर हुई है। प्रत्येक कोशिका मे प्राय एक (कभी कभी अनेक) केंद्रक (न्यूक्लियस) होता है जो कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) मे अतर्भूत रहता है। केंद्रक के भीतर धागा सदृश अनेक कोशिकाग (आर्गेनिलो) पाए जाते है, जिन्हे गुणसूत्र (क्रोमोसोम) कहते है। इनकी सख्या प्रत्येक स्पीशीज के जीव मे नियत होती है और ये सर्वदा युग्मो मे रहते है, जैसे मनुष्यो मे २३ जोडे तथा कदली मक्खी, ड्रोसोफिला में चार जोडे गुणसूत्र पाए जाते है। गुणसूत्र दो प्रकार के होते है अलिगसूत्र (आटोसोम्स) एव लिगसूत्र (सेक्स क्रोमोसोम)। अलिगसूत्रो से शरीर के अगो तथा अवयवो और रगरूप तथा आकार आकृति का निर्धारण होता है, परतु लिगसूत्रो से प्राणियो के लिंग और पैत्रिक गुण प्रभावित होते है। लिंगसूत्र दो प्रकार के होते है पुलैंगिक गुणसूत्र तथा स्त्रीलिगगुणसूत्र। इन गुणसूत्रो को अँगरेजी के ओ, डब्ल्यू, एक्स, वाई तथा जेड अक्षरो द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

समसूत्रण (माइटोसिस) तथा अर्धसूत्रण (मियासिस) की प्रक्रियाओं द्वारा कोशिकाओ का विभाजन होकर जीवो के शरीरगत तथा आनुवंशिक

गुणों का आदान प्रदान पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। हैकिंग ने सर्वप्रथम १८६१ में एक कीट मे गुणसूत्रो की खोज की थी। सन् १८८८ में हॉफमीस्टर ने ट्रेडस्कैंशिया (एक पौधा) के पराग की मातृकोशिकाओं (पोलेन मदर सेल्स) में गुणसूत्रो को स्पष्ट रूप मे देखा था। वाल्डेयर ने इन्हे 'गुणसूत्र' नाम दिया। रासायनिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात होता है कि इनकी प्रकृति प्रोटीन जैसी होती है। गुणसूत्रो मे माला के दानों की भाँति 'जीन' गुँथे रहते हैं। कोशिकाविभाजन के समय जीन स्वत प्रतिरूपित (डुप्लिकेट) हो जाते है।

जीन की अनेक विशेषताएँ बतलाई गई हैं, जैसे (१) एक पीढी से दूसरी पीढी मे इनकी तद्रूपता (आइडेंटिटी) बनी रहती है, (२) कोशिका-विभाजन के समय स्वप्रतिरूपण (आटो डुप्लिकेशन), (३) गर्भित कोशिका से उत्पन्न नए जीवो की जन्मप्रक्रिया का नियत्रण। इनके कार्यों के सबध मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हे पारगति (क्रासिंग ओवर) की इकाई मानते है तो कुछ उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) की। इसी प्रकार कुछ विद्वान् इन्हे कायिक (फिजिओलाजिकल) क्रियाओ की इकाई मानते है तो कुछ स्वप्रजनन की।

मानव शिशु का जन्म माता पिता के आधे आधे लिंगसूत्रो के सयुग्मन (यूनियन) का परिणाम होता है। प्रत्येक जनक के लिंगसूत्रो मे २२-२२ जोडे अलिंगसूत्र तथा एक एक जोडे लिंगसूत्र पाए जाते है। माता के लिंगसूत्रो का एक जोडा X X तथा पिता के लिंगसूत्रो के एक जोडे मे एक X तथा एक Y होता है। इनके सयुग्मन से नए शिशु का लिंग नीचे लिखे प्रकार से निर्धारित होता है
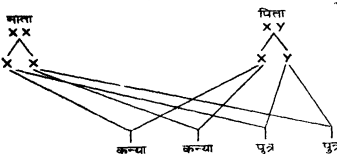
कोई भी अंडा भविष्य मे नर रूप मे विकसित होगा या मादा रूप मे, यह ससेचन के सयोग पर निर्भर करता है। इस सिद्धात को 'सभाविता का सिद्धात' (ला ऑव प्राबेबिलिटी) कहा जाता है।

आनुवंशिकता के नियम (गाल्टन के नियम)—फ्रांसिस गाल्टन (१८२२-१९११) ने, जो चार्ल्स डार्विन का चचेरा भाई था, दो नियम प्रतिपादित किए जो 'पूर्वज पित्रागति का नियम' (ला ऑव ऐनसेस्ट्रल इनहेरिटेंस) और 'सतान का पीछे हटने का नियम' (ला ऑव फिलियल रिग्रेशन) के नाम से विख्यात हैं।

पूर्वज पित्रागति के नियम—के अनुसार प्रत्येक जीव मे आधे अर्जित गुण तो जनको (एक १/४ पिता से और १/४ माता से) से, एक चौथाई दादा दादी से, एक का आठवाँ भाग परदादा परदादी से और इसी हिसाब से शेष अन्य पूर्वजो से आते है। इन सब गुणो का योग ही वह जीव या पूर्ण पित्रागति है। इसको निम्न प्रकार से निरूपित किया जा सकता है

$$\frac{१}{२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{८} + \frac{१}{१६} + \frac{१}{३२} + \frac{१}{६४} \cdots = १$$

इस प्रकार प्रत्येक जीव अपने आधे गुण तो तात्कालिक जनको से और शेष आधे अन्य पूर्वजो से प्राप्त करता है।

संतान के पीछे हटने अर्थात् पूर्वजों की ओर जाने के नियम के अनुसार यदि जनक किसी एक विशेष गुण मे उस जाति की सामान्य अवस्था से बहुत भिन्न होते है तो सतान उल्टी दशा की या सामान्य अवस्था की ओर चलती है अर्थात् उसमें सामान्य अवस्था को प्राप्त करने की प्रकृति होती है। इसका कारण यह है कि बहुत पुराने पूर्वजो की आनुवंशिकता का प्रभाव निकट जनकों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न करता है जो समस्त आनुवंशिकता का अर्धांश बनाते है। इससे विदित होता है कि क्यो ससार के महान् व्यक्तियो, जैसे वैज्ञानिको, धर्मज्ञो, कलाकारो, साहित्यकारो, कवियो, गायको, खिलाडियो आदि के बच्चे साधारण बच्चों के समान होते है और अपने माता पिता की भाँति ख्याति प्राप्त नहो कर पाते। प्रोफेसर कार्ल पीयर्सन ने इस सबध मे कहा है, "यह सामान्य पूर्वजनीयता का भारी भार ही एक महान् पिता के पुत्र को सामान्य जनसख्या के मध्यमान की ओर खीचता है, यही एक दृढ सामान्यता का सतुलन है जो एक हीन पिता के पुत्र को उसके सभी दुर्गुणो से बचा देता है और वह एक महान् व्यक्ति बन जाता है।" अर्थात् कोई यह नही कह सकता कि किस बच्चे का जीवन कैसा होगा क्योकि एक महान् व्यक्ति का बच्चा भी साधारण मनुष्य बन सकता है। उदाहरणार्थ महात्मागाधी तथा उनकी सतान, और एक सामान्य मनुष्य का बच्चा भी महान् व्यक्ति बन सकता है, जैसे प० मदनमोहन मालवीय, डा० राजेंद्रप्रसाद इत्यादि।

जोहानसन का पित्रागति का नियम (क्वेटलेट् नियम)—यदि बहुत बडी सख्या मे सेम के बीजो की माप की परीक्षा की जाय तो एक बडे मनोरजक विशिष्ट नियम का पता लगेगा कि उनकी विषमताएँ एक औसतमान के दोनो ओर है। बहुत बडी सख्या औसत माप की होगी और मध्यमान के दोनो तरफ सबसे बडी और सबसे छोटी सख्या क्रमश कम होती जायगी। इसे 'क्वेटलेट् का नियम' कहते है। यह न केवल माप (साइज) अतर के लिये ही चरितार्थ होता है बल्कि सभी प्राणियों और वनस्पतियो की सभी सभावित विषमताओ के लिये भी चरितार्थ होता है।

जोहानसन ने सेम तथा मटर के कुछ लक्षणो की आनुवंशिकता पर प्रयोग किए और परिणामो को प्रकाशित किया किंतु उसके प्रयोगो से आनुवंशिकता की अर्थात् प्रकृति तथा सरचना की महत्वपूर्ण बातो का पता नही चलता। समस्या का रहस्य और समाधान ग्रिगरमेडेल (१८२२-८४) के प्रयोगो से हुआ। उन्होने मटर (पाइसम सैटाइवम) की कुछ जातियों का परस्पर परपरागण (क्रास फर्टिलाइजेशन) कर नए नए तथ्य सकलित किए। उन्होने इनकी कई पीढियो की परीक्षा की और पाया (१) कुछ पौधो के बीज चिकने थे और कुछ के झुर्रीदार, (२) कुछ के बीजपत्र (काटीलीडोन) पीले रग के थे तो कुछ के हरे रग के, (३) कुछ बीजों के छिलके श्वेत थे तो कुछ के भूरे, (४) कुछ की फलियाँ सब जगह फूली थी तो कुछ की फलियाँ दानो के बीच मे सकुचित थी, (५) कुछ की कच्ची फलियाँ हरी थी तो कुछ की पीली थी, (६) कुछ के फूल पूरे तने पर सब जगह लगे हुए थे तो कुछ के सभी फूल शिखर पर इकट्ठा थे और (७) कुछ के तने लबे थे तो कुछ के नाटे। उन्होने एक लबे पौधे तथा एक नाटे पौधे का परपरागण कराया और देखा कि इनसे जो बीज उत्पन्न हुए वे सबके सब लबे पौधे हुए। इन पौधो के स्वपरागण से जो बीज उत्पन्न हुए, वे या तो लबे हुए या नाटे, इनके बीच का (मझोला) कोई भी पौधा नहीं उत्पन्न हुआ। इन प्रयोगो से जो विशेष बात प्रकट हुई, वह यह थी कि नाटे पौधो की अपेक्षा लबे पौधो की सख्या तीन गुनी अधिक थी। उनकी उपलब्धियो के आँकडे नीचे दिए जा रहे है

पै० (पैत्रिक) लबा × नाटा

पीढी—१—लबा × नाटा

पीढी—२—

लबा × लबा   लबा × लबा   लबा × लबा   नाटा × नाटा

पीढी—३—लबा   लबा लंबा नाटा लबा लबा लबा   नाटा

×   ×

लबा   नाटा

लबा   नाटा

लबा   नाटा
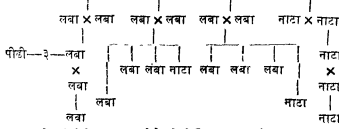
अपने प्रयोगो के आधार पर मेडेल ने दो नियम बनाए और उनकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि पीढी-दर-पीढी लबे उत्पन्न होनेवाले पौधो के प्रत्येक परागकण (अथवा बीजाणु) मे ऐसे जीन होते है जो पौधे को लबा करते हैं। इसी प्रकार नाटे पौधों के ऐसे जीन होते हैं जो नाटे पौधे उत्पन्न करते है।

मेंडेल ने लगातार छह वर्षों तक अनेक प्रयोग किए जिनके फल सन् १८६५ में प्रकाशित हुए। परंतु इस तथ्य की ओर वैज्ञानिकों ने ध्यान नहीं दिया। यह तथ्य सन् १९०० में संसार के सामने आया जब डी० व्रीज, कारेंस और वान शरमैक ने अपने प्रयोग किए। इस तथ्य ने आनुवंशिकता के अध्येताओं को बहुत प्रेरणा दी। बेटसन के शोधों से ज्ञात हुआ कि मेंडेल के नियम न केवल पौधों अपितु जंतुओं पर भी लागू होते हैं।

कैसिल, मार्गन और उनके सह कार्यकर्ताओं ने इससे प्रेरित होकर कदली मक्खी, ड्रोसोफिला मेलेनोगैस्टर, पर प्रयोग आरंभ किए। मेंडेल ने बतलाया था कि जब एक परापरागमन (क्रास) में दो विपरीत लक्षण एक साथ दिखलाई देते हैं तो उनमें से अगली पीढ़ी (संतति १) में एक प्रकट या प्रभावी (डॉमिनंट) तथा दूसरा प्रसुप्त (रिसेसिव) होता है। अगली (दूसरी संतति) पीढ़ी में ये दोनों लक्षण पृथक्कृत (सेग्रिगेटेड) हो जाते हैं, इनका अनुपात ३:१ होता है। अतः मेंडेल का प्रथम नियम इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : किसी युग्म लक्षण के कारक पृथक्कृत होते हैं (द फैक्टर्स फ़ार ए पेयर ऑव कैरेक्टर्स आर सेग्रिगेटेड)। आजकल इन कारकों को युग्मविकल्पी (एलेलोमार्फ या एलेलीस) कहा जाता है।

कतिपय प्रयोगों द्वारा पता चला है : (१) यदि किसी डिंब का केंद्रक नष्ट हो (या कर दिया) जाए और उसे कोई शुक्राणु गर्भित कर दे तो जो संतान उत्पन्न होगी उसमें केवल पिता के लक्षणों की प्रधानता होगी, (२) यदि किसी परिपक्व डिंब को कृत्रिम अनिषेकजनन द्वारा बढ़ने दिया जाए तो जो संतान होगी, उसमें केवल माता के लक्षणों की प्रमुखता होगी, और (३) यदि किसी डिंब के कुछ कोशिकाद्रव्य को नष्ट कर देने पर भी डिंबकेंद्रक किसी शुक्राणु द्वारा निषेचित हो जाता है तो उत्पन्न संतान में माता पिता दोनों के लक्षण पाए जायँगे। इससे पता चलता है कि गुणों का आनुवंशिक परिगमन कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) पर आधृत न होकर केंद्रक पर होता है। विभिन्न आनुवंशिकता के प्राणियों के युग्मकों के संयुग्मन द्वारा संकर प्राणी उत्पन्न होते हैं। द्वितीय पीढ़ी में लक्षणोत्पादक जीनों को पृथक् करनेवाले कारकों की खोज ऐसे संकरों की जनन कोशिकाओं में की जानी चाहिए। मेंडेल के सामने भी यह समस्या उपस्थित हुई होगी किंतु वे इसकी वास्तविक प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर सके।

विनिमय द्वारा उत्पन्न सभी संतान, जिनमें प्रभावी लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, समलक्षणी (फेनोटाइप) होती है किंतु उन लक्षणों (या लक्षण-विशेष) के लिये वे या तो समयुग्मजी (होमोज़ाइगस) हो सकते हैं, या विषमयुग्मज (हेटरोज़ाइगस) हो सकते हैं। उनके आनुवंशिक रूप (जीनोटाइप) का पता लगाने के लिये परीक्षण संकरण (टेस्टक्रास) या संकरपूर्वज संकरण (बैक क्रास) का प्रयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया में प्रभावी संकर का शुद्ध प्रसुप्त संकर प्राणी से संसेचन कराया जाता है। प्रयोगात्मक आनुवंशिकी में संकरपूर्वज संकरण का ऐच्छिक वंश (स्टाक) के शुद्धीकरण (समयुग्मजों को छाँटने) के लिये उपयोग किया जाता है।

अब तक जो कुछ कहा गया है वह एकसंकर (मोनोहाइब्रिड) संकरण के संबंध में था। पौधों या प्राणियों में दो जोड़ों के लक्षणों या गुणों (कैरेक्टर्स) को एक साथ लेकर क्रास कराने को द्विसंकर (डाइहाइब्रिड) क्रास कहते हैं, उदाहरणार्थ लंबे तथा चिकने बीजवाले पौधों का क्रास नाटे और झुर्रीदार बीजवाले पौधों से। ऐसे संकरणों में मेंडेल ने पाया कि लक्षणों का प्रत्येक जोड़ा दूसरे जोड़े से भिन्न रूप में वंशानुक्रमित होता है। इस प्रकार के संकरण में भी मेंडेल के तीन प्रभावी : एक प्रसुप्त का अनुपात दृष्टिगोचर होता है। इसमें लक्षणों के प्रत्येक जोड़े की पृथक्ता स्पष्ट रहती है, मेंडेल का यह दूसरा नियम है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है : जब कारकों से दो या अधिक जोड़ों की पीढ़ियों (रेसेज) में भिन्नता होती है तो उनके विपरीत गुणों का प्रत्येक जोड़ा स्वतंत्रतापूर्वक अपना प्रदर्शन करता है।

आनुवंशिकता के क्षेत्र में मेंडेल को जो ख्याति प्राप्त हुई, उसका कारण यह था कि उन्होंने अत्यंत सावधानीपूर्वक प्रयोग किए और आनुवंशिकता की क्रियाविधि (मिकैनिज्म ऑव हेरेडिटी) से संबद्ध निम्नलिखित मत प्रकट किए :

(१) उन्होंने बतलाया कि आनुवंशिक गुण या लक्षण दो वैकल्पिक रूपों में प्रकट होते हैं, जैसे चिकने और झुर्रीदार बीज।

(२) जीवों के प्रत्येक गुण या लक्षण आनुवंशिक इकाइयों के केवल एक जोड़े द्वारा निर्धारित होते हैं। मेंडेल ने इन्हें अँगरेजी के A, a, B, b अक्षरों द्वारा प्रकट किया था, इन्हें आजकल जीन कहा जाता है।

(३) संकरण (क्रास) की प्रक्रिया में प्रत्येक विपरीत युग्म (पेयर) की एक इकाई प्रभावी होती है जो दूसरी इकाई को अप्रभावित कर देती है।

(४) संकर (हाइब्रिड) में उपस्थित आनुवंशिक इकाइयों के जोड़े जननकोशिकाओं की उत्पत्ति के समय एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। अलग हो जाने के बाद भी अपने पूर्वगुणों से ये वंचित नहीं होते अपितु नया युग्म बनने के समय ये पुनः संयुक्त हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक जननकोशिका में लक्षणों की ऐसी आनुवंशिक इकाइयों की संख्या केवल एक रह जाती है।

(५) प्रत्येक नई पीढ़ी में जननकोशिकाओं द्वारा वाहित आनुवंशिक इकाइयाँ पुनः युग्मित हो जाती हैं। नर और मादा जनकों की आनुवंशिक इकाइयों का पुनर्युग्मन सर्वथा अवसर (चान्स) पर निर्भर करता है। यही कारण है कि एक ही माता पिता की अनेक संतानों के लक्षणों में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

मेंडेल के उपर्युक्त मतों या सिद्धांतों को आजकल मेंडेल के आनुवंशिकता के नियम (मेंडेल्स लॉ ऑव हेरेडिटी) के रूप में प्रकट किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं :

एकक गुणनियम (लॉ ऑव यूनिट कैरेक्टर्स)—इस नियम के अनुसार सभी इकाई आनुवंशिक गुणों का युग्मजों में अलग अलग प्रतिनिधित्व होता है। ये इकाइयाँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अलग अलग जाती हैं।

प्रभुत्व का नियम (लॉ ऑव डॉमिनेंस)—विपरीत लक्षणोंवाले जीवों के संकरण द्वारा उत्पन्न पीढ़ी (प्रथम संतति) में लक्षणों की केवल एक इकाई ही प्रकट होती है और दूसरी अप्रकट रहती है।

पृथक्करण का नियम (लॉ ऑव सेग्रिगेशन)—विपरीत गुणों के एक जोड़े में से केवल एक ही गुण किसी एक युग्मज (गैमीट) में पहुँच पाता है।

स्वतंत्र अपव्यूहन या लक्षणों की इकाई का नियम (लॉ ऑव इंडिविजुअल एसार्टमेंट या लॉ ऑव यूनिट कैरेक्टर्स)—प्रत्येक लक्षण अपने विपरीत दूसरे लक्षण के साथ प्रकट न होकर स्वतंत्र रूप से प्रकट होता है।

प्रश्न हो सकता है कि मेंडेल को अपने प्रयोगों तथा सिद्धांतों की स्थापना में इतनी अभूतपूर्व सफलता कैसे प्राप्त होती गई। इसका उत्तर यही है कि उन्होंने अपने प्रयोगों में अत्यधिक सावधानी बरती। इन विशेषताओं के अतिरिक्त भी उनकी कई विशेषताएँ थीं, जिन्हें नीचे उल्लिखित किया जा रहा है :

(१) प्रायोगिक वस्तु का चुनाव—उन्होंने अपने प्रयोगों के लिये संयोगवश ऐसे पौधे (मटर) का चुनाव किया, जिसका संकरण सरल और परिणाम शीघ्रोद्भावी था।

(२) स्वस्थ पौधों का निर्वाचन—परिणामों की शुद्धता के लिये उन्होंने स्वस्थ पौधों का ही संकरण कराया।

(३) समलक्षणी संकरण—उन्होंने जिस वंश (स्टाक) का नर बीज लिया, उसी से मादा बीज भी लिया, अतः उनके प्रयोग में जनक पीढ़ी सर्वथा शुद्ध (प्योर) थी।

(४) नियंत्रण—उन्होंने नियंत्रित (कंट्रोल्ड) और अनियंत्रित पौधों का पृथक् पृथक् निरीक्षण किया।

(५) इकाई लक्षणों का अध्ययन—मेंडेल का विश्वास था कि जीव अनेक लक्षणों द्वारा बने होते हैं, अर्थात् जीवों में अनेक लक्षण पाए जाते हैं। अतः इनका अलग अलग अध्ययन किया जा सकता है। मेंडेल ने सहलग्नता जैसी जटिलताओं से दूर रहकर इन इकाई लक्षणों का अध्ययन किया।

(६) गणित का प्रयोग—आनुवंशिकीय तथ्यों को प्रकट करने के लिये मेंडेल ने गणित का सहारा लिया था। उन्होंने संपूर्ण परिणामों का सम्यक् हिसाब रखा था, जिसके कारण उनके घोषित आँकड़ों का पुनरीक्षण या पुनः परीक्षण संभव हो सका।

आनुवंशिकता का संबध जनन कोशिकाओ (जर्म सेल्स) मे होता है। एक गुणसूत्र से जुड़े सभी जीन साथ साथ आनुवशिक होते हैं। दूसरे शब्दो मे, एक गुणसूत्र में स्थित किसी जीन की आनुवशिकता दूसरे जीन की आनुवंशिकता से जुडी होती है।

लिंग गुणसूत्र (सेक्स क्रोमोसोम) मे स्थित जीन भी परस्पर सहलग्न होते हैं किंतु ये जीन जैवलिंग मे सबद्ध होते है और किसी जीव के लिंग से सबद्ध जीन की आनुवंशिकता को लिंग-सहलग्न-आनुवंशिकता (सेक्स लिंक्ड इनहेरिटेन्स) कहते है। इसका पता टी०एच० मार्गन ने १९१० में लगाया। लिंगो के बनने का कारण और कुछ जीन के ग्रथित होने की बात समझ लेने से यह भी समझ मे आ जाता है कि कुछ गुण क्या विशेष लिंग से सबद्ध रहते है। अवश्य ही उन गुणो के जीन लिंगसूत्र मे ग्रथित होगे। इन गुणो को लिंगग्रथित गुण कहते है। उदाहरणत कुछ प्रकार की वर्णाधताएँ (लाल और हरे रग मे अतर न दिखाई पडना) अथवा अधिरक्तस्राव (रुधिर के थक्का न बनने का रोग, हेमोफीलिया) भिडिलियन रीति से आनुवशिक नही है। उनकी आनुवशिकता निम्नलिखित प्रकार की है

रोगी व्यक्ति से रोग उसके लडके लडकियो तथा पोतियो मे नही पहुँचता परतु पोता म ५० प्रतिशत पहुँचता है।

जतुओ मे एक्स या जेड गुणसूत्रो को लिंगसहलग्न लक्षणोवाले जीन का वाहक बतलाया गया है। उदाहरणार्थ कदली मक्खी, ड्रासोफिला, के नेत्रो का रग लिंगसहलग्न होता है। साधारणतया लाल रग प्रभावी होता है और श्वेत प्रसुप्त। जब लाल नेत्रोवाली मादा मक्खी का श्वेत नेत्रवाली नर मक्खी से मैथुन कराया जाता है तो प्रथम पीढी की सभी सतति लाल नेत्रोवाली होती है। इनके अतर्सकरण (इटरक्रास) द्वारा उत्पन्न दूसरी पीढी की सतति का अनुपात दो लाल नेत्रवाली मादा : एक लाल नेत्र नर एक श्वेतनेत्र नर का होता है। इस प्रयाग मे जनक पीढी के प्रत्येक परिपक्व डिब मे लाल नेत्र के जीन युक्त एक्स गुणसूत्र होते है, किंतु आधे शुक्राणुओ (स्पर्म) मे श्वेतनेत्र के जीन युक्त एक्स गुणसूत्र तथा आधे मे नेत्र रगविहीन जीन युक्त वाइ गुणसूत्र पाए जाते है। प्रथम पीढी की सतति मे दो प्रकार के डिब उत्पन्न होते है—या तो लाल या श्वेत नेत्र के जीन। किंतु शुक्राणुओ मे से आधे मे (एक्स गुणसूत्र) लाल रग के नेत्र के जीन तथा शेष आधे (वाइ गुणसूत्र) मे नेत्र-रग-विहीन जीन रहते है। इस प्रकार चार प्रकार के युग्मनज (जाइगोट) उत्पन्न हो सकते है। दूसरी पीढी की सतति आधी मादा मक्खियाँ लाल नेत्र के लिये समयुग्मनजी (हामाजाइगस) और आधी विषमयुग्मनजी (हेटेरोजाइगस) होती है, किंतु नर मक्खियो मे से आधी लाल तथा शेष आधी श्वेत नेत्रोवाली होती है।

किंतु व्युत्क्रमसकरण (रेसीप्रोकल क्रास) या विपरीत सकरण मे किंचित् भिन्न फल प्राप्त होते है। जब समयुग्मनजी श्वेत नेत्रवाली मादा तथा विषमयुग्मनजी लाल नेत्रवाली नर मक्खी का मैथुन होता है तो प्रथम पीढी की नर मक्खियाँ श्वेत नेत्रवाली तथा मादा मक्खियाँ लाल नेत्रवाली होती है। दूसरी पीढी की सतति मे लगभग सम सख्यक लाल नेत्रवाली मादाएँ, श्वेत नेत्रवाली मादाएँ, लाल नेत्रवाले नर और श्वेत नेत्रवाले नर उत्पन्न होते है। इस प्रकार के प्रयोगो द्वारा ड्रासोफिला मे अब तक लगभग १५० लिंग सहलग्न जीनो का पता लगाया जा चुका है।

लिंग सहलग्न वशानुक्रम के कुछ असामान्य उदाहरण भी प्रकाश मे आ चुके है। स्त्री-पु-रूप (जिनेड्रामार्फ) मधुमक्खियो, कदली मक्खियो तथा अन्य कीटो का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि उनके शरीर के एक भाग मे नर लक्षण और दूसरे मे मादा लक्षण होते है। इसी प्रकार जिप्सी शलभ (मॉथ) और सूअरो मे कुछ मध्यलिंगी (इटरसेक्स) प्राणी भी पाए जाते है। यौन परिवर्तन (सेक्स रिवर्सल) के उदाहरण भी इसी कोटि मे आते हैं। मुर्गियो तथा कभी कभी मनुष्यो मे भी स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री बन जाने के उदाहरण मिलते रहते है।

जतुओ तथा पौधो की सततियो मे कभी कभी नए लक्षण भी प्रकट हो जाया करते है। प्रयोगो द्वारा ज्ञात हुआ है कि इनमे से कुछ लक्षण आनुवशिक होते है। ऐसे परिवर्तनो को उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) कहा जाता है। ड्रोसोफिला मे अब तक लगभग १,००० उत्परिवर्तनो का पता चला है। **इन उत्परिवर्तनो से सर्वदा हानि ही होती हो, ऐसी बात नही है, इनको** कृत्रिम रूप से भी उत्पन्न करके पौधो, अनाजो तथा पालतू पशुओ की नस्लो मे सुधार किए गए है। अधिकाश उत्परिवर्तन जीन अप्रभावी (रिसेसिव) होते है, यद्यपि कुछ प्रभावी जीनो का भी पता चला है।

आनुवशिकता, जीन तथा गुणसूत्रो के सचरण की मूल व्यवस्था सभी सजीव प्राणियो मे लगभग एक जैसी होती है। मेडेल के नियम, यद्यपि मूल रूप से मटर में ढूँढे और ड्रासोफिला मे आरोपित किए गए थे, तथापि मनुष्यो पर भी ये समान रूप से लागू होते है। त्वचा, नेत्र तथा बालो के रगो पर भी वशानुक्रम का प्रभाव प्रमाणित किया गया है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के रक्त सबधी रोग, नाटा या लबापन आदि पर भी वशानुक्रम का प्रभाव पडता है। मेडेल के पृथक्करण और स्वतत्र अपव्यूहन (इडिपेडेट एसोर्टमेट) के नियम जनको, सतानो तथा भाई बहनो के बीच के छह अतरो की व्याख्या करते है। (मु० ला० श्री०, भृ० ना० प्र०)

आनुवशिकता और रोग मे बहुधा कोई न कोई सबध रहता है। अनेक रोग दूषित वातावरण तथा परिस्थितियो से उत्पन्न होते है, किंतु अनेक ऐसे रोग भी होते है जिनका कारण माता पिता से जन्मना प्राप्त कोई दोष होता है। ये रोग आनुवशिक कहलाते है। कुछ ऐसे रोग भी है जो आनुवशिकता तथा वातावरण दोनो के प्रभावो के फलस्वरूप उत्पन्न होते है।

जीवो मे नर के शुक्राणु तथा स्त्री की अडकोशिका के संयोग से सतान की उत्पत्ति होती है। शुक्राणु तथा अडकोशिका दोनो मे केंद्रकसूत्र रहते है। इन केंद्रकसूत्रो मे स्थित जीन के स्वभावानुसार सतान के मानसिक तथा शारीरिक गुण और दोष निश्चित होते हैं (विस्तृत व्याख्या के लिये द्र० **आनुवशिकता**)। जीन मे से एक या कुछ के दोषोत्पादक होने के कारण सतान मे वे ही दोष उत्पन्न हो जाते है। कुछ दोषो मे से कोई रोग उत्पन्न नही होता, केवल सतान का शारीरिक सगठन ऐसा होता है कि उसमे विशेष प्रकार के रोग शीघ्र उत्पन्न होते है। इसलिये यह निश्चित जानना कि रोग का कारण आनुवशिकता है या प्रतिकूल वातावरण, सर्वदा साध्य नही है। आनुवशिक रोगो की सही गणना मे अन्य कठिनाइयाँ भी है। उदाहरणत बहुत से जन्मजात रोग अधिक आयु हो जाने पर ही प्रकट होते है। दूसरी ओर, कुछ आनुवशिक दोषयुक्त बच्चे जन्म लेते ही मर जाते है।

निरोधायक रोगकारक जीन के उपस्थित रहने पर इनके प्रभाव से रोग प्रत्येक पीढी मे प्रकट होता है, किंतु तिरोहित जीन के कारण होनेवाले रोग वश की किसी सतान मे अनायास उत्पन्न हो जाते है, जैसा मेडेल के आनुवशिकता विषयक नियमो से स्पष्ट है। कुछ रोग लडकियो से कही अधिक सख्या मे लडको मे पाए जाते है।

आनुवशिक रोगो के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। इनमे से कुछ निम्नलिखित है·

चक्षुरोग–निरोधायक जीन के दोष से मोतियाबिंद (आँख के ताल का अपारदर्शक हो जाना), अति निकटदृष्टि (दूर की वस्तु का स्पष्ट न दिखाई देना), ग्लॉकोमा (आँख के भीतर अधिक दाब और उससे होनेवली अधता), दीर्घदृष्टि (पास की वस्तु स्पष्ट न दिखाई पडना) इत्यादि रोग होते है। तिरोहित जीन के कारण विवर्णता (सपूर्ण शरीर के चमडे तथा बालो का श्वेत हो जाना), ऐस्टिग्मैटिज्म (एक दिशा की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई पडना और लब दिशा की रेखाएँ अस्पष्ट), केराटोकोनस (आँख के डले का शकुरूप होना), इत्यादि रोग उत्पन्न होते है। लिंगग्रथित जीन जनित चक्षुरोगो मे, जो पुरुषो मे अधिक होते है, वर्णाधता (विशेषकर लाल और हरे रगो मे भेद न ज्ञात होना), दिनाधता (दिन मे न दिखाई देना), रतौंधी (रात को न दिखाई देना) इत्यादि रोग है।

चर्मरोग—इनमे एक सौ से अधिक आनुवशिक रोगो की गणना की गई है। इनमे सोरिएसिस (जीर्ण चर्मरोग जिसमे श्वेत रूसी छोड़नेवाले लाल चकत्ते पड़ जाते हैं), इक्थिओसिस (जिसमे चमडी मे मछली के छिलको के समान पपडी पड जाती है), केराटोसिस (जिसमे चमड़ी सींग के समान कडी हो जाती है) इत्यादि प्रमुख है।

विकृतांग—अधिकागुलता (अँगुलियो का छह या इससे अधिक होना), **युक्तागुलता (कुछ अँगुलियो का आपस मे जुड़ा होना), कई प्रकार का**

बौनापन, अस्थियों का उचित रीति से न विकसित होना, जन्म से ही नितंबास्थि का उखड़ा रहना इत्यादि।

पैशिक अपुष्टता--पेशियों का दुर्बल होना, कुछ प्रकार के अननन्वय (अंगों का मिलकर कार्य करने की अयोग्यता), अतिवृद्धि के कारण तंत्रिकाओं (नर्व्ज) का सूज जाना इत्यादि।

रक्तदोष--हेमोफीलिया (रक्तस्राव का न रुकना), विशेष प्रकार की रक्तहीनता इत्यादि।

चयापचय रोग--मधुमेह (मूत्र में शर्करा का निकलना, डायबिटीज), गठिया, चेहरे का विकृत तथा भयावह हो जाना इत्यादि।

मानसिक रोग--सनक, मिर्गी, अल्पबुद्धिता इत्यादि का भी कारण आनुवंशिकता हो सकती है। विविध रोग, जैसे बहरापन, गूँगापन, कटा होंठ (हेयरलिप), विदीर्ण तालु (क्लेफ्ट पैलेट) आदि भी आनुवंशिकता से प्रभावित होते हैं। इनके सिवाय आनुवंशिकता घेघा, उच्च रक्तचाप कर्कट (कैंसर) इत्यादि रोगों की ओर झुकाव उत्पन्न कर देती है।

(दे० सि०)

आनुवंशिकी (जेनेटिक्स) जीव विज्ञान की वह शाखा है जिसके अंतर्गत आनुवंशिकता (हेरिडिटी) तथा जीवों की विभिन्नताओं (वैरिएशन) का अध्ययन किया जाता है। आनुवंशिकता के अध्ययन में ग्रीगॉर मेंडल की मूलभूत उपलब्धियों को आजकल आनुवंशिकी के अंतर्गत समाहित कर लिया गया है। प्रत्येक सजीव प्राणी का निर्माण मूल रूप से कोशिकाओं द्वारा ही हुआ होता है। इन कोशिकाओं में कुछ गुणसूत्र (क्रोमोसोम) पाए जाते हैं। इनकी संख्या प्रत्येक जाति (स्पीशीज) में निश्चित होती है। इन गुणसूत्रों के अंदर माला की मोतियों की भाँति कुछ डी एन ए की रासायनिक इकाइयाँ पाई जाती हैं जिन्हें जीन (द्र०) कहते हैं। ये जीन गुणसूत्र के लक्षणों अथवा गुणों के प्रकट होने, कार्य करने और अर्जित करने के लिये जिम्मेवार होते हैं। इस विज्ञान का मूल उद्देश्य आनुवंशिकता के ढंगों (पैटर्न) का अध्ययन करना है अर्थात् संतति अपने जनकों से किस प्रकार मिलती जुलती अथवा भिन्न होती है।

समस्त जीव, चाहे वे जंतु हों या वनस्पति, अपने पूर्वजों के यथार्थ प्रतिरूप होते हैं। वैज्ञानिक भाषा में इसे 'समान से समान की उत्पत्ति' (लाइक बिगेट्स लाइक) का सिद्धांत' कहते हैं। आनुवंशिकी के अंतर्गत कतिपय कारकों का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है :

१ प्रथम कारक आनुवंशिकता है। किसी जीव की आनुवंशिकता उसके जनकों (पूर्वजों या माता पिता) की जननकोशिकाओं द्वारा प्राप्त रासायनिक सूचनाएँ होती हैं। जैसे कोई प्राणी किस प्रकार परिवर्धित होगा, इसका निर्धारण उसकी आनुवंशिकता ही करेगी। २ दूसरा कारक विभेद है जिसे हम किसी प्राणी तथा उसकी संतान में पाते या पा सकते हैं। प्रायः सभी जीव अपने माता पिता या कभी कभी बाबा, दादी या उनसे पूर्व की पीढ़ी के लक्षण प्रदर्शित करते हैं। ऐसा भी संभव है कि उसके कुछ लक्षण सर्वथा नवीन हों। इस प्रकार के परिवर्तनों या विभेदों के अनेक कारण होते हैं। ३ जीवों का परिवर्धन तथा उसके बाद का जीवन उनके परिवेश (एन्वाइरनमेंट) पर भी निर्भर करता है। प्राणियों के परिवेश अत्यंत जटिल होते हैं, इसके अंतर्गत जीव के वे समस्त पदार्थ (सब्स्टैंस), बल (फोर्स) तथा अन्य सजीव प्राणी (आर्गेनिज्म) समाहित हैं, जो उनके जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। वैज्ञानिक इन समस्त कारकों का सम्यक् अध्ययन करता है। एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि आनुवंशिकी वह विज्ञान है, जिसके अंतर्गत आनुवंशिकता के कारण जीवों तथा उनके पूर्वजों (या संततियों) में समानता तथा विभेदों, उनकी उत्पत्ति के कारणों और विकसित होने की संभावनाओं का अध्ययन किया जाता है।

जोहानसेन ने सन् १९११ में जीवों के बाह्य लक्षणों (फेनोटाइप) तथा पितृागत लक्षणों (जीनोटाइप) में भेद स्थापित किया। जीवों के बाह्य लक्षण उनके परिवर्धन के साथ साथ परिवर्तित होते रहते हैं, जैसे जीवों की भ्रूणावस्था, शैशव, यौवन तथा वृद्धावस्था में पर्याप्त शारीरिक विभेद दृष्टिगोचर होता है। इसके विपरीत उनके पितृागत लक्षण या विशेषताएँ स्थिर तथा अपरिवर्तनशील होती हैं। किसी भी जीव के पितृागत लक्षण और परिवेश की अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप उसकी वृद्धि और परिवर्धन होता है। अतः पितृागत लक्षण जीवों के 'प्रतिक्रिया के मानदंड' (नार्म ऑव रिऐक्शन) अर्थात् परिवेश के प्रति उनकी प्रतिक्रिया (रेस्पांस) के ढंग का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं से जीवों के बाह्य लक्षण (फेनोटाइप) का निर्माण होता है।

आनुवंशिक तत्व का कृषि विज्ञान में फसलों के आकार, उत्पादन, रोगरोधन तथा पालतू पशुओं आदि के नस्ल सुधार आदि में उपयोग किया जाता है। आनुवंशिक तत्वों की सहायता से उद्विकास (इवाल्यूशन), प्रौणिकी (एब्रायालाजी) तथा अन्य संबद्ध विज्ञानों के अध्ययन में सुविधा होती है। पितृागत लक्षणों तथा रोगों संबंधी अनेक भ्रमों का इस विज्ञान ने निराकरण किया है। जुड़वाँ संतानों की उत्पत्ति और सुसंततिशास्त्र (यूजेनिक्स) की अनेक समस्याओं पर इस विज्ञान ने प्रकाश डाला है। इसी प्रकार जनसंख्या-आनुवंशिक-तत्व (पापुलेशन जेनेटिक्स) की अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियों से मानव समाज लाभान्वित हुआ है।

टी०एच० मार्गन (१८८६-१९४५) तथा उनके सहयोगियों ने यह दर्शाया कि कतिपय जीन, जिनका वंशानुक्रम (इन्हेरिटेंस) विनिमय (क्रासिंग ओवर) प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ, अणुवीक्षण यंत्र द्वारा ही दृष्ट कतिपय गुणसूत्रों (क्रोमोसाम) में उपस्थित रहते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया कि गुणसूत्र के भीतर ये जीन एक निर्धारित अनुक्रम में व्यवस्थित रहते हैं जिसके कारण इनका आनुवंशिकीय चित्र (जेनेटिक मैप) बनाना संभव होता है। इन लोगों ने कदली मक्खी, ड्रासाफिला, के जीन के अनेक चित्र बनाए। प्रोफेसर मुलर का इस दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रयोगों द्वारा नए नए वैज्ञानिक अनुसंधानों का मार्गदर्शन किया। कृत्रिम उत्परिवर्तनों (आर्टिफिशियल या इंड्यूस्ड म्यूटेशन) की अनेक विधियों द्वारा पालतू पशुओं तथा कृषि की नस्लों में अद्भुत सुधार कार्य किए गए। यह सब आनुवंशिकी की ही देन है जो मानवकल्याण के लिए परम हितकारी सिद्ध हुई है।

अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य का आनुवंशिक अध्ययन सरल कार्य नहीं है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि मनुष्य की संतान के जन्म में लगभग १० मास लग जाते हैं और उसे पूर्ण वयस्क होने में कम से कम २० वर्ष लगते हैं। अतः एक दो पीढ़ी के ही अध्ययन के लिये २०, २२ वर्षों का समय लगने के कारण मनुष्य का आनुवंशिक अध्ययन जटिल है। इसके साथ ही मनुष्य को एक बार में साधारणतया एक ही बच्चा उत्पन्न होता है, इससे भी अध्ययन में कठिनाई होती है। इन कठिनाइयों के बावजूद मनुष्य के शरीर की बाहरी रचना, रोगों, उनके लक्षणों एवं कारणों आदि का अध्ययन सरल होता है। मनुष्यों की जीवरासायनिक आनुवंशिकी (बायोकेमिकल जेनेटिक्स) का प्रथम अध्ययन लंदन के चिकित्सक आर्चिबाल्ड गैरोड (१८५७-१९३६) ने किया था। किंतु सन् १९४० के पूर्व इस विषय पर विस्तृत अध्ययन नहीं हुए थे। मनुष्यों में जीन के संबंध में लगभग ६० गुणों (ट्रेट्स) का पता चला है।

जीवविज्ञान में आनुवंशिकी के अध्ययन का वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान में परमाणवीय सिद्धांतों का है। मनुष्य के आनुवंशिक अध्ययनों के आरंभिक रूपों में बहुअंगुलिता (अतिरिक्त अंगुलियों का होना), हीमोफीलिया, तथा वर्णांधता (कलर-ब्लाइंडनेस) मुख्य विषय थे। उदाहरणार्थ सन् १७५० में बर्लिन में मॉपर्टुइस ने मेंडेल के नियमों के आधार पर बहुअंगुलिता का वर्णन किया था। इसी प्रकार ओटो (१८०३), हे (१८१३) और बुएल्स (१८१५) ने न्यू इंग्लैंड के तीन विभिन्न परिवारों में लिंगसहलग्न होमोफीलिया रोग के आनुवंशिक कारणों पर प्रकाश डाला था। सन् १८७६ में स्विट्जरलैंड के चिकित्सक, हार्नर ने वर्णांधता का वर्णन किया। सन् १९५८ में जार्ज बीडिल को 'कायकी तथा औषधि' विषयक जैवरासायनिक आनुवंशिकी क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के लिये नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन् १९५९ में जिरोम लेजुईन ने मंगोलीय मूढ़ता (मंगोलायड ईडियोसी) का विद्वत्तापूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया। सन् १९५६ में जे० एच० जियो, अल्बर्ट लीवान, चार्ल्स फोर्ड एव जान हमर्टन ने मनुष्य के गुणसूत्रों की संख्या ४६ बतलाई; इसके पूर्व लोगों का मत था कि यह संख्या ४८ होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि मानव आनुवंशिकी से संबद्ध अनेक तथ्यों का पता लगाया जाता रहा है और आज भी इस दिशा मे अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन जारी हैं। (भृ० ना० प्र०)

आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्र का प्राचीन अभिधान। प्राचीन काल मे आन्वीक्षिकी विचारशास्त्र या दर्शन की सामान्य संज्ञा थी और यह त्रयी (वेदत्रयी), वार्ता (अर्थशास्त्र), दंडनीति (राजनीति) के साथ चतुर्थ विद्या के रूप मे प्रतिष्ठित थी (आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दंडनीतिश्च शाश्वती। विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकसंसृतिहेतवः) जिसका उपयोग लोक के व्यवहार-निर्वाह के लिये आवश्यक माना जाता था। कालांतर मे इस शब्द का प्रयोग केवल न्यायशास्त्र के लिये संकुचित कर दिया गया। वात्स्यायन के न्यायभाष्य के अनुसार अन्वीक्षा द्वारा प्रवृत्त होने के कारण ही इस विद्या की संज्ञा 'आन्वीक्षिकी' पड़ गई। अन्वीक्षा के दो अर्थ हैं (१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान तथा (२) प्रत्यक्ष और शब्दप्रमाण की सहायता से अवगत होनेवाले विषयों का अनु (पश्चात्) ईक्षण (पर्यालोचन, अर्थात् ज्ञान), अर्थात् अनुमिति। न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य तो है प्रमाणों के द्वारा अर्थों का परीक्षण (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:—न्यायभाष्य १।१।१), परंतु इन प्रमाणों मे भी अनुमान का महत्वपूर्ण स्थान है और इस अनुमान द्वारा प्रवृत्त होने के कारण तर्कप्रधान 'आन्वीक्षिकी' का प्रयोग न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने न्यायदर्शन के लिये ही उपयुक्त माना है।

दूसरी धारा मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणों का गंभीर अध्ययन तथा विश्लेषण मुख्य उद्देश्य था। फलत इस प्रणाली को 'प्रमाणमीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलाजिकल) कहते है। इसका प्रवर्तन गंगेश उपाध्याय (१२वी शताब्दी) ने अपने प्रख्यात ग्रंथ 'तत्वचिंतामणि' मे किया। 'प्राचीन न्याय' (प्रथम धारा) मे पदार्थों की मीमांसा मुख्य विषय है, 'नव्यन्याय' (द्वितीय धारा) मे प्रमाणों का विश्लेषण मुख्य लक्ष्य है। नव्यन्याय का उदय मिथिला मे हुआ, परंतु इसका अभ्युदय बंगाल मे संपन्न हुआ। मध्ययुगीन बौद्ध तार्किकों के साथ घोर संघर्ष होने से खंडन मंडन के द्वारा यह शास्त्र विकसित होता गया। प्राचीन न्याय के मुख्य आचार्य है गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयंत भट्ट, भा सर्वज्ञ तथा उदयनाचार्य। नव्यन्याय के आचार्य है गंगेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, जगदीश भट्टाचार्य तथा गदाधर भट्टाचार्य। इन दोनों धाराओं के मध्य बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय के अभ्युदय का काल आता है। बौद्ध नैयायिकों मे वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के नाम प्रमुख है।

सं०ग्रं०—डा० विद्याभूषण हिस्ट्री ऑव लाजिक, कलकत्ता, १९२५।
(ब० उ०)

आपतुरिया ग्रीक जाति मे मनाया जानेवाला एक त्योहार जो प्यानौप्सियान् (अक्टूबर नवंबर) मास मे मनाया जाता था। यह उत्सव तीन दिन चलता था। पहला दिन दौर्पिया (साध्यभोज), दूसरा दिन अनार्रूसिस् (जीवबलि) तथा तीसरा दिन कूरियोतिस् (मुंडन) कहलाता था। इस त्योहार मे पिछले वर्ष मे उत्पन्न हुए बच्चे, युवा लोग और नवविवाहिता पत्नियाँ बिरादरियों म (जो ग्रीक भाषा मे 'फ्रात्री' कहलाती थी) प्रविष्ट हुआ करती थी और उनको समाज मे नवीन उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त होते थे। दोरियाई जाति मे इसी के सदृश आपेलाइ नामक त्योहार मनाया जाता था। (भो० ना० श०)

आपत्तिखंडन (अपोलोजेटिक्स) ईसाई धर्मशास्त्र मे धार्मिक सिद्धांतों या विश्वासों के समर्थन मे लिखे गए निबंधों को सामूहिक रूप मे 'अपोलोजेटिक्स' का नाम दिया गया। इस शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक 'अपोलोजेटिकोस्' मे है जिसका अर्थ है 'समर्थन के योग्य वस्तु'। ग्रेट ब्रिटेन मे इस प्रकार के धार्मिक साहित्य को 'एविडेन्सेज ऑव रेलिजन' (धर्म के प्रमाण) भी कहते है, परंतु अधिकतर ईसाई देशों मे अपोलोजेटिक्स शब्द ही सामान्यत प्रचलित है।

वैसे तो किसी भी धर्म के अपौरुषेय अंग की हिमायत 'अपोलोजेटिक्स' के क्षेत्र मे आती है, लेकिन धार्मिक साहित्यपरंपरा मे कैथोलिक सिद्धांतों के समर्थन मे ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक युग में जर्मनी के अतिरिक्त किसी अन्य देश मे यह परंपरा सशक्त नही रही। इस तरह के साहित्य का अब निर्माण नही होता और न उसकी आवश्यकता ही रह गई है। रोमन नागरिकों, अधिकारियों तथा लेखकों द्वारा ईसा मसीह के उपदेशों के विरुद्ध की गई आपत्तियों का खंडन करना ही 'अपोलोजेटिक्स' का उद्देश्य था। इस उद्देश्य से ईसाई धर्मपंडितों ने लंबे 'पत्र' लिखे जिनमे से अधिकतर तत्कालीन रोमन सम्राटों को संबोधित किए गए। इस प्रकार के पत्र को 'अपोलोजी' कहते थे।

सबसे पहली 'अपोलोजी' क्वाद्रेतस ने सम्राट् हाद्रियन (११७ से १३८ ई० तक) के नाम लिखी, उसके बाद परिस्टिडीज और जस्तिन ने सम्राट् अंतोनाइनस (सन् १३८ से १६१ तक) के नाम ऐसे ही पत्र लिखे। इनमे जस्तिन की अपोलोजी सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त है। यद्यपि इसमे ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ है, फिर भी ईसाई धर्म के अनेक विवादग्रस्त सिद्धांतों का इसमे प्रभावशाली समर्थन मिलता है। सम्राट् मार्कस ओरेलियस (सन् १६१ से १७७ तक) के शासनकाल मे, मेलितो तथा एपोलिनेरिस को रचनाओं मे, 'अपोलोजेटिक्स' का चरम विकास हुआ। इसके बाद भी सदियों इस तरह के लेख लिखे गए, परंतु उनका विशेष महत्व नही है। मध्ययुगीन अपोलोजेटिक्स में कृत्रिमता और शाब्दिक ऊहापोह तर्क को अपेक्षा अधिक है।

जिन ऐतिहासिक पुस्तकों म 'अपोलोजेटिक्स' का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है उनमे यूसीबियस का ग्रंथ 'क्रिश्चियन चर्च का इतिहास' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। (वि० श्री० न०)

आपस्तंब ये सूत्रकार है, ऋषि नही। वैदिक संहिताओं मे इनका उल्लेख नही पाया जाता। आपस्तंबधर्मसूत्र में सूत्रकार ने स्वयं अपने को 'अवर' (परवर्ती) कहा है (१ २ ५ ४)। इनके नाम से कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आपस्तंबकल्पसूत्र पाया जाता है। यह ग्रंथ ३० प्रश्नों मे विभाजित है। इसके प्रथम २४ प्रश्नों को आपस्तंबश्रौतसूत्र कहते है जिनमे वैदिक यज्ञों का विधान है। २५वे प्रश्न मे परिभाषा, प्रवरखंड तथा हौत्रक मंत्र है, इसके २६वें और २७वे प्रश्नों को मिलाकर आपस्तंबगृह्यसूत्र कहा जाता है जिनमे गृह्यसंस्कारों और धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है। कल्पसूत्र के २८वें और २९वें प्रश्न आपस्तंबधर्मसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। ३०वाँ प्रश्न शुल्वसूत्र कहलाता है। इसमें यज्ञकुंड और वेदिका की माप का वर्णन है। रेखागणित और वास्तुशास्त्र का प्रारंभिक रूप इसमे मिलता है।

समाजशास्त्र, शासन और विधि की दृष्टि से आपस्तंबधर्मसूत्र विशेष महत्व का है। यह दो प्रश्नों मे और प्रत्येक प्रश्न ११ पटलों मे विभक्त है। प्रथम प्रश्न मे निम्नलिखित विषयों का वर्णन है धर्म के मूल—वेद तथा वेदविदों का शील, चार वर्ण और उनका वरीयताक्रम, आचार्य, उपनयन का समय और उसकी अवहेलना के लिये प्रायश्चित्त, ब्रह्मचारी का कर्तव्य, ब्रह्मचर्यकाल—४८, ३६, २५ अथवा १२ वर्ष, ब्रह्मचारी की जीवनचर्या, दंड, मेखला, अजिन, भिक्षा, समिधाहरण, अग्न्याधान, ब्रह्मचारी के व्रत, तप, आचार्य तथा विभिन्न वर्णों को प्रणाम करने की विधि, ब्रह्मचर्य समाप्त होने पर गुरुदक्षिणा, स्नान और स्नातक, वेदाध्ययन तथा अनध्याय; पंचमहायज्ञ—भूतयज्ञ, नृयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा ऋषियज्ञ; सभी वर्णों के साथ शिष्टाचार, यज्ञोपवीत, आचमन, भोजन तथा पेय, निषेध, ब्राह्मण के लिये आपद्धर्म—वणिक्कर्म, कुछ पदार्थों का विक्रय वर्जित; पतनीय—चौर्य, ब्रह्महत्या अथवा हत्या, भ्रूणहत्या, निषिद्ध संबंध मे योनिसंबंध, सुरापान आदि, आध्यात्मिक प्रश्न—आत्म, ब्रह्म, नैतिक साधन और दोष, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की हत्या की क्षतिपूर्ति, ब्राह्मण, गुरु एवं श्रोत्रिय के वध के लिये प्रायश्चित्त, गुरु-तल्प-गमन, सुरापान तथा सुवर्णचौर्य के लिये प्रायश्चित्त, पक्षी, गाय तथा साँड़ के वध के लिये प्रायश्चित्त, गुरुजनों को अपशब्द कहने के लिये प्रायश्चित्त, शूद्रा के साथ मैथुन तथा निषिद्ध भोजन के लिये प्रायश्चित्त, कृच्छ्रव्रत, चौर्य, पतित गुरु तथा माता के साथ व्यवहार, गुरु-तल्प-गमन के लिये प्रायश्चित्त पर विविध मत, पति पत्नी के व्यभिचार के लिये प्रायश्चित्त, भ्रूण (विद्वान् ब्राह्मण)-हत्या के लिये प्रायश्चित्त, आत्मरक्षा के अतिरिक्त शस्त्रग्रहण ब्राह्मण के लिये निषिद्ध; अभिशस्त के लिये प्रायश्चित्त; छोटे पापों के लिये प्रायश्चित्त;

विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक के संबंध में विविध मत और स्नातकों के व्रत तथा आचार।

द्वितीय प्रश्न के विषय निम्नांकित है पाणिग्रहण के उपरांत गृहस्थ के व्रत, भोजन, उपवास तथा मैथुन, सभी वर्णों के लोग अपने कर्तव्यपालन से उपयुक्त तथा न पालन से निम्न योनियों मे जन्म लेते है, प्रथम तीन वर्णों को नित्य स्नान कर विश्वेदेव यज्ञ करना चाहिए, शूद्र किसी आर्य के निरीक्षण मे अन्य वर्णों के लिये भोजन पकावे, पक्वान्न की बलि, प्रथम अतिथि तथा पुन बाल, वृद्ध, रुग्ण तथा गर्भिणी को भोजन, वैश्वदेव के अंत मे आए किसी आगतुक को भोजन के लिये प्रत्याख्यान नही, अविद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अतिथि का स्वागत, गृहस्थ के लिये उत्तरीय अथवा यज्ञोपवीत, ब्राह्मण के अभाव मे क्षत्रिय अथवा वैश्य आचार्य, गुरु के आगमन मे गृहस्थ का कर्तव्य, गृहस्थ के लिये अध्यापन तथा अन्य कर्तव्य, अज्ञात वर्ण और शील के अतिथि का स्वागत, अतिथि, मधुपर्क, षड्वेदाग, वैश्वदेव के पश्चात् श्वान तथा चाडाल को भी भोजन, दान, भृत्य और दास का कष्ट देकर नही, स्वय, स्त्री तथा पुत्र को कष्ट देकर दान, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, परिव्राजक आदि को भोजन, आचार्य, विवाह, यज्ञ, मातापिता का पोषण, व्रतपालन आदि भिक्षा के अवसर, ब्राह्मण आदि वर्णों के कर्तव्य, युद्ध के नियम, पुरोहित की नियुक्ति, दड, ब्राह्मण की अदंडयता और अवध्यता, मार्ग के नियम, वर्णों का उत्कर्ष और अपकर्ष, पहली पत्नी (सतानवती एव सुशीला) के रहते दूसरा विवाह निषिद्ध, विवाह के नियम, विवाह के छह प्रकार—ब्राह्म, आर्ष, दैव, गाधर्व, आसुर और राक्षस, विवाहित दपती के कर्तव्य, विविध प्रकार के पुत्र, सतान की अदेयता और अविक्रेयता, दाय तथा विभाजन, पति पत्नी में विभाजन निषिद्ध, वेदविरुद्ध देशाचार और कुलाचार अननुकरणीय नही, मरणाशौच, दान, श्राद्ध, चार आश्रम, परिव्राजकधर्म, राजधर्म; राजधानीसभा, अपराधनिर्मूलन, दान, प्रजारक्षण, कर तथा कर से मुक्ति, व्यभिचारदड, अपशब्द तथा नरहत्या, विविध प्रकार के दड, वाद (अभियोग), सदेहावस्था मे अनुमान तथा दिव्य प्रमाण, स्त्रियो तथा सामान्य जनता से विविध धर्मों का ज्ञान।

प्राचीनता मे आपस्तबधर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र और बौधायनधर्मसूत्र से पीछे का तथा हिरण्यकेशी और वसिष्ठधर्मसूत्र के पहले का है। इसके सग्रह का समय ४०० ई० पू० के पहले रखा जा सकता है। आपस्तबधर्मसूत्र (२ ७ १७ १७) मे औदीच्यों (उत्तरवालों) के आचार का विशेष रूप से उल्लेख है। इसपर कई विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आपस्तंब दाक्षिणात्य (सभवत आंध्र) थे। परतु सरस्वती नदी के उत्तर का प्रदेश उदीची होने से यह अनुमान केवल दक्षिण पर ही लागू नही होता। यह सच है कि आपस्तंबीय शाखा के ब्राह्मण नर्मदा के दक्षिण मे पाए जाते है, परतु उनका यह प्रसार परवर्ती काल का है। आपस्तबधर्मसूत्र पर हरदत्त का उज्वलावृत्ति नामक भाष्य प्रसिद्ध है।

स०ग्र०—आपस्तबीयधर्मसूत्रम्, डॉ० जॉर्ज ब्यूहलर द्वारा सपादित, तृतीय सस्करण, १९३२, बाबे सस्कृत सीरीज, स० ४४ तथा ५०, पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृ० ३२-४६। (रा० ब० पा०)

आपियानी आद्रिया (१७५८–१८१७) अपने युग का सर्वश्रेष्ठ भित्तिचित्रकार, जन्म मिलान। नेपोलियन ने उसे इटली राज्य का राजचित्रकार नियुक्त किया। १८१४ की घटनाओ के बाद पतन और घोर दरिद्रता। उसकी सर्वोत्तम कृतियाँ मिलान के राजभवन और साता मारिया के गिरजे में है जो उसके गुरु केरेगियो की कृतियो से भी अधिक श्रेष्ठ है। (स० च०)

आपुलेइयस् लूकियस् रोमन दार्शनिक और कथाकार। इसका जन्म नुमिदिया प्रदेश के मदौरा नामक स्थान पर लगभग १२५ ई० मे हुआ और इसने कार्थेज और एथेंस मे शिक्षा पाई। कुछ समय रोम मे वकालत करने के पश्चात् इसने त्रिपोली मे एक धनी विधवा इमीलिया मे विवाह कर लिया। उसके सबधियों ने इसपर अभियोग चलाया। उसका शेष जीवन साहित्यरचना मे व्यतीत हुआ। इसकी साहित्यिक कीर्ति का आधार 'रूपातर अथवा सुनहरा गधा' है। इस कथा का नायक गधे के रूप मे नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करता हुआ अंत में ईसिस् देवी की कृपा से पुन मानवाकृति प्राप्त कर लेता है और उसी देवी का पुजारी बन जाता है। यह हास्यरस की अत्यत रोचक रचना है। आपुलेइयस् की अन्य रचनाएँ अफलातून और सुकरात के दर्शन से सबध रखती हैं।

(भो० ना० श०)

आपूलिया इटली राज्य का एक प्रदेश है जो प्रायद्वीप के दक्षिण पूर्वी भाग मे एपिनाइन पर्वत के पूर्व गरगानो पर्वत से सांता मेरिया डी ल्यूका अतरीप तक फैला है। इसके अतर्गत फोगिया, बारी, ब्रिंडिसी, टारटो तथा लेसे नामक जिले है। क्षेत्रफल १९,३४७ वर्ग किलोमीटर; जनसख्या ३४,२१,२१७ (१९६१)। चूने के पत्थरों से बना हुआ यह सूखा पठारी क्षेत्र अत्यधिक उर्वर है। यहाँ इटली का सर्वोत्कृष्ट कोटि का गेहूँ उपजाया जाता है। जलाभाव को दूर करने के लिये पश्चिम बहनेवाली सिले नदी को एपिनाइन पर्वत के पार सात मील लबी एक सुरग से ले जाकर पूर्व की ओर आपूलिया मे प्रवाहित किया गया है, जहाँ इसके जल से सिंचाई की जाती है। साथ ही फोगिया जिले के दलदलों का जलनिष्कासनयोजनाओं द्वारा कृषियोग्य बनाया गया है। यह कृषिप्रधान प्रदेश है, जिसकी मुख्य उपज गेहूँ, जौ, मक्का, जैतून, अगूर, बादाम तथा अजीर है। जैतून तथा अगूर की कृषि तटीय मैदानी भागों मे की जाती है। यहाँ भेड़ पालने की प्रथा रोमन लोगो के समय मे ही प्रचलित है। बारी [जनसख्या ३,५२,४२५ (१९७१)], जो इटली का मुख्य आकाशवाणी केंद्र है, इसी प्रदेश मे स्थित है। टारटो (जनसख्या २,१९,८८८ (१९७१)) तथा ब्रिंडिसी इस प्रदेश के अन्य मुख्य नगर एव बदरगाह है। प्राचीन काल मे आपूलिया मिट्टी के बर्तनो पर की जानेवाली चित्रकारी के लिये प्रसिद्ध था।

(न० कि० प्र० सि०)

आपेक्षिकता सिद्धांत (रिलेटिविटी थ्योरी) सक्षेप मे यह है कि 'निरपेक्ष' गति तथा 'निरपेक्ष' त्वरण का अस्तित्व असभव है, अर्थात् 'निरपेक्ष गति' एव 'निरपेक्ष त्वरण' शब्द वस्तुत निरर्थक है। यदि 'निरपेक्ष गति' का अर्थ होता तो वह अन्य पिंडों की चर्चा किए बिना ही निश्चित हो सकती। परतु सब प्रकार से चेष्टा करने पर भी किसी पिंड की 'निरपेक्ष' गति का पता निश्चित रूप से प्रयोग द्वारा प्रमाणित नही हो सका है और अब तो आपेक्षिकता सिद्धात बताता है कि ऐसा निश्चित करना असभव है। आपेक्षिकता सिद्धात से भौतिकी मे एक नए दृष्टिकोण का प्रारभ हुआ। भौतिकी के कतिपय पुराने सिद्धांतो का दृढ स्थान आपेक्षिकता सिद्धात से डिग गया और अनेक मौलिक कल्पनाओं के विषय म सूक्ष्म विचार करने की आवश्यकता दिखाई देने लगी। विज्ञान मे सिद्धात का कार्य प्राय ज्ञात फलो को व्यवस्थित रूप मे सूत्रित करना होता है और तत्पश्चात् उस सिद्धात से नए फलो का अनुमान करके प्रयोग द्वारा उन फलो की परीक्षा की जाती है। आपेक्षिकता सिद्धात इन दोनो कार्यों मे सफल रहा है।

१९वी शताब्दी के अत तक भौतिकी का विकास न्यूटन प्रणीत सिद्धांतों के अनुसार हो रहा था। प्रत्येक नए आविष्कार अथवा प्रायोगिक फल को इन सिद्धातो के दृष्टिकोण से देखा जाता था और आवश्यक नई परिकल्पनाएँ बनाई जाती थीं। इनमे सर्वव्यापी ईथर का एक विशिष्ट स्थान था। ईथर के अस्तित्व की कल्पना करने के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम तो विद्युच्चुबकीय तरगो के कपन का एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रसरण होने के लिये ईथर जैसे माध्यम की आवश्यकता थी। द्वितीय, यात्रिकी मे न्यूटन के गति तथा त्वरण विषयक समीकरणों के लिये, और जिस पार्श्वभूमि पर ये समीकरण आधारित थे उसके लिये भी, एक प्रामाणिक निर्देशक (स्टैंडर्ड ऑव रेफरेंस) की आवश्यकता थी। प्रयोगों के फलो का यथार्थ आकलन होने के लिये ईथर पर विशिष्ट गुणधर्मों का आरोपण किया जाता था। ईथर सर्वव्यापी समझा जाता था और सपूर्ण दिशाओं मे तथा पिंडो मे भी उसका अस्तित्व माना जाता था। इस स्थिर ईथर मे पिंड बिना प्रतिरोध के भ्रमण कर सकते है, ऐसी कल्पना थी। इन गुणों के कारण ईथर को निरपेक्ष मानक समझने में कोई बाधा नही थी। प्रकाश की गति ३×१०^{१०} से० मी० प्रति सेकेंड है, यह ज्ञात हुआ था और प्रकाश की तरगें 'स्थिर' ईथर के सापेक्ष इस गति से विकीरित होती है, ऐसी कल्पना थी। यात्रिकी मे गति, त्वरण, बल इत्यादि के लिये भी ईथर निरपेक्ष मानक समझा जाता था।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे ईथर का अस्तित्व तथा उसके गुणधर्म स्थापित करने के अनेक प्रयत्न प्रयोग द्वारा किए गए। इनमे माइकेलसन-मॉर्ले का प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है (द्र० **माइकेलसन-मॉर्ले का प्रयोग**)। पृथ्वी सूर्य को परिक्रमा ईथर के सापेक्ष जिस गति से करती है उस गति का यथार्थ मापन करना इस प्रयोग का उद्देश्य था। किंतु यह प्रयत्न असफल रहा और प्रयोग के फल मे यह अनुमान निकाला गया कि ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति शून्य है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि ईथर की कल्पना असत्य है, अर्थात् ईथर का अस्तित्व ही नही है। यदि ईथर ही नही है तो निरपेक्ष मानक का भी अस्तित्व नही हो सकता। अत: गति केवल सापेक्ष ही हो सकती है। भौतिकी मे सामान्यत: गति का मापन करने के लिये अथवा फल व्यक्त करने के लिये किसी भी एक पद्धति का निर्देश (रेफरेंस) देकर कार्य किया जाता है। किंतु इन निर्देशक पद्धतियो मे कोई भी पद्धति 'विशिष्टतापूर्ण' नही हो सकती, क्योकि यदि ऐसा होता तो उस 'विशिष्टतापूर्ण' निर्देशक पद्धति को हम विश्रांति का मानक समझ सकते। अनेक प्रयोगो से ऐसा ही फल प्राप्त हुआ।

इन प्रयोगो के फलो मे केवल भौतिकी मे ही नही, प्रत्युत विज्ञान तथा दर्शन मे भी गंभीर अशांति उत्पन्न हुई। २०वीं शताब्दी के प्रारंभ मे (१९०४ मे) प्रसिद्ध फ्रेंच गणितज्ञ एच० पॉइन्कारे ने आपेक्षिकता का प्रनियम प्रस्तुत किया। इनके अनुसार भौतिकी के नियम ऐसे स्वरूप मे व्यक्त होने चाहिए कि वे किसी भी प्रेक्षक (देखनेवाले) के लिये वास्तविक हो। इसका अर्थ यह है कि भौतिकी के नियम प्रेक्षक की गति के ऊपर अवलंबित न रहे। इस प्रनियम मे दिक् तथा काल की प्रचलित धारणाओ पर नया प्रकाश पडा। इस विषय मे आइंस्टाइन की विचारधारा, यद्यपि वह क्रांतिकारक थी, प्रयोगो के फलो को समझाने मे अधिक सफल रही। आइंस्टाइन ने गति, त्वरण, दिक्, काल इत्यादि मौलिक शब्दो का और उनसे संयुक्त प्रचलित धारणाओ का विशेष विश्लेषण किया। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि न्यूटन के सिद्धातो पर आधारित तथा प्रतिष्ठित भौतिकी मे त्रुटियाँ है। आइंस्टाइन प्रणीत आपेक्षिकता सिद्धात के दो विभाग है (१) विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात और (२) व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत। विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात मे भौतिकी के नियम इस स्वरूप मे व्यक्त होते है कि वे किसी भी अत्वरित प्रेक्षक के लिये समान होगे। व्यापक आपेक्षिकता सिद्धात मे भौतिकी के नियम इस प्रकार व्यक्त होते है कि वे प्रेक्षक की गति से स्वतंत्र या अबाधित होगे। विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात का विकास १९०५ मे हुआ और व्यापक आपेक्षिकता सिद्धात का विकास १९१५ मे हुआ।

विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धांत—विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात समझना सरल होने के कारण उसपर विचार पहले किया जायगा। नित्य व्यवहार मे किसी नए पदार्थ का स्थान निश्चित करने के लिये हम ज्ञात पदार्थों का निर्देश करते है और उनके सापेक्ष नए पदार्थ का स्थान सूचित करते है। इसी प्रकार गति का निश्चय होता है, किंतु गति के निश्चय के लिये उसकी दिशा तथा वेग ज्ञात करने की आवश्यकता होती है। रेलगाडी या विमान का वेग पृथ्वी को स्थिर समझकर निश्चित किया जाता है। किंतु पृथ्वी स्थिर नही है, वह अपने अक्ष पर घूमती रहती है और साथ ही सूर्य का परिभ्रमण करती रहती है। सूर्य भी स्थिर नही है, अन्य तारो के सापेक्ष वह अपनी ग्रहसस्था के साथ विशिष्ट वेग से भ्रमण कर रहा है। विमान, पृथ्वी, सूर्य इत्यादि पदार्थों की गति स्पष्ट करने के लिये हमने जिस पदार्थ को स्वेच्छा से 'स्थिर' समझा है वह हो सकता है, अन्य निर्देशको के सापेक्ष 'स्थिर' हो या न हो। क्षण मात्र के लिये यदि हम कल्पना करे कि आकाश मे केवल एक ही पिंड है और कही भी कोई अन्य पदार्थ नही है, तो ऐसे पदार्थ के लिये 'विश्रांति' तथा 'गति' की धारणा निरर्थक है। अत गति अथवा विश्रांति की धारणाएँ केवल सापेक्ष ही हो सकती हैं। इसी प्रकार विमान या रेलगाडी की 'निरपेक्ष गति' निकालना असंभव है। विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात एक अन्य रूप मे भी व्यक्त किया गया है प्रकाश की गति सब प्रेक्षको के लिये (वस्तुत केवल ऐसे प्रेक्षको के लिये जिनके ऊपर कोई भी बल कार्य न कर रहा हो) अचर है, अर्थात् उतनी ही रहती है, बदलती नही।

विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात इस प्रकार सरल ही दिखाई देता है, परंतु भौतिकी के भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे इसका उपयोग करने के पश्चात् जो फल प्राप्त होते है, व नित्य व्यवहार के फलो की तुलना मे अत्यंत आश्चर्यजनक है। नित्य व्यवहार मे जो वेग हमारे सामने आते है, वे प्रकाश के वेग की तुलना मे उपेक्षणीय होते है और ऐसे वेगो के लिये न्यूटन के (अर्थात् प्रतिष्ठित भौतिकी के) सिद्धात तथा नियम उपयुक्त हैं। जब प्रकाश के वेग के समीप के वेगो का प्रश्न आता है, तभी न्यूटन के नियम लागू नही होते और उनके स्थान पर आपेक्षिकता सिद्धात के अनुसार प्राप्त हुए नियमो तथा फलो की आवश्यकता होती है। आपेक्षिकता सिद्धात से भौतिकी मे जो क्रांति हुई उसका यथार्थ ज्ञान होने के लिये केवल सामान्य गणित ही नही, किंतु उच्च गणित की आवश्यकता होती है, जिसमे दिक् तथा काल की भी मिश्र क्रिया होती है। बिना पूरा गणित दिए विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात से प्राप्त हुए थोडे से फल यहाँ दिए जाते है

आपेक्षिकता और समक्षणिकता—निर्वात प्रदेशो मे प्रकाश का वेग ३×१०^{१०} सेंटीमीटर प्रति सेकेंड होता है। प्रकाश के सब वर्णों के लिये यह वेग समान होता है। जिस स्थान या उद्गम से प्रकाश निकलता है उसके वेग पर प्रकाश का वेग अवलंबित नही होता। इस प्रकार प्रकाश का (तथा सब विद्युच्चुबकीय तरंगो का) वेग निर्वात मे उतना ही रहता है। प्रकाश के इस गुण के परिणाम महत्वपूर्ण होते है। उदाहरणत, हम कल्पना करेगे कि एक प्रेक्षक पृथ्वी पर खडा है और उसके ऊपर से एक विमान पश्चिम से आकर पूर्व दिशा की ओर वेग **व** से जा रहा है। जिस समय विमान प्रेक्षक के मस्तक के ऊपर आता है ठीक उसी समय प्रेक्षक के समान अंतर पर दो विद्युत् की बत्तियाँ जला दी गईं, जिनमे एक बत्ती पूर्व दिशा मे दूरी **द** पर है और दूसरी पश्चिम दिशा मे दूरी **द** पर ही है। पृथ्वी पर स्थित प्रेक्षक के लिये दोनो बत्तियो का जलना समक्षणिक (एक ही क्षण पर होनेवाला) दिखाई पडेगा, किंतु विमान मे भी यदि कोई प्रेक्षक हो, तो उसके लिये दोनो बत्तियो का जलना समक्षणिक नही दिखाई पडेगा। क्योकि विमान पूर्व दिशा की ओर वेग **व** से जा रहा है, इसलिये पूर्व दिशावाली बत्ती का प्रकाश पहले दिखाई पडेगा और पश्चिम दिशा की बत्ती का प्रकाश कुछ क्षण बाद दिखाई पडेगा। इसका अर्थ यह है कि एक घटना किसी प्रेक्षक के लिये समक्षणिक हो तो उसके सापेक्ष गतियुक्त अन्य प्रेक्षक के लिये वही घटना समक्षणिक नही रहेगी। अत समक्षणिकता निरपेक्ष नही, किंतु आपेक्षिक है। इस परिणाम को व्यापक रूप मे देखने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि समय भी निरपेक्ष नही है, प्रत्युत प्रत्येक निर्देशपिंड के लिये अपनी अपनी स्वतंत्र समयगणना होती है और दो निर्देशपिंडो पर, जो एक दूसरे के सापेक्ष एक समान (यूनिफॉर्म) वेग मे गतिमान हो, समयगणनाएँ भिन्न होगी। इन दोनो समयगणनाओ के परस्पर संबंध से आपेक्षिक वेग **व** का भी संबंध होगा। अत समय के विषय मे हमारी जो व्यावहारिक धारणा है उसमे सापेक्षिकता सिद्धात के अनुसार परिवर्तन करना पडेगा।

आपेक्षिकता और लंबाई तथा समय—(१) आपेक्षिकता सिद्धात के अनुसार 'निरपेक्ष' गति का यदि अस्तित्व नही है, तो 'निरपेक्ष' विश्रांति का भी अस्तित्व नही है। भौतिकी मे मापन करने के लिये पहले किसी एक मानक की आवश्यकता होती है और उस मानक का निर्देश करके मापन किए जाते है। स्वेच्छा से हम किसी एक परिस्थिति को प्रामाणिक समझ सकते है। अब हम यह कल्पना करेगे कि एक विमान पृथ्वी से एक विशेष ऊँचाई पर रुका है और उसमे लंबाई **ल** का एक दंड है, अर्थात् इस दंड की लंबाई का यथार्थ मापन एक मापनी की सहायता से हो सकता है। अब यदि वह विमान वेग **व** से जाने लगे तो आपेक्षिकता सिद्धात के अनुसार उस दंड की माप मे कितना परिवर्तन होगा? इस फल को प्राप्त करने के लिये हम दो प्रेक्षको की कल्पना करेगे। एक प्रेक्षक **क** विमान मे बैठा है, अत उसका वेग पृथ्वी के सापेक्ष **व** है, किंतु विमान के सापेक्ष शून्य है। दूसरा प्रेक्षक **ख** पृथ्वी पर (विमान के पूर्व स्थान पर) खडा है, अर्थात् पृथ्वी के सापेक्ष उसका वेग शून्य है। विमान का वेग **व** होने के कारण उसमे बैठे हुए प्रेक्षक **क** का तथा दंड का वेग प्रेक्षक **ख** के सापेक्ष **व** होगा। यदि जिस समय विमान निश्चल था उस समय दंड की लंबाई **ल** रही हो,

तो प्रेक्षक **क** के लिये वह लंबाई सदा **ल** ही रहेगी, कारण, उसके सापेक्ष दंड सदा विश्रांति में ही रहेगा। किंतु प्रेक्षक **ख** के लिये दंड वेग **व** से गतियुक्त है। इसलिये आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार उसकी लंबाई में परिवर्तन होगा और नवीन लंबाई $\text{ल}\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}$ होगी, जहाँ प्र^2 = प्रकाश की निर्वात में गति है, अर्थात् **क** और **ख** प्रेक्षकों के लिये एक ही दंड की लंबाई भिन्न भिन्न होगी।

लंबाई के विषय में आपेक्षिकता सिद्धांत का यह फल हम व्यापक रूप में निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं किसी दंड या पदार्थ की लंबाई मापने पर प्रयोग का जो फल आता है उसको हम लंबाई **ल** कहते है। भौतिकी की दृष्टि से वस्तुत यह लंबाई **ल** यथार्थ नहीं है, वरन् $\text{ल}\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}$ है, जहाँ **व** दंड की लंबाई की दिशा में प्रेक्षक का दंड के सापेक्ष वेग है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस दंड में आकुंचन हो रहा है। लंबाई उस दंड का मौलिक गुण नहीं है, वरन् उस दंड के संबंध में हमारी एक धारणा है और उस धारणा को हम **ल** तथा **व** के एक फलन (फंकशन) के रूप में व्यक्त करते है। जैसे जैसे **व** में वृद्धि होती है वैसे वैसे यह फलन घटता है। लंबाई की सर्वसाधारण परिभाषा यदि इस स्वरूप में दी जाय तो भौतिकी में प्रयोगों के फल समझने में कठिनाई नहीं रहती और माईकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग का अथवा केन्नेडी-थॉर्नडाइक के प्रयोग का सरलता से अर्थ बताया जा सकता है।

भौतिकी में गणित की तरह ही स्थान अथवा वेग निश्चित करने के लिये कार्तीसीय (कार्टिसियन) निर्देशाक पद्धति का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति में एक मूल बिंदु **मू** से तीन परस्पर लंब रेखाएँ खींची जाती है, जो अक्ष कहलाती हैं। प्रत्येक दो अक्षों से एक समतल मिलता है और बिंदु **क** की इन समतलों से दूरियाँ **क** के निर्देशाक होती है। यदि ये दूरियाँ **य, र, ल** हो तो कहा जाता है कि बिंदु **क** की स्थिति (**य, र, ल**) है।

अब हम कल्पना करेंगे कि एक दूसरी ऐसी ही अक्ष-पद्धति है, जिसके अक्ष पुराने अक्षों के समांतर है और उसके सापेक्ष, **य** अक्ष के समांतर, एक समान वेग **व** से गतियुक्त है (चित्र २)। यदि इन पद्धतियों में से प्रत्येक में प्रेक्षक हों, तो प्रेक्षक **प'** प्रेक्षक **प** के

चित्र १ चित्र २

सापेक्ष वेग **व** से **य**-अक्ष की दिशा में जा रहा है। मान लें, किसी बिंदु **क** के निर्देशाक प्रेक्षक **प** की पद्धति में (**य, र, ल**) है और प्रेक्षक प की पद्धति में (**य', र', ल'**)। यह भी मान लें कि जिस क्षण बिंदु **मू'** बिंदु **मू** पर था उस क्षण से समय की गणना का प्रारंभ हुआ। समय **स** के पश्चात् **मू** से **मू'** की दूरी **वस** होगी। इसलिये समय **स** पर

$$\left.\begin{aligned} \text{य}' &= \text{य} - \text{व} \times \text{स} \\ \text{र}' &= \text{र} \\ \text{ल}' &= \text{ल} \end{aligned}\right\} \qquad (1)$$

किंतु आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार इस संबंध में परिवर्तन करना पड़ता है। निर्देशाक मापन में जिस एकक का हम पद्धति **प** में उपयोग करेंगे उसकी लंबाई केवल **य** की दिशा में पद्धति **प'** में $\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}$ होगी। इसलिये पूर्वोक्त समीकरणों के बदले निम्नलिखित समीकरण ठीक होंगे

$$\left.\begin{aligned} \text{य}' &= \frac{\text{य} - \text{व} \times \text{स}}{\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}} \\ \text{र}' &= \text{र} \\ \text{ल}' &= \text{ल} \end{aligned}\right\} \qquad (2)$$

समीकरण (२) को 'रूपांतरण समीकरण' कहते है।

(२) समय को गणना करने के जो उपकरण होते हैं उनमें यांत्रिकी के साधनों का उपयोग किया जाता है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से हमारी समयगणना दिक् अथवा लंबाई की गणना पर अवलंबित रहती है। अत आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार यदि लंबाई के मापन में वेग के कारण परिवर्तन होता है तो वेग के कारण समय के मापन में भी परिवर्तन होना आवश्यक है।

ऊपर निर्दिष्ट रूपांतरण समीकरण (२) केवल क्षणिक बिंदुओं के लिये यथार्थ होते हैं किंतु किसी भी स्थान के लिये समय से स्वतंत्र नहीं होते। इसका अर्थ यह हुआ कि इन समीकरणों में जो समय का क्षण **स** आता है उसका वास्तविक स्वरूप एक निर्देशाक जैसा है। किसी स्थान को निश्चित करने के लिये जिस प्रकार (**य, र, ल**) इन तीन निर्देशाकों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी घटना को निश्चित करने के लिये समय की आवश्यकता होती है, अत इन तीन निर्देशाकों के साथ समय **स** भी युक्त करना पड़ेगा। यदि पद्धति **प** में किसी घटना के निर्देशाक (**य, र, ल, स**) हो तो पद्धति **प'** में उनके संगत निर्देशाक (**य', र', र', स'**) होंगे, जिनमें क्रमानुसार **य', र', ल'** के **य, र, ल** से संबंध समीकरण (२) द्वारा प्राप्त होते हैं। **स** तथा **स'** का परस्पर संबंध निकालने के लिये पुन आपेक्षिकता सिद्धांत की सहायता लेनी होगी। माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग का फल मूलभूत समझकर चलना अधिक सरल होगा। माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के अनुसार प्रकाश की गति सर्वनिर्देशाक पद्धतियों में (उदाहरणार्थ पूर्वोक्त पद्धतियों **प, प'** में) समान होती है।

हम कल्पना करेंगे कि समय **स** = ० पर **मू** तथा **मू'** (चित्र १) अभिन्न थे और ठीक उसी समय पर प्रकाश की एक किरण **य**-अक्ष की दिशा में निकलती है। पद्धति **प'** पद्धति **प** के सापेक्ष **य**-अक्ष की दिशा में समान वेग **व** से जा रही है, अत कुछ समय पश्चात् यह किरण जिस स्थान पर पहुँचेगी उसके निर्देशाक इस प्रकार के होंगे

पद्धति **प'** में (**य', र', ल'**) समय **स'** के पश्चात्।

पद्धति **प** में (**य, र, ल**) समय **स** के पश्चात्।

माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोगानुसार इन दोनों पद्धतियों में प्रकाश का वेग समान होगा। अत

$$\text{प्र}^2 = \frac{\text{य}^2}{\text{स}^2} = \frac{\text{य}'^2}{\text{स}'^2}$$

अर्थात् $$\text{प्र}^2 \times \text{स}^2 - \text{य}^2 = \text{प्र}^2 \times \text{स}'^2 - \text{य}'^2$$

समीकरण (२) के अनुसार **य** के स्थान पर $\dfrac{\text{य} - \text{व} \times \text{स}}{\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}}$

प्रतिस्थापित करने के पश्चात् निम्नलिखित समीकरण मिलता है

$$\text{स}' = \frac{\text{स} - \text{वय}/\text{प्र}^2}{\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}} \qquad (3)$$

इस समीकरण में **स** तथा **स'** का जो परस्पर संबंध निश्चित होता है उसमें **य** भी आता है। अब समीकरण (२) तथा (३) को एकत्रित करने से दिक् के तीन निर्देशाक और समय इन चारों के संबंध के लिये निम्नलिखित चार समीकरण मिलते हैं

$$\left.\begin{aligned} \text{य}' &= \frac{\text{य} - \text{व} \times \text{स}}{\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}} \\ \text{र}' &= \text{र} \\ \text{ल}' &= \text{ल} \\ \text{स}' &= \frac{\text{स} - \text{वय}/\text{प्र}^2}{\sqrt{(1-\text{व}^2/\text{प्र}^2)}} \end{aligned}\right\} \qquad (4)$$

समीकरण (४) को लारेंट्ज के रूपांतरण समीकरण अथवा सूत्र कहते है। लॉरेंट्ज के समीकरण आपेक्षिकता सिद्धांत के पहले ही प्राप्त किए गए थे, किंतु उनका पूरा महत्व उस समय लोगों ने नहीं समझा था।

(३) लॉरेंट्ज के रूपांतरण समीकरणों से डाप्लर परिणाम (डॉप्लर एफेक्ट) प्रकाशविपथन इत्यादि अन्य फल प्रमाणित किए जा सकते हैं। फिर फीज़ो ने प्रवाहित पानी में प्रकाश का जो वेग प्रयोग से नापा था, उसके मान का समर्थन आपेक्षिकता सिद्धांत से सरलता से होता है। वेग तथा

स्वरण के लिये भी रूपांतरण सूत्रो की आवश्यकता होती है। लोरेंट्ज के रूपांतरण समीकरणो मे ये सूत्र सरलता से प्राप्त हो सकते है।

आपेक्षिकता सिद्धांत में द्रव्यमान तथा ऊर्जा—यांत्रिकी मे आपेक्षिकता सिद्धांत का उपयोग करने से एक और महत्वपूर्ण फल मिलता है। दिक् तथा समय के साथ साथ भौतिकी मे द्रव्यमान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वेग तथा समय आपेक्षिक है और उनके सबध समीकरण (४) से प्राप्त होते हैं। आपेक्षिकता सिद्धात के मूल तत्वों का यांत्रिकी मे उपयोग करने से (विशेषत ऐसे प्रयोगो मे जहाँ द्रव्यमान का सबध आता है—उदाहरणार्थ, दो आदर्श प्रत्यास्थ गोलो के सघात मे) यह फल प्राप्त होता है कि जैसे लंबाई वेग पर निर्भर है वैसे ही द्रव्यमान भी वेग पर निर्भर है। किसी एक निर्देशपद्धति के सापेक्ष विश्रांति स्थिति मे एक पिंड का द्रव्यमान यदि $म_0$ हो, तो जब वह पिंड वेग **व** से चलता रहता है तब उसके द्रव्यमान में निम्नलिखित समीकरण के अनुसार वृद्धि होती है

$$म_व = \frac{म_0}{\sqrt{(1 - व^2/प्र^2)}} \quad \ldots \quad (५)$$

$$\left[m_v = \frac{m_0}{\sqrt{(1 - v^2/c^2)}}\right]$$

समीकरण (५) से यह स्पष्ट है कि द्रव्यमान पिंड का अचर गुण नही है, क्योंकि उसमे वेग के अनुसार परिवर्तन होता है। आपेक्षिकता सिद्धात के पहले द्रव्यमान के विषय मे जो धारणा थी उसमे गभीरता से विचार करने की आवश्यकता समीकरण (५) से उत्पन्न हुई।

इस विचारधारा को आगे बढाने से द्रव्यमान तथा ऊर्जा के सबध मे भी विलक्षण परिणाम मिलता है। यांत्रिकी के अनुसार यदि **म** द्रव्यमान का पिंड **व** वेग से गतियुक्त हो तो उसकी गतिज ऊर्जा $\frac{1}{2}$ **मव**^{2} होती है। आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार वेग के कारण द्रव्यमान मे वृद्धि होती है और साथ साथ समानुपाती गतिज ऊर्जा भी प्राप्त होती है। इस धारणा को गणित की सहायता से विस्तृत करने पर यह फल प्राप्त होता है कि जिस पिंड का द्रव्यमान **म** है उसकी सपूर्ण ऊर्जा **म × प्र**^{2} होती है, अर्थात्

$$ऊ = म.\, प्र^2 \quad \ldots \quad (६)$$

$$[E = mc^2]$$

द्रव्यमान तथा ऊर्जा का परस्पर सबध समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अत द्रव्यमान तथा ऊर्जा ये एक ही वस्तु के केवल दो विभिन्न स्वरूप है और द्रव्यमान का ऊर्जा मे अथवा ऊर्जा का द्रव्यमान मे परिवर्तन हो सकता है। किसी पदार्थ से ऊर्जा का विकिरण होता हो तो समीकरण (६) के अनुरूप उसका द्रव्यमान घटता जायगा (उदाहरणार्थ सूर्य का)। किसी भौतिक घटना मे केवल द्रव्यमान की अविनाशिता अथवा केवल ऊर्जा की अविनाशिता मानना अपूर्ण होगा, किंतु समीकरण (६) का उपयोग करके घटना के पूर्व और घटना के पश्चात् उसकी सपूर्ण ऊर्जा अथवा सपूर्ण द्रव्यमान अविनाशिता के नियम के अनुसार समान रहेगा।

द्रव्यमान मे वेग के कारण जो परिवर्तन होता है वह सामान्य वेगो के लिये अत्यत उपेक्षणीय होता है, अत नित्य व्यवहार मे यह परिवर्तन अनुभव मे नही आता है। ऊर्जा तथा द्रव्यमान की समानता भी नित्य व्यवहार के लिये निरुपयोगी है। जहाँ विशाल वेगो का सबध आता है, केवल वहाँ समीकरण (५) और (६) का उपयोग हो सकता है। जब द्रव्यमान [illegible] नष्ट होता है तब समीकरण (६) के अनुसार इस नष्ट द्रव्यमान से इतनी प्रचड ऊर्जा प्राप्त होती है कि अवशिष्ट द्रव्यमान को विशाल गति मिलती है (द्र० **परमाण्वीय ऊर्जा**)।

आपेक्षिकता सिद्धात के परिणाम के प्रायोगिक तथा अन्य प्रमाण—माइकेलसन-मार्ले के प्रयोग के फल का आकलन तथा स्पष्टीकरण करने के लिये आपेक्षिकता सिद्धात प्रस्तुत किया गया था। किंतु इस वाद को विस्तृत करने के पश्चात समीकरण (४), (५) एव (६) के अनुसार जो अतिरिक्त फल मिलते है उनको प्रमाणित करने के लिये विशेष प्रयोगो की आवश्यकता थी। उपकरणों के निर्माण मे जैसे जैसे प्रगति हुई, वैसे वैसे यथार्थ मापन के लिये उचित उपकरण उपलब्ध होने लगे। ऐसे उपकरणो द्वारा किए गए प्रयोगो मे समीकरण (४), (५) और (६) यथार्थता से प्रमाणित हुए और आपेक्षिकता सिद्धात को अधिक पुष्टि मिली। भौतिकी मे, विशेषत नाभिकीय भौतिकी मे, कतिपय प्रयोगो के फल आपेक्षिकता सिद्धात के दृष्टिकोण से ही सतुष्ट होते है। आपेक्षिकता सिद्धात के अपवाद का एक भी उदाहरण वर्तमान काल तक भौतिकी मे नही मिला है। केवल डी० सी० मिलर के प्रयोगो मे ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति का आभास मिलता है। ये प्रयोग माइकेलसन-मोर्ले के प्रयोग के समान थे। परतु मिलर के प्रयोग के फल वैज्ञानिको मे सर्वमान्य नही है।

समीकरण (४) के अनुसार लबाई तथा समय दोनो वेगसबद्ध है। इन समीकरणो का प्रत्यक्ष फल नापने के लिये वेग **व** प्रकाश के वेग **प्र** से तुलनीय होना चाहिए। जैसा पहले बताया गया है, व्यवहार के सामान्य वेगो के लिये लबाई तथा समय मे जो परिवर्तन होता है वह उपेक्षणीय है। परमाणु भौतिकी मे आधुनिक काल मे जो प्रगति हुई और प्रचड ऊर्जा प्राप्त करने का आविष्कार हुआ, उनकी सहायता से **प्र** से तुलनीय वेग प्रयोगशाला में अब मिल सकता है। इसी प्रकार पृथ्वी पर अतरिक्ष किरणो (कास्मिक रेज) की जो वर्षा होती है, उसमे प्रचड वेग तथा ऊर्जा के कण होते है। इनमे एक विशेष प्रकार के कण, मेसान, होते है जो आकाश मे पृथ्वी से १० किलोमीटर की ऊँचाई पर निर्मित होते है। इनका जीवनकाल लगभग ३×१०^{-६} सेकेंड होता है। सामान्य गणना के अनुसार पृथ्वी पर पहुंचने के लिये इनका वेग **प्र** से बहुत अधिक होगा, किंतु विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात के अनुसार यह असभव है। यदि विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात का यहा उपयोग किया जाय तो यह जीवनकाल प्रत्येक मेसान के साथ उसके ही वेग से चलनेवाली घडी का समय है। पृथ्वी पर के प्रेक्षक के लिये यह घडी विलबित (मद गति से) चलेगी। अत समय के सूत्र मे उचित सशोधन करने पर इन मेसानो का वेग ० ९९ **प्र** आता है और जीवनकाल भी ठीक आता है। द्रव्यमान का वेग के ऊपर अवलबन (समीकरण ५) तो अनेक प्रयोगो मे प्रमाणित हुआ है। इलेक्ट्रान को प्रचड विभव (पोटेंशियल) से त्वरित करने पर उसकी गति **प्र** से तुलनीय हो सकती है और उसका प्रत्यक्ष पथ निकालने के लिये उसके द्रव्यमान की गणना समीकरण (५) के अनुसार करनी पडती है। द्वितीय विश्वयुद्ध को जिसने शीघ्र समाप्त किया और वर्तमान काल मे ऊर्जा का एक नवयुग प्रस्थापित किया, वह परमाणु बम ऊर्जा समीकरण (६) का ही फल है। यदि **म** ग्राम द्रव्यमान नष्ट हो तो **मप्र**^{2} अर्ग ऊर्जा मिलती है। यूरेनियम-२३५ का केवल ० १ प्रति शत द्रव्यमान नष्ट होने से परमाणु बम जैसा महास्त्र तैयार होता है (द्र० **परमाण्वीय ऊर्जा**)। इससे अधिक द्रव्यमान नष्ट हो तो अधिक ऊर्जा प्राप्त होगी और अधिक शक्तिशाली महास्त्र प्राप्त होगा, उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन बम। जिस समय अति प्रचड ताप मे हाइड्रोजन के परमाणु सम्मिलित होते है और हीलियम के नए परमाणु बनते हैं, उस समय अधिक द्रव्यमान नष्ट होने के कारण परमाणु बम से सहस्रगुनी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। सूर्य अनेक कोटि शताब्दियों से सतत प्रचड ऊष्मा (ऊर्जा का [illegible] एक स्वरूप) देता आ रहा है। सूर्य की इस शक्ति का रहस्य भी समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अत भौतिकी की वर्तमान प्रगति से हम यह निश्चित रूप से कह सकते है कि विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात के [illegible] प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से प्रमाणित हो चुके है और उनकी यथार्थता मे कोई सदेह नही रहा है।

व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत (जनरल रिलेटिविटी थ्योरी)—व्यापक आपेक्षिकता सिद्धात (१) आपेक्षिकता नियम और (२) गुरुत्वाकर्षणीय तथा जडता (इनर्शिया) पर आश्रित द्रव्यमानो की समानता, इन दो परिकल्पनाओं पर आधारित है। लबाई, दिक्, काल, सहगति, ऊर्जा इत्यादि के विषय मे भौतिकी मे जो धारणाएं थी उनमे विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात ने सुधार किया। इनके अतिरिक्त भौतिकी के क्षेत्र मे अन्य विषय है जो उतने ही महत्वपूर्ण है, किंतु उनका समावेश विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात मे नही है। बल तथा विद्युच्चुबकीय क्षेत्रो मे विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात का जैसा उपयोग हो सकता है वैसा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र मे नही हो सकता। गुरुत्वाकर्षण भौतिकी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण विभाग है, अत विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धात को व्यापक बनाने की आवश्यकता स्पष्ट है।

द्रव्यमान का संबंध भौतिकी में दो प्रकार से आता है। किसी पिंड पर जब बल कार्य करता है तब पिंड का स्थान बदलता है और उसका वेग भी बदलता है। जब तक बल कार्य करता है तब तक पिंड को त्वरण मिलता है। यांत्रिकी के नियमों के अनुसार बल (प), पिंड का द्रव्यमान (म) और त्वरण (फ) में निम्नलिखित संबंध है

$$प = म \times फ \qquad (७)$$

समीकरण (७) में जो द्रव्यमान म है उसको जडता या आश्रित (अथवा अवस्थितित्वीय) द्रव्यमान कहते हैं। द्रव्यमान का दूसरा संबंध न्यूटन के गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र में आता है। न्यूटन प्रणीत गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत के अनुसार यदि दो द्रव्यमान, म' तथा म'', दूरी द पर हों, तो उनके बीच में निम्नलिखित गुरुत्वाकर्षणीय बल प' काम करेगा

$$प' = \frac{ग \times म' \times म''}{द^2} \qquad (८)$$

समीकरण (८) में ग गुरुत्वाकर्षणीय स्थिरांक है। यदि हम म' को पृथ्वी का द्रव्यमान समझें और म'' को समीकरण (७) में के किसी पिंड का द्रव्यमान समझें तो समीकरण (८) द्रव्यमान म'' का भार व्यक्त करेगा। न्यूटन की यांत्रिकी में गतिविज्ञान तथा गुरुत्वाकर्षण स्वतंत्र और भिन्न हैं, किंतु दोनों में ही द्रव्यमान का संबंध आता है। द्रव्यमान के इन दो स्वतंत्र तथा भिन्न विभागों में प्रयुक्त कल्पनाओं का एकीकरण आइन्स्टाइन ने अपने व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत में किया। यह ज्ञात था कि जडता पर आश्रित द्रव्यमान (समीकरण ७) और गुरुत्वाकर्षणीय द्रव्यमान (समीकरण ८) समान होते हैं। आइन्स्टाइन ने द्रव्यमान की इस समानता का उपयोग करके गतिविज्ञान और गुरुत्वाकर्षण का एकरूप किया और सन् १९१५ ई० में व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत प्रस्तुत किया।

व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत को गणित में सूचित करने की जो पद्धति है वह अन्य पद्धतियों से भिन्न है। इसमें विशेष ज्यामिति का उपयोग किया जाता है, जो यूक्लिड की त्रि-आयामीय ज्यामिति से भिन्न है। मिंकाव्स्की ने यह बताया कि यदि विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धांत में दिक् के तीन आयाम तथा समय का चतुर्थ आयाम, इन चारों आयामों को लेकर एक 'चतुरायाम संतति' (फोर डाइमेंशनल कॉन्टिनुअम), की कल्पना की जाय तो आपेक्षिकता सिद्धांत अधिक सरल हो जाता है। समक्षणिकता निरपेक्ष नहीं है, यह प्रमाणित किया जा चुका है। इससे न्यूटन प्रणीत दिक् तथा समय की निरपेक्षता और स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। अतः भौतिक घटना व्यक्त करने के लिये दिक् तथा समय को एक चतुरायाम संतति अधिक स्वाभाविक है। रीमान ने 'चतुरायाम दिक्' की कल्पना करके उसकी ज्यामिति का जो विकास किया था उसका आइन्स्टाइन ने अधिक उपयोग किया। दिक् तथा समय की इस चतुरायाम संतति में भौतिकी के सिद्धांत ज्यामितीय रूप से व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत में रखे गए। इस चतुरायाम संतति का (अथवा 'विश्व' का) यूक्लिड के तीन आयाम के दिक् से साम्य है। तीन आयाम की संतति में (य, र, ल) इन तीन निर्देशांकों से (अथवा आयामों से) जिस प्रकार बिंदु अथवा एक स्थान निश्चित होता है, वैसे ही दो बिंदु, ($य_1, र_1, ल_1$) और ($य_2, र_2, ल_2$) के बीच की लंबाई भी निश्चित होती है। चतुरायाम संतति में दिक् के (य, र, ल) इन तीन आयामों के साथ जब समय भी जोड़ा जाता है तब समय का आयाम रूप $\sqrt{(-1)}$ स प्र आता है, जहाँ स = समय और प्र = प्रकाश का वेग है। एक प्रेक्षक के लिये एक विश्वघटना के निर्देशांक (य, र, ल, स) हों तो उस प्रेक्षक के सापेक्ष गतिमान् दूसरे प्रेक्षक के लिये उसी घटना के निर्देशांक (य', र', ल', स') होंगे। लारेंट्ज के रूपांतरण नियम यदि यथार्थ हों तो सिद्ध किया जा सकता है कि

$$य'^2\, र'^2\, ल'^2 - प्र'^2\, स'^2 = य^2\, र^2\, ल^2 - प्र^2\, स^2 \qquad (९)$$

समीकरण (९) में चतुर्थ निर्देशांक $\sqrt{(-1)}$ प्रस, आता है जिसमें $\sqrt{(-1)}$ काल्पनिक संख्या है।

समीकरण (९) का विकास करके किसी भी प्रकार की गति के लिये इसी प्रकार की किंतु अत्यधिक संमिश्र पदसंहतियाँ मिलती हैं। इसके लिये निश्चरों (इन्वैरिएंट्स) और आतानकों (टेन्सर्स) के सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। मौलिक कल्पनाओं का इस रीति से विस्तार करने पर व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत में गुरुत्वाकर्षण स्वभावतः आता है। उसके लिये विशिष्ट परिकल्पनाओं की आवश्यकता नहीं होती है।

व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के फलों का प्रमाण—अनेक घटनाओं के फल आइन्स्टाइन प्रणीत व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार तथा न्यूटन प्रणीत प्रतिष्ठित यांत्रिकी के अनुसार समान ही होते हैं। किंतु खगोलिकी में जब व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत का उपयोग किया गया तब तीन घटनाओं के फल प्रतिष्ठित यांत्रिकी के अनुसार निकले फलों से कुछ भिन्न रहे। इन तीन फलों से व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत की कसौटी का काम ले सकते हैं। ये तीन फल इस प्रकार हैं

(१) अनेक वर्षों से यह ज्ञात था कि बुध ग्रह की प्रत्यक्ष कक्षा न्यूटन के सिद्धांतों के अनुसार नहीं रहती। गणना के पश्चात् यह प्रमाणित हुआ कि व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के क्षेत्र समीकरणों के अनुसार बुध ग्रह की जो कक्षा आती है वह प्रेक्षित कक्षा के अनुरूप है। उसी प्रकार पृथ्वी की प्रत्यक्ष कक्षा भी न्यूटन के सिद्धांतों के अनुसार नहीं है, किंतु पृथ्वी की कक्षा में त्रुटि बुध ग्रह की कक्षा की त्रुटि से बहुत कम है। तो भी कहा जा सकता है कि पृथ्वी की कक्षा की गणना में भी व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत सफल रहा। अतः इन विशाल मापक्रमों की घटनाओं में जहाँ प्रतिष्ठित यांत्रिकी असफल थी वहाँ व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत सफल रहा।

(२) व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत की दूसरी कसौटी प्रकाश की वक्रीयता है। प्रकाश की किरणें जब तीव्र गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में से होकर जाती हैं, तब व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार उनका पथ अल्प मात्रा में वक्र हो जाता है। प्रकाश ऊर्जा का ही एक स्वरूप है। अतः ऊर्जा एवं द्रव्यमान के संबंध के अनुसार (समीकरण ६) प्रकाश में भी द्रव्यमान होता है और द्रव्यमान को आकर्षित करना गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र का गुण होने के कारण प्रकाशकिरण का पथ ऐसी स्थिति में स्वल्प मात्रा में टेढ़ा हो जाता है। इस फल की परीक्षा केवल सब सूर्यग्रहण के समय हो सकती है। किसी तारे का प्रकाश सूर्य के निकट से होकर निकले तो प्रकाश के मार्ग को अल्प मात्रा में वक्र हो जाना चाहिए और इसलिये तारे की आभासी स्थिति बदल जानी चाहिए। व्यापक आपेक्षिकता के इस फल को नापने का प्रयत्न १९१९, १९२२, १९२७, १९४७ इत्यादि वर्षों में सर्व सूर्यग्रहण के समय किया गया। पता चला कि प्रकाशकिरण के पथ की मापित वक्रता और व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुसार निकली वक्रता में इतना सूक्ष्म अंतर है कि हम यह कह सकते हैं कि ये प्रेक्षण व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत का समर्थन करते हैं।

(३) व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत की तीसरी परीक्षा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र के कारण वर्ण-क्रम-रेखाओं (स्पेक्ट्रास्कोपिक लाइंस) का स्थानांतरण है। इस वाद के अनुसार जो तारे तीव्र गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र में हैं उनके किसी विशेष तत्व के परमाणुओं से निकले प्रकाश का तरंगदैर्घ्य पृथ्वी के उसी तत्व के परमाणुओं के प्रकाश-तरंग-दैर्घ्य से अधिक होगा। अतः तारे के किसी एक तत्व के प्रकाश के वर्णक्रम और प्रयोगशाला में प्राप्त उसी तत्व के वर्णक्रम की तुलना से तरंगदैर्घ्य के परिवर्तन का मापन हो सकता है। प्रेक्षित निरीक्षणों के फल व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुरूप हैं, यद्यपि कुछ प्रेक्षकों (फ्राएंडलिख आदि) के अनुसार सब फल व्यापक आपेक्षिकता सिद्धांत के अनुरूप नहीं हैं।

सं०ग्रं०—ऐल्बर्ट आइन्स्टाइन : रिलेटिविटी, स्पेशल ऐंड द जेनरल थ्योरी; ऐल्बर्ट आइन्स्टाइन : दि मीनिंग आव रिलेटिविटी; सर आर्थर एडिंगटन : द मैथिमैटिकल थ्योरी आव रिलेटिविटी; सा० मालर : द थ्योरी आव रिलेटिविटी। (द० रा० भ०)

आपेक्षिकता सिद्धांत और गुरुत्वाकर्षण—आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार यह विचार कि भौतिक वस्तुएँ एक दूसरे को आकर्षित करती हैं, एक भ्रम है, जो प्रकृति संबंधी गलत यांत्रिक धारणाओं के कारण पैदा हुआ है। वस्तुतः गुरुत्वाकर्षण जडता का एक भाग मात्र है, तारे और ग्रहों की गतिविधियाँ, उनकी स्वभावगत जडता (इनर्शिया) से उत्पन्न होती हैं और उनका मार्ग दिक्-काल-संतति (स्पेस-टाइम-कॉन्टिनुअम) के वृत्तीय तत्वों पर निर्भर करता है। जिस प्रकार चुंबक के चारों

और चुंबकीय क्षेत्र होता है उसी प्रकार खगोलीय वस्तु अपने चारों ओर के आकाश में एक क्षेत्र बिखेरती है। जिस तरह चुंबकीय क्षेत्र में एक लोहे के टुकड़े की गतिविधि क्षेत्र की बनावट से निर्धारित होती है उसी तरह गुरुत्वीय क्षेत्र में किसी वस्तु का मार्ग उस क्षेत्र की ज्यामितिक अवस्था से निर्धारित होता है।

आइंस्टाइन का गुरुत्वाकर्षण संबंधी नियम दिक्काल संतति के क्षेत्रीय तत्वों की जानकारी देता है। सम्यक् उस नियम का एक भाग गुरुत्वाकर्षणजन्य वस्तु के चारों ओर के क्षेत्र से हाथ से संबंध व्यक्त करता है।

आपेक्षिकता के सिद्धांत में प्रगति--आपेक्षिकता के सिद्धांत के प्रतिपादन के बाद भी उसमें कुछ प्रगतियाँ हुई हैं। उनमें से एक तथाकथित 'ब्रह्मांड-रचना-समस्या' के संबंध में है। आपेक्षिकता के सिद्धांत से पहले ऐसा समझा जाता था कि दिक्रूपी अगाध सागर में ब्रह्मांड तैरते हुए एक द्वीप के समान है। लेकिन अचल तारों के प्रेक्षण से यह स्पष्ट हो गया है कि यह ब्रह्मांड अनंत दिक्काकाश (दिक्रूपी अगाध सागर) में तैरते हुए द्वीप के सदृश नहीं है और जितना द्रव्य ब्रह्मांड में विद्यमान है उस सबके लिये गुरुत्वकेंद्र (सेंटर ऑव ग्रैविटी) जैसे किसी बिंदु का अस्तित्व नहीं है। आपेक्षिकता के सिद्धांत के द्वारा ब्रह्मांड का जो रूप सामने आया उसकी तुलना साबुन के एक ऐसे बुलबुले से की गई है जिसकी सतह पर सिलवट हो। अंतर इतना है कि साबुन के बुलबुले में केवल दो विस्तार होते हैं जबकि ब्रह्मांडीय बुलबुले के चार विस्तार हैं--तीन दिक् (स्पेस) के और एक काल का। शून्य दिक् (जो कि शून्य काल से संपृक्त है) से उस बुलबुले का जन्म होता है।

आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मांड अनंत है और वह अनंत पर्यंत वर्धनशील है। ब्रह्मांड को सीमित मान लेने पर भी उसका एक आयाम असीमित ही रहता है।

आपेक्षिकता के सिद्धांत की प्रगति का एक भाग यह भी है कि प्रकाश के उद्गम के (ऋणात्मक) गुरुत्वीय विभव के कारण होनेवाले स्पेक्ट्रमीय रेखाओं के रक्त विस्थापन (रेड शिफ्ट) का अस्तित्व प्रेक्षण द्वारा असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गया है। इसका प्रमाण तथाकथित वामन तारों के आविष्कार से संभव हुआ है जिनका घनत्व जल के घनत्व से लगभग १०,००० गुना अधिक है। प्रेक्षित विस्थापन का मान भी अपेक्षित सीमाओं के भीतर पाया गया।

आपेक्षिकता के सिद्धांत के प्रारंभिक निर्माण में गुरुत्वाकर्षित कणों की गति का नियम गुरुत्वीय क्षेत्र के नियम के अतिरिक्त एक स्वतंत्र मौलिक संकल्पना के रूप में माना गया था जिसके अनुसार गुरुत्वाकर्षित कण अल्पांतरी (जियाडेसिक) रेखा पर गमन करता है। लेकिन बाद में यह प्रमाणित हुआ कि गति के इस नियम का विशाल द्रव्यपुंजों के लिये व्यापकीकृत रूप भी केवल दिक्काकाश के क्षेत्र समीकरणों में से ही लिया जा सकता है जिसकी व्युत्पत्ति के अनुसार गति का यह नियम इस प्रतिबंध से गर्भित है कि जिन स्थानबिंदुओं में इस क्षेत्र की उत्पत्ति होती है उनसे बाहर कहीं भी क्षेत्रीय विचित्रताओं (सिंग्युलैरिटीज) का अस्तित्व नहीं होना चाहिए।

आइंस्टाइन के विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धांत से प्राप्त कई परिणामों को अनेक प्रयोगों द्वारा परखा जा चुका है और उनकी सत्यता सिद्ध की जा चुकी है। प्रकाश से अधिक तीव्र गतिवाले कणों (टैक्यान) का अस्तित्व आइंस्टाइन के सिद्धांत को असत्य सिद्ध नहीं करता अपितु ऐसे कणों के अस्तित्व का संकेत देता है। इस बात से कई भौतिकज्ञों ने सहमति जताई है।

सं०ग्रं०--उपर्युक्त सं० ग्रं० के नवीनतम संस्करण। (नि० सि०)

आपेलीज प्राचीन पश्चिमी जगत का संभवतः सबसे महान् चित्रकार। वह चौथी शताब्दी ई० पू० में हुआ और फिलिप तथा सिकंदर (पिता पुत्र) का समकालीन था। मकदूनिया का दरबारी कलाकार। वज्रधारी सिकंदर का उसका चित्र लिसिपस द्वारा कांसे में ढाली सिकंदर की मूर्ति से कम महत्व का नहीं था। उसके मकदूनिया में बनाए अनेक चित्रों के नाम और असामान्य प्रशंसा प्राचीन इतिहासों में सुरक्षित है, यद्यपि इनमें से किसी एक की भी असल या नकल प्रति आज उपलब्ध नहीं।

(भ० श० उ०)

आप्तप्रमाण आप्त पुरुष द्वारा किए गए उपदेश को 'शब्द' प्रमाण मानते हैं। (आप्तोपदेश शब्द, न्यायसूत्र १।१।७)। आप्त वह पुरुष है जिसने धर्म के और सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को भली भाँति जान लिया है, जो सब जीवों पर दया करता है और सच्ची बात कहने की इच्छा रखता है। न्यायमत में वेद ईश्वर द्वारा प्रणीत ग्रंथ है और ईश्वर सर्वज्ञ, हितोपदेष्टा तथा जगत् का कल्याण करनेवाला है। वह सत्य का परम आश्रय होने से कभी मिथ्या भाषण नहीं कर सकता और इसलिये ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आप्त पुरुष है। ऐसे ईश्वर द्वारा मानवमात्र के मंगल के निमित्त निर्मित, परम सत्य का प्रतिपादक वेद आप्तप्रमाण या शब्दप्रमाण की सर्वोत्तम कोटि है। गौतम सूत्र (२।१।५७) में वेद के प्रामाण्य को तीन दोषों से युक्त होने के कारण भ्रांत होने का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है। वेद में नितांत मिथ्यापूर्ण बातें पाई जाती हैं, कई परस्पर विरुद्ध बातें दृष्टिगोचर होती हैं और कई स्थलों पर अनेक बातें व्यर्थ ही दुहराई गई हैं। गौतम ने इस पूर्वपक्ष का खंडन बड़े विस्तार के साथ अनेक सूत्रों में किया है (२।१।५८-६१)। वेद के पूर्वोक्त स्थलों के सच्चे अर्थ पर ध्यान देने से वेदवचनों का प्रामाण्य स्वतः उन्मीलित होता है। पुत्रेष्टि यज्ञ की निष्फलता इष्टि के यथार्थ विधान की न्यूनता तथा यागकर्ता की अयोग्यता के ही कारण है। 'उदिते जुहोति' तथा 'अनुदिते जुहोति' वाक्यों में भी कथमपि विरोध नहीं है। इनका यही तात्पर्य है कि यदि कोई इष्टिकर्ता सूर्योदय से पहले हवन करता है तो उसे इस नियम का पालन जीवन भर करते रहना चाहिए। समय का नियमन ही इन वाक्यों का तात्पर्य है। बौद्ध तथा जैन के आगम को नैयायिक लोग वेद के समान प्रमाणकोटि में नहीं मानते। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि ऋषभदेव तथा बुद्धदेव कारुणिक सदुपदेष्टा भले ही हों, परंतु विश्व के रचयिता ईश्वर के समान न तो उनका ज्ञान ही विस्तृत है और न उनकी शक्ति ही अपरिमित है। जयंत भट्ट का मत इससे भिन्न है। वे इनको भी ईश्वर का अवतार मानते हैं। अतएव इनके वचन तथा उपदेश भी आगमकोटि में आते हैं। अंतर इतना ही है कि वेद का उपदेश समस्त मानवों के कल्याणार्थ है, परंतु बौद्ध और जैन आगम कम मनुष्यों के लाभार्थ है। इस प्रकार आप्तप्रमाण के विषय में एकवाक्यता प्रस्तुत की जा सकती है। (ब० उ०)

आफ्रोदीती प्रणय और विवाह की ग्रीक देवी, भारतीय रति की समानांतर। ग्रीक पौराणिक कथाओं के अनुसार उसकी उत्पत्ति समुद्र के नीले फेन से हुई। पुनर्जागरणकाल के प्रसिद्ध इतालीय चित्रकार बोतीचेली का एक अत्यंत सुंदर चित्र आफ्रोदीती के इस सागरजन्म को अभिव्यक्त करता है। सागर से जन्म लेने के कारण ही देवी नाविकों की विशेष आराध्या बन गई थी। उसी का रोम की संस्कृति में वीनस नाम पड़ा। पहले उसका संबंध युद्ध से भी रहा था, उससे उसकी कुछ प्राचीनतम मूर्तियाँ सामरिक वेशभूषा में निर्मित हैं।

आफ्रोदीती को मेष, अज और कबूतर बड़े प्रिय हैं और उसका प्रतिनिधान वे ही अनेक बार पौराणिक कथाओं में करते हैं। देवी की मेखला विशेष चमत्कारी मानी जाती थी और उसे वह अपने प्रणयियों को अपना प्रसाद घोषित करने के लिये जब तब दे दिया करती थी। उसके प्रणयी अनेकानेक देव तो थे ही, अपने प्रेमदान से उसने मानवों को भी भाग्यवान् किया। उसके संबंध की असंख्य कथाओं में एक उस गड़ेरिए अदोनिस् की कथा है जिसे आफ्रोदीती ने अपने प्रणय का अधिकारी बनाया था। अदोनिस् को एक दिन आखेट के समय वन्य शूकर ने मार डाला, फिर तो आफ्रोदीती ने उसके लिये इतना विलाप किया कि देवताओं का हिया भी पसीज गया और उन्होंने उसके प्रिय को नवजीवन दान दिया। निश्चय यह हुआ कि अदोनिस् वसंत आदि ऋतुओं में छह महीने आफ्रोदीती के साथ स्वर्ग में रहेगा, शेष मास वह पाताल में बिताएगा। यह कथा मदनदहन, रतिविलाप और कामदेव के पुनर्जीवन का ग्रीक रूपांतर सा प्रस्तुत करती है।

आफ्रोदीती की कथा और पूजा का आरंभ विद्वान् फिनीकी देवी अस्तार्ते से मानते हैं जो एशियाई धर्मों से संबंध रखती थी और जिसका प्रचार फिनीकी सौदागरों ने पीछे ग्रीस के तटवर्ती द्वीपों में किया। कला में इस देवी का अनेकधा निरूपण हुआ है, उसकी अनेक अद्भुत मूर्तियाँ आज उपलब्ध हैं। सबसे सुंदर और विख्यात मूर्ति प्रोक्सितीलिज की बनाई कारिया में क्नीदस् के मंदिर में प्राचीन काल में स्थापित हुई थी। (भ० श० उ०)

आबनर बाइबिल के पुराने अहदनामे के अनुसार आबनर साल का चचेरा भाई और प्रधान सेनापति था। साल की मृत्यु के बाद इसराइल दो दलों में विभक्त हो गया। एक दाऊद के अधीन दक्षिण का दल और दूसरा ट्रांसजार्डन का, जो साल के बेटे और उत्तराधिकारी इशबाल के प्रति वफादार रहा। इशबाल दुर्बलमना व्यक्ति था इसलिये समस्त सत्ता आबनर के हाथों में केंद्रित हो गई। व्यक्तिगत लड़ाई में आबनर जाब के हाथों मारा गया। (वि० ना० पा०)

आबनूस यह पौधा तिंदुक कुल एबीनेसी का सदस्य है। इसके अन्य नाम इस प्रकार हैं: तिंदुक, स्फूर्जक, कालस्कंध (संस्कृत), गाभ, तेंदू (हिंदी)।

यह समस्त भारतवर्ष में पाया जाता है। यह एक मध्यप्रमाण का वृक्ष है जो अनेक शाखाओं प्रशाखाओं से युक्त होता है तथा सघन, सदाहरित पत्तियों से आच्छादित होता है। तना कठोर तथा कृष्ण वर्ण का होता है। इसकी पत्तियाँ चिकनी, आयताकार पाँच से लेकर आठ इंच तक लंबी तथा डेढ़ दो इंच चौड़ी होती हैं। इसका पुष्प श्वेतवर्ण और सुगंधित होता है। फल गोल, कठोर तथा गुरचई रंग का होता है। पक जाने पर इसका रंग पीला और स्वाद मधुर हो जाता है। प्रत्येक फल में वृक्काकृति शरीफे के समान छह से लेकर आठ तक बीज होते हैं। फल में कषाय द्रव्य (टैनिन, पेक्टीन और ग्लूकोस) होता है। कच्चे फल, छाल और पुष्प में कषाय द्रव्य बहुत होता है। इसके अतिरिक्त इसमें ग्लूटौनिक अम्ल की भी १२.८% मात्रा होती है।

इसकी लकड़ी का उपयोग इमारती सामान आदि बनाने में किया जाता है। औषधि के रूप में इसकी छाल, फल, बीज तथा पुष्प का उपयोग किया जाता है। इसकी छाल का लेप फोड़ों पर किया जाता है तथा रक्तस्राव होने पर इसका चूर्ण छिड़कने से रक्त बंद हो जाता है। इसके क्वाथ का प्रयोग रक्तविकार तथा कफ-पित्त-जन्य रोगों में करते हैं। यह योनिवस्ति प्रदर, रक्तस्राव तथा गर्भाशय की श्लेष्मकता के शोथ को दूर करने में भी उपयोगी है। इसकी छाल का क्वाथ प्रमेह, शीघ्रपतन, रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में भी दिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुष्ठ, विषमज्वर, सर्पदंश और चमड़ा रँगने के काम में भी इसकी छाल का उपयोग किया जाता है। (इ० सिं०)

आबाजी सोमदेव प्रख्यात मराठा वीर और छत्रपति शिवाजी के सेनापति। इन्होंने अपनी सैनिक सूझबूझ और अनुभव से कई युद्धों में सफलता प्राप्त की। सन् १६४८ ई० में इन्होंने अचानक आक्रमण करके बंबई के थाना जिले के कल्याणनगर को मुसलमानों से छीन लिया था। (कै० च० श०)

आबू पर्वत भारतवर्ष के राजस्थान राज्य में अरावली पर्वत का सर्वोच्च शिखर, जैनियों का प्रमुख तीर्थस्थान तथा राज्य का ग्रीष्मकालीन शैलावास है। स्थिति (२४° ४०' उ० अ०, ७२° ४५' पू० दे०)। अरावली श्रेणियों के अत्यंत दक्षिण-पश्चिम छोर पर ग्रेनाइट शिलाओं के एकल पिंड के रूप में स्थित आबू पर्वत पश्चिमी बनास नदी की लगभग सात मील सँकरी घाटी द्वारा अन्य श्रेणियों से पृथक् हो जाता है। पर्वत के ऊपर तथा पार्श्व में अवस्थित ऐतिहासिक स्मारकों, धार्मिक तीर्थमंदिरों एवं कलाभवनों में शिल्प-चित्र-स्थापत्य कलाओं की स्थायी निधियाँ हैं। यहाँ की गुफा में एक पदचिह्न अंकित है जिसे लोग भृगु का पदचिह्न मानते हैं। पर्वत के मध्य में संगमरमर के दो विशाल जैनमंदिर हैं। (का० ना० सिं०)

आबेल, नील्स हेनरिक (१८०३-१८२९ ई०) नार्वे के गणितज्ञ थे। इनका जन्म २५ अगस्त, १८०३ ई० को हुआ। इनकी शिक्षा क्रिस्टिआनिया विश्वविद्यालय (ऑसलो) में हुई। १८२५ ई० में राजकीय छात्रवृत्ति पाकर ये गणिताध्ययन के लिये जर्मनी और फ्रांस गए, परंतु आर्थिक कारणों से १८२७ ई० में इन्हें नार्वे लौटना पड़ा और वहाँ पर ६ अप्रैल, १८२९ ई० को केवल २६ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई। इस अल्प समय में भी गणित को आबेल ने अपूर्व देन दी है। समीकरणों के सिद्धांत में इन्होंने पंचघातीय व्यापक समीकरण के हल की असंभवता सिद्ध की, यह ज्ञात किया कि बीजगणित की सहायता से कौन कौन से समीकरण हल किए जा सकते हैं और उस समीकरण को हल करने की विधि प्रदान की जिसे अब आबेल का समीकरण कहा जाता है। फलनों के सिद्धांत में इन्होंने दीर्घवृत्तीय तथा अब आबेल के फलन कहे जानेवाले फलनों पर अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान किए। चल-राशि-कलन (इनटेग्रल कैलकुलस) में इनकी प्रसिद्ध देन वे अनुकल हैं जो अब आबेल के अनुकल कहलाते हैं। आबेल के अति दीर्घवृत्तीय अनुकल इन्हीं के विशिष्ट रूप हैं।

सं०ग्रं०—सी० ए० ब्यर्कनेस: नील्स हेनरिक आबेल, ताब्लो द सा वी ए सोन आक्स्यों सियांतिफिक, १८८५। (रा० कु०)

आभासवाद त्रिक दर्शन की दार्शनिक दृष्टि का अभिधान। कश्मीर का त्रिक दर्शन अद्वैतवादी है। उसके अनुसार परमशिव (जो 'अनुत्तर', 'संविद्' आदि अनेक नामों से प्रख्यात है) अपनी स्वातंत्र्यशक्ति से (जो उनकी इच्छाशक्ति का ही अपर नाम है) अपने भीतर स्थित होनेवाले पदार्थसमूह को इदं रूप से बाहर प्रकट करते हैं। इस प्रकार जो कुछ वस्तु है, अर्थात् जो वस्तु किसी प्रकार सत्ता धारण करती है, जिसके विषय में किसी भी प्रकार का शब्द प्रयोग किया जा सकता है, चाहे वह विषयी हो, विषय हो, ज्ञान का साधन हो या स्वयं ज्ञानरूप ही हो, वह 'आभास' कहलाती है। ईश्वर और जगत् के संबंध को समझाने के लिये अभिनवगुप्त ने दर्पण की उपमा प्रस्तुत की है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्ष आदि पदार्थ प्रतिबिंबित होने पर वस्तुतः अभिन्न होने पर भी दर्पण से और आपस में भी भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस विश्व की दशा है। यह परमेश्वर में प्रतिबिंबित होने पर वस्तुतः उसमें अभिन्न ही है, परंतु घट पट आदि रूप से वह भिन्न प्रतीत होता है। इस आभास या प्रतिबिंब के सिद्धांत को मानने के कारण त्रिक दर्शन का दार्शनिक मत 'आभासवाद' के नाम से जाना जाता है। इस विषय में एक वैचित्र्य भी है जिसपर ध्यान देना आवश्यक है। लोक में प्रतिबिंब की सत्ता बिंब पर आश्रित रहती है। मुकुर के सामने मुख रहने पर ही उसका प्रतिबिंब उसमें पड़ता है, परंतु अद्वैतवादी त्रिक दर्शन में इस प्रतिबिंब का उदय बिंब के अभाव में भी स्वतः होता है और इसे परमेश्वर की स्वतंत्र शक्ति की महिमा माना जाता है। इस प्रकार इस दर्शन में अद्वैत भावना वास्तविक है। द्वैत की कल्पना नितांत कल्पित है।

(ब० उ०)

आभीर (हिंदी अहीर) एक घुमक्कड़ जाति थी जो शकों की भाँति बाहर से हिंदुस्तान में आई। इस जाति के लोग काफी संख्या में हिंदुस्तान आए तथा यहाँ के पश्चिमी, मध्यवर्ती और दक्षिणी हिस्सों में बस गए। इनकी देहयष्टि सीधी खड़ी होती है और ये उन्नतनास होते हैं। जाति से शक्तिमान् हैं, शरीर से नितांत पुष्ट और सशक्त। जातीय रूप में इनमें नृत्य होता है, जिसमें पुरुष स्त्री दोनों ही भाग लेते हैं। जातीय नृत्य का प्रचलन भारत की प्रकृत जातियों में नहीं है। अहीर नारियों में पर्दा भी कभी नहीं रहा। दक्षिण में उत्तरी कोंकण और उसके आसपास के प्रदेशों में इनका जोर था। आगे चलकर आभीरों ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तथा वे सुनार, बढ़ई और ग्वाले आदि उपजातियों में बँट गए। कई जगह तो वे अपने को ब्राह्मण मानकर जनेऊ भी पहनने लगे।

सर्वप्रथम पतंजलि के महाभाष्य में आभीरों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शूद्रों के साथ आभीरों का उल्लेख है। विनशन नामक स्थान में ये जातियाँ निवास करती थीं, जहाँ राजस्थान के रेगिस्तान में सरस्वती नदी विलुप्त हो गई है। दूसरे ग्रंथों में आभीरों को अपरांत का निवासी बताया गया है जो भारत का पश्चिमी अथवा कोंकण का उत्तरी हिस्सा माना जाता

है। पेरिप्लस और तालमी के अनुसार सिंधु नदी की निचली घाटी और काठियावाड के बीच के प्रदेश को आभीर देश माना गया है।

आभीरो को म्लेच्छो की कोटि मे रखा गया है। मनुस्मृति मे ब्राह्मण पिता और अबष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के सयोग से उत्पन्न) माता से आभीरो की उत्पत्ति बताई गई है। आभीर देश जैन श्रमणों के विहार का केंद्र था। अचलपुर (वर्तमान एलिचपुर, बरार) इस देश का प्रमुख नगर था जहाँ कण्हा (कन्हन) और वेण्णा (वेन) नदियों के बीच ब्रह्मद्वीप नाम का एक द्वीप था। तगरा (तेरा, जिला उस्मानाबाद) इस देश की सुदर नगरी थी। आभीरपुत्र नाम के एक जैन साधु का उल्लेख भी जैन ग्रथो मे मिलता है।

आभीरो का उल्लेख अनेक शिलालेखो मे पाया जाता है। शक राजाओ की सेनाओं मे ये लोग सेनापति के पद पर नियुक्त थे। आभीर राजा ईश्वरसेन का उल्लेख नासिक के एक शिलालेख मे मिलता है। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी तक आभीरो का राज्य रहा।

आजकल की अहीर जाति ही प्राचीन काल के आभीर है। अहीरवाड (सस्कृत मे आभीरवार, भिलसा और भासी के बीच का प्रदेश) आदि प्रदेशो के अस्तित्व से आभीर जाति की शक्ति और सामर्थ्य का पता चलता है।

सं०ग्रं०—आर० जी० भडारकर कलेक्टेड वर्क्स (१६३३, १६२८, १६२७, १६२६), बी० वेंकट कृष्णराव अर्ली डाइनैस्टीज़ आव आंध्र देश (१६४२), अभिधानराजेंद्र कोश, भाग दो (१६१०)। (ज० च० जै०)

आभीरी १ आभीर की स्त्री, अहीरिन। प्राचीन जैन कथासाहित्य मे आभीर और आभीरियो की अनेक कहानियाँ आती है। २ आभीरो से सबध रखनेवाला अपभ्रश भाषा का एक मुख्य भेद। अपभ्रश के ब्राचड, उपनागर, आभीर और ग्राम्य आदि अनेक भेद बताए गए है। आभीर जाति लडाकू ही नही थी, बल्कि इस देश की भाषा को समृद्ध बनाने मे भी इस जाति ने योगदान किया था। ईसवी सन् की दूसरी तीसरी शताब्दी मे अपभ्रश भाषा आभीरी के रूप मे प्रचलित थी जो सिंधु, मुलतान और उत्तरी पजाब मे बोली जाती थी। छठी शताब्दी तक अपभ्रश आभीर तथा अन्य लोगो की बोली मानी जाती रही। आगे चलकर नवा शताब्दी तक आभीर, शबर और चाडालो का ही इस बोली पर अधिकार नही रहा, बल्कि शिल्पकार और कमकार आदि सामान्य जनों की बोली हो जाने से अपभ्रश ने लोकभाषा का रूप धारण किया और क्रमश यह बोली सौराष्ट्र और मगध तक फैल गई।

स०ग्रं०—पी० डी० गुने भविसयत्त कहा, भूमिका (१६२३)। (ज० च० जै०)

आम अत्यत उपयोगी, दीर्घजीवी, सघन तथा विशाल वृक्ष है, जो भारत मे दक्षिण मे कन्याकुमारी से उत्तर मे हिमालय की तराई तक (३,००० फुट की ऊँचाई तक) तथा पश्चिम मे पजाब से पूर्व मे आसाम तक, अधिकता से होता है। अनुकूल जलवायु मिलने पर इसका वृक्ष ५०–६० फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाता है। वनस्पति वैज्ञानिक वर्गीकरण के अनुसार आम ऐनाकार्डियसी कुल का वृक्ष है। आम के कुछ वृक्ष बहुत ही बडे होते है। डाक्टर एम० एस० राधवा (१६४६) के अनुसार बुडनगाव (चडीगढ) मे 'छप्पर' नामक आम के एक वृक्ष के तने का घेरा ३२ फुट है, अनेक शाखाएँ पाँच से लेकर १२ फुट तक मोटी और ७० से ८० फुट तक लबी है। छप्पर २,७०० वर्ग गज स्थान घेरे हुए है और उसके फल की औसत वार्षिक उपज ४५० मन है।

आम का वृक्ष बडा और खडा अथवा फैला हुआ होता है, ऊँचाई ३० से ६० फुट तक होती है। छाल खुरदरी तथा मटमैली या काली, लकडी कठीली और ठस होती है। इसकी पत्तियाँ सादी, एकातरित, लबी, भालाकार (भाले की तरह) अथवा दीर्घवृत्ताकार, नुकीली, पाँच से १६ इच तक लबी, एक से तीन इच तक चौडी, चिकनी और गहरे हरे रग की होती है, पत्तियो के किनारे कभी कभी लहरदार होते है। वृत (डठल) एक से चार इच तक लबे, जोड के पास फूले हुए होते है। पुष्पक्रम सयुत एकवर्ध्यक्ष (पैनिकिल), प्रशाखित और लोमश होता है। फूल छोटे, हलके बसती रग के या ललछौंह, मीनी गंधमय और प्राय. डंठलरहित होते हैं; नर और उभयलिंगी दोनो प्रकार के फूल एक ही बौर (पैनिकिल) पर होते है। बाह्यदल (सेपल) लबे अडे के रूप के, अवतल (कॉनकेव), पँखुडियाँ बाह्यदल की अपेक्षा दुगुनी बडी, अडाकार, तीन से पाँच तक उभडी हुई नारगी रग की धारियो सहित, बिब (डिस्क) मासल, पाँच भागवाला (लोब्ड), एक परागयुक्त (फर्टाइल) पुकेसर, चार छोटे और विविध लबाई के वध्य पुकेसर (स्टैमिनोड), परागकोश कुछ कुछ बैंगनी और अडाशय चिकना होता है। फल सरस, मासल, अष्ठिल, तरह तरह की बनावट एव आकारवाला, चार से २५ सेंटीमीटर तक लबा तथा एक से १० सेंटीमीटर तक घेरेवाला होता है। पकने पर इसका रग हरा, पीला, जोगिया, सिंदुरिया अथवा लाल होता है। फल गूदेदार, फल का गूदा पीला और नारगी रग का तथा स्वाद मे अत्यत रुचिकर होता है। इसके फल का छिलका मोटा या कागजी तथा इसकी गुठली एकल, कठीली एव प्राय रेशेदार तथा एकबीजक होती है। बीज बडा, दीर्घवत्, अडाकार होता है।

उद्यान मे लगाए जानेवाले आम की लगभग १,४०० जातियो से हम परिचित है। इनके अतिरिक्त कितनी ही जगली और बीजू किस्मे भी हैं। गगोली आदि (सन् १६५५) ने २१० बढिया कलमी जातियों का सचित्र विवरण दिया है। विभिन्न प्रकार के आमो के आकार और स्वाद मे बडा अतर होता है। कुछ बेर से भी छोटे तथा कुछ, जैसे सहारनपुर का हाथीभूल, भार मे दो ढाई सेर तक होते है। कुछ अत्यत खट्टे अथवा स्वादहीन या चेप से भरे होते है, परतु कुछ अत्यत स्वादिष्ट और मधुर होते है। फायर (सन् १६७३) ने आम को आडू और खूबानी से भी रुचिकर कहा है और हैमिल्टन (सन् १७२७) ने गोवा के आमो को सबसे बडे, स्वादिष्ट तथा ससार के फलो मे सबसे उत्तम और उपयोगी बताया है। भारत के निवासियो मे अति प्राचीन काल से आम के उपवन लगाने का प्रेम है। यहाँ की उद्यानी कृषि मे काम आनेवाली भूमि का ७० प्रति शत भाग आम के उपवन लगाने के काम आता है। स्पष्ट है कि भारतवासियों के जीवन और अर्थव्यवस्था का आम से घनिष्ठ सबध है। इसके अनेक नाम जैसे सौरभ, रसाल, चुवत, टपका, सहकार, आम, पिकवल्लभ आदि भी इसकी लोकप्रियता के प्रमाण है। इसे 'कल्पवृक्ष' अर्थात् मनोवाछित फल देनेवाला भी कहते है। शतपथ ब्राह्मण मे आम की चर्चा इसकी वैदिक कालीन तथा अमरकोश मे इसकी प्रशसा इसकी बुद्धकालीन महत्ता के प्रमाण है। मुगल सम्राट् अकबर ने 'लालबाग' नामक एक लाख पेडोवाला उद्यान दरभगा के समीप लगवाया था, जिससे आम की उस समय की लोकप्रियता स्पष्ट है। भारतवर्ष मे आम से सबधित अनेक लोकगीत, आख्यायिकाएँ आदि प्रचलित है और हमारी रीति, व्यवहार, हवन, यज्ञ, पूजा, कथा, त्योहार तथा सभी मगलकार्यों मे आम की लकडी, पत्ती, फूल अथवा एक न एक भाग प्राय काम आता है। आम के बौर की उपमा वसतदूत से तथा मजरी की मन्मथतीर से कवियो ने दी है। उपयोगिता की दृष्टि से आम भारत का ही नही वरन् समस्त उष्ण कटिबध के फलो का राजा है और इसका बहुत तरह से उपयोग होता है। कच्चे फल से चटनी, खटाई, अचार, मुरब्बा आदि बनाते हैं। पके फल अत्यत स्वादिष्ट होते है और उन्हे लोग बडे चाव से खाते है। ये पाचक, रेचक और बलप्रद होते है।

आम लक्ष्मीपतियों के भोजन की शोभा तथा गरीबो की उदरपूर्ति का अति उत्तम साधन है। पके फल को तरह तरह से सुरक्षित करके भी रखते है। रस को थाली, चकले, कपडे इत्यादि पर पसार, धूप मे सुखा 'अमावट' बनाकर रख लेते है। यह बडी स्वादिष्ट होती है और इसे लोग बडे प्रेम से खाते है। कही कही फल के रस को अडे की सफेदी के साथ मिलाकर अतिसार और आँव के रोग मे देते है। पेट के कुछ रोगो मे छिलका तथा बीज हितकर होता है। कच्चे फल को भूनकर पना बना, नमक, जीरा, हीग, पोदीना इत्यादि मिलाकर पीते है, जिससे तरावट आती है और लू लगने का भय कम रहता है। आम के बीज मे गैलिक अम्ल अधिक होता है और यह खूनी बवासीर और प्रदर मे उपयोगी है। आम की लकडी गृहनिर्माण तथा घरेलू सामग्री बनाने के काम आती है। यह ईंधन के रूप मे भी अधिक बरती जाती है। आम की उपज के लिये कुछ कुछ बालूवाली भूमि, जिसमे आवश्यक खाद हो और पानी का निकास ठीक हो, उत्तम होती है। आम की उत्तम जातियो के नए पौधे प्राय भेटकलम द्वारा तैयार किए जाते हैं (द्र० उद्यान विज्ञान)। कलमों और मुकुलन (बडिंग) द्वारा भी ऐसी किस्में तैयार की जाती

हैं। बीजू आमों की भी अनेक बढ़िया जातियाँ हैं, परतु इनमे विशेष असुविधा यह है कि इस प्रकार उत्पन्न आमों मे वांछित पैतृक गुण कभी आते है, कभी नही (द्र० आनुवंशिकता), इसलिये इच्छानुसार उत्तम जातियाँ इस रीति से नही मिल सकती। आम की विशेष उत्तम जातियों मे वाराणसी का लँगड़ा, बबई का अलफाजो तथा मलीहाबाद और लखनऊ के दशहरी तथा सफेदा उल्लेखनीय है।

आम का इतिहास अत्यत प्राचीन है। डी कैंडल (सन् १८८४) के अनुसार आम्र प्रजाति (मैंजीफेरा जीनस) सभवत: बर्मा, स्याम तथा मलाया मे उत्पन्न हुई, परतु भारत का आम, मैंजीफेरा इडिका, जो यहाँ, बर्मा और पाकिस्तान मे जगह जगह स्वय (जगली अवस्था मे) होता है, बर्मा-आसाम अथवा आसाम मे ही पहले पहल उत्पन्न हुआ होगा। भारत के बाहर लोगो का ध्यान आम की ओर सर्वप्रथम सभवत बुद्धकालीन प्रसिद्ध यात्री, ह्युयेनत्साग (सन् ६३२-४५), ने आकर्षित किया।

आम
वाराणसी का लँगडा।

आम के अनेक शत्रु है। इनमे ऐनथ्रैकनोस, जो कवकजनित रोग है और आर्द्रताप्रधान प्रदेशो मे अधिक होता है, पाउडरी मिल्डिउ, जो एक अन्य कवक से उत्पन्न होनेवाला रोग है तथा ब्लैक टिप, जो बहुधा ईट चूने के भट्टों के धुएँ के ससर्ग से होता है, प्रधान है। अनेक कीडे मकोडे भी इसके शत्रु है। इनमे मैंगोहॉपर, मैंगो बोरर, फ्रूट फ्लाई और दीमक मुख्य है। जल-चूना-गधक-मिश्रण, सुर्ती का पानी तथा संखिया का पानी इन रोगो मे लाभकारी होता है। (शि० क० पा०)

आयुर्वेदिक मतानुसार आम के पचाग (पाँच अग) काम आते है। इस वृक्ष की अतर्छाल का क्वाथ प्रदर, खूनी बवासीर तथा फेफडो या आँत से रक्त-स्राव होने पर दिया जाता है। छाल, जड तथा पत्ते कसैले, मलरोधक, वात, पित्त तथा कफ का नाश करनेवाले होते है। पत्ते बिच्छू के काटने मे तथा इनका धुआँ गले की कुछ व्याधियो तथा हिचकी मे लाभदायक है। फूलो का चूर्ण या क्वाथ अतिसार तथा सग्रहणी मे उपयोगी कहा गया है। आम का बौर शीतल, वातकारक, मलरोधक, अग्निदीपक, रुचिवर्धक तथा कफ, पित्त, प्रमेह, प्रदर और अतिसार को नष्ट करनेवाला है। कच्चा फल कसैला, खट्टा, वात पित्त को उत्पन्न करनेवाला, आँतो को सिकोडनेवाला, गले की व्याधियो को दूर करनेवाला तथा अतिसार, मूत्रव्याधि और योनिरोग मे लाभदायक बताया गया है। पका फल मधुर, स्निग्ध, वीर्यवर्धक, वातनाशक, शीतल, प्रमेहनाशक तथा व्रण, श्लेष्म और रुधिर के रोगो को दूर करनेवाला होता है। यह श्वास, अम्लपित्त, यकृतवृद्धि तथा क्षय मे भी लाभदायक है।

आधुनिक अनुसधानो के अनुसार आम के फल मे विटामिन ए और सी पाए जाते हैं। अनेक वैद्यो ने केवल आम के रस और दूध पर रोगी को रखकर क्षय, सग्रहणी, श्वास, रक्तविकार, दुर्बलता इत्यादि रोगो मे सफलता प्राप्त की है। फल का छिलका गर्भाशय के रक्तस्राव, रक्तमय काले दस्तो में तथा मुँह से बलगम के साथ रक्त जाने मे उपयोगी है। गुठली की गरी का चूर्ण (मात्रा २ माशा) श्वास, अतिसार तथा प्रदर मे लाभदायक होने के सिवाय कृमिनाशक भी है।

सं०ग्रं०—डी० कैडोल, ए० : ओरिजिन ऑव कल्टिवेटेड प्लैंट्स (केगान पाल ट्रेंच एड क०, लदन, १८८४); गागुली, एस० आर० आदि : दि मैंगो (इडियन काउसिल ऑव ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, १९५७); मुकर्जी, एस० के० : दि ओरिजिन ऑव मैंगो (इडियन जरनल ऑव जेनेटिक्स ऐंड प्लैंट ब्रीडिग, १९५१), मुकर्जी, एस० के० : द मैंगो, इट्स बॉटैनी, कल्टिवेशन ऐंड फ्यूचर इप्रूवमेंट, स्पेशली ऐज ऑब्जर्व्ड इन इडिया (इकॉनॉमिक बोट० ७ (२) १३२-१६२ एप्रिल-जून), राधवा, एम० एस० : ए जाएट मैंगो ट्री, वैविलॉव, एन० आई० : दि ओरिजिन, वैरिएशन, इम्म्यूनिटी ऐंड ब्रीडिंग ऑव कल्टिवेटेड प्लैंट्स (क्रौनिका बॉटैनिका, १३ (१।६) १९४९-५०)। (भ० दा० व०)

आमवातज्वर (रूमैटिक ज्वर) का कारण आजकल स्टैफिलोकोकस (एक प्रकार के रोगाणु) समूह का विलबित सक्रमण समझा जाता है, परन्तु इसमे पूयोत्पादन नही होता (पीब नही बनती)। अब तक इसका बहुत कुछ प्रमाण मिल चुका है कि रक्तद्रावक स्टैफिलोकोकस जीवाणु की उपस्थिति से रोग प्रकट होता है। पहले श्वासमार्ग के ऊपरी भाग का सक्रमण, फिर एक से दो सप्ताह का गुप्तकाल, तत्पश्चात् रूमैटिक ज्वर का उत्पन्न होना, यह क्रम रोग मे इतनी अधिक बार पाया जाता है कि उससे इन अवस्थाओ के आपस मे सबधित होने की बहुत अधिक सभावना जान पडती है। किंतु इस सबध की सभी बातो का अभी तक ठीक ठीक पता नही चल सका है। बहुत से विद्वान् परिवर्तित ऊतक प्रतिक्रिया को इसका कारण मानते है।

रूमैटिक ज्वर मे शरीर के सौत्रिक ऊतको मे विशेष परिवर्तन होते हैं, उनमे छोटी गाँठे निकल आती है, जिनको 'ऐशॉफ पिंड' कहते हैं। यह रोग सारे ससार मे होता है। शीत प्रदेशो मे, जहाँ आर्द्रता अधिक होती है, रोग विशेषकर होता है और अस्वच्छ दशाओ मे रहनेवाले व्यक्तियो में अधिक पाया जाता है। यह दो से १५ वर्ष के, अर्थात् स्कूल जानेवाले बालको को विशेष कर होता है।

पुस्तको मे वर्णित लक्षण, शीत के साथ ज्वर आना, १०० से १०२ डिग्री तक ज्वर, एक के पश्चात् दूसरे जोड मे शोथ होना तथा सधियो मे पीडा और सूजन, पसीना अधिक आना आदि बहुत कम रोगियो मे पाए जाते है। अधिकतर अगो तथा जोडो मे पीडा, मदज्वर, थकान और दुर्बलता, ये ही लक्षण पाए जाते है। इसी प्रकार के मद रोगक्रम मे हृदय तथा मस्तिष्क आक्रात हो जाते है।

युवावस्था मे हुए उग्र आक्रमणो मे रोग शीघ्रता से बढ़ता है। ज्वर १०३ से १०४ डिग्री तक हो जाता है। सधिशोथ भी तीव्र होता है, किंतु हृदय और मस्तिष्क अपेक्षाकृत बच जाते है। उचित चिकित्सा से ज्वर और सधिशोथ शीघ्र ही कम हो जाते है और रोगी आरोग्यलाभ करता है।

हृदार्ति—बालक का अकस्मात् नीलवर्ण हो जाना, श्वास लेने मे कठिनाई होना, हृद्वेग का बढ जाना, नवीन सधि के आक्रात न होने पर भी ज्वर का बढ़ना, ये लक्षण हृदय के आक्रात होने के द्योतक है। इस दशा मे विशिष्ट चिह्न ये है—परिहृच्छदीय (पेरिकार्डियल) घर्षण ध्वनि, हृदगति मे क्रमहीनता, विशेषकर हृदयरोध (हार्ट ब्लॉक), हृदय की त्वरित गति (गैलप रिद्म), हृदय के शिखर पर हत्सकोची तीव्र मर्मर ध्वनि, हृदय के महाधमनी क्षेत्र मे सकोची मृदु मर्मर और विस्तारीयकाल के बीच मे गडगडाहट की ध्वनि। इन लक्षणो की अनुपस्थिति मे हृदय के आक्रात हो जाने का निश्चय करना कठिन हो जाता है। यदि पी० आर० अत काल बढा हुआ हो, टी तरगो का विपर्यय हो अथवा क्यू० टी० अत काल परिवर्तित हो, तो ऐसी दशा मे इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम से सहायता मिल सकती है।

कोरिया—यह रूमैटिक ज्वर का दूसरा रूप है, जो विशेषकर बच्चो मे पाया जाता है। पश्चिमी शीतप्रधान देशो मे ५० प्रति शत बच्चो को यह रोग होता है, किंतु उष्ण प्रदेशो मे इतना अधिक नही होता। यह लक्षण देर से प्रकट होता है तथा इसका आरभ अप्रकट रूप से हो जाता है। इसमें

बेचैनी, मानसिक उद्विग्नता और अंगों में अकारण, अनियमित तथा बिना इच्छा के गति होती रहती है। हलके रोग में इसका पहचानने के लिये बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

अधश्चर्म गुमटे (नोड्यूल)—ये रूमैटिक ज्वर के विशिष्ट लक्षण हैं, किंतु अज्ञात कारणों से उग्र दशा में नहीं पाए जाते। ये गुमटे नाप में एक से दो सेंटीमीटर तक होते हैं और कलाइयों, कोहनियों, घुटनों तथा रीढ़ की हड्डी पर और सिर के पीछे उभड़ते हैं।

प्रयोगात्मक जाँच की अनुपस्थिति में केवल लक्षणों से ही निदान करना पड़ता है और इसलिये बहुत सावधानी से निरीक्षण करना आवश्यक है।

इसकी विशिष्ट चिकित्सा सैलीसिलेटों, गेमिटिन सैलिसिलिक ऐसिड और स्टेराइडों की ऊँची मात्राओं में होती है। हृदय के आक्रांत होने पर पुनराक्रमण को रोकने के लिये बहुत दिनों तक विश्राम तथा सावधानी से सुश्रूषा आवश्यक है तथा इसी उद्देश्य से पेनिसिलिन तथा सल्फोनामाइड मुख से देने की परीक्षा हो रही है। (वी० भा० भा०)

आमवातीय संध्यार्ति (रूमैटॉइड आर्थ्राइटिज) एक ऐसी चिरकालिक व्याधि है जो साधारणतः धीरे धीरे बढ़ती ही जाती है। अनेक संधिजोड़ों का विनाशकारी और विरूपकारी शोथ इसका विशेष लक्षण है। साथ ही शरीर के अन्य संस्थानों पर भी इस रोग का प्रतिकूल प्रभाव होता है। मुख्यतः पेशी, त्वचाधर, ऊतक (सबक्यूटेनियस टिशू), परिणाह तंत्रिका (पेरिफेरल नर्व्स), तंत्रिका संरचना (निर्वेटिक स्ट्रक्चर) एवं रक्त संस्थानों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अंत में अवयवों का नीलापन अथवा हथेली तथा उँगलियों की पोरों की कोशिकाओं (कैपिलरीज) का विस्फारण (डाइलेटेशन) और हाथ पाँवों में अत्यधिक स्वेद इस रोग की उग्रता के सूचक हैं।

यह व्याधि सब आयु के व्यक्तियों को ग्रसित कर सकती है, पर २० से ४० वर्ष तक की अवस्था के लोग इससे अधिक ग्रस्त होते हैं।

२०वीं शताब्दी के मध्य तक इस रोग का कारण नहीं जाना जा सका था। वंशानुगत अस्वाभाविकता, अतिहृषता (ऐलर्जी), चयापचय विक्षोभ (मेटाबोलिक डिसऑर्डर) तथा शाकाणुओं में इसके कारणों को खोजा गया, किंतु सभी प्रयत्न असफल रहे। १९ हार्मोनों ११ वीं हाइड्रो-कॉर्टिकोस्टेरॉन (केंडल का E यौगिक) तथा ऐड्रेनो कार्टिकोट्रॉफिक हार्मोनों की खोज के बाद देखा गया कि ये इस व्याधि से मुक्ति देते हैं। अतएव इस रोग के कारण को हार्मोन उत्पत्ति की अनियमितताओं में खोजने का प्रयत्न किया गया, किंतु अभी तक इस रोग के मूल कारण का पता नहीं चल सका है।

चिकित्सक साधारणतः इसे कोलैजन (कोलाजेन) व्याधि बताते हैं। यह इंगित करता है कि आमवातीय संध्यार्ति योजी ऊतक (कनेक्टिव टिशू), अस्थि तथा कास्थि (कार्टिलेज) के श्वेत तंतुओं के प्रोटीन (म्यूकोपॉलिसैकाराइड) पदार्थों में हुए उपद्रवों के कारण उत्पन्न हो सकता है।

आमवातीय संध्यार्ति के दो प्रकार होते हैं :

पहला—जब रोग का आक्रमण मुख्यतः हाथ पाँव की संधियों पर होता है, इसे परिणाह (पेरिफेरल) प्रकार कहते हैं।

दूसरा—जब रोग मेरुदंड के रूप में हो। इसे स्ट्रुंपेल की व्याधि अथवा बेख्टरू की व्याधि कहते हैं।

इस रोग का तीसरा प्रकार पहले दोनों प्रकारों के सम्मिलित आक्रमण के रूप में हो सकता है। पहला प्रकार महिलाओं तथा दूसरा पुरुषों को विशेष रूप से ग्रसित करता है।

दोनों प्रकार के रोगों का आक्रमण प्रायः एकाएक ही होता है। तीव्र दैहिक लक्षण, जैसे कई संधियों की कठोरता तथा सूजन, थकान, भार में कमी, चलने में कष्ट एवं तीव्र ज्वर के रूप में प्रकट होते हैं। संधियाँ सूजी हुई दिखाई पड़ती हैं तब उनके छूने मात्र से ही पीड़ा होती है। कभी कभी उनमें नीली विवर्णता भी दृष्टिगत होती है। कई अवसरों पर प्रारंभ में कुछ ही संधियों पर आक्रमण होता है, किंतु अधिकतर अनेक संधियों पर सममित रूप (सिमेट्रिकल पैटर्न) में रोग का आक्रमण होता है। उदाहरण के लिये दोनों हाथों की उँगलियाँ, कलाइयाँ, दोनों पाँवों की पादशलाका-अंगुलि-पर्वीय संधियाँ (मेटाटार्सो फैलैंजियल जॉएंट्स), कुहनी तथा घुटने आदि।

रोग के क्रम में अधिकतर शीघ्र प्रगति होती है एवं तीव्र लक्षण उत्पन्न होते हैं, किंतु इसके पश्चात् स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अच्छा होकर फिर खराब हो जाता है और भली तथा बुरी अवस्थाएँ एकांतरित होती रहती हैं। कभी कभी रोग के लक्षण पूर्ण रूप से लुप्त हो जाते हैं और रोगी अच्छे स्वास्थ्य की दशा में वर्षों तक रहता है। रोग का आक्रमण पुनः भी हो सकता है। कुछ अवसरों पर रोग इतना अधिक बढ़ जाता है कि रोगी विरूप एवं अपंग हो जाता है। साथ ही मांसपेशियों का क्षय हो जाता है तथा अपुष्टिताजनित विभिन्न चर्मविकार उत्पन्न हो जाते हैं।

रोग के हलके आक्रमणों में रक्त-कोष-गणना तथा शोणवर्णलि (हीमोग्लोबिन) के आगणन से परिमित रक्तहीनता पाई जाती है। तीव्र आक्रमण में अत्यंत रक्तहीनता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार हलके आक्रमणों में लोहिताणुओं (एरिथ्रोसाइट्स) का प्लाविका (प्लाज्मा) में तलछटीकरण (सेडिमेंटेशन) अपेक्षाकृत शीघ्र होता है, किंतु तीव्र आक्रमणों में यह तलछटीकरण और भी शीघ्र हो जाता है।

रोग का तीव्र आक्रमण होने पर रक्त में लसीश्वेति (सीरम ऐल्ब्युमिन) की अपेक्षा लसीग्लावर्लनि (सीरम ग्लाबुलिन) की बढ़ती दिखाई पड़ती है। यह बढ़ती कभी कभी इतनी अधिक हो जाती है कि रक्त में दोनों यौगिकों का अनुपात ही उलटा हो जाता है।

इस रोग में कभी कभी रोगी के हृदय की मांसपेशियों तथा हृत्कपाटों में दोषग्रस्त होने के चिह्न तथा लक्षण मिलते हैं। इस रोग के लगभग ५० प्रति शत रोगियों में हृदय पर आक्रमण पाया जाता है।

मूल कारणों के ज्ञान के अभाव में लक्षणों के निवारण हेतु ही चिकित्सा की जाती है। पीड़ा को दूर करने के लिये पीडानिरोधक ओषधियाँ दी जाती हैं। साथ ही शरीर के क्षय का निवारण करने के लिये आवश्यक भोजन तथा पूर्ण विश्राम कराया जाता है। संधियों की मालिश भी की जाती है। स्वर्ण के लवणों का प्रभाव इस रोग पर अनुकूल होता है, किंतु इनके अधिक प्रयोग से विपरीत प्रभाव भी देखे गए हैं। केंडल के यौगिक एफ तथा ई के साथ पीयूषग्रंथि (पिट्यूटरी ग्लैंड) के हार्मोन ऐड्रीनो-कार्टिको-ट्रॉफिक का प्रयोग भी इस रोग में लाभकारी है।

सं०ग्रं०—बॉअर, डब्ल्यू० : रूमैटॉइड आर्थ्राइटीज, जे० ए० एम० ए० १२८, ३६७, १९४८; रूमैटिज्म ऐंड आर्थ्राइटीज : रिव्यू ऑव अमेरिकन ऐंड इंगलिश लिटरेचर ऑव रीसेंट ईयर्स, (टेथ रूमैटिज्म रिव्यू) भाग १, ऐनल्स इंटरनैशनल मेडिसिन, ३८ : ८९८, १९५३, भाग २, वही, ३८ : ७५७, १९५३; वार्ड एल० ई० तथा हेंच पी० एस० : कार्टिसोन इन ट्रीटमेंट ऑव रूमैटॉइड आर्थ्राइटीज, जे० ए० एम० ए०, १५२ : ११९, १९५३; सेसिल तथा लोब : टेक्स्टबुक ऑव मेडिसिन, १९५५ का संस्करण। (दे० मि०)

आमाशय तथा ग्रहणी के व्रण (पेप्टिक व्रण) एक अघातक परिमित व्रण होता है, जो पाचन प्रणाली के उन भागों में पाया जाता है जहाँ अम्ल और पेपसिन युक्त आमाशयिक रस भित्ति के संपर्क में आता है, जैसे ग्रासनलिका का निम्न प्रांत, आमाशय और ग्रहणी। इन व्रणों का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। इनके कारण हुए रक्तस्राव का वर्णन हिप्पोक्रेटीज ने ४६० ई० पू० में किया है, किंतु सभ्यता के आधुनिक संघर्षमय वातावरण में यह रोग बहुत अधिक पाया जाता है। शवपरीक्षा के आँकड़ों के अनुसार संसार के १० प्रति शत व्यक्ति ऐसे व्रणों से आक्रांत रहते हैं।

लक्षण—सामान्यतः यह व्रण २० से ५० वर्ष की आयु में होता है। आमाशय व्रण की अपेक्षा पक्वाशय में व्रण अल्प वय में होता है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में चार गुना अधिक पाया जाता है। यह प्रायः साधारण अपक्षरण के समान होता है, जो कुछ व्यक्तियों में चिरस्थायी रूप ले लेता है। इसका क्या कारण है, यह अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है,

किंतु यह माना जाता है कि आमाशय में अम्ल की अधिकता, आमाशय के ऊतकों की प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास और मानसिक उद्विग्नता व्रणों की उत्पत्ति में विशेष भाग लेते हैं।

रोग का सामान्य लक्षण—भोजन के पश्चात् उदर के उपरिजठर प्रांत में पीडा होती है, जो वमन होने से या क्षार देने से शांत या कम हो जाती है। रोगी को समय समय पर ऐसे आक्रमण होते रहते हैं, जिनके बीच वह पीडा से मुक्त रहता है। कुछ रोगियों में पीडा अत्यधिक और निरंतर होती है और साथ में वमन भी होते हैं, जिससे पित्तजनित शूल का संदेह होने लगता है। मुँह से अधिक लार टपकना, आम्लिक डकारों का आना, गैस बनने के कारण बेचैनी या पीडा, वक्षोस्थि के पीछे की ओर जलन और कोष्ठबद्धता, कुछ रोगियों को ये लक्षण प्रतीत होते हैं। आमाशय से रक्तस्राव के निरंतर या अधिक मात्रा में होने के कारण रक्ताल्पता हो सकती है। दूसरे उपद्रव जो उत्पन्न हो सकते हैं वे ये हैं (१) निच्छिद्रण (परफ़ारेशन), (२) जठरनिर्गम (पाइलोरस) की रुकावट (ऑब्स्ट्रक्शन) तथा (३) आमाशय और अन्य अंगों का जुड़ जाना।
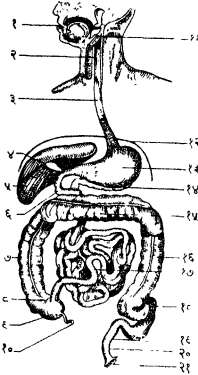
आमाशय, ग्रहणी तथा पाचक नाल के अन्य अंग

१ मुँह, २ ग्रसनी, ३ ग्रासनली, ४ पित्तवाहिनी, ५ यकृत, ६ ग्रहणी, ७ बृहदांत्र, ८ क्षुद्रांत्र तथा बृहदांत्र की संधि, ९ अंधांत्र, १० परिशेषिका, ११ कंठ, १२ मध्यच्छदा (डायाफ़ाम), १३ आमाशय, १४ क्लोम, १५ अनुप्रस्थ बृहदांत्र, १६ अवरोही बृहदांत्र, १७ क्षुद्रांत्र, १८ श्रोणिगा बृहदांत्र, १९ मलाशय, २० गुदा, २१ मलद्वार।

निदान—रोगी की व्यथा के इतिहास से रोग का संदेह हो जाता है, किंतु उसका पूर्ण निश्चय मल में अदृश्य रक्त की उपस्थिति, अम्लता की परीक्षा तथा एक्स-रश्मि द्वारा परीक्षणों से होता है। बेरियम खिलाकर एक्स-रश्मि चित्र लिए जाते हैं तथा आमाशयदर्शक द्वारा व्रण को देखा जा सकता है।

चिकित्सा—उपद्रवमुक्त रोगियों की ओषधियों द्वारा चिकित्सा करके साधारणतया स्वस्थ दशा में रखना संभव है। चिकित्सा का विशेष सिद्धांत रोगी की मानसिक उद्विग्नता और समस्याओं को दूर करना और आमाशय में अम्ल को कम करना है। अम्ल की उत्पत्ति को घटाना और उत्पन्न हुए अम्ल का निराकरण, दोनों आवश्यक हैं। इनसे व्रणों के अच्छे होने और रोगी के पुनःस्थापन में बहुत सहायता मिलती है तथा व्रण फिर से नहीं उत्पन्न होते। तंबाकू, मद्य, चाय और कहवा, मसाले और मिर्चों का प्रयोग छोड़ना भी आवश्यक है। अधिक परिश्रम और रात को देर तक जागने
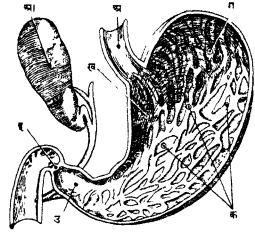
आमाशय

क, ख आमाशय की श्लेष्मल कला की सिलवटें, ग आमाशय का ऊर्ध्वांश, अ ग्रासनली द्वार, आ पित्ताशय, इ ग्रहणी का द्वार, उ आमाशय का दक्षिणांश, भोजन इसी भाग में मथा जाता है।

से भी हानि होती है। निच्छिद्रण, अतिरिक्त स्राव, क्षुद्रांत्रबद्धता तथा ओषधिचिकित्सा से असफलता होने पर शल्यकर्म आवश्यक होता है। (बी० भा० भा०)

आमाशयार्ति (गैस्ट्राइटिज) में आमाशय की श्लेष्मिक कला का उग्र या जीर्ण शोथ हो जाता है। उग्र आमाशयार्ति किसी क्षोभक पदार्थ, जैसे अम्ल या क्षार या विष अथवा अपच्य भोजन पदार्थों के आमाशय में पहुँचने से उत्पन्न हो जाती है। अत्यधिक मात्रा में मद्य पीने से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। आंत्रनाल के उग्र शोथ में आमाशय के विस्तृत होने से भी रोग उत्पन्न हो सकता है।

रोग के लक्षण अकस्मात् आरंभ हो जाते हैं। रोगी के उपरिजठर प्रदेश (एपिगैस्ट्रियम) में पीड़ा होती है, जिसके पश्चात् वमन होते हैं, जिनमें रक्त मिला रहता है। अधिकतर रोगियों में कारण दूर कर देने पर रोग शीघ्र ही शांत हो जाता है।

जीर्ण रोग के बहुत से कारण हो सकते हैं। मद्य का अतिमात्रा में बहुत समय तक सेवन रोग का सबसे मुख्य कारण है। अधिक मात्रा में भोजन करना, गाढ़ी चाय (जिसमें टैनिन अधिक होती है) अधिक पीना, मिर्च तथा अन्य मसालों का अति मात्रा में प्रयोग, अति ठंढी वस्तुएँ, जैसे बरफ, आइसक्रीम, आदि खाना अधिक धूम्रपान तथा बिना चबाया हुआ भोजन, ये सब कारण रोग उत्पन्न कर सकते हैं। जीर्ण आमाशयार्ति उग्र आमाशयार्ति का परिणाम हो सकती है और आमाशय में अर्बुद बन जाने पर, शिराओं की रक्ताधिक्यता (कॉनजेस्चन) में, जैसे हृद्रोग में अथवा यकृत के कड़ा हो जाने (सिरौसिस) में, दुष्ट रक्तक्षीणता अथवा ल्यूकीमिया के समान रक्तरोगों में तथा कैंसर या राजयक्ष्मा में भी यही दशा पाई जाती है। इस रोग में विशेष विकृति यह होती है कि आमाशय में श्लेष्मिक कला से श्लेष्मा का अधिक मात्रा में स्राव होने लगता है, जो आमाशय में एकत्र होकर समय समय पर वमन के रूप में निकला करता है। आगे चलकर श्लेष्मिक कला की अपुष्टता (ऐट्रोफी) होने लगती है।

रोगी प्रायः प्रौढ़ अवस्था का होता है, जिसका मुख्य कष्ट अजीर्ण होता है। भूख न लगना, मुँह का स्वाद खराब होना, अम्लपित्त, बार बार हवा खुलना, प्यास की अधिकता, खट्टी डकार आना या वमन, जिसमें श्लेष्मा और आमाशय का तरल पदार्थ निकलता है, विशेष लक्षण होते हैं। अधिजठर प्रांत में प्रसृत वेदना (टेंडरनेस) के सिवाय और कोई लक्षण नहीं होता। खाद्य की आंशिक जाँच (फ्रैक्शनल मील टेस्ट) से श्लेष्मा की अत्यधिक मात्रा का पता लगता है। मुक्त अम्ल (फ़्री ऐसिड) की मात्रा कम अथवा बिलकुल

नहीं होती। जठरनिर्गम (पाइलोरस) के पास के भाग में रोग होने से पक्वाशय के व्रण (डुओडेनल अलसर) के समान लक्षण हो सकते हैं। आहार के नियंत्रण से तथा श्लेष्मा को घोलने के लिये क्षार के प्रयोग से रोगों की व्यथा कम होता है। (शि० श० मि० तथा म० प्र० गु०)

आमियानस मार्सेलिनस (जन्म लग० ३२५-३० ई०) रोमन इतिहासकार, सभ्रांत ग्रीक वंश का था। रोम के शासकों और जेनरलों के साथ वह अनेक एशियाई युद्धों में शामिल हुआ। एकाध बार तो उसे ईरानियों से लड़ते समय जान के लाले तक पड़ गए। अपने जन्म का नगर अंतियोक छोड़ बाद में वह रोम में ही बस गया और वहीं उसने अपना 'रेरुम गेस्तारुम ३१' नामक प्रसिद्ध इतिहास लातीनी में लिखा, जिसमें ६६-३७८ ई० तक की घटनाएँ समाविष्ट हुई और जो तासितस के इतिहास का उपसंहार बना। उसी पर आमियानस का यश प्रतिष्ठित हुआ। उसकी शैली अधिकतर अस्पष्ट और अमधुर है। लिवी और तासितस दोनों इतिहासकारों से वह अधिक उदारचेता है। (भ० श० उ०)

आमीन् एक प्राचीन इब्रानी शब्द जिसे न केवल यहूदी, वरन् ईसाई और कुछ अंश तक मुसलमान भी अपनी उपासना में प्रयुक्त करते हैं। यूनानी अनुवाद के अनुसार इसका अर्थ है—'ऐसा ही हो' किंतु वास्तविक रूप में इसका अर्थ है—'ऐसा हो है' अथवा 'ऐसा ही होगा'। साधारण प्रयोग में इसका अर्थ है 'हाँ'। उपासना की समाप्ति पर उपस्थित व्यक्ति धर्माचार्य की कामना के समर्थन में 'आमीन' शब्द का प्रयोग करते हुए उस कामना के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करते हैं। (वि० ना० पा०)

आमुंसन, राअल्ड (१८७२-१९२८) नारवे का एक साहसी समन्वेषक (अनजान देशों की खोज करनेवाला) था। उसका जन्म देहात में हुआ था, परंतु उसने शिक्षा क्रिश्चियाना में, जिसका नाम अब ओसलो है, पाई थी। सन् १८९० में उसने बी० ए० पास किया और आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) पढ़ना आरंभ किया, परंतु मन न लगने से उसे छोड़ उसने जहाज पर नौकरी कर ली। सन १९०३-६ में वह ग्योआ नामक नाव या छोटे जहाज में अपने छह साथियों के साथ उत्तर ध्रुव की खोज करता रहा और उत्तर चुंबकीय ध्रुव का पता लगाया। १९१०-१२ में वह दक्षिण ध्रुव की खोज करता रहा और वही पहला व्यक्ति था जो दक्षिण ध्रुव तक पहुँच सका। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण उसे कई वर्षों तक चुपचाप बैठना पड़ा। १९१८ में उसने फिर उत्तर ध्रुव पहुंचने की चेष्टा की, परंतु सफलता न मिली। तब उसने नॉर्ज नामक नियंत्रित गुब्बारे (डिरिजिबिल) में उड़कर दो बार उत्तर ध्रुव की प्रदक्षिणा की और ७१ घंटे में २,७०० मील की यात्रा करके सफलतापूर्वक फिर भूमि पर उतरा। जब जेनरल नाबिल का हवाई जहाज उत्तर ध्रुव से लौटते समय मार्ग में दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो आमुसन ने बड़ी बहादुरी से उसको खोजने का बीड़ा उठाया। १७ जून, १९२८ को उसने इस काम के लिये हवाई जहाज में प्रस्थान किया, परंतु फिर उसका कोई समाचार संसार को प्राप्त न हो सका।

आमूर १ उत्तर पूर्वी एशिया की एक नदी तथा एक प्रदेश का नाम। इस नदी की उत्पत्ति साइबेरिया की नदी शिल्का तथा मचूरिया की नदी अर्गुन के ५३° उ० अ० तथा १२१° पू० दे० पर मिलने से होती है। १७७० मील लंबी यह नदी सखालीन द्वीप के सामने तातार जलडमरूमध्य में गिरती है। अपनी २०० सहायक नदियों के साथ ७,१०,००० वर्ग मील की वर्षा को लेती हुई यह नदी विश्व की १०वीं तथा सोवियत रूस की चौथी सबसे बड़ी नदी है। चीनी इसे काली राक्षसी कहते हैं। इसके किनारे पर निराली प्राकृतिक छटावाले वन, पर्वत, घास के मैदान तथा दलदल है। वसंत ऋतु में हिम पिघलने के कारण आमूर में बाढ़ आ जाती है और संपूर्ण नदी नौकावहन योग्य होकर, सुदूरपूर्व सोवियत भूमि के यातायात का प्रमुख साधन बन जाती है। अनाज, नमक एवं औद्योगिक वस्तुएँ मुहाने की ओर तथा मछली एवं लकड़ी उद्गम की ओर जाती हैं। सुगरी तथा उसुरी आमूर की मुख्य सहायक नदियाँ है।

२ आमूर प्रदेश की जनसंख्या सन १९७० ई० में २०,५०,००० थी। इस प्रदेश में आमूर दलदल एवं वन्य अर्धऊसर (स्टेप) हैं। यहाँ शरद ऋतु में शीत तथा ग्रीष्म में गर्मी एवं वर्षा होती है। यहाँ के मैदान कृषि एवं चरागाहों के लिये अत्यंत उपयुक्त है। अनाज, सोयाबीन, सन फ्लावर तथा आलू आमूर प्रदेश के मुख्य कृषि उत्पादन है। सोने तथा कोयले की खुदाई, आखेट, मछली मारना तथा लकड़ी का काम, यहाँ के मुख्य उद्योग है। ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे आमूर प्रदेश से होकर जाती है। ब्लागोवेशचेंस्क यहाँ की राजधानी है। (शि० म० सिं० तथा स० प्र० गु०)

आमोय नामक द्वीप पर स्थित आमोय नगर, जिसे सुमिंग भी कहते है, नौ मील लंबा है। यह चीन देश का एक प्रमुख बंदरगाह है तथा फुकिन प्रांत का द्वितीय सर्वप्रधान नगर है। एक पर्वतश्रेणी इसे दो भागों में विभाजित करती है। इनमें से एक आतरिक नगर है तथा दूसरा बाह्य नगर। दक्षिण फुकिन तट का सर्वश्रेष्ठ बंदरगाह अबाय अपने आँचल में बड़े बड़े सागरीय पोतों को ले सकता है। यहाँ पर सुंदर शुष्क नौनिवेश (ड्राइ डॉक्स) भी है। आमोय चाय, कागज तथा तंबाकू का प्रमुख निर्यातकेंद्र है। यहाँ चावल, रुई, कपड़ा, लौह वस्तुओं तथा दूसरी औद्योगिक वस्तुओं का आयात होता है। यहाँ का तटीय व्यापार भी यथेष्ट महत्वपूर्ण है तथा यहाँ के प्रमुख व्यापारी और धनी चीन के कुबेर समझे जाते है। १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण में आमोय को अंतरराष्ट्रीय व्यापार में यथेष्ट ख्याति मिली और चाय के व्यापार में स्वर्ण की वर्षा होने लगी। १८४१ ई० में ब्रिटिश चीनी अफीम युद्ध में यह नगर ब्रिटेन के अधिकार में आ गया तथा १८४२ ई० की संधि के पश्चात् चीन के चार अन्य बंदरगाहों के साथ यह भी अंतरराष्ट्रीय व्यापार के लिये खुल गया। फुकिन अभियान के समय जापानियों ने आमोय को ध्वस्त कर दिया। १९४५ ई० तक यह उनके अधिकार में रहा। (शि० म० सिं०)

आमोस (लगभग ७५० ई० पू०)। आमोस के उपदेशों का संग्रह बाइबिल में सुरक्षित है और आमोस का ग्रंथ कहलाता है। ये बारह गौण नबियों में से है। ईश्वर की प्रेरणा से उन्होंने मूर्तिपूजा के कारण यहूदी के नाश की नबूवत की थी, इसलिये इनको 'सर्वनाश का नबी' कहा गया है। ये साधारण शिक्षाप्राप्त एवं स्पष्टवादी ग्रामीण थे। उन्होंने अन्याय, धनिकों द्वारा दरिद्रों के शोषण तथा धर्म में निर्जीव कर्मकांड की निंदा की है।

सं०ग्रं०—थेईज, जे० देर प्राफेट आमोस, बॉन, १९३७। (का० बु०)

आम्रकार्दव चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (ल० ३७५-४१४ ई०) का सेनापति। वह बौद्ध था और साँची के एक अभिलेख से प्रमाणित है कि उसने २५ दीनार और एक गाँव वहाँ के आर्यसंघ (बौद्ध-संघ) को दान में अर्पित किए थे। आम्रकार्दव का नाम विशेषत गुप्तों की धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण में उद्धृत किया जाता है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य परम भागवत, परम वैष्णव थे, परंतु सेनापति के पद पर इस बौद्ध का नियुक्त करने में उन्हें आपत्ति नहीं हुई। (ओ० ना० उ०)

आम्रकूट पर्वतविशेष। इसका लोकप्रचलित नाम अमरकटक है। द्र० 'अमरकटक'। (कै० च० श०)

आम्रपाली बौद्ध काल में वैशाली के वृज्जिसंघ की इतिहासप्रसिद्ध राजनृत्यांगना जिसका एक नाम अंबपाली भी है। उस युग में राज-नर्तकी का पद बड़ा गौरवपूर्ण और सम्मानित माना जाता था। साधारण जनता उस तक पहुँच भी नहीं सकते थे। समाज के उच्च वर्ग के लोग भी उसके कृपाकटाक्ष के लिये लालायित रहते थे। कहते है, भगवान् तथागत ने भी उसे 'आर्या अंबा' कहकर संबोधित किया था तथा उसका आतिथ्य ग्रहण किया था। धम्मसंघ में पहले भिक्षुणियाँ नहीं ली जाती थीं, यशोधरा को भी बुद्ध ने भिक्षुणी बनाने से इनकार कर दिया था, किंतु आम्रपाली की श्रद्धा, भक्ति और मन की विरक्ति से प्रभावित होकर नारियों को भी उन्होंने संघ में प्रवेश का अधिकार प्रदान किया।

आम्रपाली को लेकर भारतीय भाषाओं में बहुत से काव्य, नाटक और उपन्यास लिखे गए है। अजातशत्रु उसके प्रेमियों में था और उस समय के उपलब्ध साहित्य में अजातशत्रु के पिता बिंबसार को भी गुप्त रूप से उसका प्रणयार्थी बताया गया है। (स०)

आयकर भारतवर्ष में आयकर का इतिहास बहुत प्राचीन है। भारत में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आयकर की विशद व्यवस्था सबसे पहले कौटिल्य के अर्थशास्त्र (लं० ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी) में उपलब्ध है। सिक्के के रूप में जो कर राजकोष में दिया जाता था, उसके रूपिक, व्याजी, परोक्षिका, परिघ आदि अनेक नाम और प्रकार थे। पराधीन राज्यों अथवा आश्रित राजाओं से जो चौथ ली जाती थी, केवल उसी को कर की संज्ञा चाणक्य ने दी है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आयकर तत्कालीन (उत्तरी) भारत में प्रचलित थे।

भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष आयकर गदर (सन् १८५७ ई०) से उत्पन्न शासन के आर्थिक संकट के कारण ३१ जुलाई, सन् १८६० ई० को पाँच वर्ष के लिये लगाया। यह इंग्लैंड के सन् १८४२ ई० के आयकर विधान के अनुरूप था। इस कर में ६०० रूपए से अधिक लगानवाली खेती की आय भी समिलित कर ली गई थी। सन् १८६२ ई० में लाइसेंस टैक्स के रूप में फिर व्यापारों और व्यवसायों की वार्षिक आय पर कर लगाया गया। सन् १८६७ ई० में सर्टिफिकेट टैक्स लगाया गया, जो लाइसेंस टैक्स से गुणात्मक रूप में भिन्न था। दोनों ही प्रकार के करों की देय राशियों की सीमा निर्धारित कर दी गई किंतु इस बार कृषिआय इन दोनों ही प्रकार के आयकरों से मुक्त रही।

सन १८६९ ई० में सर्टिफिकेट टैक्स को सामान्य आयकर में परिवर्तित कर दिया गया, जिसमें कृषि आयकर फिर समिलित कर लिया गया। सन् १८७३ ई० में शासन की वित्तीय स्थिति सुधरने पर आयकर उठा लिया गया।

किंतु सन् १८७७ ई० में दुर्भिक्ष (सन् १८७६–१८७८ ई०) के कारण प्रत्यक्ष आयकर पुन: लगाया गया। यह कर व्यापारिक वर्ग पर लाइसेंस टैक्स और कृषक वर्ग पर लगान के रूप में लगा। इस आयकर से दुर्भिक्ष-निवारण कोष संचित किया गया। किंतु यह संपूर्ण भारत में समान रूप से लागू नहीं था।

सन् १८८६ ई० में जो आयकर विधेयक बना वह भारत के आयकर के इतिहास में महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका मूल ताना बाना प्राय: आज तक चला आता है। इसमें सबसे पहले कृषि आय को परिभाषित किया गया, जो परिभाषा बहुत कुछ अंशों तक मान्य है। यह ऐतिहासिक विधेयक ३२ वर्ष, अर्थात् सन् १९१८ ई० तक लागू रहा। इसमें आय आँकने के लिए कोई ब्योरेवार नियम नहीं बनाए गए थे। यह कार्य गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल पर छोड़ दिया गया था, किंतु सन् १९१६ ई० में इसमें संशोधन करके आयकर की क्रमवर्ती दरें निर्धारित की गई थीं। इससे व्यक्तिगत करदाताओं की आय आँकने और करनिर्धारण में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो गई। अतएव सन् १९१८ ई० में इस करव्यवस्था को आमूल संशोधित किया गया। फलस्वरूप करनिर्धारण के लिये करदाताओं के विभिन्न साधनों से प्राप्त आय और लाभ का समंजन किया गया।

सन् १९२१ ई० में अखिल भारतीय आयकर समिति ने पूर्वोक्त विधेयक का परीक्षण कर जो सुझाव दिए, उनके अनुसार सन् १९२२ ई० में वर्तमान आयकर विधेयक बना। तब से सन् १९३९ ई० तक इस विधेयक में बीस बार संशोधन हुए और सन् १९३९ ई० के संशोधन विधेयक ने तो इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए।

सन् १९२२ ई० के विधेयक में आय अतिकर को भी मिला लिया गया, जबकि इससे पूर्व यह अतिरिक्त शुल्क सन् १९१७ ई० के आय अतिकर विधेयक (जिसका संशोधन सन् १९२० ई० में हुआ) के अंतर्गत अलग से लगाया जाता था। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि सन् १९२२ ई० के विधेयक में आयकर की क्रमवर्ती दरों को निर्धारित करने की प्रथा बंद कर दी गई। करनिर्धारण का कार्य एकांत रूप से वार्षिक वित्तीय विधेयकों के लिये छोड़ दिया गया, जो प्रथा अब तक चली आती है। समिलित हिंदू परिवार के किसी भी सदस्य की व्यक्तिगत धनप्राप्ति को भी आयकर से मुक्त कर दिया गया। आय के अनेक साधनों में से यदि किन्हीं में घाटा हो और किन्हीं में लाभ, तो लाभ और घाटे का मिलाकर यदि कोई लाभ बच रहे, तो अब उसी पर आयकर लगने लगा। यदि कोई कर-निर्धारित व्यापारी किसी कारण न रहे, तो उसके प्रति अंकित आयकर को अदा करने का दायित्व उसके उत्तराधिकारी पर रख दिया गया। किंतु यदि निर्धारित वर्ष में व्यापार किसी समय बंद हो जाय, तो कर में आनुपातिक छूट दी जाती थी। सन् १९३५ ई० में एक आयकर विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति हुई, जिसने दिसंबर, सन् १९३६ में अपने सुझाव प्रस्तुत किए। तदनुसार सन् १९३९ ई० का आयकर विधेयक बना, जिसके अंतर्गत ब्रिटिश भारत में निवासित व्यक्तियों की सब प्रकार की विदेशी आय पर भी कर लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त आयकर से बचने का जाल करनेवालों की अनेक चतुर युक्तियों की काट भी इस विधेयक में रखी गई। साथ ही निवल (नेट) हानि को अगले छह वर्षों तक की आय में समंजित करने की छूट भी व्यापारियों को दी गई। सन् १९४५ ई० में अर्जित आय पर विशेष छूट दी गई और सन् १९४७ ई० में पूँजीगत लाभकर भी इस विधेयक में समिलित कर लागू किया गया। किंतु यह कर सन् १९४९ ई० में उठा लिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के कारण व्यापारियों द्वारा अनायास उपार्जित विपुल लाभराशियों पर अतिलाभकर लगाया गया, जो १ दिसंबर, सन् १९३९ ई० से ३१ मार्च, सन् १९४६ ई० तक लागू रहा। यह कर ३६,००० रुपए से अधिक लाभ पर लगाया गया था। तत्पश्चात् १ अप्रैल, सन् १९४६ ई० से ३१ मई, सन् १९४८ ई० तक व्यापार-लाभकर-विधेयक (जो सन् १९४७ ई० में बना) लगा रहा, जिसमें करनिर्धारण की विधि और दर अतिलाभकर विधेयक की अपेक्षा क्रमश: कम जटिल और न्यून थी।

भारत के स्वतंत्र होने तथा २६ जनवरी, सन् १९५० ई० को सार्वभौम गणतंत्र घोषित होने पर और साथ ही ६०० छोटे बड़े देशी राज्यों के इस सत्ता में समाविष्ट होने के उपरांत १ अप्रैल, सन् १९५० ई० से केंद्रीय वित्त विधेयक (सन् १९५० ई०) द्वारा आयकर विधेयक जम्मू और कश्मीर को छोड़कर समस्त देश पर लागू हो गया।

आयकर वसूल करने की शासकीय व्यवस्था का इतिहास भी संक्षेप में जान लेना आवश्यक है। जब तक आयकर अप्रत्याशित वित्तीय विपत्तिकाल में यदा कदा लगाया जाता रहा, तब तक यह शासकीय व्यवस्था का एक अस्थायी अंग रहा। अतएव कोई स्थायी विभाग उसकी वसूली के प्रबंध के लिये नहीं खोला गया और प्रांतीय राजस्व विभागों को ही यह कार्य सौंपा जाता रहा। इस कार्य के लिये ये विभाग अस्थायी कर्मचारी नियुक्त कर लेते थे, जिनके भ्रष्टाचार तथा अयोग्यता के कारण आयकर निर्धारण तथा संग्रह करने के काम भली भाँति संपन्न नहीं होते थे। सन् १८८६ ई० के पश्चात् भी केवल कलकत्ता, बंबई और मद्रास में ही स्थायी आयकर अधिकारी थे। अखिल भारतीय आयकर समिति (सन् १९२१) के सुझाव पर सन् १९२४ ई० में भारत सरकार ने एक विधेयक द्वारा केंद्रीय राजस्व बोर्ड की स्थापना की, जिसके अंतर्गत आय-कर-संग्रह की अखिल भारतीय स्थायी व्यवस्था की गई। सन् १९२२ ई० के आयकर विधेयक के अंतर्गत प्रत्येक प्रांत में एक आयकर आयुक्त नियुक्त किया गया था, जिसके नियंत्रण में आयकर उपायुक्त तथा आयकर अधिकारी होते थे। सन् १९३९ से पूर्व आयकर उपायुक्त तत्संबंधी शासकीय व्यवस्था के अतिरिक्त करनिर्धारण की अपील भी सुनता था, किंतु सन् १९३९ ई० के बाद इन दो कार्यों के लिये अलग अलग उपायुक्त नियुक्त किए गए। सन् १९४१ ई० में अपील सुननेवाले आयकर उपायुक्त के निर्णय से असंतुष्ट करनिर्धारण को दूसरी अपील करने का अधिकार दिया गया और ऐसी अपीलें सुनने के लिये दो सदस्यों का एक विशेष आयकर न्यायमंडल (इनकम टैक्स अपेलेट ट्राइब्यूनल) स्थापित किया गया, जिसे विधि (कानून) संबंधी विवादास्पद विषयों में प्रादेशिक उच्च न्यायालय विशेष से निर्णायक परामर्श लेने का भी अधिकार है।

उसके बाद भी महत्वपूर्ण संशोधन होते रहे जिनके परिणाम प्रभावशाली सिद्ध हुए लेकिन इस प्रकार के जितने संशोधन किए गए वे अधिकतर मूल पृष्ठभूमि एवं आधार को दृष्टि में रखकर नहीं किए गए, परिणामस्वरूप या तो उनमें जटिलता ज्यादा रही या भाषा की त्रुटि रही। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर १९५६ ई० में भारत सरकार ने आयकर अधिनियम को विधिआयोग के सुपुर्द कर दिया ताकि वह आयकर आधि-

नियम के अंतर्गत इस प्रकार संशोधन कर दे कि वह जनता को ग्राह्य होने के साथ साथ स्पष्ट और सरल हो तथा मूल पद्धति का भी कहीं हनन न हो।

उक्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट सितंबर, १९५८ में प्रस्तुत की। परंतु इसी बीच सरकार ने करदाताओं की कठिनाइयों एवं करापवंचन को न्यूनतम करने के लिये प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति (डाइरेक्ट टैक्सेज ऐडमिनिस्ट्रेशन इक्वायरी कमेटी) नियुक्त की। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट सन् १९५९ में दी। विधि आयोग और प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति की रिपोर्टों पर विचार करने के लिये केंद्रीय राजस्व परिषद् (सेंट्रल बोर्ड ऑव रेवेन्यू) ने अपने उच्च अधिकारियों की एक कमेटी नियुक्त की जिसने विधि मंत्रालय के परामर्श के परिप्रेक्ष्य में इन रिपोर्टों पर विचार किया और अंत में २४ अप्रैल, १९६१ को आयकर विधेयक, १९६१, लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। १ मई, १९६१ ई० को यह बिल चुनाव समिति के सुपुर्द कर दिया गया, जिसकी रिपोर्ट लोकसभा में १० अगस्त, १९६१ ई० को प्रस्तुत की गई और आयकर अधिनियम, १९६१ सितंबर, १९६१ ई० में स्वीकृत हो गया।

आयकर अधिनियम (१९६१) १ अप्रैल, १९६२ से संपूर्ण भारत में लागू कर दिया गया। तत्पश्चात् आयकर अधिनियम में वित्त अधिनियम १९६२, १९६३, १९६४, १९६५, १९६५ (नं० २), १९६६, १९६७ (नं० २), १९६८, १९६९, १९७०, १९७१ (नं० २) तथा १९७२ द्वारा महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। इसके अतिरिक्त कराधान नियमों से संबंधित (संशोधन) अधिनियम, १९६२, आयकर (संशोधन) अधिनियम, १९६३, प्रत्यक्ष कर (संशोधन) अधिनियम, १९६४, आयकर (संशोधन) अधिनियम, १९६५, कराधान नियमों से संबंधित (संशोधन तथा विविध व्यवस्थाएँ) अधिनियम, १९६५, कराधान नियमों से संबंधित (संशोधन) अधिनियम, १९६७, १९७० तथा १९७१ द्वारा भी आयकर अधिनियम में संशोधन किए गए हैं।

वास्तव में १ अप्रैल, १९६२ से लागू आयकर अधिनियम, १९६१, केवल १० वर्षों में इतनी बार संशोधित हो चुका है कि १९२२ का अधिनियम अब एक सतत परिवर्तनशील अधिनियम बन गया है।

सन् १९७३-७४ के बजट में श्री वित्तमंत्री ने आयकर अधिनियम में वांचू समिति की सिफारिशों के आधार पर कुछ महत्वपूर्ण संशोधन करने का सुझाव दिया है, जिनके अनुसार कृषिआय का भी करदाता की कुल आय में जोड़ा जाना (जो अब तक पूर्णत करमुक्त रही है), आकस्मिक आय से संबंधित परिवर्तन तथा बचत को प्रोत्साहन देने के लिये प्राविडेंट फंड तथा जीवन बीमा प्रीमियम के संबंध में और छूट की व्यवस्था प्रमुख है।

आयकर की वर्तमान दर निम्न वर्गों की निम्न प्रकार से है

करनिर्धारण वर्ष १९७३-७४ में लागू आयकर की दरें कंपनियों से भिन्न करदाताओं के लिये

(१) प्रत्येक व्यक्ति की, जो अविभाजित हिंदू परिवार, अपजीकृत फर्म, अन्य संस्था अथवा प्रत्येक कृत्रिम न्यायिक व्यक्ति के अंतर्गत न आते हों, आय पर निम्नलिखित दर से आयकर देय है :

सकल आय	
१—५,००० रु० तक	करमुक्त
२— ५,००० रु० से अधिक, पर १०,००० रु० से अधिक न हो	५,००० रु० से अधिक का १० प्रति शत
३— १०,००० रु० से अधिक, पर १५,००० रु० से अधिक न हो	५०० रु० + १०,००० रु० से अधिक का १७ प्रति शत
४— १५,००० रु० से अधिक, पर २०,००० रु० से अधिक न हो	१३५० रु० + १५,००० रु० से अधिक का २३ प्रति शत
५— २०,००० रु० से अधिक, पर २५,००० रु० से अधिक न हो	२,५०० रु० + २०,००० रु० से अधिक का ३० प्रति शत
६— २५,००० रु० से अधिक, पर ३०,००० रु० से अधिक न हो	४,००० रु० + २५,००० रु० से अधिक का ४० प्रति शत
७— ३०,००० रु० से अधिक, पर ४०,००० रु० से अधिक न हो	६,००० रु० + ३०,००० रु० से अधिक का ५० प्रति शत
८— ४०,००० रु० से अधिक, पर ६०,००० रु० से अधिक न हो	११,००० रु० + और ४०,००० रु० से अधिक का ६० प्रतिशत
९— ६०,००० रु० से अधिक, पर ८०,००० रु० से अधिक न हो	२३,००० रु० + ६०,००० रु० से अधिक का ७० प्रति शत
१०— ८०,००० रु० से अधिक, पर १,००,००० रु० से अधिक न हो	३७,००० रु० + ८०,००० रु० से अधिक का ७५ प्रति शत
११—१,००,००० रु० से अधिक, पर २,००,००० रु० से अधिक न हो	५२,००० रु० + १,००,००० रु० से अधिक का ८५ प्रति शत
१२—२,००,००० रु० से अधिक	१,३२,००० रु० + २,००,००० रु० से अधिक का ८५ प्रति शत

लेकिन अविभक्त हिंदू परिवार की ७,००० रु० तक की आय करमुक्त है। ७,००० रु० से अधिक किंतु ७,९९० रु० तक की आय पर आयकर ४० प्रति शत से अधिक देय नहीं है।

उपर्युक्त आयकर की धनराशि में निम्न दर से अधिभार भी अलग से देय होगा :

(अ) १५,००० रु० की आय तक	१० प्रति शत
(ब) अन्य दशा में	१५ प्रति शत।

(२) सहकारी समितियाँ

(१) १०,००० रु० सकल आय पर	सकल आय का १५ प्रति शत
(२) १०,००० रु० से अधिक परंतु २०,००० रु० से अधिक न हो	१,५०० रु० + १०,००० से अधिक का २५ प्रति शत
(३) २०,००० रु० से अधिक सकल आय पर	४,००० रु० + २०,००० रु० से अधिक का ४० प्रति शत।

आयकर पर लागू अधिभार प्रत्येक सहकारी समिति के आयकर की धनराशि पर १५ प्रति शत अधिभार देय है।

(३) पंजीकृत फर्म

आयकर

सकल आय	
(१) १०,००० रु० से अधिक न हो	कुछ नहीं
(२) १०,००० रु० से अधिक, पर २५,००० रु० से अधिक न हो	१०,००० रु० से अधिक का ४ प्रति शत
(३) २५,००० रु० से अधिक, पर ५०,००० रु० से अधिक न हो	६०० रु० + २५,००० रु० से अधिक का ६ प्रति शत।
(४) ५०,००० रु० से अधिक, पर १,००,००० रु० से अधिक न हो	२१०० रु० ५०,००० रु० से अधिक का १२ प्रति शत।
(५) १,००,००० रु० से अधिक	८,१०० रु० + १,००,००० रु० से अधिक का २० प्रति शत।

आयकर पर लागू अधिभार

(१) आयकर पर अधिभार	अधिभार की दर
(क) पंजीकृत फर्म जिसकी कुल आय का ५१ प्रतिशत अथवा उससे अधिक भाग फर्म द्वारा किए जा रहे व्यवसाय से अर्जित हो	आयकर की रकम का १० प्रति शत
(ख) पंजीकृत फर्म की अन्य तरह की आय हो	आयकर की रकम का २० प्रति शत।

(२) विशेष अधिभार

उपर्युक्त आयकर की धनराशि पर तथा आयकर पर लगे अधिभार की धनराशि पर १५ प्रति शत की दर से विशेष अधिभार लगेगा।

अन्य संस्था	**आयकर**	**अधिभार**
(१) स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ, संपूर्ण आय पर	५० प्रति शत	१५ प्रति शत
(२) जीवन बीमा—बीमा के लाभ पर	५२.५ प्रति शत	

(३) कपनी

डोमेस्टिक ५०,००० रु० तक	४५	प्रति शत
५०,००० रु० से ऊपर	५५	प्रति शत
औद्योगिक		
१०,००,००० रु० तक	५५	प्रति शत
अधिक पर	६०	प्रति शत
अन्य कपनी	६५	प्रति शत

(का० च० सौ०, द० श० मि०, र० प्र० गि०)

आयडिन दक्षिण पश्चिमी तुर्की का एक प्रमुख नगर है, जो स्मरना से पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा में ७० मील पर स्थित है। यहाँ से होकर स्मरना दिनेर रेलमार्ग जाता है। १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह नगर आयडिन तथा मेतेश नामक सेल्जुक जाति के तुर्कों द्वारा अधिकृत कर लिया गया था। सन् १३९० ई० के आसपास यह इसोबे द्वारा शासित था। सेल्जुक काल में यह प्रादेशिक राजधानी निर्गेह के अतर्गत द्वितीय श्रेणी का नगर था। १७वीं शताब्दी में यह मनीसा के करासमैस के अधिकार में था तथा सन् १८२० ई० तक उसी स्थिति में रहा। समीपस्थ ऊँचे भाग पर प्राचीन नगर ट्रालेस के अवशेष विद्यमान है। आयडिन को यूनान-तुर्की-युद्ध (१९१९-१९२२) में अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी थी। (श्या० सु० श०)

आयतन ये १२ होते है—छह भीतर के और छह बाहर के। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन—ये छह भीतर के आयतन हैं। इन्हे आध्यात्मिक आयतन भी कहते है। रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श और धर्म—ये छह बाहर के आयतन है। इन्हे बाह्यायतन भी कहते है। प्राणी की सारी तृष्णाओं के घर ये ही १२ है। इसी से उन्हे आयतन कहते है। आधुनिक विज्ञान में किसी पिंड का आयतन वह स्थान है जो पिंड छेंकता है और इसे घन एककों में नापा जाता है, जैसे घन इंचों या घन सेंटीमीटरों में। (भि० ज० का०)

आयनमंडल पृथ्वी से लगभग ८० किलोमीटर के बाद का सपूर्ण वायुमडल आयनमडल कहलाता है। आयतन में आयनमडल अपनी
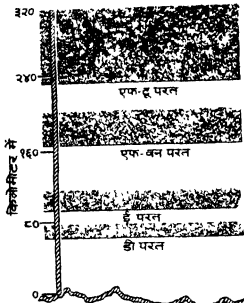
पृथ्वी से आयनमडल की विभिन्न परतों की ऊँचाई

निचली हवा से कई गुना अधिक है लेकिन इस विशाल क्षेत्र की हवा की कुल मात्रा वायुमडल की हवा की मात्रा के २००वें भाग से भी कम है। आयनमडल की हवा आयनित होती है और उसमें आयनीकरण के साथ साथ आयनीकरण की विपरीत क्रिया भी निरतर होती रहती है।

आयनमंडल को चार परतों में बाँटा गया है। पृथ्वी के लगभग ५५ किलोमीटर के बाद से डी परत प्रारंभ होती है, जैसा चित्र में दिखाया गया है।

डी-परत के बाद ई-परत है जो अधिक आयनों से युक्त है। यह आयनमडल की सबसे टिकाऊ परत है और इसकी पृथ्वी से ऊँचाई लगभग १४५ किलोमीटर है। इसे केनली हेवीसाइड परत भी कहते है।

तीसरी एफ-वन परत है। यह पृथ्वी से लगभग २०० किलोमीटर की ऊँचाई पर है। गरमियों की रातों तथा जाड़ों में यह अपनी ऊपर की परतों में समा जाती है।

अत में २४० से ३२० किलोमीटर के मध्य अति अस्थिर एफ-टू परत है।

आयनमडल की उपयोगिता रेडियो तरगों (विद्युच्चुबकीय तरगों) के प्रसारण में सबसे अधिक है। सूर्य की पराबैंगनी किरणों से तथा अन्य अधिक ऊर्जावाली किरणों और कणिकाओं से आयनमडल की गैसें आयनित हो जाती है। ई-परत अथवा केनली हेवीसाइड परत से, जो अधिक आयनों से युक्त है, विद्युच्चुबकीय तरगें परावर्तित हो जाती हैं। किसी स्थान से प्रसरित विद्युच्चुबकीय तरगों का कुछ भाग आकाश की ओर चलता है। ऐसी तरगें आयनमडल से परावर्तित होकर पृथ्वी के विभिन्न स्थानों पर पहुँचती हैं। लघु तरगों (शार्ट वेव्स) को हजारों किलोमीटर तक आयनमडल के माध्यम से ही पहुँचाया जाता है।

आयनमडल में आयनीकरण की मात्रा, परतों की ऊँचाई तथा मोटाई, उनमें अवस्थित आयनों तथा स्वतत्र इलेक्ट्रानों की सख्या, ये सब घटते बढते रहते है। (नि० सिं०)

आयरन पर्वत सयुक्त राज्य (अमरीका) के मिसौरी राज्य के पूर्वी भाग में स्थित सेंट फ्रांको पर्वत के दक्षिणी भाग का एक शिखर है (ऊँचाई १,०७७ फुट)। मिसिसिपी नदी यहाँ से पूर्व की ओर लगभग ३८ मील की दूरी पर है।

आयरन पर्वत हैमेटाइट नामक लोहे के अयस्क का अनुपम भडार है। यह कच्चा लोहा सपूर्ण सयुक्त राज्य में अपनी विशुद्धता में सर्वप्रथम है। यहाँ खोदाई का कार्य सर्वप्रथम १८६५ ई० में आरभ हुआ। उस समय एक पातालतोड़ कुआँ (आर्टीज़ियन वेल) १५२ फुट की गहराई तक खोदा गया, जिसमें प्राप्त शिलास्तर भूपृष्ठ से नीचे की ओर इस प्रकार है. मिट्टी मिश्रित कच्चा लोहा १६ फुट, बालुकाश्म (सैंडस्टोन) ३४ फुट, मैगनीसियम चूने का पत्थर (मैग्नीसियन लाइमस्टोन) ७½ इंच, भूरा बालुकाश्म ७ इंच, कठोर नीली शिला ३७ फुट, विशुद्ध हैमेटाइट शिला ५ फुट, पॉरफिरिटिक शिला ७ फुट और हेमेटाइट शिला ५० फुट से लेकर अत तक। इससे यह विदित होता है कि सपूर्ण क्षेत्र चुबकीय कच्चे लोहे का ही बना है। (रा० ना० मा०)

आयरनटन सयुक्त राज्य, अमरीका के ओहायो राज्य के लारेंस जिले का मुख्य नगर है। ओहायो नदी पर स्थित यह नगर औद्योगिक और व्यापारिक केंद्र है। प्रधान उद्योग धातु की ढलाई, कोक और ग्रैफाइट से निर्मित पदार्थ, पोर्टलैंड सीमेंट, रासायनिक पदार्थ, इस्पात, बिजली के सामान, मोटर गाड़ी के पुर्जे इत्यादि है। रेलमार्गों द्वारा यह समीपवर्ती क्षेत्रों से सबद्ध है। यहाँ नदी यातायात भी महत्वपूर्ण है। यह नगर वायुमार्ग पर स्थित है। (रा० ना० मा०)

आयरनवुड सयुक्त राज्य, अमरीका के मिशिगन राज्य में गोजेबिक जिले का एक नगर है। यह प्रायद्वीपीय मिशिगन में मांट्रियल नदी के किनारे, समुद्रतल से १,५०५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है तथा रेलमार्गों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से सबद्ध है। इस नगर में कच्चा लोहा और लकड़ी बहुत आती है तथा यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यहाँ के दुग्धशाला उद्योग तथा मांस उद्योग भी महत्वपूर्ण है।

कच्चे लोहे का पता यहाँ सर्वप्रथम जे० एल० नौरी ने १८८४ ई० में लगाया और इसी सन् में नगर की स्थापना भी हुई। (रा० ना० मा०)

आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन के पश्चिम में एक बड़ा द्वीप है जो ५१° २६′ उ० अ० से ५५° २१′ उ० अ० तक और ५° २५′ प० दे० से १०° ३१′ प० दे० तक विस्तृत है।

धरातल—इस द्वीप का उत्तरी एवं दक्षिणी भाग पहाडी है, मध्य मे एक चौडा निचला मैदान है। पर्वतमालाओ का क्रम घाटियों, निचले मैदानो तथा नीची भूमि के कारण स्थान स्थान पर टूट गया है। अत द्वीप का धरातल भिन्न भिन्न भौगोलिक इकाइयो मे विभाजित है, जिनकी भूरूपता मे विभिन्नता मिलना स्वाभाविक है।

हिमकालीन युग मे कुछ ऊँचे पहाडी स्थलो को छोडकर सपूर्ण आयरलैंड बर्फ से ढका था, अत साधारणतया ढोके मिश्रित चिकनी मिट्टी (बोल्डर क्ले), हिम-नदी-जनित बजरी (ग्लेशियल ग्रैवेल) आदि मध्य के मैदान मे हर स्थान पर मिलती है। पहाडो के चारो ओर हिमोढ (मोरेस) मिलते हैं। इस प्रकार समुद्रतल से १,२०० फुट तक की दो तिहाई भूमि हिमनद (ग्लेशियर) द्वारा निर्मित है।

मध्य का मैदान चूनहे पत्थर (लाइमस्टोन) का बना हुआ है, यह इतना नीचा तथा समतल है कि स्थान स्थान पर जलतल (वाटर टेबुल) धरातल तक पहुँच जाता है, फलस्वरूप अनेक बडी बडी झीले निर्मित हो गई है। कभी कभी इन झीलो का जलभाडार इतना अधिक हो जाता है कि आसपास की कई एक झीले मिलकर निकटवर्ती मैदानी भाग को ढँक लेती है। साधारणतया आयरलैंड का $\frac{1}{6}$ भाग जलमग्न रहता है जिसमे सडी घास के दलदल मिलते है। औसत रूप मे आयरलैंड के $\frac{1}{6}$ क्षेत्रफल मे पीट मिलता है। पहाडो पर तो पीट हर एक स्थल पर मिलता है। आयरलैंड जैसे वृक्षविहीन एव कोयलाविहीन देश के लिये पीट अत्यत आवश्यक वस्तु है। हर एक घर मे इसका उपयोग ईंधन के रूप में होता है।

जलवायु—यहाँ की जलवायु पश्चिमी यूरोपीय प्रकार की है, समुद्र के प्रभाव के कारण जाडे एव गर्मी के ताप मे बहुत अतर नही होता। उदाहरणस्वरूप वार्लेशिया का ताप जनवरी मे ४४.६° फा० तथा जून मे ५९° फा० के लगभग रहता है। वर्षा वर्ष भर होती है, ऊँचे पहाड़ो पर ८०" तक तथा मैदानो मे ३०" से ४०" तक।

उद्यम एव उत्पादन—प्रकृति ने आयरलैंड को पशुपालन के लिये अधिक उपयुक्त बनाया है, अत १८वी शताब्दी के प्रारभ से ही इस देश ने कृषि की अपेक्षा पशुपालन को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि कृषिभूमि की अपेक्षा चरागाहो का क्षेत्रफल अधिक है। जोतवाली भूमि का क्षेत्रफल ३०,६५,७७० एकड से १२,४७,८६५ एकड गिर गया तथा चरागाह का क्षेत्रफल ८७,५२,५६५ एकड से १,२४,५६,७५२ एकड बढ गया। इसी प्रकार १८४१ ई० मे पशुओ की सख्या प्रति हजार मनुष्य पीछे २२५ थी, १९४७ ई० मे यह सख्या १,१५४ तक पहुँच गई। १९६८–६९ में कुल पशुओं की सख्या इस प्रकार थी—दुधारू गाएँ २,१०,०००, मास के लिये गाएँ २,२०,०००, प्रजनन के लिये सुअरी १,१६,०००, कुल सुअरो की सख्या १०,८७,००० तथा कुल मुर्गे मुर्गी १,३१,६५,०००। फसलो में जई एव आलू मुख्य है। जई की खेती घोडो को खिलाने के निमित्त प्रत्येक किसान करता है। आलू यहाँ की मुख्य खाद्य वस्तु है। जौ तथा फ्लैक्स (सनई की तरह का पौधा) सीमित क्षेत्रो मे ही बोए जाते है।

ग्रामीण जीवन—आयरलैंड सदैव से छोटे छोटे कृषको का देश रहा है। यद्यपि खेतो की नाप को बढाने का बार बार प्रयत्न हुआ है, तथापि आज भी दो तिहाई खेतों का क्षेत्रफल ३० एकड से अधिक नही है। ग्रामीण जनता पूर्णत खेती पर निर्भर तथा अपेक्षाकृत निर्धन है। अनेक लोगो को विदेश जाकर जीवन-निर्वाह करना आवश्यक हो जाता है, १९वीं शताब्दी मे लाखो व्यक्ति प्रति वर्ष देश छोडते थे। अब प्रवासी व्यक्तियो की सख्या अपेक्षाकृत कम हो गई है। अत आयरलैंड की समस्या जनसख्या की वृद्धि नही, ह्रास है।

नागरिक जीवन—ग्रामीण क्षेत्रो मे जीवननिर्वाह के साधनो की कमी के कारण अधिकतर जनता समुद्रतट के बडे बडे नगरो तथा बदरगाहों मे निवास करती है। आयरलैंड के छह बड़े नगरो डबलिन (जनसख्या ५,६८,७७२), बेलफास्ट (जनसख्या ३,६८,४०५), कार्क (जनसख्या

१,२२,१४६), लिमरिक (जनसख्या ५५,६१२), लंदनडेरी (जनसख्या ५५,६६४) तथा वाटरफार्ट (जनसख्या २६,८४२) मे देश की पचमाश जनता निवास करती है। भीनरी भाग के नगर आकार मे प्राय छोटे है और उनकी जनसख्या १०,००० से अधिक नही है।

व्यापार—आयरलैंड का व्यापारिक जीवन ब्रिटिश द्वीपसमूह से अधिक सबद्ध है। यहाँ की राष्ट्रीय सपत्ति अंग्रेजी बाजार के चढाव उतार के अनुसार बढती घटती है। आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन को पशु तथा उनसे उत्पन्न वस्तुएँ—मक्खन, पनीर, सर्घनित दुग्ध, अडे, आलू, सूअर का मास आदि भेजता है। यहाँ के आयात मे ग्रेट ब्रिटेन का करीब ८० प्र० श० भाग रहता है। वहाँ से कोयला, कपडा, आटा, खाद तथा मशीने आदि आती है।

आइरिश फ्री स्टेट एवं उत्तरी आयरलैंड—आयरलैंड राजनीतिक एव आर्थिक दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन का एक अविच्छिन्न भाग था, परतु सदियो से चलते हुए राष्ट्रीय आदालन के फलस्वरूप १९२१ ई० मे आइरिश फ्री स्टेट का जन्म हुआ जिसकी राजधानी डबलिन (जनसख्या १९६६ मे ५,६८,७७२) है। आइरिश फ्री स्टेट का वर्तमान क्षेत्रफल २६,६०० वर्ग मील तथा जनसख्या २८,८४,००२ (१९६६) है। उत्तरी आयरलैंड का उत्तरी पूर्वी भाग (क्षेत्रफल ५,२३८ वर्ग मील, जनसख्या १४,८४,७७५ (१९६६) अब भी ग्रेट ब्रिटेन का राजनीतिक अग है। बेलफास्ट इसकी राजधानी है। आयरलैंड के राष्ट्रीय आदालन के पीछे धार्मिक भावना मुख्य थी। यहाँ के अधिकाश लाग (९३ ४ प्र० श०) रोमन कैथोलिक है। उत्तरी आयरलैंड के कुछ भागो मे भी कैथोलिको की सख्या अधिक है। इन भागो को भी फ्री स्टेट अपनी सीमा के अतर्गत मिलाने की माँग करती है। यहाँ १९६६ मे पशुओ की सख्या इस प्रकार थी—ढोर ५६,६०,०००, भेड (ऊनवाली) ४०,०६,२००, भेड (दूधवाली) ११,१५,५००, घोडे १,२४,६०० तथा मुर्गे मुर्गी १,०३,३४,६००। (उ० सि०)

आयरिश

आयरलैंड की भाषा तथा साहित्य को 'आयरिश' नाम से जाना जाता है। आयरलैंड मे अंग्रेजों के प्रभुत्वकाल मे तो अंग्रेजी की ही प्रधानता रही, पर देश की स्वाधीनता के बाद वहाँ की अपनी भाषा आयरिश (गैली) को फिर से महत्व दिया गया। गैली का साहित्य पाँचवी शताब्दी ई० तक का मिलता है। आयरिश भारत यूरोपीय कुल की केल्टिक शाखा के गोइडेली वर्ग से सबद्ध नहीं मानी जाती है। विकास की दृष्टि से आयरिश भाषा के इतिहास को तीन कालो मे विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन आयरिश सातवी सदी से नवी सदी के मध्य तक, (२) मध्यकालीन आयरिश नवी से १२वी सदी तक तथा (३) आधुनिक १३वी सदी के उपरात। आधुनिक आयरिश को पुन दो कालो मे बाँटते है—१७वी सदी से पूर्व तथा १७वी सदी के बाद। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप आयरिश को देश मे फिर से स्थापित तो किया गया, परतु आधुनिक आयरिश का कोई एक स्थिरीकृत रूप नही बन सका है। आयरिश की कई बोलियाँ अब भी महत्व की स्थिति लिए हुए हैं। प्रमुखत आयरिश बोले जानेवाले क्षेत्रो मे १९४६ की गणना के अनुसार १,९२,९६३ आयरिश भाषाभाषी बताए गए थे, जब कि सपूर्ण आयरलैंड मे यह सख्या ५,८८,७२५ थी। इस सख्या मे काफी बडा समूह ऐसे लोगो का है जो अंग्रेजी का प्रयोग भी समान सुविधा और इच्छा से करता है।

प्रारभिक आयरिश साहित्य मे शौर्यगाथाओ की प्रधानता रही है जो गद्य तथा पद्य के मिले जुले रूप मे लिखी गई थी। ऐसे गाथाचक्रो मे 'अल्स्टर' का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त आदिकालीन आयरिश कविता मे गीत तत्व की भी प्रधानता थी। ऐसा काव्य प्रमुखत धार्मिक तथा प्रकृति सबधी प्रेरणाओ की पृष्ठभूमि मे लिखा गया था। इन धार्मिक गीतो मे सेंट पैट्रिक का गीत तथा उल्टान का सेट ब्रिजिट के प्रति गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नवी तथा १०वी सदी के आसपास ऐतिहासिक आभास देनेवाले साहित्य का सर्जन हुआ। धार्मिक साहित्य के अतर्गत उपदेश, सतों के चरित्र तथा इलहाम आदि आते है। इस वर्ग के लेखको मे माइकेल ओ' क्लेरे (१७वी सदी) का नाम महत्वपूर्ण है। फिर इस युग मे ऐतिहासिक रचनाएँ भी लिखी गई।

प्रारभिक आधुनिक आयरिश साहित्य का क्लैसिकल युग कहकर भी अभिहित किया जाता है। १३वी से १८वी शताब्दी के बीच प्रमुखत दरबारो मे लिखा गया काव्य ऐसे कवियो द्वारा प्रस्तुत किया गया जिन्हें पेशेवर कहा जा सकता है। इन कवियो ने अपनी कुछ रचनाएं गद्य मे भी लिखी। १७वी सदी के अत तक यह चारणकाव्य समाप्त हो जाता है। नए काव्यसप्रदाय मे स्वराघात पर आधारित छदयोजना प्रचलित हुई। इस युग के प्रमुख कवि थे ईगन ओ' राहिली (१८वी सदी का पूर्व) तथा धार्मिक कवि ताग गैले ओ' सुइलयाँ। रिवाइवलिस्ट आदोलन के प्रमुख लेखको मे है—थॉमस ओ' क्रिआमथाँ (मृत्यु—१९३७), थामस ओ' सुइलयाँ, पैट्रिक ओ' कोनर तथा माहरे।

आयरिश पुनर्जागरण का एक सशक्त रूप अंग्रेजी साहित्य मे भी व्यक्त हुआ है जहाँ आयरलैंड के अंग्रेजी लेखको ने अपनी रचनाओ मे आयरिश लोकतत्व, शब्दविधान तथा प्रतीकयोजना के अत्यत सफल प्रयोग किए है। इस आदोलन को आयरिश या केल्टिक पुनर्जागरण के नाम से जाना जाता है। (रा० स्व० च०)

आयल इंडिया

की स्थापना १९५९ मे हुई। इसका कार्य है पेट्रोलियम और गैस का उत्पादन, खोज तथा तेलशोधक कारखानो (रिफाइनरियो) के लिये पाइप लाइन बनाना। (कै० च० श०)

आयलर संख्याएँ

आयलर (आयलर) सख्याओ का नाम जर्मन गणितज्ञ लियोनार्ड आयलर के नाम पर रखा गया है। ये सख्याएँ आयलर बहुपदो (पॉलीनामियल्स) से उत्पन्न होती है

यदि
$$\text{ई}^{\text{वय}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{\text{व}^{\text{न}}}{\text{न}!} \text{आ}^{(0)}_{\text{न}} (\text{य}),$$

जहाँ **ई** नेपरीय लघुगणको का आधार है और

$$\text{आ}^{0}_{\text{न}} (\text{य}) = \text{य}^{\text{न}},$$

तो $\text{आ}^{0}_{\text{न}} (\text{य})$ को घात **न** और वर्ग (आर्डर) शून्य का आयलर बहुपद कहते है।

वर्ग **स** के आयलर बहुपदो की परिभाषा यह है :

$$\frac{2^{\text{स}}\, \text{ई}^{\text{वय}}}{(\text{ई}^{\text{व}}+1)^{\text{स}}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{\text{व}^{\text{न}}}{\text{स}!} \text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} (\text{य})$$

$\text{य} = \frac{1}{2}\text{स}$ रखने से $2^{\text{न}}\, \text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} (\text{य})$ के जो मान प्राप्त होते है, उन्हें वर्ग **स** की आयलर सख्याएँ $\text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})}$ कहते है। विषम प्रत्यय (सफिक्स) की समस्त आयलर सख्याएँ शून्य हो जाती है।

इस प्रकार $\text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} = 2^{\text{न}}\, \text{आ}_{\text{न}}^{(\text{स})} (\frac{1}{2}\text{स})$।

$\text{आ}_{\text{न}}^{(1)} (\text{स})$ के लिये हम $\text{आ}_{\text{न}} (\text{स})$ लिखते है।

हम जानते है कि

$$\frac{2}{\text{ई}^{\text{व}} + \text{ई}^{-\text{व}}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{\text{व}^{\text{न}}}{\text{न}!} \text{आ}_{\text{न}} = \text{अ०व्युकोज्या व}$$

अत
$$\text{व्युकोज्या व} = 1 - \frac{\text{व}^2}{2!} + \text{आ}_2 \frac{\text{व}^4}{4!} - \text{आ}_4 - \cdots$$

प्रसार
$$\frac{\pi}{4\, \text{कोज्या} \frac{1}{2} \pi \text{य}} = \sum_{\text{न}=0}^{\infty} \frac{(-1)^{\text{न}} (2\text{न}+1)}{(2\text{न}+1)^2 - \text{य}^2}$$

का पुनर्विन्यास करके $\text{य}^{2\text{प}}$ के गुणाक को श्रेणी $\frac{1}{4}\pi$ व्युकोज्या $\frac{1}{2}\pi\text{य}$ के पद $\text{य}^{2\text{प}}$ के गुणाक के समान रखने से हमे यह प्राप्त होगा

$$(-1)^{\text{प}} \frac{\text{आ}_{2\text{प}}}{2^{2\text{प}+2} (2\text{प})!} \pi^{2\text{प}+1} = 1 - \frac{1}{3^{2\text{प}+1}} + \frac{1}{5^{2\text{प}+1}} - \frac{1}{7^{2\text{प}+1}} + \cdots$$

इस सबंध मे स्पष्ट है कि आयलर सख्याएँ बराबर बढती जाती है और प्रत्येक सख्या का चिह्न बदलता जाता है, अर्थात् वे क्रमानुसार धनात्मक और ऋणात्मक होती है।

$\text{(–१)}^{\text{स}} \dfrac{\text{आ}_{\text{२स}}}{\text{२स!}}$ का मान सारणिक के रूप मे

$$\begin{vmatrix} \frac{\text{१}}{\text{२!}} & \text{१} & \text{०} & \text{०} & \text{०} \\ \frac{\text{१}}{\text{४!}} & \frac{\text{१}}{\text{२!}} & \text{१} & \text{०} & \text{०} \\ \frac{\text{१}}{\text{६!}} & \frac{\text{१}}{\text{४!}} & \frac{\text{१}}{\text{४!}} & \text{१} & \text{०} \\ \frac{\text{१}}{\text{(२स)!}} & \frac{\text{१}}{\text{(२स–२)!}} & \frac{\text{१}}{\text{(२स–४)!}} & \frac{\text{१}}{\text{(२स–६)!}} & \frac{\text{१}}{\text{२!}} \end{vmatrix}$$

होता है।

बर्नूली संख्याओ की भाँति आयलर संख्याएँ भी सांख्यिकी (स्टैटिस्टिक्स) मे अतर्वेशन (इटरपोलेशन) मे प्रयुक्त होती है।

सं०ग्र०—मिल्न-टॉमसन कैल्क्युलस ऑव फाइनाइट डिफरेंसेज।
(ना० गो० श०)

आयस्टर बे सयुक्त राज्य (अमरीका) के न्यूयार्क राज्य मे नासाउ जिले का एक गाँव है, जो लाग द्वीप के उत्तरी समुद्रतट पर न्यूयार्क नगर की सीमा से १३ मील पूर्व स्थित है। यह लाग द्वीप रेलमार्ग पर है और यात्रियो के लिये ग्रीष्मकालीन विहारस्थल है। यहाँ १७८० ई० मे निर्मित रेनहाम भवन स्थित है, जहाँ ऐतिहासिक स्मारकों का संग्रह है। यह प्रचलित धारणा है कि आयस्टर बे राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट का निवासस्थान था, परतु वास्तव मे उनका निवासस्थान समीपवर्ती कोवनेक गाँव मे साँगोमोर हिल था। ... (रा० ना० मा०)

आयाम (डाइमेशन) यह शब्द चित्रकला और शिल्पकला से आयात हुआ और साहित्य समालोचना मे आधुनिक काल मे प्रयुक्त होता है। संस्कृत मे इस शब्द का अर्थ नम्बन, विस्तार, सयमन, प्रलबन है। चित्र और शिल्प मे मूल अग्रेजी शब्द 'डाइमेशन' का अर्थ 'मिम्न' होता था, जैसे भित्तिचित्र मे गहराई नही होती, किंतु छाया आदि के साथ गोलाई इत्यादि का आभास उत्पन्न किया जाता था। प्राचीन साहित्य मे और प्रारभिक उपन्यासो मे एकदम काले या सफेद दुर्गुणो या सद्गुणो की खान, 'टाइप' जैसे पात्रो की पुष्टि होती थी। अब मनोविज्ञान के नवीन शोधो ने ऐसे टाइपो की यथार्थता पर सदेह किया है। इस कारण नवीन उपन्यासो मे अब इस प्रकार की मन की गहराई पात्रो मे देखी जाती है। कोई भी साहित्यिक कलाकृति कितने काल तक प्रभावशाली रहती है, कितने देश देशातरो को प्रभावित करती है, इसके साथ ही साथ वह बार बार पढी जाने पर भी वैसा ही आनद दे सकती है या नही, यह तीसरा परिमाण या आयाम अब साहित्यालोचन मे परखा जाने लगा है। ल्युकैक्स ने 'स्टडीज इन वेस्टर्न रियलिज्म' मे 'दार्शनिक धार्मिक आयाम' कहकर चौथे मापदड की चर्चा की है। उसी के सहारे साहित्य मे उदात्त तत्व की, 'महात्मता' की प्रतिस्थापना हो सकती है।

शिल्पकला के क्षेत्र मे यह माना जाता है कि भारतीय मूर्तिकला त्रिआयामात्मक बहुत कम है। वह अधिकतर अर्धोत्कीर्ण (महाबलिपुरम) या तीन चौथाई उत्कीर्ण (कैलास, एलोरा) जैसी शिल्पकृति है। आधुनिक शिल्पकला मे पाश्चात्य शिल्पकला की यह त्रिआयामात्मक पद्धति स्वीकार की गई तो प्रारभ मे पुतलो, अर्धपुतला, अश्वारूढ प्रतिमाओ के रूप मे। म्हात्रे, फडके, करमरकर आदि ने कई ऐसी मूर्तियाँ बनाई। देवीप्रसाद रायचौधुरी के 'श्रम की महत्ता', सन् '४२ मे विद्यार्थियो के बलिदान या रामकिंकर बैज के 'सथाल परिवार' जैसे शिल्प भी ऐसी ही यथार्थ घटनाओ या वस्तुओ की शिल्पानुकृतियाँ है। परतु उनसे आगे बढकर अरूप भावनाओं को शुद्ध आकारो मे रूपायित करनेवाले नए शिल्पकार, जैसे शखो चौधरी, धनराज भगत आदि त्रिआयामात्मक शिल्पकला मे अरूप सृष्टि की ओर बढ़ रहे है। इसे अंग्रेजी मे थ्री डाइमेशनल ऐब्स्ट्रैक्ट स्कल्प्चर कहते है।

सिनेमा सृष्टि में भी (त्रिआयामात्मक छायाचित्रण (होलोग्राम) का निर्माण हाल मे हुआ है जिसके द्वारा वस्तुओ की असली गहराई दिखाई जाती है और एक खास तरह का चश्मा पहनकर देखने से लगता है कि पर्दे से फेकी हुई चीज अपने ऊपर ही चली आ रही है। यह वस्तुत एक दिग्भ्रम है जो छायाचित्रण मे निर्मित किया जाता है। (प्र० मा०)

आयु जीवनकाल को आयु कहते है, यद्यपि वय, अवस्था या उम्र को भी बहुधा आयु ही कह दिया जाता है।

विभिन्न प्राणियो की आयुओ मे बडी विभिन्नता है। एक प्रकार की मक्खी की आयु कुछ घटो की ही होती है। उधर कछुए की आयु दो सौ वर्षों तक की होती है। आयु की सीमा मोटे हिसाब से शरीर की तौल के अनुपात मे होती है, यद्यपि कई अपवाद भी है। कुछ पक्षी कई स्तनधारियो से अधिक जीवित रहते है। कुछ मछलियाँ १५० से २०० वर्षों तक जीवित रहती है, किंतु घोडा ३० वर्ष मे मर जाता है। वृक्षों की रचना भिन्न होने से उनकी आयु की कोई मर्यादा नही है। अमरीका मे कुछ वृक्षो को गिराने के बाद उनके वार्षिक वलयों मे पता लगा कि वे २००० वर्षों से भी कुछ अधिक वय के थे।

मृत्यु पर, अर्थात् जीवन के अत पर, अमीबा तथा अन्य प्रोटोजोआ ने विजय प्राप्त कर ली है। एक से दो मे विभक्त होकर प्रजनित होने से इन्होने आयु की सीमा को लाँघ लिया है (द्र० **अमीबा**)। इनकी अबाध जीवधारा के कारण इन्हे अमर भी कहा जाता है। परतु उन्नत वर्ग के प्राणियो मे जीवन का अत टालना असभव है, इसलिये उन सभी की आयु सीमाबद्ध है। यह देखकर कि किसी प्राणी को प्रौढ होने मे कितने वर्ष लगते है, उसकी पूरी आयु का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य का जीवनकाल १०० वर्ष आँका गया है।

पिछले कई वर्षों मे कई कारणो से मनुष्य का महत्तम काल तो अधिक नही बढ पाया है, किंतु औसत आयु बहुत बढ गई है। यह वृद्धि इसलिये हुई है कि बच्चो को मृत्यु से बचाने मे आयुर्विज्ञान (मेडिकल सायस) ने बडी उन्नति की है। बुढापे के रोगो मे, विशेषकर धमनियो के कडी हो जाने की चिकित्सा मे, विशेष सफलता नहीं मिली है। आनुवंशिकता और पर्यावरण का आयु पर बहुत प्रभाव पडता है। खोजो से पता चला है कि यदि प्रसव के समय की मृत्युओ की गणना न की जाय तो पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक समय तक जीवित रहती है। यह भी निर्विवाद है कि दीर्घजीवी माता पिता की सतान साधारणत दीर्घजीवी होती हैं। स्वस्थ वातावरण मे प्राणी दीर्घजीवी होता है। जीव की जन्मजात बलशाली जीवनशक्ति बाहर के दूषित वातावरण के प्रभाव से प्राणी की बहुत कुछ रक्षा करती है, परतु अधिक दूषित वातावरण रोगो के माध्यम से आयु पर प्रभाव डालता है। इसके अतिरिक्त देखा गया है कि चिंता, अनुचित आहार तथा अस्वास्थ्यकारी पर्यावरण आयु घटाते है। दूसरी ओर, प्रति दिन की मानसिक या शारीरिक कार्यशीलता बुढापे के विकृत रूप को दूर रखती है। अगों के जीर्ण शीर्ण हो जाने की आशका की अपेक्षा अकार्यता से बेकार होने की सभावना अधिक रहती है। विश्व के अनेक लेखक और चित्रकार दीर्घजीवी हुए है और अत तक वे नए ग्रथ और नए चित्र की रचना करते रहे है। अनियमित आहार, अति सुरापान और अति भोजन आयु को घटाते है। सौ वर्ष से अधिक काल तक जीनेवाले व्यक्तियो मे से अधिकाश लघु आहार करनेवाले रहे है। अधिक भोजन करने से बहुधा मधुमेह (डायाबिटीज) या धमनी, हृदय वा वृक्क (गुरदे) का रोग हो जाता है। बुढापा स्वस्थ और सुखद हो सकता है अथवा रोगग्रस्त, पीडामय और दुखद। स्वस्थ बुढापे मे क्रियाशीलता कम हो जाती है और कुछ दुर्बलता आ जाती है, परतु मन शात रहता है। मानसिक दृष्टिकोण साधारणत व्यक्ति के पूर्वगामी दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है, जिससे कुछ व्यक्ति सुखी और दयालु रहते हैं, कुछ निराशावादी और छिद्रान्वेषी। श्टाइनाख और वोरोनॉफ ने बदर की ग्रथियो को मनुष्य मे आरोपित करके अल्पकालीन युवावस्था कुछ लोगो मे ला दी थी, परन्तु उनकी रीतियों को अब कोई पूछता भी नही। उनकी शल्यक्रिया से मनुष्य का जीवन बढ़ नही सका।

कुछ रोगो से मनुष्य समय के बहुत पहले बुड्ढा लगने लगता है। प्रोजीरिया नामक रोग मे तो बच्चे भी बुड्ढों की आकृति के हो जाते हैं,

परतु सौभाग्यवश यह रोग बहुत कम होता है। कुछ रोग विशेषकर बुड्ढों मे होते है। इनमे से प्रधान रोग है मधुमेह (डायाबिटीज), कर्कट (कैसर) और हृदय, धमनी तथा वृक्क के रोग। बचपन और युवावस्था के रोगो मे से न्यूमोनिया बहुधा बूढ़ो को भी हो जाता है और साधारणत उनका प्राण ही ले लेता है।

भेषज वैधिक (मेडिको-लीगल) कार्यों मे यथार्थ वय का आगणन बडे महत्व की बात है। *वयनिर्धारण मे दाँत, बाल, मस्तिष्क तथा अस्थि की* परीक्षा की जाती है और एक्स-किरणो आदि की सहायता भी ली जाती है। परतु २५ वर्ष के ऊपर वय की निश्चित गणना ठीक से नही हो सकती।

सं०ग्र०—ए० जी० बेल . दि ड्यूरेशन ऑव लाइफ ऐंड द कंडिशस ऐसोशिएटेड विद लाजेविटी; लुई आई० डबलिन तथा एच० एच० मार्क्स इनहेरिटेंस ऑव लाजेविटी, ए० जी० लोटका लेग्थ ऑव लाइफ ऐंड स्टडी ऑव लाइफ टेबुल्स, ई० सी० काउदी प्राब्लेम ऑव एजिग, टेलर तथा मोदी . मेडिकल जुरिसप्रुडेंस। (दे० सि०)

कानून में आयु—आयु से समय की अवधि की ओर सकेत मिलता है। शरीर-विज्ञान-वेत्ता मनुष्य के विकास की अवस्था के अर्थ मे 'आयु' शब्द का प्रयोग करते है, जैसे शैशव पाँच वर्ष की आयु तक, बचपन १४ वर्ष तक, तरुणावस्था २१ वर्ष तक, वयस्क ५० वर्ष तक और इसके बाद वृद्धा-वस्था। विकास की अवस्था के लिये प्रयुक्त आयु का तात्पर्य शारीरिक आयु से होता है।

कानून सबधी विविध कार्यों के लिये विभिन्न आयुएँ सरकार की ओर से निश्चित की जाती है, जैसे मतदान के लिये कही १८ वर्ष और कही २१ वर्ष की आयु निर्धारित है। कुछ पदो के लिये भी आयु की एक सीमा बना दी जाती है। कुछ सस्थाएँ अपनी सदस्यता के लिये आयु की किसी निश्चित सीमा पर अधिक बल देती है।

२०वी शताब्दी के प्रारभ मे 'मानसिक आयु' (मेटल एज) का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इस शब्दावली की ओर सन् १८८७ ई० मे भी सकेत किया गया था, तथापि इसका श्रेय फ्रास के मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड बीने (१८५७-१९११) को दिया जाता है। मानसिक आयु का तात्पर्य कुछ समान आयु-वाले बालको की औसत मानसिक योग्यता से है। इससे बालक की साधारण मानसिक योग्यता का अनुमान मिलता है। मानसिक आयु बढती है और परिपक्व होती है। सामान्यत इसकी परिपक्वता का समय १४ से २२ वर्ष की आयु के भीतर कभी भी आ सकता है। *कुछ लोगो मे इसकी परि-पक्वता २२ वर्ष के बाद भी आ सकती है।* (स० प्र० चौ०)

आयुध उन यत्रो को कहते है जिनका प्रयोग युद्ध मे होता है। इस प्रकार तीर तलवार से लेकर बडी बडी तोपो तक सभी यत्र आयुध है। आयुध के विकास का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव जाति के विकास का। मानव जीवन आदिकाल से सघर्षपूर्ण रहा है। *जीवनरक्षा के लिये उसे भयानक और शक्तिशाली जीवजतुओ से लडना* पडा होगा। मनुष्य के पास न तो उन जीवजतुओ के बराबर बल था, न उतना मोटा और कठोर चर्म और न तीव्र तथा घातक दाँत तथा नख ही थे। अपने अनुभवो तथा बुद्धि से मनुष्य ने प्रथम शस्त्रो का आविष्कार किया होगा। डडे या लाठी का विकास बरछा, गदा, तलवार, बल्लम और आधुनिक सगीन मे हुआ। इसी प्रकार फेंककर मारनेवाले साधारण पत्थर का विकास भाला, धनुष बाण, गुलेल, गोला, गोली तथा आधुनिक परमाणु बम मे हुआ।

आयुधो के विकास और बढती शक्ति के साथ साथ प्रतिरक्षा के उप-करणो की आवश्यकता हुई और उनका आविष्कार हुआ। सभवत चर्म को लकडी के डडो मे फँसाकर ढाल बनाने की कला बहुत पुरानी होगी। कालातर मे कवच और आधुनिक युग मे आकर कवचयान (टैंक) का आविष्कार हुआ। यह देखा गया है कि मनुष्य ने जब जब सहार के साधनो का निर्माण किया, उसके साथ साथ प्रतिरक्षा के साधनो का भी विकास हुआ।

आयुधो का वर्गीकरण साधारणत. उनके प्रयोग, विधि और विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। इनके अनुसार पाषाणयुग से बारूद के आविष्कार तक के आयुधो का वर्गीकरण इस प्रकार है:
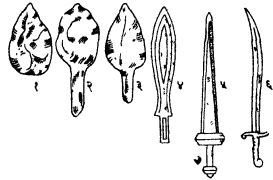
चित्र १. पाषाण तथा धातु युग के शस्त्र

पाषाण युग के : १ कुल्हाडे का माथा जो लकडी में बाँधा जाता था, २ गदा, ३ छुरा, धातु युग के लोहे के बने (१०वी शताब्दी के) ४ छुरा, ५ तलवार, ६ तलवार।

शस्त्र वे हथियार है जो फेंके नही जाते। इनके उपवर्गीकरण के अतर्गत निम्नलिखित शस्त्र है. (अ) काटनेवाले शस्त्र, जैसे तलवार, परशु आदि, (आ) भोकनेवाले शस्त्र, जैसे बरछा, त्रिशूल आदि, (इ) कुंद शस्त्र, जैसे गदा।

अस्त्र वे हथियार हैं जो फेंके जाते है। इनके अतर्गत ये अस्त्र हैं: (अ) हाथ से फेंके जानेवाले अस्त्र, जैसे भाला, (आ) वे अस्त्र जो यत्र द्वारा फेंके जाते है, जैसे बाण, गुलेल से फेंके जानेवाले पत्थर आदि।

पुरातत्ववेत्ताओ के मतानुसार समय के साथ साथ मनुष्य का ज्ञान बढा और वह सोच समझकर इच्छानुसार पत्थर और लकडी के शस्त्र बनाने लगा। फिर इन्ही शस्त्रों को घिसकर सपाट, सुडौल, तीव्र और चमकीला बनाना आरभ किया। इस काल के मुख्य शस्त्र पत्थर के कुल्हाडे, गदाएँ और छुरे थे (चित्र १)। *सहस्रो वर्ष बाद उसने धनुष और भाले का भी* निर्माण किया।

लगभग ४,००० वर्ष ई० पू० तक मनुष्य धातु का पता पा चुका था। ताँबे और राँगे को मिलाकर उसने काँसा बनाना जाना और तब धीरे धीरे पत्थर के शस्त्रो का स्थान काँसे के शस्त्रो ने ले लिया (चित्र १)। इस काल के शस्त्रो मे विशेषत. धनुषबाण, बरछी, छुरी, भाला, कुल्हाडा और गदा के तथा रक्षात्मक साधनो मे केवल काँसे की ढाल के प्रमाण मिले है।

काँसे का स्थान प्राय १००० ई० पू० मे लोहे ने लिया। वैदिक काल मे अस्त्रशस्त्रो का वर्गीकरण इस प्रकार था

(१) अमुक्ता—वे शस्त्र जो फेंके नही जाते थे।
(२) मुक्ता—वे शस्त्र जो फेंके जाते थे। इनके भी दो प्रकार थे—
(अ) पाणिमुक्ता, अर्थात् हाथ से फेंके जानेवाले, और
(आ) यत्रमुक्ता, अर्थात् यत्र द्वारा फेंके जानेवाले।
(३) मुक्तामुक्त—वह शस्त्र जो फेंककर या बिना फेंके दोनो प्रकार से प्रयोग किए जाते थे।
(४) मुक्तसनिवृत्ती—वे शस्त्र जो फेंककर लौटाए जा सकते थे।

आग्नेयास्त्र (फायर-आर्म्स) का भी उल्लेख मिलता है, पर अधिक स्पष्ट नही। शरीर के विभिन्न अगो की रक्षा का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ शरीर के लिये चर्म तथा कवच का, सिर के लिये शिरस्त्राण और गले के लिये कठत्राण इत्यादि का।

यूरोप में भी इसी प्रकार के शस्त्र बनते थे। १२वीं सदी का कवच लोहे की छोटी छोटी कड़ियों को गूँथकर बनता था। जिरहबख्तर (जालिका, चेन मेल) सुदर और सुविधाजनक अवश्य था, पर भारी शस्त्रों की चोट से पूर्णतया रक्षा नहीं कर सकता था। इसलिये १३वीं सदी ई० में यूरोप में लोहे की चादर के आवरण बनने लगे और उन्हें जालिका के ऊपर पहना जाने लगा। योद्धा अब सिर से पाँव तक पट्टकवच (प्लेट आरमर) से ढका रहता था। शरीर के अवयवों के सरल आदोलन के लिये इन कवचों में जोड़ बने रहते थे। पीछे अश्व के लिये भी ऐसा ही कवच बनने लगा।
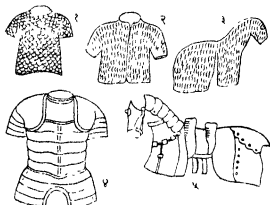
चित्र २. विविध प्रकार के कवच

ऊपर तीन शल्ककवचों के चित्र हैं : १ तथा २. योद्धा के लिये, ३ अश्व के लिये। नीचे, दो पट्ट-कवच ४. योद्धा के लिये; ५ अश्व के लिये।

चित्र ३ अंगों के कवच

१ पादत्राण, २ हस्तत्राण, ३ वक्षत्राण, ४ शिरस्त्राण।
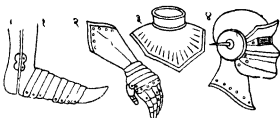
जालिका भी अश्व तथा मनुष्य दोनों के लिये बनती थी (चित्र २ और ३)। सवार और अश्व के कवच का भार २०० से ३०० पाउंड तक होता था।
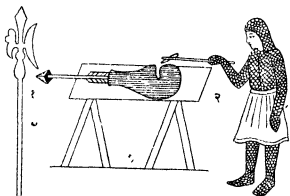
चित्र ४. १४वीं शताब्दी के शस्त्र

१. स्विस सैनिकों का बर्छा, २. तीर छोड़नेवाली तोप।

१३वीं शताब्दी में शस्त्रों की शक्ति में भी उन्नति हुई। अंग्रेजों का लंबा धनुष (लॉङ्ग बो) इतना शक्तिशाली होता था कि उससे चलाया बाण साधारण कवचों को भेद देता था। यह धनुष छह फुट लंबा होता था और इसका छह फुट का बाण २५० गज तक सुगमता से मार कर सकता था। इसी प्रकार स्विट्ज़रलैंड का हैलबर्ड कुल्हाड़ा था। इसका दस्ता आठ फुट का था और कुल्हाड़े के साथ साथ इसमें बरछी और सवार को खींचकर गिराने के काम का एक टेढ़ा काँटा भी होता था (चित्र ४ में १)। दक्ष लड़ाका इसकी चोट से अच्छे कवच को भी काट सकता था।

बारूद के आविष्कार ने (१२६४ ई० में) मनुष्य के हाथ में एक ऐसी शक्ति दे दी जिसने युद्ध की रूपरेखा ही बदल दी। यह निश्चित है कि १४वीं शताब्दी के आरंभ में आग्नेयास्त्र बन चुके थे। प्रथम आग्नेयास्त्र तोप थी। यह मुख्यतः दो प्रकार की बनाई गई—एक छोटी नालवाली (मॉर्टर) और दूसरी लंबी नालीवाली (बबार्ड) (चित्र ५ और ६)।

चित्र ५. शतघ्निका (मॉर्टर)
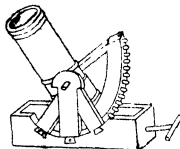
ऊँचा गोला फेंकनेवाली छोटी नली की तोप (१४वीं शताब्दी)।
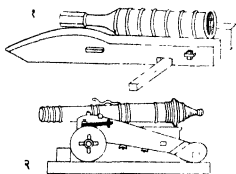
चित्र ६-७. प्राचीन तोप

ऊपर, १४वीं शताब्दी का बबार्ड (एक प्रकार की भारी तोप जो पत्थर या अन्य अस्त्र प्रक्षिप्त करती थी)। नीचे, साधारण तोप।

ये तोपें पहले ताँबे और काँसे की बनी और फिर लोहे की बनने लगीं। १५वीं शताब्दी में तोपें ३० इंच परिधि की होती थीं और १७०० में १,५०० पाउंड भार के पत्थर के गोले चलाती थीं। आधुनिक हाविट्ज़र और भारी फील्डगन मॉर्टर और बबार्ड के ही विकसित रूप हैं। इसी शताब्दी के अंत तक छोटी हाथ की तोपें बनीं (चित्र ८)। इनका स्थान १५वीं शताब्दी के आरंभ में हाथ की बंदूक ने लिया।

इसी का विकास धीरे धीरे मस्केट, मैचलॉक, फ्लिंटलॉक और आधुनिक राइफल में हुआ। तीव्र गति से लगातार गोली चलानेवाली बंदूक बनाने की चेष्टा और इस संबंध के प्रयोग १६वीं शताब्दी से होने लगे थे और इसी के फलस्वरूप १८८४ में प्रथम सफल मशीनगन बनी। आज की मशीनगन एक मिनट में ३०० गोली तक चला सकती है। अन्य महत्वपूर्ण शस्त्रों का भी आविष्कार १४वीं से १६वीं शताब्दी में हुआ, जैसे हाथ का बम (१३८२ ई०), काँसे के विस्फोटक गोले, पिस्तौल (१४८३ ई०), दाहक गोले (१४८७

ई०), इत्यादि। शस्त्रों का अधिक विकास आधुनिक काल मे हुआ। १६वी शताब्दी तक आग्नेयास्त्र इतने प्रभावशाली तथा शक्तिशाली बन चुके थे कि मनुष्य के स्वरक्षात्मक कवच व्यर्थ थे। सन् १९१५ का मनुष्य आग्नेयास्त्र
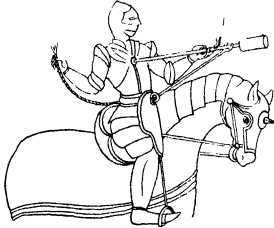
चित्र ८. घुड़सवार की तोप

के सामने असहाय रहा, परतु इसी वर्ष प्रथम कवचयान (टैंक) का निर्माण हुआ। मनुष्य अब इस्पात की मोटी मोटी चादरो से बनी इस गाडी मे बैठकर हल्के आग्नेयास्त्र के प्रहार से बच सकता था।

बदूक, राइफल और तोपो के कार्यकरण का सिद्धात एक ही है। किसी तीन ओर दृढता से बद पात्र मे बारूद रखी जाती है और इसके बाद छर्रा, गोली या गोला रखकर चौथी ओर मे पात्र को अस्थायी रूप से बद कर दिया जाता है। फिर बारूद मे किसी युक्ति से आग लगा दी जाती है। तब बारूद तुरत जलकर गैसो मे परिवर्तित हो जाती है। अत्यत कम स्थान मे उत्पन्न होने के कारण ये गैसे बहुत सपीडित (दबी हुई) रहती हैं। इसलिये छर्रे, गोली या गोले को वे बहुत बलपूर्वक दबाती है। गोला जब तक यत्र के नाल मे चलता रहता है तब तक उसपर दाब पडती रहती है और उसका वेग बढता रहता है। इस प्रकार उसमे बहुत अधिक वेग उत्पन्न हो जाता है। नाल के कारण उसकी दिशा भी निर्धारित हो जाती है, इसलिये नाल को घुमा फिराकर गोले को इच्छानुसार लक्ष्य पर मारा जा सकता है।

सन् १३१३ ई० से यूरोप मे तोप के प्रयोग का पक्का प्रमाण मिलता है। भारत मे बाबर ने पानीपत की लडाई (सन् १५२६ ई०) मे तोपो का पहले पहल प्रयोग किया।

पहले तोपे काँसे की बनती थी और उनको ढाला जाता था। परतु ऐसी तोपे पर्याप्त पुष्ट नही होती थी। उनमे अधिक बारूद डालने से वे फट जाती थी। इस दोष को दूर करने के लिये उनके ऊपर लोहे के छल्ले तप्त करके खूब कसकर चढा दिए जाते थे। ठढा होने पर ऐसे छल्ले सिकुडकर बडी दृढता से भीतरी नाल को दबाए रहते है, ठीक उसी प्रकार जैसे बैलगाडी के पहिए के ऊपर चढी हाल पहिए को दबाए रहती है। अधिक पुष्टता के लिये छल्ले चढाने के पहले नाल पर लबाई के अनुदिश भी लोहे की छडे एक दूसरी से सटाकर रख दी जाती थी। इस समय की एक प्रसिद्ध तोप मॉन्स मेग है, जो अब एडिनबरा के दुर्ग पर शोभा के लिये रखी है। इसके बाद लगभग २०० वर्षों तक तोप बनाने मे कोई विशेष उन्नति नही हुई। इस युग मे नालो का सच्छिद्र (बोर) चिकना होता था। परतु लगभग सन् १५२० मे जर्मनी के एक तोप बनानेवाले ने सच्छिद्र मे सर्पिलाकार खाँचे बनाना आरभ किया। इस तोप मे गोलाकार गोले के बदले लबोतर 'गोले' प्रयुक्त होते थे। सच्छिद्र मे सर्पिलाकार खाँचो के कारण प्रक्षिप्त पिंड वेग से
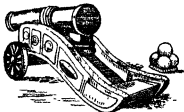
चित्र ९. मॉन्स मेग

नाचने लगता है। इस प्रकार नाचता (घूर्णन करता) पिंड वायु के प्रतिरोध से बहुत कम विचलित होता है और परिणामस्वरूप लक्ष्य पर अधिक सच्चाई से पडता है।

१८५५ ई० मे लार्ड आर्मस्ट्राग ने पिटवाँ लोहे की तोप का निर्माण किया, जिसमे पहले की तोपो की तरह मुँह की ओर से बारूद आदि भरी जाने के बदले पीछे की ओर से ढक्कन हटाकर यह सब सामग्री भरी जाती थी। इसमे ४० पाउड के प्रक्षिप्त भरे जाते थे।

चित्र १० पैदल सेना का तीन इचवाला मॉर्टर

चौडे मुँह की तोपो को, जिनकी नाल अपेक्षाकृत बहुत छोटी होती है, मॉर्टर कहते है।

साधारण तोपो मे प्रक्षिप्त बड़े वेग से निकलता है और तोप की नाल को बहुत ऊँची दिशा मे नही लाया जा सकता है। दूसरी ओर छोटी नाल की तोपे हल्की बनती हैं और उनसे निकले प्रक्षिप्त मे बहुत वेग नही होता, परतु इनमे यह गुण होता है कि प्रक्षिप्त बहुत ऊपर उठकर नीचे गिरता है और इसलिये इससे दीवार, पहाडी आदि के (चित्र १०) पीछे छिपे शत्रु को भी मार सकते है (चित्र ११)। इन्हे मॉर्टर कहते है। मझोली नाप की नालवाली तोप को हाउविट्ज़र कहते है। जैसे जैसे तोपो के बनाने मे उन्नति हुई वैसे वैसे मॉर्टरो और हाउविट्ज़रो के बनाने मे भी उन्नति हुई।

प्राय सभी देशो मे एक ही प्रकार से तोपो के निर्माण मे उन्नति हुई, क्योकि बराबर होड लगी रहती थी। जब कोई एक देश अधिक भारी, अधिक शक्तिशाली या अधिक फुर्ती से गोला दागनेवाली तोप बनाता तो बात बहुत दिनो तक छिपी न रहती और प्रतिद्वद्वी देशो की चेष्टा होती कि उससे भी अच्छी तोप बनाई जाय। १८९८ ई० मे फ्रासवालो ने एक ऐसी तोप बनाई जो उसके बाद बननेवाली तोपो की पथप्रदर्शक हुई। उससे निकले प्रक्षिप्त का वेग अधिक था, उसका आरोपण सराहनीय था, दागने पर

चित्र ११. मॉर्टर से दागा गया बम

यह दीवार के पीछे छिपे सैनिकों को भी मार सकता है।

पूर्णतया स्थिर रहता था, क्योकि आरोपण मे ऐसे डैने लगे थे जो भूमि मे धँसकर तोप को किसी दिशा मे हिलने न देते थे। सभी तोपे दागने पर पीछे हटती है। इस धक्के (रिकॉयल) के वेग को घटाने के लिये द्रवो का प्रयोग किया गया था। इसके प्रक्षिप्त पतली दीवार के बनाए गए थे। इनमे से प्रत्येक की तौल लगभग १२ पाउड थी और उसमे लगभग साढे तीन पाउड उच्च विस्फोटी बारूद रहती थी। प्रक्षिप्त मे विशेष रसायनो से युक्त

३. अग्निबम ४ रासायनिक बम
५. जीवाणु बम ६ विकिरण बम

विखंडक बम—इसमें विशेष प्रकार के धातु के खोखले पात्र के भीतर विस्फोटक पदार्थ भरा होता है। जब यह वायुयान अथवा रॉकेट से गिराने पर पृथ्वी से टकराता है तो धमाके के साथ फूट जाता है और इसके टुकड़ों से लोग घायल होते हैं। कभी कभी यह वायुयान से गिराने पर पृथ्वी से
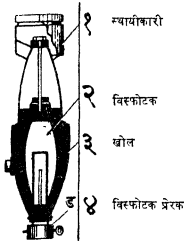
चित्र १६ विध्वंसक बम

कुछ ऊँचाई पर हवा में ही फूट जाता है। इन बमों का कुल भार २ कि० ग्रा० से लेकर ५० कि० ग्रा० तक होता है। साधारणतया ये बम बड़े क्षेत्रों में गिराए जाते हैं।

विध्वंसक बम—इसका भार ५० कि० ग्रा० से लेकर १,००० कि०ग्रा० तक होता है। इसमें साधारण विस्फोटक भरा रहता है।

अग्नि बम—ये घनी आबादीवाले शहरों तथा बड़े बड़े कारखानों पर गिराए जाते हैं जिनसे वे जलकर नष्ट हो जाते हैं। इसमें आग लगानेवाला पदार्थ एक विशेष प्रकार के प्रज्वालक पलीते के साथ भरा होता है। आग लगाने के फास्फोरस, नेपाम और थर्माइट इलेक्ट्रान जैसे रासायनिक यौगिक प्रयुक्त किए जाते हैं और तब इनके नाम प्रयुक्त पदार्थ के अनुसार भी हो जाते हैं।

रासायनिक बम—यह एक प्रकार का बैलून होता है जिसकी दीवार पतली होती है। यह विषैली वस्तुओं से भरा हुआ होता है। यह बम जमीन
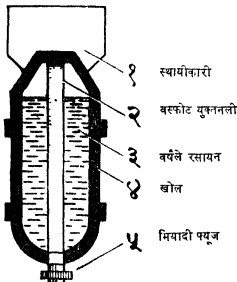
चित्र १७. रासायनिक बम

अथवा जमीन से कुछ ऊपर हवा में विस्फोट करता है तो विषैली वस्तुएँ, गैस, तरल या ठोस जो भी होती हैं, खोल से बाहर निकलकर जमीन अथवा हवा में बिखर जाती हैं और कुछ ही क्षणों में उस विस्फोट स्थल के आस पास बादल का रूप धारण कर लेती हैं।

जीवाणु बम—इसका भार लगभग ७५ कि० ग्रा० तक होता है। इसमें कई कक्ष होते हैं। प्रत्येक कक्ष में जीवाणु, रोगग्रस्त कीड़े अथवा जुएँ भरे होते हैं। बम गिराने पर इसमें लगा फ्यूज जल उठता है और इसी समय इसके कक्षों का ढक्कन, जो कब्जेदार होता है, झटके के साथ खुल जाता है और रोग फैलानेवाले जीवाणु हवा में बिखरकर फैल जाते हैं। यदि इस बम के
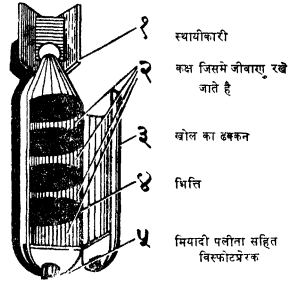
चित्र १८ जीवाणु बम

खोल का ढक्कन जमीन से ३० फुट पर खुल जाता है तो ये जीवाणु लगभग ४०० वर्ग मीटर में फैल जाते हैं। जिस क्षेत्र में जीवाणु बम गिराए जाते हैं उसमें मनुष्य, जीव जंतु और पेड़ पौधे आदि सभी रोग के शिकार हो सकते हैं क्योंकि सारा वातावरण दूषित हो जाता है।

विकिरण बम—यह रासायनिक बम की तरह होता है लेकिन इसका खोल कुछ पतला रहता है। इसके भीतर रेडियमधर्मी पदार्थ विस्फोटक पदार्थ
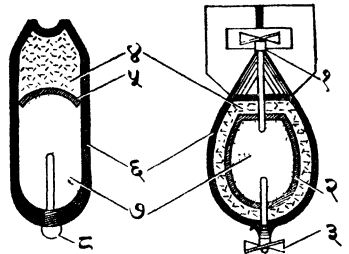
चित्र १९ विकिरण बम

१ स्थायीकारी, २ विस्फोटी चार्ज, ३ अग्र विस्फोट प्रेरक ४ विकिरण-धर्मी पदार्थ, ५ धातु की भित्ति, ६ खोल, ७ विस्फोटक पदार्थ, ८. विस्फोटप्रेरक

के साथ भरा होता है। विस्फोट होने पर ये पदार्थ धूल की तरह हवा में मिल जाते हैं जिससे वहाँ की हवा रेडियमधर्मी पदार्थों से संदूषित हो जाती

है। इस प्रकार वहाँ के लोग रेडियमधर्मी विकिरणजन्य रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं।

नाभिकीय बम—द्र० 'परमाणु बम' तथा 'हाइड्रोजन बम'।

जीवाणु अस्त्र—ये परमाणु बम एव हाइड्रोजन बम से भी अधिक भयानक सिद्ध हुए है। ये ऐसे अस्त्र है जिन्हे छोडने पर किसी प्रकार का धमाका नही होता है। जीवाणु अस्त्र मे रोग फैलानेवाले जीवाणु होते हैं और जिस युद्ध मे ये इस्तेमाल किए जाते है वह बहुत बीभत्स एव संहारक होता है। प्रथम विश्वयुद्ध मे युद्धभूमि मे ५१,२५६ अमरीकी सैनिक मरे थे, पर उसके बाद जीवाणुओ से फैली बीमारी मे मरनेवालो की सख्या ५१,४४७ थी। प्राचीन काल में लोग रोगी के शव को दुश्मनो के घेरे मे डाल देते थे ताकि उनकी मृत्यु जीवाणुओ के माध्यम से होने लगे।

जीवाणुकर्मक (रोग पैदा करनेवाले जीव)—ये युद्ध मे अस्त्रो के रूप मे प्रयुक्त किए जाते है और कई प्रकार के होते है। ये मनुष्यो, पशुओ तथा पौधो मे सक्रामक रोग फैलाते है। इनका प्रयोग दुश्मन की युद्ध करने की क्षमता घटाने के लिये होता है। ये जीवाणु उचित वातावरण पाने पर बहुत कम समय मे लाखो सैनिको को रोगग्रस्त कर देते है।

युद्धास्त्र के रूप मे नाना प्रकार के जीवाणु प्रयोग मे लाए जाते है और प्रत्येक प्रकार के जीवाणु अलग अलग प्रकार के सक्रामक रोग फैलाते है। रोग फैलानेवाले जीवाणुओ के लिये जिन विभिन्न साधनो का उपयोग सभव है उनमे से कुछ प्रमुख साधनो के नाम निम्नलिखित है

१ राकेट, २ वायुयान, ३ कीडे, ४ जीवाणु बम, ५ एयरोसोल, ६ मिसाइल, ७ कुएँ मे डालकर।

एक बार छोड दिए जाने पर ये सूक्ष्मजीवी हवा मे बिखर जाते हैं और वायु के साथ साथ हजारो मील के क्षेत्र मे फैल जाते है। उदाहरणार्थ बैसिलाई (बैक्टीरिया) को एयरोसोल के द्वारा समुद्रतट पर २४० कि० मी० की
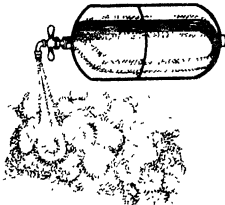
चित्र २० एयरोसोल

लबाई मे छोड दिया जाय तो ये अपने आप १,३०,८०० वर्ग कि०मी० भूभाग मे फैल जाएंगे। इस प्रकार उस भूभाग मे ये जीवाणु रोग फैलाते है। ऐसा पाया गया है कि अस्त्रो के हमले से मरनेवाले सैनिको की अपेक्षा इन रोगाणुओ के सक्रमण से मरनेवाले सैनिको की सख्या अधिक होती है। जीवाणुओ के प्रजनन की जो असीम क्षमता है वह जीवाणु अस्त्रो को और अधिक घातक बना देती है। यदि ये जीवाणु एक बार जाते है तो इन्हे नष्ट करना आसान नही होता। इन जीवाणुओ का कोई विशेष रग, स्वाद और गध नही होता। इन विशेषताओ के कारण जीवाणु अस्त्रो का महत्व दिन-प्रति-दिन बढता जा रहा है।

(बमों के चित्र 'विज्ञान प्रगति', जनवरी-फरवरी, १९७२ के सौजन्य से)

(आ० सि० स०; श्री० गो० ति०; नि० सि०)

आयुर्विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जिसका संबंध मानव शरीर को नीरोग रखने, रोग हो जाने पर रोग से मुक्त करने अथवा उसका शमन करने तथा आयु बढाने से है। आयुर्विज्ञान का जन्म भारत मे कई हजार वर्ष ई० पू० मे हुआ, परतु पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान का जन्म ई० पू० चौथी शताब्दी मे यूनान मे हुआ और लगभग ६०० वर्ष बाद उसकी मृत्यु रोम मे हुई। इसके लगभग १,५०० वर्ष पश्चात विज्ञान के विकास के साथ उसका पुनर्जन्म हुआ। यूनानी आयुर्वेद का जन्मदाता हिप्पोक्रेटीज़ था जिसने उसको आधिदैविक रहस्यवाद के अंधकूप से निकालकर अपने उपयुक्त स्थान पर स्थापित किया। उसने बताया कि रोग की रोकथाम तथा उससे मुक्ति दिलाने मे देवी देवताओ का हाथ नही रहता। उसने तात्रिक विश्वासो और वैसी चिकित्सा का अत कर दिया। उसके पश्चात् गत शताब्दियो मे समय समय पर अनेक अन्वेषणकर्ताओ ने नवीन खोजे करके इस विज्ञान को उन्नत किया।

प्रारभ मे आयुर्विज्ञान का अध्ययन जीवविज्ञान की एक शाखा की भाँति किया गया और शरीर-रचना-विज्ञान (अनैटॉमी) तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिज़िऑलॉजी) को इसका आधार बनाया गया। शरीर मे होनेवाली क्रियाओ के ज्ञान से पता लगा कि उनका रूप बहुत कुछ रासायनिक है और ये घटनाएँ रासायनिक क्रियाओ के फल हैं। ज्यों ज्यो खोजे हुई त्यो त्यो शरीर की घटनाओ का रासायनिक रूप सामने आता गया। इस प्रकार रसायन विज्ञान का इतना महत्व बढा कि वह आयुर्विज्ञान की एक पृथक् शाखा बन गया, जिसका नाम जीवरसायन (बायोकेमिस्ट्री) रखा गया। इसके द्वारा न केवल शारीरिक घटनाओ का रूप स्पष्ट हुआ, वरन् रोगो की उत्पत्ति तथा उनके प्रतिरोध की विधियाँ भी निकल आईं। साथ ही भौतिक विज्ञान ने भी शारीरिक घटनाओ को भली भाँति समझने मे बहुत सहायता दी। यह ज्ञात हुआ कि अनेक घटनाएँ भौतिक नियमो के अनुसार ही होती है। अब जीवरसायन की भाँति जीवभौतिकी (बायोफिजिक्स) भी आयुर्विज्ञान का एक अग बन गई है और उससे भी रोगो की उत्पत्ति को समझने मे तथा उनका प्रतिरोध करने मे बहुत सहायता मिली है। विज्ञान की अन्य शाखाओ से भी रोगशोधन तथा चिकित्सा मे बहुत सहायता मिली है और इन सबके सहयोग से मनुष्य जाति के कल्याण मे बहुत प्रगति हुई है, जिसके फलस्वरूप जीवनकाल बढ गया है।

शरीर, शारीरिक घटनाओ और रोग सबधी आतरिक क्रियाओं का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने मे अनेक प्रकार की प्रायोगिक विधियो और यत्रो से, जो समय समय पर बनते रहे है, बहुत सहायता मिली है। किंतु इस गहन अध्ययन का फल यह हुआ कि आयुर्विज्ञान अनेक शाखाओ मे विभक्त हो गया और प्रत्येक शाखा मे इतनी खोज हुई है, नवीन उपकरण बने हैं तथा प्रायोगिक विधियाँ ज्ञात की गई है कि कोई भी विद्वान् या विद्यार्थी उन सब से पूर्णतया परिचित नही हो सकता। दिन-प्रति-दिन चिकित्सक को प्रयोगशालाओ तथा यत्रों पर निर्भर रहना पड रहा है और यह निर्भरता उत्तरोत्तर बढ रही है।

आयुर्विज्ञान की शिक्षा—प्रत्येक शिक्षा का ध्येय मनुष्य का मानसिक विकास होता है, जिससे उसमे तर्क करके समझने और तदनुसार अपने भावो को प्रकट करने तथा कार्यान्वित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। आयुर्विज्ञान की शिक्षा का भी यही उद्देश्य है। इसके लिये सब आयुर्विज्ञान के विद्यार्थियो मे विद्यार्थी को उपस्नातक के रूप मे पाँच वर्ष बिताने पड़ते है। इन मेडिकल कालिजों (आयुर्विज्ञान विद्यालयो) में विद्यार्थियो को आधार-विज्ञानो का अध्ययन करके उच्च माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने पर भरती किया जाता है। तत्पश्चात् प्रथम दो वर्ष विद्यार्थी शरीररचना तथा शरीर-क्रिया नामक आधारविज्ञानो का अध्ययन करता है जिससे उसको शरीर की स्वाभाविक दशा का ज्ञान हो जाता है। उसके पश्चात् तीन वर्ष रोगो के कारण इन स्वाभाविक दशाओ की विकृतियो का ज्ञान पाने तथा उनकी चिकित्सा की रीति सीखने मे व्यतीत होते है। रोगो को रोकने के उपाय तथा भेषजवैधिक का भी, जो इस विज्ञान की नीति सबधी शाखा है, वह इसी काल मे अध्ययन करता है। इन पाँच वर्षो के अध्ययन के पश्चात् वह स्नातक बनता है। इसके पश्चात् वह एक वर्ष तक अपनी रुचि के अनुसार किसी विभाग में काम करता है और उस विषय का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त

करता है। तत्पश्चात् वह स्नातकोत्तर शिक्षण मे डिप्लोमा या डिग्री लेने के लिये किसी विभाग मे भरती हो सकता है।

सब आयुर्विज्ञान विद्यालय (मेडिकल कॉलेज) किसी न किसी विश्वविद्यालय से सबधित होते है जो उनकी परीक्षाओ तथा शिक्षणक्रम का संचालन करता है और जिसका उद्देश्य विज्ञान के विद्यार्थियो मे तर्क की शक्ति उत्पन्न करना और विज्ञान के नए रहस्यों का उद्घाटन करना होता है। आयुर्विज्ञान विद्यालयो (मेडिकल कॉलेजो) के प्रत्येक शिक्षक तथा विद्यार्थी का भी उद्देश्य यही होना चाहिए तथा उसे रोगनिवारक नई वस्तुओ की खोज करके इस अार्तिनाशक कला की उन्नति करने की चेष्टा करनी चाहिए। इतना ही नही, शिक्षको का जीवनलक्ष्य यह भी होना चाहिए कि वह ऐसे अन्वेषक उत्पन्न करे।

चिकित्साप्रणाली--चिकित्सापद्धति का केद्रस्तभ वह सामान्य चिकित्सक (जेनरल प्रैक्टिशनर) है जो जनता या परिवारो के घनिष्ठ सपर्क मे रहता है तथा आवश्यकता पडने पर उनकी सहायता करता है। वह अपने रोगियो का मित्र तथा परामर्शदाता होता है और समय पर उन्हे दार्शनिक सात्वना देने का प्रयत्न करता है। वह रोगसबधी साधारण समस्याओ से परिचित होता है तथा दूरवर्ती स्थानो, गाँवो इत्यादि, मे जाकर रोगियो की सेवा करता है। यहाँ उसको सहायता के वे सब उपकरण नही प्राप्त होते जो उसने शिक्षणकाल मे देखे थे और जिनका प्रयोग उसने सीखा था। बडे नगरो में ये बहुत कुछ उपलब्ध हो जाते है। आवश्यकता पडने पर उसको विशेषज्ञ से सहायता लेनी पडती है या रोगी को अस्पताल मे भेजना होता है। आजकल इस विज्ञान की किसी एक शाखा का विशेष अध्ययन करके कुछ चिकित्सक विशेषज्ञ हो जाते है। इस प्रकार हृद्रोग, मानसिक रोग, अस्थिरोग, बालरोग आदि मे विशेषज्ञो द्वारा विशिष्ट चिकित्सा उपलब्ध है।

आजकल चिकित्सा का व्यय बहुत बढ गया है। रोग के निदान के लिये आवश्यक परीक्षाएँ, मूल्यवान् ओषधियाँ, चिकित्सा की विधियाँ और उपकरण इसके मुख्य कारण है। आधुनिक आयुर्विज्ञान के कारण जनता का जीवनकाल भी बढ गया है, परतु ओषधियो पर बहुत व्यय होता है। खेद है कि वर्तमान आर्थिक दशाओ के कारण उचित उपचार साधारण मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर हो गया है।

आयुर्विज्ञान और समाज—चिकित्साविज्ञान की शक्ति अब बहुत बढ गई है और निरतर बढती जा रही है। आजकल गर्भनिरोध किया जा सकता है। गर्भ का अत भी हो सकता है। पीडा का शमन, बहुत काल तक मूर्छावस्था में रखना, अनेक सक्रामक रोगो की सफल चिकित्सा, सहज प्रवृत्तियो का दमन और वृद्धि, ओषधियो द्वारा भावो का परिवर्तन, शल्यक्रिया द्वारा व्यक्तित्व पर प्रभाव आदि सब सभव हो गए है। मनुष्य का जीवनकाल अधिक हो गया है। दिन-प्रति-दिन नवीन ओषधियाँ निकल रही है, रोगो का कारण ज्ञात हो रहा है, उनकी चिकित्सा ज्ञात की जा रही है। समाजवाद के इस युग मे इस बढती हुई शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना उचित है कि इससे राज्य, चिकित्सक तथा रोगी तीनो को लाभ हो। सरकार के स्वास्थ्य सबधी तीन मुख्य कार्य हैं। पहले तो जनता मे रोगो को फैलने न देना, दूसरे, जनता की स्वास्थ्यवृद्धि, जिसके लिये उपयुक्त भोजन, शुद्ध जल, रहने के लिये उपयुक्त स्थान तथा नगर की स्वच्छता आवश्यक है, तीसरे, रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा सबधी उपयुक्त और उत्तम सहायता उपलब्ध करना। इन तीनो उद्देश्यो की पूर्ति मे चिकित्सक का बहुत बडा स्थान और उत्तरदायित्व है।

रॉकेट युग में चिकित्साविज्ञान—आयुर्विज्ञान अतर्देशीय स्तर पर बहुत समय पूर्व पहुँच चुका था और जान पडता है, अब वह अतर्ग्रहीय अवस्था पर पहुँचनेवाला है। आकाशयात्रा का शरीर पर जो प्रभाव पडता है उसका विशेष अध्ययन हो रहा है। आगे चलकर यह अत्यत उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। इस सबध के अनेक प्रश्नो का अभी सतोषजनक उत्तर पाना है। ब्रह्माड की (कॉस्मिक) रश्मियो का शरीर पर प्रभाव, गुरुत्वाकर्षणरहित अवस्था का मनुष्य की प्रतिक्षेप (रिफ्लेक्स) क्रियाओ पर प्रभाव, अभारता (वेटलसनेस) के मडल में बहुत समय तक निवास करने और शारीरिक क्रियाओ मे सबध आदि अनेक ऐसे प्रश्न है जिनपर खोज हो रही है। (शि० श० मि० तथा स० प्र० गु०)

आयुर्विज्ञान का इतिहास

सूत्रबद्ध विचारव्यंजन के हेतु आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) के क्रमिक विकास को लक्ष्य में रखते हुए इसके इतिहास के तीन भाग किए जा सकते है :

(१) आदिम आयुर्विज्ञान
(२) प्राचीन आयुर्विज्ञान,
(३) अर्वाचीन आयुर्विज्ञान।

आदिम आयुर्विज्ञान—मानव की सृष्टि हुई। आहार, विहार तथा स्वाभाविक एव सामाजिक परिस्थितियो के कारण मानव जाति पीडित होने लगी। उस पीडा की निवृत्ति के लिये उपायो के अन्वेषण से ही आयुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ।

पीडा होने के कारणो के सबध मे लोगो की निम्नलिखित धारणाएँ थी :

(१) शत्रु द्वारा मूठ (जादू, टोना) का प्रयोग या भूत पिशाचादि का शरीर मे प्रवेश।
(२) अकस्मात् विषाक्त पदार्थ खा जाना अथवा शत्रु द्वारा जान बूझकर मारक विष का प्रयोग।
(३) स्पर्श द्वारा किसी पीडित से पीडा का संक्रमण।
(४) इद्रियविशेष का तत्सदृश अथवा तन्नामधारी वस्तु के प्रति आकर्षण या सहानुभूति।
(५) किन्ही क्रियाओ, पदार्थों अथवा मनुष्यो मे विद्यमान रोगोत्पादक शक्ति।

इन्ही सामान्य विचारो को भिन्न भिन्न व्यक्तियो ने भिन्न भिन्न प्रकार से अनेक देशो मे दर्शाया।

उस समय चिकित्सा त्राटक (योग की एक मुद्रा), प्रयोग अथवा अनुभव के आधार पर होती थी, जिसके अतर्गत शीतल एव उष्ण पदार्थो का सेवन, रक्तनि.सारण, स्नान, आचूषण तथा स्नेहमर्दन आदि आते थे। पाषाणयुग से ही वेधनक्रिया सदृश विस्मयकारी शल्यक्रियाएँ प्रचलित थी। निर्मित भेषजो मे वमनकारी और विरेचनकारी योगो तथा भूत पिशाचादि के निस्सारण के लिये तीव्र यातनादायक द्रव्यो का उपयोग होता था। इस प्रकार आदिम आयुर्विज्ञान तत्कालीन सस्कृति पर आधारित था, किंतु विभिन्न देशो म संस्कृतियाँ स्वय विभिन्न थी।

भारतीय आयुर्विज्ञान—यह अत्यत प्राचीन समय मे भी समुन्नत दशा मे था। आज भी इसका कुलश रूप से प्रयोग होता है। आयुर्विज्ञान के उद्गम वेद है (समय के लिये द्र० **वेद**)। वेदो मे, विशेषत अथर्ववेद मे, शरीरविज्ञान, ओषधिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, कीटाणुविज्ञान, शल्यविज्ञान आदि की ऋचाएँ उपलब्ध है। चरक एव सुश्रुत (सुश्रुत के लैटिन अनुवादक हेसलर के अनुसार समय लगभग १,००० वर्ष ई० पू०) मे इसके पृथक् पृथक्, शल्य एव कायचिकित्सा के रूप मे, दो भेद हो गए है। सुश्रुत शल्यचिकित्सा-प्रधान एव कायचिकित्सा मे गौण तथा चरक कायचिकित्सा मे प्रधान एव शल्यचिकित्सा मे गौण माने जाते है। पाँच भौतिक तत्वो (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) के आधार पर वात, पित्त, कफ इन तीनो को रोगोत्पादक कारण माना गया। कहा गया कि शरीर मे इनकी विषमता ही रोग है एव समता आरोग्य। अत विषम दोषो को सम करने के उपाय को चिकित्सा कहते थे। इसके आठ अग माने गए काय, शल्य, शालाक्य, बाल, ग्रह, विष, रसायन एव वाजीकरण। निदान मे दोषो के साथ ही साथ कीटाणु सक्रमण को भी रोगो का कारण माना गया था। प्रसग, गात्रसस्पर्श, सहभोज, सहशय्यासन, माल्यधारण, गधानुलेपन आदि के द्वारा प्रतिश्याय (जुकाम), यक्ष्मादि रोगो के एक व्यक्ति से दूसरे मे सक्रमण का निर्देश सुश्रुत मे है। उसमे प्रथम निदान पर, तत्पश्चात् चिकित्सा पर भी जोर दिया गया है।

त्रिदोषो के सचय, प्रकोप, प्रसार, स्थान, सश्रय (मेल), व्यक्ति और भेद के अनुसार रोगो की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। अनुचित बाह्य पदार्थो के प्रयोग से शरीर मे दोषो का सचय न हो, इस विचार से भोजननिर्माण-काल मे ही, अथवा भोजन करने के समय ही, भोज्य पदार्थो मे उनके वृद्धिनिवारक भेषजतत्वो का प्रयोग किया जाय, जैसे बैगन की भाजी बनाते समय हीग एव मेथी का प्रयोग और ककड़ी के सेवनकाल के पूर्व उसमे

काली मिर्च एव लवग का योग आदि, क्योंकि विश्वास था कि हीग, मिर्च आदि के साथ बैंगन और ककडी के शरीर में प्रवेश करने पर इन भाजियो से उत्पन्न दोषो का अवरोध हो जाता है। यह प्रथम चिकित्साकाल समझा जाता था। सचय के अवरोध के लिये पहले से ही उपाय न करने पर दोषो का प्रकोप माना जाता था। उस अवस्था में भी चिकित्सा न हो तो उनका प्रसार होना माना गया। सिद्धात यह था कि फिर भी यदि चिकित्सा न की जाय तो दोष घर कर लेते है। इसके पश्चात् विशिष्ट दोषो से विशिष्ट स्थानो मे विभिन्न लक्षणो की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् भी चिकित्सा में अवहेलना से रोग गभीर होता है और असाध्य कोटि का हो जाता है। अत परिवर्जन (परहेज) मुख्यत प्रारभिक चिकित्सा मानी गई। आयुर्वेद मे निदान चिकित्सा का प्रारभिक अग है। देश की विशालता एव जलवायु की विषमता होने से यहा औषधविज्ञान का भी बडा विकास हुआ। अत एक ही प्रकार के ज्वर के लिए भिन्न भिन्न स्थानो मे भिन्न भिन्न ओषधियो के प्रयोग निर्णीत किए गए। इसी से निघटु मे ओषधियो की बहुलता एव भेषज-निर्माण-प्रथा मे प्रयोग की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। रक्तपरिभ्रमण, श्वसन, पाचन आदि शारीरिक क्रियाओ का ज्ञान भारत मे हजारो वर्ष पूर्व ही हो गया था। शल्यचिकित्सा मे यह देश प्रधान था। प्राय सभी अवयवो की चिकित्सा शल्य और शालाक्य (चीर फाड) द्वारा होती थी। प्लास्टिक सर्जरी, शिरावध, सूचीवेध आदि सभी सूक्ष्म कार्य होते थे। बाल को खडा चीर सकनेवाले शस्त्र थे। अस्थियो का स्थानभ्रश, क्षति आदि का भिन्न भिन्न भग्नास्थिबधो (स्प्लिटस्) द्वारा उपचार होता था। अत भारतीय आयुर्विज्ञान अपने समय मे सर्वगुणसपन्न था।

ईजिप्ट का आयुर्विज्ञान—यह अति प्राचीन काल के परपरागत अभ्यासो तथा उपचारो पर अवलबित था। इसके चिकित्सक मदिरो के पुरोहित या कुछ अभ्यस्त व्यक्ति ही होते थे। ये स्वास्थ्यविज्ञान, आहारनियम, विरेचन, वाग्नायाम आदि पर ध्यान देते थे, परतु ये पर्याप्त सफल नही हुए। अनुलेप, प्रलेप तथा आभ्यतर भेषजो का भी प्रयोग होता था। मधु, क्षार, देवदारु-तैल, अजीरत्वचा, तूतिया, फिटकिरी तथा प्राणियो के यकृत, हृदय, रक्त और सीग आदि का प्रयोग होता था। इन सबसे अच्छे चिकित्सको के उत्पन्न होने मे भी प्रगति हुई। इमहोटेप (समय खृष्टाब्द के ३,००० वर्ष पूर्व) राजा जोसर का राजवैद्य था और ईश्वरतुल्य पूजा जाता था। उसके नाम से मदिर भी बने है। ईजिप्ट के प्राचीन लेखो (पैपिराई) मे आयुर्विज्ञान के क्षेत्र मे शरीरविज्ञान और शल्यविज्ञान का यत्किंचित् उल्लेख है।

मेसोपोटेमिया का आयुर्विज्ञान—इसमे यकृत शरीर का प्रधान अग माना जाता था और उसकी स्थिति से फलानुमान किया जाता था। शरीर मे प्रेतादि का प्रकोप रोग का मुख्य कारण या व्याधिशास्त्र का आधार समझा जाता था तथा प्रेतादिको का निस्सरण, पूजा पाठ आदि उनके उपचार थे। शल्यचिकित्सा श्रेष्ठ मानी जाती थी। अत शरीरविज्ञान का ज्ञान भी आवश्यक समझा जाता था। औषधिक्षेत्र मे सैकडो खनिज एव जीवजात भेषजो का उपयोग भी होता था। तारपीन, देवदारु, हिंगु, सरसो, लोबान, एरड, तैल, खसखस, अजीर तथा कुछ विषैली वनस्पतियो का भी प्रयोग होता था।

प्राचीन आयुर्विज्ञान—एक प्रकार से उस वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान की उत्पत्ति ग्रीस मे हुई जिससे आधुनिक पाश्चात्य आयुर्विज्ञान निकला। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर रोम राज्य के उत्थान तक यह इसी देश मे सीमित था, इसके पश्चात् इसका विकास मध्य एशिया, एथेस, इटली आदि ग्रीस के अधिराज्यो मे भी हुआ। इसमे तत्कालीन सभी प्रचलित पद्धतियाँ समिलित थी। प्राचीन क्रीट, मेसोपोटेमिया, ईजिप्ट, एशिया तथा भारत की चिकित्साप्रणालियो के सिद्धात इसमे समाविष्ट थे। अत एक समिलित वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव यहाँ से हुआ। ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व ग्रीस देश के हिपोक्रेटीज ने इसके विकास मे योग दिया। हिपोक्रेटीज ने वैद्यो के लिये जिस शपथ का निर्देश किया था वह प्रभावशाली थी, यथा—"मै आयुर्विज्ञान के गुरुजनो का अपने पूज्य गुरुजनो के समान आदर करूँगा। उनकी आवश्यकताओ पर उपस्थित रहूँगा। उनकी सतति मे भ्रातृभाव रखूँगा और यदि वे चाहेगे तो उन्हे यह विज्ञान सिखाऊँगा तथा इस विज्ञान के विकास के लिये सतत प्रयत्नशील रहूँगा। रोगियो की भलाई के लिये ओषधिप्रयोग करूँगा, किसी के घात अथवा गर्भपात के लिये नहीं। रुग्णों की गुप्त बातो तथा व्यवहारो को गुप्त रखूँगा इत्यादि।"

हिपोक्रेटीज का शिरोव्रण नामक ग्रथ उल्लेखनीय है। उसमे शिरोभेद का उल्लेख तथा शिरोस्थिभग का उपचार तथा अन्य अवयवो का शल्योपचार भी पाया जाता है। उस काल मे अन्य अस्थिभग तथा अस्थिभ्रश के भी सफल उपचार होते थे।

उस काल मे किसी विशेष रोग के विशेषज्ञ नही होते थे। सभी सब प्रकार के रोगियो को देखते थे। जहाँ शल्यचिकित्सा सभव नही होती थी वहाँ वे शरीर को पुष्ट रखने का उपाय करते थे, क्योकि उनका विश्वास था कि शरीर मे स्वय अगदरोधक शक्ति है। इसके अतिरिक्त रोगी की बाह्य चिकित्सा, सेवा शुश्रूषा आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। हिपोक्रेटीज की "सूत्र" नामक पुस्तक भी बडी सफल हुई। इस पुस्तक मे दर्शाए कुछ विचार निम्नलिखित है:

(१) वृद्धावस्था मे उपवास का सहन सरल होता है।
(२) अकारण थकावट रोग की द्योतक होती है।
(३) उत्तम भोजन के पश्चात् भी शरीर का शुष्क रहना व्याधि निर्देशित करता है।
(४) वृद्धावस्था मे व्याधियाँ कम होती हैं, परतु यदि कोई व्याधि दीर्घकाल तक रह जाती है तो असाध्य ही हो जाती है।
(५) घाव के साथ आक्षेपक (शरीर मे ऐठन) होना अच्छा लक्षण नही है।
(६) क्षय लगभग १८ से ३५ वर्ष की आयु के बीच होता है।

इस तरह के इनके कई उल्लेख आज भी अकाट्य है। हिपोक्रेटीज ने निदानविज्ञान एव रोगो के भावी परिणाम विषयक ज्ञान का भी विकास किया।

अरिस्टोटिल (३८४–३२२ ई० पू०) ने प्राणिशास्त्र को महत्व देते हुए आयुर्विज्ञान के विषय मे अपने वक्तव्य मे कहा कि उष्ण एव शीत, आर्द्र एव शुष्क ये चार प्रारभिक गुण है। इनके भिन्न भिन्न मात्राओं में सयोग से चार पदार्थों का निर्माण हुआ जिन्हे तत्व कहते हैं। ये तत्व पृथ्वी, वायु, अग्नि एव जल है। इस विचार का हिपोक्रेटीज के आयुर्विज्ञान से समन्वय कर इन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि शरीर मुख्य चार द्रवो (ह्यूमर्स) से निर्मित है, जिन्हे रक्त, कफ, कृष्ण पित्त (ब्लैक बाइल) एव पीत पित्त (यलो बाइल) कहते है और इन्ही द्रवो मे आरोग्यावस्था के अनुपात से भिन्नता रोगोत्पादक होती है। इस तरह द्रव-व्याधि-शास्त्र (ह्यूमरल पैथॉलॉजी) का उदय हुआ। भारत के प्राचीन त्रिदोषसिद्धात से यह इतना मिलता जुलता है कि प्रश्न उठता है कि क्या यह ज्ञान ग्रीस मे भारत से पहुँचा। कई पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो का मत है कि अवश्य ही यह ज्ञान वहाँ भारत से गया होगा (कारणों तथा पूरे ब्योरे के लिये द्र० महेद्रनाथ शास्त्री कृत 'आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास')।

अरिस्टोटिल की मृत्यु के पश्चात् उसी के देश के हिरोफिलस तथा एरासिसट्राटस (समय लगभग ३०० वर्ष ई० पू०) ने अपने नए सघ का निर्माण किया जिसे ऐलेक्जैंड्रियन सप्रदाय कहते है। हिरोफिलस ने नाडी, धमनी एव शिराओ के गुणो का वर्णन कर शरीरशास्त्र को जन्म दिया। इसीलिए वह शरीरशास्त्र का जनक माना गया। एरासिसट्राटस ने श्वसन-क्रिया का अध्ययन कर प्रथम बार वायु एव शरीर मे सबध स्थापित करने का प्रस्ताव किया। उसका मत था कि वायु मे एक अदृष्ट शक्ति है, जो शक्ति एव कपन स्थापित करती है। इसने यह भी कहा कि अवयवो का निर्माण नाडी, धमनी तथा शिरा से है, जो विभाजित होते होते अत्यत सूक्ष्म हो जाती है। मस्तिष्क का भी अध्ययन कर इसने इसके विभिन्न भागों को दर्शाया। रक्त की अधिकता को कई व्याधियो, जैसे मिरगी, न्यूमोनिया, रक्तवमन इत्यादि, का कारण बताया एव इनके शमन के हेतु नियमित व्यायाम, पथ्य, बाष्पस्नानादि विहित किए।

रोम राज्य के अंतर्गत आयुर्विज्ञान—ग्रीस के विज्ञान तथा सस्कृति के विकास के समय आयुर्विज्ञान के विकास का भी आरभ हुआ, किंतु दीर्घ काल

तक यह मुषुप्त रहा। ग्रीक ऐक्स्लेपियाडीज ने ४० वर्ष ईसा से पूर्व हिपोक्रेटीज के प्रकृति पर भरोसा करनेवाले उपचार का खडन कर शीघ्र प्रभावकारी उपचार का अनुमोदन किया। शनै शनै इसका विकास होता गया तथा डियोस्कोरिडीज ने एक आयुर्वैज्ञानिक निघटु की रचना की।

सन् ३० ई० मे सेल्सस् ने पुन आयुर्विज्ञान को सुसगठित किया। उसने स्वच्छता (सैनिटेशन) तथा जनस्वास्थ्य का भी विकास किया। औषधालयपद्धति का आरभ रोम से हुआ, किंतु दीर्घ काल तक यह प्रयोग सेना तक ही सीमित रहा, पीछे जनसाधारण को भी यह सुविधा उपलब्ध हुई।

गैलन (१३०-२०० ई०) ने अपने वक्तव्य मे दर्शाया कि मुख्यत तीन शक्तियाँ का जीवन से घनिष्ठ सबध है

(१) प्राकृतिक शक्ति (नैचुरल स्पिरिट), जो यकृत मे निर्मित होकर शिराओ द्वारा शरीर मे विस्तारित होती है।

(२) दैवी शक्ति (वाइटल स्पिरिट), जो हृदय मे बनकर धमनियो द्वारा प्रसारित होती है।

(३) पाशव शक्ति (ऐनिमल स्पिरिट), जो मस्तिष्क मे बनकर नाडियो द्वारा प्रसारित होती है। गैलन ने कहा कि पाशव शक्ति का सबध स्पर्श तथा कार्यसचालन से है। प्राकृतिक शक्ति हृदय मे और दैवी शक्ति मस्तिष्क मे पाशव शक्ति मे परिणत हो जाती है।

भेषजशास्त्र की उन्नति मे भी गैलन ने बडा योग दिया, किंतु इसकी मृत्यु के पश्चात् इसके प्रयासो को प्रोत्साहन न मिल सका।

आधुनिक आयुर्विज्ञान—१६वी शताब्दी मे क्षेत्रविस्तार तथा उच्च कोटि की उपलब्ध सुविधाओ द्वारा आयुर्विज्ञान मे नवीन स्फूर्ति प्रस्फुटित हुई। सक्रामक व्याधियो की अधिकता से इनकी ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। ऐंड्रियस विसेलियस (१५१४-१५६४ ई०) ने पैडुआ म शरीरशास्त्र का पुन. आरभ से अध्ययन किया। तदुपरात पैडुआ नगर शिक्षा का उत्तम केंद्र बन गया। शरीरशास्त्र के विकास से शल्यचिकित्सा को भी प्रोत्साहन मिला। इस क्षेत्र मे फ्रास के शल्यचिकित्सक आब्राज पारे (१५१७-९० ई०) के कार्य उल्लेखनीय हैं परतु इस काल मे शरीरक्रिया-विज्ञान मे विकास न होने से भेषजचिकित्सा उन्नति न कर सकी। रोग-निदान-शास्त्र मे १६वी एव १७वी शताब्दी मे सराहनीय कार्य हुए, परतु इसमे हिपोक्रेटीज तथा गैलस की कृतियो से बराबर सहायता ली जाती थी। पृथ्वी के अज्ञात भागो की खोज के बाद ओषधि क्षेत्र मे भी विकास हुआ, क्योकि कई नई ओषधियाँ प्राप्त हुईं, जैसे कुडकी (इपिकाकुआन्हा), कुनैन और तबाकू। वनस्पति शास्त्र का भी विस्तार हुआ। सक्रामक रोगो के विषय में अधिक जानकारी हुई। सन् १५४६ ई० मे वेरोना के फ्राकास्टोरो ने रोगाक्रमणो पर प्रकाश डाला। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप कीटाणुजगत् के विषय का भी आभास हुआ। उपदश, मोतीझरा, कुकरखाँसी, आमवात, गठिया तथा खसरा आदि रोगो पर प्रकाश डाला जा सका। १५वो शताब्दी मे उपदश महामारी के रूप मे फैला और इस रोग के सबध मे अनुसधान हुए, किंतु अनेक भिन्न मत होने से कोई निश्चित अनुमान नही लगाया जा सका।

शरीर-क्रिया-विज्ञान का विकासकाल—१६वी तथा १७वीं शताब्दियो मे शरीर-क्रिया-विज्ञान, भौतिकी तथा चिकित्साविज्ञान का विकास समातर रीति से हुआ। इसी समय पैडुआ (इटली) के सेक्टारियस (सन् १५६१-१६३६) ने शरीर की ताप-सतुलन-क्रिया को समझाते हुए तापमापी यत्र की रचना की और उपापचय (मेटाबॉलिज्म) की नीव डाली। पैडुआ के शिक्षक जेरोम फाब्रिशियस (सन् १५३७-१६१९) ने भ्रूणविज्ञान एव रक्तसचरण पर कार्य किया। तदुपरात उसके शिष्य हार्वी (सन् १५७८-१६५७) ने इन परिणामो का अध्ययन कर आयुर्विज्ञानजगत् को बडी समृद्धि दी। उसी ने रुधिरपरिवहन का पता लगाया, जो आधुनिक आयुर्विज्ञान का आधार है। इसी काल मे शरीरशास्त्र तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान का आधुनिक रूप प्राप्त हुआ। सूक्ष्मदर्शक यत्र (माइक्रॉस्कोप) के आविष्कार ने भी कई कठिनाइयों को हल करने मे सहायता दी तथा कई भ्रम दूर किए। १७वी शताब्दी के इस यत्र के कारण कई बातो का पता चला।

शरीररसायन—राबर्ट बाएल (सन् १६२७-९१) ने प्राचीन आधारहीन धारणाओ को नष्ट कर आयुर्विज्ञान को आधुनिक रूपरेखा दी। १६६२ ई० मे रेने डेकार्ट ने शरीर-क्रिया-विज्ञान पर डिहोमीन नामक प्रथम पाठ्यपुस्तक रची। क्षार पर लाइडेन (निदरलैंड) के सिलवियस (सन् १६१४-७२) का कार्य भी बहुत सराहनीय रहा। इन्होंने सर्वप्रथम वैज्ञानिक तरीको से पाचक रसों का विश्लेषण किया। हरमान बूरहावे (सन् १६६८-१७३८) ने १८वी शताब्दी मे शरीररसायन पर उल्लेखनीय कार्य किया। बूरहावे को उस समय आयुर्विज्ञान मे सर्वोच्च पद प्राप्त था। इन्होंने प्रयोगशालाओ का निर्माण किया तथा प्रायोगिक शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया। उचित रूप की वैज्ञानिक शालाओ को जन्म देने मे इनका बडा सहयोग था। इन्होंने एडिनबरा के आयुर्विज्ञान विद्यालय का जन्म दिया। स्विटजरलैंड के अलब्रेख्ट फोन हालर (सन् १७०८-७७) ने श्वसनक्रिया, अस्थि-निर्माण-क्रिया, भ्रूणवृद्धि तथा पाचनक्रिया, मासपेशियो के कार्य एव नाडीततुओ का सूक्ष्म अध्ययन किया। इन सबका वर्णन इन्होंने अपनी "शरीर-क्रिया-विज्ञान के तत्व" नामक पुस्तक मे किया। पाचन क्रिया एव भोजन के जारण की क्रिया पर सिलवियस के पश्चात् फ्रेंच वैज्ञानिक रेऑम्यूर (सन् १६८३-१७५७), इटली के स्पालानजानी (सन् १७२९-९९) तथा इग्लैंडवासी प्राउट (सन् १७८५-१८५०) का कार्य सराहनीय है। प्राणिविद्युत् के क्षेत्र मे इटालियन गैलवैनी (सन् १७३७-९८), स्कॉटलैंड निवासी ब्लैक (सन् १७२८-९९) एव अग्रेज प्रीस्टले (सन् १७३३-१८०४) ने कार्य किया। १७९१ ई० मे गैलवैनी ने दिखाया कि विद्युद्द्वारा से मासपेशियो मे सकोच होता है। १८वी शताब्दी मे रसायनशास्त्र के विस्तार के साथ साथ शरीररसायन भी प्रगति कर सका। आक्सिजन का आविष्कार तथा प्राणियो से उसका सबध फ्रास के रासायनिक लेवाज्ये (सन् १७४३-९४) ने स्थापित किया।

विकृत शरीर एव निदानशास्त्र—१८वी शताब्दी के आरभ मे कुछ मरणोत्तर शवपरीक्षाओ द्वारा शरीरो का अध्ययन हुआ। व्याधि सबधी ज्ञान मे आशातीत उन्नति हुई। अवयवो का सूक्ष्म निरीक्षण कर इनका व्याधि से सबध स्थापित किया गया। पैडुआ (इटली) मे ५६ वर्ष तक अध्यापन करनेवाले मोरगान्यि (सन् १६८२-१७७१) का कार्य इस क्षेत्र मे सर्वोच्च रहा।

निदान के लिये इस युग में नाडीपरीक्षा को महत्व दिया गया एव तापमापक यत्र की भी रचना की गई। वियना मे लियोपोल्ड औएनब्रूजर (सन् १७२२ से १८७०) ने अभिताडन (परकशन) विधि तथा आर० टी० एच० लेनेक (सन् १७८१-१८२६) ने सश्रवणक्रिया (ऑस्कुलेशन) का आविष्कार १८वी शताब्दी के अत मे किया। लेनेक ने १८१९ ई० मे प्रथम उरश्श्रवणयत्र (स्टिथस्कोप) की रचना कर निदानशास्त्र को सुसज्जित किया।

इसी युग से निदान मे रोगियो का अवलोकन, स्पर्श, अभिताडन तथा अवयवो के श्रवण आदि क्रियाओ का प्रचार हुआ। इस अध्ययन के पश्चात् भेषजशास्त्र तथा शल्यचिकित्सा मे बडा विकास हुआ।

शल्य तथा स्त्री-रोग-चिकित्सा—१८वी शताब्दी मे स्वस्थ तथा व्याधिकीय शरीर-रचना-विज्ञान के विकास ने इस शल्यचिकित्सा की उन्नति मे भी अधिक योग दिया। कई शल्ययत्रो का निर्माण हुआ। प्रसूति मे चिकित्सक विलियम हटर (सन् १७१८-८३) ने प्रथम बार सदशिका (फॉरसेप्स) का उपयोग किया। इनके भाई जान हटर ने इस क्षेत्र मे अन्य सराहनीय कार्य किए और आयुर्विज्ञान के सग्रहालयो का निर्माण कर उनका महत्व दर्शाया। सर विलियम पेटी (सन् १६२३-८७) द्वारा आयुर्विज्ञान के अन्वेषणो को दर्शित करने का नवीन मार्ग बनाया गया और जन्म, मृत्यु तथा विविध रोगों से पीडितों की सख्याओं का पता लगाया गया। इसे जीवनाक (वाइटल स्टैटिस्टिक्स) नाम दिया गया। इसी काल से जीवन और मरण का ब्योरा बनाया जाने लगा। इस तरह के अध्ययन ने व्याधिरोधक कार्यों की सफलता पर बहुत प्रकाश डाला। सर्वप्रथम इस कार्य का प्रारभ इग्लैंड मे बदियो से हुआ, तदुपरात जब इसकी महत्ता का ज्ञान हुआ, तब इसका विस्तार जनसाधारण मे भी हो सका। सर

जान प्रिंगिल (सन् १७०७-८२) एवं जेम्स लिंड (सन् १७१६-९४) ने मानाक्रिरा तथा उष्ण देशों में होनेवाली व्याधियों का अध्ययन किया।

जनस्वास्थ्य में सुधार—विज्ञान एवं संस्कृति की उन्नति के साथ साथ यंत्रयुग में कारखानों तथा श्रमिकों के विकास में श्रमिकों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया जाने लगा और मलेरिया (जूड़ी) आदि कई व्याधियों से छुटकारा पाने के उपाय खोज निकाले गए।

इंग्लैंड में सन् १७९२ ई० में जो विधान बने उनके कारण बड़े नगरों में स्वच्छता आदि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा।

औषधालयों का विकास—चिकित्सा की आवश्यकताओं के कारण वैज्ञानिक रूप में स्वच्छता पर ध्यान रखते हुए उत्तम अस्पतालों का निर्माण १८वीं शताब्दी के मध्य से होना आरंभ हुआ। परिचारिकाओं की व्यवस्था से भी अस्पताल बहुत जनप्रिय बन गए और विशेष उन्नति कर सके।

रोगप्रतिरोध के लिये टीके का विकास—यह कार्य १८वीं शताब्दी से आरंभ हुआ। सर्वप्रथम १७९६ ई० में एडवर्ड जेनर ने चेचक की बीमारी का अध्ययन कर उसके प्रतिरोध के हेतु टीके का आविष्कार किया। धार्मिक एवं अन्य बाधाओं के कारण कुछ समय तक इसका प्रचार न हो सका, किंतु इसके पश्चात् टीके की व्याधिरोधक शक्ति पर सबका ध्यान गया और धीरे धीरे टीका लगवाने की प्रथा बढ़ी। फ्रांस के लुई पास्चर (सन् १८२२-९५), लार्ड लिस्टर (सन् १८२७-१९१२), राबर्ट कोख (सन् १८४३-१९१०), एमिल फान बेरिंग (सन् १८५४-१९१७) आदि वैज्ञानिकों का कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहा।

१९वीं तथा २०वीं शताब्दी में शरीरविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा मिली तथा तंतुओं की रचना पर भी प्रकाश डाला गया।

जर्मनों ने १९वीं शताब्दी में शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र में कई उल्लेखनीय कार्य किए। फ्रांस ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। इस देश के विद्वान् क्लाड बरनार्ड (सन् १८१३-७८) के कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहे। उसने शरीर को एक यंत्र मानकर उसके विभिन्न अवयवों के कार्यों का, जैसे यकृत के कार्यों तथा रक्तसंचालन एवं पाचनक्रिया संबंधी कार्यों का, सूक्ष्म अन्वेषण किया। इसी क्षेत्र में मुलर (सन् १८०१-५८) ने एक पाठ्यपुस्तक की रचना की, जिससे इस शास्त्र की उन्नति में बहुत सहायता मिली।

फान लीबिग (सन् १८०३-७३) ने शरीररसायन में आविष्कार किए। उनकी खोजों में यूरिया का पहचानने तथा मापन की विधि, पदार्थ की परिभाषा, जारणक्रिया तथा उससे उत्पन्न ताप, नेत्रजनचक्र आदि प्रमुख हैं।

१८४० ई० में शरीर की कोशिकाओं (सेल्स) का पता चला। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) पर भी बहुत खोज हुई। रूडोल्फ फिर्शो (सन् १८२१-१९०२) ने रक्त के श्वेत कणों के कार्यों पर प्रकाश डाला। इसने कैंसर आदि व्याधियों के संबंध में भी बहुत अन्वेषण किए।

कीटाणु तथा व्याधि—१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह आभास हुआ कि कुछ व्याधियाँ कीटाणुओं के आक्रमणों से संबंध रखती हैं। फ्रांस के लुई पास्चर (सन् १८२२-९५) ने इसकी पुष्टि के हेतु कई उल्लेखनीय प्रयोग किए। राबर्ट कोख (सन् १८४३-१९१०) ने कीटाणुशास्त्र को अस्तित्व देकर इस क्षेत्र में बड़ा कार्य किया। यक्ष्मा, हैजा आदि के कीटाणुओं का अन्वेषण किया तथा अनेक प्रकार के कीटाणुओं को पालने की रीतियों तथा उनके गुणों का अध्ययन किया। भारत की इंडियन मेडिकल सर्विस के सर रोनाल्ड रॉस (सन् १८५७-१९३२) ने मलेरिया पर सराहनीय कार्य किया। इस रोग के कीटाणुओं के जीवनचक्र का ज्ञान प्राप्त किया तथा उसके विस्तारक ऐनोफेलीज मच्छड़ का अध्ययन किया। सन् १८९३ में अत्यंत सूक्ष्म विषाणुओं (वाइरस) का ज्ञान हुआ। तदुपरांत इस क्षेत्र में भी आशातीत उन्नति हुई। विषाणुओं से उत्पन्न अनेक व्याधियों, उनके लक्षणों और उनकी रोकथाम के उपायों का पता लगाया गया तथा इन रोगों का सामना करनेवाली शारीरिक शक्ति की रीति भी खोजी गई। फान बेरिंग (सन् १८५४-१९१७) का कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहा।

गत पचीस वर्षों में जीवाणुद्वेषी द्रव्यों (ऐंटीबायॉटिक्स), जैसे सल्फानिलैमाइड, सल्फाथायाजोल इत्यादि तथा पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि से फुफ्फुसार्ति (न्यूमोनिया), रक्तपूतिता (सेप्टिसीमिया), क्षय (थाइसिस) आदि भयंकर रोगों पर भी नियंत्रण शक्य हो गया है।

उपसंहार—आयुर्विज्ञान के इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रादुर्भाव अति प्राचीन है। निरंतर मनुष्य व्याधियों तथा उनसे मुक्त होने के उपायों पर विचार तथा अन्वेषण करता आया है। विज्ञान एवं उसकी विभिन्न शाखाओं के विकास के साथ साथ आयुर्विज्ञान भी अपनी दिशा में द्रुत गति से आगे की ओर बढ़ता चल रहा है।

सं०ग्रं०—अथर्ववेदसंहिता, स्वाध्यायमंडल, औंध (१९४३); चरकसंहिता, गुलाब कुँवर बा आयुर्वेदिक सोसायटी, जामनगर (१९४९), सुश्रुतसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, गिरींद्रनाथ मुखोपाध्याय: हिस्ट्री ऑव इंडियन मेडिसिन, कलकत्ता विश्वविद्यालय (१९२३), ई० वी० कुमभार : ए हिस्ट्री ऑव मेडिसिन (१९४७), महेंद्रनाथ शास्त्री: आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास, हिंदी ज्ञानमंदिर लिमिटेड, बंबई, १९४८; सी० सिंगर : शॉर्ट हिस्ट्री ऑव मेडिसिन (१९४४)। (दे० सि०)

आयुर्विज्ञान में भौतिकी

प्रयोगों से पता चलता है कि भौतिकी (फिजिक्स) के नियमों का पालन मानव शरीर में भी होता है। उदाहरणत, मनुष्यों को विशेष उष्मामापी में रखकर जब यह नापा गया कि शरीर में कितनी गरमी उत्पन्न होती है और हिसाब लगाया गया कि आहार का जितना अंश पचता है उतने का जलाने से कितनी गरमी उत्पन्न हो सकती थी और जब इसपर भी ध्यान रखा गया कि पसीना सूखने में कितनी ठढक उत्पन्न हुई होगी, तब स्पष्ट पता चला कि शरीर को सारी ऊर्जा (गरमी और काम करने की शक्ति) आमाशय और आंत्र में आहार के पाचन तथा उपचयन (ऑक्सिडाइजेशन) से उत्पन्न होती है, शरीर में ऊर्जा का कोई गुप्त भांडार नहीं है।

विविध पदार्थों के घोलों का गुण उनमें वर्तमान हाइड्रोजन आयनों की सांद्रता पर निर्भर रहता है। अम्लता और क्षारता भी इन्हीं आयनों पर निर्भर है। यदि रुधिर में इन आयनों की सांद्रता बहुत घट बढ़ जाय तो शारीरिक क्रियाओं में बहुत अंतर पड़ जायगा। परंतु प्रयोगों से पता चलता है कि रुधिर में वर्तमान कारबोनेटों और फास्फेटों के कारण अम्ल अथवा क्षार अधिक आ जाने पर भी रुधिर में हाइड्रोजन आयनों की सांद्रता नहीं बदलती और इसलिये शरीर की क्रियाएँ अति विभिन्न दशाओं में भी ठीक होती रहती हैं।

मनुष्य का शरीर विविध प्रकार की नन्हीं नन्हीं कोशिकाओं (सेलों) से बना है। प्रयोगों से पता चलता है कि इन कोशिकाओं के आवरण को नमक, ग्लूकोज आदि नहीं पार कर सकते। यदि ऐसा न होता तो उनके बाहर के द्रव में नमक, ग्लूकोज आदि की कमी बेशी होने पर कोशिकाएँ भी फूलती पिचकती रहतीं।

साधारण घोलों की अपेक्षा कलिल (कालॉयडल) घोलों का प्रभाव शरीर पर बहुत धीरे धीरे पड़ता है। इस बात के आधार पर कलिल घोल के रूप में ऐसी ओषधियाँ बनी हैं जो एक बार शरीर में प्रविष्ट होने पर बहुत समय तक अपना काम करती रहती हैं।

मांसपेशियों और स्नायुओं को शरीर से बाहर नमक के घोलों में रखकर उनपर अनेक प्रयोग किए गए हैं। उनपर बिजली की न्यून मात्राओं का प्रभाव नापा गया है। उनके जीवित रहने की परिस्थितियों का पता भी लगाया गया है। यह सिद्ध हो चुका है कि मांसपेशियों और स्नायुओं के जीवित रहने के लिये उपचयन (आक्सिजन से संयोग) आवश्यक है। यह भी सिद्ध हुआ है कि स्नायुओं में उत्तेजना का संचलन विद्युतीय घटना है।

भौतिकी में विविध प्रकार की विद्युत्तरंगों का अध्ययन होता है। उत्तरोत्तर घटती तरंग के अनुसार ये हैं रेडियो तरंगें, अवरक्त (इन्फ्रारेड) रश्मियाँ, प्रकाश, पराकासनी (अल्ट्रावायलेट) रश्मियाँ, एक्स-किरण और रेडियम से निकलनेवाली रश्मियाँ। इनमें से अनेक प्रकार की तरंगों का उपयोग आयुर्विज्ञान में किया गया है। कुछ से केवल सेंकने का काम लिया जाता है, कुछ से त्वचा के रोग अच्छे होते हैं, कुछ उचित मात्रा में दी जाने पर

शरीर के भीतर घुसकर अवाछनीय जीवाणुग्रो का नाश करती है, यद्यपि अधिक मात्रा मे दी जाने पर वे शरीर की कोशिकाग्रो को भी नष्ट कर सकती है।

भौतिकी के उपयोग के अन्य उदाहरण शरीर-क्रिया-विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान और एक्स-रे चिकित्सा शीर्षक लेखो मे मिलेगे। (मु० स्व० व०)

आयुर्विज्ञान मे परमाणु ऊर्जा का उपयोग—भाभा परमाणु अनुसधान केंद्र के सहयोग से कई अस्पतालो मे कैसर, ल्यूकीमिया जैसे असाध्य रोगो के उपचार के प्रयत्न बडे तेजी से किए जा रहे है इस दिशा मे किए गए प्रयोगो द्वारा पता चला है कि कुछ विटामिनो या खनिजो की कमी से भी कैसर होने की आशका रहती है। इन प्रयोगो द्वारा थायराइड के कैसर के उपचार मे भी प्रगति हुई है। गडमाला की चिकित्सा मे भी रेडियो समस्थानिको का उपयोग हुआ है। नाभिकीय आयोडीन का उपयोग अवटु विषाक्तता (थाइरटाक्सिकासिस) के रोगो मे भी किया जाता है। (नि० मि०)

आयुर्विज्ञान शिक्षा ऐब्रैहम फ्लेक्सनर का कथन है कि प्राचीन काल से आयुर्विज्ञान मे अधविश्वास, प्रयोग तथा उस प्रकार के निरीक्षण का, जिसके अत मे विज्ञान का निर्माण होता है, विचित्र मिश्रण रहा है। ये तीनो सिद्धात आज भी कार्य कर रहे है, यद्यपि उनका अनुपात अब बदल गया है।

उत्तर-वैदिक-काल (६०० ई० पू० से सन् २०० ई० तक) के भारत के लिखित इतिहास से पता चलता है कि आयुर्विज्ञान की शिक्षा तक्षशिला तथा नालदा के महाविद्यालयो मे दी जाती थी। पीछे ये महाविद्यालय नष्ट हो गए और राजनीतिक अवस्था मे परिवर्तन होने के साथ यूनानी तथा पश्चिमी (यूरोपीय) आयुर्वैज्ञानिक रीतियो का इस देश मे प्रवेश हुआ।

ब्रिटिश भारत मे सर्वप्रथम आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय सन् १८२२ मे स्थापित हुआ। इसके पश्चात् सन् १८३५ मे दो आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय, एक कलकत्ता मे तथा दूसरा मद्रास मे, स्थापित हुए। इग्लैड के रायल कालेज ऑव सर्जन्स ने सन् १८४५ मे इन्हे पहले पहल मान्यता दी। इस समय से लेकर सन् १९३३ तक आयुर्विज्ञान की शिक्षा का विकास जेनरल मेडिकल काउसिल ऑव युनाइटेड किंगडम की देखरेख मे होता रहा।

सन् १९३३ मे भारतीय ससद् ने "इडियन मेडिकल काउसिल ऐक्ट" स्वीकार किया। इसके अनुसार भारत के सब प्रातो के लिये आयुर्विज्ञान मे उच्च योग्यता के एक समान, अल्पतम मानक स्थिर करने के विशिष्ट उद्देश्य से मेडिकल काउसिल ऑव इडिया का सगठन हुआ।

सन् १९३५ के सुझावो के अनुसार जीवविज्ञान (बाइग्रालोजी) के साथ इटरमीडिएट परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के अनतर आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय मे पाँच वर्ष तक अध्ययन का समय नियत किया गया। उसके अतिम तीन वर्षों को रुग्णालयो मे जाकर रोगियो की परीक्षा आदि मे व्यतीत करने का निर्देश था। सन १९५२ के प्रस्तावो ने जीवविज्ञान के साथ इटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् विद्यालय मे अध्ययन करने के कुल समय को बढाकर साढे पाँच वर्ष कर दिया है। इसमे से डेढ वर्ष तो रुग्णालयो के कार्यक्रम के परिचय के साथ साथ आधारभूत वैज्ञानिक विषयो के अध्ययन के लिये है तथा तीन वर्ष रुग्णालयो मे क्रियात्मक कार्य के लिये। अतिम परीक्षा के पश्चात् १२ मास के लिये परीक्षोत्तर शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। इस अवधि मे विद्यार्थी को विश्वविद्यालय अथवा मेडिकल काउसिल से मान्यताप्राप्त मेडिकल अधिकारी या डाक्टर की अधीनता मे कार्य करना पडता है। इस एक वर्ष के काल मे तीन मास लोकस्वास्थ्य (पब्लिक हेल्थ) के कार्यों मे, अधिकतर देहात मे, बिताना पडता है।

रुग्णालय विषयक अध्ययनकाल मे, अर्थात् तीसरे, चौथे तथा पाँचवे वर्षों मे, प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम पाँच रोगियो के कुल ब्यौरा का लेखा तैयार करने अथवा शल्यचिकित्सा के उपरात पट्टी बाँधने के कार्य का सपूर्ण उत्तरदायित्व उठाना पडता है।

जैसा उचित है, काउसिल ने शिक्षणकाल मे उपदेशात्मक व्याख्यानो की तुलना मे क्रियात्मक (व्यावहारिक) शिक्षा पर अधिक बल दिया है। सन् १९५६ के इडियन मेडिकल काउसिल अधिनियम ने काउसिल को स्नातकोत्तर आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के सबध मे अधिक वैधानिक शक्ति प्रदान की है तथा स्नातकोत्तर आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासमिति (पोस्ट ग्रेजुएट मेडिकल एडुकेशन कमिटी) की स्थापना का निर्देश भी किया है।

इन सस्थाओ के अतिरिक्त इसका भी प्रयत्न किया गया है कि आयुर्विज्ञान की प्राचीन भारतीय प्रणाली की उन्नति की जाय। प्राचीन भारतीय पद्धति की प्रथम पाठशाला सन् १९२४ मे मद्रास मे स्थापित की गई। काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने एम० बी० बी० एस० का एक नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया है जो जीवविज्ञान लेकर इटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद छह वर्षों तक चलता है। इस प्रणाली मे आयुर्वेद (प्राचीन भारतीय पद्धति) का भी कुछ आवश्यक परिचय दिया जाता है। इस नवीन पाठ्यक्रम का प्रभाव देश की आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा पर बहुत बडी मात्रा मे सभावित है। उसका उद्देश्य यह है कि आयुर्विज्ञान की भारतीय और पाश्चात्य दोनो प्रणालियो का फलप्रद एकीकरण हो।

भारत मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र मे अभी बहुत कुछ करना शेष है और यदि हम प्राचीन आयुर्विज्ञान का नवीन वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने की चेष्टा शीघ्र करे तो हम आयुर्विज्ञान के ज्ञान मे सभवत महत्वपूर्ण वृद्धि कर सकते है।

युनाइटेड किंगडम (इग्लंड, स्कॉटलंड आदि)—ग्रेट ब्रिटेन की जेनरल मेडिकल काउसिल (व्यापक आयुर्वैज्ञानिक परिषद्) १८५८ ई० के आयुर्वैज्ञानिक विनियम (ऐक्ट) के अनुसार स्थापित की गई थी। उस समय चिकित्सको के मन मे यह भ्राति थी कि आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का ध्येय 'अहानिकर, सामान्य चिकित्सक' उत्पन्न करना था। २०वी शताब्दी मे ग्रेट ब्रिटेन मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का ध्येय धीरे धीरे बदलकर ऐसा "मौलिक (बेसिक) चिकित्सक" उत्पन्न करना हो गया, जिसमे यह योग्यता हो कि वह उच्छानुसार आयुर्विज्ञान की किसी भी शाखा मे विशेषज्ञ बन सके। युनाइटेड किंगडम मे मौलिक उपाधि एम० बी० बी० एस० की है, जिसका अर्थ है मेडिसिन (भेषजविज्ञान) का स्नातक और सर्जरी (शल्यचिकित्सा) का स्नातक। इसके बदले एल० आर० सी० पी० और एम० आर० सी० एस० की भी वैकल्पिक उपाधियाँ है। इन अक्षरो का अर्थ है चिकित्सकों अथवा शल्यशास्त्रियो के रायल कालेज (राजविद्यालय) का उपाधिप्राप्त (लाइसेंशियेट) अथवा सदस्य (मेबर)। युनाइटेड किंगडम मे स्नातकोत्तर उपाधियाँ एम० डी० (चिकित्सापडित) अथवा एम० एस० (शल्य-चिकित्सा-पडित) और एफ० आर० सी० एस० (शल्यचिकित्सको के रायल कालिज का सदस्य) अथवा एम० आर० सी० पी० (चिकित्सको के रायल कालेज का सदस्य) है।

अमरीका के सयुक्त राज्य—अमरीकन मेडिकल ऐसोसियेशन (अमरीकी आयुर्वैज्ञानिक सघ) सन १८४७ मे स्थापित हुआ था। उसका उद्देश्य आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के स्तर का उत्थान था। विश्व मे अमरीका के आयुर्वैज्ञानिक विद्यालयो की बडी ख्याति है। चिकित्सको की शिक्षा मे विज्ञान को समुचित महत्व दिया जाता है। विद्यार्थी अपने मन का विषय स्वतत्रता से चुन सकता है। विद्यालय मे भरती होने के पहले उसे विज्ञान का स्नातक होना आवश्यक है। शिक्षा के अत पर सबको एम० डी० (चिकित्सापडित) की उपाधि मिलती है। स्नातकोत्तर उपाधियाँ एफ० ए० सी० एस० और एफ० ए० सी० पी० है। ये उपाधियाँ विशेषज्ञो के विद्यालयो द्वारा दी जाती है।

रूस—रूस मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का विकास वस्तुत सी० पी० एस० यू० (बी) के १७वे अधिवेशन के समक्ष स्टैलिन के प्रसिद्ध व्याख्यान के बाद हुआ। १९४५ ई० मे रूस की आयुर्वैज्ञानिक परिषद् (ऐकेडेमी) स्थापित हुई। इसके पहले सन १९३४ से विज्ञानपडित और विज्ञानजिज्ञासु की उपाधियाँ थी। आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय मे भरती होने के लिये मैट्रिकुलेशन का प्रमाणपत्र आवश्यक है। सब विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति मिलती है। दूर से आए विद्यार्थियो के लिये छात्रावास मे रहने का भी प्रबध रहता है। सन् १९४५ तक आयुर्वैज्ञानिक पाठ्यक्रम पाँच वर्षों मे समाप्त होता था, परन्तु उसके बाद से छह वर्ष तक पढाई होने लगी। क्रियात्मक अनुभव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रति वर्ष एक निश्चित कार्यक्रम दिया जाता है, जिसे अस्पतालो और रुग्णालयो मे अनुभवी विशे-

ओं की देखरेख में उसे पूरा करना पड़ता है। वर्तमान समय में रूस में लगभग दो लाख डाक्टर और कई लाख सहायक हैं जिन्हें 'फेल्डशर' कहा जाता है।

चीन--यहाँ ध्येय यह है कि कम समय में अधिक डाक्टर तैयार हों। आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा की अवधि यहाँ पाँच वर्ष है। प्राचीन प्रणाली के इन चिकित्सकों को छुतवाले रोगों से बचने की आधुनिक रीतियों की शिक्षा दे दी गई है। रूस की ही भाँति चीन के आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय विश्वविद्यालयों से पूर्णतया विभिन्न हैं। आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा अत्यंत प्राविधिक शिक्षा हो चली है। चीन का विद्यार्थी आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय में १७ वर्ष की आयु में भरती होता है और इसके पहले उसे भौतिकी, रसायन, समाजशास्त्र, चीनी साहित्य और राजनीतिविज्ञान में सरकारी परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती है। पीकिंग के विद्यालयों में छात्राओं की संख्या कुल की ४४ प्रति शत बताई जाती है। कहा जाता है, ८० प्रति शत परीक्षा मौखिक होती है और केवल २० प्रति शत लिखित।

अंत में इसपर बल देना आवश्यक है कि सारे विश्व में आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा में बराबर अनेक परिवर्तन होते रहते हैं और अब यह नितांत आवश्यक हो गया है कि भारत भी विज्ञान के इस शक्तिशाली क्षेत्र में समुचित कार्य करे। (कं० नं० उ०)

आयुर्वेद और आयुर्विज्ञान दोनों ही चिकित्साशास्त्र हैं, परंतु व्यवहार में प्राचीन भारतीय ढंग को आयुर्वेद कहते हैं और ऐलोपैथिक (जनता की भाषा में 'डाक्टरी') प्रणाली को आयुर्विज्ञान का नाम दिया जाता है। आयुर्वेद का अर्थ प्राचीन आचार्यों की व्याख्या और इसमें आए हुए 'आयु' और 'वेद' इन दो शब्दों के अर्थों के अनुसार बहुत व्यापक है। आयुर्वेद के आचार्यों ने 'शरीर, इंद्रिय, मन तथा आत्मा के संयोग' को आयु कहा है। अर्थात् जब तक इन चारों का संयोग रहता है उस काल को आयु कहते हैं। इन चारों की संपत्ति (सादगुण्य) या विपत्ति (वैगुण्य) के अनुसार आयु के अनेक भेद होते हैं, किंतु संक्षेप में प्रभावभेद से इसे चार प्रकार का माना गया है: (१) सुखायु: किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक विकार से रहित होते हुए, ज्ञान, विज्ञान, बल, पौरुष, धन, धान्य, यश, परिजन आदि साधनों से समृद्ध व्यक्ति को 'सुखायु' कहते हैं। (२) इसके विपरीत समस्त साधनों से युक्त होते हुए भी, शारीरिक या मानसिक रोग से पीड़ित अथवा निरोग होते हुए भी साधनहीन या स्वास्थ्य और साधन दोनों से हीन व्यक्ति को 'दुःखायु' कहते हैं। (३) हितायु: स्वास्थ्य और साधनों से संपन्न होते हुए या उनमें कुछ कमी होने पर भी जो व्यक्ति विवेक, सदाचार, सुशीलता, उदारता, सत्य, अहिंसा, शांति, परोपकार आदि गुणों से युक्त होते हैं और समाज तथा लोक के कल्याण में निरत रहते हैं उन्हें हितायु कहते हैं। (४) इसके विपरीत जो व्यक्ति अविवेक, दुराचार, क्रूरता, स्वार्थ, दंभ, अत्याचार आदि दुर्गुणों से युक्त और समाज तथा लोक के लिये अभिशाप होते हैं उन्हें अहितायु कहते हैं। इस प्रकार हित, अहित, सुख और दुःख, आयु के ये चार भेद हैं। इसी प्रकार कालप्रमाण के अनुसार भी दीर्घायु, मध्यायु और अल्पायु, संक्षेप में ये तीन भेद होते हैं। वैसे इन तीनों में भी अनेक भेदों की कल्पना की जा सकती है।

'वेद' शब्द के भी सत्ता, लाभ, गति, विचार, प्राप्ति और ज्ञान के साधन, ये अर्थ होते हैं, और आयु के वेद को आयुर्वेद (नॉलेज ऑव सायन्स ऑव लाइफ) कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र में आयु के स्वरूप, आयु के विविध भेद, आयु के लिये हितकारक और अहितकारक आहार, आचार, चेष्टा आदि विषयों का, आयु के प्रमाण और अप्रमाण तथा उनके ज्ञान के साधनों का एवं आयु के उपादानभूत शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा, इनमें सभी या किसी एक के विकास के साथ हित, सुख और दीर्घ आयु की प्राप्ति के साधनों का तथा इनके बाधक विषयों के निराकरण के उपायों का विवेचन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। किंतु आजकल आयुर्वेद 'प्राचीन भारतीय चिकित्सापद्धति' इस संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोजन या उद्देश्य--आयुर्वेद के दो उद्देश्य होते हैं:

(१) स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना। इसके लिये अपने शरीर और प्रकृति के अनुकूल देश, काल आदि का विचार कर नियमित **आहार विहार, चेष्टा, व्यायाम, शौच, स्नान, शयन, जागरण आदि गृहस्थ** जीवन के लिये उपयोगी शास्त्रोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन करना, संकटमय कार्यों से बचना, प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करना, मन और इंद्रियों को नियंत्रित रखना, देश, काल आदि परिस्थितियों के अनुसार अपने शरीर आदि की शक्ति और अशक्ति का विचार कर कोई कार्य करना, मल, मूत्र आदि के उपस्थित वेगों को न रोकना, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अहंकार आदि से बचना, समय समय पर शरीर में संचित दोषों को निकालने के लिये वमन, विरेचन आदि के प्रयोगों से शरीर की शुद्धि करना, सदाचार का पालन करना और दूषित वायु, जल, देश और काल के प्रभाव से उत्पन्न महामारियों (जनपदोद्ध्वंसनीय व्याधियों, एपिडेमिक डिज़ीज़ेज़) में विज्ञ चिकित्सकों के उपदेशों का समुचित रूप से पालन करना, स्वच्छ और विशोधित जल, वायु, आहार आदि का सेवन करना और दूसरों को भी इसके लिये प्रेरित करना, ये स्वास्थ्यरक्षा के साधन हैं।

(२) रोगी व्यक्तियों के विकारों को दूर कर उन्हें स्वस्थ बनाना। इसके लिये प्रत्येक रोग के हेतु (कारण), लिंग--रोगपरिचायक विषय, जैसे पूर्वरूप, रूप (साइंस ऐंड सिम्टम्स), संप्राप्ति (पैथाजेनिसिस) तथा उपशयानुपशय (थिराप्युटिक टेस्ट्स)--और औषध का ज्ञान परमावश्यक है। ये तीनों आयुर्वेद के 'त्रिस्कंध' (तीन प्रधान शाखाएँ) कहलाती हैं। इनका विस्तृत विवेचन आयुर्वेद ग्रंथों में किया गया है। यहाँ केवल संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जायगा। किंतु इसके पूर्व आयु के प्रत्येक संघटक का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है, क्योंकि संघटकों के ज्ञान के बिना उनमें होनेवाले विकारों को जानना संभव न होगा।

शरीर--समस्त चेष्टाओं, इंद्रियों, मन और आत्मा के आधारभूत पांचभौतिक पिंड को शरीर कहते हैं। मानव शरीर के स्थूल रूप में छह अंग हैं, दो हाथ, दो पैर, सिर और ग्रीवा एक तथा अंतराधि (मध्यशरीर) एक। इन अंगों के अवयवों को प्रत्यंग कहते हैं, जैसे--मूर्धा (हेड), ललाट, भ्रू, नासिका, अक्षिकूट (ऑर्बिट), अक्षिगोलक (आइबाल), वर्त्म (पलक), पक्ष्म (बरुनी), कर्ण (कान), कर्णपुत्रक (ट्रैगस), शष्कुली और पाली (पिन्ना ऐंड लोब ऑव इयर्स), शंख (माथे के पार्श्व, टेंपुल्स), गंड (गाल), ओष्ठ (होठ), सृक्कणी (मुख के कोने), चिबुक (ठुड्डी), दंतवेष्ट (मसूड़े), जिह्वा (जीभ), तालु, उपजिह्विका (टांसिल्स), गलशुंडिका (यवुला), गोजिह्विका (एपीग्लॉटिस), ग्रीवा (गरदन), अवटुका (लैरिंग्ज), कंधरा (कंधा), कक्षा (ऐक्सिला), जत्रु (हंसुली, कॉलर), वक्ष (थोरैक्स), स्तन, पार्श्व (बगल), उदर (बेली), नाभि, कुक्षि (कोख), वस्तिशिर (ग्रॉयन), पृष्ठ (पीठ), कटि (कमर), श्रोणि (पेल्विस), नितंब, गुदा, शिश्न या भग, वृषण (टेस्टीज़), भुज, कूर्पर (कुहनी), बाहुपिंडिका या अरत्नि (फोरआर्म), मणिबंध (कलाई), हस्त (हथेली), अंगुलियाँ और अंगुष्ठ, ऊरु (जाँघ), जानु (घुटना), जंघा (टाँग, लेग), गुल्फ (टखना), प्रपद (फुट), पादांगुलि, अंगुष्ठ और पादतल (तलवा)। इनके अतिरिक्त हृदय, फुफ्फुस (लंग), यकृत (लिवर), प्लीहा (स्प्लीन), आमाशय (स्टमक), पित्ताशय (गाल ब्लैडर), वृक्क (गुर्दा, किडनी), वस्ति (यूरिनरी ब्लैडर), क्षुद्रांत्र (स्माल इंटेस्टिन), स्थूलांत्र (लार्ज इंटेस्टिन), वपावहन (मेसेंटरी), पुरीषाधार, उत्तर और अधरगुद (रेक्टम), ये कोष्ठांग हैं और सिर में सभी इंद्रियों और प्राणों के केंद्रों का आश्रय मस्तिष्क (ब्रेन) है।

आयुर्वेद के अनुसार सारे शरीर में ३०० अस्थियाँ हैं, जिन्हें आजकल केवल गणना-क्रम-भेद के कारण दो सौ छह (२०६) मानते हैं तथा संधियाँ (ज्वाइंट्स) २००, स्नायु (लिगामेंट्स) ९००, शिराएँ (ब्लड वेसेल्स, लिंफैटिक्स ऐंड नर्व्ज़) ७००, धमनियाँ (क्रेनियल नर्व्ज़) २४ और उनकी शाखाएँ २००, पेशियाँ (मसल्स) ५०० (स्त्रियों में २० अधिक) तथा सूक्ष्म स्रोत ३०,९५६ हैं।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में रस (बाडी फ्लुइड ऐंड प्लाज्मा), रक्त, मांस, मेद (फैट), अस्थि, मज्जा (बोन मैरो) और शुक्र (सीमेन), ये सात धातुएँ हैं। नित्यप्रति स्वभावतः विविध कार्यों में उपयोग होने से इनका क्षय भी होता रहता है, किंतु भोजन और पान के रूप में हम जो विविध पदार्थ लेते रहते हैं उनसे न केवल इस क्षति की पूर्ति होती है, वरन् धातुओं की पुष्टि भी होती रहती है। आहाररूप में लिया हुआ पदार्थ पाचकाग्नि, भूताग्नि **और विभिन्न धात्वग्नियों द्वारा परिपक्व होकर अनेक परिवर्तनों के बाद**

पूर्वोक्त धातुओं के रूप में परिणत होकर इन धातुओं का पोषण करता है। इस पाचनक्रिया में आहार का जो सार भाग होता है उससे रस धातु का पोषण होता है और जो किट्ट भाग बचता है उससे मल (विष्ठा) और मूत्र बनता है। यह रस हृदय में होता हुआ शिराओं द्वारा सारे शरीर में पहुँचकर प्रत्येक धातु और अंग का पोषण प्रदान करता है। धात्वग्नियों से पाचन होने पर रस आदि धातु के सार भाग से रक्त आदि धातुओं एवं शरीर का भी पोषण होता है तथा किट्ट भाग से मलों की उत्पत्ति होती है, जैसे रस से कफ, रक्त से पित्त, मांस से नाक, कान और नेत्र आदि के द्वारा बाहर आनेवाले मल, मेद से स्वेद (पसीना), अस्थि से केश तथा लोम (सिर के और दाढ़ी, मूँछ आदि के बाल) और मज्जा से आँख का कीचड़ मलरूप में बनते हैं। शुक्र में कोई मल नहीं होता, उसके सार भाग से ओज (बल) की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं रसादि धातुओं से अनेक उपधातुओं की भी उत्पत्ति होती है, यथा रस से दूध, रक्त से कंडराएँ (टेंडन) और शिराएँ, मांस से वसा (फैट), त्वचा और उसके छह या सात स्तर (परत), मेद से स्नायु (लिगामेंट्स), अस्थि से दाँत, मज्जा से केश और शुक्र से ओज नामक उपधातुओं की उत्पत्ति होती है।

ये धातुएँ और उपधातुएँ विभिन्न अवयवों में विभिन्न रूपों में स्थित होकर शरीर की विभिन्न क्रियाओं में उपयोगी होती हैं। जब तक ये उचित परिमाण और स्वरूप में रहती हैं और इनकी क्रिया स्वाभाविक रहती है तब तक शरीर स्वस्थ रहता है और जब ये न्यून या अधिक मात्रा में तथा विकृत स्वरूप में होती हैं तो शरीर में रोग की उत्पत्ति होती है।

प्राचीन दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार संसार के सभी स्थूल पदार्थ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों के संयुक्त होने से बनते हैं। इनके अनुपात में भेद होने से ही उनके भिन्न भिन्न रूप होते हैं। इसी प्रकार शरीर की प्रत्येक धातु, उपधातु और मल पांचभौतिक हैं। परिणामतः शरीर के समस्त अवयव और अंततः सारा शरीर पांचभौतिक है। ये सभी अचेतन हैं। जब इनमें आत्मा का संयोग होता है तब उसकी चेतनता से इनमें भी चेतना आती है।

उचित परिस्थिति में शुद्ध रज और शुद्ध वीर्य का संयोग होने और उसमें आत्मा का संचार होने से माता के गर्भाशय में शरीर का आरंभ होता है। इसे ही गर्भ कहते हैं। माता के आहारजनित रक्त से अपरा (प्लैसेंटा) और गर्भनाडी के द्वारा, जो नाभि में लगी रहती है, गर्भ पोषण प्राप्त करता है। यह गर्भोदक में निमग्न रहकर उपस्नेहन द्वारा भी पोषण प्राप्त करता है तथा प्रथम मास में कलल (जेली) और द्वितीय में घन होता है ? तीसरे मास में अंग प्रत्यंग का विकास आरंभ होता है। चौथे मास में उसमें अधिक स्थिरता आ जाती है तथा गर्भ के लक्षण माता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं। इस प्रकार यह माता की कुक्षि में उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ जब संपूर्ण अंग, प्रत्यंग और अवयवों से युक्त हो जाता है, तब प्रायः नवें मास में कुक्षि से बाहर आकर नवीन प्राणी के रूप में जन्म ग्रहण करता है।

इंद्रिय—शरीर में प्रत्येक अंग या उसके किसी भी अवयव का निर्माण उद्देश्यविशेष से ही होता है, अर्थात् प्रत्येक अवयव के द्वारा विशिष्ट कार्यों की सिद्धि होती है, जैसे हाथ से पकड़ना, पैर से चलना, मुख से खाना, दाँत से चबाना आदि। कुछ अवयव ऐसे हैं जिनसे कई कार्य होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिनसे एक विशेष कार्य ही होता है। जिनसे कार्यविशेष ही होता है उनमें उस कार्य के लिये शक्तिसंपन्न एक विशिष्ट सूक्ष्म रचना होती है। इसी को इंद्रिय कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये क्रमानुसार कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये अवयव इंद्रियाश्रय अवयव (विशेष इंद्रियों के अंग) कहलाते हैं और इनमें स्थित विशिष्ट शक्तिसंपन्न सूक्ष्म वस्तु को इंद्रिय कहते हैं। ये क्रमशः पाँच हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। इन सूक्ष्म अवयवों में पंचमहाभूतों में से उस महाभूत की विशेषता रहती है जिसके शब्द (ध्वनि) आदि विशिष्ट गुण हैं, जैसे शब्द के लिये श्रोत्र इंद्रिय में आकाश, स्पर्श के लिये त्वक् इंद्रिय में वायु, रूप के लिये चक्षु इंद्रिय में तेज, रस के लिये रसनेंद्रिय में जल और गंध के लिये घ्राणेंद्रिय में पृथ्वी तत्व। इन पाँचों इंद्रियों को ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। इनके अतिरिक्त विशिष्ट कार्यसंपादन के लिये पाँच कर्मेंद्रियाँ भी होती हैं, जैसे गमन के लिये पैर, ग्रहण के लिये हाथ, बोलने के लिये जिह्वा (वाग्जिह्वा), मलत्याग के लिये गुदा और मूत्रत्याग तथा संतानोत्पादन के लिये शिश्न (स्त्रियों में भग)। आयुर्वेद दार्शनिकों की भाँति इंद्रियों को आहंकारिक नहीं, अपितु भौतिक मानता है। इन इंद्रियों की अपने कार्यों में मन की प्रेरणा से ही प्रवृत्ति होती है। मन से संपर्क न होने पर ये निष्क्रिय रहती हैं।

मन—प्रत्येक प्राणी के शरीर में अत्यंत सूक्ष्म और केवल एक मन होता है। यह अत्यंत द्रुत गतिवाला और प्रत्येक इंद्रिय का नियंत्रक होता है। किंतु वह स्वयं भी आत्मा के संपर्क के बिना अचेतन होने से निष्क्रिय रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में सत्व, रज और तम, ये तीनों प्राकृतिक गुण होते हुए भी इनमें से किसी एक की सामान्यतः प्रबलता रहती है और उसी के अनुसार व्यक्ति सात्विक, राजस या तामस होता है, किंतु समय समय पर आहार, आचार एवं परिस्थितियों के प्रभाव से दूसरे गुणों का भी प्राबल्य हो जाता है। इसका ज्ञान प्रवृत्तियों के लक्षणों द्वारा होता है, यथा राग-द्वेष-शून्य यथार्थद्रष्टा मन सात्विक, रागयुक्त, सचेष्ट और चंचल मन राजस और आलस्य, दीर्घसूत्रता एवं निष्क्रियता आदि युक्त मन तामस होता है। इसीलिये सात्विक मन को शुद्ध, सत्व या प्राकृतिक माना गया है और रज तथा तम उसके दोष कहे गए हैं। आत्मा से चेतनता प्राप्त कर प्राकृतिक या सदोष मन अपने गुणों के अनुसार इंद्रियों को अपने अपने विषयों में प्रवृत्त करता है और उसी के अनुरूप शारीरिक कार्य होते हैं। आत्मा मन के द्वारा ही इंद्रियों और शरीरावयवों को प्रवृत्त करता है, क्योंकि मन ही उसका करण (इंस्ट्रुमेंट) है। इसीलिये मन का संपर्क जिस इंद्रिय के साथ होता है उसी के द्वारा ज्ञान होता है, दूसरे के द्वारा नहीं। क्योंकि मन एक और सूक्ष्म होता है, अतः एक साथ उसका अनेक इंद्रियों के साथ संपर्क संभव नहीं है। फिर भी उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह एक के बाद दूसरी इंद्रिय के संपर्क में शीघ्रता से परिवर्तित होता है, जिससे हमें यही ज्ञात होता है कि सभी के साथ उसका संपर्क है और सब कार्य एक साथ हो रहे हैं, किंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

आत्मा—आत्मा पंचमहाभूत और मन से भिन्न, चेतनावान्, निर्विकार और नित्य है तथा साक्षी स्वरूप है, क्योंकि स्वयं निर्विकार तथा निष्क्रिय है। इसके संपर्क से सक्रिय किंतु अचेतन मन, इंद्रियों और शरीर में चेतना का संचार होता है और वे सचेष्ट होते हैं। आत्मा में रूप, रंग, आकृति आदि कोई चिह्न नहीं है, किंतु उसके बिना शरीर अचेतन होने के कारण निश्चेष्ट पड़ा रहता है और मृत कहलाता है तथा उसके संपर्क से ही उसमें चेतना आती है, तब उसे जीवित कहा जाता है और उसमें अनेक स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक क्रियाएँ होने लगती हैं, जैसे श्वासोच्छ्‌वास, छोटे से बड़ा होना और कटे हुए घाव का भरना आदि, पलकों का खुलना और बंद होना, जीवन के लक्षण, मन की गति, एक इंद्रिय से हुए ज्ञान का दूसरी इंद्रिय पर प्रभाव होना (जैसे आँख से किसी सुंदर, मधुर फल को देखकर मुँह में पानी आना), विभिन्न इंद्रियों और अवयवों को विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त करना, विषयों का ग्रहण और धारण करना, स्वप्न में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना, एक आँख से देखी वस्तु का दूसरी आँख से भी अनुभव करना। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, धैर्य, बुद्धि, स्मरणशक्ति, अहंकार आदि शरीर में आत्मा के होने पर ही होते हैं, आत्मारहित मृत शरीर में नहीं होते। अतः ये आत्मा के लक्षण कहे जाते हैं, अर्थात् आत्मा का पूर्वोक्त लक्षणों से अनुमान मात्र किया जा सकता है। मानसिक कल्पना के अतिरिक्त किसी दूसरी इंद्रिय से उसका प्रत्यक्ष करना संभव नहीं है।

यह आत्मा नित्य, निर्विकार और व्यापक होते हुए भी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप जैसी योनि में या शरीर में, जिस प्रकार के मन और इंद्रियों तथा विषयों के संपर्क में आती है वैसे ही कार्य होते हैं। उत्तरोत्तर अशुभ कार्यों के करने से उत्तरोत्तर अधोगति होती है तथा शुभ कर्मों के द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति होने से, मन के राग-द्वेष-हीन होने पर, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा तो निर्विकार है, किंतु मन, इंद्रिय और शरीर में विकृति हो सकती है और इन तीनों के परस्पर सापेक्ष

होने के कारण एक का विकार दूसरे को प्रभावित कर सकता है। अत इन्हें प्रकृतिस्थ रखना या विकृत होने पर प्रकृति मे लाना या स्वस्थ करना परमावश्यक है। इससे दीर्घ सुख और हितायु की प्राप्ति होती है, जिससे क्रमश आत्मा को भी उसके एकमात्र, किंतु भीषण, जन्म मृत्यु और भवबधनरूप रोग से मुक्ति पाने मे सहायता मिलती है, जो आयुर्वेद मे नैष्ठिकी चिकित्सा कही गई है।

रोग और स्वास्थ्य—चरक ने सक्षेप मे रोग और आरोग्य का लक्षण यह लिखा है कि वात, पित्त और कफ इन तीनो दोषो का सम मात्रा (उचित प्रमाण) मे होना ही आरोग्य और इनमे विषमता होना ही रोग है। सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण विस्तार से दिया है "जिसमे सभी दोष सम मात्रा मे हो, अग्नि सम हो, धातु, मल और उनकी क्रियाएँ भी सम (उचित रूप मे) हो तथा जिसकी आत्मा, इद्रिय और मन प्रसन्न (शुद्ध) हो उसे स्वस्थ समझना चाहिए"। इसके विपरीत लक्षण हो तो अस्वस्थ समझना चाहिए। रोग को विकृति या विकार भी कहते है। अत शरीर, इद्रिय और मन के प्राकृतिक (स्वाभाविक) रूप या क्रिया मे विकृति होना रोग है।

रोगो के हेतु या कारण (इटियॉलोजी)—ससार की सभी वस्तुएँ साक्षात् या परपरा से शरीर, इद्रिया और मन पर किसी न किसी प्रकार का निश्चित प्रभाव डालती है और अनुचित या प्रतिकूल प्रभाव से इनमे विकार उत्पन्न कर रोगो का कारण होती है। इन सबका विस्तृत विवेचन कठिन है, अत सक्षेप मे इन्हे तीन वर्गों म बॉट दिया गया है . (१) प्रज्ञापराध अविवेक (धीभ्रश), अधीरता (धृतिभ्रश) तथा पूर्व अनुभव और वास्तविकता की उपेक्षा (स्मृतिभ्रश) के कारण लाभ हानि का विचार किए बिना ही किसी विषय का सेवन या जानते हुए भी अनुचित वस्तु का सेवन करना। इसी को दूसरे और स्पष्ट शब्दो मे कर्म (शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओ) का हीन, मिथ्या और अति योग भी कहते है। (२) असात्म्येद्रियार्थसयोग चक्षु आदि इद्रियो का अपने अपने रूप आदि विषयो के साथ असात्म्य (प्रतिकूल, हीन, मिथ्या और अति) सयोग इद्रियो, शरीर और मन के विकार का कारण होता है, यथा आँख मे बिलकुल न देखना (अयोग), अति तेजस्वी वस्तुओ को देखना और बहुत अधिक देखना (अतियोग) तथा अति सूक्ष्म, सकीर्ण, अति दूर मे स्थित तथा भयानक, बीभत्स, एव विकृतरूप वस्तुओं का देखना (मिथ्यायोग)। ये चक्षुरिद्रिय और उसके आश्रय नेत्रो के साथ मन और शरीर मे भी विकार उत्पन्न करते है। इसी को दूसरे शब्दो मे अर्थ का दुर्योग भी कहते है। ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि ऋतुओ तथा बाल्य, युवा और वृद्धावस्थाओ का भी शरीर आदि पर प्रभाव पडता ही है, किंतु इनके हीन, मिथ्या और अतियोग का प्रभाव विशेष रूप से हानिकर होता है।

पूर्वोक्त कारणो के प्रकारातर से अन्य अनेक भेद भी होते है, यथा (१) विप्रकृष्ट कारण (रिमोट कॉज), जो शरीर मे दोषो का सचय करता रहता है और अनुकूल समय पर रोग को उत्पन्न करता है, (२) सनिकृष्ट कारण (इम्मीडिएट कॉज), जो रोग का तात्कालिक कारण होता है, (३) व्यभिचारी कारण (अबॉर्टिव कॉज) जो परिस्थितिवश रोग को उत्पन्न भी करता है और नही भी करता तथा (४) प्राधानिक कारण (स्पेसिफिक कॉज), जो तत्काल किसी धातु या अवयवविशेष पर प्रभाव डालकर निश्चित लक्षणोवाले विकार को उत्पन्न करता है, जैसे विभिन्न स्थावर और जातव विष।

प्रकारातर से इनके अन्य दो भेद होते है—(१) उत्पादक (प्रीडिस्पोज़िंग), जो शरीर मे रोगविशेष की उत्पत्ति के अनुकूल परिवर्तन कर देता है, (२) व्यजक (एक्साइटिंग), जो पहले से रोगानुकूल शरीर मे तत्काल विकारो को व्यक्त करता है।

शरीर पर इन सभी कारणो के तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं :

(१) **दोषप्रकोप**—अनेक कारणो से शरीर के उपादानभूत आकाश आदि पॉच तत्वो मे से किसी एक या अनेक मे परिवर्तन होकर उनके स्वाभाविक अनुपात मे अतर आ जाना अनिवार्य है। इसी को ध्यान मे रखकर आयुर्वेदाचार्यों ने इन विकारो को वात, पित्त और कफ इन वर्गों मे विभक्त किया है। पंचमहाभूत एव त्रिदोष का अलग से विवेचन ही उचित है, किंतु संक्षेप में यह समझना चाहिए कि संसार के जितने भी मूर्त (मैटीरियल) पदार्थ हैं वे सब आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्वो से बने हैं। ये पृथ्वी आदि वे ही नही है जो हमे नित्यप्रति स्थूल जगत् मे देखने को मिलते हैं। ये पिछले सब तो पूर्वोक्त पाँचो तत्वो के सयोग से उत्पन्न पाचभौतिक हैं। वस्तुओ मे जिन तत्वो की बहुलता होती है वे उन्ही नामो से वर्णित की जाती है। इसी प्रकार हमारे शरीर की धातुओ मे या उनके सघटको मे जिस तत्व की बहुलता रहती है वे उसी श्रेणी के गिने जाते है। इन पाँचो मे आकाश तो निर्विकार है तथा पृथ्वी सबसे स्थूल और सभी का आश्रय है। जो कुछ भी विकास या परिवर्तन होते है उनका प्रभाव इसी पर स्पष्ट रूप से पडता है। शेष तीन (वायु, तेज और जल) सब प्रकार के परिवर्तन या विकार उत्पन्न करने मे समर्थ होते है। अत. तीनो की प्रचुरता के आधार पर, विभिन्न धातुओ एव उनके सघटको को वात, पित्त और कफ की सज्ञा दी गई है। सामान्य रूप से ये तीनो धातुएँ शरीर की पोषक होने के कारण विकृत होने पर अन्य धातुओ को भी दूषित करती है। अत दोष तथा मल रूप होने से मल कहलाती है। रोग मे किसी भी कारण से इन्ही तीनो की न्यूनता या अधिकता होती है, जिसे दोषप्रकोप कहते है।

(२) **धातुदूषण**—कुछ पदार्थ या कारण ऐसे होते है जो किसी विशिष्ट धातु या अवयव मे ही विकार करते है। इनका प्रभाव सारे शरीर पर नही होता। इन्हे धातुप्रदूषक कहते है।

(३) **उभयहेतु**—वे पदार्थ जो सारे शरीर मे वात आदि दोषो को कुपित करते हुए भी किसी धातु या अगविशेष मे ही विशेष विकार उत्पन्न करते है, उभयहेतु कहलाते है। किंतु इन तीनो मे जो भी परिवर्तन होते है वे वात, पित्त या कफ इन तीनो मे से किसी एक, दो या तीनो मे ही विकार उत्पन्न करते है। अत ये ही तीनो दोष प्रधान शरीरगत कारण होते हैं, क्योंकि इनके स्वाभाविक अनुपात मे परिवर्तन होने से शरीर की धातुओ आदि मे भी विकृति होती है। रचना मे विकार होने से क्रिया मे भी विकार होना स्वाभाविक है। इस अस्वाभाविक रचना और क्रिया के परिणामस्वरूप अतिसार, कास आदि लक्षण उत्पन्न होते है और इन लक्षणो के समूह को ही रोग कहते हैं।

इस प्रकार जिन पदार्थों के प्रभाव से वात आदि दोषो मे विकृतियाँ होती हैं तथा वे वातादि दोष, जो शारीरिक धातुओ को विकृत करते है, दोनो ही हेतु (कारण) या निदान (आदिकारण) कहलाते है। अतत इनके दो अन्य महत्वपूर्ण भेदो का विचार अपेक्षित है (१) निज (इडियोपैथिक)—जब पूर्वोक्त कारणो से क्रमश शरीरगत वातादि दोष मे, और उनके द्वारा धातुओ मे, विकार उत्पन्न होते है तो उनको निज हेतु या निज रोग कहते है। (२) आगतुक (ऐक्सिडेटल)—चोट लगना, आग से जलना, विद्युत्प्रभाव, साँप आदि विषैले जीवो के काटने या विषप्रयोग से जब एकाएक विकार होते है तो उनमे भी वातादि दोषो का विकार होते हुए भी कारण की भिन्नता और प्रबलता से, वे कारण और उनसे उत्पन्न रोग आगतुक कहलाते है।

लिंग (लीजन)—पूर्वोक्त कारणो से उत्पन्न विकारो की पहचान जिन साधनो द्वारा होती है उन्हे लिंग कहते है। इसके चार भेद है : पूर्वरूप, रूप, सप्राप्ति और उपशय।

पूर्वरूप—किसी रोग के व्यक्त होने के पूर्व शरीर के भीतर हुई अत्यल्प या आरभिक विकृति के कारण जो लक्षण उत्पन्न होकर किसी रोगविशेष की उत्पत्ति की सभावना प्रकट करते हैं उन्हे पूर्वरूप (प्रोडामेटा) कहते है।

रूप (साइस ऐड सिंप्टम्स)—जिन लक्षणो से रोग या विकृति का स्पष्ट परिचय मिलता है उन्हे रूप कहते है।

सप्राप्ति (पैथोजेनेसिस) किस कारण से कौन सा दोष स्वतत्र रूप मे या परतत्र रूप मे, अकेले या दूसरे के साथ, कितने अश मे और कितनी मात्रा मे प्रकुपित होकर, किस धातु या किस अग मे, किस किस स्वरूप का विकार उत्पन्न करता है, इनके निर्धारण को सप्राप्ति कहते है। चिकित्सा मे इसी की महत्वपूर्ण उपयोगिता है। वस्तुत इन परिवर्तनो से ही ज्वरादि रूप मे रोग उत्पन्न होते है, अत इन्हे ही वास्तव मे रोग भी कहा जा सकता है और इन्ही परिवर्तनो को ध्यान मे रखकर की गई चिकित्सा भी सफल होती है।

उपशय और अनुपशय (थेराप्यूटिक टेस्ट)—जब अल्पता या दुर्बोधता आदि के कारण रोगो के वास्तविक कारण या स्वरूप का निर्णय

करने मे सदेह होता है, तब उस सदेह के निराकरण के लिये सभावित दोषो या विकारो मे से किसी एक के विचार से उपयुक्त आहार विहार और औषध का प्रयोग करने पर जिससे लाभ होता है उसे उपशय तथा जिससे हानि होती है उसे अनुपशय कहते है। इस उपशय के विवेचन मे आयुर्वेदाचार्यों ने छह प्रकार से आहार विहार और औषध के प्रयोगो का सूत्र बतलाते हुए उपशय के १८ भेदो का वर्णन किया है। ये सूत्र इतने महत्व के है कि इनमे से एक एक के आधार पर एक एक चिकित्सापद्धति का उदय हो गया है, जैसे, (१) हेतु के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। (२) व्याधि, वेदना या लक्षणो के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। स्वय ऐलोपैथी की स्थापना इसी पद्धति पर हुई थी [ऐलोज (विपरीत) + पैथोज (वेदना) = ऐलोपैथी]। (३) हेतु और व्याधि, दोनो के विपरीत आहार विहार और औषध का प्रयोग करना। (४) हेतुविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग के कारण के समान होते हुए भी उस कारण के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग, जैसे, आग से जलने पर सेकने या गरम वस्तुओ का लेप करने से उस स्थान का रक्तसचार बढ़कर दोषो का स्थानातरण होता है तथा रक्त का जमना रुकने से पाक के रुकने पर शाति मिलती है। (५) व्याधिविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग या वेदना को बढ़ानेवाला प्रतीत होते हुए भी व्याधि के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग [होमियोपैथी से तुलना करे होमियो (समान) + पैथोज (वेदना) = होमियोपैथी]। (६) उभयविपरीतार्थकारी, अर्थात् कारण और वेदना दोनो के समान प्रतीत होते हुए भी दोनो के विपरीत कार्य करनेवाले आहार विहार और औषध का प्रयोग।

उपशय और अनुपशय से भी रोग की पहचान मे सहायता मिलती है। अत इनको भी प्राचीनो ने 'लिंग' मे ही गिना है। हेतु और लिंगो के द्वारा रोग का ज्ञान प्राप्त करने पर ही उसकी उचित और सफल चिकित्सा (औषध) सभव है। हेतु और लिंगो से रोग की परीक्षा होती है, किंतु इनके समुचित ज्ञान के लिये रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। रोगी की परीक्षा के साधन चार है--आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति।

आप्तोपदेश--योग्य अधिकारी, तप और ज्ञान से सपन्न होने के कारण, शास्त्रतत्वो को राग-द्वेष-शून्य बुद्धि से असदिग्ध और यथार्थ रूप से जानते और कहते है। ऐसे विद्वान्, अनुसधानशील, अनुभवी पक्षपातहीन और यथार्थ वक्ता महापुरुषो को आप्त (अथारिटी) और उनके वचनो या लेखो को आप्तोपदेश कहते है। आप्तजनो ने पूर्ण परीक्षा के बाद शास्त्रो का निर्माण कर उनमे एक एक रोग के सबध मे लिखा है कि अमुक कारण से, इस दोष के प्रकुपित होने और इस धातु के दूषित होने तथा इस अग मे आश्रित होने से, अमुक लक्षणोवाला अमुक रोग उत्पन्न होता है, उसमे अमुक अमुक परिवर्तन होते है तथा उसकी चिकित्सा के लिये इन आहार विहार और अमुक औषधियो के इस प्रकार उपयोग करने से तथा चिकित्सा करने से शाति होती है। इसलिए प्रथम योग्य और अनुभवी गुरुजनो से शास्त्र का अध्ययन करने पर रोग के हेतु, लिंग और औषधज्ञान मे प्रवृत्ति होती है। शास्त्रवचनो के अनुसार ही लक्षणो की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति से की जाती है।

प्रत्यक्ष--मनोयोगपूर्वक इद्रियो द्वारा विषयो का अनुभव प्राप्त करने को प्रत्यक्ष कहते है। इसके द्वारा रोगी के शरीर के अग प्रत्यग मे होनेवाले विभिन्न शब्दो (ध्वनियो) की परीक्षा कर उनके स्वाभाविक या अस्वाभाविक होने का ज्ञान श्रोत्रेंद्रिय द्वारा करना चाहिए। वर्ण, आकृति, लबाई, चौड़ाई आदि प्रमाण तथा छाया आदि का ज्ञान नेत्रो द्वारा, गधो का ज्ञान घ्राणेंद्रिय तथा शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध एव नाड़ी आदि के स्पदन आदि भावो का ज्ञान स्पर्शेंद्रिय द्वारा प्राप्त करना चाहिए। रोगी के शरीरगत रस की परीक्षा स्वय अपनी जीभ से करना उचित न होने के कारण, उसके शरीर या उससे निकले स्वेद, मूत्र, रक्त, पूय आदि मे चीटी लगना या न लगना, मक्खियो का आना और न आना, कौए या कुत्ते आदि द्वारा खाना या न खाना, प्रत्यक्ष देखकर उनके स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है।

अनुमान--युक्तिपूर्वक तर्क (ऊहापोह) के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमान (इनफरेंस) है। जिन विषयो का प्रत्यक्ष नही हो सकता या प्रत्यक्ष होने पर भी उनके सबध मे सदेह होता है वहाँ अनुमान द्वारा परीक्षा करनी चाहिए, यथा, पाचनशक्ति के आधार पर अग्निबल का, व्यायाम की शक्ति के आधार पर शारीरिक बल का, अपने विषयो को ग्रहण करने या न करने से इद्रियो की प्रकृति या विकृति का तथा इसी प्रकार भोजन मे रुचि, अरुचि तथा प्यास एव भय, शोक, क्रोध, इच्छा, द्वेष आदि मानसिक भावो के द्वारा विभिन्न शारीरिक और मानसिक विषयो का अनुमान करना चाहिए। पूर्वोक्त उपशयानुपशय भी अनुमान का ही विषय है।

युक्ति--इसका अर्थ है योजना। अनेक कारणो के सामुदायिक प्रभाव से किसी विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति को देखकर, तदनुकूल विचारो से जो कल्पना की जाती है उसे युक्ति कहते है। जैसे खेत, जल, जुताई, बीज और ऋतु के सयोग से ही पौधा उगता है। धूएँ का आग के साथ सदैव सबध रहता है, अर्थात् जहाँ धुआँ होगा वहाँ आग भी होगी। इसी को व्याप्तिज्ञान भी कहते है और इसी के आधार पर तर्क कर अनुमान किया जाता है। इस प्रकार निदान, पूर्वरूप, रूप, सप्राप्ति और उपशय इन सभी के सामुदायिक विचार से रोग का निर्णय युक्तियुक्त होता है। योजना को दूसरी दृष्टि से भी रोगी की परीक्षा मे प्रयोग कर सकते है। जैसे किसी इंद्रिय से यदि कोई विषय सरलता से ग्राह्य न हो तो अन्य यत्रादि उपकरणो की सहायता से उस विषय का ग्रहण करना भी युक्ति मे ही अतर्गत है।

परीक्ष्य विषय--पूर्वोक्त लिंगो के ज्ञान के लिए तथा रोगनिर्णय के साथ साध्यता या असाध्यता के भी ज्ञान के लिये आप्तोपदेश के अनुसार प्रत्यक्ष आदि परीक्षाओ द्वारा रोगी के सार, सत्व (डिसपोजिशन), सहनन (उपचय), प्रमाण (शरीर और अग प्रत्यग की लबाई, चौड़ाई, भार आदि), सात्म्य (अभ्यास आदि, हैबिट्स), आहारशक्ति, व्यायामशक्ति तथा आयु के अतिरिक्त वर्ण, स्वर, गध, रस और स्पर्श ये विषय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शेंद्रिय, सत्व, भक्ति (रुचि), शौच, शील, आचार, स्मृति, आकृति, बल, ग्लानि, तद्रा, आरभ (चेष्टा), गुरुता, लघुता, शीतलता, उष्णता, मृदुता, काठिन्य आदि गुण, आहार के गुण, पाचन और मात्रा, उपाय (साधन), रोग और उसके पूर्वरूप आदि का प्रमाण, उपद्रव (काम्प्लिकेशन्स), छाया (लस्टर), प्रतिच्छाया, स्वप्न (ड्रीम्स), रोगी को देखने को बुलाने के लिये आए दूत तथा रास्ते और रोगी के घर मे प्रवेश के समय के शकुन और अपशकुन, ग्रहयोग आदि सभी विषयो की प्रकृति (स्वाभाविकता) तथा विकृति (अस्वाभाविकता) की दृष्टि से विचार करते हुए परीक्षा करनी चाहिए। विशेषत नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, शब्द (ध्वनि), स्पर्श, नेत्र और आकृति की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिए। आयुर्वेद मे नाड़ी की परीक्षा अति महत्व का विषय है। केवल नाड़ीपरीक्षा से दोषो एव दूष्यो के साथ रोगो के स्वरूप आदि का ज्ञान अनुभवी वैद्य प्राप्त कर लेते है।

औषध--जिन साधनो के द्वारा रोगो के कारणभूत दोषो एव शारीरिक विकृतियो का शमन किया जाता है उन्हे औषध कहते है। ये प्रधानत दो प्रकार की होती है अद्रव्यभूत और द्रव्यभूत।

अद्रव्यभूत औषध वह है जिसमे किसी द्रव्य का उपयोग नही होता, जैसे उपवास, विश्राम, सोना, जागना, टहलना, व्यायाम आदि। बाह्य या आभ्यतर प्रयोगो द्वारा शरीर मे जिन बाह्य द्रव्यो (ड्रग्स) का प्रयोग होता है वे द्रव्यभूत औषध है। ये द्रव्य सक्षेप मे तीन प्रकार के होते है (१) जागम (ऐनिमल ड्रग्स), जो विभिन्न प्राणियो के शरीर से प्राप्त होते है, जैसे मधु, दूध, दही, घी, मक्खन, मट्ठा, पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मास, पुरीष, मूत्र, शुक्र, चर्म, अस्थि, शृग, खुर, नख, लोम आदि, (२) औद्भिद (हर्बल ड्रग्स), जो पेड़ पौधे आदि से प्राप्त होते है, जैसे विविध अन्न, फल, फूल, पत्ते, जड़, छाल, गोद, डठल, स्वरस, दूध, भस्म, क्षार, तैल, कटक, कोयले और कद आदि, (३) पार्थिव (खनिज, मिनरल ड्रग्स), जैसे सोना, चाँदी, सीसा, रांगा, ताँबा, लोहा, चूना, खड़िया, अभ्रक, सखिया, हरताल, मैनसिल, अजन (ऐटिमनी), गेरू, नमक आदि।

शरीर की भाँति ये सभी द्रव्य भी पाचभौतिक होते है, इनके भी वे ही सघटक होते है जो शरीर के है। अत ससार मे कोई भी द्रव्य ऐसा नही है जिसका किसी न किसी रूप मे किसी न किसी रोग के किसी न किसी अवस्थाविशेष मे औषधरूप मे प्रयोग न किया जा सके। किंतु इनके प्रयोग के पूर्व इनके स्वाभाविक गुणधर्म, सस्कारजन्य गुणधर्म, प्रयोगविधि तथा

प्रयोगमार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इनमे कुछ द्रव्य दोषो का शमन करते है, कुछ दोष और धातु को दूषित करते है और कुछ स्वस्थवृत्त मे, अर्थात् धातुसाम्य को स्थिर रखने मे उपयोगी होते है। इनकी उपयोगिता के समुचित ज्ञान के लिये द्रव्यो के पाचभौतिक सघटको मे तारतम्य के अनुसार स्वरूप (कपोजिशन), गुरुता, लघुता, रूक्षता, स्निग्धता आदि गुण, रस (टेस्ट ऐंड लोकल ऐक्शन), विपाक (मेटाबोलिक चेंजेज), वीर्य (फिजिओलॉजिकल ऐक्शन), प्रभाव (स्पेसिफिक ऐक्शन) तथा मात्रा (डोज) का ज्ञान आवश्यक होता है।

भेषज्यकल्पना सभी द्रव्य सदैव अपने प्राकृतिक रूपो मे शरीर मे उपयोगी नही होते। रोग और रोगी की आवश्यकता के विचार से शरीर की धातुओ के लिये उपयोगी एव सात्म्यकरण के अनुकूल बनाने के लिये, इन द्रव्यो के स्वाभाविक स्वरूप और गुणो मे परिवर्तन के लिये, विभिन्न भौतिक एव रासायनिक सस्कारो द्वारा जो उपाय किए जाते है उन्हे 'कल्पना' (फार्मेसी या फार्मास्युटिकल प्रोसेस) कहते है। जैसे—स्वरस (जूस), कल्क या चूर्ण (पेस्ट या पाउडर), शीत क्वाथ (इनफ्यूजन), क्वाथ (डिकोक्शन), आसव तथा अरिष्ट (टिक्चर्स), तैल, घृत, अवलेह आदि तथा खनिज द्रव्यो के शोधन, जारण, मारण, अमृतीकरण, सत्वपातन आदि।

चिकित्सा (ट्रीटमेंट) चिकित्सक परिचायक, औषध और रोगी, ये चारो मिलकर शारीरिक धातुओ की समता के उद्देश्य से जो कुछ भी उपाय या कार्य करते है उसे चिकित्सा कहते है। यह दो प्रकार की होती है (१) निरोधक (प्रिवेंटिव) तथा (२) प्रतिषेधक (क्यूरेटिव), जैसे शरीर के प्रकृतिस्थ दोषो और धातुओ मे वैषम्य (विकार) न हो तथा साम्य की परपरा निरतर बनी रहे इस उद्देश्य से की गई चिकित्सा निरोधक है तथा जिन क्रियाओ या उपचारो से विषम हुई शारीरिक धातुओ मे समता उत्पन्न की जाती है उन्हे प्रतिषेधक चिकित्सा कहते है।

पुन चिकित्सा तीन प्रकार की होती है (१) सत्वावजय (साइकोलॉजिकल) इसमे मन को अहित विषयो से रोकना तथा हर्षण, आश्वासन आदि उपाय है। (२) दैवव्यपाश्रय (डिवाइन) इसमे ग्रह आदि दोषो के शमनार्थ तथा पूर्वकृत अशुभ कर्म के प्रायश्चित्तस्वरूप देवाराधन, जप हवन, पूजा, पाठ, व्रत तथा मणि, मत्र, यत्र, रत्न और औषधि आदि का धारण ये उपाय होते है। (३) युक्तिव्यपाश्रय (मेडिसिनल अर्थात् सिस्टेमिक ट्रीटमेंट) रोग और रोगी के बल, स्वरूप, अवस्था, स्वास्थ्य, सत्व, प्रकृति आदि के अनुसार उपयुक्त औषध की उचित मात्रा, अनुकूल कल्पना (बनाने की रीति) आदि का विचार कर प्रयुक्त करना। इसके भी मुख्यत तीन प्रकार है अत परिमार्जन, बहि परिमार्जन और शस्त्रकर्म।

अत परिमार्जन (औषधियो का आभ्यतर प्रयोग) इसके भी दो मुख्य प्रकार है (१) अपतर्पण या शोधन या लघन, (२) सतर्पण या शमन या बृहण (खिलाना)। शारीरिक दोषो को बाहर निकालने के उपायो को शोधन कहते है, उसके वमन, विरेचन (पर्गेटिव), वस्ति (निरूहण), अनुवासन और उत्तरबस्ति (एनिमेटा तथा कैथेटर्स का प्रयोग), शिरोविरेचन (स्नफ्स आदि) तथा रक्तमोक्षण (वेनिसेक्शन या ब्लड लेटिंग), ये पाच उपाय है।

शमन—लाक्षणिक चिकित्सा (सिप्टामैटिक ट्रीटमेंट) विभिन्न लक्षणो के अनुसार दोषो और विकारो के शमनार्थ विशेष गुणवाली ओषधि का प्रयोग, जैसे ज्वरनाशक, छर्दिघ्न (वमन रोकनेवाला), अतिसारहर (स्तभक), उद्दीपक, पाचक, हृद्य, कुष्ठघ्न, बल्य, विषघ्न, कासहर, श्वासहर, दाहप्रशामक, शीतप्रशामक, मूत्रल, मूत्रविशोधक, शुक्रजनक, शुक्रविशोधक, स्तन्यजनक, स्वेदल, रक्तस्थापक, वेदनाहर, सज्ञास्थापक, वय स्थापक, जीवनीय, बृहणीय, लेखनीय, भेदनीय, रूक्षणीय, स्नेहनीय आदि द्रव्यो का आवश्यकतानुसार उचित कल्पना और मात्रा मे प्रयोग करना।

इन ओषधियो का प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए "यह ओषधि इस स्वभाव की होने के कारण तथा अमुक तत्वो की प्रधानता के कारण, अमुक गुणवाली होने से, अमुक प्रकार के देश मे उत्पन्न और अमुक ऋतु मे सग्रह कर, अमुक प्रकार सुरक्षित रहकर, अमुक कल्पना से, अमुक मात्रा से, इस रोग की, इस इस अवस्था मे तथा अमुक प्रकार के रोगी को इतनी मात्रा मे देने पर अमुक दोष को निकालेगी या शात करेगी। इसके अभाव मे इसी के समान गुणवाली अमुक ओषधि का प्रयोग किया जा सकता है। इसमे यह यह उपद्रव हो सकते हैं और उसके शमनार्थ ये उपाय करने चाहिए।"

बहि परिमार्जन (एक्स्टर्नल मेडिकेशन)—जैसे अभ्यग, स्नान, लेप, धूपन, स्वेदन आदि।

शस्त्रकर्म—विभिन्न अवस्थाओ मे निम्नलिखित आठ प्रकार के शस्त्रकर्मों मे से कोई एक या अनेक करने पडते है १ छेदन—काटकर दो फाँक करना या शरीर से अलग करना (एक्सिजन), २ भेदन—चीरना (इंसिजन), ३ लेखन—खुरचना (स्क्रेपिंग या स्कैरिफिकेशन), ४. वेधन—नुकीले शस्त्र से छेदना (पक्चरिंग), ५ एषण (प्रोबिंग), ६ आहरण—खीचकर बाहर निकालना (एक्स्ट्रैक्शन), ७ विस्रावण—रक्त, पूय आदि को चुवाना (ड्रेनेज), ८ सीवन—सीना (स्यूचरिंग या स्टिचिंग)। इनके अतिरिक्त उत्पाटन (उखाडना), कुट्टन (कुचकुचाना, प्रिकिंग), मथन (मथना, ड्रिलिंग), दहन (जलाना, कॉटराइजेशन) आदि उपशस्त्रकर्म भी होते है। शस्त्रकर्म (ऑपरेशन) के पूर्व की तैयारी को पूर्वकर्म कहते है, जैसे रोगी का शोधन, यत्र (ब्लट इस्ट्रुमेंट्स), शस्त्र (शार्प इस्ट्रुमेंट्स) तथा शस्त्रकर्म के समय एव बाद मे आवश्यक रुई, वस्त्र, पट्टी, घृत, तेल, क्वाथ, लेप आदि की तैयारी और शुद्धि। वास्तविक शस्त्रकर्म को प्रधान कर्म कहते है। शस्त्रकर्म के बाद शोधन, रोहण, रोपण, त्वक्स्थापन, सवर्णीकरण, रोमजनन आदि उपाय पश्चात्कर्म है।

शस्त्रसाध्य तथा अन्य अनेक रोगो मे क्षार या अग्निप्रयोग के द्वारा भी चिकित्सा की जा सकती है। रक्त निकालने के लिये जोक, सीगी, तुबी, प्रच्छान तथा शिरावेध का प्रयोग होता है।

इस प्रकार आयुर्वेद की तीन स्थूल शाखाओ (हेतु, लिग और औषध) का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

मानस रोग (मेटल डिज़ीज़ेज)—मन भी आयु का उपादान है। मन के पूर्वोक्त रज और तम इन दो दोषो से दूषित होने पर मानसिक सतुलन बिगडने का इद्रियो और शरीर पर भी प्रभाव पडता है। शरीर और इद्रियो के स्वस्थ होने पर भी मनोदोष से मनुष्य के जीवन मे अस्तव्यस्तता आने से आयु का ह्रास होता है। उसकी चिकित्सा के लिये मन के शरीराश्रित होने से शारीरिक शुद्धि आदि के साथ ज्ञान, विज्ञान, सयम, मन समाधि, हर्षण, आश्वासन आदि मानस उपचार करना चाहिए, मन को क्षोभक आहार विहार आदि से बचाना चाहिए तथा मानस-रोग-विशेषज्ञो से उपचार कराना चाहिए।

इंद्रियाँ—ये आयुर्वेद मे भौतिक मानी गई है। ये शरीराश्रित तथा मनोनियत्रित होती है। अत शरीर और मन के आधार पर ही इनके रोगो की चिकित्सा की जाती है।

आत्मा को पहले ही निर्विकार बताया गया है। उसके साधनो (मन और इद्रियाँ) तथा आधार (शरीर) मे विकार होने पर इन सबकी सचालक आत्मा मे विकार का हमे आभास मात्र होता है। किंतु पूर्वकृत अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप आत्मा को भी विविध योनियो मे जन्मग्रहण आदि भवबधनरूपी रोग से बचाने के लिये, इसके प्रधान उपकरण मन को शुद्ध करने के लिये, सत्सगति, ज्ञान, वैराग्य, धर्मशास्त्रचितन, व्रत, उपवास आदि करना चाहिए। इनसे तथा यम नियम आदि योगाभ्यास द्वारा स्मृति (तत्वज्ञान) की उत्पत्ति होने से कर्मसन्यास द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसे नैष्ठिकी चिकित्सा कहते है। क्योकि ससार द्वद्वमय है, जहाँ सुख है वहाँ दु ख भी है, अत आत्यतिक (सतत) सुख तो द्वद्वमुक्त होने पर ही मिलता है और उसी को कहते है मोक्ष। (य० उ०)

विस्तृत विवेचन, विशेष चिकित्सा तथा सुगमता आदि के लिये आयुर्वेद को आठ भागो (अष्टाग वैद्यक) मे विभक्त किया गया है

(१) **कायचिकित्सा**—इसमे सामान्य रूप से ओषधिप्रयोग द्वारा चिकित्सा की जाती है। प्रधानत ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ट, प्रमेह, अतिसार आदि रोगो की चिकित्सा इसके अतर्गत आती है। शास्त्रकार ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

कायचिकित्सानाम सर्वांगसंश्रितानाव्याधीनां ज्वररक्तपित्त-
शोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्। (सु०सू०१।३)

(२) **शल्यतंत्र**—विविध प्रकार के शल्यों को निकालने की विधि एवं अग्नि, क्षार, यंत्र, शस्त्र आदि के प्रयोग द्वारा संपादित चिकित्सा को शल्य-चिकित्सा कहते हैं। किसी व्रण में से तृण के हिस्से, लकड़ी के टुकड़े, पत्थर के टुकड़े, धूल, लोहे के खंड, हड्डी, बाल, नाखून, शल्य, अशुद्ध रक्त, पूय, मृतभ्रूण आदि को निकालना तथा यंत्रों एवं शस्त्रों के प्रयोग एवं व्रणों के निदान, तथा उसकी चिकित्सा आदि का समावेश शल्यतंत्र के अंतर्गत किया गया है।

शल्यनाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्ठास्थिवालनखपूया-स्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रण विनिश्चयार्थंच। (सु०सू० १।१)।

(३) **शालाक्यतंत्र**—गले के ऊपर के अंगों की चिकित्सा में बहुधा शलाका सदृश यंत्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होने से इसे शालाक्यतंत्र कहते हैं। इसके अंतर्गत प्रधानतः मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण आदि अंगों में उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा आती है।

शालाक्य नामऊर्ध्वजन्तुगताना श्रवण नयन वदन घ्राणादि संश्रिताना व्याधीनामुपशमनार्थम्। (सु०सू० १।२)।

(४) **कौमारभृत्य**—बच्चों, स्त्रियों विशेषतः गर्भिणी स्त्रियों और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस तंत्र में है।

कौमारभृत्य नाम कुमारभरण धात्रीक्षीरदोष संशोधनार्थं
दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थाना च व्याधीनामुपशमनार्थम्॥ (सु०सू० १।५)।

(५) **अगदतंत्र**—इसमें विभिन्न स्थावर, जंगम और कृत्रिम विषों एवं उनके लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन है।

अगदतंत्र नाम सर्पकीटलतामषिकादिदष्टविष व्यंजनार्थं
विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च॥ (सु० सू० १।६)।

(६) **भूतविद्या**—इसमें देवादि ग्रहों द्वारा उत्पन्न हुए विकारों और उसकी चिकित्सा का वर्णन है।

भूतविद्यानाम देवासुरगंधर्वयक्षरक्ष पितृपिशाचनागग्रहमुपसृष्ट
चेतसाशान्तिकर्म बलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्। (सु०सू० १।४)।

(७) **रसायनतंत्र**—चिरकाल तक वृद्धावस्था के लक्षणों से बचते हुए उत्तम स्वास्थ्य, बल, पौरुष एवं दीर्घायु की प्राप्ति एवं वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न हुए विकारों को दूर करने के उपाय इस तंत्र में वर्णित हैं।

रसायनतंत्र नाम वय स्थापनमायुमेधाबलकर रोगापहरणसमर्थं च।
(सु०सू० १।७)।

(८) **वाजीकरण**—शुक्रधातु की उत्पत्ति, पुष्टता एवं उसमें उत्पन्न दोषों एवं उसके क्षय, वृद्धि आदि कारणों से उत्पन्न लक्षणों की चिकित्सा आदि विषयों के साथ उत्तम स्वस्थ संतानोत्पत्ति संबंधी ज्ञान का वर्णन इसके अंतर्गत आते है।

वाजीकरणतंत्र नाम अल्पदुष्ट क्षीणविशुष्करेतसामाप्यायन
प्रसादोपचय जनननिमित्त प्रहर्ष जननार्थंच। (सु०सू० १।८)।

आयुर्वेद संबंधी शोध—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार का ध्यान आयुर्वेदिक सिद्धांत एवं चिकित्सा संबंधी शोध की ओर आकर्षित हुआ है। फलस्वरूप इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए गए है और एकाधिक शोधपरिषदों एवं संस्थानों की स्थापना की गई है जिनमें से प्रमुख ये है

(अ) **भारतीय चिकित्सापद्धति एवं होम्योपैथी की केंद्रीय अनुसंधान परिषद्** (सेंट्रल काउंसिल फॉर रिसर्च इन इंडियन मेडिसिन ऐंड होम्योपैथी) इस स्वायत्तशासी केंद्रीय अनुसंधान परिषद् की स्थापना का बिल भारत सरकार ने २८ मई, १९६९ को लोकसभा में पारित किया था। इसका मुख्य उद्देश्य आयुर्वेदिक चिकित्सा के सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक पहलुओं के विभिन्न पक्षों पर अनुसंधान के सूत्रपात को निदेशित, प्रोन्नत, संवर्धित तथा विकसित करना है। इस संस्था के प्रधान कार्य एवं उद्देश्य निम्नलिखित है.

१ भारतीय चिकित्सा (आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी, योग एवं होम्योपैथी) पद्धति से संबंधित अनुसंधान को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करना।

२ रोगनिवारक एवं रोगोत्पादक हेतुओं से संबंधित तथ्यों का अनुशीलन एवं तत्संबंधी अनुसंधान में सहयोग प्रदान करना, ज्ञानसंवर्धन एवं प्रायोगिक विधि में वृद्धि करना।

३ भारतीय चिकित्साप्रणाली, होम्योपैथी तथा योग के विभिन्न सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पहलुओं में वैज्ञानिक अनुसंधान का सूत्रपात, संवर्धन एवं सामंजस्य स्थापित करना।

४ केंद्रीय परिषद् के समान उद्देश्य रखनेवाली अन्य संस्थाओं, मंडलियों एवं परिषदों के साथ विशेषकर पूर्वांचल प्रदेशीय व्याधियों और खासकर भारत में उत्पन्न होनेवाली व्याधियों से संबंधित विशिष्ट अध्ययन एवं पर्यवेक्षण संबंधी विचारों का आदान प्रदान करना।

५ केंद्रीय परिषद् एवं आयुर्वेदीय वाङ्मय के उत्कर्ष के निमित्त अनुसंधानपत्रों, विज्ञानपत्रों अथवा पुस्तिका या सावधिक पत्रों आदि का मुद्रण, प्रकाशन एवं प्रदर्शन करना।

६ केंद्रीय परिषद् के उद्देश्यों के उत्कर्ष निमित्त पुरस्कार प्रदान करना तथा छात्रवृत्ति स्वीकृत करना। छात्रों को यात्रा हेतु धनराशि की स्वीकृति देना भी इसमें संमिलित है।

(आ) **केंद्रीय अनुसंधान संस्थान** (सेंट्रल रिसर्च इंस्टिट्यूट) आतुरालयों, प्रयोगशालाओं, आयुर्विज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों एवं प्रायोगिक समस्याओं पर बृहत् रूप से शोध कर रहा है। इसके प्रधान उद्देश्य निम्नलिखित है

१ रोगनिवारण एवं उन्मूलन हेतु अच्छी, सस्ती तथा प्रभावकारी ओषधियों का पता लगाना।

२ विभिन्न केंद्रों (केंद्रीय परिषद् के) में संलग्न कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण संबंधी सुविधाएँ प्रदान करना।

३. विभिन्न व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा 'रोगनिवारण' के दावों का मूल्यांकन करना।

४. आयुर्वेदीयविज्ञान के सिद्धांतों का संवर्धन करना।

५ आधुनिक चिकित्साविज्ञान के दृष्टिकोण से आयुर्वेदीय सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या करना।

६ विभिन्न नैदानिक पहलुओं पर अनुसंधान करना।

उपर्युक्त संस्थान के साथ (१) औषधीय वनस्पति सर्वेक्षण इकाइयाँ (सर्वे आफ मेडिसिनल प्लांट्स यूनिट्स), (२) तथ्यनिष्कासन चल नैदानिक अनुसंधान इकाइयाँ (फैक्ट फाइंडिंग मोबाइल क्लिनिकल रिसर्च यूनिट्स) एवं (३) परिवार नियोजन अनुसंधान इकाइयाँ भी संबंधित की गई है। इसके अतिरिक्त केंद्रीय संस्थान निम्न स्थानों पर कार्य कर रहे है

आयुर्वेद : केंद्रीय अनुसंधान संस्थान, चेरूथुरुथी।
केंद्रीय अनुसंधान संस्थान, पटियाला।
सिद्ध : केंद्रीय अनुसंधान संस्थान, मद्रास।
यूनानी : केंद्रीय अनुसंधान संस्थान, हैदराबाद।
होम्योपैथी केंद्रीय अनुसंधान संस्थान, कलकत्ता।

(इ) **क्षेत्रीय अनुसंधान संस्थान** (रीजनल रिसर्च इंस्टिट्यूट) इस संस्थान का कार्य भी प्रायः केंद्रीय अनुसंधान संस्थान के समान ही है। ऐसे संस्थानों के साथ २५ शय्यावाले आतुरालय भी संबद्ध है। भुवनेश्वर, जयपुर, योगेंद्रनगर तथा कलकत्ता में क्षेत्रीय अनुसंधान केंद्र स्थापित किए गए है। इन संस्थानों के साथ भी (१) औषधीय वनस्पति सर्वेक्षण इकाइयाँ, (२) तथ्यनिष्कासन चल नैदानिक अनुसंधान इकाइयाँ तथा (३) नैदानिक अनुसंधान इकाइयाँ संबद्ध है।

औषधीय वनस्पति सर्वेक्षण इकाई के उद्देश्य निम्नलिखित है

१ आयुर्वेदीय वनस्पतियों के (जिनका विभिन्न आयुर्वेदीय संहिताओं में उल्लेख है) क्षेत्र का विस्तार एवं परिमाण का अनुमान।

२ विभिन्न ओषधियों का संग्रह करना।

३ विभिन्न इकाइयों (अनुसंधान) में जाँच हेतु हरे पौधों, बीज एवं अन्य ओषधियों में प्रयुक्त होनेवाले भाग का प्रचुर परिमाण में संग्रह करना आदि।

४ इसके अतिरिक्त आयुर्वेदिक औषधि उद्योग में प्रयुक्त होनेवाले द्रव्य, अन्य सुदर तथा आकर्षक पौधे, विभिन्न जगली द्रव्यों एव अलभ्य पौधो और द्रव्यों के सबध मे छानबीन करना।

(ई) मिश्रित भेषज अनुसधान योजना (कपोजिट ड्रग रिसर्च स्कीम) इस योजना के अतर्गत कुछ आधुनिक प्रयाग मे आई नवीन औषधियों का अध्ययन प्राथमिक रूप मे किया जा रहा है। विभिन्न दृष्टिकोणो को लेकर अर्थात् नैदानिक, क्रियाशीलता सबधी, रासायनिक तथा सघटनात्मक अध्ययन इसके क्षेत्र मे समिलित किए गए है।

(उ) वाङमय अनुसधान इकाई (लिटरेरी रिसर्च यूनिट) आयुर्वेद के बिखरे एव नष्टप्राय वाङमय को विभिन्न निजी एव सार्वजनिक पुस्तकालयों के सर्वेक्षण द्वारा सकलित करना इस इकाई का काम है। प्राचीन काल मे तालपत्र, भोजपत्र आदि पर लिखे आयुर्वेद के अमूल्य रत्नो का सकलन एव सवर्धन भी इसके प्रमुख उद्देश्यो मे से एक है।

(ऊ) चिकित्साशास्त्र के इतिहास का संस्थान (इस्टिट्यूट ऑव हिस्टरी ऑव मेडिसिन) यह सस्थान हैदराबाद मे स्थित है। इसका मुख्य उद्देश्य युगानुरूप आयुर्वेद के इतिहास का प्रारूप तैयार करना है। प्रागैतिहासिक युग से आधुनिक युग पर्यंत आयुर्वेद की प्रगति एव ह्रास का अध्ययन ही इसका कार्य है।

सधानीय शल्य विज्ञान आयुर्वेद मे सधानीय शल्य विज्ञान का विकास चरम सीमा पर था। सुश्रुत सहिता मे सधानक शल्यक्रिया के प्रधानत दो पक्ष वर्णित है। प्रथम पक्ष को सधानकर्म एव द्वितीय को वैकृतापहृम की सज्ञा दी गई है।

१ **सधान कर्म** पुनर्निर्माण सबधी शल्यक्रिया है और सधानक शल्यविज्ञान का आधारस्तभ भी। इसके अतर्गत (क) कर्णसधान, (ख) नासासधान तथा (ग) ओष्ठसधान इत्यादि शल्यक्रियाओ का समावेश किया गया है।

२ **वैकृतापहृम** मे व्रणरोपण मे प्राकृतिक लावण्य पर्यंत अनेक अवस्थाओ का समावेश किया गया है। वैकृतापहृम क्रिया का मुख्य उद्देश्य व्रणवस्तु (व्रणचिह्नों) को यथासभव प्राकृतिक अवस्था (आकार, रूप, प्रकृति) मे लाना है जिनमे निम्नाकित आठ प्रधान कर्म सपादित किए जाते हैं :

(अ) **उत्सादन कर्म**—नीचे दबी हुई व्रणवस्तु को ऊपर उठाना।
(आ) **अवसादनकर्म**—ऊपर उठी हुई व्रणवस्तु को नीचे लाना।
(इ) **मृदुकर्म**—कठिन व्रणवस्तु को मृदु करना।
(ई) **दारुणकर्म**—मृदु व्रणवस्तु को कठिन करना।
(उ) **कृष्णकर्म**—वर्णरहित व्रणवस्तु को वर्ण प्रदान करना।
(ऊ) **पाडुकर्म**—अतिरजित व्रणवस्तु को न्यूनवर्ण अथवा वर्णविहीन करना।

(ए) **रोमसजनन**—व्रणवस्तु के ऊपर पुन प्राकृतिक रोम उत्पन्न करना।

(ऐ) **लोमापहरण**—व्रणवस्तु के ऊपर उत्पन्न अत्यधिक बालो को नष्ट करना। (वि० न० प्र०)

आयुस् चद्रवशी सम्राटो मे पुरूरवा के पुत्र। उनकी माता का नाम उर्वशी था। पुरूरवा और उर्वशी की कहानी शतपथ ब्राह्मण मे दी हुई है। उनके सयोग से आयुस् का जन्म हुआ। आयुस् की वशपरपरा को आगे ले चलनेवाले राजा नहुष छात्रवृद्ध थे। (च० म०)

आयुथिया (अयोध्या) १३५० ई० से १७६७ ई० तक स्याम की राजधानी था। यह मिनाम चो फिया और लोपबरी नदियों के सगम पर एक द्वीप मे बैंकाक से ८२ मील की दूरी पर स्थित है। परतु इस समय यहाँ के अधिकाश मनुष्य इस द्वीप के समीप मिनाम चो फिया नदी के किनारे रेलमार्ग के समीप निवास करते हैं। इस नगर का विध्वंस १५५५ मे और फिर १७६७ ई० मे बर्मी सेनाओ द्वारा हुआ था। १७६७ ई० के आक्रमण मे बहुमूल्य ऐतिहासिक लेख, निवासस्थान और राजभवन नष्ट हो गए। राजभवन के अवशेषो को वर्तमान राजधानी बैंकाक के भवनो के निर्माण मे लगाया गया।

आयुथिया विश्व के एक महत्वपूर्ण चावल निर्यातक क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यहाँ ५० इच वार्षिक वर्षा होती है, जो चावल की उपज के लिये पूर्णत अनुकूल है। आयुथिया का 'चगवत' (प्रात) स्याम के कुल ७१ चगवतो मे चावल के उत्पादन मे प्रथम है। यहाँ का मत्स्य उद्योग भी महत्वपूर्ण है। यहाँ स्थित सैकडो नहरें यातायात के मुख्य साधन हैं। बहुत से निवासी नौकाओ पर वास करते है। शीघ्रगामिनी मोटर नौकाएँ मिनाम नदी द्वारा इस नगर का सबध बैंकाक और अन्य नगरो से स्थापित करती है। आयुथिया चावल और सागोन (टीक) की लकडी का व्यापारिक केंद्र है। (रा० ना० मा०)

आयोडीन रसायनशास्त्र मे एक तत्व है। इसके रवे चमकदार तथा गाढे नीले काले रग के होते है और वाष्प बैंगनी होता है। इस नए तत्व का अन्वेषण बर्नार्ड कूर्ट्वा ने किया और जे० एल० गे लुसक ने इसके गुणो के अध्ययन से (१८१३) इसमे तथा क्लोरीन मे समानता तथा इसकी तात्विक प्रकृति को स्पष्ट किया। इसके बैंगनी रग के कारण उसने इसका नाम आयोडीन रखा। हफ्री डेवी ने इसके गुणो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

आयोडीन यौगिक रूप मे बहुत सी वस्तुओ मे पाया जाता है। इनमे इसका अनुपात साधारणतया कम होता है। समुद्री जल, वनस्पतियों तथा जीवो मे इसके यौगिक मिलते है। कई खनिज पदार्थों में, कुछ झरनो के जल तथा वायु मे भी आयोडीन का पता लगा है। चिली देश के अशुद्ध शोरे मे इसकी मात्रा कुछ अधिक होती है और व्यापारिक स्तर पर इसका उपयोग होता है। मनुष्य के शरीर के कई भागो मे भी आयोडीन कार्बनिक यौगिक के रूप मे मिलता है, विशेषकर थाइरायड, लिवर, त्वचा, केश आदि मे। मछली के तेल मे भी आयोडीन रहता है। पेट्रोलियम के कुओ के नमकीन घोल मे भी आयोडीन मिलता है।

आयोडाइडो से किसी भी दूसरा हैलोजन द्वारा आयोडीन प्राप्त किया जा सकता है। परतु हैलोजन की मात्रा अधिक होने पर स्वय आयोडीन का उस हैलोजन से यौगिक बनता है। पोटैसियम आयोडाइड से क्लोरीन गैस आयोडीन देती है, परतु आयोडाइड से आयोडीन प्राप्त करने के लिये साधारणतया मैंगनीज डाईआक्साइड तथा गधक के अम्ल का ही अधिक प्रयोग होता है। गधक अथवा शोरे के सांद्र अम्ल या विविध आक्सीकारक वस्तुएँ भी इसी प्रकार काम मे लाई जा सकती है। प्राप्त आयोडीन का बैंगनी वाष्प ठढी सतह पर चमकदार काले रवो मे जम जाता है।

समुद्री पौधो से पर्याप्त आयोडीन निम्नलिखित विधि द्वारा प्राप्त होता है पवन से ये तृण किनारे पर आ जाते है, जिन्हे इकट्ठा कर और सुखाकर जला लिया जाता है। राख से, जिसे केल्प कहते है, आयोडीन तथा पोटैसियम प्राप्त होते है। राख को गरम पानी मे घोलकर अघुलनशील वस्तुएँ छान ली जाती है। फिर घोल को गरम कर गाढा बना लेने पर घुले हुए बहुत से लवण रवा बनाने के लिये रख दिए जाते है। मातृद्रव रवो से अलग कर फिर गाढा किया जाता है, जिससे अन्य घुले हुए लवण रवो के रूप मे अलग किए जा सकते है। इस क्रिया को कई बार करने से गाढे घोल मे आयोडीन का अनुपात बहुत बढ जाता है। घोल से पाली-सल्फाइड तथा थायोसल्फेट गधक के अम्ल की क्रिया द्वारा हटा लिए जाते हैं। देर तक रख देने पर अघुलनशील वस्तुएँ नीचे बैठ जाती है तथा गाढे घोल से क्लोरीन की क्रिया द्वारा आयोडीन प्राप्त होता है। मैंगनीज डाईआक्साइड तथा गधक का अम्ल, फेरिक क्लोराइड, नाइट्रिक अम्ल इत्यादि आक्सीकारक की क्रिया से भी गाढे द्रव से आयोडीन मिलता है अथवा तूतिया के प्रयोग से कापर आयोडाइड बनाकर उससे फिर आयोडीन प्राप्त किया जाता है।

चिली देश के शोरे मे सोडियम नाइट्रेट अलग करने पर मातृद्रव मे कुछ सोडियम के नाइट्रेट, क्लोराइड, सल्फेट तथा आयोडेट और मैग्नीशियम सल्फेट बचा रहता है। द्रव मे सोडियम बाइसल्फेट की क्रिया से आयोडीन मिलता है जिसे पानी से साफ कर सुखा लिया जाता है।

आयोडीन को शुद्ध करने के लिये रवो को गरम कर, वाष्प को ठढी सतह पर जमा लिया जाता है। इस प्रकार के ऊर्ध्वपातन (सब्लिमेशन) की क्रिया मे सूखे आयोडीन के साथ पोटैशियम आयोडाइड के चूर्ण के उपयोग से बहुत शुद्ध आयोडीन प्राप्त होता है। इस मिश्रण से प्राप्त शुद्ध आयोडीन आगे कैल्सियम क्लोराइड की सहायता से सुखाया जा सकता है।

आयोडीन के रवो मे धातु सी चमक होती है। यद्यपि साधारण तापक्रम पर इसका वाष्पदाब कम है, तो भी अपनी विशेष गध तथा रग से यह सरलता से पहचाना जा सकता है। आयोडीन का घनत्व ४.९४ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर (२०° से० पर) है। आयोडीन का द्रवणाक ११३.७° से० तथा क्वथनाक १८४.३५° से० है। ७००° से० से ऊपर गरम करने पर वाष्प का घनत्व घटता है और १७००° से० पर आधा रह जाता है।

आयोडीन का विघटन $आ_2 \rightleftarrows 2आ$ तापक्रम पर निर्भर है, कम तापक्रम पर $आ_2$ तथा अधिक पर आ रहता है। वाष्पदाब ताप के साथ बढता है

वाष्पदाब	१	१०	४०	१००	४००	७६० मिलीमीटर
ताप	३८७	७३२	९७५	११६५	१५९८	१८३ डिग्री से०

आयोडीन पानी मे कम घुलनशील है तथा घोल का रग हल्का पीला या भूरा होता है। १०० घन सेंटीमीटर ठढे पानी मे ०.०२९ ग्राम आयोडीन घुलता है। सतृप्त घोल मे आयोडीन की मात्रा, पानी मे कुछ लवण अथवा अम्ल के रहने पर, बहुत निर्भर है। सोडियम और पोटैशियम के सल्फेट या नाइट्रेट के उपस्थित रहने से यह घटती है, परतु इन्ही के क्लोराइड, ब्रोमाइड या आयोडाइड की उपस्थिति से बढ जाती है। अत ओषधियो के निमित्त आयोडीन का घोल बनाने के लिये पोटैशियम आयोडाइड का उपयोग होता है। फास्फोरिक, ऐसीटिक तथा टैनिक अम्लो मे आयोडीन घुलनशील है। गधक के अम्ल मे आयोडीन के घोल का रग पानी की मात्रा पर निर्भर है। कुछ लवणो मे (जैसे आरसेनिक क्लोराइड) तथा दूसरी वस्तुओ मे (जैसे द्रव सल्फर डाई आक्साइड या ट्राई आक्साइड, कार्बन डाईआक्साइड और अमोनिया मे) भी आयोडीन घुल जाता है। कार्बन डाईसल्फाइड, कार्बन टेट्राक्लोराइड, बेंजीन, टॉलूईन, मिट्टी के तेल इत्यादि कार्बनिक द्रवो मे आयोडीन की बडी मात्रा घुल जाती है। इन घोलो का रग घोलक की प्रकृति पर निर्भर है। साधारणतया इनका रंग नीला, बैगनी अथवा भूरा होता है। कुछ ठोस पदार्थ (जैसे कार्बन) आयोडीन सोख लेते है।

आयोडीन के रासायनिक गुण फ्लोरीन, क्लोरीन तथा ब्रोमीन के गुणो से मिलते है। हैलोजन के इस समूह मे आयोडीन सबसे भारी है तथा अन्य हैलोजन से भी इसके यौगिक बनते है, जैसे आ क्लो, $आ क्लो_3$ तथा आ ब्रो। हाइड्रोजन के साथ गरम करने पर तथा आक्सिजन के साथ मूक (साइलेंट) विद्युद्विसर्जन होने पर आयोडीन क्रिया करता है। कुछ धातुओ से भी आयोडीन सयुक्त होता है, यथा सोने के साथ गरम करने पर, पारे से साधारण ताप पर सरलता से और पोटैशियम से धडाके के साथ क्रिया होती है, जिसमे धातु का आयोडाइड बनता है। आयोडीन का ऐलकोहल मे घोल अमोनिया से क्रिया करता है, जिसमे प्रतिस्थापन-उत्पाद-पदार्थ (सब्स्टिटयूशन प्रॉडक्ट) और नाइट्रोजन आयोडाइड बनते हैं। नाइट्रिक अम्ल के साथ उबालने पर नाइट्रोजन पराँक्साइड प्राप्त होता है। ऐटीमनी तथा फास्फोरस से भी आयोडीन क्रिया करता है।

कुछ लवण भी आयोडीन से क्रिया करते है। सिल्वर नाइट्रेट मे सिल्वर आयोडाइड मिलता है। पोटैशियम आयोडाइड के घोल मे आयोडीन से पोटैशियम पॉलीआयोडाइड बनता है। सोडियम थायो-सल्फेट की क्रिया से आयोडीन, आयोडाइड बनाता है, जिससे आयोडीन के घोल का रग समाप्त हो जाता है। यह क्रिया घोल मे स्वतत्र आयोडीन की मात्रा ज्ञात करने के लिये उपयोगी है। स्टार्च के साथ आयोडीन नीले रग की वस्तु देता है। अत आयोडीन अल्प मात्रा मे रहने पर भी स्टार्च सकेतक द्वारा पहचाना जा सकता है।

आयोडीन विविध रूपो मे दवाओ मे, विशेष कर बाह्य उपयोग के लिये प्रतिदोषरोधी (ऐंटीसेप्टिक) के रूप मे प्रयुक्त होता है, जैसे टिक्चर आयोडीन; लिकर आयोडाइड, आयोडाइज्ड रूई, शराब या पानी, आयडोफार्म, एथिल आयोडाइड, आयोडाल आदि। फोटोग्राफी मे तथा विविध प्रकार के रग बनाने मे भी इसका उपयोग होता है।

स०ग्र०—जे० डब्ल्यू० मेलर ए काम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० आर० पार्टिंगटन ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री, चार्ल्स डी० हॉजमैन हैंडबुक ऑव केमिस्ट्री ऐंड फिजिक्स। (वि० वा० प्र०)

आयोडोफार्म एक रासायनिक यौगिक है, इसके चमकदार पीले पत्राकार रवे (क्रिस्टल) होते हे। इसमे विचित्र गध होती है। यह पानी मे कम घुलता हे लेकिन ऐल्कोहल और ईथर मे घुल जाता है। ऐल्कोहल या एसीटोन मे थोडा सा आयोडीन और क्षार डालकर यह बनाया जा सकता है। इसका रासायनिक सूत्र CHI_3 है। आयोडोफार्म का उपयोग चिकित्सा मे कीटाणुनाशक गुणो के कारण घाव पर लगाने मे होता था। लेकिन इसमे दुर्गंध होने के कारण अब इसके स्थान पर अन्य ओषधियो का प्रयोग होने लगा है। (नि० सि०)

आरभवाद कार्य सबधी न्यायशास्त्र का सिद्धात। कारणो से कार्य की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के पहले कार्य नहीं होता। यदि कार्य उत्पत्ति के पहले रहता तो उत्पादन की आवश्यकता ही न होती। इसी सार्वजनीन अनुभव के आधार पर न्यायशास्त्र मे उत्पन्न कार्य को उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है। बहुत से कारण (कारणसामग्री) एकत्र होकर किसी पहले के असत कार्य का निर्माण आरभ करते है। इसी असत् कार्य के निर्माण के सिद्धात को आरभवाद कहा जाता है। इस सिद्धात के विपरीत सत्कार्यवादी दर्शन मे चूकि कार्य उत्पत्ति के पहले सत् माना गया है, वहाँ कार्य का नए सिरे से आरभ नहीं माना जाता। केवल दिए हुए कार्य को स्पष्ट कर देना ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि साख्य, वेदात आदि दर्शनो मे आरभवाद का विरोध किया गया है और परिणामवाद या विवर्तवाद की स्थापना की गई है। असत्कार्यवादी न्यायदर्शन का उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना हास्यास्पद लगता है। यदि तेल पहले से विद्यमान है तो तिल को पेरने का कोई प्रयोजन नहीं। यदि तिल को पेरा जाता है तो सिद्ध है कि तेल पहले नहीं था। यदि मान भी लिया जाय कि तिल मे तेल छिपा था, पेरने से प्रकट हो गया तो भी आरभवाद की ही पुष्टि होती है। उपभोग योग्य तेल पहले नहीं था और पेरने के बाद ही उस तेल की उत्पत्ति हुई। अत न्याय के अनुसार कार्य सर्वदा अपने कारणो से नवीन होता है। (रा० पा०)

आरजू, अनवर हुसेन आरज़ू का खानदान हिरात से हिदुस्तान आया और अजमेर मे रहा। अजमेर से ये लोग लखनऊ गए और वहाँ १८७५ मे आरजू का जन्म हुआ। यहीं शिक्षा प्राप्त की और १२ साल की अवस्था मे काव्यरचना करने लगे। ये प्राय गजले लिखते थे लेकिन नज्मे, रुबाइयाँ मसनवियाँ इत्यादि भी लिखी। आरजू साहब सिर्फ शेर ही नहीं कहते थे बल्कि वे सफल नाटयकार भी थे। आपने 'मतवाली जोगन', 'दिलजली बैरागन', 'शरारए हुस्न' नाटक लिखे। आप पहले उर्दू शायर है जिन्होने फिल्म के वास्ते 'सिनरियो' और गाने इत्यादि लिखे। न्यू थिएटर्स (कलकत्ता) के साथ आपने काम किया। फिर बबई चले गए और वहाँ बहुत सी फिल्मो मे गाने और सवाद लिखे।

आपकी सर्वप्रियता का सबसे बडा कारण यह है कि गजलो मे भी आप बहुत कम फारसी और अरबी शब्दो का प्रयोग करते थे। आपके दो सग्रह है, 'जहाने आरज़ू' और 'फुगाने आरज़ू', और एक सग्रह है 'सुरीली-बाँसुरी' जिसमे आपके खालिस बोलचाल की भाषा मे लिखे हुए शेर है। मरने के कुछ समय पूर्व आप कराची चले गए थे जहाँ १९५१ मे आपका देहात हुआ। (र० स० ज०)

आरण्यक वेद का एक प्रधान व्याख्यात्मक गद्य भाग। वेद मत्र तथा ब्राह्मण का सम्मिलित अभिधान है। मत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (आपस्तबसूत्र)। ब्राह्मण के तीन भागो मे आरण्यक अन्यतम भाग है। सायण के अनुसार इस नामकरण का कारण यह है कि इन ग्रथो का

आरमेइक लिपि का प्रयोग सीरिया, फिलस्तीन, मिस्र, अरबिस्तान आदि स्थानों पर होता था। आरमेइक भाषा इसी आरमेइक लिपि में लिखी जाती थी।

आरमेइक के प्राचीनतम अभिलेख जर्जीन एवं जेनजीरली में प्राप्त कलमू अथवा किलामुवा के अभिलेख हैं जो ई० पू० नवीं–आठवीं शताब्दी के हैं। आरमेइक लिपि के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का पता बाररेकब (ई० पू० आठवीं शताब्दी), तेइमा (ई० पू० पाँचवीं–चौथी शताब्दी), मिस्र अथवा ईजिप्ट (ई० पू० पाँचवीं–तीसरी शताब्दी), एवं पाप्यरी (ई० पू० पाँचवीं शताब्दी) के अभिलेखों से मिलता है। (द्र० आरमेइक लिपि संबंधी चित्र)।

ई० पू० तीसरी शताब्दी तक आरमेइक लिपि का निरंतर प्रयोग होता रहा। इसके पश्चात् यह लिपि विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गई। कालांतर में इस लिपि से अनेक लिपियों का विकास हुआ जिनमें से मुख्य हैं बाद का हिब्रू (द्र०), पतलवी (द्र०), पालमेरेन (द्र०), सीरिअक (द्र०), अरबी (द्र०), आर्मेनियन (द्र०) आदि।

सं०ग्रं०—हंस जेनसेन : साइन, सिंबल ऐंड स्क्रिप्ट।

(स० कु० रो०)

आरांथा पेद्रो पाबलो आबार्का थ बोलिया (१७१६-९८), काउंट, स्पैनिश सेनापति और मंत्री। अरागान के अंतर्गत ह्युएस्का के समीप ऐत्ता दो किले में १ अगस्त, १७१९ को पैदा हुआ। जीवन का पहला भाग यात्रा, सेना और राजनीति में बीता। इसने स्पेनी सेना में प्रशियाई प्रणाली की कवायद चलाई। सैनिक ठेकेदारों को दंड न देने पर रुष्ट होकर इसने डाइरेक्टर जनरल के पद से इस्तीफा दे दिया लेकिन चार्ल्स तृतीय का कृपापात्र बना रहा। कास्तिल कौंसिल का अध्यक्ष बनाया गया। यहाँ इसने अनेक सुधार किए।

यह अनथक परिश्रमी और लोकप्रिय, किंतु साथ ही अभिमानी और असहिष्णु भी था। फाकलैंड द्वीप के मामले में स्पेन का नीचा देखना पड़ा और इस अपमान के लिये यही जिम्मेदार ठहराया गया। अत: राजदूत बनाकर पैरिस भेजा गया जहाँ १७७७ तक रहा। चार्ल्स चतुर्थ के समय १७९२ में अल्प काल के लिये प्रधान मंत्री बना। इसका स्वभाव बहुत उग्र हो गया था। क्रोध अनियंत्रित था। राजा तक से मजाक करता था, फलत: कैद किया गया। ९ जनवरी, १७९८ को इसका स्वर्गवास हो गया।

(अ० कु० वि०)

आरा भारत के बिहार प्रांत के शाहाबाद (भोजपुर) जिले का प्रमुख नगर तथा व्यापारिक केंद्र है। (स्थिति : २५° ३४' उ० अ० और ८४° ४०' पू० दे०)। यह नगर वाराणसी से १३६ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व, पटना से ३७ मील पश्चिम, गंगा नदी से १४ मील दक्षिण और सोन नदी से आठ मील पश्चिम में स्थित है। यह पूर्वी रेलवे की प्रधान शाखा तथा आरा-सासाराम रेलवे लाइन का जंकशन है। डिहरी से निकलनेवाली सोन की पूर्वी नहर की प्रमुख 'आरा नहर' शाखा भी यहीं से होकर जाती है।

आरा अति प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। इसकी प्राचीनता का संबंध महाभारतकाल से है। पांडवों ने भी अपना गुप्त वासकाल यहाँ बिताया था। जेनरल कनिंघम के अनुसार युवानच्वाग द्वारा उल्लिखित कहानी का संबंध, जिसमें अशोक ने दानवों के बौद्ध होने के संस्मरणस्वरूप एक बौद्ध स्तूप खड़ा किया था, इसी स्थान से है। आरा के पास के मसार ग्राम में प्राप्त जैन अभिलेखों में उल्लिखित 'आरामनगर' नाम भी इसी नगर के लिये आया है। पुराणों में लिखित मोरध्वज की कथा से भी इस नगर का संबंध बताया जाता है। बुकानन ने इस नगर के नामकरण में भौगोलिक कारण बताते हुए कहा कि गंगा के दक्षिण ऊँचे स्थान पर स्थित होने के कारण, अर्थात् आड या अरार में होने के कारण, इसका नाम 'आरा' पड़ा। १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतंत्रतायुद्ध के प्रमुख सेनानी कुँवरसिंह की कार्यस्थली होने का गौरव भी इस नगर को प्राप्त है।

गंगा और सोन की उपजाऊ घाटी में स्थित होने के कारण यह अनाज का प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र तथा वितरणकेंद्र है। यहाँ दो स्नातक विद्यालय (डिगरी कालेज) हैं। रेलों और पक्की सड़कों द्वारा यह पटना, वाराणसी, सासाराम आदि से संबद्ध है।

नगर षड्भुजाकार है और इसका क्षेत्रफल छह वर्ग मील है। नगर के आकार पर धरातल का प्रभाव अधिक है। बहुधा सोन नदी की बाढ़ों से अधिकांश नगर क्षतिग्रस्त हो जाता है। सन् १९५३ में इसकी जनसंख्या ५३,१२२ थी। प्रशासनिक केंद्र होने के कारण यहाँ की अधिकांश जनसंख्या वकालत, डाक्टरी, नौकरी एवं प्राशासनिक कार्यों में लगी है। २२.२ प्रति शत लोग व्यापार से तथा २४.३ प्रति शत कृषि से जीविकोपार्जन करते हैं। उद्योग धंधे में लगे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है।

(नृ० कु० सिं०)

आराकान योमा भारत तथा बर्मा की सीमा निर्धारित करनेवाली एक पर्वतश्रेणी जो आसाम की 'लुशाई' पहाड़ियों के दक्षिण तथा पूर्वी पाकिस्तान के चटगाँव नामक पहाड़ी क्षेत्र के पूर्व में स्थित है। इसका विक्टोरिया नामक सर्वोच्च शिखर १०,०१८ फुट ऊँचा है।

(न० कि० प्र० सिं०)

आरारत १ आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य का एक नगर है। स्थिति (३७° १५' द० अ०, १४३° ०' पू० दे०)। यह पश्चिमी 'विक्टोरियन हाइलैंड्स' के पश्चिमी भाग में १,०३० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। जनसंख्या १९६६ ई० में ८,२३३ थी। यह सोने की खानों के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ वर्षा २४ इंच के लगभग होती है। इस क्षेत्र की मुख्य उपज गेहूँ तथा अंगूर है। भेड़ों की चराई भी की जाती है।

(न० कि० प्र० सिं०)

आरारत २ पूर्वी तुर्की के आर्मीनिया पठार के एक पर्वत का भी नाम है। यह पर्वत ज्वालामुखी चट्टान (ऐंडीसाइट) द्वारा बना है तथा इसके दो शिखर हैं—बड़ा 'आरारत' (१६,९१६ फुट ऊँचा) तथा छोटा 'आरारत' (१२,८४० फुट ऊँचा)। यहाँ १४,००० फुट के ऊपर अनेक छोटी हिमनदियाँ मिलती हैं। परंपरागत किंवदंती के अनुसार यह "नूह की नौका" का विश्रामस्थान था। सन् १८२९ ई० में पहली बार इस पर्वत पर आरोहण कर विजय प्राप्त की गई थी।

(न० कि० प्र० सिं०)

आरास आर्मीनिया की एक नदी है जो अरजेरुम के दक्षिण, फरात (यूफ्रेटीज) के उद्गम स्थान के समीप बिज्यूलदाग पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर लगभग ६३५ मील प्रवाहित हो स्वतंत्र रूप से कैस्पियन सागर में गिरती है। सन् १८९७ ई० के पहले यह कुरा नदी की सहायक थी। तीव्रगामी होने के कारण यह नदी नाव चलाने योग्य नहीं है, किंतु सूखे क्षेत्रों के बीच बहने के कारण इससे सिंचाई होती है।

(न० कि० प्र० सिं०)

आरिओस्तो, लूदोविको (१४७४-१५३३) पुनर्जागरणकाल के प्रसिद्ध इतालीय वीरकाव्य ऑरलांदो फूरिओसो के रचयिता लूदोविको आरिओस्तो का जन्म १४७४ में रेज्जो एमीलिया में एक संभ्रांत परिवार में हुआ। विद्यार्थी जीवन में साहित्य में उनकी बड़ी रुचि थी, किंतु पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हें अपने छोटे भाई बहनों की देखरेख तथा संपत्ति सँभालने का भार लेना पड़ा और आर्थिक आवश्यकता के कारण नौकरी करनी पड़ी। वह कार्डिनल इप्पोलीतो द एस्ते के यहाँ १५०३ में पहुँचे और १५ वर्ष तक उनके साथ कार्य किया। इसी कार्यालय में आरिओस्तो पोप जूलियो द्वितीय और लेओने १०वें के यहाँ कार्डिनल के राजदूत होकर गए। हंगरी में कार्डिनल इप्पोलीतो के साथ जाना उन्होंने स्वीकार नहीं किया और सन् १५१७ में उनकी नौकरी छूट गई। इसके बाद ड्यूक आल्फोंसो के यहाँ नौकरी की जिन्होंने आरिओस्तो को १५२२ में गार्फान्याना (तोस्काना) में अपना राजदूत बनाकर भेजा। आरिओस्तो को यह कार्य भी पसंद नहीं था, वह स्वतंत्र रहकर अध्ययन करना चाहते थे। उन्होंने योग्यतापूर्वक कार्य किया, किंतु उनके कार्य की उचित सराहना नहीं की गई और १५२५ में वह फेरारा लौट आए। यहाँ उन्होंने एक छोटा घर और खेत खरीदा और शांतिपूर्वक अपना जीवन यहीं बिताया, अपनी कृतियों की रचना की और यहीं १५३३ में स्वर्गवासी हुए।

आरिओस्तो ने प्रारंभ में कुछ कविताएँ लातीनी में तथा कुछ लातीनी अपभ्रंश में लिखी। इसके अतिरिक्त सात व्यंगकविताएँ तथा पाँच कमेडियाँ (सुखांत नाट्यकृतियाँ) लिखी। पहले पहल इतालीय साहित्य में इस प्रकार की नाट्यकृतियाँ लिखने का श्रेय आरिओस्तो को ही है। आरिओस्तो की सर्वश्रेष्ठ कृति है 'ओर्लादो फूरिओसो'। पुनर्जागरणकाल की विशेषताओं से युक्त इतालीय साहित्य की यह सर्वोत्तम काव्यकृतियों में से एक है। इस कृति को लिखने की प्रेरणा आरिओस्तो को बोइआर्दो की असमाप्त कृति ओर्लादो इन्नामोरातो से मिली। जहाँ बोइआर्दो की कथा रह गई थी, वहीं से आरिओस्तो ने अपनी कृति आरंभ की है। कथा का निर्वाह, पात्रों का चित्रण, रस का परिपाक, सभी दृष्टियों से यह बहुत सफल रचना है। आजेलिका के लिये ओर्लादो का प्रेम, पेरिस के निकट ईसाइयों तथा सारासेनों में युद्ध और रुज्जेरो तथा ब्रादामाते का प्रेम इस कृति की प्रधान कथाएँ हैं। पहली घटना का अच्छा विस्तार किया गया है और उत्कर्ष पर कथा वहाँ पहुँचती है जहाँ ओर्लादो प्रेम में पागल हो जाता है। इन तीन प्रधान घटनाओं से संबधित कृति में और भी छोटी मोटी घटनाएँ कवि ने ग्रथित की हैं। कृति की वस्तु पुरानी कथाओं, प्राचीन काव्यकृतियों तथा लोककथाओं से ली गई है। कृति के प्रधान भाव प्रेम, सौंदर्य और शृंगारपरक उत्साह है। कवि के जीवनकाल में ही यह कृति लोकप्रिय हो गई थी। फ्रांसीसी में इसका अनुवाद गद्य में १५४३ तथा पद्य में १५५५ में हो गया था, अंग्रेजी में १५६१ में और स्पैनिश में १५४९ में हुआ। कृति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई और वह चित्रों से सज्जित की गई। १६वीं सदी में पूरे यूरोप में ओरलादो फूरिओसो प्रसिद्ध हो गया था। दांते की कमेडी के पश्चात् ओरलादो की कृति कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रिय रही है।

सं०ग्रं०—जू कार्दूच्ची : ला जोवेंतू दी लु० आ० ए० ला० पोइसिया लातीना ओपेरे ग्रथावली, भाग १५, लीरिका सपादक जू० फातीनी, बारी, १९२४, लेरीमे सपा० जू० फातीनी, तूरिन, १९३४, सतीरे. सपा० जू तबारा, सीबोरनो, १९०३, कमेदिए सपा० एम० कातालानो, बोलोन, १९३३ तथा १९४०, ओरलादो फूरिओसो, सपा० देबेनेदेत्ती, बारी, १९२८, कोमे लावोराबा लु० आ० जी० कोतीनी, फ्लोरेंस, १९३६, आ० पर इतालीय में अनेक ग्रंथ हैं : जू० पेत्रोनियो, नेपल्स १९३४, ना० सापग्नो, मिलान, १९४०, बिन्नी, फ्लोरेस, १९४२, फ्राचेस्को दे सांक्तीस, स्तोरियाद, लेत्तेरात्तूरा, अध्याय १३ इत्यादि। (रा० सि० तो०)

आरियन (एरियन, फ्लावियस आरियानस), बिथीनिया में निकोमेदिया का ग्रीक निवासी। जन्म ल० ९६ ई० में, मृत्यु ल० १८० ई० में। इतिहासकार और दार्शनिक जो हाद्रियन, आंतोनियस पियस और मार्कस ओरेलियस नामक रोमन सम्राटों का समकालीन था। सम्राट् हाद्रियन उसका बड़ा आदर करता था और उसने उसे कप्पादोशिया का शासक बना दिया। इतना उच्च पद तब तक किसी ग्रीक को न मिला था। उसने अधिकतर लेखनकार्य शासन से अवकाश प्राप्त करने पर किया। वह एपिक्तेतस का शिष्य और मित्र रहा था। उसके दर्शन के संबंध में उसने अनेक विचारात्मक निबंध लिखे। पर अधिक विख्यात आरियन इतिहासकार के रूप में है। उसके ऐतिहासिक वृत्तांत पर्याप्त प्रामाणिक है। इतिहास तो उसने अनेक लिखे पर सिकदर सबधी सबसे अधिक विख्यात है। सिकदर के राज्यारोहण से लेकर उसकी मृत्यु तक की सभी घटनाएँ उसमें अंकित है जिन्हें उसने तोलेमी आदि सिकदर के सेनापतियों की आँखों देखी घटनाओं के आधार पर लिखा। अतः यह वृत्तांत सिकदर का समकालीन होने से प्रामाणिक हो जाता है। उसमें सिकदर की पजाब विजय पर भी प्रभूत प्रकाश पड़ता है। आरियन ने भारत के संबंध में एक और ग्रंथ भी लिखा—'इंदिका', जिसमें सिकदरकालीन भारतीय इतिहासादि के संबंध में सामग्री भरी पड़ी है। भारत के पश्चिमी संसार के साथ सागरीय व्यापार सबधी एक प्रसिद्ध ग्रंथ, 'इरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस', भी बहुत काल तक उसी का लिखा माना जाता था, परंतु अब प्रायः प्रमाणित हो गया है कि उस ग्रंथ को किसी और ने उसके बाद लिखा।

(भ० श० उ०)

आरियस (२५६-३३६ ई०) का जन्म लिबिया में तथा पौरोहित्याभिषेक सिकदरिया में हुआ था। गिरजे के इतिहास में इनका स्थान अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन्होंने ईसाई विश्वास के एक मूल सिद्धांत का विरोध किया था तथा अपनी धारणाओं के सफल प्रचार द्वारा समस्त ईसाई संसार में अशांति फैला दी थी। ३२५ ई० में सम्राट् कोस्तांतीन ने ईसाई धर्मपंडितों की एक महासभा बुलाई जिसने आरियस की शिक्षा को दूषित ठहराया गया। तीन साल बाद सम्राट् ने आरियस को अपने दरबार में बुलाया तथा सिकदरिया के बिशप और आरियस के विरोधी, संत अथानासियस को निर्वासित किया। आरियस के मरण के बाद सम्राट् के पुत्र कोस्तांतियस ने सब कैथोलिक बिशपों को निर्वासित कर दिया, इससे आरियस के अनुयायी कुछ समय तक सर्वोपरि रहे। किंतु अनाथासियस के प्रयत्नों के फलस्वरूप वे एक एक करके कैथोलिक परिवार में लौटे तथा कुस्तुतुनियाँ की महासभा (३८१ ई०) में आरियस के सिद्धांतों का पुनः विरोध हुआ जिससे यूनानी संसार में आरियस का प्रभाव लुप्त हो गया।

आरियस की शिक्षा त्रित्व (ट्रिनिटी) से संबंध रखती है। ईसाई विश्वास के अनुसार एक ही ईश्वर में, एक ही ईश्वरीय तत्व में तीन व्यक्ति है—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। तीनों समान रूप से अनादि, अनंत, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, वे तत्वतः एक है (द्र० 'त्रित्व')। आरियस के अनुसार पिता ने शून्य से पुत्र की सृष्टि की है, अतः पिता और पुत्र तत्वतः एक नहीं है। पुत्र न तो अनादि है और न पूर्णतः ईश्वर है, इसलिये ईसा (प्रभु के अवतार) पूर्ण रूप से ईश्वर नहीं है।

सं०ग्रं०—जे० एच० न्यूमन आरियस ऑव दि फोर्थ सेंचुरी, लंदन, १८८८, जे० बी० किर्श किर्शेंगेसशिस्ते, प्रथम खड, १९३१। (का० बु०)

आरिस्तीदिज् (ल० ई० पू० ५२० से ई० पू० ४६८) एथेंसनिवासी यूनानी राष्ट्र-नीति-विशारद और योद्धा, जो अपने उच्च कोटि के आचरण के कारण न्यायी कहलाते थे। यह लीसीमाकस के पुत्र थे और इन्होंने अपनी न्यायप्रियता, देशप्रेम एवं संयताचार के कारण अत्यधिक ख्याति प्राप्त की थी। माराथॉन् के अभियान में यह एक सेनापति थे और तत्पश्चात् ई० पू० ४८९-४८८ में सत्ताभिधानी शासक (आर्कोन् ऐपोनियस्) बने। परंतु थेमिस्तोक्लेस से विरोध हो जाने के कारण इनको ई० पू० ४८३ में निर्वासित कर दिया गया। जब इनके निर्वासन के संबंध में मतदान हो रहा था तब इनको न जाननेवाले एक कृषक ने स्वयं इनसे निर्वासन के पक्ष में मत देने को कहा। उससे पूछने पर कि आरिस्तीदिज् ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, उसने उत्तर दिया कि उनको सर्वत्र 'न्यायी' कहा जाना मुझे अखरता है। दो वर्ष पश्चात् उनको क्षमा कर दिया गया और वह एथेंस लौट आए। सालामिस् के युद्ध में उन्होंने विशेष पराक्रम दिखलाया और प्लातेइया के युद्ध में वह प्रधान सेनाध्यक्ष थे। देलॉस् का संघ बनने पर विविध राष्ट्रों के अनुदान का निर्णय इन्होंने किया था। स्पार्ता के विरोध करने पर भी एथेंस की दीवारों को इन्होंने बनवाया। अरस्तू के अनुसार इन्होंने जनतंत्रात्मक राष्ट्रीय समाजवाद की नीति का प्रतिपादन किया। इनकी मृत्यु अत्यंत निर्धनता में हुई।

सं०ग्रं०—अरस्तू का एथेंस का संविधान, १९५६, अरस्तू की राजनीति (दोनों ग्रंथों का हिंदी अनुवाद) १९५६। (भो० ना० श०)

आरिस्तीदिज् ईलियस् (११७ या १२९ से १८९ ई० तक) यूनानी वाक्कलाविद (रेतॉरीशियन) और शिक्षक। इन्होंने पेर्गामम् और एथेंस में शिक्षा पाई। मिस्र की यात्रा के उपरांत इन्होंने लघु एशिया और रोम में शिक्षणकार्य किया। इनके व्याख्यान, पत्र और गद्यस्तुतियाँ अत्तिक शैली (एथेंस के श्रेष्ठ युग की शैली) के अनुकरण पर रची गई थी। इस शैली में इनकी ५५ रचनाएँ उपलब्ध है। वाक्कलासंबधी जिन रचनाओं को पहले इनकी कृति माना जाता था, अब वे अन्य लेखकों की रचनाएँ सिद्ध हो चुकी है, पर इनकी प्रामाणिक रचनाएँ भी वाक्यसघटन, आलंकारिकता एवं भावाभिव्यंजन की दृष्टि से श्लाघ्य हैं।

(भो० ना० श०)

आरिस्तीयस सूर्यदेव अपोलो और लापिथाए के राजा हिप्सेयस् की पुत्री कीरेने के पुत्र। ये पशुओं और फलों के वृक्षों की रक्षा करनेवाले

देवता माने जाते थे। ख्याति है कि इन्होंने एक बार औफ़ेयस् की पत्नी यूरीदिके का पीछा किया और वह इनसे बचने के लिये भागती हुई सर्प के काटने से मर गई। इसपर अप्सराओं ने रुष्ट होकर उनको शाप दिया जिससे इनकी पालतू मधुमक्खियाँ नष्ट हो गईं। तब इन्होंने अपनी माता और प्रोतियस् नामक जलदेवता के परामर्श से अप्सराओं को पशुबलि दी। नौ दिन पश्चात् इन पशुओं के कंकाल में से मधुमक्खियाँ पुन उत्पन्न हो गईं। आरंभ में इनकी पूजा थेसाली में होती थी, बाद कयॉस् और बियोतिया में भी होने लगी। (भो० ना० उ०)

आरिस्तोबुलस (१६० ई० पू०) कुछ विद्वानों के अनुसार तोलेमी दशम और कुछ के अनुसार तोलेमी द्वितीय के समकालीन, सिकंदरिया के उन प्रारंभिक यहूदी दार्शनिकों में से जो यूनानी दर्शन और यहूदी धर्म दोनों के मध्य सामंजस्य पैदा करना चाहते थे। उन्होंने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि यूनानी दार्शनिकों ने यहूदी धर्मग्रंथों से अपने दर्शन के लिये प्रोत्साहन प्राप्त किया। उनकी रचनाओं में से एक 'मूसा के धर्मग्रंथ की टीका' के कुछ अंश अब तक प्राप्त हैं। (वि० ना० पा०)

आरीका यह उत्तरी चिली के टरपाका प्रांत का प्रधान नगर और विख्यात पोताश्रय है। यह मोर्रो पहाड़ की तराई में बसा हुआ है तथा बोलिविया की राजधानी ला पाज़ से रेलमार्ग द्वारा, जिसका निर्माण सन् १९१२ ई० में हुआ था, संबद्ध है। यह बोलिविया के आयात निर्यात का प्रधान केंद्र है। वास्तव में यह एक अंतरराष्ट्रीय पोताश्रय है। सन् १८६८ ई० में भयंकर भूकंपजनित उच्च ज्वार के कारण नगर और पोताश्रय नष्ट हो गए। सन् १८८३ ई० में चिली वासियों ने इस नगर को खूब लूटा और चलते समय आग भी लगा दी। सन् १८८३ ई० की अकान की संधि के अनुसार सन् १८९४ ई० में यह नगर पेरू को वापस मिल जाना चाहिए था, परंतु ऐसा नहीं हो सका। सन् १९०६ ई० में यह नगर भूकंप से ध्वस्त हो गया।

यह तटीय मरुस्थल में बसा है। इसके आसपास न कुछ उपजता है और न कोई खनिज पदार्थ ही मिलता है। फिर भी यहाँ से प्रचुर मात्रा में रांगा, ताँबा, गंधक, सोहागा, अल्पाके का ऊन आदि निर्यात किए जाते हैं। ये सारी वस्तुएँ बोलिविया और पेरू से उपलब्ध होती हैं। सन् १९५२ ई० की गणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या १८,०९४ थी। (श्या० सु० श०)

आरीकिया रोम के दक्षिण पूर्व जानेवाली विया-आप्पिया सड़क पर लातियम का नगर। उसके खंडहर रोम से १८ मील पर आज भी देखे जा सकते हैं। आरीकिया लातियम के प्राचीनतम नगरों में से था और जब रोम में राजशासन को हटाकर प्रजातंत्र की घोषणा हुई तब आरीकिया ने उसका बड़ा विरोध किया। ३३८ ई० पू० में भी मीनियम ने उसे जीत लिया पर शीघ्र उसे नागरिक अधिकार लौटा दिए गए। आरीकिया जनपद अपनी शराब और तरकारियों के लिये प्रसिद्ध है।

(ओ० ना० उ०)

आरू आस्ट्रेलिया और न्यूगिनी के बीच उथले आराफ़ुरा समुद्र में द्वीपों का एक समूह है। यह तनबेसर नामक एक बड़े द्वीप तथा ९० छोटे छोटे द्वीपों को मिलाकर बना है। ये द्वीप ५° १८' द० अ० से ७° ५' द० अ० और १३४° पू० दे० से १३५° पू० दे० के बीच स्थित हैं। इन द्वीपों का क्षेत्रफल ३,२४४ वर्ग मील है। तनबेसर तीन सँकरी शाखाओं द्वारा बँटा हुआ है। सभी द्वीपों की ऊँचाई कम है। ये द्वीप मूँगे के बने हैं और जंगलों से ढँके हुए हैं। तटीय भाग दलदली है। यहाँ की वनस्पति मुख्यत केवड़ी (स्क्रू पाइन), नारियल और ताड़ के पेड़ हैं। यहाँ की उपज साबूदाना, नारियल, ईख, मक्का, तंबाकू तथा सुपारी है। यहाँ पर मोती निकालना तथा शार्क मछली का शिकार भी मुख्य पेशे हैं। इस द्वीपसमूह का पता १६०६ ई० में डच लोगों को लगा और १६२३ ई० में इसपर उन लोगों ने अधिकार किया। यह सन् १९४७ ई० के चेरीबन समझौते के अनुसार इंडोनेशिया के अधिकार में आ गया है। यहाँ की राजधानी तथा बंदरगाह डोबो है। (नृ० कु० सि०)

आरेंज फ्री स्टेट दक्षिण अफ्रीकी संघ का एक राज्य। इसके उत्तर एवं उत्तर पश्चिम में ट्रांसवाल, दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व में केप कालोनी तथा पूर्व में बसूतोलैंड और नैटाल है। इसका क्षेत्रफल ४९,८६६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,७२,३५९ (१९७०) है। ब्लूमफांटेन यहाँ की राजधानी है। राज्य का अधिकतर भाग कहीं ऊँचा, कहीं नीचा मैदान है। समुद्रतट की अपेक्षा ऊँचाई ४,००० से ५,००० फुट तक घटती बढ़ती है। वर्ष भर जलप्लावित रहनेवाली मुख्य नदियाँ वाल तथा आरेंज हैं, किंतु झरनों तथा उथलेपन के कारण ये यातायात के लिये उपयोगी नहीं हैं। वैसे तो देश स्वास्थ्यप्रद है, परंतु ग्रीष्म ऋतु में भीषण आँधियाँ आती हैं। शीत ऋतु बहुत ठंढी रहती है। नदियों के किनारे उच्च भूमि पर झाड़ (बिना) के जंगल मिलते हैं। यहाँ के पशु अफ्रीका के शेष भाग के पशुओं के ही समान हैं।

हीरे जवाहरात तथा जिप्सम के उत्पादन में इस राज्य का स्थान संघ में द्वितीय तथा कोयले के उत्पादन में तृतीय है। यहाँ पर कोयले का संचित कोष (रिज़र्व) १,००,००,००,००० टन का है। उत्तरी तथा पूर्वी भागों में बलुआ पत्थर और ग्रेनाइट भरा पड़ा है। सन् १९४६ ई० में ओडेंडाल जिले में सोने की खानों का भी पता चला।

राज्य का मुख्य धंधा कृषि एवं पशुपालन है। यहाँ पर अंगोरा भेड़, घोड़े, गाय, खच्चर तथा गधे पाले जाते हैं। मक्का यहाँ की मुख्य उपज है, दूसरे शस्य जौ, ओट, राई, गेहूँ, आलू और मूँगफली हैं। बड़े उद्योग धंधे यहाँ कम उन्नति पर हैं जिनमें मुख्य मांस उद्योग तथा दियासलाई आदि के उद्योग हैं।

श्वेत मानव के आने से पहले आरेंज नदी के उत्तर का भाग ज़ुलू, बेचुआना तथा बुशमैन इत्यादि आदिवासियों के अधीन था। १९०० ई० में यह ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया तथा अंततोगत्वा दक्षिणी अफ्रीकी संघ का एक राज्य बन गया। (शि० मं० सि०)

आरेंजबर्ग संयुक्त राज्य (अमरीका) के दक्षिणी कैरोलिना राज्य में आरेंजबर्ग जिले का मुख्य नगर है। यह नगर उत्तरी एडिस्टो नदी पर कोलंबिया नगर से ४० मील दक्षिण पूर्व और समुद्रतल से २५४ फुट की ऊँचाई पर अटलांटिक समुद्रतटीय मैदान में स्थित है। यह सड़क और रेलमार्गों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यह संयुक्त राज्य के एक महत्वपूर्ण कृषीय जिले का व्यापारिक और औद्योगिक केंद्र है। मुख्य उपज कपास, इमारती लकड़ी, अन्न और तरकारी है। यहाँ सूती कपड़े बुनने, कपास से बिनौले निकालने, बनस्पति तेल बनाने तथा लकड़ी चीरने इत्यादि के कारखाने हैं। यहाँ ५५ एकड़ क्षेत्रफल पर स्थित एडिस्टो उद्यान दर्शनीय है। यहाँ क्लैफ़िन विश्वविद्यालय (१८६९ में स्थापित) और राजकीय कृषि तथा शिल्प विद्यालय (१८९६ में स्थापित) दोनों नीग्रो लोगों के लिये हैं। इस नगर की स्थापना लगभग १७०० ई० में आरेंज के राजकुमार विलियम के नाम पर हुई। (रा० ना० मा०)

आरेकीपा पेरू देश का तीसरा शहर तथा इसी नाम के प्रदेश की राजधानी है। यह समुद्रतल से ७६०० फुट की ऊँचाई पर बसा है और मोलेंडो बंदरगाह से १०० मील दूर है। यह रायाचोली नदी की घाटी में दोनों किनारे पर बसा हुआ है तथा इसके पास ही एलमिस्ती नामक ज्वालामुखी पर्वत (ऊँचाई १९,१६७ फुट) है। १८६८ ई० के भूकंप से इस नगर को बहुत क्षति पहुँची। यह अपनी प्राकृतिक सुंदरता के लिये प्रसिद्ध है तथा सारा स्पैनिश जातिवालों की यहाँ बस्तियाँ हैं। यहाँ की जलवायु शुष्क है। गर्मी में पाँच छह इंच वर्षा होती है। धार्मिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से दक्षिणी पेरू का यह मुख्य केंद्र है। यहाँ का विश्वविद्यालय १८२८ ई० में स्थापित हुआ था, जिसका नाम युनिवर्सिडैड नेशनल डि सैन आगस्टिन है। यहाँ ऊन साफ किया जाता तथा बाहर भेजा जाता है। यहाँ ऊन तथा कपास के सामान, चाकलेट और बिस्कुट के कारखाने, आटे की चक्कियाँ तथा मशीन बनाने के कारखाने हैं। पैन अमरीकी कंपनी के हवाई जहाज इसको लीमा, प्यूनो, मोलेंडो तथा अफ्रीका से संबद्ध करते हैं। यह अपने ठंढे तथा गर्म सोतों के लिये प्रसिद्ध है। १९७० ई० में इसकी आबादी ५,१८,३०० थी। (नृ० कु० सि०)

प्रभाकर द्विवेदी

प्रभाकर द्विवेदी
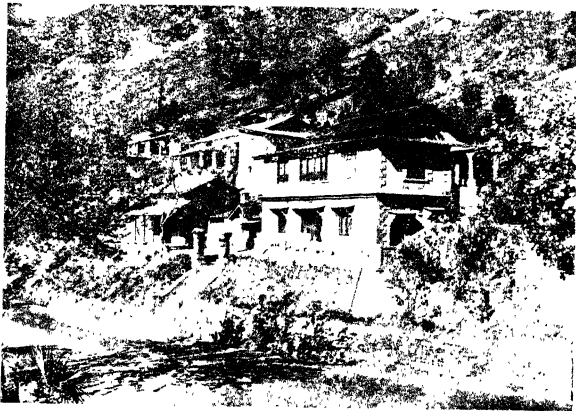
आरोग्य आश्रम

ऊपर भुवाली आरोग्य आश्रम का विहगम दृश्य, नीचे आरोग्य आश्रम का एक भवन (द्र० पृष्ठ ४२५) ।

प्रभाकर द्विवेदी

रोगी पर शल्यकर्म

रोगी की परिचर्या

आरेत्जो इटली देश के आरेत्जो प्रदेश की राजधानी है। यह फ्लोरेंस से ५४ मील दक्षिण पूर्व में है। इसका पुराना नाम आर्टियम था और उस समय यह इटली के उन्नतिशील नगरों में से एक था। ३-४ ई० पू० में यह रोम के विरुद्ध था, परन्तु हैनिबैल के आक्रमण में इसने रोम वासियों की सहायता की। गाल्स के आक्रमण के समय यह चीनी मिट्टी के बरतनों के लिये प्रसिद्ध था। यह नगर बहुत से महान् पुरुषों का जन्म-स्थान रहा है, जैसे पेट्रार्क, पिएत्रो आरेतीनो, आरेटिनो, मीसेनस, पोप जूलियस द्वितीय, मासकारो इत्यादि। आज भी यह नगर आकर्षण का केंद्र है। यहाँ की चौड़ी तथा चिकनी सड़कें, संग्रहालय, पुस्तकालय और १३वीं सदी में बना एक बड़ा गिरजाघर देखने लायक है। यह उपजाऊ मैदान के बीच में स्थित है। इसके चारों ओर के प्रदेश में अनाज, जैतून और फल उत्पन्न होते हैं। यहाँ मदिरा बनाई जाती है। यहाँ की जलवायु भूमध्यसागरीय है। यह एक पहाड़ी के ऊपर बसा हुआ है। यहाँ से सड़कें चारों ओर जाती हैं। यहाँ पर रेशमी कपड़े, चमड़े के सामान तथा सूती कपड़ों की मिलें हैं। इस शहर के पास ही आर्नो नदी बहती है।

(नृ० कु० सि०)

आर्लैस दक्षिण पूर्व फ्रांस का एक शहर तथा बुश-दु रोन जिला की राजधानी है। रेल से यह मार्सेई से ५४ मील उत्तर पश्चिम में पड़ता है। यह नगर नहर द्वारा बंदरगाह से मिला हुआ है तथा लियों-मार्सेई रेलमार्ग पर पड़ता है। जूलियस सीज़र के काल में यह आरलेट के नाम से प्रसिद्ध था। १०वीं शताब्दी में यह आर्ले राज्य की राजधानी बना। १२वीं शताब्दी तक यह एक सुंदर नगर बन गया। यहाँ की सड़कें सँकरी तथा टेढ़ी मेढ़ी हैं। नगर के केंद्र में होटेल-डि-ला-विये है जहाँ पुस्तकालय, संग्रहालय तथा एक प्राचीन गॉथिक गिरजाघर है। यह एक चूने के पत्थर के पहाड़ पर स्थित है। इस नगर का कोई व्यावसायिक महत्व नहीं है। यहाँ का मुख्य उद्योग रेशम का कपड़ा, मदिरा, जैतून का तेल इत्यादि बनाना है।

(न० कु० सि०)

आरेस ज्यूस और हेरा के पुत्र, यूनानियों में युद्ध के देवता माने जाते थे। ये युद्ध की भावना अथवा आवेग के प्रतीक थे तथा इनको युद्धों का भयंकर शोर में आनंद आता था। युद्ध छिड़ जाने पर वे कभी एक पक्ष और कभी दूसरे का पक्ष कर लेते थे, पर प्रायः विदेशियों अथवा लड़ाकू जातियों का साथ देते थे। वे सर्वदा विजयी रहे हों, ऐसा नहीं है उनको दो बार एथीनी ने पराजित किया था और एक बार तो उनको १३ मास तक बंदी रहना पड़ा। अनेक स्त्रियों से इनके बहुत सी संतानें उत्पन्न हुई थीं। अस्कालफस, डियामेडेस्, सिक्नस्, मलेगागर और फ्लेगियास् इनके पुत्र एवं हार्मोनिया और अल्किप्पे इनकी पुत्रियाँ थीं। पोसेइडन् के पुत्र हालिरोथियस ने अल्किप्पे के साथ बलात्कार किया तो आरेस ने उनकी हत्या कर दी। इस कारण इनके ऊपर हत्या का अभियोग चला जिसमें इनको अपराध-मुक्त घोषित किया गया। जिस न्यायालय में यह अभियोग चलाया गया था वह आरियोपागस् कहलाता। आरेस की पूजा ग्रीस देश के उत्तर और पश्चिम की जातियों में अधिक प्रचलित थी। इनकी पूजा में स्त्रियाँ अधिक भाग लेती थीं। ये कोई उच्च आचरणवाले देवता नहीं थे। अनेक स्त्रियों, विशेषकर अफ्रोदीती के साथ इनका अवैध प्रेम था। इनके लिये कुत्तों की बलि दी जाती थी। इनका रोमन नाम मार्स है।

(भा० ना० श०)

आरो (आर्रो) यहूदियों के पुरोहित वर्ग के संस्थापक और अध्यक्ष। हजरत मूसा के साथ उन्होंने यहूदियों का मिस्र से मुक्त होने में नेतृत्व किया। पेंतत्युख के वर्णन के अनुसार आरों का चार घटनाओं से संबंध था (१) मूसा के साथ यहूदियों का नेतृत्व करने में, (२) रैफीदिम के संग्राम में मूसा की सहायता करने में, (३) यहूदियों के पूजा-चिह्न सोने का बछड़ा बनाने में और (४) अपनी बहन मिरियम के साथ मूसा के विरुद्ध इस आधार पर विद्रोह करने में कि मूसा ने एक विदेशी स्त्री को अपनी पत्नी बनाया। यहूदियों के निर्वासनकाल के पूर्व यहूदी पुरोहित 'जादोक' वंश के होते थे, किंतु निर्वासन के पश्चात् पुरोहितों की गद्दी आरों के वंश में आ गई।

(बि० ना० पा०)

आरोग्य आश्रम (सैनाटारियम या सैनीटेरियम) उन संस्थाओं को कहते हैं जहाँ लोग स्वास्थ्य की उन्नति के लिये भरती किए जाते हैं। दीर्घकालीन रोगों की विशेष चिकित्सा करनेवाली संस्थाओं को भी बहुधा यह नाम दिया जाता है। जैसे टी० बी० सैनाटोरियम।

साधारणतः किसी ठंढे स्थान में, जहाँ स्वाभाविक रूप से स्वास्थ्य अच्छा रहता है आरोग्य आश्रम खोले जाते हैं। प्रकृति की गोद में, नगरों के दूषित वातावरण और कोलाहल से दूर, जहाँ सीलन (आर्द्रता) न हो, शीतल मंद समीर उपलब्ध हो, इस प्रकार की आरोग्यप्रद संस्थाएँ अधिकतर स्थापित की गई हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के महँगे आश्रमों में नहीं जा सकते, उनके लिये बड़े नगरों के समीप उपयुक्त स्थान पर आरोग्य सदनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

कई बार रोगी और उसके संबंधी भी आरोग्य आश्रम की उपयोगिता और महत्व को नहीं समझ पाते और घर में ही रहने की इच्छा प्रकट करते हैं। यह हो सकता है कि आश्रम में घर जैसी सुविधाएँ न मिलें, किंतु घरों की अपेक्षा इन स्वास्थ्यगृहों में रोगी बड़ी संख्या में शीघ्र अच्छे होते पाए गए हैं। इनमें सफल उपचार की अचूक सिद्धि के लिये सभी सामग्री उपलब्ध रहती है।

अच्छे आरोग्य आश्रमों में रोगी सदैव और स्वास्थ्यप्रद व्यवस्था में, आठों पहर कुशल परिचारिकाओं और चिकित्सकों की देखभाल में रहता है। वहाँ मिलने जुलनेवाले व्यक्ति चाहे जिस समय आकर तंग नहीं करने पाते। भेंट करने का समय निश्चित रहता है। व्यर्थ का हल्ला गुल्ला नहीं होता और रोगी अनावश्यक मनकष्ट के तनाव से मुक्त रहकर शांति पाता है।

आरोग्य आश्रम में परीक्षा के लिये प्रयोगशाला, एक्स-किरण-कक्ष और उपचार की अन्य सुविधाएँ तो रहती ही हैं, उनके साथ मनोरंजन, चित्रकला, संगीत और लेखनकला आदि मनबहलाव द्वारा चिकित्सा का प्रबंध रहता है। इससे बहुत संतोषजनक प्रगति होती देखी गई है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि रोगी को पूर्ण विश्राम दिया जाय, परन्तु उसका समय खाली न रहे। आसपास दूसरे मरीजों को अच्छा होते तथा कुछ काम धंधा करते देखकर रोगी को प्रसन्नता और ढाढ़स प्राप्त होता है जिससे उसका स्वास्थ्य शीघ्र सुधरता है।

(द० सि०)

आरोवील अर्थात् ऊषा नगरी अथवा नवजीवन की नगरी। इस नाम की एक नई नगरी दक्षिण भारत में पांडिचेरी से छह मील दूर बन रही है। इसके नाम के आरंभ का अंश श्री अरविंद और ग्रीक ऊषा देवी के नाम के आद्याक्षरों से बना है। वैदिक देवी ऊषा नवजीवन की संदेशवाहिका है। धरती पर अतिमानसिक नवजीवन का अवतरण करने के लिये इस नई नगरी की योजना कार्यान्वित हो रही है। इसका प्रवर्तन श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी नाम की पंजीकृत संस्था कर रही है। इसका निर्माणक्षेत्र लगभग १५ वर्ग मील है जो समुद्र की सतह से १५० फुट से लेकर १८० फुट तक ऊँचा है। यह क्षेत्र पूर्व समुद्र और उस क्षेत्र की पश्चिमी झील की ओर ढाल है। इस नगरी में लगभग ५० हजार लोगों के रहने की व्यवस्था की जा रही है जिसमें से २० हजार मुख्य आदर्श नगर में और शेष ३० हजार लोग योजना के पूरक आदर्श ग्रामों में रहेंगे। नगरी चार क्षेत्रों में विभाजित होगी—१ निवास क्षेत्र, २ सांस्कृतिक क्षेत्र, ३ अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र और ४ औद्योगिक क्षेत्र। निवास क्षेत्र में सभी अद्यतन सुविधाएँ उपलब्ध रहेंगी, जैसे—अतिथिशालाएँ, होटल, डाक-तार-व्यवस्था, चलचित्रशाला, टेलीविज़न केंद्र, नाट्यशाला, व्यायामशाला आदि। सांस्कृतिक क्षेत्र में सभी देशी विदेशी नृत्यों, नाटकों, संगीत, चित्रकला आदि सांस्कृतिक अंगों और उपादानों के विराट् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था रहेगी। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न देशों के अपने अपने मंडपों की रचना का कार्य आरंभ हो गया है। इसी में भारतनिवास भी निर्मित हो रहा है जिसमें प्रत्येक राज्य के अपने अपने भवन भी प्रतिनिधि-स्वरूप बन रहे हैं। प्रत्येक देश के अपने अपने मंडप में उन उन देशों के कला-कौशल, स्थापत्य, संस्कृति आदि का वास्तविक निदर्शन होगा। वैशिष्ट्य

यह है कि पूरी आरोवील नगरी की सरचना वृत्ताकार अग्नानचक्र जैसी होगी और उसके भवनों का अभियवरण और आकृति अब तक आकल्पित सभी भवनों से भिन्न और विलक्षण होगी। जो भवन अभी तक तैयार हो चुके है, उनसे इसका प्रमाण मिलता है।

इस नगरी में एक अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय की भी योजना है जिसका आरंभ एक विद्यालय से कर दिया गया है। इस विद्यालय में तमिल, अंग्रेजी, फ्रेंच और संस्कृत प्राय सभी सीखते है। यहाँ शिक्षा के नए नए परीक्षण हो रहे है। प्रयास यह है कि सारा जीवन ही शिक्षा बन सके। शिक्षा का उद्देश्य उपाधियाँ न होकर, योग्यता, पात्रता का ऊपर उठाना है, उसकी आत्मा से संपर्क स्थापित करना है, उसकी चेतना को ऊँचे उठाना है।

आरोवील नाम की इस नगरी की योजना और क्रियान्वयन को १९६६ ई० के यूनेस्को सम्मेलन में स्वीकृति प्रदान की गई और समस्त देशों से उसमें योग देने की अपील की गई। २८ फरवरी, १९६८ ई० को संसार के १२२ देशों के प्रतिनिधियों ने कमल के आकार के एक बृहदाकार कलश में अपने-अपने देश की मिट्टी डालकर इसका शिलान्यास किया। उस समय संसार की प्रमुख भाषाओं में आरोवील का निम्नलिखित घोषणापत्र पढ़ा गया जिसमें श्री अरविंद आश्रम की श्री माँ के १९५४ में प्रकाशित 'एक स्वप्न' शीर्षक लेख में वर्णित नगरी की मुख्य मुख्य बातें भी सम्मिलित थीं

> आरोवील विशेष रूप से किसी का नहीं है, यह पूरी मानव जाति का है किंतु इसमें रहने के लिये भागवत चेतना का सहर्ष सेवक बनना होगा। आरोवील अनंतहीन शिक्षा का, सतत विकास का एक जराहीन यौवन का स्थल होगा। आरोवील भूत और भविष्य के मध्य एक सेतु बनना चाहता है। अन्तर और बाह्य की सभी खोजों से लाभान्वित होता हुआ आरोवील साहसपूर्वक भविष्य की उपलब्धियों की ओर बढ़ेगा। आरोवील एक वास्तविक मानव एकता को सजीव रूप में मूर्तिमत करने के लिये भौतिक एवं आध्यात्मिक खोजों का स्थान होगा।

इस नगरी में प्रत्येक व्यक्ति जीविकानिर्वाह के लिये नहीं, अपितु मानवता की सेवा के लिये कर्मरत होगा जिसमें उसकी आत्मिक चेतना का विकास भी अग्रसर हो। राजनीति, आर्थिक शोषण, आर्थिक वैषम्य, स्वामी-सेवक-भाव, आदि विभेदात्मक तत्वों से सर्वथा मुक्त यह नगरी प्रसन्नता, सामंजस्य और विकास की नगरी होगी जिसका लघु रूप में प्रयोग अभी भी श्री अरविंद आश्रम में हो रहा है। आरोवील में प्रचलित अर्थों में कोई धर्म नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को 'स्व स्व चरित्र' के अनुसार अपना धर्म खोजकर उसका अनुसरण करना है। आर्थिक और सामाजिक जीवन में दिन-प्रति-दिन उत्पन्न होनेवाली अनेक विषमताओं एवं संकटों का एक सामंजस्यपूर्ण समाधान यह आरोवील प्रस्तुत करेगा। वस्तुत श्री अरविंद दर्शन के अतिमानसिक चेतना के स्तर तक मानव का पहुँचाना अथवा उस अतिमानसिक चेतना को ग्रहण करने की मनुष्य में पात्रता उत्पन्न करने के प्रयत्न का आरोवील शुभारंभ है। इस योजना की चरितार्थता आरोवील के वर्तमान स्वरूप में स्पष्ट होती है। (र०)

आर्कटिक प्रदेश जल और स्थल के उस क्षेत्र को कहते है जो उत्तरी ध्रुव से चारों ओर लगभग आर्कटिक वृत्त (६६° ३०′ उ० अ०) तक फैला हुआ है। इसके अन्तर्गत नार्वे, स्वीडन और फिनलैंड के उत्तरी भाग, रूस का बड़ा प्रदेश, अलास्का का उत्तरी भाग, कनाडा का बड़ा प्रदेश और आर्कटिक सागर में स्थित अनेक द्वीप है, जैसे ग्रीनलैंड, स्पिट्जबर्गन, फ्रैंज जोजेफ लैंड, नोवा जेम्लिया, सवर्ना जेम्लिया, न्यू साइबेरियन द्वीप, उत्तरी कनाडा के द्वीप, जैसे एल्समेअर, बैफिन इत्यादि।

इतिहास—जहाँ तक ज्ञात हो सका है, नारवे के लोगों ने पहले पहल आर्कटिक प्रदेशों के कुछ भागों पर अपना अधिकार जमाया। उनकी पौराणिक कथाओं में वहाँ का वर्णन मिलता है। सन् ८६७ ई० में नारवे के नार्समैन लोगों ने आइसलैंड द्वीप की खोज की और सन् ८७४ ई० से अपने उपनिवेश वहाँ स्थापित किए जिनमें आज भी उनकी संतति बसी हुई है। सन् ९८२ ई० के लगभग एरिक दि रेड नामक एक नार्समैन ने ग्रीनलैंड द्वीप की खोज की और वहाँ भी उपनिवेशों की स्थापना हुई, परंतु कुछ समय पश्चात् प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियों के फलस्वरूप वे नष्ट हो गए। ग्रीनलैंड से और पश्चिम चलकर नार्समैन उत्तरी अमरीका तक पहुँच गए। संभवत एरिक दि रेड के पुत्र लीफ ने सन् १,००० ई० के लगभग उत्तरी अमरीका के कोड अन्तरीप और लैब्रेडोर के बीच स्थित समुद्रतट के कुछ भाग की यात्रा की थी।

उत्तरी पश्चिमी यूरोप में वाणिज्य की वृद्धि होने पर अंग्रेज और डच लोग सुदूर पूर्व पहुँचने के लिये यूरेशिया या अमरीका महाद्वीप के उत्तर से होकर एक नए मार्ग की खोज में लग गए। इन लोगों ने सुदूर पूर्व पहुँचने के लिये दो विभिन्न मार्गों का अनुसरण किया, अर्थात् उत्तर पूर्वी मार्ग और उत्तर पश्चिमी मार्ग। उत्तर पूर्वी मार्ग द्वारा सुदूर पूर्व पहुँचने का प्रयास सन् १५५३ ई० में सैबेस्टियन कैबट के प्रोत्साहन से आरंभ हुआ। सन् १५९७ ई० तक इन अन्वेषणों द्वारा यूरोपीय रूस के आर्कटिक समुद्रतट और समीपस्थ द्वीपों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो गया था। इस उत्तर पूर्वी मार्ग का अनुसरण १७वीं शताब्दी में भी जारी रहा, परंतु इसमें भौगोलिक ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। सन् १७६० ई० से रूसी नाविकों ने भी इस मार्ग को अपनाया और संपूर्ण रूस के आर्कटिक प्रदेश और समीपस्थ द्वीपों के ज्ञान की वृद्धि में विशेष योग दिया। अंत में सन् १९३२ ई० में साइबेरियाकोव नामक एक रूसी बर्फ तोड़नेवाले जलयान ने उत्तर पूर्वी मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न की। सन् १९३५ ई० से इस मार्ग पर व्यापारिक जलयानों का चलना प्रारंभ हुआ।

उत्तर पश्चिमी मार्ग द्वारा ग्रीनलैंड और उत्तरी अमरीका महाद्वीप के मध्य से होकर सुदूर पूर्व पहुँचने का प्रयास सर्वप्रथम ७ जून, १५७६ को मार्टिन फ्रॉबिशर द्वारा प्रारंभ हुआ और अंत में आर० आमंडसेन ने पहली बार १९०३-१९०५ में अपने जलयान ग्याओ से उत्तर पश्चिमी मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न की। इन अन्वेषणों द्वारा ग्रीनलैंड द्वीप और कनाडा के आर्कटिक प्रदेशों के ज्ञान में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

इधर उत्तरी ध्रुव पहुँचने का प्रयास १९वीं शताब्दी के आरंभ से ही चल रहा था। इस दिशा में फ्रिटॉफ नैनसन का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने सन् १८९३ ई० में अपने जहाज फ्रैम से उत्तरी ध्रुव के लिये प्रस्थान किया और जहाज हिम के बहाव के सहारे उत्तर की ओर बढ़ता गया। ठोस हिम से जहाज की प्रगति रुकने से पहले ही नैनसन जहाज छोड़ अपने साथी जोहानसेन के साथ पैदल बढ़ने लगे। वे ८ अप्रैल, १८९५ को उत्तरी ध्रुव से केवल ३° ४८′ की दूरी पर रह गए थे जब प्राकृतिक परिस्थितियों ने उन्हें लौटने पर बाध्य कर दिया। इस प्रकार जलयानों द्वारा उत्तरी ध्रुव पहुँचने के प्रयासों का क्रम चलता रहा और अंत में ६ अप्रैल, १९०९ को आर० ई० पैरी ने उत्तरी ध्रुव पर विजय प्राप्त कर ली। वायुयान द्वारा उत्तरी ध्रुव पहुँचने का श्रेय सर्वप्रथम आर० ई० बर्ड को मई, १९२६ में प्राप्त हुआ और पनडुब्बी जहाज से बर्फ के नीचे चलकर उत्तरी ध्रुव पहुँचने का श्रेय सर्वप्रथम 'नाटिलस' जहाज को ३ अगस्त, १९५८ को प्राप्त हुआ।

भूतत्व—आर्कटिक प्रदेशों में विभिन्न कल्पों की चट्टानें मिलती हैं, जैसे कनाडा के आर्कटिक प्रदेश और ग्रीनलैंड में प्राचीनतम कल्पीय शिलाओं की अधिकता है, जब कि केवल यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश में ही पुराकल्पीय तथा और नवीन काल की शिलाएँ मिलती हैं। इस समय आर्कटिक प्रदेश में ज्वालामुखी क्रिया अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और जाग्रत ज्वालामुखियों में जॉन मेयन द्वीप में स्थित बीरेनबर्ग ज्वालामुखी पर्वत ही विशेष उल्लेखनीय है। बुडवे और स्पिट्जबर्गन द्वीपों में गरम सोते स्थित हैं। पूर्वकालीन ज्वालामुखीक्रिया के चिह्न ग्रीनलैंड, स्पिट्जबर्गन, फ्रैंज जोजेफलैंड और न्यू साइबेरियन द्वीपों की तृतीयक कल्पीय शिलाओं में विद्यमान है। वर्तमान समय की तुलना में तृतीयक कल्प में आर्कटिक प्रदेश में कहीं अधिक उष्ण जलवायु के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, परंतु प्रातिनूतन हिम युग में जलवायु अधिक ठंढी हो गई थी और संभवत कनाडा के आर्कटिक द्वीपों को छोड़कर अधिकांश आर्कटिक प्रदेश हिमाच्छादित थे।

आर्कटिक सागर—यह स्थलखंडों द्वारा घिरा है, परंतु इसके बीच उत्तरी ध्रुव की स्थिति केंद्रवर्ती नहीं है। ग्रीनलैंड और नार्वेजियन समुद्रों सहित इसका क्षेत्रफल लगभग ५४,००,००० वर्ग मील है। आर्कटिक सागर की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसका विस्तृत महाद्वीपीय निधाय है, जिसपर

सैकड़ों द्वीप और द्वीपसमूह, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, स्थित हैं। वास्तव में ये द्वीप पूर्वकाल के एक अधिक विशाल स्थलखंड के अवशेष मात्र हैं और सामान्यतः समीपस्थ महाद्वीपीय खंडों से भौमिकीय संबंध प्रदर्शित करते हैं। अमरीका द्वारा संचालित 'नॉटिलस' पनडुब्बी जहाज के अन्वेषणों द्वारा (जुलाई अगस्त १९५८ में) यह ज्ञात हुआ है कि उत्तरी ध्रुव पर जल की गहराई १३,४१० फुट है और यहाँ जल के ऊपर हिमस्तरों की औसत मोटाई १२ फुट है।

जलवायु--आर्कटिक प्रदेश विश्व के अति शीत प्रदेशों में हैं और यहाँ समुद्र से दूर स्थित क्षेत्रों में -९०° फा० तक के न्यूनतम ताप अंकित होने के प्रमाण मिले हैं। ग्रीष्मकाल में यहाँ ८०° फा० से भी ऊँचे ताप अंकित हुए हैं। ये विश्व के अत्यधिक शुष्क प्रदेश हैं, जिससे इन्हें शीत मरुस्थल भी कहते हैं। औसत वार्षिक वृष्टि लगभग १० इंच है जो मुख्यतः हिम के रूप में होती है। वर्ष के अधिकांश समय ठंढी ध्रुवी हवाएँ अति तीव्र गति से चलती रहती हैं।

प्राकृतिक संपत्ति--यहाँ के खनिज पदार्थों की खोज की ओर अभी तक अधिक ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। मुख्यतः पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल, लोहा और तांबा इत्यादि खनिजों का ही कुछ मात्रा में उत्खनन हुआ है और सोना, चाँदी, प्लैटिनम और टिन इत्यादि को केवल उपस्थिति हो ज्ञात हुई है। आर्कटिक वनस्पति मुख्यतः फर्न, लाइकेन और मास है। इनके अलावा ग्रीष्मकाल में छोटे छोटे रंग बिरंगे फूलोंवाले पौधे और छोटी छोटी बेर की झाड़ियाँ उग आती हैं। ये प्रदेश लगभग वृक्षहीन हैं, केवल दक्षिणी भागों में नदियों के किनारे छोटे कद के बर्च इत्यादि तथा कोणधारी वृक्ष उगते हैं। कुछ भागों में अनाज और शाक उत्पादन की संभावनाएँ हैं और इस हेतु विशेष रूप से प्रयत्न किए जा रहे हैं। आर्कटिक प्रदेशों में विविध प्रकार के जीव जंतु पाए जाते हैं, जैसे कस्तूरीवृष (मस्क ऑक्स), लोमड़ी, कैरिबू, भेड़िया, लेमिंग, खरगोश, ध्रुवीय भालू इत्यादि। रोएँदार पशुओं में बीवर, मार्टन, मिंक तथा सेबुल मुख्य हैं। पालतू जानवरों में यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश में पाया जानेवाला पशु रेनडियर है। यहाँ के जलक्षेत्रों में मुख्यतः सील, ह्वेल और वालरस पाए जाते हैं।

मनुष्य तथा व्यवसाय--आर्कटिक प्रदेशों के निवासियों का मुख्य उद्योग शिकार करना तथा मछली पकड़ना है। कृषि के अभाव में इनकी भोजन, वस्त्र, आश्रय, यातायात इत्यादि की आवश्यकताओं की पूर्ति पशुओं द्वारा होती है। संपूर्ण यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश के लिये रेनडियर बहुत बड़ी देन है, जिसके द्वारा भोजन के लिये मांस और दूध, वस्त्र और तंबुओं के लिये खाल, अस्त्रशस्त्र के लिये हड्डी और सींग तथा जलाने और प्रकाश के लिये चर्बी मिलती है। यहाँ यातायात का मुख्य साधन बिनापहिए-वाली स्लेज गाड़ी है जिसे रेनडियर खींचते हैं। यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश के निवासियों को लैप्स, फिन्स, ऑस्टेक्स, यूरियन्स, सैमोयड तथा याकूत कहते हैं। ये सब अस्थिरवासी (खानाबदोश) हैं जो भोजन की खोज में इधर उधर घूमा फिरते हैं। ये अधिकतर चमड़े के तंबुओं में निवास करते हैं जिन्हें चम कहते हैं।

उत्तरी अमरीका के आर्कटिक प्रदेशों और ग्रीनलैंड में एस्किमो जाति के लोग निवास करते हैं। यहाँ के प्राकृतिक साधन यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश से मिलते जुलते हैं इसलिये रहन सहन की दशाओं में भी समानता पाई जाती है। परंतु यहाँ का मुख्य जानवर पालतू रेनडियर न होकर जंगली कैरिबू है। अब कुछ स्थानों में रेनडियर पाला जाने लगा है जो यूरेशिया से लाया गया है। यहाँ के निवासी मुख्यतः समुद्रतटों पर रहते हैं तथा सील, ह्वेल और वालरस का शिकार करके मांस, तेल, हड्डी, खाल इत्यादि प्राप्त करते हैं। शीतकाल में बर्फ के अंदर छेद करके हारपून (भाले) से मछली पकड़ते हैं और बर्फ के घरों में, जिन्हें इग्लू कहते हैं, निवास करते हैं। ग्रीष्मकाल में रहने के लिये तंबुओं और लट्ठों की झोपड़ियों का प्रयोग करते हैं। ये यातायात के लिये नावों का उपयोग करते हैं। छोटी नाव कायक और बड़ी नाव उमियक कहलाती है। शक्तिशाली कुत्तों द्वारा खींची जानेवाली स्लेज गाड़ी का भी उपयोग होता है।

इस प्रकार आर्कटिक प्रदेशों के निवासियों का जीवन प्रकृति से निरंतर संघर्ष में व्यतीत होता है। आशा है, भविष्य में यहाँ उपस्थित पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल तथा अन्य खनिज पदार्थों के बढ़ते हुए उत्पादन के साथ साथ ये प्रदेश भी आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हो जायँगे और इसके साथ ही यहाँ के निवासियों का जीवनस्तर भी ऊँचा उठ सकेगा। उत्तरी ध्रुव से होकर वायुयानसंचालन का महत्व बढ़ जाने से भी इन प्रदेशों की आर्थिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

(रा० ना० मा०)

आर्कन प्राचीन एथेंस में मुख्य पुरपालक (मैजिस्ट्रेट) संस्था या उसके सदस्य का पद। यह संस्था प्राचीन राजाओं का प्रतिनिधान करती थी, जिनकी निरंकुश शक्ति शनैः शनैः कम होती जा रही थी तथा केवल धार्मिक कार्यों को छोड़ तीन संस्थाओं--पॉलीमार्क, आर्कन तथा थेसमोथेतायी--के बीच बँट गई थी।

आर्कन में नौ सदस्य होते थे। आरंभ में यह पद उच्च कुल के व्यक्तियों के ही हाथ में था। सोलन ने इसे प्रजातांत्रिक रूप दिया। विधान के अनुसार बिना झगड़े के सबको समान अवसर प्रदान करने के लिये पहले चारों वर्ग दस दस व्यक्तियों का चुनाव करते थे फिर उन व्यक्तियों में से नौ आर्कनों का चुनाव होता था। सदस्यों का चुनाव एक वर्ष के लिये उन व्यक्तियों में से होता था जिनकी अवस्था ३० वर्ष से ऊपर हो। जब तक सब नागरिकों की बारी न आ जाय तब तक कोई व्यक्ति चुनाव के लिये दुबारा नहीं खड़ा हो सकता था। पदग्रहण करने से पूर्व सदस्य की योग्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक था। सफल व्यक्ति को जनता के समक्ष ईमानदारी की शपथ लेनी पड़ती थी।

कार्यावधि के पश्चात् सत्यनिष्ठ सदस्य एरियोपागस सभा के सदस्य बन जाते थे। यह संस्था कानून की रक्षा करती थी तथा आर्कन के कार्यों पर दृष्टि रखती थी। जनता के साथ दुर्व्यवहार करने पर आर्कन पर महाभियोग लगाया जा सकता था। अरस्तू के अनुसार आर्कन का सामुदायिक उत्तरदायित्व सोलन के समय आरंभ हुआ।

सोलन के समय आर्कन कानूनी विषयों पर अंतिम निर्णय भी देती थी, केवल प्रारंभिक सुनवाई ही नहीं करती थी। ४८७ ई० पू० से इसका महत्व कम होता गया तथा कार्य नियमित मात्र ही रह गए।

सं०ग्रं०--एन्साइक्लोपीडिया, प्रथम भाग, इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, द्वितीय भाग, एल० ह्वीबले : कंपैनियन टु ग्रीक स्टडीज, अरिस्टोटल : एथीनियन कांस्टिट्यूशन। (ता० म०)

आर्कनी द्वीप स्काटलैंड के उत्तरी समुद्रतट के समीप स्थित द्वीपों का एक समूह है जिसका कुल क्षेत्रफल ३७५४ वर्ग मील है। आर्कनी शब्द संभवतः नॉर्स भाषा के आर्कन (सील मछली) तथा ई (द्वीप) शब्दों से संबद्ध है। ये द्वीप लगभग छह मील चौड़ी पेंटलैंड पथ द्वारा स्थलखंड से पृथक् हैं। इसके अंतर्गत ६७ द्वीप हैं (छोटे छोटे चट्टानी द्वीपों को छोड़कर)। इनमें से केवल आधे द्वीप ही आबाद हैं। ये सब द्वीप आर्कनी जिले के अंतर्गत आते हैं। इस जिले की राजधानी किर्कवाल है जो विशालतम द्वीप पमोना में स्थित है। ये द्वीप पुराने प्राचीन लाल बालुकाश्म (रेड सैंड-स्टोन) द्वारा निर्मित और वृक्षहीन हैं। ये नीचे द्वीप हैं जिनकी समुद्रतल से अधिकतम ऊँचाई १,००० फुट से अधिक नहीं है। द्वीपों की तटरेखा अत्यधिक कटी फटी है। हिमनदी के प्रभावचिह्न स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं। कुल जनसंख्या १७,८७८ (१९६१) है। लगभग आधी जनसंख्या का व्यवसाय कृषि है। इसके अतिरिक्त मत्स्य उद्योग महत्वपूर्ण है।

(रा० ना० मा०)

आर्कलाउस, कपादोशिया का रोमन राजा नीरो का समकालीन व्याख्याता और टीकाकार था। तत्कालीन व्यंग्य और हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक और कवि लसीलियस का मित्र। फेलिकस फीलाकासरू की तरह यह भी लसीलियस की रचनाओं का एक व्याख्याता, टीकाकार और समालोचक था। (अ० कि० ना०)

आर्कादियस (३७८-४०८ ई०), रोमन सम्राट् जो ३९५ ई० में रोम की गद्दी पर बैठा। उसी के समय रोमन साम्राज्य के दो भाग कर दिए गए। पश्चिमी साम्राज्य (गॉल और इटली) उसके भाई होनोरियस

को मिला और पूर्वी साम्राज्य, जिसकी राजधानी बिजांतियम बनी, स्वयं उसे मिला। दोनों भाइयों के बीच काफी दुर्भाव रहा और उसका लाभ गोथों ने खूब उठाया। उनके सरदार अलारिक ने ग्रीस को रौंद डाला। प्रसिद्ध पादड़ी जान क्रिसोस्टम, जिसने भारत के संबंध में भी लिखा है, तब पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कांस्तांतिनोपुल में ही था जहाँ से उसे सम्राज्ञी के विरोध के कारण चला जाना पड़ा। (ओ० ना० उ०)

आर्कितस इटली के दक्षिण में तारेंतम नामक प्राचीन नगर के निवासी। इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध है। ये अफलातून के समकालीन थे और प्राचीन काल में इनकी बड़ी ख्याति थी। अफलातून के साथ इनका साक्षात्कार और पत्रव्यवहार हुआ था। एक ओर ये अपने नगर के सेनाध्यक्ष थे और अनेक संग्रामों में विजयी हुए थे, दूसरी ओर महान् गणितज्ञ और विज्ञानवेत्ता थे। पेंच और घिरीं के आविष्कार का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। किसी घन को द्विगुणित करने की समस्या का भी इन्होंने दो अर्धरंभों (या बेलनों) द्वारा समाधान किया था। हरात्मक श्रेणी के रूप का निर्धारण भी इन्होंने किया और स्वरग्रामों में स्वरों के पारस्परिक अनुपात की भी खोज निकाला। दर्शनप्रस्थान में यह पिथागोरस के अनुयायी थे। (भो० ना० श०)

आर्किमीदिज (२८७-२१२ ई० पू०), विश्व के महान् गणितज्ञ, का जन्म सिसली के सिराक्यूज़ नामक स्थान में खगोलशास्त्री फाइडियाज़ के घर २८७ ई० पू० में हुआ था। इन्होंने गणित का अध्ययन संभवत: अलैक्जैंड्रिया में किया। गणित को इनकी देन अपूर्व है। इन्होंने यांत्रिकी के 'उत्तोलक (लिवर) के नियमों' का आविष्कार किया। चपटे तलों और भिन्न भिन्न आकृतियों के ठोसों के क्षेत्रफल एवं गुरुत्वकेंद्र निकालने में ये सफल हुए। इन्हीं ने प्राय: समस्त द्रवस्थिति विज्ञान का आविष्कार किया और इसका प्रयोग अनेक प्रकार के प्लवमान पिंडों की साम्यस्थिति ज्ञात करने में किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने वक्रीय समतल-आकृतियों के क्षेत्रफल एवं वक्रतल से सीमित ठोसों के घनफल निकालने की व्यापक विधियों की भी खोज की। इनकी विधियों में २,००० वर्ष पश्चात् आविष्कृत कलन (कैल्क्युलस) की विधियों की झलक थी। इन्होंने युद्धोपयोगी अनेक शस्त्रों की भी रचना की जिनसे २१२ ई० पू० के सिराक्युज के घेरे के समय रोमनिवासियों को अति क्षति पहुँची। अंत में विजेताओं द्वारा इनका वध कर दिया गया, परंतु सेनानायक मार्सेलस ने इनकी अपूर्व बुद्धि से प्रभावित होकर इनकी एक समाधि का निर्माण कराया, जिसके ऊपर इनके पूर्व इच्छानुसार बेलन के अंतर्गत खींचे गए एक गोले का चित्र अंकित किया गया था। (ग० कु०)

ग्रीक भाषा में आर्किमीदिज की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं: (१) पैरी स्फैराम् कै कीलिंद्रू (गोला और बेलन), (२) कीक्लू मैत्रेसिस् (वृत्त की माप), (३) पैरी कोनोाइदआन् कै स्फैरोाइदेओन् (शंकुभ-शंकु और गोलाभ-गोल), (४) पैरी एलीकोन (कुंतल), (५) पेरी ऐपीपैदान् इसोराइओन् ए केंत्रा बारान् एपीपैदान् (समतल समतोल और आकर्षणकेंद्र), (६) तेत्रागोनिस्मस् परबोलीस् (परवलय का क्षेत्रफल), (७) पैरी ओखूमैनोन् (प्लावी काय), (८) प्साम्मितेस् (बालुकाकणों की गणना), (९) मेथोदस् (वैज्ञानिक अनुसंधान की पद्धति), (१०) लेम्माता (भूमिति संबंधी प्रस्थापनाओं का संग्रह)। इनके अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाओं के केवल नाम मात्र उपलब्ध होते हैं। उनकी एक रचना का नाम पशुसमस्या भी है। आर्किमीदिज की सभी रचनाएँ मौलिक और प्रसादगुण से युक्त हैं। वह चलराशिकलन (इंटेग्रल कैल्कुलस) के आविष्कार के समीप तक पहुँच चुके थे। वृत्त की माप के संबंध में भी उनके परिणाम बहुत कुछ संतोषप्रद थे। यद्यपि उन्होंने बहुत से यंत्रों का निर्माण किया था, तथापि उनकी रुचि सैद्धांतिक गवेषणा की ओर अधिक थी।

सं०ग्रं०—मूल रचनाएँ, हाईबर्ग का संस्करण (लातीनी अनुवाद सहित), टी० एल० हीथ : द वर्क्स ऑव आर्किमीदिज, ई० टी० बेल : मेन ऑव मैथेमेटिक्स। (भो० ना० श०)

आर्किमीदिज का सिद्धांत द्र० 'घनत्व'।

आर्किलोकस् पारोस् द्वीपनिवासी कुलीन गृहस्थ तैलेसिक्लेस और उनकी दासी के पुत्र थे जो आगे चलकर अत्यंत उच्च कोटि के कवि हुए। उनके स्थितिकाल के संबंध में पर्याप्त विवाद है। कुछ आलोचक उनका समय ई० पू० ७५३ से ७१६ तक और दूसरे उनका समय ई० पू० ६५० के आसपास मानते हैं। उनके जीवन के संबंध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। उपनिवेश स्थापित करने में, युद्ध में और प्रणयव्यापार में उनको सर्वत्र ही असफलता का मुख देखना पड़ा। धनाभाव के कारण उनकी वाग्दत्ता प्रेयसी नेओबुले उन्हें प्राप्त न हो सकी। इसपर उन्होंने उसके और उसके पिता के प्रति इतनी कटु परिहासात्मक कविताएँ लिखीं कि पिता और पुत्री दोनों स्वयं फाँसी लगाकर मर गए। कुछ आलोचक इस परंपरागत कथा को संदिग्ध मानते हैं। आर्किलोकस् का प्राणांत युद्ध करते हुए हुआ। इस समय उनकी रचना का अंशमात्र उपलब्ध है। इयांबिक और एलिजियाक छंदों की पूर्ण संभावनाओं को उनकी रचना ने प्रकट किया। घृणा और कटुता की अभिव्यक्ति के कारण उन्हें 'वृश्चिकजिह्व' कहा गया है, पर अन्य गुणों के कारण उनका स्थान होमर के पश्चात् माना गया है।

आर्केंजिल उत्तर रूस का एक नगर है जो द्वीना नदी के डेल्टा के सिरे पर स्थित है। यह श्वेत सागर का प्रमुख नगर तथा बंदरगाह है। रूसी भाषा में इस नगर का नाम अरखानगेलिस्क है। यहाँ का सबसे छोटा दिन तीन घंटा १२ मिनट का तथा सबसे लंबा २१ घंटा ४८ मिनट का होता है। श्वेत सागर के कुल व्यापार का ८२ प्रति शत आर्केंजिल के द्वारा होता है। यह दक्षिण से रेल, नहर तथा नदी द्वारा संबद्ध है। यहाँ का मुख्य निर्यात लकड़ी, कोलतार, सन, तीसी तथा चमड़ा है, परंतु कुल निर्यात का ८० प्रति शत लकड़ी होती है। लकड़ी चीरना यहाँ का मुख्य उद्योग है। इसकी आबादी १९७० ई० में ३,४३,००० थी। (नृ० कु० सि०)

आर्कैंसस अमरीका के संयुक्त राज्यों में से एक, जो ३३° उ० से ३६° ३०′ उ० अ० तथा ८९° ४०′ प० से ९४° ४२′ प० दे० के बीच में है। इसके उत्तर में मिसौरी, पूर्व में मिसीसिपी, दक्षिण में लूइसियाना तथा पश्चिम में टेक्सास और ओक्लाहोमा हैं। इसका क्षेत्रफल ५३,१०२ वर्ग मील है और १९७१ में जनसंख्या १८,८६,२१० थी। यह मिसीसिपी की द्रोणी में स्थित है। अन्य राज्यों की अपेक्षा यहाँ की भौतिक रचना अधिक भिन्न है। इसको हम चार प्राकृतिक विभागों में बाँट सकते हैं: दो ऊँचे पठार, एक नदी की घाटी तथा एक पहाड़ी विभाग। मेक्सिको की खाड़ी के प्रभाव से यहाँ की जलवायु दक्षिणी है। जाड़ा, वसंत, गर्मी तथा बरसात का निम्नतम ताप क्रमानुसार ४५°, ६११°, ७८.८° तथा ६१.२° रहता है। पूर्वोक्त ऋतुओं में औसत वर्षा क्रमानुसार ११.७", १४.५", १०.५" और १०.७" होती है। यहाँ वनस्पति तथा जंतु अधिकता से मिलते हैं। राज्य का १/४ भाग जंगलों से ढका है। कृषि यहाँ का मुख्य उद्यम है तथा कपास मुख्य उपज। कपास के अतिरिक्त सोयाबीन, चावल तथा अंडों का भी उत्पादन होता है। १९७० में यहाँ के कुल पशुओं की संख्या १८,०५,००० थी जिनमें १,५७,००० दुधारू गाएँ, ८,००० भेड़ और २,८८,००० सुअर हैं। कपास तथा कपास के बने पक्के माल का मूल्य कृषि की संपूर्ण उपज के मूल्य का लगभग आधा रहता है। यहाँ का चावल उद्योग भी विकसित हो रहा है। फलों के उत्पादन में भी इस राज्य का स्थान ऊँचा है। पशु उद्योग तथा दूध से बने पदार्थों के उद्योग पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। यहाँ का काष्ठ उद्योग भी महत्वपूर्ण है। खनिज उद्योग में पेट्रोलियम का स्थान १९४० तक सर्वोच्च रहा। इस राज्य में रेल तथा सड़क द्वारा यातायात के साधन सुविकसित हैं। दमचूल्हा बनाने का उद्योग यहाँ काफी विकसित है और इसके उत्पादन में इसका स्थान अमरीका में दूसरा है।

आर्कैंसस कोलोरैडो राज्य में रॉकी पर्वतश्रेणियों (२९°२०′ उ० अ० —१०६° ५′ प० दे०) से निकलकर २,००० मील के प्रवाह के अनंतर मिसीसिपी-मिसौरी नदी में मिल जाती है। मिसीसिपी-मिसौरी प्रणाली में यह सबसे बड़ी नदी है। कैनियन नामक कंदर के कुछ ऊपर ही यह रॉकी पर्वत को छोड़ देती है। नदी के किनारे पर १,३०० मील तक बलुआ, चिकनी

तथा दोमट मिट्टी पाई जाती है। गर्मी में इस नदी में भयंकर बाढ़ आ जाया करती है।

आर्कैमैस नगर आर्कैंसैस और मिसीसिपी राज्य की सीमा पर मिसीसिपी नदी के किनारे बसा है। (नृ० कु० सि०)

आर्केलाउस १ सुकरात के पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिक। इनका समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी है। इनके जन्मस्थान के संबंध में मतभेद है। कोई इनको मिलेतस् का निवासी मानते हैं, कोई एथेंस का। यह अनाक्सागोरस के शिष्य तथा सुकरात के गुरु माने जाते हैं। इनके मत में आद्य मिश्रण में शीत और उष्ण की उत्पत्ति हुई और शीत तथा उष्ण से समस्त प्रजनन और विकास की प्रक्रिया उत्पन्न हुई। पवन भी इनके मत में अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। ये जीवों की उत्पत्ति कीचड़ में मानते थे। आर्केलाउस दार्शनिक चिंतन को इयोनिया से एथेंस ले आए। ये अंतिम प्रकृतिवादी थे; सुकरात के साथ आचारवादी दर्शन का श्रीगणेश हुआ। (भो० ना० श०)

आर्केलाउस २ हेरोद महान् के पुत्र और जूदा राज्य के उत्तराधिकारी। हेरोद ने पहले अपने दूसरे पुत्र ऐंतीपास को अपना उत्तराधिकारी बनाया था, किंतु अपनी अंतिम वसीयत द्वारा उन्होंने आर्केलाउस को वे सब अधिकार दे दिए जो ऐंतीपास को दिए थे। सेना ने उन्हें राजा घोषित कर दिया, किंतु उस समय तक उन्होंने राजा बनना स्वीकार नहीं किया जब तक रोम के सम्राट् आगुस्तस उनके इस दावे को स्वीकार न करें। रोम की यात्रा से पूर्व उन्होंने बड़ी निर्दयता से फारसिया के विद्रोह का दमन किया और ३,००० विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया। आगुस्तस द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर उन्होंने और अधिक दमन के साथ शासन प्रारंभ किया। यहूदी धर्म के नियमों का उल्लंघन करने के कारण सन् ७ ई० में वे पदच्युत करके निर्वासित कर दिए गए। (वि० ना० पा०)

आर्केसिलाउस (अथवा सिसरो या किकरो के अनुसार आर्केसिलास्) एक यूनानी दार्शनिक जो संदेहवादी अकादेमी के प्रवर्तक थे। इनका समय ई० पू० ३१५ से ई० पू० २१८-५ तक है। इनका जन्मस्थान पितान नगर था। एथेंस में आकर प्रथम यह अरस्तू के लोकियुम् में थियोफ्रास्तस् के शिष्य बने, पर क्रांतर नामक विद्वान् इन्हें प्लातोन की अकादेमी में ले आया। ई० पू० २६८-५ के लगभग ये अपनी प्रतिभा के कारण अकादेमी के अध्यक्ष बन गए। इनकी कोई भी रचना नहीं मिलती। इन्होंने स्तोइक (विरक्तिवादी) दार्शनिकों के 'विश्वासोत्पादक प्रत्यक्ष' का खंडन कर संदेहवाद का प्रतिपादन किया और सुकरात की विवेचनापद्धति को पुन: प्रतिष्ठित किया। पर यह समझ में नहीं आता कि इस संदेहवाद की संगति अकादेमी के संस्थापक प्लातोन के विचारों के साथ कैसे संभव हुई। (भो० ना० श०)

आर्गन एक रंगहीन, गंधहीन गैसीय तत्व है, जो वायु में तथा ज्वालामुखी पर्वतों से निकली गैसों में मिलता है। सन् १७८५ ई० में हेनरी कैवेंडिश ने वायु में विद्युत्स्फुलिंग द्वारा निर्मित नाइट्रोजन आक्साइडों को कास्टिक सोडा विलयन में अवशोषित कराया। इसके पश्चात् और आक्सिजन प्रविष्ट करके उक्त क्रिया कई बार दुहराई गई। सभी गैसों के अवशोषण के पश्चात् एक बुलबुला शेष रह गया जो अनवशोषित रह गया। इन प्रयोगों से कैवेंडिश ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वायुमंडल के नाइट्रोजन का कोई भी अंश उसके शेषांश से भिन्न है और नाइट्रस अम्ल में परिवर्तित नहीं होता, तो वह पूरी वायु के १/१२० वें अंश से अधिक नहीं है।

सन् १८९२ ई० में लार्ड रैले ने प्राउट के सिद्धांत की परीक्षा करने के लिये हाइड्रोजन, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन जैसी प्रमुख गैसों के घनत्व ज्ञात किए। वायुमंडल के नाइट्रोजन का घनत्व १.२५७१८ निकला और अमोनिया या नाइट्रिक आक्साइड से प्राप्त रासायनिक नाइट्रोजन का घनत्व १.२५१०७ देखा गया। इस प्रकार वायुमंडल के नाइट्रोजन का घनत्व ०.४७ प्रति शत अधिक पाया गया। इस नाइट्रोजन में न किसी प्रकार की अशुद्धियाँ पाई गईं और न आठ मास तक रखे रहने पर उसके घनत्व में किसी प्रकार का परिवर्तन ही देखा गया।

दो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त नाइट्रोजन के घनत्वों के बीच इस प्रकार के अंतर को समझाने के लिये केवल प्रायोगिक त्रुटियाँ ही पर्याप्त नहीं थीं, अत: वायुमंडल के नाइट्रोजन में नाइट्रोजन के भारी समस्थानिक ($ना_3$) की उपस्थिति अथवा रासायनिक नाइट्रोजन में थोड़ी मात्रा में हाइड्रोजन की उपस्थिति की संभावना बताई गई। किंतु रैमजे (सन् १८९४ ई०) ने इस प्रकार के अनुमानों को निराधार सिद्ध करते हुए उसमें एक अज्ञात, भारी गैस की उपस्थिति बताई। उन्होंने वायु में से कार्बन डाईआक्साइड, आर्द्रता, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन को हटाने के पश्चात् इस गैस को पृथक् करके इसका नाम आर्गन रखा। आर्गन ग्रीक शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है निष्क्रिय या सुस्त। हाइड्रोजन के सापेक्ष इसका घनत्व २० के निकट था और रासायनिक रूप में बिलकुल निष्क्रिय होने के कारण किसी प्रकार के यौगिक बनाने का सामर्थ्य इसमें नहीं पाया गया। इसके पश्चात् रैले, रैमजे तथा अन्य लोगों की खोजों के फलस्वरूप निष्क्रिय गैसों की पूरी शृंखला निकल आई, जिसमें हीलियम, नियन, आर्गन, क्रिप्टन, जेनन तथा रैडन मिलकर आवर्तसारणी के शून्यसमूह में आते हैं।

उपस्थिति—वायुमंडल की वायु में आयतन के अनुसार १०० भागों में आर्गन का ०.९३२ भाग तथा भार के अनुसार १.२८५ भाग वर्तमान है। खनिजीय झरनों में भी आर्गन उपस्थित रहता है।

निर्माण—आर्गन गैस के निर्माण में तीन प्रमुख विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं: (१) वायु में से रासायनिक विधियों द्वारा अन्य सभी गैसों का बहिष्करण, (२) तरल वायु का प्रभाजन तथा (३) डेवार की विधि, अर्थात् लकड़ी के कोयले द्वारा अवशोषण।

(१) कैवेंडिश द्वारा प्रयुक्त रासायनिक विधि का परिष्कार रैले और रैमजे ने किया। उन्होंने वायु में से कार्बन डाईआक्साइड को सोडा, लाइम तथा पोटाश के विलयन द्वारा हटाकर, आक्सिजन को लाल गर्म ताँबे से अवशोषित कराकर तथा नाइट्रोजन को लाल गर्म मैगनीशियम की प्रतिक्रिया से मैगनीशियम नाइट्राइड बनाकर पृथक् किया। शुद्धता के लिये इस विधि को कई बार दुहराया गया। बाद में निष्क्रिय गैसों का पृथक्करण द्रवण तथा प्रभाजन द्वारा किया गया।

फिशर, रिंज और क्रोमलिन ने अपने अपने प्रयोगों में ९० प्रति शत कैल्सियम कार्बाइड तथा १० प्रति शत कैल्सियम क्लोराइड के मिश्रण को लोहे के मुँहबंद बर्तन में वायु के साथ गरम करके वायु में से आक्सिजन तथा नाइट्रोजन को दूर किया।

(२) औद्योगिक स्तर पर निष्क्रिय गैसों का उत्पादन तरल वायु के प्रभाजन द्वारा किया जाता है। लिंडे, क्लाडे, तथा दूसरों ने इस प्रकार की सफल विधियों को विकसित किया है। निष्क्रिय गैसों के क्वथनांकों के एक दूसरे से अत्यंत निकट होने के कारण विशेष प्रकार के स्तंभों का प्रयोग किया जाता है। वायु की तरलीभवन प्रक्रिया में अधिकांश आर्गन तरल आक्सिजन के साथ रहता है और इन स्तंभों में नीचे गिरती धारा में से आर्गन एक विशेष विधि से अलग किया जाता है। आक्सिजन और नाइट्रोजन के अंतिम अंशों को रासायनिक विधि से पृथक् किया जाता है।

(३) डेवार विधि में वायु से प्राप्त मिश्रित निष्क्रिय गैसों को एक बल्ब में, जिसमें नारियल का कोयला भरा रहता है, प्रविष्ट किया जाता है और उसे एक शीत अवगाह में रख दिया जाता है। आधे घंटे के पश्चात् अवशोषित गैसों को अलग किया जाता है। जब १००° सें० पर आर्गन, क्रिप्टन तथा जेनन गैसें, अवशोषित दशा में, तरल वायु के ताप पर ठंढे किए गए एक दूसरे कोयले के संपर्क में रखी जाती हैं तो आर्गन इस कोयले में विसरित होकर चली जाती है। कोयले को गर्म करके आर्गन को मुक्त कर लिया जाता है।

आर्गन रंगविहीन, स्वादरहित तथा गंधरहित गैस है, जिसका घनत्व १९.९७ (हाइड्रोजन = १), परमाणुभार ३९.९४४, परमाणुसंख्या १८, क्वथनांक –१८५.८१° सें०, गलनांक –१८९.६° सें०, क्रांतिक ताप –१२२.४° तथा क्रांतिक दाब ४७.९९ वायुमंडल है। इसका रासायनिक संकेत $आ_{र}$ (A) है। यह जल में १२° सें० ताप पर ४ प्रति शत अथवा नाइट्रोजन से २.५ गुना अधिक विलेय है। वर्षा के जल में विलयित गैसों में आर्गन का अनुपात अधिक रहता है। आर्गन का वर्तनांक वायु से ०.९६१

गुना है और श्यानता १'२१ (वायु की तुलना में) है। इसके समस्थानिक आरगन ४० (आ$_र^{४०}$) तथा आरगन ३६ (आ$_र^{३६}$) एक प्रति शत मात्रा में पाए जाते हैं। रासायनिक निष्क्रियता के कारण इसका परमाणुभार नहीं निकाला जा सका है, किंतु कुंट तथा वारबुर्ग ने विशिष्ट उष्माओं के अनुपात से (C_p/C_v = स्थिर दाब पर विशिष्ट उष्मा/स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्मा = १'६५) इसकी परमाणुकता निश्चित की है।

आर्गन के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में अनेक रेखाएं रहती हैं, किंतु उनमें से एक भी अद्वितीय नहीं है। अब नील वर्णक्रम का कारण आयनीकृत अणु बताया जाता है। अन्य निष्क्रिय गैसों की भाँति आर्गन भी नारियल के कोयले द्वारा शोषित होता है।

यौगिक—बर्थेलो ने (सन् १८९५ ई० में) सूचित किया कि जब बेंज़ीन और आर्गन के मिश्रण में विद्युत्स्फुलिंग का विसर्जन किया जाता है तो उनका संकुचन होता है, किंतु इस परिणाम का पुष्टीकरण नहीं किया जा सका। आर्गन के वातावरण में जलवाष्प प्रविष्ट करने से न्यून ताप पर एक निश्चित हाइड्रेट **आ**$_र$ ६**हा**$_२$ **औ** बनता है, किंतु यह अत्यंत अस्थायी होता है और –२४८° सें० पर विघटित हो जाता है। बूथ और विल्मन (सन् १९३५ ई०) ने आर्गन और बोरन फ्लोराइड के मिश्रण के हिमांक वक्रों के अध्ययन के फलस्वरूप निम्न तापों पर (**आ**$_र$)$_न$ **बोफ्लो**$_३$, न = १, २, ३, ६, ८ तथा १६, जैसे यौगिकों की उत्पत्ति सिद्ध की, किंतु वे अत्यंत अस्थायी होने के कारण अपने गलनांकों के पूर्व ही विघटित हो जाते हैं।

(यहाँ आ$_र$ = आर्गन, हा = हाइड्रोजन, औ = आक्सिजन, बो = बोरन, फ्लो = फ्लोरीन)।

प्रयोग—आर्गन गैस का प्रयोग विद्युद्विसर्जन नलिकाओं, दीपकों, रेडियो वाल्वों तथा रेक्टिफायरों में प्रदीप्त करने के लिये होता है।

सं०ग्रं०—जी० डी० पार्क्स तथा जे० डब्ल्यू० मेलर : माडर्न इनआर्गैनिक केमिस्ट्री (१९६७), पी० सी० एल० थार्न तथा ई० आर० रॉबर्ट्स : इनआर्गैनिक केमिस्ट्री (१९४९), ज० अम० केमि० सोसा० १९३५, ५७, २२७३। (ब० वि० ला० स०)

आर्गोस प्राचीन ग्रीस का एक प्रसिद्ध नगर। यह आरगिव खाड़ी के सिरे पर मैदानी भाग में बसा है। मैदान बहुत उपजाऊ है तथा यहाँ यातायात की सुविधा है। यहाँ से मार्ग पश्चिम में आरकेडिया तक जाता है। ग्रीक किंवदंतियाँ इसकी पुरानी सभ्यता की कहानी बताती हैं जिससे पता चलता है कि यहाँ मिस्र, लीबिया और अन्य देशों से आदान प्रदान होता था। आरंभिक चतुर्थ शताब्दी में यह नगर जनसंख्या तथा संपन्नता की दृष्टि से बहुत उन्नत दशा में था। १८५४ ई० में अमरीकी पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा इसका पूरा अन्वेषण हुआ और उन लोगों को एक पुराने मंदिर का अवशेष मिला जिसमें ११ पृथक् भवन थे। इनका सम्मिलित क्षेत्रफल ६७५ × ३२५ वर्ग फुट था। (नृ० कु० सि०)

आर्च चांसलर पवित्र रोमन साम्राज्य में सबसे बड़े पद का अधिकारी। मध्यकालीन यूरोप में यह उपाधि उसको मिलती थी जो बड़े बड़े अफसरों के काम की देखभाल किया करता था। प्रथम लूथर के एक फर्मान में, जो ८४४ ई० में निकला था, आलिगमार को उस पद से विभूषित किया गया था। इसके अतिरिक्त कई और स्थानों पर भी इसका वर्णन पाया जाता है। जर्मनी में महान् ओटो के राज्यकाल में भी इसका नाम आता है। ११वीं शताब्दी में इटली के आर्च चांसलर का पद कोलोन के आर्च बिशप (बड़े पादरी) के हाथों में था। १३६५ ई० में चौथे चार्ल्स के राज्यकाल में आर्च चांसलर के पद के तीन भाग हुए जो गोल्डेन बिलवाले कागजों में मिलते हैं। (मु० अ० अ०)

आर्च ड्यूक आस्ट्रिया के राजपरिवार का नाम। मध्यकालीन यूरोप में यह उपाधि बहुत ही कम लोगों को मिली। आर्च ड्यूक पालातीन की उपाधि सबसे पहले ड्यूक रडोल्फ चतुर्थ ने धारण की। उन्होंने यह पद अपनी मुहरों पर खुदवाया और अपने फर्मानों में भी लिखा। वे इस उपाधि का प्रयोग उस समय तक करते रहे जब तक चार्ल्स् चतुर्थ ने उन्हें मना नहीं कर दिया। कानून के अनुसार यह पद हैप्सबर्ग के राजपरिवार को उस समय मिला जब १४५३ ई० में फ्रेडरिक तृतीय ने अपने पुत्र मैक्समिलन और उसके वंशजों को आस्ट्रिया के आर्च ड्यूक का पद दिया। (मु० अ० अ०)

आर्च बिशप ईसाई गिरजों में किसी प्रांत के मुख्य धर्माधिकारी को बिशप अथवा धर्माध्यक्ष की उपाधि दी जाती है (द्र० **बिशप**)। चौथी शताब्दी ई० में बड़े नगरों के बिशप आर्च बिशप, अर्थात् महाधर्माध्यक्ष कहे जाने लगे। आज तक रोमन कैथालिक, आरथोडाक्स एंगिलकन तथा एकाध लूथरन गिरजों में आर्च बिशप की उपाधि का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ इंग्लैंड के चर्च में केवल दो आर्च बिशप होते हैं—कैंटरबरी और यार्क में। भारत में रोमन कैथालिक चर्च में निम्नलिखित शहरों में आर्च बिशप रहते हैं—दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, मद्रास, आगरा, नागपुर, बँगलोर, हैदराबाद, मदुराई, पांडीचेरी, वेरापोली, राँची, एरणाकुलम् और त्रिवेंद्रम्। (का० बु०)

आर्जुनायन प्राचीन भारत का एक प्रख्यात गण। गुप्तनरेश समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में गुप्तकालीन अन्य गणों के साथ आर्जुनायनों का भी उल्लेख मिलता है—"मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचंडशासनस्य (समुद्रगुप्तस्य)" जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्जुनायनों ने सब प्रकार के करों के दान से तथा आज्ञा स्वीकार कर समुद्रगुप्त के प्रचंड शासन को संतुष्ट किया था। इनमें गणतंत्र राज्यप्रणाली द्वारा शासन होता था। ये मध्यदेश की प्रत्यंत सीमा पर बसे थे। इनके ताँबे के सिक्के मथुरा, भरतपुर तथा अलवर में पाए गए हैं जिनपर 'आर्जुनायनाना जय' लेख है। उनके एक ओर खड़ा हुआ ककुद्मान वृषभ है और दूसरी ओर पुरुषमूर्ति है। ये सिक्के यौधेय गणों के सिक्कों से मिलते हैं। समुद्रगुप्त के पूर्वोक्त शिलालेखों में आर्जुनायनों के अनंतर ही यौधेयों का उल्लेख दोनों की संभवत: समीपस्थ स्थिति का परिचायक माना जा सकता है। काशिकाकार ने भी पाणिनि के एक सूत्र के उदाहरण में आर्जुनायनों का उल्लेख किया है—बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु (अष्टाध्यायी २।४।६६), पर पतंजलि ने 'औद्दालकि' और 'औद्दालकायन' उदाहरण दिए हैं, परंतु काशिकाकार ने इन्हें बदलकर अपने समकालीन 'आर्जुनि' और 'आर्जुनायन' उदाहरण रखे हैं। आर्जुनायन गण की स्थापना लगभग शुंगकाल में हुई और समुद्रगुप्त के साम्राज्य में वे निस्तेज हो गए। काशिका का पूर्वोक्त निर्देश इस बात का साक्षी है कि इनकी स्मृति छठी शती में भी जागरूक थी। (ब० उ०)

आर्जेंटीना क्षेत्रफल एवं जनसंख्या की दृष्टि से दक्षिणी अमरीका का, ब्राजील देश के बाद, द्वितीय विशालतम देश है (क्षेत्रफल २७,७९,६५६ वर्ग कि० मी०)। देश २२° द० अ० तथा ५५° द० अ० के मध्य ३७,०० कि० मी० की लंबाई में उत्तर दक्षिण फैला हुआ है। इसकी आकृति एक अधोमुखी त्रिभुज के समान है जो लगभग २,६०० कि० मी० चौड़े आधार से दक्षिण की ओर सँकरा होता चला गया है। उत्तर में यह बोलिविया एवं परागुए, उत्तर, पूर्व में यूरुगुए तथा ब्राजील और पश्चिम में चिली देश से घिरा है। 'चाँदी' के लिये प्रयुक्त लैटिन तथा स्पैनिश पर्यायवाची शब्दों से ही, जो क्रमश: 'अर्जेंटम' एवं 'प्लाटा' हैं, अर्जेंटीना और रायो डी ला प्लाटा (देश की महान् एस्चुअरी) का नामकरण हुआ है।

आरंभ में यह एक उपनिवेश था जिसकी स्थापना स्पेन के चार्ल्स् तृतीय ने पुर्तगाली दबाव को रोकने के लिये की थी। सन् १८१० ई० में देश की जनता ने स्पेन की सत्ता के विरुद्ध आंदोलन आरंभ किया जिसके परिणामस्वरूप १८१६ ई० में यह स्वतंत्र हुआ। परंतु स्थायी सरकार की स्थापना १८५३ ई० से ही संभव हुई।

आर्जेंटीना गणतंत्र के अंतर्गत २२ राज्यों के अतिरिक्त एक फेडरल जिला तथा टेरा डेल फ्यूगो, अंटार्कटिका महाद्वीप के कुछ भाग और दक्षिणी अतलांतक सागर के कुछ द्वीप हैं।

प्राकृतिक दशा—पश्चिम के पर्वतीय क्षेत्र को छोड़कर देश का अन्य शेष भाग मुख्यत: निम्न भूमि है। देश सामान्यत: चार स्वाभाविक प्रदेशों

में विभक्त हो जाता है : ऐंडीज पर्वतीय प्रदेश, उत्तर का मैदान, पंपाज और पैटागोनिया।

ऐंडीज पर्वतीय प्रदेश के अंतर्गत देश का लगभग ३० प्रति शत भाग आता है। पश्चिम में उत्तर दक्षिण फैली इस पर्वतश्रेणी का उत्थान तृतीयक कल्प में आल्प्स गिरि-निर्माण-काल में हुआ था। यह चिली देश के साथ प्राकृतिक सीमा निर्धारित करती है। इस श्रेणी में ही, मध्य एशिया के पश्चात्, विश्व के उच्चतम शिखर स्थित हैं, जैसे माउंट अकोंकागुआ (७,०२३ मीटर), मर्सीडारियो (६,६७२ मीटर) और टुपनगाटो (६,८०२ मीटर)। इस प्रदेश में अंगूर, शहतूत तथा अन्य फल बहुतायत से पैदा होते हैं।

उत्तर के मैदानी प्रदेश के अंतर्गत चैको मैसोपोटामिया तथा मिसिओनेज क्षेत्र हैं। इस प्रदेश में जलोढ के विस्तृत निक्षेप पाए जाते हैं। अधिकांश भाग वर्षा ऋतु में बाढ़ग्रस्त हो जाते हैं। चैको क्षेत्र वनससाधन में धनी है तथा मिसिओनेज में यर्बा माते (एक प्रकार की चाय) की खेती होती है। पराना, परागुए आदि नदियों से घिरा मैसोपोटामिया पशुओं के लिये प्रसिद्ध है।

देश के मध्य में स्थित पंपाज प्रदेश अत्यधिक उपजाऊ और विस्तृत समतल घास का मैदान है। यह देश का सबसे समृद्धिशाली भाग है जिसमें ८० प्रति शत जनसख्या रहती है। कृषि एवं पशुपालन उद्योगों के कुल उत्पादन का लगभग दो तिहाई भाग यहीं से प्राप्त होता है।

पैटागोनिया प्रदेश रायो निग्रो से दक्षिण की ओर देश के दक्षिणी छोर तक फैला है (क्षेत्रफल ७,७७,००० वर्ग कि० मी०)। यह अर्धशुष्क एवं अल्प जनसख्यावाला पठारी प्रदेश है। यहाँ विशेष रूप से पशुपालन का कारबार होता है।

नदियाँ ऐंडीज पर्वत अथवा उत्तर की उच्च भूमि से निकलकर पूर्व की ओर प्रवाहित होती है और अतलांतक सागर में गिरती है। पराना, परागुए तथा युरुगुए मुख्य नदियाँ हैं।

देश की जलवायु प्रधानत शीतोष्ण है। परतु, उत्तर में चैको की अत्यधिक उष्ण जलवायु, मध्य में पंपाज की सम और सुहावनी जलवायु, तथा उपअंटार्कटिक शीत से प्रभावित दक्षिणी पैटागोनिया का हिमानी क्षेत्र जलवायु की विविधता को प्रदर्शित करते हैं। देश का यथेष्ट अक्षांशीय विस्तार तथा उच्चावच का विशिष्ट अंतर ही इस विविधता के प्रधान कारण हैं। अधिकतम ताप (५५° से०) उत्तरी छोर पर और निम्नतम (१८° से०) दक्षिणी छोर पर मिलते हैं। वर्षा की मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है।

जलवायु, मिट्टी और उच्चावच में विशिष्ट क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कारण ही देश में उष्णकटिबंधीय वर्षावाले वनों से लेकर मरुस्थलीय काँटेदार झाड़ियों तक पाई जाती है।

जनसख्या एवं नगर—देश की जनसख्या का अधिकाश, कुछ समय पूर्व से (१८८० ई०), आप्रवासित यूरोपवासी (मुख्यत इटली एव स्पेन निवासी) है। अन्य दक्षिणी अमरीका के देशों के विपरीत यहाँ नीग्रो अथवा इडियन आदिवासियों की सख्या नगण्य है। इस प्रकार देशवासियों में प्रजातीय एव सांस्कृतिक समानताएँ मिलती हैं। जनसख्या का घनत्व आठ मनुष्य प्रति वर्ग किलोमीटर है। जनसख्या की वृद्धि के लिये भूमि में पर्याप्त क्षमता है। स्पैनिश राष्ट्रभाषा है। ६५ प्रति शत मनुष्य रोमन कैथॉलिक हैं। राष्ट्रीय साक्षरता ६१ प्रति शत है।

देश की कुल जनसख्या लगभग २,३३,१६,००० (१६७०) है जिसमें से करीब ७० प्रति शत नगरों में रहते हैं। नगरीय जनसख्या के आधे प्राणी ग्रेटर ब्यूनस आयर्स में वास करते हैं। इस क्षेत्र की गणना विश्व के विशालतम महानगरीय क्षेत्रों में होती है। मुख्य नगरों की जनसख्या (१६६० ई०) इस प्रकार है : ब्यूनस आयर्स—२६,६६,८१६, रोजैरियो—६,७१,८५२, कार्डोबा—५,८६,१५३, ला प्लाटा—३,३०,३१०, मार डेल प्लाटा—३,२०,००० (अनुमानित), तुकुमन—२,८७,००४, साता फे—२,५६,५६०, पराना—१,७४,२७२; बाहिया ब्लैंका—१,५०,३५४, साल्टा—१,२१,४६१, कोरियेंटीज—१,१२,७२५ तथा मैंडोजा—१,०६,१४६।

यातायात—रेल मार्ग एव राष्ट्रीय महामार्ग की कुल लबाई क्रमश ४२,१६३ तथा ५६,००० कि०मी० (१६७०) थी। लगभग १५,००,००० मोटर गाड़ियाँ सड़कों पर चल रही थी। पराना, युरुगुए तथा परागुए नदियाँ अंतर्देशीय जल यातायात के लिये विश्वविख्यात हैं। ब्यूनस आयर्स एव ला प्लाटा (दोनों प्लाटा एस्चुअरी पर स्थित) और बाहिया ब्लैंका मुख्य पत्तन हैं। पराना नदी पर रोजैरियो सबसे बड़ा अंतर्देशीय पत्तन है। ब्यूनस आयर्स पश्चिमी गोलार्ध का, न्यूयार्क के बाद, दूसरा विशालतम पत्तन है तथा इसके अंतर्गत देश का ८० प्रति शत आयात निर्यात आता है।

आर्थिक दशा—आर्जेंटीना विश्व का एक महत्वपूर्ण खाद्य उत्पादक और खाद्य निर्यातक देश है। गेहूँ मुख्य व्यावसायिक फसल है जिसकी अधिकतम खेती पंपाज में होती है। इस प्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण फसलें मक्का, जौ, जई, पटुआ और अल्फाल्फा हैं। यर्बा माते, सोयाबीन, सूरजमुखी के बीज, गन्ना, कपास, अंगूर, जैतून इत्यादि का उत्पादन देश के अन्य भागों में काफी मात्रा में होता है।

मांस, चमड़ा तथा ऊन के उत्पादन एव निर्यात की दृष्टि से आर्जेंटीना विश्व का एक महत्वपूर्ण देश है। पशुपालन उद्योग मुख्यत पंपाज प्रदेश में विकसित किया गया है। देश में डेरी उद्योग का भी यथेष्ट विकास हुआ है। मत्स्यक्षेत्रों के विकास की सभावनाओं को लेकर यह देश आगे बढ़ रहा है।

खनिज संसाधन—इसमें देश निर्धन है। सीसा, जस्ता, टंगस्टन, मैंगनीज, लोहा और बेरीलियम ही यहाँ के उल्लेखनीय खनिज हैं। मिट्टी का तेल भी आर्जेंटीना का मुख्य खनिज है जो मुख्यतया पैटागोनिया प्रदेश में मिलता है। यांत्रिक ऊर्जा में भी देश निर्धन है यद्यपि पेट्रोलियम के उत्पादन में अब वृद्धि हो रही है।

औद्योगिक विकास—मुख्यत ब्यूनस आयर्स फेडरल कैपिटल में (३२ प्रति शत), ब्यूनस आयर्स राज्य (३२ प्रति शत) तथा सांता फे (१० प्रतिशत) में केंद्रित है। वस्तुनिर्माण उद्योग की वृद्धि का कृषि एव पशुपालन उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। मांस को डिब्बों में बंद करना, काँच, शृंगारसामग्री, रंग, हल्की मशीनें, वस्त्र, वस्त्र, वस्तुनिर्माण की मशीनें और बिजली की मोटरें आदि का निर्माण महत्वपूर्ण उद्योग है।

विदेशी व्यापार—यहाँ से मांस, धान्य फसलों, अलसी तथा अलसी का तेल, ऊन, चमड़ा, वन्य एव दुग्ध पदार्थ और पशुओं का निर्यात होता है। मशीनों, ईंधन एव स्नेहक, लोहा तथा इस्पात से निर्मित वस्तुओं, लकड़ी, खाद्यपदार्थ, रसायन एव औषधि, अलौह धातु तथा उनसे निर्मित सामान का यहाँ आयात किया जाता है। यह व्यापार मुख्यत सयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, ब्राजील, पश्चिमी जर्मनी, नीदरलैंड, इटली, वेनेज्युला तथा फ्रांस से होता है।

वर्तमान दशा एव भविष्य—यद्यपि इस देश के नगरों में जनसख्या का ऊँचा अनुपात है, तो भी अर्जेंटीना एक परंपराबद्ध ग्रामीण खेतिहर देश है। १६१० ई० से ही देश ग्रामीण समाज और ग्रामीण अर्थतंत्र से नगरीय समाज और औद्योगिक अर्थतंत्र में परिणत हो रहा है। इस परिवर्तन से सामाजिक ढाँचे में यथेष्ट तनाव उत्पन्न हुआ है। परंतु ससाधनों के शोषण में निरंतर वृद्धि के परिणामस्वरूप देश की गणना अवश्य ही निकट भविष्य में विश्व के प्रमुख समृद्धिशाली देशों में हो जायगी।

(रा० ना० मा०)

आर्जेंटीनी दक्षिण अमरीका के पहाड़ी प्रदेश आर्जेंटीना की भाषा को आर्जेंटीनी कहा जाता है। यह दक्षिण अमरीका के किचुआ अथवा रूनासिना भाषापरिवार की एक भाषा है। (स० कु० रो०)

आर्टेल्ट प्रोफेसर वाल्टर आर्टेल्ट, जर्मन डाक्टर, का जन्म सन १८६८ ई० में जर्मनी के डार्मस्टेड नामक नगर में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद ये बर्लिन इंस्टिट्यूट के हिस्ट्री ऑव मेडिसिन के अध्यक्ष प्रोफेसर डिपेगन के सहायक के रूप में कार्य करते रहे। इनकी रुचि दंत-चिकित्सा-

विज्ञान मे थी, किंतु प्रोफेसर डिरेगन के इतिहास संबधी भाषणों को सुनकर इनका झुकाव इस ओर हो गया और उनके साथ काम करके इन्होंने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद बर्लिन विश्वविद्यालय मे इन्हे अपने प्रबंध (थीसिस) पर 'मेडिकल डाक्टर' की उपाधि प्राप्त हुई। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध मे इन्होंने सेना मे रहकर घायल सैनिकों की सेवा की। तदुपरांत फ्रैंकफर्ट-ऑन-मेन के विश्वविद्यालय मे "चिकित्साशास्त्र के इतिहास" के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

सन १९४५ ई० से सन् १९४८ ई० के बीच प्रोफेसर आर्टेल्ट के इंस्टिट्यूट से चिकित्साशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र के इतिहास से संबधित प्रकाशित पुस्तकों, ग्रंथो तथा लेखो के सूचीपत्र तथा कई अनुसूचियाँ प्रकाशित हुई है। इस प्रकार चिकित्साशास्त्र के इतिहास के क्षेत्र मे प्रोफेसर वाल्टर आर्टेल्ट लब्धप्रतिष्ठ तथा मान्य विद्वान् है। ये चिकित्साविज्ञान की जर्मन इतिहास परिषद् और प्राकृतिक विज्ञान तथा टेकनीक नामक संस्था के भी अध्यक्ष है। (शि० का० ख०)

आर्डमोर संयुक्त राज्य (अमरीका) के ओक्लाहोमा राज्य के दक्षिणी भाग तथा ओक्लाहोमा नगर से १०० मील दक्षिण स्थित एक शहर है। यह समुद्र की सतह से ८७६ फुट की ऊँचाई पर बसा है। यह नगर तेल एवं कृषिक्षेत्र के बीच मे पड़ता है और थोक तथा फुटकर व्यापार का केंद्र है। यहाँ से एक दैनिक पत्र निकलता है तथा यह आकाशवाणी का केंद्र है। यहाँ पर तेल शोधने का एक कारखाना, कपास से बिनौला अलग करने तथा बिनौले से तेल निकालने के कारखाने, आटे की चक्की आदि उद्योग हैं। यहाँ कार्टर सेमिनरी नामक एक पाठशाला अमरीकी आदिवासी लड़कियों के लिये है। नगर के पास ही एक उपवन, जिसका क्षेत्रफल २०,००० एकड़ है, तथा आरबुकल नामक एक पर्वतमाला है। इस नगर की स्थापना १८८७ ई० मे हुई थी। यहाँ पर सांता फे एवं फ्रिस्को रेल की लाइनें है तथा जस्ता और कोयले की खाने है। (नृ० कु० मि०)

आर्डेनीज़ फ्रांस की उत्तरी सीमा पर एक जिला है। इसमे म्यूज नदी की घाटी और पेरिस द्रोणी के कुछ भाग आते है। यहाँ प्राचीन पर्वतों के अवशेष है जो अधिकतर घिसकर बराबर हो गए है, परंतु दक्षिण पूर्व की तरफ से उठे हुए है। उत्तरपश्चिम मे गिवेट प्रदेश की तरफ खुला मैदान है। उत्तर मे रक्रिन नगर मे एक किला है। यह फ्रांस की सीमा की एक चौकी है। इधर का देश अपेक्षाकृत शुष्क है। दक्षिणी पश्चिमी निचले मैदान मे विशेष सर्दी नही पड़ती। वहाँ औसत वर्षा ३१.५" या कम होती है और साधारणत खेती होती है, परंतु ऊँची भूमि पर काफी ठंढक पड़ती है और वर्षा २९.४" तक होती है। नदी के किनारे चरागाह मिलते हैं। यहाँ के लोग स्लेट पत्थर तथा लोहे की खानों मे काम करके जीविकानिर्वाह करते है। मजीर्स-चार्लविल प्रसिद्ध रेलवे जंकशन है। आर्डेनीज का क्षेत्रफल ५,२५३ वर्ग किमी० है और १९६८ मे इसकी जनसंख्या ३,०९,३८० थी। (नृ० कु० मि०)

आर्णी (स्थिति १२° ४१' उ० अ० एवं ७९° १९' पू० दे०) मद्रास राज्य के उत्तर आर्कोट जिले मे आर्णी इसी नाम के ताल्लुके का प्रधान नगर है। यह नगर ब्रिटिश काल मे बहुत बड़ा सैनिक केंद्र था और अब भी वहाँ सैनिकों के निवास के कमरों की पंक्तियाँ दिखलाई देती है, जिनमे से कुछ ताल्लुके के प्रशासनिक कार्यालयों के रूप मे प्रयुक्त किए जाते है। यहाँ एक वर्गाकार प्राचीन किला तथा मंदिर भी है। नगर मे रेशमी एवं सूती कपड़े का व्यवसाय प्रमुख है। नगर का प्रशासन पंचायत द्वारा होता है और ५० प्रति शत से अधिक लोग व्यापार एवं उद्योगधंधों मे लगे है। (का० ना० मि०)

आर्तव (मासिक धर्म) स्त्रियों की जननेंद्रिय द्वारा लगभग प्रति मास रक्तमिश्रित द्रव निकलने को आर्तव, मासिक धर्म, रजस्राव, ऋतुप्रवाह या ऋतुस्राव (अंग्रेजी मे मेंस्ट्रुएशन) कहते है। परंपरागत विश्वास यह है कि रजोदर्शन प्रति चांद्र मास होता है—'मासिक धर्म' नाम इसीलिये पड़ा है। परंतु साधारणत एक स्राव के आरंभ से दूसरे स्राव के आरंभ तक की अवधि २७ से ३० दिन की होती है और केवल १०-१२ प्रति शत स्त्रियों मे यह अवधि ठीक एक चांद्र मास की होती है। फिर एक ही स्त्री मे यह अवधि घटती बढ़ती भी रहती है। इस अवधि पर मौसम का भी प्रभाव पड़ता रहता है। कुछ स्त्रियों मे यह अवधि प्राय स्थिर रहती है, परंतु अधिकांश स्त्रियों मे यह अवधि कभी कभी २१ दिन तक छोटी या ३५ दिन तक लंबी हो जाती है। इससे कम या अधिक की अवधि को रोग का लक्षण माना जाता है।

शीतोष्ण देशो मे जब आर्तव पहले पहल आरंभ होता है तब लड़कियों की आयु १३ और १५ वर्ष के बीच रहती है। गरम देशों मे आर्तव कुछ पहले और ठंढे देशों मे कुछ देर से आरंभ होता है परंतु कई कारणों से प्रथम रजोदर्शन के समय की आयु बदल सकती है। नौ वर्ष की लड़कियों मे आर्तव का आरंभ होता देखा गया है और कुछ मे १८ वर्ष मे इसका आरंभ हुआ है। ४५ से ५० वर्ष की आयु हो जाने पर आर्तव साधारणत बंद हो जाता है, यद्यपि कुछ स्त्रियों मे इसके बंद होने मे दो तीन वर्ष और भी लग जाते है। कुछ स्त्रियों मे आर्तव एकाएक बंद होता है, परंतु अधिकांश स्त्रियों मे आर्तव की अवधि अनियमित होकर और स्राव की मात्रा घटते घटते वर्ष दो वर्ष मे आर्तव बंद होता है। इस समय मे बहुधा स्त्री समय समय पर एकाएक गर्मी अनुभव करती है, नाड़ी अनियमित गति से चलने लगती है, निद्रानाश तथा उदासी आदि लक्षण भी प्रकट हो सकते है, परंतु रजोनिवृत्ति (मेनोपॉज) के पश्चात् स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है और वर्षों तक स्फूर्ति बनी रहती है।

लड़कियों मे जब आर्तव का होना आरंभ होता है तब कुछ वर्षों तक आर्तव थोड़ा बहुत अनियमित समयों पर होता है। आर्तव का आरंभ युवावस्था का आरंभ है। इसके साथ साथ शरीर मे कई निश्चित परिवर्तन होते है, यथा स्तनो का बढ़ना, उसके भीतर की दुग्ध ग्रंथियों का विकास, अंडाशय की वृद्धि, गर्भाशय तथा बाह्य जननांगों का विकास इत्यादि। साथ ही स्त्रीत्व और परिपक्वता के अन्य लक्षण भी, शारीरिक तथा मानसिक दोनों, उत्पन्न होते है।

आर्तव का औसत काल चार दिन है, परंतु एक सप्ताह तक भी चल सकता है। आरंभ मे स्राव कम होता है, तब एक या दो दिन स्राव अधिक होता है फिर धीरे धीरे घटकर मिट जाता है। स्राव मे केवल रक्त नही रहता। स्राव रक्त के समान जमता भी नही। स्राव मे लगभग आधा या दो तिहाई रक्त होता है, शेष मे अन्य स्राव (श्लेष्मा) और कोशिकाओं के क्षत विक्षत अंश रहते है। कुल रक्त लगभग एक छटाक जाता है परंतु दुगुने या कभी कभी तिगुने तक जा सकता है। उससे अधिक स्राव होने को रोग समझना चाहिए।

आर्तव के समय स्त्री के सारे शरीर मे थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है, परंतु अनेक स्त्रियों को आर्तव मे कोई पीड़ा या बेचैनी नही होती और उनके दैनिक जीवन मे कोई अंतर नही पड़ता। साधारणत पाचनशक्ति कुछ कम हो जाती है, शरीरोत्ताप कुछ कम हो जाता है और शरीर की कोशिकाओं से रक्त निकलने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। अधिकांश स्त्रियों मे आर्तव के समय पीड़ा और उदासी होती है। पेट के निचले भाग मे भारीपन और कमर मे पीड़ा का अनुभव होता है। कुछ को सिरदर्द, शिथिलता, थकावट, पेट फूलना, मूत्राशय मे जलन, छाती मे भारीपन इत्यादि की शिकायत रहती है। ये सब लक्षण आर्तव का आरंभ होने पर मिट जाते है। सदा स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने से आर्तव के समय कष्ट कम होता है। जब स्त्री गर्भवती रहती है तब आर्तव बंद रहता है और प्रसव के बाद भी कई महीनों तक बंद रहता है।

प्रत्येक दो आर्तवो के अंत काल के लगभग मध्य मे एक बार डिंबक्षरण होता है, अर्थात् एक डिंब डिंबग्रंथि से निकलकर गर्भाशय मे आता है। यदि उस डिंब का निषेचन हो जाता है, अर्थात् पुरुष के वीर्य के एक शुक्राणु से उसका संयोग हो जाता है तो गर्भ स्थापित हो जाता है, नहीं तो डिंब नष्ट हो जाता है और आर्तवकाल के साथ निकल जाता है। विद्वानों का विचार है कि गर्भाशय की अंत कला पर डिंबग्रंथि मे बने हुए हारमोन का जो प्रभाव पड़ता है वह आर्तव का कारण है। संभव है, अंत कला मे भी कुछ ऐसे विष बनते हों जिनके कारण कला की कोशिकाएँ फट जाती हों।

आर्तव संबंधी रोग—गर्भाधान, अधिक आयु के कारण आर्तव का मिटना या कम आयु में आर्तव के आरंभ में देर, इन तीन कारणों को छोड़कर अन्य किसी कारण से आर्तव के रुकने को रुद्धार्तव (एमेनोरिया) कहते है। यह रक्तक्षीणता (अनीमिया), क्षय अथवा तंत्रिकाओं की अत्यंत अधिक थकावट से उत्पन्न होता है। अत्यार्तव (मेनोरेजिया) उस दशा को कहते है जब साधारण से बहुत अधिक स्राव होता है। इस दशा मे विश्राम करने से लाभ होता है। कष्टार्तव (डिसमेनोरिया) मे साधारण से अधिक पीड़ा होती है। असामयिक आर्तव (मेट्रोरेजिया) मे आर्तव का समय आए बिना ही स्राव होता है। इन दशाओं मे चिकित्सक से राय लेना उचित होगा। (क० गु०)

आर्तेमिस् अथवा आर्तामिस्, ग्रीस देश मे सर्वत्र पूजी जानेवाली देवी। यह ज्यूस् (स० द्यौस्) और लैतो की पुत्री तथा अपोलो की बहन मानी जाती थी। पर संभवत उनकी पूजा और सत्ता हेलेनिक जाति से भी अधिक पुरानी थी। उन्होंने अपने पिता से अनेक वरदान प्राप्त किए थे। आर्तेमिस् चिरकुमारी एव आखेट की देवी थी एवं उनकी सेविकाएँ भी कुमारिकाएँ ही थीं। जिसने भी उनसे प्रेम करना चाहा, उसको देवी के कोप का भाजन बनना पड़ा। छोटे शिशुओं और अल्पायु प्राणियों पर उनकी विशेष कृपा रहती थी। प्रसववेदना मे स्त्रियाँ उनका स्मरण किया करती थीं। स्वय उनको जन्म देने समय उनकी माता को पीड़ा नहीं हुई थी, अतएव आम विश्वास था कि उनका स्मरण और पूजन करनेवाली प्रसूतिकाओं को भी पीड़ा नहीं होती। पर यदि किसी स्त्री की मृत्यु अचानक और बिना पीड़ा के हो जाती थी तो उसका कारण भी आर्तेमिस् का ही माना जाता था। किंतु मुख्यत तो वह आखेटिका ही थी और अपनी सेविकाओं तथा शिकारी कुत्तों के साथ पर्वतों और वनों मे शिकार खेलना उनको सबसे अधिक भाता था। वह धनुष बाण धारण कर आखेट करती थी।

उन्होंने अपने पिता से एक नगर माँगा था, पर उन्होंने उनको पूरे तीस नगर और अन्य अनेक नगरों मे भाग प्रदान किए। इसका अर्थ यह है कि उनके मंदिर और पूजास्थान समस्त ग्रीक नगरों मे थे। इन मंदिरों मे छोटे पशुओं, पक्षियों और विशेषकर बकरों की बलि आर्तेमिस् को अर्पित की जाती थी। कुछ स्थानों पर कुमारिकाएँ केसरिया कपड़े पहनकर उनके समक्ष नृत्य करती थीं। हलाए नामक नगर मे आर्तेमिस् के समक्ष नरबलि का दिखावा भी किया जाता था और खड्ग द्वारा मनुष्य की गरदन मे रक्त की कुछ बूँदें निकाली जाती थीं। फोकाइया स्थान पर यथार्थ नरबलि का होना भी कहा जाता है।

ग्रीक और रोमन इतिहास मे आर्तेमिस् के अनेक रूपांतर घटित हुए और अनेक अन्य देवियों के साथ उनका तादात्म्य स्थापित हुआ। वह चंद्रा (सेलेने), कृष्णाकुहू (हेकाते), मधुरा (ब्रितोमार्तिस) आदि अनेक नामों से परिचित है।

सं०ग्रं०—फार्नेल कल्ट्स ऑव दि ग्रीक स्टेट्स, १९२१, एडिथ हैमिल्टन माइथॉलोजी, १९५४, रॉबर्ट ग्रेव्ज द ग्रीक मिथ्स, १९५५। (भो० ना० श०)

आर्थर चेस्टर ऐलेन (१८३०-१८८६)—संयुक्त राज्य अमरीका के २१वें प्रेसिडेंट। उनके पिता आयरीय और उनकी माता अमरीकी थीं। शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने अध्यापन का कार्य किया, फिर वकालत मे नाम कमाया। राजनीति मे वे आरंभ से ही प्रजातांत्रिक दल के समर्थक थे और अमरीका के गृहयुद्ध मे उन्होंने अपने दल की ओर से अनेक लड़ाइयाँ लड़ी। प्रेसिडेंट गारफील्ड की हत्या के बाद आर्थर को संयुक्त राज्य अमरीका के अध्यक्ष की गद्दी मिली और उन्होंने देश के विरोध के बावजूद अध्यक्षपद ग्रहण किया। धीरे धीरे अपनी वक्तृताओं और कार्यों द्वारा उन्होंने जनता का भय दूर कर दिया। उनके शासनकाल मे अनेक बड़ी रेल लाइनें बनीं और सामाजिक सुधार हुए, साथ ही मेक्सिको और संयुक्त राज्य के बीच सीमा भी निर्धारित हुई। आर्थर उन अप्रिय राजनीतिज्ञों मे से थे जो अपने कार्यों द्वारा जनता का भय दूर कर उसका सौहार्द्र प्राप्त करते है। (ओ० ना० उ०)

आर्थरीय किंवदंतियाँ और आर्थर अंग्रेजी साहित्य की मध्ययुगीन अनुपम देन है। इनके केंद्रबिंदु है कैमलाट नगर के आदर्श शासक तथा योद्धा 'किंग आर्थर' और उनके दरबार के द्वादश वीर जो मानव शौर्य के सर्वोत्तम प्रतीक समझे जाते थे और 'राउंड टेबुल' के उज्वल रत्न थे। आर्थर के व्यक्तित्व मे ऐतिहासिक तथ्य के साथ साथ कल्पना का गहरा समन्वय है। वास्तव मे वह केल्ट जाति के विशिष्ट नायक थे जो संभवत पाँचवीं सदी के अंत मे हुए, परंतु कालांतर मे इंग्लैंड तथा फ्रांस के कवियों ने उनके चतुर्दिक् किंवदंतियों का सुनहला अलंकार बिछा दिया। इन किंवदंतियों का क्रमबद्ध करने का श्रेय अनेक लेखकों को है जिनमे ज्यूफरी ऑव मानमाउथ तथा मैलोरी के नाम विशेष उल्लेखनीय है। मैलोरी के अमर ग्रंथ 'मार्ट ड आर्थर' मे ये कथाएँ शृंखलाबद्ध होकर अंग्रेजी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुई और अंग्रेजी साहित्य के लिये अनुपम वरदान सिद्ध हुईं। इन किंवदंतियों मे मध्यकालीन विचारधारा के मूल तत्वों, अर्थात् ईसाई धर्म, रोमांटिक प्रेम, धार्मिक युद्ध तथा सैनिक जीवन के उच्च आदर्श और विचित्र अंधविश्वासों का गहरा पुट है। मैलोरी के मार्ट ड आर्थर की ख्याति १९वीं शताब्दी के उदय के साथ ही आरंभ हुई, जब कैक्स्टन ने इसे प्रकाशित किया, और वह आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। एलिजाबेथ युग के प्रसिद्ध कवि स्पेंसर ने अपने महाकाव्य 'फेअरी क्वीन' मे किंग आर्थर तथा मर्लिन—दो मुख्य पात्रों का समावेश किया और तभी से उस सर्वप्रिय काव्य की ख्याति के साथ साथ इन कथाओं का प्रभाव भी बढ़ता गया और अंत मे विक्टोरियन युग के प्रतिनिधि कवि लार्ड टेनिसन ने इनको अपने महाकाव्य 'ईडिल्स ऑव द किंग' मे कविता का रंग बिरंगा बाना पहनाया और इन कथाओं मे निहित नैतिक तथ्यों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। यूरोप के अन्य देशों के साहित्य पर भी इनका प्रभाव स्पष्ट है।

सं०ग्रं०—मैलोरी, सर टामस मार्ट ड आर्थर, टेनिसन, लार्ड : ईडिल्स ऑव द किंग, मारगैरेट, ज० सी० रीड दि आर्थूरियन लीजेंड्स, १९३३। (वि० रा०)

आर्थिक भौमिकी भौमिकी की वह शाखा है जो पृथ्वी की खनिज संपत्ति के संबंध मे बृहत् ज्ञान कराती है। पृथ्वी मे उत्पन्न समस्त धातुओं, पत्थर, कोयला, भूतैल (पेट्रोलियम) तथा अन्य अधातु खनिजों का अध्ययन तथा उनका आर्थिक विवेचन आर्थिक भौमिकी द्वारा ही होता है। प्रत्येक देश की समृद्धि वहाँ की खनिज संपत्ति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है और इस दृष्टि से आर्थिकी भौमिकी का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

यद्यपि भारतवर्ष प्राचीन समय से ही अपनी खनिज संपत्ति के लिये प्रसिद्ध रहा है, तथापि कुछ कारणों से यह देश अत्यंत समृद्ध नहीं कहा जा सकता। भारत मे आर्थिक महत्व के ४० से अधिक खनिज पाए जाते है जिनमे से लगभग १९ खनिज प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। इनमे विशेष कर लौह-अयस्क, मैंगनीज, अभ्रक, बॉक्साइट, इल्मेनाइट, पत्थर के कोयले, जिप्सम, चूना पत्थर (लाइम स्टोन), सिलीमेनाइट, कायनाइट, कुरबिंद (कोरंडम), मैग्नेसाइट, मृत्तिकाओं आदि के विशाल भांडार है, किंतु साथ ही साथ सीसा, ताँबा, जस्ता, राँगा, गंधक तथा भूतैल आदि अत्यंत न्यून मात्रा मे हैं। भूतैल का उत्पादन तो इतना अल्प है कि देश की आतरिक खपत का केवल सात प्रति शत ही उससे पूरा हो पाता है। इस्पात उत्पादन के लिये सारे आवश्यक खनिज पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। सीसा, जस्ता तथा राँगा जिन उद्योगों मे प्रयोग किए जाते है उनमे इन धातुओं के अभाव के कारण कुछ हल्की धातुएँ, जैसे ऐल्युमिनियम इत्यादि तथा उनकी मिश्र धातुएँ उपयोग मे लाई जा सकती हैं।

भारत में खनन उद्योग का विकास—सन् १९०६ मे भारत के संपूर्ण खनिज उत्पादन का मूल्य केवल १० करोड़ रुपया था। उस समय पाकिस्तान तथा बर्मा भी भारतीय साम्राज्य के ही भाग थे। इसके पश्चात् खनिज उद्योग निरंतर वृद्धि करता रहा तथा इसकी गति स्वतंत्रता के उपरांत और भी

अधिक हो गई। यहाँ इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि २०वीं शताब्दी के प्रारंभ से इसके मध्यकाल तक खनिज के मूल्य में कई गुनी वृद्धि हुई है। सन् १९४८ में उत्पादित खनिजों का मूल्य ६४ करोड़ रुपए तक पहुँचा। वास्तव में भारत के खनिज समाधनों का व्यवस्थित विकास योजना द्वारा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के साथ ही हुआ और जैसे जैसे समय बीतता गया, इस दिशा में महान् प्रगति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे तथा १९५३ में ११२.७८ करोड़ रुपए मूल्य के खनिज का उत्पादन हुआ।

किसी भी देश के समाधनों का उचित और पूर्ण उपयोग करने के लिये गवेषणाकार्य अत्यंत आवश्यक है। १०० वर्ष से अधिक समय बीता, जब भारतीय भौमिकीय सर्वेक्षण विभाग की स्थापना हुई। इसका मुख्य कार्य देश के खनिज पदार्थों का अन्वेषण और अनुसंधान तथा भूतात्त्विक दृष्टि से संपूर्ण देश की समीक्षा और विस्तृत ज्ञान करना था। स्वतंत्रता के पश्चात् खनिज उद्योग के लिये भारत सरकार की जागरूक नीति के परिणामस्वरूप सन् १९४८ में भारतीय खनिज विभाग (इंडियन ब्यूरो ऑव माइन्स) की स्थापना हुई। इसका कार्य एक सुनिश्चित योजना के अंतर्गत विभिन्न खनिजों के भांडारों की खोज एवं निर्धारण, खननपद्धतियों के सुधार, अधिक ठोस आधार पर आँकड़ों का संग्रह तथा खनिजों के समुचित उपयोग के लिये गवेषणा की व्यवस्था है। यह संस्था देश में खनन उद्योग की समस्याओं का निराकरण तथा नवीन उपयोगी सुझाव देकर उद्योग की वृद्धि करने में भी सहायक सिद्ध हुई है। इस संस्था में कई प्रभाग हैं। परमाणु-शक्ति-आयोग (ऐटॉमिक एनर्जी कमिशन) के अंतर्गत भी 'परमाणु-शक्ति-खनिज-प्रभाग' स्थापित किया गया है। भारत में मृत्तैल का अत्यंत अभाव है। अतः भारत सरकार ने इस ओर पूर्ण रूप से विशेष रुचि दिखाई है। यद्यपि देश मृत्तैल के लिये अपने ही पर संभवतः कभी निर्भर न हो सकेगा, तथापि तैल के कुछ अन्य भांडार प्राप्त होने की संभावना को पूर्णतः निर्मूल नहीं समझा जा सकता। इस कार्य को विशाल स्तर पर संचालित करने, देश में संभावित स्थानों पर समान्वेषण करने तथा उसके संबंध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये भारत सरकार के 'प्राकृतिक साधन और वैज्ञानिक अनुसंधान' मंत्रालय (मिनिस्ट्री आव नैचुरल रिसोर्सेज ऐंड साइंटिफिक रिसर्च) ने एक तैल एवं प्राकृतिक गैस आयोग नामक संस्था को जन्म दिया है। पत्थर के कोयले से भी वाणिज्य के स्तर पर सश्लेषित भूतैल (सिंथेटिक पेट्रोलियम) निर्माण करने की योजनाओं पर विचार चल रहा है। हाल में खंबात (गुजरात) में प्राकृतिक भूतैल मिला है।

भारत का खनिज उत्पादन तथा निर्यात

उत्पादन बिंदुमय रेखा से तथा निर्यात सतत रेखा से करोड़ रुपयों में दिखाए गए हैं।

खनिजों का आयात एवं निर्यात—भारत को अलौह धातुओं, गंधक, पोटाश, ग्रैफाइट आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। सन् १९५७ में लगभग दो अरब रुपया खनिजों के आयात में व्यय हुआ। यदि इसमें खनिज तथा ईंधन तैल आदि के आयात का मूल्य सम्मिलित किया जाय तो यह तीन अरब साढ़े सात करोड़ रुपए से भी अधिक हो जायगा जो संपूर्ण आयात का ३० प्रति शत है। कुछ महत्वपूर्ण खनिज, जैसे मैंगनीज अयस्क, लौह अयस्क, पत्थर का कोयला, अभ्रक, इल्मेनाइट, कायनाइट, सिलीमेनाइट तथा लवण आदि, विदेशों को निर्यात किए जाते हैं। खनिजों के निर्यात द्वारा सन् १९५७ में ६४ करोड़ १० लाख रुपया प्राप्त हुआ था। (वि० सा० दु०)

आर्द्रता वर्षा, बादल, कुहरा, ओस, ओला, पाला आदि से ज्ञात होता है कि पृथ्वी को घेरे हुए वायुमंडल में जलवाष्प सदा न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है। प्रति घन सेंटीमीटर हवा में जितना मिलीग्राम जलवाष्प विद्यमान है, उसका मान हम रासायनिक आर्द्रतामापी से निकालते हैं, किंतु अधिकतर वाष्प की मात्रा को वाष्पदाब द्वारा व्यक्त किया जाता है। वायु-दाब-मापी से जब हम वायुदाब ज्ञात करते हैं तब उसी में जलवाष्प का भी दाब सम्मिलित रहता है।

आपेक्षिक आर्द्रता—वायु के एक निश्चित आयतन में किसी ताप पर जितना जलवाष्प विद्यमान होता है और उतनी ही वायु को उसी ताप पर संतृप्त करने के लिये जितने जलवाष्प की आवश्यकता होती है, इन दोनों राशियों के अनुपात को आपेक्षिक आर्द्रता कहते हैं, अर्थात् ताप **ता**° पर आपेक्षिक आर्द्रता = एक घन से० मी० वायु में **ता**° सेंटीग्रेड पर प्रस्तुत जलवाष्प ÷ एक घन सेंटीमीटर वायु में **ता**° सेंटीग्रेड पर संतृप्त जलवाष्प। बॉयल के अनुसार यदि आयतन स्थायी हो तो किसी गैस की मात्रा उसी के दाब की अनुपाती होती है। अतः

$$\text{आपेक्षिक आर्द्रता} = \frac{\text{प्रस्तुत जलवाष्प की दाब}}{\text{उसी ताप पर जलवाष्प की संतृप्त दाब}}$$

जलवाष्प की दाब, ओसांक ज्ञात करने पर, रेनो की सारणी से निकाला जाता है (द्र० 'आर्द्रतामापी')।

आर्द्रता से लाभ—वायु की नमी से बड़ा लाभ होता है। स्वास्थ्य के लिये वायु में कुछ अंश जलवाष्प का होना परम आवश्यक है। हवा की नमी से पेड़ पौधे अपनी पत्तियों द्वारा जल प्राप्त करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में नमी की कमी से वनस्पतियाँ कुम्हला जाती हैं। हवा में नमी अधिक रहने से हमें प्यास कम लगती है, क्योंकि शरीर के अनगिनत छिद्रों से तथा श्वास लेते समय जलवाष्प भीतर जाता है और जल की आवश्यकता की पूर्ति बहुत अंश में हो जाती है। शुष्क हवा में प्यास अधिक लगती है। बाहर की शुष्कता के कारण त्वचा के छिद्रों से शरीर के भीतरी जल का वाष्पन अधिक होता है, जिससे भीतरी जल की मात्रा घट जाती है। गरमी के दिनों में शुष्कता अधिक होती है और जाड़े में कम, यद्यपि आपेक्षिक आर्द्रता जाड़े में कम और गरमी में अधिक पाई जाती है। वाष्पन हवा के ताप पर भी निर्भर रहता है।

रुई के उद्योग धंधों के लिये हवा में नमी का होना परम लाभकर होता है। शुष्क हवा में धागे टूट जाते हैं। अच्छे कारखानों में वायु की आर्द्रता कृत्रिम उपायों से सदा अनुकूल मान पर रखी जाती है। हवा की नमी से बहुत से पदार्थों के विस्तार तथा अन्य गुणों में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन पदार्थ की भीतरी रचना पर निर्भर है। झिल्लीदार पदार्थ नमी पाकर फैल जाते हैं और सूखने पर सिकुड़ जाते हैं। रेशेदार पदार्थ नमी खाकर लंबाई की अपेक्षा मोटाई में अधिक बढ़ते हैं। इसी कारण रस्सियाँ और धागे भिगो देने पर छोटे हो जाते हैं। चरखे की डोरी ढीली हो जाने पर भिगोकर कड़ी की जाती है। नया कपड़ा पानी में भिगोकर सुखा देने के बाद सिकुड़ जाता है, किंतु रूखा बाल नमी पाकर बड़ा हो जाता है। बाल की लंबाई में १०० प्रति शत आर्द्रता बढ़ने पर सूखी अवस्था की अपेक्षा २.५ प्रति शत वृद्धि होती है। बाल के भीतर प्रोटीन के अणुओं के बीच जल के अणुओं की तह बन जाती है, जिसकी मोटाई नमी के साथ बढ़ती जाती है। इन तहों के प्रसार से पूरे बाल की लंबाई बढ़ जाती है (द्र० **आर्द्रतामापी** में सौसुर का आर्द्रता-दर्शक)।

आर्द्रतायुक्त वायुमंडल पृथ्वी के ताप को बहुत कुछ सुरक्षित रखता है। वायुमंडल की गैसें सूर्य की रश्मियों में से अपनी अनुनादी रश्मियों को चुनकर सोख लेती हैं। जलवाष्प द्वारा शोषण अन्य गैसों के शोषणों के योग की अपेक्षा लगभग दूना होता है। ताप के घटने पर वही जलवाष्प धुओं, धूल तथा गैसों के अणुओं पर संघनित होता है और कुहरे, बादल आदि की रचना होती है। ऐसे संघनित जलवाष्प द्वारा रश्मियों का शोषण बहुत अधिक होता है। जलवाष्प १० म्यू तरंगदैर्घ्य की रश्मियों के लिये पारदर्शक होता है, किंतु ०.१ मिलीमीटर मोटी जलवाष्प की तह इनके केवल १/१००भाग को पार होने देती है [१ म्यू = १ माइक्रॉन = १०,००० ऐं० (ऐंगस्ट्राम) और १ ऐं० = $१०^{-८}$ सेंटीमीटर]। अतः बादल और कुहरा, जिनकी मोटाई चार छह मीटर होती है, काले पिंड के समान पूर्ण शोषक तथा विकीर्णक होते

हैं। सूर्य के पृष्ठ का ताप ६००० ° से० होता है। वीन के द्वितीय नियम के अनुसार अन्य रश्मियों के साथ ०.५ म्यू तरंगदैर्घ्यवाली रश्मियाँ उच्चतम तीव्रता से विकीर्ण होती है। वीन का नियम है

त = श्र/ता°

$[\lambda m = b/T]$

जहाँ तप्त पिंड से विकीर्ण रश्मि का तरंगदैर्घ्य त है, स्थिरांक श्र = २८८० और ता° परमताप है।

यदि वायुमंडल में बादल न हों तो सभी छोटी रश्मियाँ पृथ्वी पर चली आती हैं। यदि बादल अथवा घना कुहरा रहता है तो ८० प्रति शत भाग परावर्तित होकर ऊपर चला जाता है, केवल २० प्रति शत भाग पृथ्वी पर पहुँचता है। इन रश्मियों से धरातल का ताप बढ़कर २० से ३०° से०, अर्थात् लगभग ३००° परमताप हो जाता है। वीन के पूर्वोक्त नियम के अनुसार १० म्यू के आसपास की रश्मियाँ अधिक तीव्रता में विकीर्ण होती हैं। इन रश्मियों को बादल और कुहरा परावर्तित कर ऊपर नहीं जाने देते और इस प्राकृतिक विधान से धरातल तथा वायुमंडल का ताप घटने नहीं पाता। कंबलरूपी वायुमंडल काचगृह के समान ताप को सुरक्षित रखता है। यही कारण है कि जाड़े के दिनों में कुहरा रहने पर ठंढक अधिक नहीं लगती। बदली होने पर गरमी बढ़ जाती है तथा निर्मल आकाश रहने पर ठंढक बढ़ जाती है। (न० ला० मि०)

ग्राथॉफॉस्फेट द्र० 'फासफोरस'।

आर्द्रतामापी वायुमंडल की आर्द्रता नापने के साधनों को 'आर्द्रतामापी' (हाइग्रोमीटर) कहते हैं। बहुत से ऐसे पदार्थ हैं, जैसे सल्फ्यूरिक अम्ल, कैल्सियम क्लोराइड, फासफोरस पेंटाक्साइड, साधारण नमक आदि, जो जलवाष्प के शोषक होते हैं। इनका उपयोग करके रासायनिक आर्द्रतामापी बनाए जाते हैं, जिनके द्वारा वायु के एक निश्चित आयतन में विद्यमान जलवाष्प की मात्रा ग्राम में ज्ञात की जाती है। एक बोतल में फॉसफोरस पेंटाक्साइड और दो तीन नलियों में कैल्सियम क्लोराइड भरकर तौल लेते हैं। फिर इस बोतल को एक वायुचूषक (ऐस्पिरेटर) की शृंखला में जोड़ देते हैं। चूषक चालू कर देने पर जल गिरता है और रिक्त स्थान में हवा बोतल तथा नलियों के भीतर से होकर आती है। पूर्वोक्त रासायनिक पदार्थ वायु के जलवाष्प को सोख लेते हैं और सूखी वायु चूषक में एकत्र हो जाती है। बोतल तथा नलियाँ रासायनिक पदार्थों सहित फिर तौली जाती हैं। पहली तौल को इसमें से घटाकर जलवाष्प की मात्रा, जो एकत्रित वायु के भीतर थी, ज्ञात हो जाती है।
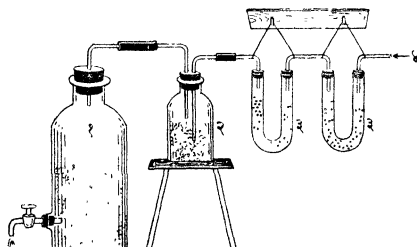
चित्र १. रासायनिक आर्द्रतामापी

ऐसे यंत्र द्वारा आर्द्रता का पता बड़ी सूक्ष्मता से लगाया जा सकता है, परंतु परिणाम प्राप्त करने में समय लगता है। १ शुष्क **वायु; २. फॉस्फोरस पेंटाक्साइड; ३. कैल्सियम क्लोराइड, ४. वायु।**

अन्य आर्द्रतामापी डाइन, डनियल या रेनो के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा हम ओसांक ज्ञात करते हैं। फिर इस ओसांक और वायु के ताप पर वाष्पदाब का मान, रेनो की सारणी देखकर, आपेक्षिक आर्द्रता ज्ञात कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त वायु में किसी समय नमी की तात्कालिक जानकारी के लिये गीले और सूखे बल्बवाले आर्द्रतामापी (वेट ऐंड ड्राइ बल्ब हाइग्रोमीटर) का निर्माण किया गया है। इसे साइक्रोमीटर भी कहते हैं। इस उपकरण में दो समान तापमापी एक ही तख्ते पर जड़े रहते हैं। एक तापमापी के बल्ब पर कपड़ा लपेटा रहता है, जो सदा भीगा रहता है। इसके लिये कपड़े का एक छोर नीचे रखे हुए बर्तन के पानी में डूबा रहता है। कपड़े के जल का वाष्पीभवन होता रहता है जो वायु की आर्द्रता पर निर्भर रहता है। जब वायु में नमी की कमी होती है तो वाष्पीभवन अधिक और जब वायु में नमी की अधिकता होती है तो वाष्पीभवन कम होता है। वाष्पीभवन के अनुसार गीले बल्बवाले तापमापी का पारा नीचे उतर आता है और दोनों तापमापियों के पाठों में अंतर पाया जाता है। उनके पाठों में यह अंतर वायु की नमी की मात्रा पर निर्भर रहता है। यदि वायु जलवाष्प से संतृप्त हो तो दोनों तापमापियों के पाठ एक ही रहते हैं। रेनो की सारणी में विभिन्न तापों पर इस अंतर के अनुकूल जलवाष्प की दाब दी हुई है, अत: दोनों तापमापियों का पाठ लेकर आपेक्षिक आर्द्रता तथा ओसांक का मान ज्ञात किया जाता है।
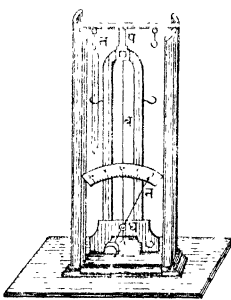
चित्र २. डी सोस्यूर का आर्द्रतामापी

इसका मुख्य अंग एक बाल (केश) होता है, जो न्यूनाधिक आर्द्रता के अनुसार घटता बढ़ता है। त तापमापी, प पेंच जिसके द्वारा बाल का सिरा जकड़ा रहता है, ब बाल, न, मापनी, ध संकेतक।

तापमापियों पर वायु बदलती रहे, इस उद्देश्य से कुछ साइक्रोमीटरों को एक चाप में घुमाने का आयोजन किया रहता है। तख्ती मोटर द्वारा प्रति सेकंड चार बार घुमाई जाती है, जिससे वायु सदा बदलती रहती है। ऐसे साइक्रोमीटरों के लिये आपेक्षिक आर्द्रता की सारणी इसी परिभ्रमण संख्या ४ के अनुकूल बनाई जाती है। परिभ्रमण से पारे की सतह हिलती रहती है। इस दोष को दूर करने और शुद्ध मापन के लिये अन्य उपाय का प्रयोग किया गया है। एक प्रकार के यंत्र में दोनों तापमापियों को धातु की दोहरी नली के भीतर स्थिर रखा जाता है और नली के भीतर की हवा एक छोटे बिजली के पंखे द्वारा बदलती रहती है। ऐसा **दोहरी दीवाल की नली से विकिरणों का भी प्रभाव नहीं पड़ने पाता।**

किंतु इन आर्द्रतामापियो मे आर्द्रता का मान शीघ्र नही ज्ञात किया जा सकता। इसके अतिरिक्त वायु मे नमी की मात्रा क्षण क्षण पर बदलती रहती है तथा हमें क्षण प्रति क्षण नमी का पता पूरे दिन भर का जानना आवश्यक होता है। पूर्वोक्त यंत्रों द्वारा हम वायुमंडल के ऊपरी भाग की आर्द्रता का अध्ययन भी नही कर सकते। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बाल (केश) की लंबाई पर नमी के प्रभाव को देखकर सर्वप्रथम डी सॉस्यूर ने एक आर्द्रतादर्शक का निर्माण किया। इस आर्द्रतादर्शक में एक रूखा स्वच्छ बाल रहता है। बाल का एक सिरा धातु के टुकडे के बारीक छिद्र मे पेच द्वारा जकड़ा रहता है (चित्र २)। नीचे की ओर बाल का एक फेरा एक घिरनी पर लपेट दिया जाता है। तब बाल के सिरे को घिरनी की बारी (रिम) मे पेच द्वारा जकड दिया जाता है। घिरनी की धुरी पर एक संकेतक लगा रहता है। बाल की लंबाई बढ़ने पर एक कमानी के कारण घिरनी एक ओर और घटने पर दूसरी ओर घूमती है और उसके साथ संकेतक वृत्ताकार मापनी पर चलता है। मापनी का अंशांकन आर्द्रतामान में किया रहता है, अत संकेतक के स्थान से मापनी पर आर्द्रता का मान प्रतिशत तुरत पढा जा सकता है। इसी के आधार पर स्वलेखी आर्द्रतामापी बनाए गए है, जिनके द्वारा ग्राफ पर २४ घंटे अथवा पूरे सप्ताह के प्रत्येक क्षण की आर्द्रता का मान अंकित किया जाता है। किंतु एक बाल में इतनी पुष्टता नही आती कि घिरनी के संकेतक से ग्राफ लिखवाया जा सके, विशेषकर जब ऐसा उपकरण गुब्बारे अथवा विमान मे ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिये लगाया जाता है। पुष्टता के लिये बालों के गुच्छे अथवा रस्सी का उपयोग किया जाता है, परतु इससे आर्द्रतामापी की यथार्थता घट जाती है। देखा गया है कि घोडे का एक बाल मनुष्य के बालों की रस्सी से अधिक उपयोगी होता है। इसलिये इसका प्रयोग किया जाता है, परतु एक अन्य दोष के कारण शीत प्रदेशों में इसका उपयोग नही हो सकता। ताप घटने से जलवाष्प के प्रति बाल की चेतनता क्षीण हो जाती है। तब उपकरण बहुत समय के बाद नमी से प्रभावित होता है। –४०° सें० पर तो बाल बिलकुल कुंठित हो जाता है।

अब कुछ ऐसे विद्युच्चालक पदार्थों का पता चला है जिनके वैद्युत अवरोध में जलवाष्प के कारण परिवर्तन होता है। डनमार ने ऐसे आर्द्रतामापी का निर्माण ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिये किया है। इसमें लीथियम क्लोराइड की पतली परत होती है जिसका वैद्युत अवरोध जलवाष्प के कारण बदलता है। यह परत विद्युत्परिपथ (इलेक्ट्रिक सरकिट) में लगी रहती है। अवरोध के परिवर्तन से धारा घटती बढती है, अत धारामापी की मापनी पर आर्द्रतामान पढा जा सकता है। धारामापी के संकेतक को स्वलेखी बनाकर आर्द्रता का मान ग्राफ पर अंकित भी किया जा सकता है। गुब्बारे और वायुयानों मे प्राय ऐसे ही आर्द्रतामापी लगे रहते है। (न० ला० सि०)

आर्नल्ड, मैथ्यू (१८२२–१८८८ ई०)—अंग्रेजी के प्रख्यात कवि, प्रांजल गद्यलेखक तथा सुसाहित्यालोचक। इनका जन्म २४ दिसंबर, १८२२ ई० को टेम्स नदी के समीप लैलेहम नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता का नाम डा० टॉमस आर्नल्ड था, जो 'रग्बी' स्कूल के हेडमास्टर थे। मैथ्यू आर्नल्ड की शिक्षा विंचेस्टर रग्बी तथा बेलियल कालेज, आक्सफोर्ड में हुई। १८४४ ई० में इन्होंने बी० ए० आनर्स किया और अगले ही वर्ष ये ऑरियल के फेलो चुन लिए गए। चार वर्ष तक लार्ड लैंसडाउन के निजी सचिव के रूप में कार्य करने के उपरात १८५१ ई० में इनकी नियुक्ति इंस्पेक्टर ऑव स्कूल्स के पद पर हो गई। इस पद पर वह १८८६ ई० तक काम करते रहे। इसी बीच १८५७ ई० से १८६७ ई० तक इन्होंने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी काव्य के प्रोफेसर पद पर भी कार्य किया। आर्नल्ड ने इंग्लैंड की माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षापद्धतियों मे भी अनेक सुधार करने के प्रस्ताव प्रस्तुत किए। इस संबंध में वे कई बार यूरोपीय यात्राओं पर भी गए और विशेष रूप से फ्रांस, जर्मनी तथा हालैंड की शिक्षापद्धतियों का अध्ययन किया। मृत्यु से पाँच वर्ष पूर्व वे अमरीका गए और वहाँ के विश्वविद्यालयों में साहित्य तथा समाज संबंधी महत्वपूर्ण विषयों पर भाषण दिए। इन भाषणों का संकलन बाद में 'डिस्कोर्सेज इन अमरीका' शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

आर्नल्ड की समालोचनात्मक कृतियों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) शिक्षा संबंधी—पापुलर एजुकेशन ऑव फ्रांस (१८६१), ए फ्रेंच एटन (१८६३-६४), स्कूल्स ऐंड युनिवर्सिटीज आन द कांटिनेंट (१८६८), स्पेशल रिपोर्ट आन एलिमेंटरी एजुकेशन एब्राड (१८८६), रिपोर्ट्स आन एलिमेंटरी स्कूल्स (१८८९)।

(२) साहित्य समालोचना—ऑन ट्रांस्लेटिंग होमर, एसेज इन क्रिटिसिज्म, (१८६५, १८८८), ऑन द स्टडी ऑव केल्टिक लिटरेचर (१८६७), मिक्स्ड एसेज (१८७९), एसेज इन क्रिटिसिज्म, सेकेंड सीरीज (१८८८)।

(३) सांस्कृतिक रचनाएँ—कल्चर ऐंड ऐनार्की (१८६९), सेंट पाल ऐंड प्रोटेस्टैंटिज्म (१८७०), फ्रेंडशिप्स गार्लैंड (१८७१), लिटरेचर ऐंड डॉग्मा (१८७३), गॉड ऐंड द बाइबिल (१८७५), लास्ट एसेज ऑन चर्च ऐंड रिलिजन (१८७७)।

इसके अतिरिक्त इनकी कुछ काव्य कृतियाँ भी है—द स्ट्रेड रेवेलर्स ऐंड अदर पोएम्स (१८४९), एंपिडॉक्लीज ऐंड अदर पोएम्स (१८५२), पोएम्स (१८५३), पोएम्स सेकेंड सिरीज (१८५५), मेरोपी ए ट्रैजेडी (१८५८), न्यू पोएम्स (१८६७), स्कालर जिप्सी (१८५३), सोहराब ऐंड रुस्तम (१८५३), डोवर बीच (१८६७), थिर्सिस (१८६७) और प्रसिद्ध ऐलेजी 'रग्बी चैपेल'। इनमें अंतिम चार कृतियाँ लंबी कविताएँ है।

'द स्टडी ऑव पोएट्री' में मैथ्यू आर्नल्ड ने कुछ नए आलोचनासिद्धात प्रस्तुत किए है। उनकी मान्यता के अनुसार उच्चस्तरीय कुछ विगत गद्य पद्यांशो को साहित्यिक श्रेष्ठता की कसौटी मानकर साहित्य की मीमांसा करनेवाला ही सही समीक्षक हो सकता है। साहित्य की आलोचना में सांप्रदायिक या अन्य प्रकार की संकीर्णता और व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के प्रभाव नही होने चाहिए। समालोचना में रचना के वास्तविक गुणधर्म और ऐतिहासिक एव साहित्यिक गुणों की प्रतिष्ठापना होनी चाहिए। भौतिकता और यंत्र सभ्यता, दोनों के विरोधी मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता के अनुसार कविता 'क्रिटिसिज्म ऑव लाइफ' है और प्रत्येक साहित्यिक कृति का सर्वोच्च गुण 'हाई सीरियसनेस' होना चाहिए। आर्नल्ड की कामना थी कि जीवन की व्यवहारगत क्रूरता तथा कुरूपता के निवारण के लिये साहित्य और संस्कृति में मानव मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा हो। इसीलिये वे चाहते थे कि साहित्य को धर्म का स्थान दिया जाए। (कै० च० श०)

आर्नल्ड, सर एडविन (१८३२–१९०४), प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि। इनका जन्म इंग्लैंड के 'ग्रेव्सएंड' नामक स्थान में हुआ था। इनकी शिक्षा किंग एडवर्ड स्कूल, बर्मिघम में हुई। सन् १८५२ ई० में इन्होंने आक्सफोर्ड में 'न्यूडीगेट पुरस्कार' जीता और १८५६ में ये गवर्नमेंट कालेज, पूना के प्रिंसिपल नियुक्त किए गए। सन् १८६१ ई० में ये इंग्लैंड वापस चले गए और वहाँ 'डेली टेलिग्राफ' में काम करने लगे। १८६३ ई० में ये 'डेली टेलिग्राफ' के संपादक हो गए। १८७९ में इन्होंने भगवान् बुद्ध के जीवनचरित् को आधार बनाकर 'लाइट ऑव एशिया' नामक काव्यग्रंथ की रचना की तथा पूर्वी देशों के अपने अनुभवों से रंगी कई अन्य कविताएँ भी लिखीं। (कै० च० श०)

आर्नहेम नगर नीदरलैंड के गेल्डरलैंड प्रदेश की राजधानी है। यह राइन नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। यहाँ पीपे का पुल तथा रेलवे जंकशन है। यह यूट्रेक्ट से ३६ मील दक्षिण पूर्व में जर्मनी की सीमा के निकट स्थित है। यह स्थान अपनी सुंदरता तथा ऐतिहासिकता के लिये प्रसिद्ध है। ट्राम द्वारा यह यूट्रेक्ट और जूटफेन से मिला है तथा स्टीमर द्वारा ऐम्स्टर्डैम, रॉटरडैम तथा कोलोन से संबद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध में यह पूर्ण रूप से नष्ट हो गया था। १५ अप्रैल, १९४५ को यह पुन मित्रराष्ट्रों के अधिकार में आ गया। जनसख्या १९७० में १,३२,५३१ थी। यह एक प्रमुख व्यवसायकेंद्र है। यहाँ पर ऊनी कपड़े, कृत्रिम रेशम तथा सिगार बनते है। (नृ० कु० सि०)

आर्नो इटली की एक नदी है। यह फाल्टरोना पहाड (ऊँचाई ४,२६५ फुट) से निकलती है, जो फ्लोरेंस से २५ मील उत्तर पूर्व में है। यह

टसकनी को दो भागों में बाँटती है तथा अरेज्जो होती हुई पीसा से सात मील नीचे लिगूरियन समुद्र में गिरती है। प्राचीन काल में पीसा इसी नदी के मुहाने पर बसा था। इस नदी की लंबाई १५५ मील है और बड़ी बड़ी नावें फ्लारेंस तक जाती हैं। नदी में सदा बाढ़ आने का भय रहता है। कई जगहों पर नदी के किनारों पर रक्षात्मक बाँध बनाए गए हैं।

(नृ० कु० सि०)

आर्न्ड्ट, एर्न्स्ट मोरित्स (१७६९–१८६०) आस्ट्रिया का प्रसिद्ध जनवादी कवि। मोरित्स का जन्म आस्ट्रिया के रूजेन प्रदेश के शोरित्स नामक स्थान में २६ दिसंबर, १७६९ को हुआ था। वे पराधीन आस्ट्रिया के विद्रोही कवि के रूप में विख्यात हैं जिनके गीतों ने उनके देश को स्वाधीन बनाने में सहायता दी और एक प्रकार से जनता में आशा तथा उत्साह का संचार किया। वे इतिहास के प्रोफेसर भी रहे, किंतु राष्ट्रकवि के ही रूप में अधिक विख्यात हैं। राष्ट्रकवि मोरित्स के भावपूर्ण गीतों और उत्साह भरे व्याख्यानों ने आस्ट्रिया को क्रांति का सच्चा स्वरूप समझाने में अत्यंत सहायता दी। (च० म०)

आर्मघ आयरलैंड का एक प्रांत है। इसके उत्तर में लौगनिघ, पूर्व में डाउन, दक्षिण में लुथ तथा पश्चिम में मोनाघन और टाइरॉन प्रांत पड़ते हैं। इसका क्षेत्रफल ४८९ वर्ग मील है। इस प्रांत की मिट्टी काली है। ओट (जई), आलू, गेहूँ, फल तथा शलजम यहाँ की मुख्य पैदावार और लिनेन बनाना मुख्य उद्योग है। गलीचा, रस्सी और कपड़े भी बनते हैं। इस प्रांत के मुख्य नगर आर्मघ, लुरगन तथा पोर्टडाउन हैं। उत्तर के निचले मैदान में तृतीयक (टशियरी) बैसाल्ट मिलते हैं तथा दक्षिण में ग्रैनाइट के पहाड़। सर्वप्रथम समुद्रतट पर लोग बसे। ताम्रकाल में निचले मैदानों में भी लोग बसे। उत्तरी मैदान उपजाऊ है तथा दक्षिणी भाग पहाड़ी तथा बंजर। जनसंख्या १९६६ में १,२५,१६८ थी। (नृ० कु० सि०)

आर्मस्ट्रांग विलियम जार्ज आर्मस्ट्रांग बैरन (१८१०–१९००), अंग्रेज आविष्कारक तथा तोप आदि बनाने के कारखाने का मालिक था। सन् १८३३ से १८४७ तक वह वकील था, परंतु उसका मन यांत्रिक और वैज्ञानिक खोजों में लगा रहता था। सन् १८४१-४३ में उसने कई खोजपत्र प्रकाशित किए जिनमें बरतनों से निकली भाप की विद्युत् पर अन्वेषण किया गया था। उसका ध्यान इस ओर आकर्षित होने का कारण यह था कि उससे एक इंजन चालक ने पूछा कि भाप में हाथ रखकर बायलर को छूने से झटका क्यों लगता है। पीछे उसने समुद्रतट पर जहाजों से भारी माल उठाने के लिये जलचालित क्रेन का आविष्कार किया। आर्मस्ट्रांग ने एल्स्विक का कारखाना इसी यंत्र के निर्माण के लिये स्थापित किया, परंतु शीघ्र ही उसका ध्यान तोप बनाने की ओर आकर्षित हुआ। उसकी बनाई तोपों में विशेषता यह थी कि पुष्टता लाने के लिये इस्पात के नल के ऊपर धातु के तप्त छल्ले चढ़ाए जाते थे, जो ठंढे होने पर सिकुड़ कर भीतर की नाल को खूब दबाए रहते थे, जिससे नाल फटने नहीं पाती थी। नाल के भीतर पेंच कटा रहता था और गोल गोलों के बदले इसमें आधुनिक ढंग के लंबे गोले दागे जाते थे जो नाल के पेच के कारण अपनी धुरी पर तीव्रता से नाचते हुए निकलते थे। इससे गोला दूर तक पहुँचता था और लक्ष्य पर सच्चा जा बैठता था। इन गुणों के अतिरिक्त तोप में गोला मुँह की ओर से न डालकर पीछे से डाला जाता था। इन सब सुविधाओं के कारण आर्मस्ट्रांग की तोपें खूब चलीं, यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक ब्रिटिश सेना ने इनको अयोग्य ठहरा दिया था। सन् १८८७ में ब्रिटिश सरकार ने आर्मस्ट्रांग को बैरन की पदवी प्रदान करके सम्मानित किया। अपने खोजपत्रों के अतिरिक्त आर्मस्ट्रांग ने दो पुस्तकें भी लिखी हैं: ए विज़िट टु ईजिप्ट और इलेक्ट्रिक मूवमेंट्स इन एअर ऐंड वाटर।

आर्मिनियस याकोबस (१५६०–१६०९ ई०) एक प्रोटेस्टैंट पादरी जो हालैंड के लाइडेन विश्वविद्यालय में धर्मविज्ञान के प्रोफेसर थे। कैलविन के अनुसार ईश्वर अनादि काल से मनुष्यों को दो वर्गों में विभक्त करता है—एक वर्ग मुक्ति पाता है और दूसरा वर्ग नरक जाता है। आर्मिनियस ने ईश्वरीय पूर्वविधान के इस सिद्धांत का विरोध करते हुए मनुष्य की स्वतंत्रता तथा मुक्तिप्राप्ति में उसके सयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। आर्मिनियस के सिद्धांतों का इंग्लैंड में, विशेषतया मेथोडिस्ट संप्रदाय पर प्रभाव पड़ा। हालैंड में उनके अनुयायियों ने एक स्वतंत्र संप्रदाय स्थापित किया जो रेमान्स्ट्रैंट चर्च कहलाता है। (का० बु०)

आर्मीनिया उत्तरी पूर्वी एशिया माइनर तथा ट्रांसकाकेशिया का एक प्राचीन देश था, जिसके विभिन्न भाग अब ईरान, टर्की तथा रूस देश में संमिलित हैं। इसके उत्तर में जार्जिया पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम में टर्की और पूर्व में ऐज़रबैजान है। इसका क्षेत्रफल ३०,००० वर्ग कि० मी० और जनसंख्या २०,५०,००० (१९७०) है। इसका अधिकतर भाग पठारी है (ऊँचाई ६,००० से ८,००० फुट तक) जिसमें छोटी छोटी श्रेणियाँ तथा ज्वालामुखी पहाड़ियाँ हैं। जाड़े में कड़ाके की सर्दी पड़ती है। जलवायु अत्यंत शुष्क है। लेनिनाकन नगर में जनवरी का औसत ताप १२° फा०, जुलाई में ६५° फा० और वार्षिक वर्षा १९.२ इंच है। अरास तथा उसकी सहायक जंगा यहाँ की मुख्य नदियाँ हैं। अरास नदी की घाटी में कपास, शहतूत (रेशम के लिये), अंगूर, खूबानी तथा अन्य फलों, चावल और तंबाकू की खेती होती है। सिंचाई की सुविधा का विकास हो रहा है और फलों का उत्पादन तथा उद्योग बढ़ रहे हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में पशु उद्योग, दूध के बने पदार्थ तथा वन्य उद्योग होते हैं। ऊँट प्रमुख भारवाही पशु है। कटारा नामक स्थान में ताँबे की खानें हैं। अधिकांश क्षेत्रों में जीवनस्तर बहुत ही निम्न है। यहाँ के निवासी आर्मीनी, रूसी तथा तुर्की तातार जाति के हैं। यहाँ की सभ्यता मुख्यतः आर्मीनी है। सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में यहाँ की प्राकृतिक भूरचना का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। यह भूभाग पूर्व तथा पश्चिम के मध्य यातायात का मुख्य साधन है। पुरातत्व संबंधी अन्वेषणों के अनुसार मानव सभ्यता के आदि विकास में आर्मीनिया का महत्वपूर्ण योग रहा है। (नृ० कु० सि०)

आर्मीनी भाषा भारत-यूरोपीय-परिवार की यह भाषा मेसोपोटैमिया तथा काकेशस पर्वत की मध्यवर्ती घाटियों और काले सागर के दक्षिणी पूर्वी प्रदेश में बोली जाती है। यह प्रदेश आर्मीनी सोवियट जार्जिया तथा सोवियट अजरबैजान (उत्तर पश्चिमी ईरान) में पड़ता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ३४ लाख है। आर्मीनी भाषा को पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजित करते हैं। गठन की दृष्टि से इसकी स्थिति ग्रीक और हिंद-ईरानी के बीच की है। पुराने समय में आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ संबंध रहा है और ईरानी के प्रायः दो हजार शब्द आर्मीनी भाषा में मिलते हैं। इन्हीं कारणों से बहुत दिनों तक आर्मीनी को ईरानी की केवल एक शाखा मात्र समझा जाता था। पर अब इसकी स्वतंत्र सत्ता मान्य हो गई है।

आर्मीनी भाषा में पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्व का कोई ग्रंथ नहीं मिलता। इस भाषा का व्यंजनसमूह मूल रूप से भारोपीय और काकेशी समूह की जार्जी भाषा से मिलता जुलता है। प् त् क् व्यंजनों का व् द् ग् से परस्पर व्यत्यय हो गया है। उदाहरणार्थ, संस्कृत वश के लिये आर्मीनी में तस्न शब्द है। संस्कृत पितृ के लिये आर्मीनी में हार है। आदिम भारोपीय भाषा से यह भाषा काफी दूर जा पड़ी है। संस्कृत द्वि और त्रि के लिये आर्मीनी में एर्कु और एरेख शब्द हैं। इसी से दूरी का अनुमान हो सकता है। व्याकरणात्मक लिंग प्राचीन आर्मीनी में भी नहीं मिलता। संस्कृत गौ के लिये आर्मीनी में केव् है। ऐसे शब्दों से ही आदिम आर्यभाषा से इसकी व्युत्पत्ति सिद्ध होती है। आर्मीनी अधिकतर बोलचाल की भाषा रही है। ईरानी शब्दों के अतिरिक्त इसमें ग्रीक, अरबी और काकेशी के भी शब्द हैं।

आर्मीनी का जो भी प्राचीन साहित्य था उसे ईसाई पादरियों ने चौथी और पाँचवीं ई० शताब्दियों में नष्ट कर दिया। कुछ ही समय पूर्व अशोक का एक अभिलेख आर्मीनी भाषा में प्राप्त हुआ है जो संभवतः आर्मीनी का सबसे पुराना नमूना है। आर्मीनी की एक लिपि पाँचवीं ईसवी शताब्दी में गढ़ी गई जिसमें इंजील का अनुवाद और अन्य ईसाई धर्मप्रचारक ग्रंथ लिखे गए। पाँचवीं शताब्दी में ही ग्रीक के भी कुछ ग्रंथों का अनुवाद हुआ। इसी शताब्दी में लिखा हुआ फाउसतुस नामक एक ग्रंथ चौथी शताब्दी की आर्मीनी

परिस्थिति का सुंदर चित्रण करता है। इसमें आर्मीनिया के छोटे छोटे नरेशों के दरबारों, राजनीतिक संगठन, जातियों के परस्पर युद्ध और ईसाई धर्म के स्थापित होने का इतिहास अंकित है। एलिसिएउस वर्दपेत ने वर्दन का एक इतिहास लिखा जिसमें आर्मीनियों ने सासानियों से जो धर्मयुद्ध किया था उसका वर्णन है। खोरेन के मोजेज ने आर्मीनिया का एक इतिहास लिखा जिसमें ४५० ईसवी तक का वर्णन है। यह ग्रंथ संभवत सातवीं शताब्दी में लिखा गया। आठवीं शताब्दी से बराबर आर्मीनिया के ग्रंथ मिलते हैं। उनमें से अधिकांश इतिहास और धर्म से संबंध रखते हैं।

१६वीं शताब्दी के मध्यभाग में आर्मीनिया के रूसी और तुर्की जिलों में एक नई साहित्यिक प्रेरणा निकली। इस साहित्य की भाषा प्राचीन भाषा से व्याकरण में यथेष्ट भिन्न है, यद्यपि शब्दावली प्राय पुरानी है। इस नवीन प्रेरणा के द्वारा आर्मीनी साहित्य में काव्य, उपन्यास, नाटक, प्रहसन आदि यथेष्ट मात्रा में पाए जाते हैं। आर्मीनी में पत्रपत्रिकाएँ भी पर्याप्त संख्या में निकलती हैं। सोवियट संघ में प्रवेश कर इस प्रदेश की भाषा और साहित्य ने बड़ी तेजी से उन्नति की है।

सं०ग्रं०—मेइए ले लाग दु मोंद (पेरिस), बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषाविज्ञान (प्रयाग)। (बा०रा०स०)

आर्य शब्द का प्रयोग प्राय चार अर्थों में होता है (१) आर्य प्रजाति, (२) आर्य भाषापरिवार, (३) आर्य धर्म और संस्कृति तथा (४) श्रेष्ठ, शिष्ट अथवा सज्जन।

(१)—**आर्य प्रजाति**—पृथ्वी पर बसनेवाले मानवसमूहों को प्रजातिशास्त्रियों ने कई प्रजातियों में विभक्त किया है जिनमें मुख्य हैं आर्य (श्वेत, गौर अथवा गोधूम), सामी तथा हामी, किरात (मंगोल), आग्नेय (आस्ट्रिक) हब्शी (नीग्रो) आदि। इनके भी अनेक भेद और उपभेद हैं। मानव प्रजातियों के अद्यतन वर्गीकरण में 'आर्य' शब्द का प्रयोग कम हो रहा है। इसके बदले भारोपीय (इंडो-यूरोपियन, इंडो-जर्मन), काकेशियाई (काकेस्वाय, इड्स) आदि का प्रयोग अधिक हो रहा है। इसके प्रमुख उपभेद हैं (१)-नार्दिक (उत्तर यूरोपीय), (२) आल्पाइन (मध्य यूरोपीय) और (३) मेडिटेरेनियन (भूमध्यसागरीय)। एम० एफ० एशले माटेगू (१९४५) ने काकेशियाई के आठ उपभेद किए हैं (१) भारतीय, (२) भूमध्यसागरीय, (३) आल्पाइन, (४) आर्मीनियन, (५) नार्दिक, (६) दिनारिक, (७) पूर्वबालटिक और (८) पार्सिनियन। भूमध्यसागरीय के भी तीन उपभेद माने गए हैं (१) अतलांतिकीय-भूमध्यसागरीय, (२) आधारिक (मध्य) भूमध्यसागरीय तथा (३) ईरानी-भारतीय। इन उपजातियों का परस्पर बहुत मिश्रण हुआ है और उनकी शारीरिक रचना और रंग में स्थानीय तथा वंशगत भेद हैं। तथापि मोटे तौर पर इनकी कुछ शारीरिक विशेषताएँ सर्वतानिष्ठ हैं। मानुषमिति (ऐंथ्रोपोमेट्री) के अनुसार वे निम्नलिखित प्रकार से रखी जा सकती हैं

(१) **वर्ण अथवा रंग**—श्वेत, गौर (गोधूम, भूरा और कहीं अधिक मिश्रण से श्याम भी)।

(२) **ऊँचाई**—१७० सेंटीमीटर (५ फुट ७ इंच) से प्राय ऊँचा और कहीं मध्यम ऊंचाई (५ फुट ५ इंच या ५ फुट ३ इंच तक)।

(३) **कपाल**—प्राय दीर्घकपाल (डालिकोसिफैलिक अर्थात् कपाल की लंबाई चौड़ाई का अनुपात १०० ७७.७ से कम), परंतु कहीं कहीं मध्यकपाल (मेसोटिसिफैलिक अर्थात् अनुपात १०० ८०) और किन्हीं स्थानों में वृत्तकपाल (ब्रेकिसिफैलिक, अर्थात् अनुपात १०० ८० से ऊपर) भी पाए जाते हैं।

(४) **नासिकामान**—अधिकांश आर्य उन्नतनास अथवा सुनास (लेप्टोर्राइन) होते हैं (अर्थात् उनकी नाक की लंबाई और चौड़ाई का अनुपात १०० ७० से कम होता है)। कहीं कहीं मध्यनास और अपवादस्वरूप पृथुनास भी इस उपजाति में मिलते हैं।

(५) **नाटमान** (आरबिटो-नैसल इंडेक्स)—आर्य प्रजाति के व्यक्ति का चेहरा प्रणाट अथवा मध्यनाट होता है। इसके विपरीत किरात (मंगोल) **प्रजाति का व्यक्ति अवनाट अथवा चिपटनाट होता है।**

(६) **हनुमान**—आर्य प्रजाति का मानव समहनु (आर्थोग्नैटिक) होता है, अर्थात् उसका हनु कपाल की सीध से आगे नहीं निकला होता। इसके विपरीत को प्रहनु (प्राग्नैथिक) कहते हैं।

यद्यपि शारीरिक सादृश्य और भाषासंबंध होने के कारण बृहद् आर्य परिवार में यूरोप की श्वेत जातियों की गणना की जाती है, तथापि यह सर्वांशत परंपरामानित और सत्य नहीं है। परंपरा में भारत-ईरानी (गौर अथवा गोधूम) लोगों को ही आर्य कहते थे। इसीलिये ग्रियर्सन ने अपनी रिपोर्ट ऑव दि लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द १, पृ० ९६ (१९२७) में लिखा है "भारोपीय मानववंश में उत्पन्न भारत-ईरानी अपने को वास्तविक अर्थ में साधिकार आर्य कह सकते हैं, किंतु हम अंग्रेजों को अपने को आर्य कहने का अधिकार नहीं है।" प्रजाति, भाषा और संस्कृति में स्पष्ट भेद रखना आवश्यक है। 'माइंड ऑव प्रिमिटिव मैन' (१९११) में फ्राज बोआस का मत है, "कोई मानवसमूह अपनी प्रजाति और भाषा को बहुत दिनों तक स्थायी रख सकता है, किंतु उसकी संस्कृति बदल सकती है। यह भी संभव है कि उसकी प्रजाति स्थायी हो सकती है, परंतु उसकी भाषा बदल जाय। फिर यह भी संभव है कि उसकी भाषा स्थायी हो, किंतु प्रजाति और संस्कृति में ही परिवर्तन हो जाय।" इसलिये "आर्य-भाषा-परिवार" का अनुसंधान करनेवाले भाषाविज्ञानियों ने बराबर चेतावनी दी है कि प्रजाति और भाषा एक दूसरे से अभिन्न नहीं हैं।

(२) **आर्य-भाषा-परिवार**—आर्य-मानव-परिवार (प्रजाति) की भाँति आर्य-भाषा-परिवार की कल्पना भी की गई है। उत्तर भारत से लेकर आयरलैंड तक की भाषाओं में आंतरिक संबंध और परस्पर तारतम्य पाया जाता है। इसलिये भारतीय-जर्मन (इंडो-जर्मनिक) अथवा भारोपीय (इंडो-यूरोपियन) आर्य-भाषा-परिवार की प्रस्थापना हुई। इसके दो प्रमुख भेद शत (सेटम) और कंत (केंटम) हैं। इसके निम्नांकित उपभेद माने गए हैं.

(१) **शुद्ध आर्य अथवा भारत-ईरानी**—इसके भी दो प्रभेद हैं प्रथम भारतीय आर्य—वैदिक, पैशाची, संस्कृत, मूल प्राकृत और गौण प्राकृत (अपभ्रंश, हिंदी, बंगला, असमिया, उड़िया, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि), दूसरे ईरानी जिनके अंतर्गत जेंद, प्राचीन फारसी और आधुनिक फारसी सम्मिलित हैं।

(२) आर्मीनियाई (काकेशस के निकटस्थ प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषाएँ)।

(३) यूनानी, जिसके अंतर्गत आयोनियाई, ऐतिक, दोरिक और अन्य कई प्रसिद्ध बोलियाँ हैं।

(४) अलबानियाई (दक्षिण पूर्व यूरोप की भाषाओं में से एक)।

(५) इतालीय, जिसके भीतर लातीनी, ऑस्कन, अंब्रियन आदि हैं।

(६) केल्टिक, जिसके अंतर्गत बरतानी (ब्रिटेनिक) और गाली (गैलिक-आइरिश-स्काटिश) हैं।

(७) जर्मन (गाथिक), नार्स (आइसलैंडी, नारवेई, स्वीडी तथा डेनी), पश्चिम जर्मन, ऐंग्लो-सैक्सन (एंग्लो-सैक्सन, फ्रीजियाई, अधो-जर्मन, अधो-फ्रैंकिश)।

(८) बालटिक—स्लावी अथवा लिथु-स्लावी (इसमें प्राचीन प्रशियाई, लिथुआनियाई, लेटिक, रूसी, बुलगेरियाई, चेक, स्लोवाकियाई आदि सम्मिलित हैं)।

जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ आवश्यक नहीं कि इन भाषाओं के बोलनेवाले मूलत आर्यवंश या प्रजाति के हों। भाषा का जातीय आधार अनिवार्य नहीं। संपर्क, सान्निध्य, आरोप, अनुकरण आदि से भाषाओं का परित्याग और ग्रहण होता आया है।

(३) **आर्य धर्म और संस्कृति**—आर्य धर्म से प्राचीन आर्यों का धर्म और श्रेष्ठ धर्म दोनों समझे जाते हैं। प्राचीन आर्यों के धर्म में प्रथमत प्राकृतिक देवमंडल की कल्पना है जो भारत, ईरान, यूनान, रोम, जर्मनी आदि सभी देशों में पाई जाती है। इसमें द्यौस् (आकाश) और पृथ्वी के बीच में अनेक देवताओं की सृष्टि हुई है। भारतीय आर्यों का मूल धर्म ऋग्वेद में **अभिव्यक्त है, ईरानियों का अवेस्ता में, यूनानियों का उलिसीज और ईलियड**

में। देवमंडल के साथ आर्य कर्मकांड का विकास हुआ जिसमे मंत्र, यज्ञ, श्राद्ध (पितरों की पूजा), अतिथिसत्कार आदि मुख्यत समिलित थे। आर्य आध्यात्मिक दर्शन (ब्रह्म, आत्मा, विश्व, मोक्ष आदि) और आर्य नीति (सामान्य, विशेष आदि) का विकास भी समानातर हुआ। शुद्ध नैतिक आधार पर अवलबित परपराविरोधी अवैदिक सप्रदायों—बौद्ध, जैन आदि—ने भी अपने धर्म को आर्य धर्म अथवा सद्धर्म कहा।

सामाजिक अर्थ मे 'आर्य' का प्रयोग पहले सपूर्ण मानव के अर्थ मे होता था। कभी कभी इसका प्रयोग सामान्य जनता विश के लिये ('अर्य' शब्द से) होता था। फिर अभिजात और श्रमिक वर्ग मे अतर दिखाने के लिये आर्य वर्ण और शूद्र वर्ण का प्रयोग होने लगा। फिर आर्यो ने अपनी सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ण को बनाया और समाज चार वर्गों मे वृत्ति और श्रम के आधार पर विभक्त हुआ। ऋक्‌सहिता मे चारो वर्णों की उत्पत्ति और कार्य का उल्लेख इस प्रकार है

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रोऽजायत ॥१०।९०।१२॥

(इस विराट् पुरुष के मुँह से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय), ऊरु (जघा) से वैश्य और पद (चरण) से शूद्र उत्पन्न हुआ।) आजकल की भाषा मे ये वर्ग बौद्धिक, प्रशासकीय, व्यावसायिक तथा श्रमिक थे। मूल मे इनमे तरलता थी। एक ही **परिवार** मे कई वर्ण के लोग रहते और परस्पर **विवाहादि** सबध और भोजन, पान आदि होते थे। क्रमश ये वर्ग परस्पर वर्जनशील होते गए। ये सामाजिक विभाजन आर्य मानवपरिवार की प्राय सभी शाखाओ मे पाए जाते है, यद्यपि इनके नामो और सामाजिक स्थिति मे देशगत भेद मिलते है।

प्रारभिक आर्य परिवार पितृसत्तात्मक था, यद्यपि आदित्य (अदिति से उत्पन्न), दैत्य (दिति से उत्पन्न) आदि शब्दो मे मातृसत्ता की ध्वनि वर्तमान है। दपती की कल्पना मे पति पत्नी का गृहस्थी के ऊपर समान अधिकार पाया जाता है। परिवार मे पुत्रजन्म की कामना की जाती थी। दायित्व के कारण कन्या का जन्म परिवार को गभीर बना देता था, किंतु उसकी उपेक्षा नही की जाती थी। घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा आदि स्त्रियाँ मत्रद्रष्टा ऋषिपद को प्राप्त हुई थी। विवाह प्राय युवावस्था मे होता था। पति पत्नी को परस्पर निर्वाचन का अधिकार था। विवाह धार्मिक कृत्य के साथ सपन्न होता था, जो परवर्ती ब्राह्म विवाह से मिलता जुलता था।

प्रारभिक आर्य सस्कृति मे विद्या, साहित्य और कला का ऊँचा स्थान है। भारोपीय भाषा ज्ञान के सशक्त माध्यम के रूप मे विकसित हुई। इसमे काव्य, धर्म, दर्शन आदि विभिन्न शास्त्रो का उदय हुआ। आर्यो का प्राचीनतम साहित्य वेद भाषा, काव्य और चिंतन, सभी दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद मे ब्रह्मचर्य और शिक्षणपद्धति के उल्लेख पाए जाते है, जिनसे पता लगता है कि शिक्षणव्यवस्था का सगठन प्रारभ हो गया था और मानव अभिव्यक्तियों ने शास्त्रीय रूप धारण करना शुरू कर दिया था। ऋग्वेद मे कवि को ऋषि (मत्रद्रष्टा) माना गया है। वह अपनी अतर्दृष्टि से सपूर्ण विश्व का दर्शन करता था। उषा, सवितृ, अरण्यानी आदि के सूक्तो मे प्रकृतिनिरीक्षण और मानव की सौदर्यप्रियता तथा रसानुभूति का सुदर चित्रण है। ऋग्वेदसहिता मे पुर और ग्राम आदि के उल्लेख भी पाए जाते है। लोहे के नगर, पत्थर की सैकड़ा पुरियाँ, सहस्रद्वार तथा सहस्रस्तभ अट्टालिकाएँ निर्मित होती थी। साथ ही सामान्य गृह और कुटीर भी बनते थे। भवननिर्माण मे इष्टका (ईंट) का उपयोग होता था। यातायात के लिये पथो का निर्माण और यान के रूप मे कई प्रकार के रथो का उपयोग किया जाता था। गीत, नृत्य और वादित्र का सगीत के रूप मे प्रयोग होता था। वाण, क्षोणी, कर्करि प्रभृति वाद्यो के नाम पाए जाते है। पुत्रिका (पुत्तलिका, पुतली) के नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। अलकरण की प्रथा विकसित थी। स्त्रियाँ निष्क, अज्जि, वासी, वक्, रुक्म आदि गहने पहनती थी। विविध प्रकार के मनोविनोद मे काव्य, सगीत, द्यूत, घुड़दौड़, रथदौड़ आदि समिलित थे।

(४) **श्रेष्ठ, शिष्ट अथवा सज्जन**—नैतिक अर्थ मे 'आर्य' का प्रयोग महाकुल, कुलीन, सभ्य, सज्जन, साधु आदि के लिये पाया जाता है। (**महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधव**। —अमर० ७।३)। सायणाचार्य ने अपने ऋग्भाष्य मे 'आर्य' का अर्थ विज्ञ, यज्ञ का अनुष्ठाता, विज्ञ स्तोता, विद्वान् आदरणीय अथवा सर्वत्र गतव्य, उत्तमवर्ण, मनु, कर्मयुक्त और कर्मानुष्ठान से श्रेष्ठ आदि किया है। आदरणीय के अर्थ मे तो सस्कृत साहित्य मे आर्य का बहुत प्रयोग हुआ है। पत्नी पति को आर्यपुत्र कहती थी। पितामह को आर्य (हि० आजा) और पितामही को आर्या (हि० आजी, ऐया, अइया) कहने की प्रथा रही है। नैतिक रूप से प्रकृत आचरण करनेवाले को आर्य कहा गया है

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स आर्य इति उच्यते ॥

प्रारभ मे 'आर्य' का प्रयोग प्रजाति अथवा वर्ग के अर्थ मे भले ही होता रहा हो, आगे चलकर भारतीय इतिहास मे इसका नैतिक अर्थ ही अधिक प्रचलित हुआ जिसके अनुसार किसी भी वर्ण अथवा जाति का व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता अथवा सज्जनता के कारण आर्य कहा जाने लगा।

आर्य प्रजाति की आदिभूमि के सबध मे अभी तक विद्वानो मे बहुत मतभेद है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन के प्रारभ मे प्राय भाषा और प्रजाति को अभिन्न मानकर एकोद्‌भव (मोनोजेनिक) सिद्धात का प्रतिपादन हुआ और माना गया कि भारोपीय भाषाओ के बोलनेवालो के पूर्वज कही एक ही स्थान मे रहते थे और वही से विभिन्न देशो मे गए। भाषावैज्ञानिक साक्ष्यो की अपूर्णता और अनिश्चितता के कारण यह आदिभूमि कभी मध्य एशिया, कभी पामीर-कश्मीर, कभी आस्ट्रिया-हगरी, कभी जर्मनी, कभी स्वीडन-नार्वे और आज दक्षिण रूस के घास के मैदानो मे ढूँढी जाती है। भाषा और प्रजाति अनिवार्य रूप से अभिन्न नहीं। आज आर्यो की विविध शाखाओ के बहूद्‌भव (पोलिजेनिक) होने का सिद्धात भी प्रचलित होता जा रहा है जिसके अनुसार यह आवश्यक नही कि आर्य-भाषा-परिवार की सभी जातियाँ एक ही मानववश की रही हो। भाषा का ग्रहण तो सपर्क और प्रभाव से भी होता आया है, कई जातियो ने तो अपनी मूल भाषा छोड़कर विजातीय भाषा को पूर्णत अपना लिया है। जहाँ तक भारतीय आर्यो के उद्‌गम का प्रश्न है, भारतीय साहित्य मे उनके बाहर से आने के सबध मे एक भी उल्लेख नही है। कुछ लोगो ने परपरा और अनुश्रुति के अनुसार मध्यदेश (स्थूण) (स्थाण्वीश्वर) तथा कजगल (राजमहल की पहाड़ियाँ) और हिमालय तथा विंध्य के बीच का प्रदेश अथवा आर्यावर्त (उत्तर भारत) ही आर्यों की आदिभूमि माना है। पौराणिक परपरा से विच्छिन्न केवल ऋग्वेद के आधार पर कुछ विद्वानो ने सप्तसिंधु (सीमात एव पजाब) को आर्यों की आदिभूति माना है। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने ऋग्वेद मे वर्णित दीर्घ अहोरात्र, प्रलबित उषा आदि के आधार पर आर्यों की मूलभूमि को ध्रुवप्रदेश मे माना था। बहुत से यूरोपीय विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् अब भी भारतीय आर्यो का बाहर से आया हुआ मानते हैं।

स०ग्र०—गॉर्डन चाइल्ड दि एरियन्स (लदन, १९२६), एच० एच० बेडर द होम ग्राव दि इडो-यूरोपियन्स (आक्सफोर्ड, १९२२), बेन्स एथनोग्राफी (स्ट्रैसबर्ग, १९१२), एफ० बोग्राज जेनरल ऐथ्रोपालोजी (न्यूयार्क, १९३८), ई० सपिर लैग्वेज, रस एंड कल्चर (न्यूयार्क, १९३१), सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय आर्यभाषा और हिंदी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५४), अ० च० दास ऋग्वैदिक इडिया, कैब्रे गेड को० (कलकत्ता, १९२५), सपूर्णानद आर्यो का आदि देश, बी० एस० गुह रेस आउटलाइन ऑव रेशल एथनोलॉजी ऑव इडिया, (कलकत्ता, १९३७), हिंदी विश्वकोश, भाग १, कलकत्ता १९१७, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग २, शिकागो–लदन–टोरटो।

(रा० ब० पा०)

आर्य आष्टांगिक मार्ग भगवान् बुद्ध ने बताया कि तृष्णा ही सभी दु खो का मूल कारण है। तृष्णा के कारण ससार की विभिन्न वस्तुओ की ओर मनुष्य प्रवृत्त होता है, और जब वह उन्हे प्राप्त नही कर सकता अथवा जब वे प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाती है तब उसे दु ख होता है। तृष्णा के साथ मृत्यु प्राप्त करनेवाला प्राणी उसकी प्रेरणा से फिर भी जन्म ग्रहण करता है और ससार के दु खचक्र मे पिसता रहता है। अत तृष्णा का सर्वथा प्रहाण करने का जो मार्ग है वही मुक्ति का मार्ग है। इसे दु.ख-

निरोध-गामिनी प्रतिपदा कहते हैं। भगवान् बुद्ध ने इस मार्ग के आठ अंग बताए हैं सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्ग के प्रथम दो अंग प्रज्ञा के और अंतिम दो समाधि के हैं। बीच के चार शील के हैं। इस तरह शील, समाधि और प्रज्ञा इन्हीं तीन में आठों अंगों का सन्निवेश हो जाता है। शील शुद्ध होने पर ही आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रवेश पा सकता है। शुद्ध शील के आधार पर मुमुक्षु ध्यानाभ्यास कर समाधि का लाभ करता है और समाधिस्थ अवस्था में ही उसे सत्य का साक्षात्कार होता है। इसे प्रज्ञा कहते हैं, जिसके उद्बुद्ध होते ही साधक को सत्ता मात्र के अनित्य, अनात्म और दुःखस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। प्रज्ञा के आलोक में इसका अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है। इससे संसार की सारी तृष्णाएँ चली जाती हैं। वीततृष्ण हो वह कहीं भी अहंकार ममकार नहीं करता और सुख दुःख के बंधन से ऊपर उठ जाता है। इस जीवन के अनंतर, तृष्णा के न होने के कारण, उसके फिर जन्म ग्रहण करने का कोई हेतु नहीं रहता। इस प्रकार, शील-समाधि-प्रज्ञावाला मार्ग आठ अंगों में विभक्त हो आर्य आष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। (भि० ज० का०)

आर्य तारादेवी द्र० 'तारा'।

आर्यदेव लंका के महाप्रज्ञ एकचक्षु भिक्षु जो अपनी ज्ञानपिपासा शांत करने के लिये नालंदा के आचार्य नागार्जुन के पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी प्रतिभा की परीक्षा करने के लिये उनके पास स्वच्छ जल से पूर्ण एक पात्र भेज दिया। आर्यदेव ने उसमें एक सुई डालकर उसे इन्हीं के पास लौटा दिया। आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार किया। जलपूर्ण पात्र से उनके ज्ञान की निर्मलता और पूर्णता का संकेत किया गया था और उसमें सूई डालकर उन्होंने निर्देश किया कि वे उस ज्ञान के तल में पहुँचना चाहते हैं। आर्यदेव ने कई महत्व-पूर्ण ग्रंथ लिखे जिनमें सर्वप्रधान 'चतुःशतक' है। (भि० ज० का०)

आर्य पुद्गल प्रधानतः चार होते हैं (१) श्रोतापन्न, अर्थात् वह मुमुक्षु योगी जो इस अवस्था को प्राप्त हो चुका है, जिसका मुक्त होना निश्चित है और जिसका च्युत होना असंभव है। अधिक से अधिक वह सात जन्म ग्रहण करता है। इसी के भीतर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है, (२) सकृदागामी, जो मरणोपरांत इस लोक में एक बार और जन्म ग्रहण कर मुक्ति का लाभ करता है, (३) अनागामी, वह जो मरणोपरांत किसी ऊँचे लोक में पैदा होता है और बिना इस लोक में जन्म ग्रहण किए वहीं अर्हत् हो जाता है और (४) अर्हत् जिसने अविद्या का सर्वथा अंत कर परम मुक्ति का लाभ कर लिया है। इन चार आर्य पुद्गलों के दो दो भेद होते हैं—एक उस अवस्था के जब उन्हें उन पदों की प्राप्ति हो जाती है, दूसरे उस अवस्था के जब उन्हें उस पद की प्राप्ति का ज्ञान हो जाता है। पहले को 'मार्गस्थ' और दूसरे को 'फलस्थ' कहते हैं। इस प्रकार आर्य पुद्गल के आठ भेद हुए। (भि० ज० का०)

आर्यभट (प्रथम) ज्योतिष शास्त्र के महान् ज्ञाता थे। इन्होंने आर्य-भटीय ग्रंथ की रचना की जिसमें ज्योतिषशास्त्र के अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन है। इसी ग्रंथ में इन्होंने अपना जन्मस्थान कुसुमपुर और जन्मकाल शक संवत् ३९८ लिखा है। बिहार में वर्तमान पटना का प्राचीन नाम कुसुमपुर था लेकिन आर्यभट का कुसुमपुर दक्षिण में था, यह अब लगभग सिद्ध हो चुका है।

आर्यभट ने ज्योतिषशास्त्र के आजकल के उन्नत साधनों के बिना जो खोज की थी, उनकी महत्ता है। कोपर्निकस (१४७३ से १५४३ ई०) ने जो खोज की थी उसकी खोज आर्यभट हजार वर्ष पहले ही कर चुके थे। 'गोलपाद' में आर्यभट ने लिखा है 'नाव में बैठा हुआ मनुष्य जब प्रवाह के साथ आगे बढ़ता है, तब वह समझता है कि अचर वृक्ष, पाषाण, पर्वत आदि पदार्थ उलटी गति से जा रहे हैं। उसी प्रकार गतिमान पृथ्वी पर से स्थिर नक्षत्र भी उलटी गति से जाते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार आर्यभट ने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। इन्होंने सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग को समान माना है। इनके अनुसार एक कल्प में १४ मन्वंतर और एक मन्वंतर में ७२ महायुग (चतुर्युग) तथा एक चतुर्युग में सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग समान हैं।

आर्यभट के अनुसार किसी वृत्त की परिधि और व्यास का संबंध ६२,८३२ : २०,००० आता है जो चार दशमलव स्थान तक शुद्ध है। इन्होंने १२० आर्याछंदों में ज्योतिष शास्त्र के सिद्धांत और उससे संबंधित गणित का सूत्ररूप में अपने आर्यभटीय ग्रंथ में लिखा है। (नि० सिं०)

आर्यभट (द्वितीय) गणित और ज्योतिष दोनों विषयों के अच्छे आचार्य थे। इनका बनाया हुआ महासिद्धांत ग्रंथ ज्योतिष सिद्धांत का अच्छा ग्रंथ है। इन्होंने भी अपना समय कहीं नहीं लिखा है। डाक्टर सिंह और दत्त का मत है (हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग २, पृष्ठ ८९) कि ये ९५० ई० के लगभग थे, जो शककाल ८७२ होता है। दीक्षित लगभग ८७५ शक कहते हैं। आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पीछे हुए हैं, क्योंकि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन बातों का खंडन किया है वे आर्यभटीय से मिलती हैं, महासिद्धांत से नहीं। महासिद्धांत में तो प्रकट होता है कि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन जिन बातों का खंडन किया है वे इसमें सुधार दी गई हैं। कुट्टक की विधि में भी आर्यभट प्रथम, भास्कर प्रथम तथा ब्रह्मगुप्त की विधियों से कुछ उन्नति दिखाई पड़ती है। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के बाद हुए हैं।

ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने अयनचलन के संबंध में कोई चर्चा नहीं की है, परंतु आर्यभट द्वितीय ने इसपर बहुत विचार किया है। अपने ग्रंथ मध्यमा-ध्याय के श्लोक ११-१२ में इन्होंने अयनबिंदु को एक ग्रह मानकर इसके कल्पभगण की संख्या ५,७८,१५९ लिखी है जिससे अयनबिंदु की वार्षिक गति १७३ विकला होती है जो बहुत ही अशुद्ध है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट अयनांश जानने के लिये जो रीति बताई गई है उससे प्रकट होता है कि इनके अनुसार अयनांश २४ अंश से अधिक नहीं हो सकता और अयन की वार्षिक गति भी सदा एक सी नहीं रहती। कभी घटते घटते शून्य हो जाती है और कभी बढ़ते बढ़ते १७३ विकला हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट द्वितीय का समय वह था जब अयनगति के संबंध में हमारे सिद्धांतों में कोई निश्चय नहीं हुआ था। मुंजाल के लघुमानस में अयनचलन के संबंध में स्पष्ट उल्लेख है, जिसके अनुसार एक कल्प में अयनभगण १,९९,६६९ होता है, जो वर्ष में ५९.९ विकला होता है। मुंजाल का समय ८५४ शक या ९३२ ईस्वी है, इसलिये आर्यभट का समय इससे भी कुछ पहले होना चाहिए। इसलिये मेरे मत से इनका समय ८०० शक के लगभग होना चाहिए।

महासिद्धांत—इस ग्रंथ में १८ अधिकार हैं और लगभग ६२५ आर्या छंद हैं। पहले १३ अध्यायों के नाम वे ही हैं जो सूर्यसिद्धांत या ब्राह्मस्फुट सिद्धांत के ज्योतिष संबंधी अध्यायों के हैं, केवल दूसरे अध्याय का नाम है परा-शरमताध्याय। १४वें अध्याय का नाम गोलाध्याय है जिसमें ११ श्लोक तक पाटीगणित या अंकगणित के प्रश्न हैं। इसके आगे के तीन श्लोक भूगोल के प्रश्न हैं और शेष ४३ श्लोकों में ग्रहगणित और ग्रहों की मध्यम गति के संबंध में प्रश्न हैं। १५वें अध्याय में १२० आर्या छंद हैं, जिनमें पाटीगणित, क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय हैं। १६वें अध्याय का नाम भुवनकोश प्रश्नोत्तर है जिसमें खगोल, स्वर्गादि लोक, भूगोल आदि का वर्णन है। १७वाँ प्रश्नोत्तराध्याय है, जिसमें ग्रहों की मध्यमगति संबंधी प्रश्न हैं। १८वें अध्याय का नाम कुट्टकाध्याय है, जिसमें कुट्टक संबंधी प्रश्नों पर ब्राह्मस्फुट सिद्धांत की अपेक्षा कहीं अधिक विचार किया गया है। इससे भी प्रकट होता है कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पश्चात् हुए हैं। (म० प्र० श्री०)

आर्यभटीय नामक ग्रंथ की रचना आर्यभट प्रथम ने की थी। इसकी रचनापद्धति बहुत ही वैज्ञानिक और भाषा बहुत ही संक्षिप्त तथा मँजी हुई है। आर्यभटीय में कुल १२१ श्लोक हैं जो चार खंडों में विभाजित हैं १ गीतिकापाद, २ गणितपाद, ३ कालक्रियापाद और ४ गोलपाद।

गीतिकापाद सबसे छोटा, केवल १३ श्लोकों का है, परंतु इसमें बहुत सी सामग्री भर दी गई है। इसके लिये इन्होंने अक्षरों द्वारा संक्षेप में संख्या लिखने की स्वनिर्मित एक अनोखी रीति का व्यवहार किया है, जिसमें व्यंजनों

से सरल सख्याएँ और स्वरो से शून्यों की गिनती सूचित की जाती थी। उदाहरणत:

ख्युघृ = ४३,२०,००० मे ख् २ के लिये लिखा गया है और य् ३० के लिये। दोनो अक्षर मिलाकर लिखे गए है और इनमे उ की मात्रा लगी है, जो १०,००० के समान है, इसलिये ख्यु का अर्थ हुआ ३,२०,०००, घृ के घ् का अर्थ है ४ और ऋ का १०,००,०००, इसलिये घृ का अर्थ हुआ ४०,००,०००। इस तरह ख्युघृ का उपर्युक्त मान हुआ।

सख्या लिखने की इस रीति मे सबसे बडा दोष यह है कि यदि अक्षरो मे थोड़ा सा भी हेर फेर हो जाय तो बडी भारी भूल हो सकती है। दूसरा दोष यह है कि ल् मे ऋ की मात्रा लगाई जाय तो इसका रूप वही होता है जो लृ स्वर का, परन्तु दोनो के अर्थो मे बडा अतर पडता है। इन दोषो के होते हुए भी इस प्रणाली के लिये आर्यभट की प्रतिभा की प्रशसा करनी ही पडती है। इसमे उन्होने थोडे से श्लोको मे बहुत सी बाते लिख डाली है, सचमुच, गागर मे सागर भर दिया है। आर्यभटीय के प्रथम श्लोक मे ब्रह्मा और परब्रह्म की वंदना है एव दूसरे मे सख्याओ का अक्षरो से सूचित करने का ढग। इन दो श्लोको मे कोई क्रमसख्या नही है, क्योकि ये प्रस्तावना के रूप मे है। इसके बाद के श्लोक की क्रमसख्या १ है जिसमे सूर्य, चद्रमा, पृथ्वी, शनि, गुरु, मगल, शुक्र और बुध के महायुगीय भगणो की सख्याएँ बताई गई है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि आर्यभट ने एक महायुग मे पृथ्वी के घूर्णन की सख्या भी दी है, क्योकि उन्होने पृथ्वी का दैनिक घूर्णन माना है। इस बात के लिये परवर्ती आचार्य ब्रह्मगुप्त ने इनकी निंदा की है। अगले श्लोक मे ग्रहो के उच्च और पात के महायुगीय भगणो की सख्या बताई गई है। तीसरे श्लोक मे बताया गया है कि ब्रह्मा के एक दिन (अर्थात् कल्प) मे कितने मन्वतर और युग होते है और वर्तमान कल्प के आरभ से लेकर महाभारत युद्ध की समाप्तिवाले दिन तक कितने युग और युगपाद बीत चुके थे। आगे के सात श्लोको मे राशि, अश, कला आदि का सबध, आकाशकक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चद्र आदि की गति, अगुल, हाथ, पुरुष और योजन का सबध, पृथ्वी के व्यास तथा सूर्य, चद्रमा और ग्रहो के बिबो के व्यास के परिमाण, ग्रहो की क्रांति और विक्षेप, उनके पातो और मदोच्चो के स्थान, उनकी मदपरिधियाँ और शीघ्रपरिधियो के परिमाण तथा ३ अश ४५ कलाओ के अतर पर ज्याखडो के मानो की सारणी है। अतिम श्लोक मे पहले कही हुई बातो के जानने का फल बताया गया है। इस प्रकार प्रकट है कि आर्यभट ने अपनी नवीन सख्या-लेखन-पद्धति से ज्योतिष और त्रिकोणमिति की कितनी ही बाते १३ श्लोको मे भर दी है।

गणितपाद मे ३३ श्लोक है, जिनमे आर्यभट ने अकगणित, बीजगणित और रेखागणित सबधी कुछ सूत्रो का समावेश किया है। पहले श्लोक मे अपना नाम बताया है और लिखा है कि जिस ग्रथ पर उनका ग्रथ आधारित है वह (गुप्तसाम्राज्य की राजधानी) कुसुमपुर मे मान्य था। दूसरे श्लोक मे सख्या लिखने की दशमलवपद्धति की इकाइयो के नाम है। इसके आगे के श्लोको मे वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोले का घनफल, समलब चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णो के सपात से समातर भुजाओ की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रो की मध्यम लबाई और चौडाई जानकर क्षेत्रफल बताने के साधारण नियम दिए गए है। एक जगह बताया गया है कि परिधि के छठे भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है। एक श्लोक मे बताया गया है कि यदि वृत्त का व्यास २०,००० हो तो उसकी परिधि ६२,८३२ होती है। इसमे परिधि और व्यास का सबध चौथे दशमलव स्थान तक शुद्ध आ जाता है। दो श्लोको मे ज्याखडो के जानने की विधि बताई गई है, जिससे ज्ञात होता है कि ज्याखडो की सारणी (टेबुल ऑव साइन-डिफरेसेज) आर्यभट ने कैसे बनाई थी। आगे वृत्त, त्रिभुज और चतुर्भुज खीचने की रीति, समतल धरातल के परखने की रीति, ऊर्ध्वाधर के परखने की रीति, शकु और छाया से छायाकर्ण जानने की रीति, किसी ऊँचे स्थान पर रखे हुए दीपक के प्रकाश के कारण बनी हुई शकु की छाया की लबाई जानने की रीति, एक ही रेखा पर स्थित दीपक और दो शकुओ के सबध के प्रश्न की गणना करने की रीति, समकोण त्रिभुज के कर्ण और अन्य दो भुजाओ के वर्गो का सबध (जिसे पाइथागोरस का नियम कहते है, परतु जो शुल्वसूत्र मे पाइथागोरस से बहुत पहले लिखा गया था), वृत्त की जीवा और शरो का सबध, दो श्लोको मे श्रेढी गणित के कई नियम, एक श्लोक मे एक एक बढती हुई सख्याओ के वर्गो और घनो का योगफल जानने का नियम, $(क + ख)^2 - (क^2 + ख^2) = 2 कख$, दो राशियो का गुणनफल और अतर जानकर राशियो को अलग अलग करने की रीति, ब्याज की दर जानने का एक नियम जो वर्गसमीकरण का उदाहरण है, त्रैराशिक का नियम, भिन्नो को एकहर करने की रीति, बीजगणित के सरल समीकरण और एक विशेष प्रकार के युगपत् समीकरणो पर आधारित प्रश्नो को हल करने के नियम, दो ग्रहो का युतिकाल जानने का नियम और कुट्टक नियम (सोल्यूशन ऑव इनडिटर्मिनेट इक्वेशन ऑव द फर्स्ट डिग्री) बताए गए है।

जितनी बाते तैतीस श्लोको मे बताई गई है उनको यदि आजकल की परिपाटी के अनुसार विस्तारपूर्वक लिखा जाय तो एक बडी भारी पुस्तक बन सकती है।

कालक्रियापाद—इस अध्याय मे २५ श्लोक है और यह कालविभाग और काल के आधार पर की गई ज्योतिष सबधी गणना से सबध रखता है। पहले दो श्लोको मे काल और कोण की इकाइयो का सबध बताया गया है। आगे के छह श्लोको मे योग, व्यतीपात, केंद्रभगण और बार्हस्पत्य वर्षो की परिभाषा दी गई है तथा अनेक प्रकार के मासो, वर्षो और युगो का सबध बताया गया है। नवे श्लोक मे बताया गया है कि युग का प्रथमार्ध उत्सर्पिणी और उत्तरार्ध अवसर्पिणी काल है और इनका विचार चद्रोच्च से किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ समझ मे नही आता। किसी टीकाकार ने इसकी सतोषजनक व्याख्या नही की है। १०वे श्लोक की चर्चा पहले ही आ चुकी है, जिसमे आर्यभट ने अपने जन्म का समय बताया है। इसके आगे बताया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरभ होती है। आगे के २० श्लोको मे ग्रहो की मध्यम और स्पष्ट गति सबधी नियम है।

गोलपाद—यह आर्यभटीय का अतिम अध्याय है। इसमे ५० श्लोक हैं। पहले श्लोक मे प्रकट होता है कि क्रांतिवृत्त के जिस बिंदु को आर्यभट ने मेषादि माना है वह वसत-सपात-बिंदु था, क्योकि वह कहते है, मेष के आदि से कन्या के अत तक अपमडल (क्रांतिवृत्त) उत्तर की ओर हटा रहता है और तुला के आदि से मीन के अत तक दक्षिण की ओर। आगे के दो श्लोको मे बताया गया है कि ग्रहो के पात और पृथ्वी की छाया का भ्रमण क्रांतिवृत्त पर होता है। चौथे श्लोक मे बताया गया है कि सूर्य से कितने अतर पर चद्रमा, मगल, बुध आदि दृश्य होते है। पाँचवा श्लोक बताता है कि पृथ्वी, ग्रहो और नक्षत्रो का आधा गोला अपनी ही छाया से अप्रकाशित है और आधा सूर्य के सम्मुख होने से प्रकाशित है। नक्षत्रो के सबध मे यह बात ठीक नही है। श्लोक छह सात मे पृथ्वी की स्थिति, बनावट और आकार का निर्देश किया गया है। आठवे श्लोक मे यह विचित्र बात बताई गई है कि ब्रह्मा के दिन मे पृथ्वी की त्रिज्या एक योजन बढ जाती है और ब्रह्मा की रात्रि मे एक योजन घट जाती है। श्लोक नौ मे बताया गया है कि जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेडो को विपरीत दिशा मे चलता हुआ देखता है वैसे ही लका (पृथ्वी की विषुवत् रेखा पर एक कल्पित स्थान) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर घूमते हुए दिखाई पडते है। परतु १०वे श्लोक मे बताया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उदय और अस्त करने के बहाने ग्रहयुक्त सपूर्ण नक्षत्रचक्र, प्रवह वायु से प्रेरित होकर, पश्चिम की ओर चल रहा हो। श्लोक ११ मे सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव पर स्थित पर्वत) का आकार और श्लोक १२ मे सुमेरु और बडवामुख (दक्षिण ध्रुव) की स्थिति बताई गई है। श्लोक १३ मे विषुवत् रेखा पर ९०-९० अश की दूरी पर स्थित चार नगरियो का वर्णन है। श्लोक १४ मे लका से उज्जैन का अतर बताया गया है। श्लोक १५ मे बताया गया है कि भूगोल की मोटाई के कारण खगोल आधे भाग से कितना कम दिखाई पडता है। १६वे श्लोक मे बताया गया है कि देवताओ और असुरो का खगोल कैसे घूमता हुआ दिखाई पडता है। श्लोक १७ से देवताओ, असुरो, पितरो और मनुष्यो के दिन रात का परिमाण है। श्लोक १८ से २३ तक खगोल का वर्णन है। श्लोक २४-३३ मे त्रिप्रश्नाधिकार के

प्रधान सूत्रों का कथन है, जिनसे लग्न, काल आदि जाने जाते हैं। श्लोक ३४ में लंबन, ३५ में आक्षदृक्कर्म और ३६ में आयन दृक्कर्म का वर्णन है। श्लोक ३७ से ४७ तक सूर्य और चंद्रमा के ग्रहण की गणना करने की रीति है। श्लोक ४८ में बताया गया है कि पृथ्वी और सूर्य के योग से सूर्य के, सूर्य और चंद्रमा के योग से चंद्रमा के तथा चंद्रमा और ग्रहों के योग से सब ग्रहों के मूलांक जाने गए हैं। श्लोक ४९ और ५० में आर्यभटीय की प्रशंसा की गई है।

प्रचार—आर्यभटीय का प्रचार दक्षिण भारत में विशेष रूप से हुआ। इस ग्रंथ का पठन पाठन १६वीं १७वीं शताब्दी तक होता रहा है, जो इसपर लिखी गई टीकाओं से स्पष्ट है। दक्षिण भारत में इसी के आधार पर बने हुए पंचांग आज भी वैष्णव धर्मावलंबियों को मान्य होते हैं। खेद है, हिंदी में आर्यभटीय की कोई अच्छी टीका नहीं है। अंग्रेजी में इसके दो अनुवाद हैं, एक श्री प्रबोधचंद्र सेनगुप्त का और दूसरा श्री डब्ल्यू० ई० क्लार्क का। पहला १९२७ ई० में कलकत्ते और दूसरा १९३० ई० में शिकागो से प्रकाशित हुआ था।

आर्यभट के दूसरे ग्रंथ का प्रचार उत्तर भारत में विशेष रूप से हुआ, जो इस बात से स्पष्ट है कि आर्यभट के तीव्र आलोचक ब्रह्मगुप्त को वृद्धावस्था में अपने ग्रंथ खंडखाद्यक में आर्यभट के ग्रंथ का अनुकरण करना पड़ा। परंतु अब खंडखाद्यक का ही प्रचार कश्मीर और नेपाल तक दृष्टिगोचर होता है, आर्यभटीय का नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि खंडखाद्यक के व्यापक प्रचार के सामने आर्यभट के ग्रंथ का पठन पाठन कम हो गया और वह धीरे धीरे लुप्त हो गया।

(म० प्र० श्री०)

आर्यशूर संस्कृत के प्रख्यात बौद्ध कवि। साधारणत ये अश्वघोष से अभिन्न माने जाते हैं, परंतु दोनों की रचनाओं की भिन्नता के कारण आर्यशूर को अश्वघोष से भिन्न तथा पश्चाद्वर्ती मानना ही युक्तिसंगत है। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'जातकमाला' की प्रख्याति भारत की अपेक्षा भारत के बाहर बौद्धजगत् में कम न थी। इसका चीनी भाषा में अनुवाद १०वीं शताब्दी में किया गया था। ईत्सिंग ने आर्यशूर की कविता की ख्याति का वर्णन अपने यात्राविवरण में किया है (आठवीं शताब्दी)। अजंता की दीवारों पर 'जातकमाला' के शांतिवादी, शिवि, मैत्रीबल आदि जातकों के दृश्यों का अंकन और परिचयात्मक पद्यों का उत्खनन छठी शताब्दी में इसकी प्रसिद्धि का पर्याप्त परिचायक है। अश्वघोष द्वारा प्रभावित होने के कारण आर्यशूर का समय द्वितीय शताब्दी के अनंतर तथा पाँचवी शताब्दी से पूर्व मानना न्यायसंगत होगा। इनका मुख्य ग्रंथ 'जातकमाला' चंपूशैली में निर्मित है। इसमें संस्कृत के गद्य पद्य का मनोरम मिश्रण है। ३४ जातकों का सुंदर काव्यशैली तथा भव्य भाषा में वर्णन हुआ है। इसकी दो टीकाएँ संस्कृत में अनुपलब्ध होने पर भी तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित हैं। आर्यशूर की दूसरी काव्यरचना 'पारमितासमास' है जिसमें छहों पारमिताओं (दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिताओं) का वर्णन छह सर्गों तथा ३,६४१ श्लोकों में सरल सुबोध शैली में किया गया है। दोनों काव्यों का उद्देश्य अश्वघोषीय काव्यकृतियों के समान ही रूखे मनवाले पाठकों को प्रसन्न कर बौद्ध धर्म के उपदेशों का विपुल प्रचार और प्रसार है (रूक्ष-मनसामपि प्रसाद)। कवि ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये बोलचाल की व्यावहारिक संस्कृत का प्रयोग किया है और उसे अलंकार के व्यर्थ आडंबर से प्रयत्नपूर्वक बचाया है। पद्यभाग के समान गद्यभाग भी सुश्लिष्ट तथा सुंदर है।

सं०ग्रं०—विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २ (कलकत्ता १९३५), बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास (पंचम सं०, काशी, १९५८)। (ब० उ०)

आर्यसत्य बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत, आर्यसत्य चार हैं। दुख आर्यसत्य, समुदय आर्यसत्य, निरोध आर्यसत्य और मार्ग आर्यसत्य। प्राणी जन्म भर विभिन्न दुखों की शृंखला में पड़ा रहता है, यह दुख आर्यसत्य है। संसार के विषयों के प्रति जो तृष्णा है वही समुदय आर्यसत्य है। जो प्राणी तृष्णा के साथ मरता है, वह उसकी प्रेरणा से फिर भी जन्म ग्रहण करता है। इसीलिये तृष्णा को समुदय आर्यसत्य कहते हैं। तृष्णा का अशेष प्रहाण कर देना निरोध आर्यसत्य है। तृष्णा के न रहने से न तो संसार की वस्तुओं के कारण कोई दुख होता है और न मरणोपरांत उसका पुनर्जन्म होता है। बुझ गए प्रदीप की तरह उसका निर्वाण हो जाता है। और, इस निरोध की प्राप्ति का मार्ग आर्य अष्टांगिक मार्ग है। इसके आठ अंग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस आर्यमार्ग को सिद्ध कर वह मुक्त हो जाता है। (भि० ज० का०)

आर्यसमाज भारतवर्ष की आधुनिक काल की प्रगतिशील सुधार संस्थाओं में आर्यसमाज का विशेष स्थान है। आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल, १८७५ ई० (चैत्र शुक्ल ५, १९३२ वि०) को स्वामी दयानंद सरस्वती (जन्म सं० १८८१ वि०, टंकारा, गुजरात, देहावसान सं० १९४० वि० कार्तिक अमावस्या, अजमेर, राजस्थान) द्वारा बंबई में हुई थी। इस समय भारतवर्ष में तथा ब्रह्मदेश, थाईलैंड, मलाया, अफ्रीका, पश्चिमी द्वीपसमूह (ट्रिनिडाड) आदि में लगभग ३,००० समाज हैं जहाँ इसके सदस्यों की संख्या ५० लाख से अधिक है। आर्यसमाज का दृष्टिकोण सार्वभौमिक है, क्योंकि इसके संस्थापक और कार्यकर्ताओं का प्रमाणित उद्देश्य यह है कि विश्व भर में बिना जन्म, जाति, देश या रंग की अपेक्षा के वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय।

आर्यसमाज की स्थापना का विचार इस प्रकार आरंभ हुआ था बालक मूलशंकर ने घर छोड़, संन्यास ग्रहण कर स्वामी दयानंद सरस्वती के नाम से सत्य की खोज करना आरंभ किया और प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद से मथुरा में व्याकरण और वैदिक शास्त्रों का अध्ययन शुरू किया। अपने अध्ययन और अनुसंधान से उन्होंने देखा कि प्रचलित हिंदू धर्म प्राय सनातन वैदिक धर्म से अनेक सिद्धांतों में बहुत भिन्न हो गया है और मनुष्य जाति का कल्याण इसी में है कि वर्तमान पौराणिक धर्म का त्याग कर प्राचीन वेदों की शिक्षा का प्रसार किया जाय। गुरु विरजानंद के आदेश पर स्वामी दयानंद ने आर्यसमाज की स्थापना इसी उद्देश्य से की थी।

सन् १८८३ ई० तक स्वामी दयानंद ने समस्त भारतवर्ष की विस्तृत यात्रा कर अनेक मुख्य नगरों में आर्यसमाज स्थापित किए और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित कीं—सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य (७वें मंडल तक), यजुर्वेदभाष्य तथा अन्य कतिपय छोटे बड़े ग्रंथ। स्वामी दयानंद की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज ने शिक्षा के प्रचार और समाजसुधार में बड़ी लगन से कार्य किया है। इस संस्था द्वारा स्थापित स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों, संस्कृत पाठशालाओं तथा कन्यापाठशालाओं, विधवाश्रमों, अनाथालयों का उत्तरी भारत तथा अन्य प्रदेशों में जाल सा बिछा हुआ है। इन कार्यों में आर्यसमाज को समस्त शिष्ट जनता की सहानुभूति प्राप्त है।

प्रचलित हिंदू धर्म से आर्यसमाज के सिद्धांतों में निम्नलिखित मुख्य अंतर है आर्यसमाज केवल वेदों के संहिताभाग को ही ईश्वरकृत और स्वतप्रमाण मानता है तथा ब्राह्मण, उपनिषद् आदि को मनुष्यकृत तथा परतप्रमाण, राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार न मानकर महापुरुष मानता है, मूर्तिपूजा को अवैदिक तथा पाप गिनता है, जन्म से जातिभेद नहीं मानता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों को गुणकर्मानुसार और परिवर्तनशील मानता है, अर्थात् किसी देश या वर्ण का मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभावानुसार वैदिक धर्म को ग्रहण कर सकता है और उसी वर्ण में गिना जा सकता है, स्त्रियों को विवाह आदि सामाजिक विषयों के समान अधिकार देता है और स्त्रियों तथा दलित जातियों के उद्धार के लिये प्रयत्नशील रहता है। आर्यसमाज के समस्त विधान की आधारशिला निम्नलिखित दस नियम हैं.

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है तथा उसी की उपासना करने योग्य है।

(३) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

(४) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य का विचार कर करना चाहिए।

(६) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियमपालन मे परतत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतत्र रहे।

(ग० प्र० उ०)

आर्यावर्त आर्यों का निवासस्थान। ऋग्वेद मे आर्यों का निवासस्थल 'सप्तसिंधु' प्रदेश के नाम से अभिहित किया जाता है। ऋग्वेद के नदीसूक्त (१०।७५) मे आर्यनिवास मे प्रवाहित होनेवाली नदियों का एकत्र वर्णन है जिसमे मुख्य ये है—कुभा (काबुल नदी), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सिंधु, परुष्णी (रावी), शुतुद्री (सतलज), वितस्ता (झेलम), सरस्वती, यमुना तथा गगा। यह वर्णन वैदिक आर्यों के निवासस्थल की सीमा का निर्देशक माना जा सकता है। ब्राह्मण ग्रंथों मे कुरु पाचाल देश आर्य संस्कृति का केंद्र माना गया है जहाँ अनेक यज्ञयागों के विधान से यह भूभाग 'प्रजापति की नाभि' कहा जाता था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि कुरु पाचाल की भाषा ही सर्वोत्तम तथा प्रामाणिक है। उपनिषद्काल मे आर्यसभ्यता की प्रगति काशी तथा विदेह जनपदों तक फैली। फलत पजाब से मिथिला तक का विस्तृत भूभाग आर्यों का पवित्र निवास उपनिषदों मे माना गया। धर्मसूत्रों मे आर्यावर्त की सीमा के विषय मे बडा मतभेद है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१।८-९) मे आर्यावर्त की यह प्रख्यात सीमा निर्धारित की गई है कि यह आदर्श (विनशन, सरस्वती के लोप होने का स्थान) के पूर्व, कालक वन (प्रयाग) के पश्चिम, पारियात्र तथा विध्य के उत्तर और हिमालय के दक्षिण मे है। अन्य दो मतों का भी यहाँ उल्लेख है कि (क) आर्यावर्त गगा और यमुना के बीच का भूभाग है और (ख) उसमे कृष्ण मृग निर्बाध सचरण करता है। बौधायन (धर्मसूत्र १।१।२७), पतजलि (महाभाष्य २।४।१० पर) तथा मनु (मनुस्मृति २।१७) ने भी वसिष्ठोक्त मत को ही प्रामाणिक माना है। मनु की दृष्टि मे आर्यावर्त मध्यदेश मे बिलकुल मिलता है और उसके भीतर 'ब्रह्मावर्त' नामक एक छोटा, परतु पवित्रतम भूभाग है, जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों द्वारा सीमित है और यहाँ का परपरागत आचार सदाचार माना जाता है। आर्यावर्त की यही प्रामाणिक सीमा थी और इसके बाहर के देश म्लेच्छ देश माने जाते थे, जहाँ तीर्थयात्रा के अतिरिक्त जाने पर इष्टि या सस्कार करना आवश्यक होता था। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।८१) मे अवति, अग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिधु-सौवीर आदि देश म्लेच्छ देशों मे गिनाए गए है। परतु आर्यों की सस्कृति और सभ्यता ब्राह्मणों के धार्मिक उत्साह के कारण अन्य देशों मे भी फैली जिन्हे आर्यावर्त का अश न मानना सत्य का अपलाप होगा। मेधातिथि का इस विषय मे मत बडा ही युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि "जिस देश मे सदाचारी क्षत्रिय राजा म्लेच्छों को जीतकर चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा करे और म्लेच्छों को आर्यावर्त के चाडालों के समान व्यवस्थित करे, वह देश भी यज्ञ के लिये उचित स्थान है, क्योंकि पृथ्वी स्वत अपवित्र नहीं होती, बल्कि अपवित्रों के ससर्ग से ही दूषित होती है" (मनु २।२३ पर मेधातिथि-भाष्य)। ऐसे विजित म्लेच्छ देशों को भी मेधातिथि आर्यावर्त के अंतर्गत मानने के पक्षपाती है। सस्कृति की प्रगति की यह माँग ठुकराई नहीं जा सकती। तभी तो महाभारत पजाब को, जो कभी आर्य संस्कृति का वैदिक कालीन केंद्र था, दो दिन भी ठहरने लायक नहीं मानता (कर्णपर्व ४३। ५-८), क्योंकि यवनों के प्रभाव के कारण शुद्धाचार की दृष्टि से उस युग मे यह नितांत आचारहीन बन गया था। आर्यावर्त ही गुप्तकाल मे कुमारी द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। पुराणों मे आर्यावर्त 'भारतवर्ष' के नाम से ही विशेषत निर्दिष्ट है (विष्णुपुराण २।३।१, मार्कंडेयपुराण ५७।५९ आदि)।

(ब० उ०)

आर्रेनियस स्वाटे आगस्ट आर्रेनियस (१८५९-१९२७) प्रसिद्ध रसायनज्ञ थे। इनकी शिक्षा उपसाला, स्टाकहोम तथा रीगा मे हुई थी। इनकी बुद्धि बहुत ही प्रखर तथा कल्पनाशक्ति तीक्ष्ण थी। केवल २४ वर्ष की आयु मे ही इन्होंने वैद्युत् विच्छेदन (इलेक्ट्रोलिटिक डिसोसिएशन) का सिद्धांत उपस्थित किया। उपसाला विश्वविद्यालय मे इनकी डाक्टरेट की थीसिस का यही विषय था। इस नवीन सिद्धात की कडी आलोचना हुई तथा उस समय के बडे बडे वैज्ञानिकों ने, जैसे लार्ड केल्विन इत्यादि ने, इसका बहुत विरोध किया। इसी समय एक दूसरे वैज्ञानिक वांट हॉफ ने पतले घोल के नियमों का अध्ययन कर गैस के नियमों से उसकी समानता पर जोर दिया। इस खोज से तथा ओस्टवाल्ट के समर्थन से आर्रेनियस के सिद्धात की मान्यता मे बहुत सहायता मिली। ओस्टवाल्ट ने अपनी निकली हुई पत्रिका 'साइट्श्रिफ्ट फूर फिजिकलीशे केमी' मे आर्रेनियस का लेख प्रकाशित किया और अपने भाषणों तथा लेखों मे भी इस सिद्धात का समर्थन किया। अत मे इस सिद्धात को वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त हुई।

सन् १८९१ मे लेक्चरर तथा १८९५ मे प्रोफेसर के पद पर, स्टाकहोम मे, आर्रेनियस की नियुक्ति हुई। १९०२ मे उन्हे डेवी मेडल तथा १९०३ मे नोबेल पुरस्कार मिला। १९०५ मे मृत्यु पर्यत वे स्टाकहोम मे नोबेल इस्टिट्यूट के डाइरेक्टर रहे। बाद मे उन्होंने दूसरे विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किए। ये विचार उनकी पुस्तक 'वर्ल्ड्स इन द मेकिंग' तथा 'लाइफ ऑन द यूनिवर्स' मे व्यक्त है।

स०ग्र०—एच० एम० स्मिथ टार्च बेयरर्स ऑव केमिस्ट्री, जे० आर० पार्टिंगटन ए शार्ट हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९५१)।

(वि० वा० प्र०)

आर्लबर्ग आस्ट्रिया की एक सुरग है जो आर्लबर्ग रेलवे का एक भाग है। इसका उद्घाटन १८८४ ई० मे हुआ था। यह छह मील लबी है तथा इसकी अधिकतम ऊँचाई ४,३०० फुट है। इसके बनाने मे १५,००,००० पाउड लगे थे। १९२३ ई० मे इसका विद्युतीकरण किया गया।

(नृ० कु० सि०)

आर्लिंगटन सयुक्त राज्य (अमरीका) के मैसाचुसेट्स राज्य का एक नगर है। यह बोस्टन से छह मील उत्तर पश्चिम मे बसा हुआ है। यह एक ऐतिहासिक भाग मे पडता है, जहाँ पर लेक्सिंगटन की लडाई हुई थी। यह राजकीय सडक पर है तथा रेल द्वारा बास्टन और मेन से सबद्ध है। इसका क्षेत्रफल ५½ वर्ग मील है। यह फल और सब्जी की खेती, पियानो की काया और चित्रों के चौखटे बनाने के लिये प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम १६३० मे यह केंब्रिज (अमरीका) के एक भाग के रूप मे बसा था। पश्चिमी केंब्रिज के रूप मे १८०७ मे यह नगरनिगम बना। १८६७ मे इसका यह नया नाम पडा।

(नृ० कु० सि०)

आर्लिंग्टन, हेनरी बेनेट, अर्ल (१६१८-८५), गृहयुद्धकालीन अग्रेज राजनीतिज्ञ। वह राजा की ओर से लडा था और राजा के शिरश्छेदन के बाद राजपरिवार के साथ ही विदेश चला गया था। चार्ल्स द्वितीय के स्वदेश लौटने और राज्यारोहण के बाद आर्लिंग्टन राजकीय धनसचिव हुआ और क्लेयरेडन मत्रिमडल के पतन के बाद 'केबल' मत्रिमडल का सदस्य और वैदेशिक मत्री हुआ। फ्रास के लुई चतुर्दश के साथ जो चार्ल्स द्वितीय की डोवर की गुप्त सधि हुई उसका रहस्य राजा के अतिरिक्त बस दो व्यक्ति और जानते थे क्लिफर्ड और आर्लिंग्टन। आर्लिंग्टन चार्ल्स के सभी धन सबधी कुकृत्यों का सहायक था जिसके लिये उस राजा ने 'अर्ल', 'गार्टर के वीर' आदि की उपाधियाँ दी। आर्लिंग्टन नितात स्वार्थपरक व्यक्ति था। उसे दल परिवर्तित करने मे देर नहीं लगती थी। फलत. वह सभी दलों का विश्वास खो बैठा और उसके प्रबल शत्रु बकिंघम ने उसपर पार्लमेंट मे मुकदमा चलाया। मुकदमा तो वह जीत गया पर

अपने पद से उसने इस्तीफा दे दिया। उसे पद बराबर मिलते गए, पर उसके प्रभाव का अंत हो गया। देशप्रेम उसे छू तक न गया था और लाभ तथा सुख ही उसके उपास्य थे। उसे अपने देश के संविधान तक का ज्ञान न था, पर उसकी सफलता का रहस्य उसका सम्मोहक व्यक्तित्व और आकर्षक वार्तालाप था। उसे यूरोप की अनेक भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था।

सं०ग्रं०—लाडरडेल पेपर्स, ओरिजिनल लेटर्स ऑव सर आर० फैन्शा, १७२५। (भ० ग० उ०)

आर्सेनिक रसायन की आवर्तसारणी के पंचम मुख्य समूह का एक तत्व है। इसकी स्थिति फास्फोरस के नीचे तथा ऐंटीमनी के ऊपर है। आर्सेनिक में अधातु के गुण अधिक और धातु के गुण कम विद्यमान हैं। इस धातु को उपधातु (मेटालायड) की श्रेणी में रखा जाता है। आर्सेनिक से नीचे ऐंटीमनी में धातुगुण अधिक है तथा उससे नीचे बिस्मथ पूर्णरूपेण धातु है। पंचम मुख्य समूह में नीचे उतरने पर धातुगुण में वृद्धि होती है।

आर्सेनिक की कुछ विशेषताएँ निम्नांकित हैं :

संकेत आ, (अंतरराष्ट्रीय As है)

परमाणु अंक ३३

परमाणु भार ७४.९१

आ$^{+++}$ आयन का अर्धव्यास ०.६९ × १०$^{-८}$ सेंटीमीटर

गलनांक ८२०° सेंटीग्रेड (३६ वायुमंडल दाब पर)

विद्युत्प्रतिरोधकता ३५ × १०$^{-६}$ (ओह्म-सेंटीमीटर) २० से० पर

आर्सेनिक सलफाइड का पता बहुत पहले लग चुका था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इसका वर्णन किया है। उसमें इस अयस्क का नाम हरिताल है। प्राचीन काल में इसका उपयोग हस्तलिखित पुस्तकों में अशुद्ध लेख को मिटाने के लिये किया जाता था। यूनानियों ने आर्सेनिक सल्फाइड का अध्ययन ईसवी से चौथी शताब्दी पूर्व किया। १३वीं शताब्दी में प्रसिद्ध कार्यकर्ता ऐलबर्टस मैगनस ने सल्फाइड अयस्क का साबुन के साथ गर्म करके एक धातु से मिलता जुलता पदार्थ बनाया। सन् १७३३ ई० में ब्रैंट ने यह सिद्ध किया कि आर्सेनिक एक तत्व है। सन् १८१७ ई० में स्वीडन देश के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्जीलियस ने इसका परमाणुभार निकाला।

उपस्थिति—यौगिक अवस्था में आर्सेनिक पृथ्वी पर अनेक स्थानों में पाया जाता है। ज्वालामुखी के वाष्पों में, समुद्र तथा अनेक खनिजीय जलों में यह मिश्रित रहता है। आर्सेनिक के मुख्य अयस्क आक्साइड तथा सल्फाइड हैं। कहीं कहीं यह तत्व अन्य धातुओं के साथ यौगिक रूप में मिलता है, मुख्यतः सिल्वर, ऐंटीमनी, ताम्र, लौह और कोबाल्ट के साथ आर्सेनिक यौगिक बनाता है।

गुणधर्म—साधारण ताप पर आर्सेनिक के दो भिन्न भिन्न अपर रूप होते हैं, एक धूसर रंग का आर्सेनिक तथा दूसरा पीला आर्सेनिक।

धूसर रंग का आर्सेनिक अपारदर्शी है। इसके मणिभ षट्कोणीय, कठोर, भंगुर तथा धातु की चमक लिए होते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व ५.७ है। यह आर्सेनिक तत्व का स्थायी रूप है।

पीला आर्सेनिक पारदर्शी होता है। इसके मणिभ घनाकार तथा नम्र होते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व २.० है। यह अस्थायी अपर रूप है। कार्बन द्विसलफाइड में आर्सेनिक विलयन से पीला आर्सेनिक मणिभी-कृत किया जाता है। पीले अपर रूप को गर्म करने या प्रकाश में रखने से वह धूसर रूप में परिणत हो जाता है। कुछ उत्प्रेरक पीले अपर रूप को भूरे अपर रूप में परिवर्तित कर देते हैं।

आर्सेनिक के अणु ८००° सेंटीग्रेड तक आ$_४$ तथा १७००° सेंटीग्रेड पर आ$_२$ रूप में रहते हैं।

आर्सेनिक तत्व में उपचायक (आक्सिडाइज़िंग) तथा अपचायक (रिड्यूसिंग) दोनों ही गुण विद्यमान हैं। यह आक्सीजन, फ्लोरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, गंधक, पोटैसियम क्लोरेट तथा नाइट्रेट द्वारा उपचयित (आक्सीकृत) हो जाता है। इसके विपरीत सोडियम, पोटैसियम तथा अन्य क्षारीय धातुएँ आर्सेनिक को अपचयित करती हैं। जिन अवस्थाओं में वह यौगिक बनाता है उनके अनुसार आर्सेनिक की दो, तीन तथा पाँच संयोजकताएँ हैं, हाइड्रोजन के साथ आ हा$_३$ यौगिक बनता है, जो साधारण ताप पर गैसीय, रंगहीन, विषैला तथा अस्थायी होता है। आ हा$_३$ अथवा आर्सेनिक हाइड्राइड एक शक्तिशाली अपचायक है। यह ताप या प्रकाश द्वारा विघटित हो जाता है।

क्षार, क्षारीय मृदाएँ (ऐल्कैलाइन अर्थ्स) तथा कुछ अन्य धातुएँ जैसे यशद, ऐल्यूमिनियम आदि आर्सेनिक के साथ यौगिक बनाती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ आर्सेनिक के अधातु गुणधर्म की पुष्टि करती हैं।

आर्सेनिक अम्ल का सूत्र आ (औहा)$_३$ अथवा हा$_३$ आ औ$_३$ है। क्षार द्वारा इस अम्ल के क्रियात्मक लवण आर्सेनाइट कहलाते हैं। आर्सेनिक आक्साइड अथवा संखिया का सूत्र आ$_४$ औ$_६$ है। यह यौगिक कई अपर रूपों में मिलता है और शक्तिशाली संचयी (अक्यूम्युलेटिव) विष है।

क्लोरीन, ब्रोमीन तथा आयोडीन के साथ आर्सेनिक त्रिसंयोजकीय यौगिक बनाता है। इन यौगिकों का विघटन बहुत कम होता है। इस कारण इनमें लवण के गुण नहीं हैं।

आर्सेनिक के पाँच प्रधान यौगिक आक्साइड आ$_२$ औ$_५$, आर्सेनिक अम्ल हा$_३$ आ औ$_४$ तथा उससे बने आर्सिनेट सलफाइड आ$_२$ ग$_५$, और फ्लोराइड आ फ्लो$_५$ हैं।

आर्सेनिक के कार्बनिक व्युत्पन्न भी बनाए गए हैं, जिनमें (काहा$_३$)$_३$ आ, (काहा$_३$)$_२$ आ क्लो, (काहा$_३$)$_२$ आ — आ (काहा$_३$)$_२$ और (काहा$_३$)$_२$ आ औऔहा मुख्य हैं।

गुणात्मक विश्लेषण में आर्सेनिक को सल्फाइड के रूप में पारद, वंग (रांगा), ऐंटिमनी आदि के साथ अलग करते हैं। आर्सेनिक के यौगिक अधिकतर विषैले होते हैं। इसलिये इसकी सूक्ष्म मात्रा में उपस्थिति की पहचान करना, विलयन तथा गैस दोनों रूपों में, आवश्यक हो सकता है। आर्सेनाइट का विलयन ताँबे द्वारा अपचयित हो जाता है। ताँबे के टुकड़े को विलयन में डालने से उसपर आर्सेनिक की काली परत छा जाती है। आ हा$_३$ अथवा आर्सीन का वाष्प सिल्वर नाइट्रेट को अपचयित कर देता है। आर्सीन का वाष्प गर्म नली में आर्सेनिक की काली तह जमा देता है; इस परीक्षा को मार्श की परीक्षा कहा जाता है।

उपयोग—आर्सेनिक आक्साइड आर्सेनिक का सबसे उपयोगी यौगिक है। यह ताँबे, सीसे तथा अन्य धातुओं के अयस्क से सहजात के रूप में निकाला जाता है। आर्सेनिक आक्साइड अन्य आर्सेनिक यौगिकों के निर्माण में काम आता है। इसका उपयोग काँच बनाने तथा चमड़े की वस्तुएँ सुरक्षित करने में होता है। इस काम में लेड आर्सेनाइट, कैल्सियम आर्से-नाइट और ताँबे के कार्बनिक आर्सेनाइट का विशेष उपयोग होता है। आर्से-निक के कुछ अन्य यौगिक वर्णकों (रंगों) के लिये विशेष उपयोगी होते हैं।

आर्सेनिक का उपयोग मिश्र धातुओं के निर्माण में भी होता है। सीसे में एक प्रति शत आर्सेनिक डालने से उसकी पुष्टता बढ़ जाती है। इस मिश्रण का उपयोग छर्रे बनाने में होता है। ताँबे के साथ थोड़ी मात्रा में आर्सेनिक मिलाने पर उसका आक्सीकरण तथा क्षरण रुक जाता है।

आर्सेनिक के यौगिक प्रायः विषैले होते हैं। वे शरीर की कोशिकाओं में पक्षाघात (पैरालिसिस) पैदा करते हैं तथा अँतड़ियों और ऊतकों को हानि पहुँचाते हैं। आर्सेनिक खाने पर सिरपीड़ा, चक्कर तथा वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि आर्सेनिक सूक्ष्म मात्रा में लाभकारी होता है। अतः उसके अनेक कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिक रक्ताल्पता, तंत्रिकाव्याधि, गठिया, मलेरिया, प्रमेह तथा अन्य रोगों के उपचार में प्रयुक्त होते हैं। विशेषकर प्रमेह के उपचार में साल्वारसन का उपयोग होता है, जो आर्सेनिक का कार्बनिक यौगिक आर्सफिनामीन हाइड्रोक्लोराइड है। इसकी संरचना निम्नलिखित है :

आ = आ (दोनों आर्सेनिक परमाणु एक एक बेंज़ीन वलय से जुड़े; प्रत्येक वलय पर क्लोहा$_३$ ना / नाहा$_३$ क्लो तथा औहा)

क्लोहा$_३$ ना — औहा   नाहा$_३$ क्लो — औहा
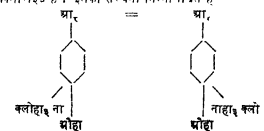
आर्सेनिक यौगिक उदरविष होते हैं। इस कारण वे पत्तियाँ खानेवाले कीटाणुओं को नष्ट करने में उपयोगी होते हैं। कैलसियम आर्सिनेट टमाटर के कीड़े को नष्ट करता है। लेड आर्सिनेट फल, फूल तथा अन्य हरी तरकारियों के कीड़ों को नष्ट करता है। उन फलों तथा तरकारियों को, जिनपर आर्सेनिक यौगिकों का छिड़काव हुआ हो, अच्छे प्रकार से धोकर खाना चाहिए।

उत्पादन—आर्सेनिक आक्साइड को कोक (तपाया हुआ पत्थर का कोयला) द्वारा अपचयित करके आर्सेनिक तत्व बनाया जाता है। कुछ आर्सेनिक यौगिकों को गर्म करने पर उनका विघटन हो जाता है। इस प्रकार भी आर्सेनिक तत्व रूप में बनाया जाता है। अच्छा तथा शुद्ध मणिभ आर्सेनिक पाने के लिये ताप का नियंत्रण आवश्यक है। (र० च० क०)

आलंबन बौद्ध दर्शन के अनुसार आलंबन छह होते हैं—रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म। इन छह के ही आधार पर हमारे चित्त की सारी प्रवृत्तियाँ उठती हैं और उन्हीं के सहारे चित चैत्तसिक संभव होते हैं। ये आलंबन चक्षु आदि इंद्रियों से गृहीत होते हैं। प्राणी के मरणासन्न अंतिम चित्तक्षण में जो स्वप्न छायावत् आलंबन प्रकट होता है उसी के आधार पर मरणांतर दूसरे जन्म में प्रथम चित्तक्षण उत्पन्न होता है। इस तरह, चित्त कभी निरालंब नहीं रहता। (भि० ज० का०)।

आलम शेख हिंदी (ब्रजभाषा) के मुसलमान कवियों में प्रमुख। 'कविता कौमुदी', 'मिश्रबंधु विनोद', 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (रामचंद्र शुक्ल), 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' आदि ग्रंथों में 'आलम' नाम के दो कवि माने गए हैं, एक शाहंशाह अकबर के समकालीन सूफी कवि आलम जिनकी रचना 'माधवानल कामकंदला' शीर्षक प्रेमाख्यान है और दूसरे औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह (शाहंशाह बहादुर शाह) के आश्रित रीतिकालीन पद्धति पर कवित्त सवैया छंदों में शृंगारिक मुक्तकों के रचयिता आलम जिनके बारे में जनश्रुति है कि यह ब्राह्मण थे और 'शेख' नाम की रँगरेजिन की काव्यप्रतिभा पर मुग्ध हो मुसलमान बन गए थे। लेकिन डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (लेख, आलम और उनका समय, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक १-२, सं० २००२ वि०) तथा श्री भवानीशंकर याज्ञिक (लेख, आलम और रसखान, पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० २९१-३०२) ने बहुत छानबीन एवं अनुसंधान के बाद सिद्ध किया है कि आलम नाम के केवल एक कवि थे जिनका रचनाकाल सन् १५८३ ई० से १६२३ ई० था। उक्त दोनों विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि दो आलमों संबंधी प्रवाद की उत्पत्ति का आधार शिवसिंह सरोज में उद्धृत छंद :

> जानत औलि किताबन को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हे।
> पालत है इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे॥
> मोजमसाह तुम्हें करता करिबे को दिलीपति है वर दीन्हे।
> काबिल है ते रहै कितहूँ कहूँ काबिल होत है काबिल कीन्हे॥

मुअज्जमशाह के दरबारी कवि लाला जैतसिंह महापात्र रचित 'माजम प्रभाव' का है और इसमें प्रयुक्त 'आलम' शब्द का तात्पर्य आलम नामक कवि से न होकर 'जगत्' से है। अत: आलम का रचनाकाल जो उपर्युक्त छंद के आधार पर १६५५ ई० (सं० १७१२) के आसपास माना जाता रहा है, भ्रामक है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतिम भाग में दी हुई 'रागमाला' 'माधवानल कामकंदला' (आलम रचित) का अंश है। 'गुरुग्रंथ साहब' का वर्तमान रूप वही है जो १६०४ ई० (सं० १६६१) तक निश्चित हो चुका था और अकबर का शासनकाल सन् १६०५ ई० तक रहा। अत मुअज्जमशाह के समसामयिक कवि आलम की रचना का अंश उसमें होना संभव नहीं है। आलम की चार कृतियाँ (द्र० डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख 'आलम' की कृतियाँ, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, अंक ३, सं० २००४ वि०) प्रामाणिक मानी जाती हैं .

१. माधवानल कामकंदला जिसमें माधवानल और कामकंदला की प्रेमकथा दोहा चौपाइयों में वर्णित है। इस ग्रंथ को कुछ विद्वान् सूफी-प्रभाव-समन्वित मानते हैं।

२ श्यामसनेही में रुक्मिणी विवाह की कथा है और इसकी रचना भी दोहा चौपाई शैली में हुई है।

३ सुदामाचरित में कृष्ण सुदामा की मैत्री की मार्मिक कथा है जिसका आधार पौराणिक है।

४ आलमकेलि मुक्तक रचनाओं का संग्रह है और इसमें लगभग ४०० छंद हैं। आलमकेलि की एकाधिक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्य हैं जिनपर विभिन्न नाम मिलते हैं, यथा 'आलम के कवित्त', 'रसकवित्त', 'आलमकेलि', 'अक्षरमालिका' और 'चतु शती'। परंतु इनमें से कोई एक नाम सर्वमान्य नहीं है।

'आलमकेलि' का प्रकाशन उमाशंकर मेहता ने वाराणसी से सन् १९२२ ई० में करवाया। इसके कुछ कवित्तों में 'शेख' छाप है तो कुछ में 'आलम'। ग्रंथ की पुष्पिका से स्पष्ट हो जाता है कि कवि का पूरा नाम 'शेख आलम' था और 'शेख साई' नाम से भी उसे जाना जाता था। कतिपय विद्वान् इसलिये शेख को आलम की स्त्री नहीं मानते और उनकी प्रेमकथा को निराधार बताते हैं।

आलम की प्रसिद्धि मुख्यत मुक्तकों के कारण ही हुई। अत 'आलमकेलि' को उनकी सर्वप्रमुख रचना माना जा सकता है। आलमकृत मुक्तकों में भावात्मक तीव्रता इतनी अधिक है कि विद्वानों का एक वर्ग उनके कवित्तों को सूफी काव्य की प्रकृति का मानता है और दूसरा वर्ग उन्हें उत्कृष्ट भक्तिकाव्य के अंतर्गत परिगणित करने के पक्ष में है। (कै० च० श०)

आलमगीर प्रथम द्र० 'औरंगजेब'।

आलमगीर द्वितीय मुगल सम्राट् जिनका असली नाम अज़ीजुद्दीन था। ये सम्राट् जहाँदारशाह के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १६८८ ई० में हुआ था। २ जून, सन् १७५४ ई० के दिन ये वजीर इमादुलमुल्क गाजीउद्दीन खाँ की सहायता से सिंहासन पर बैठे और मुहम्मदशाह के पुत्र अहमद को कैद कर लिया गया। ये केवल पाँच वर्ष तक शासनारूढ़ रहे। वजीर इमादुलमुल्क गाजीउद्दीन ने २९ नवंबर, १७५९ को इनका कत्ल करवा दिया। सम्राट् हुमायूँ की कब्र के समीप इन्हें दफनाया गया। शाह आलम (अलीगौहर) इनका पुत्र था। (कै० च० श०)

आलवार तमिल भाषा के इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अध्यात्म ज्ञान के समुद्र में गोता लगानेवाला व्यक्ति। आलवार तमिल देश के प्रसिद्ध वैष्णव संत थे। इनका हृदय नारायण की भक्ति से आप्लावित था और ये लक्ष्मीनारायण के सच्चे उपासक थे। इनके जीवन का एक ही उद्देश्य था—विष्णु की प्रगाढ़ भक्ति में स्वत लीन होना और अपने उपदेशों से दूसरे साधकों को लीन करना। इनकी मातृभाषा तमिल थी जिसमें इन्होंने सहस्रों सरस और भक्तिस्निग्ध पदों की रचना कर सामान्य जनता के हृदय में भक्ति की मंदाकिनी बहा दी। इन विष्णुभक्तों की संख्या पर्याप्त रूप से अधिक थी, परंतु उनमें से १२ भक्त ही प्रधान और महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनका आविर्भावकाल सप्तम शतक और दशम शतक के अंतर्गत माना जाता है। इन आलवारों में गोदा स्त्री थी, कुलशेखर केरल के राजा थे और शेष भक्तों में कई अछूत तथा चोरी डकैती कर जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति भी थे। आलवारों के दो प्रकार के नाम मिलते हैं—एक तमिल, दूसरे संस्कृत नाम। इनकी स्तुतियों का संग्रह **नालायिरप्रबंधम्** (४,००० पद्य) के नाम से विख्यात है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम सौंदर्य तथा आनंद से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का दिव्य मानसरोवर है। पवित्रता तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से यह संग्रह 'तमिलवेद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

श्रीवैष्णव आचार्य पराशर भट्ट ने इन भक्तों के संस्कृत नामों का एकत्र निर्देश इस प्रख्यात पद्य में किया है

> भूत सरश्च महदाह्वय-भट्टनाथ-
> श्रीभक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान्।
> भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
> श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

आलवारों के दोनों प्रकार के नाम ये हैं—(१) सरोयोगी (पोयगै आलवार), (२) भूतयोगी (भूतत्तालवार), (३) महत्‌योगी (पेय आलवार), (४) भक्तिसार (तिरुमडिसै आलवार), (५) शठकोप या पराकुश मुनि (नम्म आलवार), (६) मधुर कवि, (७) कुलशेखर, (८) विष्णुचित्त (परि आलवार), (९) गोदा या रंगनायकी (आंडाल), (१०) विप्रनारायण या भक्तपदरेणु (तोंडर डिप्पोलि), (११) योगवाह या मुनिवाहन (तिरुप्पन), (१२) परकाल या नीलन्‌ (तिरुमंगैयालवार)। इनमें प्रथम तीनों व्यक्ति अत्यंत प्राचीन और समकालीन माने जाते हैं। इनके बनाए ३०० भजन मिलते हैं जिन्हें श्रीवैष्णव लोग ऋग्वेद का सार मानते हैं। आचार्य शठकोप अपनी विपुल रचना, पवित्र चरित्र तथा कठिन तपस्या के कारण आलवारों में विशेष प्रख्यात हैं। इनकी ये चारों कृतियाँ श्रुतियों के समकक्ष अध्यात्ममयी तथा पावन मानी जाती हैं (क) **तिरुविरुत्तम्‌**, (ख) **तिरुवाशिरियम्‌**, (ग) **पेरिय तिरुवतादि** तथा (घ) **तिरुवायमोलि**। वेदांतदेशिक (१२६६ ई०–१३६६ ई०) जैसे प्रख्यात आचार्य ने अंतिम ग्रंथ का उपनिषदों के समान गूढ़ तथा रहस्यमय होने से 'द्रविडोपनिषत्‌' नाम दिया है और उसका संस्कृत में अनुवाद भी किया है। तमिल के सर्वश्रेष्ठ कवि **कंबन्‌** की रामायण रंगनाथ जी को तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होंने शठकोप की स्तुति ग्रंथ के आरंभ में की। इस लोकप्रसिद्ध घटना से इनका माहात्म्य तथा गौरव आँका जा सकता है। कुलशेखर केरल देश के राजा थे, जिन्होंने राजपाट छोड़कर अपना अंतिम समय श्रीरंगम्‌ के आराध्यदेव श्रीरंगनाथ जी की उपासना में बिताया। इनका **मुकुंदमाला** नामक संस्कृत स्तोत्र नितांत प्रख्यात है। आंडाल आलवार विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री थी और जीवन भर कौमार्य धारण कर वह रंगनाथ को ही अपना प्रियतम मानती रही। उसे हम तमिल देश की 'मीरा' कह सकते हैं। दोनों के जीवन में एक प्रकार की माधुर्यमयी निष्ठा तथा स्नेहमय जीवन इस समता का मुख्य आधार है।

आलवारों के पद भाषा की दृष्टि से भी ललित और भावपूर्ण माने जाते हैं। भक्ति से स्निग्ध हृदय के ये उद्‌गार तमिल भाषा की दिव्य संपत्ति हैं तथा भक्ति के नाना भावों में मधुर रस की भी छटा इन पदों में, विशेषत नम्म आलवार के पदों में, कम नहीं है।

सं०ग्रं०—हूपर हिम्स आव दि अलवारस, कलकत्ता, १९२९, बलदेव उपाध्याय भागवत संप्रदाय, काशी, सं० २०१०। (ब० उ०)

आलारकालाम गृहत्याग करने के बाद सत्य की खोज में घूमते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम विख्यात योगी आलारकालाम के आश्रम में पहुँचे। आलारकालाम रूपावचर भूमि से ऊपर उठ अपने समकालीन योगी उद्दक रामपुत्त की भाँति अरूपावचर भूमि की समापत्ति प्राप्त कर विहार करते थे। उस काल वह वैशाली में विराज रहे थे। सिद्धार्थ गौतम ने उस योगप्रक्रिया में शीघ्र ही सिद्धिलाभ कर लिया और उसके ऊपर की बातें जाननी चाहा। जब वह और कुछ न बता सके तब सिद्धार्थ ने उनका साथ छोड़ दिया। बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान्‌ बुद्ध ने सर्वप्रथम उद्दक रामपुत्त और आलारकालाम को उपदेश देने का संकल्प किया, किंतु तब वे जीवित न थे। (भि० ज० का०)

आलिव पहाड़ी जेरूसलम नगर के पूर्व में स्थित एक ऐतिहासिक पहाड़ी है और उस नगर से जेहोशफात की घाटी और किड्रोन नदी द्वारा पृथक्‌ है। इस पहाड़ी के शिखर की ऊँचाई समुद्रतल से २,७३७ फुट है। बाइबिल संबंधी अनेक घटनाओं का स्थल होने के कारण यह पहाड़ी महत्वपूर्ण है। इस पहाड़ी की चार शाखाएँ हैं जिनके नाम उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमानुसार गैलिली अथवा वारी गैलिली, असेशन की पहाड़ी, प्राफेट्स और आफेंस की पहाड़ी हैं। इन चारों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण असेशन की पहाड़ी है। इसके निचले भाग में गेथसीमेन का उद्यान स्थित था। इस पहाड़ी का उल्लेख बाइबिल के पुराने भाग (ओल्ड टेस्टामेंट) में चार स्थानों पर आया है। (रा० ना० मा०)

आलिवाल पूर्वी पंजाब के लुधियाना जिले में सतलज नदी के तट पर स्थित एक ऐतिहासिक ग्राम है। प्रथम सिक्खयुद्ध (१८३५-४६) में अंग्रेजों एवं सिक्खों के मध्य यहाँ भीषण युद्ध हुआ था। यहाँ खालसा नायक रणजोधसिंह मजीठिया ने २१ जनवरी, १८४६ को हेनरी स्मिथ नामक सेनापति को हराया और फिर सतलज पार क्षेत्र में अपनी स्थिति दृढ़ करने लगा। अंत २८ जनवरी को हेनरी स्मिथ ने फिर आक्रमण किया और मुदकी तथा आलिवाल में घमासान युद्ध हुआ। यद्यपि इस बार सिक्खों ने अंग्रेजी फौज के छक्के छुड़ा दिए, तो भी अंत में वे हार गए। इस युद्ध से अंग्रेजों का क्षेत्रीय प्रभाव बढ़ गया। यह युद्ध सिक्खों का प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध था। (का० ना० सि०)

आलू (अंग्रेजी नाम पोटैटो, वानस्पतिक नाम सोलेनम ट्यूबरोसम, प्रजाति सोलेनम, जाति ट्यूबरोसम, कुल सोलेनेसी) की उत्पत्ति दक्षिणी अमरीका के पेरू तथा चिली प्रांत से हुई है। इस कुल की प्रत्येक जाति में एक रासायनिक पदार्थ 'सोलेनिन' होता है। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आलू की खेती अमरीका के आविष्कार के पहले से ही वहाँ के निवासी करते थे। मानव जाति के भोजन में आलू की प्रधानता इस सीमा तक है कि इसे तरकारियों का सम्राट् कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसकी मसालेदार तरकारी, पकौड़ी, चाट, चॉप, पापड़ इत्यादि अनेक स्वादिष्ट पकवान बनाए जाते हैं। इससे डेक्स्ट्रीन, ग्लूकोज, ऐलकोहल इत्यादि

आलू

ऊपर बाएँ कोने में आलू का फूल अलग दिखाया गया है।
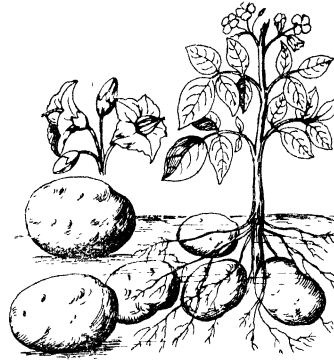
पदार्थ तैयार किए जाते हैं। इसमें प्रोटीन उच्च कोटि की, परंतु कम मात्रा में होती है। स्टार्च, विटामिन 'सी' तथा 'बी' अधिक मात्रा में होते हैं। भारतवर्ष में इसकी खेती १७वीं शताब्दी के पहले नहीं होती थी, परंतु वर्तमान समय में यह प्रत्येक भाग में प्रति दिन उपलब्ध है। संसार में इसकी उपज चावल की दुगुनी तथा गेहूँ की तिगुनी है। भारतवर्ष में आलू की खेती लगभग ७,१५,००० एकड़ में होती है, जिसमें लगभग ७,६५,००,००० मन आलू पैदा होता है। उत्तर प्रदेश में लगभग ३,८०,००० एकड़ में आलू की खेती होती है जिसमें ४,६०,००,००० मन आलू की उपज होती है। भारतवर्ष में आलू की औसत उपज १११ मन प्रति एकड़ है, जब कि यूरोपीय देशों में २२५ मन प्रति एकड़ है।

आलू की खेती भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु में की जा सकती है। समुद्रपृष्ठ से लेकर ९,००० फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती हो सकती है परंतु सफल खेती के लिये उपयुक्त जलवायु प्रधान है। इंग्लैंड, आयरलैंड,

स्काटलैंड तथा उत्तरी जर्मनी में आलू की सर्वाधिक उपज का मुख्य कारण उन स्थानों में आलू की उचित वृद्धि के लिये ठंढी ऋतु है। इसकी वृद्धि के लिये सर्वोत्तम ताप ६०°-७५° फा० है। अधिक वर्षावाले क्षेत्र में भी इसकी उपज अच्छी नहीं होती। कम वर्षा, परंतु सिंचाई के साधन से युक्त क्षेत्र अधिक उपयुक्त होते हैं। भारतवर्ष में पहाड़ों पर ग्रीष्म ऋतु में तथा मैदानों में जाड़े में इसकी खेती होती है। आलू की सफल खेती के लिये जलवायु के बाद मिट्टी का महत्व है। आलू के लिये मिट्टी की उपयुक्तता की माप आलू की उपज, उसकी शीघ्र परिपक्वता, भोजनोचित गुण तथा सुरक्षित रहने की अवधि इत्यादि गुणों द्वारा ही होती है। इसके लिये वही मिट्टी सर्वोत्तम है जो उपजाऊ, मध्यम आकार के कणोंवाली, भुरभुरी तथा गहरी हो और जो अधिक क्षारीय न हो। इन बातों का ध्यान रखते हुए आलू के लिये सबसे उत्तम मिट्टी पाँस (ह्यूमस) से परिपूर्ण हल्की दुमट है। मिट्टी में अधिक आर्द्रता का आलू पर बहुत कुप्रभाव पड़ता है।

मिट्टी को कई बार जोतकर भली भाँति भुरभुरी तथा गहरी कर लेना चाहिए। मिट्टी जितनी ही अधिक गहरी, खुली तथा भुरभुरी होगी उतनी ही वह आलू की अच्छी उपज के लिये उपयुक्त होगी। मिट्टी की तैयारी का विशेष महत्व इसलिये है कि मिट्टी की रचना, आर्द्रता, ताप, वायुसंचालन तथा प्राप्य खनिजों से भोज्य तत्वों का आलू के पौधों द्वारा ग्रहण प्रधानतः मिट्टी की जोत पर ही निर्भर है। इन कारणों का प्रभाव आलू के आकार, गुण तथा उपज पर पड़ता है। अतः ९-१० इंच गहरी जुताई करना उत्तम है। एक ही खेत में लगातार आलू की फसल लेना दोषपूर्ण है। अधिक भोज्यग्राही फसल के बाद भी आलू बोना अनुचित है। आलू की जड़ें अधिक गहराई तक नहीं जातीं और तीन चार महीने में ही इतनी अधिक उपज देकर उन्हें जीवन समाप्त कर देना पड़ता है। इसलिये यह आवश्यक है कि खाद अधिक मात्रा में ऊपर की मिट्टी में ही मिश्रित की जाय जिससे पौधे सुगमतापूर्वक शीघ्र ही उसे प्राप्त कर सकें। सड़े गोबर की खाद प्रति एकड़ ४०० मन तथा १० मन अंडी अथवा नीम की खली का चूर्ण आलू बोने के दो सप्ताह पहले मिट्टी में भली भाँति मिलाना चाहिए। जिन मेड़ों में आलू बोना हो उनमें पूर्वोक्त खाद के अतिरिक्त अमोनियम सल्फेट तीन मन तथा सुपर फास्फेट छह मन प्रति एकड़ के हिसाब से छिड़ककर मिट्टी में मिला दें। तत्पश्चात् उन्हीं मेड़ों में आलू बोया जाय। अन्य खाद देते समय यह ध्यान रहे कि कम से कम १५० पाउंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ मिट्टी में प्रस्तुत हो जाय।

आलू की खेती भारतवर्ष के मैदानी तथा पहाड़ी दोनों भागों में होती है। मैदान में बोए जानेवाले आलू तीन वर्गों में विभाजित किए जाते हैं

(क) शीघ्र पकनेवाली किस्में थोड़े समय (६०-९० दिनों) में तैयार हो जाती हैं, परंतु इनकी उपज अधिक नहीं होती। ये किस्में निम्नलिखित हैं (१) साठा—छोटे आकार के ये आलू ६० से ७५ दिनों में तैयार हो जाते हैं, (२) गोला—यह एक मिश्रित किस्म है जिसमें दो अन्य किस्में भी मिली रहती हैं। इनकी खेती अधिक नहीं होती, क्योंकि मिश्रण होने से किसान इन्हें पसंद नहीं करते। यह भी लगभग ६० दिनों में तैयार हो जाती है।

(ख) मध्यम किस्म का आलू जो तीन से चार महीने में तैयार होता है (१) अपटुडेट—यह अत्यंत सुंदर किस्म है। आलू सफेद तथा अच्छे आकार के होते हैं, (२) द्विजाति (हाइब्रिड)—हाइब्रिड ४५, २०८, २०९, २२३६ तथा हाइब्रिड ओ० एन० २१८६ इत्यादि। ये द्विजाति किस्में केंद्रीय आलू अनुसंधान केंद्र में पैदा की जा रही हैं, जिससे वहाँ से अन्य स्थानों में खेती करने के लिये उनका वितरण हो सके।

(ग) अधिक समय में तैयार होनेवाले आलू, जो चार से पाँच महीने में तैयार होते हैं, इनकी उपज अधिक होती है (१) फुलवा—यह मैदानी भाग में सर्वत्र बोया जाया है। पौधे फूलते हैं और आलू सफेद होता है, उपज अधिक होती है, (२) दार्जिलिंग लाल—यह फुलवा से कुछ पहले तैयार होता है। आलू लाल रंग का होता है, परंतु फुलवा की तरह यह अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। रखने के लिये फुलवा सबसे अच्छा है। पहाड़ी भाग में पैदा होनेवाली किस्में मार्च तथा अप्रैल में बोई जाती हैं : (१) अपटुडेट, (२) क्रेग्स डिफायेंस, (३) हाइब्रिड ९ तथा २०९० और (४) ग्रेट स्टॉक।

आलू की सफल खेती के लिये बीज का चुनाव अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें त्रुटि होने से जो हानि होती है उसकी पूर्ति खाद देकर या अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती। कितना बीज और कितनी दूरी पर बोया जाय यह सब आलू की किस्म, आकार तथा मिट्टी की उर्वरता पर निर्भर है। एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति की दूरी $1\frac{1}{2}$ फुट से $2\frac{1}{2}$ फुट तक तथा पंक्ति में बीज से बीज की दूरी ६ से १२ इंच होनी चाहिए। बीज से तात्पर्य है आलू या उसके किसी टुकड़े से, जो बोने के लिये प्रयुक्त हो। बड़े आलू काटकर तथा छोटे बिना काटकर बोए जाने चाहिए, परंतु प्रत्येक टुकड़े में आँख (अंकुर) अवश्य रहे। प्रति एकड़ चार मन से १५ मन तक आलू बोया जाता है। बीज कितना बड़ा हो, यह आलू की किस्म पर निर्भर है। फुलवा, दार्जिलिंग और साठा के बीज एक इंच तथा अन्य किस्म $1\frac{1}{2}$ इंच से $1\frac{3}{4}$ इंच व्यास की होनी चाहिए। मैदान में सितंबर, अक्टूबर तथा नवंबर तक और पहाड़ों पर फरवरी से जून तक ये बोए जाते हैं। बीज को मेड़ पर या कूँड़ में बोते हैं, परंतु प्रत्येक दशा में तीन चार इंच से अधिक गहराई पर बीज नहीं बोना चाहिए।

आलू १५ दिन में जम जाता है। मेड़ों के बीच की नालियों में पानी देते हैं। १०–१२ दिन के अंतर पर सिंचाई करते रहना चाहिए। पौधे बढ़ते जाते हैं तो उनकी शाखाओं को ढकने के लिये मिट्टी चढ़ाते रहना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं ढँकी हुई शाखाओं के सिरों पर आलू बनते हैं। मिट्टी के बाहर, प्रकाश में आ जाने से ये शाखाएँ हरी हो जाती हैं और उनपर आलू नहीं बनते। अस्तु, दो या तीन बार मिट्टी चढ़ाई जाती है। जब पौधों की पत्तियाँ पीली होने लगें तो आलू की खुदाई करनी चाहिए। शीघ्र तैयार होनेवाली किस्मों की उपज ८० मन से १५० मन तथा देर से तैयार होनेवाली किस्मों की उपज १५० मन से ४०० मन प्रति एकड़ होती है।

आलू में अनेक हानिकारक कीड़े तथा रोग लगते हैं। (१) सफेद कीड़ा (ह्वाइट ग्रब)—यह आलू के गूदे को खाता है, जिससे आलू में सड़न पैदा होने लगती है। इससे बचने के लिये खेत में डी० डी० टी० छिड़कना चाहिए। (२) पत्ती खानेवाला कीड़ा (एपीलैक्ना बीट्ल) पत्तियाँ खाता है। इसे ३-५ प्रति शत डी० डी० टी० छिड़ककर मारना चाहिए। (३) पोटैटो मॉथ (थॉमियाँ ओपरक्युलेल्ला) के कीड़े आलू में छेद करके गूदा खाते हैं। ये गोदाम में अधिक हानि पहुँचाते हैं। गोदाम में आलुओं को बालू या लकड़ी के कोयले के चूर्ण से ढककर रखना चाहिए या पाँच प्रति शत डी० डी० टी० का छिड़काव करना चाहिए। (४) पोटैटो ब्लाइट एक फफूँदी (फंगस) की बीमारी है, जिससे पत्तियों तथा तनों पर काले धब्बे पड़ जाते हैं बीमारी का संदेह होते ही बोर्डो मिक्श्चर अथवा बरगंडी मिक्श्चर का एक प्रति शत घोल छिड़कना चाहिए। (५) पोटैटो स्कैब की बीमारी सूक्ष्म जीवों द्वारा फैलती है, जिससे आलू पर भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। (६) रिंग रॉट की बीमारी फैलाने के प्रधान कारण सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टीरिया) हैं। इनसे आलू के भीतर भूरे या काले रंग का वृत्ताकार चिह्न बन जाता है। (७) लीफ रोल में आलू की पत्तियाँ किनारों की ओर मुड़ जाती हैं। यह एक वायरस का रोग है। (८) पोटैटो मोज़ैइक एक प्रकार का कोढ़ है जो वायरस का रोग है। अन्य रोग, जैसे स्टिपल-स्ट्रीक, क्रिंकल, ड्राइ रॉट ऑव पोटैटो तथा पोटैटो वार्ट इत्यादि भी आलू को अधिक हानि पहुँचा सकते हैं।

बीज के लिये आलू को सर्वदा शुष्क तथा ठंढे स्थान में रखना चाहिए। उसे प्रशीतित घर (कोल्ड स्टोर) में रखना अति उत्तम है। (ज० रा० सि०)

आलूबुखारा यह आलूचा नामक वृक्ष का फल है, जो गढ़वाल, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, अफगानिस्तान इत्यादि में होता है और वहीं से सुखाकर आता है। बुखारा प्रदेश का फल सबसे अच्छा होता है, इसीलिये इसका उपर्युक्त नाम है। फल नाप में आँवले के बराबर और आकार में आड़ू जैसा तथा स्वाद में खटमीठा होता है।

आयुर्वेद के मतानुसार यह हृदय को बल देनेवाला, गरम, कफ-पित्त-नाशक, पाचक, मधुर तथा प्रमेह, गुल्म, बवासीर और रक्तस्राव मे उपयोगी है, दस्तावर है तथा ज्वर को शांत करता है। इसके वृक्ष का गोंद खाँसी तथा फेफड़े और छाती की पीड़ा मे लाभदायक तथा गुर्दे और मूत्राशय की पथरी को तोड़कर निकालनेवाली है। इसे भोजन के पहले खाने से पित्तविकार मिटते है तथा मुँह मे रखने से प्यास कम लगती है। इसका चूर्ण घाव पर भुरभुराने से या इसके पानी से घाव धोने से भी लाभ होता है। (भ० दा० व०)

आल्किबिआदिज़ (ल० ४५०-४०४ ई० पू०) एथेंस के जेनरल और राजनीतिज्ञ। सभ्रांत, सुदर्शन और धनाढ्य। विलासी और अमितव्ययी। सुकरात के प्रशंसक, यद्यपि आचरण मे उनके उपदेशों के विरोधी। राजनीति मे उन्होंने एथेंस का दूसरे नगरों से सद्भाव कर स्पार्ता का विरोध किया, यद्यपि एथेंस ने उनकी नीति का पूर्णत निर्वाह नही किया। आल्किबिआदिज को नगर ने जेनरल नही बनाया और स्पार्ता ने एथेंस के साझेदार नगरो को मधयुद्ध मे छिन्न भिन्न कर दिया। सिसिली को जानेवाले पोतसमूह के वे आंशिक अध्यक्ष भी बने पर स्वदेश लौटने पर उन्होंने देखा कि उनके विरुद्ध शत्रुओं ने अभियोग खड़ा कर दिया है, अत वे अपनी जान बचाकर स्पार्ता भागे। उनकी सलाह से स्पार्ता ने एथेंस के विरुद्ध अपनी जो नई नीति अख्तियार की उससे एथेंस प्राय नष्ट हो गया। तब आल्किबिआदिज़ लघु एशिया जा पहुँचे। पर शीघ्र वे स्पार्ता का विश्वास भी खो बैठे और उन्होंने अब एथेंस म प्रवेश करने के उपाय ढूँढ निकाले। एथेंस की ओर से उन्होंने स्पार्ता के जहाजी बेड़े को बार बार पराजित किया। उनकी विजयो से प्रसन्न होकर एथेंस ने उन्हे स्वदेश लौटने की अनुमति दे दी। परतु उनकी विजय चिरस्थायी न रह सकी और जब उन्हे नोतियम के युद्ध मे अपने मुँह की खानी पड़ी तब उन्होंने फ्रीगिया मे शरण ली, जहाँ स्पार्ता के कुचक्र से उनकी हत्या कर डाली गई। आल्किबिआदिज़ असाधारण आकर्षण और अनत गुणों के व्यक्ति थे, परतु उनके आचरण का कोई सिद्धात नही था। स्वार्थपरक कारणो से कभी वे स्वदेश के हितो के अनुकूल मत देते, कभी विरुद्ध। फलत एथेंस के नागरिक कभी उनपर विश्वास न कर सके। (ओ० ना० उ०)

आल्कीयस् गानिकाव्यों की रचना करनेवाले अत्यत प्राचीन ग्रीक कवि। इनका जन्म लेस्बस् के मितोलेने नगर मे लगभग ई० पू० ६२० मे हुआ था और यह सुविख्यात कवयित्री साफो के समकालीन थे। युवावस्था मे इन्होने युद्धों मे भी भाग लिया था तथा एक युद्ध मे इनको भागना पड़ा था। अपने नगरराष्ट्र के तानाशाह पित्ताकस् मे इनका कलह हुआ था जिसके परिणामस्वरूप इनको मिस्र मे प्रवास करना पड़ा। आल्कीयस् के काव्य के विषय विविध प्रकार के थे। स्तोत्र, पानगीत, प्रेमगीत, सूक्तियाँ सभी इनकी रचनाओं मे मिलती है। इनकी भाषा ग्रीक भाषा की उपभाषा इयालिक है। इनके नाम से आल्कीय छद का भी प्रचलन हुआ था। इस नाम के दो अन्य कवि भी ई० पू० ४०० और ई० पू० २०० मे हुए है।

सं०ग्रं०—मरे ए हिस्ट्री ऑव एशेंट ग्रीक लिटरेचर, १९३७। नौर्वुड द राइटर्स ऑव ग्रीस, १९३५, बाउरा एशेंट ग्रीक लिटरेचर, १९४५। (भो० ना० श०)

आल्कोफोरादो मारियाना (१६४०-१७२३) भिक्षुणी के पत्र की विख्यात पुर्तगाली लेखिका, पुर्तगाल और स्पेन के परस्पर युद्ध के समय सुरक्षा और शिक्षा के विचार से मारियाना को विधुर पिता ने एक कानवेंट मे रख दिया। १६ साल की अवस्था मे मारियाना भिक्षुणी हो गई। २५ साल की उम्र मे फास के मार्शन मार्किस द शैमिलो से मारियाना की भेट हुई जिससे वह प्रेम करने लगी। चर्चा फैली, अफवाह उड़ी। परिणाम से डरकर वह फास भाग गया। इस समय भग्नहृदय मारियाना ने जो पाँच पत्र लिखे वे साहित्य की अक्षय निधि बन गए। वे मनोवैज्ञानिक आत्मविश्लेषण के अपूर्व उदाहरण है। इनमे प्रेमिका के विश्वास, निराशा और सदेह का अद्भुत वर्णन है। पत्रो के यथार्थ चित्रण, वेदना की गहरी अनुभूति, सहृदयता और पूर्ण आत्मसमर्पण की प्रशसा मदाम द सविन्य, ग्लेटस्टन, टेनर, मारिया जैसे उच्च कोटि के लेखको ने की है। अनेक भाषाओं मे उनके अनुवाद भी हुए है। मारियाना का शेष जीवन कठोर तप और यत्रणा मे बीता। रूसो जैसे कुछ लेखको का कहना था कि ये पत्र मूलत किसी पुरुष के लिखे है, पर अब लेखिका मारियाना की वास्तविकता सिद्ध हो चुकी है। (स० च०)

आल्गार्दी आलेसांद्रो (१६०२-१६५४) इतालियन शिल्पकार। अध्ययन करासी स्कूल मे। १६४४ मे पेनफिली वश के इन्नोसेंट १०वें का पोप का पद प्राप्त करना उनके भाग्योदय का कारण हुआ। पोप के भतीजे कैमिलो पेनफिली ने विलादोरिया पेनफिली के निर्माण मे उनकी नियुक्ति की जिसके सुदर निर्माण से उनकी ख्याति फैली। सबसे अधिक सफलता उन्हे वहाँ मूर्तियाँ और बालसमूह बनाने मे मिली। (स० च०)

आल्प्स यूरोप की एक विशाल पर्वतप्रणाली है जो पश्चिम मे जेनोआ की खाड़ी से लेकर पूर्व मे वियना तक फैली हुई है। यह प्रणाली उत्तर मे दक्षिणी जर्मनी के मैदान और दक्षिण मे उत्तरी इटली के मैदान से घिरी हुई है। प्रणाली लगातार ऊँचे पहाड़ो से नही बनी है, प्रत्युत बीच बीच मे गहरी घाटियाँ है। पर्वत उत्तर की ओर उत्तल है। अधिकाश घाटियों की दिशा पूर्व पश्चिम या उत्तर पूर्व से दक्षिण पश्चिम की ओर है। कुछ गहरी घाटियाँ पर्वतशृखलाओं को काटती है, जिससे इस पर्वत के दोनो ओर स्थित मनुष्यों, जतुओं और वनस्पतियो का आवागमन सभव हो सका है। आल्प्स शब्द की उत्पत्ति अनिश्चित है। इसका उच्चतम शिखर पश्चिमी आल्प्स मे स्थित माँट ब्लैक है (ऊँचाई १५,७८१ फुट)।

आल्प्स की सीमाएँ—उत्तर मे यह पर्वत बेसिल से कॉन्स्टैंस झील तक राइन नदी द्वारा और सैल्ज़बर्ग से वियना तक बवेरिया के मैदान तथा निचली पहाड़ियो द्वारा घिरा है। दक्षिण मे इसकी सीमा ट्यूरिन से ट्रिएस्ट तक पीडमाट, लोबार्डी और वेनीशिया के विशाल मैदान द्वारा निर्धारित होती है। इसका पश्चिमी सिरा ट्यूरिन से आरभ होकर दक्षिण मे काल डी टेंडा तक और फिर पूर्व की ओर मुड़कर काल डी आलटेयर तक चला गया है।

प्राकृतिक विभाग—आल्प्स के तीन मुख्य विभाग है पश्चिमी आल्प्स काल डी टेंडा से सिंपलन दर्रे तक, मध्य आल्प्स, सिंपलन दर्रे से रेशने शिडेक दर्रे तक और पूर्वी आल्प्स, रेशने शिडेक दर्रे से राड्स्टाडर टैवर्न मार्ग तक।

भूविज्ञान और संरचना—आल्प्स पर्वत उस विशाल भजित क्षेत्र का एक छोटा सा भाग है जो अनेक वक्राकार क्रमो मे मारक्को के रिफ पर्वत से आरभ होकर हिमालय के आगे तक फैला हुआ है। आल्प्स एक भूद्रोणी (जिओसिनक्लाइन) मे स्थित है। यह भूद्रोणी अतिम कार्बनप्रद युग से आरभ होकर सपूर्ण मध्यकल्प मे रहकर तृतीयक कल्प के मध्यनूतन युग तक विद्यमान थी। यह भूद्रोणी उत्तर मे यूरेशियन और दक्षिण मे अफ्रीकी स्थलपिंडो मे घिरी हुई थी। ज्यूस और अन्य वैज्ञानिको ने इस द्रोणी में स्थित लुप्त सागर को टेथिस सागर की सज्ञा दी है। कार्बनप्रद युग से आरभ होकर इसमे अवसादो के मोटे स्तरो का निक्षेपण हुआ और साथ ही साथ भूद्रोणी नितल धँसता गया। इस प्रकार अवसादो का निक्षेपण लगातार समुद्रतल के नीचे लगभग एक ही गहराई पर होता रहा। इसके बाद विरोधी दिशाओ से दाब पड़ने के कारण द्रोणी के दोनों किनारे समीप आ गए, जिसके परिणामस्वरूप एकत्रित अवसादो मे भज पड़ गया। अनुमानत अफ्रीकी पृष्ठप्रदेश (हिटरलैंड) उत्तर मे यूरोपीय अग्रप्रदेश (फारलैंड) की ओर गतिशील हुआ। आरगैंड तथा उसके सहयोगी अनुसधानकर्ता इस धारणा से सहमत है। इसके विपरीत, कोबर के मतानुसार आल्प्स का भजन दो अग्रप्रदेशो के एक दूसरे की ओर बढ़ने से हुआ है।

आल्प्स का अधिकातर भाग जलज शिलाओ द्वारा निर्मित है। ये शिलाएँ रक्ताश्म युग से लेकर मध्यनूतन युग तक की है। परतु इनसे अधिक प्राचीन चट्टाने भी, विशेषकर पूर्वी आल्प्स मे, पाई जाती है (जैसे गिरियुग, कार्बनप्रद युग, मत्स्ययुग, प्रवालादि युग और कैंब्रियन युग की चट्टाने)। वलिभीय नाइस और शिस्ट तथा आग्नेय शिलाएँ भी मिलती है। कुछ

चट्टानो का महत्व केवल स्थानीय है, जैसे मोलास, नागलफ्लू और फ्लिश। ये सब नवकल्पीय हैं।

हिमनदियाँ—अनुमानत आल्प्स मे हिमनदियाँ और नेवे (दानेदार हिम) क्षेत्रो की सख्या कुल मिलाकर १,२०० है। इसकी विशालतम हिमनदी आलेश है, जिसकी लबाई १६ मील और नेवे सहित प्रवाहक्षेत्र का विस्तार ५० वर्ग मील है। हिमनदियो की समुद्रतल से निम्नतम ऊँचाई भिन्न भिन्न है। यह ग्रिंडेलवाल्ड पर समुद्रतल से केवल ३,२०० फुट की ऊँचाई पर है। हिमरेखा ८,००० से लेकर ६,५०० फुट के बीच स्थित है। प्रधान पर्वत पर हिमनदियो और नेवो की सख्या इसके अतर्गत पर्वतमालाओ की तुलना मे अधिक है। तथापि, आल्प्स की तीन विशालतम हिमनदियाँ, अर्थात् आलेच, ऊँटरार और वीशर (अतिम दोनो १० मील लबी) बर्नीज ओबरलैंड मे स्थित है। प्रधान पर्वतमाला की विशालतम हिमनदियाँ मर डी ग्लेस और गोरनर है जिनमे से प्रत्येक ९¼ मील लबी है।

झीलें—आल्प्स की झीले विभिन्न प्रकार की हैं। ज्यूरिख झील हिमनदियो द्वारा निक्षिप्त हिमोढ (ढोके, रोडे आदि) नदीघाटी के आर पार इकट्ठा हो जाने से बनी है। मैटमार्क झील भी एक पार्श्विक हिमोढ के बाँध का रूप धारण करने से बनी है। मार्जलिन झील एक हिमानी द्वारा नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो जाने से बनी है। भूपर्पटी की गतियो से बनी झीलो मे जूग और फालेन झील उल्लेखनीय है। चूने के चट्टानी प्रदेश मे पत्थर के घुल जाने से बनी झीलो मे डौबन, मुटेन और मीवाली झीले महत्वपूर्ण है। (रा० ना० मा०)

आल्फांसो प्रथम (१९०४-११३४) अरागान का राजा, लेओन और कास्तिलो का ७वाँ राजा तथा एक विख्यात योद्धा। मूरो और ईसाइयो से इसने जीवन मे २९ लडाइयाँ लडी। दो राज्यो को मिलाने और उनको युद्ध मे योग्य सेनानायक देने के विचार से आल्फांसो षष्ठ द्वारा बरगडी की रेमोड की विधवा ऊर्राका के साथ उसका विवाह किया गया। ऊर्राका कास्तिल की रानी थी। लेकिन उसके साध्वी न होने से आल्फासो प्रथम के लिये यह विवाह सुखकर नही हुआ। पति पत्नी परस्पर खूब लडते थे। यह लडाई घर तक ही सीमित नही रही। दोनो की सेनाओ के मध्य भी लडाई हुई और इसमे आल्फांसो विजयी हुआ।

ऊर्राका आल्फांसो प्रथम की रिश्ते मे चचेरी बहन लगती थी। अत पोप ने यह शादी रद्द कर दी। इससे राजा की चर्च से लडाई छिड गई। आर्च बिशप बर्नार्ड को इसने राज्य से निर्वासित कर दिया। पत्नी के राज्य के लोगो ने इसको राजा नही माना, इसलिये सेना से भी वह लडा। किंतु इसे अपनी पत्नी के पुत्र को पत्नी का राज्य देना पडा।

आल्फासो जीवन भर लडता रहा। लडने मे ही वह आनद मानता था। १११८ मे मूरो की सेना को सारागोसा मे, पुन ११२५-२६ मे वालोशिया और गाँवडा मे हराया। लेकिन मृत्यु से पहले आगाम मे मूरो से एक बार उसे हारना पडा। (अ० कु० वि०)

आल्फांसो प्रथम (कैथोलिक) स्पेन का राजा (७३९-७५७)। आल्फांसो का पिता रिकार्दो के वशज कातान्निया का ड्यूक पेडरु था। आल्फांसो ने १८ साल तक राज किया, जिस अवधि मे पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से ईसाइयो ने स्पेन की पुनर्विजय प्रारभ की। आल्फांसो ने अपने अस्टूरियाज के राज्य मे पूर्व मे लेबना और बारडूलिया तथा पश्चिम में गैलिसिया जीतकर मिला लिया। सभवत उसी ने दक्षिण पश्चिम मे लेओन शहर की भी विजय की। इसको बाद के ऐतिहासिको ने 'कैथोलिक' लिखा है। (अ० कु० वि०)

आल्फांसो द्वादश स्पेन का राजा, जन्म २८ नवबर, १८५७, मृत्यु २४ नवबर, १८८५। रानी इसाबेला का इकलौता पुत्र। विद्रोह के कारण रानी देश छोडने को विवश हुई तो यह भी अपनी माँ के साथ ही १८६८ में स्पेन छोड़ गया। दो साल बाद रानी इसाबेला ने इसके पक्ष मे राजगद्दी का त्याग कर दिया। १८७४ मे यह मारदिजे दी कपोज द्वारा स्पेन का राजा घोषित किया गया। १८७५ मे इसने स्पेन की राजधानी माद्रिद मे प्रवेश किया। मारदिज दी कपोज और कानोवास देल कास्तिलियो की सहायता से विद्रोह को शात किया गया। (अ० कु० वि०)

आल्फांसो त्रयोदश स्पेन का अतिम राजा, जन्म माद्रिद मे १७ मई, १८८६ को, मृत्यु रोम मे २८ फरवरी, १९४१ ई० को। पिता की मृत्यु के बाद पैदा होते ही स्पेन का राजा हो गया। इसकी माँ इस समय रीजेंट (राजप्रतिनिधि) थी। १७ मई, १९०२ को यह राजसिंहासन पर बैठा।

१९०९ मे फ्रांसिस्के फेर्रेर को क्राति करने का षड्यत्र करने के आरोप मे फाँसी दी गई। कैथोलिक धर्म का विरोधी राज्य स्थापित करने का भी इसपर आरोप था। इससे यह जनता की दृष्टि मे काफी गिर गया। १९१३ मे अनेक राजबदियो को क्षमा प्रदान कर पुन जनप्रिय हो गया। १९१४-१८ के युद्ध मे स्पेन को इसने तटस्थ रखा। इससे इसकी लोकप्रियता बढ गई। महायुद्ध के बाद स्पेन की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति बहुत खराब हो गई जिसके कारण प्रीमो दी रिवेरा (१९२९-३०) वहाँ अधिनायक बन गया। इसमे राजा की भी सहमति है, यह विश्वास जनता मे फैल जाने से यह बहुत अप्रिय हो गया। लाचार होकर १४ अप्रैल, १९३१ को यह राजकीय अधिकारो और सत्ता का परित्याग करने तथा देश छोडने को विवश हुआ। स्पेन में गणराज्य की स्थापना हुई। १९३६-३९ के लोमहर्षक गृहयुद्ध के बाद जनरल फ्रैंको ने घोषित कर दिया कि स्पेन को आल्फांसो की आवश्यकता नही। यह देश के लिये अवाछनीय है। (अ० कु० वि०)

आल्बी दक्षिण पश्चिमी फ्रास मे टूलोज नगर से ४२ मील उत्तर पूर्व पठार एव मैदानी भाग की सगमस्थली पर, टार्न नदी के तट पर स्थित, छोटा सा नगर तथा टार्न विभाग की राजधानी है। यहाँ गली-रोमनवशी राजाओ तथा टूलोज के जागीरदारो की राजधानी रहने के कारण मध्यकालीन गिरजे तथा भवन आदि है। यहाँ आटा, रग, सिमेंट, शीशा, कृत्रिम रेशमी कपडे, मोजा, बनियाइन आदि तथा कृषियत्र बनाने के कारखाने और कई व्यापारिक सस्थान भी है। (का० ना० सिं०)

आल्बीनोवानस् पेदो एक रोमन कवि जो सभवत सम्राट् तिबेरियुस् के समय मे जीवित और सेनापति गेर्मानिकुस् की सेना मे नौकर थे। सेनापति गेर्मानिकुस् के उत्तरीय सागर के अभियान के सबध मे इन्होने एक महाकाव्य की रचना की थी जिसके खडित अश अब भी मिलते है। इनकी सूक्तियो की प्रशसा मार्तियाल् तक ने की है। एक थेसेइस् नामक काव्य भी इन्होने लिखा था। कहते है, ये अत्यत रोचक कथाकार भी थे। उदाहरणस्वरूप इन्होने अपने एक वाचाल पडोसी की हास्यपूर्ण कथा मे कहा था कि वह अपने नाद से रात्रि को दिन मे बदल देता था।

स०ग्रं०—मैकेल लैटिन लिटरेचर, डफ द राइटर्स ऑव रोम। (भो० ना० श०)

आल्बुकर्क, आल्फोंजोथ (१४५५-१५१५ ई०) भारत मे द्वितीय पुर्तगाली वाइसराय, शासक एव पुर्तगाली साम्राज्य का वास्तविक सस्थापक। पुर्तगाल से चलकर पूर्वी अफ्रीका के अरब नगरो पर आक्रमण कर एशिया के विख्यात व्यावसायिक केंद्र ओर्मुज को अधिकृत करना जब आल्बुकर्क वाइसराय का पद ग्रहण करने भारत पहुँचा तब तत्कालीन वाइसराय आल्मेईदा द्वारा बदी बना लिया गया। बदीगृह से विमुक्त होने पर उसने अपने आपको वाइसराय घोषित कर दिया। कठोर युद्ध के पश्चात् गोआ हस्तगत कर उसे अपना प्रमुख केंद्र बनाया। फिर उसने स्याम, चीन आदि से सपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। मलक्का पर तो उसने अधिकार स्थापित कर लिया, किंतु अदन को हस्तगत करने मे वह असफल रहा। ओर्मुज पर पुनराधिकार उसकी अतिम सफलता थी। वहाँ से लौटते समय मार्ग मे उसे अपने व्यक्तिगत शत्रु सोरीज के वाइसराय नियुक्त होने का समाचार मिला तो शोकावेग से उसकी मृत्यु हो गई। राजाज्ञा से वह

गोआ में ही इस विचार से दफनाया गया कि जब तक उसकी कब्र भारत-वासियों के समक्ष रहेगी, भारत में पुर्तगाली शासन बना रहेगा।

मुसलमानों के प्रति कठोर रहते हुए भी आल्बुकर्क अपनी सहृदयता तथा न्यायप्रियता के लिये जनता में लोकप्रिय प्रमाणित हुआ। (रा० ना०)

आल्मक्विस्ट, कार्ल जोनास लुडविग (१७९३-१८६६) स्वीडन के लेखक। पहला उपन्यास गुलाब का काँटा १८३२-३५ में प्रकाशित हुआ जिससे ख्याति फैल गई। इन्होंने कविता, उपन्यास, लेख, भाषण, मीमांसा आदि अनेक विषयों पर लेखनी चलाई और सभी में सफल हुए। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और उत्कृष्ट शैली के कारण ये स्वीडन के पहले लेखक कहे जाते हैं। इनका जीवन अस्थिर बीता, एक के बाद एक अनेक नौकरियाँ छोड़ीं, बाद में लेखक हुए।

१८५१ में जालसाजी और हत्या के अभियोग से बचने के लिये स्वीडन से भाग गए। बहुत दिनों तक कुछ भी पता न लगा, पर लोगों का विश्वास है कि वह अमरीका चले गए और वहीं पर बस गए। (स० च०)

आल्मेइदा, थोम फ्रांसिस्कोथ (१४५०-१५१० ई०) भारत में पुर्तगाली वाइसराय। उसके नेतृत्व में किल्वा, मोंजांबिक, आजेदिवा, कनानोर तथा कोचीन में पुर्तगाली दुर्गों का निर्माण हुआ। मलक्का और लंका से प्रथम संपर्क स्थापित हुए। मिस्र तथा गुजरात के संयुक्त आक्रमण के फलस्वरूप पुर्तगालियों की पराजय हुई और आल्मेइदा के पुत्र तथा प्रमुख सहकारी लोरेंको को वीरगति प्राप्त हुई। तभी वाइसराय का स्थान ग्रहण करने आल्बुकर्क का भारत आगमन हुआ। किंतु पुत्र के प्रतिशोध के लिये आल्मेइदा ने राजाज्ञा का उल्लंघन किया, शत्रु को भीषण दंड दिया तथा दिव के निकट पूर्ण विजय प्राप्त की। अंततः पदत्याग करने पर बाध्य होने पर वह स्वदेश लौटा। मार्ग में साल्दान्हा की खाड़ी में उसकी हत्या हो गई। समुद्र पर पुर्तगाली शक्ति का एकाधिकार स्थापित करने तथा पुर्तगाली व्यवसाय को संगठित करने में उसे यथेष्ट सफलता मिली। (रा० ना०)

आल्वा, फेरनान्यो पतोलेयो (१५०७-८२) स्पेनी सेनापति, राजनीतिज्ञ और ड्यूक। जन्म पीएद्राहिटा में, मृत्यु थोमर में। इसके दादा फ्रेड्रिक ने इसको शिक्षा दी। सात साल की आयु में दादा के साथ नवर्रा की लड़ाई में गया। १६ साल की आयु में स्पेनी सेना में भरती हुआ। इसने फुएन्तेरेबिया जीता और उसका गवर्नर बनाया गया। १५२९-१५३२ में सम्राट् चार्ल्स पंचम के साथ इटली में रहा। हंगरी में तुर्कों से लड़ा और यश कमाया। १५३५ में ट्यूनीशिया की विजय का श्रेय जी सेना का सेनापति बनाया गया और सफल हुआ। १५३६ में मार्सेई के घेरे में भाग लिया, पर विफल रहा। लेकिन दुर्दांत महत्वाकांक्षा के कारण ऊँचा ही उठता गया। अल्जीरिया विजय के लिये जा रही स्पेनी सेना का सेनापति बना, किंतु यहाँ इसको अपयश ही मिला। सेना का दमन पुनस्संगठन किया।

प्रायः अजेय होकर भी वह अदूरदर्शी, अयोग्य और असहिष्णु शासक एवं राजनीतिज्ञ था। फलतः इसकी विजयें व्यर्थ हो गईं। लूथरीय सेनाओं के साथ उसने जो बर्बरता बरती उससे जर्मनी और नेदरलैंड्स में रोगनिया के प्रति घृणा हो गई।

रक्तपरिषद् (कौंसिल ऑव ब्लड) ने राजद्रोह के संदेह मात्र से और प्रोटेस्टेंटों से महानुभूति रखने के आरोप में ही पाँच सालों में १,८०० को फाँसी दी, १०,००० को देश से निर्वासित कर दिया। परंतु कैथालिक और प्रोटेस्टेंट का भेद न कर सब पर समान रूप से 'एलक्यूबेला' (एक स्पेनी कर) लगाया। इससे हालैंड और जीलैंड में असंतोष की ज्वाला भड़क उठी और स्पेनी शासन के प्रतिरोध की भावना उग्र हो गई। इसी समय स्पेनी बेड़ा भी नष्ट हो गया। इससे भी इसकी शक्ति कम हो गई। स्वास्थ्य नष्ट हो जाने के कारण स्पेन वापस बुलाने की माँग की, जो मान ली गई।

इटली में पोप की राजनीतिक सत्ता को फ्रांस की मदद के बावजूद अंत करने का (१५५६) श्रेय आल्वा को ही है। फिलिप द्वितीय का यह आठ साल परराष्ट्रमंत्री रहा। लेकिन राजा की इच्छा के प्रतिकूल अपने पुत्र के विवाह में मदद देकर राजकोप भी भोगा और १५७९ में निर्वासित कर दिया गया। उजेदो के किले में जब वह दिन बिता रहा था, तब पुर्तगाल में विद्रोह हो गया। इसको दबाने के लिये १५८० में उसको बुलाना पड़ा। आठ सप्ताहों में पुर्तगाल की उसने विजय कर ली। दो साल बाद १५८२ में मर गया। (प्र० कु० वि०)

आल्हा एक वीरतापूर्ण लोकमहाकाव्य है जो लगभग समस्त उत्तर भारत में दिल्ली से बिहार तक पेशेवर अल्हैतों द्वारा जनता के बीच गाया जाता है। लोकप्रियता की दृष्टि से तुलसीदास के रामचरितमानस के बाद आल्हा का ही नाम लिया जाता है। इसमें बावन लड़ाइयों का वर्णन है और इन लड़ाइयों के वीर योद्धा आल्हा और ऊदल लोकजीवन में अपनी वीरता के लिये इतने प्रिय हैं कि उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ अतिमानवीय बन गया है। साहित्य में इस काव्य को आल्हखंड कहा जाता है, परंतु लोक में आल्हा नाम ही प्रचलित है।

लोककाव्य होने के कारण आल्हखंड के विविध रूपांतर मिलते हैं—खड़ीबोली, कन्नौजी, बुंदेली, बैसवाड़ी, अवधी, भोजपुरी और संभवतः मगही आल्हखंड मुख्य हैं। बोली के भेद के अलावा इनमें कथाखंडों का भी यत्र तत्र अंतर है। आधुनिक हिंदीवाला पाठ, जो आजकल विशेष प्रचलित है पहले पहल चौधरी घासीराम द्वारा संपादित होकर मेरठ के ज्ञानसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। कन्नौजी पाठ का संग्रह १८६५ में पहली बार फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियट ने अल्हैतों से सुनकर करवाया था जो श्रीठाकुरदास द्वारा फतेहगढ़ से प्रकाशित हुआ। इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी पद्यानुवाद डब्ल्यू० वाटरफील्ड ने कलकत्ता रिव्यू (१८७५-७६ ई०) में प्रकाशित करवाया था। आल्हखंड के भोजपुरी रूपांतर के अध्ययन का श्रेय ग्रियर्सन को है। उन्होंने १८८५ में इंडियन ऐंटिक्वेरी (खंड १४) में इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी गद्यानुवाद छपवाया था। बुंदेली रूपांतर के कुछ अंश 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' (खंड ९, भाग १) में है जिनका संग्रह विन्सेंट स्मिथ ने किया था।

आल्हखंड के कुछ प्राचीन हस्तलिखित रूपांतर भी मिलते हैं। एक तो सं० १८२५ वि० में लिपिबद्ध 'महोबासमय' है जो चंदकृत पृथ्वीराजरासो से संबद्ध है और दूसरा सं० १८४९ वि० में लिपिबद्ध 'महोबाकांड' है जिसका संपादन डा० श्यामसुंदरदास ने 'परमालरासो' (काशी नागरीप्रचारिणी सभा) नाम से किया है। वस्तुतः ये दोनों ग्रंथ लोकप्रचलित आल्हखंड के साहित्यिक रूपांतर हैं और आकार में काफी छोटे हैं।

इस प्रकार आल्हखंड के दो रूप प्राप्त हैं: एक साहित्यिक काव्य और दूसरा लोककाव्य। साहित्यिक आल्हखंड के रचयिता जगनिक नामक एक भाट माने जाते हैं जो कालिंजर के राजा परमर्दिदेव (परमाल, १३वीं सदी) के राजकवि थे। विद्वानों का अनुमान है कि आल्हखंड मूलतः १३वीं सदी में रचित एक कवि की साहित्यिक रचना थी जो आगे चलकर एक ओर अल्हैतों द्वारा लोककाव्य की मौखिक परंपरा में परिवर्धित और विकसित होता रहा और दूसरी ओर चारणों और भाटों द्वारा साहित्य की लिखित परंपरा में भी रूपांतरित होता चला गया।

आल्हखंड मध्ययुगीन सामंती शौर्य का रोमांस काव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध के अनेक गाथाचक्र घटनासूत्र में जुड़े हुए हैं। इसमें नैनागढ़ की लड़ाई सबसे रोचक और लोकप्रिय है तथा सोना के हरण की कथा सबसे प्रसिद्ध है। यों तो इसके नाम से आल्हा के ही कथानायक होने का आभास होता है, परंतु इस काव्य का सबसे आकर्षक वीर ऊदल है जो आल्हा का छोटा भाई है। बड़े भाई आल्हा का चरित्र महाभारत के युधिष्ठिर की तरह अधिक मर्यादापूर्ण है, जबकि छोटे भाई ऊदल के चरित्र में अर्जुन की तरह एक रोमांस काव्य के चरितनायक के गुण अधिक हैं। परंतु संपूर्ण आल्हखंड में किसी एक वीर की वीरता इतनी प्रधान नहीं है जितनी उनके वंश—बनाफर—की वीरता। इसीलिये यह काव्य तत्कालीन अन्य राजप्रशस्तियों से भिन्न है और इसकी अत्यधिक लोकप्रियता का कारण भी संभवतः यही है कि इसमें किसी राजा का गुणगान न करके साधारण परिवार में उत्पन्न होनेवाले लोकवीरों का चरित गाया गया है।

संपूर्ण आल्हखंड 'वीरछंद' में है जो आल्हखंड से संबद्ध हो जाने के बाद से लोक में आल्हा छंद कहलाता है। इस छंद में विषयानुरूप ओजपूर्ण गेयता है।

सं०ग्रं०—शंभूनाथ सिंह . हिंदी महाकाव्य का स्वरूपविकास (१६५६ ई०), उदयनारायण तिवारी वीरकाव्य (१६४८ ई०)। (ना० सि०)

आवर्त नियम रसायन शास्त्र का एक महत्वपूर्ण नियम है। १८६६ ई० में रूस के प्रसिद्ध रसायनज्ञ मेंडलीफ ने इसका प्रतिपादन किया। इस नियम के अनुसार तत्वों के भौतिक एवं रासायनिक गुण उनके परमाणु-भारों के आवर्ती फलन होते हैं। अर्थात् तत्वों को यदि उनके परमाणु भार के क्रम में रखा जाय तो उनके गुणधर्म की पुनरावृत्ति एक नियत क्रम में होती रहती है और समान रासायनिक गुणधर्मवाले तत्व एक निश्चित क्रम में मिलते हैं। अधिक परिशुद्धतापूर्वक विचार करने पर यह पता चला कि परमाणु भार के क्रम से तत्वों को रखने पर भी कुछ विषमताएँ रह जाती हैं। आधुनिक अनुसंधानों से अब यह स्पष्ट हो गया है कि परमाणु का मूलभूत गुण परमाणु संख्या है, परमाणुभार नहीं। अतः मोज़ले ने कहा कि तत्वों के वर्गीकरण का आधार भी परमाणुभार के स्थान पर परमाणु संख्या होनी चाहिए। उसके द्वारा प्रस्तुत आधुनिक आवर्त नियम निम्नलिखित है .

तत्वों के गुणधर्म उनकी परमाणु संख्याओं के आवर्ती फलन हैं। अर्थात् यदि तत्वों को उनकी परमाणु संख्याओं के अनुसार रखा जाय तो समान गुणधर्मवाले तत्व नियमित अंतर के बाद पड़ते हैं।

(नि० सि०)

आवर्त सारणी ऐसी सारणी है जिसमें तत्वों का क्रमबद्ध समूहों में वर्गीकरण रहता है तथा समान गुणवाले तत्व क्षैतिज अथवा उर्ध्वाधर अनुक्रम से संबंधित स्थानों पर पाए जाते हैं। इस सारणी से ज्ञात तत्वों के अज्ञात गुणों के अतिरिक्त अज्ञात तत्वों के गुण भी, सारणी में उनकी स्थिति देखकर बताए जा सकते हैं।

इतिहास—भारत, अरब और यूनान के समान पुराने देशों में चार या पाँच तत्व माने जाते थे—छिति-जल-पावक-गगन-समीरा (तुलसी), अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। पर बॉयल (१६२७-९१) ने तत्वों की एक नई परिभाषा दी, जिससे रसायनज्ञों को रासायनिक परिवर्तनों और प्रतिक्रियाओं के समझने में बड़ी सहायता मिली। साथ ही साथ बॉयल ने यह भी बताया कि तत्वों की संख्या सीमित नहीं मानी जा सकती। इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही नए नए तत्वों की खोज होने लगी और १८वीं सदी के अंत तक तत्वों की संख्या ६० से अधिक पहुँच गई। इसमें से अधिकांश तत्व ठोस थे, ब्रोमीन और पारद के समान कुछ तत्व साधारण ताप पर द्रव भी पाए गए और हाइड्रोजन, आक्सिजन आदि तत्व गैस अवस्था में थे। ये सभी तत्व धातु और अधातु दो वर्गों में भी बाँटे जा सकते थे, पर कुछ तत्वों, जैसे बिसमथ और ऐंटीमनी, के लिये यह कहना कठिन था कि ये धातु है या अधातु।

रसायनज्ञों ने इन तत्वों के संबंध में ज्यों ज्यों अधिक अध्ययन किया, उन्हें यह स्पष्ट होता गया कि कुछ तत्व गुणधर्मों में एक दूसरे से बहुत मिलते जुलते हैं, और इन समानताओं के आधार पर उन्होंने इनका वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। डाल्टन का परमाणुवाद प्रतिपादित होने के अनंतर ही इन तत्वों के परमाणुभार भी निकाले गए थे। सन् १८२० में डॉबेराइनर ने यह देखा कि समान गुणवाले तत्व तीन तीन के समूहों में पाए जाते हैं जिन्हें त्रिक (ट्रायड) कहा गया। ये त्रिक दो प्रकार के थे—पहले प्रकार के त्रिकों में तीनों तत्वों के परमाणुभार लगभग परस्पर बराबर थे, जैसे लोह (५५.८४), कोबल्ट (५८.६४) और निकेल (५८.६९) में अथवा ऑसमियम (१९०.२), इरीडियम (१९३.१) और प्लैटिनम (१९५.२५) में। दूसरे प्रकार के त्रिकों में बीचवाले तत्व का परमाणुभार पहले और तीसरे तत्वों के परमाणुभारों का मध्यमान या औसत था, जैसे क्लोरीन (३५.५), ब्रोमीन (८०) और आयोडीन (१२७) में ब्रोमीन तत्व का परमाणुभार क्लोरीन और आयोडीन के परमाणुभारों के जोड़ के आधे के लगभग है।

तत्वों के वर्गीकरण का एक नया प्रयास न्यूलैंड्स ने सन् १८६१ के लगभग किया। उसने तत्वों को परमाणुभार के क्रमों के अनुसार वर्गीकृत करना आरंभ किया। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि परमाणुभार के क्रम से रखने पर तत्वों के गुणों में क्रमशः कुछ विषमताएँ बढ़ती जाती हैं, पर सात तत्वों के बाद आठवाँ तत्व ऐसा आता है जिसके गुण पहले तत्व से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। इसे सप्तक का सिद्धांत (लॉ ऑव ऑक्टेव्ज़) कहा गया, जैसे मानो हारमोनियम के स रे ग म प ध नि स' रे' ग' म' प' ध' नि' आदि स्वर हों, जिसमें सात स्वरों के बाद स्वर की फिर आवृत्ति होती है। न्यूलैंड्स के वर्गीकरण की तीन पंक्तियाँ निम्नांकित प्रकार की थी

हा लि $ब_{e}$ बो का ना औ
१ ७ ६ ११ १२ १४ १६
फ्लो सो मैग्नि ऐं सि फा ग
१६ २३ २४ २७ २८ ३१ ३२
क्लो पा कै क्रो $टा_{i}$ मैं लो
२५ ५ ३६ ४० ५२ ४८ ५५ ५६

जैसे जैसे सप्तक नियम और आगे चलाया गया, इसकी सफलता में संदेह होने लगा और न्यूलैंड्स के वर्गीकरण से रसायनज्ञों को संतोष नहीं हुआ। न्यूलैंड्स के समय में ही सन् १८६२ के लगभग डिचैंकोर्टो ने भी परमाणुभार के क्रम से तत्वों को सर्पकुंडली की भाँति सजाने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न भी यह व्यक्त करता था कि परमाणुभार के क्रम और तत्वों के गुणों के आवर्तन का संबंध है।

सन् १८६९ में रूसी रसायनज्ञ मेंडलीफ (मित्री आइनोविच मेंडेलेएफ़) ने
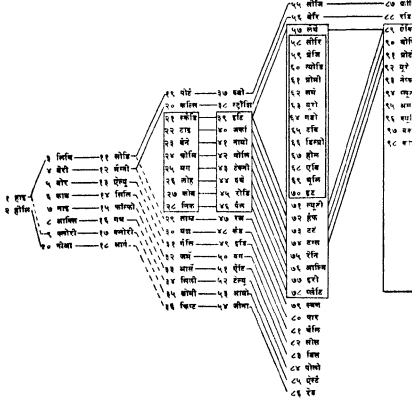
तत्वों की आवर्त सारणी

यह जूलियस टामसेन द्वारा निर्मित की गई थी और यहाँ कुछ संशोधित रूप में दी गई है। प्रत्येक स्तंभ एक आवर्त प्रदर्शित करता है। समान गुणधर्म के तत्वों को रेखाओं से संबंधित किया गया है।

मेंडलीफ की आवर्त सारणी का वर्तमान रूप

समूह→ आक्साइड→ हाइड्राइड→	०	१ त$_2$औ क) तह (ख	२ तऔ क) तह$_2$ (ख	३ त$_2$औ$_3$ क) तह$_3$ (ख	४ तऔ$_2$ क) तह$_4$ (ख	५ त$_2$औ$_5$ क) तह$_3$ (ख	६ तऔ$_3$ क) तह$_2$ (ख	७ त$_2$औ$_7$ क) तह (ख	८ तऔ$_4$
काल १		१ हा १ ००८							
२	२ ही ४ ००३	३ लि ६ ९४	४ बे ९ ०२	५ बो १० ८२	६ का १२ ००	७ ना १४ ००८	८ औ १६ ००	९ फ्लो १९ ००	
३	१० नी २० १८३	११ सो २२ ९९७	१२ मै$_\text{ग}$ २४ ३२	१३ ऐ २६ ९७	१४ सि २८ ०६	१५ फा ३० ९८	१६ ग ३२ ०६	१७ क्लो ३५ ४६	
४	१८ आ$_\text{र}$ ३९ ९४	१९ पो ३९ १ २९ ता ६३ ५७	२० क ४० ०८ ३० य ६५ ३८	२१ स्कै ४५ १ ३१ गै ६९ ७२	२२ टा$_\text{इ}$ ४८ १ ३२ ज$_\text{म}$ ७२ ६	२३ वै ५० ९६ ३३ आ$_\text{र}$ ७४ ९६	२४ क्रो ५२ ०१ ३४ सि$_\text{ल}$ ७८ ९६	२५ मैं ५४ ९३ ३५ ब्रो ७९ ९२	२६ २७ २८ लो को नि ५५ ८४ ५८ ९४ ५८ ६९
५	३६ क्रि ८३ ७	३७ रु$_\text{ब}$ ८५ ४४ ४७ र १०७ ८८	३८ स्ट्रौं ८७ ६३ ४८ कैं$_\text{ड}$ ११२ ४१	३९ इ$_\text{ट्र}$ ८८ ९२ ४९ इ$_\text{न}$ ११४ ७६	४० ज$_\text{क}$ ९१ २ ५० व ११८ ७	४१ ना$_\text{य}$ ९३ ५ ५१ ऐं$_\text{ट}$ १२१ ७६	४२ मो ९६ ०० ५२ टे$_\text{ल}$ १२७ ६१	४३ ट$_\text{क}$ ५३ आ १२६ ९२	४४ ४५ ४६ रु$_\text{थ}$ रो पै १०१ ७ १०२ ९ १०६ ७
६	५४ जी १३१ ३	५५ सी$_\text{ज}$ १३२ ९१ ७९ स्व १९७ २	५६ बे १३७ ३७ ८० पा २०० ६	५७-७१ विरल पार्थिव ८१ थै २०४ ३९	७२ है १७८ ६ ८२ सी २०७ २१	७३ टै १८१ ५ ८३ बि २०९	७४ ट १८३ ९२ ८४ पो$_\text{ल}$ २१०	७५ रे$_\text{न}$ १८७ ८५ ऐ$_\text{स}$	७६ ७७ ७८ आ$_\text{स}$ इ प्लै १९० ९ १९३ १ १९५ २३
७	८६ रे$_\text{ड}$ ..	८७ फा	८८ रे २२६ ०	८९-९९					

लैंथनाइड	५७ लैं	५८ सी$_\text{र}$	५९ प्रे	६० न्यो	६१ प्रो$_\text{म}$	६२ स	६३ यू	६४ गै$_\text{ड}$	६५ ट$_\text{र}$	६६ डि	६७ हो	६८ ए$_\text{र}$	६९ थू	७० इ$_\text{ट}$	७१ ल्यू
ऐक्टिनाइड	८९ ऐ$_\text{क}$	९० थो	९१ प्रो$_\text{ट}$	९२ यू	९३ ने$_\text{प}$	९४ प्लू	९५ अ	९६ क्यू	९७ ब	९८ कै$_\text{क}$	९९ आ$_\text{इ}$	१०० फ	१०१ मे	१०२ नो	१०३ ला

आधुनिक आवर्त सारणी का दीर्घ रूप

वर्ग → / आवर्त	IA	IIA	IIIA	IVA	VA	VIA	VIIA	VIII			IB	IIB	IIIB	IVB	VB	VIB	VIIB	O
1	1 H 1.0079																	2 He 4 0026
2	3 Li 6 939	4 Be 9 0122											5 B 10 811	6 C 12 0111	7 N 14 006	8 O 15 998	9 F 18 998	10 Ne 20 183
3	11 Na 22 989	12 Mg 24 312	←	—	स	क्र	म	ग	त	त्व	—	→	13 Al 26 9815	14 Si 28 086	15 P 30 9738	16 S 32 064	17 Cl 35 453	18 Ar 39 948
4	19 K 39.102	20 Ca 40 08	21 Sc 44 956	22 Ti 47 9	23 V 50 942	24 Cr 51 996	25 Mn 54 938	26 Fe 55 847	27 Co 58 933	28 Ni 58 71	29 Cu 63 54	30 Zn 65 37	31 Ga 69 72	32 Ge 72 59	33 As 74 9216	34 Se 78 96	35 Br 79 909	36 Kr 83 8
5	37 Rb 85 47	38 Sr 87 62	39 Y 88 905	40 Zr 91 22	41 Nb 92 906	42 Mo 95 94	43 Tc 97	44 Ru 101 07	45 Rh 102 905	46 Pd 106 4	47 Ag 107.87	48 Cd 112 4	49 In 114 82	50 Sn 118 69	51 Sb 121 75	52 Te 127 6	53 I 126 904	54 Xe 131.30
6	55 Cs 132.905	56 Ba 137 34	57-71 ★	72 Hf 178 49	73 Ta 180 94	74 W 183 85	75 Re 186 2	76 Os 190 2	77 Ir 192 2	78 Pt 195 01	79 Au 196 967	80 Hg 200 59	81 Tl 204 37	82 Pb 207 19	83 Bi 208 98	84 Po 210	85 At 210	86 Rn 222
7	87 Fr 223	88 Ra 226	89– ★★															

रैंथनाइड ★	57 La 138 91	58 Ce 140 12	59 Pr 140 907	60 Nd 144 24	61 Pm 147	62 Sm 150 35	63 Eu 151 96	64 Gd 157 25	65 Tb 158 924	66 Dy 162 5	67 Ho 164 93	68 Er 167 26	69 Tm 168 934	70 Yb 173 04	71 Lu 174 97
ऐक्टीनाइड ★★	89 Ac 227	90 Th 232 038	91 Pa 231	92 U 238 03	93 Np 237	94 Pu 242	95 Am 243	96 Cm 247	97 Bk 247	98 Cf 249	99 Es 254	100 Fm 253	101 Md 256	102 No 254	103 Lw 257

(परमाणुभार कार्बन-12 के आधार पर हैं)

तत्वों की सूची

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
अ	Am	अमरीकियम	९५	—
आ$_{इ}$	En	आइन्स्टियम	९९	—
आ	I	आयोडीन	५३	१२६ ९२
आ$_{ग}$	A	आर्गन	१८	३९ ९४
आ$_{र}$	As	आर्सेनिक	३३	७४ ९६
आ$_{म}$	Os	आस्मियम	७६	१९० ९
औ	O	आक्सिजन	८	१६ ००
इ$_{ड}$	In	इंडियम	४९	११४ ७६
इ$_{ब}$	Yb	इटर्बियम	७०	१७३ ५
इ$_{ट}$	Y	इट्रियम	३९	८८ ९२
इ	Ir	इरीडियम	७७	१९३ १
ए$_{ब}$	Eb	एर्बियम	६८	१६७ २
ऐं$_{ट}$	Sb	ऐंटिमनी	५१	१२१ ७६
ऐ$_{क}$	Ac	ऐक्टिनियम	८९	२२७ ०
ऐ	Al	एल्युमिनियम	१३	२६ ९७
ऐ$_{स}$	At	एस्टैटीन	८५	—
का	C	कार्बन	६	१२ ००
कु	Ku	कुर्चानोवियम	१०४	२६०
कै$_{ड}$	Cd	कैडमियम	४८	११२ ४१
कै$_{फ}$	Cf	कैलिफोर्नियम	९८	—
कै	Ca	कैल्सियम	२०	४० ०८
को	Co	कोबल्ट	२७	५८ ९४
क्यू	Cm	क्यूरियम	९६	—
क्रि	Kr	क्रिप्टान	३६	८३ ७
क्रो	Cr	क्रोमियम	२४	५२ ०१
क्लो	Cl	क्लोरीन	१७	३५ ४६
ग	S	गंधक	१६	३२ ०७
गै$_{ड}$	Gd	गैडोलिनियम	६४	१५७ ३
गै	Ga	गैलियम	३१	६९ ७२
ज$_{क}$	Zr	जर्कोनियम	४०	९१ २२
ज$_{म}$	Ge	जर्मेनियम	३२	७२ ६
जी	Xe	जीनान	५४	१३१ ३
ट	W	टङ्स्टन	७४	१८३ ९२
ट$_{ब}$	Tb	टर्बियम	६५	१५९ २
टा$_{इ}$	Ti	टाइटेनियम	२२	४८ १

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
ट$_{क}$	Tc	टेक्नीशियम	४३	—
टे$_{ल}$	Te	टेल्यूरियम	५२	१२७ ६१
टैं	Ta	टैंटेलम	७३	१८१ ५
डि	Dy	डिस्प्रोशियम	६६	१६२ ५
ता	Cu	ताम्र	२९	६३ ५७
थू	Tm	थूलियम	६९	१६९ ४
थैं	Tl	थैलियम	८१	२०४ ३९
थो	Th	थोरियम	९०	२३२ १२
ना	N	नाइट्रोजन	७	१४ ००८
नि$_{य}$	Nb	नियोबियम	४१	९३ ५
नि	Ni	निकल	२८	५८ ६९
नी	Ne	नीआन	१०	२० १८३
ने$_{प}$	Np	नेप्च्यूनियम	९३	—
नो	No	नोबेलियम	१०२	२५४
न्यो	Nd	न्योडियम	६०	१४४ ३
पा	Hg	पारद	८०	२०० ६
पै	Pd	पैलेडियम	४६	१०६ ७
पो	K	पोटैसियम	१९	३९ १
पो$_{ल}$	Po	पोलोनियम	८४	२१०
प्रे	Pr	प्रेजीओडिमियम	५९	१४० ९२
प्रो$_{ट}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	९१	—
प्रो$_{म}$	Pm	प्रोमीथियम	६१	—
प्लू	Pu	प्लूटोनियम	९४	—
प्लै	Pt	प्लैटिनम	७८	१९५ २३
फा	P	फास्फोरस	१५	३० ९८
फ्रा	Fr	फ्रामियम	८७	—
फ्लो	F	फ्लोरीन	९	१९ ००
ब	Bk	बर्केलियम	९७	—
बि	Bi	बिसमथ	८३	२०९
बे	Ba	बेरियम	५६	१३७ ३७
बे$_{ल}$	Be	बेरीलियम	४	९ ०२
बो	B	बोरन	५	१० ८२
ब्रो	Br	ब्रोमीन	३५	७९ ९२
मे	Md	मेंडेलीवियम	१०१	२५६
मैं	Mn	मैंगनीज	२५	५४ ९३
मैं$_{ग}$	Mg	मैग्नीशियम	१२	२४ ३२

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
मो	Mo	मोलिब्डीनम	४२	९६ ००
य	Zn	यशद	३०	६५ ३८
यू	U	यूरेनियम	९२	२३८ २
यू$_{र}$	Eu	यूरोपियम	६३	१५२ ०
र	Ag	रजत	४७	१०७ ८८
रु$_{थ}$	Ru	रुथेनियम	४४	१०१ ७
रु$_{ब}$	Rb	रुबीडियम	३७	८५ ४४
रे$_{ड}$	Rn	रेडन	८६	—
रे	Ra	रेडियम	८८	२२६ ०
रे$_{न}$	Re	रेनियम	७५	१८७
रो	Rh	रोडियम	४५	१०२ ९
ला	Lw	लारेंसियम	१०३	२५७
लि	Li	लिथियम	३	६ ९४
लैं	La	लैंथेनम	५७	१३८ ९२
लो	Fe	लोह	२६	५५ ८४
ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम	७१	१७४ ९९
व	Sn	वंग	५०	११८ ७
वै	V	वैनेडियम	२३	५० ९६
स	Sm	समेरियम	६२	१५० ४३
सि	Si	सिलिकन	१४	२८ ०६
सि$_{ल}$	Se	सिलीनियम	३४	७८ ९६
सी$_{ज}$	Cs	सीजियम	५५	१३२ ९१
सी$_{र}$	Ce	सीरियम	५८	१४० १३
सी	Pb	सीस	८२	२०७ २१
से	Ct	सेंटियम	१००	—
सो	Na	सोडियम	११	२२ ९९७
स्कैं	Sc	स्कैंडियम	२१	४५ १०
स्ट्रो	Sr	स्ट्रॉशियम	३८	८७ ६३
स्व	Au	स्वर्ण	७९	१९७ २
हा	H	हाइड्रोजन	१	१ ००८१
हीं	He	हीलियम	२	४ ००३
है	Hf	हैफनियम	७२	१७८ ६
है$_{ह}$	—	हैहनियम	१०५	२७१
हो	Ho	होलमियम	६७	१६४ ९४

पहली बार आवर्त नियम स्पष्ट शब्दो में घोषित किया। उसने कहा कि तत्वो के भौतिक और रासायनिक गुण उनके परमाणुभारो के आवर्तफलन हैं। आवर्त अथवा आवृत्ति शब्द का अर्थ लौटना या बार बार आना है। अकगणित की आवर्त सख्याओ से सभी को परिचय है, जैसे $\frac{1}{13}$ = ०७६६२३०७६६२३ अथवा ०७६६२३, अर्थात् दशमलव बनाने मे ०७६६२३ ये छह अक बार बार आते है। इसी प्रकार हम यदि परमाणुभार के क्रम से तत्वों को सजाएँ तो बार बार एक से ही गुणधर्मवाले तत्व एक से ही स्थानो पर पाए जायँगे। इसी को गणित की भाषा मे हम कहते है कि तत्वों के गुण परमाणुभारो के आवर्तफलन है।

जिस समय रूस मे मेडलीफ तत्वों के इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रयास कर रहा था, लोथरमायर ने भी (१८७० मे) आवर्त नियम की दूसरी तरह से अभिव्यक्ति की। उसने विभिन्न तत्वों के परमाणु आयतन निकाले, अर्थात् तत्वो के परमाणुभारो को उनके घनत्वों से विभाजित करके जो सख्याएँ प्राप्त की उन्हें उसने तत्वों का परमाणु आयतन कहा। फिर उसने तत्वो के परमाणुभार और परमाणु आयतन के हिसाब से एक वक्र खीचा। ऐसा करने पर उसे एक आवर्तवक्र प्राप्त हुआ और उसने देखा कि समान गुणधर्मवाले तत्व इस वक्र पर एक सी ही स्थिति पर है।

मेडलीफ के समय तक सब तत्वो की खोज नही हो पाई थी, फिर भी अपनी आवर्त सारणी को मेडलीफ ने इतनी सावधानी से रखा कि उसके आधार पर उसने कई अज्ञात तत्वों के गुणधर्मो की भविष्यवाणी की, जो अब स्कैंडियम, गैलियम और जर्मेनियम कहलाते हैं। उसने जिस सभावित तत्व का नाम एका-बोरान दिया था उसका पता सन् १८७९ मे चला और उसे स्कैंडियम कहा गया। उसने जिसे एका-ऐल्युमिनियम कहा था उसका नाम १८७६ मे गैलियम पडा और मेडलीफ का एका-सिलिकन १८७६ मे आविष्कृत होने पर जर्मेनियम नाम से विख्यात हुआ। मेडलीफ ने अपने आवर्त नियम के आधार पर बहुत से तत्वो के प्रचलित परमाणुभारो को भी सशोधित किया और बाद के प्रयोगो ने मेडलीफ के सशोधनो की पुष्टि की।

मेडलीफ के समय के बाद से उसकी आवर्त सारणी मे बहुत से परिवर्तन और सुधार हुए। सन् १९१३ मे मोसले ने यह बताया कि प्रत्येक तत्व की एक निश्चित परमाणुसख्या है। यह परमाणुसख्या परमाणुभार से भी अधिक महत्व की है, क्योकि एक ही तत्व कई अलग अलग परमाणुभारो का तो हो सकता है, पर तत्व की परमाणुसख्या स्थिर है, बदलती नही। मोसले के समय से आवर्त नियम परमाणुभार की अपेक्षा से नही, प्रत्युत परमाणुसख्या की अपेक्षा से व्यक्त किया जाने लगा। अब तत्वो को आवर्त सारणी मे परमाणुसख्या के क्रम से सज्जित किया जाता है, न कि परमाणुभार के क्रम से। परमाणुभार के क्रम से सज्जित करने मे कभी कभी वर्गीकरण मे दोष आ जाते थे और मेडलीफ भी इन दोषो से अवगत था। उसने अपनी सारणी मे परमाणुभारो के क्रम की कई स्थलो पर उपेक्षा की है, जैसे टेल्युरियम को आयोडीन के पहले स्थान दिया है, यद्यपि टेल्यूरियम का परमाणुभार आयोडीन से अधिक है। इसी प्रकार परमाणुभार के क्रम की अवहेलना करके निकेल को कोबल्ट के बाद स्थान दिया है। परमाणुसख्या का क्रम देने पर ये दोष मिट जाते है।

मेडलीफ के समय मे वायुमडल की हीलियम, नीआन, आर्गन, क्रिप्टन आदि गैसे ज्ञात न थी। जब रैमजे ने इनका आविष्कार किया और रसायनज्ञो ने देखा कि इन तत्वो के यौगिक नही बनते और इस अर्थ मे ये अक्रिय है, तो इन्हे सारणी मे एक अलग समूह मे रखा गया। इसका नाम शून्य-समूह पडा। विद्युद्धनात्मक और विद्युदृणात्मक प्रवृत्तियो के तत्वो के समूहो को सयुक्त करनेवाला शून्य विद्युत्प्रवृत्ति का एक समूह होना ही चाहिए था।

मेडलीफ की आवर्त सारणी--मेडलीफ की आवर्त सारणी मे नौ समूह है जिन्हे क्रमश शून्य, प्रथम, द्वितीय अष्टम समूह कहते है। ये समूह उन तत्वो की सयोजकताओ के भी द्योतक हैं। प्रत्येक समूह मे दो उपसमूह हैं--क और ख। बाईं ओर से दाईं ओर को जानेवाली दस पक्तियाँ हैं, जिन्हें काल कहते है। वस्तुत. काल सात हैं, पर चौथे, पाँचवे और छठे कालो मे से प्रत्येक में दो दो श्रेणियाँ हैं। इस प्रकार कुल पंक्तियाँ दस हुई। लोथरमायर के वक्र मे भी ये सातो काल स्पष्ट है।

जब तत्वो के परमाणुओ के इलेक्ट्रान विन्यास का पता चला, तब आवर्त नियम का महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो गया। तत्वो की परमाणु-सख्या यह भी बताती है कि उस तत्व मे विभिन्न परिधियो पर चक्कर लगानेवाले कितने इलेक्ट्रान है (द्र० 'परमाणु')। तत्वों के विन्यास मे कई कक्षाएँ या परिधियाँ हैं और इन कक्षाओ या परिधियो मे कितने इलेक्ट्रान आ सकते है, यह सख्या भी निश्चित है। इन कक्षाओ अथवा परिधियो पर अधिक से अधिक क्रमश २, ८, १८, ३२, इलेक्ट्रान रह सकते हैं। साथ ही साथ यह भी नियम है कि सबसे बाहरी परिधि पर आठ से अधिक नही रहेगे और उससे पीछे वाली पर १८ इलेक्ट्रान से अधिक नही। इस नियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि कुछ कालो मे क्यो १८ और कुछ मे क्यो ३२ तत्व है। इसने यह भी व्यक्त किया कि दुष्प्राप्य पार्थिव तत्व (लैथेनम के बाद परमाणुसख्या ५८ से ७१ तक) क्यो १४ ही हो सकते है।

जूलियस टामसेन ने इलेक्ट्रान विन्यास के हिसाब से जो आवर्त वर्गीकरण दिया, वह भी महत्वपूर्ण है। यह वर्गीकरण बताता है कि आवर्तन २, ८, १८, ३२, परमाणुसख्याओ पर होता है (द्र० चित्र)।

यूरेनियम की परमाणुसख्या ९२ है। आवर्त वर्गीकरण मे सबसे पहला तत्व अब हाइड्रोजन नही, बल्कि न्यूट्रान माना जाता है, जिसकी परमाणु सख्या शून्य (०) है। हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक के ९२ तत्व भूस्तर पर प्रकृति मे पाए जाते है, शेष नही, पर अब तो कृत्रिम विधि से यूरेनियम के बाद के भी सात आठ तत्व बनाए जा सकते है—नेप्च्यूनियम (९३), प्लूटोनियम (९४), अमरीकियम (९५), क्यूरियम (९६), बर्केलियम (९७), कैलिफोर्नियम (९८), आइस्टियम (९९), शतम् (१००) आदि। इन्हें ऐक्टिनाइड कहा जाता है। जैसे लैथेनम (५७) के बाद १४ विरल पार्थिव तत्व हैं, उसी प्रकार ऐक्टीनियम (८९) के बाद भी १४ तत्वो का होना, जिनका अभी पता नही है, असभव बात नही है। इन नए तत्वो का अस्तित्व आवर्त नियम के सर्वथा अनुकूल है।

रूसी रसायनज्ञ मैंडलीफ ने अपने समय (१८६९) तक ज्ञात तत्वो को, बढते हुए परमाणुभारो के क्रम मे एक सारणी के रूप मे व्यवस्थित किया। इसे मैंडलीफ की आवर्त सारणी कहते है। आधुनिक आवर्त सारणी मे मैडलीफ के पश्चात् मालूम किए गए कई तत्व समिलित है और इस वर्गीकरण मे तत्वो का स्थान उनकी परमाणु सख्या पर आधारित है (द्र० चित्र)।

आधुनिक आवर्त सारणी को कभी कभी बोर की सारणी भी कहते है। इस सारणी की मुख्य बाते निम्नलिखित है

(१) इसमे १६ उर्ध्वाधर खाने है जिन्हे उपवर्ग कहते है। विभिन्न उपवर्गों को IA, IB, IIA, IIB... VI A, VIIB, VIII तथा ० सख्याओ द्वारा सूचित किया गया है।

(२) इसके क्षैतिज खानो को आवर्त कहते है।

आवर्त सारणी की सहायता से रसायन का अध्ययन बहुत सरल हो जाता है। अब तक प्रामाणिक रूप से ज्ञात ११४ तत्वों का अध्ययन केवल नौ वर्गसमूहो के अध्ययन मे बदल जाता है। चूंकि एक वर्गसमूह के सभी तत्वो के गुणो मे समानता होती है, अत किसी एक तत्व के गुण का साधारण ज्ञान प्राप्त कर उस वर्गसमूह के अन्य तत्वो के गुणो का भी अध्ययन हो जाता है। जैसे, Na के गुणों का अध्ययन यदि कर लीजिए तो उपवर्ग IA के अन्य तत्वो के गुणो का अध्ययन समान तौर पर हो जाता है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), ई० रैबिनोविट्श और ई० थिलो पीरिओडिशेस सिस्टेम (स्टुटगार्ट, १९३०)।

(स० प्र०, नि० सिं०)

आवर्न पूर्वकाल मे फ्रास का एक प्रात था, परतु अब कैटल, पुई-डी-डोम और हौट ल्वायर विभागो के अतर्गत है। इसकी प्राचीन और वर्तमान राजधानियाँ क्रमश: क्लेरमाट और क्लेरमाट-फेरड हैं। 'आवर्न'

शब्द की उत्पत्ति आवर्नी से हुई है। आवर्नी रोमन काल में एक जातिसमुदाय था, जिसकी प्रभुता अक्वीटानिया के अधिकाश पर फैली हुई थी। इस समुदाय ने जूलिएस सीजर के विरुद्ध युद्ध मे भाग लिया था। आवर्न १५३२ ई० मे स्थायी रूप से फ्रांसीसी राजसत्ता के अधीन आ गया।

यहाँ स्थित पर्वत अधिकतर ज्वालामुखी है। महत्वपूर्ण पर्वतशिखर मांट डोर (ऊँचाई ६,१८८ फुट), प्लव डी कैटल (ऊँचाई ६,०६६) फुट और पुई-डी-डोम (ऊँचाई ४,८०६ फुट) है। यहाँ के सुप्त ज्वालामुखियो की संख्या लगभग ३०० है। यहाँ विस्तृत चरागाह और ओषधीय सोते (धाराएँ) भी है। (रा० ना० मा०)

आवा ब्रह्मा (बर्मा) राज्य की प्राचीन राजधानी है जो ईरावदी नदी पर सागैंग नगर के सम्मुख विपरीत किनारे पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम यदनपुर, अर्थात् 'बहुमूल्य पत्थरो का नगर' है। इस नगर की स्थापना ध्वस्त पगान नगर के उत्तराधिकारी नगर के रूप मे १३६४ ई० मे थाडोमिन पाया द्वारा हुई थी। यहाँ निर्मित अनेक धार्मिक भवन पगान स्थित धार्मिक भवनो के ही समान हैं। आवा नगर लगभग चार शताब्दियो तक राजकीय केंद्र था। इस काल मे ३० शासको द्वारा राजसिंहासन सुशोभित हुआ। १८३९ ई० के भूकप मे नगर खडहर हो गया। परिषद्-भवन और राजकीय भवन के कुछ भागो के अवशेष अब भी विद्यमान है। अधिकाश धार्मिक भवन (बौद्ध) ध्वस्त अवस्था मे हैं। (रा० ना० मा०)

आविष्कार और खोज किसी ऐसी नवीन वस्तु या यत्र आदि बनाने को आविष्कार कहते हैं जो पहले कभी न बना हो। खोज किसी ऐसे नियम, पूर्वविद्यमान देश आदि का पता लगाने को कहते है जिसका ज्ञान या पता पहले किसी को नही था। इस प्रकार जो स्थान अथवा तथ्य पहले से ही विद्यमान हो पर मालूम न हो, उसका पता लगाना खोज है। लेकिन कुछ पदार्थों या वस्तुओ की सहायता से एकदम नई चीज तैयार करने को आविष्कार या ईजाद कहते है। जैसे न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज की और फैराडे ने डायनमो का आविष्कार किया। (नि० सि०)

आवृत्तिदर्शी एक यत्र है जिसमे चलते हुए किसी पिंड को स्थिर रूप मे देखा जा सकता है। इसकी क्रिया दृष्टिस्थापकत्व (पर्सिस्टैंस ऑव विज़न) पर निर्भर है। हमारी आँख के कृष्णपटल (रेटिना) पर किसी वस्तु का प्रतिबिंब वस्तु को हटा लेने के लगभग १।१६ सेकेंड से लेकर १।१० सेकेंड बाद तक बना रहता है। साधारण आवृत्तिदर्शी मे एक वृत्ताकार पत्र या चक्र (डिस्क) होता है, जिसकी बारी के समीप बराबर दूरियो पर एक अथवा दो तीन वृत्ताकार पक्तियो मे छिद्र बने रहते है। वृत्ताकार पत्र को एक चाल से घुमाया जाता है और छिद्रो के समीप आँख लगाकर गतिमान वस्तु का निरीक्षण किया जाता है। जब छिद्र वस्तु के सामने आता है तभी वस्तु दिखाई पडती है। यदि किसी आवृत्तिदर्शी को ऐसी गति से घुमाया जाय कि मशीन की प्रत्येक आवृत्ति मे मशीन का वही भाग घूमते पत्र के एक छिद्र के सामने बराबर आता रहे तो दृष्टिस्थापकत्व के कारण चलती हुई मशीन हमे स्थिर, किंतु सामान्य प्रकाश मे धुँधली, दिखाई पडेगी। स्पष्ट निरीक्षण के लिये मशीन को अत्यत तीव्र प्रकाश मे रहना चाहिए। यदि एकसमान तीव्र प्रकाश के बदले मशीन को प्रकाश की तीव्र दमको (फ्लैशेज) द्वारा प्रकाशित किया जाय और यदि दमको की आवृत्तिसख्या इतनी हो कि एक दमक मशीन पर इसके ठीक एक परिभ्रमण पर पडे तो मशीन स्थिर दिखाई पडेगी। इस आयोजन से मशीन के किसी भाग का फोटो लिया जा सकता है, उसका निरीक्षण किया जा सकता है और मशीन का कोणीय वेग ज्ञात किया जा सकता है। किसी दोलनीय वस्तु, जैसे कपित स्वरित्र (ट्यूनिंग फॉर्क) की भी आवृत्तिसख्या निकाली जा सकती है।

आवृत्तिदर्शी द्वारा ट्यूनिंग फॉर्क की आवृत्तिसंख्या निकालना—आवृत्तिदर्शी आ (द्र० चित्र १) को विद्युत् मोटर मो द्वारा घुमाया जाता है। मोटर की गति इच्छानुसार घटा बढ़ाकर आवृत्तिदर्शी की परिभ्रमणसख्या ठीक की जा सकती है और परिभ्रमणसख्या का मान मोटर की धुरी पर लगे हुए गणक से ज्ञात किया जा सकता है। दूरदर्शी दू आवृत्तिदर्शी के छिद्र पर सधा रहता है। इस दूरदर्शी और आवृत्तिदर्शी के बीच विद्युत्स्वरित्र स्व क्षैतिज स्थिति मे रखा जाता है जिसमे स्वरित्र की दोनो भुजाओ के मध्य से आवृत्तिदर्शी के छिद्र दूरदर्शी मे दिखाई पडते रहे। स्वरित्र की दोनों भुजाओ मे ऐल्यूमीनियम की एक एक पत्ती लगा दी जाती है। इनमे से एक पत्ती मे एक छिद्र बना रहता है कि वह दूसरी भुजा की पत्ती द्वारा स्वरित्र की स्थिरावस्था मे पूरा ढका रहे और दोलन करते समय जब भुजाएँ
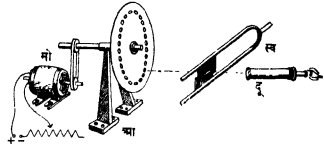
चित्र १ स्वरित्र की आवृत्तिसंख्या ज्ञात करना

फैल जायँ तो छिद्र खुल जाय। इस भाँति पत्तियो के बीच का छिद्र एक सेकड मे उतनी बार खुलता और बद होता है जितनी स्वरित्र की आवृत्तिसख्या होती है। इसके बाद आवृत्तिदर्शी को चलाकर स्वरित्र को विद्युत् द्वारा दोलित करते है। विद्युत् के प्रभाव से स्वरित्र का दोलन स्थायी बना रहता है। दूरदर्शी मे आवृत्तिदर्शी के छिद्र पहले धुँधले, फिर मोटर की गति बढने के साथ फैलकर पूर्ण वृत्ताकार हो जाते है। गति अधिक बढने पर छिद्र अलग अलग स्पष्ट दिखाई पडते है। यह तभी सभव होता है जब स्वरित्र के दोलनकाल मे आवृत्तिदर्शी का एक छिद्र निकटवर्ती दूसरे छिद्र के स्थान पर घूमकर आ जाता है। यदि चक्र की गति तनिक कम कर दी जाती है तो छिद्र पीछे की ओर धीरे धीरे घूमते हुए जान पडते हैं और यदि गति तनिक बढाई जाती है तो छिद्र आगे की ओर धीरे धीरे बढते प्रतीत होते है। जब छिद्र स्पष्ट स्थिर दिखाई पडते है तो आवृत्तिदर्शी की भ्रमणसख्या देखकर स्वरित्र की आवृत्तिसख्या ज्ञात की जा सकती है। यदि चक्र के वृत्त पर स छिद्र है और चक्र एक सेकड मे म परिभ्रमण करता है तो स्वरित्र की आवृत्तिसख्या म × म होती है।

आवृत्तिदर्शी की गति इसकी ठीक दूनी अथवा तिगुनी, चौगुनी इत्यादि होने पर भी छिद्र इसी प्रकार स्थिर दिखाई पडते है। इस कारण प्रयोग मे आवृत्तिदर्शी को गति प्रारभ मे कम रखकर धीरे धीरे बढाई जाती है।

आवृत्तिदर्शी का प्रभाव—आजकल घरो मे और सडको पर रोशनी ट्यूबलाइट द्वारा की जाती है। इनमे प्रकाश उच्च आवृत्तिसख्या के प्रत्यावर्ती विद्युद्विसर्जन से उत्पन्न होता है। ऐसे प्रकाश मे यदि मेज का पखा
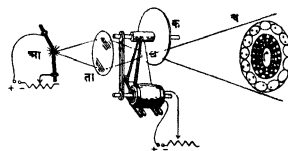
चित्र २ आवृत्तिदर्शी का सिद्धांत

चलाया जाता है अथवा बिजली काटकर जब उसे बद किया जाता है, तो बढती अथवा घटती चाल मे पखे के ब्लेड कभी रुकते हुए, कभी उलटी दिशा मे चलते, फिर रुकते और सीधा चलते दिखाई पडते है, अर्थात् ब्लेड उलटा सीधा चलते और बीच बीच मे रुकते जान पडते है। यह आवृत्तिदर्शी प्रभाव ट्यूबलाइट के प्रकाशविसर्जन की आवृत्तिसख्या पर निर्भर

रहता है। यदि पंखे पर एकदिश धारा के बल्ब का प्रकाश पड़ता हो तो हमें ऐसा अनुभव नहीं होता। इसी भाँति चलचित्र (सिनेमा) में चलता हुआ गाड़ी का डिब्बा जब रुकता हुआ दिखाया जाता है तो तीलीदार पहिया पहले कभी रुककर उलटी दिशा में घूमता और फिर रुककर सीधा घूमता जान पड़ता है। यह दृश्य भी चलचित्र के पर्दे पर खंडित प्रकाश से उत्पन्न होता है।

आवृत्तिदर्शी प्रभाव का कारण निम्नलिखित प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। बड़े श्वेत वृत्ताकार पत्र **च** पर (द्र० चित्र २) काले वृत्त और बिंदु बनाए गए हैं। इसपर आर्क **आ** का प्रकाश ताल **ता** द्वारा गिरता है। ताल और वृत्ताकार पत्र के बीच एक दूसरा वृत्ताकार पत्र **क** है, जिसमें एक लंबा छेद बना हुआ है। वृत्ताकार पत्र भिन्न भिन्न गतियों से अलग अलग घुमाए जाते हैं। मान लीजिए, वृत्ताकार पत्र **क** एक सेकंड में १३ चक्कर लगाता है, तो इसके छिद्र से पत्र **च** का कोई भाग एक सेकंड में १३ बार प्रकाशित होता है। यदि **च** एक सेकंड में केवल एक ही चक्कर उसी दिशा में लगाए और चित्र के अनुसार यदि पहली दमक वृत्त १ पर पड़े तो इस वृत्त के दोनों बिंदु एक दूसरे के ठीक ऊपर नीचे दिखाई पड़ेंगे। दूसरी दमक के पड़ते ही वृत्त १ के स्थान पर वृत्त २ आ जायगा और बिंदु दक्षिणावर्त दिशा में मुड़े जान पड़ेंगे। तीसरे स्फुरण के आते ही वृत्त ३ आकर वृत्त १ के स्थान पर पड़ेगा और बिंदु अधिक मुड़े दिखाई पड़ेंगे। वृत्त सब एक समान हैं और
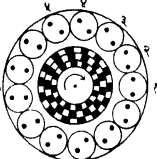
चित्र ३ पूर्वगामी चित्र का वृत्त च, बड़े पैमाने पर

सब बारी बारी से स्थान १ पर आते हैं, जहाँ प्रकाश की दमकें पड़ती हैं। अतः वृत्त स्थिर और उनके भीतर के बिंदु दक्षिणावर्त घूमते दिखाई पड़ेंगे। पत्र **च** के केंद्र के समीप तीन खानेदार वृत्त बनाए गए हैं, जिनमें एकांतर क्रम से सफेद काले खाने बने हुए हैं। मध्यवर्ती वृत्त में १३ सफेद और १३ काले खाने हैं। भीतरी वृत्त में १२ सफेद और १२ काले खाने हैं और बाहरी वृत्त में प्रत्येक प्रकार के १४ खाने हैं। **च** और **क** इन दोनों पत्रों की आपेक्षिक गतियों के ऐसे संतुलन पर कि परिधि के वृत्त स्थिर जान पड़ें इन तीनों केंद्रीय खानेदार वृत्तों में बीचवाला वृत्त स्थिर, बाहरी दक्षिणावर्त और भीतरी वामावर्त घूमता दिखाई पड़ेगा।

एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। यदि प्रकाश की दमक एक सेकंड में १० से कम कर दी जाय, तो प्रकाशित चकती **च** की सतह पर झिलमिलाहट या कँपकँपी (फ्लिकरिंग) दिखाई पड़ती है। यदि प्रकाश की दमकों की प्रति सेकंड संख्या चक्र **च** के वेग को बढ़ाकर पर्याप्त अधिक कर दी जाय तो कँपकँपी दूर हो जाती है और सतह की दीप्ति स्थायी जान पड़ती है। ऐसा दीप्त्याभास हमारी आँखों की दृष्टिविलंबना के कारण होता है, जैसा सिनेमा के पर्दे पर चित्रों को प्रति सेकंड १३ से अधिक बार डालकर पात्रों के नाच, दौड़ आदि, सभी गतिविधियों को स्वाभाविक गति में देख पाते हैं। यदि चलचित्रों की संख्या प्रति सेकंड १३ से कम हो तो पर्दे पर कँपकँपी आने लगती है। आजकल बोलते चित्रों में २४ चित्र प्रति सेकंड पर्दे पर डाले जाते हैं, जिससे कँपकँपी बिलकुल नहीं आती। कँपकँपी पूर्णतया निर्मूल करने के लिये प्रति चित्र के मध्य में प्रकाश एक बार काट दिया जाता है अर्थात् प्रति सेकंड २४ चित्र चलाते समय ४८ दमकें बराबर समयांतरों पर पड़ती हैं।

आजकल आवर्तदर्शी के साथ कार्य करनेवाले इतने अद्भुत फोटोग्राफी के कैमरे बनाए गए हैं कि उड़ती चिड़िया, तीव्रगामी हवाई जहाज तथा जेट प्लेन आदि के किसी भाग का फोटो उतारा जा सकता है। छोटे बड़े बमों के फूटने के तुरंत बाद, अर्थात् १/१० लाख सेकंड में तथा तदनंतर विस्फोटनक्रिया का फोटो लेकर अध्ययन किया जा सकता है। ऐसे आवृत्तिदर्शी में तापायन सपाट (थर्मआयोनिक वाल्व) के द्वारा दमक की आवृत्तिसंख्या एक लाख से भी अधिक प्रति सेकंड होती है और दमक की ज्योति सूर्य के प्रकाश से भी प्रबल होती है। इसका श्रेय प्रोफेसर एजर्टन को है। मैसाचुसेट्स इंस्टिट्यूट ऑव टेकनालाजी (अमरीका) में अपने साथियों के साथ प्रो० एजर्टन लगभग २० वर्षों तक इस अनुसंधान में संलग्न रहे। इस आवर्तिदर्शी की क्रिया पूर्वोक्त आवृत्तिदर्शी के समान ही होती है, किंतु प्रकाश की प्रबलता बढ़ाने के लिए प्रबल इलेक्ट्रानिक परिपथ (सर्किट) की व्यवस्था रहती है और उसके खोलने और बंद करने के लिये गैस से भरी एक नलिका होती है जो विद्युत्परिपथ में संघनक (कंडेंसर) का काम करती है। इसमें लगे वाल्व को ठीक साधने पर, विद्युत् दमक एक सेकंड के दस लाखवें भाग के समयांतर पर हो सकती है। दमक की दीप्ति इतनी प्रबल होती है कि पाँच सात मील गहरे समुद्र की पेंदी का भी चित्र खींचा जा सकता है। ऐसे आवर्तिदर्शी द्वारा ऐसी सूक्ष्म वस्तुओं तक का निरीक्षण संभव हो सका है जो हमें दिखाई भी नहीं पड़तीं। (न० ला० सि०)

आवेशन मानव व्यक्तित्व अनेक प्रकार के विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं से बना होता है। इनमें से कुछ व्यक्ति को ज्ञात रहती हैं और कुछ अज्ञात रहती हैं, कुछ समाज द्वारा मान्य तथा सराहनीय होती हैं और कुछ अमान्य और निंद्य होती हैं। पहले प्रकार के तत्वों को मनुष्य स्वीकार करता है और उनका एक प्रकाशित संगठन बन जाता है। यह संगठन ही उसका स्वत्व कहलाता है। इसकी प्रशंसा होने से उसको खुशी होती है और निंदा होने से उसको दुःख होता है। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि मनुष्य का यह प्रकाशित व्यक्तित्व उसका संपूर्ण व्यक्तित्व नहीं है। मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व में उसके मन में उपस्थित ऐसी बातें भी रहती हैं जिन्हें वह स्वयं बुरा समझता है और जिन्हें वह भुला देना चाहता है। मनुष्य का प्रकाशित स्वत्व ऐसी इच्छाओं, भावनाओं को दबाता रहता है जो समाज में निंद्य मानी जाती हैं। ये दमित भावनाएँ मनुष्य के भीतरी अदृश्य मन में चली जाती हैं।

ये दबी इच्छाएँ, भावनाएँ तथा स्मृतियाँ स्वयं में संगठित हो जाती हैं। कभी उनके एक और कभी अनेक संगठन होते हैं। ये मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित रहते हैं। ये मनुष्य के प्रकाशित स्वत्व के प्रतिकूल षड्यंत्र करते रहते हैं। ये उसे अपनी शक्ति से बली न बनाकर उसे दुर्बल बनाते रहते हैं। इस प्रकार ये तत्व मनुष्य के अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों के कारण बन जाते हैं। जब कभी मानसिक विभाजन से पीड़ित व्यक्ति किसी संकट में पड़ जाता है तो उसके दबे भाव, जो संगठित हो जाते हैं, चेतना के स्तर पर अपने विभक्त रूप में प्रकाशित होते हैं। यह प्रकाशन किसी किसी समय मनुष्य के सामान्य व्यक्तित्व को हटाकर होता है। इसी प्रकार के प्रकाशन को आवेशन अथवा भूतबाधा कहा जाता है।

भूतबाधा की घटनाएँ प्राचीन काल से होती आई हैं। जिस समाज में शिक्षा और वैज्ञानिक विचार की कमी होती है उसमें भूतबाधा की घटनाएँ उतनी ही अधिक होती हैं। ये घटनाएँ विभाजित व्यक्तित्व के परिणाम हैं। भूतबाधा से पीड़ित व्यक्ति भूत की उपस्थिति अपने से बाहर मानता है। वह सोचता है कि बाहर का भूत ही उसे लग गया है और उसे त्रास देता है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चला है कि मनुष्य को त्रास देनेवाला वह भूत उसके बाहर नहीं है, वरन उसी के भीतर है। वह उसी के व्यक्तित्व का वह भाग है जिसकी उपस्थिति वह स्वीकार नहीं करना चाहता और उसे उसने दमित तथा विस्मृत कर दिया है। वह भाग अभद्र होता है, अतएव जब उसकी उपस्थिति उसको स्वीकार करनी पड़ती है तो वह उसे अपने से बाहर से आया हुआ मानता है। इसी प्रकार की मानसिक क्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान में प्रक्षेपण की क्रिया कहा जाता है। डा० फ्रायड ने मनुष्य के अचेतन मन की इस क्रिया का पता पहले पहल लगाया। अब यह सभी मनोवैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत हो गया है।

जब कोई मनुष्य भूत के वश में होता है तो वह विवेकहीन चेष्टाएँ, बातचीत और आचरण करने लगता है। आवेशन के समय कभी कभी

व्यक्ति जोर से चिल्लाता है और कहता है कि मैं अमुक जगह का ब्रह्म हूँ अथवा पीर हूँ। वह उस व्यक्ति को पकड ले जाने का कुछ कारण भी बताता है। ओझा लोग ऐसे भूतों की झाडफूंक करते हैं। कुछ समय के लिये भूत के उत्पात शात हो जाते हैं। तब समाज में अशिक्षित लोग समझ लेते हैं कि आक्रांत व्यक्ति को सचमुच में कोई भूत अथवा ब्रह्म पकडे था और ओझा की झाडफूंक से वह शात हो गया। इस प्रकार के उपचार को आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने निर्देशन चिकित्सा कहा है।

उक्त उपचार से रोगी को स्थायी आरोग्यलाभ नही होता। इससे व्यक्तित्व का दमित भाव समाप्त नही होता। वह केवल कुछ समय के लिये अदृश्य हो जाता है। जब फिर अवसर आता है तो पुराना भूत फिर मनुष्य के शरीर में आ जाता है और मनुष्य की चेतना को विभाजित कर देता है। यह कभी कभी शारीरिक रोग बनकर प्रकाशित होता है। आधुनिक मानसिक चिकित्सा विज्ञान में पहले प्रकार के दमित भाव के प्रकाशन को हिस्टीरिया कहा गया है और दूसरे के प्रकाशन को रूपान्तरित हिस्टीरिया कहा है।

सभी प्रकार की भूतबाधाओं का अत तभी होता है जब मनुष्य का दमित अवाछनीय भाव चेतना के स्तर पर व्यक्ति को बिना बेहोश किए ले आया जाता है। इसे रोगी द्वारा स्वीकृत कराकर जब उसका उपयोग समाजहित के कार्यों में होने लगता है तभी मनुष्य पूर्णत स्वास्थ्यलाभ करता है अर्थात् तभी वह आवेशन से अथवा भूतबाधा से मुक्त होता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में एकत्व हो जाता है। और उसका सपूर्ण व्यक्तित्व बली रहता है। फिर वह जो कुछ सोचता है उसके अनुसार वह काम करने में सफल होता है। (ला० रा० शु०)

आवोगाड्रो, अमाडियो (१७७६-१८५६ ई०) इटैलियन वैज्ञानिक थे। प्रारभ मे उन्होने कानून तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया और १७९६ मे कानून में डाक्टरेट प्राप्त किया। बहुत समय पश्चात् उन्होंने भौतिक शास्त्र का अध्यापन प्रारभ किया। उन्हे ट्यूरिन विश्वविद्यालय मे १८०२ मे प्रोफेसर का पद मिला, जो राजनीतिक कारणों से १८२२ तक ही रहा। परतु कुछ वर्षों के बाद उसी पद पर पुन उनकी नियुक्ति हुई। उनका महत्वपूर्ण लेख 'जर्नल दा फिजीक' (१८११) में छपा। उनकी विशेष वैज्ञानिक देन वह नियम है जो अब आवोगाड्रो की परिकल्पना (आवोगाड्रोज हाइपॉथेसिस) के नाम से प्रसिद्ध है।

लोगो को इस परिकल्पना का ठीक ज्ञान कैनी जारो के स्पष्टीकरण से बहुत बाद मे हुआ। उसके पहले इस परिकल्पना तथा उसके सिद्धात पर किसी ने ध्यान नही दिया। १८१४ मे फ्रास के वैज्ञानिक ऐंपियर ने वे ही विचार व्यक्त किए जो तीन वर्ष पहले आवोगाड्रो की परिकल्पना मे थे। मोलिक्यूल (अणु) शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग तथा उसके अर्थ का स्पष्टीकरण भी आवोगाड्रो ने ही किया था।

स०ग्रं०—सर विलियम ए० टिल्डेन फेमस केमिस्ट्स (१९३०), जे० आर० पार्टिगटन ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९५१)।
(वि० वा० प्र०)

आवगाड्रो का नियम १८११ ई० मे इटली के रसायनज्ञ आवोगाड्रो ने अणु और परमाणु में भेद स्पष्ट करते हुए बताया कि परमाणु किसी तत्व का वह सूक्ष्मतम कण है जो रासायनिक क्रिया में भाग लेता है और इसका स्वतत्र अस्तित्व हो भी सकता है और नहीं भी। अणु पदार्थ का वह छोटे से छोटा कण है जिसमें पदार्थ के सारे गुण विद्यमान हों और उसका स्वतत्र अस्तित्व सभव हो।

आवोगाड्रो ने ही सर्वप्रथम कहा कि गैसो मे केवल अणुओं का स्वतत्र अस्तित्व सभव है न कि परमाणुओं का, इसीलिए गैस के आयतन को उसमें उपस्थित अणुओं से व्यक्त करना चाहिए। इस आधार पर आवोगाड्रो ने निम्नलिखित सबध व्यक्त किया है

"एक ही ताप और दाब पर सभी गैसो के समान आयतन मे अणुओं की सख्या समान होती है।"

प्रारंभ मे इस सबध को आवोगाड्रो की परिकल्पना कहा गया था लेकिन बाद में जब प्रयोगों द्वारा इसका परीक्षण किया गया तो इसे आवोगाड्रो का सिद्धात कहा जाने लगा। और अब इसे आवोगाड्रो का नियम कहते है। परमाणु सिद्धात के सशोधन मे तथा गेलसाक के नियम की व्याख्या करने मे इस नियम का उपयोग हुआ है। तात्विक गैसो की परमाणुकता निकालने मे, अणु भार ज्ञात करने मे, गैसो के भार आयतन के सबध को ज्ञात करने मे तथा गैस विश्लेषण मे इस नियम का उपयोग किया जाता है।

आवोगाड्रो की संख्या—किसी भी गैस के एक ग्राम अणु भार मे अणुओं की सख्या समान होती है। इस सख्या को ही आवोगाड्रो की सख्या कहते हैं। विभिन्न विधियों से इसका मान 6.02×10^{23} निश्चित किया गया है। आवोगाड्रो की सख्या पाँच विश्व स्थिराकों (युनिवर्सल कान्स्टैंट) मे से एक है। इसे रोमन अक्षर एन् (N) से निरूपित करते है। (नि० सि०)

आशावरी (आसावरी) प्राचीन भारतीय सगीताचार्यों के अनुसार राग 'श्री' की एक प्रमुख रागिनी। ऋतु, समय और भावादि का वैज्ञानिक विश्लेषण करके प्रमुख १३२ प्रकार के राग रागिनियों की कल्पना की गई थी किंतु आधुनिक विद्वानों ने यह विभेद हटाकर सबको राग की ही सज्ञा दी है। आशावरी वियोगशृगार की रागिनी (राग) है और इसके गायन का समय दिन का द्वितीय प्रहर है। इसका लक्षण 'रागप्रकाशिका' नामक ग्रथ (सन् १८९९ ई०) मे यों दिया है

पीतम के बिरहा भरी, इत उत डोलत धाय।
ढूंढत भूतल शैल बन, कर मल मल पछिताय॥

आशावरी रागिनी के जो चित्र उपलब्ध है उनमे अपना जातीय परिधान पहने एक युवती बैठी सर्पो से खेल रही है और सामने दो बीनकार बैठे बीन बजा रहे है। (स०)

आश्खाबाद रूसी तुर्कमानिस्तान देश का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ७५,२८९ वर्ग मील तथा १९७० मे आबादी २,५३,००० थी। यह जिला अक्काल नखलिस्तान के उपजाऊ भाग मे है तथा इसमे कोपेट डाघ की कई पहाडी नदियाँ बहती है। जलवायु विशेष गर्म नही है तथा कभी कभी बर्फ गिर जाती है। यहाँ अगूर पैदा होता है और मदिरा बनाई जाती है।

इसी जिले मे तुर्कमानिस्तान नाम का शहर भी है। यहाँ सूती कपडे की मिले है। (नृ० कु० सि०)

आश्रम प्राचीन काल मे सामाजिक व्यवस्था के दो स्तभ थे—वर्ण और आश्रम। मनुष्य की प्रकृति—गुण, कर्म और स्वभाव—के आधार पर मानवमात्र का वर्गीकरण चार वर्णों मे हुआ था। व्यक्तिगत सस्कार के लिये उसके जीवन का विभाजन चार आश्रमों मे किया गया था। ये चार आश्रम थे—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गार्हस्थ्य, (३) वानप्रस्थ और (४) सन्यास। अमरकोश (७.४) पर टीका करते हुए भानु जी दीक्षित ने 'आश्रम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है आश्राम्यन्त्यत्र। अनेन वा। श्रम् तपसि। घञ्। यद्वा आ समताच्छ्रमोऽत्र। स्वधर्मसाधनक्लेशात्। अर्थात् जिसमे सम्यक् प्रकार से श्रम किया जाय वह आश्रम है अथवा आश्रम जीवन की वह स्थिति है जिसमे कर्तव्यपालन के लिये पूर्ण परिश्रम किया जाय। आश्रम का अर्थ 'अवस्थाविशेष', 'विश्राम का स्थान', 'ऋषिमुनियों के रहने का पवित्र स्थान' आदि भी किया गया है।

आश्रमसस्था का प्रादुर्भाव वैदिक युग मे हो चुका था, किंतु उसके विकसित और दृढ होने मे काफी समय लगा। वैदिक साहित्य मे ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य अथवा गार्हपत्य का स्वतत्र विकास हुआ, किंतु वानप्रस्थ और सन्यास, इन दो अतिम आश्रमो के स्वतत्र विकास का उल्लेख नही मिलता। इन दोनों का सयुक्त अस्तित्व बहुत दिनो तक बना रहा और इनको वैखानस, परिव्राट्, यति, मुनि, श्रमण आदि से अभिहित किया जाता था। वैदिक काल मे कर्म तथा कर्मकाड की प्रधानता होने के कारण निवृत्तिमार्ग अथवा सन्यास को विशेष प्रोत्साहन नही था। वैदिक साहित्य के अतिम चरण उपनिषदों मे निवृत्ति और सन्यास पर जोर दिया जाने लगा और यह स्वीकार

कर लिया गया था कि जिस समय जीवन में उत्कट वैराग्य उत्पन्न हो उस समय से वैराग्य से प्रेरित होकर सन्यास ग्रहण किया जा सकता है। फिर भी सन्यास अथवा श्रमण धर्म के प्रति उपेक्षा और अनास्था का भाव था।

सूत्रयुग में चार आश्रमों की परिगणना होने लगी थी, यद्यपि उनके नाम-क्रम में अब भी मतभेद था। आपस्तंब धर्मसूत्र (२ ६ २१ १) के अनुसार गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (= ब्रह्मचर्य), मौन तथा वानप्रस्थ चार आश्रम थे। गौतमधर्मसूत्र (३ २) में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस चार आश्रम बतलाए गए हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (७ १ २) में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक, इन चार आश्रमों का वर्णन है। बौधायनधर्मसूत्र (२ ६.१७) ने वसिष्ठ का अनुसरण किया है, किंतु आश्रम की उत्पत्ति के संबंध में बतलाया है कि अंतिम दो आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर ने इसलिये किया था कि देवताओं को यज्ञ से प्राप्य अंश न मिले और वे दुर्बल हो जायँ (६ २९-३१)। इसका संभवत यह अर्थ हो सकता है कि कायक्लेशप्रधान निवृत्तिमार्ग पहले असुरों में प्रचलित था और आर्यों ने उनसे इस मार्ग को अंशत ग्रहण किया, परंतु फिर भी ये आश्रम उनको पूरे पसंद और ग्राह्य न थे।

बौद्ध तथा जैन सुधारणा ने आश्रम का विरोध नहीं किया, किंतु प्रथम दो आश्रमों—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य—की अनिवार्यता नहीं स्वीकार की। इसके फलस्वरूप मुनि अथवा यतिवृत्ति को बड़ा प्रोत्साहन मिला और समाज में भिक्षुओं की अगणित वृद्धि हुई। इससे समाज तो दुर्बल हुआ ही, अपरिपक्व सन्यास अथवा त्याग से भ्रष्टाचार भी बढ़ा। इसकी प्रतिक्रिया और प्रतिसुधारणा ई० पू० दूसरी सदी अथवा शुंगवंश की स्थापना से हुई। मनु आदि स्मृतियों में आश्रमधर्म का पूर्ण आग्रह और संघटन दिखाई पड़ता है। पूरे आश्रमधर्म की प्रतिष्ठा और उनके क्रम की अनिवार्यता भी स्वीकार की गई। 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्', अर्थात् एक आश्रम से दूसरे आश्रम को जाना चाहिए, इस सिद्धांत को मनु ने दृढ़ कर दिया।

स्मृतियों में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। मनु ने मानव आयु सामान्यत एक सौ वर्ष की मानकर उसको चार बराबर भागों में बाँटा है। प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्य है। इस आश्रम में गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना कर्तव्य है। इसका मुख्य उद्देश्य विद्या का उपार्जन और व्रत का अनुष्ठान है। मनु ने ब्रह्मचारी के जीवन और उसके कर्तव्यों का वर्णन विस्तार के साथ किया है (अध्याय २, श्लोक ४१–२४८)। ब्रह्मचर्य उपनयन संस्कार के साथ प्रारंभ और समावर्तन के साथ समाप्त होता है। इसके पश्चात् विवाह करके मनुष्य दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य में प्रवेश करता है। गार्हस्थ्य समाज का आधार स्तंभ है। "जिस प्रकार वायु के आश्रय से सभी प्राणी जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम के सहारे अन्य सभी आश्रम वर्तमान रहते हैं" (मनु० ३७७)। इस आश्रम में मनुष्य ऋषिऋण से वेद के स्वाध्याय द्वारा, देवऋण से यज्ञ द्वारा और पितृऋण से संतानोत्पत्ति द्वारा मुक्त होता है। इसी प्रकार नित्य पंचमहायज्ञों—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ—के अनुष्ठान द्वारा वह समाज एवं संसार के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है। मनुस्मृति के चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में गृहस्थ के कर्तव्यों का विवेचन पाया जाता है। आयु का दूसरा चतुर्थांश गार्हस्थ्य में बिताकर मनुष्य जब देखता है कि उसके सिर के बाल सफेद हो रहे हैं और उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ रही हैं तब वह जीवन के तीसरे आश्रम—वानप्रस्थ—में प्रवेश करता है (मनु० ५, १६६)। निवृत्ति मार्ग का यह प्रथम चरण है। इसमें त्याग का आंशिक पालन होता है। मनुष्य सक्रिय जीवन से दूर हो जाता है, किंतु उसके गार्हस्थ्य का मूल पत्नी उसके साथ रहती है और वह यज्ञादि गृहस्थधर्म का अंशत. पालन भी करता है। परंतु संसार का क्रमश त्याग और यतिधर्म का प्रारंभ हो जाता है (मनु० ६)। वानप्रस्थ के अनंतर शांतचित्त, परिपक्व वयवाले मनुष्य का पारिव्राज्य (सन्यास) प्रारंभ होता है। (मनु० ६, ३३)। जैसा पहले लिखा गया है, प्रथम तीन आश्रमों और उनके कर्तव्यों के पालन के पश्चात् ही मनु सन्यास की व्यवस्था करते हैं "एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर, जितेंद्रिय हो, भिक्षा (ब्रह्मचर्य), बलिवैश्वदेव (गार्हस्थ्य तथा वानप्रस्थ) आदि से विश्राम पाकर जो सन्यास ग्रहण करता है वह मृत्यु के उपरांत मोक्ष प्राप्त कर अपनी (पारमार्थिक) परम उन्नति करता है (मनु० ६, ३४)। "जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से प्रव्रजित होता है उस ब्रह्मवादी के तेज में सब लोक आलोकित होते हैं" (मनु० ६, ३९)। "एकाकी पुरुष को मुक्ति मिलती है, यह समझता हुआ सन्यासी सिद्धि की प्राप्ति के लिये नित्य बिना किसी सहायक के अकेला ही विचरे, इस प्रकार न वह किसी को छोड़ता है और न किसी से छोड़ा जाता है" (मनु० ६, ४२)। "कपाल (भग्न मिट्टी के बर्तन के टुकड़े) खाने के लिये, वृक्षमूल रहने के लिये, कुचैल (फटे वस्त्र) पहनने के लिये, असहाय (अकेले) विचरने के लिये तथा सभी प्राणियों में समता व्यवहार के लिये मुक्त पुरुष (सन्यासी) के लक्षण हैं" (मनु० ६, ४४)।

आश्रमव्यवस्था का जहाँ शारीरिक और सामाजिक आधार है, वहाँ उसका आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक आधार भी है। भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को केवल प्रवाह न मानकर उसको सोद्देश्य माना था और उसका ध्येय तथा गंतव्य निश्चित किया था। जीवन को सार्थक बनाने के लिये उन्होंने चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—की कल्पना की थी। प्रथम तीन पुरुषार्थ साधनरूप से तथा अंतिम साध्यरूप से व्यवस्थित था। मोक्ष परम पुरुषार्थ, अर्थात् जीवन का अंतिम लक्ष्य था, किंतु वह अकस्मात् अथवा कल्पनामात्र से नहीं प्राप्त हो सकता है। उसके लिये साधना द्वारा क्रमश जीवन का विकास और परिपक्वता आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय समाजशास्त्रियों ने आश्रम संस्था की व्यवस्था की। आश्रम वास्तव में जीवन का शिक्षणालय अथवा विद्यालय है। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म का एकांत पालन होता है। ब्रह्मचारी पुष्टशरीर, बलिष्ठबुद्धि, शांतमन, शील, श्रद्धा और विनय के साथ युगों से उपार्जित ज्ञान, शास्त्र, विद्या तथा अनुभव को प्राप्त करता है। सुविनीत और पवित्रात्मा ही मोक्षमार्ग का पथिक हो सकता है। गार्हस्थ्य में धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन तथा काम का सेवन होता है। संसार में अर्थ तथा काम के अर्जन और उपभोग के अनुभव के पश्चात् ही त्याग और सन्यास की भूमिका प्रस्तुत होती है। संयमपूर्वक ग्रहण के बिना त्याग का प्रश्न उठता ही नहीं। वानप्रस्थ आश्रम में अर्थ और काम के क्रमश त्याग के द्वारा मोक्ष की पृष्ठभूमि तैयार होती है। सन्यास में संसार के सभी बंधनों का त्याग कर पूर्णत मोक्षधर्म का पालन होता है। इस प्रकार आश्रम संस्था में जीवन का पूर्ण उदार, किंतु संयमित नियोजन था।

शास्त्रों में आश्रम के संबंध में कई दृष्टिकोण पाए जाते हैं जिनको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। (१) समुच्चय, (२) विकल्प और बाध। समुच्चय का अर्थ है सभी आश्रमों का समुचित समाहार, अर्थात् चारों आश्रमों का क्रमश और समुचित पालन होना चाहिए। इसके अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम संबंधी नियमों का पालन उतना ही आवश्यक है जितना ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास में धर्म और मोक्षसंबंधी धर्मों का पालन। इस सिद्धांत के सबसे बड़े प्रवर्तक और समर्थक मनु (अ० ४ तथा ६) हैं। दूसरे सिद्धांत विकल्प का अर्थ यह है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् व्यक्ति को यह विकल्प करने की स्वतंत्रता है कि वह गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करे अथवा सीधे सन्यास ग्रहण करे। समावर्तन के संदर्भ में ब्रह्मचारी दो प्रकार के बताए गए हैं। (१) उपकुर्वाण, जो ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता था और (२) नैष्ठिक, जो आजीवन गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता था। इसी प्रकार स्त्रियों में ब्रह्मचर्य के पश्चात् सद्योद्वाहा (तुरंत विवाहयोग्य) और ब्रह्मवादिनी (आजीवन ब्रह्मोपासना में लीन) होती थीं। यह सिद्धांत जाबालोपनिषद् तथा कई धर्मसूत्रों (वसिष्ठ तथा आपस्तंब) और कतिपय स्मृतियों (याज्ञ०, लघु, हारीत) में प्रतिपादित किया गया है। बाध का अर्थ है सभी आश्रमों के स्वतंत्र अस्तित्व अथवा क्रम को न मानना अथवा आश्रम संस्था को ही न स्वीकार करना। गौतम तथा बौधायनधर्मसूत्रों में यह कहा गया है कि वास्तव में एक ही आश्रम—गार्हस्थ्य है। ब्रह्मचर्य उसकी भूमिका है, वानप्रस्थ और सन्यास महत्व में गौण (और प्राय वैकल्पिक) हैं। मनु ने भी सबसे अधिक महत्व गार्हस्थ्य का ही स्वीकार किया है, जो सभी कर्मों और आश्रमों का उद्गम है। इस मत के समर्थक अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण का वाक्य (एतद्वै जरामर्यसत्र यदग्निहोत्रम् = जीवनपर्यंत अग्निहोत्र आदि यज्ञ करना चाहिए। शत०

१२, ४, १, १), ईशोपनिषद् का वाक्य (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।—ईश० २) आदि उद्धृत करते हैं। गीता का समन्वय भी कर्म का संन्यास नहीं अपितु कर्म में संन्यास को ही श्रेष्ठ समझता है। आश्रम संस्था को सबसे बड़ी बाधा परम्पराविरोधी बौद्ध एवं जैन मतों से हुई जो आश्रमव्यवस्था के समुच्चय और संतुलन को हीन नहीं मानते और जीवन का अनुभव प्राप्त किए बिना अपरिपक्व संन्यास या परिव्रज्या को अत्यधिक प्रश्रय देते हैं। मनु० (६. ३५) पर भाष्य करते हुए सर्वज्ञनारायण ने उपर्युक्त तीनों मतों में समन्वय करने की चेष्टा की है। सामान्यतः तो उनको समुच्चय का सिद्धांत मान्य है। विकल्प में वे अधिकारभेद मानते हैं, अर्थात् जिसको उत्कट वैराग्य हो वह ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। उनके विचार में बाध का सिद्धांत उन व्यक्तियों के लिये ही है जो अपने पूर्वसंस्कारों के कारण सामाजिक कर्मों में आजीवन आसक्त रहते हैं और जिनमें विवेक और वैराग्य का यथासमय उदय नहीं होता।

सुसंघटित आश्रम संस्था भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। किंतु उसका एक बहुत बड़ा सार्वभौम और शास्त्रीय महत्व है। यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से इसके आदर्श और व्यवहार में अंतर रहा है, जो मानव स्वभाव को देखते हुए स्वाभाविक है, तथापि इसका कल्पना और आदर्श व्यवहार अपने आपमें गुरुत्व रखते हैं। इस विषय पर डॉयसन (एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स—'आश्रम' शब्द) का निम्नांकित मत उल्लेखनीय है "मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित आश्रम की प्रस्थापना में व्यवहार का कितना मेल था, यह कहना कठिन है, किंतु यह स्वीकार करने में हम स्वतंत्र हैं कि हमारे विचार में संसार के मानव इतिहास में अन्यत्र कोई ऐसा (तत्व या संस्था) नहीं है जो इस सिद्धांत की गरिमा की तुलना कर सके।"

सं० ग्रं०—मनुस्मृति (अध्याय ३, ४, ५ तथा ६), पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग २, खंड १, पृ० ४१६-२६, भगवानदास साइंस ऑव सोशल आर्गेनाइजेशन, भाग १, राजबली पांडेय हिंदू संस्कार, धार्मिक तथा सामाजिक अध्ययन, चौखंभा संस्कृत भवन, वाराणसी, हेस्टिंग्ज एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, 'आश्रम' शब्द। (रा० ब० पां०)

आश्रव बौद्ध अभिधर्म के अनुसार आश्रव चार होते हैं— कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्ट्याश्रव और अविद्याश्रव। ये प्राणी के चित्त में आ पड़ते हैं और उसे भवचक्र में बाँधे रहते हैं। मुमुक्षु योगी इन आश्रवों से छूटकर अर्हत् पद का लाभ करता है।

भारतीय दर्शन की दूसरी परंपराओं में भी आत्मा को मलिन करनेवाले तत्व आश्रव के नाम से अभिहित किए गए हैं। उनके स्वरूप के विस्तार में भेद होते हुए भी यह समानता है कि आश्रव चित्त के मल हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। (भि० ज० का०)

आश्वलायन ऋग्वेद की २१ शाखाओं में से आश्वलायन अन्यतम शाखा है जिसका उल्लेख 'चरणव्यूह' में किया गया है। इस शाखा के अनुसार न तो आज ऋक्संहिता ही उपलब्ध है और न कोई ब्राह्मण ही, परंतु कवींद्राचार्य (१७वीं शताब्दी) की ग्रंथसूची में उल्लिखित होने से इन ग्रंथों के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस शाखा के समग्र कल्पसूत्र ही आज उपलब्ध हैं— आश्वलायन श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। आश्वलायन श्रौतसूत्र में १२ अध्याय हैं जिनमें होता के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों की ओर विशेष लक्ष्य कर यागों का अनुष्ठान दिखलाया है। इसमें पुरोनुवाक्या, याज्या तथा तत्तत् शास्त्रों के अनुष्ठान प्रकार, उनके देश, काल और कर्ता का विधान, स्वर-प्रतिगर व्यत्यास-प्रायश्चित्त आदि का विधान विशेष रूप से वर्णित है। नरसिंह के पुत्र गार्ग्य नारायण द्वारा की गई इस श्रौतसूत्र की व्याख्या नितांत प्रख्यात है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र में गृह्य कर्म और षोडश संस्कारों का वर्णन किया गया है। ऋग्वेदियों का गृह्यविधि के लिए यही गृह्यसूत्र विशेष लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है। इसकी व्यापकता का कुछ परिचय इसकी विपुल व्याख्या-संपत्ति से भी लगता है। इसके प्रख्यात टीकाग्रंथ ये मुख्य ये हैं— (१) अनाविला (हरदत्त द्वारा रचित, रचनाकाल १२०० ई० के आसपास), (२) दिवाकर के पुत्र नैध्रुवगोत्रीय नारायण द्वारा रचित वृत्ति (११०० ई०), (३) देवस्वामीरचित गृह्यभाष्य (११वीं सदी का पूर्वार्ध), (४) जयंतस्वामीरचित विमलोदयमाला (८वीं सदी का अंत)। आश्वलायनगृह्य का अनेक ग्रंथकारों ने कारिका के रूप में निबद्ध किया है जो 'आश्वलायन गृह्यकारिका' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे ग्रंथकारों में कुमारिल स्वामी (कुमारस्वामी ?), रघुनाथ दीक्षित तथा गोपाल भट्ट हैं। इस गृह्यसूत्र के प्रयोग, पद्धति तथा परिशिष्ट के विषय में भी अनेक ग्रंथों का समय समय पर निर्माण किया गया है। कुमारिल की गृह्यकारिका में आश्वलायनगृह्य की नारायणवृत्ति तथा जयंतस्वामी का निर्देश उपलब्ध होता है। 'आश्वलायनधर्मसूत्र' (२२ अध्यायों में विभक्त) अभी तक अप्रकाशित है। 'आश्वलायनस्मृति' के भी अभी तक हस्तलेख ही उपलब्ध हैं। यह ११ अध्यायों में विभक्त और लगभग २,००० पद्योंवाला ग्रंथ है जिसके उद्धरण हेमाद्रि तथा माधवाचार्य ने अपने ग्रंथों में दिए हैं।

सं० ग्रं०—बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और संस्कृति (काशी), पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, प्रथम खंड (पूना)। (ब० उ०)

आसंदीवत उत्तर वैदिककाल का एक प्रसिद्ध नगर जो पश्चात्कालीन कुरुओं की राजधानी था। प्रधान और प्रथम कुरुराज परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में अत्यंत श्लाघनीय रूप में हुआ है। परीक्षित की राजधानी आसंदीवत बताया गया है। इस संबंध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है कि पहली राजधानी आसंदीवत थी या हस्तिनापुर। एक परंपरा के अनुसार कुरुओं की राजधानी पहले आसंदीवत होनी चाहिए। कुरु पंचाल दो निकटवर्ती क्षत्रिय शाखाएँ थीं जिनमें से पंचाल गंगा यमुना के द्वाब में रहते थे और उनकी राजधानी कांपिल्य या कंपिला थी। (भ्रा० ना० उ०)

आसज्जा (रेडीनेस) 'आसज्जा' शब्द का प्रयोग साधारणतया सिद्धता के अर्थ में किया जाता है। इसका अनुमान मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धिपरीक्षाओं के आधार पर किया है। किसी भी कार्य का आरंभ करने के लिये यह आवश्यक माना गया है कि उसकी परीक्षा करके देख लिया जाय कि वह अमुक कार्य करने के लिये उपयुक्त है। उसके लिये यह आवश्यक है कि बौद्धिक स्तर मालूम किया जाय, उसके पिछले कार्यों का फल जान लिया जाय, स्वास्थ्य तथा उसका सामाजिक और भाषा संबंधी ज्ञान नाप लिया जाय।

बालकों के पढ़ने की आसज्जा पर मनोवैज्ञानिकों ने विशेष कार्य किया है। अमरीका में गेट्स तथा वेड ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस अध्ययन का प्रयोग बालकों की प्रारंभिक शिक्षा तथा सामग्री को उचित रूप देने में किया गया है। जो लड़के पढ़ने लिखने में असफल रहे हैं उनकी शिक्षा दीक्षा में इसके द्वारा विशेष लाभ हुआ है। 'पारस्परिक ऐंड रमेडिअल टीचिंग' के विषय में इस देश में भी कुछ कार्य हो रहा है तथा कई स्थानों पर विषयों के अध्ययन की आसज्जा से संबंधित परीक्षाएँ प्रमाणित की जा रही हैं। इस प्रकार की एक परीक्षा राजकीय सेंट्रल पेडागॉजिकल इंस्टिट्यूट में हिंदी के संबंध में चलाई गई है। (श० ना० उ०)

आसन (बैठना, बैठने का आधार, बैठने की विशेष प्रक्रिया) पातंजल योगदर्शन में विहित अष्टांगयोग में इस क्रिया का स्थान तृतीय एवं गोरक्षनाथादि द्वारा प्रवर्तित षडंगयोग में प्रथम है। चित्त की स्थिरता, शरीर एवं उसके अंगों की दृढ़ता और कायिक सुख के लिये इस क्रिया का विधान मिलता है। विभिन्न ग्रंथों में आसन के लक्षण हैं—उच्च स्वास्थ्य की प्राप्ति, शरीर के अंगों की दृढ़ता, प्राणायामादि उत्तरवर्ती साधनक्रमों में सहायता, स्थिरता, सुखदायित्व आदि। पतंजलि ने स्थिरता और सुख को लक्षणों के रूप में माना है। प्रयत्नशैथिल्य और परमात्मा में मन लगाने से इसकी सिद्धि बतलाई गई है। इसके सिद्ध होने पर द्वंद्वों का प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। किंतु पतंजलि ने आसन के भेदों का उल्लेख नहीं किया। उनके व्याख्याताओं ने अनेक भेदों का उल्लेख (जैसे—पद्मासन, भद्रासन आदि) किया है। इन आसनों का वर्णन लगभग सभी भारतीय साधनात्मक साहित्य में मिलता है। अहिर्बुध्न्य, वैखानस जैसी संहिताओं तथा पांचरात्र जैसे वैष्णव ग्रंथों में एवं हठयोगप्रदीपिका, घेरंडसंहिता,

शिवसंहिता जैसे हठयोगी शैव ग्रंथों एवं तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में भी इनके वर्णन मिलते हैं। इनकी संख्या कहीं कहीं १,६०० तक कही जाती है जिनमें ३२ प्रधान हैं। इनमें मुख्य हैं भद्र, स्वस्तिक, पर्यंक, कमल, मयूर, वीर, सिंह, मुंड, शव, त्रिना, वज्र आदि आसन। इनमें से अनेक आसनों को भिन्न भिन्न संप्रदायों ने अपनी अपनी पद्धति और मुख्य विचारधारा एवं सिद्धांत के आग्रह से छोड़ दिया है। जैसे नाथसाधन में मुंडासन, चितासन, शिवासन आदि स्वीकृत नहीं हैं। कहीं कहीं आसन का प्रतीकार्थ भी ग्रहण किया गया है, जैसे, नाथों के अनुसार मध्यभूमि सुषुम्ना की अद्वयभूमि में आसन लगाना ही वास्तविक आसन है। कहीं कहीं दिव्याचारपरक प्रतीकात्मक अर्थनिरूपण भी आसनों का मिलता है, जैसे शवासन का विशेष अर्थ है शवीकृत अपनी देह के ऊपर देहस्थ चैतन्य का अधिष्ठान। यहाँ अधिष्ठाता चैतन्य ही आसीन होता है। तांत्रिक ब्रह्मांडीय साधन के विस्तृत विवेचन के प्रकरण में एकमुंडी, त्रिमुंडी, पंचमुंडी, नवमुंडी आदि आसनों का भी व्याख्यान मिलता है। इस क्रम में साधनक्रम की विविध अवस्थाओं का भी प्रकाशन है। भक्तिवादी साधक आसनों को प्रायः निरर्थक मानते हैं।

कामशास्त्र के अनुसार रतिक्रिया में प्रयुक्त आसनों का कामसिद्धि में महत्व है। उनकी संख्या भी ८४ है, किंतु उनके नामों तथा प्रकारों में बहुत भेद मिलता है।

बैठने की प्रक्रिया के अलावा बैठने के आधार को भी आसन कहते हैं और इनका भी यौगिक साधन में महत्व है। गीता में 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' आसन को ध्यान का साधक बतलाया गया है। अर्थशास्त्र में आसन शब्द पारिभाषिक है। जब दो राजा एक दूसरे का बल देखकर अपना बल बढ़ाते हुए चुपचाप अवसर की ताक में बैठे रहते हैं उस अवस्था को भी आसन कहा गया है। यह आसन राजा के षड्गुणों में से एक गुण है।

सं० ग्रं०—योगसूत्र (व्यासभाष्य), हठयोगप्रदीपिका, रतिरहस्य, भगवद्गीता, वरिवस्यारहस्य, शुक्रनीति। (रा० पा०, ना० ना० उ०)

आसनसोल पश्चिमी बंगाल राज्य के वर्धमान जिले में आसनसोल नाम का उपविभाग तथा इसी नाम का एक प्रमुख नगर है। (स्थिति २३° ४१′ उ० अ० एवं ८६° ५८′ पू० दे०) कलकत्ता से १३२ मील उत्तर पश्चिम में स्थित यह नगर पूर्वी रेलवे की प्रमुख लाइन ग्रैंड कार्ड तथा आसनसोल-खड़गपुर-लाइन का बड़ा जंक्शन है। बिहार बंगाल के कोयले के क्षेत्र में स्थित होने एवं बड़ा जंक्शन होने के कारण यह कोयले के व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र हो गया है। जमशेदपुर-आसनसोल-क्षेत्र लौह, इस्पात, प्रमुख रासायनिक उद्योगों एवं अन्य संबद्ध उद्योगों के लिये भारत में सर्वप्रमुख हो गया है। दामोदर द्रोणी (बेसिन) में आसनसोल सबसे बड़ा नगर है। (का० ना० सिं०)

आसफउद्दौला (शासनकाल १५७५-१५९८), अवध का नवाब वजीर शुजाउद्दौला और उम्मतुल जोहरा का ज्येष्ठ पुत्र। पिता ने पुत्र को शिक्षित तथा सुसंस्कृत बनाने में संपूर्ण प्रयत्न किए, किंतु वह प्रकृति से विलासी और आमोदप्रिय निकल गया। गद्दीनशीन होते ही उसने अनुभवी पदाधिकारियों को पदच्युत कर अपने कृपापात्रों को पदासीन कर दिया, जिससे शासन की दुरवस्था प्रारंभ हो गई। अपनी माता के अनुशासन से बचने के लिये उसने राजधानी फैजाबाद से लखनऊ स्थानांतरित कर दी, जिसे उसने पूरे मनोयोग से सँवारा, और शीघ्र ही लखनऊ अवध की कला और संस्कृति का प्रमुख केंद्र बन गया। किंतु दरबारी कुमंत्रणाओं को और अधिक छूट मिलने लगी। उसने अपनी शक्ति और उत्तरदायित्व पहले अपने प्रथम मंत्री मुर्तजा खाँ, जिसकी हत्या कर दी गई, और फिर अपने चौथे मंत्री हैदरअली बेग को, जो वारेन हेस्टिंग्ज के पूर्ण प्रभाव में था, अर्पित कर दी। नवाब का ईस्ट इंडिया कंपनी से संपर्क तथा तज्जनित परिणाम उसके शासनकाल की विशिष्ट घटना थी। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज का अवध की बेगमों के साथ दुर्व्यवहार इतिहासप्रसिद्ध है, विशेष रूप से इसलिये भी कि हेस्टिंग्ज के इस अनैतिक आचरण की उस समय ब्रिटिश पार्लमेंट में बड़ी कटु आलोचना हुई। अपने दुर्व्यसनों के कारण आसफउद्दौला पर ईस्ट इंडिया कंपनी का ऋण चढ़ गया। उधर कंपनी की आर्थिक दशा भी संकटाकीर्ण हो गई। अस्तु, हेस्टिंग्ज ने कंपनी की आर्थिक दशा सुधारने के लिये बेगमों से उनका निजी धन हस्तगत करने का निश्चय किया। इसके लिये इकरारनाम के विरुद्ध उसने आसफउद्दौला को बेगमों का अतिरिक्त धन अपहृत करने के लिये विवश किया तथा बेगमों और उनके नौकरों के साथ घृणित व्यवहार किया। सामर्थ्यहीन नवाब के शासन में हेस्टिंग्ज के विस्तृत हस्तक्षेप के फलस्वरूप तथा परोक्ष और अपरोक्ष रूप में अंग्रेजी प्रभुत्व और अंग्रेज साहसिकों के आधिक्य के कारण शासकीय अव्यवस्था और भी विश्रृंखल हो गई। किंतु आसफउद्दौला ने निस्संदेह संस्कृति, साहित्य तथा कला को, विशेष रूप से स्थापत्य को, अमित प्रोत्साहन दिया। लखनऊ को साजसज्जा ने दिल्ली को भी मात कर दिया। उसने प्रायः ४०० उद्यान तथा अनेक इमारतों का निर्माण किया जिनमें बड़ा इमामबाड़ा प्रमुख है। उसकी उदारता 'जिसको न दे मौला, उसको दे आसफउद्दौला' के कथन के रूप में जनस्मृति का अंश बन गई, यद्यपि वह दयाशीलता की भावना से उत्पन्न न होकर उसकी अहंमन्यता, सनकीपन तथा फिजूलखर्ची का ही परिचायक थी। (रा० ना०)

आसफ खाँ प्रथम अकबर बादशाह की सेना में उच्चपदस्थ अधिकारी। इनकी उपाधि 'अब्दुल मजीद' थी। सन् १५६५ ई० में इन्होंने नर्मदा तटवर्ती गढ़कोट (बुंदेलखंड) पर आक्रमण किया। गढ़कोट की तत्कालीन रानी दुर्गावती ने ससैन्य इनका मुकाबला किया। किंतु आसफ खाँ की कूटनीति के कारण रानी की हार हुई। आसफ खाँ ने योजना बनाई कि रानी को जीवित बंदी बना लिया जाय पर असम्मान के भय से रानी दुर्गावती ने तलवार से स्वयं अपनी गर्दन काट डाली। आसफ खाँ ने रानी की संपत्ति एवं धनराशि को अकेले हड़पने की चेष्टा की लेकिन भेद खुल गया और आसफ खाँ को विद्रोह करना पड़ा। बाद में इन्होंने चित्तौड़ पर विजय प्राप्त की और इसके उपलक्ष्य में इन्हें वहाँ जागीर मिली। (कैं० चं० श०)

आसफ खाँ द्वितीय मिर्जा बदीउज्जमाँ के पुत्र थे और इनका जन्म काजवीन् नामक स्थान पर हुआ था। इनका असल नाम मिर्जा जाफरबेग था और लोग इन्हें अलिफ खाँ भी कहते थे। सन् १५७७ ई० में ये अपने मामा के पास भारत आए। इनके मामा अकबर के वजीर थे और उनकी उपाधि आसफ खाँ थी। मामा की सिफारिश पर अकबर ने इनकी नियुक्ति 'बख्शी' के पद पर कर दी। मामा की मृत्यु के पश्चात् इन्हें आसफ खाँ की उपाधि मिल गई। ये कवि भी थे और सुपंडित भी। मुल्ला अहमद के मरने पर अकबर के आदेश से इन्होंने 'तारीख अलफी' नामक इतिहास ग्रंथ लिखा। १५९८ ई० में अकबर ने इन्हें 'वजीरे आला' (प्रधान मंत्री) बना दिया। जहाँगीर के शासनकाल में भी इन्हें पर्याप्त सम्मान मिला। 'शीरीं या खुसरो' नामक उत्कृष्ट काव्य की रचना इन्होंने ही की। १६१२ ई० में इनका देहावसान हो गया। (कैं० चं० श०)

आसफ खाँ तृतीय नूरजहाँ के भाई और वजीर एतमादउद्दौला के पुत्र। इनका असल नाम अब्दुल हसन था और 'आसफ खाँ' के अतिरिक्त इन्हें 'एतकाद खाँ' तथा 'अमीनुद्दौला' इत्यादि उपाधियाँ भी मिली थीं। सन् १६२१ में एतमादउद्दौला के मरने पर शहंशाह जहाँगीर ने आसफ खाँ को वजीर नियुक्त किया। इनकी पुत्री बेगम अर्जुमंद बानो या मुमताज महल का विवाह शाहजहाँ से हुआ था। इनके शाइस्ता खाँ, मिर्जा मसीह, मिर्जा हुसेन तथा शाहनवाज खाँ नाम के चार पुत्र थे। सन् १६४१ ई० में आसफ खाँ की मृत्यु हो गई और इन्हें लाहौर के समीप रावीतट पर दफना दिया गया। (कैं० चं० श०)

आसफ खाँ चतुर्थ ग्याका मुल्लाँद के पुत्र और आसफ खाँ जफरबेग के चाचा। शहंशाह अकबर के शासनकाल में यह 'बख्शी' पद पर नियुक्त हुए। सन् १५७३ ई० में इन्होंने गुजरात पर विजय प्राप्त की जिसके उपलक्ष्य में इन्हें 'अब्बास खाँ' की उपाधि से विभूषित किया गया। १५८१ ई० में इनका देहावसान हो गया। (कैं० चं० श०)

आसव द्र० 'आयुर्वेद'।

आसवन आजकल आसवन शब्द पुराने अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। भभके में वाष्पवान् द्रव्य को उड़ाना और उड़ी हुई भाप को ठंढा करके फिर चुआ लेना, यह सबकी सब प्रक्रिया आसवन

कहलाती है। श्रासवन का उद्देश्य किसी वाष्पवान् अंश को अन्य अवाष्पवान् अंशों से पृथक् कर लेना है। विभिन्न क्वथनांकवाले वाष्पवान् द्रव्य इस विधि द्वारा एक दूसरे से पृथक् किए जा सकते हैं। पुराने समय में आसवन की इस विधि का उपयोग केवल आसवों अर्थात् मदिरा के समान पेय तैयार करने में किया जाता था, पर आजकल आसवन द्वारा अनेक रासायनिक द्रव्यों का शोधन किया जाता है। आसवन की एक साधारण परिभाषा यह है कि विलयन में से विलायक को भाप बनाकर उड़ाना और फिर उसे संघनित कर लेना। इस परिभाषा के भीतर साधारण आसवन और प्रभाजित आसवन, दोनों सम्मिलित हैं। आसवन से मिलती जुलती एक विधि का नाम ऊर्ध्वपातन है। ऊर्ध्वपातन में वाष्पवान् ठोस पदार्थ भभके में गरम करके उड़ाया जाता है और फिर उस भाप को ठंढा करके ठोस शुद्ध पदार्थ प्राप्त कर लिया जाता है।

लोकसाहित्य में "आसव" शब्द सुरा या मदिरा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। द्राक्षासव, उशीरासव आदि आसव आयुर्वेद ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं। सौत्रामणी के प्रकरण में आसुता सुरा का सबसे पुराना उल्लेख यजुर्वेद के १९वें अध्याय में मिलता है। सुराधानी कुंभी वह पात्र था जिसमें तैयार की हुई सुरा रखी जाती थी। अंकुर निकले हुए धान और जौ से सुरा बनाने में सोंठ, पुनर्नवा, पिप्पली आदि ओषधियों का प्रयोग किया जाता था। लगभग तीन रात तक ये पदार्थ पानी में सड़ते रहते थे और फिर उबाल और छानकर सुरा तैयार की जाती थी।

प्रकृति में आसवन का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण समुद्र के खारे पानी में से पानी की भाप का उठना, फिर भाप का वायुमंडल के ठंढे भाग में पहुँचकर ठंढा होना और शुद्ध जल के रूप में बरसना है। वर्षा का जल एक प्रकार से शुद्ध आसुत जल है, परंतु बरसते समय यह साधारण वायुमंडल से अपद्रव्य का शोषण कर लेता है।

प्रयोगशालाओं और कारखानों में आसवन के निमित्त जिस उपकरण का प्रयोग किया जाता है उसके मुख्यतया तीन अंग होते हैं (१) भभका, (२) संघनित्र और (३) ग्राही। भभके में वह मिश्रण रखा जाता है जिसमें से वाष्पवान् अंश पृथक् करना रहता है। ये भभके उपयोगानुसार काच, ताँबे, लोहे अथवा मिट्टी के बने होते हैं। शराब बनाने के कारखानों में बहुधा ताँबे के बने भभकों का प्रयोग होता है और प्रयोगशालाओं में काँच के भभकों का। भभके के नीचे भट्ठी या गरम करने के निमित्त किसी उपयोगी साधन का प्रयोग किया जाता है। भभके में से उड़ी हुई भाप संघनित्र में पहुँचती है। संघनित्र अनेक प्रकार के प्रचलित हैं। सभी संघनित्रों का उद्देश्य यह होता है कि भाप शीघ्र से शीघ्र और भली भाँति ठंढी हो जाय। यह आवश्यक है कि संघनित्र में अधिक से अधिक पृष्ठ उस हवा या पानी के संपर्क में आए जिसके द्वारा भाप को ठंढा होना है। ताँबा गरमी का अच्छा चालक है। इसकी नलिकाएँ (पाइप) यथेष्ट पतली बन सकती हैं, अतः कारखानों में अधिकतर ताँबे के ही संघनित्रों का व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः संघनित्र वह उपकरण है जिसमें गरम भाप एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचते पहुँचते ठंढी हो जाय। ठंढा करने का यह कार्य हवा अथवा पानी से लिया जाता है। जिन द्रव्यों के क्वथनांक बहुत ऊँचे हैं, उनकी भाप हवा से ठंढी की जा सकती है। इसके लिये वायुसंघनित्र काम में लाए जाते हैं। ऐल्कोहल, बेंजीन, ईथर आदि द्रवों की भापों को ठंढा करने के लिये ऐसे संघनित्रों का प्रयोग होता है जिनमें पानी के प्रवाह का प्रबंध हो। आसवन उपकरण का तीसरा अंग ग्राही है। यह वह पात्र है जिसमें भाप के ठंढा हो जाने पर बना हुआ द्रव इकट्ठा किया जा सके। ग्राही भी सुविधानुसार अनेक प्रकार के होते हैं।

तीन प्रकार के आसवन महत्वपूर्ण माने जाते हैं—प्रभाजित आसवन, निर्वात आसवन और भंजक आसवन। प्रभाजित आसवन द्वारा विलयन, अर्थात् मिश्रण, में से उन द्रवों को पृथक् किया जा सकता है जिनके क्वथनांक पर्याप्त भिन्न हों। द्रवों का वाष्प प्रभाजित आसवन के संघनित्रों में इस प्रकार क्रमशः ठंढा किया जा सकता है कि ग्राही में पहले वे द्रव ही चूएँ जो सापेक्षतः अधिक वाष्पवान् हों। इस काम के लिये जिन भभकों का उपयोग किया जाता है उनमें ताप धीरे धीरे बढ़ता है।

निर्वात आसवन के लिये ऐसा प्रबंध किया जाता है कि भभके और संघनित्र के भीतर की वायु पंप द्वारा बहुत कुछ निकल जाय। विलयन के ऊपर वायु की दाब कम होने पर विलायकों का क्वथनांक भी कम हो जाता है और वे सापेक्षतः अति न्यून ताप पर ही आसवित किए जा सकते हैं।
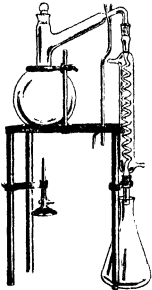
प्रभंजक आसवन एक प्रकार का शुष्क आसवन होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण कोयले का आसवन है। पत्थर के कोयले में पानी का अंश तो कम ही होता है, पर जब वह अधिक तप्त किया जाता है तो उसके प्रभंजन (टूटने) द्वारा अनेक पदार्थ बनते हैं जिन्हें भाप बनाकर उड़ाया और फिर ठंढा करके ठोस या द्रव किया जा सकता है। प्रभंजन में कुछ ऐसी भी गैसें बन सकती हैं जो ठंढी होने पर द्रव या ठोस तो न बनें, पर गैस रूप में ही जिनकी उपयोगिता हो, उदाहरणतः, संभव है, इन गैसों का उपयोग हवा के साथ जलाकर प्रकाश अथवा उष्मा पैदा करने में किया जा सकता हो। पत्थर के कोयले से प्रभंजक आसवन से इस प्रकार की गैसों के अतिरिक्त क्रियोज़ोट, नैफ्थैलीन आदि पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं। मिट्टी के तेल का भी प्रभंजक आसवन किया जा सकता है।

साधारण आसवन का उपयोग इत्र तैयार करने में भी किया जाता है। (**इत्र, ऐल्कोहल** आदि शीर्षक लेख भी इस संबंध में देखिए)। इत्र तैयार करने में भाप, आसवन का प्रयोग किया जाता है। पानी की भाप के साथ साथ इत्र उड़ाए जाते हैं और
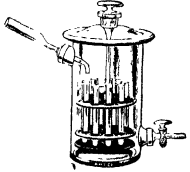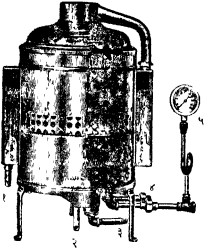
संघनित्र और ग्राही

ऊपर, प्रयोगशाला के लिये उपयुक्त संघनित्र, मध्य में, ऐसा जो तीन चार गैलन जल प्रति घंटा आसवित कर सकता है [१. ठंढा करनेवाले जल की निकासी, २ स्रुत जल की निकासी, ३ गैस (ईंधन) आने की नली, ४ जल आने की नली, ५. भाप-दाब-मापी]; नीचे, प्रभाजित आसवन के लिये उपयुक्त ग्राही।

संघनित्र मे ठंढा करके पानी और इत्र का मिश्रण ग्राही में प्राप्त किया जाता है।

सं०ग्रं० '—थॉर्प की "डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री", इंटर सायंस एन्साइक्लोपीडिया, न्यूयार्क, द्वारा प्रकाशित, "एन्साइक्लोपीडिया ऑव केमिकल टेक्नॉलोजी"। (स० प्र०)

आसाम अथवा असम, गणतंत्र भारत का एक राज्य है जो चतुर्दिक् सुरम्य पर्वतश्रेणियों से घिरा है और देश की पूर्वोत्तर सीमा (२४° १' उ० अ०—२७° ५५' उ० अ० तथा ८९° ४४' पू० दे०—९६° २' पू० दे०) पर स्थित है। संपूर्ण राज्य का क्षेत्रफल ७८,४६६ वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या १,४६,२५,१५२ (१९७१) है। कुल जनसंख्या का लगभग ९१ प्रति शत ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नगरीय जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है (१५ प्रति शत १९५१ से ९ प्रति शत १९७१)। स्त्रियों की संख्या प्रति १,००० पुरुषों पर ८९५ है। साधारणत जनबसाव असमान है। पूरे प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व १८६ प्रति वर्ग कि० मी० है जबकि उत्तरी कछार तथा मिकिर हिल जनपदों में घनत्व क्रमश १६ और ३७ ही है। इसके विपरीत नौगाँव, कामरूप तथा कछार के मैदानी जनपदों में घनत्व क्रमश ३०२ २९९ तथा २४६ है। आसाम को लेकर प्राय यह भ्रांति फैली हुई है कि इस राज्य में परिगणित जातियों की प्रधानता है जबकि परिगणित जातियाँ एवं जनजातियों की जनसंख्या कुल जनसंख्या की लगभग २० प्रति शत ही है। हिंदुओं की जनसंख्या लगभग ७२ ५ प्रति शत तथा मुसलमान २४ ५ प्रति शत है। ग्वालपाडा, नौगाँव तथा कछार जनपदों में मुस्लिम जनसंख्या क्रमश ४२, ३९ तथा ४० प्रति शत है। १९७१ की जनगणना के अनुसार इस प्रांत में कुल ६२ नगर हैं जिनमें एकमात्र गौहाटी ही ऐसा नगर है जिसकी जनसंख्या एक लाख से अधिक (२,००,३७७) है। डिब्रूगढ (८०,३४८) तथा जोरहाट (७०,६७४) क्रमश दूसरे तथा तीसरे स्थान पर हैं। अन्य प्रमुख नगर नौगाँव (५६,५३७), सिलचर (५२,५९६), पाडु (४७,९५४), धुबरी (४५,५८९), तेजपुर (३९,८७०) तथा करीमगंज (३१,६१८) आदि है। गौहाटी तथा डिब्रूगढ मे विश्वविद्यालय है। इस राज्य की राजधानी पहले शिलांग थी पर मेघालय के अलग राज्य बन जाने के कारण १९७३ में गौहाटी के उपनगरीय क्षेत्र में स्थित दिसपुर ग्राम में नई राजधानी स्थापित की जा रही है।

विशेषज्ञों के अनुसार आसाम नाम काफी परवर्ती है। पहले इस राज्य को असम कहा जाता था। इस नामकरण के विषय में भी दो मत है—१ असम =बेजोड तथा २ असम =असमान भौम्याकृतिवाला। कुछ लोग इस नाम की व्युत्पत्ति अहोम (सीमावर्ती बर्मा की एक शासक जनजाति) से भी बताते है। आसाम राज्य में पहले मणिपुर को छोडकर बँगलादेश के पूर्व में स्थित भारत का संपूर्ण क्षेत्र सम्मिलित था तथा उक्त नाम विषम भौम्याकृति के संदर्भ में अधिक उपयुक्त प्रतीत होता था क्योंकि हिमालय की नवीन मोडदार उच्च पर्वतश्रेणियों तथा पुराकैंब्रियन युग के प्राचीन भूखंडों सहित नदी (ब्रह्मपुत्र) निर्मित समतल उपजाऊ मैदान तक इसमें आते थे। परंतु विभिन्न क्षेत्रों की अपनी अपनी संस्कृति आदि पर आधारित अलग अस्तित्व की माँगों के परिणामस्वरूप वर्तमान आसाम राज्य का लगभग ७२ प्रति शत क्षेत्र ब्रह्मपुत्र की घाटी (असम घाटी) तक सीमित रह गया है जो पहले लगभग ४० प्रति शत मात्र ही था। इसके वर्तमान स्वरूप के निर्धारण में प्रयुक्त प्रमुख ऐतिहासिक एवं प्रशासनिक तथ्यों का ब्यौरा निम्न है

१ १८२६ ई० मे प्रथम युद्धोपरांत ब्रिटिश संरक्षण मे आया,
२. १८३२ ई० में कछार का मिलाया जाना,
३. १८३५ ई० में जयंतिया क्षेत्र का मिलाया जाना,
४ १८७४ ई०, ब्रिटिश साम्राज्य में मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) के अधीन प्रांत के रूप में बनाया जाना,
५ १९०५ ई०, बंग विच्छेद तथा लेफ्टिनेंट गवर्नर का प्रशासन,
६ १९१५ ई०, पुन मुख्य आयुक्त का प्रशासन,
७. १९२१ ई० से गवर्नर के प्रशासन में;
८. १९४७ ई०, भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति एवं विभाजन के परिणामस्वरूप मुस्लिम बहुल सिलहट क्षेत्र का पाकिस्तान में विलयन,
९ १९५१ ई०, देवनगिरि का भूटान में विलयन,
१० १९५७ ई०, नागालैंड का केंद्रशासित क्षेत्र घोषित होना जो १९६२ में अलग राज्य घोषित किया गया,
११ १९६९ ई०, गारो तथा संयुक्त खासी जयंतिया जनपदों का मेघालय राज्य के रूप में घोषित होना,
१२ १९७२ ई०, मिजो जनपद का मिजोरम नाम से केंद्रशासित प्रदेश घोषित होना,
१३ हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र (कामेंग), सुबनसिरी, सियांग, लोहित तथा तिरप का अरुणाचल प्रदेश के रूप में अस्तित्व में आना।

इस प्रकार वर्तमान आसाम राज्य का प्रशासन नौ जनपदों (ग्वालपाडा, कामरूप, दरंग, नौगाँव, शिवसागर, लखीमपुर, मिकिर हिल, नार्थ कछार हिल तथा कछार) तथा १०२ आरक्षी क्षेत्रों (पुलिस स्टेशनों) तक ही सीमित रह गया है। इस राज्य के उत्तर में अरुणाचल प्रदेश, पूर्व में नागालैंड तथा मणिपुर, दक्षिण में मिजोरम तथा मेघालय एवं पूर्व में बँगलादेश स्थित है।

भू आकृति के अनुसार इस राज्य को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है १ उत्तरी मैदान अथवा ब्रह्मपुत्र का मैदान जो कि संपूर्ण उत्तरी भाग में फैला हुआ है। इसकी ढाल बहुत ही कम है जिसके कारण प्राय यह ब्रह्मपुत्र की बाढ से आक्रांत रहता है। यह नदी इस समतल मैदान को दो असमान भागों में विभक्त करती है जिसमें उत्तरी भाग हिमालय से आनेवाली लगभग समानांतर नदियों, सुबनसिरी आदि, से काफी कट फट गया है। दक्षिणी भाग अपेक्षाकृत कम चौडा है। गौहाटी के समीप ब्रह्मपुत्र मेघालय की पहाडियों के अत्यधिक निकट हो गई है, यहाँ तक कि इन पहाडी चट्टानों का क्रम नदी के उत्तरी कगार पर भी दिखाई पडता है। बूढी दिहिंग, धनसिरी तथा कपिली इस भाग की प्रमुख नदियाँ है। धनसिरी तथा कपिली ने अपने निकासवर्ती अपरदन की प्रक्रिया द्वारा मिकिर तथा रेंग्मा पहाडियों को मेघालय की पहाडियों से लगभग अलग कर दिया है। संपूर्ण घाटी पूर्व में ३० मी० से पश्चिम में १३० मी० की ऊँचाई तक स्थित है जिसकी औसत ढाल १२ सें० मी० प्रति कि० मी० है। नदियों का मार्ग प्राय सर्पिल है।

२ मिकिर तथा उत्तरी कछार का पहाडी क्षेत्र भौम्याकृति की दृष्टि से एक जटिल तथा कटा फटा प्रदेश है और आसाम घाटी के दक्षिण में स्थित है। इसका उत्तरी छोर अपेक्षाकृत अधिक ढलवाँ है।

३ कछार का मैदान अथवा सूरमा घाटी जलोढ अवसाद द्वारा निर्मित एक समतल उपजाऊ मैदान है जो राज्य के दक्षिणी भाग में स्थित है। वास्तव में इसे बंगाल डेल्टा का पूर्वी छोर ही कहा जा सकता है। उत्तर में डौकी भ्रंश इसकी सीमा बनाता है।

नदियाँ—इस राज्य की प्रमुख नदी ब्रह्मपुत्र (तिब्बत की सांपो) है जो लगभग पूर्व पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हुई धुबरी के निकट बँगलादेश में प्रविष्ट हो जाती है। प्रवाहक्षेत्र के कम ढलवाँ होने के कारण नदी शाखाओं में विभक्त हो जाती है तथा नदीस्थित द्वीपों का निर्माण करती है जिनमें मजुली (९२९ वर्ग कि०मी०) विश्व का सबसे बड़ा नदी स्थित द्वीप है। वर्षाकाल में नदी का जलमार्ग कहीं कहीं आठ कि०मी० तक चौडा हो जाता है तथा झील जैसा प्रतीत होता है। इस नदी की ३५ प्रमुख सहायक नदियाँ है। सुबनसिरी, भरेली, धनसिरी, पगलादिया, मानस तथा सकोश आदि दाहिनी ओर से तथा लोहित, नवदिहिंग, बूढी दिहिंग, दिसांग, कपिली, दिगारू आदि बाईं ओर से मिलनेवाली प्रमुख नदियाँ है। ये नदियाँ इतना जल तथा मलबा अपने साथ लाती है कि मुख्य नदी ग्वालपाडा के समीप ५० लाख क्यूसेक्स जल का निस्सारण करती है। ब्रह्मपुत्र की ही भाँति सुबनसिरी आदि भी मुख्य हिमालय (हिमाद्रि) के उत्तर से आती है तथा पूर्वगामी प्रवाह का उदाहरण प्रस्तुत करती है। पर्वतीय क्षेत्र में इनके मार्ग में खड्ड तथा प्रपात भी पाए जाते है। दक्षिण में सूरमा ही उल्लेख्य नदी है जो अपनी सहायक नदियों के साथ कछार जनपद में प्रवाहित होती है।

भौमिकीय दृष्टि से आसाम राज्य मे अति प्राचीन दलाश्म (नीस) तथा सुभाजा (शिस्ट) निर्मित मध्यवर्ती भूभाग (मिकिर तथा उत्तरी कछार) मे लेकर तृतीय युग की जलोढ चट्टानें भी भूतल पर विद्यमान है। प्राचीन चट्टानों की पर्तें उत्तर की ओर क्रमश पतली होती गई है तथा तृतीयक चट्टानों से ढकी हुई है जिनमे नागाकाश्म (न्युमुलिटिक) स्तर तथा कोयलायुक्त चट्टानें प्रमुख है। ये चट्टानें प्राय हिमालय की तरह के भंजों से रहित है। उत्तर में ये क्षैतिज है पर दक्षिण में इनका झुकाव (डिप) दक्षिण की ओर हो गया है।

भूकंप तथा बाढ आसाम की दो प्रमुख समस्याएँ है। बाढ से प्राय प्रति वर्ष ८ से १० करोड रुपए के माल की क्षति होती है। १९६६ की बाढ से लगभग १६,००० वर्ग कि०मी० क्षेत्र जलप्लावित हुआ था। स्थल खंड के अपेक्षाकृत नवीन होने तथा चट्टानी स्तरों के अस्थायित्व के कारण इस राज्य मे भूकप की संभावना अधिक रहती है। १८९७ का भूकंप, जिसकी नाभि गारो खासी की पहाडियो मे थी, यहाँ का सबसे बडा भूकप माना जाता है। रेल लाइनो का उखडना, भूस्खलन, नदी मार्गावरोध तथा परिवर्तन आदि क्रियाएँ बडे पैमाने पर हुई थी और लगभग १०,५५० व्यक्ति मर गए थे। अन्य प्रमुख भूकप क्रमश १८६९, १८८८, १९३०, १९३४ तथा १९५० मे आए।

जलवायु——सामान्यतया आसाम राज्य की जलवायु, भारत के अन्य भागों की भाँति, मानसूनी है पर कुछ स्थानीय विशेषताएँ इसम विशेषतापरक अवश्य दृष्टिगोचर होती है। प्राय पाँच कारक इसे प्रभावित करते है १ उच्चावच, २ पश्चिमोत्तर भारत तथा बगाल की खाडी पर सामयिक परिवर्तनशील दवाव की पेटियाँ, तथा उनका उत्तरी एव पूर्वोत्तरीय सामयिक दोलन, ३ उष्णकटिबधीय समुद्री हवाएँ, ४ सामयिक पश्चिमी चक्रवातीय हवाएँ तथा ५ पर्वत एव घाटी की स्थानीय हवाएँ। गगा के मैदान की भाति यहाँ ग्रीष्म की भीषणता का अनुभव नही होता क्योकि प्राय बूँदाबाँदी तथा वर्षा हो जाया करती है। कोहरा, बिजली की चमक दमक तथा धूल के तूफान प्राय आते रहते है। वर्ष म ६०–७० दिन कोहरा तथा ८०–११५ दिन बिजली की कडकडाहट अनुभव की जाती है। औसत वार्षिक वर्षा २०० सें०मी० होती है पर मध्य भाग (गोहाटी, तेजपुर) मे यह मात्रा १०० सें०मी० से भी कम होती है जबकि पूर्व एव पश्चिम मे कही १,००० सें०मी० तक भी वर्षा होती है। सापेक्ष आर्द्रता वर्ष भर अधिक रहती है (९० प्रति शत)। जाडे का औसत तापमान १२.८° सें०ग्रे० तथा ग्रीष्म का औसत तापमान २३° सें०ग्रे० रहता है। अधिकतम तापमान वर्षा ऋतु के अगस्त महीने मे रहता है (२७.१७° सें० ग्रे०)।

भूमि——काँप तथा लैटराइट इस राज्य की प्रमुख मिट्टियाँ है जो क्रमश मैदानी भागो तथा पहाडी क्षेत्रों के ढालो पर पाई जाती है। नई काँप मिट्टी नदियो के बाढ क्षेत्र मे पाई जाती है तथा धान, जूट, दाल एव तिलहन के लिये अधिक उपयुक्त है। यह प्राय उदासीन प्रकृति की होती है। बाढेतर प्रदेश की बागर मिट्टी प्राय अम्लीय होती है। यह गन्ना फल, धान के लिये अधिक उपयुक्त है। पर्वतीय क्षेत्र का लैटराइट मिट्टी अपेक्षाकृत अनुपजाऊ होती है। चाय की कृषि के अतिरिक्त ये क्षेत्र प्राय वनाच्छादित हैं।

खनिज——तृतीय युग का कोयला तथा खनिज तेल इस प्रदेश की मुख्य सपदाएँ है। खनिज तेल का अनुमानित संचित भाडार ४५० लाख टन है जो पूरे भारत का लगभग ५० प्रति शत है तथा प्रमुखतया ब्रह्मपुत्र की ऊपरी घाटी मे डिगबोई, नहरकटिया, मोरान, लकवा, टियोक आदि के चतुर्दिक् प्राप्य है। राज्य के दक्षिणपूर्वी छोर पर लेडो नजीरा के निकट कोयले का भाडार है। अनुमानित भाडार ३३ करोड टन है। उत्पादन क्रमश कम होता जा रहा है (१९६३ मे ५७७,००० टन, १९६५ में ५,४१ ००० टन)। फायर क्ले, गृह-निर्माण-योग्य पत्थर आदि अन्य खनिज है।

कृषि——असम एक कृषिप्रधान देश है। १९७०–७१ मे कुल (मिजोरमयुक्त) लगभग २५,५०,०००, हेक्टेयर भूमि (कुल क्षेत्रफल का लगभग १/३) कृषिकार्य के अतर्गत थी। कृषियोग्य कुल भूमि का ९० प्रति शत मैदानी भाग मे है। धान (१९७१) कुल भूमि (कृषियोग्य) के ७२ प्रति शत क्षेत्र मे पैदा किया जाता है (२०,००,००० हेक्टेयर) तथा उत्पादन २०,१९,००० टन होता है। अन्य फसलें (क्षेत्रफल १,००० हेक्टेयर म) इस प्रकार है——गेहूँ २१, दालें ७९, सरसों तथा अन्य तिलहन १३९। कुल कृषिभूमि का ७० प्रति शत खाद्य फसलों के उत्पादन मे लगा है। इतना होते हुए भी प्रति व्यक्ति कृषिभूमि का औसत ०.५ एकड (०.२ हेक्टेयर) ही है। विभिन्न साधनों द्वारा भूमि को सुधारने के उपरात कृषि क्षेत्र को पाँच प्रति शत बढाया जा सकता है।

अन्य उत्पादन——चाय, जूट तथा गन्ना यहाँ की प्रमुख औद्योगिक तथा धनद फसलें है। चाय की कृषि के अतर्गत लगभग ६५ प्रति शत कृषिगत भूमि सम्मिलित है। आसाम के आर्थिक तत्र मे इसका विशेष हाथ है। लखीमपुर, शिवसागर तथा दरग मे ८० प्रति शत चायक्षेत्र स्थित है। भारत की छोटी बडी ७,१०० टी इस्टेट मे से लगभग ७०० आसाम मे ही स्थित है। १९७० ई० मे कुल २,००,००० हेक्टेयर क्षेत्र मे चाय के बाग थे जिनसे लगभग २१.५ करोड कि०ग्रा० (१९७०) चाय तैयार की गई। इस उद्योग मे प्रति दिन ३,७९,,७८१ मजदूर लगे है, जिनमे अधिकाश उत्तर बिहार तथा पूर्वोत्तर उत्तर प्रदेश के है। जूट लगभग छह प्रति शत कृषियोग्य भूमि मे उगाई जाती है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह अधिक महत्वपूर्ण है। आसाम घाटी के पूर्वी भाग तथा दरग जनपद इसके प्रमुख क्षेत्र है। १९७० ई० मे यहाँ की नदियो मे से २६.५ हजार टन मछलियाँ भी पकडी गई।

सिंचाई——वर्षा की अधिकता के कारण सिंचाई की व्यवस्था व्यापक रूप से लागू नही की जा सकी, केवल छोटी छोटी योजनाएँ ही कार्यान्वित की गई है। कुल कृषिगत भूमि का मात्र २२ प्रति शत ही सिंचित है। १९६४ मे प्रारभ की गई जमुना सिंचाई योजना (दीफू के निकट) इस राज्य की सबसे बडी योजना है जिससे लगभग २६,००० हेक्टेयर भूमि की सिंचाई की जाने का अनुमान है। नहरों की कुल लबाई १२७.१५ कि०मी० रहेगी।

विद्युत्——राज्य के प्रमुख शक्ति-उत्पादक-केंद्र (क्षमता तथा स्वरूप के साथ) ये है——गोहाटी (तापविद्युत्) ३२,५०० किलोवाट, नामरूप (तापविद्युत्) लखीमपुर मे नहरकटिया से २० कि०मी०, २३,००० किलोवाट का प्रथम चरण १९६५ मे पूर्ण। ३०,००० किलोवाट का दूसरा चरण १९७२–७३ तक पूर्ण। जलविद्युत् केंद्रों मे उमियम प्रमुख है (पूरी क्षमता ७२,००० किलोवाट)।

पशु——१९६६ की गणना के अनुसार राज्य मे (मिजोरमयुक्त) पशुओं की संख्या लगभग ८४६ लाख थी, जिनमे गायें ६१ लाख, भैंस ५.५ लाख, बकरी १४.६ लाख थी। इनसे १,६२,००० टन दूध तथा ८,००० टन मास का उत्पादन किया गया।

उद्योग——आसाम के आर्थिक तत्र मे उद्योग धधों म, विशेष रूप से कृषि पर आधारित, तथा खनिज तेल का महत्वपूर्ण योगदान है। गौहाटी तथा डिब्रूगढ दो स्थान इसके मुख्य केंद्र है। कछार का सिलचर नगर तीसरा प्रमुख औद्योगिक केंद्र है। चाय उद्योग के अतिरिक्त वस्त्रोद्योग (शोनघाट, जूट तथा जागीरोड सिल्क) भी यहाँ उन्नत है। हाल ही मे एक कपडा मिल गौहाटी मे स्थापित की गई है। एरी, मूगा तथा पाट आसाम के उत्कृष्ट वस्त्रों मे है। तेलशोधक कारखाने डिगबोई (पाँच लाख टन प्रति वर्ष) तथा नूनमाटी (७.५ लाख टन प्रति वर्ष) मे है। उर्वरक केंद्र नामरूप मे है जहाँ प्रति वर्ष २,७५,००० टन यूरिया तथा ७,०५,००० टन अमोनिया का उत्पादन किया जाता है। चोरा मे सीमेंट का कारखाना है जहाँ प्रति वर्ष ५४,००० टन सीमेंट का उत्पादन होता है। इनके अतिरिक्त वनो पर आधारित अनेक उद्योग धधे प्राय सभी नगरो मे चल रहे है। धुबरी की हार्डबोर्ड फैक्टरी तथा गौहाटी का खैर तथा आगर तेल विशेष उल्लेखनीय हैं।

यातायात——आवागमन तथा यातायात के साधनों के सुव्यवस्थित विकास मे इस प्रदेश के उच्चावचन तथा नदियों का विशेष महत्व है। आसाम घाटी उत्तरी तथा दक्षिणी भाग को स्वतत्र भारत मे एक दूसरे से जोड

दिया गया है। गौहाटी के निकट यह संपूर्ण ब्रह्मपुत्र घाटी का एक मात्र सेतु है। १९६६ में रेलमार्गों की कुल लंबाई ५,८२७ कि०मी० थी (३,३३४ कि०मी० साइडिंग के साथ)। धुबरी, गौहाटी, लामडिंग, सिलचर आदि रेलमार्ग द्वारा मिले हुए हैं। राजमार्ग कुल २०,६७८ कि०मी० है जिसमें राष्ट्रीय मार्ग २,६३८ कि० मी० (१९६८) है। यहाँ जलमार्गों का विशेष महत्व है और ये अति प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण रहे हैं। नौका-वहन-योग्य नदियों की लंबाई ३,२६१ कि०मी० है जिसमें १६५३ कि०मी० मार्ग स्टीमर चलने योग्य है तथा वर्ष भर उपयोग में लाए जा सकते हैं। शेष मात्र मानसून के दिनों में ही काम लायक रहते हैं।

भाषा—आसाम की राज्यभाषा संस्कृतमिश्रित 'असमी' है जो बहुत कुछ बँगला के समान है। इसमें कुछ तिब्बती एवं बर्मी भाषा के भी शब्द सम्मिलित हैं। भाषा प्राचीन है तथा १५वीं शताब्दी की इस भाषा के कई ग्रंथ उपलब्ध हैं। (कै० ना० मि०)

आसाम की जातियाँ—आसाम की आदिम जातियाँ संभवत भारत चीनी जत्थे के विभिन्न अंश हैं। भारत चीनी जत्थे की जातियाँ कई समूहों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम खासी है जो आदिकाल में उत्तर पूर्व से आए हुए निवासियों के अवशेष मात्र हैं। दूसरे समूह के अंतर्गत दिमासा (अथवा पहाड़ी कचारी), बोदो (या मैदानी कचारी), रामा कारो, लालूंग तथा पूर्वी उपहिमालय में दफ्ला, मिरी, अबोर, अप्पाटानी तथा मिश्मी जातियाँ हैं। तीसरा समूह लुशाई, आका तथा कुकी जातियों का है, जो दक्षिण से आकर बसी हैं तथा मैनपुरी और नागा जातियों में मिल गई हैं। कचारी, रामा तथा बोदो हिमालय के ऊँचे घास के मैदानों में निवास करते हैं। कोच, जो मंगोल जाति के हैं, आसाम के निचले भागों में रहते हैं। गोआलपाड़ा में ये राजवंशी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सालोई कामरूप की प्रसिद्ध जाति है। नदियाल या डोम यहाँ की मछली मारनेवाली जाति है। नवशाखा जाति के सदस्य तेली, ग्वाला, नापित (नाई), बरई, कुम्हार तथा कमार (लोहार) हैं। आधुनिक युग में यहाँ पर चाय के बाग में काम करनेवाले बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा अन्य प्रांतों से आए हुए कुलियों की संख्या प्रमुख हो गई है। (कै० ना० सि०, न० ला०)

आसिलोग्राफ अथवा दोलनलेखी एक प्रकार का यंत्र है जिसकी सहायता से ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। इस यंत्र में ऐसी व्यवस्था है कि ध्वनि तरंगे, विद्युत् तरंगों में बदल जाती हैं। इन विद्युत् तरंगों का बिंब इस यंत्र में लगे पर्दे पर दिखलाई पड़ता है। इस बिंब का चित्र लिया जा सकता है तथा उस चित्र का अध्ययन कर ध्वनि की विभिन्न विशेषताओं, यथा—ध्वनि के उच्चारण में लगा हुआ समय, घोषत्व, सुर, गहनता, ध्वनितरंगों की प्रकृति (नियमितता, अनियमितता) आदि का पता लगाया जा सकता है।

आसिलोग्राफ के पर्दे पर बिंबित विद्युत् तरंगों के चित्र को आसिलोग्राम अथवा दोलनलेख कहा जाता है। (विशेष द्र० ऋणाग्र किरण दोलन-लेखी)। (स० कु० रो०)

आसिलोग्राम आसिलोग्राफ पर बिंबित विद्युत् तरंगों के चित्र को आसिलोग्राम कहते हैं। इसकी सहायता से ध्वनितरंगों की कई विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है। द्र० 'आसिलोग्राफ'। (स० कु० रो०)

आसीर पश्चिमी अरब का एक प्रदेश है जो १७° ३१' से २१° ०' उ० अ० तक तथा ४०° ३०' से ४५° ०' पू० दे० तक फैला हुआ है। इसके उत्तर में हेजाज, पश्चिम में लाल समुद्र, दक्षिण में यमन तथा पूर्व में नेज्द प्रदेश है। इस प्रदेश के दो भाग किए जा सकते हैं। पहला तो समुद्रतटीय मैदान, जो लगभग २५ मील चौड़ा है। इसकी पूर्वी सीमा पर भूमि धीरे धीरे पहाड़ों में परिणत हो जाती है। दूसरा पठार, जो इन पहाड़ों से आरंभ होकर नेज्द प्रदेश तक चला गया है। आसीर की लंबाई लगभग २३० मील और चौड़ाई १८० मील है।

इस प्रदेश के मुख्य बंदरगाह जिजान और मैदी हैं। जिजान समुद्रतटीय मैदान की, जिसे तिहामा कहते हैं, राजधानी है और पर्वतीय प्रदेश की राजधानी आभा है। पठार के पूर्वी भाग में बिशा, रान्या और तुराबा नामक घाटियाँ हैं जो घनी बसी हैं। पश्चिमी भाग की मुख्य घाटियों में खामिस मुशैत तथा बादी शहरों हैं। पहाड़ों के निवासी स्वतंत्रताप्रेमी तथा कष्टसहिष्णु हैं। ये इस्लाम धर्म के वहाबी संप्रदाय के कट्टर अनुयायी हैं। पूर्वी भाग में कहतान नाम की जाति बसती है जिसका मुख्य निवास रान्या की घाटी है।

सन् १९१८ ई० के पूर्व यह प्रदेश तुर्की के अधिकार में था, यद्यपि पहाड़ी भागों के लोग प्राय स्वतंत्र थे। सन् १९२६ ई० में यह वहाबी संरक्षकता में आ गया और अंत में १९३३ में यह सऊदी अरब के राज्य में मिला लिया गया। एक वर्ष पश्चात् यमन और सऊदी अरब में युद्ध आरंभ हो गया जिसका अंत तैफ की संधि से हुआ। इस संधि के अनुसार नजरा के मरूद्यान सहित आसीर प्रदेश सऊदी अरब का एक भाग हो गया। (न० कि० प्र० सिं०)

आसेन ईवर (१८१३-९६) नार्वे के भाषावैज्ञानिक, जन्म सैडमोर (नार्वे) में। वहाँ के लोकजीवन, साहित्य और गीतों का ईवर ने गहरा अध्ययन किया था। उसी लोकभाषा को कुछ हेर फेर कर एक नई लोकभाषा को इन्होंने जन्म दिया जो अत्यंत लोकप्रिय हुई। बाद में सभी लोकजीवन पर लिखनेवाले विद्वानों ने इसी को अपनाया। कुछ उत्साही वर्ग इसी को राजभाषा बनाने के पक्ष में थे। साहित्य के इतिहास में आसेन ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने एक ऐसी नवीन भाषा का निर्माण किया जो इतनी जनप्रिय भी हुई। (स० च०)

आस्टिन यह टेक्सास की राजधानी तथा प्रमुख नगर है। यह हाउस्टन से ७६ मील उत्तर पूर्व में, ५०२ फुट से ७०० फुट तक की ऊँचाई पर, कोलोरैडो नदी के किनारे बसा है। इसके पश्चिम में ऊँची पहाड़ियाँ हैं जो पूरब की तरफ ढालुआँ हैं। यह राष्ट्रीय सड़क पर पड़ता है तथा यहाँ से मोटरों, बसों और ट्रकों से चारों ओर जाने के साधन हैं। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। यह कृषिक्षेत्र में पड़ता है जहाँ अनाज, कपास, चारा, पशुओं को खिलाए जानेवाले अनाज, फल तथा सब्जी की खेती होती है और गाय, भेड़, बकरी और कुक्कुट पाले जाते हैं।

आस्टिन थोक व्यापार तथा उद्योग धंधों का एक प्रमुख व्यावसायिक केंद्र है। यहाँ माल को डब्बे में बंद करना, चूना पत्थर खोदना, मकानों के लिये बने पत्थर, ईंट और खपड़े, लकड़ी के सामान, कंक्रीट के पाइप, डीजल इंजन, खाने के तथा चमड़े के सामान इत्यादि प्रमुख व्यवसाय हैं। यहाँ शिक्षा तथा आमोद प्रमोद की सुविधाएँ हैं। इस शताब्दी के शुरू से इस नगर ने बहुत प्रगति की है। इसकी जनसंख्या १९६० में १,८६,५४५ थी। (नृ० कु० सि०)

आस्टिन, जॉन एक अंग्रेज न्यायज्ञ, जन्म ३ मार्च, सन् १७९० ई० को इंग्लैंड के इप्सविच नामक स्थान में, माता पिता के ज्येष्ठ पुत्र। जॉन सेना में भरती हुए और सन् १८१२ ई० तक वहाँ रहे। फिर सन् १८१८ ई० में वकील हुए और नारफोक सरकिट में प्रवेश किया।

जॉन ने सन् १८२५ ई० में वकालत छोड़ दी। उसके बाद लंदन विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर वह न्यायशास्त्र के शिक्षक नियुक्त हुए। विधिशिक्षा की जर्मन प्रणाली का अध्ययन करने के लिये वह जर्मनी गए। वह अपने समय के बड़े बड़े विचारकों के संपर्क में आए जिनमें सविग्नी, मिटरमायर एवं श्लेगल भी थे। आस्टिन के विख्यात शिष्यों में जॉन स्टुअर्ट मिल थे। सन् १८३२ ई० में उन्होंने अपनी पुस्तक 'प्राविंस ऑव जूरिसप्रुडेन्स डिटरमिंड' प्रकाशित की। सन् १८३४ ई० में आस्टिन ने इनर टेंपिल में न्यायशास्त्र के साधारण सिद्धांत एवं अंतरराष्ट्रीय विधि पर व्याख्यान दिए। दिसंबर, सन् १८५९ ई० में अपने निवासस्थान वेब्रिज में मरे।

आस्टिन ने एक ऐसे संप्रदाय की स्थापना की जो बाद में विश्लेषणीय संप्रदाय कहा जाने लगा। उनकी विधि संबंधी धारणा को कोई भी नाम दिया जाय, वह निस्संदेह विशुद्ध विधि विधान के प्रवर्तक थे। आस्टिन का मत था कि राजनीतिक सत्ता कुलीन या संपत्तिमान् व्यक्तियों के हाथों

मे पूर्णतया सुरक्षित रहती है। उनका विचार था कि संपत्ति के अभाव मे बुद्धि और ज्ञान अकेले राजनीतिक क्षमता नही दे सकते। आस्टिन के मूल प्रकाशित व्याख्यान प्राय भूले जा चुके थे जब सर हेनरी मेन ने, इनर टेंपिल मे न्यायशास्त्र पर दिए गए अपने व्याख्यानो से उनके प्रति पुन अभिरुचि पैदा की। मेन इस विचार के पोषक थे कि आस्टिन की देन के ही फलस्वरूप विधि का दार्शनिक रूप प्रकट हुआ, क्योकि आस्टिन ने विधि तथा नीति के भेद को पहचाना था और उन मनोभावो को समझाने का प्रयास किया था जिनपर कर्तव्य, अधिकार, स्वतत्रता, क्षति दड और प्रतिकार की धारणाएँ आधारित थी। आस्टिन ने राजसत्ता के सिद्धात को भी जन्म दिया तथा वस्त्वधिकार और व्यक्तिगत अधिकार के अतर को समझाया। (बा० मु०)

आस्टिन, जेन अग्रेजी कथासाहित्य मे आस्टिन का विशिष्ट स्थान है। इनका जन्म सन् १७७५ ई० मे इग्लैड के स्टिवेंटन नामक छोटे से गाँव मे हुआ था। माँ बाप के सात बच्चो मे ये सबसे छोटी थी। इनका प्राय सारा जीवन ग्रामीण क्षेत्र के शात वातावरण मे ही बीता। सन् १८१७ मे इनकी मृत्यु हुई। प्राइड ऐड प्रेजुडिस, सेस ऐड सेसिबिलिटी, मार्दैंजर, अबी, एमा, मैसफील्ड पार्क तथा पर्सुएशन इनके छह मुख्य उपन्यास है। कुछ छोटी मोटी रचनाएँ वाट्सस, लेडी सूसन, सैडिशन और लव ऐड फ्रेडशिप उनकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद सन् १९२२ और १९२७ के बीच छपी।

जेन आस्टिन के उपन्यासो मे हमे १८वी शताब्दी की साहित्यिक परपरा की अतिम झलक मिलती है। विचार एव भावक्षेत्र मे सयम और नियत्रण, जिनपर हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का सतुलन निर्भर करता है, इस क्लासिकल परपरा की विशेषताएँ थी। ठीक इसी समय अग्रेजी साहित्य मे इस परपरा के विरुद्ध रोमानी प्रतिक्रिया बल पकड रही थी। लेकिन जेन आस्टिन के उपन्यासो मे उसका लेशमात्र भी सकेत नही मिलता। फ्रास की राज्यक्राति के प्रति भी, जिसका प्रभाव इस युग के अधिकाश लेखको की रचनाओ मे परिलक्षित होता है, ये सर्वथा उदासीन रही। इग्लैड के ग्रामीण क्षेत्र मे साधारण ढग से जीवनयापन करते हुए कुछ इने गिने परिवारो की दिनचर्या ही उनके लिये पर्याप्त थी। दैनिक जीवन के साधारण कार्यकलाप, जिन्हे हम कोई महत्व नही देते, उनके उपन्यासो की आधारभूमि है। असाधारण या प्रभावोत्पादक घटनाओ का उनमे कतई समावेश नही।

जेन आस्टिन की रचनाएँ कोरी भावुकता पर मधुर व्यग्य से ओतप्रोत हैं। स्त्री-पुरुष-सबध उनके उपन्यासो का केंद्रबिंदु है, लेकिन प्रेम का विस्फोटक रूप वे कही भी नही प्रदर्शित करती। उनके नारी पात्रो का दृष्टिकोण इस विषय मे पूर्णतया व्यावहारिक है। उनके अनुसार प्रेम की स्वाभाविक परिणति विवाह एव सुखी दापत्य जीवन मे ही है।

शिक्षा देने या समाजसुधार की प्रवृत्ति जेन आस्टिन मे बिलकुल नही थी। अपने आसपास के साधारण जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति ही उनका ध्येय थी। अन्य दृष्टिकोणो से भी उनका क्षेत्र सीमित था। फिर भी उनके उपन्यासो मे मानव जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियो का व्यापक दिग्दर्शन मिलता है। कला एव रूपविधान की दृष्टि से भी उनके उपन्यास उच्च कोटि के है।

स०ग्र०--डेविड सेसिल, लॉर्ड जन आस्टिन, कॉर्निश, फ्रासिस वारेन जेन आस्टिन (इग्लिश मेन ऑव लेटर्स सीरीज), स्मिथ, गोल्डविन लाइफ ऑव जेन आस्टिन, सीमूर, बीट्रिस कीन जेन आस्टिन, स्टडी फार ए पोर्ट्रेट, लैसेल्स, मेरी. जेन आस्टिन ऐड हर आर्ट।
(नृ० ना० मि०)

आस्ट्राखाँ यूरोपीय रूस का एक नगर जो वोल्गा नदी के बाएँ किनारे, डेल्टा के सिरे पर, समुद्रतल से ५० फुट नीचे बसा है (४६° २१' उ० अ० ४८° ६' पू० दे०)। साल मे तीन से लेकर चार महीने तक यहाँ का पानी जमकर बर्फ हो जाता है। यह कैस्पियन सागर पर स्थित बदरगाह तथा ताब्रीज से रेलवे द्वारा सबद्ध है। ताब्रीज यहा से दक्षिण पश्चिम मे १४५ मील दूर है। आस्ट्राखाँ का मुख्य निर्यात मछली (कैवियर), तरबूजा तथा शराब है। अनाज, नमक, धातु, कपास तथा ऊनी सामान भी बाहर भेजा जाता है। भेडो के नवजात मेमनो के चमडे, जिन्हे इस नगर के नाम पर आस्ट्राखाँ कहते है, यहाँ से निर्यात किए जाते है। शहर तीन भागो मे विभाजित है (१) 'क्रेम्ल' या पहाडी किला, जहाँ ईंटो का एक कथीड्रल (गिरजाघर) है, (२) 'ह्वाइट टाउन', जिसमे प्रशासकीय आफिस तथा बाजार है और (३) उपनगरो, जिसमे लकडी के मकान तथा टेढे मेढे रास्ते है। १९१९ ई० मे यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। यहाँ पर प्राविधिक विद्यालय, सग्रहालय, खुले स्थान तथा सर्वसाधारण के लिये उद्यान है। पहले यह नगर तातार राज्य की राजधानी था और वर्तमान स्थिति से सात मील उत्तर मे स्थित था, परतु तैमूर द्वारा १३९५ मे नष्ट किए जाने पर आधुनिक स्थान पर बसा। ईवान चतुर्थ ने तातारो को १५५६ ई० मे निष्कासित कर दिया। १८वी शताब्दी मे यह नगर ईरानियो द्वारा लूटा गया था। कई बार इस नगर मे भीषण आग लगी, १८३६ ई० मे हैजे द्वारा बडी क्षति हुई और १९२१ मे भयकर दुर्भिक्ष पडा। इसकी आबादी १९७० ई० मे ४,११,००० थी।
(नृ० कु० मि०)

आस्ट्रिक परिवार विश्व के १८ प्रमुख भाषापरिवारो मे से एक भाषापरिवार है। इस परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले आशिक रूप मे आस्ट्रेलिया, तस्मानिया, न्यूजीलैड, हिंदेशिया, कबोडिया, मैलेनेशिया, पॉलिनेशिया, मैडागास्कर (अफ्रीका के समीप), ईस्टर द्वीप (चिली के समीप), भारत आदि क्षेत्रो मे पाए जाते है। इस भाषापरिवार का भौगोलिक विस्तार अधिक है, किंतु बोलनेवालो की सापेक्षिक सख्या कम। इसे आग्नेय परिवार भी कहा जाता है। इसके अतर्गत अनेक भाषाएँ और सैकडो बोलियाँ पाई जाती है। कतिपय भाषाओ के साहित्य अत्यत प्राचीन है। मलय साहित्य १३वी शती तक का पाया जाता है। जावा मे ईसवी सन् के आरभ तक के लेख मिलते है। इस परिवार की भाषाओ को पाँच उपवर्गों मे विभाजित किया जाता है, यथा---(१) मलायाई या इडोनेशियाई वर्ग, (२) मलेनेशियाई वर्ग, (३) पोलिनेशियाई वर्ग, (४) पापुआई वर्ग, (५) आस्ट्रेलियाई वर्ग। प्रथम तीन को कतिपय विद्वान् सिर्फ मलय पालीनेशियाई नाम से सबोधित करते है। प्राचीन भारतीय उपनिवेश के कारण जावा, सुमात्रा, बाली की भाषाओ पर सस्कृत का अत्यधिक प्रभाव है। बर्मा, भारत मे बोली जानेवाली भाषाओ मे प्रमुख है, मोन, पलौग, वा, यगलम, दनव, खासी, निकोबारी, केरवारी, कुर्क, खडिया, जुआग, सवर, गदबा, सथाली (मुडारी), मुसिज, बिरहोड, कोडा, हो, तुरी, असुडा, अगरिआ, बिजिआ, कोरवा आदि। इन भाषाओ के बोलनेवाले भारत मे पश्चिम बगाल, बिहार के दक्षिणी भाग (छोटा नागपुर, सथाल परगना), उडीसा के जगली क्षेत्र, मध्य प्रदेश का पूर्वाचल, तमिलनाडु का गजाम जिला, नेपाल और उत्तर प्रदेश के मध्यवर्ती क्षेत्रो मे पाए जाते है। इस भाषापरिवार की विशेषताएँ इस प्रकार है---(१) भाषाएँ मूलत अश्लिष्ट योगात्मक है जिनकी आधुनिक प्रवृत्ति वियोगावस्था की ओर उन्मुख हो रही है। (२) धातुएँ प्राय दो अक्षरो (सिलेबुल) की होती है। (३) पदरचना के लिये आदि, मध्य और अत मे उपसर्ग एव प्रत्यय लगाए जाते है। (मो० ला० ति०)

आस्ट्रियन साहित्य जर्मन साहित्य से मूल का नाता होते हुए भी आस्ट्रियन साहित्य की निजी जातिगत विशेषताएँ है, जिनके निरूपण मे आस्ट्रिया की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियो के अतिरिक्त काउटर रिफर्मेशन (१६वी शताब्दी के प्रोटेस्टेट ईसाइयो के सुधारवादी आदोलन के विरुद्ध यूरोप मे ईसाई धर्म के कैथालिक सप्रदाय के पुनरुत्थान के लिये हुआ आदोलन) और पडोसी देशो से घनिष्ठ, किंतु विद्वेषपूर्ण सबधो का भी हाथ रहा। इसके साथ साथ आस्ट्रिया पर इतालीय तथा स्लेवी सस्कृतियो का भी गहरा प्रभाव पडा। फलस्वरूप यह देश एक अति अलकृत साहित्य एव सस्कृति का केंद्र बन गया।

काउटर रिफर्मेशन काल मे वीनीज जनता का राष्ट्रीय स्वभाव एवं मनोवृत्तियाँ सजग होकर निखर आई थी। इस नवचेतना ने आस्ट्रियाई

साहित्य के जर्मन चोले को उतार फेंका। भावुक, हास्यप्रिय एवं सौंदर्यप्रेमी वीनीज़ जनता प्रकृति, संगीत तथा सभी प्रकार की दर्शनीय भव्यता का पुजारी है। उसकी कलादृष्टि बहुत पैनी है। जीवन की दुःखदायी परिस्थितियों से वह दूर भागती है। उसके आकर्षण और तन्मयता के केंद्र हैं जीवन के सुखद राग रंग। आत्मा परमात्मा, जीवन मरण, लोक परलोक के गंभीर दार्शनिक विवेचन से वह विरक्त है। फिर भी वह अतिशयोक्ति से दूर रहकर समन्वय और संतुलन में आस्था रखती है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और उपरांत जीवन के प्रति यह घोर आसक्ति आस्ट्रिया के साहित्य में प्रवाहित थी, किंतु द्वितीय महायुद्ध ने उसे बहुत कुछ चकित और कुंठित कर दिया है। फिर भी आस्ट्रियाई साहित्य आज तक भी उदारमना और मानवतावादी है।

मध्ययुग में आस्ट्रिया के कैरिंथिया और स्टायर प्रदेशों में भजन और वीरकाव्य साहित्य में प्रमुख रहे। वीरकाव्य को विएना के राजदरबार में प्रश्रय मिला। किंतु काव्य दरबारी नहीं हुआ। मध्यकालीन राष्ट्रीय महाकाव्यों के निर्माण में आस्ट्रिया प्रमुख के साथ साथ स्टायर तथा टीरोल प्रदेशों ने भी विशेष योग दिया। वाल्तेयर फान डेयर फोगलवीड और नीथार्ट इस युग के महारथी महाकाव्यकार हुए। मध्ययुगीन महाकाव्य के काल को सम्राट् माक्सीमिलियन प्रथम (मृत्यु सन् १५१९ ई०) ने अनावश्यक रूप से विलंबित किया, यद्यपि साहित्य में मानवतावाद की चेतना जगाने का श्रेय भी उसी को है। मध्ययुग का अंत होते न होते आस्ट्रियाई साहित्य पर यथार्थवाद और व्यंग्य का भी रंग चढ़ने लगा था।

निरंतर धार्मिक संघर्षों, आतंरिक तथा विदेशी राजनीतिक कठिनाइयों के कारण आस्ट्रियाई साहित्य में निष्क्रियता के एक दीर्घयुग का सूत्रपात हुआ। तत्पश्चात् अलंकृत शैली के युग ने जन्म लिया जो दक्षिण जर्मनी की देन थी और जो साहित्य, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि सभी ललित कलाओं पर छा गई। धार्मिक क्षेत्र में यह जेसुइट्स की प्रभुता का युग था और राजनीतिक क्षेत्र में सम्राटों के कट्टर स्वेच्छाचारी शासन का काल। यह स्थिति स्पेन के प्रभाव के परिणामस्वरूप हुई। नाटक पर इतालीय प्रभाव पड़ा जो १९वीं शताब्दी तक रहा। इसी प्रभाव के कारण आस्ट्रियाई नाटक प्रथम बार अपने साहित्यिक रूप में उभरकर आया।

१८वीं शताब्दी के मध्य में आफक्लेयरुंग (ज्ञानोदय) आदोलन आस्ट्रिया में प्रविष्ट हुआ, जिसने उत्तरी और दक्षिणी जर्मनी के काउंटर रिफर्मेशन से चले आए साहित्यिक मतभेदों को कम किया। इस समन्वयवादी प्रवृत्ति का ऐतिहासिक प्रतिनिधि जोननफेल्स (सन् १७३३-१८१७ ई०) है, जिसके साहित्य में स्थायी तत्व का अभाव होते हुए भी उसकी सदाशयता महत्वपूर्ण है। इस आंदोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम सन् १७७६ ई० में 'बुर्ग थियेटर' की स्थापना है जिसका प्रसिद्ध नाटककार कौलिन हुआ।

आस्ट्रियाई साहित्य का स्वर्ण युग 'फारम्येर्ज' (रोमानी) आंदोलन से प्रारंभ हुआ जिसके प्रवर्तक श्लेगेल बंधु है। यह रोमानी आंदोलन अंग्रेजी तथा अन्यान्य यूरोपीय साहित्यों में बाद को शुरू हुआ। बानर्नफेल्ड, रैमंड, नैस्ट्राय, ग्रुइन, लेनाफ, स्टल्जहामर आदि इस युग के अन्य मान्य लेखक है। स्टिफतर (सन् १८६८ ई०) और विश्वविख्यात ग्रिलपार्जर (सन् १८७२ ई०) रोमानी युग तथा आनेवाले स्वाभाविक उदारतावादी युग को मिलानेवाली कड़ी थे। आस्ट्रिया में प्रवसित जर्मन हैबल, लाउबे, विल्ब्राड तथा आस्ट्रियाई क्विन ब्यर्गर, शीडलर, हामर्गलिंग, एबनेयर, रोशिनबाख, सार, राजेग्यर, आंजिनग्रूबर आदि स्वाभाविक उदारतावादी प्रवृत्ति के प्रमुख लेखक हुए।

आधुनिक आस्ट्रियाई साहित्य का प्रादुर्भाव नवरोमानी प्रवृत्ति को लेकर सन् १८८० ई० में हुआ। इस नवीन प्रवृत्ति का प्राबल्य सन् १९०० ई० तक ही रहा, किंतु इस युग ने सर्वतोमुखी प्रतिभासंपन्न महान् लेखक हेयरमान ब्हार को जन्म दिया।

सन् १९०० से १९१९ ई० तक यथार्थवाद तथा रोमांसवाद के समन्वय का युग रहा। सन् १९१९ ई० में अभिव्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्वोक्त तीनों प्रवृत्तियाँ समकालीन जर्मन साहित्य से प्रभावित थीं। किंतु आस्ट्रियाई यथार्थवाद सहज और सौम्य था, जर्मन यथार्थवादी होल्ज तथा श्लाफ के साहित्य की भाँति उग्र नहीं।

आस्ट्रियाई गीतिकाव्य के 'प्रौढ आधुनिक' कवियों में हयूगो हाफ़मासटाल सर्वश्रेष्ठ गीतिकार हुए। यह राइनलेंडर स्टीफन ग्याग (सन् १८०९-१९०४ ई०) प्रगीत उग्र यथार्थवाद के विरोधी स्कूल के प्रमुख कवि थे। आंग्ल कवि स्विनबर्न से इनकी तुलना की जा सकती है। दिन-प्रति-दिन के जीवन के प्रति आभिजात्यसुलभ उदासीनता जटिल असामान्य आध्यात्मिक तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये व्याकुल अधीरता और सूक्ष्म सौंदर्य की खोज इनके काव्य की विशेषताएँ है। यह भव्य कल्पना एवं संपन्न भाषा के धनी थे। अपनी शैली के यह राजा थे। सम्यक् दृष्टि से इनकी तुलना हिंदी के महान् कवि श्री सुमित्रानंदन पंत से की जा सकती है। इनसे प्रभावित गीतिकारों में स्टीफेन स्विग, ब्लाडीमीर, हार्टलीब, हांस फ्लूलर, अल्फ्रेड गुडवाल्ड, ओटोहासर, फेलिक्स ब्राउन, पाउल व्यर्टहाइमर, मार्क्स मैल और भावोन्मादी कवि आटोन वील्डगास सुप्रसिद्ध है।

अभिव्यक्तिवादी वर्ग के अल्बर्ट एहरेस्टीन, फ्राज व्यर्फल, ग्योर्ग, ट्राक्ल कार्ल शामलाइटनर, फेड्रिख श्रेफोगल आदि कवियों ने जहाँ छंदों के बंधनों और तर्क की कारा को तोड़ा, वहाँ समस्त विश्व और मानवता के प्रति अपने काव्य में असीम प्रेम को अभिव्यक्त किया, वाल्ट ह्विटमैन तथा फ्रांसीसी सर्वस्वीकृतिवादियों की भांति प्रबल व्यंग्यकार कवि कार्ल क्राउस, चित्रकार कवि एग्लि विर्नबाउम, श्रमिक कवि आलफोन्ज पेटशील्ड और पीटर आल्टेनबर्ग (जिसके लघु 'गीतगद्य' अनिर्वचनीय सौंदर्य तथा बालसुलभ बुद्धिमत्ता से ओतप्रोत है और जो अपने जीवन और कला में अत्यंत मौलिक भी है--'युगवाणी' के गीतगद्यकार पंत जी के समान ही) के काव्य वस्तुचिंतन में पूर्वोक्त कविसमूह से बहुत समानता मिलती है।

पूर्वोक्त वादों से स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले, किंतु पुराने रोमांसवादियों के अनुयायी कवियों में रिचर्ड श्रालिक, कार्ल फॉन लिंजके, रिचर्ड शाकल, धार्मिक कवयित्री गेनरिका, हाडिन साजटो, श्रीमती एरिका स्पान राइनिश और टिरोलीज कवि आर्थर वालपाख, कार्ल डोलागो तथा हाइनरिश शूलर्न महत्वपूर्ण है।

स्वाभाविकतावादी उपन्यासकारों में आर्थर श्नित्जलर (सन् १८६२-१९३१ ई०) तथा जैकब वासरमान (सन् १८७३-१९३४ ई०) अद्वितीय और अमर है। महानगरों का आधुनिक जीवन ही उनकी कथावस्तु है। किंतु जहा श्नित्जलर मात्र व्यक्तिगत समस्याओं का कलाकार था, वहाँ वासरमान सामाजिक प्रश्नों का भी चितेरा है।

आस्ट्रियाई उपन्यास का दूसरा चरण सन् १९०८ ई० में श्नित्जलर के विरोध में 'कलयार्ड' आंदोलन के रूप में उठा। इस वर्ग के उपन्यासकारों ने नगरों से अपनी दृष्टि हटाकर कस्बों और ग्रामों में रहनेवाले जनसाधारण पर केंद्रित की। स्टायर प्रांत का निवासी राडाल्फ हांस बार्टश इस नवीन दल का महान् उपन्यासकार हुआ। कविश्रेष्ठ हाफमासठाल के समान ही बार्टश भी प्रचुर कल्पना और भव्य शैली का स्वामी था, प्राकृतिक दृश्यों के शब्दचित्रांकन में तो यह उपन्यासकार आस्ट्रियाई साहित्य में अनुपम है।

घोर स्वाभाविकतावादियों के कारण आस्ट्रिया में ऐतिहासिक उपन्यास अनाथ रहा। परंतु प्रथम महायुद्ध से किंचित् पहले दार्शनिक लेखकद्वय, इर्विन कोलबनहेयर तथा एमिल लूका ने इस विषय पर अपनी अपनी लेखनी उठाई। विचारों की गहराई, जगमगाती चित्रात्मक शैली और कथावस्तु की कुशल संयोजना ने इनके ऐतिहासिक उपन्यासों को महान् साहित्य की कोटि में ला रखा है। जर्मन 'गाईस्ट' (राष्ट्रीय आत्मा) के ऐतिहासिक विकास पर एक सफल उपन्यासमाला होलबाउम ने लिखी।

प्रथम महायुद्ध तथा परवर्ती उपन्यासकार जीवन के प्रति क्लांत उदासीनता, उत्तेजक नकारात्मकता अथवा प्राणशक्ति की प्रबल स्वीकारोक्ति आदि विविध परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के पोषक है। धार्मिक, आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी विषय पुनः उपन्यास की कथावस्तु बन गए। आतंक तथा वेल्सवाद (प्रसिद्ध आंग्ल उपन्यासकार एच०जी० वेल्स की समस्त दुःखदोषों से मुक्त अति आदर्श मानव समाज की परिकल्पना) से पूर्ण उपन्यास भी रचे जाने लगे। ओट्टो सोयका, फ़ाज, स्पुडा, पाउल बूसोन आदि

उपन्यासकार इसी वर्ग के हैं। किंतु इसी युग मे रुडोल्फ क्रेउत्ज़ भी हुआ जिसने युद्ध के नितान विनाश तथा शाति का प्रतिपादन किया। इस दृष्टि से हम क्रेउत्ज़ को लियो ताल्स्ताय की परपरा का अति आधुनिक उपन्यासकार कह सकते है।

आस्ट्रियाई नाटक साहित्य मे दो दल स्पष्ट रहे। प्रथम तो स्वाभाविकतावादी श्नित्ज़लर का था, जिसके प्रधान उपकरण नवरोमासवाद अथवा हॉफमासठाल की नवालकृत शैली थे और जो उच्च तथा उच्च मध्यमवर्गीय समाज की शृंगारिक समस्याओं पर सुखद मनोरजक नाटक रचते थे। ब्हार, साल्टिन, मूलर, वर्टहाइमर, साइगफ्राइड, ट्रेबित्श और कुर्त फाइब्यगेर इसी दल के प्रतिष्ठित नाटककार हुए। दूसरा दल आदिम शक्तिमत्ता मे आस्था रखता था और अति यथार्थवादी नाटको की रचना करता था। इसके नेता कार्ल शूनहेयर हुए।

हाफमासठाल के नाटक 'प्रत्येक व्यक्ति' (सन् १९१२ ई०) से प्रभावित होकर नाटककार म्यल और ग्योर्ग ने मध्ययुगीन 'नैतिकतावादी' नाटक का पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया।

क्रूर स्वाभाविकतावाद के विरोधी वाइल्डगास के नाटक आनदिन अभिव्यक्तिवाद के जनक थे और यद्यपि युद्धपूर्वकाल मे प्रारभ हुए थे, तथापि आस्ट्रियन साम्राज्यवादी व्यवस्था का ह्रास होने के बाद भी युद्धोत्तर काल मे लोकप्रिय रहे। रचनाकार के अह को उच्चासीन करके वाइल्डगास ने आस्ट्रियाई नाटक को रूप-वस्तु-विषयक रूढियो की शृंखला से मुक्त कर दिया। व्यर्फल इस नवीन धारा के सबसे महान् मौलिक नाटककार स्वीकृत हुए। जिस 'बीन बुर्गथियाटर' ने जर्मन नाटकसाहित्य तथा मच कला का नेतृत्व किया, उसका प्रबल प्रतिद्वद्वी 'डेयर जोसफस्टाड' स्थित माक्स राइनहार्ड का थियेटर सिद्ध हुआ। राइनहार्ड के ही प्रयत्नो के फलस्वरूप आज साल्ज़बुर्ग मे वार्षिक नाटकोत्सव होता है जो आस्ट्रियाई साहित्य तथा सस्कृति का गौरव है। (का० च० सौ०)

आस्ट्रिया मध्य यूरोप के दक्षिणी पूर्वी भाग मे एक छोटा गणतात्रिक राज्य है। स्थिति १०° १' पू० से १६° ४०' पू० दे० तथा ४६° ३२' उ० से ४८° ५५' उ० अ० के बीच। क्षेत्रफल ३२,३६९ वर्ग मील (जिसमे ९२ ३ प्रति शत भूमि पर्वतीय है), जनसख्या ७०,७३,८०७ (१९६१)।

देश के उत्तर मे जर्मनी तथा चेकोस्लोवाकिया, दक्षिण मे यूगोस्लाविया तथा इटली, पूर्व मे हगरी और पश्चिम मे स्विट्ज़रलैंड के देश हैं।

आस्ट्रिया मे पूर्वी आल्प्स की श्रेणियाँ फैली हुई है। इस पर्वतीय देश का पश्चिमी भाग विशेष पहाडी है जिसमे ओट्जलरस्टुवाई, जिलरतुल आल्प्स (१,२४६ फुट) आदि पहाडियाँ है। पूर्वी भाग की पहाडियाँ अधिक ऊँची नही है। देश के उत्तर पूर्वी भाग मे डैन्यूब नदी पश्चिम से पूर्व को (२१७ मील लबी) बहती है। ईन, द्रवा आदि देश की सारी नदियाँ डैन्यूब की सहायक है। उत्तरी पश्चिमी सीमा पर स्थित कान्स्टैंस, दक्षिण पूर्व मे स्थित न्यूडिलर तथा अतर अत्फ गैग, आसे आदि झीलें देश की प्राकृतिक शोभा बढाती है।

आस्ट्रिया की जलवायु विषम है। यहाँ गर्मियो मे कुछ अधिक गर्मी तथा जाडो मे अधिक ठढक पडती है। यहाँ पछुआ तथा उत्तर पश्चिमी हवाओं से वर्षा होती है। आल्प्स की ढालो पर पर्याप्त तथा मध्यवर्ती भागो मे कम पानी बरसता है।

यहाँ की वनस्पति तथा पशु मध्य यूरोपीय जाति के है। यहाँ देश के ३८ प्रति शत भाग मे जगल है जिनमे ७१ प्रति शत चीड जाति के, १९ प्रति शत पतझडवाले तथा १० प्रति शत मिश्रित जगल है। आल्प्स के भागो मे स्प्रूस (एक प्रकार का चीड) तथा देवदारु के वृक्ष तथा निचले भागो मे चीड, देवदारु तथा महोगनी आदि जगली वृक्ष पाए जाते है। ऐसा कहा जाता है कि आस्ट्रिया का प्रत्येक दूसरा वृक्ष सरो है। इन जगलो मे हिरन, खरगोश, रीछ आदि जगली जानवर पाए जाते है। १९६६ मे यहाँ ढोरो की सख्या २४,१७,९३०, सुअर ३१,९६,४७४, भेड १,२१,१९०, बकरियाँ ६९,३९९, घोडे ५२,६४२ तथा मुर्ग मुर्गियाँ १,१५,४२,८४३ थी।

देश की सपूर्ण भूमि के २८ प्रति शत पर कृषि होती है तथा ३० प्रति शत पर चरागाह है। जगल देश की बहुत बडी सपत्ति है, जो शेष भूमि को घेरे हुए है। लकडी निर्यात करनेवाले देशो मे आस्ट्रिया का स्थान छठा है।

इर्जबर्ग पहाड के आसपास लोहे तथा कोयले की खाने है। शक्ति के साधनो मे जलविद्युत् ही प्रधान है। खनिज तैल भी निकाला जाता है।
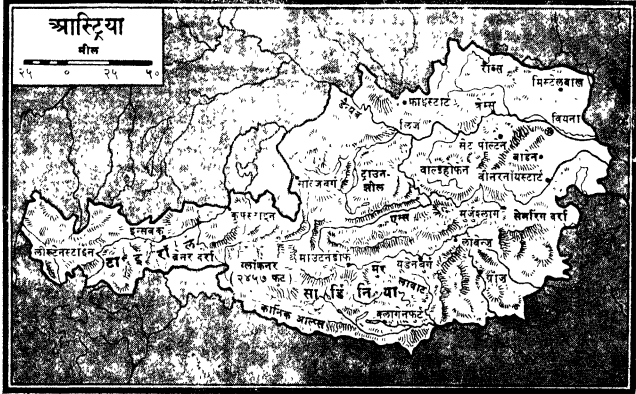
आस्ट्रिया के कुछ प्रसिद्ध स्थान

ऊपर बाईं ओर : वैडगैस्टाइन नामक नगर की एक सडक, ऊपर दाहिनी ओर : "बर्ग थियेटर" नामक प्रसिद्ध नाट्यशाला का एक गलियारा, नीचे बाईं ओर : वियेना मे सम्राट के प्रासाद का प्रागण, नीचे दाहिनी ओर : क्रिसमस का दृश्य : वियेना की नगर-महाशाला (टाउनहॉल) के सामने का खुला स्थान (आस्ट्रिया के दूतावास के सौजन्य से) ।
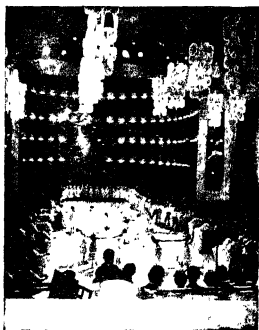
ग्रास्ट्रिया के कुछ दृश्य

ऊपर बाईं ग्रोर विियेना की राज्य-संगीत-नाट्यशाला, ऊपर दाहिनी ग्रोर ग्रपने राष्ट्रीय पहिनावे मे ग्रास्ट्रिया के किसान, नीचे बाईं ग्रोर : वियेना की राज्य-सगीत-नाट्यशाला का गोष्ठी-कक्ष, नीचे दाहिनी ग्रोर लीसन घाटी (ग्रास्ट्रिया के दूतावास के सौजन्य से)।

यहाँ नमक, ग्रैफाइट तथा मैगनेसाइट पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। मैगनेसाइट तथा ग्रैफाइट के उत्पादन मे आस्ट्रिया का ससार मे क्रमानुसार दूसरा तथा चौथा स्थान है। तॉबा, जस्ता तथा सोना भी यहाँ पाया जाता है। इन खनिजो के अतिरिक्त अनुपम प्राकृतिक दृश्य भी देश की बहुत बडी सपत्ति हैं।

आस्ट्रिया की खेती सीमित है, क्योंकि यहाँ केवल ४ ५ प्रति शत भूमि मैदानो है, शेष ६२ ३ प्रति शत पर्वतीय है। सबसे उपजाऊ क्षेत्र डैन्यूब की पार्श्ववर्ती भूमि (विना का दोआबा) तथा बर्जिनलैड है। यहाँ की मुख्य फसले राई, जई (ओट), गेहूँ, जौ तथा मक्का है। आलू तथा चुकदर यहाँ के मैदानो मे पर्याप्त पैदा होते हैं। नीचे भागो मे तथा ढालो पर चारेवाली फसले पैदा होती है। इनके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागो मे तीसी, तेलहन, सन तथा तबाकू पैदा किया जाता है। पर्वतीय फल तथा अगूर भी यहाँ होता है। पहाडी क्षेत्रो म पहाडो को काटकर सीढीनुमा खेत बने हुए है। उत्तरी तथा पूर्वी भागो मे पशुपालन होता है तथा यहाँ से वियना आदि शहरो मे दूध, मक्खन तथा पनीर पर्याप्त मात्रा मे भेजा जाता है। जोरारलबर्ग देश का बहुत बडा सघीय पशुपालन केंद्र है। यहाँ बकरियाँ, भेडे तथा सुअर पर्याप्त पाले जाते है जिनसे मास, दूध तथा ऊन प्राप्त होता है।

आस्ट्रिया की औद्योगिक उन्नति महत्वपूर्ण है। उद्योग धधो मे यह देश बराबर उन्नति करता जा रहा है। लोहा, इस्पात तथा सूती कपडो के कारखाने देश मे फैले हुए हैं। रासायनिक वस्तुएँ बनाने के बहुत से कारखाने हैं। यहाँ धातुओ के छोटे मोटे सामान, घडियाँ, सूई, कैंची, चाकू, साइकिल तथा मोटर साइकिल बनाने के कारखाने मुरमुज की घाटी मे है। वियना मे विविध प्रकार की मशीने तथा कल पुर्जे बनाने के कारखाने है। लकडी के सामान, कागज की लुग्दी, कागज एव वाद्ययत्र बनाने के कारखाने यहाँ के अन्य बडे धधे है। जलविद्युत् का विकास खूब हुआ है। देश को पर्यटको से भी पर्याप्त लाभ होता है।

पहाडी देश होने पर भी यहाँ सडको (कुल सडके ४१,६४६ कि०मी०) तथा रेलवे लाइनो (५,६०८ कि०मी०) का जाल बिछा हुआ है। २,४१४ कि०मी० रेलवे का विद्युतीकरण हो चुका है। वियना यूरोप के प्राय सभी नगरो से सबद्ध है। यहाँ छह हवाई अड्डे है जो वियना, लिज, सैल्बर्ग, ग्रेज, क्लागेनफर्ट तथा इसब्रुक मे है। आस्ट्रिया का व्यापारिक सबध जर्मनी, इटली, ब्रिटिश द्वीपसमूह, स्विट्जरलैड, सयुक्त राज्य (अमरीका), ब्राजील, अर्जेटीना, तुर्की, भारत तथा आस्ट्रेलिया से है। यहाँ से निर्यात होनेवाली वस्तुओ मे इमारती लकडी का बना सामान, लोहा तथा इस्पात, रासायनिक वस्तुएँ और काँच मुख्य है।

देश मे निरक्षरता नही है। प्रारभिक शिक्षा नि शुल्क तथा अनिवार्य है। विभिन्न विषयो की उच्चतम शिक्षा के लिये आस्ट्रिया का बहुत महत्व है। वियना, ग्रेज तथा इसब्रुक मे ससारप्रसिद्ध विश्वविद्यालय है।

आस्ट्रिया मे गणतत्र राज्य है। यूरोप के ३६ राज्यो मे, विस्तार के अनुसार, आस्ट्रिया का स्थान १६वाँ है। यह नौ प्रातो मे विभक्त है। वियना प्रात मे स्थित वियना नगर देश की राजधानी है। आस्ट्रिया की सपूर्ण जनसख्या का ⅕ भाग वियना मे रहता है जो ससार का २२वाँ सबसे बडा नगर है। यहाँ की जनसख्या १६,२७,५६६ (१९६१ ई०) है। अन्य बडे नगर ग्रेज (२,३७,०८०), लिज (१,६५,६७८), सैल्जबर्ग (१,०८,११४), इसब्रुक (१,००,६६५) तथा क्लाजेनफर्ट (६६,२१८) हैं।

अधिकाश आस्ट्रियावासी काकेशीय जाति के हैं। कुछ आलेमनो तथा बवेरियनो के वशज भी है। देश सदा से एक शासक देश रहा है, अत यहाँ के निवासी चरित्रवान् तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहारवाले होते है। यहाँ की मुख्य भाषा जर्मन है।

आस्ट्रिया का इतिहास बहुत पुराना है। लौहयुग में यहाँ इलिरियन लोग रहते थे। सम्राट् आगस्टस के युग मे रोमन लोगो ने देश पर कब्जा कर लिया था। हूण आदि जातियों के बाद जर्मन लोगो ने देश पर कब्जा कर लिया था (४३५ ई०)। जर्मनो ने देश पर कई शताब्दियों तक शासन किया, फलस्वरूप आस्ट्रिया मे जर्मन सभ्यता फैली जो आज भी वर्तमान है। १९१९ ई० मे आस्ट्रिया वासियों की प्रथम सरकार हैप्सबर्ग राजसत्ता को समाप्त करके, समाजवादी नेता कार्ल रेनर के प्रतिनिधित्व मे बनी। १९३८ ई० मे हिटलर ने इसे महान् जर्मन राज्य का एक अग बना लिया। द्वितीय विश्वयुद्ध मे इग्लैड आदि देशो ने आस्ट्रिया को स्वतत्र करने का निश्चय किया और १९४५ ई० मे अमरीकी, ब्रितानी, फ्रांसीसी तथा रूसी सेनाओं ने इसे मुक्त करा लिया। इससे पूर्व अक्टूबर, १९४३ ई० की मास्को घोषणा के अतर्गत ब्रिटेन, अमरीका तथा रूस आस्ट्रिया का पुन एक स्वतत्र तथा प्रभुसत्तासपन्न राष्ट्र के रूप मे प्रतिष्ठित कराने का अपना निश्चय व्यक्त कर चुके थे। २७ अप्रैल, १९४५ को डा० कार्ल रेनर ने आस्ट्रिया मे एक अस्थायी सरकार की स्थापना की जिसने १९२०-२९ ई० के सविधान के अनुरूप आस्ट्रियाई गणतत्र को पुन प्रतिष्ठित किया। आस्ट्रिया की उक्त जनतात्रिक सरकार को चारो मित्रराष्ट्रो की नियत्रण परिषद् (कट्रोल काउसिल) ने २० अक्टूबर, १९४५ ई० को मान्यता दे दी। किंतु देश को वास्तविक स्वतत्रता २७ जुलाई, १९५५ ई० को मिली जब ब्रिटेन, अमरीका, रूस तथा फ्रास के साथ हुई आस्ट्रियन स्टेट सधि (१५ मई, १९५५ ई०) लागू की गई और बलात् अधिकार करनेवाली विदेशी सेनाएँ यहाँ से वापस चली गई।

वियना के भूतपूर्व लार्ड मेयर फ्राज जोनास २३ मई, १९६५ को आस्ट्रियाई गणतत्र के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और २५ अप्रैल, १९७१ को पुन इन्हे ही राष्ट्रपति के पद पर चुन लिया गया जबकि इनके प्रतिद्वद्वी कुर्ट वाल्डीम असफल रहे। १० अक्टूबर, १९७१ को राष्ट्रीय असेबली के चुनाव सपन्न हुए जिसमे ९३ समाजवादी, ८० पीपुल्स पार्टी और १० फ्रीडम पार्टी के प्रतिनिधि चुने गए। (ह० ह० सि०, कै० च० श०)

आस्ट्रिया का इतिहास

प्रारभिक रूपरेखा आस्ट्रिया के इतिहास का वर्णन करते समय यूरोप के कई देशो का इतिहास सामने आ जाता है। मुख्य रूप से जिनका इस सबध मे पूर्ण वर्णन होता है वे हैं इटली, चेकोस्लोवाकिया, पोलैड, हगरी, रोमानिया, युगोस्लाविया और रूस आदि। कारण इसका यह है कि हैप्सबर्ग जैसे महान् परिवार ने एक लबे अरसे तक इनपर राज्य किया है।

आस्ट्रिया देश इतिहास के प्रारभकाल मे ही मनुष्यो द्वारा आबाद रहा है। इसकी प्राचीन सभ्यता के चिह्न हालस्टाल मे पाए जाते है। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व आस्ट्रिया देश मे कबीलो की बस्ती रही। इन कबीलो ने बोहिमिया, हगरी और आल्प्स की पहाडियो पर अपना अधिकार जमा लिया। पहली शताब्दी म रोमनो ने आल्प्स की पहाडी पार की और इसको अपने पैरो तले रौद डाला। ४८७ ई० मे हूणो ने उसपर आक्रमण किया, इसके पश्चात् स्लाव तथा जर्मन कबीलो ने अधिकार जमाया। शार्लमान ने इसको फिर अपने राज्य मे सम्मिलित किया। यह काल ८११ ई० का था। इस प्रकार यह एक शताब्दी तक जर्मन राज्य मे रहा। ९७६ ई० मे यहाँ बैबिनबर्ग परिवार का प्रभाव बढा। यही से आस्ट्रिया का राजनीतिक इतिहास जन्म लेता है। इस परिवार का राज्यकाल १२४६ तक रहा और छठे ल्यूपोल्ड के पुत्र द्वितीय फ्रेडरिक की मृत्यु के पश्चात् इस परिवार का अत हो गया।

१२७३ से आस्ट्रिया देश पर हैप्सबर्ग परिवार का प्रभाव पडा जो १९१८ तक बना रहा। इस बडे अर्से मे यह भिन्न भिन्न रूप धारण करता रहा, जिसके कारण इसका इतिहास बडा ही वैचित्यपूर्ण एव रोमाटिक हो गया है। आस्ट्रिया की महत्ता एक इसी बात से जानी जा सकती है कि जिस समय आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हुई उस समय यूरोप मे तहलका मच गया और इसी कारण प्रथम महायुद्ध की नीव पडी।

राजगद्दी के लिये लडाई—१७४० ई० मे छठे चार्ल्स का देहात हो गया। प्रशा के फ्रेडरिक ने अवसर पाकर उसके उत्तरीय भाग पर आक्रमण कर दिया। चार्ल्स की इस बात से सबकी आँखें खुल गईं। फ्रास ने यह देखा तो प्रशा के साथ मिल गया। ब्रिटेन ने मेरिया थेरसा की सहायता करने का वायदा कर लिया। इधर प्रशा और फ्रास ने चार्ल्स के खूब कान भरे।

अंत में वही परिणाम हुआ और लड़ाई छिड़ गई। मेरिया थेरेसा के सैनिकों ने बड़ी वीरता दिखाई, मगर साइलेशिया में उनको मुँह की खानी पड़ी। हंगरी की भी सहायता उन्हें समय पर मिल गई, जिसके कारण वे आस्ट्रिया की ओर से लड़े। फ्रांसीसियों ने बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचाई।

आस्ट्रिया और फ्रांस की शत्रुता यूरोप भर में प्रसिद्ध रही। फिर भी यह शत्रुता समय की कठिनाई देखकर मित्रता में बदल गई। इधर फ्रांस और आस्ट्रिया एक हुए और उधर ब्रिटेन और प्रशा के राजा फ्रेडरिक एक हो गए। इस प्रकार अलग अलग दल पैदा हो गए। बड़ी बड़ी शक्तियोंवाले इस बागी दल ने यूरोप भर में हलचल मचा दी। इसने फिर एक संकट और संघर्ष का रूप धारण कर लिया जिसने यूरोप में ३० वर्षीय युद्ध को जन्म दिया।

आस्ट्रिया और प्रुशा—आस्ट्रिया और प्रुशा का संयुक्त मोर्चा भी यूरोप के इतिहास में बड़ा ही महत्त्व रखता है। इन्होंने मिलकर फ्रांस पर आक्रमण किया। इनकी सेना की बागडोर ड्यूक आव ब्रंजविक के हाथों में थी। फ्रांस ने मार खाई और सरहदी इलाके इनके कब्जे में आ गए, मगर विशेष रूप से कोई सफलता नहीं हुई। अभी वे आरगोन की पहाड़ियों के करीब ही थे कि ड्यूक मोरीज जिस सेना का नायकत्व कर रहे थे उससे वाल्मी के स्थान पर लड़ाई हुई। इस बीच ब्रंजविक की सेना बीमार पड़ गई, उसने सुलह की बातचीत की और जर्मनी की सरहद से गुजरकर राइन पार कर ली। इस लड़ाई का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ, फिर भी नैपोलियन के लिये उसने रास्ते खोल दिए।

आस्ट्रिया और फ्रांस—धीरे धीरे ऐसा मालूम हुआ कि फ्रांस के विरोध में जो संयुक्त मोर्चा बना है, वह टूट गया। १७९४ ई० की फ्रांसीसी सफलता ने प्रुशा की आँखें खोल दीं और १७९५ में बैसेल की संधि हुई जिसमें प्रुशा की शक्ति उत्तरीय जर्मनी में मान ली गई। स्पेन भी अलग हो गया और अब केवल ब्रिटेन और आस्ट्रिया रह गए। अब फ्रांसीसियों ने अपनी सारी शक्ति आस्ट्रिया की ओर लगा दी।

एक सेना वियना की ओर दानूब होती हुई बढ़ी और दूसरी आस्ट्रिया के इटलीवाले इलाके की तरफ चली। नैपोलियन ने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी। उसने सार्डीनिया के राजा को मजबूर कर दिया कि वह आस्ट्रिया के दल से निकल आए। उसके पश्चात् उसने मिलान पर कब्जा कर लिया। इटली के लोगों ने उसका अभिनंदन किया और आस्ट्रिया राज्य के विरोधी हो गए। इसके पश्चात् नैपोलियन ने मेंटुआ नगर पर भी कब्जा कर लिया जहाँ आस्ट्रिया का दुर्ग था। पाँच भिन्न भिन्न सेनाएँ दुर्ग को बचाने के लिये भेजी गई, परंतु सबकी हार हुई। रीवाली स्थान पर जनवरी, १७९७ की इस हार से आस्ट्रिया के पैर उखड़ गए। इस महीने फ्रांसीसियों का अधिकार मेंटुआ पर भी हो गया। लेकिन नैपोलियन ने अपनी स्थिति सुरक्षित न देखकर एक संधि की जो अक्टूबर, १७९७ की ट्रीटी आव कैंप फारमिस के नाम से विख्यात है। इसमें आस्ट्रिया को वीनिस का राज्य दे दिया गया। फिर भी यह मित्रता बहुत दिनों तक न चल सकी क्योंकि आस्ट्रियन और उनके साथी इटली के उत्तरी भाग पर अपना कब्जा किए हुए थे। नैपोलियन ने १७९९ में इटली पर आक्रमण करने की ठानी जिसमें जनरल मोरिए दानूब की ओर से आस्ट्रिया पर आक्रमण करनेवाला था। अंत में नैपोलियन विजयी हुआ। उसने मिलान पर अधिकार जमा लिया और जेनोवा की ओर बढ़ा। जून में मरेंज नामक स्थान पर लड़ाई छिड़ी। यह देखकर आस्ट्रिया ने संधि का संदेश भेजा। फरवरी, १८०१ में ल्यूनेवाइक की संधि हुई और उसकी शर्त के अनुसार आस्ट्रिया अपने इटलीवाले इलाकों से हाथ धो बैठा।

इसके पश्चात् २ दिसंबर, १८०५ को नैपोलियन ने फिर आस्टरलिट्ज की लड़ाई में आस्ट्रिया को हराया और वियना उसके अधिकार में आ गया। आस्ट्रिया दिसंबर, १८०५ में प्रेसबर्ग की संधि करने पर विवश हो गया। इस प्रकार आस्ट्रिया की लगातार हार में पवित्र रोम साम्राज्य का भी अंत हो गया जो ओटो के काल, अर्थात् १०वीं शताब्दी से चला आ रहा था। इसके बाद सारडीनिया के राजा चार्ल्स अल्बर्ट की लड़ाई आस्ट्रियन जेनरल रादेत्जकी से हुई। अंत में वह हार गया। जुलाई, १८१८ में उसकी हार कस्टोजा नामक स्थान पर हुई। इसीलिये आस्ट्रिया को अपने इटली के इलाके वापस मिल गए।

आस्ट्रिया और हंगरी—आस्ट्रिया और हंगरी की समस्या भी बड़ा महत्त्व रखती है। इन दोनों के बीच यह बात हमेशा रही कि दोनों के बीच मतदान किस प्रकार हो। बहुत सोचने के बाद १९०७ में एक बिल पास हुआ जिससे आस्ट्रिया के रहनेवालों को, जिनकी आयु २४ वर्ष से अधिक थी, मताधिकार दिया गया। फलस्वरूप जर्मनों को अधिक सीटें मिलीं और चेक बहुत थोड़ी संख्या में आए। इसीलिये चेकों को बोहीमिया में और पोलों को गैलीसिया में यह अधिकार दिया गया। परंतु राष्ट्रीय समस्या अपने स्थान पर न रही। हंगरी की यहाँ इच्छा थी कि मगयार राष्ट्र की महत्ता छोटी कौम पर बनी रहे, परंतु यह भी न हो पाया।

आस्ट्रिया और तुर्की—आस्ट्रिया का संबंध तुर्क राष्ट्र के साथ भी रहा है। राजनीतिज्ञों की दृष्टि में बलकान की बड़ी महत्ता है। रूस और आस्ट्रिया इसके पड़ोसी होने के नाते इसमें दिलचस्पी रखते थे और ब्रिटेन अपने व्यापार के कारण रूम के महासागर में दिलचस्पी रखता था। ये देश आपस में मिले और १८७७ में रूस ने तुर्की को चेतावनी दे दी। अंत में लड़ाई हुई और तुर्की अपनी वीरता के बावजूद भी हार गया। फलस्वरूप सैंटिफनो की संधि हुई और रोमानिया, मांटीनीग्रो तथा सर्बिया स्वतंत्र देश हो गए और बास्नियाँ, हर्जीगाविना आदि आस्ट्रिया के अधीन हो गए।

प्रथम महायुद्ध की नींव भी आस्ट्रिया ने ही डाली। २८ जून, १९१४ को आस्ट्रिया की राजगद्दी पर बैठनेवाला राजकुमार सेराजेवो में मार डाला गया। रूस स्लोवानिक देशों का बलकान में निरीक्षक था। इसीलिये वह आस्ट्रिया को रोकने के लिये तैयार बैठा था। जर्मनी आस्ट्रिया की सहायता करने लगा। फ्रांस रूस से मुलाहिजे में बँधा था, इसीलिये अलग भी नहीं हो सकता था। यही कारण प्रथम महान् युद्ध का बना।

आस्ट्रिया और इटली—आस्ट्रिया का इतिहास इटली के इतिहास से भी संबंधित है। १९१६ का काल इटली के इतिहास में उसकी हार जीत की कहानी है। आस्ट्रिया ने पहले इटलीवालों को ट्रेनटीनो तक ढकेल दिया, परंतु बाद में स्वयं ही पीछे हट गए। इसी वर्ष अगस्त में जेनरल कांडर्नो ने बैनिसेज के एक भाग पर अधिकार जमा लिया और बहुत से लोगों को बंदी बना लिया। परंतु इनका नुकसान अधिक हुआ। आस्ट्रिया ने यह कमजोरी देखते हुए जनरल काडर्ना पर सेपारेट नामक स्थान पर हमला किया। इटली की हार हुई। आस्ट्रिया ने इस लड़ाई में २,५०,००० आदमी बंदी बनाए और वेनिस तक चढ़ आया। ब्रिटेन और फ्रांस की समय पर सहायता पहुँच जाने से वेनिस हाथ से नहीं जाने पाया।

आस्ट्रिया का पतन—१८६६ में जर्मनी की जो महत्ता बनी चली आ रही थी, उसका पतन हो गया। जो नई सरकार बनी उसने ११ नवंबर, १९१८ को सुलह के पैगाम भेजे। आस्ट्रिया की शक्ति उस समय तक खत्म हो गई थी। इटली अब फिर विजयी हो चुका था। अक्टूबर में जेनरल डेज़ ने इसपर आक्रमण किया और आस्ट्रियन भाग खड़े हुए। हजारों की संख्या में बंदी इटली के हाथ पड़े। इस प्रकार इनका पतन हो गया।

आस्ट्रिया के महान् राष्ट्र का अंत—१९१८ के बाद इस बड़े राज्य का बिलकुल ही अंत हो गया। इतना बड़ा राज्य संसार के नक्शे पर से देखते देखते उड़ गया। हैप्सबर्ग परिवार, जो आस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, रोमानिया, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया जैसे बड़े राज्यों पर हुकूमत करता चला आ रहा था, समाप्त हो गया। (मु० अ० अ०)

आस्ट्री भाषाएँ श्मित आदि कुछ भाषाविज्ञानियों ने प्रशांत महासागर के द्वीपों में बोली जानेवाली कुछ भाषाओं को एक परिवार में रखा है और उस परिवार को यह नाम दिया है। इसमें वे निम्नलिखित भाषाओं को संमिलित मानते हैं: मोन, ख्मेर, जावी, मलय और इनके पूर्व में मलेनेशियाई और पॉलीनेशियाई परिवार, पश्चिम में बर्मी का कुछ भाग, असम प्रदेश की कुछ भाषाएँ और मुंडा भाषाएँ। (बा० रा० स०)

आस्ट्रेलिया संसार के महाद्वीपों में सबसे छोटा महाद्वीप है। यूरोपियनों को इसका पता डचों द्वारा लगा। १७वीं शताब्दी के आरंभ

में डच लोग इसके पश्चिमी तट पर पहुँचने लगे। उन्होंने इसको 'न्यू हालैंड' नाम दिया। सबसे महत्वपूर्ण यात्रा १६४२ ई० में एबिल टसमान ने की थी जो डच द्वीपसमूह के गवर्नर वान डो मैन के आदेशानुसार इस महाद्वीप की जानकारी के लिये निकला था। उसकी यात्रा में लगभग यह निश्चित हो गया कि 'न्यू हालैंड' एक द्वीप है। टसमान के न्यूजीलैंड पहुँच जाने के कारण उसे महाद्वीप के महत्वपूर्ण पूर्वी तट का पता नहीं लग सका। लगभग १३० वर्ष पश्चात् (१७७० ई०) अंग्रेज यात्री जेम्स कुक कई वैज्ञानिकों सहित महाद्वीप के पूर्वी तट का पता लगाने में सफल हुआ। उसने ही हौवे अंतरीप से टारेस जलडमरूमध्य तक के तट की खोज की। परंतु महाद्वीप की पहली आबादी की नीव १७८८ ई० में रखी गई, जब कप्तान फिलिप ७५० कैदियों को लेकर बाटनी खाड़ी पर उतरे। यह आबादी पोर्ट जैक्सन पर, जहाँ अब सिडनी है, बसाई गई थी। महाद्वीप की खोज करनेवाले यात्रियों में फ्लिंडर्स का कार्य महत्वपूर्ण है जिसने १८०२ ई० में महाद्वीप के चारों ओर इनवेस्टिगेटर नामक जहाज में चक्कर लगाया। जलवायु और धरातल की दृष्टि से पूर्वी तट के अतिरिक्त अन्य भाग गोरे लोगों के अनुकूल नहीं है। इस कारण बहुत समय तक कहीं और नई आबादी नहीं बस सकी। पूर्वी पहाड़ी श्रेणियों को पार करने में कठिनाई होने के कारण महाद्वीप के भीतरी भाग की भी विशेष जानकारी न हो सकी। १८१३ ई० में लासन, ब्लैक्सलैंड और वेंटवर्थ नामक व्यक्तियों ने इन पर्वतश्रेणियों को पार कर पश्चिमी मैदानों की खोज की। १८२८ ई० में कप्तान स्टवार्ट ने डार्लिंग नदी की खोज की। महाद्वीप की जनसंख्या आरंभ में बहुत ही धीरे धीरे बढ़ी। १८५१ ई० में स्वर्ण मिलने के पूर्व महाद्वीप की जनसंख्या लगभग ४,००,००० थी। आस्ट्रेलिया के राजनीतिक विभाग निम्नलिखित हैं :

न्यू साउथवेल्स, विक्टोरिया, क्वींसलैंड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी आस्ट्रेलिया एवं तस्मानिया। इनके अतिरिक्त उत्तरी प्रदेश (नॉर्दर्न टेरिटरी) एक केंद्रशासित राजनीतिक विभाग है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप ११३° ९' पू० से १५३° ३९' पू० दे० और १०° ४१' तथा ४३° ३९' द० अ० के मध्य स्थित है। इसके पूर्व में प्रशांत महासागर, पश्चिम में हिंद महासागर और दक्षिण में दक्षिण महासागर है। तस्मानिया द्वीप सहित महाद्वीप का क्षेत्रफल २९,७४,५८१ वर्ग मील है। पूर्व से पश्चिम इसकी अधिकतम लंबाई २,४०० मील और उत्तर से दक्षिण की चौड़ाई २,००० मील है। इसका तट १२,२१० मील लंबा है और विशेष कटा छँटा नहीं है। उत्तर पूर्वी तट के निकट मूँगे की चट्टानें बड़ी दूर तक फैली हुई है जो 'ग्रेट बैरियर रीफ' के नाम से प्रसिद्ध है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप की प्राकृतिक संरचना अन्य महाद्वीपों से भिन्न है। यहाँ का अधिकतर भाग प्राचीन मणिभ (रवेदार) चट्टानों का बना हुआ है। तृतीयक काल की विशाल पर्वत-रचनात्मक-शक्तियों का आस्ट्रेलिया पर प्रभाव नहीं पड़ा है जिसके कारण महाद्वीप में कोई भी ऐसी पर्वतश्रेणी नहीं है जो दूसरे महाद्वीपों की हजारों फुट ऊँची शृंखलाओं की बराबरी कर सके। यहाँ का सर्वोच्च पर्वतशिखर केवल ७,३२८ फुट ऊँचा है। यही नहीं कि यहाँ के पर्वत अधिक ऊँचे नहीं हैं, यहाँ का मैदानी भाग भी संपूर्ण भूमि का केवल एक चौथाई है।

महाद्वीप के तीन प्रमुख प्राकृतिक विभाग हैं :

१ **पश्चिमी पठार**—यह महाद्वीप का लगभग ⅗ भाग घेरे हुए है। मुख्य रूप से इसमें १३५° पू० दे० के पश्चिम का भाग आता है। यहाँ की अधिकांश चट्टानें पुराकल्पिक तथा प्रारंभिक काल की और बड़ी ही कठोर हैं। यद्यपि यहाँ की औसत ऊँचाई लगभग १,००० फुट है, तो भी कुछ पहाड़ियाँ, जैसे हैमर्सले रेंज, माउंट ऊड्राफ, मैक्डॉनेल एवं जेम्स रेंज आदि ३,००० फुट से अधिक ऊँची है। अधिक शुष्क होने के कारण इसका अधिकांश मरुस्थल है। तट के निकट पठार की ढाल अधिक है।

२ मध्यवर्ती मैदान—पश्चिमी पठार के पूर्व मध्यवर्ती मैदान स्थित है, जो दक्षिण की एन्काउंटर की खाड़ी के उत्तर कार्पेटेरिया खाड़ी तक विस्तृत है। इसमें मोडार्लिंग द्रोणी (बेसिन) या रीवरीना (आयर झील की द्रोणी और कार्पेंटेरिया के निम्न भूभाग) संमिलित हैं। दक्षिण पश्चिम के भाग सागरतल से भी नीचे हैं। आयर झील द्रोणी की नदियाँ सागर तक नहीं पहुँचती और उनमें पानी का सदैव अभाव रहा करता है। ग्रीष्मकाल में तो वे सर्वथा शुष्क हो जाती हैं। मध्य उत्तरी भाग ग्रेट आर्टीजियन द्रोणी कहलाता है। वहाँ पातालतोड़ कुओं द्वारा पानी प्राप्त होता है। मरे डार्लिंग द्रोणी विशेष उपजाऊ है।

३ **पूर्वी उच्च भाग**—यह पूर्वी तट के समांतर यार्क अंतरीप से विक्टोरिया प्रदेश तक विस्तृत है। यह तट से सीधे उठकर मध्यवर्ती निम्न भाग की ओर क्रमशः ढालू होता गया है। यहाँ की श्रेणियाँ अधिक ऊँची नहीं है। यद्यपि इनको ग्रेट डिवाइडिंग रेंज कहते है, तो भी विभिन्न भागों में इनके विभिन्न नाम है। न्यू साउथ वेल्स में ये लगभग ३,०००-४,००० फुट ऊँची और ब्लू माउंटेन के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण पूर्व में महाद्वीप का सर्वोच्च शिखर कोसिअस्को है जो ७,३२८ फुट ऊंचा है। विक्टोरिया में ये श्रेणियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई हैं। ये पश्चिम की ओर नीची होती जाती है। महाद्वीप की अधिकांश नदियाँ इन्हीं पर्वतों से निकलती हैं।

खनिज पदार्थ—धातुएँ अधिकतर प्राचीन कैंब्रियनपूर्व पुराकल्पिक (पैलियोज़ोइक) चट्टानों में मिलती है। ये चट्टानें महाद्वीप के अधिकांश भागों में या तो धरातल के ऊपर हैं अथवा उसके बहुत निकट आ गई हैं। बहुत से भागों में ये बालू और अन्य अवसादों से ढँकी हुई है। कैंब्रियनपूर्व चट्टानें यूक्ला बेसिन के पश्चिम, उत्तर और पूर्व में मिलती है। पुराकल्पिक चट्टानें लगभग २९० मील चौड़ी एक मेखला के रूप में महाद्वीप के पूर्व में उत्तर से दक्षिण को फैली हुई है। तस्मानिया द्वीप में भी ये ही चट्टानें मिलती है। यद्यपि ताँबे का उत्पादन दक्षिणी आस्ट्रेलिया में १८४० ई० के लगभग कपुंडा और बुरबुरा की खानों में आरंभ हो गया था, तो भी मुख्य रूप से खनिज उत्पादन १८५१ ई० से आरंभ हुआ जब एडवर्ड आरग्रीम ने बाथर्स्ट से २० मील उत्तर अपने खेत में सोना पाया। उसके शीघ्र ही बाद मेलबोर्न, बाथर्स्ट एवं बेंडिगो में भी सोना मिलना आरंभ हो गया। पश्चिमी आस्ट्रेलिया में सोना १८८६ ई० में मिला, परंतु आजकल वहीं सोने का सर्वाधिक उत्पादन होता है। महाद्वीप के अधिकांश खनिज पदार्थ कुछ ही स्थानों से निकाले जाते हैं जिनमें मुख्यतः कालगूर्ली और वयू (सोना) पश्चिमी आस्ट्रेलिया में, वलारू, मूटा, कपुंडा (ताँबा), आयरनाब (लोहा) दक्षिणी आस्ट्रेलिया में, ब्रोकेन हिल (सीसा, जस्ता और चाँदी) न्यू साउथवेल्स में, माउंट ईसा (सीसा, जस्ता और ताँबा) क्वींसलैंड में है।

इनके अतिरिक्त पुराकल्पिक चट्टानों में धातुएँ—हर्बर्टन में ताँबा, चार्टर्स टावर में सोना, माउंट मार्गन में ताँबा, कोबार में ताँबा, बाथर्स्ट में सोना और बेंडिगो, बलारेट तथा तस्मानिया के पश्चिमी भाग में स्थित माउंट जीहन में सीसा और जस्ता, माउंट लायल में ताँबा और माउंट बिस्चाफ में राँगा—मुख्य रूप से मिलती है।

इस महाद्वीप के खनिजों में सोने का महत्व बहुत गिर गया। १९४८ ई० में सोने का उत्पादन १९०३ ई० की अपेक्षा, जिस वर्ष महाद्वीप में सर्वाधिक सोना प्राप्त हुआ, एक चौथाई से भी कम था। १९५१ ई० में इस महाद्वीप ने संसार भर के सोने के उत्पादन का केवल ३.६ प्रति शत उत्पादन किया। फिर भी संसार के देशों में इसका चौथा स्थान था। उसी वर्ष चाँदी, में इस महाद्वीप का स्थान संसार में पाँचवाँ (६.२ प्रति शत) था, सीसा के उत्पादन में द्वितीय (१३.५ प्रति शत) तथा जस्ता में चतुर्थ (८.८ प्रति शत था)। इस महाद्वीप में कोयले का प्रचुर भांडार है और काला तथा भूरा दोनों प्रकार का कोयला विद्यमान है। काले कोयले का भांडार न्यू साउथ वेल्स और क्वींसलैंड में तथा भूरे कोयले का सर्वाधिक भांडार विक्टोरिया में है। सर्वाधिक उत्पादन न्यूकैसिल के कोयला क्षेत्र में होता है। इसका क्षेत्रफल लगभग १६,५५० वर्ग मील है। समुद्रतट के समीप होने के कारण यह क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है।

जलवायु—मकर रेखा इस महाद्वीप के लगभग मध्य से होकर जाती है। इस कारण इसके उत्तर का भाग सदा उष्ण रहता है और दक्षिण का भाग ऊँचे क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य कहीं भी अधिक ठंढा नहीं रहता। यद्यपि महाद्वीप चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है, फिर भी उसका प्रभाव यहाँ की जलवायु को समान रखने में बहुत कम पड़ता है। इसका मुख्य कारण पूर्वी

पहाड़ी श्रेणियाँ है जो समुद्र के प्रभाव को देश के भीतरी भागों मे नही पहुँचने देती। उष्ण कटिबंध में स्थित रहने के कारण उत्तरी भाग म ग्रीष्म ऋतु मे मानसून हवाओं द्वारा वर्षा होती है। तट के निकटवर्ती भागों में 'विलो-विलीज' नामक चक्रवात हवाओं का भी प्रभाव पड़ता है। ३०° द० अ० के दक्षिण का भाग शीतकाल मे पश्चिमी हवाओं के मार्ग में आ जाता है। इन हवाओं से वर्षा भी होती है। इस मेखला के दक्षिण पश्चिमी भाग मे रूमसागरीय जलवायु पाई जाती है। पूर्वी किनारे पर वर्षा लगभग साल भर होती रहती है, परतु महाद्वीप का मध्य भाग अधिक उष्ण है और वर्षा भी १०" से कम होती है। इस कारण यह भाग मरुस्थल बन गया है। ससार के किसी भी महाद्वीप मे जल का इतना अभाव नही है जितना आस्ट्रेलिया मे। दक्षिण पश्चिमी भाग और आर्नेहेमलैंड के अतिरिक्त पूर्वी आस्ट्रेलिया ही ऐसा भाग है जहाँ वर्षा २५" या उससे भी अधिक होती है। बैलेंडनकेर हिल्स मे जो ५,००० फुट से अधिक ऊँची है, महाद्वीप की सर्वाधिक वर्षा होती है।

दक्षिणी गोलार्ध मे स्थित होने के कारण आस्ट्रेलिया मे जनवरी फरवरी गर्मी के महीने है। ताप का अधिकतम मान मार्बलबार (पश्चिमी आस्ट्रेलिया) मे १२१° फा० तक जनवरी मे होता है, न्यूनतम मान होवार्ट नगर (तस्मानिया) मे ४५.३° फा० तक जुलाई मे जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति वर्षा पर निर्भर रहती है। आरभ मे महाद्वीप के दक्षिण पूर्वी और दक्षिण पश्चिमी भाग सदाबहार वनो से ढँके हुए थे, जहाँ अधिकाश नाना प्रकार के यूकलिप्टस के वृक्ष थे। पर्थ के दक्षिण मे स्वानलैंड कारी नामक वृक्ष ससार के विशेष लबे वृक्षो मे से है। महाद्वीप के भीतरी भागों मे वर्षा बड़ी शीघ्रता के साथ कम होती जाती है, इस कारण वनो के बदले वहाँ घास के मैदान पाए जाते है। दक्षिण मे जलाभाव के कारण ग्रेट आस्ट्रेलियन बाइट के तटीय प्रदेशो मे माली नामक झाड़ियाँ पाई जाती है। मध्य भाग अधिकाश मरुस्थल है और कँटीदार झाड़ियों इत्यादि से भरा है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप का अधिक समय तक अन्य भूभागों से सपर्क नही था, इस कारण वहाँ के पशु पक्षी भी अन्य महाद्वीपो से अधिक भिन्न है। इनमे मुख्य कगारू और वालाबी है। कगारू घास के मैदानो मे और वालाबी पहाड़ी झाड़ियो मे रहता है। डिंगो के अतिरिक्त, जो एक जगली जानवर है, कोई जानवर मनुष्य का शत्रु नही है। खरगोश, जिसका आरभ मे महाद्वीप मे बाहर से लाया गया, सख्या मे अधिक बढ़ गए है और वनस्पति तथा कृषि को बड़ी हानि पहुँचाते हैं।

कृषि—महाद्वीप मे केवल दो करोड तीस लाख एकड (लगभग १ प्रति शत) भूमि पर खेती बारी होती है। कृषि योग्य भूमि आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाई जा सकती है और उसपर सघन खेती की जा सकती है। खेती-बारी मे सबसे अधिक महत्व गेहूँ का है जिसकी खेती लगभग एक करोड तीस लाख एकड भूमि (जोतवाली भूमि के लगभग ६० प्रति शत) पर होती है। गेहूँ को अधिक वर्षा की आवश्यकता नही होती, इस कारण महाद्वीप मे इसकी उपज अधिकाशत दक्षिणी भागो मे होती है जहाँ वर्षा जाड़े की ऋतु मे होती है। लाचलन एव मरे का दोआब और स्वानलैंड गेहूँ की उपज के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। उत्पादन का ऋतु से गहरा सबध है। जब वर्षा उचित समयों पर होती है तो कृषक को पर्याप्त लाभ होता है, परन्तु जब अनुकूल समयो पर वर्षा नही होती तब बड़ी हानि होती है। महाद्वीप मे १९६९–७० मे ३८,७५,१२,००० बुशेल गेहूँ पैदा हुआ। खेती का कार्य बहुत कम व्यक्ति करते है। श्रमिकों का अभाव है और खेती मे मशीनों का उपयोग अधिक होता है। गेहूँ के विशाल समतल खेत मशीनों के प्रयोग के लिये उपयुक्त है। महाद्वीप से करोड़ो मन गेहूँ और करोड़ो टन आटा प्रति वर्ष अन्य देशो को निर्यात होता है। आटा तथा गेहूँ के निर्यात की दृष्टि से आस्ट्रेलिया का ससार के देशो मे तृतीय स्थान है। आस्ट्रेलिया की विशेषता यह है कि उत्तरी गोलार्ध के देशों को ऐसे समय मे वह गेहूँ निर्यात करता है जब उनकी अपनी फसल तैयार नही रहती।

अन्य खाद्य पदार्थों मे जई एव मक्का मुख्य है। जई ठढे दक्षिणी भागो मे होती है और मक्का मुख्य रूप से क्वीसलैंड और न्यू साउथवेल्स के तटीय भागो मे उपजाया जाता है। क्वीसलैंड के पूर्वी तट पर केअर्स एव मैके नगरो के मध्य भाग मे महाद्वीप का अधिकाश गन्ना उपजाया जाता है। इस प्रदेश को 'चीनी तट' कहते है। यहाँ की भूमि उपजाऊ है और वर्षा अधिक होती है। श्रमिक गोरी जाति के ही लोग हैं और सरकार इसकी खेती को प्रोत्साहित करती है। सरकार की नीति ऐसी है कि अन्य जातियों के लोग यहाँ नहीं बसने पाते। प्रति वर्ष लगभग २० करोड मन गन्ना तीन लाख एकड भूमि पर उपजाया जाता है। प्रत्येक खेत लगभग ५० एकड का होता है। इस गन्ने के क्षेत्र मे उष्ण कटिबधीय फल भी उपजाए जाते है, जैसे केला और अनन्नास। जलवायु की भिन्नता के कारण इस महाद्वीप मे नाना प्रकार के फल होते है। तस्मानिया की नम तथा मृदु ऋतुवाली सुरक्षित घाटियों मे निर्यात के लिये सेब उपजाए जाते है। न्यूयार्क के निकट और डर्वेंट की घाटी मे नाशपाती, बेर, आड़ू, खुबानी और मुख्यत सेब पैदा होते है। विक्टोरिया, न्यू साउथ-वेल्स और दक्षिणी आस्ट्रेलिया मे भी, जहाँ सिचाई की सुविधा है, नाशपाती, खुबानी और आड़ू उत्पन्न होते है तथा डिब्बों मे बद करके विदेशों को भेजे जाते है। रूमसागरीय जलवायुवाले दक्षिणी भागो मे, मुख्य रूप से विक्टोरिया, न्यू साउथवेल्स, दक्षिणी आस्ट्रेलिया और कुछ पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे, अगूर की उपज होती है। दक्षिणी आस्ट्रेलिया शराब बनाने मे बहुत प्रसिद्ध है। विक्टोरिया मे सूखे फलो का निर्यात किया जाता है। सतरे सिडनी के निकट पारामाटा भाग मे अधिक उत्पन्न होते है।

मवेशी उद्योग—महाद्वीप की आर्थिक व्यवस्था पर पशुपालन का सर्वाधिक प्रभाव है। देश की निर्यातवाली वस्तुओ मे ऊन सबसे महत्वपूर्ण है। देशवासियों का कथन है कि महाद्वीप के आर्थिक भार को भेड़ें ही अपने कधों पर सँभाले हुए है। आस्ट्रेलिया ससार मे सबसे अधिक ऊन उत्पन्न करता है और यहाँ की भेड़ो की सख्या लगभग सारे ससार की भेड़ो का छठा भाग है। ससार का लगभग एक चौथाई ऊन यहाँ उत्पन्न होता है। महाद्वीप मे १ मार्च, १९७० तक १८ करोड भेड़े थी। परतु यह सख्या सूखावाले वर्षों मे बहुत कम हो जाती है। १९४८ ई० मे केवल १०.२ करोड भेड़े थी। भेड़े अधिकाश १५ इच से २५ इच वर्षावाले क्षेत्रो मे पाली जाती है। अधिक ताप भी इनके लिये हानिकारक होता है। इसलिये भेड़े मरे-डार्लिंग नदी के मैदानो मे तथा आर्टीसियन द्रोणी मे सबसे अधिक पाली जाती है। १ मार्च, १९७० को भेड़ो की सख्या (हजारो मे) निम्नलिखित आँकड़ो के अनुसार थी।

न्यू साउथवेल्स	७२,२८४
विक्टोरिया	३३,१५७
क्वीसलैंड	१६,४४६
पश्चिमी आस्ट्रेलिया	३३,६३८
दक्षिणी आस्ट्रेलिया	१८,७८७
तस्मानिया	४,५६०
उत्तरी टेरिटरी	८
कैपिटल टेरिटरी	२४४
योग	१,८०,०८० हजार

लगभग एक तिहाई भेड़े गेहूँ के क्षेत्रो मे पाई जाती है। भेड़े मुख्य रूप से ऊन के लिये पाली जाती है और इसलिये ७० प्रति शत से अधिक भेड़े मेरिनो नस्ल की है। ऊन का व्यापार अधिकाशत ब्रिटेन, फ्रास, सयुक्त राज्य (अमरीका) इटली और बेल्जियम से होता है। ऊन के अतिरिक्त भेड़ो का मास भी निर्यात किया जाता है, जो पूर्णत ब्रिटेन को भेजा जाता है।

पशु—महाद्वीप मे भेड़ो के बाद गाय बैलो का दूसरा स्थान है। इन पशुओ की सख्या १ मार्च, १९७० को २,१६,६२,००० थी। मास के पशुओ मे से लगभग आधे क्वीसलैंड मे हैं और न्यू साउथवेल्स मे २० प्रति शत, उत्तरी टेरिटरी मे १० प्रति शत और विक्टोरिया तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया, प्रत्येक मे ७ प्रति शत। पशु अधिकतर वर्षावाले भागो मे पाए जाते हैं। पूर्वीय तट के भागो मे और विक्टोरिया मे, जहाँ अच्छे प्रकार के चरागाह हैं और जहाँ दुग्धपशुओ की आवश्यकता भी अधिक है, वे विशेष रूप से पाले जाते है। सवाना घास के मैदानो मे और आर्टीजियन कूपो की द्रोणी में
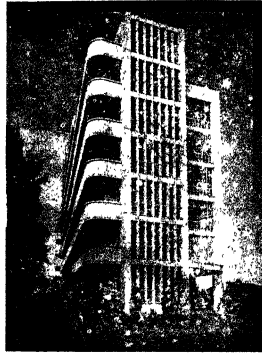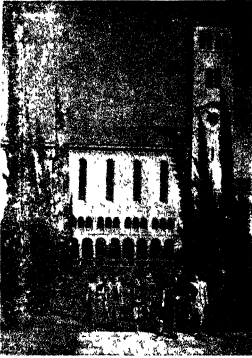
आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर, बाईं ओर पर्थ नगर मे पश्चिमी आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालय का एक हाल। ऊपर, दाहिनी ओर विक्टोरिया प्रात की राजधानी मेलबर्न के उपनगर मे छोटे किरायेदारों के लिये भवन। नीचे, ट्रक्टर से गन्ने की खेती।

आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर बाईं ओर यारा नदी के किनारे बसा मेलबर्न (जनसंख्या लगभग २४ लाख) ऊपर दाहिनी ओर न्यूकैसल में लोहे का कारखाना, जिसमें ३,००० मनुष्य काम करते हैं। नीचे बाईं ओर वायुयान से सिडनी (जनसंख्या लगभग २७ लाख), नीचे दाहिनी ओर चिकित्सा सेवा (रोगी को वायुयान पर ले जा रहे हैं)।

आस्ट्रेलिया के कुछ जंतु

ऊपर कँगरू, उत्पन्न होने के समय मूँगफली के बराबर किंतु बड़ा होने पर ६ फुट ऊँचा। मध्य में टाजमेनिया द्वीप का डेविल (शैतान) नामक भयानक जंगली जंतु जो लगभग १ गज लंबा होता है, नीचे पास की एक जलमग्न प्रवाल-शैल-माला की लाल धारियोंवाली मछली।

विशेषकर मासवाले पशु ही पाले जाते हैं, जो तीन वर्ष के होने पर न्यू साउथ-वेल्स और विक्टोरिया में हृष्ट पुष्ट करने के लिये भेजे जाते हैं। वे वहीं काटे जाते हैं। क्वींसलैंड में टाउसवैल, राकहैंपटन, बविन, ग्लैड्स्टन और ब्रिस्बेन नामक स्थानों में मास तैयार करने के कारखाने हैं। मास के निर्यात का अधिकांश भाग ब्रिटेन को जाता है।

उद्योग धंधे—यद्यपि आस्ट्रेलिया सौ से अधिक वर्षों तक किसानों और सोना निकालनेवालों का प्रदेश रहा है, तथापि अब खनिजों एवं अन्य कच्चे मालों पर निर्भर उद्योगों की उन्नति दिन-प्रति-दिन होती जा रही है। सबसे महत्वपूर्ण उद्योग लोहा तथा इस्पात एवं उससे सबधित भारी रासायनिक उद्योगों का है। ये मुख्य रूप से कोयले की खानों के निकट स्थित है। इस्पात का प्रथम कारखाना लिथगो में, न्यूकैंसिल नामक कोयला क्षेत्र पर, १६०७ में खोला गया, परन्तु आधुनिक ढंग का प्रथम कारखाना १९१५ में खुला। सबसे बड़ा कारखाना सन् १९३७-४१ में वायला में खुला, जहाँ पर अब पानी के जहाज बनाने का एक बड़ा कारखाना भी है। हंटर घाटी आस्ट्रेलिया का उद्योगकेंद्र है, जहाँ न्यूकैंसिल का इस्पात कारखाना और कोयला सबधी रासायनिक उद्योग धधे, जैसे कोलतार, बेंजोल एवं सल्फ्यूरिक ऐसिड आदि उद्योग चल रहे है।

महाद्वीप के अन्य उद्योग धधे अधिकतर प्रातों की राजधानियों में है, जिनमें ऊनी, सूती और रेशम के कपड़े बुनने के उद्योग, हल्की कलें, मोटर, ट्रैक्टर, वायुयान, बिजली के सामान, खेतों के औजार और यत्र, रासायनिक वस्तुएँ, मदिरा और अन्य वस्तुएँ बनाने के उद्योग है। इनके अतिरिक्त आटा पीसने और दुग्धपदार्थों के उद्योग गेहूँ और पशुपालन क्षेत्रों में स्थापित है। क्वींसलैंड में मास और शक्कर के अधिकांश कारखाने है। अधिकांश कारखाने छोटे ही है।

जनसंख्या—मुख्यत जलवायु अनुकूल न होने के कारण आस्ट्रेलिया एक विशाल महाद्वीप होते हुए भी जनसख्या की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। इसमें लगभग उतने ही मनुष्य बसते है जितने केवल न्यूयार्क नगर में है। आस्ट्रेलिया की औसत जनसख्या (तीन व्यक्ति प्रति वर्ग मील) ससार की औसत आबादी (५० व्यक्ति प्रति वर्ग मील) से कहीं कम है। महाद्वीप की अधिकाश जनसख्या समुद्रतट के निकट ही रहती है तथा केवल पूर्वी तट और दक्षिण के ठढे स्थानों में घनी है। नगरवासियों की सख्या ग्रामवासियों की अपेक्षा दिन-प्रति-दिन बढती जा रही है और कुल जनसख्या के लगभग ७० प्रति शत लोग नगरों में निवास करते है। १९७० ई० में प्रातों की राजधानियों की जनसख्या निम्नलिखित थी

केनबेरा	१,३८,६००
सिडनी	२७,१२,६१०
मेलबोर्न	२३,७२,७००
ब्रिस्बेन	८,३३,४००
एडीलेड	८,०८,६००
पर्थ	६,२५,५००
होबार्ट	१,५७,८३०
बृहद् डार्विन	३०,२००

महाद्वीप की वर्तमान अनुमित जनसख्या लगभग १,२५,५१,७०० है। आस्ट्रेलिया में गोरी जाति के लोगों के पहुँचने के समय लगभग तीन लाख आदिवासी थे, परतु अब उनकी सख्या काफी घट गई है। डारविन के पूर्व आर्नहेमलैंड आदिवासियों का क्षेत्र घोषित कर दिया गया है।

परिवहन—१९वीं शताब्दी के मध्य के पूर्व से, जब रेलें नहीं थी, महाद्वीप में परिवहन के मुख्य साधन घोड़े, ऊँट और नावें थी। परतु आज ऊँट और नदियों का कोई स्थान नहीं है, रेलें और मोटरें सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। आस्ट्रेलिया के भीतरी भागों के विकास में उनका अधिक महत्व है। महाद्वीप की पहली रेल की पटरी सिडनी और परामाटा के बीच १८५० ई० में बिछाई गई थी जो १५ मील लबी थी। १८८१ से रेलमार्गों में बड़ी शीघ्रता से वृद्धि हुई। महाद्वीप की ट्रास-काटिनेंटल रेलवे, पोर्ट पीरो से कालगुर्ली तक, १९१७ में बिछाई गई थी। १९७० तक रेलमार्गों की लबाई २५,००० मील हो गई। अनियमित वृद्धि के कारण रेलमार्ग तीन भिन्न माप के हैं, जिनके कारण अत प्रदेशीय परिवहन में काफी कठिनाई होती है। अधिकाश रेलमार्ग बंदरगाहों को स्वतत्र रूप से भीतरी भागों से मिलाते है। वर्तमान समय में रेलों की अपेक्षा मोटरकार, ट्रक और वायुयान का महत्व अधिक हो गया है। जनसख्या से मोटरकारों और ट्रकों का अनुपात यहाँ लगभग वही है, जो सयुक्त राष्ट्र (अमरीका) में है। साथ ही आस्ट्रेलिया निवासी ससार में वायुयान का सबसे अधिक प्रयोग करते हैं।

व्यापार—आस्ट्रेलिया एक बड़ा व्यापारी महाद्वीप है। यह कच्चा माल और खाद्य पदार्थ बड़ी मात्रा में अन्य देशों को निर्यात करता है। इनमें प्रमुख स्थान ऊन का है और इन दिनों बढ़े हुए मूल्य के कारण ऊन का मूल्य सपूर्ण निर्यात वस्तुओं का लगभग ८० प्रति शत है। खेती सबंधी वस्तुएँ, जैसे गेहूँ, आटा, शक्कर, जौ, फल, अचार, मुरब्बा एव शराब का द्वितीय स्थान है। इसके पश्चात् कारखानों में बनी वस्तुएँ और तत्पश्चात् मक्खन, पनीर, अंडे एव मुर्गी आदि के निर्यात का स्थान है। ब्रिटेन से इसका सबसे घनिष्ठ व्यापारिक सबध है। (आ० स्व० जौ०)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आस्ट्रेलिया ने प्रशात महासागरीय क्षेत्र तथा एशियाई मामलों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। साथ ही इस देश ने भारत, दक्षिणपूर्व एशिया तथा जापान के साथ अपने राजनीतिक तथा आर्थिक सबधों को भी पूर्वापेक्षा अधिक घनिष्ठ बनाया है। अमरीका के साथ भी इसके सबध पहले से अधिक मजबूत हुए है; यहाँ तक कि १९७० ई० तक वियतनाम युद्ध में इसने अपने सैनिक भेजकर अमरीका की पर्याप्त सहायता की है। आस्ट्रेलिया कोलबो योजना को प्रारभ करनेवाले राष्ट्रों में से एक है। अत इसने एशियाई देशों को अर्थ, सामग्री तथा प्रशिक्षण सबधी काफी सहायता दी है। १९६६ ई० में सर राबर्ट मेजीज ने १६ वर्ष तक यहाँ के प्रधान मत्री की हैसियत से काम करने के उपरात इस्तीफा दे दिया। तत्पश्चात् श्री हैरोल्ड हाल्ट आस्ट्रेलिया के प्रधान मत्री हुए। किंतु तैरते समय पानी में डूब जाने से श्री हाल्ट की मृत्यु हो गई और श्री जे० जी० गार्टन नए प्रधान मत्री बनाए गए। १९७१ ई० में श्री गार्टन की सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पारित हो गया और श्री विलियम मैकमहोन ने प्रधान मत्री का पद सँभाल लिया।

आस्ट्रेलिया राष्ट्रमडल का सदस्य देश है। यह छह राज्यों—न्यू साउथ वेल्स, विक्टोरिया, क्वींसलैंड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी आस्ट्रेलिया एव तस्मानिया तथा एक केंद्रशासित प्रदेश उत्तरी प्रदेश से मिलकर बना सघीय शासनपद्धति को अपनानेवाला राष्ट्र है। केंद्र में दो सदन हैं—१ सीनेट तथा २ प्रतिनिधि सभा। सीनेट में सभी राज्यों से समान सख्या में प्रतिनिधि होते है जबकि प्रतिनिधि सभा में प्रतिनिधियों की सख्या राज्य-विशेष की जनसख्या के अनुसार रहती है। सघीय अधिकारक्षेत्र में आनेवाले कुछ अधिकारों को छोड़कर, राज्यों की सभी सरकारें पूर्णत स्वायत्तशासी हैं। क्वींसलैंड के अतिरिक्त शेष सभी राज्यों में दो दो उच्च एव अवर सदन है। राज्यों के मुख्यमत्रियों को 'प्रीमियर्स' कहा जाता है जबकि केंद्र में प्रधान मत्री मत्रिमडल का अध्यक्ष होता है। (कै० च० श०)

आस्ट्रेलियाई भाषाएँ इस परिवार की भाषाएँ आस्ट्रेलिया महाद्वीप के सभी प्रदेशों में मूलनिवासियों द्वारा बोली जाती हैं और एक ही स्रोत से निकली है। ये अत में प्रत्यय जोड़नेवाली, योगात्मक, अश्लिष्ट प्रकृति की है, इस कारण कुछ लोग इन्हें द्राविड भाषाओं से सबद्ध समझते थे। इस परिवार की टस्मेनिया भाषा अब समाप्त हो चुकी है। अन्य भाषाएँ भी जगली जातियों की है। समस्त आस्ट्रेलिया महाद्वीप की जनसख्या प्राय सवा करोड़ है जिसमें ये मूलनिवासी केवल ५०—६० हजार रह गए है।

इन भाषाओं में महाप्राण व्यजनों को छोड़कर कवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के तीन तीन व्यजन है। चारों अतस्थ (य, र, ल, व) भी है। स्वरों में इ, ई, उ, ऊ, ए, ए, औ, ओ विद्यमान है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग होता है। कहीं कहीं त्रिवचन भी है। क्रिया की प्रक्रिया जटिल है जिसमें सर्वनाम जुड़ जाता है। सज्ञा की कर्तृ, कर्म, सप्रदान, सबध, अपादान आदि विभक्तियाँ भी हैं। (बा० रा० स०)

आस्तिक (दर्शनशास्त्र में) वह कहलाता है जो ईश्वर, परलोक और धार्मिक ग्रंथों के प्रामाण्य में विश्वास रखता हो। भारत में यह कहावत प्रचलित है "नास्तिको वेदनिन्दक", अर्थात् वेद की निंदा करनेवाला नास्तिक है। इसलिये भारत के नौ दर्शनों में से वेद का प्रमाण माननेवाले छह दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदांत)—आस्तिक दर्शन कहलाते हैं और शेष तीन दर्शन—बौद्ध, जैन और चार्वाक—इसलिये नास्तिक कहलाते हैं कि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते। बौद्ध और जैन दर्शन अपने को आस्तिक दर्शन इसलिये कहते हैं कि वे परलोक, स्वर्ग, नरक और मृत्यूपरांत जीवन में विश्वास करते हैं, यद्यपि वेदों और ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वेदों को प्रमाण मानने के कारण आस्तिक कहलानेवाले सभी भारतीय दर्शन जगत् की सृष्टि करनेवाले ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। यदि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करनेवाले दर्शनों को ही आस्तिक कहा जाय तो केवल न्याय, वैशेषिक, योग और वेदांत ही आस्तिक दर्शन कहे जा सकते हैं। पुराने वैशेषिक दर्शन (कणाद के सूत्रों) में भी ईश्वर का कोई विशेष स्थान नहीं है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में ही ईश्वर के कार्य का संकेत किया है। योग का ईश्वर भी सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है। सांख्य और पूर्वमीमांसा सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते। यदि भौतिक और नाशवान् शरीर के अतिरिक्त तथा शरीर के गुण और धर्मों के अतिरिक्त और भिन्न गुण और धर्मवाले किसी प्रकार के आत्मतत्व में विश्वास रखनेवाले को आस्तिक कहा जाय तो केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के प्राय सभी दर्शन आस्तिक है, यद्यपि बौद्ध दर्शन में आत्मतत्व को भी क्षणिक और संघातात्मक माना गया है। बौद्ध लोग भी शरीर को आत्मा नहीं मानते।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में आस्तिक उसे कहते हैं जो जीवन के उच्चतम मूल्यों, अर्थात् सत्य, धर्म और सौंदर्य के अस्तित्व और प्राप्यत्व में विश्वास करता हो। पाश्चात्य देशों में आजकल कुछ ऐसे मत चले हैं जो केवल दृष्ट (ज्ञात अथवा ज्ञातव्य) पदार्थों में ही विश्वास करते हैं और आत्मा, परलोक, ईश्वर और जीवन से परे के मूल्यों में नहीं करते। वे समझते हैं कि विज्ञान द्वारा ये सिद्ध नहीं किए जा सकते। ये केवल दार्शनिक कल्पनाएँ हैं और वास्तविक नहीं हैं, केवल मृगतृष्णा के समान मिथ्या विश्वास हैं। उनके अनुसार आस्तिक (पोजिटिविस्ट) वही है जो ऐहिक और लौकिक सत्ता में विश्वास रखता हो और दर्शन की मिथ्या कल्पनाओं से मुक्त हो। इस दृष्टि से तो भारत का केवल एक दर्शन—चार्वाक—ही आस्तिक है। (भी० ला० आ०)

आस्तिकता (थीज्म)—भारतीय दर्शन में ईश्वर, ईश्वराज्ञा, परलोक, आत्मा आदि अदृष्ट पदार्थों के अस्तित्व में, विशेषत ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का नाम आस्तिकता है। पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का ही नाम थीज्म है। संसार के विश्वासों के इतिहास में ईश्वर की कल्पना अनेक रूपों में की गई है और उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। उनमें मुख्य ये हैं

(१) **ईश्वर का स्वरूप**—मानवानुरूप व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर (परसनल गाड)। इस संसार का उत्पादक (स्रष्टा), संचालक और नियामक, मनुष्य के समान शरीरधारी, मनोवृत्तियों से युक्त परमशक्तिशाली परमात्मा है। वह किसी एक स्थान (धाम) पर रहता है और वहीं से सब संसार की देखभाल करता है, लोगों को पाप पुण्य का फल देता है एवं भक्ति और प्रार्थना करने पर लोगों के दुःख और विपत्ति में सहायता करता है। अपने धाम से वह इस संसार में सच्चा धार्मिक मार्ग सिखाने के लिये अपने बेटे पैगंबरों, ऋषिमुनियों को समय समय पर भेजता है और कभी स्वयं ही किसी न किसी रूप में अवतार लेता है। दुष्टों का दमन और सज्जनों का उद्धार करता है। इस मत को पाश्चात्य दर्शन में थीज्म कहते हैं।

(२) **सृष्टिकर्ता मात्र ईश्वरवाद**—(डीज्म) कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि ईश्वर तो सृष्टिकर्ता मात्र है और उसने ऐसी सृष्टि रच दी है कि वह स्वयं अपने नियमों से चल रही है। उसको अब इससे कोई मतलब नहीं। जैसे घड़ी बनानेवाले को अपनी बनाई हुई घड़ी से, बनने के पश्चात्, कोई संबंध नहीं रहता। वह चलती रहती है। इस मत की कुछ झलक वैष्णवों की इस कल्पना में मिलती है कि भगवान् विष्णु क्षीरसागर में सोते रहते हैं और शैवों की इस कल्पना में कि भगवान् शंकर कैलास पर्वत पर समाधि लगाए बैठे रहते हैं और संसार का कार्य चलता रहता है।

(३) "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**"—यह समस्त संसार ब्रह्म ही है (पैथीज्म), इस सिद्धांत के अनुसार संसार और भगवान् कोई अलग अलग वस्तु नहीं है। भगवान् और संसार एक ही है। जगत् भगवान् का शरीर मात्र है जिसके कण कण में वह व्याप्त है। ब्रह्म = जगत् और जगत् = ब्रह्म। इसको अद्वैतवाद भी कहते हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के मत का नाम पैंथीज्म है।

(४) **ब्रह्म जगत् से परे** भी है। इस मतवाले, जिनको पाश्चात्य देशों में 'पैन एनथीस्ट' कहते हैं, यह मानते हैं कि जगत् में भगवान् की परिसमाप्ति नहीं होती। जगत् तो उसके एक अंश मात्र में है। जगत् सांत है, सीमित है और इसमें भगवान् के सभी गुणों का प्रकाश नहीं है। भगवान् अनादि, अनंत और अचिंत्य है। जगत् में उनकी सत्ता और स्वरूप का बहुत थोड़े अंश में प्राकट्य है। इस मत के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म है, पर समस्त ब्रह्म जगत् नहीं है।

(५) **अजातवाद, अजातिवाद अथवा जगद्रहित शुद्ध ब्रह्मवाद**—(अकास्मिज्म) इस मत के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं है। सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। जगत् नाम की वस्तु न कभी उत्पन्न हुई, न है और न होगी। जिसको हम जगत् के रूप में देखते हैं वह कल्पना मात्र, मिथ्या भ्रम मात्र है जिसका ज्ञान द्वारा लोप हो जाता है। वास्तविक सत्ता केवल विकाररहित शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म की ही है जिसमें सृष्टि न कभी हुई, न होगी।

आस्तिकता के अंतर्गत एक यह प्रश्न भी उठता है कि ईश्वर एक है अथवा अनेक। कुछ लोग अनेक देवी देवताओं को मानते हैं। उनको बहुदेववादी (पोलीथीस्ट) कहते हैं। वे एक देव को नहीं जानते। कुछ लोग जगत् के नियामक दो देवों को मानते हैं—एक भगवान् और दूसरा शैतान। एक अच्छाइयों का स्रष्टा और दूसरा बुराइयों का। कुछ लोग यह मानते हैं कि बुराई भले भगवान् की छाया मात्र है। भगवान् एक ही है, शैतान उसकी मायाशक्ति का नाम है जिसके द्वारा संसार में सब दोषों का प्रसार है, पर जो स्वयं भगवान् के नियंत्रण में रहती है। कुछ लोग मायारहित शुद्ध ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार संसार शुद्ध ब्रह्म का प्रकाश है, उसमें स्वयं कोई दोष नहीं है। हमारे अज्ञान के कारण ही हमको दोष दिखाई पड़ते हैं। पूर्ण ज्ञान हो जाने पर सबको मंगलमय ही दिखाई पड़ेगा। इस मत को शुद्ध ब्रह्मवाद कहते हैं। इसी को अद्वैतवाद अथवा ऐक्यवाद (मोनिज्म) कहते हैं।

आस्तिकता के पक्ष में युक्तियाँ—पाश्चात्य और भारतीय दर्शन में आस्तिकता को सिद्ध करने में जो अनेक युक्तियाँ दी जाती है उनमें से कुछ ये हैं

(१) मनुष्यमात्र के मन में ईश्वर का विचार और उसमें विश्वास जन्मजात है। उसका निराकरण कठिन है, अतएव ईश्वर वास्तव में होना चाहिए। इसको आटोलॉजिकल, अर्थात् प्रत्यय से सत्ता की सिद्धि करनेवाली युक्ति कहते हैं।

(२) संसारगत कार्य-कारण-नियम को जगत् पर लागू करके यह कहा जाता है कि जैसे यहाँ प्रत्येक कार्य के उपादान और निमित्त कारण होते हैं, उसी प्रकार समस्त जगत् का उपादान और निमित्त कारण भी होना चाहिए और वह ईश्वर है (कास्मोलॉजिकल, अर्थात् सृष्टिकारण युक्ति)।

(३) संसार की सभी क्रियाओं का कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है और इसकी सब क्रियाएँ नियमपूर्वक और संगठित रीति से चल रही है। अतएव इसका नियामक, योजक और प्रबंधक कोई मंगलकारी भगवान् होगा (टिलियालोजिकल, अर्थात् उद्देश्यात्मक युक्ति)।

(४) जिस प्रकार मानव समाज में सब लोगों को नियंत्रण में रखने के लिये और अपराधों का दंड एवं उपकारों और सेवाओं का पुरस्कार देने के लिये राजा अथवा राजव्यवस्था होती है उसी प्रकार समस्त सृष्टि को नियम पर चलाने और पाप पुण्य का फल देनेवाला कोई सर्वज्ञ, सर्व-

शक्तिमान् और न्यायकारी परमात्मा अवश्य है। इसको मॉरल या नैतिक युक्ति कहते है।

(५) योगी और भक्त लोग अपने ध्यान और भजन मे निमग्न होकर भगवान् का किसी न किसी रूप मे दर्शन करके कृतार्थ और तृप्त होते दिखाई पडते हैं (यह युक्ति रहस्यवादी, अर्थात् मिस्टिक युक्ति कहलाती है)।

(६) ससार के सभी धर्मग्रथो मे ईश्वर के अस्तित्व का उपदेश मिलता है, अतएव सर्व-जन-साधारण का और धार्मिक लोगो का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है। इस युक्ति को शब्दप्रमाण कहते है।

नास्तिको ने इन सब युक्तियो को काटने का प्रयत्न किया है (द्र० 'अनीश्वरवाद')।

स०ग्रं०—बावने : थीज्म, फ्लिट थीज्म, हाकिग द मीनिग ऑव गॉड इन ह्यूमन एक्सपीरियस, फ्रेजर : फिलासफी ऑव थीज्म, विलियम जेम्स : द विल टु बिलीव, फ्लिके : थ्रू नेचर टु गॉड, उदयन : न्यायकुसुमाजलि। (भी० ला० आ०)

आस्तीक ऋषि जरत्कारु और तक्षक की बहन जरत्कारु के पुत्र, एक ऋषि। गर्भावस्था मे ही माँ कैलास चली गई थी और शकर ने उन्हे ज्ञानोपदेश दिया। गर्भ मे ही धर्म और ज्ञान का उपदेश पाने के कारण इनका नाम आस्तीक पडा। भार्गव ऋषि से सामवेद का अध्ययन समाप्त कर इन्होने शकर से मृत्युजय मत्र का अनुग्रह लिया और माता के साथ आश्रम लौट आए। पिता की मृत्यु सर्पदश से होने के कारण राजा जनमेजय ने सर्पसत्र करके सब सर्पों को मार डालने के लिये यज्ञ किया। अत मे तक्षक नाग की बारी आई। जब माता जरत्कारु को यज्ञ की बात मालूम हुई तो उन्होने आस्तीक को मामा तक्षक की रक्षा की आज्ञा दी। आस्तीक ने यज्ञमडप मे पहुँचकर जनमेजय को अपनी मधुर वाणी से मोह लिया। उधर तक्षक घबराकर इद्र की शरण गया। ब्राह्मणो के आह्वान पर भी जब तक्षक नही आया तब ब्राह्मणो ने राजा से कहा कि इद्र से अभय पाने के कारण ही वह नही आ रहा है। राजा ने आदेश दिया कि इद्र सहित उसका आह्वान किया जाए। जैसे ही ब्राह्मणो ने 'इद्राय तक्षकाय स्वाहा' कहा वैसे ही इद्र ने उसे छोड दिया और वह अकेले यज्ञकुड के ऊपर आकर खडा हो गया। उसी समय राजा ने आस्तीक से कहा कि तुम्हे जो चाहिए वह मागो। आस्तीक ने तक्षक को कुड मे गिरने से रोककर राजा से अनुरोध किया कि सर्पसत्र रोक दीजिए। वचनबद्ध होने के कारण जनमेजय न खिन्न मन से आस्तीक की बात मानकर तक्षक को मत्रप्रभाव से मुक्ति दी और नागयज्ञ बद कर दिया। सर्पों ने प्रसन्न होकर आस्तीक को वचन दिया कि जो तुम्हारा आख्यान श्रद्धासहित पढेगे उन्हे हम कष्ट नही देगे। जिस दिन सर्पयज्ञ बद हुआ था उस दिन पचमी थी। अत आज भी भारतीय उक्त तिथि को नागपचमी के रूप मे मनाते है। (म०)

आस्मियम प्लैटिनम समूह की छह धातुओ मे से एक है और इन सबमे अधिक दुष्प्राप्य है। इसको सबसे पहले टेनाट ने १८०४ मे आस्मि-इरीडियम से प्राप्त किया। आस्मिइरीडियम का सोडियम क्लोराइड के साथ क्लोरीन गैस की धारा मे पिघलाने पर आस्मियम टेट्राक्लोराइड (आ$_{स}$ क्लो$_{४}$) बनता है जो उड़कर एक जगह एकत्र हो जाता है। इसकी अमोनियम क्लोराइड के साथ प्रतिक्रिया कराने पर (नाहा$_{४}$)$_{२}$ आ$_{स}$ क्लो$_{६}$ बन जाता है, जिसको वायु की अनुपस्थिति म तप्त करने पर आस्मियम धातु प्राप्त होती है (सकेत आ$_{स}$O$_{8}$, परमाणुभार १९०, परमाणु-सख्या ७६)।

इसके मुख्य प्राप्तिस्थान रूस, टैसमेनिया तथा दक्षिण अफ्रीका है। यह ज्ञात पदार्थों मे सबसे भारी है। इसका आपेक्षिक घनत्व २२.५ है तथा यह २७००° सें० पर पिघलती है। यह अत्यंत कठोर धातु है और विकर की कठोरता की नाप के अनुसार इसकी कठोरता लगभग ४०० है। इसकी विद्युतीय विशिष्ट प्रतिरोधकता ८.८ है। शुद्ध धातु न गर्म अवस्था मे और न ठढी मे व्यवहारयोग्य है। हवा मे गर्म करने पर इसका उडनशील आक्साइड आ$_{स}$ औ$_{४}$ बन जाता है। इस धातु पर किसी अवकारक अम्ल का कोई प्रभाव नहीं होता तथा अम्लराज भी साधारण ताप पर इसपर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। यह प्लैटिनम, इरीडियम तथा रुथेनियम धातुओ के साथ बड़ी सुगमता से मिश्रधातु बना लेती है जो अत्यधिक कठोर होती है। इसको प्लैटिनम में आठ प्रतिशत तक मिलाकर काम मे लाया जा सकता है। इन मिश्रणों से वस्तुएँ चूर्ण धातुकामिकी (पाउडर मेटलर्जी) की रीतियो से निर्मित की जाती है। आस्मियम की सयोजकता २, ३, ४, ६, तथा ८ होती है। इसके यौगिक आ$_{स}$ क्लो$_{३}$, आ$_{स}$ क्लो$_{४}$, आ$_{स}$ क्लो$_{६}$ तथा आ$_{स}$ क्लो$_{८}$ बनाए जा सकते है। आ$_{स}$ औ$_{४}$ बहुत ही उडनशील तथा विषाक्त पदार्थ है।

यह धातु सर्वप्रथम साधारण विद्युत् बल्बो (इनकैंडिसेंट इलेक्ट्रिक बल्बो) मे प्रयुक्त की गई, परतु यह बहुत ही मूल्यवान् थी और इससे एक वाष्प निकलता था। इसलिये शीघ्र ही इसकी जगह सस्ती और अधिक लाभदायक धातुओ का उपयोग होने लगा। अति सूक्ष्म विभाजित धातु उत्प्रेरक का काम करती है। आ$_{स}$ औ$_{४}$ इस धातु का सबसे महत्वपूर्ण यौगिक है। यह औतिक अभिरजक (हिस्टोलॉजिकल स्टेन) के तथा उँगली की छाप लेने के काम आता है। परक्लोरेट की उपस्थिति मे क्लोरेट को निकालने मे भी इसका प्रयोग होता है। इस धातु का उपयोग सबसे कठोर मिश्रधातुओ के बनाने मे होता है। ये मिश्रधातुएँ बहुमूल्य औजारो के भार (बेयरिंग) बनाने में और आस्मियम-इरीडियम मिश्रधातु फाउटेनपेन की निब बनाने मे काम आती है।

(आ$_{स}$ = आस्मियम, औ = आक्सिजन, क्लो = क्लोरीन, ना = नाइट्रोजन; हा = हाइड्रोजन)। (स० प्र०)

आहवमल्ल, सोमेश्वर प्रथम प्रसिद्ध चालुक्यराज जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल का पुत्र जो १०४२ ई० मे सिहासन पर बैठा। पिता का समृद्ध राज्य प्राप्त कर उसने दिग्विजय करने का निश्चय किया। चोल और परमार दोनो उसके शत्रु थे। पहले वह परमारो की ओर बढा। राजा भोज धारा और माडू छोड उज्जैन भागा और सोमेश्वर दोनो नगरो को लूटता उज्जैन पर जा चढा। उज्जैन की भी वही गति हुई, यद्यपि भोज सेना तैयार कर फिर लौटा और उसने खोए हुए प्रात लौटा लिए। कुछ दिनो बाद जब अह्निलवाड के भीम और कलचुरी लक्ष्मीकर्ण से सघर्ष के बीच भोज मर गया तब उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने सोमेश्वर से सहायता माँगी। सोमेश्वर ने उसे मालवा की गद्दी पर बैठा दिया और स्वय चोलो से जा भिडा। १०५२ ई० मे कृष्णा और पचगगा के सगम पर कोप्पम के प्रसिद्ध युद्ध मे चोलो को परास्त किया। बिल्हण के 'विक्रमाक-देवचरित' के अनुसार तो सोमेश्वर एक बार चोल शक्ति के केंद्र काची तक जा पहुँचा था। सोमेश्वर ने दक्षिण और निकट के राजकुलो से सफल लोहा लेकर अब अपना रुख उत्तर की ओर किया। मध्यभारत मे चदेलो और कछवाहो को रौदता वह गगा जमुना के द्वाब की ओर बढा और कन्नौज-राज ने डरकर कदराओ की शरण ली। उसकी शक्ति इस प्रकार बढती देख लक्ष्मीकर्ण कलचुरी ने उसकी राह रोकी, पर उसे हारकर मैदान छोडना पडा। उसी बीच सोमेश्वर के बेटे विक्रमादित्य ने मिथिला, मगध, अग, वग और गौड को रौद डाला। तब कही कामरूप (आसाम) पहुँचने पर वहा के राजा रत्नपाल ने चालुक्यो की बाग रोकी और सोमेश्वर कोशल की राह घर लौटा। हैदराबाद म कल्याणी नाम का नगर उसी का बसाया हुआ प्राचीन कल्याण है जिसे उसने अपनी राजधानी बनाया था। १०६८ ई० मे बीमार पडने पर जब सोमेश्वर ने अपने बचने की आशा न देखी तब वह तुगभद्रा मे स्वेच्छा से डूबकर मर गया। (ओ० ना० उ०)

आहार और आहारविद्या आहार जीवन का आधार है। प्रत्येक प्राणी के जीवन के लिये आहार आवश्यक है। अत्यत सूक्ष्म जीवाणु से लेकर बृहत्काय जतुओ, मनुष्यो, वृक्षो तथा अन्य वनस्पतियो को आहार ग्रहण करना पडता है। वनस्पतियाँ अपना आहार पृथ्वी और वायु से क्रमश अकार्बनिक लवण और कार्बन डाईआक्साइड के रूप मे ग्रहण करती है। सूर्य के प्रकाश मे पौधे इन्ही से अपने भीतर उपयुक्त कार्बोहाइड्रेट, वसा और अन्य पदार्थ तैयार कर लेते है।

मनुष्य तथा जतु अपना आहार वनस्पतियो तथा जातव शरीरो से प्राप्त करते है। इस प्रकार उनको बना बनाया आहार मिल जाता है, जिसके अवयव उन्ही अकार्बनिक मौलिक तत्वो से बने होते हैं जिनको

वनस्पतियाँ पृथ्वी तथा वायु से ग्रहण करती हैं। अतएव जंतु वर्ग के लिये वृक्ष ही भोजन तैयार करते हैं। कुछ वनस्पतियों का ओषधियों के रूप में भी प्रयोग होता है।

आहार या भोजन के तीन उद्देश्य हैं (१) शरीर को अथवा उसके प्रत्येक अंग को क्रिया करने की शक्ति देना, (२) दैनिक क्रियाओं में ऊतकों के टूटने फूटने में नष्ट होनेवाली कोशिकाओं का पुनर्निर्माण और (३) शरीर को रोगों से अपनी रक्षा करने की शक्ति देना।

अतएव स्वास्थ्य के लिये वही आहार उपयुक्त है जो इन तीनों उद्देश्यों को पूरा करे।

मनुष्य के आहार में छह विशिष्ट अवयव पाए जाते हैं (१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेट, (३) स्नेह या वसा, (४) खनिज पदार्थ, (५) विटामिन और (६) जल। जंतुओं और मनुष्यों के शरीर भी इन्हीं पदार्थों से बने होते हैं। उनके रासायनिक विश्लेषण से ये ही अवयव उनमें उपस्थित मिलते हैं। अतएव आहार में इन अवयवों को यथोचित मात्रा में रहना चाहिए।

१ **प्रोटीन**--प्रोटीन विशेषकर अनाज, दूध, मांस, मछली और अंडे में मिलते हैं। प्रोटीन पचने पर ऐमिनो-अम्ल में परिवर्तित हो जाते हैं। इन ऐमिनो-अम्लों का फिर से संश्लेषण करके शरीर अपने लिये अन्य उपयुक्त प्रोटीन तैयार करता है। मनुष्य का शरीर कुछ ऐमिनो-अम्ल तो आहार में बना लेता है, किंतु कतिपय अन्य ऐसे अम्लों को वह नहीं बना सकता। ये ऐमिनो-अम्ल मनुष्य वनस्पति और जंतुओं के शरीर से प्राप्त करता है। कुछ प्रोटीन शरीर के लिये अत्यावश्यक होते हैं। उनको श्रेष्ठ या प्रथम श्रेणी का प्रोटीन कहा जाता है। ये प्रोटीन विशेषकर जंतुओं से प्राप्त होते हैं। इनमें प्रथम स्थान दूध का है। अंडा, मांस, मछली में भी प्रथम श्रेणी के प्रोटीन हैं। इनका काम शरीर के अवयवों को बनाना है। इनका कुछ भाग शरीर को शक्ति और गर्मी भी प्रदान करता है।

२ **कार्बोहाइड्रेट**--यह अवयव मुख्यत: वनस्पति से प्राप्त होता है। चीनी या शर्करा शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है। ग्लूकोज, लेव्युलोज, माल्टोज और लैक्टोज शर्करा के ही प्रकार हैं, अतएव ये भी शुद्ध कार्बोहाइड्रेट हैं। ग्लाइकोजेन तथा श्वेतसार (स्टार्च) भी संपूर्ण कार्बोहाइड्रेट हैं। सब प्रकार के कार्बोहाइड्रेट पाचनक्रिया द्वारा अंत में ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाते हैं। सेल्युलोज पर पाचक रसों की क्रिया नहीं होती। ग्लूकोज शरीर में ईंधन का काम करता है। इसकी उसे प्रत्येक क्षण आवश्यकता रहती है, क्योंकि पेशियों में सदा ही संकोच तथा शिथिलता होती रहती है। जो ग्लूकोज बच जाता है, वह पेशियों और यकृत में ग्लाइकोजेन के रूप में संचित हो जाता है और पेशियों के काम करने के समय फिर से ग्लूकोज में परिवर्तित होकर, भिन्न भिन्न प्रकिण्वों (एनज़ाइमों) और आक्सिजन की सहायता से ऊष्मा उत्पन्न करता है और ऊर्जा के रूप में पेशियों को काम करने के योग्य बनाता है।

३ **वसा**--तेल, घी, मक्खन इत्यादि शुद्ध वसा हैं। मांस और अंडे तथा वानस्पतिक पदार्थों में भी वसा रहती है, विशेषकर शुष्क फलों में, जैसे बादाम, अखरोट, काजू और मूँगफली आदि में। वसा का काम भी शरीर में ऊष्मा और ऊर्जा पैदा करना है। कारबोहाइड्रेट की अपेक्षा वसा में ढाई गुनी अधिक शक्ति होती है। वसा कुछ विशिष्ट अम्लों और ग्लिसरीन के संयोग से बनती है। कुछ वसा-अम्ल शारीरिक पोषण के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वे 'नितांत आवश्यक वसा-अम्ल' कहलाते हैं।

४ **खनिज पदार्थ**--कुछ खनिज तो शरीर में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं और कुछ अल्प मात्रा में। कैल्सियम और फास्फोरस शरीर में प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। इन्हीं से अस्थियाँ बनती हैं। इसी श्रेणी में लोह, सोडियम और पोटैसियम भी हैं। लोह रक्त का विशेष अंग है। सोडियम और पोटैसियम शरीर के ऊतकों की प्रक्रिया का नियंत्रण करते हैं जिसपर सारे शरीर का भरण पोषण निर्भर है। इनके असंतुलित होने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

दूसरी श्रेणी के खनिज, जो अल्प मात्रा में शरीर में पाए जाते हैं, ताँबा, कोबल्ट, आयोडीन, फ्लोरीन, मैंगनीज और यशद हैं। ये भी शरीर के लिये आवश्यक हैं। ऐल्युमिनियम, आर्सेनिक, क्रोमियम, सिलीनियम, लीथियम, मालिब्डीनम, सिलिकन, रजत, स्ट्रौंशियम टेल्यूरियम, टाइटेनियम और वैनेडियम भी जंतुओं के शरीर में पाए जाते हैं। किंतु शरीर में इनका कोई उपयोग है या नहीं, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है।

५ **विटामिन**--ये कार्बनिक द्रव्य हैं जो खाद्य वस्तुओं में उपस्थित रहते हैं। इनकी भी शारीरिक प्रक्रियाओं के लिये आवश्यकता है, यद्यपि इनकी अल्प मात्रा ही पर्याप्त होती है। ये न तो शक्तिप्रदायक तत्व हैं और न ह्रासपूरक ही। ये पोषक पदार्थों के उपयोग में सहायता देते हैं। इनकी कार्यविधि उत्प्रेरक, प्रकिण्व (एनजाइम) और सहायक प्रकिण्वों के समान है। प्राय: सभी विटामिन आजकल प्रयोगशालाओं में संश्लेषण से तैयार किए जाते हैं। इनके रासायनिक संघटन तथा सूत्र ज्ञात किए जा चुके हैं। इनके संबंध का ज्ञान हाल का ही है और बढ़ता जा रहा है। दो प्रकार के विटामिन पाए जाते हैं। एक प्रकार के जल में घुल जाते हैं और दूसरे वसा में घुलनेवाले होते हैं। वसा में घुलनेवाले विटामिन 'ए', 'डी', 'ई' और 'के' हैं। 'बी' समुदाय के विटामिन और 'सी' तथा 'पी' विटामिन जल में घुलते हैं। बी समुदाय में बी$_1$, बी$_2$, बी$_{[illegible]}$ (नियासिन), बी$_6$, पेंटाथोनिक अम्ल, फोलिक अम्ल और बी$_{12}$ हैं।

६ **जल**--आहार के ठोस और अर्धठोस पदार्थों में पानी का अंश ७० प्रति शत रहता है। शरीर में भी जल का अनुपात यही है। जल इन वस्तुओं में खनिजमिश्रित रूप में रहता है। मनुष्य प्रति दिन एक से तीन सेर तक ऊपर से भी जल पीता है। भोजन के बिना मनुष्य सप्ताहों तक जीवित रह सकता है, किंतु जल के बिना कुछ दिन भी जीना कठिन है। शरीर के ऊतकों और कोशिकाओं में पोषक तत्वों को ले जाने और उन विश्लेषण प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न, जो इन कोशिकाओं में होती रहती हैं, विषैले अवयवों को शरीर से बाहर निकालने में जल का बहुत महत्व है। ये दूषित पदार्थ मूत्र, मल और स्वेद द्वारा ही शरीर का परित्याग करते हैं।

इन छह खाद्यांशों के अतिरिक्त मनुष्य न पचनेवाले पदार्थ, जैसे सेलुलोज (अर्थात् अनाज और तरकारियों का वह अक्रियाशील भाग जो लकड़ी की तरह होता है), मसाले और भिन्न भिन्न प्रकार के पेयों का भी अपने भोजन के संग प्रयोग करता है। सेल्युलोज से कोष्ठबद्धता दूर होती है, क्योंकि यह पचता नहीं, ज्यों का त्यों मल में निकल जाता है। मसाला भोजन को स्वादिष्ट बनाता है और इसलिये एक सीमा तक पाचन में भी सहायता देता है। जल के अतिरिक्त अन्य पेयों का तो मनुष्य अपने स्वभाव से, अपनी प्रसन्नता या रसना के लिये, आहार के साथ प्रयोग करता है। आदिकाल से वह इन पदार्थों का व्यवहार करता आया है। निस्संदेह इनका रूप बदलता रहा है। आजकल चाय और कॉफी का विशेष व्यवहार किया जाता है। कुछ देशों में कुछ मात्रा में मदिरा का भी व्यवहार होता है। किसी समय भारत में सोमरस का व्यवहार होता था।

आहारविद्या--आहारविद्या बताती है कि मनुष्य का आहार क्या होना चाहिए और आहार के भिन्न भिन्न तत्वों को किस अवस्था में तथा किस मात्रा में खाया जाय, जिससे शारीरिक और मानसिक पोषण उत्तम हो। बाल्यकाल से लेकर १८ वर्ष तक की अवस्था वृद्धि की है। युवावस्था और प्रौढ़ावस्था में शारीरिक वृद्धि नहीं होती। शरीर सुदृढ़ और परिपक्व होता रहता है। वृद्धावस्था में ह्रास प्रारंभ होता है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के लिये ईंधन की आवश्यकता होती है। ईंधन से केवल ताप और ऊर्जा उत्पन्न होती है। परंतु शारीरिक ऊतकों की टूट फूट भी होती रहती है। इसकी पूर्ति तथा शारीरिक वृद्धि के लिये प्रोटीन की आवश्यकता होती है। कार्य करने की ऊर्जा की उत्पत्ति कारबोहाइड्रेट और वसा से होती है। श्रेष्ठ प्रोटीन पाचनक्रियाओं के पश्चात् अंत में ऐमिनो-अम्लों में विभाजित हो जाते हैं, जो नितांत आवश्यक और सामान्य दो प्रकार के होते हैं। वृद्धि के लिये दोनों प्रकार के प्रोटीन आवश्यक हैं। अतएव भोजन में दोनों प्रकार के प्रोटीनों की उपस्थिति आवश्यक है। मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा इन तीनों अवयवों की आवश्यकता रहती है। गर्भस्थ शिशु की वृद्धि के लिये गर्भवती को इनकी अत्यंत अपेक्षा रहती है। शिशु को माता के दूध से प्रोटीन मिलता है जो उसके लिये अत्यंत

आवश्यक है। बाल्यकाल में भी उत्तम ऐमिनो-अम्लोंवाले प्रोटीन बालक को दूध से मिलते हैं। इनकी कमी से शारीरिक और मानसिक विकास नहीं होते। युवावस्था में मनुष्य को शक्तिदायक द्रव्यों की आवश्यकता होती है। वृद्धावस्था में इन क्रियाओं में कमी हो जाती है। इसलिये इस अवस्था में उपर्युक्त दोनों प्रकार के द्रव्यों की कम मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। इनके कम होने से आवश्यक विटामिन की मात्रा में कमी हो जाती है। अतएव वृद्धावस्था में इस न्यूनता को कृत्रिम विटामिन से पूरा किया जाता है।

२०वीं शताब्दी के गत वर्षों को आहारविद्या की दृष्टि से पाँच कालों में बाँटा जा सकता है (१) कैलोरीकाल, (२) विटामिनकाल, (३) प्रोटीनकाल, (४) संतुलित भोजनकाल और (५) जल और लवण संतुलन-काल।

१ **कैलोरीकाल**—इस शताब्दी के प्रारंभ में उपयुक्त भोजन की माप कैलोरियों से की जाती थी और इसपर विशेष बल दिया जाता था कि प्रत्येक को आवश्यक कैलोरियाँ अवश्य मिलें। एक कैलोरी वह ऊष्मा है जो एक ग्राम जल के ताप को एक डिगरी सेंटीग्रेड बढ़ा देती है। शारीरिक कार्य के अनुसार एक प्रौढ़ व्यक्ति के भोजन में २,००० से ३,००० कैलोरियोंवाली सामग्री प्रति दिन मिलनी चाहिए। प्रोटीन अथवा कार्बोहाइड्रेट के एक ग्राम से ४ कैलोरियाँ प्राप्त होती हैं और एक ग्राम वसा से ८ कैलोरी। किसी विशेष आहार से जितनी कैलोरियाँ प्राप्त हो सकती हैं उन्हीं पर आहार की गणना निर्भर है। (विशेष परिचय के लिये **पोषण** शीर्षक लेख देखें)।

२ **विटामिनकाल**—१९१२ में इस काल का आरंभ होता है। इस समय यह जानकारी होने लगी थी कि पूर्ण कैलोरियोंवाला आहार करने पर भी शारीरिक पोषण ठीक न होने की संभावना रहती है। पता चला कि साथ साथ सब विटामिनों का आवश्यक मात्रा में विद्यमान रहना चाहिए। विटामिन की हीनता से बेरीबेरी, वल्कचर्म (पेलाग्रा), बालवक्रास्थि (रिकट्स) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। विटामिनों की हीनता से शरीर में रोग के अनेक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अब यह निर्णय हो चुका है कि मनुष्य को कौन कौन से विटामिनों का और प्रति दिन कितनी कितनी मात्राओं में मिलना आवश्यक है और यह भी किन किन आहारों में कितनी कितनी मात्राओं में उपस्थित रहते हैं। प्रति दिन के संतुलित आहार से साधारणतः ये यथेष्ट परिमाण में मिलते रहते हैं। भोजन संतुलित न होने से शरीर में विटामिन की कमी के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। (विशेष परिचय के लिये 'विटामिन' शीर्षक लेख देखें)।

अपर्याप्त और असंतुलित भोजन

इस भोजन का अधिक भाग चावल है। इतने भोजन में कुल १,७५० कैलोरियाँ प्राप्त होती हैं, जो स्वस्थ मनुष्य के निमित्त एक दिन के लिये यथेष्ट नहीं हैं।

३ **प्रोटीनकाल**—द्वितीय विश्वसंग्राम की अवधि में भिन्न भिन्न प्रकार के आहारों की कमी के साथ साथ प्रोटीन की भी कमी हुई। इससे संसार के प्रत्येक देश में साधारण जनता को उत्तम प्रोटीनयुक्त भोजन मिलना दुर्लभ हो गया। इससे अनेक प्रकार के रोग होने लगे, क्योंकि शरीर की
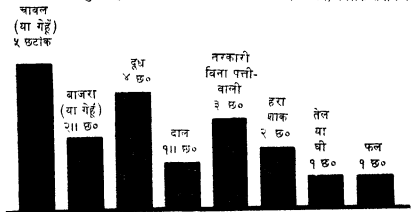
पर्याप्त और संतुलित भोजन

इस भोजन में चावल की एक तिहाई के बदले बाजरा या गेहूँ रख दिया गया है। दूध, दाल, तरकारी, हरा शाक, वसा और फल की मात्राएँ बढ़ा दी गई हैं। इससे सभी आवश्यक पदार्थ शरीर को पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इतने भोजन से २,६०० कैलोरियाँ ऊष्मा प्राप्त होती है जो एक दिन के लिये यथेष्ट है।

रक्षक शक्ति का ह्रास हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि भोजन में उत्तम प्रोटीनों का पर्याप्त मात्रा में रहना परमावश्यक है। इस कारण वैज्ञानिकों ने उत्तम प्रोटीनों की खोज आरंभ की। देखा गया कि दूध, मांस, मछली और अंडा के अतिरिक्त यीस्ट और सोयाबीन के प्रोटीन भी अति उत्तम हैं। इन दोनों में नितांत आवश्यक ऐमिनो-अम्ल भी वर्तमान रहते हैं। मांस के प्रोटीन में जो गुणकारी ऐमिनो-अम्ल होते हैं, वे सब इनमें भी हैं। इस काल में अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ कि सब प्रकार के ऐमिनो-अम्ल की प्राप्ति के लिये मनुष्य के आहार में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रोटीनों का रहना आवश्यक है, जो भिन्न भिन्न पदार्थों से मिलते हैं। इसका भी अन्वेषण किया गया कि यीस्ट और सोयाबीन को किस प्रकार बनाया जाय कि वे स्वादिष्ट हो जायँ। आजकल ऐमिनो-अम्ल मनुष्य के अन्य आहारों में मिलाकर तैयार किया जाता है। ऐसे मिश्रण की गंध साधारणतः बहुत बुरी होती है। इस गंध को मारने और मिश्रित आहार को रुचिकर बनाने के लिये भी यथेष्ट प्रयत्न चल रहे हैं।

४ **संतुलित भोजनकाल**—इस काल में यह पाया गया कि स्वास्थ्य या शरीरवृद्धि के लिये भोजन के सब अवयवों, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन, लवण आदि का उपयुक्त अनुपातों में आहार में वर्तमान रहना आवश्यक है। अनुपातों में थोड़ी बहुत विभिन्नता से हानि नहीं होती, परंतु अधिक कमी बेशी रहने पर स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। भारतीय आहारों में अच्छे प्रोटीन की विशेष कमी रहती है, क्योंकि बहुत से लोग मांस आदि नहीं खाते और महँगा होने के कारण दूध, दही का भी सेवन नहीं कर पाते। परंतु कई प्रकार के अच्छे प्रोटीनों का खाद्य में होना आवश्यक है। संभव हो तो इन्हें दूध, अंडा, मांसादि भिन्न भिन्न पदार्थों से प्राप्त करना चाहिए।

५ जल और लवण-संतुलन-काल—शारीरिक प्रक्रिया के लिये पानी और भिन्न भिन्न लवणों का भी बहुत अधिक महत्व है। पाचन के पश्चात् आहार के अवयव जल द्वारा ही शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचते हैं। लवण जल द्वारा ही कोशिकाओं तथा अंतःकोशीय स्थानों में पहुँचते हैं। रक्त की द्रवता भी जल के ही कारण बनी रहती है। भिन्न भिन्न स्थानों में लवणों की भिन्न भिन्न मात्रा उपस्थित रहती है। इस मात्रा की थोड़ी बहुत न्यूनता या अधिकता से शारीरिक प्रक्रियाओं में कोई विकृति नहीं उत्पन्न होती, किंतु विशेष कमी होने से तरह तरह के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ये लवण भी शरीर के लिये बहुत महत्व के हैं। शरीर से विशेष मात्रा में लवण निकल जाने से, जैसे पसीना द्वारा या पतले दस्तों द्वारा, हाथ पाँव की पेशियों में शिथिलता और ऐंठन आने लगती है। यदि इन लवणों की पूर्ति कुछ काल तक न की जाय तो मृत्यु तक हो सकती है।

सं०ग्रं०—चार्ल्स हर्बर्ट बेस्ट तथा नार्मन बर्क टेयलर : द फिज़िओलॉजिकल बेसिस ऑव मेडिकल प्रैक्टिस (नवीन संस्करण) (बलियर टिंडाल ऐंड कॉक्स, लंदन); सैमसन राइट : ऐप्लाइड फिज़िऑलॉजी (ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन); एम० जी० बोन : डाइटोथरापी, (डब्ल्यू० बी० सांडर्स कंपनी, फिलाडेल्फ़िया और लंदन)। (ब० ना० प्र०)

इंका दक्षिण अमरीका के रेड इंडियन जाति की एक गौरवशाली उपजाति थी। सन् ११०० ई० तक इंका लोग अपने पूर्वजों की भाँति अन्य पड़ोसियों जैसा ही जीवन व्यतीत करते थे, परंतु लगभग सन् ११०० ई० में कुछ परिवार कुज़को घाटी में पहुँचे जहाँ उन्होंने आदिम निवासियों को परास्त करके कुज़को नामक नगर का शिलान्यास किया। यहाँ उन्होंने लामा नामक पशु के पालन के साथ साथ कृषि भी आरंभ की। कालांतर में उन्होंने टीटीकाका झील के दक्षिण पश्चिम में अपने राज्य को प्रशस्त किया। सन् १५२८ ई० तक उन्होंने पेरू, इक्वेडर, चिली तथा पश्चिमी अर्जेंटीना पर भी कब्जा कर लिया। परंतु यातायात के साधनों के अभाव में तथा गृहयुद्ध के कारण इंका साम्राज्य छिन्न विच्छिन्न हो गया।

इंका प्रशासन के संबंध में विद्वानों का ऐसा मत है कि उनके राज्य में सच्चा राजकीय समाजवाद (स्टेट सोशियलिज़्म) था तथा सरकारी कर्मचारियों का चरित्र अत्यंत उज्वल था। इंका लोग कुशल कृषक थे। इन्होंने पहाड़ियों पर सीढ़ीदार खेती का प्रादुर्भाव करके भूमि के उपयोग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था। आदान प्रदान का माध्यम द्रव्य नहीं था, अतः सरकारी करों का भुगतान शिल्पों की वस्तुओं तथा कृषीय उपजों में किया जाता था। ये लोग खानों से सोना निकालते थे, परंतु उसका मंदिरों आदि में सजावट के लिये ही प्रयोग करते थे। ये लोग सूर्य के उपासक थे और ईश्वर में विश्वास करते थे। (ले०रा०सिं०क०)

इंग्लिश चैनल (रोमन नाम : मारे ब्रिटैनिकम, फ्रेंच नाम : ला मांश) अटलांटिक महासागर की भुजा है, जो डोवर जलडमरूमध्य द्वारा उत्तरी सागर से मिली हुई है। यह इंग्लैंड और फ्रांस को पृथक् किए हुए है। अटलांटिक महासागर से डोवर जलडमरूमध्य तक इसकी अधिकतम लंबाई ३५० मील है, सेंट माली (फ्रांस) तथा सिडमाउथ (इंग्लैंड) के बीच अधिकतम चौड़ाई १४० मील तथा डोवर जलडमरूमध्य में न्यूनतम चौड़ाई २० मील है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ३०,००० वर्ग मील है। इसमें इंग्लैंड के ८,००० वर्ग मील तथा फ्रांस के ४१,००० वर्ग मील क्षेत्र का जल आ गिरता है। इसके पश्चिमी आधे भाग की औसत गहराई ३०० फुट तथा अधिकतम ५०० फुट है। इसके पूर्वी आधे भाग की गहराई केवल २०० फुट है तथा डोवर में ६ से १२० फुट तक ही है। इसके उत्तरी तट की लंबाई ३६० मील तथा दक्षिणी तट की लंबाई ५७० मील है। इसकी मुख्य खाड़ियाँ फालमाउथ, प्लाइमाउथ, लाइम, वेमाउथ, सिटहेड और सालवेंट (इंग्लैंड में) तथा सेन, सेंत ब्रीयें और देमांत सेंत माइकेल (फ्रांस में) हैं। इसके मुख्य द्वीप वाइट द्वीप, चैनेल द्वीप, सिली द्वीप तथा उशांत हैं। इसके मुख्य बंदरगाह फालमाउथ, प्लाइमाउथ, साउथैंपटन, पोर्ट्समाउथ, ब्राइटन, फोकस्टोन तथा डोवर (इंग्लैंड के तट पर) और शरबुर्ग, हेवर, दीप, बोलोन तथा कैले (फ्रांस के तट पर) हैं।

इसके दोनों तटों की भौमिक संरचना बहुत कुछ मिलती जुलती है जिससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भूगर्भीय इतिहास में इंग्लिश चैनेल का अस्तित्व दीर्घकालीन नहीं है। विद्वानों का ऐसा मत है कि प्रातिनूतन (प्लाइस्टोसीन) युग में यूरोपीय महाद्वीप तथा इंग्लैंड के बीच स्थलीय संबंध विच्छिन्न हो गया और इंग्लिश चैनल की उत्पत्ति हो गई।

यहाँ साल भर पश्चिमी सततवाहिनी हवाएँ चला करती हैं। अक्टूबर से जनवरी तक बहुधा आँधियाँ आती हैं जो ज्वार के साथ उग्र रूप धारण कर लेती हैं तथा नौपरिवहन में बाधा डालती हैं। बहुधा कुहरे के कारण परिस्थिति और भी गंभीर हो जाया करती है। इन्हीं कारणों से चैनल में बहुत से प्रकाशस्तंभ (लाइट हाउस) हैं, जिनमें एड्डिस्टोन का प्रकाशस्तंभ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

सहस्रों वर्ष पूर्व प्रकृति ने जिस स्थलीय संबंध का विच्छेद करके इंग्लैंड को यूरोपीय महाद्वीप से पृथक् कर दिया था, २०वीं शताब्दी के विज्ञानयुग में मनुष्य ने उसे पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। इस संबंध में अंग्रेज तथा फ्रांसीसी इंजीनियरों की प्रथम योजना यह थी कि डोवर जलडमरूमध्य के ऊपर २४ मील लंबे विशाल पुल का निर्माण किया जाय जिसमें १२० स्तंभ हों तथा उनके बीच से बड़े से बड़े जलयान सुगमतापूर्वक निकल जा सकें। द्वितीय योजना यह थी कि इंग्लैंड तथा फ्रांस को एक सुरंग द्वारा जोड़ दिया जाय। दूसरी योजना को ही मान्यता प्राप्त हुई, अतः दोनों तटों पर खुदाई का कार्य आरंभ कर दिया गया। इंग्लैंड में शेक्सपियर नामक चट्टान के निकट १६४ फुट की गहराई में सात फुट व्यासवाली २३,००० गज लंबी सुरंग भी खुद गई, परंतु दोनों राष्ट्रों के मतैक्य के अभाव में विशेष प्रगति न हो सकी और कार्य अधूरा ही रह गया। अब ऐसी योजना की विशेष आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि द्रुतगामी जलयानों तथा वायुयानों से संतोषप्रद काम हो रहा है। (ले० रा० सिं० क०)

इंग्लिश बाजार पश्चिमी बंगाल के मालदा जिले में महानंदा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित नगर है। (स्थिति २५° ०' उ० अ०, ८८° ९' पू० दे०।) जिले के प्रमुख कार्यालय यहीं पर हैं। नदी के तट पर, अच्छी ऊँचाई पर तथा शहतूत उत्पादक क्षेत्र में स्थित होने के कारण अंग्रेजों ने इसको रेशम उद्योग का केंद्र चुना। इसे अंग्रेजाबाद भी कहते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा संचालित रेशम का कारखाना १७वीं शताब्दी के अंत तक पर्याप्त उन्नति कर गया था। १७७० ई० में अंग्रेजों ने इसे व्यापार की बहुत बड़ी मंडी बनाया। १८६९ ई० में यहाँ नगरपालिका का प्रशासन हो गया। अब भी यहाँ गल्ले तथा रेशम का अच्छा व्यापार होता है। बड़ी सरकारी इमारतों में कचहरी तथा कमर्शियल रेजीडेंसी उल्लेखनीय हैं। शहर की सुरक्षा के लिये महानंदा पर बाँध बना दिया गया है। (हि० ह० सिं०)

इंग्लैंड ग्रेट ब्रिटेन नामक टापू का दक्षिणी भाग है। (क्षेत्रफल ५०,३३१ वर्ग मील, जनसंख्या १९६१ ई० में ४,३४,६०,५२५ है।) यह दक्षिण में ४९° ५७' ३०" उ० अ० (लिज़ार्ड प्वाइंट) से उत्तर में ५५° ४६' उ० अ० (ट्वीड के मुहाने) तक तथा पूर्व में १° ४६' पू० दे० (लोवेस्टाफ) से पश्चिम में ५° ४३' प० दे० (लैंड्स एंड) तक फैला हुआ है।

भूविज्ञान—इंग्लैंड के धरातल की संरचना का इतिहास बड़ी ही उलझन का है। यहाँ मध्यनूतन (मायोसीन) युग को छोड़कर प्रत्येक युग की चट्टानें मिलती हैं जिनसे स्पष्ट है कि इस भाग ने बड़े भूवैज्ञानिक उथल पुथल देखे हैं। आयरलैंड का ग्रेट ब्रिटेन से अलग होना अपेक्षाकृत नवीन घटना है। इंग्लैंड का डोवर जलडमरूमध्य द्वारा महाद्वीप से अलग होना और भी नई बात है, जो मानव-जीवन-काल में घटित कही जाती है।

धरातल की विभिन्नता के विचार से इंग्लैंड को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) ऊँचे पठारी भाग, (२) मैदानी भाग। ऊँचे पठारी भाग इंग्लैंड के उत्तर पश्चिमी भाग में मिलते हैं, जो प्राचीन चट्टानों द्वारा निर्मित हैं। हिमयुग में हिम से ढके रहने के फलस्वरूप यहाँ के पठार घिसकर चिकने हो गए हैं। दूसरी ओर मैदानी भाग नर्म

चट्टानों, बलुआ पत्थर, चूना पत्थर तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) के बने हैं। चूना पत्थर के नीचे गोलाकार पहाड़ियाँ निर्मित हो गई हैं, खड़िया (चाक) के पर्वतीय ढाल। नीचे के मैदानी भाग प्राय 'क्ले' मिट्टी के बने है।

जलवायु—इग्लैंड उत्तर-पश्चिमी यूरोपीय प्रदेश के समशीतोष्ण एव ग्राई जलवायु के क्षेत्र मे पडता है। इस प्रदेश का वार्षिक ग्रौसत ताप ५०° फा० है, जो क्रमश. दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की ओर घटता जाता है। शीतकाल मे इग्लैंड के सभी भागो का औसत ताप ४०° फा० से ऊपर रहता है, पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमश घटता जाता है। पश्चिमी भाग गल्फस्ट्रीम नामक गर्म जलधारा के प्रभाव से प्रत्येक ऋतु मे पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक गर्म रहता है। वर्षा उत्तर पश्चिमी भागो तथा ऊँचे पठारो पर ३०" से ६०" तथा पूर्वी मैदानी भागों मे ३०" से भी कम होती है। लदन की औसत वार्षिक वर्षा २५·१" है। वर्ष भर पछुवाँ हवा की पेटी मे पडने के कारण वर्षा बारहो मास होती है। आकाश साधारणतया बादलो से छाया रहता है, जाडे मे बहुधा कुहरा पडता है तथा कभी कभी बर्फ भी पडती है।

भौगोलिक दृष्टि से इग्लैंड को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है (१) उत्तरी इग्लैंड, (२) मध्य के देश (३) दक्षिण-पूर्वी इग्लैंड।

उत्तरी इंग्लैंड—पेनाइन तथा उसके आस पास के नीचे मैदान इस प्रदेश मे सम्मिलित है। पेनाइन कटा फटा पठार है जो समुद्र के धरातल से २,००० से ३,००० फुट तक ऊँचा है। यह पठार इग्लैंड के उत्तरी भाग के मध्य मे रीढ़ की भाँति उत्तर मे दक्षिण १५० मील लबाई तथा ५० मील की चौडाई मे फैला हुआ है। यह पठारी क्रम कार्बनप्रद (कार्बोनिफेरस) युग मे चट्टानो के मुडने से निर्मित हुआ, परतु इसकी ऊपरी चट्टाने कटकर बह गई है, जिसके फलस्वरूप कोयले की तहे भी जाती रही। अब कोयले की खदानें इसके पूर्वी तथा पश्चिमी सिरो पर ही मिलती है। कृषि एव पशुपालन के विचार से यह भाग अधिक उपयोगी नही है।

पेनाइन के पूर्व नार्थबरलैंड तथा डरहम की कोयले की खदानें हैं। यहाँ दो प्रकार की खदानें पाई जाती हैं (१) प्रकट (छिछली) खदाने तथा (२) अप्रकट (गहरी) खदाने। प्रथम प्रकार की खदानें दक्षिण मे टाइन नदी के मुहाने से उत्तर मे कॉक्वेट नदी के मुहाने तक पेनाइन तथा समुद्रतट के बीच फैली हुई हैं। अप्रकट खदानें दक्षिण की ओर चूने के पत्थर के नीचे मिलती है। टीज नदी के निचले भाग मे नमक की भी खदाने है। उसके दक्षिण लोहा प्राप्त होता है।

अत इन प्रदेशो मे लोहे तथा रासायनिक वस्तुओ के निर्माण के बहुत से कारखाने बन गए हैं। यहाँ के बने लोहे एव इस्पात के अधिकाश की खपत यहाँ के पोतनिर्माण (शिप बिल्डिंग) उद्योग मे हो जाती है। टाइन तथा वियर नदियो की घाटियाँ पोतनिर्माण के लिये जगत्प्रसिद्ध है। टाइन के दोनो किनारो पर न्यू कैसिल से १४ मील की दूरी तक लगातार पोत-निर्माण-प्रागण (शिप बिल्डिंग यार्ड) हैं। न्यू कैसिल यहाँ का मुख्य नगर है। पोतनिर्माण के अतिरिक्त यहाँ पर काँच, कागज, चीनी तथा अनेक रासायनिक वस्तुओ के कारखाने हैं।

उपर्युक्त प्रदेश के दक्षिण मे इग्लैंड की सबसे बडी कोयले की खदाने यार्क, डरबी एव नाटिंघम की खदाने है। ये उत्तर मे आयर नदी की घाटी से दक्षिण मे ट्रेंट की घाटी तक ७० मील की लंबाई मे तथा १० से २० मील की चौडाई मे फैली हुई हैं। इस प्रदेश के निकट ही, लिकन तथा समीपवर्ती भागो मे, लोहा भी निकलता है। अत यहाँ के कोयले के व्यवसाय पर आश्रित तीन व्यावसायिक प्रदेश है (१) कोयले की खदानो के उत्तर मे पश्चिमी रेडिंग के ऊनी वस्त्रोद्योग के क्षेत्र, (२) मध्य मे लोहे तथा इस्पात के प्रदेश तथा (३) डरबी और नाटिंघम प्रदेश के विभिन्न व्यवसायवाले प्रदेश। ऊनी वस्त्रोद्योग मुख्यतया आयर नदी की घाटी मे विकसित हैं। लीड्स (जनसख्या १९७१ मे ४,९४,९७१) यहाँ का मुख्य नगर है जो सिले हुए कपड़ो का मुख्य केंद्र है। ब्रैडफर्ड इस क्षेत्र का दूसरा महत्वपूर्ण नगर है। हैलीफैक्स कालीन बुनने का प्रधान केंद्र है। लोहे एवं इस्पात के व्यवसाय शेफील्ड (जनसंख्या १९७१ में ५,१९,७०३) में प्राचीन काल से होते आ रहे है। चाकू, कैंची बनाना यहाँ का प्राचीन व्यवसाय है। आज शेफील्ड तथा डानकैस्टर के बीच की डान की घाटी इस्पात का मुख्य प्रदेश बन गई है। यार्क-डरबी एव नाटिंघम की कोयले की खदानो के दक्षिणी सिरे की ओर विभिन्न प्रकार के व्यवसाय होते है जिनमे सूती, ऊनी, रेशमी तथा नकली रेशम के उद्योग मुख्य है।

पेनाइन के पूर्व मे उत्तरी सागर के तट तक नीचा मैदान है जिसमे यार्क, यार्कशायर एव लिकनशायर के पठार तथा घाटियाँ भी सम्मिलित है। यार्क-शायर घाटी इग्लैंड का एक बहुत उपजाऊ प्रदेश है जिसमे गेहूँ की अच्छी खेती होती है। यार्कशायर के पठारो एव घाटीवाले प्रदेशो मे पशुपालन तथा खेती होती है। गेहूँ, जौ तथा चुकंदर यहाँ की मुख्य फसले हैं। हल इस प्रदेश का महत्वपूर्ण नगर तथा इग्लैंड का तीसरा बडा बदरगाह है। यहाँ के आयात मे दूध, मक्खन, तेलहन, बाल्टिक सागरी प्रदेशो से लकडी के लट्ठे और स्वीडन से लोहा मुख्य है। निर्यात की जानेवाली वस्तुओ मे ऊनी वस्त्र और लोहे तथा इस्पात के सामान मुख्य है। लिकनशायर के पठारो पर भेड चराने का कार्य और घाटी मे खेती तथा पशुपालन दोनो होते हैं। चुकदर की खेती पर आश्रित चीनी की कई मिले भी यहाँ स्थापित हो गई हैं। लिकन इस प्रदेश का मुख्य नगर है, जो कृषियत्रो के निर्माण का मुख्य केंद्र है।

दक्षिणी पूर्वी लकाशायर की कोयले की खदानो पर आश्रित लकाशायर का विश्वविख्यात वस्त्रोद्योग है। यह व्यवसाय लकाशायर की सीमा पार कर डरबीशायर, चेशायर तथा यार्कशायर प्रदेशो तक फैला हुआ है। यहाँ पर सूती वस्त्रोद्योग के दो प्रकार के नगर है एक प्रेस्टन, ब्लैकबर्न, एक्रिंग्टन तथा बर्नले जैसे नगर हैं जिनमे अधिकतर कपडे बुनने का कार्य होता है और दूसरे बोल्टनबरी, राचडेल, ओल्डम, ऐश्टन, स्टैलीब्रिज, हाइड तथा स्टाकपोर्ट जैसे वे नगर हैं जिनमे सूत कातने का कार्य मुख्य रूप से होता है। सूती वस्त्रोद्योग के प्रधान केंद्र मैंचेस्टर (जनसख्या १९७१ मे ५,४१,४६८) को ये नगर विभिन्न दिशाओ मे घेरे हुए हैं। मैंचेस्टर-शिप-कनाल द्वारा लिवरपूल (जनसख्या १९७१ मे ६,०६,८३४) बदरगाह से सबंधित होने के कारण विदेशो से रुई मँगाकर अन्य नगरो को भेजता है तथा उनके तैयार माल का निर्यात करता है। लकाशायर के अन्य उद्योगो मे कागज, रासायनिक पदार्थ तथा रबर की वस्तुओ का निर्माण मुख्य है।

उत्तरी स्टैफर्डशायर की कोयले की खदानो तथा प्रादेशिक मिट्टी पर आश्रित चीनी मिट्टी के व्यवसाय लागटन, फेंटन तथा स्टोक मे स्थापित है। लकाशायर के निचले मैदान हिमपर्वतो की रगड एव जमाव के कारण बने हुए हैं, अत वे कृषि की अपेक्षा गोपालन के लिये अधिक उपयुक्त हैं।

मध्य का मैदान—इंग्लैंड के मध्य मे एक त्रिभुजाकार नीचा मैदान है जिसकी तीन भुजाओ के समातर तीन मुख्य नदियाँ, उत्तर मे ट्रेंट, पूर्व मे ऐवान तथा पश्चिम मे सेवर्न बहती है। भौतिक दृष्टि से यह मैदान लाल बलुए पत्थर तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) का बना है। भूमि के अधिकतर भाग का यहाँ स्थायी चरागाह के रूप मे उपयोग किया जाता है, फलत गोपालन मुख्य उद्यम है। परतु यह प्रदेश उद्योग धधे के लिये अधिक प्रसिद्ध है। मध्यदेशीय कोयले की खदानो, पूर्वी शापशायर, दक्षिणी स्टैफर्डशायर तथा वारविकशायर की खदानो पर आश्रित अनेक उद्योग धधे इस प्रदेश मे होते हैं। दक्षिणी स्टैफर्डशायर की कोयले की खदानो के निकट व्यावसायिक नगरो का एक जाल सा बिछ गया है जिसकी सम्मिलित जनसख्या ४० लाख से भी अधिक है। इस प्रदेश के मुख्य नगर बरमिंघम की जनसख्या ही १० लाख से अधिक (१९७१ मे १०,१३,३६६) है। कल कारखानो की अधिकता, कोयले के अधिक उपयोग, नगरो के लगातार क्रम तथा खुले स्थलो की न्यूनता के कारण इस प्रदेश को प्राय 'काला प्रदेश' की सज्ञा दी जाती है। प्रारभ में इस प्रदेश मे लोहे का ही कार्य अधिक होता था, परतु अब यहाँ ताँबा, सीसा, जस्ता, ऐल्यूमीनियम तथा पीतल आदि की भी वस्तुएँ बनने लगी हैं। समुद्रतट से दूर स्थित होने के कारण इस प्रदेश ने उन वस्तुओ के निर्माण मे विशेष ध्यान दिया है जिनमे कच्चे माल की अपेक्षा कला की

विशेष आवश्यकता पड़ती है, उदाहरणस्वरूप, घड़ियाँ, बदूके, सिलाई की मशीने, वैज्ञानिक यंत्र आदि। मोटरकार के उद्योग के साथ साथ रबर का उद्योग भी यहाँ स्थापित हो गया है।

अन्य उद्योग धधो में पशुपालन पर आश्रित चमड़े का उद्योग, बिजली की वस्तुओ का निर्माण और काँच उद्योग मुख्य है।

दक्षिण पूर्वी इंग्लैंड—मध्य के मैदान के पूर्व मे चूने के पत्थर के पठार तथा फेन का मैदानी भाग है। पठारो पर पशुपालन तथा नदियो की घाटियों मे खेती होती है। परतु विलिगबरो की लोहे की खदान के कारण यहाँ पर कई नगर बस गए है। फेन के मैदान मे गेहूँ का उत्पादन मुख्य है, परतु कुछ समय से यहाँ आलू तथा चुकदर की खेती विशेष होने लगी है। फेन के दक्षिण 'वाक' प्रदेश मे गोपालन मुख्य पेशा है और यह भाग लदन को दूध की माँग की पूर्ति करनेवाले प्रदेशो मे प्रधान है।

पूर्वी ऐंग्लिया इग्लैंड का मुख्य कृषिप्रधान क्षेत्र है। यहाँ गेहूँ, जौ तथा चुकदर अधिक उत्पन्न होता है। यहाँ के उद्योग धधे यहाँ की उत्पन्न वस्तुओ पर आश्रित है। कैंटले तथा ईप्सविक मे चुकदर की चीनी मिले वारविक मे कृषियत्र तथा शराब बनाने के कारखाने स्थापित है।

इस प्रदेश के दक्षिण पश्चिम मे टेम्स द्रोणी (बेसिन) है। टेम्स नदी काट्सवोल्ड की पहाड़ियो से निकलकर आक्सफोर्ड की घाटी को पार करती हुई समुद्र मे गिरती है। यह घाटी 'आक्सफोर्ड क्ले वेल' के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ कृषि एव गोपालन उद्योग अधिक विकसित है। विश्वविख्यात प्राचीन आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय इस घाटी के मध्य मे स्थित है। आक्सफोर्ड नगर के बाहरी भागो मे मोटर निर्माण का कार्य होता है। लदन की महत्ता के कारण निचली आक्सफोर्ड द्रोणी को लदन द्रोणी नाम दिया गया है। लदन के आसपास की भूमि (केंट, सरे तथा ससेक्स) राजधानी की फल तरकारियो तथा दूध आदि की माँग की पूर्ति के लिये अधिक प्रयुक्त होती है। लदन नगर कदाचित् रोमन काल मे टेम्स नदी के किनारे उस स्थल पर बसाया गया था जहाँ नदी सरलतापूर्वक पार की जा सकती थी। बाद मे उस स्थल पर पुल बन जाने से नगर का विकास होता गया। आज लदन ससार के सबसे बड़े नगरो (१९७१ ई० मे जनसख्या ७३,७९,०१४) मे है। इसकी उन्नति के मुख्य कारण है टेम्स मे ज्वार के साथ बड़े बड़े जलयानो का नगर के भीतरी भाग तक प्रवेश करने की सुविधा, रेल एव सड़को का जाल, यूरोपीय महाद्वीप के सम्मुख टेम्स के मुहाने की स्थिति, जिससे व्यापार मे अत्यधिक सुविधा होती है, लदन का अधिक काल तक देश एव साम्राज्य की राजधानी बना रहना तथा अनेक व्यवसायो और रोजगारो का यहाँ खुलना।

लदन द्रोणी के समान ही हैपशायर द्रोणी है जिसमे साउथैंपटन तथा पोर्ट्स्माउथ नगर स्थित है। पहला यात्रियो का महत्वपूर्ण बदरगाह तथा दूसरा नौसेना का मुख्य केंद्र है।

इग्लैंड के दक्षिण पूर्व मे 'आइल ऑव वाइट' नाम का एक छोटा सा

द्वीप है (क्षेत्रफल १४७ वर्ग मील)। गर्मी की ऋतु मे यहाँ पर लोग स्वास्थ्यलाभ और मनोरजन के लिये आते है।

इंग्लैंड का धर्म—द्र० 'ऐंग्लिकन समुदाय'। (उ० सि०)

इंग्लैंड का इतिहास **पूर्वरोमनकालीन ब्रिटेन**—सभ्यता के एक स्तर तक पहुँचे हुए इंग्लैंड के प्राचीनतम निवासी केल्टिक जाति के थे जिनमे पश्चात् के देशातरवासी ब्रायथन या ब्रिटन कहलाए, जिससे 'ब्रिटेन' सज्ञा निकली। केल्टिक अथवा उसके पूर्व की जातियो के आगमन के कोई लिखित प्रमाण नही मिलते। आयरलैंड के द्वीप मे, जो पहले आइरन और स्कोशिया नाम से विदित था, एक और जाति के लोग, स्कॉट्स थे। ये पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे कैलेडोनिया अथवा उत्तरी ब्रिटेन मे बसे। यह उन्ही के नाम से स्काटलैंड कहलाया। प्राचीन ब्रिटेन अपने जातीय नियम, हस्तशिल्प, धातुशस्त्रास्त्र, कृषि, युद्धकला तथा धर्म (ड्रयूइवाद) से परिचित थे। गाल प्रदेश के केल्टी स्वजातियो से तथा ग्रीक से इनके व्यापारिक सबध थे। ३३० ई० पू० के आस पास पैथियास तथा, दो शताब्दी उपरात, पोसींदोनियस व्यापारोद्देश्य मे निकले ग्रीक व्यक्तियों मे से थे।

रोमन क्षेत्र—५५ ई० पू० मे रोमन सेनानी जूलियस सीजर के आक्रमणो ने ब्रिटेन को अशात कर दिया। ४३ ई० पू० मे सम्राट् क्लादियस के शासन मे ब्रिटेन पर विजय की नियमित योजना बनाई गई तथा आगामी ४० वर्षों मे स्केपुला, पालिनियस और अग्रीकोला इत्यादि रोमन क्षेत्रपो के अतर्गत उसे पूरा किया गया। ब्रिटेन का बृहत् क्षेत्र ४१० ई० तक रोमन प्रात रहा तथा इस युग मे इस प्रदेश की दीक्षा रोमन सस्कृति मे हुई। सडको का निर्माण हुआ। उनसे सबधित नगरो का उदय हुआ। रोमन विधि-सहिता वहाँ प्रचलित हुई। खानो की खुदाई शुरू हुई। नियम और व्यवस्था लाई गई। ब्रिटेन को अनाज का निर्यातप्रधान देश बनाने के लिये कृषि को महत्व मिला और लदीनियम (आधुनिक लदन) प्रमुख व्यापारिक नगर बन गया। रोमन साम्राज्य मे, ईसाई सभ्यता के प्रसार के कारण, ब्रिटेन मे भी उसके प्रचारार्थ चौथी शताब्दी के प्रारभ मे एक मार्ग ढूँढा गया और कुछ कालोपरात इसका पौधा वहाँ भी लग गया। ब्रिटेन मे रोमन सभ्यता फिर भी कृत्रिम और बाह्य ही रही। जनता उससे प्रभावित न हो सकी। उसके अवशेष विशेषत वास्तु से ही सबधित रहे। पाँचवी शताब्दी के आरभ मे रोम को विदेशी आक्रमणो के विरुद्ध घर मे सघर्ष करना पडा और ४१० ई० म अपनी सेना इग्लैंड से खीच लेनी पडी।

इंग्लिश विजय—रोमनो के चले जाने पर ब्रिटेन कुछ समय के लिये बर्बर आक्रमणो का लक्ष्य बना। उत्तर से पिक्ट, पश्चिम से स्काट तथा पूर्व से समुद्री लुटेरे सैक्सन और जूट आए। सैक्सन ट्यूतन जाति के थे जिसमे ऐंगल, जूट और शुद्ध सैक्सन भी सम्मिलित थे। ब्रिटेन ने जूटो की सहायता माँगी। जूटो ने ४४६ ई० मे ब्रिटेन मे प्रवेश कर, पिक्टो को परास्त कर, केंट प्रदेश मे अपनी सत्ता स्थापित की। इसके उपरात सैक्सन जत्था ने ब्रिटनो को जीत ससेक्स, वेसेक्स और एसेक्स के प्रदेश मे प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अत मे ऐंग्लो ने उत्तर और मध्य से देश पर आक्रमण किया और ऐंग्लीय व्यवस्था स्थापित की। ये तीनो विजेता जातियाँ सामान्यत इग्लिश नाम से प्रसिद्ध हुई। ऐंग्लोसैक्सन विजय की यह प्रक्रिया लगभग १५० वर्षों तक चली जिसमे अधिकाश ब्रिटनो का दमन हुआ और एक नई सभ्यता आरोपित हुई।

ऐंग्लोसैक्सन विजयोपरात सात राज्यो का सप्तशासन, केंट, ससेक्स, वेसेक्स, एसेक्स, नार्थब्रिया, पूर्वीय ऐंग्लिया और मर्सिया पर स्थापित हुआ। ये राज्य सतत पारस्परिक युद्धो मे निरत रहे और तीन राज्य (मर्सिया, नार्थब्रिया तथा वेसेक्स) अपनी विजयो के कारण अधिक शक्तिशाली हुए। अत मे वेसेक्स ने सर्वोपरि शक्ति अर्जित की। सप्तशासन के प्रमुख राजाओ मे केंट के एथेलबर्ट, नार्थब्रिया के एडविन, मर्सिया के पेडा तथा वेसेक्स के इतनी प्रसिद्ध है। यही वह समय हे जब ऑगस्तीन के प्रयास से (५९७ ई०) इग्लैंड ने ईसाई धर्म की दीक्षा ली और ऑगस्तीन कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप नियुक्त हुए। केंट, नार्थब्रिया और मर्सिया ने क्रम से नया धर्म अगीकार किया। उधर सेंट पात्रिक तथा सेंट कोलबा क्रमश. आयरलैंड और स्काटलैंड मे समान कार्य मे निरत थे। इग्लैंड के इस धर्मपरिवर्तन ने राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया।

वेसेक्स का उत्कर्ष—प्राचीन १५ सैक्सन राजाओ की पक्ति का प्रारभ एग्बर्ट (८०२-३९) स तथा अत लौहपुरुष एडमड (१०१७) के शासन से होता है। इन दो शताब्दियो मे नार्थमैनो अथवा डेनो के आक्रमण हुए और इसकी पराकाष्ठा अलफ्रेड महान् के शासन (८७१-९०१) मे हुई जिसने ८७८ ई० मे एथेनडन के युद्धक्षेत्र मे इनको परास्त किया। अलफ्रेड का शासन युद्ध और शाति की सफलताओ से उल्लेखनीय है। उसने वेसेक्स को व्यवस्थित किया, सैनिक सुधार किए, जलसेना स्थापित की, नियमों मे सशोधन किए और ज्ञान को प्रोत्साहन दिया। ऐंग्लोसैक्सन वृत्तांत का सग्रह इसी के शासन मे हुआ। इस युग का एक और प्रसिद्ध व्यक्ति, कैंटरबरी का आर्चबिशप, डस्टेन हुआ, जो अल्फ्रेड के उत्तराधिकारियो की छत्रछाया मे राष्ट्रनायक और धर्मसुधारक के रूप मे विख्यात हुआ। सैक्सन राजकुल लगभग चौथाई शताब्दी के लिये एथेलरेड की अदूरदर्शी नीति के कारण सत्ताहीन कर दिया गया। अनत डेन अपना निरकुश राजतत्र कैन्यूट की अध्यक्षता मे स्थापित करने मे १०१७ ई० मे सफल हुए।

डेन व्यवस्था तथा सैक्सन पुनरावृत्ति—१०१७ से १०४२ ई० तक इग्लैंड तीन डेन राजाओ द्वारा शासित हुआ। कैन्यूट, जिसने १८ वर्ष शासन किया, इग्लैंड, डेनमार्क तथा नारवे का राजा था। शासन का प्रारभ बर्बरता से कर, उसने इग्लैंड मे नियमव्यवस्था पुन स्थापित की, डेनो और स्थानीय जनता को समदृष्टि से देखा और रोम की तीर्थयात्रा की, जहाँ उसने इग्लिश यात्रियो को सुविधाएँ दिलाई। उसके अयोग्य पुत्रो के शासन मे डेन साम्राज्य का अत हो गया।

एडवर्ड (दोषस्वीकारक) के व्यक्तित्व मे वेसेक्स का पुनरुद्धार हुआ। एडवर्ड विदेशी प्रभावो का दास हो गया था। वेसेक्स के अर्ल गाडविन के नेतृत्व मे इस प्रभाव के विरुद्ध एक राष्ट्रीय आदोलन हुआ। एडवर्ड का शासन (१०४२-६६) उसी आदोलन या सघर्ष के लिये प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु पर गाडविन का पुत्र हैरोल्ड शासक चुना गया, किंतु गद्दी का दावेदार नार्मंडी का ड्यूक विलियम हो गया था जो १०६६ ई० मे हेस्टिग्ज के युद्धक्षेत्र मे इग्लैंड पर आक्रमण करने के उपरात, हैरोल्ड को उखाड फेंक चुका था। सैक्सन राज्यतत्र समाप्त हुआ और विलियम इग्लिश सिहासन पर आरूढ हुआ।

नार्मन पुनर्निर्माण—विलियम प्रथम (विजेता) का शासनकाल (१०६६-८७) पुनर्निर्माण तथा व्यवस्थानिरत था। उसने अपनी स्थिति नई सामतनीति से इग्लिश और नार्मन प्रजा को समान रीति से दबाकर तथा धार्मिक सुधारो से सुदृढ कर ली। लेन फ्रैंक की पोपविरोधी सहायता से उसने अपनी स्वाधीनता स्थापित की। भूमि का लेखा, डम्स्डे बुक, तैयार किया। उसके पुत्र विलियम द्वितीय (रूफस) का शासन (१०८७-११००) शठता और दुर्व्यवस्था का परिचायक है। उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ है, कैंटरबरी के ऊपर राजा और एन्सेम का सघर्ष तथा प्रथम धर्मयुद्ध (क्रूसेड) जिसमे उसका भाई रूबर्ट युद्धसचालन के लिये नार्मंडी को गिरवी रखकर सम्मिलित हुआ था। ११०० ई० मे विजेता का सबसे छोटा बेटा हेनरी प्रथम (११००-११३५) गद्दी पर बैठा और ११०६ ई० मे नार्मडी को, रूबर्ट को हराकर, पुन प्राप्त किया। उसके प्रशासकीय सुधार, जिनमे कुरिया रेजिस या राजा द्वारा न्यायालय की स्थापना भी सम्मिलित है, उसे 'न्याय का सिंह' की पदवी दिलाने मे सहायक हुए। हेनरी की पुत्री मैटिल्डा का वैवाहिक सबध आँजू के काउट ज्योफ्री प्लैटेजनेट के साथ हो जाने के कारण प्लैटेजनेट वश की स्थापना हुई। आगामी वर्षों मे स्टिफेन (११३५-११५४) के शासन मे मैटिल्डा के नेतृत्व मे एक उत्तराधिकार का युद्ध तब तक चलता रहा जब तक यह निर्णय नही हो गया कि स्टिफेन के उपरात मैटिल्डा का पुत्र नवयुवक हेनरी गद्दी का अधिकारी होगा। नार्मन राजाओ ने इग्लैंड की राज्यशक्ति को केंद्रित किया, सामतवादी व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित कर उसे नई सामाजिक व्यवस्था तथा नूतन राजनीतिक एकता दी।

प्लैंटेजनेट शासक—हेनरी द्वितीय का शासन (११५४-८९) इंग्लिश इतिहास में धारा संधिस्थिति में था। उसके शासन की विशेषताओं में प्रधान थी इंग्लैंड और स्काटलैंड के संबंधों में सामीप्य, राजकीय व्यवस्था का एक्सचेकर और न्याय पर आधारित दृढ़ीकरण, क्यूरिया रेजिस का उदय, सामान्य इंग्लिश नियम का आविर्भाव तथा स्वायत्त शासन एवं ज्ञान का परंपराओं का विकास। उसके क्लैरेंडन विधान (११६४) ने राजा और चर्च के संबंधों का निर्धारण किया। हेनरी तथा कैंटरबरी के आर्चबिशप टामस बेकेट में चर्चनीति पर परस्पर संघर्ष तथा बेकेट के वध ने इस चर्चनीति को असफल कर दिया और चर्च के विरुद्ध राजा का पक्ष क्षतिग्रस्त हो गया। हेनरी का पुत्र रिचर्ड, जिसका शासन (११८९-१२१८) तृतीय धर्मयुद्ध के संचालन तथा सलादीन के विरुद्ध सिसिलीन की उसकी विजयों के लिये प्रसिद्ध है, सदैव ही अनुपस्थित शासक रहा। उसका शासनकाल रार्बिनहुड के कार्यों से संबंधित है। उसकी मृत्यु के उपरांत उसका भाई जान गद्दी पर बैठा, जिसका शासन नृशंस अत्याचार तथा विश्वासघात का प्रतीक है। फ्रांस के फिलिप द्वितीय से झगड़कर नार्मंडी तथा उसका सतत अधिकार उसने खो दिया और पोप से झगड़कर उसे घोर लज्जा का सामना करना पड़ा। उसके बैरनों से संघर्ष का अंत इंग्लिश स्वाधीनता की नींव महान् परिपत्र (मैग्नाकार्टा—१२१५) पर हस्ताक्षर के साथ हुआ।

हेनरी तृतीय (१२१६-७२) के दीर्घ शासन को साइमन डी माटफाट के नेतृत्व में बैरनों की अशांति तथा १२५८ की आक्सफोर्ड की धाराओं द्वारा राजा पर लादे गए नियंत्रण का सामना करना पड़ा। इसके उपरांत राजा और साइमन के नेतृत्व में सर्वप्रिय दल के बीच गृहयुद्ध छिड़ा जिसमें हेनरी की हार हुई। यह शासन अंग्रेजी संस्थाओं के विकास के लिये प्रसिद्ध है। १२६५ ई० में माटफाट ने पार्लियामेंट में नगरों और बरो के प्रतिनिधि आमंत्रित कर हाउस ऑव कामंस का शिलान्यास किया। एडवर्ड प्रथम (१२७२-१३०७) की अध्यक्षता में वेल्स की विजय पूर्ण की गई। इसका शासन, अंग्रेजी कानून, न्याय और सेना में सुधार तथा १२९५ की माडल पार्लमेंट के द्वारा पार्लमेंट को राष्ट्रीय संस्था बना देने के प्रयत्न के लिये, महत्वपूर्ण है। अप्रिय तथा शिथिल एडवर्ड द्वितीय (१३०७-२७) की मृत्यु पर उसका पुत्र एडवर्ड तृतीय (१३२७-७७), जिसका शासन घटनापूर्ण था, गद्दी पर बैठा। स्काटलैंड से हुए एक युद्ध के उपरांत इंग्लैंड और फ्रांस के बीच शतवर्षीय युद्ध का सूत्रपात हुआ जो १४५३ ई० तक पाँच अंग्रेज शासकों को विक्षिप्त किए हुए था। उसके शासन की दूसरी घटनाएँ, पार्लमेंट का दो सदनों में विभाजन, १३४८ की 'काली मृत्यु' तथा वीक्लिफ के उपदेश आदि है। वीक्लिफ ने बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद कर सुधार आंदोलन का आभास दे दिया था। रिचर्ड द्वितीय के शासन (१३७७-९९) में कृषक विद्रोह के रूप में सामाजिक क्रांति की प्रथम पीड़ा की अनुभूति इंग्लैंड ने की और अंग्रेजी साहित्य के आरंभयिता चासर ने कैंटरबरी टेल्स लिखी। प्लैटेजनट शासन की प्रमुख सफलताएँ पार्लमेंट का विकास, साधारण जनता का विद्रोह, चर्च अधिकार का पतन तथा राष्ट्रीय भावना का उदय है।

लंकास्टर तथा यार्क वंश : गुलाबों का युद्ध—लंकास्टर वंश के तीनों हेनरियों (चतुर्थ से षष्ठ तक) का शासन १३९९ ई० से १४६१ ई० तक आंतरिक दृष्टि से, केवल लोलार्डो अथवा वीक्लिफ के अनुयायियों के दमन को छोड़, कोई घटनात्मक महत्व नहीं रखता। बाह्य दृष्टि से हेनरी पंचम के शासन में शतवर्षीय युद्ध की पुनरावृत्ति, अगिन कोर्ट की १४१५ की विजय, रोएन का बंदी होना तथा १४२० की ट्रायस की संधि सहायक हुई। हेनरी षष्ठ (१४२२-६१) के शासन में शतवर्षीय युद्ध सफलतापूर्वक चलता रहा, जब तक फ्रांस की कृषककुमारी उस आर्क की जोन के व्यक्तित्व में तारणकर्ता नहीं मिला, जिसके जोशीले नेतृत्व के सामने अंग्रेज हतप्रभ हो गए और १४५३ ई० में एक कैले को छोड़ अपने सारे फ्रेंच प्रदेश गँवा बैठे। किंतु इस शासन में गृहयुद्ध—गुलाबों का युद्ध (१४५५-१४८५)—हुआ जो शासनसत्ता के हस्तांतरण के लिये लंकास्टर तथा यार्कवंश में लड़ा गया। पक्षों का नेतृत्व क्रमशः हेनरी षष्ठ तथा रिचर्ड ने किया। अंतिम विजयों ने राजमुकुट यार्क वंश के एडवर्ड को दिया जिसने संसद् की स्वीकृति से १४६१ ई० में एडवर्ड चतुर्थ के नाम से राज्यारोहण किया। १४८५ ई० में यार्कवंशीय सामंत रिचमाउंड के अर्ल हेनरी ने बासवर्थ के युद्ध में रिचर्ड को परास्त कर हेनरी सप्तम के नाम से, यार्कवंशीय राजकुमारी एलिजाबेथ को ब्याह, इंग्लैंड का राजमुकुट ले ट्यूडरवंश की स्थापना की।

लंकास्टर युग की कुछ युगांतरकारी घटनाएँ ये थीं संसदीय शक्तियों का विकास, लोकसभा की स्वातंत्र्य विजय, गुलाबों के युद्धों के सामंती घरानों के विध्वंस के साथ राष्ट्रीय भावना का प्रोत्साहन तथा राजसत्ता की वृद्धि, पोप के अधिकारों का क्रमिक ह्रास और कैक्सटन के छापेखाने के आविष्कार से जनित साहित्य में बढ़ती हुई अनुरक्ति।

ट्यूडर युग—यद्यपि ट्यूडर युग का आविर्भाव मध्ययुग का अंत और आधुनिक युग का आरंभ करता है, फिर भी यह कई दृष्टियों से मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के विस्तार का ही सिद्ध करता है। साथ ही यह अंग्रेजी इतिहास के महान परिवर्तनों एवं रचनाओं का युग था, जब इंग्लैंड ने वह स्थिति ग्रहण की जो आगामी इतिहास में पूर्ववत् बनी रही। नए ज्ञान, भौगोलिक खोजों, आविष्कारों, नूतन राष्ट्रवाद, सुधार आंदोलन तथा सामाजिक शक्तियों ने इंग्लैंड के स्वरूप में पूर्णांत परिवर्तन कर दिया। हेनरी सप्तम (१४८५-१५०९) नूतन राजतंत्र तथा छलपूर्ण निरंकुशता का विधाता था। यह राजशक्ति किसी औपचारिक वैधानिक परिवर्तन के कारण नहीं, जनता के विश्वास, समय की आवश्यकताओं तथा राजाओं की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप प्राप्त हुई थी। ट्यूडर शासकों ने सामंतवादी सत्ता को दबाया तथा सार्वजनिक स्वीकृति पर आधारित सामंतसत्ता के भग्नावशेष पर दृढ़ राजतंत्र स्थापित किया। ट्यूडर शासकों ने एक सहायक संसद् के सहयोग से, जो राजेच्छा का साधन बन गई थी, शासन किया। किंतु संसद का अधिकार सिद्धांततः भी समाप्त नहीं किया गया, वरन् संसद् के कार्यों को प्रोत्साहन दिया गया जिसके फलस्वरूप युग के अंत तक संसदीय शक्तियों की वृद्धि हुई। राजाओं की लिप्सा ने उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन कर दिया था।

धार्मिक व्यवस्था इन शासकों की महान् सफलता थी। हेनरी अष्टम (१५०९-४७) के नेतृत्व में रोम से जो संबंधविच्छेद एक विधानमाला के द्वारा हुआ, वह एडवर्ड षष्ठ के शासन में (१५४७-५३) भी चला। यद्यपि कुछ समय के लिये मेरी ट्यूडर के शासन में (१५५३-५८) वह व्यवस्था भंग हुई थी, फिर भी एलिजाबेथ प्रथम (१५५८-१६०३) के शासन में उसकी पूर्णता की ओर प्रगति हुई और ऐंग्लिकन धर्मव्यवस्था की स्थापना हुई। ट्यूडर शासकों की वैदेशिक नीति, केवल एलिजाबेथ के युग को छोड़, जब शासक को प्रतिरोध आंदोलन के अनुयायियों के विरुद्ध संघर्ष तथा मेरी स्टुअर्ट की फाँसी के फलस्वरूप स्पेन से युद्ध करना पड़ता था, अधिकतर शांति और इंग्लैंड को सुदृढ़ करने में लगी थी। इस नीति की एक अभिव्यक्ति राजवंशीय विवाहों में हुई। इनके शासकों के दृढ़ शासन में आयरलैंड का विघटन कर स्काटलैंड को पहले वैवाहिक, फिर धार्मिक बंधन में इंग्लैंड से जोड़कर ब्रिटेन की एकता को क्रियात्मक संज्ञा दी गई।

यह युग, जान तथा कैबेट की भौगोलिक खोजों, चासलर, विलबी, फ्राबिशर, ड्रेक तथा हाकिन्स के व्यापारिक मार्गस्थापन, छापाखाना, बारूद और कुतुबनुमा के आविष्कार, व्यापारिक कंपनियों की रचना (जिसमें ईस्ट इंडिया कंपनी भी थी) तथा अमरीकी प्रमुख स्थल पर वर्जीनिया ऐसे उपनिवेशों की स्थापना आदि के लिये महत्वपूर्ण है। ब्रिटेन की नाविककला की सर्वोत्कृष्टता भी तभी प्रतिष्ठित हुई जिससे वाणिज्य और कृषि का विकास हुआ। व्यापारिक परिवर्तनों ने मध्य वर्ग को जन्म दिया जो सामाजिक अधिनियमन की आवश्यकता का संकेतक सिद्ध हुआ। ट्यूडर शासक एक ऐसे स्वायत्त शासन के रचयिता थे जो १९वीं शताब्दी तक प्रचलित रहा। निर्धनों को नियमित ढंग से लाभान्वित करने का प्रयत्न १६०१ के निर्धन कानून में हुआ। सुख और सभ्यता का भौतिक स्तर भी ऊँचा उठा। नवजागृति को मजबूत आधार मिला और बुद्धि एवं संस्कृति के क्षेत्र में इसका प्रमाण मिला। एलिजाबेथ के शासन में साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। तब नाटकों की परिणति शेक्सपियर तथा मार्लो ने, कविता का विकास स्पेन्सर ने और नूतन गद्य हूकर तथा बेकन ने किया।

प्रारंभिक स्टुअर्ट शासक, गृहयुद्ध, राजतंत्र का पुन स्थापन तथा क्रांति—१६०३ ई० मे जेम्स प्रथम के राज्यारोहण से इंग्लैंड और स्काटलैंड के राजमुकुट एक हो गए तथा इंग्लैंड मे वैदेशिक स्काट वंश की स्थापना प्रारंभ हुई। ट्यूडर निरकुश व्यवस्था तथा संसद् से सामजस्य की आवश्यकता के समाप्त हो जाने से इंग्लैंड की बाह्य और आतरिक स्थिति मे एक नए युग का आविर्भाव हुआ। स्टुअर्ट शासक विकासमान राष्ट्र की शक्तियो से संघर्ष कर बैठे जिसके परिणाम गृहयुद्ध, गणतंत्रीय अनुभव, राजतंत्र का पुन-स्थापन तथा क्रांतिकारी व्यवस्था हुए। राष्ट्र का विकास, राजाओं का चरित्र, स्टुअर्ट शासको की दैवी अधिकारजन्य राजनीति मे रूढ़िवादी आस्था तथा उग्र प्यूरीटनवाद इत्यादि का सामूहिक परिणाम हुआ राजा और संसद् के बीच एक महान् वैधानिक संघर्ष। यह संघर्ष जेम्स प्रथम (१६०३-२५) तथा चार्ल्स प्रथम (१६२५-४९) के शासन की प्रधान घटना है। राजा के विशेषाधिकारो की पृष्ठभूमि मे उत्पन्न इस संघर्ष के प्रधान पक्ष धर्म, अर्थ तथा वैदेशिक नीति थे। १६२८ ई० मे लोकसभा अपने अधिकारो का परिपत्र प्राप्त करने मे सफल हुई। किंतु चार्ल्स फिर स्वेच्छापूर्ण शासन पर दृढ़ हो गया और संसद् के दीर्घ अधिवेशन के उपरात घटनाचक्रो ने राजा तथा संसद् के दलो के बीच गृहयुद्ध को द्रुतगामी कर दिया। १६४८ ई० तक राजा के पक्षपाती उखाड़ फेंके गए तथा दूसरे वर्ष चार्ल्स पर अभियोग लगाकर उसे फाँसी दे दी गई।

गणतंत्रीय विष्कंभक (१६४९-६०) मे इंग्लैंड को गणतंत्र घोषित किया गया और ओलिवर क्रामवेल ने महान् संरक्षकपद से १६५८ तक शासन किया। आतरिक दृष्टि से यह युग सैनिक शासनस्थापना, घोर प्यूरिटनवादी प्रयोग तथा कई वैधानिक योजनाओं के लिये उल्लेखनीय है। क्रामवेल की वैदेशिक नीति के परिणामस्वरूप डच और स्पेन से युद्ध हुए तथा इंग्लैंड को जल और स्थल दोनो युद्धो मे यश मिला। उसका प्रधान उद्देश्य ब्रिटिश व्यापार तथा प्यूरिटन मत की वृद्धि करना था। उसे इंग्लैंड, स्काटलैंड तथा आयरलैंड की एकता के प्रयत्न मे सफलता मिली। किंतु आतरिक शासन मे जनतंत्र का समापन कर देने के कारण राजतंत्र फिर से स्थापित करने के पक्ष मे एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया हुई और क्रामवेल की मृत्यु के उपरात उसके पुत्र रिचर्ड के शासनकाल मे सारे देश पर अराजकता छा गई। परिणामस्वरूप १६६० ई० मे स्टुअर्ट राजतंत्र पुन स्थापित हुआ।

१६६० ई० की व्यवस्था ने राजतंत्र तथा पार्लामेंट दोनो का पुन स्थापित किया। चार्ल्स द्वितीय के शासन (१६६०-८५) ने क्लैरेंडन संहिता के अतर्गत एंग्लिकन धर्मव्यवस्था स्थापित की, परतु चार्ल्स द्वितीय ने कैथलिको को भी धार्मिक सहिष्णुता देनी चाही। बहिष्कार-नियम-(एक्सक्ल्यूजन बिल) जन्य संघर्ष ने इंग्लैंड मे दो दल, क्रमश पिटिशनर तथा अभोरर, पैदा किए जो आगे चलकर ह्विग और टोरी कहलाए। उसके शासन की विशेषता वैधानिक प्रगति तथा नैतिक हीनता मे है। १६६५ ई० मे ताऊन का प्रकोप हुआ तथा १६६६ मे भीषण अग्निकांड। अपनी वैदेशिक नीति का आरंभ चार्ल्स द्वितीय ने फ्रास से मैत्रीपूर्ण व्यवहार, स्पेन से शत्रुता तथा डचो से युद्ध से किया। उसके शासन (१६८५-८८) मे राजा और पार्लामेंट का संघर्ष फिर अपने प्रारंभिक बिंदु पर पहुँचा। उसने कैथोलिक मत के प्रति सहिष्णुता, स्थायी सेना तथा फ्रेंच मैत्री पर आधारित स्टुअर्ट निरकुशता को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। उसका रोमन मत का सार्वजनिक प्रतिपादन, राजशक्ति का प्रयोग, धर्मस्वातंत्र्य-घोषणा का प्रकाशन तथा इसी मे मिश्रित, उसके पुत्र हो जाने के कारण, कैथोलिक मत के भावी सुनहरे अवसर, सामूहिक रूप से १६८८ ई० की तथाकथित गौरवशाली क्रांति मे परिलक्षित हुए। परिणामत विलियम तृतीय एवं मेरी का राजतिलक हुआ।

क्रांतिपरवर्ती युग—विलियम तृतीय और मेरी (१६८९-९४) के सम्मिलित तथा विलियम तृतीय (१६९४-१७०२) के अकेले शासन मे १६८८ की क्रांति द्वारा अर्जित सफलताओं का सम्यक प्रतिपादन हुआ। १६८९ का अधिकारो का प्रस्ताव तथा उसके उपरात १७०२ ई० के व्यवस्था कानून ने अंग्रेजी स्वाधीनता के क्षेत्र को और भी व्यापक कर दिया। तब भूमि मे संसदीय सरकार के बीज डाले गए, धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेस स्वातंत्र्य प्राप्त हुआ और आर्थिक सुधारो को कार्यान्वित किया गया। वैदेशिक क्षेत्र मे प्रमुख घटनाएँ लुई चतुर्दश के विरुद्ध इंग्लिश उत्तराधिकार का युद्ध तथा स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न को सरल कर देने के उद्देश्य से की गई विभाजनसंधियाँ थी, जिन्होने इंग्लैंड को फ्रास से द्वितीय युद्ध करने के लिये बाध्य किया। विलियम के उपरात रानी एन (१७०२-१४) के शासन मे मार्लबरो की विजयो के कारण प्रसिद्ध स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध तथा १७१३ की उट्रेक्ट की संधि हुई। देश की प्रमुख घटनाएँ राजनीतिक दलगत सरकार की रचना तथा १७०७ के एकता कानून के द्वारा इंग्लैंड और स्काटलैंड का एक राष्ट्र मे विलयन है।

स्टुअर्ट कालीन इंग्लैंड की विशेषता व्यापारिक प्रसार, वेस्ट इंडीज तथा उत्तरी अमरीका के उपनिवेशीकरण और भारत तथा अमरीका मे व्यापारिक केंद्रो की स्थापना थी। व्यापार से धन मे वृद्धि हुई और समुद्र मे डच और फ्रासीसियो को परास्त कर ब्रिटेन जल का स्वामी बन गया। इसी काल हुई इंग्लैंड के बैंक की स्थापना विशेष महत्व रखती है। सास्कृतिक और बौद्धिक उन्नति भी पर्याप्त मात्रा मे हुई। विख्यात व्यक्तियो मे अंग्रेजी क्रांति तथा गृहयुद्ध के लेखक क्लैरेंडेन, कविता मे जान मिल्टन, महान् आलकारिक लेखको मे जान बन्यन, व्यंग्यलेखको मे जान ड्राइडेन, दार्शनिको मे जान लाक तथा गणितज्ञ एवं भौतिकी दार्शनिको मे आइजक न्यूटन आदि उल्लेखनीय है।

प्रारंभिक हैनोवर शासक—जार्ज प्रथम (१७१४-२७) ने एक शातिपूर्ण युग का आरंभ किया जो केवल १७१५ के स्काटलैंड के जैकोबस संबंधी विद्रोह के कारण कुछ समय के लिये भंग हुआ था। वैधानिक दृष्टिकोण से राजा के मंत्रियो की बैठक मे सम्मिलित न होने के कारण मंत्रिमंडल (कैबिनेट) प्रणाली के विकास की दृष्टि से इस शासन का महत्व है। पहले कोई प्रधान मंत्री नहीं होता था, किंतु जब १७२१ ई० मे वालपोल ने मंत्रिपद का कार्यभार सँभाला, उसने अपनी सर्वोच्चता कैबिनेट मे प्रतीत करा दी और व्यावहारिक रीति से प्रथम प्रधान मंत्री बना। वालपोल तथा उसके उत्तराधिकारियो के शासन मे भी ह्विग मंत्रिमंडल कार्यभार सँभाले रहा। १७२० ई० मे दक्षिणी सागर की बबूला नाम की व्यापारिक बरबादी घटित हुई। जार्ज द्वितीय (१७२७-६०) के भी शासन मे १७३९ तक शांति रही तथा १७४२ तक वालपोल मंत्रिमंडल चलता रहा। वालपोल गृहसमृद्धि तथा वैदेशिक शांति मे आस्था रखता था। उसकी आर्थिक नीति का लक्ष्य व्यापार का प्रसार था। १७३९ ई० मे स्पेन के अमरीकी उपनिवेशो मे व्यापारिक अधिकार के प्रश्न पर ब्रिटेन का स्पेन से युद्ध हुआ, तदुपरात मारिया थेरेसा के पक्ष मे फ्रास और प्रशा के विरुद्ध इंग्लैंड को आस्ट्रिया-उत्तराधिकार युद्ध मे प्रवेश करना पड़ा। १७४५ ई० मे अंतिम स्टुअर्ट विद्रोह हुआ जो तत्क्षण दबा दिया गया। १७५६ ई० मे सप्तवर्षीय युद्ध फ्रास और ब्रिटेन मे छिड़ा जिसका संचालन चैथम के अर्ल विलियम पिट ने बड़ी कुशलता से किया। वेस्ली के नेतृत्व मे मेथोडिस्ट मत का उदय और विकास इंग्लैंड के धार्मिक इतिहास मे महत्वपूर्ण घटना है।

जार्ज तृतीय (१७६०-१८२०)—इसका शासन इंग्लैंड के इतिहास के सर्वाधिक घटनापूर्ण युगो मे से है। इसके प्रथम भाग मे सप्तवर्षीय युद्ध का पेरिस की संधि (१७६३) द्वारा अंत हुआ। कनाडा पर इंग्लैंड का अधिकार भी इसी बीच हुआ और साथ ही इसी काल की घटनाएँ है अमरीका के युद्ध तथा १७८३ मे उसकी स्वाधीनता मे हुआ। ग्रैटन के नेतृत्व मे आयरलैंड को अधिनियमन की स्वाधीनता (१७८२) मिल गई। भारत मे वारेन हेस्टिंग्ज की अध्यक्षता मे ब्रिटिश सत्ता सुदृढ़ हुई तथा आस्ट्रेलिया का उपनिवेशीकरण प्रारंभ हुआ। आतरिक दृष्टि से जार्ज तृतीय ने राजा के विलुप्त विशेषाधिकारो को पुन जीवित करना चाहा तथा लार्ड नार्थ (१७७०-८२) के मंत्रित्वकाल मे उस लक्ष्य की सिद्धि हुई। औद्योगिक क्रांति के प्रमुख आविष्कार, जिन्होने शारीरिक श्रम के स्थान पर मशीन तथा जलतरंग के स्थान पर भाप का इंजन दिया, इसी युग की देन है। १७८३ ई० से १८०१ ई० तक विलियम (पुत्र) पिट का मंत्रिकाल है जिसके प्रथम दस वर्ष शांति, आर्थिक सुधार तथा फ्रास की राज्यक्रांति के

प्रति ब्रिटेन के सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के लिये उल्लेखनीय है। क्रांति के युद्धों के १७९३ ई० में प्रारंभ हो जाने तथा प्रथम राष्ट्रमंडल गुट के उद्घाटन के कारण ब्रिटेन का फ्रांस से युद्ध हुआ। क्रांति के सिद्धांतों से गृहव्यवस्था के आतंकित हो जाने के कारण पिट की प्रतिक्रियावादी नीति तथा टोरी दल प्रभावशाली हुए। १८०० ई० में एकता का आयरीय विधान पास किया गया।

नैपोलियन के युद्ध, जो व्यापारिक संघर्ष, द्वीपीय युद्ध तथा वाटरलू के १८१५ के निर्णय से संबधित थे, उस शासन के अंतिम भाग के हैं। संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) से १८१२ का युद्ध नेपोलियन से इंग्लैंड के संघर्षों का परिणाम था। इसके उपरांत यूरोप की पुनर्रचना तथा यूरोपीय संगठन का प्रादुर्भाव हुआ जो यूरोपीय कनसर्ट के नाम से विख्यात है और जिसमें इंग्लैंड का प्रमुख भाग रहा। गृह की दृष्टि से यह व्यापारिक नाश, आर्थिक अशांति और तज्जन्य हिंसा का युग था। औद्योगिक क्रांति ने लंबे डग भरे थे तथा स्टीमर और रेलवे इंजनों के आविष्कार किए थे। मानवतावादी प्रगति का अनुमान विलबर फोर्स के दासता-उन्मूलन-आंदोलन, हावर्ड के जेल संबधी सुधार तथा १८०२ के प्रथम कारखाना कानून से लगाया जा सकता है। जार्ज चतुर्थ (१८२०-३०) तथा विलियम चतुर्थ (१८३०-३७) के शासन में गृह की दुर्व्यवस्था जारी रही और अनेक दंगों को उसने जन्म दिया। यह सुधारों का युग था, जिसमें १८२९ का आयरलैंड के कैथोलिक के त्राण का कानून, इसके व्यापारिक सुधार, पील के दंडविधान के सुधार, १८३२ का प्रथम सुधार कानून, १८३३ के फैक्टरी तथा शिक्षासुधार और १८३५ का स्थानीय कारपोरेशन कानून उल्लेखनीय है। आक्सफोर्ड आंदोलन का जन्म १८३३ ई० में हुआ। वैदेशिक क्षेत्र में, कैनिंग द्वारा मैटर्निक की अनुदार नीति का विरोध, ग्रीक स्वाधीनता संग्राम, फ्रांस की १८३० की क्रांति तथा पामर्स्टन काल का उदय तब की विशेष घटनाएँ हैं।

विक्टोरिया काल--रानी विक्टोरिया का दीर्घ शासन (१८३७-१९०१) लार्ड मेलबोर्न के संरक्षण में प्रारंभ हुआ। उसने उसे वैधानिक सिद्धांतों की शिक्षा दी तथा उसका विवाह सैक्सकोबर्ग के अलबर्ट से करा दिया जो उसका सलाहकार बना। उसके प्रारंभिक शासन की प्रमुख घटनाएँ चार्टिस्ट आंदोलन, अनाज कानून का १८४६ ई० में विघटन, १८४४ का बैंक चार्टर कानून तथा १८४७ का फैक्टरी कानून है। पील ने अनुदार दल का पुन संघटन किया और दल के दृष्टिकोण को और उदार किया। आयरलैंड में ओ' कानल के नेतृत्व में विघटन आंदोलन छिड़ा तथा नवयुवक आयरलैंड दल की रचना से इस आंदोलन को और भी प्रश्रय मिला तथा १८४८ का विद्रोह हुआ। इसी युग में १८३७ का कनाडा विद्रोह तथा कनाडा उपनिवेश में उत्तरदायी शासन का जन्म हुआ। न्यूजीलैंड साम्राज्य में मिला लिया गया और आस्ट्रेलिया का विकास हुआ। चीनी युद्ध (१८४०-४२) के उपरांत हांगकांग की प्राप्ति हुई और भारतीय साम्राज्य का दृढ़ीकरण हुआ। विक्टोरिया के शासन के मध्य १८६५ ई० तक गृहनीति में पामर्स्टन का व्यक्तित्व प्रधान रूप से कमण्य रहा। पश्चात् डिजरेली और ग्लैड्स्टन की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का युग आया। गृहशासन की दिशा में १८६७ का द्वितीय सुधार कानून, १८७० का शिक्षा कानून, १८७३ का न्यायविधान, १८६७ और ७८ के फैक्टरी कानून बने तथा ट्रेड यूनियन का विकास हुआ। आयरलैंड की धर्मव्यवस्था पुन स्थापित हुई तथा वहाँ की भूव्यवस्था का विधान पास हुआ। १८६७ ई० में कनाडा को डोमिनियन तथा विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया। वैदेशिक क्षेत्र में जो घटनाएँ घटीं उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं १८५४ ई० को रूस से क्रीमिया के लिये युद्ध, १८५७ का भारतीय विद्रोह, इटली की स्वतंत्रताप्राप्ति, १८५७ का द्वितीय चीनी युद्ध, अमरीका का गृहयुद्ध (१८६१-६५) तथा वे घटनाएँ जो १८७८ की बर्लिन कांग्रेस की जन्मदात्री थीं।

विक्टोरिया के शासन के अंत में तृतीय सुधार कानून (१८८४), पुनर्विभाजन कानून (१८८५) तथा स्वायत्त शासन कानून (१८८८) के निर्माण से जनतंत्र में प्रभूत प्रगति हुई। उदार दल के विघटन (१८८६) ने शत्रुओं को शासन की दीर्घ अवधि दे दी थी। १९०० ई० में श्रमदान की स्थापना हुई। आयरलैंड की समस्या का अंतिम निदान ढूंढने के उद्देश्य से प्रस्तुत ग्लैड्स्टन के १८८६ और १८९३ ई० के होमरूल प्रस्ताव असफल रहे। १८७८ के बाद ब्रिटेन क्रमश द्वितीय अफगान युद्ध (१८७८-८०), प्रथम बोअर युद्ध (१८८१) तथा मिस्र पर अधिकार करने में लगा रहा। आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ की स्थापना १९०० ई० में हुई। वैदेशिक मामले में यह गौरवशाली तटस्थता का युग था।

२०वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष--एडवर्ड सप्तम का शासन (१९०१-१०) श्रम की कठिनाइयों से, जो बहुधा हड़ताल की जन्मदात्री थी, प्रारंभ हुआ। १९०६ ई० में उदार दल के कार्यभार सँभालने से ऐसे कानूनों का जन्म हुआ जो साम्यवादी भावना से प्रेरित थे और जिनपर मजदूर दल के उत्थान की छाप थी। इन कानूनों में वृद्धावस्था की पेन्शन (१९०८) और स्वास्थ्य तथा बेरोजगारी की राष्ट्रीय बीमा योजना (१९०९) अपनी विशेषता रखती है। १९०९ ई० में दक्षिण अफ्रीका संघ कानून तथा भारतीय प्रतिनिधि नियम पास किए गए। वैदेशिक क्षेत्र में जर्मनी की औपनिवेशिक तथा समुद्री महत्वाकाक्षाओं ने ब्रिटिश दृष्टिकोण संदेहास्पद कर दिया और ब्रिटेन तटस्थता का त्याग करने के लिये बाध्य हो गया। १९०२ की आंग्ल जापानी, १९०४ की आंग्ल फ्रांसीसी, तथा १९०७ की आंग्ल रूसी संधियाँ अंतरराष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली के गुट को प्रतिसंतुलन देने लगीं। जार्ज पंचम के शासन (१९१०-३६) में १९१२ का संसदीय कानून पास होकर उच्च सदन को आर्थिक शक्तियों से रहित करने में समर्थ हो सका। अब राजमुकुट के प्रति अंग्रेजी विधान में अपार सम्मान पैदा हुआ। आयरलैंड का प्रश्न सर्वोपरि था जिससे होमरूल कानून १९१४ ई० में पास हुआ। जर्मनी की महत्वाकाक्षाओं के कारण यूरोपीय स्थिति शंकाकुल हो गई तथा मोरक्को की कठिनाइयों एवं बाल्कन युद्धों ने विस्फोट की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। १९१४ ई० में प्रथम विश्वव्यापी युद्ध छिड़ा और बेलजियम पर आक्रमण होने से लंदन संधि की हत्या देखकर ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्धघोषणा कर दी तथा १९१८ ई० तक ब्रिटेन स्थल और जलयुद्धों में व्यस्त रहा।

विश्वव्यापी युद्धों के बीच ब्रिटेन--यद्यपि युद्ध में ब्रिटेन का औपनिवेशिक लाभ अधिक हुआ, तथापि उसके उद्योग और व्यापार को भीषण आघात पहुँचा जिससे उसकी समृद्धि और प्रभाव क्षीण हुए। युद्ध ने ब्रिटेन के सामाजिक स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। ब्रिटेन में स्त्रियों का त्राण, बड़े राज्यों का विघटन, नगरों के समीपवर्ती प्रदेशों की प्रगति तथा वैज्ञानिक एवं कला संबधी विकास हुए। शांतिपूर्ण युग की आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता ने ब्रिटेन को औद्योगिक विकास की ओर द्रुत गति से अग्रसर किया जिसके फलस्वरूप श्रम की समस्या की अभिव्यक्ति १९२६ की साधारण हड़ताल में हुई। इसके उपरांत १९३१ ई० में बाजारों में वस्तुओं की दर गिर गई जिससे आर्थिक और औद्योगिक संकट उत्पन्न हो गया। उत्पादनवृद्धि के उपाय ढूंढे जाने लगे और अनियंत्रित व्यापार के सिद्धांत का परित्याग कर दिया गया। व्यय में कमी, श्रममूल्य की कटौती तथा करों की वृद्धि आदि से स्थिति में सुधार किया गया। समाजवादी सिद्धांत तथा समाजवादी कार्यों को प्रोत्साहन मिला। १९३६ में एडवर्ड अष्टम के राज्यत्याग की समस्या ने राष्ट्र का ध्यान कुछ समय के लिये केंद्रित रखा था और जार्ज षष्ठ के राजतिलक में सहायक हुआ।

साम्राज्यवादी इतिहास में ब्रिटिश राष्ट्रसंघ को जन्म देनेवाला १९३१ का वेस्टमिन्स्टर विधान, १९३७ के विधान में आयरलैंड का सार्वभौम जनतंत्र राज्य, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की १९४७ के स्वाधीन राष्ट्र में परिणति इत्यादि महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। वैदेशिक क्षेत्र में ब्रिटिश नीति १९३६ ई० तक, जबतक शनैं शनैं पुन शस्त्रीकरण प्रारंभ नहीं हुआ, अंतरराष्ट्र संघ से बँधी हुई थी। १९३७ ई० में नेविल चेंबरलेन की राष्ट्रीय सरकार की, जिसके जर्मनी को प्रसन्न करने के सारे प्रयत्न असफल रहे, रचना हुई। हिटलर की एक के बाद एक राष्ट्र हड़प लेने की नीति पहली सितंबर, १९३९ ई० को पोलैंड पर आक्रमण करने को बढ़ी, तब ब्रिटेन भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। मई, १९४० में चेंबरलेन को विन्स्टन चर्चिल के लिये प्रधान मंत्री का स्थान रिक्त करना पड़ा। चर्चिल के सतत प्रयत्न और रूस की असाधारण क्षमता तथा बलिदानों ने युद्ध को १९४५ ई० में सफलता

की सीमा पर पहुँचाया। उसी वर्ष साधारण निर्वाचन मे पार्लमेंट मे क्लेमेंट ऐटली समाजवादी बहुसख्यक दल के साथ, सामाजिक उत्थान, सुरक्षा एव अनिवार्य उद्योगो और सेवाओ के राष्ट्रीयकरण की व्यापक नीति लिए अपना मत्रिमडल बनाने मे सफल हुए।

सं०ग्र०—एस० आर० गार्डिनर इग्लैंड का इतिहास, टी० एफ० टाउट ग्रेट ब्रिटेन का बृहत् इतिहास, रैम्से म्योर ब्रिटिश कामनवेल्थ का सक्षिप्त इतिहास, ट्रेवेलियन इग्लैंड का इतिहास, एफ० जे० सी० हर्नशा ब्रिटिश प्रायद्वीपो के इतिहासो की रूपरेखा, जी० स्मिथ इग्लैंड का इतिहास हालवी इग्लिश जाति का इतिहास। (गि० शं० मि०)

आधुनिक इंग्लैंड—इग्लैंड अथवा ब्रिटेन के ससार भर मे अभी तक कई उपनिवेश वर्तमान है, यथा—ब्रूनेई, शिसेलीज, फाक्लैंड द्वीपसमूह, जिब्राल्टर, हागकाग, सेंट हेलेना तथा अटार्कटिक, हिद महासागर, वेस्ट-इडीज और पश्चिमी प्रशात स्थित प्रदेश। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत, मलयेशिया, घाना, नाईजीरिया, तजानिया, साइप्रस, जमैका, त्रिनिदाद तथा अन्य कई देश ब्रिटिश उपनिवेश न रहकर स्वतत्र हो गए है और सप्रति राष्ट्रमडल के नियमित सदस्य है। १९७० ई० मे फिजी तथा टागा और १९७१ ई० मे पश्चिमी समोआ भी आजाद होकर राष्ट्रमडल मे समिलित हो गए है।

नवबर, १९६५ ई० मे रोडेशिया (द्र०) नामक ब्रिटिश उपनिवेश के अल्पसख्यक श्वेत लोगो ने इस देश को स्वतत्र घोषित करके बलात् सत्ता सँभाल ली और २ मार्च, १९७० ई० को नया सविधान लागू करके यह देश गणतत्र राष्ट्र के रूप मे सामने आया, हालाँकि नया सविधान गणतत्रीय भावना से कतई मेल नही खाता, क्योकि इसमे प्रशासकीय एव विधि सबधी सारे अधिकार अल्पसख्यक गोरो को ही प्राप्त है, काले व्यक्तियो (रोडेशिया के मूल निवासी) को मात्र नाम के लिये ही अधिकार दिए गए है। इसपर ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्रो ने रोडेशिया पर कड़े आर्थिक प्रतिबध लगा दिए। १९६६ ई० के दिसबर मे राष्ट्रसघ ने कुछ चुनिदा वस्तुओ को लेकर रोडेशिया के साथ व्यापार करने पर प्रतिबध लगाने का प्रस्ताव पारित कर दिया। १९७१ ई० के दौरान रोडेशिया तथा इग्लैंड की सरकारे उभय पक्षो को स्वीकार्य समझौते की रूपरेखा तैयार करने को सहमत हो गई और १९७२ ई० की जनवरी मे लार्ड पियर्स के नेतृत्व मे एक शिष्टमडल रोडेशिया गया ताकि रोडेशियावालो के रुख का पूरा पूरा जायजा लिया जा सके।

हेराल्ड विल्सन के नेतृत्व मे १९६४ ई० के दौरान उदार दल ने इग्लैंड का शासन सँभाला। परतु देश की आर्थिक दशा लडखडा चुकी थी और स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि भुगतान की राशि चुकाने मे भी सरकार को कठिनाई का सामना करना पड रहा था। अत आर्थिक सयम के लिये कदम उठाया गया। ऋण पर रोक लगाई गई और कीमतो तथा आय पर नियत्रण रखने हेतु कानून बनाया गया। नवबर, १९६७ ई० मे पौड का १४.३ प्रतिशत अवमूल्यन हुआ। जनवरी, १९६८ ई० मे आर्थिक राहत के लिये कुछ और उपाय किए गए जिनमे १९७१ ई० तक सिंगापुर, मलयेशिया तथा फारस की खाडी से ब्रिटिश फौजो को वापस बुलाने का कार्यक्रम भी समिलित था। लेकिन १९६९ ई० आते आते ब्रिटेन की आर्थिक दशा मे अपेक्षाकृत सुधार हुआ और उपर्युक्त नियमो मे ढिलाई बरती जाने लगी। जून, १९७० के चुनाव मे अनुदार दल की विजय हुई और एडवर्ड हीथ इग्लैंड के प्रधान मत्री बने। नई सरकार ने अक्टूबर मे केंद्रीय प्रशासन का पुनर्गठन किया और वाणिज्य तथा उद्योग मत्रालय एव पर्यावरण मत्रालय नाम से दो और मत्रालय स्थापित किए। १९७० ई० के दौरान अनुदार दल की सरकार ने मुद्रास्थिति, हड़तालो तथा मजदूरी बढाने की माँगो पर रोक लगाने के लिये नियम बनाए। बेकारी रोकने के लिये १९७१ ई० मे इस सरकार ने राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक औद्योगिक प्रशिक्षण योजना लागू की।

२२ जनवरी, १९७२ ई० को ब्रिटेन ने 'यूरोपीय आर्थिक समुदाय' मे समिलित होने की सधि पर हस्ताक्षर किए और ब्रिटिश ससद् से स्वीकृति मिलने पर १ जनवरी, १९७३ ई० को ब्रिटेन उक्त समुदाय का नियमित सदस्य बन गया। इसके लिये उसे 'यूरोपीय मुक्त व्यापार सगठन' से इस्तीफा देना पड़ा। (कै० च० श०)

इंजन (ऊष्मा) उस यत्र या मशीन को कहते है जिसकी सहायता से ऊष्मा का यात्रिक ऊर्जा मे रूपातरण होता है। इजन की इस यात्रिक ऊर्जा का उपयोग कार्य करने के लिये किया जाता है। ऊष्मा इजन दो प्रकार के होते है

१ **बाह्य दहन इंजन**—इसमे इजन को चलानेवाला पदार्थ इजन के बाहर अलग पात्र मे तप्त किया जाता है। जैसे भाप इजन मे इंजन से अलग बायलर मे पानी से भाप बनती है जो सिलिडर मे जाकर पिस्टन को चलाती है।

२ **आंतरिक दहन इंजन**—इसमे ऊष्मा इजन के भीतर ही दहन द्वारा किसी तेल या पेट्रोल या किसी गैस को जलाकर उत्पन्न करते है। मोटरकार, हवाई जहाज इत्यादि मे आतरिक दहन इजन का ही उपयोग होता है। भाप इजन की तरह इनमे ईधन जलाने के लिये अलग बायलर नही होता, इसी कारण इन इजनो को आतरिक दहन इजन कहते है।

बाह्य दहन इजन का सर्वोत्तम उदाहरण 'भाप इजन' है। इसलिये इसका यहाँ सविस्तार वर्णन किया जा रहा है।

भाप इजन बनाने के यत्न का सबसे प्राचीन उल्लेख अलेक्जेंड्रिया के हीरो के लेखो मे मिलता है। हीरो उस विख्यात अलेक्जेंड्रीय सप्रदाय (३०० ई० पू०–४०० ई० सन्) का सदस्य था जिसमे टोलेमी, यूक्लिड, इरेटोस्थ-नीज जैसे तत्कालीन विज्ञान के महारथी समिलित थे। हीरो ने अपने लेख मे एक ऐसी युक्ति का वर्णन किया है जिसमे एक बद बाक्स मे वायु गर्म की जाती थी और एक नली के मार्ग से नीचे पानी भरे बर्तन की ओर फैलती थी। इससे बर्तन का पानी एक दूसरी नली मे चढता था और एक नकली फुहारा बन जाता था। फिर इसके बाद इस सबध मे कही कोई विवरण नही मिलता है।

१६०६ ई० मे, हीरो से लगभग २,००० वर्ष बाद, नेपोलियन अकादमी के सस्थापक और तत्कालीन यूरोप मे विज्ञान के अग्रणी नेता मार्क्विस देला पोर्ता ने हीरो के फुहारेवाले प्रयोग मे हवा की जगह भाप का उपयोग किया। उन्होने यह भी सुझाया कि किसी बर्तन को पानी से भरने के लिये यदि उसे एक नली द्वारा पानी से किसी तालाब से सबधित कर दिया जाय और तब उस बर्तन मे भाप भरकर फिर उसे ऊपर से पानी के द्वारा ठढा किया जाय तो भीतर की भाप सघनित होकर निर्वात उत्पन्न करेगी और उसकी जगह तालाब से पानी बर्तन मे भर जाएगा।

१६९८ ई० मे मार्क्विस देला पोर्ता के इस सुझाव का उपयोग टामस सेवरी ने पानी चढाने की एक मशीन मे किया। इस प्रकार सेवरी पहला व्यक्ति था जिसने व्यावसायिक उपयोग का एक भाप इजन बनाया, जिसका उपयोग खदानो मे से पानी उलीचने और कुओ मे से पानी निकालने मे हुआ।

सेवरी के इजन के आविष्कार के बाद भाप इजन का अगला चरण न्यूकोमेन इजन का आविष्कार था। इसका आविष्कार टामस न्यूकोमेन (१६६३-१७२९ ई०) ने किया। इस इजन का खदानो और कुओ से पानी निकालने मे ५० वर्षों तक उपयोग होता रहा। इसका ऐतिहासिक महत्व भी है, क्योकि इसी से जेम्स वाट के आविष्कारो का मार्ग खुला। इस इजन मे पहली बार सिलिडर और पिस्टन का उपयोग किया गया जो अब तक भाप इजनो मे प्रयुक्त किए जाते है।

चित्र १ मे न्यूकोमेन का इजन दिखाया गया है। इसमे पिस्टन जजीर द्वारा एक उत्तोलक (लीवर) से लटका है। उत्तोलक एक दीवार पर कीलित होता है और उसकी दूसरी भुजा पर पानी पप के पिस्टन की राड से लगी होती है। यह पप कुएँ से पानी खीचकर पानी की टकी मे पहुँचाता रहता है। अब समस्या पिस्टन को ऊपर नीचे चलाने की है। इसके लिये पिस्टन जब सिलिंडर के पेंदे पर हो तो भाप खोली जाती है, इससे पिस्टन पर बल लगता है और वह ऊपर पहुँच जाता है। अब भाप की टोटी बद करके, पानी की टंकी से आनेवाली पाइप की टोटी खोलते हैं जिससे पानी

सिलिंडर को ठंढा कर देता है। तब भाप संघनित होकर सिलिंडर के भीतर निर्वात उत्पन्न कर देती है जिससे वायुमंडल के दबाव के कारण पिस्टन नीचे
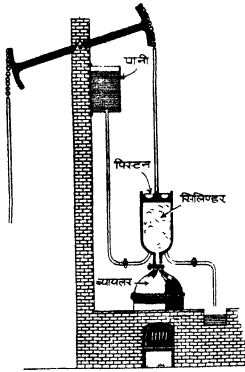
चित्र १.

उतर जाता है। इसी क्रिया को बार बार दोहराया जाता है। सिलिंडर में आए पानी के निकास के लिये एक पार्श्व नली लगी होती है और पानी की टंकी का संबंध एक पाइप के द्वारा पंप से रहता है।

वाल्वों को अपने आप खोलने और बंद करने के लिये ऐसा प्रबंध होता है कि वे उत्तोलक के उठने गिरने से स्वयं नियंत्रित हों। किंवदंती है कि यह आविष्कार हाथ से वाल्वों को नियंत्रित करने के लिये रखे गए एक सुस्त लड़के ने किया है। उसने उत्तोलक की झूलती भुजा से सिलिंडर के समानांतर एक छड़ बाँध दी, और उसे धागा द्वारा वाल्वों से संबद्ध कर दिया और अपना काम इस छड़ को सौंपकर स्वयं खेलता रहता था। इसका उद्गम चाहे जो हो, यह समानांतर नियंत्रक तबसे भाप इंजनों का एक स्थायी अंग हो गया।

जेम्स वाट का महत्वपूर्ण कार्य भाप इंजन को सर्वश्रेष्ठ रूप देना है जिससे मनुष्य की शक्ति दस गुनी बढ़ गई और व्यावसायिक क्षेत्र में वृहद् परिवर्तन हो गया।

न्यूकामेन इंजन में भाप केवल निर्वात उत्पन्न करने के काम आती है। पिस्टन उठाने का काम, जिससे पानी चढ़ता है, वायुमंडलीय दाब करता है। लेकिन भाप को केवल संघनित करने में बहुत ईंधन व्यर्थ खर्च होता है।

जेम्स वाट ग्लासगो में एक चतुर वैज्ञानिक यंत्ररचयिता थे और १७६३ में ग्लासगो विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्रोफेसर से उन्हें एक न्यूकामेन इंजन की मरम्मत का आदेश मिला जो कभी ठीक न चलता था। मरम्मत करते समय वाट का ध्यान आया कि इसमें ईंधन बुरी तरह से व्यर्थ हो जाता है। विचारशील स्वभाव के वाट ने इसमें श्रेष्ठ मशीन बनाने का विचार प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अनेक अन्वेषण किए और यंत्र बनाए, जिनसे भाप इंजन को उसका वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ और वह उद्योग और सभ्यता की प्रगति में शक्तिशाली साधन बना।

जेम्स वाट के भाप इंजन का सिद्धांत चित्र २ में दिखाया गया है। अ अ सिलिंडर है जिसमें पिस्टन प आगे पीछे आता जाता रहता है। पिस्टन में एक खोखली नली प क लगी होती है जिसके सिरे पर बाहर की ओर से खुलनेवाला वाल्व क लगा होता है। स एक संघनित्र है जो पानी में डूबा रहता है और दूसरी ओर पंप ब से लगा होता है। ट को खोलने से क्रिया प्रारंभ होती है। जब द खुला हो, ठ बंद हो, तो पिस्टन बाट भ के कारण नीचे आ जाता है और सिलिंडर में उच्चदाब भाप भर जाती है। फिर द बंद करके ठ खोलने से यह भाप संघनित्र में ब द्वारा निर्वात कर दिए जाने पर खिंच आती है और वहाँ संघनित हो जाती है। इससे प के ऊपर निर्वात हो जाता है और पिस्टन वाष्प की दाब से ऊपर चढ़ता है और बाट भ पर कार्य करता है। अब फिर ठ को बंद करके द को खोल देने से बाट भ के कारण पिस्टन नीचे उतर आता है और भाप ऊपर की ओर भर जाती है (पूर्व क्रिया की अवशिष्ट निम्न दाब भाप को क के मार्ग से बाहर ढकेल देती है)। इस प्रकार सिलिंडर गर्म बना रहता है।

सिलिंडर को अन्य ऊष्मा हानियों से रक्षित करने के लिये वाट ने उसके चारों ओर एक भाप बाक्स और लकड़ी लगाई। आजकल सिलिंडरों को ऐस्बेस्टस या किसी अन्य कुचालक में लपेटकर ऊपर पतली धातु की खोल चढ़ा देते हैं।

भाप इंजन के प्रकार—भाप इंजन के निम्नलिखित मुख्य प्रकार हैं :

(क) एक एवं द्विक्रिया इंजन (single and double acting engine)—एकक्रिया इंजन में भाप पिस्टन के एक ही ओर कार्य करती है एवं द्विक्रिया इंजन में भाप पिस्टन के दोनों ओर कार्य करती है। यदि इन दोनों प्रकार के इंजनों में अन्य सभी अवस्थाएँ समान हों, तो द्विक्रिया इंजन द्वारा प्राप्त शक्ति दूसरे प्रकार के इंजन द्वारा प्राप्त शक्ति की दूनी होती है। यही कारण है कि इन दिनों एकक्रिया इंजन कम ही व्यवहार में लाया जाता है।

(ख) ऊर्ध्वाधर एवं क्षैतिज इंजन—सिलिंडर की धुरी के ऊर्ध्वाधर या क्षैतिज होने के अनुसार इंजन ऊर्ध्वाधर या क्षैतिज कहा जाता है। क्षैतिज इंजन ऊर्ध्वाधर इंजन से अधिक जगह घेरता है। ऊर्ध्वाधर प्रकार के
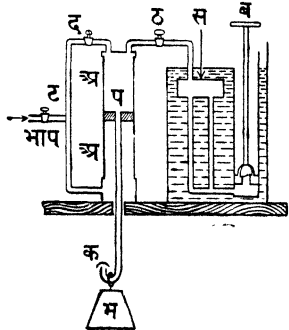
चित्र २.

इंजन में घर्षण आदि कम होता है, जिसके कारण यह क्षैतिज इंजन की तुलना में अधिक दिन तक चल सकता है।

(ग) निम्न एवं उच्च चाल इंजन (low and high speed engine)—भाप इंजन की चाल वस्तुत: इसके क्रैंक शैफ्ट (crank shaft) के परिक्रमण (revolutions) की प्रति मिनट की चाल होती है। चार फुट पिस्टन स्ट्रोक (piston stroke) एवं ८० परिक्रमण प्रति

मिनटवाले इंजन मे औसत पिस्टन चाल ६४० फुट प्रति मिनट होगी। यह इंजन निम्न चाल इजन कहा जायगा। साधारणत १०० परिक्रमण प्रति मिनट की चाल से कम चाल पर चलनेवाले इजन को निम्न चाल इजन कहते हैं एव २५० परिक्रमण प्रति मिनट की चाल से अधिक चाल पर चलनेवाले इजन को उच्च चाल इजन कहते हैं। १०० और २५० परिक्रमण प्रति मिनट के बीच की चाल पर चलनेवाले इजन को 'मध्यम चाल इजन' (medium speed en ine) कहते है। उच्च चाल इजन का सबसे बड़ा गुण यह है कि समान शक्ति के लिये यह बहुत ही छोटे आकार का होता है। उच्च चाल के कारण भाप भी कम ही खर्च होती है, क्योंकि इस प्रकार के इजन मे भाप और सिलिडर के बीच ऊष्मा स्थानान्तरण (heat transfer) मे बहुत ही कम समय लगता है।

(घ) सघनन और असघनन इजन (condensing and non-condensing en ine)—असघनन इजन वह भाप इजन है जिससे भाप का निकास (exhaust) सीधे वायुमंडल मे होता है एव इसके लिये सिलिडर मे भाप की दाब वायुमडल की दाब से कभी कम नहीं होनी चाहिए। सघनन इजन मे भाप कार्य करने के बाद सघनित्र मे प्रवेश करती है एव वह वहाँ वायुमडल की दाब से बहुत ही कम दाब पर जल मे परिवर्तित हो जाती है। सघनित्र का व्यवहार करने से भाप अधिक कार्य कर पाती है।

(च) सरल एव सयोजी इजन (simple and compound engine)—सरल इजन मे प्रत्येक सिलिडर बॉयलर से सीधे भाप पाता है एव सीधे वायुमडल या सघनित्र मे निकास (exhaust) करता है। सयोजी इजन मे भाप एक सिलिडर मे, जिसे उच्च दाब सिलिडर कहते है, कुछ हद तक प्रसारित होती है और उसके बाद उससे कुछ बड़े सिलिडर मे, जिसे निम्न दाब सिलिडर कहते है, प्रवेश करती है एव यहाँ प्रसार की क्रिया पूर्ण होती है। बहुधा निम्न दाब सिलिडर सघनित्र मे निकास करता है। प्रसार तीन या चार सिलिडर मे भी हो सकता है एव इन इजनो को त्रिप्रसार इजन (triple expansion engine) या चतुष्प्रसार इजन (quadruple expansion engine) कहते है।

प्रत्यागामी इजन की यंत्रावली—(reciprocating engine mechanism)—चित्र ३ मे इजन के विभिन्न पुर्जे दिखाए गए है। सिलिडर (१) फ्रेम (frame) (२) के एक ओर बोल्ट (bolt) द्वारा बँधा रहता है। सिलिडर ढक्कन (cylinder cover) (३) सिलिडर के दूसरी ओर बोल्ट द्वारा बँधा रहता है। सिलिडर से ऊष्मा सचार को कम करने के लिये अचालक (non-conductor) परिवेष्टन (lagging) (४) द्वारा सिलिडर को चारों ओर से ढँक दिया जाता
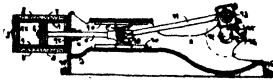
चित्र ३.

है। इस परिवेष्टन को इस्पात की चादर (५) से लपेट दिया जाता है ताकि बाहर से देखने में अच्छा लगे। पिस्टन (६) पिस्टन दड (७) के एक ओर लगा रहता है, जो भरण बाक्स (stuffing box) (८) के अदर से चलता है। क्रॉस हेड (cross head) (६) पिस्टन दड के दूसरी ओर लगा रहता है और गाइड (guide) (१०) पर टिका रहता है। योजक दड (connecting rod) (११) का एक किनारा क्रॉस हेड से गजन पिन (gudgeon pin) (१२) द्वारा जोड़ा रहता है। इसका दूसरा किनारा क्रैंक (crank) (१४) से क्रैंक पिन (crank pin) (१३) द्वारा बँधा रहता है। क्रैंक शैफ्ट (crank shaft) (१५) इजन का मुख्य पुर्जा है। यह मुख्य बेयरिंग (bearing) (१६) मे चलता है। इजन में व्यवहृत स्नेहक तेल (lubricating oil) आदि इजन के फ्रेम के आधार के पास इकट्ठा किए जाते हैं (१७)। भाप द्वारों (ports) (१८) द्वारा सिलिंडर में प्रवेश करती है, या इससे बाहर निकलती है।

भाप इंजन का कार्यसिद्धांत (working principle)—ऊष्मा इजन की अधिकतम दक्षता (ता₁—ता₂)/ता₁ [$(T_1-T_2)/T_1$] होती है जिसमे ता₁ (T_1) और ता₂ (T_2) ऊष्मा इजन चक्र (heat engine cycle) मे अधिकतम एव न्यूनतम ताप है। इससे पता चलता है कि इजन की दक्षता इन दोनों तापों पर निर्भर करती है। भाप इंजन की दक्षता उतनी ही बढ़ती जायगी जितनी ता₁ (T_1) का मूल्य बढ़ेगा एव ता₂ (T_2) का मूल्य घटेगा। ता₁ (T_1) के मूल्य को बढाने के लिये बायलर से निकलकर इजन मे आनेवाली भाप की दाब को बढ़ाना होगा, क्योंकि भाप की दाब जितनी ही अधिक होगी ता (T_1) का मूल्य उतना ही बढ़ेगा। ता₁ (T_1) को बढ़ाने का एक और उपाय है। वह है भाप को अतितापित करना। अतितापक का बॉयलर मे व्यवहार करके भाप का अधिताप बढ़ाया जाता है। ता₂ (T_2) के मान को कम करने के लिये सघनित्र का व्यवहार करना आवश्यक हो जाता है। सघनित्र मे ठढे जल द्वारा भाप जल मे परिवर्तित की जाती है। अत अच्छे सघनित्र मे ता₂ (T_2) का मान ठढे जल के ताप के बराबर हो सकता है। इससे पता चलता है कि भाप इजन मे अधिक दाब एव अधिक अतितप्त भाप द्वारा कार्य कराने से एव कार्य कराने के बाद भाप को सघनित्र मे प्राप्य ठढे जल के ताप के बराबर ताप पर जल मे परिवर्तित करने से इजन अधिक दक्ष होगा।

बॉयलर से भाप उच्च दाब पर भापपेटी (steam chest) में प्रवेश करती है। पिस्टन जसे ही स्ट्रोक (stroke) के अत मे पहुँचता है, उसी समय वाल्व चलता है, जिससे भापद्वार (steam port) खुल जाता है एव भाप सिलिडर मे प्रवेश करती है। भाप की दाब द्वारा धक्का दिए जाने से पिस्टन आगे बढ़ता है। इसे अग्र स्ट्रोक (forward stroke) कहते है। पिस्टन की चाल द्वारा क्रैंक, क्रैंक शाफ्ट एव उत्केंद्रक (eccentric) चलते है। उत्केंद्रक के चलने से द्वार कुछ और अधिक खुल जाता है। सिलिडर मे भाप तब तक प्रवेश करती रहती है जब तक द्वार एकदम बद नहीं हो जाता। इस समय विच्छेद (cut off) होता है एव इसके बाद सिलिडर मे भाप का सभरण (supply) नहीं हो पाता। सिलिडर मे आई हुई भाप अब प्रसारित होती है एव इस प्रसार मे भाप का आयतन बढ़ जाता है एव दाब कम हो जाती है। इसी प्रसार के समय भाप कार्य करती है। अग्र स्ट्रोक के अत मे वाल्व भापद्वार को निकास की ओर खोल देता है, जिससे भाप निर्मुक्त होती है। निकली हुई भाप की दाब पश्च दाब (back pressure) के बराबर हो जाती है। निर्मोचन होने के कुछ क्षण के बाद पिस्टन पीछे की ओर लौटता है एव इसे प्रत्यावर्तन स्ट्रोक (return stroke) कहते है। इस स्ट्रोक मे लौटते समय पिस्टन सिलिडर मे बची हुई भाप का निकास करता जाता है। जब पिस्टन इस स्ट्रोक के अत पर पहुँचता है, वाल्व निकास द्वार को बद कर देता है, जिससे भाप का प्रवाह बद हो जाता है। सिलिडर शीर्ष और पिस्टन के बीच कुछ भाप बच जाती है, जो निर्मुक्त नहीं हो पाती है। फिर चक्र की पुनरावृत्ति होती है।

द्विक्रिया इजन मे इसी के सदृश चक्र की क्रिया सिलिडर की दूसरी ओर होती है।

भाप का कार्नो चक्र (Carnot cycle)—गैस के कार्नो चक्र मे दो रुद्धोष्म (adiabatic) एव दो स्थिर तापवाली क्रियाएँ होती हैं। भाप को व्यवहृत करने पर दो स्थिर तापवाली क्रियाएँ स्थिर दाब की क्रियाएँ हो जाती है, क्योंकि जल या भाप को स्थिर ताप पर रखने के लिये दाब को भी स्थिर रखना होगा। चित्र ४ मे भाप का कार्नो चक्र दर्शाया गया है। बिंदु अ से आरभ करने पर चक्र की ये चार क्रियाएँ है (१) बिंदु अ पर जल ता₁ (T_1) ताप एव द₁ (P_1) दाब पर रहता है। यह जल स्थिर ताप पर गरम किया जाता है। जल धीरे धीरे भाप मे परिवर्तित होता जाता है। जब वाष्पीकरण पूरा हो जाता है तब भाप की अवस्था बिंदु ब से एव यह क्रिया अ ब से दिखाई जाती है। (२) बिंदु ब पर ऊष्मा का प्रदाय बद हो जाता है एवं भाप रुद्धोष्म तरीके से बिंदु स तक प्रसारित होती है।

प्रसार के अंत मे दाब एव ताप घटकर क्रमश दा$_2$ (P_2) एव ता$_2$ (T_2) हो जाता है। यह क्रिया ब स है। (३) बिंदु स से द तक भाप स्थिर ताप ता$_2$ (T_2) पर संपीडित होती है। इस क्रिया से भाप का संघनन होता
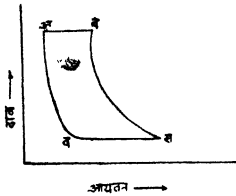
चित्र ४.

जाता है। द बिंदु पर पहुँचने पर कुछ भाप बच जाती है। (४) द बिंदु पर बची हुई भाप का रुद्धोष्म तरीके से द अ द्वारा संपीडन होता है। इससे इसका आयतन बहुत ही कम हो जाता है। इसके बाद चक्र की पुनरावृत्ति होती है।

रैंकिन चक्र (Rankine cycle)--रैंकिन चक्र एक सैद्धांतिक चक्र है, जिसके अनुसार भाप इंजन कार्य करता है। यह चक्र चित्र ५ मे अंकित किया गया है। मान लिया कि चक्र के आरंभ मे सिलिंडर के
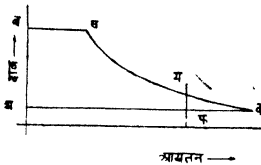
चित्र ५.

अंतरायतन (clearance volume) मे कुछ जल है एव इस जल का आयतन नगण्य है। इस अवस्था को बिंदु अ से दिखाया गया है। रैंकिन चक्र की ये क्रियाएँ है (१) अ ब संघनित्र से संघनित जल पप द्वारा बॉयलर मे उच्च दाब पर भेजा जाता है। बॉयलर मे यह जल उच्च दाब के संतृप्त ताप (saturation temperature) तक गरम किया जाता है। (२) ब स बॉयलर मे स्थिर दाब दा$_1$ (P_1) पर गरम जल का वाष्पीकरण होता है। (३) स द, बिंदु स पर भाप बॉयलर से भाप इंजन मे प्रवेश करती है। भाप इंजन मे भाप का प्रसार रुद्धोष्म तरीके से बिंदु द तक होता है। इस प्रसार के द्वारा भाप कार्य करती है। प्रसार के अंत मे भाप की दाब दा$_2$ (P_2) हो जाती है। (४) द अ के बिंदु द पर भाप, इंजन मे कार्य करने के बाद संघनित्र मे प्रवेश करती है। संघनित्र मे भाप स्थिर दाब पर जल के रूप मे परिवर्तित होती है। बिंदु अ से पुन चक्र की पुनरावृत्ति होती है।

व्यवहार मे रैंकिन चक्र का रूपांतरण--वस्तुत व्यवहार मे भाप को दाब आयतन रेखाचित्र के अंतिम छोर बिंदु द तक प्रसारित करने से कुछ भी लाभ नही होता। इस रेखाचित्र का क्षेत्रफल भाप इंजन द्वारा प्राप्त कार्य के बराबर होता है। इसे देखने से पता चलेगा कि यह अंतिम सिरे की ओर बहुत ही सकीर्ण है, जिसके फलस्वरूप प्रसार स्ट्रोक के अंतिम भाग मे प्राप्त कार्य बहुत ही कम होगा। इस सकीर्ण भाग द्वारा प्राप्त कार्य इंजन के गतिमान पुर्जों के घर्षण को भी पूरा कर सकने मे असमर्थ होता है। इसी कारण प्रसार स्ट्रोक बिंदु य पर ही समाप्त कर दिया जाता है। तब बिंदु य से भाप की दाब स्थिर आयतन पर कम होती जाती है एव बिंदु फ पर पहुँचने पर यह संघनित्र की दाब के बराबर हो जाती है। अत चित्र ३ मे अ ब स य फ रूपांतरित रैंकिन चक्र है।

परिकल्पित और वास्तविक सूचक रेखाचित्र--चित्र ६ मे अ ब स द य परिकल्पित रेखाचित्र एव '१-२-३-४-५' वास्तविक रेखाचित्र है। भाप इंजन का परिकल्पित सूचक रेखाचित्र वह सैद्धांतिक रेखाचित्र है जो यह मानकर बनाया जाता है कि इंजन मे किसी भी प्रकार की क्षति नही हो रही है। इस प्रकार का रेखाचित्र बनाते समय ये परिकल्पनाएँ कर ली जाती है (क) द्वारों का खुलना और बंद होना तात्क्षणिक होता है।
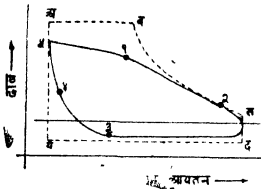
चित्र ६.

(ख) भाप के संघनन द्वारा दाबक्षति (loss) नही होती है। (ग) वाल्व द्वारा अवरोधन क्रिया नही होती है। (घ) भाप बॉयलर की दाब पर इंजन म प्रवेश करती है और संघनित्र की दाब पर उसकी निकासी होती है। (च) इंजन मे भाप का अतिपरवलयिक (hyperbolic) प्रसार होता है।

वस्तुत वास्तविक इंजन मे क्षतियाँ होती है। इन क्षतियों के कारण इंजन पर प्रयोग द्वारा मिलनेवाले सूचक रेखाचित्र, जिन्हे 'वास्तविक सूचक रेखाचित्र' कहते है, परिकल्पित रेखाचित्र से भिन्न होते है। बॉयलर से भाप नली द्वारा इंजन मे प्रवेश करती है। इस नली मे गरम भाप के प्रवाह के कारण कुछ भाप का संघनन हो जाता है, जिसके कारण भाप की दाब कम हो जाती है। वाल्व द्वारा भाप के प्रवेश करते समय अवरोधन के कारण भी दाब मे कुछ कमी हो जाती है। इन्ही सब क्षतियो के कारण इंजन मे प्रवेश करते समय भाप का दाब बॉयलर की दाब से कम रहती है। सिलिंडर की दीवारे भाप की तुलना मे ठंढी होती है। इसके कारण भाप का संघनन होता है। इसके फलस्वरूप विच्छेद बिंदु तक दाब मे धीरे धीरे क्षति होती जाती है। सिलिंडर की दीवारो द्वारा ताप के चालन के कारण प्रसारवक्र वास्तव मे अतिपरवलयिक नही हो पाता है। भाप का उन्मोचन स्ट्रोक के पूर्ण होने के पहले ही हो जाता है। प्रवेश एव निकास द्वार के क्रमश बंद होने और खुलने मे लगनेवाले समय के कारण रेखाचित्र मे उन दो बिंदुओं पर कुछ वक्रता आ जाती है। चूंकि कार्य करने के बाद भाप को संघनित्र मे भेजना होता है, इसीलिये निकासी रेखा संघनित्र-दाब-रेखा से ऊपर रहती है। निकास द्वार के बंद होने के बाद सिलिंडर मे बची हुई भाप का पिस्टन द्वारा संपीडन होता है। इसके कारण इस बिंदु पर भी रेखाचित्र मे कुछ वक्रता आ जाती है। इस संपीडन स्ट्रोक के पूर्ण होने के ठीक कुछ पहले ताजी भाप इंजन मे प्रवेश करती है। सिद्धांत एव व्यवहार मे पाए जानेवाले इन्ही सब विचलनो के कारण दोनो रेखाचित्रो मे अत्यंत अंतर हो जाता है। इसके कारण वास्तविक रेखाचित्र का क्षेत्रफल परिकल्पित रेखाचित्र के क्षेत्रफल से कम हो जाता है। इन दोनो क्षेत्रफलो के अनुपात को 'रेखाचित्र

गुणक' (diagram factor) की संज्ञा दी गई है। रेखाचित्र गुणक का मान ०'६ से ०'६ तक होता है।

भाप इंजन की अश्वशक्ति—ऊपर बताए गए परिकल्पित सूचक-रेखाचित्र द्वारा पता चलता है कि भाप की दाब पिस्टन के पूरे स्ट्रोक के समान नहीं रह पाती। इंजन की अश्वशक्ति को जानने के लिये भाप की दाब के औसत मान का अंकन करना आवश्यक हो जाता है। इस दाब को माध्य प्रभावी दाब कहते हैं।

परिकल्पित माध्य प्रभावी दाब

$$= \frac{द_१}{प्र} (१ + लघु प्र) - द_४$$

$$\left[\frac{P_1}{r}(1 + \log_e r) - p_b\right]$$

जहाँ $द_१$ (P_1) = भाप इंजनों में अंतर्गम दाब $द_४$ (P_b) = पश्च दाब और प्र (r) = प्रसार का अनुपात है। परिकल्पित सूचक-रेखाचित्र के आधार पर निकाली गई माध्य प्रभावी दाब को 'परिकल्पित माध्य प्रभावी दाब' कहते हैं। वास्तविक सूचक-रेखाचित्र द्वारा प्राप्त माध्य प्रभावी दाब को वास्तविक माध्य प्रभावी दाब कहते हैं।

दोनों में निम्नलिखित संबंध है

वास्तविक माध्य प्रभावी दाब = (परिकल्पित माध्य प्रभावी दाब) × रेखाचित्र गुणक

भाप इंजन पर वास्तविक सूचक रेखाचित्र, इंजन सूचक द्वारा प्राप्त होता है। इंजन सूचक एक ऐसा उपकरण है जो दो गतियों को दिखाता है एक ऊर्ध्वगति जो दाब की अनुपाती होती है, एवं दूसरी, क्षैतिज गति जो पिस्टन विस्थापन की अनुपाती होती है। इस उपकरण में एक छोटा सा सिलिंडर होता है, जिसमें एक बहुत ही चुस्त पिस्टन एक सिरे से दूसरे सिरे तक चलता है। पिस्टन के द्वारा पिस्टन दंड चलता है, जिसपर एक कमानी लगी रहती है। कमानी का दूसरा छोर उपकरण के स्थिर हिस्से से कसकर बँधा रहता है। पिस्टन दंड पेंसिल यंत्रावली (pencil mechanism) को चलाता है, जो सूचक पिस्टन (indicator piston) की गति को ड्रम (drum) पर बढ़ाकर दिखाता है। क्षैतिज विस्थापन एक दोलन ड्रम (oscillating drum) की सहायता से प्राप्त होता है। सूचक चित्र एक खास तरह के पत्रक (card) पर लिया जाता है। ड्रम के ऊपर पत्रक को पकड़ने के लिये दो क्लिप (clip) रहते हैं। ड्रम की गति इंजन के पिस्टन की गति को अनुरूपित करती है और इसलिये एक खास माप पर पिस्टन के विस्थापन को दिखाती है।

सूचक रेखाचित्र के आधार पर निकाले गए माध्य प्रभावी दाब को व्यवहार करने से प्राप्त अश्वशक्ति को 'सूचित अश्वशक्ति' (Indicated horse power) कहते हैं।

$$सूचित\ अश्वशक्ति = \frac{(दा_{मा१}\ क्षे_१ + दा\ मा_२\ क्षे_२) \times स्ट्रो\ प}{३३,०००}$$

$$\left[\frac{(p_{m1}\ A_1 + p_{m2}\ A_2)\ Ln}{33,000}\right]$$

जहाँ $दा_{मा१}$ (p_{m1}) और $दा_{मा२}$ (p_{m2}) भाप इंजन के दोनों ओर के माध्य प्रभावी दाब पाउंड प्रति वर्ग इंच में हैं, $क्षे_१$ (A_1) तथा $क्षे_२$ (A_2) क्रमशः दोनों ओर के क्षेत्रफल वर्ग इंच में हैं, स्ट्रो (L) = स्ट्रोक (stroke) की लंबाई फुट में और प (N) = इंजन का परिक्रमण प्रति मिनट है।

सिलिंडर में उत्पन्न की हुई शक्ति का कुछ हिस्सा इंजन के गतिमान पुर्जों के घर्षण में ही समाप्त हो जाता है। अतः क्रैंकशैफ्ट पर प्राप्य ऊर्जा संपूर्ण ऊर्जा से सर्वदा कम रहती है। क्रैंकशैफ्ट पर प्राप्य शक्ति को बहुधा ब्रेक प्रणाली द्वारा मापा जाता है एवं इसी के चलते इसे ब्रेक अश्वशक्ति कहते हैं। इंजन की अश्वशक्ति को मापने के उपकरण को डाइनेमोमीटर (dynamometer) कहते हैं (द्र० 'डाइनेमोमीटर')।

इंजन के विभिन्न पुर्जों के घर्षण में लगनेवाली शक्ति को 'घर्षण अश्व-शक्ति' कहते हैं।

घर्षण अश्वशक्ति-सूचित अश्वशक्ति-ब्रेक अश्वशक्ति

भाप इंजन का गतिनियामक (governor)—गति नियामक का मुख्य कार्य इंजन की गति का नियमन करना है। भाप इंजन के गति-नियामक इन दो तरीकों में से एक की सहायता से परिभ्रमण की गति स्थिर रख पाता है (१) विच्छेद बिंदु को बदलने से तथा (२) भाप की प्रारंभिक दाब को परिवर्तित करने से। शक्ति की माँग के अनुसार भाप की दाब को बढ़ाकर या घटाकर इंजन की गति का नियमन करनेवाले गतिनियामक को अवरोध गतिनियामक (throttling governor) कहते हैं। गतिनियामक एक अवरोध वाल्व को चलाता है, जो मुख्य भाप नली में रखा होता है। इस प्रकार के गतिनियामकों में मुख्य गतिपालक कंदुक गतिनियामक (fly ball governor) होता है। वाल्व संतुलित प्रकार का होता है, अर्थात् भापदाब द्वारा परिणामी बल (resultant force) शून्य होता है। जब इंजन की गति बढ़ती है, गतिनियामक कंदुकों के परिभ्रमण की गति में भी वृद्धि हो जाती है, जिससे केंद्रापसारी बल बढ़ जाता है। बल की यह वृद्धि उन्हें गुरुत्वाकर्षणबल एवं नियंत्रण कमानी के विरुद्ध बाहर चलने को बाध्य करती है। इसके चलते वाल्व कुछ अंश में बंद हो जाता है। वाल्व द्वारा अवरोध होने पर पिस्टन पर कार्य करनेवाली भाप की दाब में कमी हो जाती है, जिसके कारण उत्पन्न शक्ति भी कम हो जाती है एवं इंजन की गति में कमी होने के कारण वाल्व कमानी ऊपर उठ जाती है एवं पिस्टन पर कार्य करनेवाली भाप की दाब में वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप गति बढ़कर सामान्य गति पर आ जाती है। अवरोध-गति-नियामक द्वारा नियमित भाप इंजन में प्रयोग के बाद यदि इंजन में प्रति घंटे व्यवहृत भाप की तौल को अश्वशक्ति के साथ आँका जाय, तो एक सरल रेखा प्राप्त होगी। यह संबंध सर्वप्रथम विलिअन ने पाया था। अतः इन्हीं के नाम पर इसे 'विलिअन की रेखा' (Willian's Line) कहते हैं।

गतिपालक चक्र (flywheel)—बहुधा गतिपालक चक्र ढालवें लोहे का बना होता है। इसमें एक घेरा (rim), एक नाभि (hub) एवं नाभि को घेरा से जोड़ने के लिये भुजाएँ (arms) होती हैं। जिस ईषा (shaft) पर गतिपालक चक्र लगाना होता है, उसका व्यास ऐसा होना चाहिए कि उसपर नाभिक ठीक बैठ जाय। गतिपालक चक्र को ईषा के साथ चाभी के द्वारा अटकाया जाता है।

गतिपालक चक्र का मुख्य कार्य है इंजन के कार्य करते समय ऊर्जा के परिवर्तन द्वारा होनेवाली गति के परिवर्तन को कम करना। यह चक्र इंजन को निष्क्रिय स्थिति (dead centres) के ऊपर ले जाता है। निष्क्रिय स्थिति के समय क्रैंक और योजी दंड स्ट्रोक के किसी भी ओर में एक सीध में रहता है और इस समय पिस्टन पर कार्य करनेवाली भाप क्रैंक को घुमाने में असमर्थ हो जाती है। गतिपालक चक्र को चालक घिरनी (driving pulley) के रूप में भी काम में लाया जा सकता है। कार्य का सफलता-पूर्वक संपादन करने के लिये इनका भारी होना आवश्यक है।

नौ इंजन (marine engines)—निम्न गतिवाले भारवाहक जलपोतों (ships) में बड़े नोदक (propellers) लगाए जाते हैं एवं ये नोदक प्रति मिनट ८० परिक्रमण करते हैं। इस तरह के जहाजों में भाप इंजन बहुत ही उपयुक्त हैं। उच्च गति पर चलनेवाले जहाजों में भाप इंजन की जगह भाप टरबाइन का व्यवहार किया जा रहा है। समुद्रयान में व्यवहार में लाए जानेवाले भाप इंजन में त्रिप्रसार प्रकार के इंजन प्रसिद्ध हैं। समुद्रयान इंजन सर्वदा पृष्ठ संघनक (surface condenser) द्वारा युक्त होता है, जिसमें पीतल की नलिकाएँ लगी रहती हैं। पंप के द्वारा समुद्र का जल संघनित्र में लाया जाता है। समुद्र के जल से ही संघनित्र में आई हुई भाप का संघनन होता है। यद्यपि आजकल समुद्रयानों में अंतर्दहन इंजन, भाप टरबाइन एवं गैस टरबाइन व्यवहार में लाया जा रहा है, फिर भी कुछ खास अवस्थाओं में भाप इंजन का व्यवहार अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

रेल इंजन (locomotive engine)—रिचर्ड ट्रेविथिक ने भाप इजन का सर्वप्रथम उपयोग रेल इजन के निर्माण मे किया। किंतु आर्थिक कठिनाई के कारण उनका प्रयास सफल न हो पाया। अतत जार्ज और राबर्ट स्टीवेंसन (पिता और पुत्र) को ही एक सफल रेल इजन चित्र ७ बनाकर उससे १८२६ ई० मे लोवरपूल और मैनचेस्टर के बीच रेलगाड़ी चलाने
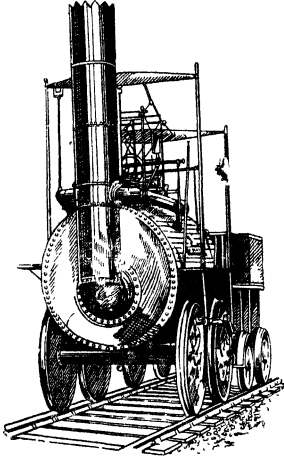
चित्र ७. रेल इंजन

का श्रेय प्राप्त हुआ। जलयानो के लिये भाप इजन का प्रथम उपयोग १८१२ई० मे राबर्ट फुलटन ने किया था। साधारण रेल इजन मे क्षैतिज भाप इजन का व्यवहार होता है। यह इजन रेल इजन बॉयलर (locomotive boiler) के पास ठोस आधार पर लगा रहता है। प्राय सभी रेल इजनो मे सघनित्र नही रहता है। कार्य करने के बाद भाप को सीधे वायुमडल मे छोड दिया जाता है। इस तरह के इजन दो प्रकार के होते है (१) बहि सिलिडर इजन, जिसमे सिलिडर दूर तक फैले रहते हैं और ये इजन के फ्रेम के बाहर ही लगाए जाते है तथा (२) अत सिलिडर इजन, जिसमे सिलिडर इजन के फ्रेम के अतर्गत ही एक दूसरे की बगल मे रखे जाते है। आधुनिक डिजाइन मे इन दोनो प्रकारो को जोड दिया जाता है, अर्थात् कुछ सिलिडर इजन के फ्रेम के अदर रहते है एव कुछ सिलिडर बाहर रहते हैं।

एकदिग्वाही इंजन (uniflow en ine)—चित्र ८ मे इस प्रकार के इजन के मुख्य सिद्धात दर्शाए गए हैं। स्ट्रोक के आरभ मे बॉयलर से भाप यत्र द्वारा नियत्रित वाल्व से होकर सिलिडर मे प्रवेश करती है और पिस्टन को दाएँ ओर ढकेलती है। यह वाल्व (४) विच्छेद होते ही बद हो जाता है एव भाप प्रसारित होती है। स्ट्रोक के अंत मे पिस्टन का बायाँ भाग निकास द्वार (२) को खोल देता है। तब भाप इस द्वार से निकल जाती है। जब यह होता है, उस समय पिस्टन (१) का दायाँ भाग अतर स्थान (clearance space) पर पहुँच जाता है, जिससे वाल्व (३) द्वारा ताजा भाप सिलिडर के दाएँ भाग में प्रवेश करती है। साधारण भाप इजन के विपरीत, एकदिग्वाही इजन मे भाप कार्य करने के लिये
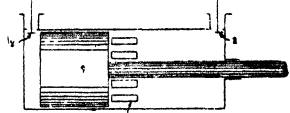
चित्र ८

जिस दिशा मे चलती है, उसी दिशा मे चलकर वह कार्य करने के बाद निकल जाती है। भाप की एक ही दिशावाली चाल के कारण इस प्रकार के इजन को 'एकदिग्वाही' इजन' की सज्ञा दी गई है। इसमें भाप का सघनन कम होता है, जिसके कारण बहुत तरह की हानियाँ होने से बच जाती है। यह देखा गया है कि भाप की समान मात्रा द्वारा एकदिग्वाही इजन मे किया गया कार्य बहुपद इजन (multistage en ine) के कई सिलिडरो मे किए गए सपूर्ण कार्य के बराबर होता है।

आधुनिक भाप इजन—जेम्स वाट के भाप इजन मे अनेक परिवर्तन किए गए है, यद्यपि प्रमुख सिद्धात अभी भी वही है। परिवर्तनो की
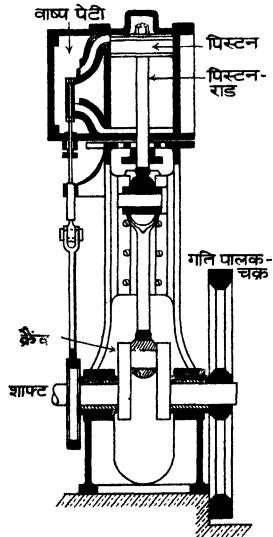
चित्र ९.

आवश्यकता भाप इंजन के अनेकानेक कार्यों में प्रयुक्त होने के कारण हुई। वाट ने भाप इंजन में निम्न दाब काम में लिए थे क्योंकि उन्हें विस्फोट का डर था। लेकिन आजकल सर्वत्र उच्च दाब इंजन ही प्रयुक्त किए जाते हैं क्योंकि इनकी दक्षता भी निम्न दाब इंजन की अपेक्षा अधिक होती है।

आधुनिक इंजन (चित्र ६) के संघनित्र में अनेक नलियाँ होती हैं जिनमें एक पंप द्वारा शीतल जल प्रवाहित कराया जाता है। एक और पंप भाप के संघनन से बने पानी और हवा को निकालने के लिये लगा होता है।

अंतर्दहन इंजन के आविष्कार का विचार मध्ययुग से प्रारंभ हुआ। १६८० ई० में डच वैज्ञानिक क्रिश्चियन हाइगेंस ने एक ऊर्ध्व सिलिंडर और पिस्टन के इंजन का सुझाव रखा था, जिसमें बारूद के विस्फोट से पिस्टन ऊपर चढ़े। किंतु इस तरह का इंजन कभी काम में नहीं आया। बाद में दहनशील गैसों तथा खनिज तैलों के आविष्कार से उनका सुझाव व्यावहारिक हो गया क्योंकि बारूद की जगह ईंधन देने की समस्या सुलझ गई। लेकिन फिर भी इस वर्ग के इंजनों को व्यावहारिक उपयोगिता के अनुकूल बनाने में अनेक वर्षों के प्रायोगिक और सैद्धांतिक अध्ययन की आवश्यकता हुई।

अंतर्दहन इंजनों में ईंधन के रूप में गाढ़े मिट्टी के तेल (डीजल ऑयल), ऐल्कोहल अथवा प्राकृतिक या कृत्रिम गैस इत्यादि का प्रयोग होता है। लेकिन साधारणत: पेट्रोल और गाढ़े मिट्टी के तेल का ही उपयोग होता है।

अंतर्दहन इंजन दो सिद्धांतों पर कार्य करते हैं—(१) चतुर्घात चक्र और (२) द्विघात चक्र।

चतुर्घात चक्र का इंजन—प्रत्येक इंजन में एक खोखला बेलन होता है, जिसे सिलिंडर कहते हैं (चित्र १०)। सिलिंडर के भीतर एक पिस्टन चलता है, जिसे हम मुषली कह सकते हैं। इस पिस्टन का काम ठीक वही होता है जो बच्चों की रंग खेलने की पिचकारी के भीतर चलनेवाली डाट का।

चित्र १०. अंतर्दहन इंजन के मुख्य भाग

१. इष्टिका (ब्लॉक), २ संबधक दंड (कनेक्टिंग रॉड); ३ सिलिंडर, ४ पिस्टन का छल्ला (पिस्टन रिंग); ५. ठंढा करने का पानी, ६ पिस्टन, ७ सिलिंडर का माथा (हेड); ८ स्पार्क प्लग, ९ कपाट (वाल्व); १०. निष्कास मार्ग; ११. ढक्कन; १२. कैम, १३ क्रैंक धुरी; १४. तेल का कड़ाहा (ऑयल पैन)।

पिस्टन ऐल्युमिनियम या इस्पात का बनता है और इसमें इस्पात की कमानीदार चूड़ियाँ (रिंग्स) लगी रहती है, जिससे वायु या गैस, पिस्टन के एक ओर से दूसरी ओर नहीं जा सकती। सिलिंडर का माथा (हेड) बंद रहता है, परंतु इसमें दो कपाट (वाल्व) रहते हैं। एक के खुलने पर वायु, या वायु और पेट्रोल दोनों, भीतर आ सकते हैं। दूसरे के खुलने पर सिलिंडर के भीतर की वायु या गैस बाहर निकल सकती है। माथे में एक स्पार्क प्लग भी लगा रहता है जिसके सिरे पर दो तार होते हैं। उचित समयों पर इन दोनों तारों के बीच बिजली की चिनगारी निकलती है, जिसका नियंत्रण इंजन के चलते रहने पर अपने आप होता रहता है। चिनगारी बिजली के कारण उत्पन्न होती है, जो साधारणत: एक बैटरी या अन्य विद्युद्यंत्र से निकलती है।

चित्र ११. क्रैंक
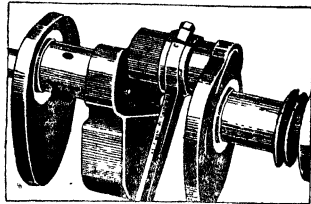
क्रैंक का काम है पिस्टन के आगे पीछे चलने की गति को धुरी के अक्षघूर्णन में बदलना।

चित्र १२. कैम धुरी

१, २, ३ विविध कैम, ४ संचालक चक्र।

पिस्टन इंजन की धुरी से संबधक दंड (कनेक्टिंग रॉड) द्वारा संबंधित रहता है। धुरी सीधी न रहकर एक स्थान पर चिमटे की तरह टेढ़ी होती

चित्र १३. कैम का कार्य

इन चित्रों में दिखाया गया है कि कैम किस प्रकार वाल्व उठानेवाले दंड को ऊपर नीचे चलाता है। १. दंड; २ नीचे पहुँचने पर स्थिति, ३. कैम की नोक; ४ कैमधुरी, ५ ऊँचे पहुँचने पर स्थिति; ६. फिर नीचे पहुँचने पर स्थिति। वक्राकार बाण से कैम के घूमने की दिशा दिखाई गई है।

है। इस प्रबंध को क्रैंक कहते हैं। क्रैंक के कारण पिस्टन के आगे पीछे चलने पर इंजन की धुरी घूमती है। ईंधन के बार बार जलने से पिस्टन बहुत गरम न हो जाय इस विचार से सिलिंडर की दीवारें दोहरी होती हैं और उनके बीच पंप द्वारा पानी प्रवाहित होता रहता है। मोटरकार आदि में एक के बदले चार, छह या आठ सिलिंडर रहते हैं और लोहे की जिस इष्टिका में ये बने रहते हैं उसे ब्लॉक कहते हैं।

ऊपर बताए गए वाल्व, कमानी के कारण चिपककर, वायु आदि के मार्ग को बंद रखते हैं, परंतु प्रत्येक वाल्व कैम द्वारा उचित समय पर उठ जाता है, जिससे वायु या गैस के आने का मार्ग खुल जाता है। कैम जिस धुरी पर जड़े रहते हैं उसको कैम-धुरी (कैम-शैफ्ट) कहते हैं। यह धुरी इंजन से ही चलती रहती है और वाल्वों को उचित समयों पर खोलती रहती है। (कैम इस्पात के टुकड़े होते हैं, जिनका रूप कुछ कुछ पान की आकृति का होता है, जब कैम का चौड़ा भाग वाल्व के तने (स्टेम) के नीचे रहता है तो वाल्व बंद रहता है, जब इसका लंबा भाग घूमकर वाल्व के तने के नीचे आ जाता है तो वाल्व उठ जाता है।)

इंजन की विविध संधियों को, जहाँ एक पुरजा दूसरे पर घूमता या चलता रहता है, बराबर तेल से तर रखना नितांत आवश्यक है। इसीलिये सर्वत्र स्नेहक तेल (ल्यूब्रिकेटिंग ऑयल) पहुँचाने का प्रबंध रहता है।

चित्र १४. चतुर्घात अंतर्दहन इंजन का सिद्धांत
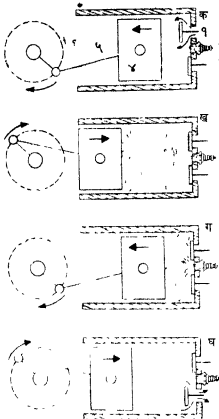
क अंतर्ग्रहण घात, जिससे सिलिंडर में ईंधन और हवा आती है, १ अंतर्ग्रहण वाल्व, २ स्पार्क प्लग, ३ निष्कास वाल्व, ४ पिस्टन, ५ संबंधक दंड (कनेक्टिंग रॉड), ६ फ्लाई-ह्वील। **ख सपीडन घात**, जिससे ईंधन और वायु का मिश्रण सपीडित होता है। **ग शक्ति घात**, जिसमें ईंधन जल उठता है और पिस्टन को बलपूर्वक ठेलता है। **घ निष्कास घात** जिसमें जला ईंधन बाहर निकल जाता है।

मोटरकारों में इंजन का निचला हिस्सा बहुधा थाल के रूप में होता है जिसमें तेल डाल दिया जाता है। प्रत्येक चक्कर में क्रैंक तेल में डूब जाता है और छींटे उड़ाकर सिलिंडर को भी तेल से तर कर देता है। अन्य स्थानों में तेल पहुँचाने के लिये पंप लगा रहता है।

चित्र १० में इंजन को काटकर उसके विविध भाग दिखाए गए हैं।

चतुर्घात चक्रवाले इंजन का कार्यकरण—चतुर्घात चक्र (फोर स्ट्रोक साइकिल) के अनुसार काम करनेवाले इंजनों में पिस्टन के चार बार चलने पर (दो बार आगे, दो बार पीछे चलने पर) इसके कार्यक्रम का एक चक्र पूरा होता है। ये चार घात निम्नलिखित हैं

(क) सिलिंडर में पिस्टन माथे से दूर जाता है, इस समय अंतर्ग्रहण-वाल्व (इन-टेक वाल्व) खुल जाता है और वायु, तथा साथ में उचित मात्रा में पेट्रोल (या अन्य ईंधन), सिलिंडर के भीतर खिंच आता है, (चित्र १४)। इसे अंतर्ग्रहण घात कहते हैं। (ख) जब पिस्टन लौटता है तो अंतर्ग्रहण वाल्व बंद हो जाता है, दूसरा वाल्व भी (जिसे निष्कास वाल्व कहते हैं) बंद रहता है। इसलिये वायु और पेट्रोल मिश्रण का बाहर निकलने के लिये कोई मार्ग नहीं रहता। अतः वह सपीडित (कंप्रेस्ड) हो जाता है। इसी कारण इसे सपीडन घात (कंप्रेशन स्ट्रोक) कहते हैं। ज्यों ही पिस्टन लौटने लगता है, स्पार्क प्लग से चिनगारी निकलती है और संघनित पेट्रोल-वायु-मिश्रण जल उठता है। इससे इतनी गरमी और दाब बढ़ती है कि पिस्टन को जोर का धक्का लगता है और पिस्टन हठात् माथे से हटता है। इस हटने में पिस्टन और उससे संबद्ध प्रधान धुरी (मेन शैफ्ट) भी बलपूर्वक चलते हैं और बहुत सा काम कर सकते हैं। पेट्रोल के जलने की ऊर्जा इसी प्रकार धुरी के घूमने में परिवर्तित होती है। धुरी पर एक भारी चक्का जड़ा रहता है जिसे फ्लाईह्वील कहते हैं। यह भी अब वेग से चलने लगता है।

फ्लाईह्वील की झोंक से पिस्टन जब फिर माथे की ओर चलता है तो दूसरा वाल्व खुल जाता है। इस वाल्व को निष्कास वाल्व (एग्जॉस्ट वाल्व) कहते हैं। इसके खुले रहने के कारण और पिस्टन के चलने के कारण, पेट्रोल के जलने से उत्पन्न सब गैसें बाहर निकल जाती हैं।

अब फ्लाईह्वील की झोंक से फिर पिस्टन वायु और पेट्रोल चूसता है (चूषण घात), उसे सपीडित करता है (सपीडन घात), ईंधन जलकर शक्ति उत्पन्न करता है (शक्ति घात) और जली गैसें बाहर निकलती हैं (निष्कास घात)। यही क्रम तब तक चालू रहता है जब तक स्विच बंद करके चिनगारियों को बंद नहीं कर दिया जाता।

इंजन को चालू करने के लिये इसकी प्रधान धुरी में हैंडिल लगाकर घुमाना पड़ता है, या बैटरी द्वारा संचालित विद्युत्मोटर से (जिसे सेल्फ स्टार्टर कहते हैं) उसे घुमाना पड़ता है। एक बार फ्लाईह्वील में शक्ति आ जाने पर इंजन चलने लगता है।

डीज़ल इंजनों में चूषण घात में पिस्टन केवल हवा खींचता है, ईंधन नहीं, ईंधन को शक्ति घात के आरंभ में सिलिंडर में सूक्ष्म नली द्वारा, पंप की सहायता से, बलपूर्वक छोड़ा जाता है और वह, सपीडित वायु के तप्त रहने के कारण, बिना चिनगारी लगे ही, जल उठता है।

यद्यपि कार्यकरण पदार्थ (ईंधन-वायु-मिश्रण) का घनत्व विभिन्न इंजनों में विभिन्न होता है, तो भी हम दाब द और आयतन आ का संबंध चित्र १५ के अनुसार निरूपित कर सकते हैं। चूषण घात में अंतर्ग्रहण वाल्व खुला रहता है। इसलिये हम कल्पना कर सकते हैं कि सिलिंडर में दाब वही है जो वायुमंडल की है। चित्र १६ में रेखा ०-१ इस दशा को निरूपित करती है। संघनन घात में दाब और आयतन का संबंध रेखा १-२ से निरूपित है, आयतन कम होता है और दाब बढ़ती है। संघनन आइसेंट्रॉपिक होता है, अर्थात् सपीडन इतना शीघ्र संपन्न होता है कि हम मान सकते हैं कि कोई गरमी बाहर नहीं जाने पाती और भीतरी गैसों की ऊर्जा में कोई कमी नहीं होने पाती। ईंधन के जलने से दाब एकाएक बढ़ जाती है और यह रेखा २-३ से निरूपित है, आयतन उतना ही रह जाता है। अब शक्ति घात में जलने से उत्पन्न गैसें पिस्टन को ढकेलती हुई प्रसरित होती हैं। यह रेखा ३-४ से निरूपित है। निष्कास-वाल्व के खुलने पर दाब घटकर वायुमंडलीय दाब के बराबर हो जाती है। यह रेखा ४-१ से निरूपित है। निष्कास घात

मे दाब उतनी ही रह जाती है, परतु आयतन घटता है। यह रेखा १-० से निरूपित है। इसके बाद कार्यचक्र की आवृत्ति होती है।

चित्र १५

चतुर्घात इजन मे आयतन (आ) और दाब (दा) का सबध।

चित्र १६

द्विघात इजन मे आयतन और दाब का सबध।
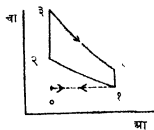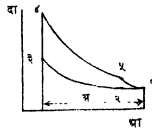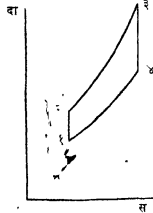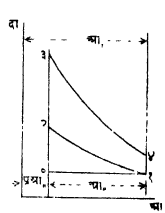
द्विघात चक्र--ऊपर बताए गए इजन मे निष्कासघात का एकमात्र उद्देश्य है सिलिडर को खाली करना, जिसमे ईधन और वायु फिर एक बार चूसी जा सके। परतु शक्ति घात के अंतिम खड मे ही जली गैसो के निकालने का प्रबध किया जा सकता है। जली गैसे बाहर निकालने की क्रिया को नव समार्जन (स्कैवेंजिंग) कहते है। इस व्यवस्था मे पिस्टन के दो घातो मे ही इजन के कार्यक्रम का एक चक्र पूरा हो जाता है। इसलिये इस चक्र को द्विघातचक्र (टू स्ट्रोक साइकिल) कहते है। चित्र १६ मे इसकी क्रिया दिखाई गई है। बिंदु ३ पर सपीडन की क्रिया समाप्त हो चुकी है। जलने के कारण दाब बढ़ती है (रेखा ३-४)। अब जली गैसो का प्रसार होता है (जिससे प्रधान धुरी और फ्लाईह्वील मे ऊर्जा पहुँचती है)। यह रेखा ४-५ से निरूपित है। पिस्टन के अपनी दौड के अंत तक पहुँचने के पहले ही निष्कास वाल्व खुल जाता है और सिलिडर मे वायु, या वायु तथा ईधन का मिश्रण, प्रवाहित कर जली गैसे निकाल दी जाती है (रेखा ५-१)। अब पिस्टन माथे की ओर लौटता है, परतु निष्कास वाल्व तुरत नही बद होता। इस विलब का उद्देश्य यह है कि जली गैसो के निकलने के लिये आवश्यक समय मिल जाय। चित्र के बिंदु २ पर निष्कास वाल्व बद होता है। तब दाब बढ़ने लगती है।

चतुर्घात चक्र मे प्रधान धुरी के दो चक्करो मे एक शक्ति घात होता है, द्विघात चक्र के प्रत्येक चक्कर मे एक शक्ति घात होता है। तो भी नाप मे अपने ही बराबर चतुर्घात इजन की अपेक्षा दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न करने के बदले द्विघात-इजन केवल ७०% से ९०% तक अधिक ऊर्जा उत्पन्न करता है। कारण ये है (१) अपूर्ण समार्जन, (२) दी हुई नाप के सिलिडर मे अपेक्षाकृत कम ही ईधन-वायु-मिश्रण का पहुँच पाना, (३) ईधन का अधिक मात्रा मे बिना जला रह जाना, (४) समार्जन के लिये वायु को सपीडित करने मे कुछ शक्ति का व्यय हो जाना और (५) निष्कास वाल्व के शीघ्र खुल जाने से दाब का क्षय।

एकदिश और उभयदिश सक्रिय इंजन--अतर्दहन इजनो मे (और आगे पीछे चलनेवाले पिस्टन युक्त अन्य इजनो मे भी) दो जातियाँ होती है, एकदिश सक्रिय (सिंगल-ऐक्टिंग) इजन और उभयदिश सक्रिय (डबल-ऐक्टिंग) इजन। एकदिश सक्रिय इजनो मे कार्यकरण पदार्थ (पेट्रोल, डीज़ल तेल, आदि) पिस्टन के केवल एक ओर रहता है, उभयदिश सक्रिय इजनो में दोनो ओर। उनमे सिलिडर लबा रहता है और पिस्टन के दोनो ओर के भागो मे चूषण, सपीडन इत्यादि होता रहता है। अधिकाश अतर्दहन इजन एकदिश सक्रिय होते है। उदाहरणत, मोटरकारो मे इजन इसी प्रकार के होते हैं। परन्तु बहुतेरे बड़े इजन उभयदिश सक्रिय बनाए जाते हैं। एकदिश सक्रिय इजन की अपेक्षा उभयदिश सक्रिय इजन मे लगभग दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न होती है और नाप मे नाम मात्र ही वृद्धि होती है। परतु उभयदिश सक्रिय इजनों के निर्माण में कई यात्रिक कठिनाइयाँ पडती हैं। इसलिये केवल बड़ी नाप के इजनो मे ही उभयदिश सक्रिय इंजन लाभदायक होते है। दूसरी ओर, वाष्प इजन और वायु सपीडक साधारणत: उभयदिश सक्रिय बनाए जाते है, यद्यपि यह अनिवार्य नियम नही है।

चित्र १७ (क)

आदर्श ओटो चक्र मे समऊर्जा और ताप मे सबध

चित्र १७ (ख)

आदर्श ओटो चक्र मे आयतन और दाब का सबध

ओटो चक्र--आज के अधिकाश अतर्दहन इजन ओटो चक्र (ओटो साइकिल) के सिद्धात पर बनते है। गणना की सरलता के लिये हम कल्पना कर सकते है कि चक्र मे दो क्रियाएँ समऊर्जिक (आइसेंट्रॉपिक) और दो स्थिर-आयतनिक (ऐट कॉन्स्टैंट वॉल्यूम) होती है (चित्र १७)।

कल्पित चक्र के विश्लेषण मे सुगमता के लिये मान लिया जाता है कि कार्यकरण पदार्थ केवल वायु है। यह भी मान लिया जाता है कि न तो चूषण घात होता है और न निष्कास घात। इस विश्लेषण को वायु-प्रामाणिक विश्लेषण कहते है। वास्तविक इजन मे गैसो का निष्कास होता है। उसके बदले माना जाता है कि स्थिर आयतन पर गैसे ठढी हो जाती है (चित्र १७ मे रेखा ४-१)। कर्म का उतना ही होता है (घर्षण की उपेक्षा करने पर), चाहे गैसो का निष्कास किया जाय, चाहे उन्हे ठढा किया जाय। प्रत्येक दशा मे ईधन के जलने से उत्पन्न उष्मा उतनी ही रहती है, मान लें $उ_{ग}$। इसलिये चक्र के ऊर्जा समीकरण (एनर्जी ईक्वेशन), अर्थात्

$$उ_{ग} - उ_{त} = का$$

से स्पष्ट है कि तिरस्कृत ऊर्जा $उ_{त}$ भी दोनो दशाओ मे समान होगी।

विशिष्ट उष्मा (स्पेसिफिक हीट) को स्थिर मानने पर हम देखते हैं कि

$$उ_{ग} = क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) \text{ बी० टी० यू०};$$
$$उ_{त} = क\, वि_{आ} (ता_{१} - ता_{४})$$
$$= क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१}) \text{ बी० टी० यू०},$$

जहाँ क पिस्टन मे घुसी वायु की तौल है, $वि_{आ}$ स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्मा है और $ता_{१}$, $ता_{२}$, चित्र के बिंदु १, २, पर ताप (टेपरेचर) है। (बी० टी० यू० बोर्ड ऑव ट्रेड यूनिट के लिये लिखा गया है।) विशुद्ध (नेट) कर्म $का = \sum उ$। इसलिये

$$का = क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१}) \text{ बी०टी०यू०}।$$

उष्मीय दक्षता (थर्मल एफिशेन्सी) $द = का / उ_{ग}$

$$= \frac{क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१})}{क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२})}$$

अर्थात्

$$द = १ - \frac{ता_{४} - ता_{१}}{ता_{३} - ता_{२}}$$

मान ले $वि_{द} / वि_{आ} = नि$, जहाँ नि स्थिर दाब और स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्माओ की निष्पत्ति है। तो

$$ता_४/ता_३ = (आ_३/आ_४)^{f\,न-१}$$

$$और\ ता_१/ता_२ = (आ_२/आ_१)^{f\,न-१}\ ।$$

$$परंतु\ आ_३ = आ_२\ और\ आ_४ = आ_१\ ।\ इसलिये$$

$$ता_४ = ता_३\left(\frac{आ_३}{आ_४}\right)^{f\,न-१} = ता_३\left(\frac{आ_२}{आ_१}\right)^{f\,न-}\ ।$$

और
$$ता_१\ ता\left(\frac{आ_२}{आ_१}\right)^{f\,न-१}\ ।$$

द के मान में $ता_४$ और $ता_१$ के इन मानों को रखने पर हम देखते है कि

$$द = १ - \frac{ता_३\ (आ_२/आ_१)^{f\,न-१} - ता_२\ (आ_२/आ_१)^{f\,न-१}}{ता_३ - ता_२}$$

$$= १ - (आ_२/आ_१)^{f\,न-१}$$

मान लें, स्थिरोष्म (अडायाबैटिक) संपीडन-अनुपात, अर्थात् $आ_१/आ_२$ अक्षर ष से निरूपित किया जाता है। तो

द = ओटो चक्र की कल्पित वायु प्रामाणिक दक्षता

$$= १ - \frac{१}{ष^{f\,न-१}}$$

सामर्थ्य और कर्म के एकक—जिस दर में ऊर्जा कर्म में रूपांतरित होती है उसे सामर्थ्य कहते है, यह समय के एक एकक में कर्म की मात्रा है। वह कर्म जो आगे पीछे चलनेवाले पिस्टन युक्त इंजन के पिस्टन पर किया जाता है, निर्दिष्ट कर्म (इंडिकेटेड वर्क) कहलाता है और निर्दिष्ट कर्म के अनुसार गणना किया हुआ सामर्थ्य निर्दिष्ट अश्वसामर्थ्य (इंडिकेटेड हॉर्स पावर) कहलाता है। इंजन की धुरी तक जितना कर्म पहुँचता है वह धुरी कर्म (शैफ्ट वर्क) अथवा ब्रेक कर्म (ब्रेक वर्क) कहलाता है और इस कर्म के अनुसार उत्पन्न सामर्थ्य को ब्रेक अश्वसामर्थ्य (ब्रेक हॉर्स पावर) कहते है। सामर्थ्य के लिए इस देश में प्रचलित एकक अश्वसामर्थ्य (संक्षेप में असा, अंग्रेजी में एच०पी०) और किलोवाट (संक्षेप में किल्वा, के० डब्ल्यू०) है। परिभाषा और ऊर्जा तथा समय के एककों के संबंध से

१ असा = ३३,००० फुट-पाउंड/मिनट
= ५५० फुट-पाउंड/सेकंड
= २५४५ बी० टी० यू०/घंटा
= ४२.४२ बी० टी० यू०/मिनट।

निश्चित समय तक एक अश्वसामर्थ्य का उत्पन्न होते रहना कर्म की एक निश्चित मात्रा निरूपित करता है। उदाहरणतः १ अश्व सामर्थ्य का १ मिनट तक काम करना = ३३,००० फुट-पाउंड। इसी प्रकार, १ असा-घंटा = २५४८ बी० टी० यू०। असा मिनट और विशेषकर असा घंटा बहुधा कर्म अथवा ऊर्जा नापने के लिये सुविधाजनक एकक होते है। एक किलोवाट पर्याप्त सूक्ष्मतापूर्वक १.३४१ अश्वसामर्थ्य के बराबर माना जा सकता है, अथवा १ अश्वसामर्थ्य = ०.७४६ किलोवाट। इसलिये

१ किल्वा = ३४१३ बी० टी० यू० प्रति घंटा
और १ किल्वा-घंटा = ३४१३ बी० टी० यू०।

उदाहरणतः, ओटो चक्र से उत्पन्न सामर्थ्य नापने के लिये हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि प्रति मिनट (अथवा अन्य किसी समय एकक में) कितने शक्ति घात होते है। मान लें, प्रत्येक मिनट में स शक्ति घात पूरे होते है (और यह आवश्यक नहीं है कि यह संख्या इंजन के चक्कर प्रति मिनट के बराबर हो)। फिर, मान लें, प्रत्येक घात में म फुट पाउंड कर्म होता है। तब कर्म प्रति मिनट स म फुट पाउंड प्रति मिनट है और

अश्वसामर्थ्य = स म/३३,०००।

निर्धारित सामर्थ्य—किसी अंतर्दहन इंजन से कितना सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है, इसे निर्धारित करने के लिये कई आधार लिए जा सकते है। मोटरकार इंजन बनानेवाले अपने विज्ञापनों में अपने इंजन का महत्तम सामर्थ्य बताते हैं, जो तब प्राप्त होता है जब समस्त परिस्थितियाँ महत्तम रूप से अनुकूल होती हैं। परंतु औद्योगिक इंजन का निर्माता अपने इंजनों का सामर्थ्य साधारणतः लगभग महत्तम उष्मीय दक्षता पर उत्पन्न होनेवाले सामर्थ्य के अनुसार निर्धारित करता है। औद्योगिक इंजनों का सामर्थ्य इसी प्रकार निर्धारित करना उत्तम भी है। कारण यह है कि यदि इंजन निर्धारित सामर्थ्य पर चलाए जायँगे तो ईंधन का खर्च न्यूनतम होगा और फिर आवश्यकता होने पर कुछ समय तक वे अधिक सामर्थ्य पर भी काम कर सकेंगे।

कर (टैक्स) लगाने के लिये सरकार यह मानकर गणना करती है कि पिस्टन पर प्रति वर्ग इंच ६७.२ पाउंड औसत कार्यकारी दाब (एम० इ० पी०) है, पिस्टन का वेग १००० फुट प्रति मिनट है और इंजन चतुर्घात चक्र पर चलता है। इन कल्पनाओं के आधार पर अश्वसामर्थ्य का सन्निकट मान निम्नांकित सूत्र से निकाला जा सकता है :

अश्वसामर्थ्य = स × व्या²/२.५,

जहाँ स सिलिंडरों की संख्या है, और व्या सिलिंडर का व्यास इंचों में है। ध्यान देने योग्य बात है कि इंजन निर्माता ऐसे इंजन बनाने में सफल हुए है जिनका वास्तविक सामर्थ्य सरकारी कर के लिये परिकलित सामर्थ्य के दुगुने से भी अधिक होता है।

सुपरचार्जर—प्रत्येक अंतर्दहन इंजन में प्राप्त सामर्थ्य इसपर निर्भर रहता है कि पिस्टन की एक दौड़ में जितना ईंधन-वायु-मिश्रण सिलिंडर में प्रविष्ट होता है उसकी तौल क्या है। इसलिये जिन कारणों से यह तौल घटेगी उनसे इंजन का सामर्थ्य घटेगा। वास्तविक इंजन में ईंधन-वायु-मिश्रण को घटाने बढ़ानेवाले यंत्र से, जिसे प्ररोध (थ्रॉटल) कहते है, तथा अंतर्ग्रहण और निष्काम वाल्वों से मिश्रण की गति में कुछ बाधा पड़ती है। इसलिये मिश्रण को चूसते समय सिलिंडर में दाब वायुमंडलीय दाब से कम ही रह जाती है। फलतः उतना मिश्रण नहीं घुस पाता जितना सैद्धांतिक गणना में माना जाता है। सैद्धांतिक गणना में तो मान लिया जाता है कि सिलिंडर के भीतर मिश्रण की दाब वायुमंडलीय दाब के बराबर है। फिर, सिलिंडर का भीतरी पृष्ठ, तथा मिश्रणमार्ग अपेक्षाकृत तप्त रहते हैं। इसलिये सिलिंडर में पहुँचने पर ईंधन मिश्रण गरम हो जाता है। आयतन ताप-दाब नियम के अनुसार ताप बढ़ने के कारण सिलिंडर में मिश्रण की तौल उस तौल की अपेक्षा कम होती है जो ठंढे रहने पर होती। फिर, वास्तविक इंजन में सिलिंडर के छुट स्थान (क्लियरैंस स्पेस) में, निष्काम घात के पूर्ण हो जाने पर भी, गैसें आदि वायुमंडलीय दाब से अधिक दाब पर रह जाती है और चूषण घात के आरंभ में वे सिलिंडर में फैल जाती है। इनकी दाब वायुमंडलीय दाब के बराबर हो जाने के बाद ही चूषण का आरंभ होता है। इससे भी सिद्धांतानुसार निकली मात्रा में कम ही मिश्रण सिलिंडर में प्रवेश करता है। अंत में, इंजन समुद्रतल से जितनी ही अधिक ऊँचाई पर काम करेगा वहाँ वायुमंडलीय दाब उतनी ही कम होगी। इसलिये तौल के अनुसार जितना मिश्रण सिलिंडर में समुद्रतल पर प्रविष्ट हो सकेगा उससे कम ही मिश्रण ऊँचे स्थलों में प्रविष्ट हो पाएगा। आयतनीय दक्षता $द_आ$ के लिये निम्नलिखित सूत्र है : $द_आ$

$$= \frac{\text{सिलिंडर में वस्तुतः प्रविष्ट मिश्रण का भार}}{\text{पिस्टन की दौड़ के अनुसार } दा_१ \text{ और } ता_१ \text{ पर प्रविष्ट मिश्रण का भार}}$$

जहाँ $दा_१$ और $ता_१$ क्रमानुसार वायुमंडलीय दाब और ताप है।

अंतर्दहन इंजन की आयतनीय दक्षता केवल ऊँचाई बढ़ने पर ही नहीं घटती, वह इंजन की चाल (स्पीड) बढ़ने पर भी घटती है। इसलिये दौड़ प्रतियोगिता में प्रयुक्त इंजनों और अधिक ऊँचाई पर काम करनेवाले इंजनों में बहुधा सुपरचार्जर लगा दिया जाता है। इस यंत्र में एक छोटा सा सेंट्रीफ्यूगल पंखा (ब्लोअर) रहता है जो ईंधन-वायु-मिश्रण को सिलिंडर में वायुमंडलीय दाब से कुछ अधिक दाब पर ठूँस देता है। सुपरचार्जर लगाने से आयतनीय दक्षता बढ़ जाती है, यहाँ तक कि यह १ से अधिक भी हो जा सकती है।

संपीडन अनुपात और ओटो इंजनों में अधिस्फोटन—ओटो चक्र के विश्लेषण में यह दिखाया जा चुका है कि संपीडन अनुपात बढ़ाने से दक्षता बढ़ती है। वास्तविक इंजनों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ओटो चक्र के अनुसार काम करनेवाले इंजनों में चूषण घात में वायु के साथ ही ईंधन भी घुसता है और इसलिये संपीडन घात में भी वह वर्तमान रहता है। जब संपीडन अनुपात बहुत बड़ा रखा जाता है तो संपीडन के एक नियत मात्रा

से अधिक होते ही ईंधन मिश्रण में अधिस्फोट होता है, अर्थात् ईंधन स्वयं, बिना स्पार्क प्लग से चिनगारी आए, जल उठता है। फिर, यदि ऐसा न भी हुआ, तो स्पार्क प्लग की चिनगारी से जलना आरंभ होने पर सपीडन लहरें उठती है, जो चिनगारी के पास जलते हुए मिश्रण के आगे आगे चलती है। इन सपीडन लहरों के कारण चिनगारी से दूर का मिश्रण स्वयं जल उठ सकता है, जो अवांछनीय है। फिर, सिलिंडर मे कहीं पेट्रोल आदि के जले अवशेष के दहकते रहने से, अथवा पिस्टन के भीतर बढ़े किसी अवयव की तप्त नोक से भी ईंधन मिश्रण समय के पहले जल सकता है। जब कभी सपीडित मिश्रण समय से पहले जल उठता है तो उसका यह जलना अधिस्फोटक (डिटोनेटिंग) होता है। यह कान से सुनाई पड़ता है—जान पड़ता है कि किसी धातु को हथौड़े से ठोका जा रहा है। शीघ्रतापूर्वक जलनेवाले ईंधनो में अधिस्फोट की आशंका अधिक रहती है। पिछली कुछ दशाब्दियों में कई नवीन खोजें हुई है, जिनसे बिना अधिस्फोट हुए सपीडन अनुपात अधिक बड़ा रखा जा सकता है। उदाहरणत, (१) ऐसे ईंधन बनाए गए है जो अधिक धीरे धीरे जलते है, जैसे बेंजोल और पेट्रोल के मिश्रण, पॉलीमेराइज किया हुआ पेट्रोल और ऐसा पेट्रोल जिसमे थोड़ी मात्रा में टेट्रा-एथिल-लेड मिला रहता है, (२) दहनकक्ष के उस भाग को, जो पिस्टन के ऊपर रहता है, ऐसा नवीन रूप दिया गया है कि अधिस्फोट कम हो, (३) दहनकक्ष से उष्मा के निकलने का वेग बढ़ा दिया गया है। यह काम इंजन के माथे को पहले से पतला और अधिक दृढ़ धातुओं का (जैसे ऐलयुमिनियम की मकर धातु या कांसे का) बनाया गया है, जो उष्मा के अधिक अच्छे चालक (कंडक्टर) है। साथ ही पिस्टन भी ऐसे पदार्थों का बनता है जो उष्मा के अच्छे चालक होते है, (४) दहनकक्ष के भीतरी भाग को अधिक चिकना बनाया जाता है, जिससे कोई ऐसे दाने नहीं रह पाते जो तप्त होकर लाल हो जायँ और ईंधन-मिश्रण का जलना आरंभ कर दे, तथा दहनकक्ष के आसपास के भागों को (जैसे स्पार्क प्लग, वाल्व मुंड आदि को) अधिक ठंढा रखने का प्रबंध किया गया है। सन् १९२०-२५ के लगभग मोटरकार के इंजनों में सपीडन अनुपात लगभग ४.५ रहता था, कभी कभी तो यह ३.५ ही रहता था। वर्तमान समय में यह अनुपात ६.५ या कुछ अधिक रहता है, कुछ इंजनों मे तो यह अनुपात ७.५ तक होता है।

कांसे (ब्रॉन्ज) के माथे बनाने से सपीडन अनुपात के बहुत अधिक रहने पर भी इंजन बिना अधिस्फोट के चलते है, इसका कारण यह है कि कांसा उष्मा का बहुत अच्छा चालक है। इसलिये उष्मा सिलिंडर से शीघ्रता से दूर होती रहती है। परंतु, बहुत शीघ्रता से उष्मा का दूर होना भी अवगुण है, क्योंकि इससे अधिक सपीडन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। हमारा उद्देश्य सदा यह रहता है कि उष्मीय दक्षता बढ़े। परंतु कुछ इंजनों में इतनी उष्मा इधर उधर चली जाती है कि उष्मीय दक्षता बढ़ने के बदले घट जाती है। ऐलयुमिनियम के माथे में भी कभी कभी यही दोष देखा जाता है।

अंतर्दहन इंजनों की त्वरा—इंजनों की त्वरा (चाल, स्पीड) साधारणत. चक्कर प्रति मिनट (च० प्र० मि०, आर० पी० एम०, रेवोल्यूशंस पर मिनट) मे बताई जाती है। मंदगति, मध्यम गति, तीव्र गति इंजनों का उल्लेख किया तो जाता है परंतु यह निर्धारित नहीं है कि कितने चक्कर प्रति मिनट रहने पर इंजन को इनमे से किस विशेष वर्ग मे रखा जाय। इसके अतिरिक्त तीव्रगति वाष्प इंजन मे जितने चक्कर प्रति मिनट होते हैं, वे अत्यंत मंदगति अंतर्दह इंजन के चक्कर प्रति मिनट के बराबर होते हैं। औद्योगिक मोटरकार इंजनों मे प्रति मिनट ४,००० या कुछ अधिक चक्कर का वेग रहता है, परंतु दौड़ की प्रतियोगिता के लिये बने इंजनों मे चक्कर प्रति मिनट ६,००० के आसपास होते है। वे डीजल इंजन, जिनमे चक्कर प्रति मिनट लगभग १,००० होते है तीव्रगति डीजल कहलाते हैं। बड़ी नाप के सिलिंडरवाले इंजन छोटे सिलिंडरोंवाले इंजनों की अपेक्षा मंद गति से चलते है, क्योंकि बड़े पिस्टन भारी होते है और उनके चलन की दिशा बदलते समय इतना झटका लगता है कि उसे सँभालना कठिन होता है।

पिस्टन का वेग उसका औसत वेग होता है और उसकी गणना निम्नांकित सूत्र से होती है :

पिस्टन का औसत वेग = २ × पिस्टन की दौड़ × चक्कर प्रति मिनट।

पिस्टन का वेग भी इंजनों की गति की सीमा निर्धारित करता है, क्योंकि पिस्टन का वेग बहुत बढ़ाने से इंजन घिसकर शीघ्र नष्ट हो जाता है। मोटरकार के इंजनों मे पिस्टन-वेग अब २,८०० फुट प्रति मिनट या इससे भी कुछ अधिक रखा जाता है। डीजल इंजनों में पिस्टन का औसत वेग १,००० और १,२०० फुट प्रति मिनट के बीच रहता है।

इंजन की नाप—इंजनों की नाप सिलिंडर के व्यास और पिस्टन की दौड़ से बताई जाती है। उदाहरणत, १२ × १८ इंच के इंजन का अर्थ यह है कि सिलिंडर का व्यास १२ इंच है और पिस्टन की दौड़ १८ इंच है।

आधुनिक मोटरकार इंजनों में अपने उसी नाप के २०-३० वर्ष पहले के पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक सामर्थ्य रहता है। सामर्थ्य निम्नलिखित कारणों से बढ़ा है (१) वाल्वों का अधिक ऊँचाई तक उठना और अंतर्ग्रहण छिद्र का बड़ा होना, जिसमें ईंधन मिश्रण के आने में कम द्रवघर्षण उत्पन्न होता है और इसलिये सिलिंडर में घुसनेवाले मिश्रण की तौल अधिक होती है, (२) निष्कासक वाल्व का कुछ शीघ्र खुल जाना, जिसमे पिस्टन पर उल्टी दाब नहीं पड़ती और ऋण कर्म नहीं करना पड़ता, (३) निष्कासक वाल्व का कुछ देर में बंद होना, जिसके कारण जली गैसों को बाहर निकलने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है और वे अपने ही झोंके से सिलिंडर से लगभग पूर्णत निकल जाती है, (४) अंतर्ग्रहण वाल्व का कुछ बाद में बंद होना, जिससे सपीडन घात के पश्चात् पिस्टन के चल पड़ने पर भी आनेवाला ईंधन-मिश्रण अपनी झोंक (इनर्शिया) से आता रहता है और इस प्रकार तीव्रगति इंजनों मे पहले की अपेक्षा अब अधिक मिश्रण सिलिंडरो में घुस पाता है, (५) अधिक अच्छी अंतर्ग्रहण नलिकाएँ, जिनसे विविध सिलिंडरों मे अधिक बराबरी से ईंधन मिश्रण पहुँचता है और पहले की अपेक्षा प्रत्येक सिलिंडर मे अधिक मिश्रण पहुँचता है, (६) चल भागों का बढ़िया आसंजन (फिट) और अधिक अच्छी यांत्रिक रचना, जिससे घर्षण और घरघराहट दोनों मे कमी होती है, (७) अधिक तीव्रगति इंजन, जिसका बनना अधिक शुद्ध निर्माण और चल भागों के अधिक उत्तम संतुलन से संभव हो सका है।

उपसंहार—उन उद्योगों मे, जहाँ इंजन की आवश्यकता केवल विशेष ऋतुओं मे पड़ती है, जैसे कपास ओटने, आटा पीसने, ईख पेरने, बर्फ बनाने आदि के लिये, अंतर्दहन इंजन विशेष उपयोगी होते है, क्योंकि जब ये इंजन बंद रहते हैं तब उनकी देखभाल पर बहुत कम व्यय होता है। इसी कारण वाष्प इंजनों से चलनेवाले कारखानों में बहुधा फालतू इंजन डीजल इंजन होते हैं। इनका प्रयोग तब होता है जब वाष्प इंजन कभी बिगड़ जाता है। अंतर्दहन इंजन बहुत शीघ्र चालू किए जा सकते हैं और शीघ्र ही अपने पूरे सामर्थ्य से काम करने लगते है। वाष्प इंजनों में ये गुण नहीं होते।

सं०ग्रं०—साहा ऐंड श्रीवास्तव ए टेक्स्ट बुक ऑफ हीट, डी० आर० पाई दि इंटर्नल कंबश्चन एंजिन (१९३१), एच० आर० रिचर्ड्स : दि इंटर्नल कंबश्चन एंजिन (१९२३)।

(नि० सिं०; च० भू० मि०; न० ला० गु०)

इंजील एक यूनानी शब्द 'इवजेलियन' का विकृत रूप है। इसका अर्थ सुसमाचार (गॉस्पेल) है, जो बाइबिल का एक अंग मात्र है (द्र० 'बाइबिल')। (का० बु०)

इंटरलाकेन स्विट्जरलैंड के बर्न प्रदेश (कैंटन) का एक नगर है जो आर नदी के बाएँ तट पर समुद्रतल से १८६४ फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह बर्न से लगभग २६ मील दक्षिण पूर्व में स्थित है। यह थुन तथा ब्रीज झीलों के बीच मे स्थित होने के कारण ही इंटरलाकेन कहलाता है। यहाँ एक प्राचीन दुर्ग भी है। इसकी होहेवेग (=ऊँची सड़क) नामक सड़क पर उच्च कोटि के होटलों की पंक्तियाँ दर्शनीय हैं। निकटवर्ती युंगफ्राउ (=कुमारी) शिखर (ऊँचाई १३,६६९ फुट) की दिव्य झाँकी के लिये ग्रीष्मकाल मे यहाँ बहुत चहल पहल हो जाती है। (ले० रा० सिं०)

इंटर लिंगुआ शब्द का अर्थ अंतर्भाषा होता है अर्थात् अनेक भाषाओं के मध्य एक सर्वनिष्ठ भाषा। चूँकि एक भाषा दूसरी से सर्वथा पृथक् होती है अत ऐसी भाषा स्वाभाविक न होकर कृत्रिम ही हो सकती है।

आधुनिक युग में (२०वी शताब्दी में) विश्व अंतर्भाषा बनाने के दो प्रयास किए गए। प्रथम प्रयास १९०८ ई० में गिउसेपी पेग्रनो नामक भाषाविद् द्वारा किया गया और दूसरा प्रयास अंतरराष्ट्रीय सहकारी भाषा संस्था (इंटरनैशनल आक्जीलरी लैंग्वेज एसोसियेशन) द्वारा किया गया, किंतु भाषा की लोकप्रियता की दृष्टि से सफलता नहीं मिली। इसी प्रकार की एक अन्य विश्वभाषा एसपिरेंतो (द्र०) की रचना डा० एल० एल० जमेंन-हाफ ने १८८७ ई० में की, जो अपेक्षाकृत १९२५ ई० के पश्चात् अधिक लोकप्रिय हुई। (मो० ला० ति०)

इंटिग्रल कोच फैक्टरी की स्थापना पेराबूर नामक स्थान पर की गई थी। इसमें शत-प्रति-शत इस्पात के हलके भारवाले रेल के सवारी डब्बे तैयार किए जाते हैं। सन् १९५५ ई० से यह चालू हुई और इसी वर्ष उत्पादन का निश्चित लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया। (कै० च० श०)

इंडियन, उत्तर अमरीकी इंडियन उत्तर और दक्षिण अमरीका के प्राचीनतम निवासी हैं। वे मंगोलायड प्रजाति की एक शाखा माने जाते हैं। नृशास्त्रियों का अनुमान है कि वे इस भूखंड पर प्राय २०,००० से १५,००० वर्ष पूर्व आए थे।

कोलंबस की भूल के कारण बाह्य जगत् उन्हें 'इंडियन' नाम से जानता है। भारत की खोज में चले कोलंबस ने अमरीका को ही भारत जान लिया था और १४९३ में लिखे गए अपने एक पत्र में उसने यहाँ के निवासियों का उल्लेख 'इंडियोस' के रूप में किया था। इस भूभाग पर गोरी जातियों की सत्ता का विस्तार इंडियन समूहों की जनसंख्या के एक बड़े भाग के नाश का तथा सामान्य रूप से उनकी संस्कृतियों के ह्रास का कारण हुआ। उनके छोटे छोटे समूह इस विस्तृत भूभाग के विभिन्न क्षेत्रों में अब भी पाए जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम रह गई है। उनमें संस्कृति के कई धरातल हैं और वे कई भिन्न परिवारों की भाषाएँ बोलते हैं। समवर्ती गोरी जातियों के व्यापक सांस्कृतिक प्रभावों के कारण उनकी प्राचीन संस्कृति में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। उन्हें विनष्ट होने से बचाने के लिये पिछले कुछ दशकों में शासन की ओर से विशेष प्रयत्न किए गए हैं।

अमरीकी इंडियनों की उत्पत्ति के संबंध में समय समय पर अनेक संभावनाएँ, कल्पनाएँ और मान्यताएँ उपस्थित की गई हैं। कुछ लोगों का अनुमान था कि वे इजरायल की दस खोई हुई जातियों के वंशज हैं और कुछ लोग उन्हें सिकंदर की जलसेना के भटके हुए बेड़ों के नाविकों की संतान मानते हैं। उनके संबंध में यह धारणा भी थी कि वे किंवदंतियों में वर्णित 'एटलांटिस महाद्वीप' अथवा प्रशांत महासागर के 'मू' नामक काल्पनिक द्वीप के मूल निवासियों की संतान हैं। मध्य अमरीका की माया इंडियन जाति और प्राचीन मिस्र की स्थापत्यकला में समता दृष्टिगत होने के कारण यह अनुमान भी किया गया कि इंडियन मिस्र अथवा मिस्र संस्कृति से प्रभावित देशों से अमरीका आए। इस संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि जिस काल में माया इंडियनों ने मंदिरों का निर्माण आरंभ किया उसके कई हजार वर्ष पहले ही मिस्र की प्राचीन स्थापत्यशैली का ह्रास हो चुका था। अमरीका में प्राचीन मानव संबंधी वैज्ञानिक खोजें होने के पहले यह संभावना भी थी कि इंडियनों के पूर्वज इस भूमि पर मानव जाति की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित हुए हों, परंतु अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अमरीकी महाद्वीपों पर मानव जाति की कोई शाखा स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुई। प्राणिजगत् की प्राइमेट शाखा के विकासक्रम में इस भूभाग पर केवल लीमर, टारसियर और कतिपय जातियों के बंदरों के के प्रस्तरीकृत अवशेष ही मिले हैं। प्राचीन मानव जातियों के अध्येता परिश्रमपूर्वक खोज करने पर भी निकटमानव वानर अथवा प्राचीन मानव कोई अवशेष यहाँ नहीं पा सके हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि यहाँ मानव जाति की किसी शाखा के स्वतंत्र विकास की संभावना नहीं थी और यहाँ के प्राचीनतम निवासियों के पूर्वज संसार के किसी अन्य भाग से आकर ही यहाँ बसे होंगे।

विशेषज्ञों का मत है कि मानव इस भाग में बेरिंग स्ट्रेट के मार्ग से एशिया से आया। शारीरिक विशेषताओं की दृष्टि से इंडियन असंदिग्ध रूप से एशिया की मंगोलायड प्रजाति की एक शाखा माने जा सकते हैं। एशिया से अलास्का के मार्ग द्वारा इंडियनों के जो पूर्वज अमरीका आए थे, निश्चित रूप से वे आधुनिक मानव अथवा 'होमो सेपियस' के स्तर तक विकसित हो चुके थे। वे अपने साथ प्राचीन मूल एशियाई संस्कृति के अनेक तत्व भी अवश्य लाए होंगे। वे संभवत अग्नि के उपयोग से परिचित थे और उन्होंने प्रस्तर-युगीन संस्कृति के अस्त्र शस्त्र और उपकरणों का निर्माण और उपयोग भी सीख लिया था। मार्ग में जिस कठिन शीत का सामना करते हुए वे इस भूमि पर आए उससे सहज ही यह अनुमान भी किया जा सकता है कि वे किसी न किसी प्रकार के परिधान से अपने शरीर को अवश्य ढकते होंगे और संभवत अस्थायी गृह-निर्माण-कला से भी परिचित रहे होंगे। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने उस समय तक भाषा का कोई प्राथमिक रूप विकसित कर लिया होगा।

एशिया से कई हजार वर्षों तक अलग अलग दलों में मानवसमूह अमरीका की भूमि पर आते रहे। कई सौ वर्षों तक इन समूहों को बर्फ से ढके स्थलमार्ग से ही आना पड़ा, परंतु यह संभव है कि बाद में आनेवाले समूह आंशिक रूप से नावों से भी यात्रा कर सके हों। प्राचीन इंडियनों के प्राप्त अवशेषों के अध्ययन से यह धारणा निश्चित की गई है कि जो दल पहले यहाँ आए उनमें आस्ट्रेलायड-मंगोल प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ अधिक थी और बाद में आनेवाले समूहों में मंगोलायड प्रजाति के तत्वों की प्रधानता थी। कालांतर में इन समूहों के पारस्परिक मिश्रण से इंडियनों में मंगोलायड प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ प्रमुख हो गई। ये आदि इंडियन अपने अपने साथ नव-प्रस्तर-युग के पहले की संस्कृतियों के कुछ तत्व इस भूमि पर लाए। क्रोबर ने उनकी मौलिक संस्कृति की पुनर्रचना का प्रयत्न करते हुए उन संस्कृति तत्वों की सूची बनाई है जो संभवत आदि इंडियनों के साथ अमरीका आए थे। दबाव द्वारा या घिसकर बनाए हुए पत्थर के औजार, पालिश किए हुए हड्डी और सींग के उपकरण, आग का उपयोग, जाल और टोकरे बनाने की कला, धनुष और भाला फेंकने के यंत्र और पालतू कुत्ते संभवत इंडियनों की मूल संस्कृति के मुख्य तत्व माने जा सकते हैं।

एशिया से अमरीका आकर इंडियनों के पूर्वज अपनी मूल एशियाई शाखा से एकदम अलग हो गए अथवा उन्होंने उससे किसी प्रकार का संबंध बनाए रखा इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार के संबंधों को बनाए रखने में जो भौतिक कठिनाइयाँ थीं उनके आधार पर सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि इन भूभागों में संबंध था भी तो वह अपने विस्तार और प्रभाव में अत्यंत सीमित रहा होगा। कालांतर में सांस्कृतिक विकास की जो दिशाएँ इन समूहों ने अपनाई वे बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित नहीं हुई। नव-प्रस्तर-युग की संस्कृति का विकास इन समूहों ने स्वतंत्र रूप से किया। उन्होंने अल्पाका लामा और टर्की आदि नए प्राणियों को पालतू बनाया। साथ ही, मक्का, काको, मेनियाक या कसावा, तंबाकू और कई प्रकार की सेम आदि वनस्पतियों की खेती उन्होंने पहले पहल आरंभ की। यह आश्चर्य का विषय है कि नव-प्रस्तर-युगीन माया इंडियनों ने ऐसे अनेक संस्कृतितत्वों का आविष्कार कर लिया जो यूरोप तथा संसार के अन्य भागों में ताम्र-कांस्य-युग की अपेक्षाकृत विकसित संस्कृतियों में आविष्कृत हुए। धातुयुग इस भाग में देर से आया, परंतु काँसे का उपयोग करने के बहुत पहले ही इंका और माया इंडियन सोने और चाँदी को गलाने की कला सीख चुके थे। लौह संस्कृति इन समूहों में पश्चिम के प्रभाव से आई।

इंडियन संस्कृतियों की समताओं और भिन्नताओं के आधार पर नृतत्ववेत्ताओं ने अमरीका को नौ संस्कृतिक्षेत्रों में विभाजित किया है। यहाँ इन संस्कृतिक्षेत्रों में मुख्य समूहों की सांस्कृतिक विशेषताओं की ओर संकेत मात्र ही दिया जायगा।

(१) **आर्कटिक क्षेत्र**—बरफ से ढके इस क्षेत्र में एस्किमो रहते हैं। शीतकाल में वे बरफ को काटकर विशेष रूप से बनाए गए घरों में रहते हैं। इन घरों को इग्लू कहते हैं। गरमी की ऋतु में वे थोड़े समय के लिये चमड़े के तंबुओं में रह सकते हैं। अधिकांशत. वे समुद्री स्तनपायी प्राणियों और

मछलियो का मास खाते हैं, ग्रीष्मकाल मे उन्हें ताजे पानी की मछलियाँ भी मिल जाती है। उनका सामाजिक सगठन सरल है। एस्किमो जाति अनेक छोटे छोटे स्वतत्र समूहो मे विभाजित है। प्रत्येक समूह का एक प्रधान होता है, किंतु वह अधिक शक्तिशाली नही होता। सरल सामाजिक सगठन-वाले इन समूहो का धार्मिक सगठन बडा जटिल है। व्यक्तियो की अपनी दैवी रक्षक शक्तियाँ होती है। व्यक्ति और अदृश्य जगत् की शक्तियो मे मध्यस्थता का काम शामन करते है। सामाजिक वर्जनाओ के उल्लघन के प्रायश्चित्त के लिये अपराध की सार्वजनिक स्वीकृति आवश्यक होती है। उनकी भौतिक सस्कृति के मुख्य तत्व है, चमडे की नावें, धनुष, हार्पून, कुत्तो द्वारा खीची जानेवाली स्लेज गाडियाँ, बरफ काटने के चाकू और चमडे के वस्त्र। वे हाथीदाँत को कोरकर छोटी छोटी मूर्तियाँ बनाते है।

(२) **उत्तर-पश्चिम-तट**—इस क्षेत्र के मुख्य समूह है उत्तर मे लिंजित, हैदा और सिम्शियन, मध्य भाग मे क्वाकिउट्ल और बेल्ला-कूला तथा दक्षिण मे सालिश नूटका चिनूक। उनकी जीविका का अधिकाश समुद्री मे खाद्यप्राप्ति के विभिन्न साधनो द्वारा उपलब्ध किया जाता है। वनो मे शिकार से और फलो के सकलन से भी उन्हे कुछ भोजन की प्राप्ति होती है। वे वर्गाकार मकानों में रहते है जो लकडी के तख्तो से बनाए जाते है। उनके सामाजिक सगठन मे श्रेणीभेद का बडा महत्व है। उनके तीन प्रमुख वर्ग हैं उच्चकुलीन श्रेणी, सामान्य श्रेणी और दास श्रेणी। उनमे पाटलेन नामक प्रथा प्रचलित है जिसमे सामाजिक सम्मान बढाने के लिये सपत्ति का अपव्यय अथवा नाश सार्वजनिक रूप से किया जाता है। इन समूहो मे परिवारो की अपनी दैवी रक्षक शक्तियाँ होती है। आवश्यक धार्मिक नृत्य के रूप मे पौराणिक कथाओ को वे नाटय के माध्यम से प्रस्तुत करते है। लकडी की खुदाई का काम उनकी भौतिक सस्कृति की विशेषता है। वे मिट्टी के बर्तन नही बनाते।

(३) **कैलिफोर्निया**—इस क्षेत्र मे यूरोक, करोक, हूपा, शास्ता, पोमो, मिवोक, मोनो, सेरेनो आदि समूह रहते है। उत्तर मे उनके मकान लकडी के तख्तो से बनाए जाते है, दक्षिण मे घरो के रूप मे अधिक विविधता रहती है। खाद्य के लिये ये समूह अन्न पर अधिक अवलबित है, शिकार और मछली पर कम। उनमे आनुवशिक प्रधान होते है, परतु समूह की शासन-व्यवस्था सशक्त नही होती। उत्तर मे श्रेणी और स्थितिभेद की भावना प्रबल है, दक्षिण में नही। उनमे उच्च देव की कल्पना पाई जाती है। उत्तरी भाग मे लकडी पर खुदाई होती है और मध्य तथा दक्षिणी भाग मे टोकरे बनाए जाते है।

(४) **मेकेंजी-युकोन क्षेत्र**—यहाँ के मुख्य समूह है कोहोटाना, कुटचिन, यलानाइफ, डोगरिब, स्लेव, केरियर, सर्सी आदि। ये केरिबाऊ, जगल के छोटे जानवरो, ताजे पानी की मछलियो और जगली फलो का उपयोग खाद्य के रूप मे करते है। इनके मकान वायु अवरोधक छडियो तात से लेकर तख्तो और वृक्षो के तनो तक से बने होते है। पश्चिमी भाग मे उनका सामाजिक सगठन शक्तिहीन गोत्रविभाजन और सामाजिक श्रेणियो पर आश्रित रहता है, पूर्व मे उभयपक्षीय परिवार पर। राजकीय सगठन अधिक शक्तिशाली नही है। धर्म के क्षेत्र मे व्यक्तिगत दैवी रक्षक शक्तियो मे विश्वास तथा शामन लोगो का अस्तित्व पाया जाता है। वृक्षो की छाल का उपयोग इन समूहो की सस्कृति मे मिलता है। इस सामग्री से छोटी छोटी नावे और बर्तन आदि बनाए जाते है। वे चर्मवस्त्रो का प्रयोग करते है। उनमे कला का कोई विशेष रूप विकसित नही हुआ।

(५) **बेसिन-प्लेटो-क्षेत्र**—इस क्षेत्र की सस्कृतियो को दो मुख्य भागो मे विभाजित किया जा सकता है। बेसिन क्षेत्र के मुख्य समूह है—शोशोन, गोशियूट, पाइयूट और पेविओत्सो। कोलबिया पठार पर थामसन, शुश्वेय, फ्लैटहेड, नेज-पर्से और उत्तरी शोशान समूह रहते है। दोनो भागो मे मरुस्थली सस्कृति के तत्वो का प्राधान्य है। अर्थव्यवस्था सकलन और शिकार पर आश्रित है। पहले भाग मे वायु अनुरोधक टट्टियों और प्यूब्ली शैली के मकान बनाए जाते है। प्रागैतिहासिक काल मे जमीन खोदकर रहने का स्थान बनाया जाता था। दूसरे भाग मे भूमिगत घरो का प्राधान्य है। दोनो भागो मे समाज अनेक उभयपक्षीय दलो मे विभाजित है, जिनमे प्रत्येक दल का एक प्रधान होता है। राजकीय सगठन का इन समूहो मे अभाव है। धर्म शामन और दैवी रक्षक शक्तिया पर आश्रित रहता है। भौतिक सस्कृति का अल्प विकास और कला के किसी भी रूप का अभाव इन समूहो मे दीख पड़ता है।

(६) **समतल क्षेत्र**—इस क्षेत्र के कुछ समूह, जैसे मडान, हिदास्ता, एरिकारा, पोंका, आयोवा, ओमाहा और पवनी स्थायी ग्रामो मे रहते हैं तथा ब्लैकफुड, ग्रोस वेंचर गासनी बोइन, क्रो चेयिनी, डाकोटा, अपरापाहो, कियोवा, कोमाचे आदि घुमक्कड जीवन व्यतीत करते है।

स्थायी ग्रामो मे रहनेवाले समूह वृक्षो के तनो मे बने बडे मकानो मे रहते हैं। समाज गोत्र और गोत्रसमूहो मे विभाजित है। इन समूहो के शक्तिशाली जातीय सगठन है। धार्मिक उत्सव ये बडे सुव्यवस्थित रूप से मनाते है। व्यक्तिगत रक्षक शक्तियो मे विश्वास के अतिरिक्त इनमे अनेक प्रकार से दैवी सकेत पाने के लिये यत्न किए जाते है। इन समूहो मे चर्मवस्त्रो का प्रचलन है। सिर पर तरह तरह के पख लगाए जाते है। मिट्टी के बर्तन, टोकरे आदि इनमे नही बनाए जाते। कला की दो सुनिश्चित शैलियाँ इनमे प्रचलित है। वे चमडे पर यथार्थवादी शैली मे चित्र अकित करते है और विभिन्न प्रकार की डिजाइने भी बनाते हैं।

घुमक्कड समूह चमडे के बने टिपी नामक तंबुओ मे रहते है और शिकार से अपनी जीविका अर्जित करते है। उत्तर और पूर्व मे उनमे गोत्रविभाजन पाया जाता है, दक्षिण और पश्चिम मे नही। राजकीय सगठन प्रजातत्रीय प्रणाली का है। कोमाचे समूह के अतिरिक्त अन्य समूहो मे जातीय सगठन है। युद्ध और शांति के नेता अलग होते है। इन समूहो मे अनेक प्रकार की सैनिक तथा धार्मिक समितियाँ सगठित हैं। इनमे भी रक्षक शक्तियों में विश्वास पाया जाता है। सूर्यनृत्य तथा सामूहिक धार्मिक कृत्य की दृष्टि से ये प्रथम भाग के समकक्ष है।

(७) **उत्तर-पश्चिम-क्षेत्र**—यह भाग तीन उपसस्कृति क्षेत्रो मे विभाजित किया जा सकता है।

प्यूब्लो समूह मे ताओस, साटा क्लारा, कोचिटी, सेंटो डोमिनगो, सेन फेलिपी, सिया, जेमेज, लागुत, एकोमा, जूनी और होबी जातियाँ मुख्य हैं। आर्थिक व्यवस्था कृषि और पशुपालन पर आश्रित है। प्यूब्लो समूह पत्थरो से बने अनेक मजिलोवाले सामुदायिक घरो मे रहते है। जातीय शासन-व्यवस्था मे धार्मिक अधिकारियो की सत्ता होती है। समाज में अनेक धार्मिक समितियाँ सगठित है। अनेक धार्मिक कृत्य सूर्य और पूर्वजो से सबधित है। सामूहिक नाटय इन समूहो के धार्मिक सगठन की एक प्रमुख विशेषता माने जा सकते है। भौतिक सस्कृति के क्षेत्र मे ये मिट्टी के बर्तन बनाने और कपडा बुनने मे दक्ष है। टोकरे बनाने की कला अधिक विकसित नही है। कला के मुख्य रूप है बर्तनो पर चित्रो का अकन और कबलो मे आकर्षक डिजाइने बुनना।

दूसरा भाग नवाहो और एपाचे आदि समूहो का है जो स्थायी रूप से एक स्थान पर नही रहते। ये अधिकाशत बाजरे की खेती करते है। आधुनिक काल मे इनमे भेड पालना भी आरभ किया गया है। नवाहो लकडी और मिट्टी के बने मकानो मे रहते है, एपाचे चमड़े के तबुओ मे। दोनो समूहो मे केंद्रीय शासकीय व्यवस्था का अभाव है। समूह छोटे छोटे दलो मे विभाजित है। प्रत्येक दल का एक प्रधान होता है, पर उसकी शक्ति अधिक नही होती। धर्मव्यवस्था मे पुजारियों और धार्मिक गायको का स्थान महत्वपूर्ण होता है। रोगियो की चिकित्सा धार्मिक क्रियाओ और गायन से की जाती है। इन समूहो मे बुनाई का कौशल विकसित रूप मे दीख पडता है। भौतिक सस्कृति के अन्य पक्ष अधिक उन्नत नही है। दोनो समूहो मे कबलो मे तरह तरह की डिजाइने बुनी जाती है और बालुका-चित्राकन किया जाता है। नवाहो चाँदी का काम करते हैं और एपाचे मनको का।

तीसरे भाग मे कोलोराडो-गिला क्षेत्र मे मोहावे, यूमा, पिमा, पपागो आदि समूह आते है। इनका सामाजिक सगठन बहुत कुछ नवाहो, एपाचे आदि के सगठनो से मिलता जुलता है। धर्म का सामूहिक पक्ष अविकसित

है, व्यक्ति और परिवार धार्मिक संगठन की स्वतंत्र इकाइयाँ माने जा सकते है। इनकी भौतिक संस्कृति के मुख्य तत्व है टोकरे बनाना और कपडे बुनना। कला का विकास इनमे बहुत कम हुआ है।

(८) **उत्तर पूर्व का वनक्षेत्र**--इस क्षेत्र के मुख्य समूह है क्री, ओजिबवे, इरोक्वाई, मोहिकन, विनेबागो, फाक्स, साऊक आदि। ये वनाच्छादित प्रदेश मे रहते है जहाँ कठिन शीत पडता है। ये समूह खेती के साथ बडे पैमाने पर शिकार भी करते है। झीलो मे मछलियाँ पकडी जाती है और जगली धान की खेती होती है। समाज का विभाजन गोत्रो मे होता है जिनके अपने गोत्रचिह्न (टोटेम) होते है। उत्तरी भाग को छोडकर शेष क्षेत्र मे सशक्त तथा सुसगठित शासनव्यवस्था है। इरोक्वाई समूहो ने तो अपना स्वतंत्र राज्यसघ बना लिया था जिसका विधान उल्लेखनीय था। इन समूहो मे व्यक्ति की दैवी रक्षक शक्तियो मे विश्वास किया जाता है। भौतिक संस्कृति के मुख्य तत्व है धनुष, युद्ध की गदाएँ, लकडी को खोदकर बनाई गई और वृक्षों की छाल की नावे, चमडे के वस्त्र, बरफ मे पहनने के जूते और मिट्टी के बरतन। इन समूहो मे मनको का कलापूर्ण काम किया जाता है। इरोक्वाई लकडी के चेहरे भी बनाते हैं।

(९) **दक्षिण पूर्व का वनक्षेत्र**—शावनी, चेरोकी, क्रीक, नाचेज आदि समूह इस क्षेत्र मे निवास करते है। आर्थिक व्यवस्था मे कृषि और शिकार का समान महत्व है। वर्गाकार और वृत्ताकार, दोनो प्रकार के घर इन समूहो मे बनाए जाते हैं। समाज गोत्र और गोत्रसमूहो मे सगठित है। वर्गभेद के साथ सशक्त राजकीय सगठन भी इन समूहो म विकसित हुआ है। सूर्य और अग्नि को केंद्र बनाकर अनेक धार्मिक क्रियाएँ की जाती है। ये समूह मदिरो का निर्माण भी करते है। पुजारी और शामन, दोनो शक्तिशाली होते है। चमडे और वृक्षो की छाल के वस्त्रो का उपयोग किया जाता है। विशेष प्रकार की चटाइयाँ और टोकरे बनाना तथा बेत का उपयोग इन समूहो की भौतिक सस्कृति की उल्लेखनीय विशेषताएँ है। इनकी कला पर मध्य अमरीका के अनेक प्रभाव लक्षित होते है।

इडियन समूहो मे बडी तीव्र गति से सस्कृतिपरिवर्तन हो रहा है। उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष मे अमरीका की नव सस्कृति के व्यापक प्रभाव सहज ही देखे जा सकते है।

सं० ग्रं०—कालियर, जान द इडियन ऑव द अमेरिकाज, न्यूयार्क, नार्टन ऐंड कपनी, १९४७, वर्टन, ई० (सपादक) द इडियन्स ऑव नार्थ अमेरिका, न्यूयार्क, हार्कोर्ट ब्रेस ऐड कपनी, १९२७, क्रोबर, ए० एल० कल्चरल ऐंड नैचुरल एरियाज ऑव नेटिव नार्थ अमरीका, बर्कले, युनिवर्सिटी ऑव केलिफोर्निया प्रेस, १९४९, लिटन, राल्फ द ट्री ऑव कल्चर, न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० कनाफ, १९५५। (श्या० दु०)

इंडियन एक्स्प्लोजिव्स फैक्टरी की स्थापना ब्रिटिश इपीरियल केमिकल्स इडस्ट्रीज लि० के सहयोग से ५ नवबर, सन् १९५८ ई० को हजारीबाग मे की गई। यह फैक्टरी उत्स्फोटन विस्फोटक यौगिको का निर्माण करती है। भारत सरकार के इसमे केवल २० प्रति शत शेयर है। (कै० च० श०)

इंडियन ड्रग्स एंड फार्मस्यूटिकल की स्थापना सन् १९६१ के दौरान, नई दिल्ली मे की गई। रूस ने इसके निर्माण मे सहायता दी है। इसका उद्देश्य दवाइयो के चार कारखाने खोलना था, जो लगभग प्राप्त कर लिया गया है। (कै० च० श०)

इंडियन रिफाइनरीज की स्थापना शुरू मे नूनमाटी (असम) तथा बरौनी (बिहार) मे तेलशोधक कारखाने खोलने के लिये की गई थी। उक्त दो कारखानो के अतिरिक्त अब यह कोयली (गुजरात) और कोचीन के समीप दो और कारखानो का निर्माण कर रही है। (कै० च० श०)

इंडियन रोड्स कांग्रेस दिसबर, १९३४ मे स्थापित हुई। इसका मुख्य उद्देश्य था सडको के निर्माण एव सुप्रबध के विज्ञान और कला की उन्नति तथा प्रोत्साहन और भारत की सडको के इजिनियरो की सडक सबंधी समस्याओं पर सामूहिक विचाराभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम होना। इस कांग्रेस मे १९५८ मे प्राय. १,६०० सदस्य थे जिनमे इग्लैंड, आयरलैंड, ब्रिटिश वेस्ट इडीज, कनाडा, पाकिस्तान, लंका, बर्मा आदि देशो के निवासी भी सम्मिलित थे।

यह कांग्रेस प्रति वर्ष एक महाधिवेशन करती है जिसमे देश भर से २५० से अधिक प्रतिनिधि विचारार्थ आमंत्रित किए जाते है। अपने २५ वर्षो के अब तक के जीवनकाल मे इस कांग्रेस ने निम्नलिखित कार्य किए है

(१) अपने सामान्य अधिवेशनो मे टेकनिकल विषयो पर लिखे गए २०० से अधिक ऐसे निबधो पर विचारविमर्श किया जो भारतीय सडको के विकास सबधी विविध पहलुओं से सबध रखते है।

(२) सडक निर्माण एव सडको की सुरक्षाविषयक ज्यामितीय तथा अन्य प्रकार की विशेषताओं के स्थिर प्रतिमान भी सुनिश्चित किए।

(३) सडको की प्राविधिक (टेकनिकल) तथा प्रशासन सबधी समस्याओं पर विवेचन करने के लिये उसने २२ वार्षिक अधिवेशन तथा ५२ साधारण सभाएँ की।

(४) प्राविधिक समस्याओ के विभिन्न पहलुओं के विस्तृत अध्ययनार्थ बहुत सी समितियाँ नियुक्त की।

उस कांग्रेस का प्राविधिक कार्य मुख्यत उसकी समितियाँ एव उपसमितियाँ करती है। उनकी बैठके सामान्य अधिवेशनो पर और यदि सभव हुआ तो अन्य अवसरो पर भी होती है।

मुख्य समितियाँ इस प्रकार है इमारत और प्रतिमान-निर्धारण-समिति, पुल समिति (इस समिति ने पुलो के लिये प्रतिमानो का व्यापक एव स्थानीय नियम तैयार किए), प्राविधिक समिति (जिसने कलकत्ता मे परीक्षण के लिये बनी सडको की सभी प्रकार की जाँचो की व्यवस्था की थी और जो सामान्यत सडको के सबध मे अनुसधान करती है) तथा मृत्तिका-अनुसधान-समिति। अन्य समितियो के कार्यक्षेत्र मे सडको के इजीनियरो का शिक्षण, व्यावसायिक इजीनियरिंग, सडको की वास्तुकला की दृष्टि से व्यवस्था, यातायात की समस्याएँ, सडक निर्माण के लिये यत्रो के कारखाने, सडक बनाने के कार्यो को यत्रो द्वारा कराना, विभिन्न प्रकार की सडको आदि का आर्थिक दृष्टि से अध्ययन इत्यादि कर्तव्य समाविष्ट है। काउसिल इस कांग्रेस का मुख्य सचालक अग है। यह सामान्य अधिवेशनो मे रखे गए एव समितियो द्वारा प्रस्तुत सुझावो पर विचार करती है तथा राज्य एव केंद्रीय सरकार को इस सबध मे उचित परामर्श देती है।

कांग्रेस के दो नियमित प्रकाशन चलते है 'जरनल' तथा 'ट्रासपोर्ट-कम्यूनिकेशस मथली रिव्यू'। 'जरनल' त्रैमासिक प्रकाशन है जिसमे प्राविधिक निबध, विचारविमर्श, अनुसधानो के विवरण आदि रहते है। इनके अतिरिक्त इस कांग्रेस द्वारा सडको से सबध रखनेवाली सामयिक विवरणिकाएँ (बुलेटिन्स) भी प्रकाशित की जाती है। कांग्रेस द्वारा इजीनियरिंग विषयक साहित्य के एक पुस्तकालय की भी व्यवस्था की गई है जिसमे सडक, पुल, यातायात आदि विषयो से सबद्ध पुस्तके प्राप्त करने पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सदस्यो तथा इजिनियरो द्वारा सडको के सबध मे पूछे गए प्रश्नो का उत्तर भी दिया जाता है।

यह कांग्रेस सरकार के परिवहन एव सचरण मत्रालय के घनिष्ठ सहयोग से अपना कार्य सपन्न करती है। सडक-विकास सबधी भारत सरकार के परामर्शदाता इजीनियर इसके स्थायी कोषाध्यक्ष है। इसका सचिवालय जामनगर हाउस, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली मे स्थित है और इसका प्रबध इडियन रोड्स कांग्रेस के एक सचिव के हाथ मे है।

इंडियन (भारतीय) रोड्स कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्षों के नाम निम्नलिखित है

डी० बी० मिचल, सी० एस० आई०, सी० आई० ई०, आइ० सी० एस० (१९३४), रायबहादुर छुट्टनलाल (१९३५-३६), एम० जी० स्टब्स, सी० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९३६-३८), सर केनेथ मिचल, के० सी० आई० ई०, सी० आई० ई०, आई० एस० ई० (१९३९-४२), जे० वसुगर, आई० एस० ई० (१९४३-४५), सर आर्थर डीन, सी० आई० ई०, एम० सी०, ई० डी० (१९४५-४६); एल० ए० फ्रीक, आई० एस० ई० (१९४६); जे० बेबर्स, सी० आई० ई०, एम० सी०,

ओ० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९४६-४७); सी० जी० काले, सी० आई० ई०, आई० एस० ई० (१९४७-४८), एस० एन० चक्रवर्ती, आई० एस० ई० (१९४८-४९), रायबहादुर बृजमोहनलाल, आई० एस० ई० (१९४९-५०), रायबहादुर ए० सी० मुकर्जी, आई० एस० ई० (१९५०-५१), जी० एम० मैक्केल्वी, सी० आई० ई०, ओ० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९५१-५२), टी० मित्र, आई० एस० ई० (१९५२-५३), आर० के० बावा, आई० एस० ई० (१९५३-५४), एच० पी० मथरानी, आई० एस० ई० (१९५४-५५), के० के० माबियार (१९५५-५६), पी० एल० वर्मा (१९५६-५७), एम० एस० विष्ट (१९५७-५८), डब्ल्यू० एक्स० मैस्कारेन्हास् (१९५८-५९)। (अ० जु० डि० को०)

इंडियम एक तत्व का नाम है। यह मुलायम, आघातवर्ध्य, सहज-गलनीय, रजतश्वेत धातु है जो प्रकृति में मुक्त अवस्था में नहीं पाई जाती। व्यापारिक वंग में इंडियम रहता है। सिलिंड्राइट नामक खनिज में यह १० प्र० श० तक मिलता है। पश्चिमी यूटा में पाए जानेवाले पेग्मैटाइट में इसकी मात्रा सबसे अधिक है। जस्ते के शोधन में प्राप्त सीसा इंडियम का प्रमुख स्रोत है।

इंडियम का उपयोग बहुमूल्य धातुओं के साथ मिश्रधातु के रूप में, आभूषणों में, दंत व्यवसाय में, कम गलनांकवाली मिश्रधातुओं और काँच को सीलबंद करने के लिये प्रयुक्त मिश्रधातुओं के रूप में, परमाणु रिऐक्टर में, न्यूट्रॉन सूचक के रूप में, अर्धचालकों के रूप में और वायुयानों में सीस-लेपित रजत बेयरिंग के लिये मुलम्मों के रूप में होता है।

आवर्त सारणी में इसका स्थान तीसरे वर्ग में है। इसका प्रतीक In, परमाणु क्रमांक ४९, परमाणु भार ११४.८, गलनांक १५६.४° सें०, क्वथनांक २१००° सें० तथा संयोजकता ३ है। (नि० मि०)

इंडिया आफिस लाइब्रेरी (विदेशी तथा राष्ट्रमंडलीय कार्यालय) में लगभग २,६०,००० यूरोप तथा पूर्वी देशों में मुद्रित पुस्तकें, ३५,००० हस्तलेख, पूर्व और विशेषत: भारत से संबंधित ११,००० ब्रितानी चित्र (पेंटिंग्स तथा आरेख), ड्राइंग्स और १०,००० पौरस्त्य आरेख एवं सूक्ष्म-चित्र (मिनिएचर्स) हैं। एस० सी० सटन, सी० बी० ई० संप्रति उक्त पुस्त-कालय के पुस्तकाध्यक्ष हैं। इस संस्थान के प्रकाशन हैं संग्रह के सूचीपत्र (कैटलाग आव कलेक्शन्स) तथा वार्षिक विवरण निर्देशिका (एनुअल रिपोर्ट गाइड)। इसका पता, १९७ ब्लैक फ्रायर्स रोड, लंदन एस० ई०—१, एफ० १८०१ है।

भारत सरकार विगत कई वर्ष से इस प्रयत्न में है कि उक्त संस्थान भारत को हस्तांतरित कर दिया जाय। परंतु इस संदर्भ में अभी तक कोई निर्णय नहीं हो पाया। (कै० च० श०)

इंडियानापोलिस संयुक्त राज्य (अमरीका) के इंडियाना राज्य की राजधानी है तथा उसके हृदयस्थल में ह्वाइट नदी के तट पर बसा हुआ है। इसे अमरीका का चौराहा कहते हैं, क्योंकि यहाँ शिकागो, सेंट लुई, लुईजविल, सिनसिनाटी, कोलंबस, न्यूयार्क आदि को जानेवाले रेलवे मार्ग तथा कई पक्की सड़कें मिलती हैं। यहाँ एक बड़ा हवाई अड्डा भी है। केंद्रीय भौगोलिक स्थिति, प्रमुख कोयला क्षेत्रों के सामीप्य तथा यातायात के साधनों के बाहुल्य ने इसे बहुत बड़ा औद्योगिक केंद्र बना दिया है। इसके मुख्य उद्योग खाद्य पदार्थ तथा वस्त्र, हवाई जहाजों के इंजन, बैटरी, रेडियो, रेफ्रीजरेटर, कागज, चमड़े का सामान आदि हैं। यह एक बड़ा सांस्कृतिक केंद्र भी है। इसकी शिक्षासंस्थाओं में बटलर विश्वविद्यालय का नाम उल्लेखनीय है। सन् १८२४ ई० से यह इंडियाना राज्य की राजधानी चुन लिया गया तथा कालांतर में इसे अमरीका के अन्य प्रमुख नगरों से संबद्ध कर दिया गया। इसकी जनसंख्या सन् १९७० ई० में ७,४२,६१३ थी। (श्या० सु० श०)

इंदुमती काकुत्स्थवंशी अज की पत्नी एवं विदर्भराज भोज की छोटी बहन। ऐसी पौराणिक आख्यायिका है कि तृणबिंदु का तप भंग करने के लिये हरिणी नाम की एक अप्सरा भेजी गई थी जिसे शापवश क्रथकैशिक अथवा विदर्भ के राजकुल में जन्म लेना पड़ा और जिसका विवाह अज के साथ हुआ। परंतु वह दीर्घकाल तक उनके साथ न रह पाई। नारद की वीणा से गिरी माला की चोट से मूर्छित हो उसने प्राण त्याग दिए। (च० म०)

इंदौर भारत के मध्यप्रदेश राज्य में स्थित एक नगर है। इंदौर नगर इसी नाम की विघटित रियासत की राजधानी था। यह नगर खान (शिप्रा की सहायक) तथा सरस्वती नदियों के संगम पर बंबई से ४८० मील की दूरी पर उत्तरपूर्व में स्थित है। (स्थिति अ० २२° ४३' उ० और दे० ७५° ५४' पू०)। नगर समुद्र की सतह से १,७३८ फुट की ऊँचाई पर है और पाँच वर्ग मील में फैला हुआ है। यह नगर सन् १७१५ ई० में कंपाल (इंदौर से १६ मील पूर्व) के एक जमींदार द्वारा एक ग्राम के रूप में बसाया गया था। सन् १७४१ ई० में यहाँ इंद्रेश्वर के मंदिर की स्थापना की गई और इन्हीं इंद्रेश्वर से नगर का नाम इंदौर पड़ा। यह मध्यप्रदेश राज्य का एक प्रमुख व्यापारिक नगर है तथा यहाँ कई प्रकार के उद्योग धंधे हैं। यहाँ बहुत से रूई दबाने तथा कपड़े के कारखाने हैं। नगर आसपास के प्रदेश का वितरणकेंद्र भी है। यहाँ के सुंदर राजमहल तथा उद्यान देखने योग्य हैं। नगर से तीन मील पूर्व की ओर एक विद्यालय डैली कालेज है जो संगमरमर का बना है। यहाँ पहले केवल राजकुमारों के लिये ही शिक्षा का प्रबंध था। नगर की जनसंख्या १९६१ में ३,९४,९४१ थी। (ल० रा० सिं०)

इंद्र महत्वशाली प्रख्यात वैदिक देवता (ऋग्वेद में २५० सूक्त स्वतंत्र रूप से इंद्र की स्तुति में प्रयुक्त हैं और लगभग ५० सूक्तों में यह विष्णु, मरुत्, अग्नि आदि विभिन्न देवताओं के साथ निर्दिष्ट तथा प्रशंसित है। इस प्रकार ऋग्वेद के लगभग चतुर्थांश में इंद्र की प्रशस्त स्तुति इसके विपुल महत्व, महनीय उत्कर्ष तथा व्यापक प्रभाव की द्योतक है। इंद्र के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ऋग्वेद के सूक्तों में उपलब्ध होता है। उसके सिर, बाहु, हाथ तथा विस्तृत उदर हैं जिसको वह सोम पीकर भर देता है। उसके दीर्घ तथा बलिष्ठ हाथ में 'वज्र' चमकता है। 'वज्री' इंद्र का ही निजी पर्याय है। वह युद्ध करने के लिये रथ पर चढ़कर समरांगण में जाता है जिसे साधारणतया दो, लेकिन कभी कभी १,००० या १,१०० घोड़े खींचते हैं। इंद्र का जन्म अन्य वीरों के समान ही रहस्यमय है। उसके पिता त्वष्टा या द्यौ हैं और उसकी माता शवसी कही जाती है, क्योंकि इंद्र बल का पुत्र है (शवस् = बल)। उसकी पत्नी का नाम इंद्राणी है और पुराणों में निर्दिष्ट 'शची' इंद्र के लिये प्रयुक्त वैदिक विशेषण 'शचीपति' शब्द (शची = बल, पति = स्वामी) के आधार पर कल्पित की गई है। इंद्र सोमपान का इतना अभ्यासी है कि 'सोमप' में उसका विशिष्ट गुणाधायक नाम निर्दिष्ट है और ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त (१०।११९) सोमपान से उत्पन्न इंद्र के आनंदा-ल्लास का कवित्वमय उद्गार है। उसकी शक्ति अतुलनीय है और समस्त देवताओं में वीर्य तथा बल से संपन्न होने के कारण शक्र, शचीवत्, शचीपति तथा शतक्रतु (सौ शक्तियों से संपन्न या सौ यज्ञों का कर्ता) आदि विशेषणों का प्रयोग इंद्र के लिये ही किया जाता है।

इंद्र आर्यों का दस्युओं या दासों के ऊपर विजय प्राप्त करानेवाला प्रमुख देवता है। 'दास' अपार्थिव शत्रु के लिये भी प्रयुक्त है, परंतु यह मुख्यत: आर्यों के उन कृष्णकाय, चिपटी नाकवाले आदिवासी शत्रुओं के लिये आता है जो आर्यों का विस्तार रोकते थे तथा मिट्टी के बने किलों में रहकर उनसे लड़ा करते थे। इन दस्युओं के अनेक नेता थे जिनमें शंबर प्रमुख था। वह पर्वतों में छिपकर भागा फिरता था और इंद्र ने नदी दाह धूप के बाद ४०वें वर्ष में (चत्वारिंश्यां शरदि) उसे खोज निकाला और अपने विकट वज्र से छिन्न भिन्न कर दिया (ऋग्० २।१२।११)। ऋग्वेद कहता है कि इंद्र की कृपा से ही आर्यों के विपुल पराक्रम के आगे दासों को पराजित होना और पर्वतों के भीतर छिपना पड़ा। (दासं वर्णमधरं गुहाक: २।१२।४)। इंद्र के अन्य महत्त्वशाली कार्यों में वृत्र की पराजय प्रमुख स्थान रखती है। वृत्र (आवरणकर्ता) से अभिप्राय उस अकाल और दुर्भिक्ष के दानव से है जो बादलों को घेरकर उन्हें पानी बरसाने से रोकता है। वृत्र अहि (= साँप) के रूप में चित्रित किया गया है। इंद्र उसे अपने वज्र से मार डालता है और छल से छिपाई गायों को गुफाओं से बाहर निकालता

है। वृत्र के प्रभाव से नदियों की जो धारा रुक गई थी वह अब प्रवाहित होने लगती है। सप्तसिंधु की मानो नदियों में बाढ़ आ जाती है (यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिंधून्) और देश में सर्वत्र सौख्य विराजने लगता है।

इस प्रकार इंद्र वृष्टि और तूफान का देवता है। परंतु उसके वास्तविक भौतिक आधार के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों के विविध मत हैं। (क) निरुक्त में निर्दिष्ट ऐतिहासिकों के मत में इंद्र-वृत्र-युद्ध एक वस्तुत: ऐतिहासिक घटना है। (ख) लोकमान्य तिलक के मत में वृत्र हिम का प्रतिनिधि है तथा इंद्र सूर्य का। हिलेब्रांट के मत में भी वृत्र उस हिमानी का संकेत है जो शीत के कारण जल को बर्फ बना डालती है। परंतु दो पत्थरों (मेघों) के बीच अग्नि (विद्युत्) उत्पन्न करनेवाले इंद्र को (अश्मनारन्तरग्नि जजान, २।१२।३) वृष्टि का देवता मानना ही उचित है।

सप्तसिंधु प्रदेश को ही अनेक विद्वानों ने इंद्र का उदयस्थान माना है, परंतु इसकी कल्पना प्राचीनतर प्रतीत होती है। बोगाजकोई शिलालेख के अनुसार मितन्नी जाति के देवताओं में वरुण, मित्र एवं नासत्यों (अश्विन्) के साथ इंद्र का भी उल्लेख मिलता है (१४०० ई० पू०)। ईरानी धर्म में इंद्र का स्थान है, परंतु देवतारूप में नहीं, दानवरूप में। वेरेथ्रघ्न वहाँ विजय का देवता है, जो वस्तुत: 'वृत्रघ्न' (वृत्र को मारनेवाला) का ही रूपांतर है। इस कारण डा० कीथ इंद्र को भारत-पारसीक-एकता के युग में वर्तमान मानते हैं।

सं०ग्रं०—मैक्डानेल : वेदिक माइथॉलॉजी, स्ट्रासबर्ग, १८९६, कीथ : रेलीजन ऐंड फिलासफी ऑव दि वेद, लंदन, १९२५, ; ब्रांट : वेदिश माइथॉलॉजी (तीन खंड), जर्मनी, १९१२। (ब० उ०)

इंद्रजाल जादू का खेल। कहा जाता है, इसमें दर्शकों को मंत्रमुग्ध करके उनमें भ्रांति उत्पन्न की जाती है। फिर जो ऐंद्रजालिक चाहता है वही दर्शकों को दिखाई देता है। अपनी मंत्रमाया से वह दर्शकों के वास्ते दूसरा ही संसार खड़ा कर देता है। मदारी भी बहुधा ऐसा ही काम दिखाता है, परंतु उसकी क्रियाएँ हाथ की सफाई पर निर्भर रहती हैं और उसका क्रियाक्षेत्र परिमित तथा संकुचित होता है। इंद्रजाल के दर्शक हजारों होते हैं और दृश्य का आकार प्रकार बहुत बड़ा होता है।

वर्षा का वैभव इंद्र का जाल मालूम होता है। ऐंद्रजालिक भी छोटे पैमाने पर कुछ क्षण के लिये ऐसे या इनसे मिलते जुलते दृश्य उत्पन्न कर देता है। शायद इसीलिये उसका खेल इंद्रजाल कहलाता है।

प्राचीन समय में ऐसे खेल राजाओं के सामने किए जाते थे। ५०-६० वर्ष पहले तक कुछ लोग ऐसे खेल करना जानते थे, परंतु अब यह विद्या नष्ट सी हो चुकी है। कुछ संस्कृत नाटकों और गाथाओं में इन खेलों का रोचक वर्णन मिलता है। जादूगर दर्शकों के मन और कल्पनाओं को अपने अभीष्ट दृश्य पर केंद्रीभूत कर देता है। अपनी चेष्टाओं और माया से उनको मुग्ध कर देता है। जब उनकी मनोदशा और कल्पना केंद्रित हो जाती है तब वह उपयुक्त ध्वनि करता है। दर्शक प्रतीक्षा करने लगता है कि अमुक दृश्य आनेवाला है या अमुक घटना घटनेवाली है। उसी क्षण वह ध्वनिसंकेत और चेष्टा के योग से सूचना देता है कि दृश्य आ गया या घटना घट रही है। कुछ क्षण लोगों को वैसा ही दीख पड़ता है। तदनंतर इंद्रजाल समाप्त हो जाता है।

सं० ग्रं०—इंद्रजाल, रत्नावली। (म० ला० श०)

इंद्रजित् द्र० 'मेघनाद'।

इंद्रजौ या इंद्रयव एक फली के बीज का नाम है। संस्कृत, बँगला तथा गुजराती में भी बीज का यही नाम है। परंतु इस फली के पौधे को हिंदी में कोरैया या कुड़ची, संस्कृत में कुटज या कलिंग, बँगला और अंग्रेजी में कुड़ची तथा लैटिन में होलेरहेना एटिडिसेंटेरिका कहते हैं।

इसके पौधे चार फुट से १० फुट तक ऊँचे तथा छाल आधे इंच तक मोटी होती है। पत्ते चार इंच से आठ इंच तक लंबे, शाखा पर आमने सामने लगते हैं। फूल गुच्छेदार, श्वेत रंग के तथा फलियाँ एक से दो फुट तक लंबी और चौथाई इंच मोटी, दो दो एक साथ जुड़ी, लाल रंग की होती हैं। इनके भीतर बीज कच्चे रहने पर हरे और पकने पर जौ के रंग के होते हैं। इनकी आकृति भी बहुत कुछ जौ की सी होती है, परंतु ये जौ से लगभग ड्योढ़े बड़े होते हैं।

इस पौधे की दो जातियाँ हैं—काली और श्वेत। ऊपर जिस पौधे का वर्णन किया गया है वह काली कोरैया और उसके बीज कड़वे, इंद्रजौ कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के पौधे को लैटिन में राइटिया टिंक्टोरिया तथा उसके बीज को हिंदी में मीठा इंद्रजौ कहते हैं। काला पौधा समस्त भारत में पाया जाता है।

काले पौधे की छाल, जड़ और बीज प्राचीन काल से अति उपयोगी ओषधि माने जाते हैं। छाल विशेष लाभदायक होती है। आयुर्वेदिक मतानुसार यह कड़वी, शुष्क, गरम और कृमिनाशक तथा रक्तातिसार, आमातिसार इत्यादि अतिसारों में बड़ी लाभदायक है। मरोड़ के दस्त के रोग में, जिसमें रक्त भी जाता है, इसे आशीर्वादस्वरूप कहा है। बवासीर के खून को भी बंद करती है। जूड़ी (मलेरिया), अंतरिया तथा मीयादी बुखार में इसका सत्व, प्रमेह और कामला में शहद के साथ इसका स्वरस तथा प्रदर में इसका चूर्ण लोहभस्म के साथ देने का विधान है।

रासायनिक विश्लेषण से इसकी छाल में कानेसीन, कुर्चीन और कुर्चिसीन नामक तीन उपक्षार (ऐल्कलॉइड) पाए गए हैं, जिनका प्रयोग ऐलोपैथिक उपचार में भी होता है।

आयुर्वेद के अनुसार इस पौधे की जड़ और बीज, अर्थात् इंद्रजौ में भी पूर्वोक्त गुण होते हैं। ये ग्राही और शीतल तथा आँतों की ऐसी व्याधि में, जिसमें रक्त गिरने के साथ ज्वर भी रहता है, मठे के साथ अति लाभदायक कहे गए हैं। स्तंभन के साथ इनमें आँव के पाचन का भी गुण होता है।

इस जाति के श्वेत पौधे के फूलों में एक प्रकार की सुगंध होती है जो काले पौधे के फूलों में नहीं होती। श्वेत पौधे की छाल लाल रंग लिए बादामी तथा चिकनी होती है। फलियों के अंत में बालों का गुच्छा सा होता है। यह पौधा ओषधि के काम में नहीं आता। (भ० दा० व०)

इंद्रधनुष आकाश में संध्या समय पूर्व दिशा में तथा प्रात:काल पश्चिम दिशा में, वर्षा के पश्चात् लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला तथा बैंगनी वर्णों का एक विशालकाय वृत्ताकार वक्र कभी कभी दिखाई देता है। यह इंद्रधनुष कहलाता है। वर्षा अथवा बादल में पानी की सूक्ष्म बूंदों अथवा कणों पर पड़नेवाली सूर्य किरणों का विक्षेपण (डिस्पर्शन) ही इंद्रधनुष के सुंदर रंगों का कारण है। इंद्रधनुष सदा दर्शक की पीठ के पीछे सूर्य होने पर ही दिखाई पड़ता है। पानी के फुहारे पर दर्शक के पीछे से सूर्यकिरणों के पड़ने पर भी इंद्रधनुष देखा जा सकता है।
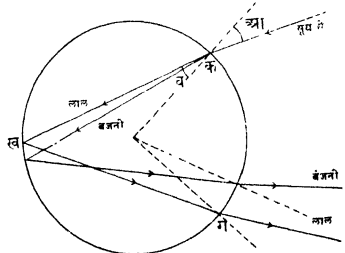
चित्र १. पानी की बूँदों द्वारा विक्षेपण।

चित्र १ में स्पष्ट है कि सूर्यकिरणों का पानी की बूँदों के भीतर बिंदु **क** पर वर्तन (रिफ्रैक्शन), **ख** पर संपूर्ण परावर्तन (टोटल रिफ्लेक्शन) तथा पुन **ग** पर वर्तन होता है। प्रकाश के नियमानुसार **क** पर श्वेत सूर्यकिरणों में मिश्रित विभिन्न तरंगदैर्घ्यों की प्रकाशतरंगें विभिन्न दिशाओं में बूँद के भीतर प्रवेश करती हैं।

चित्र में स्पष्ट हैकि लाल वर्ण की प्रकाशकिरणें कम तथा बैंगनी की अत्यधिक मुड जाती हैं।

यदि **क** पर किरण का आपात कोण **आ** तथा वर्तन कोण **व** हो तो गणित द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि जब विचलन कोण **वि** न्यूनतम होता है तब

$$\text{कोज्या आ} = \sqrt{\left(\frac{\mu^2 - 1}{3}\right)}$$

जहाँ μ वर्तनांक (इंडेक्स ऑव रिफ्रैक्शन) है, अर्थात्

$$\mu = \frac{\text{ज्या आ}}{\text{ज्या व}}।$$

यदि उक्त समीकरण में μ का मान लालवर्ण के लिये १.३२९ रख दें तो कोण **आ** का मान ५९.६° तथा कोण **व** का मान ४०.५° प्राप्त होता है। यदि μ का मान बैंगनी रंग के लिये १.३४३ लें तो **आ** = ५८.८° तथा व = ३९.६° है। इसके अतिरिक्त लाल तथा बैंगनी रंगों का न्यूनतम विचलन (डीविएशन) क्रमानुसार १३७.२° तथा १३९.२° होता है। अन्य वर्णों के विचलनों का मान इन दोनों के बीच रहता है। यह भी सिद्ध है कि आपात किरण के समांतर प्रत्येक रंग की समस्त किरणें, पानी की बूँद से बाहर आने पर भी, सन्निकटत समांतर बनी रहती हैं, क्योंकि विचलन न्यूनतम होने के कारण आपात कोण में थोड़ा परिवर्तन होने पर भी विचलन कोण में विशेष अंतर नहीं होता।

चित्र २ में कल्पना करें कि दर्शक **द** पर खड़ा है तथा सूर्य की किरणें दिशा **स द** में आ रही हैं। $प_1$, $प_2$, $प_3$ पानी की तीन बूँदें ऊर्ध्वाधर रेखा पर
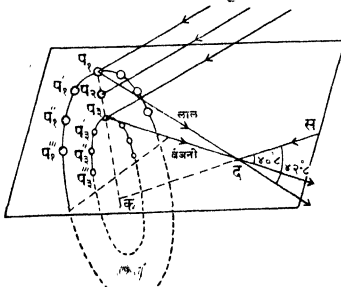
चित्र २. विभिन्न बूँदों से विक्षिप्त रंगीन प्रकाश के कारण द्रष्टा को इंद्रधनुष दिखाई पड़ता है।

हैं। यदि किरणें बूँदों से निकलकर **द** पर पहुँचती हैं तो स्पष्ट है कि उनकी ओर देखने पर दर्शक को रंग दिखाई पड़ेंगे। $प_1$ से वे लाल किरणें आएँगी जिनका विचलन कोण १३७.२° है तथा $प_3$ से वे बैंगनी किरणें आएँगी जिनका विचलन कोण १३९.२° है। अत ऊपर की ओर लाल तथा नीचे की ओर बैंगनी रंग दिखाई पड़ेगा। इस भाँति इंद्रधनुष बनता है, जिसमें लाल तथा बैंगनी वृत्तों की कोणीय त्रिज्याएँ क्रमानुसार १८०°−१३७.२° = ४२.८° तथा १८०°−१३९.२° = ४०.८° होती हैं।
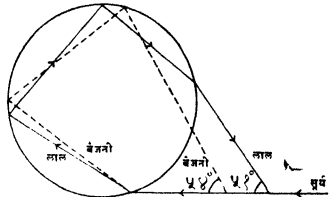
चित्र ३ द्वितीयक इंद्रधनुष का सिद्धांत।

यदि बूँद के भीतर किरणों का दो बार परावर्तन हो, जैसा चित्र ३ में दिखाया गया है, तो लाल तथा बैंगनी किरणों का न्यूनतम विचलन क्रमानुसार २३१° तथा २३४° होता है। अत एक इंद्रधनुष ऐसा भी बनना संभव है जिसमें वक्र का बाहरी वर्ण बैंगनी रहे तथा भीतरी लाल। इसको द्वितीयक (सेकंडरी) इंद्रधनुष कहते हैं।

जैसा चित्र २ से स्पष्ट है, दर्शक के नेत्र में पहुँचनेवाली किरणों से ही इंद्रधनुष के रंग दिखाई देते हैं। अत दो व्यक्ति ठीक एक ही इंद्रधनुष नहीं देख सकते—प्रत्येक द्रष्टा को एक पृथक् इंद्रधनुष दृष्टिगोचर होता है।

तीन अथवा चार आंतरिक परावर्तन से बने इंद्रधनुष भी संभव हैं, परंतु वे बिरले अवसरों पर ही दिखाई देते हैं। वे सदैव सूर्य की दिशा में बनते हैं तथा तभी दिखाई पड़ते हैं जब सूर्य स्वयं बादलों में छिपा रहता है। इंद्रधनुष की क्रिया को सर्वप्रथम दे कार्त नामक फ्रेंच वैज्ञानिक ने उपर्युक्त सिद्धांत द्वारा समझाया था। इनके अतिरिक्त कभी कभी प्रथम इंद्रधनुष के नीचे की ओर अनेक अन्य रंगीन वृत्त भी दिखाई देते हैं। ये वास्तविक इंद्रधनुष नहीं होते। ये जल की बूँदों से ही बनते हैं, किंतु इनका कारण विवर्तन (डिफ्रैक्शन) होता है। इनमें विभिन्न रंगों के वृत्तों की चौड़ाई जल की बूँदों के बड़ी या छोटी होने पर निर्भर रहती है। (प्र० मो०)

इंद्रप्रस्थ वर्तमान दिल्ली के समीप इंदरपत गाँव का प्राचीन नाम। यह नगर शक्रप्रस्थ, शक्रपुरी, शतक्रतुप्रस्थ तथा खांडवप्रस्थ आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है। इसके उदय और अभ्युदय का रोचक वर्णन महाभारत (आदिपर्व, २०७ अ०) के अनेक स्थलों पर किया गया है। द्रौपदी को स्वयंवर में जीतकर जब पांडव हस्तिनापुर में आने लगे तब धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों के साथ उनके भावी वैमनस्य तथा विद्रोह की आशंका से विदुर के हाथों युधिष्ठिर के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह इंद्रवन या खांडववन को साफ कर वहीं अपनी राजधानी बनाएँ। युधिष्ठिर ने इस प्रस्ताव को मानकर इंद्रवन को जलाकर यह नगर बसाया। महाभारत के अनुसार मय असुर ने १४ महीनों तक परिश्रम कर यहीं पर उस विचित्र लंबी चौड़ी सभा का निर्माण किया था जिसमें दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हुआ था। इस सभा के चारों ओर का घेरा १०,००० किष्कु (८,७५० गज) था। ऐसी रूपसंपन्न सभा न तो देवों की सुधर्मा ही थी और न अंधक वृष्णियों की सभा ही। इसमें ८,००० किंकर या गुह्यक चारों ओर उत्कीर्ण थे जो अपने मस्तकों पर उसे ऊपर उठाए हुए प्रतीत होते थे। राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का विधान इसी नगर में किया (महाभारत, सभापर्व, ३०-४२ अध्याय) जिसमें कौरवों ने भी अपना सहयोग दिया था। ऐसी समृद्ध नगरी पर पांडवों को गर्व तथा प्रेम होना स्वाभाविक था और इसीलिये

उन लोगों ने दुर्योधन से अपने लिये जिन पाँच गाँवों को माँगा उनमें इंद्रप्रस्थ ही प्रथम नगर था :

इंद्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयंतं वारणावतम्।
देहि मे चतुरो ग्रामान् पंचमं किंचिदेव तु।।

आज इस महनीय नगरी की राजनीतिक गरिमा फिर से दिल्ली और नई दिल्ली की भारतीय राजधानी में संचित हुई है। पद्मपुराण ने इंद्रप्रस्थ में यमुना को अतीव पवित्र तथा पुण्यवती माना है :

यमुना सर्वसुलभा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा।
इंद्रप्रस्थे प्रयागे च सागरस्य च संगमे।।

यहाँ यमुना के किनारे 'निगमोद्बोध' नामक तीर्थ विशेष प्रसिद्ध था। इस नगर की स्थिति दिल्ली से दो मील दक्षिण की ओर उस स्थान पर थी जहाँ आज हुमायूँ द्वारा बनवाया 'पुराना किला' खड़ा है।

सं० ग्रं०—पारसनीस कृत दिल्ली अथवा इंद्रप्रस्थ (मराठी)।

(ब० उ०)

इंद्रभूति तांत्रिक बौद्ध आचार्य और अनंगवज्र के शिष्य। इसकी पुष्टि कार्डियर की तेंजुर की सूची से होती है। दूसरे तिब्बती स्रोतों से इंद्रभूति ७४७ ई० में तिब्बत जानेवाले गुरु पद्मसंभव के पिता थे। इन्हीं पद्मसंभव ने अपने साले शांतिरक्षित के साथ तिब्बत के प्रसिद्ध विहार साम्ये की स्थापना ओदंतपुरी विहार के अनुकरण पर की थी। इस आधार पर इंद्रभूति का समय लगभग ७१७ ई० निश्चित किया जा सकता है, ऐसा डा० विनयतोष भट्टाचार्य का मत है। इनके गुरु अनंगवज्र पद्मवज्र या सरोजवज्र अथवा सरोरुहवज्र के शिष्य थे। इस प्रकार इंद्रभूति आदिसिद्ध सरहपाद की महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध शिष्यपरंपरा की तीसरी पीढ़ी में थे। भगवती लक्ष्मीकरा, जिनकी गणना ८४ सिद्धों में की जाती है, इंद्रभूति की छोटी बहन थी और शिष्या भी। तेंजुर में इंद्रभूति को महाचार्य, उड्डीयानसिद्ध, आचार्य अवधूत आदि विशेषणों के साथ स्मरण किया गया है। इन्हें उड्डीयान का राजा भी कहा गया है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने तेंजुर में इनके २२–२३ ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है। इनकी 'ज्ञानसिद्धि' नामक तांत्रिक बौद्ध पुस्तक संस्कृत में लिखित है और प्रकाशित है।

(ना० ना० उ०)

इंद्रलोक अमरावती, स्वर्गलोक आदि नाम एक ही स्थान के लिये प्रयुक्त होते हैं। इंद्र देवताओं का प्रमुख है और वह उन सबके साथ इंद्रलोक में वास करता है। इंद्रलोक की समृद्धि तथा वैभव का अतिरंजित उल्लेख पौराणिक साहित्य में एकाधिक बार हुआ है। (कै० चं० श०)

इंद्राणी देवराज इंद्र की पत्नी जिसके दूसरे नाम शची और पौलोमी भी हैं। ऋग्वेद की देवियों में वह प्रधान है, इंद्र को शक्ति प्रदान करनेवाली, स्वयं अनेक ऋचाओं की ऋषि। शालीन पत्नी की वह मर्यादा और आदर्श है और गृह की सीमाओं में उसकी अधिष्ठात्री। उस क्षेत्र में वह विजयिनी और सर्वस्वामिनी है और अपनी शक्ति की घोषणा वह ऋग्वेद के मंत्र (१०, १५९, २) में इस प्रकार करती है—अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्राविवाचिनी—मैं ही विजयिनी ध्वजा हूँ, मैं ही ऊँचाई की चोटी हूँ, मैं ही अनुल्लंघनीय शासन करनेवाली हूँ। ऋग्वेद के एक अत्यंत सुंदर और शक्तिम सूक्त (१०, १५९) में वह कहती है कि 'मैं असपत्नी हूँ, सपत्नियों का नाश करनेवाली हूँ, उनको नश्यमान शालीनता के लिये ग्रहणस्वरूप हूँ—उन सपत्नियों के लिये जिन्होंने मुझे कभी ग्रसना चाहा था'; उसी सूक्त में वह कहती है कि मेरे पुत्र शत्रुहंता हैं और मेरी कन्या महती है—"मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्"। (भ० श० उ०)

इंद्रायन का नाम बँगला तथा गुजराती में भी यही है। संस्कृत में इसे चित्रफल, इंद्रवारुणी, मराठी में कडु इंद्रावण, अंग्रेजी में कॉलोसिंथ या बिटर ऐप्ल तथा लैटिन में सिट्रलस कॉलोसिंथस कहते हैं। अन्य दो वनस्पतियों को भी इंद्रायन कहते हैं। उनका वर्णन भी नीचे किया गया है।

इंद्रायन की बेल मध्य, दक्षिण तथा पश्चिमोत्तर भारत, अरब, पश्चिम एशिया, अफ्रीका के उच्च भागों तथा भूमध्यसागर के देशों में भी पाई जाती है। इसके पत्ते तरबूज के पत्तों के समान, फूल नर और मादा दो प्रकार के तथा फल नारंगी के समान दो इंच से तीन इंच तक व्यास के होते हैं। ये फल कच्ची अवस्था में हरे, पश्चात् पीले हो जाते हैं और उनपर बहुत सी श्वेत-धारियाँ होती हैं। इसके बीज भूरे, चिकने, चमकदार, लंबे, गोल तथा चिपटे होते हैं। इस बेल का प्रत्येक भाग कड़वा होता है।

इसके फल के गूदे को सुखाकर ओषधि के काम में लाते हैं। आयुर्वेद में इसे शीतल, रेचक और गुल्म, पित्त, उदररोग, कफ, कुष्ठ तथा ज्वर को दूर करनेवाला कहा गया है। यह जलोदर, पीलिया और मूत्र संबंधी व्याधियों में विशेष लाभकारी तथा धवलरोग (श्वेतकुष्ठ), खाँसी, मंदाग्नि, कोष्ठबद्धता, रक्ताल्पता और श्लीपद में भी उपयोगी कहा गया है।

यूनानी मतानुसार यह सूजन को उतारनेवाला, वायुनाशक तथा स्नायु संबंधी रोगों में, जैसे लकवा, मिर्गी, अधकपारी, विस्मृति इत्यादि में लाभदायक है। यह तीव्र विरेचक तथा मरोड़ उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये दुर्बल व्यक्ति को इसे न देना चाहिए। इसकी मात्रा डेढ़ से ढाई माशे तक की होती है। इसका चूर्ण तीन माशे तक बबूल की गोंद, खुरासानी अजवायन के सत्व इत्यादि के साथ, जो इसकी तीव्रता को घटा देते हैं, गोलियों के रूप में दिया जाता है।

रासायनिक विश्लेषण से इसमें कुछ उपक्षार (ऐल्कलॉइड) तथा कॉलोसिंथिन नामक एक ग्लूकोसाइड, जो इस ओषधि का मुख्य तत्व है, पाए गए हैं।

इंद्रायन की बेल

ब्रिटिश मटेरिया मेडिका के अनुसार इससे ज्वर उतरता है। इसका उपयोग तीव्र कोष्ठबद्धता, जलोदर, ऋतुस्राव तथा गर्भस्राव में भी किया जा सकता है।

लाल इंद्रायन का लैटिन नाम ट्रिकोसैंथस पामाटा है। इसे संस्कृत तथा बँगला में महाकाल कहते हैं। इसकी बेल बहुत लंबी तथा पत्ते दो से छह इंच के व्यास के, त्रिकोण से सप्तकोण तक होते हैं। फूल नर और मादा तथा श्वेत रंग के, फल कच्ची अवस्था में नारंगी रंग के, किंतु पकने पर लाल तथा १० नारंगी धारियोंवाले होते हैं। फल का गूदा हरापन लिए काला होता है तथा फल में बहुत से बीज होते हैं। इस पौधे की जड़ बहुत गहराई तक जाती है और इसमें गाँठें होती हैं।

रासायनिक विश्लेषण से इसके फल के गूदे में कॉलोसिंथिन से मिलता जुलता ट्रिकोसैंथिन नामक पदार्थ पाया गया है। लाल इंद्रायन भी तीव्र विरेचक है। आयुर्वेद में इसे श्वास और फुफ्फुस के रोगों में लाभदायक कहा गया है।

जंगली या छोटी इंद्रायन को लैटिन में क्यूक्युमिस ट्रिगोनस कहते हैं। इसकी बेल और फल पूर्वोक्त दोनों इंद्रायनों से छोटे होते हैं।

इसके फल में भी कॉलोसिंथिन से मिलते जुलते तत्व होते हैं। इसका हरा फल स्वाद में कड़वा, अग्निवर्धक, स्वाद को सुधारनेवाला तथा कफ और पित्त के दोषों को दूर करनेवाला बताया गया है। (भ० दा० व०)

इंद्रायुध यह कन्नौज में हर्ष और यशोवर्मन् के बाद होनेवाले आयुध-कुल का राजा था। जैन 'हरिवंश' से प्रमाणित है कि इंद्रायुध ७८३-८४ ई० में राज कर रहा था। संभवत उसी के शासनकाल में कश्मीर के राजा जयापीड विजयादित्य ने कन्नौज पर चढ़ाई कर उसे जीता था। इंद्रायुध को अनेक चोटें सहनी पड़ीं और विजयादित्य के लौटते ही उसे ध्रुव राष्ट्रकूट का सामना करना पड़ा जिसने उसे परास्त कर अपने राजचिह्नों में गंगा और यमुना की धाराएँ भी अंकित कराईं। पाल नरेश

धर्मपाल इंद्रायुध की यह दुर्बलता न सह सका और राष्ट्रकूट राजा के दक्षिण लौटते ही वह भी कन्नौज पर जा टूटा। इंद्रायुध को उसने गद्दी से उतारकर उसकी जगह चक्रायुध को बैठाया। (ओं० ना० उ०)

इंद्रिय के द्वारा हमें बाहरी विषयों—रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द—का तथा आभ्यंतर विषयों—सुख दुःख आदि—का ज्ञान प्राप्त होता है। इंद्रियों के अभाव में हम विषयों का ज्ञान किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये तर्कभाषा के अनुसार इंद्रिय वह प्रमेय है जो शरीर से संयुक्त, अतींद्रिय (इंद्रियों से ग्रहीत न होनेवाला) तथा ज्ञान का करण हो (शरीरसंयुक्तं ज्ञानं करणमतींद्रियम्)। न्याय के अनुसार इंद्रियाँ दो प्रकार की होती हैं (१) बहिरिंद्रिय—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र (पाँच) और (२) अंतरिंद्रिय—केवल मन (एक)। इनमें बाह्य इंद्रियाँ क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द की उपलब्धि की साधन होती हैं। सुख दुःख आदि भीतरी विषय हैं। इनकी उपलब्धि मन के द्वारा होती है। मन हृदय के भीतर रहनेवाला तथा अणु परमाणु से युक्त माना जाता है। इंद्रियों की सत्ता का बोध प्रमाण, अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं। सांख्य के अनुसार इंद्रियाँ संख्या में एकादश मानी जाती हैं जिनमें ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेंद्रियाँ पाँच पाँच मानी जाती हैं। ज्ञानेंद्रियाँ पूर्वोक्त पाँच हैं, कर्मेंद्रियाँ मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेंद्रिय हैं जो क्रमशः बोलने, ग्रहण करने, चलने, मल त्यागने तथा संतानोत्पादन का कार्य करती हैं। संकल्पविकल्पात्मक मन ग्यारहवीं इंद्रिय माना जाता है। (ब० उ०)

इंद्रोत शौनक महाभारतकाल के एक विशिष्ट शौनककुलोत्पन्न ऋषि। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।३।५) के निर्देशानुसार इनका पूरा नाम इंद्रोतदैवाप शौनक था जिन्होंने राजा जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ कराया था। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२१) तुरकावषेय नामक ऋषि को यह गौरव प्रदान करता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में इंद्रोत श्रुत के शिष्य बतलाए गए हैं। वंश ब्राह्मण में भी इनका नाम निर्दिष्ट किया गया है। ऋग्वेद में निर्दिष्ट देवापि के साथ इनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। महाभारत (शांतिपर्व, अ० १५२) इनके विषय में एक नूतन तथ्य का संकेत करता है, वह यह कि जनमेजय नामक एक राजा को ब्रह्महत्या लगी थी जिसके निवारण के लिये उसने अपने पुरोहित से प्रार्थना की। प्रार्थना को पुरोहित ने नहीं माना। तब राजा इस ऋषि की शरण आया। ऋषि ने राजा से अश्वमेध यज्ञ कराया तथा उसकी ब्रह्महत्या का पूर्णतया निवारण कर उसे स्वर्ग भेज दिया। (ब० उ०)

इंपोरिया संयुक्त राज्य (अमरीका) के कैंसास राज्य का एक नगर है जो समुद्रतल से १,१३३ फुट की ऊँचाई पर न्यूशो तथा काटनवुड नदियों के संगम पर कैंसास नगर से १२३ मील दक्षिण में स्थित है। अचिसन, टोपेका तथा सैंटा फी एव मिसौरी, कैंसास तथा टेक्सास के रेलमार्ग इंपोरिया से गुजरते हैं। यहाँ नगरपालिका का हवाई अड्डा भी है। इंपोरिया एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है, जो पूर्वी बाजारों के मांस, अंडे तथा मुर्गियों की माँग की पूर्ति करता है तथा इन्हीं से संबद्ध अन्य उद्योगों में भी संलग्न है। यह शिक्षा का भी एक बड़ा केंद्र है जहाँ कालेज ऑव इंपोरिया तथा कैंसास स्टेट टीचर्स कालेज जैसी प्रसिद्ध शिक्षासंस्थाएँ हैं। यहाँ के पीटर पैन पार्क में एक प्राकृतिक रंगभूमि है जहाँ ग्रीष्मकाल में प्रत्येक वर्ष नाटक खेले जाते हैं। इंपोरिया टाउन कंपनी ने इस नगर का शिलान्यास सन् १८५७ ई० में किया था। (ले० रा० सिं०)

इंफाल नगर मनीपुर राज्य के मध्य, इंफाल घाटी में इंफाल तथा नबूल नदियों के बीच, समुद्र की सतह से २,६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। (२४° ५०′ उ० अ० तथा ९४° ०′ पू० दे०)। यह मनीपुर राज्य की राजधानी है। घनी ग्रामीण बस्तियों के मध्य स्थित इस स्थान की सर्वप्रथम ख्याति स्थानीय राजा के गढ़ के कारण थी, किंतु सन् १८९१ ई० में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के पश्चात् इसको नगर का रूप मिला।

सैनिक दृष्टि से इसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि द्वितीय विश्वमहायुद्ध में यह नगर जगद्विख्यात हो गया। नगर के मुख्य धंधों में कपड़े बुनने का गृह उद्योग तथा दस्तकारी हैं। अपनी विशिष्ट तथा कुशल कारीगरी के कारण यहाँ के बने हुए कपड़ों की माँग भारत में ही नहीं, विदेशों में भी है। शिक्षा के क्षेत्र में भी यह नगर पर्याप्त उन्नतिशील है। यहाँ छह महाविद्यालय हैं, जिनमें से एक में केवल मनीपुरी नृत्यकला की शिक्षा दी जाती है। नगर के गढ़प्रकोष्ठ में सैनिक छावनी (चौथी आसाम राइफल्स) स्थित है। यह छावनी सुरक्षार्थ तीन ओर से खाई तथा एक ओर से इंफाल नदी द्वारा आवृत्त है। यहाँ पोलो (चौगान) खेलने का एक सुंदर मैदान है। यह नगर भारत के अन्य भागों तथा ब्रह्मा से पक्की सड़क और वायुमार्ग द्वारा संबद्ध है। यहाँ से निकटतम रेलवे स्टेशन (मनीपुर रोड) १३४ मील पर है। यहाँ से कपड़े, चावल, मिर्च, मसाले, मोम, हाथीदाँत तथा चूने के पत्थर का निर्यात होता है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। चारों ओर स्थित वनस्पतियुक्त पहाड़ियों से घिरे होने के कारण नगर अति मनोरम लगता है। इस नगर की गणना भारत के कतिपय स्वच्छतम नगरों में की जा सकती है। यहाँ की भाषा मनीपुरी है। (श्या० सु० श०)

इवरनेस स्काटलैंड के 'हाईलैंड्स' का मुख्य नगर तथा इवरनेसशायर काउंटी की राजधानी है। यह ग्लेनमोर के सुदूर उत्तर पूर्वी कोने में नेस नदी के मुहाने पर स्थित है। यह हाईलैंड रेलवे का एक प्रसिद्ध स्टेशन है तथा अबर्डीन से १०९ मील दूर पश्चिमोत्तर पश्चिम में बसा हुआ है। इंवरनेस प्राचीन नगर है जो कभी पिक्टिश लोगों की राजधानी था। विलियम द लायन ने सन् १२१४ ई० में इस नगर को प्रथम राजपत्र प्रदान किया था जिससे नगर को विशेष अधिकार मिले। सन् १४२७ ई० में जेम्स प्रथम ने यहाँ पार्लियामेंट का अधिवेशन भी किया था। इतना प्राचीन नगर होते हुए भी इसकी चौड़ी गलियों, सुरम्य कुंजों तथा सुंदर उपनगरों में आधुनिकता का अद्भुत परिचय मिलता है। यहाँ रॉयल अकैडमी, कैथीड्रल, वेधशाला तथा विक्टोरिया पार्क आदि दर्शनीय स्थान हैं। यह हाईलैंड्स का मुख्य वितरणकेंद्र है। यहाँ के मुख्य उद्योग जहाज बनाना तथा लोहे की ढलाई का काम, चर्मकार्य, ऊनी वस्त्र, साबुन तथा काष्ठोद्योग आदि हैं। इसकी जनसंख्या १९६७ ई० में ८४,३३३ थी। (ले० रा० सिं०)

इंशा अल्लाह् खाँ, सैयद (१७५६-१८१७ ई०), इंशा के पिता हकीम माशा अल्लाह देहली से मुर्शिदाबाद चले गए थे। वहीं इंशा का जन्म हुआ। अभी वह बच्चे ही थे कि बाप के संग फैजाबाद आ गए। एक विद्वान् कुल में पैदा होने के कारण शिक्षा अच्छी प्राप्त की। मुगल बादशाह शाहआलम (१७५६-१८०६) के युग में इंशा देहली चले आए और अपने ज्ञान, बुद्धि की तीव्रता तथा काव्यरचना के सहारे राजदरबार में आदर के पात्र बन गए। उस समय देहली में कविसम्मेलनों की बड़ी चर्चा थी। बादशाह से लेकर जनसाधारण तक उनमें सम्मिलित होते थे। इंशा भी उनमें जाते और अपने चंचल स्वभाव के कारण दूसरे कवियों पर चोटें करते। इसके फलस्वरूप वहाँ के कई प्रमुख कवियों से उनकी अनबन हो गई। दिल्ली की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। शाहआलम अंधे किए जा चुके थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का दबाव बढ़ रहा था। अवध में नई रोशनी देख पड़ती थी, इंशा भी १७९१ ई० में लखनऊ चले आए जहाँ कविता का एक नया केंद्र बन रहा था।

लखनऊ में शाहआलम के एक पुत्र सुलेमाँ शिकोह ने अपना एक राजदरबार अलग बना रखा था। वहाँ कवियों की बड़ी पूछ थी, इसलिये इंशा भी वहाँ पहुँचे। वह कई भाषाएँ जानते थे और अपनी हास्यपूर्ण बातों से सबको मुग्ध कर लेते थे। कविता राजदरबार के वातावरण में लड़ाई झगड़े का विषय बन गई थी। उस समय लखनऊ में बहुत से कवि एकत्र हो गए थे जो कविसम्मेलनों में एक दूसरे को नीचा दिखाकर दरबार में उच्च स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। उन कवियों में 'जुरअत' और 'मुसहफी' भी थे जिनके बहुत से चेले थे। इंशा इनसे पीछे कैसे रहते। इनके आने से शेर-ओ-शायरी का रंग चमक उठा, मुकाबिले और चोटें होने लगीं। हास्य बढ़कर निंदा और व्यंग्य में परिवर्तित हो गया। इंशा भी इनमें पूर्णतया डूब गए। लखनऊ के जीवन में भोग और विलास की जो भावनाएँ उत्पन्न हुईं थीं उनका प्रभाव उस समय की सारी कविताओं पर देखा जा सकता है।

जब इंशा की ख्याति बहुत बढ़ी तो उन्हें नवाब सम्रादत अली खाँ ने अपने यहाँ बुला लिया। पहले तो उनका बहुत आदर समान हुआ, परतु बाद मे दरबारी जीवन की बाधाओं ने उन्हे परास्त कर दिया। नवाब उनसे और वह नवाब से घबराने लगे। इसी बीच इशा का जवान पुत्र मर गया। ऐसी बातो ने एकत्र होकर उनको पागल बना दिया। वह जीवन मे जितना हँसते हँसाते थे, अतिम अवस्था मे उतने ही दु खी रहे।

इशा ने उर्दू फारसी गद्य और पद्य मे बहुत सी रचनाएँ छोडी है जिनमे से निम्नलिखित प्रसिद्ध है और प्रकाशित हो चुकी है 'दरियाए लताफत', फारसी भाषा मे भाषाविज्ञान और उर्दू व्याकरण, अलकार और काव्यशास्त्र पर एक महत्वपूर्ण रचना जिसका उर्दू रूपातर प्रकाशित हो चुका है, 'रानी केतकी और कुँवर उदयभान की कहानी' (शुद्ध हिंदी मे गद्य रचना), 'सिलके गौहर' एक कथा गद्य मे है जिसमे उर्दू फारसी के उन अक्षरो का प्रयोग नही किया गया है जिनपर बिंदी होती है। ऐसी कई रचनाएँ पद्य मे भी हैं। 'लतायफुस्सम्रादत' मे वे हास्यजनक चुटकुले है जो इशा ने सम्रादतअली खाँ के दरबार मे कहे। 'कुल्याते इशा' इशा की फारसी और उर्दू कविताओं का सग्रह है।

सं० ग्रं०—फरहतुल्लाह बेग इशा, मिर्जा मुहम्मद असकरी कलामे इशा, आमिना खातून लहकीको नवादिर, आमिना खातून लतायफुस्सम्रादत, मुहम्मद हुसेन 'आजाद' आबेहयात, कुदरतुल्लाह कासिम मजमूवे नग्ज। (सै० ए० हु०)

इंसब्रुक आस्ट्रिया के टिरोल प्रदेश का एक रमणीक नगर है जो ईन नदी की घाटी मे आर्लबुर्ग तथा ब्रेनर रेलवे मार्गों के सगम पर स्थित है। यह एक बड़े पर्वतीय दर्रे के मुख पर विकसित होनेवाले नगर का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इसब्रुक मे सौदर्य की एक अलौकिक झाँकी मिलती है। इसके उत्तर मे नार्ड केटिल नामक ७,००० फुट ऊँची चोटी है जिसकी पुष्पाच्छादित गोद मे नगर की छटा देखते ही बनती है। अतएव इसब्रुक बडा ही आकर्षक क्रीडाकेद्र बन गया है जहाँ देश देशातर के लोग आमोद प्रमोद के हेतु एकत्र होते है। भ्रमणकेद्र होने के नाते यह एक सास्कृतिक तथा औद्योगिक केद्र भी बन गया है। वियना की भाँति यहाँ भी विदेशी दूतावास है। आज यह आस्ट्रिया का चौथा बडा नगर है। सन् १९६१ मे इसकी जनसख्या १,००,६६५ थी। (ले० रा० सि०)

इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया) भारत मे इजीनियरी विज्ञान के विकास के लिये एक सस्था की आवश्यकता समझकर ३ जनवरी, १९१९ को प्रस्तावित 'भारतीय इजीनियर समाज' (इडियन सोसाइटी ऑव इजीनियर्स) के लिये सर टामस हालैंड की अध्यक्षता मे कलकत्ते मे एक सघटन समिति बनाई गई। सन् १९१३ के भारतीय कपनी अधिनियम के अतर्गत १३ सितबर, १९२० को इस समाज का जन्म इस्टिट्यूशन ऑव इजीनियर्स (इडिया) (भारतीय इजीनियर सस्था) के नए नाम से मद्रास मे हुआ। फिर २३ फरवरी, १९२१ को इसका उद्घाटन बडे समारोह से कलकत्ता नगर मे भारत के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा किया गया। नवजात सस्था को सुदृढ बनाने का काम धीरे धीरे होता रहा।

तदनतर स्थानीय सस्थाओं का जन्म होने लगा। सन् १९२० मे जहाँ इस संस्था की सदस्यसख्या केवल १३८ थी वहाँ सन् १९२६ मे हजार पार कर गई। सन् १९२१ मे सस्था ने एक त्रैमासिक पत्रिका निकालना आरभ किया और जून, १९२३ से एक त्रैमासिक बुलेटिन (विवरणपत्रिका) भी उसके साथ निकलने लगा। सन् १९२८ से इस सस्था ने अपनी ऐसोसिएट मेंबरशिप (सहयोगी सदस्यता) के लिये परीक्षाएँ लेनी आरभ की, जिनका स्तर सरकार ने इजीनियरी कालेज की बी०एस-सी० डिग्री के बराबर माना।

१९ दिसबर, १९३० को तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन ने इसके अपने निजी भवन का शिलान्यास ८, गोखले मार्ग, कलकत्ता मे किया। १ जनवरी, १९३२ को सस्था का कार्यालय नई इमारत मे चला आया। ९ सितबर, १९३५ को सम्राट् पचम जार्ज ने इसके सबध मे एक राजकीय घोषणापत्र स्वीकार किया। घोषणापत्र के द्वितीय अनुच्छेद मे इस सस्था के कर्तव्य सक्षेप में इस प्रकार बताए गए है :

"जिन लक्ष्यो और उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भारतीय इंजीनियर सस्था का सघटन किया जा रहा है, वे है इजीनियरी तथा इजीनियरी विज्ञान के सामान्य विकास को बढाना, भारत मे उनको कार्यान्वित करना तथा इस सस्था से सबद्ध व्यक्तियो एव सदस्यों को इजीनियरी सबधी विषयो पर सूचना प्राप्त करने एव विचारो का आदान प्रदान करने मे सुविधाएँ देना।"

इस सस्था की शाखाएँ धीरे धीरे देश भर मे फैलने लगी। समय समय पर मैसूर, हैदराबाद, लदन, पजाब और बबई मे इसके केद्र खुले। मई, १९४३ से एसोसिएट मेंबरशिप की परीक्षाएँ वर्ष मे दो बार ली जाने लगी। प्राविधिक कार्यो के लिये सन् १९४४ मे इसके चार बडे विभाग स्थापित किए गए। सिविल, मिकैनिकल (यात्रिक), इलेक्ट्रिकल (वैद्युत) और जेनरल (सामान्य) इजीनियरी। प्रत्येक विभाग के लिये अलग अलग अध्यक्ष तीन वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित किए जाने लगे।

सन् १९४५ मे कलकत्ते मे इसकी रजत जयती मनाई गई। सन् १९४७ मे बिहार, मध्यप्रात, सिध, बलूचिस्तान और तिरुवाकुर, इन चार स्थानो मे नए केद्र खुले। भारत के राज्यपुनर्गठन के पश्चात् अब प्रत्येक राज्य मे एक केद्र खोला जा रहा है।

प्रशासन—सस्था का प्रशासन एक परिषद् करती है, जिसका प्रधान सस्था का अध्यक्ष होता है। परिषद् की सहायता के लिये तीन मुख्य स्थायी समितियाँ है (क) वित्त समिति (इसी के साथ १९५२ मे प्रशासन समिति सम्मिलित कर दी गई), (ख) आवेदनपत्र समिति और (ग) परीक्षा समिति। प्रधान कार्यालय का प्रशासन सचिव करता है। सचिव ही इस सस्था का वरिष्ठ अधिकारी होता है।

सदस्यता—सदस्य मुख्यत दो प्रकार के होते हैं (क) कॉर्पोरेट (आगिक) और (ख) नॉन-कॉर्पोरेट (निरागिक)। पहले मे सदस्यों एव सहयोगी सदस्यो की गणना की जाती है। द्वितीय प्रकार के सदस्यो मे आदरणीय सदस्य, बधु (कपैनियन), स्नातक, छात्र, सबद्ध सदस्य और सहायक (सब्स्काइबर) की गणना होती है। प्रथम प्रकार के सदस्य राजकीय घोषणापत्र के अनुसार 'चार्टर्ड इजीनियर' सज्ञा के अधिकारी हैं। प्रथम प्रकार की सदस्यता के लिये आवेदक की योग्यता मुख्यत निम्नलिखित बातो पर स्थिर की जाती है समुचित सामान्य एव इजीनियरी शिक्षा का प्रमाण, इजीनियर रूप मे समुचित व्यावहारिक प्रशिक्षण, एक ऐसे पद पर होना जिसमे इजीनियर के रूप मे उत्तरदायित्व हो और साथ ही व्यक्तिगत ईमानदारी। सन् '५७-'५८ के अत तक सदस्यों की सख्या २० हजार से अधिक हो चुकी थी, जिसमे प्रथम प्रकार के सदस्यों की सख्या ६,७२३ और छात्रो की १२,८०७ थी।

परीक्षाएँ—इस सस्था की ओर से वर्ष मे दो बार परीक्षाएँ ली जाती है—एक मई महीने मे और दूसरी नवबर महीने मे। एक परीक्षा छात्रो के लिये होती है और दूसरी सहयोगी सदस्यता के लिये। सघीय लोकसेवा आयोग (यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन) ने सहयोगी सदस्यता परीक्षा को अच्छी इजीनियरी डिग्री परीक्षा के समकक्ष मान्यता दे रखी है। इतना ही नहीं, जिन विश्वविद्यालयो की उपाधियो तथा अन्यान्य डिप्लोमाओं को सस्था अपनी सहयोगी सदस्यता के लिये मान्यता प्रदान करती है उन्ही को सघीय लोकसेवा आयोग केद्रीय सरकार की इजीनियरी सेवाओं के लिये उपयुक्त मानता है। अधिकतर राज्य सरकारे तथा अन्य सार्वजनिक सस्थाएँ भी ऐसा ही करती है। नई उपाधि अथवा डिप्लोमा को मान्यता प्रदान करने के लिये सस्था ने निम्नलिखित कार्यविधि स्थिर कर रखी है। पहले विश्वविद्यालय अथवा सस्था के अधिकारी की ओर से मान्यता के लिये आवेदनपत्र आता है। तदनतर परिषद् एक समिति नियुक्त करती है जो शिक्षास्थान पर जाकर पाठ्यक्रम का स्तर एव उसकी उपयुक्तता, परीक्षाएँ, अध्यापक, साधन एव अन्यान्य सुविधाओं की जाँच कर अपनी रिपोर्ट परिषद् को देती है। उसके बाद ही परिषद् मान्यता सबधी अपना निर्णय देती है।

प्रकाशन—'जर्नल' और 'बुलेटिन' सस्था के मुख्य प्रकाशन है, जो मई, १९५५ से मासिक हो गए है। जर्नल के पहले अक मे सिविल और सामान्य इजीनियरी के लेख होते है और दूसरे मे यात्रिक और विद्युत् इजीनियरी के। ये लेख सबधित विभाग के अध्यक्ष की स्वीकृति पर छापे जाते है और इनसे

देश मे इजीनियरी की प्रत्येक शाखा की प्रगति का आभास मिलता है। सितबर, १९४९ मे जर्नल मे एक हिंदी विभाग भी खोला गया, जो अब सुदृढ़ हो गया है। इसका सपूर्ण श्रेय अवैतनिक सपादक एन० एस० जोशी (सदस्य) और (मार्च, १९५४ से) ब्रजमोहनलाल (सदस्य) को है।

'बुलेटिन' का प्रकाशन १९३९ मे बद कर दिया गया था, किंतु १९५१ से वह फिर प्रकाशित हो रहा है। इस पत्रिका मे सामान्य लेख, सस्था की गतिविधियो का लेखा जोखा, सपादकीय टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित होती हैं। इसके अलावा समय समय पर सस्था की ओर से विभिन्न विषयो पर पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित की जाती है। इस प्रकार प्रकाशन का कार्य नियमित रूप मे चलता रहता है। प्रति वर्ष जर्नल में प्रकाशित उत्कृष्ट लेखो के लेखको को पारितोषिक भी दिए जाते हैं।

अन्यान्य संस्थाओं में प्रतिनिधित्व—इस सस्था का एक लक्ष्य यह भी है कि यह उन विश्वविद्यालयो एव अन्यान्य शिक्षाधिकारियो मे सहयोग करे जो इजीनियरी की शिक्षा को गति प्रदान करने मे सलग्न रहते है। विश्वविद्यालयो तथा अन्य शिक्षासस्थाओ की प्रबध समितियो मे भी इस सस्था का प्रतिनिधित्व रहता है। ५० से अधिक सरकारी समितियो मे इसका प्रतिनिधित्व है। यह सस्था 'कान्फरेंस ऑव इजीनियरिंग इस्टिटयूशन्स ऑव द कॉमनवेल्थ' से भी सबद्ध है।

वार्षिक अधिवेशन—प्रत्येक स्थानीय केंद्र का वार्षिक अधिवेशन दिसबर मास मे होता है। मुख्य सस्था का वार्षिक अधिवेशन बारी बारी से प्रत्येक केंद्र मे, उसके निमत्रण पर, जनवरी या फरवरी मास मे होता है, जिसमे सारे देश के सब प्रकार के सदस्य सम्मिलित होते है और जर्नल मे प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखो पर वाद विवाद होता है। सस्था प्राचीन सस्कृत वाङ्मय के वास्तुशास्त्र सबधी मुद्रित और हस्तलिखित ग्रथो और उससे सबधित अर्वाचीन साहित्य का सग्रह भी नागपुर केंद्र मे कर रही है।

इस प्रकार यह सस्था देश के विविध इजीनियरी व्यवसायो मे लगे इजीनियरो को एक सामाजिक सगठन मे बाँधकर इजीनियरी विज्ञान के विकास का भरसक प्रयत्न करती है। (बा० कृ० शे०)

इस्ट्रूमेंट ऑव गवर्नमेंट

इस्ट्रूमेंट ऑव गवर्नमेंट (१६५३) इग्लैंड के उस सविधान का नाम जिसको राजतत्र की समाप्ति के चार वर्ष बाद कुछ प्रमुख सैनिक अधिकारियो ने प्रस्तुत किया था। इस सविधान मे विधिनिर्माण और प्रशासन के लिये दो पृथक् परिषदो—पार्लमेंट और कौंसिल—तथा प्रमुख अधिकारी लार्ड प्रोटेक्टर की व्यवस्था थी। लार्ड प्रोटेक्टर और पार्लमेंट विधिनिर्माण के सर्वोच्च अधिकारी थे। प्रशासन का प्रमुख अधिकारी लार्ड प्रोटेक्टर था। प्रशासनकार्य मे उसकी सहायता के लिये १३ से लेकर २१ सदस्यो तक की कौंसिल की व्यवस्था सविधान मे थी। लार्ड प्रोटेक्टर और पहली कौंसिल के सदस्यो का नामोल्लेख भी सविधान मे था। इग्लैंड और आयरलैंड तीनो देशो के लिये वेस्टमिंस्टर (लदन) मे ४६० सदस्यो की एक सदनात्मक पार्लमेंट की व्यवस्था थी। पार्लमेंट का कार्यकाल, सदस्यो और निर्वाचको की योग्यता, सेना का व्यय, आय के साधन, धर्मव्यवस्था, लार्ड प्रोटेक्टर के अधिकार, राज्य के मौलिक सिद्धात आदि का भी उल्लेख था। आरभ मे ही इस सविधान का विरोध हुआ और पाँच वर्ष मे ही इसका जीवन समाप्त हो गया। यह इग्लैंड का प्रथम और एकमात्र लिखित सविधान है। (वि० पं०)

इकतारा

इकतारा एक प्राचीन एकतत्रीय वाद्य। यह अब प्राय लुप्त होता जा रहा है। इसका मुख्य प्रयोजन केवल स्वर देना था। नीचे एक तुबी होती थी और उसके अदर से निकलकर एक दड रहता था जो तुबी के नीचे भी कुछ निकला रहता था। उसमे से बँधा हुआ एक तार तुबी पर से होता हुआ दड के ऊपर तक जाता था जहाँ खूँटी से बँधा रहता था। तुबी के ऊपर, तबले की भाँति, चर्म मढ़ा रहता था जिसपर एक पच्चड सा लगाकर तार ऊपर ले जाया जाता था। कहीं कहीं एक तार के नीचे दूसरा तार भी रहता था।

अधिकतर लोकसंगीत तथा भक्तिसगीत के गायक इसका प्रयोग करते थे। आजकल भी महाराष्ट्र, पजाब तथा बगाल मे इन गायको के हाथ मे यह दिखाई पड़ता है, बंगाल के बाउल गायक तो बराबर इसे लिए रहते है। नारदवीणा तो प्रसिद्ध है ही, किंतु कही कही नारद के हाथ मे इकतारा भी दिखाया गया है। (स०)

इकबाल, डाक्टर सर मुहम्मद

इकबाल, डाक्टर सर मुहम्मद इकबाल (१८७६-१९३८ ई०) के पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे जिन्होने सियालकोट मे बसकर कुछ पीढ़ी पूर्व इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इकबाल के पिता फारसी, अरबी जानते थे और सूफी विचारो से प्रभावित थे। इकबाल ने पहले सियालकोट मे शिक्षा प्राप्त की और वहाँ के मौलवी सैयद मीर हसन से बहुत प्रभावित हुए। उसी समय से कविताएँ लिखना आरभ कर दिया था और दिल्ली के प्रसिद्ध कवि नवाब मिर्जा दाग को अपनी कविताएँ दिखाते थे। जब उच्च शिक्षा के लिये लाहौर पहुँचे तो यहाँ कविसमेलनो मे आने जाने लगे। गवर्नमेंट कालेज, लाहौर मे उस समय टामस आर्नल्ड दर्शनशास्त्र पढाते थे, वह इकबाल को बहुत पसद करने लगे और कुछ समय बाद इकबाल उन्ही की सहायता से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये यूरोप गए। एम० ए० पास करके इकबाल कुछ समय के लिये ओरिएटल कालेज और उसके पश्चात् गवर्नमेंट कालेज, लाहौर मे अध्यापक नियुक्त हो गए। १९०५ ई० मे इन्हे गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिये इग्लैंड और जर्मनी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। १९०८ ई० मे डाक्टरी और बैरिस्टरी पास करके लाहौर लौट आए। आते ही गवर्नमेंट कालेज मे फिर नियुक्त हो गए, परतु दो ही वर्ष बाद वहाँ से अलग होकर वकालत करने लगे। १९२२ ई० मे 'सर' हुए और १९२६ ई० मे कौंसिल के मेबर। १९२८ मे मद्रास, मैसूर, हैदराबाद मे रिकस्ट्रक्शन ऑव रेलिजस थाट इन इस्लाम पर भाषण दिए। १९३० मे प्रयाग मे मुस्लिम लीग के सभापति चुने गए, जहाँ उन्होने पाकिस्तान की प्रारभिक योजना प्रस्तुत की। १९३४ ई० से ही बीमार रहने लगे और अप्रैल, १९३८ ई० मे लाहौर मे देहात हो गया।

उर्दू कवियो मे इकबाल का नाम १९वी शताब्दी के अत ही से लिया जाने लगा था और जब वह भारत से बाहर गए तो बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। लदन मे इकबाल ने उर्दू छोडकर फारसी मे लिखना आरभ किया। कारण यह था कि इस भाषा के माधन से वह सभी मुसलमान देशो मे अपने विचारो का प्रचार करना चाहते थे। इसीलिये फारसी मे उर्दू से अधिक उनकी रचनाएँ प्राप्त होती है।

इकबाल की कविता मे दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक धाराएँ बडे कलात्मक ढग से मिल गई है। उनकी विचारधारा कुछ धार्मिक नेताओ और कुछ दार्शनिको के गहरे ज्ञान से मिलकर बनी है। इकबाल ने जब लिखना आरभ किया तो उनके विचार राष्ट्रीय भावो से भरे हुए थे परतु धीरे धीरे वह एक प्रकार की दार्शनिक सकीर्णता की ओर बढते गए और अत मे उनका यह विश्वास हो गया कि मुसलमान भारतवर्ष मे अलग ही रहकर सुखी रह सकते है। वैसे उन्होने मनुष्य की आत्मशक्ति, मानव ज्ञान, सर्वगुणसपन्न अलौकिक पुरुष, प्रकृति पर मनुष्य की विजय, व्यक्ति और समाज, पूर्व और पश्चिम के सास्कृतिक सबधो पर बहुत सी कविताएँ लिखी है, किंतु उनके पढनेवाले को यह अनुभव अवश्य होता है कि वह खुले हृदय से समस्त जनजातियो को एक सूत्र मे बाँधने के लिये उत्सुक नही थे, वरन् ससार मे मुसलमानो का बोलबाला चाहते थे। इसलिये उनके दार्शनिक विचारो मे जटिल प्रतिकूलता मिलती है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं:

उर्दू मे 'बाँगेदरा', 'बाले जिबरील', 'जर्बेकलीम' और फारसी मे: 'असरारे खुदी', 'रमूज़े बेखुदी', 'पयामे मशरिक', 'जबूरे अजम', 'जावेदनामा', 'मुसाफिर', 'पस चे बायद कर्द'।

अग्रेजी मे 'लेक्चर्स ऑन रिकस्ट्रक्शन ऑव रेलिजस थॉट इन इस्लाम', 'डेवलपमेंट ऑव मेटाफिजिक्स इन पर्शियन'।

सं०ग्रं०—मालिक जिक्रे इकबाल, यूसुफ हुसेन खाँ रूहे इकबाल, खलीफा अब्दुल हकीम फलसफए इकबाल, मुहम्मद ताहिर सीरते इकबाल, खलीफा अब्दुल हकीम फिक्रे इकबाल, के० जी० सय्यदेन: इकबाल्स एजुकेशनल फिलॉसफी, ए० गनी ऐंड नूर इलाही बिब्लियोग्राफी ऑव इकबाल, मजहरुद्दीन इमेज ऑव वेस्ट इन इकबाल। (सै० ए० हु०)

इकीटोस (१) पेरू राज्य में मारानोन नदी के बाएँ तट पर लोरेटो प्रदेश में निवास करनेवाली दक्षिणी अमरीका की एक आदिम जाति है। यह प्रदेश 'रीओ नापो' के मुहाने से ७५ मील उत्तर है। ईसाई धर्मप्रचारकों के अथक प्रयत्न करने पर भी ये अगम्य ही रह गए हैं। ये शिलाओं पर अंकित पशु पक्षियों के चित्रों को पूजते हैं। ये कुछ व्यापार भी करते हैं और व्यापार में आयात की मुख्य वस्तुएँ रबर से बदली जाती हैं। २०वीं सदी के प्रारंभ में इनकी कुल संख्या १२,००० थी।

(२) इकीटोस पेरू राज्य में ऊपरी अमेजन के बाएँ तट पर स्थित एक नगर तथा नदीबंदरगाह है। यह लोरेटो प्रदेश की राजधानी है। इकीटोस समुद्र की सतह से प्रायः ४०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ की जलवायु गरम तथा आर्द्र है। नगर सन् १८६३ ई० में बसाया गया था। यहाँ के घर प्रायः फूस तथा खपरैलों से छाए हुए हैं। नगर की मुख्य व्यापारिक वस्तु रबर है। निर्यात का अन्य सामान तंबाकू, रुई, मोम, कछुए का तेल, गाना तथा पनामा हैट है। इस नगर की जनसंख्या १९५७ ई० में ५१,७३० थी। (ले० रा० सि०)

इक्वितीज आरंभ में रोमन सेना का घुड़सवार अंग, बाद में राजनीतिक दल। समूचे प्रजातंत्र में इस सेना का बोलबाला रहा और २२० ई० पू० के बाद तो रोम में सबसे पहले मताधिकार उसी का होता था। इस सेना के सैनिकों का चुनाव अत्यंत अभिजात कुलों में होता था। धनी परिवारों के अभिजात कुमार बड़े उत्साह से इस घुड़सवार सेना में भरती होते थे। एक समय तो रोमन विधान द्वारा विशेष आय के व्यक्तियों का इक्वितीज में भरती होना अनिवार्य कर दिया गया। धीरे धीरे इस सेना के तीन वर्ग हो गए — पात्रीशियम, प्लिबेअन और मिश्रित। प्रजातंत्र का अंत हो जाने पर इनका भी अंत हो गया, पर सम्राट् ऑगुस्तस ने फिर एक बार इनका संगठन किया और ये साम्राज्य की सेना के विशिष्ट अंग बन गए।

रोमन साम्राज्य के विस्तार के बाद इक्वितीज का सैनिक रूप नष्ट हो गया। वे रोम में ही संभ्रांत और समृद्ध नागरिक होकर रह गए और उनका स्थान साधारण घुड़सवार सेना ने ले लिया। धीरे धीरे इनका दल धनवान होने से रोम में अत्यंत सामर्थ्यवान हो गया। इनके दल में वे सभी लोग सम्मिलित हो सकते थे जो चार लाख रोमन मुद्राओं के स्वामी थे। साम्राज्य के विस्तार के साथ इनके सैनिक बल का ह्रास तो निश्चय हुआ, पर उसकी राजधानी में रहने के कारण और धनाढ्य होने से इनकी शक्ति रोम में इतनी बढ़ी कि ये वहाँ संकट बन गए। प्रांतों की गवर्नरियों के क्रय विक्रय से लेकर सिनेटरों के पदों तक की बागडोर इनके हाथ में रहने लगी। समूचे साम्राज्य की अर्थशक्ति और अर्थनीति इन्हीं के हाथों में थी और ये सम्राटों के उत्थान पतन के भी अनेक बार अभिभावक बन गए। प्रसिद्ध सम्राट् ऑगुस्तस ने इनका घुड़सवार सेना के रूप में फिर से संगठन किया, परंतु वह आंशिक रूप में ही सफल हो सका, क्योंकि शक्ति की तृष्णा समृद्ध आभिजात्यों में इतनी थी कि वे नए विधान को पूर्णतया स्वीकार न कर सके। इक्वितीज का अंत साम्राज्य के साथ ही हुआ। (ओ० ना० उ०)

इक्वेडोर पश्चिमी दक्षिण अमरीका का एक देश है (क्षेत्रफल १,०४,५०५ वर्ग मील, लगभग, जनसंख्या ४५,८५,४०० (१९५७), राजधानी — कुइटो, जनसंख्या ४,६२,८६३)।

इसके उत्तर में कोलंबिया, पूर्व और दक्षिण में पेरू तथा पश्चिम में प्रशांत महासागर स्थित है।

प्राकृतिक दशा—उत्तर दक्षिण फैला हुआ ऐंडीज इक्वेडोर को दो भागों में विभाजित करता है। इस देश में इसकी दो पर्वतश्रेणियाँ हैं जिनके मध्य में ऊँचे पठार हैं। भूतकाल एवं वर्तमान काल में संभवतः यही समस्त अमरीका में ज्वालामुखी से सर्वाधिक प्रभावित रहा है। इस समय यहाँ के चिंबोरजो (२०,५७५ फुट) तथा कोटोपैक्सी (१९,३३९ फुट) संसार के सर्वोच्च ज्वालामुखी पर्वतशिखर हैं। खनिज तथा उष्ण स्रोत देश के संपूर्ण ज्वालामुखी प्रदेश में बिखरे हुए हैं। यहाँ की नदियाँ नौकावहन के योग्य नहीं हैं।

जलवायु—इक्वेडोर का समुद्रतटीय प्रदेश उष्ण और आर्द्र है। यहाँ का औसत ताप ७५° फा० से ८०° फा० तक है। आंतरिक प्रदेशों में घाटियों का ताप लगभग ६०° फा० तथा उच्च पठारों का केवल ५०° फा० रहता है।

वनस्पति—ऐंडीज के उच्च पठारों तथा प्रशांत महासागर तट के शुष्क प्रदेश को छोड़कर समस्त इक्वेडोर सघन वनों से ढका है। यहाँ के वनों में चार्ईवुड (एक लकड़ी जिससे रंग निकलता है), सिनकोना (जिससे क्वीनीन निकलती है) तथा बलसा वुड (एक अत्यंत हल्की लकड़ी) बहुतायत से मिलते हैं।

उत्पादन—पूँजी, यातायात के साधन तथा प्रशिक्षित श्रमिकों की कमी के कारण कृषि ही यहाँ का मुख्य उद्यम है। यहाँ के लोग सागरतटीय प्रदेश तथा निम्न धरातल की नदीघाटियों में उष्णप्रदेशीय वस्तुएँ और उच्च घाटियों तथा पर्वतीय ढालों पर अनाज, फल, तरकारी आदि शीतोष्ण प्रदेशीय वस्तुएँ उत्पन्न करने के साथ पशुपालन भी करते हैं। यहाँ की ४·५ प्रति शत भूमि पर कृषि तथा ४·१ प्रति शत भूमि पर पशुपालन होता है। ७४·१ प्रति शत पर वन हैं। १५·९ प्रति शत भूमि कृषि योग्य नहीं है। १·४ प्रति शत को कृषि योग्य बनाया जा सकता है।

काको यहाँ का प्रधान कृषि उत्पादन है। कहवा, चावल, केला, चीनी, रुई, मक्का, आलू, संतरा, नीबू एवं पशु यहाँ के अन्य मुख्य उत्पादन हैं।

यहाँ का महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ पेट्रोलियम है। सोना, ताँबा, चाँदी, गंधक यहाँ के अन्य मुख्य खनिज हैं।

हाल में यहाँ पर उद्योग धंधों में कुछ प्रगति हुई है। कताई बुनाई यहाँ का मुख्य उद्योग है। दवा, बिस्कुट, रबर की वस्तुएँ, नकली रेशम, सीमेंट आदि के उद्योग प्रगति पर हैं। यहाँ के अन्य उद्योग चीनी, जूता, लकड़ी, पनामा हैट, तंबाकू, दियासलाई बनाना आदि हैं।

इक्वेडोर कच्चे मालों का निर्यात तथा पक्के मालों का आयात करता है। संपूर्ण निर्यात की हुई वस्तुओं की ९० प्रति शत खनिज एवं कृषिज वस्तुएँ हैं। प्रमुखता के क्रमानुसार निर्यात की हुई वस्तुएँ काको, कहवा, केला, चावल, कच्चा पेट्रोलियम तथा बलसा वुड हैं।

यहाँ की सरकार संसद् (सिनेट) तथा मंत्रिमंडल द्वारा बनी है। राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति चार वर्षों के लिये निर्वाचित होते हैं। यहाँ पर प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य है। (शि० मं० सिं०)

इक्षु द्र० 'ईख'।

इक्ष्वाकु पौराणिक परंपरा के अनुसार विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वैवस्वत मनु के तनय। पौराणिक कथा इक्ष्वाकु को अमैथुनी सृष्टि द्वारा मनु की छींक से उत्पन्न बताती है। वे सूर्यवंशी राजाओं में पहले माने जाते हैं। राजधानी उनकी कोसल में अयोध्या थी। उनके १०० पुत्र बताए जाते हैं जिनमें ज्येष्ठ विकुक्षि था। इक्ष्वाकु के एक दूसरे पुत्र निमि ने मिथिला राजकुल स्थापित किया। साधारणतः बहुवचनात्मक इक्ष्वाकुओं का तात्पर्य इक्ष्वाकु से उत्पन्न सूर्यवंशी राजाओं से होता है, परंतु प्राचीन साहित्य में इससे एक इक्ष्वाकु जाति का भी बोध होता है। इक्ष्वाकु का नाम, केवल एक बार, ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है जिसे मैक्समूलर ने राजा की नहीं, बल्कि जातिवाचक संज्ञा माना है। इक्ष्वाकुओं की जाति जनपद में उत्तरी भागीरथी की घाटी में संभवतः कभी बसी थी। उत्तर पश्चिम के जनपदों से भी कुछ विद्वानों के मत से उनका संबंध था। सूर्यवंश की शुद्ध अशुद्ध सभी प्रकार की वंशावलियाँ देश के अनेक राजकुलों में प्रचलित हैं। उनमें वैदिक राजाओं के नाम अथवा स्थान में चाहे जितने भेद हों, उनका आदि राजा इक्ष्वाकु ही है। इसमें कुछ अजब नहीं, जो वह सुदूर पूर्वकाल में कोई ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों। (ओ० ना० उ०)

इक्ष्वाकुवंश सूर्यवंश, रघुवंश तथा काकुत्स्थवंश एक ही वंश के विभिन्न नाम हैं। वंश के आदिपुरुष इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि से अयोध्या तथा दूसरे पुत्र निमि से मिथिला राजकुल की स्थापना हुई। इनका दंडक नामक एक विद्याविहीन पुत्र भी था जिसके नाम से दंडकारण्य बना (वाल्मीकि रामायण, उत्तरकांड ७९, भागवत ९। ६, विष्णुपुराण ४।२)। इनके दसवें पुत्र का नाम दशाश्व था। वह माहिष्मती का राजा

था (महाभारत, अनुशासन पर्व २१६)। इक्ष्वाकु के १०० पुत्र थे (विष्णुपुराण ४।२)। उल्लेख है, इक्ष्वाकु ने अपना राज्य अपने १०० पुत्रों में बाँट दिया (महाभारत, अश्वमेध पर्व ४)। कहीं कहीं यह भी लिखा मिलता है कि इक्ष्वाकु ने शकुनि प्रभृति अपने ५० पुत्रों को उत्तर भारत तथा शाति आदि ४८ पुत्रों को दक्षिण भारत का राज्य दिया।

इक्ष्वाकु वंशावली के विवरण बहुत से पुराणों में मिलते हैं और उनमें परस्पर साम्य भी काफी अधिक है परंतु रामायण में प्राप्य वंशावली में पुराणांतर्गत उल्लिखित वंशावली भिन्न है। भागवत पुराण में इक्ष्वाकु से लेकर महाभारत के समय उपस्थित बृहद्‌बल तक ८८ पीढ़ियों के नाम हैं किंतु विष्णु पुराण में ९६ और वायुपुराण में ९१ पीढ़ियों का विवरण है। रामायण (वाल्मीकि) में सख्या की दृष्टि से नहीं, अपितु व्यक्तियों की दृष्टि से भिन्नता है। विद्वानों का दृष्टिकोण इस विषय में यह है कि वंशावली के सदर्भ में पुराणों का विवरण ही अधिक प्रामाणिक है। हरिश्चंद्र, रघु, सगर, अज, दशरथ, राम आदि इस वंश के ख्यात व्यक्ति थे।

(कैं० च० शु०)

इखनातून मिस्र का फराऊन। काल, ई० पू० १४वीं सदी का प्रथम चरण। इखनातून धर्म चलानेवाले राजाओं में पहला था। उसका नाम मेधावी सम्राटों—सुलेमान, अशोक, हारूँ अल् रशीद और शार्लमान—के साथ लिया जाता है।

इखनातून शालीन पिता आमेनहेतेप तृतीय और प्रसिद्ध माता तीई का पुत्र था। पिता की नसों में संभवत सीरिया के मितन्नी आर्यों का रक्त बहता था और माता तीई की नसों में वन्य जातियों का रुधिर प्रवाहित था। तीई के जोड की रानी शक्ति और शालीनता में संभवत मानव राजनीति के इतिहास में नहीं। ऐसे मातापिता के तनय की आत्मा की बेचैनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार दो शक्तियाँ समन्वित होकर बालक में जाग उठीं और उसने अपने देश के धर्म की काया पलट दी। इखनातून जब पिता की गद्दी पर बैठा तब वह केवल सात आठ वर्ष का था। १५ वर्ष की आयु में उसने अपना वह इतिहासप्रसिद्ध धर्म चलाया जो बाइबिल के प्राचीन नबियों के लिये आश्चर्य बन गया। २६-२७ वर्ष की छोटी आयु थी, जब उसके तूफानी जीवन का अंत हो गया। किंतु केवल १३ वर्ष के इस लघु काल में उसने वह किया जो आधी आधी सदी तक राज करनेवाले सम्राट् भी न कर सके।

इखनातून ने पहले मिस्र के प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया और अपने पुरखे फराऊन के जीवन और शासन की घटनाओं पर विचार किया। देवताओं की भीड और उनके पुजारियों की शक्ति से दबे अपने पूर्वजों की दयनीय स्थिति से उसे बडी व्यथा हुई। जब जब वह अपने सपनों के सूत सुलझाता, देवताओं की भीड उसे बौखला देती और उनकी अनेकता की अराजकता में, वह चाहता, एक व्यवस्था बन जाय। अपने पूर्वजों की राजनीति में उत्तरी अफ्रीका के स्वतंत्र इलाकों को, दूर पश्चिमी एशिया के चार राज्यों का उसने मिस्री फराऊनों की छाया में सिकुडते और शासन के एक सूत्र में बँधते देखा था और उससे उसने अपने मन में एक नई व्यवस्था की नींव डाली। उसने कहा—जैसे नील नद के उद्‌गम से फिलिस्तीन और सीरिया तक एक फराऊन का साम्राज्य है, क्या नहीं वैसे ही देवताओं की सख्यातीत भीड के बदले फराऊनी साम्राज्य की सीमाओं तक बस एक देवता का साम्राज्य व्यापे, मात्र एक की पूजा हो? और इस चिंतन के समय उसकी दृष्टि देवताओं की भीड पार कर सूर्य के बिंब से जा टकराई। उस दह्यशील प्रकाशमान वर्तुल अग्निपिंड ने उसके नेत्र चौंधिया दिए। दृष्टि फिर उस चमक के परे न जा सकी। इखनातून ने अपने चिंतन और प्रश्न का उत्तर पा लिया—उसने सूर्य को अपना इष्टदेव बनाया।

प्राचीन जातियों के विश्वास में सूरज के गोले ने बार बार एक कुतूहल पैदा किया था और उसे जानने का प्रयत्न सभी जातियों ने समय समय पर किया। ग्रीकों का प्रोमेथियस उसी की खोज में उडा, हिंदू पुराणों में जटायु का भाई सपाती उसी अर्थ सूर्य की ओर उडा और अपने पखों को भस्मसात्‌ कर पृथ्वी पर लौटा। और इन उडानों का परिणाम हुआ अग्नि का ज्ञान और उसका उपयोग। परंतु यह किसी ने न जान पाया कि सूर्य के पीछे की शक्ति **क्या है, यद्यपि लगा सबको ही कि शक्ति है कोई उसके पीछे, केवल वे उसे** जानते भर नहीं। ऐसा ही भारतीय उपनिषदों के चिंतकों को भी पीछे लगा और उन्होंने सूर्य के बिंब को ब्रह्म का नेत्र कहा।

इखनातून को भी कुछ ऐसा ही लगा कि सूर्य के बिंब के पीछे कोई शक्ति है निश्चय, यद्यपि वह उसे जनता नहीं। फिर इखनातून ने निश्चय किया कि प्रकृति का सबसे महान्, सबसे सत्तावान्, सबसे सारवान् सत्य सूर्य के बिंब के पीछे की वह शक्ति है जिसे हम नहीं जानते। किंतु न जानना सत्ता के अभाव का प्रमाण नहीं है, अव्यक्त की पूजा तो हो ही सकती है, चाहे उसकी मूर्ति न बन सके। और सत्ता जितनी ही अमूर्त होती है, जितनी ही ज्ञान के घेरे में नहीं समा पाती, उतनी ही अधिक व्यापक होती है, उतनी ही महान्। और जिस अज्ञात और अज्ञेय शक्ति तक हमारी मेधा नहीं पहुँच पाती, उसका प्रकाश उस प्रज्वलित अग्निखंड सूर्य के रूप में तो सदा हम तक पहुँचता रहता है, प्रकट ही है। वही सूर्यबिंब के पीछे की शक्ति इखनातून के विश्वास की दैवी शक्ति बनी। उसी को उसने पूजा।

परंतु देवता या शक्ति का बोध हो जाना एक बात है, उसका विचार सर्वथा दूसरी बात। सत्य का जब दर्शन होता है तब प्रश्न उठता है कि उसकी सत्यता का ज्ञान अपने तक ही सीमित रखा जाय या अपने से भिन्न जनों को भी उसका साक्षात्कार कराया जाय। बुद्ध ने जब ज्ञान पाया तब यही प्रश्न उनके मन में उठा और उन्होंने अपना देखा सत्य दूसरों में बाँटने का निश्चय किया। जो पाता है वह देकर ही रहता है। इखनातून ने पाया था और पाई वस्तु को अपने तक ही सीमित रखना उसे स्वार्थपर लगा और उसने तय किया कि वह देकर ही रहेगा। किंतु मिस्री साम्राज्य की सीमाओं तक सत्य को पहुँचाना कुछ सरल नहीं था। सामने अंधविश्वासों की, परपराओं की, उनके शक्तिमान् पुजारियों की लौह दीवार खडी थी। पर वैसी ही अटट आस्था इखनातून की भी थी, उतना ही दृढ उसका सकल्प भी था। और उसने अपने सत्य के प्रचार का दृढ निश्चय कर लिया। यह नवीन का प्राचीन के विरुद्ध विद्रोह था। नवीन और प्राचीन में घमासान छिड गया।

इस युद्ध में इखनातून की सी ही महाप्राण उसकी भगिनी और पत्नी नेफ़ेतेते के सहयोग से उसे बडा बल मिला। आत्माओं और नरक के देवता ओसिरिस और उसकी पत्नी ईसिस, प्तेह और सेत, रा और आमेन आदि देवताओं की लंबी पाँत को सूर्य के पीछे की शक्तिवान व्यापक देवता के ज्ञान से इखनातून ने बेधना चाहा। वह कार्य और कठिन इस कारण हो गया कि रा और आमेन सूर्य के ही नाम थे जिनकी पूजा सदियों पहले से मिस्र में होती आई थी और इसी कारण सूर्य के नए देवता 'अतोन' का पुराने रा और आमेन से भेद का समझ पाना तनिक कठिन था। यह बात पाना और कठिन था कि सूर्य का बिंब अतोन स्वयं वह विश्वव्यापी देवता नहीं है, उसके पीछे की शक्ति वह हस्ती है जिसका सूचक सूर्य का बिंब है, और जो स्वयं ससार की हर वस्तु में रम रहा है, जो अकेला है, मात्र अकेला और जिसके पर सत्य कुछ नहीं है, जो अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, जो चराचर का स्रष्टा है। शंकराचार्य के अद्वैत ब्रह्म का निरूपण, बाइबिल की पुरानी पोथी के नबियों के एकेश्वरवाद, मुहम्मद के एक अल्लाह के इस्लाम होने के सदियों पहले इखनातून इन महात्माओं के विचारों के बीज का आदि रूप में प्रचार कर चुका था। और तब वह केवल १५ वर्ष का था। ३० वर्ष की आयु में सिकंदर ने समकालीन ससार जीता, ३० वर्ष की आयु में आचार्य शंकर ने अपने वेदांत से भारत की दिग्विजय की, उनकी आधी आयु—१५ वर्ष—में इखनातून ने अपने अतोन के एकेश्वरवाद की महिमा गाई। एक भगवान को सारे चराचर के आदि और अंत का कारण माननेवाला इतिहास में यह पहला एकेश्वरवादी धर्म था जिसका इखनातून ने प्रचार किया।

प्राचीन देवताओं के पुरोहितों ने विद्रोह किया। प्राचीन राजाओं की राजधानी थीबिज थी। इखनातून ने सूर्य के नाम पर अपनी नई राजधानी बसाई और उस राजधानी के बाहर वह कभी नहीं निकला। उस राजधानी का नाम आख़ेतातेन था। उसके लिये राजधानी के प्राचीरों के पीछे बने रहना इसीलिये और भी संभव हो सका कि उसने अशोक से हजार साल पहले यह निश्चय कर लिया था कि वह देश जीतने और युद्ध करने के लिये अपनी नगरी से बाहर नहीं जायगा। वह गया भी नहीं बाहर। दूर के प्रांतों ने करवट ली, पर वह नहीं हिला। अपने नए धर्म का प्रचार वहीं से करता **रहा। प्राचीन देवताओं के पुरोहितों ने कुफ्र का फतवा दिया और उसने**

जवाब मे उनकी माफी छीन ली, उनकी दौलत ले ली, उनके देवताओ की लोकोत्तर संपत्ति जब्त कर ली। इस संबंध मे इखनातून ने पर्याप्त कठोरता से कार्य किया। प्राचीन देवताओं की पूजा उसने साम्राज्य मे बंद कर दी, उनके मंदिर वीरान कर दिए। उसने अपने देवता अतोन के शत्रु देवता आमेन के अभिलेखो मे जहाँ जहाँ नाम लिखे थे, सर्वत्र मिटवा दिए। उसके पिता का नाम आमेनहेतेप था जिसका एकांश शब्द 'आमेन' निर्मित करता था। परिणाम यह हुआ कि जहाँ जहाँ पिता का नाम लिखा था उस प्राचीन देवता का नाम होने के कारण पिता का नामांश भी वहाँ वहाँ मिटा देना पड़ा।

१५ वर्ष के उस बालक इखनातून का वह एकेश्वरवाद तो निश्चय १३ वर्ष के बाद,उसके मरने पर, उसके शत्रुओ ने मिटा दिया, पर धर्म और दर्शन के इतिहास मे दोनों अमर हो गए—इखनातून भी, उसके धर्म के सिद्धांत भी। इखनातून के इस प्रचार के लिये उसे पागल की उपाधि मिली, उसके शत्रुओं ने उसे 'आतोन का अपराधी' घोषित किया। परंतु इखनातून न तो पागल था और न, जैसा प्राय हो जाया करता था, वह हत्यारे के छुरे से मरा। पर वह धर्म का दीवाना जरूर था और दीवाना ही शयाद वह मरा भी।

इखनातून की मेधावी सूझ से बढ़कर अपने नए धर्म के प्रचार की क्रांति की भावना थी, और उससे भी बढ़कर उस प्रचार के लिये प्रीति भरे शब्दों का उसने व्यवहार किया। वह कवि भी था और अपने देवता की शक्ति जिन पंक्तियो मे उसने व्यक्त की है वे उपनिषद् के उद्गारों से कम चमत्कारी नहीं है। अशोक के शब्दो की ही भाँति उसके हृदय से निकलकर सुनने और पढ़नेवालो के हृदय मे वे बैठ जाती थी। तेल-एल-अमरना की चट्टानो पर खुदी इखनातून की सूर्यशक्ति की स्तुति मे बनाई कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है

जब तू पच्छिमी आसमान के पीछे डूब जाता है,
जगत् अँधेरे मे डूब जाता है, मृतका की तरह,
हर सिंह तब अपनी माँद से निकल पड़ता है,
साँप अपने बिलो से निकल पड़ते है, डसने लगते है,
अधकार का राज फैल चलता है,
सन्नाटा दुनिया पर अपना साया डालता चला जाता है।

चमक उठती है धरा जब तू क्षितिज से निकल पड़ता है,
जब तू आसमान की चोटी पर अतोन की आँख से दिन म देखता है,
अँधेरे का लोप हो जाता है।

जब तेरी किरने पसरने लगती है, इंसान मुस्करा उठता है,
जाग पड़ता है, अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, तू ही उसे जगाता है।
अपने अंगो को वह धो डालता है, लिबास को पहन लेता है,
फिर उगते हुए तुम्हारे लाल गोले को हाथ उठाकर पूजता है,
तुमको माथा टेकता है।

नाव नील की धारा मे चल पड़ती है, धारा के अनुकूल भी, विपरीत भी।
सड़के और पगडंडियाँ खुल पड़ती है, कि तू उग चुका है।
तुम्हारी किरनो को परसने के लिये नदी की मछलियाँ उछल पड़ती है,
और तुम्हारी किरने फैले समुदर की छाती मे कौध जाती है।
तू ही माँ के गर्भ मे शिशु को सिरजता है,
आदमी मे आदमी का बीज रखता है,
तू ही कोख मे शिशु को प्यार से रखता है जिससे वह रो न पड़े,
धाय सिरजता है तू ही कोख के बालक के लिये।
और तू ही जिसे सिरजता है उसमे साँस डालता है,
और जब वह माँ की कोख से धरा पर गिरता है, (तू ही)
उसके कंठ मे आवाज डालता है,
उसकी जरूरते पूरी करता है।

तेरे कामो को भला गिन कौन सकता है?
और तेरे काम हमारी नजर से ओझल है, नजर से परे।
ओ मेरे देवता, मेरे मात्र देवता, जिसकी शक्ति का कोई दावेदार नहीं,
तू ने ही यह जमीन सिरजी, अपने मन के मुताबिक।

तू मेरे हिए मे बसा है, मुझे कोई दूसरा जानता भी नहीं,
अकेला मै, बस मैं तेरा बेटा इखनातून, जान पाया हूँ तुझे।
और तूने मुझे इस लायक बनाया है कि मैं तेरी हस्ती को जान लूँ।
(भ० श० उ०)

इच्छलकरनजी बंबई राज्य के कोल्हापुर जिले मे, पचगगा नदी के पास, कोल्हापुर नगर से १८ मील दूर, जिले का दूसरा बड़ा नगर है (स्थिति १६° ४१' उ० अ० तथा ७४° ३१' पू० दे०)। यहाँ उद्योग धधे बढ़ रहे है और संपूर्ण जनसख्या के ८० प्रति शत से अधिक लोग उद्योग धधो मे लगे है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है, परतु कुओं का जल खारा है, अत पेय जल नल द्वारा पचगगा नदी से लाया जाता है। कोल्हापुर राज्य के आराध्य देव श्री वेंकटेश जी के उपलक्ष्य मे यहाँ प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है। (का० ना० सि०)

इच्छाशक्ति या सकल्प (विल) संदिग्ध अभिधार्थ (एबीग्युअस कॉनोटेशन) से सबधित एक विवादास्पद शब्द है। युक्तिमूलक मनोविज्ञान (रेशनल साइकॉलॉजी) मे इच्छाशक्ति एक केंद्रीय अवधारणा या प्रत्यय मानी जाती है। आमूल परिवर्तनवादी व्यवहारवाद अथवा आचरणवाद (रैडिकल बिहेवियरिज़्म) मे इसे सर्वाधिक शक्तिशाली उद्दीपन की सज्ञा दी गई है और दार्शनिक मनोविज्ञान मे इसे मानसिक क्षमता बताया गया है। हालांकि आधुनिक मनोविज्ञान मे नियतिवाद या सकारणवाद (डिटरमिनिज़्म) मे महत्वपूर्ण आशय ग्रहण किया जाता है, तो भी अनेक समसामयिक मनोवैज्ञानिक इच्छाशक्ति किंवा सकल्प का मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर मानते है क्योकि अधुनातन शोध के आधार पर इच्छा नाम की शक्ति का अस्तित्व ही पूरी तरह नकार दिया गया है। (कै० च० श०)

इजरायल दक्षिण पश्चिम एशिया का एक स्वतत्र यहूदी राज्य है, जो १४ मई, १९४८ ई० को पैलेस्टाइन से ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर बना। यह राज्य रूम सागर के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके उत्तर तथा उत्तर पूर्व म लेबनान एव सीरिया, पूर्व मे जार्डन, दक्षिण मे अकाबा की खाड़ी तथा दक्षिण पश्चिम मे मिस्र है (क्षेत्रफल २०,७०० वर्ग किलोमीटर, जनसख्या १९७१ ई० मे २९,९९,०००, जिसमे यहूदी २५,६०,०००, मुसलमान ३,२६,०००, ईसाई ७६,००० तथा ड्रुज ३६,०००)। जनसख्या के ७१ प्रति शत लोग नगरो मे रहते है तथा २१ प्रति शत उद्योग मे लगे है। जेरूसलम, जिसकी जनसख्या २,८३,००० है, इसकी राजधानी है तथा तेल अवीव (जनसख्या ३,८२,९००) एव हैफा (जनसख्या २,१४,५००) इसके अन्य मुख्य नगर है। राजभाषा इब्रानी है।

इजरायल के तीन प्राकृतिक भाग है जो एक दूसरे के समातर दक्षिण से उत्तर तक फैले है रूमतटीय 'शैरो' तथा फिलिस्तिया का मैदान, जो अत्यधिक उर्वर है, तथा मक्का जो सब्जियो, सतरो, अगूरो एव केलो की उपज के लिये प्रसिद्ध है। (२) गैलिली, समारिया तथा जूडिया का पहाड़ी प्रदेश, जो तटीय मैदान के पूर्व मे २५ से लेकर ४० मील तक चौड़ा है। इजरायल का सर्वोच्च पर्वत अट्जमान (ऊँचाई ३,९६२ फुट) यहीं स्थित है। जजरील घाटी गैलिली के पठार को समारिया तथा जूडिया से पृथक् करती है और तटीय मैदान को जार्डन की घाटी से मिलाती है। गैलिली का पठार एव जजरील घाटी समृद्ध कृषिक्षेत्र है जहाँ गेहूँ, जौ, जैतून तथा तबाकू की खेती होती है। समारिया का क्षेत्र जैतून, अगूर एव अजीर के लिये प्रसिद्ध है। (३) जार्डन रिफ्ट घाटी, जो केवल १०-१५ मील चौड़ी तथा अत्यधिक शुष्क है। इसके दक्षिण मे 'मृत सागर' है जो समुद्रतल से १,२८६ फुट नीचा है। यह जगत् के स्थलखंड का सबसे नीचा भाग है। जार्डन नदी के मैदान मे केले की खेती होती है।

इजरायल के दक्षिणी भाग मे नेजेव नामक मरुस्थल है, जिसके उत्तरी भाग मे सिंचाई द्वारा कृषि का विकास किया जा रहा है। यहाँ जौ, सोरघम, गेहूं, सूर्यमुखी, सब्जियाँ एव फल होते है। सन् १९५५ ई० मे नेजेव के

हेलेट्ज नामक स्थान पर इज़रायल मे सर्वप्रथम खनिज तेल पाया गया। इस राज्य के अन्य खनिज पोटाश, नमक इत्यादि है।

प्राकृतिक साधनो के अभाव मे इज़रायल की आर्थिक स्थिति विशेषत कृषि तथा विशिष्ट एव छोटे उद्योगो पर आश्रित है। सिचाई के द्वारा सूखे क्षेत्रो को कृषियोग्य बनाया गया है। अत कृषि का क्षेत्रफल, सन् १९६९–७० मे १०,५८,००० एकड था।

तेल अबीब इज़रायल का प्रमुख उद्योगकेंद्र है जहाँ कपडा, काष्ठ, औषधि, पेय तथा प्लास्टिक आदि उद्योगो का विकास हुआ है। हैफा क्षेत्र मे सीमेट, मिट्टी का तेल, मशीन, रसायन, काँच एव विद्युत् वस्तुओ के कारखाने है। जेरूसलम हस्तशिल्प एव मुद्रण उद्योग के लिये विख्यात है। नथन्या जिले मे हीरा तराशने का काम होता है।

हैफा तथा तेल अबीब रूम सागरतट के पत्तन (बदरगाह) है। इलाथ अकाबा की खाडी का पत्तन है। मुख्य निर्यात सूखे एव ताजे फल, हीरा, मोटरगाडी, कपडा, टायर एव टयूब है। मुख्य आयात मशीन, अन्न, गाडियाँ, काठ एव रासायनिक पदार्थ है। (न० कि० प्र० सि०)

सन् १९४८ ई० से पहले फिलिस्तीन (इज़रायल जिसका आजकल एक भाग है) ब्रिटेन के औपनिवेशिक प्रशासन के अतर्गत एक अधिष्ठित (मैनडेटेड) क्षेत्र था। यहूदी लोग एक लबे अरसे से फिलिस्तीन क्षेत्र मे अपने एक निजी राष्ट्र की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। इसी उद्देश्य को लेकर ससार के विभिन्न भागो से आ आकर यहूदी फिलिस्तीनी इलाके मे बसने लगे। अरब राष्ट्र भी इस स्थिति के प्रति सतर्क थे। फलत १९४७ ई० मे अरबो और यहूदियो के बीच युद्ध प्रारभ हो गया। १४ मई, १९४८ ई० को अधिदेश (मैनडेट) समाप्त कर दिया गया और इज़रायल नामक एक नए देश अथवा राष्ट्र का उदय हुआ। युद्ध जनवरी, १९४९ ई० तक जारी रहा। न तो किसी प्रकार की शातिसधि हुई, न ही किसी अरब राष्ट्र ने इज़रायल से राजनयिक सबध स्थापित किए। अलबत्ता सयुक्त राष्ट्रसघीय युद्धविराम-पर्यवेक्षक-सगठन इस क्षेत्र मे शाति स्थापना का कार्य करता रहा। सन् १९५७ मे इज़रायल ने पुन ब्रिटेन तथा फ्रास से मिलकर स्वेज की लडाई मे गाजा क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, परतु सयुक्त राष्ट्रसघ के आज्ञानुसार उसे इस भाग को अतत छोडना पडा। प्रथम युद्ध एक प्रकार से समाप्त हो गया, लेकिन अप्रत्यक्ष तनातनी बनी रही। १९६७ ई० मे स्थिति बहुत खराब हो गई और इज़रायल-सीरिया-सीमाक्षेत्र मे हुई झडपो के बाद मिस्र ने इज़रायल की सीमा पर अपनी सेना बडी सख्या मे तैनात कर दी। राष्ट्रसघीय पर्यवेक्षक दल को निष्कासित कर दिया गया और रक्तसागर मे इज़रायल की जहाजरानी पर मिस्र द्वारा रोक लगा दी गई। ५-६ जून की रात्रि को इज़रायल ने मिस्र पर जमीनी और हवाई आक्रमण शुरू कर दिए। जार्डन भी इज़रायल के विरुद्ध युद्ध मे समिलित हो गया और सीरिया की सीमाओ पर भी लडाई जारी हो गई। ११ जून को राष्ट्रसघ द्वारा की गई युद्धविराम की अपील लगभग सभी युद्धरत राष्ट्रो ने स्वीकार कर ली। लेकिन इस समय तक इज़रायल गाजा पट्टी, स्वेज नहर के तट तक सिनाई प्रायद्वीप के भूभाग, जार्डन घाटी तक जार्डन के भूभाग, जेरूसलम तथा गैलिली सागर के पूर्व मे स्थित सीरिया के गोलन नामक पर्वतीय भाग (जिसमे क्यूनेत्रा नामक नहर भी है) पर अधिकार कर चुका था। जेरूसलम को तत्काल इज़रायल का अभिन्न अग घोषित कर दिया गया, लेकिन शेष विजित इलाके को 'अधिकृत क्षेत्र' के रूप मे ही रखा गया। फरवरी, १९६९ ई० मे लेवी एश्कोल की मृत्यु हो जाने पर श्रीमती गोल्डा मायर इज़रायल की प्रधान मत्री नियुक्त हुई और अक्टूबर, १९६९ ई० के चुनाव मे उन्हे पुन प्रधान मत्री चुन लिया गया। युद्ध-विराम-रेखा पर और विशेष रूप से अधिकृत स्वेज क्षेत्र मे इज़रायलियो तथा अरब राष्ट्रो एव फिलिस्तीनी गुरिल्ला सगठन के बीच छोटी मोटी झडपें चलती रही जिनका अत अगस्त, १९७० ई० मे हुए युद्धविराम समझौते के बाद ही हुआ। किंतु मध्यपूर्व की वर्तमान स्थिति तब तक विस्फोटक बनी रहेगी, जब तक यहाँ की समस्याओ का कोई स्थायी राजनीतिक समाधान नही खोज लिया जाता।

संविधान एवं शासन—इज़रायल एक प्रभुसत्तासंपन्न गणराज्य है **जिसकी स्थापना १४ मई, १९४८ ई० की घोषणा के आधार पर हुई है।** १९४९ ई० मे इज़रायली ससद् (नेसेट) ने सक्रमण कानून पारित किया जो सामान्य शब्दावली के माध्यम से ससद्, राष्ट्रपति तथा मत्रिमडल के अधिकारो की व्याख्या करता है। १९५० ई० मे ससद ने समय समय पर मूल नियमो को अधिनियमित करने का प्रस्ताव पारित किया। ये ही अधिनियमित मूल नियम समग्र रूप मे इज़रायल के सविधान के नियामक है। ससद्, इज़रायली राष्ट्र तथा राष्ट्रपति से सबद्ध इन मूल नियमो को क्रमश १९५८, १९६० तथा १९६४ ई० मे पारित किया गया।

इज़रायली ससद् को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं और १२० सदस्योवाली इस एकसदनी ससद् का चुनाव सार्वदेशिक मताधिकार के आधार पर अनुपाती-प्रतिनिधित्व-पद्धति से प्रति चार वर्ष के लिये कराया जाता है। राष्ट्रपति राष्ट्राध्यक्ष होता है और ससद पाँच वर्ष के लिये इसका चुनाव करती है। प्रधान मत्री के नेतृत्व मे गठित मत्रिमडल ससद् के प्रति उत्तरदायी होता है। मत्री सामान्यत ससद् सदस्यो मे से ही बनाए जाते है लेकिन इनकी नियुक्ति सदस्येतर व्यक्तियो मे से भी की जा सकती है। पूरा देश छह मडलो मे विभक्त है। ससदीय निर्वाचन के साथ साथ स्थानीय अधिकारियो का चुनाव भी सपन्न होता है जिनका कार्यकाल चार वर्ष तक रहता है। २७ नगरपालिकाएँ (दो अरबो की), ११७ स्थानीय परिषदे (४५ अरबो तथा सीरियाई देशो की) तथा ४७ क्षेत्रीय परिषदे (एक अरबो की) ६७४ गाँवो का प्रतिनिधित्व करती है। (कै० च० श०)

इज़रायल का इतिहास ससार के यहूदी धर्मावलबियो के प्राचीन राष्ट्र का नया रूप। इज़रायल का नया राष्ट्र १४ मई, सन् १९४८ को अस्तित्व मे आया। इज़रायल राष्ट्र प्राचीन फिलिस्तीन अथवा पैलेस्टाइन का ही एक बृहत् भाग है।

यहूदियो के धर्मग्रथ 'पुराना अहदनामा' के अनुसार यहूदी जाति का निकास पैगबर हज़रत अबराहम (इब्राहिम) से शुरू होता है। अबराहम का समय ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व है अबराहम के एक बेटे का नाम इसहाक और पोते का याकूब था। याकूब का ही दूसरा नाम इज़रायल था। याकूब ने यहूदियो की १२ जातियो को मिलाकर एक किया। इन सब जातियो का यह समिलित राष्ट्र इज़रायल के नाम के कारण 'इज़रायल' कहलाने लगा। आगे चलकर इबरानी भाषा मे इज़रायल का अर्थ हो गया—'ऐसा राष्ट्र जो ईश्वर का प्यारा हो'।

याकूब के एक बेटे का नाम यहूदा अथवा जूदा था। यहूदा के नाम पर ही उसके वशज यहूदी (जूदा—ज्यूज़) कहलाए और उनका धर्म यहूदी धर्म (जूदाइज्म) कहलाया। प्रारभ की शताब्दियो मे याकूब के दूसरे बेटो की औलाद इज़रायल या 'बनी इज़रायल' के नाम से प्रसिद्ध रही। फिलिस्तीन और अरब के उत्तर मे याकूब की इन सततियो की 'इज़रायल' और 'जूदा' नाम की एक दूसरी से मिली हुई किंतु अलग अलग दो छोटी छोटी सल्तनतें थी। दोनो मे शताब्दियो तक गहरी शत्रुता रही। अत मे दोनो मिलकर एक हो गई। इस समिलन के परिणामस्वरूप देश का नाम इज़रायल पड़ा और जाति का यहूदी।

यहूदियो के प्रारभिक इतिहास का पता अधिकतर उनके धर्मग्रथो से मिलता है जिनमे मुख्य बाइबिल का वह पूर्वार्ध है जिसे 'पुराना अहदनामा' (ओल्ड टेस्टामेट) कहते है। पुराने अहदनामे मे तीन ग्रथ शामिल है। सबसे प्रारभ मे 'तौरेत' (इबरानी थोरा) है। तौरेत का शाब्दिक अर्थ वही है जो 'धर्म' शब्द का है, अर्थात् धारण करने या बाँधनेवाला। दूसरा ग्रथ 'यहूदी पैगबरो का जीवनचरित' और तीसरा 'पवित्र लेख' है। इन तीनो ग्रथो का सग्रह 'पुराना अहदनामा' है। पुराने अहदनामे मे ३९ खड या पुस्तकें हैं। इसका रचनाकाल ई० पू० ४४४ से लेकर ई० पू० १०० के बीच है। पुराने अहदनामे मे सृष्टि की रचना, मनुष्य का जन्म, यहूदी जाति का इतिहास, सदाचार के उच्च नियम, धार्मिक कर्मकाड, पौराणिक कथाएँ और यह्वे के प्रति प्रार्थनाएँ शामिल है।

यहूदी जाति के आदि सस्थापक अबराहम को अपने स्वतत्र विचारो के कारण दर दर की खाक छाननी पडी। अपने जन्मस्थान ऊर (सुमेर का प्राचीन नगर) से सैकड़ो मील दूर निर्वासन मे ही उनकी मृत्यु हुई। **अबराहम के बाद यहूदी इतिहास मे सबसे बड़ा नाम मूसा का है। मूसा ही यहूदी**

जाति के मुख्य व्यवस्थाकार या स्मृतिकार माने जाते है। मूसा के उपदेशो मे दो बाते मुख्य है एक—अन्य देवी देवताओं की पूजा को छोडकर एक निराकार ईश्वर की उपासना और दूसरी—सदाचार के दस नियमो का पालन। मूसा ने अनको कष्ट सहकर अपने ईश्वर के आज्ञानुसार जगह जगह बँटी हुई अत्याचारपीडित यहूदी जाति को मिलाकर एक किया और उन्हे फिलिस्तीन मे लाकर बसाया। यह समय ईसा से प्राय १,५०० वर्ष पूर्व का था। मूसा के समय से ही यहूदी जाति के बिखरे हुए समूह स्थायी तौर पर फिलिस्तीन मे आकर बसे और उसे अपना देश समझने लगे। बाद मे अपने इस नए देश को उन्होंने 'इज़रायल' की सज्ञा दी।

अबराहम ने यहूदियो का उत्तरी अरब और ऊर से फिलीस्तीन की ओर सक्रमण कराया। यह उनका पहला सक्रमण था। दूसरी बार जब उन्हे मिस्र छोड फिलिस्तीन भागना पडा तब उनके नेता हजरत मूसा थे (प्राय १६वी सदी ई० पू०)। यह यहूदियो का दूसरा सक्रमण था जो 'महान् बहिरागमन' (ग्रेट एग्जाडस) के नाम से प्रसिद्ध है।

अबराहम और मूसा के बाद इज़रायल मे जो दो नाम सबसे अधिक आदरणीय माने जाते है वे दाऊद और उसके बेटे सुलेमान के हैं। सुलेमान के समय दूसरे देशो के साथ इज़रायल के व्यापार मे खूब उन्नति हुई। सुलेमान ने समुद्रगामी जहाजो का एक बहुत बडा बेडा तैयार कराया और दूर दूर के देशो के साथ तिजारत शुरू की। अरब, एशिया कोचक, अफ्रीका, यूरोप के कुछ देशो तथा भारत के साथ इज़रायल की तिजारत होती थी। सोना, चाँदी, हाथीदाँत और मोर भारत से ही इज़रायल आते थे। सुलेमान उदार विचारो का था। सुलेमान के ही समय इबरानी यहूदियो की राष्ट्र-भाषा बनी। ३७ वर्ष के योग्य शासन के बाद सन् ६३७ ई० पू० मे सुलेमान की मृत्यु हुई।

सुलेमान की मृत्यु से यहूदी एकता को बहुत बडा धक्का लगा। सुलेमान के मरते ही इज़रायल और जूदा (यहूदा) दोनो फिर अलग अलग स्वाधीन रियासते बन गई। सुलेमान की मृत्यु के बाद ५० वर्ष तक इज़रायल और जूदा के आपसी झगडे चलते रहे। इसके बाद लगभग ८८४ ई० पू० मे उमरी नामक एक राजा इज़रायल की गद्दी पर बैठा। उसने फिर दोनो शाखो मे प्रेमसबध स्थापित किया। किंतु उमरी की मृत्यु के बाद यहूदियो की ये दोनो शाखे सर्वनाशी युद्धो मे उलझ गई।

यहूदियो की इस स्थिति को देखकर असुरिया के राजा शुलमानु अशरिद पचम ने सन् ७२२ ई० पू० मे इज़रायल की राजधानी समरिया पर चढाई की और उसपर अपना अधिकार कर लिया। अशरिद ने २७,२६० प्रमुख इज़रायली सरदारो को कैद करके और उन्हे गुलाम बनाकर असुरिया भेज दिया और इज़रायल का शासनप्रबध असूरी अफसरो के सपुर्द कर दिया। सन् ६१० ई० पू० मे असुरिया पर जब खल्दियो ने आधिपत्य कर लिया तब इज़रायल भी खल्दी सत्ता के अधीन हो गया।

सन् ५५० ई० पू० मे ईरान के सुप्रसिद्ध हखामनी राजवश का समय आया। इस कुल के सम्राट् कुरु ने जब बाबुल की खल्दी सत्ता पर विजय प्राप्त की तब इज़रायल और यहूदी राज्य भी ईरानी सत्ता के अतर्गत आ गए। आसपास के देशो मे उस समय ईरानी सबसे अधिक प्रबुद्ध, विचारवान् और उदार थे। अपने अधीन देशो के साथ ईरानी सम्राटो का व्यवहार न्याय और उदारता का होता था। प्रजा के उद्योग धधो को वे सरक्षा देते थे। समृद्धि उनके पीछे पीछे चलती थी। उनके धार्मिक विचार उदार थे। ईरानियो का शासनकाल यहूदी इतिहास का कदाचित् सबसे अधिक विकास और उत्कर्ष का काल था। जो हजारों यहूदी बाबुल मे निर्वासित और दासता मे पड़े थे उन्हे ईरानी सम्राट् कुरु ने मुक्त कर अपने देश लौट जाने की अनुमति दी। कुरु ने जेरूसलम के मदिर के पुराने पुरोहित के एक पौत्र योशुआ और यहूदी बादशाह दाऊद के एक निर्वासित वशज जेरुब्बाबल को जेरूसलम की वह सब सपत्ति देकर, जो लूटकर बाबुल लाई गई थी, वापस जेरूसलम भेजा और अपने खर्च पर जेरूसलम के मदिर का फिर से निर्माण कराने की आज्ञा दी। इज़रायल और यहूदा के हजारो घरो मे खुशियाँ मनाई गई। शताब्दियो के पश्चात् इज़रायलियो को साँस लेने का अवसर मिला।

यही वह समय था जब यहूदियो के धर्म ने अपना परिपक्व रूप धारण किया। इससे पूर्व उनके धर्मशास्त्र एक पीढी से दूसरी पीढी को जबानी प्राप्त होते रहते थे। अब कुछ स्मृति के सहारे, कुछ उल्लेखों के आधार पर धर्म-ग्रथो का सग्रह प्रारभ हुआ। इनमे से थोरा या तौरेत का सकलन ४४४ ई० पू० मे समाप्त हुआ।

दोनो समय का हवन, जिसमे लोहबान जैसी सुगधित चीजे, खाद्य पदार्थ, तेल इत्यादि के अतिरिक्त किसी मेमने, बकरे, पक्षी या अन्य पशु की आहुति दी जाती थी, यहूदी ईश्वरोपासना का आवश्यक अग था। ऋग्वेद के 'आहिताग्नि' पुरोहितो के समान यहूदी पुरोहित इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि वेदी पर की आग चौबीस घटे किसी तरह बुझने न पाए।

इज़रायली धर्मग्रथो मे शायद सबसे सुदर पुस्तक 'दाऊद के भजन' है। पुराने अहदनामे की यह सबसे अधिक प्रभावोत्पादक पुस्तक समझी जाती है। जिस प्रकार दाऊद के भजन भक्तिभावना के सुदर उदाहरण हैं उसी प्रकार सुलेमान की अधिकाश कहावते हर देश और हर काल के लिये कीमती है और सचाई से भरी है। एक तीसरा यहूदी धर्मग्रथ 'प्रचारक' (एक्लज़ि-एस्टेस) इन ग्रथो के बाद का लिखा हुआ है।

सन् ३३० ई० पू० मे सिकदर ने ईरान को जीतकर वहाँ के हखामनी साम्राज्य का अत कर दिया। सन् ३२० ई० पू० मे सिकदर के सेनापति तोलेमी प्रथम ने इज़रायल और यहूदा पर आक्रमण कर उसपर अपना अधिकार कर लिया। बाद मे सन् १९८ ई० पू० मे एक दूसरे यूनानी परिवार सेल्यूकस राजवश का इज़रायल पर अधिकार हो गया। सन् १७५ ई० पू० मे सेल्यूकस वश का अतिओकस चतुर्थ यहूदियो के देश का अधिराज बना। जेरूसलम के बलवे से रुष्ट होकर अतिओकस ने उसके यहूदी मदिर को लूट लिया और हजारो यहूदियो का वध करवा दिया, शहर की चहार-दीवारी को गिराकर जमीन से मिला दिया और शहर यूनानी सेना के सपुर्द कर दिया।

अतिओकस ने यहूदी धर्म का पालन करना इज़रायल और यहूदा दोनो जगह कानूनी अपराध घोषित कर दिया। यहूदी मदिरो मे यूनानी मूर्तियाँ स्थापित कर दी गई और तौरेत की जो भी प्रतियाँ मिली आग के सपुर्द कर दी गई।

यह स्थिति सन् १८२ ई० पू० तक चलती रही। सन् १४२ ई० पू० मे एक यहूदी सेनापति साइमन ने यूनानियो को हराकर राज्य से बाहर निकाल दिया और यहूदा तथा इज़रायल की राजनीतिक स्वाधीनता की घोषणा कर दी। यहूदियो की यह स्वाधीनता १४१ ई० पू० से ६३ ई० पू० तक बराबर बनी रही।

यह वह समय था जब भारत से बौद्ध भिक्षु और भारतीय महात्मा अपने धर्म का प्रचार करते हुए पश्चिमी एशिया के देशो मे फैल गए। इन भारतीय प्रचारको ने यहूदी धर्म को भी प्रभावित किया। इसी प्रभाव के परिणाम-स्वरूप यहूदियो के अदर एक नए 'एस्सेनी' नामक सप्रदाय की स्थापना हुई। हर एस्सेनी ब्राह्म मुहूर्त मे उठता था और सूर्योदय से पहले प्रात क्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से निवृत्त हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनो समय भोजन से पहले स्नान करना हर एस्सेनी के लिये आवश्यक था। उनका सबसे मुख्य सिद्धात था—अहिसा। एस्सेनी हर तरह की पशुबलि, मासभक्षण या मदिरापान के विरुद्ध थे। हर एस्सेनी को दीक्षा के समय प्रतिज्ञा करनी पडती थी

"मै यहूे अर्थात् परमात्मा का भक्त रहूँगा। मैं मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा। मै कभी किसी की हिसा न करूँगा और न किसी की हानि पहुचाऊँगा। मनुष्य मात्र के साथ मै अपने वचनो का पालन करूँगा। मै सदा सत्य से प्रेम करूँगा।" आदि।

उसी समय के निकट हिंदू दर्शन के प्रभाव से इज़रायल मे एक और विचारशैली ने जन्म लिया जिसे 'कब्बालह' कहते है। कब्बालह के थोडे से सिद्धात ये है—"ईश्वर अनादि, अनत, अपरिमित, अचित्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है। वह अस्तित्व और चेतना से भी परे है। उस अव्यक्त से किसी प्रकार व्यक्त की उत्पत्ति हुई और अचित्य से चित्य की। मनुष्य

परमेश्वर के केवल इस दूसरे रूप का ही मनन कर सकता है। इसी से सृष्टि संभव हुई।"

कब्बालह की पुस्तकों में योग की विविध श्रेणियों, शरीर के भीतर के चक्रों और अभ्यास के रहस्यों का वर्णन है।

यहूदियों की राजनीतिक स्वाधीनता का अंत उस समय हुआ जब सन् ६६ ई० पू० में रोमी जनरल पांपे ने तीन महीने के घेरे के पश्चात् जेरूसलम के साथ साथ सारे देश पर अधिकार कर लिया। इतिहासलेखकों के अनुसार हजारों यहूदी लड़ाई में मारे गए और १२,००० यहूदी कत्ल कर दिए गए।

इसके बाद सन् १३५ ई० में रोम के सम्राट् हाद्रियन ने जेरूसलम के यहूदियों से रुष्ट होकर एक एक यहूदी निवासी को कत्ल करवा दिया। वहाँ की एक एक ईंट गिरवा दी और शहर की समस्त जमीन पर हल चलवाकर उसे बराबर करवा दिया। इसके पश्चात् अपने नाम एलियास हाद्रियानस पर ऐलिया कापितोलिना नामक नया रोमी नगर उसी जगह निर्माण कराया और आज्ञा दे दी कि कोई यहूदी इस नए नगर में कदम न रखे। नगर के मुख्य द्वार पर रोम के प्रधान चिह्न सुअर की एक मूर्ति कायम कर दी गई। इस घटना के लगभग २०० वर्ष बाद रोम के पहले ईसाई सम्राट् कोंस्तांतीन ने नगर का जेरूसलम नाम फिर से प्रचलित किया।

छठी ई० तक इज़रायल पर रोम और उसके पश्चात् पूर्वी रोमी साम्राज्य बीजोंतीन का प्रभुत्व कायम रहा। खलीफा अबूबक्र और खलीफा उमर के समय अरब और रोमी सेनाओं में टक्कर हुई। सन् ६३६ ई० में खलीफा उमर की सेनाओं ने रोम की सेनाओं को पूरी तरह पराजित करके फिलिस्तीन पर, जिसमें इज़रायल और यहूदा शामिल थे, अपना कब्जा कर लिया। खलीफा उमर जब यहूदी पैगंबर दाऊद के प्रार्थनास्थल पर बने यहूदियों के प्राचीन मंदिर में गए तब उस स्थान को उन्होंने कूड़ा कर्कट और गंदगी से भरा हुआ पाया। उमर और उनके साथियों ने स्वयं अपने हाथों से उस स्थान को साफ किया और उसे यहूदियों के सुपुर्द कर दिया।

इज़रायल और उसकी राजधानी जेरूसलम पर अरबों की सत्ता सन् १०९९ ई० तक रही। सन् १०९९ ई० में जेरूसलम पर ईसाई धर्म के जाँनिसारों ने अपना कब्जा कर लिया और बोलोन के गाडफ्रे को जेरूसलम का राजा बना दिया। ईसाइयों के इस धर्मयुद्ध में ५,६०,००० सैनिक काम आए, किंतु ८८ वर्षों के शासन के बाद यह सत्ता समाप्त हो गई।

इसके पश्चात् सन् ११४७ ई० से लेकर सन् १२०४ तक ईसाइयों ने धर्मयुद्धों (क्रूसेडों) द्वारा इज़रायल पर कब्जा करना चाहा किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली। सन् १२१२ई० में ईसाई महंतों ने ५० हजार किशोरवयस्क बालक और बलिकाओं की एक सेना तैयार करके पाँचवें धर्मयुद्ध की घोषणा की। इनमें से अधिकांश बच्चे भूमध्यसागर में डूबकर समाप्त हो गए। इसके बाद इस पवित्र भूमि पर आधिपत्य करने के लिये ईसाइयों ने चार असफल धर्मयुद्ध और किए।

१३वीं और १४वीं शताब्दी में हुलाकू और उसके बाद तैमूर लंग ने जेरूसलम पर आक्रमण करके उसे नेस्तनाबूद कर दिया। इसके पश्चात् १६वीं शताब्दी तक इज़रायल पर कभी मिस्री आधिपत्य रहा और कभी तुर्क। सन् १९१४ में जिस समय पहला विश्वयुद्ध हुआ, इज़रायल तुर्की के कब्जे में था।

सन् १९१७ में ब्रिटिश सेनाओं ने इसपर अधिकार कर लिया। २ नवंबर, सन् १९१७ को ब्रिटिश वैदेशिक मंत्री लार्ड बालफोर ने यह घोषणा की कि इज़रायल को ब्रिटिश सरकार यहूदियों का धर्मदेश बनाना चाहती है जिसमें सारे संसार के यहूदी यहाँ आकर बस सकें। मित्रराष्ट्रों ने इस घोषणा की पुष्टि की। इस घोषणा के बाद से इज़रायल में यहूदियों की जनसंख्या निरंतर बढ़ती गई। लगभग २१ वर्ष (दूसरे विश्वयुद्ध) के पश्चात् मित्रराष्ट्रों ने सन् १९४८ में एक इज़रायल नामक यहूदी राष्ट्र की विधिवत् स्थापना की।

५ जुलाई, सन् १९५० को इज़रायल की पार्लामेंट ने एक नया कानून बनाया जिसके अनुसार संसार के किसी कोने से यहूदियों को इज़रायल में आकर बसने की स्वतंत्रता मिली। यह कानून बन जाने के सात वर्षों के अंदर इज़रायल में सात लाख यहूदी बाहर के देशों से आकर बसे। इज़रायल में जनतंत्री शासन है। वहाँ एकसंसदीय पार्लामेंट है जिसे 'सेनेट' कहते हैं। इसमें १२० सदस्य सानुपातिक प्रतिनिधान की चुनाव प्रणाली द्वारा प्रति चार वर्षों के लिये चुने जाते हैं। इज़रायल का नया जनतंत्र एक ओर आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के द्वारा देश को उन्नत बनाने में लगा हुआ है तो दूसरी ओर पुरानी परंपराओं को भी उसने पुनर्जीवन दिया है, जिनमें से एक है शनिवार को सारे कामकाज बंद कर देना। इस प्राचीन नियम के अनुसार आधुनिक इज़रायल में शनिवार के पवित्र 'सैबथ' के दिन रेलगाड़ियाँ तक बंद रहती हैं।

यहूदियों ने ही पश्चिमी धर्मों में नबियों और पैगंबरों तथा इलहामी शासनों का आरंभ और प्रचार किया। उनके नबियों ने विशेषकर छठी सदी ई० पू० के नबियों ने जिस साहस और निर्भीकता से श्रीमानों और असूरी सम्राटों को धिक्कारा है और जो बाइबिल की पुरानी पोथी में आज भी सुरक्षित है, उसका संसार के इतिहास में सानी नहीं। उन्होंने ही नेबुखदनेज्जार की अपनी बाबुली कैद में बाइबिल के पुराने पाँच खंड (पेंतुतुख) प्रस्तुत किए। इसी से बाबुल के संबंध से ही संभवतः बाइबिल का यह नाम पड़ा।

सं०ग्रं०—बाइबिल (पुराना अहदनामा), एंश्येंट कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द २, ३, हेस्टिंग्ज एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन ऐंड एथिक्स, भाग ६, जूइश एनसाइक्लोपीडिया, जूइश क्रानिकल ऐंड जूइश वर्ल्ड की जिल्दें, एच० बी० ट्रिस्ट्रेम लैंड ऑव इज़रायल (१८६५), ई० आर० बेवन जेरूसलम अंडर द हाई प्रीस्ट (१९१२), सी० बेंजमैन ट्रायल ऐंड एरर (१९४९), विश्वंभरनाथ पांडेय विश्व का सांस्कृतिक इतिहास (१९५५)। (वि० ना० पा०)

इजेकियल

इजेकियल ५९८ ई० पू० में बाबुल की सेना ने जेरूसलम नगर पर आक्रमण करके उसे लगभग नष्ट भ्रष्ट कर दिया। वहाँ के महल, सुलेमान के बनाए विशाल मंदिर और प्राय समस्त सुंदर भवनों में आग लगा दी। शहर की चहारदीवारी को गिराकर जमीन से मिला दिया। प्रधान यहूदी पुरोहित और शहर के सब मुख्य व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया और हजारों यहूदियों को निर्वासित बंदी के रूप में बाबुल पहुँचाकर बसा दिया। यहूदी जाति के दुःख भरे इतिहास में यह घटना एक विशेष सीमाचिह्न समझी जाती है। निर्वासित यहूदी बंदियों में यहूदी जाति के पैगंबर इजेकियल भी थे। इतिहासलेखकों के अनुसार इजेकियल ने चबर नदी के किनारे तेल अबीब में निर्वासित जीवन बिताया।

निर्वासित यहूदी इजेकियल को बहुत आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उनसे मार्गदर्शन की आशा रखते थे। पैगंबर इजेकियल के ग्रंथ 'इजेकियल' के अनुसार इजेकियल ने अपने निर्वासित धर्मावलंबियों में राष्ट्रीय और धार्मिक भावनाओं को निरंतर जगाए रखा। अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में उन्होंने एक ऐसे इज़रायल राष्ट्र की कल्पना निर्वासितों के सामने रखी जिसका कभी अंत नहीं हो सकता और जिसका भविष्य सदा उज्वल और ऐश्वर्य से भरा होगा। इजेकियल के उपदेश गद्य और पद्य दोनों में प्राप्त हैं।

इजेकियल की शिक्षा—मानव प्राणियों पर ईश्वर कठोर हाथों से शासन करता है। यह्वे, अर्थात् ईश्वर की सत्ता परम पवित्र और सार्वभौम है। यह्वे का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं। यहूदियों को अभक्तिपूर्ण व्यवहार के लिये यह्वे दंड देगा। अपनी प्रभुसत्ता को दृढ़ करने के लिये ही यह्वे दंड और वरदान देता है।

बाबुली शासकों ने जिन अन्यदेशीय लोगों को फिलिस्तीन ले जाकर बसाया था वे सब मनुष्यस्वभाव के अनुसार अपने अपने देवी देवताओं के साथ यह्वे की पूजा करने लगे थे और यहूदी जनसामान्य ने भी यह्वे के साथ साथ आगंतुकों के देवताओं की पूजा आरंभ कर दी। फिलिस्तीन में यहूदियों की इस वृत्ति से इजेकियल को बड़ी मानसिक पीड़ा पहुँची। अपने उपदेशों में उन्होंने उन्हें अभिशाप दिया। उनकी आशाएँ निर्वासित यहूदियों पर ही केंद्रित थीं। एजेकियल के अनुसार उन्हीं के ऊपर यहूदी धर्म का भविष्य निर्भर था।

पैगंबर की भविष्यवाणियों में इजेकियल की शिक्षाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। शताब्दियों तक इजेकियल की शिक्षाएँ यहूदी धार्मिक जगत् को प्रभावित करती रहीं।

सं०ग्रं०—सी० एच० टाय : इजेकियल (१६२४), जी० टी० बेट्टानी हिस्ट्री ऑव जूडाइज्म (१८६२)। (वि० ना० पा०)

इटली यूरोप के दक्षिणवर्ती तीन बडे प्रायद्वीपो मे बीच का प्रायद्वीप है जो भूमध्यसागर के मध्य मे स्थित है। प्रायद्वीप के पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व मे क्रमश तिरहेनियन, ग्रायोनियन तथा एड्रियाटिक सागर हैं और उत्तर में आल्प्स पहाड की श्रेणियाँ फैली हुई है। इटली ४७° ७' उ० से ३६° ३८' उ० अ० एव ६° ३७' पू० से १८° ३२' पू० दे० के बीच स्थित है। सिसली, सार्डीनिया तथा कॉर्सिका (जो फ्रास के अधिकार मे हैं), ये तीन बडे द्वीप तथा लिग्यूरियन सागर मे स्थित अन्य टापुओं के समुदाय वस्तुत इटली से सबद्ध है। प्रायद्वीप का आकार एक बडे बूट (जूते) के समान है जो उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व को भूमध्यसागर मे घुसा हुआ है। देश की लबाई लगभग ७०० मील तथा चौडाई ८० मील से १५० मील तक है। सुदूर दक्षिण मे चौडाई ३५ मील से २० मील तक है।

प्राकृतिक दशा—इटली पर्वतीय देश है जिसके उत्तर मे आल्प्स पहाड तथा मध्य मे रीढ़ की भाँति अपेनाइन पर्वत की शृखलाएँ फैली हुई हैं (द्र० **अपेनाइंस**)। अपेनाइन पहाड जेनोआ तथा नीस नगरों के मध्य से प्रारभ होकर दक्षिण पूर्व दिशा मे एड्रियाटिक समुद्रतट तक चला गया है और मध्य तथा दक्षिणी इटली म रीढ की भाँति दक्षिण की तरफ फैला हुआ है।

प्राकृतिक भूरचना की दृष्टि से इटली निम्नलिखित चार भागो मे बाँटा जा सकता है

(१) आल्प्स की दक्षिणी ढाल, जो इटली के उत्तर मे स्थित है।

(२) पो तथा वेनिस का मैदान, जो पो आदि नदियो की लाई हुई मिट्टी से बना है।

(३) इटली प्रायद्वीप का दक्षिणी भाग, जिसमे सिसली भी सम्मिलित है। इस सपूर्ण भाग मे अपेनाइन पर्वतश्रेणी अतिप्रमुख है।

(४) सार्डीनिया, कॉर्सिका तथा अन्य द्वीपसमूह।

किंतु वनस्पति, जलवायु तथा प्राकृतिक दृष्टि से यह प्रायद्वीप तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—१ उत्तरी इटली, २ मध्य इटली तथा ३ दक्षिणी इटली।

उत्तरी इटली—यह इटली का सबसे घना बसा हुआ मैदानी भाग है जो तुरीय काल मे समुद्र था, बाद मे नदियों की लाई हुई मिट्टी से बना। यह मैदान देश की १७ प्रति शत भूमि घेरे हुए है जिसमे चावल, शहतूत तथा पशुओ के लिये चारा बहुतायत से पैदा होता है। उत्तर मे आल्प्स पहाड की ढाल तथा पहाडियाँ है जिनपर चरागाह, जगल तथा सीढीनुमा खेत है। पर्वतीय भाग की प्राकृतिक शोभा कुछ झीलो तथा नदियों से बहुत बढ गई है। उत्तरी इटली का भौगोलिक वर्णन पो नदी के माध्यम से ही किया जा सकता है। पो नदी एक पहाडी सोते के रूप मे माउट वीजो पहाड (ऊँचाई ६,००० फुट) से निकलकर २० मील बहने के बाद सैलुजा के मैदान मे प्रवेश करती है। मोसिया नदी के सगम से ३३७ मील तक इस नदी मे नौपरिवहन होता है। समुद्र मे गिरने के पहले नदी दो शाखाओं (पो डोल मेस्ट्रा तथा पो डि गोरो) मे विभक्त हो जाती है। पो के मुहाने पर २० मील चौडा डेल्टा है। नदी की कुल लबाई ४२० मील है तथा यह २६,००० वर्ग मील भूमि के जल की निकासी करती है। आल्प्स पहाड तथा अपेनाइस से निकलनेवाली पो की मुख्य सहायक नदियाँ क्रमानुसार टिसिनो, अद्दा, ओगलियो और मिन्सिओ तथा टेनारो, टेबिया, टारो, सेचिया और पनारो है। टाइबर (२४४ मील) तथा एड्रिज (२२० मील) इटली की दूसरी तथा तीसरी सबसे बडी नदियाँ है। ये प्रारभ मे सँकरी तथा पहाडी है किंतु मैदानी भाग मे इनका विस्तार बढ जाता है और बाढ आती है। ये सभी नदियाँ सिंचाई तथा विद्युत् उत्पादन की दृष्टि से परम उपयोगी है, किंतु यातायात के लिये अनुपयुक्त। आल्प्स, अपेनाइस तथा एड्रियाटिक सागर के

मध्य में स्थित एक सँकरा समुद्रतटीय मैदान है। उत्तरी भाग में पर्वतीय ढालों पर मूल्यवान फल, जैसे जतून, अगूर तथा नारंगी बहुत पैदा होती है। उपजाऊ घाटी तथा मैदानों में घनी बस्ती है। इनमें अनेक गाँव तथा शहर बसे हुए हैं। अधिक ऊँचाइयों पर जगल है।

मध्य इटली—मध्य इटली के बीच में अपेनाइस पहाड़ उत्तर-उत्तर-पूर्व से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम की दिशा में एड्रियाटिक समुद्रतट के समातर फैला हुआ है। अपेनाइस का सबसे ऊँचा भाग ग्रैनसासोडी इटैलिया (९,५६० फुट) इसी भाग में है। यहाँ पर्वतश्रेणियों का जाल बिछा हुआ है, जिनमें अधिकांश नवबर से मई तक बर्फ से ढकी रहती हैं। यहाँ पर कुछ विस्तृत, बहुत सुदर तथा उपजाऊ घाटियाँ है, जैसे एटरनो की घाटी (२,३८० फुट)। मध्य इटली की प्राकृतिक रचना के कारण यहाँ एक ओर अधिक ठढा, उच्च पर्वतीय भाग है तथा दूसरी ओर गर्म तथा शीतोष्ण जलवायु-वाली ढाल तथा घाटियाँ है। पश्चिमी ढाल एक पहाड़ी ऊबड़ खाबड़ भाग है। दक्षिण में टस्कनी तथा टाइबर के बीच का भाग ज्वालामुखी पहाड़ों की देन है, अत यहाँ शक्वाकार पहाड़ियाँ तथा झीले है। इस पर्वतीय भाग तथा समुद्र के बीच में काली मिट्टीवाला एक उपजाऊ मैदानी भाग है जिसे कापान्या कहते है। मध्य इटली के पूर्वी तट की तरफ पहाड़ी श्रेणियाँ समुद्र के बहुत निकट तक फैली हुई है, अत एड्रियाटिक सागर में गिरनेवाली नदियों का महत्व बहुत कम है। यह विषम भाग फलों के उद्यानों के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ जैतून तथा अगूर की खेती होती है। यहाँ बड़े शहरों तथा बड़े गाँवों का अभाव है, अधिकांश लोग छोटे छोटे कस्बों तथा गाँवों में रहते है। खनिज सपत्ति के अभाव के कारण यह भाग औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। फुसिनस, ट्रेसिमेनो तथा विडसी यहाँ की प्रसिद्ध झीले है। पश्चिमी भाग की झीलें ज्वालामुखी पहाड़ों की देन हैं।

दक्षिणी इटली यह सपूर्ण भाग पहाड़ी है जिसके बीच में अपेनाइस रीढ़ की भाँति फैला हुआ है तथा दोनो ओर नीची पहाड़ियाँ है। इस भाग की औसत चौड़ाई ५० मील से लेकर ६० मील तक है। पश्चिमी तट पर एक सँकरा 'तेरा डी लेवोरो' नाम का तथा पूर्व में अपूलिया का चौड़ा मैदान है। इन दो मैदानों के अतिरिक्त सारा भाग पहाड़ी है और अपेनाइस की ऊँची नीची शृखलाओं से ढका हुआ है। पोटेजा की पहाड़ी दक्षिणी इटली की अतिम सबसे ऊँची पहाड़ी (पोलिनो की पहाड़ी) से मिलती है। सुदूर दक्षिण में ग्रेनाइट तथा चूने के पत्थर की, जगलों से ढकी हुई पहाड़ियाँ तट तक चली गई है। लीरी तथा गेटा आदि एड्रियाटिक सागर में गिरनेवाली नदियाँ पश्चिमी ढाल पर बहनेवाली नदियों से अधिक लबी है। ट्रिनगो से दक्षिण की ओर गिरनेवाली विफरनो, फोरटोरे, सेरवारो, आटो तथा ब्रैडानो मुख्य नदियाँ है। दक्षिणी इटली में पहाड़ों के बीच में स्थित लैगोडेल-मोटेसी झील है।

इटली के समीप स्थित सिसली, सार्डीनिया तथा कॉर्सिका के अतिरिक्त एल्बा, कैप्रिया, गारगोना, पायनोसा, माटीक्रिस्टो, जिग्लिको आदि मुख्य मुख्य द्वीप है। इन द्वीपों में इस्किया, प्रोसिदा तथा पोजा, जो नेपुल्स की खाड़ी के पास हैं, ज्वालामुखी पहाड़ों की देन है। एड्रियाटिक तट पर केवल ट्रिमिटी द्वीप है।

जलवायु तथा वनस्पति देश की प्राकृतिक रचना, अक्षाशीय विस्तार (१०° २९') तथा भूमध्यसागरीय स्थिति ही जलवायु की प्रधान नियामक है। तीन ओर समुद्र से तथा उत्तर में उच्च आल्प्स से घिरे होने के कारण यहाँ की जलवायु की विविधता पर्याप्त बढ़ जाती है। यूरोप के सबसे अधिक गर्म देश इटली में जाड़े में अपेक्षाकृत अधिक गर्मी तथा गर्मी में साधारण गर्मी पड़ती है। यह प्रभाव समुद्र से दूरी बढ़ने पर घटता जाता है। आल्प्स के कारण यहाँ उत्तरी ठढी हवाओं का प्रभाव नही पड़ता है। किंतु पूर्वी भाग में ठढी तथा तेज बोरा नामक हवाएँ चला करती हैं। अपेनाइस पहाड़ के कारण अध महासागर से आनेवाली हवाओं का प्रभाव तिर हीनियन समुद्रतट तक ही सीमित रहता है।

उत्तरी तथा दक्षिणी इटली के ताप में पर्याप्त अतर पाया जाता है। ताप का उतार चढ़ाव ५२° फा० से ६६° फा० तक होता है। दिसबर तथा जनवरी सबसे अधिक ठढे तथा जुलाई और अगस्त सबसे अधिक गर्म महीने है। पो नदी के मैदान का औसत ताप ५५° फा० तथा ५०० मील दूर स्थित सिसली का औसत ताप ६४° फा० है। उत्तर के आल्प्स के पहाड़ी क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा ८०" होती है। अपेनाइस के ऊँचे पश्चिमी भाग में भी पर्याप्त वर्षा होती है। पूर्वी लोबार्डी के दक्षिण पश्चिमी भाग में वार्षिक वर्षा २४" होती है, किंतु उत्तरी भाग में उसका औसत ५०" होता है तथा गर्मी शुष्क रहती है। आल्प्स के मध्यवर्ती भाग में गर्मी में वर्षा होती है तथा जाड़े में बर्फ गिरती है। पो नदी की द्रोणी में गर्मी में अधिक वर्षा होती है। स्थानीय कारणों के अतिरिक्त इटली की जलवायु भूमध्यसागरीय है जहाँ जाड़े में वर्षा होती है तथा गर्मी शुष्क रहती है।

जलवायु की विषमता के कारण यहाँ की वनस्पतियाँ भी एक सी नही है। मनुष्य के सतत प्रयत्नों से प्राकृतिक वनस्पतियाँ केवल उच्च पहाड़ों पर ही देखने को मिलती हैं जहाँ नुकीली पत्तीवाले जगल पाए जाते है। इनमें सरो, देवदारु, चीड़ तथा फर के वृक्ष मुख्य है। उत्तर के पर्वतीय ठढे भागों में अधिक ठढक सहन करनेवाले पौधे पाए जाते है। तटीय तथा अन्य निचले मैदानों में जैतून, नारगी, नीबू आदि फलों के उद्यान लगे हुए है। मध्य इटली में अपेनाइस पर्वत की ऊँची श्रेणियों को छोड़कर प्राकृतिक वनस्पति अन्यत्र नही है। यहाँ जैतून तथा अगूर की खेती होती है। दक्षिणी इटली में तिरहीनियन तटपर जैतून, नारगी, नीबू, शहतूत, अजीर आदि फलों के उद्यान है। इस भाग में कदो से उगाए जानेवाले फूल भी होते है। यहाँ ऊँचाई पर तथा तटीय भूमि में ओक के तथा सदाबहार जगल पाए जाते हैं। अत यह स्पष्ट है कि पूरे इटली को आधुनिक किसानों ने फलों, तरकारियों तथा अन्य फसलों से भर दिया है, केवल पहाड़ों पर ही जगली पेड़ तथा झाड़ियाँ पाई जाती हैं।

कृषि इटली वासियों का सबसे बड़ा व्यवसाय खेती है। सपूर्ण जनसख्या का ½ भाग खेती से ही अपनी जीविका प्राप्त करता है। जलवायु तथा प्राकृतिक दशा की विभिन्नता के कारण इस छोटे से देश में यूरोप में पैदा होनेवाली सारी चीजे पर्याप्त मात्रा में पैदा होती हैं, अर्थात् राई से लेकर चावल तक, सेब से लेकर नारगी तक तथा अलसी से लेकर कपास तक। सपूर्ण देश में लगभग ७,०५,००,००० एकड़ भूमि उपजाऊ है, जिसमें १,८३,७४,००० एकड़ में अन्न, २८,६२,००० एकड़ में दाल आदि फसलें, ७,७२,००० एकड़ में औद्योगिक फसलें, १४,६०,००० एकड़ में तरकारियाँ, २३,८६,००० एकड़ में अगूर, २०,३३,००० एकड़ में जैतून, २,१६,००० एकड़ में चरागाह और चारे की फसलें तथा १,६४,५८,००० एकड़ में जगल पाए जाते है। यहाँ की खेती प्राचीन ढग से ही होती है। पहाड़ी भूमि होने के कारण आधुनिक यत्रों का प्रयोग नही हो सका है।

जनसंख्या पूर्व ऐतिहासिक काल में यहाँ की जनसख्या बहुत कम थी। जनवृद्धि का अनुपात द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले पर्याप्त ऊँचा था (१९३१ ई० में वार्षिक वृद्धि ० ८७ प्रति शत थी), किंतु अब यह दर घट रही है। १९६१ ई० में यहाँ की जनसख्या ५,०६,२३,५६९ थी।

पर्वतीय भूमि तथा सीमित औद्योगिक विकास के कारण जनसंख्या का घनत्व अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा बहुत कम है। अधिकांश लोग गाँवों में रहते है। देश में ५०,००० से ऊपर जनसख्यावाले नगरों की सख्या ७० है। यहाँ अधिकांश लोग रोमन कैथॉलिक धर्म माननेवाले हैं। १९३१ ई० की जनगणना के अनुसार ९९ ६ प्रति शत लोग कैथोलिक थे, ० ३४ प्रति शत लोग दूसरे धर्म के थे तथा ०६ प्रति शत ऐसे लोग थे जिनका कोई विशेष धर्म नही था। शिक्षा तथा कला की दृष्टि से इटली प्राचीन काल से अग्रणी रहा है। रोम की सभ्यता तथा कला इतिहासकाल में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी (द्र० 'रोम')। यहाँ के कलाकार और चित्रकार विश्वविख्यात थे। आज भी यहाँ शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। निरक्षरता नाम मात्र को भी नही है। देश में ७० दैनिक पत्र प्रकाशित होते है। छविगृहों की सख्या लगभग ९,७७० है (१९६१ ई०)।

खनिज तथा उद्योग धंधे—इटली में खनिज पदार्थ अपर्याप्त है, केवल पारा ही यहाँ से निर्यात किया जाता है। यहाँ सिसली (काल्टानिसेटा),

टस्कनी (अंग्रेजो, फ्लोरेंस तथा ग्रासेटो), सार्डीनिया (कैगलिआरी, ससारी तथा इग्लेसियास), लोंबार्डी (बर्गेमो तथा ब्रेसिया) एवं पिडमांट क्षेत्रों में ही खनिज तथा औद्योगिक विकास भली भाँति हुआ है। १९६६ ई० में कोयला २२,३५,८८५ मीट्रिक टन, खनिज तैल १५,१६,६१४ मी० टन, खनिज लौह १४,७४,६८८ मी० टन, मैंगनीज ५२,६६६ मी० टन, रांगा ६०,६२६ मी० टन और जस्ता २,६८,२२१ मी० टन उत्पन्न हुआ था।

देश का प्रमुख उद्योग कपड़ा बनाने का है। यहाँ १९६६ ई० में सूती कपड़े बनाने के ६४५ कारखाने थे। रेशम का व्यवसाय पूरे इटली में होता है, किंतु लोंबार्डी, पिडमांट तथा वेनेजिया मुख्य सिल्क उत्पादक क्षेत्र हैं। १९६६ में गृहउद्योग को छोड़कर रेशमी कपड़े बनाने के २४ तथा ऊनी कपड़े बनाने के ३४८ कारखाने थे। रासायनिक वस्तु बनाने के तथा चीनी बनाने के भी पर्याप्त कारखाने हैं। देश में मोटर, मोटर साइकिल तथा साइकिल बनाने का बहुत बड़ा उद्योग है। १९६६ ई० में १५,६५,६५१ मोटरें बनाई गई थीं जिनमें से ६,३०,०७६ मोटरें निर्यात की गई थीं। अन्य मशीनें तथा औजार बनाने के भी बहुत से कारखाने हैं। जलविद्युत् पैदा करने का बहुत बड़ा धंधा यहाँ होता है। यहाँ १५,८८,०३१ कारखाने हैं, जिनमें ८८,००,६७३ व्यक्ति काम करते हैं। इटली का व्यापारिक संबंध यूरोप के सभी देशों से तथा अर्जेंटीना, संयुक्त राज्य (अमरीका) एवं कैनाडा से है। मुख्य आयात की वस्तुएँ कपास, ऊन, कोयला और रासायनिक पदार्थ हैं तथा निर्यात की वस्तुएँ फल, सूत, कपड़े, मशीनें, मोटर, मोटरसाइकिल एवं रासायनिक पदार्थ हैं। इटली का आयात निर्यात से अधिक होता है।

नगर संपूर्ण देश १९ क्षेत्रों तथा ९२ प्रांतों में बँटा हुआ है। १९वीं शताब्दी के मध्य से नगरों की संख्या काफी बढ़ी है। अतः प्रांतीय राजधानियों का महत्व बढ़ा तथा लोगों का झुकाव नगरों की तरफ हुआ। देश में एक लाख के ऊपर जनसंख्या के कुल २६ नगर हैं। सन् १९६६ में ५,००,००० से अधिक जनसंख्या के नगर रोम (इटली की राजधानी, जनसंख्या २७,३१,३६७), मिलान (१७,०१,६१२), नेपुल्स (१२,७६,८५४), तूरिन (११,७७,०३९) तथा जेनेवा (८,४१,८४१) हैं।

इटली यूनान के बाद यूरोप का दूसरा प्राचीनतम राष्ट्र है। रोम की सभ्यता तथा इटली का इतिहास देश के प्राचीन वैभव तथा विकास का प्रतीक है। आधुनिक इटली १८६१ ई० में राज्य के रूप में गठित हुआ था। देश की धीमी प्रगति, सामाजिक संगठन तथा राजनीतिक उथल पुथल इटली के २,५०० वर्ष के इतिहास से संबद्ध है। देश में पूर्वकाल में राजतंत्र था जिसका अंतिम राजघराना सेवाय था। जून, सन् १९४६ में देश एक जनतांत्रिक राज्य में परिवर्तित हो गया। (ह० ह० सि०)

इटली का इतिहास

सन् १९४६ में इटली की जनता ने मतदान द्वारा इटली को गणतंत्र घोषित किया। सन् १९४७ में इटली की असेंबली ने गणतंत्र का एक नया विधान बनाया जो १ जनवरी, सन १९४८ से लागू है। इस विधान में एक केंद्रीय सरकार, पार्लामेंट के दो सदन, एक राष्ट्रपति जिसकी पदावधि सात वर्ष है, और वयस्क मताधिकार की व्यवस्था है। १०९ एकड़ की वाटिकन सिटी, अर्थात् पोप की नगरी सन १९२९ से ही संसार का सबसे छोटा स्वाधीन राज्य है। उसके अपने सिक्के, अपने डाक टिकट हैं, पोप उसके प्रधान हैं।

इटली को मुख्य लाभ विदेशी यात्रियों से होता है। सन् १९५६ में ७० लाख विदेशी यात्री सैर सपाटे के लिये इटली पहुँचे थे। इन यात्रियों से इटली को एक खरब, ५४ अरब लीरों का लाभ हुआ था।

इटली में अनेक क्षेत्रीय बोलियाँ प्रचलित हैं। इन क्षेत्रीय बोलियों के अतिरिक्त वहाँ आदान प्रदान की मुख्य भाषा साहित्यिक इतालियाई है। मूल रूप से वह इटली के एक प्रांत तुस्कानी की भाषा थी जिसे अनेक लेखकों और कवियों ने सँवारकर उत्कृष्ट बनाया और जिसमें दाँते ने अपनी रचनाएँ लिखीं।

सभ्यता का फूलना फलना कला की प्रगति से बहुत संबंध रखता है और कला पर उस देश की जलवायु का बहुत गहरा असर पड़ता है। यूरोप के किसी दूसरे देश ने आज तक कला और विशेषकर चित्रकला में इतनी कीर्ति प्राप्त नहीं की जितनी इटली ने। इसका कारण यह है कि इटली में सदा साफ, नीले आसमान, खिली हुई धूप और छिटकी हुई चाँदनी के दर्शन होते हैं। इटलीवालों का रंग वैसा ही होता है जैसा जरा गोरे रंग के भारतवासियों का। उनकी आँखें और बाल भारतीयों की ही तरह काले होते हैं।

प्राचीन इतिहास के अनुसार नवीं सदी ई० पू० में एशिया कोचक की एक रियासत लीदिया के राजा अत्ती का बेटा तिरहेन लीदिया की आधी जनसंख्या के साथ जहाजों में बैठकर इटली के पश्चिमी किनारे पर उतरा। अपने सरदार के नाम पर ये आगंतुक अपने को 'तिरहेनी' कहने लगे। इन लोगों ने समुद्र के किनारे किनारे कई बस्तियाँ बसाई। तिरहेनी उसी नस्ल के थे जिस नस्ल के वैदिक आर्य थे। तिरहेनियों की भाषा और संस्कृत भाषा में काफी साम्य पाया जाता है। तिरहेनी धीरे धीरे बढ़ते हुए इटली के लातियम प्रांत में, समुद्र से १६-१७ मील दूर, तीबेर नदी के किनारे तीन छोटी छोटी पहाड़ियों पर बस गए एक छोटे से गाँव रोमा या रोम में पहुँचे। तिरहेनियों के अधीन धीरे धीरे रोम इटली का एक बड़ा नगर बनने लगा। आगे चलकर इस शहर ने इतिहास में वह नाम पाया जो आज तक यूरोप के और किसी दूसरे देश को नसीब नहीं हुआ। तिरहेनियों ने रोम में जूपिटर (वैदिक = द्यौस्पितर) का एक विशाल मंदिर बनाया।

इतिहास के लेखकों के अनुसार तीसरी सदी ई० पू० में पहली बार पूरे देश का नाम इतालिया पड़ा। इतालिया से ही आजकल का इतालो या इटली शब्द बना। इतालिया नाम एक इतालियाई शब्द के यूनानी रूप 'वाइतालिया' से लिया गया है जिसका अर्थ है 'चरागाह'। यूनानी इटली को 'इतालियम्' अर्थात् 'चरागाह' कहते थे।

इटली की जनसंख्या में से ९९.१२ प्रति शत लोग ईसाई धर्म की रोमन कैथलिक शाखा के अनुयायी हैं। १९०१ की जनसंख्या के अनुसार इटली में प्राटेस्टेंट संप्रदाय के लोगों की संख्या केवल ६५,००० थी।

इटली में जूलियस सीजर की बहन के पोते और रोमन साम्राज्य के पहले सम्राट् ऑगुस्तस सीजर का शासनकाल स्वर्णयुग कहलाया। उसमें कुछ कुछ पहले पीछे और समकालीन लातीनी के प्रमुख कवि लक्रेती, वर्जिल, हारेस और आविद हुए। लूक्रेती ने मृत्यु के बाद के जीवन को धोखा बताया है और धार्मिक रूढ़ियों का उपहास उड़ाया है। वर्जिल का काव्य 'ईनिद' इटली का राष्ट्रीय महाकाव्य समझा जाता है। इटली की प्रशंसा करते हुए वर्जिल अपने इस महाकाव्य की पंक्तियों में लिखता है

> ईरान अपने सुंदर और घने वनों सहित,
> अथवा गंगा अपनी जलप्लावित लहरों सहित,
> अथवा हरमुश नदी, जिसके कणों में सोना मिलता है,
> इनमें से कोई इटली की समता नहीं कर सकते,
> इटली, जहाँ सदा वसंत रहता है,
> जहाँ भेड़ें वर्ष में दो बार बच्चे देती हैं और
> जहाँ वृक्ष वर्ष में दो बार फल देते हैं।

जूलियस सीजर के समय के इतालियाई गद्यलेखकों में सिसरो का नाम बहुत प्रसिद्ध है। सिसरो की भाषा में यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सीजर की हत्या के बाद सिसरो की भी हत्या कर दी गई।

रोमन साम्राज्य का असर इटली पर पड़ना स्वाभाविक था। पहली सदी ई० के लगभग इटली में स्वतंत्र नागरिकों की अपेक्षा गुलामों की संख्या कई गुना बढ़ गई थी। दूसरी सदी में मारकस औरीलियस के शासनप्रबंध में इटली का राजनीतिक और सांस्कृतिक ह्रास कुछ दिनों के लिए रुका, किंतु उसकी मृत्यु के बाद तीसरी सदी ई० का एक इतिहासकार लिखता है--"साम्राज्य भर में और स्वयं इटली में शांति और समृद्धि नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी। लड़ाइयों, महामारियों और आए दिन के दुष्कालों ने इटली की जनसंख्या को बेहद कम कर दिया था। जमीन की पैदावार घट गई थी। खेतियाँ वीरान पड़ी थीं। शहर और कस्बे उजड़ते जा रहे थे। टैक्सों का बोझ दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। मारकस औरीलियस की मृत्यु के २०० वर्ष के अंदर न केवल रोम साम्राज्य के बल्कि स्वयं इटली के टुकड़े टुकड़े हो गए थे।" पर वह कहानी रोमन साम्राज्य की है।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से आधुनिक समय तक राष्ट्र की हैसियत से इटली में न तो कभी राजनीतिक एकता रही, न स्वाधीनता और न सगठित राष्ट्र। सन् ४७६ ई० में इटली में नया राजनीतिक परिवर्तन हुआ। गौथ और बंडल कौमों के लोगों ने इटली की फौजों और रोम के दरबार तक पर कब्जा कर रखा था। सन् ४७५ ई० में एक छोटा सा बलवा हुआ। अंतिम रोमी सम्राट् जूलियस नेपो गद्दी से उतार दिया गया। उसकी जगह इटली में गौथों की हुकूमत कायम हो गई। लगभग १०० वर्षों के शासन के बाद सन् ५६५ ई० में गौथिक शासन समाप्त होकर इटली में लोंबार्दियों का शासन प्रारंभ हुआ।

सन् ७७४ ई० में चार्ल्स महान् (शार्लमान) अपने श्वशुर अंतिम लोंबार्द नरेश देसीदरिअस को पदच्युत कर स्वयं इटली का सम्राट् बन गया। चार्ल्स ने लोंबार्दों की बड़ी बड़ी जमींदारियाँ समाप्त करके उन्हें छोटी छोटी जमींदारियों में बाँट दिया और ईसाई धर्माध्यक्षों के अधिकार को बढ़ा दिया। इस चार्ल्स राजकुल के आठ नरेशों ने सन् ८८८ ई० तक इटली पर शासन किया। १०वीं शताब्दी में मगयार कबीले की सेनाओं ने उत्तरी इटली पर आक्रमण कर उसके उपजाऊ प्रदेशों को वीरान बना दिया। मगयारों के आक्रमणों के बाद इटली पर निरंतर उत्तर से हूणों के और दक्षिण से अरबों के आक्रमण होते रहे। १०वीं शताब्दी के अंत में इटली के धर्माचार्यों के आग्रह पर जर्मनी के सैक्सन सम्राट् ओटो ने इटली पर विधिवत् जर्मन सत्ता की घोषणा कर दी। तब से १५वीं शताब्दी के अंत तक जर्मनी के बदलते हुए राजघराने इटली के सम्राट् बनते रहे।

१५वीं शताब्दी के अंत में अल्प काल के लिये इटली विदेशी शासन से मुक्त हुआ, किंतु १६वीं शताब्दी के आरंभ में वह फिर यूरोपीय राजनीति के शिकंजे में जकड़ गया। स्पेनी सत्ता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। फ्रांस के साथ उसके युद्ध चल रहे थे। स्पेन, फ्रांस और आस्ट्रिया तीनों में रोम के प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये प्रतिस्पर्धा चलने लगी। यह स्थिति नेपोलियन के आक्रमण के समय तक बनी रही।

१८ मई, सन् १८०४ ई० में नेपोलियन ने इटली के ऊपर अपने आधिपत्य की घोषणा की और २६ मई, १८०५ ई० को मिलान के गिरजाघर में नेपोलियन ने इटली के लोंबार्द नरेशों का लौहमुकुट धारण किया।

इटली के ऊपर नेपोलियन का शासन यद्यपि क्षणिक रहा, फिर भी नेपोलियन के शासन ने इटलीवालों में एक राष्ट्र की ऐसी भावना भर दी और उनमें ऐसा संगठन और अनुशासन पैदा कर दिया जो उन्हें निरंतर स्वाधीन होने की प्रेरणा देता रहा। नई संधि के अनुसार इटली के ऊपर आस्ट्रिया का संरक्षण लाद दिया गया। अंदर ही अंदर इस संरक्षण को हटाने के प्रयत्न होते रहे।

सन् १८३१ ई० में इटली के प्रसिद्ध देशभक्त जोसफ मात्सीनी ने मार्सेई में निर्वासित इतालियन देशभक्तों की एक 'जिओवाने इतालिआ' (नौजवान इतालिआ) नामक संस्था का निर्माण किया जिसका उद्देश्य इटली को स्वाधीन करना था।

मात्सीनी की स्वाधीनता की घोषणा को अप्रैल, सन् १८४९ में जनरल गारीबाल्दी ने मूर्त रूप दिया। गारीबाल्दी के नेतृत्व में हजारों नौजवानों ने फ्रेंच, स्पेनी, आस्ट्रियाई और नेपुल्सी सेनाओं का वीरता के साथ सामना किया। यद्यपि देशभक्तों की सेना चार चार विदेशी सेनाओं के सामने न ठहर सकी और गारीबाल्दी को मातृभूमि छोड़ अमरीका में शरण लेनी पड़ी, फिर भी इस असफल स्वाधीनतासंग्राम ने इतालियाई जनता की देशभक्ति की आकांक्षा अत्यधिक बढ़ा दी।

१० वर्ष बाद ११ मई, सन् १८५९ को गारीबाल्दी चुने हुए देशभक्तों के साथ अमरीका से अपनी मातृभूमि लौटा। उसने जनता की सहायता से पहले सिसली पर अधिकार किया। सिसली विजय के बाद २० हजार सेना के साथ गारीबाल्दी ने दक्षिण इटली में प्रवेश किया। १८ फरवरी, सन् १८६० को इटली की नई पार्लमेंट की बैठक हुई और विधिवत् विक्टर इमानुअल को इटली का राजा घोषित किर दिया गया।

सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में इटली मित्रराष्ट्रों के पक्ष में अगस्त, सन् १९१६ में युद्ध में शरीक हुआ। उस समय विश्वयुद्ध में इटली के छह लाख सैनिक मैदान में काम आए और लगभग १० लाख बुरी तरह जख्मी हुए। महायुद्ध के बाद राजनीतिक परिस्थितियों ने ऐसा रूप धारण किया कि ३० अक्टूबर, सन् १९२२ को इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्त सत्ता के मंत्रिमंडल की स्थापना हो गई।

दूसरे विश्वयुद्ध में इटली ने धुरीराष्ट्रों का साथ दिया। मित्रराष्ट्रों की विजय के पश्चात् इटली से फासिस्त सत्ता का अंत हुआ।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० डब्ल्यू० फाउलर : रोम, जे० ट्रेवेलियन : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव दि इटालियन पीपुल (१९३६), जे० ए० साइमंड : रेनेसाँ इन इटैली (१८७५), डब्ल्यू० आर० थेयर : डान ऑव इटैलियन इंडिपेंडेंस (१८९३), बोल्टन किंग : हिस्ट्री ऑव इटैलियन यूनिटी (१८९९), एल० विलारी : द अवेकेनिंग ऑव इटली (१९२४), एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (लेख—इटली) आदि। (वि० ना० पा०)

अपील की अदालत द्वारा यह घोषणा कर दिए जाने पर कि २ जून, १९४६ ई० को हुए मतदान में बहुमत ने देश में गणतंत्र शासन की स्थापना के पक्ष में मत दिया, इटली १० जून, १९४६ ई० को गणतंत्र राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। १८ जून को तत्कालीन अस्थायी सरकार ने 'आर्डर ऑव द डे' नामक एक पत्रक जारी करके कानूनी तथा सरकारी बयानों एवं कागज पत्रों में पहले से चले आ रहे सभी साम्राज्यपरक संदर्भों तथा अवशेषों को पूर्णत समाप्त करने की आज्ञा दी, यहाँ तक कि इटली के राष्ट्रध्वज पर बने 'हाउस ऑव सेवाय' की ढाल (शील्ड) के चिह्न को भी हटा दिया गया। इस प्रकार लगभग गत पौने दस शताब्दियों से चले आ रहे इटली में एकतंत्र शासन का अंत हो गया।

संविधान सभा ने २२ दिसंबर, १९४७ को नया संविधान ६२ के मुकाबिले ४५३ मतों से पारित कर दिया और १ जनवरी, १९४८ को यह संविधान लागू हो गया। इसमें १३९ अनुच्छेद तथा १८ संक्रमणकालीन धाराएँ हैं।

संविधान में इटली का उल्लेख **श्रम पर आधृत जनतांत्रिक गणतंत्र** के रूप में किया गया है। संसद् के अंतर्गत प्रतिनियुक्तों (डिप्टियों) का सदन तथा सिनेट है। सदन के सदस्यों का चुनाव प्रति पाँचवें वर्ष वयस्क मताधिकार के माध्यम से प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा किया जाता है। डिप्टी के पद के प्रत्याशी को कम से कम २५ वर्ष का होना चाहिए। उसका निर्वाचन मतदान द्वारा ८०,००० व्यक्ति करते हैं। सीनेट के सदस्यों का चुनाव छह वर्ष के लिये क्षेत्रीय आधार पर किया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से कम से कम छह सिनेटर चुने जाते हैं और हर एक सीनेटर दो लाख मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करता है। किंतु वाल द'ओस्ता क्षेत्र से केवल एक ही सीनेटर का निर्वाचन होता है। राष्ट्रपति पाँच ऐसे व्यक्तियों को जीवन भर के लिये सीनेट के सदस्य मनोनीत कर सकता है जो समाजविज्ञान, कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में प्रख्यात एवं जाने माने हों। कार्यकाल समाप्त हो जाने पर इटली का राष्ट्रपति जीवन भर के लिये सीनेट का सदस्य बन जाता है किंतु यह तभी जब वह सदस्य बनने से इनकार न करे। सदन तथा सीनेट के संयुक्त अधिवेशन में दो तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाता है जिसमें प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् से तीन तीन सदस्य भी मतदान करते हैं (वाल द'ओस्ता से केवल एक) किंतु तीन बार मतदान के बाद भी यदि राष्ट्रपति पद के किसी भी उम्मीदवार को दो तिहाई मत नहीं मिल पाते तो पूर्ण बहुमत पानेवाले प्रत्याशी को राष्ट्रपति चुन लिया जाता है। राष्ट्रपति की आयु ५० वर्ष से ऊपर रहती है। उसका कार्यकाल सात वर्ष का होता है। सीनेट का अध्यक्ष राष्ट्रपति के डिप्टी की हैसियत से कार्य करता है। राष्ट्रपति संसद् के सदनों का विघटन कर सकता है लेकिन कार्यकाल समाप्ति के पूर्व के छह महीनों में उसे यह अधिकार नहीं रहता।

इटली में १५ न्यायाधीशों का एक सवैधानिक न्यायालय होता है जिसके पाँच न्यायाधीशों को राष्ट्रपति, पाँच को संसद् (दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में) तथा पाँच को देश के सर्वोच्च न्यायालय (विधि तथा प्रशासन संबंधी) नियुक्त करते हैं। इटली के सवैधानिक न्यायालय को लगभग वैसे ही अधिकार प्राप्त हैं, जैसे अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को। (कै० चं० श०)

इटारसी मध्यप्रदेश के होशगाबाद जिले एव तहसील मे मध्य रेलवे की मुख्य लाइन (इलाहाबाद-बबई) पर बबई से ४६४ मील उत्तर-पूर्व मे स्थित प्रगतिशील नगर है। (स्थिति २२° ३७' उ० अ० एव ७७° ४७' पू० दे०)। यहाँ कानपुर और आगरा जानेवाली रेलवे लाइनो का भी जकशन है। यहाँ से दिल्ली-मद्रास ग्रैड ट्रक रेलमार्ग गुजरता है। अत यह मध्य रेलवे का एक प्रसिद्ध जकशन है। कुल जनसख्या का लगभग ३० प्रति शत यातायात के धधे मे लगा है तथा २५ प्रति शत से भी अधिक लोग उद्योग धधों से जीविकोपार्जन करते है। इटारसी न केवल होशगाबाद जिले का ही, प्रत्युत बेतूल जिले का भी अधिकाश आयात, निर्यात एव वस्तुवितरण करता है। अत नगर का व्यापारिक एव औद्योगिक महत्व तीव्र गति से बढ रहा है। यहाँ प्रति सप्ताह पशुओ का बडा मेला लगता है। यहाँ काठकोयला, लकडी एव गल्ले के बडे बडे व्यापारी एव अढतिए रहते है। (का० ना० सि०)

इटावा उत्तर प्रदेश का एक जिला है, जो दक्षिण-पश्चिमी भाग मे है। इसके उत्तर मे फर्रुखाबाद तथा मैनपुरी, पश्चिम मे आगरा, पूर्व मे कानपुर तथा दक्षिण मे जालौन और मध्य प्रदेश स्थित है। इसका क्षेत्रफल ४,३२७ वर्ग कि० मी० तथा जनसख्या १४,४५,१६७ है। इसमे चार तहसीले है बिधुना (उ० पू०), औरैया (द०), भर्थना (केंद्र), तथा इटावा (प०)। यो तो यह जिला गगा यमुना के द्वाबे का ही एक भाग है, परतु इसे पाँच उपविभागों मे बाँटा जा सकता है (१) 'पछार'—यह सेगर नदी के पूर्वोत्तर का समतल मैदान है जो लगभग आधे जिले मे फैला हुआ है, (२) 'घार' सेगर तथा यमुना का द्वाबा है जो अपेक्षाकृत ऊँचा नीचा है, (३) 'खरका'—इसमे यमुना के पूर्वकालीन भागों तथा नालो के भूमिक्षरण के स्पष्ट चिह्न विद्यमान है, (४) यमुना-चबल-द्वाबा—एकमात्र बीहड प्रदेश है जो खेती के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है, (५) चबल के दक्षिण की पेटी—यह एक पतली सी बीहड पेटी है जिसमे केवल कुछ ग्राम मिलते है, इसकी भूस्थिति यमुना-चबल के द्वाबे से भी कठिन है। 'पछार' तथा 'घार' मे दोमट और मटियार तथा 'भूड' और 'भाबर' मे 'चिक्का' मिट्टी पाई जाती है। अतिम तीनों भागों मे 'पाकड' नामक ककरीली मिट्टी भी मिलती है। दक्षिण मे यत्रतत्र लाल मिट्टी मिलती है। इसकी जलवायु गर्मियो मे गर्म तथा जाडो मे ठढी रहती है। वर्षा का वार्षिक औसत लगभग ३४.१५" है।

इसकी कुल कृषीय भूमि ६० ३ प्रति शत है, वन केवल ३ ६ प्रति शत है। सिंचाई के मुख्य साधन नहरे, कुएँ, नदियाँ तथा तालाब आदि है जिनमे नहरे ८५ ३ प्रति शत, कुएँ १३ १ प्रति शत तथा अन्य साधन १ ६ प्रति शत है। खरीफ रबी मे अधिक महत्वपूर्ण है, खरीफ की मुख्य फसल बाजरा तथा रबी की चना है।

इटावा नगर इटावा जिले का केंद्र है जो यमुना के बाएँ किनारे पर बसा हुआ है। यह उत्तरी रेलवे का एक बडा स्टेशन है और फर्रुखाबाद-ग्वालियर तथा आगरा-इलाहाबाद जानेवाली पक्की सडके भी यहाँ मिलती है। यह आगरा से ७० मील पर दक्षिण-पूर्व मे तथा इलाहाबाद से २०६ मील पर उत्तर पश्चिम मे स्थित है। इस नगर मे नालो की सख्या अधिक है अत इसकी जल निकासी बहुत अच्छी है। यहाँ की जामा मस्जिद बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है, पूर्वकाल मे यह एक हिंदू मदिर था जिसे मुसलमानो ने मस्जिद मे परिणत कर दिया। चौहान राजाओ के प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष भी इटावा की गौरवगाथा के परिचायक है। हिंदूकाल मे यह एक प्रसिद्ध नगर था, परतु महमूद गजनवी तथा शहाबुद्दीन की लूट मार ने इस नगर के वैभव को मिट्टी मे मिला दिया। मुगलकाल मे इसका जीर्णोद्धार हुआ, परतु मल्हारराव होल्कर ने सन् १७५० ई० के लगभग इस नगर को फिर लूटा। आजकल यह गल्ले तथा घी की बडी मडी है और यहाँ का सूती उद्योग (विशेषकर दरी उद्योग) उन्नतिशील अवस्था मे है। (ले० रा० सिं० क०)

इडाहो प्रपात सयुक्त राज्य (अमरीका) के इडाहो राज्य का तीसरा बडा नगर तथा बानविल काउटी की राजधानी है। यह स्नेक नदी के किनारे समुद्रतल से ४,७०९ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह यूनियन पैसिफिक रेलवे का एक स्टेशन है। इसके अधिकाश उद्योग कृषि से सबधित है। यहाँ चुकदर की शक्कर के कारखाने, दुग्धशालाएँ तथा आलू के गोदाम है। इसकी जलविद्युत् मशीनें बहुत बडी है। (ले० रा० सि० क०)

इडिपस मनोग्रथि द्र० 'ईदिपस ग्रथि'।

इतागाकी ताइसूके (१८३७-१९१९) जापानी राजनीतिज्ञ। जन्म तोसा मे। प्रारभिक ख्याति राजनीतिक सिपाही के रूप मे जिसने सामतवाद का उन्मूलन कर प्रशासनिक शक्ति राजसत्ता के हाथ मे एकत्र करने मे योग दिया। नवीन विधान मे उसे मत्री का पद मिला (१८७३)। सरकार की सामरिक नीति से मतभेद होने के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया। अपने घर पर जनता को जनतत्र शासन की प्रशिक्षा देने के उद्देश्य से स्कूल खोले जो बहुत जनप्रिय हुए। देखादेखी ऐसे अनेक प्रशिक्षण केंद्र खोले गए। इतागाकी 'जापान के रूसो' के नाम से विख्यात हुए।

१८८१ मे इतागाकी की अध्यक्षता मे जापान का जिऊ-तो नामक पहला राजनीतिक दल बना जिसने देश मे ससदीय शासन के प्रचलन म योग दिया। इतागाकी ने अपना सारा जीवन इस दल के सगठन मे लगा दिया। १८८२ मे एक हत्यारे ने इतागाकी पर वार किया, पर वे बच गए और हत्यारे को सबोधित करके उन्होंने कहा—"इतागाकी को मार सकते हो, स्वतत्रता अमर है।" १८८७ मे उन्हे एक बार फिर से मत्रिपद और काउट की उपाधि मिली। (स० च०)

इतालवी भाषा, आधुनिक इतालीय गणतत्र की भाषा इतालवी है, किंतु कोर्सिका (फ्रांसीसी), त्रियेस्ते (युगोस्लाविया) के कुछ भाग तथा सानमारीनो के छोटे से प्रजातत्र मे भी इतालवी बोली जाती है। इटली म अनेक बोलियाँ बोली जाती है जिनमे से कुछ तो साहित्यिक इतालवी से बहुत भिन्न प्रतीत होती है। इन बोलियो मे परस्पर इतना भेद है कि उत्तरी इटली के लोबार्द प्रात का निवासी दक्षिणी इटली के कालाब्रिया की बोली शायद ही समझ सकेगा या रोम मे रहनेवाला केवल साहित्यिक इतालवी जाननेवाला विदेशी रोमानो बोली (रोम के त्रास्तेवेर मुहल्ले की बोली) को शायद ही समझ सकेगा। इतालवी बोलियो के नाम इतालवी प्रातों की सीमाओ से थोडे बहुत मिलते है। स्विट्जरलैंड से मिले हुए उत्तरी इटली के कुछ भागो मे लादीन वर्ग की बोलियाँ बोली जाती है—जो रोमास बोलियाँ है, स्विट्जरलैंड मे भी लादीनी बोली जाती है। वेनत्सियन बोलियाँ इटली के उत्तरी पश्चिमी भाग मे बोली जाती है, वेनिस नगर इनका प्रतिनिधि केंद्र कहा जा सकता है। पीमोंते, लिगूरिया, लोबादिया तथा एमीलिया प्रातो मे इन्ही नामो की बोलियाँ बोली जाती है जो कुछ कुछ फ्रासीसी बोलियो से मिलती है। लातीनी के अत्य स्वर का इनमे लोप हो जाता है—उदाहरणार्थ फात्तो (तोस्कानो), फेत (पीमोंतेस) ओत्तो, ओत (आठ)। तोस्काना प्रात मे तोस्काना वर्ग की बोलियाँ बोली जाती है। साहित्यिक इतालवी का आधार तोस्काना प्रात की, विशेषकर फ्लोरेंस की बोली (फियरेंतीनो) रही है। यह लातीनी के अधिक समीप कही जा सकती है। कठ्य का महाप्राण उच्चारण इसकी प्रमुख विशेषता है—यथा कासा, कहासा (घर)। उत्तरी और दक्षिणी बोलियो के क्षेत्रो के बीच मे होने के कारण भी इसमे दोनो वर्गो की विशेषताएँ कुछ कुछ समन्वित हो गई। उत्तरी कोर्सिका की बोली तोस्कानो से मिलती है। लात्सियो (रोम केंद्र), ऊंब्रिया (पेरूज्या केंद्र) तथा मार्के की बोलियो को एक वर्ग मे रखा जा सकता है और दक्षिण की बोलियो मे अब्रूज्जी, कापानिया (नेपल्स प्रधान केंद्र), कालाब्रिया, पूल्या और सिसिली की बोलियाँ प्रमुख है—इनकी सबसे प्रमुख विशेषता लातीनी के सयुक्त व्यंजन ण्ड के स्थान पर न्न, म्ब के स्थान पर म्म, ल्ल के स्थान पर ड्ड का हो जाना सार्देन्या की बोलियाँ इतालवी से भिन्न है।

एक ही मूल स्रोत से विकसित होते हुए भी इनकी भिन्नता इन बोलियों मे कदाचित् लातीनी के भिन्न प्रकार से उच्चारण करने से आ गई होगी। बाहरी आक्रमणो का भी प्रभाव पड़ा होगा। इटली की बोलियों में सुदर ग्राम्य गीत है जिनका अब सग्रह हो रहा है और अध्ययन भी किया

जा रहा है। बोलियों में सजीवता और व्यंजनाशक्ति पर्याप्त है। नापोलीतानो के लोकगीत तो काफी प्रसिद्ध है।

साहित्यिक भाषा--नवीं सदी के आरंभ की एक पहेली 'इंदोवीनेल्लो वेरोनेसे' (वेराना की पहेली) मिलती है जिसमें आधुनिक इतालवी भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसके पूर्व के भी लातीनी अपभ्रंश (लातीनो वोलगारे) के प्रयोग लातीनी में लिखे गए हिसाब के कागजपत्रों में मिलते है जो आधुनिक भाषा के प्रारंभ की सूचना देते है। सातवीं और आठवीं सदी में लिखित पत्रों में स्थानों के नाम तथा कुछ शब्दों के रूप मिलते है जो नवीन भाषा के द्योतक है। साहित्यिक लातीनी और जनसामान्य की बोली में धीरे धीरे अंतर बढ़ता गया और बोली की लातीनी से ही आधुनिक इतालवी का विकास हुआ। इस बोली के अनेक नमूने मिलते है। सन् ९६० में मोतेकास्सीनो के मठ की सीमा की पंचायत के प्रसंग में एक गवाही का बयान तत्कालीन बोली में मिलता है, इसी प्रकार की बोली तथा लातीनी अपभ्रंश में लिखित लेख रोम के संत क्लेमेंते के गिरजे में मिलता है। ऊंब्रिया तथा मार्के में भी ११वीं १२वीं सदी की भाषा के नमूने धार्मिक स्वीकारोक्तियों के रूप में मिलते है। १२वीं सदी का तोस्कानो भाषा का नमूना मसखरे के गीत 'रीत्मो ज्यूल्लारेस्को तोस्कानो' में मिलता है। ऐसे ही अन्य महत्वपूर्ण नमूने भी मिलते है, किंतु इतालवी भाषा की पद्यबद्ध रचनाओं के उदाहरण सिसिली के सम्राट् फेडरिक द्वितीय (१३वीं सदी) के दरबारी कवियों के मिलते है। ये कविताएँ सिसिली की बोली में रची गई होंगी। शृंगार ही इन कविताओं का प्रधान विषय है। पिएर देल्ला विन्या, याकोपो द अक्वीनो आदि अनेक पद्यरचयिता फेडरिक के दरबार में थे। वह स्वयं भी कवि था।

बेनेवेंतो के युद्ध के पश्चात् साहित्यिक और सांस्कृतिक केंद्र सिसिली के बजाय तोस्काना हो गया जहाँ शृंगारविषयक गीतिकाव्य की रचना हुई, गृइत्तोने देल वीवा द आरेज्जो (मृत्यु १२९४ ई०) इस धारा का प्रधान कवि था। फ्लोरेंस, पीसा, लूक्का तथा आरेज्जो में इस काल में अनेक कवियों ने तत्कालीन बोली में कविताएँ लिखी। बोलोन (इता० बोलान्या) में साहित्यिक भाषा का रूप स्थिर करने का प्रयास किया गया। सिसिली और तोस्काना काव्यधाराओं ने साहित्यिक इतालवी का जो रूप प्रस्तुत किया उसे अंतिम और स्थिर रूप दिया 'दोल्चे स्तील नोवो' (मीठी नवीन शैली) के कवियों ने। इन कवियों ने कलात्मक संयम, परिष्कृत रुचि तथा परिमार्जित समृद्ध भाषा का ऐसा रूप रखा कि आगे की कई सदियों के इतालवी लेखक उसको आदर्श मानकर इसी में लिखते रहे। दांते अलीगिएरी (१२६५-१३२१) ने इसी नवीन शैली में, तोस्काना की बोली में, अपनी महान् कृति 'दिवीना कोमेदिया' लिखी। दांते ने 'कोन्वीविओ' में गद्य का भी परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया और गुइदो फावा तथा गृइत्तोने द आरेज्जो की कृत्रिम तथा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न स्वाभाविक गद्य का रूप उपस्थित किया। दांते तथा 'दोल्चे स्तील नोवो' के अन्य अनुयायियों में अग्रगण्य है फ्रांचेस्को पेत्रार्का और ज्योवान्नी बोक्काच्चो। पेत्रार्का ने फ्लोरेंस की भाषा को परिमार्जित रूप प्रदान किया तथा उसे व्यवस्थित किया। पेत्रार्का की कविताओं और बोक्काच्चो की कथाओं ने इतालवी साहित्यिक भाषा का अत्यंत सुव्यवस्थित रूप सामने रखा। पीछे के लेखकों ने दांते, पेत्रार्का और बोक्काच्चो की कृतियों से सदियों तक प्रेरणा ग्रहण की। १५वीं सदी में लातीनी के प्राचीन साहित्य के प्रशंसकों ने लातीनी को चलाने की चेष्टा की और प्राचीन सभ्यता के अध्ययनवादियों (मानवतावादी--ह्यूमैनिस्ट) ने नवीन साहित्यिक भाषा बनाने की चेष्टा की, किंतु यह लातीनी प्राचीन लातीनी से भिन्न थी। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप साहित्यिक भाषा का रूप क्या हो, यह समस्या खड़ी हो गई। एक दल विभिन्न बोलियों के कुछ तत्व लेकर एक नई साहित्यिक भाषा गढने के पक्ष में था, एक दल तोस्काना, विशेषकर फ्लोरेंस की बोली को यह स्थान देने के पक्ष में था और एक दल, जिसमे पिएतरो बेंबो (१४७०-१५४७) प्रमुख था, चाहता था कि दांते, पेत्रार्का और बोक्काच्चो की भाषा को ही आदर्श माना जाय। मैकियावेली ने भी फियोरेंतीनो का ही पक्ष लिया। तोस्काना की ही बोली साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गई। आगे सन् १६१२ में क्रूस्का अकादमी ने इतालवी भाषा का प्रथम शब्दकोश प्रकाशित किया जिसने साहित्यिक भाषा के रूप को स्थिर करने में सहायता प्रदान की। १८वीं सदी में एक नई स्थिति आई। इतालवी भाषा पर फ्रेंच का अत्यधिक प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। फ्रेंच विचारधारा, शैली, शब्दावली तथा वाक्यांशों से और मुहावरों के अनुवादों से इतालवी भाषा की गति रुक गई। फ्रांसीसी बुद्धिवादी आंदोलन उसका प्रधान कारण था। इतालवी भाषा के अनेक लेखकों--आल्गारोत्ती, वेर्री, बेक्कारिया--ने निःसंकोच फ्रेंच का अनुसरण किया। शुद्ध इतालवी के पक्षपाती इससे बहुत दुःखित हुए। मिलान के निवासी अलेस्सांद्रो मांजोनी (१७८५-१८७३) ने इस स्थिति को सुलझाया। राष्ट्र की एकता के लिये वे एक भाषा का होना आवश्यक मानते थे और फ्लोरेंस की भाषा को वे उस स्थान के उपयुक्त समझते थे। अपने उपन्यास 'ई प्रोमेस्सी स्पोसी' (सगाई हुई) में फ्लोरेंस की भाषा का साहित्यिक आदर्श रूप उन्होंने स्थापित किया और इस प्रकार तोस्काना की भाषा ही अंतिम रूप से साहित्यिक भाषा बन गई। इटली के राजनीतिक एकता प्राप्त कर लेने के बाद यह समस्या निश्चित रूप से हल हो गई।

सं० ग्रं०--भा० स्क्यापफीनी मोमेती दी स्तोरिया देल्ला लिंगुआ इतालियाना, बारी, १९५२, ज्याकोमो देवातो-प्रोफीला दी स्तोरिया लिंगु. इस्तीका इतालियाना, फीरेंजे, १९५३, आजेला मोतेवेरदी मानुआले दी आव्वियामेंतो आग्ली स्तूदी रोमाजी, मिलानो, १९५२, ना० सापेन्यो. कापेदिओ दी स्तोरिया देल्ला लेत्तेरातूरा इतालियाना, ३ भाग, फीरेंज, १९५२। (रा० सिं० तो०)

इतालवी साहित्य

इतालवी साहित्य इटली में मध्ययुग में जिस समय मोंतेकास्सीनो जैसे केंद्रों में लातीनी में अलंकृत शैली में पत्र लिखने, अलंकृत गद्य लिखने (आर्तेस दिक्तादी, अर्थात् रचनाकला) की शिक्षा दी जा रही थी उस समय विशेष रूप से फ्रांस में तथा इटली में भी नवीन भाषा में कविता की रचना होने लगी थी। अलंकृत लययुक्त मध्ययुगीन लातीनी का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र तथा राजदरबारों तक ही सीमित था, किंतु रोमांस बोलियों में रचित कविता लोक में प्रचलित थी। चार्ल्स मान्य तथा आर्थर की वीरगाथाओं को लेकर फ्रांस के दक्षिणी भाग (प्रोवेंसाल) में १२वीं सदी में प्रोवेंसाल बोली में पर्याप्त काव्यरचना हो चुकी थी। प्रोवेंसाल बोली में रचना करनेवाले दरबारी कवि (त्रोवातोरी) एक स्थान से दूसरे स्थान पर आश्रयदाताओं की खोज में घूमा करते थे और दरबारों में अन्य राजाओं का यश, यात्रा के अनुभव, युद्धों के वर्णन, प्रेम की कथाएँ आदि नाना विषयों पर कविताएँ रचकर यश, धन एवं सम्मान की आशा में राजा रईसों के यहाँ उन्हें सुनाया करते थे। इतालवी राजदरबार से संबंध रखनेवाला पहला दरबारी कवि (त्रोवातोरे) रामबाल्दो दे वाकेइरास कहा जा सकता है जो प्रोवेंसा (फ्रांस) से आया था। इस प्रकार के कवियों के समान उसकी कविता में भी प्रेम, हर्ष, वसंत तथा हरे भरे खेतों और मैदानों का चित्रण है तथा भाषा मिश्रित है। मार्कोइया, मोफेर्रातो, मालास्पीना, एस्ते और रावेन्ना के रईसों के दरबारों में ऐसे कवियों ने आकर आश्रय ग्रहण किया था। इटली के कवियों ने भी प्रोवेंसाल शैली में इस प्रकार की काव्यरचना की। सोरदेल्लो दी गोइतो (मृत्यु १२७० ई०), लाफाको क्वीगाला, पेरचेवाल दोरिया जैसे अनेक इतालवी त्रोवातोरी कवि हुए। दी गोइतो का तो दांते ने भी स्मरण किया है। इतालवी काव्य का आरंभिक रूप त्रोवातोरी कवियों की रचनाओं में मिलता है।

धार्मिक, नैतिक तथा हास्यप्रधान लोकगीत--इतालवी साहित्य के प्राचीनतम उदाहरण पद्यबद्ध ही मिलते है। १२वीं १३वीं सदी की धार्मिक पद्यबद्ध रचनाएँ तत्कालीन लोकरुचि की परिचायक है। धार्मिक आंदोलनों में आसीसी के संत फ्रांचेस्को (११८२-१२२६) के व्यक्तित्व ने जनसामान्य के हृदय का स्पर्श किया था। ऊंब्रिया की बोली में रचित उनका सरल भावुकतापूर्ण गीत इल-कांतीको दी फ्राते सोले (सूर्य का गीत) तथा उनके अनुयायी ज्याकोमीनो दा वेरोना की पद्यरचना दे जेरूसलेम चेलेस्ती (स्वर्गीय जेरूसलेम) तथा १३वीं सदी में रचित लाउदे (धार्मिक नाटकीय संवाद) इन सबमें लोकरुचि की धार्मिक भावना से युक्त कविता का स्वरूप मिलता है। उत्तरी इटली के ऊगोच्योने दा लोदी की धार्मिक नैतिक कृति

लीब्रो (पुस्तक), गेरार्दो पेतेग का सुभाषित संग्रह (नोइए) बोनवेसीन देल्ला रीवा (मृत्यु १३१३ ई० के लगभग) का नैतिक पद्यसंग्रह कोन्त्रास्ती (विषमताएँ), कालेन्दारी देई मेसी (महीनों का परिचय—बारहमासा जैसा), लीब्रो देल्ले त्रे स्क्रीतूर (तीन लेखों की पुस्तक) प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इतालवी साहित्य को लययुक्त पद्य इसी धारा ने प्रदान किया। इस काल के लोकगीत तथा मसखरों की पद्यबद्ध हल्के हास्य से युक्त रचनाएँ भी इतालवी साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। विवाहादि विभिन्न अवसरों पर गाए जानेवाले लोकनृत्य नाट्य का अच्छा उदाहरण बोलोन का अवावील का गीत है। लोक में प्रचलित इस काव्यधारा ने शिष्ट कवियों के लिये काव्य के नमूने प्रस्तुत किए। इसी प्रकार का एक रूप ज्यूल्लारी (मसखरे, अंग्रेजी जॉग्लर) लोगों की रचनाओं में मिलता है। ज्यूल्लारी राजा रईसों के दरबारों में घूमा करते थे और स्वरचित तथा दूसरों की हास्यप्रधान रचनाओं को सुनाकर मनोरंजन किया करते थे। ऐसी रचनाओं में तोस्काना का साल्वा लो वेस्कोवो सेनातो (१२वीं सदी, पीसा के आर्चविशप की प्रशंसा) इतालवी साहित्य के प्राचीनतम उदाहरणों में से माना जाता है। सिएना के मसखरे (भाँड़) रूज्येरी अपूलिएसे (१३वीं सदी का पूर्वार्ध) की रचनाएँ वांतो (अभिमान), व्यंग्यकविता पास्स्यान उल्लेखयोग्य हैं। लोककाव्य और शिष्ट साहित्यिक कविता के बीच की कड़ी मसखरों की कविताएँ तथा धार्मिक नैतिक पद्यबद्ध रचनाएँ प्रस्तुत करती हैं। किंतु इतालवी साहित्य का वास्तविक आरंभ सिसिली के सम्राट् फेदेरीको द्वितीय के राजदरबार के कवियों से हुआ।

सिचिलीय (सिसिलीय) और तोस्कन काव्यधारा—फेदेरीको द्वितीय (११९४-१२५०) तथा मानफ्रेदी (मृत्यु १२६६ ई०) के राजदरबारों में कवियों तथा विद्वानों का अच्छा समागम था। उनके दरबारों में इटली के विभिन्न प्रांतों से आए हुए अनेक कवि, दार्शनिक, संगीतज्ञ तथा नाना शास्त्रविशारद थे। इन कवियों के सामने प्रोवेंसाल भाषा तथा त्रोवातोरी कवियों के नमूने थे। उन्हीं आदर्शों को सामने रखकर इन कवियों ने सिसिली की तत्कालीन भाषा में रचनाएँ कीं। विषय, व्यक्त करने का ढंग, प्रवृत्तियाँ आदि अनेक प्रकार की समानताएँ इन कवियों की कविताओं में मिलती हैं। इनमें से पिएर देल्ला विन्या, आर्रीगो तेस्ता (आरेज्जो निवासी), याकोपो मोस्ताच्ची, गुइदो देल्ले कोलोन्ने, याकोपो द'अक्वीनो (जेनोवा निवासी), ज्याकोमो दा लेन्तीनो तथा सम्राट् के पुत्र एंजो के नाम प्रसिद्ध हैं। इन्होंने साहित्यिक भाषा को एकरूपता दी। बेनवेंतो के युद्ध (१२६६) के पश्चात् सिसिली से साहित्यिक केंद्र उठकर तोस्काना पहुँचा। फ्लोरेंस का राजनीतिक महत्व भी इसके लिये उत्तरदायी था। वहाँ प्रेमपूर्ण विषयों के गीतिकाव्य की रचना पहले से ही प्रचलित थी। त्रोवातोरी कवियों का प्रभाव पड़ चुका था। फ्लोरेंस की काव्यधारा में सबसे प्रधान कवि गुइत्तोने द'आरेज्जो (१२२५-९४) हैं। इसने अनेक कवियों को प्रभावित किया। बोनाज्यूंता दा लूका, क्यारो दावांजाती आदि इस धारा के कवियों ने फ्लोरेंस में काव्य की ऐसी भूमि तैयार की जिसपर आगे चलकर सुंदर काव्यधारा प्रवाहित हुई। इस युग की रुचि पर प्रभाव डालनेवाला लेखक ब्रूनेत्तो लातीनी (१२२०-१२९३) था जिसका स्मरण दांते ने अपनी कृति में किया है। उनकी रूपक काव्यकृति तेसोरेत्तो (खजाना) में अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

प्रेम की भावना से प्रेरित होकर कोमल पदावली में लिखनेवाले कवियों की काव्यधारा को दांते ने 'दोल्चे स्तील नुओवो' (मीठी नई शैली) नाम दिया। इस काव्यधारा का प्रभाव आगे की कई पीढ़ियों के कवियों पर पड़ता रहा। इस नई काव्यधारा के प्रवर्तक बोलोन के गुइदो गुइनीचेल्ली (१२३०-१२७६) माने जाते हैं। गूइदो कावाल्कांती (१२५२-१३००) का गीत दोन्ना मे प्रेगा पेर्के इओ वोल्या दीरे (महिला मेरी प्रार्थना क्यों करती है, मैं कहना चाहता हूँ) इस काव्यधारा का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। कावाल्कांती वास्तव में प्रेम-काव्य-धारा का दांते के पूर्व सबसे बड़ा प्रतिनिधि कवि है। लापो ज्यान्नी, ज्यान्नी आल्फानी, चीनो दा पिस्तोइया (१२७०-१३३६), दीनो फ्रेस्कोबाल्दी (मृत्यु १३१६ ई०) इस धारा के अन्य कवि हैं।

१३वीं सदी में कविता की प्रधानता रही। गद्य अपेक्षाकृत कम लिखा गया। सिएना के हिसाबखातों में प्रयुक्त गद्य के उदाहरण तथा कुछ व्यापारिक पत्रों के अतिरिक्त मार्को पोलो की यात्राओं का विवरण इल मिलियोने, कहानीसंग्रह नोवेल्लीनो तथा धार्मिक और नैतिक विषयों पर लिखे गए पत्रों—ले-लेत्तेरे— का संग्रह, कथासंग्रह लीब्रो देई सेत्ते सावी आदि उल्लेखनीय गद्यरचनाएँ हैं। इन रचनाओं में लोक में प्रचलित सहज गद्य तथा कृत्रिम गद्यशैली दोनों रूप मिलते हैं।

नई मीठी शैली काव्यधारा के साथ ही एक और धारा प्रवाहित हो रही थी जिसमें साधारण श्रेणी के लोगों के मनोरंजन की विशेष सामग्री थी। खेलों, नृत्यों, साधारण रीति रिवाजों को ध्यान में रखकर ये कविताएँ लिखी जाती थीं। फोल्गोरे दा सान जिमीनियानो (दरबारी कवि) ने दिनों, महीनों, उत्सवों को लक्ष्य करके कई सॉनेट लिखे हैं। ऐसा ही कवि चेक्को आंजियोलिएरी है, इसका प्रसिद्ध सॉनेट है—स'इ' फोस्से फोको, आर्देरेइ ल' मोंदो (अगर मैं आग होता तो संसार को जला देता)। इसी धारा में बुद्धिवादी उपदेशक कवि बोनवेसीन दा रीवा आदि रखे जा सकते हैं। धार्मिक साहित्य की दृष्टि से याकोपोने दा तोदी भी स्मरणीय है।

दांते, पेत्रार्का बोक्काच्यो—मीठी नई शैली का पूर्णतम विकास तथा इतालवी साहित्य का बहुमुखी विकास इन तीन महान् साहित्यकारों की कृतियों में मिलता है। इतालवी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं दांते अलिघियेरी (१२६५-१३२१)। दांते की प्रतिभा अपने समकालीन साहित्यकारों में ही नहीं, विश्वसाहित्य के सब समय के कवियों में बहुत ऊँची है। समकालीन संस्कृति को आत्मसात् करके उन्होंने ऐसे मौलिक सार्वभौम रूप में रखा कि इतालवी साहित्य को उन्होंने एक नया मोड़ दिया। उनका जीवन काफी घटनापूर्ण रहा। उनकी कविता की प्रेरणास्रोत उनकी प्रेमिका बेआत्रीचे थी। वीता नोवा (नया जीवन) के अनेक गीत प्रेमविषयक हैं। यह प्रेम आदर्शवादी प्रेम है। बेआत्रीचे की मृत्यु के बाद दांते का प्रेम जैसे एक नवीन कल्पना और सौंदर्य से युक्त हो गया था। वीता नोवा के गीतों में कल्पना, संगीत, आश्चर्य सबका सुंदर समन्वय है। इसी के समान अप्रौढ़ कृति इल कोन्वीवियो (सहगान) है जिसमें इतालवी गद्य का प्रथम सुंदर उदाहरण मिलता है। इस कृति में दांते ने कुछ गीतों की व्याख्या की है व अलग भी ले रीमे में मिलते हैं। इतालवी भाषा पर लातीनी में दांते की कृति द वुल्गारी एलोक्वेंतिया है। दांते का राजनीतिक विचारधारा का परिचय उनकी लातीनी कृति मोनार्किया में मिलता है। इन छोटी कृतियों के साथ ही उनके पत्रों—ले एपिस्तोले—आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है। किंतु दांते और इतालवी साहित्य की सबसे श्रेष्ठ कृति कोम्मेदिया (प्रहसन) है। कृति के इन्फेर्नो (नरक), पुर्गातोरियो (शुद्धिलोक) और पारादीसो (स्वर्ग), तीन खंडों में १०० कांती (गीत) हैं। कोम्मेदिया एक प्रकार से शाश्वत मानव भावों के इतिहास का महाकाव्य है। दांते ने अपना परिचित सारा ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक जगत् उसमें रख दिया है। इतिहास, कल्पना, धर्म आदि क्षेत्रों के व्यक्ति कोम्मेदिया में मिलते हैं। रसों और भावों की दृष्टि से उसमें मानव की सभी स्थितियाँ मिलती हैं। कोमल परुष, करुण, नम्र, भयानक, गर्व, अभिमान, दर्प, हास्य, हर्ष विषाद आदि सभी भाव कोम्मेदिया में मिलते हैं और साथ ही अत्यंत उत्कृष्ट काव्य। मानव संस्कृति का यह एक अत्यंत उच्च शिखर है। इतालवी भाषा का इस कृति के द्वारा दांते ने रूप स्थिर कर दिया। कृति के प्रति श्रद्धा के कारण उसके साथ दिवीना (दिव्य) नाम जोड़ दिया गया। दिवीना कोम्मेदिया का प्रभाव इतालीय जीवन पर अभी भी बहुत है।

फ्राचेस्को पेत्रार्का (१३०४-१३७४) को इटली का पहला मानवतावादी तथा नवीन धारा का पहला गीतिकवि कहा जा सकता है। प्राचीन लातीनी साहित्य का उसने गंभीर अध्ययन और यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण किया था। अपने समय के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों से उसका परिचय था। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में जिस प्रकार पेत्रार्का प्राचीनता का पक्षपाती था, राजनीति के क्षेत्र में भी प्राचीन रोम के वैभव का वह प्रशंसक था। प्राचीन लातीनी कवियों की शैली पर पेत्रार्का ने अनेक ग्रंथ लातीनी में लिखे—ल'आफ्रीका लातीनी में लिखा प्रधान काव्य है। लातीनी गद्य में भी पेत्रार्का ने प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियाँ—दे वीरीस इलुस्त्रीबुस, धार्मिक प्रवचन—दल सेक्रेतुम तथा अन्य अनेक ग्रंथ लिखे। पेत्रार्का की

इतालवी भाषा मे लिखित गीति लेरीमे, कॉर्जोनिएरे तथा ई त्रियोफी है। लाउरा नामक एक युवती पेत्रार्का की प्रेयसी थी। इस प्रेम ने पेत्रार्का को अनेक गीत लिखने की प्रेरणा प्रदान की। कार्जोनिएरे को पेत्रार्का के प्रेम का इतिहास कहा जा सकता है। रीमे मे प्रेम, राजनीति, मित्रो तथा प्रशसक के विषय मे कविताएँ हैं। त्रियोफी रूपक काव्य है जिसे पेत्रार्का अतिम रूप नही दे सका। प्रेम, मृत्यु, यश, काल, शाश्वतता जैसे विषयो पर रचनाएँ की गई है। पेत्रार्का की रचनाओ मे सतर्क कलाकार के दर्शन होते है। बाह्य रूप को सजाकर रखने मे वह अद्वितीय कवि है। उसकी समस्त गीतिरचनाएँ अपनी आत्मा से ही जैसे बातचीत का रूप हो। वास्तविकता या वर्णनात्मकता का उनमे प्राय अभाव है। भाषा का रूप ऐसा सजाकर रखा है कि उनकी भाषा आधुनिक प्रतीत होती है।

ज्योवान्नी बोक्काच्यो (१३१३-१३७५) भी प्राचीनता का प्रशसक और लातीनी का अच्छा ज्ञाता था। पेत्रार्का को बोक्काच्यो बडी श्रद्धा और प्रेम से देखता था। दोनो बडे मित्र थे किंतु पेत्रार्का के समान विद्वान् तथा गभीर विचारक बोक्काच्यो नही था। उसने गद्य पद्य दोनो मे अच्छी रचना की। इतालवी गद्य साहित्य की प्रथम गद्यकथा फीलोकोलो मे स्पेन के राजकुमार फ्लोरिओ और ब्याचीफियोरे की प्रेमकथा है। फीलोस्त्रातो (प्रेम की विजय) पद्यबद्ध कथाकृति है। तेसेइदा पहली इतालवी पद्यबद्ध प्रेमकथा है जिसमे प्रेम के साथ युद्धवर्णन भी है। निन्फाले द' अमेतो गद्यकाव्य है जिसमे बीच बीच मे पद्य भी है। इसमे पशुचारक अमेतो की कल्पित प्रेमकहानी है जिसे रूपक का रूप दे दिया गया है। इसे पहली इतालवी पशुचारक प्रेमकथा कहा जा सकता है। फियामेत्ता भी एक छोटी प्रेमकथा है जिसमे नायिका उत्तम पुरुष मे अपनी प्रेमकथा कहती है। इस गद्यकृति मे बोक्काच्यो ने प्रेम की वेदना का बडा सूक्ष्म चित्रण किया है। लघु कृतियो मे निन्फाले फिएसोलानो सुदर काव्यकृति है। बोक्काच्यो की सर्वप्रसिद्ध तथा प्रौढ कृति देकामेरोन (दस दिन) है। कृति मे सौ कहानियाँ है, जो दस दिनो मे कही गई है। फ्लोरेंस की महामारी के कारण सात युवतियाँ और तीन युवक शहर से दूर एक भग्न प्रासाद मे ठहरते है और इन कहानियो को कहते सुनते है। ये कहानियाँ बडे ही कलात्मक ढग से एक दूसरी से जुडी हुई है। कृति मे सुदर वर्णन है। प्रत्येक कहानी कला का सुदर नमूना कही जा सकती है। कुछ कहानियाँ बहुत शृगारपूर्ण है। भाषा, वर्णन, कला आदि की दृष्टि से देकामेरोन् अत्यत उत्कृष्ट कृति है। इतालवी साहित्य मे बहुत दिनो तक दिवीना कोम्मेदिया तथा देकामेरोन् के अनुकरण पर कृतियाँ लिखी जाती रही। बोक्काच्यो ने लातीनी मे भी अनेक कृतियाँ लिखी है तथा वह इटली का पहला इतिहासलेखक कहा जा सकता है। दाते का वह बडा प्रशसक था, दाते की प्रशसा मे लिखी कृति त्रात्तातेल्लो इन लाउदे दी दाते (दाते की प्रशसा मे प्रबध) तथा इल कोमेते (टीका) दाते को समझने के लिये अच्छी कृतियाँ है।

१४वी सदी के अन्य साहित्यकारो मे राजनीति से सबधित पद्यरचयिता तथा गीतिकार फाज्यो देल्यी ऊबेरती अपने प्रबधात्मक काव्य दीत्तामोदो (ससारनिर्देश) के लिये प्रसिद्ध है। प्रेमादि भावो को लेकर कविता करनेवाले अतोनियो बेक्कारी, सीमोने सेरदीनी, सानेटो के रचयिता अतोनियो पूच्ची तथा कवि और कहानीकार फ्रांको साक्केत्ती (१३३०-१४००), धार्मिक धारा मे किसी अज्ञात लेखक की कृति ई फियोरेत्ती दी सान फ्राचेस्को (सत फ्रासिस की पुष्पिकाएँ) तथा याकोपो पासावाती की कृतियाँ, सांता कातेरीना दा सीएना (१३४७-१३८०) के धार्मिक पत्र उल्लेखनीय है। समसामयिक परिस्थिति पर प्रकाश डालनेवाले विवरणो के लेखको मे दीनो कापायी (१२५५-१३२४) तथा ज्योवान्नी विल्लानी (मृत्यु १३४८ ई०) प्रसिद्ध हैं। विल्लानी ने अपने समय की अनेक रोचक सूचनाएँ दी है।

१५वी सदी मे मानववाद के प्रभाव के कारण इतालवी साहित्य के स्वच्छद विकास में बाधा पड गई। पेत्रार्का के पहले ही प्राचीन युग के अध्येता अल्बेरतीनो मूस्सातो मानववाद की नीव डाल चुके थे। इनका मत था कि मानव आत्मा के सबसे अधिकारी अध्येता प्राचीन थे, उन प्राचीनो की कृतियों का अध्ययन मानववाद है। इस परपरा के कारण प्राचीन लातीनी रचनाओं, इतिहास आदि का अध्ययन, भाषाओं का अध्ययन तो हुआ, लेकिन इतालवी के स्थान पर लातीनी मे रचनाएँ होने लगी जिनमे मौलिकता बहुत कम रह गई। सभी लेखक प्राचीन मूल साहित्य की ओर मुड गए और उसकी शैली की नकल करने लगे। पेत्रार्का से प्रभावित कोलूच्यो सालूतातो, ग्रीक और लातीनी रचनाओ के अध्येता, सग्रहकर्ता नीक्कोलो निक्कोली, दार्शनिक प्रबध और पत्रलेखक पोज्जो ब्राच्योलीनी भाषा, दर्शन, इतिहास पर लिखनेवाले लोरेंजो वाल्ला आदि प्रमुख लेखक है। इटली से यह नई धारा यूरोप के अन्य देशो मे भी पहुँची और देशानुकूल इसमे परिवर्तन भी हुए। साहित्य के नए आदर्शो का भी मानववादियो ने प्रचार किया। फ्राचेस्को फील्लेल्फो (१३९८-१४८१) इस नए साहित्यिक समाज का १५वी सदी का अच्छा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। मानववादी धारा के कवियो का आदर्श प्राचीन लातीनी कवियो की रचनाएँ ही थी, प्रकृति या समसामयिक समाज का इनके लिये कोई महत्व नही था, किंतु १५वी सदी के उत्तरार्ध मे अनेक साहित्यिक व्यक्तित्व हुए जिनमे से जीरोलामो सावोनारोला (१४५२-१४९८) कवि, लुइजी पुलची (१४३२-१४८४) सामान्य श्रेणी के है। पुलची का नाम उनकी वीरगाथात्मक कृति मोर्गांते के कारण अमर है। पुलची की कृति के समान ही मातेओ मारिआ बोइयार्दो (१४४१-१४९४) की कृति ओरलादो इन्नामोरातो (आसक्त ओरलादो) है। यद्यपि कृति मे प्राचीनता की जगह जगह छाप है, तथापि उसमें पर्याप्त प्रवाह और सजीवता है। अपनी सदी का यह सबसे उत्तम प्रेमगीति-काव्य है। कार्लोमान्यो (चार्लीमैग्ना) से सबधित कथाप्रवादो से कृति का विषय लिया गया है। कृति अधूरी रह गई थी जिसे आरिओस्तो ने पूरा किया। ओरलादो और रिनाल्दो दो वीर योद्धा थे जो कार्लोमान्यो की सेना मे थे। वे दोनो आजेलिका नामक सुदरी पर अनुरक्त हो जाते हैं। यही प्रेमकथा नाना अन्य प्रसगो के साथ कृति का विषय है। फ्लोरेंस का रईस लोरेंजो दे' मेदीची उपनाम इल मान्यीफिको (भव्य) (१४४९-१४९२) इस आधी सदी का महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है। राजनीति तथा साहित्यजगत् दोनो मे ही उसने सक्रिय भाग लिया। उसने स्वय अनेक कृतियाँ लिखी तथा अनेक साहित्यिको को आश्रय दिया। उनकी कृतियों मे गद्य मे लिखी प्रेमकथा कोमेतो, पद्यबद्ध प्रेमकथाएँ—सेल्वे द' अमोरे (प्रेम का वन), आम्ब्रा, आखेटविषयक कविता काच्चा कोल फाल्कोने (गीध के साथ शिकार), आमोरी दी वेनेरे ए दी मार्ते (वेनस तथा मार्स का प्रेम) तथा बेओनी काव्यप्रसिद्ध कृतियाँ है। मान्यीफिको की प्रतिभा बहुमुखी थी। आजेलो आम्ब्रोजीनी उपनाम पोलीत्सियानो (१४५४-१४९४) ने ग्रीक और लातीनी मे भी रचनाएँ की। इतालवी रचनाओ मे स्तांजे पेर ला ज्योस्त्रा (फ्लोरेंस के ज्योस्त्रा उत्सव की कविताएँ), सगीत-नाट्य-कृति ओरफेओ तथा कुछ कविताएँ प्रधान है। पोलित्सियानो की सभी कृतियो का वातावरण प्राचीनता की याद दिलाता है। गद्यलेखको मे लेओन बातीस्ता आल्बेरती, लेओनार्दो द' विची (१४५२-१५१९), वेस्पासियानो द' बिस्तीच्ची, मातेओ पाल्मिएरी तथा गद्यकाव्य के क्षेत्र मे याकोपो सान्नाज्जारो प्रधान है। उसकी कृति आर्कादिया की प्रसिद्धि सारे यूरोप मे फैल गई थी। इस सदी मे बुद्धिवादी आदोलन के फलस्वरूप इटली मे फ्लोरेंस, रोम, नेपल्स मे अकादमियो की स्थापना हुई। मानववादी धारा के ही फलस्वरूप वास्तव मे पुनर्जागरण (रिनेशाँ) का विकास इटली मे हुआ। अरस्तू के पोएटिक्स के अध्ययन के कारण साहित्य और कला के प्रति दृष्टिकोण कुछ कुछ बदला।

१६वी सदी मे इटली की स्वाधीनता चली गई, किंतु साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से यह सदी पुनर्जागरण के नाम से विख्यात है। लातीनी और ग्रीक तथा प्राचीन साहित्य एव इतिहास की खोज और अध्ययन करनेवाले पिएर वेत्तोरी, विचेलो बोरघीनी, ओनोफियो पानवीनियो जैसे अनेक विद्वान् विभिन्न केंद्रो मे कार्य कर रहे थे। लातीनी मे साहित्यरचना भी इस सदी के पूर्वार्ध मे होती रही, किंतु उसका वेग कम हो गया था। भाषा का स्वरूप भी बेबो, कास्तील्योने, माक्यावेल्ली आदि ने फिर स्थिर कर दिया था। कविता, राजनीति, कला, इतिहास, विज्ञान सभी क्षेत्रो मे एक नवीन स्फूर्ति १६वी सदी मे मिलती है। सदी के उत्तरार्ध मे कुछ ह्रास के चिह्न अवश्य दिखने लगते है। पुनर्जागरण की प्रवृत्तियो की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति लुदोविको आरिओस्तो (१४७४-१५३३) की

कृति ग्रोरलांदो फूरिग्रोसो में हुई है। युद्धों और प्रणय का अद्भुत एवं आकर्षक ढंग से कृति में निर्वाह किया गया है। ग्रोरलांदो का आंजेलिका के लिये प्रेम, उसका पागलपन और फिर शांति का जैसा वर्णन इस कृति में मिलता है वैसा शायद ही किसी अन्य इतालवी कवि ने किया हो। मध्ययुगीन वीरगाथाओं से कवि ने कथावस्तु ली होगी। कल्पना और कविता का बहुत ही सुंदर समन्वय इस कृति में मिलता है। सातीरे (व्यंग्य) आदि छोटी कृतियाँ आरिओस्तो की कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकार १६वीं सदी के काव्य का प्रतिनिधि ओरलांदो फूरिओसो है उसी प्रकार पुनर्जागरण युग की मौलिक, स्वतंत्र, खुली तथा मानव प्रकृति के यथार्थ चित्रण से युक्त विचारधारा नीक्कोलो माक्यावेल्ली (१४६९-१५२७) की कृतियों में मिलती है। नवीन राजनीतिविज्ञान की स्थापना माक्यावेल्ली ने 'प्रिंचीपे' (युवराज) तथा 'दिस्कोर्सी' (प्रवचन) कृतियों द्वारा की। बहुत ही स्पष्टतापूर्वक तार्किक पद्धति से इन कृतियों में व्यवहारवादी राजनीतिक आदर्शों का विवेचन किया गया है। इन दो कृतियों में जिन सिद्धांतों का माक्यावेल्ली ने प्रतिपादन किया है उन्हीं की एक प्रकार से व्याख्या अन्य कृतियों में की है। 'देल्लार्ते देल्ला ग्वेर्रा' (युद्ध की कला) में प्रायः उन्हीं सामरिक सैनिक बातों की विस्तार से चर्चा है जिनका पहली दो कृतियों में संकेत किया जा चुका है। 'ला वीता दी कास्त्रूच्चो (कास्त्रूच्चो का जीवन) भी ऐतिहासिक चरित्र है, जैसा 'प्रिंचीपे' में राजा का आदर्श बताया गया है। इस्तोरिए फियोरेंतीने (फ्लोरेंस का इतिहास) में इटली तथा फ्लोरेंस का इतिहास है। माक्यावेल्ली की विशुद्ध साहित्यिक कृतियों की भाषा तथा शैली भिन्न है। रूपककविता असीनो द'ओरो (सोने का गधा), कहानी बेल्फागोर तथा प्रसिद्ध नाटयकृति माद्रागोला की शैली साहित्यिक है। माद्रागोला पाँच अंकों में समाप्त १६वीं सदी की प्रसिद्धतम (कोमेदी) नाटक कृति है और लेखक की महत्वपूर्ण रचना है। माक्यावेल्ली के सिद्धांतों को सामने रखकर यूरोप में बहुत चर्चा हुई। इतालवी में इतिहास और राजनीति के उन सिद्धांतों को आधार बनाकर इतिहास लिखनेवालों में सर्वश्रेष्ठ फ्रांचेस्को ग्विच्चार्दीनी (१४८३-१५४०) है। उन्होंने तटस्थता और यथार्थ, सूक्ष्म पर्यवेक्षणदृष्टि का अपनी कृतियों—स्तोरिया द इतालिया तथा ई रिकोर्दी (संस्मरण)—में ऐसा परिचय दिया है कि इस काल के वे श्रेष्ठतम इतिहासलेखक माने जाते हैं। ई रिकोर्दी में उनके विस्तृत और गहन अनुभव का परिचय मिलता है। लेखक ने अनेक व्यक्तियों पर निर्णय तथा अनेक घटनाओं पर अपना मत दिया है। इसी तरह स्तोरिया द' इतालिया में पुनर्जागरणकाल की इटली की विचारधारा की सबसे परिपक्व अभिव्यक्ति मिलती है। ग्विच्चार्दीनी सक्रिय राजदूत, कूटनीतिज्ञ और शासक थे। अपने जीवन से संबंधित दियारियो देल वियाज्जो इन स्पान्या (स्पेन यात्रा की डायरी), रेलात्सियोने दी स्पान्या (स्पेन का विवरण) जैसी अनेक कृतियाँ लिखी है। उल्लेखयोग्य इतिहास और राजनीति विषयक अन्य साहित्यरचयिताओं में इस्तोरिए फियोरेंतीने (फ्लोरेंस का इतिहास) का लेखक बेनेदेत्तो सेन्यी, स्तोरिया द' एउरोपा (यूरोप का इतिहास) का लेखक ज्याबूलारी है। प्रसिद्ध कलाकारों की जीवनी लिखनेवालों में ज्योर्ज्यो वासारी (१५११-१५७४) का स्थान महत्वपूर्ण है। अत्यंत सुंदर आत्मकथात्मक ग्रंथ लिखनेवालों में बेनवेनूतो चेल्लीनी का स्थान श्रेष्ठ है। इस सदी की प्रतिनिधि कृति बाल्दास्सार कास्तील्योने (१४७८-१५२९) की कोर्तेज्यानो (दरबारी) भी है जिसमें तत्कालीन आदर्श दरबारी जीवन तथा रईसी का चित्रण है। उच्च समाज में भद्रतापूर्ण व्यवहार की शिक्षा देनेवाली ज्योवान्नी देल्ला कासा की कृति गालातेओ भी सुंदर है। पिएतरो अरेतीनो (१४९२-१५५६) अपनी अश्लील शृंगाररचना राजिओनामेंती के कारण इस सदी के बदनाम लेखक हैं। स्त्रियों के आदर्श सौंदर्य का वर्णन अन्योलो फीरेंजुओला (१४९३-१५४३) ने देल्ले बेल्लेज्जे देल्ले दोन्ने (स्त्रियों के सौंदर्य के विषय में) में किया है।

पुनर्जागरणकाल में इस प्रकार सभी के आदर्श रूपों के प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ। काव्य, विशेषकर गीतिकाव्य का मौलिक रूप बहुत कम कवियों में मिलता है। ज्योवान्नी देल्ला कासा, पिएतरो, प्रसिद्ध कलाकार मीकेलांजेलो बुओनारोती (१४७५-१५६४), लुइजी तान्सील्लो (१५१०-१५६८) की गीतिरचनाओं में इस काल की विशेषताएँ मिलती हैं। व्यंग्यपूर्ण तथा आत्मपरिचयात्मक कविता के प्रसंग में फ्रांचेस्को बेरनी (१४९८-१५३५), कथा और वर्णनकाव्यों के प्रसंग में आन्नीबाल कारो तथा नाटककारों में ज्याबार्तीस्ता जीराल्दी, पिएतरो अरेतीनो तथा कथासाहित्य के क्षेत्र में ग्रायोला फ़ीरेंजुओला, मातेओ बांदेलो तथा बनावटी भाषा में कविता लिखनेवाले तेओफीलो फोलेन्गो (१४९१-१५४४) उल्लेखनीय साहित्यिक हैं। पुनर्जागरणकाल की अंतिम महान् साहित्यिक विभूति तोरक्वातो तास्सो (१५४४-१५९५) है। तास्सो की प्रारंभिक कृतियों में १२ सर्गों का प्रेम-वीर-काव्य रिनाल्दो, चरवाहे अमिता और अप्सरा सिल्विया की प्रेमकथा से संबंधित काव्य, अमिता तथा विभिन्न विषयों से संबंधित पद्य 'रोमे' है। तास्सो को महत्व प्रदान करनेवाली उनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'जेरूसलेम्मे लीबेराता' (मुक्त जेरूसलम) है। कृति में गोफ़ेदो दी बूल्योने के सेनापतित्व में ईसाई सेना द्वारा जेरूसलेम को विजय करने की कथा है। यह एक प्रकार का धार्मिक भावना लिए हुए वीरकाव्य है। तास्सो की लघुकृतियाँ 'दियालोगी' (कथोपकथन) तथा लेत्तेरे (पत्र) में से पहली में नाना विषयों पर तर्कपूर्ण शैली में विचार किया गया है तथा दूसरी में लगभग १,७०० पत्रों में दार्शनिक और साहित्यिक विषयों पर विचार किया गया है। अंतिम कृतियों में जेरूसलेमे कोंक्विस्ताता, तोर्रिसमोंदो (दुःखांत नाटक) तथा काव्यकृति मोंदोक्रेआतो है।

इस काल के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक ज्योर्दानो ब्रूनो (१५४८-१६००), तोमास्सो कांपानेल्ला, प्रसिद्ध वैज्ञानिक गालीलेओ गालीलेई (१५६४-१६४२) वैज्ञानिक गद्य के लिये तथा राजनीति इतिहास को नया दृष्टिकोण प्रदान करने की दृष्टि से पाओलो सारपी उल्लेखनीय है।

१७वीं सदी इतालीय साहित्य का ह्रासकाल है। १६वीं सदी के अंत में ही काव्य में ह्रास के लक्षण दिखने लगे थे। नैतिक पतन तथा उत्साहहीनता ने उस सदी में इटली को आक्रांत कर रखा था। इस काल को बारोक्को काल कहते हैं। तर्कशास्त्र में प्रयुक्त यह शब्द साहित्य और शिल्प के क्षेत्र में अति सामान्य, भद्दी रुचि का प्रतीक है। इस युग में साहित्य के बाह्य रूप पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था, ग्रीक रोमन कृतियों का भद्दा अनुकरण हो रहा था, कविता में मस्तिष्क की प्रधानता हो गई थी, अलंकारों के भार से वह बोझिल हो गई थी, एक प्रकार का शब्दों का खिलवाड़ ही प्रधान अंग हो गया था एवं कहने के ढंग ने ही प्रधान स्थान ले लिया था। इस काल के कवियों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा ज्याबातीस्ता मारीनो (१५६९-१६२५) का, इसी कारण इस धारा के अनेक कवियों को मारीनिस्ती तथा काव्यधारा को कभी कभी मारीनिज्म कहा जाता है। मारीनो ने प्राचीन काव्य से बिल्कुल संबंध नहीं रखा, प्राचीन परंपरा से संबंध एकदम तोड़ दिया और ग्वारीनो तथा तास्सो जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त की। कविता को मारीनो बौद्धिक खेल समझता था। मारीनो की कृतियों में विविध विषयों में संबंधित कविताओं का संग्रह लीरा तथा बारोक युग का प्रतिनिधि काव्य आदोने है। यह कृति लंबे लंबे २० सर्गों में समाप्त हुई है। कृति में वेनेरे और चीनीरो की अलंकृत शैली में प्रेमकथा कही गई है। समसामयिकों ने इसे कदाने की कला का अद्भुत नमूना कहकर स्वागत किया और अनेक कवियों को इस कृति ने प्रभावित किया। कवियों में गाब्रिएल्ला-क्याब्रेरा (१५५२-१६३८), फूल्वियो तेस्ती, फ्रांचेस्को ब्राच्योलीनी (१५६६-१६४५) तथा कथासाहित्य और नाट्यसाहित्य के क्षेत्र में फेदेरीको देल्ला वाल्ले (मृत्यु १६२८), ज्याबात्ती देल्फीनो (मृत्यु १६१९) आदि मुख्य हैं। इस सदी में बोलियों में भी काव्यरचना हुई। रोमानो में ज्यूसेप्पे बेरनेरी आदि ने तथा हास्य-व्यंग्य-काव्य की ज्याबातीस्ता बासीले (१५७५-१६३२) ने अच्छी रचनाएँ कीं। १७वीं सदी के अंतिम वर्षों तथा १८वीं के प्रारंभिक वर्षों में इटली की सांस्कृतिक विचारधारा में परिवर्तन हुआ, उसपर यूरोप की विचारधारा का प्रभाव पड़ा। बेकन, देकार्ते की विचारधारा का प्रभाव पड़ा। किंतु इस विचारधारा के साथ इतालवी विचारकों की अपनी मौलिकता भी साथ में थी। १७वीं सदी के साहित्यिक ह्रास के प्रति इटली के विचारक स्वयं सतर्क थे। अतः नवीन विचारधारा को लेकर काफी वाद विवाद चला। काव्यरुचि को लेकर ज्यूसेप्पे ओरसी, आंतोन मारिया साल्वीनी, एप्यूस्ताकियो माफ़ेदी आदि ने

नवीन रुचि की स्थापना का प्रयत्न किया। ज्यान विंचेसो ग्रावीना (१६६४-१७१८), लूदोविको ग्रातोनियो मुरातोरी, ग्रातोनियो कोंती (१६७०-१७४६) ग्रादि ने काव्यसमीक्षा पर ग्रंथ लिखकर नवीन मोड़ देने का प्रयत्न किया। उन्होंने यूरोप की तत्कालीन विचारधारा को इतालवी प्राचीन परंपरा के साथ समन्वित करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार इतिहास का भी नवीन दृष्टि से अध्ययन किया गया। साहित्य, इतिहास और काव्यसमीक्षा को नया मोड़ देनेवालों में इस सदी के सबसे प्रमुख विचारक ज्याँ बातीस्ता वीको (१६६८-१७४४) है। उनकी बेजोड़ कृति प्रिंचिपी दी शिएंजा नोवा (नए विज्ञान के सिद्धांत) में उनके गूढ़ विचार और गहन अध्ययन, चिंतन के परिणाम व्यक्त हुए हैं। कविता के लिये कल्पना आदि जिन आवश्यक तत्वों की उन्होंने चर्चा की उनका काव्यसमीक्षा तथा कवियों पर काफी प्रभाव पड़ा।

१७वीं सदी की कुरुचि को दूर करने के लिये रोम में कुछ लेखक और विद्वानों ने मिलकर 'आर्कादिया' (ग्रीस के रमणीय स्थान आर्कादिया के नाम पर) नामक एक अकादमी की सन् १६९० में स्थापना की। आर्कादिया धीरे धीरे इटली की बहुत प्रसिद्ध अकादमी हो गई और उस समय के सभी कवि और लेखक उससे संपर्क रखते थे। परंपरा के भार से लदी कविता को आर्कादिया के कवियों ने एक नई चेतना प्रदान की। अनेक छोटे बड़े कवि आर्कादिया ने बनाए जिनमें एयुस्ताकियो मानफ्रेदी (१६७४-१७३९), फेरनांदो ग्रातोनियो गेदोनी (१६८४-१७६७), फ्रांचेस्को मारिया जानोत्ती (१६९२-१७७७), ज्याँ बातीस्ता जापी (१६६७-१७१९), पाओलो रोल्ली, लूदोविको सावियोली, याकोपो वीतोरेल्ली आदि प्रमुख हैं। यद्यपि आर्कादिया ने कोई महान् कवि उत्पन्न नहीं किया, किंतु फिर भी इस अकादमी ने ऐतिहासिक महत्व का यह सबसे बड़ा कार्य किया कि १७वीं सदी की काव्यसुरुचि को बदल दिया। आर्कादिया काल के प्रसिद्धतम लेखक पिएत्रो मेतास्तासियो (१६९८-१७८२) ने इटली के रंगमंच को ऐसी कृतियाँ दीं जो कविता के बहुत समीप हैं। १८वीं सदी इटली में नाटक साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। मेतास्तासियो ने अपने नाटकों के विषय इतिहास, लोककथा एवं ग्रीस रोम की धार्मिक अनुश्रुतियों से चुने। प्रेम और वीरता इसके नाटकों के प्रिय भाव हैं। अन्य लेखकों में दुःखांत नाटकों के रचयिता ज्याँ ग्रावीना, पिएर याकोपो मार्तेल्लो तथा सुखांत नाटकों के लिये याकोपो नेल्ली तथा साहित्य में ज्याँ बातीस्ता कास्ती, पिएत्रो वेरी तथा विविध विषयों की सूचना से समन्वित संस्मरण लिखनेवाले प्रसिद्ध ज्याकोमो कासानोवा (१७२५-१७९८) उल्लेखनीय हैं। कासानोवा अपने **मेम्वायर्स** (संस्मरण) के लिये सारे यूरोप में प्रसिद्ध है। बोलिया में कविता लिखनेवालों में ज्योवान्नी मेली (१७४०-१८१५) की बूकोलिका प्रसिद्ध कृति है।

१८वीं सदी के उत्तरार्ध में इतालवी साहित्य पर यूरोपीय विचारधारा, विशेषकर फ्रांसीसी, का प्रभाव पड़ा, इसको इलूमिनिस्तिक विचारधारा नाम दिया गया है। फ्रांस में इलूमिनिस्म (बुद्धिवाद) धारा सारे यूरोप में फैली। इटली में नवीन भावधारा के दो प्रधान केंद्र नापल्स और मिलान थे। मिलान का केंद्र इटली की विशेष परिस्थितियों के समन्वय का भी पक्षपाती था। पिएत्रो वेरी (१७२८-१७९७) ने अपनी अनेक कृतियों द्वारा इस नवीन विचारधारा की व्याख्या की। इस विचारधारा की प्रवृत्तियों को लेकर काफ्फे नामक एक पत्र निकला जिसमें चेसारे बेस्कारिया (१७३८-१७९४) आदि इलूमिनिस्म के सभी प्रसिद्ध साहित्यकारों ने सहयोग दिया। इस धारा के प्रसिद्ध लेखक व्याख्याता फ्रांचेस्को आल्गारोत्ती (१७१२-१७६४), गास्पारे ग्याकार्लो गोज्जी, सावेरियो बेत्तीनेल्ली (१७१८-१८०८) तथा जूसेप्पे बारेत्ती (१७१९-१७८९) हैं। नई काव्यधारा के विषय में इन सभी ने कृतियाँ लिखीं। फ्रांसीसी बुद्धिवाद के अनुकरण का इतालवी भाषा और शैली पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। फ्रांसीसी शब्दों, मुहावरों, वाक्यगठन आदि का अंधानुकरण होने के कारण इतालवी भाषा का स्वाभाविक प्रवाह रुक गया जिसकी आगे चलकर प्रसिद्ध कवि फोस्कोलो, लेयोपारदी, कारदूच्ची आदि सभी ने भर्त्सना की। आर्कादिया और इलूमिनिस्तिक धारा को जोड़नेवाले मध्यममार्गी सुप्रसिद्ध नाटककार कार्लो गोल्दोनी (१७०७-१७९३) हैं। मेतास्तासियो के प्रहसनप्रधान नाटकों से भिन्न गोल्दोनी की नाट्यकृतियाँ गंभीर कलापूर्ण हैं तथा उनमें भी महत्वपूर्ण उनका सुधारवादी दृष्टिकोण है। उनकी अनेक रचनाओं में से कुछ लामेसुदा, ग्रीसेल्दा, गोदोलिएरे वेनेत्सियान्यो, बोत्तेगा देल काफ्फे, बुर्ज्यार्दो, फामील्या देल्लांतीक्वारियो, रूस्तेगी हैं। मेम्वायर्स (संस्मरण) में उन्होंने रंगमंच आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं।

ज्यूसेप्पे पारीनी (१७२९-१७९९) की रचनाओं में नैतिक स्वर की प्रधानता है। अपने युग से वे बहुत प्रसन्न नहीं थे और उसकी आलोचना उन्होंने अत्यंत साहसपूर्वक की है। अपने समय के रईसों की पतित अवस्था पर उन्होंने अपनी दो काव्यकृतियों—मात्तीनो (प्रभात) और मेज्जोज्योरनो (दोपहर)—में कटु व्यंग्य किया है। पारीनी ने प्रसिद्ध गीत भी लिखे हैं—ल इंपास्तूरा, इल बासोन्यो। उनके प्रसिद्ध ओदों (ओड्स) में से ला वीता रूस्तीका, इल दोनो, आल्सील्विया आदि हैं। व्यंग्यकाव्य का अच्छा उदाहरण इल ज्योर्नो (दिन) है जिसमें एक निठल्ले राजकुमार पर व्यंग्य किया गया है। इस सदी का सबसे बड़ा कवि तथा नाटककार वीत्तोरियो आल्फिएरी (१७४९-१८०३) है। आल्फिएरी एक ओर तो फ्रांसीसी बुद्धिवादियों से प्रभावित था, दूसरी ओर उसका हृदय स्वच्छंदतावादी भावना से भरा हुआ था। उसके राजनीतिक विचारों का परिचय उसकी प्रारंभिक कृति देल्लातीरान्नीदे से मिलता है। अन्य प्रारंभिक कृतियों में एतूरिया वेदीकाता, सातीरे, मीसोगाल्लो है। रीमे में कवि की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। आल्फिएरी की दुःखांत नाटक कृतियों में उसके समय की विशेषताएँ तथा उसके व्यक्तिगत उत्साहभाव मिलते हैं। साउल, मीर्रा, आगामेम्नोने, आंतीगोने, मेरोपे, ओरेस्ते आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। उसकी कृतियों में कार्य मंथर गति से बढ़ता है तथा प्रगीति तत्व की प्रधानता मिलती है। वास्तव में वह प्रधान रूप से कवि था और इसी रूप में उसने आगे के कवियों को प्रभावित किया।

१९वीं सदी के प्रारंभ में इतालवी के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। प्राचीन कृतियों का प्रकाशन बिब्लियोतेका देइ क्लास्सीची इतालियानी (१८०४-१४) तथा इतालवी विचारधारा को समझने का प्रयास हो रहा था। इस कार्य का केंद्र मिलान था जो इटली के हर भाग के कवियों, लेखकों तथा विचारकों का कार्यकेंद्र था। माकियावेल्ली, सार्पी, वीको की विचारधारा का मंथन किया जा रहा था और साहित्यिक तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र इटली की नींव डाली जा रही थी। इन विचारकों में फ्रांचेस्को लामोनाको (१७७२-१८१०), विंचेंसो कुओको (१७७०-१८२३), दोमेनीको रोमान्योसी (१७६१-१८३५) प्रमुख हैं। काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में अभिनव प्राचीन (नेओक्लासिक) रुचि स्थापित की जा रही थी जिसमें आसन्न स्वच्छंदतावाद के बीज भी दिखते हैं। कविता के अतिरिक्त कलात्मक गद्य लिखने की परिपाटी का सूत्रपात आंतोनियो चेसारी (१७६०-१८२८) कर रहा था जिसने प्राचीन इतालवी साहित्य से शब्द छाँट छाँटकर अपनी कृति बेल्लेज्जे दी दांते (दांते का सौंदर्य) रची, क्रूस्का के कोश का पुनः संपादन किया तथा उसी शैली में अनेक अन्य कृतियाँ लिखीं। विंचेंसो मोंती तथा उसके सहयोगियों ने और जूलियो पेरतीकारी (१७७९-१८३२) ने भी भाषा-शैली का विशुद्ध रूप देने का प्रयास किया। शैलीकार के रूप में पिएत्रो ज्योर्दानी (१७७४-१८४८) का स्थान ऊँचा है। उसकी शैली में ओज तथा राष्ट्रीय महानता की गूँज है। सारे जीवन वह गद्य का सरल तथा उत्कृष्ट रूप देने का प्रयास करता रहा। नेओक्लासिक पीढ़ी का प्रतिनिधि कवि विंचेंसो मोंती (१७५४-१८२८) है। मोंती की विचारधारा बदलती रही, पोप के यहाँ रहते हुए उसने बास्वील्लीयाना नामक कृति लिखी जिसमें नरेशवाद की ओर झुकाव है। मिलान में रहते हुए नेपोलियन की विजय से उत्साहित हो प्रोमेतेयो लिखो। मोंती कल्पना और श्रुतिमधुर शब्दों का कवि है। हृदयपक्ष गौण है। होमर की कृति इलियड का मोंती ने स्वतंत्र अनुवाद भी किया था। इस धारा के अन्य छोटे कवियों में चेसारे अरीची तथा फीलोपो पानाती का उल्लेख किया जा सकता है।

सारे यूरोप और विशेषकर इटली में साहित्यिक क्षेत्र मे जब एक प्रकार की अनिश्चितता का वातावरण फैला था उस समय ऊगो फोस्कोलो (१७७८-१८२७) की प्रतिभा ने सभी महत्वपूर्ण और अच्छे पक्षो को ग्रहण करके भविष्य के लिए अच्छी परपरा तैयार की। इतालवी काव्य को फोस्कोलो ने नवीन स्फूर्ति, नई गीतिकविता तथा नई दृष्टि प्रदान की। कवि, पत्रकार, लेखक सभी रूपो मे फोस्कोलो ने अपनी छाप छोडी है। उसने यूरोपीय स्वच्छदतावाद की विशेषताओ को आत्मसात् किया तथा इतालवी सास्कृतिक परपरा से भी सबध बनाए रखा। सॉनेट ओड, सेपाल्क्री, ग्रात्सिए फोस्कोलो की काव्यकृतियाँ हैं। इतालवी काव्यसाहित्य मे सेपाल्क्री का नई भाषा, हृदय स्पर्श करने की शक्ति, व्यजना, प्रस्तुत अप्रस्तुत का स्वाभाविक सबध आदि अनेक दृष्टियो से ऊँचा स्थान है। गद्य रचनाओ मे कथाकृतियाँ ओर्तीस और लाउरा प्रसिद्ध है।

स्वच्छदतावाद (रोमाटिसिज्म) के सिद्धातो का प्रवेश इटली मे १९वी सदी के दूसरे तीसरे दशको मे हुआ। इसका प्रधान केंद्र उत्तरी इटली, विशेष रूप से मिलान था। लुदोवीको दी ब्रेमे (१७८०-१८२०), बेरशेत, बोरसिएरी, माजोनी, मात्सीनी के लेखो द्वारा स्वच्छद तावाद का प्रारभ हुआ। काफ्फे, कोंचिल्यातोरे पत्रो मे अनेक लेख इस धारा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निकले। ज्यूसेफे मात्सीनी (१८०५-१८७२) सबसे अधिक इस धारा से प्रभावित हुए। उनके व्यक्तित्व और विचारो का इटली के पुनरुत्थान आदोलन पर तथा कला के क्षेत्र मे भी बहुत प्रभाव पडा। उनके साहित्यिक लेखो—देल्ल' आमोर पात्रियो दी दाते (दाते का मातृभूमि प्रेम), दी उना लेत्तेरात्तूरा इउरोपा (एक योरोपीय साहित्य पर)—से बहुत साहित्यिक प्रभावित हुए। इतिहास को राष्ट्रीय दृष्टि से लिखनेवालो ने भी इतालवी एकता की राष्ट्रीय भावना को जगाया। चेस्तरे बाल्दो जीनो काप्पोनी आदि इसी प्रकार के लेखक है। इतालवी साहित्य का नवीन दृष्टि से इतिहास लिखनेवाले फ्रांचेस्को दे साक्टीस की कृति स्तोरिया देल्ला लेत्तेरातूरा इतालियाना महत्वपूर्ण है। साहित्य को समाज का प्रतिबिब समझने का दृष्टिकोण तथा अनेक साहित्यिक समस्याओ को नए ढग से परखने का नवीन प्रयास दे सांक्टीस की कृति मे मिलता है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण लूइजी सेतेंबरीनी की कृति लेत्सियोनी दी लेत्तेरात्तूरा इतालियाना मे भी मिलता है। पुनरुत्थानयुग की कृतियो मे सिल्वीको पेल्लीको (१७८९-१८५४) की कृति मिए प्रिज्योनी भी उल्लेखनीय है जिसमे उस युग की आशा निराशाओ का वर्णन है। मास्सीमो दाजेल्यो के सस्मरण इ मिएई रिकोर्दी भी रोचक हैं।

स्वच्छदतावादी धारा मे अनेक भावुकताप्रधान गद्य-पद्य-कृतियाँ लिखी गई। इन साधारण कवियो मे अलेआरदो आलेआरदी (१८१२-१८७८) की कृतियाँ मोते चोरचेल्लो, ले प्रीमे स्तोरिए तथा ऐतिहासिक उपन्यासो मे तोमास्सो ग्रोसी का मार्को वीस्कोंती, दाजेल्यो का एत्तोरे फिएरामोस्का तथा ज्योवान्नी बेरशेत (१७८३-१८५१) की गीतिकविताएँ सुदर है। नीकोलो तोम्मासेओ के शब्दकोश, दाते की कृति की टीका तथा आत्म-कथात्मक दियारियो इतीमो, पद्यबद्ध कथा उना सेरवा तथा ग्रीक के अनुवाद उसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते है। अन्य कवियो मे बोलियो मे रचना करनेवाले कार्लो पोर्ता तथा जी० जी० बेल्ली उल्लेखनीय है। इतालवी रोमाटिक सस्कृति युग के दो महान् साहित्यकार है माजोनी तथा लियोपार्दी। दोनो ही १७वी सदी के फासीसी वातावरण मे प्रभा-वित इलुमिनिस्टिक युग मे पलकर क्रमश रोमाटिक अर्थो मे भावुक तथा धार्मिक अनुभूतियो से प्रभावित होते गए। माजोनी उदार कैथा-लिक धार्मिक प्रवृत्ति का था। लियोपार्दी मे सृष्टि के प्रति खिन्नता की प्रवृत्ति दिखती है। दोनो ही नवीन काव्यधारा से प्रभावित थे और उसके आधारभूत सिद्धातो को स्वीकार करते है। माजोनी मे लोबार्द प्रात की सजीव उन्मुक्त प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। लियोपार्दी प्रतिक्रियावादी रूढि-वादी वातावरण मे पले थे अत. इनकी छाप उनमे मिलती है। माजोनी की कृतियो मे वर्णन की पूर्णता, वास्तविक कविता, नई उन्मुक्त भाषा तथा अधिक प्रेषणीयता मिलती है। लियोपार्दी अपनी अपार करुणा के लिये जाने है। आलेसाद्रो माजोनी (१७७५-१८७३) ने अनेक ऐतिहासिक ग्रथ लिखे। काव्यशास्त्र पर भी उसकी कृतियाँ है। उसने गीति कविताएँ और नाटक लिखे। उसकी एक महत्वपूर्ण कृति उसका उपन्यास **इ प्रोमेस्सी स्पोस्सी** है जिसमे मिलान के जीवन का चित्रण है तथा जो इतालवी भाषा का बहुत ही सुदर आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। ज्याकोमो लियोपार्दी (१७९८-१८३०) ने स्तोरिया देल्ल अस्त्रोनोमिया, पुराने लोगो की भ्रातियो पर निबध, भारतीय गुण तथा ईजिप्ट मे पोपेयो, दार्शनिक वार्ताएँ आदि नाना विषयो पर गद्य कृतियाँ लिखी जिनमे १८वी सदी की रुचि दिखती है। किंतु धीरे धीरे उसका स्वभाव बदला और वह काल्पनिक कविता छोड अनुभूतिप्रधान कविता करने लगा। आसिल्विया (सिल्विया से), सेरा देल दी दि फेस्ता (उत्सव के दिन की सध्या), अला लूना (चद्र से) उसकी सुदर कविताएँ है। जीबाल्दोने मे उसकी अनेक प्रकार की गद्य कृतियाँ सगृहीत है। माजोनी और लियोपार्दी ने इतालवी भाषा को नवीन अभिव्यक्ति प्रदान की। दोनो ही लेखक यूरोपीय प्रसिद्धि के लेखक है। इन दोनो ने इतालवी साहित्य का समय के साथ पहुँचा दिया।

१९वी सदी के उत्तरार्ध मे माजोनी और लियोपार्दी से प्रभावित होकर रचनाएँ होती रही तथा कुछ लोग स्वच्छदतावाद को हल्के अर्थ मे लेकर रचनाएँ करते रहे। स्वतत्र व्यक्तित्ववाले महत्वपूर्ण कवियो मे जोसूए कार्दूच्ची (१८३५-१९०६) का स्थान ऊँचा है, किंतु माजोनी की तुलना मे उनका व्यक्तित्व भी प्रातीय जैसा लगता है। उनकी काव्य-कृतियो मे से कुछ ज्याबी एद एपोदी, रीमे नुओवे, ओदी बार्बारे, नोस्ताल्जिया, सान मार्तीनो, सुई काम्पी दी मारेंगो, आल्ले फोती देल क्लितुन्नो है। कार्दूच्ची की भाषा व्यक्तिगत छाप लिए हुए है। मृत्यु से कुछ समय पहले उन्हे नोबेल पुरस्कार मिला था। माजोनी का अनुसरण करते हुए गद्य पद्य लिखनेवालो मे एदमोंदो दे अमीचीस दी आलेत्या (१८४६-१९०८), शिशुओ के लिये प्रसिद्ध कृति पिनोक्यो के लेखक कोल्लोदी फोगाज्जारो तथा स्वतत्र कथा साहित्य लिखनेवालो मे ज्योवान्नी वेरगा (१८४०-१९२२) प्रसिद्ध है। वेरगा की प्रसिद्ध कृतियाँ वीलादेई कापी, मालावोल्या, नोवेल्ले रूस्तीकाने तथा नाटक कावाल्लेरिया रूस्तीकाना हैं। सामान्य जनसमूह को लेकर वेरगा ने अपनी यथार्थवादी कृतियाँ लिखी हैं। अनेक उपन्यासो तथा काव्यग्रथो की रचना करनेवाली नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाली सारदेन्या की महिला ग्रात्सिया देलेद्दा (१८७१-१९३६) की रचनाओ मे स्थानीय रग बहुत मिलता है।

२०वी सदी के प्रारभ मे इतालवी सस्कृति के सामने एक सकट की स्थिति उत्पन्न थी। अशाति, नवीन योजनाओ, और आधुनिक यूरोपीय विचारधाराओ का उसे सामना करना पडा। वह अपनी सकीर्ण प्रातीयता से बाहर निकलने के लिये उत्सुक थी, उच्च मध्यवर्ग की रुचि से वह जैसे ऊबी हुई थी। काव्य के क्षेत्र मे भी एक प्रकार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति दिखाई देती थी। किंतु एक दूसरी धारा आधुनिक सस्कृति के निकट भी थी। उस स्थिति को समझकर बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६-१९५२) ने अपनी एस्तेतीका कृति द्वारा पथप्रदर्शन किया। एस्तेतीका १९०२ मे प्रकाशित हुई, तब से लेकर १९४३ तक इतालिया दर्शन और साहित्य का वह पथप्रदर्शन करती रही। क्रोचे की साहित्यिक गवेषणाओ का सपूर्ण इतालवी साहित्य पर प्रभाव पडा—लेत्तेरात्तूरा देल्ला नुओवा इतालिया (नई इटली का साहित्य) जैसी महत्वपूर्ण कृति के फलस्वरूप सपूर्ण साहित्य की नई दृष्टि से समीक्षा की गई। आज के साहित्यसमीक्षक काव्य के इतिहास की समीक्षा करते समय क्रोचे के सिद्धात का सहारा लिए बिना नही रह सकते। इतिहास, दर्शन, साहित्य तीनो के क्षेत्र मे उनके सिद्धात समान महत्व रखते है। इस सदी के अनेक लेखको मे दोनो सदियो की विशेषताएँ मिलती है।

गाब्रिएले द' अनुंजियो (१८६३-१९३८) मे अनेक विशेषताओ का समन्वय मिलता है। द' अनुंजियो की प्रसिद्धि बहुत है, किंतु उसकी रचनाएँ उतनी प्रिय नही है। उसकी प्रसिद्धि का कारण उसके जीवन की साहसिक घटनाएँ भी है। वह बहादुर सिपाही तथा योद्धा था। उसकी कृतियो—कातो नोवो, तेर्रा वेरजीने—पर कार्दूच्ची तथा वेरगा का प्रभाव लक्षित होता है। पोएमा पारादीसीआको पर यूरोप की काव्यधारा का प्रभाव तथा उपन्यास कृतियो—ज्योवान्नी एपीसकोपो आदि—पर रूसी कथा साहित्य का प्रभाव प्रतीत होता है। द' अनुंजियो ने प्राय सभी साहित्यरूपो मे रचनाएँ की है। उसकी शैली बहुत बोझिल है, बाह्य रूप पर वह बहुत ध्यान देता था।

सरल भाषाशैली, नवीन यथार्थ भावना से प्रेरित, सीधी, हृदयस्पर्शी कविता करनेवालों में आर्तूरो ग्राफ (१८४८-१९१३), एनरीको थोवेन (१८६९-१९२५), ज्योवान्नी पास्कोली (१८५५-१९१२) प्रधान हैं। पास्कोली की मिरीके में संगृहीत कविताएँ इतालवी साहित्य में अपने ढंग की मौलिक कविताएँ हैं। उसकी कविताओं में प्रकृतिचित्रण का नया रूप मिलता है। लुइजी पीरादेल्लो (१८६७-१९३८) का यश सारे यूरोप तथा संसार के साहित्यिक क्षेत्र में फैला। कहानी, उपन्यास लिखने के बाद पीरादेल्लो ने नाटकरचना प्रारंभ की। विषयों की मौलिकता, दृश्यसंगठन, टेकनीक, सभी दृष्टियों से पीरादेल्लो के नाटक उत्कृष्ट हैं। निम्न मध्यम वर्ग के समाज से इसने विषय चुने। पीरादेल्लो की कहानियाँ और उपन्यास २४ जिल्दों में तथा नाटक कई बड़ी बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुए हैं। पीरादेल्लो को नोबेल पुरस्कार भी मिला था। कथासाहित्य के क्षेत्र में इतालो स्वेवो (१८६१-१९२८) का नाम भी उल्लेखनीय है। अन्य आधुनिक कथा-साहित्य-लेखकों में ज्योवान्नी पापीनी (१८८१-१९५७) रिक्कार्दो बाक्केल्ली (१८९१–), आल्दो पाल्लाजेस्की (१८८५–), आल्बेर्तो मारो-बिया (१९०७–), इन्यात्सियो सीलोने (१९००–), कार्लो एमीलियो गाद्दा (१८९३–), ज्यानी स्तूपारिक (१८९१–), वास्को प्रातोलीनी (१९१३–), चेसारे पावेसे (१९०८–१९५०), आदि प्रमुख हैं। आधुनिक काल के कवियों में दीनो कांपाना (१८८५-१९३२), आर्तूरो ओनोफ्री (१८८५-१९२८), उम्बेरतो साबा (१८८३-१९५८), ज्यूसेप्पे उँगारेत्ती (१८८८–), एऊजेनियो मोन्ताले (१८९६–), साल्वातोरे क्वासीमोदो (१९०१–), (१९५९ में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित), आलफोन्सो गात्तो (१९०९–), दिएगो वालेरी (१८८७–), आदि प्रमुख हैं। अनेक साहित्यिक पत्रों ने भी इतालवी साहित्य में अनेक नवीन काव्य-धाराओं का प्रतिनिधित्व किया है। इसमें 'वोचे', 'रोंदा', 'फिएरा लित्ते-रारिया' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सं०ग्रं०—फ्रांचेस्को दे सांक्टीस कृत तथा बेनेदेत्तो क्रोचे द्वारा संपादित स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, दो भाग, बारी १९४९, ना० सापेन्यो कांपेंदियो दी स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, तीन भाग, फ्लारेंस १९५२, फ्रांचेस्को फ्लोरा स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, पाँच भाग, मोंदादोरी मिलान-रोम, १९५६, गूइदो मज्जोनी स्तोरिया लेत्तेरारिया द' इतालिया ओत्तोचेंतो, दो भाग, मिलान, १९५६, आल्फ्रेदो गाल्लेत्ती स्तोरिया लेत्तेरारिया द' इतालिया—नावेचेंतो, मिलान, १९५७। (रा० सि० तो०)

इतिहास 'इतिहास' शब्द का प्रयोग विशेषत: दो अर्थों में किया जाता है। एक है प्राचीन अथवा विगत काल की घटनाएँ और दूसरा उन घटनाओं के विषय में धारणा। इतिहास शब्द (इति+ह+आस) का तात्पर्य है 'यह निश्चय था'। ग्रीस के लोग इतिहास के लिये 'हिस्तरी' शब्द का प्रयोग करते थे। 'हिस्तरी' का शाब्दिक अर्थ 'बुनना' था। अनुमान होता है कि ज्ञात घटनाओं का व्यवस्थित ढंग से बुनकर ऐसा चित्र उपस्थित करने की कोशिश की जाती थी जो सार्थक और सुसबद्ध हो।

इतिहास के मुख्य आधार युगविशेष और घटनास्थल के वे अवशेष हैं जो किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं। जीवन की बहुमुखी व्यापकता के कारण स्वल्प सामग्री के सहारे विगत युग अथवा समाज का चित्रनिर्माण करना दु:साध्य है। सामग्री जितनी ही अधिक होती जाती है उसी अनुपात से बीते युग तथा समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करना साध्य होता जाता है। पर्याप्त साधनों के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पनामिश्रित चित्र निश्चित रूप से शुद्ध या सत्य ही होगा। इसलिये उपयुक्त कमी का ध्यान रखकर कुछ विद्वान् कहते हैं कि इतिहास की संपूर्णता असाध्य सी है, फिर भी यदि हमारा अनुभव और ज्ञान प्रचुर हो, ऐतिहासिक सामग्री की जाँच पड़ताल को हमारी कला तर्कप्रतिष्ठित हो तथा कल्पना संयत और विकसित हो तो अतीत का हमारा चित्र अधिक मानवीय और प्रामाणिक हो सकता है। सारांश यह कि इतिहास की रचना में पर्याप्त सामग्री, वैज्ञानिक ढंग से उसकी जाँच, उससे प्राप्त ज्ञान का महत्व समझने के विवेक के साथ ही साथ ऐतिहासिक कल्पना की शक्ति तथा सजीव चित्रण की क्षमता की आवश्यकता है। स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास न तो साधारण परिभाषा के अनुसार विज्ञान है और न केवल काल्पनिक दर्शन अथवा साहित्यिक रचना है। इन सबके यथोचित संमिश्रण से इतिहास का स्वरूप रचा जाता है।

लिखित इतिहास का आरंभ पद्य अथवा गद्य में वीरगाथा के रूप में हुआ। फिर वीरों अथवा विशिष्ट घटनाओं के संबंध में अनुश्रुति अथवा लेखक की पूछताछ से गद्य में रचना प्रारंभ हुई। इस प्रकार के लेख खपड़ों, पत्थरों, छालों और कपड़ों पर मिलते हैं। कागज का आविष्कार होने से लेखन और पठन पाठन का मार्ग प्रशस्त हो गया। लिखित सामग्री को अन्य प्रकार की सामग्री—जैसे खंडहर, शव, बरतन, धातु, अन्न, सिक्के, खिलौने तथा यातायात के साधनों आदि के सहयोग द्वारा ऐतिहासिक ज्ञान का क्षेत्र और कोष बढ़ता चला गया। उस सब सामग्री की जाँच पड़ताल की वैज्ञानिक कला का भी विकास होता गया। प्राप्त ज्ञान को सजीव भाषा में गुंफित करने की कला ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, फिर भी अतीत के दर्शन के लिये कल्पना कुछ तो अभ्यास, किंतु अधिकतर व्यक्ति की नैसर्गिक क्षमता एवं सूक्ष्म तथा ज्ञात दृष्टि पर आश्रित है। यद्यपि इतिहास का आरंभ एशिया में हुआ, तथापि उसका विकास यूरोप में विशेष रूप से हुआ।

इतिहास न्यूनाधिक उसी प्रकार का सत्य है जैसा विज्ञान और दर्शनों का होता है। जिस प्रकार विज्ञान और दर्शनों में हेरफेर होते हैं उसी प्रकार इतिहास के चित्रण में भी होते रहते हैं। मनुष्य के बढ़ते हुए ज्ञान और साधनों की सहायता से इतिहास के चित्रों का संस्कार, उनकी पुनरावृत्ति और संस्कृति होती रहती है। प्रत्येक युग अपने अपने प्रश्न उठाता है और इतिहास से उनका समाधान ढूंढ़ता रहता है। इसीलिये प्रत्येक युग, समाज अथवा व्यक्ति इतिहास का दर्शन अपने प्रश्नों के दृष्टिबिंदुओं से करता रहता है। यह सब होते हुए भी साधनों का वैज्ञानिक अन्वेषण तथा निरीक्षण, कालक्रम का विचार, परिस्थिति की आवश्यकताओं तथा घटनाओं के प्रवाह की बारीकी से छानबीन और उनसे परिणाम निकालने में सतर्कता और संयम की अनिवार्यता अत्यंत आवश्यक है। उनके बिना ऐतिहासिक कल्पना और कपोलकल्पना में कोई भेद नहीं रहेगा।

इतिहास की रचना में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उससे जो चित्र बनाया जाय वह निश्चित घटनाओं और परिस्थितियों पर दृढ़ता से आधारित हो। मानसिक, काल्पनिक अथवा मनमाने स्वरूप को खड़ा कर ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा उसके समर्थन का प्रयत्न करना अक्षम्य दोष होने के कारण सर्वथा वर्जित है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि इतिहास का निर्माण बौद्धिक रचनात्मक कार्य है अतएव अस्वाभाविक और असंभाव्य को प्रमाणकोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इसके सिवा इतिहास का ध्येयविशेष यथावत् ज्ञान प्राप्त करना है। किसी विशेष सिद्धांत या मत की प्रतिष्ठा, प्रचार या निराकरण अथवा उसे किसी प्रकार का आंदोलन चलाने का साधन बनाना इतिहास का दुरुपयोग करना है। ऐसा करने से इतिहास का महत्व ही नहीं नष्ट हो जाता, वरन् उपकार के बदले उससे अपकार होने लगता है जिसका परिणाम अंततोगत्वा भयावह होता है।

इतिहास का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति, विषय, अन्वेषण, आंदोलन आदि का इतिहास होता है, यहाँ तक कि इतिहास का भी इतिहास होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि अन्य दृष्टिकोणों की तरह ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अपनी निजी विशेषता है। वह एक विचारशैली है जो प्रारंभिक पुरातन काल से और विशेषत: १७वीं सदी से सभ्य संसार में व्याप्त हो गई। १९वीं सदी से प्राय: प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिये उसके विकास का ऐतिहासिक ज्ञान आवश्यक समझा जाता है। इतिहास के अध्ययन से मानव समाज के विविध क्षेत्रों का जो व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है उससे मनुष्य की परिस्थितियों को आँकने, व्यक्तियों के भावों और विचारों तथा जनसमूह की प्रवृत्तियों आदि को समझने के लिये बड़ी सुविधा और अच्छी खासी कसौटी मिल जाती है।

इतिहास प्राय: नगरों, प्रांतों तथा विशेष देशों के या युगों के लिखे जाते हैं। अब इस ओर चेष्टा और प्रयत्न होने लगे हैं कि यदि संभव हो तो सभ्य संसार ही नहीं, वरन् मनुष्य मात्र के सामूहिक विकास या विनाश का अध्ययन भूगोल के समान किया जाय। इस ध्येय की सिद्धि यद्यपि असंभव

नहीं, तथापि बड़ी दुस्तर है। इसके प्रारंभिक मानचित्र से यह अनुमान होता है कि विश्व के संतोषजनक इतिहास के लिये बहुत लंबे समय, प्रयास और संगठन की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यदि विश्व-इतिहास की तथा मानुषिक प्रवृत्तियों के अध्ययन से कुछ सर्वव्यापी सिद्धांत निकालने की चेष्टा की गई तो इतिहास समाजशास्त्र में बदलकर अपनी वैयक्तिक विशेषता खो बैठेगा। यह भय इतना चिंताजनक नहीं है, क्योंकि समाजशास्त्र के लिये इतिहास की उतनी ही आवश्यकता है जितनी इतिहास को समाजशास्त्र की। वस्तुत: इतिहास पर ही समाजशास्त्र की रचना संभव है।

एशिया में चीनियों, किंतु उनसे भी अधिक इस्लामी लोगों को, जिनको कालक्रम का महत्व अच्छे प्रकार ज्ञात था, इतिहासरचना का विशेष श्रेय है। मुसलमानों के आने के पहले हिंदुओं की इतिहास के संबंध में [illegible] अनोखी धारणा थी। कालक्रम के बदले वे सांस्कृतिक और धार्मिक विकास या ह्रास के युगों के कुछ मूल तत्वों को एकत्रित कर और विचारों तथा भावनाओं के प्रवर्तनों और प्रतीकों का सांकेतिक वर्णन करके तुष्ट हो जाते थे। उनका इतिहास प्राय: काव्यरूप में मिलता है जिसमें सब कल्पना [illegible] सामग्री मिली जुली, उलझी और गुथी पड़ी है। उसके सुलझाने के कुछ कुछ प्रयत्न होने लगे हैं, किंतु कालक्रम के अभाव में भयंकर कठिनाइयाँ पड़ रही हैं।

वर्तमान सदी में यूरोपीय शिक्षा से दीक्षित हो जाने से ऐतिहासिक अनुसंधान की हिंदुस्तान में उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी है। इतिहास की एक नहीं, सहस्रों धाराएँ हैं। स्थूल रूप से उनका प्रयोग राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अधिक हुआ है। इसके सिवा अब व्यक्तियों में सीमित न रखकर जनता तथा उसके संबंध का ज्ञान प्राप्त करने की ओर अधिक रुचि हो गई है। (ग० प्र० वि०)

इतो, हिरोब्रुमि, प्रिंस (१८४१-१९०९) जापानी राजनीतिज्ञ जो पहले प्रबल सामंत छोशू का सैनिक था। आरंभ में जिस राजनीतिक कार्य में स्वामी ने इतो को नियुक्त किया उससे स्वयं इतो और जापान दोनों का बड़ा हित सधा। इतो ने देखा कि पाश्चात्य तोपों और बंदूकों के सामने जापानी तीरंदाजों का टिक सकना असंभव है, इससे उसने कुछ मित्रों के साथ यूरोप में जाकर सैनिक साज सज्जा सीखने का निश्चय किया। पर तब के जापानी कानून के अनुसार विदेश जानेवालों को प्राणदंड मिला करता था। सो इतो और उसके साथियों ने जान पर खेलकर यूरोप की राजधानियों की राह ली। जापान और पाश्चात्य देशों के बीच तनातनी के कारण उसे स्वदेश लौटना पड़ा।

कालांतर में प्रिंस इतो हिओगो का शासक नियत हुआ, फिर वित्त का उपमंत्री। १८७१ ई० में वह इवाकुरा के साथ सैनिक सलाहकारों की खोज में फिर यूरोप गया। उसी के द्वारा प्रस्तुत यूरोपीय संविधानों के फलस्वरूप जापान का नया संविधान बना और जापान यूरोपीय राज्यों द्वारा समसदस्य स्वीकृत हुआ। नई जापानी राज्यशक्ति के निर्माण में इतो का बड़ा हाथ था। एक कोरियाई हत्यारे ने उसकी हत्या कर दी।

(ओ० ना० उ०)

इत्रुस्का जाति और भाषा। इत्रुस्की किस जाति के थे यह निश्चयपूर्वक आज नहीं कहा जा सकता। संभवत: इनमें रासेना, तिर्हेनियाई, लीदियाई आदि सभी जातियाँ शामिल थीं। इटली की तुस्कानी के अधिकतर भाग में इत्रुस्की बसे थे, इसी से वह प्रदेश इत्रुरिया कहलाने लगा। इत्रुरिया में कालांतर में इत्रुस्कियों के १२ प्रधान नगरराज्य खड़े हुए। इन नगरराज्यों के प्रधान 'लुकुमोनिज' कहलाते थे जो शांति के समय पुरोहित और युद्ध के समय सेनानी के कार्य भी संपन्न करते थे। देश के शासन के अर्थ ये वाल्तुम्ना के मंदिर में अपनी संयुक्त बैठक किया करते थे। नगरों की राजनीतिक व्यवस्था अभिजाततंत्रीय थी।

ई० पू० ११वीं सदी में इत्रुस्की जाति की शक्ति इटली में विशेष बढ़ी और उसने रोम पर भी अधिकार कर लिया। छठी सदी ई० पू० में इत्रुस्कियों ने अपनी शक्ति की चोटी छू ली, जब ग्रीकों और फिनीकियों के साथ उनकी प्रभुता भी भूमध्यसागरवर्ती व्यापार में स्थापित हुई। ई० पू० ५वीं सदी के तीसरे चरण के अंत में सीराक्यूज के ग्रीकराज हिएरो प्रथम ने उनका समुद्री बेड़ा नष्ट कर उनकी शक्ति क्षीण कर दी और तब से इत्रुस्कियों का ह्रास शीघ्रगामी हो चला। उत्तरी इत्रुस्कियों पर गालों ने ई० पू० ३९६ में चोट कर उन्हें नष्ट कर दिया और दक्षिणी शाखाओं ने ई० पू० ३५१ में रोमनों को आत्मसमर्पण कर दिया। राजसत्ता के रूप में तीसरी सदी ई० पू० तक इत्रुस्की इतिहास से मिट गए थे, यद्यपि उनका सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभाव रोमनों पर फिर भी बना रहा।

इत्रुस्की जाति के देवी देवता अधिकतर उसी लातीनी--साबीनी देवपरिवार के थे जिस परिवार के रोमनों के देवी देवता थे। तीनिया (लातीनी जूपितर), कुप्रा (ला० जूनो), मेनर्फा (मिनर्वा), सेथ्लान्स (वल्कन), तुर्म्स (मर्करी) अप्लु (अपोलो) आदि को पूजते थे। इन देवताओं के अपने अपने मंदिर थे जिनमें उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं। मूर्तिकला में इत्रुस्कियों ने प्रभूत उन्नति कर ली थी और उनकी अनेकानेक मूर्तियाँ आज इटली आदि यूरोपीय देशों के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। मिट्टी के उनके बर्तन अपनी निर्माण-कला के लिये तो प्रसिद्ध हैं ही, धातुकार्य में भी इत्रुस्की असाधारण निपुण थे। उनके अभिजात श्रीमान् तो कला, भोजन, वसन आदि संबंधी अपनी फजूलखर्ची के लिये प्राचीन काल में बदनाम थे।

इत्रुस्की भाषा के संबंध में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। जो इत्रुस्की अभिलेख अधिकतर समाधियों अथवा मृतकवेष्टनों से प्राप्त हुए हैं उनसे उस भाषा के परिवार का पता नहीं चलता। उसका संबंध ग्रीक, केल्टी, जर्मन, सामी आदि भाषाओं से करने के जो प्रयत्न हुए हैं, सभी असफल सिद्ध हुए हैं। लेखों की वर्णमाला निश्चय प्राचीन ग्रीक की एक शाखा है जो इत्रुस्कियों ने स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त की है। कुछ आश्चर्य नहीं जो इन इत्रुस्कियों ने ही अपने फिनीकी सान्निध्य में उनसे इब्रानी मूल लिपि सीखी हो, फिर ग्रीकों को भी सिखा दी हो। परंतु इस प्रसंग में कोई अंतिम निर्णय कर सकना अभी संभव नहीं है, विशेषत: इस कारण कि इत्रुस्कियों से फिनीकी संबंध के प्राय: समानांतर काल में ही प्राचीन ग्रीकों का संबंध भी फिनीकियों से स्थापित हो चुका था।

सं०ग्रं०—जी० डेनिस : द सिटीज ऐंड सिमेटरीज ऑव इत्रुरिया, एफ० पोलसन : इत्रुस्कन टूंब पेंटिंग्स, डी० रैंडल-मैकाइवर : विलेनोवान्स ऐंड अर्ली इत्रुस्कन्स, आर० ए० एल० फेल : इत्रुरिया ऐंड रोम। (भ० श० उ०)

इत्सिंग (ईच-चिङ्) भारत में आनेवाले तीन बड़े चीनी यात्रियों में से एक, यह सबसे बाद में आया। इसका जन्म ६३५ में सन-यंग में ताई-त्सुंग के शासनकाल में हुआ। ताई पर्वत पर स्थित मंदिर में शन-यू और हुई उसी से इसने सात वर्ष की अवस्था से शिक्षा प्राप्त की। शन-यू की मृत्यु के पश्चात् सांसारिक विषयों को छोड़कर इसने बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन आरंभ किया। १४ वर्ष की आयु में इसे प्रव्रज्या मिल गई और १८ वर्ष की आयु में इसने भारतयात्रा का संकल्प किया जो लगभग २० वर्ष बाद ही पूरा हो सका। इसने विनयसूत्र का अध्ययन हुई-उसी की देखरेख में किया और अभिधर्मपिटक से संबंधित असंग के दो शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये वह पूर्व की ओर चला। फिर पश्चिमी राजधानी सी-अन-फूयाग-आन शेन सी पहुँच उसने वसुबंधुकृत 'अभिधर्मकोश' और धर्मपालकृत 'विद्या-मात्र-सिद्धिका' का गहरा अध्ययन किया। चेन-अन में कदाचित् ह्वेन-त्सांग के सम्मान और यश से प्रभावित होकर उसने अपनी भारतयात्रा का पूरा संकल्प किया जिसका वर्णन इसने स्वयं किया है।

इत्सिंग का कथन है कि यह ६७० ई० में पश्चिमी राजधानी (यंग-अन) में अध्ययन कर व्याख्यान सुन रहा था। उस समय इसके साथ चिंग-यू निवासी धर्म का उपाध्याय चू-इ, लै-चोऊ निवासी शास्त्र का उपाध्याय हुंग-इ और दो तीन दूसरे भदंत थे। उन सबने गृद्धकूट जाने की इच्छा प्रकट की। त्सिन-चोऊ के शन-हिंग नामक एक युवा भिक्षु के साथ इसने भारत के लिये प्रयाण किया। पर्यटन में यह सहस्रों विश्रामस्थानों से गुजरा। ६७१ ई० में क्वांगतुंग नगर आया। यहाँ से दक्षिण की यात्रा के लिये एक ईरानी जहाज के स्वामी से मिलने की तिथि निश्चय की। छह मास की यात्रा के पश्चात् यह श्रीभोज (श्रीविजय) पहुँचा। यहाँ छह मास ठहरकर शब्दविद्या सीखता रहा। राजा ने इसे आश्रय देकर मलय देश भेज दिया। वहाँ

से यह पूर्वी भारत के लिये जहाज पर चला और ६७३ ई० के दूसरे मास मे ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ उस ता-तेंग-तेंग (ह्वेन-त्सांग का शिष्य) मिला। प्राय: २६ वर्ष यह उसके पास ठहरा और संस्कृत भाषा तथा शब्द-विद्या का अभ्यास किया। वहाँ से कई सौ व्यापारियों के साथ यह मध्य-भारत के लिये चला और क्रमश: बोधगया, नालंदा, राजगृह, वैशाली, कुशीनगर, मृगदाव (सारनाथ), कुक्कुटगिरि की यात्रा की। यह अपने साथ पाँच लाख श्लोकों की पुस्तकें ले गया। लगभग २५ वर्ष (६७१-६९५) के लंबे काल में इसने ३० से अधिक देशों का पर्यटन किया और ६९५ में चीन वापस पहुँच गया। इसने ७०० से ७१२ ई० के बीच २३० भागों में ५६ ग्रंथों का अनुवाद किया जिनका मूल सर्वास्तिवादी मत से संबंध है। ७१३ ई० में ७९ वर्ष की अवस्था में इसका देहांत हो गया।

सं०ग्रं०---ज तककुसु : इत्सिंग, संतराम : इत्सिंग की भारतयात्रा, इलाहाबाद, १९२५। (बै० पु०)

इथाका संयुक्त राज्य (अमरीका) के न्यूयार्क राज्य का नगर तथा टॉमकिंस काउंटी की राजधानी है। यह कायूगा झील के दक्षिणी तट पर इल्मीरा से २८ मील पूर्वोत्तर स्थित है। यों तो अधिकांश नगर समतल घाटी में है, परंतु दक्षिण पूर्व तथा पश्चिम के भाग अपेक्षाकृत ऊँची भूमि पर है अत: समुद्रतल से इसकी ऊँचाई ३८९-८१० फुट है। यहाँ चारों ओर से रेलें तथा सड़कें आकर मिलती है और एक हवाई अड्डा भी है। कायूगा झील द्वारा यह न्यूयार्क स्टेट की नौका नहरों से भी संबद्ध है। इथाका के निकट ही कई प्रपात है जिनमें टौगनक फाल्स (२१५ फुट) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार नगर का प्राकृतिक वातावरण बड़ा ही आकर्षक है, अत: इथाका एक सुंदर पर्यटनकेंद्र बन गया है। यहाँ कार्नेल विश्वविद्यालय तथा इथाका कालेज जैसी बड़ी शिक्षा संस्थाएँ भी है। इसके मुख्य उद्योग शक्तिसंचालन की चर्ख, नमक, सीमेंट, चमड़े का सामान, कागज बनाने की मशीनें तथा वस्त्रादि बनाना है। इसका शिलान्यास सन् १७८९ ई० में हुआ था तथा सन् १८०६ ई० में साइमन डी विट ने इसका नाम इथाका रखा था। सन् १८८८ ई० में इस नगर को श्रेणी प्राप्त हुई। (ल० रा० सि०)

इथिओपिया उत्तरपूर्व अफ्रीका का एक स्वतंत्र साम्राज्य है जो अराजकीय स्तर पर अबिसीनिया कहलाता है। स्थिति : ५° उ० अ० से १५° उ० अ० ३३° पू० दे० से ४८° पू० दे०, क्षेत्रफल : ३,९५,८०० वर्गमील, जनसंख्या २,१८,००,००० (१९६६-६७ अनुमित)। यह टिग्रे, अम्हारा, गोज्जम, गाडार, शोआ तथा अन्य स्वतंत्र राज्यों के संयोग से बना है। सन् १९५२ ई० में, जब इरिट्रिया राज्य अबिसीनिया का एक स्वायत्त (ऑटोनामस) प्रांत बन गया, इस साम्राज्य की सीमा पूर्व में लाल सागर तक बढ़ गई। इसके पश्चिम में सूडान, उ० पू० में सोमालीलैंड, द०-प० में युगांडा तथा द० में केनिया आदि राज्य स्थित है। सन् १९३५ ई० में इटली ने अबिसीनिया पर आक्रमण कर इसे अपने अधीन कर लिया, किंतु सन् १९४१ ई० में अंग्रेज सैनिकों की सहायता से यह पुन: स्वतंत्र हो गया। आदिस अबाबा (जनसंख्या ६,४४,२००) इसकी राजधानी है, तथा अस्मारा (१,७८,५३७), हरार (४२,७७१), देसी (४०,६१९), दीरे दावा (५०,७३३) आदि अन्य मुख्य नगर है।

अबिसीनिया एक विशाल पठारी क्षेत्र है जो अनेक स्थलों पर १२,००० फुट से भी अधिक ऊँचा है। रास दसहन इसका सर्वोच्च शिखर है, जिसकी ऊँचाई १५,१५३ फुट है। इसके प्राकृतिक निर्माण का संबंध 'ग्रेट रिफ्ट घाटी' तथा उससे उद्गारित लावा से है। ग्रेट रिफ्ट घाटी की मुख्य शाखा, जो रूडोल्फ झील से उत्तरपूर्व में लाल सागर की ओर अग्रसर होती है, अबिसीनिया के पठार को दो भागों में विभक्त करती है (१) इथिओपिया का बृहत् पठार, जो रिफ्ट घाटी के उत्तरपश्चिम में स्थित तथा जिसके अंतर्गत टिग्रे, अम्हारा, शोआ एवं काफा के प्रांत है। (२) हरार का संकीर्ण पठार, जो रिफ्ट घाटी के दक्षिण पूर्व में स्थित है तथा उ० पू० से द० प० को फैला है। ये दोनों क्षेत्र बैसाल्ट एवं ट्रैपाइट नामक पत्थरों के बने है जो शोआ प्रांत में ६,००० फुट की मोटाई तक मिलते हैं। अबिसीनिया के पूर्वोत्तर भाग तथा इरिट्रिया में कम ऊँचे एवं शुष्क पठार मिलते है जो आद्यकल्पिक (आर्कियन) पत्थरों से बने है। इनकी ऊँचाई १,५०० से ५,००० फुट तक है।

अबिसीनिया की मुख्य नदी सेतित है जो लास्टा नामक पर्वत से निकलती है तथा आगे चलकर अतबारा के नाम से नील नदी की सहायक हो जाती है। अन्य नदियों में अब्बाई प्रमुख है, जो टाना झील से होकर बहती है और ब्लू नील के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व की ओर प्रवाहित होनेवाली नदियों में अवाश मुख्य है।

इथिओपिया के पठार पर ऊँचाई के अनुसार जलवायु के तीन प्रकार मिलते है (१) कोल्ला, ५,५०० फुट की ऊँचाई तक, जहाँ प्रत्येक महीने का औसत ताप ६८° फा० से अधिक होता है, (२) वाइनाडेगा, ५,५०० से ८,००० फुट तक, जहाँ जाड़े में ठंडी रातें (४१°-५०° फा०) होती है तथा वार्षिक तापांतर ६° फा० से कम होता है। आदिस अबाबा (८,००० फुट) का औसत मासिक ताप ५८° फा० से ६६° फा० तक घटता बढ़ता रहता है, (३) डेगा, ८,००० फुट से ऊपर, जहाँ सदैव सर्दी पड़ती है तथा गर्मी के तीन महीनों (मार्च से मई तक) का औसत ताप ६० फा० रहता है।

हरार, शोआ, अम्हारा तथा टिग्रे के पठारों पर वर्षा गर्मी में होती है, किंतु इथिओपिया के पठार पर वर्षा प्रत्येक महीने में होती है। आदिस अबाबा की वार्षिक वर्षा ४५ इंच है, जिसका अधिकांश जून से अक्टूबर तक होता है। हरार पठार पर वर्षा २० इंच से ३५ इंच तक होती है। कम ऊँचे स्थलों में वर्षा का अभाव है। दक्षिणपूर्व में वर्षा केवल ५ इंच के लगभग होती है। इथिओपिया के पठार के पश्चिमी भाग में सघन वन तथा कहीं कहीं सावैना के घास के मैदान मिलते है। कम ऊँचे पठारों पर सावैना की वनस्पति तथा नीचे स्थलों में झाड़ियाँ पाई जाती है।

इस राज्य में सोना, लोहा, कोयला तथा प्लैटिनम इत्यादि खनिज विशेष रूप से मिलते है। इनके अतिरिक्त बाक्साइट, चाँदी, ताँबा, गंधक भी प्राप्त होते है। यहाँ जलविद्युत् की संभावी क्षमता ४०,००,००० अश्वसामर्थ्य है।

इथिओपियावासी चौथी शताब्दी से ही ईसाई है। ये हेमाइट जाति के बताए जाते है। गल्ला लोगों में, जो कृषक एवं चरवाहे है, कुछ ईसाई तथा कुछ मुसलमान है। इनकी जनसंख्या ८५,००,००० है, जो देश की कुल जनसंख्या की दो तिहाई है। इनके अतिरिक्त कुछ सोमाली, डानाकिल तथा हब्शी जातियाँ भी बसी है।

यहाँ की मुख्य फसल दुर्रा है, यद्यपि गेहूँ, जौ, मक्का, आलू तथा मिर्च भी होती है। हरार, जिम्मा तथा शीडामो जिलों में उत्कृष्ट कोटि का कहवा उत्पन्न किया जाता है। जंगली कहवा अन्य स्थानों में उपजता है। अन्य फसलों में रुई, ईख, खजूर, केला इत्यादि मुख्य है। पशुपालन यहाँ का मुख्य उद्यम है।

मसावा तथा असाब, जो इरिट्रिया के स्वायत्त प्रांत के अंतर्गत हैं, अबिसीनिया के मुख्य बंदरगाह है। ये आदिस अबाबा एवं अन्य स्थानों से पक्की सड़कों द्वारा संबद्ध है। आदिस अबाबा से एक रेलवे लाइन जिबुटी बंदरगाह को जाती है जो फ्रेंच सोमालीलैंड के अंतर्गत है। (न० कि० प्र० सिं०)

इतिहास---प्राचीन यूनानी कवि होमर के काव्य में अबिसीनिया के निवासियों की चर्चा में लिखा है---"सब देशों से दूर उनका देश है। देवता उनके राजभोजों में सम्मिलित होते है और सूर्य संभवत: उनके देश में अस्त होता है।" इब्रानी ग्रंथों में उन्हें 'कुश', 'केश' या 'इकोश' कहकर संबोधित किया गया है। अरब ग्रंथों में अबिसीनिया को 'हब्सीनिया' कहा गया है।

अबिसीनिया के उत्तरी प्रदेश इथिओपिया के प्राचीन इतिहास के अनुसार उस देश पर ११वीं शताब्दी ई० पू० तक मिस्री सम्राटों का आधिपत्य था। जब तब विद्रोह करके अबिसीनिया स्वतंत्र हो जाता था, किंतु फिर मिस्री सेनाएँ आकर उसे वश में कर लेती थीं। ११वीं शताब्दी ई० पू० में अबिसीनिया पूर्ण स्वाधीन हो गया। नपाता नए स्वाधीन राज्य की राजधानी बना। धीरे धीरे नया राज्य इतना शक्तिशाली

हो गया कि उसने आठवीं शताब्दी ई० पू० के मध्य स्वयं मिस्र को अपने अधीन कर लिया। मिस्र का २५वाँ राजकुल अबिसीनिया का इथिओपी राजकुल ही था। इथिओपी राजकुल का जब ६६० ई० पू० में मिस्र से अंत हुआ तब भी अबिसीनिया स्वतंत्र राज्य बना रहा। ईरानी विजेता कबुजीय ने मिस्र विजय करने के बाद अबिसीनिया पर आक्रमण करने के लिये अपना जहाजी बेड़ा भेजा किंतु वह नष्ट कर दिया गया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप राजधानी नपाता से हटाकर मेरो में कर दी गई। २४ ई० पू० में रोमी सेना ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया और उसके एक भाग पर अधिकार कर लिया, किंतु रोमी सम्राट् ओगुस्तस ने रोमी सेना को वापस बुला लिया। इस काल के अबिसीनिया के राजाओं में नेतेकामने और रानियों में कानदेस के नाम प्रमुख हैं। कुछ अबिसीनी परपराओं के अनुसार सम्राज्ञी शेबा अबिसीनिया की ही थी।

भारत और अबिसीनिया का संबंध लगभग ढाई हजार वर्ष पुराना है। कल्याण, धेनुकाकट, सुपारा आदि भारत के पश्चिमी तट के बंदरगाहों से तिजारती जहाज सुपारी, हड़, चावल, वैदूर्य, केसर, अगर, चोया-कस्तूरी, ईंगुर, शंख और सूती कपड़ा लेकर अबिसीनिया जाते थे। 'कथाकोश' नामक ग्रंथ के अनुसार भारत में कपड़ा रँगने के लिये जिस कृमिराज का प्रयोग होता था वह अबिसीनिया से ही आता था। एक लेख के अनुसार अबिसीनिया की पर्वतकंदराओं में दूसरी शताब्दी ई० पू० में सैकड़ों दिगंबर जैन साधु रहा करते थे। ईसा की तीसरी शताब्दी में ईसाई धर्म अबिसीनिया पहुँचा और विगत १,६०० वर्षों से वह वहाँ का राजधर्म रहा है। सन् ६१५ ई० में अबिसीनिया के सम्राट् नजाशी ने सैकड़ों मुसलमान अरब शरणार्थियों को अपने देश में आश्रय दिया।

सन् ५२५ ई० में अबिसीनिया के राजा अल असबाहा ने अरब के यमन प्रांत पर अधिकार कर लिया। लगभग ५० वर्षों तक यमन अबिसीनिया के आधिपत्य में रहा। छठी सदी ई० से १९वीं सदी ई० तक अबिसीनिया अनेक छोटी छोटी रियासतों में बँट गया। इन रियासतों की आए दिन की लड़ाइयों ने अबिसीनिया को एक निर्बल राष्ट्र बना दिया। १९वीं शताब्दी में अबिसीनिया को अपने संरक्षण में लेने के लिये यूरोपीय शक्तियों में प्रतिस्पर्धा होने लगी। इटली ने सेनाएँ भेजकर अबिसीनिया को अपने अधिकार में लेना चाहा, किंतु अडोवा के मैदान में अबिसीनिया के हाथों इटली की सेनाओं को गहरी हार खाकर पीछे हटना पड़ा। ४० वर्ष बाद अक्टूबर, सन् १९३५ में मुसोलिनी की सेनाओं ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया और कई महीनों के युद्ध के बाद मई, सन् १९३६ में उसे इतालवी साम्राज्य का अंग बना लिया।

अपने देश की स्वतंत्रता के इस अपहरण पर राष्ट्रसंघ से अपील करते हुए अबिसीनिया के सम्राट् हेल सिलासी के शब्द थे "ईश्वर के राज्य को छोड़कर संसार का कोई राज्य किसी दूसरे राज्य से ऊँचा नहीं। अगर कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी शक्तिहीन देश को सैनिक बल से दबाकर जीवित रह सकता है तो विश्वास मानिए, निर्बल देशों की अंतिम घड़ी आ पहुँची। आप स्वतंत्रता के साथ मेरे देश के इस अपहरण पर अपना निर्णय दें। ईश्वर और इतिहास आपके निर्णय को याद रखेगा।"

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान अप्रैल, १९४१ में सम्राट् हेल सिलासी ने फिर बंधनमुक्त अबिसीनिया की राजधानी अदीस में प्रवेश किया। उसके बाद से वैधानिक दृष्टि से अबिसीनिया में अनेक शासन सुधार हुए हैं। जनता को वयस्क मताधिकार प्राप्त है। पार्लियामेंट में 'चेंबर ऑव डेपुटीज' (लोकसभा) और उच्च सभा, ये दो सदन हैं। मंत्रिमंडल के हाथों में सत्ता है। अबिसीनिया संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में वह पंचशील का समर्थक है।

सं०ग्रं०—जे० एच० ब्रेस्टेड : ए हिस्ट्री ऑव ईजिप्ट फ्राम दी अर्लिएस्ट टाइम्स टु द पर्शियन कांक्वेस्ट, रिकार्ड्स ऑव ईजिप्ट, ए हिस्ट्री ऑव ईजिप्ट, जी० ए० रोजनर : आर्केयालाजिकल सर्वे ऑव नूबिया, ग्रिफिथ : एक्सकवेशंस इन नूबिया, ई० सी० लुई : हिस्ट्री ऑव सिविलिजेशंस, सर आर्थर वीगल : ए हिस्ट्री ऑव द फैराओज, ए० बी० विल्ड : माडर्न अबिसीनिया (१९०१), सर ई० डब्ल्यू० बज : ए हिस्ट्री ऑव इथियोपिया; इथियोपियन दूतावास द्वारा प्रसारित हैंडआउट्स। (वि० ना० पां०)

इथिओपियाई साहित्य यह केवल धर्मग्रंथों का साहित्य है और बाइबिल के अनुवादों तक सीमित है। इसमें ४६ अनुवाद 'ओल्ड टेस्टामेंट' के और ३५ 'न्यू टेस्टामेंट' के हुए। सबसे पहले ईसा के जीवनचरित और उपदेशों के अनुवाद पश्चिमी आर्मीनियाई भाषा से सन् ५०० ई० में हुए थे। इथिओपियाई भाषा को गीज कहते हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये गीज का प्रयोग अबिसीनिया में ईसाई धर्म के आगमन से कुछ ही पहले प्रारंभ हुआ। जनभाषा के रूप में इसका प्रयोग कब बंद हो गया, यह अज्ञात है।

ईसाई धर्म के आगमन से पूर्व इथिओपिया में प्रकृतिपूजा प्रचलित थी। प्राचीन इथियोपियाई धर्म और संस्कृति प्राचीन मिस्र से आई प्रतीत होती है। तीन प्राचीन शाही शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। उनमें से दो डी० एच० म्यूलर द्वारा जे० टी० बेंट की पुस्तक 'इथिओपियनों का पवित्र नगर' में सन् १८९३ ई० में प्रकाशित किए गए और तीसरा, जो मतरा में प्राप्त हुआ था, सी० सी० रोजिनी की पुस्तक 'रेंडीकोंटी अकाद् लिनसी' में सन् १८९६ में प्रकाशित हुआ। ये शाही शिलालेख हाइरोग्लिफिक लिपि (जो प्राचीन मिस्र की चित्रमय पवित्र लिपि है) और मिस्री भाषा में उत्कीर्ण हैं। इर्गामेनिस काल के आसपास एक जनबोली भी शिलालेखों में प्रयुक्त होने लगी। इसकी लिपि में २३ संकेतों की विशिष्ट वर्णमाला थी, हाइरोग्लिफिक चित्रसंकेतों के समांतर धाराप्रवाहिक रूप में दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी, मिस्री पद्धति के विपरीत, जिसमें चित्रों के मुख की दिशा में लिखा जाता था। किंतु इन संकेतों के रूप और अर्थ अधिकांश में मिस्री भाषा के ही थे। इतना होने हुए भी यह भाषा न तो आज तक पढ़ी जा सकी है और न यही कहा जा सकता है कि किस भाषापरिवार से इसका नाता है।

गीज भाषा में लिखित साहित्य को दो कालों में विभाजित किया जाता है (१) पाँचवीं शताब्दी के आसपास ईसाई धर्म के आगमन से मानवीं शताब्दी तक और (२) सन् १२६८ ई० में सलोमन वंशी राज की पुनःस्थापना से लेकर अब तक। प्रथम काल में ग्रीक भाषा से अनुवाद हुए और दूसरे में अरबी भाषा से।

गीज साहित्य की अब तक उपलब्ध पांडुलिपियों की संख्या लगभग १,२०० है जिनकी सूची रोजिनी ने सन् १८९९ ई० में प्रकाशित की। इनमें से अधिकांश पांडुलिपियाँ ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में और शेष यूरोप के प्रमुख संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अनेक पांडुलिपियाँ अबिसीनिया में और लोगों के निजी पुस्तकालयों में भी हैं। आर० ई० लिटमान ने अपनी पुस्तक 'जीतशरिफ्ट फ्यूर असीरियोलॉजी' में कहा है कि दो बड़े संग्रह जेरूसलम में भी हैं, जिनमें से एक में २८३ पांडुलिपियाँ हैं। रोजिनी के अनुसार ३५ हस्तलिखित ग्रंथ चेरेन के कैथोलिक मिशन में सुरक्षित हैं।

बाइबिल के गीज भाषा में कुछ अंशों के अतिरिक्त सन् १८६३ ई० से अब तक ४० से अधिक इथोओपियाई साहित्य की पुस्तकें यूरोप में मुद्रित भी हो चुकी हैं (द्र० बिब्लियाथिका इथियोपिका, लेखक एल० गोल्डश्मिड्), किंतु प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी का एक भी साहित्यकार आज तक गीज भाषा ने उत्पन्न नहीं किया। (का० च० सी०)

इदरिसी (पूरा नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद इब्न मुहम्मद इब्न अब्दुल्ला इब्न इदरिसी, लगभग सन् १०९९-११५४ ई०) अरब भूगोलविद् था। उसके दादा उस शाही खानदान के थे जो उत्तर पश्चिम अफ्रीका पर राज्य करता था। इदरिसी का जन्म सन् १०९९ ई० में सेउटा (उत्तर पश्चिम मोरक्को) में हुआ। कारदोवा में उसने शिक्षा पाई और दूर दूर देशों में पर्यटन किया। सिसिली के राजा रोजर (रॉजर) द्वितीय ने उसे सन् ११२५ और ११५० ई० के बीच किसी समय आमंत्रित किया और इदरिसी वहाँ जाकर राजभूगोलविद् हुआ। राजा की आज्ञा से कई व्यक्ति दूर दूर के देशों में गए और उनकी लाई सूचनाओं के आधार पर इदरिसी ने नया भूगोल लिखा। यह पुस्तक सन् ११५४ ई० में पूरी हुई और इसका नाम इदरिसी ने अपने आश्रयदाता के नाम पर "अल रोजरी" रखा। इसमें उस समय तक लेखक को ज्ञात देशों का पूरा विवरण था। वह बहुत उदार विचारों का था, पृथ्वी को गोलाकार मानता था और अनेक देशों का तथा पहले के लेखकों के ग्रंथों का उसे विस्तृत ज्ञान था। उसने सारे संसार का

मानचित्र भी तैयार किया। इसमे त्रुटियाँ अवश्य थीं, परंतु यह उस समय का सर्वोत्तम मानचित्र था। पूर्वोक्त ग्रंथ के अतिरिक्त इदरिसी ने एक और ग्रंथ लिखा था जिसका उल्लेख एक पीछे के लेखक ने किया है, परंतु अब यह अप्राप्य है। इदरिसी की पुस्तक अल रोजरी की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ आक्सफोर्ड और पेरिस के पुस्तकालयों मे है। कई नकशे भी है। १८३६-१८४० में इदरिसी के पूरे भूगोल का फ्रेंच अनुवाद पेरिस की भूगोलपरिषद् ने छपाया था। उसके विशिष्ट खडो का अनुवाद अन्य भाषाओ मे भी छापा गया है।

इनफ्लुएंजा एक विशेष समूह के वायरस के कारण मानव समुदाय मे होनेवाला एक सक्रामक रोग है। इसमे ज्वर और अति दुर्बलता विशेष लक्षण हैं। फुफ्फुसो के उपद्रव की इसमे बहुत सभावना रहती है। यह रोग प्राय महामारी के रूप मे फैलता है। बीच बीच मे जहाँ तहाँ रोग होता रहता है।

यह रोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। गत चार शताब्दियो मे कितनी ही बार इसकी महामारी फैली है, जो कभी कभी ससार व्यापी तक हो गई है। सन् १८८९-९२ और १९१८-२० मे ससारव्यापी इनफ्लुएजा फैला था। १९५७ मे यह एशिया भर मे फैला था।

सन् १९३३ मे स्मिथ, ऐंड्रयू और लेडलो ने इनफ्लुएजा के वायरस-ए का पता पाया। फ्रांसिस और मैंगिल ने १९४० मे वायरस-बी का आविष्कार किया और सन् १९४८ मे टेलर ने वायरस-सी को खोज निकाला। इनमे से वायरस-ए ही इनफ्लुएजा के रोगियो मे सबसे अधिक पाया जाता है। ये वायरस गोलाकार होते है और इनका व्यास १०० म्यू के लगभग होता है (१ म्यू = ०.००००१ मिलीमीटर)। रोग की उग्रावस्था मे श्वसनतत्र के सब भागो में यह वायरस उपस्थित पाया जाता है। श्लेष्मा (बलगम) और नाक से निकलनेवाले स्राव मे तथा थूक मे यह सदा उपस्थित रहता है, किंतु शरीर के अन्य भागो मे नही। नाक और गले के प्रक्षालनजल मे प्रथम से पाँचवे और कभी कभी छठे दिन तक यह वायरस मिलता है। इन तीनो प्रकार के वायरसो मे उपजातियाँ भी पाई जाती है।

इनफ्लुएजा की प्राय महामारी फैलती है जो स्थानीय (एकदेशीय) अथवा अधिक व्यापक हो सकती है। कई स्थानो, प्रदेशो या देशो मे रोग एक ही समय उभड सकता है। कई बार सारे ससार मे यह रोग एक ही समय फैला है। इसका विशेष कारण अभी तक नही ज्ञात हुआ है।

रोग की महामारी किसी भी समय फैल सकती है, यद्यपि जाडे मे या उसके कुछ आगे पीछे अधिक फैलती है। इसमे आवृत्तिचक्रों मे फैलने की प्रवृत्ति पाई गई है, अर्थात् रोग नियत कालो पर आता है। वायरस-ए की महामारी प्रति दो तीन वर्ष पर फैलती है। वायरस-बी की महामारी प्रति चौथे या पाँचवे वर्ष फैलती है। वायरस-ए की महामारी बी की अपेक्षा अधिक व्यापक होती है। भिन्न भिन्न महामारियों मे आक्रात रोगियो की सख्या एक से पाँच प्रति शत से लेकर २०–३० प्रति शत तक रही है। स्थानो की तगी, गदगी, खाद्य और जाडे मे वस्त्रो की कमी, निर्धनता आदि दशाएँ रोग के फैलने और उसकी उग्रता बढाने मे विशेष सहायक होती है। सघन बस्तियो मे रोग शीघ्रता से फैलता है और शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। दूर दूर बसी हुई बस्तियो मे दो से तीन मास तक बना रहता है। रोगी के गले और नासिका के स्राव मे वायरस रहता है और उसी से निकले छींटा द्वारा फैलता है (ड्रॉपलेट इनफेक्शन से रोग होता है)। इन्ही अगो मे रोग का वायरस घुसता भी है। रोगवाहक व्यक्ति नही पाए गए है, न रोग के आक्रमण से रोग-प्रतिरोध-क्षमता उत्पन्न होती है। छह से आठ महीने पश्चात् फिर उसी प्रकार का रोग हो सकता है।

रोग का उद्भवकाल एक से दो दिन तक का होता है। रोग के लक्षणो मे कोई विशेषता नही पाई जाती। केवल ज्वर और अति दुर्बलता ही इस रोग के लक्षण हैं। इनका कारण वायरस से उत्पन्न हुए जैवविष (टॉक्सिन) जान पडते हैं। भिन्न भिन्न महामारियो मे इनकी तीव्रता विभिन्न पाई गई है। ज्वर और दुर्बलता के अतिरिक्त सिरदर्द, शरीर मे पीडा (विशेषकर पिंडलियो और पीठ मे), सूखी खाँसी, गला बैठ जाना, छीक आना, आँख और नाक से पानी बहना और गले मे क्षोभ मालूम होना, आदि लक्षण भी होते है। ज्वर १०१ से १०३ डिगरी तक निरतर दो या तीन दिन से लेकर छह दिन तक बना रह सकता है। नाडी ताप की तुलना में द्रुत गतिवाली होती है। परीक्षा करने पर नेत्र लाल और मुख तमतमाया हुआ तथा चर्म उष्ण प्रतीत होता है। नाक और गले के भीतर की कला लाल शोथयुक्त दिखाई देती है। प्राय. वक्ष या फुफ्फुस मे कुछ नही मिलता। रोग के तीव्र होने पर ज्वर १०५° से १०६° तक पहुँच सकता है।

इस रोग का साधारण उपद्रव ब्रोंको न्यूमोनिया है जिसका प्रारभ होते ही ज्वर १०४° तक पहुँच जाता है। श्वास का वेग बढ जाता है, यह ५०-६० प्रति मिनट तक हो सकता है। नाडी ११० से १२० प्रति मिनट हो जाती है, किंतु श्वासकष्ट नही होता। सपूय श्वासनलिकार्ति (प्युरुलेंट ब्रॉन-काइटिस) भी उत्पन्न हो सकती है। खाँसी कष्टदायक होती है। श्लेष्मा झागदार, श्वेत अथवा हरा और पूययुक्त तथा दुर्गंधयुक्त हो सकता है। रक्त-मिश्रित होने से वह भूरा या लाल रंग का हो सकता है। फुफ्फुस की परीक्षा, करने पर विशेष लक्षण नही मिलते। किंतु छाती ठोकने पर विशेष ध्वनि, जिसे अंग्रेजी मे राल कहते है, मिल सकती है।

इस रोग का आत्रिक रूप भी पाया जाता है जिसमे रक्तयुक्त अतिसार, वमन, जी मिचलाना और ज्वर होते हैं।

रोग के अन्य उपद्रव भी हो सकते है। स्वस्थ बालको और युवाओ मे रोगमुक्ति की बहुत कुछ सभावना होती है। रोगी थोडे ही समय मे पूर्ण स्वास्थ्यलाभ कर लेता है। अस्वस्थ, अन्य रोगो से पीडित, दुर्बल तथा वृद्ध व्यक्तियो मे इतना पूर्ण और शीघ्र स्वास्थ्यलाभ नहीं होता। उनमे फुफ्फुस सबधी अन्य रोग उत्पन्न हो सकते है।

रोगरोधक चिकित्सा—महामारी के समय मे अधिक मनुष्यो का एक स्थान पर एकत्र होना अनुचित है। ऐसे स्थान में जाना रोग का आह्वान करना है। गले को पोटास परमैंगनेट के १ : ४००० के घोल से प्रात साय दोनो समय गरारा करके स्वच्छ करते रहना आवश्यक है। इनफ्लुएजा वायरस की वैक्सीन का इजेक्शन लेना उत्तम है। इससे रोग की प्रवृत्ति कम हो जाती है। दो से लेकर १२ महीने तक यह क्षमता बनी रहती है। किंतु यह क्षमता निश्चित या विश्वसनीय नही है। वैक्सीन लिए हुए व्यक्तियों को भी रोग हो सकता है।

इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा अभी नही ज्ञात हुई है। चिकित्सा लक्षणो के अनुसार होती है और उसका मुख्य उद्देश्य रोगी के बल का सर-क्षण होता है। जब किसी अन्य सक्रमण का भी प्रवेश हो गया हो तभी सल्फा तथा जीवाणुद्वेषी (ऐंटिबायोटिक) ओषधियो का प्रयोग करना चाहिए। (शि० श० मि० तथा स० प्र० गु०)

इनास यूनान का एक प्राचीन नगर है जिसका स्पष्ट सकेत होमर के 'इलियड' मे भी मिलता है। इसका प्राचीन नाम ऐनोस था। यह मरितजा नदी के मुहाने पर एजियन तट पर बसा हुआ है। यह ऐड्रियानोपुल से, जो उत्तर पूर्व मे लगभग ७० मील की दूरी पर है, मरितजा के ही प्राकृतिक जलमार्ग द्वारा सबद्ध है। पूर्वकाल मे यह एक प्रसिद्ध पत्तन था, परतु कालातर मे मरितजा नदी का तल पट जाने, मुहाने पर दलदल हो जाने तथा परिणामस्वरूप जलवायु के बिगडने के कारण इसका आकर्षण घटने लगा। देदियागैच के निकटवर्ती पत्तन की प्रतिस्पर्धा मे, जो ऐड्रियानोपुल से रेल द्वारा सबद्ध है, इसे बडा धक्का पहुँचा है। अब अब निर्यात मे इसका स्थान नगण्य है। यहाँ अधिकाशत छोटे छोटे तटीय व्यापारिक जहाज तथा मछुए शरण लेते है। (ले० रा० सिं०)

इनेसिदेमस एक यूनानी दार्शनिक जिसका जन्म शायद ई० पू० प्रथम शताब्दी मे क्नोसस् मे हुआ था। इसका दृष्टिकोण सदेह-वादी था। वह सत्य और कार्य-कारण-भाव मे विश्वास नही करता था। जीवधारियों के प्रत्यक्षो की सापेक्षिकता के कारण सत्य का स्वरूप निरपेक्ष नही हो सकता। यही बात कारण के सबध मे भी लागू होती है। फिर कार्य और कारण का सबध भी अचिन्त्य है। इनेसिदेमस की युक्तियाँ आधु-निक सदेहवादियो की युक्तियों के साथ विलक्षण समानता रखती हैं। दियोगेनेस लीएर्तियस् की 'दार्शनिको के जीवनचरित' नामक पुस्तक मे उसकी चार रचनाओ के नाम मिलते है। (भो० ना० श०)

इनैमल धातु पर पिघलाकर चढाई गई काँच (अथवा काँच के समान पदार्थ) की तह को इनैमल कहते है। धातुपदार्थो के ऊपर काँचीय परत जमाने की कला बडी पुरानी है। परंतु साधारण बोलचाल में किसी भी वस्तु के ऊपर की चमकदार तह को इनैमल कहा जाता है। साइकिल और मोटरकार पर चढा सेलूलोज रंग या दाँतों की ऊपरी प्राकृतिक परत प्राविधिक रूप से इनैमल नही है। प्राविधिक दृष्टिकोण से इनैमल अकार्बनिक काँचीय परत है जो पिघलाकर किसी सतह पर जमाई जाती है। मुख्यत काँच, चीनी मिट्टी के पात्र, धातु और खनिज पदार्थो की सतहों पर इनैमल किया जाता है। वस्तुत इनैमल कम ताप पर द्रवित होनेवाला काँच है। सोने और चाँदी पर (कभी कभी ताँबे पर भी) किए काम को हिंदी मे साधारणत मीना या मीनाकारी (इनैमल) कहते है।

इतिहास—इनैमल कला का कहाँ और कब आविष्कार हुआ, यह बताना अति कठिन है। अधिक संभावना यही है कि इनैमल कला का आविष्कार, काँच कला के समान, पश्चिमी एशिया में हुआ। प्राचीन समय के इनैमल सुसज्जित स्वर्ण, रजत, ताम्र और मिट्टी के पात्र उपलब्ध हुए है जिनसे यह सिद्ध होता है कि इनैमल कला का ज्ञान प्राचीन मिस्र, ग्रीस और बाइजैंटाइन साम्राज्य के लोगो को भी था।

इंग्लैंड की सभ्यता के पूर्व आयरलैंड निवासी भी यह कला जानते थे। मार्को पोलो के भ्रमण के पश्चात् चीन और जापान में भी इस कला का प्रसार हुआ। मिस्र की प्राचीन समाधियो से मीनाकृत आभूषण प्राप्त हुए है। उस समय स्वर्ण, रजत और ताम्र धातुओं पर कई प्रकार की सुंदर मीनाकारी की जाती थी। भारत मे लखनऊ तथा जयपुर की १७वीं शताब्दी की मीनाकारी बहुत प्रसिद्ध थी जिसमे पारदर्शी मीना के पृष्ठ पर उत्कीर्णन (नक्काशी) रहता था। ऐसे काम को अंग्रेजी मे बासटेय (छिछला उत्कीर्णन) कहते है।

इनैमल मुख्यत दो प्रकार के होते है

(१) कठोर इनैमल—यह नरम इस्पात और ढलवाँ लोहे पर सुरक्षा और सजावट के लिये चढाया जाता है।

(२) मृदु इनैमल—यह मंद ताप पर द्रवित होता है और स्वर्ण रजत तथा ताम्र पर सुंदरता और सजावट के लिये लगाया जाता है। मीनाकारी इसी जाति का इनैमल है।

स्वच्छ करना—इनैमल करने के पहले वस्तुओं को पूर्णतया स्वच्छ करना आवश्यक है। इसकी रीति निम्नलिखित है

नरम इस्पात—इसकी सतह इनैमल करने के पूर्व पूर्ण रूप से स्वच्छ कर ली जाती है। वस्तुविशेष को बंद भट्ठी (मफल फर्नेस) के भीतर ६००-७०० सेंटीग्रेड पर तप्त करने से मोरचा ढीला होकर झड जाता है और तेल, वसा इत्यादि अशुद्धियाँ जलकर नष्ट हो जाती है। अशुद्धियों को पूर्ण रूप से निकाल देने के लिये तापन के पश्चात् अम्लशोधन का सर्वदा प्रयोग किया जाता है। इस रीति मे धातु की वस्तुओं को तनु (फीके) सलफ्यूरिक या हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मे डुबा दिया जाता है। साधारणत ६-१० प्रति शत तप्त सलफ्यूरिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। १० प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बिना गर्म किए ही प्रयुक्त हो सकता है। अम्लशोधन की क्रिया १५ मिनट से लेकर आधे घंटे तक की जाती है। इससे लौह वस्तु पर मोरचा और अन्य सब अशुद्धियाँ पूर्णतया नष्ट हो जाती है। इसके पश्चात् वस्तु को स्वच्छ जल के हौज मे डुबोकर छोड दिया जाता है। फिर धुली वस्तुओं को सोडा के १ प्रति शत विलियन में डुबाने के पश्चात् उन्हें निकालकर सुखा लिया जाता है। लौह वस्तुओं पर क्षार की पतली परत जम जाने से मोरचा नही लगता है।

ढलवाँ लोहा—इस प्रकार के लोहे की वस्तुओं का अम्लशोधन नही किया जाता है। ऐसे लोहे की सतहों को तापन और बालुकाप्रक्षेपण (सैंड-ब्लास्टिंग) द्वारा साफ किया जाता है। ८००° से० तक तप्त करने से तेल, वसा, फासफोरस, गंधक इत्यादि अशुद्धियाँ जलकर नष्ट हो जाती है। बालुकाप्रक्षेपण के लिये वायु की दाब ७० या ८० पाउंड प्रति वर्ग इंच रखी जाती है और करकराती, शुष्क और महीन बालू ढलवाँ लोहे की सतह को स्वच्छ करके चमका देती है।

स्वर्ण, चाँदी और ताम्र—इन धातुओं की सतहों को स्वच्छ करने के लिये इनका भी तापन किया जाता है और तनु सल्फ्यूरिक अम्ल मे उबाला जाता है। जल में धोने के पश्चात् इनको सोडा विलयन मे डुबाया जाता है और तदुपरांत सुखा लिया जाता है।

इनैमल करना—विविध धातुओं पर इनैमल करने की रीति नीचे दी जाती है

इस्पात—इनैमल तैयार करने के लिये वे ही कच्चे पदार्थ प्रयुक्त होते है जो काँचनिर्माण मे काम आते है। इनैमल मे मुख्यत तार के लिये अल्युमिना के बोरोसिलिकेट प्रयुक्त होते है। कुछ इनैमलो मे सीसा (लेड) भी मिला रहता है। कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ भी मिलाए जाते है जिनसे इनैमल मे कुछ विशेष भौतिक गुण आ जायँ। उदाहरणत इनैमल मे यदि कोबल्ट, निकल और मैगनीज के आक्साइड उपस्थित रहते है तो प्रसरण-गुणांक मे भिन्नता होते हुए भी इस्पात पर यह इनैमल दृढता से जम जाता है। इस्पात की वस्तुओं पर पहले उपयुक्त आक्साइडोवाले इनैमल की परत चढा दी जाती है। इस परत का अस्तर (ग्राउंड कोट इनैमल) कहा जाता है। चुने सूत्र के अनुसार आवश्यक पदार्थो का मिलाकर और उन्हे अग्निसह मिट्टी की घरिया या कुंड मे रखकर भट्ठी मे तप्त करके द्रवित किया जाता है और द्रव को शीतल जल मे उडेल दिया जाता है। इस क्रिया मे द्रव-मिश्रण भुरभुरे कणों मे परिवर्तित हो जाता है। इन कणों को "काचिक" (फ्रिट) कहा जाता है। यह सुगमता से पीसकर चूर्ण किया जा सकता है। इसको पात्रपेषणी (पॉट मिल) मे बेंटोनाइट जैसी सुघट्य मिट्टी और जल के साथ मिलाकर पीसा जाता है। मिट्टी के कारण काचिक जल मे निलंबित हो जाता है और इसको इनैमल घोला (स्लिप) कहा जाता है। इनैमल घोला लगाने के कुछ पूर्व सुहागा, अमोनियम कार्बोनेट, इपसम लवण, मैगनीशिया इत्यादि जैसे पदार्थ (१-५ प्रति शत) मिला देने से घोला गाढा हो जाता है।

इनैमल घोला लगाने की कई विधियाँ है जो वस्तु की आकृति, नाप, ढाँचे और भार पर निर्भर है

(१) खोखली वस्तुओं को घोला मे डुबाकर शीघ्र निकाल लिया जाता है। (२) साइनबोर्ड आदि मे घोला एक ही तरफ लगाकर कूर्च (ब्रश) द्वारा लगाया जाता है। (३) भारी या छिद्रयुक्त वस्तुओं और कई रंग मे बननेवाले साइनबोर्डो या अन्य वस्तुओं पर घोला प्रक्षेपयंत्र (वायु-कूर्च) द्वारा भी छिडका जा सकता है। इन यंत्रों मे वायु की दाब ३०-६० पाउंड प्रति वर्ग इंच होती है। घोला लगाने के उपरांत उसे सुखा लिया जाता है।

द्रावण—कोमल इस्पात के ऊपर लगे प्रारंभिक इनैमल घोला की परत के सूखने के बाद वस्तु को बंद भट्ठी मे, जिसका ताप प्राय ६००° से० होता है, कुछ मिनटों तक रखकर परत को द्रवित किया जाता है।

ढलवाँ लोहे के ढाँचे पर बहुत सी नुकीली लोहे की कीलें होती है और प्रत्येक वस्तु तीन कीलों की नोकों पर आधारित रहती है। वस्तुओं समेत यह ढाँचा बंद भट्ठी मे डाल दिया जाता है और तीन चार मिनट पश्चात् बाहर निकाल लिया जाता है। ठंढा होते ही वस्तु की सतह पर इनैमल की कठोर चमकदार परत जम जाती है। प्रारंभिक इनैमल परत जमाने के पश्चात उसी परत पर सफेद या रंगदार इनैमल का घोला लगाया जाता है और इस घोले के सूखने पर स्टेंसिलों का प्रयोग करके चित्र या अक्षर बनाए जाते है। अनावश्यक शुष्क घोला ब्रुश द्वारा सावधानी से पृथक् कर दिया जाता है। फिर वस्तु को भट्ठी मे डालकर सूखे घोले को द्रवित कर लिया जाता है।

इनैमल के सूत्रो के कुछ उदाहरण

	प्रारंभिक इनैमल-काचिक		पात्रपेषणी के लिये घोला	
सुहागा	२८.५	प्रति शत	काचिक	१०० भाग
फेल्स्पार	३१.२	,,	सुघट्य मिट्टी	६ ,,
फ्लोरस्पार	६.०	,,	जल	४० ,,
क्वार्ट्ज	२०.०	,,		
कोबल्ट आक्साइड	०.३५	,,		

मैंगनीज डाइ-आक्साइड	० ६५	प्रति शत
सोडा	६०	,,
सोडियम नाइट्रेट	४०	,,
	१०००	

प्रयोग के एक घंटे पूर्व घोला में १ प्रति शत सुहागा मिलाया जाता है।

श्वेत इनैमल काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला	
सुहागा	२८ ३	प्रति शत	काचिक	१०० भाग
क्वार्ट्ज	१५ ३	,,	मिट्टी	६ ,,
फेल्स्पार	३६ ०	,,	वग आक्साइड	५ ,,
क्रायोलाइट	१६ ३	,,	मैगनीशियम	
पोटैशियम नाइट्रेट	६ १	,,	आक्साइड	०.२५ ,,
(शोरा)			अमोनियम	
	१०० ०	,,	कार्बोनेट	० १२५ ,,
			जल	३०० ,,

श्वेत या दूधिया रंग का इनैमल ऐंटिमनी आक्साइड अथवा जिरकोनियम से भी बनाया जाता है। कुछ इनैमल सुहागा रहित भी होते हैं और कुछ में सिंदूर (रेड लेड) का उपयोग होता है। इन इनैमलों का द्रवणांक प्रारंभिक इनमल के द्रवणांक से कम होता है।

ढलवाँ लोहा—इस प्रकार के लोहे के लिये इनैमल की सरचना में कुछ भिन्नता होती है और ये कम ताप पर द्रावित होते हैं। इस लोहे की छोटी, चिपटी और साधारण वस्तुओं पर प्रारभिक इनैमल की परत की आवश्यकता नहीं होती। इनकी सतहों को स्वच्छ करने के पश्चात् इनपर डुबाकर या छिडककर इनैमल लगा दिया जाता है। उच्च कोटि की वस्तुओं के लिये प्रारभिक इनैमल परत की आवश्यकता होती है। बडी और जटिल आकारवाली वस्तुओं पर इनैमल घोला 'शुष्क रीति' (ड्राइ प्रोसेस) में लगाया जाता है। प्रारभिक इनैमल काचिका में कोबल्ट या निकेल के आक्साइड नहीं होते। प्रारभिक इनैमल घोला की बहुत पतली परत कूंच (ब्रुश) से या प्रक्षेपण द्वारा चढा दी जाती है और परत के सूखने पर वस्तु का बद भट्ठी में तप्त किया जाता है जिससे प्रारंभिक परत गलकर ढलवाँ लोहे के छिद्रों में समा जाती है और लोहे की सतहों पर चिपचिपाहट आ जाती है। वस्तु को तब भट्ठी के बाहर निकाला जाता है और एक लबे बेंटवाली (दस्तादार) चलनी से सफेद या रंगीन इनैमल घोला का शुष्क किया हुआ महीन चूर्ण चिपचिपी सतह पर समान रूप से छिडक दिया जाता है और वस्तु को पुन भट्ठी में डाल दिया जाता है जिससे इनमल द्रवित होकर वस्तु की सतह पर जम जाता है। इस क्रिया को दुहराया भी जा सकता है जिससे इनैमल की परत मोटी हो जाय।

प्रारभिक इनैमल काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला	
सुहागा	३२	प्रति शत	काचिक	१०० भाग
फेल्स्पार	६४	,,	मिट्टी	१ भाग
सिंदूर (रेड लेड)	४	,,	जल	३५ भाग
	१००	,,		

प्रयोग के समय एक प्रति शत सुहागा मिला लेना चाहिए। रंगीन या सफेद इनैमल के सूत्र इस्पात इनैमलों के ही समान होते हैं।

स्वर्ण, रजत तथा ताम्र—जैसा ऊपर बताया गया है, इन धातुओं पर लगाए जानेवाले इनैमल को 'मीना' कहते हैं। यह अत्यत कम ताप पर गलनेवाला काँच होता है और इसकी सरचना लौह इनैमल के समान ही होती है। इनैमल को कूटकर महीन चूर्ण कर लिया जाता है। स्वच्छ की हुई धातु को रुज (फेरिक आक्साइड) से पालिश किया जाता है। फिर इसको जल से धोकर इसकी सतह पर मोम की पतली परत लगाकर मीनाकारी का आकल्पन (नकशा) बनाया जाता है और तदुपरात कलाकार उपयुक्त हस्तयत्रों से उत्कीर्णन और नक्काशी करते हैं तथा महीन तारों को टाँके से जोड़ते हैं जिसमें आकल्पन के अनुसार भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्रकार का मीना किया जा सके। मीनाकारी की कई विधियाँ हैं, जैसे चैंपलीव, क्लाइसोन, बासटेय, लिमोजेस, प्लाक ए जूर इत्यादि। सक्षेप में, इनैमल का गाढा लेप रिक्त स्थान में रख दिया जाता है और सुखाने के पश्चात् भट्ठी में या फुँकनी द्वारा पिघला दिया जाता है। फिर वस्तु का अम्लशोधन कर और उसे खूब स्वच्छ करके, अतिरिक्त इनैमल को कुरड (कारंडम) से रगडकर निकाल लिया जाता है। अत में प्यूमिस से पालिश करने पर मीना में चमक आ जाती है।

स०ग्र०—लारेंस आर० मरनाथ इनैमल्स (१९२८), जे० ई० हैसन पोर्सलेन इनैमलिंग (१९३७), लुई एफ० डे इनैमलिंग (१९०७), ग्रेटा पैक जुएलरी ऐंड इनैमलिंग (१९४५), जे० ग्रीनवाल्ड इनैमलिंग ऑन आयरन ऐंड स्टील (१९१९), जे० ई० हैसन : टेकनोलॉजी ऑव विट्रियस इनैमलिंग (१९२७), ए० आई० ऐंड्र्यूज . इनैमल लेबोरेटरी मैनुअल (१९४१)। (रा० च०)

इपिकाकुआना 'सिफैलिस इपीकाकुआना' की सूखी जड का नाम है। इसमें मुख्यत एमटीन तथा सिफैलीन ये दो ऐल्कलॉएड होते हैं। आमाशय तथा अंगत वामक केंद्र पर प्रभाव डालने के कारण यह बडी मात्रा में शक्तिशाली वमनकारक है। एमटीन एक शक्तिशाली अमीबा नाशक है। इपीकाकुआना का प्रयोग वमन कराने तथा कफ का उत्सारण बढाने के लिये होता है। सूखी खाँसी में यह अधिक ढीला कफ उत्पन्न करके आराम पहुँचाती है। एमटीन अमीबी आमातिसार के लिये अचूक ओषधि है। एमटीन अत पेशीय इंजेक्शन द्वारा दी जाती है तथा तीव्र आमातिसार अथवा यकृत्कोप में आश्चर्यजनक लाभ दिखाती है। इसकी मात्रा एक ग्रेन प्रति दिन के हिसाब से १२ दिन तक है। इतने दिन रोगी को बिस्तर पर से उठना न चाहिए।

इपीकाकुआना का चूर्ण कफ बढाने के लिये १/२ से २ ग्रेन तक तथा वमन कराने के लिये १५ से ३० ग्रेन तक की मात्रा में प्रयुक्त होता है। (मो० ला० गु०)

इप्सविच इंग्लैंड के सफोक प्रदेश में ओरवेल नदी के तट पर स्थित एक नगर तथा बदरगाह (नदी पर) है। यह नगर हारविच से १० मील और लदन से ६८ मील उत्तर पूर्व में है। सन् १९५१ ई० में इस नगर का क्षेत्रफल ८,७४६ एकड था। नगर के प्राचीन भाग की सडकें बहुत ही सँकरी तथा टेढी मेढी हैं। इस भाग के कुछ भवन विचित्र पच्चीकारियों से अलकृत हैं। यहाँ गिरजाघरों का बाहुल्य है। रोमन काल में यह रोमनों की एक बस्ती रहा है जिसके भग्नावशेष विद्यमान हैं। सन् ९९१ और १,००० ई० में डेनों द्वारा यह नष्ट भ्रष्ट किया गया। आधुनिक नगर एक अच्छा औद्योगिक केंद्र है जहाँ रेलों के पुर्जे, कृषि के यत्र तथा औजार, बिजली के सामान, धातु, चीनी इत्यादि का उत्पादन होता है। नगर की सन् १९७० ई० में अनुमानित जनसख्या १,२१,९३० रही। (श्या० सु० श०)

इप्सस का युद्ध यह युद्ध 'राजाओं का युद्ध' कहलाता है जो सिकदर के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारियों में ३०१ ई० पू० में हुआ था। सिकदर के कोई सतान न थी इसलिये उसका विशाल साम्राज्य बाबुल में उसके मरते ही उसके सेनापतियों में बँट गया और उनमें तब तक बराबर युद्ध चलता रहा जब तक अतिगोनस का नाश नहीं हो गया। इसी बीच सीरिया के सेल्युकस ने भारत के चद्रगुप्त से हारकर सधि में उससे अपने चार प्रातों के बदले ५०० हाथी पाए थे। उन्हीं हाथियों का इस युद्ध में उसने उपयोग किया। अतिगोनस के बेटे देमेत्रियस ने जब थेसाली में कसादर को जा घेरा तब कसादर ने अपनी प्रतिभा का एक अद्भुत चमत्कार दिखाया। अपने पास बहुत थोडी सख्या में सेना रख उसने अपने मित्र राजा लेसीमाखस को लघु एशिया पर हमला करने को भेजा और सेल्यूकस को बाबुल की ओर से अतिगोनस पर पीछे से हमला करने के लिये सवाद भेजा। उसकी चाल चल गई। देमेत्रियस को ग्रीस छोड पिता की मदद को दौडना पडा और पिता पुत्र की सेनाएँ लेसीमाखस और सेल्यूकस की सेनाओं से फ्रीगिया में इप्सस के मैदान में गुथ गई। अतिगोनस के पास ७० हजार

पैदल, १० हजार घुड़सवार और ७५ हाथी थे। उधर सेल्यूकस के पास ६४ हजार पैदल, १० हजार ५ सौ घुड़सवार और ४८० हाथी थे। इस युद्ध में हाथियों ने जीत का पासा पलट दिया वरना देमेत्रियस का हमला शत्रुओं को सँभाल का न था। पहली और आखिरी बार पश्चिमी एशिया की लड़ाई में हाथियों का इस्तेमाल इतना लाभकर सिद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य टुकड़ों में बँट गया और पूर्व का भाग सेल्यूकस के हाथ आया। ग्रीक साम्राज्य का केंद्रीकरण न हो सका। उस केंद्रीकरण का स्वप्न देखनेवाला अंतिगोनस इप्सस के युद्ध में ही मारा गया। (ओ० ना० उ०)

इफोद (इब्रानी शब्द जिसका अर्थ अनिश्चित है।) यहूदी पुरोहितों द्वारा पूजा के समय व्यवहार में लाया जानेवाला जड़ाऊ वस्त्र था। इसी वस्त्र पर पुरोहित के धार्मिक चिह्न लटकते रहते थे। एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इफोद पवित्र पूजा के समय ही पहना जाता था और मुख्य पुरोहित ही इसे पहनते थे। कुछ यहूदी पैगंबरों ने इसके पहने जाने का विरोध किया। वे इसे यह्वे की सच्ची पूजा के विरुद्ध समझते थे, किंतु इस विरोध के होते हुए भी यहूदी पुरोहितों में इसके पहनने का चलन जारी रहा। बाइबिल की 'साम' पुस्तक में इस बात का उल्लेख आता है कि नाब के पुरोहित की हत्या करने के बाद पुरोहित अबी अथर ने उसका इफोद लाकर दाऊद को भेंट किया। इसका अर्थ यह है कि यहूदी इतिहास के उस काल में पुरोहित वर्ग के लिये इफोद का वही महत्व था जो राजाओं के लिये मुकुट का होता है। बाइबिल के एक दूसरे उल्लेख के अनुसार गिदियन ने सोने का इफोद बनाकर ओफरा में रखा। इन्हीं उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि यहूदी जाति के निर्वासनकाल के पूर्व और पश्चात्, दोनों ही समय इफोद उपयोग में आता था। बाइबिल की साम पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि जब पैगंबर नूह की नौका ने जेरूसलम में प्रवेश किया तो दाऊद ने सूती इफोद पहनकर खुशी से उसके आगे नृत्य किया। कुछ लोगों के अनुसार इफोद एक छोटी धोती या लँगोटी की तरह होता था जो पूजागृह में प्रवेश के समय पहना जाता था। (वि० ना० पा०)

इबादान पश्चिमी अफ्रीका के नाइजीरिया राज्य का सबसे बड़ा नगर है। यह लागोस से रेल द्वारा १२५ मील पर पूर्वोत्तर में स्थित है। यह नगर एक पहाड़ी की ढाल पर बसा हुआ तथा नीचे ओना नदी की घाटी तक फैला हुआ है। इबादान एक मिट्टी की चहारदीवारी से घिरा हुआ है जिसकी परिधि लगभग १८ मील है। यहाँ बहुत सी मस्जिदें हैं तथा यूरोपीय ढंग की इमारतें बहुत कम हैं। नगर की अधिकांश जनसंख्या का भरण पोषण कृषि से होता है, परंतु यहाँ बहुत से कुटीर धंधे भी हैं। इबादान पश्चिम प्रांतीय सरकार की राजधानी है, अत उसका आर्थिक संगठन बहुत कुछ ठीक है। यहाँ सन् १९४७ ई० में एक युनिवर्सिटी कालेज की स्थापना की गई जो संघीय राज्य के अंतर्गत है। इसके स्नातकों को लंदन विश्वविद्यालय से कला, विज्ञान, चिकित्सा तथा कृषि में उपाधियाँ मिलती हैं। सन् १९६३ ई० में इसकी जनसंख्या ८००,००० थी। (ले० रा० सि०)

इबेरिया उस प्रायद्वीप का प्राचीन नाम है जिसपर अब स्पेन तथा पुर्तगाल का अधिकार है। 'इबेरिया' शब्द का प्रयोग अब भी कभी कभी साहित्य में मिल जाता है और भूगोलवेत्ता भी प्राय इबेरिया प्रायद्वीप का उल्लेख करते हैं।

इबेरिया निवासी यूरोप के अति प्राचीन निवासी माने जाते हैं। इनके शरीर की लंबाई कम परंतु सिर अपेक्षाकृत लंबे होते हैं। उत्तरी स्पेन में रहनेवाले बास्क लोगों को इबेरिया निवासियों का वंशज माना जाता है। बास्क भाषा में अब भी कुछ इबेरिया भाषा के शब्द हैं। सार्डिनिया, इटली, स्पेन तथा पुर्तगाल में रहनेवाली कई जातियों के पूर्वज इबेरिया निवासी ही थे। स्काटलैंड तथा आयरलैंड जैसे उत्तरी क्षेत्रों में इबेरियावालों के वंशज आज भी मौजूद हैं। (कै० च० श०)

इब्न बत्तूता अरब यात्री, विद्वान् तथा लेखक। उत्तर अफ्रीका के मोरक्को प्रदेश के प्रसिद्ध नगर तांजियर में १४ रजब, ७०३ हि० (२४ फरवरी, १३०४ ई०) को इसका जन्म हुआ था। इसका पूरा नाम था—मुहम्मद बिन अब्दुल्ला इब्न बत्तूता। इसके पूर्वजों का व्यवसाय काजियों का था। इब्न बत्तूता आरंभ से ही बड़ा धर्मानुरागी था। उसे मक्का की यात्रा (हज) तथा प्रसिद्ध मुसलमानों का दर्शन करने की बड़ी अभिलाषा थी। इस आकांक्षा को पूरा करने के उद्देश्य से वह केवल २१ वर्ष की आयु में यात्रा करने निकल पड़ा। चलते समय उसने यह कभी न सोचा था कि उसे इतनी लंबी देशदेशांतरों की यात्रा करने का अवसर मिलेगा। मक्के आदि तीर्थस्थानों की यात्रा करना प्रत्येक मुसलमान का एक आवश्यक कर्तव्य है। इसी से सैकड़ों मुसलमान विभिन्न देशों से मक्का आते रहते थे। इन यात्रियों की लंबी यात्राओं को सुलभ बनाने में कई संस्थाएँ उस समय मुस्लिम जगत् में उत्पन्न हो गई थीं जिनके द्वारा इन सबको हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थीं और उनका पर्यटन बड़ा रोचक तथा आनंददायक बन जाता था। इन संस्थाओं के कारण दरिद्र से दरिद्र 'हाजी' भी दूर दूर देशों से आकर हज करने में समर्थ होते थे।

इब्न बत्तूता ने इन संस्थाओं की बार बार प्रशंसा की है। वह उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ है। इनमें सर्वोत्तम वह संगठन था जिसके द्वारा बड़े से बड़े यात्री दलों को हर प्रकार की सुविधा के लिये हर स्थान पर आगे से ही पूरी पूरी व्यवस्था कर दी जाती थी एवं मार्ग में उनकी सुरक्षा का भी प्रबंध किया जाता था। प्रत्येक गाँव तथा नगर में खानकाहें (मठ) तथा सराएँ उनके ठहरने, खाने पीने आदि के लिये होती थीं। धार्मिक नेताओं का तो विशेष आवभगत होती थी। हर जगह शेख, काजी आदि उनका विशेष सत्कार करते थे। इस्लाम के भ्रातृत्व के सिद्धांत का यह संस्था एक ज्वलंत उदाहरण थी। इसी के कारण देशदेशांतरों के मुसलमान बेखटके तथा बड़े आराम से लंबी लंबी यात्राएँ कर सकते थे। दूसरी सुविधा मध्यकाल के मुसलमानों को यह प्राप्त थी कि अफ्रीका और भारतीय समुद्रमार्गों का समूचा व्यापार अरब सौदागरों के हाथों में था। ये सौदागर भी मुसलमान यात्रियों का उतना ही आदर करते थे।

भ्रमणवृत्तांत इब्न बत्तूता दमिश्क और फिलिस्तीन होता एक कारवाँ के साथ मक्का पहुँचा। यात्रा के दिनों में दो साधुओं से उसकी भेंट हुई थी जिन्होंने उससे पूर्वी देशों की यात्रा के सुख सौंदर्य का वर्णन किया था। इसी समय उसने उन देशों की यात्रा का संकल्प कर लिया। मक्के से इब्न बत्तूता इराक, ईरान, मोसुल आदि स्थानों में घूमकर १३२९ (७२९ हि०) में दुबारा मक्का लौटा और वहाँ तीन वरस ठहरकर अध्ययन तथा भगवद्भक्ति में लगा रहा। बाद उसने फिर यात्रा आरंभ की और दक्षिण अरब, पूर्वी अफ्रीका तथा फारस के बंदरगाह हुर्मुज से तीसरी बार फिर मक्का गया। वहाँ से वह क्रीमिया, खीवा, बुखारा होता हुआ अफगानिस्तान के मार्ग से भारत आया। भारत पहुँचने पर इब्न बत्तूता बड़ा वैभवशाली एवं संपन्न हो गया था।

भारतप्रवेश भारत के उत्तर पश्चिम द्वार से प्रवेश करके वह सीधा दिल्ली पहुँचा, जहाँ तुगलक सुल्तान मुहम्मद ने उसका बड़ा आदर सत्कार किया और उसे राजधानी का काजी नियुक्त किया। इस पद पर पूरे सात वरस रहकर, जिसमें उस सुल्तान को अत्यंत निकट से देखने का अवसर मिला, इब्न बत्तूता ने हर घटना को बड़े ध्यान से देखा सुना। १३४२ में मुहम्मद तुगलक ने उसे चीन के बादशाह के पास अपना राजदूत बनाकर भेजा, परंतु दिल्ली से प्रस्थान करने के थोड़े दिन बाद ही वह बड़ी विपत्ति में पड़ गया और बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर अनेक आपत्तियाँ सहता वह कालीकट पहुँचा। ऐसी परिस्थिति में सागर की राह चीन जाना व्यर्थ समझकर वह भूभाग में यात्रा करने निकल पड़ा और लंका, बंगाल आदि प्रदेशों में घूमता चीन जा पहुँचा, किंतु शायद वह मंगोल खान के दरबार तक नहीं गया। इसके बाद उसने पश्चिम एशिया, उत्तर अफ्रीका तथा स्पेन के मुस्लिम स्थानों का भ्रमण किया और अंत में टिंबकटू आदि होता हुआ वह १३५४ के आरंभ में मोरक्को की राजधानी 'फेज' लौट गया।

इब्न बत्तूता मुसलमान यात्रियों में सबसे महान् था। अनुमानत उसने लगभग ७५,००० मील की यात्रा की थी। इतना लंबा भ्रमण उस युग के शायद ही किसी अन्य यात्री ने किया हो। 'फेज' लौटकर उसने अपना भ्रमणवृत्तांत सुल्तान को सुनाया। सुल्तान के आदेशानुसार उसके सचिव मुहम्मद इब्न जुज़य ने उसे लेखबद्ध किया। इब्न बत्तूता का बाकी जीवन अपने देश

में ही बीता। १३७७ (७७९ हि०) में उसकी मृत्यु हुई। इब्न बतूता के भ्रमणवृत्तांत का 'तुहफतुअल नज्जार फ़ी गरायब अल अमसार व अजायब अल असफार' का नाम दिया गया। इसकी एक प्रति पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके यात्रावृत्तांत में तत्कालीन भारतीय इतिहास की अत्यंत उपयोगी सामग्री मिलती है।

सं०ग्रं०—पेरिस की हस्तलिपि को दे फ्रेमरी तथा सांगिनेती ने संपादित किया। यह हस्तलिपि ताजियर में १८३६ के लगभग प्राप्त हुई थी। इन्हीं संपादकों ने इसका पूरा अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया था। यह ग्रंथ चार खंडों में १८५३ से १८५९ तक पेरिस से प्रकाशित हुआ। इसके बाद दो और संस्करण पेरिस तथा कैरो से प्रकाशित हुए। 'ईलियट और डाउसन' के इतिहास के तीसरे खंड में इसके कुछ संदर्भों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ। 'ब्राडवे ट्रैवेलर्स' में एच० ए० आर० गिब्ब द्वारा संक्षिप्त अनुवाद, एक प्रस्तावना सहित, लंदन से १९२९ में प्रकाशित हुआ। इसके दूसरे तथा तीसरे संस्करण १९३९ तथा १९५३ में छपे। (प० श०)

इब्न सिना इनका नाम अबू अली अल् हुसेन इब्न सिना था, इब्रानी में अवेन सीना तथा लातीनी में अविसेन्ना था। इनका जन्म सन् ३७० हि० (सन् ९८० ई०) में बुखारा के पास अफ्शन में हुआ था और यह सन् ४२८ हि० (सन् १०३७ ई०) में हमदान में मरे। इनके माता पिता ईरानी वंश के थे। इनके पिता खरमैत के शासक थे। इब्न सिना ने बुखारा में शिक्षा प्राप्त की। आरंभ में कुरान तथा साहित्य का अध्ययन किया। शरअ की शिक्षा के अनंतर इन्होंने तर्क, गणित, रेखागणित तथा ज्योतिष में योग्यता प्राप्त की। शीघ्र ही इनकी बुद्धि इतनी परिपक्व तथा उन्नत हो गई कि इन्हें किसी गुरु की अपेक्षा नहीं रह गई और इन्होंने निजी स्वाध्याय से भौतिक विज्ञान, पारभौतिक दर्शन तथा वैद्यक में योग्यता प्राप्त कर ली। हकीमी सीखते समय से ही इन्होंने उसका व्यवसाय भी आरंभ कर दिया जिससे यह उस विषय में पारंगत हो गए। दर्शनशास्त्र से इनका वास्तविक संबंध अल्फाराबी की रचनाओं के अध्ययन से हुआ। अल्फाराबी के पारभौतिक दर्शन तथा तर्कशास्त्र की नींव नवअफलातूनी व्याख्याओं तथा अरस्तू की रचनाओं के अरबी अनुवादों पर थी। इन्होंने इब्न सिना की कल्पनाओं की दिशा निर्धारित कर दी। इस समय इनकी अवस्था १६-१७ वर्ष की थी। सौभाग्य से इब्न सिना को बुखारा के सुलतान नूह बिन मंसूर की दवा करने का अवसर मिला जिससे वह अच्छा हो गया। इसके फलस्वरूप इनकी पहुँच सुलतान के पुस्तकालय तक हो गई। इनकी स्मरण तथा धारणाशक्ति बहुत तीव्र थी इसलिये इन्होंने थोड़े ही समय में उस पुस्तकालय की सहायता से अपने समय तक की कुल विद्याओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन्होंने २१ वर्ष की अवस्था में लिखना आरंभ किया। इनकी लेखनशैली साधारणतः स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष है।

इब्न सिना ने अपने पिता की मृत्यु पर अपना जीवन बड़े असंयम के साथ व्यतीत किया जो विद्या संबंधी कार्यों, भोग विलास तथा निराशाओं से भरा था। बीच में कुछ समय तक जुर्जान, रई, हमदान तथा इस्फहान के दरबारों में सुखी जीवन भी बिताते रहे। इसी काल इन्होंने कई बड़ी पुस्तकें लिखीं जिनमें अधिकतर अरबी में तथा कुछ फारसी भाषा में थीं। उनमें विशेष रूप से वर्णनीय फिलसफा का कोश 'किताबुल् शफा', जो सन् १८१३ ई० में तेहरान से छपा था, और तिब (वैद्यक) पर लिखा ग्रंथ 'अलकानून फीउल् तिब' है जो सन् १२८४ ई० में तेहरान से, सन् १५९३ ई० में रूम से और सन् १९२४ ई० में बलाक से छपा है। 'किताबुल् शफा' अरस्तू के विचारों पर केंद्रित है, जो नव अफलातूनी विचारों तथा इस्लामी धर्म के प्रभाव से संशोधित परिवर्तित हो गए थे। इसमें संगीत की भी व्याख्या है। इस ग्रंथ के १८ खंड हैं और इसे पूरा करने में २० महीने लगे थे। इब्न सिना ने इस ग्रंथ का संक्षेप भी 'अल्नजात' के नाम से संकलित किया था। 'अल्कानून फीउल् तिब' में यूनानी तथा अरबी वैद्यकों का अंतिम निचोड़ उपस्थित किया गया है। इब्न सिना ने अपनी बड़ी रचनाओं के संक्षेप तथा विभिन्न विषयों पर छोटी छोटी पुस्तिकाएँ भी लिखी हैं। इनकी रचनाओं की कुल संख्या ९९ बतलाई जाती है। इनका एक कसीद बहुत प्रसिद्ध है जिसमें इन्होंने आत्मा के उच्च लोक से मानव शरीर में उतरने का वर्णन किया है। मंतिक (तर्क या न्याय) में इनकी श्रेष्ठ रचना 'किताबुल् इशारात व अल्तंबीहात' है। इन्होंने अपना आत्मचरित भी लिखा था जिसका संकलन इनके प्रिय शिष्य अल्जुर्जानी ने किया। इनकी वास्तविक श्रेष्ठता तथा प्रसिद्धि ऐसे विद्वान् तथा दार्शनिक के रूप में है जिसने भविष्य में आनेवाली कई शताब्दियों के लिये विद्या तथा दर्शन की एक सीमा और प्रमाण स्थापित कर दिए थे। इसी कारण शताब्दियों तक इन्हें 'अल्शेख अल्रईस' की गौरवपूर्ण उपाधि से स्मरण किया जाता रहा और अब तक भी अनेक पूर्वी देशों में किया जाता है।

मंतिक में इब्न सिना बहुत दूर तक अल्फाराबी का अनुगमन करते हैं। यह इसको एक ऐसी विद्या मानते हैं जो दर्शन तक पहुँचने का द्वार है। फिलसफा नजरयाती (प्रकृत दर्शन) या अमली (व्यावहारिक) होगा। यह नजरयाती फिलसफा को तबीआत (भौतिक), रियाजी (गणित आदि) तथा मावादुल्तबीआत (पारभौतिक दर्शन) में विभाजित करते हैं और अमली फिलसफा को इखलाकियात (सदाचार), मआशियात (जीवनक्रम) तथा सियासियात (शासन) में। समष्टिरूप में इनकी तबीआत की नींव अरस्तू की विचारधारा पर स्थित है, यद्यपि उसमें नव अफलातूनी प्रभाव भी पाए जाते हैं। बुद्धि संबंधी इनके विचार भी नव अफलातूनी फिलसफा से प्रभावित हैं।

इब्न सिना ने पूर्व तथा पश्चिम को अपने वैद्यक द्वारा सबसे अधिक प्रभावित किया है। इनके ग्रंथ 'अलकानून फीउल् तिब' का अनुवाद लातीनी भाषा में १२वीं सदी ईसवी में हो गया था और यह पुस्तक यूरोप में वैद्यक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में ले ली गई थी। इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में भी हुआ है।

इब्न सिना ने अरस्तू के मावादुल् तबीआत को एक ओर नव अफलातूनी नजरियात (प्राकृतिक दर्शन) से तथा दूसरी ओर इस्लामी दीनियात (संप्रदाय के सिद्धांतों) से मिलाने का प्रयत्न किया है। बुद्धि तथा तत्व या खुदा तथा दुनिया की द्वयता इनके यहाँ अल्फाराबी से अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ती है और व्यक्तिगत आत्मा के अमरत्व को इन्होंने अधिक सुचारु रूप से वर्णन किया है। इन्होंने तत्व को संभाव्य अस्तित्व कहा है और इनके यहाँ सृष्टि के इस संभाव्य अस्तित्व को वास्तविक अस्तित्व में परिणत करने का नाम है, किंतु यह कार्य नित्य है। मूलतः वास्तविक अस्तित्व केवल खुदा का है और उसके सिवा जो कुछ है वह सब संभाव्य है। खुदा का अस्तित्व अनिवार्य है और वही सब वस्तुओं का कारण है, जो नित्य है। इसलिये उसके फल, अर्थात् जगत् को भी नित्य होना चाहिए। जगत् स्वतः संभाव्य अस्तित्व ही है, किंतु ईश्वरीय कारण के आधार से उसका अस्तित्व अनिवार्य है। आत्मा के संबंध में इस मावादुल् तबीआत के सिद्धांत ने इब्न सिना को सूफी ढंग की रहस्यपूर्ण विचारधारा की ओर उभाड़ा और इन्होंने इन विचारों को कविता के रूप में ढाल दिया। इसमें यह ईरानी तसव्वुफ से भी प्रभावित हैं। पर यह वर्णनशैली इनमें कहीं कहीं मिलती है।

इब्न सिना के दर्शन में प्रेम को बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। यह सौंदर्य के मूल्यांकन द्वारा मानवोत्कर्ष के माननेवाले हैं और इनके यहाँ सौंदर्य कमाल (पूर्णता) तथा खैर (कल्याण) का नाम है। वस्तुएँ (जगत्) या तो पूर्णता प्राप्त कर चुकी हैं या उसके लिये प्रयत्नशील हैं और इस प्रयत्न में पूर्ण वस्तुओं से सहायता की इच्छुक हैं। इसी प्रेरणा का नाम प्रेम है। सारा विश्व इस प्रेमशक्ति से प्रभावित होकर उच्चतम सौंदर्य (खुदा) की ओर अग्रसर होता है जो नितांत पूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी है। कुल वस्तुएँ अनस्तित्व से घृणा करती हैं। तत्व स्वतः निर्जीव है, पर प्रेम उसके द्वारा विभिन्न रूप धारण करता है। इस प्रकार उत्कर्ष की शृंखला जड़ प्रस्तर आदि, वृक्ष आदि, पशु तथा मानव के जीवनों से होती हुई उन उच्चतर तथा पूर्णतर जीवनों तक पहुँचती है जिसके संबंध में हम कुछ नहीं जानते। (मि० र० शे०)

इब्नुल अरबी अरबी के प्रसिद्ध सूफी कवि, साधक और विचारक। इनका पूरा नाम अबू बक्र मुहम्मद इब्नअली मुहीउद्दीन था। जन्म स्पेन में ११६५ ई० में और मृत्यु दमिश्क में १२४० ई० में हुई। ११९४ ई० में ये मक्का चले गए। वहाँ कुछ समय रहने के बाद इन्होंने इराक,

सीरिया और एशिया माइनर की यात्राएँ कीं और अंत में दमिश्क में आकर बस गए। ये 'शेखेग्रकबर' नाम से विख्यात थे। इनकी रचनाएँ हैं इस्तेलहात, फुतूहातेमक्किया, मवाकीग्रलनुजूम, तर्जुमानुल अश्वाक आदि। फुतूहातेमक्किया एक विश्वकोशीय ग्रंथ है जिसमें सूक्ष्म विरोधाभासपरक शैली में अद्वैतपरक दर्शन का विवेचन किया गया है। इन्होंने अपनी रहस्यवादी कविताओं में दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति की है। कुरान की रहस्यात्मक टीका के अतिरिक्त इन्होंने साहित्यिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे। इन्होंने प्रेमकाव्य की भी रचना की है।

सूफी मत एवं इस्लामी दर्शन पर इनके सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव पड़ा। एक भी समकालीन या परवर्ती कवि इनके प्रभाव से अछूता न रहा। कुछ लोग ईसाई रहस्यवाद पर भी इनके प्रभाव को स्वीकार करते हैं। ये अद्वैतवादी थे, यद्यपि बहुदेववादी मानकर इनकी अनेक लोगों ने आलोचना भी की है। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर वहदतुल वजूद नाम के सिद्धांत का प्रवर्तन किया। कुरान और हदीस के आधार पर अपने सिद्धांत की इस्लाम के साथ इन्होंने संगति भी बैठाई है जिसके अनुसार वास्तविक सत्ता एक है, और वह सत्ता एकमात्र परमात्मा है। दृश्यमान जगत् उसकी अभिव्यक्ति है, उसका दर्पण है और दोनों में साम्य भी है। यह जगत् उसके तज्जल्ली (गुणों) की अभिव्यक्ति मात्र है। इसी आधार पर अरबी ने 'हमाग्रस्त' (सब कुछ वही है) सिद्धांत की प्रतिष्ठा की जिसके अनुसार संपूर्ण सृष्टि का एक ही उद्गम है और उसी में वह लय हो जाती है। नित्य और अनित्य दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। अरबी परमात्मा को सर्वगत और सर्वातीत नहीं मानते। उनके अनुसार अल्लाह ही अस्ल (सत्य) है और संसार उसका जिलन (छाया) है, अतः वह उसके अनुरूप है।

ईरानी और तुर्की सूफी प्रचारकों पर इब्नुल अरबी के विचारों का अमित प्रभाव पड़ा। इसी कारण उनको कुतुबुद्दीन (द पोल ऑव रिलिजन) का खिताब प्रदान किया गया। इब्नुल अरबी की इतनी प्रसिद्धि का एक और कारण उनकी अल-अजवेबह अन अल असाल्लह अस्सामिकौलियह भी है जिसमें पदार्थ (मैटर) की प्राचीनता और आत्मा की अमरता पर फ्रेडरिक द्वितीय के प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इब्नुल अरबी की एक और प्रसिद्ध रचना दूसरा एला मकामिल असरा है, जिसमें हजरत मुहम्मद साहब की मेराज (आसमानों की सैर) पर प्रकाश डाला गया है।

(सै० ब० हु० आ०)

इब्रानी भाषा और साहित्य

इब्रानी भाषा और साहित्य सामी (सेमेटिक) परिवार की भाषाओं में से एक जो यहूदियों की प्राचीन सांस्कृतिक भाषा है। इसी में उनका धर्मग्रंथ (बाइबिल का पूर्वार्ध) लिखा हुआ है, अतः इब्रानी का ज्ञान मुख्यतया बाइबिल पर निर्भर है।

'सामी' शब्द, व्युत्पत्ति की दृष्टि से, नौह के पुत्र सेम से संबंध रखता है। सामी भाषाओं की पूर्वी उपशाखा का क्षेत्र मेसोपोटेमिया था। वहाँ पहले सुमेरियन भाषा बोली जाती थी, फलस्वरूप सुमेर की भाषा ने पूर्वी सामी भाषाओं को बहुत कुछ प्रभावित किया है। प्राचीनतम सामी भाषा अक्कादीय की दो उपशाखाएँ हैं, अर्थात् असूरी और बाबुली। सामी परिवार की दक्षिणी उपशाखा में अरबी, हब्शी (इथोपियाई) तथा सबा की भाषाएँ प्रधान हैं। सामी वर्ग की पश्चिमी उपशाखा की मुख्य भाषाएँ इस प्रकार हैं उगारितीय, कनानीय, आरमीय और इब्रानी। इनमें से उगारितीय भाषा (१५०० ई० पू०) सबसे प्राचीन है, इसका तथा कनानीय भाषा का गहरा संबंध है। जब यहूदी लोग पहले पहल कनान देश में आकर बसने लगे तब वे कनानीय से मिलती जुलती एक आरमीय उपभाषा बोलते थे, उससे उनकी अपनी इब्रानी भाषा का विकास हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'इब्रानी' शब्द हपिरू से निकला है, हपिरू (शब्दार्थ 'विदेशी') उत्तरी अरबी मरुभूमि की एक यायावर जाति थी, जिसके साथ यहूदियों का संबंध माना जाता था। बाबीलोन के निर्वासन के बाद (५३६ ई० पू०) यहूदी लोग दैनिक जीवन में इब्रानी छोड़कर आरमीय भाषा बोलने लगे। इस भाषा की कई बोलियाँ प्रचलित थीं। ईसा भी आरमीय भाषा बोलते थे, किंतु इस मूल भाषा के बहुत कम शब्द सुरक्षित रह सके।

अन्य सामी भाषाओं की तरह इब्रानी की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं। धातुएँ प्रायः त्रिव्यंजनात्मक होती हैं। धातुओं में स्वर होते ही नहीं और साधारण शब्दों के स्वर भी प्रायः नहीं लिखे जाते। धातुओं के सामने, बीचाबीच और अंत में वर्ण जोड़कर पद बनाए जाते हैं। प्रत्यय और उपसर्ग द्वारा पुरुष तथा वचन का बोध कराया जाता है। क्रियाओं के रूपांतर अपेक्षाकृत कम हैं। साधारण अर्थ में काल नहीं होते, केवल वाच्य होते हैं। वाक्यविन्यास अत्यंत सरल है, वाक्यांश प्रायः 'और' शब्द के सहारे जोड़े जाते हैं। इब्रानी में अर्थ के सूक्ष्म भेद व्यक्त करना दुःसाध्य है। वास्तव में इब्रानी भाषा दार्शनिक विवेचना की अपेक्षा कथासाहित्य तथा काव्य के लिये कहीं अधिक उपयुक्त है।

प्रथम शताब्दी ई० में यहूदी शास्त्रियों ने इब्रानी भाषा को लिपिबद्ध करने की एक नई प्रणाली चलाई जिसके द्वारा बोलचाल में शताब्दियों से अप्रयुक्त इब्रानी भाषा का स्वरूप तथा उसका उच्चारण भी निश्चित किया गया। आठवीं १०वीं सदी में उन्होंने समस्त इब्रानी बाइबिल का इसी प्रणाली के अनुसार संपादन किया है। यह मसोरा का परंपरागत पाठ बतलाया जाता है और पिछली दस शताब्दियों में इब्रानी बाइबिल का यह सबसे प्रचलित पाठ है। इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध संस्करण बेन हयीम का है जो १५२४ ई० में वेनिस में प्रकाशित हुआ था। सन् १९४७ ई० में फिलिस्तीन के कुमराम नामक स्थान पर इब्रानी बाइबिल तथा अन्य साहित्य की अत्यंत प्राचीन हस्तलिपियाँ मिल गईं। इनका लिपिकाल प्रायः दूसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है। विद्वानों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बाइबिल की ये प्राचीन पोथियाँ मसोरा के पाठ से अधिक भिन्न नहीं हैं। पश्चिम के विश्वविद्यालयों में आजकल इब्रानी का अध्ययन अपेक्षाकृत लोकप्रिय है।

मध्यकाल में एक विशेष इब्रानी बोली की उत्पत्ति हुई थी जिसे जर्मनी के वे यहूदी बोलते थे जो पोलैंड और रूस में जाकर बस गए थे। इस बोली को 'यहूदी जर्मन' अथवा 'यिद्दिश' कहकर पुकारा जाता है। वास्तव में यह एक जर्मनी बोली है जो इब्रानी लिपि में लिखी जाती है और जिसमें बहुत से आरमीय, पोलिश तथा रूसी शब्द भी सम्मिलित हैं। इसका व्याकरण अस्थिर है, किंतु इसका साहित्य समृद्ध है।

प्रथम महायुद्ध के बाद फिलिस्तीन (यहूदियों का इज़रायल नामक नया राज्य) की राजभाषा आधुनिक इब्रानी है। सन् १९२५ ई० में जेरूसलम का इब्रानी विश्वविद्यालय स्थापित हुआ जिसके सभी विभागों में इब्रानी ही शिक्षा का माध्यम है। इज़रायल राज्य में कई दैनिक पत्र भी इब्रानी में निकलते हैं।

साहित्य

(१) **बाइबिल**—रचनाकाल की दृष्टि से बाइबिल का प्रामाणिक रूप इब्रानी भाषा का प्राचीनतम साहित्य है। इसका दृष्टिकोण मुख्यतया साहित्यिक न होकर धार्मिक ही है, कलात्मक अभिव्यंजना की अपेक्षा शिक्षा का प्रतिपादन या उपदेश इसका प्रधान उद्देश्य है (द्र० **बाइबिल**)।

(२) **अप्रामाणिक धार्मिक साहित्य**—दूसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर दूसरी शताब्दी ई० तक बहुत से ऐसे ग्रंथों की रचना हुई थी जिनका उद्देश्य है बाइबिल में प्रतिपादित विषयों की व्याख्या अथवा उनका विस्तार। इनमें प्रायः बाइबिल के प्रमुख पात्रों की भविष्य संबंधी उक्तियों का समावेश है। उदाहरणार्थ, आदम और हौवा की जीवनी। इन रचनाओं को बाइबिल में स्थान नहीं मिला। इन्हें अप्रामाणिक साहित्य कहा जाता है। इस प्रकार के साहित्य की मूल भाषा प्रायः इब्रानी थी, किंतु आजकल यह केवल आरमीय अथवा परवर्ती अनुवादों में ही मिलता है।

(३) **शास्त्रीय साहित्य**—ईसाई धर्म के प्रवर्तन के पश्चात् यहूदी शास्त्री (इब्रानी में इनका नाम रब्बी है), जो ईसाई धर्म स्वीकार करते थे, एक अत्यंत विस्तृत साहित्य की रचना करने लगे। यह शास्त्रीय साहित्य के नाम से विख्यात है। इसका तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है

(अ) **मिश्ना**—यह पर्व, संस्कार, पूजा, कानून आदि के विषय में यहूदियों के यहाँ प्रचलित मौखिक परंपराओं का संग्रह है जिसे दूसरी शताब्दी ई० में यूदाह हनासी ने संकलित किया था। 'तोसेफ्ता' इसका **अर्वाचीन परिशिष्ट है।**

(आ) तलमूद—यह मिश्ना की व्याख्या है जो स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेती है। जेरूसलम के शास्त्रियों ने अपना जेरूसलमी तलमूद तीसरी चौथी शताब्दी ईसवी में लिखा है। बाबीलोनिया के तलमूद का नाम बब्ली अथवा गेमारा है, इसका रचना-काल चौथी छठी शताब्दी ईसवी है। बब्ली तलमूद सबसे विस्तृत (१०,००० पृ०) तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। तलमूद की भाषा इब्रानी तथा आरमीय है।

(इ) मिद्रशीम—ये मूसा के नियम की व्यावहारिक तथा उपदेशात्मक व्याख्याएँ हैं। गौण मिद्रशीम सन् ५०० ई० के हैं, उनमें से मेखिलता सिफा तथा सिफ्रे उल्लेखनीय हैं। परवर्ती मिद्रशीम (रब्बोत) अपेक्षाकृत विस्तृत हैं। उनकी रचना छठी शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक होती रही।

(४) **मध्यकालीन साहित्य**—विभिन्न देशों में बसनेवाले यहूदियों में कई संप्रदाय उत्पन्न हुए जिनका इब्रानी साहित्य अब तक सुरक्षित है। बाबीलोनिया के सूरा नामक स्थान पर ६०० ई० से लेकर गेओनीम संप्रदाय है जिसका कानून, मिना तथा बाइबिल विषयक साहित्य विस्तृत है। इसके प्रमुख विद्वान् सदियाह ६४२ ई० में चल बसे। करा-वादी आठवीं शताब्दी ई० का यहूदी शास्त्रियों का एक संप्रदाय है जिसका साहित्य मुख्यतया बाइबिल की व्याख्या है।

नवीं शताब्दी ई० में स्पेन मुसलमानी और यहूदी संस्कृति का केंद्र बना; वहाँ विशेषकर व्याकरण, बाइबिल की व्याख्या तथा अरस्तू के दर्शन पर साहित्य की सृष्टि हुई। इस संबंध में मसा इब्न एज्रा (११४० ई०) तथा जुदाह हल्लेवी (११४० ई०) उल्लेखनीय हैं, किंतु उस समय के सबसे महान् यहूदी दार्शनिक मैमोनीदेस (११३५-१२०४ ई०) हैं। मैमोनीदेस ने अरस्तू की कुछ रचनाओं के अरबी अनुवाद का विशेष अध्ययन करने के बाद धार्मिक विश्वास तथा बुद्धि के समन्वय की आवश्यकता दिखलाने का प्रयत्न किया। यहूदियों ने इब्न सिना (१०३७ ई०) तथा इब्न रूस (११९८ ई०) जैसे अरबी विद्वानों की रचनाएँ मध्यकालीन यूरोप तक पहुँचाकर अरबी तथा यूनानी ज्ञान विज्ञान के प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया है।

(५) **आधुनिक साहित्य**—मूसा मेंदेलसान (१७२९-१७८६) के बुद्धिवाद से प्रभावित होकर इब्रानी साहित्य का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर उदार तथा साहित्यिक होता जाता रहा है। १९वीं शताब्दी में एक नवीन राष्ट्रवादी धारा उत्पन्न हुई जो बाद में सिओनवादी (जिओनिस्ट) आंदोलन में परिणत हुई। यह फिलिस्तीन देश को पुन: यहूदी जाति का सांस्कृतिक केंद्र बनाना चाहती है। आधुनिकतम इब्रानी साहित्य में प्रतिभा, कलात्मकता तथा विद्वत्ता का भांडार है, उसका विश्वसाहित्य तथा विश्वव्यापी आंदोलनों के साथ गहरा संबंध है। एलिएजेर्बन यहूदाह (१९२३) अपना 'इब्रानी भाषा का कोश' (१० खंड) लिखकर विश्वविख्यात बन गए। जेरूसलम के इब्रानी विश्वविद्यालय की ओर से एक सुविस्तृत इब्रानी विश्वकोश का संपादन सन् १९५० ई० में प्रारंभ हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद इब्रानी साहित्यिक जीवन का केंद्र पूर्वी यूरोप से हटकर पश्चिमी यूरोप, अमरीका तथा इज़रायल में आ गया है।

इब्रानी भाषा के स्वरूप के वर्णन में यिद्दिश का ऊपर उल्लेख हो चुका है। अब्रामोविच के यिद्दिश उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इधर शोलेम आश के बहुत से ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी में अनूदित हो चुके हैं। आइ० एल० पेरेज़ एक आधुनिक रहस्यवादी लेखक तथा मारिस रोसेनफेल्द एक लोकप्रिय कवि हैं। सन् १८६७ ई० में अब्राहम कहान ने अमरीका में यिद्दिश पत्रकारिता का प्रारंभ किया था।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका खंड ११, हिब्रू लैंग्वेज, लिटरेचर, जे० ब्रोकेलमैन कंपरेटिव ग्रामर ऑव सेमेटिक लैंग्वेजेज, बर्लिन १९१२, जे० हेंपेल आल्ट हेब्रेश्चे लिटरेट्योर, पॉट्सडैम, १९३४, ए० लॉड्स इस्त्वार दे ला लिटरेट्योर हेब्रेक ए जूई, पेरिस, १९५०। (आं० बे०)

इब्राहिम, हाफिज मुहम्मद पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल, भूतपूर्व केंद्रीय सिंचाई तथा विद्युत् मंत्री, उत्तर प्रदेश के वित्त, सिंचाई तथा सार्वजनिक निर्माण मंत्री। आपका जन्म सन् १८८९ ई० में बिजनौर जिले के नगीना नामक कस्बे में हुआ था। सन् १९१६ ई० में आप स्नातक हुए और सन् १९१९ ई० में कानून की उपाधि प्राप्त की। आपने लगभग १५ वर्षों तक नगीना और मुरादाबाद में वकालत की। सन् १९२६ ई० में स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में आप उत्तर प्रदेश प्रांतीय धारा सभा के सदस्य चुने गए। सन् १९३४ ई० में आपने 'ह्वाइट पेपर' प्रस्तावों का उग्र विरोध किया। सन् १९३६ ई० में मुस्लिम लीग के टिकट पर प्रांतीय धारा सभा के सदस्य चुने गए और प्रथम गोविंदवल्लभ पंत मंत्रिमंडल में यातायात तथा सार्वजनिक निर्माण मंत्री नियुक्त हुए। बाद में आप मुस्लिम लीग से इस्तीफा देकर कांग्रेस में सम्मिलित हो गए और कांग्रेसी उम्मीदवार होकर लीगी उम्मीदवारों को पराजित कर प्रबल मतों से विजयी हुए। सन् १९३९ ई० में युद्ध के विरोध में आपने मंत्रिपद से इस्तीफा दिया। आपने स्वाधीनता संग्राम में भी भाग लिया और राष्ट्रवादी मुसलमानों के संघटन तथा जागरण में योगदान किया। सन् १९४०-४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह में आपने भाग लिया और एक वर्ष तक कारावास किया। आजाद मुस्लिम कानफरेंस के आप संस्थापकों में रहे हैं। सन् १९४२ ई० के आंदोलन में आपको पुन: नजरबंद कर लिया गया था। सन् १९४४ ई० में राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं के सहयोग से आपने अखिल भारतीय मुसलिम मजलिस की स्थापना की। केंद्रीय आजाद मुस्लिम संसदीय बोर्ड के भी आप सदस्य रहे हैं। सन् १९४६ ई० में लीगी सदस्य को हराकर आप विधान सभा के सदस्य चुने गए और जब उत्तर प्रदेश में पंत मंत्रिमंडल का गठन हुआ तो उसमें मंत्री बने। सन् १९५२ के साधारण निर्वाचन में भी आप प्रबल मतों से विजयी हुए और प्रदेश के तीसरे (पंत) मंत्रिमंडल में वित्त मंत्री का पदभार सँभाला। बाद में आप केंद्रीय सरकार में चले गए और वहाँ सिंचाई तथा विद्युत् मंत्री के पद पर रहकर उल्लेखनीय कार्य किए। इसके पश्चात् आप पंजाब के राज्यपाल नियुक्त किए गए। सन् १९६६ के आरंभ से ही आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। अत: आपने राज्यपाल पद से इस्तीफा दे दिया। २६ फरवरी, १९६६ ई० को राष्ट्रपति ने पंजाब के राज्यपाल पद से दिया गया इस्तीफा सखेद स्वीकार कर लिया और १५ मार्च तक की आपकी छुट्टी स्वीकार की। इस प्रकार हाफिज मुहम्मद इब्राहीम ने राष्ट्रीय संग्राम में उल्लेख्य योगदान किया। आपने राष्ट्रीय विचारधारा के मुसलमानों का संघटन किया तथा स्वाधीनता के बाद राज्य और केंद्र की सरकार में महत्वपूर्ण पदों का कार्यभार सँभालकर देश के निर्माण में स्मरणीय सहयोग प्रदान किया। इनका निधन २४ जनवरी १९६८ को इनके पैत्रिक वासस्थान नगीना (बिजनौर) में हुआ।

(ल० श० व्या०)

इब्सन, हेनरिक जब नार्वे में नाटक का प्रचलन प्राय: नहीं के बराबर था, इब्सन (१८२८-१९०६) ने अपने नाटकों द्वारा अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की और शॉ जैसे महान् नाटककारों तक को प्रभावित किया। पिता के दिवालिया हो जाने के कारण आपका प्रारंभिक जीवन गरीबी में बीता। शुरू से ही आप बड़े हठी और विद्रोही स्वभाव के थे। अपने युग के संकीर्ण विचारों का आपने आजीवन विरोध किया।

आपका पहला नाटक 'कैटीलाइन' १८५० में ओसलो में प्रकाशित हुआ जहाँ आप डाक्टरी पढ़ने गए हुए थे। कुछ समय बाद ही आपकी रुचि डाक्टरी से हटकर दर्शन और साहित्य की ओर हो गई। अगले ११ वर्षों तक रंगमंच से आपका घनिष्ठ संपर्क, पहले प्रबंधक और फिर निर्देशक के रूप में रहा। इस संपर्क के कारण आगे चलकर आपको नाट्यरचना में विशेष सहायता मिली।

अपने देश के प्रतिकूल साहित्यिक वातावरण से खिन्न होकर आप १८६४ में रोम चले गए जहाँ दो वर्ष पश्चात् आपने 'ब्रैंड' की रचना की जिसमें तत्कालीन समाज की आत्मसंतोष की भावना एवं आध्यात्मिक शून्यता पर प्रहार किया गया है। यह नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुआ। परंतु आपका अगला नाटक 'पियर गिंट' (१८६७), जो चरित्रचित्रण तथा कवित्वपूर्ण कल्पना की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है, इससे भी अधिक सफल रहा।

इसके बाद के यथार्थवादी नाटकों में आपने पद्य का बहिष्कार करके एक नई शैली को अपनाया। इन नाटकों में पात्रों के अंतर्द्वंद्व तथा बाह्य क्रिया-

कलाप दोनों का बोलचाल की भाषा में अत्यंत वास्तविक चित्रण किया गया है। 'पिलर्स ऑव सोसाइटी' (१८७७) में आपके आगामी अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु का सूत्रपात हुआ। प्राय सभी नाटकों में आपका उद्देश्य यह दिखलाना रहा है कि आधुनिक समाज मूलत झूठा है और कुछ असत्य परंपराओं पर ही उसका जीवन निर्भर है। जिन बातों से उसका यह झूठ प्रकट होने का भय होता है उन्हें दबाने की वह सदैव चेष्टा किया करता है। 'ए डॉल्स हाउस' (१८७६) और 'गोस्ट्स' (१८८१) ने समाज में बड़ी हलचल मचा दी। 'ए डॉल्स हाउस' में, जिसका प्रभाव शॉ के 'कैंडिडा' में स्पष्ट है, इब्सन ने नारीस्वातंत्र्य तथा जागृति का समर्थन किया। 'गोस्ट्स' में आपने यौन रोगों को अपना विषय बनाया। इन नाटकों की सर्वत्र निंदा हुई। इन आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में 'एनिमीज ऑव द पीपुल' (१८८२) की रचना हुई जिसमें विचारशून्य 'संगठित बहुमत' ('कपैक्ट मेजारिटी') की कड़ी आलोचना की गई है। 'द वाइल्ड डक' (१८८४) एक लाक्षणिक काव्यनाटिका है जिसमें आपने मानव भ्रांतियों एवं आदर्शों का विश्लेषण करके यह प्रतिपादित किया है कि सत्यवादिता साधारणतया मानव जाति के सौख्य की विधायक होती है। 'रोमरशोम' (१८८६) तथा 'हेडा गैब्लर' (१८९०) में आपने नारीस्वातंत्र्य का पुन प्रतिपादन किया। हेडा का चरित्रचित्रण इब्सन के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। 'द मास्टर बिल्डर' (१८९२) और 'ह्वेन वी डेड अवेकेन' (१८९९) आपके अंतिम नाटक हैं। लाक्षणिकता तथा आत्मचारित्रिक वस्तु के अत्यधिक प्रयोग के कारण इनका पूरा आनंद उठाना कठिन हो जाता है।

इब्सन की विशेषता है पुरानी रूढ़ियों का परित्याग और नई परंपराओं का विकास। आपने अपने नाटकों में ऐसे प्रश्नों पर विचार किया जिन्हें पहले कभी नाट्य साहित्य में स्थान नहीं प्राप्त हुआ था। अनंतकालीन तथा विश्वजनीन समस्याओं, अर्थात् व्यक्ति और समाज, तथ्य और भ्रम तथा सत्य और असत्य आदर्श की परस्पर विरोधी भावनाओं पर व्यक्त किए गए विचार ही विश्वसाहित्य को इब्सन की महानतम देन है।

(प्र० कु० स०)

इमर्सन, राल्फ वाल्डो प्रसिद्ध निबंधकार, वक्ता तथा कवि इमर्सन (१८०३-१८८२) को अमरीकी नवजागरण का प्रवर्तक माना जाता है। आपने मेलविल, ह्विटमैन तथा हाथार्न जैसे अनेक लेखकों और विचारकों को प्रभावित किया। लोकोत्तरवाद के, जो एक सहृदय, धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक आंदोलन था, आप नेता थे। आप व्यक्ति की अनंतता, अर्थात् दैवी कृपा से जाग्रत उसकी आध्यात्मिक व्यापकता के पक्ष के पोषक थे। आपकी दार्शनिकता के मुख्य आधार पहले प्लेटो, प्लोटाइनस, बकले फिर वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज, गेटे, कार्लाइल, हर्डर, स्वेडनबोर्ग और अंत में चीन, ईरान और भारत के लेखक थे।

१८२६ में आप बोस्टन में पादरी नियुक्त हुए जहाँ आपने ऐसे धर्मोपदेश दिए जिनसे निबंधकार के आपके भावी जीवन का पूर्वाभास मिलता है। १८३२ में आपने इस कार्य से त्यागपत्र दे दिया, कुछ तो इस कारण कि आप बहुसंख्यक जनता तक अपने विचार पहुँचाना चाहते थे और कुछ इसलिये कि उस गिर्जे में कुछ ऐसी पूजाविधियाँ प्रचलित थीं जिन्हें आप प्रगतिवादी, उदार ईसाइयत के विरुद्ध समझते थे। इसके उपरांत वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज तथा कार्लाइल से मिलने और लंदन देखने की इच्छा से आपने यूरोप की यात्रा की। वापस आकर बहुत दिनों तक आपने सार्वजनिक वक्ता का जीवन व्यतीत किया।

१८३४ में आप कंकार्ड में बस गए जो आपके कारण साहित्यप्रेमियों के लिये तीर्थस्थान बन गया है। अपनी पहली पुस्तक 'नेचर' (१८३६) में आपने थोथी ईसाइयत तथा अमरीकी भौतिकवाद की कड़ी आलोचना की। इसमें उन सभी विचारों के अंकुर वर्तमान हैं जिनका विकास आगे चलकर आपके निबंधों और व्याख्यानों में हुआ। पुस्तक के अंतिम अध्याय में आपने मानव के उस उज्वल भविष्य की ओर इंगित किया है जब उसकी अंतर्हित महत्ता धरती को स्वर्ग बना देगी। १८३७ में आपने हार्वर्ड विश्वविद्यालय की 'फाई-बीटा-कप्पा' सोसाइटी के समक्ष 'अमेरिकन स्कॉलर' नामक व्याख्यान दिया जिसमें आपने साहित्य में अनुकरण की प्रवृत्ति का विरोध किया और इंग्लैंड की साहित्यिक दासता के विरुद्ध अमरीकी साहित्य के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा की। आपने बताया कि साहित्यिक व्यक्ति का प्रशिक्षण मूलत प्रकृति के अध्ययन पर आधारित होना चाहिए तथा उसके उपरांत जीवनसंघर्ष में भाग लेकर अनुभव द्वारा उसे परिपक्व बनाना चाहिए। १८३८ में दिए गए 'डिविनिटी स्कूल ऐड्रेस' के नवीन धार्मिक दृष्टिकोण ने हार्वर्ड में एक आंदोलन खड़ा कर दिया। इस व्याख्यान में आपने निर्भीकतापूर्वक रूढ़िवादी ईसाई धर्म तथा उसमें प्रतिपादित ईसा के ईश्वरत्व की कड़ी आलोचना की। इसमें आपने अपने उस अध्यात्मदर्शन का सार भी प्रस्तुत किया जिसकी विस्तृत व्याख्या 'नेचर' में पहले ही हो चुकी थी।

यद्यपि कुछ कट्टरपंथियों ने आपका विरोध किया, फिर भी आपके श्रोताओं की संख्या निरंतर बढ़ती रही और शीघ्र ही आप कुशल व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। लगातार ३० वर्ष तक कंकार्ड ही आपके कार्य का प्रधान केंद्र रहा। वहाँ आपका परिचय हाथार्न और थोरो से हुआ। कुछ काल तक आपने वहाँ की प्रगतिवादी पत्रिका 'द डायल' का संपादन भी किया। इसके उपरांत आपकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुईं

'एसेज, फर्स्ट सीरीज' (१८४१), 'एसेज, सेकंड सीरीज' (१८४४), 'पोएम्स' (१८४७), 'नेचर, ऐड्रेसेज ऐंड लेक्चर्ज' (१८४९), 'रिप्रेज़ेंटेटिव मेन' (१८५०), 'इंग्लिश ट्रेट्स' (१८५६), 'दि कांडक्ट ऑव लाइफ' (१८६०), 'सोसाइटी ऐंड सॉलिटयूड' (१८७०) तथा अंग्रेजी और अमरीकी कविताओं का संग्रह 'पर्नासस' (१८७४)। 'लेटर्स ऐंड सोशल एम्स' के संपादन में आपने जेम्स इलियट केबट की सहायता ली। आपकी मृत्यु के उपरांत 'लेक्चर्स ऐंड बायोग्रैफिकल स्केचेज़', 'मिसलेनीज' और 'नैचुरल हिस्ट्री ऑव द इंटलेक्ट' का प्रकाशन भी केबट की देखरेख में ही हुआ।

१८५७ में प्रकाशित आपकी 'ब्रह्म' नामक कविता भारतीय पाठकों के लिये विशेष महत्व रखती है। इसमें तथा अन्य रचनाओं में आपके गीता, उपनिषद् एवं पूर्वी देशों के अन्य धर्मग्रंथों के अध्ययन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। परंतु आपका जीवनदर्शन शृंखलित नहीं है, वरन् वह आत्मानुभूत सत्यों का एक वैयक्तिक स्वप्न सा है जिसे पूर्व के श्रेष्ठतम ज्ञान ने और भी दृढ़ कर दिया है। इमर्सन के विचारों का केंद्रबिंदु तथा आधार उन्हीं का गढ़ा हुआ शब्द 'ओवरसोल' है। 'ओवरसोल' विश्वव्यापी तथ्य है और केवल 'एक' है, यह सारा संसार उसी 'एक' का अंशमात्र है। इसी को आगे चलकर आपने 'चराचर की आत्मा', 'मौन चेतना' तथा ऐसा 'विश्वसौंदर्य' बताया है जिसमें जगत् का प्रत्येक अणु परमाणु समान रूप से संबंधित है। वह विश्वात्मा न केवल आत्मनिर्भर तथा पूर्ण है, अपितु स्वयं ही चाक्षुष कृत्य, दृश्य वस्तु, दर्शक तथा दृश्यमान है। इन विचारों का गीता तथा उपनिषदों के विचारों के साथ सादृश्य स्पष्ट ही है। (प्र० कु० स०)

इमली वनस्पति, शमीधान्यकुल (लेग्युमीनोसी), प्रजाति टैमेरिंडस इंडिका लिन्न। भारत का यह सर्वप्रिय पेड़ उष्ण भागों के वनों में स्वयं उत्पन्न होने के अतिरिक्त गाँवों और नगरों में बागों और कुंजों को वृक्षाच्छादित और शोभायमान बनाने के लिये बोया भी जाता है। बहुत सूखे और अत्यंत गरम स्थानों को छोड़कर अन्यत्र यह पेड़ सदा हरा रहनेवाला, ३० मीटर तक ऊँचा, ८५ मीटर से भी अधिक गोलाईवाला और फैलावदार, घना शिखरयुक्त होता है। इसकी पत्तियाँ छोटी, १ सेंटीमीटर के लगभग लंबी और ५-१२.५ सेंटीमीटर लंबी डंठी के दोनों ओर १० से २० तक जुड़ी होती हैं। फूल छोटे, पीले और लाल धारियों के होते हैं। फली ७.५-२० सेंटीमीटर लंबी, १ सेंटीमीटर मोटी, २.५ सेंटीमीटर चौड़ी, कुरकुरे छिलके से ढकी होती है। पकी फलियों के भीतर कत्थई रंग का रेशेदार, खट्टा गूदा रहता है। नई पत्तियाँ मार्च अप्रैल में, फूल अप्रैल जून में और गुद्देदार फल फरवरी अप्रैल में निकल आते हैं। वृक्ष की छाल गहरा भूरा रंग लिए मोटी और बहुत फटी सी होती है। लकड़ी ठस और कड़ी होने के कारण धान की ओखली, तिलहन और ऊख पेरने के यंत्र, साजसज्जा का सामान तथा औजारों के दस्ते बनाने और खरादने के काम में विशेषतया उपयुक्त होती है। फलियों के भीतर चमकदार खोलीवाले, चपटे और कड़े

३-१० बीज रहते हैं। बंदर इन फलियों को बहुत शौक से खाकर बीजों को इधर उधर बनों में फेंककर इन पेड़ों के संवर्धन में सहायक होते हैं। इस पेड़ की पत्ती, फूल, फली की खोलो, बीज, छाल, लकड़ी और जड़ का भारतीय औषधों में उपयोग होता है। स्तंभक, रेचक, स्वादिष्ट, पाचक और टारटरिक अम्लप्रधान होने से इमकी फलियाँ सबसे अधिक आर्थिक महत्व की है। इन फलियों के गूदे का निरंतर उपयोग भारतीय खाद्य पदार्थों में विविध प्रकार से किया जाता है। वन अनुसंधानशाला, देहरादून, के रसायनज्ञों ने

इमली

फली, फूल और पत्तियाँ
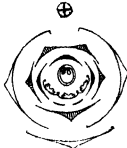
इमली का फूल

बाईं ओर फूल और दाहिनी ओर फूल का काट दिखाया गया है।

इमली के बीजों में से टी० के० पी० (टैमैरिंड सीड करनल पाउडर) नामक माड़ी बनाकर कपड़ा, सूत और पटसन के उद्योग की प्रशंसनीय सहायता की है।

सं०ग्रं०—आर० एस० ट्रूप : द सिलवीकल्चर ऑव इंडियन ट्रीज, आक्सफोर्ड, भाग २, पृ० ३६२-६६, १९२१, के० आर० कीर्तिकर और बी० डी० बसु : इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स, प्रयाग, भाग २, पृ० ८८७-९० । (स०)

आयुर्वेद में इमली—इमली को संस्कृत में अम्ल, तिंतिड़ी, चिंचा इत्यादि, बँगला में तेतुल, मराठी में चिंच, गुजराती में आमली, अंग्रेजी में टैमैरिंड तथा लैटिन में टैमैरिंडस इंडिका कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इमली की पत्ती कर्ण, नेत्र और रक्त के रोग, सर्पदंश तथा शीतला (चेचक) में उपयोगी है। शीतला में पत्तियों और हल्दी से तैयार किया पेय दिया जाता है। पत्तियों के क्वाथ से पुराने नासूरों को धोने से लाभ होता है। इसके फूल कसैले, खट्टे और अग्निदीपक होते हैं तथा वात, कफ, और प्रमेह का नाश करते हैं। कच्ची इमली खट्टी, अग्निदीपक, मलरोधक, वातनाशक तथा गरम होती है, किंतु साथ ही साथ यह पित्तजनक, कफकारक तथा रक्त और रक्तपित्त को कुपित करनेवाली है।

पक्की इमली मधुर, हृदय को शक्तिदायक, दीपक, वस्तिशोधक तथा कृमिनाशक बताई गई है। इमली स्कर्वी को रोकने और दूर करने की मूल्यवान् ओषधि है। इमली के बीजों के ऊपर का लाल छिलका अतिसार, रक्तातिसार तथा पेचिश की उत्तम ओषधि है। बीजों को उबाल और पीसकर बनाई गई पुल्टिस फोड़ों तथा प्रादाहिक सूजन में विशेष उपयोगी है। (भ० दा० व०)

इमाम शब्द का अरबी अर्थ है नेता या निर्देशक। इस्लामी संप्रदायों की शब्दावली में इमाम शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है :

(१) सुन्नी मुसलमान इमाम या पेश इमाम शब्द का प्रयोग सामूहिक प्रार्थनाओं के नेता के लिये करते हैं।

(२) सुन्नी कानून की पुस्तकों में इमाम शब्द का प्रयोग राज्य के स्वामी के लिये हुआ है।

(३) सुन्नी मुसलमान इमाम शब्द का प्रयोग अपनी न्यायपद्धति के महान् अधिष्ठाताओं के लिये भी करते हैं। ये प्रमुख न्यायशास्त्री महान् अब्बासी खलीफाओं के समय (७५०-८४२ ई०) में अवतरित हुए थे, तथापि शिष्टाचारवश इमाम की पदवी से कभी कभी इन लोगों के बाद के प्रमुख न्यायवेत्ताओं को भी विभूषित कर दिया जाता है।

(४) अस्ना अशरी शीया इमाम शब्द का प्रयोग अपने १२ पवित्र इमामों के लिये करते हैं जिनके नाम ये हैं : (१) हजरत अली, (२) हसन, (३) हुसैन, (४) अली जैनुल आब्दीन, (५) मुहम्मद बाकर, (६) जाफर सादिक, (७) मूसा काजिम, (८) अलीरज़ा, (९) मुहम्मद तकी, (१०) अली नकी, (११) हसन असकरी और (१२) मुहम्मद अल मुतजर (इमाम मेहदी)। इन १२ में से अंतिम इमाम मेहदी अपने बाल्यकाल में ही एक गुफा में जाकर अदृश्य हो गए और शीया तथा सुन्नी दोनों ही वर्गों की मान्यता है कि वे वापस आएँगे। शीया मुसलमान अपने इमामों के तीन अधिकार मानते हैं—(अ) ये पैगंबर के राज्य के अधिकृत उत्तराधिकारी थे और इनको इस अधिकार से अनुचित रूप से वंचित कर दिया गया, (ब) इमामों ने अत्यंत पवित्र और पापरहित जीवन व्यतीत किया, तथा (स) उनको समस्त जाति को निर्देश देने का अधिकार है। निर्देश का यह अधिकार मुजतहिदों को भी प्राप्त है। शीया मुजतहिद उस धार्मिक अध्यापक को कहते हैं जिसके पास मूलत: किसी इमाम द्वारा प्रदत्त प्रमाणपत्र हो।

(५) शीया मुसलमानों के इस्माइली दल के लोग इमाम को एक अवतार या ईश्वरीय व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार करते हैं। वह कुरान में प्रतिपादित आस्था को तो समाप्त नहीं कर सकता, किंतु वह कुरान के कानून को पूर्णत: या आंशिक रूप में समाप्त या परिवर्तित कर सकता है। इस अधिकार के पक्ष में दिया जानेवाला तर्क यह है कि कानून में देश और काल के अनुसार परिवर्तन आवश्यक है और इमाम, जो एक अवतार है, इस परिवर्तन को कार्यान्वित करने के लिये एकमात्र उपयुक्त व्यक्ति है। इस प्रकार इस्माइली लोग अपने इमाम को पैगंबर से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। इस्माइली धार्मिक शीयाओं के केवल प्रथम छह इमामों को मानते हैं। छठे इमाम जाफर सादिक ने अपने पुत्र इस्माइल को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया, किंतु इस्माइली लोग इसको उत्तराधिकार के ईश्वरीय नियमों में अवैधानिक हस्तक्षेप मानते हैं।

मध्ययुग में धर्मपरायण मुसलमानों ने इस्माइलियों का अत्यंत निर्दयता से विनाश किया। प्रत्युत्तर में इस्माइलियों ने गुप्त आंदोलन प्रारंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने इस्माइलियों के अनेक सिद्धांतों को गलत समझा और व्यक्त किया। इस्माइली इमाम सर्वविदित (अलनी) भी हो सकता है, जैसे मिस्र के फातिमी खलीफा (९१०-११७१ ई०) तथा ईरान में अलमूत के इमाम (११६४-१२५६), और अप्रकट या गुह्य (मखफी) भी। गुह्य इमाम की स्थिति केवल उसके प्रतिनिधि (दाई) को ज्ञात होती है। यह प्रतिनिधि इमाम की ओर से कार्यसंचालन करता है, किंतु इसको इस्लामी संस्थाओं में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होता। इस्माइली मुसलमानों के अनेक दलों में, जैसे भारत के दाउदी और सुलेमानी बोहरे, शताब्दियों से केवल इमाम के प्रतिनिधि (दाई) ही अवतरित हुए हैं।

सं०ग्रं०—बर्नर लीविस : इस्माइलिज्म, इवोनोफ : कलम-ए-पीर, (फारसी के मूल तथा अनुवाद सहित, बबई), ओ लीयरी द फाटिमैट कलिफेट। (मु० ह०)

इमामबाड़ा का सामान्य अर्थ है वह पवित्र स्थान या भवन जो विशेष रूप से हजरत अली (हजरत मुहम्मद के दामाद) तथा उनके बेटों, हसन और हुसेन, के स्मारक के रूप में बनाया जाता है। इमामबाड़ों में शिया सप्रदाय के मुसलमानों की मजलिसें और अन्य धार्मिक समारोह होते हैं। 'इमाम' मुसलमानों के धार्मिक नेता को कहते हैं। मुस्लिम जनसाधारण का पथप्रदर्शन करना, मस्जिद में सामूहिक नमाज का अग्रगणी होना, खुत्बा पढ़ना, धार्मिक नियमों के सिद्धांतों की अस्पष्ट समस्याओं को सुलझाना, व्यवस्था देना इत्यादि इमाम के कर्तव्य हैं। इस्लाम के दो मुख्य सप्रदायों में से 'शिया' के हजरत मुहम्मद के बाद परम वदनीय इमाम उपर्युक्त हजरत अली और उनके दोनों बेटे हुए। वे विरोधी दल से अपने जन्मसिद्ध स्वत्वों के लिये सग्राम करते हुए बलिदान हुए थे। उनकी पुनीत स्मृति में शिया लोग हर वर्ष मुहर्रम के महीने में उनके घोड़े 'दुलदुल' के प्रतीक, एक विशेष घोड़े की पूजा करके और उन नेताओं की याद करके बड़ा शोक मनाते हैं तथा उनके प्रतीकस्वरूप ताजिए बनाकर उनका जुलूस निकालते हैं। ये ताजिए या तो कर्बला में गाड़ दिए जाते हैं या इमामबाड़ों में रख दिए जाते हैं। इसी अवसर पर इमामबाड़ों में उन शहीदों की स्मृति में उत्सव किए जाते हैं।

भारत में सबसे बड़े और हर दृष्टि से प्रसिद्ध इमामबाड़े १८वीं सदी में अवध के नवाबों ने बनवाए थे। इनमें सर्वोत्तम तथा विशाल इमामबाड़ा हुसेनाबाद का है जो अपनी भव्यता तथा विशालता में भारत में ही नहीं, शायद ससार भर में अद्वितीय है। इस इमामबाड़े को अवध के चौथे नवाब वजीर आसफुद्दौला ने १७८४ के घोर दुर्भिक्ष में दुःखी, दरिद्र जनता की रक्षा करने के हेतु बनवाया था। कहा जाता है, बहुत से उच्च घरानों के लोगों ने भी वेश बदलकर इस भवन के बनानेवाले मजूरों में शामिल होकर अपने प्राणों की रक्षा की थी। आसफुद्दौला की मृत्यु होने पर उसे इसी इमामबाड़े में दफनाया गया था।

वास्तुशिल्प की दृष्टि से यह इमामबाड़ा अत्यत उत्तम कोटि का है। तत्कालीन अवध के वास्तु पर, विशेषता अवध के नवाबों के भवनों पर यूरोपीय अपभ्रशकाल के वास्तु का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था कि स्थापत्य के प्रकांड पंडित फर्गुसन महोदय ने प्रायः इन सब भवनों को सर्वथा निकृष्ट, भोंडा और कुरूप बतलाया है। किंतु 'इमामबाड़े' हुसेनाबाद को उन्होंने इन स्मारकों में अपवाद माना है और उसकी उत्कृष्ट तथा विलक्षण निर्माणविधि एव दृढ़ता की मुक्त कठ से प्रशसा की है। आधुनिक भवनों की अपेक्षा इस इमामबाड़े की अखडनीय दृढ़ता का प्रमाण उस समय मिला जब १८५७ के भारतीय स्वाधीनता सग्राम के दिनों में पाँच महीने तक इस भवन पर निरतर गोलाबारी होती रही और उसकी दीवारें गोलियों से छिद गईं, फिर भी उस भवन को कोई हानि नहीं पहुँची। उसके समकालीन तथा पीछे के भवनों के बहुत से भाग धाराशायी हो चुके हैं, पर इस महाकाय भवन की एक ईंट भी आज तक नहीं हिली है। १८५७ ई० के बाद विजयी अंग्रेजों ने अत्यत निर्दयता तथा निर्लज्जता से इस इमामबाड़े को बहुत दिनों तक सैनिक गोला-बारूद-घर के तौर पर प्रयुक्त किया, तो भी इसकी कोई हानि नहीं हुई।

यह इमामबाड़ा मच्छीभवन के अदर स्थित है। इसका मुख्य अग एक अति विशाल मडप है जो १६२ फुट लबा और ५३ फुट ५ इच चौड़ा है। इसके दोनों ओर बरामदे हैं। इनमें एक २६ फुट ६ इच और दूसरा २७ फुट, ३ इच चौड़ा है। मडप के दोनों कोनों पर अष्टकोण कमरे हैं जिनमें प्रत्येक का व्यास ५३ फुट है। इस प्रकार समूचे भवन की लबाई २६८ फुट और चौड़ाई १०६ फुट ६ इच है। परतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता है इस मडप का एकछाज आच्छादन या छत।

यह अत्यत स्थूल छत एक विचित्र युक्ति से बनाई गई है और अपनी दृढ़ता के कारण आज तक नई के समान विद्यमान है। ईंट गारे का एक भारी ढूला बनाकर उसके ऊपर छोटी मोटी रोड़ियों और चूने के मसाले का कई फुट मोटा लदाव कर एक बरस तक सूखने के लिये छोड़ दिया गया। जब सूखकर समूचा लदाव एकजान होकर एक शिला के समान हो गया, तब नीचे से ढूले को निकाल दिया गया। इस छत के विषय में फर्गुसन का कहना है कि समूची छत एक शिला के समान हो जाने से, वह बिना किसी बाहरी सहारे अथवा दासाहों (एबटमेंट) के, ठहरी हुई है और निस्सदेह यह योरोपीय गाथिक छतों की अपेक्षा, जो वास्तु के नियमों पर बनी है, अधिक पायेदार है। इसकी विशेषता यह भी है कि गॉथिक छतों से इसका निर्माण बहुत सुगम एवं सस्ता होता है, और यह किसी भी आकार में ढाली जा सकती है। इस इमामबाड़े पर १० लाख रुपए व्यय हुए थे। इसके स्थपति किफायतुल्ला ने नवाब की इस शर्त को पूरा किया कि यह भवन ससार भर में अनुपम हो।

स०ग्र०—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑव लखनऊ, जेम्स फर्गुसन : ए हिस्ट्री ऑव इडियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, खड २, एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। (प० श०)

इयंबिकस सीरिया के नव्य अफलातूनवाद का प्रमुख समर्थक। जन्म सीरिया के एक सपन्न परिवार में हुआ था। रोम में पोर्फेरी का शिष्य रहा, पश्चात् सीरिया में अध्यापन करता रहा। अफलातून और अरस्तू पर उसकी टीकाएँ अपने समग्र रूप में तो अप्राप्य हैं, पर कुछ खड इधर उधर मिलते हैं।

यथार्थतः दर्शनशास्त्र को इयंबिकस की अपनी मौलिक देन नहीं के बराबर है। अपनी कृतियों में जिन दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन उसने किया है उनमें नवीन अफलातूनवाद का एक परिष्कृत रूप ही मिलता है। पूर्वसिद्धांतों में वर्णित आकारगत विभाजन के नियमों तथा पिथागोरस के सख्यात्मक प्रतीकवाद की बहुत ही सुव्यवस्थित व्याख्या उसकी कृतियों में मिलती है।

ससार की उत्पत्ति तथा विकास में तीन प्रकार की दैवी शक्तियों का उल्लेख उसने किया है। उसके अनुसार ससार में नाना प्रकार की आधिभौतिक शक्तियों का अस्तित्व है जो भौतिक जगत् की प्रक्रियाओं को प्रभावित करती रहती है, जिन्हें भविष्य का ज्ञान होता है और जो यज्ञ, पूजन आदि द्वारा प्रसन्न की जा सकती हैं। इयंबिकस के अनुसार जीवात्मा का स्थान चित् और प्रकृति के बीच में है। एक आवश्यक नियम के अनुसार आत्मा अपने स्थान से शरीर में प्रविष्ट होती और फिर विभिन्न योनियों में भ्रमण करती हुई सत्कर्मों के प्रभाव से पुनः अपने शाश्वत स्थान को प्राप्त करती है।

इयंबिकस की कृतियाँ निम्नाकित हैं : (१) ऑन द पाइथागोरियन लाइफ, (२) द एक्जॉर्टेशन टु फिलॉसोफी, (३) ट्रीटिज ऑन द जेनरल साइंस ऑव मैथेमैटिक्स, (४) द बुक ऑन द ऐरिथमेटिक ऑव नाइकोमैकियन, (५) द थियोलॉजिकल प्रिंसिपुल्स ऑव ऐरिथमेटिक। (श्री० म०)

इय्योब (अय्यूब, योब) बाइबिल के अनुसार अब्राहम के समकालीन कोई अरबनिवासी गैरयहूदी कुलपति थे। लगभग ५३० ई० पू० में एक यहूदी कवि ने उन्हीं को नायक बनाकर इय्योब नामक ग्रथ की रचना की थी जो गाभीर्य तथा काव्यात्मक सौंदर्य की दृष्टि से विश्वसाहित्य के अथरत्नों में से एक है। इसमें सदाचारी मनुष्य के दुर्भाग्य की समस्या नाटकीय ढग से, अर्थात् इय्योब तथा उनके चार मित्रों के सवाद के रूप में, प्रस्तुत की गई है। यहूदियों की परपरागत धारणा के अनुसार चारों मित्रों का विचार है कि इय्योब अपने पापों के कारण ही दुःख भोग रहे हैं। इय्योब पापी होना स्वीकार करते हैं, किंतु वे अपने पापों तथा अपनी घोर विपत्तियों में समानुपात नहीं पाते। फिर भी सब कुछ ईश्वर के हाथ से ग्रहण करते हुए इय्योब कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर का विधान समझने में असमर्थ है। सवाद के अंत में स्वर्ग की ओर से सकेत मिलता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् विधाता ने पापों के कारण इय्योब को दड देने के लिये नहीं, प्रत्युत उनकी परीक्षा लेने तथा उनको परिशुद्ध करने के उद्देश्य से उनको विपत्तियों का शिकार बना दिया है। इय्योब इस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर

ईश्वर से अपना पूर्व वैभव प्राप्त कर लेते हैं। प्रस्तुत समस्या पर ईसा आगे चलकर नया प्रकाश डालकर सिद्ध करेंगे कि दूसरों के पापों के लिये प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से भी दुःख भोगा जा सकता है।

सं०ग्रं०—ई० जे० किस्साने : द बुक ऑव जॉब, डबलिन, १९३९; जी० होल्शर : दास बुख हियोब, टुबिंगेन, १९३७; लार्शेर : लि लिवरे दी जॉब, पेरिस, १९५०। (का०बु०)

इरकूटस्क रूस के साइबेरिया प्रदेश में अ० ५२° ३६' उ० तथा दे० १०४° १०' पू० में स्थित एक नगर है। यह येनीसी की सहायक अंगारा नदी के दाहिने किनारे पर, समुद्र से १,४९० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। उसका उपनगर ग्लाजकोवस्को नदी के बाएँ तट पर है तथा इन दोनों के बीच ६३० गज लंबा पुल है। इरकूटस्क नगर का नामकरण इरकुट नदी के आधार पर हुआ है जो अंगारा में बाईं ओर से मिलती है। उचित भौगोलिक स्थिति के कारण ही नगर चीन, अमूर प्रदेश, लीना की स्वर्णखदानों तथा समुद्र क्षेत्रों से होनेवाले व्यापार का केंद्र बना हुआ है। इसी कारण यह साइबेरिया प्रदेश का प्रमुख नगर है। इसकी जनसंख्या सन् १९७० ई० में ४,५१,००० थी। यहाँ का औसत ताप जनवरी में ४.४° फा०, जुलाई में ६५.१° फा० तथा औसत वार्षिक वर्षा १४.५ इंच है। यहाँ के मुख्य उद्योग धंधे लकड़ी चिराई, आटा, चमड़ा, ऊर्णाजिन (फर) तैयार करना, भेड़ की खाल के कोट तथा मद्य बनाना आदि है। नगर सुंदर ढंग से बसा हुआ है। (श्या० सु० श०)

इरविन (र्डविन), लार्ड भारत में १९२६ से १९३१ ई० तक गवर्नर जनरल तथा सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में वायसराय थे। देश में बढ़ रही स्वराज्य तथा सवैधानिक सुधारों की माँग के संबंध में इनकी संस्तुति से १९२७ ई० में लार्ड साइमन की अध्यक्षता में ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन की नियुक्ति की, जिसमें सभी सदस्य अंग्रेज थे। फलस्वरूप सारे देश में कमीशन का बहिष्कार हुआ, 'साइमन, वापस जाओ' के नारे लगाए गए, और काले झंडों के प्रदर्शन के साथ आंदोलन हुआ। सांडर्स के नेतृत्व में पुलिस की लाठियों की चोट से लाला लाजपतराय की मृत्यु हो गई। भगत सिंह के दल ने एक वर्ष के भीतर ही बदले के लिये सांडर्स की भी हत्या कर दी।

प्रारंभ में भारत औपनिवेशिक स्वराज्य की ही माँग करता रहा, किंतु २९ जनवरी, १९२९ को अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में 'पूर्ण स्वराज्य' की घोषणा की गई तथा कामना की गई कि प्रत्येक वर्ष २६ जनवरी गणतंत्र दिवस के रूप में मनाई जायगी।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार १९३० ई० में लार्ड इरविन की सम्मति से संवैधानिक सुधारों की समस्या के समाधान के लिये लंदन में एक गोलमेज कानफरेंस का आयोजन किया गया, जिसका गांधी जी ने विरोध किया। साथ ही गांधी जी ने सरकार पर दबाव डालने के लिये ६ अप्रैल, १९३० से नमक सत्याग्रह छेड़ दिया। सारे देश में नमक कानून तोड़ा गया। गांधी जी के साथ हजारों व्यक्ति गिरफ्तार हुए। सर तेजबहादुर सप्रू की मध्यस्थता से गांधी-इरविन-समझौता हुआ। यह समझौता भारतीय इतिहास का एक प्रमुख मोड़ है। इसमें २१ धाराएँ थी जिनके अनुसार गोलमेज कानफ्रेंस में भाग लेने के लिये गांधी जी तैयार हुए तथा यह तय हुआ कि कानून तोड़ने की कारवाई बंद होगी, ब्रिटिश सामानों का बहिष्कार बंद होगा, पुलिस के कारनामों की जाँच नहीं होगी, आंदोलन के समय बने अध्यादेश वापस होंगे, सभी राजनीतिक कैदी छोड़ दिए जाएँगे, जुर्माने वसूल नहीं होंगे, जब्त अचल संपत्ति वापस हो जायगी, अन्यायपूर्ण वसूली की क्षतिपूर्ति होगी, असहयोग करनेवाले सरकारी कर्मचारियों के साथ उदारता बरती जायगी, नमक कानून में ढील दी जायगी, इत्यादि। इस समझौते के फलस्वरूप १९३१ ई० की द्वितीय गोलमेज कानफ्ररेंस में गांधी जी ने प० मदनमोहन मालवीय एवं श्रीमती सरोजनी नायडू के साथ भाग लिया।

यद्यपि लार्ड इरविन ने एक साम्राज्यवादी शासक के रूप में स्वदेशी आंदोलन का पूरा दमन किया, तथापि वैयक्तिक मनुष्य के रूप में वे उदार विचारों के थे। यही कारण है कि राष्ट्रवादी नेताओं को इन्होंने काफी महत्व प्रदान किया। इनके जीवित स्मारक के रूप में नई दिल्ली में विशाल 'इरविन अस्पताल' का निर्माण कराया गया है। (मो० ला० नि०)

इरा प्राचेतस दक्ष प्रजापति तथा असिक्नी की पुत्री जिसका विवाह कश्यप से हुआ था। लता, अलता और वीरुधा नाम की इनकी तीन कन्याएँ थी। (स०)

इराक दक्षिण पश्चिम एशिया का एक स्वतंत्र राज्य है जो प्रथम महायुद्ध के बाद मोसुल, बगदाद एवं बसरा नामक आटोमन साम्राज्य के तीन प्रांतों को मिलाकर १९१९ ई० में वरसाई की संधि द्वारा स्थापित हुआ तथा अंतरराष्ट्रीय परिषद् द्वारा ब्रिटेन को शासनार्थ सौंपा गया। सन् १९२१ ई० में हेजाज के राजा हुसेन का तृतीय पुत्र फैजल जब इराक का राजा घोषित किया गया तब यह एक सावैधानिक राजतंत्र बन गया। अक्टूबर, १९३२ ई० को ब्रिटेन की शासनावधि समाप्त होने पर यह राज्य पूर्णतः स्वतंत्र हो गया। हाल में ही (जुलाई, १९५९ ई० में) सैनिक क्रांति के बाद यह गणतंत्र राज्य घोषित किया गया है। सैनिक क्रांति के पूर्व यह राज्य बगदाद-सैनिक-संधि द्वारा ब्रिटेन, संयुक्त राज्य (अमरीका), तुर्की, जॉर्डन, ईरान एवं पाकिस्तान से संबद्ध था, किंतु क्रांति के बाद यह स्वतंत्र एवं तटस्थ नीति का अनुसरण करने लगा है। इसके उत्तर में तुर्की, उत्तर पश्चिम में सीरिया, पश्चिम में जॉर्डन, दक्षिण पश्चिम में सऊदी अरब, दक्षिण में फारस की खाड़ी एवं कुवैत है। निनेवे एवं बैबिलोन के भग्नावशेष आज भी इसके प्राचीन वैभव के प्रतीक हैं। क्षेत्रफल १,६९,२४० वर्ग मील है और जनसंख्या ८८,००,००० (१९६८)। बगदाद (जनसंख्या २१,२४,३२३) प्रमुख नगर एवं राजधानी है। बसरा (जनसंख्या ६,७३,६२३), मोसुल (जनसंख्या ९,५४,१५७), किरकुक (जनसंख्या ४,६२,०२७) तथा नजफ (जनसंख्या ५,४८,८३०) अन्य मुख्य नगर हैं। जनसंख्या के ९६ प्रति शत लोग इस्लाम धर्म को मानते है जिनमें शीया मतानुयायी आधे से कुछ अधिक है। राज्यभाषा अरबी है।

इराक तीन भौगोलिक खंडों में विभक्त है

(१) कुर्दिस्तान (इराक के उत्तर पूर्व का पर्वतीय भाग) जिसके शिखर इराक-ईरान-सीमा पर लगभग १०,००० फुट ऊँचे हैं। इसके अंतर्गत अल-सुलेमानियाँ का उर्वर एवं ऊँचा मैदान है। यहाँ के निवासी कुर्द लोग बड़े उपद्रवी है।

(२) मेसोपोटैमिया का उर्वर मैदान मेसोपोटैमिया फरात एवं दजला नदियों की देन है। ये नदियाँ आर्मीनिया के पठार से निकलती है तथा क्रमश: १४६० एवं ११५० मील तक प्रवाहित हो शत-अल-अरब के नाम से फारस की खाड़ी में गिरती है। १०,०००-५,००० ई० पूर्व में ये नदियाँ अलग अलग फारस की खाड़ी में गिरती थी। इसका दक्षिणी भाग, बगदाद से बसरा तक, जो लगभग ३०० मील लंबा है, ऐतिहासिक काल में प्राकृतिक कारणों से निर्मित हुआ है। यह भाग दलदली है। यहाँ की मुख्य उपज चावल एवं खजूर है। शत-अल-अरब के दोनों तटों पर एक से दो मील चौड़े क्षेत्र में खजूर के सघन वन मिलते है। मेसोपोटैमिया के उत्तरी भाग में गेहूँ, जौ एवं फल की खेती होती है।

(३) स्टेप्प एवं मरुस्थली खंड, जो दक्षिण पश्चिम में ५० से १०० फुट का तीव्र ढाल द्वारा मेसोपोटैमिया के मैदान से पृथक् है।

इराक की जलवायु शुष्क है। यहाँ का दैनिक एवं वार्षिक तापांतर अधिक तथा औसत वर्षा केवल १०" है। कुर्दिस्तान के पर्वतीय भाग में अल्पाइन जलवायु मिलती है जहाँ वर्षा २५" से ३०" तक होती है। फरात एवं दजला की घाटी में रूमसागरीय जलवायु मिलती है तथा फारस की खाड़ी के समीप दुनिया का एक बहुत ही उष्ण भाग स्थित है। इसके दक्षिण पश्चिम में उष्ण मरुस्थलीय जलवायु है। बगदाद का उच्चतम ताप १२३° फा० तथा न्यूनतम ताप १९° फा० तक पाया गया है। यहाँ वर्षा केवल ६" होती है। उत्तरी मेसोपोटैमिया में वर्षा १५" तथा दक्षिण पश्चिम के मरुस्थल में ५" से भी कम होती है।
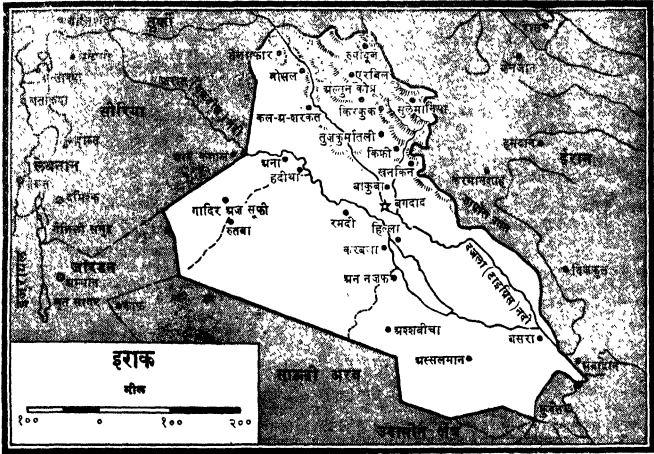
उत्तरी इराक मे रूमसागरीय वनस्पति मिलती है। इसके अधिक भाग वृक्षविहीन हैं। यहाँ चिनार, अखरोट एव मनुष्यो द्वारा लगाए गए अन्य फलो के पेड मिलते है। दक्षिणी इराक के कम वर्षावाले भाग मे केवल कँटीली झाडिया मिलती है। नदियो की घाटियो एव सिंचित क्षेत्र मे ताड, खजूर एव चिनार के पेड मिलते है।

इराक कृषिप्रधान एव पशुपालक देश है जिसके ९० प्रति शत निवासी अपनी जीविका के लिये भूमि पर आश्रित है। फिर भी इसके केवल तीन प्रति शत भाग मे कृषि की जाती है। इसकी मिट्टी अत्यधिक उर्वरा है, किंतु अधिकाश क्षेत्र ऐसे है जहाँ सिंचाई के बिना कृषि सभव नही है। सिंचाई नहर, डीजल इजन द्वारा चालित पप आदि साधनो द्वारा की जाती है। लगभग ७४,५०,००० एकड भूमि सिंचित है। जाडे मे जौ एव गेहूँ तथा गर्मी मे धान, मक्का, ज्वार एव बाजरा की खेती होती है। मक्का एव ज्वार बाजरा मध्य इराक की मुख्य उपज है। अजीर, अखरोट, नाशपाती, खरबूजे आदि फल विशेष रूप मे शत-अल-अरब के क्षेत्र मे होते है। इराक ससार का ८० प्रति शत खजूर उत्पन्न करता है। यहाँ लगभग ६४० लाख खजूर के पेड है जिनसे लगभग ३,५०,००० टन खजूर प्रति वर्ष प्राप्त होता है। कुछ रूई नदियों की घाटियों मे तथा तबाकू एव अगूर कुर्दिस्तान की तलहटी मे होता है।

यहा की खानाबदोश एव अर्ध खानाबदोश जातियाँ ऊँट, भेड तथा बकरे चराती है। दुधारू पशु फरात एव दजला के मैदान मे, भेड जजीरा एव कुर्दिस्तान मे, बकरे उत्तर पूर्व की पहाडियो मे तथा ऊँट दक्षिण पश्चिम के मरुस्थल मे पाले जाते है।

खनिज तेल के लिये इराक जगत्प्रसिद्ध है। सन् १९५६ मे खनिज तेल का उत्पादन ३०९ लाख टन था। यहा तेल के तीन क्षेत्र है (१) बाबागुजर, किरकुक के निकट, जो तेल का अत्यधिक धनी क्षेत्र है, (२) नफ्तखाना, ईरान की सीमा के निकट, खानकिन से ३० मील दक्षिण, (३) ऐन जलेह, मोसूल के उत्तर। बगदाद के निकट दौरा तथा मसूल जिले मे गय्याराह नामक स्थानो मे तेल साफ करने के कारखाने है। सन् १९५५ ई० मे इराक को तेल कपनियो द्वारा ७,३७,४०,००० इराकी डालर राज्यकर के रूप मे मिला। खनिज तेल के अतिरिक्त भूरा कोयला (लिग्नाइट) किफ़ी मे तथा नमक एव जिप्सम अन्य स्थानो मे प्राप्त होता है।

इराक मे केवल छोटे उद्योगो का विकास हुआ है। १९५४ ई० मे औद्योगिक श्रमिकों की जनसख्या ९०,००० थी। बगदाद मे ऊनी कपडे एव दरी बुनने के अतिरिक्त दियासलाई, सिगरेट, साबुन तथा वनस्पति घी के उद्योग है। मोसूल मे कृत्रिम रेशम एव मद्य के कारखाने है। इराक के मुख्य निर्यात खनिज तेल, खजूर, जौ, कच्चा चमडा, ऊन एव रूई है तथा आयात कपडा, मशीन, मोटरगाडियाँ, लोहा, चीनी एव चाय है। (न० कि० प्र० सि०)

इराक का इतिहास इराक अथवा मेसोपोटेमिया को ससार की अनेक प्राचीन सभ्यताओ को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। परपराओं के अनुसार इराक मे वह प्रसिद्ध नदन वन था जिसे इजील मे 'अदन का बाग' की सज्ञा दी गई है और जहाँ मानव जाति के पूर्वज हजरत आदम और आदिमाता हव्वा विचरण करते थे। इराक को 'साम्राज्यो का खडहर' भी कहा जाता है क्योंकि अनेक साम्राज्य यहाँ जन्म लेकर, फूल फलकर धूल मे मिल गए। ससार की दो महान् नदियाँ दजला और फरात इराक को सरसब्ज बनाती है। ईरान की खाडी से १०० मील ऊपर इनका सगम होता है और इनकी सम्मिलित धारा 'शत्तल अरब' कहलाती है।

इराक की प्राचीन सभ्यताओ मे सुमेरी, बाबुली, असुरी और खल्दी सभ्यताएँ २,००० वर्ष से ऊपर तक विद्याबुद्धि, कलाकौशल, उद्योग व्यापार और सस्कृति की केंद्र बनी रही। सुमेरी सभ्यता इराक की सबसे प्राचीन सभ्यता थी। इसका समय ईसा से ३,५०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

लैंगडन के अनुसार मोहनजोदडो की लिपि और मुहरे सुमेरी लिपि और मोहरो से मिलती है। सुमेर के प्राचीन नगर ऊर मे भारत के चूने मिट्टी के बने बर्तन मिले हैं। हाथी और गैंडे की उभरी आकृतिधारी सिंध सभ्यता की एक गोल मुहर इराक के प्राचीन नगर एश्नुन्ना (तेल अस्मर) मे मिली है। मोहनजोदडो की उत्कीर्ण वृषभ की एक मूर्ति सुमेरियो के पवित्र वृषभ से मिलती है। हडप्पा मे प्राप्त सिगारदान की बनावट ऊर मे प्राप्त सिगारदान से बिलकुल मिलती जुलती है। इस प्रकार की मिलती जुलती वस्तुएँ यह प्रमाणित करती है कि इस अत्यत प्राचीन काल मे सुमेर और भारत मे घनिष्ठ सबंध था।

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता लिओनर्ड वूली के अनुसार—"वह समय बीत चुका जब समझा जाता था कि यूनान ने ससार को ज्ञान सिखाया। ऐतिहासिक खोजो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यूनान के जिज्ञासु हृदय ने लीदिया से, खत्तियों से, फीनीकिया से, क्रीत से, बाबुल और मिस्र से अपनी ज्ञान की प्यास बुझाई, किंतु इस ज्ञान की जडे कही अधिक गहरी जाती है। इस ज्ञान के मूल मे हमे सुमेर की सभ्यता दिखाई देती है।"

२१७० ई० पू० मे ऊर के तीसरे राजकुल की समाप्ति के साथ सुमेरी सभ्यता भी समाप्त हो गई और उसी के खडहर से बाबुली सभ्यता का उभार हुआ। बाबुल के राजकुलों ने ईसा से १००० वर्ष पूर्व तक देश पर शासन किया तथा ज्ञान और विज्ञान की उन्नति की। इन्ही मे सम्राट् हम्मुराबी था जिसका स्तभ पर लिखा विधान ससार का सबसे प्राचीन विधान माना जाता है।

बाबुली सत्ता की समाप्ति के बाद उसी जाति की एक दूसरी शाखा ने असूरी सभ्यता की बुनियाद डाली। असूरिया की राजधानी निनेवे पर अनेक प्रतापी असूरी सम्राटो ने राज किया। ६०० ई० पू० तक असूरी सभ्यता फली फूली। उसके बाद खल्दी नरेशो ने फिर एक बार बाबुल को देश का राजनीतिक और सास्कृतिक केंद्र बना दिया। नगरनिर्माण, शिल्पकला और उद्योग धधो की दृष्टि से खल्दी सभ्यता अपने समय की ससार की सबसे उन्नत सभ्यता मानी जाती थी। खल्दियों के समय निर्मित 'आकाशी उद्यान' ससार के सात आश्चर्यों मे गिना जाता है। खल्दियों के समय नक्षत्र विज्ञान ने भी आश्चर्यजनक उन्नति की।

६०० ई० पू० मे खल्दिया के पतन के बाद इराकी रगमच पर ईरानियो का प्रवेश होता है किंतु तीसरी शताब्दी ई० पू० मे सिकदर की यूनानी सेनाएँ ईरानियो को पराजित कर इराक पर अधिकार कर लेती है। इसके बाद तेजी के साथ इराक मे राजनीतिक परिवर्तन होते है। यूनानियो के बाद पार्थव, पार्थवो के बाद रोमन और रोमनो के बाद फिर सासानी ईरानी इराक पर शासनारूढ होते है।

सातवी स० ई० मे इसलाम की स्थापना के बाद ईरानियो और अरबो की टक्करो के फलस्वरूप इराक पर अरब के खलीफाओ की हुकूमत कायम हो जाती है। इराक के पुराने नगर नष्ट हो चुके थे। अरबो ने जिन कई नए शहरो की दागबेल डाली उनमे कूफा (६३८ ई०), बसरा और दजला के तट पर बगदाद (सन् ७६२ ई०) मुख्य है। हजरत अली जब इसलाम के खलीफा थे, उन्होने कूफा को अपनी राजधानी बनाया। अब्बासी खलीफाओ के जमाने मे बगदाद अरब साम्राज्य की राजधानी बना। खलीफा हारूँ रशीद के समय बगदाद ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, सभ्यता और संस्कृति का एक महान् केंद्र बन गया। ज्ञानी और पडित, दार्शनिक और कवि, साहित्यिक और कलाकार एशिया, यूरोप और अफ्रीका से आ आकर बगदाद मे जमा होने लगे।

अंतिम अब्बासी खलीफा मुतास्सिम के समय, सन् १२५८ ई० मे, चगेज खाँ के पौत्र हलाकू खाँ के नेतृत्व मे मगोलो ने बगदाद पर आक्रमण किया तथा सभ्यता और संस्कृति के उस महान् केंद्र को नष्ट कर दिया। हलाकू के इस आक्रमण ने अब्बासियों के शासन का सदा के लिये अंत कर दिया।

इराक मे ही करबला का प्रसिद्ध मैदान है जहाँ सन् ६८० ई० मे पैगबर के नवासे हुसैन का ओमइया खलीफाओ के शासको द्वारा सपरिवार वध कर दिया गया था। करबला मे आज भी हर साल हजारो शिया मुसलमान ससार के कोने कोने से आकर हजरत हुसैन की स्मृति मे आँसू बहाते हैं। इराक में शिया संप्रदाय का दूसरा तीर्थस्थान नजफ़ है। इराक की अधिकाश जनसख्या शिया मुसलमानो की है। सास्कृतिक दृष्टि से इराक अरब और ईरान का मिलनकेंद्र रहा है किंतु नस्ल की दृष्टि से इराक निवासी अधिकाशत अरब है।

अब्बासियो के पतन के बाद इराक मगोलो, तातारियो, ईरानियो, कुर्दों और तुर्कों की आपसी प्रतिस्पर्धा का शिकारगाह बना रहा। इराक पर तुर्कों का विधिवत् शासन सन् १८३१ ई० मे प्रारभ हुआ। इराक को तुर्कों ने तीन विलायतो अथवा प्रातो मे बाँट दिया था। ये प्रात थे—मोसल विलायत, बगदाद विलायत और बसरा विलायत। यही तीनो विलायतें आधुनिक इराक मे १४ लिवो या कमिश्नरियो मे बाँट दी गई है।

सन् १९१४ ई० मे तुर्की जब प्रथम विश्वयुद्ध मे जर्मनी के पक्ष मे शामिल हुआ तब अंग्रेजी सेनाओ ने इराक मे प्रवेश कर २२ नवबर, सन् १९१४ को बसरा पर और ११ मार्च, सन् १९१७ को बगदाद पर अधिकार कर लिया। इस आक्रमण से अंग्रेजो का उद्देश्य एक ओर अबादान मे स्थित ऐंग्लो-पर्शियन आयल कपनी की रक्षा करना और दूसरी ओर मोसल मे तेल के अटूट भडार पर अधिकार करना था। युद्ध की समाप्ति के बाद इराक अंग्रेजो का प्रभावक्षेत्र बन गया। अंग्रेजो ने २३ अगस्त, सन् १९२१ को अपनी ओर से एक कठपुतली अमीर फैजल को इराक का राजा घोषित कर दिया।

सन् १९३० मे इराक और ग्रेट ब्रिटेन के बीच एक विधिवत् २५ वर्षीय सधि हुई जिसकी एक शर्त यह भी थी कि यथासभव शीघ्र ही ग्रेट ब्रिटेन इराक को राष्ट्रसघ मे शामिल किए जाने की सिफारिश करेगा। सधि की इस धारा के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की सिफारिश पर इराक के ऊपर से उसका मैंडेट ४ अक्टूबर, सन् १९३२ को समाप्त हो गया और एक स्वतत्र राष्ट्र की हैसियत से इराक राष्ट्रसघ का सदस्य बना लिया गया। इराक के आग्रह पर ऐंग्लो-इराकी सधि की अवधि अक्टूबर, सन् १९५७ तक बढा दी गई। २६ जून, सन् १९५४ को इराक सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया और अरब राष्ट्र के सघ की स्थापना मे उसने महत्वपूर्ण भाग लिया।

इराक मध्यपूर्व सुरक्षायोजना के बगदाद पैक्ट गुट का प्रमुख सदस्य था किंतु हाल की राजनीतिक क्राति के परिणामस्वरूप वहा से राजतत्र समाप्त हो गया है। इराक ने बगदाद पैक्ट गुट के देशो से भी अपने को पृथक् कर लिया है।

स०ग्र०—एस० लैंगडन सुमेरियन लाज (१९१५), जे० डेलापार्ट मेसोपोटामियन सिविलिजेशन (१९१०), सर लिओनार्ड वूली डिगिंग अप द पास्ट (१९३८), रिचर्ड कोक द हार्ट आव द मिडिल ईस्ट (१९२५), एस० एच० लागरिज फोर सेंचुरीज आव माडर्न इराक (१९२५), एस० लायड फाउंडेशन इन द डस्ट (१९४१), एच० आर० हाल मेसोपोटामिया (१९२५)। (वि० ना० पा०)

सहसा सैनिक क्राति के बाद, १४ जुलाई, सन् १९५८ ई० को सैनिक अधिकारियो के एक दल ने इराक को गणतत्र घोषित कर दिया और अरब सघ से भी इसे बिलग कर लिया। उक्त क्राति मे इराक के तत्कालीन शाह फैजल द्वितीय, शाह के चाचा, भूतपूर्व शास्ता अमीर अब्दुल्ला तथा प्रधान मंत्री नूरी अल सईद मारे गए। अगले चार वर्ष तक इराक मे जनरल कासिम का शासन रहा। लेकिन ८ फरवरी, १९६३ को थल एवं वायुसेना द्वारा पुन सैनिक क्राति किए जाने के बाद ९ फरवरी, १९६३ को जनरल कासिम फाँसी पर लटका दिए गए और अब्दुस्सलाम आरिफ ने राष्ट्रीय असेंबली की हैसियत से कार्यभार सँभाल लिया।

४ मई, १९६४ को अस्थायी रूप से स्वीकृत सविधान मे इराक को स्वतत्र एव प्रभुसत्तासपन्न 'लोकतात्रिक समाजवादी इस्लामी अरब गणराज्य' की सज्ञा से अभिहित किया गया है और इसके उद्देश्य के रूप मे 'अरब एकता' सर्वप्रमुख रखी गई है।

राष्ट्रपति अहमद हसन बक्र के नेतृत्व मे नवगठित सरकार ने जनरल कासिम के शासनकाल से चले आ रहे 'कुवैती प्रभुसत्ता' से सबद्ध झगडे को निबटाने के लिये कुवैत से समझौता कर लिया। लेकिन कुर्दों की समस्या का शातिपूर्ण हल तत्काल न निकाला जा सका। हालाँकि १० फरवरी, १९६४ को कुर्दों के साथ युद्धविराम की घोषणा की गई, फिर भी १९६५ के

अप्रैल मे युद्ध पुन. प्रारभ हो गया। मार्च, १९७० मे क्रांतिकारी कमान परिषद् ने कुर्द समस्या को सवैधानिक आधार पर हमेशा के लिये सुलझा लिया।

१६ अक्टूबर, १९६४ को सयुक्त अरब गणराज्य के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसमे दोनो देशो के लिये तत्काल सयुक्त राजनीतिक नेतृत्व की स्थापना के साथ आगामी दो वर्ष के अदर सवैधानिक आधार पर उभय देशा के एकीकरण का लक्ष्य रखा गया। उक्त अवधि बाद मे दो वर्ष से बढा कर पाँच वर्षकर दी गई। जून, १९६७ मे दोनो देशो के बीच सभी सीमाकर समाप्त कर दिए गए। (कै० च० श०)

इरावत (बभ्रुवाहन) द्र० 'बभ्रुवाहन'।

इरावती १. ऐरावत की माता। यह कश्यप ऋषि की भद्रमदा नाम की स्त्री से उत्पन्न कन्या थी।

२. राजा परीक्षित की रानी। (स०)

इरावदी बर्मा की एक प्रधान नदी। द्र० 'बर्मा'।

इरीडियम (सकेत : इ, परमाणुभार . १९३ १, परमाणु सख्या ७७) धातुओ के प्लैटिनम समूह का एक सदस्य है। सबसे पहले तेना ने १८०४ मे ऑस्मीइरीडियम नामक मिश्रण से इसका प्राप्त किया। यह बहुत ही कठोर धातु है, लगभग २,४५०° सेटीग्रेड पर पिघलती है और इसका आपेक्षिक घनत्व २२ ४ है। इसका विशिष्ट विद्युतीय प्रतिरोध ४ ९ है जा प्लैटिनम का लगभग आधा है। इससे तार, चादर इत्यादि बनाना बडा ही कठिन है। रासायनिक प्रतिक्रिया मे यह धातुओ मे सबसे अधिक अक्रियाशील है, यहाँ तक कि अम्लराज भी साधारण ताप पर इसपर क्रिया करने मे असफल रहता है।

इरीडियम फाउटेनपेन की निबो की नोक, आभूषण, चुबकीय सपर्क स्थापित करनेवाले यत्र, पोली सुई (इजेक्शन लगाने की सुई) तथा बहुत ही बारीक फ्यूज तार बनाने मे काम आता है।

इरीडियम बहुत से यौगिक बनाता है, जिनमे १, २, ३, ४ तथा ६ तक सयोजकता होती है। इसके मुख्य यौगिक इक्लो$_2$, इक्लो$_3$, इक्लो$_4$, इब्रो$_2$, इब्रो$_3$, इब्रो$_4$, हा$_2$इक्लो$_6$, इ$_2$ औ$_3$, इऔ$_2$, इग, इ$_2$ ग$_3$ इत्यादि है। इसमे जटिल यौगिक बनाने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे सो$_3$ इ(नाओ$_2$)$_6$ और साथ ही यह दूसरी धातुओ से मिलकर, विशेषकर प्लैटिनम के साथ, बडी सुगमता से मिश्रधातु बनाता है। ये मिश्रधातुएँ बडी कठोर होती है।

(यहाँ इ = इरीडियम, क्लो = क्लोरीन, ब्रो = ब्रोमीन, आ = आयोडीन, हा = हाइड्रोजन, औ = ऑक्सिजन, सो = सोडियम तथा ग = गधक है।) (म० प्र०)

इरोद तमिलनाडु राज्य के कोयबटूर जिले का एक नगर है जो मद्रास से २६३ मील दूर, कावेरी नदी के दाहिने तट पर स्थित है। (स्थिति ११° २१' उ० अ० तथा ७७° ४३' पू० दे०)। यह नगर दक्षिण रेलवे का एक जकशन है। १७वी शताब्दी के प्रारभ मे यह छोटा सा कस्बा था, परतु हैदरअली के समय मे नगर की पर्याप्त उन्नति हुई तथा यहाँ की जनसख्या १५,००० हो गई। समय के फेर तथा राजनीतिक उथल पुथल के कारण १८वी शताब्दी के अत मे यह नगर मराठा, मैसूर राज्य तथा अग्रेजो की विभिन्न चढाइयो के कारण पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गया। १७९२ ई० मे टीपू सुल्तान तथा अग्रेजो मे सधि हुई, फलस्वरूप लोग फिर आकर यहाँ बस तथा एक ही वर्ष मे यहाँ की जनसख्या ३०,००० हो गई।

इरोद अब मद्रास का एक बहुत अच्छा नगर हो गया है। १८७१ ई० से यहाँ की व्यवस्था नगरपालिका द्वारा हो रही है। नगर पूर्ण रूप से विकसित तथा सभी सुविधाओ से सपन्न है। यहाँ दो बहुत प्राचीन मदिर है जिनपर तमिल भाषा मे लिखे हुए ऐतिहासिक महत्व के भित्तिलेख है। इरोद अपने क्षेत्र का प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। यहाँ कपास का व्यवसाय मुख्य रूप से होता है। (ह० ह० सि०)

इल वैवस्वत मनु और श्रद्धा को सतान नही थी। उन्होने मित्रावरुणी को प्रसन्न करने के लिये वसिष्ठ द्वारा पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया। श्रद्धा चाहती थी कि उसे कन्या हो अत यज्ञ की समाप्ति पर उसे कन्या ही हुई—नाम पडा इला। बाद मे, मनु के अनुरोध पर, वसिष्ठ ने बालिका को पुत्र बनाया, तब इसका नाम इल पडा। वय प्राप्त होने पर यह परिवार सहित शिकार के लिये एक ऐसे वन मे गया जो शकर द्वारा शापित था, परिणाम-स्वरूप यह फिर स्त्री बन गया। इसी स्थिति मे बुध के औरस से इसे पुरूरवस् नाम का पुत्र हुआ। उत्कल, गय और विमल नाम के इसके तीन अन्य पुत्र थे। आगे चलकर वसिष्ठ की कृपा से यह एक मास स्त्री तथा एक मास पुरुष बनकर रहने लगा। (स०)

इला ऋग्वेद मे 'अन्न की अधिष्ठातृ' मानी गई है, यद्यपि सायण के अनुसार उन्हे पृथिवी की अधिष्ठातृ मानना अधिक उपयुक्त है। वैदिक वाङ्मय मे इला को मनु को मार्ग दिखलानेवाली एव पृथिवी पर यज्ञ का विधिवत् नियमन करनेवाली कहा गया है। इला के नाम पर ही जबूद्वीप के नवखडो मे एक खड 'इलावृत वर्ष' कहलाता है। महाभारत तथा पुराणो की परपरा मे इला को बुध की पत्नी एव पुरूरवा की माता कहा गया है। (च० म०)

इलायची, छोटी को सस्कृत मे एला, तीक्ष्णगधा इत्यादि और लैटिन मे एलेटेरिया कार्डामोमम कहते है।

इसका पौधा सदा हरा तथा पाँच फुट से १० फुट तक ऊचा होता है। इसके पत्ते बर्छे की आकृति के तथा दो फुट तक लबे होते है। यह बीज और जड दोनो से उगता है। तीन चार वर्ष मे फसल तैयार होती है तथा इतने ही काल तक इसमे गुच्छो के रूप मे फल लगते है। सूखे फल ही बाजार मे छोटी इलायची के नाम से बिकते है। पौधे का जीवनकाल १० से लेकर १२ वर्ष तक का होता है। समुद्र की हवा और छायादार भूमि इसके लिये आवश्यक है। इसके बीज छोटे और कोनदार होते है। मैसूर, मगलोर, मालाबार तथा लका मे इलायची बहुतायत से होती है।

भारत मे इसके बीजो का उपयोग अतिथिसत्कार, मुखशुद्धि तथा पकवानो को सुगधित करने के लिये होता है। ये पाचनवर्धक तथा रुचिवर्धक होते है।

आयुर्वेदिक मतानुसार इलायची शीतल, तीक्ष्ण, मुख को शुद्ध करनेवाली, पित्तजनक तथा वात, श्वास, खाँसी, बवासीर, क्षय, वस्तिरोग, सुजाक, पथरी, खुजली, मूत्रकृच्छ्र तथा हृदयरोग मे लाभदायक है।

इन बीजो मे एक प्रकार का उडनशील तैल (एसेंशियल आयल) होता है।

बडी इलायची का नाम सस्कृत मे एला, काला इत्यादि मराठी मे वेलदोडे, गुजराती मे मोटी एलची तथा लैटिन मे ऐमोमम कार्डामोमम है।

इसके वृक्ष तीन से पाँच फुट तक ऊँचे भारत तथा नेपाल के पहाडो प्रदेशो मे होते है। फल तिकोने, गहरे कत्थई रग के और लगभग आधा इच लबे तथा बीज छोटी इलायची से कुछ बडे होते है।

आयुर्वेद तथा यूनानी उपचार मे इसके बीजो के लगभग वे ही गुण कहे गए है जो छोटी इलायची के बीजो के। परतु बडी इलायची छोटी से कम स्वादिष्ट होती है। (भ० दा० व०)

इलावारा आस्ट्रेलिया के न्यू-साउथ-वेल्स का एक उपजाऊ जिला है। यह सिडनी के ३३ मील दक्षिण से आरभ होकर, समुद्रतट के साथ साथ दक्षिण की ओर ४० मील सोआल हेवन तक फैला हुआ है तथा भीतरी पठार से खडी एव १,००० फुट ऊँची चट्टानो द्वारा अलग है। यह एक अल्प-जनसख्यक क्षेत्र है एव सिडनी की दूध सबधी आवश्यकताएँ पूरी करता है। यहाँ कोयले की बहुत सी खदाने है। बैसाल्ट, अग्निरोधक मिट्टी एव पत्थर यहाँ अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान है। जिले के मुख्य नगर बुली, वोलनगाग, पोर्ट केमब्ला, कियामा तथा शेलहारबर है।

इसी जिले मे इलावारा नामक एक खारी झील भी है जो नौ मील लबी तथा तीन मील चौडी है। यह पहाडो से घिरी हुई तथा समुद्र से एक धारा द्वारा सबधित है। इसमे काफी मात्रा मे मछलियाँ तथा जगली चिडियाँ पकडी जाती है। (श्या० सु० श०)

कमला नेहरू अस्पताल, इलाहाबाद
यह प्रसूति-कल्याण-चिकित्सालय है।

बच्चों की शुश्रूषा

सिनेट हाल (प्रयाग विश्वविद्यालय), इलाहाबाद

आनंद भवन, इलाहाबाद

पंडित जवाहरलाल नेहरू का निजगृह। (यह अब अ० भा० कांग्रेस कमेटी को प्रदत्त हो गया है)।

इलाहाबाद प्राचीन प्रयाग, (अ० २५° २५' उ०, दे० ८१° पू०, १९७१ ई० में जनसंख्या ४,१३,६६७) गंगा और यमुना के संगम पर दोनों नदियों के बीच में बसा हुआ है। एक तीसरी नदी सरस्वती के भी यहाँ मिलन की कल्पना की जाती है, यद्यपि इसका कोई चिह्न यहाँ प्रकट नहीं होता। प्रयाग की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान हमें युवान् च्वाङ (६४४ ई०) के वर्णन में भी मिलता है। उस समय नगर कदाचित् संगम के अति निकट बसा हुआ था। इसके पश्चात् लगभग आठवीं शताब्दी तक प्रयाग का इतिहास अंधकार में है।

अकबरनामा, आईन अकबरी तथा अन्य मुगलकालीन ऐतिहासिक पुस्तकों से ज्ञात होता है कि अकबर ने सन् १५८४ ई० के लगभग यहाँ पर किले की नींव डाली तथा एक नया नगर बसाया जिसका नाम उसने 'इलाहाबाद' रखा। इससे बरबस ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि यहाँ अकबर द्वारा नए नगर की स्थापना हुई तो प्राचीन प्रयाग का क्या हुआ। कदाचित् किले के निर्माण के पूर्व ही प्रयाग गंगा की बाढ़ के कारण नष्ट अथवा बहुत छोटा हो गया होगा। इस बात की पुष्टि वर्तमान भूमि के अध्ययन से भी होती है। वर्तमान प्रयाग रेलवे स्टेशन से भारद्वाज आश्रम, गवर्नमेंट हाउस, गवर्नमेंट कालेज तक का ऊँचा स्थल अवश्य ही गंगा का एक प्राचीन तट ज्ञात होता है, जिसके पूरब की नीची भूमि गंगा का पुराना कछार रही होगी जो सदैव नहीं तो बाढ़ के दिनों में अवश्य जलमग्न हो जाती रही होगी। संगम पर बने किले की रक्षा के हेतु बेनी तथा बक्सी नामक बाँधों को बनाना भी अकबर के लिये आवश्यक रहा होगा। इन बाँधों द्वारा कछार का अधिकांश भाग सुरक्षित हो गया। वर्तमान खुसरो बाग तथा उसमें स्थित मकबरे जहाँगीर के काल के बने बताए जाते हैं। मुसलमानी शासन के अंतिम काल में नगर की दशा कदाचित् अच्छी नहीं थी और उसका विस्तार (ग्रैंड ट्रंक रोड के दोनों ओर) बाढ़ से रक्षित भूमि तक ही सीमित था। सन् १८०१ ई० में नगर अंग्रेजों के हाथ आया, तब उन्होंने यमुनातट पर किले के पश्चिम अपनी छावनियाँ बनाईं। फिर बाद में, वर्तमान ट्रिनिटी चर्च के आसपास भी इनके बंगले तथा छावनियाँ बनीं।

सन् १८५७ ई० के गदर में ये छावनियाँ नष्ट कर दी गईं तथा नगर को बहुत क्षति पहुँची। गदर के पश्चात् १८५८ ई० में इलाहाबाद को उत्तरी पश्चिमी प्रांतों (नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज) की राजधानी बनाया गया। वर्तमान सिविल लाइंस की योजना १८६० ई० में बनी और १८७५ तक वह पर्याप्त बस गई। यद्यपि इलाहाबाद और कानपुर तक की रेलवे लाइन गदर के पूर्व बन चुकी थी, तो भी नगर का व्यापारिक महत्व १८६५ ई० में यमुना पर पुल बनने के पश्चात् बढ़ा। गत शताब्दी के अंत तक नगर में कई महत्वपूर्ण इमारतें तथा संस्थाएँ निर्मित हुईं जिनमें मेयो हाल, म्योर कालेज, गवर्नमेंट प्रेस तथा हाईकोर्ट मुख्य हैं। चौक के घंटाघर तथा पास के बाजार का निर्माण भी इसी समय हुआ।

गत ५० वर्षों में नगर का विस्तार अधिक हुआ है। जार्ज टाउन, लूकरगंज तथा अन्य नए महल्ले बसाए गए। इलाहाबाद फैजाबाद रेलवे लाइन १९०५ ई० में तथा झूसी से सिटी (रामबाग) स्टेशन तक की रेलवे लाइन १९१२ में बनी। इलाहाबाद इंप्रूवमेंट ट्रस्ट द्वारा नगर के बहुत से भागों में कई छोटी छोटी बस्तियाँ भी बसाई गईं तथा नई सड़कों का निर्माण हुआ। परंतु उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ चली जाने से इस नगर की उन्नति रुक गई। अब यहाँ यूनिवर्सिटी और हाईकोर्ट होने के कारण तथा इसके तीर्थस्थान होने के कारण ही नगर का महत्व है। यमुना के उस पार नैनी में एक व्यावसायिक उपनगर बसाने का प्रयत्न हो रहा है। (उ० सिं०)

इलियट, चार्ल्स (कलक्टर) द्र० 'आल्हा'।

इलियट, जार्ज जार्ज इलियट (१८१९-८०) की गणना अंग्रेजी के महान् उपन्यासकारों में की जाती है। आपका वास्तविक नाम मेरी ऐन ईवेन्स था। आपका पालन पोषण तो एक कट्टर मेथोडिस्ट परिवार में हुआ किंतु २२ वर्ष की आयु में ब्रे और हेनेल के प्रभाव ने आपके दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। धार्मिक प्रश्नों में तर्कपूर्ण एवं निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनानेवालों में आपका स्थान अपने युग में सर्वप्रथम है। परंतु आपकी सभी रचनाओं में एक दृढ़ नैतिक भावना विद्यमान है जिसके कारण आपने कर्तव्यपालन और कर्मफल के सिद्धांतों को सर्वोपरि स्थान दिया है।

आपका प्रथम साहित्यिक प्रयास स्ट्रॉस की 'लाइफ आव जीसस' का अनुवाद (१८४८) था। १८५१ में आप 'वेस्टमिन्स्टर रिव्यू' की सहायक संपादिका नियुक्त हुईं, जिससे आपको फ्राउड, मिल, कार्लाइल, हरबर्ट स्पेंसर तथा 'द लीडर' के संपादक जी० एच० लिविस जैसे सुविख्यात व्यक्तियों के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। लिविस की ओर आप विशेष आकर्षित हुईं, जो उस समय अपनी पत्नी से अलग रह रहे थे। समाज की पूर्ण अवहेलना करके वे दोनों पति पत्नी की भाँति रहने लगे। यह संबंध लिविस के मृत्युपर्यंत कायम रहा।

लिविस की प्रेरणा से ही आप दर्शन छोड़कर उपन्यासरचना की ओर आकर्षित हुईं। आपकी पहली तीन कथाएँ 'सीन्स फ्राम क्लेरिकल लाइफ' के नाम से १८५८ में प्रकाशित हुईं। इसके उपरांत 'ऐडम बीड' (१८५९), 'द मिल ऑन द फ्लॉस' (१८६०) और 'साइलस मार्नर' (१८६१) लिखे गए। ये तीनों रचनाएँ ग्राम्य जीवन पर आधारित हैं जिससे वे भली भाँति परिचित थीं। इनमें हमें दीनहीनों के प्रति आपकी गहरी समवेदना के दर्शन होते हैं। 'रामोला' (१८६३) की रचना में आपने सर्वाधिक परिश्रम किया, परंतु उसे सजीवता प्रदान करने में आप पूर्णत: सफल न हो सकीं। फिर भी इस उपन्यास में टीटो मिलीमा का चरित्रचित्रण विशेष उल्लेखनीय है। 'फेलिक्स होल्ट' (१८६६) की कथा १८३२ के सुधारवादी आंदोलन पर आधारित है। 'मिडिल मार्च' (१८७२) में, जो आपका सर्वोत्तम उपन्यास है प्रांतीय जीवन का पूर्ण और सफल चित्रण मिलता है। व्यापकता की दृष्टि से इसकी तुलना बाल्जाक और टाल्सटाय की रचनाओं से की जाती है। आपकी अंतिम रचना 'डेनियल डेरोंडा' (१८७६) यहूदी जीवन पर आधारित है।

दीर्घकालीन उपेक्षा के अनंतर जार्ज इलियट की रचनाएँ पाठकों तथा आलोचकों दोनों का ध्यान पुन: आकृष्ट करने लगी हैं। (प्र० कु० स०)

इलियट, टी० एस० १९४८ के नोबेल-पुरस्कार-विजेता टी० एस० इलियट (१८८८—१९६५) आधुनिक युग की महानतम साहित्यिक विभूतियों में से हैं। २६ वर्ष की आयु में आप अपनी मातृभूमि अमरीका छोड़कर इंग्लैंड में बस गए और १९२७ में ब्रिटिश नागरिक बन गए। आपने नाटक, कविता और आलोचना तीनों क्षेत्रों में महान् ख्याति प्राप्त की है तथा आधुनिक युग के प्राय: सभी प्रसिद्ध लेखकों को प्रभावित किया है। वे स्वयं डन, एज़रा पाउंड तथा फ्रांसीसी प्रतीकवादी कवि लाफोर्ज द्वारा सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं।

यद्यपि आपका पहला काव्यसंग्रह 'प्रुफ्राक ऐंड अदर ऑब्जरवेशंस' १९१७ में प्रकाशित हुआ, तथापि आपको वास्तविक ख्याति 'द वेस्टलैंड' (१९२२) द्वारा प्राप्त हुई। मुक्त छंद में लिखे तथा विभिन्न साहित्यिक संदर्भों एवं उद्धरणों से पूर्ण इस काव्य में समाज की तत्कालीन परिस्थिति का अत्यंत नैराश्यपूर्ण चित्र खींचा गया है। इसमें कवि ने जान बूझकर अनाकर्षक एवं कुरूप उपमानों का प्रयोग किया है जिससे वह पाठकों की भावना को ठेस पहुँचाकर उन्हें समाज की वास्तविक दशा का ज्ञान करा सके। उसके मत में संसार एक 'मरुभूमि' है—आध्यात्मिक दृष्टि से अनुर्वर तथा भौतिक दृष्टि से ग्रस्त व्यस्त। इसके बाद की रचनाओं में हमें एक दूसरा ही दृष्टिकोण मिलता है जो धार्मिकता की भावना से पूर्ण है और जिसका चरम विकास 'ऐश वेन्सडे' (१९३०) और 'फोर क्वार्टेट्स' (१९४४) में हुआ।

आलोचना के क्षेत्र में आपका सबसे महत्वपूर्ण कार्य १७वीं शताब्दी के लेखकों, विशेषकर डन तथा ड्राइडेन की खोई हुई प्रतिष्ठा का पुन: संस्थापन तथा मिल्टन एवं शेली की भर्त्सना करना रहा है। दांते की भी आपने नई व्याख्या की है। वैसे तो आपने कई सौ आलोचनाएँ लिखी हैं, परंतु 'द सैक्रेड वुड' (१९२०), 'द यूस आव पोएट्री ऐंड द यूस ऑव क्रिटिसिज्म' (१९३३) तथा 'आन पोएट्री ऐंड पोएट्स' (१९५७) विशेष उल्लेखनीय हैं।

आपने अभी तक निम्नलिखित पाँच नाटकों की रचना की है: 'मर्डर इन द कैथीड्रल' (१९३५), 'फैमिली रियूनियन' (१९३९), 'द काकटेल पार्टी' (१९५०), 'द कान्फिडेंशल क्लार्क' (१९५५), 'द एल्डर स्टेट्समैन' (१९५८)। ये सभी पद्य में लिखे गए हैं एवं रंगमंच पर लोकप्रिय हुए हैं। 'मर्डर इन द कैथीड्रल' की फिल्म भी बन चुकी है। (प्र० कु० स०)

इलियट, सर हेनरी मेयर्स प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा लेखक। जन्म १८०८ पिता जॉन इलियट, कमांडेंट, वेस्ट मिन्स्टर। १८२६ में भारत आगमन। कई जिलों के कलेक्टर आदि रहकर १८४७ में कंपनी सरकार के वैदेशिक सचिव। अत्यंत तीव्रबुद्धि तथा अध्ययनशील। बहुमूल्य राजकीय सेवाओं के लिये के० सी० बी० की उपाधि प्राप्त।

२३१ फारसी और अरबी के इतिहासग्रंथों का संकलन एवं संपादन किया, किंतु केवल एक खंड प्रकाशित हो पाया। १८५३ में मृत्यु हुई। उनकी एकत्रित सामग्री का प्रोफेसर जॉन डाउसन ने संपादन किया जो आठ खंडों में 'द हिस्ट्री ऑव इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स' के नाम से १८६६ से १८७७ तक प्रकाशित हुई। अन्य कृतियाँ 'ग्लौसरी ऑव इंडियन जुडीशल ऐंड रेवेन्यू टर्म्स' (१८४५, द्वि० सं० १८६०), 'मेमॉयर्स ऑव द हिस्ट्री, फोकलोर ऐंड डिस्ट्रिब्यूशन ऑव द रेसेज ऑव नार्थवेस्टर्न प्रॉविन्सेज' जिसे जॉन बीम्स ने संपादित करके १८६९ में प्रकाशित किया।

सं०ग्रं०—इलियट ऐंड डाउसन के प्रथम खंड, वाल्सं डिक्शनरी ऑव यूनीवर्सल बायोग्रैफी, डिक्शनरी ऑव नशनल बायोग्रैफी। (प० श०)

इलीरिया संयुक्त राज्य (अमरीका) के ओहायो राज्य का एक प्रमुख नगर है। यह ब्लैक नदी के तट पर समुद्रतल से ७३० फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह न्यूयार्क सेंट्रल रेलवे का एक प्रसिद्ध स्टेशन है तथा ईरी झील से आठ मील दक्षिण स्थित है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इलीरिया कृषीय प्रदेश के हृदयस्थल में स्थित होने के कारण खाद्यान्नों तथा फलों की बड़ी मंडी रहा है, परंतु आज यह बड़ा औद्योगिक केंद्र भी है जहाँ कृषीय मशीनें, भट्ठियाँ, नल, रासायनिक द्रव्य, चमड़े के सामान, मोजे, बनियाइनें तथा खिलौने आदि बनाए जाते हैं। यहाँ बहुत सी सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं जो शिक्षा, समाजसेवा तथा मनोरंजन के कार्यों में संलग्न हैं। इनमें गेट्स मेमोरियल अस्पताल का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ का कासकेड पार्क अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिये प्रसिद्ध है। इसे सन् १८१७ ई० में हेमान इली ने बसाया था, अतः उन्हीं के नाम पर नगर का नाम इलीरिया पड़ गया। (ने० रा० सिं० क०)

इलेक्ट्रान पदार्थ का मूलभूत कण है। इलेक्ट्रान की संख्या और इलेक्ट्रानिक संरचना पर ही पदार्थ के कई भौतिक और रासायनिक गुणधर्म निर्भर करते हैं। १८९७ में एक अंग्रेज भौतिकशास्त्री सर जे० जे० थामसन ने इस ऋण आवेशयुक्त कण की खोज की और सिद्ध किया कि यह प्रत्येक परमाणु का एक अनिवार्य भाग है। प्रत्येक परमाणु आवेशहीन होता है अतः थामसन ने निष्कर्ष निकाला कि इलेक्ट्रान के ऋण आवेश के बराबर परमाणु में धन आवेश भी होना चाहिए। उसने कल्पना की कि परमाणु धन आवेश का एक गोला है जिसमें ऋण आवेश बिखरा रहता है (जैसे तरबूज में बीज)। उनके प्रयोगों से पता चला कि परमाणु का भार इलेक्ट्रान के भार से बहुत ज्यादा है, अतः उन्होंने कल्पना की कि परमाणु का भार मुख्य रूप से धन आवेश के कारण होता है।

कुछ साल बाद लार्ड रदरफोर्ड ने पाया कि थामसन का 'परमाणु रूपक' स्वर्णपत्र द्वारा अल्फा कणों के प्रायोगिक विक्षेपण के निष्कर्षों की व्याख्या नहीं करता अतः १९११ में रदरफोर्ड ने परिकल्पना की कि धन आवेश परमाणु में केंद्र के पास थोड़े से आयतन नाभिक में केंद्रित रहता है और इलेक्ट्रान नाभिक के चारों ओर सौरमंडल के ग्रहों के समान घूमते रहते हैं पर ऐसे परमाणु में घूमनेवाले इलेक्ट्रान नाभिक की तरफ निरंतर त्वरित होंगे अतः निरंतर ऊर्जा उत्सर्जित करते हुए इन्हें नाभिक के और पास आना चाहिए। पर प्रयोग इसका समर्थन नहीं करते।

१९१३ में डेनमार्क के एक भौतिकविद् नील्स बोहर ने आइन्स्टीन के 'कैसे एक निश्चित ऊर्जावाला प्रकाश पदार्थों में से इलेक्ट्रान उत्सर्जन करता है' की व्याख्या से प्रभावित होकर प्रतिपादित किया कि परमाणु में इलेक्ट्रान केवल निश्चित वृत्ताकार कक्षों में ही गमन कर सकते हैं।

बोहर ने माना कि जब तक इलेक्ट्रान इन संभव कक्षों में से किसी एक में गमन करते रहते हैं, वे ऊर्जा विकीर्णित नहीं करते। पर यदि इलेक्ट्रान एक बाहरी कक्ष से नाभिक के पासवाले कक्ष में गमन करे तो प्रकाश के रूप में ऊर्जा उत्सर्जित करता है। यह उत्सर्जित ऊर्जा इन कक्षों के ऊर्जा अंतर के बराबर होगी। किसी कक्ष की ऊर्जा इस कक्ष के अर्धव्यास पर निर्भर करती है। और कक्ष का अर्धव्यास नाभिक के धन आवेश द्वारा कक्ष के इलेक्ट्रान पर लगे आकर्षण बल के प्रभाव को नष्ट करने के लिये आवश्यक केंद्रापसारी बल द्वारा निर्धारित होता है। यह केंद्रापसारी बल कक्ष में इलेक्ट्रान की गति से उत्पन्न होता है।

बोहर के प्रतिपादन के पश्चात् हुए प्रायोगिक और सैद्धांतिक कार्यों से ज्ञात हुआ कि वास्तव में इलेक्ट्रान का पूरी तरह ज्ञात कोई एक कक्ष नहीं होता परंतु इलेक्ट्रान नाभिक के चारों ओर फूले हुए कार के टचूब की आकृतिवाले क्षेत्र में गमन करता रहता है—कभी नाभिक के पास, कभी दूर। यह गति वास्तव में नाभिक के चारों ओर एक फूले हुए टचूब की आकृतिवाले ऋण आवेश के वलय का निर्माण करती है। इसे इलेक्ट्रान बादल के नाम से भी जाना जाता है।

हालांकि इलेक्ट्रान बादल में रहते हैं पर एक साधारण आवेशहीन परमाणु में इलेक्ट्रान के बाहर द्वारा प्रतिपादित कक्षों में से किसी एक में पाए जाने की संभावना ही सबसे अधिक है।

आजकल कक्ष का अर्थ उस सारे क्षेत्र से लिया जाता है जिसमें इलेक्ट्रान गमन करता है, न कि पूर्व वर्णित निश्चित एक वृत्त में। १९२५ में पाली ने प्रतिपादित किया कि एक ही परमाणु में कोई भी दो इलेक्ट्रान एक ही समय एक ही अवस्था (क्वाटम अवस्था) में नहीं रह सकते हैं। यह पाली का विस्थापन सिद्धांत कहलाता है। किसी इलेक्ट्रान की क्वाटम अवस्था चार अंकों द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इनमें से पहला अंक इलेक्ट्रान के कक्ष का अर्धव्यास निश्चित करता है और अन्य तीन चक्रीय घूर्ण (रोटेशनल मोमेंटम्)।

समान ऊर्जावाले सभी इलेक्ट्रान एक ही क्षेत्र में स्थित कक्षीय अनुक्रमों में गमन करते हैं। इन अनुक्रमों को शेल कहते हैं। इनमें नाभिक के सबसे पासवाले शेल को K शेल कहते हैं और इसकी ऊर्जा सबसे अधिक होती है। L शेल की ऊर्जा K से कम और अन्य सभी M, N, आदि शेलों से अधिक होती है। यह K शेल की अपेक्षा नाभिक से दूर होता है। इसी प्रकार M की ऊर्जा K और L शेल की ऊर्जा से कम और अन्य शेलों की ऊर्जा से ज्यादा होती है। विशेष जानकारी के लिये द्र० 'परमाणु'। (म० त्रि०)

आवेश आदि—यदि हम दो विद्युदग्रों (इलेक्ट्रोडों) को एक ऐसी बंद नली में रखें जिसमें से हवा निकाल दी गई हो (दाब पारे का १०^-६ मि० मी०) तो, विभव (पोटेंशियल) लगाने पर, ऋणाग्र में से प्राय: एक नीली सी धारा निकलती दिखाई पड़ती है। यदि नली को चुंबकीय अथवा वैद्युत क्षेत्र में रखें तो यह धारा इधर उधर मोड़ी जा सकती है। मोड़ की दिशा से पता चलता है कि यह धारा ऋण आवेश (नेगेटिव चार्ज) के कणों की बनी हुई है। जैसा ऊपर बताया गया है, इन कणों को इलेक्ट्रान कहते हैं। वास्तव में, यदि इन क्षेत्रों का परिमाण ज्ञात हो तो, धारा का विक्षेप नापने से इन कणों के आवेश तथा द्रव्यमान ज्ञात हो सकते हैं। इन प्रयोगों का परिणाम यह है कि इलेक्ट्रान के आवेश आदि निम्नलिखित के अनुसार हैं

आवेश (आ) = (१.६०२०३ ± ०.०००३४) × १०^-२०
निरपेक्ष वैद्युत चुंबकीय एकक,
= (४.८०२५१ ± ०.०००१०) × १०^-१०
निरपेक्ष स्थिर वैद्युत एकक,

विशिष्टावेश (आ/द्र) = (१.७५९२ ± ०.०००५) × १०^७ नि० वैचु०/ग्रा,
= (५.२७६६ ± ०.००१५) × १०^१७ नि० स्थि०/ग्रा,

द्रव्यमान (द्र) $= (९.१०६६_० \pm ०.००३२) \times १०^{-२८}$ ग्रा, जहाँ ग्रा = ग्राम ।

क्वांटम यांत्रिकी के विख्यात सिद्धांत के अनुसार इलेक्ट्रान के साथ हम एक तरंग का भी अनुमान कर सकते हैं। यदि इलेक्ट्रान का सवेग सं है तो उसका तरंगदैर्घ्य वे = प्ल/स ($\lambda = \lambda m$) होगा (द्र० **क्वांटम यांत्रिकी**), जहाँ प्ल प्लांक का नियतांक है। अतः प्रकाश अथवा एक्सरश्मि की जगह हम इलेक्ट्रान का भी प्रयोग कर सकते हैं। इस आधार पर इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी बने हैं, जो वैज्ञानिक अन्वेषण में बहुत लाभकारी सिद्ध हुए हैं (द्र० **इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी**)। साधारण तालों की जगह इनमें वैद्युत तथा चुबकीय क्षेत्रों का प्रयोग होता है।

वर्तमान शताब्दी के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास में इलेक्ट्रान का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पिछले वर्षों में और भी बहुत से कण मिले हैं, पर वे अस्थायी हैं।

डिरैक समीकरण—इलेक्ट्रान के विवरण के लिये डिरैक समीकरण का उपयोग आवश्यक है (द्र० **डिरैक**)। जैसा क्वांटम यांत्रिकी में कहा गया है, आपेक्षिकतानुकूल समीकरणों में सबसे सरल समीकरण निम्नलिखित है

$$\left(\frac{१}{प्र^२} \frac{त^२}{तस^२} - \nabla^२ + \frac{द्र^२ प्र^२}{हे^२} \right) सा = ०,$$

जहाँ प्र = प्रकाश का वेग स = समय, त/तय = ∂/∂x, हे = एक नियतांक, सा = ψ = इलेक्ट्रान का तरंगफलन (वेव फंक्शन)।

यदि इस समीकरण को कारक त/तस और त/तय में एकघातीय (लीनियर) बनाएँ तो इसका रूप निम्नलिखित हो जायगा

$$\left(\frac{१}{प्र} \frac{त}{तस} + क_{:र} \frac{त}{तय} + क_{:} \frac{त}{तर} + क_{:ल} \frac{त}{तल} - अ \frac{द्रप्र}{हे} ख \right) सा = ०,$$

जहाँ अ = $\sqrt{(-१)}$ ।

समीकरण (२) में पुनः (१) पाने के लिये यह आवश्यक है कि क$_{:}$, क$_{:र}$, क, ख साधारण संख्याएँ नहीं, किंतु प्रवधिनियाँ (मैट्रिसे) हों जो निम्नलिखित दिक्परिवर्तन (कम्युटेशन) नियम का प्रतिपालन करें

$$\left. \begin{array}{c} क_{:}^२ = क_{:}^२ = क_{:ल}^२ = ख^२ = १, \\ क_{:य} क_{:} + क_{:} क_{:य} = क_{:} क_{:} + क_{:} क_{:} = क_{:} क_{:ल} + क_{:ल} क_{:} = ० \end{array} \right\} \quad (३)$$

तब सा को भी स्तंभप्रवधिनी (कॉलम मैट्रिक्स) लेना होगा

$$सा = \begin{pmatrix} सा_१ \\ सा \\ सा \\ सा \end{pmatrix} \quad \ldots (४)$$

रेखात्मक समीकरण (२) का समावेश करते समय डिरैक ने जो तर्क दिए थे वे अब पूर्णतया न्यायसंगत नहीं माने जाते परंतु इसमें संदेह नहीं कि इलेक्ट्रान के लिये (२) ही उचित समीकरण है। भौतिकज्ञों को आजकल इसकी सत्यता में इतना ही गंभीर विश्वास है जितना मैक्सवेल के विद्युच्चुबकीय समीकरणों की सत्यता में।

प्रवधिनियाँ क$_{:}$, क$_{:}$, क$_{:ल}$, ख प्रकट रूप में इस प्रकार लिखी जा सकती हैं :

$$क_{:य} = \begin{pmatrix} ० & ० & ० & १ \\ ० & ० & १ & ० \\ ० & १ & ० & ० \\ १ & ० & ० & ० \end{pmatrix}, क_{:} = \begin{pmatrix} ० & ० & ० & -अ \\ ० & ० & अ & ० \\ ० & -अ & ० & ० \\ अ & ० & ० & ० \end{pmatrix},$$

$$क_{:ल} = \begin{pmatrix} ० & ० & १ & ० \\ ० & ० & ० & -१ \\ १ & ० & ० & ० \\ ० & -१ & ० & ० \end{pmatrix}, ख: = \begin{pmatrix} १ & ० & ० & ० \\ ० & १ & ० & ० \\ ० & ० & -१ & ० \\ ० & ० & ० & -१ \end{pmatrix} \quad (५)$$

प्रत्यक्ष है कि समीकरण (२) वास्तव में चार युगपत (साइमल्टेनियस) समीकरणों के तुल्य है। सा के घटक (कपोनेंट) परावर्तन (रिफ्लेक्शन) तथा घूर्णन (रोटेशन) रूपांतरों के प्रति किसी सदिश (टेंसर) की तरह आचरण नहीं करते, किंतु आवर्तकों (स्पिनरों) की तरह करते हैं।

ग:-प्रवधिनियाँ और संकेतन (लेखनपद्धति)—यदि क$_{:}$, क$_{:}$, क$_{:ल}$, ख की जगह हम ग^न (न = १, २, ३) का समावेश करें, जहाँ

$$ग:^० = ख:, ग^१ = खक_{:}, ग^२ = खक_{:}, ग^३ = ख.य_{:}, \quad (६)$$

तो (२) को अख से गुणा करने पर उसे इस प्रकार लिख सकते हैं .

$$अग^न \frac{तस}{तय^न} + \frac{द्रप्र}{हे} सा = ० । \quad (७)$$

यहाँ अनुबधनों (सफिक्सों) पर योग का प्रचलित नियम (समेशन कनवेंशन) बरता गया है यदि कोई अनुबंध एक बार नीचे आए और एक बार ऊपर तो उसपर योग होगा। हम विसर्गयुक्त अनुबंधों को ० से ३ तक मान देने के लिये प्रयोग करेंगे और साधारण अनुबंधों को १ से ३ तक मान देने के लिये। (७) में

$$य^० = प्रस, य^१ = य, य^२ = र, य^३ = ल । \quad (८)$$

अनुबंधों को ऊपर नीचे मापनी (मेट्रिक) ज$_{नन}$ की सहायता से करेंगे :

$$ज_{००} = १, ज_{११} = ज_{२२} = ज_{३३} = -१, ज_{नन} = ० \ (न \neq न) । \quad (९)$$

समीकरणों को सरल बनाने के लिये हम हे और प्र दोनों को इकाई के बराबर मान लेंगे। तब (७) हो जायगा

$$अग^न \frac{तसा}{तय^न} + द्रसा = ० । \quad (१०)$$

निरूपण (५) से स्पष्ट है कि ख, क, इत्यादि हर्मीटियन प्रवधिनियाँ हैं (द्र० **क्वांटम यांत्रिकी**) :

$$ख^* = ख, क_{:य}^* = क_{:य}, क_{:}^* = क_{:}, क_{:}^* = क_{:} । \quad (११)$$

(६) से परिभाषित ग-प्रवधिनियों में ग हर्मीटियन है, किंतु ग^१, ग^२, ग^३ विपरीत हर्मीटियन (ऐंटी-हर्मीटियन) हैं

$$ग^{०*} = ग^०, ग^{१*} = -ग^१, ग^{२*} = -ग^२, ग^{३*} = -ग^३ । \quad (१२)$$

ग^न के दिक्परिवर्तन नियम हैं

$$ग^न ग:^न + ग^न ग:^न = २ज^{नन}, \quad (१३)$$

जहाँ ज^{नन} प्रवधिनी ज$_{नन}$ की प्रतिलोम (इनवर्स) है।

यदि हम (१०) पर बाईं ओर से कारक

$$-अग^न \frac{त}{तय^न} + द्र$$

द्वारा क्रिया करें और (१३) बरतें तो हम पाएँगे कि सा के सब घटक दूसरे घात (आर्डर) के समीकरण (१) को मानते हैं।

आपेक्षिकतानुकूल अचरता (रिलेटिविस्टिक इनवेरियंस)—समीकरण (१०) को आपेक्षिकतानुकूल सिद्ध करने के लिये हम दिखाएँगे कि यदि हम य^न का रूपांतर

$$य^{न'} = क^न_{न} य^न \quad (१४)$$

$$ज_{नन} क^न_{:} ज^{न}_{न} क_{क न} \quad (१५)$$

करें तो साथ ही हम एक ऐसी प्रवधिनी, ला, भी ज्ञात कर सकते हैं जो नए अक्षों के तरंगफलन सा′ को पुराने फलन से समीकरण

$$सा' = ला सा \quad (१६)$$

द्वारा संबधित करे और सा′ वैसा ही समीकरण संतुष्ट करे जैसा सा,

अर्थात् $$अग^न \frac{तसा'}{तय^{न'}} + द्रसा = ० । \quad (१७)$$

यदि (१०) में हम रूपांतरण (१४) और (१६) करें तो वह

$$अक^न_{न} ग:^न \frac{त}{तय^{न'}} (ला^{-१}सा') + द्रला:^{-१}सा' = ०$$

हो जायगा। या

$$अक^न_{न} (ला.ग:^न ला^{-१}) \frac{तसा'}{तय^{न'}} + द्रसा' = ०$$

(ला द्वारा बाईं ओर से गुणा करने पर)।

यहाँ हमने यह माना है कि ला निर्देशांक य' पर निर्भर नहीं है। यह समीकरण (१७) के समान तब होगा जब

$$क^{म}_{न} ला ग:^{न} ला:^{-१} = ग^{म}। \quad (१८)$$

$क_{म}^{न}$ से गुणा और (१५) का उपयोग करने पर यह हो जायगा

$$ला: ग.^{न} ला.^{१} = ग^{न} क_{न}^{म}। \quad (१९)$$

यदि (१४) की जगह सूक्ष्म रूपांतर (इनफिनिटेसिमल रूपांतर)

$$क^{म}_{न} = ड^{म}_{न} + ड^{म}_{न}, \quad ड^{मन} = -ड^{नम}, \quad (२०)$$

करें तो ला को तुरन्त ही ज्ञात कर सकते हैं। ऐसे रूपांतरों के लिये हम ला को यों लिख सकते हैं

$$ला = १ + \tfrac{१}{२} ड_{म} टा^{मन}, \quad टा^{मन} = -टा^{नम}। \quad (२१)$$

तब (१९) से

$$\tfrac{१}{२} ड_{मन} (टा^{मन} ग^{क} - ग^{क} टा^{मन}) = ग^{म} ड_{म}^{क},$$

अर्थात् $\tfrac{१}{२} ड_{मन} (टा^{मन} ग^{क} - ग^{क} टा^{मन} - ज^{कम} ग^{न} + ज^{कन} ग^{म}) = ०,$

अर्थात् $टा^{मन} ग^{क} - ग^{क} टा^{मन} = ज^{कम} ग^{न} - ज^{कन} ग^{म} \quad (२२)$

यदि हम $टा^{मन} = \tfrac{१}{४} (ग^{म} ग^{न} - ग^{न} ग^{म}) = \tfrac{१}{२} ग^{[मन]} \quad (२३)$

रख दें तो (२२) सन्तुष्ट हो जायगा। क्योंकि सतत रूपांतर बहुत से सूक्ष्म रूपांतरों को जोड़कर बनाए जा सकते हैं, इसलिये स्पष्ट है कि डिरैक समीकरण (१०) आपेक्षिकतानुकूल रूपांतर (१४) के प्रति अचर है। यह भी स्पष्ट है कि सा का रूपांतर (१६) बहुदिष्टा के रूपांतर से भिन्न है।

बहुदिष्ट (टेंसर)—समीकरण (१०) से हम सा के हर्मीटियन संबंध, सा*, के लिये समीकरण ज्ञात कर सकते हैं। (१२) का उपयोग करने पर

$$-श्र \frac{तसा^{*}}{तय} ग^{०} + श्र \sum_{क=१}^{३} \frac{तसा^{*}}{तय^{क}} ग^{क} + द्रसा^{*} = ०$$

वह होगा। यदि दाईं ओर ग° से गुणा करें और सा* की जगह

$$सा^{+} = सा^{*} ग^{०} \quad (२४)$$

काम में लाएँ, तो सा† यह समीकरण सन्तुष्ट करेगा

$$-श्र \frac{तसा^{+}}{तय} ग^{म} + द्रसा^{+} = ०। \quad (२५)$$

यदि रूपांतर (१४) और (१६) करने पर सा†

$$सा^{+'} = सा^{+} ला^{-१} \quad (२६)$$

हो जाय, तो समीकरण (२५) अचर रहेगा।

(१६) और (२६) को गुणा करने पर हम देखते हैं कि

$$सा^{+'} सा' = सा^{+} सा। \quad (२७)$$

अतः सा†सा अचर है।

यदि (१८) को बाईं ओर का सा†' द्वारा और दाईं ओर को सा' द्वारा गुणा करें तथा (१६) और (२६) के अनुसार ला⁻¹सा' की जगह सा और सा†' ला की जगह सा† रख दें तो हमें मिलेगा

$$क^{म}_{न} सा^{+} ग^{न} सा = सा^{+'} ग^{म} सा'।$$

इससे स्पष्ट है कि सा† गᵐ सा एकदिष्ट है।

गᵏ. के लिए वैसे ही संबंध (१८) को

$$क^{म}_{न} ला ग^{न} ला^{-१} = ग^{म}$$

से गुणा करने पर हमें मिलेगा

$$क^{म}_{न} क^{ल}_{प} ला ग^{न} ग^{प} ला^{-१} = ग^{म} ग^{ल}।$$

इससे विदित है कि (२८) की तरह फिर

$$क^{म}_{न} क^{ल}_{प} सा^{+} ग^{न} ग^{प} सा = सा^{+'} ग^{म} ग^{ल} सा' \quad (२९)$$

अतः सा†गᵐ गˡ सा दूसरी श्रेणी (रैंक) का बहुदिष्ट है। उसे हम एक सममित (सिमेट्रिकल) और एक असममित (ऐंटीसिमेट्रिकल) भागों में विभाजित कर सकते हैं

$$ग^{म} ग^{न} = \tfrac{१}{२}(ग^{म} ग^{न} + ग^{न} ग^{म}) + \tfrac{१}{२}(ग^{म} ग^{न} - ग^{न} ग^{म})$$
$$= ज^{मन} + ग^{[मन]} \quad (३०)$$

[देखिए (१३) और (२३)]। इनमें जᵐⁿ तुच्छ है, अतः सा†ग^{[मन]}सा ही महत्वपूर्ण असममित बहुदिष्ट है।

भौतिकी में ये बहुदिष्ट अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसलिये हम इस प्रकार की सब संभावनाओं को यहाँ लिखे देते हैं

अदिष्ट शा = सा†सा,

एकदिष्ट कᵐ = सा† गᵐ सा,

दूसरी श्रेणी का बहुदिष्ट $सा^{मन} = श्रसा^{+} ग^{[मन]} सा,$

तीसरी श्रेणी का बहुदिष्ट (या मिथ्या एकदिष्ट) $वा^{मनप} = सा^{+} ग^{[मनप]} सा$

चौथी श्रेणी का बहुदिष्ट (या मिथ्यादिष्ट)

$$पा^{मनपल} = श्रसा^{+} ग^{[मनपल]} सा। \quad (३१)$$

$$ग^{[मनप]} = \tfrac{१}{६}(ग^{म} ग^{न} ग^{प} - ग^{म} ग^{प} ग^{न} + ग^{न} ग^{प} ग^{म} - ग^{न} ग^{म} ग^{प} + ग^{प} ग^{म} ग^{न} - ग^{प} ग^{न} ग^{म}),$$

$$ग^{[मनपल]} = \tfrac{१}{२४}(ग^{म} ग^{न} ग^{प} ग^{ल} - ग^{म} ग^{न} ग^{ल} ग^{प} + (इत्यादि) - ग (४)।$$

विद्युच्चुंबकीय अंत प्रभाव—यदि इलेक्ट्रान और विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र के बीच अंत प्रभाव भी (१०) में संमिलित करें तो वह

$$श्रग^{म}\left(\frac{त}{तय^{म}} + श्रआका_{म}\right) सा + द्रसा = ०, \quad (३२)$$

$$अर्थात् \quad श्रग^{म} \frac{तसा}{तय^{म}} + द्रसा = आग^{म} का_{म} सा \quad (३३)$$

हो जायगा। यहाँ का$_{म}$ विद्युच्चुंबकीय क्षेत्र के विभव हैं

$$फा_{मन} = \frac{तका_{न}}{तय^{म}} - \frac{तका_{म}}{तय^{न}}। \quad (३४)$$

यदि (३३) पर बाईं ओर से $\left(-श्रग^{न} \frac{त}{तय^{न}} + द्र\right)$ द्वारा क्रिया करें तो वह हो जायगा

$$\left(\square^{२} + द्र^{२}\right) सा = आ\left(-श्रग^{न} \frac{त}{तय^{न}} + द्र\right) ग^{म} का_{म} सा$$

$$= आ\left[-श्रग^{न} ग^{म}\left(\frac{तका_{म}}{तय^{न}} सा + का_{म} \frac{तसा}{तय^{न}}\right) + द्रग^{म} का_{म} सा\right]$$

$$= आका_{म}\left[-श्र\left(२ज^{मन} - ग^{न} ग^{म}\right) \frac{तसा}{तय^{न}} + द्रग^{म} सा\right]$$

$$- श्रआ\left(ज^{मन} + ग^{[मन]}\right) \frac{तका_{म}}{तय^{न}} सा \; [देखें (३०)]$$

$$= -२श्रआका^{न} \frac{तसा}{तय^{न}} + आका_{म} ग^{म}\left(श्रग^{न} \frac{तसा}{तय^{न}} + द्रसा\right)$$

$$- श्रआ \frac{तका_{न}}{तय^{न}} सा - \tfrac{१}{२} श्रआग^{[मन]} फा_{मन} सा$$

$$= -२श्रआका^{न} \frac{तसा}{तय^{न}} + आ^{२} का_{म} ग^{म} का_{न} ग^{न} सा - श्रआ \frac{तका_{न}}{तय^{न}} सा$$

$$+ \tfrac{१}{२} श्रआग^{[मन]} फा_{मन} सा \; [देखें (३३)]$$

$$= -२श्रआका^{न} \frac{तसा}{तय^{न}} + आ^{२} का_{न} का^{न} सा - श्रआ \frac{तका_{न}}{तय^{न}} सा$$

$$+ \tfrac{१}{२} ग^{[मन]} फा_{मन} सा \quad (३५)$$

(३५) में दाईं ओर पहले तीन पद ऐसे हैं जो सापेक्षिकतानुकूल समीकरण

$$\left(\frac{त}{तय_{न}} + श्रआका_{न}\right)\left(\frac{त}{तय_{न}} + श्रआका^{न}\right) सा + द्र^{२} सा = ० \quad (३६)$$

से भी प्राप्त हो सकते हैं। (३५) के प्रथम पद को हम आवेश अंत प्रभाव कह सकते हैं। द्वितीय पद दूसरे घात का है। यदि हम प्रतिबिंब

$$\frac{तका_{न}}{तय_{न}} = ०$$

लगाएँ तो तृतीय पद शून्य हो जायगा। चतुर्थ पद एक नया प्रभाव निर्दिष्ट

करता है जो (३६) मे नही आ सकता। यह विद्युच्चुबकीय क्षेत्र की तीव्रता, फा$_{मन}$, का समानुपाती है। अत: हम इसको इलेक्ट्रान के चुबकीय घूर्ण (मैगनेटिक मोमेंट) के साथ अत प्रभाव का अर्थ दे सकते हैं। यह सच है कि इस पद मे न केवल चुबकीय, किंतु वैद्युत क्षेत्र भी समिलित है। चुंबकीय और वैद्युत क्षेत्रो का साथ साथ आना आपेक्षिकतानुकूल सिद्धात का अनिवार्य फल है। डिरैक समीकरण मे यह गुण है कि उससे स्वय ही इलेक्ट्रान का चुबकीय घूर्ण भी निकल आता है।

समाप्ति—इलेक्ट्रान के गुण-धर्म-वर्णन के लिये डिरैक समीकरण का उपयोग अनिवार्य है। आजकल जितने परीक्षण हुए है सबके परिणाम इस समीकरण के अनुकूल है। दुबारा क्वांटीकरण पर (**द्र० क्वांटम यांत्रिकी**) यह समीकरण अत्यत शक्तिशाली हो जाता है।

स०ग्र०—इसी विश्वकोश मे 'क्वांटम यांत्रिकी' शीर्षक लेख, डब्ल्यू० पाउली तथा जीमन, फर्हाडलिगन मार्टिनस नाइहोफ, पृ० ३१-४३ (१९३५), हाडबुख डर फिज़ीक, द्वितीय श्रेणी, खड २४, पृ० २५१-२७२ (एडवर्ड ब्रदर्स, मिशिगन, द्वारा पुनर्मुद्रित, १९४७)। (वा०)

इलेक्ट्रान नली एक ऐसी युक्ति है जो पूर्ण अथवा आशिक शून्य मे इलेक्ट्रान धारा का नियत्रण करती है। इस प्रकार की नलियो का उपयोग रेडियो-आवृत्ति-शक्ति (रेडियो फ्रीक्वेंसी पावर) उत्पन्न करने मे किया जाता है जिसका उपयोग रेडियो सग्राही (रिसीवर) तथा रेडियो प्रेषी (ट्रैसमिटर) मे किया जाता है। इन नलियो का उपयोग क्षीण सकेता के प्रवर्धन (ऐंप्लिफिकेशन), ऋजुकरण (रेक्टिफिकेशन) तथा परिचयप्राप्तकरण (डिटेक्शन) मे होता है। यह कहा जा सकता है कि साधारण इलेक्ट्रान नली की खोज ने ही रेडियो टेलीफोन, ध्वनिचित्र (बोलता सिनेमा), दूरवीक्षण (टेलिविज़्हन), रेडियो आदि को जन्म दिया है।

इलेक्ट्रान नलियाँ कई प्रकार की होती हैं। सरलतम नली द्विध्रुवी (डाइओड) है, फिर त्रिध्रुवी (ट्राइओड), चतुर्ध्रुवी (टेट्रोड), पुजशक्ति-नली (बीम पावर ट्यूब), पचध्रुवी (पेंटोड), षड्ध्रुवी इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त क्लाइस्ट्रान, मगनाट्रान, प्रगामी तरग नली (ट्रैवेलिग वेव ट्यूब) इत्यादि विशेष प्रकार की नलियाँ भी है जिनका प्रयोग उच्च आवृत्ति पर होता है। ऋणाग्र किरण नलियो (कैथोड रे ट्यूब्स) मे इलेक्ट्रान पुज का प्रयोग प्रकाश उत्पन्न करने मे होता है और इस प्रकार वैद्युत शक्ति से दृष्टि सबधी (विज़्हुअल) परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। साधारण ऋणाग्र किरण नली का विशेष रूप ऑर्थिकान नली है जिसका प्रयोग दूरवीक्षण मे किया जाता है। प्रकाशविद्युत् नलियो (फोटो इलेक्ट्रिक ट्यूब) मे

चित्र १

प्रकाश का प्रयोग वैद्युत प्रभाव उत्पन्न करने में किया जाता है। कभी कभी निर्वात नलियो मे थोडी सी गैस छोड दी जाती है जिससे उनके लाक्षणिक (कैरैक्टरिस्टिक) वक्रो मे परिवर्तन हो जाय और वे कुछ विशिष्ट कार्यों मे लाई जा सकें।

साधारणतया इलेक्ट्रान नली धातु के दो अथवा अधिक विद्युदग्रो (इलेक्ट्रोड्स) की बनी होती है जो काँच अथवा धातु के बने निर्वात कक्ष मे बद रहते है। ध्रुव एक दूसरे से पृथक्कृत होते है। एक ध्रुव को ऋणाग्र (कैथोड) कहते है जिसका कार्य इलेक्ट्रानो का उत्पादन है। दूसरे ध्रुव को धनाग्र (एनोड) अथवा पट्टिका (प्लेट) कहते हैं जो ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रान नली मे स्थापित विद्युत्क्षेत्र मे इलेक्ट्रान ऋणात्मक ध्रुव से धनात्मक ध्रुव की ओर चलते है और ध्रुवो के अतर्गत एक इलेक्ट्रान धारा बहने लगती है। एक साधारण परिपथ (सर्किट), जिसमे ऐसी नली का उपयोग किया गया है, आकृति १ मे दिखाया गया है। बाह्य परिपथ मे इलेक्ट्रान धनाग्र से विभवस्रोत (वोल्टेज सोर्स) से होकर ऋणाग्र मे जाते है।

ऐसी समान विशिष्टतावाली नली, जिसमे दो ध्रुव होते है, द्विध्रुवी कहलाती है। कुछ नलियो मे एक और ध्रुव लगा देते है जिसे ग्रिड कहते है। ग्रिडविभव का उचित नियत्रण करने पर नली मे विद्युद्धारा का नियत्रण एव विशेष परिवर्तन किया जा सकता है। पहले पहल प्रयोग मे लाई जानेवाली नलियो मे इस ध्रुव की अपनी एक विशेष बनावट थी और इसी बनावट के कारण इसे ग्रिड कहते है। आजकल प्रयोग मे लाई जानेवाली नलियो मे इस प्रकार के अनेक ध्रुव होते है और इन नलियो का नाम इन ध्रुवो की सख्या पर पड जाता है, जैसे त्रिध्रुवी जिसमे तीन ध्रुव होते हैं, चतुर्ध्रुवी जिसमे चार ध्रुव होते है, पचध्रुवी जिसमे पाँच ध्रुव होते है, इत्यादि।

अधिकतर इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये ऋणाग्र को तप्त किया जाता है। इस प्रकार की नलियों को ऊष्मायनिक नलियाँ (थर्मिआयोनिक ट्यूब) (द्र० **उष्मायन**) कहते है। परतु कुछ विशेष प्रकार की ऐसी नलियाँ होती
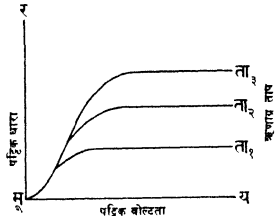
चित्र २

है जिनको तप्त करने की आवश्यकता नही होती। उनको शीत ऋणाग्र नलियाँ (कोल्ड कैथोड ट्यूब) कहते है, उदाहरण के लिये गैस फोटो नली (गैस फोटो ट्यूब), विभव नियत्रक नली (वोल्टेज रेग्युलेटर ट्यूब) इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।

द्विध्रुवी—प्रथम उष्मायनिक नली को फ्लेमिग ने सन् १९०४ मे बनाया था जिसे द्विध्रुवी कहते है। जैसा पहले ही लिखा जा चुका है, द्विध्रुवी मे दो ध्रुव होते हैं। एक ध्रुव इलेक्ट्रान का निस्सारण करता है और दूसरा पहले ध्रुव की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाता है, तब विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। परतु यह धारा एकदिश (यूनि-डाइरेक्शनल) होती है।

यदि पट्टिका को ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाय तो, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इलेक्ट्रान धारा प्रवाहित हो जाती है। परतु यदि विभव को दूसरी दिशा मे लगाया जाय, अर्थात् यदि पट्टिका ऋणाग्र की अपेक्षा ऋण विभव पर हो, तो इलेक्ट्रान धारा एकदम नही प्रवाहित होगी, क्योंकि बिना पट्टिका को गरम किए पट्टिका से इलेक्ट्रान नही निकलेंगे। इस कारण नली मे इलेक्ट्रान धारा केवल एक ही दिशा मे प्रवाहित की जा सकती है। यदि प्रत्यावर्ती (ऑल्टरनेटिंग) धारा के स्रोत को एक

द्विध्रुवी और विद्युतीय भार (इलेक्ट्रिकल लोड) के, जैसे किसी प्रतिरोधक (रजिस्टर) के, श्रेणीसंबंध (कंबिनेशन) के आर पार लगाया जाय तो धारा केवल एक ही दिशा में बहेगी और प्रत्यावर्ती के आधे चक्र में कोई धारा नहीं प्रवाहित होगी। इन दिशाओं में नली प्रत्यावर्ती धारा के बदले विद्युत् को भार में केवल एक दिशा में चलने देती है।

चित्र ३ में पट्टिक धारा तथा पट्टिक वोल्टता का संबंध दिखाया गया है। पहले पट्टिक धारा धीरे धीरे बढ़ती है, फिर कुछ शीघ्रता से और अंत में स्थिर हो जाती है, जिसे संतृप्त धारा (सैचुरेटेड करेंट) कहते हैं। यह संतृप्ति अंतरण आवेश (स्पेस चार्ज) के कारण हो जाती है, जो भटके हुए इलेक्ट्रानों के कारण ऋणाग्र के निकट प्रकट हो जाता है।

द्विध्रुवी में पट्टिक धारा निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है

$$\textbf{धा}_{प} = \textbf{क}\,\textbf{वो}_{प}^{\frac{3}{2}}\text{।} \qquad (१)$$

इसमें **धा**$_प$ = द्विध्रुवी में पट्टिक धारा, **क** = वह नियतांक जो नली की ज्यामिति (आकृति) पर निर्भर रहता है, **वो**$_प$ = द्विध्रुवी की पट्टिक वोल्टता।

द्विध्रुवी के उपयोग—जैसा ऊपर बताया जा चुका है, द्विध्रुवी में विद्युद्धारा केवल एक ही दिशा में प्रवाहित होती है। इस कारण इस नली का उपयोग प्रत्यावर्ती धारा के ऋजुकरण में किया जाता है। इससे प्रत्यावर्ती धारा दिष्ट धारा (डाइरेक्ट करेंट) में परिवर्तित हो जाती है। इसको 'अर्ध तरंग ऋजुकरण' (हाफ वेव रेक्टिफिकेशन) कहते हैं। उन द्विध्रुवियों को, जो उच्च विभव-प्रत्यावर्ती धारा के ऋजुकरण में प्रयुक्त होते हैं, केनाट्रान कहते हैं।

गैसयुक्त द्विध्रुवी का उपयोग शक्तिशाली धारा के ऋजुकरण में किया जाता है, उदाहरणत संचायक बैटरियों (एक्यूम्युलेटर्स) को आवेष्टित (चार्ज) करने में "टंगर" ऋजुकारी एक गैसयुक्त ऋजुकारी है।

त्रिध्रुवी—लीबेन ने जर्मनी में और ली द फॉरेस्ट ने अमरीका में एक महत्वपूर्ण खोज की। उन्होंने द्विध्रुवी के दोनों ध्रुवों के मध्य एक अतिरिक्त ध्रुव लगा दिया और यह पाया कि इस प्रकार की नली, जिसे त्रिध्रुवी कहते हैं, बहुत ही लाभकारी है।

इस तृतीय ध्रुव की अनुपस्थिति में, जैसा पहले बताया जा चुका है, नली में उष्मायनिक धारा तभी प्रवाहित होती है जब धनाग्र ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर होता है। इसको पट्टिक धारा कहते हैं। यह पट्टिक वोल्टता के साथ साथ तब तक बढ़ती है जब
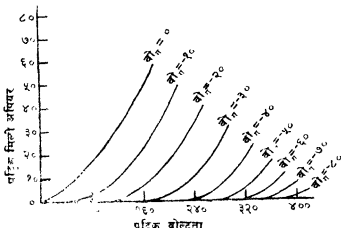
चित्र ३

तक अंतरण आवेश प्रकट नहीं होता। उसके प्रकट हो जाने पर यह स्थिर हो जाती है अर्थात् पट्टिक धारा पट्टिक वोल्टता के बढ़ने पर नहीं बढ़ती। जब तीसरा ध्रुव को नली के दो ध्रुवों के बीच में लगा दिया जाता है तो वह इस "अंतरण आवेश" का नियंत्रण करने लग जाता है। इस कारण ग्रिड को अंतरण-आवेश-नियन्त्रक कह सकते हैं। यदि ग्रिड विभव ऋणाग्र विभव से कम रहता है तो ग्रिड इलेक्ट्रानों को पीछे की ओर फेंक देती है और पट्टिक धारा कम हो जाती है। यदि ग्रिड विभव ऋणाग्र विभव से अधिक रहता है तो पट्टिक धारा बढ़ जाती है। फिर, पट्टिक धारा में ग्रिड धारा अथवा ग्रिड वोल्टता के साथ का परिवर्तन एक अन्य लाभकारी गुण है। ग्रिड धारा अथवा ग्रिड वोल्टता में थोड़ा ही परिवर्तन पट्टिक धारा में पर्याप्त परिवर्तन ला सकता है। इस युक्ति का उपयोग प्रवर्धकों में करते हैं।

पट्टिक धारा तीन स्वतंत्र चरों (इंडिपेंडेंट वेरियेबुल्स) पर निर्भर रहती है। वे हैं पट्टिक वोल्टता, ग्रिड वोल्टता तथा ऋणाग्र को गरम करने के लिये प्रयुक्त वोल्टता। जब उष्मा वोल्टता को इतना अधिक बढ़ा दिया जाता है कि पर्याप्त उत्सर्जन होने लगे, तो धारा केवल अंतरण आवेश से नियंत्रित होती है। तब पट्टिक वोल्टता केवल दो स्वतंत्र चरों का फलन (फंक्शन) रह जाती है। वे हैं **वो** और **वो**$_ग$ (ग्रिड वोल्टता)। इस फलन को एक समतल में किसी वक्र से प्रदर्शित नहीं कर सकते। यह त्रि-आयामिक (थ्री-डाइमेंशनल) सतह में ही प्रदर्शित किया जा सकता है। यद्यपि इस

चित्र ४
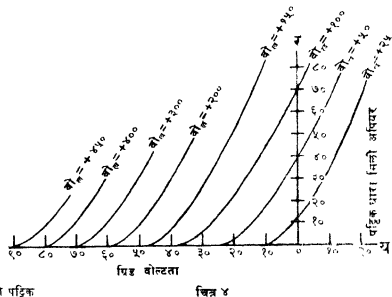
प्रकार की वक्र रेखा से विशेष सूचना प्राप्त की जा सकती है, तो भी इसको प्रदर्शित करने में बहुत असुविधा है। इस कारण इसको तीन प्रकार की वक्र रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जिन्हें स्थिर लाक्षणिक (स्टैटिक कैरेक्टरिस्टिक्स) कहते हैं। इस प्रकार की वक्र रेखाओं का एक समूह चित्र ३ में प्रदर्शित किया गया है जिसमें निर्देशांक (कोआर्डिनेट्स) **धा**$_प$ (पट्टिक धारा) और **वो**$_प$ (पट्टिक वोल्टता) हैं। इन वक्र रेखाओं के समूह को पट्टिक लाक्षणिक (प्लेट कैरेक्टरिस्टिक्स) कहते हैं। वक्र रेखाओं का एक दूसरा समूह चित्र ४ में प्रदर्शित किया गया है, जिसमें निर्देशांक पट्टिक धारा और ग्रिड वोल्टता हैं। इस लाक्षणिक को 'स्थानांतर लाक्षणिक' (ट्रैंसफर कैरेक्टरिस्टिक्स) कहते हैं। पट्टिक धारा के परिवर्तन को निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है

$$\textbf{धा}_{प} = \textbf{क}\left(\textbf{वो}_{ग} + \frac{\textbf{वो}_{प}}{\textbf{प्र}}\right)^{\frac{3}{2}} = \textbf{क}'\left(\textbf{प्रवो}_{ग} + \textbf{वो}_{प}\right)^{\frac{3}{2}}\text{।} \qquad (२)$$

इसमें **प्र** = प्रवर्धन गुणनखंड (ऐंप्लिफिकेशन फैक्टर) है और **क** तथा **क'** विभिन्न अचर (नियतांक) हैं।

त्रिध्रुवी के उपयोग—जैसा बताया जा चुका है, त्रिध्रुवी का मुख्य उपयोग प्रवर्धकों में होता है। इसका प्रयोग दोलक, ऋजुकारी, परिचायक तथा मूर्छक (माडयुलेटर) के रूप में भी किया जाता है।

इलेक्ट्रान नली के गुणांक (इलेक्ट्रान ट्यूब कोइफिशेंट्स)—ऊपर लिखी बातों से यह विदित है कि पट्टिक धारा विभिन्न ध्रुवों के विभव का

एक फलन है। इस कारण पट्टिक धारा को निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं

$$\text{धा}_{प} = \text{फ}\,(\text{वो}_{प},\ \text{वो}_{ग}) \qquad (३)$$

जिसमें फ (वो, वो$_{ग}$), वो तथा वो$_{ग}$ का एक फलन है। यद्यपि पट्टिक धारा उष्मक के ताप पर भी निर्भर रहती है, तो भी ताप विचाराधीन फलन में नहीं रखा गया है, क्योंकि अधिकतर वह एक निर्धारित मान पर ही रहता है।

यदि ग्रिड वोल्टता को बदला जाय और पट्टिक धारा को स्थिर रखा जाय, तो ग्रिड वोल्टता के साथ पट्टिक वोल्टता के परिवर्तन को नई वक्र रेखाओं के एक समूह द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रकार की वक्र रेखाओं का समूह चित्र ५ में दिखाया गया है। ये वक्र रेखाएँ पट्टिक विभव का वह परिवर्तन दिखलाती है जो ग्रिड विभव के साथ होता है, परन्तु यह
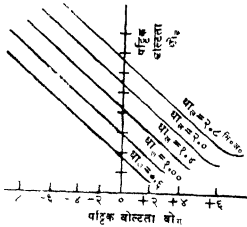
चित्र ५

देखा जा सकता है कि ये दोनों विभव एक दूसरे से प्रवर्धन गुणनखड द्वारा संबंधित हैं। अब प्रवर्धन गुणनखड का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है। एक स्थिर पट्टिक धारा पर ग्रिड विभवों के परिवर्तनों के अनुपात को प्रवर्धन गुणनखड कहते हैं। गणित की भाषा में इसको इस प्रकार लिखा जा सकता है

$$\text{प्र} = -\left(\frac{\text{तवो}_{प}}{\text{तवो}_{ग}}\right) \qquad (४)$$

जहाँ त ... है। यदि पट्टिक धारा स्थिर रहती है तो ग्रिड विभव घटाने में पट्टिक विभव बढ़ जाता है। इसीलिये ऊपर दिए गए समीकरण में ऋणात्मक चिह्न का प्रयोग किया गया है।

पट्टिक धारा के परिवर्तन पर विचार करने के लिये समीकरण (३) को टेलर के प्रमेय के अनुसार विस्तारित करना होगा। परन्तु ऐसा करने के लिये यह मानना पड़ेगा कि परिवर्तन थोड़ा है और विस्तार के केवल प्रथम दो पदों से निरूपित किया जा सकता है। इन विचारों को ध्यान में रखते हुए हम लिख सकते हैं कि

$$\triangle\text{धा}_{प} = \left(\frac{\text{तधा}}{\text{तवो}}\right)_{\text{वो}_{ग}} \triangle\text{वो}_{प} + \left(\frac{\text{तधा}_{प}}{\text{तवो}}\right) \triangle\text{वो}_{ग} \qquad (५)$$

यह व्यंजक दिखाता है कि पट्टिक तथा ग्रिड विभवों के परिवर्तन पट्टिक धारा में परिवर्तन ला देते हैं।

राशि (तवो/तधा$_{प}$) स्थिर ग्रिड वोल्टता पर पट्टिक धारा तथा पट्टिक वोल्टता के परिवर्तनों का अनुपात है। इस अनुपात का एकक (इकाई) प्रतिरोधक का एकक है। इसलिये इस अनुपात को नली प्रतिरोध (ट्यूब रेजिस्टेंस) कहते हैं और इसका संकेत रो$_{प}$ है। यह स्पष्ट है **है कि आकृति ३ में दी गई पट्टिक लाक्षणिक की यह प्रवणता (ढाल, स्लोप) है।**

राशि (तधा$_{प}$/तवो$_{ग}$) स्थिर वोल्टता पर पट्टिक धारा की तथा ग्रिड वोल्टता की संगत वृद्धि का अनुपात है। इस अनुपात का एकक चालक का एकक है। इसलिये इसे अन्योन्य चालकता (म्युचुअल कंडक्टैंस) कहते हैं और इसका संकेत ग$_{म}$ है। यह आकृति ४ में दी गई वक्र रेखाओं की प्रवणता है।

संक्षेप में नलियों के निम्नलिखित गुणांक हैं

$$\left(\frac{\text{तवो}_{प}}{\text{तधा}_{प}}\right)_{\text{वो}_{ग}} = \text{रो}_{प}, \qquad \text{पट्टिक प्रतिरोधक;}$$

$$\left(\frac{\text{तधा}_{प}}{\text{तवो}_{ग}}\right)_{\text{वो}_{प}} = \text{ग}_{म}, \qquad \text{अन्योन्य चालकता;}$$

$$-\left(\frac{\text{तवो}_{प}}{\text{तवो}_{ग}}\right)_{\text{धा}_{प}} = \text{प्र}, \qquad \text{प्रवर्धन गुणनखड।}$$

यह सरलता से दिखाया जा सकता है कि प्र, रो$_{प}$ तथा ग$_{म}$ में निम्नलिखित संबंध है

$$\text{प्र} = \text{रो}_{प}\,\text{ग}_{म}\ ।$$

आधुनिक रेडियो तकनीक में प्रयुक्त अतिरिक्त वाल्व चतुर्ध्रुवी

चतुर्ध्रुवी—उच्च आवृत्ति-प्रवर्धन-क्रिया में त्रिध्रुवी के प्रयोग में यह हानि होती है कि पट्टिक और ग्रिड के बीच के मध्यध्रुवी (इंटर इलेक्ट्रोड) धारित्र (कपैसिटेंस) के कारण दोनों के परिपथ युग्मित हो जाते हैं। इस कारण उच्च आवृत्ति पर त्रिध्रुवी का कार्य अस्थिर हो जाता है। इस युग्मन के कारण वाल्व दोलन उत्पन्न करने लगता है, जिससे बेसुरी ध्वनि आने लगती है। इस विघ्नकारी अंश को चतुर्ध्रुवी में धनाग्र और ग्रिड के बीच में एक और ग्रिड लगाकर दूर किया जाता है। इस ग्रिड को धन विभव पर रखते हैं। यह विभव पट्टिक के विभव से कम होता है। इस ग्रिड की उपस्थिति में धनाग्र परिपथ तथा ग्रिड परिपथ युग्मित नहीं होते और दोलन नहीं उत्पन्न होता। इस ग्रिड को आवरण ग्रिड (स्क्रीन ग्रिड) कहते हैं।

आवरण ग्रिड की उपस्थिति से एक और लाभ होता है। त्रिध्रुवी की अपेक्षा धनाग्र इलेक्ट्रान बहाव के नियंत्रण में कम सुचलन होता है, क्योंकि आवरण ग्रिड धनाग्र की अपेक्षा ऋणाग्र के अधिक पास होने के कारण अधिक प्रभावशाली होता है। इससे प्रवर्धन बढ़ जाता है।

चतुर्ध्रुवी में त्रिध्रुवी के समान ही नियंत्रण ग्रिड (कंट्रोल ग्रिड) और ऋणाग्र स्थापित होते हैं। इसलिये दोनों ही नलियों में ग्रिड-पट्टिक-चालकता प्रायः समान होती है, परन्तु चतुर्ध्रुवी में पट्टिक प्रतिरोध त्रिध्रुवी की अपेक्षा पर्याप्त अधिक होता है। इसका कारण, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पट्टिक वोल्टता पर पट्टिक धारा का न्यूनतम प्रभाव है। इन प्रभावों को चित्र ६ में अंकित किया गया है।

निम्नांकित पट्टिक वोल्टता खंड में एक ऐसी विशेषता है जो इस नली को कुछ कार्यों के लिये उपयोगी बना देती है। चित्र ६ में अंकित किए गए वक्रों में बिंदु क तथा ख के बीच पट्टिक-लाक्षणिक-वक्र की प्रवणता ऋणात्मक है। इस खंड में पट्टिक वोल्टता के बढ़ने पर पट्टिक धारा कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में, इसका तात्पर्य यह है कि नली का पट्टिक प्रतिरोध ऋणात्मक है। इसलिये जब चतुर्ध्रुवी को समस्वरित परिपथ (ट्यून्ड सरकिट) से युग्मित किया जाता है तो यह समस्वरित परिपथ के दोलन का सहायक हो जाता है। इस प्रकार के चतुर्ध्रुवी के उपयोग में नली को **डाइनाट्रान कहते हैं।**
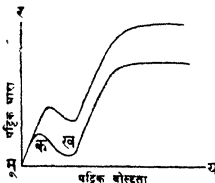
चित्र ६

इसके अतिरिक्त चतुर्ध्रुवी नलियो का विशेष उपयोग उच्च शक्ति-प्रवर्धक में होता है।

पंचध्रुवी—चतुर्ध्रुवी के उपयोग मे एक दोष है। यह है पट्टिक का गौण उत्सर्जन। पट्टिक से जब अत्यत वेगगामी उष्मायनिक इलेक्ट्रान टकराते हैं तो पट्टिक से गौण उत्सर्जन होने लगता है। इस क्रिया का पूर्ण विवेचन 'उष्मायन' शीर्षक के अतर्गत किया गया है।

पट्टिक से गौण इलेक्ट्रानो के उत्सर्जन द्वारा और उनके आवरण की ओर आकर्षित हो जाने के कारण धनाग्र लाक्षणिक मे एक ऐंठन आ जाती है। इस ऐंठन के कारण नली मे विकृति तथा अस्थिरता आ जाती है। इसको दूर करने के लिये एक तृतीय ग्रिड, आवरण ग्रिड तथा धनाग्र के बीच मे, लगा देते है। इस ग्रिड को दमनकारी ग्रिड (सप्रेसर ग्रिड) कहते है तथा इस नली को, जिसमे पाँच ध्रुव होते है, पचध्रुवी कहते है। दमनकारी ग्रिड ऋणाग्र से प्राय अत सबधित रहता है। इसका कार्य गौण उत्सर्जन-इलेक्ट्रान को दबाना है। मुख्य इलेक्ट्रान धारा पर दमनकारी ग्रिड की उपस्थिति का कोई विशेष प्रभाव नही पडता। यह केवल गौण उत्सर्जन का अवरोध करता है। इस दमनकारी ग्रिड की उपस्थिति के कारण जो प्रभाव पट्टिक लाक्षणिक पर होता है उसे चित्र ७ मे अकित किया गया है।

पचध्रुवी का उपयोग अधिकतर उच्च आवृत्ति पर विकृतिरहित प्रवर्धन मे होता है। इस नली ने प्राय रेडियो-आवृत्ति-विभव-प्रवर्धक मे चतुर्ध्रुवी के उपयोग को विस्थापित कर दिया है। इसका कारण यह है कि पचध्रुवी के उपयोग से मध्यम-पट्टिक-विभव पर उच्च विभवप्रवर्धन होता है।

पचध्रुवी तथा चतुर्ध्रुवी मे कभी कभी नियत्रक ग्रिड को एक विशेष अभिप्राय से एक समान नही बनाते। दोनो सिरो पर ग्रिड तारो के अतराल को कम कर देते है। इस प्रकार की नली बहुत सी नलियो के समातर समूह के रूप मे कार्य करती है और इन नलियो के भिन्न भिन्न प्रवर्धन-गुणन-खड होते है। जैसे ही ग्रिड वोल्टता को ऋणात्मक कर देते है, वैसे ही ग्रिड के उच्च प्रवर्धन-गुणन-खड के भाग कट जाते है और

चित्र ७

उनमे इलेक्ट्रान धारा नही वाहित होती, किंतु अन्य भागो पर कोई प्रभाव नही पडता। यदि ग्रिड ऋणात्मक है तो इस भाग से भी इलेक्ट्रान धारा बह सकती है। इसलिये इलेक्ट्रान धारा प्राय स्थिर रहती है और प्रवर्धन-गुणन-खड मे परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार की नली को चर प्र-नली (वेरियेबुल म्यू ट्यूब) कहते है। इसका उपयोग अधिकतर स्वत चालित उद्घोषतानियत्रक (आटोमैटिक वाल्यूम कट्रोल) के परिपथो मे होता है।
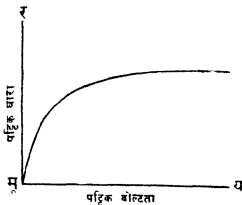
पुजशक्ति नली चतुर्ध्रुवी तथा पचध्रुवी बनाने के उपरात यह बोध हुआ कि आवरण ग्रिड तथा पट्टिक के बीच के अतरण आवेश (स्पेस चार्ज) का उपयोग गौण उत्सर्जन के बाधक के रूप मे किया जा सकता है। पुजशक्ति नली मे अतरण आवेश का उपयोग इसीलिये करते है।

हेलिकल नियत्रक ग्रिड तथा आवरण ग्रिड के तारत्व को समान रखा जाता है और उनके तारो को इस प्रकार लगाया जाता है कि उन इलक्ट्रानो को एक बेलनाकार सतह म एकत्र कर दे जो पट्टिक तथा आवरण ग्रिड के बीच म हो। इस कारण यह बेलनाकार सतह ऋणाग्र के विभव पर होती है और पट्टिक से उत्सर्जित इलेक्ट्रानो को पीछे की ओर फेक देती है। इस प्रकार यह गौण उत्सर्जन को रोकने मे सफल होती है। कभी कभी कुछ विशेष पुजशक्ति नलियो मे एक और दमनकारी ग्रिड लगा देते हैं, परतु अतरण आवेश द्वारा बनाई गई बेलनाकार सतह गौण उत्सर्जन को रोकने मे विशेष प्रभावशाली होती है। एक पुजशक्ति नली का पट्टिक लाक्षणिक चित्र ८ मे दिखाया गया है।

चित्र ८ मे अकित वक्र रेखा मे यह विशेषता है कि वह अधिक तीक्ष्णता मे मुडती है। इस कारण पुजशक्ति नली एक पचध्रुवी से उत्तम है। वक्ररेखा का मोड बहुत ही तीक्ष्ण है और इसके पश्चात वह प्राय सीधी है। वक्ररेखा का क्षैतिज भाग पट्टिक वोल्टता के परिवर्तन के यथेष्ट भाग के साथ है। इस कारण इस नली का उपयोग करने से अधिक शक्ति मिलती है। तारो को इस विशेष प्रकार से लगाने के कारण पुजशक्ति नलियो मे पचध्रुवी की अपेक्षा आवरण-ग्रिड-धारा पट्टिक धारा से कम होती है।

चित्र ८
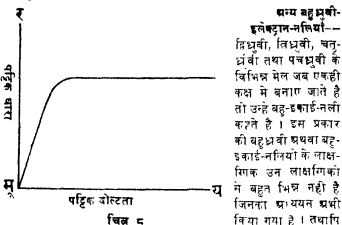
अन्य बहुध्रुवी-इलेक्ट्रान-नलियाँ—द्विध्रुवी, त्रिध्रुवी, चतुर्ध्रुवी तथा पचध्रुवी के विभिन्न मेल जब एकही कक्ष मे बनाए जाते है तो उन्हे बहु-इकाई-नली कहते है। इस प्रकार की बहुध्रुवी अथवा बहु-इकाई-नलियो के लाक्षणिक उन लाक्षणिको से बहुत भिन्न नहीं है जिनका अध्ययन अभी किया गया है। तथापि ऐसी भी बहुध्रुवी नलियाँ है जिनमे केवल एक ही ऋणाग्र तथा केवल एक ही धनाग्र रहता है, परतु ग्रिड तीन से अधिक रहते है। ऐसी नलियो मे दो नियत्रक ग्रिड होते है और पट्टिक धारा का नियत्रण दोनो ही वोल्टता के मेल से होता है। दूसरे ग्रिडो का कार्य या तो आवरण का होता है या पट्टिक से गौण उत्सर्जन को दबाने का होता है, जैसा चतुर्ध्रुवी तथा पचध्रुवी मे होता है। कभी कभी एक ग्रिड का कार्य, जो धन विभव पर रहता है, सहायक पट्टिक के रूप मे होता है। इस पट्टिक की धारा किसी एक नियत्रक ग्रिड की वोल्टता पर निर्भर रहती है।

यदि इस प्रकार की नली मे दो नियत्रक ग्रिड हो और दोनो की ही वोल्टताएँ बदलती हो तो पट्टिक धारा का परिवर्तन दोनो ग्रिडो की वोल्टता के परिवर्तन के उभयनिष्ठ गुणनखड के समानुपात मे होता है। इस गुणनक्रिया ने इस प्रकार की नलियो को उन परिपथो मे उपयोगी बना दिया है जहाँ विशेष प्रकार के मूर्छक की आवश्यकता होती है।

बहुध्रुवी इलक्ट्रान नलियो का मुख्य उपयोग आवृत्तिपरिवर्तन मे होता है, अर्थात् एक आवृत्ति की वोल्टता को दूसरी आवृत्ति की वोल्टता मे परिवर्तित करने मे। इसका उदाहरण एक पचग्रिड मिश्रक (पेटा-ग्रिड मिक्सर) है।

इसके अतिरिक्त बहुध्रुवी नलियों का उपयोग विशेषतया स्वत चालित उद्घोषतानियत्रण तथा उद्घोषताप्रसारक (वाल्यूम एक्सपैंडर) मे किया जा रहा है जिसमे एक नियत्रक ग्रिड मे लगाई वोल्टता का नियत्रण दूसरे नियत्रक ग्रिड मे लगाई गई वोल्टता के द्वारा होता है।

गैसनलियाँ, गैसद्विध्रुवी नली—इन नलियो मे थोडी सी गैस डाल दी जाती है। अधिकतर जो गैसें प्रयोग में लाई जाती है, वे है पारदवाष्प, आरगन, नियन आदि। गैसनली मे ये १ से ३०×१०^{-३} मिलीमीटर दबाव पर रहती है।

जैसे जैसे धनाग्र की वोल्टता शून्य से बढ़ाई जाती है, पट्टिक धारा निर्वात नलियों के समान इन नलियो मे भी बढने लगती है। तथापि जब वोल्टता गैस के आयनीकरण विभव पर (जो १० से १५ वोल्ट तक होता है) पहुँच जाती है, तो मुठभेड के द्वारा आयनीकरण हो जाता है। पट्टिक धारा अपने पूर्ण मान पर पहुँच जाती है और फिर पट्टिक वोल्टता को अधिक बढ़ाने का उसपर कोई प्रभाव नही पड़ता। इस परिणाम को चित्र ६

मे दिखाया गया है। ऐसा इस कारण होता है कि मुठभेड के द्वारा जो धनात्मक आयन पैदा हो जाते है, वे पूर्ण रूप मे अतरग आवेश के प्रभाव को हटा देते हैं, तभी इलेक्ट्रान धारा पर इसका नियत्रण समाप्त हो जाता है और पूर्ण इलेक्ट्रान धारा प्रवाहित होने लगती है।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, इस गैस-द्विध्रुवी का उपयोग ऋजुकरण मे किया जाता है, जहाँ अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है, उदाहरणात प्रेषी के शक्तिस्रोत (पावर सप्लाई) मे।

पट्टिक वोल्टता

चित्र ९
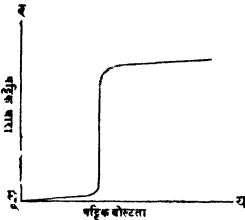
ग्रिडनियत्रित गैस द्विध्रुवी (थाइरेट्रान)—ये वे गैस द्विध्रुवी है जिनमे पट्टिक और ऋणाग्र के बीच एक नियत्रक ग्रिड लगा दिया जाता है। इस नियत्रक ग्रिड का कार्य भी लगभग निर्वात नली के ग्रिडनियत्रण सा ही है, परन्तु एक बहुत बडी विभिन्नता दोनो के नियत्रण मे है। यदि इस ग्रिड के विभव को ऋणात्मक मान से धीरे धीरे बढाया जाय तो यह देखा जायगा कि जैसे ही उसका मान उस बिंदु तक आ जाता है जिसपर धारा प्रवाहन आरभ हो जाता है, वैसे ही धारा एकदम न्यून से अपने पूर्ण मान पर प्रवाहित होने लगती है। जैसे ही पूर्ण धारा प्रवाहित होने लगती है, नियत्रक ग्रिड पर धारा का किसी प्रकार का प्रभाव नही रह जाता। उसके बाद चाहे ग्रिड मे कितना ही ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय, पट्टिक धारा का प्रवाहन नही रुक सकता। केवल पट्टिक वोल्टता को आयनीकरण विभव से कम करके पट्टिक धारा के प्रवाहन को रोका जा सकता है। इसका कारण यह है कि जैसे ही विद्युद्धारा प्रवाहित होती है, धन आयन ऋणात्मक ग्रिड को ढक लेते है और ग्रिड के विभव का कोई प्रभाव धाराप्रवाहन मे नही रह जाता।

इस प्रकार की नलियो का उपयोग योजना तथा 'ट्रिगर' के रूपो मे किया जाता है जिसका बहुत ही महत्वपूर्ण उपयोग आजकल के इलेक्ट्रानिक उपकरणो मे किया जा रहा है।

ऋणाग्र-किरण-नली (कैथोड रे ट्यूब) का वर्णन **ऋणाग्र किरण** शीर्षक लेख मे मिलेगा।

सूक्ष्म तरग नली (माइक्रोवेव ट्यूब), क्लाइस्ट्रान, मैगनिट्रान तथा प्रगामी तरग नली (ट्रैवेलिग वेव ट्यूब)—इन नलियो मे सबसे अधिक उपयोगी क्लाइस्ट्रान है, जो अति सूक्ष्म तरग के लिये दोलक तथा प्रवर्धक के रूप मे काम मे लाई जाती है। मैगनिट्रान अधिक शक्तिशाली, अति सूक्ष्म तरग के उत्पादन कार्य मे लाई जाती है, जिसका उपयोग राडार मे किया जाता है। प्रगामी तरग नली अति उच्च आवृत्ति पर विस्तीर्ण-पट्ट-प्रवर्धक (वाइड बैंड ऐंप्लिफायर) के रूप मे बहुत ही अधिक उपयोगी है। इन नलियो मे उच्च-आवृत्ति-विद्युत्-क्षेत्र की प्रतिक्रिया इलेक्ट्रान के साथ होती है। इस प्रतिक्रिया मे इलेक्ट्रान कुछ ऊर्जा उच्च आवृत्ति दोलन के रूप मे दे देते है। इस प्रकार उच्च आवृत्ति दोलक की ऊर्जा बढ जाती है। यह ऊर्जा प्रवर्धक के रूप मे कार्य करती है। (ग० प्र० श्री०)

इलेक्ट्रान विवर्तन

(इलेक्ट्रान-डिफ्रैक्शन)। जब एक बिंदु से चला प्रकाश किसी अपारदर्शक वस्तु की कोर को प्राय छूता हुआ जाता है तो एक प्रकार से वह टूट जाता है जिससे छाया तीक्ष्ण नही होती, उसमे समातर धारियाँ दिखाई पडती हैं। इस घटना को विवर्तन कहते हैं।

जब इलेक्ट्रानो की सकीर्ण किरणावलि को किसी मणिभ (क्रिस्टल) के पृष्ठ से टकराने दिया जाता है तब उन इलेक्ट्रानो का व्याभग ठीक उसी प्रकार से होता है जैसे एक्स-किरणो (एक्स-रेज) की किरणावलि का। इस घटना को इलेक्ट्रान विवर्तन कहते है और यह मणिभ विश्लेषण, अर्थात् मणिभ की सरचना के अध्ययन की एक शक्तिशाली रीति है।

१६२७ ई० मे डेविसन और जरमर ने इलेक्ट्रान बदूक द्वारा उत्पादित इलेक्ट्रान किरणावलि को निकल के एक बडे तथा एकल मणिभ से टकराने दिया तो उन्होंने देखा कि भिन्न भिन्न विभवो (पोटेशियलो) द्वारा त्वरित इलेक्ट्रान किरणावलियो का विवर्तन भिन्न भिन्न दिशाओ मे हुआ (इलेक्ट्रान बदूक इलेक्ट्रानो की प्रबल और फोकस की हुई किरणावलि उत्पन्न करने की एक युक्ति है)। एक्स-किरणो की तरह जब उन्होंने इन इलेक्ट्रानो के तरगदैर्घ्यों को समीकरण २ दू ज्या थ = क तं के आधार पर निकाला (जहाँ दू = मणिभ मे परमाणुओ की क्रमागत परतो के बीच की दूरी, थ = रश्मियो का आपात-कोण, अर्थात् वह कोण जो आनेवाली रश्मियाँ मणिभ के तल से बनाती है, क = वर्गक्रम का क्रम (आॅर्डर), तं = तरगदैर्घ्य), तब उन्हे ज्ञात हुआ कि इन तरगदैर्घ्यों तं के मूल्य ठीक उतने ही निकलते है जितने डी ब्रोगली का समीकरण तं = प्ल/द्रवे देता है। यहाँ प्ल प्लैंक का नियताक है, द्र इलेक्ट्रान का द्रव्यमान (मास) और वे इसका वेग। यह प्रथम प्रयोग था जिसने इलेक्ट्रानो के उन तरगीय गुणो को सिद्ध किया जिनकी भविष्यवाणी एल० डी० ब्रोगली ने १६२४ ई० मे गणित के सिद्धातो के आधार पर की थी और जिनके अनुसार एक इलेक्ट्रान का तरगदैर्घ्य

$$\text{तं} = \frac{\text{प्ल}}{\text{द्रवे}}\left[\lambda = \frac{h}{mv}\right] = \sqrt{\left(\frac{१५०}{\text{वो}}\right)}\ \text{ऐंग्स्ट्रॉम} = \frac{१२{\cdot}२७}{\sqrt{\text{वो}}} \times १०^{-८}\ \text{सें०मी०},$$

जहाँ वो वह विभव है जिसके द्वारा इलेक्ट्रान को त्वरित किया गया है।

डेविसन और जरमर के प्रयोग लगभग ५० वोल्ट द्वारा त्वरित मदगामी इलेक्ट्रानो से किए गए थे। १६२८ ई० मे जी० पी० टामसन ने इस समस्या का अन्वेषण दूसरी ही रीति से किया। उसने अपने अनुसधान मे १० हजार से लेकर ५० हजार वोल्ट तक मे त्वरित अत्यत वेगवान् इलेक्ट्रानो का प्रयोग एक दूसरी रीति से किया। यह रीति डेबाई और शेरर की चूर्ण रीति से, जिसका प्रयोग उन्होंने एक्स-किरणो द्वारा मणिभ के विश्लेषण मे किया था, मिलती जुलती थी। उसके उपकरण का वर्णन नीचे किया जाता है

ऋणाग्र किरणो की एक आवलि को ५० हजार वोल्ट तक त्वरित किया जाता है और फिर उसको एक तनुपट नलिका (डायाफ्राम ट्यूब) मे से निकालकर इलेक्ट्रानो की एक सकीर्ण किरणावलि से परिवर्तित किया जाता है। इलेक्ट्रान की इस किरणावलि को सोने की एक बहुत ही पतली पत्री पर गिराते है, जिसकी मोटाई लगभग $१०^{-६}$ सें० मी० होती है। सारे उपकरण के भीतर अतिनिर्वात (हाई वैक्युअम) रखा जाता है और प्रकीर्णित (स्कैटर्ड) इलेक्ट्रानो को एक प्रतिदीप्त (फ्लुओरेसेंट) परदे अथवा फोटो पट्टिका पर पडने दिया जाता है। पट्टिका को डिवेलप करने पर एक सममित अभिलेख मिला, जिसमे स्पष्ट, तीक्ष्ण और एककेंद्रीय (कॉनसेंट्रिक) वलय थे
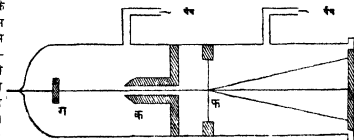
चित्र १०

इलेक्ट्रान विवर्तन चित्रांकन

ग = इलेक्ट्रानो का उद्गम, क = तनुपट नलिका, फ = सोने की पत्री; प = फोटो पट्टिका।

और उनके केंद्र पर एक चित्ती (बिंदु) थी। यह सब बहुत कुछ उस तरह का था जैसा चूर्णित मणिभ रीति में एक्स-रश्मियों में उत्पन्न होता है और कारण भी वही था। महीन पन्नी में धातु के सूक्ष्म मणिभ होते है, जिनमे से वे, जो उपयुक्त कोण पर होते हैं, इलेक्ट्रानों का प्रकीर्णन करते हैं। ब्रैग के नियमानुसार २ढू ज्या थ = कढ। पूर्वोक्त वृत्त विवर्तन शंकुओं की पट्टिका अथवा परदे पर प्रतिच्छेद (इंटरसेक्शन) है। यह भी देखा गया कि ज्यों ज्यों इलेक्ट्रानों का वेग बढता है त्यों त्यों इन वृत्तों का व्यासार्ध घटता है, जिससे स्पष्ट है कि इलेक्ट्रान का तरंगदैर्घ्य वेग के बढने से घटता है, क्योंकि ऐसी विवर्तन आकृतियाँ केवल तरंगों द्वारा ही बन सकती है, न कि किरणों द्वारा, अत यह प्रयोग पूर्णतया सिद्ध करता है कि इलेक्ट्रान तरंगों के सदृश व्यवहार करते है।

१९२८ ई० मे किकुची ने जापान मे उच्च वोल्टवाले इलेक्ट्रानों की पतली अभ्रक की पन्नियों से टकराने देकर सुंदर विवर्तन आकृतियाँ प्राप्त की। पूर्वोक्त प्रयोगों ने इलेक्ट्रान के तरंगीय गुण को निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है और अब हमारे पास इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण है कि इलेक्ट्रान अपने कुछ गुणों में तरंग की तरह और कुछ में द्रव्यकणों की तरह व्यवहार करते है।

ठोस पदार्थों के परीक्षणों में १०⁻⁹ सें० मी० वाली पतली पन्नियों को इलेक्ट्रान किरणावलि के मार्ग में इस प्रकार रखा जाता है कि इलेक्ट्रान उनको पार कर दूसरी ओर निकल जायँ और जो अधिक मोटी होती है उनको इस प्रकार स्थापित किया जाता है कि इलेक्ट्रान उनकी सतह से टकराकर बहुत छोटे कोण (लगभग २ अंश) पर परावर्तित (रिफ्लेक्टेड) हो जायँ। इन परीक्षणों ने मणिभ के अंदर परमाणुओं के क्रम पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। लोह, ताम्र, वंग जैसी धातुओं की चमकीली सतहों से प्राप्त इलेक्ट्रान-विवर्तन-आकृतियों के अध्ययन से यह महत्वपूर्ण तथ्य निकलता है कि इनके पृष्ठ पर अमणिभ धातु या उनके आक्साइड की महीन तह होती है। इलेक्ट्रान-विवर्तन वृत्तों का अत्यंत धुँधलापन यह प्रकट करता है कि वे परावर्तन द्वारा ऐसे पृष्ठ से प्राप्त हुए हैं जो अमणिभ या लगभग अमणिभ था। इलेक्ट्रान-विवर्तन-विधि बहुत से गैसीय अवस्था में रहनेवाले पदार्थों के अध्ययन में भी बहुत लाभप्रद हुई है। इसमें जो रीति अपनाई गई है वह इस प्रकार है गैस अथवा वाष्प की प्रधार (जेट) के रूप में इलेक्ट्रान किरणावलि के मार्ग में छोडा जाता है, जिसमें इलेक्ट्रान उससे टकराने के बाद ही फोटो पट्टिका पर गिरें। इस पट्टिका पर इलेक्ट्रानों का वैसा ही प्रभाव पडता है जैसा प्रकाश का। इन पदार्थों की विशेष विवर्तन आकृतियाँ फोटो पट्टिका पर कुछ ही सेकंडों में अंकित हो जाती है, जबकि एक्स-किरणों को बहुधा कई घंटों की आवश्यकता पडती है। विवर्तन आकृतियों से कार्बन-क्लोरीन के बंधन में परमाणुओं के बीच की दूरी १.७६ × १०⁻⁸ सें० मी० के बराबर निकली है। यह मान उस मान के पर्याप्त अनुकूल है जो अधिकांश संतृप्त कार्बनिक क्लोराइडों में कार्बन-क्लोरीन के बंधन में देखा गया है।

व्यावहारिक प्रयोग—इलेक्ट्रान विवर्तन की क्रिया का प्रयोग पदार्थों के, विशेष कर महीन झिल्लिकाओं एवं जटिल अणुओं के, आंतरिक ढाँचे के अध्ययन में किया जाता है। इसका प्रयोग चर्बी, तेल, ग्रैफाइट आदि द्वारा घर्षण कम करने की जाँच में किया गया है। संक्षारण, विद्युल्लेपन, संधान (वेल्डिंग) आदि क्षेत्रों में यह अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। इन विभिन्न उपयोगों के कारण इलेक्ट्रान-विवर्तन-उपकरण आधुनिक इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के साथ अधिकतर जोड दिए जाते है।

सं०ग्रं०—जी० पी० टामसन और डब्ल्यू० काकरेन थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस आव इलेक्ट्रान डिफ्रैक्शन, १९३९, आर० बीचिंग इलेक्ट्रान डिफ्रैक्शन, १९५०, जी० पिस्कर इलेक्ट्रान डिफ्रैक्शन, १९५३, जे० बी० राजम ऐटॉमिक फिजिक्स, १९५८। (दा० वि० गा०)

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी सूक्ष्मदर्शी उस यंत्र को कहते हैं जिसके द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं के उच्च आवर्धनवाले प्रतिबिंब प्राप्त किए जाते है। इसमें तथा साधारण (प्रकाशवाले) सूक्ष्मदर्शी में दो मुख्य अंतर है (१) प्रकाशकिरणों के स्थान में, जिनका प्रयोग साधारण सूक्ष्मदर्शी में होता है, इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रान प्रयोग में लाए जाते है। ये लघुतम तरंग के सदृश काम करते है, (२) साधारण सूक्ष्मदर्शी में काँच के ताल प्रकाश की किरणों को फोकस करते है। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रान किरणावलि को फोकस करने के लिये विद्युत् एवं चुंबकीय तालों का प्रयोग किया जाता है।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता तथा आवर्धनक्षमता अच्छे से अच्छे साधारण सूक्ष्मदर्शी से कहीं अधिक है। इसका प्रयोग अब गवेषणा के लिये भौतिकी, रसायन, जीवशास्त्र एवं संबंधित क्षेत्रों में होता है, क्योंकि इसके द्वारा उन सूक्ष्म कणों और आकारों के ब्योरों का निरीक्षण करना तथा फोटो लेना संभव हो गया है जो इतने छोटे होते है कि अन्य किसी प्रकार से देखे ही नहीं जा सकते।

संक्षिप्त इतिहास—मानवनेत्र स्वयं बिना किसी यंत्र की सहायता के ३० सें० मी० की दूरी पर एक दूसरे से ०.०१ सें० मी० की दूरी पर स्थित दो बिंदुओं को पृथक् पृथक् देख सकता है। यह कोरी आँख की (बिना किसी उपकरण की सहायता लिए) विभेदनक्षमता (रिज़ॉल्विंग पावर) है। आवर्धक ताल (सरल सूक्ष्मदर्शी) ने, जिसका आविष्कार सन् १००० ई० में हुआ था, इस विभेदनक्षमता को ०.००१ सें० मी० तक बढा दिया। इसके बाद १६५० ई० में साधारण (यौगिक) सूक्ष्मदर्शी ने विभेदनक्षमता को ०.००००२५ सें० मी०, अर्थात् ०.२५ माइक्रॉन तक पहुँचा दिया, जिसके फलस्वरूप एक दूसरे से ०.००००२५ सें० मी० पर रखी दो वस्तुएँ पृथक् पृथक् देखी जा सकती है। विभेदनक्षमता उस प्रकाश के तरंगदैर्घ्य पर निर्भर है जो देखी जानेवाली वस्तु पर पडे। अत यदि हम दृष्टिगोचर, अर्थात् साधारण प्रकाश से अधिक छोटे तरंगदैर्घ्यवाले विकिरण का उपयोग करें, उदाहरणत पारजंबु (अल्ट्रा-वॉयलेट) किरणों से फोटो लें, तो इतने समीप रखी वस्तुओं को भी पृथक् पृथक् देखा जा सकता है जिनके बीच की दूरी केवल ०.१ माइक्रॉन अथवा १०⁻⁵ सें०मी० हो। इस पारजंबु सूक्ष्मदर्शी का, जिसका निर्माण १९०४ ई० में हुआ था, प्रयोग करके ५ × १०⁻⁷ सें० मी० आकार के कणों तक को दीप्त विवर्तनमंडलका (ल्युमिनस डिफ्रैक्शन डिस्क) के रूप में देखा जा सका है।

१९२४ ई० में लुई डी ब्रॉग्ली ने इलेक्ट्रानों के तरंगीय गुणधर्म की भविष्यवाणी की और दिखाया कि इलेक्ट्रान का तरंगदैर्घ्य = प्ला/द्रवे, जिसमें प्ला प्लांक नियतांक है, द्र इलेक्ट्रान द्रव्यमान (मास) और वे उसका वेग।

डी ब्रॉग्ली के इस प्रस्तावित समीकरण का आधार वह सिद्धांत था जिसको डेविसन और जरमर ने १९२७ ई० में और जी० पी० टामसन ने १९२८ ई० में प्रयोग द्वारा स्थापित किया। तदनुसार १०⁵ इलेक्ट्रान वोल्ट ऊर्जावाले इलेक्ट्रानों का तरंगदैर्घ्य ०.१२२७ ऐंग्स्ट्रम अथवा ०.१२२७ × १०⁻⁸ सें० मी० होगा जो वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के दृष्टिगोचर रक्त भाग के तरंगदैर्घ्य का ५०,०००वाँ भाग है। आशा हुई कि यदि इतने तीव्रगामी इलेक्ट्रानों के पुंज का प्रयोग सूक्ष्मदर्शी में साधारण प्रकाश के स्थान में किया जाय तो बहुत ही अधिक विभेदनक्षमता प्राप्त की जा सकती है। १९२७ ई० के लगभग बुश ने इलेक्ट्रान ताल (लेंज) का सिद्धांत बताया। तब स्थिर विद्युत् बलक्षेत्रों एवं चुंबकीय कुंडलियों के फोकस करने के गुणधर्मों के अनेक परीक्षण १९३० ई० तक किए गए और सफलता प्राप्त की गई। इस प्रकार १९३० ई० तक यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि तीव्रगामी इलेक्ट्रान लघुतम तरंगदैर्घ्यवाले प्रकाश-किरण-पुंज के सदृश ही आचरण करते है, जिसके फलस्वरूप वे वैद्युत अथवा चुंबकीय बलक्षेत्रों द्वारा सुगमता से फोकस किए जा सकते है (इन बलक्षेत्र-उत्पादकों को इलेक्ट्रान-लेंज कहते है)। इस प्रकार १९३२ ई० में इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के प्रायोगिक रूप का विकास हुआ।

विभेदनक्षमता—किसी सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता की माप वस्तु पर उन दो निकटतम बिंदुओं की दूरी है, जो इसके द्वारा प्राप्त प्रतिबिंब में पृथक् पृथक् दिखाई दें। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता क्ष निम्नलिखित सुविख्यात समीकरण से मिलती है

क्ष = दै/२व ज्या द्व,

जिसमें दै प्रयोग में लाए गए प्रकाश का तरंगदैर्घ्य है, व उस माध्यम (बहुधा वायु) का, जिसमें सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखी जानेवाली वस्तु स्थित है, वर्तनांक है और द्व अभिदृश्य ताल के अपचंर का अर्धकोण है। वस्तु को
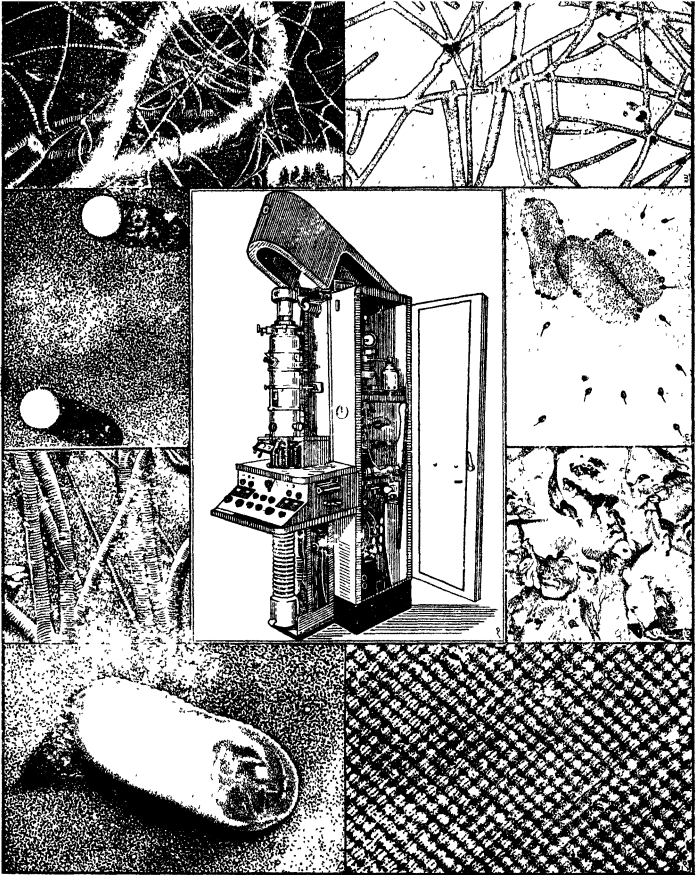
इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और उससे लिए गए कुछ चित्र **फलक ३८**

१. इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी, २. स्नायु के रेशे (×८,०००), ३. टोमैटो के पत्तो मे रोगोत्पादक विषाणु (×५०,०००), ४. कृत्रिम रबर के कण (×४०,०००); ५. शारीरिक संयोजी ऊतक के रेशे (×६,०००), ६ जीवाणुभक्षको का जीवाणुओ पर आक्रमण (×१०,०००); ७. टूटे इस्पात की सतह (×८,०००), ८. आंतो मे पाए जानेवाले जीवाणु की कोलाई (×२०,०००); ९. केंचुए की त्वचा (×१३,५००)।
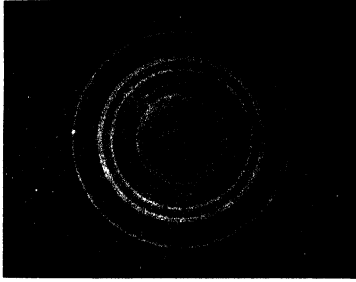
भारतीय राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला

इलेक्ट्रान विवर्तन

इलेक्ट्रान धाराओं में भी उसी प्रकार का विवर्तन होता है जैसा प्रकाश में

(द्र० पृष्ठ ५४६) ।
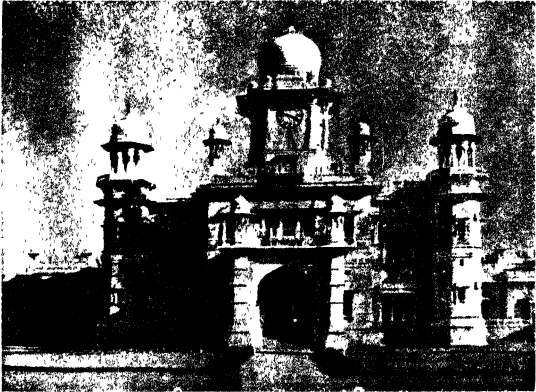
भगवानदास वर्मा

डेली कालेज, इंदौर (द्र० पृष्ठ ८६६) ।

यह उक्त कालेज का सिंहद्वार है ।

अभिदृश्य ताल के अत्यंत निकट रखकर **दृ** को लगभग एक समकोण के बराबर और तेल या किसी दूसरे उपयुक्त द्रव में वस्तु को डुबाकर वर्तनांक **व** का लगभग १.६ के बराबर किया जा सकता है। अतः प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता का अधिकतम मान प्रयोग में लाए हुए प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के लगभग एक तिहाई के बराबर निकलता है। दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के लिये, जिसका **दै** = ५००० ऐंग्स्ट्रम (अर्थात् ५ × 10^{-11} से० मी०), विभेदनक्षमता **क्ष** = १.६ × 10^{-5} से० मी० और पारजंबु प्रकाश के लिये (जिसका **दै** = ३ × 10^{-11} से० मी०) **क्ष** = 10^{-5} से० मी० के लगभग। यह वह न्यूनतम दूरी है जिसका विभेदन उत्तम प्रकाशसूक्ष्मदर्शी कर सकता है। अतः कोई भी प्रकाशसूक्ष्मदर्शी वस्तु पर के ऐसे दो बिंदुओं को, जिनके बीच की दूरी प्रयोग में लाए गए प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के एक तिहाई से कम हो, प्रतिबिंब में पृथक् नहीं दिखा सकता। परंतु जब प्रकाशकिरणों के स्थान पर इलेक्ट्रानों का प्रयोग किया जाता है, तब डी ब्रॉगलीवाले तरंगदैर्घ्य का मान घटाकर विभेदनक्षमता को, यदि इलेक्ट्रानों का वेग अधिक कर दिया जाय, अत्यधिक बढ़ाया जा सकता है। ऐसा उस वोल्टता को, जिसके द्वारा इलेक्ट्रान को त्वरित किया जाता है, बढ़ाकर सुगमता से किया जा सकता है। यह निम्नांकित समीकरण से प्रकट है :

$$\text{दै} = \text{प्ल}/\text{द्रवे} = 12.27/\sqrt{\text{वो}} \text{ ऐंग्स्ट्रम} = 10^{-8}/\sqrt{\text{वो}} \text{ से० मी०},$$

जहाँ **वो** त्वरक वोल्टता का मान है। यदि हम मान लें कि इलेक्ट्रानसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता भी प्रकाशसूक्ष्मदर्शी के समान द/२ **व** ज्या **दृ** के बराबर होती है तो हम **वो** का उपयुक्त मान लेकर, दै को जितना छोटा करना चाहें, कर सकते हैं और इस प्रकार विभेदनक्षमता को चाहे जितना अधिक बढ़ाया जा सकता है। हाइजेनबर्ग के अनिर्धार्यता के सिद्धांत (द्र०) पर निर्धारित समीकरण का उपयोग करके सुगमता से दिखाया जा सकता है कि पूर्वोक्त कल्पना सत्य है।

यदि हम तप्त ऋणाग्र से उत्पन्न किए गए इलेक्ट्रानों का प्रयोग करें और उनको ६०,००० वोल्ट से त्वरित करें तो उनका तरंगदैर्घ्य लगभग ०.०५ × 10^{-8} से० मी० होगा, जो दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के तरंगदैर्घ्य

चित्र १

(५ × 10^{-11} से० मी०) का 10^{-5} वाँ भाग है। तरंगदैर्घ्य के इतना कम होने के कारण विभेदनक्षमता लगभग 10^{5} गुनी हो जानी चाहिए। परंतु वास्तव में विभेदनक्षमता का इतना अधिक बढ़ना संभव नहीं है, क्योंकि अपचेर बहुधा छोटा होता है, तब भी यह १०० गुना तो अवश्य ही बढ़ जाती है। इस तरह इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता साधारण सूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है (कम से कम १०० गुनी)।

आवर्धनक्षमता--नेत्र की विभेदनक्षमता लगभग ०.०१ से० मी० (= १/२५० इंच) की होती है, अर्थात् नेत्र उन दो चिह्नों को, जिनके बीच की दूरी लगभग ०.०१ से० मी० हो पृथक् पृथक् देख सकता है। किसी वस्तु के आकार में न्यूनतम अंशों को देखने के लिये हमें उन्हें ०.०१ से० मी० तक आवर्धित करना पड़ेगा। जैसा हम अभी ऊपर देख चुके हैं, वह न्यूनतम दूरी जिसका विभेदन सूक्ष्मदर्शी कर सकता है, 10^{-5} से० मी० है और इसका आवर्धन 10^{-2} से० मी० तक आवश्यक है। ऐसा करने के लिये १००० का आवर्धन होना चाहिए और जब पारजंबु प्रकाश का प्रयोग किया जाय, यह उपयोगी आवर्धन की सीमा है। दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के लिये सूक्ष्मदर्शी की विभेदनसीमा १.६ × 10^{-5} से० मी० है। अतः जब ५ × 10^{-11} से० मी० के तरंगदैर्घ्यवाले प्रकाश का प्रयोग किया जाय, तो हमें ६२५ गुना आवर्धन करना चाहिए जो उपयोगी आवर्धन की सीमा होगी।

नेत्रों पर अधिक बल पड़ने से बचने के लिये यह अच्छा होगा कि आवर्धन को पाँच गुना और बढ़ाया जाय और तब पारजंबु तथा दृष्टिगोचर प्रकाश के लिये आवर्धन क्रमानुसार लगभग ५००० और ३००० होगा। किसी सूक्ष्मदर्शी के उपयोगी आवर्धन को निकालने का सुविधाजनक नियम यह है--सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता **क्ष** और उसके उपयोगी आवर्धन का गुणनफल नेत्र की विभेदनक्षमता के, अर्थात् ०.०१ से० मी० के, बराबर होता है।

चित्र २

सिद्धांत की दृष्टि से आवर्धन को हम कई पदों में जितना चाहें उतना बढ़ा सकते हैं। परंतु पूर्वोक्त नियम से अधिक बढ़ाने में कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि बिना पर्याप्त विभेदन के उच्च आवर्धन वैसा ही व्यर्थ है जैसा इस आशा से कि चित्र के आंशिक विवरण और अधिक स्पष्ट हो जायँगे, अस्पष्ट फोटो का आवर्धन करना। जिस प्रकार इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा बहुत अधिक है, उसी प्रकार इसका वास्तविक आवर्धन भी बहुत अधिक है। १,००,००० के स्पष्ट आवर्धन प्राप्त किए जा चुके हैं।

फोकस की गहराई--किसी सूक्ष्मदर्शी के फोकस की गहराई उस दूरी से नापी जाती है जिसके भीतर फोटो पट्टिका (अथवा प्रतिदीप्त पर्दे) को अक्ष के अनुदिश आगे पीछे बिना उसपर प्राप्त प्रतिबिंब को धुंधला किए, हटाया जा सकता है। यह फोकस की गहराई **ग** = द/(१-कोज्या **दृ**), जिसमें **दृ** अभिदृश्य ताल के अपचर का अर्धकोण है। इस कोण को इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इसलिये बहुत कम रखा जाता है कि गोलीय एवं वार्णिक (क्रोमैटिक) त्रुटियों का प्रभाव कम हो। अतः इस यंत्र की फोकस की गहराई प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है।
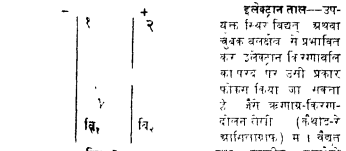
चित्र ३

इलेक्ट्रान ताल--उपयुक्त स्थिर विद्युत् अथवा चुंबक बलक्षेत्र से प्रभावित कर इलेक्ट्रान किरणावलि को पर्दे पर उसी प्रकार फोकस किया जा सकता है जैसे ऋणाग्र-किरणदोलन लेखी (कैथोड-रे ऑसिलोग्राफ) में। वैद्युत तथा चुंबकीय बलक्षेत्रों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है कि वे इलेक्ट्रान किरणावलि के लिये ताल के सदृश ठीक उसी प्रकार व्यवहार करें जैसा काच का ताल प्रकाश की किरणों के लिये करता है। इस प्रकार के वैद्युत अथवा चुंबकीय क्षेत्रों की व्यवस्था को इलेक्ट्रान ताल कहते हैं।

स्थिर-विद्युत्-ताल--समांतर धातुपट्टिकाओं का क्रम, जिनके समरेख केंद्रों पर गोल छेद हों और जिन्हें उपयुक्त विभवों पर स्थिर किया गया हो, अपने भीतर से जानेवाले इलेक्ट्रानों के लिये स्थिर-विद्युत्-ताल का काम करता है। ऐसे ताल के समतांतर के लिये व्यंजक सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

एक इलेक्ट्रान किरणावलि पर विचार करें जो एक बेलन (सिलिंडर) (चित्र १) के अक्ष की दिशा में जा रही है और एक स्थिर-विद्युत्-बल-क्षेत्र द्वारा प्रभावित की जाती है। यदि बेलन की लंबाई /\ **ल** तथा उसके अनुप्रस्थ काट की त्रिज्या **त्रि** है और बलक्षेत्र उसके अक्ष के सममित है (इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शियों में स्थिर विद्युत् और चुंबक-बल-क्षेत्र अक्ष के सममित ही रखे जाते हैं) और यदि **वि** तथा **वि** नियत-बल-क्षेत्र के क्रमानुसार त्रिज्य और अक्षीय घटक हों और यह मान लिया जाय कि **वि**, का **ल** के साथ परिवर्तन बहुत कम होता है, तो गाउस के प्रमेयानुसार .

πब^2[वि$_त$ + (तवि$_ल$/तल) $\triangle$ल − वि$_ल$] + २πब$\triangle$ल वि$_त$

अथवा, $\quad$ वि$_ल$ = − $\frac{1}{2}$ब(तवि$_त$/तल),

इसी प्रकार $\quad$ क्षै$_त$ = − $\frac{1}{2}$ब(तक्षै/तल)।

मान लें कि बलक्षेत्र **कख** के आसपास है (चित्र २)। त्रिज्य संवेग (रेडियल मोमेंटम) सं$_त$, जिसे बलक्षेत्र में होकर जाने से इलेक्ट्रान प्राप्त करता है, इस प्रकार मिलता है .

$$सं_त = \int - ई\ वि_त\ तास = \tfrac{1}{2}\ ईब \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{तवि_ल}{तल} \frac{ताल}{ल'},$$

जिसमे **ल′ = ल** अक्ष के अनुदिश वेग

$$= \sqrt{\left(\frac{२ईवो}{द्र}\right)},\ क्योंकि\ \tfrac{1}{2}द्रल'^2 = ईवो,$$

अर्थात् $\quad$ $$सं_त = -\tfrac{1}{2}ईब\left(\frac{द्र}{२ई}\right)^{१/२} \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{वो''}{\sqrt{वो}}\ ताल।$$

अब, **थ = ब/अं = सं /सं$_ल$**, जिसमे **अं** सगमातर है और **स$_ल$**, उस समय का संवेग **ल**-अक्ष की दिशा मे है जब इलेक्ट्रान बलक्षेत्र के बाहर निकलने लगता है।

$$सं_ल = द्रल' = (२ईद्रवो_त)^{१/२}$$

और $\quad$ १/**अं** = थ/ब = सं /(२ईद्रवो$_त$)$^{१/२}$ ब,

जब **सं$_त$** धन होता है तो **अ** धन होता है और स्थिर विद्युत्-बल-क्षेत्र अवतल (कॉनकेव) ताल के सदृश व्यवहार करता है। जब **स$_त$** ऋण होता है तब **अं** ऋण हो जाता है और बलक्षेत्र उत्तल (कॉनवेक्स) ताल के सदृश व्यवहार करता है।

ऊपर के समीकरण मे **सं$_त$** का मूल्य रखने पर हमे

$$\frac{१}{अं} = -\frac{१}{४वो^{१/२}} \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{वो''}{\sqrt{वो}}\ ताल$$

प्राप्त होता है।

सूचीछिद्र ताल (पिन-होल ताल)—यदि ऋणाग्र से निकले हुए इलेक्ट्रानो को एक निश्चित विभव पर रखी पट्टिका (चित्र ३) के सूचीछिद्र मे से होकर जाने दिया जाय तो यह मानते हुए कि सूचीछिद्र म से निकलने के पहले और बाद विभव लगभग एक समान रहा, हम ज्ञात होता है कि

$$\frac{१}{अ} = -\frac{१}{४वो} \int_{ल_1}^{ल_2} वो''\ ताल = -\frac{१}{४वो}\left[वो_2' - वो_1'\right]$$

$$= -\frac{१}{४वो}\left[वि_1 - वि_2\right] = \frac{१}{४वो}\left[वि_2 - वि_1\right]।$$

चित्र ३ (क) तथा ३ (ख) के अनुसार पट्टिकाओं को रखकर वि$_2$ = ० अथवा वि$_1$ = ० कर देने से, हम अवकल अथवा उत्तल ताल बना सकते है।

वि$_1$ $\quad$ वि$_2$=० $\quad\quad$ वि$_1$=० $\quad$ वि$_2$

चित्र ३ (क) $\quad\quad$ चित्र ३ (ख)
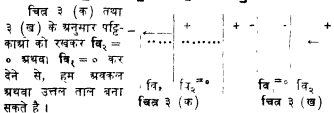
चित्र ४

चुंबकीय ताल—तार की ऐसी कुंडली, जिसमे विद्युद्धारा प्रवाहित होती है, चुबकीय बलक्षेत्र उत्पन्न करती है और इस प्रकार अपने भीतर मे जानेवाले इलेक्ट्रानो के लिये चुबकीय ताल का काम करती है। ऐसे चुबकीय ताल का फोकस कुडली की विद्युद्धारा को बदलकर बदला जा सकता है। अत केवल कुडलीताल की धारा को बदलकर प्रतिबिंब को सरलता से फोकस किया जा सकता है। चुबकीय ताल को आगे पीछे नही करना पडता, जैसा काँच के तालो मे किया जाता है। चुबकीय ताल का सगमातर इस प्रकार निकाला जा सकता है

यदि धारा **धा** को धारण किए तार की वृत्ताकार कुडली मे से इलेक्ट्रान होकर जा रहे हो और **क्षे$_ल$** और **क्षे$_त$** चुबकीय बलक्षेत्र के क्रमानुसार त्रिज्य और अक्षीय घटक हो तो इलेक्ट्रान की गति के समीकरण इस प्रकार होगे

द्र(ब″ − बथ′^{2}) = − (ई/गे) बथ′क्षे$_ल$,

द्र(बथ″ + २ब′थ′) = − (−ई/गे)ब′क्षे$_ल$ + (−ई/गे)ल′क्षे$_त$।

क्योंकि **ल′** की अपेक्षा **ब′** बहुत छोटा है, इसलिये

$$द्रथ'' = \tfrac{1}{2}(ई/गे)ल'(ताक्षे_ल/ताल),$$

जो सकलन करने पर निम्नलिखित सबध देता है

$$द्रथ' = \frac{ई}{२गे}\int_0^{स} \frac{ताक्षे_ल}{ताल}\frac{ताल}{तास}तास,$$

अर्थात् $\quad$ थ′ = ईक्षे /२द्रगे।

फिर $\quad$ ब″ = − (ई/गेद्र)बथ′क्षे$_ल$ + बथ′^{2}

= बथ′{ − (ई/गेद्र)क्षे$_ल$ + (ई/२गेद्र)क्षे$_ल$}

= − $\frac{1}{4}$ब(ई^2/द्र^{2}गे^{2})(क्षे$_ल^2$/ष)(ताल/तास),

जिसमे $\quad$ **ष = ताल/तास**

इसका सकलन करने पर,

$$ब' = -\tfrac{1}{4}(बई^2/द्र^2गे^2ष)\int क्षे_ल^2\ ताल,$$

अर्थात् $\quad$ $$ब'/ष = द = ब/अं = -\frac{बई^2}{४द्र^2गे^2ष^2}\int क्षे_ल^2\ ताल।$$

अत सगमातर **अ**

$$= -४\left(\frac{द्रगे}{ई}\right)^2 ष^2 \div \int क्षे^2\ ताल।$$

धारा **धा** अपरिवर्त को धारण किए तार की व्यासार्ध **क** की एकवृत्तीय कुडली के लिये

क्षे = २πसधाक^2/१०(क^2 + ल^2)$^{3/2}$

और $\quad$ $$\int क्षे_ल^2\ ताल = \frac{४\pi^2(सधा)^2}{१०^2}\int_{-\infty}^{+\infty}\frac{क^4 ताल}{(क^2+ल^2)^3}$$

ल = क स्प थ रखकर सकलन करने पर,

$$\int क्षे^2\ ताल = ३\pi^3(सधा)^2/२०० क$$

और $\quad$ अं = ८०० क(सं$_0$/सधा)^2/३π^3

जिसमे $\quad$ स$_0$ = द्रगेष/ई।

अ के लिये पूर्वोक्त व्यजक स्पष्टतया प्रकट करते है कि चुबकीय ताल का सगमातर धन है, अत यह उत्तल ताल के सदृश काम करता है।

यह रुचिकर होगा कि **अ** के अतिम व्यजक की तुलना उससे की जाए जो एक लबी परिनालिका (सॉलिनॉएड) का कुडल-सगमित किरण (हेलिकल फोकसिंग) मे आवश्यक होता है। जब इलेक्ट्रान ऐसी परिनालिका मे से होकर जाते है तो वे अक्ष के इधर उधर सर्पिल वक्र मे चलते है (चित्र ५)।

इलेक्ट्रान द्वारा बनाए गए पथ की वक्रता-त्रिज्या **क** देनेवाला समीकरण यह है :

चित्र ५

द्रवे^{2}/क = क्षेईवे/गे,

और एक वृत्त चलने मे लगनेवाला समय **स**

= २πक/**वे** = २π**द्रगे/क्षेई**

इस प्रकार इलेक्ट्रान जो दूरी अक्ष के अनुदिश चलेगा वह

वस = २π**सं$_0$/क्षे**

होगी। यदि इस दूरी को हम **अ** से प्रकट करे तो

अ = ५**सं$_0$ बा/मधा,**

जिसमे **बा** परिनालिका की लबाई है और **म** उसके कुल चक्रो की संख्या है, **धा** धारा अपियरों म है और परिनालिका के भीतर का चुबकीय बलक्षेत्र **क्षे** है, जो इस प्रकार प्राप्त होता है :

क्षे = ४π **मधा**/१० **बा**

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की संरचना एव प्रयोग—इस यत्र मे इलेक्ट्रानो का स्रोत धातु का एक तप्त तनु होता है (चित्र ६)। यही ऋणाग्र है। इन इलेक्ट्रानो को एक उच्च विभव द्वारा त्वरित कर धनाग्र (ऐनोड) के बीच मे के एक छोटे छिद्र मे से निकाला जाता है—यह धनाग्र एक पट्टिका अथवा बेलन (सिलिंडर) होता है जिसे एक उपयुक्त विभव पर रखा जाता है। एक उत्तल ताल **ता$_1$** जो वैद्युत धारा धारण किए चुबकीय बलक्षेत्र उत्पन्न करनेवाली कुडली होती है, इन इलेक्ट्रानो की लगभग समानतर सकीर्ण किरणावलि बना देती है जिसे निरीक्षण की जानेवाली वस्तु **कख** से टकराने दिया जाता है। यह वस्तु इन इलेक्ट्रानों का प्रकीर्णन (बिखरना) अपनी सरचना के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से करती है। जिन वस्तुओ का साधारणत निरीक्षण किया जाता है वे है कीटाणु तथा उनका आतरिक ढाँचा, बड़े कलिल (कलायड) आदि। वस्तु एक बहुत महीन झिल्ली के रूप मे होती है और उसे एक सूक्ष्म आवरण मे रखा जाता है जिसमे उसे बद करने की व्यवस्था होती है। तब आती है अभिदृश्य ताल कुडली **ता$_2$** जो वस्तु द्वारा विकीर्ण इलेक्टानो को फोकस करती है और वस्तु के वास्तविक प्रतिबिब **प्र** का प्रक्षेप करती है, यही आवर्धन का प्रथम चरण है। प्रक्षेपी ताल कुडली **ता$_3$** द्वारा अतिम मे पहले बना प्रतिबिब का एक भाग **क ख**, का और आवर्धन किया जाता है और वह अतिम प्रतिबिब के रूप मे प्रतिदीप्त (फ्लुओरेसेंट) परदे अथवा फोटो पट्टिका पर पड़ता है। सारे उपकरण को निर्वात अवस्था मे रखा जाता है और ऐसी व्यवस्था होती है कि निर्वात मे बिना विघ्न डाले वस्तु एव कैमरा बक्स मे रखा जा सके। प्रकाशदर्शन (एक्स्पोजर) के समय चुबकीय तालों **ता$_1$**, **ता$_2$**, **ता$_3$** मे धारा को पूर्णतया स्थिर रखा जाता है। अन्यथा समातर मे परिवर्तन के कारण प्रतिबिंब मे धुँधलापन आ जायगा।

प्रकाशसूक्ष्मदर्शी से तुलना—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी एक प्रकार से प्रकाशसूक्ष्मदर्शी का ही प्रतिरूप है जिसकी तुलना के हेतु चित्र ७ द्रष्टव्य है। इस (प्रकाश) सूक्ष्मदर्शी मे एक पर्याप्त शक्तिशाली प्रकाशस्रोत से आनेवाली किरणे उत्तल ताल **ता$_1$** द्वारा वस्तु **कख** पर फोकस की जाती है। वस्तु मे निकली किरणे अभिदृश्य ताल **ता$_2$** द्वारा प्रतिबिब **प्र$_1$** के रूप मे फोकस की जाती हैं, जो आवर्धन का प्रथम चरण है। इस बीच के प्रतिबिब के एक भाग **क$_1$ ख$_1$** का प्रक्षेपी ताल **ता$_3$** द्वारा और आवर्धन कर उसे वास्तविक और आवर्धित प्रतिबिब के रूप मे एक प्रतिदीप्त परदे अथवा फोटो पट्टिका पर फोकस किया जाता है। साधारण सूक्ष्मदर्शी मे अभिनेत्र ताल **ता$_3$** दृष्टिगोचर वर्णक्रम के प्रकाश से प्रभासित वस्तु का प्रतीयमान (वर्चुअल) एव आवर्धित प्रतिबिब बनाता है। किंतु जब वस्तु को दृष्टिगोचर के बदले पारजबु प्रकाश मे रखा जाता है तो प्रक्षेपी ताल **ता$_3$** को ऐसे स्थान पर रखा जाता है कि वह वास्तविक एव आवर्धित प्रतिबिंब प्रदीप्त परदे अथवा फोटो पट्टिका पर बनाए।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की जातियाँ—जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, इलेक्ट्रान किरणावलिया को फोकस करने के लिये स्थिर वैद्युत ताल अथवा चुबकीय ताल प्रयोग मे लाए जा सकते है। जिन यत्रो मे स्थिर वैद्युत तालो का प्रयोग होता है उन्हे स्थिर वैद्युत इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी कहते है और जिनमे चुबकीय तालो का प्रयोग होता है उन्हे चुबकीय इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी कहते है। इन दो प्रकार के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शियो की भी दो श्रेणियाँ है (१) उत्सर्जन (एमिशन) जाति की और (२) पारगमन (ट्रैंसमिशन) जाति की। उत्सर्जन जाति के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की रचना सबसे पहले की गई थी। इस सूक्ष्मदर्शी मे आवर्धन की जानेवाली वस्तु ही इलेक्ट्रानो का स्रोत होती है जिनको बहुधा वैद्युत विकिरण द्वारा प्राप्त किया जाता है। पारगमन

चित्र ६

जाति के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी सबसे अधिक सफल एव सबसे अधिक उपयोगी इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी है। इनसे जिन वस्तुओ की जाँच की जाती है उन्हे महीन झिल्लियों के रूप मे लेकर उनके पार इलेक्ट्रान भेजे जाते है और इस सूक्ष्मदर्शी मे आवर्धित प्रतिबिब उस वस्तु की प्रतिलिपि होती है जिसको ऋणाग्र और फोटो पट्टिका अथवा पर्दे के बीच रखा जाता है।

इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की दो और जातियाँ है : विदुप्रेक्षी (स्कैनिंग) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और प्रतिच्छाया (शैडो) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी। किंतु विभिन्न कारणो से ये साधारणतया प्रयोग मे नही लाए जाते।

आधुनिक इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी अधिकतर चुबक पारगमन जाति का होता है, क्योकि इसके द्वारा बहुत छोटे समातर के चुबकीय तालो का प्रयोग करके उत्सर्जन जाति के सूक्ष्मदर्शियो की अपेक्षा कही अधिक आवर्धन प्राप्त हो सकता है।

व्यावहारिक प्रयोग—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी का व्यावहारिक प्रयोग विभिन्न क्षेत्रो मे होता है। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा अति उच्च विभेदनक्षमता तथा आवर्धनक्षमता एव कहीं अधिक फोकस की गहराई के कारण यह अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण यत्र बनता जा रहा है। आधुनिक अन्वेषणक्षेत्रो मे, जैसे धातुविज्ञान, चिकित्साशास्त्र, शरीरविज्ञान, परमाणविक सरचना आदि मे इसके बिना काम नही चलता। औद्योगिक क्षेत्र मे इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के आने से अनेकानेक सूचनाएँ प्राप्त करना अत्यत सुलभ हो गया है, जैसे अयस्कों (ओर्स) का चयन और निष्कर्षण, अज्ञात पदार्थों

एवं अपद्रव्यों का विश्लेषण, अदह (ऐस्बेस्टस) तथा कपड़ा बनने के तनुओं की जाँच, कागज, तैलरंग और प्लैस्टिक की बनावट का अध्ययन इत्यादि। रुई के रेशे के सूक्ष्म भाग के अति आवर्धित चित्र से यह पता लग सकता है कि उसमें किस प्रकार की तहों का संग्रह है। प्रकाश-सूक्ष्मदर्शी में अपेक्षाकृत बड़े कीटाणु भी बिंदु या तिनके जैसे दिखाई देते हैं जब कि इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में उनका वास्तविक आकार और बहुधा उनकी बनावट का ढाँचा भी दिखाई देता है।

अवगुण—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के कुछ अवगुण निम्नलिखित हैं

(१) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रानों की तीव्र बौछार के कारण निरीक्षण की जानेवाली वस्तु के बहुधा नष्ट हो जाने की संभावना रहती है।

(२) सूक्ष्मदर्शी के लिये आवश्यक अतिनिर्वात (हाई वैकुअम) में सूखने एवं वाष्पन के कारण निरीक्षण की जानेवाली वस्तु में

चित्र ७

परिवर्तन होने की संभावना रहती है।

सं॰ग्रं॰—सी॰ ई॰ हॉल इंट्रोडक्शन टु इलेक्ट्रान माइक्रॉस्कोपी (१९५३), जे॰ बी॰ राजम ऐटॉमिक फिजिक्स (१९५८), आइ॰ एम॰ मेअर इलेक्ट्रान ऑप्टिक्स।

(दा॰ वि॰ गो॰)